

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें उत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादनी-द्वारा
संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके सम्पादन प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी कन्नड उर्दू आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आगमिक शायनिक पौराणिक साहित्यिक ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका सूक्ष्म और बचामन्त्र
अनुवाद अधिक साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन मण्डारोंकी
सूचिकाँ बिकाटेल-संग्रह विभिन्न विभागोंके सम्पादन
ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ की
इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीराछाब्ब जैन, एम० ए०, बी० लिट्०
डॉ० आ० ने० उपर्य्ये, एम० ए०, बी० लिट्०

•

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रभाव कार्यालय १ लकीपुर मार्क प्लेस कलकत्ता-१०

प्रकाशन कार्यालय : बुर्गकुण्ड रोड बाराबसी-५

बिकाट केन्द्र ३३९/११ जवाहीर सुभाष मार्ग दिल्ली-१

मुख्य सम्पत्ति मुख्यालय बुर्गकुण्ड रोड बाराबसी-५

•

स्थापना कार्यालय कृष्ण १, बीर सि १४० • बिकाट सं १ • १८ फरवरी सन् १९७७

सर्वाधिकार सुरक्षित

भारतीय ज्ञानपीठ



स्व० मूर्तिदेवी, भातेश्वरी सेंट शान्तिप्रसाद जैन

UPĀSAKĀDHYAYANA

(A Portion of the Yaśastilaka campū)

of

SOMADEVA SŪRI

with

Hindi Translation, Sanskrit Tikā, Introduction & Indices etc.

EDITED BY

Pt KAILASH CHANDRA SHASTRI

Siddhāntāchārya

Principal Srī Syādvāda Mahāvīdyālaya, Varanasi



BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA PUBLICATION

VIRA SAMVAT 2490
V S. 2021, 1964 A D

First Edition
Rs 12/

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA AGAMIC, PHILOSOPHICAL
PURĀNIC LITERARY HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRĀKRIT SANSKRIT APABHRANSA HINDI,
KANNADA TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED
IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES
AND
CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS
STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR
JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

•

General Editors

Dr. Hiralal Jain M A D Litt.

Dr. A N Upadhye, M A D Litt.

•

Bharatiya Jnanapitha

Head Office : Alipore Park Place Calcutta-27

Publication office : Daragankund Road, Varanasi-8

Sales office : 2020 T1 Netaji S Bhush Marg, Delhi-8.

•

Founded on Pūṣyāṁsa Kṛishṇa 8 Vṛa Sam. 170 Vikrama Sam 2000 18th Febr 1944

All Rights Reserved

प्रधान सम्पादकीय

सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पूका जैन-साहित्यमें ही नहीं, किन्तु भारतीय वाङ्मयमें एक विशिष्ट स्थान है। डॉ० कोथके-मनानुसार सोमदेव 'निश्चित ही सुखचि और बड़ो सूझबूझके कवि हैं।' (हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३५) तथा डॉ० हन्दिक्कीका कथन है कि गद्यकथाविषयक अपने विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त यशस्तिलकमें ऐसी विद्याएँ हैं जिनके कारण उसका सम्बन्ध सस्कृत साहित्यकी नाना शाखाओंसे स्थापित होता है। वह केवल गद्य-पद्यात्मक जैन कथा मात्र नहीं है, किन्तु वह जैन व अजैन धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तोंका पाण्डित्यपूर्ण संग्रह है, राजनीतिकी एक संहिता है, काव्यगुणों, प्राचीन आख्यानो, अवतरणों और उल्लेखों, तथा बहुसंख्यक दुर्लभ शब्द-प्रयोगोंका विशाल भाण्डार है। सोमदेवकी यशस्तिलक एक उच्च कोटिकी विद्वत्तापूर्ण कृति है जो साहित्यिक प्रतिभा और काव्यात्मक भावनाके आलोकसे 'सजीव हो उठी है।' (यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ५३)।

इतने गुणोंका एक साथ समावेश करनेके लिए महाकविने न गद्य और न पद्य मात्रको अपना माध्यम बनाना पर्याप्त समझा। रुचि और अवसरके अनुसार उन्होंने इन दोनों प्रकारकी रचनाओंका प्रायः समान मात्रामें उपयोग किया है। उनका गद्य सुबन्धु और वाणकी रचनाओंका स्मरण दिलाता है, और पद्य कालिदास, माघ और श्रीहर्षका। इस रचना-शैलीको साहित्यकारोंने 'चम्पू'की संज्ञा दी है - 'गद्य-पद्यमयी काचित् चम्पूरित्यभिधीयते' (दण्डि-काव्यादर्श)। तथापि विद्वान् अभी तक खोज नहीं लगा पाये कि चम्पू शब्दकी ठीक-ठीक व्युत्पत्ति क्या है। यो तो गद्यके साथ यन्त्र-तन्त्र कुछ पद्योंका प्रयोग ब्राह्मणोंमें, बौद्ध पालि व सस्कृत रचनाओंमें, तथा हितोपदेश-पञ्चतन्त्रादि कथाओंमें बहुत प्राचीन कालसे पाया जाता है, तथापि जहाँ तक हमारी वर्तमान जानकारी है, इस काव्य-शैलीका आविर्भाव दशमी शतीसे पूर्व नहीं पाया जाता। सोमदेवने अपनी कृतिके पूर्ण होनेका काल सिद्धार्थ सवत्सर ८८१ (सन् ९५९) स्पष्टतासे निर्दिष्ट किया है। इससे पूर्व यदि कोई चम्पू काव्य रचा गया हो तो वह केवल त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' ही हो सकता है। इस चम्पूमें उसके रचनाकालका कोई निर्देश नहीं है, तथापि विद्वानोंका अभिमत है कि वे वही त्रिविक्रम हैं जिन्होंने सन् ९१५ ई० में राष्ट्रकूटनरेश इन्द्र तृतीयके नवसारीसे प्राप्त लेखकी रचना की थी।

आठ 'आश्वासो'में पूरा हुआ सम्पूर्ण यशस्तिलक अभीतक केवल एक बार निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे सन् १९०३ में श्रुतसागरी टीका सहित प्रकाशित हुआ था। प्रथम तीन आश्वासोंका पूर्व खण्ड सन् १९१६ में पुनः मुद्रित किया गया था। यह ग्रंथ इवर दीर्घकालसे अप्राप्य है। इस ग्रंथका नाना दृष्टियोंसे गम्भीर और विशाल अध्ययन डॉ० हन्दिक्की-जैसे विद्वान्ने किया और उनकी कृति 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' जैन सस्कृति संरक्षक सघ-द्वारा, जीवराज जैन ग्रंथमालाके द्वितीय पुष्पके रूपमें, शोलापुरसे सन् १९४९ में प्रकाशित हुई, यह मन्तोपकी बात है। इस कृतिका भी सम्पूर्ण अनुवाद किये जानेकी आवश्यकता है।

यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वासोंका प्रस्तुत संस्करण अपने एक सीमित उद्देश्यसे तैयार होकर प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रंथका यह भाग आचाराचारविषयक है। नैतिक व धार्मिक दृष्टिसे गृहस्थ नर-नारियोंके क्या कर्तव्य है, यह विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण है, विशेषतः इस युगमें जबकि नैतिक आचरणमें सर्वत्र चिन्तनीय शिथिलता दृष्टिगोचर हो रही है। आचार्य सोमदेवने इस विषयपर बड़ी दृढ़ता, प्रामाणिकता और रोचकतासे अपनी लेखनी चलायी है। इस ग्रन्थाशका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद प० कैलाशचन्द्र जो सिद्धान्तशास्त्रीने उपलब्ध मुद्रित व हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंके आधारपर परिश्रमसे तैयार किया है। इसके अतिरिक्त प० कैलाशचन्द्रजीने १६ पृष्ठोंमें प्रस्तावना भी लिखी है। यहाँ उन्होंने डॉ० हन्दिक्की

उपलब्धियोंका भी उपयोग किया है और अपने स्वतन्त्र अध्ययनका भी। यही यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि डॉ. हुम्ह्रीने भारतीय साहित्य और संस्कृतिको अपनी दृष्टि में रखकर विवेचन किया है किन्तु पश्चिमी-की दृष्टि विशेष रूपसे हीन एवंज्ञानसे सीमित रही है। इस प्रकार य. होमो विवेचन परस्पर परिपूरक है। पश्चिमीने प्रस्तावनाके उत्तर भागमें जो भावकाचारोंका तुलनात्मक परीक्षण प्रस्तुत किया है वह महत्वपूर्ण है। भावकाचारका वर्णन दोषदेवसे पूर्व भी अनेक भाषाओं में किया है और उनके पश्चात् भी। यद्यपि आचारसम्बन्धी नियमोंका मौलिक स्वल्प अपरिवर्तित रहा है किन्तु इनको वर्गीकरण परिभाषाओं और परिपालनमें देश-कालानुसार विकाश-सीकता भी पायी जाती है। इस विषयका कुछ विवेचन पं. जुगजिकीर मुखारके अनेक लेखों तथा पं. हीरासाह साहनी कृत बसुनन्द-भावकाचारकी भूमिकामें आ चुका है। किन्तु समस्त उपलब्ध भावकाचारसम्बन्धी साहित्यका समीक्षक तुलनात्मक अध्ययन अभी भी शेष है। पं. कैलासचन्द्रजीने इस अध्ययनको अपनी प्रस्तावनामें आये बताया है। तथापि इसमें एक कमी विशेष रूपसे घटकटी है। और वह यह कि ऐतान्त्रिक सम्प्रदायमें माध्यम समाजकी भागमें उपासकाध्ययन का हिस्सा न सम्मिलित-रहित प्राकृत ग्रन्थोंमें हरिभद्रकी अनेक रचनाओंमें व. अन्वय को इसी विषयका विवरण पाया जाता है वह यही सबका छूट गया है। कथा-साहित्यमें भी गृहस्थ धर्मके उपदेशक बतौरित्त उसके व्यावहारिक स्वल्पका विवरण भी मिलता है, जिससे आचारसम्बन्धी व्यवस्थाओंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है व. तात्कालिक सामाजिक प्रतिबिम्ब भी दिखाई देता है। देशके इतिहास समाज व. राजनीतिक प्रवृत्तियोंमें रखकर दोषदेवके तथा उत्तर व. दक्षिण भारतके अन्य वैष्णवों-द्वारा लिखित भावकाचारकी विशेषताओंको देखनेपर हमें सम्भव आने लगता है कि किस प्रकार शैलीय लौकिक आचार-विचारका वर्गीकृत व्यवस्थाओंपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि कभी-कभी कट्टरता व. परम्परागुब्बारेके कारण सभी विकासशीलतापर हमारी दृष्टि नहीं पहुँच पाती एवं तुलनात्मक समीक्षा ठकसही नहीं बन पाती।

इस सम्बन्धमें हम ध्यान जाता है श्री बार बिस्मिल्ल कृत 'वीन बोग नामक पुस्तकका जो अन्वय औरियण्टल एसीज डॉ. १४ के रूपमें आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस अन्वयसे सन् १९९३ में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तकमें बतलाया गया है कि अपने उत्कृष्टतम राजनैतिक प्रभावके काल अर्थात् ५वीं से १३वीं और विशेषतः १३वीं १२वीं शताब्दीमें कैलिबोने केरा गृहस्थोचित वसाधार स्वीकार किया। यही मुख्यतः गृहस्थ जीवनके नियमोंका विधान करनेवाले भावकाचार ग्रन्थोंका आचार्यों-द्वारा प्रणीत विवरण अपरिचित किया गया है। कथा साहित्य और छिन्नालेखों का विमल उपलब्ध सामग्रीकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। अतिरिक्त इन आचार्यों और उनकी रचनाओंका ऐतिहासिक परिचय भी कराया गया है। जो मूल रचनाएँ सुलभ नहीं हैं उनके कुछ अवतरण परिशिष्टमें देकर यह दिखाया गया है कि वे किस प्रकार एक दूसरेपर आधारित हैं। सामग्री तथा ऐतिहासिक तुलनात्मक व. समीक्षात्मक दृष्टि को बाते भी बिलियमसके ग्रन्थमें कुछ पयी है उनका विशेष रूपसे अनुसन्धान किन्हीं भाषाओं की आवश्यकता है। इसपर यह चम्पू रस कुछ-कुछ संक्षेप भी प्रकाशित हुआ है (प्रथम आरंभिक अंशोंको लिखनी आदि छत्रित डॉ. जे. एन. शीरसागर बम्बई, १९४९ टीन आस्थास हिन्दी अनुवाद सहित डॉ. प. मुखारका सास्त्री वाराणसी १९९६) परन्तु इनसे उत्पन्न उद्देश्यकी पूर्ति नहीं हुई।

उपर्युक्त समस्त अवधि नामके लिए बिना बातोंकी आवश्यकता है इनमें एक यह भी बहुत महत्वपूर्ण है कि दोषदेव सूरिहृत यथार्थतक चम्पूका समस्त उपलब्ध प्राचीन प्रतियों व. टीका-टिप्पणों का विकाश उपलब्ध करत हुए सुसंगठित सामुदाय प्रकाशन किया जावे।

वतमानमें तो हम यही वही प्रयत्न है कि इस महान् ग्रन्थके उपासकाध्ययन नामक सम्बन्ध व. कैलासचन्द्रजीने बिज्ञता और परिचयसे सम्पादन अनुवाद व. प्रस्तावना-लेखन-द्वारा प्रस्तुत प्रकाशन योग्य बना दिया बिनाके लिए हम उनसे आभारी हैं।

प्रधान सम्पादकीय

इम भागपर श्रुतसागरी टीका नही पायी जाती। जैन सस्कृति सरक्षक सघके सस्थापक स्वर्गीय ब्रह्मचारी जीवराजजीकी प्रबल इच्छा हुई थी कि ग्रन्थकी टीका पूरी करायी जावे। उनकी इसी प्रेरणाके फल-स्वरूप प० जिनदास शास्त्रीने उस शेष भागपर सस्कृत टीका लिखी। उक्त सघकी अनुमतिसे वह टीका भी प्रस्तुत ग्रन्थके साथ प्रकाशित की जा रही है। इम टीकाके अवलोकनसे देखा जा सकता है कि प्राचीन विद्वान् टीकाकारोंकी परम्परा अभी भी सर्वथा विच्छिन्न नही हुई। जिनदासजी शास्त्री-जैसे कुछ विद्वान् अभी भी ऐसे प्रतिभाशाली हैं जो प्राचीन शैलीसे ही कठिन ग्रन्थोंकी सुविशद मस्कृत व्याख्या लिख सकते हैं। इस साहित्यिक कृतिके लिए हम प० जिनदास शास्त्रीके कृतज्ञ हैं व उसे इस सस्करणमें समाविष्ट करनेकी अनुमति प्रदान करनेके लिए जैन सस्कृति सघ, शोलापुरके भी अनूगृहीत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थमालाके प्रकाशनसे भारतीय एवं जैन साहित्य और सस्कृतिके अध्ययन-अनुसन्धानके कार्यमें जो सहायता मिल रही है वह सभी विद्वान् अनुभव करते हैं। इसके लिए ज्ञानपीठकी अध्यक्ष श्रीमती रमानी तथा सरक्षक श्री शान्तिप्रसादजीका जितना उपकार माना जावे थोडा है। उनकी शुभ भावनाओंकी मूर्तिमान् स्वरूप देनेमें ज्ञानपीठके मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जिस उत्साह और परिश्रमसे सलग्न हैं, वह स्तुत्य है। इसी शुभ भावना, उदारता, उत्साह और प्रयासके आधारपर आशा की जा सकती है कि ऐसे उपयोगी प्रकाशनोका क्रम न केवल भविष्यमें चालू रहेगा, किन्तु उममें और भी उन्नति और प्रगति हो सकेगी।

ही०ला०जैन,
आ० ने० उपाध्ये,
प्रधान सम्पादक

सम्पादकीय

एक बार स्व० श्रीनाथूरामजी प्रेमीने लिखा था कि सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक महाकाव्यके अन्तिम तीन आश्रवांसोंमें श्रावकाचारका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन किया है, उसका हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है। उसीसे मुझे सोमदेवकृत इस उपासकाध्ययनका हिन्दी अनुवाद करनेकी प्रेरणा मिली। यशस्तिलक श्रुतसागर सूरिकी (अपूर्ण) सस्कृत टीकाके साथ दो भागोंमें निर्णयसागर प्रेम, बम्बईसे प्रकाशित हो चुका था। उस मुद्रित प्रतिके आधारपर जब मैं अनुवाद कार्यमें प्रवृत्त हुआ तो मुझे लगा कि इसमें अशुद्धियाँ हैं। अतः मैंने खोजबीन करके टीकमचन्द जैन हाईस्कूल अजमेरके अध्यापक तथा अपने अन्यतम शिष्य प० हेमचन्द्रजीके द्वारा अजमेर तैरोपन्थी मन्दिरके भण्डारसे यशस्तिलकके अन्तर्गत उपासकाध्ययनकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त की। वह प्रति बहुत शुद्ध और सटिप्पण थी। उससे मुझे अनुवादमें भी बहुत सहायता मिली, क्योंकि उपासकाध्ययनपर कोई टीका नहीं है और सोमदेव-जैसे महाकविके द्वारा रचित होनेके कारण उसमें अप्रसिद्ध शब्दोंके प्रयोगके साथ ही साथ शाब्दिक अनुप्रासका भी होना स्वाभाविक है। फलतः वर्णित विषयके कठिन न होनेपर भी सोमदेवके शब्दोंके अभिप्रायको समझनेमें पद-पदपर कठिनाई होती है। अतः सटिप्पण प्रतिके मिल जानेसे मुझे बहुत लाभ हुआ। मेरी कठिनाईमें कुछ कमी हुई, और अनुवाद कार्य पूरा होनेपर वह प्रति वापस कर दी गयी।

अनुवादका यह कार्य मैंने भारतवर्षीय दि० जैन सघके द्वारा काशीमें स्थापित जयध्वला कार्यालयमें उसीके निमित्तसे किया था। दूसरे महायुद्धके कारण कागज मिलना दुर्लभ हो गया। अतः यह अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका। जब कागज कुछ सुलभ हुआ तो सघके प्रकाशन विभागने अपनी पूरी शक्ति जयध्वलाके प्रकाशनमें ही लगाना उचित समझा। इससे उपासकाध्ययनके प्रकाशनकी व्यवस्थाके लिए भारतीय ज्ञानपीठ काशीके तत्कालीन व्यवस्थापक श्री बाबूलालजी फागुल्लके माध्यमसे ज्ञानपीठके मन्त्री बा० लक्ष्मीचन्द्रजीसे बातचीत हुई। उन्होंने मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक डॉ० प्रो० हीरालालजी तथा डॉ० प्रो० ए० एन० उपाध्येके परामर्शानुसार इसे मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित करनेकी स्वीकृति दे दी। तब मैंने पुनः उस पुराने अनुवादकी ओर ध्यान दिया।

अनुवाद करते समय मैंने अजमेरकी जिस प्रतिका उपयोग किया था उसके आधारपर मुद्रित प्रतिका सशोधन कर लेनेपर भी मैंने वाकायदा उसके पाठान्तर नहीं लिये थे। अतः अब पुनः उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई और मैंने प० हेमचन्द्रजीकी लिखा, तो उन्होंने मुझे सूचित किया कि भण्डारके प्रबन्धक अब किसी भी तरह बाहर भेजनेके लिए प्रति देनेकी तैयार नहीं हैं। मुझे बड़ी निराशा हुई। तब श्रीबाबूलालजीने जयपुरसे प० चैनसुखदासजीके माध्यमसे श्रीमहावीरजी अतिशय क्षेत्रके अनुमन्धान विभागके डॉ० कस्तूरचन्दजी काशलीवालके द्वारा एक प्रति प्राप्त की। यह प्रति शुद्ध है, किन्तु इसमें कोई टिप्पण नहीं है। मुझे सटिप्पण प्रतिकी आवश्यकता थी। तब मुझे भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूनाकी उस प्रतिका स्मरण आया जिसका निर्देश प्रो० हान्दिकीने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर'में किया है। मैंने बाबूलालजीसे कहा और उन्होंने पूनाकी लिखा। थोड़ी-सी लिखा-पढ़ीके पश्चात् वहाँसे प्रति आ गयी, जो शुद्ध होनेके साथ सटिप्पण भी है। इन उदार विद्यार्थियोंका अनुकरण हमारे आश्रमभण्डारोंके सरक्षकोंको भी करना चाहिए, और प्राचीन प्रतियोंको भण्डारोंमें आजन्म कैद न रखकर उन्हें अनुसन्धाताओं तथा सम्पादकोंके लिए सुलभ बनाना चाहिए।

उपासकाध्ययन

इन्हीं दो प्रतिकों आधारपर किन्हीं एक ही कहना उचित होना क्योंकि दोनोंम कदाचित् ही किञ्चित् पाठ-मेव पाया जाता है। मैंने उपासकाध्ययनके मूल पाठको व्यवस्थित किया। इन प्रतिकोंका परिचय नीचे दिया जाता—

सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय

[आ] मण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पुनासे प्राप्त प्रतिका नम्बर ५२२^१ ५२२३ है और नया नम्बर २३ है। इसकी पृष्ठ संख्या ४३४ है। प्रत्येक पृष्ठमें ९ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें १४ अक्षर हैं। प्रत्येक पृष्ठके चारों ओरके हासियोंपर टिप्पण दिये हुए हैं। ये टिप्पण श्रीदेवकेनकृत टिप्पणसे भी किञ्चेव उपयोगी हैं। श्रीदेवकेन टिप्पण बहुत परिमित संख्यापर हैं। उनसे इस प्रतिके टिप्पण विलुप्त हैं। प्रतिके अन्तमें मूलग्रन्थ आठ हजार श्लोक परिमाण और टिप्पण दो हजार श्लोक परिमाण किये हैं। श्रीदेवकेनकृत टिप्पण १२७५ श्लोक परिमाण ही हैं। मैंने प्रायः सभी टिप्पण इसी प्रतिके आधारसे दिये हैं। प्रतिका केहनकाल संवत् १७४२ है। प्रतिके अन्तमें विलुप्त केसक प्रचलित इस प्रकार दी हुई है—

संवत् १७४२ वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्ष चतुर्थी तिथी मंगलवासरे पूर्णिमात्रपक्षसे प्रतिनामयोगे साहि आत्ममोक्षमार्गके लोकमय राख्य प्रवर्तमाने पीछान्तिनाथ श्रीरामके श्रीमूलरत्ने मन्दास्माये वक्ता स्कारवने सरस्वतीवन्द्ये कुम्भकुम्भाचार्यान्वये मट्टारक श्रीमल्लनेत्रकीतिशैवास्तत्पुत्रे मट्टारक श्रीसुरेश्वरीति शैवास्तत्पुत्रे मट्टारक श्री ५ बगलकीतिश्री तत्ताम्नाये कप्येस्त्रासास्त्रये सोनीपीने साहस्रीरा तन्मार्गा हीराये तत्पुत्री ही प्र सा चतुसुख तन्मार्गा अठारवने द्वितीयपुत्र सा मोहनदास तस्य तृतीयभार्या मुक्तादे तो ही पुत्री मध्ये प्र पुत्र सा चतुर्मुख तत्पुत्री ही प्रथम पुत्र सा चन्द्रमास भार्या बाँववने द्वितीयपुत्र सा स्वामिवास भार्या सुहावने तत्पुत्र चिरंजीव लोकमय भार्या लोकमये एवमेवैवो पुत्रबोर्मध्ये इतद्वनरत दिनवन्दनानन्तर गुहमन्त्रिपराम्यस्य दयादान सत्यवचनरते पुं सं स्वामिदासेमेवं यद्यस्तिकर्त्तं पुस्तकं आचार्यकी श्री ५ ज्ञानकीर्तये वसन्तासणवत् उद्यापनार्थं प्रवर्तमाना। ज्ञानदानात् यदैवै य्यानी मुप्री आप्यस्रजानत। निर्मयो बीरवानेन मीरोपो सेपत्राद् भवेत् ॥१॥ सुममस्तु ॥ पस्तकमिदं यावत् अक्षरिवाकरचतुर्धरा वर्त्तते तावत् तिष्ठतु ॥ श्री विन सदा क्यतु।

इस प्रचलितका धारास यह है कि संवत् १७४२ में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीके दिन कप्येसबाक आटीम दयाम्बास सीनीन यह यद्यस्तिकर्त्तयामकी पुस्तक आचार्य ज्ञानकीर्तिके किये दसकाक्षपत्रके उद्यापनके किये प्रधान की। पुनाकी इस प्रतिकी आरम्भप्रति मानकर हमने 'आ' संज्ञा प्रदान की है।

[ख] — जयपुरवासी प्रतिकी अ संज्ञा दी गयी है। यह प्रति जयपुरके हि जैनमन्दिर बड़ा तख्त पन्थियाके धारनबन्धारकी है। प्रति कुछ है। अक्षर भी सुन्दर और स्पष्ट हैं। इसकी पदसंख्या १४४ है। प्रत्येक पृष्ठमें ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ३५ से ३८ तक अक्षर हैं। कागज जोष हो गया है। संवत् १७१९ की सिद्धी हुई है। अर्थात् पुनाकी प्रतिसे २३ वर्ष प्राचीन है। अन्तमें केसक प्रचलित भी है किन्तु अक्षर अस्पष्ट हो गये हैं। प्रचलित इस प्रकार है।

'संवत् १७१९ मिति फागुन सिनात् अहमी शुक्लपक्ष चार बुधस्पतिवार अथावती तनरिमध्ये मण्डारवाचिदात्र पुस्तक लिपाहर्त्। विमलनाथ श्रीरामाय मूलमने। निपत्तं योगिदेवदर जाति मूर्खीदात्र।

[मु] — निर्मयसागर प्रेसके प्रथम बार मुद्रित प्रतिको मु संज्ञा दी गयी है।

यद्यपि प्रतिवाके सिवाय इन चम्बके मंडीजनमें दो अन्य प्रतिबाला उपयोग्य परोक्ष रूपसे किया गया है।

[अ०] — कैरवी (राजम्बास) के पं ईपण्णवी पाइधामे बीरसेवा मन्दिर सरसाबासे प्रकाशित आठपक्ष अनवागते ५^{वें} वर्षकी १२ फिरजमें यद्यस्तिकर्त्तया संशोधन प्रकाशित किया बा। पाइधामीने भेयामुमार यह संशोधन हि जैन बड़ा मन्दिर नृसिंहा सरावगी अजमेरके ज्योत्स मट्टारक

सम्पादकीय

श्री हर्षकीर्ति महाराजको ज्ञानमे प्राप्त प्रतिके आधारसे किया गया है। इस प्रतिकी पत्रगस्था १८०० है और वि० सं० १८५८ मे लिखी गयी है। मैं उन सशोधनका भी उपयोग प्रकृत ग्रन्थके सम्पादनमे किया है और उन्हें 'अ' सजा दी है।

[च] - संस्कृत विश्वविद्यालयमें जैनदर्शनके प्राध्यापक प० अमृतलालजी साहित्यके भी रसिक विद्वान् हैं। उन्होंने ऐलक पन्नालाल मररवती भवन, बम्बईको प्रतिसे अपनी यशन्तिलक पुस्तकमें पाठान्तर लिये थे। उनका भी उपयोग मैंने इस ग्रन्थके सम्पादनमे किया है और उन्हें 'व' सजा दी है।

अनुवादके सम्बन्धमे

प्रकृत उपासकाध्ययनका अनुवाद कार्य कितना कठिन है इसका अनुभव मुझे पद-पदपर हुआ है। सोमदेय सूरिका पाण्डित्य अपूर्व था। वे तार्किक, महाकवि आदि सभी कुछ थे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। नवीन शब्दाका उनके पास भण्डार था। फिर वे साहित्यिक शैलीकी सयोजनामें भी चतुर थे। उनकी इन सब विशेषताओंके कारण उपासकाध्ययनकी पदरचना प्रमत्त होनेके साथ दुर्लभ भी हो गयी है। इसके सिवाय उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें कुछ ऐसे भी विषयोंका समावेश किया है जिनकी चर्चा जैन शास्त्रोंमें नहीं पायी जाती। शैवदर्शनकी प्रक्रिया ऐसे ही विषयोंमें है। शैव तन्त्रसाधनाके ज्ञाता विद्वान् आज काशीमें भी नहींके तुल्य हैं। फलतः उससे सम्बद्ध श्लोकोंका भाव स्पष्ट नहीं हो सका और ऐम दा श्लोकोंका अर्थ जो ध्यानविधिमें आये है छोड़ देना पड़ा है। जहाँतक शक्य हुआ मैंने ग्रन्थके भावको स्पष्ट करनेमें अन्य विद्वानोंका भी निःसर्क साहाय्य लिया, फिर भी यह लिखनेमें असमर्थ हूँ कि मुझे अपने अनुवादमे पूर्ण सन्तोष है या मेरा अनुवाद निर्दोष है।

उपासकाध्ययनमें आगत कथाओंका मैंने शब्दशः अनुवाद नहीं किया है, भावानुवाद ही उसे समझाना उपयुक्त होगा।

आभार प्रदर्शन

अन्तमें मैं इस ग्रन्थके सम्पादन आदिमें माहाय्य देनेवाले अपने सब सहयोगियोंका आभार स्वीकार करना अपना परम कर्तव्य मानता हूँ। सबसे प्रथम आभार तो मैं उन विद्वानोंका मानता हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थके सम्पादनमे साहाय्य दिया। प० अमृतलालजीसे मुझे बहुत माहाय्य मिला और उनके साहित्यिक ज्ञानसे मैं लाभान्वित हुआ। केकडीके प० रतनलालजी कटारिया अभी नवयुवक हैं, मेरा उनसे साक्षात् परिचय तो गत मई मासमें भोलवाडामें हुआ। उन्हें देखकर कोई कलाना भी नहीं कर सकता कि इस दुबले पतले नवयुवकमें इतना अनुभवपूर्ण ज्ञान वर्तमान है। उन्होंने मुझे लम्बे लम्बे पत्रोंके द्वारा अनेक श्लोकोंको स्पष्ट करनेमें निःसर्क मदद दी। उन्हींसे मुझे प्रबोधधार और धर्मरत्नाकर ग्रन्थोंकी सूचना प्राप्त हुई कि इन ग्रन्थोंमें उपासकाध्ययनका अनुकरण किया गया है या उनके श्लोक उद्धृत हैं।

इसी तरह केकडीके ही दूसरे विद्वान्, प० दीपचन्द्रजी पाडयासे भी मुझे साहाय्य मिला है। अजमेरके प० हेमचन्द्रजीके द्वारा मुझे अजमेरकी प्रति प्राप्त हुई थी। देहलीके लाला पन्नालालजी अग्रवालके द्वारा पचायती मन्दिर देहलीकी धर्मरत्नाकर तथा श्रीदेवकृष्ण टिप्पणकी प्रति प्राप्त हुई। प्रतियोंकी प्राप्तिमें प० परमानन्दजी देहलीसे भी सहयोग मिला। अतः उन सभी विद्वानोंका मैं हृदयसे आभार स्वीकार करता हूँ।

भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी, तथा मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक डॉ० हीरालालजी तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुरका भी आभारी हूँ। उन्हींके प्रयत्नसे यह ग्रन्थ इस रूपमें मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो सका है। डॉ० उपाध्येने तो इसकी रूपरेखा निर्धारित करनेके सिवाय प्रारम्भके

जय भाषे कामोंके अन्तिम प्रकाशको देखनेका भी कह उठया है । प बाबसाहजी धर्मपुस्तक सङ्ग्रहके प्र उन्हे भी धर्मबाब होता हैं ।

सबसे अन्तम में 'यसस्तिष्ठक एव हिन्दुधर्म कश्चर' के विद्वान् वैद्यक डॉ कृष्णकान्त हार्मिकीको और उसकी प्रकाशिका श्री जीवराम जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको हृदयसे धन्यवाद होता हैं । उनको सन्तुष्ट करनेको कहकर मुझे बड़ी प्रेरणा मिली । श्री यह भावना रही कि इस पुस्तकका हिन्दीम अनुबाद प्रकाशित हो । मैं इसके लिए एकाध बार जीवराम जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको प्रेरणा भी की । किन्तु ऐसे विद्वत् ग्रन्थका प्रामाणिक हिन्दी अनुबाद प्रकाशित कर सजना कठिन था । मैंने उसके आवश्यक अंशोंका भाव अपनी इस प्रस्तावनामें दे दिया है । किन्तु उसमें मेरे अपन भाव भी सम्मिलित हैं इसीसे मैंने डॉ हार्मिकीका विशेष धन्यवाद किया है । परन्तु इसमें सम्यक् नहीं कि श्री प्रस्तावनाका पुष्ट भाव डॉ हार्मिकीका नहीं है । और उनके इस शब्दोंसे मुझे अनन्य ग्रन्थके सम्पादनमें भी साहाय्य मिला है ।

एक बार पुन मैं अपने स्मृत और चिन्मृत सहयोगियोंको धन्यवाद देते हुए बिना पाठकोंसे अपनी मुद्रिकाके लिए धन्यवादार्थी हूँ क्योंकि - की न विमुह्यति चास्वसमुद्रे ।

इसकाकाल वर्ष १९९९

श्री स्वामी महाराज

वाराणसी

जिवबाजीसक

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना तथा सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थसूची

अनगार धर्माश्रित
अनेकान्त (मासिक पत्र)
अमितगति धावकाचार
अभिधानराजेंद्र (कोष)

अष्टसहस्री

आचारसार

आत्मानुशासन

आप्तपरीक्षा

आप्तमीमाया

आप्तस्वरूप

आराधनासार

कर्पूरमजरी

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

चरित्तपाहुड

चारित्र्यसार

जैनसाहित्य और इतिहास

जैनिज्म इन साउथ इण्डिया

ज्ञानार्णव

तत्त्वसंग्रह

तत्त्वानुशासन

तत्त्वार्थवार्तिक

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्वोपप्लव सिंह

दानशासन

द्रव्यसंग्रह टीका

वर्मरत्नाकर

धर्मसंग्रहध्रावकाचार

नीतिवाक्याश्रित

नीतिसार

न्यायविनिश्चयविवरण

पठमचरित

पञ्चमग्रह प्राकृत

पञ्चसंग्रह संस्कृत

पञ्चास्तिकाय

पद्मचन्द्रकोष

माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)

वीरसेवामन्दिर, देहली

दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

गान्धी नाथारग ग्रन्थमाला, शोलापुर

माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, काशी

ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर

वीरसेवामन्दिर, देहली

मनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी

सिद्धान्तमारादि संग्रहमें — मा० ग्र०, काशी

चौबम्बा संस्कृत सिरोज, काशी

श्री रायचन्द शास्त्रमाला, अगाम

पट्टप्राभृतसंग्रहके अन्तर्गत — मा० ग्र०, काशी

हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई

ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर

रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई

गायकवाड संस्कृत सिरोज, बडोदा

तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत मा० ग्र०, काशी

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

गान्धी नाथारग ग्रन्थमाला, शोलापुर

गायकवाड संस्कृत सिरोज, बडोदा

प० वर्तमान शास्त्री, शोलापुर

श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, खरखरी, (बिहार)

दि० जैन मन्दिर पचायती, देहली

वा० सूरजभानु वकील, देववन्द

मा० जे० ग्र०, बम्बई, (काशी)

तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत — मा० ग्र०, काशी

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)

रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई

मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर

उपासकाध्ययन

लगभग आधे पन्नाओं के अन्तिम प्रूफोंको देखलका भी कह उठाया है । प बाबूजीका कृत्यके सहयोगके लिए उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ ।

सबसे अन्तिम मैं 'मधुस्तिक' एण्ड इन्डियन कल्चर के विद्वान् केन्द्र डॉ कृष्णकान्त हार्मिस्कीको और उसकी प्रकाशिका भी बीबराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ । इनकी इन पुस्तकको पढ़कर मुझे बड़ी प्रेरणा मिली । मेरी यह भावना रही कि इस पुस्तकका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो । मैंने इसके लिए एकाध बार बीबराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको प्रेरणा भी की । किन्तु ऐसे विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थका प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर सकना नठिन था । मैंने उसके आवश्यक व्यंशिका भाव अपनी इस प्रस्तावनामें दे दिया है । किन्तु सत्य में मेरे अपने भाव भी सम्मिश्रित हैं इससे मैंने डॉ हार्मिस्कीका धन्यवाद नहीं किया है । परन्तु इसमें समझ नहीं कि मेरी प्रस्तावनाका पूर्व भाग डॉ हार्मिस्कीका श्रेणी है । और उनके इस शब्दों मुझे अपने शब्दोंके समुदायन भी साहाय्य मिला है ।

एक बार पुन मैं अपने स्मृत और विस्मृत सहयोगियोंको धन्यवाद देते हुए विश्व पाठकोंसे अपनी भूटियोंके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि - 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ।

इशाकास्य वर्ष २०९

श्री स्वाश्वत्थ महाविद्यालय

वाराणसी

जिनबाजीसबक

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना तथा सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थसूची

अनगार धर्मसूत
अनेकान्त (मासिक पत्र)
अमितगति श्रावकाचार
अभिधानराजेन्द्र (कोष)

अष्टसहस्री
आचारसार
आत्मानुशासन
आसपरीक्षा
आसमीमासा
आसस्वरूप
आराधनासार

कर्पूरमजरी
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
चरित्तपाहुद
चारित्र्यसार
जैनसाहित्य और इतिहास
जैनजन्म इन साठथ इण्डिया
ज्ञानार्णव

तत्त्वसंग्रह
तत्त्वानुशासन
तत्त्वार्थवार्तिक
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्वोपप्लव सिंह
दानशासन
द्रव्यसंग्रह टीका
धर्मरत्नाकर
धर्मसंग्रहश्रावकाचार
नीतिवाक्यामृत
नीतिसार
न्यायविनिश्चयत्रिवरण

पठमचरित
पञ्चमग्रह प्राकृत
पञ्चमग्रह सस्कृत
पञ्चास्तिकाय
पञ्चचन्द्रकोष

माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
वीरसेवामन्दिर, देहली
दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

गान्धी नाथारण ग्रन्थमाला, शोलापुर
माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, काशी
ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
वीरसेवामन्दिर, देहली
सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
सिद्धान्तसारादि संग्रहमें — मा० ग्र०, काशी

चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
श्री रायचन्द शास्त्रमाला, अगाम
षट्प्राभृतसंग्रहके अन्तर्गत — मा० ग्र०, काशी

हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
गायकवाड संस्कृत सिरीज, बडौदा
तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत मा० ग्र०, काशी
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
गान्धी नाथारण ग्रन्थमाला, शोलापुर

गायकवाड संस्कृत सिरीज, बडौदा
प० वर्धमान शास्त्री, शोलापुर
श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, खरखरी, (बिहार)
दि० जैन मन्दिर पचायती, देहली
वा० सूरजभानु वकील, देवचन्द
मा० जै० ग्र०, बम्बई, (काशी)
तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत — मा० ग्र०, काशी
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
जैनधर्मप्रसारक मभा, भावनगर
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर

पद्ममन्दिरादि
पद्मपुराण
परमरसप्रकाश
पात्रकमरी स्तोत्र
पुष्पार्पणहनुमान
प्रबोधसार
प्रमाणवार्तिक
प्रमथरसमाहा
मगधवी माराजना
भावसंग्रह
मनुस्मृति
महापुराण
मातृहृति
माध्यमिकभारिका
वस्तुस्थिति एवम् इतिवचन कथन
वाचकवचनमृति
योगशास्त्र
योगसूत्र
रत्नकरं समावकाश
रत्नमाला
कालीसंहिता
भरीपथरित
वस्तुमन्त्रिभाष्यप्रकाश
विपापहार स्तोत्र
वेदान्तसूत्र
वैद्यिकद्वयं
वैद्यविज्ञान एवम् वैद्यविज्ञान
वृहत्संहिता
शिखपुराण
भुवसागरीहृति
पद्मरसमाहा
सर्वार्थसिद्धि
सागरवर्मप्रवृत्त
साधनवर्मप्रवृत्त
सुमाधितरसदीप
दीप्तरत्नप्रकाश
हरिबंसपुराण
हरिदीर्घ भक्तसारमाहा

४ श्रीवाराज वैन वन्दमाहा श्रीवाराज
भारतीय ज्ञानपीठ काशी
रायचन्द्र सास्त्रमाहा वन्दई
एतानुशासनसिद्धिप्रकाशे अन्तर्गत - या ५ काशी
रायचन्द्र सास्त्रमाहा वन्दई
सेठ रावजी सखाराम दोशी श्रीवाराज
काशीप्रकाश वामनसाहब इन्स्टीट्यूट पटना
५ फूटवन्दनो शास्त्री द्वारा सम्पादित-प्रकाशित
सेठ रावजी सखाराम दोशी श्रीवाराज
मानिकचन्द्र वैन वन्दमाहा काशी
श्रीवामा संस्कृत सिरीस काशी
भारतीय ज्ञानपीठ काशी
श्रीवामा संस्कृत सिरीस काशी
द्वितीयोपिका बुद्धिका रणिया
६ श्रीवाराज वन्दमाहा श्रीवाराज
निगमसागर प्रस वन्दई
हैमचन्द्राचार्य रचित
श्रीवामा संस्कृत सिरीस काशी
या ६ काशी
सिद्धान्तसाधनसिद्धिप्रकाशे अन्तर्गत - या ६ काशी
या ५ काशी
या ३ काशी
भारतीय ज्ञानपीठ काशी
वर्मवन्दन रचित
श्रीवामा संस्कृत सिरीस काशी
७ वन्दारकर, पूना
मुद्रावन्दन शास्त्री बैंगलोर
सनातनधर्म प्रस मुरारिभाष
भारतीय ज्ञानपीठ काशी
सेठ सिद्धाचराम कलामीचन्द्र भोवसा
भारतीय ज्ञानपीठ काशी
दि वैन पुस्तकालय सूरत
वैन श्रीवामादो कारंजा
निर्मलसागर प्रेस वन्दई
९ भाव मुनिवर्धनी श्रीवाराज
भारतीय ज्ञानपीठ काशी
पो बी काश पूना

प्रस्तावनाकी विषयसूची

पूर्वभाग

- १ यशस्तिलककी कथावस्तु १
- २ यशस्तिलकमे समागत धार्मिक प्रसंग ६
- ३ सोमदेव और उनका युग

समय और स्थान १३, सोमदेव-मम्बन्धी एक शिलालेख १४, ममकालीन विद्वान् १५, पूर्वज तथा उत्तरकालीन विद्वान् १६, वैदुष्य परिचय १६

४ उपासकाध्ययन

नाम-विषयपरिचय १९, महत्त्व २०, सोमदेव और अमृतचन्द्र २०, सोमदेव और जयसेन २१, सोमदेव और अमृतगति २१, सोमदेव और पद्मनन्दि २१, सोमदेव और वीरनन्दि २२, सोमदेव और आशाधर २२, सोमदेव और यश कीर्ति २२

५ उपासकाध्ययनपर प्रभाव

समन्तभद्र और सोमदेव २३, जटासिंहनन्दि और सोमदेव २४, जिनसेन और सोमदेव २४, गुणभद्र और सोमदेव २४, देवसेन और सोमदेव २४,

६ उपासकाध्ययनमे चर्चित दर्शन और मत

वैशेषिक २६, पाशुपत दर्शन २७, शैवधर्म २९, कुलाचार्य और त्रिकमत ३१, कापालिक ३२, सांख्य दर्शन ३३, बौद्ध दर्शन ३४, जैमिनीय दर्शन ३६, बार्हस्पत्य अथवा

चार्वाक ३७, वेदान्त अथवा ब्रह्माद्वैत ३८

७ कतिपय आनुपंगिक प्रसंग

सांस्कृतिक आदान प्रदान ३९, वर्णव्यवस्था ४०, मावर्मी व्यवहार ४२, ग्रती और साधुओकी स्थिति ४३, दान और दानविधि ४५, मूर्तिपूजन ४७, पूजन एक प्रश्न और उसका समाधान ४९, पूजनके भेद ५०, पूजनविधि ५०, पंचामृताभिषेक ५४, वैदिक पूजा-पद्धति ५६, दिग्पालादिकी पूजा ५७

उत्तरभाग

श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण

मूलगुण ५९-६५, श्रावकाचारोंका पौर्वापर्य ६५, श्रावकके षट्कर्म ६६, पाँच अणुव्रत ६७, अहिंसाणुव्रत ६७, रात्रिभोजन ७४, अहिंसाणुव्रतके अतिचार ७७, सत्याणुव्रत ७७, अचौर्याणुव्रत ७९, ब्रह्मचर्याणुव्रत ८०, ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार ८२, परिग्रहपरिमाणव्रत ८३, परिग्रहपरिमाणव्रतके अतिचार ८५, गुणव्रत और शिक्षाव्रत ८७

श्रावकोंके भेद, पाक्षिक श्रावक, नैष्ठिक श्रावक, नैष्ठिक श्रावकके भेद— दार्शनिक, व्रत प्रतिमा, सामायिक, प्रोपचोपवास, मचित्तत्याग, रात्रि-भक्तव्रत, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भत्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमत्तित्याग, उद्दिष्ट त्याग, ९३—९५ साधक ९६, उपसहार ९६

प्रस्तावना

प्रस्तुत उपासकाध्ययन सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वास हैं। स्वयं सोमदेवने इन्हें उपासकाध्ययन नाम दिया है।^१ यशस्तिलकमें सोमदेव केवल यशोधर महाराजकी कथा न कहकर कुछ 'और' भी कहना चाहते थे। इस 'और' को समझनेके लिए यशस्तिलककी समग्र कथावस्तु तथा उसमें आये आनुपंगिक प्रसंगोका परिचय आवश्यक है। इसी दृष्टिसे प्रस्तावनाको दो भागोंमें विभक्त किया है। पूर्वभागमें यशस्तिलककी कथावस्तु, उपासकाध्ययन तथा आनुपंगिक प्रसंगोका विवेचन है और उत्तरभागमें उपासकाध्ययनका तुलनात्मक अध्ययन।

पूर्वभाग

[१] यशस्तिलककी कथावस्तु

योधेय देशमें राजपुर नामका एक सुन्दर नगर था। उसमें चण्डमहासेनका पुत्र राजा मारदत्त राज्य करता था। वह नृग, नल, नहुष, भरत, आगीरथ और भगदत्त नामके प्राचीन राजाओंसे भी पराक्रमशाली था। उसके अन्त पुरमें आन्ध्र, चोल, केरल, सिंहल, कर्नाट, सौराष्ट्र, कम्बोज, पल्लव और कर्लिंग देशकी सुन्दरियोका निवास था।

एक दिन वीरभैरव नामके कुलाचार्यने उससे कहा, "राजन्, तुम्हारी राजधानीमें जो चण्डमारीदेवीका मन्दिर है, उसमें यदि देवीके सामने सब प्रकारके प्राणियोंकी बलि दी जाये और समस्त लक्षणोंसे युक्त मनुष्य-युगलका वध तुम स्वयं अपने हाथसे करो तो तुम्हें विद्याधरोंके लोकको विजय करनेवाली तलवारकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।" यह सुनकर मारदत्त राजाने असमयमें ही महानवमीकी पूजाके बहानेसे समस्त जनताको मन्दिरमें बुलवाया और देवीके पादपीठके निकट बैठकर अपने रक्षक अनुचरोंको सब लक्षणोंसे युक्त मनुष्य-युगल खोजकर लानेका आदेश दिया।

चण्डमारीका मन्दिर बड़ा भयानक था, उसे देखकर स्वयं मृत्यु भी भयभीत होती थी। उसका परिसर प्रलयकालकी रात्रिकी तरह भयानक महायोगिनियोंसे भरा हुआ था और अन्वभक्तोंका झुण्ड विविध प्रकारकी आत्मयन्त्रणाओंमें सलग्न था। कहीं साधक अपने सिरोंपर गुग्गुल जला रहे थे, कहीं अपनी शिराओंको दीपककी तरह जलाते थे, कहीं रुद्रको प्रसन्न करनेके लिए अपना रुधिरपान करते थे, कहीं कापालिक अपने शरीरसे मांस काटकर बेचते थे, कहीं अपनी आँतें निकालकर मातृकाओंको प्रसन्न करते थे और कहीं अग्निमें अपने मांसकी आहुति देते थे।

इसी समय सुदत्त नामके जैनाचार्य मुनिसंघके माथ राजपुर पधारे। नगरके बाहर एक सुन्दर उद्यान था, वहाँ सुन्दरियोंके साथ युवा पुरुष-क्रीडामें मग्न थे। ऐसे स्थानको मुनियोंके आवासके अयोग्य जानकर सुदत्ताचार्य आगे बढ़ गये। आगे श्मशान भूमि थी। उससे आगे एक पर्वत था। उसीपर वह ठहर गये और मध्यकालीन कृतिकर्मसे निवृत्त होकर उन्होंने साधुओंको निकटवर्ती ग्रामोंमें गोचरी करनेका आदेश दिया।

उन साधुओंमें दो मुनिकुमार भी थे। एकका नाम अभयरुचि था और दूसरेका नाम अभयमती। दोनों सहोदर भाई-बहन थे और यशोधर महाराजके पुत्र यशोमतीकी रानी कुसुमावलीके गर्भसे दोनों यमज उत्पन्न हुए थे। कुसुमावली राजा मारदत्तकी बहन थी। दोनोंने कुमार अवस्थामें ही कुल्लूकके वन रहण

१ इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्त चरितं यशोधरनृपस्य।

इत उत्तर तु वक्ष्ये श्रुतश्रुतमुपासकाध्ययनम् ॥ यश०, आश्विन पौष ।

किसी से और गुरुताचार्यके साथ रहते थे। आचार्यने उन दोनोंको तमरमें गोबनके लिए जानेका आदेश दिया। मार्गमें बसिके निमित्त एक मनुष्य-युगलको आनके लिए भेजे गये राखसेबकोसे उनकी मुठभेड़ हो गयी। सेबकोने उनसे बहाना किया कि आपके सुभावमनको आनकर एक महान् गुप्त मन्त्रीके मन्दिरमें आपके रहगोके लिए उत्सुक हैं। अतः इस ओर पधारनेकी कृपा करें। सेबकोकी भीषण माइसिसे उन्हें किसी मानी बगिचकी आशंका तो हुई किन्तु अब कुछ देरपर छोड़कर वे दोनों मन्दिरकी ओर चले गये।

चन्द्रमारीके उस महावीरव मासके मन्दिरका दृश्य बड़ा विचित्र था। बसिके लिए छाये गये सब प्रकारके प्रायिमोक्षे मन्दिरका आँगन सरा हुआ था। छत्रस्त रसक सनकी रसवासीके लिए निमुक्त थे। उनके धस्लोटी देखकर मेड़ मीसे जैट हाथी और चीड़े दूरसे काँप रहे थे। अपने बसिके प्यसे राखसोंको देखकर मयूर, मच्छ मेढक कच्छा मादि बल्लभर जन्तु नस्त थे। झोंच बकने मुँह बछकाक राखस आदि विविध प्रकारके पक्षियोंकी भी यही क्या थी। सिद्ध और भाऊ-बैठे हिंसक जन्तुओंमें भी भय छाया हुआ था। राजाके द्वारा मनुष्य-युगलका बखिबान होनेके पश्चात् इन सबका संहार होनेवाला था।

दोनों मुनिकुमारोंने मन्दिरके आँगनके मध्यमें ठकमार कीचकर खड़े हुए राजा मारवत्तकी देखा। उस समय वह ऐसा प्रतीत होता था मानो नदीके मध्यमें कोई पहाड़ खड़ा है और वसपर फला उठाये हुए एक छप बैठा है। वहाँके भयावह वातावरणका देखकर अमयबसिने बीर्यापूर्ण वृद्धि अपनी बहूनकी ओर देखा। उसके आसन्नको समझकर अमयमतिने भी निश्चिन्तसे अपने मादिके मुँहकी ओर देखा। माई बहूनकी ओरसे आरवत्त हुआ।

उपर मारवत्त दोनों मुनिकुमारोंको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसके जोचनोष्ठ कसुपटा चली गयी सब इन्द्रियाँ कदमरसमें निमग्न हो गयीं। उसने मुनिकुमारोंकी आसनपर बैठमा और विचारने लया इन मुनिकुमारोंको देखकर मेरा हृदय क्यों काग्न हो गया? क्यों मेरा आत्मा आनन्दसे तण्ण हो रहा है। कहीं वे दोनों मेरे भागजा भागजी तो नहीं हैं? उस दिन मैंने दैवतकसे सुना था कि वे दोनों कुमार अवस्थामें ही मृहत्यावी बन गये हैं।

राजाकी परिचरित प्रसन्नमुद्राको देखकर दोनों मुनिकुमारोंने राजाकी आधीर्वास दिया। राजाने दोनोंकी आधीर्वासात्मक मधुरवाणीसे अति प्रसन्न होकर पूछा आपका कोन-सा देश है किन्तु कुछको आपने अपने बन्धुसे भीमिल किया है और आस्थावस्थामें ही आपने यह प्रश्नमाका मार्ग क्यों स्वीकार किया? कृपया बतानेका कष्ट करें।

मुनिकुमार बोला 'उद्यन्'। वसति मुनिबनोके लिए अपना देश कुछ और बीसाका कारण बल्लभना बखित नहीं है। तर्वापि कुतूहल हो तो सुनिए—[प्रथम आश्वास]

अवन्ती जनपदमें अश्वेनी नामकी नगरी है। उसमें मधोच नामका राजा राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम अश्वमती था। राजा मधोच और रानी अश्वमतीके मधोचर नामका पुत्र था।

एक दिन राजा मधोचने अपने घरमें एक सफेद बाघ देखा और अपने पुत्र मधोचरके विवाह तथा राज्याधोक्ष्यका आदेश देकर लाघु हो गये। बाघको समारोहपूर्ण अमृतमतीके साथ मधोचरका विवाह हुआ और विवाहके पश्चात् राज्याधिकार हुआ। [द्वितीय आश्वास]

तीसरे आश्वासमें राजा मधोचरकी विधवा रानी अश्वमतीका मादिका विस्तार वर्णन है।

एक दिन राजा मधोचर अपनी रानी अश्वमतीके महलमें सोनेके लिए गया। मध्यरात्रिके समय उसने देखा कि वसती रानी राध्या छोड़कर बटी। आँख मूँदकर बैठे हुए राजाकी ओर बढ़े पालते देखा और उसे सीमा हुआ आनकर अपने वक्षामुगल उतार दातीके वक्ष पहनकर जलीते महलसे निकल गयी। राजाका सन्देह हुआ। वह मुरत छठकर पंजोके बन्ध उसके पीछे-पीछे चल दिया।

राजाने एक बीलबानके तीरसेमें प्रवेश दिया। उसका नाम अष्टवर्क था। वह बड़ा ही बरगूर और बुद्धा था। रात्रीके डैरपर निर रनकर पाछपर पड़ा सोया था। रानी उसके पैरोंके पास बैठ गयी और

हाथ पकड़कर उसे जगाने लगी। रानीके देरसे आनेके कारण कुबड़ा क्रुद्ध होकर उसे मारने लगा। एक हाथसे उसने रानीके बालोंको खींचा और दूसरे हाथसे घूसे लगाये। रानी उसकी अनुनय-विनय करते हुए बोली कि जब मैं यशोधरके साथ थी तब भी मेरे हृदयमें तुम ही विराजमान थे, यदि मेरा कथन असत्य हो तो भगवती कात्यायनी मुझे खा जाये।

राजा यशोधर यह सब कृत्य देख रहा था। एक बार तो उन दोनोंका वध करनेके लिए अपनी तलवार खींचना चाही, किन्तु अपने पुत्र बालक यशोमतिकुमारके मातृवियोगके दुःखकी सम्भावनासे तथा निन्दाके भयसे अपनेको शान्त करनेका प्रयत्न किया। राजा यशोधर महलमें लौटकर सोनेका बहाना करके लेट गया और रानी अमृतमती भी चुपचाप आकर उसके पास ऐसे सो गयी, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

किन्तु यशोधर फिर सो न सका, उसका अन्त करण घोर वेदनासे हाहाकार करने लगा और स्त्री मात्रके प्रति उसे तीव्र घृणा हो गयी। उसने अपने पुत्र यशोमतिकुमारको राज्य देकर ससारको छोड़ देनेका विचार किया।

प्रातः काल होनेपर राजा यशोधर सभामण्डपमें पहुँचा। उसकी माता चन्द्रमती भी आयीं। स्तुति-पाठकने कुछ श्लोक पढ़े, जो राजाके मानसिक विचारोंके अनुकूल थे। राजाने प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक प्रदान करनेका आदेश दिया।

यह देखकर माता चन्द्रमतीके मनमें सन्देह हुआ। वह सोचने लगी, आज मेरे पुत्रका मन समारसे विरक्तिकी ओर क्यों है? कहीं महादेवीके महलमें तो कोई वैराग्यका कारण उपस्थित नहीं हुआ? मेरी अनिच्छाके होते हुए भी मेरे पुत्रने अपनी रानीको बड़ी स्वतन्त्रता दे रखी है। मेरी दासपुत्रीने एक दिन कहा भी था कि आपकी पुत्रवधूका उस कुबड़ेसे प्रेम ज्ञात होता है।

यह सोचकर माताने यशोधरसे उसकी उदासीका कारण पूछा। यशोधरने पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अपनी मातासे कहा कि मैंने एक स्वप्न देखा है कि मैं अपने पुत्रको राज्य देकर ससारसे विरक्त हो गया हूँ। माताने स्वप्नोपर ध्यान न देनेका आग्रह करते हुए अन्तमें कहा कि यदि तुझे दुःस्वप्नका भय है तो शान्तिके लिए कुलदेवताके सामने समस्त प्रकारके प्राणियोंकी बलि देनी चाहिए।

पशुओंके बलिदानकी बात सुनकर यशोधरके चित्तकी बड़ा कण्ट हुआ। पशुबलिको लेकर माता और पुत्रमें शास्त्राधारपूर्वक वार्तालाप हुआ, किन्तु राजा माताके मतसे सहमत नहीं हो सका। माताने सोचा मेरे पुत्रको जैनधर्मकी हवा लगी प्रतीत होती है। उस दिन पुरोहितके पुत्रने कहा भी था कि आज राजा एक वृक्षमूल-निवासी दिगम्बरसे मिला था। उसी दिनसे न तो यह मधु-मासका सेवन करता है, न शिकार खेलता है, न पशुबलि करता है और श्रुति-स्मृतिके प्रमाण उपस्थित करनेपर उनके विषय उत्तर देता है।

यह सोचते ही दिगम्बरोंके विरुद्ध माताका क्रोध भटक उठा और वह उनकी निन्दा करने लगी। किन्तु पुत्र उनका समर्थन ही करता गया। जब माताने शिव, विष्णु और सूर्यकी पूजा करनेपर जोर दिया तो पुत्रने ब्राह्मणधर्मकी कमजोरियाँ बतलाते हुए अनेक शास्त्रोंके आधारपर जैनधर्मकी प्राचीनता और महत्ताका ही समर्थन किया।

अन्तमें माता चन्द्रमतीने निराश होकर अपने पुत्रको इस बातके लिए सहमत किया कि आटेका एक मुर्गा बनाकर देवीके सामने उसकी बलि दी जाये।

रानी अमृतमतीको राजसभाका सब समाचार मिला। वह तुरन्त समझ गयी कि स्वप्नकी बात असत्य है और राजाको मेरा रहस्य ज्ञात हो गया है। उसने तुरन्त आगेका अपना कार्यक्रम निश्चिन करके एक मन्त्रीके द्वारा यशोधरको कहलाया कि राजाको दुःस्वप्नके फलसे बचानेके लिए मैं स्वयं देवीके सामने अपनी बलि देनेको तैयार हूँ। तथा यदि राजाने ससारको त्यागनेका ही निश्चय किया है तो सीता, द्रौपदी और अरुन्वती आदिकी तरह मुझे भी वनमें साथ चलनेकी आज्ञा दी जाये। उसने देवीकी पूजाके पश्चात् राजा और उसकी माताको अपने महलमें भोजनके लिए भी आमन्त्रित किया और यशोधरने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

बन्धनारी देवीके सामने बाटेके बने मुर्बेको राजा बन्धोबरने उसी बिबिसे काटा जिस बिबिसे बीबित मुर्बा काटा जाता है और उसे मांसके रूपमें पककर खाया भी ।

दूसरे दिन बभ्रुमलोक गङ्गामें राजा बन्धोबर माता बन्धमती पुत्र यशोमतिकुमार तथा पुत्रबधूका भोजन हुआ । बभ्रुमलतीने अपने पति तथा सासके भोजनमें बिप भिक्षा दिया । भोजन करनेके बाद दोनोंका प्राणान्त हो गया । [बभ्रुर्ष आचारा]

मुनिकुमार मरुटा गया, हिमाचलमें बलिभमें सुबेका नामका पर्वत है । उस पर्वतकी छपरबकामें एक गुफा है । बन्धोबर मरकर उस बरपर मयूरकुलमें उत्पन्न हुआ । उसे एक छिकारीने पकड़कर राजा यशोमतिकुमारको भेंट कर दिया । राजमहलको देखते ही मयूरको अपने पूर्व-जन्मका स्मरण हो आया ।

उत्तर राजमाता बन्धमती मरकर बिल्गाबकके बलिभमें स्थित करहाट देहमें कुत्ता हुई । संयोगवश उसके स्वामीने वह कुत्ता भी यशोमतिकुमारको भेंट कर दिया ।

एक दिन मयूर राजमहलमें सातवें बरपर जा पहुँचा और उसने अपने पूर्वजन्मकी पत्नी रानी बभ्रुमतीको बुझनेके साथ रतिगुलमें निमग्न देखा । देखते ही मयूर ज्येष्ठ उन्मत्त हो गया और अपनी बाँध पंख बगैरछे उसने दोनोंपर प्रहार किया । बाधियोने यह देखकर घोर मचाया और जो कछ भी उनके हाथमें आया उसीसे मयूरको मारने लगीं । धीरे धीरे वह कुत्ता भी बीड़ा और उसने मयूरको मार डाला । यशोमतिकुमारने जो निष्ठ ही ये कुत्तेको मयूरपर प्रहार करते हुए देखा और एक लकड़ीका टुकड़ा कैककर माघ उससे वह कुत्ता भी मर गया ।

मयूर मरकर सेही हुआ और कुत्ता भरकर सर्प हुआ । एक दिन भूखा सेही सर्पको जा गया उस समय उसके मुखकी आवाजसे पासमें ही घोवा हुआ ककबलगा आग गया और उसने सेहीको मार डाला ।

उसके पतनत् बन्धोबरका जीव सिधा नदीमें मल्ल हुआ और बन्धमतीका जीव बन्धो नदीमें मगर हुआ । एक दिन ज्येष्ठ मासमें सिधामें छज्जीनीकी नारियां झीका कर रही थीं । मगरने उनमेंसे एक स्त्रीको पकड़ लिया जो राजा यशोमतिकुमारकी रानी कुसुमावलीकी दासी थी । यह सुनते ही कुछ राजाने बीबरीको समस्त हुष्ट बन्ध-जगुर्बोको मार डालनेका आदेश दिया । बीबरने उस मगरके साथ मल्लको भी पकड़ लिया और राजाके सम्मुख उपस्थित किया । राजाने अपने गिरनेके क्षणपूर्वके किए दोनोंको भोजनखाकामे भिजवा दिया । इस तरह उन दोनोंका अन्त हुआ ।

पुनः वे दोनों छज्जीनीके निष्ठ कंकहाहि नामक ग्राममें जेंडोके सुखमें बकर-बकरी हुए । एक दिन बन्धोबरका जीव बकरा अपनी माता बन्धमतीके जीव बकरीके साथ रमन कर रहा था । उसी समय मेढोके सुखके स्वामीने अपने ही टीकन छीमोसे बकरेके मर्मस्थानमें आघात किया । उस आघातसे वह मर गया और उसी बकरीके बने आया ।

एक दिन यशोमतिकुमार शिकार खेलनेके लिए बने आया । किन्तु कोई शिकार उसके हाथ नहीं गया । निराश और क्रुद्ध होकर वह बने लौटा । मार्गमें जेंडोके सुखमेंसे जाते हुए उसने उस बकरीपर बाणसे प्रहार किया और उसका पेट फाड़ डाला । उसमेंसे एक बच्चा निकला । उसे उसने अपने रसोदयेको भेंट दिया ।

उत्तर वह बकरी मरकर कजिब देहमें एक भेड़के रूपमें उत्पन्न हुई । उस भेड़को एक व्यापाटीने खरीद लिया । एक बार वह छज्जीनी आ गया । एक दिन वह बकलाभी वीसा सिधा नदीमें तैर रहा था । वहाँ उसकी मुठने बन्धोमतिकुमारके एक बरबसे हो गयी । मैनेने भोड़ैर आवाजिक प्रहार किया । फलस्वरूप राजाके आदेशके अनुसारके द्वारा वह वीसा घोर मल्लगा देकर मार डाला गया । मांसकी प्रेमी बभ्रुमतीने उस बकरेको भी पकड़ाकर खा डाला । इस तरह वीसा और बकरेका प्राणान्त हुआ । उनके नाममें दोनों मुर्बा-मुर्बा हुए ।

बन्धमल्ल नामक एक मुनिराज विजयार्थ पर्वतपर ध्यानम लोग थे । बन्धमल्ल नामका एक निराशर आकाशमार्गसे उड़ते भिजवा । मुनिराजके उनके माहुरम्यस उसका विमान दब गया । उसने कुछ

होकर मुनिके ऊपर घोर उपसर्ग किया। विद्याधरोका राजा रत्नशिखण्डी मुनिराजके दर्शनके लिए उसी समय वहाँ आया। वह कन्दलविलासके दुष्कर्मको देखकर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसे शाप दिया कि इस दुष्कर्मके विपाकसे तू उज्जैनीमें चण्डकर्मा नामका जल्लाद होगा।

विद्याधरके प्रार्थना करनेपर रत्नशिखण्डीने कहा कि जब तुझे आचार्य सुदत्तके दर्शनका लाभ होगा और तू उनसे धर्मग्रहण करेगा तो तेरी इस शापसे मुक्ति हो जायेगी।

आचार्य सुदत्तका परिचय देते हुए विद्याधरोके राजाने कहा कि एक समय आचार्य सुदत्त कलिंगके शक्तिशाली राजा थे। एक दिन एक चोर उनके सामने उपस्थित किया गया, वह सोते हुए एक नाईको मार डालने तथा उसका सर्वस्व हरण करनेका अपराधी था। राजाने धर्माधिकारियोंसे उसको दण्ड देनेके विषयमें परामर्श किया। उन्होंने कहा कि इस चोरने सोते हुए मनुष्यका घात किया है अतः इसे नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ देकर इस तरह सताया जाये कि दस-बारह दिनमें इसकी मृत्यु हो जाये। यह सुनकर राजाको क्षत्रिय-जीवनसे बड़ी अरुचि हुई और उन्होंने राज्य त्याग कर जिनदीक्षा धारण कर ली।

इसी बीचमें वह विद्याधर उज्जैनीमें जल्लादका कर्म करने लगा। यशोधर तथा चन्द्रमती उसी नगरके समीप एक चाण्डाल वस्तीमें मुर्गा-मुर्गी हुए थे। एक दिन उस जल्लादने, जो चण्डकर्मकि नामसे प्रसिद्ध था, एक चण्डालपुत्रके हाथमें उन मुर्गा-मुर्गीको देखा। और उससे लेकर उन्हें यशोमतिकुमारको दिलवाया। राजा उस समय कामदेवकी पूजाके लिए जा रहा था। उसने चण्डकर्मसे कहा कि अभी तुम इन्हें अपने ही पास रखो। वहाँ उद्यानमें इनका युद्ध देखा जायेगा।

चण्डकर्मा पिंजरेके साथ उद्यानमें पहुँचा। उसके साथमें शकुन-शास्त्रमें निष्णात आसुरि, भागवत ज्योतिषी, घूमध्वज नामक ब्राह्मण, भूगर्भवेत्ता हरप्रबोध और सुगतकीर्ति नामक बौद्ध भी थे। उद्यानमें एक वृक्षके नीचे आचार्य सुदत्त विराजमान थे। उन सबने आचार्य सुदत्तके सामने अपने-अपने मतोंका निरूपण किया, किन्तु आचार्यने उन सभीके सिद्धान्तीका खण्डन करते हुए अहिंसाको ही धर्मका मूल बतलाया। अपने पक्षके समर्थनमें उन्होंने उस मुर्गा-मुर्गीके पूर्वभवोंका वर्णन करते हुए राजा यशोधर और चन्द्रमतीके उस कृत्यकी चर्चा की, जिसके कारण उन्हें वे कष्ट भोगने पड़े। आचार्य सुदत्तके मुखसे अपने पूर्वभवोंकी बात सुनकर मुर्गा-मुर्गीको भी अपने पूर्वकृत्योंपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और दोनोंने अपने मनमें व्रत धारण किये। दोनों एक पटमण्डपमें आनन्दसे कूज रहे थे। इतनेमें यशोमतिकुमारने अपनी रानीको शब्दवेधमें अपनी कुशलता दिखलानेके लिए वाण छोड़ा। उस वाणसे आहत होकर मुर्गा-मुर्गी दोनों मर गये। व्रतके प्रभावसे अगले जन्ममें दोनों मनुष्ययोनिमें प्राप्त हुए और यशोमतिकुमारकी रानी कुसुमावलीके गर्भमें यमज भाई-बहनके रूपमें उत्पन्न हुए। उनका नाम यशस्तिलक और मदनमती रखा गया था, किन्तु वे अभयरुचि और अभयमतीके नामसे प्रसिद्ध हुए, क्योंकि उनके गर्भमें आनेके दिनसे ही उनकी माताका भाव सब प्राणियोंको अभयदान देनेका हो गया था।

एक दिन राजा यशोमति शिकार खेलनेके लिए गया। और उसने सहस्रकूट जिनालयके उद्यानमें सुदत्ताचार्यको देखा। राजाके एक साथीने कहा कि राजन्, इस मुनिके दर्शनसे आज शिकारमें सफलता मिलना दुष्कर है। यह सुनकर राजाको क्षोभ हुआ। तब मुनिके दर्शनार्थ आया हुआ कल्याणमित्र बोला, राजन्। असमयमें यह मुखपर कीचके चिह्न क्यों? राजाका साथी बोला, इस अमंगलस्वरूप नगे साधुको जो देख लिया। कल्याणमित्रने कहा, राजन्! ऐसा मत सोचो। यह महात्मा एक समय कलिंगदेशके राजा थे। पुन्हारे पितासे इनका वशानुगत सम्बन्ध था। इन्होंने स्वयं प्राप्त लक्ष्मीकी चंचल जानकर छोड़ दिया। अतः इनकी अवज्ञा करना उचित नहीं है। तब यशोमतिकुमारने कल्याणमित्रके साथ मुनिराजको नमस्कार किया और मुनिराजने उन्हें शुभाशीर्वाद दिया।

इससे यशोमतिकुमारकी अपनी दुर्भावनापर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसके मनमें यह विचार आया कि मुझे अपने दुष्कृत्यके प्रायश्चित्त रूपमें अपना सिर काटकर इनके चरणोंमें चढ़ाना चाहिए। मुनि महाराजने

राजाके मनकी बातको जानकर उसे ऐसा करनेसे रोका । इससे यज्ञोपविष्टकुमार और भी अधिक प्रभावित हुआ और उसने मुनिराजको अतीव्रियदर्शी जानकर अपने दादा यशोधर महाराज और पितामही यन्त्रमयी तथा माता-पिताके दिलमें पूछा कि अब वे किस लोकमें हैं । मुनिराज बोले 'राजन् ! तुम्हारे दादा महाराज यशोधर तो ब्रह्मोत्तर स्वयमेव हैं । तुम्हारी माता पाँचवें नरकमें हैं । और तुम्हारी पितामहो तथा पिता बाटेके वन मुँगेकी बलि देनेके पापसे अनेक जन्मोंमकल सड़ाकर अब तुम्हारे घरमें पुनः और पुनः के रूपमें वर्तमान हैं ।

यह सुनकर यज्ञोपविष्टकुमारको अपने दुष्कर्मोंपर बड़ा खेद हुआ और उसने आचार्यसे वीसा देनेकी प्रार्थना की । और सब परिवारकी बुझाकर उसे मुनिराजके द्वारा कहा हुआ वृत्तान्त सुनाया ।

इसकी सब कथा कहनेके पश्चात् मुनिकुमार राजा मारवतसे बोला 'राजन् हम बड़ी अमयशील और अमयमति हैं । अपने पूर्वजनोंका वृत्तान्त सुनकर हमें अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और हमने संसारकी छोड़ देनेका निश्चय किया । उस समय हम दोनोंकी अवस्था केवल आठ वर्षकी थी इसलिये मुनि वीसा तो नहीं अस्वच्छके वत दिये गये । आचार्य सुव्रतके साथ विहार करते हुए तुम्हारी नगरीमें आने लगे तो तुम्हारे देखकर हमें फटकर तुम्हारे पास ले आये ।

मुनिकुमारकी कथा सुनकर मारवत राजाको आने ऊपर बड़ी क्षमति हुई और उसने मुनिकुमारसे अपने समान बना देनेकी प्रार्थना की । मुनिकुमारने उन्हें अपने पुनः सुव्रताचार्यके पास बचनेके लिए कहा । [पञ्चम अक्षरावध]

आचार्य सुव्रत अवधिज्ञानसे सब जानकर स्वयं ही वहाँ का उपस्थित हुए । सबने खड़े होकर उनका सम्मान किया और राजा मारवतने उनसे वर्मका स्वल्प पूछा उसीके उत्तरमें उन्होंने आचर्य वर्मका उपदेश दिया । वही उपदेश आरवाध ज्ञु, सात और आठमें विलित है जिसे सोमदेवने अपासकाभ्ययन रत्ना दी है ।

[२] यद्यस्तिलकमें समागत धार्मिक प्रसंग

यद्यस्तिलककी कथावस्तुके परिचयसे यह स्पष्ट है कि बाधकी कारम्बरी और सुवन्मकी वासववता की तरह यह केवल एक आध्यात्ममात्र नहीं है, किन्तु जैन और जैनतर धार्मिक तथा धार्मिक सिद्धान्तोंका एक सारभूत ग्रन्थ भी है । इसके साथ ही इसमें तत्काजीन सामाजिक जीवनके विविध रूप भी चित्रित हैं और इस तरह यह एक महान् धार्मिक वाक्याल भी है ।

इसके अन्तिम टील आरवाध जैनधर्मके भावकाचार विषयक कथावि नियमोंसे ही सम्बद्ध है । कथा-आचार्य भी सोमदेवने जैन-तत्त्वोंका समावेश किया है । जैनधर्मपर लिये जानेवाले आसोपोंका परिहार और तत्त्वमैत जैनतर धर्मों और धर्मोंकी समीक्षा भी इसमें विस्तारसे की गयी है । इस दृष्टिसे यद्यस्तिलकका अत्यन्त आरवाध बहुत महत्वपूर्ण है । इसमें कविने यज्ञोपधर और उसकी माताके बीचमें पशुधर्मिकों केकर बर्ताव काय कराया है । यज्ञोपधर जैन सिद्धान्तोंमें आस्था रखता है और उसकी माता ब्राह्मणधर्ममें । यज्ञोपधर अपने पसके समायनके लिए एक ओर तो वैदिक धर्मके कतिपय सिद्धान्तोंका विरोध करता है दूसरी ओर अनेक जैनतर धारकोंके बहुरूप देकर जैन-धर्मकी प्राचीनता और महत्ताको प्रस्थापित करता है ।

यज्ञोपधरकी माता अपने पुत्रके द्वारा कथित दुष्कर्मणको शान्तिके लिए देवीके सम्मुख सब प्रकारके प्राथिव्यायी बलि देनेका मुताब रखती है और इसीपरसे माता-पुत्रमें विवाहका सूत्रपात होता है । माता अपनी बातके समर्थनमें अनुका मत रखती है

“वज्राय पश्य” सृष्टाः स्वयमेव स्वधुमा ।

अथा हि भूतैः सर्वत्र तस्माद्वज्रे यथोत्पन्नः ॥११॥

अनुपके च वज्र च विपुलीयतकमलि ।

अत्रैव पराधी हिंसा नामकलेनप्रधीमनु ॥१२॥

दृष्टव्येण पश्य हिंसम् वेद्वेदार्थविद्भिः ।

आत्मार्थ च पर्यायैव गमयन्नुत्तमां गतिम् ॥१३॥ —अनुरूपति ४० ५

“स्वयं ब्रह्माने यज्ञके लिए पशुओंकी सृष्टि की है। और यज्ञ सबकी समृद्धिके लिए है। अतः यज्ञमें पशु-का वध अवध है। मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म और देवकर्ममें ही पशु-हिंसा करनी चाहिए, अन्यत्र नहीं, यह मनुने कहा है। वेद और वेदार्थको जाननेवाला द्विज इन पूर्वोक्त कर्मोंमें पशुकी हिंसा करता हुआ अपनेको और उस पशुको उत्तम गति प्राप्त कराता है।”

यह सुनकर यशोधर अपने कान बन्द करके दीर्घ निश्वास लेता है और अपनी मातासे कुछ कहनेकी आज्ञा मांगता है। मातासे स्वीकृति पाकर यशोधर पशुवलिका मखन विरोध करता है। वह कहता है कि प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रियोका महान् धर्म है। निरपराध प्राणियोंका वध करनेपर वह महान् धर्म नष्ट हो जायेगा।

“यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् यः कण्टको वा निजमण्डलस्य ।

अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति न द्रौन-कानीन-शुभाशयेषु ॥”

राजागण उसीपर अस्त्र-प्रहार करते हैं जो शत्रु-संग्राममें सशस्त्र उपस्थित होता है, अथवा जो निज देशका कण्टक होता है। दुर्बलोपर, नीचोपर और सज्जनोपर नहीं। तो माता ! इस लोक और परलोक-सम्बन्धी आचारमें तत्पर रहते हुए मैं उन पशुओंपर कैसे अस्त्र चलाऊँ। क्या आप भूल गयी कि कल ही हिरण्यगर्भ मन्त्रोके पुत्र नीति बृहस्पतिने आपकी प्रेरणापर मुझे ये तीन श्लोक पढाये थे,

“न कुर्वीत स्वयं हिंसा प्रवृत्ता च निवारयेत् ।

जीवित बलमारोग्य शश्वद् वाञ्छन्महर्षिपतिः ॥

यो दद्यात् काञ्चन मेरु कृत्स्नां चापि वसुन्धराम् ।

एकस्य जीवित दद्यात् फलेन च न सम भवेत् ॥

यथात्मनि शरीरस्य दुःख नेच्छन्ति जन्तवः ।

तथा यदि परस्यापि न दुःख तेषु जायते ॥”

“दीर्घ आयु, शारीरिक सामर्थ्य और आरोग्यको चाहनेवाले राजाको स्वयं हिंसा नहीं करनी चाहिए, और यदि कोई अन्य करता हो तो उसको रोकना चाहिए। जो पुरुष मेरुके बराबर स्वर्ण तथा समस्त पृथ्वीका दान करता है और एक जीवको जीवन दान करता है इन दोनोंके फल समान नहीं हैं। जैसे जीव अपने शरीरमें दुःख नहीं चाहते वैसे ही यदि दूसरे जीवके दुःखकी भी कामना न करें तो उन्हें कभी दुःख उठाना न पड़े।”

“ब्राह्मण और देवताओंके सन्तर्पण और शरीरकी पुष्टिके लिए लोकमें अन्य भी बहुत-से उत्तम उपाय हैं। तब सत्पुरुष पाप क्यों करेगा ? फिर मास तो रज और वीर्यके संयोगमे उत्पन्न होता है, अतः वह अपवित्रताका धर है। ऐसा मास भी यदि देवताओंको पसन्द है तो हमें मासभक्षी व्याघ्रोंकी उपासना करनी चाहिए। अतः देवता पशुओंके उपहारसे प्रसन्न होते हैं, यह प्रवाद मिथ्या है। वनमें भी तलवारके द्वारा और गला दवानेसे पशु मारे जाते हैं। और इनको देवियाँ यदि स्वयं खा जाती हैं, तब तो उनसे व्याघ्र ही विशेष स्तुतिके योग्य हैं क्योंकि वे स्वयं मारकर खा जाते हैं, देवताओंकी तरह दूसरोंसे मरवाकर नहीं खाते। यथार्थमें लोग देवताओंके बहानेसे स्वयं मद्य और मासका सेवन करते हैं। ऐसा करनेसे यदि दुर्गति न हो तो फिर दुर्गतिका दूसरा मार्ग कौन-सा है ?

“यदि परमार्थसे हिंसा ही धर्म है तो शिकारको ‘पापद्वि’ क्यों कहते हैं, मासको ढाँककर क्यों लाते हैं ? मास बनानेवाला घरसे बाहर क्यों रहता है, मासका दूसरा नाम रावणशाक क्यों है ? तथा पर्वके दिनोंमें मासका त्याग क्यों बतलाया है ?

तथा पुराणोंमें (महाभारतमें) ऐसा क्यों कहा है,

“यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत ।

तावद् वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातका ॥”

“हे युधिष्ठिर, पशुके शरीरमें जितने रोम होते हैं, पशुके घातक उतने हजार वर्ष तक नरकमें दुःख भोगते हैं।”

बरतबिने ऐसा क्यों कहा है,

‘मायावाताकिहृति’ परबनहरने संभम’ सत्यवाचने
कमले शबलका प्रदेय पुनतिजनकयामूकभाष परेवाम् ।
तृष्णाकोतोविषम्भो गुरुषु च विनतिः सर्वमूतानुकम्पा
सामान्यं सर्वसाक्षेपुपुनरुपविधि श्रेयसामेव आर्त्ताः ॥

प्राज्ञोंका बात करनेका त्याग पर-बनके हरनका त्याग सत्य बचन मोक्षका सममपर धनिके अनु-
सार बान देना पराधी युक्तियोंकी चर्चा-बातमि नुप रचना तृष्णाके सोतको रोकना बर्बाद परिग्रहका परि-
माण करना गुस्सेको नमस्कार करना सब प्राणिमोंपर दया करना सब आत्मोमें बहु कल्याणक सामान्य
मार्ग हैं किन्तीने भी इसका निषेध नहीं किया है। तथा व्यासने कहा है

‘होम-स्नान-उपो-आय-अष्टाध्याय्यो गुणाः ।

जुंति हिंसारते चार्थ चापहाक-सत्सीसमाः ॥

‘हे अर्जुन हिंसक पुरुषके हवन, स्नान उप वाप अष्टाध्याय आदि गुण चापहाकके टोकनके पानीकी
तख् बघाह्य हैं ।

इस तरह मद्योवरने अनेक प्रमावमूत कैमैतर आत्मोके उद्धरण-हारा पशुबच और मांस प्रसनका
विरोध किया ।

अपने पुत्रके मुहसे इस प्रकारका तर्क सुनकर बन्धुमतीको क्या कि मेरे पुत्रपर किसी दिनम्बर साधु-
की छाया पड़ गयी है। अतः वह इनकी निम्ना करती हुई कहती है ‘हे पुत्र इन दिनम्बरोंके बर्मेमें देव
पितर और द्विजोंका उत्पन्न नहीं होता स्नान और होमकी बात ही नहीं है। न ये वैदिको मानते हैं और न
स्मृतिको। ऐसे दिनम्बरोंके बर्मेमें तेरी उक्ति कैसे हुई ? ये दिनम्बर कहे होकर पशुकी तख् जीवन करते हैं।
निरुज्य हैं जीवन नहीं करते हैं देव और ब्राह्मणोंके इन निम्नकोसे तो कोई बात भी नहीं करता। कृतबुध
मेवा और आपरमें तो इनका नाम भी नहीं है। ये तो कस्मियुगमें ही उत्पन्न हुए हैं। इनके घटमें मनुष्य ही
देवता हैं और इनकी संस्था जनता है। हे पुत्र बर्मेमें केवल भुति ही प्रमाण है वैदिके विवाय अन्य कोई
देवता नहीं है। यदि ऐसा अनुगण देकतामोमें है तो हर हरि ब्रह्मा धूर्वकी भक्ति कर ।

माताके बचनोंकी सुनकर मद्योवर उसका प्रतिवाद करते हुए कहा है ‘माता ये तीन कोप विध
प्रकारसे देवका अभियेक पूजन स्तवन करते हैं तथा जलवाप और धुतपूजन करते हैं उसे आप ही आप
घनसे पूजकर देखें। जो इनारे पितर पुण्य-कर्म करके स्वर्गाधिकर्म बने बने उनके उद्देशसे प्रति वर्ष ब्राह्मणों
और कीर्त्तोंको प्रोजन करानेसे क्या प्रबोजन है ?’

इन दिनम्बर साधुओंका एक कर्म तो माताके बरते होता ही है। दूसरा कर्म इन बारम्बे होता है
अतः ये भी द्विज हैं। और इन द्विजोंका सन्तर्पण बभुनिन बानके हारा तीन कोप करते ही है। इनमें जो पुरुष
होते हैं वे स्नान करके देव और धारनका पूजन करते हैं स्वाध्याय और ध्यान करते हैं। यदि नदी या
समुद्र बगीचमें स्नानसे ही पुण्य होता है तो सबसे प्रथम तो जलचर जीव उस पुण्यके भागी होने चाहिए।
नहा भी है

“रागद्वेषमदोम्भया” धीर्म्म ये बराधर्षिवाः ।

न से कर्मकेन ह्युद्धवन्ति स्वामाधीर्षसतैरपि ॥ -३ भा पृ १५ ।

‘जो दुस्व राग द्वेष और मदके समस्त हैं और स्थिर्म्ममें आधन है वे रीकड़ों तीर्म्ममें स्नान करनेपर
भी बर्मी मुक्त नहीं होसकते।’ तथा सप्रमन मोहन बघीकरण उन्नापटन विदेवक और मारनने लिए व्यनत-
की ब्रह्म करनेके लिए तथा ब्रह्ममुद्रिके लिए हवन और भुजर्वाक भी जाती है। देववप तो अनुपान बरती
है बन्ने जनिमें अतिज बघसे नवा प्रबोजन। मोलके लिए बघत साधुओंको स्नान और होमसे क्या प्रबोजन ?

गृहस्थोका धर्म मायुक्त धर्म नहीं हो सकता और नायुक्त धर्म गृहस्थका धर्म नहीं हो सकता । क्या भी है,

“दिग्गम्बर कुक्षेलाङ्ग सर्वदृग्गन्धर्वजितः ।

सम सर्वेषु भूतेषु स यति परिकीर्तितः ॥

पापस्नान व्रतस्नान मन्त्रस्नान तथैव च ।

आपस्नान गृहस्थस्य व्रतमन्त्रस्तपस्त्रिनः ॥

न स्त्रीभिः सगमो यस्य य परं व्रताणि स्थितः ।

न शुचिः सर्वदा प्रादुर्भावाच्च हुताशनम् ॥”

“जो हमराने देव नहीं रखता, कुम्भिन वस्त्रकी तरह जिसका जरीर मट्टिन है, जो सब प्रकारके द्रव्योंमें अच्छा है, तथा सब प्राणियोंमें नम्रभाव रखता है उस यति कहा है । स्नानके तीन प्रकार हैं, जलस्नान, मन्त्रस्नान और व्रतस्नान । गृहस्थ जलस्नान करता है और तपस्वी व्रत और मन्त्रोंके द्वारा स्नान करते हैं । जिसका स्त्रियोंके साथ सगम नहीं है तथा जो परद्रव्यमें लीन है उस पुरुषकी ओर वायु तथा अग्निकी सर्वदा शुचि कहा है ।”

तथा उद्योतिपागमे कहा है,

“अमग्र शनिना दृष्ट क्षणं रूपितं पुनः ।

नक्षत्रस्तस्य पीडाया तावेव परिपूजयेत् ॥”

“किमीका शनि सप्तम स्थानमें हो और क्षण-दिग्गम्बर साधु यदि कृपित हो जाये तो शनिके भजनकी शक्तिकी पीडामें शनिकी ही पूजा करनी चाहिए और क्षणके भजनकी क्षणकी पूजा करनी चाहिए ।”

प्रजापतिके द्वारा प्रतिपादित चित्रकर्म शास्त्रमें कहा है,

“श्रमण तल्लिप्ताङ्ग नवभिर्भित्तिभिर्युतम् ।

यो लिखेत स लिखेत सर्वां पृथ्वीमपि स्यागराम् ॥”

“जो चित्रकार तेलमें लिपि अगवाले श्रमणका नवों भित्तियोंसे युक्त चित्र बनाता है वह सागरमहिन समस्त पृथ्वीका चित्र बनाता है ।”

तथा आदित्यमतमें अर्थात् सूर्यमिद्वान्तमें लिखा है,

“सवत्रीजङ्घुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविमलसमेता ।

ते देवा दशताला शेषा देवा भवन्ति नवताला ॥”

“समारके बीजभूत मोहनीय कर्मके अक्षुरूप राग-द्वेषका धय करनेवाले और आठ महा-प्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यम मट्टिन अर्हन्त देवकी प्रतिमा दशताल प्रमाण होती है और शेष देवताओंकी मूर्तियाँ नौताल प्रमाण होती हैं ।”

आचार्य ब्राह्मिहिरकृत प्रतिष्ठाकाण्डमें लिखा है,

“विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्रह्मणा

मातृणामिति मातृमण्डलविद्वद्भ्योऽसमस्मा द्विजा ।

शाक्या सर्वहिताय शान्तमनस्यो नमना जिनानां विदुः

ये यदेवमुपाश्रिता स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम् ॥”

“भागवत विष्णुकी प्रतिष्ठा करते हैं, सूर्यभवन शाकद्वीपीय ब्राह्मण सूर्यकी प्रतिष्ठा करते हैं, ब्राह्मण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा करते हैं, मातृ-मण्डलके भक्त मातृ मानाओंकी प्रतिष्ठा करने हैं, भस्म रमानेवाले द्विज शिवकी प्रतिष्ठा करते हैं, बौद्ध बुद्धकी प्रतिष्ठा करते हैं, शान्तचित्त दिग्गम्बर जिनदेवकी प्रतिष्ठा करते हैं । इस तरह जो जिस देवका उपासक है उसे अपनी विधिमें उस देवकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए ।”

निमित्ताभ्यामयमे सिद्धा है

‘यदिनी राजहंसान्ध निग्रन्थाच्च तपोधनाः ।

य हेतुमुपसर्पन्ति सुमिच्छं तत्र निर्दिशेत् ॥

कमलिनी राजहंस और निर्ग्रन्थ तपस्वी जिस देशमें पाये जाते हैं वहाँ दृग्मित्र होता है ।’

इस तरह सामवेदके राजा यशोधरके द्वारा जैनधर्म और उसके अनुयायी विष्णुवर साधुओं तथा देशीकी प्राचीनता तथा मान्यताके सम्बन्धमें जैनैतद् ग्रन्थोंसे प्रमाण उपलब्ध कराने हैं ।

आगे और भी लिखा है कि धर्म भारतीय भवमुक्ति भवहरि भवमेष्ट कष्ट गुणाढ्य भ्यास भास भोस कास्त्रिास बास भयूर नारायण कुमार याच, राजधेनर जादि महाकविमैकि काभ्योर्न और भरतप्रणीत काभ्याभ्यास तथा सर्वजनप्रसिद्ध जन-जन स्याकमानामें विष्णुवरसम्बन्धी हस्ती महुती प्रसिद्धि क्यों पामी जाती (यदि विनम्बर कस्मिमें उत्पन्न हुए होते तो) ।

अब प्रमाण विरोध प्राचीन तो नहीं हैं । बराहमिहिरका समय पाँचवीं-छठी शताब्दी है । और सम्भवतया उस जड़रजामें वही समय प्राचीन है । किन्तु उस समय प्राचीन इतिहासकी चीज और अभ्यसनका बहुत आकाश तोर छावजिनिक कपडे नहीं पा सतः बहुत प्रमाणोंसे जैन धर्म और जैन साधुओंकी सार्वजनिक मान्यता और विस्तार ही प्रकाश पड़ता है । हाँ उक्त कथिमें जने किन-किन ग्रन्थोंमें जैनोंका उल्लेख किया है यह अवश्य अभ्यसनीय है ।

इस प्रकार माताके द्वारा जैन धर्मपर किसे नये आलोचना परिहार करते हुए यशोधर जैन साधुओंपर किसे नये आलोचनाके उत्तरमें करता है

माना । मुझे कहा था कि जैन साधु कहे होकर जीवन करते हैं तो इसका कारण यह है कि जब तक लड़े होनेकी क्षति है और जीवनक दोनों हाथ जानसय मिलते हैं तबतक ही मुनि जीवन करते हैं । जिस धर्ममें बालको भोक बचकर भी परिग्रहके होनेपर उत्तुह निवारिग्रहका निषेध किया है उस धर्मके अनुयायी मुमुक्षुओंकी मति बरन धर्म या बल्कलमें कैते हो सकती हैं ? रही शोधकी बात तो मुनिपय कमण्डलुकी सहायतासे बचकर जीव करते हैं । किन्तु अंगुलिमें धर्मके काट केनेपर कोई अपनी नाक नहीं काट डालता जर्पात् को जैन जपविष होता है बड़ीकी धुकि की जाती है । जैन लोप उड़ीको आप्त मानते हैं जिनमें राजादि शोय नहीं होते । जिस धर्ममें महाविका नाम लेना भी बुरा है पिहवन उस धर्मकी निम्ना बंछे कर सकते हैं ?

इसके परभाव यशोधर सत मान सेवनका विरोध तथा सत मात और मनुके प्रदीनकी बुराई कदाकते हुए धातनप्रमाण उपलब्ध करता है

तिससर्पयमात्रं यो मांसमश्नति आवयः ।

स ह्यध्याज निवर्तेत बाधयन्प्रतिपत्नी ॥

जो मनुष्य तिस या धरमोके बचकर भी मांस खाता है वह जबतक जायाधये बाध और दूरव है तबतक मरणसे नहीं निवस सता । स्मृतिमें कहा है

ससमायु बत्पापमग्निना धरमसाकृते ।

मरय केनज्ञेत् पार्थ मनुविमुक्तिवैवर्ण्य ॥”

अग्निसे हाया सान गोबोवः जलानेपर जिनका पाप होता है जना ही पाप मनुकी एक बूँदके बानेते होता है ।

इसके बरवान् यशोधर देशके प्रामाण्यपर आलोच करता है । मुनकी बातोंको मुनकर यशोधरकी माना पुन पुनकी बानी बाग मनवानेकी प्रेरणा करते हुए कहती है ‘राजा लीन जानी लयी और जीवन की रतावे लिए नच निज दिना और बन्धु-बाण्यः एकको मार डालते हैं । शायापीत राजाओंका राज्य

ठहर नहीं सकता। अतः पुत्र, दुर्वासनाको छोड़कर दुःस्वप्नको शान्ति तथा अपने जीवनकी रक्षाके लिए कुलदेवताके सामने जीवोंकी बलि दो। क्या महामुनि गौतमने अपने प्राण वचानेके लिए अपने उपकारी चन्द्रको नहीं मारा था? क्या विश्वामित्रने कुत्तेको नहीं मारा था। इसी तरह अन्य राजाओंने भी शिव, दधीचि, बलि, वाणासुर वगैरह राजाओंको तथा गाय वगैरहको मारकर अपना धार्मिककर्म किया था। जैसे विषकी औषध विष है वैसे ही हिंसा भी पुण्यके लिए होती है। गौ, ब्राह्मण, स्त्री, मुनि और देवताओंके चरितका विचार विद्वान् लोग नहीं किया करते। यदि तुझे अपने जीवनसे कुछ प्रयोजन न हो तो श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंकी बातको मत मान। जैसा जगत्का प्रवाह हो वैसा ही चलना चाहिए।”

आगे चन्द्रमती मधु और मासकी प्रशंसा करते हुए कहती हैं कि यदि मधु और मासका सेवन करनेमें महादोष है तो महर्षियोने ऐसा क्यों कहा है,

“न मासमक्षणे दोषो न मधे न च मैथुने।

प्रवृत्तिरेव भूताना निवृत्तिश्च महत्फलम् ॥”^१

किन्तु माताके द्वारा दिये गये प्रमाणसे भी यशोधरका विचार परिवर्तित नहीं होता और वह पुनः कहता है, “माता, दूसरोंके विषयमें मनसे भी बुरा नहीं विचारना चाहिए, तब मैं उसी कामको स्वयं साक्षात् कैसे कर सकता हूँ? क्या तुमने लोकमें प्रसिद्ध राजा वसुकी और तन्दुल मत्स्यकी कथा नहीं सुनी? कोई अभाग्य मनुष्य यदि अमृत समझकर विषका पान करता है तो क्या उसकी मृत्यु नहीं होती? जो मनुष्य पाप और अज्ञानसे ग्रस्त है, उनका दुराचरण सज्जनोंके लिए उदाहरणरूप नहीं होता है। जैसे उठती हुई धूल सबके ऊपर समान रूपसे पड़ती है वैसे ही पाप भी जाति और कुलका विचार नहीं करता है। जन्म, जरा और मृत्यु, राजा हो या रक, सबको समान भावसे अपनाते हैं। राजा और अन्य मनुष्योंमें पुण्यकृत ही भेद होता है, मनुष्य-रूपसे सभी मनुष्य समान हैं। हे माता, जैसे मेरे प्राणोंका घात होनेपर आपको महान् दुःख होता है वैसे ही दूसरे जीवोंका भी घात होनेपर उनकी माताओंको महान् दुःख होता है। यदि दूसरोंके जीवनसे अपनी रक्षा हो सकती तो पुराने राजा लोग क्यों मरते? यदि सर्वत्र शास्त्र प्रमाण है तो कुत्ते और कौएका मास भी खाना चाहिए। परस्त्री गमनको लोकमें निन्द्य माना गया तब माताके साथ ऐसा कुकर्म कौन करेगा। यदि कोई मनुष्य मास खाना चाहता है तो उसके लिए शास्त्रका उदाहरण देनेकी क्या आवश्यकता है? लोगोंके मनके अनुकूल इन्द्रियलम्पटोंने अपनी जीविकाके लिए शास्त्र रचे है। यदि पशुके घातकोको स्वर्ग मिल सकता है तो कसाइयोंको तो अवश्य ही स्वर्ग मिलना चाहिए। चाहे मन्त्रोंके द्वारा किसीका वध किया जाये, चाहे शास्त्राघातके द्वारा, चाहे यज्ञकी वेदिकापर किया जाये, चाहे बाहर, वध तो समान ही है, उससे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि यज्ञमें मारे गये पशुओंकी स्वर्ग मिलता है तो अपने कुटुम्बियोंसे यज्ञ क्यों नहीं करना चाहिए?”

इस प्रकार यशोधरके विरोध करनेपर माता उसका अनुनय-विनय करने लगी और उसने यशोधरसे आग्रहपूर्वक कहा कि यदि तुम पशुवध नहीं करना चाहते तो आटेसे बने हुए मुर्गोंकी ही बलि दे देना और उसको मास मानकर मेरे साथ अवश्य खाना।

हिंसाका अभिप्राय ही हिंसा है

माताके आग्रहवश यशोधर मारनेके अभिप्रायसे एक आटेके बने हुए मुर्गोंकी हत्या करता है और इसके फलस्वरूप उसे अनेक जन्मोंमें कष्ट उठाना पड़ता है। कथाके इस रूप-द्वारा ग्रन्थकारने कुछ नैतिक और धार्मिक विचारोंको व्यक्त किया है जो अहिंसाविषयक जैन दृष्टिकोणपर आकर्षक प्रकाश डालते हैं।

जो लोग पशुबलि के विरोधी रहे हैं उनके द्वारा किसी पशुकी प्रतिकृतिकी बलि देनेकी परम्परा

रही है एना बात होना है। उदाहरणके लिए, राजतरंगिणी^१ लिखा है कि कश्मीरक एक प्राचीन राजा मेघवाहनन अपन राजसभ पञ्चवचनपर रोक कया ही थी अतः उसक समसम वैदिक यज्ञम दृढतम पशुकी तथा भूनवस्त्रिमे आयेसे बनाय गय पशुकी बलि से जाती थी। कहा जाता है कि उत्तर कालमें माध्वाचार्यने वैदिक यज्ञम जोड़ि पशुके बलसेम उसके बावलके आटेसे बनाये गये प्रतिष्ठाकी बलि देनेवा मुबार बास किया वा। यदावतको कयासे यह स्पष्ट हो जाता है कि तीन बर्ग पशुआनी जोवनहीन प्रतिवृत्तिवासी भी बलिभः निष्ठ रहता है और इस तरह वह पशुबलिके प्रत्यक्ष रूपवा बिरोधी है।

दुनरी बात यह है कि अहिंसा और हिंसाका मुख्य सम्बन्ध कतकि अग्निनिबन्धन से है। अतुर्ब आत्मासम अब यगोवर अहिंसाक सामन आटेस बन मुर्गेका बलिदान करनेके लिए सहमत हो जाता है तो वह अग्निदान करत समय बेबीसे प्राधना करता है कि सब जीवोंके मारनपर आ फल मुसे मिलना चाहिए नहीं फल मुसे इस आटेके मुर्गेका बलि करनपर मिले। यही अग्निनिबन्धन है। सोमदेवन कहा है बिद्वज्जन पुण्य और पापके कामोंमें अग्निनिबन्धन को मुख्य स्थान दते है। मुख्य ठीकही तरह बाह्य होश्या तो घुम और अन्तुम वस्तुओंमें समान बसते गिरती है किन्तु इतने मात्रसे ही उस व्यक्तिको पुण्य और पापका बन्ध नहीं होता। अर्थात् किसी कार्यके वैदिक मुख्यक निर्धारण कतकि अग्निप्रायस किया जाता है। बाह्य प्रवृत्तिसे नहीं।

आग सोमदेवन कहा है जिस मनुष्यका मन बचन और काय तथा अन्तरात्मा दृढ है वह हिंसक होनेपर भी हिंसक नहीं है।^२

सोमदेवन अग्निनिबन्धनके स्थापन अग्निध्यान द्वायका प्रयोग करते हुए उक्त कवनको एक व्याप्त-शाय स्पष्ट करने हुए कहा है एक मच्छीमार मच्छी मारनके अग्निप्रायसे नवीम बास बासकर बैठा है यद्यपि उस समय वह मच्छी नहीं मारता फिर भी वह पापी है कयाकि उसका ध्यान मच्छी मारनम है। इसके विपरीत एक किसान क्षेत्र जोतना है और उसमें अन्नक प्राप्तिपाक्य बात भी होता है किन्तु वह पापी नहीं है कयाकि उसका ध्यान अन्नात्पादनमें है। अब ऐसी कोई क्रिया नहीं जिसमें हिंसा नहीं होनी किन्तु भावकी मुख्यता और वीर्यतासे क्रियाके फलम अन्तर हो जाता है।^३

सोमदेवन अग्निनिबन्धन और अग्निध्यानके स्थापनमें अग्निधर्म और सत्त्व द्वायका भी प्रयोग किया है। वह लिखते है 'पापायका बैठा बनाकर और उनमें देवत्वके संकल्पकी प्रतिष्ठा करनेपर यदि कोई उसकी लक्ष्मी करता है तो क्या वह पापी नहीं है?' संकल्पते ॥ बृहन्म मुनि बन जाते है और मुनि बृहन्म बन जाते है। उत्तर मनुष्यम अर्द्धात्मा यही राजिके समय प्र तमायोपम स्थित वा। देवोत उसकी परीक्षाके

१ तस्य राज्य बिलस्येव मारविष्टेपिण प्रया। कृती सुतपञ्च पितृपुत्रमृतकानामृत ॥

—राजतरंगिणी इको ३ ७।

२ सर्वेषु सत्त्वेषु इत्युप यज्जम यजेत पञ्च वैशि तद्वन्न युवात् ॥—आश्वलास ४ ५ १३१।

३ 'अग्निनिबन्धनं च पुन पापपुत्रचक्रिणाम प्रघातं विघातसाममन्त्रि मनीषिण। बाह्योत्तमिन्द्रबाणि तपवतेर्जापाव शुभमन्त्राभ्युप च वस्तुषु सम विविपतन्ति। न चैतावता सवति तदधिप्यस्तु। कुलमेन बाह्येन सम्बन्ध'—आश्वलास ४ ५ १३५।

४ ५ सो उपा इको २५१ ३४—१३३।

५ संकल्पोऽनन्तरप्रतिपत्ति च इवमायुर्व्ययान्ति सिद्धासककानि क्रियत्वासादपत् पुत्रो न सवति काउ पञ्च महापातकी।—आ ४ ५ १३५।

६ 'संक्रमेव च सवन्ति गुह्यगर्थाऽपि सुमय।' 'सुमयश्च गुह्यस्या।' ॥

७ उत्तरमधुराणी निशाग्रिमास्तिताग्निद्विषसुविचक्रकतपुत्रमिन्द्रोपपन्नान्यकवमायनमायसोऽप्युत्तरास-
पुत्रमुत्तरावरात्राऽर्द्धात्मासमस्तविरतापयवांगयुताऽपि पुत्रद्वयवचि। आ ४ ५ १३।

लिए उसके स्त्री-पुत्रादिकपर घोर उपद्रवका प्रदर्शन किया, किन्तु वह अविचल रहा। दूसरी ओर कुसुमपुरमें पुरुषूत देवर्षि आतापन योगमें स्थित होते हुए भी चरके द्वारा अपने पुत्रपर शत्रुका आक्रमण सुनकर विचलित हो गये।^१

सोमदेवने सकल्पका महत्त्व बतलाते हुए और भी लिखा है कि चिरकालसे सचित किया हुआ पुण्यकर्मका सचय प्रमादवश एक वारके भी दुष्ट सकल्पसे क्षण-भरमें उसी तरह नष्ट हो जाता है जैसे आगसे महल। जगत्में यह उदाहरण अति प्रसिद्ध है कि एक वेश्याके शवको देखकर एक मुनि, एक कामी और एक शवभक्षी, मनुष्यने अपने-अपने सकल्पके अनुसार विचित्र कर्मबन्ध किया। अतः जैसे सकल्पसे मनुष्योंमें कामविकार उत्पन्न होता है और गौके स्तनमें दूध आता है, वैसे ही मनुष्य मानसिक भावोंके अनुसार पुण्य या पापकर्मका बन्ध करता है।

इस प्रकार यशस्तिलकके कथाभागमें भी सोमदेवने जैनधर्मके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें विस्तारसे लिखा है।

[३] सोमदेव और उनका युग

सोमदेवके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—यशस्तिलक, नीतिवाक्यामृत और अव्यात्मतरंगिणी। तीनों ही मूद्रित होकर 'प्रकाशित हो चुके हैं। पहलेमें आठ आश्वासोमें गद्य और पद्यमें राजा यशोधरकी कथा वर्णित है, इसीसे उसे 'यशोधर महाराज चरित' भी कहते हैं। दूसरे ग्रन्थमें सूत्र शैलीमें राजनीतिका कथन है। इसमें ३२ अध्याय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिवाक्यामृतकी रचना यशस्तिलकके पश्चात् हुई है। तीसरा ग्रन्थ ४० पद्यांका एक प्रकरण है।

सोमदेवने यशस्तिलकके अन्तमें अपने विषयमें पर्याप्त सूचना दी है। वह देवसघके आचार्य यशोदेवके प्रशिष्य और नेमिदेवके शिष्य थे। नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि सोमदेव महेन्द्रदेवके लघुभ्राता थे, और स्याद्वादाचलसिंह, 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादोभपञ्चानन', 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' तथा 'कविकुल-राज' उनकी उपाधियाँ थी। उसमें यह भी लिखा है कि सोमदेव यशोधर महाराजचरित, पणवतिप्रकरण, महेन्द्र-मातलि सजल्प और युक्तिचिन्तामणिस्तवके रचयिता थे।

समय और स्थान

सोमदेवने लिखा है कि शक सवत् ८८१ (९५९ ई०) में मिदार्थ सवत्सरमें चैत्रमासकी मदनत्रयो-दशीके दिन, जब कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेरम आदि राजाओंको जीतकर मेलपाटीमें शासन करते थे, यशस्तिलक समाप्त हुआ। सोमदेवका यह कथन ऐतिहासिक सत्यताकी दृष्टिसे भी उल्लेखनीय है, क्योंकि सोमदेवके यशस्तिलककी समाप्तिसे कुछ ही सप्ताह पूर्व मेलपाटीमें ६ मार्च सन् ९५९ ई० के दिन अकित किये गये महान् राष्ट्रकूट चक्रवर्ती कृष्ण तृतीयके करहाट ताम्रपत्रमें उसका समर्थन होता है। इस ताम्रपत्रमें चोलोके साथ चेरम, पाण्ड्य, सिंहल आदि देशोंके राजाओंके ऊपर कृष्णराज तृतीयकी विजयका निर्देश है। तथा उसमें यह भी लिखा है कि कृष्णराजने अपना विजय-कटक मेलपाटीमें स्थापित किया था,

“मेलपाटीसमवसितश्रीमद्विजयकटकेन मया”

एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि पुण्डवन्तने अपने अपभ्रंशभाषामें निबद्ध महापुराणमें भी कृष्ण-राज तृतीयके मेलपाटीमें ससैन्य निवासका उल्लेख किया है। जिस ९५९ ई० में सोमदेवने अपना यशस्तिलक

१ प्रथम ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे १९०१ में तथा दूसरा और तीसरा भाणिकचन्द्र द्वि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं।

२ “श्रीमानस्ति स देवसघतिलको देवो यश पूर्वक शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्रीनेमिदेवाह्वयः। तस्याश्रयतप स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिना शिष्योऽभूद्विह सोमदेव इति यस्तस्यैव काव्यक्रम ॥”

सम्पूर्ण किया था। उसी सन्में पुष्करन्तने अपने महापुरुषको रचनाका प्रारम्भ किया था। महापुरुषकी कृतान्तिकार्थ पुष्करन्तने लिखा है,

‘जं कश्मि पुराणु पसिद्धणामु सिद्धत्थवरिसि सुपचाहिरामु ।
उत्तमं बहू मूर्धगमीसु लोडणिसु बोडही तवय सीसु ।
अवन्तवरासु सापाहिराठ बहिं भच्छह् तुडिणु महासुमाउ ।
तं दीणदिण्णयण-उण्णवपयस महि परिममेणु मेपाडिणवस ।

अर्थात् सिद्धार्थ संवत्सरयं (सोमदेवने की इसी संवत्सरका उल्लेख किया है) जब बौद्धराजका चिर, बिधपर केडोका जूडा ऊपरकी ओर बैठा था काटकर राजाधिराज तुडिण (कुम्भराज) मेपाडि (मेलपाटी) मथरने बतमान है। मैं प्रसिद्ध नामवाले पुराणको कहता हूँ।

यद्यपि सोमदेव कुम्भराज तृतीयके समकालीन थे तथापि उन्होंने अपना ग्रन्थ राष्ट्रकूटोंकी राजधानी माण्डवेदम नदी तथा किन्तु एक अप्रसिद्ध स्थान गंधपारयमें रचा जो सम्भवतया कुम्भराजके सामन्त बाबुनव बंधी अरिकेसरीके प्रेष्ठ पुत्र बाबराजकी राजधानी थी। गणधारके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है किन्तु वह बारबाड़ जिलेमें या उसके आस-पास कहीं होगा चाहिए। शायद बारबाड़के विस्तृत निकट जो गंधपाटी नामक स्थान है वही गंधरा हो। बारबाड़के बसिच-परिचयमें उत्तर कमारा जिलेमें गंधवाकी नामकी एक नदी भी है।

जिस राजाके राज्यमें सोमदेवने अपना काव्य समाप्त किया था उसका नाम यद्यपि मुद्रित प्रसिद्धि तथा हस्तलिखित प्रतिमें बागराज वाया जाता है, किन्तु कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें बाधराज और बाधगराज भी मिलता है। किन्तु गुप्त नाम बहिन प्रतीत होता है जिसका संस्कृत रूप बाधराज या बाधगराज कर लिया गया है।

सोमदेव-सम्बन्धी एक झिझाझेका

द्विदशकाशीन ईश्वराज राज्यके परमजी नामक स्थानसे एक वाङ्मय प्राप्त हुआ है। बिधपर अस्मिन् संस्कृत लेखन यसस्तिष्ठन्की रचनासे छल्ल वर्ष परचात् सोमदेवकी विषे यसे बानका ही लेखक उल्लेख नहीं है किन्तु जग बाबुनव सामन्तोंकी बसावली भी है जिनके प्रवेशमें सोमदेवने ग्रन्थरचना की थी। बंसावली इस प्रकार है,

मुद्रमल्ल १ अरिकेसरी १ नरसिंह १ (+ गजदेव) मुद्रमल्ल २ बहिन १ मुद्रमल्ल ३ नरसिंह २ अरिकेसरी २ गजदेव अरिकेसरी ३ बहिन २ (बाधरा) और अरिकेसरी ४। इनमेंसे अरिकेसरी द्वितीय उस पन्थ कविके आश्रयवाला था जिसने सन् ९४१ में कन्नड़ीमें भारत तथा और बहिन द्वितीय या बाधनके राज्यकाव्यमें ९५९ ई में सोमदेवका अपना काव्य रचा।

१. साकमुपकाशीतर्जवत्सरसातेवहस्त्रैकाशीत्यधिकेषु चावेषु अंकतः (८८१) सिद्धार्थ संवत्सर-
राष्टर्गतवैभ्रमासमङ्गनक्षत्रीयवर्षा पाषाण-सिद्ध-श्लोक-चरमप्रभृतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मेकपाटी
प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्री कुम्भराजदेवे सति उत्पाद्यपद्योपजीविनः समधिगतपंचमहालक्ष्म्यमहा-
सामन्ताधिपतेष्वामृतपुत्रकुलजन्मव सामन्तचूडामने श्रीमहर्षिरैसरिच प्रथमपुत्रव सोमवराग-
राजस्य कन्नडी-प्रवर्धमानवसुधारावा गणधारवा निगमिपिपिमिर्ष काव्यमिति ।

२. “बसस्तिष्ठक एव ह्निवचन कथर”—पृ. ४ ।

उनका नाम 'ताम्रपत्र' में वाद्यगते पुत्र अरिकेसरी चतुर्थके द्वारा शक १८८ (९६६ ई०) में शुभधाम नामके जिनालयके जीर्णोद्धारके लिए सोमदेवको एक गाँव देनेका उल्लेख है । यह जिनालय लेंडुल पाटक नामकी राजधानीमें वाद्यगने बनवाया था ।

इसमें यह स्पष्ट है कि ९६६ ई० में सोमदेव शुभधाम जिनालयके व्यवस्थापक थे और अपनी साहित्यिक प्रवृत्तिमें भी सलग्न थे, क्योंकि इस लेखमें सोमदेवको यशोधरचरितके साथ-साथ 'स्याद्वादोपनिषद्' नामके एक अन्य ग्रन्थका भी रचयिता कहा है । उस समय सोमदेव प्रतिष्ठाके उच्च शिखर पर आसीन प्रतीत होते हैं क्योंकि लेखके अनुसार नमस्स मामन्त और राजा उनके चरणोंमें नमस्कार करते थे और उनका यशस्वी कमल समस्त विद्वज्जनोंके कानोंका आभूषण बना हुआ था ।

किन्तु इस ताम्रपत्रकी दो बातें विशेष विचारणीय हैं । प्रथम इसमें सोमदेवके दादा गुरु यशोदेवको गोहर्म्यका लिखा है जब कि सोमदेवने उन्हें देवसभका वतलाया है । दूसरे अरिकेसरी चतुर्थकी राजधानीका नाम लेंडुल पाटक लिखा है । जब कि सोमदेवने उसके पिता वड्डिको राजधानीका नाम गंगधारा लिखा है । इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार सोमदेवने वाद्यगके पिता अरिकेसरीको कृष्णराज तृतीयका सामन्त वतलाया है ठीक उसी प्रकार उनका लेखमें भी वाद्यगके पुत्र अरिकेसरीको उन्हीका सामन्त वतलाया है ।

समकालीन विद्वान्

दसवीं शताब्दीका समय संस्कृत प्राकृत और कन्नड जैन साहित्यका समृद्धिकाल था, कृष्णराज तृतीयके राज्यकाल (९३९ से ९६८ ई०) के समयको हो यदि लें तो उसीमें हमें अनेक विशिष्ट विद्वानों और ग्रन्थकारोंके परिचयका सौभाग्य प्राप्त होता है । ९४१ ई० में प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्पने अपने आदिपुराण और विक्रमार्जुनविजय नामक काव्योंकी रचना की थी । सन् ९५० के लगभग उस शताब्दीके दूसरे महान् कन्नड कवि पोद्गने कृष्णराज तृतीयके संरक्षकत्वमें शान्तिपुराणकी रचना की थी । कन्नड और संस्कृत भाषामें प्रवीणताके लिए कृष्णराजने कवि पोद्गको 'उभयकविचक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित किया था । कृष्णराज तृतीयके राज्यकालके आरम्भमें इन्द्रनन्दिने संस्कृतमें 'ज्वालामालिनिकल्प' नामक मन्त्रशास्त्रकी रचना की थी । यह ग्रन्थ ९३९ ई० में मान्यखेटमें रचा गया था और उसमें कृष्णराजका उल्लेख है ।

सोमदेवके विलकुल समकालीन विद्वानोंमें हमें दो महान् विद्वानोंसे परिचित होनेका सौभाग्य प्राप्त है । उनमें-से एक पुष्पदन्त है और दूसरे हैं, वादिघघल भट्ट । पुष्पदन्तके सम्बन्धमें हम ऊपर लिख आये हैं । उन्होंने ९५९ ई० में कृष्णराज तृतीयके मन्त्री भरतकी संरक्षकतामें अपना महापुराण प्रारम्भ किया था । तथा भरतके पुत्र और उत्तराधिकारी नन्नकी संरक्षकतामें जसहरचरित और नायकुमारचरितकी रचना की थी । पुष्पदन्तने अपनी रचनाएँ अपभ्रंश भाषाके पद्योंमें की हैं । और अब तक प्रकाशमें आये अपभ्रंश भाषाके सर्वाधिक प्रमुख जैन कवियोंमें उनकी गणना की जाती है । उनकी अद्भुत साहित्यिक प्रवृत्ति इस बातकी साक्षी है कि दसवीं शताब्दीमें अपभ्रंश साहित्यकी स्थिति कितनी समृद्ध थी ।

१ “(लें) डुलपाटकनामधेयनिजराजधान्या निजपितु श्रीमद्वद्यगस्य शुभधामजिनालयाख्यवस (ते) खण्डस्फुटितनवसुधाकर्म बलिनिवेद्यार्थं शकाब्देऽष्टाशीत्यधिकेऽष्टशतेषु गतेषु तेन श्रीमदारिकेसरिणा श्रीमत्सोमदेवसूरये वनिकटपुलुनामा ग्राम दत्त ।” — यशस्ति० इण्डि० क०, पृ० ५ ।

२ “विरचयिता यशोधरचरितस्य कर्ता स्याद्वादोपनिषद् कवि (वयि) ता ।”

३ “अखिलमहामाया (न्तसी) मन्त्रप्रान्तपर्यस्तोत्तसन्नसुरमिचरण सकलविद्वज्जनकर्णावतसी-मवद्यश पुण्डरीक सूर्य इव सकलावनिभृतां शिर श्रेणिषु शिखण्डमण्डनायमानपादपद्मोऽभूत् ।”

हरिवेगने ९८८ ई. में अपभ्रंश में अपनी बर्मापरीक्षा रची थी। उन्होंने अपभ्रंश भाषा के पुष्पवन्त स्वयंभु और चतुर्मुख इन तीन महाकवियों का निर्देश किया है तथा स्वयं 'पुष्पवन्त' ने अपने महापुराण में (१९) स्वयंभु और चतुर्मुख का निर्देश किया है। स्वयंभु के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु भी कवि थे उन्होंने अपने पिता के द्वारा रचित पद्मचरित और रिदुनेमिचरित की पूर्ति में योगदान किया था।

स्वयंभु की बाढी या लीची छाताजी ने रखा जा सकता है क्योंकि उन्होंने अपने पद्मचरित में पद्मचरित के रचयिता हरिवेग (७ वीं छाताजी) का निर्देश किया है और स्वयंभु उनका निर्देश पुष्पवन्त किया है। चतुर्मुख स्वयंभु से प्राचीन है क्योंकि स्वयंभु ने अपने रिदुनेमिचरित में उनका निर्देश किया है। स्वयंभु ने अपने स्वयंभु छन्द नामक ग्रन्थ में अपभ्रंश भाषा के अनेक कवियों का उल्लेख किया है।

इस तरह सोमदेव के समय में तथा उनसे पूर्व अपभ्रंश भाषा की साहित्यिक वरम्परा प्रवर्धित थी और वे उससे निरन्तर रूप में प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने उपासकाध्ययन में अपभ्रंश छन्दों का प्रयोग बड़ी चतुरता से किया है।

पूज्य तथा उत्तरकालीन विद्वान्

लीची छाताजी के प्रारम्भ से लेकर बनी छाताजी के पूर्व मात्र एक हुए सोमदेव के पूर्वक सम्प्रदायों में ब्रम्हा अपभ्रंश के रचयिता और सेन आदिपुराण के रचयिता जिनसेन हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन उत्तरपुराण और आत्मानुशासन के रचयिता मुचन्द्र शाकटायन व्याकरण के रचयिता पद्मकीर्ति अष्टसहस्री और उत्पार्थकोक्तार्थ आदि के रचयिता विद्वान्मित्र उपनिषद्मित्रप्रपञ्चक का के रचयिता सिद्धिचि बृहत्सभा कोष्ठ के रचयिता हरिवेग नववक्त्रादि के रचयिता देवसेन तथा पुष्पार्थसिद्धिपुराण आदि के रचयिता अमर-चन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी छाताजी के अन्तिम चरण से लेकर व्याख्या ली छाताजी के प्रथम चरण तक के काल में हुए सोमदेव के सम्प्रदाय उत्तरकालीन सम्प्रदायों में चातुर्वर्ण्य कण्ठ अक्षितपुराण और वयामुक्त के रचयिता रत्न बाण की काव्यमयी कण्ठ अनुवाचकता नागवर्मा बोम्बुष्टाचारि के रचयिता नैमिचन्द्र सिद्धान्त-चन्द्रार्थ व्याचक्रमुचन्द्र और प्रमेयकमलमार्ग आदि के रचयिता प्रभाचन्द्र पार्श्वनाथचरित यशोचर चरित और ग्यायनिनिश्चयविचरण के रचयिता वादिपञ्च नक्षत्रिन्तामणि और क्षत्रचक्रामणि के रचयिता बारीमसिद्धि विजयकमलचन्द्र के रचयिता वनपाक मुद्रापितरलसन्तोह, बर्मापरीक्षा पञ्चसंज्ञा व्याख्याचार आदि के रचयिता अमरमणि बर्मापरीक्षा के रचयिता अमर प्रबुधचरित के रचयिता म्हासेन और चन्द्रप्रभ चरित के रचयिता वीरगन्धी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

वैदुष्य-परिचय

सोमदेव की व्याप्ति उनके वचन-व्यापक काव्य यशस्विलक और राजनीतिकी पुस्तक नीतिवाक्यामृत की लेकर है। यदि इनमें से नीतिवाक्यामृत को छोड़ दी दिया जाये तो ब्रम्हा यशस्विलक ही उनके वैदुष्य के परिचय के लिए पर्याप्त है। उसमें उनके अपूर्व वैदुष्य के विविध रूप बहिष्कार होते हैं। संस्कृत मध्य और पद्य रचना पर उनका पूर्ण प्रभुत्व है और विद्वान्ता के अधिकारी विद्वान् होने के साथ ही वे प्रतिपत्ती वर्धन के बल भावोक्त भी हैं। राजनीतिका जनक अध्ययन बहुत बगैर है और इस दृष्टि से उनकी योग्य सुप्रसिद्ध रचनाएं परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में एक श्लोक इस प्रकार है

'सकलसमपठके नाकल्लोडसि बाधी न भवसि समयोग्य इंससिद्धान्तदेव।

न च ब्रह्मविज्ञाने नृपपादोऽसि तर्ह्यहसि कश्चिदानीं सोमदेवेन मार्गम् ॥'

१ पुष्पवन्त तथा स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभु के विषयों विशेष जानने के लिए प्रेमीजी का 'श्रीन साहित्य और इतिहास' देखें।

इसमें एक वादीसे कहा गया है कि तुम समस्त दर्शनोके तर्कमें अकलकदेव नहीं हो, न आगमिक उक्तियोमें हससिद्धान्तदेव हो और न वचन-विलासमें पूज्यपाद हो, तब तुम इस समय सोमदेवके साथ कैसे वाद कर सकते हो ?

उसी प्रशस्तिके अन्तिम पद्यमें कहा गया है कि सोमदेवकी वाणी वादिस्वी मदीन्मत्त गजोंके लिए सिंहनादके तुल्य है । वादकालमें बृहस्पति भी उनके सम्मुख नहीं ठहर सकता ।

सोमदेवने यशस्तिलककी उत्पत्तिकामें कहा^१ है कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जन्मसे शुष्क तर्कका अभ्यास करनेवाली मेरी बुद्धिसे काव्यधारा नि मृत हुई है । इससे प्रकट होता है कि सोमदेवने अपना विद्याभ्यास तर्कसे आरम्भ किया और तर्क ही उनका वास्तविक व्यवसाय था । तार्किकचक्रवर्ती और वादीमपधानन आदि उपाधियाँ भी इसी तथ्यका समर्थन करती हैं । अपने समयके अन्य अनेक विद्वानोंकी तरह उन्होंने भी अपनी शक्ति प्रतिपक्षी विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करनेमें व्यय की थी । वास्तवमें यह उस समयकी एक साधारण प्रवृत्ति थी और जैन परम्परामें उस कालमें हुए विद्वानोंके वादिराज, वादीभसिंह, वादिघरट्ट, वादिधन्व, परवादिमल्ल, वादिकोलाहल-जैसे विचित्र नामोंसे उमका समर्थन होता है ।

सोमदेव तार्किक होनेके साथ जैन सिद्धान्तके भी दिग्गज विद्वान् थे । उनके यशस्तिलकका^२ लगभग आधा भाग जैनधर्मके आचार और विचारोंके प्रतिपादन और समर्थनसे ओत-प्रोत है । उसके अन्तिम तीन आश्वासोमें जैन गृहस्थके आचारका वर्णन है, इसीसे उन्हें ग्रन्थकारने उपासकाध्ययन नाम दिया है और वे ही तीनों आश्वास प्रस्तुत संस्करणमें सोमदेव उपासकाध्ययनके नामसे मुद्रित हैं ।

इस तरह तत्त्वज्ञानी और तार्किक सोमदेवने कविताकी वादमें अपनाया, किन्तु जब अपनाया तो तन-मनसे अपनाया । तभी तो उन्हें लिखना पड़ा,

“निद्रां चिदूरयसि शास्त्रसं रुणस्ति सर्वान्द्रियार्थमसमर्थविधिं विधत्से ।

चेतश्च विभ्रमयसे फविते पिशाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण ॥” (१-४१)

“हे पिशाचिनी कविते ! जो तेरे प्रेमपाशमें फँस जाता है, उसकी निद्रा भग हो जाती है, शास्त्ररस जाता रहता है, सब इन्द्रियाँ बेकाम हो जाती हैं, चित्त विभ्रमित हो जाता है, फिर भी जिसपर तेरी कृपादृष्टि हो जाती है वह पुण्यशाली है ।”

सोमदेव उन्हीं पुण्यशालियोंमें है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका यशस्तिलक है । शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे यशस्तिलककी व्युत्पत्तिकारकता अनुपम है^३ ।

सोमदेवने अपनी इस कृतिमें अनेक अप्रसिद्ध शब्दोंका प्रयोग किया है । उनमेंसे बहुतसे शब्द संस्कृत साहित्यमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते । इस दृष्टिसे यशस्तिलक संस्कृत शब्दोंके कोशका मवर्धन करनेमें परम सहायक हो सकता है ।

सोमदेवने पाँचवें आश्वासके अन्तमें लिखा है,

“अरालकालव्यालेन ये लीढा साप्रत तु ते ।

शब्दा श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥”

अर्थात् भयानक कालरूपी सर्पके द्वारा निगल लिये गये शब्दोंका सोमदेवने उद्धार किया । और भी लिखा है,

“उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः ।

या सोमदेवविदुषा विद्विता विभूषा वाग्देवता बहवुः सप्रति तामनर्घाम् ॥”

१ आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्या ।

मत्तिसुरभेरभवविदं सूक्तिपथं सुकृतिना पुण्यै ॥

२ किञ्चित् काव्य श्रवणसुभग वर्णनोदीर्णवर्णं, किञ्चित् वाक्योचितपरिचय हृच्चमत्कारकारि ।

अत्रासूयेत् क इह सुकृती किन्तु युक्त तदुक्तं, यद्वायुत्पत्यै सकलविषये स्वस्य चान्यस्य च स्यात् ॥ १-१६

विराजते शास्त्रयो समुद्रके तलम दूरे ह्युद्यत्स्वी रत्नोका उद्धार करके सोमदेव पच्छिमे गो रत्नमूपन तैयार किया है जब सरस्वती उस समुद्र्य आग्रभणको कारण करे ।

सबमुच्ये यस्यस्तिस्रः ऐषा ही रत्नमूपन है और समस्त संस्कृत साहित्यको सामने रसकर ही बसका वास्तविक मूल्य जाना जा सकता है । यस्तिस्रोंकी प्रशंसामें स्वयं ग्रन्थकारने यत्र तत्र का सुन्दर पद्य बड़े ही वे केवल योजित नहीं है ।

‘यस्यहायमनाम्नां रत्नं रत्नाकरादिम् ।

मया काव्यमिदं ज्ञातं सत्तु ह्यनममममम् ॥ १३ ॥ आवाप्त १ ।

कर्णाग्रकिपुटैः पातुं चेतं सृष्टासुते यदि ।

अथता सोमदेवस्य मया काव्योक्तिमुक्तयः ॥ २३६ ॥ आवाप्त २ ।

कोकविरले कवित्वे वा यदि चातुर्यं ब्रह्म ।

सोमदेवकवेः सृष्टिं समम्बन्धन्तु साधनं ॥ ५१३ ॥ आवाप्त ३ ।

मया वागवर्त्तमाने मुने सारस्वते रसे ।

कवयोऽग्रे अभिष्यन्ति पुनमुच्छिद्यन्तेऽपि ॥ आवाप्त ४ ॥”

यस्तिस्रों और नौतिहाययामुक्तके अनुशीलनसे पता चलता है कि सोमदेव मूरिका जन्मदात बहुत ही विस्तृत और बमरीर वा । उनके समयमें जितना जैन और जैनतर साहित्य उपलब्ध था उस सबसे उनका परिचय था । यस्तिस्रोंके बहुत ‘आवाप्त’में उन्होंने सर्व गारवि मन्त्रभूति मनुहरि, भक्त मेष्ठ कच्छ गुणादय आद्य भाष्ट जोष्ट वाकिभाष्ट बाब ममूर नारायण कुमार माध और राजसेखर कवियोंका उल्लेख किया है । इससे मान्य होता है कि वे बहुत कवियोंके काव्योक्ति परिचित थे ।

प्रथम ‘आवाप्त’में उन्होंने राज बन्ध जैनग्र आदिपद्य और वाकिभिके आकरयोंकी चर्चा की है । पुन मुक्त विद्याकाष्ठ परीक्षित पराक्षर भीम भीष्म और भरद्वाज आदि नौतिहाय-अपेक्षाओंका भी उन्होंने स्मरण किया है । कौटिलीय जलवास्तवे से वे अच्छी तरह परिचित थे । ‘अस्वविद्या गजविद्या रत्नपरीक्षा कामसास्त्र वैद्यक आदि विद्याओंके आचार्योंका भी उन्होंने कई प्रशंसामें जिक्र किया है । प्रजापति श्रोकन चित्रकर्म ब्राह्मिमहिरकृत प्रणिष्ठा काण्ड आदित्यमत् (सूर्यविद्याम्) निमिताभ्याम् रत्नपरीक्षा पठेयलिका बीमसास्त्र और वरविधि’ ‘आवाप्त’में प्रबोध तथा ‘कुमारिकके उद्धारन दिये हैं । ‘उद्धारन’ वैद्यिक टाकिट वैद्यिक पाद्युपत कुलवायै सांख्य दण्डक वैमिनीय बार्हस्पत्य मेवात्मनारि कपय कपिक ब्रह्मादय अवभूत आदि दशमंकि विद्यान्तोंपर विचार किया है । तथा मत्त ‘मृगु मय मरुत पौतम मर्ग पिबल पुकह पुकोम पुकस्ति पराक्षर मरीचि विरोचन बूमम्बन नीकपट’ ‘ग्रहिक आदि अनेक

१ “तथा सर्व-गारवि-मन्त्रभूति मनुहरि-अर्जुमेष्ठ-कच्छ-गुणादय-आवाप्त-भास-बास-बीष्ट-आकिभुस-बाब-ममूर-नारायणकुमार-आध-राजसेखरविमहाकविकान्तेषु यत्र उद्धारनसरे भरतमयीते काव्यावाप्तः” ॥ ५ ॥ ११३ ।

२ “कैमिहैन्द्रविश्वैत्राध्यापिकापाणिनीपातयेकज्वाकरयोपदिष्टमान । — ५ ॥ ९ ।

३. प्रजापतिरिव सर्ववर्त्तमानेषु पारिरुक्क ह्य प्रसंज्वायोपदेसैषु, पूज्यपाद् ह्य कर्ष्यविष्टेषु, स्पाद्वादेव ह्य धर्माज्वालेषु, अकर्मकदेव ह्य प्रमाज्वालोषु पाक्षिषु ह्य पद्मयोगेषु कविरिव राजराजान्तेषु, रोमपाद् ह्य गजविद्याषु वैद्य ह्य दण्डेषु, अक्षय ह्य रत्नचर्चाषु पराक्षराम ह्य शाखाविमेषु ह्यकाव्या ह्य रत्नपरीक्षाषु” ॥—२ आवाप्त ५ ॥ २३ ।

४ ५-६-७ आ ४ ५ ११३ ११३ । आवा ५, ५ २५६ । ९. सी उपसंका ५ ९ ।

१ ११ आवा ४ ५ ९९ । १२ १३ आवा ५ ५ २५१-२५४ । १४ सी उपा

५ २३ ४ में सय वर्त्तमानोंका विचार किया है । १५. सी उपा ५ ६६ । १६ आवा ५

५ २५२ ५५५ ।

प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध जैनैतर आचार्योंका नामोल्लेख किया है। अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्तों और पौराणिक आख्यानोंका उल्लेख किया है। इस सबसे सोमदेवके वैदुष्यका परिचय मिलता है।

[४] उपासकाध्ययन

नाम—सोमदेवने यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वसोको उपासकाध्ययन नाम दिया है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके उपदेशोको उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने जिन वारह अंगोंमें निबद्ध किया उनमें-से सातवें अंगका नाम उपासकाध्ययन था और उसमें श्रावकके धर्मका कथन था। सोमदेवने भी सम्भवतया इसीसे उपासकाध्ययन नाम दिया। यह भाग यशस्तिलकका अंग होते हुए भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थके समान है।

जैन साहित्यमें इस विषयपर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें-से किसी अन्यका नाम उपामकाध्ययन नहीं है, श्रावकाचार नाम ही अधिक व्यवहृत है। यथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितागति श्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार, मेधावी श्रावकाचार आदि। चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें “उक्त च उपासकाध्ययने” लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है, किन्तु वह श्लोक किसी उपलब्ध ग्रन्थमें नहीं मिलता। हाँ, उसीसे मिलता-जुलता श्लोक जिनसेनाचार्यके महापुराणके ३८वें पर्वमें अवश्य मिलता है। अतः चामुण्डरायके सामने कोई इस नामका ग्रन्थ अवश्य वर्तमान होना चाहिए जो अभी अनुपलब्ध है। और चूँकि चामुण्डराय सोमदेवके लघुसमकालीन थे अतः उनके द्वारा निर्दिष्ट उपामकाध्ययन अवश्य ही सोमदेवकृत उपासकाध्ययनके वादका नहीं हो सकता। किन्तु चूँकि वह अनुपलब्ध है अतः कहना होगा कि उपासकाध्ययन नामका यह एक ही श्रावकाचार उपलब्ध है।

विषयपरिचय—उपासकाध्ययन ४६ कल्पोंमें विभाजित है। १ प्रथम कल्पका नाम है “समस्तसमय-सिद्धान्तावबोधन”। क्योंकि इसमें वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, साख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक, वेदान्ती आदि समस्त दर्शनोकी समीक्षा की गयी है। और केवल ४७ श्लोकोंमें ही इतनी मौलिक बातें कह दी गयी हैं जिन्हें ४७ पृष्ठोंमें भी कह सकना शक्य नहीं था। इससे प्रकट होता है कि सोमदेवने सभी दर्शनों और मतवादोंका तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

२ दूसरे कल्पका नाम है, आप्तस्वरूप-मीमांसन। इसमें आप्तके स्वरूपकी मीमांसा करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध और सूर्य आदिके देवत्वका युक्तिपूर्वक निरसन किया है, सम्भवतः सोमदेवके समयमें शैव-मतका बहुत अधिक प्रचार था, इसीसे उन्होंने शिव और शैव सिद्धान्तोंका निराकरण विशेष रूपसे किया है।

३ तीसरे कल्पका नाम है, आगमपदार्थ-परीक्षण। इसको प्रारम्भ करते हुए सोमदेवने कहा है कि पहले देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उनके वचनोंकी परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् ही उसका पालन करना चाहिए। जो लोग देवका विचार किये बिना उसके वचनोंको मान लेते हैं वे अन्धे हैं। आगे जैन मान्यताओंका विवेचन करते हुए लिखा है कि दूसरे मतवादी जैनोके देव, शास्त्र और पदार्थव्यवस्थामें कोई दोष न पाकर जैन मुनियोंमें चार दोष लगाते हैं—१ वे स्नान नहीं करते, २ आचमन नहीं करते, ३ नगे रहते हैं और ४ खड़े होकर भोजन करते हैं। सोमदेवने इन चारों ही बातोंका युक्तिपूर्वक समर्थन किया है।

४ चौथे कल्पका नाम है, मूढतात्मनथन। इसमें लोकमें प्रचलित मूढताओंका परदाफाश किया गया है। वे मूढताएँ इस प्रकार हैं, सूर्यको अर्घ्य देना, ग्रहणमें स्नान करना, सक्रान्तिमें दान देना, सन्ध्यावन्दन करना, अग्निकी पूजा, धर्मभावनासे नदी-समुद्रमें स्नान करना, वृक्ष स्तूप प्रथम शासकी वन्दना करना, गौके पृष्ठ भागकी नमस्कार करना, गोमूत्रका सेवन, रत्न भूमि यक्ष शस्त्र पर्वत वगैरहको पूजा।

साधारणतया आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धान्तको सम्यग्दर्शन कहा गया है किन्तु सोमदेवने उनके प्रसंगसे कितनी ही आवश्यक बातें इन चार कल्पोंमें कही हैं। अन्य किसी भी श्रावकाचारमें इतना तत्त्वज्ञान

१. “ब्रह्मवारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च मिश्रक। इत्याश्रमास्तु जनानां सप्तमाह्नाद् विनि सृता।”-पृ० १०

२. केवल उत्तरार्द्धमें अन्तर है—“इत्याश्रमास्तु जनानां मुत्तरोत्तरवृद्धितः।”

प्रतिपादित नहीं किया है। और वह भी केवल १४५ श्लोकों में। बापरमें सापर इसीको कहते हैं।

इन चार कल्पोंके पश्चात् १९ कल्पोंमें सम्मग्नदर्शनके जाठों अर्थात् प्रसिद्ध अंजनचोर मनस्यमटी उद्दामन रैवती रागी जिनम्न भक्तसेठ बारिषण विष्णुकुमार मुनि और बय्यकुमार मुनिको रोचक कर्षार्थ बड़ी प्राप्ति भयमें कही गयी है। रत्नकरण्ड (श्लोक १९२) में तो दो श्लोकोंके द्वारा केवल इन व्यक्ति-योंके नाम मात्र बिनाये हैं। अन्य किसी भी आचकाचारमें ये कर्षार्थ नहीं पायी जाती। इन कर्षाभासे पहले जो प्रत्येक संन्यासक वचन किया गया है उसमें भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। इनका विशेषण मत्तगण्ड किया जायेगा। २१वें कल्पमें सम्मग्नदर्शनके भेदोंका कथन करते हुए प्रारम्भमन्त्र-द्वारा सम्मग्नके बाह्य उत्पत्ति निमित्तोंको बतलाते हुए निरर्च्य और अभिगम्य भेदोंको स्पष्ट किया है। पश्चात् सर्वाधिकारमें प्रति-पादित सरागु बीतराग भेदों तथा उनके अभिधर्म्यक प्रथमादिके स्वस्वको बतलाकर गुणमहाचार्यके द्वारा आत्मानुपासनमें प्रतिपादित इस भेदोंका स्वस्व बतलाया है। आगे रत्नकरण्डकी छिन्नीमें सम्मग्नकी महिमा बतलाते हुए निरवय रत्नवयका स्वस्व बतलाया है तथा अन्य भी अनेक उपायों की बातें कही हैं। २२—२५ कल्पोंमें मद्य मांस मधु आदिके शेष बतलाते हुए चार कर्षार्थ वर्णित हैं जिनमें मद्यपान और मांस-मद्यमक संकल्पकी बुराई और उनके त्यागकी जरूरत बतलाई है।

२६—३२ कल्पोंमें पाँच अनुष्ठानोंका वर्णन है और हिंसा असत्य चोरी कुशील और परिग्रहकी बुराई बतलाते हुए पाँच कर्षार्थ प्राक्क बतलाये हैं वर्णित हैं कर्षार्थ बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद हैं। ३३वें कल्पमें टीम गुणवताका कथन है।

३४वें कल्पमें सामाजिक शिक्षाव्रतका वर्णन प्रारम्भ होता है। सोमदेवने सामाजिकका अर्थ जिनपूजा सम्बन्धी किया है। अतः ३४वें कल्पमें स्नानविधि ३५ में सप्त समाचार विधि ३६ में अग्निदेक और पूजनविधि ३७ में स्तननविधि ३८ में वपविधि ३९ में ध्यानविधि और ४० में कल्पमें मुद्राव्रतन-विधि वर्णित हैं। इस तरहका वर्णन अन्य आचकाचारोंमें नहीं पाया जाता और इसलिए यह सारा ही वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें भी ध्यानविधि विशेष महत्त्वपूर्ण है। सोमदेवके पुनर्के उपक्रम साहित्यमें भी यह वर्णन नहीं मिलता।

४१वें कल्पमें श्रौतश्रौतवाक्यका और ४२वें कल्पमें श्रौतश्रौतगो परिमाण व्रतका कथन है। ४३वें कल्पमें धानकी विधिका वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है।

४४वें कल्पमें प्रारम्भमें आचकाकी ग्यारह प्रतिमाओंको संक्षेपमें बतलाकर बतियोंके लिए वीनेतर सम्मग्नमें प्रचलित नामोंकी निश्चितियाँ दी गयी हैं या एक नहीं बस्तु है।

४५वें कल्पमें संस्केचनाका और ४६वें कल्पमें कुक्ष कुटकर बतलाका कथन है। इस तरह सोमदेवका उपासकाध्ययन कई दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इन कल्पोंमें वर्णित विशेष बातोंपर हम आगे प्रकाश करेंगे।

महत्त्व—यों तो सोमदेवसे पहले भी कुछकुछके चरित्र प्राप्त उत्पन्नसूत्र तथा उसके टीका ग्रन्थोंमें और पद्यपुराण भगवद्गीता महापुराण आदि ग्रन्थोंमें आचकाचार वर्णित था किन्तु आचकाचारके सम्बन्धमें एक रत्नकरण्ड आचकाचारको छोड़कर कोई अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं था। यह बात हम उपर्युक्त साहित्यके पर्यालोचनके आधारपर कहते हैं।

सोमदेव और जसूतचन्द्र—जसूतचन्द्र मुरिका पुष्पाधिकारपुराण भी आचकाचारसे ही सम्बन्ध है किन्तु वह सोमदेवके उपासकाध्ययनका केवल अद्यतन हो सकता है क्योंकि वि सं १ ५५ में रवे मने जात्राक कसेनके बर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थमें पुष्पाधिकारपुराण और सोमदेवके उपासकाध्ययन दोनोंके ही पद्य भरपूर पाये जाते हैं। सोमदेवने अपना उपासकाध्ययन उससे ३९ वर्ष पहले वि सं १ १९ में रचकर समाप्त किया था। जसूतचन्द्र मुरिने अपना कोई समय निर्दिष्ट नहीं किया है। उनकी जन्मराशि १ ५५ ही मानी जाती है। उससे मिलने समय पूर्व वह हुए हैं वह नहीं निर्दिष्ट नहीं हो सके हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि न तो सोमदेवके उपासकाध्ययनपर पुष्पाधिकारपुराणका किन्तु भी प्रमाण परिलक्षित होता है और

न पुरुषार्थसिद्धयुपायपर सोमदेवके उपासकाध्ययनकी कोई छाया है। अतः यही प्रतीत होता है कि इन दोनोंमें-से किसी एकने दूसरेकी कृतिको नहीं देखा था। फिर भी यदि पुरुषार्थसिद्धयुपायसे सोमदेवके उपासकाध्ययनकी तुलना की जाये तो दोनोंका अपना-अपना वैशिष्ट्य स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय अपने नामके अनुसार मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्ति का उपाय बतलानेकी दृष्टिसे रचा गया है। किन्तु सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें जो कुछ लिखा है वह उपासका अध्ययन करके लिखा है। आधुनिक शैलीमें उसे 'उपासक-एक अध्ययन' नाम दिया जा सकता है, या इस रूपमें उसके उपासकाध्ययन नामकी व्याख्या की जा सकती है। अमृतचन्द्रका उपासक मुमुक्षु है—अन्तरंगसे भी और बहिरंगसे भी, किन्तु सोमदेवका उपासक अन्तरंगसे मुमुक्षु होते हुए भी बहिरंगसे ससारी है। उसकी कमजोरियोंके प्रति सोमदेवमें करुणाबुद्धि है। साथ ही अमृतचन्द्रकी दृष्टि जब केवल अपने मुमुक्षु जनोपर केन्द्रित है तब सोमदेव ससारी गृहस्थोको समाजपर दृष्टि रखे हुए हैं—जिस समाजमें सभी तरहके जन सम्मिलित हैं। तभी तो वह अन्तमें कहते हैं, "जिन भगवान्का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा है। जैसे मकान एक स्तम्भपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता।"

अमृतचन्द्र आध्यात्मिक थे किन्तु सोमदेव आध्यात्मिकसे अधिक व्यवहार्य थे। इसीसे उनके उपासकाध्ययनमें व्यवहार धर्मका सागोपाग निरूपण मिलता है।

सोमदेवके उपासकाध्ययनके पश्चात् जो श्रावकाचार रचे गये उनपर उपासकाध्ययनका ही विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

सोमदेव और जयसेन—आचार्य जयसेनने उपासकाध्ययनकी रचनाके ३९ वर्ष पश्चात् ही वि० सं० १०५५ में अपना धर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थ रचकर पूर्ण किया था। उसमें उपासकाध्ययनके श्लोकोके उद्धरण बहुतायतसे पाये जाते हैं। उपासकाध्ययनके टिप्पणमें ऐसे उद्धरणोंका यथास्थान निर्देश किया गया है।

सोमदेव और अमितगति—आचार्य अमितगतिये विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें अपना उपासकाचार रचा था। उसपर सोमदेवका स्पष्ट प्रभाव है। प्रमाणके लिए दोनोंसे एक-एक श्लोक नीचे दिया जाता है,

“देवतातिथिपित्रर्था मन्त्रौषधिमयाय वा।

न हिंस्यात् प्राणिनः सर्वान्हिसा नाम तद्व्रतम्” ॥३२०॥ सो उ।

“देवतातिथिमन्त्रौषधपित्रादि निमित्ततोऽपि सम्पन्ना।

हिंसा धत्ते नरकं किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥” इत्या, अमि० उ।

उपासकाध्ययनके प्रारम्भमें सोमदेवने दर्शनान्तरोकी समीक्षा की है। अमितगतिये भी अपने उपासकाचारके चतुर्थ परिच्छेदमें दर्शनान्तरोकी समीक्षा की है। सोमदेवने पूजाविधि और ध्यानका बहुत विस्तारसे कथन किया है। अमितगतिये भी १२वें परिच्छेदमें पूजाविधिका और १५वें में ध्यानका कथन किया है। उपासकाचार नाम भी उपासकाध्ययनकी ही अनुकृति प्रतीत होता है।

सोमदेव और पद्मनन्द—(वि० की १२वीं शताब्दीके लगभग)—प्राचीन समयमें श्रावको और मुनियोंके पद आवश्यक सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग थे। आचार्य जिनसेनने (महापुराण ३८।२४ में) इज्या, वार्ता, दान, तप, सयम, स्वाध्यायको श्रावकके पट्कर्म बतलाया था। उसमें किंचित् सशोधन करके सोमदेवने श्लोक सं० ९११ के द्वारा देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और

१ यह उपासकाचार अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला यम्बईसे और फिर सूरतसे प्रकाशित हुआ है। पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाका नया संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित हुआ है।

राम इन पद्योंको विधान किया। पद्यनम्बिने अपनी पञ्चविधैतिकके अन्तर्गत उपासक संस्कारमें सोमदेवके उस स्लोकको ही सम्मिलित कर लिया। और तबसे आचरके ये ही पद्योंमें प्रचलित हो गये और पुराने पद आचरको पाठक मूल हो गये। इसी तरह सोमदेवके द्वारा लिखित अष्ट मूलग्रन्थोंको भी पद्यनम्बिने अपनाया। अन्य भी अनेक समानताएँ पायी जाती हैं। यथा

अनुष्ठानानि पञ्चैव विप्रकारं गुणवत्तम् ।

विद्याभ्यासानि चत्वारि गुणाः स्फुटं त्रिसोपरे ॥२१४॥—सो ड ।

‘अनुष्ठानानि पञ्चैव विप्रकारं गुणवत्तम् ।

विद्याभ्यासानि चत्वारि ह्यवशेषेण शुद्धिमतो ॥२१५॥ —य प पृ १३१

सोमदेव और बीरनम्बि—बीरनम्बिके आचारसार नामक ग्रन्थपर भी सोमदेवके उपासकाध्ययनका प्रभाव है। उसके अनेक स्लोक सोमदेवसे प्रभावित हैं। यथा

‘माता स्वसा तन्त्रेति मतिर्मह्यं गृह्यम् ॥’—सो ड ।

‘मातागुणा तन्त्रेति मत्वा ब्रह्मवर्त्त मत्तम् ॥ —आचा १११९।

‘संगे कपाकिचाण्डाकपुष्पाद्यन्नादिभिः ।

आप्सुस्य दृढवत् सम्यग् अपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥ —सो ड ।

‘सृष्टे कपाकिचाण्डाकपुष्पाद्यन्नादिके सति ।

अपुपोषितो मन्त्रं प्रागुत्सृज्यास्तु दृढवत् ॥ —आचा २१० ।

“सवित्रीय तद्ब्रह्मनामपराधं सधर्मम् ।

वैवप्रभ्यावर्मपञ्च विगृहेत् गुणवत्तम् ॥ —सो ड ।

‘बहुसुब्रह्मर्षे शीर्षं यजाम्नात्ता विगृहति ।

तद्वत् सत्तमदीपोऽगृह्यः स्वाधुपगृह्यतम् ॥ —आचा २१११।

सोमदेव और आचारार—विष्णुकी तरह ही आचारारके प्रमुख विद्वान्में आचारारने अपने आचार वर्गामें बीर अनपार-वर्गामुत्की टीकाओंमें सोमदेवके उपासकाध्ययनके अनेक स्लोक उद्धृत किये हैं। आचार वर्गामुत्तर सोमदेवके उपासकाध्ययनका बहुत प्रभाव है। उसके दूसरे अध्यायके आरम्भमें आचारारने सोम देवके मतानुसार आठ मूलग्रन्थोंको बतलाते हुए टीकामें अपानकाश्चयनादिषास्मानुसारिभिः पूर्वमनुष्ठेयव्या उपदिष्टान्’ लिखा है। इसका आशय यह है कि उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोक्त अनुष्ठान करनेवालोंमें इन आठ मूल ग्रन्थोंको विधेय माना है। यद्यपि न होना कि यह उपासकाध्ययन सोमदेवके उपासकाध्ययन ही है और उसका अनुष्ठान करनेवालोंमें एक पद्यनम्बि अवश्य है। आचार-वर्गामुत् और अनपार-वर्गामुत्की टीकाओंमें आचारारने सोमदेवके उपासकाध्ययनके अनेक पद्य भी उद्धृत किये हैं। तथा अन्य प्रकारसे भी उसका अनुष्ठान किया है।

सोमदेव और यज्ञकीर्ति—महापण्डित यज्ञकीर्तिरविन्द प्रबोधसार ग्रन्थ भी सोमदेवके उपासकाध्ययनका अनु है। उसके अनेक स्लोक सोमदेवके शास्त्र प्रबोधसारके कर्मवरणी असहृत किये हुए हैं। उपासकाध्ययनके टिप्पणोंसे पाठक उन्हें जान सकते हैं।

१ स्तो ७। २ स्तो ९ । ३ स्तो १३ ।

४ आचारमार मानिद्वयम् ग्रन्थमात्रा यद्वर्गमे प्रकाशित हुआ है।

५. सागर वर्गामुत्तर आर अनपार वर्गामुत्तर भी सा प्र वर्गामुत्ते प्रकाशित हुए हैं। किन्तु इनमें मूलमें प्रकाशित सागर-वर्गामुत्तरका उपयोग किया है।

६ पृ ४ ६ १८ ४ ४१ ४६ ४ ४९ । ७ पृ ९०२ और ९८४ ।

विक्रमकी १५वीं शतीमें रचित दानशासन ग्रन्थमें भी सोमदेवके उपासकाध्ययनके अनेक श्लोकोका अनुकरण किया गया है। इस तरह उत्तरकालीन श्रावकाचार-सम्प्रन्धी साहित्य सोमदेवके उपासकाध्ययनसे प्रभावित है। और उसके उद्धरण तो ज्ञानार्णवमें, परमात्मप्रकाश और बृहद्दर्शव्यसग्रहकी टीकाओंमें, अनन्त-वीर्यकी प्रमेयरत्नमाला, रत्नकरण्डकी प्रभाचन्द्र कृत टीकामें तथा श्रुतमागरकी पट्टप्राभृत टीकामें पाये जाते हैं।

इन्द्रनन्दिने अपने नीतिमार्गमें उन जैनाचार्योंका नामोल्लेख किया है जिनके ग्रन्थोंको उन्होंने प्रमाण माननेकी सम्मति दी है। उनमें अन्य महान् जैनाचार्योंके साथ सोमदेवका भी नाम है। अतः सोमदेव और उनके उपासकाध्ययनका महत्त्व उक्त विवरणमें स्पष्ट है।

सोमदेवके उपासकाध्ययनको उनके पश्चात् हुए ग्रन्थकारोंके द्वारा इतना अपनाया जानेके कई कारण हो सकते हैं, सबसे प्रथम कारण तो हमें यह प्रतीत होता है कि उस समयतक श्रावकाचार्योंकी रचनाका विशेष प्रचलन नहीं था और कई दृष्टियोंमें उस दिशामें यह एक अभिनव प्रयोग था। यद्यपि उनसे पहले समन्तभद्रका रत्नकरण्ड श्रावकाचार रचा जा चुका था और वह उनके सामने न केवल वर्तमान था, किन्तु सम्भव है उसीमें उन्हें उपासकाध्ययनके रचनेकी प्रेरणा तथा रूपरेखा प्राप्त हुई हो। इसके सिवा आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणके पर्व ३८-३९ में श्रावकोंकी जिन क्रियाओंका वर्णन किया था उससे भी वह प्रभावित थे। तीसरे तत्कालीन स्थिति। इन सबकी सम्मिलित प्रेरणावश ही उपासकाध्ययन रचा गया और उसमें सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण और बारह व्रतोंके अतिरिक्त ऐसे अनेक विषय सम्मिलित किये गये और अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें कही गयीं जो मध्यकालके श्रावकोंके लिए अति उपयोगी थी और आज भी हैं।

साधारणतया सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा और सल्लेखना ये ही श्रावकधर्म हैं। रत्नकरण्डमें इन्हीं सबका वर्णन १५० श्लोकोंमें है। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें भी प्रतिमाओंके सिवाय शेषका वर्णन है। उपासकाध्ययनमें भी प्रायः इन्ही सबका वर्णन है, किन्तु इसमें जो अनेक मौलिक विशेषताएँ हैं, उन्हींके कारण सोमदेव और उनके उपासकाध्ययनको इतना मगदर प्राप्त हुआ।

[५] उपासकाध्ययनपर प्रभाव

समन्तभद्र और सोमदेव—सोमदेवके उपासकाध्ययनपर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारका है। उसीके अनुसार उसमें आप्त, आगम आदिके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाकर क्रमसे आप्त आगम आदिका विस्तारसे कथन किया है। साधारणतया सम्यग्दर्शन, अष्टमूल गुण, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ और समाधिमरण, ये श्रावक धर्म हैं। रत्नकरण्डके १५० पद्योंमें इन्हीं सबका

१ प्रबोधसार और दानशासन सखाराम नेमचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं।

२ रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित, पृ० ७५ तथा पृ० ९३ पर।

३ रा० शा० बम्बईसे प्रकाशित दूसरा संस्करण। पृ० १४३ पर।

४ दिल्लीसे प्रकाशित संस्करण, पृ० १५९ पर।

५ बनारससे प्रकाशित संस्करण, पृ० १८।

६ मा० ग्र० संस्करण, पृ० ८० में।

७. मा० ग्र० संस्करण, पृ० ८५, ९०, १०२, २९४, ३०२, ३४५ प्रति।

८ श्री भद्रबाहु श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः। गृध्रपिच्छगुरु श्रीमान् लोहाचार्यो जितेन्द्रिय ॥
 एलाचार्य पूज्यपाद सिंहनन्दी महाकवि। वीरसेनो जिनसेनो गुणनन्दी महातपा ॥
 समन्तभद्र श्रीकुम्भ शिवकोटि शिवकर। शिवायनो विष्णुसेनो गुणमदो गुणाधिक ॥
 धकलको महाप्राज्ञ सोमदेवो विदांबर। प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादि सुनिसत्तमै।
 यच्छास्त्र रचित नून तदेवादेयमन्यकै। विसन्धै रचित नैव प्रमाण साध्वपि स्फुटम् ॥

कथन है। उपासकाध्ययन भी इन्हींका कथन विस्तारसे किया गया है। किन्तु प्यारह प्रतिमाओंके ही नाम मात्र दिनाकर चतुर्मेख आत्रिकी छह प्रतिमाओंके चारकोंको गृहस्थ तीनके चारकोंको बह्वचारी और अष्टकी दो प्रतिमाओंके चारकोंको मिश्रक कहा है। रत्नकरणमें प्यारह प्रतिमाओंका स्वल्प अल्प-अल्प बतलाया है। तथा उसमें सम्पन्नार्थनम प्रसिद्ध आठ स्थितियोंके नाममात्र गिनाये हैं। किन्तु उपासकाध्ययनमें इन आठोंकी कर्माएँ सुन्दर संस्कृत गद्यमें बड़ी रोचक बीबीसे कही हैं।

जटासिंहनन्दी और सोमदेव—जटासिंह नन्दी (७वीं शती) का 'वर्णचरित' एक पौराणिक महाकाव्य है। उसमें ३१ सर्ग हैं। उनमेंसे लगभग १२ सर्गोंमें जैन सिद्धान्तका वर्णन है। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें उसका एक बड़ोका तो उद्धृत है ही उसके सिवा भी प्रभाव है। वर्णचरितके संग २२ २३ में जिन पूजाका विस्तारसे वर्णन है तथा २५वें सर्गमें ब्राह्मणी किनाकाण्वकी समीक्षा है और अन्य देवताओंमें दोष बतलाकर जिनदेवकी ही वास्तु सिद्ध किया है। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें भी उक्त छह विषयोंकी चर्चा है। गौकी पवित्रता मृत्तिका आद्य ब्रह्ममोक्ष हरि हर ब्रह्म वरीशुका देवत्व बुद्धकी वात्सल्य आदि विषय बोलाने वर्णित हैं।

जिनसेन और सोमदेव—भाषाय जिनसेनके 'महापुराणके ३८ ३९वें सर्गोंमें भावार्थकी क्रियाओंका वर्णन है। जिनसेनके द्वारा प्रतिपादित पद्योंमें चोड़-सा संशोधन करके ही सोमदेवने भावार्थके पद्योंमें स्थापित किये यह बात पत्रके निम्न आये है।

गुणमन्त्र और सोमदेव—भाषाय जिनसेनके शिष्य गुणमन्त्रका आत्मगुणासन प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका एक पद्य (१३) उपासकाध्ययन में १५१ में उद्धृत करके उद्धृत है। तथा सम्पत्तके बस सेवकों बतलानेके लिए ११वाँ बड़ोका बसविषं तथाह करके मूलमें अपना किया है। इस पद्य उपासकाध्ययन आत्मगुणासनका भी श्रुती है।

देवसेन और सोमदेव—विमलसेन गणिके शिष्य देवसेनके द्वारा रचित एक 'भावार्थप्रज्ञ' नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके साथ सोमदेवके उपासकाध्ययनका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि एकका दूसरेपर प्रभाव है। भावार्थप्रज्ञ ७ १ गाथाओंके द्वारा बौद्ध गुणस्वानोका वर्णन है। प्रथम गुणस्वान-का वर्णन करते हुए मिथ्यात्वके पाँच श्रेय बतलाये हैं। ब्रह्मवाचियोंको विपरीत मिथ्याबुद्धि बतलाकर दिखा है कि ब्राह्मण ब्रह्म बुद्धि मानते हैं। मांससे फिटरीकी वृत्ति मानते हैं। पशुवाचसे स्वर्ग मानते हैं और बौद्धोंके स्वर्गसे बर्ग मानते हैं (१७) इन्हींका निरूपण करते हुए स्वानुवचन मांसवचन आदिका कथन किया है। उपासकाध्ययनके भी तीसरे अध्यायमें मिथ्यात्वके पाँच श्रेय बतलाकर उक्त विषयोंकी जासोचना की है। किन्तु वह जासोचना भावार्थप्रज्ञसे बहुत अधिक समुचित और संक्षिप्त है। उपासकाध्ययनमें लिखा है,

“ब्रह्मचर्योपपन्नानामप्यारम्भाचारयेतस्मात् ।

भुनीयां स्नानसंघात शौचे वस्त्रे विचिरीतः ॥

भावार्थप्रज्ञमें लिखा है

‘वचनियमसीकृत्वा मिहवकसाधा वृत्तावरा ब्रह्मणे ।

ब्रह्मजन्तुविवा वि पुरिसा र्भमचारी सखा सुख ॥२५॥

भावार्थप्रज्ञमें चौथी मिथ्यात्वोंकी माननेवाके ब्राह्मण बौद्ध वापस स्वेताम्बर और मस्करिके सर्वोका निराकरण करके आर्वाक साक्ष्य और कीक बर्गकी जासोचना की है। उपासकाध्ययनके प्रथम अध्यायमें हो सब

१ भाषिकचन्द्र ग्रन्थमाका कथन (वर्तमानमें बाराणसीसे प्रकाशित) ।

२ भारतीय ज्ञानपीठ बाराणसीसे प्रकाशित ।

३ श्रीवाराणसी ग्रन्थमाका शोकापुरसे प्रकाशित ।

४ भाषिकचन्द्र ग्रन्थमाका कथन (वर्तमानमें जा आ बाराणसी) से प्रकाशित ।

दर्शनोंकी समीक्षा की है उनमें उक्त सभी मत आ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भावसंग्रहके कर्ता दार्शनिकसे अधिक पौराणिक थे। उन्होंने प्रत्येक मतके सम्बन्धमें प्रचलित बातोंको लेकर ही उनकी हँसी उड़ायी है। उसमें दार्शनिकता विशेष नहीं है। तीसरे गुणस्थानका वर्णन करते हुए भी हरि, हर, ब्रह्मा आदि देवोंकी समीक्षा पौराणिक आख्यानोको लेकर ही की है।

पाँचवे गुणस्थानका वर्णन करते हुए यद्यपि गुणग्रन्थ और शिक्षाग्रन्थोंके भेद कुन्दकुन्दके अनुसार बतलाये हैं। किन्तु सामायिकके स्थानमें 'त्रिकाल देवसेवा' को स्थान दिया है। उपासकाध्ययनमें सामायिकका स्वरूप आप्तसेवा ही बतलाया है। तथा अष्टमूलगुण भी उपासकाध्ययनके अनुसार ही बतलाये हैं। आगे देवपूजाका कथन करते हुए स्नानके पश्चात् मन्त्रसे आचमनका फिर सकलीकरणका विधान किया है। सोमदेवने आचमनको मान्य करके भी पूजनके समय आचमन नहीं बतलाया है और न सकलीकरण बतलाया है। हाँ, जपसे पहले उन्होंने सकलीकरणका विधान किया है। भावसंग्रहमें अग्निपेकसे पूर्व कंकणमुद्रा और यज्ञोपवीत धारण करनेका विधान किया है, सोमदेवने नहीं किया। सोमदेवने केवल इन्द्रादि देवोंका ही आह्वान किया है। भावसंग्रहमें उनका आह्वान शस्त्र और वाहनके साथ करना बतलाया है। उपासकाध्ययनमें अष्टद्रव्योंसे पूजा करनेका फल नहीं बतलाया है, भावसंग्रहमें एक-एक गाथाके द्वारा प्रत्येकका फल बतलाया है। उपासकाध्ययनमें पूजनके बाद स्तवन, फिर जप और फिर ध्यानका विधान है। भावसंग्रहमें पूजनके बाद ध्यान करके आहूत देवोंका विसर्जन करना बतलाया है। उपासकाध्ययनमें विसर्जनका कोई निर्देश नहीं है।

भावसंग्रहमें इसी प्रकरणमें आगे दानका वर्णन है जो उपासकाध्ययनके ४३वें कल्पके वर्णनसे मिलता है। दोनोंमें दानके चार भेद बतलाये हैं, अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। उपासकाध्ययनमें केवल एक श्लोक-द्वारा चारों दानोंका जो फल बतलाया है, भावसंग्रहमें प्रायः वही फल चार गाथाओंके द्वारा बतलाया है। दाताके सात गुण दोनोंमें समान हैं। यथा,

“श्रद्धा तुष्टिर्मर्किविज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्ति ।

यत्रैते सप्त गुणास्त दातार प्रशस्यन्ति ॥”—उपासकाध्ययन ।

“मत्ती तुष्टी य खमा सदा सत्त च लोहपरिचामो ।

विष्णोणा तक्काले सत्त गुणा होंति दायारे ॥” ४९६ ॥ —भावसंग्रह ।

उपासकाध्ययन श्लो० १४४ में कहा है कि जो मूढताको सर्वथा छोड़नेमें असमर्थ है उसे सम्यक् मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए। भावसंग्रह गा० २५७ में यही बात कही है। इस तरह भावसंग्रह और उपासकाध्ययनके कुछ वर्णनोंमें समानता पायी जाती है और उन दोनोंमें कुछ ऐसी विशेष बातें भी हैं जो उससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें नहीं हैं।

उपासकाध्ययनका तो रचनाकाल (वि० स० १०१६) निश्चित है किन्तु भावसंग्रहके रचनाकालमें मतभेद है और उस मतभेदका कारण स्वयं भावसंग्रह ही है।

भावसंग्रह देवसेनकी रचना है। देवसेनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं, उनके नाम हैं—दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्र और आलापपद्धति। इनमेंसे दर्शनसारके अन्तमें उसका रचनाकाल ९९० दिया है। चूँकि उसकी रचना धारा नगरीमें हुई है और वहाँ विक्रम संवत्का चलन था इसलिए,

१ गा० ३५५ । २ गा० ३५६ । ३ गा० ४२७ । ४ गा० ४३६ । ५ गा० ४३९ ।

६ “पुष्पाहरियकपाड गाहाड सचिऊण एयत्थ । सिरिदेवसेणगणिणा धाराए सवसेणेण ॥४९॥
रहओ दसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवई । मिरिपासगाह वेहे सुविसुदे माहमुददसमीए ॥

—जै० सा० ६० पृ० १७७ ।

जसे कि १९ माना जाता है। भावसंग्रहको भी जहाँ देवसेनकी रचना मानकर उसका रचनाकाल भी श्रीपद्म प्रेमीजीने विष्णुकी वसुन्वी सताब्दीका अन्तिम करण माना था। तबनुसार भावसंग्रह उपासकाध्ययनका पूर्वज ठहरता है। किन्तु पं परमानन्दजीने भावसंग्रहमें वर्णित कुछ उक्त दिवसोंके आधारेपर उसके सप्तकाष्ठमें आपत्ति करते हुए उसे सुभाषनाचरित (अपभ्रंस) के रचयिता देवसेनकी रचना बतलाया और श्रीगुणसिंहोदरजी मुन्नावरने उसका निरसन करते हुए भावसंग्रहको वर्णनसारके रचयिता देवसेनकी ही कृति सिद्ध किया था। किन्तु श्रीप्रेमीजीने अपने तीन साहित्य और इतिहासके दूसरे संस्करणमें पं परमानन्दजीके मतको स्थान दिया। केकड़ीके श्री पं रत्नलालजी कटारियाने भी भावसंग्रहके वर्णनसारके रचयिता देवसेनकी कृति होनेके पक्षमें अनेक आपत्तियाँ हमारे पास लिखकर भेजी थी। मत्त भावसंग्रहके उपासकाध्ययनके पूर्वज होनेमें सन्देह है। इसपर सन्देहका निराकरण हुए बिना कोई मत निर्धारित नहीं किया जा सकता। यहाँ कुछ बातें पक्षमें हैं वहाँ अनेक बातें विपक्षमें भी हैं। रत्नलाल आराधनासार और भावसंग्रहकी प्रथम पाद्यामें सुरसेन नाम विशेषण रूपमें पाया जाता है किन्तु अन्तिम पाद्यामें वर्णनसारमें देवसेननामि नाम है। भावसंग्रहमें विमलसेन गणधरका शिष्य लिखा है तथा आराधनासारमें केवल देवसेन नाम है। इसके साथ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीरचित भोमट्टसार श्लोकार्थकी अनेक पाद्याओंके अंत में ज्योतिष्यो भावसंग्रहम् वर्तमान है। किन्तु एक पाद्या ११ ऐसी भी है जो प्रमेयकमलमार्तण्डमें उद्धृत है। ये सभी बातें विचारणीय हैं।

[६] उपासकाध्ययनमें वर्णित दर्शन और मत

उपासकाध्ययनका प्रारम्भ करते हुए सोमदेव सूरिने प्रथम कल्पमें विभिन्न दर्शनोंमें माग्य मुक्तिके स्वस्वका उत्प्रेक्ष्य करके उनकी आलोचना की है। इधोउधे इस कल्पकी सोमदेवने समस्तसमस्तसिद्धान्तावलोकन नाम दिया है। इसीमें सती और असत पूर्व प्रकल्पित वार्त्तिकिक योके संस्कृतकी बृहत्ते यद्वा रूप्य स्वरूपपूर्व है। इसमें सैद्धांत्य वैशेषिक तार्त्तिकिक वैशेषिक कात्यायन पापुपत कील तार्त्तिक कापिक शौड वैमिनीय बार्हस्पत्य और वेदाय वर्धनोक्ता उत्प्रेक्ष्य है। इसके अतिरिक्त सोमदेवने टीव और याज्ञिकोका भी उत्प्रेक्ष्य किया है। इनकी संक्षिप्त आलकाटी निम्न प्रकार है।

वैशेषिक

सोमदेवने वैशेषिकके दो श्रेयोका निर्देश दिया है—एक सैद्धांत्य वैशेषिक और दूसरे तार्त्तिकिक वैशेषिक। इन दोनोंमें मुख्य अन्तर यह है कि सैद्धांत्य वैशेषिक सिद्धके मन्त्र है और वे अज्ञापर विशेष और श्रुति है जब कि तार्त्तिकिक वैशेषिक दर्शनके पूर्व अनुवादी है और वह पञ्चाशोंके ज्ञानपर विशेष और श्रुति है। सैद्धान्तिकोंका मत है कि सिद्धने अपने सद्यरीर और अद्यरीर कपोमें जिस वर्मका उपदेश दिया उसकी प्रज्ञा करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इतिहास सूरिने अपने बह्वर्धनसमुच्चयमें शैवायिकों और वैशेषिकोंको टीव-टीवका मन्त्र बतलाया है। उसके टीकाकार गुणरत्नने लिखके अनुवायियोंके टीव पापुपत आदि बार सम्प्रदाय बतलाये हैं और लिखा है कि शैवायिक टीव बह्मकाते हैं तथा वैशेषिक पापुपत किन्तु पापुपतके अपने पदार्थ सिद्धांत है और उनका वैशेषिकोंसे कोई साक्षात् सम्बन्ध प्रतीय नहीं होता। सोमदेवने स्वयं उनके मोक्ष सम्बन्धी मतका पृथक् निर्देश दिया है।

तार्त्तिकिक वैशेषिक इत्य गुण कम सामान्य समवाय विशेष और अभाव इन छठ पञ्चाशोंके साधर्म्य और शैवार्थमूलक ज्ञानमात्रसंयोजन मानते हैं। यहाँ उत्प्रेक्षणीय यह है कि सत्त्ववर्त्तिकी वतां विचारित्वकी तरङ्ग सोमदेवने भी अभावकी पञ्चाशोंमें सम्मिलित किया है। यह अवधिधन है कि पञ्चाशने छद्म ही पञ्चाश

१ अनेकाल्प कथ ० कि ११ १९।

२ श्री उपा ५ २।

३ 'शैवायिकाः सत्त्वविचक्षणान्तराः'। वैशेषिकाः पापुपताः।—बह्वर्धनसमुच्चय टीका ५ २।

४ श्री उपा ५ २

कहे हैं, किन्तु लगभग दसवीं दातान्दीसे वैशेषिक दर्शनपर लिखनेवाले श्रीधर और उदयन-जैसे ग्रन्थकारोंने अभावकी महत्तापर जोर दिया है और दूसरे ग्रन्थकारोंने अभावको पदार्थोंमें सम्मिलित कर लिया है।

सोमदेवने वैशेषिकोंके द्वारा मान्य मुक्तिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि कणादके अनुयायी आत्माके ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार इन नौ विशेष गुणोंके नष्ट हो जानेको मुक्ति कहते हैं^१। सोमदेवने अपने कथनके समर्थनमें एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसमें बतलाया है कि शरीरसे बाहर आत्माके जिस रूपकी प्रतीति होती है, कणाद मुनिने वही मुक्तिका स्वरूप कहा है^२।

श्रीधराचार्यने लिखा है “आत्मामें नित्य सुख नहीं है अतः मोक्षावस्थामें सुखानुभव न होनेसे सुखानुभवका नाम मोक्षावस्था नहीं है किन्तु आत्माके समस्त विशेष गुणाका विनाश हो जानेसे उसकी स्वरूपमें स्थितिका नाम मोक्ष है।” मण्डन मिश्रने मुक्तिके इस रूपपर यह आपत्ति की थी कि विशेषगुणोंकी निवृत्तिरूप मुक्ति तो उच्छेद पक्षसे भिन्न नहीं है। इसका उत्तर देते हुए श्रीधरने कहा है कि विशेषगुणोंका उच्छेद होनेपर आत्मा अपने स्वरूपसे अवस्थित रहता है, उसका उच्छेद नहीं होता क्योंकि वह नित्य है^३।

सोमदेवने भी मुक्तिके उक्त स्वरूपकी समीक्षा करते हुए कहा है कि यदि मुक्तिके सासारिक ज्ञान और सासारिक सुख नहीं हैं तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, हमें यह इष्ट ही है, किन्तु यदि मुक्तावस्थामें आत्माके स्वाभाविक ज्ञान और सुख-गुण भी नष्ट हो जाते हैं तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या रहेगा। अग्निमें-से यदि उष्णता नष्ट हो जाये तो अग्निका अस्तित्व कैसे रह सकता है।^४

मुक्तिके कारणकी आलोचना करते हुए सोमदेवने कहा है कि ज्ञानमें हमें वस्तुका बोध होता है, प्राप्ति नहीं होती। पानीको जान लेनेसे प्यास नहीं बुझती। अतः ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं हो सकती।^५ इसी तरह सैद्धान्त वैशेषिकोंकी आलोचना करते हुए सोमदेवने कहा है कि केवल श्रद्धामात्रसे मुक्तिलाभ नहीं हो सकता। क्या भूख लगनेसे ही उदुम्बर फल पक सकता है।^६

कणाद मुनि वैशेषिक दर्शनके आद्य प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके दर्शनको औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। उसके ऊपरसे ऐसी कल्पना की गयी है कि शिवजीने उल्लूका रूप धारण करके उन्हें परमाणुवादका उपदेश दिया था इससे उनके दर्शनको औलूक्य दर्शन करते हैं। कणादमुनि शैव अथवा पाशुपत थे।

पाशुपत-दर्शन

सोमदेवके कथनानुसार पाशुपत दर्शनमें केवल क्रियाकाण्डसे मुक्ति मानी गयी है। वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं—प्रातः दोपहर और सन्ध्याके समय शरीरमें भस्म लगाना, शिवलिंगकी पूजा करना, जलपात्रका अर्पण, प्रदक्षिणा और आत्मविडम्बना। सोमदेवने इनमें-से किसी भी क्रियाका बलुआसा नहीं किया। किन्तु भासवर्जकी गणकारिकाकी टीकासे उन्हें बहुत कुछ समझा जा सकता है। भासवर्ज सम्भवतया सोमदेवका समकालीन था।

गणकारिकाकी रत्नटीकामें केवल दिनमें तीन बार शरीरमें भस्म^७ रमानेका ही निर्देश नहीं है किन्तु

१. सो० उपा०, पृ० ३।

२. सो० उपा०, पृ० ३ श्लो० ९।

३. “नास्यात्मनो नित्यं सुखं तदभावान्न तदनुभवो मोक्षावस्था किन्तु समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव। यदुक्तं मण्डनेन विशेषगुणनिवृत्तिलक्षणा मुक्तिरुच्छेदपक्षाच्च मिथ्ये इति विशेषगुणोच्छेदे हि सति आत्मनः स्वरूपेणावस्थानं नोच्छेदो नित्यत्वात्।”

४. सो० उपा०, श्लो० ३०-३३।

५. सो० उ० ५-६।

६. सो० उपा० पृ० ५, श्लो० १७।

७. “मगवन्तं प्रणम्य त्वदाज्ञा करोमीत्यमिसधाय जपश्रेवापादलमस्तकं यावत् प्रभृतेन भस्मनाऽङ्गप्रत्यङ्गं च प्रयत्नातिशयेन निष्पृण्य निष्पृण्य स्नानमाचरेदित्येव मध्याह्नापराह्णसन्ध्ययोरपीति निष्क्रम्येशं प्रणम्य प्रणामान्तं प्रदक्षिणत्रयं” कुर्यात्।”

देवाध्ययमें मन्मथर आरतन होनेका भी निर्देश है। तथा तीन प्रवर्धना करनेका भी उल्लेख है। इससे सिद्धिबिधकी पूजा भी गयी है। आरमविदम्बनाम कुछ विधिज क्रियाएँ बतायी गयी हैं जिनका उद्देश्य भक्तकी अपमानित अनुभव कराना है।

टीकामें लिखा है कि ये क्रियाएँ भक्तकी अपमानका अनुभव करानेके लिए बतलायी हैं जिससे वह अपमान को सहन कर सके। अपमानकी श्वेतलकी आगेके मुख्य वस्तुमाया है और उसे दृष्टम कहा है। तथा लिखा है कि जैसे रंगमंचपर गट अपनी कक्षाएँ दिखाकर जनताको प्रसन्न करता है वही तरह विधमभक्तकी मनसमुदायमें विभिन्न क्रियाएँ दिखाकर प्रसन्न करना चाहिए।

सोमदेवने पाशुपतकी द्वारा मुक्तिक उपाय रूपसे बताये गये क्रियापात्रका तो उल्लेख करके उसकी मातृभवा की है किन्तु पाशुपतमें मुक्तिका स्वल्प कैसा माना है इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा। कुछ ग्रन्थकारोंके अनुसार पाशुपतकी मुक्तिका स्वल्प न्याय-वैशेषिक प्रधानसे भिन्न नहीं है।

मास्करने ब्रह्मसुत्रमाध्यम लिखा है कि पाशुपत और कापादिक मुक्तिका स्वल्प बड़ी मात्रा में जो नैयायिकों और वैशेषिकोंमें माना है। और दोनोंकी मुक्तिका स्वल्प संक्षेपके समान है। उसने लिखा है कि पाशुपत वैशेषिक नैयायिक और कापादिकोंके मतानुसार मुक्ति व्यवस्थामें आरमार्थ पत्रके मुख्य हो जाती है। किन्तु संक्षेप और शीघ्रमत्तमें शैतनविशिष्ट रहती है।

यमुनाचार्यने अपने आत्मप्राप्त्यायमें शीघ्र सम्प्रदायका विवरण दिया है। उसने भी पाशुपतके मुक्तिके स्वल्पके विषयमें बड़ी लिखा है जो मास्करने लिखा है। पाशुपतदर्शनका एक मूल छिद्रान्त दुःखान्त है। इसका लक्षणा करते हुए यमुनाचार्यने लिखा है कि दुःखान्तका अर्थ है, दुःखकी आत्मनितिकी निवृत्ति इसीकी समस्त विशिष्ट आत्मगुणोंका विनाशक्य मुक्ति मानते हैं।

मन्मथारिकाकी रत्नटीकाम दुःखान्तकी निषेधपरक व्याख्या तो संक्षेप प्रकार ही है। विविधरक व्याख्याम दुःखान्तका अर्थ सिद्धि अर्थात् शिवकी तरह सर्वोच्च शक्तिकी प्राप्ति किया है।

ऐना प्रतीत होता है कि पाशुपतमत आधुनिक होनेकी अपेक्षा एक आधुनिक आचाररूप रहा है। पाशुपत सूत्रकी कीर्तिश्रमरहित टीकामें पाशुपतके आचारकी पूरी रूप-रेखा दी है। उसके मूल बहिष्ठा ब्रह्मचर्य घरम असमन्वयहार, शीघ्र आहारभक्षण और अग्रमात्र आदि पाँच यम हैं। बहिष्ठा शैतनकी तरह ही व्यवहारारम्भ है। बीबाकी मुरखाके विचारसे आत्म अज्ञानेतरक्य निषेध किया है। वरुसे छानकर पानीका उपयोग करना बतलाया है। तथा वनस्पतिकी बहुत कममूल और पके बीबोको खानका निषेध किया है। किन्तु भी मारा गया न हो ऐसे पशुके मांस खानेकी आज्ञा है।

ब्रह्मचर्य तो स्पष्ट ही है। सरयके विषयम कीर्तिश्रमने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें बतलाया है कि सब प्राणिजीवर गया करनेके लिए शोक कये मूठसे स्वर्ग मिल सकता है। किन्तु उक्तश्लोकके विनाशके लिए शोक गये सरयसे भी स्वयं नहीं मिल सकता।

१. मूर्तिश्रमदेव पाशुपतारम्भे महादेवैश्यास्यानमूर्तकिङ्गादि कर्षणं व्याख्यातम्।

२. 'मन्मथ परिभक्तं गच्छेत्पुण्यवशाद्वाग्बिगुणपत्नेनापमानादौरिह्यमात्राविति।

३. "रङ्गवद्वस्त्रितेषु जनेषु मध्यमवद्वस्त्रितेषु विशेष्य विशेष्य आत्मार्थीनि कुर्वन्।

४. 'पाशुपतवैशेषिकनैयायिककापादिकायामविशिष्टा मुक्त्यवस्थायां पापावच्छेदा आत्मानो मयन्तीति। सांख्यशैवबोधक विविध्या आत्मानोत्तमस्वभावास्तिहन्तीति।"

५. 'आत्मनितिकी दुःखनिवृत्तिर्दुःखान्तसमवेदोक्त्य उक्तेश्च वि-शेषवैशेषिकराममुनेष्वेवमुक्तं मूर्ति सम्बन्धे।"

६. स्वगाममुत्तम गच्छति इत्यर्थमुक्तं न सर्वभूतानाम्। सत्यनाथि मगधजति सती विनायार्थमुक्तम्॥

असमव्यवहारका मतलब है—व्याजादि देन-लेनेके व्यवहारसे तथा कोर्टसे दूर रहना । अस्तेयमें अनधिकार प्रतिग्रह और अनुपालम्भको भी लिया है । शौचका मतलब है शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पवित्रता । शारीरिक अपवित्रता भस्म लगानेसे दूर हो जाती है । भावशौच विशेष आवश्यक है । अपमान, तिरस्कार वगैरहसे आत्मशौच होता है । आहार लाघवसे मतलब है, भिक्षावृत्तिसे भोजन करना ।

प्राचीन पाशुपत कठोर-जीवन विताते थे ऐसा प्रकट होता है । पाशुपत सूत्रोंके अनुसार पाशुपत भिक्षुक किसी उजड़े हुए घरमें अथवा गुफामें या श्मशानमें रहता है, एक वस्त्रखण्ड रखता है और यदि सम्भव हो तो सर्वमृत्यागके चिह्नस्वरूप वस्त्रोंसे सर्वथा दूर रहता है । भिक्षावृत्तिसे भोजन करता है, यहाँ तक कि भस्म भी भिक्षासे प्राप्त करता है और वैदिक यज्ञोंसे घृणा करता है ।

वेदान्तसूत्र (२-२-३७) के भाष्यमें शंकराचार्यने पाशुपतोका खण्डन किया है किन्तु माहेश्वर—शिवके अनुयायी नामसे उनका उल्लेख किया है । इससे प्रकट होता है कि पाशुपत भी एक शैव सम्प्रदाय था । नौवीं शताब्दीके ग्रन्थकार वाचस्पतिने भामतीमें और भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें चार शैव सम्प्रदायोंका निर्देश किया है—पाशुपत, कापालिक, शैव और कारुणिक सिद्धान्ती । यमुनाचार्यने अपने आगमप्रामाण्यमें उनके नाम शैव, पाशुपत, कापालिक और कालमुख दिये हैं । रामानुजके श्रीभाष्यमें भी ये ही नाम हैं ।

पाशुपत मतमें पाँच पदार्थ हैं—दुःखान्त, कार्य, कारण, विधि और योग । इनका प्रवर्तक नकुलीश पाशुपत था । इन पाँच पदार्थोंको जानना जरूरी है । न्यायवैशेषिक दर्शनमें दुःखकी निवृत्तिका नाम दुःखान्त है, किन्तु पाशुपत दर्शनमें पारमेश्वर्यको प्राप्ति भी सम्मिलित है । न्यायवैशेषिक दर्शन असत्कार्यवादी है, किन्तु इस दर्शनमें पशु आदि कार्य नित्य है । अन्य दर्शनोंमें सृष्टिके कारण प्रचलन परमाणु वगैरह हैं जो परतन्त्र हैं, किन्तु इस दर्शनमें स्वतन्त्र शिव ही सृष्टिका मूल कारण है । अन्य दर्शनोंमें योग कँवल्य और अभ्युदयको देनेवाला है, किन्तु इस दर्शनमें परमदुःखकी अवधिका भानरूप योग है । अन्य दर्शनोंमें स्वर्गादि फलको देनेवाला विधि है, जहाँसे पुनरावर्तन होता है, किन्तु पाशुपत दर्शनमें पुनरावृत्ति नहीं करानेवाली किन्तु छद्सायुज्य करानेवाली विधि है ।

तत्त्वज्ञानके पाँच लाभ हैं । इन लाभपचक, मलपचक, उपायपचक, देशपचक, विशुद्धिपचक, अवस्थापचक, दीक्षापचक और बलपचक, ये आठ पचक जान लेनेसे पाशुपतोके आचारप्रधान मार्गका बोध हो जाता है । मिथ्याज्ञान, पाप, विपयामकितरूप दोष, परमेश्वरपदको विमृष्टि, पशुत्व अर्थात् बद्ध जीवका स्वरूप ये मलपचक हैं । इनको पाँच शुद्धियाँ हैं जो इन पाँच मलोंको निवृत्तिरूप हैं । पशुभावकी निवृत्तिवाली पाँच अवस्थाएँ हैं । उन अवस्थाओंमें ले जानेवाली पाँच दीक्षाएँ हैं । ये दीक्षा पाशुपत गुरु देते हैं । उक्त आठ पचकोंसे युक्त शिवभक्त कैसे जीवननिर्वाह करता है यह ऊपर लिख आये हैं ।

शैव धर्ममें तीन मूल चीज हैं—पति, पशु और पाश । पति स्वयं शिव है, और पशु जगत्के प्राणी हैं जो पाशसे बँधे हुए हैं । शिवमें बाँधने और मुक्त करनेकी शक्ति है । किन्तु अपने कर्मोंके फलको भोगे बिना पाशसे छुटकारा नहीं मिल सकता । जो अपने कर्मोंको नष्ट कर देते हैं उनकी मुक्तिके लिए शिव दयालु होकर आचार्यका पद ग्रहण करते हैं और उन्हें प्राथमिक दीक्षा देते हैं ।

शैवधर्म

सोमदेवने शैवधर्मके दो मुख्य भेद बतलाये हैं—दक्षिणमार्ग और वाममार्ग । इनमेंसे वाममार्ग शैवधर्मका विकृत रूप है, किन्तु दक्षिणमार्गको शैवधर्मका ठीक रूप कहा जा सकता है । इसके सिद्धान्तोंको बतलानेके लिए सोमदेवने तीन श्लोक उद्धृत किये हैं जो इस प्रकार हैं,

“प्रपञ्चरहित आद्य प्रपञ्चरहितो गुरु ।
प्रपञ्चरहित ज्ञान प्रपञ्चरहित शिव ॥

शिखं शक्तिविनाशनं च बान्धवमिति मराधमाः ।

तं भूमिरहिताद् बीमात् सन्तु मृतं पञ्चोत्तमा ॥

—वशासि माग १ पृ २५१

अज्ञेयत्वं परं तत्त्वं न देव शकारत् पर ।

शेषमाकाशत् परं नास्ति मुक्तिमुक्तिप्रदं यथाः ॥ २१९ ॥

—सा उपामका ।

पहले इसीकर्म बतलाया है कि शास्त्र पुत्र ज्ञान और शिव ये सब प्रपञ्च अर्थात् सांसारिक पदार्थोंमें कोई सम्बन्ध नहीं रहते । दूसरे स्वीकृत्ये शिव और शक्तिके सम्बन्धपर और बिना गया है और बतलाया है कि शक्तिको स्वीकार किये बिना शिवको स्वीकार करना बीता ही है जैसे बिना भूमिके बीजसे फलोत्पादन करना । तीसरे इसीकर्म बतलाया है कि अज्ञेयते पण्डित्य तत्त्व नहीं शिवसे श्रेष्ठ दूसरा देव नहीं और शेष शास्त्रसे श्रेष्ठ मुक्ति और मुक्तिको देनेवाला अन्य शास्त्र नहीं है ।

ये तीनों श्लोक शिव धर्मके अज्ञेय मतके सिद्धान्तोंको बतलाते हैं । शिवपुराण (कैलास संहिता १ - १९९) में सर्वमतके लिये अज्ञेय शिवदेव शास्त्रका प्रयोग किया गया है और लिखा है कि वह ईशको सहन नहीं करता । एक अन्य शिव धर्ममें कैलाश अज्ञेयको ही स्वीकार किया है और प्रपञ्च तथा संसारकी वास्तविकताको मस्वीकार किया है । स्वयं प्रकाशमान अज्ञेय चेतने और अचेतनके भेदको लिये हुए यह मत तत्त्व वास्तविकता ही है शिवकी शक्तिसे ही बसकी रचना हुई है । शिवसे बिना कुछ भी नहीं है ।

शिवकी शक्ति उसीकी दृष्टिके अनुसार सृष्टि रचना करती है । उसी अनादि अनन्त शक्तिको माया कहते हैं वही इस भौतिक विश्वका कारण है । जैसे प्रेक्षक और अन्धकारका कोई सम्बन्ध नहीं जैसे ही प्रपञ्च और शिवका भी कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु जैसे केवल और लहरें समुद्रसे उत्पन्न होकर समुद्रमें ही लय हो जाती हैं वैसे ही यह जगत् भी शिवमें ही लीन हो जाता है ।

प्रपञ्चरहित ज्ञान उस सौमार्थिक बतलाता है जिसमें भक्त जबिक समय तक संसारका पात्र नहीं रहता और शिवमें लीन हो जाता है प्रपञ्चरहित पुत्र तो शिव स्वयं है । शिव और शक्तिका अनेक सम्बन्ध भी शिव धर्ममें बतलाया है और वह शेष धर्मका एक भौतिक सिद्धान्त है ।

शिवदेवने 'वक्ता नैव सदाशिव' (सो व पृ २१) आदि श्लोकके द्वारा इस बातका अभ्यन किया है कि आधुनिक ज्ञान शिवसे प्रकट हुआ है ।

१ 'युक्तं स निश्चये ज्ञानया मायया न स्वकृतम् । तस्मादज्ञेयसंवास्ति च प्रपञ्चो न संशयः ।

—सूतसंहिता (ज्ञानभोग लख २ - ३) ।

२ 'अतश्च संश्लेषमिमं श्रुत्वा अगस्तमस्तं विश्वविश्वमिदम् ।

स्वशक्तितन्त्रसं शिवमात्मैव न देवदेवात् प्रपञ्चसि किञ्चित् ॥

३ 'यथा प्रकाशतमसो सम्बन्धो नाप्युच्यते । तद्वैव न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनो ॥

आभातयो यथा लोका परस्परविकल्पौ । तद्वत् प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्ना परमात्मनः ॥

—ईश्वरगोपा १ १ ११ ।

४ 'यथा केवतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुन । समुद्रे लीयते तद्वज्जगत्सम्बन्धं लीयते ॥

—सूतसंहिता (ज्ञानभोग लख २ २)

५ 'यथा सर्वाणि भूतानि समाविष्टयो च पश्यति । एकीभूतः परेण्यती यदा मयति कैलाश ॥

६ 'गुह्यादीनां परमिषो गुह्यस्य समाधिः । —शिवपुराण (विशेषरसंहिता १६ ६३)

७ 'न शिवेन विना शक्तिः न शक्तिरहितः शिवः । असाध्यकरवार्त्तयं च पश्यति स पश्यति ।'

—सूतसंहिता (ज्ञानभोग लख ११ १)

सोमदेवने उपासकाध्ययनके अन्तिम आश्वासमें शैव और तान्त्रिक मतोंके कुछ मूलभूत विचारोंका खण्डन किया है। वे हैं—ज्योति, बिन्दु, कला, नाद, कुण्डली और निर्बीजीकरण। 'ज्योति' शिवके गूढ़ नामोंमें-से है। सस्कृतमें 'ज्योति' शब्द नपुंसक लिंग है। एक ही शिव तत्त्वको भी पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक-लिंग शब्दोंके द्वारा कहा जाता है। यद्यपि शिवतत्त्व लिंगरहित है तथापि उसका कथन लिंगभेदसे किया जाता है। प्रणव अथवा 'ओ' को भी, जो शिवका वाचक है, ज्योति शब्दसे कहा जाता है।

कला शैव सिद्धान्तोंके छत्तीस मुख्य सिद्धान्तोंमें-से है। यह मनुष्यकी कर्तृत्व शक्तिको प्रकट करती है इसलिए इसे कला कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें पशु अर्थात् पाशवद प्राणीमें जो मर्यादित कर्तृत्व शक्ति है उसका मूल कारण कला है।

नाद और बिन्दु ये दो धारणाएँ हैं। इनका सदा एक साथ निर्देश किया जाता है। शिवपुराणमें लिखा है कि सृष्टिके आरम्भमें शिवकी इच्छासे शक्ति प्रकट होती है। और जब वह शक्ति शिवकी उत्पादक शक्तिके द्वारा उत्तेजित की जाती है तो नाद उत्पन्न होता है, उससे बिन्दु होता है, बिन्दुसे सदाशिव, सदाशिवसे महेश्वर और महेश्वरसे विद्या उत्पन्न होती है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और महेश्वर ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। इन्हींमें नाद और बिन्दु भी गभित हैं।

कुण्डलिनी सचित शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक रूपसे पायी जाती है, प्राथमिक अस्पष्ट ध्वनिसे लेकर साहित्यिक वाणी तक सब ध्वनियाँ उसीसे उत्पन्न होती हैं।

कुण्डलिनीके स्थानको मूलाधार कहते हैं। यह सुषुम्ना नाडीसे आवेष्टित है। कुण्डलिनीकी कल्पना कुण्डलीभूत सर्पकी तरह की जाती है, किन्तु राघवभट्टने शारदातिलक (१-५१) की टीकामें लिखा है कि मूलाधारमें कुण्डलीभूत सर्पकी तरह एक नाडी है और यह नाडी वायुके द्वारा प्रेरित होकर शरीरके सब भागोंमें भ्रमण करती है। वायुके द्वारा कुण्डलिनीके इस संचारको गुणन कहते हैं। 'कुण्डली वायुसंचर' वाक्यका यही अभिप्राय है।

निर्बीजीकरण एक योगिक प्रक्रिया है और उसका उद्देश्य है शरीरपर पूर्णाधिकार करना। सोमदेवने इन सबको व्यर्थ बतलाया है।

कुलाचार्य और त्रिकमत

सोमदेवने लिखा है कि कुलाचार्यके मतानुसार समस्त पेय अपेय और भक्ष्य अभक्ष्य वगैरहका निश्चित सेवन करनेसे मुक्ति मिलती है। सोमदेवसे दो शताब्दी पश्चात् यशपाल नामके जैन ग्रन्थकारने 'मोहराज पराजय' नामका नाटक रचा था। उन्होंने भी कौलो अथवा कुलाचार्योंका यही मत दिया है। इस नाटकमें कौल कहता है कि "प्रतिदिन मांस खाना चाहिए और दिल खोलकर मद्य पीना चाहिए। मनकी गति अनिवार्य है। यह धर्म मैंने कहा है।" कर्पूरमंजरी नाटिकामें भी भैरवानन्दने कौलधर्मका यही स्वरूप बतलाया है।

१ "ज्योतिर्विन्दु कला नाद कुण्डली वायुसंचर ।"

२ "एकमेव शिवतत्त्व पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसकलिङ्गशब्दैर्ग्यवद्विद्यते। तदुक्तं बृहण्याम्—

शिवो देव शिवा देवी शिव ज्योतिरिति त्रिधा। अलिङ्गमपि यस्तत्त्व लिंगभेदेन कथ्यते ।"

—तत्त्वप्रकाश टीका १-३ ।

३ "न्यञ्जयति कर्तृशक्ति कलेनि तेनेह कथिता सा ।"—तत्त्वप्रकाश ३-६ ।

४ "सर्वेषु पेयापेयमक्ष्यामक्ष्यादिषु नि शङ्कचित्ताद्वृत्तात् इति कुलाचार्यका ।"—सो० उपा०, पृ० २ ।

५ "रज्जु इ मम अणुदिणु पिञ्ज इ मज्ज च मुक्क सकप्प । अणिवारिय मणपसरो एसो धम्मो मणु दिट्ठो ॥" ४-२२ ।

६ "रण्णा चण्डा ठिक्खिदा धम्मदारा मज्ज मस पिञ्ज ए खज्ज ए वा ।

मिक्खा भोज चम्मखद व सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो मादि रम्मो ॥"—कर्पूर० पृ० २६ ।

और देवताओं के भावसंपर्क में भी नहीं कहा है। सोमदेवने निकमतको भी कुशाचार्यके समान ही बतकाया है। निकमतके अनुसार मुखको मथिरासे सुवासित करके और मांससे हृदयका प्रसन्न करके तथा बायीं ओर एक स्त्रीको बैठकर मथिरासे सिवकी पूजा करे और स्वयं सिव-नार्यती बनकर योगिमुद्राका प्रदर्शन करे। यह तान्त्रिक पद्धतिका पंचार्थ चित्रण है। कुशाग्रवत्तत्र और कुलचूडामणितन्त्रमें ऐसा ही किया है। धाराब और मासका सेवन इस मन्त्रका उत्कृष्ट रूप है। अथ स्त्रीके सम्बन्धमें कुलचूडामणितन्त्रमें लिखा है कि पूजक रात्रि के समय जब पूजाके लिए किसी स्त्रीके साथ बैठे तो वह स्त्री सात्वत वस्त्र धारण किये हो और बहुमुख स्वर्ण लंकारोसे सज्जित हो। वह स्त्री पूजकके बायों और एक गहोपर बैठे और पूजक दोनों हाथोंसे नैटित करके उसका आश्रित करे। वह बात स्मरणीय है कि बिना किसी सेवकाके किसी भी नाटिकी स्त्रीकी पूजा तान्त्रिक पद्धतिका एक मुख्य लक्ष्य है। किन्तु धार्मिक विधिमें मद्य और मासका सेवन तथा स्त्री सहवासकी स्वच्छन्दता स्वयम् ही दुराचाराकी ओर के जाती है। अतः सोमदेवने कौलमन्त्रके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसका आचार नहीं है जो वर्णाने अपने समयमें देखा और सुना होगा। कुशाग्रवत्तत्र (अध्याय ९) में सोम देवकी तरह लिखा है 'कौलिकों' मत्तमें अनेक भी वेद्य अमन्त्र भी बध्य और अवेद्य भी सेव्य हो जाता है। तथा कौलिकोंके मत्तमें न कोई विधि है और न कोई निषेध है, न पुण्य है और न पाप है न स्वर्ग है और न नरक है। इससे सोमदेवने कौलिक मत्तकी आलोचना करते हुए लिखा है कि यदि इस प्रकारकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो कौलिकोंसे भी पहले ठाणों और पापियोंकी मोक्ष मिलना चाहिए।

यशस्तिस्रके प्रथम आस्वाधम भी निकमतका निर्देश है। टीकाकार धत्तसावरने निकमतका अर्थ देव मत्त किया है। स्कन्दपुराण प्रभासखण्ड (अध्याय २१९) में कहा है कि जब प्रभास क्षेत्रकी महादेवीने ब्रह्म और बतिबल नामक अनुरोकी सेनाका संहार किया तो बचे हुए अनुरोमन्त्र कुछ क्षीन हो गये और मास मथिरा तथा स्त्रीसेवनमें रत हो गये।

कापास्तिक

सोमदेवने अपने उपासकाचारके आरम्भमें लिखा है कि यदि कोई वैद्य मुनि किसी कपास्तिकसे पूजावे तो उसे स्नान करना चाहिए। अनुनाचार्यके आश्रमधर्माध्याय (ई १२ के अध्याय) में कापास्तिकोंकी छह मुद्राएँ (चिह्न) बतलायी हैं—'कनिका' कुण्डल' माला' शिखामणि' यज्ञोपवीत और धारीर्य धम्म। तथा दो उपमुद्राएँ बतलायी हैं—क्याल और अद्वाग। तथा लिखा है कि जो इन छह मुद्राओंके उत्पत्ती जानता है और परमुद्रा में विचारण होता है वह भगवानसे स्निह आत्माका ध्यान करके निर्वाणको प्राप्त करता है।

कुलमन्त्रके प्रबोधनप्रयोग नाटकके तीसरे अंकसे भी कपास्तिकोंके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उसमें जो कापास्तिक उपस्थित किया गया है, वह अनुप्यकी अस्थियोंकी माछा पहने हुए है समान भूमिमें रहता है अण्डरका पात्र रखता है। अपने वर्मका वर्धन करते हुए वह कहता है कि गरमैव यज्ञके साथ शिवके महादेव के लोको पूजना चाहिए तथा अण्डरसे मथिरापात्र करना चाहिए। और बथिरसे महादेवकी पूजा भी करनी चाहिए। जबतक विषयमें यह कहता है कि आपसमें मित्र होते हुए भी यह भगवत् शिवसे मित्र नहीं है। मुक्तिके विषयमें उसका कहना है कि केवल शिवकी स्मृतिरूप मुक्ति ही पापान्ते तुल्य है। उसे कीन आयेगा। बिना विषयके कुछ नहीं देखा जाता। अतः मुक्त जीव शिवकी तरह

१ अनेकमपि विधे स्वाधमार्थं यज्ञमपि च । अगम्यमपि गम्यं स्वह् कौलिकानां कुटुम्बरी ।

'अ विधिर्न निषेध' स्वाध नुर्ध न च पातकम् । न स्वर्गो नैव नरकः कौलिकानां कुटुम्बरी ॥

२ सो उ सोल २७ ।

३ 'तथाहुः—मुक्तिकार्यकृतवत्तत्र' परमुद्राविचारः । भगवान्स्वमाध्यायं ध्यात्वा निर्वाणमुपपत्ति ॥ तथा—'कनिकाकुण्डलं च शिखामणिम् । यज्ञोपवीतं च मुद्रावदं प्रचक्षते ॥ कपास्तिक लक्षणाहसुपुत्रे प्रकीर्तिते । आभिर्मुक्तिवैद्यस्तु न भूय इह जायते ।'

पार्वतीकी प्रतिरूप स्त्रीके साथ आनन्द करता है। कापालिकोके इस सिद्धान्तको प्रबोधचन्द्रोदयमें महा-भैरवानुशासन, परमेश्वरसिद्धान्त आदि नामोसे कहा है।

एक स्थानपर नाटकमें कापालिकको कुलाचार्य भी कहा है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि कापालिको और कौलोका मत जुदा-जुदा था तथापि उनके आचारमें समानता होनेसे कभी-कभी दोनोंको एक समझ लिया जाता था। दोनों ही आपत्तियोग्य आचारको पालते थे किन्तु कापालिक नरमेघ भी करते थे।

आर० जी० मण्डारकरने लिखा है कि पुलकेशी द्वितीयके भतीजे नागवर्धनका एक ताम्रपत्र मिला है जिसमें कपालेश्वरकी पूजाके लिए और मन्दिरमें रहनेवाले महाप्रतियोंके लिए नासिक जिलेके अन्तर्गत इगतपुरीके पासका एक गाँव दान देनेका उल्लेख है। इससे प्रकट है कि सातवीं शताब्दीके मध्यके लगभग महाराष्ट्रमें कापालिक सम्प्रदाय वर्तमान था। कवि भवभूतिके मालतीमाधव नाटकके प्रथम अक्षे प्रकट होता है कि उसके समयमें (आठवीं शताब्दी) कर्नूल जिलेका श्रीपर्वत कापालिकोका केन्द्र था। वीर पाण्ड्यके समकालीन विक्रमकेशरीके एक दानपत्रमें मदुराके मल्लिकार्जुनको, जो कालमुख सम्प्रदायका साधु था, एक बड़ा मठ देनेका उल्लेख है। कालमुख भी कापालिकोके ही भाईवन्द थे। त्रिविक्रम भट्टके नलचम्पूमें, जो दसवीं शताब्दीके प्रारम्भकी रचना है, कालमुखोंको महाप्रतियों अथवा कापालिकोके अन्तर्गत बतलाया है।

सांख्य दर्शन

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनके प्रारम्भमें मोक्षके सम्बन्धमें अन्य दार्शनिकोके मत उद्धृत करते हुए सांख्य दर्शनका भी मत दिया है। प्रथम तो यह बतलाया है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति सांख्य दर्शनमें बतलायी है। आगे लिखा है कि बुद्धि, मन, अहंकारका अभाव होनेसे समस्त इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थित होना मोक्ष है।

सांख्यकी मोक्षविषयक उक्त मान्यताओका सोमदेवने खण्डन किया है। सांख्य दर्शनमें मूल तत्त्व दो हैं, प्रकृति और पुरुष। प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार, अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन, तथा पाँच तन्मात्राओंसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। इस तरह प्रकृतिके साथ उसके परिवारकी सख्या चौबीस हो जाती है और एक पुरुष मिलकर कुल सख्या पचीस हो जाती है। सांख्य दर्शनमें पुरुषको अकर्ता, निर्गुण, शुद्ध, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अमूर्त, भोक्ता और चेतन माना है। अतः सोमदेवने सांख्यकी आलोचना करते हुए लिखा है कि जब प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य और व्यापी हैं तब उनमें भेद कैसे किया जा सकता है।

सांख्य मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं मानता, केवल चैतन्य मानता है। अतः सोमदेव कहते हैं कि आत्मा तो स्वाभाविक अनन्त ज्ञानका भण्डार है। कर्ममलके नष्ट हो जानेपर वह केवल ज्ञानके द्वारा बाह्य पदार्थोंको जानता हुआ ही अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। आदि।

सोमदेवने यशस्तिलकके पाँचवें आश्वसमें भी (पृ० २५०) सांख्य मतका चित्रण किया है। उसमें एक श्लोक भी दिया है जिसका भाव यह है कि यत मोक्ष तो प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे होता है अतः धार्मिक क्रियाएँ करना व्यर्थ है। इसलिए व्यक्तिको खाना पीना और मोज करना चाहिए।

एक विद्वान् पाठकको सांख्यदर्शनके सम्बन्धमें ऐसा कथन उपहासास्पद प्रतीत हो सकता है किन्तु सांख्यकारिकाकी टीका माठरवृत्तिमें एक श्लोक विलकुल इसी आशयका पाया जाता है। श्लोक इस प्रकार है,

“हस पिय लल मोद नित्य विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम्।

यदि विदित ते कपिलमत तत्प्राप्त्यसे मोक्षसौख्य च ॥”

१. वैष्णविज्ज, शैविज्ज (पृ० १६८)।

२. “कलियुगशिवशासनस्थितिमिव महाप्रतिकान्त पाप्मि कालमुखैर्वानरैः” —नलचम्पू अ० ६।

यह स्लोक सांख्य दर्शनके महान् आचार्य आधुनिक युगसे कहलाया गया है, इसमें कहा है—हंस बा-
पी सेक कूर और निःसंक होकर विपरीतको भोज । यदि तू न कपिल भक्तको जान किया तो तुझे मोक्षका सुख
भी मिल जायेगा ।

देवसेनने अपने भावसंग्रहमें भी (गाथा १७९-१८) सांख्यमतके विपक्षमें इसी तरहकी बातें कही
हैं और बड़े दयाधर्मसे रहित बतलाया है किन्तु पाठरक्षितोंमें इस बातको छिड़ किया है कि वैदिक हिंसा
पापका कारण है । हरिमठके पद्वर्त्तनसमुच्चयकी टीकामें गुणरत्न सूरिन भी लिखा है कि सांख्य वैदिक
हिंसाकाण्डको नहीं मानता बल्कि उसमें हिंसा होती है । किन्तु सोमदेवने बीजोंकी तरह सांख्योंको भी मांस
मसी कहा है । बाबर इसीसे देवसेनने उन्हें बीजबयासे रहित कहा है ।

बीज दर्शन

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें मोक्षके सम्बन्धमें बीज दशमके तीन मन्त्रोंको उपस्थित किया है ।
पहला मन्त्रमें यह है कि नैरात्म्य भावनाके जन्माससे निर्वाण काम होता है । नैरात्म्यका अर्थ है आत्माका
अभाव । बीजमठके अनुसार मनुष्य स्कन्धोंका एक सम्मिश्रण मात्र है । बीजे बाही' खम्ब धूर वहिमें तथा अन्य
अवयवोंके संयोजनसे बनी एक वस्तुका बाह्य भाग है यदि हम उसके प्रत्येक अवयवकी परीक्षा करें तो हम
इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि बाही स्वयं अपनेमें कोई एक वस्तु नहीं है । उसी तरहसे आत्मा भी स्कन्धोंका
एक समुदाय मात्र है ।

सोमदेवने यसस्तिस्त्वके पाँचवें आश्वास (पृ २५९) में भी बीज सुगठकीर्तिके द्वारा नैरात्म्यवादका
कथन कराया है । सुगठकीर्ति कहता है कि आत्माका जाग्रह हो प्राणिवाँके महामोहवशी अवधारका कारण
है । उसके द्वारा उद्धृत हो कारिकाएँ इस प्रकार हैं,

य यज्ञवत्यात्मानं तस्यामनि मचति स्वात्मतः स्नेहः ।

स्नेहात्सुखेपु तुम्वति तुष्णा दोषास्तिरस्तुते ॥

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहेषां ।

अनर्वा' संप्रतिपन्नाः सर्वे दोषाः प्रज्ञावन्त ॥

जो मनुष्य आत्माको मानता है उसका आत्मामें स्वाधत स्नेह होता है । आत्मस्नेहसे सुखकी तुष्णा
होती है तुष्णा दोषोंकी उपेक्षा करती है । दूसरी बात यह है कि आत्माको माननेपर पर बहु संज्ञा होना
अनिवार्य है और 'स्व तथा पर'का भेद होनेसे राग और द्वेष होते हैं । ये दोनों ही सब दोषोंके मूल हैं ।

मोक्षके सम्बन्धमें भी सुगठकीर्ति एक स्लोक उपदिशान करता है

'यथा स्नेहस्यारीय' प्रशाम्भवति निरन्धवः ।

तथा नन्देसल्लसज्जन्तुः प्रशाम्भवति निरन्धवः ॥"

बीसे सेकके समाप्त हो जानेपर दीपक ज्ञान हो जाता है और अपने पीछे कुछ भी नहीं छोड़ जाता
बीसे ही स्केकोका शब्द होनेपर यह मनुष्य भी निरन्धव ज्ञान हो जाता है ।

सोमदेवने उपासकाध्ययन भी इसी आशयके अन्वेषणके शीघरलम्बाध्यासे से प्रसिद्ध स्लोक
'विशं न वाचिद्विदिशं न कश्चित् आदि उद्धृत किये हैं ।

प्राचीन बीज दर्शनोंमें स्नेहाध्यामी निर्वाण कहा है । मोह राग और द्वेष स्नेह है । इन्हींके जन्मका
नाम निर्वाण है । बीज दृष्टिसे मुक्त होनेके बाद मुक्त हुए प्राणीका क्या होता है यह प्रश्न अभावजनक है ।
इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमें बुद्धने प्रश्न करनेवालेसे पूछा क्या तुम बता सकते हो मुझ जानेपर दीपककी

लो किस दिशामे चली जाती है ?" जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है उसी तरह मुक्त प्राणी जिनके द्वारा कहा जाता वे सब भी उसके साथ ही समाप्त हो जाते हैं। पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है और उसके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है।

सोमदेवने बौद्धोंके इस निर्वाणके खण्डनमें कहा है कि जब आत्मा अनेक जन्म धारण करनेपर भी नष्ट नहीं होता तो वह मुक्ति अवस्थामे कैसे नष्ट हो जाता है ?

सोमदेवने बौद्धदर्शनकी एक अन्य मान्यता शून्यवादका भी निर्देश किया है। और उसके माननेवालोंको 'शाक्यविशेषा' 'पद्मसुतोहरा' 'प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिरा', अर्थात् देखते हुए भी इस दृश्य जगत्की वस्तुओंको चुरा लेनेवाले और शून्यतैकान्तरूपी अन्वकारको प्रकाशित करनेवाले बौद्धविशेष कहा है। बौद्धदर्शनका एक भेद माध्यमिक शून्यतावाद है। नागार्जुनको माध्यमिक कारिका शून्यतावादी दर्शनका प्रमुख ग्रन्थ है। उसमें कहा है,

“य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।

सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥”

टीकाकार चन्द्रकीर्ति अपनी टीकामें लिखता है,

“योऽयं प्रतीत्यसमुत्पादो हेतुप्रत्ययानपेक्षारविज्ञानादीना प्रादुर्भाव स स्वभावेनानुत्पादः । यश्च स्वभावेनानुत्पादो भावानां सा शून्यता । एव प्रतीत्यसमुत्पादशब्दस्य योऽयं स एव शून्यता-शब्दस्यार्थं न पुनर्भाव शब्दस्य योऽर्थः शून्यताशब्दस्यार्थः ।”

अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पादको ही शून्यता कहते हैं। हेतु और प्रत्ययकी अपेक्षासे जो अकुरादि और विज्ञानादिकी उत्पत्ति होती है वह वास्तवमें अनुत्पत्ति है और पदार्थोंका स्वभावमे अनुत्पन्न होना ही शून्यता है। माया अथवा स्वप्न या गन्धर्वनगरको तरह सभी लौकिक पदार्थोंका अस्तित्व केवल आपेक्षिक है, वास्तविक नहीं है। समस्त मनुष्योंकी बुद्धिरूपी आँखें अविद्यारूपी अन्वकारसे खराब हो गयी हैं अतः उन्हें लौकिक पदार्थोंका अस्तित्व प्रतीत होता है। वास्तवमें वे न अस्तित्व हैं और न नास्तित्व हैं। इसीसे इस दर्शनका नाम माध्यमिक दर्शन है इसमें अस्तित्व और नास्तित्वरूप दोनों दर्शनोंका प्रसंग नहीं है। कहा भी है,

“अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तित्युच्छेददर्शनम् ।

तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ॥” —माध्यमिक का० १५, १० ।

शून्यतावादका खण्डन करते हुए सोमदेवने लिखा है कि शून्यतावादकी सिद्धि आप बिना प्रमाणके तो कर नहीं सकते। और जब आप यह प्रतिज्ञा करेंगे कि मैं प्रमाणसे शून्य तत्त्वको सिद्ध करता हूँ तब प्रमाणका अस्तित्व सिद्ध हो जानेसे सर्वशून्यवाद समाप्त हो जायेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि नैराध्यवाद और शून्यवाद-जैसे वादोंने बौद्ध साधुओंको खान-पानकी ओरसे विलकुल स्वच्छन्द बना दिया था। सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें कहा है कि श्रुति, बौद्ध और शैव आगम मद्य, मांस और मद्यके सेवनके पक्षमें हैं। बौद्धोंके सम्बन्धमें खास तौरसे लिखा है कि वे खान-पानमें किसी तरहका कोई परहेज नहीं करते। उन्हें 'तरमासवशक्तवो' कहा है।

जैनग्रन्थ भावसंग्रह (गा० ६८-६९) में भी बौद्धोंको मद्य-मांसका सेवी कहा है। योगशास्त्र (४-१०२) की टीकामें हेमचन्द्रने भी बौद्धोंके कदाचारकी आलोचना की है। जैन ग्रन्थकारोंने ही नहीं, किन्तु सोमदेवके समकालीन न्यायकुमुभाजलिकार उदयनने भी यही बात लिखी है।

१ श्लोक १७४

२ “ममवन्ति चेत्ये हेतवो ब्रह्माद्यागमपरिग्रहे । तथाहि—भूयस्तत्र कर्मलावचमित्यलसा ।

भक्षायनियम इति राणिण । सप्तवटिका भोजनादिभिन्दे जाँविकेत्ययोग्या.” —। स्तवक २ ।

बीड़ मायराजोसे परिचित जगोसे यह बात ज्ञात नहीं है कि बुद्धके समयमें भी बीड़ घाट मांस ग्रहण करते थे और उनके निमित्तसे गृहस्थ पशुको मारकर मांस तैयार करते थे। किन्तु जग्य तीर्थमें द्वारा इस बातकी जाबोचना किये जानेपर बुद्धने त्रिकोटिपरिमुद्ध मांसको ही चिसुकोके लिए घाट करार दिया था। त्रिकोटिपरिमुद्धका मतलब है, भगवैषा अनसुना और मिंसदेह। जिस पशुको अपने निमित्तसे मारा जाता देखा हो या जिस पशुके बारेमें यह कहा गया हो कि यह तुम्हारे लिए मारा गया है अथवा जिसके बारेमें यह सम्येह हो कि यह हमारे लिए मारा गया है उस पशुका मांस खाना बर्जित है। शायकी स्वयं मरे हुए पशुका और किसी चिकारी पशु-पक्षीके द्वारा मारे गये पशुका मांस भी घ्राण करार दिया गया। किन्तु होमयान धर्मग्रन्थमें ही मांस घ्राण माना गया है। महायानय मांसभक्षणका निषेध है।

जैमिनीय द्शन

सोमदेवने लिखा है कि जैमिनीयोंका कहना है कि कोयके और जंजन बरखकी तरह स्वभावसे ही नमुचित चित्त कभी विशुद्ध नहीं होता।

जैमिनिके अनुयायी जैमिनीय कहें जाते हैं। जैमिनिने बारह अध्यायोंमें कर्ममीमांसाकी रचना की थी। और बारहअध्यायने बार अध्यायोंमें ब्रह्ममीमांसाकी रचना की थी। जैमिनिके अनुयायी योमांसक कहें जाते हैं और इनकी कर्ममीमांसाको पूर्वमीमांसा कहते हैं। यज्ञ किस प्रकार करना चाहिए और वेदके अर्थका निर्णय करनेकी रीति क्या है? इन प्रश्नोंका निजय करनेके लिए मीमांसावर्धन उत्पन्न हुआ था। जैमिनिके पूर्वपर शबरस्वामीने शबरमाध्य है उन् ४ के अवग्रह रखा था। यह शबरमाध्य मीमांसाशास्त्रका वर्तमान भाग मूलप्रस्ताव ग्रन्थ माना जाता है। शबरमाध्यके द्वारा प्रस्थापित मीमांसावर्धनके दो मुख्य विचारक हुए हैं एक प्रभाकर और दूसरे कुमारिक मनु। कुमारिकने शबरमाध्यके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके ऊपर स्तोत्रमांडिककी रचना की थी। इसमें कुमारिकने समस्तमन्त्रके द्वारा आप्तमीमांसामें प्रस्थापित आत्माकी सर्व शताका अखण्ड किया है। उसका उत्तर अर्कलोक देवने तथा विद्यामन्त्र और प्रधानका आधिने दिया है।

मीमांसा वर्धनमें वेदप्रतिपादित यज्ञोंके करनेसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति प्राची पयी है। योमांसक ईश्वर बादी नहीं हैं। अतः वह अत्युक्त प्रबाहको अनादि मानता है और बीचारमात्रका सम्भाव भी मानता है। आत्मा नेतन व्यापक नित्य स्ववस्तुत्व बर्मबाका है और कर्मके फलका भोक्ता है। बर्म अन्नमकी प्रवृत्तिका चक जाना और शरीरसे विन्न बारमात्रा अस्तित्व रहना ही मोक्ष है। मोक्षमें ज्ञान मुक्त आदि नहीं रहते। अतः मीमांसा वर्धन जैनोंकी तरह मुक्तिम पुन विमुक्ति नहीं मानता। इसीसे सोमदेवने सखी समीक्षा करते हुए कहा है कि वहाँ स्वभावसे स्वभावान्तरकी उत्पत्ति हो सकती है वहाँ अपने भोध्य कारकोसे मक्का सम भी किया जा सकता है और कि मणि और मोतीमें देखा जाता है।

जैमिनिकी ओरसे जो यह कहा गया है कि जैसे कोयका जिसनेपर भी सखेर नहीं होता वैसे ही स्वभाव से मक्तिन आत्मा कभी निर्मल नहीं होता इसका अखण्ड करते हुए सोमदेवने यक्षस्तिककके चौधे आत्मासमें लिखा है

१ सो उपा प्र ३

२ पूर्व पा केवलं ज्ञानमिन्द्रियाण्यपेक्षितम् । सूत्रमातीतादिविपर्यं जीवस्य परिकल्पितम् ॥१४॥

—इको वा 'नर्ते तद्वागमात् सिद्ध्येव च तद्वागमो विना । दृष्टान्तोऽपि न तत्त्वान्त्रो नृपु कश्चित् प्रचरते' ॥ १४२ ॥—सो उपा इको १८

३. 'एवं पर्यवेकज्ञानमनुमानविशुद्धितम् । नर्ते तद्वागमात् सिद्ध्येव च तैव विनातम्' ॥१४३॥

सत्यमर्थवकादेव पुरावातिसाधो मयः । प्रभवा बीक्ष्वेयोऽस्य प्रवन्तोऽनादिरिचते' ॥१४४॥

—ज्याचविमि ३ परि ।

“वृष्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्धभावे कथमिदमुदहारि कुमारिलेन—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥”

अर्थात् घिसे गये कोयलेकी तरह यदि अन्तरंगकी विशुद्धि नहीं होती तो कुमारिलने ऐसा क्यों कहा है कि मैं विशुद्धज्ञानरूपी शरीरधारी और तीन वेदरूपी दिव्य चक्षुओंसे सम्पन्न तथा श्रेयकी प्राप्तिमें निमित्त अर्धचन्द्रधारी शिवको नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कर्ममीमासामें भी उत्तर कालमें सेश्वरवादकी छाया आ गयी थी । और नैयायिक वैशेषिकोंकी तरह मीमांसक भी शिवके भक्त बन गये थे ।

बार्हस्पत्य अथवा चार्वाक

सोमदेवने मोक्षके विरोधमें बार्हस्पत्योका मत दिया है कि जब परलोकी आत्माका अभाव होनेसे परलोकका ही अभाव है तब मोक्षकी चर्चा ही बेकार है । यशस्तिलकके चतुर्थ आशवासमें सोमदेवने बार्हस्पत्योका पक्ष लेकर बोलनेवाले चण्डकर्मको ‘प्रयुक्तलोकायतमतधर्मा’ कहा है । सिद्धार्थिने अपनी उपमितिभव-प्रपञ्चक्यामें कहा है कि बार्हस्पत्य लोग लोकायतपुरके निवासी थे । सिद्धार्थिने उनके मतकी प्रमुख जैनतर दर्शनोंमें लिया है । ई० १६३के गगनरेश मारसिंहके कुडुलूर ताम्रपत्रमें एक जैनचार्यको ‘लोकायत लोक-सम्मतमति’ लिखा है । अतः यह निश्चित है कि दसवीं शताब्दीमें और उसके लगभग लोकायत एक प्रमुख मत था । इस मतके अनुयायी भारतीय दर्शन-साहित्यमें चार्वाकके नामसे प्रसिद्ध हैं । किन्तु इस दर्शनका कोई ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया है । एक बार्हस्पत्य सूत्र नामका ग्रन्थ कहा जाता है जो सम्भवतया अतिसंक्षिप्त है ।

तत्त्वोपप्लवसिंह चार्वाक दर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ है जो बड़ीदासे प्रकाशित हुआ है । इसका अनुमानित समय ईसाकी आठवीं शताब्दी है । इसमें ‘पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा’ यह वाक्य आया है । शान्तरसितके तत्त्वमग्रहकी कमलशीलरचित पत्रिका (पृ० ५२०) में ‘पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति चत्वारि तत्त्वानि, तेभ्यश्चैतन्यमिति’ इतना वाक्य उद्धृत है और आगे लिखा है कि कुछ वृत्तिकार ‘उपपद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्’ ऐसा कहते हैं और कुछ ‘अभिव्यज्यते’ ऐसा कहते हैं । विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकमें (पृ० २८) ‘पृथिव्य(व्या)पस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा तेभ्यश्चैतन्यम्’ इस रूपमें उद्धृत किया है । प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ११६) में तथा न्यायकुमुद-चन्द्र (पृ० ३४१-४२) में भी विद्यानन्दिकी तरह ही उद्धृत किया है । तथा आगे ‘मदशक्तिवद् विज्ञानम्’ इतना अश और उद्धृत किया है । वादिराजने भी अपने न्यायविनिश्चयविवरण (भा० २ पृ० ९३) में, उक्त वाक्योकी खण्डश अलग-अलग उद्धृत किया है, किन्तु इनमें-से किसीने भी इनको ‘बृहस्पतिसूत्र’ नहीं बतलाया । भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्य (३-३-५३) में उक्त सूत्रोंको बृहस्पतिके सूत्र बतलाते हुए इस प्रकार उद्धृत किया है,

“तथा बार्हस्पत्यानि सूत्राणि—पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा तेभ्यश्चैतन्य, किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानमिति ।”

अकलकके सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार अनन्तवोर्धने अपनी टीकामें (पृ० २७७) ‘अथ तत्त्वोपप्लवकृद् आह—चार्वाकैश्चाश्चित्’ आदि लिखकर अन्तमें लिखा है, ‘परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणि’ इति सूक्त स्यात् ।’ अतः बृहस्पतिके सूत्र और उसकी व्याख्याओंके पाये जानेका उल्लेख उक्त उद्धरणोंसे मिलता है ।

सोमदेवने जो परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव- लिखा है यह भी बहुस्पष्टिका एक मूख प्रतीत होता है। कमलसीमने अपनी पंक्तिकामे 'सकतं तद्याहि त पूर्वं लिखा है तद्याहि तस्यैतत् मूक-परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव- इति' तत्त्वोपपन्न (पृ ५८) व्यायकुमुदचन्द्र (पृ १४३) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ ११९) में भी यह उद्धृत है।

सकत उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि बार्हस्पत्य जहाँ बहुस्पष्टिके अनुयायी परलोकी आत्माको नहीं मानते थे वत परलोकी भी नहीं मानते थे। पृथिवी जल अग्नि और वायु केवल चार तत्त्व मानते थे वहीसे कोई चैतन्यकी उत्पत्ति मानते थे और कोई अनिश्चित मानते थे। इस तरह व्याख्याकारोंमें मतभेद था।

अद्वैत ब्रह्मसिद्धिमें लिखा है कि लोकमत या चार्वाक केवल एक काम पुरुषार्थको ही मानते हैं और मृत्यु ही मोक्ष मानते हैं। सोमदेवने अस्तित्वकल्पम्पूके पाँचवें आश्रय (पृ २५३) में नीचे लिखा एक प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है,

“वाचजीवेत् सुप्तं जीवेत् नास्ति सुखोऽरण्येऽथः।

मस्मीमृतस्य क्षान्तस्य पुनरागमनं कुतः॥

बचक जियो सुखपूर्वक जियो। मृत्यु बचप्य होगी। अतः शरीरके मस्मीमृत हो जानेपर पुनरागमन कैसे हो सकता है।

सकत आस्वाकके ही पृ २५७ पर सोमदेवने कई श्लोकोंके द्वारा चार्वाक मतका खण्डन किया है। उसमें-से एक श्लोक उपासकाचार्य भी दिया है

‘तद्ब्रह्मैस्तवेहातां रक्षोऽहेर्मवस्पृते’।

मृतालम्बननाम्नीयः प्रकृतिस्य सनातनः ॥२९॥

उसी श्लोकके अन्ते हुए छिजुको मीमांसन पीनेकी अनितापा देवी जाती है राक्षस वगैरह देखे जाते हैं पुरुषमत्ता स्मरण भी पाया जाता है तथा पृथिवी जल अग्नि और वायुका अन्वय बीचमें नहीं पाया जाता अर्थात् बीचमें ज्ञान सुख आदि गुण पाये जाते हैं जो पृथिवी वगैरहमें नहीं पाये जाते तथा पृथिवीय चारण गुण वायुमें प्रवाहित होनापना अग्निम वाहकपता और अन्तम ब्रह्मत्व गुण पाये जाते हैं जो बीचमें नहीं पाये जाते वत इस प्रकृतिका ज्ञाता बीच सनातन है।

जाने और भी लिखा है कि चैते पृथिवी आदि अनादि-अनिघन है चैते ही आत्मा भी अनादि-अनिघन है। चूँकि पृथिवी आदि भूतोते जाने शरीरमें चैतन्य आत्मा व्यक्त होता है इसलिये यदि उसे पुन भूतोंका कार्य मानते हो तो बलसे मोटी काष्ठसे अग्नि अन्नकाल्मसिले जल और पंखोंसे वायु उत्पन्न होती है उनका भी अनादिका कार्य मानना चाहिए और ऐसा माननपर तत्त्वोंकी संख्या चार नहीं बन सकती। इस तरह सोमदेवने पाँचवें आश्रयमें चार्वाकमतकी सङ्कलित समीक्षा की है।

वेदान्त अध्याय मध्याह्न

सोमदेवने उपासकाभ्ययनके प्रथम आश्रयमें वेदान्तवादिनों और ब्रह्माद्वैतवादियोंका नामोल्लेख पूर्वक मत दिया है। साथ ही ‘दानव’ संकरामुद्रावय- लिखा है जिसका मतलब है कि संकरने बीड भावमत्ता अनुसरण किया। इससे प्रतीत होता है सोमदेवके समयमें संकराचार्यका अद्वैतवाद प्रसिद्ध था। और उस समय भी संकर प्रभाव फैला हुआ था कि संकराचार्य प्रचलन बीड था। वह भी प्रष्ट होता है कि सोमदेव संकरमतके अन्धाम गुरुपित्त थे। उन्हाल लिखा है

‘यथा यद निचरने यदाकासमाकाशी भवति तथा वैदाय्येनासत्तया प्राणी पर ब्रह्मणि बीडत इति मध्याह्नवर्णनः। पृ ४

शंकराचार्यके सर्ववेदान्तसिद्धान्तमारम्भमें इसी आशयका एक श्लोक है,

“घटाभावे घटाकाशो महाकाशो यथा तथा ।

उपाध्यभावे त्वान्मैव स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ॥” ६९५ ॥

वेदान्ती लोग परम ब्रह्मके दर्शनसे समस्त भेदबुद्धिको उत्पन्न करनेवाली अविद्याके विनाशकी मोक्षका कारण बताते हैं ऐसा सोमदेवने लिखा है । सो ब्रह्मसूत्र धारक भाष्यके चतुर्थ अध्यायमें निर्गुण परम ब्रह्मके साक्षात्कारमें मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है । शंकराचार्यका मत है,

“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर ”

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्मरूप है उसमें भिन्न नहीं है । जगत्को मिथ्या प्रमाणित करनेके लिए शंकराचार्यने जो मायावादका सिद्धान्त स्वीकार किया उसे बौद्धोंके शून्यवाद और विज्ञानवादकी देन कहा जाता है । शंकराचार्यने ब्राह्मण धर्मकी प्रस्थानत्रयीसे जो तात्पर्य निकाला उसको प्रमाणित करनेके लिए सबन सिद्धान्तका आश्रय लिया । इस तरह बौद्धोंके शास्त्रके द्वारा उन्होंने श्रुतिप्रतिपादित धर्मका संरक्षण किया इसीसे उनके ऊपर प्रच्छन्न बौद्ध होनेका आरोप किया जाता है ।

उक्त सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए सोमदेवने लिखा है कि यदि दृश्यमान जगत्का यह भेद अविद्याजन्य है तो जन्म, मरण सुख आदि विवर्तोंके द्वारा जो जगत्में वैचित्र्य दिखायी देता है वह कैसे है ।

तथा यदि केवल ब्रह्म ही है और कुछ भी नहीं है तो वह निस्तरंग क्यों नहीं है सासारिक भेद-प्रभेद क्यों दृष्टि गोचर होते हैं । जैसे घटावरुद्ध आकाश आकाशमें मिल जाता है वैसे ही यह जगत् ब्रह्ममें क्यों नहीं मिल जाता । वेदान्तियोंका मत है कि ब्रह्म एक है यद्यपि वह प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग दृष्टि-गोचर होता है जैसे चन्द्रमा एक होनेपर भी पानीमें अनेक दृष्टिगोचर होता है । सोमदेवका कहना है कि चन्द्रमा आकाशमें एक दिखायी देता है और जलमें अनेक दिखायी देता है, उस तरह ब्रह्म व्यक्तियोंसे भिन्न कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होता ।

[७] कतिपय आनुषंगिक प्रसंग

सांस्कृतिक आदान-प्रदान

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें दर्शन और धर्मकी सर्चा करनेके साथ प्रसंगवश कुछ ऐसी बातोंका भी कथन किया है जिनका समाज-व्यवस्थासे गहरा सम्बन्ध है और जिससे सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्योंके परस्पर आदान-प्रदानका पता चलता है । वास्तविकता यह है कि श्रावक गृहस्थ होनेके कारण समाजके मध्यमें रहता है । अतः उसे वैयक्तिक धर्मके साथ सामाजिकताको भी निभाना होता है । समाजमें सभी प्रकारके आदमी होते हैं । उन सबका भी निर्वाह करना होता है । इसके सिवा जैनधर्मके अनुयायियोंकी समाजकी बहुसंख्यक अन्यधर्मावलम्बी समाजके भी सम्पर्कमें रहना होता है, अतः उसके साथ भी निर्वाह करना आवश्यक होता है । और विभिन्न समाजोंके परस्पर सम्पर्कमें आनेपर एकका दूसरेपर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है अतः समाज और धर्मके चिन्तकोंको इन सब बातोंपर दृष्टि रखकर कभी-कभी धर्म और समाज-व्यवस्थाके व्यावहारिक सिद्धान्तोंमें भी परिवर्तन और परिवर्धन करना पड़ जाता है, क्योंकि ऐसा किये बिना धर्म और समाजकी सुरक्षा सम्भव नहीं होती ।

समन्तभद्र स्वामीने लिखा है कि धार्मिकोंके बिना धर्मकी कोई स्थिति नहीं है ।^१ धार्मिकोंकी परम्पराके सुरक्षित रहनेसे ही धर्मकी परम्परा सुरक्षित रह सकती है । अतः एव धर्मकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए धार्मिकोंकी परम्पराको सुरक्षित रखना आवश्यक है, और धार्मिकोंकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए

तत्कालीन स्थितिको देखकर एक ओर ब्राह्मिकोंको अन्य समानेके प्रभावसे बचाना आवश्यक है दूसरी ओर कुछ ऐसे लौकिक तत्त्वोंको भी अपनेमें समाविष्ट कर लेना आवश्यक होता है जो धर्म-सम्मत नहीं होते किन्तु जिनका लौकिक स्थितिपर विशेष प्रभाव पड़ता देखा जाता है और जिनके बिना बहुसंख्यक समाजके मध्यमें रहना कठिन होता है। यदि समस्त जैनाचार्योंके जिनमें जिनेयका नाम प्रमुख है, ऐसा न किया होता तो भारतमें गुप्त साम्राज्य कालमें बढ़ते हुए ब्राह्मण धर्मके प्रवाहबल बौद्धधर्मकी तरह सम्भवतया जैनधर्मके भी वर भारसे उन्मूल्य जाते। ऐसे कठिन समयमें प्रवाहके बेमते सुपरिचित धर्महितविमलको अपने मुकदरारोंको पकड़े रहकर ब्राह्मण धर्मकी सग सामाजिक आचारविधयक प्रवृत्तियोंको अपनाया वहित समझा जिनको अपनाते से अपने धर्मको भी यदि मही पहुँचती थी और जाया हुआ संकट भी टक जाता था। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें ऐसे अनेक प्रसंग हैं और इनसे सम्यग्भाव भी।

चौटीसवें कण्ठमें सामाजिक शिक्षात्रयका वर्णन करते हुए सोमदेवने देवपूजाके प्रसंगसे गृहस्थोंके किए जो विधियाँ बतलाई हैं। सगमें कुछ ऐसी विधियाँ भी हैं जो ब्राह्मणधर्मसे सम्बद्ध हैं। जैसे बाहरसे आकर आचमन किये बिना घरमें प्रवेश करनेका निषेध और भोजनकी विधुद्धिके किए होम और मृतकशिक्षा विधान^१ इत्यादि। इतना होने पर भी इसीके साथ सोमदेवने यह भी लिख दिया है कि इनके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म भी नहीं।^२

स्मृति ग्रन्थोंमें भोजनसे पहले होम और बहिका विधान है। भोज्य अन्नको अग्निमें क्षेप्य करनेका नाम होम है और भोजनसे पहले घास निकालकर उसे देखा वहीरुके बड़ेघसे देना बहिक है। इनको वैश्वदेव कहते हैं। वैश्वदेवके बिना भोजन करनेसे द्विगु स्मृतिकारोंके अनुसार नरकमें जाना पड़ता है।^३ इसी तरह आचमनका विधान भी स्मृतियोंमें वर्णित है (मनु २-६)।

सोमदेवने स्पष्ट कण्ठोंमें लिखा है कि गृहस्थके दो धर्म होते हैं एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकानुसार चलता है और पारलौकिक धर्म आचमनुसार^४।

किन्तु लौकिक विधिको अपनाया जाये और किन्तु न अपनाया जाये इसके निर्णयके लिए सोमदेवकी ने यह कठौटी बटादी है कि "जिससे सम्प्रत्यक्षकी हानि न होवे और जहाँमें दूषण न अने वह लौकिक विधि सभी जैनिके किए मान्य है।

सोमदेवकी बटायी इस कठौटीपर प्रत्येक लौकिक विधिको करनेकी क्षमता आवश्यक होती चाहिए। ऐसे प्रसंगसे धर्मकी पूरी सम्भावना रहती है। कश्चिपुस्त लोग लौकिक विधिको भी धर्मका ही अंग समझ बैठते हैं। और इस प्रकारके राजनयन प्रमाण अपने उपरिचित किये जाने लगते हैं।

धर्म व्यवस्था

जैन साहित्यमें धर्मव्यवस्थाका वर्णन जाता है किन्तु वह स्मृति-ग्रन्थोंमें प्रतिपादित धर्मनैतिक सिद्धांत हैं। मनुस्मृति आदिमें जो ब्राह्मण धर्मकी सर्वोत्कृष्टता स्थापित की गयी है सभी जैनाचार्यों परका एक स्वरसे विरोध किया है तथा धर्मव्यवस्थामें धर्मकी प्रभावता दी है। वर्तमानस्थितिमें (जहाँ घटी अनुमानित) बतातिह मन्दिने लिखा है

वया रया धृति और धिक्के कर्मके मेरसे सिद्धपुण्य पार धर्म कहते हैं अन्य प्रकारसे पार धर्म नहीं हो सकते^५।

१ इसी प १। २ इसी प ४०४। ३ "कृतद्विधर्म धर्माव आचमन उपविष्टाः।" ४ 'अकृत्या वैश्वदेवं तु यो भुङ्क्ते प्रापति द्विजः। स मूर्खो नरकं याति।' न्युतिचरित्रका पृ २१३ में बहुरूप।

५. सी. कपा इसी प २। ६ बहरी इसी प ४६।

• बिबा विरोधाद् व्यवहारमात्राहवाभिरक्षाकृतिभिरावृत्तम्।

विद्याधर चर्कबपुरी बह्मि न आत्मका धर्मकनुसर्ग एवम् ॥११४ — २५वीं सर्ग

न यहाँ कोई ब्राह्मण जाति है, न कोई क्षत्रिय जाति है और न वैश्य और शूद्र जातियाँ हैं। अभागा जीव कर्मोंके वशीभूत होकर समार-चक्रमें भ्रमण करता है^१।

विद्या आचार आदि मुन्दर गुणोंसे जो रहित है वह ब्राह्मण कुलमें जन्म लेने मात्रसे ब्राह्मण नहीं हो सकता। जो ज्ञानशील और गुणसे युक्त है उसे ही ज्ञानी पुरुष ब्राह्मण कहते हैं^१।

आचार्य जिनसेन (नवमी शती)के महापुराणके सोलहवें पर्वमें लिखा है, प्रजा भगवान् ऋषभदेवके पास आजीविकाका उपाय पूछनेके लिए गयी थी, प्रजाकी प्रार्थना सुनकर भगवान् ने विचार किया कि विदेहमें जिस प्रकारका पट्कर्म है और जमी वणोंकी स्थिति है वैसी ही व्यवस्था यहाँ भी होनी चाहिए, तभी प्रजा जीवित रह सकती है। इसलिए उन्होंने पोटिताकी रक्षा करना आदि गुणोंके आधारपर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णोंकी स्थापना की। बादको उनके पुत्र सम्राट् भरतने इन्हीं तीन वर्णोंके मनुष्योंमें से ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की और उसको गर्भान्वय क्रिया आदिका उपदेश दिया।^३

कुछ विद्वान् इसे मनुस्मृतिका प्रभाव बतलाते हैं क्योंकि जैन परम्परामें महापुराणमें पूर्व किसी ग्रन्थमें ये क्रियाएँ वर्णित नहीं हैं और न सोलह मस्कारोंकी ही चर्चा है। मेरी दृष्टिसे यह मनुस्मृतिका प्रभाव नहीं है, किन्तु प्रतिक्रिया है। मनुस्मृतिने जो ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्च पद प्रदान करके शेष वर्णोंको तिरस्कृत किया, भगवज्जिनसेनने उसका समुचित उत्तर दिया है। इस उत्तरमें दो बातें हैं एक और तो उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके अहकारपर करारी चोटें दी हैं, दूसरी ओर उन बातोंको अपनाया भी है जिनके कारण ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठा थी। ऐसा किये बिना वे ब्राह्मणोंके बढ़ते हुए प्रभावके सामने अपने धर्मकी सुरक्षा नहीं कर सकते थे। एक बार मनुस्मृतिको पढ़नेके बाद महापुराणके ३८-३९ पर्वोंको पढ़नेसे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है।

वर्णकी तरह जैनाचार्योंने जातिको भी महत्त्व नहीं दिया प्रत्युत गुणोंको ही महत्त्व दिया है। समन्तभद्राचार्यने कहा है, जिसका आन्तरिक ओज भस्मसे ढका हुआ है उस अगरकी तरह सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको भी जिनदेव देव मानते हैं।^५

पद्मपुराणमें रविपेणाचार्यने लिखा है, कोई जाति निन्द्य नहीं है, गुण ही कल्याण करनेवाले हैं। गणवरदेव व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण कहते हैं।^६

सोमदेवने ब्राह्मणधर्मकी क्रियाओंका तो खूब विरोध किया है, किन्तु ब्राह्मणजातिपर कोई आक्रमण नहीं किया। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंको रत्नकी तरह जन्मसे ही विशुद्ध माना है और इन तीनोंको ही जिनदीक्षाका अधिकारी बतलाया है। शूद्रको भी उन्होंने एकदम भुला नहीं दिया है, उसे भी यथायोग्य धर्मसेवनका अधिकारी माना है। लिखा है, दीक्षाके योग्य तीन ही वर्ण हैं, किन्तु

१ “न ब्रह्मजातिस्त्रिह काचिदस्ति न क्षत्रियो नापि च वैश्यशूद्रे।

ततस्तु कर्मानुवशा हितात्मा समारचक्रे परिवभ्रमीति ॥४१॥”

२ “विद्याक्रियाचारुगुणै प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत् स विप्रः।

ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्त त ब्राह्मण ब्रह्मविदो वदन्ति ॥४३॥”

३ “उत्पाटितास्त्रयो वर्णा तदा तेनाद्विवेचसा।

क्षत्रिया वणिज शूद्रा क्षतत्राणादिभिर्गुणै ॥१८२॥”

४ “सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम्।

देवा देव विदुर्मस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥”—रत्नकरण्डध्या०।

५ “न जातिर्गहिता काचित् गुणा कल्याणकारणम्।

व्रतस्थमपि चाण्डाल त देवा ब्राह्मण विदुः ॥२०३॥”—पर्व ११ ॥

आहारानके योग्य चारों वण हैं। सभी प्राणी मानसिक वाचनिक और कायिक धर्मों के लिए सम्मत् हैं।^१

इसमें दूधको आहारवान देनेके योग्य बतकाया है। दूधसे यहाँ मत् दूध ही केना चाहिए। सोमदेवने नीतिवाक्यामृतमें इसका स्पष्ट किया है। सत् दूधका लक्षण करते हुए लिखा है, जिसमें एक बार ही निबाह होता है उन्हें सच्छूद्र कहते हैं। आचारविमुक्ति पर पात्र बाहिको निमग्नता और शारीरिक विमुक्तिसे दूध भी वैव द्विज और वपस्वी जमाकी सेवा करनेयोग्य होता है।^२

सोमदेवके आचारपर ही आचारने अपने अनगारधर्माभूतकी टोकामें बीने अभ्यासमें एववासमिधिका स्वास्थान करत हुए^३ सच्छूद्रको मुनिवाकका पात्र बतकाया है।

स्पष्ट है कि सत् दूध मुनिबोझाका अधिकारी न होते हुए भी मुनिको दान देनेका तो पात्र है ही। और जो मुनिको दान है सत्ता है वह दिनपूजा भी कर ही सकता है। आचारधर्माभूतमें भी दूधको धर्म धारण करनेका अधिकारी बतकाया है।

साधर्म्यी व्यवहार

सोमदेव दूरिने साधर्म्यी व्यवहारपर भी यत्र तत्र बनेक बहुमुख्य बातें कही हैं। मूडतोमसक नामक बहुत कल्पमें ब्राह्मणधर्ममें प्रचलित मूढताओंको बतलाते हुए अन्तमें उन्हीं कहते हैं कि यदि इन मूढताओंको कोई पूरी तरहसे न छोड़ सकता हो तो उसे एकदम जैन धर्मब्राह्मण निष्ठावृष्टि नहीं मान केना चाहिए, किन्तु सम्मग्न-निष्ठावृष्टि समझना चाहिए, क्योंकि धर्माचार सुन्दर नहीं है।^४ धर्मको धर्म सेना प्रहस्यें स्नान करना संक्रान्तिमें दान देना अग्नि पूजना प्याह तर्पण बाधित करना धर्म मानकर नहीं स्नान करना बल वर्णरुको पूजना रत्न सकारो यत्र धर्म बाधितो पूजना बाधित जैन वृद्धिसे मूढताएँ हैं। सामाजिक प्रभावबल इनमेंसे कोई-कोई मूढता जैन मनुष्य भी कहीं-कहीं अज्ञानबल पाकते जाते हैं। ऐसे लोगोंको केवल इतने मात्रसे धर्माग्नि नहीं मान केना चाहिए किन्तु जनकी उस मूढताको छुटानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

सम्प्रत्यर्तनके सपगुरु अज्ञानका धर्मान करते हुए सोमदेवने कहा है कि जैसे माता अपनी सन्तानके अपराधको छिपा केती है वैसे ही वैवध वा प्रमादबल बल को धर्माग्नि अपराधको भी छिपा चाहिए। अक्षय-की एकटीसे धर्म मलिन नहीं होता किन्तु यदि कोई एक बार नकसी करके धमा कर दिने धर्माग्नि पुनः बही-बही एकटी करे तो ऐसे ज्ञान-भूमिकर नकसी करनेवालेको समाधान देना युक्त नहीं। ऐसा करनेसे धर्म विगड़ता है।

धर्म और समाजकी रक्षाके लिए एक आवश्यक कार्य है साधर्म्यी भावधर्मोंकी महत् करना उनके कष्टोंको दूर करना और दूसरा आवश्यक कार्य है नये धर्मोंको धर्ममें वीक्षित करना। सोमदेवने इन दोनोंकी और धार्मिकोंका स्थान बतका दिया है। उनका कहना है कि जो लोग सदाधर्म नहीं हैं उन्हें जैन धर्मकी ओर जानेकी प्रेरणा नहीं करनी चाहिए, किन्तु जो स्वतः उस ओर आना चाहे तो उसके योग्य उसे साहाय्य कर देना चाहिए।^५

१ सो उपा इको ७२१।

२ 'सच्छूद्र परिगणनव्यवहार' सच्छूद्रा ३१३ आचारानवधानं धर्माग्निपरधरः आरोगी च विमुक्ति-करोति दूधमपि दक्षिणपरिधर्माभूतं नु योग्यम् ॥' १२४—नीतिवाक्यामृत (ब्रवीसमुरेख)।

३ 'द्वर्त विधौर्ध' है ? अन्वै :—आचार्यवृद्धिबलधर्मधर्मधर्मैः।

४ 'दूधोऽप्युपस्काराचारणः शुद्धयाऽप्युपास्यः।

आत्मा हीमोधि काकाविक्रमी आचार्यधर्मधर्म ३ १२॥—आचार्यधर्मधर्मधर्म २।

५ सो उपा इका १४४।

६ बही इको १४५।

जिनके निर्वाहमें सन्देह है ऐसे नये मनुष्योंसे भी सघको बढ़ाना चाहिए। धर्मका काम अनेक मनुष्योंसे चलता है अतः समझा-बुझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसे उसमें लगा देना चाहिए। उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर हो जाता है। ऐसा होनेसे एक ओर तो धर्मकी हानि होती है, दूसरी ओर उस मनुष्यका ससार दीर्घ हो जाता है।^१

सोमदेवने आगे लिखा है कि यह जिनेन्द्रदेवका धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे व्याप्त है। जैसे मकान एक स्तम्भपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक व्यक्तिपर स्थिर नहीं रह सकता।

उन अनेक प्रकारके मनुष्योंमें सर्वप्रथम तो धर्मका पालन करनेवाले श्रावक और साधु होते हैं। दूसरे, ऐसे विद्वानोंकी भी परम्परा बनाये रखनेकी आवश्यकता है जो ज्योतिष, मन्त्र और पूजा प्रतिष्ठा करानेमें दक्ष हों, क्योंकि उनके अभावमें धार्मिक दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। यदि उनके लिए दूसरे धर्मके अनुयायीकी मदद ली जायेगी तो धर्मकी उन्नति नहीं हो सकती, धर्मके विषयमें पराश्रित रहनेसे तो धर्मकी हँसी ही होती है। अतः इन सबका संरक्षण करना आवश्यक है।^२

ब्रती और साधुओंकी स्थिति

चौवालीसवें कल्पमें सोमदेव सूरिने प्रव्रजित व्यक्तियोंके लिए व्यवहृत होनेवाले अनेक शब्द तथा उनकी निरुक्तियाँ की हैं। वे शब्द हैं—जितेन्द्रिय, क्षण, श्रमण, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, मुनि, यति, अतगार, शुचि, निर्मम, मुमुक्षु, शसितव्रत, वाचयम, अनूचान, अनाश्वान्, योगी, पचाग्निमाधक, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, शिखाच्छेदि, परमहंस, तपस्वी, अतिथि, दीक्षितात्मा, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अध्वर्यु, वेद, त्रयी, ब्राह्मण, शैव, बौद्ध, साह्य और द्विज। इनमेंसे शसितव्रत आदि शब्द वैदिक परम्परामें व्यवहृत होते हैं। सोमदेवने उनकी वैदिक व्याख्याओंका निरसन करके जैनधर्मानुकूल निरुक्तियाँ की हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि सोमदेव सूरिका नीतिवाक्यामृत प्रायः वैदिक श्रुति स्मृतियोंसे प्रभावित है। जब उसका माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रथम बार प्रकाशन हुआ तो उसके सम्पादक प० पन्नालालजी सोनीने कई सूत्रोंके सम्बन्धमें पाद-टिप्पणमें यह आशय व्यक्त किया कि टीकाकारने स्वयं ही सूत्र गढ़कर मूलमें शामिल कर दिये हैं। श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपनी भूमिकामें सोनीजीके उक्त पाद-टिप्पणोंपर आपत्ति की, किन्तु 'एक विचारणीय प्रश्न'के अन्तर्गत यह भी लिखा कि "इस ग्रन्थका वर्णन-चार और आश्रमाचारकी व्यवस्थाके लिए वैदिक साहित्यकी ओर बहुत अधिक झुकाव है। इस ग्रन्थके विद्यावृद्ध, आन्वीक्षिकी और त्रयी समुद्देशोंको पढ़नेसे पाठक हमारे अभिप्रायको अच्छी तरह समझ जायेंगे।" साथ ही प्रेमीजीने जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वानोंसे इस प्रश्नका विचारपूर्वक समाधान भी चाहा कि एक जैनार्च्यकी कृतिमें आन्वीक्षिकी और त्रयीको इतनी अधिक प्रवानता क्यों दी गयी। और उपासकाध्ययनके कुछ श्लोकोंके प्रकाशमें यह भी सम्भावना व्यक्त की कि "कहीं सोमदेव सूरि वर्णाश्रम-व्यवस्था और तत्सम्बन्धी वैदिक साहित्यको लौकिक धर्म तो नहीं मानते थे।"

नीतिवाक्यामृतके त्रयी समुद्देशमें चार वेद, छह वेदांग, इतिहास, पुराण, मोमासा, न्याय और धर्मशास्त्रको त्रयी कहा है और त्रयीसे वर्णाश्रमोंकी धर्माधर्म व्यवस्था वतलायी है। यह पूरा कथन वैदिक परम्पराके अनुसार है, किन्तु उपासकाध्ययनमें त्रयीकी निरुक्ति करते हुए लिखा है कि जन्म, जरा और मरण यह त्रयी समारका कारण है। इस त्रयीका जिस त्रयी (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य) से विनाश होता है वही त्रयी है। इसी तरह वेदकी निरुक्तिमें कहा है—“जो देह और जीवके भेदको जानता है वही वेद है। जो सब जीवोंके विनाशका कारण है वह वेद नहीं है।”

नीतिवाक्यामृत (विद्यावृद्ध समु० २२ सू०) में स्त्रीके साथ या म्त्रीके बिना वनमें रहनेवाले त्यागीको

यह कह दिया कि आहार-दान देनेमें यह विशेष ऊहापाह आवश्यक नहीं। वास्तवमें मोमदेवता उक्त कथन जैन सिद्धान्तानुसार मुनिचर्याया प्रतिपादन नहीं है। वरूणादान या पात्रदानमें अन्तर है। वरूणादान दया बुद्धिसे दिया जाता है, किन्तु पात्रदान देते समय पात्रका विवेक आवश्यक है।

दान और दानविधि

यथालीगवै कल्पमें दानका वर्णन करते हुए सोमदेवने सर्वप्रथम गृहस्थोंको यथाविधि, यथावेदा, यथाद्रव्य, यथागम, यथाकाल और यथापात्र दान देनेका विधान किया है। पुन अपने कल्याणके लिए और दूसरोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्यको समृद्धिके लिए जो श्रिया जाता है उसे दान कहा है। अतः सम्यग्दर्शनादिमें जो मन्त्र है वही मुपात्र होनमें सर्वप्रथम दानार्ह माना गया है।

उक्त दृष्टिसे श्रावक और नाधु दोनोंके ही लिए दानका बहुत महत्त्व है। यह पारलौकिक दृष्टिसे ही नहीं, लौकिक दृष्टिसे भी आवश्यक है। धर्मको स्थितिके लिए गृहस्थ मार्ग और साधु मार्ग दोनों आवश्यक हैं, दोनोंमें से एकके भी अभावमें धर्म कायम नहीं रह सकता। जैन नाधु दिनमें गृहस्थके द्वारा आदरपूर्वक पहचाए जानेपर केवल एक बार आहार लेते हैं। उन्हें केवल आहारके लिए ही पनपेशा रहनी है। गृहस्थके चारह व्रतोंमें अतिथिको दान देना भी एक व्रत है। अतः गृहस्थको स्वपरोपकारकी भावनामें प्रतिदिन दान देना चाहिए तथा साधुको अपना शरीर कायम रखनेके लिए भोजन ग्रहण करना चाहिए। जैन साधुके भोजनकी विधि ऐसी है कि जन प्रक्रियाका जाता श्रावक ही उक्त विधिसे आहार ले सकता है। अतः जैन साधु जैन श्रावकके ही घरपर आहार करते हैं। इस तरह परस्परमें श्रावक और साधु दोनों एक दूसरेमें बंधे रहते हैं। यद्यपि श्रावक जैन साधुके मियाय अन्यको भी दान दे सकता है, किन्तु सर्वोत्तम दानपात्र साधु है अतः श्रावकके लिए सबसे प्रथम वही दानार्ह होता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि दूसरोंको दान देनेका निषेध है। धर्मबुद्धिमें ये ही दानपात्र हैं, दया बुद्धिमें तो उन सभीको दान दिया जा सकता है जो दयाके पात्र होते हैं। इसीसे मोमदेवने बौद्ध, नास्तिक, आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंको दान देनेका निषेध करने हुए भी लिखा है कि जिनके चित्त दुष्टग्रहसे मलिन हैं और जो तत्त्वमें अपरिचित हैं उनके साथ गोष्ठी करनेमें कलह हो होती है पर उन्हें भी कारण बुद्धिसे कुछ दिया जा सकता है।

दानके प्रकार हैं—अभयदान, आहारदान, औपघदान और शास्त्रदान। इनमेंसे मोमदेव सूरिने अभयदानको सर्वोपरि स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है कि सर्वप्रथम गृहस्थको सब प्राणियोंको अभयदान देना चाहिए। किसी भी रूपमें उनके प्राणोंका घात नहीं करना चाहिए, उनको अपने जीवनकी ओरसे निभंय कर देना चाहिए, उसके बिना सारा धर्म-कार्य व्यर्थ है। अन्य कोई दान मनुष्य करे या न करे, किन्तु अभयदान अवश्य करे, क्योंकि वह सब दानोंमें श्रेष्ठ है। जिसने अभयदान दिया, उसने सब दान दिये।

दानके उपर्युक्त भेद देयवस्तुकी अपेक्षामें हैं। दान देनेकी प्रक्रिया तथा भावनाकी अपेक्षासे मोमदेवने दानके तीन भेद किये हैं—राजस, तामस और सात्त्विक। जो दान अपनी प्रशंसासे परिपूर्ण होता है और दूसरेके विश्वासके आधारपर दिया जाता है वह राजस दान है। पात्र और अपात्रका बिना विचार किये और बिना किसी आदर सम्मानके जो नौकरोंमें दान दिलवाया जाता है वह तामस है। और पात्रको देखकर स्वयं दाता जो श्रद्धापूर्वक दान देता है वह सात्त्विक दान है। इनमेंसे सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान अधन्य है। दानके ये तीन भेद जैन परम्परामें सोमदेवसे पहले किसी ग्रन्थमें नहीं देखे गये। महाभारतमें इस प्रकारके भेद मिलते हैं।

ध्यान और जप

ध्यानविधि नामक उनतालीसवें कल्पमें ध्यानका वर्णन है। ज्ञानार्णवमें ध्यानका विशेष तथा महत्त्वपूर्ण वर्णन है किन्तु वह उपामकाध्ययनके बाद रचा गया है। उसमें उपामकाध्ययनके श्लोक उद्धृत हैं। ध्यान-

विषयक एक अन्य लघु ग्रन्थ उत्त्थानुशासन भी महत्त्वपूर्ण है किन्तु यह भी उपासकाभ्ययनसे पूर्वका प्रतीत नहीं होता। महापुराणक इक्कीसवें पर्बमें ध्यानका सुन्दर बखान है और यह प्रायः अकसंकेत देवके उत्त्थान वातिकका ज्ञानी है। सोमदेवन कदापि केवल सवा-सी वसीकमें ध्यानका बखान किया है किन्तु यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थसे कम नहीं। ध्यानक पहले सोमदेवने अठ्ठीसवें कणमें अपवित्रिका कबल किया है। ध्यानसे पूर्वकी अवस्था क्या हो है। विविध प्रकार के ध्यानसे ही ध्यानका गन्धर्व जाता है। इस दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है।

सोमदेव पञ्चनमस्कार मन्त्रके अन्तरेपर विशेष और ध्यान है, धनका कहना है कि पञ्चनमस्कार मन्त्र अनेकाना भी सब मन्त्रोंका काय करनेमें समर्थ है। अन्य सब धम्म निष्कम्भ भी इसका एक हेतुकाय भी नहीं कर सकत। मन्त्रका उच्चारण मुख और स्थल होना चाहिए। अप धूपान्ते द्वारा अग्निसिपरेके द्वारा कमलमण्डपके द्वारा या स्वयं रत्न वरीरुकी मासके द्वारा किया जा सकता है। वाचनिक रूपसे मानसिक रूपका विशेष महत्त्व है। जब करनेवाले व्यक्तिको इन्द्रियोंको निरबल रखकर और पर्याप्तसमय बैठकर ही अप करना चाहिए तथा स्वात और उच्चासके प्रति जो सावधान रहना चाहिए। यमो अहिंसाचार्य और यमो सिद्धार्थके अन्तर्गत एक यमो आहुरिवाच यमो उरुसाधारणिक अन्तर्गत एक और यमो कोए सम्बन्धार्थके अन्तर्गत एक इस तरह तीन स्वाध्यायोंमें एक बार मन्त्रकार मन्त्र अपना चाहिए। उसमें अन्त्यस्त हो जानेपर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। एक ही विषयमें चित्तको स्थिर करना नाम ध्यान है। ध्यान करते समय अन्तरंग और बहिरंग परस्परकी मूर्तिकी तरह निरबल होना चाहिए और विपत्ति आनन्द भी चरकना नहीं चाहिए। वैराग्य ज्ञान निष्परिणतिहा चित्तकी स्थिरता और कष्ट सहनकी क्षमता ये ध्यानके साधन हैं। रोग शोक प्रमाद भयैरुह उसके बाधक हैं। सोमदेव सूरिण अन्य आत्म्यायम कही यमी हठयोगकी प्रक्रियाका निवेदन किया है। जो योगी होकर भी इन्द्रियोंके बन्धोमूत है वह योगी नहीं है।

सभी ध्यान प्रणालीमें ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—वार्त रीत्र धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमेंसे आदि के दो ध्यान स्वात्म्य है क्योंकि वे सत्ताको बतानेवाक है। सेव दो ध्यान ही करन योग्य है और वे ही मोक्षके कारण हैं। इनमेंसे प्रत्येक ध्यानके चार-चार भेद हैं। सोमदेवने ध्यानके दो भेद और भी कहे हैं—एक सवीच ध्यान और एक अवीच ध्यान। सवीच ध्यानमें मन बाधुधुधु प्रवेशमें स्थित दीपतिजाती तरह निरबल रहता है और उसके बर्धनसे उत्साहयुक्त होता है। अवीच ध्यानमें चित्त निर्विचार हो जाता है तथा आत्मा आत्मामें ही लीन हो जाता है। अर्थात् सवीच ध्यानमें मन सक्रिय रहता है किन्तु अवीच ध्यानमें निर्विकल्प हो जाता है। यह ध्यानकी उत्कृष्ट बंधा है। सोमदेवने लिखा है कि जब परीचो इन्द्रियाँ और मन स्वात्मान लीन हो जाते हैं तब अन्तस्त्वम् ज्योतिष्का विकास होता है। चित्तकी एकाग्रताका नाम ध्यान है। आत्मा ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है तथा यही उसके फलका स्वामी है। ध्यानका उपाय है इन्द्रियोंका बन्द। असमर्थतासे विघ्न दूर नहीं हो सकते और न कातरतासे मनुष्यके पनेसे छूटकारा मिल सकता है। अतः विना किसी प्रकारके सेवके परब्रह्मका ही चिन्तन करना चाहिए।

मनका नियन्त्रण किये बिना ध्यान सम्भव नहीं है। वेदवेदने आराधनाधारम कहा है कि मनका निग्रह करनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है^१। योपीण्डने परमात्मप्रकाश (२१७२) में लिखा है कि सब प्रकारके रागोसे और पाँचो इन्द्रियोंसे विषयोसे चित्तको हटाकर आत्माका ध्यान करो। दृश्यपारने समाधि पठक (२को ३) में लिखा है कि सब इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर अन्तरात्माके द्वारा एक क्षणके

१ उपा स्को २२९ २२३

२ उपा स्को २१५ २१६

३ निगाहिप मज्झिमसरे अप्पा परमप्पम्मा इवह १"

४ सम्महि राचहि ऊहि रमहि पंचहि कचहि जंतु । चित्त निवारिणि शाहि तुहं अप्पा देव जगत्त ।

जो कुछ गोचर होता है वही परमात्मतत्त्व है^१। इसी बातको सोमदेवने रहस्यवादके रूपमें चित्रित करते लिखा है कि जब मनरूपी हंस मानसिक कार्यसे वियुक्त हो जाता है, और आत्मारूपी हंस सब तरहसे ऋण हो जाता है तो ज्ञानरूपी हंस मयके द्वारा दृश्य सरोवरका हंस बन जाता है^२।

ध्यान बहुत कठिन है इसीमें उसका काल एक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है, क्योंकि इससे अधिक समय तक तत्त्वको एक ही विषयमें एकाग्र रखना सम्भव नहीं है। किन्तु उतना अल्पकालीन निश्चय ध्यान भी रूपात्त पर्वतको वज्रकी तरह चूर्ण कर डालता है।

सोमदेवने ध्यानका वर्णन करते हुए कुछ श्लोकोके द्वारा व्याताकी भावनाका चित्र खींचा है। व्याता विचारता है, "मैं परम ब्रह्म हूँ, सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा और सुखरूपी सूर्यके लिए श्यामल हूँ, किन्तु अज्ञानान्धकारके फन्देमें फँसकर इस शरीरमें निवास करता हूँ। जब मेरा चित्त आत्माके ध्यानसे आलोकित होगा, तब मैं प्रकाशमान सूर्यकी तरह ससारका द्रष्टा बन जाऊँगा। चन्द्रियजन्य समस्त सुख प्रारम्भमें मधुर प्रतीत होता है, किन्तु अन्तमें कटु। यदि जन्मका अन्त सन्तुष्टि, यौवनका अन्त बुढ़ापा, सयोगका अन्त वियोग और सुखका अन्त दुःख न होता तो कौन मनुष्य ससारको छोड़ना चाहता। मैं आज बड़ा भाग्यशाली हूँ कि सम्यग्दर्शनके तेजसे मेरा अन्तरात्मा विगुह्य होकर अन्धकारके ऋण पहुँच गया है। मैंने इस ससारमें कौन-सा सुख और दुःख नहीं भोगा, किन्तु जितवाणीरूपी अमृतका पान नहीं किया। इस अमृतसागरकी एक बूँदको भी चाट लेनेसे जीवको फिर जन्मरूपी आगमें कभी भी जलना नहीं पड़ता।"^३

ज्ञानार्णवमें मस्थानविचय नामक धर्मध्यानके अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानका वर्णन है। तत्त्वानुशासनमें भी धर्मध्यानके अन्तर्गत इन चारों ध्यानोका वर्णन है, किन्तु उनके पिण्डस्थ आदि नाम नहीं हैं। सोमदेवने आर्त आदि चारों ध्यानोका वर्णन करनेके पश्चात् रूपस्थ और पदस्थ ध्यानोका वर्णन किया है, पर दोनों नाम नहीं दिये हैं और उसके पश्चात् लिखा है कि लोकोत्तर ध्यानका कथन किया अब कुछ लौकिक ध्यानका कथन करते हैं।

इसमें उन्होंने सर्वप्रथम 'ओ' का ध्यान करना बतलाया है और उसके लिए प्राणायामकी साधनाकी आवश्यकता बतलायी है। इनका वर्णन ज्ञानार्णवके उन्नीसवें अधिकारमें विशेष रूपसे आया है।

ध्यानके प्रकरणके अन्तमें सोमदेवने पद्मासन, वीरासन और सुखासनका लक्षण भी बतलाया है।

मूर्तिपूजन

सोमदेवके मूर्तिपूजनके सम्बन्धमें जो जानकारी और सामग्री उपासकाध्ययनमें प्रस्तुत की है उसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर जाँचने-देखनेसे अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। सोमदेवसे पूर्व किसी ग्रन्थमें पूजा तथा पूजा-विधिका इतना विस्तृत और स्पष्ट विवरण दिखायी नहीं पड़ता।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पञ्चास्तिकायमें (गा० १६६) अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्तिका निर्देश किया है, तथा प्रवचनसार (गा० १-६९)में देवता, यति और गुरुकी पूजाका निर्देश किया है। दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्वके खारवेलके शिलालेखमें अग्रजिनकी मूर्तिका उल्लेख है, जिसे राजा नन्द कलिंग जीतनेपर पाटलिपुत्र ले गया था और जिसे खारवेलने मगधपर चढ़ाई करके पुनः प्राप्त किया था। एक मौर्यकालीन जैन मूर्ति पटनाके म्यूजियममें स्थित है। इसी प्रकारकी मूर्तिका कबन्ध हडप्पासे प्राप्त हुआ है, जिसका समय ईस्वी सन्से २४००-२००० वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है और जिसे भारतीय पुरातत्त्व विभागके तत्कालीन सयुक्त

१ "सर्वेन्द्रियाणि सयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना । यत् क्षण पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥"

२ उपा० श्लो० ६२५।

३ उपा० श्लो० ६६६-६७४।

विषयक एक अन्य लघु ग्रन्थ उत्तमानुशासन भी महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह भी उपासकाध्ययनसे पूर्वका प्रतीत नहीं होता। म्हापुराणके इन्द्रकोशमें पूर्वमें ध्यानका सुन्दर वर्णन है और यह प्रायः अकस्मिक देवके उत्पत्ति-वातिकका लक्षण है। सोमदेवने यद्यपि केवल सवा-सौ श्लोकोंमें ध्यानका वर्णन किया है। किन्तु वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थसे कम नहीं। ध्यानके पहले सोमदेवने अष्टांशिकमें कथनमें अपवित्रिका कथन किया है। ध्यानेसे पूर्वकी मन्त्र-वाप ही है। विधिपूर्वक कथनमें अन्त्यस्त हो जानपर ही ध्यानका गन्धर आता है। इस दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है।

सोमदेव पंचममस्कार गन्धके अनेपर विधेय और देते हैं समका कहना है कि पंचममस्कार गन्ध अनेका भी सब मन्त्रोंका काम करनेमें समर्थ है। अन्य सब गन्ध मिलकर भी इसका एक रेशकाम भी नहीं कर सकते। मन्त्रका उच्चारण सुद्ध और स्पष्ट होना चाहिए। यप पुष्पैः द्वारा अगुस्मिन्नाके द्वारा कमलपद्मेके द्वारा या स्वर्ण रत्न वीर्यकी मालाके द्वारा किया जा सकता है। वाचनिक अथवा मानसिक अथवा विशेष महत्त्व है। यप करनेवाले इन्द्रियोंको निरवश रखकर और पर्यकासनसे बैठकर ही यप करना चाहिए, तथा स्वास और उच्छ्वासके प्रति भी सावधान रहना चाहिए। यमो अर्द्धाङ्ग और यमो सिद्धार्थके अन्तर्में एक यमो आदिरिवायं यमो अक्षय्यावायंके अन्तर्में एक और यमो सोए सन्ध्याह्निके अन्तर्में एक इस तरह तीन शवाचोष्म्यासमे एक बार नमस्कार गन्ध अपना चाहिए। उसमें अन्त्यस्त हो जानेपर ध्यानका अन्त्यस्त करना चाहिए। एक ही विषयमें चित्तको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। ध्यान करते समय अन्तरी और बहिरंग पत्थरकी मूर्तकी तरह निरवश होने चाहिए और चिपत्ति जानेपर भी चरगमा नहीं चाहिए। वैराग्य ज्ञान निष्परिग्रहिता चित्तकी स्थिरता और कष्ट सहनकी क्षमता ये ध्यानके साधन हैं। रोम शोक प्रमाद वीर्य उसके बाधक हैं। सोमदेव सूरिग अन्य आम्नायमें कही यमी हठयोगकी प्रक्रियाका निवेदन किया है। जो योमी होकर भी इन्द्रियोंके बन्धीभूत है वह योगी नहीं है।

समी ध्यान ग्रन्थोंमें ध्यानके चार भेद बताये हैं—वार्त्त रीत्र यम और वृष्क ध्यान। इनमें-से आदि के दो ध्यान व्याप्य हैं क्योंकि वे सत्कारको बढ़ानेवाले हैं। सब दो ध्यान ही करने योग्य हैं और वे ही मोक्षके कारण हैं। उनमें-से प्रत्येक ध्यानके चार-चार भेद हैं। सोमदेवने ध्यानके दो भेद और भी कहे हैं—एक सवीज ध्यान और एक अवीज ध्यान। सवीज ध्यानेमें मन वायुसूय प्रवेशमें स्थित शीघ्रचित्तकी तरह निरवश रहता है और उसके वर्धनसे उत्साहभूत होता है। अवीज ध्यानेमें चित्त निर्विचार हो जाता है तथा आत्मा आत्मा में ही लीन हो जाता है। अर्थात् सवीज ध्यानेमें मन सक्रिय रहता है किन्तु अवीज ध्यानेमें निर्विकल्प हो जाता है। यह ध्यानकी उत्कृष्ट रक्षा है। सोमदेवने लिखा है कि जब पाँचो इन्द्रियों और मन स्वात्मान लीन हो जाते हैं तब अन्त्यस्तकमें ज्योतिका विकास होता है। चित्तकी एकाग्रताका नाम ध्यान है। आत्मा ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है तथा बड़ी बड़के फलका स्वामी है। ध्यानका उपाय है इन्द्रियोंका बन्धन। अक्षमयतासे विघ्न दूर नहीं हो सकते और न कावरासे मत्स्यके पक्षेसे लूटकारा भिन्न सकता है। अतः बिना किसी प्रकारके श्रेयके परब्रह्मण ही चित्तान करना चाहिए।

मनका नियन्त्रण किसे बिना ध्यान सम्भव नहीं है। देवदेवने आराधनासारमें कहा है कि मनका निग्रह करनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है^१। योगीश्वरने परमात्मप्रकाश (२१७२) में लिखा है कि सब प्रकारके रागासे और पाँचो इन्द्रियोंके विषयोसे चित्तको हटाकर आत्माका ध्यान करो। पृथ्व्याने समानि-शतक (१०१ १) में लिखा है कि सब इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर अन्तरात्माके द्वारा एक धनके

१ उपा श्लो ६२६ ६२७

२ उपा श्लो ६१५, ६१६

३ विष्णुविष्णु मन्त्रसरे अग्न्या परमप्यशो इवम् ।

४ 'सम्बन्धि रायन्धि कर्हि सम्बन्धि पंचन्धि कम्बन्धि अंतु । चित्त निवारिनि साहि तर्हि अग्न्या दृष्ट अन्तु ।'

लिए जो कुछ गोचर होता है वही परमात्मतत्त्व है^१। इसी बातको सोमदेवने रहस्यवादके रूपमें चित्रित करते हुए लिखा है कि जब मनरूपी हंस मानसिक कार्यसे वियुक्त हो जाता है, और आत्मारूपी हंस मव तरहसे स्थिर हो जाता है तो ज्ञानरूपी हंस मवके द्वारा दृश्य सरोवरका हंस बन जाता है^२।

ध्यान बहुत कठिन है इसीमें उमका काल एक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है, क्योंकि इससे अधिक समय तक चित्तको एक ही विषयमें एकाग्र रखना सम्भव नहीं है। किन्तु उतना अल्पकालीन निश्चय ध्यान भी कर्मरूपी पर्वतको वज्रकी तरह चूर्ण कर डालता है।

सोमदेवने ध्यानका वर्णन करते हुए कुछ श्लोकोके द्वारा ध्याताकी भावनाका चित्र खींचा है। ध्याता विचारता है, "मैं परम ब्रह्म हूँ, सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा और सुखरूपी सूर्यके लिए उदयाचल हूँ, किन्तु अज्ञानान्धकारके फन्देमें फँसकर इस शरीरमें निवास करता हूँ। जब मेरा चित्त परमात्माके ध्यानसे आलोकित होगा, तब मैं प्रकाशमान सूर्यकी तरह ससारका द्रष्टा बन जाऊँगा। इन्द्रियजन्य समस्त सुख प्रारम्भमें मधुर प्रतीत होता है, किन्तु अन्तमें कटु। यदि जन्मका अन्त मृत्यु, यौवनका अन्त बुढ़ापा, मयोगका अन्त वियोग और सुखका अन्त दुःख न होता तो कौन मनुष्य ससारको छोड़ना चाहता। मैं आज बड़ा भाग्यशाली हूँ कि सम्यग्दर्शनके तेजसे मेरा अन्तरात्मा विगूढ़ होकर अन्धकारके पार पहुँच गया है। मैंने इस ससारमें कौन-सा सुख और दुःख नहीं भोगा, किन्तु जिनवाणीरूपी अमृतका पान कभी नहीं किया। इस अमृतसागरकी एक बूँदको भी चाट लेनेसे जीवको फिर जन्मरूपी आगमें कभी भी जलना नहीं पड़ता।"^३

ज्ञानार्णवमें मस्थानविचय नामक धर्मध्यानके अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानका वर्णन है। तत्त्वानुशासनमें भी धर्मध्यानके अन्तर्गत इन चारों ध्यानोका वर्णन है, किन्तु उनके पिण्डस्थ आदि नाम नहीं हैं। सोमदेवने आर्त आदि चारों ध्यानोका वर्णन करनेके पश्चात् रूपस्थ और पदस्थ ध्यानोका वर्णन किया है, पर दोनों नाम नहीं दिये हैं और उसके पश्चात् लिखा है कि लोकोत्तर ध्यानका कथन किया अब कुछ लौकिक ध्यानका कथन करते हैं।

इसमें उन्होंने सर्वप्रथम 'ओ' का ध्यान करना बतलाया है और उसके लिए प्राणायामकी साधनाकी आवश्यकता बतलायी है। इसका वर्णन ज्ञानार्णवके उनतीसवें अधिकारमें विशेष रूपसे आया है।

ध्यानके प्रकरणके अन्तमें सोमदेवने पद्मासन, वीरासन और सुखासनका लक्षण भी बतलाया है।

मूर्तिपूजन

सोमदेवके मूर्तिपूजनके मन्वन्त्रमें जो जानकारी और सामग्री उपासकाध्ययनमें प्रस्तुत की है उसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर जाँचने-देखनेसे अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। सोमदेवसे पूर्व किसी ग्रन्थमें पूजा तथा पूजा-विधिका इतना विस्तृत और स्पष्ट विवरण दिखायी नहीं पड़ता।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पचास्तिकायमें (गा० १६६) अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्तिका निर्देश किया है, तथा प्रवचनसार (गा० १-६९)में देवता, यति और गुरुकी पूजाका निर्देश किया है। दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्वके खारवेलके शिलालेखमें अग्रजिनकी मूर्तिका उल्लेख है, जिसे राजा नन्द कलिंग जीतनेपर पाटलिपुत्र ले गया था और जिसे खारवेलने मगधपर चढ़ाई करके पुन प्राप्त किया था। एक मौर्यकालीन जैन मूर्ति पटनाके म्यूजियममें स्थित है। इसी प्रकारकी मूर्तिका कबन्ध हडप्पासे प्राप्त हुआ है, जिसका समय ईस्वी सन्से २४००-२००० वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है और जिसे भारतीय पुरातत्त्व विभागके तत्कालीन संयुक्त

१ "सर्वेन्द्रियाणि सम्यग् स्तिमितेनान्तरात्मना । यत् क्षण पश्यतो माप्ति तत्तत्त्वं परमात्मन ॥"

२ उपा० श्लो० ६२५ ।

३ उपा० श्लो० ६६६-६७४ ।

निर्वेदाक पी टी एन रामचन्द्रन जीग लोचकरकी मूर्ति बतलाते हैं।^१ इससे स्पष्ट है कि जीगचर्मके साथ उसकी मूर्तिपूजा भी बहुत प्राचीन है।

वैदिक कालमें वैदिकोंके द्वारा जनि सूर्य वरुण आदि देवताओंकी पूजा अग्निमें भी अन्न बर्बरछकी आहुति देकर भावात्मक रूपमें की जाती थी। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मूर्तिपूजक नहीं थे। सम्भवतया जब अहिंसा सिद्धान्त तथा उपनिषदोंके परब्रह्मके विचारोंके कारण वैदिक यज्ञोंका जोप हो गया तो वैदिक ऋषियोंने भी इस देशके प्राचीन विवाधियामें प्रचलित मूर्तिपूजाको अपना किमा और मध्यकालमें उसका व्यापक प्रचार हो गया। बराहमिहिर (पाँचवीं शताब्दी) ने अपनी बहस्पहिता (१ - १९) में विभिन्न देवताओंकी पूजनेवाले विभिन्न समुदायोंका उल्लेख किया है।^२ तथा ब्रह्मवर्षे अष्टम्यायमें राम विष्णु, ब्रह्मदेव एकानेशा (?) ब्रह्मा, स्कन्द शिव विरिचा बुद्ध जिन मूय माता यम वरुण और कुबेरकी मूर्तियोंका वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि उस कालमें इन देवो-देवताओंकी पूजा की जाती थी।

साठवीं शताब्दीके जैनाचार्य रक्षियेचने पद्यचरित्रमें लिखा है

ओ जिन भयबान्की आहुतिके अनुकूप जिनविम्ब बनवाता है तथा जिन भगवान्की पूजा और स्तुति करता है उसके किए कुछ भी दुःख नहीं है।^३

इसी तरह उक्त शताब्दोंमें ऐसे भये अष्टारम एवं परमारमंत्रकायमें लिखा है,

तुम न तो मुनिचरोंकी शान ही दिया न जिन भगवान्की पूजा ही की और न पचपरमेष्ठीको नमस्कार किया तब तुमसे मोक्षका लाभ कैसे होगा।^४

सातवीं शताब्दीमें रचित बरामचरित (सर्ग २२) में जटासिंहनन्दीने जिनपूजाके माहुरम्यके साथ साथ जिनविम्ब और जिनाकमनिर्माणका बहुत महत्त्व बतलाया है तथा तीनपूजा-आहोत्सवका सुन्दर विवरण किया है। उनसे लेकसे पता चलता है कि उस समय मन्त्रियोंकी बीचारीतर पीछाधिक उपासनाम विधित किसे जाते थे और राज्याकी ओरसे पूजाके निमित्त धाम बीरह मन्त्रियोंको धानन दिये जाते थे।^५

जब भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण होन लगे और मन्दिर तथा मूर्तियाँ तोड़ी जाने लगीं तो उसीकी प्रतिहिताके रूपमें भारतमें मन्त्रियों और मूर्तियोंके निर्माणपर बह्म-स भी अधिक जोर दिया जाने लगा।

आचार्य अमिदमतने अपने सुभाषितरत्नसदीहमें लिखा है कि ओ अनुप्य जितेन्द्र भगवान्की अनुष्ठ-जमाच प्रतिमा बनवाना है वह भी अविनाशी कर्मोंको प्राप्त करता है।^६ आचार्य पद्मनन्ध उनसे भी जाने बड़

१ अथेकस्य वय १७ कि ९ में 'हङ्गुप्पा और जैगचर्म लोचक लेन।

२ रिज्जीर्मागचनान्मगाइच लबिनु लमगाः समस्सद्विजाल् मातुआमवि भानुमग्गलविहो विमाव् विपुमग्गल । वाक्काव् सर्वद्वित्तव भाण्डमनवा मग्गाव् जिनामी विपुव् वं ऐपमुपाजिता स्वविधिया तीमस्व कायां किपा ॥ -बुद्धसंहिता ९ १९।

३ "जिनविम्ब जिनाकार् जिनपूजा जिनमुनिम् ।
वा करोति जमस्तवय न किञ्चिद् हुमर्म भवेत् ॥" ११३॥ पद्य १७॥

४ 'राज न विम्वज मुनिचरहं न वि पुजिज जिगयाहु ।
बंध न बंदिच परमगुद किमु बीमह निपलाहु ॥" ११४॥

५ "कदाचराजमार्गं बरिष्ठं शर्मोच्च शर्मोच्चनवात् पारादीम् ।
मार्गात्कं साम्प्रतिकं प्रमोक्षं समपचात्राम जिनाकवाच ॥" -बरामचरित १३।११ ॥

६ बसाह्वज जमाप्यर्चा क्रिमेष्ट्री किचनें जिना ।
नमवाप्यनरकी कर्मात्त पूर जागु आयेते ॥ -मु सं दली ८ ९।

कर कहते हैं कि जो बिम्बपत्रके प्रमाण जिनमन्दिर बनाकर उममें जो वगैरह जिनप्रतिमाकी भक्तिपूर्वक स्थापना करते हैं उनके पुण्यका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती, फिर जो बड़ा मन्दिर और बड़ी प्रतिमा बनवायें उनका तो कहना ही क्या है।^१ आचार्य वसुनन्दिने (बारहवीं शती) पद्मनन्दिने भी आगे कहा, जो कुन्धुम्भरिके पत्र बराबर जिनमन्दिर बनवाकर उममें सरसोंके बराबर भी जिनप्रतिमाकी स्थापना करता है वह मनुष्य तीर्थंकरपदके योग्य पुण्यवन्ध करता है।^२

आचार्य पद्मनन्दि और वसुनन्दिने जिनपूजा वगैरहका भी वर्णन किया है, उनका महत्त्व भी बतलाया है और उसपर जोर भी दिया है। सागारधर्मामृतमें प० आशावरजीने भी सक्षेपमें जिनमन्दिरोंकी आवश्यकता और जिनपूजाकी विधि बतलायी है तथा जिनबिम्ब, जिनालयवसतिका और स्वाव्यायशाला बनवाना पाक्षिक श्रावकोंका कर्तव्य बतलाया है। मावयधम्मदोहामे तो जिनबिम्ब और जिनमन्दिरके निर्माणके साथ ही साथ जिनमन्दिरमें सफेदी करानेका, जिनेन्द्रदेवपर चन्द्रोआ चढानेका, उनकी आरती करनेका और उन्हें तिलक चढानेका भी माहात्म्य बतलाया है^३। लाटोसहितामें भी, जिनमन्दिर, अर्हन्त और सिद्धोंकी प्रतिमाएँ तथा यन्त्र वगैरह बनवानेका विधान किया है और लिखा है 'जिनबिम्ब महोत्सव आदि करानेमें कभी शिथिलता नहीं करना चाहिए। तत्त्वज्ञोंको तो विशेष रूपसे नित्य नैमित्तिक महोत्सव करने कराने चाहिए।

उपर्युक्त साक्ष्योंके आधारपर यह सहज रूपमें कहा जा सकता है कि मूर्तिपूजनकी परम्परा जैनधर्ममें बहुत पुराने समयसे चली आ रही थी, और उत्तरकालमें तो जिनप्रतिमा और जिनमन्दिरोंका निर्माण बहुतायतसे होने लगा। ग्यारहवीं शताब्दीके बादका युग, जिसे 'श्रावकाचार युग' कहना अधिक उपयुक्त होगा, तो जैसे इन प्रवृत्तियोंके चरमोत्कर्षका समय रहा। इसी युगमें प्रतिष्ठापाठों आदिकी रचनाएँ हुई। पूजनसाहित्य भी इस युगमें विशेष रूपसे लिखा गया। किन्तु इस सबका तात्पर्य यह नहीं कि पूजा-प्रतिष्ठाकी ये प्रवृत्तियाँ पहले न थी। जैन आचारमहिताका ये मदामे अविभाज्य अंग रही हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्राचीन समयमें मुनियों और आचार्योंका बाहुल्य होनेसे श्रावक उनके सान्निध्यका लाभ उठा लेते थे और वही धर्मकी स्थिरताका एक बड़ा आधार था। बादके युगमें मुनिसंघोंकी विरलता होती गयी और श्रावकोंको धर्ममें स्थिर करनेके लिए मन्दिर आदिके निर्माणपर अधिक जोर दिया गया।

पूजन : एक प्रश्न और उसका समाधान

स्वामी विद्यानन्दिने अपने पात्रकेसरिस्तोत्रमें लिखा है कि भगवन् ! जिनबिम्बका निर्माण, दान और पूजन आदि क्रियाएँ, जो कि अनेक प्राणियोंके मरण और पीड़ाकी कारण हैं, आपने उनका उपदेश नहीं किया। किन्तु भक्तिवश श्रावकोंने ही स्वयं उन्हें किया है^४।

इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि पूजनका उपदेश भगवान्ने तो दिया नहीं, वह तो

१. "बिम्बाद्भिलोन्नतियवोन्नतिमव मकथ्या ये कारयन्ति जिनमग्ग जिनाकृति वा।

पुण्य तट्ठीयमिह चागपि नैव शक्ता स्तोतु परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥"—पद्म० पच०, श्लो० २२।

२. "कुधुमरिदलमेत्ते जिणमवणे जो ठवेह जिणपडिम।

सरिसवमंत्त पि ल्हइ सो णरो तित्थयर पुण्ण॥"—वसु० श्राव० श्लो० ४८१।

३. "जिणभवणइ कारावियइ लब्भइ सग्गि विमाणु। 'अहं टिक्कइ आराइणह होइ समाहिहि ठाणु ॥ जो धवलावड जिण भवणु तसु जसु कहिं पि ण माइ।

ससिकरणियरु सरयमिलिउ जणु भवलणह वसाइ ॥"—साव० दो० १९३-१९४।

४. "विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिका, क्रिया यदुचिधासुभृन्मरणपीडनाहेतवः।

स्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता किन्तु तास्वयि प्रसूतभक्तिभि स्वयमनुष्ठिता श्रावकैः ॥३७॥"

निर्देशक श्री टी एन रामचन्द्रन जीन तोषकरकी मूर्ति बतकाते हैं।^१ हमसे स्पष्ट है कि जीवनमें साध उसकी मूर्तिपूजा भी बहुत प्राचीन है।

वैदिक कालमें वैदिकोंके द्वारा जग्नि भूय बरहण आदि देवताओंकी पूजा अग्निमें भी जल वरैरहकी आहुति देकर भावात्मक रूपमें की जाती थी। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मूर्तिपूजक नहीं थे। सम्भवतया जब अहिंसा सिद्धांत तथा उपनिषदोंके परब्रह्मक विचारोंके कारण वैदिक यज्ञोंका जोष हुआ चला तो वैदिक ऋषियों भी इस देशके प्राचीन विवाहसिद्धांत प्रचलित मूर्तिपूजाको अपना किया और मध्यकाळमें उसका व्यापक प्रचार हो गया। बराह्मिहिर (पाँचवीं सनाद्री) ने अपनी बहुरसहिता (१०-१९) में विभिन्न देवताओंको पूजनेवाले विभिन्न समुदायोंका उल्लेख किया है।^२ तथा अष्टावनमें अध्यायमें राम विष्णु, ब्रह्मदेव एकार्णवा (?) ब्रह्मा, स्कन्द शिव गिरिका बुद्ध जिन भूय माता यम बरहण और कुबेरकी मूर्तियोंका वर्णन किया है। हमसे स्पष्ट है कि उस कालमें इन देवी-देवताओंकी पूजा की जाती थी।

सातवीं शताब्दीके श्रीनार्य रविचरणने पद्यचरित्रमें लिखा है

जो जिन भगवान्का आहुतिके अनुक्रम जिनविश्व बनवाता है तथा जिन भगवान्की पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुःख नहीं है।^३

इसी तरह उक्त शताब्दीमें रहे गये अध्यायम उक्त परमारमहाकाव्यमें लिखा है,

'तुम न तो मुनिवरोंको दान ही दिया न जिन भगवान्की पूजा ही की और न पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार किया तब तुमसे मोक्षका काम कैसे होगा।'

सातवीं शताब्दीमें रचित बराह्मचरित (सर्ग २२) में अष्टाविहगम्भीने जिनपूजाके महात्म्यके साथ साथ जिनविश्व और जिनात्मनिर्माणका बहुत महत्त्व बतसाया है तथा जैनपूजा-महोत्सवका सुन्दर चित्रण किया है। उनके लिखते पता चलता है कि उस समय मन्दिरोंकी शीशारोंपर पीरामिक उपासकान चित्रित किये जाते थे और राज्योंकी ओरसे पूजाके निमित्त ग्राम वरैरह मन्दिरोंको दानमें दिये जाते थे।^४

जब मारतपर मुसलमानीके आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तिवां तोड़ी जाने लगी तो उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें भारतमें मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माणपर पहले-से भी अधिक जोर दिया जाने लगा।

आचार्य अमिषगवितने अपने गुमापितरतलसन्देहमें लिखा है कि जो मनुष्य जितने भगवान्की अनुष्ठान-प्रमाण प्रतिमा बनवाता है वह भी जितनाही कमीको प्राप्त करता है।^५ आचार्य पद्मनाभ उससे भी आगे बढ़

१ अनेकान्त पृष्ठ १४ कि १ में हनुमन्ता और जीवनचर्म शीर्षक केत।

२ "विष्णोर्मातृवत्तन्मयाहं सविभु-सम्भो समस्महिनाम् आलुनामपि मालुमवदकविश्वी विमान् दिव्युद्वान्। आकाशं सर्वदिवसं शास्त्रमनसा नम्रात् जिनामी विभुषे च देवमुपाश्रिता स्वविधिना सैन्यस्य कार्या क्रिया ॥ —बहुरसहिता १०-१९।

३ जिनविश्व जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।

नः वरति जनस्तस्य न किञ्चिद् दुःखं यत्नम् ॥" ११३॥ पद्य १३॥

४ 'दानं च दिव्यं मुनिवरैर् न वि पुञ्जितं जिनाशु।

पंच न च दिव्यं वरमनु कियु दानम् विवकाह ॥" ११८॥

५ 'अष्टात्तराग्रमयं चरितं दामाग्र दामाग्रकान् गवाहीम्।

संतीतकं साम्प्रतिकं प्रतीत् समपवासाय जिनाकवाय ॥ —बराहचरित २३।१३ ॥

६ 'यथाहं प्रमाणार्थं जितेन्द्रियं जितमोहिनाम्।

तस्याप्यवश्यं कदाचित् दूरं जानु जायते ॥ —मु लं इकी ८७९।

सोमदेव मूरिने पूजकोंके दो भेद किये हैं—एक पुष्पादिमें पूज्यको स्थापना करके पूजन करनेवाले और दूसरे, प्रतिमाका अवलम्बन लेकर पूजन करनेवाले^१। उन्होंने पूजकोंको फल, पत्र और पाषाण आदिकी तरह अन्य धर्मकी मूर्तिमें स्थापना करनेका निषेध किया है तथा दोनों प्रकारके पूजकोंके लिए अलग-अलग विधि बतलायी है। वसुनन्दिने सोमदेवके द्वारा विहित उक्त दोनों प्रकारोंको मद्भावास्थापना तथा अमद्भाव-स्थापना नाम दिया है। साकार वस्तु (प्रतिमा) में अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना मद्भावस्थापना है और अशक्त वराटक (कमलगट्टा) वगैरहमें अपनी बुद्धिमें 'यह अमुक देव है' ऐसा सकल्प करना अमद्भाव-स्थापना है^२। वसुनन्दिने इस कालमें अमद्भाव स्थापनाका निषेध किया है^३। आशाधरने निषेध नहीं किया। सम्भवतया प्रतिमाके सामने न होते हुए पुष्पादिमें अर्हन्तकी स्थापना करके पूजन करनेका ही निषेध वसुनन्दिने किया है। इससे भ्रम होनेकी सम्भावना है। आजकल जिनप्रतिमाके अभिमुख ही पुष्पक्षेपण करके स्थापना की जाती है। वसुनन्दिने इसे नामपूजा कहा है। उन्होंने पूजाके छह भेद किये हैं— नामपूजा, स्थापनापूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्रपूजा और कालपूजा^४। अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विद्युद्ध प्रदेशमें पुष्पक्षेपण करना नामपूजा है^५। आगे अन्य पूजाओंके लक्षण इस प्रकार दिये हैं, जिनप्रतिमाकी स्थापना करके पूजन करना स्थापनापूजा है। जल गन्ध आदि द्रव्यमें प्रतिमादि द्रव्यकी पूजा करना द्रव्य-पूजा है। जिन भगवान्के पञ्चकल्याणकाकी भूमिमें पूजा करना क्षेत्रपूजा है और भक्तिपूर्वक जिन भगवान्के गुणोंका कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है, नमस्कार मन्त्रका जाप और ध्यान भी भावपूजा है।

अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें पूर्वाचार्योंके अनुसार बचन और शरीरकी क्रियाको रोकनेका नाम द्रव्यपूजा और मनको रोककर जिनभक्तिमें लगानेका नाम भावपूजा कहा है^६। उनके अपने मतसे गन्ध पुष्प नैवेद्य दीप धूप और अक्षतमें पूजा करनेका नाम द्रव्यपूजा और जिनेन्द्रके गुणोंका चिन्तन करनेका नाम भाव-पूजा कहा है।

सोमदेवने पूजाके ये भेद नहीं बतलाये। ऊपर जिन दो प्रकारके पूजकोंका उल्लेख किया है उनके लिए सोमदेवने पूजनकी दो विभिन्न विधियोंका वर्णन किया है। जो प्रतिमामें स्थापना नहीं करते उनके लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, माधु, मम्यदर्शन, मम्यज्ञान और मम्यक् चरित्रको स्थापना करके प्रत्येकको अष्ट द्रव्यसे पूजा करना बतलाया है। उनके बाद क्रमसे दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्र्यभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पञ्चगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है। पूजाका यह प्रकार वर्तमानमें प्रचलित नहीं है।

१ उपा० पृ० २१७।

२ "सव्यमावासावमावा दुविह दवणा जिगेहि पणत्ता। सायारवतवत्थुम्मि ज गुणारोपण पढमा ॥३८३॥ अक्खय वराडओ चा अमुगो एमोत्ति गिययवुद्धोए। सकप्पिऊण वयण एसा विहया असव्माचा ॥३८४॥" —वसुनन्दिआ०।

३ "दुण्डावसप्पिणीए विहया उवणाण होदि कायव्वा। लोए कुल्लिगमहमोहिए जट्रो होड सदेहो ॥३८५॥"
—वसुनन्दिआ०

४ "णामट्टवणा दव्वे सिंहे काले विथाण मावे य। छव्विहपूजा भणिया समायओ जिणवरिंदेहि ॥३८९॥"

५ "उच्चारिऊण णाम थसहाईण विसुद्धेसम्मि। पुप्फाणि ज सिंविज्जति चण्णिया णामपूया मा ॥३८२॥"

६ "वच्चो विग्रहसकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानसमकोचो भावपूजा पुरातनै, ॥१०॥"

७. "गन्धप्रसूनसाम्राज्ञादीपशृंगक्षतादिभिः। क्रियमाणाथवा जेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥१३॥

व्यापकाना विशुद्धाना जिनानामनुरागत। गुणाना यदनुध्याय भावपूजेयमुच्यते ॥१४॥"—१२ परि०।

सोपाने ॥ बका दिया है। प्रथम तो इसके आगेके ही पद्यमें कहा है—अथवा भगवन् आपने या आपके उप-
देशका प्रचार करनेवाचे गणपत आदिने पर्यायरूपसे चैत्यनिर्माण और दानका उपदेश दिया है। तीर्थंकर नाम
कर्मके कारण ऐसा उपदेश देना सम्भव है^१। दूसरे अर्हत्पूजाको सोकह कारण भावभावार्थि गिनया गया
है। तीसरे स्वामी समस्तब्रह्मे रत्नकरम्बभावकाचारमें अर्हन्त वैश्वे चरभोकी प्रतिष्ठित आश्वर्यपूर्ण पूजा
करनेका विधान किया है। किन्त्वा है, इच्छित वस्तुको देनेवाले और कामचिन्माको ब्रह्मानेवाके
अर्हन्तवैश्वे चरभोकी पूजा आश्वर्यपूर्ण प्रतिष्ठित करनी चाहिए। उससे समस्त दुःखोंका नाश होता है।
अर्हन्त भगवान्के चरभोकी पूजाका महत्त्व तो जानकरसे उन्मत्त भेष्मकने एक फूल लेकर रात्रयही मन्त्रीमें
बतलाया था।

यह सत्य है कि इस धुपमें भगवान् अर्हन्तवैश्वेको आहार दान देकर राजा बोधसने और चैत्य-चैत्रा
स्वर्गका निर्माण करकर सम्राट् भरतने दान और चैत्य आदिके निर्माणकी प्रवृत्तिको बन्ध दिया था और ये
दोनों ही पुस्तक ने किन्तु यह भी सत्य है कि भगवत्सर्वक तीर्थंकरोंने भगवत्भरो और आचार्योंने भावकोंने
स्मिद् बराबर सक्षम विधान किया और उसे प्रोत्साहन दिया। समन्तभर स्वामीके सत्त पक्ष इसके स्पष्ट
प्रमाण है।

पूजनके भेद

आचार्य जिनसेन महापुराणके अष्टाध्यायमें पूर्वके प्रारम्भमें आश्वकके बट् कर्म हुआ^२ बाटा दान स्वाध्याय
संयम और उपवा बर्जित करते हुए पूजाके चार भेद बतलाया है। गिर्यपूजा चतुर्मुखपूजा कल्पद्रुमपूजा और
अष्टाध्यायपूजा। प्रतिष्ठित अपने चरसे धम्म पुण् बलत आदि से आकर विनाकर्ममें अर्हन्तवैश्वका पूजन करना
गिर्यपूजा अथवा मन्त्रिपूर्वक अर्हन्तवैश्वकी प्रतिष्ठा और मन्त्रिका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर दान
केत आदिका दान देना गिर्यपूजा है। प्रतिष्ठित शक्तिके अनुसार गिर्य दान देते हुए भूमियोंकी पूजा करना
भी गिर्यपूजा है। महाभुटबल राजाओंके द्वारा जो महापूजा की जाती है उसे चतुर्मुख या सर्वतोभर कहते
हैं। अकर्मियोंके द्वारा किमिच्छिक (मुद्रमाया) दानपूर्वक भगवत्के सब बीजाके मनोरथोंको पूर करके भी
पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुमपूजा कहते हैं। बोधी आद्याधिकपूजा है जो सत्त प्रसिद्ध है। इनके विना
एक इन्द्रजन्म पूजा है।^३ इससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें पूजाके भेद नहीं मिलते।

पूजन विधि

चरकम्ब साहित्यमें सोमदेव उपासकाध्ययनसे पूर्व ज्ञान किसी ग्रन्थमें भी इस तरह विस्तारसे पूजनकी
विधि भेदे देखनेमें नहीं आयी है। उत्तरकाकके ग्रन्थकारोंने अनुगन्धिते करने व्यावहारिकमें प्रतिष्ठाकी विधि
भी बतलायी है किन्तु पूजनकी विधि इनने विस्तारसे नहीं बतलायी। वं आचार्यने भी दो एक पद्योंके द्वारा
संक्षेपमें पूजाका क्रम बतलाया है। वेवाचीने भी अनुगन्धिते अनुसार लिखा है।

- १ “एवम त्वनुपदेशमपि पुराणेषु वा केवलम्
कथञ्चिदुपरिचर्यते स्म जिन । चैत्रद्वालक्रिया ॥”
- २ ‘इवादिदेवचरने चरिचरम् सबहुत्तविहरणम् ।
कामभुदि कामदादिनि परिचिनुवादादपी निष्पन्न ॥११॥
अद्वचरसमर्था महानुमार्थ महाममानवम् ।
मेक प्रमोदमत्तः क्रमुमेवैकैव राजगृह ॥ १२ ॥
- ३ ‘भूम्यां चानी च हसि च एवाचार्यं संवत्तं तपः । महापुराण १४ ३८ पदो ११ ।
- ४ ‘प्रजा पूजादवाभिज्या या चतुर्वा तदाचनम् । चतुर्मुखमहं कल्पद्रुमाश्वाद्यादिकोऽपि च ॥११॥”

सोमदेव मूर्तिने पूजकोंके दो भेद किये हैं—एक पुष्पादिमें पूज्यकी स्थापना करके पूजन करनेवाले और दूसरे, प्रतिमाका अवलम्बन लेकर पूजन करनेवाले । उन्होंने पूजकोंको फल, पत्र और पाषाण आदिकी तरह अन्य धर्मकी मूर्तिमें स्थापना करनेका निषेध किया है तथा दोनों प्रकारके पूजकोंके लिए अलग-अलग विधि बतलायी है । वसुनन्दिने सोमदेवके द्वारा विहित उक्त दोनों प्रकारोंको मद्भावास्थापना तथा असद्भावास्थापना नाम दिया है । साकार वस्तु (प्रतिमा) में अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना मद्भावास्थापना है और अक्षत वराटक (कमलगट्टा) योग्रहमें अपनी बुद्धिमें 'यह अमुक देव है' ऐसा मकल्प करना असद्भावास्थापना है । वसुनन्दिने इस कालमें असद्भाव स्थापनाका निषेध किया है^१ । आशाघरने निषेध नहीं किया । सम्भवतया प्रतिमाके नामने न होते हुए पुष्पादिमें अर्हन्तकी स्थापना करके पूजन करनेका ही निषेध वसुनन्दिने किया है । इससे भ्रम होनेकी सम्भावना है । आजकल जिनप्रतिमाके अभिमुख ही पुष्पक्षेपण करके स्थापना की जाती है । वसुनन्दिने इसे नामपूजा कहा है । उन्होंने पूजाके छह भेद किये हैं—नामपूजा, स्थापनापूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्रपूजा और कालपूजा^२ । अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें पुष्पक्षेपण करना नामपूजा है^३ । आगे अन्य पूजाओंके लक्षण इस प्रकार दिये हैं, जिनप्रतिमाकी स्थापना करके पूजन करना स्थापनापूजा है । जल गन्ध आदि द्रव्यमें प्रतिमादि द्रव्यकी पूजा करना द्रव्यपूजा है । जिन भगवान्के पञ्चकल्याणकोंकी भूमिमें पूजा करना क्षेत्रपूजा है और भवितपूर्वक जिन भगवान्के गुणोंका कीर्तन करके जो प्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है, नमस्कार मन्त्रका जाप और ध्यान भी भावपूजा है ।

अमिनगतिने अपने श्रावकाचारमें पूर्वाचार्योंके अनुसार वचन और शरीरकी क्रियाको रोकनेका नाम द्रव्यपूजा और मनको रोककर जिनभविर्में लगानेका नाम भावपूजा कहा है^४ । उनके अपने मतसे गन्ध पुष्प नैवेद्य दीप धूप और अक्षतमें पूजा करनेका नाम द्रव्यपूजा और जिनेन्द्रके गुणोंका चिन्तन करनेका नाम भावपूजा कहा है ।

सोमदेवने पूजाके ये भेद नहीं बतलाये । ऊपर जिन दो प्रकारके पूजाओंका उल्लेख किया है उनके लिए सोमदेवने पूजनकी दो विभिन्न विधियोंका वर्णन किया है । जो प्रतिमामें स्थापना नहीं करते उनके लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, माधु, सम्मगदर्शन, सम्मगज्ञान और सम्मग चरित्रकी स्थापना करके प्रत्येकको अष्ट द्रव्यसे पूजा करना बतलाया है । उसके बाद क्रमसे दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्र्यभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पञ्चगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है । पूजाका यह प्रकार वर्तमानमें प्रचलित नहीं है ।

१ उपा० पृ० २१७ ।

२ "सव्यमावासवमात्रा दुविह्व ठवणा जिगेहि पणत्ता । सायारवतवत्थुम्मि ज गुणारोपण पढमा ॥३८३॥ अक्खय वराडओ वा अमुगो एसोत्ति णिययवुद्धोण । सकप्पिऊण वयण एसा विट्थया असवमावा ॥३८४॥" —वसुनन्दिश्रा० ।

३ "दुण्डावसप्पिणीणु विट्थया ठवणाण होदि कायच्चा । लोणकुल्लिगमइमोहिणु जदो होइ सदेहो ॥३८५॥" —वसुनन्दिश्रा०

४ "णामट्ठवणा ढक्खे खित्ते काले विद्याण मावे य । छव्विह्वपूजा मणिया समासथो जिणवरिंदेहि ॥३८९॥"

५ "उच्चारिऊण णाम अमहाईण विसुद्धेसम्मि । पुप्फाणि ज खिविज्जति वणिण्या यामपूया मा ॥३८२॥"

६ "वच्चो विप्रहमकोच्चो द्रव्यपूजा निगद्यते । तत्र मानससकोच्चो भावपूजा पुरातनै ॥१२॥"

७ "गन्धप्रसूनसाक्षाद्य दीपधूमाक्षतादिभिः । क्रियमाणाश्च ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥१३॥

व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागत । गुणानां यदनुष्ठान भावपूजेयमुच्यते ॥१४॥"—१२ परि० ।

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सोमदेवने पूजनसे पूज को स्थापन और स्तुतिपावन किया बतलायी है वे बाबके प्रचलित आङ्गानन स्थापन और स्तुतिपावनसे भिन्न हैं। आज तो प्रत्येक पूजनके प्रारम्भमें प्रत्येक पुष्पका आङ्गानन आदि किया जाता है—आएए आएए, यहाँ बिराजमान हुआए, मर निकट हुआए। किन्तु सोमदेव-द्वारा प्रचलित विधिमें आङ्गानन तो है ही नहीं और अभियेक सिद्ध जो किमिन्मको सिद्धासनपर बिराजमान किया जाता है वही स्थापना है। अभियेकके पश्चात् ही ब्रह्मादि पूजन प्रारम्भ हो जाता है उसके प्रारम्भमें पुन कोई आङ्गानन आदि नहीं किया जाता। इसीसे सोमदेवकी विधिमें पूजनके अन्तमें विसर्जन भी नहीं है क्योंकि विसर्जनका सम्बन्ध तो आङ्गानन आदिके साथ है। जब किसीको बुझाया जाता है तो उसे बिना भी किया जाता है। जब बुझाया हो गये जाता तो बिना करनेका प्रयत्न ही नहीं रहता।

आये बसकर पूजाकी प्रक्रियामें परिवर्तन आया। धर्मसंग्रह याचकाचार^१ (वि सं १५१९के समय) और लाटो'संहिता (वि सं १९४१) में आङ्गानन स्थापन स्तुतिपावन पूजन और विसर्जन व पाँच प्रकार पूजाके अन्तमें है। सम्भवतया आचार्य (वि की तरहनीं यत्नाम्नीका अन्त) के पश्चात् ही एक प्रक्रियामें पूजामें स्थापन ग्रहण किया है क्योंकि आचार्यके कास तकके साहित्यमें ये पाँच प्रकार देखनमें नहीं आते।

प्रश्न यह है कि यह आङ्गानन आदिकी विधि अनवरत्पराम कीसे प्रसिद्ध हुई? सोमदेव^२ सूरिने स्थापन और स्तुतिपावनके पश्चात् तथा अभियेकसे पहले विष्णोकी ध्याप्तिके लिए इन्द्र अग्नि वम आदि देवताओंसे वक्तिग्रहण करके अपनी अपनी विद्यामें स्थित होनकी प्रार्थना की है, किन्तु उन्हें बुझाकर भी उनका विसर्जन नहीं किया है। देवदेवकृत भाषे'संग्रहमें इन्द्रादि देवताओंका आङ्गानन तथा उन्हें स्नानका माय वर्णित करके पूजनके अन्तमें उन आहुत देवोंका विसर्जन भी किया है। इस तरह जो आङ्गानन और विसर्जन इन्द्रादि देवताओंके निमित्तसे किया जाता वा आये उसे पूजाका आवश्यक अंग मानकर जिनग्रहदेवके लिए ही किया जाने लगा। आजकल पूजनके अन्तमें विसर्जन करते हुए नीचे यह स्लोक भी पढ़ा जाता है

आहुता य पुत्र दत्ता कर्मप्रमाणा यथाक्रमम् ।

ते यथाऽप्यर्चिता मस्तथा सर्वे धान्ते यचारिष्यन्ति ॥^३

इसीकी द्वितीय इस प्रकार पढ़ा जाता है

आय को जो देवगण जूने पाज समान ।

त सब जाबहु कृपा कर अपने अपने पान ॥

मुक्तास्त्राजोके लिए यह क्रिया सेवुका और हास्यास्पद है। वास्तवमें यह विसर्जन पूजनके प्रारम्भ में आहुत इन्द्रादि देवताओंके लिए है जिनग्रहदेवके लिए नहीं है। संस्कृतके स्लोकमें जो 'पुत्र यथाक्रमं कर्मप्रमाणा पद है वे इस कालके समयक है। पद'का अर्थ है पहले अर्चत् पूजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व। ऊपर किया जा चुका है कि सोमदेव उपासकाध्ययनमें तथा भावसंग्रहमें अभियेकसे पहले इन्द्रादि देवताओंके

१ 'जिनामहृष संस्थाप्य सविर्वाहृष पूजयत् । पुनर्विसर्जयन्मन्त्रैः संवितोऽर्चयैगुरुकमात् ॥५१॥

—धर्मसंग्रह भा २ २१९।

२ अस्त्यत्र कर्मप्रमाणा पूजा मुक्तास्त्राजमात्रिका । प्रतिष्ठापनसंज्ञाऽथ सविधिकरणं यथा ॥१७७॥ तत् पूजनमत्रास्ति तत्रां नाम विसर्जनम् । पञ्चोपेयं समाकृत्वा पञ्चकल्पान्वादिनी ॥१७५॥"—पृ ११५

३ उपा इमी ५३८ ।

४ 'आचारिण्यस्य दत्ते धुरवद् मिदिकाकरोतिप्य वर्ये । पचये जले मसूही सपिप सवाहये मसाम्पे य ॥ हाकन पुत्रद्वयं वक्तिवर्णं तद् य अज्जगम्य य । सत्येयिमसहि य वीपस्तरत्तामस्तुतेहि ॥५१९७७॥ 'आय श्यक्रम पूजा मन्त्राभिवादनान्वा कक्रम । उक्तमहविन विमज्जत य पुत्राचारिका देवा ॥५८१॥ —आचर्त ।

बुलाकर उन्हें बलि या यज्ञभाग देनेका विधान है। यही बात उक्त श्लोकके पूर्वार्द्ध द्वारा कही गयी है, “जिन देवोंकी पूजनके प्रारम्भसे पहले आहुत किया था और जिन्होंने क्रमानुसार अपना-अपना भाग पा लिया है। वे मेरे द्वारा पूजित होकर अपने-अपने स्थानको जायें।”

जिनेन्द्रदेव तो न कही जाते हैं और न पूजाका द्रव्य ग्रहण करते हैं। किन्तु वैदिक विधिके अनुसार इन्द्रादि देवताओंका आह्वान यज्ञमें किया जाता है और अग्नि देवताओंका मुख है। अतः उस-उस देवताके उद्देशसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें जो आहुति दी जाती है वह उस-उस देवताको पहुँच जाती है, ऐसी वैदिक मान्यता है। उसी मान्यताका प्रभाव उत्तरकालमें जैनपूजाविधियों भी प्रविष्ट हो गया प्रतीत होता है। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवता हैं। उन्हींको प्रसन्न करके उनकी कृपाकामनाके लिए वैदिक यज्ञ किये जाते थे। यज्ञ तो जैनो और बौद्धोंके विरोधके कारण एक तरहसे बन्द हो गये। उसके साथ ही वैदिक देवताओंका भी पुराना स्थान जाता रहा, फिर भी लौकिक मान्यता बनी रही। सम्भवतः उसी मान्यताने जैनोकी पूजाविधिको भी प्रभावित कर दिया। सोमदेवने तो केवल दिक्पालो और नवग्रहोंका आह्वान मात्र करके उनसे बलिग्रहण करनेकी प्रार्थना की है। किन्तु आशाधरने अपने प्रतिष्ठापाठमें नवग्रहोंका वर्णन करके उन सबको पृथक्-पृथक् बलि प्रदान करनेका विधान किया है।

सोमदेवने रस, घी, धारोष्ण दूध, दही और अन्तमें जलसे अभिषेक करनेके पश्चात् जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, हवि (नैवेद्य), दीप, धूप, फलसे जिन भगवान्की पूजाका विधान किया है। लिखा है, “अभिषेक महोत्सवके पश्चात् जिनेन्द्रदेवकी जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, हवि, दीप, धूप और फलोंसे पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हें चित्तमें धारण करता हूँ, शास्त्रकी आराधना करता हूँ तथा त्रिलोकके ज्ञाता उनके ज्ञानरूपी तेजकी श्रद्धा करता हूँ।”^१ अर्थात् पूजनके पश्चात् पूजकको जिनेन्द्रका स्तवन, जप, ध्यान आदि करना चाहिए। इस क्रियाके समाप्त होनेके साथ पूजनका पाँचवाँ प्रकार समाप्त हो जाता है। इसके आगे छठे प्रकारमें पूजनके फलका कथन है। लिखा है, “हे भगवन्! जबतक इस चित्तमें आपका निवास है तबतक सदा जिनचरणोंमें मेरी भवित रहे, सब प्राणियोंमें मेरा भक्तिभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत बुद्धि सबका आतिथ्य करनेमें सलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्त्वमें लीन रहे, ज्ञानी जनोसे मेरा स्नेहभाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें लगी रहे। हे देव! प्रातः कालीन विधि आपके चरणकमलोकी पूजासे सम्पन्न हो, मध्याह्नकाल मुनियोंके समागममें बीते तथा मायकालका समय भी आपके चरित्रका कीर्तन करनेमें व्यतीत हो। धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें, धार्मिकोंके विषयमें और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमें सदा अनुकूल रहे। तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे।”^२ यही पूजाका फल है। सोमदेवने जलादि पूजाका इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं बतलाया कि अमुक वस्तुमें पूजा करनेसे अमुक लाभ होता है या अमुक उद्देशसे जल चढाता हूँ। भावसंग्रह (जा० ४७१-४७७)में तथा आशाधरके सागारधर्ममृत^३ (३।३०)में इस प्रकारके फलका वर्णन पाया जाता है। दोनों प्रायः समान हैं। आशाधरने लिखा है, “अर्हन्तदेवके चरणोंमें जलकी धारा अपित करनेमें पापोंकी शान्ति होती है, चन्दनसे शरीर सुगन्धित होता है, अक्षतमें अविनाशी ऐश्वर्य प्राप्त होता है, पुष्पमालासे स्वर्गीय पुष्पोंकी माला प्राप्त होती है, नैवेद्यमें लक्ष्मीका स्वामी बनता है, दीपसे कान्ति प्राप्त होती है, धूपसे परम सौभाग्य प्राप्त होता है, फलसे इष्टकी प्राप्ति होती है और अर्घसे मूल्यवान् पद प्राप्त होता है।”

१ २ सो० उपा० श्लो० ५५९, ५६०—५६३

३ “वार्धरा रजस शमाय पश्यो सम्यक् प्रयुक्ताऽर्हत
सद्गन्ध तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षता ।
यादु स्रग्द्विजस्रजे चरुमास्वाम्याय दीपस्त्वपे
धूपो विश्वदुग्धसवाय फलमिष्टार्थाय चार्घ्याय स ॥”

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सोमदेवने पूजनसे पूष को स्थापन और समिधापन क्रिया बतलायी है वे आजके प्रचलित आङ्गानन स्थापन और समिधिकरणसे मिलते हैं। आज तो प्रथम पूजनके प्रारम्भमें प्रत्येक पूज्यका आङ्गानन आदि किया जाता है—बाएँ, बाएँ, यहाँ बिराजमान हुए मरे निकट हुए। किन्तु सोमदेव-द्वारा प्रचलित विधिमें आङ्गानन तो है ही नहीं और अग्निदेवके लिए जो अग्निदेवको सिद्धासनपर विराजमान किया जाता है वही स्थापना है। अग्निदेवके पश्चात् ही अग्नि पूजन प्रारम्भ हो जाता है उसका प्रारम्भमें पुनः कोई आङ्गानन आदि नहीं किया जाता। इसीसे सोमदेवकी विधिमें पूजनके अन्तमें विसर्जन भी नहीं है क्योंकि विसर्जनका सम्बन्ध तो आङ्गानन आदिके साथ है। अब किसीको बुझाया जाता है तो उसे बिना जो किया जाता है। अब बुझाया ही नहीं जाता तो बिना करनेका प्रश्न ही नहीं रहता।

आगे चलकर पूजाकी प्रक्रियायाम परिवर्तन आया। धर्मसंग्रह भावकाचार (वि सं १५१९के छन्दस) और काटी संहिता (वि सं १९४१) में आङ्गानन स्थापन समिधिकरण पूजन और विसर्जन में पाँच प्रकार पूजाके बतलाये हैं। सम्भवतया आचार (वि की तेरहवीं शताब्दीका अन्त) के पश्चात् ही उक्त प्रक्रियामें पूजामें स्थान ग्रहण किया है क्योंकि आचारके काक उसके साहित्यमें ये पाँच प्रकार देखनेमें नहीं आते।

प्रश्न यह है कि यह आङ्गानन आदिकी विधि धर्मपरम्परामें कैसे प्रसिद्ध हुई? सोमदेव सूरिने स्थापन और समिधापनके पश्चात् तथा अग्निदेवके पहले विष्णुकी स्थापितके लिए इन्द्र अग्नि वम आदि देवताआठे अग्निप्रह्व करके अपनी अपनी दिशामें स्थित होनेकी प्राचना की है, किन्तु उन्हें बुझाकर भी उनका विसर्जन नहीं किया है। देवतानिष्ठ भाष्य संग्रहम् इत्यादि देवताओंका आङ्गानन तथा उन्हें पशुका मांस अर्पित करके पूजनके अन्तमें उन आहुत देवोंका विसर्जन भी किया है। इस तरह की आङ्गानन और विसर्जन इत्यादि देवताओंके निमित्तसे किया जाता था आगे उसे पूजना आवश्यक अथ मानकर निराश्रयके लिए ही किया जाने लगा। आजकल पूजनके अन्तमें विसर्जन करते हुए नीचे यह श्लोक भी पढ़ा जाता है,

आहुता यं पुरा दत्ता लम्बमाणा यथाक्रमम् ।

ते मयाऽऽसन्निकाः अकल्पा सर्वे शान्तिं यथास्थितिम् ॥

इसीका हिस्सीम इस प्रकार पढ़ा जाता है

आगे जो जो देवगण पूरे मण्डि समाप्त ।

त मय आबहु कृपा कर अपने अपने बाल ॥

मुक्तारामाजीके लिए यह कितना भेदका और हास्यास्पद है। वास्तवमें यह विसर्जन पूजनके प्रारम्भ में आहुत इत्यादि देवताओंके लिए है अग्निदेवके लिए नहीं है। संस्कृतके श्लोकमें जो पुरा यथाक्रमं लम्बमाणा वर है वे इस क्रमके समर्थक हैं। परन्तु का अर्थ है पहले जबकि पूजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व। ऊपर लिखा जा चुका है कि सोमदेव उपासकाभ्ययनम् तथा भाष्यसंग्रहमें अग्निदेवसे पहले इत्यादि देवताओंको

१ 'जिनानाहुव संस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयत् । पुनर्विमज्जयेम्यग्नेः संहिषीकनैपुराक्रमान् ॥ ५६ ॥

—धर्मसंग्रह भा ४ पृ २१९ ।

२ अथवा यथा पूजा मुक्ताङ्गानमात्रिका । प्रतिष्ठापनसंज्ञायां सन्निधिकरणं तथा ॥ १०४ ॥ तथा पूजनमत्राति तथा आग विमज्जनम् । पश्चात्पेयं समाख्याता वज्रकल्पान्दार्ढ्यनी ॥ १०५ ॥—पृ ११५

३ उपा दत्ता ५३८ ।

४ 'आवाहिकान् देवे सुरावह निदिध्याक्यरित् वज्रम् । परमे वर्गे समूची सविम सवाहना मयम्ब व ॥ हाऊम पुत्रद्वयं अग्निचर्यं तद व अज्जमाय व । मध्येमिमंतेदि व वाचवरराममहुदि ॥ ४२९ ४४ ॥'—हाऊम हाऊम पुत्री मज्जानिबज्जमाय काऊम । उवमंहरि व विमज्ज व पुनरादिना देवा ॥ ४४१ ॥—भाष्यम् ।

से ढाँके गये । उनपर सुवर्णकारोने चित्रकारी की थी । एक हजार आठ विशाल घट शीतल जलसे पूर्ण किये गये । उनके मुख कमलोसे ढके हुए थे । ये केवल जिनविम्बके अभिषेकके लिए थे ।^१ अनेक प्रकारके फल, कुकुम, हिंगुल, चन्दन तथा घृष वगैरह सकलित की गयी । ये सब चीजें राजमहलसे लेकर जुलूस चला और खूब ठाट-वाटके साथ जिनमन्दिरमें पहुँचा । राजाकी पत्नियो और राजाने प्रवेश करके प्रदक्षिणा दी और उपहार-सामग्रीको स्थापित कराकर अभिषेक-मण्डपमें चले गये । अभिषेककतनि सुगन्धित जलमें उनके हाथ धोये । उसके हाथमें दर्भ थे और वह धधर-उधर पुष्प फेंकता जाता था । मृदग आदिकी ध्वनि हो रही थी, चामर दोरे जा रहे थे । मौनव्रत पूर्वक उसने जिनेन्द्र-विम्बको लाकर रत्नखचित पीठिकापर विराजमान कर दिया । इसके बाद पहले उसने जिनविम्बको प्रणाम किया । फिर दोनों हाथोंसे श्मारी उठाकर चरणोंका अभिषेक किया और दुपट्टेसे सामग्री खोलकर चढ़ा दी । फिर दोनों हाथोंसे प्रतिमाको साफ करके बायें हाथमें जल लेकर 'जिनादिम्य स्वाहा' ऐसा मन्त्र पढ़कर स्तोत्र पाठ करते हुए दायें हाथके अगूठसे भगवान्‌के मस्तकपर जलकी धारा डाली । फिर भगवान्‌के चरणोंमें पुष्प और अक्षत क्षेपण करके साथ-ही-साथ केशरकी भी धारा दी । इसके बाद स्वच्छ जलसे पूर्ण तथा सत्पुष्पोंसे व्याप्त सोने और मिट्टीके अनेक घटोंमें भगवान्‌का अभिषेक करके पुरोहितने सुगन्धित द्रव्योंका भगवान्‌पर लेप कर दिया^२ । वरागचरितके रचयिता दक्षिणके थे । किन्तु दाक्षिणात्य शैलीकी अभिषेकविधिका निरूपण करके भी उन्होंने अभिषेक केवल जल या सुगन्धित जलसे ही कराया है । घृत आदिकी धाराका कोई निर्देश नहीं किया है और न अभिषेकके प्रारम्भमें दिक्पालो और नव देवताओंको बलि ही दी है । यद्यपि आचार्य रविपेणने, जो उनके समकालीन प्रतीत होते हैं, घृत, दूध वगैरहमें अभिषेकका उल्लेख किया है, किन्तु विद्वान् लोग जानते हैं कि आचार्य रविपेणने अपना पद्यचरित विमलसूरिके 'पद्मचरित्र' के पद्योंको प्रायः परिवर्तित करके बनाया है । पद्मचरित्रके छः सठवें पर्वमें भी एक पद्य इसी आशयका है जिसका रूपान्तर पद्यचरितमें है । दोनोंके पद्य निम्न प्रकारके हैं —

“दारेसु पुष्पकलसा ठविया दहि खीर म्पिसपुष्पा ।

चरपडमपिहियवटणा जिणवर पूयाभिसेयत्ये ॥” २३॥—पद्म०

“घृतक्षीरादिभिः पूर्णा कलशा कमलानना ।

मुक्तादामादिसत्कण्ठा रत्नराशिविराजिताः ॥२४॥

जिनविम्बाभिषेकार्थमाहूता भक्तिभासुरा ।”

इससे स्पष्ट है कि पद्यचरितमें घृत, दूध आदिका उल्लेख पद्मचरित्रसे आया है । 'पद्मचरित्र'के रचयिता किस सम्प्रदायके थे यह अभी निर्णित नहीं हो सका है, क्योंकि उसकी सभी बातें न दिगम्बर सम्प्रदायके अनुकूल हैं और न श्वेताम्बर सम्प्रदायके । ऐसी स्थितिमें पद्यचरितके उल्लेखको दिगम्बर मान्यताका रूप तो नहीं दिया जा सकता । पचामृतसे सम्बन्ध रखनेवाले दूध, इक्षुरस, घृत, दधि और उदकका सबसे प्रथम स्पष्ट उल्लेख हरिवंशपुराणमें (स० २२ श्लो० २१) में मिलता है, किन्तु स्वामी जिनसेनने जिनका स्मरण हरिवंशपुराणमें किया गया है, अपने महापुराणमें और उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने उत्तर-पुराणमें इन चीजोंसे अभिषेकका उल्लेख कही भी नहीं किया । प्रत्युत जलसे ही अभिषेक कराया है ।

पचामृतके सम्बन्धमें एक बात और भी लेखनीय है । प्रारम्भमें केवल इक्षुरस ही लिया जाता था । वैष्णवमतमें भी पचामृतमें घी, दूध, दही, शर्करा और मधु लिया जाता है । मधु और शर्कराके स्थानमें इक्षुरस ठीक भी

१ “अष्टोत्तरा शीतजले प्रपूर्णा सहस्रमात्रा कलशा विशाला ।

पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रविम्बस्नपनैककार्या ॥” २६॥

२ “स्वच्छाम्बुपूर्णैर्वरहेमकुम्भैस्तैर्मृन्मयैः सत्कुसुमावकीर्णैः ।

घटैरेनैकैर्मिषिच्य नाथ त गन्धपपङ्केन विलिम्पति स्म ॥”

भाटी इत्यादिके अलग-अलग अङ्गानके परचात् उन्हें मिलानकर अर्ध अङ्गानेका उत्प्रेक्ष न तो सोमदेवके उपासकाध्ययनमें है और न भावसंग्रहमें है ।

पूजनका वास्तविक फल नहीं है जो सोमदेवने बताया है । जिनैश्वरी पूजासे भौतिक सुख-नामना करना उपपन्न नहीं । आत्म-कल भी पूजनके अन्तर्में शान्तिविभागके परचात् धर्म धर्मप्रधानता तथा 'शास्त्राम्पासो जिनपतिवृत्ति आदि कलाकोक द्वारा नहीं प्रार्थना की जाती है जो सोमदेवने बतलाया है ।

पूजाफलके बाद एक स्मोक्तमें सोमदेवने लिखा है हे भवन् ! धीरिरेः आत्मस्थते या इन्द्रियैः दवर उपर सन आसेते अथवा आत्माकी अभ्यसनस्वतासे अथवा मनकी उपस्थतासे या बुद्धिकी अदृष्टतासे अथवा वाणीमें श्रोत्रकी कमीके कारण आपके स्वभावमें मुझसे जो कुछ प्रभाव हुआ है वह भिन्ना हो ॥५१५॥ इसी भाषके सुबक 'ज्ञानोऽज्ञानतो वाऽपि' या जिन जाने वा जानके' आदि पद भाव भी पूजनके अन्तर्में पड़े जात हैं । इसके आगे सोमदेवके उपासकाध्ययनमें यह विवरण नहीं है कि भगवन् अपना अपना धाम लेकर अपने अपने स्वामिको जाओ । वस्तुतः यह होना भी नहीं चाहिए ।

पञ्चासुतामियेक

प्रसेमवच पञ्चासुतामियेकके विषय भी विचार कर लेना उपयुक्त होना । जिनविम्बका अमियेक शीर्षककोक अगमकम्पाचकके समक्ष सुदृढ पर्वतपर इन्द्रके द्वारा किया गये अमियेकका ही प्रतिरूप है । सोमदेवने अमियेकके अवसरपर सतिचापन क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है यही वे जिनश्रेय है वह विप्रासन ही सुमेधवर्ध है और कलशामे स्थित अक्षयि ही साक्षात् शीरसमुद्रका अक्ष है ।" आत्म-कल भी अमियेकके प्रारम्भमें इस प्रकारका सतिचापन किया जाता है ।

इन्द्रने केवल शीरसमुद्रके अक्षसे ही भवधान्ता अमियेक किया था यद्यपि जैन मान्यताके अनुसार शीरसमुद्रके परचात् ही भूतवर और इगुवर नामके समुद्र भी हैं किन्तु इनके अक्षसे भवधान्ता अमियेक नहीं किया गया । फिर भी जैनपरम्परामें भी कुछ बड़ी आदिसे अमियेककी परम्परा अक्षे चल पड़ी यह प्रसन्न विचारनीय है ।

सोमदेवके पर्वका कोई भावनाधार या पूजा-मण्डिपट्ट-याठ ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें अमियेक पूजा आदिका विधान हो । भावसंग्रहमें इस तरहका वर्णन है, किन्तु उसे सोमदेवके वहलकी रचना माननम सन्नेह है । कतिपय पुराण सोमदेवके गृहके हैं और उनमें-से कुछेकमें कुछ-बड़ी आदिसे अमियेकका उल्लेख है ।

पद्मपुराण (पर्व १८ श्लोक १४) में जिनविम्बके अमियेकके लिए भी कुछ आदिसे पूर्व कलशकोक उल्लेख है । हरिवंशपुराण (धर्म २२ श्लोक २१) में भी शीर इक्षुरक्ष भी बड़ी और जलसे भवधान्ता अमियेक करनेका उल्लेख है किन्तु बरायचरित (धर्म २३) में जो हरिवंशपुराणसे प्राचीन है अमियेकका विस्तृत वर्णन होत हुए भी और कुछ बड़ी आदिसे अरे कलशोपा उल्लेख होते हुए भी उनसे अमियेक किम जानेका उल्लेख नहीं है जलसे अमियेकका अवधान उल्लेख है । उसमें अमियेककी पूरी विधिवा विधान किया गया है । आचरणक अक्षका भाव इस प्रकार है राक्षाकी आज्ञासे बुद्धिमान् पुराणिकने जिन भवधान्ताके अमियेकक लिए अक्ष कुछ पुष्पा फल गन्ध जी भी सरसा तन्पुष्प लावा अक्षत पाके छिन्न धर्म और बड़ी आदि सामग्री संकल्प की । जल शान्तिके लिए है धुबसे सृष्टि होती है यहीच कार्यकी सिद्धि होती है तन्पुष्पसे दीर्घायु प्राप्त होती है सरसों बिम्बोको दूर करते हैं शिखोस मनुष्याकी बुद्धि होती है अक्षतसे नीरोगता प्राप्त होती है जोसे अक्षत रूप मिलता है जोसे अक्षत करीर मिलता है, फलोसे हम लोक और पर लोककी सिद्धि होती है अक्ष मोक्षमाधायक है पुष्पो और लाजास सोमनस्य प्राप्त होता है । इन्द्र आदि विद्याधीन दान करनके लिए कमलें सोन चाँदी ताँबा और बरिहके पात्र बनवाये । नदी कूप बापी लाजास आदि पवित्र स्थानोंसे वाणी एकत्र किया गया । धुब बड़ी भी और अक्ष नवीरहते अरे हुए बट पूजाने पुजो

से ढाँके गये । उनपर सुवर्णकारोने चित्रकारी की थी । एक हजार आठ विशाल घट शीतल जलसे पूर्ण किये गये । उनके मुख कमलोसे ढके हुए थे । ये केवल जिनविम्बके अभिषेकके लिए थे ।^१ अनेक प्रकारके फल, कुकुम, हिंगुल, चन्दन तथा धूप वगैरह मकलित की गयी । ये सब चीजें राजमहलसे लेकर जुलूस चला और खूब ठाट-वाटके साथ जिनमन्दिरमें पहुँचा । राजाकी पत्नियाँ और राजाने प्रवेश करके प्रदक्षिणा दी और उपहार-सामग्रीको स्थापित कराकर अभिषेक-मण्डपमें चले गये । अभिषेककर्ताने मुगन्धित जलसे उनके हाथ धोये । उसके हाथमें दर्भ थे और वह इधर-उधर पुष्प फेंकता जाता था । मृदग आदिकी ध्वनि हो रही थी, चामर ढोरे जा रहे थे । मोनघन पूर्वक उसने जिनन्द्र-विम्बको लाकर रत्नखचित पोटीकापर विराजमान कर दिया । इसके बाद पहले उसने जिनविम्बको प्रणाम किया । फिर दोनों हाथोंसे झारी उठाकर चरणोंका अभिषेक किया और टुपट्टेसे मामग्री खोलकर चढ़ा दी । फिर दोनों हाथोंमें प्रतिमाको साफ करके बायें हाथमें जल लेकर 'जिनादिम्य स्वाहा' ऐसा मन्त्र पढ़कर स्तोत्र पाठ करते हुए दायें हाथके अगूठेसे भगवान्‌के मस्तकपर जलकी धारा डाली । फिर भगवान्‌के चरणोंमें पुष्प और अक्षत क्षेपण करके माथ-हो-माथ केशरकी भी धारा दी । इसके बाद स्वच्छ जलसे पूर्ण तथा सत्पुष्पोंसे व्याप्त सोने और मिट्टीके अनेक घटोंसे भगवान्‌का अभिषेक करके पुरोहितने सुगन्धित द्रव्योंका भगवान्‌पर लेप कर दिया । वरागचरितके रचयिता दक्षिणके थे । किन्तु दाक्षिणात्य शैलीकी अभिषेकविधिका निरूपण करके भी उन्होंने अभिषेक केवल जल या सुगन्धित जलमें ही कराया है । घृत आदिकी धाराका कोई निर्देश नहीं किया है और न अभिषेकके प्रारम्भमें दिक्पालो और नव देवताओंकी वलि हो दो है । यद्यपि आचार्य रविपेणने, जो उनके समकालीन प्रतीत होते हैं, घृत, दूध वगैरहसे अभिषेकका उल्लेख किया है, किन्तु विद्वान् लोग जानते हैं कि आचार्य रविपेणने अपना पद्यचरित विमलसूरिके 'पञ्चमचरित्र' के पद्योंको प्रायः परिवर्तित करके बनाया है । पञ्चमचरित्रके छःसठवें पर्वमें भी एक पद्य इसी आशयका है जिसका रूपान्तर पद्यचरितमें है । दोनोंके पद्य निम्न प्रकारके हैं —

“दारेसु पुण्णकलसा ठविया दहि खीर मप्पिसपुण्णा ।

वरपडमपिहियवडणा जिणवर प्यामिमयेयत्थे ॥” २३॥—पडम०

“घृतक्षीरादिभिः पूर्णा कलशा कमलानना ।

मुक्ताढामादिसत्कण्ठा रत्नराशिविराजिताः ॥२४॥

जिनविम्बाभिषेकार्थमाहुता भक्तिभासुरा ।”

इससे स्पष्ट है कि पद्यचरितमें घृत, दूध आदिका उल्लेख पञ्चमचरित्रसे आया है । 'पञ्चमचरित्र'के रचयिता किस सम्प्रदायके थे यह अभी निर्णीत नहीं हो सका है, क्योंकि उसकी सभी बातें न दिगम्बर सम्प्रदायके अनुकूल हैं और न श्वेताम्बर सम्प्रदायके । ऐसी स्थितिमें पद्यचरितके उल्लेखको दिगम्बर मान्यताका रूप तो नहीं दिया जा सकता । पञ्चामृतसे सम्बन्ध रखनेवाले दूध, इक्षुरस, घृत, दधि और उदकका सबमे प्रथम स्पष्ट उल्लेख हरिवंशपुराणमें (स० २२ श्लो० २१) में मिलता है, किन्तु स्वामी जिनसेनने जिनका स्मरण हरिवंशपुराणमें किया गया है, अपने महापुराणमें और उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने उत्तर-पुराणमें इन चीजोंसे अभिषेकका उल्लेख कही भी नहीं किया । प्रत्युत जलसे ही अभिषेक कराया है ।

पञ्चामृतके सम्बन्धमें एक बात और भी लेखनीय है । प्रारम्भमें केवल इक्षुरस ही लिया जाता था । वैष्णवमतमें भी पञ्चामृतमें घी, दूध, दही, शर्करा और मधु लिया जाता है । मधु और शर्कराके स्थानमें इक्षुरस ठीक भी

१ “अष्टोत्तरा शीतजलैः प्रपूर्णा सदृशमात्रा कलशा विशाला ।

पद्मोत्पलोत्फुलपिधानवक्त्रा जिनन्द्रविम्बस्तपनैककार्या ॥” २६॥

२ “स्वच्छाम्बुपूर्णैर्वहेमकुर्मस्तैर्मृन्मयैः सत्कुसुमावकीर्णैः ।

घटैर्नैकैर्मिषिच्य नाथ त गन्धपपङ्केन विलिम्पति स्म ॥”

बैठता है। किन्तु उत्तरकाष्ठमें तो सभी कलाका रस किया जाने लगा। सोमदेवने बाबू खमूर केसा दण्ड, भाँसना आम और गुपारी आदिके रससे भी भयवान्का अभिवेक कराया है।

वैदिकपूजा-पद्धति

यह हम पहले सिद्ध जाये है कि सोमदेव सूरि जैनसिद्धान्तकी तरह वैदिक आम और साहित्यसे भी पूर्ण परिचित थे और जलपर उसका प्रभाव भी था। अतः उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें जिस पूजा-पद्धतिका वर्णन किया है वह उस प्रभावसे झकूटी नहीं लगती। इसलिये यहाँ वैदिक-पूजा-पद्धतिका भी संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होगा।

प्रारम्भमें यह स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक परम्परामें यज्ञोंकी ही प्रधानता थी। यज्ञमें इन्द्र आदि देवताओंके उद्घाटने अभिनये इत्यादि इष्टन किया जाता था। अतः छात्ररमाध्यकारने माग होम और बालका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि तीनोंमें स्वहोमका रथाग प्रधान है। अतः बौद्धिक देवताके उद्घाटने इत्यादि इष्टनका स्थापन करना पूजा है इसलिये पूजा भी माग ही है।^१

वैदिक धर्ममें पूजाके सोमह उपचार बतलाये हैं—आवाहन असन पाद्य अर्घ्य आचमनीय स्नान वस्त्र यज्ञोपवीत अनुष्मन या कण्ड पुष्प चूप बीप नीवेद्य नमस्कार, प्रक्षालना और विचर्जन या छद्वासन। विभिन्न यज्ञोंमें विनैव भी पाया जाता है। कुछमें यज्ञोपवीतके परचास्य भूषण और प्रक्षालना या नीवेद्यके बाध घाम्बुक पाया जाता है। इसलिये किन्हीं यज्ञोंमें उपचारोंकी संख्या अठारह है। कुछमें आवाहन नहीं है और आसनेके बाद स्वायत्त और आचमनीयके बाद मधुपक है। कुछमें स्तोत्र और प्रक्षालन भी है। जो वस्त्र और अर्चकार नहीं दे सकता वह सोमहमेंसे केवल यज्ञोपचारी पूजा करता है। और जो इतना भी नहीं कर सकता वह पंचोपचारी पूजा करता है। और जो पंचोपचार भी करनेमें असमर्थ है वह केवल पुष्पोपचार कर सकता है।

प्रतिष्ठित प्रतिमाकी पूजामें आवाहन और विचर्जन नहीं होता केवल बीघ्र ही उपचार होते हैं। जबवा आवाहन और विचर्जनके स्थानमें मन्त्रीग्वारणपूर्वक पुष्पार्जलि दी जाती है। मूलतः प्रतिमामें पौडघोपचारी ही पूजा होती है।^२

प्रतिमाका स्नान पंचामृतसे होता है। दूध बही भी सख्ख और भीनी में पंचामृत है। पहले दूध से फिर बहीसे फिर बीघे फिर मधुसे और अन्तमें भीनीसे अभिवेक किया जाता है। इनके परचास्य केवल आचमिवेक होता है। यदि प्रतिमा मिट्टीकी हो या चिकनाई हो तो उसका अभिवेक नहीं किया जाता। जो पंचामृतसे अभिवेक नहीं कर सकते वे जलमें तुलसीके पत्ते बांधकर खड़ीसे अभिवेक करते हैं। अभिवेकके बाद चन्दन आदि सुगन्धित इत्यादि प्रतिमाका केवल हाता है।

यदि पुष्प न हो तो फलसे फल न हो तो पत्तलसे पत्तल न हो तो जलसे प्रतिमापूजन किया जा सकता है। पुष्पादिके अभावमें सद्योपचारपूर्वक पूजन करणका विधान है।^३ पूजनके बाद आराधिका (आरती)

१ 'यत्र पूजा नाम दण्डाद्घोष इत्याद्यागात्मकस्वाद्याय पृष्ठः —पूजाप्रकाश पृ. १।

२ हिस्ती आक धर्मशास्त्र पृ. ७२९।

३ 'प्रतिष्ठितप्रतिमायावाहनविचर्जनयोरभावेन चपुद्घोपचरित पूजा। अथवावाहनविचर्जनयोः स्थाने मन्त्रपुष्पाजकिदात्म्यं। मूलतःप्रतिमायां तु पौडघोपचरित पूजा।

—संस्कार रत्नाकर पृ. २।

४ 'भारेव पूर्ये कुर्वीत दण्डा वधार् पूजेन च। मधुना चान्द सपहम क्रमा जेवो विचर्जनेः॥'

—पूजाप्रकाश पृ. ३४ में उद्धृत।

५. "पुष्पाभावे फलं सद्यं फलभावे तु पत्तलम्। पत्तलरवाप्यभावे तु सकिञ्चिद्वाद्यमित्येते। पुष्पाद्य संसर्गे देवं पूजयेन्नित्यतन्मृते। —पूजाप्रकाश पृ. ६५ में उद्धृत।

की जाती है। नैवेद्यके सम्बन्धमें रामायणमें लिखा है कि जो वस्तु पूजक स्वयं खाता है वही अपने देवताको भी अर्पित करता है।^१

संक्षेपमें यह वैदिकपूजा-पद्धति है। इसका प्रभाव उत्तरकालमें जैनपूजा-पद्धतिपर भी पड़ा प्रतीत होता है। इस विषयमें स्वतन्त्र रूपसे विशेष शोध-खोजकी आवश्यकता है।

द्विक्पालादिककी पूजा

अभिषेकादिके प्रारम्भमें द्विक्पालादिके आवाहनकी प्रथा बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वराहचरित जैसे ग्रन्थमें, जिसमें अभिषेकविधिका सागोपाग वर्णन है, द्विक्पालादिके आवाहनका नाम भी नहीं है। उत्तरकालमें वैदिक क्रिया-काण्डका विशेष जोर रहा और उसीके प्रभावसे प्रभावित होकर जैनाचारमें भी इस तरहकी बातें प्रविष्ट हो गयीं प्रतीत होती हैं। नौवीं-दसवीं शताब्दीके साथ ही धावकाचार सम्बन्धी साहित्यका विपुल सर्जन मिलता है, उसीके साथ पूजापाठ और प्रतिष्ठाविधानविषयक ग्रन्थोंकी रचना भी उपलब्ध होती है। उसी कालके साहित्यमें शासन देवताओंके चमत्कारका भी दर्शन होता है।

लगभग इन्ही शताब्दियोंमें ही भारतमें तान्त्रिक धर्मका प्राबल्य बढ़ा और उसके प्रभावसे कोई धर्म अछूता नहीं रहा। तान्त्रिक धर्ममें देवी-देवताओंकी आरावनाका ही प्राबल्य था।

श्री पी० वी० देसाईने अपनी 'जैनिज्म^२ इन साउथ इण्डिया' नामक पुस्तकमें यक्षी सस्कृतिपर भी प्रकाश डाला है। तमिलनाडुमें यक्षी सस्कृतिका उद्गम बतलाते हुए श्री देसाईने लिखा है कि तमिलनाडुमें जैनधर्मको शैव और वैष्णवधर्मोंसे टक्कर लेनी पड़ी। शैव और वैष्णवधर्ममें पार्वती और लक्ष्मीपूजाका प्राधान्य था क्योंकि ये दोनों शिव और विष्णुकी अर्धांगिनी थीं। उधर जैनधर्ममें तीर्थंकर जिनकी कोई स्त्री नहीं थी, अतः भक्त जनताके मनको आकृष्ट करनेके लिए जैनाचार्योंने अपने धर्ममें यक्षीपूजाका आविष्कार किया और उसे खूब बढ़ावा दिया।

प्राप्त यक्षी मूर्तियोंसे पता चलता है कि तमिलनाडुमें यक्षी अम्बिकाकी सबसे अधिक मान्यता थी। उसके बाद सिद्धायिकाका स्थान था, किन्तु पद्मावतीकी उतनी मान्यता नहीं थी।

जैनाचार्योंमें मन्त्रविद्याका भी उत्तरकालमें विशेष प्रचार था, यह बात श्रवणवेलगोलालेखोंसे प्रमाणित होती है। उसके लेख न० ६६-६७ में श्रीधरदेव और पद्मनन्दिको मन्त्रवादीश्वर कहा है। मल्लिपेण भी मन्त्र-तन्त्रवादी थे। उन्होंने ज्वालिनीकल्प नामक ग्रन्थकी रचना की है। ज्वालिनी तान्त्रिक यक्षिणी है। दक्षिणमें उसकी भी विशेष मान्यता थी। मल्लिपेणका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। उसने भैरवपद्मावतीकल्प नामका भी ग्रन्थ रचा है। उसमें पद्मावतीकी सहायतासे शक्ति प्राप्त करनेके मन्त्र-तन्त्रोंका वर्णन है। कर्नाटकमें दसवीं शताब्दीमें पद्मावतीकी बहुत मान्यता थी। 'पद्मावती देवी लब्धवरप्रसाद' यह उस समयका सम्मान्य विरुद था, जिसे छोटे-मोटे शासक बड़े गौरवसे धारण करते थे। उस समयके टीकाकार अनन्तवीर्यने और वादिराजने अकलककृत न्यायविनिश्चयकी टीकामें 'अन्यथानुपपन्नत्वं' रूप हेतुलक्षणको पद्मावतीके द्वारा सीमन्वर स्वामीके समवसरणसे लाकर पात्रकेसरी स्वामीकी देनेका उल्लेख किया है। श्रवणवेलगोलकी मल्लिपेणप्रशस्तिमें भी एक श्लोक इसी आशयका दिया है,

“महिमा स पात्रकेसरिगुरो पर भवति यस्य मक्स्यासीत्।

पद्मावतीसहाया त्रिलक्षणकदर्थन कर्तुम् ॥”

१ “यदन्न पुरुषो भवति तदज्ञास्तस्य देवता।”—अथोपध्याकाण्ड १०३, ३०।

२ यह पुस्तक जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित हुई है।

३ इसके लिए न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावनाका पृष्ठ ७४ देखें।

बैठा है। किन्तु उत्तरकालमें तो सभी फलाका रस लिया जाने लगा। सोमदेवने बाघ काजूर केका आबला आम और सुगरी आदि रसों भी भगवान्‌का अभियेक कराया है।

वैदिकपूजा-पद्धति

यह हम पहले किन्तु आये है कि सोमदेव मूरि जैनविद्याश्रयी तरह वैदिक भगवान्‌ साहित्यस भी पूजा परिचित थे और उनपर उसका प्रभाव भी था। अतः उन्होंने अपन उपासकाभ्ययनमें त्रिम पूजा-पद्धतिका बचन किया है वह अतः प्रभावसे अछूनी नहीं लगती। इसलिये यहाँ भी त्रिम पूजा-पद्धतिका भी संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होया।

प्रारम्भमें यह स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक परम्परामें यज्ञोपवी ही प्रधानता थी। यज्ञामे इन्द्र आ देवताओंके सर्वप्रथमे अग्निमें इष्टका हुन किया जाता था। अतः साबरमाध्यकारने याम होम और दाम विनियोग करते हुए लिखा है कि तीनोंमें स्वर्गभ्यवा त्याग समान है। अतः चूँकि देवताके सर्वप्रथम इष्टका त्याग करना पूजा है इसलिये पूजा भी याम ही है।^१

वैदिक धर्ममें पूजाके चौकड़ उपचार वतलमें है—आवाहन आसन पाद्य अन्न आचमनीय स्नान वस्त्र यज्ञोपवीत अनुकेपन वा गन्ध पुष्प धूप दीप नैवेद्य नमस्कार प्रदक्षिणा और विसर्जन या उद्घासन विभिन्न ऋणामें विनोद भी पाया जाता है। कुछमें यज्ञोपवीतके पश्चात् भूषण और प्रदक्षिणा या नैवेद्यक वा ताम्बूल पाया जाता है। इसलिये किन्हीं ऋणोंमें उपचारोंकी संख्या अठारह है। कुछमें आवाहन नहीं है अ आसनक बाद स्वायत्त और आचमनीयके बाद मधुपर्क है। कुछमें स्तोत्र और प्रथाम भी है। जो वस्त्र आ अर्चनकार नहीं वे मरुता वह चौकड़मेंसे केवल यज्ञोपचारी पूजा करता है। और जो दत्ता भी नहीं मरुता वह पञ्चोपचारी पूजा करता है। और जो पञ्चोपचार भी करनेमें असमर्थ है वह केवल पुण्योपचार कर सकता है।

प्रतिष्ठित प्रतिमाकी पूजामे आवाहन और विसर्जन नहीं होता केवल चौकड़ ही उपचार होते हैं। अथवा आवाहन और विसर्जनके स्थानमें मन्त्रीव्यारणपूर्वक पुष्पावलि दी जाती है। नूनन प्रतिमा योद्घोपचारी ही पूजा होता है।^२

प्रतिमाका स्नान पंचामृतसे होता है। कुछ बड़ी की यहूद और चीनी से पंचामृत है। पहले पूजा में फिर दहीघ फिर घाते फिर मधुमे और अन्तमें चीनीसे अभियेक दिया जाता है। इसके पश्चात् केवल अन्नभिनेक होता है। यदि प्रतिमा मिट्टीकी हो या विनयामे हो तो अन्तमें अभियेक नहीं किया जाता। पंचामृतने अभियेक नहीं कर लाने से अन्तमें तुलसीसे पत्र छालकर उसीसे अभियेक करते हैं। अभियेक बाद वायन आदि नुनान्न इत्यादि प्रतिमाका भक्षण होता है।

यदि पुनः न हो तो अन्तमें फल न हो तो पुष्पवत्त पुष्पव न हो तो अन्तमें प्रतिमापूजन किया जाता है। पुष्पादिसे अवाचक सत्कर वाचकीय पूजन करनेका विधान है।^३ पूजनके बाद आराधिका (भारती)

१ "मन्त्र पूजा नाम देवताईरीन इष्टाभ्यामात्मक वाचाग ७५। —पूजायकारा पृ. १।

२ हिन्दू आर्य धर्मशास्त्र पृ. ७१५।

३ "प्रतिष्ठितप्रतिमायावाहनविमर्जनयोरव्याचन चतुर्दशीतर्कारिण पूजा; अथवावाहनविमर्जनयोरव्याचन अन्त्रपुष्पाप्रदक्षिणम्। भूयनप्रतिमायां तु वीहसोत्कर्षिण पूजा।

—वैदिकार रत्नाका पृ. १०।

४ "आरेण द्रव्यं कुर्वीत दध्ना वज्राद् दूतेन च। मधुना चाप मन्त्रेण क्रमां ज्ञेयी विचक्षणैः॥"

—पूजायकारा पृ. १५ में उद्धृत।

५ "पुराणमात्रे चर्चं वाचनं चक्रमात्रे तु वस्तुचर्चम्। वस्तुचर्चाप्यत्रात्रे तु यत्किञ्चिद् प्राक्प्रतिपन्नं। पुराणमात्रे चर्चं पूजयन्ति नगच्छन्ते। —पूजायकारा पृ. १५ में उद्धृत।

जैन श्रावकके लिए उपासक शब्द भी व्यवहृत होता था । प्राचीन आगमोंमें-जैसे जिस आगममें श्रावक धर्मका वर्णन था उमका नाम ही उपासकाध्ययन था । इसीसे सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक नामक ग्रन्थके जिन दो अन्तिम अध्यायोंमें श्रावकाचारका वर्णन किया है उनका नाम उपासकाध्ययन रखा है ।

गृहस्थको संस्कृतमें 'सागार' भी कहते हैं । 'अगार' कहते हैं गृहको । उसमें जो रहे सो सागार है । अतः गृहस्थ धर्मको सागार धर्म भी कहते हैं । उक्त कारणोंसे जैन गृहस्थके आचारको बतलानेवाले ग्रन्थोंका नाम श्रावकाचार उपासकाध्ययन या सागारधर्माभूत आदि रखा गया है । जैनसाहित्यमें आज एतद्विषयक अनेक ग्रन्थ वर्तमान हैं, जो प्रकाशमें आ चुके हैं । इसी प्राप्त साहित्यके आधारपर ऐतिहासिक क्रमसे श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण होगा । इसीसे प्रस्तावनाके इस भागमें इसका एक प्रयत्न किया गया है ।

श्रावकके बारह व्रत होते हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत । इस विषयमें सभी ग्रन्थकार एकमत हैं और अणुव्रतके पाँच भेदोंके सम्बन्धमें भी कोई मतभेद नहीं है, यदि कुछ भेद हैं तो मूल-गुण, गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेदोंको लेकर ही हैं । किन्तु उम भेदको मतभेद न कहकर दृष्टिभेद कहना अधिक उपयुक्त होगा । आगेके विश्लेषणसे इसपर स्पष्ट प्रकाश पड़ सकेगा । सबसे पहले हम मूलगुणोंको ही लेते हैं ।

मूल-गुण

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने 'चारिपप्राभृत'में श्रावकधर्मका भी वर्णन किया है, किन्तु उसमें उन्होंने बारह प्रतिमाओंके नाम गिनाकर श्रावकके उक्त बारह व्रतोंको ही चार माथाओंसे बतला दिया है और उन्हें ही श्रावकका आचार बतलाया है । श्रावकके मूल गुणोंका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया ।

आचार्य उमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्रके मातर्वे अध्यायमें पुण्यास्रवके कारणोंका वर्णन करते हुए श्रावकधर्मका वर्णन किया है, किन्तु उन्होंने भी श्रावकके उक्त बारह व्रतोंको ही बतलाया है । इतनी विशेषता है कि उन्होंने पाँचो व्रतोंका स्वरूप और श्रावकके बारह व्रतोंके अतीचार भी बतलाये हैं, परन्तु मूलगुण-जैसी कोई चीज उन्होंने नहीं बतलायी । तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार स्वामी पूज्यपाद, भट्टाकलक और विद्यानन्दिने भी अपनी टीकाओंमें मूल गुणोंका कोई उल्लेख नहीं किया ।

आचार्य रविवेणने वि० सं० ७३४ के लगभग अपना पद्यचरित, जिसे पद्यपुराण कहते हैं, रचा था । उसके चौदहवें पर्वमें उन्होंने श्रावकधर्मका निरूपण एक केवलीके मुखसे कराया है । उसमें भी उन्होंने श्रावकके बारह व्रतोंका ही निरूपण किया है । किन्तु अन्तमें लिखा है कि मधु, मद्य, मास, जुआ, रात्रिभोजन और वेद्यासगमके त्यागको नियम कहते हैं^१ ।

आगे इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकारने रात्रिभोजन वर्जनपर बहुत जोर दिया है और फिर लिखा है कि जो मनुष्य मास, मद्य, रात्रिभोजन, चोरो और परस्त्रीका सेवन करता है वह अपने इस

१ "पचेवणुन्वयाद् गुणन्वयाद् हवति तद् त्रिणि ।

सिक्खावय चत्तारि सजमचरण च सायार ॥२२॥"

२ "मधुनो मद्यतो मासाद् यत्ततो रात्रिभोजनात् ।

वेद्यासगमनाच्चास्य चिरतिर्नियम स्मृतः ॥२०२॥"

अर्थात् उस बुद्ध पागकेसरीकी उत्कृष्ट महिमा है जिसकी अस्तित्वसे प्रेरित होकर पद्मावती बोद्धोंके निष्कलमत्ताका अध्ययन करनेके लिए सहायक हुई।

अतः विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके समयमें तथोक्त शासन-देवताओंकी बड़ी प्रतिष्ठा दक्षिण-हिन्दमें भी और उन्हें जिनेश्वरके समकक्ष मानकर पूजा जाता था।

इसीसे उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें ध्यानके प्रकरधर्म लिखा है। तीनों लोकोंके इष्टा जिनेश्वर और व्यन्तरादिक देवताओंको जो पूजा-विधानोंमें समान रूपसे देखाता है वह नरकमें जाता है। परमानन्द शासनकी रक्षाके लिए उनकी कल्पना की गयी है। अतः सम्मन्वितियोंको पूजाका अंश लेकर उनका सम्मान करना चाहिए। एकमात्र जिन-शासनकी अर्पित करनेवाले छठी सम्मन्वितियोंपर तो वे इन्द्रसहित स्वयं ही प्रसन्न होते हैं।^१

उन कथन बहुत ही गृहस्थपुण्य है। प्रथम तो इनके द्वारा व्यन्तरादिक देवताओंको जिन-शासनकी रक्षाके लिए कल्पित बताया गया है। कल्पित वस्तु वास्तविक नहीं होती। इनकी कल्पनाका कारण पूर्वमें बत-लाया है। दूसरे, सम्मन्वितियोंके कहा गया है कि वे उनको यज्ञाद्यंश लेकर सम्मान करे नमस्कार वा स्तुति आदिके द्वारा नहीं, इसके अधिकारी सोम-जिनेश्वर ही हैं। किन्तु यत छठी सम्मन्वितियोंपर वे स्वयं ही प्रसन्न होते हैं। अतः उनके लिए यज्ञाद्यंशवाक्य भी विधान नहीं किया है। इसीसे पद्मावतीने साधारण वर्गमनुष्यके तीसरे अध्यायके सातवें श्लोककी टीकामें वास्तविक आचरणा का कथन करते हुए लिखा है कि आपत्तिसे व्याकुल होते हुए भी प्रथम प्रतिमावारी आचरण उसको दूर करनेके लिए कभी भी शासन-देवता गौरवको नहीं भजता।

सोमदेवने शासन-देवताओंकी कर्त्तव्य ध्यानके प्रकरणमें की है। इसका कारण सम्भवतया यह है कि राज्य-धर्मके आराधकोंके द्वारा शासन-देवताओंकी जो आराधना की जाती थी उसीका निवेदन करनेके लिए ऐसा किया गया है।

सोमदेवकृत यशस्तिस्तक तथा उसके अन्तमें स्थित उपासकाध्ययनकी बहुविध सामग्रीका परिचय करनेके बाद यह निश्चिन्त कहा जा सकता है कि यशस्तिस्तककी न केवल न्यायमक उपयोगिता है प्रत्युत बहुविध सामग्रीकी दृष्टिसे यह एक अमूल्य ग्रन्थ है।

उत्तर भाग

आचरणाचार्योक्तं शुभनात्मक पर्यवेक्षण

‘चारितं ननु कस्य — चारित्र्य ही धर्म है और वह चारित्र्य या आचार धर्म और आचरणके घेरते दो प्रकारका है। जो यह जानते हुए भी कि साधारण विषय-मोक्ष हैय है मोक्षपथ उन्हें छोड़नेमें असमर्थ होता है वह गृहमें रहकर आचरणाचारका पालन करता है। आचरणाचारका अन्तर्भाव होता है—जैन गृहस्थधर्म। जैन गृहस्थको आचरण कहते हैं। इनका प्राकृत नाम ‘साधन’ होता है। संस्कृत आचरण और प्राकृत ‘साधन’ उनके अष्ट निधयने बना ‘सरावणी’ शब्द किसी समय जैन गृहस्थोंके लिए बहुत अधिक व्यवहृत होता था। अब तो सब जानेंगे जैन ही लिखते हैं और जैन ही यह पाठें हैं।

१ श्री उपा. पृ. १९०-१९१।

२ “आचरणाचार्योक्तं शुभनात्मकं पर्यवेक्षणं शासनदेवतादीन् कदाचिद्वाचि न भजते।”

चामुण्डरायने स्वरचित चारित्रसारमें, जो विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें रचा गया है, 'तथा चोक्त महापुराणे' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया है,

“हिंसासत्यस्तेयादन्नद्वयपरिग्रहाच्च यादरभेदात् ।
धृतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट मन्थ्यमी मूलगुणा ॥”

अर्थात् मूल हिंसा, मूल झूठ, मूल चोरी, मूल अन्नह्य और मूल परिग्रह तथा जुआ, मांस और मद्यसे विरति, ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं ।

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् प० आशाधरने अपने सागारधर्माभूत तथा उसकी टीकामें भी महापुराणके उक्त मनका निर्देश किया है और टिप्पणीमें उक्त श्लोक उद्धृत किया है । किन्तु जिनसेनाचार्य-कृत महापुराणमें उक्त श्लोक नहीं मिलता और न उक्त श्लोकके द्वारा कहे गये आठ मूलगुण ही मिलते हैं । अद्वैतसर्वे पर्वमें धृतावतरण क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है, मधु और मांसका त्याग, पाँच उदुम्बरफलोका त्याग और हिंसादिका त्याग ये उसके सार्वकालिक-सदा रहनेवाले व्रत हैं ।^१

इसमें अष्टमूलगुण शब्दका व्यवहार नहीं किया गया है, और मधुके त्यागका विधान किया है, जब कि मद्यको नहीं गिनाया है । अतः चारित्र्यसारमें उद्धृत उक्त श्लोकके साथ उसकी संगति नहीं बैठती ।

अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें लिखा है कि हिंसासे बचनेकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको सबसे पहले मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंको छोड़ देना चाहिए । ये आठो घोर पापके घर हैं । इन्हें छोड़नेसे ही मनुष्यकी बुद्धि निर्मल होती है और तभी वह जिनवर्मके उपदेशका पात्र होता है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि इन्हें ग्रन्थकारने मूलगुण नहीं कहा, किन्तु उन्हें अभीष्ट यही प्रतीत होता है कि ये श्रावकके मूलगुण हैं ।

वि० स० १०१६ में रचे गये सोमदेव उपासकाव्ययनमें भी अष्टमूलगुणोंको इसी रूपमें गिनाया है ।

“मद्यमांसमधुन्यागा सहोदुम्बरपञ्चकै ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥”

देवसेन आचार्यने अपने भावमग्रहमें भी ये ही अष्टमूलगुण बतलाये हैं,

“मधुमज्जमस विरई चाओ पुण डवरण पचण्ह ।
अट्टे मूलगुणा हवति फुड वेसचिरयस्मि ॥३५६॥”

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकामें भी ये ही मूलगुण बतलाये हैं,

“त्याज्य मांस च मद्य च मधुदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणा प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वका ॥२३॥”

आचार्य अमृतगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें, जो वि० स० १०५० में रचकर पूर्ण हुआ था,

१. “मधुमांसपरित्याग पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसाद्विरतिश्चास्य व्रत स्यात् सार्वकालिकम् ॥ १२२ ॥”

२. “मद्य मांस क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकासैर्मोक्षन्यानि प्रथममेव ॥६१॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय ॥७४॥”

कर्म और पर कर्मको मष्ट करता है ।^१

आचार्य ब्रिजसेनन वि सं० ८४ में अपना हरिबन्धपुराण रचा ना । इसके अन्तर्हमें सगमे भावक कर्मका वर्णन करते हुए प्रत्येकारने पञ्चपरिणतके अंगसे ही भावकके बाह्य वृत्त विभाकर अन्तर्म निर्या है मास मद्य मधु, दूत और अनुस्मरणम्ना छोड़ना तथा बस्या और परस्त्रीके साथ भीषका त्याग करना आदिको नियम कहते हैं ।^२

इससे पहले हममें सगम भी गृहस्थके पाँच अयुक्तोंको बतसाकर बाग पूजा उप और सोझको गृहस्थोंका कर्म बतसाया है । मद्यपि ऊपर कहे पांच निममम मूल्युक्तोंकी परिगणना हो जाती है किन्तु मूल्युक्त रूपसे उत्केल हरिबन्धपुराणमें भी नहीं है ।

हरिबन्धपुराणसे पहले रचे गये बरागपरिणतके बाईसवें अध्यायम भी भावकके बाह्य वृत्त विनाये है किन्तु मूल्युक्तोंका कोई उल्लेख नहीं है और न मूल्युक्तके अन्तर्गत वस्तुओंका हो प्रकाशितरसे कोई उल्लेख है । ही बाग पूजा उप और सीझको भावकको कर्म अथवा बतसाया है ।

स्वामि काठिकेआनुग्रहामें कर्मानुग्रहाका बचन करत हुए ग्यारह प्रतिमाओंका निरूपण किया है । उसमें पहले प्रतिमाका स्वल्प बतसाते हुए लिखा है कि जो बहुत वच बीबोसे मुक्त मद्य मांस आदि निमित्त वस्तुका सेवन नहीं करता वह कर्मानुग्रहाका जारी भावक है ।^३

इस तरह पहले प्रतिमावालेके लिए त्यागवस्तुसे मद्य मांस आदिकका उल्लेख किया गया है किन्तु मूल्युक्त रूपसे नहीं ।

बनुनन्दिनामकाचार्य भी पहले प्रतिमाका स्वल्प बतसाते हुए पाँच अनुस्मरण और सात व्यसनके त्यागको बचनप्रतिमाका जारी भावक बतसाया है तथा आगे सात व्यसनोका विवेचन करते हुए मद्य मांस को बुराईयाँ हो बतामी हो है क्योंकि सात व्यसनाय दोनों समित है किन्तु साब-ही-साब मद्यकी भी बुराईयाँ बतसादी है । अत बचपि उन्हेना लहमूल्युक्तका निर्देश नहीं किया तथापि प्रत्येकारको पहले प्रतिमावादीके द्वारा पाँच अनुस्मरण और तीन मकारोक्त त्याग द्रव्य है यह स्पष्ट है ।

ऊपर जिन द्रव्योंका कालक्रमके अनुसार उल्लेख किया सगमे भावकाचार्यका बचन होते हुए भी मूल्युक्तोंका वा मूल्युक्त रूपसे कोई निर्देश नहीं मिलना । आगे ऐसे द्रव्योंका उल्लेख किया जाता है जिनम इस प्रकारका निर्देश मिलता है ।

गृहस्थोंके अष्ट मूल्युक्तका सबसे प्रथम स्पष्ट निर्देश स्वामी समस्तमन्त्ररचित रत्नकरग्रन्थभाषका बारम मिलता है । उसमें लिखा है ब्रिजसेनन मद्य मांस और मद्यके त्यागके साथ पाँच अयुक्तोंको गृहस्थोंके अष्टमूल्युक्त कहते हैं ।^४

१ 'मर्मं मद्यं निजाभुक्ति स्तैवमन्यस्य पाषितम् ।

सचत वा अनस्तन मये जन्मद्वयं हतम् ॥२०॥'

२ 'मर्मसमयमनुधूतधीरिहसक्योऽस्तमम् ।

वेदबाधप्रतिष्ठाया हस्तादि निबन्धो मद्य' ॥४८॥

३ 'बहुतससमन्निर्हं कं मज्जे मंसादि पिबिहं वृणं ।

ओ न न सेवदि चिचमा री र्दसय त्यागथो दादि ॥२९८॥'

४ 'मद्यमांसमनुष्णमैः सहाभुजगपञ्चकम् ।

अष्टा मूल्युक्तानाहुर्गृहिणं कर्मजोत्तमाः ॥६९॥

चामुण्डरायने स्वरचित चारित्रसारमे, जो विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें रचा गया है, 'तथा चोक्त महापुराणे' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया है,

“हिसामत्यस्तेयादग्रहपरिग्रहाच्च यादरभेद्रात् ।
धूतान्मात्मान्मद्यादिरनिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा ॥”

अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अव्रह्म और स्थूल परिग्रह तथा जुआ, मास और मद्यसे विरति, ये गृहस्थोके आठ मूलगुण हैं ।

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् प० आशाधरने अपने सागरधर्माभूत तथा उसकी टीकामें भी महापुराणके उक्त मन्त्रका निर्देश किया है और टिप्पणोंमें उक्त श्लोक उद्धृत किया है । किन्तु जिनसेनाचार्य-कृत महापुराणमें उक्त श्लोक नहीं मिलता और न उक्त श्लोकके द्वारा कहे गये आठ मूलगुण ही मिलते हैं । अद्वैतीसर्वे पर्वमें व्रतावतरण क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है, मधु और मासका त्याग, पाँच उदुम्बरफलोंका त्याग और हिसादिका त्याग ये उसके सार्वकालिक-सदा रहनेवाले व्रत हैं ।

इसमें अष्टमूलगुण शब्दका व्यवहार नहीं किया गया है, और मधुके त्यागका विधान किया है, जब कि मद्यको नहीं गिनाया है । अतः चारित्रसारमें उद्धृत उक्त श्लोकके साथ उसकी संगति नहीं बैठती ।

अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे लिखा है कि हिंसासे बचनेकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोको सबसे पहले मद्य मास मधु और पाँच उदुम्बर फलोंको छोड़ देना चाहिए । ये आठों घोर पापके घर हैं । इन्हें छोड़नेसे ही मनुष्यकी बुद्धि निर्मल होती है और तभी वह जिनधर्मके उपदेशका पात्र होता है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मद्यपि इन्हे ग्रन्थकारने मूलगुण नहीं कहा, किन्तु उन्हें अभीष्ट यही प्रतीत होता है कि ये श्रावकके मूलगुण हैं ।

वि० स० १०१६ में रचे गये सोमदेव उपासकाव्ययनमे भी अष्टमूलगुणोको इसी रूपमें गिनाया है ।

“मद्यमासमधुत्यागा सहोदुम्बरपञ्चकै ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥”

देवसेन आचार्यने अपने भावमग्रहमें भी ये ही अष्टमूलगुण बतलाये हैं,

“मधुमज्जमस विरटं चाओ पुण टवराण पचण्ह ।
अट्टेदे मूलगुणा हवति फुढ दंमविरयस्मि ॥३५६॥”

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकामें भी ये ही मूलगुण बतलाये हैं,

“त्याज्यं मास च मद्य च मधुदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणा प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वका ॥२३॥”

आचार्य अभित्तगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें, जो वि० स० १०५० में रचकर पूर्ण हुआ था,

१. “मधुमासपरित्याग पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रत स्यात् सार्वकालिकम् ॥ १०२ ॥”

२. “मद्य मास धौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिसान्युपरतिकर्म्मोक्तानि प्रथममेव ॥६१॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेगनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय ॥७४॥”

अहिंसायुक्तका वर्णन करते हुए बसराखाम तत्पर धावकाको सदा मद्य मांस मधु और पाँच षडुम्बर फलके त्यागका त्याग करना आवश्यक बतसाया है ।

मद्यमांसमधुह्रीरक्षोष्णीकदध्नाशाम् ।

ब्रजनीचं सदा सन्निधमरक्षणतत्परम् ॥१६५॥

अपने उपासकाचारम भी ज्योंका बचन प्रारम्भ करते हुए आचार्य अमित्रवर्तने रात्रिमोजनके साथ-साथ पाँच षडुम्बर और तीन मकारका त्याग आवश्यक बतसाया है क्योंकि उनके त्यागनेसे घन पुष्ट होते हैं

मद्यमांसमधुरात्रिभाजने क्षीरबृक्षककचार्ज्यं त्रिधा ।

कुर्वते ज्ञानत्रिपुष्पका हुतास्त्रत्र पुण्यति निरपवित अतम् ॥१६॥

किन्तु इन्हें मूलगुण रूपसे नहीं बतसाया ।

सावयवममोहाम भी मद्य मांस मधु और पाँच षडुम्बरोंके त्यागको अष्टमूकमुन बतसाया है,

‘मज्जु मंसु मधु परिहरदि करि पंजुंवर दुरि ।

आचर्य अंतरी अट्टरं मि तस उप्यग्गई भूरि ॥१७॥’

आगे लिखा है

‘अट्टरं पाकइ मूकगुण पिबइ जि गाकिठ भीइ ।

अह पिठे सुविमुदइण सुबइ सन्नु सरीइ ॥१८॥’

अर्थात् आठ मूलगुणोंको पानो और पानो छानकर पियो ।

विष्णुकी टेढ़ी सी छतों में आकाशको नामके बहुतभूत निवास हो गये हैं । उनही अपनेसे पहले जनेक इन्द्रकारोंके गर्वोंका आकांक्ष करके जो साधारणमायुत नामका धावकाचार रचा है उसमें भी उन्होंने इन्हीं आठ मूलगुणोंको गिनाया है और साथ ही साथ मूलगुणोंके सम्बन्धमें आचार्य समन्तमह और महापुराणकी जो मान्यता भी उक्तकी भी उल्लेख कर दिया है

‘तत्रादौ अहज्जैवीमात्रां हिंसामपामितुम् ।

मद्यमांसमधुगन्धोत्पन्न क्षीरिफलाणि च ॥१९॥

अष्टैवाण् शुद्दिनां मूकगुणान् स्वीकृतवापि वा ।

कलस्वाने स्मरेण्यं सप्तं मधुस्थान इहैव वा ॥२०॥’

अर्थात् गृहस्वधर्ममें सबसे प्रथम जिनागमपर अज्ञान रहित हुए हिंसाको छोड़नेके लिए मद्य मांस मधु और पाँच षडुम्बर फलोंका त्याग करना चाहिए । ये गृहस्वधर्म आठ मूलगुण हैं । स्वामी समन्तमहाचार्यके मतानुसार पाँच षडुम्बर फलोंके स्वासम स्वीकृत हिंसा आदि पाँच पाप लेना चाहिए । अर्थात् पाँच षडुम्बर और मद्य मांस तथा मधुका त्याग और महापुराणके मतसे स्वामी समन्तमहसम्मत अष्टमूकगुणोंम मधुके स्थानमें पुका लेना चाहिए ।

अष्टमूकगुणोंका निरक्ष न करनेवाके और करनेवाके सम्बन्धकारोंके गर्वोंका उल्लेख करनेके बाद उसपर विचार किया जाता है

१ दिन इन्द्रकारोंके अष्टमूकगुणोंका निर्वेक्ष नहीं किया उनमेंसे आचार्य कुम्भपुत्रका चारित्र्यप्रामाण्य तो बहुत ही उल्लिखित है । उस प्रामाण्य उन्होंने धावक और मुनिधर्मका आनास मान कर दिया है तथा उनकी प्रवृत्ति मुनिधर्मका ही बचन करनेकी और रही है जिसका प्रत्यक्ष बराहुरण प्रबचनसार का चारित्र्याधिकार है । अतः यदि उन्होंने धावकके अष्टमूकगुणोंका निर्वेक्ष नहीं किया तो उससे बहुत स्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता ।

२. तत्त्वार्थसूत्र एक सूत्रग्रन्थ है और उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय सात तत्त्व है । अतः उसमें या उसकी टीकाओंमें श्रावकके अष्टमूलगुणोंका निर्देश न होना भी वस्तुस्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं डालता ।

३. पञ्चचरित, वरागचरित और हरिवंशपुराण ये तीनों पौराणिक काव्य-ग्रन्थ हैं । वरागचरितमें वरदत्त मुनिके द्वारा जो उपदेश दिया गया है, एकसे दस तक मात सर्गोंमें वह निबद्ध है किन्तु उसमें द्रव्यानुयोग और करणानुयोगका ही वर्णन है । ग्यारहवें सर्गमें वराग वरदत्तसे पञ्चाणुव्रत ग्रहण करता है । बाईसवें सर्गमें अपनी रानीके पूछनेपर वराग उसे धर्म श्रवण कराता है । उसमें भी वह श्रावकके वारह व्रतोंको गिनाकर दान तप शील और पूजाका उपदेश देता है और उनमेंसे भी पूजापर अधिक जोर देते हुए जिनविम्ब और जिनालयोंके निर्माणको उत्तम बतलाता है । श्रावकाचार या मुनि-आचारके वर्णनकी ओर ग्रन्थकारकी प्रवृत्ति ही नहीं प्रतीत होती । अतः वरागचरितमें अष्टमूलगुण या उसके अन्तर्गत वस्तुओंका निर्देश न होना भी वस्तुस्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं डालता ।

रहे पञ्चचरित और हरिवंशपुराण । दोनोंमें श्रावकके वारह व्रतोंका वर्णन करके अन्तमें नियम रूपसे मद्य मासादिककी विरतिका विधान किया गया है । पञ्चचरितमें तो मधु, मद्य, मास, जुआ, रात्रि-भोजन और वेश्यासंगमे त्यागको नियम बतलाया है, किन्तु हरिवंशपुराणमें तो इनमें उदुम्बर फलोंको भी सम्मिलित कर लिया गया है । फिर भी मूलगुण रूपसे निर्देश न करके, नियम रूपसे उनका उल्लेख किया जाना अवश्य ही अन्वेषकोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है । यदि स्वामी समन्त-भद्राचार्यके द्वारा रचे गये रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अष्टमूलगुणोंका निर्देश करनेवाला पद्य न होता तो हम तो यही सम्मानना करते कि श्रावकके मूलगुण समयकी आवश्यकताको देखकर नौवीं शतीके आचार्योंके द्वारा ही निबद्ध किये गये हैं, प्राचीन परम्परा तो श्रावकके वारह व्रतोंका ही विधान करती है । किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमें उक्त पद्य जिस रूपमें स्थित है उससे उसे प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता और न समर्थ प्रमाणोंके अभावमें रत्नकरण्डको ही किसी अर्वाचीन आचार्यकी कृति माना जा सकता है । उसमें जो गुरुके लिए पाखण्डी शब्दका प्रयोग किया गया है वह उसकी प्राचीनताको सूचित करता है । प्राचीन समयमें पाखण्डी शब्द साधुके लिए व्यवहृत होता था । उत्तर कालमें उसका अर्थ ढोंगी हो गया । अन्य भी कई विप्रेषताएँ उसमें हैं, जो उसकी प्राचीनताको सूचित करती हैं । परन्तु रत्नकरण्डमें पहली प्रतिमाका जो स्वरूप बतलाया गया है वह और भी सन्देह उत्पन्न कर देता है । उसमें पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए मूलगुण पालनका भी विधान नहीं है, जब कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेषा और वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रन्थोंमें पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए मद्य-मासादिकके त्यागका स्पष्ट निर्देश किया है । जेम्हें दूसरी प्रतिमावाले श्रावकके लिए निरतिचार पाँच अणुव्रतों और सात शीलव्रतोंका पालन करना आवश्यक बतलाया है वैसे ही पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए अष्टमूलगुणोंका विधान होना चाहिए था । अन्यथा जब श्रावकके ग्यारह ही पद बतलाये गये हैं तब अष्टमूलगुणोंका पालन किस पदमें किया जायेगा । टीकाकार प्रभाचन्द्रको भी यह चोज खटकी जगन पड़ती है । इसीसे उन्होंने 'तत्त्वपथगृह्य' का व्याख्यान करते हुए 'तत्त्व यानी व्रतका पथ यानी मार्ग अर्थात् मद्यादि निवृत्तिरूप अष्टमूलगुण' ऐसा किया है । किन्तु यह उनकी अपनी सूझ है । उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ग्रन्थकारने मूलगुणोंके लिए 'तत्त्वपथगृह्य' पद दिया है ।

इसके साथ ही साथ भोगोपभोगपरिमाण नामक ग्रन्थमें जो मद्य मास मधु और कन्दमूल आदिका त्याग बतलाया है वह भी विचारणीय हो जाता है । जब इन चीजोंका त्याग अष्टमूलगुण रूपसे श्रावक पहले ही कर चुकता है तब भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें पुनः उसका विधान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती । जिन श्रावकाचारोंमें अष्टमूलगुणका विधान है उनमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन

करते हुए मध्य-मोघादिकके त्याग करनका विधान नहीं किया। उदाहरणके लिए पुस्पाबर्षिद्वयुपाय सोमदेव उपासकाचार अमिषयति उपासकाचार वसुन्मिष धामकाचार और सागारबर्षामृतको देखा जा सकता है।

हम पहले किस भावे हैं कि पं आचार कहुभूत विद्वान् थे। उन्होंने इस बातको अवश्य ध्याया कि जब अष्टमूलगुणो मध्य-मासादिकका त्याग कर दिया जाता है तो भोमोपभोगपरिमाणव्रतमें उसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसीसे उन्होंने अपने साधारणमृतमे भोमोपभोगपरिमाणव्रतका वर्जन करते हुए लिखा है कि जिन पशुओंका सेवन करनेसे मनुष्योंका घात होता है या बहुत बीषोका घात होता है या प्रमाथ उत्पन्न होता है सो मनु और मयकी तरह ही जनका भी त्याग कर देना चाहिए। अर्थात् मनु और मयका त्याग तो वह अष्टमूलगुण वारण करते समय ही कर देता है किन्तु व्रतमें उन वस्तुओंके सेवनका भी त्याग कर देता है जिनमें कष्ट भराई होती है।

अब प्रश्न यह होता है कि विष्णुने अष्टमूलगुणका निर्बंध नहीं किया और भोमोपभोगपरिमाणव्रतमें मसादिकके त्यागका विधान किया उनके मतसे क्या अनुव्रती धावक मसादिकका सेवन कर सकता था ? हमारा उत्तर है—नहीं। तब क्यों उन्होंने ऐसा विधान किया ? विज्ञान इसलिये किया कि जोकरने मध्य-मोघादिकको भी भोग्य माना जाता है और वही अहिंसागुणव्रतका निर्बंध करने की इन वस्तुओंका न-भोक्तृत्वपूर्वक त्याग कराया नहीं गया। अतः जैसे आजकल कर्ममूलके रवायी कुछ महानुभाव सूखे खाते जाने लगे हैं वैसे ही अहिंसामुव्रती यदि मृत पशुका मांस खाने लगे तो बड़े कील रोके। बुद्धदेव अहिंसाके पुजारी थे किन्तु 'त्रिकोटिपरिच्छेद भाष्य' को मिलुओंके लिए शास्त्र बत करते थे। अतः भोमोपभोगपरिमाणव्रतको व्याख्यानमें वह खुलासा कर देना आवश्यक हुआ कि व्रतीको मध्य मांस और मयका त्याग तो उसीके लिए कर देना चाहिए।

४ समस्तमह स्वामीके हस्त अष्टमूलगुणोका स्पष्ट विधान बारिषसारके उल्लेखके अनुसार महानुप्रायमें है। उसमें स्वामीजीके मूक-गुणोंमें पीड़ा-सा परिवर्तन करके मनुके स्थानमें लुकाको त्याग्य बतलाया है। ऐसा करनेकी आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई इस सम्बन्धमें हम कुछ भी कहनेमें असमर्थ हैं किन्तु जिन व्रतके महापुराणमें वह स्वीक ही नहीं है और न अष्टमूलगुण रूपसे ही किसी व्रतका निर्बंध है।

५. जाने बलकर ध्वज अष्टमूलगुणोंमें कर्मिकारी परिवर्तन हुआ पौष अनुव्रतोंकी परम्परा सम्भव भावे नहीं बल सकता। सामान्य धावक लोग उसके पालनमें अद्यस्त प्रतीत हुए। अतः उनके स्थानमें पौष उदुम्बर कलको त्याग दिया गया। यह कार्य किसने किया वह तो हम निश्चित टीसिमें कहनेमें असमर्थ हैं किन्तु इस परिवर्तनको उत्तर करने समी धावकाचारोंने अप नाया। जैसा कि हम पहले बतला जाये है पुस्पाबर्षिद्वयुपाय सोमदेव उपासकाध्ययन अमिषयति उपासकाचार पयनमिष पचधिसिद्धि साधवचममदोद्या साधारणमृत और माटीसंहितामें पौष उदुम्बर कर्म और तीन मकारोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलाया है।

यह हम पहले किस भावे हैं कि हरिश्चंपुराणमें जो नियम बतलाया है व्रतमें सीरी वृक्षके फलोंको भी त्याग्य ठहराया है तथा आदिपुराणमें ज्ञानावतरण क्रियाका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिए मनु मानके साथ पंच अनुव्रतोंकी भी त्याग्य बतलाया है और आदिपुराण तथा हरिश्चंपुराण पौष उदुम्बर कर्म और तीन मकारोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलानेवाले ध्वज समी धावकाचारोंसे पूर्वक है। अतः यद्यपि सीरी वृक्षके फलोंके साथ-साथ मय-मान और लुकाको प्रार्थिव्य करमें त्यागनेका

१ एकप्रमुखधर्मिकग्रन्थका नाममाहविषयोऽर्थः।

त्याग्यऽप्यव्याप्त्यनिर्वाहमुपलक्ष्य अनादि कर्मविहम् ॥३५॥ अ ५।

२ बुद्धचर्या, ४ ३३३।

विधान हमें हरिवंशपुराण और आदिपुराणमें सर्वप्रथम देखनेको मिलता है तथापि अष्टमूलगुण रूपसे उनका उल्लेख उक्त श्रावकाचारोमें ही पाया जाता है। यहाँ हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह हम वर्तमानमें उपलब्ध साहित्यके आधारपर लिख रहे हैं। नवीन ग्रन्थ प्रकाशमें आनेपर नयी बातें भी प्रकाशमें आ सकती हैं।

उक्त श्रावकाचारोके पौर्वापर्यको दृष्टिमें रखते हुए हमारा विचार है कि उक्त अष्टमूलगुणोका सबसे प्रथम निर्देश पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें किया गया है। यह हम पहले लिख आये हैं कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें यद्यपि इन्हें मूलगुण नहीं लिखा तथापि उससे व्यक्त यही होता है कि ये श्रावकके अष्टमूलगुण हैं। अन्य श्रावकाचारोमें तो इन्हें अष्टमूलगुण ही बतलाया है। इससे भी ऐसा लगता है जब वे अष्टमूलगुण रूपसे व्यवहृत नहीं हुए थे उस समय पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्रावकके लिए प्रथम उनका त्याग आवश्यक बतलाया गया और बादको वे ही अष्टमूलगुण रूपसे प्रसिद्ध हो गये।

श्रावकाचारोंका पौर्वापर्य

प्रकरणवश यहाँ उक्त श्रावकाचारोंके पौर्वापर्यके सम्बन्धमें लिखना आवश्यक है।

प० आशाधरने अपने सागराधर्माभूतकी प्रशस्तिमें लिखा है कि उन्होंने उसको टीका वि० सं० १२९६ में पूर्ण की और अनगराधर्माभूतकी टीका वि० सं० १३०० में पूर्ण की। इन टीकाओंमें प० आशाधरने अमृतचन्द्र सूरि, सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दि और पद्मनन्दिका न केवल जगह-जगह नामोल्लेख किया है किन्तु इनके श्रावकाचारोंसे बहुत-से पद्य भी जगह-जगह उद्धृत किये हैं। अतः यह तो निश्चित ही है कि ये सब आचार्य प० आशाधरसे पहलेके हैं।

वसुनन्दिने मूलाचारकी वृत्तिमें अमितगतिके श्रावकाचारसे पाँच श्लोक उद्धृत किये हैं, इससे यह भी स्पष्ट है कि अमितगति वसुनन्दिसे भी पूर्व हुए हैं। अमितगतिने अपना सुभाषितरत्नसन्धोह वि० सं० १०५० में रचा है और सोमदेवने अपना उपासकाचार वि० सं० १०१६ में रचकर पूर्ण किया है। अतः अमितगति-के उपासकाचारसे सोमदेवका उपासकाध्ययन अवश्य ही पहले रचा गया है। अमितमत्तिका रचनाकाल वि० सं० १०५० से १०७३ तक पाया जाता है। अमितगतिके श्रावकाचारपर पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी स्पष्ट छाप है। अतः पुरुषार्थसिद्ध्युपाय निश्चय ही अमितगति-श्रावकाचारसे पूर्वका है। किन्तु सोमदेवके उपासकाचारपर पुरुषार्थसिद्ध्युपायका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

१ “रसजाना च बहूना जीवाना योनिरिष्यते मद्यम्।

मद्य मज्जता तेषां हिंसा सजायतेऽवश्यम् ॥६३॥”—पुरु० सि०।

“ये भवन्ति विविधा शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसागिका।

तेऽखिला झटिति यान्ति पञ्चता निन्दितस्य सरकस्य पानत ॥६॥”—अमित० श्रा०।

“अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चरा पुसाम्।

हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हर्त्यर्थान् ॥१०३॥”—पुरु० सि०।

“यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवनं हरति।

आश्रामकर बाह्य जीवाना जीवितं वित्तम् ॥६१॥”—अमित० श्रा०।

“प्रतिरूपकव्यवहारं स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।

राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥”—पु० सि०।

“व्यवहारं कृत्रिमकं स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।

ते मानचैपरीत्य विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥५॥”—अमि० श्रा०।

“दृष्ट्वा गुहपास्ति स्वाध्याय समयस्तप ।
दानं चेति गृहस्थाणां षट् कर्माणि दिने दिने ॥”

तद्वसे श्रावकके ये ही षट्कर्म प्रचलित हैं ।

श्रावकके बारह व्रत

हम प्रारम्भमें ही लिख आये हैं कि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत हैं । इनकी सङ्ग्रहमें कोई विवाद नहीं है और आचार्य कुन्दकुन्द तकने इनका वर्णन किया है, इसलिए बारह व्रतोंकी परम्परा अति प्राचीन है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी मान्य है ।

पाँच अणुव्रत

बारह व्रतोंमें सर्वप्रथम अणुव्रत आते हैं । अणुव्रतके भेदोंमें तो कोई अन्तर नहीं है पर नाम-भेद मिलता है । उल्लेखनीय नाम-भेद इस प्रकार है .

- १ आचार्य कुन्दकुन्दने अपने चारित्रप्रामृतमें पाँचवें अणुव्रतका नाम ‘परिग्रहहारम परिमाण’ रखा है जिसका तात्पर्य है कि परिग्रह और आरम्भ दोनोंका परिमाण करना चाहिए । तथा चतुर्थ अणुव्रतका नाम रखा है — ‘परिष्म परिहार’ इसका अर्थ टीकाकार श्रुतसागर सूरिने ‘परस्त्री त्याग’ किया है । तथा प्रथम अणुव्रतका नाम ‘स्थूल व्रसकायवधपरिहार’ रखा है,

“यूले तसकायवधे यूले मोसे तितिक्ष्य यूले य ।

परिहारो परिष्मं परिग्रहहारम परिमाण ॥२३॥”

- २ स्वामी समन्तभद्रने चतुर्थ अणुव्रतका नाम परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष रखा है । तथा पाँचवें अणुव्रतका नाम परिग्रहपरिमाणके साथ-साथ इच्छापरिमाण भी रखा है ।
- ३ आचार्य रघुपेर्णने भी चतुर्थव्रतका नाम परदारसमागमविरति और पाँचवेंका अनन्तगढाविरति दिया है ।
- ४ हरिवंशपुराणमें पहले व्रतका नाम ‘दया’ रखा है ।
- ५ आदिपुराणमें पाँचवें व्रतका नाम तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति और चोषेका परस्त्रीसेवननिवृत्ति रखा है ।
- ६ ५० आशावरजीने चतुर्थ व्रतका नाम स्वदारसन्तोष रखा है ।

अहिंसाणुव्रत

रत्नकरण्ड श्रावकाचार्यमें अहिंसाणुव्रतका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है,

“सकल्यात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।

न हिनस्ति यत्तदाहु स्थूलवधाद्विरमण निपुण्या ॥७॥”

अर्थात् जो मन, वचन और कायके कृत, कारित और अनुमोदनारूप सकल्पके द्वारा व्रसजीवोंका घात नहीं करता है उसे स्थूलवधका त्यागी यानी अहिंसाणुव्रती कहते हैं ।

यह अहिंसाणुव्रतका परिपूर्ण लक्षण है और उत्तर कालमें भी इसमें कुछ घटाने या बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है ।

१ रत्नकरण्ड० श्लो० १३ और १५ ।

२ पञ्चचरित ५० १४, श्लोक १८४, १८५ ।

३ आ० पु० पर्व १०, श्लो० ६३ ।

यह सब बतलाकर उन्होंने लिखा है कि हिंसाका पूर्ण त्याग तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे ही होता है। आदिक त्यागके तो अनेक रूप हैं। उन्होंने जल सञ्जी वायु आदिके द्वारा भोगोप-भोगमें आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंके सिवा शेष एकेन्द्रिय जीवोंको भी रक्षा करना गृहस्पोका कर्तव्य बतलाया है। आगे लिखा है कि अमृतत्वके कारण अहिंसारूपी रमायनको पाकर मूर्ख लोगोकी उषितियोंके चक्करमें नहीं आना चाहिए। मूर्ख लोगोकी उषितियाँ जो सम्भवत उम समय प्रचलित थी—निम्न प्रकार उन्होंने बतलायी है।

- १ धर्मके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए — जैसे यज्ञोंमें पशुवध किया जाता है।
- २ देवताके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए — जैसे मन्दिरोंमें कालीके सामने बलिदान किया जाता है।
- ३ पूज्य अतिथियोंके लिए पशुवध नहीं करना चाहिए।
- ४ बहुत-से क्षुद्र प्राणियोंको मारनेकी अपेक्षा एक बड़े शरीरधारको मारना अच्छा है ऐसा सोचकर किसी बड़े प्राणीको भी नहीं मारना चाहिए।
- ५ एकके मारनेसे बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा होती है ऐसा सोचकर हिंसक जन्तुओंको भी नहीं मारना चाहिए।
- ६ मित्रादिक बहुत-से प्राणियोंका घात करते हैं। ये अगर जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपाजित करेंगे। अतः उनपर दयावृद्धि करके भी उन्हें नहीं मारना चाहिए।
- ७ जो बहुत दुःखी है उन्हें यदि मार दिया जाये तो शीघ्र ही उनका दुःखसे छुटकारा हो जायेगा। इस प्रकारके तर्करूपी तलवारको लेकर दुःखी जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए।
- ८ सुखकी प्राप्ति बड़े कष्टमें होती है। और यदि सुखी प्राणियोंको मार दिया जाये तो वे मरकर भी सुखी ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारके कुर्तकरूपी तलवारसे सुखी जीवोंको भी हत्या नहीं करना चाहिए।
- ९ गुरु महाराज जब समाधिमें लीन हो तब यदि उनका घात कर दिया जाये तो उन्हें उच्चपद प्राप्त हो जायेगा। ऐसा सोचकर शिष्यको अपने गुरुका सिर नहीं काट डालना चाहिए।
- १० जैसे घड़ेमें वन्द चिड़िया घड़ेके फूट जानेसे मुक्त हो जाती है वैसे ही शरीरके छूट जानेसे जीव मुक्त हो जाता है ऐसा विदवास दिलानेवाले धनके लोभी खारपटिकोका विश्वास नहीं करना चाहिए।
- ११ सामनेसे आते हुए किसी भूखे अतिथिकी देवकर उसके भोजनके लिए अपना मांस देनेके लिए अपना घात भी नहीं करना चाहिए।

इन ग्यारह बातोंमें पता चलता है कि उम समय धर्मकी ओटमें हिंसाका व्यापार कितने रूप धारण किये हुए था। अहिंसा और हिंसाका जैसा वर्णन पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें है वैसा पूर्वके या उत्तरके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

सोमदेव सूरिने अपने उपासकाचारमें अहिंसाका नीचेवाला लक्षण लिखा है, यह लक्षण सम्भवत आदि-पुराणके 'चर्या तु देवतार्थं वा' आदि श्लोकको दृष्टिमें रखकर लिखा गया है। इसमें आहारके स्थानमें अतिथि और पितर रखे गये हैं और भय बड़ा दिया गया है,

“देवतातिथिपित्र्यं मन्त्रौषधभयाथ वा।

न हिंस्यात् प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्वत्तम् ॥३२०॥”

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मन्त्रसिद्धिके लिए, औषधके लिए और भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा न करनेकी अहिंसा व्रत कहते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि राजवातिकमें इस शकाका समाधान किया गया है कि जब सर्वत्र जीव हैं तो कोई हिंसासे कैसे बच सकता है। सोमदेवसूरिने भी अपने ढंगसे इस शकाका समाधान करते हुए लिखा है—ऐसा कोई काम नहीं है जिसमें हिंसा न हो। किन्तु उममें मुख्य और आनुपगिक भावोंका अन्तर है। जैसे मकल्पमें भेद

सकता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु सर्वाधिकारि नष्ट होनेके आशङ्कानाश न करनेवालेको अहिंसापुष्टी क्या है। उसमें न मन बचन काम और कृत कारित अनुमोदनाका उत्प्रेक्ष है और न संकल्पका ही उत्प्रेक्ष है। परन्तु राजवातिकम् जिहा यह ओझकर मन बचन काम या कृत कारित अनुमोदनाका निर्दोष कर दिया गया है किन्तु संकल्पका उत्प्रेक्ष उसमें भी नहीं है।

हिंसाकी निवृत्तिको अहिंसा कहते हैं। हिंसाका सत्य उत्पत्तिपूर्वक अध्ययन सत्यमें प्रसन्नयोगात् प्राप्ति-परिपोषण हिंसा ॥१३॥ ऐसा किया है। इसीका लुकासा अमृतचन्द्राचार्यने पुस्तार्थसिद्ध्युपायम किया है। यथा 'मत्स्य कथाचर्याशास्त्राणां प्रवृत्तिभावस्याप्याय'।

परिपोषणस्य करणं मुनिमित्रा यचति सा हिंसा ॥१३॥"

अर्थात् क्याके बलीभूत होकर इष्टरूप या वाञ्छरूप प्राप्तिका वात करना हिंसा है। हिंसाका यह प्रत्यक्ष जो बीसा ही परिपूर्ण है बीसा उत्पत्तिपूर्वक अहिंसापुष्टिका कथा है। हिंसाके इस प्रत्यक्षका विवेचन सर्वाधिकारिकारने बड़ी उत्तमतासे कर दिया है। उन्होंने कथनके प्रत्यक्ष परकी साक्ष्यता बतलात हुए अनेक प्राचीन ज्ञानरस देकर यह प्रमाणित किया है कि केवल प्राप्तिका वात ही जानेसे ही हिंसा नहीं होती बल्कि कि जिसके द्वारा वात हुआ है वह कथावाचित न हो। और यदि वह कथावाचित है असावधान और अन्यायी होती है तो दूसरेके आशङ्कानाश न होनेपर भी वह हिंसाका भागी है क्योंकि जो प्रमादी है दूसरोंको ब्रूत पहुँचाने के लिए उत्तम है या दूसरेके प्रति असावधान है वह सबसे पहले तो अपना ही अनिष्ट करके अपना वात करता है, दूसरोंका वात तो पीछेकी वस्तु है वह हो या न हो किन्तु वह हिंसाका भागी होता है।

उत्पादनात्मकताके उत्पत्तिपूर्वक उत्तम सूचना व्याख्यान करत हुए सर्वाधिकारिकारिक उत्तम मन्त्रभाषा तो दिया ही है। उसके साथ ही साथ महाभारतका एक श्लोक देकर यह चर्चा उठायी है कि क्रोधमय मन कीव भरे हुए है उसमें रहत हुए कोई साधु अहिंसक कैसे हो सकता है। इसका समाधान करत हुए महाभारतकेवर्णन क्या है कि प्राणी को उत्प्रेक्षते होते हैं मुक्त और स्मृत। जो मुक्त है उन्हें तो कोई बाधा पहुँच ही नहीं सकती। वेप रहे स्मृत बहोतक शक्य होता है उसकी रक्षा की जाती है अतः संयमी पुरुष हिंसाका भागी नहीं होता।

अथर्ववेदशास्त्रार्थमें अपने आदिपुराणमें गृहस्थाके लिए अर्थात् विधान करते हुए लिखा है,

"अर्थात् तद्देवतार्थं वा मन्त्रसिद्धयर्थमथ वा।

औपचारिकरूपसे वा न हिंसासिद्धि चेदित्यम् ॥१४॥ —पृष्ठ ३९।

अर्थात् देवताके लिए मन्त्रकी सिद्धिके लिए औपचारिक और औपम्यके लिए यी कभी किसी औपम्यको नहीं मारना ऐसी प्रतिज्ञाकी कर्त्ता कहते हैं।

हिंसाक प्रत्यक्ष विवचनका विस्तृत लुकासा पुस्तार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्राचार्यने किया है। कारिका ४३ से ४९ तक उत्तम व्याख्या व्याख्यान करके उन्होंने कारिका ५१ से ५७ तक हिंसाके विविध अर्थका अनुमृतपूर्व विवचन किया है जो इष्टम् है। उसके बाद उन्होंने हिंसाके बचनेके इष्टतम कथाको सबसे प्रथम मध्य भाग मनु और पवि अनुश्रव कथा। त्यागका आदेश दिया है जिसका निर्दोष पहले अष्टमूलगुणम दिया गया है। भासका निवेदन करते हुए उन्होंने स्वयं भरे हुए पशुके मांस भी हिंसा कथलायी है। यह सम्भवतः उन बीज मतानुयायियोंके उत्तर दिया गया है जो स्वयं भरे हुए पशुपर मांस खानेमें कोई दोष नहीं मानते। मनुका निवेदन करते हुए उन्होंने सबसे स्वयं टपक हुए मनुको भी अनाथ कथलाया है। यथार्थिकी तरह मन्त्रार्थ भी स्वाभ्य है। अनुश्रव कथाके अन्तर्गत निवेदन करते हुए उन्होंने उन अनुश्रव कथाको भी त्याग्य कथलाया है जिसमें काल पाकर नष्ट बीज मर नष्ट है।

१ सूत्र —१ की व्याख्यामें। २ सूत्र ७-१ की व्याख्यामें।

३ का ६६-६८। ४ का ७। ५ का ७१। ६ का ३।

यह सब बतलाकर उन्होंने लिखा है कि हिंसाका पूर्ण त्याग तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे ही होता है। आशिक त्यागके तो अनेक रूप हैं। उन्होंने जल सब्जी वायु आदिके द्वारा मोगोप-भोगमें आनेवाले ऐकेन्द्रिय जीवोंके सिवा शेष ऐकेन्द्रिय जीवोंकी भी रक्षा करना गृह्योका कर्तव्य बतलाया है। आगे लिखा है कि अमृतत्वके कारण अहिंसारूपी रसायनको पाकर मूर्ख लोगोंकी उचितियोंके चक्करमें नही आना चाहिए। मूर्ख लोगोंकी उचितियाँ जो सम्भवतः उम समय प्रचलित थीं—निम्न प्रकार उन्होंने बतलायी हैं।

- १ धर्मके लिए हिंसा नही करनी चाहिए — जैसे यज्ञमें पशुवध किया जाता है।
- २ देवताके लिए हिंसा नही करनी चाहिए — जैसे मन्दिरमें कालीके सामने बलिदान किया जाता है।
- ३ पूज्य अतिथियोंके लिए पशुवध नही करना चाहिए।
- ४ बहुत-से क्षुद्र प्राणियोंको मारनेकी अपेक्षा एक बड़े शरीरधारीको मारना अच्छा है ऐसा सोचकर किसी बड़े प्राणीको भी नही मारना चाहिए।
- ५ एकके मारनेसे बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा होती है ऐसा सोचकर हिंसक जन्तुओंको भी नही मारना चाहिए।
- ६ मिहादिक बहुत-से प्राणियोंका घात करते हैं। ये अगर जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपाजित करेंगे। अतः उनपर दयावृद्धि करके भी उन्हें नही मारना चाहिए।
- ७ जो बहुत दुःखी है उन्हें यदि मार दिया जाये तो शीघ्र ही उनका दुःखसे छुटकारा हो जायेगा। इस प्रकारके तर्करूपी तलवारको लेकर दुःखी जीवोंको भी नही मारना चाहिए।
- ८ मुखकी प्राप्ति बड़े कष्टमें होती है। और यदि मुखी प्राणियोंको मार दिया जाये तो वे मरकर भी मुखी ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारके कुतर्करूपी तलवारसे मुखी जीवोंकी भी हत्या नही करना चाहिए।
- ९ गुरु महाराज जब समाधिमें लीन हो तब यदि उनका घात कर दिया जाये तो उन्हें उच्चपद प्राप्त हो जायेगा। ऐसा सोचकर शिष्यको अपने गुरुका सिर नही काट डालना चाहिए।
- १० जैसे घडेमें बन्द चिडिया घडेके फूट जानेसे मुक्त हो जाती है वैसे ही शरीरके छूट जानेसे जीव मुक्त हो जाता है ऐसा विश्वास दिलानेवाले धनके लोभी खारपटिकोका विश्वास नही करना चाहिए।
- ११ सामनेसे आते हुए किसी भूखे अतिथिको देखकर उसके भोजनके लिए अपना भोजन देनेके लिए अपना घात भी नही करना चाहिए।

इन ग्यारह बातोंमें पता चलता है कि उम समय धर्मकी ओटमें हिंसाका व्यापार कितने रूप धारण किये हुए था। अहिंसा और हिंसाका जैसा वर्णन पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें है वैसा पूर्वके या उत्तरके ग्रन्थोंमें नही मिलता।

सोमदेव सूरिने अपने उपासकाचारमें अहिंसाका नीचेवाला लक्षण लिखा है, यह लक्षण सम्भवतः आदि-पुराणके 'चर्या तु देवतार्थं वा' आदि श्लोकको दृष्टिमें रखकर लिखा गया है। इसमें आहारके स्थानमें अतिथि और पितर रखे गये हैं और भय बड़ा दिया गया है,

“देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा।

न हिंस्यात् प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्ब्रतम् ॥३२०॥”

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मन्त्रसिद्धिके लिए, औषधके लिए और भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा न करनेको अहिंसा व्रत कहते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि राजवातिकमें इस शकाका समाधान किया गया है कि जब सर्वत्र जीव है तो कोई हिंसासे कैसे बच सकता है। सोमदेवसूरिने भी अपने ढंगसे इस शकाका समाधान करते हुए लिखा है—ऐसा कोई काम नही है जिसमें हिंसा न हो। किन्तु उममें मुख्य और आनुपंगिक भावोंका अन्तर है। जैसे संकल्पमें भेद

तो करना ही चाहिए। किन्तु यदि कोई मासका व्यापार करने लगे तो क्या हानि है ? इस प्रकारकी आशका-
का निराकरण करते हुए वे लिखते हैं,

“आरम्भेऽपि सदा हिंसा सुधी सांकल्पिकी त्यजेत् ।

घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चै पापोऽघ्नपि धीवर ॥८२॥ अ० २ ।”

सद्वृद्धिवाले श्रावकको आरम्भमे भी साकल्पी हिंसा नहीं करनी चाहिए। देखो, मारते हुए किसानसे
नहीं मारता हुआ भी मछलीमार अधिक पापो होता है।

‘मैं इसे मारूँगा या सताऊँगा या इसका घरवार लुटवा लूँगा’ यह सब साकल्पी हिंसा है। चूँकि
पशुओंको मारे बिना मास उत्पन्न नहीं होता अतः कसाईका काम तो किया ही नहीं जा सकता। उसके सिवा
भी जो उद्योग-धन्धा किया जाये उसमें अपनी आजीविकाकी भावना होनी चाहिए दूसरोको सतानेकी नहीं।
किन्तु जो नाना उपायोंके द्वारा धन कमानेको ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं वे अहिंसक नहीं हो सकते। इस
लिए आशाघरजीने लिखा है,

“सन्तोषपोषतो य स्यादल्पारम्भपरिग्रह

भावशुद्धयेकसर्गोऽसावर्हिंसाणुव्रत मजेत् ॥१४॥”

अर्थात् जो अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहसे सन्तुष्ट रहता है वही अहिंसाणुव्रतको पाल सकता है।

लोग समझते हैं कि जैनी शासन नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें अपराधीको दण्ड देना पड़ता है और
उसके देनेसे अहिंसा व्रतमें क्षति पहुँचती है। किन्तु यह भ्रम है। आशाघरजीने इसका निराकरण करते हुए
लिखा है, कहा है कि राजाके द्वारा दोषके अनुसार शत्रु और पुत्रको समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोककी
भी रक्षा करता है और परलोककी भी रक्षा करता है, अतः पुराण वगैरहमें जो प्रायः सुना जाता है कि अप-
राधियोंको नियमानुसार दण्ड देनेवाले चक्रवर्ती वगैरह भी अणुव्रत आदि धारण करते थे सो उसमें कोई विरोध
नहीं आता है, क्योंकि वे अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार स्थूल हिंसा आदिके त्यागकी प्रतिज्ञा लेते थे।

अतः अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अणुव्रतको धारण कर सकता है उसमें केवल
साकल्पी हिंसके लिए ही कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार विक्रमकी तेरहवीं शती तकके ग्रन्थोंके अनुशीलनसे अहिंसाणुव्रतके सम्बन्धमे हम नीचे लिखे
निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं,

- १ प्रमादके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं।
- २ जहाँ प्रमादका योग है वहाँ हिंसा है और दूसरेके प्राणोंका घात हो जानेपर भी जहाँ प्रमादका योग नहीं
है वहाँ हिंसा नहीं है। अतः हिंसा कतकि भावोपर अवलम्बित है।
- ३ त्रस जीवोंकी हिंसके त्यागकी अहिंसाणुव्रत कहते हैं। अहिंसाणुव्रतका यह एक स्थूल लक्षण है जिसे सबने
माना है, किन्तु उसका परिपूर्ण लक्षण है मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके सकल्पसे त्रस
जीवोंका घात न करना। यह लक्षण रत्नकरण्डश्रावकाचारका है।

१ “दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामु च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च मित्रे च यथादोषं समं दत्तं ॥ इति
वचनादपराधकारिषु यथाविधदण्डप्रणेतृणामपि चक्रवर्त्यादीनामणुव्रतादिधारणं पुराणादिषु च बहुधा
धूषमाणं न विरुद्धयते। आत्मीयपदवीशक्त्यनुसारं तैः स्थूलहिंसादिविरते प्रतिज्ञानात् ॥” —सागा०
ध० अ० ४, श्लो० ५ की टीका।

होनेसे बीबर तो नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है। बर्चस् हिंसा करना और हिंसा हो जाना इन दोनोंमें अन्तर है। बीबर मछली मारनेके इराबेसे जाक डाके हुए बैठा है उसका ध्यान मछली मारनेकी ओर है अतः जासम् एक मछलीके न जानेपर भी वह पापी है और किसान अन्न उत्पन्न करनेके भावसे इस ओरता है, ओरते समय अनेक ओर मर जाते हैं मगर वह आनुपमिक हिंसा है, कृपि आदि आरम्भ करते हुए हा जाती है अतः किसान पापी नहीं है ॥३४०-३४१॥

आचार्य अमृतवलिने अपने उपासकाचारके छठे परिच्छेदमें हिंसा और अहिंसाका अन्धा विवेचन किया है और पूर्वोक्त सभी बातोंका एक बड़ा संक्षेप कर दिया है। विच्छेदता इतनी है कि उन्होंने हिंसके दो भेद किये हैं, एक आरम्भी हिंसा और दूसरी अनारम्भी हिंसा। और लिखा है कि जो गृहस्थानी मनि है वे तो दोनों प्रकारकी हिंसा नहीं करते। किन्तु जो गृही है वह अनारम्भी हिंसा तो छोड़ देता है, किन्तु आरम्भी हिंसा नहीं छोड़ सकता

‘हिंसा हेवा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भमेवता दूधे ।

गृहवासतां निहृतो हेवाऽपि आपते तां च ॥९॥

गृहवाससंनवरतो मन्वकपाथा प्रवर्तितारम्भ ।

आरम्भतां स हिंसां तापनोति न रक्षितुं विद्यतः ॥१०॥

आरम्भम रत्नकरम्भावकाचारसे जो अहिंसापुत्रता कक्षक दिया है उसमें मन बचन और काक्ये कृत वारित और अनुमत विकल्पके द्वारा नौ प्रकारसे मनुष्यकोही हिंसा न करनेको अहिंसापुत्रता कृतवाया है। जो धावक घर छोड़ चुके हैं वे ही नौ प्रकारसे अहिंसाका पालन कर सकते हैं किन्तु जो घरमें रहते हैं वे अनुमत हिंसासे नहीं बच सकते अतः गृहवासी धावक कुछ प्रकारसे हिंसाका त्याग करता है। किन्तु गृहस्थानी धावक नौ प्रकारसे हिंसाका त्याग करता है। आचार्य अमृतवलिने उपासकाचारमें ऐसा लिखा है

“त्रिविधा त्रिविधेन मता विरतिर्हिंसाविधौ गृहस्थानाम् ।

त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकृतो निहृत्तानाम् ॥११॥

यं आचार्यजीने अपने आचार्यवर्मापुत्रक उक्त बातका अन्धा सुनाता किया है और अमृतवलिने उक्त विच्छेदको अपनाकर अनुवृत्ते कक्षकमें ही उसे सम्मिलित कर दिया है

विरतिः स्फुटवचार्थमौषधोऽहृतकारिवानुमतिः ।

अचिद्वरम्भमनुमतिः पञ्चाहिंसापुत्रतावि स्तुः ॥१२॥ अ ३ ।”

अर्चन मन बचन काम और कृत वारित अनुमोदनासे स्फुट हिंसा आदि पाथां पत्तने त्यागनेको अनुमति कहते हैं। किन्तु जो गृहवासी धावक है उसके मन बचन काम और कृत वारितसे स्फुट हिंसा आदिको त्यागना अनुमत है।

यं आचार्यजीने अहिंसापुत्रताका वर्णन करते हुए कोई ऐसी गयी बात तो नहीं कही जो उससे पूर्वके ग्रन्थमें वर्णित न हो। किन्तु उन्होंने अपनी बीबीने उन बातोंका अन्धा सुनाया किया है।

गरी धावक आरम्भी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता इसका उपपादन करने हुए वे लिखते हैं

गृहस्थानां विचारम्यात्र चारम्या विना वचान् ।

प्यात्राः न चानासम्पुत्तो बुधवजसवानुपद्रवः ॥१३॥”

अर्चन हिंसा प्रयोग न या विधे मयि नहीं रहा जा सकता और आरम्भ कोई ऐसा है नहीं प्रियं हिंसा न होनी हो। अतः गृहस्थका प्रयत्न करने मयि अर्चनी हिंसाको छोड़ देना चाहिए। किन्तु जो कृपि आदि करते हुए हिंसा हो जाओ है उसका त्याग करना तो गृहस्थके सिद्ध भाव नहीं है।

एत एव है कि अहिंसा गृहस्थ विना आरम्भ किये अपना निर्वाह नहीं कर सकता रत्नकर मने आरम्भ

४ प० आशावरजीने सागारधर्माभूतमें श्रावकके तीन भेद किये हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक । यह भेद हमसे पूर्व किसी ग्रन्थमें मेरे देखनेमें नहीं आये । हाँ, महापुराणके उन्तालीसवें पर्वमें कर्त्तव्य क्रियाओका वर्णन करते हुए पक्ष, चर्या और माधनका कथन किया है । यह कथन सद्गृहित्वसे सम्बन्ध रखता है । सम्भवतया इन्हीं तीनोंके आधारपर आशावरजीने श्रावकके उक्त भेद किये हैं । आशावरजीके अनुसार पाक्षिक अष्टमूलगुण पालता है । उसके लिए मक्खन भी त्याज्य है क्योंकि उसमें दो मुहूर्तके बाद बहुत-से जीव उत्पन्न हो जाते हैं । उसे रात्रिमें केवल पानी, औषध और पान-मुपारी आदि ही लेना चाहिए । पानी छानकर काममें लाना चाहिए । वह आरम्भमें भी मकल्यो हिंसा नहीं करता । ग्यारह प्रतिमाओको नैष्ठिक श्रावकका भेद बतलाया है । उनमें-से प्रथम प्रतिमा दर्शनिक श्रावकका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अष्टमूलगुणोंमें कोई दोष नहीं लगने देता और इसलिए वह—

(१) मद्य, मास, मधु, मक्खन वगैरहका व्यापारादि न स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है और न किसीको वैसी मलाह ही देता है ।

(२) जो स्त्री या पुरुष इन वस्तुओका सेवन करते हैं उनके साथ वह खान-पान वगैरह नहीं करता ।

(३) सब प्रकारके अचार, मुरब्बे, दो दिन रातका रखा हुआ दही, छाछ और फूँदी हुई भोज्यसामग्री वह नहीं खाता ।

(४) चमड़ेके कुप्पोंमें रखा पानी, घी, तेल वगैरह वह नहीं खाता ।

(५) वस्तिकर्म और नेत्राजनके रूपमें भी मधुका सेवन नहीं करता ।

(६) अनजान फल नहीं खाता । फलियोंको बिना चीरे नहीं खाता ।

(७) दिनके प्रथम और अन्तिम मुहूर्तमें भोजन नहीं करता । और रात्रिमें औषधके रूपमें भी घी दूध फल आदिका सेवन नहीं करता ।

(८) पानीको छाने हुए यदि दो मुहूर्त हो गये हों तो उसे पुनः छानकर ही काममें लेता है । दुर्गन्धित वस्त्रसे पानी नहीं छानता और बिन छानीकी उमी जलाशयमें पहुँचा देता है जिससे जल लाया था ।

(९) जुआ, मास, मद्य, चोरी, वेष्ट्या, शिकार, परम्प्री, इन मात व्यसनोका सेवन नहीं करता ।

(१०) जिस वस्तुको बुरी समझकर स्वयं छोड़ देता है उसका प्रयोग दूसरोंके प्रति भी नहीं करता ।

मुगल बादशाह अकबरके समयका रचा हुआ लाटीमहिता नामका भी एक श्रावकाचार है । उसके उक्त नियमोंमें हम और भी कड़ाई पाते हैं । श्रावककी तिरपन क्रियाओको दिग्दर्शक एक गाथा इसमें उद्धृत है, जो अन्य श्रावकाचारोंमें हमने नहीं देखी । सम्भवतः यह प्राकृत क्रियाकाण्डकी जान पड़ती है । इसमें शुद्ध आहारपर अधिक जोर दिया गया है । लिखा है,

१ अपने हाथोंसे अन्न वगैरहको शोधना चाहिए । २ अनजान साधर्मिकों द्वारा और जानकार विधर्मिकों द्वारा शोषा गया या पकाया गया भी भोजन नहीं करना चाहिए । ३ आगपर अकेला पकाया गया या घीके साथ पकाया गया वासी भोजन नहीं करना चाहिए । ४ सब प्रकारका पत्तोंका शाक नहीं खाना चाहिए ।

५ जब वामी भोजन ही अमक्ष्य है तब आसव, अरिष्ट, अथाना वगैरहका तो कहना ही क्या ? ६ भग्न, अफीम वतूरा वगैरह जो मद्यकी तरह मादक वस्तुएँ हैं वे सब त्याज्य हैं । ७ इन्होंने अणुव्रती श्रावकके लिए खेती वगैरह करनेका भी निषेध किया है, लिखा है—कृषि आदिमें महान् आरम्भ करना पड़ता है, उससे क्रूर कर्मोंका

४ उत्तरनाथमें इस लक्षणका जुलासा इस कर्ममें हुआ जो नृही ध्यावक है। तब मन बचन और कामके दृष्ट और कारित रूप संकटास ही। तब बीबोंकी हिसाबा रयाग करता है। किन्तु जो घर-बार छोड़ चुका है वह ध्यावक भी संकल्पसे तब बीबोंकी हिसाबा रयाग करता है। तब जुलासा सबप्रथम अभितवतिके दृग्धमें पाया जाता है।

५ अणुवर्णा ध्यावक कृपि जाति कर सवता है और यदि वह साधक है तो अरराधियोंको वश भी दे सकता है किन्तु जान-बुझकर या अत्यन्तारपूषक किसी प्राणीका पात नहीं कर सकता है। जन बर्मेके नाम-पर देवताके नामपर, धर्मके लिए, मोक्षके लिए या औषधके लिए किसीकी जान मैना अत्यन्त अनुचित है।

६ हिंसाके जो मेद है आरम्भी हिंसा और अनारम्भी या संकल्पो हिंसा। मुनिके लिए दोनों हिंसा त्याग्य है किन्तु गृहस्थ केवल अनारम्भी हिंसाका ही त्याग कर सवता है। आरम्भीका नहीं। यह दोनों मेद भी हमें आचार्य अभितवतिके उपासकाचार्य हो देखनेकी मिले। कभीसे साधारणधर्मपर वरीरूपमें किये गये हैं।

हिंसाके बाधकल बार मेद किये जाते हैं — संकल्पी आरम्भी सखोपी और बिरोधी। आरम्भी हिंसा के ही आरम्भी आदि तीन मेद दिये गये प्रतीत होते हैं। किन्तु किसी दृग्धमें ये मेद हमने नहीं देखे।

अब हम अधिष्टाव्यवस्था स्थापन करनेके लिए शास्त्रकाराने जो नियमोपनिषय बनाये उनपर विचार करेंगे।

१ पुष्पाविविधपुष्पायम ता हिंसाको छाड़नेके दृष्टिक्रमोंके लिए सबसे प्रथम मद्य मांस मद्य और पशु जन्तुवराका त्याग कर देना आवश्यक बतलाया है तथा मत्तजनको भी त्याग्य ठहराया है। यहाँमें भोजन करनेका भी नियम दिया है।

२ सोमदेव दूरिने निग्न वाटें बतलायी हैं

(१) घरके सब काम देव मानकर करना चाहिए और सब वेद पदाचार्यों वरुणके ज्ञानकर नाममें लाना चाहिए।

(२) आसन धर्म्या मार्ग अन्न तथा और भी जो वस्तुएँ हैं उन्हें बिना देने काममें नहीं लाना चाहिए।

(३) मांस वरीरूपों देवकर तूकर भोजनमें वह मांसके समान है ऐसा समझ हो जानेपर तथा अत्यन्त बल्य भीक्षार सुनकरके यदि भोजन करते हुए हो तो भोजन छोड़ देना चाहिए।

(४) रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिए।

(५) पहले अपने आभिगाता मिलाकर सब स्वयं शाना चाहिए।

(६) त्रिममें वस्तु हा ऐसे अचार वेद अथ कच पूज वरीरूप नहीं एवम करने चाहिए।

(७) त्रिम सम्प्रीके अन्तर छेद हो नये हैं उसे लेंक देना चाहिए। जनगदाय वनरगतिना देवन नहीं करना चाहिए।

(८) बना उदर वरीरूप यदि नुशान हो गया हो तो उसे बलकर ही नाममें लाना चाहिए। सब प्रकारकी वनिपाय। धामकर हो नाममें लाना चाहिए।

() जो बहुत आरम्भी और बहुत परिपही है वह अद्विक नहीं हो सवता।

(१) ज्ञान और नुशकारी अनुधमें दया नहीं रहनी।

(११) नृपती जन धाम अग्नि और नृप वरीरूप कायोग भी उनका ही करना चाहिए त्रिममें प्रभा जन हो।

(१२) करने अथवा प्रभावमें हीनिय आदि जन जीवाका यदि बाग हो जाये तो आनवानुसार उनका प्राय देवता मैना चाहिए।

३ आचार्य अभितवतिके अथ मांस मद्य पशु जन्तुवरा रात्रिभोजन और अथवाका नबले प्रथम त्याग्य बतलाया है।

प० आशाधरजीने सागारधर्माभूतमें श्रावकके तीन भेद किये हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक । यह भेद हमसे पूर्व किसी ग्रन्थमें मेरे देखनेमें नहीं आये । हाँ, महापुराणके उन्तालीसवें पर्वमें कर्णन्वय क्रियाओंका वर्णन करते हुए पक्ष, चर्या और माधनका कथन किया है । यह कथन सद्गृहित्वसे सम्बन्ध रखता है । सम्भवतया इन्हीं तीनोंके आधारपर आशाधरजीने श्रावकके उक्त भेद किये हैं । आशाधरजीके अनुसार पाक्षिक अष्टमूलगुण पालता है । उसके लिए मक्खन भी त्याज्य है क्योंकि उममें दो मुहूर्तके बाद बहुत-से जीव उत्पन्न हो जाते हैं । उसे रात्रिमें केवल पानी, औषध और पान-मुषारी आदि ही लेना चाहिए । पानी छानकर काममें लाना चाहिए । वह आरम्भमें भी मकल्पो हिंसा नहीं करता । ग्यारह प्रतिमाओंको नैष्ठिक श्रावकका भेद बतलाया है । उनमें-से प्रथम प्रतिमा दर्शनिक श्रावकका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अष्टमूलगुणोंमें कोई दोष नहीं लगने देता और इसलिए वह—

(१) मद्य, मांस, मद्य, मक्खन वगैरहका व्यापारादि न स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है और न किसीको वैसी सलाह ही देता है ।

(२) जो स्त्री या पुरुष इन वस्तुओंका सेवन करते हैं उनके साथ वह खान-पान वगैरह नहीं करता ।

(३) सब प्रकारके अचार, मुरब्बे, ठो दिन रातका रखा हुआ दही, छाछ और फूँदी हुई भोज्यमांसभी ग्रह नहीं खाता ।

(४) चमड़ेके कुप्पोमें रखा पानी, घी, तेल वगैरह वह नहीं खाता ।

(५) वस्तिकर्म और नेत्राजनके रूपमें भी मद्यका सेवन नहीं करता ।

(६) अनजान फल नहीं खाता । फलियोंको बिना चोरे नहीं खाता ।

(७) दिनके प्रथम और अन्तिम मुहूर्तमें भोजन नहीं करता । और रात्रिमें औषधके रूपमें भी घी दूध फल आदिका सेवन नहीं करता ।

(८) पानीको छाने हुए यदि दो मुहूर्त हो गये हों तो उसे पुन छानकर ही काममें लेता है । दुर्गन्धित वस्त्रसे पानी नहीं छानता और बिन छानीको उसी जलाशयमें पहुँचा देता है जिससे जल लाया था ।

(९) जुआ, मांस, मद्य, चोरी, वेदया, शिकार, परम्प्री, इन मात व्यसनोंका सेवन नहीं करता ।

(१०) जिस वस्तुको बुरी समझकर स्वयं छोड़ देता है उसका प्रयोग दूसरोंके प्रति भी नहीं करता ।

मुगल बादशाह अकबरके समयका रचा हुआ लाटोसहिता नामका भी एक श्रावकाचार है । उसके उक्त नियमोंमें हम और भी कड़ाई पाते हैं । श्रावककी तिरपन क्रियाओंको दिग्दर्शक एक गाथा इसमें उद्धृत है, जो अन्य श्रावकाचारोंमें हमने नहीं देखी । सम्भवत यह प्राकृत क्रियाकाण्डकी जान पड़ती है । इसमें शुद्ध आहारपर अधिक जोर दिया गया है । लिखा है,

१ अपने हाथोंसे अन्न वगैरहकी शोधना चाहिए । २ अनजान साधर्मिकों द्वारा और जानकार विधर्मिकों द्वारा शोधा गया या पकाया गया भी भोजन नहीं करना चाहिए । ३ आगपर अकेला पकाया गया या धीके साथ पकाया गया वासी भोजन नहीं करना चाहिए । ४ सब प्रकारका पत्तेका शाक नहीं खाना चाहिए । ५ जब वासी भोजन ही अभक्ष्य है तब आसब, अरिष्ट, अथाना वगैरहका तो कहना ही क्या ? ६ भंग, अफीम धूँरा वगैरह जो मद्यकी तरह मादक वस्तुएँ हैं वे सब त्याज्य हैं । ७ इन्होंने अणुव्रती श्रावकके लिए खेती वगैरह करनेका भी निषेध किया है, लिखा है—कृषि आदिमें महान् आरम्भ करना पड़ता है, उससे क्रूर कर्मोंका

बन्ध होता है बट जो हवि आदि क्रिया करता है उसे हिंसासे बचकास कैसे मिल सकता है। आये सिद्धा है कि यदि कोई किसान खेतीको बटा है तो अच्छा है निन्तु उसके कोई भी प्रतिमा नहीं हो सकती। जाने जाती करानेका भी निषेध किया है और सिद्धा है कि व्यापारके लिए बिचैसोको यात्री वगैरह भी नहीं भेजना चाहिए। ८. व्यापकको बस बीसोसे रहित बस्तुका ही क्रय-विक्रय करना चाहिए। ९. अकारणक समय व्यापारके लिए वाग्यसंग्रह नहीं करना चाहिए तथा भी लेक और मुद्रका संग्रह कभी नहीं करना चाहिए। १०. साख ईट चार घसन और बमड़े वगैरहका तथा पशुओंका व्यापार नहीं करना चाहिए। ११. ठोठा कुत्ता बिक्रय बन्धर सिंह और मूढ वगैरहको नहीं पाऊना चाहिए। १२. बन्ध भी जो ऐसे काम है जिनमें बस बीसोंका बन्ध होता हो वे सब नहीं करना चाहिए। १३. बटी मैटिकको संघामकी पिन्टा नहीं करना चाहिए। हाँ बल्लरी पासिक कर भी सकता है।

बन्ध भी बहुत-से प्रतिबन्ध अनुसूची व्यापकके लिए इस पन्थमें बतलाये गये हैं।

इस विवरणसे प्रतीत होता है कि अहिंसाका सोच साग-पानको सुद्धिकी ओर अधिक प्रवाहित हुआ है और उत्तरकालमें भारतमें भुक्तमालोका आनामसन बढ जानेके कारण उसमें और भी अधिक कड़ाई बढ़ती गयी है। यद्यपि राम और डेव तथा उससे उत्पन्न होनेवाले काम श्रेष्ठ आदि सभी भाष हिंसाके ही क्यास्तर है तथापि उनकी ओर सत्ता लक्ष्य नहीं बिबा क्या बिचना साग-पानकी सुद्धिकी ओर बिबा गया है। उसीके फलस्वरूप मूढ साग-पान करनेवाले भी अनुप्योमें मानसिक अनुद्धिकी मन्त्रता नहीं पायी जाती और व्यवहार में अहिंसाके वर्णन कम ही होते हैं।

रात्रिमोक्षण

भावकाचारका वर्णन करते हुए प्रायः सभी सास्त्रकारोंने रात्रिमोक्षणका निषेध किया है। बौद्ध बन्धर बिबा जाता है वह यह कि भावकके जो व्याख्य भेष बतलाये हैं उसमें छठे भेदके स्वरूपको केकर सास्त्रकारोंमें मतभेद है। आचार्य मुन्यैमुन्यले हो व्याख्य भेषोके केवल नाम बिनाये हैं जिसमें छठे भेदका नाम 'उपमत्त रखा है। टीकाकार मुत्तसागर सुरिने दोनों नाम्यताओंको केकर उसका अर्थ रात्रिमोक्षणबिच्छ और बिबा बह्मचर्य किया है। रत्नकरण्यभावकाचारम स्वामी समस्तमन्त्रने छठी प्रतिमाका नाम 'रात्रिमुत्तिबिरत रखा है और सिद्धा है कि जो प्राणिजोंपर दया करके रात्रिमें चारों प्रकारके मोक्षणका त्याग करता है उसे रात्रि मुत्तिबिरत करते हैं। स्वामी कार्तिकेयागुप्रेसामें भी छठी प्रतिमाका यही स्वरूप दिया है। किन्तु चारिर्नैसाट, घोमदेवकुल उपासकाचार अनुगन्धि भावकाचार 'अग्निगति भावकाचार व भावसंग्रह' और 'साधारणर्मा मृतमें बुराया भक्षण दिया है अर्थात् जो केवल रात्रिमें ही स्वीते भोग करता है और दिनमें बह्मचर्य बाल्सा है उसे रात्रिभक्तव्रत या बिबार्मभुक्तविरत कहते हैं। जाटी 'अहिंसा'में दोनोंको ही सम्मिश्रित कर बिबा है अर्थात् रात्रिमोक्षण और बिबार्मभुक्तका जो त्याग करता है वह पण्डम भावक कहा जाता है।

छठी प्रतिमामें रात्रिमोक्षणका त्याग करानेवाले रत्नकरण्यभावकाचार और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेसामें छठी प्रतिमासे पहले रात्रिमोक्षण न करनेकी कोई जहाँ नहीं की गयी है जब कि अन्य भावकाचारोंमें यथाविरतकी तरह रात्रिमोक्षणका त्याग भी आवश्यक बतलाया है।

१ "आह कृषीचलः कश्चिद् द्विचर्य न च क्रीम्यहम्।

शानमात्रे कुरिष्यामि प्रतिमाश्च न कापि सा ३१९३॥

२ "अर्हं हृष्यादिकं कर्म सर्वसोऽपि न कारयेत्।

वागिज्यार्थं विद्वेषेण सक्रयार्थं न प्रेषयेत् ॥ ॥

३ चारिष प्रा गा २१।४ इको १०२।५ गा २८९।६ पु १९। इको ८५३।८ गा

२९९।९ ज ० इको ७९।१ इको ५३८।११ ज ० इको १३।१२ पु १२३।

सर्वार्थसिद्धिमें धृतका वर्णन करते हुए सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रके व्याख्यानमें एक शका की गयी है कि रात्रिभोजनविरमण नामका एक पण्ड अणुव्रत भी है उसे भी यहाँ गिनाना चाहिए। इसका यह समाधान किया गया कि रात्रिभोजनविरमण कोई अलग अणुव्रत नहीं है, किन्तु उसका अन्तर्भाव अहिमाव्रतकी 'आलो-कित पानभोजन' भावनामें हो जाता है। अकलकदेवने राजवातिकमें भी यही शका उठायी है और समाधान भी यही किया है। इसका यह मतलब नहीं है कि दिगम्बर परम्परामें रात्रिभोजनविरति नामका भी पण्ड अणुव्रत था। यह शका तो श्वेताम्बर मान्यताको लेकर की गयी प्रतीत होती है, क्योंकि श्वेताम्बरोंमें छह मूलगुण माने गये हैं—पाँच अहिंसा आदि और छठा रात्रिभोजनत्याग। उसीको दृष्टिमें रखकर यह शका की गयी प्रतीत होती है। किन्तु चारित्र्यमारमें जो मुख्य रीतिमें सर्वार्थसिद्धि को सामने रखकर लिखा गया है, रात्रिभोजनविरतिको छठा अणुव्रत स्वीकार किया है। और रत्नकरण्डमें छठी प्रतिमाका जो स्वरूप बतलाया है वही उसका स्वरूप बतलाया है। चारित्र्यमारकी इस मान्यताका समर्थन पूर्वकालीन या उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थसे नहीं होता। रात्रिभोजनविरतिको छठी प्रतिमा मानना अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि छठी प्रतिमासे पहलेके श्रावकोंके लिए रात्रिभोजन विधेय था, क्योंकि प्रायः सभी पूर्वकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें रात्रिभोजनका निषेध जोरसे किया गया है। प्रमाण रूपमें सबसे पहले वि० म० ७३४ के रचे हुए पद्मचरितको ही लें, उसके चौदहवें पर्वमें लगभग ६० श्लोकोंके द्वारा रात्रिभोजनकी बुराईयाँ और उसके त्यागकी भलाईयाँ बतलायी गयी हैं। उसमें लिखा है, "जिन्होंने रात्रिभोजन रूपी अधर्मको धर्म माना है वे कठोर पापी हैं। सूर्यके छिप जानेपर पापी जीव परम लालसासे भोजन करता है, किन्तु दुर्गतिको नहीं देखता। रात्रिको खानेवाला पापी अन्धकारमें मग्न हो कीड़े वगैरह खा जाता है। जो रात्रिको भोजन करता है वह डाकिनो भूत पिशाच आदि कुत्सित प्राणियोंके साथ तथा कुत्ता, बिल्ली वगैरह माताहारो प्राणियोंके साथ भोजन करता है। अधिक क्या, जिसने रात्रिमें खाया उसने सब अपवित्र वस्तुओंको खाया। अतः रात्रिमें खानेवाले मनुष्य नहीं, पशु हैं।" इत्यादि।

अकलकदेवने राजवातिकमें रात्रिभोजनका जो निषेध किया है वह अधिक जोरदार प्रतीत नहीं होता, दूसरे वह मुनियोंकी दृष्टिसे किया गया जान पड़ता है। उत्तरकालीन श्रावकाचारोंमें पद्मचरितके स्वरमें ही रात्रिभोजनका निषेध मिलता है। उदाहरणके लिए अमृतगति श्रावकाचारका विवरण देखने योग्य है जो लगभग ३० श्लोकोंके द्वारा किया गया है। उसमें लिखा है, "जिसमें राक्षस पिशाच आदि घूमते हैं, जीवसमूह दिखायी नहीं देता, छोड़ी गयी वस्तु भी खानेमें आ जाती है, घना अन्धकार रहता है, मुनिदानका अवसर नहीं मिलता, न देवपूजन ही होता है, खानेके साथ जीवोंको भी भक्षण करना पड़ता है, कोई भी शुभ काम जिस समय नहीं किया जा सकता उस दोषपूर्ण रातके समयमें धर्मात्मा और कर्मठ पुरुष भोजन नहीं करते।" आदि।

सोमदेव सूरिने तो केवल एक श्लोकके द्वारा अहिमाव्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतकी विवृद्धिके लिए रात्रिभोजनका निषेध किया है। सागारधर्मावृत्तमें भी प्रायः उक्त युक्तियोंको देकर रात्रिभोजनका निषेध किया गया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि साधारण श्रावकके लिए कभी भी रात्रिभोजन विधेय नहीं रहा। पाक्षिक श्रावकके लिए मुखवास तथा औषध आदिकी छूट देखी जाती है। सागारधर्मावृत्तमें लिखा है कि पाक्षिक श्रावक रात्रिमें पान, इलायची, पानी, औषध वगैरह ले सकता है।

ऊपर लिखा है कि लाटीसहितामें छठी प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए रात्रिभोजनत्यागको भी उसका स्वरूप बतलाया है। फिर भी पहली प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए उसमें रात्रिभोजनका निषेध किया

हैं और सिखा है कि रात्रिमोजन करनेसे मसमझनका दोष लगता है। इसपर यह शब्द भी गयी है कि आपकी वहाँ रात्रिमोजनका नियम नहीं करना चाहिए ॥ तो आपने छठी प्रतिमामे बतलाया है। इसका यह समाधान किया गया कि पूरी तरहसे रात्रिमोजनका नियम छठी प्रतिमामे होता है। वहाँ तो उसका आधिक त्याग किया जाता है। अर्थात् वहाँ रात्रिमोजननियम सातिचार है और छठी प्रतिमामें निरतिचार है। यहाँ तो ब्रह्म वरैरह् स्तुल आशका नियम है जबपाम बगरह्का नियम नहीं है, किन्तु छठी प्रतिमामे तो प्राधान्य ही जानेपर भी बसपानकी तो बात ही क्या जीवण भी नहीं लो जा सकती। धामर कोई कहे कि पहले प्रतिमावाला भावक तो केवल जीवनधर्मका पक्ष करता है जैसे तो वह बचपों है अतः उसे रात्रिमें भ्रम जाना चाहिए। इसका समाधान यह किया गया कि रात्रिमोजन न करना जीवनका कुलाचार है उसके बिना कोई नामदे भी भावक नहीं हो सकता। रात्रिमोजन न करना तो सबसे अवश्य बात है, उसके नीचे तो फिर कोई क्रिया ही नहीं है।

धामर कहा जाये कि पार्श्व भावक तो बचपों होता है उसके तो केवल जीवनधर्मका पक्ष मात्र रहता है अतः तो वह वाक्या हो नहीं है किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसे पार्श्व भी नहीं कह सकते क्योंकि वह सर्वत्र मनवान्की आज्ञाका ओपक है। मनवान्की आज्ञा है कि जो क्रियावान् हो वही भावक है। अतः निष्कण्टके निष्कण्ट भावक की कुलाचारको नहीं छोड़ता।

इस प्रकार काटीरहिताके कर्त्ता निष्कण्टके निष्कण्ट भावकको भी उसके क्षममे न उठी तो कुलाचारके क्षम ही रात्रिमोजन न करना आवश्यक बतलाकर रात्रिमोजनकी बुराईयाँ बतलाते हैं।

वे कहते हैं यह सब जानते हैं कि रात्रिमें बीपकके निवृत्त पक्षिने बसत ही है और वे हवाके वेदसे मर जाते हैं। अतः उनके कलैवर जिस मोहनमे पड़ जाते हैं वह मोहन मिथ्यापि कैसे रहा ? तथा रात्रिमें मोजन करनेसे मुक्त-अपुनकता भी विचार नहीं रहता। अरे वहाँ मक्खी बिचायी नहीं बैठी वहाँ मच्छरका तो क्यूना ही क्या ? अतः संयमकी बुद्धिके लिए रात्रिमें चारा प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए। यदि उतमी सामर्थ्य न हो तो भ्रम वरैरह्का त्याग करना चाहिए।

छातरी छातीसे केकर छत्रहवीं छाती तक एक हजार वर्षके समयमें रात्रिमोजनके विषयमें जो विचार चारा बहती जाती है ऊपर उसका विवरण दिया गया है और उस सबका सार सोमदेव सूरिके शब्दोंमें यह निकलता है

‘अहिंसाप्रवरणार्थं मूकजलविशुद्धयः ।

मिशानां वज्रपद् मुनिमिहामुज्ज्वलं च कुलानाम् ॥३९५॥

अर्थात् अहिंसाप्रवरणकी रक्षाके लिए और मूकजलोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लीक और परलोकमें पुं कर्त्तव्यी रात्रिमोजनको छोड़ देना चाहिए ॥३९५॥

उत्तम मार्ग यही है। इसमें अपवाद तो केवल बानी जीवण और मुक्तको लुप्तपित करनवाले पान इत्यादी आदिके भक्षण कर लानका वा। किन्तु उत्तरप्राकम हिन्दू और बुद्धमतानोके संघर्षसे रात्रिमोजनका प्रचार जीवनमें बसा ता फिर अप्राहारके त्यागपर ही जोर दिया जाने लगा। रात्रिमें फलाहार करना और फलाहारके नामपर सिपाईकी गिरी तिक रक्षितरा आदिके व्यसन बनाकर सेवन करनेकी रीति एकदम हिन्दुओंके प्रभावका व्यक्त करती है क्योंकि जनम जनक दिन अप्राहार न करके ऐसी ही बस्तुजाका आहार किया जाता है। बीरे-बीरे भव जीवनधर्म केवल वैश्य धर्म ही रह गया और क्षत्रवरण मन्त्र ही बसा तो रात्रिमोजनत्यागका कुलाचार मानकर उसपर जोर दिया पान लगा अतः काटीरहितासे प्रकट है। किन्तु वास्तविक बात तो सामयिकमयोद्वा के धारण यही है

‘तन्वाकोमद्वा बसु मुनिमिहामुज्ज्वलं च ।

आगमसंयुं जलु अहिकमिह तं किञ्च दंसलु दुरि ॥३९६॥

अर्थात् ताम्रल, ओषध और जलको छोड़कर सूर्यास्तके बाद जिसने भोजन या फलाहारकी अभिलाषा की उसने दर्शन (यदान) को दूर कर दिया ।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार

अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचार सभी श्रावकाचारोंमें वनलाये हैं जो समान हैं । अतीचार कहते हैं, व्रतका ध्यान रखते हुए भी उसमें दूषण लगा लेना । जिन दूषणोंसे व्रत पूरी तरह खण्डित नहीं होता किन्तु आंशिक खण्डित हो जाता है वे दूषण अतीचार कहे जाते हैं । वे अतीचार हैं, मनुष्य या पशुको बाँधना, दण्डे वगैरहसे पीटना, नाक वगैरहका छेदना, शक्तिसे अधिक भार न्यदना और सममपर नाना-पीना नहीं देना । ये अनिचार बहुत प्राचीन हैं, तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी ये ही अनिचार गिनाये गये हैं । इनसे यह स्पष्ट है कि अहिंसा अणुव्रतका सम्बन्ध केवल खान-पानकी शुद्धिसे ही नहीं या किन्तु व्यवहारकी शुद्धिसे भी था । ऊपरके पाँचों अतिचार मनुष्य और पशुओंके साथ किये जानेवाले व्यवहारसे ही सम्बन्ध रखते हैं ।

सत्याणुव्रत

शेष चार अणुव्रतोंका वर्णन करनेसे पहले यह बताना आवश्यक है कि वे अहिंसा व्रतके रक्षक मात्र हैं—स्वतन्त्र नहीं हैं । जैसे किमान खेतीकी रक्षाके लिए चारों ओर बाड़ा लगा देता है वैसे ही अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए वे चारों बाधक हैं, उनके पालन करनेसे अहिंसाव्रतकी रक्षा होती है । किन्तु जहाँ उन चारों व्रतोंमेंसे कोई भी व्रत अहिंसाका रक्षक न होकर भक्षक होता हो वहाँ अहिंसाकी रक्षाका ही ध्यान रखा जाता है, शेष व्रतोंका नहीं । इसीलिए रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हुए स्वामी समन्तभद्रने लिखा है,

“स्थूलमलीकं न वदति न पगन् वाडयति मन्यमपि त्रिपदे ।

यत्तद्वदन्ति मन्त म्यूलमृपावादवैरमणम् ॥५५॥”

जो स्थूल झूठ न स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है तथा जब नत्य बोलनेसे दूसरेका अपकार होता हो तो ऐसे मन्त्र सत्य भी न स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है उसे म्यूल झूठका त्यागी या म्याणुव्रती कहते हैं ।

आचार्य उमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें असत्यका लक्षण बतलाया है,

“अमदसिधानमनृतम् ।” अ० ७, सू० १४ ॥

इसका व्याख्यान करते हुए नवार्थमिहिके कृति लिखा है, “असत्का अर्थ है—अप्रशस्त । और जिससे प्राणीको पीडा पहुँचती हो वह वचन, चाहे वह सच्चा हो या झूठा, अप्रशस्त है अतः उसका बोलना असत्य है ।” जैसे काने मनुष्यको काना कहना यद्यपि सत्य है किन्तु है मर्मभेदी, अतः वह झूठमें ही सम्मिलित है । पुरुषार्थमिहधनुषायमें असत्यके चार भेद किये हैं—विद्यमान वस्तुका निषेध करना पक्ष्य असत्य है, जैसे देवदत्तके घरमें होते हुए भी यह कहना कि देवदत्त यहाँ नहीं है । अविद्यमान वस्तुको विद्यमान बनाना दूसरा असत्य है, जैसे घटके नहीं होने हुए भी यह कहना कि घट है । कुछसा कुछ कह देना तीसरा असत्य है, जैसे बेलको घोड़ा बनाना । चौथे असत्यके भी तीन भेद हैं—गहित, मावद्य और अप्रिय । किसीकी चुगली करना, हँसी करना, किसीको कठोर बातें कहना, बक-झक करना आदि गहित कहलाता है । मारो, काटो, इसके घरमें आग लगा दो, इसे लूट लो इत्यादि वचनोंको मावद्य कहते हैं । जो वचन वैर, शोक, कलह, भेद और सन्ताप करनेवाला हो वह अप्रिय है । इन प्रकारके वचन चूँकि प्रमादके कारण ही बोल जाते हैं इसलिए ये सब हिंसा में ही सम्मिलित हैं । किन्तु जहाँ कोई द्वितीय दृष्टिसे दूसरेको कठोर शब्द कहना है वहाँ उसका उद्देश्य सन् हानिसे वे कठोर वचन उक्त वचनोंमें गणित नहीं समझे जाते ।

है और सिद्धा है कि रात्रिभोजन करनेसे मांसभक्षणका दोष छूटता है। इसपर यह संका की यमो है कि आपकी यहाँ रात्रिभोजनका नियम नहीं करना चाहिए वह तो आपन छठी प्रतिमामे बतलाया है। इसका यह समाधान किया गया कि पूरी तरहसे रात्रिभोजनका नियम छठी प्रतिमामे होता है। यहाँ तो उसका आधिक स्थान दिया जाता है। अर्थात् यहाँ रात्रिभोजननियम साठिचार है और छठी प्रतिमामे निरतिचार है। यहाँ तो जब बनेरह स्कूल छात्रका नियम है बलपान बनेरहका नियम नहीं है, किन्तु छठी प्रतिमामे तो प्राधान्य हो जानेपर भी बलपानकी तो बात ही क्या औषध भी नहीं को बा सकती। शायद कोई कहे कि पहली प्रतिमावाला आचक तो केवल जैनधर्मका पक्ष करता है और तो वह अचरी है अतः उसे रात्रिमे भोजन खाना चाहिए। इसका समाधान यह किया गया कि रात्रिभोजन न करना जैनका कुलाचार है उसके बिना कोई नामसे भी आचक नहीं हो सकता। रात्रिभोजन न करना तो सबसे अनप्य व्रत है उसके नीचे तो फिर कोई किया ही नहीं है।

शायद कहा जाये कि पालिक आचक तो बहनी होता है, उसके तो केवल जैनधर्मका पक्ष मान रहा है, व्रत तो वह पाकटा ही नहीं है किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्थामे उसे पालिक भी नहीं कह सकते क्योंकि वह सर्वत्र अपमानकी आज्ञाका शोषक है। मरवान्की आज्ञा है कि जो क्रियावान् हो वही आचक है। अतः निरुपेक्षे निकृष्ट आचक भी कुलाचारको नहीं कांस्टा।

इस प्रकार लाटीरहितके कर्तो निरुपेक्षे निकृष्ट आचकको भी उसके कर्म न सही तो कुलाचारके कर्म ही रात्रिभोजन न करना आवश्यक बतलाकर रात्रिभोजनकी बुराईयाँ बतलाते हैं।

वे किससे हैं यह सब आगते हैं कि रात्रिमें शोषकके निकट पसिये जाते ही हैं और वे हवाके वेगसे भर जाते हैं। अतः उनके कसेवर जिस भोजनम पड़ जाते हैं वह भोजन निरुपेक्ष कैसे रहा? तथा रात्रिमे भोजन करनेसे मुक्त-अमुक्तका भी विचार नहीं रहता। अरे यहाँ मक्की बिलामी नहीं देती वहाँ मक्कलका तो कहना हो क्या? अब संयमकी बुद्धिके लिए रात्रिमे चारों प्रकारके आहारका स्वाद करना चाहिए। यदि सतनी सावर्ध न हो तो जब बनेरहका स्वाद करना चाहिए।

छात्री छातीसे निकर छात्रहीन छाती तक एक हजार वर्षके समयम रात्रिभोजनके विषयम भी विचार धारा बहती आयी है। ऊपर सतका विवरण दिया गया है और उस सबका सार सोमदेव सूरिके शब्दोंमे यह निकलता है,

‘अहिंसाप्रतरक्षार्थं मूकमनविमुद्वह।

विद्यायां बर्ज्येन मुनिर्महासुखं च कुलप्राप्य ॥३३५॥

अर्थात् अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए और मूकत्वका विमुक्त रखनके लिए इस लोक और परलोकमें दुःखदानी रात्रिभोजनकी छोड़ देना चाहिए ॥३२५॥

वस्त्रम मान नहीं है। इसम अपनाय तो कबल पाना और मुखका मृदासित करनेवाले पान इत्यादी आदिके प्रयोग कर सनका वा। किन्तु छत्तरकाशमें हिन्दू और मुसलमानके संघमें रात्रिभोजनका प्रचार जैनम पला ता फिर अनाहारक स्थानपर ही और दिया जान लगा। रात्रिम कुलाहार करना और पलाहारके नामपर निषाङ्गी विरी तिल रखनिरा आधिक व्यंजन बनाकर सेवन करनेकी रीति एकदम हिन्दुवाद प्रभावका व्यक्त करती है नपाकि जैनम वगैरे तिल अनाहार न करके ऐसी ही वस्तुजाना आहार किया जाता है। बीरे-बीरे जब जैनधर्मन केवल वीर्य वर्ध ही रह गया और प्रनाचरण मन्द हो पला ता रात्रिभोजनरथागको कुलाचार मानकर उसपर जोर दिया जान जना जैला लाटीरहितके प्रकट है। किन्तु वास्तविक बात तो लावयधर्मशेहा के दाशम यही है

‘सन्धानीयद्वा जसु मुद्वि च आचमिष्यत् सूरि।

भागायामर्षु जसु अहिंसाविड सं किञ्च वंसु नृरि ॥३३॥

सत्याणुव्रतके अतीचार भी पाँच बतलाये हैं—झूठी सलाह देना, स्त्री पुरुषकी एकान्तमें की गयी किसी चेष्टाको देखकर दूसरोसे कह देना, जाली हस्ताक्षर बनाना, कोई अपनी रखी हुई धरोहरको भूलकर कम माँगे तो उससे यह न कहना कि तुम्हारी धरोहर अधिक थी और उठाकर वह जितनी कहे उतनी दे देना । मुखकी आकृति वगैरहसे दूसरेके मनकी बात जानकर उसे प्रकट कर देना । रत्नकरण्ड (श्लो० ५६) में मिथ्योपदेश और माकार मन्त्रभेदके स्थानमें परिवाद और पैशून्यको रखा है और सोमदेवके उपासकाध्ययन (श्लो० ३८१) में मिथ्योपदेश, रहोऽम्पाख्यान और न्यासापहारके स्थानमें परीवाद पैशून्य और झूठी गवाहीको रखा है ।

अचौर्याणुव्रत

कही रखे हुए या गिरे हुए या भूले हुए परद्रव्यको न स्वयं लेना और न उठाकर दूसरेको देना अचौर्याणुव्रत है (रत्न० ध्या० श्लो० ५७) । तत्त्वार्थसूत्र (७।१५) में बिना दी हुई वस्तुके लेनेको चोरी कहा है । इसकी व्याख्यामें सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपादने (विक्रमकी छठी शताब्दी) कुछ शकाएँ उठाकर उनका समाधान किया है ।

शका—तब तो जीवके द्वारा कर्म नोकर्मका ग्रहण भी चोरी ठहरता है ? क्योंकि वह भी बिना दिया हुआ है ?

समाधान—जिम वस्तुमें देन-लेनका व्यवहार सम्भव है उसीको बिना दिये लेनेसे चोरीका व्यवहार होता है ।

शका—फिर भी साधु ग्राम नगर आदिमें भ्रमण करते समय मार्गमें बने हुए द्वारोंमें प्रवेश करता है अतः यह भी तो बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण है ।

समाधान—नहीं, मार्ग तो सार्वजनिक है । किन्तु बन्द द्वारोंको खोलकर साधु प्रवेश नहीं करता है, क्योंकि वह सार्वजनिक नहीं है । अथवा प्रमादके योगसे जो बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है उसे चोरी कहते हैं । मार्गके द्वारमें प्रवेश करते समय साधुके प्रमादका योग नहीं होता । साराश यह है कि जहाँ सकलेश परिणामसे प्रवृत्ति हो वह चोरी है, चाहे बाह्य वस्तु हाथ लगे या न लगे ।

अमृतचन्द्र सूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें चोरीका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि धन मनुष्योंका बाह्य प्राण है । जो जिसका धन हरता है वह उसका प्राण हरता है । जो जलाशयोंसे पानी आदि भी लेनेका त्याग करनेमें अमर्थ हैं उन्हें भी अन्य सब बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणका त्याग करना चाहिए (श्लो० १०३-१०६) । सोमदेवन उक्त परिभाषाओंकी दृष्टिमें रखकर लिखा है कि सार्वजनिक जल, तृण आदिके सिवाय अन्य सब बिना दी हुई परायी वस्तुओंका ग्रहण करना चोरी है । तथा यदि कोई अपना कुटुम्बी मर जाये तो उसका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है । किन्तु जीवित होनेपर उसके आदेशसे ही लिया जा सकता है अन्यथा व्रतकी हानि होती है । जो धन पृथिवी वगैरहमें गड़ा हुआ मिला हो, उसे भी नहीं लेना चाहिए, क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता है । अतः मकानमें, जलमें, जगलमें या पर्वतमें गड़े हुए पराये धनको नहीं लेना चाहिए । यदि कभी अपनी वस्तुमें भी यह सशय हो जाये कि यह हमारी है या नहीं ? तो जबतक सन्देह दूर न हो उसे नहीं लेना चाहिए । (श्लो० ३६४-३७२) अमितगति श्रावकाचार तथा सागारधर्ममृत (अ० ४) में भी यही सब बातें बतलायी हैं । लाटीसहितामें भी कोई नयी बात नहीं है ।

अतीचार भी सब श्रावकाचारोंमें प्रायः समान ही हैं । दूसरोंको चोरीकी ओर प्रेरित करना, चोरीका माल खरीदना, खरीदनेके बाट तराजू अधिक और बेचनेके कम रखना, बहुमूल्य वस्तुमें कम मूल्यकी उसके समान वस्तु मिलाकर बेचना ये चार अतीचार हैं । सोमदेवकृत उपासकाध्ययनमें इनमें-से अन्तिम अतीचारको न गिनाकर बाट तराजू अधिक और कमती रखनेको अलग-अलग गिनाया है । पाँचवें अतीचारको अन्य

जो लोग अपनी धार्मिक जीवन-यात्रा में सहायक अथवा बचनको छोड़ने में असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य अथवा बचनको गवाह के लिए धारा देना चाहिए।

गोमदेव मूरिने अपने उपासकाध्ययन अभ्येष्टका बचन करते हुए बचनके बार-बार भेद दूसरे प्रकारसे दिये हैं। वे भेद हैं—अग्रयण सत्य सत्य अग्रयण सत्य सत्य और अग्रयण अग्रयण। इसका अभिप्राय यह है कि कोई बचन बचन होत हुए भी सत्य होता है जैसे भाव वफाता है कथना मुक्तता है। कोई बचन सत्य होत हुए भी अग्रयण है। जैसे किसीने कहा कि तुम्हें मैं वन्द्य विन बाध तुम्हारी भीम सीमा देना किन्तु प्रतिज्ञात समयपर न लौटाकर एक मास बाद या एक वर्ष बाद वाद सीटाता है। जो वस्तु बहोपर मिला अपने देती या तुमों की उसकी बीजा ही बहना सत्य सत्य है। और सर्वथा मूठ बचन असत्य असत्य है। इसमें-से पहलेके तीन बचन ही लोकमान्य ग्रहायण हैं। अतः चौथे प्रकारके मूठको कभी नहीं बोलना चाहिए।

आग और भी मित्रा है कि न अपनी प्रसंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्द्य करनी चाहिए। न दूसरोंके गुणोंको उजागरा चाहिए और न अपनेमें भी गुण नहीं हों उनको प्रकट करना चाहिए। जो दूसरों का मित्र कार्य करता है वह अज्ञा हो मित्र करता है। फिर भी न जाने वह संसार दूसरोंका अग्रिम करनेमें ही क्या तत्पर रहता है। जो राज्य बचन बोलता है उसे उसके माहुरम्बसे बचनसिद्धि ही जाती है और बहो वही वह जाता है उसके बचनका आकर होना है तथा जो मूठ बोलता है उसकी जीभ काट जाती जाती है और वह परलोकमें भी कुछ उठाता है। (श्लोक १७१-१९१) आदि।

अभिप्रेत उपासकाचारमें पुष्पावलिग्रह पावक अनुसार ही असत्यके बार-बार भेद दिये हैं। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ उन चोखोंका नामकरण कर दिया है—अष्टगुणग्रहण लघुवचन विपरीत और निन्द्य। फिर निन्द्यके तीन भेद कर दिये हैं—साधन अग्रिम और पक्ष। तथा मित्रा है कि कामके बचनमें होकर वा श्रेय के बचन होकर या ईश्वर या प्रमादसे लब्धा धर्मधर्म आकर या कोबसे या भावसे या ईश्वर अत्य बचन नहीं बोलना चाहिए।

पादार्थमार्गमें सत्यानुवचनका बचन करते हुए बचनके भी भेद बतलाये हैं वे गोमदेव सूरिक उपासकाध्ययनके अनुसार हैं। किन्तु उद्यम भी सत्यानुवचनका स्वयं बतलाते हुए कम्पा अमीक यो अमीक आदिका निबध किया है जहाँ किसी भी विद्यम्बर तीन सम्पद नहीं मिलता और इसलिये वह हेमचन्द्राचार्यके नामसात्वसे लिया गया प्रतीत होता है। साधारणमार्गमें मित्रा है

कम्पापादमाकीकृतसाधनसाधनकापचय।

स्वयं सत्यानुवचनी सत्यमपि कम्पापादये स्वयं ३३९८—अ ७।^{११}

और साधारणमित्रा है

कम्पागीभूतकीकृति स्वासापहरण तथा।

मूठसाधनं च पद्येति सत्यानुवचनकीतवय ॥५७॥

कम्पा आदि द्विबाके सम्बन्धमें मूठ बोलना कम्पाभीक है। नी आदि जीवायोके सम्बन्धमें मूठ बोलना गी-अमीक है। जैसे बोका बूध देन वाली गायकी बहुत बूधवाली या बहुत बूध देनेवाली घामको बाड़ा बूध देनेवाली बतलाता। पृथ्वी आदि अनेक वस्तुओंके विषयमें मूठ बोलना लघु-अमीक है जैसे परायी अमीनको अपनी या अपनी अमीनका परायी बतलाता। इस तरहके मूठ नहीं बोलना चाहिए। इस तरह विविध भाषका आरोंमें सत्यानुवचनका स्वयं बतलाया है।

देव, शास्त्र और गुरुको नमस्कार करके कुटुम्बियोंकी माथीपूर्वक जिमका पाणिग्रहण किया जाता है वह तो पत्नी है और जिमका इस प्रकार पाणिग्रहण नहीं किया जाता वह चेटिका है। पाणिगृहीता पत्नी दो प्रकारकी होती है, एक स्वजातिकी, दूसरी अन्य जातिकी। स्वजातिकी पाणिगृहीता पत्नी ही धर्मपत्नी है और दूसरी भोगपत्नी है। इन दोनोंमें अतिशक्ति जो सामान्य स्त्री होती है वह चेटिका कही जाती है। चेटिका और भोगपत्नी दोनों वचन भोगके लिए होती है अतः इन दोनोंमें वास्तवमें कोई भेद नहीं है। धर्मके ज्ञाताओंकी भोगपत्नी नहीं रखनी चाहिए। जब भोगपत्नी ही निषिद्ध है तब परस्त्रीका तो कहना ही क्या है। फिर भी परस्त्रीका स्वरूप बतलाते हैं। परस्त्री तीन प्रकारकी होती है—गृहीता, अगृहीता और वेश्या। गृहीता भी दो प्रकारकी होती है—एक वह जिमका पति जीवित है और दूसरी वह जिमका पति तो मर चुका है किन्तु पिता वगैरह जीवित है। जो चेटिका बतलायी है उसका पति वही है जिसके पास वह रहती है अतः वह भी गृहीता ही है। विधवा स्त्रीके जब कुटुम्बी भी मर जाते हैं तो स्वच्छन्दचारिणी होनेपर वही अगृहीता कहलाती है। इसके साथ सम्भोग करनेपर यदि धैरी लोग राजाको खबर कर दें तो निश्चय दण्ड मिलता है।

आगे लाटीमहिताकार लिखते हैं, कुछ जैन ऐसा कहते हैं कि उबन स्त्री गृहीता ही ममकी जाती है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिसका स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है। अतः उनके मतसे वह स्त्री अगृहीता है, पिता वगैरहके होते हुए भी जिमके साथ सम्भोग करनेसे राजा आदिका भय नहीं रहता। उनके मतसे स्वच्छन्द नारीके दो ही भेद हैं—एक गृहीता और दूसरी अगृहीता। वेश्याका अन्तर्भाव भी इन्हींमें हो जाता है। ये सब जानकर परस्त्रीकी ओर मन नहीं लगाना चाहिए।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके सिवा सभी श्रावकाचारोंमें ब्रह्मचर्याणुग्रतीके लिए स्वस्त्रीके सिवा शेष सभी परस्त्रियोका त्याग आवश्यक बतलाया है। किन्तु सोमदेवने 'वित्तस्त्री'की भी उक्त व्रतकी मर्यादाके अन्दर ले लिया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया इसके सम्बन्धमें स्वयं उन्होंने तो कुछ लिखा नहीं, हाँ उनके उत्तरकालीन प० आशाधरने अवश्य कुछ प्रकाश डाला है। सागारधर्मामृतके चतुर्थ अध्यायमें स्वदारसन्तोषका व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं—जो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे पापके भयसे परनारी और वेश्याको न स्पर्श भोगता है और न दूसरीको ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है। यह ब्रह्माण्डगत निरतिचार अष्टमूलगुणोंके धारक विशुद्ध सम्यग्दृष्टि श्रावकके लिए बतलाया गया है। जो गृहस्थ अपनी पत्नीकी तरह साधारण स्त्रियोका भी त्याग करनेमें अशक्त है और केवल परस्त्रियोका ही त्याग करता है, वह भी ब्रह्माण्डगत माना जाता है। क्योंकि ब्रह्माण्डगतके दो भेद हैं—स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति। यह बात स्वदारसन्तोषगतके उक्त लक्षणमें परनारी और वेश्याका निषेध करनेसे निकलती है। इनमेंसे स्वदारसन्तोषगत तो देशसमयमें अम्यस्त नैष्ठिक श्रावक पालता है और दूसरा व्रत देशसमयके अभ्यासके लिए तत्पर पाक्षिक श्रावक पालता है, जैसा कि सोमदेव पण्डितने लिखा है।

प० आशाधर आगे और लिखते हैं, वसुनन्दि श्रावकाचारमें—दर्शन प्रतिमाका लक्षण यह बतलाया है—पाँच उदुम्बरोके साथ साथ सातों व्यसनोको जो छोड़ देता है उस सम्यग्दृष्टिको दर्शन श्रावक कहते हैं। अतः वसुनन्दि आचार्यके मतसे व्रत प्रतिमाधारीके ब्रह्माण्डगतका स्वरूप यह है, जो पर्वोंमें स्त्रीसेवन और अनगक्रोडाको सदाके लिए छोड़ देता है उसे स्थूल ब्रह्माण्डगत कहते हैं। स्वामी समन्तभद्रके मतसे जो दर्शनिक श्रावक है उसके लिए ऊपर कहा हुआ ही ब्रह्माण्डगत है जो अतिचार छोड़नेके लिए यहाँ कहा गया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प० सोमदेवने जो ब्रह्माण्डगतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्रके अभ्यासो श्रावकके लिए है और प० आशाधर वगैरहने जो ब्रह्माण्डगतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्रमें जो अम्यस्त हो चुका है उस श्रावकके लिए है। इसी तरह वसुनन्दि श्रावकाचारमें जो ब्रह्माण्डगतका स्वरूप बतलाया है, है तो वह भी अम्यस्त देश-समयों नैष्ठिक श्रावकके लिए ही किन्तु उसमें अन्तर इसलिए पड़ा

भावकाचारोंमें उत्साहयुक्तों की अनुसार विरहराज्यातिक्रम नाम दिया है किन्तु रत्नकराज भावकाचारमें बिलोप^१ और होमदेव उपासकाचारमें विग्रहे संज्ञोर्जस्य^२ नाम दिया है। इसका अर्थ होता है इसमें मृदु छिड़नेपर मन संभय करता जैसा कि मन मुक्त समय किया गया है। बिलोपका मतलब होता है राज्यीय नियमोंकी अवहेलना करके मन संभय करना और विरहराज्यातिक्रमका मतलब होता है जब राज्यम विजय हो जाये तो धरित उपायोंको छोड़कर दूसरे ही तरीकोसे मन संभय करना।

विरहराज्यातिक्रमका व्याख्यान करते हुए पं आशाचरजीने कुछ अर्थ भी अर्थ किये हैं जो इस प्रकार हैं

(१) राज्यविजय हो जानेपर वस्तुओंके मत्स्य बढ़ानेका प्रयत्न करना अर्थात् कम कीमती वस्तुओंको भी बहुमूल्य करनेका प्रयत्न करना।

(२) एक राज्यके निवासीका दूसरे राजाके राज्यमें प्रवेश करना। किन्ता है कि अपने राजाकी आज्ञाके बिना दूसरेके राज्यम जागा यद्यपि खोरी है फिर भी ऐसा करनेवाला यह समझकर ऐसा करता है कि मैंने तो व्यापार किया है खोरी नहीं को। इसलिये उसका बत मर्ग तो नहीं होता किन्तु उसमें धुपध अचरम लगा है। यद्यपि ऐसा कबता है कि ये असीधार व्यापारीयको लक्ष्यमें रखकर बतसामे है किन्तु राजा वा उसके कर्मचारियोंको भी ये सब सम्भव है। यहाँ और दूसरा तो स्पष्ट ही है। जब राजा अपने मन्त्रारमें वस्तुजाका काबाल-ग्रहण कराते समय अधिक और कम बाटेंछि खरिदवाता और बिक्रबता है तो उसको भी सीधरा और बीका अतिचार कबता है। जब कोई सामन्त अपने राज्यके विरह भव्य करता है तो वह विरहराज्यातिक्रम धोपका भागी होता है।

सादृश्यात्ममें विरहराज्यातिक्रमका व्याख्यान दूसरे ही रूपसे किया है। उसमें किन्ता है कि राजाकी आज्ञा मुक्त ही वा अनुक्त उसका न पाकना विरहराज्यातिक्रम है। सम्भवत विरहराज्यातिक्रमका यह व्याख्यान अक्षरके राज्यकालके प्रभावसे प्रेरित है। प्रत्यकारने राज्यके प्रारम्भमें अक्षरकी खूब प्रशंसा की है। वस्तु !

ब्रह्मचर्यांगुश्रव

रत्नकराज भावकाचारमें किन्ता है कि जो पाप समझकर न तो परस्त्रीयोंके पास स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है उसे परवापिभूति वा स्वधारसमोचक कहते हैं।^३ चर्चार्थसिद्धिमें किन्ता है कि मूहीत या अनुहीत परस्त्रीके छाव रति न करना गृहस्वका बीबा अचूकस है। पुष्पार्थ सिन्धुपावने किन्ता है कि जो मोहबस अपनी स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ है उन्हें भी खेव सब स्त्रियोंका सेवन नहीं करना चाहिए। होमदेव उपासकाचारमें किन्ता है पत्नी जीन वैश्वाको छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंको माता बहन और पुत्री समझता गृहस्वका ब्रह्मचर्य है। स्वामी काठिकेभामुजेनाम किन्ता है जो मल बचन और कावसे परस्त्रीको माता बहन और पुत्रोंके समान मानता है वह स्त्रूक ब्रह्मचर्यांगुश्रवी है। अक्षितपतिने भी यही स्वल्प कथनया है। वसुधन्वि भावकाचारमें किन्ता है, पंचके दिन स्त्रीयोंव और जर्मवकीबाको भी सवाके छिप छोड़ देता है वह स्त्रूक ब्रह्मचारी है।^४ छापाचर्यमायुधमें किन्ता है जो पापके समय मन बचन और कावसे परस्त्री और सेस्याके पास न स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है वह स्वधारसमोचकी है।

काटो संहितामें किन्ता है कि ब्रह्मचर्यांगुश्रवीको वर्णस्त्रीका ही सेवन करना चाहिए अन्यका नहीं। इससे रचयिताने परस्त्रीव्यसनके लावका उपदेख देते हुए किन्ता है यद्यपि परस्त्रीरयावका अन्तर्भाव भी अनुब्रतमें होता है फिर भी उसका कुछ विवर्जन प्रसवगत नहीं भी कराते हैं—

देव, शास्त्र और गुरुको नमस्कार करके कुटुम्बियोंको माक्षीपूर्वक जिसका पाणिग्रहण किया जाता है वह तो पत्नी है और जिसका इस प्रकार पाणिग्रहण नहीं किया जाता वह चेटिका है। पाणिगृहीता पत्नी दो प्रकारकी होती है, एक स्वजातिकी, दूसरी अन्य जातिकी। स्वजातिकी पाणिगृहीता पत्नी ही धर्मपत्नी है और दूसरी भोगपत्नी है। इन दोनोंसे अतिरिक्त जो सामान्य स्त्री होती है वह चेटिका कही जाती है। चेटिका और भोगपत्नी दोनों केवल भोगके लिए होती हैं अतः इन दोनोंमें वास्तवमें कोई भेद नहीं है। धर्मके ज्ञाताओंको भोगपत्नी नहीं रखनी चाहिए। जब भोगपत्नी ही निषिद्ध है तब परस्त्रीका तो कहना ही क्या है। फिर भी परस्त्रीका स्वरूप बतलाते हैं। परस्त्री तीन प्रकारकी होती है—गृहीता, अगृहीता और वेश्या। गृहीता भी दो प्रकारकी होती है—एक वह जिसका पति जीवित है और दूसरी वह जिसका पति तो मर चुका है किन्तु पिता वगैरह जीवित है। जो चेटिका बतलायी है उसका पति वही है जिसके पास वह रहती है अतः वह भी गृहीता ही है। विधवा स्त्रीके जब कुटुम्बो भी मर जाते हैं तो स्वच्छन्दचारिणी होनेपर वही अगृहीता कहलाती है। इसके साथ सम्भोग करनेपर यदि वैरी लोग राजाको खबर कर दें तो निश्चय दण्ड मिलता है।

आगे लाटीसहिताकार लिखते हैं, कुछ जैन ऐसा कहते हैं कि उक्त स्त्री गृहीता ही समझी जाती है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिसका स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है। अतः उनके मतसे वह स्त्री अगृहीता है, पिता वगैरहके होते हुए भी जिसके साथ सम्भोग करनेसे राजा आदिका भय नहीं रहता। उनके मतसे स्वच्छन्द नारीके दो ही भेद हैं—एक गृहीता और दूसरी अगृहीता। वेश्याका अन्तर्भाव भी इन्हींमें हो जाता है। ये सब जानकर परस्त्रीकी ओर मन नहीं लगाना चाहिए।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके सिवा सभी श्रावकाचारोंमें ब्रह्मचर्याणुव्रतीके लिए स्वस्त्रीके सिवा शेष सभी परस्त्रियोंका त्याग आवश्यक बतलाया है। किन्तु सोमदेवने 'वित्तस्त्री'को भी उक्त व्रतकी मर्यादाके अन्दर ले लिया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया इसके सम्बन्धमें स्वयं उन्होंने तो कुछ लिखा नहीं, हाँ उनके उत्तरकालीन ५० आशाघरने अवश्य कुछ प्रकाश डाला है। सागारधर्माभूतके चतुर्थ अध्यायमें स्वदारसन्तोषका व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं—जो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे, पापके भयसे परनारी और वेश्याको न स्वयं भोगता है और न दूसरोंको ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है। यह ब्रह्माणुव्रत निरतिचार अष्टमूलगुणोंके धारक विष्णुदृष्टि श्रावकके लिए बतलाया गया है। जो गृहस्थ अपनी पत्नीकी तरह साधारण स्त्रियोंका भी त्याग करनेमें अशक्त है और केवल परस्त्रियोंका ही त्याग करता है, वह भी ब्रह्माणुव्रती माना जाता है। क्योंकि ब्रह्माणुव्रतके दो भेद हैं—स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति। यह बात स्वदारसन्तोषव्रतके उक्त लक्षणमें परनारी और वेश्याका निषेध करनेसे निकलती है। इनमेंसे स्वदारसन्तोषव्रत तो देशसमयमें अम्यस्त नैष्ठिक श्रावक पालता है और दूसरा व्रत देशसमयके अभ्यासके लिए तत्पर पाक्षिक श्रावक पालता है, जैसा कि सोमदेव पण्डितने लिखा है।

५० आशाघर आगे और लिखते हैं, वसुनन्दि श्रावकाचारमें—दर्शन प्रतिमाका लक्षण यह बतलाया है—पाँच उटुम्बरोके साथ साथ सातों व्यसनोको जो छोड़ देता है उस सम्यग्दृष्टिको दर्शन श्रावक कहते हैं। अतः वसुनन्दि आचार्यके मतसे व्रत प्रतिमाधारोंके ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप यह है, जो पर्वोंमें स्त्रीसेवन और अनगक्रीडाको सदाके लिए छोड़ देता है उसे स्थूल ब्रह्माणुव्रती कहते हैं। स्वामी समन्तभद्रके मतसे जो दर्शनिक श्रावक है उसके लिए ऊपर कहा हुआ ही ब्रह्माणुव्रत है जो अतिचार छुड़ानेके लिए यहाँ कहा गया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि ५० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्र्यके अभ्यासो श्रावकके लिए है और ५० आशाघर वगैरहने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्र्यमें जो अम्यस्त हो चुका है उस श्रावकके लिए है। इसी तरह वसुनन्दि श्रावकाचारमें जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है, है तो वह भी अम्यस्त देश-समयी नैष्ठिक श्रावकके लिए ही किन्तु उसमें अन्तर इसलिए पड़ा

धातुकाचारोंमें उत्सार्धमूत्रके ही अनुसार विद्वद्राज्याधिक्य नाम दिया है किन्तु रत्नकराज धातुकाचारमें विक्रोप^१ और सोमदेन उपासकाचारमें विग्रहे सङ्ग्रहोर्ध्वस्य नाम दिया है। इसका अर्थ होता है वैद्यम मुख छिन्नोपर धन संभय करना जैसा कि गत मुखके समय किया गया है। विक्रोपका मतलब होता है राजकीय नियमोंकी बजहसेमा करके धन संभय करना और विद्वद्राज्याधिक्यका मतलब होता है जब राज्यमें विप्लव हो जाये तो उचित उपायोंकी ओङ्कर बूझते ही तत्पक्षि धन संभय करना।

विद्वद्राज्याधिक्यका व्याख्यान करते हुए पं आद्याचरजीने कुछ जग्य भी अर्थ किये हैं जो इस प्रकार हैं

(१) राज्यविप्लव हो जानेपर वस्तुओंके मूल्य बढ़ानेका प्रयत्न करना अर्थात् कम कीमती वस्तुओंको भी बहुमूल्य करनेका प्रयत्न करना।

(२) एक राज्यके निवासीका दूसरे राजाके राज्यमें प्रवेश करना। किन्ना है कि अपने राजाकी आज्ञाके बिना दूसरेके राज्यमें जाना यद्यपि खोरी है फिर भी ऐसा करनेवाला यह समझकर ऐसा करता है कि मैंने तो व्यापार किया है खोरी नहीं की। इसलिए उसका वत अर्थ तो नहीं होता किन्तु उसमें रूपय अवश्य लगता है। यद्यपि ऐसा लगता है कि ये बलीचार व्यापारीयगको लक्ष्यमें रखकर बतलाये हैं किन्तु राजा या उसके कर्मचारियोंको भी ये सब सम्भव हैं। पहला और दूसरा तो स्पष्ट ही हैं। जब राजा अपने मन्त्रारमें वस्तुओंका आदान-प्रदान कराते समय अधिक और कम बाटासे खरिदवाता और बिक्रमाता है तो उसको भी तीसरा और चौथा अतिचार लगता है। जब कोई सामन्त अपने राज्यके विरुद्ध मन्त्र करता है तो वह विद्वद्राज्याधिक्य बोवका घामी होता है।

छाटीरहितान विद्वद्राज्याधिक्यका व्याख्यान बूझते ही रूपमें किया है। उसमें किन्ना है कि राजाकी आज्ञा धुन हो या अनुक्त उसका न पाकना विद्वद्राज्याधिक्य है। सम्भवत विद्वद्राज्याधिक्यका यह व्याख्यान अन्तरके गण्यकाङ्के प्रभावसे प्रेरित है। राज्यकारने राज्यके प्रारम्भमें अन्तरकी खूब प्रशंसा की है। अस्तु।

ब्रह्मचर्यानुष्ठान

रत्नकराज धातुकाचारमें किन्ना है कि जो पाप समझकर न तो परस्त्रीयोंके पास स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है उसे परदारनिवृत्ति या स्वदारसन्तोषकृत कहते हैं।^२ उत्सार्धसिद्धिमें किन्ना है कि गृहीत वा अनुगृहीत परस्त्रीके साथ रति न करना ब्रह्मचर्या नीचा अनुष्ठान है। पुस्वार्थ^३ सिद्धिप्राप्तमें किन्ना है कि जो मोहबुध अपनी स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ है अर्थात् नीचे धन स्त्रियोंका सेवन नहीं करना चाहिए। सोमदेन उपासकाचारमें किन्ना है पत्नी और वैष्वाको ओङ्कर जग्य सब स्त्रियोंकी माता बहान और पुत्री समझना गृहस्वका ब्रह्मचर्य है। स्वामी काशिकेशानुष्ठेयाने किन्ना है जो मन बचन और कामसे परस्त्रीको माता बहान और पुत्रीके समान मानता है वह स्मृत ब्रह्मचर्यागुन्ती है। अश्विपथिने भी यही स्वयं ब्रह्मचर्या है। बसुन्दि धातुकाचारमें किन्ना है, पर्यंके दिन स्त्रीभोग और जर्मबलीका जो उपाय किए छोड़ देता है वह स्मृत ब्रह्मचारी है।^४ साधारणमार्गमें किन्ना है जो पापके घमसे मन बचन और कामसे परस्त्री और वैष्वाके पास न स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है वह स्वदारसन्तोषी है।

छाटीरहिताने किन्ना है कि ब्रह्मचर्यानुष्ठानकी वर्मपत्नीका ही सेवन करना चाहिए अन्यका नहीं। उसने रचरहितान परस्त्रीव्यसनके त्यागका उपदेश देते हुए किन्ना है यद्यपि परस्त्रीव्यासना अन्तर्धान नीचे अनुष्ठानमें होता है फिर भी उसका कुछ दिव्यर्शन प्रत्यक्षत नहीं भी कराते हैं—

होता । किन्हींके मतसे अविवाहित कुलगनाका सेवन कर लेना भी परदारनिवृत्तिव्रतका अतिचार है, क्योंकि स्वामीके न होनेसे वह परदार नहीं है, किन्तु लोकमें वह परस्त्री ही मानी जाती है ।

इत्वरिकागमनके इस व्याख्यानके अनुसार स्वदारसन्तोषव्रतीके लिए वेश्यासेवन करना अतिचार है और परदारनिवृत्ति व्रतीके लिए किमीकी रखेली वेश्याके साथ गमन करना अतिचार है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ५० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है वह परदारनिवृत्तिव्रतका ही स्वरूप है । इसीसे उन्होंने उसके अतिचारोंमें 'इत्वरिकागमन'के स्थानमें स्पष्ट 'परस्त्रोसगम' को रखा है ।

यहां 'गमन' के स्थानमें 'सगम' शब्द रखा है, जिसका स्पष्ट अर्थ भोग होता है । 'गमन' शब्दका अर्थ इससे पहलेके किसी ग्रन्थमें हमने नहीं देखा । तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थमिद्धि और राजवातिक टीकामें 'गमन' शब्दका अर्थ नहीं किया । हां, श्रुतसागरी वृत्तिमें तथा कार्तिकेयानुप्रेषाकी शुभवन्द्याचार्यप्रणीत स०टीकामें किया है । जघन आदिको ताकना, बातचीत करना, हाथ-भा आदि चलाना इत्यादि रागपूर्ण चेष्टाओंको गमन कहते हैं । ५० आशाघरने भी गमनका अर्थ सेवन किया है । लाटीसहितमें गमनका अर्थ रागपूर्ण बातचीत, शरीरस्पर्श अथवा रति लिया है ।

इस तरह ब्रह्माणुव्रती इत्वरिकाके साथ यदि गमन करता है तो वह अपने व्रतमें अतिचार लगाता है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस तरह त्रिपथोंमें प्रवृत्ति करना तभीतक अतिचार है जबतक कभी-कभी ही इस तरह प्रवृत्ति की जाती हो । यदि उसमें अति प्रवृत्ति की गयी तो फिर वह अनाचार ही कहा जायेगा, अतिचार नहीं ।

परिग्रहपरिमाणव्रत

तत्त्वार्थसूत्र ७।१७ में मूर्छाको परिग्रह कहा है । और सर्वार्थसिद्धिमें उसको व्याख्या करते हुए बाह्य गौ, भैंस, गण, मुक्ता वगैरह चेतन-अचेतन और रागादि भावोंके सरक्षण, अर्जन आदिरूप व्यापारको मूर्छा कहा है । उसपर यह शका-समाधान किया गया है,

शका—तब तो बाह्य परिग्रह नहीं बनती, क्योंकि आध्यात्मिकका ही ग्रहण किया है ।

समाधान—आपका कथन ठीक ही है । प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही ग्रहण किया है क्योंकि बाह्यमें परिग्रहके अभावमें भी 'यह मेरा है' ऐसा सकल्प करनेवाला परिग्रही होता है ।

शका—तो क्या बाह्य परिग्रह होता ही नहीं ?

समाधान—मूर्छाका कारण होनेसे बाह्य भी परिग्रह होता है ।

शका—यदि 'यह मेरा है' इस प्रकारका सकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञानादिको भी परिग्रह कहा जायेगा, क्योंकि जैसे रागादि भावोंमें 'यह मेरे है' इस प्रकारका सकल्प करना परिग्रह है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिमें भी 'यह मेरे है' ऐसा सकल्प किया जाता है ।

- १ "तत्र इत्वरिकागमनम्—अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुश्चलित्वेन वा पुरुषानेति गच्छतीत्येव-शीला इत्वरि । तथा प्रतिपुरुषमेतीत्येवशीलेति व्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी । तत कुत्साया के इत्वरिका । तस्या गमनमासेवनम् । इय चात्र भावना—माटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रोक्त्य वेश्यां वेत्वरिका सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भङ्गो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग इति भङ्गामङ्गरूपत्वादित्वरिकाया वेश्यात्वेनास्यास्त्वनाथतयैव परदारत्वात् । किं चास्य माट्यादिना परेण किञ्चित्काल परिगृहीता वेश्या गच्छतो भङ्ग कथञ्चित्परदारत्वात्तस्या । लोके तु परदारत्वारुढेन भङ्ग इति भङ्गामङ्गरूपोऽतिचार । अन्ये स्वपरिगृहीतकुलाङ्गनामप्यन्य-दारवर्जिनोऽतिचारमाहु । तत्कल्पनया-परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभङ्गो लोके च परदारतया रुढेर्भङ्ग इति भङ्गामङ्गरूपत्वात्तस्य ।"

—सागा० टी०, अ० ४, श्लोक ५२।

- २ "जघनवदनस्तनादिनिरीक्षण समापण पाणिभुचक्षुरन्तादिसंज्ञाविचातमित्येवमादिक निखिल रागित्वेन दुश्चेष्टित गमनमित्युच्यते ।"

कि बसुन्धिके मतसे दशनिक ध्याक सात व्यसन छोड़ चुकता है। और सात व्यसनोमें परनारी और बेस्मा दोनों का बाटी है। अतः जब वह जागे बढकर बूखरी प्रतिमा बारण करता है तो वहाँ ब्रह्माण्डवर्तमें वह स्वपत्नीके साथ भी पूर्वके दिन काम भोग जाधिका रखा करता है। मगर स्वामी समन्तमन्त्रके मतसे दर्शन-प्रतिमामें छत्त व्यसनोके त्यागका विधान नहीं है अतः उनके मतसे दर्शनप्रतिमाका बारी जब अतप्रतिमा बारण करता है तो उसका ब्रह्माण्डवर्त नहीं है जो अन्य ध्याकधारामें बतकाया है। यह पं आद्याचरजीका सम लय है।

किन्तु ब्रह्माण्डवर्तके स्वधारसन्तोष और परधारमिभूति नामके दो चेदोमें विभाजित अन्य किसी भी जाबायमें नहीं किया। स्वामी समन्तमन्त्रने तो दोनोंको एक हो उनके नामान्तर बतकाया है। हाँ स्वेताम्बर-ध्याय होनबनने अपने योगसास्त्रमें अथवा ये शेष किये हैं और पं आद्याचरने भी इन्हीं बहूति किया प्रतीय होता है। यह साधारणमामुस और योगसास्त्रकी टीकाओंका मिथान करनेसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। अतः यद्यपि वह ठीक है कि पं सोमदेवका उक्त कथन प्रारम्भिक ध्याकके लिए है तथापि यह स्पष्ट है कि ब्रह्माण्डवर्तका इस तरहका जलन अन्य किसी भी ध्याकधारामें हमने नहीं देखा और इसलिए यह सामयिक परिस्थितिसे प्रभावित है। इनका छिन्नकर जब हम ब्रह्माण्डवर्तके अतिचारोंपर आते हैं।

ब्रह्माण्डवर्तके अतिचार

ब्रह्माण्डवर्तके अतिचार उत्सार्धसूत्रमें इस प्रकार बताये हैं — परविवाहकरन इत्वरिका वरिगुहीतागमन इत्वरिका अपरिगुहीतागमन जननबन्धन कामतीक्षाभिविषय। बारिबहार, पुस्कावसिद्धिपुण्य अमितगति ध्याकधार और काटीछद्दिठामें से ही अतीचार बतकाये हैं। रत्नकरण ध्याकधारमें इत्वरिका वसन्त नामका एक ही अतिचार है बूखरी पृति बित्तव नामके अतिचारों की गयी है। शेष तीन अतिचार उक्त अतिचारोंके समान हैं। पं आद्याचरने रत्नकरणके अनुसार ही पाँच अतिचार पिनये हैं। पं सोमदेवने इत्वरिका गमनके स्थानमें 'परस्त्रीसंगम' नामका अतिचार गिनाया है और बित्तवके स्थानमें 'रतिरहित्य'।

उत्सार्धसूत्रकी सर्वाभिहित जावि टीकाओंमें उक्त अतीचारोंका जो स्वल्प बतकाया है उसके अनुसार बूखरी कहा करता पहाता अतिचार है। जो अन्य पुस्तकोंके पास बाटी है उस स्त्रीको इत्तरी कहते हैं। जिसका एक पति होता है वह परिगुहीता है और जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसी बेस्मा वरिण्ड अपरिगुहीता है उनमें जाना ये बूखर और तीछर अतिचार हैं। कामदेवनेके अंतर्गत अन्यत्र कामकीया करना जननबन्धन है और कामनायकी अविक्रता पाँचवाँ अतीचार है।

पं आद्याचरने साधारणमामुसकी टीकामें इन अतिचारोंका अच्छा बूझाया किया है जो होनबन्धा ध्यायके योगसास्त्रका अन्वी है। उसमें उन्होंने ब्रह्माण्डवर्तके जो दो शेष किये हैं उनके अनुसार ही इत्वरिका-वसन्त का व्याख्यान भी किया है जो अन्य विगम्बर साहित्यसे मेल नहीं खाता।

इत्वरिकावसन्तकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं इत्वरिका अर्थात् अतिचारिणी स्त्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं, एक जो बूझा अतिचार करती है अन्य बेस्मा कहते हैं और बूखरी वे जो यद्यपि अस्वामिका होती हैं किन्तु बूझा अतिचार नहीं करती। 'दोनों प्रकारकी स्त्रियोंका सेवन करना स्वधारसन्तोषवर्तका अतिचार है। यद्यपि उनका धृष्ट चुका केनेसे कुछ कालके लिए वे 'स्वधार' हीं जाती हैं। इसलिए वतकी कर्षण रता हो जाती है। और वास्तवमें वह स्वधार नहीं है अतः कर्षण प्रसन्न भी होता है।

इस प्रकार 'इत्वरिकावसन्त'को स्वधारसन्तोषवर्तका अतिचार बतकाकर पं आद्याचरजी छते परधारमिभूति नामक बूखरी छतका अतिचार इस प्रकार बतलाते हैं

'किसी मनुष्यकी रबोसी बेस्माके साथ सहवास करनेसे परधारमिभूतिवर्त लय होता है क्योंकि वह बेस्मा छत समय एक तरहसे परवार है। किन्तु लोकमें वह 'परवारा' नहीं मानी जाती अतः अतमन नहीं

होता । किन्हींके मतसे अविवाहित कुलागनाका सेवन कर लेना भी परदारनिवृत्तिघ्नका अतिचार है, क्योंकि स्वामीके न होनेसे वह परदार नहीं है, किन्तु लोकमें वह परस्त्री ही मानी जाती है ।

इत्वरिकागमनके इस व्याख्यानके अनुसार स्वदारमन्तोपघ्ननीके लिए वेश्यासेवन करना अतिचार है और परदारनिवृत्ति घ्नीके लिए किसीकी रखेली वेश्याके साथ गमन करना अतिचार है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प० मोमदेवने जो ब्रह्माण्डगतका स्वरूप बतलाया है वह परदारनिवृत्तिघ्नका ही स्वरूप है । इसीसे उन्होंने उसके अतिचारोंमें 'इत्वरिकागमन'के स्थानमें स्पष्ट 'परस्त्रीसगम' को रखा है ।

यहाँ 'गमन' के स्थानमें 'सगम' शब्द रखा है, जिनका स्पष्ट अर्थ भोग होता है । 'गमन' शब्दका अर्थ इससे पहलेके किसी ग्रन्थमें हमने नहीं देखा । तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीकामें 'गमन' शब्दका अर्थ नहीं किया । हाँ, श्रुतसागरी वृत्तिमें तथा कानिकेयानुप्रेक्षाकी शुभचन्द्राचार्यप्रणीत स०टीकामें किया है । जघन आदितो ताकना, बातचीत करना, हाथ-भों आदि चलाना इत्यादि रागपूर्ण चेष्टाओंको गमन कहते हैं । प०आशाधरने भी गमनका अर्थ सेवन किया है । लाटीमहितामें गमनका अर्थ रागपूर्ण बातचीत, शरीरस्पर्श अथवा रति लिया है ।

इस तरह ब्रह्माण्डगत इत्वरिकाके साथ यदि गमन करता है तो वह अपने व्रतमें अतिचार लगाता है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस तरह विषयोंमें प्रवृत्ति करना तभीतक अतिचार है जबतक कभी-कभी ही इस तरह प्रवृत्ति की जाती हो । यदि उसमें अति प्रवृत्ति की गयी तो फिर वह अनाचार ही कहा जायेगा, अतिचार नहीं ।

परिग्रहपरिमाणव्रत

तत्त्वार्थसूत्र ७।१७ में मूर्छाको परिग्रह कहा है । और सर्वार्थसिद्धिमें उसकी व्याख्या करते हुए बाह्य गो, भैस, मणि, मुक्ता वगैरह चेतन-अचेतन और रागादि भावोंके सरक्षण, अर्जन आदिस्व व्यापारको मूर्छा कहा है । उसपर यह शका-प्रमाधान किया गया है,

शका-तब तो बाह्य परिग्रह नहीं बनती, क्योंकि आध्यात्मिकका ही ग्रहण किया है ।

समाधान-आपका कथन ठीक ही है । प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही ग्रहण किया है क्योंकि बाह्यमें परिग्रहके अभावमें भी 'यह मेरा है' ऐसा सकल्प करनेवाला परिग्रही होता है ।

शका-तो क्या बाह्य परिग्रह होता ही नहीं ?

समाधान-मूर्छाका कारण होनेसे बाह्य भी परिग्रह होता है ।

शका-यदि 'यह मेरा है' इस प्रकारका सकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञानादिको भी परिग्रह कहा जायेगा, क्योंकि जैसे रागादि भावोंमें 'यह मेरे है' इस प्रकारका सकल्प करना परिग्रह है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिमें भी 'यह मेरे है' ऐसा सकल्प किया जाता है ।

१. "तत्र इत्वरिकागमनम्-अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुश्चलित्वेन वा पुरूपानेति गच्छतीत्येव-शीला इत्वरि । तथा प्रतिपुस्वमेतीत्येवशीलेति न्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी । तत कुत्साया के इत्वरिका । तस्या गमनमासेवनम् । इय चात्र भावना-भाटिप्रदानाद्विगतकालस्वीकारेण स्वकलत्रोक्त्य वेश्या वेत्वरिका सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वावृत्तकालपरिग्रहाच्च न भङ्गो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग इति भङ्गामङ्गरूपत्वादित्वरिकाया वेश्यात्वेनास्यास्ववनाथतयैव परदारत्वात् । किं चास्य माट्यादिना परेण किंचित्काल परिगृहीता वेश्या गच्छतो भङ्ग कथंचित्परदारत्वात्तस्या । लोके तु परदारत्वारुद्धेर्न भङ्ग इति भङ्गामङ्गरूपोऽतिचार । अन्ये स्वपरिगृहीतकुलाङ्गनामप्यन्य-दारवर्जिनोऽतिचारमाहु । तत्कल्पनया परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभङ्गो लोके च परदारतया रूढेर्भङ्ग इति भङ्गामङ्गरूपत्वात्तस्य ।"

—सागा० टी०, अ० ४, श्लोक ५२।

- २ "जघनवदनस्तनादिनिरीक्षण समापण पाणिभुचक्षुरन्तादिमज्ञाविवातमित्येवमादिक निखिल रागित्वेन दुश्चेष्टित गमनमित्युच्यते ।"

समाधान—युक्त होय ठीक मझे है। क्याकि प्रमादका होय भी होना चाहिए। अतः सम्मन्त्रण सम्मर्पण और सम्मन्त्रणारिजे युक्त अप्रमादी पुरुषक मोहका अभाव होनेसे मुक्ति मही है अतः यह अपरिग्रही है। किन्तु रागादि तो कर्मके लक्ष्यसे होते हैं इसलिये न आत्मस्वभावक्य न होनेसे हेम है। अतः उनमें 'यह मेरे है' इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है। यही सब होयोंका मूल है। क्याकि यह मरा है इस प्रकारका संकल्प होनेपर संरक्षण बगैरह किया जाता है। अतः हिंसा अक्षय्य होती है। उसके लिये मनुष्य झूठ बोलता है। चोरी करता है। मीथुन कयमें प्रयुक्त होता है।

इस तरह परिग्रहकी भावनाका मूल ममत्वभाव है इसलिये उसे ही परिग्रह कहा है। किन्तु जब काम्य जाति बाह्य वस्तु उस ममत्वभावमें कारण होती है इसलिये उन्हें भी परिग्रह कहा है। इसीसे रत्न करणभावकाकारम बोधिका समन्वय करके सब धान्य जाति परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिकतम निःस्पृह होनेको परिग्रह परिमाणवत्त कहा है और उसका घुसरा नाम इच्छापरिमाण बतकाया है।

पहले लिख जाये है कि स्वाधी बुद्धबुद्धम इस वृत्तका नाम 'परिग्रहपरिमाणविरमय' दिया है अर्थात् परिग्रहपरिमाणवृत्तीको परिग्रहके साथ आरम्भका भी नियम करना चाहिए, किन्तु इस प्रकारका निर्देश जग्य नही मिलता। ध्याय इसका कारण यह हो कि वा परिग्रहका परिमाण कर केता है उसके आरम्भका परिमाण तो स्वतः हो जाता है, क्योंकि परिग्रहके संकल्पके लिये ही आरम्भ किया जाता है। आचार अमित-पतिन जवन उपासकाचारमें लिखा भी है

सर्वाभ्यां काले संपद्यन्ते परिग्रहविनिष्ठाः।

स्वल्पवत् यः सर्वं स्वल्पवति नः सर्वमारम्भम् ३०५॥

अर्थात् जोकमें सब आरम्भ परिग्रहके लिये किये जाते हैं। ओ परिग्रहको कम करता है वह समस्त आरम्भको कम करता है।

उत्पाद्यमान और उसकी प्राचीन टीकाजाले सक्त कवनको लक्ष्यमें रखकर सोमदेव मुरिने भी बाह्य और आत्मन्तर वस्तुओंमें यह मेरा है इस प्रकारक संकल्पको परिग्रह बतलाकर उसके विषयमें चित्तको संकुचित करनेका अर्थात् ममत्वभावको घटानेका विधान किया है।

परिग्रहके सचित्त अचित्त तथा अन्तरंग बहिरंग भेदोंका निर्देश तो सर्वार्थसिद्धिकारने ही कर दिया था। किन्तु उनकी संस्वाका निर्देश पुरुषावलिखपुण्य और ज्ञानसाध्ययन मिलता है। किन्तु पुष्पाक-सिद्धपुण्य (इको ११५-११७) में अन्तरंग परिग्रहके तो औरह भेद बतकाय है और बहिरंग परिग्रहके केवल सचित्त-अचित्त दो ही भेद बतलाये हैं। परन्तु उपासकाध्ययनम बहिरंग परिग्रहके इन भेद बतलाये हैं। जन्म कुछ संवेदन है और कुछ अवेदन है। तथा जनेक दलीकेंके द्वारा परिग्रहकी घुसराई बतकायी है।

एक मूढत्वकी विनयी परिग्रहका परिमाण करना चाहिए इसका चलेकल पूर्णतः सम्मति नहीं मिलता। जोन मनमते है कि एक इकारणति एक कराइकी सम्पत्तिवा परिमाण कर के तो वह भी परिग्रहपरिमाणवृत्ती है। इनमें समझ नहीं कि परिमाण न जग्यमें ना ऐसा परिमाण कर लेना भी बेहतर है क्योंकि उनको पुष्पाकी एन मर्वाश तो बंध जाती है। किन्तु परिग्रह परिमाणजनका यह आशय कथारि नहीं है कि पावक अधिकसे अधिक बढ़ाकर परिग्रहका परिमाण करे। स्वाधी नवतिनेमानुवेष्टान इसका अच्छा सहीकरण दिया है। उसमें लिखा है

आ लोहं निहगिता सतामरमावयेन मनुद्धा।

निहगति निहदा बुद्धा मण्यता विनामरं मण्य ३३२५॥

आ विदियार्थं बुद्धदि यक्षपालसुबर्णनिपत्तार्थम्।

उपजाता जागिता अजुप्यर्थं बंधनं मण्य ३३४ ॥”

जो लोभको मारकर, सन्तोपरूपी रसायनसे सन्तुष्ट होता हुआ दुष्ट तृष्णाका वध कर देता है और सब पदार्थोंको विनश्वर जानकर धन, धान्य, सुवर्ण, जमीन वगैरहकी आवश्यकताको समझकर परिमाण करता है उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है ।

इससे स्पष्ट है कि अपनी आवश्यकताको समझकर ही परिमाण करना चाहिए, अनावश्यक द्रव्यका परिमाण करनेवाला तृष्णा और लोभके वशीभूत होनेके कारण परिग्रहपरिमाणव्रती नहीं कहा जा सकता । लाटीसहितामें तो इसे और भी सुन्दर रीतिसे स्पष्ट किया है । उसमें लिखा है,

“परिमाणे कृते तस्मादर्वाह्मृच्छा प्रवर्तते ।
अभावान्मृच्छायास्तुद्ध्वं मुनित्वमिव गीयते ॥८५॥
तस्मादात्मोचिताद् द्रव्याद् हासन तद्विरम्यते ॥८६॥
अनात्मोचितसकल्पाद् हासन यन्मनीषया ।
कुर्युर्द्वान न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥८७॥”

जितने द्रव्यका परिमाण कर लिया जाता है, ममत्व उसके अन्दर ही रहता है । उससे अधिकमें ममत्वका अभाव होनेसे वह मनुष्य मुनिकी तरह माना जाता है । अतः अपने योग्य द्रव्यको घटाना ही श्रेष्ठ है । अपने लिए अनावश्यक द्रव्यका संकल्प करके उमोमें कमी करना तो व्यर्थ है । अपने सकल्पित अनावश्यक द्रव्यको कम करो या मत करो, वह सब आकाशमें चित्र बनानेकी तरह व्यर्थ है ।

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि अपने पास जो कुछ है उसमेंसे भी कम करना चाहिए । जो नहीं है उममें कम करना बेकार है । जैसे जिस मनुष्यके पास एक हजार रुपया है वह यदि परिग्रहपरिमाण धारण करते समय यह सोचकर कि इससे ज्यादा रुपया तो मेरे पास होगा नहीं, एक करोड़का परिमाण कर ले तो उसने कम क्या किया । इसी तरह यदि वह एक करोड़को घटाकर पचास लाखका परिमाण कर ले तब भी उसने क्या त्यागा । त्याग तो वर्तमानमें जो मौजूद है उसका किया जाना चाहिए न कि उसका जिसकी अभी सम्भावना भी नहीं है ।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हजारपति यदि करोड़का परिमाण कर लेता है तो उसे उसका फल अगले जन्ममें मिलेगा । लाटी सहिताकार^१ कहते हैं कि इसमें कुछ भी सार नहीं है । और वस्तुतः उनका कहना ठीक है, आखिर उसने क्या त्यागा जिसका उसे परलोकमें फल मिले । इसलिए लाटीसहिताकारके अनुसार व्रती पुरुषोंको मनुष्य पर्यायिकी स्थिति मात्रके लिए आवश्यक वन रखना चाहिए और बाकी सब छोड़ देना चाहिए । यह उत्सर्ग मार्ग है । तथा गृहीत व्रतोंकी रक्षा हो, उनमें कोई हानि न हो इस बातका ध्यान रखकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए, यह अपवाद मार्ग है ।

अतिचार

परिग्रहपरिमाणव्रतका अतिचार उपासकाध्ययन सहित सभी श्रावकाचारोंमें तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार ‘लोभमें आकर लिये हुए परिमाणमें अतिक्रम कर लेना ही’ बतलाया है । किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचार और

१ “प्रत्यग्रजन्मनीहेदमत्यन्ताभावलक्षणम् ।

तत्त्यागोऽपि वर कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥८८॥

तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम् ।

रक्षणीय व्रतस्यैस्तैस्त्याज्य शेषमशेषतः ॥८९॥

अपवादस्तूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा ।

स्याद्वा न स्यात्तु तद्वानि मख्यातन्यस्तथोपधि ॥९०॥”

सागारधर्मात्मक विभिन्न प्रकारसे उसके अतिचार बतलाय है । रत्नकरणमें नीचे किन्हे अतिचार विनाय है

१. अतिबाह्य—देख मनुष्य बगैरह जितनी दूर तक मुक्तपूषक तक सकते हैं सोममें जाकर उससे अधिक दूर तक उन्हें बछाना ।
२. अतिस्वयं—मान्य बगैरह जाये जाकर मूल काम दिया इस भावसे सोममें जाकर आध्यात्मिक वस्तुवाका संग्रह करना ।
३. अतिविस्मय—मूल कामसे उनके बेचनेपर भी खरीदनेवालेको अधिक काम होता देख कर खेद करना ।
४. अतिशोक—मूल काम होनेपर भी अधिक कामकी इच्छा करना ।
५. अतिमारवह्य—सोमके कारण मनुष्य या पशुधोपर उनकी क्षतिसे अधिक भार काटना ।

सागारधर्मात्मक पाँच अतिचार इस प्रकार बतलाय हैं— १. मरुत और खेतमें पासका कुछ मरुत और खेत मिला केना । २. अपने घरका भाग्य और पशुवन बेच लेनेके बाद यह भाग्य और घर के सैमा ऐसा विचार कर परिमाणसे अधिक धन और भाग्यको बेचनेवालेके वरपर ही रहना । ३. घटकी अवधि पूरी होनेपर व सोना चाँदी के सैमा इस भावसे परिमाणसे अधिक सोना चाँदी कुछरुको ॥ रहना । ४. कौसी पीतल बरतण्डके बरतण्डकी संख्या परिमाणसे अधिक हो जानेपर कृतार्थके मयसे दो दो बरतण्डकी मिलाकर एक करना । ५. परिग्रहपरिमाणकृत कितने बिकोके लिए है उसके आन्तर ही यदि ये पाय बगैरह बचना देँदी तो अधिक संया हो जानेसे कृतार्थ हो जायेगा इस मयसे अवधिका अव कितना हो काक बीत जाये तब पाय बगैरहको स्वागत होने देना पाँचवाँ अतिचार है ।

यद्यपि ये अतिचार भी हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके आचारपर बतलाय गये हैं फिर भी तत्पार्थक्यम जो अतिचार बतलाये हैं यह उनका ही विस्तार है । अतः स्वामी सत्यन्तमहर्षके सिवा अन्य सब शास्त्रकारोंके द्वारा बतलाये गये अतिचार समान ही हैं ।

अष्टमुक्त्युच और पाँच अनुष्ठानके अन्त मुक्त्युक्त्युच अनुष्ठीतनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जीवन आचारका मूल अहिंसा है । उस अहिंसाले व्यवाहारम अनेके लिए ही अष्टमुक्त्युच और छेप बार अनुष्ठान बतलाये गये हैं । भौतिक मरुत-सुखा जल वासी जीवन तथा अन्य संशय विरुद्ध पदार्थोंका मरुत करनेसे मांस और मद्यके सेवनका शेष समता है अतः ऐसे ज्ञान-प्राप्तको विभिन्न बतलाया गया । और इसपर बहुत अधिक और दिया गया । मेरा ऐसा विचार है कि पाँच अनुष्ठानके प्राचीन मूलधर्मोंमें पाँच पापोंके स्वान्तर्गम जो पाँच अनुष्ठानकी स्थापना किया गया इसने जीवन-प्राप्ति के विचारों को ही बरक दिया क्योंकि पाँच अनुष्ठान और तीन मरुतके त्यागक्य अष्टमुक्त्युच वैदिक ज्ञान-प्राप्तसे सम्बन्ध रखते हैं जब कि पाँच अनुष्ठान मरुत माहौलिक व्यवाहारसे सम्बन्ध है अतः जीवन मूल्यका जीवन ज्ञान-प्राप्तसम्बन्धी आचारकी ओर तो विशेष ध्यान देने लगे और सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाणक प्रति अवासीन होते गये । अष्टान वैदिक पुरुष ज्ञान-प्राप्तको ही अहिंसाका अन्त समझा और उत्तर कालमें यही कोनोंको समझाया भी गया । हमारे स्वामीवर्गका भी दृष्टिकोण उसी ओर रहा और वर्तमानमें भी है । वे भी जब किसी व्यापक या धार्मिकसे त्याग कराने हैं तो धाने-पीनेकी वस्तुओंका ही त्याग कराते हैं । हमने किसीकी भी उपास्यव्यवहार करनेकी सेन-सेन वेदमायी न करनेकी बसकर दूर न करनेकी ग्यायते जन अपात्रित करनेकी व्यवहारसम्योप कन पारय करनेकी या अकरतसे अधिक संभव न करनेकी प्रतिज्ञा लेते या सिंघाते नहीं देना ।

अनुष्ठानक अतिचार मनुष्यकी वयसीरिक्तों के या यह कहना होगा कि उसकी आत्माक मुक्तिके अहित उपाहरक हमारे सामने रखते हैं । और उनका मुक्त्युक्त्युच अनुष्ठीतन नामक परिस्थितपर तथा हमारे आचारोंकी समयवर्धितपर अच्छा प्रज्ञा बाचना है ।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

अब हम गुणव्रत और शिक्षाव्रतोपर आते हैं—

१. आचार्य कुन्दकुन्दने दिशा-विदिशा प्रमाण, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।
२. तत्त्वार्थसूत्रमें गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद न करके मात शील बतलाये हैं—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थ-दण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसन्निभाग। सल्लेखनाको उसमें अलगसे बतलाया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामें शुरूके तीन व्रतोंको गुणव्रत बतलाया है किन्तु शेष चारको कोई नाम नहीं दिया।
३. रत्नकरण्डश्रावकाचारमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और देशवकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं, सल्लेखनाको पृथक् बतलाया है।
४. पञ्चरितमें अनर्थदण्डव्रत, दिग्विदिकृत्याग, भोगोपभोगसंख्यान ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसन्निभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं। भावमग्नहमें भी यही क्रम अपनाया है।
५. हरिविंशपुराणमें गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार गिनाये हैं किन्तु शिक्षाव्रतोंमें भोगोपभोगपरिमाणको न गिनाकर सल्लेखनाको गिनाया है।
६. आदि पुराणमें दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रतको गुणव्रत बतलाकर लिखा है। कोई भोगोपभोगपरिमाण-व्रतको भी गुणव्रत कहते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसन्निभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।
७. पुष्पार्थसिद्धयुपाय, सोमदेव उपासकाध्ययन, चारित्रसार, अमितगति उपासकाचार, पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका और लाटीसहितामें तत्त्वार्थसूत्रका ही क्रम अपनाया गया है।
८. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा और सागारधर्मामृतमें रत्नकरण्डश्रावकाचारके अनुसार बतलाये हैं।
९. वसुनन्दि श्रावकाचारमें गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार है और शिक्षाव्रत इस प्रकार है—भोगविरति, परिभोगविरति, अतिथिसन्निभाग और सल्लेखना।

इन सबका वर्गीकरण इस प्रकार होता है—

१. आचार्य कुन्दकुन्द और रविपेणका एक मत है या यह कह सकते हैं कि पञ्चरितमें चारित्रप्राप्तके अनुसार ही गुणव्रत और शिक्षाव्रत बतलाये हैं। सम्भवत यही प्राचीन परम्परा हो। प्राकृत भाव-संग्रह और सावयधम्मदोहामें भी यही क्रम है।
२. रत्नकरण्डश्रावकाचारमें उक्त परम्परासे केवल इतना अन्तर है कि उसमें शिक्षाव्रतोंमें सल्लेखनाके

१ चारित्रप्रा० गा० २४, २५। २ अ० ७, सू० २१। ३ श्लो० ६७ और ९१। ४ पर्व १४, श्लो० १९८, १९९। ५ म० १८, श्लो० ४६, ४७। ६ पर्व १०, श्लो० ६५, ६६। ७ गा० ३४१—३६८। ८ गा० २१३ आदि।

९ यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका वही क्रम है जो रत्नकरण्डमें बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रके श्वेताम्बरसम्मत पाठमें भी सात शीलव्रतों-का वही क्रम है जो डिगम्बरसम्मत पाठमें। फिर भी उसके टीकाकार सिद्धमेन गणिने गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेद अपनी परम्पराके अनुसार ही गिनाये हैं अर्थात् इन सात शीलव्रतोंमेंसे दिग्व्रत, भोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं और शेष चार शिक्षाव्रत हैं।

स्वानमें देशावकाशिकी स्थापन किया है।

३. आरिपुराण भी कुम्भकुम्भकी ही परम्पराको अपनाता है। अन्तर इतना है कि उसमें पुण्यत तत्त्वाव मूकके अनुसार गिनाकर भी भोगोपभोगपरिमाणको पुण्यत माननेका भी उल्लेख किया है। हरिचंदा पुराणमें भी पुण्यत तो तरशायमूकके अनुसार बगनाये हैं किन्तु विज्ञापित आरिपुराणमूकके अनुसार बगनाये हैं।
४. आरिपुराणमूकके सामने तरशायमूकमें बूमरी हो परम्परा स्थापित की, जिसका अनुसरण उत्तरकालमें अधिक किया गया है।

दूसरे प्रकारसे इन वर्गीकरणका विस्लेषण इस प्रकार भी किया जा सकता है—

१. दिव्यत और अन्तर्याम्यतको पुण्यत सबने माना है तथा सामायिक भोगोपभोग और अतिपिचिन्मात्र-को विज्ञापित अनुमन्त्रिके सिवा सबने माना है। अनुमन्त्र सामायिक और भोगोपभोगके स्थानमें लोक-विरहित और परिभोगविरहित पड़ते हैं। एक भोगोपभोगपरिमाणमूकके भी और इस तरह अन्य किसी भी ग्रन्थमें हमारे देखनेमें नहीं आया।
२. दोन रङ्ग आते हैं— देशज भोगोपभोगपरिमाण और उल्लेखना। कुम्भकुम्भ देशज मानने ही नहीं। समस्तग्रन्थ मानते हैं किन्तु विज्ञापनमें उसे गिनते हैं यज्ञश्रुतिमें नहीं जब कि तरशायनमें देशजको पुण्यश्रुतिके साथ गिना है। यद्यपि उसमें पुण्यत और विज्ञापित भेद नहीं किये गये।
३. भोगोपभोगपरिमाणमूकके हरिचंदापुराणके निवा लक्षने माना है किन्तु एक परम्परा उसे पुण्यश्रुतिमें विनयी है और दूसरी विज्ञापितता।
४. समस्तग्रन्थों मानते सभी हैं किन्तु कुम्भकुम्भको परम्परा उसे विज्ञापिततामें विनयी है जब कि तरशायनमूक और रत्नकरन्द दोनों ही उसे अपना रखते हैं।

यह हम ऊपर लिख आये हैं कि तरशायमूकमें उक्त पुण्यश्रुति और विज्ञापितताकी सीमा बड़ा है और सर्वाधिकारिमें इनका साथ सर्वाधिकार रखा करना बगनाया है। उन्नीचा अनुसरण करते हुए अनुमन्त्राचार्यने (पुराण-संकोच ११६) लिखा है कि जैसे प्राकारमें नवरत्नी रखा होती है वैसे ही सीतांजलि सर्वाधिकार रखा होती है इसलिये सर्वाधिकार माननेके लिये सीतांजलि की मान्यता चाहिए।

यह भी हम वही लिख आये हैं कि सर्वाधिकारिमें आरिचंदा सीमा सीमाकी पुण्यत मन्त्रा तो है किन्तु दोनवीं विज्ञापित मन्त्रा नहीं है। यही बात हम वदपुराणमें तथा चारुचन्द्रम भी पाते हैं। दोन बार सीतांजलि विज्ञापित मन्त्रा रत्नकरन्दभाषाभाषारमें बराबरलिखित (१५, १११)में और उपासकाध्ययनमें तथा इनके मन्त्र बालीन आरिचंदाकारमें तथा उत्तरबालीन अनुमन्त्र भाषाभाषार साधारणवर्णमन्त्र बराबरलिखित पाते हैं। रत्नकरन्द में पुण्यतका लक्षण तो दिया है किन्तु विज्ञापनका लक्षण हमें साधारणवर्णमन्त्र ही देकरका मिलता है। रत्नकरन्द (पृ. ६७) के अनुसार मुक्तोमें वृद्धि करनेके कारण दिव्यत अन्तर्याम्य और भोगोपभोग वरिष्ठतय पुण्यत है। और साधारणवर्णमन्त्रके अनुसार भी मन्त्रश्रुति उपकार करे उसे पुण्यत बताने है और भी अन्त्यामके लिये ही उसे विज्ञापित बताने है। सर्वसाधारण मन्त्रोमें यही लक्षण पाया जाता है। पुण्यत और विज्ञापनमें अन्तर बगनाये हुए लिखा है कि सामायिक देशावकाशिक भोगोपभोग और अतिपिचिन्मात्र के स्थानवर्णमन्त्र ही है तथा पुण्यश्रुतिमें इनका भेद है। पुण्यत या साधारण वरिष्ठतय होने है। इनमें के भी सामायिक और देशावकाशिक तो अतिपिचिन्मात्र किसे माने है और भोगोपभोग तथा अतिपिचिन्मात्र अति-विद्यत ही ही किसे माने है अतिपिचिन्मात्र नहीं किसे माने है। वं साधारणमें भी देशजको विज्ञापित बगनाये हुए यही उपासित ही है। अन्त्यामके लिखा है कि विज्ञापित उपासित होनेके तथा विद्यतवर्णमन्त्रके लिये होनेके देशज

शिखाग्रत है यह दिग्गतकी तरह जीवनपर्यन्तके लिए नहीं होता । तत्त्वार्थसूत्र वगैरहमें जो इसे गुणग्रत बतलाया है, वह केवल दिग्गतको मकुचित करनेकी दृष्टिसे बतलाया है ।

दिग्विरतिग्रत, देशविरतिग्रत और अनर्थदण्डविरतिग्रत, इन तीनों गुणग्रतोके स्वरूप और अतिचारोंमें कोई अन्तर नहीं है । सभी ग्रन्थकारोंने प्रायः एक-सा ही कथन किया है । सोमदेव सूरिने गुणग्रतोका कथन बहुत संक्षेपमें किया है किन्तु शिक्षाग्रतोका कथन बहुत ही विस्तारमें किया है । पहला शिक्षाग्रत है सामायिक । सामायिकका कथन रत्नकरण्डमें आठ श्लोकोंके द्वारा विस्तारसे किया है और उनमें सामायिकका समय, स्थान, विधि आदि आवश्यक बातें बतला दी हैं । तदनुसार एकान्त स्थानमें, वनमें, मकानमें या चैत्यालयमें बाह्य व्यापारसे मनको हटाकर तथा पर्यकासनमें बैठकर अन्तरात्मामें लीन होना सामायिक है । उपवास और एक-भुक्तिके दिन सामायिक करना चाहिए तथा प्रतिदिवस भी करना चाहिए । उससे पाँचों व्रतोंकी पूर्ति होती है । सामायिकमें न कोई आरम्भ होता है और न परिग्रह, अतः उम ममय गृहस्थ भी वस्यसे युक्त मुनिकी तरह प्रतीत होना है ।

तत्त्वार्थसूत्र (७।२१) के टीकाकार पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें और अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें 'समय'का अर्थ 'एकत्व रूपमें गमन' किया है और उसे ही सामायिक बतलाया है । अर्थात् मन वचन काय-की क्रियाओंसे निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्यमें लीन होना सामायिक है । किन्तु सोमदेव सूरिने 'ममय'का अर्थ 'आप्तसेवाका उपदेश' किया है और उसमें जो क्रिया की जाती है उसे सामायिक कहा है । तदनुसार स्नान, अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान आदि सब सामायिकके अंग हैं । भावमग्रह (गा० ३५५) में भी त्रिकाल देव-स्तवनको सामायिक कहा है । आशाधरने (मागार० ५।२८-३१) प्राचीन परम्पराके साथ सोमदेव सूरिके कथनको भी म्यान दे दिया है । असलमें मन, वचन कायको एकाग्र करके साम्यभावकी वृद्धिके लिए सामायिक की जाती है । पूजनादिका भी वास्तविक उद्देश यही है । इसीमें सोमदेव सूरिने द्रव्यकालको देखकर सामायिकमें ध्यानके साथ पूजनादिको भी गंभीर कर लिया है ।

प्रोषधोपवासग्रतका कथन करते हुए रत्नकरण्ड (श्लो० १०६-१०९) में प्रोषधका अर्थ 'एक बार भोजन' किया है और चारों प्रकारके आहारके त्यागको उपवास कहा है । जो उपवास करके एक बार भोजन करता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं । यह अष्टमी और चतुर्दशीके दिन किया जाता है । उपवासके दिन पाँचों पापोंका, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अजन और नस्यका त्याग किया जाता है तथा धर्माभूतका पान करते हुए ज्ञान और ध्यानमें तत्पर रहा जाता है ।

किन्तु सर्वार्थसिद्धि (७।२१) में प्रोषधका अर्थ पर्व किया है और जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें विमुख होकर रहती हैं उसे उपवास कहा है और उसका अर्थ किया है पर्वके दिन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना । लिखा है, "अपने शरीरके मस्कारके कारण स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदिको त्याग कर शुभ स्थानमें माधुओंके निवासस्थानमें या चैत्यालयमें अथवा अपने उपवासगृहमें धर्मकथाके चिन्तनमें मन लगाकर श्रावकको उपवास करना चाहिए और किसी प्रकारका आरम्भ नहीं करना चाहिए । सोमदेव सूरिने सर्वार्थसिद्धिके अनुसार ही कथन करते हुए प्रोषधका अर्थ पर्व ही किया है ।

वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमें प्रोषधोपवासको शिक्षाग्रतोंमें म्यान नहीं दिया । प्रोषधप्रतिमाका वर्णन करते हुए प्रोषधोपवासकी विधि इस प्रकार बतलायी है, "सप्तमी और तेरसके दिन अतिथिभोजनके अन्तमें स्वयं भोजन करके और वहीं मुखशुद्धि करके, मुखको और हाथ-पैरोंको धोकर वहाँ ही उपवासका नियम लेकर जिनमन्दिर जावे और जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके और गुरुके सामने वन्दनापूर्वक कृतिकर्मको करके गुरुकी साक्षीपूर्वक उपवासको ग्रहण करके शास्त्रवाचन, धर्मकथा सुनना-सुनाना, वारह भावनाओंका चिन्तन, आदिके द्वारा शेष दिन बितावे । फिर सायंकालीन वन्दना करके रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर भूमिका शोधन करके, अपने शरीरके प्रमाण सन्यारा लगाकर अपने घरमें या जिनमन्दिरमें सोवे । अथवा पूरी रात कायोत्सर्गपूर्वक बिताकर प्रातः काल उठकर वन्दनाविधिसे जिनदेवको नमस्कार करके

तथा दैव सास्त्र गुदका इत्थं अथवा मावपूजन करने अपन घर जावे और अतिविधान देकर भोजन कर । इस प्रकार जो करता है उसकी प्रोपबलि उत्तम है । केवल अन्न ग्रहण करना मध्यम प्रोपब है । मध्यम प्रोपब का मावस्यक होमपर सावधारण्य गृहकार्य कर सकता है, योष विधि पूर्ववत् है । उस दिन एक बार भोजन करना या कुछ हलका भोजन से सेवा अथवा प्रोपब है । (वा २८१-२९२) । आधाचरम वस्तुनिष्ठके अनु-धार ही प्रोपबोपासकता कथन किया है ।

तत्सर्वसिद्धि (७।२१) में उपमोषपरिमोषपरिमाण नामका शब्द है किन्तु रत्नकरण्ड (स्को १९) में भोगोपमोषपरिमाण नाम है । सर्वावसिद्धि उपमोषका जो अर्थ है वही अर्थ रत्नकरण्ड में भोगका है । और परिमोषका जो अर्थ सर्वावसिद्धि में है वही अर्थ रत्नकरण्ड में उपमोषका है । सोमदेव धूरिने ॥ तो तत्सावसुप्तकी तरह उपमोषपरिमोषपरिमाण नाम अपनाया है और न रत्नकरण्डकी तरह भोगोपमोषपरिमाण नाम अपनाया है । किन्तु भोगपरिमोषपरिमाण नाम दिया है । इनमें-से भोग शब्द रत्नकरण्डसे लिया है और परिमोष शब्द तत्सर्वसिद्धिसे । रत्नकरण्ड में भोगोपमोषके नियम और यम रूप त्यागका विधान किया है । सर्वावसिद्धि और तत्सर्वसिद्धिमें नियम और यम रूप त्यागका विधान नहीं है, सोमदेवने उसे रत्नकरण्ड से अपनाया है ।

अष्टमूलमुपोपर प्रभास शकते हुए हम यह किन्तु आये है कि रत्नकरण्डसावकाचारमें भोगोपमोषपरिमाणव्रतमें भी मद्य मांस आदिके त्यागका विधान किया है । किन्तु अष्टमूलमुपाका निर्बंध करनेवाले मुरपाचसिद्धमुपाय आदिमें भोगोपमोषपरिमाणव्रतमें मद्य मांस आदिका त्याग नहीं कराया है क्योंकि अष्टमूलमुपासिद्धि उनका त्याग हो जाता है ।

रत्नकरण्ड (स्को १८ १९) में लिखा है कि जिन भक्तानुकी घरलमें आये हुए प्राधियोंको व्रतघात-से बचनेके लिए मद्य और मांस तथा प्रभासे बचनेके लिए मद्यको छोड़ना चाहिए । तथा काम क्रम और वात अधिक होनेसे मूली अवरक श्रुंभेर मक्कन नीमके फूल और केतकीके फूल नहीं खाना चाहिए । सर्वावसिद्धि (७।२१) में भी कममय रत्नकरण्डके शब्दोंमें ही मन्थनके विधान उक्त अन्य वस्तुओंको त्याग्य वतकाया है ।

अनन्तदेवने राजवातिकमें भोगसंख्याके व्रतघात प्रभाव बहुषण अमिष्ट और अनुपसेव्य भेद करके रत्नकरण्डसावकाचारके शब्दोंमें ही उनके त्यागका विधान किया है किन्तु मक्कनको शब्दोंमें भी नहीं बताया । चारिमसारका तो आचार ही सर्वावसिद्धि और राजवातिक है । पुष्पाचमिद्धमुपाय और सोमदेव उपासकाध्ययनमें भोगोपमोषपरिमाणव्रतका वर्णन करते हुए वेदक अनन्तदेव वनस्पतिके त्याग करनेका विधान दिया है । अमिनगति वृत्तका स्वकथमान बतला दिया है ।

मागारवर्मासनमें मद्य मांस और मद्यके मुख्य वस्तुओंका त्याग वतकानेके साथ-ही-साथ रत्नकरण्ड प्रतिपादिन वनस्पतिमत्ता त्याग तो बतलाया ही है । कुछ और भी बतलाया है जो उनमें पूर्वके उक्त भावका चारोंमें नहीं बतलाया । वे मिलते हैं बिना उपासक हुए ब्रूष और उनके वही वदने मिलमा हुआ त्रिदल मूल उदक वरिह अन्न नहीं खाना चाहिए । वर्षावस्तुमें प्राय करक बुरागा और दिना वत्त हुआ त्रिदल नहीं खाना चाहिए और न पलका शाक खाना चाहिए । यथा

‘आमगोरममनुष्यं त्रिदलं प्रायसोऽथवा ।’

वर्षावस्तुमिदं चाप पत्राण्ये च नाहरन् ३१०॥”

- 1 सर्वावसिद्धिकारण भी यद्यपि रत्नकरण्डसावकाचारके शब्दोंमें ही भोगोपमोषके त्यागका वर्णन किया है फिर भी हमसे पाठ्यान्ना अन्ना कर दिया है किन्तु अष्टमूलदेवने तो उनके शब्दोंमें ही एक तरहमें गद्यमें रत्न दिया है । अतः यह निश्चय करनीय होगा है कि अष्टमूलदेवके मतमें रत्नकरण्ड अष्टमूल रहा है ।

आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने योगशास्त्रमें भागोपभोगव्रतका वर्णन करते हुए लिखा है,

“मद्य मास नवनीत मधूदुग्धरपञ्चकम् ।

अनन्तकायमज्ञातफल रात्रौ च भोजनम् ॥ ६ ॥

आमगोरसमपृक्त द्विदल पुष्पितौदनम् ।

दध्यहद्वितयातीत कुयितान्न च वर्जयेत् ॥ ७ ॥”

अर्थात् मद्य, मास, मन्वन, मधु, पाँच उदुग्धर, अनन्तकाय वनस्पति, अनजान फल, रात्रिभोजन, बिना पके गोरनसे मिला हुआ द्विदल, फपूँदा हुआ भोजन, दो दिनका वासा दही और सडा हुआ अन्न छोड देना चाहिए ।

इस तरह जिसे प्राथमिक श्रावणका कर्तव्य बतलाया जाता है उसका त्याग भोगोपभोगव्रतमें कराया गया है । श्वेताम्बर परम्परामें इस व्रतमें क्रूर कामोके करनेका भी निषेध है । योगशास्त्रमें उन्हें गिनाया है और ५० आशा करने अपने मागारैधर्मामृतमें उसका उल्लेख करके क्रूर कर्मोंके गिनानेका निषेध किया है ।

भोगोपभोगव्रतके अतिचार रत्नकरण्डके सिवा अन्य सभीमें ‘मच्चित्तका आहार, मचित्तसे सम्बन्धित वस्तुका आहार, सचित्तमें सम्मिश्रित वस्तुका आहार, जले हुए या अपके भोजनका आहार और गरिष्ठ भाजनका आहार’ ये पाँच बतलाये हैं । राजवातिकमें लिखा है कि इनके खानेसे सचित्तका भक्षण करना पडता है, इन्द्रियोमें उन्माद पैदा होता है और श्रायु आदिका प्रकोप होता है उसका इलाज करनेमें पापका सचय होता है तथा मुनिगण भी ऐसे भोजनको ग्रहण नहीं करते । अतः ऐसा आहार त्याज्य है ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें इस व्रतके अतिचार बिल्कुल ही भिन्न हैं, किन्तु हैं उपयुक्त । यथा,

“विषयविषयोऽनुपेक्षाऽनुसृष्टिरतिलौल्यमतिरूपानुभवौ ।

भोगोपभोगपरिमाण्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥९०॥”

विषयरूपी विषका आदर करना, भुवन भोगोंका स्मरण करना, वर्तमान भोगोंमें अति लिप्सा रखना, भावो भोगोंको प्राप्ति करनेकी चाह करना और भोग न भोगते हुए भी यह अनुभव करना कि मैं भोग भोग रहा हूँ, ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार हैं ।

आचार्य ममन्नभद्रने अतिथिसविभागव्रतका नाम वैयावृत्य दिया है और उसीमें जिनपूजाको भी सम्मिलित किया है । किन्तु सोमदेवके उपासकाध्ययनमें जिनपूजाको सामायिक व्रतमें सम्मिलित किया है । और इस व्रतका नाम दान रखा है ।

रत्नकरण्ड (श्लो० १११ आदि) में तपोनिधि अनगारोको दान देनेका नाम वैयावृत्य है । तत्त्वार्थ-सूत्रमें इसका नाम अतिथिमविभागव्रत है । दोनोंमें केवल नामका अन्तर है अभिप्रायमें अन्तर नहीं है । इसीसे सोमदेव सूत्रिने स्पष्टार्थक नाम दान देना ही उचित समझा । रत्नकरण्डमें भी आगे (श्लो० ११३) दान नाम दिया है और उसका लक्षण इस प्रकार लिखा है, “सात गुणसहित शुद्ध श्रावकके द्वारा आरम्भ और चूल्हा चक्की आदि सूनाओंके त्यागी मुनियोंका नौ पुण्योके द्वारा आदर-सत्कार करनेको दान कहते हैं ।’ रत्नकरण्डमें न तो नौ पुण्योको बतलाया है और न दाताके सात गुणोंका कोई निर्देश किया है । तत्त्वार्थ-वातिक (७।३९) में प्रतिग्रह, उच्चदेशस्थापन, पादप्रक्षालन, अर्चन और प्रणाम आदिको विधि रूपमें बतलाया है । दाताके भी अनमूया, अविपाद, प्रीतियोग, कुशलामिसन्धिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्व और अनिदानत्व ये सात गुण बतलाये हैं । पुरुषार्थसिद्धयुपाय (श्लो० १६९) में भी ये ही सात गुण गिनाये

कार्तिकेयके अनुसार जो प्रसज्योसे युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओंका कभी भी सेवन नहीं करता वह दर्शनिक है। वसुनन्दि श्रावकाचारके अनुसार जो स्रम्यगृष्टि पाँच उदुम्बर और सात व्यसनोका त्याग कर देता है वह दर्शन श्रावक है। सागारधर्माभूतमें इतना विशेष लिखा है कि अष्टमूलगुणोंमें कोई अतिचार नहीं लगने देना और निर्वाहके लिए न्यायपूर्वक आजीविका करता है वह दर्शनिक है।

अन्य ग्रन्थोंमें श्रावकका पाठित भेद नहीं बतलाया किन्तु सागारधर्माभूतमें बतलाया है। इसीलिए हममें निरतिचार अष्टमूलगुणोंके पालनका उल्लेख किया है, क्योंकि सातिचार अष्टमूलगुणोंका पालन पाक्षिक श्रावक करता है। अतः दर्शनिक श्रावक मद्य वगैरहका व्यापार भी नहीं करता। जो लोग मद्यादिकका सेवन करते हैं उनके साथ पान-पान नहीं करता। अचार मुरखे नहीं खाता। एक दिन रातके बादका दही मट्ठा नहीं पाता। कफूँदी वस्तुएँ नहीं खाता, चमके वस्त्रनमें रखा घी, तेल, तैय या पानी काममें नहीं लाता। बाह्य दवा-के रूपमें भी मधुका प्रयोग नहीं करता। अनजान फल और बिना खुली फलियाँ नहीं खाता। रात्रिमें रोग दूर करनेके लिए भी दुग्ध, फलादिकका सेवन नहीं करता। पानीको साफ-सुधरे बम्बसे छानकर ही काममें लेता है और छने पानीको भी प्रत्येक दो मुहूर्तके बाद छानकर ही काममें लाता है। विनछानीको उसी जलाशयमें पहुँचा देता है जिसका पानी होता है। मनोविनोदके लिए भी कभी जुआ नहीं खेलता। गायन, नर्तन और वादन-में अत्यासक्ति नहीं रखता। वेश्याके घर आता-जाता भी नहीं। किसी कुटुम्बीका भी धन अनुचित रीति से नहीं लेता। लकड़ी वगैरहपर अकिन्ति प्राणियोंके चित्रोंको भी नहीं काटता। परनारीगमन तो दूर रहा, किसी लटकीमें गान्धव-विवाह भी नहीं करता। वही लोकाचार पालता है जो उसके आचारके प्रतिकूल नहीं होता। धर्मवर्तनी ही सन्तानोत्पादनका प्रयत्न करता है। सन्तानको शिक्षित और आचारवान् बनानेका प्रयत्न करता है। इस तरह सागारधर्माभूत तथा लाटीसहिनामें विस्तारसे दर्शनिक श्रावकका आचार बतलाया है।

२. **ग्रनप्रतिमा**— जो पाँच अणुग्रन, तीन गुणग्रत और चार शिक्षाग्रतोका निरतिचार पालन करता है वह प्रतिक श्रावक है। इन ग्रतोका वर्णन पहले कर आये है।

३. **सामायिक**— जो तीनों सन्ध्याओंको मन वचन और कायको शुद्ध करके सामायिक करता है वह सामायिक प्रतिमाका धारी है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें लिखा है, जो शुद्ध होकर जिनमन्दिरमें या अपने घरमें जिनविम्बके सम्मुख या अन्य पवित्र स्थानमें पूर्व दिशा या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंको जिनधर्म, जिनवाणी, जिनविम्ब, जिनालय और परमेष्ठीकी वन्दना करता है वह सामायिक प्रतिमाका धारी है। तथा जो कायोत्सर्गपूर्वक खड़े होकर लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, सयोग-वियोग, तृण-कचन, चन्दन-विसौलीमें समबुद्धि रखता है तथा मनमें पचनमस्कार मन्त्रको धारण करके अष्ट प्रातिहार्यविशिष्ट जिन भगवान्का, सिद्धपरमेष्ठीका अथवा अपनी आत्माका ध्यान करता है उसकी सामायिक उत्तम है। इसमें पहली प्रकारकी सामायिकको जप और दूसरीको ध्यान समझना चाहिए।

४. **प्रोपधोपवासप्रतिमा**— प्रत्येक मासके चारों पर्वोंमें अपनी शक्तिको न छिपाकर जो प्रोपधोपवासका नियम लेता है वह श्रावक चतुर्थ प्रतिमाका धारी है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है, सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अपराह्णमें जिनमन्दिरमें जाकर सामायिक करके चारों प्रकारके आहारका त्याग करके उपवासका नियम कर ले और घरका सब काम-धाम छोड़कर रात्रिको धर्मचिन्तनपूर्वक बितावे। सुबह-को उठकर क्रिया कर्म करके शाम-स्वाध्याय करते हुए अष्टमी या चतुर्दशीका दिन बितावे। फिर सामायिक करके उसी तरहसे रात्रिको बितावे। प्रात उठकर सामायिक करे, फिर पूजन करे, फिर पात्रदान देकर भोजन करे। इसका नाम प्रोपधोपवास है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें इसे उत्कृष्ट प्रोप-धोपवास बतलाया है, 'मध्यम प्रोपधोपवासमें केवल पानी लिया जाता है। और कोई हलका भोजन एक बार करना जघन्य उपवास बतलाया है। उपवासके दिन स्नान वगैरहका निषेध किया है। इसीलिए

उस दिन भावपूजाका विधान है। हाँ का द्रव्यपूजा करना चाहते हैं उन्हें स्नान करना चाहिए।

सामायिक और प्रोपयोगवाच व्रतप्रतिमामें भी जात है और स्वतन्त्र प्रतिमाभ्य भी है।

५. सच्चित्तत्वागप्रतिमा— जो सचित्त वनस्पतिको नहीं खाता वह सचित्तत्वागप्रतिमाका भारी है। स्वामी काठिकेमानुशेषामें लिखा है कि जो वस्तु स्वर्ग नहीं खाता उसे वह वस्तु दूसराका भी नहीं खिलाना चाहिए, क्योंकि खाने और खिलाने कोई अन्तर नहीं है, अतः सचित्तत्वागी दूसराका भी सचित्तवस्तु नहीं खिलाना सकता। वसुनेत्रि भावकाचारम अत्रासुक्त असका भी त्याग सचित्तत्वागप्रतिमामें करना नया है। और सागारैश्वर्यमृतम अत्रासुक्त नमक बरीरहको भी त्याग्य वस्तुवा है। काटीसहितामें लिखा है कि पौधोंकी प्रतिमामें सचित्तमत्तनका त्याग है। सचित्तको स्पर्श करनेका त्याग नहीं है। अतः अपने हाथसे अत्रासुक्तको अत्रासुक्त करके खाना चाहिए।

६. रात्रिमन्त्रव्रत— पहले वक्तवा आये हैं कि छठी प्रतिमाको केकर आचार्योंमें मठभेद है। स्वामी समन्तभू और स्वामी काठिकेयके मठसे जो रात्रिम चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देता है वह रात्रिमन्त्रव्रती है और दूसरे आचार्योंके मठसे जो रात्रिम ही स्त्री-सेवनका व्रत लेता है अर्थात् दिनमें मैथुन नहीं करता वह रात्रिमन्त्रव्रती है। काटीसहिताय लिखा है, छठी प्रतिमामें पहले यावत् रात्रिमें क्वाचित् पानी बरीरह को लेना है किन्तु छठी प्रतिमामें वह पानी भी नहीं लेता है। न वह रात्रिमें गन्ध लेप तथा भासा बरीरहका ही सायोज करना है तथा रोमकी शान्ति कृपि तीक्ष्ण आविर्की शान्ति भी नहीं करता तथा जैसे छठी प्रतिमामें रात्रिमोक्षणका सबका त्याग होता है वैसे ही दिनमें मैथुनका भी सर्वथा त्याग आवश्यक है। इस तरह काटीसहितामें दोनों मठोंका समन्वय कर दिया गया है।

७. महाचर्यप्रतिमा— मल वचन और कायस स्त्री मात्रकी अभिज्ञापा न करनेको महाचर्यप्रतिमा कहत है।
८. आरम्भस्वाभा— रत्नकरध्वभावकाचारके अनुसार भोक्त्री सेवे व्यापार बरीरहके त्यागको आरम्भस्वाभा प्रतिमा कहते हैं। काठिकेमानुशेषामें लिखा है जो न स्वर्ग आरम्भ करता है न दूसरेसे करता और न उसकी अनुमोदना ही करता है वह आरम्भस्वाभा है। वसुनेत्रि भावकाचारम लिखा है, जो कुछ भी बोझ बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ है उसका जो त्याग कर देता है वह आरम्भस्वाभा है। साधारणमृतम लिखा है जो मल वचन और कायसे कृपि सेवा व्यापार बाहि आरम्भको न स्वर्ग करता है और न दूसरेसे करता है वह आरम्भस्वाभा है। काटीसहिताय लिखा है आठवी प्रतिमामें पहले अपने हाथसे सचित्तका स्पर्श करता वा किन्तु आठवी प्रतिमामें जो सचित्त द्रव्य है उसे अपने हाथसे नहीं छूना। तथा आठवीं भावक यद्यपि अपने कुटुम्बमें ही रहता है किन्तु मुनिजों तरह जो उपासक मोक्षन मिल जाता है उसे ही का लेता है। प्रासुक्त जलसे अपने वस्त्र स्वर्ग को लेता है वा किसी वायुमयिक हाथसे छुल्ला लेता है।

इस तरह आरम्भस्वाभाप्रतिमाके स्वल्पमें भी उक्त धर्मकारोंमें अन्तर है। रत्नकरध्व भावकाचारमें कृपि सेवा और व्यापारके त्याग करनेका त्याग है। साधारणमृतममें स्वर्ग करने और दूसरेसे करनेका त्याग है तथा काठिकेमानुशेषामें अनुमतिका भी त्याग है। साधारणमृतमकी टीकामें तो स्पष्ट लिखा है कि गृहस्वर्ग सिद्ध क्वाचित् पुन बरीरहको अनुमति देना आवश्यक ही सकता है इसधिप मल वचन काय और कुट काटितसे ही आरम्भका त्याग क्रिया जाता है। तथा कृपि सेवा बाधिम्यका त्याग करनेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टम प्रतिमाका भारी भावक वन कमानेका कोई काम नहीं करता। किन्तु वसुनेत्रि भावकाचार और काटीसहितामें तो गृहसम्बन्धी प्रत्येक आरम्भका त्याग आवश्यक वतमाना

है। अतः उनके मतमें यह अपने लिए भोजन भी नहीं बना सकता।

९. परिग्रहत्याग— परिग्रहके त्यागको परिग्रहत्यागप्रतिमा कहते हैं। वसुनन्दि श्रावकाचारमें लिखा है, जो वस्त्रके सिवा शेष परिग्रहको छोड़ देना है और उस वस्त्रसे भी मोह नहीं रखता वह नवम श्रावक है। मागारधर्मामृतमें परिग्रहके त्यागनेकी विधि बतलायी है। लाटीसहितामें लिखा है, नौवीं प्रतिमासे पहले श्रावक मुषण आदिका परिमाण घटाता जाता है, किन्तु नौवींमें तो उसे विलकुल ही त्याग देता है। अपने शरीरके लिए वस्त्र, मकान परिग्रह तथा धर्मके सागन मात्र रखकर शेष सबका त्याग कर देता है। इसमें पहले यह अपना जमीन-जागदादका स्वामी बना रहता है, किन्तु नौवींसे जीवनपर्यन्तके लिए उस सबको त्याग कर निःशून्य हो जाता है।

१०. अनुमतिःत्याग— कृषि आदि आरम्भमें, परिग्रहमें तथा विवाह आदि लौकिक कार्योंमें अनुमति देनेके त्यागको अनुमतिःत्यागप्रतिमा कहते हैं। मागारधर्मामृतमें दशम श्रावककी विशेष क्रिया बतलायी है। लिखा है, दशम श्रावक चैत्यालयमें बैठकर स्वाध्याय करना है और मध्याह्न कालको सामायिक करनेके पश्चात् बुलानेपर अपने या अन्य श्रावकोंके घर भोजन कर लेता है। लाटीमहिर्नौमें इतना विशेष लिखा है, दसवीं प्रतिमा तक श्रावकका कोई खास वेप नहीं होता। चोटी जनेऊ चाहे तो रख सकता है, न चाहे नहीं भी रखे। यथा,

“अथ यावद्यथालिङ्गो नापि वेपधरो मनाक्।

शिखासूत्रादि दध्याद्वा न दध्याद्वा यथेच्छया ॥४९॥”

११. उद्दिष्टत्याग— रत्नैकरण्डश्रावकाचारमें लिखा है, घरको त्याग कर मुनियोंके पास वनमें चला जाये और वहाँ गुरुके सामने व्रत धारण करके भिक्षा भोजन करे, तपस्या करे और खण्डवस्त्र अपने पास रखे वह उद्दिष्टत्यागी श्रावक है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें लिखा है, उद्दिष्ट श्रावकके दो प्रकार हैं— एक, एक वस्त्र रखता है और दूसरा केवल लंगोटी रखता है। पहला अपने बाल छुरे या बैचीसे बनावता है और उठते-बैठते समय उपकरणसे स्थान वगैरहको साफ कर लेता है। हाथमें या पात्रमें भोजन करता है और चारों पवामें नियमसे उपवास करता है।

दूसरा श्रावक भी ये ही क्रियाएँ पालता है, अन्तर इतना है कि वह नियमसे केशलोच करता है, पीछी रखता है और हाथमें भोजन करता है। श्रावकोंको दिनमें प्रतिमायोग धारण करनेका, वीरचर्याका अर्थात् मुनिकी तरह स्वयं भ्रमरी वृत्तिमें भोजन करनेका, त्रिकालयोगका - गरमीमें पर्वतके शिखरपर, बरसातमें वृक्षके तले और सर्दीमें नदीके किनारे ध्यान करनेका तथा सिद्धान्त अर्थात् सूत्ररूप परमागमका और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रके अध्ययनका अधिकार नहीं है।

मागारधर्मामृतमें भी ये ही सब बातें बतलायी हैं जो वसुनन्दि श्रावकाचारसे ही ली गयी हैं। लाटी-सहितामें वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा उद्धृत करके उद्दिष्टत्यागी श्रावकके दो भेद बतलाये हैं, एकको क्षुल्लक मजा दी है और दूसरेको ऐलक। क्षुल्लकके विषयमें लिखा है, ऐलककी अपेक्षा उसका आचार कोमल होता है। वह शिखा-सूत्र रखता है, एक वस्त्र, एक लंगोटी, वस्त्रकी पीछी और कमण्डलु रखता है। काँसी अथवा लोहेका भिक्षापात्र रखता है। एषणा दीपको टालकर एक बार भिक्षा भोजन करता है। निर्दिष्ट समयपर वह भोजनके लिए घूमता है और पात्रमें भिक्षा लेकर किसी घरमें प्रासुक जल पाकर पात्रकी प्रतीक्षा करता है। यदि कोई पात्र मिल जाता है तो गृहस्थकी तरह अपने भोजनमें-से उसे आहारदान देता है और जो कुछ वच जाता है उसे स्वयं खा लेता है। यदि कुछ भी नहीं वचता तो उपवास वाग्न कर लेता है। यदि उसे गन्ध आदि अष्ट द्रव्य मिल जाते हैं तो बड़ी प्रसन्नतासे जिनविम्ब वगैरहकी पूजा करता है, आदि।

ऐलककी विधि नहीं है जो ऊपर दूसरे धातुककी विधि वतकायी है।

उपन ध्यातु भेदमें-से प्रारम्भके यह भेदवाले लक्ष्य धातुक कहे जाते हैं और उनकी गृहस्थ रीति होती है। सात आठ और भी भेदवाले मध्यम धातुक होते हैं और उन्हें वर्णों कहते हैं। छेप दो प्रतिमावाले धातुक उत्कृष्ट धातुक होते हैं और उन्हें मिथु कहते हैं।

सारांश

उपसम धानेपर, बुभित्त पङ्कनपर बुबाया आनपर या असाध्य रोग हो जानेपर जब बीजनकी कोई आशा न रहे तो भ्रमकी रक्षाके लिए शरीरको छोड़ देना सस्तेखना है और जो उसका सामन करता है वह नाशक कहलाना है। रत्नकरग्रन्थधातुकाचारके अनुसार ही सोमदेव उपासकाध्ययनमें भी सस्तेखनाका वर्णन है। सागरधर्ममिश्रके आठवें अध्यायमें सस्तेखनाका विस्तृत बचन है।

इस तरह धातुकाचारके मुख्य-मुख्य गुणोंका कालक्रमसे यह विस्लेषण किया गया है, जो स्वाध्यायप्रेमियों तरबित्तकों अभ्यर्थनों और आचारप्रेमियोंके लिए विचारकी और सोचकी सामग्री प्रस्तुत करता है।

उपसंहार

सोमदेवका उपासकाध्ययन हिन्दी अनुवाद आदिके साथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है और धातुका चारविधमक जैन साहित्यमें उसका अपना एक विशिष्ट स्थान है इसीसे हम प्रस्तावनामें उसके अन्तगत विषयोंपर प्रकाश डालनेके साथ धातुकाचारपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। किसी भी विषयके परिपुष्य परिचयके लिए उस विषयके साहित्यका तुलनात्मक अनुशीलन आवश्यक होता है। उससे मूल विचार के प्रारम्भिक रूपका और उसमें कालक्रमसे होनेवाले विकासका पूर्ण परिचय मिल जाता है। यही विस्लेषण की आधुनिक पद्धति है।

श्रेष्ठ साहित्य जिस विषय और परम्परासे सम्बन्ध होता है उस विषय और परम्पराका तो प्रतिनिधित्व करता ही है जिस नाममें वह रचा जाता है उस कामका भी वह प्रतिनिधित्व करता है। अतः यहाँ सबसे विषय और परम्पराका सम्बन्धोक्त होता है यहाँ तत्कासीन सामायिक स्थितियाँ भी बोध होना हैं। उसके बिना विषयगत बोध अमूर्त ही रहता है। यही वे दृष्टियाँ हैं जिनको क्रममें रखकर प्रस्तावनामें विविध चर्चाएँ की गयी हैं। दृष्टि बोधसे उनमें बिना स्थलन भी हो सकता है उसके लिए शान्तिसे शाना शायंका है।

अध्यायनिर्वाण दिवस }
भी मि सं १४८९ }

—केदारचन्द्र दासजी

विषयसूची

मूल और अनुवाद

१ला कल्प

समस्त मतोंके सिद्धान्तोंका विवेचन -

धर्मविषयक जिज्ञाना, धर्मका स्वरूप, ससार और मोक्षके कारण तथा उनका स्वरूप । मुक्तिके विषयमें मत-मतान्तर और उनकी समीक्षा-सैद्धान्तिक, तार्किक, वैशेषिक, पाशुपत, कौल, साह्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक, वेदान्ती, शून्यवादी, श्रौद्ध, काणाद, तथ्यागत, कापालिक तथा द्वैतवादियोंके मत और उनकी समीक्षा, जैनाभिमत मोक्षका स्वरूप १-१२

२रा कल्प

आप्तस्वरूप भीमासा -

सम्यक्त्वका माहात्म्य और स्वरूप, आप्तका लक्षण, अठारह दोष, ब्रह्मा आदिकी आप्तताका निराकरण, शिवकी आप्तताके विषयमें विशेष ऊहापोह और निराकरण तथा तीर्थंकरोंकी आप्तताका समर्थन १३-२५

३रा कल्प

आगमपदार्थपरीक्षा -

आप्तकी प्रामाणिकतासे आगमकी प्रामाणिकता, आगमका स्वरूप और विषय, वस्तुका उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक स्वरूप, आत्माका स्वरूप, जीव और कर्मका सम्बन्ध, जीवके भेद, अजीव द्रव्य, बन्धका स्वरूप और भेद, मोक्षका लक्षण, बन्ध और मोक्षके कारण, पाँच प्रकारका मिथ्यात्व, असयमका लक्षण, कषायके सोलह भेद, शुभ और अशुभ योग, लोकका जैनाभिमत स्वरूप, लोकको वायुके आधार माननेकी जैन मान्यताका प्रतिपादन, मिथ्यादृष्टियोंद्वारा जैनमुनियोंमें चार प्रकारके दोषोंका उपपादन, मुनियोंके स्नान और आचमन न

करनेका समर्थन, नग्नत्व तथा खड़े होकर भोजन करनेका समर्थन, केशलुचनका प्रयोजन

२५-३४

४था कल्प

मूढताका निषेध -

लोकमें प्रचलित मूढताएँ - सूर्यको अर्घ देना, ग्रहणके समय स्नान, सक्रान्तिपर दान, सन्ध्या-वन्दन, अग्निपूजा, मकान और शरीरकी पूजा, नदी और नदमें धर्म मानकर स्नान करना, वृक्ष, स्तूप और प्रथम ग्रासको नमस्कार करना, पहाड़पर-से गिरना, गीके पृष्ठ भागको नमस्कार करना तथा उसका मृत्रपान करना, रत्न, सवारो, पृथ्वी, यक्ष, शस्त्र और पहाड़ आदिकी पूजा करना इत्यादि मूढताओंके सेवनका निषेध ३६-३७

५वाँ कल्प

शका आदि दोष सम्यक्त्वकी हानिमें कारण, शकाका स्वरूप, जमदग्नि ऋषिके तपोभगकी कथा ३७-४६

६ठाँ कल्प

जिनदत्त और पद्मरथकी प्रतिज्ञा निर्वाहकी कथा ४६-४९

७वाँ कल्प

निशकित अगमें प्रसिद्ध अजनचोरकी कथा ४९-५२

८वाँ कल्प

सम्यक्त्वका काक्षा नामक दोष और निशकित अगमें प्रसिद्ध अनन्तमतिकी कथा ५२-५७

९वाँ कल्प

सम्यक्त्वका विचिकित्सा नामक दोष और निविकित्सा अगमें प्रसिद्ध उद्दयनकी कथा ५७-६१

१०वाँ कल्प

मन्त्रेण नामक मुनिर्वा सुवेष्टाशोकं वर्धय

११ १३

११वाँ कल्प

अमुद्वृष्टिं अंगे प्रसिद्ध ऐवती रामीकी कथा

११ ७

१२वाँ कल्प

सम्यक्त्वके गुण साधनीके अपराधाको डीकनेका निर्देश ऐसा नहीं करनेवालेको सम्यक्त्वकी प्राप्ति बुझकर उपगूढ अंगमें प्रसिद्ध विनेन्द्र मन्त्रकी कथा

७१-७४

१३ १४वाँ कल्प

परीपह् आदिसे बहराकर बर्मसे श्रुत होते साधनीका स्थितिकरण तथा संशकी बुद्धिका निर्देश और स्थितिकरण अंगमें प्रसिद्ध बारिपेयकी कथा

७५ ८२

१५, १६ १७, १८वाँ कल्प

विनविम्ब विनाक्य आदिसे द्वारा बर्मकी प्रभावना करना प्रभावना अंगमें प्रसिद्ध बज्र कुमारकी कथा

८२ ९३

१९-२०वाँ कल्प

वात्सल्य विनय वैवाचल्य तथा भक्तिका स्वल्प

९३-९४

वात्सल्यकी भावमयता संवरी बनोके लपटार का उपदेश वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध विष्णु मुनिकी कथा

९४ १ ३

२१वाँ कल्प

सम्यग्दानकी उत्पत्तिके दो प्रकार बाह्यसाधन सम्यग्दानके दो भेद सम्यग्वर्तनकी पद्धति, प्रथम संवेन अनुकम्पा तथा आश्रितव्यका कथा सम्यग्वर्तनके तीन और दस भेद तथा दस मेरीना स्वल्प

१ ४ ११४

गृहस्वके प्यार और मतिके बार भेद उत्पत्तिके तीन भेद और उनकी दूर करनेका उपाय सम्यग्वर्तनकी महिमा सम्यग्वर्तनके पचीस दोष निवर्तनमेंसे रत्नवक्त्रा स्वल्प रत्न वक्त्र आत्मस्वका है आत्मा और बर्ममें

अन्तर, आत्मा और बर्ममें कर्मकर्तृ मात्र नहीं है जो अपने मनको दूषित करता है वही हिसक है सुख-बुद्धिसे पुण्य-पापका दण्ड केवल बाह्यक्रिया व्यर्थ है

११५-१२३

सम्यग्ज्ञानका स्वल्प ज्ञाताके दोषसे मति विपरीत होती है ज्ञानके भेद

१२४ १२९

चारित्र्यका स्वल्प और भेद सम्यक्त्वहीन ज्ञान और ज्ञानहीन चारित्र्यकी व्यर्थता सम्यक्त्वसे सुगति ज्ञानसे नीति चारित्र्यसे पूजा और तीर्थांति मोक्ष तीर्थोंका स्वल्प

१२७ १२८

२२वाँ कल्प

द्वय और सम्यक्त्व बृद्धिजनके दो भेद जाठ मूक पुत्र मछली बुराह्मण मछपात्री संभात्री की कथा

१२८ १३३

२३वाँ कल्प

मछली चौरकी कथा

१३१ १३३

२४वाँ कल्प

मांसवधकी बुराह्मण बर्म सेवन न करने वालोंको ताड़ना हिंसक त्यागका उपदेश मनुमें दोष पाँच धनुस्त्र फलोंमें सूक्ष्म बीजोंका वास यथादिका सेवन करनेवालों तथा जलतियोके घाव ज्ञान-दानका निषेध बर्मपात्रमें रखे हुए जकादिके सेवनका निषेध

मांस बस और बृद्धमें अन्तर बीज संक्य और आचार्य आदिसे मछली न मानकर मांस-का त्याग करना चाहिए, जलजमापूर्वक मांस खानेवालेको दोहरा पाप मांसमत्तक संकल्प करनेवाले राजाकी कथा

१३३ १४२

२५वाँ कल्प

मांसपायी बाणशाककी कथा

१४२ १४३

२६वाँ कल्प

आचकोक बाण उत्तर पुत्र पाँच वपुडन व्रतका लक्षण पाँच पापोंके सेवनसे दुर्गति हिंसा और अहिंसाका लक्षण प्रमत्तका लक्षण अहिंसाव्रतका लक्षण सब काम देखकर और

द्रव चीजें वस्त्रसे छानकर काममें लेना चाहिए १४३-१४६

भोजनके अन्तराय तथा उनके पालनका उद्देश्य, रात्रिभोजनका निषेध, भोजनमें त्यागने योग्य वस्तु, असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण, चारित्र्य मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप, हिमामें भावका महत्त्व, निष्प्रयोजन स्थावरोके घातका निषेध, दो इन्द्रिय आदिका घात होनेपर प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तका अर्थ, प्रायश्चित्त देनेका अधिकार, १४६-१५३

योगका स्वरूप और भेद, शुभाशुभयोग, पापसे बचनेका उपाय, रात्रिका कर्तव्य, जीवदयाका महत्त्व, अहिंसाव्रती मृगसेनकी कथा १५३-१६५

२७वाँ कल्प

स्तेयका लक्षण, अपने कुटुम्बीका अदत्त धन भी ग्राह्य, जिस धनका कोई स्वामी नहीं उसका स्वामी राजा है, अपनी वस्तुमें भी सन्देह होनेपर उसका ग्रहण करना उचित नहीं, अचौर्याणुव्रतके अतीचार, श्रीभूति पुरोहितकी कथा १६६-१७४

२८-३०वाँ कल्प

हितमित वचन बोलना चाहिए, ऐसा सत्य भी न बोलो जो अपने तथा दूसरोपर विपत्तिका कारण हो, केवली आदिके अवर्णवादसे दर्शन मोहनीय कर्मका आस्रव, मोक्षमार्गको जानते हुए भी ईर्ष्याविष न बतलानेसे ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है, सत्याणुव्रतके अतीचार, स्त्री आदिकी कथा करनेका निषेध, वचनके मत्यासत्य आदि चार भेद, और उनका स्वरूप, अपनी प्रशंसा और परनिन्दा नहीं करना चाहिए, ऐसा करनेसे नीच गात्रका वन्ध होता है, सत्य बोलनेसे लाभ, असत्य बोलनेसे हानि, वसुपर्वत और नारदकी कथा १७४-१९०

३१वाँ कल्प

ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप, ब्रह्मचर्यका व्युत्पत्त्यर्थ, काम-भोगकी निन्दा, कामीका मन स्वाध्याय आदिमें नहीं लगता, आहारकी तरह भोगसेवन करना चाहिए, ब्रह्माणुव्रतके अतीचार, कामके दस गुण, क्रोधके आठ अनुचर, ब्रह्माणुव्रतसे लाभ, दुराचारी कडार-पिङ्गकी कथा १९१-२०३

३२वाँ कल्प

परिग्रहका लक्षण, दस बाह्य परिग्रह, चौदह आन्तर परिग्रह, धनकी तृष्णाका निषेध, लोभीकी निन्दा, सन्तोपीकी प्रशंसा, परिग्रहमें आस्रवत मनुष्यका चित्त विशुद्ध नहीं होता, सत्पात्रको दान देनेवाला पक्का लोभी, लोभमें आकर परिग्रहके परिमाणसे अधिक धन संग्रह करनेसे व्रतहानि, अत्यधिक धनाकाक्षासे पाप-सचय, लोभी पिण्याकगन्धकी कथा २०३-२१०

३३वाँ कल्प

तीन गुणव्रत, दिग्देशविरतिका स्वरूप और, उससे लाभ, अर्थदण्डका स्वरूप, अनर्थदण्डके त्यागसे लाभ, अनर्थदण्डविरतिके अतीचार २१०-२१२

३४वाँ कल्प

चार शिक्षाव्रत, सामायिकका लक्षण, देव-प्रतिमाके पूजनसे लाभ, देवपूजामें शुद्धिकी आवश्यकता, स्नान करनेका उद्देश्य, गृहस्थको नित्य स्नान करना चाहिए, स्नानके योग्य जल, स्नानके पाँच प्रकार, गृहस्थको बाह्यशुद्धि किये बिना देवपूजनका अधिकार नहीं, मिट्टी बगैरहसे शुद्धिका विधान, आचमन किये बिना घरमें प्रवेश नहीं करना चाहिए, स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर मोनपूर्वक पूजन करना चाहिए, होम और भूतवलिका विधान, गृहस्थोंके दो धर्म लौकिक और पारलौकिक, जातिर्या अनादि हैं, विशुद्ध जातिवालोंके लिए जैनविधि, बहो लौकिक विधि मान्य है जिससे सम्यक्त्व और व्रतमें दूषण न लगे

१०वाँ कल्प

महसेन नामक मुनिजी दुरमेष्टाओंका वधन

११ १३

११वाँ कल्प

अमुष्मिष्ठि अंगमें प्रसिद्ध रैवती रानोकी

कथा

११ ७

१२वाँ कल्प

सम्यक्स्यके पुत्र साधर्मीके अपराधोंकी बौकनेका

निर्देश ऐसा नहीं करनेवालेको सम्यक्स्यकी

प्रतिनि दुरकर उपगृह्यन अंगमें प्रसिद्ध विनेन्द्र

मयनकी कथा

७१ ७४

१३ १४वाँ कल्प

परीपन्न आरिसे पहराकर धर्मसे व्युत्त होते

साधर्मीका स्थितिकरण तथा संघकी वृद्धिका

निर्देश और स्थितिकरण अंगमें प्रसिद्ध

वारिवेधकी कथा

७५-८२

१५, १६, १७, १८वाँ कल्प

विनविन्द विनात्म्य आरिसे द्वारा धर्मकी

प्रभावना करना प्रभावना अंगमें प्रसिद्ध बन्ध

कुमारकी कथा

८२ १३

१९-२०वाँ कल्प

वात्सल्य विनय दैयाचार्य तथा मणिकका

स्वरूप

१३ १४

वात्सल्यकी आचम्यकता संघकी कनोके उपचार

का उपदेश वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध विष्णु मुनिकी

कथा

१४ १ ३

२१वाँ कल्प

सम्बन्धनकी उत्पत्तिके दो प्रकार बाह्यसाधन

सम्बन्धनके दो भेद सम्बन्धनकी पञ्चान

प्रथम संवैग अनुकम्पा तथा आस्थितयका

कथन सम्बन्धनके तीन और दस भेद

तथा दस भेदोंका स्वरूप

१ ४ ११४

गृहस्वयं प्यारह और बतिये बार भेद शस्त्रके

तीन भेद और धनकी दूर करनेका उपाय

सम्बन्धनकी महिमा सम्बन्धनके पञ्चीश

शेख निश्चयनयसे रत्नयका स्वरूप रत्न

अथ आरमस्वरूप है आत्मा और कर्ममें

अन्तर आत्मा और कर्ममें समवर्तु भाव नहीं

है जो अपने मनको दूषित करता है बड़ी

हिंसक है सुप्त-बु गये पुण्य-पापका बन्ध केवल

बाह्यक्रिया व्यर्थ है

११५-१२१

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप ज्ञाताके योगसे मति

विपरीत होती है ज्ञानके भेद

१२४ १२६

आरिषका स्वरूप और भेद सम्यक्ब्रह्मज्ञान

ज्ञान और ज्ञानहीन आरिषकी स्वरूपता

सम्यक्स्यसे सुगति ज्ञानसे कीर्ति आरिषसे

पूजा और तीनासे मोक्ष तीनोंका स्वरूप

१२७ १२८

२२वाँ कल्प

धन और सम्यक्स्य वृद्धिधनके दो भेद साठ

मूक पुत्र मयकी वृद्धावस्था मयपापी संशयो

की कथा

१२८ १३

२३वाँ कल्प

मयवनी वीरकी कथा

१३१ १३३

२४वाँ कल्प

मांसमययकी वृद्धावस्था धर्म सेवन न करने

वालोंको ताड़ना हिंसाके त्यागका उपदेश

मयमें शेष पाँच अनुस्मरणकोमें सुख वीरोंका

वास मयारिका सेवन करनेवालों तथा

अवस्थितियोंके साथ ज्ञान-यानका नियेध धर्मपात्रमें

रखे हुए अकारिके धर्मनका नियेध

मांस अन्न और दूधमें अन्तर, बौद्ध साधन

और आर्वाक आरिसे मयकी न मानकर मांस-

का त्याग करना बाह्य, सम्बन्धपूर्ण मांस

खानेवालेको, वीर्य पाप मांसमययका

संक्रमण करनेवाले राजाकी कथा

१३३ १४२

२५वाँ कल्प

मातरयागी आश्रमकी कथा

१४२ १४३

२६वाँ कल्प

आचकोले बारह उत्तर पुत्र पाँच अपुत्र

प्रत्येक लक्षण पाँच पात्रोंके सेवनसे दुर्गति

हिंसा और अहिंसाका अग्रज प्रमत्तका कथन

अहिंसाव्रतका कथन सब काम देखकर और

द्रव चीजें वस्त्रसे छानकर काममें लेना चाहिए १४३-१४६

भोजनके अन्तराय तथा उनके पालनका उद्देश्य, रात्रिभोजनका निषेध, भोजनमें त्यागने योग्य वस्तु, असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण, चारित्र्य मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप, हिंसामें भावका महत्त्व, निष्प्रयोजन स्थावरोके घातका निषेध, दो इन्द्रिय आदिका घात होनेपर प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तका अर्थ, प्रायश्चित्त देनेका अधिकार, १४६-१५३

योगका स्वरूप और भेद, शुभाशुभयोग, पापसे वचनेका उपाय, रात्रिका कर्तव्य, जीवदयाका महत्त्व, अहिंसाव्रती मृगसेनकी कथा १५३-१६५

२७वाँ कल्प

स्तेयका लक्षण, अपने कुटुम्बीका अदत्त धन भी ग्राह्य, जिस धनका कोई स्वामी नहीं उसका स्वामी राजा है, अपनी वस्तुमें भी सन्देह होनेपर उसका ग्रहण करना उचित नहीं, अचोर्याणुव्रतके अतीचार, श्रीभूति पुरोहितकी कथा १६६-१७४

२८-३०वाँ कल्प

हितमित वचन बोलना चाहिए, ऐसा सत्य भी न बोलो जो अपने तथा दूसरोपर विपत्तिका कारण हो, केवली आदिके अवर्णवादसे दर्शन मोहनीय धर्मका आन्त्रव, मोक्षमार्गको जानते हुए भी ईर्ष्यादि न बतलानेसे ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है, नत्याणुव्रतके अतीचार, स्त्री आदिकी कथा करनेका निषेध, वचनके नत्यास्रव आदि चार भेद, और उनका स्वरूप, अपनी प्रशंसा और परनिन्दा नहीं करना चाहिए, ऐसा करनेसे गोच गायका दोष होता है, नत्या धोत्रनेसे लाभ, अन्तर धोत्रनेसे हानि, धमुनर्वण और नारदकी कथा १७५-१८०

३१वाँ कल्प

ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप, ब्रह्मचर्यका व्युत्पत्त्यर्थ, काम-भोगकी निन्दा, कामोका मन स्वाध्याय आदिमें नहीं लगता, आहारकी तरह भोगसेवन करना चाहिए, ब्रह्माणुव्रतके अतीचार, कामके दस गुण, क्रोधके आठ अनुचर, ब्रह्माणुव्रतसे लाभ, दुराचारी कडारपिङ्गकी कथा १९१-२०३

३२वाँ कल्प

परिग्रहका लक्षण, दस बाह्य परिग्रह, चौदह आन्तर परिग्रह, धनकी तृष्णाका निषेध, लोभीकी निन्दा, सन्तोषीकी प्रशंसा, परिग्रहमें आसक्त मनुष्यका चित्त विशुद्ध नहीं होता, सत्पात्रको दान देनेवाला पक्का लोभी, लोभमें आकर परिग्रहके परिमाणसे अधिक धन संग्रह करनेसे व्रतहानि, अत्यधिक धनाकांक्षासे पाप-सचय, लोभी पिण्याकगन्धकी कथा २०३-२१०

३३वाँ कल्प

तीन गुणव्रत, दिग्देशविरतिका स्वरूप और, उससे लाभ, अर्थदण्डका स्वरूप, अनर्थदण्डके त्यागसे लाभ, अनर्थदण्डविरतिके अतीचार २१०-२१२

३४वाँ कल्प

चार शिक्षाव्रत, सामायिकका लक्षण, देव-प्रतिमाके पूजनसे लाभ, देवपूजामें मुद्रिकी आवश्यकता, स्नान करनेका उद्देश्य, गृहस्थकी नित्य स्नान करना चाहिए, स्नानके योग्य जल, स्नानके पाँच प्रकार, गृहस्थको बाह्यमुद्रि किये बिना देवपूजनका अधिकार नहीं, मिट्टी वगैरहमें मुद्रिका विधान, आचमन किये बिना घन्में प्रवेश नहीं करना चाहिए, स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर मोनपूर्वक पूजन करना चाहिए, होम और अन्नवर्जिता विधान, गृहस्थके दो धर्म लोभिक और दास्यलौकिक, जानिपी आदि हैं, विपुल साधिव्यक्ति लिए जातिविधि, यही लौकिक विधि मान्य है जिसमें सम्मन्त्र और अन्नके दूजन व अन्य

३५वाँ कल्प

देवपूजनके दो प्रकार आगका संकल्प अन्य मठकी प्रतिमामें मही करना चाहिए पुष्पाधिके दिनदेवकी स्थापना करनेवालोंके लिए पूजाविधि पञ्चपरमेष्ठा तथा रत्नत्रयकी स्थापनाकी विधि अष्टकका पूजन छिड़ोरा पूजन आधामपरमेष्ठोका पूजन कषाध्याय परमष्ठी पूजन वामुपरमेष्ठी पूजन सम्पन्नार्चन पूजन सम्पन्नपूजन पूजन सम्पन्न चारित्र पूजन दधन मन्त्रि ज्ञान मन्त्रि, चारित्र मन्त्रि, अहर् मन्त्रि सिद्ध मन्त्रि शैव्य मन्त्रि पम्प मुक्तमन्त्रि शान्तिमन्त्रि आचार्य मन्त्रि २१७-२१९

३६वाँ कल्प

प्रतिमामें स्थापना करनेवालोंके लिए पूजा विधि पूजनको उत्तराभिमुख और त्रिण प्रतिमाकी पूर्वाभिमुख स्थापनाका विधान, देवपूजाके छह प्रकार प्रस्तावना पुष्पाध्ययन स्थापना समिधापन पूजन पूजाकल २१९-२४१

३७वाँ कल्प

विनस्तुति २४२-२४९

३८वाँ कल्प

अश्विनि जपका मन्त्र बारकी मात्रा बरीरह मन्त्रे वा बचनसे जपका विधान पैठीस जलरके मन्त्रकी मुनि भी जपते हैं पैठीस जलरके मन्त्रका माहुरम्य जपनेकी विधि इनके समान कोई मन्त्र नहीं २४९-२५२

३९वाँ कल्प

ध्यानविधि पद्यासन या सुखासनसे स्थित होकर स्वासोच्छ्वासकी मन्त्र करके पत्थरकी मूर्तिक समान निश्चल होकर ध्यान करना चाहिए ध्यान ध्याता और ध्येयका स्वरूप ध्यानेके योग्य स्थान सहीज ध्यानका स्वरूप सहीज ध्यानका स्वरूप ध्यानकी बुद्धिधारा ध्यानका फल योगके पाँच हेतु योगके अन्तराय ध्यानीको समसाधी होना चाहिए, हठयोगकी प्रक्रियाका निराकरण भी इन्द्रिया एकता है यह भी क्या योगी हो सक्ता है ध्यानीको समको होना चाहिए, बचनको

बसमें रखना चाहिए आर्य और रौद्रध्यान का स्वरूप तथा उनको स्थापनेका उपदेश दोनों ध्यानीकी मुरादवाँ धर्मध्यानका स्वरूप आमाविषय धर्मध्यानका स्वरूप अपाविषय वा स्वरूप शोचविषयका स्वरूप विषाद विषयका स्वरूप, धर्मध्यानका कठ पुस्त-ध्यानका स्वरूप मोक्षका स्वरूप इष्टान करनेके योग्य ध्यानीका विचार अर्हन्त देवता ध्यान करने योग्य स्वरूप ध्यान करने के काम पुत्रादिपानमें व्यस्तपादिक देवताओंको अष्टकके समान माननेवाला ध्युष्य नरक-पापी होता है धासनकी रक्षाके लिए उनको बल्यता की वरी है निश्चय होकर अर्थावरण करी पञ्चममस्कार इनके जपको विधि तथा महत्त्व इस मन्त्रके ध्यानसे समस्त जलद्वय ध्यात हो जाते हैं लौकिक ध्यानका अथवा लौकिक ध्यानकी विधि ध्यानका माहात्म्य जीव और शिवमें अन्तर ध्यानके विषयमें प्रश्न और उत्तर शरीर और आत्मा की मिश्रताम उदाहरण दहीसे नीकी तरह यह आत्मा शरीरसे भिन्न विद्या का सक्ता है शरीर ही योगियोंका घर है योगियोंका मन उससे बाहर नहीं जाता इन्द्रियोंसे बाहर आत्मा ध्यानमें नहीं लगता आप्तस्वरूपके ध्यानकी प्रेरणा पद्यासन बीजसन और सुखासनका अथवा ध्यानकी विधि २५२-२८४

४०वाँ कल्प

ध्यातृपूजनका अष्टक २८५-२८७

४१वाँ कल्प

श्रीपद्मोपासका स्वरूप उपवासकी विधि उपवासके दिन आरम्भ नहीं करना श्रीपद्मोपासके अतीवार कायकेशिके बिना आरम्भ विधुद्ध नहीं होता २८८-२९१

४२वाँ कल्प

श्रीप और परिशोधका अथवा धर्म और निवृत्तका अथवा श्रीप-परिशोध-परिमाध्यानीको सुरक्षित आदि कालका निवेद्य श्रीप-परिशोधन-के अतीवार २९१-२९२

४३वाँ कल्प

दानका स्वरूप, दानमें विशेषताका कारण, दाता, पात्र, विधि और द्रव्यका स्वरूप, सज्जनोके धनव्ययके तीन प्रकार, दानके चार भेद, चारो दानोका फल, सबसे प्रथम अमयदान देना चाहिए, अमयदानकी प्रशंसा, नवधा भक्ति, दाताके सात गुण, दाताके विज्ञान गुणका लक्षण, साधुके भोजनके अयोग्य घर, गृहस्थको स्वयं धर्म-कर्म करना चाहिए, स्वयं धर्म करनेका फल, जिनदीक्षा तथा आहारदानके योग्य वर्ण, यज्ञपञ्चक करना चाहिए, कलिकालमें जिनरूपधारियोंके दर्शन दुर्लभ, वर्तमान मुनियोंको पूर्वकालीन मुनियोंकी छाया मानकर पूजना चाहिए, पात्रके तीन भेद, अपात्रका लक्षण, अपात्रको दान देना व्यर्थ, पात्रदानसे पुण्य, मिथ्यादृष्टिको केवल करुणाबुद्धिसे ही कुछ देना चाहिए, शाक्य नास्तिक आदिके साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, अन्य प्रकारसे पात्रके पाँच भेद, दान देनेका विधान, समयोका लक्षण, साधकका लक्षण, साधु, सूरि और समयदीपकका लक्षण तथा उन्हें दान देनेको प्रेरणा, ज्ञान और तप मान्य हैं, योगियोका अभिवादन करनेकी विधि, गुरुके निकटमें त्यागने योग्य व्यवहार, भोजनदानके लिए मुनिकी परीक्षा करनेका निषेध, गुणोके अनुसार मुनिकी पूज्यता, साधर्मिके लिए धन खर्च करना चाहिए, जैनधर्म अनेक पुरुषोके आश्रित है, मुनियोके नामादिनिक्षेपकी अपेक्षा चार भेद, नामादिनिक्षेपोका लक्षण, राजस और तामस दानका लक्षण, सात्त्विकदानका लक्षण, उत्तम मध्यम जघन्य दान, भक्तिपूर्वक शाकपिण्डका दान भी पुण्यका कारण, भोजनादिके समय मोन पालनेका आदेश, मोनग्रत पालनेका लाभ, रोगी मुनियोकी परिचर्याका विधान, श्रुतके पाठको और व्याख्याताओको पुस्तकादि देना चाहिए, उनके अभावमें श्रुतका विच्छेद हो जायेगा, मुनियोकी श्रुतज्ञानी बनाना चाहिए, श्रुतका माहात्म्य, ज्ञानको दुर्लभता, महत्ता,

प्रत्येक शास्त्रमें स्वरूपरचना, शुद्धि, अलंकार और अर्थ रहते हैं, स्वरूप आदिके दो दो भेद, मुनि दानके अतिचार, मुनिको नमस्कार आदि करनेसे लाभ

२९३-३१३

४४वाँ कल्प

ग्यारह प्रतिमाओके नाम धारण करनेवालोमें सज्ञाभेद, जितेन्द्रिय, क्षपण, श्रमण, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, मुनि, यति, अनगर, शुचि, निर्मम, स्मृक्षु, शसितव्रत, मौनी, अनूचान, अनाश्वान, योगी, पञ्चाग्निसाधक, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, शिखाच्छेदि, परमहंस, तपस्वी, अतिथि, दीक्षितात्मा, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अष्टव्यु, वेद, त्रयी, ब्राह्मणकी निरुक्ति, धर्मसे युक्त जाति श्रेष्ठ है, शैव, बौद्ध, सांख्य और द्विजका स्वरूप, दानके अयोग्य व्यक्ति, भिक्षाके चार भेद

३१४-३२१

४५वाँ कल्प

शरीरको स्वयं विनाशोन्मुख जानकर समाधि-विधि करना चाहिए, शरीरको त्यागना कठिन नहीं है, कठिन है समयको धारण करना, समाधिका समय शरीर स्वयं बतला देता है, बुढ़ापा आ जानेपर जीवनकी तृष्णा व्यर्थ है, समाधिभरणकी विधि, यदि अन्त समय मन मलिन हो गया तो जीवन-भरका धर्मादायन व्यर्थ है, क्रमसे भोजन, दूध तथा गरम जलको छोड़े, अचानक मृत्यु आनेपर यह क्रम नहीं, आचार्य वगैरह कुशल हो तो समाधिमें कठिनता नहीं होती। सल्लेखनाको हानि पहुँचानेवाले पाँच कार्य

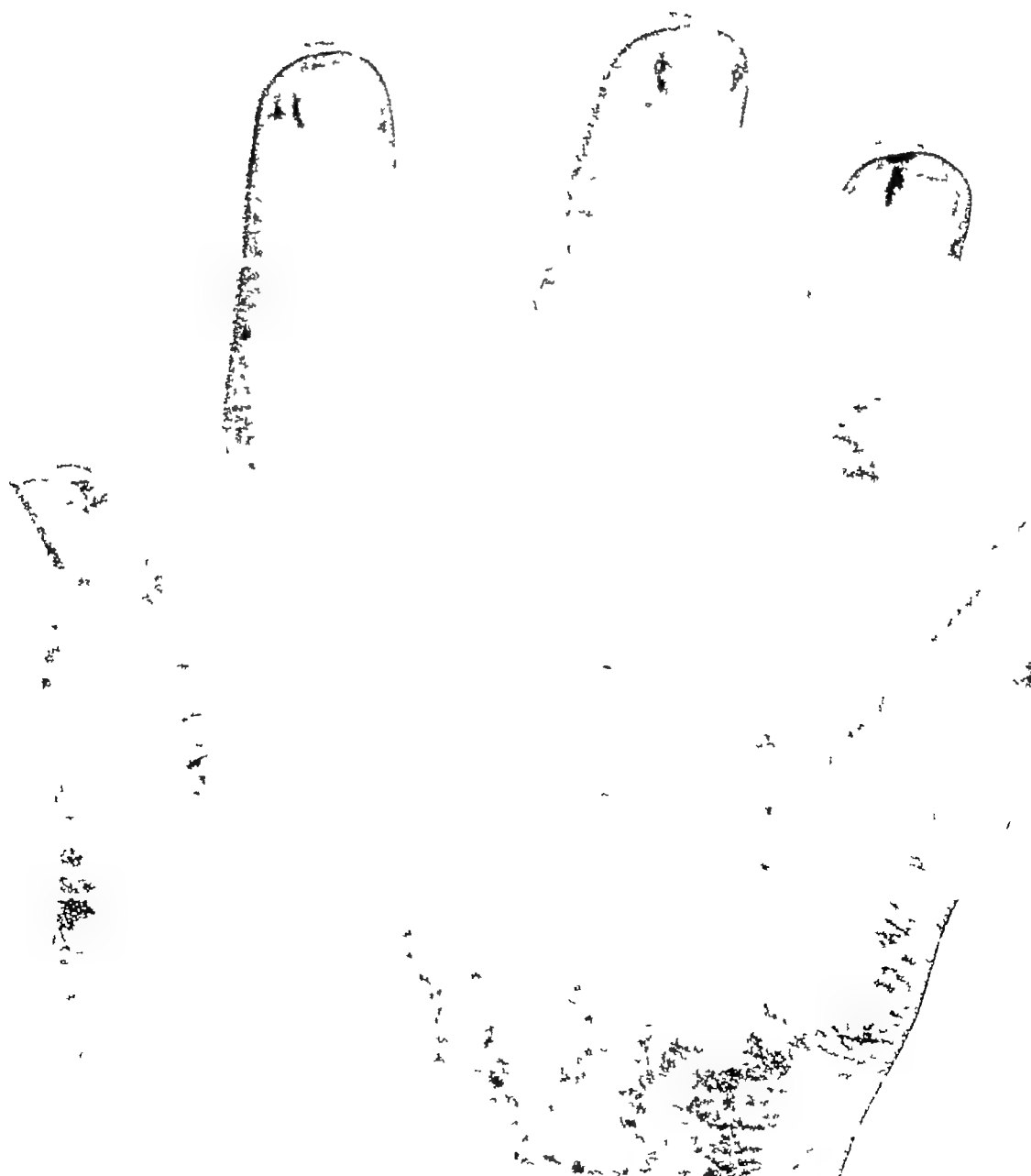
३२१-३२५

४६वाँ कल्प

'प्रकीर्णक' शब्दकी व्याख्या, धर्मकथा करने-वालेके गुण, तत्त्वको समझनेमें प्रतिबन्धक बातें, आठ मद, मदवैश्वमें साधर्मिका अपमान करने-वाला धर्मघाती है, गृहस्थके पट्कर्म, देवपूजाकी छह क्रियाएँ, कल्याणकी प्राप्तिके साधन, गुरुके निकट न करने योग्य क्रियाएँ, स्वाध्यायका स्वरूप, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग द्रव्यानुयोगका स्वरूप, गतियोंमें

उपासकाध्ययन

[हिन्दी अनुवाद सहित]



गुणवत्त्वात् तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 लक्षणं कदाचिन्मिदं वा त्रीन्मेव तस्यैव
 मुख्यं वा तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव

तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
 तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव

संस्कृत टीका

३३७-५१५

परिशिष्ट

- १ उपनिषद्भाष्यस्य तस्यैव तस्यैव तस्यैव
- २ उपनिषद्भाष्यस्य तस्यैव तस्यैव तस्यैव
- ३ तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
- ४ तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव
- ५ तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव तस्यैव

५१७-५२४
 ५२५
 ५२६ ५२७
 ५२८ ५२९
 ५३०-५३१

ॐ

श्री सोमदेव विरचित उपासकाध्ययन

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्म ।
किरूप किमेदः किमुपाय किफलश्च जायेत ॥१॥
यस्मादभ्युदयः^१ पुसां निश्रेयसफलाध्यय ।
वदन्ति विदिताम्नायास्त धर्मं धर्मसूरयः ॥२॥
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचरः ।
प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥३॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्य^२ मोक्षस्य कारणम् ।
संसारस्य च मीमांस्यं मिथ्यात्वादितुष्ट्यम् ॥४॥
सम्यक्त्व^३ भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु ।
मोहंसदेहविभ्रान्तिवर्जित ज्ञानमुच्यते ॥५॥
कर्मादाननिमित्ताया^४ क्रियाया परमं शमम् ।
चारित्र्योचितचातुर्याश्चारुचारित्र्यमूचिरे ॥६॥

धर्मविषयक जिज्ञासा

धर्मसे यह प्राणी जगत्में सुखी होता है । उस धर्मका क्या स्वरूप है ? कितने भेद हैं ?
तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥१॥

धर्मका स्वरूप और भेद

जिससे मनुष्योंको ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नायके
ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते हैं ॥२॥ वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है । मोक्षके कारणोंमें लगनेको
प्रवृत्ति और संसारके कारणोंसे बचनेको निवृत्ति कहते हैं । वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मके
भेदसे दो प्रकारका है ॥३॥

संसार और मोक्षके कारणोंका स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि मुक्तिका कारण क्या है और संसारका कारण क्या है ? तथा
गृहस्थोंका धर्म क्या है और मुनियोंका धर्म क्या है ?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य मोक्षके कारण हैं । तथा मिथ्यादर्शन, अविरति,
कषाय और योग संसारके कारण हैं ॥४॥ युक्तियुक्त वस्तुओंमें दृढ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन
है । और मोह, सन्देह तथा भ्रमसे रहित ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है ॥५॥ जिन कामोंके करनेसे

१ 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्मः'—वैशे० द० १-२ । यतोऽभ्युदयनि श्रेयसार्थसिद्धि सुनि-
श्चिता । स धर्मः ।—महापुराण ५-२० । २ सप्र—ज०, द० । ३ 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः' ॥१॥
—तत्त्वा० सू० अ० १ । ४ दर्शन भावना प्राहुः प्रमापूतेषु वस्तुषु । भ्रान्ति सन्देह-समोह-दूरित वेदन
हि तत् ॥२१॥—प्रबोधसार । ५ अज्ञान मोह । इदं तत्त्वमिदं वा तत्त्वमिति चलन्ती प्रतीति संदेह । अतत्त्वं
तत्त्वव्यवसायो भ्रान्ति । ६ 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरम सम्यक्चारित्र्यम्'—सर्वा० सि०, १-१ ।

ॐ

श्री सोमदेव विरचित उपासकाध्ययन

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्म ।
किंरूप. किंभेदः किमुपाय. किंफलश्च जायेत ॥१॥
यस्मादभ्युदय^१ पुसा नि श्रेयसफलाश्रय ।
वदन्ति विविताम्नायास्त धर्म धर्मसूरयः ॥२॥
स^२ प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचर ।
प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥३॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रय^३ मोक्षस्य कारणम् ।
संसारस्य च मीमांस्य मिथ्यात्वाद्विचतुष्टयम् ॥४॥
सम्यक्त्वं^४ भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु ।
मोहंसदेहविभ्रान्तिवर्जित ज्ञानमुच्यते ॥५॥
कर्मादाननिमित्ताया^५ क्रियाया परमं शमम् ।
चारित्र्योचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥६॥

धर्मविषयक जिज्ञासा

धर्मसे यह प्राणी जगत्में सुखी होता है । उस धर्मका क्या स्वरूप है ? कितने भेद हैं ?
तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥१॥

धर्मका स्वरूप और भेद

जिससे मनुष्योंको ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नायके
जाता धर्माचार्य धर्म कहते हैं ॥२॥ वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है । मोक्षके कारणोंमें लगनेको
प्रवृत्ति और संसारके कारणोंसे बचनेको निवृत्ति कहते हैं । वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मके
भेदसे दो प्रकारका है ॥३॥

संसार और मोक्षके कारणोंका स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि मुक्तिका कारण क्या है और संसारका कारण क्या है ? तथा
गृहस्थोंका धर्म क्या है और मुनियोंका धर्म क्या है ?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य मोक्षके कारण है । तथा मिथ्यादर्शन, अविरति,
कषाय और योग संसारके कारण है ॥४॥ युक्तियुक्त वस्तुओंमें दृढ़ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन
है । और मोह, सन्देह तथा भ्रमसे रहित ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है ॥५॥ जिन कामोंके करनेसे

१ 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ।'—वैशे० द० १-२ । यतोऽभ्युदयनि श्रेयसार्थसिद्धि सुनि-
श्चिता । स धर्म ।—महापुराण ५-२० । २ सप्र—ज०, द० । ३ 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्ग' ॥१॥
—तत्त्वा० सू० अ० १ । ४ दर्शन भावना प्राहु प्रमापूतेषु वस्तुषु । भ्रान्ति सन्देह-समोह-द्विरित वेदन
हि तत् ॥२१॥—प्रबोवसार । ५ अज्ञान मोह । इद तत्त्वमिद वा तत्त्वमिति चलन्ती प्रतीति सदेह । अतत्त्वे
तत्त्वव्यवसायो भ्रान्ति । ६ 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरम सम्यक्चारित्र्यम्'—सर्वा० सि०, १-१ ।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यविषयपरमः ।

मिथ्यात्वं नृपुं मापन्ते सूर्य सर्वधेदिभः ॥७॥

अत्र दुरागमयासनाधिलासिमीवासितचेतसां प्रयतिताप्राकृतलोकानोकहोमूढनसमय
स्रोतसा सदाधाराभरणचातुरीयिदूरयतिनां परधादिनां मुचेरुपाये काये व वदुवृत्तयं वतु
प्रवृत्तयः । तथा हि—‘सकलनिष्कलासमासमग्रतन्त्रापेक्षीणासत्तथाभूतमात्रानुसरणान्मोह
इति सैखान्तवैशेषिका, ‘द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमयायास्यधिरुपाभायाभिधानानां पदार्थानां
साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्राज्ञानमात्रात्’ इति तार्किकवैशेषिका, ‘त्रिकालमस्मोर्धूषनेज्या
गङ्गकमदानामवृत्तिजोकारणाभ्ययिद्वयनाविक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानानुष्ठानात्’ इति पाशुपता,
‘सर्वेषु पेयापेयमभ्यामभ्याविषु निशङ्कचित्तात् कृतात्’ इति बुद्धसाधार्यका । तथा च
त्रिकमतोक्तिः—‘मदिरामोदमदुराद्यद्वन्द्वस्तारसरसप्रसङ्गद्वयं सम्यपाश्रय्यधिमिश्रितशक्तिः शक्तिः
मुद्रासतमपः स्वयमुमामहेम्बरायमाणः कृष्णयो शर्याणीश्वरमाराधयेदिति । प्रकृतिपुरुषयो-
र्विधेकमते क्वाते’ इति सांख्या, ‘नैरात्म्यादिनिवेदितसमायनात्तो मावभ्यता इति वराहस-

कर्मोक्तौ कथं होता है उन कर्मोके न करनेको चारित्र्यमें चतुर आचार्य सम्यक्चारित्र्य कहते
हैं ॥६॥ तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यके विषयमें विपरीत मानसिक प्रवृत्तिको
सर्वत्रिद्वि आचार्योंने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य कहा है ॥७॥

मुक्तिके विषयमें मतान्तर

अन्य मतवाले मुक्तिका स्वरूप तथा उपाय अलग-अलग कल्पते हैं । १ सैदान्तिक
वैशेषिकोका कहना है कि सक्षरीर वा अक्षरीर परम शिवक द्वारा प्राप्त हुए मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा
धारण करना और उनपर अद्या मात्र रक्षना मोक्षका कारण है ।

२ तार्किक वैशेषिकोका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विलक्षण और
अभाव इन सात पदार्थकी साधर्म्य और वैधर्म्य मूळक ज्ञान मात्रसे मोक्ष होता है ।

३ पाशुपतीका कहना है कि तीनों समय प्रातः दोपहर और शामको मस्त भूताने, शिव
स्त्रिंकी पूजा करने, उसके सामने अक्षयात्र स्थापित करने, प्रदक्षिणा करने और आत्मदमन आदि
क्रियाकाण्डमात्रके अनुष्ठानसे मोक्ष होता है ।

४ कुम्भार्यकोका कहना है कि मि-सङ्ग चित्तसे समस्त पीने योग्य न पीने योग्य, खाने
योग्य न खाने योग्य पदार्थमें प्रवृत्ति करनेसे मोक्ष होता है । त्रिकमसमें स्निग्धा है कि क्षराब्दी
मुगन्धसे मुक्तको सुवासित करके, मांसके स्वादसे हृदयका प्रसन्न करके और दक्षिण पार्श्वमें ली
शक्ति स्थापित करके योगि-मुद्रा आसनका धारक स्वयं ही शिव और पार्वती बनकर मदिराके
द्वारा उमा और महेश्वरकी आराधना करे ।

५ सौंन्दर्योका कहना है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्ष होता है ।

१ अत्र ‘विपु’ इति पाठः प्रतीयति । यथा—‘वेदने दहने बुरे कियवैयपरं मन’ । मिथ्यात्वं त्रिपु

मापन्ते सूर्य सर्वधेदिभः ॥२१॥—मोक्ष । २ स्वकये । ३ ‘द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमाधारणां पदार्थानां

साधर्म्यवैधर्म्याया तत्त्वज्ञानाभिधेयसम्’ ॥—वैशेष । ४—१-४ । ५—कृष्णायोपपङ्कजप्रधाना—आ । ५ स्त्री ।

६ योगिपुत्रा । ७ मधिरा । ८ शत्राव—अ । संभावमातो इति च । ९. बीजाः ।

शिष्या, 'अङ्गाराञ्जनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्ध-
चित्तवृत्तिः' इति जैमिनीया, 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावात्पर-
लोकाभावे कस्यासौ मोक्षः' इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या 'बाह्यस्पत्याः', 'परमब्रह्म-
दर्शनवशादशेषभेदसवेदनाविद्याविनाशात्' इति वेदान्तवादिनः, ।

“नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न वहिस्तत्त्वमज्ञा ।

विचारगोचरातीतेः शून्यता श्रेयसी ततः ॥८॥

इति पश्यतोहरा प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः 'शाक्यविशेषा, तथा 'ज्ञानसुख-
दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसस्काराणां नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्तिः'
इति काणाडा । तदुक्तम्—

“वहिः शरीराद्यद्रूपमात्मनः सप्रतीयते ।

उक्तं तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना” ॥९॥

६ बुद्धके शिष्योंका कहना है कि नैरात्म्य भावनाके अभ्याससे मोक्ष होता है ।

७. जैमिनीयोका मत है कि कोयले और अजनकी तरह स्वभावसे ही क्लृप्त चित्तकी चित्त-
वृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती । अर्थात् जैसे कोयलेको घिसनेपर भी वह सफेद नहीं हो सकता,
उसी तरह स्वभावसे ही मलिन चित्त विशुद्ध नहीं हो सकता ।

८ नास्तिक शिरोमणि बृहस्पतिके अनुयायी चार्वाकोका कहना है कि धर्मोंके होनेपर ही धर्मों-
का विचार किया जाता है । अतः परलोकमें जानेवाली किसी आत्माके न होनेसे जब परलोक ही
नहीं है तो मोक्ष होता किसको है ? अर्थात् जब आत्मा ही नहीं है तो मोक्षकी बात ही बेकार है ।

९ वेदान्तियोंका मत है कि परम ब्रह्मका दर्शन होनेसे समस्त भेदज्ञानको करानेवाली
अविद्याका नाश हो जाता है और उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

१० दिखाई देनेवाले विश्वका भी निषेध करनेवाले शून्यतैकान्तवादी बौद्धविशेषोंका मत
है कि न कोई अन्तस्तत्त्व आत्मा वगैरह है और न कोई वास्तविक बाहरी तत्त्व घटादिक ही है,
दोनों ही विचारगोचर नहीं हैं, अतः शून्यता ही श्रेष्ठ है ॥८॥

११ कणादके अनुयायियोंका मत है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और
अधर्म, आत्माके इन नौ गुणोंका अत्यन्त अभाव हो जानेको ही मुक्ति कहते हैं । कहा भी है—
“शरीरसे बाहर आत्माका जो स्वरूप प्रतीत होता है, कणाद मुनिने उसीको मुक्तात्माका स्वरूप
कहा है ॥९॥

१-स्य न-अ० । 'घृष्यमाणो यथाङ्गार शुक्लता नैति जातुचित् । विशुद्धयति कुतश्चित्त
'निसर्गमलिन तथा ॥—यशस्ति०, भाग २, पृ० २५० । घृष्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्ध्यभावे कथमिदमुदा-
हारि कुमारिलेन—विशुद्धज्ञानदेहाय पृ० २५४ । २ चार्वाका । 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः'
तत्त्वसंग्रह पृ० ५२३, तत्त्वोपप्लव पृ० ५८, प्रमेयकमल० पृ०, ११६, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३४३, सन्मति० टीका
पृ० ७१ पर उद्धृत । ३ 'कर्मवलेषाक्षयान्मोक्ष कर्मवलेषा विकल्पत । ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यताया
निरव्यते ॥—माध्य० का० १८-५ ।

‘निराधयधिस्तोत्पत्तिलक्षणा मोक्षलक्षणा’ इति तात्पर्यात् । तदुक्तम्—

‘दिर’ न काचित्तिदिरं न काचित्तेवापि गच्छति नाम्नात्तरिधम् ।

दीपो यथा निर्बृतिमभ्युपेतः स्नेहधृवात्कलमेति शान्तिम् ॥१०॥

दिरं न काचित्तिदिरं न काचित्तेवापि गच्छति नाम्नात्तरिधम् ।

वीरस्तथा निर्बृतिमभ्युपेतः श्लेशवातेकलमेति शान्तिम् ॥११॥

—मोक्षराम १६ २८-२९

‘युद्धिमनोऽहंकारधिरहावृत्तिलेम्निप्रयोपशमायहान्ता द्रष्टुः स्वरूपऽयमग्राह्य मुक्तिः
इति कापिला’ । यथा घटविघटनं घटोकाशमाकाशीमयति तथा बद्धोच्छ्वासासर्पः प्राणी
परमब्रह्मणि लीयते’ इति ब्रह्माद्वैतवादिनः ।

अस्मात्परमार्थानामयमग्राह्योऽपि बुनया ।

निष्कृष्टां न गणयन्ते जात्यग्राह्यामिषं छिप ॥१२॥

प्राप्य समति कोपाय सम्मागम्योपवृत्तम् ।

निवृत्तनासिकस्येयं यिगुखादशवृत्तम् ॥१३॥

१२. बाढ़ाका कटना है कि निराधय चित्तकी उत्पत्ति हो जाना ही मोक्ष है । कहा भी है—
“जैसे दीपक बुझ जानेपर न किसी दिशाका चम आता है, न किसी विदिशाको चम आता है ।
न नीचे पृथिवीमें समा आता है और न ऊपर आकाशमें समा आता है, किन्तु तेसके चुक जानसं
छान्त हो जाता है । उसी तरह निर्वाणको प्राप्त हुआ जीव न किसी दिशाका आता है, न किसी
विदिशाको जाता है, न पृथिवीमें समा आता है और न ऊपर आकाशमें समा आता है किन्तु
कस्मैको क्षम हो जानेसे छान्त हो जाता है” ॥१०-११॥

१३ बुद्धि, मन और अहंकारका समाप्त हो जानेके कारण समस्त इन्द्रियोंका छान्त हो जानेसे
पुरुषका अपने चैतन्य स्वरूपमें स्थित होना मोक्ष है, ऐसा कपिल ऋषिके अनुयायी मानते हैं ।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि जैसे घटके धूट जानेपर घटसे रोका हुआ आकाश
आकाशमें मिळ जाता है उसी तरह शरीरका विनाश हो जानेपर सब प्राणी परम ब्रह्ममें लीन
हो जाते हैं ।

जिस तरह अन्मान्ध मनुष्य हाथीक विषयमें विविध कल्पनाएँ कर सते हैं, उसी तरह
परमार्थका न जाननेवाळ मिथ्यामतवादियोंने अन्य भी अनेक मत कल्पित कर रसे हैं, उनकी
गणना करना भी कठिन है ॥१२॥

[इस प्रकार मोक्षके विषयमें अन्य मतोंकी बतला कर आपार्थ विचारते हैं—]

जैसे नफटे मनुष्यका स्वच्छ वर्ण विस्मनेसे उसे क्राय आता है, वैसे ही जानकर
सन्मार्गका उपदेश भी प्रायः लोगोंके क्रायका कारण होता है ॥१३॥

१ ‘मोक्ष इति मोक्षावस्थास्तात्पर्यात् —यु । मोक्षलक्षणं — मोक्षावस्थाः । २ अस्वर्गोपकृत लीनराम
काव्य सर्ग १६ श्लो ८-२९ इस प्रकार है—‘दीपो यथा निर्बृतिमभ्युपेतो वैवापि गच्छति नाम्नात्तरिधम् ।
दिग् न काचित्तिदिग् न काचित् स्नेहधृवात् केवलमेति शान्तिम् । एवं हृदी निर्बृतिमभ्युपेतः — इत्यादि ।
३ बटाघाते बटाकाकी महाकाशो यथा तथा । उपाध्यभावे त्वात्पेयं स्वयं ब्रह्मैव कैवल्यम् ॥६९५॥—सर्वबैरान्त
विज्ञानसंग्रह । ४ वै मोक्षमये मने युक्तं च परमात्मनि । कुम्भाकाशं ब्रह्माकाशं जगते वैकल्पयाम् । —माठर
वृत्ति (सा का १९) मे बद्धवृत्तः । ४ ‘अस्य’ प्रत्युत तात्पर्यं यथावत्स्योपवर्धनम् । यथा निर्मलतायस्य विद्युदा
वर्धवर्धनम् ॥२१॥ —श्री श्री छार ।

दृष्टान्ता सन्त्यसंख्येया मनिस्तद्वशवर्तिनी ।
 किं न कुर्युर्महीं धूर्ता विवेकगहितामिमाम् ॥१४॥
 दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुंसि कर्णेनु किम् ।
 कृष्णपापाण्यण्डेषु मार्दवाय न तोयट् ॥१५॥
 ईर्ते युक्तिं यदेवात्र तदेव परमार्थसत् ।
 यद्भानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥१६॥
 श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेय संश्रयाय न केवला ।
 बुभुक्षितवशात्पाको जायेत किमुदम्बरे ॥१७॥
 पात्रावेशाद्विचन्मन्त्रादात्मदोषपरिचयः ।
 दृश्येत यदि को नाम कृती क्लिश्येत संयमै ॥१८॥
 दीक्षाज्जपान्तरात्पूर्वं ये दोषा भवसम्भवा ।
 ते पश्चादपि दृश्यन्ते तत्र सा मुक्तिकारणम् ॥१९॥

ससारमें दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है, दृष्टान्तोंको सुनकर लोगोंकी बुद्धि उनके आधीन हो जाती है। ठीक ही है—धूर्त लोग इस विवेक शून्य पृथिवीपर क्या नहीं कर सकते ॥१४॥ जो पुरुष दुराग्रह रूपी राहुसे ग्रस लिया गया है अर्थात् जो अपनी बुद्धि दृष्टको पकड़े हुए है उस पुरुषको विद्वान् कैसे समझावे। मेघके बरसनेसे काले पत्थरके टुकड़ोंमें कोमलता नहीं आती ॥१५॥ फिर भी इस लोकमें जो वस्तु युक्तिसिद्ध हो वही सत्य है, क्योंकि गुर्यकी किरणोंकी तरह युक्ति भी किसीका पक्षपात नहीं करती ॥१६॥

[इस प्रकार मनमें विचार कर आचार्य यहाँसे उक्त मतान्तरोंका क्रमशः निराकरण करते हैं—]

१ कल्याण चाहनेवालोंका कल्याण केवल श्रद्धा मात्रसे नहीं हो सकता। क्या भूख लगनेसे ही गूलर पक जाते हैं ? ॥१७॥ उचित व्यक्तिमें आगत भूतावेशकी तरह यदि मन्त्र पाठसे ही आत्माके दोषोंका नाश होता देखा जाता, तो कौन मनुष्य समय धारण करनेका क्लेश उठाता ॥१८॥ दीक्षा धारण करनेसे पहले जो सासारिक दोष देखे जाते हैं, दीक्षा धारण करनेके बाद भी वे दोष देखे जाते हैं। अतः केवल दीक्षा भी मुक्तिका कारण नहीं है ॥१९॥

भावार्थ—पहले सैद्धान्त वैशेषिकोंका मत बतलाते हुए कहा है कि वे मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करने और उनपर श्रद्धा मात्र रखनेसे मोक्ष मानते हैं। उसीकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि न केवल श्रद्धासे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और न मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करनेसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा तो मात्र रुचिको बतलाती है, किन्तु किसी चीजपर श्रद्धा हो जाने मात्रसे ही तो वह प्राप्त नहीं हो जाती। इसी तरह दीक्षा धारण कर लेने मात्रसे भी काम नहीं चलता, क्योंकि दीक्षा लेनेपर भी यदि सासारिक दोषोंके विनाशका प्रयत्न न किया जाये तो वे दोष जैसे दीक्षा लेनेसे पहले देखे जाते हैं वैसे ही दीक्षा धारण करनेके बादमें भी देखे जाते हैं। यदि केवल श्रद्धा या दीक्षासे ही काम चल सकता होता तो समय धारण करनेके कष्टोंको उठानेकी जरूरत ही नहीं रहती। अतः ये मोक्षके कारण नहीं माने जा सकते।

ज्ञानेद्यगमोऽर्पानां न तत्कार्यसमागमः ।
 तर्पापकपयोगि स्याद्वृष्टमेयाम्यथा पयः ॥२०॥
 ज्ञानहीने क्रिया पुं सि परं नारमते फलम् ।
 तपोश्चायेव किं लभ्या फलभीनष्टदृष्टिभिः ॥२१॥
 ज्ञानं पक्षी क्रिया चान्ये निःशब्दे नार्थक्यद्वयम् ।
 ततो ज्ञानक्रियाभ्यामत्रय तत्पदकारणम् ॥२२॥

उक्तं च—

“इतै ज्ञानं क्रियासुखं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
 चावश्यमप्यत्र नष्टः पश्यन्पि च पशुकः” ॥२३॥
 निःशब्दरामप्रवृत्ते स्याद्यपि मोक्षसमीक्षणम् ।
 ठकसूनाहतां पूय पद्मारकीलेष्यसी भवेत् ॥२४॥
 अभ्यस्तनरयोर्नित्य नित्यस्यापि स्थमाद्ययोः ।
 यियेकेनै कथं क्याति सांख्यमुख्याः प्रवृत्ते ॥२५॥

[अब आचार्य बिना ज्ञानको क्रियाको और बिना क्रियाके ज्ञानको व्यर्थ बतलाते हैं—]

२ १ ज्ञानसे पशुओंका बाध होता है, किन्तु उन्हें जानने मात्रसे उन पशुओंका कार्य हावा नहीं देसा जाता । यदि ऐसा हावा सो पानीके देवते ही प्यास बुझ जायी चाहिये ॥२०॥ तमा ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायी नहीं होती । क्या अन्ये मनुष्य वृषकी छायाकी तरह उसके फलसेकी धोमाका आनन्द ले सकते हैं ? ॥२१॥ अज्ञानी पशुका ज्ञान और अज्ञानी अन्येकी क्रिया दोनों ही कार्यकारी नहीं हैं । अत ज्ञान, चारित्र और अज्ञा तीनों ही मिलकर मांसका कारण हैं ॥२२॥

कहा भी है—

क्रिया-आचरणसे दून्य ज्ञान भी व्यर्थ है और अज्ञानीकी क्रिया भी व्यर्थ है । दत्ता, एक जंगलमें आग लगानेपर अन्या मनुष्य दीड़ भाग करके भी नहीं बच सक्य, क्योंकि वह देल नहीं सकता या और लैगाड़ा मनुष्य आगका देलत हुए भी त भाग सकनेके कारण उसीमें अल मरा ॥२३॥

[केवल मतवादियोंका आचार्य उत्तर देते हैं—]

४ यदि मद्य-मांस वगैरहमें निःशब्द हाकर प्रवृत्ति करनेमें मांसकी प्राप्ति हो सकती ता सबसे पहले ता ठगों और मांस बेचनेवाले कमाइयोंकी मुक्ति होनी चाहिये । उनका पीछ कील मतवाल्की मुक्ति होना चाहिये ॥२४॥

[इस प्रकार केवल ज्ञान या केवल चारित्रमें मुक्तिकी प्राप्तिसे असम्भव बतलाकर आगे आचार्य सांख्य मतकी आलाचना करते हैं—]

५ सांख्य मतमें प्रवृत्ति और पुरुष दोनों व्यापक और निग्न माने गये हैं । ऐसी अवस्थामें उनमें भद्र प्रदण कैम सम्भव है ? अर्थात् व्यापक आग निग्न दानमें प्रवृत्ति और पुरुष दानों मद्रासे मिश्र हुए ही रहते हैं । तब उनमें भद्र प्रदणका कथन सम्भवाभाव कैमे कइत है ॥२५॥

१ केवल ज्ञानवादेय चारित्रवादाग्रहो अर्थात् तद्वि चर्च ज्ञानमात्र अथ वाच विचारि तृपादे-च चरित न च तथा दृश्यते । २ ‘उच्यते च-इदं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनः क्रिया । चारित्रं क्रियासुखो दानः चारित्रं च पशुकः ॥-नारका वा १ १४ । १ अर्थेन ।

सर्वं चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् ।
तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्ति स्याद्विग्रहलम्बिनाम् ॥२६॥

तदुक्तम्—

“पिहिते कारौगारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेदे ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम्” ॥२७॥

स्वभावान्तरसंभूतिर्यत्र तत्र मलक्षयः ।
कर्तुं शक्य स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥२८॥
“तदहर्जस्तनेहातो रत्नोदग्रेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः” ॥२९॥

[पहले नैरात्म्य भावनासे मुक्ति माननेवाले एक मतका उल्लेख कर आये हैं, उसकी आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—]

६. भावनासे सभी वस्तु चित्तमें स्पष्ट रूपसे झलकने लगती है । यदि केवल उतनेसे ही मुक्ति प्राप्त होती है तो ठगोंकी भी मुक्ति हो जायेगी ॥२६॥

कहा भी है—

“सब ओरसे बन्द जेलखानेमें अत्यन्त घोर अन्धकारके होते हुए और मेरे आँख बन्द कर लेनेपर भी मुझे अपनी प्रियाका मुख दिखाई दिया” ॥२७॥

भाचार्य—आशय यह है कि भावना जैसी भाई जाती है वैसी ही वस्तु दिखाई देने लगती है । अतः केवल भावनाके बलपर यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

[इस प्रकार नैरात्म्य भावनावादीको उत्तर देकर आचार्य जैमिनिके मतकी आलोचना करते हैं । जैमिनिका कहना है कि स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी विशुद्धि नहीं हो सकती । इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—]

७. जिस वस्तुमें स्वभावान्तर हो सकता है, उसमें अपने कारणोंसे मलका क्षय किया जा सकता है, जैसा कि मणि और मोतियोंमें देखा जाता है । अर्थात् मणि मोती वगैरह जन्मसे ही सुमैल पैदा होते हैं किन्तु बादको उनका मैल दूर करके उन्हें चमकदार बना लिया जाता है । इसी तरह अनादिसे मलिन आत्मासे भी कर्म जन्य मलिनताको हटाकर उसे विशुद्ध किया जा सकता है ॥२८॥

[अब आत्मा और परलोकको न माननेवाले चार्वाकोंको उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—]

८ उसी दिनका पैदा हुआ बच्चा माताके स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता है, राक्षस वगैरह देखे जाते हैं, किसी-किसीको पूर्व जन्मका स्मरण भी हो जाता है, तथा आत्मामें पञ्च भूतोंका कोई भी धर्म नहीं पाया जाता । इन बातोंसे प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन सिद्ध होता है ॥२९॥

भाचार्य—आशय यह है कि चार्वाक आत्माको एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता । उसका कहना है कि जैसे कई चीजोंके मिलनेसे गराब बन जाती है और उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतोंके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है या प्रकट हो जाती है, उसे ही आत्मा कह देते हैं । जब वे पाँचों भूत बिछुड़ जाते हैं तो वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है । अतः पञ्चभूतोंके सिवा आत्मा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है ।

भद्रोऽयं वचनविद्या स्थापितविषय जगतः कुतः ।

अममृत्युसुखप्राप्यैर्विद्यैर्मानवमिति ॥३०॥

शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः ।

इत्यास्थाया विरुध्येत सर्वशून्यत्वव्याधिता ॥३१॥

बोधो या यदि धामन्वो नामित मुनी भयोद्भव ।

सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्कतिरोक्ष्यते ॥३२॥

इसका निराकरण करते हुए ध्याचार्य कहते हैं कि एक तो उसी विनका अन्मा हुआ वक्ता माताके स्तनोंका पीनेकी चेष्टा करता हुआ देखा जाता है, और यदि उसके मुँहमें स्तन लगा दिया जाता है तो शूट पीने लगता है । यदि बच्चेको पूर्व जन्मका संस्कार न होता तो पैदा होते ही उसमें ऐसी चेष्टा नहीं होनी चाहिए थी । यह सब पूर्व जन्मका संस्कार ही है । तथा शशस व्यन्तरादिक देव देखे जाते हैं जो अनेक बातें बतलाते हैं । पूर्व जन्मके स्मरणकी कोई क्षणाएँ सच्ची पाई गई हैं, तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि चैतन्य मूलोंके मझसे पैदा होता है तो उसमें मूलों का धर्म पाया जाना चाहिए था, क्योंकि जो वस्तु जिन कारणोंसे पैदा होती है उस वस्तुमें उन कारणोंका धर्म पाया जाता है, जैत मिट्टीसे पैदा होनेवाले वस्त्रोंमें मिट्टीपना रहता है, भागोंस बनाये जाने वाले वस्त्रोंमें धागे पाये जाते हैं, किन्तु चैतन्यमें पंचमूलोंका कोई धर्म नहीं पाया जाता । पंच मूल तो बड़े होते हैं उनमें जानने-देखनेकी शक्ति नहीं होती, किन्तु चैतन्यमें जानने देखनेकी शक्ति पाई जाती है । तथा यदि चैतन्य पंचमूलोंका धर्म है तो मोटे शरीरमें खधिक चैतन्य पाया जाना चाहिए था और दुबले शरीरमें कम । किन्तु इसका विपरीत काइ-कोई दुबले-पतले बड़े मेधावी और ज्ञानी देव जाते हैं और स्थूल मनुष्य निर्मुक्ति होते हैं । तथा यदि चैतन्य पंचमूलोंका धर्म है तो शरीरका हाव-पैर आदि क्त जानेपर उसमें चैतन्यकी कमी हो जानी चाहिए क्योंकि पंचमूल कम हो गये हैं किन्तु हाव-पैर वगैरहके क्त जानेपर भी मनुष्यके ज्ञानमें काइ कमी नहीं देखी जाती । इससे सिद्ध है कि चैतन्य पंचमूलोंका धर्म नहीं है बल्कि एक निस्प द्रव्य आत्माका ही धर्म है । जत आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है ।

[अब आचार्य वेदान्तियोंके मतकी आलोचना करते हुए उनसे पूछते हैं—]

९ यदि यह मेव वचिषाख्य है—अज्ञान मूलक है तो संसारमें वैचिष्य क्यों पाया जाता है, क्यों काइ भरता है और काइ कम लेता है ? काइ सुखी और काइ दुखी क्यों देखा जाता है ? ॥३०॥

[अब आचार्य शून्यवादी बौद्धके मतकी आलोचना करते हैं—]

१० 'मै शून्य तत्त्वका प्रमाणस सिद्ध करता हूँ', ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर सर्वशून्यवादका स्वयं विरोध हो जाता है ॥३१॥

भाषार्थ—आशय यह है कि शून्यतावादी अपने मतकी सिद्धि यदि किसी प्रमाणसे करता है तो प्रमाणके वस्तु सिद्ध हो आगम शून्यतावाद सिद्ध नहीं हो सकता । और यदि बिना किसी प्रमाणक ही शून्यतावादको सिद्ध मानता है तो वह तो दुनियामें उसी काइ वस्तु ही न रहेगी जिसे सिद्ध न किया जा सक । और उसी अवस्थामें बिना प्रमाणके ही शून्यतावादक विरुद्ध अनुमता बात भी सिद्ध हो जायेगा । जत सबशून्यतावाद भी ठीक नहीं है ।

न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम् ।

न ह्यग्नावन्यदुष्णत्वाल्लक्ष्म लक्ष्यं विचक्षणैः ॥३३॥

किं च सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता ? मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामुष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्

“ऐश्वर्यमप्रतिहत सहजो विराग-

स्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।

आत्यन्तिक सुखमनावरणा च शक्ति-

ज्ञानं च सर्वविषय भगवस्तवैव” ॥३४॥

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत् ।

अनेकजन्मसंततेर्यावदद्याक्षयः पुमान् ।

यद्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुतः क्षीयेत हेतुतः ॥३५॥

[अत्र आचार्य मुक्तिमें आत्माके विशेष गुणोंका विनाश माननेवाले कणाद मतानुयायियोंकी आलोचना करते हैं—]

११. यदि आप यह मानते हैं कि मुक्तिमें सासारिक सुख-दुःख नहीं हैं तो इसमें कोई हानि नहीं है, यह बात तो हमको भी इष्ट ही है । किन्तु यदि आत्माके समस्त पदार्थविषयक ज्ञानके विनाश-को मोक्ष मानते हैं तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या है ? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तुके विशेष गुणों-को ही वस्तुका लक्षण मानते हैं, जैसे आगका लक्षण उष्णता है, यदि आगकी उष्णता नष्ट हो जाये तो फिर उसका लक्षण क्या होगा ? फिर तो आगका ही अभाव हो जायेगा, क्योंकि विशेष गुणोंके अभावमें गुणोंका भी अभाव हो जाता है । अतः यदि मुक्तिमें आत्माके ज्ञानादि विशेष गुणोंका अभाव माना जायेगा तो आत्माका भी अभाव हो जायेगा ॥३२-३३॥

तथा आपके सदाशिव ईश्वर वगैरह ससारी हैं या मुक्त ? यदि ससारी हैं तो वे आप नहीं हो सकते । यदि मुक्त हैं तो 'क्लेश, कर्म, कर्मफलका उपभोग और उसके अनुरूप संस्कारोंसे रहित पुरुष विशेष ईश्वर है । उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका जो बीज है वह अपनी चरम सीमाको प्राप्त है अर्थात् वह पूर्णज्ञानी है' । पतञ्जलिका यह कथन, और 'हे भगवन् ! आपमें अविनाशी ऐश्वर्य है, स्वामाविक विरागता है, स्वामाविक सन्तोष है, स्वभावसे ही आप इन्द्रियजयी है । आपमें ही अविनाशी सुख, निरावरण शक्ति और सब विषयोंका ज्ञान है ॥३४॥ अवधूताचार्यका यह कथन घटित नहीं हो सकता है ।

[इस प्रकार कणाद मतके अनुयायियोंकी आलोचना करके आचार्य बौद्धोंकी आलोचना करते हैं—]

१२. यदि पुरुष अनेक जन्म धारण करनेपर भी आज तक अक्षय है, उसका विनाश नहीं हुआ, तो मुक्ति प्राप्त होनेपर उसका विनाश किस कारणसे हो जाता है ? ॥३५॥

१ समग्रपदार्थविलोकनविनाशलक्षणे । २ आत्मन लक्षणम् । ३ ण्मत्वा-ज० । ४ लक्ष्यवि-ज० । ५ योगसूत्र १, २४-२६ । ६ यशस्तिलकके आश्वास ४ और ५ में भी यह श्लोक उद्धृत है । वहाँ भी इसे अवधूतका बतलाया है । प्रमेयरत्नमाला (पृ० ६३) में भी अवधूतके नामसे उद्धृत है । ७ चेत्यपूर्व बहूनि जन्मानि जीविन गृहीतानि अद्यापि विनाशो न सज्जात । तर्हि मोक्षगमने सति कस्मात्कारणात् क्षीयेत—क्षय याति ।

‘वाह्ये वाह्ये मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः ।

तथा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानममानकम् ॥१९॥

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽपीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—

“यस्तु पश्यति राज्ञन्ते राजानं कुञ्जरं हयम् ।

सुवर्णं शृगं वा च कुटुम्बं तस्य वर्षते” ॥२०॥

यत्र भेदादिकं नास्ति न तत्र भविताराम्नि ।

तत्र युक्तमिव यस्मात्स्वप्नमग्नौऽपि वीक्षते ॥२१॥

अस्मिन्पादेनैरत्येऽपि ग्रह्येत मतिर्यदि ।

‘परकाष्ठाप्यतस्तस्याः कश्चित्के परिमाणवत् ॥२२॥

[अब आचार्य सांख्यमतकी आलोचना करते हैं—]

१२ जैसे रात, पिच आदिका मकोप न रहनेपर आत्माको सत्ता स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मलके नष्ट हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है । अतः मुक्त हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है । यह भी खर्ब हो सकता है कि मलके नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थों को जानता है । और तब अपने इस स्वरूपमें ध्वनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥ १९ ॥

सायब कहा जाये कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ‘स्वप्नाध्याय’में सच्चे स्वप्न बताया है । जैसा कि उसमें लिखा है—‘ओ रात्रिके पिछले पहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥ २० ॥

अहाँ औस गौरह इन्द्रियां नहीं होती वहाँ आत्मामें ज्ञान भी नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अन्ये मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ॥ २० ॥

भाषाघ—संख्य मुष्कारामें ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होती । उसकी इस मान्यताका स्पष्टन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियों होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नहीं होनेपर न हो ऐसा कोई नियम नहीं है । इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान होता देखा जाता है । स्वप्न दृष्टामें इन्द्रियाँ काम नहीं करती फिर भी ज्ञान होता है और यह सचा निश्चयता है । अतः इन्द्रियोंके अभावमें भी मुष्काराको स्वभाविक ज्ञान रहता ही है ।

[जैमिनि के मतके अनुयायी गीर्वांसक कहते जाते हैं । गीर्वांसक लोग सर्वज्ञको नहीं मानते । वे वेदको ही प्रमाण मानते हैं । उनके मतसे वेद ही मूल और सबिष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है । उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति कमी नहीं आसकती । मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जान सकता है तो वेदके वेदके द्वारा ही जान सकता है । इसको आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं—]

आपके आप जैमिनि मनुष्य थे । फिर भी उनकी बुद्धि इसनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके । इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी धरम सीमा को भी पहुँच सकता है । क्योंकि जिनकी हानि-बुद्धि दली जाती है उनका कहीं परम मनुष्य

१ समस्तान् वैश्वज्जनेन बाह्ये वशार्थे बाह्येऽन्यौचिते नहि इन्द्रायाम् स्वरूपेऽवस्थानं निर्वर्तिरिति मानवद्वयम् । २ प्रजापतीनाम् ३ ५८ पञ्चपुर । ४ ग्रहण्य भवति । ५ परमवर्षम् ५ नते ।

तुच्छाभावो न कस्यापि हानिदीपस्तमोऽन्वयी ।
 धेरादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४०॥
 तदावृत्तिहतौ तस्य तपनस्यैव दीधितिः ।
 कथं न शेमुपी सर्वं प्रकाशयति वस्तु यत् ॥४१॥
 ब्रह्मैकं यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्गं कुतश्च न ।
 घटाकाशमिवाकाशे तत्रेदं लीयतां जगत् ॥४२॥

अथ मतम्—

एक^३ एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः ।
 एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४३॥

[ब्रह्म वि०, १-१]

और परम अपकर्ष अर्थात् अति हानि और अति वृद्धि भी देखी जाती है । जैसे परिमाणका परम प्रकर्ष आकाशमें पाया जाता है ॥ ३९ ॥

शायद कहा जाये कि इस नियमके अनुसार तो किसीमें बुद्धिका विलकुल अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तुका तुच्छाभाव नहीं होता, अर्थात् वह चीज एक दम नष्ट हो जाये और कुछ भी शेष न रहे ऐसा नहीं होता । दीपक जब बुझ जाता है तो प्रकाश अन्धकार रूपमें परिवर्तित हो जाता है । तथा पृथिवी बगैरहमें बुद्धिकी अत्यन्त हानि देखी जाती है । क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीव पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंको अपने शरीर रूप से ग्रहण करता है और मरण होनेपर उन्हें छोड़ देता है । अतः जीवके वियुक्त हो जाने पर उन पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंमें बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जाता है । इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥४०॥

अतः जैसे सूर्यके ऊपरसे आवरणके हट जानेपर उसकी किरणें समस्त जगत्को प्रकाशित करती हैं । वैसे ही बुद्धिके ऊपरसे कर्मोंका आवरण हट जाने पर वह समस्त जगत्को क्यों नहीं जान सकती, अवश्य जान सकती है ॥४१॥

[अथ आचार्य ब्रह्माद्वैतकी आलोचना करते हैं—]

१४ यदि केवल एक ब्रह्म ही है तो वह निस्तरंग—सांसारिक भेदोंसे रहित क्यों नहीं है अर्थात् यह लोक भिन्न क्यों दिखाई देता है । तथा जैसे घटके फूट जानेपर घटके द्वारा छेका गया आकाश आकाश में मिल जाता है, वैसेही इस जगत्को भी उसी ब्रह्ममें मिल जाना चाहिए ॥४२॥

शायद कहा जाये कि जैसे चंद्रमा एक होते हुए भी जलमें प्रतिबिम्ब पड़नेपर अनेक रूप दिखाई देता है उसी तरह एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न शरीरोंमें पाया जानेसे अनेक रूप दिखाई देता है ॥४३॥

१ 'नन्वेवं दोषावरणयोर्हनिरतिशायनात् निश्शेषताया माध्याया वृद्धेरपि किञ्च परिक्षय स्याद्विशेषा-
 भावादतोऽनैकान्तिको हेतुरित्यभिहितलक्षित चेतनादि-गुणव्यावृत्ते सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात्' ।
 —अष्टसहस्री, पृ० ५२ । २ यदि एक ब्रह्मैवास्ति तर्हि अयं लोकं पृथक् किं दृश्यते ? तत्रैव ब्रह्माणि
 कथं न लीयते । ३. 'एकदण्डदर्शनमिदं—एकमेकं हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित । एकवानेक वा
 चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥'—सिद्धि वि०, पृ० ६७५ ।

‘बाह्ये बाह्ये मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः ।

तदा ब्रह्म स्वरूपेऽस्मिन्नयस्यानममानकम् ॥३९॥

म चाय सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽपीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—

“यस्तु परमति रात्र्यन्ते रात्राम् कुञ्जरे ह्वयम् ।

सुषर्षा वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्षते ॥३९॥

यत्र मेवाविक मास्ति न तत्र मतिरात्मनि ।

तत्र युक्तमिव यस्मात्स्वप्नमग्नौऽपि वीर्यते ॥३९॥

जैमिन्यादेर्नैरत्येऽपि मह्ययेत मतिर्यदि ।

पराकाष्ठाप्यतस्तस्याः कथित्वे परिमाणयत् ॥३९॥

[अथ आचार्य सांख्यमतकी आलोचना करते हैं—]

१३ जैसे वात, पित्त आदिका मकोप न रहनेपर आत्माको सचा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कम रूपी मलके मल हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है । अतः सुख हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है । यह भी कथ्य हो सकता है कि मलके मल हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थों को जानता है । और तब अपने इस स्वरूपमें अनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥ ३९ ॥

साम्य कहा जाये कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ‘स्वप्नाध्याय’में सच्चे स्वप्न बतलाये हैं । जैसा कि उसमें लिखा है—‘जो रात्रिके पिछले पहरमें रात्रा, हाथी, घोड़ा, सेना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥ ३० ॥

वहाँ आँख बगैरह इन्द्रियाँ नहीं होती वहाँ आत्मामें ज्ञान भी नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अपने मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ॥ ३० ॥

आपाद्य—सांख्य मुष्मरामें ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होती । उसकी इस मान्यताका सङ्गन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियोंके होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नही होनेपर न हो पसा कोई नियम नहीं है । इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान होता देखा जाता है । स्वप्न व्रणामें इन्द्रियाँ काम नहीं करती फिर भी ज्ञान होता है और वह सचा निश्चय है । अतः इन्द्रियोंके अभावमें भी मुष्मरामें स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है ।

[जैमिनि के मतके अनुयायी मीमांसक कहते जाते हैं । मीमांसक लोग सर्वज्ञ नहीं मानते । वे वेदका ही प्रमाण मानते हैं । उनके मतसे वेद ही भूत और भविष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है । उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि दिनमा भी विकसित करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थोंका जाननेकी शक्ति नहीं आसकती । मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जान सकता है तो वेदका वे के द्वारा ही जान सकता है । इसको आलाचना करने हुए आचार्य कहते हैं—]

आपक आप जैमिनि मनुष्य यः । पितृ भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित है गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सकें । इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी परम सीमा का भी पहुँच सकता है । क्योंकि जिनकी दानि-बुद्धि देखी जाती है उनका कही परम पक्ष

१ अतएव वेदमन्त्रेन बाह्ये वराय बाह्येऽनीकिते नहि ब्रह्मरात्मन एवमर्थोऽप्यापि निर्दिष्टं हि भारद्वाजम् । २ अभाषाटीकामें य ५८ पदार्थ १३ अङ्गण मति । ४ परमपर ५ मति ।

संपादयति कचित्कालमुपलभ्यात्मनश्चार्वाचारित्रे, साधुसंपादनसार संस्कार इव ^१वीजेपु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्, सिद्धश्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीमं कामितानि । व्रतानि पुनरोपधय इव फलपाकावसानानि पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च । न च सिद्धरस-वेधसंवन्धादुपैवु^२ धसंनिधानमात्रजन्मनि जाम्बु^३नद इवात्र पदार्थयाथात्म्यसमवगमान्मनो-मननमात्रतन्त्रे निःशेषश्रुतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशान्तरमनुसरणीयम्, नापि कालक्षेपकुक्षिरपेक्षितव्यः । तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसंसद^४, प्राणितमिव भोगायतनोपचारस्य, मूलवलमिव विजयप्राप्तेः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि परलोकोदाहरस्य^५ सम्यक्त्वमेव ननु प्रथमं कारणं गृणन्ति गरीयासः । तस्य चेदं लक्षणम्—

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।

मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥४८॥

न्द्रियोंमें, पृथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमें जन्म नहीं होने देता । संसारको सान्त कर देता है । कुछ समयके पश्चात् उस आत्माके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते हैं । जैसे, बीजोंमें अच्छी तरहसे किया गया संस्कार बीजोंकी वृक्षरूप पर्यायान्तर होनेपर भी वर्तमान रहता है, उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तरमें भी आत्माका अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है । सिद्ध चिन्तामणिके समान असीम मनोरथोंको पूर्ण करता है । व्रत तो ओषधि वृक्षोंकी तरह (जो वृक्ष फलोंके पकनेके बाद नष्ट हो जाते हैं उन्हें ओषधि वृक्ष कहते हैं) मोक्षरूपी फलके पकने तक ही ठहरते हैं तथा कलेवाकी तरह नियत कालतक ही रहते हैं । (किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है) पारे और अग्निके सयोगमात्रसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकी तरह, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानकर उनमें मनको लगाने मात्रसे प्रकट होनेवाले सम्यक्त्वके लिए न तो समस्त श्रुतको सुननेका परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीरको ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तरमें भटकना चाहिए और न कालकी ही अपेक्षा करनी चाहिए । अर्थात् सम्यक्त्वके लिए किसी कालविशेष या देश-विशेषकी आवश्यकता नहीं है । सब देशों और सब कालोंमें वह हो सकता है । इसलिए जैसे नाँवको महलका, सौभाग्यको रूप सम्पदाका, जीवनको शारीरिक सुखका, मूल वलको विजयका, विनम्रताको कुलीनताका, और नीति पालनको राज्यकी स्थिरताका मूल कारण माना जाता है वैसे ही महात्मागण सम्यक्त्वको ही समस्त पारलौकिक अभ्युन्नतिका अथवा मोक्षका प्रथम कारण कहते हैं । उस सम्यक्त्वका लक्षण इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शनका लक्षण

अन्तरग और बहिरग कारणोंके मिलनेपर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थोंका तीन मूढता रहित, आठ अङ्ग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रथम सवेग आदि गुणवाला होता है ॥४८॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व अन्तरग और बहिरग कारणोंके मिलनेपर प्रकट होता है ।

१ जीवेपु मु० । २ अग्नि । ३ सुवर्ण । ४ जीवित । ५ शरीर । ६—हरणस्य मु० । ७ तुलना—
'श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभूताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥३॥—रत्नकरण्डधा० ।

तदपुनम् ।

एकं योऽनेकधाभ्यस्र यथेष्टपुर्व्वेयते जनैः ।

न तथा वेद्यते ब्रह्म मेवेष्ट्योऽभ्यवमेवमाह् ॥४४॥

अस्मत्तिविस्तरेण ।

आत्मनो ज्ञानमीश्वर्य्यं धीर्य्यं परमसूक्ष्मता ।

एतवात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥४५॥

ज्वालोत्प्लवकीजालैः स्वभाषावृर्ध्वगमिता ।

नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥४६॥

तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापरमनामपि ।

स्वर्गान्भोगमो न स्यात्तत्र लोकान्तरेण ते ॥४७॥

इत्युपासकभ्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

ब्रह्मो धर्मांतराधनेकमते यस्मत्तीपते सम्पत्स्य हि नाम कराणां महती बलु पुरुष-
देवता । यत्सिद्धकमेव यथोक्तगुणप्रगुणतया उच्चातमशेषकस्मपकलुपभिपयतया नरकाविपु-
गतिषु पुण्यवायुपामपि मनुष्याणां पदसु तैलापातालेषु, अष्टविधेषु व्यन्तरसु, दशविधेषु
मयनेवासिषु, पञ्चविधेषु स्योतिषेषु, विविधासु रक्षोषु, विद्वत्करणेषु पृथ्वीपयपावकपवन-
कायिकेषु घनस्पतिषु च न भयति संमृतिहेतु । सावधि चिन्धात्याजघञ्जवीभावं नियमेन

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे चन्द्रमा आकाशमें एक ओर जगमें अनेक
दिशाई देता है, जैसे मेढोंसे जुवा एक जग ज्ञानगोचर नहीं होता ॥ ४४ ॥

अस्तु, अब इस प्रसंगका यही समाप्त करते हैं ।

मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन

अहाँपर अविनाशी सुख ज्ञान, ऐश्वर्य्य, बीर्य्य और परम सूक्ष्मत्व आदि गुण पाये जाते हैं
उसीको मोक्ष कहते हैं ॥ जैसे आगकी ज्वाला और परणक बीज स्वभावसे ही ऊपरको जाते
हैं, उसी प्रकार मुक्तत्मा भी स्वभावसे ही ऊपरको जाता है ॥ यदि यही माना जाये कि मुक्त
होनेपर आत्मा बही रह जाता है कहीं जाता नहीं है, तो पुण्यात्माओंका स्वर्गगमन और पापत्माओं-
का नरक गमन भी नहीं होगा । फिर तो परमांक की कथा ही व्यर्थ हो जाती है । अब मुक्तत्मा-
को ऊर्ध्वगामी मानना चाहिए ॥ ४५ ४७ ॥

इस प्रकार उपासकभ्ययनमें समस्त मतोंके सिद्धान्तोंका ज्ञान करानेवाला पहला कल्प
समाप्त हुआ ।

[अब प्रथमः सम्पत्स्य माहात्म्य और स्वल्प वतलाते हैं—]

सम्पत्स्यका माहात्म्य

धर्ममेवो राजन् ! सम्पत्स्य मनुष्योंका एक महती पुरुष देवता है अथवा देवताको
तरह उनका रक्षक है । क्योंकि यदि अपने यथोक्त गुणोंसे समन्वित सम्पत्स्यदेवता एक बार भी
मास हा जाता है या समस्त पापोंसे क्लृप्त मति होनेके कारण त्रिन पुरुषोंने नरकादिक गतिधोमेंसे
किसी एककी जायुका कथ कर लिया है उन मनुष्योंका नीचेके छे नरकोंमें आठ प्रकारके व्यन्तरमें,
दस प्रकारके भवनवासियोंमें, पाँच प्रकारके उपातिपी दलोंमें, तीन प्रकारकी त्रियोंमें, विद्व-
-

१ परईरीज । २ धर्मरावाक्यार्थि । ३ चित्रार्थिपुष्पाधि । ४ अनुत्तमागति । ५ धनु
हेतुमानु पुष्टीनु कोदण-जय भवन-मण्डलीनु । ६ आरतिविष्णुआर सग्राहिनः नति वचनानु ॥ १९ ॥
—पञ्चमपद ५ ४१ ।

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।
 सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥४६॥
 १ ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
 अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥४७॥
 यस्तत्त्वदेशनाद्दुःखवार्धेरुद्धरते जगत् ।
 कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रय ॥४८॥
 क्षुत्पिपासाभयं द्वेषश्चिन्तनं मूढतागमः ।
 रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥४९॥
 विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
 त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५०॥
 एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।
 स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥५१॥
 ३ रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाङ्मयमुच्यते ह्यनृतम् ।
 यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥५२॥

आप्तका स्वरूप

जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकोंका स्वामी है, सब दोषोंसे रहित है और सब जीवोंका हितू है, उसे आप्त कहते हैं । चूँकि यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी शका रहती है, इसलिए मनुष्य उपदेशके लिए ज्ञानी पुरुषकी ही खोज करते हैं, क्योंकि उसके द्वारा कही गई बातोंपर विश्वास करनेके लिए किसी ज्ञानीको ही खोजा जाता है ॥४९-५०॥

[ऊपर आप्तको समस्त लोकोंका स्वामी बतलाया है । किन्तु जैनधर्ममें आप्तको न तो ईश्वर की तरह जगत्का कर्ता हर्ता माना गया है और न उसे सुख-दुःखका देनेवाला ही माना गया है । ऐसी स्थितिमें यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि आप्तको सब लोगोंका स्वामी क्यों बतलाया ? इसी बातको मनमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं—]

जो तत्त्वों का उपदेश देकर दुःखोंके समुद्रसे जगत्का उद्धार करता है, अत एव कृतज्ञतावश तीनों लोक जिसके चरणोंमें नत हो जाते हैं, वह सर्वलोकोंका स्वामी क्यों नहीं है ? ॥५१॥

भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष ससारके सभी प्राणियोंमें पाये जाते हैं । जो इन दोषोंसे रहित है वही आप्त है । उसकी ओंखे केवल ज्ञान है उसीके द्वारा वह चराचर विश्वको जानता है तथा वही सदुपदेशका दाता है । वह जो कुछ कहता है सत्य कहता है, क्योंकि रागसे, द्वेषसे या मोहसे झूठ बोला जाता है । किन्तु जिसमें ये तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलनेका कोई कारण नहीं है ॥५२-५५॥

१ यह श्लोक धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (१-३२) का है । २ “क्षुधा तृषा भय द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेद खेदो मदो रति ॥१५॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवा । त्रिजगत् सर्वभूतानां दोषा साधारणा इमे ॥१६॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः । विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र मसारिण स्मृता ॥१७॥”—आप्तस्व० । ३ आप्तस्वरूप—श्लो० ४ ।

इसका अन्तरंग कारण तो वरुण मोहनीय कर्मका उपशम क्षम ज्ञप्ति क्षमोपशम है। मोहनीय कर्मके मोहोंमेंसे वरुण मोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुणका भातक है। जबतक इस कर्मका उदय रहता है तबतक सम्यक्त्वगुण प्रकट नहीं होता। जब उस कर्मका उपशम कर दिया जाता है अर्थात् कुछ समयके लिए उसे इस योग्य कर दिया जाता है कि वह अपना फल नहीं दे सकता तब जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है। इसके प्रकट होते ही जीवकी अन्तर्धर्मों ऐसी निर्मलता आ जाती है कि वह अपने सच्चे हित और सच्चे हितकारीको पहचाननेमें भूल नहीं करता। सच्चा देव कौन है, सच्चे शास्त्र कौन हैं और सच्चे तत्त्व कौन हैं, इसकी उसे परख हो जाती है और उनपर वह ऐसी दृढ़ आस्था रखता है कि कोई उसे उसकी आस्थासे विचलित नहीं कर सकता। साध-साध सम्यक्त्वके प्रभावसे उसके अन्दर प्रथम आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं। काम क्रोधादि विकारोंसे उसकी रुचि हट जाती है। जो उसको हानि पहुँचाते हैं उन जीवोंको भी उसनेके उसके भाव नहीं होते। वह प्रथम गुण कहलाता है। धर्माचरण करनेमें उसे खूब उत्साह रहता है और जो अन्य धर्मात्मा होते हैं उनसे वह खूब प्रेम करता है। वह स्वर्ग गुण कहलाता है। सब जीवोंसे वह मित्रकी तरह व्यवहार करता है। इसे अनुकम्पा कहते हैं। जीव एक स्वतः सिद्ध पदार्थ है। वह अनादिकास्से कर्मोंसे बद्ध है। वह उनका कर्ता भी है और मोक्ष भी है। और अब वह उन कर्मोंको नष्ट कर देता है तो मुक्त हो जाता है इस तरहका उसे विश्वास रहता है। इसे आस्तिक्य कहते हैं। असत्में सम्यक्त्व आत्माका गुण है, और वह गुण वरुण मोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकास्से मिथ्यारूप हो रहा है। उसके मिथ्यारूप होनेसे जीवकी रुचि विषय भोग बौरह नुरे कामोंमें खो जाती है, किन्तु जिनसे उसका सच्चा और स्थायी कल्याण होता है उन कामोंमें या कामोंका उपदेश देनेवालोंमें नहीं होती। अब कामरूपी बौरहका योग मिल जाता है और संसार समुद्रका किनारा करीब आनेको होता है तब बिना प्रयत्न किये ही अन्तर्गर्तके लिए वरुण मोहनीय कर्मका उपशम हो जानेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इसमें बाध निमित्त अनेक होते हैं। किन्हींको जिन विषयोंके वरुणसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको जिन भगवान्की महिमाके देखनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको जैन धर्मका उपदेश सुननेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं देवताओंको अन्य देवताओंका प्रेरण देकर और उसे धर्मका फल समझनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको पूर्वजन्मका स्मरण हो जानेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किन्हीं मारुती बौरहको कष्ट भोगनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। अन्य भी अनेक बाध कारण शास्त्रोंमें बतलाये हैं। इन अन्तरंग और बाध कारणोंके मिश्रणसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है। जैसे शराब या धतूरेके मद्यसे बेहोश मनुष्यका अब मत्ता उतर जाता है तो उसे जैसा होश होता है, वैसे ही वरुण मोहनीयके उदयसे जीवमें एक विविध प्रकारका नशा-सा छाया रहता है, जिससे उसे बराबर बुद्धिभ्रम बना रहता है। अनेक क्षणोंका पण्डित हो जानेपर भी उसकी बुद्धिका भ्रम बुर नहीं होता। किन्तु जैसे ही वरुण मोहका उदय शान्त हो जाता है वैसे ही उसका वह बुद्धि भ्रम हट जाता है और उसकी दृष्टि ठीक दिशामें लग जाती है। इसीसे उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दर्शनके विषयभूत देव आत्मा बौरहका सच्चा आत्मा अंगोंका स्वरूप आगे प्रत्यक्ष स्वरूप बतलायेंगे।

त्रैलोक्यं जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते ।
 किमुत्पत्तिविपत्ती स्तां कश्चित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥६४॥
 कपर्दी दोषवानेष निःशरीरः सदाशिवः ।
 अप्रामाण्यादशक्तेश्च कथं तत्रागमागमः ॥६५॥
 परस्परविरुद्धार्थमीश्वरः पञ्चभिर्मुखैः ।
 शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चयः ॥६६॥
 सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे ।
 कथं स्वरूपभेद स्यात्काञ्चनस्य कलास्विव ॥६७॥

ही हैं। आश्चर्य है, फिर भी इन्हें आप्त माना जाता है। विष्णुके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी, और वे स्वयं राजधर्मका पालन करते थे। आश्चर्य है, फिर भी वे देव माने जाते हैं। सोचनेकी बात है कि जिस विष्णुके उदरमें तीनों लोक बसते हैं और जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म और मृत्यु कैसे हो सकते हैं ? ॥६०-६४॥

महेशको अशरीरी और सदाशिव मानते हैं, और वह दोषोंसे भी युक्त है। ऐसी अवस्थामें न तो वह प्रमाण माना जा सकता है और न वह कुछ उपदेश ही दे सकता है; क्योंकि वह दोषयुक्त है और शरीरसे रहित है। तब उससे आगमकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जब शिव पाँच मुखोंसे परस्परमें विरुद्ध शास्त्रोंका उपदेश देता है तो उनमेंसे किसी एक अर्थ का निश्चय करना कैसे समभव है ॥६५-६६॥

कहा जाता है कि प्रत्येक युगमें रुद्रमें सदाशिवकी कला अवतरित होती है। किन्तु जैसे सुवर्ण और उसके टुकड़ोंमें कोई भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही अशरीरी सदाशिव और सशरीर रुद्रमें कैसे स्वरूपभेद हो सकता है ॥६७॥

भावार्थ—शिव या रुद्रकी उपासना वैदिक कालसे भी पूर्वसे प्रचलित बतलाई जाती है। शैवोंके चार विभिन्न सम्प्रदाय हैं—शैव, पाशुपत, कालमुख और कापालिक। इन्हींके मूल ग्रन्थोंको शैवागमके नामसे पुकारते हैं। इन शैव मतोंका प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें था। शैव सिद्धान्तका प्रचार तमिल देशमें और वीर शैव मतका प्रचार कर्नाटक प्रान्तमें था। पाशुपत मतका केन्द्र गुजरात और राजपूताना था। कहा जाता है कि शिवने अपने भक्तोंके उद्धारके लिए अपने पाँच मुखोंसे २८ तंत्रोंका आविर्भाव किया। इनमें १० तत्र द्वैतमूलक हैं और १८ द्वैताद्वैत प्रधान हैं। देवताके स्वरूप, गुण, कर्म आदिका जिसमें चिन्तन हो तद्विषयक मंत्रोंका उद्धार किया गया हो, उन मंत्रोंको यत्रमें रखकर देवताका ध्यान तथा उपासनाके पाँचों अंग व्यवस्थित रूपसे दिखलाये गये हो, उन ग्रन्थोंको तत्र कहते हैं। तंत्रोंकी विशेषता क्रिया है। तांत्रिक आचार एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरुके द्वारा दीक्षा ग्रहण करनेके समय ही शिष्यको इसका रहस्य समझाया जाता है। शैव सिद्धान्तमें चार पाद हैं—विद्यापाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद। इनमेंसे अन्तके तीन पाद क्रियापरक हैं और विद्यापाद

१. यो रागादि दोषवान् ससारी शिव स तावदप्रमाणं, तत्कृत आगमोऽपि प्रमाण न भवति । यस्तु सदाशिव स आगम कर्तुमशक्त जिह्वाकण्ठाद्युपकरणभावात् । पञ्चचन्द्र कोपमें आगमका अर्थ करते हुए एक श्लोक दिया है—आगत शिववक्तृभ्यो गत च गिरजाश्रुतौ । मत च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥ अर्थात्—शिवजीके मुक्ते आया, पार्वतीके कानमें गया, विष्णुजीने मान लिया, इसीलिए आगम हुआ ।

उद्योयसप्रसूतीमा सस्वानां सद्यशाकृतिः ।
 य आदर्श इवामाति स एव जगतां पतिः ॥१६॥
 यस्यात्मनि भुते तस्ये चारित्र्ये मुक्तिकारणे ।
 एकवाक्यतया वृत्तिपताः सोऽनुमताः सताम् ॥१७॥
 अत्येसेष्यागमात्युंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते ।
 उद्योगमध्यवृत्तीनां व्यतेरिव मग्नौकसीम् ॥१८॥
 स्यगुणैः ग्राह्यता याति स्वद्योपैर्द्व्यर्ता जना ।
 रोपतोपी कृपा तत्र कलाधीर्तायसोरिव ॥१९॥
 मुष्टिजोषोफज्रेगामशाक्यसुरपुरसरा ।
 यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्रासता मयेत् ॥२०॥
 रागाद्विदोपसंभूतिर्मेधामीषु सवार्तामात् ।
 अस्ततः परवोपस्य वृद्धोत्तौ पातकं महत् ॥२१॥
 अजस्तिष्ठोत्तमावित्तः श्रीरत्नं श्रीपति स्मृत ।
 अर्चनारीश्वरः शंभुस्तथाप्येषां किलास्तता ॥२२॥
 वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरो ।
 स्वयं च राजधर्मस्वधिव्य देवस्तथापि सः ॥२३॥

विभिन्न प्रकारके प्राप्तिभोंको एक-सूत्र समान होती है । किन्तु उनमेंसे जिसका आत्मा दर्पणके समान स्वच्छ हो वही अमृता स्वामी है ॥१६॥

जिसकी आत्मामें, अस्मिमें, तत्त्वमें और मुष्टिके कारणमूल चारित्र्यमें एकवाक्यता पाई जाती है अर्थात् जो ऐसा कहता है वैसा ही स्वयं आचरण करता है और वैसी ही उत्कर्ममत्वा भी उपक्रम्य जाती है, उसे सज्जन पुरुष आप्य मानते हैं ॥१७॥

[इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि बिना पुरुषोंके प्राप्त नामा जाता है वे तो पुनर पुनः । हम कैसे जानें कि वे प्राप्त वे । इसका उत्तर देते हुए प्रत्यक्ष कहते हैं—]

अतीन्द्रिय पुरुषकी विशिष्टता उसके द्वारा उपविष्ट आगमसे जानी जाती है । जैसे, कबीचमें रहने वाले पक्षियोंकी आवाज से उनकी विशिष्टताका मान होता है । अर्थात् पक्षियोंको बिना देखे भी जैसे उनकी आवाजसे उनकी पहचान हो जाती है, वैसे ही आप्य पुरुषोंका बिना देखे भी उनके आवाजसे उनकी आप्यताका पता चल जाता है ॥१८॥

चौदी और सोहकी तरह मनुष्य अपने ही गुणोंसे प्रशंसा पाता है और अपने ही दोषोंसे बदनामी छटाता है । इसमें रोष और शोष करना अर्थात् अपने बातोंकी प्रशंसा छुनकर हर्षित होना और निन्दा सुनकर क्रुद्ध होना व्यर्थ है ॥१९॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध और सूर्य वगैरह देवता यदि रागादिक दोषोंसे युक्त हैं तो वे आप्य कैसे हो सकते हैं । और वे रागादि दोषोंसे युक्त हैं वह बात उनके आत्मोंसे ही जाननी चाहिए, क्योंकि जिसमें जो दोष नहीं हैं उसमें उस दोषको माननेमें बड़ा पाप है ॥२०-२१॥ देवा, ब्रह्मा तिलोत्तमामें आसक्त हैं, विष्णु छद्मीमें लीन हैं और महेश तो अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध

१. 'उद्योगमध्यवृत्ति' हायमरः । २. परोक्षोपनि नरे । ३. यथा बलिनां परोक्षेऽपि यज्जगत् विशिष्टत्वं ज्ञायते । ४. सुवर्णलोदयोविष । ५. ब्रह्म-हरी-हर-बुद्ध-सूर्यादयः । ६. तस्य तस्य अस्तत्वात् ।

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते ।
 तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥६६॥
 एकान्तं शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।
 सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥७०॥
 दाहच्छेदकपाशुद्धे हेन्नि का शपथक्रिया ।
 दाहच्छेदकपाशुद्धे हेन्नि का शपथक्रिया ॥७१॥
 यद्दृष्टमनुमानं च प्रतीतिं लौकिकीं भजेत् ।
 तदाहु सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥७२॥

चित्रण मत्स्य पुराणमें है । ब्रह्महत्याकी कथा इस प्रकार है—ब्रह्माके गर्दभकी तरह पाँचवाँ मुख था । जब दैत्य लोग देवोंसे डरकर भागने लगे तो ब्रह्माने कहा—‘क्यों डरकर भागते हो ? मैं सब सुरोंको खा डालूँगा ।’ इससे डरकर देवतागण विष्णुकी शरणमें पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि आप ब्रह्माका मुख काट डालें । विष्णु बोले—‘यदि मैं ब्रह्माका मुख काट डालूँगा तो उसी समय वह कटा सिर सचराचर जगतका सहार कर डालेगा । तुम शिवजीके पास जाओ । देवता शिवजीके पास गये और शिवजीने अपने नखोंसे ब्रह्माके उस पाँचवें मुखको काट डाला । इसपर ब्रह्माने कहा—तुमने बिना किसी अपराधके मेरा सिर काटा है, मैं तुम्हें शाप देता हूँ तुम ब्रह्महत्यासे पीड़ित होकर भूलपर हाथमें खप्पर लेकर भटकते फिरोगे । इस शापसे शिवजी हाथमें खप्पर लेकर घूमने लगे । एक दिन वे नारायणके पास भिक्षाके लिए गये । विष्णुने अपने नखोंसे अपने पार्श्वको चीर डाला और रक्तकी बड़ी भारी धारा वह निकली किन्तु खप्पर नहीं भरा । जब विष्णुने इसका कारण पूछा तब शिवजीने ब्रह्महत्या करनेका सब हाल उनसे कहा और बोले कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहाँ यह कपाल मेरे साथ जाता है । तब विष्णु बोले—तुम स्थान-स्थानपर जाकर ब्रह्माकी इच्छा पूर्ण करो । उसके तेजसे यह कपाल ठहर जायेगा । तब शिवजीने वैसा ही किया और विष्णुके प्रसादसे वह कपाल सहस्र खण्ड होकर फूट गया । और शिवजी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होगये ।’ इस तरहकी बातें किसी ईश्वरमें कैसे पाई जा सकती है ।

शैवदर्शनमें तत्त्व और आप्तका स्वरूप सिद्धान्त रूपमें कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमें कुछ अन्य है और व्यवहारमें कुछ अन्य है । शैवदर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥६९॥

तत्त्वको स्वीकार करनेमें एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं । विवेकशील पुरुष दूसरोंपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नहीं करते ॥ तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार है । तथा तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खानेसे क्या लाभ ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभवसे ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छलसे रहित होता है विद्वान लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते हैं ॥७०-७२॥

[इस प्रकार शैव मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार शाक्त मतकी आलोचना करते हैं । यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि शैवदर्शन और शाक्तदर्शनका पारस्परिक सम्बन्ध आत्मा और शरीर जैसा है । दोनोंके सिद्धान्त लगभग मिलते हुए हैं । शैवदर्शनमें पूर्ण शिवभावको प्रकट करनेके तीन उपाय बतलाये हैं—१ शामव उपाय—इसमें पूर्ण अनुभवी गुरुसे दीक्षा ली जाती है और उसीसे

मैश्वर्यमननस्य पुरप्रययिसोपमम् ।

प्रसहस्याकपासित्यमेता श्रीः ॥ ६८ ॥

तत्त्वज्ञानसे सम्बन्ध रहता है । विद्या अर्थात् ज्ञानके तीन विषय हैं—(१) पति अर्थात् स्वतंत्र शिव अथवा परमेश्वर तत्त्व, (२) पशु अर्थात् परतंत्र जीव और (३) पाश अर्थात् बन्धके कारण । मुक्त जीव भी परमेश्वरके परतंत्र रहते हैं । यद्यपि पशुओंकी अपेक्षा उनमें स्वतंत्रता रहती है फिर भी ये परमेश्वरके प्रसादसे ही मुक्ति काम करनेमें समर्थ होते हैं, इसलिये वे शिवके परतंत्र हैं । शिव नित्य मुक्त है । उसका शरीर पञ्चमंत्रात्मक है । वह पाँच मुखोंके द्वारा पाँच आम्नायोंका प्रवर्तन करता है । इसी बातको लेकर ग्रन्थकारने ऊपर शैवमतकी आलोचना की है । अब शिवको उपास्य और उपासक रूपसे श्रीः कहनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तब परम शिवमें कम्पन उत्पन्न होता है और उससे वह दो रूप हो जाता है—चैतन्यात्मक रूपका नाम शिव और दूसरे अंशका नाम जीव होता है । शैव सिद्धान्तके अनुसार शिव, शक्ति और किन्दु ये तीन रत्न माने जाते हैं । ये ही समस्त तत्त्वोंके अविष्टाता हैं । शुद्ध अज्ञातका कर्ता शिव, करण शक्ति और उपादान किन्दु है । शक्ति परम शिवसे अमिश्र होकर रहनेवाला विशेषण है । य तो शिव शक्तिसे मिल है न शक्ति शिवसे मिल है । शक्तिके शोभ मात्रसे परम शिवके दो रूप हो जाते हैं एक उपास्य रूप, जिसका नाम है लिंग (शिव) और दूसरा उपासक रूप, जिसका नाम है 'अंग' (जीव) । परम शिवकी द्विरूपताके समान शक्तिमें भी दो रूप उत्पन्न होते हैं किंगकी शक्तिका नाम 'कला' है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है । कला शक्तिसे अज्ञात् परमशिवसे प्रकट होता है । सदाशिवकी यह कला रुद्रोंमें व्यक्तित्व होती है जो मिल मिल रूपवाले होते हैं ।

मिक्षा मँगना, नाचना, भजन होगा त्रिपुरको भस्म करना, प्रसह हत्या करना और हाथमें लम्पर रहना ये सदाशिव ईश्वरकी श्रीः हैं ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—शिवका हाथमें लम्पर लेकर मिक्षा मँगना, मंगे घूमना और टाण्डव नृत्य करना तो प्रसिद्ध ही है । शिवकी उपासना भी इसी प्रकारसे की जाती है । साधकको महेश्वरकी पूजाके समय हसना, गाना, नाचना, जीम और टाण्डके संयोगसे बैरकी आवाजके समान हुड़हुड़ शब्द करना होता है । इसीके साथ भस्मस्नान, भस्मस्पर्श, जप और प्रवृत्तिजाकी पंचविध कृत कहते हैं । ये सब कार्य शिवको बहुत प्रिय बतलाये जाते हैं । त्रिपुरको भस्म करनेकी क्रिया निम्न प्रकार है—एक बार इन्द्रके साथ सब देवता महेश्वरके पास आये और कहने लगे कि बाण नामका एक दामव है उसका त्रिपुर नामका नगर है । उससे बरकर हम आपकी शरणमें आये हैं, आप हमारी रक्षा करें । शिवजीने उन्हें रक्षाका आश्वासन दिया और यह विचारने लगे कि त्रिपुरकी कैसे नष्ट करना चाहिये । शिवजीने नारदजीको बुलाया और उनसे कहा कि हे नारद ! तूम धान्येन्द्र बाणके त्रिपुर नगरको बाणो । वहाँकी स्त्रियोंके तेजसे यह नगर आकाशमें डोळता है । तूम वहाँ आकर उनकी बुद्धि विपरीत करदो । नारदने वहाँ आकर अपने मिथ्या उपदेशसे वहाँकी स्त्रियोंका मन परितप्त धर्मसे विचलित कर दिया । इससे उगका तेज जाता रहा और पुरमें छिन्न होगया । तब शिवजीने त्रिपुरको अपने बाणसे प्रसह खात्म । इसके अरुनेछा दर्दनाक

सिद्धान्तेऽन्यत्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदोहिते ।

तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥६६॥

एकान्त शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।

सन्तस्तत्त्व न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥७०॥

दाहच्छेदकपाशुद्धे हेस्त्रि का शपथक्रिया ।

दाहच्छेदकपाशुद्धे हेस्त्रि का शपथक्रिया ॥७१॥

यद्दृष्टमनुमानं च प्रतीतिं लौकिकीं भजेत् ।

तदाहु सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥७२॥

चित्रण मत्स्य पुराणमें है । ब्रह्महत्याकी कथा इस प्रकार है—ब्रह्माके गर्दभकी तरह पाँचवों मुख था । जब दैत्य लोग देवोंसे डरकर भागने लगे तो ब्रह्माने कहा—‘क्यों डरकर भागते हो ? मैं सब सुरोंको खा डालूँगा ।’ इससे डरकर देवतागण विष्णुकी शरणमें पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि आप ब्रह्माका मुख काट डालें । विष्णु बोले—‘यदि मैं ब्रह्माका मुख काट डालूँगा तो उसी समय वह कटा सिर सचराचर जगतका सहार कर डालेगा । तुम शिवजीके पास जाओ । देवता शिवजीके पास गये और शिवजीने अपने नखोंसे ब्रह्माके उस पाँचवें मुखको काट डाला । इसपर ब्रह्माने कहा—तुमने बिना किसी अपराधके मेरा सिर काटा है, मैं तुम्हें शाप देता हूँ तुम ब्रह्महत्यासे पीडित होकर भूलपर हाथमें खप्पर लेकर भटकते फिरोगे । इस शापसे शिवजी हाथमें खप्पर लेकर घूमने लगे । एक दिन वे नारायणके पास भिक्षाके लिए गये । विष्णुने अपने नखोंसे अपने पार्श्वको चीर डाला और रक्तकी बड़ी भारी धारा बह निकली किन्तु खप्पर नहीं भरा । जब विष्णुने इसका कारण पूछा तब शिवजीने ब्रह्महत्या करनेका सब हाल उनसे कहा और बोले कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहाँ यह कपाल मेरे साथ जाता है । तब विष्णु बोले—तुम स्थान-स्थानपर जाकर ब्रह्माकी इच्छा पूर्ण करो । उसके तेजसे यह कपाल ठहर जायेगा । तब शिवजीने वैसा ही किया और विष्णुके प्रसादसे वह कपाल सहस्र खण्ड होकर फूट गया । और शिवजी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होगये ।’ इस तरहकी बातें किसी ईश्वरमें कैसे पाई जा सकती है ।

शैवदर्शनमें तत्त्व और आसका स्वरूप सिद्धान्त रूपसे कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमें कुछ अन्य है और व्यवहारमें कुछ अन्य है । शैवदर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥६९॥

तत्त्वको स्वीकार करनेमें एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ है । विवेकशील पुरुष दूसरोंपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नहीं करते ॥ तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार है । तथा तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खानेसे क्या लाभ ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभवसे ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छलसे रहित होता है विद्वान लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते हैं ॥७०-७२॥

[इस प्रकार शैव मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार शाक्त मतकी आलोचना करते हैं । यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि शैवदर्शन और शाक्तदर्शनका पारस्परिक सम्बन्ध आत्मा और शरीर जैसा है । दोनोंके सिद्धान्त लगभग मिलते हुए हैं । शैवदर्शनमें पूर्ण शिवभावको प्रकट करनेके तीन उपाय बतलाये हैं—१ शामव उपाय—इसमें पूर्ण अनुभवी गुरुसे दीक्षा ली जाती है और उसीसे

निर्वीक्षतेय तन्त्रेण यदि स्यात्सुकृताङ्गिणि ।
 बीजपत्त्यायकस्पर्शं प्रणयो मोक्षार्हाणि ॥७३॥
 विपत्तामर्ष्ययम्मात्रास्त्वयस्वेविह कर्मणः ।
 तर्हि तन्मन्त्रमाम्यस्य न स्युर्वोपा भयोद्भवा ॥७४॥
 प्रहृगोत्रगतोऽप्येव पूषा पूष्यो न चन्द्रमाः ।
 अधिकारिततत्त्वस्य ज्योतिर्बुधिरिन्द्रिया ॥७५॥
 इताद्वैतोध्यं शाप्या शकरानुष्ठानगमः ।
 कथं मनीषिभिर्मोक्षस्तारसासवशुचौ ॥७६॥

अर्थ—अर्थयतिप्राप्तबोधो—अथर्था समये किल मनुज सञ्जातो भवति तस्य चाततातीव
 बुध्दं सप्रति सञ्जातकमवधु, मवधु या, तथापि मनुष्यस्याभिनिपिततत्त्वावबोधो न स्यतस्तथा

स्वरूपका मान प्रकट होता है । २ शाक्त उपाय—इसमें दीक्षाके कमसे प्राप्त हुए मंत्रकी भावनाके
 द्वारा सिद्धि करके स्वरूपका मान करनेका कम बताया है । ३ आद्य उपाय—इसमें ब्रह्म जीवका
 दीक्षा कमके द्वारा शोधन करके अप, होम, पूजन आन वगैरह कियाकरके द्वारा स्वरूपका मान
 करनेकी पद्धति होती है । इन तीनों उपायोंमेंसे दूसरे और तीसरे उपायका वर्णन करनेमें शैवदर्शन
 शास्त्रदर्शन रूप ही पड़ता है । शास्त्रदर्शनका मुख्य प्रयोगन शब्द ब्रह्मको ज्ञानकी मर्मादाने जाना है ।
 इसमें यन्त्र तन्त्र और मंत्रकी बहुतायत होती है । इष्टदेवताके स्वरूपको मर्मादाने अंकित करनेवाली
 पात्र आकृतिको मंत्र कहते हैं । उस देवताके नाम रूप, गुण और कर्मको लेकर पूजन वगैरहकी
 पद्धतिको वर्णन करनेवाले शास्त्रको तन्त्र कहते हैं और उसके रहस्यको बोधक शब्दोंको मंत्र कहते हैं ।
 यहाँ मन्त्रकार तन्त्र मन्त्रों मुक्ति होनेके विचारकी आलोचना करते हैं—यहाँ इतना और बताया देना
 आवश्यक है कि तन्त्र साधनामें ही एक आवश्यक साधन माना जाता है । और मघ, मांस, मत्स्य,
 मुद्रा और मैत्रुन इन पाँच मकारोंको सेवन भी किया जाता है ।]

जैसे अनेकें स्पर्शसे बीज निर्मा हो जाता है उसमें उत्पदन शक्ति नहीं रहती, वैसे ही
 यदि तन्त्रके प्रयोगसे ही प्राणीकी मुक्ति हो जाती है तो मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको भी आगका
 स्पर्श करा देना चाहिए जिससे बीजकी तरह वह भी जन्म मरणके चक्रसे छूट जाये ॥७३॥

जैसे, मंत्रक द्वारा विषकी मारण्डकिको मद्य कर दिया जाता है, वैसे ही मंत्रके द्वारा
 यदि कर्मोंका भी क्षय हो जाता है तो उन मन्त्रोंका ज्ञान मान्य है उनमें सांसारिक दोष नहीं पाये
 जाने चाहिये ॥७४॥

[इस प्रकार शाक मतकी आलोचना करके प्रत्यक्ष एवं पूजाकी आलोचना करते हैं]

प्रहोका गुल्फा हानेपर भी यह सूर्य तो पूज्य है और चन्द्रमा पूज्य नहीं है ? टीका ही
 है जिस जीवने सत्त्वका विचार नहीं किया, उसकी बुद्धि निरंकुश होती है ॥७५॥

[अब शैव मतकी आलोचना करते हैं]

योगमत एक बार द्वैतवादी है अर्थात् संयम और अयमाश्रय आदिका विचार करता
 है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, जगत् सब कुछ सेवन करनेकी छूट देता है । उसीका आगमका
 अनुष्ठान योद्धासाधने किया है । एसा मघ और मांसका प्रेमी मत बुद्धिमानोंक द्वारा मान्य
 कैसे ॥ सद्भा है ? ॥७६॥

१ अयमाश्रय प्रतीतिरित्यनुक्ति इति । सच प्रतीतिरित्यनुक्तिः ।

२ पूर्वप्रतिपादितम् ।

दर्शनाभावात् । परश्चेत्कोऽसौ परः ? तीर्थकरोऽन्यो वा ? तीर्थकरश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगे प्रकृतमनुबन्धे । तस्मादनवस्था । तदभावमाप्तसद्भावं च वाञ्छुद्भिः सदाशिवः शिवापतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशक प्रतिश्रोतव्यः । तदाह पतञ्जलिः—“स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।” तथा हि ।

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।

नादरूप समुत्पन्न शास्त्र परमदुर्लभम्” ॥७७॥

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम् । न ह्याप्तानामितरप्राणिबद्ध गणः समस्ति, संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलयनं च परेषाम् । यतः—

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्-

द्वैविध्यादपर तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।

शक्त्या चैत्परकीयया कथमसौ तद्वानसंवन्धतः ।

सवन्धोऽपि न जाघटीति भवता शास्त्र निरालम्बनम् ॥७८॥

[इम प्रकार अन्य मतोंकी समीक्षा करनेपर उन मतोंके अनुयायी कहते हैं—]

आप जैनोंके आगममें मनुष्यको आप माना है । किन्तु उसका आपसपना किसी भी तरह नहीं बनता । आज भी लाखों करोड़ों मनुष्य वर्तमान हैं, किन्तु उनमें कोई भी आप नहीं देखा जाता । यदि किसी तरह मनुष्यको आप मान भी लिया जाये तो उसे इष्ट तत्त्वका ज्ञान स्वयं तो नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता । यदि दूसरेसे ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है ? तीर्थङ्कर है या अन्य कोई है ? यदि तीर्थङ्कर है तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है । यदि तीर्थङ्करको इष्ट तत्त्वका ज्ञान किसी तीसरेके द्वारा होता है तो उस तीसरेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान चौथेके द्वारा होगा और चौथेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान पाँचवेंके द्वारा होगा । इस तरह अनवस्था दोष आजाता है । अतः यदि अनवस्था दोषसे बचना चाहते हैं और साथ ही साथ आपका सद्भाव भी चाहते हैं तो तत्त्वके उपदेष्टा सदाशिव पार्वतीपतिको ही मानना चाहिये । पतञ्जलि ऋषिने भी कहा है—“वह पहलेंके भी गुरु है, क्योंकि कालके द्वारा उनका नाश नहीं होता । और भी कहा है—“अशरीरी, शान्त और परम कारण शिवसे परमदुर्लभ नादरूप शास्त्रकी उत्पत्ति हुई ॥७७॥

तथा आप एक ही होना चाहिये । अन्य प्राणियोंके समूहकी तरह आपसोंका समूह तो होता नहीं है । और यदि हो भी तो चौबीस सख्याका नियम कहाँसे आया ?

इस प्रकार दूसरे मतवालोंका उक्त कथन वन्ध्याके पुत्रके धैर्यकी प्रशंसा करनेके तुल्य व्यर्थ है, वे महान् मोहके समुद्रमें डूबे हुए हैं, क्योंकि—

सदाशिव अशरीरी है अतः वह वक्ता नहीं हो सकता । और शिव यद्यपि सशरीर हैं मगर वह रागी है—पार्वतीके साथ रहते हैं, अतः उनका उपदेश प्रमाण नहीं माना जा सकता । यदि इन दोनोंके सिवा किसी तीसरेको वक्ता मानते हो तो वह तीसरा किससे हुआ । यदि कहोगे कि शक्तिसे हुआ, तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्तिसे वह शक्तिवान कैसे हो सकता है, क्योंकि उन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि सम्बन्ध मानोगे तो विचार करनेपर उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं बनता है, अतः आपका शास्त्र निराधार ठहरता है क्योंकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नहीं होता ॥७८॥

‘सर्वान्यो हि सर्वाश्रित्यस्य शक्त्या नह न मिश्रस्य संयोगा शक्तेरुत्पत्त्यात्, ‘द्रव्ययोरस्य संयोगः इति योगसिद्धान्तः । ‘समवायसङ्गणोऽपि न संवन्धः शक्तेः पृथक्सिद्धत्वात्, ‘मयुत सिद्धानां गुणगुण्यादीना समवायसंवन्धः इति वैशेषिकमैतिष्यम् ।

तत्त्वमाधन्योद्भूत अम्मान्तरसमुत्पत्त्या ।

हिताहितधिवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥७३॥

दृष्टादृष्टमयैत्यर्थं रूपयन्तमथावधेः ।

भुतेः भुतिसमाभेयं कासी परमपेक्षताम् ॥८०॥

सदाशिवका शक्तिके साथ ‘संयोग सम्बन्ध’ तो हो नहीं सकता, क्योंकि शक्ति द्रव्य नहीं है और ‘संयोग सम्बन्ध द्रव्योंका ही होता है’ ऐसा भौगोंका सिद्धान्त है । तथा समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति तो शिवसे पृथक् सिद्ध है—जुदी है और ‘ओ पृथक् सिद्ध नहीं है’ ऐसे गुण गुणी कौरहका ही समवाय सम्बन्ध होता है’ ऐसा वैशेषिकोंका मत है ।

माधार्थ—ऊपर शैवमतवादीयोंने मनुष्यको आप्त माननेमें आपत्ति दिसकते हुए सदाशिवका ही आप्त और साम्प्रका उपदेष्टा माननेपर चार दिया था । उसीका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सदाशिव तो अक्षरीरी है इसलिये वे बन्ध हो नहीं सकते, क्योंकि बोकनेके लिये शरीरका होना जरूरी है उनके बिना सम्प्रकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि सक्षरीरी शिवको बन्ध माना जायेगा तो वह रागी हैं, पावँसीके साथ रहते हैं, अर्धनारीस्वर हैं, अतः उनका बचन मामाजिक नहीं माना जा सकता । यदि किसी तीसरेको बन्ध माना जायेगा तो मरन होता है कि वह तीसरा कदाँसे उत्पन्न हुआ । यदि कदाँ जायेगा कि शक्तिये उत्पन्न हुआ तो शक्तिके साथ उसका सम्बन्ध बतलाना चाहिये । वो ही सम्बन्ध योग दर्शनमें माने गये हैं संयोग और समवाय । ये दोनों ही सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्के बीच नहीं बनते क्योंकि समाग वो द्रव्योंमें ही होता है किन्तु शक्ति द्रव्य नहीं है । तथा समवाय सम्बन्ध अमिन्नोमें ही होता है किन्तु शक्ति शक्तिमान्से भिन्न है ।

[इस प्रकार सदाशिवकादिबोके शास्त्रको निराचार बतलाकर ग्रन्थकार, मनुष्यका आप्त माननेमें जो आपत्ति कर गई है उनका निराकरण करते हैं—]

पूबजन्ममें उत्पन्न हुई तत्त्व भावनासे, हित और अहितकी पहचान करनेके लिये उत्पन्न हुए जिसके तीन ज्ञान-महि, भुत और अवधि-दृष्ट और अदृष्ट वर्णको जानते हैं, उनमें भी अवधि ज्ञान केवल रूपी पदार्थोंको ही जानता है और भुतज्ञान शास्त्रमें वर्णित विषयोंको जानता है । ऐसी अवस्थामें इष्ट सत्त्वको धामनेके लिये उसे दूसरेकी अपेक्षा ही क्या रहती है ? ॥७९-८०॥

माधार्थ—एकसे शैवमतवादीने मनुष्यको आप्त माननेमें आपत्ति करते हुए कहा था कि मनुष्यका इष्ट सत्त्वका बोध यदि तीर्थंकरके द्वारा होता है तो तीर्थंकरका इष्ट सत्त्वका ज्ञान किसके द्वारा होता है ? इसका परिहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि तीर्थंकरक अन्तसे ही तीन ज्ञान होते हैं । और ये तीनों ज्ञान पूर्व जन्मकी भावनासे उत्पन्न होते हैं, उनसे वह इष्ट सत्त्वको ज्ञान करते हैं । बादमें मुनि होकर सत्त्वका द्वारा कर्माको गन्त करके वे सर्वज्ञ हो

न चैतदसार्चविक्रमम् । कथमन्यथा स्वत एव संजातपटपदार्थावसायप्रसरे कर्णचरे वाराणस्या महेश्वरस्योलूकसायुज्यसरस्येदं वचः संगच्छेत—‘ब्रह्मतुला नामेदं दिव्यौकसां दिव्यमद्भुत ज्ञान प्रादुर्भूतमिह त्वयि तद्वत्संविधत्स्व विप्रेभ्यः’ ।

उपाये सत्युपेयस्य प्राप्ते का प्रतिबन्धिता ।

पातालस्थ जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यत ॥८१॥

अश्वमा हेम जलं मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षितिर्मणिः ।

तत्तद्धेतुतया भावा भवन्त्यद्भुतसंपद ॥८२॥

सर्गावस्थितिसंहारग्रीष्मवर्षातुषारवत् ।

अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्तश्रुतसमाश्रय ॥८३॥

नियतं न बहुत्वं चेत्कथमेते तथाविधा ।

तिथिताराग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मताः ॥८४॥

जाते हैं । तब उन्हें इष्ट तत्त्वको जाननेके लिए दूसरेसे सहायता लेनेकी जरूरत ही क्या है ? वे स्वयं ही जानकर ससारके प्राणियोंको तत्त्वोंका उपदेश देते हैं । उनके उपदेशसे अन्य मनुष्योंको इष्ट तत्त्वका ज्ञान हो जाता है ।

[आगे कहते हैं—]

और यह बात कि तीर्थङ्कर स्वयं ही इष्ट तत्त्वको जान लेते हैं, ऐसी नहीं है जिसे सब न मानते हों । यदि ऐसा नहीं है तो स्वतः ही छ पदार्थोंका ज्ञान होनेपर कणाद-ऋषिके प्रति वाराणसी नगरीमें उलूकका अवतार लेनेवाले महेश्वरका यह कथन कैसे सगत हो सकता है—‘हे कणाद ! तुझे देवोंके ब्रह्मतुला नामके दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति हुई है इसे विप्रोंको प्रदान कर ।’

भावार्थ—वैदिक पुराणोंके अनुसार महेश्वरने उलूकका अवतार धारण करके कणाद ऋषिसे उक्त बात कही थी । ऊपर शैवमतवादियोंने जैनोंपर यह आपत्ति की थी कि दूसरेकी सहायताके बिना तुम्हारे तीर्थङ्करोको ज्ञान कैसे होता है, उसीका निराकरण करते हुए ग्रन्थकारने बतलाया है कि तुम्हारे मतमें भी कणाद ऋषिको स्वयं छ पदार्थोंका ज्ञान होनेका उल्लेख है । अतः यह आपत्ति कि बिना अन्यकी सहायताके ज्ञान नहीं हो सकता, निराधार है ।

साधन सामग्रीके मिलनेपर पाने योग्य वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट ही क्या हो सकती है ? क्योंकि यत्रके द्वारा पातालमें भी स्थित जल प्राप्त कर लिया जाता है ॥८१॥

पत्थरसे सोना पैदा होता है । जलसे मोती बनता है । वृक्षसे आग पैदा होती है और पृथ्वीसे मणि पैदा होती है । इस तरह अपने-अपने कारणोंसे अद्भुत सम्पदा उत्पन्न होती है । जैसे उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी परम्परा अनादि-अनन्त है, या ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतुकी परम्परा अनादि अनन्त है, वैसे ही आप्त और श्रुतकी परम्परा भी प्रवाह रूपसे चली आती है, न उसका आदि है और न अन्त । आप्तसे श्रुत उत्पन्न होता है और श्रुतसे आप्त बनता है ॥८२-८३॥

[शैव मतवादीने यह आपत्ति की थी कि आप्त बहुतसे नहीं हो सकते और यदि हों भी तो चौबीसका नियम कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—]

यदि वस्तुओंका बहुत्व नियत न हो तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र, पहाड़ वगैरह नियत

१ ज्ञान । २ कणादऋषी अक्षपादे । ३ स्तुतिवचन कथ संगच्छेत । ४ जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्राय तब कणवरस्य ज्ञानम् । ५ देवानामपि दिव्यम् । ६ पापाणो हेम भवति, जल मुक्ता स्यादित्यादि । ७ पदार्थाः । ८ उत्पादव्ययघ्नौघ्यः । ९ आप्तात् श्रुत श्रुतादाप्तः ।

अन्येष दिशा चिन्त्यं सांख्यशास्त्रादिशासनम् ।
 तत्स्वागमासकृपाणां नानात्वस्याप्यिष्यत ॥८३॥
 जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाभ्यस्य ।
 मार्गीं समाश्रितां सर्वे सर्वाम्युपगमागमा ॥८४॥
 वामदक्षिणमार्गस्थो मैत्रीतरसमाभ्यस्य ।
 कर्मज्ञानगतो ज्ञेयः शंभुशास्त्रविज्ञागम ॥८५॥

पद्येत्—

‘यति वेदमिह पादुर्ध्वमृशास्त्रं स्मृतिर्मता ।
 ते सर्वमिष्यमीमांसे तावन्मां धर्मो हि निर्धर्मौ ॥८६॥
 ते तु यस्तत्त्वमन्वेत द्वैतशास्त्राभ्यां द्विजः ।
 स साधुमिर्वहिः कश्चो नास्तिको वेदमिन्दक’ ॥८७॥

—मनुस्मृति २ १-११ ।

क्यों माने गये हैं ? क्योंकि जैसे ये बहुत हैं फिर भी इनकी संख्या नियत है उसी तरह जैन तीर्थंहरोंकी भी चौबीस संख्या नियत है ॥८४॥

इसी प्रकारसे सांख्य और बौद्ध और इनके मतोंका भी विचार कर लेना चाहिये । क्योंकि उनमें भी तत्त्व, जागम और आप्तके स्वरूपोंमें भेद पाया जाता है ॥८५॥

एक जैनमतको छोड़कर शेष सभी मतवालोंने या तो द्वैतमतको अपनाया है या अद्वैत मतको अपनाया है । और उनके आगमोंमें ऐसी बातें हैं जो सभी लोगोंके द्वारा मान्य हैं ॥८६॥

शैवमत बौद्धमत और ब्राह्मणमत वाममार्गी और दक्षिणमार्गी हैं, मंत्र तंत्र प्रधान भी हैं, तथा उसको न मानने वाले भी हैं और कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी हैं ॥८७॥

भाषार्थ—शैवमत ब्राह्मणमत और बौद्धमतमें उत्तर कास्ममें वाममार्गी भी उत्पन्न हो गया था, और वह वाममार्गी मंत्र तंत्र प्रधान था तथा उसमें क्रियाकाण्डका ही प्रधानत्व था । दक्षिण मार्गी न तो मंत्र तंत्र प्रधान था और न क्रियाकाण्डको ही विशेष महत्त्व देता था । शैवमतका तो वाममार्गी प्रसिद्ध है । बौद्धमतके महायान सम्प्रदायमेंसे सांख्यिक वाममार्गीका उदय हुआ था । जैसे बुद्धके पश्चात् बौद्धमत हीनयान और महायान सम्प्रदायोंमें विभाजित हो गया था । इसीप्रकार वैदिक ब्राह्मणमत भी पूर्वे मीमांसा और उत्तर मीमांसाके भेदसे दो रूप हो गया था । पूर्वे मीमांसा यज्ञ यागादि कर्मकाण्ड प्रधान है, और उत्तर मीमांसा, बिसे वेदान्त भी कहते हैं, ज्ञान प्रधान है ।

[अथ मन्थरार मनुस्मृतिके दो पद्योंके देख उसकी आलोचना करते हैं—]

तथा (मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०-११ में) जो यह कहा है—“भुतिको वेद कहते हैं और धर्मशास्त्रको स्मृति कहते हैं । उन भुति और स्मृतिका विचार प्रतिकूल सर्वसे नहीं करना चाहिये क्योंकि उन्हींसे धर्म पक्का हुआ है । जो द्विज मुक्ति शास्त्रका आग्रह लेकर भुति और स्मृतिका निरादर करण है, साधु पुरुषोंको उसका बहिष्कार करना चाहिये क्योंकि वेदका निन्दक होनेसे वह नास्तिक है ॥८८-८९॥

तदपि न साधु । यतः ।

समस्तयुक्तिनिर्मुक्तं केवलागमलोचनः ।

तत्त्वमिच्छन्न कस्येह भवेद्वादी जयावह ॥६०॥

सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु ।

पादेन जिप्यते ग्रावा रत्नं मौलौ निधीयते ॥६१॥

श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः ।

यते श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिकं परम् ॥६२॥

गोहिनां समवृत्तस्य यतेरप्यधरस्थितेः ।

यदि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥६३॥

इत्युपासकाध्ययने आसत्स्वरूपमीमासनो नाम द्वितीयः कल्पः ।

देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम् ।

ततश्च तदनुष्ठानं कुर्यात्तत्र मतिं ततः ॥६४॥

येऽविचार्य पुनर्देवं रुचिं तद्वाचि कुर्वते ।

तेऽन्धास्तर्तृस्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥६५॥

यह भी ठीक नहीं है क्योंकि—

जो मतावलम्बी समस्त युक्तियोंको छोड़कर केवल आगमके बलपर तत्त्वकी सिद्धि करना चाहता है वह किसीको नहीं जीत सकता ॥९०॥

भाचार्य—मनुस्मृतिकारने श्रुति और स्मृतिमें युक्ति लगानेका निषेध किया है किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि युक्तिके बिना केवल आगमसे तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती । यदि केवल आगमसे ही तत्त्वकी सिद्धि मानी जायेगी तब तो ऐसा व्यक्ति सबको जीत लेगा । अथवा सभी धर्मवाले अपने-अपने आगमोंसे अपने-अपने तत्त्व सिद्ध कर लेंगे । अतः युक्तिसे नहीं घबराना चाहिए, जो बात विचार पूर्ण होती है उसे सब ही माननेको तैयार रहते हैं ।

सज्जन पुरुष गुणोंसे प्रसन्न होते हैं, अविचारित वस्तुओंसे नहीं । देखो, पत्थरको पैरसे टुकराया जाता है और रत्नको मुकुटमें स्थापित किया जाता है । अतः जो गुणोंसे श्रेष्ठ है वह गृहस्थ है, गृहस्थसे भी श्रेष्ठ यति है और यतिसे श्रेष्ठ देव है । किन्तु देवसे श्रेष्ठ कोई नहीं है । जिसका आचरण गृहस्थके समान है और जो यतिसे भी नीचे स्थित है, ऐसे देवको भी यदि देव माना जाता है तो फिर देवत्व दुर्लभ नहीं रहता ॥९१-९३॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें आसत् स्वरूपकी मीमासा नामका दूसरा कल्प समाप्त हुआ ।

[अब ग्रन्थकार आगम और तत्त्वकी मीमासा करते हैं—]

सबसे प्रथम देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनोंकी परीक्षा करनी चाहिए । उसके बाद उसमें मनको लगाना चाहिए । जो लोग देवकी परीक्षा किये बिना उसके वचनोंका आदर करते हैं वे अन्धे हैं और उस देवके कन्धेपर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं । जैसे माता-पिताके शुद्ध होनेपर सन्तानमें शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आसके विशुद्ध होनेपर ही

१ एक आगम एव लोचन यस्य स पुमान् तत्त्व वाञ्छति सर्वेषां जयकारी स्यात् । २ पापाण ।

३. गृहिमदुःशस्य देवस्य यतेरपि हीनस्य देवत्व घटते चेत् । ४ तस्य अन्वयः ।

पिणोः शुद्धी यथाऽपरमे पिण्डिरिह दृश्यते ।
 तथास्य पिण्डस्य मयेवागमशुद्धता ॥६६॥
 याम्बिशुद्धापि पुणः स्यात् शुद्धिपत्पात्रोपतः ।
 वन्द्य चस्तवेयोष्यैस्तोयेवतीर्थसंश्रयम् ॥६७॥
 हरेऽर्थे चैवसोऽर्घ्यदात्रनुमयेऽनुमानता ।
 पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥६८॥
 पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्तया च बाध्यते ।
 मत्तोम्मतयक्षमायाः स प्रमाणं किमागम ॥६९॥
 हेयोपदेयरूपेण यत्पूर्वागमाधयात् ।
 कालत्रयगतानर्थागमार्थप्रागम स्मृताः ॥७०॥
 आगमागोत्मस्यितिलोको बन्धमोक्षी सहेतुकी ।
 आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तस्त्ववेदिमिः ॥७१॥

आगममें शुद्धता हो सकती है। अर्थात् यदि आप्त निर्दोष होता है तो उसके द्वारा कहे गए आगममें भी कोई दोष नहीं पाया जाता। अतः पहले आप्त या देवकी परीक्षा करनी चाहिए उसके बाद उसके वचनोंको प्रमाण मानना चाहिए ॥६४-७६॥

जैसे बर्षाका पानी समुद्रमें जाकर सारा हो जाता है या साँफ़के मुँहमें जाकर बिरक हो जाता है, वैसे ही पात्रके होपमे विराज बचन भी दुष्ट हो जाता है। तथा जैसे तीर्थका आश्रम देनेवाला एक पूज्य होता है वैसे ही जो बचन तीर्थहरोका आश्रम ले लेता है वचन उनके द्वारा कहा जाता है वही पूज्य होता है ॥७७॥

जो बचन ऐसे व्यर्थको कहता है जिसे प्रत्यक्षसे दत्ता जा सकता है, उस बचनकी प्रमाणता प्रत्यक्षसे साबित हो जाती है। जो बचन ऐसे व्यर्थको कहता है जिसे अनुमानसे ही जाना जा सकता है उस बचनकी प्रमाणता अनुमानसे साबित होती है। और जो बचन विस्तृत परीक्षा वस्तुको कहता है, जिसे न प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है और न अनुमानसे, पूर्वापरमें कोई विरोध न होनेसे उस बचनकी प्रमाणता सिद्ध होती है। अर्थात् यदि उस बचनके द्वारा कही गई बातें आपसमें फटती नहीं हैं, तो उस बचनको प्रमाण माना जाता है ॥७८॥

मावाच—शास्त्रोंमें बहुत सी ऐसी बातोंका भी कबन पाया जाता है जिनके विषयमें न युक्तिसे कर्म किया जा सकता है और न प्रत्यक्षसे ऐसे कबनको सहसा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। अतः उन शास्त्रोंकी अन्य बातें, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानी जा सकती हैं वे यदि ठीक उठरती हैं और यदि उनमें परस्परमें विरोधी बातें नहीं कही गई हैं तो उन शास्त्रोंके ऐसे कबनको भी प्रमाण ही मानना चाहिए।

जिस आगममें परस्परमें विरोधी बातोंका कथन है और युक्तिसे भी जाना जाही है, पागलकी बकबादके समान उस आगमको कैसे प्रमाण माना जा सकता है ॥७९॥

आगमका स्वरूप और विषय

जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका व्यवस्थित ढेकर हेय और उपादेय रूपसे त्रिकासवर्ती पदार्थोंका ज्ञान कराता है उसे आगम कहते हैं ॥८०॥ उसके ज्ञाताओंका

उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः 'सर्वे स्वभावतः ।

नयद्वयाश्रयादेते तरङ्गा इव तोयधेः ॥१०२॥

कहना है कि आगममें जीव, अजीव, उनके रहनेके स्थान, लोक तथा अपने-अपने कारणोंके साथ बन्ध और मोक्षका कथन होता है ॥१०१॥

भावार्थ—जिसमें चारों पुरुषार्थोंका वर्णन करते हुए यह बतलाया गया हो कि क्या छोड़ने योग्य है और कौन ग्रहण करने योग्य है वही सच्चा आगम है । उस आगममें जीव, अजीव, आत्मव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका वर्णन रहता है ।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है

जैसे समुद्रमें लहरें होती हैं वैसे ही सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होते हैं ॥१०२॥

भावार्थ—जैनधर्ममें प्रत्येक वस्तुको प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त माना है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है । इसपर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों बातें तो परस्परमें विरुद्ध हैं, अतः एक वस्तुमें एक साथ वे तीनों बातें कैसे हो सकती हैं, क्योंकि जिस समय वस्तु उत्पन्न होती है उस समय वह नष्ट कैसे हो सकती है और जिस समय नष्ट होती है उसी समय वह उत्पन्न कैसे हो सकती है । तथा जिस समय नष्ट और उत्पन्न होती है उस समय वह स्थिर कैसे रह सकती है ? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील है । संसारमें कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है । उदाहरणके लिए बच्चा जब जन्म लेता है तो छोटा सा होता है, कुछ दिनोंके बाद वह बड़ा हो जाता है । उसमें जो बढ़ोतरी दिखाई देती है वह किसी खास समयमें नहीं हुई है, किन्तु बच्चेके जन्म लेनेके क्षणसे ही उसमें बढ़ोतरी प्रारम्भ हो जाती है और जब वह कुछ बड़ा हो जाता है तो वह बढ़ोतरी स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगती है । इसी तरह एक मकान सौ वर्षके बाद जीर्ण होकर गिर पड़ता है । उसमें यह जीर्णता किसी खास समयमें नहीं आई, किन्तु जिस क्षणसे वह बनना प्रारम्भ हुआ था उसी क्षणसे उसमें परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया था उसीका यह फल है जो कुछ समयके बाद दिखाई देता है । अन्य भी अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील प्रमाणित होती है । इस तरह वस्तुके परिवर्तनशील होनेसे उसमें एक साथ तीन बातें होती हैं, पहली हालत नष्ट होती है और जिस क्षणमें पहली हालत नष्ट होती है उसी क्षणमें दूसरी हालत उत्पन्न होती है । ऐसा नहीं है कि पहली हालत नष्ट हो जाये उसके बाद दूसरी हालत उत्पन्न हो । पहली हालतका नष्ट होना ही तो दूसरी हालतकी उत्पत्ति है । जैसे, कुम्हार मिट्टीको चाकपर रखकर जब उसे घुमाता है तो उस मिट्टीकी पहली हालत बदलती जाती है और नई-नई अवस्थाएँ उसमें उत्पन्न होती जाती हैं । पहली हालतका बदलना और दूसरीका बनना दोनों एक साथ होते हैं । यदि ऐसा माना जायेगा कि पहली हालत नष्ट हो चुकनेके बाद दूसरी हालत उत्पन्न होती है तो पहली हालतके नष्ट हो चुकने और दूसरी हालतके उत्पन्न होनेके बीचमें वस्तुमें कौन-सी हालत—दशा मानी जायेगी । घड़ा जिस क्षणमें फूटता है उसी क्षणमें ठीकरे पैदा हो जाते हैं । ऐसा नहीं

कृत्वाद्यैकपक्षत्वे बन्धमोक्षप्रयागमा ।
 तास्विकैकत्वसम्भाव्ये स्वभावांतरहानितः ॥१०३॥
 जाता द्रष्टा महान् सूक्ष्मः कृतिमुक्तयोः स्वयं प्रभुः ।
 भोगायर्तनमाप्नोष्य स्वभावावृष्यगं पुमात् ॥१०४॥
 ज्ञानवर्शनशून्यस्य न मेव स्यात्चेतनात् ।
 ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे नैकधीनियत्रमित्रवत् ॥१०५॥

हे कि पढ़ा पहले पूट जाता है पीछेसे उसके ठीकरे बन जाते हैं । भङ्गेका पूटना ही ठीकरेका उत्पन्न होना है और ठीकरेका उत्पन्न होना ही भङ्गेका पूटना है । अत उत्पाद और विनाश दोनों एक साथ होते हैं—एक ही क्षणमें एक पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है, और इनके उत्पन्न और नष्ट होनेपर भी द्रव्य-सूक्ष्मस्तु कायम रहता है—न बह उत्पन्न होता है और न नष्ट । जैसे पङ्के फूट जाने और ठीकरेके उत्पन्न हो जानेपर भी मिट्टी दोनों हाव्योंमें बराबर कायम रहती है । अत वस्तु प्रति समय उत्पाद, भ्रम और प्रौढ्य युक्त कहलाती है ।

वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियाँ हैं—एक दृष्टिका नाम है द्रव्यार्थिक और दूसरीका नाम है पर्यायार्थिक । द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तु प्रुब है, और पर्यायार्थिक नय दृष्टिसे उत्पाद भ्रमशील है ।

यदि वस्तुको केवल प्रतिक्षण विनाशशील या केवल नित्य माना जायेगा तो कन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी । क्योंकि सर्वथा एक रूप माननेपर उसमें स्वभावान्तर नहीं हो सकेगा ॥१०३॥

भाषार्थ—वस्तुको उत्पाद विनाशशील न मानकर यदि सबका क्षणिक ही माना जायेगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षणमें नष्ट हो जायेगी । ऐसी अवस्थामें जो आत्मा बँधा है वह तो नष्ट हो जायेगा तब मुक्ति किसकी होगी ? इसी तरह यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जायेगा तो वस्तुमें कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा । और परिवर्तन न होनेसे जो जिस रूपमें है वह उसी रूपमें बनी रहेगी । अत बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, जबका कोई आत्मा बँचेगा ही नहीं; क्योंकि जब वस्तु सर्वथा नित्य है तो आत्मा सदा एक रूप ही रहेगा, न बद्ध कृता हो सकेगा और न मोक्ष । यदि उसे कृता मोक्षा माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगा । अत प्रत्येक वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य मानना चाहिये ।

आत्माका स्वरूप

आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है महान् और सूक्ष्म है, स्वयं ही कृता और स्वय ही मोक्षा है । अपने सरीरके बराबर है । तथा स्वभावसे ही ऊपरका गमन करनेवाला है ॥ यदि आत्माको ज्ञान और दखनसे रहित माना जायेगा तो ज्ञानेयसे उसमें कोई भेद नहीं रहेगा । जबान् बड़ और चेतन दोनों एक हो जायेंगे । और यदि ज्ञानमात्रको जीव माना जायेगा तो बिना मित्रकी तरह एक बुद्धि नहीं बनेगी ॥१०४-१०५॥

१. यदि शब्द एक अनित्य धारित्र सर्व भ्रमने जबका ज्ञानायम् अनित्यपरं भ्रमने तद्धि स्यत् ज्ञान् वाजी ब्रह्मजीवाभो स्यादयम्—न ब्रह्मा पटते न मोक्षं पटते नुत स्वभावान्तरहानितः न च तत्ति तात्त्विकैकत्व तद्वाने नित्याय इत्ययम् । २. तात्त्विकत्वम् । “जीवोति इव हि बंधा ज्ञानोन्वितेभिरो बहु कृता । मोक्षा य देहमेतो य हि कृता बन्धनं नुतो ॥२०३॥—पञ्चवासिनायम् ।

प्रेर्यते ^१कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यते कर्मणा ।
 एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०६॥
^२मन्त्रवन्नियतोऽप्येषोऽचिन्त्यशक्तिः स्वभावतः ।
 अतः शरीरतोऽन्यत्र न ^३भावोऽस्य ^४प्रमान्वितः ॥१०७॥
 त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रया ।
 जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चमीं गतिमाश्रिताः ॥१०८॥
 धर्माधर्मीं नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चम ।
 अजीवशब्दवाच्याः स्युरेते विविधपर्यया ॥१०९॥
 गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् ।
 चत्वारः सर्ववस्तूनां रूपाद्यात्मा च पुद्गलः ॥११०॥
 अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्धः कर्मात्मनो मतः ।
 अनादिः सावसानश्च कालिकास्वर्णयोरिव ॥१११॥

जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है । इन दोनोंका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है । कोई तीसरा इन दोनोंका प्रेरक नहीं है ॥१०६॥

जैसे मंत्रमे कुछ नियत अक्षर होते हैं, फिर भी उसकी शक्ति अचिन्त्य होती है उसी तरह यद्यपि आत्मा शरीर परिमाणवाला है, फिर भी वह स्वभावसे ही अचिन्त्य शक्तिवाला है, अतः शरीरसे अन्यत्र उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं है ॥१०७॥

जीवके भेद

त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं; जो नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति, और देवगतिमें पाये जाते हैं । ये सब संसारी जीवोंके भेद हैं । और पञ्चम गतिको प्राप्त मुक्त जीव होते हैं ॥१०८॥

अजीव द्रव्य

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव द्रव्य कहलाते हैं । इनकी अनेक पर्यायें होती हैं ॥१०९॥

धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त कारण है । अधर्म द्रव्य उनकी स्थितिमें निमित्त कारण है । आकाश सब वस्तुओंको स्थान देनेमें निमित्त है और काल सबके परिणामनमें निमित्त है । तथा जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो गुण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं ॥११०॥

बन्धका स्वरूप और भेद

आत्मा और कर्मका अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध होता है अर्थात् आत्मा और कर्मके प्रदेश परस्परमें मिल जाते हैं । स्वर्ण और कालिमाके बन्धकी तरह यह बन्ध अनादि और सान्त होता है अर्थात् जैसे सोनेमें खानसे ही मैल मिला होता है और बादमें मैलको दूर करके सोने-

१ कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमि नयत्यमु सा च परस्परस्य । त्व नेतृभाव हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्य ॥—विपापहार । २ मन्त्रोप्यक्षरै कृत्वा समर्याद एषोऽप्यात्मा कायमात्र । ३ न सद्भाव । ४. कायमात्र । ५ सर्ववस्तूना गतिनिबन्धन धर्म, स्थितिनिबन्धनमधर्म, अप्रतिघातनिबन्धन नभः, परिणामनिबन्धन काल । ६. तदुक्त—परस्पर प्रदेशाना प्रवेशो जीवकर्मणो । एकत्वकारको बन्धो द्रव्यकाञ्चनयोरिव ॥—स० पञ्चसग्रह, पृ० ५४ ।

प्रवृत्तिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रयिमागतः ।
 चतुर्धा विद्यत बन्धः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥११२॥
 आत्मज्ञानं विमुक्तौ जीवस्यान्तर्मलक्षणात् ।
 नामाद्यो भाव्यद्येतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ॥११३॥
 यन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वात्तयमाधिकम् ।
 रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं सप्रकीर्तितम् ॥११४॥
 आसागमपदार्थानामध्वजान विपर्ययः ।
 सगुणश्च विधा प्रोक्तं मिथ्यात्वात् मत्सिनात्मनाम् ॥११५॥

का शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कमका सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त है,—
 उसका अन्त हो जाता है। यह बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध
 और प्रवेशबन्ध। यह चारों प्रकारका बन्ध सभी क्षीरधारी जीवोंके होता है ॥१११ ११२॥

भाषार्थ—प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है। कममें ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव
 उत्पन्न होता है, उसे प्रवृत्तिबन्ध कहते हैं। कममें अपने अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ
 बँधे रहनेके फलस्वी मर्यादाके पड़नेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उनमें फल देनेकी न्यूनाधिक
 शक्ति क होनेको अनुभाग बन्ध कहते हैं और न्यूनाधिक परमाणुवाले कर्मस्त्वोंका जीवके
 साथ सम्बन्ध होनेको प्रवेशबन्ध कहते हैं। सारांश यह है कि जीवके योग और कर्मात्मक
 भावोंका निमित्त पाकर अब कामेन कर्णाणं कमरूप परिणत होती है तो उनमें चार बातें
 होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फल देनेकी शक्ति और चौथे अनुकूल परिमाणमें
 उसका जीवके साथ सम्बन्ध होना। इन चार बातोंको ही चार बन्ध कहते हैं। सभी जीवोंके
 वसवें गुणस्थान तक ये चारों प्रकारके बन्ध होते हैं। आगे कर्मात्मका उद्यम न होनेसे स्थितिबन्ध
 और अनुभाग बन्ध नहीं होता। तथा चौदहवें गुणस्थानमें योगके भी न रहनेसे कोई बन्ध
 नहीं होता। इस तरह अनादि होने पर भी यह बन्ध मन्त्र जीवके सान्त होता है।

मोक्षका स्वरूप

रागद्वेषादिरूप आत्मन्तर मन्त्रके अन्तर्गत हो जानेसे जीवके स्व स्वरूपकी प्राप्ति मोक्ष
 कहते हैं। मोक्षमें न तो आत्माका अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और
 चेतन होने पर भी न आत्मामें ज्ञानादिका अभाव ही होता है ॥११३॥

भाषार्थ—पहले बताया है कि बौद्ध आत्माके अभाव को ही मोक्ष मानते हैं, किन्तु
 कि आत्माके विविध गुणोंके अभावको मोक्ष कहता है और सर्वस्व ज्ञानादिसे रहित केवल
 चैतन्यको ही शुद्ध आत्माका स्वरूप मानता है। इन सभीको दृष्टिमें रखकर मन्त्रधरने मोक्षका
 स्वरूप बताया है।

बन्ध और मोक्षके कारण

मिथ्यात्व असंमम औरहको बन्धका कारण कहा है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और
 सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रयका मोक्षका कारण कहा है ॥११४॥

मिथ्यात्वके भेद

मन्त्रिन आत्मामें पाये जानेवाले मिथ्यात्वके तीन भेद हैं—१. वेध, धातु और उनके

अथवा ।

एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम् ।

भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्व पञ्चधा स्मृतम् ॥११६॥

अवर्तित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमवृत्ता ।

इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्रादुरसंयमम् ॥११७॥

कषाया क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधा ।

संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥११८॥

द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान न करना, २ विपर्यय और ३ सशय । अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद भी हैं—एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व । ये पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व संसारका कारण है ॥११५-११६॥

भावार्थ—मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका विरोधी है, उसके रहते हुए आत्मामें सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं हो सकता । उसके पाँच भेद हैं । अनेकान्तात्मक वस्तुको एकान्त रूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है, जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण है या नहीं, इस प्रकारके सन्देहको सशय मिथ्यात्व कहते हैं । देवादिकके स्वरूपको न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है, इसके रहते हुए जीव हित और अहितका भेद नहीं कर पाता । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थोंको सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों, और उनके प्रवर्तकोंको तथा उनके द्वारा कहे गये आचार विचारको समान मानना विनय मिथ्यात्व है ।

असंयमका स्वरूप

व्रतोंका पालन न करना, अच्छे कामोंमें आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं ॥११७॥

कषायके भेद

क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी कही है । इनमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सज्ज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ । ये कषायें प्राणियोंको ससाररूपी समुद्रमें गिरानेमें कारण हैं ॥११८॥

भावार्थ—कषायातुका अर्थ घातना है । ये क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माके गुणोंको घातते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहते हैं । उनके चार दर्जे हैं । जो कषाय मिथ्यात्वके साथ रहकर जीवके संसारका अन्त नहीं होने देती उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं । इस कषायका उदय होते रहते सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता । जो कषाय अप्रत्याख्यान अर्थात् देशचारित्रको नहीं होने देती उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । जिस कषायका उदय रहते प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र प्रकट नहीं होता उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । और जिस कषायका उदय रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता उसे सज्ज्वलन कहते हैं । इस प्रकार ये कषायें आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी घातक

प्रेकृतिस्थितयनुमागप्रदेशप्रचिभागत ।
 यतुर्धा मिघत बन्ध सथेपामय वेदिताम् ॥११२॥
 भातमसाम यिदुर्मोक्ष जीपस्यास्तमसतपात ।
 नाभापो नाप्यवेतस्यं न वेतम्यमनयकम् ॥११३॥
 यन्धम्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वात्सयमाधिकम् ।
 रत्नप्रय तु मोक्षम्य कारणं मप्रकारितम् ॥११४॥
 आतागमपदार्थानामभ्यदान विपर्यय ।
 एतद्यथा त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलितारमनाम् ॥११५॥

का कुछ कर दिया जाता है पेस ही जीव और कमका सम्बन्ध बनादि होन पर भी सान्त है,—
 उसका अन्त हो जाता है । यह बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुमाग बन्ध
 और प्रवेदनबन्ध । यह चारों प्रकारका बन्ध सभी क्षीरपारी जीवोंके होता है ॥१११ ११२॥

भाषार्थ—प्रकृति क्षणिक अथ स्वभाव है । कर्मों ज्ञानादिको धातनेकर जो स्वभाव
 उत्पन्न होता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं । कर्मों जपन अपने स्वभावका न त्यागकर जीवक साथ
 भिद्ये रहनेका करुकी मयादाक पड़नेका स्थितिबन्ध कहते हैं । उनमें फल देनेकी न्यूनाधिक
 शक्ति क होनका अनुमाग बन्ध कहते हैं और न्यूनाधिक परमाजुपाक कमकन्धोंका जीवक
 साथ सम्बन्ध दानको प्रवेदनबन्ध कहते हैं । सारांश यह है कि जीवक योग और कृपायरूप
 भाषोंका निमित्त पाकर जब कामज वगणा कर्मरूप परिणत होती हैं ता उनमें चार बातें
 होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फल देनेकी शक्ति और चौथे बहुत परिमाणमें
 उसका जीवक साथ सम्बद्ध होना । इन चार बातोंका ही चार बन्ध कहते हैं । सभी जीवक
 दसवें गुणस्थान तक ये चारों प्रकारक बन्ध होते हैं । आगे कृपायका उदय न होनेसे स्थितिबन्ध
 और अनुमाग बन्ध नहीं होता । तथा चौदहवें गुणस्थानमें योगके भी न रहनेसे कोई बन्ध
 नहीं होता । इस तरह अमादि दाने पर भी यह बन्ध बन्ध जीवक सान्त होता है ।

मोक्षका स्वरूप

रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर मलक क्षय हो जानेसे जीवक स्व स्वरूपकी प्राप्तिका मांश
 कहते हैं । मोक्षमें न ता आत्माका अभाव ही होता है, न आत्मा अचक्षुन ही होता है और
 चेतन होने पर भी न आत्मामें ज्ञानादिका अभाव ही होता है ॥१११॥

भाषार्थ—यह सब बतला आये हैं कि मोक्ष आत्माके अभाव को ही मांश मानते हैं, वैस-
 पिक आत्माका किछप गुणोंके अभावका मांश कहता है और सांख्य ज्ञानादिके रहित केवल
 चैतन्यको ही मुक्त आत्माका स्वरूप मानता है । इन सभीका दृष्टिमें रखकर प्रत्येकारने मोक्षका
 स्वरूप बतलाया है ।

षष्ठ और मोक्षक कारण

मिथ्यात्व अस्तम्य बगैरहको कथका कारण कहा है और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और
 सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयका मोक्षका कारण कहा है ॥१११॥

मिथ्यात्वके भेद

मस्तिन आत्माजोमें पाये जानेवाले मिथ्यात्वक तीन भेद हैं—१ दब, धाम और उमक

१ प्रकृति स्थान स्वभावोक्त स्वभावबन्धुति स्थिति । उद्वेगोन्मत्ताना स्वात्थरेस स्वादित्यन ॥

अथवा ।

एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम् ।
भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्व पञ्चधा स्मृतम् ॥११६॥
अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमवृत्तता ।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्रादुरसंयमम् ॥११७॥
कपायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधाः ।
संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥११८॥

द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान न करना, २ विपर्यय और ३ संशय । अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद भी हैं—एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व । ये पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व ससारका कारण है ॥११५-११६॥

भावार्थ—मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका विरोधी है, उसके रहते हुए आत्मामें सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं हो सकता । उसके पाँच भेद हैं । अनेकान्तात्मक वस्तुको एकान्त रूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है, जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण है या नहीं, इस प्रकारके सन्देहको संशय मिथ्यात्व कहते हैं । देवादिकके स्वरूपको न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है, इसके रहते हुए जीव हित और अहितका भेद नहीं कर पाता । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थोंको सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों, और उनके प्रवर्तकोंको तथा उनके द्वारा कहे गये आचार विचारको समान मानना विनय मिथ्यात्व है ।

असंयमका स्वरूप

व्रतोंका पालन न करना, अच्छे कामोंमें आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं ॥११७॥

कषायके भेद

क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी कही है । इनमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ । ये कषायें प्राणियोंको ससाररूपी समुद्रमें गिरानेमें कारण हैं ॥११८॥

भावार्थ—कषायातुका अर्थ घातना है । ये क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माके गुणोंको घातते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहते हैं । उनके चार दर्जे हैं । जो कषाय मिथ्यात्वके साथ रहकर जीवके ससारका अन्त नहीं होने देती उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं । इस कषायका उदय होते रहते सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता । जो कषाय अप्रत्याख्यान अर्थात् देशचारित्रको नहीं होने देती उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । जिस कषायका उदय रहते प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र प्रकट नहीं होता उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । और जिस कषायका उदय रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता उसे संज्वलन कहते हैं । इस प्रकार ये कषायें आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी घातक

ममोपाकायकर्मणि शुभाशुमयिमेवतः ।

मयन्ति पुण्यपापानां यन्त्रकारणमारमणि ॥११६॥

निराधारो निरालम्बः पथमानसमाश्रयः ।

ममोपपत्तिस्थितो लोकः सृष्टिसंहारयन्त्रितः ॥१२०॥

होनेसे जीवके उद्धारमें सबसे प्रबल बाधक हैं । इनको दूर किये बिना कोई प्राणी संसार समुद्र बाहर नहीं निकल सकता ॥

योग

मन वचन और कर्मकी क्रिया शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं । इनमें शुभ क्रियाओंसे आत्माके पुण्यबन्ध होता है और अशुभ क्रियाओंसे पापबन्ध होता है ॥११६॥

साधार्थ—हिंसा करना, चोरी करना, मद्यपन करना आदि अशुभ कर्मिक क्रिया हैं फट्टेर वचन बोलना, असत्य वचन बोलना, किसीकी निन्दा करना आदि अशुभ वाचनिक क्रिया हैं । किसीका बुरा विचारना आदि अशुभ मानसिक क्रिया हैं । इन क्रियाओंसे पाप बन्ध होता है । और इनसे बचकर अच्छे काम करना, द्रिष्ट मित वचन बोलना और दूसरोंका भल विचारना आदि शुभ क्रियाओंसे पुण्यबन्ध होता है । असकर्म शास्त्रकारोंने योगको बन्धका कारण बतलाया है और पू कि उक्त क्रियाएँ योगमें कारण होती हैं इस विषय क्रियाओंको योग कहा है । ऊपर म क्रियाओंसे ज्ञातय योगका ही है क्योंकि प्रत्येक बन्धके कारण बतला रहे हैं और वे पाँच होते हैं—मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कपाव और योग । कोई कोई व्याचार्य प्रमादको असंयममें ही समित कर लेते हैं, जैसा कि सोमदेव सूरिने किया है । अब उनके मतसे चार ही बन्धों कारण माने जाते हैं ।

[इस प्रकार बन्धके कारण बतलाकर प्रत्येक प्रकार लोकका स्वरूप कहते हैं—]

लोकका स्वरूप

यह लोक निराधार है, निरालम्ब है—कोई इसे चारण किये हुए नहीं हैं, केवल तीन प्रकारकी वायुके सहारेसे आकाशके बीचोबीचमें यह टहरा हुआ है । न इसकी कमी उत्पत्ति हुई है और न कमी विनाश ही होता है ।

साधार्थ—जैन धर्मके अनुसार आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है । आकाशका काम सब द्रव्योंके स्थान देना है । उस आकाशके बीचमें चोवह राजू ऊँचा, उत्तर दक्षिण सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम नीचे सात राजू, मध्यमें एक राजू, पुन पाँच राजू और अन्तमें एक राजू विस्तार वाला लोक है । लोकका आकार दोनों पैर फैलाकर तथा कुर्सीपर दोमो हाथ रलकर सजे हुए पुरुषके समान है । पूर्व पश्चिममें पैरके मीचे ऊँचाई ७ राजू है, कटिभागमें एक राजू है, दोमो कोनियोंके स्थानपर पाँच राजू है और ऊपर सिरपर एक राजू है । जैसे तो यह लोक आकाशका ही एक भाग है । किन्तु जितने आकाशमें सभी द्रव्य पाये जाते हैं उतनेको लोककाश कहते हैं और जोफसे बाहरके शुद्ध आकाशको अलोककाश कहते हैं । इस तरह आकाशके दो भाग हो गये हैं । वह आकाश स्वयं ही अपना आधार है उसकेबिना किसी आधारकी आवश्यकता नहीं है । जब रह आते हैं शेष द्रव्य, उनमें भी जो आधार द्रव्य अवर्तित हैं उन्हें भी किसी अन्य आधारकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक तो वे आकाशकी ही तरह अवर्तित और आधार हैं । दूसरे

अथ मतम्—

नैव लग्न जगत्कापि भूभू'धाम्भोधिनिर्भरम् ।
धातारश्च न युज्यन्ते मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः ॥१२१॥
एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे ।
कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहस महत् ॥१२२॥
यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्टकाष्टादिधारणे ।
त्रैलोक्यस्य कथं स स्याद्धारणावसरक्षमः ॥१२३॥

तदसत् ।

ये स्नावयन्ति पानीयैर्विष्टुपं सचराचरम् ।
मेघास्ते वातसामर्थ्यात्किं न व्योम्नि समासते ॥१२४॥

श्राप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यतः

अमज्जनमनाचामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता ।
मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥१२५॥

उनका साधारण आधार आकाश द्रव्य है ही, अतः उन्हें भी किसी अन्य आधारकी आवश्यकता नहीं है । अब रह गये मूर्तिक पदार्थ सो उनका भी साधारण आधार तो आकाश ही है तथा दूसरा आधार वायु है । वायु तीन प्रकारकी है घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवात-वलय । वलय चूड़ी या कड़ोको कहते हैं जो गोल होते हैं । जैसे कड़ा हाथमें पहिरनेपर वह हाथ-को चारों ओरसे घेर लेता है वैसे ही लोकको चारों ओरसे तीनों वायु घेरे हुए है इस लिए उन्हें वातवलय कहा है । ये वातवलय ही पृथ्वी वगैरहको धारण करनेमें सहायक है ।

जैनोंकी इस मान्यतापर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते हैं—पृथ्वी, पहाड़, समुद्र वगैरहके भारसे लदा हुआ यह जगत् किसीके भी आधार नहीं है, तथा मच्छ, कच्छप, वायुकीनाग और शूकर इसके धारणकर्ता हो नहीं सकते । ऐसा विचार करके जैन लोग इस निरालम्ब जगत्का धारणकर्ता वायुको मानते हैं । किन्तु यह उनका बड़ा साहस है, क्योंकि जो वायु हमारे देखनेमें ईंट पत्थर लकड़ी वगैरहका भी बोझ सम्हालनेमें असमर्थ है, वह तीनों लोकोंको धारण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥१२१-१२३॥

किन्तु उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि जो मेघ पानीके द्वारा चराचर जगत्को जलमय बना देते हैं, वे वायुके द्वारा ही क्या आकाशमें नहीं ठहरे रहते ? ॥१२४॥

भावार्थ—आज कल तो हजारों टन बोझा लेजाने वाले वायुयान वायुके सहारे ही आकाशमें उड़ते हुए पाये जाते हैं । अतः वायुमें बड़ी शक्ति है और वही लोकको धारण करनेमें समर्थ है । मच्छ कछुवे आदिको जो पुराणोंमें पृथ्वीका आधार माना गया है वह विज्ञान सम्मत नहीं है ।

जैन मुनियोंपर दोषारोपण

जैन आप्त, जैन आगम और उनके द्वारा कहे हुए पदार्थोंमें अन्य दोष न पाकर कुछ लोग जैन मुनियोंमें दोष लगाते हैं । वे कहते हैं कि जैनोंके साधु स्नान नहीं करते, आचमन नहीं करते, नगे रहते हैं और खड़े होकर भोजन करते हैं । इन दोषोंका समाधान इस प्रकार है ॥१२५॥

सूर्याग्नीं ब्रह्मस्नानं सकर्मसीं द्रविणव्यया ।
 सन्धासेवाग्निसत्कारो गोहृदेहाद्यर्चनो विधिः ॥१३६॥
 नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा ।
 तरुस्तृपाग्रमक्षतां चम्पकं सुगुर्संभय ॥१३७॥
 गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् ।
 रत्नवाहनभूयसशशरौघाविसेवणम् ॥१३८॥
 समयान्तरपाण्डवेष्वलोक्तसमाश्रयम् ।
 पक्वमादिविमूढानां ज्ञेयं भूढमनेकधा ॥१३९॥
 वरैर्त्यं लोकावार्तार्थमुपरोधार्यमिव वा ।
 उपास्तनमसीर्षां स्यात्सम्यग्दर्शोऽप्यहानये ॥१४०॥
 ऋणायैव क्रियासीषु न फलावाप्तिकारणम् ।
 यज्ञकेसुगन्धवोधानामूपरे कृपिकर्मकम् ॥१४१॥
 घस्तुम्येष भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके ।
 न ह्यरत्नेषु रत्नाय भाषो भवति भूतये ॥१४२॥

भाषाय—मुनिभोंके पास एक दमड़ी भी नहीं रहती, जिससे क्षौरकर्म करा सकें, यदि दूसरेसे माँगते हैं तो बीनवा मछल होती है, पासमें छुरा बगैरह भी नहीं रख सकते । और यदि केस बढ़ाकर जटा रखते हैं तो उसमें जूँ बगैरह पड़ जाती है इसलिय वह हिंसाका कारण है । इसके बिपरीत केसज्योंच करनेमें न किसीसे कुछ माँगना पड़ता है, न कोई हिंसा होती है, मस्तुत उससे वैराग्यभाव बढ़ होता है और कष्टोंको सहनेकी क्षमता बढ़ती है, इसलिय मुनिगण केसज्योंच करते हैं ।

इस प्रकार उपासकअप्ययनमें आगम और उसमें कहे गये पदार्थोंकी परीक्षा नामक तीसरा कल्प समाप्त हुआ ।

लोकमें प्रचलित मूढताओंका निषेध

सूर्यको अर्घ्य देना, ब्रह्मके समय स्नान करना, संक्रान्ति होनेपर दान देना सम्बन्धा कन्दन करना, जन्मिको पूजना, मज्जन और क्षौरकी पूजा करना, धर्म मान कर नदियों और स्तुत्रमें स्नान करना, बुद्ध स्तुप और प्रथम प्रासको नमस्कार करना, पहाड़की चाटीसे गिरकर मरना, गीके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसका मूत्र पान करना, रत्न सवारी पृथ्वी मक्ष छल और फ्लाङ्क क्षौरहकी पूजा करना, तथा धमान्तरके पातण्ड, वेद और ओक्से सम्बन्ध रत्नेवासी इस प्रकारकी अनेक मूढताएँ जाननी चाहियें ॥ बरकी व्याप्तासे या काक रिवाजके बिचारसे या धूसरोंके व्याग्रहसे इन मूढताओंका सेवन करनेसे सम्बन्धरानकी हानि होती है ॥ जिस प्रकार ऊसर भूमिमें खेती करनेसे केवल कष्ट ही उत्पन्न पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता, उसी तरह इन मूढताओंके करनेसे केवल कष्ट ही उत्पन्न पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता ॥ १३६-१४१ ॥

बस्तुमें की गई भक्ति ही शुभ कर्मका कथ्य कराती है । आ रत्न नहीं है उसे

‘अदेवे देवतानुद्धिमवते व्रतभावनाम् ।
 अतस्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१४३॥
 तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा ।
 मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥१४४॥
 न^१ स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहा. सृजिनागमे ।
 स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्यश्लाघा च मनसा गिरा ।
 एते दोषा प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥१४६॥

रत्न माननेसे कल्याण नहीं हो सकता ॥ कुदेवको देव मानना, अव्रतको व्रत मानना और अतत्त्व-
 को तत्त्व मानना मिथ्यात्व है अतः इसे छोड़ देना चाहिए ॥ फिर भी यदि कोई इन मूढ़ताओं-
 का सर्वथा त्याग नहीं करता (और सम्यक्त्वके साथ-साथ किसी मूढ़ताका भी पालन करता है)
 तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवनके कारण उसके धर्माचरण-
 का भी लोप कर देना अर्थात् उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नहीं है ॥ १४२-१४४ ॥

भावार्थ—ऊपर जिन मूढ़ताओंका उल्लेख किया है, उनमेंसे बहुत-सी मूढ़ताएँ आज भी
 प्रचलित हैं, और लोग धर्म मानकर उन्हें करते हैं, किन्तु उनमें कुछ भी धर्म नहीं है। वे केवल
 धर्मके नामपर कमाने-खानेका आडम्बर मात्र हैं। ऐसी मूढ़ताओंसे सबको बचना चाहिए।
 किन्तु यदि कोई किसी कारणसे उन मूढ़ताओंको पूरी तरहसे नहीं त्याग देता और अपने
 धर्माचरणके साथ उन्हें भी किये जाता है तो उसे एक दम मिथ्यादृष्टि न मानकर सम्यग्
 मिथ्यादृष्टि माननेकी सलाह ग्रन्थकार देते हैं। वे उसके उस धर्माचरणका लोप नहीं करना
 चाहते, जो वह मूढ़ता पालते हुए भी करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके समयमें
 लोक-रिवाज या कामना वगैरह कुछ जैनोंमें भी मिथ्यात्वका प्रचार था और बहुतसे जैन उसे छोड़ने-
 में असमर्थ थे। शायद उन्हें एक दम मिथ्यादृष्टि कह देना भी उन्हें उचित नहीं जँचा, इसलिए
 सम्यग्मिथ्यादृष्टि कह दिया है, वैसे तो मिथ्यात्वसेवी जैन भी मिथ्यात्वी ही माने गये हैं।

जिन मनुष्योंकी चेष्टाएँ या इच्छाएँ अच्छी नहीं हैं उन्हें जिनागममें स्वयं प्रेरित नहीं
 करना चाहिए। अर्थात् ऐसे मनुष्योंको जैनधर्ममें लानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए, किन्तु यदि
 वे स्वयं इधर आवें तो उनके योग्य अनुग्रह-साहाय्य कर देना चाहिए ॥ १४५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मूढ़ताका निषेध करनेवाला चौथा कल्प समाप्त हुआ।

सम्यग्दर्शनके दोष

[अब ग्रन्थकार सम्यग्दर्शनके दोष बतलाते हैं—]

शङ्का, काक्षा, विनिन्दा और मन तथा वचनसे मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा करना, ये दोष
 सम्यग्दर्शनकी हानिके कारण हैं ॥१४६॥

१ ये नरा दुरीहा दुस्वेष्टास्ते न प्रेरणीया जिनागमे । ये च स्वयं प्रवृत्तास्तेपा योग्यानुग्रहं कार्यः ।

२ ‘शकाकाक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-पस्तवा सम्यग्दृष्टेरतीचारा ।—तत्त्वार्थसूत्र ७-२३ ।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—इहैवानेकाश्चर्यसमीपे जम्बूद्वीपे जनपदाभिधानास्पदे जनपदे भूमितिलकपुरपरमेश्वरस्य गुणमालामहादेवीरतिकुसुमशरस्य नरपालनाम्नो नरेन्द्रस्य श्रेष्ठी सुनन्दो नाम । धर्मपत्नी चास्य जनितनिखिलपरिजनहृदयानन्दा सुनन्दा नाम । अनयो सूनु-
र्धनद-धनवन्धु-धनप्रिय-धनपाल-धनदत्त-धनेश्वराणामनुज. सकलकूटकपटचेष्टितहरिर्धन्वन्तरि-
नाम । तथा तन्मृपतिपुरोहितस्याग्निलादयितस्योदितोदितधर्मकमेणः सोमशर्मणः सुतो
विश्वरूप-विश्वेश्वर-विश्वमूर्ति-विश्वामित्र-विश्वावसु-विश्वावलोकानामनवरजः समस्तस-
द्वृत्तप्रतिलोमो विश्वानुलोमो नाम ।

तौ द्वावपि सहपांशुकोडितत्वात्समानशीलव्यसनत्वाच्च क्षीरनीरवत्समाचरितसख्यौ
द्युतमदिरापरदारचौर्याद्यनार्थकार्यपर्यायप्रवर्त्तनमुच्यौ सन्तौ तेनावनीपतिनात्मीयनगरात्स-
निकारं निर्वासितौ कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवोवरेण वीरनरेश्वरेणाधिष्ठित यमदण्ड-
तरपालेनाश्रितमशेषसंसारसारसोमन्तिनीमनोहर हस्तिनागपुरमवाप्य सपादितावस्थितौ

सकता । ऐसा अडिगपना ही सिद्धिका कारण होता है । किन्तु जो लोग जरासे सन्देहमें पडकर
मूल तत्त्वोंमें ही सन्देह करने लगते हैं । कभी किसीको अच्छा समझ बैठते हैं तो कभी किसी-
को अच्छा समझ बैठते हैं । वे वे-पेन्दीकी लोटेकी तरह सदा इधरसे उधर लुढ़का करते हैं और
कोई भी उनकी प्रतीति नहीं करता । अतः सम्यग्दृष्टिको निःसन्देह होना चाहिए । उसे तत्त्वको
समझनेका प्रयत्न तो करना चाहिए किन्तु यदि वह समझमें न आये या कोई समझा न सके, तो
उस तत्त्वकी सत्यतामें ही सन्देह नहीं कर बैठना चाहिए । यही निःशक्तितपना है जो सम्यग्दर्शन
का प्रथम अंग है ।

१. निःशङ्कित अंगमें प्रसिद्ध अंजनचोरकी कथा ३

अब नि शङ्कित अङ्गके सम्बन्धमें कथा सुनिए—

इसी जम्बूद्वीपके जनपद नामक देशमें भूमितिलकपुर नामका नगर है । उसका स्वामी
नरपाल नामका राजा था । उसकी पट्टरानीका नाम गुणमाला था । उसके राजश्रेष्ठीका नाम
सुनन्द था । सुनन्दके समस्त परिवारके हृदयको आनन्दित करनेवाली सुनन्दा नामकी धर्मपत्नी
थी । इन दोनोंके धनद, धनवन्धु, धनप्रिय, धनपाल, धनदत्त, धनेश्वर और धन्वन्तरि नामके
पुत्र थे । छोटा पुत्र धन्वन्तरि सब जाल-फरेबकी मायामें निपुण था ।

राजाका पुरोहित धर्म-कर्ममें निपुण सोमशर्मा था । उसकी पत्नीका नाम अग्निला था ।
उनके विश्वरूप, विश्वेश्वर, विश्वमूर्ति, विश्वामित्र, विश्वावसु, विश्वावलोक और विश्वानुलोम
नामके पुत्र थे । ज्येष्ठ पुत्र विश्वानुलोम समस्त सदाचारका विद्वेषी था ।

धन्वन्तरि और विश्वानुलोम दोनों साथ-साथ खेले थे तथा दोनोंका स्वभाव और आदतें
भी समान थीं, इसलिए दोनोंमें दूध और पानीकी तरह घनिष्ठ मित्रता थी । जुआ, शराब, परस्त्री-
गमन और चोरी वगैरह दुराचारोंमें रत रहनेके कारण दोनोंका तिरस्कार करके राजाने उन्हें
अपने देशसे निकाल दिया । वहाँसे निकाले जाकर वे दोनों कुरुजागल देशके हस्तिना-

तत्र—

अहमेकी न मे कश्चिदस्ति ज्ञाता जगत्त्रये ।
 इति व्याधिप्रसोक्तान्तिमीति शङ्कां भञ्जयते ॥१४७॥
 पेतत्तत्त्वमिव सत्यमेतद्वृत्तमिव व्रतम् ।
 एष देवस्य देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥१४८॥
 इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्वाहर्षमशुभता ।
 न चास्मिभीष्टिताधातियैद्येवोभयधर्मेन ॥१४९॥
 परं पय मवेद्वेपस्तत्त्वमन्येतदेव हि ।
 एतदेव व्रतं मुपस्ये तवैव स्वावशङ्कभी ॥१५०॥
 तेष्वे काले रिपो हृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते ।
 यस्य बोधायते चित्तं रिक्तं सोऽमुञ्च वेद न ॥१५१॥

इनमेंसे पहले शङ्का दोषका वर्णन करते हैं—

‘मैं अकेला हूँ, सीनों लोकोंमें मेरा कोई रक्षक नहीं है ।’ इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शङ्का कहते हैं ॥ ‘अथवा यह सत्य है या यह सत्य है ?’ ‘यह व्रत है या यह व्रत है ?’ ‘यह देव है कि यह देव है ?’ इस प्रकारके संशयको शङ्का कहते हैं ॥ जिसका चित्त इस प्रकारसे शङ्कित—शङ्काकुल या भयभीत है उसका सम्यग्दर्शन सुदृढ़ नहीं है । तथा जैसे नपुंसक अपने मनोरथको पूरा नहीं कर सकता, वैसे ही उसे भी धर्मीपटकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ‘यही देव है, यही व्रत है और इन्हीं व्रतोंसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है । ऐसा जिसको दृढ़ विश्वास है वही मनुष्य निश्चय दुःखिवाला है ॥ किन्तु सत्त्वक आत्मेपर, शत्रुके हृदि-गोचर होनेपर और पात्रके उपस्थित होनेपर जिसका चित्त डोळता है,—ओ कुछ भी स्थिर नहीं कर सकता, वह इस लोकमें भी लाभी हाथ रहता है और परलोकमें भी लाभी हाथ रहता है ॥ १४७—१५१ ॥

आध्याय—‘शङ्का’ शब्दके दो अर्थ हैं—भय और सन्देह । जो मिथ्यादृष्टि होता है उसे सदा भय सताता रहता है क्योंकि भय उसे ही होता है जो परवस्तुमें ‘मह मेरी हूँ’ ऐसी भावना रखता है । जो यह समझता है कि यह शरीर, जी, पुत्र, धन-सम्पत्ति वगैरह मुझे शुभ कर्मके उदय से प्राप्त हुई हैं । अतएव शुभ कर्मका उदय है तब तक रहेगी उसके भाव नष्ट हो जायेगी, उसे कभी भी भय नहीं मंठाता । अतः जिसे मृत्युका, जलहाका या भय-आन्वयके निनाशका सदा भय बना रहता है वह मिथ्यादृष्टि है । किन्तु जो सम्यग्दृष्टि होता है वह सदा निर्भय रहता है । अतः भय करना सम्यक्त्वका धातक है । इसी तरह सदा सन्देह करते रहना भी सम्यक्त्वका धातक है । वस्तु तत्त्वमें अथाध प्रतीति सम्यग्दृष्टिको ही होती है । वह एक बार वस्तु स्वयंप्रकार समझकर अब उसपर दृढ़ आस्था कर लेता है तो फिर उसे उसका विश्वाससे कोई भी गद्दी दिगा

१ तत्रमेवनिर्दिष्टतत्त्वमेवद्वन्द्वमिदं व्रतम् । देवोऽयमेव देव स्वाहित्यं तत्तयो भवः ॥१४७॥—प्रबोधसार ।

२ ‘तथा संदेहमात्रेण न स्वाहर्षमशुभता । वैवास्मिभीष्टिताधातियैद्येवोभयधर्मेन ॥१५१॥—प्रबो ॥

३ नपुंसकवैरने वाञ्छाया तथा वाञ्छायाध्यायिर्न भवति । ४ अहमेव मवेद्वेपस्तत्त्वं तेनोक्तमेव च । अतः वयाधमेव स्वाहर्षमिव मीत्यो ह्यदृष्टम् ॥१४८॥—परमरत्नाकर-वच १३ । ५ ‘तस्यै बुद्धिं मयः स्वयं पात्रं वा समुपस्थिते । तस्य बोधायने स्वाम्भो मो-वर्धं स्वाद् भवत्येव ॥१५१॥—प्रबो ॥ विज्ञाय तस्य प्रवितोक्तं तन्मू दृष्ट्वा स्वयं वाञ्छानुरिचयं च । होलायनायो हृदि जायते यो रिक्तो ? इत्यादि च वचनं च तस्याम् ॥१४७॥ परमरत्नाकर-वच १९ ।

गोद्वीर्णगरलजनितमृत्युसंगतिरक्षातनामानोकहपरिहारेण व्यतिक्रान्तकिंपाकफलापादितापत्तिः पुनरविचार्य किमपि कार्यं नाचर्यमिति गृहीतव्रतजातिरेकदा निशि नगरनायकनिलये नटनृत्यनिरीक्षणतत्कालक्षेपक्षणः स्वावासमनुसृत्य शनैर्विघटितकपाटपुटसंधिवन्धः स्वकीयया सवित्र्या विहितगाढावरुण्डनमात्मकलत्रं जातनिद्रातन्त्रमवलोक्योपपत्तिशङ्कया मुहुस्तवा-तखड्गो भगवतोपपादितं व्रतमनुसस्मार । शुश्राव च दैवात्तदैव 'भनागत' परत. सर, खरं,

कहा । एक छोटे-से व्रतके कारण धनको प्राप्तिको देखकर धन्वन्तरिका हृदय गुरु महाराजके प्रति भक्तिसे गद्गद हो गया । और वह नया व्रत ग्रहण करनेके लिए पुनः उनकी शरणमें पहुँचा ।

इस बार मुनिराजने उससे कहा—बलिदानके लिए आटेका पशु वगैरह बनाकर लोग चौराहों आदिपर रख देते हैं उसे तुम नहीं खाना ।

एक दिन धन्वन्तरि अपने मित्र विश्वानुलोम तथा अन्य साथियोंके साथ चोरी करके लौट रहा था । सब लोग भूखे थे । उन्होंने मार्गमें आटेके बने बैल रखे हुए देखे । विश्वानुलोम ने उसकी रोटी बनाकर खानेका प्रस्ताव किया । किन्तु धन्वन्तरिने अपने व्रतके कारण उसे स्वीकार नहीं किया । तब विश्वानुलोम उसपर बहुत नाराज हुआ । किन्तु धन्वन्तरि अपने नियमसे विचलित नहीं हुआ । उसके साथियोंने उस आटेकी रोटियों बनाईं किन्तु धन्वन्तरिके स्नेहवश विश्वानुलोमने नहीं खाईं । वे दोनों बच गये और उन रोटियोंको खानेवाले उनके साथी मृत्युके मुखमें चले गये, क्योंकि कोई साँप उस आटेके पुतलेको जहरीला कर गया था । व्रतके ही कारण जीवन रक्षा होनेसे धन्वन्तरि और भी अधिक प्रभावित हुआ और गुरु महाराजके पास पुनः व्रत ग्रहण करनेके लिए गया ।

गुरु महाराजने कहा—जिस वृक्षका नाम अज्ञात हो, उसके फल नहीं खाना ।

एक दिन धन्वन्तरि और विश्वानुलोम चोरी करके एक जगलमें पहुँचे । सब लोग भूखे थे किन्तु खानेके लिए वहाँ कुछ भी नहीं था । खोजबीन करनेपर एक वृक्षपर फल लगे हुए मिले । उन्हें ही तोड़कर सब खानेके लिए बैठे । धन्वन्तरिने जैसे ही एक फल अपने मुखमें रखनेके लिए उठाया । उसे अपने व्रतका स्मरण हो आया । उसने तत्काल पूछा कि ये फल जिस वृक्षके हैं उसका नाम क्या है ? किन्तु कोई भी उसका नाम नहीं बता सका । अतः धन्वन्तरिने उनको खाना स्वीकार नहीं किया । धन्वन्तरिके साथ विश्वानुलोमने भी उन फलोंको नहीं खाया । वे विषफल थे, अतः खाते ही उनके साथी चल बसे और वे दोनों मित्र पुनः बच गये ।

व्रतके कारण दुबारा प्राणरक्षा होनेसे धन्वन्तरि गुरु महाराजका और भी दृढ़ भक्त बन गया और पुनः उनकी सेवामें उपस्थित होकर व्रतोंकी याचना करने लगा । इस बार आचार्यने उसे बिना विचारे कोई काम न करनेका व्रत दिया ।

एक दिन रातमें नगरके मुखियाके मकानपर नटोंका नृत्य होता था । उसे देखकर धन्वन्तरि देरसे घर लौटा । धीरेसे द्वार खोलकर जैसे ही उसने अन्दर देखा, अपनी माता और पत्नीको गाढ़ आलिंगन पूर्वक सोते हुए पाया । परपुरुषकी आशङ्कासे उसे मारनेके लिए जैसे ही धन्वन्तरिने तलवार ऊपर उठाई वैसे ही उसे आचार्यके द्वारा दिये हुए व्रतका स्मरण हो आया ।

१ परित्यागेन मु० । २ मात्रया घृतपुरुषरूपया । ३. कृतालिङ्गनम् । ४. निद्राधीनम् ।

५. श्रुतवान् गृहिणीवार्णी—हे मातः परतः सर यतो मे खरः कठिनः शरीरसम्बाधा इति ।

क्याचिद्वस्तमस्तकोचंसतपमातपनिधये सध्यासमये मयसंजीमछिनकपोलपासीमिलीनासि-
कुठालित्यमाममुसपटामोगमद्वीप्रसराधीलगिरिकुञ्जरात्स्थम्बन्वतोऽमिमुखमागच्छतो निवृत्त्य
भीधर्माचार्योपायमाजधर्मग्रथणोचितं नित्यमपिहृत नाम चैत्यालयमासाधयामासतु ।

तत्र च 'धन्वन्तरे' यदि सीधुपिगितोपदेशप्रमुक्तानि संसारसुखानि स्येच्छयानुमधि-
गुमिच्छसि, तदाऽयस्यममीयामम्भाराम्परावृत्तवपुषा धर्मो न श्योतध्य' इत्यभिधाय पिप्रत्य
च धयजपुगलमतिनिमरं 'प्रमोछापलभ्यलोलमायामो विष्णानुलोम' सुप्याप । धन्वन्तरिस्तु
'प्राणिना हि नियमेन किमप्यचक्षितात्मतया यतमुपात्त भयति त्वक्'ऽयस्य स्वर्ग्यस्यमि-
मिच्छम्' इति प्रस्ताधापातमाचार्योचितमुपभुत्स्य, प्रणिपत्य च 'यद्येय तर्हि भगवन्, अय-
मपि ज्ञोऽनुगृह्यतां कस्यापि व्रतस्य प्रवर्तने' इत्यथोचत् । तदनु 'तत् सूर्ये जलतिविजो-
कनात्ययात्तभ्यम्' इति व्रतं कुलालाग्रमध्यनिधत्ता पञ्चप्रायश्चित्पिष्टशकटपरित्यागाग्नितोर-
पुर नामक नगरमें जाये । वहाँके राजाका नाम भीरनरेश्वर था और उसकी पहचानी भीरमयी
थी । तथा बमदण्ड वहाँका कोतवाल था ।

एक दिन सन्ध्याके समय सूरजके डूब जानेपर ये दोनों घूमने निकले । सामनेसे नील-
गिरिके समान एक मबोन्नत हाथीको स्वच्छन्दताके साथ सन्मुख जाया हुआ देखकर दोनों एक
नित्यमपिहृत नामक चैत्यालयमें घुस गये । वहाँ धर्मोपाय धर्मका उपदेश कर रहे थे ।

विश्वानुलोमने धन्वन्तरिसे कहा—'धन्वन्तरि ! यदि संसारके मविरा, माँस, मज्जन
आदि सुखोंको यथेच्छ भोगना चाहते हो तो ॥ विगम्बर साधुजोंका धर्म मत सुनो ।' ऐसा
कहकर दोनों कानोंको बन्द करके और आँखोंको भी बन्द कर विश्वानुलोम सो गया । उधर आचार्य
कह रहे थे कि यदि प्राणी दुष्टताके साथ नियम पूर्णक किसी भी वस्तुका पावन करे तो उसका जन्म
बहु व्रत ब्रह्म ही उसका कल्याण करता है । यह सुनकर आचार्यको नमस्कार करके धन्वन्तरि
बोला—'भगवान् ! यदि ऐसा है तो इस वासको भी कोई व्रत देनेकी कृपा करें ।'

आचार्यने उसकी स्थितिको समझकर कहा—'तुम प्रतिदिन घुटे सिर व्यष्टिका दर्शन
करके भोजन किया करो ।' धन्वन्तरिने इस व्रतको सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

एक दिन जैसे ही वह भोजन करनेके लिए बैठा, उसे अपने नियमकी भाव आई, उसदिन
वह घुटे सिर व्यष्टिका दर्शन करना मूल गया था । जब उसने भोजन नहीं किया और घुटे
सिर व्यष्टिकी स्तब्धता देखी । उसके पड़ोसी एक कुम्हारने उसी दिन सिर व्यष्टिका भा,
किन्तु वह मिट्टी छेनेके लिए बाहर गया था धन्वन्तरि उसकी स्तब्धता देख दिया । जब वह
कुम्हारके पास पहुँचा तो कुम्हार उसे देखकर बबरा गया । कुम्हारको उस दिन मिट्टी स्रोतते
हुए एक पड़ा मिला था उसमें धन था । जब धन्वन्तरि कुम्हारको देखकर मुरन्त ही स्रोत गया
तो कुम्हारको सन्देह हुआ कि उसने श्रुते भगवन्से कहा निकालते हुए देल दिया है और जब
वह कहीं राजासे मेरी शिकायत न कर दे । जब उसे धनका जाया भाग देकर राखी कर छेना
बाहिए । राजा तो सब धन छे छेगा । यह सोचकर कुम्हार धनका पड़ा धिरपर रत्नकर धन्वन्तरिके
पीछे-पीछे हो लिया । और उसके घर पहुँचकर उसने वह पड़ा उसके सामने रखकर सब हाक

१ मयमयी—आ । मयमयी—यु । २ गिरिधर—आ । ३ मित्रा । ४ धर्म सूर्य—आ ।

धन्वन्तरिरिष्यातापनयोगान्ते तस्य सबोधनाय समन्ते समुपसद्य 'मत्प्रणयपान्थवि-
श्रामाराम विश्वानुलोम जिनधर्मस्थितिमनवबुध्यमानः किमित्यकाण्डे चण्डभावमादाय
दुराचारप्रधान. समभूः। तदेहि विहायेम दुःपथकथासनाथ शमथावसथमनोरथं सहैव
तपस्यावः' इति बहुश कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि दुःशिक्षावशात्तमोतपोतरुतभीतपतङ्गपाकमिव
मुधामौनमूकतोच्चरद्वितचित्तोत्सेकं तितउर्पात्र इव तन्मनोमन्त्रेऽप्राप्तसदुपदेशपयोवस्थान.
प्रतिबोधयितुमशक्नुवन्गुरुरादमूलमनुशील्य कालेन प्रवचनोचितं चरमाचरणाधिकृतं विधिं
विधाय विबुधाङ्गनाजनोच्चार्यमाणमङ्गलपरम्परानलपेऽच्युतकल्पे समस्तसुरसमाजस्तूयमान-
महातपःपरायणप्रतिभोऽमितप्रभो नाम देवोऽभवत् ।

विश्वानुलोमोऽपि पुरोपार्जितजीवितावसाने विपद्योत्पद्य च व्यन्तरेषु गजानीकमध्ये
विजयनामधेयस्य विद्युत्प्रभाख्यया वाहनो बभूव । पुनरेकदा पुरंदरपुरःसरेण दिविजवृन्देन
सह नन्दीश्वरद्वीपात्तत्रयचैत्यालयाश्रयामष्टाह्वीपर्वक्रियां निर्वर्त्यागच्छन्नसावमितप्रभो देवस्तं
विद्युत्प्रभमिभमवेद्याह्लादमानमानस. प्रयुज्यावधिमवबुद्धपूर्ववृत्तान्तः 'विद्युत्प्रभ, किं स्मरसि
जन्मान्तरोदन्तम्' इत्यभाषत् ।

विद्युत्प्रभ—'अमितप्रभ, वाढं स्मरामि । किंतु सकलत्रचारित्राधिष्ठानादनुष्ठानान्म-
मैवंविधः कर्मविपाकानुरोधः । तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृश । ये च मदीये समये
जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादयो महर्षयस्ते तपोविशेषादिहागत्य भवतोऽप्यभ्यधिका
भविष्यन्ति । ततो न विस्मेतव्यम्' ।

जटाधारी साधु बन गया । आतापन योगके समाप्त होनेपर धन्वन्तरि मुनि उसे समझाने गये ।
बोले—'मेरे प्रेमरूपी पथिकके विश्राम करनेके लिए उद्यानके तुल्य विश्वानुलोम ! जैन धर्मकी मर्या-
दाको न जानकर, बिना कारण क्रोध करके तुम क्यों कुमार्गगामी हो गये हो ? चलो इस कुमार्गको
छोड़ो, दोनों साथ ही तपस्या करेंगे ।' इस प्रकार बार-बार कहनेपर भी विलावके बच्चेके शब्दसे
डरे हुए पक्षी शावककी तरह सूक रहकर वह मौनका ढोंग बनाये रहा और चलनीमें दूधकी तरह
उसके मनमें धन्वन्तरिका सदुपदेश नहीं ठहर सका । तब धन्वन्तरि उसे समझानेमें अपनेको असमर्थ
जानकर गुरुके पादमूलमें लौट आये और आगमानुसार उत्कृष्ट चारित्रिका पालन करते हुए शरीर
त्यागकर देवागनाओंके मंगलगानसे मुखरित सोलहवें स्वर्गमें अमितप्रभ नामक देव हुए । वहाँ देव
समाजने उनके महातपकी बड़ी प्रशंसा की ।

विश्वानुलोम भी मरकर विजय नामक व्यन्तरकी गजसेनामें विद्युत्प्रभ नामसे वाहन
जातिका देव हुआ । एक बार अष्टाह्विका पर्वमें अमितप्रभ देव इन्द्रादिक देवताओंके साथ
नन्दीश्वरदीपके चैत्यालयोंकी पूजा करके लौट रहा था । मार्गमें विद्युत्प्रभ नामके हाथीको देखकर
उसका मन बड़ा हर्षित हुआ और अवधिज्ञानसे पूर्व जन्मका सब वृत्तान्त जानकर वह बोला—
'विद्युत्प्रभ ! क्या पूर्व जन्मका वृत्तान्त याद है ?'

विद्युत्प्रभ बोला—'अमितप्रभ, हाँ, खूब याद है । किन्तु सपत्नीक चारित्रिका पालन
करनेसे मेरा कर्मोदय ऐसा हुआ और ब्रह्मचर्यके कारण कायक्लेश उठानेसे तेरा कर्मोदय ऐसा
हुआ । किन्तु मेरे समयके जो जमदग्नि, मतङ्ग, पिङ्गल, कपिञ्जल आदि महर्षि हैं वे तपस्याके

मे शरीरसंवाप इति पृथिवीगिरम् । ततश्च 'यदीव यतमहमद्य मामप्रीपम्, तवेमां मातरमिव च मियकलत्रमसशयं' विश्वस्येह पुरपषाद्वरजसाममुष च पुरस्तेनसां भागी भवेयम् इति आतन्विष्व' सर्वमपि ज्वातिलोक यथायथ मनोरघोस्तेकमवस्थाप्य 'यत्रैव देशे पुरप्या-
दोपहतं चेतस्तथैव देशे समाधीयमाणमाचरण न भयति निरपयादम् इति प्रकाशितोपदे-
शस्य तस्य भगवतो निवेशाद्वरणिभूषणभूषणोपकण्ठे तपस्थत' कान्तारवेवतायिहितसपर्या-
द्वरधर्माध्यायान्तुरसुन्दरोच्छाद्यिपसां वीशामादाय विदितवेदितभ्यसंप्रदायः सध्वन्यरे-
स्तन्वाभ्यरितोपात्तपलाशिमालायामेतद्वक्षसमेखलायामातापनयोगस्थितोऽमघरतप्रवर्धमाना
भ्यास्मभ्यामाधम्यनिरतः 'किमयं कर्करोत्कीण', किं वास्मादेव पर्वताभिरुद्ध इति
वितर्काम्यर्षो वमुष ।

सजातसुहृत्समाजोक्नकामो विश्वानुलोमोऽपि तत्परिजनात्परिज्ञातैतत्प्रमज्जन-
भ्यतिकर 'मित्रधेयस्य धन्वन्तरिणां गतिः सा ममापि इति प्रतिज्ञाप्रवरस्तत्रागत्य जैनजन-
समयस्थितिस्मयवुध्यमान 'ह'हो मनोरहस्य ययस्य, चिराग्मिषितोऽसि । किमिति न मे
गाढास्मृर्पाकीं वदसि, किमिति न कम्ममाकापयसि, किमिति न साधर धौर्तामापूष्यस-
इत्यादि बहु सप्रभयमामास्य निजनिधमानुष्ठानैकतानमनसि निरागसि धन्वन्तरियतीक्ष्णरे-
प्रदप्य सविधाशिवताति प्रापुर्मवक्ष्यतीतिभू तत्प्रणीयधरविधरस्तमीपसमुत्पादितोदभैस्य
सहस्रमदस्य अठिना मिष्टे शतशतोऽप्रमिष्ट ।

माम्यबध उसी समय उसने पत्नीकी आवाज सुनी, जो कह रही थी—माता ! 'अरे दूर हटा, मुझे
कष्ट हो रहा है ।' सब धन्वन्तरि सोचने लगा—'यदि मैंने यह कृत न किया होता तो आब
अवश्य ही माता और पत्नीको मारकर इस झोकमें गिराफा और परलोकमें मारी पापका मागी
होता ।' यह सोचते ही उसे बैराग्य हो गया । तब सब परिवारके लोगोंके मन्त्रों जैसे-जैसे सान्त्वना
देकर उसने बिन दीक्षा छेनेका विचार किया । आचार्यने कहा कि जिस देशमें अपनी बदनामी हो
उस देशमें धारण किया हुआ आचरण निरपवाद नहीं रहता । अत आचार्यकी आज्ञास धरणि-
भूषण नामके पर्वतके समीपमें तपस्या करनेवाले श्रीधर्माचार्यके पास जाकर उसने बिनदीक्षा धारण
कर ली । आन्नाबकी जानने योग्य सब बातोंको जानकर धन्वन्तरि मुनि उसी पहाड़की उफसकमें
आतापन योगसे स्थित होकर आरमध्यानमें डीन ॥ गये । उन्हें देखकर यह सन्देह होता था क्या
यह इसी पर्वतसे निकला है या पत्थरमें उकेरी गई कोई आकृति है ?

एक दिन विश्वानुलोम अपने मित्र धन्वन्तरिसे मिछनेकी उत्कण्ठाके साथ उसके घर गया ।
और वहाँ उसे धन्वन्तरिके कुटुम्बिकोंसे उसके दीक्षा छेनेका सब समाचार ज्ञात हुआ । 'मरे मित्र
धन्वन्तरिकी ओ दया हुई बड़ी मेरी भी हो' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह धन्वन्तरिके पास आया और
जैन मुनिके आचारकी न आनता हुआ कहने लगा—'अरे प्रिय मित्र ! बहुत दिनोंके बाद मिले
ह । क्यों नहीं मुझसे गळ मिलते ? क्यों मुझसे बात नहीं करते ? क्यों आवरके साथ मेरे कुल-
समाचार नहीं पूछते ?' इस प्रकार वह प्रेमसे बोलनेपर भी धन्वन्तरि मुनि आरमध्यानमें डीन रहे ।
इससे रुष्ट होकर विश्वानुलोम उसी पहाड़के समीप एक कुटीमें रहनेवाले जटाधारी साधुके निष्ठ

मलितचान् । अमरचरौ 'विकिरावप्युद्गीय तदग्रविटपिनि संनिविश्य पुनरपि तं तापसम-
वलोलहलालापौ' निकाममुपजहसतुः । तापसः साध्वसचिस्मयोपसृतमानस 'नैतौ खलु
पक्षिणौ भवतः । किं तु रूपान्तरावुमामहेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ । तदुपगम्य प्रणम्य च
पृच्छामि तावदात्मन' पापकर्मत्वकारणम् ।

अहो मत्पूर्वपुण्यसंपादितावलोकनदिव्यद्विजोत्तमान्वयसंभवसदनपतङ्गमिथुन, कथयतां
भवन्तौ कथमहं पापकर्मा' इति ।

पतत्रिणौ—'तपस्विन्, आकर्ण्य ।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च ।

तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुकः ॥१५२॥

तथा—

^३अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रोत्पाद्य युक्तिः ।

इष्ट्वा यज्ञैर्यथाकालं ततः प्रव्रजितो भवेत् ॥१५३॥

इति स्मृतिकारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य तपस्यसि' इति ।

'कथं तर्हि मे शुभाः परलोकाः' ।

'परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन' ।

'किमत्र दुष्करम्' इत्यभिधाय मातुलस्य विजयामहादेवीपतेरिन्द्रपुरैश्वर्यभाज.

काशीराजस्य भूभुजो भवनभागभूत्वा तद्दुहितरं रेणुकां परिणीयाविरलकलापोलपालंकृत-
पुलिनासराले मन्दाकिनीकूले महदाश्रमपदं संपाद्य परशुरामपिताऽभूत् ।

लिए दोनों हाथोंसे अपने सिरको मसला । दोनों पक्षी भी तत्काल उड़कर उसके सामने वाले
वृक्षपर जा बैठे, और मीठे शब्दोंमें उस तापसकी खूब हँसी करने लगे । यह देखकर तापसका
मन भय और आश्चर्यसे भर गया । वह सोचने लगा—'ये दोनों पक्षी नहीं हैं किन्तु रूप बदले
हुए शिव और पार्वतीके समान कोई देवता हैं अतः इनके पास जाकर और प्रणाम करके अपने
पापी होनेका कारण पूछूँ ।'

यह सोच उनके पास जाकर वह बोला—'दिव्य द्विजश्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न पक्षियुगल ! मेरे
पूर्व सचित पुण्यसे ही आपका दर्शन हुआ है । बतलाइए । मैं कैसे पापी हूँ ।'

पक्षी बोले—'सुनो तपस्वी—स्मृतिकारोंका कथन है कि—बिना पुत्रके मनुष्यकी गति नहीं
होती और स्वर्ग तो मिलता ही नहीं है । इसलिए पुत्रका मुख देखकर पीछे भिक्षुक होना चाहिए ।
तथा—विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके, धर्मपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके और शक्तिके अनुसार
यज्ञ करके फिर साधु होना चाहिए । ॥१५२-१५३॥

किन्तु तुम स्मृतिकारके इस कथनको प्रमाण न मानकर तपस्या करते हो ।'

'तो मेरा परलोक कैसे शुभ हो सकता है ?'

'विवाह करके औरस पुत्र उत्पन्न करनेसे ।'

'यह क्या कठिन है'—ऐसा कहकर जमदग्नि ऋषिने विजया महादेवीके पति, इन्द्रपुरके
समान ऐश्वर्यके भोगी अपने मामा काशीराजके महलमें जाकर उनकी लड़की रेणुकासे विवाह कर

१ पक्षिणौ । २ व्यक्तस्वरौ । ३ 'अधीत्य । इष्ट्वा च शक्तिनो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥'
—मनुस्मृति ६-३६ ।

अमितप्रभः—‘विद्युत्प्रभ, समस्यपि न मुञ्चसि दुराग्रहम् । तवेहि । तव मम च लोकस्य परीक्षायहे चित्तम्’ इति विहितयिषाणीं तौ द्वायपि देवी **करहाट** देशस्य पश्चिम-दिग्मागमाभित्य कोष्पपीतलमयतेरतु ।

तत्र च यनेचरसैन्यसौमन्याग्रत्ये तद्विकटदण्डकारण्ययने सैमित्कुशकुशारायप्रक्रमे बद्धरिकायमे यद्वलकालकृतकृष्णतपसं जम्बुधेण्डमरीचिद्यधिपानपरायणमनसमूर्ध्वबाहुमेक-पादायस्यामाग्रहाराहुमनस्योद्भसत्पद्मवाधिरलक्ष्मीगुन्मयस्त्रीकायद्वयवपुषमतिर्बृहद्वृक्षतास्तु धाघयसितशिराश्मभुजटाञ्जालस्वियमुये कश्यपस्य शिष्यं जम्बुधिमवलोक्य पत्रैरधमिधुमकयो-चित्तास्तेषां वेषं विरचय्य तत्कृष्णकुलायकुटीरकोटरे निषिषी ‘कान्ते, काञ्चनाचलमूलमेवखाया-मरोपशकुन्तर्षकयतिमो येनतेयस्य वातराजसुतया मयूनकम्बुक्षीनामया सह महाम्पिवाहोत्सवो वर्तते । तत्र मयावश्यं गन्तव्यम् । त्वं तु सखि, समासन्नप्रसवसमया सती सह न शक्यसे नेतुम् । अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरमकाललोपमगमिष्यामि । यथा चाहं तत्र विरं नायस्यास्ये तथा भक्तुः पितृभ्योपरि महात्मा शयथा’ । किं च बहुनीजेन । यद्यहमन्यथा वदामि तदास्य पापकर्मजस्तपस्यिनो दुरितमाणी स्याम्’ इत्यालापं अकृतु ।

तं च जम्बुधिमं कर्णकद्वुमात्मापमाकर्ण्य ग्रहद्वयोः कराम्यां तत्कव्यंनार्थं कृत्

प्रभाषते यहाँ जाकर तुमसे भी बड़ा देव होगे । इसलिये मुझ देवकर मुझे आरक्ष्य नहीं करना चाहिये ।’

अमितप्रभ बोळ—‘विद्युत्प्रभ ! जब भी अपने दुराग्रहका नहीं छोड़ते हो तो जाओ हम दोनों अपने-अपने धर्मसाधकों के चित्त की परीक्षा करें ।’

इस प्रकार परस्परमें झगड़ते हुए वे दोनों देव करहाट देशकी परिचम विद्यामें पृथ्वीपर उतरे । वहाँ दण्डकारण्य बनमें समिधा, कुश और कमलसे भरे हुए बद्धरिकायमें उन्होंने बहुत काकसे कठोर तपस्या करते हुए कश्यप ऋषिके शिष्य जम्बुधिमको देला । वे जम्बुधिम ऋषि चन्द्र और सूर्य दोनोंकी किरणोंका पान करनेमें उत्तर थे । उनके दोनों हाथ उत्तर उठे हुए थे, वे एक पैरसे खड़े थे । उनके चारों ओर उगी हुई घनी लता झाड़ी और वामियोंने उनका शरीरको ढक दिया था, और बहुत बूझ हो बानेके कारण उनका सिर और दाढ़ी मूँसेके बांध बूनेकी तरह सफेद हो गये थे । उन्हें देवकर उन दोनों देवसाधोंने पक्षियोंके जोड़का रूप बनाया और उनकी अङ्गुलीमें घोसल बनाकर रहने लगे ।

एक दिन पक्षी बोळ—‘मिये ! सुवर्णगिरिकी उत्पत्त्यक्रमे समस्त पक्षीकुलके सम्राट् गरुडराजका वातराजकी सुता मयूनकम्बुक्षीक साथ महान् विवाहोत्सव हो रहा है । उसमें मुझे अवश्य जाना है । तुम्हारा प्रसन्नकाळ समीप है इसलिये तुम्हें मैं अपने साथ नहीं ले जा सकता । विवाहोत्सवके बाद श्रुत ही मैं लौट आऊँगा । मैं अपने माता-पिताकी खपय करता हूँ कि मैं वहाँ बहुत समय तक नहीं ठहरूँगा । अधिक क्या कहूँ, यदि झूठ बोहूँ तो इस पापी तपस्वीके पापका भागी मैं होऊँ ।’

इस अभिय नासके सुनते ही जम्बुधिमिन्द्र जोष मड़क उठा और उसने पक्षियोंको मारनेके

विहितविघ्नावपि तमेकाग्रभावाभ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणवहि करणेहितं शर्महर्म्यनिर्माण-
कर्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्धर्मध्यानाच्चालयितु न शेकतु ।

संजाते च खरकिरणविरोकनिकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहतोप-
सर्गवर्गौ प्रकामप्रसन्नसर्गौ तैस्तैर्महाभोगाचितैः प्रणयोदितैराश्लाघ्य तस्मै जिनदत्ताय
विहायोविहाराय पञ्चत्रिंशद्वर्णानवधां विद्यां वितेरतु । इयं हि विद्या तवास्मदनुग्रहादम्बर-
विहारायासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति ।

जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतनालोकनकुतूहलिताशयः समाचरि-
तामरानुवर्तनसमयस्तां विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखिलनिलिम्पाचलचै-
त्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुष्पवटवे प्रादात् ।

पुनरप्यमितप्रभ विद्युत्प्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवार्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्तं स्व-
भावादेव च स्थिरमतिरशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च । तदत्र महदप्यपकृतं कुलिशे घुणकीट-
चेष्टितमिव न भवति समर्थम् । अतोऽन्यमेव कञ्चनाभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यं निकृपाव'
इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेताभ्यां मगधमण्डलमण्डनसनाथो मिथिलापुरीनाथ पद्मरथो
नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीधरवृत्तादेहायां कालगुहाया निवासरसमनसो दीप्त-
तपसो निःशेषानिमिषपरिपन्निपेव्यमाणाचरणचातुर्यात्सुधर्माचार्यात्तदङ्गाद्भुतप्रभाप्रभावदर्शने-

लिप रातभर दोनोने विन किये, किन्तु एकाग्रताके अभ्याससे अपने मनको वशमें कर लेनेवाले
उस जिनदत्त श्रावकको वे सुखका महल बनानेवाले कर्म परमाणुओंके बन्धमें कारणभूत धर्म-
ध्यानसे विचलित नहीं कर सके ।

इतनेमें प्रभात हो गया, सूरजकी किरणोंके प्रकाशसे अन्धकार दूर हो गया । तब उन्होंने
अपने उपसर्गोंको समेट लिया और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए भाग्यशालियोंके योग्य प्रेम-
भरे वचनोंसे जिनदत्तकी प्रशंसा करके उसे आकाशमें विहार करनेके लिए पैतृस अक्षरोंकी एक
निर्दोष विद्या प्रदान की । और कहा—‘यह विद्या बिना साधे ही हमारे प्रभावसे तुम्हें आकाशमें
विहार करा सकेगी और दूसरोंको अमुक विधिसे सिद्ध करनेपर विहार करा सकेगी ।’

जिनदत्तका मन भी कुलाचलोंपर स्थित जिनालयोंके दर्शनके लिए आकुल था । अतः
उसने देवताओंके कहे अनुसार उस विद्याको ग्रहण करके सब कुलाचलोंपर स्थित चैत्यालयोंका
दर्शन किया और फिर वह विद्या उन चैत्यालयोंके दर्शनके लिए उत्सुक, जिनेन्द्र देवके परम
भक्त धरसेनको दे दी ।

फिर अमितप्रभ विद्युत्प्रभसे बोला—‘विद्युत्प्रभ । इस जिनदत्तका चित्त अर्हन्त भगवान्के
द्वारा कहे गये वस्तु तत्त्वके विषयमें बहुत दृढ़ है तथा यह स्वभावसे ही स्थिर बुद्धि और समस्त
उपसर्गोंको सहन करनेवाला है । इसलिए जैसे घुनके कीड़े वज्रमें कुछ भी नहीं कर सकते वैसे ही
क्रितना भी अपकार इसका कुछ भी बिगाड़नेमें समर्थ नहीं है । अत आओ जैन धर्मके किसी
नये उपासककी परीक्षा करें ।’ ऐसा विचार कर दोनों वहाँसे चल दिये और मगध देशके मण्डन
स्वरूप मिथिलापुरीमें पहुँचे । मिथिलापुरीका राजा पद्मरथ था । एक दिन वह राजा अपने नगरके
निकटवर्ती पहाड़की भयानक गुफामें रहनेवाले, महातपस्वी, समस्त देवोंसे सेवनीय और आच-

१ रश्मि । २ अभिप्रायी । ३ दत्तवन्तो । ४ पचापि, मेरु । ५ वज्रे । ६ परीक्षावहे ।
७. पद्मरथराजा दृष्ट ।

भयति घ्रात्र श्लोकाः—

अनास्तापनिहीनस्य वृथा प्रतप्तमुद्यमः ।

पुंसः स्वभावमीरोः स्वाद्य शौर्यामायुषमहः ॥१५४॥

इत्युपासकभ्ययने अमदमितप्राप्त्यवसादगो नाम पञ्चमः कल्पः ।

पुनस्ती जिह्वा मगधवेशेषु कुशाग्रमगरोपान्तापातिनि पितृयने कृष्णचतुर्दशी निशि निशाप्रतिमाशययश्मेकाकिन अिनद्वसनामानमुपासकप्रयच्छोष्य साक्षपम् 'भरे दुराचाराचरणमस्ते निराकृते अविदितपरमपद् मनुष्यापस्त, शीघ्रमिमामूर्ध्वशोर्ष शुक्लस्याणुसमा प्रेतिमां परित्यज्य पत्न्यास्य । न श्रेयस्करं पतु तवावापसरं पश्याय' । यस्मादाद्या ह्येतस्या परेतपुरभूयस्या भूमे पिशाचपरमेश्वरी । तद्वत्तमत्र काष्ठप्याक्षावलीकनकरप्रस्थानेन । मा हि कार्पीरस्तपयोत्कर्ष'मायमनुष्यस्वच्छस्व केलिशुद्धकवहसाम्त'करप्पसखयोरावयोः इत्युक्तमपि प्रकामप्रणिधानोपुत्तमवेक्ष्य व्यक्तः कीर्त्तनाकाशुरनिकायकायाकारधोरक्षमप्रस्मराहम्बरप्रयमप्रारम्भाद्यै' प्रचण्डतडिहृष्टचंर-होष्ण'च्छ्वसदोहपुंसहे' निगसीमसमीरासरारुखसुत्कारसारप्रसत्प्रपथै कराक्षयेतासुख-काहलकोबाह्वातुक्कैरन्यसामान्यैरन्यैश्च 'परिसूहीतगृहदाहयान्धयधनविज्यंसानुवन्धै' प्रत्युद्भवन्धै' 'सद्यःसमीस्तच्छरमवर्त्तनैश्च निशेषामन्यु'पामन्यात्मसमाधिनिरोधनिभी' ।

जिमा और तृण कटा वगैरहसे सुझोमित गंगाके तटपर एक बड़ा आश्रम स्थापित करके परशुरामके पिता बन गये ।

ऐसे ही लोगोंके छिप छिपीने कहा है—

'आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्यका आचरणका प्रयास व्यर्थ है । ठीक ही है जो मनुष्य स्वभावसे ही धरयोक्त है, सस्त्र शस्त्र करनेसे उसमें क्षौर्य नहीं आ जाता ॥१५४॥

फिर वे दोनों देव मगध देशके कुशाग्र नगरके निकटवर्ती स्मृष्टानमें पहुँचे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिका समय था । शिवरूप नामका एक सैन आकर अनेक रात्रिमें प्रतिमा योगसे स्थित था । उसे देखकर वे दोनों देव तिरस्कारपूर्वक बोले—'अरे दुराचारी, विरूप, परमपदसे अन-जान नीच मनुष्य । शीघ्र ही इस सूखे ठूँठके समान प्रतिमायोगको छोड़कर भाग जा । तेरा यहाँ ठहरना ठीक नहीं है क्योंकि हम दोनों इस स्मृष्टान भूमिके पिताजोंके स्वामी हैं । हम दोनोंका अन्त-करण अति स्वच्छन्द होकर लीड़ा करनेके छिप आतुर हैं । इसमें बाधा मत डालो ।'

इस प्रकार कहनेपर भी उसे आत्मज्वागमें तल्लीन देखकर उस दोनोंने विज्र करना प्रारम्भ किया । अमराजके समान भयंकर काँसे-काँसे मेघ उमड़ आये बिजलीका गर्जकर गर्जन-सर्जन होने लगा, जेरकी हवा सर-सर करती हुई बहने लगी, अयामक वेतालोंकी आवाजके जैसे आवाजें होने लगी अब इससे भी बड़ बिचलित नहीं हुआ तो उसका गृह-दाह कपु-मानवों और घनादिका विनाश होसा हुआ उसे दिखाया गया । अब इससे भी बिचलित नहीं हुआ तो बड़े आदरके साथ उसे अनेक वरदान दिये गये । इस प्रकार उसकी समाधिको भंग करनेके

१ राजवृह । २ निकट आहतिप्रथम् । ३ कामरुत्तमम् । ४ महात्मा । ५ शिविकरणेन ।

६—कर्त्तव्य—अ व मु बा । ७ व्यागस्वम् । ८ सामस्त्यत । ९ यम । १ मद्रि ।

११ विज्रस्वम् । १२ रात्रि । १३ तत्परी ।

विहितविघ्नावपि तमेकाग्रभावाभ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणवहिकरणेहितं शर्महर्म्यनिर्माण-
कार्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्धर्मध्यानाच्चालयितुं न शक्नुः ।

संजाते च खरकिरणविरोकनिकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहतोप-
सर्गवर्गौ प्रकामप्रसन्नसर्गौ तैस्तेर्महाभोगाचितैः प्रणयोदितैराश्रय्य तस्मै जिनदत्ताय
विहारयोविहाराय पञ्चविंशद्वर्णानवद्यां विद्यां वितेरुत^१ । इयं हि विद्या तवास्मदनुग्रहादम्बर-
विहारायासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति ।

जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतनालोकनकुतूहलिताशय समाचरि-
तामरानुवर्तनसमयस्तां विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखिलनिलिम्पीचलचै-
त्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुष्पवटवे प्रादात् ।

पुनरप्यमितप्रभ. 'विद्युत्प्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवार्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्त' स्व-
भावादेव च स्थिरमतिरशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च । तदत्र महदप्यपकृतं कुंलिशे धुणकीट-
चेष्टितमिव न भवति समर्थम् । अतोऽन्यमेव कञ्चनभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यं निर्वृत्ताव^२
इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेताभ्या मगधमण्डलमण्डनसनाथो मिथिलापुरीनाथ पद्मरथो
नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीधरवृत्तदेहायां कालगुहायां निवासरसमनसो दीप्त-
तपसो निःशेषानिमिषपरिपन्निपेक्ष्यमाणाचरणचातुर्यात्सुधर्माचार्यात्तदङ्गाद्भुतप्रभाप्रभावदर्शनो-

लिए रातभर दोनोंने विघ्न किये, किन्तु एकाग्रताके अभ्याससे अपने मनको बशमें कर लेनेवाले
उस जिनदत्त श्रावकको वे सुखका महल बनानेवाले कर्म परमाणुओंके बन्धमे कारणभूत धर्म-
ध्यानसे विचलित नहीं कर सके ।

इतनेमें प्रभात हो गया, सूरजकी किरणोंके प्रकाशसे अन्धकार दूर हो गया । तब उन्होंने
अपने उपसर्गोंको समेट लिया और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए भाग्यशालियोंके योग्य प्रेम-
भरे वचनोंसे जिनदत्तकी प्रशंसा करके उसे आकाशमें विहार करनेके लिए पैतीस अक्षरोंकी एक
निर्दोष विद्या प्रदान की । और कहा—'यह विद्या बिना साधे ही हमारे प्रभावसे तुम्हें आकाशमें
विहार करा सकेगी और दूसरोंको अमुक विधिसे सिद्ध करनेपर विहार करा सकेगी ।'

जिनदत्तका मन भी कुलाचलोंपर स्थित जिनालयोंके दर्शनके लिए आकुल था । अतः
उसने देवताओंके कहे अनुसार उस विद्याको ग्रहण करके सब कुलाचलोंपर स्थित चैत्यालयोंका
दर्शन किया और फिर वह विद्या उन चैत्यालयोंके दर्शनके लिए उत्सुक, जिनेन्द्र देवके परम
भक्त धरसेनको दे दी ।

फिर अमितप्रभ विद्युत्प्रभसे बोला—'विद्युत्प्रभ ! इस जिनदत्तका चित्त अर्हन्त भगवान्के
द्वारा कहे गये वस्तु तत्त्वके विषयमें बहुत दृढ़ है तथा यह स्वभावसे ही स्थिर बुद्धि और समस्त
उपसर्गोंको सहन करनेवाला है । इसलिए जैसे घुनके कीड़े वज्रमें कुछ भी नहीं कर सकते वैसे ही
कितना भी अपकार इसका कुछ भी बिगाड़नेमें समर्थ नहीं है । अतः आओ जैन धर्मके किसी
नये उपासककी परीक्षा करें ।' ऐसा विचार कर दोनों वहाँसे चल दिये और मगध देशके मण्डन
स्वरूप मिथिलापुरीमें पहुँचे । मिथिलापुरीका राजा पद्मरथ था । एक दिन वह राजा अपने नगरके
निकटवर्ती पहाड़की भयानक गुफामें रहनेवाले, महातपस्वी, समस्त देवोंसे सेवनीय और आच-

१ रश्मि । २ अभिप्रायी । ३ दत्तवन्ती । ४ पचापि. मेरु । ५ वज्रे । ६ परीक्षावहे ।
७ पद्मरथराजा दृष्ट ।

भवति चात्र श्लोका—

अन्तस्तत्त्वविहीनस्य भूषा प्रतप्तमुषमः ।

पुंसः स्वभाषमीरोः स्वाध शौर्यायामुषमहः ॥१५४॥

इत्युपासकान्धनयने अमदमितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

पुनस्ती श्रिदशी मगधदेशेषु कुशोप्रमगरोपास्तापातिनि पितृवने कृष्णसतुर्दशी निशि निशाप्रतिमाशययशमेकाकिम जिनयुत्तनामाममुपासकमयकोष्य ताक्षपम् 'अरे दुराचाराचरचमते निराहते अपिदितपरमपद मनुष्यापमम्, शीघ्रमिमामूर्त्यशोपं शुक्रस्याणुसमां प्रतिमां परित्यज्य पत्न्यायस्य । न श्रेयस्करं खलु तयाभावसरं पश्याव । यस्मादाया ह्येतस्या परेतपुरभूयस्या भूमे पिशाचपरमेष्ठयी । तद्वत्तमत्र कालव्यासावलोकात्करप्रस्थानेन । मा हि कार्पीरन्तरायोत्कर्षमायमनुष्णस्वच्छम् केसिपुतुहसवहसाम् करप्रसवयोरारवयोः इत्युत्तमपि प्रकामप्रमिर्मानोपुत्तमयेत्य म्भक्तः कीनेशकोशुरनिक्षायकायाकारघोरघ्नमयस्मरारम्भमयमप्रारम्भायहे प्रथण्डतजिह्वसंघ- ह्योष्णमयप्रसवोद्वुस्तहे निखीमसमीरासरालसुत्कारसारमसप्रकलै करालयेतालकुल- काहलकोसाहलालुकुलैरम्यसामान्यैरम्यैश्च 'परिरुहीतगृहवाहवाधधमयिभ्यंसातुषमै प्रत्युद्भवम्यै' सवहुमानैस्तच्छरप्रवानैश्च निजोपामप्युपामभ्यात्मसमाधिनिरोधनिजौ ।

क्रिया और तृण उठा बगैरहसे सुशोभित गंगाके तटपर एक बड़ा आभम स्थापित करके मधुरामके पिता जन गये ।

ऐसे ही लोगोंके छिप किसीने कहा है—

'आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्यका प्रताचरणका प्रयास व्यर्थ है । ठीक ही है जो मनुष्य स्वभावसे ही बरपाफ है, अस्त्र ग्रहण करनेसे उसमें शौर्य नहीं आ जाता ॥१५४॥

फिर वे दोनों देव मगध देशके कुशाम नगरके निकटस्थी स्मृष्टानमें पहुँचे । कृष्णकृष्णी चतुर्दशीकी रात्रिका समय था । अिनदत्त नामका एक बैन आषक अकेल रात्रिमें प्रतिमा बोगसे स्थित था । उसे देखकर वे दोनों देव विस्कारपूर्वक बोले—'अरे दुराचारी, बिरूप, परमपदसे अन- जान नीच मनुष्य । शीघ्र ही इस सुले टूँठके समान प्रतिमाबोगको छोड़कर भाग जा । तारा यहाँ ठहरना ठीक नहीं है क्योंकि हम दोनों इस स्मृष्टान मृत्तिके पिशाचोंके स्वामी हैं । हम दोनोंका अन्त करण अति स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करनेके छिप जातुर हैं । इसमें बाधा मत डाले ।'

इस प्रकार कहनेपर भी उसे आत्मज्ञानमें लक्ष्मीन देखकर उस दोनोंने बिज करना प्रारम्भ किया । भमराजके समान भयकर काके-काके भेघ उमड़ आये बिभ्रकीका मयंकर गर्जन- सर्जन हाने लगा, औरफी हवा सर-सर करती हुई कहने लगी, मयानक वेतालोंकी आवायके जैसी आवाजें हाने लगी अब इससे भी बड़ बिभ्रक्ति नहीं हुआ तो उसका गुह-दाह, कपु-बान्धवों और भगवदिकका विनाश होता हुआ उसे दिखाया गया । अब इससे भी बिभ्रक्ति नहीं हुआ तो बड़े आदरके साथ उसे अनेक परवान दिये गये । इस प्रकार उसकी समाधिको भंग करनेके

१ रावगृह । २ निहृष्टा बाहुतिमस्य । ३ कायोत्सर्गम् । ४ महत्या । ५ स्मृष्टिकरणेन ।

६—कपीमात्र—अ वा यु वा । ७ व्यापस्वम् । ८ सामरस्यत । ९ वप । १ महिष ।

११ बिभ्रस्वती । १२ रात्रि । १३ तत्परी ।

इति निगीर्य, चितीर्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वशे सर्वरूपापहारोऽयं हारः, सकलसपत्नसंतानोच्छेद्यमिदमातोद्यं च प्रेषणं करिष्यतीति कृतसकैताभ्यां तद्वर्द्धयमभिमतावस्थानं स्थानं प्रास्थायि । त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसंकथ पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनुरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षा-मृतपात्रमजायत ।

भवति चात्र श्लोकः—

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् ।

उभो कामदुर्घो लोको कीर्तिश्चाल्यं जगत्त्रयम् ॥१५६॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनायस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम पष्ठः कल्पः ।

इतश्च संगमितसकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यतुच्छभूच्छ्रयावन्ध्ये पर्वदिवसर्वासते-योमध्ये सर्वतो यातुधानधावनप्रवर्धिनीषु स्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततद्वाराधनानुकूलमण्डलो न्यक्षासु^१ त्रिजु नित्तिसरक्षावल्लोऽवगण^२ कृतसकलीकरणो^३ भागधेयीविधानसमये बट-विटपात्रे^४ पतिवराकरकर्तितसूत्रसरसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्त-र्जल्पसंकल्पितमन्त्रवाक्य. सिक्क्यं निबध्य प्रवन्धना^५ धस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्रं वह्निर्विशिताष्टविधेष्टिसिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिर्वभूव ।

यह कहकर उसे एक हार और बाद्य दिया तथा कहा कि यह हार जैन धर्मका पालन करनेवाले तुम्हारे वशके सब रोगोंको हरेगा और यह बाद्य समस्त वैरियोंकी सन्तानका नाश करेगा । ऐसा कहकर वे दोनों देव अपने अभिमत स्थानको चले गये । देवोंके द्वारा प्रशंसित पद्मरथ भी वासुपूज्य स्वामीके समवशरणमे जाकर जिनदीक्षा धारण करके भगवान्का गणधर बन गया और अपनेको सम्पूर्ण रत्नत्रयसे अलंकृत करके मोक्षरूपी अमृतका पात्र हो गया ।

किसीने ठीक ही कहा है कि—

‘जो अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेमें उचित साहस दिखलाते हैं, इस लोक और परलोकमें वे इच्छित वस्तुको पाते हैं, तथा उनके यशसे तीनों लोक चलायमान हो जाते हैं ॥१५६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें जिनदत्त और राजा पद्मरथके प्रतिज्ञा निर्वाहके साहसको

वतलानेवाला छठा कल्प समाप्त हुआ ।

अब जिस धरसेनको जिनदत्तने देवोंके द्वारा दी गई आकाशगामिनी विद्या साधनेके लिए दी थी, उसकी कथा सुनिए ।

समस्त साधन सामग्रीको एकत्र करके धरसेन भी धने अन्धकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समयमें राक्षसोंके संचारसे व्याप्त स्मशान भूमिमें विद्या साधनेके लिए गया । वहाँ उसने विद्या-राधनके अनुकूल मण्डलकी रचना की, सब दिशाओंमें रक्षावल्लय स्थापित किये, फिर सकलीकरण क्रिया की, फिर बटके पेडके नीचे, अपने आसनसे समान अन्तरालपर, कन्याके हाथसे काते गये हजार धागोंसे बने हुए छीकेको, मन-ही-मन मन्त्रोच्चारण करते हुए बाँधा । फिर छीकेके नीचे सब तीक्ष्ण शस्त्रोंको स्थापित किया, जिनका मुँह ऊपरकी ओर था । फिर शास्त्रानुसार आठ प्रकारकी इष्टसिद्धिको स्थापित करके उस विद्याकी आराधनाके लिए तैयार हुआ ।

१ शत्रुकुल । २ बाद्यम् । ३ प्रेक्षण व० । ४ हारातोद्यद्वयम् । ५ कीर्तिश्चाल्य अ० ज० मु० । ६ एकीकृत । ७ तिमिर । ८ रात्रि । ९ राक्षस । १० सर्वासु । ११ एकाकी । १२ वलि । १३ कन्या । १४ प्रवन्वेना—आ० ।

पशान्ताशयः सम्यक्दर्शनमनुभवतामयमावाप तद्विषय एव तत्पुण्येष्टाभिधिताहंस्वरमेव
शरीरनिरतिशयप्रकाशमहिमं कृतनियमं सकलमुखनपतिस्त्वयामागुणगणोदेवं श्रीवासु-
पुण्यभगवन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रभवेनानुस्मृतुमुभिरथाकारितभिरवशेषपरिजनः समा-
सज्जैस्समस्तविधविशिष्टादृष्टैः ।

स च दृष्ट कदाचिदपि सुप्रोपद्रवादिप्रलयं^१ प्रारब्धम्^२ "पुरस्त्रोपान्त-पुरविन्वस-
यर्कपिनीमयमप्रसमप्रमैश्चलोजितपञ्चमपकयययौपलासारविषयतिभिर्जुर्देमशार्द्धोत्तराकृति
मिर्दिकृतिमिदपद्रोतुम् । तथाप्यविक्षितैतसमवसायं समखरं कुबेरं मायामयप्रतिषे-
स्ताथे" व्याप्ताविषयविगारामसगमे कर्ममे निमज्जयन्त्या ताभ्यां 'नमः' सुरासुरोपसर्ग-
संगसूत्रेभौमिधानमात्रमेवमाहात्म्यसाक्षात्प्राप्य श्रीवासुपुण्याय इति तत्र निमज्जतो
मूसृतो वचनमाकर्ण्य तत्रैषोक्तपौष्पिपचोपमनीपाप्रसराभ्यां ह्युपरिमुपितारोपविज्जघाति-
करान्यामाधरितसत्काराभ्याम् 'अहो नूतनस्य सम्यक्स्वरत्नस्याम्बुघटसमपथ पद्मरथ
नैतद्विजमत्र यत्संघो' सत्ताभ्यामविज्ञैरपि लोकेरसद्योपु मवाद्योपु न प्रभवन्ति प्रसेमैप्रसवा
सुप्रोपद्रवाः । यतः ।

एकपि^३ समवेवं विनमकिर्गुर्गति निवारयितुम् ।

पुरयानि च पुरस्थिं दातुं मुक्तिमिव इतिनः ॥१५५॥

रफमें प्रवीण श्रीसुधर्माचार्यके दर्शनोके छिप गया । उनके शरीरकी बहुतोत प्रभा और प्रभाव
देखकर उसका राग घान्त हो गया और उसने उनसे सम्यक्दर्शन पूर्वक अनुमत्त धारण कर लिये ।
उसी दिन उसने आचार्यके उपदेशसे बहन्त मगवान्के अतिशय गुप्त शरीरकी महिमाको समस्त
स्त्रिया और नियम कर समस्त मुक्तके स्वामी बिनके गुणोंका बलान करते हैं उन श्रीवासुपुण्य
भगवान्के दर्शनोके छिप कर दिया । बुन्दुमिके मधुर शब्दको सुनकर समस्त परिजन भी
साथ हो गये ।

दोनों देवताओंने उस राधाको बाठा हुआ देखा जो कभी भी धुद्र उपद्रवोंसे भी सदाया
नहीं गया था, और परीक्षा देनेके छिप विज करना प्रारम्भ कर दिया । मगर दाह, रनवासका
विनाश, सेमाका नाश, चोरकी हवा बलकर मेघोंके द्वारा फनोर बर्षा, उल्कापात आदिके द्वारा
तथा मर्मकर सिंहाकी आहूतियोंके द्वारा उपद्रव करनेपर भी जब पद्मरथ राधाका मन विचलित
नहीं किया जा सका तो उन दोनोंने चारों ओर मायामयी कीचड़ बनाकर राधा सहित हाथीको
उसमें डुबा दिया । डूबते हुए राधाके मुहसे निकल—'बिनके नाममात्रसे सुर और असुरोंके
द्वारा किये गये उपसर्ग दूर हो जाते हैं उन वासुपुण्य भगवान्को नमस्कार है ।'

यह श्रव्य सुनते ही उन दोनों देवोंको परम हर्ष हुआ, उन्होंने ध्रुव ही सब बिजोंको
दूर कर दिया और राधाका स्कार करते हुए बाल—'गये सम्यक्स्वर रूपी रत्नके आभय रूप
निष्कण पद्मरथ ! प्रविष्टा और साहसमें आपके समान कोई नहीं है, आप जैसे भोगोंपर बल
किये गये धुद्र उपद्रवोंका कोई प्रभाव नहीं हो सकता । क्योंकि 'अकेली एक विनमति ही
शानीके दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यका संभव करनेमें और मुक्ति रूपी स्वामीको देनेमें
समर्थ है ॥१५५॥

१ भूताभ्याम् । २ आनन्दमेष्टे । ३ तद्विषयविशेष—आ० । ४ अपराधम् । ५ नदरदाह ।
६ सेना । ७ वामु । ८ आत्मा । ९ अपावे । १० विनाशम् । ११ भावनाहा—आ । १२ प्रतिभा ।
१३ हठावुत्पत्ता । —अप्रभवता आ । १४ एकपि एकता विनयेवचनित्यां दुर्यतेवार्तिगुं हि वीर्यम् ।
आशीर्वादाद्यप्यपरं चरार्थं पुण्यं नर्तं पूरयितुं समर्था ॥१५॥—अपराधपरिह २२ सर्ग ।

इति निगीर्य, वितोर्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वशे सर्वरूपापहारोऽयं हारः, सकलसपत्नसंतानोच्छेद्यमिदमातोद्यं च प्रेषणं करिष्यतीति कृतसकेताभ्यां तद्वर्द्धयमभिमतवास्थानं स्थानं प्रास्थायि । त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसंकथ. पञ्चरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपट्टाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनुरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षा-मृतपात्रमजायत ।

भवति चात्र श्लोक —

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् ।

उभौ कामदुघौ लोको कीर्तिश्चाल्य जगत्त्रयम् ॥१५६॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम प४. कल्पः ।

इतश्च संगमितसकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यनुच्छिन्नभूच्छ्रियाचक्ष्ये पवदिवसर्वासते-योमध्ये सर्वतो यातुधानधावनप्रवर्धिनीषु स्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततदाराधनानुकूलमण्डलो न्यक्षासु^१ दिक्षु निक्षिप्तरक्षावल्लोऽवगण.^२ कृतसकलीकरणो^३ भागधेयीविधानसमये वट-विटपात्रे^४ पतिवराकरकतितसूत्रसरसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्त-र्जल्पसंकल्पितमन्त्रवाक्यं सिन्धुं निबध्य प्रवन्धना^५ धस्तादूर्ध्वमुखचिन्त्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्रं वह्निनिवेशिताष्टविधेष्टिसिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिर्विभूच ।

यह कहकर उसे एक हार और वाद्य दिया तथा कहा कि यह हार जैन धर्मका पालन करनेवाले तुम्हारे वशके सब रोगोंको हरेगा और यह वाद्य समस्त वैरियोंकी सन्तानका नाश करेगा । ऐसा कहकर वे दोनों देव अपने अभिमत स्थानको चले गये । देवोंके द्वारा प्रशंसित पद्मरथ भी वासुपूज्य स्वामीके समवशरणमें जाकर जिनदीक्षा धारण करके भगवान्का गणधर बन गया और अपनेको सम्पूर्ण रत्नत्रयसे अलंकृत करके मोक्षरूपी अमृतका पात्र हो गया ।

किसीने ठीक ही कहा है कि—

‘जो अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेमें उचित साहस दिखलाते हैं, इस लोक और परलोकमें वे इच्छित वस्तुको पाते हैं, तथा उनके यशसे तीनों लोक चलायमान हो जाते हैं ॥१५६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें जिनदत्त और राजा पद्मरथके प्रतिज्ञा निर्वाहके साहसको वतलानेवाला छठा कल्प समाप्त हुआ ।

अब जिस धरसेनको जिनदत्तने देवोंके द्वारा दी गई आकाशगामिनी विद्या साधनेके लिए दी थी, उसकी कथा सुनिए ।

समस्त साधन सामग्रीको एकत्र करके धरसेन भी घने अन्धकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समयमें राक्षसोंके संचारसे व्याप्त स्मशान भूमिमें विद्या साधनेके लिए गया । वहाँ उसने विद्या-राधनके अनुकूल मण्डलकी रचना की, सब दिशाओंमें रक्षावलय स्थापित किये, फिर सकलीकरण क्रिया की, फिर बटके पेडके नीचे, अपने आसनसे समान अन्तरालपर, कन्याके हाथसे काते गये हजार धागोंसे बने हुए छीकेको, मन-ही-मन मन्त्रोच्चारण करते हुए बाँधा । फिर छीकेके नीचे सब तीक्ष्ण शस्त्रोंको स्थापित किया, जिनका मुँह ऊपरकी ओर था । फिर शास्त्रानुसार आठ प्रकारकी इष्टसिद्धिको स्थापित करके उस विद्याकी आराधनाके लिए तैयार हुआ ।

१ शत्रुकुल । २ वाद्यम् । ३ प्रेक्षण व० । ४ हारातोद्यद्वयम् । ५ कीर्तिश्चाल्य अ० ज० मु० । ६ एकीकृत । ७ तिमिर । ८ रात्रि । ९ राक्षस । १० सर्वासु । ११ एकाकी । १२ वलि । १३ कन्या । १४ प्रवन्धना—आ० ।

पशान्ताशयः सम्यग्दर्शनमण्डपताभयभावाय तद्विषयस्य एव तदुपदेशाभिहितार्हत्परमेस्वर
शरीरनिर्गतिरूपमकारमहिमं कृतनियमं सकलमुखनपतिस्त्यमानगुणगणोपेक्षं श्रीवासु-
पूज्यमगपन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रमदैवावसुम्बरपुम्भुमिरयाकारितनिरवशोपपरिज्ञानं समा-
सर्जस्त्रमस्तविष्टविशिष्टाद्यप्येष्टम् ।

स य इष्टः कदाचिदपि कुप्योपद्रयादिप्रसङ्गं प्रारब्धम् पुरस्कोपास्त-पुरविभ्रस-
वर्कधिमिमधमप्रसमप्रमैश्चनोर्मितपर्जन्यपरुषयपोपलासाराविषयसतिभिर्बुद्धमशार्ककोत्तराकृति
भिर्बिकृतिमिरुपद्रोतम् । तथाप्यविषयसितचेतसमयसार्थं समरवरं कुञ्जरं मायामयप्रतिषे-
स्तापे^१ व्याताखिलविगारामसंगमे कर्तमे निमज्जपद्म्यां ताम्यां मन्त्रां सुवाद्युपोपसर्ग-
संगसुखेनाभिधानमात्रमन्त्रमाह्वारम्यसाध्यायाय श्रीवासुपूज्यम्^२ इति तत्र किमञ्जतो
मूढतो यद्यन्माकर्ष्य तदीयोत्कर्षोमिपसोपमनीयामसराभ्यां ह्युपरिमुपिताशेषविभ्रम्यति-
कराम्यामाचरितसत्काराम्याम्^३ अहो नूतनस्य सम्यक्त्वरत्नस्याप्युद्यतप्रपद्य पद्यस्य
नैतद्विषयमत्र पत्संप्रो^४ सस्थाभ्यामखिलैरपि कोकैरसद्योषु मवाद्योषु न प्रमथन्ति प्रसेमप्रसवा
कुप्योपद्रया । पत ।

एकपि^५ समर्थेयं विनमक्तिर्बुर्गति निवारयितुम् ।

पुरयानि च पुरस्ति दातुं मुक्तिमिव कतिनः ॥१५॥

रणमें प्रवीण श्रीसुवर्माचार्यके दर्शनोके लिख गया । उनके शरीरकी अवसुत प्रमा और प्रमा
देखकर उसका राग छान्त हो गया और उसने उनसे सम्यग्दर्शन पूर्वक अनुकूल बारण कर किये ।
उसी दिन उसने आचार्यके उपदेष्टसे जहान्त भगवान्के अतिशय युक्त शरीरकी महिमाको समझ
किया और नियम कर समस्त मुक्तके स्वामी बिकके गुणोंका बस्तान करते हैं उन श्रीवासुपूज्य
भगवान्के दर्शनोके लिख चक दिया । हुन्दुमिके मधुर शब्दको सुनकर समस्त परिजन भी
साज हो गये ।

दोनों देवताओंने उस राजाको आवा हुआ देखा जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवोंसे भी सतावा
नहीं गया था, और परीक्षा देनेके लिए विजय करना प्रारम्भ कर दिया । नगर दाह, रत्नासका
बिनाश, सेनाका नाश, नोरकी हवा चलाकर मेघोंके द्वारा बनधोर वर्षा, उल्कापात आदिके द्वारा
तथा मयंकर सिंहोंकी आकृष्टियोंके द्वारा उपद्रव करनेपर भी जब पद्मरत्न राजाका मन विचलित
नहीं किया जा सका तो उन दोनोंमें चारों ओर मायामयी कीचड़ बनाकर राजा सहित हाथीको
उसमें डुबा दिया । इन्होंने हुए राजाके मुस्ते निष्क्रम—‘जिनके माममात्रसे सुर और असुरोंके
द्वारा किये गये उपसर्ग दूर हो जाते हैं उन वासुपूज्य भगवान्को नमस्कार है ।’

बह शब्द सुनते ही उन दोनों देवोंको परम हर्ष हुआ, उन्होंने सुरन्त ही सब किजोंको
दूर कर दिया और राजाका उत्कार करते हुए बोले—‘नये सम्यक्त्वरूपी रत्नके आभय रूप
निष्क्रम पद्मरत्न । प्रतिष्ठा और साहसमें आपके समाग कोई नहीं है, आप जैसे लोगोपर कबाल
किये गये क्षुद्र उपद्रवोंका कोई प्रभाव नहीं हो सकता । क्योंकि ‘बकेली एक किम-मक्ति ही
शानीके दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यका संघय करनेमें और मुक्ति रूपी स्वामीको देनेमें
समर्थ है ॥१५॥

१ वृत्तान्तम् । २ जानम्येसी । ३ सकलविह्वलिविह—जा । ४ अपराधम् । ५ नगरदाह ।

६ सेना । ७ वायु । ८ अस्त्रा । ९ अवाधे । १० विनाशन । ११ नगरमाहा—जा । १२ प्रतिष्ठा ।

१३ हकावृत्तमा—अप्रमत्ता जा । १४ एकाग्र धमता किलदेवभित्तनी इतिवार्तयितुं हि वीर्याम् ।

माओदितरसीक्यपरं पदार्थं पुण्यं त्वं पूरयितुं समर्था ॥१८॥—अपराधवर्ति १२ अर्थ ।

धरसेन.—‘कल्याणवन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पवट्टनियोगसं-
वन्धोऽहमेतदुपदेशादाकाशविहारव्यवहारनिपद्या चिदां सिसाधयिपुरत्राय्याशिपम् ।’

अञ्जनचोर.—‘कथमियं साध्यते ।’

धरसेन.—कथयामि । पूजोपचारनिपेक्षये^१ ऽस्मिन्नि शङ्खमुपविश्य चिदामिमामकुण्ठकण्ठं^३
पठन्नेकैक शरप्रवेकं स्वच्छुधीद्विष्ट्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते ।

‘यद्येवमपसरापसर । त्वं हि तलोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसंजातभीतमतिर्न खलु
भवस्यैतत्साधने यक्षोपवीतदर्शनेनार्थावर्जनकृतार्थः समर्थः । तत्कथय मे यथार्थ-
वाददृष्ट्यां चिदाम् । एना साधयामि’ ।

ततस्तेनात्महितकट्टना पुष्पवट्टना साधुसमर्पितविद्यः सम्यग्विदितवेद्यः संगीत्याऽऽ-
सन्नशिवागारोऽञ्जनचोरः स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः । स खलु महतामपि
महान्प्रति पञ्चदेशयतिव्रततन्त्रा जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरि-
तोपचारस्य ‘तनुद्वयनिर्विशेषं पोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्’ इति निश्चित्य
निविश्य च सौत्सुक्य सिकथे निःशङ्खशेमुपीक. स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोषितसुरासुरा-
नीकः सङ्कदेव तच्छरप्रसर चिच्छेद, आससाद च खेचरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे
गमन भूयादिति विहिर्ताशंसन. काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि^१ सौमनसवनोदयिनि

धरसेन—मेरे हितैषी मित्र ! महाभाग जिनदत्तके उपदेशसे आकाशविहारिणी विद्याको
सिद्ध करनेकी इच्छासे मैं यहाँ आया हूँ ।

अञ्जनचोर—यह कैसे साधी जाती है ?

धरसेन—पूजाके द्वारा सिद्धित इस छीकेपर नि गङ्क बैठकर इस विद्याको मन्दस्वरसे
पढ़ते हुए निर्मल मनसे छीकेकी एक-एक डोरको काटना चाहिए । ऐसा करनेसे अन्तमें आकाश-
गामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी ।

अञ्जनचोर—हटो हटो, छीकेके नीचे खड़े किये गये तीक्ष्ण शस्त्रोंसे तुम भयभीत हो
गये हो, इसलिए जनेऊ दिखाकर ही अपना काम निकालनेवाले तुम इस विद्याको सिद्ध नहीं
कर सकते । अतः इस सच्ची विद्याको मुझे बतलाओ । मैं इसको साधता हूँ ।

यह सुनकर आत्महितके वैरी उस धरसेनने अञ्जनचोरको भले प्रकारसे विद्या अर्पित
कर दी । सब बातोंको जानकर उसी भवसे मोक्ष जानेवाला अञ्जनचोर विचारने लगा—‘जिन-
दत्त सेठ स्वप्नमें भी दूसरोंको ठगनेका विचार नहीं कर सकता । फिर चिरकालसे अपने पुत्रकी
तरह जिसका लालन-पालन किया है उस धरसेनके विषयमें तो वह ऐसा सोच ही कैसे सकता
है ?’ ऐसा निश्चित करके वह बड़ी उत्कण्ठाके साथ उस छीकेपर बैठ गया और निःशक होकर
अपने साहससे सुर और असुरोंके समूहको सन्तुष्ट करनेवाले उस अञ्जनचोरने एक साथ ही सब
धागोंको काट दिया और विद्याधर बन गया । फिर उसने यह इच्छा की कि जहाँ जिनदत्त है

१ आगत । २ -कथे शिष्येऽस्मि-आ० । ३ प्रपठ-आ० । ४ ऊर्ध्वमुख । ५ -द्ववतिनि-अ०,
ज०, मु० । ६ एकवारम् । ७ प्राप्तवान् । ८ -ताशासन आ० । ९ -लयितसौमनसद-
यिनि-आ० ।

अत्रास्तरे निष्कारणकलिकायां नमस्तुभ्यां निशीथ'पथयतिधीक्षणे क्षपाक्षणे मध्यदेशे
प्रसिद्धविजयपुरस्यामिन सुन्दरीमहावैधीयिलासिन स्वकीयप्रतापवहुलं धाहनाहुतीकृतारा
ति'समितेररिमम्यमहीपतेर्लक्षितो नाम सुत' समस्तम्यसनाभिभूतस्याहायां वृक्षम्याइसंपा
वितसाध्नायपदापाय परमुपायमपश्यन्नक्षत्राणापजनोर्मितमक्ष' मतीताक्षतघोरापरसंक्ष
क्षिब्धमुक्तः—'कुशाग्रपुरपरमेश्वरस्याग्रमहिष्यास्तार्क्षिप्याः सीमाम्बरलाकरं नाम कण्ठ-
संवारमिवानीमेव यथानीय प्रयच्छसि, तथा त्वं मे कान्तः, अन्यथा प्रजयास्तः इति ।

सोऽपि क्षिप्यगहनमेतत्' इत्युदारमुदाहृत्य म्रियतमामनोरधमन्वैर्यक चिकीर्षुर्मिज-
न्धापाद्यप्यताशीलकक्षस्तवइसल्लोचनयुगलं विधाथ प्रयार्यथ तन्महीशपरगृहं गृहीततदक्षका
रस्तत्प्रमाप्रसरतमुल्लस्यमाणचरणसंचारः शम्भुशक्तोत्तालाननकरैस्तलयरात्रुधरैरभियुक्तो
निष्ठारीतुम्यक्तः परित्यज्य तदामरणमितस्ततो नगरबाहिरिकायां विहरतामस्तं धरसेनं
प्रवीपे'दीप्तिवशाद्यस्तादृक्निवेशमयावेशाम्मुमुक्षुरारोहाचरोहावहवेदधोनमव'लोफ्योपहीक्ष्य
च त देशमेव निर्दिदेश—'अहो प्रस्यकास्ताम्भकाराचिलायामस्यां वेत्तायां महासाहसिक
धृपे'दुष्करकर्मकारिन् को नाम भवान् ।

इसी बीचमें एक कन्या पढ़ी । मध्य देशके विजयपुर नगरका स्वामी राजा वरिमन्त्र
कहा प्रतापी था । उसको पहुरानीका नाम सुन्दरी था । उसके कश्चि नामका एक पुत्र था । वह
कहा न्यसनी था । इसीछिय उसे अन्य बान्धवोंने उसके राज्यपद प्राप्तिमें बाधापै बाधी । तब उसने
वृक्षा उपाय न देखकर एक ऐसा अज्जन सिद्ध किया जिसके ब्रह्मा केनेसे वह अदृश्य हो जाता
था । इससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई और उसका नाम अज्जनचोर प्रसिद्ध हो गया । जिस
रात्रिमें धरसेन विद्या साधनेका उपाय करता था उसी रात्रिमें जब अम्जनचोर अपनी मित्रताका
पास गया तो उसने कहा—'कुशाग्रपुरके राजाकी पहुरानीके गलेका 'सौमाम्बरलाकर' नामका
जामूपज यदि इसी समय काकर मुझे दोगे तो तुम मेरे पति हो, नहीं तो हमारे दुन्दुहारे मेमका
अन्त है ।' यह सुनकर अम्जनचोर बोला—'यह क्या कहिन है ।' इतना कहकर अपनी मित्र-
ताका मनोरमको पूरा करनेके छिय वह अपनी जाँसोंमें अम्जन ब्रह्माकर अदृश्य हो गया और
उस राजाके महसमें पहुँचा ।

जैसे ही वह उस जामूपजको लुराकर पकड़ बैसै ही उसकी कमरसे कोतवाके सस्रस्र
सिपाहियोंने उसके पद-संचारको छम्प करके हड़का करते हुए उसका पीछा किया । निकल
भागनेमें अपनेको बसमर्भ देखकर अम्जनचोरने उस जामूपजको वहीं छोड़ दिया और नगरक
बाहर इधर-उधर भागता हुआ जससे हुए दीपको देखकर उस स्थानपर जाया जहाँ बरसेन नीचे
छने हुए बसोके मयसे कमी छीकेसे उतरता था और कमी पड़ता था ।

'प्रक्रमकाके अन्धकारसे ब्याप्त इस काष्ठमें दुष्कर कर्म करनेवाले महा साहसी पुरुष ! तुम
कौन हो ?' अम्जनचोरने पूछा ।

१ मध्यरात्रि । २ कश्चि । ३ अनुसमृत्त्य । ४ गोविज एव राजाका । ५ राजगृह । ६ ताबिनी
नामिकाया । ७ धार्यकम्प । ८ मन्वैयं मा । ८. पत्ता । ९. सम्भेन कृतार्थ मुक्तं धरसेन उताक करो वैपाम ।
१ प्रवीपदीप-मा । ११—नय तनुश्रीक्य-मा । १२ प्रभात ।

धरसेनः—‘कल्याणवन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पवटुनियोगसं-
वन्धोऽहमेतदुपदेशादकाशविहारव्यवहारनिपद्यां विद्यां सिसाधयिपुरत्राय्याशिषम् ।’

अञ्जनचोरः—‘कथमिय साध्यते ।’

धरसेन—कथयामि । पूजोपचारनिषेक्ये^१ ऽस्मिन्नि शङ्कमुपविश्य विद्यामिमामकुण्ठकण्ठं^३
पठन्नेकैक शरप्रवेकं स्वच्छुधीगिञ्ज्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते ।

‘यद्येवमपसरापसर । त्वं हि तलोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसंजातभीतमतिर्न खलु
भवस्यैतत्साधने यक्षोपवीतदर्शनेनार्थावर्जनकृतार्थः समर्थः । तत्कथय मे यथार्थ-
वाद्दृष्ट्या विद्याम् । एनां साधयामि’ ।

ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पवटुना साधुसमर्पितविद्यः सम्यग्विदितवेद्यः संश्रित्याऽऽ-
सन्नशिवागारोऽञ्जनचौरः स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः । स खलु महतामपि
महान्प्रति पञ्चदेशयतिव्रततन्त्रा जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरि-
तोपचारस्य ‘तनुद्भवनिर्विशेषं पोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्’ इति निश्चित्य
निविश्य च सौत्सुक्यं सिद्धये नि शङ्कशेमुपीकः स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोषितसुरासुरा-
नीकः^४ सद्देव तच्छरप्रसर चिच्छेद,^५ आससाद च खेचरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे
गमन भूयादिति विहर्ताशंसन काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि^६ सौमनसचनोदयिनि

धरसेन—मेरे हितैषी मित्र ! महाभाग जिनदत्तके उपदेशसे आकाशविहारिणी विद्याको
सिद्ध करनेकी इच्छासे मैं यहाँ आया हूँ ।

अञ्जनचोर—यह कैसे साधी जाती है ?

धरसेन—पूजाके द्वारा सिद्धित इस छीकेपर निःशङ्क बैठकर इस विद्याको मन्दस्वरसे
पढ़ते हुए निर्मल मनसे छीकेकी एक-एक डोरको काटना चाहिए । ऐसा करनेसे अन्तमें आकाश-
गामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी ।

अञ्जनचोर—हटो हटो, छीकेके नीचे खड़े किये गये तीक्ष्ण शस्त्रोंसे तुम भयभीत हो
गये हो, इसलिए जनेऊ दिखाकर ही अपना काम निकालनेवाले तुम इस विद्याको सिद्ध नहीं
कर सकते । अतः इस सच्ची विद्याको मुझे बतलाओ । मैं इसको साधता हूँ ।

यह सुनकर आत्महितके वैरी उस धरसेनने अञ्जनचोरको भले प्रकारसे विद्या अर्पित
कर दी । सब बातोंको जानकर उसी भवसे मोक्ष जानेवाला अञ्जनचोर विचारने लगा—‘जिन-
दत्त सेठ स्वप्नमें भी दूसरोंको ठगनेका विचार नहीं कर सकता । फिर चिरकालसे अपने पुत्रकी
तरह जिसका लालन-पालन किया है उस धरसेनके विषयमें तो वह ऐसा सोच ही कैसे सकता
है ?’ ऐसा निश्चित करके वह बड़ी उत्कण्ठाके साथ उस छीकेपर बैठ गया और निःशक होकर
अपने साहससे सुर और असुरोंके समूहको सन्तुष्ट करनेवाले उस अञ्जनचोरने एक साथ ही सब
धागोंको काट दिया और विद्याधर बन गया । फिर उसने यह इच्छा की कि जहाँ जिनदत्त है

१ आगत । २ -क्ये शिष्येऽस्मि-आ० । ३ प्रपठ-आ० । ४ ऊर्ध्वमुख । ५ -द्ववतिनि-अ०,
ज०, मु० । ६ एकवारम् । ७, प्राप्तवान् । ८ -ताशासन- आ० । ९ -लयितसौमनसद-
यिनि-आ० ।

जिनसन्नि जिनवत्तस्य धर्मप्रवणकृतो गुरुदेवभगवतः समीपे सपो गृहीत्वाधगाहितसमस्तै-
तिहातस्यो हिमयच्छैलशुशिकोन्मीलितकेवलकानः कैलासकेसैरकाम्तारगतो मुक्तिः श्रीसमा
गमसङ्गिमोगार्येतनो वमूष ।

मयति चात्र श्लोकः—

सत्रपुत्रोऽर्द्धविक्रितः शिक्षिताद्ययकज्जलः ।

भन्तरिकगति प्राप निःशङ्कोऽब्जनस्तस्करः ॥१५७॥

इत्युपासकप्रवचने निःशङ्कितप्रकाशानो नाम क्षम्य कल्पः ।

स्यो देवः स्यामह यशः स्यां या वसुमतीपतिः ।

यदि सम्पत्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छा परिस्पजेत् ॥१५८॥

उर्वम्भितेव माणिष्य सम्पत्त्वं मयसिः सुखैः ।

विश्रोणाम पुमास्त्वस्य धर्म्यक केयल भवेत् ॥१५९॥

चित्ते चिन्तामणिर्धस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः ।

कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाकमः ॥१६०॥

उचिते स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला ।

तं श्रियः स्वधमायान्ति स्रोतस्विन्य इवास्तुधिम ॥१६१॥

वही मैं पहुँचूँ । यह इच्छा करते ही वह सुमेरु पर्वतपर स्थित सीमन्त बनके जिनात्ममें,
आचार्य गुरुदेवसे धर्मप्रवण करते हुए जिनवत्तके पास पहुँच गया और जिनदीक्षा ग्रहण करके
परम्परासे चक्र धार्ये हुए समस्त तत्त्वोंकी जानकारी हिमवान् पर्वतकी चोटीपर केवलशायी बन
गया फिर कैलास पर्वतसे मुक्ति-श्री को वरण करके मुक्त हो गया ।

इस विषयमें एक श्लोक निम्न प्रकार है—

‘भञ्जनघोर राक्षस का, किन्तु इन्द्रियोंकी विषयवासनाने उसे पागल कर दिया था ।

उस उसने जड़रूप होनेका जन्मम जाना सीस छिया । फिर वह निःशङ्क होकर विचार बन
गया । और मुक्त हो गया’ ॥१६३॥

इस प्रकार उपासकप्रवचनमें निर्वाहित तत्त्वकी प्रकाश करनेवाला सातवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब निष्प्रवृत्ति भ्रमकी बातलाती है—]

यदि सम्पत्प्राप्तनमें माहात्म्य है तो ‘मैं देव होऊँ’, क्या हाऊँ, बनवा राखा होऊँ’ इस
प्रकारकी इच्छाका छाड़ देना चाहिये । जो सांसारिक सुखोंके बदलमें सम्पत्त्वको बेच देता है वह
छाड़के बदलमें माणिष्यकी बेच देनेवाले मनुष्यक समान केवल अपनेको उगाता है ॥१५८-१५९॥

जिस सम्पत्त्वके चित्तमें चिन्तामणि है, हाथमें कल्पवृक्ष है, धनमें कामधेनु है, उसको
मायनासे क्या मसख ? जिसकी चित्तवृत्ति उचित स्थानको पाकर निराकुल हो जाती है, समुद्रमें
नदियोंकी तरह रुझी उसे स्वयं मास दावी है ॥१६०-१६१॥

१ प्रवृत्ति । २ वृक्षवृक्ष । ३ आराम । ४ दृष्ट । ५. अर्द्ध अर्धमि । ‘देवः स्यां दानवः स्यां वा
स्यामर्द्ध वसुधावर्णः । यदि दानवमाहात्म्यमिच्छा तस्य वृत्तिः ॥१५७॥ —प्रबोधसारः । ६ उर्वम्भ । ‘उर्वम्भितः
स माणिष्यः कश्चित्प्राप्तः । विहीनो न सम्पत्त्वमात्र इच्छेत् मयसि वृक्षम् ॥१५८॥ —वर्मरत्ना । ७ १९
उ । ८ वृक्ष-व । हस्ते विनामणिधस्य प्राणैव वल्लभाहवः । कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाकमः
॥१५९॥ —वर्मर ७ १९ । कामधेनुर्धने यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः । चिन्तामणिर्धस्यार्थं वर्तनं सर्वलोभपरः ॥
प्रबोधसार ७ १५ । ८ धर्मलक्षणे ।

तत्कुट्टैष्ट्यन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम् ।
सम्यग्दर्शनशुद्धं चार्थमाकांक्षां त्रिविधां त्यजेत् ॥१६२॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अद्रमण्डलेषु समस्तसपत्नसमरसमारम्भनिष्कम्पायां
म्पायां पुरि लक्ष्मीमतिमहादेवीदयितस्य वसुवर्धनाभिधानोचितस्य वसुधापतेर्निरवशे-
वैदेहकवरिष्ठः किल प्रियदत्तश्रेष्ठी धर्मपत्न्या गृहलक्ष्मीसपत्न्या सकलस्त्रैणगुणधाम्नाङ्गवती-
न्ना सहाह्वय प्राप्तेऽप्राप्तीक्रियाकाण्डकरणायाभ्रंकपकूटकोटिघटितपताकापटप्रतानाञ्चल-
ालस्खलितनिलिम्पचिमानवलयं सहस्रकूटचैत्यालयं यियासु. स्वकीयसुतावयस्या-

अतः सम्यग्दर्शनको शुद्धिके लिए अन्य मिथ्या मतोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होने वाली, तथा
इस लोक और परलोक सम्बन्धी तीन प्रकारकी इच्छाओंको छोड़ देना चाहिए ॥१६२॥

भाचार्य—सम्यग्दर्शनका दूसरा अंग है निःकाक्षित । जिसका अर्थ है—‘काक्षा मत
करो ।’ और काक्षा कहते हैं भोगोंकी चाहको । जो विषय इन्द्रियोंको नहीं रुचते, उनसे द्वेष
करना ही भागोंकी चाहकी पहचान है, क्योंकि इन्द्रियोंको रुचनेवाले विषयोंकी चाहके कारण ही
न रुचनेवाले विषयोंसे द्वेष होता है । देखा जाता है कि विपक्षसे द्वेष हुए बिना पक्षमें राग नहीं
होता और पक्षमें राग हुए बिना उसके विपक्षसे द्वेष नहीं होता । अतः इष्ट भोगोंकी चाहके
कारण ही अनिष्ट भोगोंसे द्वेष होता है और अनिष्ट भोगोंसे द्वेष होनेसे ही इष्ट भोगोंकी चाह
होती है । जिसके इस प्रकारकी चाह है वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि एक तो चाह करनेसे
ही भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो जाती । दूसरे, कर्मोंके उदयसे प्राप्त होनेवाली प्रत्येक वस्तु अनिष्ट ही
मानी जाती है । इसलिए जानी पुरुष कर्म और उसके फलकी चाह विल्कुल नहीं करता । तीसरे,
पदार्थोंमें जो इष्ट और अनिष्ट बुद्धि की जाती है वह सब दृष्टिका ही दोष है, क्योंकि पदार्थ न तो
स्वयं इष्ट ही होते हैं और न स्वयं अनिष्ट ही होते हैं । यदि पदार्थ स्वयं इष्ट या अनिष्ट होते तो
प्रत्येक पदार्थ सभीको इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । एक ही
पदार्थ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट प्रतीत होता है । अतः पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि भी
मिथ्यात्वके उदयसे ही होती है । जिसके मिथ्यात्वका उदय नहीं होता उसकी दृष्टि वस्तुके
यथार्थस्वरूपको देखती है और यथार्थमें कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला फल अनिष्ट ही होता है
क्योंकि वह दुःखका कारण है । अतः सम्यग्दृष्टि कर्मोंके द्वारा प्राप्त होने वाले भोगोंकी चाह
नहीं करता ।

२. निष्कांक्षित अंगमें प्रसिद्ध अनन्तमतिकी कथा

अब इस विषयमें एक कथा कहते हैं, उसे सुनिए—

अगदेशकी चम्पा नगरीमें वसुवर्धन नामका राजा राज्य करता था । उसकी पट्टरानीका
नाम लक्ष्मीमति था । राज्य श्रेष्ठी प्रियदत्त था और उसकी पत्नी अंगवती थी । एक बार एकदम
प्रातः अष्टाह्निका पर्वका क्रियाकर्म करनेके लिए प्रियदत्त सेठ स्त्रियोचित सकल गुणोंसे युक्त अपनी

१ मिथ्यादर्शनोद्भूताम् । २ देव-यक्ष-राजोद्भवाम् । ३ समग्रवणिजा मध्ये श्रेष्ठ ।
४. शीघ्रम् । ५. समोजित । ६. सखीम् ।

मनङ्गमतिमेवमपूज्यत्—‘घस्ते, अभिनवयियाइमूपणसुमगाइस्ते कास्ते ’समुज्जिखितसाम्भ-
नेम्बुसुम्बरमुली वियसली तथातीवकेलिशीलप्रकृतिरनन्तमतिः ।

अनङ्गमतिः—‘तात, यणिगुम्मारकवारिकोवगीयमानमङ्गला कृत्रिमपुत्रकपरम्पाजे
मारमपरिणयनाथरणपरिणामपेशला पञ्जरस्थितशुकसारिकावदमघाघसुम्बरे वासीवास-
परिसरे समास्ते ।

समाह्वयतामतिः ।

‘यथादिशति ताता ।

प्रियवत्तथेष्टी बृहभाषात्यरिहासास्त्रापनपरमेष्टी समागतां सुतामदसोन्य ‘पुत्रि,
निसर्गयिहासरसोत्तरापाङ्गापहसितामृतसेरिणिविये सदैव पैत्रालिकाकेलिकिर्सेइवपे
संप्रत्येव तथ मम्मघपयाः परिणयनमनोरथाः । तव शुद्धता तावत्समस्तमसैश्वर्यघर्यं ब्रह्मघर्मम् ।
अत्रैव ते साक्षी भगवान्शेषभुतप्रकाशनाशयमूर्तिर्धर्मकोतिसुरिः ।

अनन्तमतिः—तात, मितान्ध पृथीतघत्यस्मि । न कैवल्यमत्र मे भगवानेव साक्षी
किंतु भवान्मात्र यः । अन्वयात् ।

उद्भिन्ने स्तनकुङ्कुमसे स्फुटरसे हासे विलासाब्जसे

किंचित्कम्पितकैतवाधरमरम्पाये वचःप्रक्रमे ।

पत्नीक साध सहकृत चैत्याख्य बानेको बा । उसने अपनी लङ्काकी सखी अनंगमतीसे पूछ-
बिवाहके नये मूणोंसे अलङ्कृत पुत्री अतीव परिहासप्रिय तेरी सखी चन्द्रमुखी अनन्तमती
कहाँ है ?

अनंगमती बोली—‘पिता जी ! स्वरच्छन्द विचरण करनेवाके तोता मैनाके मधुर कन्धरसे
गुम्फित घरके निष्ठ भागमें, वह गुम्बड़ेके बिवाहके बहानेसे अपने विवाहका स्वप्न देख रही है
और भेष्टीबनोकी लङ्कामें भगव गान कर रही हैं ।’

‘उसे बुझाओ ?’

‘जो आज्ञा’

भेष्टी प्रियवत्त बृह हो बानेसे परिहास करनेमें बड़ा पटु बा । कन्याको आई हुई देखकर
बोला—‘पुत्रि ! सदैव गुम्बडीसे खेडनेके लिय विकल तुम्हारे हृदयमें अभीसे बिवाहका मनोरथ हो
पड़ा है अत समस्त प्रसोमें भेष्ट ब्रह्मचर्य कर्तको स्वीकार करो । समस्त भुतक ज्ञाता भगवान्
धर्मकीर्ति सूरि तुम्हारे साक्षी हैं ।’

अनन्तमती बोली—पिताजी ! मैंने ब्रह्मचर्यप्रत क किया । और इसमें केवल भगवान् ही
साक्षी नहीं हैं किन्तु आप और माताजी भी साक्षी हैं ।

उक्त घटनाको घटे वर्षों बीत गये और अनन्तमतीमें जीवनका संसार हो पड़ा । उसके
अंग-मयंग विकसित हो उठे । अब वह हँसती थी सो उसकी हँसी अबसाई हुई होती थी । अब

१ निर्गम्यकण्डवम् । २ कन्यायम् । ३ निवाचमुद्गमार्द्रणे । ४ नेत्रयाम् । ५ पुत्र्या ।

६ पुत्रनिवा । ७ पद्महृदय । -विजयहृ-आ । ८ आचय एव लुपर्थं विद्यते यस्य सः ।

९ कल्पितमिषेयम् ।

कन्दर्पोमिनवास्त्रवृत्तिचतुरे नेत्राश्रिते विभ्रमे

प्रादायेव च मध्यगौरवगुणं वृद्धे नितम्बे सति ॥१६३॥

समायाते मुहुरुत्पथप्रथमानमन्मथोन्मार्थमन्धरसमस्तसत्त्वस्यान्ते सद्यः प्रसृतसहका-
राङ्कुरकवलकपायकण्ठकोकिलकामिनीकुहारावासरालितमनोजविजये मलयाचलमेखलानिली-
नकिन्नरमिथुनमोहनामोदमेदुरपरिस्तरन्समीरसमुदये । विकसत्कोशकुरवकप्रसवपरिमलपान-
लुब्धमधुकरीनिकरभङ्गारसारप्रसरे वसन्तसमयावसरे सा प्रसरत्स्मरविकारा स्मरस्खलन्मति-
गतिरनङ्गमतिः सह सहचरीसमूहेन मदनोत्सवदिवसे ढोलान्दोलनलालसमानसा स्वकीयरूपा-
तिशयसंपत्ति[ति]रस्कृतसकलभवनाङ्गनाङ्गविलासा सुकेशीप्रियतमानुगतेन कृतकामचारप्रचार-
चेतसा पूर्वापराकूपारपालिन्त्री सुन्दरीसनाथोत्सङ्गधरस्य विजयार्धावनीधरस्य विद्याधरोवि-
नोदपादपोत्पादलोण्या दक्षिणश्रेण्या किन्नरगीतनामनगरनरेन्द्रेण कुण्डलमण्डितनाम्नाम्बर-
चरेण निचायितार् ।

शृङ्गारसारममृतद्युतिमिन्दुकान्ति-

मिन्दीवरद्युतिमनङ्गशरांश्च सर्वान् ।

आदाय नूनमियमात्मभुवा^१ प्रयत्ना-

त्तृष्टा जगत्त्रयचशीकरणाय वाला ॥१६४॥

इति विचिन्त्याभिलषिता च । ततस्तामपजिहीर्षुधिपणेन^१ मुहुर्निवृत्य निर्वर्तित-
निजनिलयसुकेशीनिवेशेन प्रत्यागत्यापहत्य च पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता गगन^२मार्गार्द्धे

बोलती थी तो उसके ओष्ठ कुछ बनावटी कम्पनको लिये हुए होते थे । और आँखोंमें, कामदेवके
नवीन अस्त्रोंके संचालनमें चतुर कटाक्षने अपना डेरा डाल दिया था । और मध्यभागकी गुरुताको
मानो लेकर नितम्ब भाग विकसित हो गया था ॥१६३॥

यौवनके साथ ही वसन्त ऋतु भी आ टपकी । समस्त प्राणियोंके मनको कामदेवने सताना
प्रारम्भ कर दिया । आमके वृक्षोंपर मौर आ गये और उसे खाकर कोयलने 'कुह' 'कुह' करके
कामदेवकी विजय यात्राकी सूचना कर दी । मलय वायु बहने लगी । कमलोंपर भौरे गुजार
करने लगे ।

एक बार मदनोत्सवके दिन रूपवती युवती अनन्तमती अपनी सखियोंके साथ झूला झूलनेके
लिए उद्यानमें गई । विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणिमें स्थित किन्नरगीत नामक नगरका स्वामी
कुण्डलमण्डित विद्याधर अपनी पत्नी सुकेशीके साथ आकाशमें विहार करता था । उसने उसे
देखा । और उसके लावण्यसे मोहित होकर सोचने लगा—'शृङ्गारसे सार, अमृतसे तरलता,
चन्द्रमासे कान्ति, कमलसे शोभा और कामदेवसे बाणोंको लेकर ही स्वयंभू ब्रह्माने तीनों
लोकोंको वशमें करनेके लिए इस वालाकी रचना बड़े श्रमसे की है ॥१६४॥

यह सोच उसको हरनेकी इच्छासे अपने घरकी ओर लौटा । वहाँ अपनी पत्नी सुकेशी-
को छोड़कर फिर उसी उद्यानमें आया और अनन्तमतीको हरकर आकाशमार्गसे अपने नगरकी

१ गौरवगुण नितम्बेन गृहीत तेन मध्य क्षाम जातम् । २ पीडन । ३ उत्पन्न । ४ सुरत ।

५. मोगरसदृशरक्तमुगवपुष्पविशेष । ६ सारस्वत -आ० । ७ बेला एव स्त्रीसहित तटी ।

८. दृष्टा । ९ -तद्वृत्ति-अ० ज० । १०. ब्रह्मणा । ११. अपहर्तुमिच्छामतिना । १२ -मार्गार्द्धनिवृत्ति-आ० ।

प्रतिनिवृत्तकुपितसुकेशीशमाशुद्रिताशयेन तत्कायसकमितायसोकिनीपञ्चलपुत्रिपादयेन
शङ्खपुराभ्यर्णमागमि मीमन्नामनि कामने मुक्ता ।

तत्र च मृगयाप्रशस्तनामागतेन भीमनाम्ना विरातराजसक्मोसीम्नायसोकिता, नीता
घोषान्तप्रकीर्णैर्दुर्गिफलच्छ्विस्त पल्लितम् । पतद्रूपवर्णनद्रीसमर्पणमर्पेण च तेन स्यता परतः
तैस्तेरुपायैरात्मसमोगसहायैः शार्धिताप्यसंज्ञातकामिता हठात्पृथक्कटोरकामोपक्रमेण तत्परि
गृहीतमयस्यैर्याभ्यर्चितकाम्भारवेद्यतामातिहायात्यर्थासपकणप्लोणेन मृत्युहेतुकातद्रूपापकपप्य
मानशरीरेण च 'माता', 'समस्वैकमिममपराधम्' इत्यभिधाय घनेघटोपचारेपवीयमानसह
चरीषितोत्कण्ठे शङ्खपुरपयस्तपयतोपकण्ठे परिहृता तत्समीपसमायासितसार्धानीयेन
पुष्पकनामकेन वणिजपतिपाकैनायसोकिता सती स्वीकता च तेन तेन धार्पेन स्यस्य
वशमानेतुमसमर्पेण कोशस्त्वशमप्यायामयोध्यायां पुरि ध्यासिकामिधानकामपञ्चयकम्बुव्या
शंफल्लयाः समर्पिता । तथापि मदनमदुसंपादनायसयामि कथानिः सोमयितुमशक्या
तत्रात्मघानीयिनिवेशस्य सिंहमहीशस्योपायमीकृता ।

तेनाप्यसंघतन्मनश्चबेधेन यिक्छितासिर्नेतुरमिसंधिना तत्कम्पापुण्यप्रमाथप्रेरितपुर

जोर चढ़ दिया । आगे मार्गमें झौंती हुई अपनी कुपित पत्नीको देखकर उसके भयसे उसने उसे
पञ्चसु नामकी दो विद्याओंको सौंप दिया और उन्होंने अनन्तमतीको शंखपुरके निकटवर्ती भीमवन
नामके जंगलमें छोड़ दिया ।

वहाँ छिंदार खेळनेके छिए आगे मिस्त्राब भीमने उसे देखा और वह उसे अपनी
कुटियापर ले आया, जहाँ जास-पासमें इंगुवी वृक्षके फल्लेकी छटाएँ फैली हुई थीं । मिस्त्राब
इसके रूपको देखकर क्रमाश हो गया । उसने स्वयं तथा दूसरेके द्वारा अनन्तमतीसे भीमकी
बारम्बार प्रार्थना की, किन्तु वह तैयार नहीं हुई । तब उसने बलात्कार करनेका प्रयत्न किया ।
किन्तु उसके ऋतुक माहात्म्यसे वन देवताने उसकी रक्षा की और क्षयरूपमें जाग उठा दी ।
अब मिस्त्राबका शरीर जलने लगा और उसने घृसु निकट देखी तो बोझ—'माता ! मेरे इस
एक अपराधको क्षमा करो ।'

इस प्रकार क्षमा माँगकर उसने अनन्तमतीको शंखपुरके निकटवर्ती पञ्चके समीपमें छोड़वा
दिया । जहाँ पासमें व्यापारियोंका एक समूह जाकर ठहरा हुआ था । बन्दि पत्रिके पुत्र पुण्यकने
अनन्तमतीको देखा और जिस-जिस उपायोंसे उसे बचाने करनेका प्रयत्न किया । अब वह अपने
मसलमें सफल नहीं हो सका तो उसने उसे कोशज देखके गध्यमें बसी हुई अयोध्या नगरीमें
ध्यासिका नामकी वेश्याको सौंप दिया । वेश्याने कामोन्मत्त करनेवाली कबाएँ सुना-सुनाकर उसे
लुब्ध करना चाहा किन्तु वह भी अपने प्रयत्नमें असफल रही । तब उसने उसे अयोध्याक राजा
सिंह महीपतिको भेंट कर दिया । राजा सिंह भी अब उसके गध्यमें स्थान नहीं पा सका तो
उसने उसके साथ बलात्कार करना चाहा । तब उस कन्याके पुण्यक प्रतापसे नगर देवताने जाकर
उसकी रक्षा की ।

देवतापादितान्तःपुरपुरीपरिजनापकारविधिना साधु संवोध्य नियमसमाहितहृदयचेष्टा
विसृष्टा पितृस्वसुः सुदेवीनामधेयायाः पत्युः पितुश्चाहृदत्तस्य सुगृहीतनामवृत्तस्य जिनेन्द्रदत्त-
स्योदवसितसमीपवर्तिनं विरचितचैत्यालयमवाप्य तत्र निवसन्ती यमनियमोपवासपूर्वकैर्वि-
धिभिः क्षपितेन्द्रियमनोवृत्तिर्भवन्ती ।

तस्मादद्भुतदेशनगराजिनेन्द्रदत्तं विरविरहोत्तालं श्यालं विलोकितुमागतेन प्रियदत्त-
श्रेष्ठिना वीक्ष्य विषयाभिलापमोपपन्नकचा सा विहितबहुशुचा पुनः प्रत्याप्य तस्मै
जिनेन्द्रदत्तसुतायाहृदत्ताय दातुमुपक्रान्ता—‘तात, त भदन्तं भगवन्तं पितरं मातरं च तां
प्रमाणीकृत्य कृतनिरवधिचतुर्थव्रतपरिग्रहा । ततः कथमहमिदानीं विवाहविधये परिकल्प-
नीया’ इति निगीर्य कमलश्रीसकाशे विरतिविशेषवशं रत्नत्रयकोशमभजत् ।
भवति चात्र श्लोकः—

हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता ।

कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः ।

तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदं संवा^३दमन्दिरम् ।

अदोऽपवादि चेत्येवं चेत स्याद्विचिकित्सना ॥१६६॥

वहाँसे निकलकर वह अपने पिताकी भगिनी सुदेवीके पति तथा अहृदत्तके पिता जिनेन्द्र-
दत्तके निकटवर्ती चैत्यालयमें जाकर रहने लगी और यम नियम तथा उपवासके द्वारा इन्द्रियों और
मनकी चचलताको दूर करने लगी । एक दिन अनन्तमतीका पिता श्रेष्ठी प्रियदत्त अगदेशसे अपने
बहनोई जिनेन्द्रदत्तको देखनेके लिए आया । वहाँ उसने अपनी पुत्री अनन्तमतीको देख बहुत
विलाप किया और वादको उसे जिनेन्द्रदत्तके पुत्र अहृदत्तसे विवाहनेका प्रस्ताव किया । तब पुत्री
वोली—‘पिताजी ! भगवान् आचार्य, आप और अपनी जननीको साक्षी करके मैंने आजन्म-
के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था । अतः अब कैसे मैं विवाहकी विधिके लिए तैयार
हो सकती हूँ ।’

ऐसा कहकर उसने कमलश्री आर्यिकाके समीपमें व्रत धारण कर लिये ।
इसके विषयमें एक श्लोक भी है—

‘अनन्तमतीने पिताके परिहाससे ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और उसमें स्थिर रही । फिर
बिना किसी प्रकारकी इच्छाके तप करके बारहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुई ॥१६५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निःकाक्षित तत्त्वको वतलानेवाला ‘आठवाँ’ कल्प समाप्त हुआ ।
[अब निर्विचिकित्सा अगको वतलाते हैं—]

‘जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा गया यह उग्र तप प्रशसनीय नहीं है, उसमें अनेक दोष

१ यथार्थनाम्न । २ भगिनीपतिम् । ३ तीव्र तपो जिनवरं विहित मुनीना सवादमन्दिरमिद
न भवेत्तथाहि । आचाममज्जनविवर्जनानान्ययोगादूर्ध्वस्थभुक्तिस्त इति प्रवदन्त्यविज्ञा ॥५०॥—धर्मरत्ना०
प० ७० पू० । इदं किञ्चित् श्लाघ्यं न । ४. सदीप अद एतद् वस्तु । अदीपवा—, आ० । सच्छ्रुतात् सुश्रुतु
शीलमसहा श्रयितु नरा । निवोषितु तदर्थं च स्वदीपाद् दूषयन्त्यत ॥५७॥—धर्मरत्ना० ७० प० । तीव्र तपो
यतीन्नेषु नेद सवादि सर्वथा । स्नानाभावाद्विदोषं स्यादपवादशतैर्युतम् ॥३१॥ मन्दबुद्धिर्महामोहादित्य विप्रति-
पद्यते । विनिन्दा नाम तस्याय दोष स्यादर्शनाश्रय ॥३२॥ —प्रबोधसार

स्यस्यैव हि स दोषोऽयं यत्र शतं भूताद्ययम् ।
 श्रितमाद्ययितुं अनुस्तवेयं वा नियोधितम् ॥१९७॥
 स्वतन्त्रयमपि ध्योम धीक्षते यन्मलीमसम् ।
 मासी दोषोऽस्यै किं तु स्यात्स दोषश्चक्षुरोद्यया ॥१९८॥
 यद्वेनादेहदोषस्य यस्तस्याय द्रुगुपसते ।
 स लोहे कालिकालोकाधूनं मुन्वति कान्ययम् ॥१९९॥
 स्यस्याम्यस्य च कायोऽयं वहिस्त्रायामनोहरः ।
 अन्तर्यिचार्यमाणः स्यादीदृग्परफलोपमा ॥२००॥
 तदतिष्ठो च वेहे च पाथारम्य पश्यतां सताम् ।
 उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रयतताम् ॥२०१॥

भूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिभूतापचिषोद्यमाद्ययप्रवृत्तमतिमन्दाकिनीछात्राः सौष-
 मैन्द्रः किञ्च सकलसुरसेषासमायसरसमये सम्यक्स्वरक्तगुणान्गीर्यान्नुग्रहायोद्वाहरचिदान्नी

है ।' इस प्रकार चित्तमें साधना विचित्रिस्ता कदाता है । शास्त्रमें कहे गये श्रील्लको पाठने अथवा उसका आश्रय समझनेमें जो जीव असमर्थ है सो यह उसीका दोष है । स्वतन्त्र बुद्ध आकाश भी जो मस्तिन दिखाई देता है सो यह आकाशका दोष मही है किन्तु देखनेवालेकी आँखोंका दोष है ॥ जो मनुष्य शरीरमें बाप देखकर उसके अन्दर बसनेवाली आत्मासे भ्रान्ति करता है, वह जोहेकी कालिकाको देखकर निरपम ही सोनेको छोड़ता है । अर्थात् जैसे जोहेकी कालिकाका सोनेसे कोई सम्बन्ध मही है वैसे ही शरीरकी गन्दगीका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । अतः शरीरके गन्देपनको देखकर तपस्वी साधुकी आत्मासे धृष्टा नहीं करनी चाहिए ॥ अपना शरीर हो या दूसरेका, वह बाहरसे ही मनोहर लगता है । उसके अन्दरकी हास्यका विचार करनेपर तो वह उन्मत्तके फलके समान ही है ॥ अतः इस परम्परागत उपदेश तथा इस शरीरके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले सज्जनोंकी चित्तवृत्ति (शरीरकी गन्दगीको देखकर) कैसे व्याकुल हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥१९९-२०१॥

भाषार्थ—रत्नकरण्ड आचकाचारमें निर्विचित्रिस्ताका स्वल्प वतस्मते हुए लिखा है कि यह शरीर स्वभावसे ही गन्दा है किन्तु यदि उसमें रत्नत्रयसे पवित्र आत्माका वास है तो शरीरसे भ्रान्ति न करके उस आत्माका गुणोंसे प्रीति करनेकी निर्विचित्रिस्ता अंग कहते हैं । प्रायः ऐसा देखा जाता है कि दुर्भाग्यसे पीड़ित मनुष्योंको देखकर सुखी मनुष्योंके चित्तमें यह भावना आ जाती है कि हम भीमान् हैं और यह बेचारा विपत्तिका भारा हुआ दीन-हीन माणी है, वह भला हमारे बराबर कैसे हो सकता है । इस प्रकारका जहङ्कार केवल अज्ञान मूलक है वास्तवमें कर्मोंके सम्बन्धमें सबें हुए सभी माणी समान हैं । अतः जो कर्मोंके द्युभोदयसे पूरक कर्मोंके अद्युभोदयसे पीड़ित प्राणिमोसे धृष्टा करते हैं और छात्रमें प्रतिपादित अप-उप-नियमादिकको कष्टदायक मानकर उसे वृथा समझते हैं तथा तपस्वियोंके भेदे शरीरको देखकर उनकी निन्दा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—उनकी दृष्टि ठीक नहीं है । और जो वैसा नहीं करते, वे ही सम्मदृष्टि हैं ।

२ निर्विचित्रिस्ता अंगमें प्रसिद्ध उद्घाटन राजा की कथा

इस सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनिए—

मिन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यपरनामावसरस्य रौरुकपुरस्य प्रभोः प्रभावतीमहादेवीविनोदाय-
तनादौद्वायनान्मेदिनीपतेः सहर्शनशरीरगदचिकित्सायामचिकित्सायामपरः कोऽपि क्षान्तमति-
प्रसरो मोक्षलक्ष्मीकटाक्षावेक्षणानुष्णपात्रे मर्त्यक्षेत्रे नास्तीत्येतच्च वासवसंक्षेशस्त्रिदशः पुरन्दरो-
दितासहमानप्रज्ञस्तत्र महामुनिसमूहप्रचारप्रचरे नगरेऽवतीर्य सर्वाङ्गोधिनाऽप्रतिष्ठैकुष्ठकोष्ठकं
निष्ठयूतद्रवोद्रेकोपद्रुतदेहमखिलदेहिसदोहोद्वेजनश्रवणेक्षणघ्राणगणविनिर्गलदनर्गलदुर्गन्धपू-
यप्रवाहमूर्धस्फुटितस्फोटस्फुटचेष्टितानिष्टमक्षिकाक्षिप्ताशेषशरीरमभ्यन्तरोच्छ्रययुक्तोत्तरङ्ग-
त्वगन्तरालप्रलीनाखिलनखनासीरमचिच्छिन्नोन्मूल्यदुच्छ्रकच्छ्रक्षस्तृकसारिणीसरैस्ततला-
लास्त्रावमनवरतस्रोत रूतातीसारसंभूतवीभत्सभावमनेकशो विशिखाशिखोत्पतनिपताश्रिता-
शुचिरैशिशुर्दुर्दर्शवपुपम्पिवेपमादायादं नायावनीपतिभवनमभजत् ।

भूपतिरपि सप्ततलारब्धसौधमध्यमध्यासीनस्तमसाध्यव्याधिविधुरधिपाणाधीनविष्वा-
णां^१ ध्येपणाय निजनिलयमालीयै^२ मानमवलोक्य सौत्सुक्यमागत्य स्वीकृत्य च कृत्रिमातैङ्गपाव-
कपरचशास्वन्तितं मुहुर्मुहुर्महीतले निपतन्तमनुद्विग्नमनश्चरित्र प्रकामदुर्जयखर्जनार्जनजर्ज-
रितगात्रं काशमीरपङ्कपिञ्जरेण भुजपञ्जरेणोद^३ नीयानीय चाशैर्नवेश्मोद^४ स्वयमेव समाचारितो-
पकौरैस्तदभिलापोन्मेपसारैराहारैरुपशान्ताशैर्नायोत्कण्ठमाकण्ठ भोजयामास ।

एक बार, मति, श्रुत और अवधि ज्ञानसे युक्त सौधमेंन्द्र देवोंकी सभामें उनके उपकारके
लिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्नके गुणोंका उदाहरण देते हुए बोला—‘इस समय, मोक्ष रूपी लक्ष्मीके
कटाक्षको देखनेके लिए निर्दोष पात्र स्वरूप इस मनुष्य लोकमें, इन्द्रकच्छ देशकी मायापुरी
नगरीके स्वामी राजा उद्वायनके समान निर्विचिकित्सा अगका पालन करने वाला दूसरा नहीं है ।’

यह बात वासव नामके देवको सब नहीं हुई । वह अनेक महामुनियोंके विहारसे पवित्र उस
नगरीमें आया और उसने एक कोढ़ी मुनिका रूप धारण किया । उसके समस्त अंग कोढ़से गल
रहे थे, सारा शरीर बहते हुए पीब वगैरहसे सना था, आँख, नाक, कान वगैरहके छिद्रोंसे
अत्यन्त दुर्गन्धवाला मल बहता था, जिसे देखकर सबको भ्रान्ति होती थी, शरीरके ऊपरी भागमें
अनेक फोड़े उठे हुए थे जिनपर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं । समस्त शरीरमें निरन्तर खाज उठ
रही थी, ओठोंके दोनों ओरसे निरन्तर राल टपकती थी और अतीसार रोगके कारण निरन्तर मल
बहता था । गन्दी नालियोंमें गिरने उठनेसे उसका शरीर गन्दगीसे भरा हुआ था ।

ऐसे दुर्दर्शनीय साधुका वेष बनाकर भोजन करनेके लिए वह देव राजभवन गया । अपने
सप्तमजिले महलमें बैठे हुए राजाने असाध्य रोगसे व्याकुल बुद्धिवाले उस साधुको जैसे ही भोजनके
लिए अपने महलकी ओर आता हुआ देखा, वह बड़ी उत्सुकताके साथ उठकर आया और
उसे पढ़गाहा । बनावटी रोगसे उसकी आवाज भारी हो रही थी, बार-बार वह पृथ्वीपर गिर
पड़ता था तथा अत्यन्त भयानक खाजसे उसका शरीर जर्जर हो चुका था । ऐसे उस साधुको वह
राजा किसी उद्वेगके बिना केशरके लेपसे पीली हुई अपनी भुजाओंमें उठाकर भोजनशालामें
लाया । और स्वयं ही सब उचित उपचार करके उसे भरपेट रुचिकर आहार कराया ।

१ -क्षूण- अ० ज० मु० । परिपूर्ण । २. व्याधिना-रोगेण । ३ अशोभित । ४ कर्ण-चक्षुघ्राणि-गल-
एतेभ्यो-विनिर्गलदनवरतपूयप्रवाहम् । ५ कोथस्तु मयने नेत्रत्वग्भेदे शाट्तिरेऽपि च । ६ उत्पद्यमान ।
७ श्रवत् । ८ मलद्वारश्रवत् । ९ -भाव नै-व० । १० गूथश्रेणि । ११ आहारार्थम् । १२ आहारग्रहणाय ।
१३ आगच्छन्तम् । १४ रोग । १५ उद्धृत्य । १६ रसवतीगृहमध्यम् । १७ -पचार-मु० । १८ उपशान्ता
अशनाय उत्कण्ठा यस्य ।

मायामुनि पुनरपि तन्ममोद्दिष्टासमानमानसः प्रसभमतिगम्भीरगन्धगुहाकुंडरोद्धिहा
नभोरधोपामिघातध्वनिधूर्णितापघनमप्रतिघ्नौघमीत् । मूमीपतिरपि 'आ, कष्टमजनिष्ट, यस्मै
मन्दमाम्यस्य' गृहे गृहीताहारोपयोगस्यास्य मुनेर्मनः केवपावपधितर्विष्मद्विः सममूर्त्
इत्युर्पकुष्ठानिष्टपेष्टितवर्तमानमात्मान धिमिष्वग्मापामयमसिकामप्यस्तिकपोसरेबावेतमुष्मा-
दसतालालाङ्गिमिष्विरोमन्विरारयिष्वोदसीम्वर्यनिकटेनाञ्जलिपुटेनाशयाशय मेदिन्यस्य
वसुधत् । पुनश्चोद्रीर्जोदीर्जतुर्बर्णैकूरैर्निकरे भर्मिभमिनिर्मरारम्भपतितशरीरं सप्रयत्नकर
स्यामसीमं ससुत्याप्य अञ्जनिताक्षान्नप्रसगमुत्तरीयवुकुलाप्यलविलुप्तसलिलसंपमज्जसं
षाहनेनानुकम्पनविधानाधितवचनरचनेन च साधु समाश्यासयत् ।

तवन् प्रमोदाभूतामम्बुद्वयास्तवास्तवलयोक्तसतीतिस्तथाधिन सुरधरो मुनिपदैवार्यं
सहर्षमभवजोत्कण्ठितहृदि 'त्रिविधोत्पादिविपरिपदि परशुणुप्रहृष्टाप्रहृष्टनिधानेन विबुधप्रधानेन
प्रान्धराभ्यसम्भ्याङ्गेनसर्जितजगत्तयीनिजगामधेयप्रसिद्धिर्धोक्तसम्भक्त्याधिगमायधेयबुद्धि
दैवधर्जितस्तथैवाय मया महाभागो निर्धर्जित' इति विचिन्त्य प्रकटितारमकपप्रसरस्तमव-
नीम्भममरतकप्रसूनधर्पनम्बुगुमीनाशोपघातरुचिमि साधुकारपरम्याहारावसरगुचि-
निव्दरैरुपघारैरनिमिषैपयसमूष्ममिर्मनोमिन्नपितसंपावनजिष्णुमिस्तैः पठितमौञ्जविधे-
यविधोपदेशगमैर्वस्त्रसदमैश्च समाभ्य सुरसेष्यं वैशमाविशेत् ।

सब उस मायावी मुनि राखाके मनका भाव जाननेकी इच्छासे, मेघके गर्जनकी भी मात
कर देने वाली गड्ढेकी आवाजके साथ ओ कुछ साया पिया था वह सब बमन कर दिया । 'यह
कहा बुरा हुआ ओ मुझ आमागेके घर भोजन करनेसे मुनिराखकी बमन हो गया ।' इस प्रकार
अपनेको अनिष्ट चेष्टाओंसे कुछ मानकर वह राखा अपनी मिन्दा करते हुए मायामयी
मन्त्रियोंके झुण्डसे आक्रान्त उस साधुके मुखासे निरन्तर बहने वाली धारसे सने हुए अन्नको,
छत्तीके निवासस्थान कमलके समान सौन्दर्यशाली अपनी अञ्जलिसे उठा-उठाकर मुमिमें फेंकने
लगा । फिर बमन किये हुए दुर्गन्धित अन्नपर मूछां आधानेके कारण एक दम गिर पड़े साधुक
शरीरको बड़े भ्रमके साथ अपने हाथोंमें उठाकर अपने दुपट्टेके कोनेको अन्नमें मिगोकर उससे उसे
बोने लगा । तथा फाचम्पी बगैरह व दयापूर्ण शब्दोंके द्वारा वह साधुको डाँडस बधाने लगा ।

राखाके इस सेवाभावको देखकर मुनि वेषधारी उस देवके प्रमोदरूपी बन्धसे परिपूर्ण
हृदय रूपी कमारीमें प्रीतिरूपी कृता कदम्बहाने लगी । वह साधने लगा—'सम्यग्दानक धर्मेन
सुननेके लिय उत्कण्ठित देवताओंकी समामें, दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेका आग्रह रखने वाले
इन्द्रने तीनों ओरोंमें अपने नामका स्थापन करनेवाले यथोक्त सम्यक्त्वके आराधक इस राखाके
सम्बन्धमें कैसा कहा था वैसा ही इस महाभागकी मैने पाया । ऐसा सोचकर उसने अपना
असमी रूप प्रकट कर दिया । और अमर सरक पुष्पोंकी वर्षा, दुन्दुभिके आनन्दपूर्ण नाद तथा
दूसरोंके आदर-स्फुरक अवसरपर किये जाने वाले अन्य महान् उपचारोंके द्वारा राखाका बड़ा
सम्मान किया और उसे पाठमात्रसे सिद्ध होनेवाली अनेक विषाएँ तथा बल बगैरह देकर स्वर्ग-
लोकको पसा गया ।

१ विवर । २ निर्विघ्नं वात् । ३ मयवामस्य— अ य । ४ इत्यपहृष्ट—व । निम्नलीय
वेष्टा । ५ कसमी निदात् । ६ त्यजमान् । ७ बौरनसमुद्भू । ८ माया भ्रमज ।—ममिभ्रम—आ ।
९ बल । १ तत्परचात् । ११ वैज । १२ स्थापित । १३ बृह । १४ देव । १५ उपघाटमात्रेण
स्वाधीनविधोर्दोषसहितवर्णः ।

भवति चात्र श्लोकः—

बालवृद्धगदगलानामुनीनौद्वायनः स्वयम् ।

भर्जन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरन्दरात् ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ।

अन्तेर्दुरन्तसंचारं वहिराकारसुन्दरम् ।

न श्रद्धात्कुट्टीनां मतं किम्पाकसंनिभम् ॥१७३॥

श्रुतिशाक्यशिवास्त्रायः क्षौद्रमांसासवाश्रयः ।

यदन्ते मखमोक्षाय विधिरत्रैतदन्वयः ॥१७४॥

भर्मिभस्मजटावोटयोगपट्टकटासनम् ।

मेखलाप्रोक्षणं मुद्रा वृषीदण्डः करण्डकः ॥१७५॥

शौचं मज्जनमाचामः पितृपूजानलार्चनम् ।

अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेय विराजते ॥१७६॥

को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः ।

को बन्धः कश्च मोक्षो वा यत्तत्रेदं न विद्यते ॥१७७॥

आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु ।

नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते ॥१७८॥

इसके विषयमें भी एक श्लोक है, जिसका आश्रय इस प्रकार है—“बाल, वृद्ध और रोगसे पीड़ित मुनियोंकी स्वयं सेवा करनेवाला, निर्विचिकित्सा अगका पालक, राजा उद्वायन इन्द्रके द्वारा प्रशंसित हुआ ।”

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निर्विचिकित्सा अङ्गका वर्णन करनेवाला नौवों कल्प समाप्त हुआ ।

[अब अमूढदृष्टि अङ्गको बतलाते हैं—]

जिसके अन्दर बुराईयाँ भरी है किन्तु जो बाहरसे सुन्दर है, किम्पाकफलके समान ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके मतपर श्रद्धा मत करो ॥१७३॥

वैदिक मतमें मधुके प्रयोगका विधान है, बौद्धमतमें मांस-भक्षणका विधान है, और शैवमतमें मद्यपानका विधान है। इन आम्नायोंमें जो यज्ञ और मोक्षकी विधियाँ हैं, उनमें भी उक्त वस्तुओंके सेवनका विधान आता है ॥१७४॥

नशा करना, भस्म रमाना, जटाजूट रखना, योगपट्ट, कटिसूत्र-धारण, यज्ञके लिए पशुवध करना, मुद्रा, कुशासन, दण्ड, पुष्प रखनेका पात्र, शौच, स्नान, आचमन, पितृतर्पण और अग्निपूजा, ये सब आत्मतत्त्वसे विमुख साधकोंकी प्रक्रिया हैं ॥ कौन देव है ? तत्त्व क्या है, तपस्याका क्रम क्या है ? बन्ध किसे कहते हैं ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? ये सब बातें वहाँ नहीं हैं ॥१७५-१७७॥

यदि देव और शास्त्र निर्दोष न हो तो प्राणियोंकी शुद्ध क्रिया भी श्रेष्ठ फलको नहीं दे

१ भर्जन्निर्विचिकित्सात्मास्तुतिं प्रापत्पुरन्दरात् ॥७०॥—धर्मर पृ० ७१७० । २ विपवृक्षफलप्रायं वहि शोभामनोहरम् । महामोहलतामूलं मतं मिथ्यादृशा मतम् ॥४०॥ प्रबोधसार । ३ श्रौतवृद्धशिवाम्नाया मधुमासासवाश्रया । सुधिया न प्रशस्यन्ते ब्रह्मतत्त्वेषु सस्थिता ॥४१॥—प्रबोधसार । वेदे क्षौद्रस्वीकार । बौद्धमते मासांम्नाय । शैवमते मद्यम् । ४ यज्ञेन कृत्वा मोक्षनिमित्तं विधिं क्रियते (?) ५ -जूट-व० । ६ वृषी-शतिना कुशासनम् ।

तत्सस्त्य ग्रहासा या न कुर्वीत कुत्रापि ।

ज्ञानविज्ञानयोस्तेषां विपश्चिद्व्यस्य चिन्मये ॥१७६॥

धृतामघोपाख्यानाम्—मुत्ताफस्तमक्षरीविराजितविलासिमीकणकुण्डलेषु पाण्डयमण्ड
लेषु पौरपुण्याचार्यविरितविद्युत्तायां दक्षिणमधुरायामशेषमधुराचार्यपारगमचक्षिषोभामु-
धिमन्यसाधितसकलमुपलभामाम्, अष्टाङ्गमहानिमित्तसप्तसिद्धिमधिकप्रियणाधिकरणम्
अधिलक्षमण्यसप्तसिद्धोपास्यमानधरणम् अत्याश्चर्यसप्तधरणगोचराधारधातुपीचमत्कृतचित्त
अधरोष्परचित्तधरणार्थनोपधारं श्रीमुनिगुप्तामभ्याहार भवन्त भगवन्तं गण
गोमनाङ्गनापाङ्गासूतसारणीसंखम्बधीभस्य विलसार्थमेकिगोधस्य रतिकेसिधिलासविग
क्षितनिक्षिप्तेस्तनानेककामनी दक्षिणधेनी मेघकूटपङ्कनाभिपत्न्योपान्त सुमतिशीम
न्तिनीकान्त ससारसुखपराङ्मुक्तप्रतिभङ्गश्लोकराय सुतस्य निजैश्वर्यं वितीर्य पर्य-
सितदेश्यविक्रप सकलाम्बरधरविद्यापरिमहस्मीप सप्रभयममिवन्ध्यामवधविद्यामहन्
भगवन् पौराङ्गनाष्टज्ञारोत्तरङ्गापाङ्गुनदकस्मररायासुत्तरमधुराया जिनेन्द्रमखिरचन्द्रा-
ह्वयवोह्वयवर्तौ धर्तौऽहम् । अतस्तधगपीगमनाय तत्र भगवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि ।
किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यमित्यपृच्छत् ।

सकृत् । जैसे बिजादियोंमें कुम्भीन सन्तानकी मासि नहीं होती ॥ इसलिय मिथ्यादृष्टियोंकी मनसे
प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और न बचनसे स्तुति करनी चाहिए । तथा सम्मदार मनुष्योंका
उनके ज्ञानादिकको देखकर प्रममें नहीं पड़ना चाहिए ॥१७८-१७९॥

मातार्थ—अतएवका तत्त्व मानना, सांटे गुरुको गुरु मानना, कुदेवको देव मानना और
अपनेको धर्म मानना गूढता है । और जो इस प्रकारकी गूढता नहीं करता वह अमूढदृष्टि अन्नबाबा
कहा जाता है । कुछ लोगोंका यह भाव रहता है कि शैक्षिक कल्याणके लिये कुदेवोंकी आराधना
करनी चाहिए । किन्तु यह सब शीघ्रभूतता है । इस प्रकारकी गूढता सम्पन्नदृष्टिको क्षाना
नहीं देती ।

४ अमूढदृष्टि अंगमें प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा

इस विषयमें एक कथा है, उसे सुनें—

पाण्ड्य देशकी दक्षिण मधुरा नगरीमें श्री मुनिगुप्ताचार्य विराजमान थे । वे समस्त
श्रुत स्मृतिके पारंगामी थे, उनके अवविज्ञान रूपी समुद्रकमण्डयमें समस्त भुवनके भाग भरमान थे, वे
अष्टाङ्गमहानिमित्तके ज्ञाता थे समस्त मुनिसब उनके शरणोंकी उपासना करता था । उनके
आश्चर्यकारी सप्तराजको देखकर विद्याधरोक स्वामिबोके चित्त भी आश्चर्यचकित हो गये थे
और वे उनके शरणोंकी पूजा करते थे ।

विश्वभार्थ पर्यटकी दक्षिण अंगिके मेघकूट नामक नगरका राजा संसारके सुखसे विमुक्त
होकर, अपने पुत्र चन्द्रधरको अपना राज्य देकर विरक्त हो गया । और मुनिगुप्ताचार्यके समीपमें
उसने दक्षचारित्र धारण कर लिया । साथ ही परोपकार और बन्धना बगैरहक लिये उसने कुछ
विद्यार्थ भी अपने पास रखी ।

एक दिन मुनिगुप्ताचार्यके पास आकर वह बाबा— 'भगवन् मैं उत्तरमधुराके जिगाठ्योंकी

१ घास । २ समुद्र । ३ अष्टाङ्गमहानिमित्तानि अष्टारिशासीमस्वरभ्यम्बजज्जावधिममस्वना ।

४ विद्याधर । ५ देशज्जा ।

मुनिसत्तमः—‘प्रियतम, यथा ते मनोरथस्तथाभिमतपथः समस्तु । संदेष्टव्यं पुनस्तत्रैतावदेव यदुत तत्पुरीपुरंदरस्य वरुणधरणीश्वरस्य शचीसदृशः सुदृशः पतिजिनपतिचित्चर-
णोपचारपदं व्या महादेव्या रेवतीतिगृहीतनामया मदीयाशीर्वाच्या, तथावश्यकविशेषवश्य-
चित्तं सुव्रतभगवतो वन्दना च ।

देशे यतिवर —किमपरं तत्र भगवन्, जैनो जनो नास्ति ।

भगवान्—‘देशव्रतिन्, अल विकल्पेन । तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्यार्हतेतरशरी-
रिसंपन्ना समक्षा स्थितिः’ ।

खचरविद्यावीजप्ररोहमल्लकः क्षुल्लको ‘यथादिशति दिव्यज्ञानसंगवान्भगवान्’ इति निगीर्य गगनचर्ययावतीर्य चोत्तरमथुरायां परीक्षेय तावदेकादशाङ्गनिधानं भव्यसेनम् । तदनु परीक्षिष्ये सम्यक्त्वरत्नवर्ती रेवतीमिति कृतकौतुकः कलमकणिशकिंशारूपकाशके-
शपेशलासरालचूलमुत्तप्तकाञ्चनरुचिरुचिरशरीरगौरतानुकूलमरविन्दमकरन्दपरागपिङ्गलनय-
नमतिस्पष्टविकटवर्णवर्णनोदीर्णवदनमेकादशवर्षदेशीयमतिविस्मयनीयं कपटवदुवेषमाश्लिष्यं
तन्मुनिमतमुद्वसितमयासीत् ।

वेषमुनिस्तमीक्षणकमनीयं द्विजात्मजसजातीयं विलोक्य किलैवं स्नेहाधिक्यमाली-
पत्—‘हंहो, निखिलद्विजवंशव्यतिरिक्तसुकृतकृतकल्याणप्रकृतितया समस्तलोकलोचनानन्दो
त्पादनपटो वटो कुत खलु समागतोऽसि’ ।

वन्दना करना चाहता हूँ अतः उस नगरीको जानेकी आज्ञा प्रदान करें । तथा उस नगरीमें यदि किसीसे कुछ कहना हो तो वह भी बतला दें कि किससे क्या कहूँ । आचार्य बोले—‘प्रियवर ! अपने मनोरथके अनुसार मथुरा नगरीको जाओ । और वहाँके लिए मेरा इतना ही सन्देश है कि उस नगरीके स्वामी वरुण राजाकी रानी जिन भगवान्के चरणोंकी अनन्य उपासिका पतिव्रता महादेवी रेवतीको मेरा आशीर्वाद कहना और अपने आवश्यकोंमें लीन भगवान् सुव्रतमुनिसे वन्दना कहना ।’

‘भगवन् ! क्या वहाँ अन्य जैन यति नहीं हैं ?’—देशव्रतीने पूछा ।

आचार्य—‘देशव्रती ! यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है । वहाँ जानेपर तुम्हें जैन और जैनेतर मनुष्योंकी स्थिति प्रत्यक्ष हो जायेगी ।’

आकाशगामिनी विद्यामें पटु वह क्षुल्लक ‘दिव्यज्ञानी भगवान्की जो आज्ञा’ इतना कहकर आकाश मार्गसे उत्तर मथुरामें जा पहुँचा । वहाँ उसे कौतूहल हुआ कि पहले ग्यारह अङ्गके धारी भव्यसेनकी परीक्षा करनी चाहिए, फिर सम्यक्त्वरूपी रत्नसे भूषित रेवतीकी परीक्षा करूँगा । यह सोच उसने ग्यारह वर्षके बालकका अत्यन्त आश्चर्यकारक रूप बनाया । उसके धान्यकी मञ्जरीके अग्रभागकी तरह पीले केश थे, तपाये हुए सोनेके समान शरीरका रूप था, शरीरके अनुरूप ही कमलके रस और रजके समान पीले नेत्र थे और मुखसे अति स्पष्ट सुन्दर स्तुति पाठ करता था । ऐसा रूप बनाकर वह विद्याधारी क्षुल्लक भव्यसेन मुनिके वास-
स्थानपर गया ।

उस सुन्दर ब्राह्मण बालकको देखकर वह मुनिवेषी बड़े स्नेहसे इस प्रकार बोला—

१ पतिश्च राजा जिनपतिर्वीतरागस्वामी तयोश्चित्तचरणौ पत्युश्चित्तं जिनपतिश्चरणौ । २ स्थान मार्गो वा । ३ मद्दृशा । ४ प्रत्यक्षा । ५ भाजन । ६ अक्षरोच्चार । ७ गृहीत्वा । ८ स्थान । ९ अधिक ।

ममिनयप्रनमनोद्वादनयधमोगवप्रयोगधरकमह्वरक, सकलकलाविलासावासविह
खनपवित्रात्पाटलिपुष्पात्'। 'किमर्थम्'। 'अभ्ययनायम्'। 'काश्चिजिगांसाधिकरणमस्त
करणम्'। 'याश्मलसालमकरप्रकरणे व्याकरणे'। 'यद्येव मरुतिके'। 'स्याध्यायध्यानसर्वस्य
समास्व'। परयाधिमन्त्रविचारणवाक्प्रकमा'से भगवन्, साधु समासे'।

तदन्वतीतवतीपु क्रियतीपुचित्कासकलासु 'घटो, ललाटतपो धर्तते मार्तण्ड'। तद्व
हायेम कमण्डलुम्। पर्यटयानगच्छावा'।

वदुः—'यथावापयति भगवान्'।

पुनर्मंगरवाहिरिकायां निर्गते सैकपसयते स कपटवदुर्मयामयशप्याङ्गु रनिकरुनिकीर्ण
विहारावतीर्णमधनिमकार्पीत्। तद्दर्शनावाकृतियतिरपि मनोमयसम्बिष्ट।

वदुः—'भगवन्, किमित्यकाण्डे विलम्ब्यते।

'घटो, प्रवचने किञ्चित् 'शप्याङ्गु रा स्याद्यत् प्राणिन' पठन्ते'।

'भगवन्, स्यात्साविपु मये 'क्रियतिघण्ट' अस्वमीपां प्राण'। केवलं रत्नाङ्गु रा एव
धराधिकार ह्येते 'शप्याङ्कुरा'।

'समस्त ब्राह्मण वक्षसे अधिक उपासित पुण्यसे मनोरम प्रकृति होनेके कारण समस्त लोगोंने
धौलोको आनन्द देनेवाले बाळक, कहाँसे आते हो?' 'नये मनुष्योंके मनको प्रसन्न करनेवाले
वचनोंके प्रयोगमें कुछ भगवन्, मैं समस्त कलाओंमें प्रवीण, विद्वानोंसे पवित्र पाठ्यपुत्र नगरसे
आता हूँ।'।

'क्यों आये हो?'

'पढ़नेके लिए।'।

'क्या पढ़ना चाहते हो?'

'वचनोंपको दूर करनेमें समर्थ व्याकरण पढ़ना चाहता हूँ।'।

'तो स्वाध्याय और ध्यानमें भी, तुम मेरे पास ही रहो,'।

हे परबालियोंके मन्त्रको विचारण करनेवाले वचनोंमें प्रवीण भगवान्! जैसी आज्ञा।'।

आपके पास ही रहता हूँ।

उसके पश्चात् कुछ काल बीतनेपर मुनि बासे—

'बाळक! सूर्य मध्याह्ने आगया है। अब कमण्डलु लो, चटो घूम आये।'।

बाळक—भगवन्! आ आज्ञा।'।

नगरसे बाहर जानेपर उस कपटवेपी बाळकने उस विहारभूमिका मायामयी पासके
अंकुरासे टक दिया। उमे देख कर वह भुमिवपी भी बोझा सकपका गया।

बाळक—'भगवन्! ध्यधने क्यों देर करते हैं?'

'बाळक! क्षात्रमें घामक इन अंकुरोंको स्थावर जीव समझाया है।'।

१ वचनमेव अंगवर्त तस्य (प्रबोधि) वरत—विद्य । २ अथ्यवचनमुनिच्छा । ३ त्रिष्ट । ४ वाचनप्रश्न
एव अत्र तत्त्वा धरत । ५ त्रिष्टामि । ६ पर्यटन इत्या । ७ वैपचारिणि । ८ वातभृत् । तस्या—मु ।
९ त्रिष्टि पु—अ । १० मध्या—दु ।

वेशमुनि 'साध्वयमभिधाति' इति विचिन्त्य विहृत्य च नि शङ्कं निष्पादितनीहारो विरहितव्याहार^१ करेण 'किमप्यभिनयन्नेवमनेनोक्तः—'भगवन्, किमिदं मौनेनाभिनीय-
ते । जिनरूपाजीव ।

अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च
ध्वनन्ति मुनयो मौनमदनादिषु कर्मसु ॥१८०॥

इति मौनफलमविकल्प्य जातजल्प 'द्विजात्मज, समन्विष्य समानीयतामावायत्कायो गोमयो भसितपटलमिष्टकाशकल वा' ।

'भगवन्, अखिललोकशौचोचितप्रवृत्तिकायां मृत्तिकायां को दोष' ।

'वटो, प्रवचनलोचननिचायिकास्तत्कायिका' किल तत्र सन्ति जीवाः ।

'भगवन्, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवगणः । न च तेषु तद्व्ययमुपलभ्यते' ।

'यद्येवमानीयतां मृत्स्ना कृत्स्नाऽसुमत्सेव्या' । वटुस्तथाचर्यं कुण्डिकामर्पयति । मुधा-
मुनिर्जलविकलां कमण्डलुं करेणाकलय्य 'वटो, रिक्तोऽयं कमण्डलुः ।

'भगवन्, इदमुदकमचिरवले तल्ले समास्ते' ।

'वटो, पटापूतपानीयादाने महदादीनं च किमिति यतो जन्तवः सन्ति ।

तदस्त्यमिह स्वच्छतया विहायसीव पयसि तदनवलोकनादिति वचनात्तत्र बहिस्त-

भगवन् । इनके श्वासादिकमेंसे कितने प्राण होते हैं ? घासके ये अकुर तो रत्नोंके समान पार्थिव हैं ।'

'यह बालक ठीक कहता है' यह सोचकर उस मुनिवेषीने निःशङ्क हो कर उस तृणोंसे व्याप्त पृथ्वीपर विहार किया और शौचसे निवृत्त होनेपर मौनपूर्वक हाथसे सकेत किया । तब बालक बोला—'भगवन्, मौनसे आप सकेत क्यों करते हैं ?' यह सुनकर वह मुनिवेषी 'अभिमान-की रक्षाके लिए तथा शास्त्रकी विनयके लिए भोजन आदि करते समय मुनिगण मौन धारण करनेको कहते हैं' मौनके इस फलका विचार किये बिना बोला—'ब्राह्मणपुत्र । कहींसे भी खोजकर सूखा गोबर रख या ईटका टुकड़ा लाओ ।'

'भगवन् । सब लोग मिट्टीसे शुद्धि करते हैं, मिट्टीमें क्या दोष है ?'

'बालक । शास्त्रमें कहा है कि मिट्टीमें पृथिवीकायिक जीव रहते हैं ।'

'भगवान् । जीवका लक्षण तो ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है, किन्तु मिट्टीमें ये दोनों नहीं पाये जाते ।'

'तो सब जीवधारियोंसे सेवनीय मिट्टी लाओ ।'

बालकने मिट्टी ला दी और कमण्डलु रख दिया । हाथसे कमण्डलुको खाली जानकर मुनिवेषी बोला—'बालक ! यह कमण्डलु, खाली है'

'भगवन् । सामने तालमें तो पानी है ।'

'बालक । बिना छने पानीको काममें लानेमें बड़ा पाप है; क्योंकि उसमें जीव रहते हैं ?'

'यह बिल्कुल झूठ है क्योंकि आकाशकी तरह स्वच्छ इस पानीमें जीव नहीं दिखाई देते ।'
यह सुनकर उस द्रव्य लिङ्गीने तालपर जाकर शौच किया की ।

यह सब देखकर वह विद्याधर सोचने लगा कि इसी लिए अतीन्द्रिय पदार्थोंको

१ मौनी । २ सज्ञा कुर्वन् । ३ दृष्टा । ४ पृथ्वीकायिका । ५ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वय । ६ कर्मान्नवदोष ।

न्त्रसंयमिनि तस्यामिनिवेशयशिकाशयवेशमनि तद्देशमुद्दिष्टाधिसशीवे नक्षत्रेण चिह्नितम्
अत एव मगवान्त्रीमित्रियपवार्थप्रकाशनशेमुपीप्राप्त श्रीमुनिगुप्तयो[न्तो]ऽस्य किमपि न वैवाचिकं
प्राहिणोत् । यस्मादस्मिन्मयीपवर्तिचक्षुमिधान्तस्तत्त्वसर्गे निसर्गमलीमस मानसं वहि
प्रकाशमसरसं च ।

भवति चात्र श्लोक—

जळे तैसमिधैतिहा^१ दूषा तत्र वहिषु ति ।

रसवैस्स्याच्च यन्नान्तर्बोधो वेधाय पातुषु ॥१८१॥

इत्युपासकाम्यवने भवसेनमुनिवत्सलो नाम दशमः कल्पः ।

परीक्षितस्तावत्प्रसर्गोपिर्मिषिच्यद्वयसेनो भवसेनस्तद्विधानी मगधवाशीवादिपादपोत्या
वृषसुमती रेवती परीक्षे इत्याक्षितान्तकरण पुरस्पर्ष पुरवर्दशि 'इसांशोर्त्तसावात्येवि
कान्तराक्षकमलकर्मिकास्तीर्णमुगाजिनासीमपर्यङ्कपर्यायम् अमरसेरं संजातस्तोत्रसूत्रवर्तितो-
पधीतपूतकायम् 'भेसूतकुरकुरङ्कुम्भकुण्डसारकृत्तिकुलोत्तरासगसनिवेशम्, अनवरत्तहोमार
स्मसंभूतमसितपाण्डुपुण्ड्र^२ कोत्कट्टिगटल^३ वैशम् अम्बरवैरत्तवर्त्तिगीजलहासितकल्पकुम्भ
पल्लवसितोत्तरीयप्रतानपरिवेष्टितजटावल्लयम्, असूतोन्मसिन्धुरोष संजातकुत्तपादुराक्षमा
साकमम्बलुयोगमुद्रगङ्गितकरचतुष्टयम् उपासनसमायात-मत्तङ्ग-भृगु मर्ग-मरत-गौतम-मर्ग-
पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्त-पराशर-मरीचि-शिरोधन-^४ चम्परीकानीकास्वाधमानवद्वारावि-
जाननेकी बुद्धि रसनेबाळे श्री मुनिगुप्ताचार्यने इससे कुछ भी नहीं कहाया । क्योंकि
दीपककी बत्तीके मुलकी तरह इसका मन तो स्वभावसे ही कद्रुपित है किन्तु बाहरमें
प्रकाश दिखाई देता है ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

जहाँ बातुमें पारवकी तरह अन्तर्बोध चित्तके अन्दर नहीं मिटता, वहाँ अस्में तेलकी
तरह बाहरमें ही प्रकाशमान साम्प्रज्ञान व्यर्थ है^५ होता है ॥१८१॥

इस प्रकार उपासकाम्यवने भवसेन मुनिकी इष्टपेशा बतलानेवाला दसवाँ कल्प
समाप्त हुआ ।

भवसेनकी परीक्षा हो चुकी । अब मगवान् मुनि गुप्ताचार्यके द्वारा आशीर्वाद पानेवासी
रेवती रानीकी परीक्षा करनी चाहिए । ऐसा साबकर उस निघावरने नगरकी पूर्वदिशामें ब्रह्माका
रूप बनाया ।

वेदिकाके मध्यमें कमण्ठी कर्णिकापर बिछे हुए सृगचर्मपर वह पर्यङ्कासनसे बैठ हुआ
था । मान-सराबरमें उत्पन्न हुए कमलक पागोसे बना हुआ यज्ञपथीत उसक शरीरपर पड़ा हुआ
था । चन्द्रमाकें हिरणके बंधक कृष्णसार मृगक चर्मका बना हुआ उसका दुपट्टा था । मिरन्तर
होनेवाले होमकी भस्मका त्रिपुण्ड्र उसके मन्तकपर सुसोमिष्ठ था ।

गंगाक झरसे थोड़े गये कल्पवृक्षके बलकल्पसे उसकी अगणें भैंसी हुई थी । गंगाके
किनारोंपर उगे हुए वृषादूर, रुद्राक्ष मास कमण्डलु और यागमुद्रासे उसक चारों हाथ मुष्ट

१ शय्य । २ सन्ध्या । ३ ताम्र । ४ बाह्याधार । ५ पारवचर्म । ६ मेराय । ७ हृत्पद्
प्रवृत्तिमविम्वन्ती नसारनेका यस्य । ८ नगरस्य पूर्वदिशि । ९ अंतसारवर्ण अत्र पुष्ट । तस्य कृष्ण्य वर्तन
मुद्राया बन्ती बाधाम् । १० मानवरोचर । ११ कृष्ण्य साकटने यो मुनी वर्तने तस्य वर्गान्तरस्य मृगय
वचना । १२ उग्रक । १३ लयाट । १४ १५ वैश्वना । १६ धर्म । १७ एतै रूप्य एव मन्त्राः ।

न्दकन्दरविनिर्गलन्निखिलवेदमकरन्दसंदोहम्, उभयपार्श्ववस्थितमूर्तिमन्निखिलकलाचिला-
सिनीसमाजसंचार्यमाणचामरप्रवाहम्, उदारनादनारदमुनिना मन्यमानप्रतीहारव्यवहारम्,
अम्भोभवोद्भवाकारमासाद्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं जोभयामास ।

सापि जिनेश्वरचरणप्रणयमण्डपमण्डनमाधवी वरुणधरणीश्वरमहादेवी नृपतिपुरोहि-
तात्तमुदन्तमाकर्ण्य त्रिषष्टिशलाकोन्मेषेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते । तथा—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।

ब्रह्मेति गोः प्रगीता^३ न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥१८२॥

इति चानुस्मृत्याविस्मयमतिरतिष्ठत् ।

पुनः कीर्त्तयन्निशदिशि पवनाशनेश्वरशरीरशयनाश्रितापधनमितस्ततः प्रकामप्रसरत्तदङ्गोत्त-
रङ्गकान्तिप्रकाशपरिकल्पितामृताम्बुधिसंनिधानम्, उल्लेखोल्लसत्फणामणिमरीचिनिचयसि-
र्चयाचरितनिरालम्बास्वरचितानभावम्, अमृत्योद्यानप्रसूनमञ्जरीजालजटिलप्रतानवनमालाम-
करन्दमण्डितकौस्तुभप्रभाभावम्, असितसितरत्नकुण्डलोद्भूतसंपादितोभयं पक्षपक्षद्वयाक्षेप-
म्, अनेकमणिक्वाधिकाघटितकिरीटकोटिविन्ध्यस्तास्तोकस्तवकपारिजातप्रसवपरिमलपान-
परिचयचटुलचञ्चरीकचयरच्यमाना^४ रेन्द्रीवरशेखरकलापमतिं गम्भीरनाभीर्नर्दन्निर्गतोन्नालन^५
लनिलयनिलीनहिरण्यगर्भसंभाष्यमाणनामसहस्रकलमाखण्डलैर्जलधिसुतां सवाह्यमानकमकम-
थे । उसकी उपासनाके लिए मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिङ्गल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति,
पारागर, मरीचि और विरोचन ऋषिरूपी भ्रमरोंकी सेना आई हुई थी, जो उसके मुखकमल-
रूपी गुफासे झरनेवाले समस्त वेदरूपी पुष्पमधुके समूहका स्वाद ले रही थी । दोनों ओर खड़े
होकर समस्त मूर्तिमान् कलाओंकी तरह देवागनाएँ चामर धारती थीं और नारद मुनि द्वारपालका
काम करते थे । इस प्रकार ब्रह्माका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल
मचा दी ।

जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंमें स्नेहरूपी मण्डपको सुशोभित करनेके लिए माधवीलताके
समान उस वरुण राजाकी पटरानी रेवतीने जब राजपुरोहितके मुखसे उक्त वृत्तान्त सुना तो वह
विचारने लगी कि तेरसठ शलाकापुरुषोंमें तो किसीका भी नाम ब्रह्मा नहीं है । तथा—

“आत्माको, मोक्षको, ज्ञानको, चारित्रको और भरतके पिता ऋषभदेवको ब्रह्मा कहते
हैं । इनके सिवा और कोई ब्रह्मा नहीं है” ॥१८२॥

ऐसा विचारकर कुछ आश्चर्य करके चक्किन हो वह बैठी रही ।

इसके पश्चात् उस विद्याधरने नगरकी दक्षिणदिशामें विष्णुका रूप धारण किया । विष्णु
भगवान् शेषनाग शय्यापर लेटे हुए थे । इधर-उधर फैली हुई उनके शरीरकी कान्तिके प्रकाशसे
अमृतका समुद्र-सा बन गया था । उनके शेषनागके फणके मणिकी किरणोंके समूहरूपी वस्त्रसे
निरालम्ब आकाशमें चन्दोआ-सा तना था । अनेक प्रकारके मणि-मुक्ताओंसे बने हुए उसके मुकुटकी
चोटीपर पारिजात वृक्षके फूलोके वड़े-वड़े गुच्छे रखे थे । उनकी सुगन्धका पान करनेके लिए
उनपर बहुतसे भौरे एकत्र हो गये थे । वे ऐसे मालूम होते थे मानो नीले कमलोका बना यह

१ मूर्तिमत्य कला इव देवस्त्रीसमूह । २ कमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूप प्राप्य । ३ प्रणीता आ० ।
कथिता । ४ यमस्य दक्षिणदिशि । ५ शेषनागशय्या । ६ शरीर । ७ नागशरीर । ८ वन्य । ९ देव ।
१० कृष्णशुक्लपक्षौ । ११.—विकाधिकध-व० । १२ चपलभ्रमर । १३ नीलोत्पल । १४ ह्रद । १५ कमल ।
१६ क्षीरसागर । १७ लक्ष्मी ।

समनेभ्यःपराशरसारेङ्गमन्त्रकसंकीर्णकरम्, 'असुरध्वन्द्वनीकृतसुन्दरीसंपाद्यमानधामरोपवा
रम्यतिकरम्, अष्टेनानुजयिनीयमानसेयागतसुरसमाजम्, 'अघोराजयेयं यिशिष्य स पिशा
घट समस्तमपि नगरं सोमयामास । सापि जिनसमयरहस्यार्थसायसरस्यती रेघती कर्णपर-
रम्परया कियवन्तीमेतामुपभुत्स्य 'सन्ति अस्यधयक्रयतिमो मय बीमोवकीप्रभव । ते तु सप्रति
न यिद्यन्ते । अय पुनरपर पय कश्चिद्विद्मजासिको लोकप्रियलम्भमायावतीर्णः इति निर्णया
यिद्यच्छिष्टा समासीत् ।

पुनः 'पाशध्वविशि शिशिरगिरिमिश्रकाराकारकायशाक' रात्रितशरीरामोगम' न्यग्भूतनागमन्
नानिधि' रीशस्तन्मुक्तिमस्तिमितपूएमाणम्, अर्निमयमविसर्पिकपूरोन्निधै' गमसंमवपरागपा-
व्युत्तिपिच्छपेरिकरम्, अचिरगोरोधनामङ्गरागपिङ्गलाग्न्येकपरिकल्पितभास्वरस्यणसरोज-
करम्, अवास्तकपाक्षकलापासवास्त्यययिलससम्मीक्षितसम्पतिकरम् मतिपिकरजटा-
जूटकोटरपयंदवगता 'टमलदनीतरङ्गकरकेलिकुतुहलितवालमात्रेय' करम्, आमरने भङ्गि-
सर्वमिताने नैकमुक्तमोगे' संगतानेकमाणिक्यधिरोक' निकरातिशयसा' रशार्द्धजालिनिधरा
जमानम्, उडुमरदमरुकाजै' कायकपाणपररुग्रिगुलजटवाद्वावितस्तकटशकोट' कोटिधित्ता-
रम्, स्वप्नेरे' मासुरचमेद्रघनुपिरवुर्दिनीकृतनर्तायमीप्रतानम्, अनलोद्भय-निकुम्भ' कुम्भोवर

धूसरा शिरोमूला है । विष्णुकी गहरी नाम्ति एक ऊँची नाम निकली हुई थी उसपर ब्रह्मा
विराजमान थे और वे सहस्रनामका पाठ करते थे । इसी उनके चरण-कमलोंकी सेवा कर रही
थी । उनके हाथोंमें शंख चक्र, कमल और लहर थे । बन्दिनी बनाई गई दैत्योंकी सुन्दरी
स्त्रियों चमर धारती थी और सेवाके लिए आये हुए देवताओंको अन्दर के खानेके लिए गन्ध
राजद्वारपर लड़ हुए थे ।

इस प्रकार विष्णुका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हड़बड़ मचा दी ।
मिन-सासनके रहस्यका जाननेमें सरस्वतीके मुख्य रेवती रानोंने भी परम्परासे इस बातको सुना ।
सुनकर वह विचारने लगी कि विष्णु तो हाते हैं किन्तु वे आजकल नहीं हैं । लोगोंको ठगनेके
लिए यह कोई इन्द्रवाक्या आया हुआ है । ऐसा निर्णय करके वह नहीं गई ।

इसके पश्चात् उसने पश्चिम दिशामें रुद्रका रूप धारण किया । वह हिमालय पर्वतक
छिलरके आकार शरीरवाले भुवमपर बैठे हुए थे । उनके बाम भागमें पार्वती बैठी थी ।
गारोक्ता और भाँगेके रागसे पीछे हुए नयन ऐसे मादूम होते थे माया मत्तक रूपी सरावरमें
स्वर्ण-कमल सिद्ध हुए हैं । गलेमें नरमुण्डोंकी माला पड़ी हुई थी । जटाओंके अन्दर बिहार
करती हुई गंगा नदीकी छहरोंमें बाल-पन्त्रमा खेळता था । भूजकी तरह धारण किये गये
बृहत्काय सर्पकी फणके रत्नोंकी किरणोंसे पितकपरा हुआ सिंहचर्म धारण किये हुए थे । डमरु
त्रिशूल सट्वांग आदि क्रिये हुए थे । गन्धामुरके चर्मसे टपकनेवाले रक्तने नृत्यभूमिमें वर्षाश्रुतुका

- १ चक्र । २ धनु । ३ कङ्क । ४ वैराणा स्त्रिय कायधारे भूषा । तामि 'वामरा' स्त्रियते
५ गहरी धारणाको जात । ६ विष्णुको कर्म प्राप्य । ७ परिणाम । ८. वरास्वामिन ।
९ परिणामाया विशि । १ भुवम । ११ पश्चाद्भूतभीरी । १२ निविड । १३ तरल ।
१४ शरीर । १५ लोचन । १६ दैवतवी । १७ चक्र । १८ रचना । १९ निधित । २ भूष ।
२१ शरीर । २२ किरण । २३ कन्दुर वज्रचर्म । २४ धनु । २५ -टकोट-य । शकोटा इत्यादि ।
२६ गन्धामुर । २७ निकुम्भोवर-य ।

हेरम्ब-भिङ्गिरिटि-प्रभृति-पारिपदपरिपत्परिकल्प्यमानवलिचिधानम्, अहिर्बुध्नावतरनिधान-
माकारमनुकृत्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास ।

सापि स्याद्वाटसरस्वतीसुरभिसंभावनयै ललवी वरुणमहीशमहादेवी इमां जनश्रुतिं
कुतश्चित्पश्चिमप्रतोलिखताद्विपश्चितो निश्चित्य, निश्च्यन्ते खलु प्रवचने तपःप्रत्यवायवार्ताऽ
भद्रा रुद्रास्ते पुनः संप्रति स्वकीयकर्मणां विपाकात्कालिन्दीसोदरोदरगतवर्तिनः
संजाता । तदयमपर एव कश्चिन्नरेन्द्रविद्यादिनोदाविदग्धहृदयमर्दो कपदोति च प्रपद्य
नि संदिग्धबोधा समासिष्ट ।

पुनः स्वापतेयेशदिशि^१ विश्वभरातलादूर्ध्वम्, अयोमुखासनदशसहस्रार्धावकृष्टम्,
पक्केन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम्, अखिलगतिगतोत्तरणमार्गैरिव^२ सोपानसर्गैश्चतुर्दिशमु-
पाहितावतारम्, अनर्घद्रुघणमणिश्लाघ्योन्नतनवप्राकारान्तराचरितस्पष्टाष्टविधवसुंधरम्,
अनवधिनिर्माणमाणिक्यसूत्रितत्रिमेषलालंकारकण्ठीरवैपीठप्रतिष्ठपरमेष्ठिप्रतिमशेषतः समा-
सीनद्वादशसमान्तरालविलसन्निलम्पानै^३ काशोकानोकहप्रमुखप्रातिहार्योपशोभितम्, ईषदुन्मि-
पदनिमिषोद्यानप्रसूनोपहारहरिचन्दनामोदसनाथगन्धकुटीसमेतम्, अनेकमानस्तम्भतडागतो-
रणस्तूपध्वजधूप^४ निपनिधाननिर्भरमुरगनरानिमिपनायकानीकानीतमहामहोत्सवप्रसरम्, अमि-
तो भवसेनप्रभृत्यार्हताभासप्रभावितयात्राधिकरणं समवशरणं विस्तार्य स विद्याधरः
समस्तमपि नगरं क्षोभयामास ।

समय उपस्थित कर दिया था । कार्तिकेय, कुम्भ, निकुम्भ, गणेश आदि उनकी पूजा करते थे ।
इस प्रकार रुद्रका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरको क्षोभित कर दिया ।
स्याद्वाटवाणी रूपी कामधेनुको दुहनेवाली रेवती महारानीने भी पश्चिम दिशाके मार्गसे
आनेवाले किसी ब्राह्मणसे उक्त समाचार सुना । वह सोचने लगी कि शास्त्रमें तपोव्रत ऋषियोंसे
रुद्रोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है । किन्तु इस समय तो वे सब अपने-अपने कर्मोंके उदयसे यमराजके
उदरमें चले गये । इस लिए यह कोई इन्द्रजाल विद्याके द्वारा मूर्ख मनुष्योंके हृदयोंको
फुसलानेवाला दूसरा ही रुद्र है ऐसा निर्णय करके वह रह गई ।

इसके बाद उस विद्याधरने उत्तर दिशामें जिनेन्द्रदेवके समवशरणकी रचना की । धरातलसे
पाँच हजार अनुपकी ऊँचाई पर एक इन्द्रनीलमणिकी गोलाकार उसकी भूमि थी । उस तक पहुँचने-
के लिए चारों दिशाओंमें सीढ़ियाँ बनी हुई थीं जो ऐसी प्रतीत होती थीं कि मानो चारों गति-
रूपी गड्ढोंसे निकलनेके ये मार्ग हैं । बहुमूल्य मणिसे निर्मित नौ ऊँचे प्राकार बने थे जिनके
मध्यमें आठ भूमियाँ थीं । माणिक्यसे बनी हुई तीन कटनियोंसे सुशोभित सिंहासन पर वह परमेष्ठी
की तरह विराजमान था । चारों ओर बारह सभाएँ लगी थीं और उनके बीचमें अशोक वृक्ष
आदि प्रातिहार्य थे । अनेक गन्धकुटी थीं, जो देवोद्यानके अधखिले हुए पुष्पोंसे और हरिचन्दनकी
सुगन्धसे युक्त थीं । अनेक मानस्तम्भ, तालाव, तोरण, स्तूप, ध्वजा, धूपघट और निधियाँ वहाँ
विराजमान थीं । तिर्यञ्च मनुष्य और देवोंके स्वामियोंकी सेनाके द्वारा वहाँ महामहोत्सव हो रहा
था । उससे प्रभावित होकर भवसेन आदि जैनाभास वहाँ यात्राके लिए आ रहे थे । ऐसे समव-
शरणकी रचना करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल मचा दी । जिनागमके उपदेशरूपी

१ रुद्रावतार । २ कामधेनु । ३ गोपी । ४. -श्रिता-व० । ५ यमराज । ६ इन्द्रजाल ।
७ उत्तरदिशि । ८ धनु । ९ चतुर्गति । १० व पसोपान-अ०, ज० । ११ सिंहासन ।
१२ देवदुन्दुभि । १३ धूपघट ।

भूपतामत्रोपाप्यान्म—सुराष्ट्रदेशे सुगोक्षणापवमलमूलायलोकितापहस्तितान्नामधेय
पाटलिपुत्रे सुसोमाकामिनीमकरध्वजस्य यशोप्यजस्य ममूञ्जः पराक्रमाक्रमाजान्तसकलप्रवीरः
सुषोरो नाम सुनुरनासाधितविद्यावृक्षसंयोगसमयस्याद्विदधिरूपकद्रुपितहृदयरवाद्य प्रायेण
परप्रविणवारादानोदारक्रियाः श्रीहार्धमेकया श्रीहार्धम गतं कितयकिरातपश्यतोहरवीरप-
रिपदमिदमयादीत्—‘ब्रह्मो यिकमीकरसिकेषु महासाहसिकेषु मधरसु मध्ये किं कोऽपि मे
प्रार्थयति यिमनोरपसारधिरस्ति, यः खलु पूर्वैश्चनिवेशापातकीर्तनं तामहसिपत्तने पुण्य
पुरपकाराभ्यामारमसाहृतरत्नाकरसारस्य जिनंश्रमकनामाधतारस्य धमिपपते सत्तत्तागा
एधिममूमिमागिनि जिनसद्यनि छत्रत्रयशिक्षणमण्डनीभूतमस्तुतद्योतसंभोड पैहूर्यमणिमानयति,
तद्वानेतु पुनरभिज्ञापयिष्यन्मिकमेव पारितोषिकम् ।

तत्र य खदप सुर्पो नाम समस्तमलिम्लुंवाप्रेसरो वीरः किस्वमलापीत्—‘देव
कियद्रहनमेतद्यतो योऽहं देवप्रसादाद्विषयसाधनविरचितामरावतीपुरस्य पुरंदरस्यापि
सूडाळकाटन्तर्गतं रत्न पातालमूलनिनीलमोगयतीनगरस्पोरगेम्बरस्यापि फणगुम्फनाधिकर्य
माजिष्यमपहरामि तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणभरणिमणि छोधनगोचरागारविहारमपहृतः
कियन्मार्गं महासाहसम् इति शौर्यं गङ्गित्वा निर्गत्यागत्य य गीढमण्डलमपरमुपायमप-

दोपके कारण किसी घमारमाफी खनञ्चा खौर निन्दा न करके उस दोपको छिपाना तो उचित ही है ।
किन्तु यदि धर्मका वेप धारण करके कोई बोगी खानबूझकर खनाचार करवा हो खौर सम्मानप-
मी न मानता हो तो ऐसे बोगियोंके दोषोंको छिपाना उपाहूहन अंग नहीं है ।

५ उपगूहन अगमें प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्तकी कथा

इस अंगक विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

सुराष्ट्र देशके पाटलीपुत्र नगरका राजा यशोवर्म बा । उसके बड़ा पराक्रमी सुषीर नामका
पुत्र बा । विद्यावृद्ध सज्जनोका समागम न मिळने तथा किसी खौर कवमाशोकी सगलिमें पड़
जानेसे वह परभन खौर परस्त्रीका सम्पट हो गया बा ।

एक बार कीड़ा करनेके लिए वह ऋद्धाक्रममें गया । वहाँ एकत्र हुए ट्या, चोर खौर
मीसोंकी परिपक्वसे वह बोझ— आप आग बढ़े फराकमी खौर बढ़ साहसी हैं । आपमें से खो कोई
चामकिति नगरमें अपने पुण्य खौर पौरुषसे समुद्रकी सारमूत सम्पत्तिको उपाधिस करनेवाले जिनेन्द्र
भक्त सेठके सतर्मजिह्म महलके ऊपर बने हुए जिनाक्यमेंसे तीन छत्रोंकी बोटीमें बाड़ी हुई अद्भुत
कान्तिबाजी पैहूर्यमणिको चुरा खयंगा उसे उसकी इच्छानुसार पारितोषिक दिया जायेगा ।

यह सुनकर समस्त खौरोंका मुखिया सुर्प बढ़ गर्बसे बोझ—‘स्वामी यह कथा कठिन है ?
खो मैं आपकी कृपासे आकाशके बन्तमें बनी हुई अमरावती नगरीके स्वामी इन्द्रक मुकुटमें खगे
हुए रत्नको खौर पासाकके खन्दर छिपी हुई भोगवती नगरीके स्वामी खेकनागक फणमें खगे हुए
माजिष्यको हर सकता हूँ उसके लिए ओंलोसे बिलाई देनेवाले महलके ऊपर स्थित खौर मनुष्य
मात्रके लिए धारणमून मन्दिरसे मणि चुराना कौन साहसका काम है ?’ इस प्रकार अपने खोर्बकी

श्यन्मणिमोपायाञ्जितैर्लुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणैः पक्षपारणाकरणैर्मासोपवासप्रारम्भैरपरैरपि तपःसरम्भैः क्षोभितनगनगरग्रामग्रामणीगणः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावाधिकरणतामभजत् ।

एकान्तभक्तिशक्तः स जिनेन्द्रभक्तस्तं मायात्मसात्कृतप्रियतमाकारमपरमार्थाचार-मजानन्नार्यवर्याचश्यमनेकानर्घ्यस्तनरचितजिनदेहसदोद्देऽस्मद्देवगृहे त्वया तावदासितव्यं यावदहं वहिन्नयात्रा विधाय समायामि' इत्ययाचत ।

अप्रकटकूटकपटकमः प्रियतमः 'श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठा', यदङ्गनाजनसंकीर्णेषु द्रवि-णोदीर्णेषु देशेषु विहितौकसां प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोदाहाराः खलु खलज-नतिरस्काराः' ।

श्रेष्ठी—'देशयतीश, न सत्यमेतत् । अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य वहिःसङ्गे स्वान्तं विकुरुतां नाम, न पुनर्यथार्थदृशामनन्यसामान्यसंयमस्पृशां यमस्पृशां भवादृशा यतीशाम्' इति वक्ताग्रहं देवगृहपरिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमित्रवान्धवेष्कृतविश्वासो मनःपरिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरवाहिरिकायां प्रस्थानमकार्षीत् ।

मायामुनिस्तस्मिन्नेवावसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्यार्धावशेषायां निशि कृत-रत्नापहारस्तन्मरीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीरः पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माण-परमेष्ठिनः श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशमाविवेश । श्रेष्ठयपि दुरालापवहलात्तत्कोलाहला-

गर्जना करके सूर्य नामका चोर वहाँसे निकलकर गौड देशमें आया । दूसरा उपाय न देख उसने मणि चुरानेके लिए क्षुल्लकका वेष बना लिया । कभी वह चान्द्रायण व्रत करता था, कभी एक पक्षमें पारणा करता था और कभी एक मासका उपवास करता था । इस प्रकारकी तपस्यासे नगर, गाँव वगैरहमें सर्वत्र हलचल मच गई । फैलते-फैलते यह चर्चा जिनेन्द्रभक्तके कानों तक भी पहुँची । वह परमभक्त उस मायावीके कपटवेषको न जानकर उससे प्रार्थना करनेके लिए गया कि—'आर्य श्रेष्ठ ! जब तक मैं देवकी यात्रा करके न लौटूँ तब तक आप अनेक अमूल्य रत्नोंसे रचित मेरे जिनालयमें ही ठहरें ।'

अपने कपट जालको छिपानेके लिए वह बोला—'सेठ जी ! ऐसा मत कहिए; क्योंकि स्त्रियोंसे व्यास और घनसे परिपूर्ण स्थानपर ठहरनेवाले निर्मल चित्त व्यक्तियोंका भी दुष्टजनोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेके उदाहरण पाये जाते हैं ।'

सेठ—'क्षुल्लक महाराज ! यह बात सत्य नहीं है । जिसने परलोकको नहीं जाना और जिसकी इन्द्रियों वशमें नहीं है, बाह्य निमित्तके मिलनेपर उमका मन भले ही खराब हो जाये, किन्तु यथार्थदर्शी और असाधारण सयमके पालक आप जैसे यतिपतियोंके विषयमें यह बात लागू नहीं हो सकती ।' इस प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र तथा बन्धु-बान्धवोंका विश्वास न करके वह सेठ आग्रह पूर्वक उस कपटवेषीको लिवा लाया । तथा मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन और वायुको अनुकूल पाकर परदेश यात्राके लिए नगरके बाहर जाकर ठहर गया ।

उसी दिन वह कपटी मुनि उस मकानको आदमियोंमें भरपूर जानकर आधी रातके बीतनेपर रत्नको चुराकर जैसे ही चला वैसे ही उस रत्नकी चमकसे द्वारपालोंने उसे जाते देख

सापि जिनसमयोपदेशरसीराय'ती रेखतीमं मतान्तोपक्रम कुतोऽपि जैनामासप्रति
भातोऽप्युप्यु सियाप्ते अन्तु चतुर्विंशतिरेय तीर्थंकरा, ते चाधुना सिद्धियधूसीधमप्यविहा
रा, त्वेपोऽपर एव कोऽपि मायाचारी तद्रूपधारी इति ज्ञायचार्यायिपर्यस्तमति पर्यात्मचा-
मन्धेय प्रवर्तितधर्मकर्मयुक्ते सुखेनासांघके ।

पुनर्वहुकृतकपटमसिर्वेशपतिस्सामिर्विचित्रप्रकृतिमिराष्ट्रतिभिस्तदास्थनितमकुमितमथ
गत्योपात्तमासोपधासियेष' क्रियामात्रानुमेयनिमित्तलक्षणो मेपो गोचराय' तद्वास्तव्यं
प्रविष्टस्तथा स्वयमेव यथाविधिमतपक्षेष्वस्तथापि विद्यावसादनलनाशयमनाविधिकार
प्रवृत्तास्तानेकमामसोऽज्ञानवैयत्यो' रेखत्या' क्वचिदपि मनोमूढतामपश्यन् 'अम्भ,
सर्वाम्बरचरविधासंकारसम्यक्स्वरत्नाकरलोषि वसिष्ठमधुरायां प्रसिद्धावसथ' सकलशुभ-
मभिनिर्माषचिद्वारायनि श्रीमुनिगुप्तमुनिर्मंदर्पितरत्नमेवधने' परिमुपिताशेषकल्मसलैक्यैर्वि-
लकस्यापपरम्परायिरो'चनेर्भेषती रेखतीममिन्द्रयति । रेखती भक्तिरसक्योऽज्ञसन्नपनरागा
मिरामं ससध्म व सत्प्रचारोपसद्वै' पदैस्तां विशमाधित्य कृतविधानेन विहितप्रणामा प्रमोद
मानमनपरिणामा तद्वर्पितान्यम्येयं चनाम्यावितो ।

भवति धात्र श्लोक—

कावम्भतोत्पन्नोत्तिष्ठपीठविपतिषु स्वयम् ।

आगतेष्वप्यमूत्रेण रेखती मूढताप्यती ॥१८३॥

इत्थुपासकाम्ययनेऽमूढतायोद्विपरिपुष्टो नामैकादशः कल्पः ।

जम्बूकी नदीक तुल्य रेखती रानी किसी जैनामासस इस समाचारको जानकर विचारने लगी कि
आगमनें चौबीस ही तीर्थंकर बतलाये हैं और वे सब इस समय मुक्तिपपी वृक्षके महम्मने विहार
करते हैं । इसलिये यह कोई मायाचारी है जो उनका रूप धारण किये हुए है । ऐसा निर्णय
करके वह अपने घरमें ही धर्मकर्म करती हुई सुखपूर्वक बैठी रही ।

इसके बाद अनेक रूप धरनेमें चतुर वह कुल्लुक अनेक रूपोंके द्वारा भी रेखती रानीका
बखल हुआ न देखकर, एक मासका उपवास करनेवाले साधुका वेष बनाकर अत्यन्त शिथिल
इन्द्रियोंके साथ आहारके लिये रेखती रानीके घरपर आया । रेखतीने स्वयं ही विधिके अनुसार
सब काम किया, किन्तु उस कुल्लुकने विद्याके बखसे कमी ध्वनिको नुम्रकर और कमी वमन
आदि करके उसके मनका उद्दिग्ध करनेका बहुत प्रयास किया, फिर भी वह उद्दिग्ध नहीं हुई ।
यह देखकर वह बोला—'माता । दक्षिण अधुरामे विराजमान सकल गुणोंसे मूर्धित श्री मुनिगुप्त
मुनि मेरे द्वारा समस्त पापसे रहित कल्याणकारक वधनोसे आपका ध्वमिनन्दन करते हैं ।'

यह सुनते ही रेखती रानीका मुल भक्तिरसके रागसे रंजित हो उठ्य । उसने उत्काल ही
दक्षिण दिशामें सात पग चढ़कर शालानुसार प्रणाम किया और हर्षसे गद्गद होकर मुनिके द्वारा
दिये गये आशीर्वादको स्वीकार किया ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'ब्रह्मा, विष्णु शिव और जिनके स्वयं पधारने पर भी रेखती रानी मूर्ख नहीं बनी ॥१८३॥

इस प्रकार उपासकाम्ययनमें अमूढता ज्ञानका वर्णन करनेवाला कल्प समाप्त हुआ ।

१ नदी । २ परिसामर्थ्येन आरम्भायामि । ३ आहारार्थं । ४ धूर्तत्वं । ५ सम्मर्षः ।
६ धीमनः । ७ मूढीउभती ।—व्यापादिता आ । ८. हस । ९. यक्ष । 'कावम्भ' । आपतेष्वपि नैवा
मूर रेखती वर्धयता —७२ प ।

उपगूहस्थितीकारौ यथाशक्तिप्रभावनम् ।

वात्सल्यं च भवन्त्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥१८४॥

तत्र—ज्ञान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च ।

तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयवृंहणम् ॥१८५॥

सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु ।

दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसंपदा ॥१८६॥

अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् ।

न हि भेके मृते याति पयोधिः पूतिगन्धिताम् ॥१८७॥

दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न वृंहयेत् ।

दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमवहिस्थिते ॥१८८॥

[अथ उपगूहन अगको वतलाते हैं—]

उपगूहन, स्थितिकरण, शक्तिके अनुसार प्रभावना और वात्सल्य ये गुण सम्यक्त्व रूपी सम्पदाके लिए होते हैं ॥१८४॥

क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव, तप, संयम और दानके द्वारा धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए ॥ तथा जैसे माता अपने पुत्रोंके अपराधको छिपाती है वैसे ही यदि साधर्मियोंमेंसे किसीसे दैववश या प्रमाद वश कोई अपराध बन गया हो तो उसे गुण सम्पदासे छिपाना चाहिए । क्या असमर्थ मनुष्यके द्वारा की गई गलतीसे धर्म मलिन हो सकता है ? मेढ़कके मर जानेसे समुद्र दुर्गन्धित नहीं हो जाता ॥ जो न तो दोषको ढाँकता है और न धर्मकी वृद्धि करता है, वह जिनागमका पालक नहीं है और उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना भी दुष्कर है ॥१८५-१८८॥

भाषार्थ—इस गुणके दो नाम हैं एक उपवृहण और दूसरा उपगूहन । अपनी आत्माकी शक्तिको बढ़ाना या उसे दुर्बल न होने देना उपवृहण कहलाता है । जनतामें धर्मका उत्कर्ष करना भी उपवृहण गुण कहलाता है । तथा यदि किसी साधर्मि वन्धुसे कभी कोई गलती बन गई हो तो उसे प्रकट न होने देना उपगूहन है । ये दोनों एक ही गुणके दो नाम दो कार्योंकी अपेक्षासे रख दिये गये हैं, वास्तवमें ये दोनों एक ही हैं, क्योंकि उपगूहणके बिना उपवृहण नहीं होता । यदि छोटी मोटी भूलोंके लिए भी साधर्मि भाइयोंके साथ कड़ाई बरती जायेगी और उन्हें जाति और धर्मसे वंचित कर दिया जायेगा तो उससे धर्मकी हानि ही होगी, क्योंकि धार्मिक पुरुषोंके बिना धर्म कैसे ठहर सकता है । अतः सम्यग्दृष्टिको समझदार माताके समान साधर्मि भाइयोंसे व्यवहार करना चाहिए । जैसे समझदार माता एक ओर इस बातका भी ध्यान रखती है कि उसकी सन्तान कुमार्गगामी न हो जाये और दूसरी ओर उसकी गलतियोंको ढाँककर उसकी बदनामी भी नहीं होने देती तथा एकान्तमें उसे समझाकर उसे क्षमा कर देती है, वैसा ही भव अपराधी भाइयोंके प्रति भी होना चाहिए । जो पुरुष इस तरहका व्यवहार करते हैं उनमें ही सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है । किन्तु दोषोंका उपगूहन करनेका यह आशय नहीं है कि दोषी दोष करता रहे और धर्म प्रेमवश दूसरे उस दोषको ढाँकते ही रहें । दैव या प्रमादवश हो गये किसी

१ मातृवत् । 'सवित्रीव स्वपुत्रेषु योऽपराधं न वाचते । दैवात्प्रमादात् सभूतं मातृवत् सौख्यं पुमान् ॥४३॥ वालिशस्यापराधेन मलिनं स्यान्न शासनम् । न हि मीने मृते याति पयोधिः पूतिपूरिताम् ॥४४॥—प्रबोधसार ।

भूयतामत्रोपाख्यान्—सुराष्ट्रदेशेषु शृंगेक्षजापश्मसमूलाद्यलोकितापहसितान्हास्यतन्त्रे पाटलिपुत्रे सुसोमाकामिनीमकरण्यस्य यशोच्चस्य भूमिजाः पराक्रमाक्रमाक्रान्तसकलप्रदीप सुधीरो नाम सुनुरमासादितविद्यावृक्षसंयोगसमयस्याश्रितविद्वेषकवृषितद्वयत्वाद्य प्रायेण परप्रविणद्वारावागोदारक्रियाः क्रीडार्थमेकदा क्रीडायने गताः किमयकिरातपेक्ष्यतोहरवीरपरिपक्षमिदमवादीत्—‘अहो, विक्रमीकरसिकेषु महासाहसिकेषु भयस्तु मयि किं कोऽपि मे प्रार्थनातिथिमनोरथसारथिरस्ति, या खलु पूर्वदेशनियेशायासकीर्तने तामलितपत्तने पुण्य पुरयकाराम्यामारमसात्स्नरत्नाकरसारस्य जिनेन्द्रमण्यनामावतारस्य धनिपते स्ततसागा यमिमभूमिमागिनि जिमस्तथनि छत्रवयशिसण्डमण्डनीभूतममृतघोतसैनोऽं धैर्यमणिमानयति, तदनेतु पुनर्मितापयिपयनियेकमेव पारितोषिकम् ।

तत्र च तदप्यं स्वर्णं नाम समस्तमलिमूर्त्तौ चाप्रेस्तो धीरः किञ्चैयमहापीत्—वेव क्रियद्गहनमेतद्यतो योऽहं वेवप्रसादाद्विषयवसानविरथितामरावतीपुरस्य पुरवरस्यापि वृडाक्षंकारन्तमं एतन् पातासमृन्निनीनभोगयतीनगरस्योरणेश्वरस्यापि फण्यगुम्फनाभिर्न्य माणिक्यमपहरामि तस्य मे मनुष्यमात्रपरिचाप्यधरणिमणि छोचनगोचरागाविहारमपहरताः किमन्मात्र महासाहसम् इति शौर्यं गर्जित्वा निर्गत्यागत्य च गौडमण्डसमपरमुपायमप-

दोषकं कारण किसी धमाराकी जवज्जा और निन्दा न करके उस दोषको छिपाना तो उचित ही है । किन्तु यदि धमका वेव धारण करके काई डोंगी जानबूझकर जमाचार करता हो और सम्झानेपर भी न मानता हो तो ऐस डोगियोंके दोषोंको छिपाना उपाग्रह अंग नहीं है ।

५ उपगूहन अगमें प्रसिद्ध जिनेन्द्र मच्छरी कथा

इस अंगके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

सुराष्ट्र देशके पाटलीपुत्र नगरका राजा यशोच्चन था । उसके बड़ा पराक्रमी सुवीर नामका पुत्र था । विद्यावृद्ध सज्जनोका समागम न मिलने तथा पिडासी और वदमासोंको संग्रहिमें पड़ जानेसे वह परधन और परम्प्रीका सम्पत् हो गया था ।

एक बार कीड़ा करनेके लिए वह कीड़ावनमें गया । वहाँ एकत्र हुए उग, बोर और मीलोंकी परिवदसे वह बोला—‘आप लोग बड़े पराक्रमी और बड़े साहसी हैं । आपमें से जो कोई वामसिद्धि नगरमें अपने पुण्य और पौरुषसे समुद्रकी सारमृत सम्पत्तिको उपार्जित करनेवाके जिनेन्द्र मच्छ सेठके सप्तमंशके महालकं ऊपर बने हुए जिनालयमेंसे तीन छत्रोंकी चोटीमें झड़ी हुई अद्भुत कान्तिवाली वैदूर्यमणिको चुरा लयेगा उसे उसकी इच्छानुसार पारितोषिक दिया जायेगा ।

यह सुनकर समस्त चोरोंका मुखिया सूर्य बड़े गर्वसे बोला—‘स्वामी यह क्या कहिन है ? जो मैं आपकी कृपासे आकाशके अन्तमें बनी हुई जमरावती नगरीके स्वामी इन्द्रके मुकुटमें लगे हुए रत्नको और पातालके अन्तर छिपी हुई योगवती नगरीके स्वामी क्षपमाणके फण्यने कंग हुए माणिक्यको हर सकृदा हूँ उसको लिए आँखोंसे दिसाई देनेवाके महालकं ऊपर स्थित और मनुष्य मात्रके लिए क्षरणमूल मन्दिरसे मणि चुराया कान साहसका काम है ?’ इस प्रकार अपने क्षीर्माकी

श्यन्मणिमोषायात्तिर्लुप्तकवेपश्चान्द्रायणाचरणैः पक्षपारणाकरणैर्मासोपवासप्रारम्भैरपरैरपि तपःसंरम्भैः क्षोभितनगनगरग्रामग्रामणीगण क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावाधिकरणतामभजत् ।

एकान्तभक्तिशक्त स जिनेन्द्रभक्तस्तं मायात्मसात्कृतप्रियतमाकारमपरमार्थाचार-मजानन्नार्यवर्यावश्यमनेकानर्घ्यरत्नराचितजिनदेहसदोहेऽस्मदेवगृहे त्वया तावदासितव्यं यावदह वहित्रयात्रां विधाय समायामि' इत्ययाचत ।

अप्रकटकटकपटकम प्रियतम 'श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठा', यदङ्गनाजनसंकीर्णेषु द्वि-णोदीर्णेषु देशेषु विहितौकसां प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोदाहारा खलु खलज-नतिरस्काराः' ।

श्रेष्ठी—'देशयतीश, न सत्यमेतत् । अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य वहि सङ्गे स्वान्तं विकुरुतां नाम, न पुनर्यथार्थदृशामनन्यसामान्यसंयमस्पृशां यमस्पृशां भवादृशां यतीशाम्' इति वक्ष्याग्रहं देवगृहपरिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमिश्रवान्धवेष्वकृतविश्वासो मन परिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरवाहिरिकायां प्रस्थानमकार्षीत् ।

मायामुनिस्तस्मिन्नेवावसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्यार्धावशेषायां निशि कृत-रत्नापहारस्तन्मरीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीरं पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माण-परमेष्ठिनः श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशमाविशे । श्रेष्ठयपि दुरालापबहलात्तत्कोलाहला-

गर्जना करके सूर्य नामका चोर वहाँसे निकलकर गौड देशमें आया । दूसरा उपाय न देख उसने मणि चुरानेके लिए क्षुल्लकका वेष बना लिया । कभी वह चान्द्रायण व्रत करता था, कभी एक पक्षमें पारणा करता था और कभी एक मासका उपवास करता था । इस प्रकारकी तपस्यासे नगर, गाँव वगैरहमें सर्वत्र हलचल मच गई । फैलते-फैलते यह चर्चा जिनेन्द्रभक्तके कानों तक भी पहुँची । वह परमभक्त उस मायावीके कपटवेषको न जानकर उससे प्रार्थना करनेके लिए गया कि—'आर्य श्रेष्ठ । जब तक मैं देशकी यात्रा करके न लौटूँ तब तक आप अनेक अमूल्य रत्नोंसे रचित मेरे जिनालयमें ही ठहरें ।'

अपने कपट जालको छिपानेके लिए वह बोला—'सेठ जी ! ऐसा मत कहिए; क्योंकि स्त्रियोंसे व्याप्त और धनसे परिपूर्ण स्थानपर ठहरनेवाले निर्मल चित्त व्यक्तियोंका भी दुष्टजनोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेके उदाहरण पाये जाते हैं ।'

सेठ—'क्षुल्लक महाराज ! यह बात सत्य नहीं है । जिसने परलोकको नहीं जाना और जिसकी इन्द्रियों वशमें नहीं हैं, बाह्य निमित्तके मिलनेपर उसका मन भले ही खराब हो जाये, किन्तु यथार्थदर्शी और असाधारण सयमके पालक आप जैसे यतिपतियोंके विषयमें यह बात लागू नहीं हो सकती ।' इस प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र तथा बन्धु-बान्धवोंका विश्वास न करके वह सेठ आग्रह पूर्वक उस कपटवेषीको लिवा लाया । तथा मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन और वायुको अनुकूल पाकर परदेश यात्राके लिए नगरके बाहर जाकर ठहर गया ।

उसी दिन वह कपटी मुनि उस मकानको आदमियोंमे भरपूर जानकर आधी रातके बीतनेपर रत्नको चुराकर जैसे ही चला वैसे ही उस रत्नकी चमकसे द्वारपालोंने उसे जाते देख

‘वृद्धाम्बिद्राणिद्रस्तदैव मुपामुनिमुद्रमवसौय स्थमावतः शुभ्रातागमपदार्थसमाचारमस्य
निरोपाम्यदर्शनम्यतिरिक्ताम्वयस्य समयस्याविवक्षितपरमायजनापेक्षया पुरपवाधो मामूषिति
च विचिन्त्य समस्तमप्यारुणिकलोकमेयममणीत्—‘महो दुर्वाणीकाः, किमिदमेव संयमिन्म-
मैस्तेन समापयन्ति मयस्ताः, यदपि कष्टं महातपस्विनामपि महातपस्वी परमनिःस्पृहाणामपि
परमनिःस्पृहाः प्रकृत्यैव महापुरुषो मीयामोपरहितचिन्तित्वास्मिन्ममतेन मणिमेनमा-
यारुण्यं माम स्तेनैमाधेन मयिभिः समाधनीयः । तत्पदार्थमभ्यर्णाम्य प्रसन्नैवपुनः सदाचार-
कैरवार्युनम्योतिपमेन समपत स्तुत नमस्तत वरियस्यत च ।

अथति चात्र श्लोकः—

मापासंयममोत्सर्वे” सर्वे रत्नापहारिणि ।

दोषं निपूषयामास जिनेन्द्रो मे त्वाक्परा ॥१८१॥

इत्थुपासकभ्यवने धर्मोपहृ ह्यार्हणो नाम द्वादशः कल्पः ।

परीपहे” अतोद्विन्मजातागमसङ्गमम् ।

स्थापयेद्भस्ववारमान समयी समयस्थितम् ॥१८०॥

ज्या और वे उसके पीछे खड़े । अपनेका मागनेमें असमय देल वह और उसी मकानमें घुस
गया जिसमें प्रस्थानके लिए बैठ ठहरा हुआ था । कोलाहल सुनकर सेठकी नींद खुल गई और
उसने उस कपटी मुनिको पहचानकर सब मामला समझ लिया । किन्तु अनभान आवर्तकी कारण
सबे देव, सबे शास्त्र और सब पदार्थोंके अनुगामी भिन-सासनकी बदनामी न हो इस विचारसे
वह सब रसकोसे बोला—‘अरे बकवादियो ! इस साधुका क्यों तिरस्कार करते हो ? यह
महातपस्वियोंमें भी महातपस्वी और अत्यन्त निस्पृहोंमें भी अत्यन्त निस्पृह है । इसका चित्त माया
और मोहसे रहित है । तथा यह प्रकृतिसे ही महापुरुष है । यह मेरे कहनेसे ही मणि स्या है ।
मुझे इसके साम जोरका-सा बताव नहीं करना चाहिये । अब धीम पास जाकर प्रसन्न मनसे
सदाचाररूपी कुमुदके लिए अन्द्रमाके त्रुत्स उस साधुसे क्षमा माँगो, उसकी स्तुति करो, और उसे
नमस्कार करो ।’

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

‘मायाक नियन्त्रणमें प्रवीण रत्नका चुरानेवाला त्वपक दावका जिनेन्द्र मछ सेटने
छिपाया’ ॥१८१॥

इस प्रकार उपासकभ्यवनेमें उपबृंहण गुणका वस्तु करने वाला बारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब विवर्तितकरण भोगको कहते हैं—]

परीपट और मनमें धक्काया हुआ तथा आगमके ज्ञानमें धूँय काद साधमी माइ यदि

१ शीघ्र । २ आत्मा । ३ अमरपुत्र । ४ अगमोपीनेन परिणामेन । ५ मायामोह-म् ।
६ औरवाचन । ७ निर्मलाय वरवर्द्धिपरमा मन्त्र । ८ वीर्य-वज्र तस्य विराजने चर्य । ९ कुम्भ
पूर्ण । १० योगिनिधि (?) । ११ जिनेन्द्रस्य हस्त । १२ ‘परिवह्य’ अत्रादौ भौतवशात्पण्यस्यम् ।
अर्थात् अन्तर्यामि साधु कुम्भं तत्र शोधयेत् ॥१८३॥ अगम्यं तस्मा ईशान् बोध वापीद भवम् । नृपतवर्द्धि-
घानवर्द्धिनिर्माणम् ॥१८४॥ विपरीतं वीर्यवर्द्धिपरि संवत्सरेणम् । नृपतवर्द्धि-
वत् दाववर्द्धि-वत् वीर्यवर्द्धि-वत् ॥१८५॥ तस्य अन्ते च वत् नृपतवर्द्धि-वत् ॥१८६॥ तस्मा विपरी-
तवत् पूर्णं तथा दृग्गोचरेण । तत्तस्य वत्तवत् अन्तर्नि निरीकते ॥१८७॥—अथोक्तम् ।

तपसः प्रत्यवेस्यन्तं यो न रक्षति संयतम् ।
 नूनं स दर्शनाद्वाह्यः समयस्थितिलङ्घनात् ॥१६१॥
 नवैः^१ सन्दिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्वणवर्धनम् ।
 एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥१६२॥
 यत् समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रयः ।
 अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥१६३॥
 उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नरः ।
 ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥१६४॥

धर्मसे अष्ट होता हो तो सम्यग्दृष्टीको उसका स्थितिकरण करना चाहिए । जो तपसे अष्ट होते हुए मुनिकी रक्षा नहीं करता है, आगमकी मर्यादाका उल्लंघन करनेके कारण वह मनुष्य नियमसे सम्यग्दर्शनसे रहित है ॥१९०-१९१॥ जिनके निर्वाहमें सन्देह है ऐसे नये मनुष्योंसे भी संघको बढ़ाना चाहिए । केवल एक दोषके कारण तत्त्वज्ञ मनुष्यको छोड़ा नहीं जा सकता । क्योंकि धर्मका काम अनेक मनुष्योंके आश्रयसे चलता है । इसलिए समझा-बुझाकर जो जिसके योग्य हो उसे उसमें लगा देना चाहिए । उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर होता जाता है और ऐसा होनेसे उस मनुष्यका ससार सुदीर्घ होता है और धर्मकी भी हानि होती है ॥१९२-१९४॥

भावार्थ—ऊपर स्थितिकरण अगका वर्णन करते हुए ५० सोमदेव सूरिने बहुत ही उपयोगी बातें कही हैं । धर्मसे ढिगते हुए मनुष्योंको धर्मके प्रेमवश धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण अग कहलाता है । धर्मके दो रूप व्यावहारिक कहे जाते हैं, एक श्रद्धान और दूसरा आचरण । यदि किन्हीं कारणोंसे किसी साधर्मीका श्रद्धान शिथिल हो रहा हो या वह अपने आचरणसे अष्ट होता हो तो धर्मप्रेमीका यह कर्तव्य है कि वह उन कारणोंको यथाशक्ति दूर करके उस भाईको अपने धर्ममें स्थिर रखनेकी भरसक चेष्टा करे । ढिगते हुए को स्थिर करनेके बदले भला-बुरा कहकर या उसकी उपेक्षा करके उसे यदि धर्मसे च्युत होने दिया जाये तो इससे लाभ तो कुछ नहीं होता उल्टे हानि ही होती है । क्योंकि एक तो धर्मसे अष्ट होकर वह मनुष्य पाप-पकमें और लिप्त होता जाता है और इस तरह उसका भयकर पतन हो जाता है और दूसरी ओर सधर्मसे एक व्यक्तिके निकल जानेसे धर्मकी भी हानि होती है । क्योंकि कहा है कि धर्मका पालन करने वालोंके बिना धर्म नहीं रह सकता । यदि हमें अपने धर्मको जीवित रखना है और उसकी उन्नति करना है तो हमें अपने साधर्मी भाइयोंके सुख-दुःखका तथा मानापमानका ध्यान रखकर ही उनके साथ सदा सद्व्यवहार करते रहना चाहिए तथा अपनी ओरसे कोई भी ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे उनके हृदयको चोट पहुँचे । क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भगड़ा तो परस्परमें होता है और उसका गुस्सा निकाला जाता है मन्दिरपर । लड़-झगड़कर लोग मन्दिरमें आना छोड़ देते हैं । पूजन करते समय कहा-सुनी हो जाये तो पूजन करना छोड़ देते हैं । इस तरहकी बातोंसे कषाय बढ़ जानेके कारण मनुष्य हिताहितको भूल जाता है और उससे अपना

१ चलन्तम् । २ किं च सन्दिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्वणवर्धनम् । प्राप्ततत्त्व त्यजन्नेकदोषतः समयी कथम् ॥८४॥ संघकार्यं यतोऽनेक ॥८६॥ अथोपेक्षेत जायेत दवीयास्तत्त्वतो जन । वहीयाश्च भवोऽस्थैर्यमनवस्था प्रथीयसी ॥८७॥—धर्मरत्ना०, प० ७३ उ० । ३ मनुष्य ।

भूयतमत्रोपाख्यानम्—मगधदेशेषु राजपूजापरमामाचमरे पञ्चरीसपुरे खेत्तिमीमहा
देवीप्रणयप्रैणिकस्य श्रेष्ठिकस्य गोत्राकलत्रस्य पुत्रः सकलधैरिपुरामिषेणो धारिषेणो नाम ।
स किस कुमारकाळ एव सत्तारसुखसमागमयिमुक्तमानसः परमवैराग्योदगुञ्जः पूर्णनिर्भ-
यरसः ध्यायकधर्मापनधर्मधिपणतया गुरुपासमसवीणतया च सम्यगवसितोपासकाभ्य-
यनविधिरास्यर्यश्रीर्यनिधिरेकत्रा प्रेतभूमिषु भूतधासरयिमाधर्यो रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव ।

अत्रावसरे सापायाः परिणताभोगे अलु मभ्यमाणे मगधसुन्दरीनामया पण्याहृतया-
त्मन्यतीवासकश्चित्तपूतिप्रसरो सुगवेषनामा धीरः शयमलमापन्नः सत्त्वैमुक्तः—‘राज-
श्रेष्ठिनो धनवृत्तनामनिष्ठस्य कीर्तिमतीनामाया प्रियतमायाः स्तनमण्डनोत्तरमसहारसारं
हारमिदानीमेवानीय यत्ति विश्रोष्यसि तदा त्व मे रतिरामः, अभ्यया प्रणयविरामः’ इति ।
सोऽप्यवरागह्वेणो सुगवेषस्तद्वचनाधैव तदायतनाच्चित्पामिसृत्य च निजकलावला-

और दूसरोंका अनिष्ट कर बैठता है, अब ऐसे प्रसंगोंपर क्षान्तिसे काम लेना चाहिए । इसी तरह
जो पंच होते हैं उनका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है, बरा बरा-सी बातोंपर किसीका चाति-
च्छुत कर देना, किसीका मन्दिर नष्ट कर देना धर्मकी हानिका ही कारण होता है । ऐसे समयमें
जब लोग धर्मसे विमुख होनेके लिए तैयार बैठे हों तब तो इस प्रकारके दम्बोंका उल्टा ही
परिणाम होता है । दम्बका प्रयोग औषधकी तरह करना चाहिए । जैसे वैद्य रोगीका हाँके
बनुझ दबा देकर उसे रोगमुक्त करनेकी ही चेष्टा करता है वैसे ही पक्षोंको भी अपराधीके
अपराध और उसके निन्दानको देख भाव करके ही उसे ऐसा दम्ब देना चाहिए जिससे उसका
सुधार हो और जागे वह वैसा अपराध न कर सके । चाति और धर्मसे बहिष्कार वा अत्यन्त
गुस्तर अपराधीके लिए ही किया जाना चाहिए । इस तरह एक ओर तो मौजूदा साधर्मि माइनों
को बनाये रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए और दूसरी ओर ऐसे नये मनुष्योंको भी धर्ममें दीक्षित
करके धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए जिनसे हमें बोझी-सी भी आशा हो कि ये इसमें लप सकेंगे ।
इस प्रकार पुराने और नये साधर्मि माइनोंका स्थितिकरण करते रहनेसे धर्मक नष्ट हो जानेका
मम नहीं रहता । इस सम्बन्धमें एक कथा है, उसे सुनें—

६ स्थितिकरण अगमें प्रसिद्ध धारिषेणकी कथा

मगध देशमें पञ्चरीसपुर नामका नगर है, जिसे राजगृही भी कहते हैं । उसमें राजा
श्रेष्ठिक राज्य करते थे, उनकी पत्न्यानी खेत्तिनी थी । राजा श्रेष्ठिक समस्त बैरियोंके नगरोंको
जीतनेबाद धारिषेण नामका पुत्र था । कुमार अवस्थासे ही वह सांसारिक सुखोंसे विमुख होकर
भावक धर्मका पावन करता था और ऐसा करनेसे तथा गुरुजनोंकी उपासनामें सम्पन्न होनेसे उसे
भावकाधारका अच्छा परिज्ञान हो गया था । रात्रिके समय एक दिन वह भूर-वीर समक्ष भूमिमें
ध्यानमग्न था । उसी रातके मध्यमें सुगवेष नामका एक धीर जब मगधसुन्दरी नामकी तेरपाके
ध्यान-कक्षमें पहुँचा तो देखमाने कहा—‘राजश्रेष्ठो धनवृत्तकी पत्नी कीर्तिमतीक गम्हा हार इसी
समय साधर्मि मुखे लोगे तो तुम मेरे प्रमके स्वामी हो अन्यथा हमारे सुन्दारे प्रेमका काज
बन्त है ।’

तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितचरणचारस्तलारानुचरै-
रनुसृतो मृगायितुमसमर्थस्तस्य व्युत्सर्गवेपमुपेयुपो वारिपेणस्य पुरतो हारमपह्यौय
तिरोदधे ।

तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिपेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुमशक्तः
पित्रो श्रावकत्वादिमामर्हत्प्रतिमासमानाकृतिं प्रतिपद्य पुरो निहितहारः, समस्ते' इत्यचमृश्य
प्रविश्य च विश्वम्भराधीशवेशमनिवेशमेतत्पितु प्रतिपादितवृत्तान्ताः ।

दण्डो हि केवलो लोक पर चेमं च रक्षति ।

राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोष सम धृतः ॥१६५॥

इति वचनात् 'नहि महीभुजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य
रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति' इति न्यायनिष्ठु-
रतावेशात्तज्जनकादेशादागत्य तं सदाचारमहान्तं प्रहरन्तः शरविशरान्प्रसूनशेखरतां भ्रमिल-
मण्डलानि कर्णकुण्डलतां कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि भूषणतामनुस-
रन्ति, निबुध्य तद्व्यानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरूपसवो-
पहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानानकनिकरमनिमिपनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमि-
तस्ततो महामहोत्सवावतारं च निचौय्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्तःकरणाः श्रेणिकधरणी-
श्वरायेदं निवेदयामासुः ।

यह सुनते ही कामुक मृगवेग वेश्याक घरसे निकलकर धनदत्तके घर पहुँचा और अपनी
चतुराईसे उसके घरमें घुस हारको चुरा जैसे ही चला वैसे ही उस हारकी किरणोंके प्रकाशसे
नगरके सिपाहियोंने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौड़े । अपनेको दौड़नेमें असमर्थ जानकर
मृगवेगने वह हार कायोत्सर्गसे स्थित वारिपेणके आगे डाल दिया और स्वय छिप गया ।

जब सिपाही वहाँ पहुँचे तो उन्होंने हारके प्रकाशमें वारिपेणको पहचाना । उन्होंने सोचा
कि राजकुमारके माता-पिता श्रावक है अतः भागनेमें असमर्थता देख राजकुमारने अपने आगे हार
रखकर जिनेन्द्रकी प्रतिमाके समान अपना रूप बना लिया है । यह सोच वे सब राजमहलमें आये
और राजा श्रेणिकसे सब समाचार निवेदन कर दिया ।

नीतिमें कहा है कि—'राजाके द्वारा शत्रु और पुत्रको अपराधके अनुसार समान रूपसे
दिया गया दण्ड इस लोककी और परलोककी भी रक्षा करता है ॥१९५॥

अतः राजाओंके लिए जो गुणी है वह मित्र है और जो दोषी है वह शत्रु है । इसलिए
रत्नहारको चुरानेवाला मेरा पुत्र भी मेरा शत्रु है और मृत्युके सिवा दूसरा कोई भयानक दण्ड
है नहीं । यह विचारकर राजा श्रेणिकने कठोर बनकर अपने पुत्रकी मृत्युकी आज्ञा दे दी ।

राजाकी आज्ञा पाकर वे सिपाही स्मशान भूमिमें आये और उस महान् सदाचारी
वारिपेणके ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे । शस्त्र प्रहार करते ही बाण तो फूलोंका मुकुट बन गये ।
चक्र कानोंके कुण्डल बन गये, तलवारें मोतियोंका हार बन गई । इस तरह अन्य भी
अस्त्र भूषणरूप हो गये । यह समाचार जानकर और वारिपेणके ध्यान और धैर्यसे प्रसन्न होकर
नगर देवताने स्वयं ही पुष्पोंकी वर्षा की, विद्याधर कुमारोंने दुन्दुभि वाजे बजाये और देवताओंने
वारिपेणकी बहुत स्तुति की । जब सिपाहियोंने यह सब महामहोत्सव देखा तो वे बड़े डरे और राजा
श्रेणिकसे जाकर उन्होंने सब समाचार कहा ।

भूयतामशोपास्थानम्—मगधदेशेषु राजगृहापरनामायमरे पञ्चशीलपुरे वेत्तिमीमहा
देवीमण्यक्रेषिकस्य श्रेणिकस्य गोत्राकस्यस्य पुत्रः सकलवैरिपुरामिषेणो धारिषेणो नाम ।
स किल कुमारकाष्ठ एव ससारसुखसमागमविमुखमानसा परमयैराभ्योद्गूण पूर्वनिर्ण
परस्तः श्रावकधर्मापनधर्म्यधिपणस्य शुक्रपासमसवीणतया च सम्पन्नचित्तोपासकाप्य
यनविधिराश्चर्यशैर्यमिधिरकृता प्रेतभूमिषु भूतवासरविमाधर्या रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव ।

अत्रायसरे क्षपायाः परिणताभोगे बलु मन्ममागे मगधसुन्दरीनामया पण्याकनया-
रम्यतीवासलचित्तवृत्तिप्रसरो भुगवेगनामा वीरः शयनतलमापन्नः सखेवमुक्तः—‘राज-
श्रेष्ठिनो धनवत्तनामनिष्ठस्य कीर्तिमतीनामायाः प्रियतमायाः स्तनमण्डनोदारमलहारसारं
ह्यतिमिदानीमेवानीय यदि विश्रान्तयसि, तदा त्व मे रतिरामः’ मन्मया प्रणयविरामः’ इति ।
सोऽप्यवशान्नुवेगो भुगवेगस्तद्वचनादेव तदायतनाधिसृत्पामिसृत्स्य च निजकलावला-

और दूसरीका अन्ति कर बैठता है, अतः ऐसे प्रसंगोंपर छान्तिसे काम लेना चाहिए । इस तरह
जो पत्र होते हैं उनका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है, बरा बरा-सी बातोंपर किसीका आति-
थ्युक्त कर देना, किसीका मन्दिर नन्द कर देना धर्मकी हानिकार हो कारण होता है । ऐसे समयमें
बब लोग धर्मसे विमुक्त होनेके लिए तैयार बैठे हों सब तो इस प्रकारके दण्डोंका उल्लाही
परिणाम होता है । दण्डका प्रयोग औपचकी तरह करना चाहिए । जैसे वैद्य रोगीके रांगके
अनुकूल दवा देकर उसे रोगमुक्त करनेकी ही चेष्टा करता है वैसे ही पक्षोंको भी अपराधीके
अपराध और उसके निदानको देख-भाल करके ही उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए जिससे उसका
सुधार हो और जागे वह वैसा अपराध न कर सके । आति और धर्मसे बहिष्कार तो अत्यन्त
गुस्तर अपराधोंके लिए ही किया जाना चाहिए । इस तरह एक ओर तो मौजूदा साधर्म्य भाइयों-
की बनाये रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए और दूसरी ओर ऐसे नये मनुष्योंको भी धर्ममें दीक्षित
करके धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए जिनसे हमें बोझी-सी भी आधा हो कि ये इसमें लप सकेंगे ।
इस प्रकार पुराने और नये साधर्म्य भाइयोंका स्थितिकरण करते रहनेसे धर्मक नष्ट हो जानेका
भय नहीं रहता । इस सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

६ स्थितिकरण अगमें प्रसिद्ध वारिषेणकी कथा

मगध देशमें पण्डितपुर नामका नगर है, जिसे राजगृहो भी कहते हैं । उसमें राजा
श्रेणिक राज्य करते थे, उनकी पट्टरानी वेत्तिनी थी । राजा श्रेणिकके समस्त वैरियोंके नगरोंको
औतनेवाला वारिषेण नामका पुत्र था । कुमार लक्ष्म्यासे ही वह सासारिक सुखोंसे विमुख होकर
आवक धर्मका पासन करता था और पसा करनेसे तथा गुरुजनोंके उपासनामें संसन्न होनेसे उसे
आवकपारक लक्ष्म परित्रान हो गया था । रात्रिक समय एक दिन वह दूर-बीर स्मशान भूमिमें
प्यानमन था । उसी रातके मध्यमें भुगवेग नामका एक वीर अब मगधसुन्दरी नामकी वरमाके
दायन-कर्ममें पहुँचा तो घेरयाने कहा—‘राजश्रेष्ठी धनवत्तकी पत्नी कीर्तिमतीके गच्छका द्वार इसी
समय साकर यदि मुझे दोगे तो मुम भर धर्मके स्वामी हो । अन्यथा हमारे तुम्हारे धर्मका आग
बन्त है ।’

तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितचरणचारस्तलारानुचरै-
रनुसृतो मृगायितुमसमर्थस्तस्य व्युत्सर्गवेपमुपेयुषो वारिषेणस्य पुरतो हारमपह्नाय
तिरोदधे ।

तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुमशक्तः
पित्रो श्रावकत्वादिमामर्हत्प्रतिमासमानाकृतिं प्रतिपद्य पुरो निहितहारः समास्ते' इत्यवमृश्य
प्रविश्य च विश्वम्भराधीशवेशमनिवेशमेतत्पितु प्रतिपादितवृत्तान्ताः ।

दण्डो हि केवलो लोक पर चेम च रक्षति ।

राज्ञा शत्रो च पुत्रे च यथादोष सम धृतः ॥१६५॥

इति वचनात् 'नहि महीभुजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य
रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति' इति न्यायनिष्कु-
रतावेशात्तज्जनकादेशादागत्य तं सदाचारमहान्त प्रहरन्तः शरविशरान्प्रसूनशेखरतां भ्रमिल-
मण्डलानि कर्णकुण्डलता कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि भूषणतामनुस-
रन्ति, निवृध्य तद्व्यानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवो-
पहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानानकनिकरमनिमपनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमि-
तस्ततो महामहोत्सवावतारं च निर्वौध्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्त करणा, श्रेणिकधरणो-
श्वरायेठ निवेदयामासुः ।

यह सुनत ही कामुक मृगवेग वेश्याक घरसे निकलकर धनदत्तके घर पहुँचा और अपनी
चतुराईसे उसके घरमें घुस हारको चुरा जैसे ही चला वैसे ही उस हारकी किरणोंके प्रकाशसे
नगरके सिपाहियोंने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौड़े । अपनेको दौड़नेमें असमर्थ जानकर
मृगवेगने वह हार कायोत्सर्गसे स्थित वारिषेणके आगे डाल दिया और स्वय छिप गया ।

जब सिपाही वहाँ पहुँचे तो उन्होंने हारके प्रकाशमें वारिषेणको पहचाना । उन्होंने सोचा
कि राजकुमारके माता-पिता श्रावक है अतः भागनेमें असमर्थता देख राजकुमारने अपने आगे हार
रखकर जिनेन्द्रकी प्रतिमाके समान अपना रूप बना लिया है । यह सोच वे सब राजमहलमें आये
और राजा श्रेणिकसे सब समाचार निवेदन कर दिया ।

नीतिमें कहा है कि—'राजाके द्वारा शत्रु और पुत्रको अपराधके अनुसार समान रूपसे
दिया गया दण्ड इस लोककी और परलोककी भी रक्षा करता है ॥१६५॥

अतः राजाओंके लिए जो गुणी हैं वह मित्र हैं और जो दोषी हैं वह शत्रु हैं । इसलिए
रत्नहारको चुरानेवाला मेरा पुत्र भी मेरा शत्रु है और मृत्युके सिवा दूसरा कोई भयानक दण्ड
है नहीं । यह विचारकर राजा श्रेणिकने कठोर वनकर अपने पुत्रकी मृत्युकी आज्ञा दे दी ।

राजाकी आज्ञा पाकर वे सिपाही स्मशान भूमिमें आये और उस महान् सदाचारी
वारिषेणके ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे । शस्त्र प्रहार करते ही बाण तो फूलोका मुकुट बन गये ।
चक्र कानोंके कुण्डल बन गये, तलवारें मोतियोंका हार बन गईं । इस तरह अन्य भी
अस्त्र भूषणरूप हो गये । यह समाचार जानकर और वारिषेणके ध्यान और धैर्यसे प्रसन्न होकर
नगर देवताने स्वयं ही पुष्पोंकी वर्षा की, विद्याधर कुमारोंने दुन्दुभि बाजे बजाये और देवताओंने
वारिषेणकी बहुत स्तुति की । जब सिपाहियोंने यह सब महामहोत्सव देखा तो वे बड़े डरे और राजा
श्रेणिकसे जाकर उन्होंने सब समाचार कहा ।

मरयरा सपरियारा सोत्तोसं तत्रागत सम्कुमाराधारानुरागरसोत्सारितमूर्तिम्
गाम्मुगवेगादयगतामूलवृक्षात् साधु त कुमारं समयायमास । नृपतन्त्रोऽपि प्रा
समयायसामे 'प्राणिनां सुलभसंपाता त्वस्तु ससारे व्यसमधिनिपाताः तदसमय कालक
वस्तुमेव विलम्बेन । पयोऽहमिदानीमवाप्तयथार्थमनीपोन्मेपस्तायदारमहितस्योपस
इति निश्चयमुपनिष्ठमामाष्य पितरमापिष्यं च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहमायायस्य सुर
न्तिके तपो जग्राह ।

अयसि धात्र श्लोकाः—

चिशुश्रममसां पुनर्न परिक्षेत्तर्पराग्रमाम् ।

किं कुयन्ति कृता यिष्णा सदाचारसिद्धे जले ॥१६३॥

इत्युपासकाभ्यवने वारियेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः ।

पुन 'इष्ट धर्मे नियोजयेत्, तथा आतुरस्यागर्वाकारोपयोग इयानिष्कृतोऽपि
धर्मयोग' कुण्डके कियमाणो भयत्यापत्यामयस्यं निश्चयेसाय इति आत्मतिस्तपःपरि
सहपांसुस्त्रीदितत्वाप्यिरपरिचयकहृदप्रभवत्याचारमन प्रियसुहृद् पुण्ययतीमहिनीम
त्यस्य शाण्डिल्यायनस्य मन्त्रममिनवयियाद्विहितकद्रव्यवन्धनं पुण्यवन्तामिधानम

राजा अल्लीसे परिवारक साथ वहाँ आया । वारियेणके चारित्रिका चमत्कार ।
मुगवेग चोरका भी उससे बड़ा स्नेह उत्पन्न हुआ और वह सुलुका मम छोड़कर वहाँ
तथा उसने दारकी चोरीका सब हास राजा भेजिकसे कहा । राजा भेजिकने कुमारके
कर दिया ।

वारियेणने यह सोचकर 'संसारमें प्राणियोंपर संकट आना सुख है अतः मृत्युस्त्री
करनेसे क्या लाभ ।' यह निश्चय कर लिया था कि 'चूँकि मुझे अब सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति
इसकिय अब मैं आत्माका कल्याण करूँगा । अतः उसने अपने पितापर अपना निश्चय म
दिया और बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर आचार्य सुरदेवके समीपमें दिन-दीक्षा स

इस विषयमें एक वक्ताक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'सदाचारको बिगाड़नेवाले दुष्ट मनुष्योंके द्वारा किये गये विघ्न, विचारमें उत्तर ।
मनवाक मनुष्योंका क्या कर सकते हैं ? अथवा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ॥१९६॥

इस प्रकार उपासकाभ्यवनमें वारियेणकुमारका प्रव्रज्याव्रजन नामक तेरहवाँ कल्प समाप्त हुआ
राजा भेजिकका मन्त्री शाण्डिल्यायन था और उसकी पत्नी पुण्यवती थी । उनके पु
नामका पुत्र था । उनकी तथा विवाह हुआ था । वह वारियणका अत्यन्त प्रिय मि
वचनमें जानो साथ स्नेह य और विरपरिचित होनेसे दोनोंमें गाढ़ स्नेह था । अब वारियेण
हो गये तो उनका विचार अपने मित्र पुण्यवन्तका भी मुनि बनानेका हुआ । वे साधने स
शास्त्रकारोंका कहना है कि 'अपने भियत्रगका धर्ममें लगावा पादिर तथा जैसे रागीका
इलाज कराना जागे समझायक होता है वैसे ही मवाहनेवाले जीवका भी समझदार मनुष्य
धर्ममें लगा वे तो उत्तरकास्में बह अवश्य ही मोक्षकी प्राप्तिका कारण दाता है । यह सा
वारिक मुनि अपने मित्रक पर गये और म्वामीके पुत्र होनेके कारण तथा मशुमनिका रूप

तनानुगमनेन स्वामिपुत्रत्वात्प्रतिपन्नमहामुनिरूपत्वाच्चाचरिताभ्युत्थानं हस्तेनावलम्ब्य पुनः
'अतोऽतश्च प्रदेशान्मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान्' इति सहानुसरन्तमवाप्तवन्तं च गुरुपा-
न्तम्, 'भदन्त, अप्य खलु महानुभावतालतालम्बनतरु स्वभावेनैव भवभीरुर्भोगानुभवने
विरक्तचित्तः सर्वसंयतवृत्तार्थी भगवत्पादमूलमायात' इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्णं काम-
करिकदलिकोवहीभारमिव मूर्धजनिकरमपनाय्य द्रीक्षा आह्वयामास । सोऽपि तदुपरोधाक्षे-
पाद्दीक्षामादाय हृदयस्याचिदितवेदितव्यत्वादनङ्गप्रहयसितत्वाच्च पैञ्जरपात्र, पैतत्रीच मन्त्र-
शक्तिकीलितप्रताप, पृष्ठाकुरिव गाढबन्धनालानितो व्यालशृण्डाल इव चाहर्निशं वारिपेण-
श्रृपिणा रच्यमाणोऽपि ।

अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्त
नवनयनविलासं चारुगण्डस्थलं च ।
मधुरवचनगर्भं स्मेरविम्बाधराया
पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियाया ॥१९७॥
कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूपा-
वत्तोजपत्रजघनाभरणानि रागात् ।
पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि
कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त प्व धन्या ॥१९८॥

कारण पुष्पदन्त उन्हें देखकर खड़ा हो गया और उनके साथ यह सोचता हुआ चला कि वह
मुझे अमुक स्थानसे लौटा देंगे ।

उसे साथ लेकर वारिपेण मुनि अपने गुरुके पास आये और बोले—'भगवन् ! यह
महानुभाव स्वभावसे ही संसारभीरु है तथा भोगोंके भोगसे इसका चित्त विरक्त हो गया है ।
महाव्रत धारण करनेकी इच्छासे यह आपके चरणोंमें आया है ।'

वारिपेणने इतना निवेदन करनेके बाद पुष्पदन्तको गुरुके सम्मुख केशलोंच कराके जिनदीक्षा
धारण करा दी । किन्तु उसका हृदय तो कामसे पीड़ित था अतः पींजरेमें बन्द पक्षीकी तरह,
मन्त्रकी शक्तिसे जिसका प्रताप कीलित कर दिया गया है उस सर्पकी तरह तथा मजबूत बन्धनसे
बँधे हुए दुष्ट हाथीकी तरह वारिपेण मुनिके द्वारा रात-दिन देखरेख रखनेपर भी कभी वह अपनी
स्त्रीके मुखका विचार करता था । 'वह केशोंसे कैसा सुन्दर लगता है और उसकी भ्रुकुटियाँ तो
क्या गजब की हैं, आँखें कैसी मनोहारिणी हैं, कपोल कितने सुन्दर हैं, कैसी मीठी-मीठी बात
करती है । मेरी प्यारीका मुख तो मुझे ऐसा दीखता है मानो वह मेरे सामने ही
मौजूद है' ॥१९७॥

कभी वह सोचता—

'जो अपनी प्रियतमाओंके कानोंको कर्णफूलसे सजाते हैं, मुखको अलकारोंसे स्रूषित
करते हैं, कण्ठमें कण्ठमाल पहिनाते हैं, उरोजोंपर पत्र बाँधते हैं, जघन भागमें करघौनी धारण
करते हैं तथा पैरोंमें महावर लगाते हैं, वे ही धन्य हैं ॥१९८॥

कीलायिसासधिलसधयनोत्पलाया

स्फाग्स्मगोशरलिताधरपञ्जवाया ।

उत्तुङ्गपीवरपयोधरमण्डलाया-

स्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥१६६॥

किं च ।

धिवासेशनकर्मभिर्मनसिजव्यापारसारासृते

गाढाभ्यासपुरस्थितप्रियतमापाद्गण्णामकमीः ।

स्यप्ने 'संगमधिप्रयोगधिपयमीत्यप्रमोदागमै-

रित्य वेपमुनिर्विनामि गमयत्युत्कण्ठितः कानने ॥२००॥

इति निर्वन्धेन स्यात्वाद्वाद्यं समौ समानैषीत् ।

शूरवेपमहारकोऽप्याभ्यां सह तेपुनरेषु विषयेषु तीर्थहतां पञ्चकस्याप्यमङ्गलानि स्थानानि धम्वित्वा पुनर्धिहारवशात्तत्रैव जिनापतनोर्वासितोपान्तरीलक्ष्णे पञ्चरीर्षपुरे समा गत्यात्मनो वारियेण-श्रुयेथ तद्विषये पर्युपासितोपवासस्थात् पुण्यवन्तमेकाकिनमेव प्रत्यवसौ नापादिदेश । तर्प्यमाधिपेन च तेन धम्वित्त धिरात्काक्षात्स्वैकस्मादपमृत्योर्जीवद्भरितो ऽस्मि । संप्रति हि मे नूनमनूनामि पुण्यान्यथेक्ष्य वीक्षां मुमुर्षुणा मरुद् पाशपरिसेपस्-रितेनेव पक्षिणा पलायितुमारम्भम् । वारियेणन्तस्य तथा प्रस्थानात्कृतोदकं कितक्यं मय इयमय जिगरूप जिह्वासुरिय सीत्सुख्यं विक्रमते तदेव कपाधमुप्यमापधिपज समप्रति पालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीयाः इत्यनुप्यापाप्या तमनुकल्पैतस्यापनाप जनकनिकेतान

कमी वह सोचता—

'बिसके नेत्रकमळ कीलके विकाससे खोमिल हैं, अधरपल्लव कामक वेगसे काँपते हैं, उरोन उन्नत और स्थूल हैं, उसका मेरे साथ समागम कब होगा' ॥१९९॥

कमी वह चित्र बनाता, कमी अत्यन्त धम्व्यासके कारण यह अनुभव करता कि उसकी मिश्रतमा सामने लड़ी है और वह उसके चरणोंमें प्रणाम कर रहा है । कमी स्वप्नमें संगमका सुख भोगता था कमी बियोगका कष्ट उद्यता । इस प्रकार वह मुनिवेपी बड़ी उत्कण्ठके साथ जंगलमें दिन बिताता था ॥२००॥ ऐसा करते-करते बारह वर्ष बीत गये ।

एक बार शूरवेप गुरु अपने शिष्य वारियेण और पुण्यवन्तके साथ तीर्थहरोके पञ्चकस्या पञ्चके स्थानोंकी कन्दता करके भूमते-भूमते जिनमन्दिरोसे सुशोभित उठी पञ्चशैलपुरमें जाकर ठहरे । उस दिन वारियेणमुनिका प्रापपापवास था वह उन्होंने पुण्यवन्तका जकेठ ही जाकर भोजन कर आनेकी आज्ञा दी । आज्ञा पाकर पुण्यवन्तने सोचा कि बहुत काळके पश्चात् इस अपमृत्युसं जीवनका उद्धार हुआ है । आज मेरे बहुत पुण्यका उदय है ।' यह सोच वीक्षाको छोड़नेकी इच्छासे मन्थनमुष्ण हुप पशुकी तरह बह बहसे मागा । वारियेणने उसे इस तरहसे मागते हुप देखकर बिचार किया कि 'यह अवश्य ही जिनवीक्षा छोड़ देनेक निप उत्तुङ्ग नाम पड़ता है । इसका मुद्दि मोहसे मष्ट हो गई है वह जिनमागमके पाशकोंका इसकी उपशा नहीं

१ यथा स्वप्ने रजमा मर्चति तद्विषये प्रीत्यापयो मर्चति । यथा तु स्वप्नधिप्रयोगी मर्चति तद्विषये प्रमोदागमो मर्चति । २ वर्षाणि । ३ राजगहनदरे । ४ शैविन । ५ आहारार्थं । ६ पुण्यवन्तः । ७ वीक्षा मोक्षमिच्छना । ८ शीघ्र मार्गं कृत्वा ।

जगाम । चेलिनीमहादेवी पुत्र मित्रेण सत्रमुपढौकमानमवेक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षार्थं सरागं वीतराग चासनमयच्छत । वारिपेणस्तेन समं चरमोपचारं विष्टरमलकृत्य 'अम्ब, समाह्वयतां समस्ता अप्यात्मीयाः स्नुपाः' ।

तदनु वनदेवता इव प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्गितकुन्तलारामा, कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमाः, प्रावृष इव समुद्रद्वयोधराविद्धमध्यभागाः, सकलजगज्जावण्यलवलिपिलिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगा, कङ्क्रेल्लिकाननक्षितय इव पादपल्लवोल्लासितचिह्नारविपया, कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणिनोन्मदमरालमण्डलस्खलितचलनजलेशया, स्वकीयरूपसंपत्तिरस्कृतत्रिभुवनरामारामणीयका सलीलमहमहमिकोत्सुका समागत्य समन्तात्परिवृत्तः पुण्यदेवता इव ता स्ववासिन्य । 'अम्ब, मङ्गातृजाया सुदय्यप्याकार्यताम्' । तत सन्ध्येव धातुरक्ताम्बरचराटोपा, तपःश्रीरिव विलुप्तकुन्तलकलापा, भव्यजनमतिरिव विश्रमभाशिदर्शना, हिमोन्मथिता कमलिनीव ज्ञामच्छायापघना, शरदिव दीनपयोधरभरा, खट्वाङ्गकरङ्गाकृतिरिव प्रकटकीर्कसनिकरा सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिमृतिमती वैराग्यस्थितिरिव विवेश ।

पुष्पदन्तहृदयकन्दलोल्लासवसुमती सुदती वारिपेणोऽवधार्य 'मित्र, सेय तव प्रणयिनी

करनी चाहिए ।' ऐसा सोचकर भागते हुए मित्रको रोककर उसको स्थिर करनेके लिए वे अपने पिताके घर गये ।

चेलनी गनीने मित्रके साथ अपने पुत्रको आता हुआ देखकर उसके मनकी परीक्षा करनेके लिए दो आसन बिछा दिये । उनमें एक आसन रागियोंके योग्य था और दूसरा विरागियोंके योग्य । वारिपेण अपने मित्रके साथ विरागियोंके योग्य आसनपर बैठ गया और बोला— 'माता ! अपनी सब बहुओंको बुलाओ ।'

अपनी रूप-सम्पदासे तीनों लोकोंकी सुन्दर स्त्रियोंको तिरस्कृत करनेवाली समी बहुएँ बड़ी उत्सुकताके साथ आकर चारों ओर बैठ गईं । केशपागमें गूँथे गये फूलोंसे वे वनदेवताके समान प्रतीत होती थीं, उनके अग मणियोंके भूषणोंसे शोभित थे अत वे कल्पलताके तुल्य प्रतीत होती थीं, उन्नत पयोधरों (स्तनों) से उनका मध्यभाग पराजित हो गया था अर्थात् मध्यभाग कृण था, अत वे वर्षाऋतुके तुल्य प्रतीत होती थीं क्योंकि वर्षाऋतुमें भी आकाशमें पयोधर (मेघ) उमड़े रहते हैं । उसके बाद वारिपेण बोले— 'माता ! मेरी आवृषू सुदतीको भी बुलाओ ।'

आजा पाते ही सुदती भी आ गई । उसके केशकलाप अस्त-व्यस्त थे, हिमपातसे कुसुलाई हुई कमलिनीकी तरह उसकी मुखश्री म्लान हो गई थी । शरीरमें हड्डियाँ ही दिखाई देती थीं । वह ऐसी मालूम देती थी मानो ससारक समस्त सुखोंसे उदासीन मृतिमती वैराग्य-विभूति ही है ।

पुष्पदन्तके हृदयरूपी नवाकुरके उल्लासके लिए पृथ्वीके तुल्य सुदतीको जानकर वारिपेण

१ आगच्छन्तम् । २ वीतरागामनम् । ३ अशोकवृक्षवनभूमय । ४ शब्दित । ५ चलना चरणा एव जलेशयानि यासा ता । ६ गेशरक्त्रम्ब्रेण चरः चपञ्ज आदोपो यस्या मा । ७ खट्वाङ्गमेव करङ्क । ८ अस्मि ।

यच्चिमिचमद्यापि न संपद्यसे मनोमुनिरिति । एतादृशैर्विधिषकायास्तव आदजायाः, तद्येते च
वयं तव समद्योदयं समाधरितामिजातजनोचितधरिताः । पुष्पदन्तः—

स्नानानुष्ठेपधस्नानमरणप्रसूत

ताम्रपदासधिधिना कणमात्रमेतत् ।

आधेयमावसुमर्गं यपुरङ्गनागां

मैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य घाण्या ॥२०१॥

इत्यसंशयमाशय्य^१ सौख्येयु सुखकरणेषु विधिकित्तासक्त्यां सन्ध्यामभिगीय 'हो निकोम-
निकन्दमकरभ्यजोद्वेगविधुरबाभ्यव संसारसुखसरोजोत्सोरनीहारायमाभ्यधरण बारिपेज
पर्याप्तमत्रावस्थानेन । प्रकामं शोकवितकुसुमास्त्रसरहस्य वयस्य, इहानी यद्यार्थनियेदाव
मिर्मनोमुनिरस्मीति आबधाय विमुदहवयौ द्राघपि तौ वेत्तिमीमहादेवीममिनन्दोपसर्गं च
शुद्धपादोपसर्गं निश्रम्याशयौ साधु तपश्चक्रतुः ।

भवति वाच श्लोक—

सुदतीर्णमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम् ।

बारिपेजः इतत्राग्रेः स्थापयामास संयमे ॥२०२॥

इत्युपासकाभ्यवने स्थितिकरकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः ।

वैत्यैरवैत्याक्षरैर्ब्रह्मैस्तपोमिर्विचिचारमकैः ।

पूजामहाभ्यजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गमभाष्यनम् ॥२०३॥

वाक्ये—'मित्र ! मही तुम्हारी वह मित्तमा है जिसके कारण अबतक भी तुम मनसे साधु नहीं
बन सके हो । और ये सब तुम्हारी जातृषू हैं । हम सब तुम्हारी सेवाके लिये तैयार हैं ।

पुष्पदन्त सोचने लगा—'स्त्रियोका शरीर स्नाम, लेय, वस्त्र, वामूपप, फूक, पान,
सुगन्ध आदिके द्वारा कणमात्र के लिये सुन्दर हो जासा है । यदि वह अपनी स्वामासिक न्धितमें
रहे तब तो उसकी दक्षाका कहना ही क्या है ॥२०१॥

ऐसा नि सन्देह विचारकर तथा स्त्रियोके विषयमें ज्ञानिपूर्ण सम्राजा का भमिन्य करता
हुवा वह बोझ—'हे काममेता और संसारके सुलक्षणी कमळोंके लिये बर्फके समान बारिपेज !
यहाँ ठहरना बुरा है । कामरसके रहस्यको लण्ड-लण्ड कर बाँझेबाळ मेरे मित्र ! इस समय
मुझे सच्चा वैराग्य हुआ है और मैं मनसे मुनि हूँ ।'

दोनो विमुद हृदय मित्रोंने रानी वेत्तीका भमिनन्दन किया और गुरुके घरजोंमें जाकर
निश्रम्य होकर तपस्यामें लीन हो गये ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'बारिपेजने सुदतीमें आसक्त तपस्वी पुष्पदन्तकी रक्षा की और उसे संयममें
रखा ॥२०२॥

इस प्रकार उपासकाभ्यवनमें स्थितिकरणत्रय पूर्ण करनेवाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब प्रभावना जगको बतलाते हैं—]

जिनविषय और जिनात्मोंकी स्थापनाके द्वारा, ज्ञानके द्वारा, तपके द्वारा तथा अनेक
प्रकारकी महाभ्यज आदि पूजाओंके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये ॥२०३॥

१ विधिनव । २ अतिशयेन । ३ बर्ष । ४ दिनको द्विभिन्न बारिषं मत्स्य । ५ अजिष्ठ ।

६ उदम्बा । ७ प्राप्य । ८ समीपम् । ९ रक्षणम् ।

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते ।
 स्वर्गापैवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते ॥२०४॥
 समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशौसनभासकः ।
 समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र न भासकः ॥२०५॥
 तद्दानज्ञानविज्ञानमहामहमहोत्सवै ।
 दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोऽजितः ॥२०६॥

जो मुनियोंके ज्ञान, तप और पूजाकी निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियमसे उससे द्वेष करती है । अर्थात् उसे न स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥२०४॥

इस लोकसे बुद्धि और धनमें समर्थ होनेपर भी जो जिनशासनकी प्रभावना नहीं करता, वह बुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी परलोकमें अपना कल्याण नहीं करता । अतः ऐहिक सुखकी इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥२०५-२०६॥

भाचार्य—सम्यग्दर्शनका एक अग प्रभावना है । जैनधर्मके महत्त्वको प्रकट करना, ऐसे कार्य करना जिससे लोगोंमें जैनधर्मकी जानकारी हो, जैनधर्मके विषयमें फैला हुआ अज्ञान दूर हो और जनताकी रुचि जैनधर्मकी ओर आकृष्ट हो, प्रभावना कहलाता है । पहले जैनधर्ममें बड़े-बड़े तपस्वी मुनि, ज्ञानी, आचार्य और धर्मात्मा सेठ होते थे । तपस्वी मुनि अपनी तपस्याके द्वारा जनतापर ऐसा प्रभाव डालते थे जिससे स्वयं जनता उनकी ओर आकृष्ट होती थी और उनसे सयमकी शिक्षा लेकर अपने इस जन्म और परजन्मको सुखी बनाती थी । ज्ञानी, आचार्य जगह-जगह विहार करके जैनधर्मका उपदेश देते थे । यदि कहीं जैनधर्मपर आक्षेप होते थे तो उनको दूर करते थे, यदि कोई शास्त्रार्थ करना चाहता था तो राजसभाओंमें उपस्थित होकर शास्त्रार्थ करते थे और यदि कहीं किसी प्रतिद्वन्द्वीके द्वारा जैनधर्मके कार्योंमें रुकावट डाली जाती थी तो अपनी वाग्मिताका प्रभाव डालकर उन रुकावटोंको दूर करते थे । तथा बड़े-बड़े ग्रन्थराज रचकर जिनवाणीके भण्डारको भरते थे । आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, भट्टाकलक, स्वामी वीरसेन, स्वामी जिनसेन आदि महान् आचार्योंके पुण्यश्रमका ही यह फल है जो जैनधर्म आज भी जीवित है । इसी प्रकार राजा, सेठ, साहूकार तरह-तरहका महोत्सव करके जैनधर्मका प्रकाश करते थे । आज न वैसे तपस्वी मुनि हैं, न ज्ञानी आचार्य हैं और न वैसे धर्मात्मा सेठ हैं । फिर भी आज जैनधर्मके प्रकाशको फैलानेकी बहुत आवश्यकता है । जैन बालक, बालिकाएँ दिन-पर-दिन धर्मसे अनजान बनते जाते हैं, उन्हें शिक्षा देनेके लिए पाठशालाएँ खोलनी चाहिए । विद्वानोंको पैदा करनेका तथा उनकी परम्परा बनाये रखनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि उनके बिना शिक्षा-उपदेश और शास्त्रार्थका आयोजन नहीं हो सकता । इसी तरह जनतामें प्रचारके लिए विविध भाषाओंमें

१ 'बोधे तपसि सन्माने यतीनां यस्त्वसूयति, रत्नत्रयमहासम्पन्नूनं तस्याप्यसूयति ॥१०॥'—प्रबोधसार ।
 स्वर्गापैवर्गविषये भवतीति भू । २ न शासनदीपको भवति । ३ स्वस्यात्मन परलोकं स उद्द्योतको न भवति ।
 ४ इहलोकमुखापेक्षारहित ।

यन्निमित्तमपि न सपद्यसे मनोमुनिरिति । एताश्चैवंविधकायास्तत्र आनुजायाः, तथैते च
वयं तत्र समक्षोद्य समाचरिताभिज्ञातजनोचितचरिताः । पुण्यवृत्त —

स्नानानुष्ठेपवसनाभरणमसूत्र

ताम्बूलवासविधिना क्षणमात्रमेतत् ।

आधेयप्रायसुमर्गं वपुरङ्गनामां

मैसर्गिकी तु किमिष स्थितिरस्य वाच्या ॥२०१॥

इत्यसंग्रहमाश्रय्य श्रीगेषु सुखकरणेषु विधिक्रिस्तासञ्ज्ञा लब्धामभिनीय 'इहो निकाम-
निन्दमकरण्यजोर्ध्वविपुरवास्य संसारसुखसरोजोर्त्तोष्णीद्वारायमापचरण वारिपेण
पर्याप्तमत्रायस्यानेन । प्रकृतं शैकलितकुसुमास्फुरत्सरस्वस्य वयस्य इदानीं यद्यार्थनिर्वोदाय
निर्मनोमुनिरस्मीति चार्वाकाय विश्ववद्वयौ द्वापपि वी वेत्तिनीमहादेयीमभिनन्दोपसर्गै च
गुरुपादोपसर्गं निशस्याश्रयौ साधु तपश्चक्रतुः ।

मयति वाच स्तोक—

सुदर्तासंगमासकं पुण्यदर्ता तपस्विनम् ।

वारिपेणः इत्यग्रेणः स्वापवासास संयमे ॥२०२॥

इत्युपासकाभ्यवने स्मितिस्मरणोर्तनो नाम वसुर्दशः कल्पः ।

वैत्यैश्चैत्याल्लयैर्बानिस्तपोभिर्पिषिचारमकै ।

पूजामहाध्याप्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रसाधनम् ॥२०३॥

वाच—'मित्र । मही सुन्दारी वह प्रियतमा है जिसके कारण जबतक मी हम मन्ते साधु मही
बन सके हो । और ये सब सुन्दारी आनुवधु हैं । हम सब सुन्दारी सेवाके लिये पैमार हैं ।

पुण्यवन्त सोचने लगा—'स्त्रियोका शरीर स्नान, स्नेह, वस्त्र, आभूषण, फूल, घान,
सुगन्ध आदिके द्वारा क्षणमात्र के लिये सुन्दर हो जाता है । यदि वह अपनी स्वाभाविक स्थितिमें
रहे तब तो उसकी दशाका कहना ही क्या है ॥२०१॥

पेसा नि सन्देह विचारकर तथा स्त्रियोकि विषयमें न्यानिपुण छत्राका अभिनय करता
हुआ वह बोला—'हे कामनेता और संसारके सुखरूपी कमलके लिये बर्फके समान वारिपेण !
यहाँ ठहरना क्या है । कामरसके रहस्यको लण्ड-लण्ड कर डालनेवाले भरे मित्र ! इस समय
मुझे सच्चा वैराम्य हुआ है और मैं मनसे मुनि हूँ ।'

बातों किमुद हृदय मित्रोंने रानी बेम्नीका अभिमन्दन किया और गुरुक घरजोमें आकर
निष्ठस्व होकर उपम्यामें सोन हो गये ।

इस विषयमें एक रसाक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'वारिपेणने सुदृतीमें आसन्न सपम्भी पुण्यवन्तकी रसा की और उसे संयममें
स्नाया ॥२०२॥

इस प्रकार उपासकाभ्यवने विधितद्वारा वरुण करनेवाला जोदहर्षो कल्प समाप्त हुआ ।

[अब प्रभावना अंगको बतलाते हैं—]

त्रिनदिन्य और त्रिनाभ्योकी रथाफनाके द्वारा, शानक द्वारा, सरके द्वारा तथा जनक
प्रचारकी मदापचर आदि पूजाओं द्वारा त्रैलोक्यकी प्रभावना करना आदिये ॥२०३॥

१ त्रिनदिन्य । २ त्रिनदिन्य । ३ वरुण । ४ त्रिनदिन्य त्रिनदिन्य वारिपेण वरुण । ५ त्रिनदिन्य ।

६ वरुण । ७ आश्व । ८ वरुण । ९ रसाक ।

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते ।
 स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते ॥२०४॥
 समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशौसनभासक* ।
 समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र न भासक ॥२०५॥
 तद्दानज्ञानविज्ञानमहामहमहोत्सवै ।
 दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोऽज्झितः ॥२०६॥

जो मुनियोंके ज्ञान, तप और पूजाकी निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियमसे उससे द्वेष करती है । अर्थात् उसे न स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥२०४॥

इस लोकसे बुद्धि और धनमें समर्थ होनेपर भी जो जिनशासनकी प्रभावना नहीं करता, वह बुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी परलोकमें अपना कल्याण नहीं करता । अतः ऐहिक सुखकी इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥२०५-२०६॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका एक अग प्रभावना है । जैनधर्मके महत्त्वको प्रकट करना, ऐसे कार्य करना जिससे लोगोंमें जैनधर्मकी जानकारी हो, जैनधर्मके विषयमें फैला हुआ अज्ञान दूर हो और जनताकी रुचि जैनधर्मकी ओर आकृष्ट हो, प्रभावना कहलाता है । पहले जैनधर्ममें बड़े-बड़े तपस्वी मुनि, ज्ञानी, आचार्य और धर्मात्मा सेठ होते थे । तपस्वी मुनि अपनी तपस्याके द्वारा जनतापर ऐसा प्रभाव डालते थे जिससे स्वयं जनता उनकी ओर आकृष्ट होती थी और उनसे संयमकी शिक्षा लेकर अपने इस जन्म और परजन्मको सुखी बनाती थी । ज्ञानी, आचार्य जगह-जगह विहार करके जैनधर्मका उपदेश देते थे । यदि कहीं जैनधर्मपर आक्षेप होते थे तो उनको दूर करते थे, यदि कोई शास्त्रार्थ करना चाहता था तो राजसभाओंमें उपस्थित होकर शास्त्रार्थ करते थे और यदि कहीं किसी प्रतिद्वन्द्वीके द्वारा जैनधर्मके कार्योंमें रुकावट डाली जाती थी तो अपनी वाग्मिताका प्रभाव डालकर उन रुकावटोंको दूर करते थे । तथा बड़े-बड़े ग्रन्थराज रचकर जिनवाणीके भण्डारको भरते थे । आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तमद्र, भट्टाकलक, स्वामी वीरसेन, स्वामी जिनसेन आदि महान् आचार्योंके पुण्यश्रमका ही यह फल है जो जैनधर्म आज भी जीवित है । इसी प्रकार राजा, सेठ, साहूकार तरह-तरहका महोत्सव करके जैनधर्मका प्रकाश करते थे । आज न वैसे तपस्वी मुनि हैं, न ज्ञानी आचार्य हैं और न वैसे धर्मात्मा सेठ हैं । फिर भी आज जैनधर्मके प्रकाशको फैलानेकी बहुत आवश्यकता है । जैन बालक, बालिकाएँ दिन-पर-दिन धर्मसे अनजान बनते जाते हैं, उन्हें शिक्षा देनेके लिए पाठशालाएँ खोलनी चाहिएँ । विद्वानोंको पैदा करनेका तथा उनकी परम्परा बनाये रखनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि उनके बिना शिक्षा-उपदेश और शास्त्रार्थोंका आयोजन नहीं हो सकता । इसी तरह जनतामें प्रचारके लिए विविध भाषाओंमें

१ 'बोधे तपसि सम्माने यतीनां यस्त्वसूयति, रत्नत्रयमहासम्पन्नूनं तस्याप्यसूयति ॥१२॥'—प्रबोधसार ।
 स्वर्गापवर्गत्रिपये भवतीति भू । २ न शासनदीपको भवति । ३ स्वस्यात्मन परलोके स उद्द्योतको न भवति ।
 ४ इहलोकसुखापेक्षारहित ।

भूयतामत्रोपाख्यायम्—पञ्चालदेशेषु श्रीमत्पार्ष्णाथपरमेश्वरयशःप्रकाशनामेने अहि
 ऋषे चम्पानामनारतिकुसुमधापस्य द्विपंतपस्य भूपतेरुदितोदितकुष्णरीस पञ्च वेदे वैवे
 निमिषे दण्डनीत्या धामिनिगीतमैतरापदां वैधीर्मा मानुषीणां च प्रतिकर्ता यज्ञवृत्तामहिनी
 मतां सोमवृत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकया तु सा किल यज्ञवृत्तायैवली सती माकर्ममखरी
 कर्मपुरेषु तत्परिणतकलादारेषु च समासादितबोद्धता अतिमास्तरसौलषध्वरीफलफालतया
 कामिमतमवाप्नुयती शिकाम् । अथमाभा "मतामिषिव" तनुतामयमुपेयुपी सेम पुरोहितेन
 जातिजनेन च प्रवचेन पूषा हव्येष्टममापिष । भद्रस्तचिशम्य अथमेतन्मनोरथमययार्थपथ-
 मस्मम्मनोमर्थे 'मध्यर्थाप्रार्थन करिष्यामि' इत्याहुःकमम परित्यज्यप्राप्ततन्मानुषः सात
 "पञ्चपञ्चाप्यस्तत्रवेपथ्वधिपणापरायण" सधिनस्ततो यज्ञन् अक्षयाहिनीनामनदीतटनिकटनि
 धिष्ठमतनने महति काशिवासकानने परमतपञ्चरण्याचरणशुचिशरीरेण निजोपभुतअधण्यमचुत

द्वैवट पुस्तकें बगैरह प्रकाशित करके वितरण करते रहना चाहिए । तथा साधु त्यागीयाको
 गुणवान और विद्वान बनानेका भी प्रयत्न करते रहना चाहिए । यदि साधु और त्यागीय भिन्न
 हों तो उनसे जैनधर्मकी प्रमावनाको बहुत साहाय्य मिल सकता है । इसके सिवा पूजा-मत्तिव्य
 कराकर भी जनतामें जैनधर्मका प्रचार कराते रहना चाहिए । आजकल कुछ माई इसे व्यर्थ व्यर्थ
 समझते हैं क्योंकि एक तो आज नये मन्दिरोंकी उठनी आवश्यकता नहीं है किसी भीर्षाद्वारकी
 आवश्यकता है । दूसरे इस तरहके कार्यमें धर्म-मेमकी मावना कम रहती है और नामकी मावना
 व पदकी इच्छा ज्यादा रहती है । अतः इन बुराहनोंको दूर करके आवश्यक स्थानोंमें महोत्सवोंका
 आयोजन करते रहना चाहिए और उनमें उपदेश समाधोंका सुन्दर आयोजन रहना चाहिए ।
 ऐसा करनेसे महोत्सवोंका आयोजन विशेष कामदायक सिद्ध होगा और उनसे जैनधर्मकी भी
 विशेष प्रमावना हो सकेगी ।

७ प्रमावना अंगमें प्रसिद्ध ब्रजकुमार मुनिकी कथा

अब इस विषयमें कथा कहते हैं, उसे सुनें—

पञ्चाक्ष देखसे श्रीमान् भगवान् पार्वनाथके यज्ञसे प्रकाशित अहिष्ठत्र नामका नगर है ।
 उसमें द्विपंतप राजा राज्य करता था । उसकी पत्नीका नाम चम्पानना था । राजा द्विपंतपके
 सोमवेश नामका पुरोहित था । वह बड़ा कुल्लेन और क्षीणवान् था । पञ्च वेद, ज्यातिप शास्त्र,
 निमित्त शास्त्र और दण्डनीतिका पण्डित था तथा वैधी और मानवी विपत्तियोंका प्रतिकार करनेमें
 पटुर था । एकबार उसकी पत्नी यज्ञवृत्ता गर्भवती हुई । उसे आम्के बोरको कानोंमें पहिरनेका
 तथा आम्के पञ्चोंको सानेका दाहका हुवा । किन्तु आम्का गौतम बात चुका था इस किये
 दाहका पूरा न होनेसे वह बहुत दुःखी हो गई । पुरोहित तथा कुटुम्बीज्योंके पूछनेपर उसने
 अपने मनकी बात उनसे कही । सुनकर पुरोहितका गम बढ़ा व्याकुल हुआ । वह साधने लगा
 कि हमारे मनको पीड़ा देने वाले इसके असामयिक ममोरथका कैसे पूर्ण करूं । उसने जूते पहने,
 छाता हाथमें लिमा तथा शिष्योंको साथ लेकर आम्की लोबमें निकल पड़ा । इधर-उधर घूमते

मनस्कारेण समस्तसत्त्वस्वरूपनिरूपणस्वाध्यायध्वनिसिद्धौ पधिसविधसाधितवनदेवतानिकरेण मूर्तिमतेव धर्मेण चिनेयदैधिकेयमित्रेण^१ भूमित्रेण मुनिनालकृतालवालवलयमेतद्ब्रह्मवर्चसमाहात्म्यादामूलमाचूलं चैकं चतुर्मुल्लसल्लवलीफलगुलुच्छस्फीतमवलोक्य^३ च्छेकच्छात्रहस्ते कलत्रस्य पिक्प्रियप्रसवफलप्रतोलौ प्रहृत्य ततो भगवतोऽवधिवोधपयोधिमध्यसंनिधीयमानसकलकलाकलापरत्नाद्धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात्समायातं सहस्रारकल्पे सूर्यविमानसंभूतं सूर्यचराभिधानानुगतमत्यल्पविभवपरिप्लुतमात्मगोचरं भवान्तरमाकर्ण्योदीर्णजातिस्मरभावस्वान्नसमासादितसाम्राज्यसमानसारात्ससाराद्विरज्य मनोजविजयप्राज्यां प्रव्रज्यामासज्यं प्रवुद्धसिद्धान्तहृदयो मगधविषये सोपारपुरपर्यन्तधाम्नि नाभिगिरिनाम्नि महीधरे सम्यग्योगातापनयोगधरो चभूव ।

तदनु सा तद्वियोगातद्कोट्टितचित्ता यज्ञदत्ता तदन्तेवासिभ्य सोमदत्तव्रतव्यतिकरमात्मखेदक्रमनुभूय प्रसय च समये स्तनन्धय पुनस्तमादाय प्रयाय च तं भूमिभृतम् 'अहो कूटकपटपिटक मन्मनोवनदाहदावपायकनिस्त्रिगुण दुर्विदग्ध, यदीम दिगस्वरप्रतिच्छन्दमवच्छिद्य स्वच्छ^७ येच्छयागच्छसि तदाऽऽगच्छ । नो चेद् गृहाणैनमात्मनो नन्दनम्' इति व्याहृत्यास्योर्ध्वगो^८ भगवत पुरत शिलातले बालकमुत्सृज्य विजहार निजं निवासम् । भगवानपि तेन सुतेन दृष्ट्वा श्लोकोत्कर्षकलुपत्वादिष्टरी^९ कृतचरणवर्गं सोपसर्गस्तथैवावतस्थे ।

हुए उसने जलवाहिनी नामकी नदीके तटक निकट फैले हुए कालिदास नामके बड़े भारी जंगलमें सुमित्र नामके मुनिको देखा । उत्कृष्ट तपके करनेसे उनका शरीर पवित्र हो गया था, समस्त शास्त्रोंके मुननेसे उनका मनोबल बढ़ गया था । वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो मूर्तिमान् धर्म है । उनके ब्रह्मचर्यके तेजके प्रतापसे एक आमका वृक्ष जड़से लेकर चोटी तक सुन्दर फलोंसे लदा हुआ था । पुरोहितने एक छात्रके द्वारा अपनी पत्नीके लिए आम्रफल भेज दिया और आप धर्म श्रवण करनेके लिए अवधिजानी मुनिके समीप बैठ गया । मुनिने बतलाया कि वह पहले जन्ममें सहस्रार स्वर्गके सूर्य विमानमें बहुत थोड़े वैभवका स्वामी सूर्यचर नामका देव था ।

पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनकर उसे जातिस्मरण हो आया । स्वप्नमें प्राप्त हुए साम्राज्यके तुल्य इस ससारसे विरक्त होकर उसने कामको जीतनेमें समर्थ जिन-दीक्षा ले ली, और शास्त्रोंके रहस्य को जानकर मगधदेशके सोपारपुरके निकटवर्ती नाभिगिरि पर्वतपर आतापनयोगसे स्थित होगया ।

उधर यज्ञदत्ताको जब छात्रोंसे सोमदत्तके दीक्षा ग्रहण करनेका समाचार मिला तो उसे बड़ा खेद हुआ । उसके वियोगसे उसका चित्त उखड़ गया । समयपर उसने एक पुत्रको जन्म दिया और उसे लेकर उसी पर्वतपर आई जहाँ सोमदत्त आतापनयोगसे स्थित था । उसे देखकर बोली—'अरे मेरे मन रूपी वनको जलानेके लिए वनकी आगके समान, नि स्नेही, मूर्ख कपटी ! यदि इस दिगम्बर वेपको छोड़कर स्वेच्छासे चलता हो तो चल, नहीं तो इस अपने पुत्रको ले ।' ऐसा कहकर उस आतापनयोगसे स्थित मुनिके सामने शिलापर बालकको छोड़कर अपने घर चली गई । शिला तप रही थी अत बच्चा उनके चरणोपर लिटा हुआ था और मुनि इस उपसर्गके साथ ज्योंके त्यों निश्चल खड़े थे ।

१ कमलसूर्येण । २ माहूहीत्या-अ० ज० मु० । ३ चतुर । ४ सप्रेष्य । ५ सहितम् । ६ गृहीत्वा ।

७ छात्रेभ्य । ८ रूपम् । ९ मुक्त्वा । १० स्वेच्छयागच्छसि-आ० । ११ उद्भवस्य-उद्भवजानो ।

१२ शिशोराधारीभूतपाद ।

अत्रास्तरे सहस्ररानुघरसंचरत्सेधरीघरप्रासककरकरम्भस्य विजयार्धतटीध्रस्य
 वयितायिवूरयिघाघरीयिनोवयिहारपरिमलितकाम्तारधरण्यामुत्तराधेष्वाभमराधतीपुरीपरमे
 श्वरः सुमङ्गलावसायत् प्रकामनिजासारतितकान्ताशयशोकशुस्त्रिशुर्नाम नृपति समराक्ष-
 रामिसरस्तपलसतमाधसामसारशिशुमुष्मिन्धिराय राज्यसुखमनुभूय जिनागमावधगतसंसार
 शरीरमोगयैराम्यस्थितिर्यतिर्बुम्पुब्धु गोघरसंचाराय हेमपुरेश्वराय समस्तमङ्गीशमान्यशास-
 नाय यक्षवाहनाय सुतां सुदेवीं राज्यं च ज्येष्ठाय पुत्राय मास्करदेवाय प्रदाय सुप्रमसुरि-
 मीपे संयमी समञ्जि ।

ततो गतेषु कतिपयेषुचिह्नियसेषु समुत्साहितात्मीयसहायसमूहेन स्वर्गोवर्षविद्यावत्-
 प्युहेन बुध्दिनीतवर्णिनेन कनिष्ठेनानुजेन पुरन्दरदेवेन विहितराज्यापहारं परिजनेन स्मं
 स मास्करदेवस्तत्र बलवाहनपुरे शिविरमधिनिवेश्य मणिमालया मङ्गिष्योनुगस्तं सोमदेवसम
 गवन्तमुपासितुमागतस्तत्पावम्के स्थलकमलमिध त वासकमवलोक्य 'भद्रो महोदधयम्
 यत् कथमिवमरत्नाकरमपि रत्नम्, अञ्जलाशयमपि कुशेशयम् अमिन्धनमपि तेजःपुङ्गव,
 अक्षरद्वारमन्युप्रतिष्ठम् अमिलाभातुलमपि कमनीयम् अपि च कथमर्थं प्राप्तपुङ्गव इव
 पाणिस्पर्शनापि म्हायज्ञावष्य', कठोरोष्मणि प्रायणि वज्रघटित इव रिरत्नमानमानस
 मातुलस्तङ्गात् इव सुजेन समास्ते इति हृत्तमिति प्रियतमे 'कामं स्तनचयघृतमनोरयाया
 स्तथाय भगवत्प्रसादसंपन्नं सवस्त्रजपोपपन्नो वज्रकुमारो मामास्मदीयवर्गशिशालतायिधा

इसी बातमें एक घटना घटी । विजयार्ध फलकी उत्तरमेष्मिने अमरावती नगरीका राजा
 त्रिसङ्ग चिरकाळ तक राज्यसुलका भोगकर संसारसे विरक्त हो गया । मुनि होनेकी इच्छासे उसने
 अपनी कन्या को हेमपुरके स्वामी भूमिगोचरी बलवाहन राजाको दे दी और राज्य ज्येष्ठ पुत्र मास्कर
 देवको दे दिया । फिर सुप्रम सुरिके निकट भिनवीक्षा भरण कर ली ।

कुछ दिन बीतनेपर उसके छोटे पुत्र पुरन्दरने आत्मीय बनोंके द्वारा उत्साहित किये
 जानेपर अपनी मुन्नाओंके और सैन्यबलक घमण्डमें आकर अपने बड़े भाई मास्करदेवका राज्य
 छीन लिया । तब मास्करदेवने अपने परिजनोंके साथ जाकर बलवाहनपुरमें अपना अश्वकर दान्त
 और स्वयं अपनी परानी मणिमालाके साथ सोमदेव मुनिकी बन्दना करनेक लिये आया । मुनि
 के शरणमें पहुँचके कमलके समान उस बालकका देखकर यह बोला—'अरे ! बड़ा आश्चर्य है ।
 बिना रत्नाकरके रत्न, बिना अलशयके कमल, बिना इषनके तेजका पुंज, बिना सूर्यके उमकान्ति
 कारक और बिना चन्द्रमाके मनोहर यह बालक यहाँ कहाँसे आया ? नवपल्लवके समान इसका
 साक्ष्य हावके रूपसे भी स्वाग होने वाला है । किन्तु इस अत्यन्त गर्म पहाड़पर कमसे बने हुए
 के समान श्रीङ्गा करता हुआ सुलसे ऐसा लट्टा है मानो माताकी गर्भमें ही है ।

प्रियतमे ! तुम्हें पुत्रकी बांछा थी । भगवान्‌के प्रसादसे तुम्हें यह सर्व लक्ष्मणोंसे पूज्य पुत्र
 प्राप्त हुआ है । इसका नाम वज्रकुमार रखते हैं । यह हमारे वंशको समुत्तत करेगा ।' ऐसा कह

यिधामपात्रम् पुत्र इत्यभिधाय विधाय च यथावत्तस्य भगवतः पर्युपासनं पुनरत एव महतोऽधिगतैर्तदपत्यवृत्तान्तो भावपुरमनुससार ।

भवति चात्र श्लोक —

अन्त सारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम् ।

किं न स्यादग्निसंयोगः स्वर्णत्वाय तद्देशमनि ॥२०७॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः ।

पुनर्वालभावाच्छोणैच्छायाकायः कर्द्वेल्लिपल्लव इव धातकीप्रसवस्तवक इवारणमणि-
कन्दुक इव च चन्धूनामानन्दनिरीजितामृतपीथमन्धरितमुख सखेल करपरम्परया संचार्यमाण
क्रमेणोत्तानशयदरहसितजानुचट्क्रमणगद्गदालापस्पृश्यापञ्चकस्थामवस्थामनुभूय मरुमार्गं
इव छायापादपेन, छायापादप इव जलाशयेन, जलाशय इव कमलाकरेण, कमलाकर इव
कलहसनिवहेन, कलहसनिवह इव रामासमागमेन, रामासमागम इव च स्मरलीलायितेन,
तरुणीजनमनोमृगप्रमदवनेन यौवनेनालंचके ।

तदनु बाढं प्ररुद्धप्रौढयौवनाचतारसारो वज्रकुमारः पितुर्मातृश्च वंशनिवेशानवद्या-
भिर्विद्याभिः प्रवलितप्रतापगुप्त प्राप्तखचरलोकाधिन्य सुवाक्यमूर्तिनामधामस्य मामस्य
मदनमदपण्यतारुण्यलावण्यारण्यवनदेवतावतरवसुमतीमिन्दुमतीं दुहितरं परिणीय
मणिकुण्डल-रत्नशेखर-माणिक्य-शिखण्ड-किरीट कीर्तन-कौस्तुभ-कर्णपूरपुर सरैर्नभश्चरकुमा-
रैरनुसृतं पूर्वापरावारपारतरङ्गदन्तुरकन्दराधर कीडारसवर्धनोद्भुर विजयार्धमहीधरम-

कर उसने मुनिकी उपासना की और उनसे वच्चेका सब वृत्तान्त जानकर नगरको लौट आया ।

किसीने ठीक कहा है—

‘जिनके अन्तरगमें कुछ सार है उनका अहित चाहना भी हितके लिए होता है । देखो,
स्वर्णपापाणको आगमें तपानेसे क्या वह सोना नहीं हो जाता ॥२०७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वज्रकुमारका विद्याधरसे समागमका वर्णन करनेवाला
पन्द्रहवों कल्प समाप्त हुआ ।

वचनके कारण वज्रकुमारके शरीरकी कान्ति अशोक वृक्षके नये पत्तोंकी तरह या धतूरेके
अथवा लालमणिकी गेंदकी तरह प्रतीत होती थी । घरके आदमी उसे बड़े प्यारसे पुष्प गुच्छकी तरह देखते
थे और वह हाथों हाथ घूमता था । पहले वह ऊपरको मुख किये लेटा रहता था, कुछ बड़ा होनेपर
उसनेमुसकराना शुरू किया । फिर घुटनोंके बल चलने लगा । फिर तुतुलाते हुए बोलना शुरू किया ।
फिर स्पष्ट बोलने लगा । इस तरह क्रमसे पाँच अवस्थाओंको विताकर वह बड़ा हुआ । और
जैसे मरु भूमिका मार्ग छाया देने वाले वृक्षसे शोभित होता है, छाया वृक्ष सरोवरसे शोभित होता
है, सरोवर कमलोसे शोभित होता है, कमलसमूह राजहसोंसे शोभित होता है, राजहसोंका समूह
स्त्रीके समागमसे शोभित होता है और स्त्रीसमागम काम विलाससे शोभित होता है वैसे ही
वज्रकुमारका शरीर यौवनसे सुशोभित हो गया ।

उसके बाद यौवनके भर उठनेपर पितृवश और मातृवशसे प्राप्त हुई निर्दोष विद्याओंके
प्राप्त होनेसे उसका प्रताप और भी बढ़ गया और उसने अपने मामाकी लड़की इन्दुमतीसे विवाह

- १ योगवासने एतस्मात् सोमदत्तगुरो । २ ज्ञातवालकवृत्तान्त । ३ स्वर्णपापाणे । ४ रक्त ।
५ पीथ वालस्य देय नवनीतादि । ६ यथा मरुस्थल छायावृक्षेण शोभते तथाज्य यौवनेनालचक्रे ।

अत्रान्तरे सहस्रानुचरसंघरत्नेष्वरीधरणाञ्जलकरतरुमध्यस्थं यिज्याघतटीप्रस्थं
 वयितायिदूरयिद्यापरीयिनोद्विहारपरिमलितकान्तारधरण्यामुत्तरध्वेण्याममरायतीपुरीपरमे
 श्वरः सुमहत्सावसायरः प्रकामनिधातारातिफान्ताशयशोकशङ्कुशिशुर्नाम नृपतिः समराष्ट्र
 रामिसरस्तपन्सतमायसानसारशिलीमुखश्चिराय राज्यसुखमनुभूय जिनागमाद्यगतससार
 शरीरभोगधैराम्यस्वितिर्यतिषुमपुमू गोचरसंचाराय हेमपुरेश्वराय समस्तमहीशमाय्याश-
 नाय वलयाहनाय सुता सुदेयी राज्यं च ज्येष्ठाय पुत्राय आस्करदेवाय प्रदाय सुप्रमसुरि-
 सीपे सयमी सममणि ।

ततो गतेषु कतिपयेषु जिह्वितेषु समुत्साहिताग्नीयसहायसमूहेन स्वदोषैर्पयिद्यावल-
 म्बूहेन बुद्धिनीतयिष्ठेन कमिष्टेमानुजेन पुरन्दरेणेन विहितराज्यापह्वाः परिक्षमेन समं
 स मास्करदेवस्तत्र वल्ग्याहनपुरे शिपिरमधिनिवेश्य मणिमालया मञ्जिष्येनानुगतं सोमवृत्त-
 गयन्तमुपासितुमागतस्तत्पादमूले स्थलकमलमयं तं वाक्कमयलोक्य 'महो महद्वाच्यम्
 यत् कथमिदमरत्नाकरमपि रत्नम् अजलाशयमपि कुशेशयम् अकिञ्चनमपि तेजःपुङ्गवम्,
 अचण्डकरमन्युप्रतिपद्यम् अमिता मातुलमपि कमनीयम्, अपि च कथमयं मालपङ्कज इव
 पात्रिहृष्टमपि स्लायज्ञाप्यः, कठोरोष्मि प्रावणि पञ्चवदित इव रिरंसमानमानसं
 मातुलस्तङ्गनात् इव सुखेन नमास्ते' इति कृतमतिः प्रियतमे 'कामं स्तनभयभूतमनोरथाया
 स्तवायं भगवत्प्रसादसपन्नं सवलक्षणोपपन्नो वज्रकुमारो नामास्मदीयधशयिशासताविधा

इसी पात्रमें एक मटना पटी । विषयार्थ फलकी उत्तरमणिमें अमरावती नगरीका राजा
 त्रिभुज चिरकाळ तक राज्यसुखको भोगकर संसारसे विरक्त हो गया । मुनि होनेकी इच्छासे उसने
 अपनी कन्या तो हेमपुरके स्वामी भूमिगोचरी वल्ग्याहन राजाको दे दी और राज्य ज्येष्ठ पुत्र मास्कर
 देवको दे दिया । फिर सुप्रम सुरिके निकट विनवीक्षा कारण कर ली ।

कुछ दिन बीतनेपर उसके छोटे पुत्र पुरन्दरने आसीय बनोंके द्वारा उत्साहित किये
 जानेपर अपनी भुजाओंके और सैन्यबलके समूहमें जाकर अपने बड़े भाई मास्करदेवका राज्य
 छीन लिया । सब मास्करदेवने अपने परिजनोके साथ जाकर वल्ग्याहनपुरमें अपना छत्र डाला
 और स्वयं अपनी पटरानी मणिमाळाके साथ सोमवृत्त मुनिकी बन्दा करनेके छिय आया । मुनि
 के घरजोमें पूष्पीके कमलके समान उस वाक्कको देखकर वह बोला—'अरे ! बड़ा वाच्य है ।
 बिना रत्नाकरके रत्न, बिना अलाशयके कमल बिना ईश्वरके तेजका पुंज, बिना सूर्यके उत्पत्ति-
 कारक और बिना अन्द्रमाके मनोहर यह वाक्क यहाँ कहाँसे आया ? भवपरलवक समान इसका
 काकण हाथके स्पर्शसे भी न्यून होने बाछ है । किन्तु इस व्ययन्त गम पहाड़पर कजसे बने हुए
 के समान श्रीड़ा करता हुआ सुखसे ऐसा ज्येष्ठ है मानो माताकी गर्भमें ही है ।

प्रियतमे ! तुम्हें पुत्रकी बांछ थी । भगवान्के प्रसादसे तुम्हें यह सर्वं कष्टजोसे पूर्ण पुत्र
 प्राप्त हुआ है । इसका नाम वज्रकुमार रखते हैं । यह हमारे बंसकी समुन्नत करेगा ।' ऐसा कह

अन्यदा पुनरिष्टदुष्टातिप्रज्ञावज्ञाभ्यामात्मनः परैर्यतत्वमवबुध्य निजान्वयनिश्चये सति शारीरेषूपचारेषु प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरित्याचरितसंगरस्ताभ्यां महामुनि-माहात्म्यमन्त्रवित्रासितदुरितनिशोचरायां मथुरायां तपस्यत. सोमदत्तस्य भगवत. सनीडे नीतस्तद्वत्सुद्राप्रायमात्मकायमवसाय संजातानन्दनिकायस्ताबुभावप्युपनेतारौ माता-पितरौ सादरमुक्तियुक्तिभ्यां प्रतिबोध्यावधीरितोभयग्रन्थो निर्ग्रन्थश्चारणद्विवृद्धिः समपादि ।

भवति चात्रार्या—

तृणकल्पः श्रीकल्पः कान्तालोकश्चितो चित्तालोक ।

पुण्यजनश्च स्वजन. कामविदूरे नरे भवति ॥२०८॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडश कल्पः ।

पुनर्महामहोत्सवोत्साहितातोद्यवादनादमेदुरप्रासादकन्दरायामेतस्यामेव मथुरायां किल गोचराय चारणऋद्धियुगलं नगरमार्गे संगतगतिसर्गं सत् तत्र द्वित्रिपरिवत्सर एवा-वस्थावसरे बालिकामेकां चिल्लचिकिर्लोचनसनाथामनाथामापणाङ्गणचारिणीं स्वलद्रमन-विहारिणीं निरीक्ष्य प्रतीक्ष्य पश्चाच्चरः सुनन्दनाभिधानगोचरो भगवानेवमवादीत्—‘अहो, दुरालोकः खलु प्राणिनां कर्मविपाकः, यदस्यामेव दशायां क्लेशाय प्रभवति’ इति ।

पुरश्चारी भगवानभिनन्दननामधारी—‘तपः कल्पद्रुमोत्पादनन्दन सुनन्दनमुने, मैवं वादीः ।

एक बार इष्ट बन्धु-बान्धवोंके कहनेसे और दुष्ट जनोंके अनादरसे उसे पता चला कि मैं भास्करदेवका पुत्र नहीं हूँ, बल्कि उन्होंने मेरा पालन किया है, तो उसने प्रतिज्ञा की कि अपने वंशका निश्चय होजानेपर ही मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगा अन्यथा मेरे सबका त्याग है । तब उसके पालक माता-पिता उसे मथुरा नगरीमें तपस्या करते हुए सोमदत्त मुनिके पास ले गये । मुनिकी शारीरिक आकृतिके तुल्य ही अपनी आकृतिको देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ । और उसने उन दोनों माता-पिताको समझा-बुझाकर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग कर दिया और निर्ग्रन्थ साधु बनकर चारणऋद्धिका स्वामी हो गया ।

किसीने ठीक कहा है कि ‘जो मनुष्य काम-विकारसे दूर है उसके लिए लक्ष्मी तृणके समान है, एकत्र हुआ स्त्री-समुदाय चित्तके आलोक समान है और कुटुम्बीजन राक्षसोंके समान हैं ॥२०८॥’

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वज्रकुमारके तपःग्रहण करनेका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

एक बार मथुरा नगरीमें चारणऋद्धिके घारी दो मुनि मार्गमें चले जाते थे । उसी मार्ग में दो-तीन वर्षकी एक अनाथ बालिका जिसकी आँखें मैलसे भरी थीं, इधर-उधर भटकती माँगती खाती डोलती थी । उसे देखकर पीछे चलने वाले सुनन्दन नामके मुनि बोले—‘जीवोंके कर्मका विपाक कोई नहीं जानता, देखो तो बेचारी यह बालिका इतनी-सी उम्रमें ही कष्ट भोगती है ।’

यह सुनकर आगे चलने वाले अभिनन्दन मुनि बोले—‘सुनन्दन मुनि ! ऐसा मत कहो ।

१ ज्ञातिमन्ये ये दृष्टास्ते प्रज्ञा ददति, ये दुष्टास्ते निरादर कुर्वन्ति । २ परपोषितत्व ।

३ स्नानभोजनादौ । ४ प्रतिज्ञा । ५ पापान्वेव राक्षसा यत्र । ६ ज्ञात्वा । ७ मृतकचित्तासदृश ।

८ राक्षस । ९ आहारार्थम् । १० वर्षद्वित्रिसमये । ११ दूषित ।

भ्यास्य विरविद्वयैश्चरीपरिमलनम्भाममृणालजलेजमशोकैर्दलशय्यादमितासाधविद्याधरीसु-
रतपरिमलवहसमिदमुपवनलतास्थानं कन्दुकचिनोत्रपरिजताम्बरवरीयारम्भालककौटिल्यैव
स्तमासमृणालयालालयमेवमिव रमणीयमेतमनोहरमयस्थ सुन्दरमर्दनीघृतमिति
मिथ्यायन् समाधरितस्थैरविहारः पुनः प्रासहिमयद्विदिप्याम्भारः खेचरीसौघमत्तन्द्रस्य
पुरेन्द्रस्याह्वयतोयुवतिप्रोतिधाम्नो गरुडवेगाम्नो विद्याधरपतेरतिशयरूपनिरूपणप्राप्तिं
प्रियपुत्रा पयनवेगामासङ्गां प्रालेयाखलमेकलाललतिकलतास्यनिकीमाङ्गां बहुकृपिणीं नाम
निपद्यां विद्यामाराधयन्तीमनयैषं विष्णोविष्णया ज्ञाताजगररूपया विद्यायां निगीर्णवद्गामुप-
लब्ध परोपकारविद्यस्यस्तार्क्यविद्यायां समेतस्तत्पमाधिकृतास्तु मायाशुभास्तु विनाशयामास ।

पयनवेगा छत्रप्रत्युद्गमोगापगमानन्तरमेव विद्यायां सिद्धिं प्रपद्य 'मयस्यमिह जन्मस्य-
यमेव मे कृतप्राणजाणादेश' प्राणेशः इति चेतस्यमिनिविष्य पुनरस्यैव श्रीहार्गमहीधरस्य
नितम्बतीरिणीपयसे सूर्यप्रतिमां समाभितवतो भगवतस्त्वपमभावसपादितसमस्वसत्य
भ्यापवस्तस्य सयतस्य पात्रपीठेपकण्ठे पठतस्तथेयं सेतस्यतीत्युपदेशादेशाभिनयमाराधय
वज्रकुमारारय गगन्नामै नान्नाजीवितभूताममिमतायसाधनपर्याप्तं प्रवृत्तिं विद्यां वितीर्य निज
नगयीं पर्यटत् । वज्रकुमारस्तथैव तत्स्वरिसमर्प फेनमाळिनीकुले विद्यां प्रसाध्यासाध्यसाधन-
प्रवृत्तपराक्रमस्तमक्रमधिक्रमाक्षीभूतदैव पुरन्दरदैवं पितृभ्यमभ्यासमुच्छिद्य सद्यस्तां विजयो-
त्सयपरम्परावतीममरावतीं पुरमारमपितरमभिलषच्छराधरितचरणसेयं मास्करदेव्यं निवेश्य
यशवेन्द्रियं स्ययंवरभ्यासेन विहिताभिसपितकान्तसंगामनङ्गसगसगस्तम्भारसुमार्गां
पयनवेगामपराश्वाम्बरधरपतिवरां विद्यायां महाभागपुण्यो विद्यायश्चरविधिविन्तामात्रायां
सेतैस्त्वैर्विन्तासैः कालमतिपाहयामास ।

क्रिया । एक बार वज्रकुमार अनेक विद्याधर कुमारोंके साथ विषयाध पर्वतकी क्षोमा देवता हुआ
भूम रहा था । भूमते-भूमते वह हिमवान पर्वतपर जा पहुँचा । वहाँ विद्याधरोंके स्वामी गरुडवेग
की अतिशय रूपवती कन्या पयनवेगा बहुरूपिणी विद्या साक्षी थी । वज्रकुमारने देखा कि विज
डाकनेकी भावनासे वह विद्या अबगरका रूप बनाकर उस कन्याको निगळा ही चाहती है । उस
परोपकारीने दुरन्त ही गरुडविषाके द्वारा उसके मुलको पीर दिया । इस विजके दूर होते ही
पयनवेगाकी विद्या सिद्ध हो गई । उसने संकल्प किया कि इस खन्ममें मेरे माणोंकी रक्षा करने
वाला बही युवक मेरा स्वामी है । यह संकल्प करके उसने वज्रकुमारको इष्ट वस्तुकी सिद्धि करने
वाली प्रवृत्ति नामकी विद्या प्रदान की और कहा कि इसी पहाड़के किनारेसे बहने वाली नदीके
पास आशपनयोगसे स्थित, मुनि महाराजक चरणोंके समीपमें बैठकर पढ़ने मात्रसे मुझें यह विद्या
सिद्ध हो जायेगी । यह कह कर वह अपने नगरको छोड़ गई । वज्रकुमारने उसके कद्वे अनुमार
फेनमाळिनी नदीके किनारे आचार्यके समक्ष विद्या सिद्ध की । इस विद्याके प्रभावसे उसमें असाम्य
कामकी भी साधनेकी क्षमि था गई और इससे उसका पराक्रम और भी बढ़ गया । तब उसने
अपने पाना पुरन्दरदेवका मारकर अमरावती नगरीक राज्यासनपर अपने पिता मास्करदेवको
बैठाया और स्वयंवरमें पयनवेगाके साथ अन्य विद्याधर कुमारियोंसे विवाह करके आगन्तपूर्वक
दिन बिसाने स्था ।

१ विद्याधरवरी-आ । २ विरहिणी । ३ अशोकवल्गुमयामा दलितेन वशीं आशाना प्राप्या वा विद्याधरी ।

४ विद्वान् । ५ स्वात्मम् । ६ मृणालवलय-आ । ७ पर्वत । ८ रिप्यनिज-आ । ९ मायाजगर
घनम् । १० नदी । ११ विद्याधरी ।

कन्या पुत्रि
सति सतीरेवै
महात्म्यमन्त्रविना
सगीडे नीतस्तन
मित्री सावर
मन्त्रि

आरम्भं निवार्याविधार्य च, 'किमियं विहितविवाहोपचारा,
ज्युथ तत्र 'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या' इति
शरणैकजडान्तःकरण. शरणमगात् । आसपुरुषोऽप्यग्र-
धाय स्वामिनं तत्समागमिनमकरोत् ।

यत्काले जन्तुना पुराचरितम् ।

हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥२१०॥

ब्रह्मास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः ।

आनन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तथा पतिप्रणयप्रेयस्या
र्विलादेव्या. स्यन्दनविनिर्गमेण भगवतः सकलभुवनोद्धरण-
णमुत्सेः क्षुमिच्छन्त्या शुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमग्राहा सकलपरिवा-
तमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत । ऊर्विलादेव्यपि सुभगभा-
न्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य 'भदन्त,
ग्राहामहे पूर्वकमेण जिनपूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति,
स्तुषु साभिलापं मन', अन्यथा निरमिलापम्' इति प्रतिजिज्ञासमाना

चिन्तमें उठते हुए ववण्डरको जिस किसी तरह रोककर आगेका मार्ग
विश्वस्त पुरुषको बुलाकर उससे अपने मनकी अभिलाषा बतलाकर वह
जास जाकर यह पूछो कि यह कन्या विवाहित है या अविवाहित ? यदि
हमारे लिए तैयार करो ।' उस विश्वस्त पुरुषने राजमहिषीका पद प्रदान
उसका राजाके साथ विवाह करा दिया ।

कहा है—

जन्ममें जो पुण्य या पाप किया है, समय आनेपर वह उसे अवश्य सुख
॥२१०॥

उपासकाध्ययनमें बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहनके वरणाका वर्णन करनेवाला
सत्रहवों कल्प समाप्त हुआ ।

शब्द भव्यजनोंको आनन्द देनेवाला नन्दीश्वर पर्व आया । इस पर्वमें पूतिकवाहन
ऊर्विलादेवी बड़ा भारी महोत्सव करके जिनेन्द्रदेवका रथ निकालती थी । बुद्ध-
महोत्सवको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिए बुद्धदेवकी पूजाका आयोजन किया और उसके
तभी राजासे मोंगी । राजाने सब सामान दे दिया । जब ऊर्विलाको अपनी सौतकी
ण दुर्जनताका पता चला तो उसे इसका कोई प्रतीकार न सूझा । तब वह सोमदत्त
जास गई और बोली—'भगवन्, यदि इस दो-तीन दिनमें आनेवाले अष्टाहिकापर्वमें पुराने
सार जिन भगवान्की पूजाके निमित्तसे मेरा रथ मथुरामें निकलेगा तो मैं अन्न-जल ग्रहण
हीं तो मेरा त्याग है ।' यह सुनकर सोमदत्तने उसके मनोरथको पूर्ण करनेकी भावनासे
कुमारकी ओर देखा । वज्रकुमारने उसे समझाते हुए कहा—'सम्यग्दृष्टि ललनाओंमें अग्रणी

१. कन्या । २. चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधीना कर्तव्येति । ३. उद्देग । ४. गृह । ५. प्रतिज्ञया ।
छेदनकर्तुः । ७. बुद्धस्य । ८. प्राप्य । ९. प्रतिज्ञा कर्तुमिच्छन्ती ।

पद्मपीयं गर्भसंभूता सती राक्षसेष्टिपद्मवृत्त समुद्रवृत्तं पितरं जातमात्रा तद्वियोगसु-
खोपसर्वा
घनया मातरं प्रवर्धमाना च वम्बुजनमकाण्ड पद्म वृक्षीं वृक्षामानीय इवमघस्यान्तरमनुमन्ती
तिष्ठति, तथाप्यनया मौडयोवनयास्य मधुरानायस्यीर्षिलावेधोधिगोवाचस्यस्य पूतिकवाहनस्य
महीनस्याप्रमद्विष्या मयितव्यम् इत्यथोवाच । एतच्च तत्रैव प्रस्तावे पिरडैपाताय द्विष्यमाना
शाक्यमिन्दुरपमुत्सवं 'नाम्यथा मुनिमापिषम्' इति निर्धिकल्पं संकल्प्य, स्वीकृत्य बैनामर्मि
कामाद्विदधिविहारसत्तिकामभिजापितानुद्धारैराहारैरधीवृषत् । शुद्धोव च बुद्धवासीति परिजन-
पट्टिहासतन्त्रेण गोत्रेण ।

ततो गतेषु केपुष्टिद्वर्षेषु अमरैकमकृतमिनयनमरते अविभ्रमारम्भोपाभ्यायस्यानिनि
होचनविचारधानुपाचार्ये चतुरोक्त्यानुदीप्रधारगुरुणि विम्बाधरधिकारसौम्यकाव्यमयी
योगे निम्नोद्यतप्रदेशप्रकाशनशिष्टिनि मर्मसिजगजमवोदीपनपिण्डिपिण्डिते मृङ्गारगर्मगतिर-
हस्योपदेशिनि समस्तमुधनमनोमोहनसिद्धीपथे प्रतिविमलादुर्भावसंविधे सति धोचने सा
रूपसपन्महीपसी बुद्धवासी सोत्तात्मसुपुङ्गतमङ्गलकोसहस्रसंगता तं अमणिकया कृतविहारे
पान्तागमनं पूतिकवाहन राजानमवर्षत् । राजा च ताम् । राजा—

‘अथकवलयास्तभान्ता विसोचनवीधिका

प्रसरयिषुरा मन्दोद्योगा स्तनद्वयसंकेते ।

त्रिवलिवलनभान्ता मामी पुनरुच निमज्जमा

विह हि सै रिति मायेषैव मतिमैम वर्तते ॥२०६॥

अथपि अब यह बालिका गर्भमें आई तो राक्षसेष्टीके पदपर प्रतिष्ठित इसका पिता समुद्रवृत्त मर गया,
अब यह अन्मी तो पतिके वियोगमें इसकी माता बनवा चढ कसी, बड़ी हुई तो असमयमें ही कन्धु-
बान्धव मर गये और अब यह इस हावमें है । तथापि युक्ती होनेपर यह इसी मधुरा नगरीके
राजा पूतिकवाहनकी फरानी होगी ।’ बहीपर मौकनके स्त्रिय धूमते हुए बौद्धमिमुने इस बातचीतको
सुना । उसने सोचा कि मुनि झूठ नहीं बोलते । अब वह उस बालिकाका अपने विहारमें लेगा
और उसकी रुचिके अनुसार साम-गान देकर उसे बड़ा किया । सब लोग ईंसीमें उसे बुद्धवासी
कहते थे । बीरे-बीरे उसमें मौकनका प्रादुर्भाव हो चला । उसकी भ्रुकटियोंमें विक्रम का चला,
कोचनोंमें कुछ खचीब चंचलता दृष्टिगोचर होने लगी, उसकी बातोंमें भी चातुर्य झलकने लगा,
आँखोंपर लपटें मादकता छा गई, लंग-मस्तकमें मौकनकी शिल्पकलाका चातुर्य दिखाई
पड़ने लगा, चाकमें मादकता आगई । कुछ वर्ष बीतनेपर एक दिन वह रूपवती बुद्धवासी
बिहारके एक ऊँचे शिलारपर चढ़ी हुई थी । धूमते-धूमते राजा पूतिकवाहन उस बिहारके कनीब
आ गया । दोनोंमें एक दूसरेको देखा ।

देखते ही राजा क्रममोहित हो गया और विचारने लगा—‘इस स्त्रीरूपी नदीमें प्राय
मेरी मति इस प्रकारकी हो रही है—प्रथम तो वह उसके कुटिल केश पाशक गामाकार जूड़ेरूपी
मँवरमें पड़कर भ्रान्त हो गई, फिर नेत्ररूपी स्फुरोंके सृष्टनमें पड़कर पीड़ित हुई, उसके नाद दानों
स्तनरूपी बासुकाय किनारों पर पहुँचकर उसकी बोधरूप शिथिल पड़ गई, पुन उदरकी चीन
रेखाओंमें अमण करनेसे थक गई और पुन मागिमें डूब जानेसे नजान्त हो गई ॥ २०६ ॥

१ मरणावस्थाम् । २ विधायी । ३ मुक्ता । ४ लघुपी । ५ आचारिण्यम् । ६ मान्य ।

७ अक्षर । ८. मरिच । ९. समीपे । १०. वल्लोच । ११. स्त्रीनद्या मय मयिपीवृष्टी वर्तते ।

इति चिचिन्त्य, चेतोभूविजृम्भप्रारम्भं निचार्यावधार्य च, 'किमियं विहितविवाहोपचारा, किं वाद्यापि पतिवैरा' इति भिक्षूनापृच्छ्य तत्र 'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या' इति समर्पिताभिलापमाप्तपुरुषं प्रेत्य रणरणकजडान्तःकरणः शरणमगात् । आसपुरुषोऽप्यग्र-महिषीपटपणवन्धेन साध्यसिद्धिं विधाय स्वामिनं तत्समागमिनमकरोत् ।

भवति चाचार्या—

पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम् ।

तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः ।

अथ समायाते भव्यजनानन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तथा पतिप्रणयप्रेयस्या बुद्धदास्या प्रतिचातुर्मास्यमौर्विलादेव्या, स्यन्दनविनिर्गमेण भगवत सकलभुवनोद्धरण-स्थितेर्जिनपतेर्महामहोत्सवकरणमुत्से^१त्तुमिच्छन्त्या शुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमष्टाहा सकलपरिचारा-नुगतमेतदुचितमुपकरणजातमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत । ऊर्विलादेव्यपि सुभगभा-चात्सपत्नीप्रभवं दोर्जन्यमनन्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य 'भदन्त, यद्येतस्मिन् द्वित्रिदिनभाविन्यष्टाहामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति, तदा मे देहस्थितिहेतुषु वस्तुषु साभिलाप मनः, अन्यथा निरभिलापम्' इति प्रतिजिज्ञासमाना

फिर उसने अपने चित्तमें उठते हुए ववण्डरको जिस किसी तरह रोककर आगेका मार्ग निर्धारित किया । एक विश्वस्त पुरुषको बुलाकर उससे अपने मनकी अभिलाषा बतलाकर वह बोला—'तुम भिक्षुके पास जाकर यह पूछो कि यह कन्या विवाहित है या अविवाहित ? यदि अविवाहित हो तो उसे हमारे लिए तैयार करो ।' उस विश्वस्त पुरुषने राजमहिषीका पद प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा करके उसका राजाके साथ विवाह करा दिया ।

किसीने ठीक कहा है—

'जीवने पूर्वजन्ममें जो पुण्य या पाप किया है, समय आनेपर वह उसे अवश्य सुख या दुःख देता है' ॥२१०॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहनके वरणाका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

इसके बाद भव्यजनोंको आनन्द देनेवाला नन्दीश्वर पर्व आया । इस पर्वमें पूतिकवाहन राजाकी रानी ऊर्विलादेवी बड़ा भारी महोत्सव करके जिनेन्द्रदेवका रथ निकालती थी । बुद्ध-दासीने उसके महोत्सवको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिए बुद्धदेवकी पूजाका आयोजन किया और उसके योग्य सब सामग्री राजासे माँगी । राजाने सब सामान दे दिया । जब ऊर्विलाको अपनी सौतकी इस असाधारण दुर्जनताका पता चला तो उसे इसका कोई प्रतीकार न सूझा । तब वह सोमदत्त आचार्यके पास गई और बोली—'भगवन्, यदि इस दो-तीन दिनमें आनेवाले अष्टाद्विकापर्वमें पुराने क्रमके अनुसार जिन भगवान्की पूजाके निमित्तसे मेरा रथ मथुरामें निकलेगा तो मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगी, नहीं तो मेरा त्याग है ।' यह सुनकर सोमदत्तने उसके मनोरथको पूर्ण करनेकी भावनासे मुनि वज्रकुमारकी ओर देखा । वज्रकुमारने उसे समझाते हुए कहा—'सम्यग्दृष्टि ललनाओंमें अग्रणी

१. कन्या । २. चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधीना कर्तव्येति । ३. उद्वेग । ४. गृह । ५. प्रतिज्ञया । ६. उच्छेदनकर्तुं । ७. बुद्धस्य । ८. प्राप्य । ९. प्रतिज्ञा कर्तुमिच्छन्ती ।

तेन सोमवत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थमर्थमवलोकितावकोण वज्रकुमारेण साधुना साधु
सबोधिता 'मातः सम्पन्नेशामेणी इत्यामवाप्तप्रथमकथे, अक्षमसमावेगेन । एतो न बलु मयि
तव समर्थसधिप्राप्तिस्तके पुत्रके सति भविताहतामहर्षीयाः प्रत्यवायः । तत्स्वस्य
पूर्वस्थित्यारम्भस्थाने स्यात्तन्मयम्' इति इष्टमनवधमसुयोधं च निगद्य मासोद्य च
पुण्यतिविद्याधरपुरं महामुनितया बाल्यवधिपण्यतया च निषिद्धेन भास्करदेवमुच्येगाम्बर
धरचक्रेण क्रमशः छत्वाभ्युत्थानविक्रिय समग्रयमागमनायर्तनमापूयः स्पष्टमाधय ।

तदनन्तरमानम्बुपुत्रमुनिनायोलाक्षणेक्षितमुक्तारमुक्तमण्डकैः, सोमयिकाक्षकारसारसम्भि-
तगजवाजिविमानगमनप्रथमसकर्मकुण्डलीः, अनेकानामुमणिकिङ्किणीजालजटिलकुतूहलकल्पि-
तपालिष्वे शरासिधिराजितमुजपक्षरैः, कर्मिकरसिद्धार्थकण्ठमकुं स्मीरुपरं शकुं स्तेश्वर
पुरसराकारपताकास्तानस्तिमितकैः, मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिबितामवर्षणसितातप-
धामरविरोधनेयम्रमद्रं कुम्भसंभृतस्यैः, अनुपपदेवपद्मविधिं अकणीर्यं स्वन्वगदि-
मुरगनरनिकीर्णसैन्यनिधयैः, सज्जयपट्टापट्टपट्टकटासुवर्णसुकाङ्कजिबिताक्षमञ्जरीमेरि
मम्मादिवाद्यानुगतगीतसंगतसङ्गामोर्णं सुमगसधरैः, कुञ्जबम्भकिरातकितवनटनतकम्भि
वाञ्जीवनविनोदान्भित्तविविधमनस्कटैः, सर्वैरुत्तरेष्वरसहस्रीहस्तविन्यस्तस्वस्तिकप्रवीप-
धूपनिर्प्रेषवृत्तिविविधार्चनोपकरणभरमजीयप्रसरीः पिष्टतकपटवासप्रसूनोपहारामिराम्रमणी
निकरैः अपरैश्च तैस्तैर्विष्टतपूजापर्यायपरिचारेविद्यायोपिहारी' सह तं वज्रकुमारमगमन्त
मम्बरपदवतरन्तमुत्प्रेक्ष्य "मिमुक्षुर्वासापटीयसी पुष्पभूयसी बल्लु बुधवासी पस्याः सुगतव'

माता । इतनी क्यों धरती हो ? अपनी धर्ममाताकी चिन्ता करनेवाले मुक्त पुत्रके होते हुए ब्रि-
नभावान्की पूजामें विज नहीं हो सकता । अतः निश्चित होकर अपने महर्षिमें जाकर बैठो ।'

इस प्रकार अपने स्वयंकी सच्ची बातकी कहकर वज्रकुमार मुनि विद्याधर भास्करदेवके
नगरमें पहुँचे । एक तो महामुनि होनेसे दूसरे बन्धुभाव होनेसे भास्करदेव गौरव समी विद्याधरोंने
उनका सत्कार किया और बिनमपूषक उनके जानेका कारण पूछा । वज्रकुमारने सब समाचार कहा ।

सुनते ही सब विद्याधर उनके साथ मथुरा बरुनेको तैयार हो गये । खूब जोर-जोरसे
बाने बरुने लगे । हाथी, घोड़े और विमान सामयिक खर्चकारोंसे सजा दिये गये । विद्याधरोंने
बड़ी-बड़ी मणियोंकी धंठियोंसे सुशोभित जबाबें अपने हाथोंमें ले लीं । कुष्ठके हाथोंमें हाथी,
मगर, सिंह आदिके वाक्योंसे बिस्त्रित पताकाएँ भी । कुष्ठके हाथोंमें मानस्तम्भ स्तूप, चारण,
वर्षण, छत्र, चमर, शृङ्गार आदि थे । जय-जयकारके साथ घण्टा, गगारा, मुर्दंग, रस, वीणा,
मोक्त आदि बाने बरुने लगे और उनके स्वरके साथ स्त्रियों गाने लगीं । षट् लोग कुम्भ, बौने
आदिका रूप बनाकर नाचने लगे, माटनि स्तुति-मान करना मारम्भ कर दिया । मिनीवकी लहरें
उठ पड़ीं । विद्याधरोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ हाथोंमें स्वस्तिक, शीप, पूषण आदि पूजनकी
सामग्री ले ली । स्त्रियोंके हाथ केसरका चूर्ण, पुष्प आदि उपहारोंसे खर्चकृत थे । इस प्रकार पूजनकी
विधि सामग्री छकर सब विद्याधर बड़े उत्सवके साथ वज्रकुमार मुनिके पीछे-पीछे घर दिये ।

१ सम्पत्त्वसंहितायां स्त्रीणां मध्ये दुरि वर्जनीये । २ धनजनमालु । ३ नविप्यति बोधि विज-
पूजाया । ४ प्रत्य । ५ बुधवाया जाकाद्यगमनेन । ६ नारण । ७ हस्तपुत्रसंयोजनो ध्वजिः । ८ मात्रोचित ।
९ रचित । १० कपूषज । ११ वज्रपरविष्टेय । १२ मलय । १३ मरु । १४ पूर्व । १५ पूर्वपुत्र ।
१६ हस्ते । १७ निरन्तर । १८ विविध । १९ धरीर । २० सत्रीया । २१ वट । २२ विद्याधर ।
२३ बोट । २४ बुधपूजा ।

पर्याप्तमये समायातं सकलमेतत्सुरसैन्यम्' इति धृतधिपणे पौरजनान्तःकरणे सति स भग-
वान्नागनगमनानीकैः साकमौर्विलानिलये निलीय^१ सावष्टम्भमैष्टाह्नीमथुरायां चक्रचरण^२
परिभ्रमय्यार्हतप्रतिचिम्बाद्धितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत् । अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया
प्रथते^३ । बुद्धदासी दासीवासीद्भग्नमनोरथा ।

भवति चात्र श्लोकः—

ऊर्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः ।

स्यन्दन भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥२११॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनी नामाष्टादशः कल्पः ।

अर्थित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः [प्रियोक्तिः] सत्क्रियाविधिः ।

सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता ॥२१२॥

स्वाध्याये संयमे सद्गे गुरौ सव्रह्मचारिणि ।

यथौचित्य कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम् ॥२१३॥

आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवघेन कर्मणा ।

सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्यं विमुक्तये ॥२१४॥

मथुरा नगरीमें आकाशसे नीचे उतरते हुए इन विद्याधरोंको देखकर पुरवासी जनोंने
समझा कि 'बुद्धदासी बड़ी पुण्यात्मा है उसीकी बुद्धपूजामें सम्मिलित होनेके लिए यह सब देवगण
आये हैं । किन्तु वज्रकुमार मुनि विद्याधरोंकी इस सेनाके साथ ऊर्विला रानीके महलमें उतरे और
उन्होंने अष्टाह्निका-पर्वमें मथुरामें रथयात्रा कराकर जिन-विम्बसे सुशोभित एक स्तूपकी वहाँ स्थापना
की । इसीसे आज भी वह तीर्थ 'देवनिर्मित' कहा जाता है । यह सब देखकर बुद्धदासीका
मनोरथ भग्न हो गया ।

इस विषयमें एक श्लोक है । जिसका भाव इस प्रकार है—

वज्रकुमार मुनिने राजा पूतिककी रानी महादेवी ऊर्विलाके रथका विहार कराया ॥२११॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें प्रभावना अगका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब वात्सल्य अगको कहते हैं—]

धर्मात्मा पुरुषोंके प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर सत्कार
तथा अन्य उचित क्रियाएँ करना वात्सल्य है ॥२१२॥

स्वाध्याय, संयम, सध, गुरु और सहाध्यायीका यथायोग्य आदर-सत्कार करनेको कृती
पुरुष विनय कहते हैं ॥२१३॥

जो मानसिक या शारीरिक पीड़ासे पीड़ित है, निर्दोष विधिसे उनकी सेवा-शुश्रूषा करना
वैयावृत्य कहा जाता है । यह वैयावृत्य मुक्तिका कारण है ॥२१४॥

१ अवतीर्य । २. अष्टाह्नी उपलक्षितायाम् । ३. रथम् । ४. प्रकाशते । ५. सीमनस्यम् ।
'आवृतिर्व्यावृतिर्भक्तिश्चादृक् सत्कृति कृति । सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सल्यमुच्यते—' । धर्मरत्ना०
पृ० ७३ उ० । 'भक्तिसंपत्तिरर्थित्वमिष्टोक्तिः सत्क्रियाविधि । स्वधर्मस्वक्षिसौचित्यकृतिर्वत्सल्यमूचिरे ॥३॥
—दानशासन, पृ० २७५ । ६. समानशीले । 'स्वाध्याये संयमे धर्मे मुनी वा धर्मवान्धवे । प्रतिपत्तिस्त्रिधा
प्राहुर्विनयं विनयात्विता ॥५४॥ व्याख्यादिना निरुद्धस्य निरवघेन विधिर्महान् । विधेयो धर्मताधारैरौषधाद्यै
स्ववस्तुभिः ॥५५॥—प्रबोधसार

तेन सोमवत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थमार्थमवलोचितयत्नेन वज्रकुमारेण साधुना साधु संवोचिता 'माताः सम्यग्देशामेणीच्छामासाप्तमथमकथे, मलमलमाधेणेन । पतो न जनु मयि तय समर्थसविभ्याश्चिन्तके पुत्रके सति भविताईतामईषीत्याः प्रत्यवायः । तत्स्वस्य पूर्णस्थित्यात्मस्थाने स्थातव्यम्' इति वृषभमवधममृणोद्यं च निगद्य, भासोद्यं च पुनर्विधिघाघरपुरं महासुमितया वाग्धधधियतया च मिषितेन भास्करदेवमुष्येनाम्बर-धरचक्रेण क्रमशः कृताभ्युत्यानाविधियं सम्प्रथममागमनायर्तनमापृष्टः स्पष्टमाधय ।

तदनन्तरमागमनपुष्पुमिनापोचालक्षेतित्तुमकरमुलमवधके, सामयिकासकारसारसज्जितगजघात्रियिमानगमनप्रधलक्षकं कुण्डली, अनेकामपुमपि किङ्किणीजालजटिलकुलकसिपे-तपालिष्यं जराजिघिपजितमुजपक्षैः, करिजकरसिंहशार्ङ्गकरमकुं स्मीरशफरं शकुं स्तेश्वर-पुरासराकारपताकास्तानस्तिमितकटैः, मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिषितामर्ष्यसितातपत्र-धामरविरोधेर्नैवमद्रमद्रं कुमसंस्तुतयैः । अनुषङ्गवेषमन्त्राविधिं शक्योपैत्ये स्थानवर्षि-पुरगनरनिर्णीयैत्यनियमैः, स्त्रयधष्टापदपदङ्कजस्तम्भवृक्षकाङ्कजकविषिततालमञ्जरीमेरि-भम्भाविद्याधानुगतगीतसंगताङ्गनाभोगे सुमगसधटैः, कुण्डधामनकिरातकिठवनदन्तकचन्वि-धाम्नीवनविनोदानन्दितविजिजमनस्कटैः, सै'केलकेवरचङ्करीइस्तविन्यस्तस्वस्तिकमयीप-धूपमिषे प्रभुतिविधिघाघरनोपकरधरमणीयप्रसदः पिष्टतकपदवास्त्यसुनोपहारानिरामरमणी-मिकटैः अपरैश्च तैस्तैर्विभूतपूजापर्यायपरिधारेर्विद्यायोगिहारैः । एव तं वज्रकुमारभगवन्त-मम्बरावधतरस्तमुप्रेक्ष्य 'मिच्छुमीक्षापटीयसी पुण्यमूयसी जनु बुधवासी यस्याः सुगतस'

माता । इत्नी क्यो धवरासी हो ? अपनी कर्ममाताकी चिन्ता करनेवाले मुझ पुत्रके होते हुए किन भगवान्की पूजामें विघ्न नहीं हो सकता । अतः निश्चिन्त होकर अपने मङ्गलोंमें जाकर बैठो ।'

इस प्रकार अपने इन्द्रकी सज्जी मातकी कहकर वज्रकुमार मुनि विद्याधर भास्करदेवके नगरमें पहुँचे । एक तो महामुनि होनेसे दूसरे कन्धुमाव होनेसे भास्करदेव वगैरह सभी विद्याधरोंने उनका सत्कार किया और विनम्रपूर्वक उनके जानेका कारण पूछा । वज्रकुमारने सब समाचार कहा ।

सुनते ही सब विद्याधर उनके साथ मधुरा चलेनेको तैयार हो गये । खूब और-औरसे बाजे बजने लगे । हाथी, घोड़े और विमान सामयिक ज्वलकारोंसे सजा दिये गये । विद्याधरोंने बड़ी-बड़ी मणियोंकी घंटियोंसे सुशोभित जवाएँ अपने हाथोंमें धे ली । कुछक हाथोंमें हाथी, मगर, सिंह आदिक जाकारोंसे चित्रित पटाकाएँ भी । कुछके हाथोंमें मानस्तम्भ, स्तूप, तारण, वर्षण, छत्र, चमर, मृद्गर आदि थे । जम-जमकारके साथ अय्य, नगारा, मुदग, शंख, बीजा, भौंभ आदि बाजे बजने लगे और उनके स्वरके साथ स्त्रियों गाने लगीं । मृद सोग कुनई, बीने आदिका रूप बनाकर नाचने लगे, माटोने स्तुति-गान करना प्रारम्भ कर दिया । बिनावकी सहरें उठ पड़ीं । विद्याधरोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ हाथोंमें स्वस्तिक, दीप, पूषण आदि पूजनकी सामग्री ली । स्त्रियोंके हाथ केसरका चूर्ण, पुष्प आदि उपहारोंसे जलकृत थे । इस प्रकार पूजनकी विविध सामग्री लेकर सब विद्याधर यह उत्सवकं साथ वज्रकुमार मुनिके पीछे-पीछे चले दिये ।

१. सम्यक्वत्तहिनाम् स्त्रीणां मध्ये धुरि वर्तनीये । २. जैनजयधाम । ३. धविप्यति बोधिं विघ्न-पूजायाः । ४. प्राप्य । ५. सुमया जावाघगमेन । ६. कारणं । ७. इतनुपदर्थयोग्यो ध्वनिः । ८. दानोचित । ९. रचित । १०. लपुष्पज । ११. जयधरविहीन । १२. मातृव । १३. गवह । १४. तूर्य । १५. पूणपुष्प । १६. हस्ते । १७. निरुत्तर । १८. विविधा । १९. धरीर । २०. लकीरा । २१. मट । २२. विदापर । २३. शोड । २४. बुधपूजा ।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अवन्तिविषयेषु सुधौन्धःसौधस्पद्भिर्शालार्यां विशालायां पुरि प्रभावतीमहादेवीश्रितशर्मसीमा जयवर्मनामा काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनक्रेण शुक्रेण चार्वाकलोकदिर्वस्पतिना बृहस्पतिना रुद्रमुद्रानुद्रितविवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्यावल्लिना वल्लिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिरेकदा समस्तशास्त्राभ्यासवर्षविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावनपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरुस्वस्य परमतपश्चरणगणग्रहणाजिह्वब्रह्मस्तम्बस्य महामुनिपञ्चशतीवर्यस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुपः सर्वजनानन्दनं नाम नगरोपवनमधितस्थुर्पश्चरणार्चनोपचाराय राजमार्गेषु महोत्सवोत्साहोत्सेकिपरिजनं पौरजनमभ्रंलिहगेहाग्रभागावसरे दिग्विलोकानन्दमन्दिरे स्थित. समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्ड. पौराणामुद्यावद्योगे' नियोग' इति वितर्कयन्, 'सकलसमयसंभविप्रसूतस्तिमितहस्तपल्लवान्तरालाढनपालात् 'देव, भवदर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्त्नमादितमेदिनीनन्दने' निजलक्ष्मीविलम्ब्यीकृतगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसपादितसमूहेन' महता मुनिसमूहेन सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रवन्धावधीरितामृतमरीचिमण्डलो निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकुटैर्न्दीभवत्पादनखमण्डल. पुण्यद्विपयूथवन्धनवारिरकम्पनसूरि समायातः । तदुपासनाय चास्योजयिनीजनस्य महामहोत्सवश्चित्तोत्साह.' इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पादयन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्वप्रवलतालताश्रयकं लि वलिमपृच्छत् ।

८ वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनिकी कथा

इसके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

अवन्ति देशकी विशाला नगरीमें जयवर्म नामक राजा राज्य करता था । उसके चार मंत्री थे शुक्र, बृहस्पति, प्रह्लाद और बलि । शुक्र बौद्ध शास्त्रमें निष्णात था, बृहस्पति चार्वाक दर्शनमें बृहस्पतिके तुल्य था, प्रह्लाद शैव था और बलि वेदविद्यामें पारगत था ।

एक बार समस्त शास्त्रोंमें पारगत और परम तपस्वी अकम्पनाचार्य पाँच सौ मुनियोंके सघके साथ सर्वजनानन्दन नामके उपवनमें आकर ठहरे । अपने आकाशचुम्बी महलके ऊपरसे आचार्यकी चरण पूजाके लिए बड़े उत्साहके साथ राजमार्गसे जाते हुए पुरवासियोंको देखकर राजा विचारने लगा—असमयमें ये पुरवासी उद्यानकी ओर क्यों जाते हैं ?

इतनेमें ही सब ऋतुओंके फल-फूल हाथमें लेकर वनपाल उपस्थित हुआ और बोला— 'स्वामी ! नगरके उपवनमें बड़े भारी मुनि-सघके साथ सब जीवोंको आनन्द देनेवाले, अपने अमृत मय वचनोंकी वर्षासे चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करनेवाले अकम्पनाचार्य गुरु पधारे हैं । उनके तपके प्रभावसे आई हुई समस्त ऋतुओंने उपवनको पृथिवीका नन्दनवन बना दिया है । उनकी उपासनाके लिए उज्जैनीवासियोंका उत्साह उमड़ पड़ा है ।'

यह सुनकर राजाका मन उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिए आतुर हो उठा । राजाने

१ अमृतमोजना देवा । २ उज्जयिन्याम् । ३ हन्त्रेण । ४ -गमण-ज० द० । ५ त्रिभुवनस्य । ६ स्थितवत । ७ गर्वित । ८ उत्सव । ९ पङ्कतु । १० वृक्षे । ११ सम्पादित सम्पगूहो विचारो येन । १२ चन्द्र । १६ दर्पण । १४ महापूजाकारक । १५ विभीतकवृक्षम् ।

जिने जिनागमे सूरौ तपभुतपरायणे ।
 सद्भाषयुविसपञ्चोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥२१५॥
 आतुर्यैर्त्यस्य सद्यस्य यथायोर्ध्वं प्रमोदयाम् ।
 वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥२१६॥
 तेष्वमर्त्यैर्घिया विसै शारौरी श्रीमवौभयैः ।
 त्रिविधैस्तद्वत्समाप्तानुपकुर्वन्तु संपताम् ॥२१७॥

बिन भगवान्में, बिन-भगवान्के द्वारा कह हुए छात्रमें, आचार्यमें और तप और स्वाध्यायमें बिन मुनि आदिमें विमुक्त भावपूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं ॥२१५॥

जो हर्षित होकर चार प्रकारके संभोग यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ॥२१६॥

इसच्छिष्टोंके द्वारा, विषाके द्वारा बनके द्वारा, खरीरके द्वारा और सम्यक् साधनोंके द्वारा शारीरिक मानसिक और आगन्तुक रोगोंसे पीड़ित सधर्मीबनोंका उपकार करना चाहिए ॥२१७॥

भाषा—जिस प्रकार एक सच्चा हितैषी मूल्य अपने स्वामीके कार्यके लिये सदा तैयार रहता है वैसे ही धर्मक कार्योंको करनेमें सदा तैयार रहना, धर्मके अंगोंकी रक्षाके लिये अपनी जान तक कर्मा देना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शिको वात्सल्यसे परिपूर्ण होना चाहिए। किसी भी धर्मावतनपर विपत्ति आनेपर उसे तन, मन और धन लगाकर दूर करना चाहिए। हम धर्मसे तो प्रेम करें और धर्मके जो अंग हैं—बिनबिम्ब, बिनमन्त्रि, बिनागम, जैन साधु गृहस्थ वगैरह, उनके प्रति उदासीन बने रहें, तो हमारा वह धर्म-मेम आस्तिर है क्या वस्तु ? अब धर्मके अंग ही नहीं रहेंगे तो धर्म ही कैसे रह सकता है ? जैसे खरीरकी स्थिति उसके अंगों और उपगोंकी स्थितिपर निर्भर है वैसे ही धर्मकी स्थिति उसके उक्त अंगोंके आश्रित है। अब धर्म-प्रेमीका यह कर्तव्य है कि वह धर्मके अंगोंसे प्रेम करे—उनके ऊपर कोई विपत्ति आई हो तो उसे प्राण-फलसे दूर करनेकी चेष्टा करे। इसीसे वात्सल्य अंगका बचन करते हुए श्री पञ्चाध्यायीके कृताने लिखा है कि बिनबिम्ब बिनालय वगैरहमेंसे किसीके ऊपर भी पोर संकट आनेपर बुद्धिमान् सम्यग्दर्शि सदा उसे दूर करनेके लिये तत्पर रहता है और अब तक उनमें आरामक रहता है, मन्त्र, तन्त्रवार और फनका बन्ध रहता है सब तक उस संकटका न वह सुन ही सकता है और न देख ही सकता है।' आज इस प्रकारका वात्सल्य देखनेमें नहीं आता। साधनी भाई सुसीबमें पड़ रहत हैं और हम देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। साधु त्यागियोंके कष्टोंकी ओर हमारा कोई ध्यान नहीं है। अपने ही भाइयोंकी कन्याक विवाहक खबरपर हम उससे हमाराका वहेन माँगते हैं। कोई गरीब निराश्रय हो तो उनकी सहायता करनेकी भावना हममें नहीं होती। उनका तुल्य देखकर हमारा हृदय प्रवित हो भी जाये ता भी हम उनकी सहायता नहीं करते। मौलिक सहानुभूति मात्र प्रकट करके चुप हो जाते हैं। इस तरहकी बेरुम्हारीसे धर्मकी स्थिति कभी भी नहीं रह सकती। अब जो सम्यग्दर्शि धर्मात्मा है वह सबकी यथायोग्य सेवा-सुभूषा करके, अपने हृदयकी मज्जिका प्रकट करता है और इस तरह वात्सल्य अंगका प्रकट करके अपना और दूसरोंका महान् उपकार करता है।

श्रूयतामत्रोपास्यानम्—अवन्तिविषयेषु सुधौन्धःसौधस्पर्द्धिशालार्या विशालायां पुरि प्रभावतीमहादेवीश्रितशर्मसीमा जयवर्मनामा काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनक्रेण शुक्रेण चार्वाकलोकदिवस्पतिना बृहस्पतिना रुद्रमुद्रानुद्रितचिवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्यावलिना बलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिरैकदा समस्तशास्त्राभ्यासवर्षविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावनपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरुम्बस्य परमतपश्चरणगणग्रहणाजिह्वग्रहस्तम्बस्य महामुनिपञ्चशतीवर्षस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुपः सर्वजनानन्दनं नाम नगरोपवनमधितस्थुर्पश्चरणार्चनोपचाराय राजमार्गेषु महोत्सवोत्साहोत्सेकिपरिजनं पौरजनमभ्रलिहगेहाग्रभागावसरे दिग्विलोकानन्दमन्दिरे स्थित समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुद्यावद्योने' नियोगः' इति वितर्कयन्, 'सकलसमयसंभविप्रसूनस्तिमितहस्तपल्लवान्तरालाद्वनपालात् 'देव, भवद्दर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्वन्मादितमेदिनीनन्दने' निजलक्ष्मीविलक्ष्मीकृतगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसपादितसमूहेन' महता मुनिसमूहेन सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रवन्धावधीरितामृतैमरीचिमण्डलो निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकुटैर्नदीभवत्पादनखमण्डलपुण्यद्विपयूथवन्धनवारिरकम्पनस्रि समायात. । तदुपासनाय चास्योज्जयिनीजनस्य महामहोच्चहृच्चित्तोत्साहः' इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पादवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्त्वप्रवलितालताश्रयकं लि बलिमपृच्छत् ।

८ वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनिकी कथा

इसके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

अवन्ति देशकी विशाला नगरीमें जयवर्म नामक राजा राज्य करता था । उसके चार मंत्री थे शुक्र, बृहस्पति, प्रह्लाद और बलि । शुक्र बौद्ध शास्त्रमें निष्णात था, बृहस्पति चार्वाक दर्शनमें बृहस्पतिके तुल्य था, प्रह्लाद शैव था और बलि वेदविद्यामें पारगट था ।

एक बार समस्त शास्त्रोंमें पारगट और परम तपस्वी अकम्पनाचार्य पाँच सौ मुनियोंके सघके साथ सर्वजनानन्दन नामके उपवनमें आकर ठहरे । अपने आकाशचुम्बी महलके ऊपरसे आचार्यकी चरण पूजाके लिए बड़े उत्साहके साथ राजमार्गसे जाते हुए पुरवासियोंको देखकर राजा विचारने लगा—असमयमें ये पुरवासी उद्यानकी ओर क्यों जाते हैं ?

इतनेमें ही सब ऋतुओंके फल-फूल हाथमें लेकर वनपाल उपस्थित हुआ और बोला— 'स्वामी ! नगरके उपवनमें बड़े भारी मुनि-सघके साथ सब जीवोंको आनन्द देनेवाले, अपने अमृत मय वचनोंकी वर्षासे चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करनेवाले अकम्पनाचार्य गुरु पधारे हैं । उनके तपके प्रभावसे आई हुई समस्त ऋतुओंने उपवनको पृथिवीका नन्दनवन बना दिया है । उनकी उपासनाके लिए उज्जैनीवासियोंका उत्साह उमड़ पड़ा है ।'

यह सुनकर राजाका मन उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिए आतुर हो उठा । राजाने

१ अमृतभोजना देवा । २ उज्जयिन्याम् । ३. इन्द्रेण । ४ -णमण-ज० द० । ५ त्रिभुवनस्य । ६ स्थितवत । ७ गवित । ८ उत्सव । ९ पद्मकृत । १० वृक्षे । ११ सम्पादित सम्यगूहो विचारो येन । १२ चन्द्र । १६ दर्पण । १४ महापूजाकारक । १५ विभीतकवृक्षम् ।

सद्यर्मघुरोदरपणोर्गिर्बलि—‘देव,

न घेयावपरं तत्स्यं न आद्यावपरो विधि ।

न यज्ञावपरो भर्मो न द्विजावपरो यतिः ॥२१८॥

सन्मागसर्गोष्केवकः प्रह्लादकः—

‘अग्नेतान्न परं तस्य न द्वेयं शङ्करात्परम् ।

शैवशास्त्रात्परं नास्ति मुक्तिमुक्तिप्रदं वचः ॥२१९॥

तथा नास्तिक्याधिक्ययाक्ययाचस्पती शुक्रमुदस्पती अपि रात्रे स्वप्रज्ञां विज्ञापय-
मासन्तु । मनागन्ताः पुनितमतिः चित्तिपतिः—अहो तुर्जनतास्ततालम्बनकुञ्जा द्विजाः, किं
ममैव पुरतो भवतां भारती प्रगल्भते, किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि ?

सर्पतिवसुमतीविचारभैरवैर्लियंकि—‘इलापौल यदि तवास्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेष्यं
मनः, तवास्तां सावदम्यस्तशालाप्रयीष्मका परः प्राज्ञः । किं तु सर्वज्ञस्यापि वैदेषवि पुर-
स्तात्परिशुद्धीतविद्यानवद्या एव’ । स्थिरप्रकृतिः—‘यथेवं शूराणां कातराणां च
रात्रे व्यकिर्नोविष्यति’ इत्यभिधायामन्वतुगुमिरवोपाकृतपरिज्जनपूजोपकरणो विज्ञयरोकरं
नाम करिणमाकृष्टात्तःपुराजुगमप्राज्ञोऽतिषौल नगरमार्गमुपगतां रामसीमसंसर्गा, तता
करिणोऽप्यतीर्यं शुद्धीतस्यविपपरिकरं कतिपयात्तपरिचारपुटसरस्तं अतविद्यानवद्यं मगवन्तं

मुनिमोके पास चम्पनेके छिए बलि मंत्रीसे पूछ । सबे धर्मकी जुराको उलाड़ फेंकनेमें पड़ बलि
बोला—‘राजन, वेदसे उलूख कोई तत्त्व नहीं है । आदसे बड़कर कोई दूसरी विधि नहीं है ।
यज्ञसे बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है और आदमसे बड़कर दूसरा कोई यति नहीं है’ ॥२१८॥

सन्मार्गाका नाथक प्रह्लाद मंत्री बोला—

‘अद्वैत्से उलूख दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शंकरसे बड़ा दूसरा कोई देवता नहीं है ।

और शैव शास्त्रसे बड़कर दूसरा कोई मुक्ति और मुक्तिको देनेवाला शास्त्र नहीं है’ ॥२१९॥

नास्तिक शिरोमणि शुक्र और बृहस्पतिने भी राजासे अपना वन्मियाय कहा । बोला शुक्र
होकर राजा बोला—‘अहो तुर्जनकमी क्ताके आभारमूत द्विज बुद्धो, क्या मेरे ही सामने आपकी
जबाम चम्पती है या विद्वानोंके सामने भी कुछ बोल सकते हैं ?’

बलि बोला—‘राजन । यदि हमारी बुद्धिके वैशिष्ट्यके विषयमें आपके मनमें ईर्ष्या है तो
समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण विद्वान्की तो बाध ही क्या, सर्वज्ञ भी यदि वासी हो तो उसके सामने भी
हमारी विद्या निर्दोष उभरेगी ।’

‘यदि ऐसा है तो धूर-धीर और कायरकी पहचान रणमें ही होगी ।’ ऐसा कहकर
जस स्थिरस्वभाव राजाने आनन्द सूयक मेरी कमवायी । उसे सुनकर उसके परिवारके
छोग पूजाकी सामग्री के-केकर आ गये । सब राजा विषयसेरर नामके हाथीपर बड़कर
पड़ दिमा और नगरके बाहर उद्यानकी सीमामें पहुँचते ही हाथीसे उतर पड़ा । तब अपने

१ बुद्धबुधः । २ बह्म हम् । ३ भूपाकः । ४ नाथिनः । ५ बहिर्नपरमार्थमतिबाह्य अतिब्रम्ह ।

६ संप्राप्तमुनिवर्गमसंघः ।

यथावदभिवन्द्य समाचरितनीचासनपरिग्रहः सविनयाग्रहं स्वर्गापवर्गमार्गस्वरूपनिरूपणप-
रायणः सद्धर्मसनाथां कथां प्रथयामास ।

सत्कर्मवंशप्रभिदलिवलिः—‘स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गापवर्गोस्तत्त्वसंग्रहे देवस्य दुरा-
ग्रहः, यतो द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्ष. पुरुषः । तयोरन्योन्यमनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादु-
र्भूतिः प्रीतिः प्रत्यक्षसमर्धिसर्गः स्वर्गो न पुनरदृष्टः कोऽपीष्टः स्वर्गः समस्ति’ ।

गुणभूरिः सूरिः—‘सकलैः प्रमाणवैले वले, किं प्रत्यक्षताधिकरणमेकमेव प्रमाणं
समस्ति’ । नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलिवलिः—‘अखिलश्रुतधरोद्वारादिपुरुषविदुषः, एक-
मेव’ । भगवान्—‘कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम्, कथं वा तवादृश्यानां
वश्यानामवस्थितिः, स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयत्वादातपुरुषोपदेशाश्रितौ स्वपक्षपरिज्ञितिः परम-
तोत्सवकृतिश्च ।

वलिभट्टो भट्ट इवेतस्तदमितो मदोत्कटः करटीति संकटप्रघट्टकमापतितः पर सभा-
जनसभाजनकरमुत्तरमपश्यन्नश्रीलमसभ्यसर्गं निरर्गलमार्गं किमपि तं भगवन्तं प्रत्युवाच ।
क्षितिपतिरतीव मन्दाक्षविक्षितवीक्षणो मुसुलुसमक्षमासन्नाशिर्वताशनिसंघट्टं वलिभट्टं
प्रतिष्ठाभङ्गभयात्किमप्यनभिलष्य ‘भगवन्, संपन्नतत्त्वसंवन्धस्य निजस्खलितप्रवृत्तचित्तमहा-
मोहान्धस्य सद्धर्मध्वंसहेतोर्जन्तोर्निसर्गस्थैर्यमेरुपु गुणगुरुपु न खलु दुरपवादकरणात्परमव-

परिवारके कुछ आस पुरुषोंके साथ आचार्यके पास जाकर और उनके चरणोंकी वन्दना करके एक
नीचे आसनपर बैठ गया और त्रिनयपूर्वक स्वर्ग और मोक्षका स्वरूप बतलानेकी प्रार्थना करके चुप
हो गया । आचार्यने स्वर्ग और मोक्षका निरूपण करते हुए धर्म चर्चा की । तब बलि बोला—
‘स्वामी ! स्वर्ग और मोक्षका अस्तित्व माननेका दुराग्रह आप क्यों करते हैं ? बारह वर्षकी स्त्री
और सोलह वर्षके पुरुषका परस्परमें जो असाधारण प्रेमरस उत्पन्न होता है उसे प्रीति कहते हैं ।
यह प्रीति ही साक्षात् स्वर्ग है, उससे भिन्न कोई दूसरा अदृश्य स्वर्ग नहीं है ।’ आचार्य—बलि !
क्या एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही है ?

बलि—‘हाँ, समस्त श्रुतरूपी पृथिवीका उद्धार करनेवाले आदि पुरुषके तुल्य विद्वन्
महात्मन्, एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है ।’

आचार्य—तो फिर तुम्हारे माता पिताने विवाह किया था इत्यादिमें क्या प्रमाण है ?
और तुम्हारे पूर्व पुरुष थे इसमें भी क्या प्रमाण है ? यदि कहोगे कि जो वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्षमें
नहीं हैं उन्हें हम प्रामाणिक पुरुषोंके कथनसे मानते हैं तो ऐसा माननेमें तुम्हारे पक्षकी हानि
होती है और हमारे मतकी पुष्टि होती है ।

इस उत्तरको सुनकर बलि सकटमें पड़ गया और सदस्योंके लिए प्रीतिकर उत्तर न सूझने
पर असभ्य वचन बकने लगा । यह देखकर राजाकी आँखें शरमसे गढ़ गईं । किन्तु प्रतिष्ठाके भङ्ग
होनेके मयसे उसने मुनिजनोंके सामने बलिसे कुछ भी नहीं कहा और बोला—‘भगवन् ! जिसका
चित्त महामोहसे अन्धा हो रहा है और जो समीचीन धर्मको ध्वंस करनेपर तत्पर है तथा वर्तमान

१ वेणु तत्र प्रमित् भेदने अलिर्भ्रमर । २ निश्चय । ३. सह कलिना वर्तते हे । ४ प्रमाणे बलि
पूजा यस्य स हे । ५ इन्द्रसारथि । ६. बलीवर्दवत् । ७ प्रीतिकरम् । ८ लज्जा । ९ अकल्याण ।
१०. अनुक्त्वा ।

सयमेषुरोदरणगोलिर्बलि—‘देव,

न वेद्यावपर तत्त्वं न आद्यावपरो विधि ।

न यज्ञावपरो धर्मो न द्विजावपरो यति ॥२१८॥

सन्मार्गसर्गोष्मेवका प्रज्ञावक—

‘अद्वैतात्म परं तस्य न वेद्यं शङ्करात्परम् ।

शैवशास्त्रात्परं नास्ति मुक्तिमुक्तिप्रदं यच्च ॥२१९॥

तथा नास्ति ज्ञापिष्ययाष्यवाचस्पती शुक्रमुहस्पती अपि राज्ञे स्वप्रज्ञां विज्ञापयामासत् । मनागन्ताधुमितमतिः क्षितिपतिः—‘बहो बुद्धिमतास्ततालम्बनकुन्दा द्विजाः, किं मनैव पुरतो भयतां भारती प्रगल्भते, किं वा बुधप्रथेकस्य लोकस्यापि ?

उधीतिवसुमतीविदारणर्हिलिर्बलि—‘इक्ष्वापौल यदि तयारम्भमनीपोत्कर्षयिष्ये सेष्यं मनः, तदास्तां तावद्व्यस्तशालाप्रवीणमञ्जः पटुः प्राज्ञः । किं तु सर्वज्ञस्यापि र्बोदेधदि पुरस्तात्परिपृहीतविधानवधा यच्च’ । स्थिरप्रकृतिः शोणीपतिः—‘यद्येवं शूराणां कातरायां च रणे व्यक्तिर्न विध्यति’ इत्यभिप्रायान्बुधुनिरयोपाहितपरिजनपूजोपकरणो विजयरोचरं नाम करिष्यमाख्यास्तःपुरजुगमप्राज्ञोऽतिथोद्य नगरमार्गमुपगतौ रामसीमससर्गः, तदा करिणोऽवतीर्य पृथीतार्यवेधपरिकरः कतिपयात्परिधारपुटसरस्तं मत्विधानवधं ममभक्त

मुनिर्मौके पास चकनेके छिप बलि मंत्रीसे पूछ । सधे बर्मेकी बुराको उसाइ फेंकनेमें पटु बलि बोला—‘रामन्, वेदसे उच्छुद्ध कोई तत्त्व नहीं है । आदसे बड़कर कोई दूसरी विधि नहीं है । मझसे बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है और ज्ञानसे बड़कर दूसरा कोई यति नहीं है’ ॥२१८॥

सन्मार्गका नाष्टक प्रज्ञाव मंत्री बोला—

‘अद्वैतसे उच्छुद्ध दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शंकरसे बड़ा दूसरा कोई देवता नहीं है ।

और शैव शास्त्रसे बड़कर दूसरा कोई मुक्ति और मुक्तिको देनेवाला शास्त्र नहीं है’ ॥२१९॥

नास्तिक क्षिरोमणि शुक्र और मुहस्पतिने भी राजासे अपना धर्मिप्राय कहा । बोला शुष्म होकर राजा बोला—‘बहो दुर्बलरूपी कृताके आचारमूत द्विज बूझो, क्या मेरे ही सामने आपकी ज्ञान चकती है या विद्वानोंके सामने भी कुछ बोल सकते हैं ?’

बलि बोला—‘रामन् ! यदि हमारी बुद्धिके वैशिष्ट्यके विषयमें आपके मनमें ईर्ष्या है तो समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण विद्वान्की तो बात ही क्या, सर्वज्ञ भी यदि धावी हो तो उसके सामने भी हमारी विद्या निर्वोष उठरेगी ।’

‘यदि ऐसा है तो सूर-बीर और कायरकी पहचान अपने ही होगी ।’ ऐसा कहकर उस स्थिरस्वभाव राजाने ध्यानन्द सूचक मेरी वज्रवाणी । उसे सुनकर उसके परिवारके लोग पूजाकी सामग्री के-केकर जा गये । तब राजा विजयसेनर नामके हाथीपर बड़कर चम विद्या और नगरके बाहर उद्यानकी सीमामें पहुँचते ही हाथीसे उतर पड़ा । उबा अपने

१ बुधुव । २ मुहस्पति । ३ शूपाक । ४ नाचिक । ५. बर्हिर्नवरधर्ममतिवाह्य अतिव्यय ।

६ संप्राप्तमुनिजनसीमसय ।

तस्मै वलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात् ।

बलि—‘देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लाद’ प्रसाद. किंतु कर्णजपवृत्तीनां लज्जलुञ्चनोचितचेतःप्रवृत्तीनां च प्रायेण पुरुषाणां नियोगिपदं हृदयास्पदं न शौर्योर्जितचित्त-स्योदारवृत्तस्य च तदसाध्यसाधनेन नन्वयं जनो निदेशदानेनागृहीतव्यः’ । पद्मः—‘सत्य-मिदम्’ किं तु स्वामिसमीहितसमर्थनसंवीणेषु भवद्विधेषु सचिधेषु सत्सु किं नामासाध्यं समस्ति ।’

अन्यदा तु कुम्भपराधिकृतमूर्तिं सिंहकीर्तिनाम नृपतिरनेकायोर्धनलब्धयश्च प्रसाधनं संनद्धसारसाधनो हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानायागच्छन्, एतन्नगरच्छत्रौवसर्पनिवेदितागमन. पद्मनिदेशादभ्यर्चमित्राणप्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकदंनकोविदधिपणेन वलिनाध्वमध्ये प्रव-न्धेन युद्धयमानः, नार्मनिर्गमविधानै प्रधानैर्युद्धसिद्धान्तोपान्तै सामन्तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृत । क्षितिपति—‘शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरण-व्याकरणपतञ्जले वले, निखिलेऽपि वले चिरकालमनेकशः कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य द्विष्टस्य विजयाश्रितान्तं तुष्टोऽस्मि । तद्याच्यतां मनोभिलापधरो वरः’ । वलि—‘अलक’ यदाहं याचे तदार्यं प्रसादोक्तव्यः’ इत्युदारमुदार्यं पुनश्चतुरङ्गवलप्रवल प्रतिकूलभूपालचिनयनाय पद्म-मवनीपतिमादेशं याचित्वा सत्त्वरमशेषाशावशनिवेशानीकसूत्रितसकलमहीतलो दिग्विजयया-
लिया और सब अधिकार उसे दे दिया ।

बलि बोला—देव ! आपने हमपर असाधारण अनुग्रह किया है । किन्तु जुगलखोरों और बूसखोरोंको यह बात सब नहीं हो सकती । अतः आप कोई ऐसा कार्य करनेकी हमें आज्ञा दें जो असाध्य हो ।

पद्म—तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्वामीके अभीष्टको पूरा करनेमें कुशल तुम्हारे जैसे मन्त्रियोंके होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है ।

एक बार कुम्भपुरका स्वामी सिंहकीर्ति राजा, जिसने अनेक युद्धोंमें नाम कमाया था, बड़े भारी लश्करके साथ हस्तिनागपुरपर आक्रमण करनेके लिए चला । गुप्तचरोंने उसके आनेका समाचार बलिसे निवेदित किया । बलि शत्रुपर आक्रमण करनेमें तथा कपट-युद्धमें बड़ा चतुर था । उसने पद्मकी आज्ञा लेकर शत्रुका सामना करनेके लिए कूच कर दिया और मार्गमें ही उसपर आक्रमण कर दिया । तथा विख्यात नामवाले प्रधानों और युद्ध करनेमें कुशल उसके सब सामन्तोंके साथ उसे बौधकर राजा पद्मके सामने उपस्थित कर दिया । हृदयके इस कोटेके निकल जानेसे राजा पद्म बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—

राजा—‘व्याकरणमें पतञ्जलिके समान शस्त्र विद्यामें निपुण बलि । समस्त सैन्यके होते हुए भी चिरकालसे अनेक बार मेरे मुखको काला करनेवाले इस शत्रुको जीतनेसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । जो तुम्हें माँगना हो माँगो ।’

‘जब मैं याचना करूँ तब महाराज मुझपर कृपा करें । ऐसा कहकर और राजा पद्मसे आज्ञा लेकर विरोधी राजाओंको वश करनेके उद्देश्यसे बलि बड़ी भारी सेनाके साथ दिग्विजयके

१ प्रवीणेषु । २ सग्राम । ३ प्रच्छन्नचरा । ४ शत्रु सन्मुख । ५ सग्राम । ६ नावज-व० ।
—नावि-मु० । ७ मार्गरोवेन । ८ स्वकीयअकणविरुदावलोसहित । ९ समस्तमन्ये विद्यमानेऽपि ।
१० अनेकवार मम कृतमानभगस्य ईदृग्विषयस्य शत्रोविजयात् । ११ स्वामिन् ।

सामे प्रहरणमस्ति' इति यद्यनपुराखर कथान्तरमनुवध्य साधु समाराध्य च प्रशान्तिहेमेयती-
प्रमथगिरिमरुक्म्यनध्वरि यिनेयजनसमायनीधित्यप्रया तदनुष्कारमसदनमासाधापरेद्वयुरपर
दोषमिषेण सनिकारकरणमनुजैः सह कमरुक्म्यनध्वर्यैः सिल निजदेशाधिर्षासयामास ।

मथतन्नाप्र नलोकी—

सद्यैर्संज्ञ समावेद्य यदि धितं मल्लीमसम् ।

यात्यर्णोन्ते स्य पुर्यः परम्भाशुमधेष्टितात् ॥२१०॥

स्वमेय इत्युमीहेतु जुजग. सञ्जन द्विपन् ।

योऽपिचित्पेत्तुलामेकः किमसी न प्रजेद्वच ॥२११॥

इत्युपासकाध्यवने बलिनिर्वासनो नामैकैर्निराः कल्पः ।

यल्लिद्विजः सानुजस्तथा सकलजनसमक्षमसूत्रमसूत्रमैजपूर्यक निर्वासिता सन्मुनि-
धिपयनेयोग्येयकल्पित इन्द्रजाह्नकमण्डलेषु तद्विज्ञासिनीजलकेसिधिविहितकालेयपाठक
कल्लोन्नाधरसुरैसरित्स्मीमन्तिनीधुरिष्ठपयन्तप्रसरे हस्तिनागपुरे नाभ्राज्यलक्ष्मीमिय सध्मी
मती महादधीमयेहाय सरस्वतीरसायगाहसागरस्य धृतसागरस्य भगवतोऽन्ये पितृ
यिनययिष्णुना "विष्णुना सधुज्जगन्ना मनुना सार्धे प्रथयितदीक्षापद्ये"स्य महापद्मस्य मही
पतेमहावन्तं पद्मनाममित्यर्थं तनयमग्निभियम् । पद्योपि भारसधाराद्विदितयंशयिद्व्याप्रमाषाय

तत्त्वोसे ही सम्बन्ध रमता है उस मनुष्यके पास मेरुके समान स्थिर आप तरीले गुरुओंका
अपवाद करनेके सिवा दूसरा इबियार नहीं है ।'

इस प्रकार चचाका प्रसन्न बह्मकर, और परम शान्तिरूपी गंगा नदीके उद्गमक न्ये
हिमवान् पवनक सुख्य अकम्पनाचायकी शिष्यबनोंके साथ आराधना करक तथा आज्ञा संकर
राजा अपने महर्षिमें सीट आया । और दूसरे दिन अन्य अपराधके बहानेसे बलिका उसके साथी
मन्त्रिबाके साथ तिरस्कारपूर्वक देशसे निवासित कर दिया ।

इस विषयमें दो टप्पा हैं जिसका भाव इस प्रकार है—'यदि धित ममीन है तो सञ्जन
और दुजन दोनों समान हैं । उनमेंम सञ्जन का अशान्तिके कारण मष्ट दा जाता है और दुजन
सुरे कार्योके करनेमें मष्ट दा जाता है । क्योंकि सञ्जनसे रूप करनेवाला दुजन स्वयं अपने ही
पाठकी पढा करता है । ठीक ही है आ अऊठा ही तराजूमें बैठ जाता है बह नीच क्या नहीं
जायगा ॥२२०-२२१॥

इस प्रकार उग्रामरुच्य वचनमें बलिके देशनिर्वासनका वर्णन करनेवाला उर्ध्वोत्तरों बल्य समाप्त हुआ ।

गमन्य नागाके सामने महान् तिरस्कारपूर्वक अपम साधियांक साथ निवासित द्विप
जानवर बन्धि मुनिय म अजयन्त रह दा गया और पुरुगंगय दणक हस्तिनागपुर मादक भगवक
गङ्गा पद्मकी धारणमें पहुँचा । राजा पद्मक पिना महापद्मने अपन बह पुत्र बिभुक्त साथ युनमाग
मुनिठ ममीरमें द्वितीया पारण कर सी थी और उ टे पुत्र पद्मका राजपभार सार दिया था ।

पद्मन गुप्तबाहि द्वारा बलिका कुर्वीन और बिभुन् जानकर उस अपना मरी बना

१ दणकः । २ महापद्मार्चवः । ३ दुज्जगपुत्रः । ४ बोधाद् मनुष्यः सर्वः कः । ५ दुज्ज ।

६ बह्म । ७ वनमयः कुर्वीनः जा । ८ व व । ... र्वगा एव नीचः । ९ करिणः ।

११ विभुक्तेः । १२ पद्मः । —दीपावलीपत्र ३१-४ अ सु ।

तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात् ।

बलि —‘देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लाद’ प्रसाद. किंतु कर्णेजपवृत्तीनां लज्जलुञ्चनोचितचेत’प्रवृत्तीनां च प्रायेण पुरुषाणा नयोगिपदं हृदयास्पदं न शौर्योर्जितचित्त-स्योदारवृत्तस्य च तदसाध्यसाधनेन नन्वय जनो निदेशदानेनागृहीतव्य.’ । पद्मः—‘सत्य-मिदम्’ किं तु स्वामिसमीहितसमर्थनसंवीणेपुं भवद्विधेषु सचिवेषु सत्सु किं नामासाध्यं समस्ति ।’

अन्यदा तु कुम्भपराधिकृतमूर्तिं सिंहकीर्तिर्नाम नृपतिरनेकायोर्धनलब्धयशःप्रसाधन. संनद्धसारसाधनो हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानायागच्छन्, एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमन पद्मनिदेशादभ्यमित्रिणप्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकदंनकोविदधिपणेन बलिनाध्वमध्वे प्रव-न्धेन युद्धयमान, नार्मनिर्गमविधानै प्रधानैर्युद्धसिद्धान्तोपान्तैः सामन्तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृतः । क्षितिपति’—‘शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरण-व्याकरणपतञ्जले बले, निखिलेऽपि बले चिरकालमनेकशः कृतकृष्णं वदन्च्छायस्यास्य द्विष्टस्य विजयान्नितान्तं त्रुष्टोऽस्मि । तद्याच्यतां मनोभिलापधरो वरः’ । बलि —‘अलक’^१ यदाहं याचे तदार्यं प्रसादोक्तव्यः’ इत्युदारमुदार्यं पुनश्चतुरङ्गवल प्रवलः प्रतिकूलभूपालविनयनाय पद्म-मवनीपतिमादेशं याचित्वा सत्त्वरमशेषाशावशनिवेशानीकसूत्रितसकलमहीतलो दिग्विजयया-लिया और सब अधिकार उसे दे दिया ।

बलि बोला—देव । आपने हमपर असाधारण अनुग्रह किया है । किन्तु चुगलखोरों और घूसखोरोंको यह बात सख नहीं हो सकती । अत आप कोई ऐसा कार्य करनेकी हमें आज्ञा दें जो असाध्य हो ।

पद्म—तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्वामीके अभीष्टको पूरा करनेमें कुशल तुम्हारे जैसे मंत्रियोंके होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है ।

एक बार कुम्भपुरका स्वामी सिंहकीर्ति राजा, जिसने अनेक युद्धोंमें नाम कमाया था, बड़े भारी लश्करके साथ हस्तिनागपुरपर आक्रमण करनेके लिए चला । गुप्तचरोंने उसके आनेका समाचार बलिसे निवेदित किया । बलि शत्रुपर आक्रमण करनेमें तथा कपट-युद्धमे बड़ा चतुर था । उसने पद्मकी आज्ञा लेकर शत्रुका सामना करनेके लिए कूच कर दिया और मार्गमें ही उसपर आक्रमण कर दिया । तथा विख्यात नामवाले प्रधानो और युद्ध करनेमें कुशल उसके सब सामन्तोंके साथ उसे बाँधकर राजा पद्मके सामने उपस्थित कर दिया । हृदयके इस काँटेके निकल जानेसे राजा पद्म बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—

राजा—‘व्याकरणमें पतञ्जलिके समान शस्त्र विद्यामें निपुण बलि ! समस्त सैन्यके होते हुए भी चिरकालसे अनेक बार मेरे मुखको काला करनेवाले इस शत्रुको जीतनेसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । जो तुम्हें माँगना हो माँगो ।’

‘जब मैं याचना करूँ तब महाराज सुझपर कृपा करें । ऐसा कहकर और राजा पद्मसे आज्ञा लेकर विरोधी राजाओको वश करनेके उद्देश्यसे बलि बड़ी भारी सेनाके साथ दिग्विजयके

१ प्रवीणेपु । २ सग्राम । ३ प्रच्छन्नचरा । ४ शत्रु सन्मुख । ५ सग्राम । ६ नाञ्ज-च० ।
-नावि-मु० । ७ मार्गरोवेन । ८ स्वकीययकणविरुदाबलसहित । ९ समस्तसैन्ये विद्यमानेऽपि ।
१० अनेकवारं मम कृतमानमगस्य ईद्विगधस्य शत्रोविजयात् । ११ स्वामिन् ।

प्राप्तमुच्यताम् ।

अत्राप्तरे विहारवशाद्भगवान्कम्पनाचार्यस्तेन महता मुनिगिह्यायेन साकं हास्तिनापुर मनुष्योत्तरदिग्मितासिम्पयतसकुसुमवरी हेमगिरौ महावगाहायां गुहायां चातुर्मासीनिर्मितं स्थितिं वषथ । यत्तिरपि मित्रिसञ्जलधरोध'सधिधनयिनोदितवीरयधूद्वयो दिग्मिज्यं यिधायागतस्त भगवन्तमप्युच्य चिरकालम्यवधानेऽप्यलौकिकपमिवेक इय जातप्रकोपेद्रेक स्तवपराधधिभावाय' धराधीश्वरं पुरावितीर्णवरम्पात्नेन समाशाखात्तमात्मीकशासनमाभ्यं राभ्यमन्त'पुरप्रचारे'श्वर्यमात्रसद्यता पद्यतोऽभ्यर्च्य मन्त्रमिवेण मुनिसंम्योत्सम्योत्कर्षं धिक्कीपु र्मन्त्रप्रभ्याधिकरणैरुपकरणैरभिहोत्रमारेमे ।

अत्रापसरे मित्रगिवास्तपविजितमिधिलापुरे जिष्णुसुरेन्तेयासीं ब्राह्मिष्णुर्गम तमी मध्यसमये बहिर्दिहर्तिविहारा समीरमार्गे महाप्रवीची लोचनलोकोमसमायां विवधानम् मूस्वधारचक्रितगाथं कुरङ्ककस्तमिय तरस्तारकाभयणं अघणमवेक्ष्यान्तरिक्षे लक्ष्यं यन्वा किल्विमुचैरयोवत्—'अहो न जाने कश्चिन्महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते' इति । एतच्च अमण्युरेप्यगपी समाकष्य प्रयुक्ताधिविबोधस्तच्चगर्गिरिगुहायामकम्पनाचार्यस्य बहिर्दुर्विस्त- स्तिसमयधार्माकार्यं च भगवन्ममनप्रभावं पुष्पकदेवं वैश्वतसेवम् 'इहो पुष्पकदेव, तव धिक् पद्वैर्बै'पुर्मात्रं तदुपसर्गविसर्गे सामप्यमस्ति । ततस्तथाधिविर्द्धिदुर्विस्तरोधिष्यये क्षिप्यये ताम

क्षिप निष्क्राम ।

इसी बीचमें भगवान् कम्पनाचार्य बड़े भारी मुनिसंघके साथ विहार करते हुए इन्ति- नागपुरमें प्यारे और उत्तम विद्यामें स्थित हेम पर्वतकी विद्यालक्ष गुफामें चातुर्मास करनेके क्षिप उतर गये । बलि भी समस्त समुद्रोंके लट लट दिग्मिज्य करके खौट खाया । जैसे बहुत समय बीत जानेपर भी पागल कुपेके काटेका जहर चढ़ जाता है वैसे ही मुनिसंघके आनेका समाचार जानकर उसे क्रोध चढ़ आया । पुराना बदला चुकानेके क्षिप उसने राधा पद्मसे पहले दिये हुए वरका स्मरण दिखाकर पन्द्रह दिनके क्षिप राज्य माँग लिया । राज्य देकर राधा पद्म अन्तःपुरमें रहने लगा । और बलिने यज्ञके बहानेसे मुनियोंको आस देनेके क्षिप मध्य मांस आदिके द्वारा अग्निहोत्र करना प्रारम्भ किया ।

इधर यह काण्ड थाक् था उधर मिथिलापुरीमें जिष्णुसुरिका शिष्य ब्राह्मिष्णु रात्रिक मध्यमें बाहर बैठ था और आकाशमें मन्त्र-मन्त्रलक्षी खोर देख रहा था । जैसे व्याघ्रके संचारसे हिरणी भयभीत हो जाती है वैसे ही अघण नक्षत्रको काँपता हुआ देखकर आकाशमें दृष्टि बनाये हुए वह आरसे बिट्ठलाया—'आह, न जाने कहाँ महामुनियोंपर उपसर्ग आया है ।'

यह सुनकर आचार्यने अपने अवधिज्ञानसे जाना कि इस्तिनागपुरके निष्कटवर्ती पर्वतकी गुफामें कम्पनाचार्यके संघके ऊपर बलि खोर उपसर्ग कर रहा है । उन्होंने सुरत ही आकाशमें गमन कर सकनेवाले पुष्पकदेव नामक कुत्तलक्षकी मुकाया और बोले—

'पुष्पकदेव ! तुम्हारे पास बिक्रिया श्रद्धा नहीं है इस क्षिप तुम उस उपसर्गकी दूर नहीं

१ लटलमीप । २ उच्यतेके श्रुता यह वर्णिके उच्यतेनामकति उच्यतेम् । ३ तेषां मुनीनां विपश्चना निमित्तम् । ४ गरीकम् । ५ उपसर्गम् । ६ मद्यमास । ७ पवि । ८ -उहाः च य । ९ पने । १ बमूर-ज य । व्याघ्र । ११ यमनागा सरणीमूतवासी नवी सुरि ।

दृष्टविशिष्टतामिवात्मस्थितामप्यविदुषे निवेद्य तदुपसर्गापर्वर्गायास्मत्सर्गान्नियोजयितव्य' । पुष्पकदेवस्त्रिदशोचितचरणसेचय तस्य महर्षेर्भाषितात्तं देशमासाद्य विष्णुमुनये तथा-विधर्द्धिवृत्तिं गुरुनिदेशप्रवृत्तिं च प्रतिपादयामास । विष्णुमुनिः प्रदीप इव स्फाटिकमिति-मध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण करेणोर्णनाम इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्यास-समासक्रियया च तौमवगम्योपगम्य च हास्तिनपुरं 'न खल्वनिवेद्य निखिलवर्णिवर्णाश्रम-पालाय मध्यमलोकपालायामर्पप्रवृत्ततन्त्रेण हुंकारमात्रेणाप्याकम्पितजगत्त्रया, प्रसव्यानवन-विध्वंसदावे तपःप्रभावे दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते यतीशाः' इति च परामृश्य, प्रविश्य च पुरैव चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारोऽन्तःपुरं, पद्ममहीपते, राजधानीप्वरण्यानीषु वा तपस्यतः संयतलोकस्य न खलु नरेश्वरात्पर प्रायेणास्ति गोपायिता । तत्कथं नाम तृणमात्रेऽप्यनपराधमतीनां यतीनामात्मन्यशुभलोकनिपेकसर्गमुपसर्गं सहसे इत्युक्तम् । 'भगवन्, सत्यमेवैतत् । किंतु कतिचिद्दिनानि वलिरत्र राजा नाहम्' इति प्रत्युक्तियुक्तस्थितिं पद्मनृपति-मघर्मत्य 'झलेन खलु परेषु प्रायेण फलोत्थासनशीलास्तपःप्रभवर्द्धिलोलाः' इति चावगत्य शाला-

कर सकते । अतः विक्रिया ऋद्धिके धारक विष्णु मुनिके पास जाओ । यद्यपि उन्हें ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है किन्तु उन्हें यह बात ज्ञात नहीं है । तुम जाकर उनसे कहो और हमारे आदेशसे उन्हें उस उपसर्गको दूर करनेके लिए नियुक्त करो ।'

इन्द्रके पूजने योग्य उन महर्षिके कहनेसे पुष्पकदेव विष्णु मुनिके पास पहुँचा और उनसे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होनेकी बात तथा गुरुकी आज्ञा कह दी । विष्णु मुनिने अपने हाथको मानुषोत्तर पर्वत तक फैलाकर तथा फिर सकोचकर विक्रिया ऋद्धिकी परीक्षा की और हस्तिनागपुर जा पहुँचे ।

'मुनियोंके तपका प्रभाव उस दावाग्निके समान है जो असंख्य जगलोंको जलाकर राख कर देती है । यदि मुनि क्रोधमें आकर हुकार मात्र कर दें तो उनके हुकार मात्रसे तीनों लोक कोंप जाते हैं । किन्तु वे समस्त वर्णाश्रम धर्मके पालक राजासे कहे बिना दुर्जनको दण्ड देनेका प्रयत्न नहीं करते ।' यह सोच विष्णु मुनि राजमहलमें पहुँचे । 'पुराने परिचित द्वारपालने जैसे ही उन्हें आते देखा तत्काल राजा पद्मसे उनके आनेका समाचार कहा ।

विष्णु मुनि बोले—'राजा पद्म ! राजधानियोंमें अथवा वनोंमें तपस्या करनेवाले मुनि-जनोका रक्षक राजाके सिवा अन्य कोई नहीं है । अतः तृणमात्रका भी अपराध न करनेवाले मुनियोंपर दुर्जनोंके द्वारा किये जानेवाले उपसर्गको तुम कैसे सहन कर रहे हो ?'

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है । किन्तु कुछ दिनोंके लिए यहाँका राजा बलि है, मैं नहीं ।' पद्मने उत्तर दिया ।

इस उत्तरको सुनकर उन्होंने राजा पद्मकी स्थितिको जाना और यह सोच कि प्रायः तपके प्रभावसे उत्पन्न हुई ऋद्धिका चमत्कार यदि दूसरोंपर छलसे प्रकट किया जाये तो वह फलदायक होता है, विष्णु मुनिने वामन रूप बनाया और यज्ञ भूमिमें जाकर मधुर कण्ठसे साम वेदका गान करने लगे ।

जिरसपुटकोटरावकाशः प्रवीपप्रकाश इव सजातधामगाहतिः सप्तसन्धुषसुमतीमनुधृत्य मधुर
म्वनिः पृथीयेनै सवनेन प्राग्व्ययनं व्यधात् ।

वलिर्जलधरधामवधुरं वाक्प्रसरं सिधुरं इव निधृतकर्णो निवण्य 'कोऽयं बहु
येवधापि विरिञ्चं इवोद्योरधुन' इति कुतूहलितहृदयः सन्ननिसयाभिगत्य धयसि च
निश्चितास्वयसौम्यं द्विजवर्यमेनमवाधीत्—'मह, किमिदं वस्तु खेतसि निधाय प्राचीप' ।
'पक्षे, वायावक्षिस्ताल्यत्वात्तव्यं पावत्रयप्रमाणकस्तमघनितकम् । द्विजोत्तम निकाम वत्तम् ।
'यथेवं बहुमानयजमान, पिथीयतामुदकधारोत्तरप्रवृत्तिं वत्ति' । वसि प्रबलामातुर्मावाप
द्विजाचार्यं प्रसायतां हस्त इत्युक्तयति शुक्रः सक्त्वंनमिष कुलिशनिकेतनम् प्रासादमिष
कलशह्लादम् जलशयमिष भरत्याभयम् सरिषायमिष शङ्खसनायम् विरहिणीपासरगन्ध
कुलपप्रवेशमिषोध्यरेखावकाशम्, भारायणमिष चक्रखलनम् यज्ञोपकरणमिष यथाधिकरणम्
जलपानपात्रमिष निश्चिद्रतामभम् स्तम्भेरमकरमिष दीर्घाङ्गुलिप्रसरम्, वराकिशस्तयमिषातु
पूर्वाप्रवृत्तपर्यस्तधयम्, कमलकोशमिषास्त्रप्रकाशनिवेशम्, विद्रुममङ्गाभोगमिष त्निग्धपाठ
स्तनकरात्र लक्ष्मीस्तार्विर्माधोदय शवमुपस्तव्य वल न कल्पयमेवविषयापाणितस्तसंवन्धो गोधे

मेपकी धनिक समान सुन्दर वचन-विनासका हाथीकी तरह कान छमाकर सुनेपर
बलिको कौतूहल हुआ कि ब्रह्माके समान वेदका पाठ करनेमें चतुर यह कौन है ? वह तुरन्त ही
यज्ञमण्डपसे बाहर आया और विष्णु मुनिक धारव्यवनक वामन रूपको देखकर बोला—
'ब्राह्मण्येष्ठ । किस इष्ट वस्तुकी इच्छा चित्तमें रखकर यह ध्वपाठ करते ॥ ?'
'वन्मित्राज ! मेरा घर हिस्सेदारों ने छीन लिया है । उसके स्थि केवल छीन पैर जमीन
बाहता है ।'

'द्विजोत्तम ! मैं तुम्हें छीन पैर जमीन देता हूँ ।'

'सा माननीय यजमान ! अबकी बारा पूषक दानका सकल्प कर दें ।'

एक बड़ी हारी हाथमें लेकर बलि बोला—'द्विजानार्थ ! हाथ फैलाइये ।'

जैसे ही वामन रूप बारी विष्णु मुनिने हाथ फैलाया, शुक्राचार्यकी दृष्टि उसपर पड़ी ।
इन्द्रकी तरह वज्रसे युक्त, महर्षकी तरह कलशसे विधिष्ट, सरोवरकी तरह मछली युक्त,
समुद्रकी तरह शंख सहित विरहिणी स्त्रीके द्वारा अपने पतिक वियोगके त्रिनोंको गिननके स्थि
दीवारपर स्वीधी गई ऊर्ध्व रेखाओंकी तरह ऊर्ध्व रेखासे युक्त, विष्णुकी तरह चक्रसे चिह्नित,
यज्ञके उपकरण भूत यवों (ओ) की तरह अंगुठोंमें यथाकार रेखासे युक्त पानी पर चकनेवाले
सहजकी तरह छिद्ररहित, हाथीकी सूँड़की तरह छम्बी अंगुलियोंवाले, बाँसके नय पत्तोंकी तरह
पत्र और प्रन्निसे सहित कमलके कोमकी तरह स्मल्लिमायुक्त और मृगोंकी तरह गुम्बरी रंगवाले
नन्नोंके जप्रमागसे घासित हस्तको देखकर अथात् वज्र, कप्य मछली, शम्भ, चक्र ऊर्ध्वरेखा
और ओ धात्रि ध्रुम सञ्जोसे सम्पन्न, छिद्र रहित और छम्बी अंगुलियाँ और स्मल्ल-श्राल नत्तों युक्त

१ यजमानि । २ उवाचस्वरेण । ३ यजन् । ४ बह्ना । ५ भारण्य-जा । ६ प्राप्यपत्नं
दृष्ट्वा । ७ भूतार । ८ इष्ट । ९ सुन्द । १ पुरप ।

परेषां याचिता किं तु याच्य इति वचनवक्रं शुक्रमवगणय्य वलि. स्वकीयां दत्तिमुदकधा-
रोत्तरामकार्षीत् ।

तदनु स विष्णुमुनिर्विरोचनविरोकनिकर इवाक्रमेणोर्ध्वमधश्चानवधिवृद्धिपर,
पर्वतस्योभयतः प्रवृत्तापगाप्रवाह इव तिरःप्रसरद्देहः, कार्यधरमेकमकूपारवज्रवेदिकायां
निधाय परं च क्रमं चक्रवालचूलिकाया पुनस्तृतीयस्य मेदिनीमलभमानस्तर्पनरथाखलन-
सेतुना सुरसरिचुरीयस्रोतोहेतुना सपादितदिविजसुन्दरीचरणमार्गविभ्रमेण समाचरित-
खेचरीचेतःसंभ्रमेण भूगोलगौरवपरिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन चरणेन क्षोभितान्तरिक्षचर-
पुरकक्षः किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दैर्वन्द्यमानपादारविन्दः संयतजनोपकारसारस्वकोयद्वि-
वृद्धिपरितोषितमनीषैर्व्यन्तरानिमिषैरकारणखलतालतार्थालं वलि सवान्धवमवन्धयत् । प्रावे-
शयच्च सदेहं रसातलगोहम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे ।

वलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलः ॥२२२॥

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यरचनो नाम विशतितमः कल्पः

हाथको देखकर शुक्राचार्य बोले—‘वलि । इस प्रकारका हाथवाला मनुष्य मागता नहीं है किन्तु
उल्टे उससे माँगा जाता है ।’

किन्तु वलिने शुक्राचार्यके कहनेपर ध्यान नहीं दिया और जलकी धारा डालकर तीन
पैर जमीनका सकल्प कर दिया ।

इसके बाद सूर्यकी किरणोंके समान विष्णु मुनिका शरीर एकदमसे ऊपर नीचे बढ़ने
लगा । उन्होंने एक पैर तो समुद्रकी वेदिकापर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतकी चोटीपर रखा,
और जगह न मिलनेसे सूर्यके रथकी गतिमें प्रतिबन्धक, गगानदीकी चौथी धाराको उत्पन्न करनेमें
हेतु, देवागनाओंके चरणमार्गका भ्रम उत्पन्न करनेवाले, विद्याधरोंकी स्त्रियोंके चित्तमें सगयके
जनक तथा पृथ्वीकी नापनेके लिए मापकके तुल्य तीसरे चरणमे विद्याधरोंके नगरोंमे हलचल
मच गई । व्यन्तर देवताओंने और विद्याधरो आदिने आकर उनके चरणोंकी वन्दना की ।
मुनियोंका उपसर्ग दूर करनेमें अपनी विक्रिया ऋद्धिका प्रयोग करनेके कारण व्यन्तर देव उनसे
बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वलिको उसके बन्धु-बान्धवोंके साथ बाँध लिया तथा उन्हे मशरीर
रसातलको पहुँचा दिया ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

‘महापद्म राजाके पुत्र धर्मप्रेमी विष्णु मुनिने हस्तिनागपुरमें बलिके द्वारा मुनियोंपर किया
गया उपसर्ग दूर किया ॥२२२॥’

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वात्सल्य श्रगका कथन करनेवाला वीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

निसर्गोऽधिगमो वापि तदास्ती कारणद्वयम् ।

सम्यक्त्वमाप्नुमागम्यस्मात्स्वानुसंगप्रयासतः ॥२२३॥

उक्तं च—

“आसन्नमम्यताकर्महानिर्लक्ष्यशुद्धपरिणामा ।

सम्यक्त्वहेतुरन्तावाप्नोऽनुपदेशश्चादिरेव ॥२२४॥

पठतुक्तं भवति—कस्यचिन्नासंभ्रमस्य तच्चिदानन्दस्यैव कालमात्रमवसर्पत्सेम्यस्य विधूतैतत्प्रतिबन्धकान्धकारसंबन्धस्यासितशिक्षाकियासापनिपुणकरजोनुबन्धस्य भवस्य माञ्जनस्येयासंजातदुर्वासनागन्धस्य भवति यथावस्थितयस्यस्वरूपसत्तास्तिहेतुतया स्फुटि कमजिद्वर्पणसर्गाभ्यस्य पूर्वमवसंमालनेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मप्रवणकार्कनेन वा इत्यति निधिमिष्यानेन वा महामहोत्सवनिर्वाहनेन वा महर्षिप्राप्ताचार्यवाहनेन वा नृपु नाकिपु वा तस्माद्वागम्यसंभूतधिमवसंमावनेन धान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पद वेदमनापच पदा जीवादिषु पदार्थेषु व्यापारस्यसमवधान भवान् भवति तदा प्रयोक्तुं सुकृपकियत्वास्तुयस्ते शास्त्रय स्वयमेव, विनीयस्ते कुण्डलाग्रयाः स्वयमेव,

सम्यग्दर्शनका वर्णन

सम्यग्दर्शन जो प्रकारसे होता है—एक तो परोपदेशके बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे, परोपदेशसे होता है । क्योंकि किसी पुरुषको तो बोझ-सा प्रयत्न करनेसे ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किसीको बहुत प्रयत्न करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥२२३॥

कहा भी है—

‘सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निष्ठ मम्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी हानि, संश्रीप्ता और शुद्ध परिणाम है तथा बाह्य कारण उपदेश वगैरह हैं’ ॥२२४॥

वास्तव यह है कि जो कोई निष्क मम्य है सम्यग्दर्शनके योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और मयूरूपी सम्पत्तिकी भित्ति प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरहकी रुकावट बाधने वाला कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, वातवीर्यको ग्रहण करनेमें निपुण पोंचो इन्द्रियों और मनसे जो युक्त है अर्थात् संशी पवेन्द्रिय है, नये भरतमकी तरह जिसमें दुर्वासनाकी गन्ध नहीं है, वस्तुका वैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शनके क्षिप ओ स्फुटिक मणिके दर्पणक समान स्वच्छ है, ऐसे ओवके पूर्वमवके स्पर्शसे, कटोंके अनुभवसे धर्मके अवगणसे जिनबिम्बके दर्शनसे, महामहोत्सवोंके अवबोधनेसे, अद्विधारी आपातोंके दर्शन करनेसे, मनुष्यों तथा देवोंमें सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए विमवको देखनेसे या अन्य किसी कारणसे विचाररूपी वनमें मनको न भटक कर जब जीवादिक पदार्थोंमें उर्बो-का-स्यों भद्रान होता है तो उस सम्यग्दर्शनको निसर्गव सम्यग्दर्शन कहते हैं । क्योंकि जैसे धान्य स्वयं ही फल आते हैं अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो आते हैं उसी तरह उसमें कर्ताको भ्रम करना नहीं पड़ता ।

१ ‘तद्विषयविचयात्’ ॥—उत्पार्थसूत्र १२ । २ चणो वीरिषी उष्णी जीवो पञ्चतमो तदा । शब्दकृतान्मनुष्यो सम्मत् पविष्यत्येव ॥१५८॥—वर्तमान पु १४ । ३ वारण । ४ गृहीत । ५ पञ्चेन्द्रियमन-सम्बन्धस्य । ६ समानस्य । ७ पदव्यवधानम् पु १ पु ४१८४११ । सर्वापि विधि-युक्त १० । उत्पार्थवानिक । ८ निष्पन्न निहाजनं वाह्य-वचनम् । ९ देवेषु ।

इत्यादिवत्तन्निर्गत्संजातमित्युच्यते । यदा त्वव्युत्पत्तिसंशीतिविपर्यस्तिसमधिकबोधस्याधिभुक्तियुक्तिसूक्तिसंबन्धसविधस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु समस्तैष्वैतिह्येषु परीक्षोपक्षेपादतिक्रिश्य निःशेषदुराशाविनिशाविनाशनांशुर्मन्मरीचिश्चिरेण तत्त्वेषु रुचिः संजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो हारो, मयेदं संपादितं रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते । उक्तं च—

“अबुद्धिपूर्वपिक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवतः ।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात् ॥२२५॥”—आप्तमीमांसा

और जब सशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे अस्त ज्ञानवाले मनुष्यके श्रद्धा, युक्ति और आगमके निकट होकर, प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगके द्वारा अवगाहन करनेके योग्य समस्त शास्त्रोकी परीक्षा करनेका कष्ट उठाकर चिरकालके पश्चात् समस्त दुराशारूपी रात्रिके विनाशके लिए सूर्यकी किरणोंके समान तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं । क्योंकि जैसे मैंने यह हार बनाया है या मैंने यह रत्नखचित आभरण बनाया है, वैसे ही कर्ताके द्वारा विहित परिश्रमसे उत्पन्न हुए अधिगम-ज्ञानसे वह प्रकट होता है ।

कहा भी है—

‘बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके विना अचानक जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने दैवसे होता है और बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेसे जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने पौरुषसे होता है ॥२२५॥’

भावार्थ—चारों गतिके सैनी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन हो सकता है किन्तु वे जीव विशुद्ध और साकार उपयोगवाले होने चाहिएँ । साराश यह है कि जो जीव असैनी हैं, लब्ध्यपर्याप्तक है, सम्मूर्छन जन्मवाले हैं, अति सक्लेश परिणामवाले हैं उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती । सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और विशुद्ध परिणामवाले होनेपर भी जब वे दर्शनोपयोगी होते हैं, उस कालमें उन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दर्शनोपयोगमें तत्त्व विचार नहीं होता और सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके समय उसका होना आवश्यक है । इसीसे सोते हुए जीवको भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती । उपर्युक्त बातोंके सिवा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए पाँच लब्धियोंका होना आवश्यक है । वे लब्धियाँ हैं—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि । इनमेंसे शुरूकी चार लब्धियाँ तो साधारण हैं, अर्थात् जिन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना संभव नहीं है उनके भी हो जाती हैं । किन्तु पाँचवीं करणलब्धि तभी होती है जब सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना होती है । उसके अन्तमें ही जीवको सम्यग्दर्शन हो जाता है । जब ज्ञानावरण आदि अप्रगस्त कर्मोंका अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा अनन्तगुणा घटता हुआ उदयमें आता है उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है । क्षयोपशमलब्धिके होनेपर जीवके सात्ता वगैरह प्रगस्त प्रकृतियोंके बन्धके कारण जो शुभ परिणाम होते हैं उसे विशुद्धिलब्धि कहते हैं । आचार्य वगैरहके द्वारा लः द्रव्यों और नौ पदार्थोंका उपदेश सुननेको मिलना देशनालब्धि है । जहाँ उपदेशका मिलना संभव नहीं है वहाँ पहले मवमें सुने हुए उपदेश

निसर्गोऽधिगमो वापि तदासौ कारणद्वयम् ।

सम्यक्त्वमात्रपुमाभ्यस्मादुत्पत्त्यानल्पप्रयासतः ॥२२३॥

उक्तं च—

“आप्तव्यमव्ययताकर्महानिर्तसितशुभपरिणामा ।

सम्यक्त्वहेतुरन्तर्यामोऽप्युपदेशश्चादिरथ ॥२२४॥

एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासौधमभ्यस्य तच्चिदानुप्रवृत्त्येव कालमाधमवसत्परासेभ्यस्य विधूतैतत्प्रतियन्धकान्धकारस्य भ्रमस्याक्षितशिक्षाक्रियासापनिपुणकरणैर्नुबन्धस्य मयस्य भाजनस्येवास्तंजातपुर्वासमागन्धस्य भ्रतिरिति यथावस्थितयस्तुस्वरूपसकान्तिहेतुतया स्फाटि कमणिर्पुण्यसगन्धस्य पूर्वमभवत्समाप्तनेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मभयभाकर्षणेन वाहृत्प्रति मिषिनिष्प्राप्तेन वा महामहोत्सवनिहासनेन वा महद्विप्राप्ताचार्यथाहनेन वा नृपु माकिपु वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंसाधनेन वाप्येन वा कैमचित्कारणमात्रेण विचारकास्तारेण मनोविहारास्पद वेदमगापद्य यथा जीवादिषु पदार्थेषु पायात्म्यसमवधानं भ्रान्तं भवति तदा प्रयोक्तुं सुकरकियत्वाक्त्तूपन्ते शास्त्रं स्वयमेव, विनीयन्ते कुशलश्रयाः स्वयमेव,

सम्यग्दर्शनका वर्णन

सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे होता है—एक तो परोपदेशके बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे, परोपदेशसे होता है । क्योंकि किसी पुरुषको तो बोझ-सा प्रयत्न करनेसे ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किसीको बहुत प्रयत्न करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥२२३॥

कहा भी है—

‘सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निष्ठा मन्वसा, ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी हानि, संक्षीप्ता और शुद्ध परिणाम है तथा बाह्य कारण उपदेश बगैरह है’ ॥२२४॥

आशय यह है कि जो कोई निष्ठा मन्व है सम्यग्दर्शनके योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और भवकपी सम्पत्तिकी जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरहकी रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, वास्तविकी ग्रहण करनेमें निपुण पौंडा इन्द्रियों और मनसे जो युक्त है अथात् संज्ञी पंचेन्द्रिय है, मये वस्तुकी तरह जिसमें दुषास्माकी गन्ध नहीं है, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दृशनिक स्मि ओ म्फटिक मणिके दर्पणके समान स्वच्छ है उसे जीवके पूर्वमवके स्मरणसे, कष्टोंके अनुभवसे, धर्मके भ्रमसे त्रिनिबिम्बके दधानसे, महामहोत्सवोंके व्यवरोधनेसे, श्रद्धिपारी आचार्योंके दर्शन करनेसे, मनुष्यों तथा देवोंमें सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए विभवका दलनेसे या अन्य किसी कारणसे विचाररूपी मनमें मनका त भ्रमका कर जब जीवादिक पदार्थोंमें उद्यो-का-स्यो भ्रदान होता है या उस सम्यग्दर्शनको निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं । क्योंकि जैसे पान्य स्वयं ही क माते हैं अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो जाते हैं उसी तरह उसमें कटाका भय करना नहीं पड़ता ।

१ तमिसर्गोऽधिगमात् ॥—उत्पत्त्यर्थम् १२ । २ अन्तोर्वाचिकयो लब्धी जीवो परवत्तमो तदा । वास्तवज्ञानमुक्तो समस्तं बहिर्बन्धम् ॥१५८॥—वर्णनग्रह ५ ३४ । ३ कारण । ४ गुण । ५ पञ्चेन्द्रियमन मन्वन्धव । ६ गमान्धव । ७ पदगणायम ८ ९ ५ ४९८४१९ । सर्वविनिर्ज-मूत्र १० । तत्त्वार्थवर्णन । ८ निष्कार्य निरात्म्यं वाच्यं-वर्णनम् । ९ हेतु ।

अपने-अपने स्थानसे उठाकर कुछको प्रथमस्थितिमें डाल दिया जाता है और कुछको द्वितीयस्थिति में डाल दिया जाता है। इस क्रियाके पूर्ण होनेके साथ मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरे होते ही अन्तर्मुहूर्त कालके लिए मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे छूटते हुए जो उपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टिको पहले-पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही होता है।

प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग कारणोंसे होती है। सम्यग्दर्शन भी अन्तरंग और बाह्य कारणोंके मिलनेपर ही प्रकट होता है। इसका अन्तरंग कारण तो दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय और सम्यकमिथ्यात्व मोहनीय इन तीन प्रकृतियोंका तथा चारित्र मोहनीयकी अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है। और इनके क्षय अथवा उपशममें पूर्वोक्त पाँच लब्धियोंमें से करणलब्धि मुख्य कारण है तथा बाह्य कारण अनेक है। नरक गतिमें पहलेके तीन नरकोंमें पूर्व जन्मकी घटनाओं का स्मरण, धर्मका श्रवण और कष्टोंका अनुभव बाह्य कारण है। आगेके चार नरकोंमें धर्म-श्रवणको छोड़कर बाकीके दो ही बाह्य कारण पाये जाते हैं। तिर्यञ्चो और मनुष्योंमें पूर्व जन्मका स्मरण, धर्मका श्रवण और जिनविम्बका दर्शन बाह्य कारण हैं। देवोंमें भवनवासीसे लेकर बारहवें स्वर्गतक पूर्व जन्मका स्मरण, धर्मका श्रवण, जिन भगवान्की महिमाका निरीक्षण तथा अपनेसे बड़े अन्य देवोंकी ऋद्धिका दर्शन बाह्य कारण है। बारहवें स्वर्गसे ऊपर तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्गमें देवोंकी ऋद्धिके दर्शनके सिवा शेष तीन ही बाह्य कारण हैं। नव त्रैवेयकके देवोंमें पूर्व जन्मका स्मरण और धर्मका श्रवण ये दो ही बाह्य कारण हैं क्योंकि सोलह स्वर्गसे ऊपरके देव कहीं बाहर नहीं जाते। और नव त्रैवेयकसे ऊपरके सब देव नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टि ही मरकर जन्म लेते हैं। इतना विशेष है कि नरकगति और देवगतिमें तो जन्म लेनेके अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है किन्तु तिर्यञ्च गतिमें जन्म लेनेके आठ नौ दिन बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है और मनुष्यगतिमें आठ वर्षकी अवस्था हो जानेपर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। ऊपर पाँच लब्धियोंमें एक देशनालब्धि वतलायी है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रकट होना होता है उसे इसी भव या पूर्व भवमें नौ या सात तत्त्वोंका उपदेश सुनने को अवश्य ही मिलना चाहिए। जिस जीवने पूर्व भवमें उपदेश सुना और उसके सस्कारके रहनेसे इस भवमें अन्य कारणोंके मिलनेपर उसे अनायास सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गयी तो वह सम्यग्दर्शन निसर्गज कहा जाता है, क्योंकि उसे इन भवमें उसकी प्राप्तिके लिए थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं, करना पड़ा। किन्तु इसी भवमें उपदेशादिका निमित्त मिलनेपर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे अधिगमज सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके ये दोनों भेद केवल बाह्य उपदेशकी अपेक्षाको लेकर ही किये गये हैं। जो सम्यक्त्व उसी भवमें तत्त्वोंके उपदेशका लाभ होनेपर प्रकट होता है उसे अधिगमज कहा जाता है और जो इस भवके प्रयत्नके बिना पूर्वभवके सस्कारके कारण प्रकट हो जाता है उसे निसर्गज कहा जाता है, क्योंकि इस भवमें उसके लिए कुछ भी श्रम नहीं किया गया और इस तरह वह अनायास ही प्राप्त हुआ कहलाया। दूसरे शब्दोंमें इसे दैवसे प्राप्त भी कह सकते हैं और अधिगमजको पौरुषसे प्राप्त कह सकते हैं।

के संस्कारसे सम्पन्नताकी प्राप्ति हो जाती है। सत्त चीन छम्बिसे युक्त जीवके प्रतिसमय विमुक्तताके करनेसे आयुके सिवा शेष सात कर्मोंकी जब अन्तःकोटकोटी सागर प्रमाण स्थिति शेष रहे तब स्थिति और अनुमागका भाव करनेकी योग्यताके जानेको प्रायोग्यछम्बि कहते हैं। उसके होनेसे यह जीव अमरसत्त कर्मोंकी स्थिति और अनुमागका लण्डन करता है। इसके बाद करणछम्बि होती है। करण परिणामको कहते हैं। करणछम्बिमें जघ-करण, अपूर्वकरण और अनिष्टिकरण नामके परिणाम होते हैं। इन चीनोंमें से प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है किन्तु एकसे दूसरेका काल संप्रत्यातगुना हीन है अर्थात् अनिष्टिकरणका काल सबसे बड़ा है। उससे अपूर्व-करणका काल संप्रत्यातगुना है। उससे जघःप्रवृत्तका काल संप्रत्यातगुना है। यहाँ नीचेके समयकर्त्ता किसी जीवक परिणाम ऊपरके समयकर्त्ता किसी जीवके परिणामसे मित्र जाते हैं उसे जघःप्रवृत्त-करण कहते हैं। आशय यह है कि जघःकरणको अपनाये हुए किसी जीवको बड़ा समय हुआ और किसी जीवको बहुत समय हुआ तो उनके परिणाम संप्रत्या और विमुक्तिमें समान भी होते हैं। इसीछम्बि इसे जघःप्रवृत्तकरण कहते हैं। यहाँ प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। आशय यह है कि किसी जीवको अपूर्वकरणको अपनाये बड़ा समय हुआ और किसीको बहुत समय हुआ। उनके परिणाम विमुक्त मेस नहीं साते। नीचेके समयकर्त्ता जीवोंके परिणामोंसे ऊपरके समयकर्त्ता जीवोंके परिणाम अधिक विमुक्त होते हैं। और भिनको अपूर्वकरण किये बराबर समय हुआ है उनके परिणाम समान होते भी हैं और नहीं भी होते। जिसमें प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है उसे अनिष्टिकरण कहते हैं। यहाँ भिन जीवोंको अनिष्टिकरण किये बराबर समय बीता है उनके परिणाम समान ही होते हैं और नीचेके समयकर्त्ता जीवोंसे ऊपरके समयकर्त्ता जीवोंके परिणाम अधिक विमुक्त ही होते हैं। इन चीनों करणोंमें जो अनेक कर्म होते हैं उनका वर्णन श्री गोमकुसार जीवकाण्डने और छम्बिसारये किया है, यहाँसे देख लेना चाहिये। यहाँ इतना बतना देना आवश्यक है कि अनिष्टिकरणके कर्मों से जब संप्रत्यात बहुमाग बीतकर एक संप्रत्यातर्वा मग प्रमाण काल बाकी रह जाता है तब जीव मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है। इस अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। आशय यह है कि किसी भी कर्मका प्रतिसमय एक-एक निष्क उदयमें जाता है और इस तरह जिस कर्मकी कितनी स्थिति होती है उसके उतने ही निष्कोंका सौँठा-सा म्मा रहता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, जैसे-जैसे क्रमवार निष्क अपनी-अपनी स्थिति पूरी होनेसे उदयमें जाते जाते हैं। अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी नीचे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिबाहे निष्कोंको म्यों-का-स्यों छोड़कर उससे ऊपरके उन निष्कोंको जो जागेके अन्तर्मुहूर्तमें उदय आरंभगे नीचे या ऊपरके निष्कोंमें स्थापित कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काको ऐसा बना दिया जाता है कि उसमें उदय जाने योग्य मिथ्यात्वका कोई निष्क शेष नहीं रहता। इस तरहसे मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। इस तरह मिथ्यात्वके उदयका जो प्रवाह बना आ रहा है, अन्तरकरणके द्वारा उस प्रवाहका सौँठा एक अन्तर्मुहूर्तके छिप छोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थिति दो भाग कर दिये जाते हैं। नीचेका भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीयस्थिति। इस प्रथमस्थिति और द्वितीय स्थिति के बीचके उन निष्कोंको, जो अन्तर्मुहूर्तकालमें उदय जानेवाले हैं, अन्तरकरणक द्वारा

है, इसीसे दसवें गुणस्थानतकके 'जीव सरागी' और उससे ऊपरके जीव वीतरागी कहे जाते हैं। चोथे, यदि सरागताका कारण सम्यग्दर्शन सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागताका कारण सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहा जायेगा तो सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भेदोंमें सरागता और वीतरागताका कारण होनेकी दृष्टिसे भेद करना होगा। इन तीनमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थानतक ही होता है और उसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय भी रहता है अतः वह तो सरागसम्यक्त्व ही ठहरता है। किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन दसवें गुणस्थानतक सराग अवस्थामें भी पाये जाते हैं और उससे ऊपर वीतराग अवस्थामें भी पाये जाते हैं। अतः यह प्रश्न पैदा होता है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनोंको सरागताका कारण माना जाये या वीतरागताका अथवा दोनोंका ? दोनोंको सरागताका कारण तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि यदि क्षायिक सम्यग्दर्शनको भी सरागताका कारण माना जायेगा तो वीतरागी क्षीणकषाय गुणस्थानवालोंको, केवलियोंको और सिद्धोंको भी सराग मानना पड़ेगा; क्योंकि उनके क्षायिकसम्यक्त्व ही होता है। रह जाता है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। इसमें दर्शन मोहनीयका उपशम रहता है इसलिए क्षायिकसम्यक्त्वकी अपेक्षा इसकी स्थिति कमजोर होनेसे इसे रागका कारण मानकर यदि सरागसम्यक्त्व माना जायेगा तो ग्यारहवें गुणस्थानको वीतराग-छद्मस्थ न मानकर सरागछद्मस्थ मानना होगा। शायद कहा जाये कि ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका साहाय्य न मिलनेसे उपशम सम्यक्त्व रागका कारण नहीं है तो चारित्रमोहनीयको ही रागका कारण क्यों नहीं मानते ? अतः बेचारे सम्यग्दर्शनको, जिसे शास्त्रोंमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जराका कारण बतलाया है, रागका कारण बतलाना उचित नहीं है। अतः क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्वको सरागताका कारण नहीं माना जा सकता। शायद कहा जाये कि सम्यग्दर्शनके होनेपर देव, शास्त्र, गुरुमें शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति होती है अतः सम्यग्दर्शन शुभरागका कारण है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेसे पहले भी उस जीवमें राग पाया जाता था। सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे एक तो उसमें कुछ रागकी कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया, जहाँ वह पहले स्त्री-पुत्रादिकके मोहमें ही पड़ा रहता था वहाँ वह अब आत्महितके कारणोंसे राग करने लगा। अतः सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हुआ बल्कि उसकी हीनताका और उसकी प्रवृत्तिको बदलनेका ही कारण हुआ। इसीसे पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि—'जितने अशमें जीव सम्यग्दृष्टि है उतना अंश बन्धका कारण नहीं है और जितने अशमें उसके राग है उतने अशमें उसके कर्मबन्ध होता है'। अतः अबन्धका कारण सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हो सकता। अब रहा दूसरा प्रश्न कि क्या सम्यग्दर्शन वीतरागताका कारण है ? किसी अशमें सम्यग्दर्शनको वीतरागताका कारण माना जा सकता है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धीका क्षय अथवा उपशम या क्षयोपशम होनेसे आत्मामें रागकी हानि ही होती है, वृद्धि नहीं। किन्तु ऐसी अवस्थामें सम्यग्दर्शनके दो भेद नहीं बन सकते। इस आपत्तिसे बचनेके लिए यदि उसे दोनोंका कारण माना जायेगा तो दोनों पक्षोंमें ऊपर उठाये गये विवाद खड़े हो जायेंगे। अतः सरागीके सम्यग्दर्शनको सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागीके सम्यग्दर्शनको वीतरागसम्यग्दर्शन कहना ही ठीक है। सम्यग्दर्शन आत्माका धर्म है अतः वह इन्द्रियोसे दिखायी दे सकनेवाली वस्तु नहीं है। किन्तु

द्विविध विविध दशविधमाहुः सम्यक्त्वमात्महितमतयः ।

तत्त्वब्रह्मज्ञानविधिः सर्वेष्वथ तत्र समवृत्तिः ॥२२१॥

संरागवीतरागात्मविषयत्वाद्द्विविधा स्मृतम् ।

प्रथमाविगुणं पूर्वं परं चारमविगुणिमाक् ॥२२२॥

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमस्तीन्द्रियाप्यङ्गनाज्जनात्समो गेनापत्योत्पादनेन च विपदि प्रैर्यायसम्बन्धेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निम्बेत्तुं शक्यते तद्यारमस्वभावतयापि सूक्ष्मपलम्भमपि सम्यक्त्वपलम्भं प्रथमसंवेगानुक्रम्यास्तिक्यैरेवं धार्यैराकस्यति शक्यम् । तत्र—

सम्यग्दर्शनके भेद और उसकी पहचान

आत्महितैवी महापुरुषोने सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद कस्यये हैं । इन सभी भेदोंमें तत्त्वोंका भ्रमज्ञान समान रूपसे पाया जाता है । क्योंकि तत्त्वोंका अध्ययन करना सम्यग्दर्शनका सामान्य लक्षण है । जब सम्यग्दर्शनके किसीने भी भेद हैं उन सभीमें तत्त्वोंका भ्रमज्ञान होना आवश्यक है उसके बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता ॥२२३॥

सम्यग्दर्शन रागी आत्माओंका भी हो सकता है और बीतरागी आत्माओंके भी होता है इसलिये उसके दो भेद कर दिये गये हैं—एक संरागसम्यग्दर्शन और दूसरा बीतराग सम्यग्दर्शन । संरागसम्यग्दर्शन प्रथम आदि गुणरूप होता है और बीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप होता है ॥२२४॥

जैसे पुरुषकी शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है, इन्द्रियोंसे उसे नहीं देखा जा सकता, फिर भी इन्द्रियोंके साथ संयोग करनेसे, सन्तानोत्पादनसे विपत्तियोंमें भैर्य और मारम्भ किये गये कार्योंको समाप्त करना आदि बातोंसे उसकी शक्तिका निश्चय किया जाता है । जैसे ही सम्बन्धरूपी रत्न भी आत्माका स्वभाव होनेके कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, फिर भी प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिके द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है ।

भाषार्थ—सम्यग्दर्शनके संराग और बीतराग भेद सम्यग्दर्शनके चारक बीवोंकी अपेक्षासे किये गये हैं । जो बीव संरागी हैं उनके सम्यक्त्वको संरागसम्यक्त्व कहते हैं और जो बीव बीतरागी हैं उनके सम्यक्त्वको बीतरागसम्यक्त्व कहते हैं । चूँकि राग वसर्षे गुणस्थानतक पाया जाता है इसलिये वसर्षे गुणस्थानतकके बीवोंका सम्यक्त्व संरागसम्यक्त्व कहा जाता है और उससे आगेके बीवोंका सम्यक्त्व बीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है । कोई विद्वान् संरागताका कारण सम्यक्त्व संरागसम्यक्त्व और बीतरागताका कारण सम्यक्त्व बीतरागसम्यक्त्व है, ऐसा कहते हैं किन्तु उनका यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि एक सो भन्वकारने संरागबीतरागत्वं विषयत्वात्' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि संराग आत्मा और बीतराग आत्माकी अपेक्षासे सम्यक्त्वके संराग और बीतराग भेद हैं । दूसरे, किसी भी शास्त्रकारने ऐसा लक्षण नहीं किया बल्कि अन्तगारधर्मावृत्त (पृ० १२४) में प० आक्षापरधीने स्पष्ट रूपसे संरागीके सम्यक्त्वको संराग-सम्यक्त्व और बीतरागीके सम्यक्त्वको बीतरागसम्यक्त्व कहा है । तीसरे, सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं है; रागका कारण सो पारिवर्षाहनीयका उदय है और वह दसर्षे गुणस्थानतक रहता

१ 'एद द्विविधं संरागबीतरागविषयमेवात् । प्रथमसंवेगानुक्रम्यास्तिक्यैरेवं धार्यैराकस्यति प्रथमम् । आत्मविशुद्धिमात्रमित्यर्थः—सर्वविशिष्टि १२ । ३ एतदेव संरागं स्वाभाविकमादिभ्यश्चित्तकथायम् । विरागं सर्वत्र त्वात्मविशुद्धिमात्रं विषयकम् ॥५१॥ अनन्तर अ २ । २ रेखा— अ ।

है, इसीसे दसवें गुणस्थानतकके 'जीव सरागी' और 'उससे ऊपरके जीव वीतरागी' कहे जाते हैं । चोथे, यदि सरागताका कारण सम्यग्दर्शन 'सरागसम्यग्दर्शन' और वीतरागताका कारण सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहा जायेगा तो सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायो-पशमिक भेदोंमें सरागता-और वीतरागताका कारण होनेकी दृष्टिसे भेद करना होगा । इन तीनोंमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थानतक ही होता है और उसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय भी रहता है अतः वह तो सरागसम्यक्त्व ही ठहरता है । किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन दसवें गुणस्थानतक सराग अवस्थामें भी पाये जाते हैं और उससे ऊपर वीतराग अवस्थामें भी पाये जाते हैं । अतः यह प्रश्न पैदा होता है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनोंको सरागताका कारण माना जाये या वीतरागताका अथवा दोनोंका ? दोनोंको सरागताका कारण तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि यदि क्षायिक सम्यग्दर्शनको भी सरागताका कारण माना जायेगा तो वीतरागी क्षीणकषाय गुणस्थानवालोंको, केवलियोंको और सिद्धोंको भी सराग मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके क्षायिकसम्यक्त्व ही होता है । रह जाता है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व । इसमें दर्शन मोहनीयका उपशम रहता है इसलिए क्षायिकसम्यक्त्वकी अपेक्षा इसकी स्थिति कमजोर होनेसे इसे रागका कारण मानकर यदि सरागसम्यक्त्व माना जायेगा तो ग्यारहवें गुणस्थानको वीतराग-छद्मस्थ न मानकर सरागछद्मस्थ मानना होगा । शायद कहा जाये कि ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका साहाय्य न मिलनेसे उपशम सम्यक्त्व रागका कारण नहीं है तो चारित्र-मोहनीयको ही रागका कारण क्यों नहीं मानते ? अतः वेचारे सम्यग्दर्शनको, जिसे शास्त्रोंमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जराका कारण बतलाया है, रागका कारण बतलाना उचित नहीं है । अतः क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्वको सरागताका कारण नहीं माना जा सकता । शायद कहा जाये कि सम्यग्दर्शनके होनेपर देव, शास्त्र, गुरुमें शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति होती है अतः सम्यग्दर्शन शुभरागका कारण है । किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेसे पहले भी उस जीवमें राग पाया जाता था । सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे एक तो उसमें कुछ रागकी कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया, जहाँ वह पहले स्त्री-पुत्रादिकके मोहमें ही पड़ा रहता था वहाँ वह अब आत्महितके कारणोंसे राग करने लगा । अतः सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हुआ बल्कि उसकी हीनताका और उसकी प्रवृत्तिको बदलनेका ही कारण हुआ । इसीसे पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि—'जितने अंगमें जीव सम्यग्दृष्टि है उतना अंग बन्धका कारण नहीं है और जितने अंगमें उसके राग है उतने अंगमें उसके कर्मबन्ध होता है' । अतः अबन्धका कारण सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हो सकता । अब रहा दूसरा प्रश्न कि क्या सम्यग्दर्शन वीतरागताका कारण है ? किसी अंगमें सम्यग्दर्शनको वीतरागताका कारण माना जा सकता है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धीका क्षय अथवा उपशम या क्षयोपशम होनेसे आत्मामें रागकी हानि ही होती है, वृद्धि नहीं । किन्तु ऐसी अवस्थामें सम्यग्दर्शनके दो भेद नहीं बन सकते । इस आपत्तिसे बचनेके लिए यदि उसे दोनोंका कारण माना जायेगा तो दोनों पक्षोंमें ऊपर उठाये गये विवाद खड़े हो जायेंगे । अतः सरागीके सम्यग्दर्शनको सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागीके सम्यग्दर्शनको वीतरागसम्यग्दर्शन कहना ही ठीक है । सम्यग्दर्शन आत्माका धर्म है अतः वह इन्द्रियोसे दिखायी दे सकनेवाली वस्तु नहीं है । किन्तु

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिर्वाणम् ।

त प्राज्ञं प्रथमं प्राज्ञा समस्तमतमूपमम् ॥२१८॥

शारीरमानसात्मनुवेदनाप्रमथान्नवात् ।

स्वप्नेन्द्रजातसङ्ख्याज्ञीतिः संवेग उच्यते ॥२१९॥

सत्त्वे सर्वेषु चित्तस्य व्यावर्तित्वं व्याख्यतः ।

धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पा प्रचक्षते ॥२२०॥

असंयतसम्बन्धविधौ रोगरहितरागी जीवोर्मि प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य वगैरहको देखकर सम्बन्धजनक अस्तित्व जाना जा सकता है। असंयतसम्बन्धविधौ उल्टे दसवें गुणस्थानतकके जीव अपनेमें सम्बन्धके निमित्तसे होनेवाले प्रथमादि गुणोंका निश्चय करके 'हम सम्बन्धविधौ' ऐसा जान सकते हैं। और चौथेसे छठे गुणस्थानतकके जीवोंमें उनको वेष्टाओंसे प्रथमादिकका निर्णय करके 'वे सम्बन्धविधौ' ऐसा जानते हैं। इस प्रकार अपनेमें स्वसंवेदनसे और दूसरोंमें अनुमानसे सारासम्बन्धार्थनके सूत्रावका निश्चय किया जाता है, क्योंकि सम्बन्धविधौ इस प्रकारके भाव देखे जाते हैं। किन्तु जिसमें इस प्रकारके भाव हों वह नियमसे सम्बन्धविधौ ही है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि सम्बन्धार्थनके अभावमें भी इस प्रकारके भाव पाये जाते हैं। अतः प्रथमादि भाव सम्बन्धार्थनके आपक हैं, नियामक नहीं हैं। इनके बिना सम्बन्धार्थन नहीं हो सकता किन्तु वे सम्बन्धार्थनके बिना भी हो सकते हैं। अब रहे उपरान्त कथाम आदि गुणस्थानवर्ती बीतरागी जीव, उनका सम्बन्धार्थन बीतरागसम्बन्धार्थन कहलता है, और वह सम्बन्धार्थन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है। अक्षममोहनीयके उपरान्त अबका क्रमसे आत्मासे आ निर्मलता होती है, उसे आत्मविशुद्धि कहते हैं, और बीतरागसम्बन्धार्थन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है, क्योंकि बीतरागी जीवोंमें आरित्रमोहनीयका उदय न होनेसे प्रथमादि भाव नहीं पाये जाते। अतः बीतरागसम्बन्धार्थनको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है प्रथमादिक द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता।

[अब आस्तिक्य आदिक स्वरूप बतलाते हैं—]

रागादिक दार्पोसे चित्तवृत्तिके इतनेको पण्डित-जग प्रथम कहते हैं। यह प्रथमगुण समस्त प्रतीक मूल्य है अर्थात् वह वगैरहका पासन करत हुए भी यदि चित्त रागादिक दार्पोसे नहीं हलता तो वे मत एक तरहसे व्यर्थ ही हैं ॥२२८॥

यह संसार शारीरिक मानसिक और आगन्तुक कष्टोंसे भरा है और स्वप्न या जागृताक तमासकी तरह अथछ है। इससे डरना संवेग है ॥२२९॥

सर्व प्राणियोंक प्रति चित्तका व्यापार होना अनुकम्पा है। व्यापार मुख्य इस धर्मका परम मूल बतलाते हैं ॥२३०॥

* 'आत्मनी जीवस्य शुद्धिर्मुक्ताहमोसमयेन समेषु वा जनिप्रकाशः' । जीव तन्मात्रं न प्रथमादि बहुवचम् । तत्र हि आरित्रमोहस्य सहचारिणोऽज्ञायाश्च प्रथमाद्यभिप्यक्तिः स्यात् । अत्रैव स्वसंवेदनेन तद्वेदेन । अथ य टी २-५१ ।

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्ति त्वसंस्तुतम् ।
 आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तिं युक्तिधरे नरे ॥२३१॥
 रागरोषधरे नित्यं निर्व्रते निर्दयात्मनि ।
 संसारो दीर्घसारः स्याद्वरे नास्तिकनीतिके ॥२३२॥

मुक्तिके लिए प्रयत्नशील पुरुषका चित्त आसके विषयमें, शास्त्रके विषयमें, व्रतके विषयमें और तत्त्वके विषयमें 'ये है' इस प्रकारकी भावनासे युक्त होता है उसे आस्तिक पुरुष आस्तिक्य कहते हैं। जो मनुष्य रागी और द्वेषी है, कभी व्रताचरण नहीं करता और न कभी उसकी आत्मामें दयाका भाव ही होता है उस नास्तिक धर्मवालेका संसारभ्रमण बढ़ता ही है ॥२३१-२३२॥

भाचार्थ—राग, द्वेष, काम, क्रोध वगैरहकी ओर मनका रुझान न होना प्रशम कहलाता है। अथवा जिन्होंने अपना अपराध किया है, उन प्राणियोंको भी किसी प्रकारका कष्ट न देनेकी भावनाका होना भी प्रशम है। ऐसा प्रशम भाव अनन्तानुबन्धी कषायके उदयका अभाव होनेसे तथा शेष कषायोंका सन्द उदय होनेसे होता है। अतः वह सम्यक्त्वकी पहचान करानेमें सहायक है। किन्तु बिना सम्यक्त्वके जो प्रशम भाव देखा जाता है वह प्रशम नहीं है किन्तु प्रशमाभास है। संसार अनेक तरहकी यातनाओंका—तकलीफोंका घर है। इसमें कोई भी सुखी नजर नहीं आता। किसीको किसी बातका कष्ट है तो किसीको किसी बातका कष्ट है। आज जो सुखी दिखायी देते हैं, कल उन्हें ही रोता और कलपता हुआ पाते हैं। ऐसे संसारसे मोहन करके सदा उससे बचते रहनेमें ही कल्याण है। इस प्रकारके भावोंका नाम सवेग है। धर्म, धर्मात्मा और धर्मके प्रवर्तक पञ्च परमेष्ठीमें मन तभी लग सकता है जब अधर्म, अधर्मी और अधर्मके सर्जकोंसे अरुचि हो। तथा इनमें अरुचि तभी हो सकती है जब मनुष्यका मन संसारकी विषय-वासनाओंसे हट गया हो। अतः संसारसे अरुचि रखनेमें ही आत्माका कल्याण है और इसीका नाम सवेग है। मगर वह अरुचि स्वाभाविक होनी चाहिए, बनावटी नहीं। विरागताकी लम्बी-चौड़ी बातें करके सिरसे पैरतक रागमें डूबे रहना सवेग नहीं है। जीवमात्रपर दया करनेको अनुकम्पा कहते हैं अर्थात् सबको अपना मित्र समझना और वैर-भावको छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जाना अनुकम्पा है। सच्ची अनुकम्पा सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि बिना अज्ञानके वैर-भाव नहीं होता। मनुष्य समझता है कि मैं चाहूँ तो अमुकको सुखी कर सकता हूँ और चाहूँ तो अमुकको दुःखी कर सकता हूँ। या मुझे अमुक सुख पहुँचा सकता है और अमुक दुःख पहुँचा सकता है। किन्तु उसका ऐसा समझना कोरा अज्ञान है, क्योंकि जिन जीवोंके प्रबल पुण्यका उदय होता है उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता और जिनके प्रबल पापका उदय होता है उनके हाथमें दिये गये रुपये भी कोयला हो जाते हैं। अतः प्राणियोंमें दृष्ट और अनिष्टकी कल्पना करके किसीको अपना मित्र मानना और किसीको अपना शत्रु मानना अज्ञानता है। इसलिए समीपर समान रूपसे दयाभाव रखना चाहिए। तथा दूसरोंपर दया करना एक तरहसे अपनेपर ही दया करना है

१ —मास्तिक्यसंयुतम् ।'—सागारधर्माभूत, पृ० ६। २. 'युक्त युक्तिधरेण वा'—सागारधर्माभूत पृ० ६। मोक्षसयोगधरे—मुक्तिगामिनि। ३ भ्रमणः। ४ शास्त्रे।

यद्रागाविषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिर्वाणम् ।

तं प्राहुः प्रथमं प्राज्ञा समस्तमतमूपमम् ॥२२८॥

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रमवाङ्मयात् ।

स्वप्नेन्द्रबालसङ्ख्याद्वीतिः संवेग उच्यते ॥२२९॥

सत्ये सर्वत्र चित्तस्य व्याघ्रत्वं व्याख्यातम् ।

धर्मस्य परमं मूढमनुकम्पां प्रचक्षते ॥२३०॥

अस्य तत्सम्बन्धे विरह सारागी जीवोंमें प्रथम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य विरहको देखकर सम्बन्धनका अस्तित्व जाना जा सकता है। असंवेतसम्बन्धितसे लेकर वसों गुणस्थानतकके जीव अपनेमें सम्बन्धके निमित्तसे होनेवाले प्रथमादि गुणोंका निश्चय करके 'हम सम्बन्धित हैं' ऐसा जान लेते हैं। और चौथेसे छठे गुणस्थानतकके जीवोंमें उनकी चेष्टाओंसे प्रथमादिकका निर्णय करके 'वे सम्बन्धित हैं' ऐसा जानते हैं। इस प्रकार अपनेमें स्वसंवेदनसे और दूसरोंमें अनुमानसे सारागसम्बन्धनके सर्वभावका निश्चय किया जाता है, क्योंकि सम्बन्धितमें इस प्रकारके भाव देखे जाते हैं। किन्तु जिसमें इस प्रकारके भाव हों वह निश्चयसे सम्बन्धित ही है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि सम्बन्धनके अभावमें भी इस प्रकारके भाव पाये जाते हैं। अतः प्रथमादि भाव सम्बन्धनके शापक हैं, निशानक नहीं हैं। इनके बिना सम्बन्धन नहीं हो सकता किन्तु वे सम्बन्धनके बिना भी हो सकते हैं। जब रहे उपशान्त कथाम आदि गुणस्थानकर्ता वीतरागी जीव, उनका सम्बन्धन वीतरागसम्बन्धन कहलाता है, और वह सम्बन्धन आत्मविभुद्विरूप ही होता है। *दशममोहनीयके उपशम अथवा क्षमसे आत्मामें जो निर्मलता होती है, उसे आत्मविभुद्वि कहते हैं, और वीतरागसम्बन्धन आत्मविभुद्विरूप ही होता है, क्योंकि वीतरागी जीवोंमें चारित्र्यमोहनीयका उदय न होनेसे प्रथमादि भाव नहीं पाये जाते। अतः वीतरागसम्बन्धनको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है प्रथमादिके द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता।

[अब आस्तिक्य आदिक स्वरूप बतलाते हैं—]

रागादिक वापोंसे चित्तवृत्तिके दृष्टिको पण्डित-जन प्रथम कहते हैं। यह प्रथमगुण समस्त वृत्तोंका मूल है अर्थात् मत विरहका पावन करते हुए भी यदि चित्त रागादिक वापोंसे नहीं दृष्टा तो वे मत एक तरहसे व्यर्थ ही हैं ॥२२८॥

यह संसार शारीरिक मानसिक और आगन्तुक कष्टोंसे भरा है और स्वप्न या आदुर्गते तमासकी तरह अण्ड है। इससे डरना संवेग है ॥२२९॥

सब मामलोंके प्रति चित्तका व्याकुल होना अनुकम्पा है। व्याकुल पुरुष इसे धर्मका परम मूल बतलाते हैं ॥२३०॥

* 'आत्मनो धीवस्य शुद्धिर्बुधोदयस्योपशमनं शिवेन वा कर्तव्यप्रसादात् । तत्र तन्मार्गं न प्रथमादि अनुदृश्य । तत्र हि चारित्र्यमोहस्य सङ्घारिणोपायाच्च प्रथमाद्यभिधायित्वा । नेपथं स्वसंवेदनेनैव दर्शयेत् । अतः च टी २-५१ ।

दशविधं तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंज्ञेपात् ।

विस्तारार्थाभ्या भवमवपरमावादिगाढं च ॥२३४॥

—आत्मानुशासन, श्लो० ११ ।

होनेपर अथवा उनके क्षयके अभिमुख होनेपर देशवाती सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक या क्षायोपगमिक सम्यक्त्व कहते हैं । जहाँ विवक्षित प्रकृति उदय आने योग्य तो न हो किन्तु उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके अथवा उसका सक्रमण किया जा सके, उसे अप्रगस्त उपगम कहते हैं । और जहाँ विवक्षित प्रकृति न तो उदय आने योग्य हो, न उन्मत्ता स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके और न अन्य प्रकृतिरूप सक्रमण ही किया जा सके उसे प्रगस्त उपगम कहते हैं । वेदक या क्षायोपगमिक सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए भी उसमें सम्यक्त्वको नष्ट कर देनेकी शक्ति तो नहीं है किन्तु वह सम्यक्त्वमें चल मलिन और अगाढ़ ढोप पेदा करती है । जैसे जल एक होकर भी लहरोंके उठनेपर चञ्चल हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व मोहनीयका उदय होनेसे श्रद्धानमें कुछ चञ्चलपना आ जाता है और उसके आनेसे सम्यग्दृष्टि अपने और दूसरोंके वनवाये हुए जिनविम्ब वगैरहमें यह मेरा है, यह दूसरोका है ऐसा भेद कर बैठता है । इसके सिवा उसके श्रद्धानमें अन्य कुछ चञ्चलता नहीं होती । तथा जैसे शुद्ध सोना मलके सम्बन्धसे मलिन हो जाता है वैसे ही वेदक सम्यक्त्व शङ्का वगैरह मलके द्वारा मलिन हो जाता है । तथा जैसे वृद्ध मनुष्यके हाथकी लकड़ी हाथसे छूटती तो नहीं है किन्तु काँपती रहती है वैसे ही वेदक सम्यक्त्वीका श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु उसमें थोड़ी शिथिलता रहती है, वह जैन देवोंमें ही ऐसी भेदकल्पना कर लेता है कि शान्तिनाथ भगवान्की पूजा करनेसे शान्ति मिलती है, पार्श्वनाथ भगवान्की पूजा करनेसे धन मिलता है, आदि । क्षायिकसम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेपर होता है और दर्शन-मोहनीयके क्षणका प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही तीर्थङ्कर, केवली अथवा श्रुतकेवलीके पाद-मूलमें करता है । किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियोंमें होती है क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों गतियोंमें से किसी भी एक गतिमें उत्पन्न हो सकता है । इतना विशेष है कि यदि उसने पहले मनुष्यायुका बन्ध किया है तो वह भोगभूमिया मनुष्योंमें ही जन्म लेता है, यदि तिर्यच्चायुका बन्ध किया है तो भोगभूमिया तिर्यच्चोमें ही जन्म लेता है, यदि नरकायुका बन्ध किया है तो प्रथम नरकमें ही जन्म लेता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो सौधर्मादि कल्पोंमें या कल्पातीत देवोंमें जन्म लेता है । क्षायिकसम्यग्दर्शन सुमेरुकी तरह निश्चल और सदा अविनाशी होता है, अन्य सम्यग्दर्शन तो होकर छूट भी जाते हैं, किन्तु क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं छूटता । जिसे क्षायिकसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है वह उसी भवमें या तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्ति लाभ कर लेता है, किन्तु चौथे भवसे आगे भव धारण नहीं करता । इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेदोंका स्वरूप जानना चाहिए ।

सम्यग्दर्शनके दस भेद

[अथ सम्यक्त्वके दस भेद बतलाते हैं—]

आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व,

कर्मणा ज्ञायत शास्त्रेः साधोपशमतस्तथा ।

अद्यान त्रिचिधं बोध्यं गती सत्यं जम्बुपु ॥२३५॥

क्योंकि सबको अपना मित्र समझकर सभीके साथ दयाका व्यवहार करनेसे एक तो अपने हृदयमें दुर्भाव उत्पन्न नहीं होंगे, दूसरे, उनके उत्पन्न न होनेसे अशुभ कर्मोंका कष्ट नहीं होगा, तीसरे, हृदयमें शान्ति रहनेके साथ ही साथ दुनियामें अपना कोई बैरी न रहगा। अतः दूसरोंपर अनुकम्पा करना अपनेपर ही अनुकम्पा करना है। सम्मन्वयमें ही इस प्रकारकी वास्तविक अनुकम्पा पायी जाती है। धर्म है, जीव है, परमात्मा है, मुक्ति है, मुक्तिके कारण हैं इस प्रकारका आभाव होता है उसे वास्तविक कहते हैं। यह वास्तविक सम्मन्वयमें ही पाया जाता है। इसके होनेपर ही वह आत्म-कल्याणक मार्गपर गगता है। यह प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और वास्तविकता स्वरूप है।

सम्पन्नदर्शनके तीन भेद

सम्पन्नदर्शनके तीन भेद भी हैं—ज्योतिषिक, क्षामिक और क्षायोपशमिक। जो सम्पन्नदर्शन मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी मोक्ष, मान, माया, मोक्ष इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है उसे ज्योतिषिक सम्पन्नत्व कहते हैं। जो इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे होता है उसे क्षामिक सम्पन्नत्व कहते हैं। और जो इनके क्षयोपशमसे होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। ये तीनों सम्पन्नदर्शन सब गतियोंमें पाये जाते हैं ॥२३६॥

भाषार्थ—सम्पन्नदर्शनके ये तीन भेद अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षासे किये गये हैं। जनादि मिथ्यादृष्टि जीवके उपशमसम्पन्नत्व ही होता है उसे प्रथमोपशमसम्पन्नत्व कहते हैं। उपशम-सम्पन्नत्वके दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्पन्नत्व और द्वितीयोपशमसम्पन्नत्व। मिथ्यादृष्टिपुष्प-स्थानसे जो उपशमसम्पन्नत्व होता है उसे प्रथमोपशमसम्पन्नत्व कहते हैं और उपशम श्रेणिके जम्बुपुष्प हुए जीवके क्षायोपशमिक सम्पन्नत्वपूर्वक जो उपशमसम्पन्नत्व होता है उसे द्वितीयोपशमसम्पन्नत्व कहते हैं। जनादि मिथ्यादृष्टि जीव यदि सम्पन्नत्वको उत्पन्न करता है तो तीन कारणोंके द्वारा दर्शनमोहनीयका सर्वोपशमन करके ही सम्पन्नत्वको उत्पन्न करता है। जो सादि मिथ्यादृष्टि बहुत काष्ठक मिथ्यात्वमें रहकर पुनः सम्पन्नत्वको प्राप्त करता है वह भी दर्शनमोहनीयका सर्वोपशमन करके ही सम्पन्नत्वको प्राप्त करता है। किन्तु जो सम्पन्नत्वसे श्रुत होकर चली ही सम्पन्नत्वको प्राप्त कर लेता है वह सर्वोपशमन जबवा देशोपशमनके द्वारा सम्पन्नत्वको प्राप्त करता है। यदि वेदक प्रायोपशमालम्बे अन्तर ही सम्पन्नत्वको ग्रहण कर लेता है तो देशोपशमके द्वारा ही ग्रहण करता है, नहीं तो सर्वोपशमके द्वारा ग्रहण करता है। दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंके उदयाभावको सर्वोपशम कहते हैं और सम्पन्नत्व प्रकृतिसम्पन्नकी देशभाषी स्पर्शकोंके उदयको और क्षेत्र दोनों प्रकृतियोंके उदयाभावको देशोपशम कहते हैं। जनादि मिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्पन्नत्वको प्राप्त करके अन्तर्मुखीका पुरा होनेपर निम्नसे मिथ्यात्वमें ही जाता है और सादि मिथ्यादृष्टि सम्पन्नत्वको प्राप्त करके उससे श्रुत होनेपर दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियों में से किसी एकका उदय हो जानेसे मिथ्यादृष्टि सम्यक्मिथ्यादृष्टि जबवा वेदक सम्पन्नत्व ही जाता है। वेदकसम्पन्नत्व ही क्षायोपशमिकसम्पन्नत्व भी कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कथावक्ता अमशस्त उपशम जबवा विस्मयजन होनेपर और मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतियोंका प्रसस्त उपशम

दशविधं तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशासूत्रबीजसंज्ञेपात् ।

विस्तारार्थाभ्या भवमवपरमावादिगाढ च ॥२३४॥

—आत्मानुशासन, श्लो० ११ ।

होनेपर अथवा उनके क्षयके अभिमुख होनेपर देशवाती सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं । जहाँ विवक्षित प्रकृति उदय आने योग्य तो न हो किन्तु उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके अथवा उसका सक्रमण किया जा सके, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं । और जहाँ विवक्षित प्रकृति न तो उदय आने योग्य हो, न उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके और न अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण ही किया जा सके उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं । वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए भी उसमें सम्यक्त्वको नष्ट कर देनेकी शक्ति तो नहीं है किन्तु वह सम्यक्त्वमें चल मलिन और अगाढ़ दोष पैदा करती है । जैसे जल एक होकर भी लहरोंके उठनेपर चञ्चल हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व मोहनीयका उदय होनेसे श्रद्धानमें कुछ चञ्चलपना आ जाता है और उसके आनेसे सम्यग्दृष्टि अपने और दूसरोंके बनवाये हुए जिनविम्ब वगैरहमें यह मेरा है, यह दूसरोंका है ऐसा भेद कर बैठता है । इसके सिवा उसके श्रद्धानमें अन्य कुछ चञ्चलता नहीं होती । तथा जैसे शुद्ध सोना मलके सम्बन्धसे मलिन हो जाता है वैसे ही वेदक सम्यक्त्व शङ्का वगैरह मलके द्वारा मलिन हो जाता है । तथा जैसे वृद्ध मनुष्यके हाथकी लकड़ी हाथसे छूटती तो नहीं है किन्तु काँपती रहती है वैसे ही वेदक सम्यक्त्वीका श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु उसमें थोड़ी शिथिलता रहती है, वह जैन देवोंमें ही ऐसी भेदकल्पना कर लेता है कि शान्तिनाथ भगवान्की पूजा करनेसे शान्ति मिलती है, पार्श्वनाथ भगवान्की पूजा करनेसे धन मिलता है, आदि । क्षायिकसम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेपर होता है और दर्शन-मोहनीयके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही तीर्थङ्कर, केवली अथवा श्रुतकेवलीके पाद-मूलमें करता है । किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियोंमें होती है क्योंकि ब्रह्मायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों गतियोंमें से किसी भी एक गतिमें उत्पन्न हो सकता है । इतना विशेष है कि यदि उसने पहले मनुष्यायुका बन्ध किया है तो वह भोगभूमिया मनुष्योंमें ही जन्म लेता है, यदि तिर्यच्चायुका बन्ध किया है तो भोगभूमिया तिर्यच्चोंमें ही जन्म लेता है, यदि नरकायुका बन्ध किया है तो प्रथम नरकमें ही जन्म लेता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो सौधर्मादि कल्पोंमें या कल्पातीत देवोंमें जन्म लेता है । क्षायिकसम्यग्दर्शन सुमेरुकी तरह निश्चल और सदा अविनाशी होता है, अन्य सम्यग्दर्शन तो होकर छूट भी जाते हैं, किन्तु क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं छूटता । जिसे क्षायिकसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है वह उसी भवमें या तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्तिलाभ कर लेता है, किन्तु चौथे भवसे आगे भव धारण नहीं करता । इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेदोंका स्वरूप जानना चाहिए ।

सम्यग्दर्शनके दस भेद

[अथ सम्यक्त्वके दस भेद बतलाते हैं—]

आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व,

अस्यायमेयं—भगवद्दर्शनसर्वज्ञप्रणीतागमाजुहोसवा आवा, रत्नत्रयविचारसर्गो मार्गः, पुराणपुरुषघटितभजनाभिनिवेश उपदेश, पतिजगन्नाथरत्नरूपमपार्थं सूत्रम् सकलसमय वससूचनाभ्याञ्जनीयम्, आत्मभुतप्रवचनार्थसमासात्तापोसेषः संक्षेपः, द्वावशास्त्रमुद्देशपूर्णं प्रकीर्णविस्तीर्णयुक्ताद्यसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः, विविधस्यागमस्य मिथोपलोऽस्यतमदेशाद्यगाहासीदमयगाढम्, अयधिमनःपर्ययैक्यताधिकपुष्ट्यप्रत्ययप्रकटं परमाद्यगाढम् ।

संक्षेपसम्यक्तत्वं, विस्तारसम्यक्तत्वं अर्थसम्यक्तत्वं, अवगाढसम्यक्तत्वं और परमाद्यगाढसम्यक्तत्वं ये सम्यक्तत्वं वस मेव हैं ॥२१४॥

इनका स्वरूप इस प्रकार है—भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट आगमकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर ओ अद्वान किया जाता है उसे आज्ञासम्यक्तत्व कहते हैं । रत्नत्रय रूप मोक्षके मार्गका कथन सुनकर ओ यद्वान हो उसे मार्गसम्यक्तत्व कहते हैं । तीर्थहर कन्देव आदि पुराणपुरुषोंके चरितको सुनकर ओ अद्वान होता है उसे उपदेशसम्यक्तत्व कहते हैं । मुनिजनोंके आचारक कथन करनेवाले आचाराङ्गसूत्रको सुनकर ओ अद्वान होता है उसे सूत्रसम्यक्तत्व कहते हैं । जिस पदमे सूचन रूपसे समस्त शास्त्रोंके अंश छिपे होते हैं उसे बीज कहते हैं । बीज पदको सम्यक्कर सूत्रम सर्वाङ्ग ज्ञानपूर्वक ओ अद्वान हाता है, उसे बीज सम्यक्तत्व कहते हैं । संक्षेपसं आप्त, युत, मत और पदार्थोंको जानकर उनपर ओ अद्वान होता है उसे संक्षेपसम्यक्तत्व कहते हैं । बारह अंगों, चौदह पूर्वों और अङ्गबाधोंके द्वारा विस्तारसे तत्त्वार्थको सुनकर ओ अद्वान होता है उसे विस्तारसम्यक्तत्व कहते हैं । प्रवचनक वचनोंकी सहायताके बिना किसी अन्य प्रकारसे ओ अर्थका बोध होकर अद्वान हाता है उसे अर्थसम्यक्तत्व कहते हैं । अङ्ग पूर्व और प्रकीर्णक आगमोंके किसी एक देखका पूरी तरहसे अवगाहन करने पर ओ अद्वान होता है उसे अवगाढसम्यक्तत्व कहते हैं । और अवधिज्ञान, मन परमज्ञान तथा केवलज्ञानके द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानकर ओ प्रगाढ अद्वान होता है उसे परमाद्यगाढ सम्यक्तत्व कहते हैं ।

१ 'आज्ञासम्यक्तत्वमुक्तं पुरुष विरचितं बीतपापाहवैव
त्यक्तप्रत्ययपञ्चं सिद्धममुतपञ्चं अर्हवन् मोक्षपातैः ।
मार्गयद्वानमात्रं पुनश्चर-पुराणोपदेशोपपत्ता
वा संज्ञानापगाभिप्रकृतिमिरूपदेसादिपदेषु बुद्धिः ॥१२॥
आकम्पीचारसुखं मुनिचरणभिजे- सुचरन् अर्हवान्
पुनताप्राप्तिं सुखबुद्धिर्भुविगमपतेरर्थावस्य बीजैः ।
कैरिचञ्जातीपलम्बेरतमयमवद्यान् बीजबुद्धिं पदार्थात्,
संक्षेपेयैव बुद्ध्या अधिमूपातवान् साधु संक्षेपबुद्धिः ॥१३॥
य-भुत्वा द्वावशास्त्रौ कृतसंशयः तं निश्चि विस्तारबुद्धिं
संवातावत् कुतश्चिद् प्रवचनवचनाभ्यान्देवैर्यदुद्धिः ।
बुद्धिः साङ्गाङ्गबाधप्रवचनवचनाहोरेवता यावगाहा
कैवल्यालोकितां वधिहि परमाभाविपादेति कदा ॥१४॥ —आयामुपायन ।

२-‘मुञ्जा आज्ञा’-वर्मरत्नाकरे (पृ ९८ अ) पाठः । ३-‘साधोपक्षेप’-वर्मरत्नाकरे (पृ ९८ अ) पाठः । ४-‘प्रकीर्णकमेवविस्तीर्ण’-वर्मरत्नाकरे (पृ ९८ अ) पाठः । ५-‘द्वावशास्त्र-’-अनुसंधानपूर्व प्रकीर्णकमेव ।

गृहस्थो वा यतिर्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रयः ।

एकादशविधः पूर्वश्चरमश्च चतुर्विधः ॥२३५॥

मायानिदानमिथ्यात्वशैल्यत्रितयमुद्धरेत् ।

आर्जवाकाङ्क्षणाभावतत्त्वभावनकीलकैः ॥२३६॥

भावार्थ—सम्यक्त्वके ये भेद बाह्य निमित्तोको लेकर किये गये हैं। इनमें से जिनमें तत्त्वार्थका श्रद्धान् आचार्य वगैरहके उपदेशसे होता है वे अधिगमज कहलाते हैं और जिनमें स्वतः ही शास्त्रादिकका अवगाहन करके तत्त्वार्थका श्रद्धान् होता है वे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाते हैं। इसी तरह इनमें से जो सम्यक्त्व सरागीके होते हैं वे सरागसम्यग्दर्शन कहलाते हैं और जो वीतरागीके होते हैं वे वीतरागसम्यग्दर्शन कहलाते हैं। किन्तु इन सभीका अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहनीयका उमशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है, उसके बिना तो सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। इनमें से जो सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयके उपशमसे होते हैं वे औपशमिक कहे जाते हैं, जो दर्शनमोहनीयके क्षयसे होते हैं वे क्षायिक कहे जाते हैं और जो दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे होते हैं वे क्षायोपशमिक कहे जाते हैं। इस प्रकार इन सब भेदोंका परस्परमें समन्वय कर लेना चाहिए।

गृहस्थ हो या मुनि हो, सम्यग्दृष्टि, अवश्य होना चाहिए अर्थात् सम्यक्त्वके बिना न कोई श्रावक कहला सकता है और न कोई मुनि कहला सकता है। गृहस्थके ग्यारह भेद हैं जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं और मुनिके चार भेद हैं ॥२३५॥

सरलता रूपी कीलके द्वारा माया रूपी कौंटेको निकालना चाहिए। इच्छाका अभाव रूपी कीलके द्वारा निदान रूपी कौंटेको निकालना चाहिए और तत्त्वोंकी भावना रूपी कीलके द्वारा मिथ्यात्व रूपी कौंटेको निकालना चाहिए ॥२३६॥

भावार्थ—माया, निदान और मिथ्यात्व ये तीन शल्य हैं। शल्य कौंटेको कहते हैं। जैसे काँटा शरीरमें लग जानेपर तकलीफ देता है वैसे ही ये तीनों भी जीवोंको शारीरिक और मानसिक कष्ट पहुँचाते हैं इसलिए इन्हें शल्य कहते हैं। इन शलयोंको हृदयसे दूर किये बिना कोई व्रती नहीं कहा जा सकता। व्रती होनेके लिए केवल व्रतोंको धारण कर लेना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उनके साथ-साथ तीनों शलयोंको भी निकाल डालना आवश्यक है। जो मायाचारी है वह कैसे व्रती हो सकता है? व्रती होनेके लिए सरलताका होना जरूरी है। अतः सरलताके द्वारा मायाचारको दूर करना चाहिए। इसी तरह जो रात-दिन भविष्यके भोगोंकी ही कामना करता रहता है, उसका व्रत-नियम कैसे निर्दोष कहा जा सकता है? जो इसलिए उपवास करता है कि उपवासके बाद नाना तरहके पक्वान्न भरपेट खानेको मिलेंगे, जो इसलिए ब्रह्मचर्य पालता है कि शक्ति मञ्चित करके फिर खूब भोग भोगूँगा, या मरकर स्वर्गमें देव होकर अनेक देवाङ्गनाओंके साथ रमण करूँगा, जो इसलिए दान देता है कि उससे मेरी खूब ख्याति

१ ऋषि मुनि-यति-अनगारभेदेन । 'देशप्रत्यक्षवित्केवलभूदिह मुनिः स्याद् ऋषिः प्रोद्गतद्विरारुद्ध-
श्रेणियुग्मोऽजनि यनिरनगारोऽपर साधुस्वत । राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाज्जीणयक्ति प्राप्तो
बुद्धधीपवीशो नियमयनपटुर्विद्ववेदी क्रमेण ॥—चारियचार पृ० २२ । २ निःशल्को व्रती ।—तत्त्वार्थसूत्र ७-१८ ।

दृष्टिहीनं पुमानेति न यथा पक्ष्मीप्सितम् ।
 दृष्टिहीनं पुमानेति न तथा पक्ष्मीप्सितम् ॥२३७॥
 सम्यक्त्वं नाङ्गहीनं स्याद्राज्यपक्ष्माज्यभूतये ।
 ततस्तद्वर्त्तसंगत्यामङ्गी निःसंगमीहताम् ॥२३८॥
 विद्योविभूतिकपाद्या सम्यक्त्वरहिते पुत्राः ।
 नहि वीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥२३९॥
 चर्म्मिभी संश्रयोत्कण्ठा नाकिञ्चीर्ष्येनोत्सुका ।
 तस्य बुरे न मुक्तिर्भीर्निर्दोष यस्य वर्णनम् ॥२४०॥

होगी, बलबारोंमें गुणगान होगा, मेरी सास बरेगी और फिर मेरा व्यापार चमक उठेगा, उनका उपवास, ब्रह्मचर्य और दान स्तुत्य नहीं करे जा सकते । अतः भोगोंकी चाहका निवन्धन करनेके लिए ही वसन्तमे गये हैं, जिससे स्त्रीकी आत्मा सकल हो । यदि कोई व्रतोंके द्वारा भी भोगोंकी दृष्ट्याकी ही पूर्ति करना चाहता है तो यह उसकी नासम्झी है । इसी तरह यदि कोई व्रताचरण करते हुए भी मिथ्यात्वसे ग्रस्त है तो उसका व्रताचरण ध्वस्त है, क्योंकि जो सन्मार्गपर पैर रखकर भी कुमार्गको छोड़ना नहीं चाहता वह सन्मार्गपर कभी चल ही नहीं सकता । अतः उक्त तीनों श्लोकोंके होते हुए व्रताचरणका बौग रचा जा सकता है, व्रताचरण नहीं किया जा सकता । इसलिये उन्हें दूर कर देना आवश्यक है ।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

जैसे दृष्टि अर्थात् जालोंसे हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता ।
 वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शनसे हीन पुरुष मुक्तिप्राप्त नहीं कर सकता ॥२३७॥

जैसे राज्यके अङ्ग मन्त्री सेनापति वगैरहके बिना राज्य समुद्दिष्टाधी नहीं हो सकता, वैसे ही निःशङ्कित आदि अङ्गोंके बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आत्मन्तर और बाह्य विभूतिको नहीं दे सकता । इसलिये प्राणीको चाहिए कि सम्यग्दर्शनके अङ्गोंका प्राप्त करके निःसङ्ग— निर्विन्ध दिगम्बर हो जानेकी कामना करे ॥२३८॥

सम्यक्त्वसे रहित प्राणीमें सम्यग्ज्ञान कोरह कैसे हो सकते हैं ? बीजक अमाको धान्य सम्पत्ति नहीं होती । जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्तीकी विभूति उसका आर्त्तिगत करनेके लिए उत्कण्ठित रहती है और देवोंकी विभूति उसके दर्शनके लिए उत्सुक रहती है । अधिक क्या मोक्षरक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥२३९-२४॥

१ नेत्र । २. सम्यग्दर्शन । 'दृष्टाहीनं पुमानेति न यथा स्थानमीप्सितम् । निर्दोषं पुमान् याति न तथा पक्ष्मीप्सितम् ॥ ३४ ॥—अथर्वशार । ३ 'नाङ्गहीनमङ्गं चेत्तु वसनं अन्धसन्ततिम् ।—रत्न भा । ४ अष्टाङ्गपूर्वपाया सत्या प्राची निर्वर्णं चारिणं वाङ्मण्डु । ५. 'विद्यामृतस्य संमूर्तिर्विभूतिमुद्रिकानेवयाः । न तस्यवसति सम्यक्त्वे बीजावत्ते तपोरिण ॥ ३२ ॥ — रत्नकरचक्राकरनाथार । ६ वेदेन्द्रचक्रमहिमामयवेदमार्गं राजेन्द्रचक्रमस्मीन्द्रविद्येन्द्रधीमयम् । वर्गेन्द्रचक्रमरौद्रतत्त्वलोके अस्मिन्निर्वाणं न जितमभितपयति भयम् ॥ ४१ ॥ —रत्न भा ।

मूढत्रयं मेदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
 अष्टौ शङ्कादयश्चेति द्वादशोपाः पञ्चविंशतिः ॥२४१॥
 निश्चयोचितचारित्र्यं सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः ।
 अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ॥२४२॥
 बहिःक्रिया बहिष्कर्मकारणं केवलं भवेत् ।
 रत्नत्रयसमृद्धेः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मकः ॥२४३॥
 विशुद्धचैस्तुधीर्दृष्टिर्बोधः साकारगोचरः ।
 अप्रसङ्गस्तयोर्वृत्तं भूतार्थनयर्वादिनाम् ॥२४४॥

सम्यग्दर्शनके दोष

तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शका वगैरह, ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं ॥२४१॥

भावार्थ—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ हैं। इनका स्वरूप पहले बतला आये हैं। ज्ञानका मद करना, आदर सत्कारका मद करना, कुलका मद करना, जातिका मद करना, बलका मद करना, ऐश्वर्यका मद करना, तपका मद करना और शरीरका मद करना, ये आठ मद हैं। मद घमण्डको कहते हैं। कुदेव, कुदेवका मन्दिर, कुशास्त्र, कुशास्त्रके धारक, कुतप और कुतपके धारक ये छह अनायतन हैं। अनगारधर्माभूतमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र्य और उनके धारक इस तरह छह अनायतन कहे हैं। सम्यग्दर्शनके जो आठ अङ्ग बतलाये हैं उनके उल्टे गङ्गा, काक्षा, विचिकित्सा आदि आठ दोष हैं। ये सब मिलाकर सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं। जो सम्यग्दृष्टि इन दोषोंसे रहित होता है उसका सम्यग्दर्शन निर्दोष कहा जाता है।

मुक्तिके मार्गमें कौन स्थित है ?

स्वरूपाचरण चारित्र्यका धारक और तत्त्वोंका ज्ञाता सम्यग्दृष्टि व्रतोंका पालन नहीं करते हुए भी मुक्तिके मार्गमें स्थित है। किन्तु व्रतोंका पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह मुक्तिके मार्गमें स्थित नहीं है ॥२४२॥

रत्नत्रय आत्मस्वरूप है

बाह्य क्रिया तो केवल बाह्य कर्मकी ही कारण होती है। किन्तु रत्नत्रय रूपी समृद्धिका कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यमात्र ही है ॥२४३॥

निश्चयनयवादियोंके मतमें अर्थात् निश्चयनयकी दृष्टिमें विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है। विशुद्ध आत्माको साकार रूपसे जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयोंमें भेद-बुद्धि न करके एकरूप होना, अर्थात् आत्मस्वरूपमें लीन होना निश्चयचारित्र्य है ॥२४४॥

१ 'श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभूताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥' ज्ञान पूजा कुल जाति बलमृद्धि तपो वपु । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मया ॥ २५॥ —रत्न० श्रा० ।
 २ अव्रतोऽपि योग्यचारित्र्य (?) । ३ बाह्यज्ञानचारित्र्यादि । ४ शरीरग्रहणलक्षणम् । ५ आत्मस्वरूपे रुचिनिश्चयसम्यक्त्वम् । ६ आत्मपरिज्ञानम् । ७ तयोर्द्विबोधयोर्विषयेऽप्रसङ्गं भेदः (?) एकलोलीभावः निश्चयचारित्र्यम् । ८ निश्चयनयज्ञानिनाम् ।

हेदिहीनं पुमानेति न यथा पद्मीप्सितम् ।
 हेदिहीनं पुमानेति न तथा पद्मीप्सितम् ॥२३७॥
 सम्यक्स्य माहूहीनं स्यादाज्ययथाज्यभूतये ।
 ततस्तद्वर्जसंगत्यामही निःसगमीहताम् ॥२३८॥
 विधौविमृतिरूपाद्या सम्यक्त्वरहिते कुतः ।
 महि वीजभ्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥२३९॥
 अहिंसी सधयोत्करता नाकिमीर्ष्योनेत्सुका ।
 तस्य दूरे न मुक्तिमीर्षिर्वापं यस्य दर्शनम् ॥२४०॥

होगी, अलवारोंमें गुणमान होगा, मेरी सात बड़गी और फिर मेरा व्यापार चमक उठेगा, वनका उपवास, ब्रह्मचर्य और दान स्तुत्य नहीं करे आ सकता । अतः भोगोंकी चाहका नियन्त्रण करनेके लिए ही बतझये गये हैं, जिससे अतीको आत्मा सम्यक् हो । यदि कोई मर्त्यके द्वारा भी भोगोंकी तुष्णाकी ही पूर्ति करना चाहता है तो यह उसकी नासमझी है । इसी तरह यदि कोई अनाचार्य करते हुए भी मिथ्यात्वसे ग्रस्त है तो उसका अनाचार्य व्यर्थ है, क्योंकि जो सन्मार्गपर पैर रखकर भी कुमार्गको छोड़ना नहीं चाहता वह सन्मार्गपर कभी चढ़ ही नहीं सकता । अतः उक्त तीनों शक्तियोंके होते हुए अनाचार्यका होंग रचा जा सकता है, अनाचार्य नहीं किया जा सकता । इसलिये उन्हें दूर कर देना आवश्यक है ।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

जैसे हृदि जर्मन् ऑसोसे हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता ।
 जैसे ही हृदि अर्थात् सम्यग्दर्शनसे हीन पुरुष मुक्तिपथ नहीं कर सकता ॥२३७॥

जैसे राज्यके अग्र मन्त्री सेनापति वगैरहके बिना राज्य समृद्धिप्राप्ति नहीं हो सकता,
 जैसे ही नि शक्ति आदि जड़ोंके बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आत्मन्तर और बाह्य विमृतिको नहीं दे सकता । इसलिये प्राणीको चाहिए कि सम्यग्दर्शनके अङ्गोंको प्राप्त करके निःसंग—
 निर्मन्त्र दिग्गम्बर हो जानेकी कामना करे ॥२३८॥

सम्यक्त्वसे रहित प्राणीमें सम्यग्ज्ञान वगैरह कैसे हो सकते हैं ? भौतिक अभावमें धान्य सम्पत्ति नहीं होती । जिसका सम्यग्दर्शन निर्वाण है, चक्रवर्तीकी विमृति उसका आश्रय करनेके लिए उत्कण्ठित रहती है और दबोंकी विमृति उसका दर्शनके लिए उत्सुक रहती है ।
 अथि क्या, मातृस्त्री भी उससे दूर नहीं है ॥२३९-२४०॥

१ वैद्य । २. सम्यग्दर्शन । 'दृष्टाहीनं पुमानेति न यथा पद्मीप्सितम् । निर्दोषं पुमान् पति
 न तथा पद्मीप्सितम् ॥ १४ ॥—प्रबोधसार । ३. माहूहीनमर्त्तं येल वर्त्तनं अमपत्तितम् ।—रत्न वा ।
 ४. अहानुभूततायां सस्यं प्राणी विसर्गं चारिषं बाम्छन्तु । ५. विद्यावृत्तस्य संकुचितविमृतिरुत्पत्तिरुत्पत्तिः । न
 बलवत्तति सम्यक्त्वं वीजभ्यपाये तथैव ॥ ३२ ॥ — रत्नकरप्रकाशकाव्याचार । ६. हेदिन्द्रकटनद्रियाग्नयैवमान
 रात्रेन्द्रकटनद्रियाग्नयैवमान । यमैन्द्रकटनद्रियाग्नयैवमान । यमैन्द्रकटनद्रियाग्नयैवमान । यमैन्द्रकटनद्रियाग्नयैवमान
 —रत्न वा ।

और निश्चयके ज्ञाता ही जगत्में धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हैं। और जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेशका पात्र नहीं है क्योंकि जैसे किसी बच्चेमें गूरू-वीरता, निर्भयता आदि धर्मोंको देखकर किसीने कहा कि 'यह बच्चा तो शेर है'। जो आदमी शेरको नहीं जानता वह समझ बैठता है कि यही शेर है। वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय समझ बैठता है। किन्तु जो व्यवहार और निश्चय दोनोंको जानकर दोनोंमें मध्यस्थ रहता है, दोनोंमें से किसी एक नयका ही पक्ष पकड़कर नहीं बैठ जाता वही शिष्य या श्रोता उपदेशका पूरा लाभ उठाता है। अतः निश्चय और व्यवहार दोनोंको समझना आवश्यक है। वस्तुके असली स्वरूपको निश्चय कहते हैं, जैसे मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका घड़ा कहना। और परके निमित्तसे वस्तुका जो औपचारिक या उपाधिजन्य स्वरूप होता है उसे व्यवहार कहते हैं। जैसे मिट्टीके घड़ेमें घी भरा होनेके कारण उसे घीका घड़ा कहना। अतः चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मस्वरूप ही हैं, अतः आत्माका विनिश्चय ही निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्माका ज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें स्थित होना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है। किन्तु आत्म-स्वरूपका विनिश्चय तबतक नहीं हो सकता जबतक आत्मा और कर्मोंके मेलसे जिन सात तत्त्वोंकी सृष्टि हुई है उनका तथा उनके उपदेष्टा देव, शास्त्र और गुरुओंका श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परासे ये सभी आत्म-श्रद्धानके कारण हैं। इनपर श्रद्धान हुए बिना इनकी बातोंपर श्रद्धान नहीं हो सकता और इनकी बातोंपर श्रद्धान हुए बिना आत्माकी ओर उन्मुखता, उसकी पहचान और विनिश्चिति उत्तरोत्तर नहीं हो सकती। यही बात सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमें जाननी चाहिए। वास्तवमें देव शास्त्र गुरु और उनके द्वारा उपदिष्ट सात तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान इसीलिए आवश्यक है क्योंकि वह आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञानमें निमित्त है। इन सबके श्रद्धान और ज्ञानका लक्ष्य आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञान ही है। इसी तरह आत्मामें स्थिति तबतक नहीं हो सकती जबतक उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। अतः उसकी प्रवृत्तिको अन्तर्मुखी करनेके लिए पहले उसे बुरी प्रवृत्तियोंसे छुड़ाकर अच्छी प्रवृत्तियोंमें लगाया जाता है। जब वह उनका अभ्यस्त हो जाता है तब धीरे-धीरे उनका भी निरोध करके उसे प्रवृत्तिमार्गसे निवृत्तिमार्गकी ओर लगाया जाता है। होते-होते वह उस स्थितिमें पहुँच जाता है जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विषय केवल आत्मा ही रह जाता है और समस्त परावलम्ब विलीन हो जाते हैं। यही निश्चयरूप रत्नत्रय है। किन्तु बिना व्यवहारका अवलम्बन किये इम निश्चयकी प्रतीति नहीं हो सकती। अतः अज्ञानकारोंको समझानेके लिए व्यवहारका उपदेश दिया जाता है और व्यवहारके द्वारा निश्चयकी प्रतीति करायी जाती है। जबतक जीव सरागी रहता है तबतक वह व्यवहारी रहता है, ज्यों-ज्यों उसका राग घटता जाता है त्यों-त्यों वह व्यवहारसे निश्चयकी ओर आता जाता है और ज्यों-ज्यों वह निश्चयकी ओर आता-जाता है त्यों-त्यों उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र व्यवहारसे निश्चयका रूप लेते जाते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि चौथे आदि गुणस्थानोंमें जो सम्यक्त्व होता है उसमें आत्मविनिश्चिति, आत्मबोध और आत्मस्थिति कतई रहती ही नहीं, यदि ऐसा हो तो उसे सम्यक्त्व ही नहीं कहा जायेगा। दर्शन मोहनोय और अनन्तानुबन्धी कपाय जैसी प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम अथवा क्षय हो जाना मामूली बात नहीं है और उनके हो जानेसे जीवकी परिणतिमें आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है, उसीके कारण

अद्योऽज्ञानं यन्मोहादेहोद्युतं च नास्ति यत् ।

आत्मस्यस्मिन्निष्ठीभूते तस्मात्तमेव तत्त्वैवम् ॥२५५॥

इस आत्माक मुक्त हा जानेपर न तो इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है, न माहसे जन्म ठनि होती है और न शारीरिक आचरण होता है । अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो आत्म-स्वरूप ही हैं ॥२५५॥

भाषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिश्रकर माहके मार्ग हैं । किन्तु मोहके रहते हुए सच्चा अज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि मोहके बन्धीभूत होकर प्राणी अपने हित-जड़ितका नहीं समझ पाता । जिससे उसे अपनी वासनाकी पूर्ति होती हुई दिखाई देती है उसे ही अपने सुखका साधन समझ बैठता है और जब उसीसे उसकी वासनाकी पूर्ति होती हुई नहीं दिखाई देती तब उसे ही सुखका कारण मान बैठता है । इस तरह मोहके रहते हुए कभी वह सच्चे सुख और उसके साधनोंकी ओर दृष्टि ही नहीं देता । अतः मोहसे मिथ्याअज्ञान ही होता है, सम्यक्अज्ञान नहीं । सम्यक्अज्ञान तो आत्माका गुण है और वह मोहके अभावमें ही प्रकट होता है तथा ज्ञान भी आत्माका ही गुण है, इन्द्रियोंका नहीं । इन्द्रियों का ससार अवस्थामें ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक मात्र हैं । उनके बिना भी असीन्द्रिय वस्तुओंका ज्ञान होता है और उनके रहते हुए भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता । अतः ज्ञान भी इन्द्रियोंका धर्म नहीं है । तथा चारित्र भी शरीरका धर्म नहीं है क्योंकि शरीरसे कुछ न कुछ करते रहनेका नाम चारित्र नहीं है किन्तु कर्मबन्धके कारणभूत सब क्रियाओंका निरोध करना ही सम्यक्चारित्र है । शारीरिक क्रियाएँ तो कर्मके आसवकी कारण हैं । यदि वे क्रियाएँ शुभ होती हैं तो शुभ कर्मका आसव होता है और यदि वे क्रियाएँ अशुभ होती हैं तो अशुभ कर्मका आसव होता है । इसके सिवा यदि शरीरसे अच्छी क्रिया करते हुए भी मन उस ओर न हो और किन्हीं बुरे विचारोंमें रमता हो या शारीरिक क्रिया शुभ होनेपर भी उसका फल शुभ नहीं होता क्योंकि केवल द्रव्यसे यदि उसमें भाव न लगा हो तो कुछ भी काम नहीं सब सकता । अतः चारित्र शरीरका धर्म नहीं है आत्माका धर्म है शरीर का केवल धुमाधरण रूप चारित्रमें सहायक मात्र है । और फिर जब मुक्ति आत्मस्वरूप है तो ये तीनों आत्मस्वरूप ही होने चाहिये । क्योंकि कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्माक सिवा अन्य द्रव्यमें नहीं रहते । अतः रत्नत्रयमय आत्मा ही मोहका कारण है । मुक्तावस्थामें इन्द्रियोंका अभावमें भी स्वाभाविक ज्ञानादिक गुण रहते हैं । यहाँ यह बातका धना आवश्यक है कि जैन सिद्धान्तमें वस्तुका विवेचन दो दृष्टियोंसे होता है एक व्यवहार-दृष्टिसे और दूसरे निरवयव-दृष्टिसे । व्यवहार-दृष्टिको व्यवहारनय कहते हैं और निरवयव-दृष्टिको निरवयवनय कहते हैं । आध्याम अमृतचन्द्रसूरिन अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक ग्रन्थक मारगमें लिखा है कि व्यवहार

१ आत्मनि मोक्षं प्राप्यै पठि ज्ञानं पठिभिरवात् ज्ञानं न भवति । २ मुक्तजीवे मोक्षनीत्य-कर्मजं बन्धिनं किन्तु आत्मबन्धरेव बन्धिनवति । ३ शरीररूपचारित्रं न किन्तु आत्मन्येकजीवीभावचारित्रम् । ४ दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयम् ।

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते ।

परं पाप परं पुण्यं परमं च पदं भवेत् ॥२५४॥

प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं न्लेशभाजनः ।

यो न चित्तप्रचारश्चतस्य मोक्षपदं कुत ॥२५५॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है ॥ जो केवल बाह्य क्रियाओंको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चंचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ २५४--२५५ ॥

भावार्थ—कुछ लोग समझते हैं कि दूसरोको दुःख देनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देनेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है । कुछ समझते हैं कि स्वयं दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है और सुख भोगनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है । किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है । क्योंकि यदि किसीको अच्छे भावोंसे दुःख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्मके बन्धका कारण नहीं होता । जैसे डाक्टर रोगीको नीरोग कर देनेकी भावनासे चीरा लगाता है । रोगीको महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है । फिर भी डाक्टरको चीरा लगाने से पाप कर्मका बन्ध नहीं होता । तथा यदि बुरे भावोंसे किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं होता । जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरीका पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीरको बेचकर वह खूब धन जमा कर सके । वह सुखदान वेश्याके पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं है । इसी तरह स्वयं दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका और सुख उठानेसे पाप कर्मका ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है । क्योंकि बुरे भावोंसे दुःख उठानेपर पाप कर्मका ही बन्ध होता है और अच्छे भावोंसे सुख भोगनेपर भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है । अतः जैन धर्ममें भावकी ही मुख्यता है । भावकी विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्मका बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रियाके अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योंकि एक पूजक भगवान्की पूजा करते समय यदि मनमें बुरे विचारोंका चिन्तन करता है तो उसकी बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मनकी क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता । तथा एक पिता बच्चेकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए उसे मारता है । यहाँ यद्यपि पिताकी बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-भला कहते हैं मगर उसके चित्तमें लड़केके कल्याणकी भावना समायी हुई है । अतः जो केवल बाह्य क्रियाओंके करनेमें ही लगे रहते हैं और मनको उनमें लगानेका प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते । चित्तकी वृत्तियाँ बड़ी चंचल होती हैं और उनके नियमनपर ही सब कुछ निर्भर है । जो आदमी एकान्त स्थानमें व्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसीको दुःख देता है और न किसीको सुख, फिर भी चूँकि उसका मन योगमें न लगाकर भोगकी कल्पनामें रम रहा है अतः वह बैठे-बिठाये पाप कर्मका बन्ध करता है । इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है । उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरकका बन्ध कर सकता है और

पुण्यायापि मयेद् दुःखं पापायापि भयेत्सुखम् ।

। स्वस्मिन्नप्यत्र वा नीतमचिन्त्यं चित्तचेष्टितम् ॥२५२॥

सुखदुःखादिधातुपि भयेत्पापसमाधाय ।

पेटोमप्ययिनिक्षिप्तं धातुः स्याम्मलिन म किम् ॥२५३॥

भाषार्थ—प्रमादके योगसे माणिके पात करनेका हिंसा कहते हैं । जैन धर्मसे अनुसार अपनेसे किसीके माणिके पात हो जाने मात्रसे ही हिंसा नहीं होती । संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमिषसे मरते भी हैं, किन्तु फिर भी उसे जैन धर्म हिंसा नहीं कहता । क्योंकि हिंसा दो प्रकारसे होती है एक कृपायसे बानी जान-बूझकर और दूसरे अजानाचार या असावधानीसे । जब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या क्रोधके बल होकर दूसरोंपर वार करता है तो वह कृपायसे हिंसा कही जाती है और जब मनुष्यकी असावधानतासे किसीका पात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है तो वह अजानाचारसे हिंसा कही जाती है । किन्तु यदि कोई मनुष्य दम-भाँकर कार्य करता है और उस समय उसके चित्तमें कोई कृपाय भी नहीं है फिर भी यदि उसके द्वारा किसीका वध हो जाता है तो वह हिंसा नहीं कहा जाता । जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि जो मनुष्य देस-देसके मार्गमें चक रहा है, उसके पैर उठाने पर यदि कोई बन्दु उसके पैरके नीचे आ जावे और दबकर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा-सा भी पाप नहीं लगता । किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानतासे कार्य कर रहा है और उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हो रही है तब भी वह हिंसाका भागी है । जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि 'जीव मरे या म्रिये, असावधानतासे काम करनेवाले को हिंसाका पाप अवश्य लगता है । किन्तु जो अजानाचारसे कार्य कर रहा है उसे हिंसा हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता' । वास्तवमें हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है । द्रव्य हिंसाको तो केवल इसलिये हिंसा कहा जाता है कि उसका मांसहिंसाके साथ सम्बन्ध है । इसीलिये कहा है कि 'जो ममादी है वह मयम तो अपना ही पात करता है । बाँधको अन्य प्राणियोंका पात हो या न हो ।' अतः जो दूसरोंको कष्ट पहुँचानेका प्रयत्न करता है वह अपने परिणामोंका ही पात करनेका कारण हिंसा है अतः वह पापका भागी है । और जो सावधान और अग्रमादी है वह दूसरेका पात हो जानेपर भी हिंसा नहीं है क्योंकि उसके परिणाम पवित्र हैं । इसीसे पण्डित आशाचरजीने अपने सागरभामृतमें लिखा है—'यदि अन्य और मोक्ष मायिके उत्तर निर्मर न होता तो जीवोंसे भरे हुए इस लोकमें कौन मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता ।'

अपनेको या दूसरेको दुःख देनेसे पुण्य कर्मका भी बन्ध होता है और सुख देनेसे पाप कर्मका भी बन्ध होता है । मगकी चेष्टायें अधिन्त्य हैं । आ सुख और दुःखका अकर्ता है वह भी पापसे क्षिप्त हो जाता है । ठीक ही है क्या सन्तुर्कमें रत्ना दुःखा बन्ध मेला नहीं हो जाता ।

१ 'पापं भुवं परं दुःखं पुण्यं च भुङ्कते यदि । अचेतनाकृपायां च बन्धेयानां निमित्ततः ॥ १२ ॥

पुण्यं भुवं स्वतो दुःखात्पापं च भुङ्कते यदि । नीतरागो मुनिर्निःस्वार्था मुञ्च्यमानिहितः ॥ १३ ॥—
जाप्रीतीमासा । उप कदाचिदुप विचक्षमाचरितं कदाचिन् पलाय मवति तेन एकत्वं नास्ति ।

● इस भाषाके जो शास्त्रकारोंके मत मिले गये हैं उनके लिए सर्वाचष्टिज अ ७ सू ११ की

टीका देखें ।

जीवन्तु वा प्रियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मतः । -

स्वं विशुद्धं मनो हिंसन् हिंसकः पापभाग्भवेत् ॥२५०॥

शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपुः ।

शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसक ॥२५१॥

राग-द्वेषसे युक्त जीव अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादिक रूपसे उसमें प्रवेश करता है । जैनदर्शनमें पुद्गल द्रव्यकी २३ वर्गणाएँ मानी गयी है । उनमेंसे एक कर्मण वर्गणा भी है, जो समस्त मसारमें व्याप्त है । यह कर्मण वर्गणा ही जीवोंके भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है । जीव उनका कर्ता नहीं है, क्योंकि द्रव्य कर्म पौद्गलिक है, पुद्गल द्रव्यके विकार हैं । उनका कर्ता चेतन जीव कैसे हो सकता है ? चेतनका कर्म चैतन्य रूप होता है और अचेतनका कर्म अचेतन रूप । यदि चेतनका कर्म भी अचेतन रूप होने लगे तो चेतन और अचेतनका भेद मिट जानेसे महान् सकर दोष उपस्थित हो । अतः प्रत्येक द्रव्य स्वभावका कर्ता है, परभावका कर्ता नहीं है । जैसे जल स्वभावसे शीतल होता है, किन्तु आगपर रखनेसे उष्ण हो जाता है । यहाँपर उष्णताका कर्ता जलको नहीं कहा जा सकता । उष्णता तो अग्निका धर्म है, वह जलमें अग्निके सम्बन्धसे आयी है, अतः आगन्तुक है, अग्निका सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है । इसी प्रकार जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर जो पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत होते हैं उनका कर्ता स्वयं पुद्गल ही है, जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता । जीव तो अपने भावोंका कर्ता है । जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजारसे कार्यवश जाता हो और कोई सुन्दरी उसपर मोहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसमें पुरुषका क्या कर्तृत्व है ? कर्त्री तो वह स्त्री है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमात्र है । वैसे ही जीव तो अपने रागद्वेषादि रूप भावोंका कर्ता है । किन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं । तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गल द्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्तको पाकर जीव भी रागादि रूप परिणमन करता है । यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तथापि न तो जीव पुद्गल कर्मोंके गुणोंका कर्ता है और न पुद्गल कर्म जीवके गुणोंका कर्ता है । किन्तु परस्परमें दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं । अतः आत्मा अपने भावोंका ही कर्ता है [इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीव अपने-अपने कर्मके उदयसे जीते और मरते हैं तो जो मारनेमें निमित्त होता है उसे हिंसाका पाप क्यों लगता है, अतः इसका समाधान करते हैं]

ये प्राणी अपने कर्मके उदयसे जीवें या मरें, किन्तु अपने विशुद्ध मनकी हिंसा करने वाला हिंसक है और इसलिए वह पापका भागी है । जो शुद्ध मार्गमें प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन और शरीर शुद्ध है, तथा जिसकी अन्तरात्मा भी शुद्ध है वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है ॥ २५०-२५१ ॥

१ 'मरुदु व जीवदु जीवो अयदाषाग्म निच्छिदा हिमा । पयदग्म णत्थि वधो हिमामेत्तेण समिदग्म ॥'

२ अशुद्ध मन कुर्वन् पुनान् हिमको भवति । 'स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् । पूर्वं प्राप्यन्तराणां तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः' ॥—महर्षिनिदि ७-१३ में उद्धृत ।

आत्मा कर्म न कर्मात्मा संयोगैर्ग्रहत्वम्भरेम् ।
 तद्वैश्वमेय तदा सत्ता वार्त्ता व्योमेय केवलम् ॥२४६॥
 वक्ष्येऽग्रे कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि ।
 मोक्षमम्यु स्वता किन्तु तदोपर्य वक्षिषंश्चयम् ॥२४७॥
 आत्मा कर्ता स्वपर्याये कर्म कर्तुं स्वपर्याये ।
 मिथो न जातु कर्तृत्वमपरजोपचरत ॥२४८॥
 स्वतः सर्वं स्वभावेषु सक्रिय सधराचरम् ।
 निमित्तमात्रमप्यत्र योगैरेरिय साविणि ॥२४९॥

उसके प्रतिस्मय असंख्यातगुणी कर्म निर्बरा होती है अनेक मनुष्योंका बन्ध रुक जाता है और अनेकोंके स्थिति अनुमागका हास या क्षय हो जाता है । सभी तो प्रथमापन्नम सम्बन्धनके साथ साथ स्वस्वपाचरण चारित्र भी बल्लभा है जोकि शुद्धात्मानुभवका अभिमानावी है । और शुद्धात्मानुभव सम्बन्धनके बिना नहीं होता । अतः भेद-दृष्टिके कारण जो सम्बन्धन व्यवहार सम्बन्धन कहा जाता है उसमें भी आत्मविनिश्चिति, आत्मानुभव और आत्मस्थिति रहती ही है । किन्तु चारित्रमोहनीय आविके कारण उनमें स्थिरता न आ सकनेसे वे तीनों एक आत्मरूप नहीं हो पाते ।

[अब आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कैसा है यह स्पष्ट करते हैं—]

न आत्मा कर्म है और न कर्म आत्मा है; क्योंकि दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है । अतः मुख्यवस्थामें केवल आत्मा ही रहता है और वह शुद्ध आकाशकी तरह है ॥२४६॥

आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कम उसके क्लेशका कारण है । जैसे बल स्वयं गरम नहीं होता; किन्तु जागके सम्बन्धसे उसमें गरमी आ जाती है ॥२४७॥

आत्मा अपनी पर्यायका कृता है और कर्म अपनी पर्यायका कर्ता है । उपचारके सिवा दोनों परस्परमें एक दूसरेके कृता नहीं हैं । अर्थात् उपचारसे आत्माको कर्मका और कर्मको आत्माका कृता कहा जाता है परन्तु वास्तवमें दोनों अपनी-अपनी पर्यायको ही कर्ता हैं । समस्त चराचर विश्व स्वयं अपने स्वभावका कृता है दूसरे ता उसमें निमित्त मात्र हैं । जैसे अग्नि स्वयं बहनेकी शक्ति है, किन्तु माही उसका बहनेमें निमित्त मात्र है ॥२४८-२४९॥

भाषार्थ—आत्मा और कर्म ये दोनों वा स्वतन्त्र पदार्थ हैं । आत्मा चेतन है और कर्म अचेतन । अतः न चेतन अङ्ग हो सकता है और न अङ्ग चेतन हो सकता है । किन्तु दोनों पदार्थोंमें एक वैभाविकी नामकी शक्ति है । इस वैभाविकी शक्तिके कारण परका निमित्त मिलनपर बन्धुका विभावस्वरूप परिणमन होता है । इसीसे अनादि कालसे जो बन्ध कर्मोंसे बंधा हुआ है । अब

१ आत्मरमणीः । २ महान् भेदः । ३ तत्कारणात् । ४ तद्वैश्वमेय—अ ज । ५ वाक्वादीवैश्वमेय । ६ अतः इतनी वैश्वमात्मा उमेव (?) मनीषा अर्थात् एव निश्चयः । ७ किञ्चिद्विपर्य—आ । ८ परापरभावबन्धोः कृतृत्वं न कर्तात्वात् व्यवहारान् अप्यत्र परस्परं कृतृत्वं अर्थात् न न निश्चयः । ९ आत्मभावान् वरीत्यामा परभावान् नरा परः । आत्मीय प्रारम्भो जायते परस्व पर एव ते ॥२५१॥ —नामधेयः १४१ । ७ अलम्बनमर्थः ।

यहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते ।

परं पाप परं पुण्य परम च पदं भवेत् ॥२५४॥

प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं फलेशभाजनः ।

यो न चित्तप्रचारश्चस्तस्य मोक्षपदं कुत ॥२५५॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है ॥ जो केवल बाह्य क्रियाओंको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चंचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ २५४-२५५ ॥

भावार्थ—कुछ लोग समझते हैं कि दूसरोंको दुःख देनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देनेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है । कुछ समझते हैं कि स्वयं दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है और सुख भोगनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है । किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है । क्योंकि यदि किसीको अच्छे भावोंसे दुःख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्मके बन्धका कारण नहीं होता । जैसे डाक्टर रोगीको नीरोग कर देनेकी भावनासे चीरा लगाता है । रोगीको महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है । फिर भी डाक्टरको चीरा लगाने से पाप कर्मका बन्ध नहीं होता । तथा यदि बुरे भावोंसे किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं होता । जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरीका पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीरको बेचकर वह खूब धन जमा कर सके । वह सुखदान वेश्याके पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं है । इसी तरह स्वयं दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका और सुख उठानेसे पाप कर्मका ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है । क्योंकि बुरे भावोंसे दुःख उठानेपर पाप कर्मका ही बन्ध होता है और अच्छे भावोंसे सुख भोगनेपर भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है । अतः जैन धर्ममें भावकी ही मुख्यता है । भावकी विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्मका बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रियाके अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योंकि एक पूजक भगवान्की पूजा करते समय यदि मनमें बुरे विचारोंका चिन्तन करता है तो उसकी बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मनकी क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता । तथा एक पिता बच्चेकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए उसे मारता है । यहाँ यद्यपि पिताकी बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-भला कहते हैं मगर उसके चित्तमें लड़केके कल्याणकी भावना समायी हुई है । अतः जो केवल बाह्य क्रियाओंके करनेमें ही लगे रहते हैं और मनको उनमें लगानेका प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते । चित्तकी वृत्तियों बड़ी चंचल होती हैं और उनके नियमनपर ही सब कुछ निर्भर है । जो आदमी एकान्त स्थानमें ध्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसीको दुःख देता है और न किसीको सुख, फिर भी चूँकि उसका मन योगमें न लगाकर भोगकी कल्पनामें रम रहा है अतः वह बैठे-बिठाये पाप कर्मका बन्ध करता है । इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है । उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरकका बन्ध कर सकता है और

पुण्यायापि भवेद् दुःख पापायापि भवेत्सुखम् ।
 । स्वस्तिमन्त्रम्यत्र वा मीतमचिन्त्यं चित्तचेष्टितम् ॥२५२॥
 सुखदुःखादिधातापि भवेत्पापसमाधाय ।
 पेटीमम्यदिनिश्चितं वासाः स्यान्मलिनं न किम् ॥२५३॥

भाषार्थ—प्रमादके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं। जैन धर्मके अनुसार अपनेसे किसीके प्राणोंका घात हो जाने मात्रसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं, किन्तु फिर भी उसे जैन धर्म हिंसा नहीं कहता। क्योंकि हिंसा दो प्रकारसे होती है एक कृपायसे यानी जान-बूझकर और दूसरे अयत्नाचार वा असावधानीसे। अब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभके वश होकर दूसरोंपर हार करता है तो वह कृपायसे हिंसा कही जाती है और अब मनुष्यकी असावधानतासे किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है तो वह अयत्नाचारसे हिंसा कही जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य देव-माकर कार्य करता है और उस समय उसके चित्तमें कोई कृपाय भी नहीं है फिर भी यदि उसके द्वारा किसीका वध हो जाता है तो वह हिंसक नहीं कहा जाता। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि जो मनुष्य देव-देवत्वके मार्गमें चला रहा है, उसके पैर उठाने पर यदि कोई मनुष्य उसके पैरके नीचे आ जावे और दबकर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका बोझा-सा भी पाप नहीं लगता। किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानतासे कार्य कर रहा है और उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हो रही है तब भी वह हिंसाका भागी है। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि 'जीव मरे या जिये, असावधानतासे काम करनेवालों को हिंसाका पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो अयत्नाचारसे कार्य कर रहा है उसे हिंसा हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता'। वास्तवमें हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। द्रव्य हिंसाको तो केवल इसलिये हिंसा कहा जाता है कि उसका मावर्हिषाके साथ सम्बन्ध है। इसीलिये कहा है कि 'जो ममादी है वह मयम तो अपना ही घात करता है। बादको अन्य प्राणिमोंका घात हो या न हो।' अतः जो दूसरोंको कष्ट पहुँचानेका प्रयत्न करता है वह अपने परिणामोंका ही घात करनेके कारण हिंसक है अतः वह पापका भागी है। और जो सावधान और अप्रमादी है वह दूसरेका घात हो जानेपर भी हिंसक नहीं है क्योंकि उसके परिणाम पवित्र हैं। इसीसे पण्डित आचार्यजीने अपने सागरब्रह्ममृतमें लिखा है—यदि कन्ध और मोक्ष मावर्हिष ऊपर निर्भर न होता तो जीवोंसे मरे हुए इस लोकमें कौन मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता।'।

अपनेको या दूसरेको दुःख देनेसे पुण्य कर्मका भी बन्ध होता है और सुख देनेसे पाप कर्मका भी बन्ध होता है। मनकी चेष्टायें अनिश्चय हैं। जो सुख और दुःखका वक्ता है वह भी पापसे छिन्न हो जाता है। ठीक ही है क्या सन्धूकमें रखा हुआ वस्त्र मेका नहीं हो जाता।

१. पापं दुर्घं परे दुःखात् पुण्यं न सुखतो यदि । अचेतनाकृपायां न ज्ञेय्यायात् त्रियित्तत् ॥ २९ ॥
 पुण्यं दुर्घं स्वतो दुःखात्पापं न सुखतो यदि । नीतरागी मुक्तिविज्ञास्याया युष्मन्नाप्रतिष्ठत् ॥ २९ ॥—
 आप्तमीमांसा । उप-कदाचिद्वि तद्वि विद्वत्प्रमाणितं कदाचित् पापाय क्वचित् तेन एकान्तं नास्ति ।

७. इस भाषार्थमें जो वास्तवकारोंके मत विवेचने के लिये सचार्थसिद्धि के ७ ॥ ११ की टीका देखें ।

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते ।

परं पापं परं पुण्यं परमं च पदं भवेत् ॥२५४॥

प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः ।

यो न चित्तप्रचारश्चस्तस्य मोक्षपदं कुत ॥२५५॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है ॥ जो केवल बाह्य क्रियाओंको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चंचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ २५४--२५५ ॥

भाचार्य—कुछ लोग समझते हैं कि दूसरोको दुःख देनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देनेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है । कुछ समझते हैं कि स्वयं दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है और सुख भोगनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है । किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है । क्योंकि यदि किसीको अच्छे भावोंसे दुःख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्मके बन्धका कारण नहीं होता । जैसे डाक्टर रोगीको नीरोग कर देनेकी भावनासे चीरा लगाता है । रोगीको महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है । फिर भी डाक्टरको चीरा लगाने से पाप कर्मका बन्ध नहीं होता । तथा यदि बुरे भावोंसे किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं होता । जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरीका पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीरको बेचकर वह खूब धन जमा कर सके । वह सुखदान वेश्याके पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं है । इसी तरह स्वयं दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका और सुख उठानेसे पाप कर्मका ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है । क्योंकि बुरे भावोंसे दुःख उठानेपर पाप कर्मका ही बन्ध होता है और अच्छे भावोंसे सुख भोगनेपर भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है । अतः जैन धर्ममें भावकी ही मुख्यता है । भावकी विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्मका बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रियाके अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योंकि एक पूजक भगवान्की पूजा करते समय यदि मनमें बुरे विचारोंका चिन्तन करता है तो उसकी बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मनकी क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता । तथा एक पिता बच्चेकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए उसे मारता है । यहाँ यद्यपि पिताकी बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-मला कहते हैं मगर उसके चित्तमें लड़केके कल्याणकी भावना समायी हुई है । अतः जो केवल बाह्य क्रियाओंके करनेमें ही लगे रहते हैं और मनको उनमें लगानेका प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते । चित्तकी वृत्तियाँ बड़ी चंचल होती हैं और उनके नियमनपर ही सब कुछ निर्भर है । जो आदमी एकान्त स्थानमें ध्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसीको दुःख देता है और न किसीको सुख, फिर भी चूँकि उसका मन योगमें न लगकर भोगकी कल्पनामें रम रहा है अतः वह बैठे-बिठाये पाप कर्मका बन्ध करता है । इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है । उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरकका बन्ध कर सकता है और

यस्मान्नाति यथायस्य वस्तुसर्वस्वमज्ञाता ।
 तृतीयं लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥२५६॥
 यद्विषयानुपाधस्य तस्यास्तु कृतचेतसः ।
 प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्गं हिताहितविषयेष्वमात् ॥२५७॥
 मतिर्ज्ञागतिं हरेऽयं हरेऽहरे तयागमा ।
 गतो न पुनर्भवं तस्य यदि निर्मलस्तेर ममा ॥२५८॥
 यद्यर्थं कर्मिणेऽपि स्याज्जन्तोः संतर्पसा मतिः ।
 ज्ञानमासोकयसस्य वृथा रथिरिपोरिष ॥२५९॥
 ज्ञातुरेष स बोधोऽयं यद्वाधेऽपि यस्तुनि ।
 मतिर्विपर्ययं घटे यथेन्द्री मन्त्रैश्चक्षुषा ॥२६०॥

उसीको क्षुम विचारमें लगाकर उत्कृष्ट पुण्यका कन्ध कर सकता है । तथा उसीका क्षुम बौद्धक्षुम दोनोंसे हटाकर शुद्धोपयोग में लगा देनेसे भास्व प्राप्त कर सकता है । अतः जिसके विद्वत्त्व की सम्प्रसारक उन्हींके नियन्त्रणका प्रबल करते रहना चाहिए तभी बाध क्रियाएँ भी फलदायी हो सकती हैं ।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

[अथ सम्यग्ज्ञानका स्वरूप बतलाते हैं—]

जो सब वस्तुओंको टीक रीतिसे जैसाका-तैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं । यह सम्यग्ज्ञान मनुष्योंका तीसरा नख है ॥ जैसे जन्मसे अन्ये मनुष्यको समझी ऊँची-नीची बपहको बतलाकर उसे चकने और रुकनेमें मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहितका विभजन करके चमत्तमा पुरुषको हितकारक कार्योंमें लगाता है और अहित करनेवाले कामोंसे रोकता है ॥२५६-२५७॥

मत्तिज्ञान तो इन्द्रियोंके विषयमूल पदार्थोंका ही ज्ञानता है । किन्तु ध्याम्य इन्द्रियोंके विषयमूल और अतीन्द्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान कराता है । अतः यदि ज्ञाताका मन ईषा, द्वेष आदि दुर्भावोंसे रहित है तो उस तत्त्वका ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है ॥२५८॥

यदि तत्त्वका ज्ञान केनेपर भी मनुष्यकी बुद्धि अचञ्चलमें रहती है तो जैसे उल्लूके स्त्रिय प्रकाश स्पष्ट होता है वैसे ही उस मनुष्यका ज्ञान भी स्पष्ट है ॥ साफ स्पष्ट बन्तुमें भी बुद्धिका विपरीत होना आसक्त ही दापकी बतलाता है । जैसे चन्द्रमाके विषयमें काच कामसादि रोगसे ग्रस्त नेत्रवाले मनुष्यको विपरीत ज्ञान होता है—एक-दो चन्द्रमा दिखाने देते हैं । यह ज्ञाताकी ही सराबी है चन्द्रमाकी मही ॥२५९-२६०॥

मापार्थ—जा वस्तु जिस रूपमें है उसका वैसा आमतो सम्यग्ज्ञान है । सम्यग्ज्ञानका फल ही यह है कि यह हित और अहितका ज्ञान कराकर ज्ञाताको हितमें लगाय और अहितमें बचावे । किन्तु यदि काह सम्यग्ज्ञानसे बन्तुको जानकर भी उसकी उपेक्षा करता है तो यह

१. सर्ववस्तुसम्पत्तम् । २. पदार्थ । ३. मायामयदृश्यम् । ४. मतिः । ५. चन्द्रमयेव । 'यदर्थं हितानेऽपि स्याज्जन्तोऽपि मतिः' । बुद्धिः प्रमादवान् तस्य वृथा रथिरिपोरिष ॥ ७५ ॥—प्रवाचनार ।
 ६. तथा मन्त्रैश्चक्षुषा ॥ ७६ ॥—विन वा चक्षुषा यद्यपि ।

ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत् ।
अन्यत्र केवलज्ञानात्तत्प्रत्येकमनेकधा ॥२६१॥

ज्ञानका दोष नहीं है किन्तु जाननेवालेका दोष है । असलमे ज्ञान दो कारणोंसे मिथ्या होता है एक बहिरङ्ग कारणमे और दूसरे अन्तरङ्ग कारणसे । आँखोंमें खराबी होने या अन्धकार होनेसे जो कुछका-कुछ दिखायी दे जाता है वह बहिरङ्ग कारणोंकी खराबी या कमीसे होता है । किन्तु बहिरङ्ग कारणोंके ठीक होते हुए भी और वस्तुको जैसाका-तैसा जाननेपर भी अन्तरङ्गमे मिथ्यात्वका उदय होनेसे भी ज्ञाताका ज्ञान मिथ्या होता है । जैसे नगीली वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यका मस्तिष्क विकृत हो जाता है और उसकी आँखें खुली होने तथा प्रकाश वगैरहके होनेपर भी वह कुछका-कुछ जानता है । वैसे ही मिथ्यात्वका उदय होते हुए ज्ञानी मनुष्यका चित्त भी आत्म-कल्याणकी ओर न झुककर राग-रगकी ओर ही झुकता है । जो वस्तुएँ उसे रुचती हैं उनसे वह राग करता है और जो वस्तुएँ उसे नहीं रुचती उनसे द्वेष करता है । चूँकि वह ज्ञानी है इस लिए जब वह वस्तुस्वरूपका विवेचन करने खडा होता है तो यथावत् विवेचन कर जाता है । किन्तु जब स्वयं उन वस्तुओंमें प्रवृत्ति करता है तो उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेषके रगमें रगी होती है । एक ही मनुष्यका यह दो तरहका व्यवहार इस बातको सूचित करता है कि यह ज्ञानकी खराबी नहीं है, वह तो अपना काम कर चुका । उसका काम तो इतना ही है कि वस्तुका जैसाका-तैसा ज्ञान करा दे सो वह करा चुका । किन्तु ज्ञातामें जो खराबी है वह खराबी ही ज्ञानके किये-कराये पर मिट्टी फेर देती है । उसीके कारण वह जानते हुए भी नहीं जानता और देखते हुए भी नहीं देखता । अतः ज्ञान वास्तवमें तभी सम्यग्ज्ञान होता है जब ज्ञातामें-से मिथ्यात्व बुद्धि दूर हो जाये । जैसे नशेके दूर होते ही मनुष्यकी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं और वह हल्कापन तथा जागरूकताका अनुभव करता है । वैसे ही मिथ्यात्वका नशा दूर होते ही मनुष्यका वही ज्ञान कुछका-कुछ हो जाता है और तब वह वस्तुके यथावत् स्वरूपका अनुभव करता है वही अनुभव सम्यग्ज्ञान है ।

ज्ञानके भेद

सामान्यसे ज्ञान एक है । प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे वह दो प्रकारका है । तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका है । केवलज्ञानके सिवा अन्य चार ज्ञानोंमें-से प्रत्येकके अनेक भेद हैं ॥२६१॥

भावार्थ—जो जाने उसे ज्ञान कहते हैं । इस अपेक्षासे सभी ज्ञान एक है क्योंकि सभी जानते हैं । किन्तु यह जानना भी अपने-अपने कारणोंकी अपेक्षासे तथा विषयकी स्पष्टता या अस्पष्टताकी अपेक्षासे अनेक प्रकारका हो जाता है । जो ज्ञान इन्द्रिय वगैरहकी सहायताके बिना केवल आत्मासे ही होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । ऐसे ज्ञान तीन हैं—अवधि, मन पर्यय और केवल । तथा जो ज्ञान इन्द्रिय, मन वगैरहकी सहायतासे होता है उसे परोक्ष कहते हैं । ऐसे ज्ञान दो हैं—मति और श्रुत । जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है । मति ज्ञानके भी चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । अवग्रहके दो भेद हैं—व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह । प्राप्त अर्थके प्रथम ग्रहणको व्यजनावग्रह और प्राप्त तथा अप्राप्त अर्थके प्रथम

ग्रहणका अभावग्रह कहते हैं। ना पदार्थ इन्द्रियोसे सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह मास अर्थ है और जो पदार्थ इन्द्रियोसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अपास अर्थ है। अतः और मन अपास अर्थका ही जानते हैं। शेष चार इन्द्रियों मास और अपास दोनों प्रकारके पदार्थोंका जानती हैं। मास अर्थमें व्यञ्जनावग्रहके मास अथाग्रह होता है और अपास अर्थमें व्यञ्जनावग्रह न होकर अभावग्रह ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध हाते ही आत्म्य ज्ञान होता है उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। और व्यञ्जनावग्रहक मास आ स्पष्ट ज्ञान होता है कि 'यह शब्द है' उसे अर्थाग्रह कहते हैं। जैसे मिट्टीक कोरे सकारेपर उसके दा-चार छीटे देनेसे वह गीला नहीं होता किन्तु बार-बार बूँद टपकाते रहनेसे धीरे धीरे वह गीला हो जाता है। वैसे ही शब्द भी काममें एक बार जानेसे ही स्पष्ट नहीं हो जाता किन्तु बार-बार स्पष्ट होता है। अतः अर्थाग्रह से पहले व्यञ्जनावग्रह होता है। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थमें विशेष जाननेकी इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे शब्द सुननेपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि यह शब्द किसका है ? निष्पत्त्यात्मक ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। जैसे यह शब्द अमुक पक्षीका है। और कालान्तरमें न मूँछनेका कारण जो संस्काररूप ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं। जिसके कारण कुछ काकक बाद भी यह स्मरण होता है कि मैंने अमुक पक्षीका शब्द सुना था। इस प्रकार बूँक व्यञ्जनावग्रह केवल चार इन्द्रियोसे ही होता है इस विषय उत्तक चार भेद हैं। तथा अर्थाग्रह, ईहा, अवग्रह और धारणा पाँचों इन्द्रियों और मनस होते हैं। इस विषय उनके चौबीस भेद हुए। ये सब मिलाकर मतिज्ञानके अष्टाईस भेद हाते हैं। तथा ये अष्टाईस मतिज्ञान बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं। इसविषय मतिज्ञानक तीन-सौ छठीस भेद हो जाते हैं। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका अवलम्बन लेकर जो विशेष ज्ञान होता है उसे भुत्तज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अमक्षरात्मक। आत्रेन्द्रियके सिवा शेष चार इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो भुत्तज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक भुत्तज्ञान कहते हैं और आत्रेन्द्रियजन्य मति ज्ञानपूर्वक जो भुत्तज्ञान होता है उसे अमक्षरात्मक भुत्तज्ञान कहते हैं। इन भुत्तज्ञानोंके अन्तः-पश्चमकी अपेक्षा बीस भेद और हैं। तथा अन्तःकी अपेक्षा भुत्तज्ञानक दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। तीसह अंगबाह्यकी विषयभक्तिको सुनकर गणधरदेव उसका अवधारण करके जो आचाराज आदि बारह अंग रचते हैं वे अंगप्रविष्ट कह जाते हैं। और काम दोपसे मनुष्योंकी वायु तथा मुक्ति कम होती हुई देखकर आचार्य गौरह जो अन्त रचते हैं उन्हें अंगबाह्य कहते हैं। इस तरह अन्तारत्मक भुत्तके बारह और भौवह भेद हैं। प्रप्य, क्षेत्र फाल और भावकी मर्यादा लेकर मूर्तिक पदार्थको प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। यद्यपि दोनों ही प्रकारके अवधिज्ञान अवधि ज्ञानाधारण क्रमके क्षयोपशमक होनेपर ही हाते हैं। फिर भी जो क्षयोपशम भक्के निमित्तसे होता है उससे जाने वाला अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं और जो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे होता है उससे जानेवाले अवधिज्ञानको गुणप्रत्यय कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंक हाता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तियाओंके होता है। विषय आदिकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके देखावधि, परमावधि और सभावधि ये तीन भेद किये जाते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देखावधि रूप ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों रूप होता है। उक्त

अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मिति ।
 चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसश्रयम् ॥२६२॥
 देशतः प्रथमं तत्स्यात्सर्वतस्तु द्वितीयकम् ।
 चारित्रं चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥२६३॥
 देशतः सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् ।
 स्वर्गापवर्गयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥२६४॥
 तुण्डकण्डूहर शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे नरे ।
 ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्मगाभरणोपमम् ॥२६५॥

देशावधि परमावधि और सर्वावधि, सयमी मनुष्यके ही होते हैं। मति श्रुत और अवधि विपरीत भी होते हैं और उन्हें कुमति, कुश्रुत और कुअवधि, या विभङ्ग कहते हैं। अपने या दूसरोके मनमें स्थित अर्थको जो बिना किसी अन्यकी सहायताके प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान सयमी पुरुषोंके ही होता है। उसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। जो सरल मनके द्वारा विचारे गये, सरल वचनके द्वारा कहे गये और सरल कायके द्वारा किये गये मनोगत अर्थको जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्यय कहते हैं। जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही चिन्तन करना, वैसा ही कहना और वैसा ही करना, सरल मन, सरल वचन और सरल काय है। सरल मन, वचन कायके द्वारा अथवा कुटिल मन वचन कायके द्वारा विचारे गये, कहे गये या किये गये मनोगत अर्थको जो प्रत्यक्ष जानता है उसे विपुल मति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। जो बिना किसी अन्यकी सहायताके आत्मासे ही सचराचर विश्वको एक साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान अर्हन्त अवस्थाके साथ ही प्रकट होता है। इसका कोई भेद नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान पूर्ण है।

सम्यक्चारित्रका स्वरूप तथा भेद

दुरे कामोंसे वचना और अच्छे कामोंमें लगना चारित्र है। वह चारित्र गृहस्थ और मुनि के भेदसे दो प्रकारका है। गृहस्थोंका चारित्र देशचारित्र कहा जाता है और मुनियोंका चारित्र सकल चारित्र कहा जाता है। जिनके चित्त सद्विचारोंसे युक्त हैं वे ही चारित्रका पालन कर सकते हैं। जिस मनुष्यमें स्वर्ग और मोक्षमेंसे किसीको भी प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नहीं है वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सकलचारित्र ही पाल सकता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है उसका शास्त्र वाचन मुखकी खाज मिटानेका एक साधनमात्र है। और जो मनुष्य ज्ञानसे रहित है उसका चारित्र धारण करना अभागे मनुष्यके आभूषण धारण करनेके समान है ॥२६२-२६५॥

भाचार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके शास्त्राभ्यास—ज्ञानार्जन व्यर्थ है और बिना ज्ञानके चारित्रका पालन करना व्यर्थ है।

१ 'असुहादो विणिवित्ति सुहे पवत्ती य जाण चारित्त' ।—द्रव्यसंग्रह । २ सकल विकल चरण तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् । अनगाराणा विकल सागाराणा ससङ्गानाम् ॥ ५० ॥—'रत्नकरण्ड श्रा० । ३ स्वर्गमोक्ष-योर्मध्ये यस्य जीवस्य एकस्यापि योग्यता न भवति, तस्य अणुव्रत महाव्रत च न भवति । 'अणुवय-महव्वयाइ' न लहइ देवाउअ मोत्तु ॥ २०१ ॥—पञ्चसंग्रह पृ० ४२ । ४ मुखवर्जन । ५ रहिते ।

ग्रहणका अभावग्रह कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियोमें सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है और जो पदार्थ इन्द्रियोसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। यशु और मन अप्राप्त अर्थको ही जानते हैं। छप चार इन्द्रियों प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानती हैं। प्राप्त अवयवमें व्यञ्जनावग्रहके बाद अभावग्रह होता है और अप्राप्त अर्थमें व्यञ्जनावग्रह न होकर अभावग्रह ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध हात ही जा अस्पष्ट ज्ञान होता है उस व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। और व्यञ्जनावग्रहके बाद आ स्पष्ट ज्ञान होता है कि 'यह छप्प है' उसे अर्थभावग्रह कहते हैं। जैसे मिट्टीके कोरे सकारेपर उसक दो चार छीटे देनेसे वह गीला नहीं होता किन्तु बार-बार बूँद टपकाते रहनेसे धीरे-धीरे वह गीला हो जाता है। वैसे ही शब्द भी ज्ञानमें एक बार जानेसे ही स्पष्ट नहीं हो जाता किन्तु धीरे-धीरे स्पष्ट होता है। अतः अभावग्रह से पहले व्यञ्जनावग्रह होता है। अवयवग्रह द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थमें विषय जाननेकी इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे छप्प सुननेपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि यह शब्द किसका है? निष्कर्षात्मक ज्ञानका अभाव कहते हैं। जैसे यह शब्द अमुक पक्षीका है। और कालान्तरमें न मूलनेका कारण जो स्फकाररूप ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं। जिसके कारण कुछ कालके बाद भी यह स्मरण होता है कि मैंने अमुक पक्षीका शब्द सुना था। इस प्रकार श्रुति व्यञ्जनावग्रह केवल चार इन्द्रियोसे ही होता है इस लिये उसके चार भेद हैं। तथा अर्थभावग्रह, ईहा, अभाव और धारणा पाँचों इन्द्रियों और मनसे होते हैं। इस लिये उनके चौरास भेद हुए। ये सब मित्यकर मतिज्ञानके अङ्गहिस भेद होते हैं। तथा ये अङ्गहिस मतिज्ञान बहु जादि बारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं। इसलिये मतिज्ञानक तीन-सौ छठीस भेद हो जाते हैं। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका अवलम्बन लेकर जो विषय ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। आधेन्द्रियके सिवा छप चार इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक या श्रुतज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और आधेन्द्रियजन्य मति ज्ञानपूर्वक या श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। इन श्रुतज्ञानाके अंगो-पञ्चमकी अपेक्षा बीस भेद और हैं। तथा ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतज्ञानके दस भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। तीर्थहर भगवान्की विम्बध्वनिका सुनकर गणधरदेव उसका अवधारण करके जो व्याचाराङ्ग आदि बारह अंग रचते हैं वे अंगप्रविष्ट कहे जाते हैं। और फल दोपसे मनुष्योंकी जायु तथा बुद्धि कम होती हुई वेलकर व्याचाराङ्ग वगैरह या ग्रन्थ रचते हैं उन्हें अंगबाह्य कहते हैं। इस तरह ग्रन्थात्मक श्रुतके बारह और चौदह भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और साक्षी मर्यादा लेकर मूर्तिक पदार्थको मन्त्रज्ञाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। इसका दस भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। यद्यपि दोनों ही प्रकारके अवधिज्ञान अवधि प्राप्तावरण करनेके क्षमोपक्षमक होनेपर ही होते हैं। फिर भी जो क्षमोपक्षम सबके निमित्तसे होता है उससे होने वाले अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं और जो क्षमोपक्षम सम्प्रदान जादि गुणोंके निमित्तसे होता है उससे होनेवाले अवधिज्ञानको गुणप्रत्यय कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारदियोंका होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और सिन्धुओंके होता है। विषय आदि की अपेक्षासे अवधिज्ञानके देखावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद किये जाते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देखावधि रूप ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों रूप होता है। उक्त

णात् । तत्र—

मद्यमासमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
 अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥२७०॥
 सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मतः^१ ।
 सर्वेषा पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥२७१॥
 हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् ।
 कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥२७२॥
 मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवा ।
 इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥२७३॥
 समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकंश किल ।
 मद्यीर्भवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥२७४॥

मूल गुण और उत्तर गुणके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ।

अष्ट मूल गुण

आगममें पाँच उदुम्बर और मद्य, मास तथा मधुका त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोंके बतलाये हैं ॥२७०॥

शराबकी बुराईयाँ

मद्य अर्थात् शराब महा मोहको करनेवाला है । सब बुराईयोंका मूल है और सब पापों का अगुआ है ॥२७१॥ इसके पीनेसे मनुष्यको हित और अहितका ज्ञान नहीं रहता । और हित-अहितका ज्ञान न रहनेसे प्राणी संसाररूपी जगलमें भटकानेवाला कौन पाप नहीं करते ? ॥२७२॥

सब लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीनेके कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलनेके कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥२७३॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके कालके द्वारा प्राणियोंका मन मोहित करनेके लिए मद्यका रूप धारण करते हैं ॥२७४॥ मद्यकी एक बूँदमें

१ त्यागा सहोदुम्बरपञ्चक , अ० ज० मु० । त्याग सहोदुम्बरपञ्चकै —सागारधर्माभूत पृ० ४०
 'मद्यमासमधुत्यागं महानुव्रतपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणा श्रमणोत्तमा ॥६६॥ —रत्नकरण्ड० ।

हिमासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च वादरभेदात् ।

द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा ॥ —महापुराण (?)

मद्य माम क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यस्तेन ।

हिंसाव्युपरतिकर्माभिमोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥ —पुरुषार्थनि० ।

मद्यमाममधुरात्रिमोजन क्षीरवृक्षफलवर्जन त्रिवा ।

कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुण्यति निपेविते व्रतम् ॥१॥—अमित० श्रावका० ।

त्याज्य माम च मद्यञ्च मधूदुम्बरपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणा प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वका ॥२३॥ —पद्म० पञ्चविं०, पृ० १९६ ।

२—मते—अ० ज० मु० । ३ मत्वा । ४ बहुवारम् । ५ मद्ये भवन्ति—सागारधर्मा० पृ० ४२ ।

पात् । तत्र—

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
 अग्रावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥२७०॥
 सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मतः^१ ।
 सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥२७१॥
 हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् ।
 कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥२७२॥
 मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवा^२ ।
 इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥२७३॥
 समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल ।
 मद्यीर्भवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥२७४॥

मूल गुण और उत्तर गुणके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ।

अष्ट मूल गुण

आगममें पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधुका त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोंके बतलाये हैं ॥२७०॥

शराबकी बुराईयाँ

मद्य अर्थात् शराब महा मोहको करनेवाला है । सब बुराईयोंका मूल है और सब पापों का अगुआ है ॥२७१॥ इसके पीनेसे मनुष्यको हित और अहितका ज्ञान नहीं रहता । और हित-अहितका ज्ञान न रहनेसे प्राणी ससाररूपी जगलमें भटकानेवाला कौन पाप नहीं करते ? ॥२७२॥ सब लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीनेके कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलनेके कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥२७३॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके कालके द्वारा प्राणियोंका मन मोहित करनेके लिए मद्यका रूप धारण करते हैं ॥२७४॥ मद्यकी एक बूँदमें

१ त्यागा सहोदुम्बरपञ्चक, अ० ज० मु० । त्यागी सहोदुम्बरपञ्चकै —सागारधर्मांस्त पृ० ४०

‘मद्यमांसमधुत्यागं महाणुव्रतपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणा ध्रमणोत्तमा ॥६६॥ —रत्नकरण्ड० ।

हिमासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च वादरभेदात् ।

द्यूतान्मासान्मद्याद्विरनिर्गृहिणोऽष्ट मन्त्यमी मूलगुणा ॥ —महापुराण (?)

मद्य मांस क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।

हिमाव्युपरतिकामैर्मोक्त्वाव्यानि प्रथममेव ॥६१॥ —पुरुषार्थसि० ।

मद्यमांसमधुरात्रिभोजन क्षीरवृक्षफलवर्जन त्रिवा ।

कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधाम्स्तत्र पुण्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥—अमित० धावका० ।

त्याज्य मान च मद्यञ्च मन्त्रोदुम्बरपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणा प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वका ॥२३॥ —पद्म० पञ्चविं०, पृ० १९६ ।

२ —मते —अ० ज० मु० । ३ मत्वा । ४ बहुवारम् । ५ मद्ये भवन्ति— सागावर्मां पृ० ४२ ।

मधैकविंशुसपन्ना प्राणिनः प्रचरन्ति चेत् ।

पूरयेयुर्न सविहं समस्तमपि विप्रपम् ॥२७॥

मनोमोहस्य हेतुत्वाधिवातस्याद्य दुर्गते ।

मधं सद्भिः सत्वा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥२७॥

भूयतामत्र मधप्रवृत्तिदोषस्योपाख्यामम्—तदुर्वीश्वरासौर्वगर्भीर्वाभौलाहूतीमृताहि
ताम्ययनक्रावेकचक्रात्पुरादेकपाद्याम परिमाजको आहवीजछेपु मस्तनाय मज्जन्तिजम्भापा-
परिप्राशद्वातिमुन्दमवाग्धगन्धसिन्धुरोमुदधिपौणविदार्थमाणमेदिनीहृदये विम्याटपीनिये
प्रकटमीडयौयनासघास्यावपुनदककार्यम्भरोपानप्रसूतासराक्षयिहासप्रहितामिर्महितामि सहा
पक्षोपदंशयस्मं कक्ष्यमासेयमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितं सन् सीधुसं-
बन्धधिपुर्धीसहैमातङ्गैरुपदध्य असौ किलैवमुक्तः—‘स्वया मधर्मासमहितासु मधेऽप्यत
मसमागमः कर्तव्यः, अन्यथा जीवद्य पश्यसि मन्वाकिनीम्’ इति । सोऽप्येवमुक्तेऽस्ति सत्त्व-
पप्रमितस्यापि हि पिशितस्य प्राग्ने स्मृतिषु महावृत्तयो विपक्षयः भूयन्ते । मातङ्गिन्ते

इतने बीब रहते हैं कि यदि वे फेलें तो समस्त जगत्में भर जायें। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं
है ॥२७॥ जत चुँकि मधपानसे मन हित अहितक विचारसे शुन्य हो जाता है और वह दुर्गति का
कारण है, इसलिये इस जोक और परजोकेमें बुराहयोको पैदा करनेवाक मधका सज्जन पुरुषोंको
सदाक लिये त्याग करना चाहिये ॥२७॥

६ मधपायी एकपात संन्यासीकी कथा

मधपानके दोषोंके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

एकपात नामका एक संन्यासी गंगास्तान करनेक लिये एकचक्र नामके नगरसे चला । मार्ग
में वह विघ्याटबीसे गुजरा । वहाँ मीछोंका एक बड़ा भारी झुण्ड बीबन मदके साथ घराब पीकर
मस्त हुए विकासिनी लकणियोंके साथ मांस और सुराका सेवन कर रहा था । वह संन्यासी उस
झुण्डमें जा पहुँचा । घराबके नष्टमें मस्त हुए मीछोंने उसे पकड़ लिया और उससे बोले—‘तुम
मध, मांस और बीमै-से किसी एकका सेवन करना होगा, नहीं तो तू जीते बी गंगाका दर्शन
नहीं कर सकता ।

वह सुनकर छापसी सोचने लगा—‘स्मृतियोंमें एक किन्तु या सरसों बराबर भी मांस खाने
पर बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका आना सुना जाता है । भिल्लनीके साथ सम्बन्ध करनेपर प्रायश्चित्त

१ मनोमोहस्य निशानरताद् मधपानम् । ॥२७॥—‘दोषमृत् ॥—प्रबोधसारम् उद्धृत ।

मधं मोहयति मनो मोहिनिचित्तनु विस्मरति धर्मम् ।

विस्मृतधर्मा बीभो हिंसावविघादुमाचरति ॥२८॥

रमजाना च बहूना जीवाना मोहिरिप्यने मधम् ।

मधं भजतां तेषां हिंसां युक्तावतैश्चरन् ॥२९॥—गुरुपाणिनि ।

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मधपायाद् भ्रान्ते चित्ते पापकर्मागुपिनि ।

पार्थ इत्था दुर्द्विजं ब्रान्तिं यूक्तास्तरमागच्छं नैव वेद्यं न वेद्यम् ॥—गुणाधिनरत्नमाग्रापार पृ १४८।९

२ मत् ॥ ३ बह्वानन ॥ ४ मत् ॥ ५ दन्त ॥ ६ मध ॥ ७ मांसपाकमहितम् ।

८ मत् ॥ ९ विषमयतिबुधैः । १० मत् ॥ ११ मत् ॥ १२ मत् ॥ १३ मत् ॥ १४ मत् ॥ १५ मत् ॥ १६ मत् ॥ १७ मत् ॥ १८ मत् ॥ १९ मत् ॥ २० मत् ॥ २१ मत् ॥ २२ मत् ॥ २३ मत् ॥ २४ मत् ॥ २५ मत् ॥ २६ मत् ॥ २७ मत् ॥ २८ मत् ॥ २९ मत् ॥ ३० मत् ॥

च मृतिनिकेतनं प्रायश्चेतनम् । य एवंविधा सुरां पिवति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखशिखामणौ सौत्रामणौ मदिरास्वादाभिसंधिरनुमतविधिरस्ति । यैश्च पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैर्वस्तुकायैः सुरा संधीयते नान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येवेति चिरं चेतसि विचार्यानार्यविचारविधानं कृतमद्यपानस्तन्माहात्म्यात्समाविर्भूतमनोमहामोहः कौपीनमपहाय हारहूरव्यवहारातिलङ्घितमातङ्गिकागीतानुगतकरतालिकाविडम्बनावसरो ग्रहगृहीतशरीर इवानीतानेकविकारः पुनर्वुभुक्षाशुशुक्षिणीक्षीणकुक्षिकुहरस्तरंसमपि भक्षितवान् । प्रादुर्भवद्दुःसहोद्रेकमदनो मातङ्गो कामिर्तवान् ।

भवति चात्र श्लोकः—

हेतुशुद्धे ध्रुतेर्चाक्यात्पीतमद्य किलैकपात् ।

मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानस ॥२७७॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः ।

श्रूयतां मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्—अशेषविद्यावैशारद्यमदमत्तमनीपि^१ भक्तालि-
कुलकेलि^२ कमलनाभ्या^३ चलभ्यां पुरि^४ खात्रचरित्रशील^५ करवालः, कपाटोद्घाटनपटुर्वटुः,

लेना पडता है जो मृत्युका घर है । किन्तु समस्त यज्ञोंके सिरमौर सौत्रामणि नामके यज्ञमें शराव पीनेकी अनुमति है, और लिखा है कि जो इस विधिसे मदिरापान करता है, उसका मदिरापान मदिरापान नहीं है । तथा पीठी, जल, गुड, धतूरा आदि जिन वस्तुओंसे शराव बनती है वे भी शुद्ध ही होती हैं ।^१ ऐसा चिरकाल तक मनमें विचार कर उसने शराव पी ली । उसके पीते ही उसका मन चंचल हो उठा । नगमें मस्त होकर उसने अपनी लगोटी खोल डाली । और शराव पीकर मत्त हुई भिल्लनियोंके गीतके साथ तालियाँ बजा-बजा कर कूदने लगा । उस समय उसकी दशा ऐसी हो गयी मानो उसके शरीरमें कोई भूत घुस गया है । उसने अनेक विकृत चेष्टाएँ कीं और फिर भूखसे पीड़ित होकर मांस भी खा लिया । उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने भिल्लनीको भी भोगा ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

“मद्यको उत्पन्न करने वाली वस्तुओंके शुद्ध होनेसे तथा वेदमें लिखा होनेसे मूढ़ एकपातने मद्य पी लिया और फिर उसने मांस भी खाया और भिल्लनीको भी भोगा” ॥२७७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मद्यके दोष बतलानेवाला चाईसवों कल्प समाप्त हुआ ।

१० मद्यव्रती धूर्तिल नामक चोरकी कथा

अब मद्य त्यागके लाभके सम्बन्धमें कथा सुनें—

वलभी नगरीमें पाँच चोर रहते थे । उनमेंसे करवाल नामका चोर मकानोंमें सेंध लगाने में कुशल था । वटु दरवाजा खोलनेमें कुशल था । धूर्तिल महानिद्रा बुलानेमें कुशल था । शारद

१ मरणलक्षणमेव । २ प्रायश्चित्तम् । ३ निष्पाद्यते । ४ निषान आ० । ५ मद्यपान । ६ अग्नि । ७ मांसम् । ८ सेवितवानित्यर्थः । ९ चातुर्यम् । १० मनीपिण एव मत्तभ्रमरा । ११ क्रीडा । १२ मद्यकोशसदृशायाम् । १३ चौरकर्म । १४ नाम ।

महामिद्रासपादनकुशलो भूतिस्तः, परमोपायितप्रविण्णदशविशारदः शारदः, करैरपनागम-
विलासः कृकिलासश्चेति पञ्च मल्लिम्बुषाः प्रतिपद्यपरस्परप्रीतिप्रपञ्चाः स्वम्पयसाय
साहसाम्पत्तीभ्यश्चरीरार्थवासिनीं भयानीमपि मुहुन्मृद्व्याभयधियं भियमपि कात्या
यनीशोचमासञ्जनमञ्जनमपि हर्तुं समर्थाः, पश्यतोहराणामपि पश्यतोहराः, कृतान्तदूतामामपि
कृतान्तदूताः, कदाचिदेकस्यां निशि चेत्सालोपं ययति देवे कञ्जलपटलकालकायप्रतिष्ठासु
सकलासु काष्ठासु विहितपुरसारोपहाराः पुरबाहिरिकोपयनं धनं यिमञ्जन्तस्तत्रैव
ममैवमिति विधत्मानाः कम्बलमपहाय समोनायितमैरयाः पामगोष्ठीमनुतिष्ठन्तः पूर्वा
हितकलाहकोपोम्मेपकस्तुपधियणाः यथायदि मुपामुष्टिं च युञ्ज विधाय सर्वेऽपि मन्त्रुरण्यत्र
भूतिस्तात् ।

स किल यथाह शंभसम्मय महामुनिविशोकनात्तस्मिन्नहन्त्येकं मतं गृह्णाति । तत्र
अ दिने तद्दे शंनादासयमतमग्रीत् । तदनु भूतिस्तः समानग्रीलेषु कश्यपस्या विनाशः केत्या
मारमसममपुपयुज्यं विरज्याज्जजं पादसुखबीजात्पाटये च मनोज्ञकुञ्जजटाजालनिवेशनिष
केत्यापरा विरज्या (१) परजं हितजैत्राय समीहांचके ।

छियाये हुए भनका त्थान लोब निफालनेमें कुशल था । और कृकिलस ठा बिचामें निपुल था ।
पौचोंमें परस्परमें बढ़ी प्रीति थी । और अपने उधम और साहससे वे शिवक वर्षाजमें निवास
करनेवाली पार्वतीको, विष्णुके हृदयमें बसनेवाली लक्ष्मीको और दुर्गाकी आँसोंमें लगे खंजनको
भी बुरायेमें समर्थ थे । वे चोरोके भी चोर थे और यमराजके दूतोंके छिप भी यमराजके
दूत थे ।

एक बार रासमें जन ओरसे वर्षा हो रही थी और दिखाएँ कज्जकी तरह काँझी थी, वे
चोर चोरी करके नगरसे बाहर एक उद्यानमें भनका बटवारा करते थे । और यह मेरा है यह
तेरा है कहकर परस्परमें झगड़ रहे थे । झगड़ा बन्द करके उन्होंने शराब बुझवायी और पीने
लगे । झगड़के कारण उनके मनमें क्रोध तो समाया ही हुआ था, शराब पीकर वे परस्परमें मुझा
मुझी और कट्ट-कट्ट करने लगे और भूतिस्तके सिवा सब मर गये । भूतिस्तके यह निमन था कि
यदि उसे किसी दिन किसी महामुनिके दशन होते थे तो उस दिनके छिप वह एक जठर लेता
था । उस दिन भी उसे महामुनिके दशन हुए थे और उसने शराबका जठर ले लिया था । इसी
से वह बच गया ।

उक्त घटनाके बाद शराबके कारण अपने साथियोंका निवास हुआ देखकर भूतिस्त
दु लोके मूढ़ इस ससारसे विरक्त हो गया और कामदेवरूपी बुराकी जटायोंक समान
बाजोंका झेन करके परलोकमें अहितको भीतनेवाले रत्नत्रयकी प्राप्तिका इच्छुक हो गया ।

१ - देवनिषधवि-अ । २ उग्रविद्या । ३ नीरा । ४ चेत्तत्रोप-आ । ५ हृष्य
बरीरखीमासु । ६ विद्यासु । ७ इव्य । ८ युञ्जम् । ९ बन्धेन केनचित् कृत्वा जालाधितमजा ।
१ मन्त्रपात्रात् पूर्व इष्ट- । ११ यस्मिन् दिने मुनयो मिलन्ति तद्दिने नित्यं शर्तं गृह्णाति । १२ मुनि ।
१३ मरणावस्थाम् । १४ कृष्टा । १५ संसारम् । १६ जलाटनं इत्या । १७ चिरं दीर्घकालं
प्राप्तिवानित्यर्थः (?) । १८ परलोकापपुत्रावयनधीसाय ।

भवति चात्र श्लोक —

एकस्मिन्वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिलः किल ।

एतद्वोपात्सहायेषु मृतेष्वार्षदनापदम् ॥ २७८ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः ।

स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं ^१दुरास्पदम् ।

सन्तोऽदन्ति ^२कथं मांसं विपात्रे दुर्गतिप्रदम् ॥ २७९ ॥

कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यदि चात्मन ।

हन्यमानविधिर्न स्यादन्यथा वा न जीवनम् ॥ २८० ॥

धर्माच्छर्मभुजां धर्मे किन्तु द्वेषकारणम् ।

प्रार्थितार्थप्रदं द्वेष्टुं ^३को नामामरपादपम् ॥ २८१ ॥

अल्पात्मलेशात्सुखं सुष्ठु सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति ।

^४आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ २८२ ॥

^५स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः ।

यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः ॥ २८३ ॥

उक्त कथाके सम्बन्धमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है—

“जब कि मद्यपानके दोषसे अन्य साथी चोर मर गये तब एक दिनके लिए शराबका त्याग कर देनेसे धूर्तिल चोर बच गया” ॥२७८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मद्यत्यागके गुणोंको बतलानेवाला तेईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

मांस निषेध

मांस स्वभावसे ही अपवित्र है, दुर्गन्धसे भरा है, दूसरोंकी जान ले-लेनेपर तैयार होता है, तथा कसाईके घर-जैसे दुस्थानसे प्राप्त होता है । ऐसे मांसको भले आदमी कैसे खाते है? ॥२७९॥ यदि जिस पशुको मांसके लिए हम मारते है, दूसरे जन्ममें वह हमें न मारे या मांसके बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी नहीं करने योग्य पशु-हत्या भले ही करे । किन्तु ऐसी बात नहीं है । मांसके बिना भी मनुष्योंका जीवन चलता ही है ॥२८०॥

धर्मसे सुख भोगनेवाले न जाने धर्मसे द्वेष क्यों करते है ? इच्छित वस्तुको देनेवाले कल्पवृक्षसे कौन द्वेष करता है ॥२८१॥ यदि बुद्धिमान् पुरुष थोड़ेसे कष्टसे अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगे उन कामोंको दूसरोंके प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए ॥२८२॥

जो दूसरोंका घात न करके सुखका सेवन करता है वह इस जन्ममें भी सुख भोगता है और दूसरे जन्ममें भी सुख भोगता है ॥२८३॥ [धर्मरत्नाकरके पाठके अनुसार दूसरा अर्थ यह भी

१ प्राप्तवान् । २ दुस्थाने गूनाकारगृहे लभ्यम् । ३ भक्षयन्ति । ४ यथा पशुर्हन्त तथा पशुचाञ्चेत्स पशु तस्य हिंसकस्य न हिनन्ति, अथवा चेन्माम विनाञ्ज्यः कोऽपि जीवनोपायो नास्ति चेदन्नफलादिकं वर्तते तर्हि मांसं कथं भक्षयते । ५ को द्वेष करोतु । ६ श्रूयता धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधारयेत् । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥—महाभारत । ७ य परानुपघातेन सुखसेवापरायणः । स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः ॥—धर्मरत्नाकर, पृ० ७८ ।

स पुमाश्चतु लोकेऽस्मिन्नुपके पुंसवञ्जितः ।

यस्तवात्पुस्तुखासङ्गाम् मुह्येद्यमकर्मणि ॥ २८४ ॥

स भूमाः परं प्राणी जीयन्तपि मृतम् सः ।

यो न धर्मापेक्षामेषु भवेन्न्येसमाश्रयः ॥ २८५ ॥

हो सकता है कि] 'जो दूसरोंके घातके द्वारा सुख भोगनेमें लस्य रहता है वह वर्तमानमें सुख भोगते हुए भी दूसरे क्षणमें दुःख भोगता है ।' [जागेके श्लोकको धेम्ते हुए यही अर्थ विद्युत उचित प्रतीत होता है] ॥ जो मनुष्य तात्कालिक सुखोपभोगमें आसक्त होकर धर्म-कर्ममें मूढ़ नहीं हो जाता अर्थात् धर्म-कर्म करता रहता है, वह इस लोकमें और परलोकमें दुःख नहीं उठता ॥ २८४ ॥

भाषार्थ—धर्मका मतलब केवल पूजा-पाठ कर लेना मात्र ही नहीं है, किन्तु अपने प्रति-दिनके आचरणमें सुधार करना भी है । और वह सुधार है, ऐसे काम न करना जिनसे दूसरोंको कष्ट पहुँचता हो । मांस भक्षण एक ऐसी आवृत्त है जो दूसरे प्राणियोंकी जान लिये बिना व्यवहार में नहीं लयी जा सकती, क्योंकि बिना किसी प्राणीकी जान लिये मांस मिल ही नहीं सकता । जब जरासे भीमक स्वादके लिए किसी प्राणीकी मृत्युका कारण बनना किसी भी सम्प्रसार आत्मी का काम नहीं है । हमारी यदि जरा-सी खाल भी उचट जाती है तो कितनी वेदना होती है । फिर कसाईकी छुरीसे जिसे काट्य जाता है, उसको तकलीफका तो कहना ही क्या है ? मनुष्य जानता है कि बुराईका फल बुरा है और मलाईका फल मका है । फिर भी वह अपने स्वार्थके लिए बुराई करनेपर उतरा हो जाता है । वह स्वयं तो चाहता है कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, मेरी कोई जान न लें मेरे बच्चोंको कोई न सताये, मेरी स्त्री, बहन और बेटीका कोई बुरी निगाहसे देखे भी नहीं, मेरा माछ-मछा कोई बुराये-नहीं । किन्तु स्वयं वह दूसरोंकी जानका प्रादुर्भाव न करता है, दूसरोंकी बहू-बेटियोंको देखकर बाबाजों कसता है और मोक्ष मिच्छते ही दूसरोंका माछ इक्षुप्त कर जाता है । ऐसी स्थितिमें उसका यह चाहना कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, कैसे ठीक कहा जा सकता है । इसी बुराईको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि सोइसे कहसे खूब सुख भोगना चाहते हो तो उसका एक सीधा उपाय यह है कि जो व्यवहार सुख अपने लिए अनुचित समझते हो उसे दूसरोंके साथ भी मत करो । जनेक मनुष्य सुखमें ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें धीन-दुनियाकी सुख ही नहीं रहती । फिर वे अपने सामने किसीको कुछ समझते ही नहीं । ऐसे मग्न मनुष्य जीते जी मरे ही सुख मांगें किन्तु मरनेपर उनकी दुर्गति हुए बिना नहीं रहती । क्योंकि कहावत है कि जब तक तरे पुण्यभ्र नहीं आता है छोर । जबगुन तरे माफ़ हैं कर कं झल करे । पुण्यका अन्त जानपर उसकी भी बड़ी दुर्गति होगी जो वह आज दूसरोंकी करता है । जब ग्रन्थकार कहते हैं कि जरासे सुख में मग्न होकर उस धर्म-कर्मको मत मूछो जिसका फल सुखके रूपमें भोग रहे हो ।

जो मनुष्य धर्म, अथ और काममें-से एकका भी पालन नहीं करता, वह पृथ्वीका मार है

१ त्रिपु मध्ये एकस्यापि आश्रयो न भवेत् ।

स भूमाः परं प्राणी जीयन्तपि मृतम् सः ।

'स भूमाः परं प्राणी जीयन्तपि मृतम् सः ।

यो न धर्मापेक्षामेषु भवेन्न्येसमाश्रयः ॥ २८५ ॥—प्रवीणसार

स मूर्खः स जडः सोऽजः स पशुश्च पशोरपि ।
 योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्द्धीः ॥ २८६ ॥
 स विद्वान्स महाप्राज्ञः स धीमान्स च पण्डितः ।
 यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥ २८७ ॥
 तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहित मुहुः ।
 अन्यमांसैः स्वमांसस्य कथं वृद्धिविधायिनः ॥ २८८ ॥
 यत्परत्र करोतीह सुखं वा दुःखमेव वा ।
 वृद्धये धनवद्दत्तं स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥ २८९ ॥
 मद्यमांसमधुप्रायं कर्म धर्माय चेन्मतम् ।
 अधर्मः कोऽपरः किं वा भवेद् दुर्गतिदायकम् ॥ २९० ॥
 स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
 तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ २९१ ॥
 स्वकीयं जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् ।
 तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥ २९२ ॥

और जीते हुए भी मृत है ॥२८५॥ तथा जो धर्मका फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करनेमें आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड है, अज्ञानी है और पशुसे भी गया बीता है ॥२८६॥ और जो न स्वयं अधर्म करता है और न दूसरोंसे अधर्म कराता है वह विद्वान् है, बड़ा समझदार है, बुद्धिमान् है और पण्डित है ॥२८७॥ जो अपना हित चाहते हैं और अहितसे बचते हैं वे दूसरोंके मांससे अपने मांसकी वृद्धि कैसे करते हैं ॥२८८॥ जैसे दूसरेको दिया हुआ धन कालान्तरमें व्याज के बढ़ जानेसे अपनेको अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरेको जो सुख या दुःख देता है, वह सुख या दुःख कालान्तरमें उसे अधिक होकर मिलता है । अर्थात् सुख देनेसे अधिक सुख मिलता है और दुःख देनेसे अधिक दुःख मिलता है ॥२८९॥ यदि मद्य, मांस और मधुका सेवन करना धर्म है तो फिर अधर्म क्या है और कौन दुर्गतिका कारण है ? ॥२९०॥ धर्म वही है जिसमें अधर्म नहीं है । सुख वही है जिसमें दुःख नहीं है । ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं है और गति वही है जहाँसे लौटकर आना नहीं है ॥२९१॥

जिस प्रकार सभी प्राणियोंको अपना जीवन प्रिय है उसी तरह दूसरोंको भी अपना जीवन प्रिय है । इस लिए हिंसाको छोड़ देना चाहिए ॥२९२॥

१. भुञ्जन् । 'स विद्वान् स महामान्य स धीमान् तत्त्वबोधनः ।

योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति तत्परः ॥१७॥'—प्रबोधसार ।

२ 'यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ।

विश्वत्रयशिरोरत्नं तं पुमान् विदुर्वृधा ॥१८॥'—प्रबोधसार ।

'यः स्वतो । स एव विदुषामाद्यो विपरीतं चरन् जडः ॥४॥'—धर्मरत्न, पृ० ७८ उ ।

३ 'मद्यमांसमधुप्रायं यदि धर्माय सम्मतम् । माघनं तर्हि पापस्य हृतं नास्तीह भूतले ॥२१॥'—प्रबोधसार ।

४ यह श्लोक आत्मानुशासनक (४६वां श्लोक) है ।

५ प्राणा ययात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।

आत्मीपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति माघव ॥२३६॥—सुभाषितरत्न० पृ० २५२ ।

इष्टो ययात्मनो देहं मन्त्रेणा प्राणिना तथा ।

एव ज्ञात्वा मदा कार्या दया सर्वसुधारिणाम् ॥१८६॥—पद्मपुराण १४ पर्व ।

जीवयोगाधिरोपेण मयमेपादिकाययत् ।

मुद्रगमापादिकायोऽपि मांसमित्यपरे अगु ॥३००॥

तदयुक्तम् । तथा—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेत् वा मांसम् ।

वदन्ति चो गृध्रो गृधस्तु भवेत् वा निम्बः ॥३०१॥

किं च—

द्विजाण्डमनिहस्तृणा यथा पापं विशिष्यते ।

जीवयोगाधिरोपेऽपि तथा फलपक्षाशिनाम् ॥३०२॥

स्त्रीस्थपेयस्थसामान्यादारेयारिवकीकृताम् ।

एव यात्री चक्षुर्मेघं मद्यमातृसमागमे ॥३०३॥

शुद्धं शुद्धं न गोमांसं यस्तुयैविष्यमीदृशम् ।

विष्यन् रत्नमौह्येयं विषं च विषदे यतः ॥३०४॥

मझे ही कहलायें किन्तु इसकी परवाह न करें । आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आपकी बातकी कदर करने लगेगी । किन्तु यदि आप ही अपना बिस्वास ला बैठेंगे और क्षण-भरकी बाह्याहीमें बह जायेंगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरोंका हित कर सकेंगे । मधु भी मध और मांसका ही भाई है । कुछ लोग वायुनिक ढंगसे निकाल जानेवाले मधुको साध बल्यते हैं । किन्तु ढंगके बदलने मात्रसे मधु साध नहीं हो सकता । खासिरका तो वह मधु-भक्षिष्योंका उगास ही है ।

मांस, और अन्न, दूध बगैरहमें अन्तर

कुछ लोगोंका कहना है कि मूंग, उड़द बगैरहमें और अंड मेढ़ा बगैरहमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे अंड, मेढ़ा बगैरहके शरीरमें जीव रहता है वैसे ही मूंग उड़द बगैरहमें भी जीव रहता है । दोनों ही जीवके शरीर हैं । अतः जीवका शरीर होनेसे मूंग उड़द बगैरह भी मांस ही हैं ॥३००॥ किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि मांस जीवका शरीर है वह ठीक है । किन्तु आ जीवका शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता । जैसे, नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता ॥३०१॥ तथा—

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनोंमें जीव है फिर भी पक्षीको मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारने में अधिक पाप है । वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मांस भी जीवका शरीर है, किन्तु फल खानेवालेकी अपेक्षा मांस खानेवालेकी अधिक पाप होता है ॥३०२॥ तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीवका शरीर होनेसे बराबर हैं उसके बिम्ब फली और माता दोनों की होनेसे समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होनेसे समान है । अतः जैसे वह पानी और फलीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग क्यों नहीं करता ? ॥३०३॥

गोका दूध शुद्ध है किन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है । वस्तुका वैविध्य ही इस प्रकार है । देखो साँपकी मण्डि बिष दूर होता है किन्तु साँपका बिष मृत्युका कारण है ॥३०४॥

१ अष्ट । 'जीवयोगाधिरोपेण यन्मेपादिकाययत्'—अर्थात् गु ८ च । २ मातरं वायुनिभं मधं वारिभं ईदृशम् । प्राण्यङ्गुलाधिकारोऽपि धीव्यं मांसं न वाचिकं । जीव्या स्त्रीरत्नाधिकारोऽपि वर्णवर्धनं नाभिका ॥१॥ —आचार्यमृत २ आ । ३ अहं सर्वस्यैवं रत्नम् । ज्येष्ठाधीना यथा देव न भूषादि स्वभावतः । विद्यापहमदे रत्नं विष तु मृत्तिकायनम् ॥३०॥—प्रबोधसार ।

अथवा—

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विषद्रोरौषुपे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥

अपि च—

शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि ।
जिह्वाचक्षुर्हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥३०६॥
विधिश्चेत्केवलं शुद्धयै द्विजैः सर्वं निषेव्यताम् ।
शुद्धयै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥३०७॥
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिः शुद्धता ।
यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत ॥३०८॥
तच्छाक्यसांख्यचार्वकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हार्तव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥३०९॥
यस्तु लौल्येन मांसांशी धर्मधीः स द्विपातकः ।
परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नरः ॥३१०॥

अथवा, मास और दूधका एक कारण होनेपर भी मास छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे कारम्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्युका कारण होती है ॥३०५॥ और भी कहते हैं—

मास भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मासमें दोष है, घी में नहीं। जैसे ब्राह्मणोंमें जीभसे गरावका स्पर्श करनेमें दोष है पैरमें लगानेपर नहीं ॥३०६॥

यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं। और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥३०७॥ अतः द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है। क्योंकि सैकड़ों संस्कार करनेपर भी गूढ़ ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ३०८ ॥ इस लिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और जैनोंके मतोंकी परवाह न करके मासका त्याग कर देना चाहिए ॥३०९॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मास भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है। एक तो वह मास खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥३१०॥

१ विषतरो आयुर्निमित्तं पत्रं स्यात् । “पयः पेयं पलं हेयं समे सत्यपि साधने । विषद्रोरौषुपे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥” —प्रबोधसार । “ग्राह्यं दुग्धं पलं नैव वस्तुनो गतिरीदृशी । विषद्रो पत्रमारोग्य-कृन्मूलं मृत्तकृद् भवेत् ॥४२॥” —धर्मसं० । २. द्वयोर्ममसर्पिषो निमित्तं शरीरमेव । “शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि । घेनुदेहसुतं मूत्रं न पुनः पयसा समम् ॥३१॥” —प्रबोधसार । ३ संप्रोक्षणं यज्ञादिश्चेत् शुद्धयै भवति । ४ योग्यमयोग्यञ्च । ५. अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्धं वर्तते । ६ त्याज्यम् । ७ मासभक्षकः । ८ तस्य पातकद्वयं भवति । ९ सह । ‘यस्तु मासादिलौल्येन धर्मं धर्मेति भाषते । मासास्वादाद्विवेर्ध्वसात् स स्यात्पापद्वयाश्रयः ॥४०॥’ —प्रबोधसार । ‘पापी हास्य लभेतासी मासलौल्येन धर्मधी । परदार विवातेव मात्रा सार्द्धं नराधमः ॥४१॥ प्रबोधसार ।

मांसोन्निषु दद्या मांसि न सत्य मद्यपायिषु ।
 ज्ञानैशस्य न मर्त्येषु मधुसुम्बरसेविषु ॥२६३॥
 मक्षिकागर्भसमूतबालाण्डधिनिपीडनात् ।
 जातं मधु कथं सम्यक् सवन्ते कललावृत्ति ॥२६४॥
 उक्लान्ताभेकनाभेऽस्मिन्धण्डजाण्डकलण्डयत् ।
 कुतो मधु मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम् ॥२६५॥
 आश्वत्थोपुष्पम्बरपक्षान्यधोधाविफलोप्यपि ।
 प्रत्यक्षा प्राप्तिनः स्फूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥२६६॥
 मद्याविस्त्राविगोहेषु पानमर्घ्यं च नाधरेत् ।
 तद्मम्रादिसंपर्कं न कुर्यात् कदाचन ॥२६७॥

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती । जो सराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते ।
 और जो मधु और उदुम्बर फलोंका भक्षण करते हैं उनमें रहम नहीं होता ॥२९३॥

मधुके दोष

मधु मक्खियोंके अण्डोंके निचोड़नेसे पैदा हुए मधुका, जो रब और बीर्यके मिश्रणके समान है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? ॥२९४॥ मधुका छत्ता व्याकुल शिशुके गर्भकी तरह है और अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले अन्तुओंके छोटे-छाटे अण्डोंके दुकड़ोंके जैसा है । भीठ कोपी बगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं । उनमें माधुर्य कहाँसे आया ? ॥२९५॥

उदुम्बरफलकी बुराईयाँ

पीपल, उदुम्बर वैसे अन्तुफळ भी कहते हैं, पाकर और बट बूस बगैरहके फलोंमें म्यूठ अन्तु रहते हैं जो प्रत्यक्ष दिमायी देते हैं । इनके सिवा सूक्ष्म अन्तु भी उनमें पाये जाते हैं जो शान्त्रिके द्वारा जाने आ सकते हैं ॥२९६॥

मद्यादिकका सेवन करनेवालोंसे बचो

मद्य मांस बगैरहका सेवन करनेवाले लोगोंके घरोंमें स्नान-पान भी नहीं करना चाहिए । तथा उनके बरतनोंको कभी भी काममें नहीं लाना चाहिए ॥२९७॥ जो मनुष्य मद्य आदिक

१ मांसमदन्तीत्यत्र शीमास्तेषु मनुष्येषु । २ दद्यामुत्तमम् ।

वर्ममाधो न मर्त्येषु मर्त्योऽसुररसेविषु ॥—श्रोतृपण्डित उद्भुत ।

‘पञ्चमुद्रा दद्या मांसि न सतीर्षं मद्यपानम् च । उदुम्बरानिषु शोको न धर्मं नीक्ष्यरो ननु ॥१४॥

—वयस आ ५ ११८ ।

३ गीहवृ—अ० ३ । पतिशालवमनुचवृ । ४ आधुपम् ।

५ मोदिदुम्बरपुष्पं प्लवग्यवाधिरिप्लवग्यनि ।

तमरीशानां तम्पातेषां मद्यपात्रे शिवा ॥३२॥—पुनर्गर्पणि ।

उदुम्बरमद्यस्या वरुणे विविपायनगाः । तथैव बहूनां न्यावरा नवपोदिना ॥३३॥

—श्रोतृपण्डित ।

६ मद्यमनवपुष्पवाणा मेट्टे । ७ तेषां भाजनादित्यमम् । अवादिशवाद्यमदेव वाममर्त्यं नु नन्देत् । ८ पुनः १४ विपायनग्यवाधिरिप्लवग्यनि ॥३४॥—श्रोतृपण्डित ।

कुर्वन्नैवतिभिः सार्धं संसर्गं भोजनादिषु ।

प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥२६८॥

दृतिप्रायेषु पानीयं स्नेह च कुर्तुं पादिषु ।

व्रतस्यो वर्जयेन्नित्यं योपितश्चावतोचिताः ॥२६९॥

सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ खान-पान करता है उसकी यहाँ निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥२६८॥ व्रती पुरुषको चमड़ेकी मशकका पानी, चमड़ेके कुप्पोंमें रखा हुआ घी, तेल और मद्य, मास आदिका सेवन करनेवाली स्त्रियोंको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए ॥२६९॥

भाचार्थ—छोटीसे-छोटी बुराईसे बचनेके लिए बड़ी सावधानी रखनी होती है। फिर आज तो मद्य, मासका इतना प्रचार बढ़ता जाता है कि उच्च कुलीन पढ़े-लिखे लोग भी उनसे परहेज नहीं रखते। अँग्रेजी सभ्यताके साथ अँग्रेजी खान-पान भी भारतमें बढ़ता जाता है। और अँग्रेजी खान-पानकी जान मद्य और मास ही है। प्रायः जो लोग शाकाहारी होते हैं उनका भोजन भी रेल्वे वगैरहमें मासाहारियोंके भोजनके साथ ही पकाया जाता है। उसीमें-से मासको बचाकर शाकाहारियोंको खिला देते हैं। जो लोग पार्टियों वगैरहमें शरीक होते हैं उनमेंसे कोई-कोई सभ्यताके विरुद्ध समझकर जो कुछ मिल जाता है उसे ही खा आते हैं। इस तरह सगतिके दोषसे बचे-खुचे शाकाहारी भी मासादिकके स्वादसे नहीं बच पाते और ऐसा करते-करते उनमें से कोई-कोई मासाहार करने लग जाते हैं। अँग्रेजी दवाइयोंका तो कहना ही क्या है, उनमें भी मद्य वगैरहका सम्मिश्रण रहता है। पौष्टिक औषधियाँ और तथोक्त विटामिनोको न जाने किन-किन पशु-पक्षियों और जलचर जीवों तकके अवयवों और तेलोंसे बनाया जाता है। फिर भी सब खुशी-खुशी उनका सेवन करते हैं। ओवल्टीन नामके पौष्टिक खाद्यमें अण्डे डाले जाते हैं फिर भी जैन-धरानों तकमें उसका सेवन छोटे और बड़े करते हैं। यह सब सगति दोषका ही कुफल है। उसीके कारण बुरी चीजोंसे घृणाका भाव घटता जाता है और धीरे-धीरे उनके प्रति लोगोंकी अरुचि टूटती जाती है। इन्हीं बुराईयोंसे बचनेके लिए आचार्योंने ऐसे स्त्री-पुरुषोंके साथ गेटी-वेटी व्यवहारका निषेध किया है जो मद्यादिकका सेवन करते हैं। जैनाचारको बनाये रखने के लिए और अहिंसाधर्मको जीवित रखनेके लिए यह आवश्यक है कि जैनधर्मका पालन करने वाले कमसे-कम अपने खान-पानमें दृढ़ बने रहें। यदि उन्होंने भी देखा-देखी शुरू की ओर वे भी भोग-विलासके गुलाम बन गये तो दुनियाको फिर अहिंसा-धर्मका सन्देश कौन देगा? कौन दुनियाको बतायेगा कि शराबका पीना और मासका खाना मनुष्यको वर्वर बनाता है और वर्वरता के रहते हुए दुनियामें शान्ति नहीं हो सकती। अतः जैसे सफेदपोश बढमाशोंसे बचे रहनेमें ही कल्याण है वैसे ही सभ्य कहे जानेवाले पियङ्गुओं और गोश्तखोरोंके साथ खान-पानका सम्बन्ध न रखनेमें ही सबका हित है। ऐसा करनेसे आप प्रतिगामी, कृद्धमग्न या दकियानुसी

१ 'अपाङ्क्तेयं सम कुर्वन् संसर्गं भोजनादिषु ।

प्राप्नोति निन्द्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥७३॥'—धर्मर०, पृ० ८० उ ।

२. चर्मभाण्डेषु । ३ घृतेनाधारचर्मभाजनेषु । 'दृतिप्रायेषु पात्रेषु तोय स्नेह तु नाशयेत् ।'

—प्रबोधसार पृ० ७४ ।

मांसोऽपि दया नास्ति न सत्यं मघपायिषु ।
 आनुशस्य न मर्त्येषु मधुसम्बरसेषिषु ॥२६३॥
 मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डयिनिपीडनात् ।
 जातं मधु कथं सत्यं सेवन्ते कसलाहृति ॥२६४॥
 एतान्तामर्कगर्भेऽस्मिन्मण्डजाण्डकखण्डयत् ।
 कुतो मधु मधुष्वत्रे व्याघ्रलुब्धकजीवितम् ॥२६५॥
 अश्वत्थोपुम्बरप्लक्ष्म्यप्रोधाविफलोप्यपि ।
 प्रत्यक्षां प्राणिनाः स्पृष्टाः सूक्ष्माभ्याममगोचराः ॥२६६॥
 मघाविस्र्वाविरोहेषु पानमर्षं च नाचरेत् ।
 तद्वर्माविस्पर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥२६७॥

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती । जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते ।
 और जो मधु और उदुम्बर फलोंका भक्षण करते हैं उनमें रहस नहीं होता ॥२९३॥

मधुके दोष

मधु मक्खियोंके अण्डोंके निबोड़नेसे पैदा हुए मधुका, जो रज और वीर्यके मिश्रणके समान है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? ॥२९४॥ मधुका छत्ता व्याघ्रक सिन्धुके गर्भकी तरह है और अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले अन्तुओंके छोटे-छोटे अण्डोंके टुकड़ोंके बैसे है । भीड़ स्नेही बगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं । उसमें माधुर्य कहाँसे आया ? ॥२९५॥

उदुम्बरफलकी श्रावणार्थ

पीपल, उदुम्बर जिसे अन्तुफल भी कहते हैं, पाकर और बट वृक्ष बगैरहके फलोंमें स्पृष्ट अन्तु रहते हैं जो प्रत्यक्ष विनायी देते हैं । इनके सिवा सूक्ष्म अन्तु भी उनमें पाये जाते हैं जो क्षान्त्रिकों द्वारा जाने जा सकते हैं ॥२९६॥

मघादिप्लक्षा सेवन करनेवालोंसे बचो

मघ मांस बगैरहका सेवन करनेवाले लोगोंके घरोंमें स्नान-पान भी नहीं करना चाहिए । तथा उनके बरतनोंको कमी भी काममें नहीं लेना चाहिए ॥२९७॥ जो मनुष्य मघ आदिका

१ मानमहस्तीत्येव पीप्तास्तेषु मनुष्येषु । २ दयामुत्तमम् ।

वर्ममात्रो न मर्त्येषु सवोदुम्बरसेषिषु ॥—अथोपसारम उच्यते ।

‘पल्लवसु दया नास्ति न पीपं मघपायु च । उदुम्बराणिषु प्रोक्तो न वर्मः सोम्यरो नृपु ॥२७४॥

—वर्मम या पृ ११८ ।

३ पंथक—ज ज । पट्टिवालकनमृद्वन् । ४ माधुर्यम् ।

५ ‘योनिरुदुम्बरपुष्पं प्लक्ष्म्यशोषपिण्डकपानि ।

अत्रग्रीवानां तस्मात्तेषां तन्मद्यमे हिंसा ॥२७५॥—पुण्यार्थसि ।

‘उदोदुम्बरमघस्ता दशवर्णै विविधास्तमाः । तपैव बहुधनस्य स्यादरा नमयोदिता ॥२७६॥

—अथोपसार ।

६ मघमाममधुमशकाणां धीरेषु । ७ तेषां भ्रात्रणारिष्वपि । ‘मघादिप्लक्षाद्येषु पानमर्षं नृ नाहरेत् । दूरतो हि विपालाभ्यन्तगम्भयोऽप्यनारिषु’ ॥२७७॥—अथोपसार ।

अथवा—

हेय पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विपद्रोरायुपे पत्र मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥

अपि च—

शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि ।
जिह्वाचन हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥३०६॥
विधिश्चेत्केवलं शुद्धयै द्विजैः सर्वं निषेव्यताम् ।
शुद्धयै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥३०७॥
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता ।
यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ॥३०८॥
तच्छ्राक्यसाख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हार्तव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥३०९॥
यस्तु लौल्येन मासांशी धर्मधीः स द्विपातर्कः ।
परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नर ॥३१०॥

अथवा, मास और दूधका एक कारण होनेपर भी मास छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है । जैसे कारस्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्युका कारण होती है ॥३०५॥ और भी कहते हैं—

मास भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मासमें दोष है, घी में नहीं । जैसे ब्राह्मणोंमें जीभसे शरावका स्पर्श करनेमें दोष है पैरमें लगानेपर नहीं ॥३०६॥

यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं । और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥३०७॥ अतः द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है । क्योंकि सैकड़ों संस्कार करनेपर भी शुद्ध ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ३०८ ॥ इस लिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, साख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोंके मतोंकी परवाह न करके मासका त्याग कर देना चाहिए ॥३०९॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है । वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मास भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है । एक तो वह मास खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥३१०॥

१ विपतरो आयुर्निमित्तं पत्रं स्यात् । “पयः पेयं पलं हेयं समे सत्यपि साधने । विपद्रोरायुपे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥३०८॥” —प्रबोधसार । “ग्राह्यं दुग्धं पलं नैव वस्तुनो गतिरीदृशी । विपद्रो पत्रमारोग्य-कृन्मूलं मृत्किंद् भवेत् ॥४२॥” —धर्मसं० । २. द्वयोर्मांससर्पिषो निमित्तं शरीरमेव । “शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि । घेनुदेहस्रुतं मूत्रं न पुनः पयसा समम् ॥३१॥” —प्रबोधसार । ३ संप्रोक्षणं यज्ञादिश्चेत् शुद्धयै भवति । ४ योग्यमयोग्यञ्च । ५. अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्धं वर्तते । ६ त्याज्यम् । ७ मासभक्षकः । ८ तस्य पातकद्वयं भवति । ९ सह । ‘यस्तु मासादिलौल्येन धर्मं धर्मेति भाषते । मासास्वादाद्विषेर्ध्वंमात् स स्यात्पापद्वयाश्रयः ॥४०॥’ —प्रबोधसार । ‘पापी हास्यं लभेतासी मासलौल्येन धर्मधीः । परदारं विधातेव मात्रा सार्द्धं नराधमः ॥४१॥ प्रबोधसार ।

जीययोगादिशेषेण मयमेवाविकायवत् ।

मुद्यमापादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगु ॥३००॥

तदयुक्तम् । तदाह—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेत् वा मांसम् ।

यद्भविष्यो वृष्टो वृक्षस्तु भवेत् वा निम्बः ॥३०१॥

किं च—

द्विजाण्डजमिहन्तृणां यथा पापं विशिष्यते ।

जीययोगादिशेषेऽपि तथा फलपक्ष्यादिनाम् ॥३०२॥

स्त्रीत्वपेयत्वसामान्यादार्थारिषवीहताम् ।

एष चादी यन्नेषं मद्यमातृसमागमे ॥३०३॥

यस्य पुत्रं न गोमांसं वस्तुष्वेषिष्यमीदृशम् ।

पिपयन् रत्नमोहेयं यिपं च विपदे यतः ॥३०४॥

मझे ही कहल्यो किन्तु इसकी परवाह न करें । आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आपकी बातकी कहर करने लगेगी । किन्तु यदि आप ही अपना विवास ला बैठेंगे और क्षण-भरकी बाहबाहीमें बह आयेगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरोंका हित कर सकेंगे । मधु भी मध और मांसका ही भाई है । कुछ लोग आधुनिक ढंगसे निफाक जानेवाले मनुष्यों साध बतलाते हैं । किन्तु ढंगके बदलने मात्रसे मधु साध नहीं हो सकता । आसिरको तो वह मधु-मक्खियोंका उगाछ ही है ।

मांस, और अन्न, दूध बगैरहमें अन्तर

कुछ लोगोंका कहना है कि मूंग, उड़द बगैरहमें और ऊँट, भेड़ा बगैरहमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे ऊँट, भेड़ा बगैरहके शरीरमें जीव रहता है वैसे ही मूंग उड़द बगैरहमें भी जीव रहता है । दोनों ही जीवके शरीर हैं । अतः जीवका शरीर होनेसे मूंग उड़द बगैरह भी मांस ही हैं ॥३००॥ किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि मांस जीवका शरीर है वह ठीक है । किन्तु जो जीवका शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता । जैसे नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता ॥३०१॥ तथा—

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनोंमें जीव है फिर भी पक्षीका मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारने में अधिक पाप है । वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मांस भी जीवका शरीर है, किन्तु फल खानेवालेकी अपेक्षा मांस खानेवालेका अधिक पाप होता है ॥३०२॥ तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीवका शरीर होनेसे बराबर हैं उसके स्थिर पत्नी और माता दोनों की होनेसे समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होनेसे समान हैं । अतः जैसे वह पानी और पत्नीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग क्यों नहीं करता ? ॥३०३॥

गौका वृष सुख है किन्तु गोमांस सुख नहीं है । वस्तुका वैचिष्य ही इस प्रकार है । देखो, साँपकी मज्जिसे बिज बूर होता है किन्तु साँपका बिज मृत्तुका कारण है ॥३०४॥

१ उच्छ्र । 'जीवयोगादिशेषेण उच्छ्रमेवाविकायवत् ।—वर्मर पु ८ उ । २ मातर शायति मद्य बाटीव ईहताम् । 'प्राप्यज्जलानिषेधेऽपि शीघ्रं मांसं न भविष्यति । शीघ्रा स्त्रीत्वादिशेषेऽपि जनैर्जायते नाभिका ॥१॥ —आधारवर्मापूठ २ अ । ३ जहै सर्वस्वैव रत्नम् । जेन्वाचीनां पयः पेयं न मुखादि स्वभावात् । विषापहमहे रत्नं विषं तु मृतिराजयम् ॥३०॥—प्रबोधसार ।

अथवा—

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विषद्रोरायुषे पत्र मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥

अपि च—

शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि ।
जिह्वावन्न हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥३०६॥
विधिश्चेत्केवलं शुद्धयै द्विजैः सर्वं निषेव्यताम् ।
शुद्धयै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥३०७॥
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिः शुद्धता ।
यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत ॥३०८॥
तच्छ्राव्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हार्तव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥३०९॥
यस्तु लौल्येन मांसांशी धर्मधीः स द्विपातकः ।
परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नरः ॥३१०॥

अथवा, मास और दूधका एक कारण होनेपर भी मास छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है । जैसे कारम्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुर्वर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्युका कारण होती है ॥३०५॥ और भी कहते हैं—

मास भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मासमें दोष है, घी में नहीं । जैसे ब्राह्मणोंमें जीभसे गरावका स्पर्श करनेमें दोष है पेरमें लगानेपर नहीं ॥३०६॥

यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं । और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥३०७॥ अतः द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है । क्योंकि सैकड़ों संस्कार करनेपर भी शुद्ध ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ३०८ ॥ इस लिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और जैनोंके मतोंकी परवाह न करके मासका त्याग कर देना चाहिए ॥३०९॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है । वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मास भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है । एक तो वह मास खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥३१०॥

१ विषद्रोरायुनिमित्तं पत्र स्यात् । “पयः पेयं पलं हेयं समे सत्यपि साधने । विषद्रोरायुषे पत्र मूलं तु मृतये मतम् ॥३०८॥” —प्रबोधसार । “ग्राह्यं दुग्धं पलं नैव वस्तुनो गतिरीदृशी । विषद्रो पत्रमारोग्य-कृन्मूलं मृत्किं भवेत् ॥४२॥” —धर्मसं० । २. द्वयोर्मसिसर्पिषो निमित्तं शरीरमेव । “शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि । घेनुदेहसूतं मूत्रं न पुनः पयसा समम् ॥३१॥” —प्रबोधसार । ३. मप्रोक्षणं यज्ञादिश्चेत् शुद्धयै भवति । ४. योग्यमयोग्यञ्च । ५. अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्धं वर्तते । ६. त्याज्यम् । ७. मासभक्षकः । ८. तस्य पातकद्वयं भवति । ९. सह । ‘यस्तु मासादिलौल्येन धर्मं धर्मेति भाषते । मासास्वादाद्विषेर्ब्रह्मात् स स्यात्पापद्वयाश्रयः ॥४०॥’ —प्रबोधसार । ‘पापी हास्य लभेतासौ मासलौल्येन धर्मधीः । परदारं विधातेव मात्रा सार्द्धं नराधमः ॥४१॥’ प्रबोधसार ।

अथ ताम्रमांसाशुनामिध्यानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्—भीमत्पुष्पदन्तमदन्त-
यताराधतीर्णत्रिविधपतिसपादितोद्यौवेन्द्रासन्धा काकन्या पुरि आषकाम्ययसंमृति सौरसेनो
नाम नृपतिः कुलधर्मानुरोधमुद्यया गृहीतपिण्डितमत् पुणर्वैद्यैर्पोद्भूतमतमोदितमति सजा-
तमाकृष्टजिप्सिस्तानुमतिरङ्गीकृतयस्तुमिर्वैद्यस्त्राज्यापथावाङ्मुगुप्समानो ममोविश्रान्तिहेतुना
कर्मप्रियनामकेतुना यष्टयेन यष्टेति विद्यस्यसज्जज्ञानतराकधरतरसमानार्थयस्यनेकरामकार्य-
पर्याकुलमानसतया मांसमक्षयक्षय माथाप ।

भाषार्थ—जो व्यक्ति या धर्म मांसाहारको उचित ठहराते हैं वे उसके समर्थनमें अनेक
कुसुधियाँ देते हैं । ऊन्हींका निर्वेद्य तथा परीक्षण ग्रन्थकारने ऊपर किया है । जीवका शरीर होने
मात्रसे मांसको अमक्ष्य नहीं बतलवाया गया है, किन्तु एक तो किसी पञ्चेन्द्रिय जीवका काटे बिना
मांस उत्पन्न नहीं होता । दूसरे वह अत्यन्त तामसिक मोक्षन है । दूध, फल, गौरहमें यह बात नहीं
है । वे पशुओं और पक्षियोंको बिना हानि पहुँचाये प्राप्त किये जा सकते हैं तथा उनके आनेसे
बिधमें सात्विकता आती है । कष्ट आ सकता है कि यदि स्वयं मरे हुए जीवका मांस प्राप्त हो
जाये तो क्या हानि है ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि इससे शुरुमें किसी जीवका घात नहीं
होगा किन्तु आगे मांस खानेका चरका लग जानेसे दूसरे जागोंके द्वारा मारे गये पशुके मांसमें
भी प्रवृत्ति होने लगेगी । जैसे बौद्ध धर्ममें त्रिकोटि परिशुद्ध मांसके ग्रहण कर लेनेका विधान है तो
तिष्ठतके साम्राज्योंके सिध्द छहरसे दूर पशु मारे जाते हैं और उनका मांस वह ग्रहण कर लेते हैं ।
दूसरे, मांसमें भी पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति होने लगती है तीसरे, सूत पशुका मांस खानेपर भी
तामसिकपना तो बना ही रहता है । वह तो मांसमात्रका धर्म है । अतः मांसाहार और दुग्ध तथा
फलमाहार समान नहीं हो सकता । हिन्दू धर्ममें यज्ञके मसायके तौरपर मांसके ग्रहणका विधान
कुछ ग्रन्थोंमें मिलता है । किन्तु जो जीव स्वभाव से ही अशुद्ध है, मन्त्रादिकके द्वारा उसे शुद्ध
नहीं किया जा सकता । यदि मंत्रोंके द्वारा स्वभावसे ही अशुद्ध वस्तुमें भी शुद्ध हो सकती हैं तो
फिर तो संसारमें अमक्ष्य कुछ रहेगा ही नहीं । अतः यज्ञादिकमें मन्त्रपाठपूर्वक पशुका बलिदान
करके उसका मांस खाना भी गिरामिपभाषियोंके सिध्द उचित नहीं है । मांस खाना ठा बहुत दूर
है उसका इरादा करना भी बुरा है । मांस खानेके संकल्पमात्रसे भी जो पाप होता है उसके
फलके सन्बन्धमें एक कथा है उसे सुने—

११ मांसमक्षयसंफलपी राजा सौरसेनकी कथा

मगवान् पुष्पदन्तक अमोत्सवसे पवित्र काकनदी नगरमें आषककुलोत्पन्न सौरसेन नामका
राजा राज्य करता था । उसने अपना कुलधर्म समझकर मांस खानेका स्वाग कर दिया था ।
बादमें कुछ वैदिकों, वैश्यों और क्षैत्रिकों कइनेसे उसे मांस खानेकी रुचि उत्पन्न हुई । किन्तु की
हुई प्रतिज्ञाका त निवाहनेके आकापवादसे वह डरता था । उसका कर्मप्रिय नामका रसोदया
एकान्तमें अनेक अन्नचर, यक्षचर और विज्येमें रहनेवाले अन्तुओंका मांस तैयार करता था किन्तु
अनेक राजकार्यमें घिरे रहनेमें उसे मांस खानेके सिध्द एकान्त समय नहीं मिलता था ।

१ चित्तमम्-इच्छामार्ग । २ उत्सवसदमीरवान । ३ वैद्यवचन-वैद्यवचन-वैद्यवचन । ४ नृपकारेण ।

कर्मप्रियोऽपि तथा पृथिवीश्वरनिदेशमनुदिनमनुतिष्ठेन्नैकदा पृदोऽकुपाकोपद्रुत प्रेत्यं स्वयम्भूरमणाभिधानमुद्रे समुद्रे महादेहवल्गुस्तिमिद्गिलगिलो बभूव । भूपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाश्रित्य पिशिताशनाशयानुबन्धात्तत्रैव सिन्धौ तस्यैव महामीनस्य कर्णविले तन्मलाशंनशील शालिसिन्धुकलकलेवर शफरोऽभूत् । तदन्वेप पर्याप्तोभयकरणस्तस्य वदन व्याढाय निद्रायतो गलगुहावगाहे वेलानदीप्रवाह इवानेकं जलचरानीकं प्रविश्य तथैव निष्कामन्तं निरीक्ष्य 'पापकर्मा निर्भाग्याणां चाग्रणीधर्मा खल्वेप भूयो यद्वक्रसंपातरतचेतां-स्यपि न शक्नोति अशितुं यादांसि । मम पुनर्यदि हृदयेऽस्मिन्प्रभावाद्देवादेतावन्मात्रं गात्रं स्यात्तदा समस्तमपि समुद्रं विद्रुतसकलसत्त्वसंचारमुद्रं विदधामि' इत्यभिध्यानादल्पकाय-कलं शकुलो^१ निखिलनक्रचक्रचाराद्य^२ महादेहाधीनो मीनः कालेन विप्रेद्योत्पद्य चोत्तमतस्त्र-यस्त्रिशत्सागरोपमायुर्निलये निरये भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतज्ञानविशेषौ तावन्मिपचरो^३ नार-कपर्यायधरो किलैचमालापं चक्रतु—'अहो क्षुद्रमत्स्य, तथा निर्मितकर्मणो दुष्कर्मणो ममा-त्रागतिरुचितैव । तव तु मत्कर्णविले मलोपजीवनस्य कथमत्रागमनमभूत् ? हे महामत्स्य, चेष्टितादपि दुरन्तदुःखसंबन्धनिबन्धनादशुभध्यानात् ।'

भवति चात्र श्लोकः—

इस प्रकार कर्मप्रिय राजाकी आज्ञाके अनुसार प्रतिदिन मास पकाता था । एक दिन उसने सोंपका मास पकाया और उसीके जहरसे मरकर वह स्वयम्भूरमण नामके समुद्र में विशालकाय तिमिद्गिल नामका महामत्स्य हुआ । कुछ कालके बाद राजा भी मरकर मास खानेके सकलपके कारण उसी समुद्रमें उमी महामत्स्यके कानमें उसका मैल खानेवाला मत्स्य हुआ, जिसका शरीर शाली चावलके बराबर था । महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसके गुफाके समान गहरे गलेमें नदीके प्रवाहकी तरह जलचर जीवोंकी सेना घुसकर जीवित निकल आती थी । उसे देखकर तन्दुलमत्स्य सोचता—'यह मत्स्य बड़ा पापी और अभागोमें भी सबसे बड़ा अभाग है, जो अपने मुँहमें स्वयं ही खानेवाले मत्स्योंको भी नहीं खा सकता । यदि हार्दिक इच्छाके प्रभावसे दैववश मेरा इतना बड़ा शरीर हो जाये तो मैं समस्त समुद्रको जलचर जीवोंसे शून्य कर दूँ ।'

इस सकलपसे अल्पकाय तन्दुलमत्स्य और समस्त मगरमच्छोंको खानेसे महाकाय महामत्स्य मरकर सातवें नरकमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुए । उन दोनोंको भवप्रत्यय नामका कुअवधि ज्ञान था । उसके द्वारा पूर्वजन्मका वृत्तान्त जानकर वे दोनों नारकी आपसमें कहते—'तन्दुलमत्स्य ! मैंने बड़ा पाप किया इसलिए मेरा यहाँ आना तो उचित ही था । किन्तु तुम तो मेरे कानके विलमें कानका मैल ही खाया करते थे । तुम यहाँ कैसे आये ?' तब तन्दुल मत्स्य उत्तर देता—'तुम्हारे कर्मसे भी बुरे, महादुःखके कारण अशुभ ध्यानसे मरकर मैं यहाँ पैदा हुआ हूँ ।'

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

१ कुर्वन् । २ सर्प । ३ मृत्वा । ४ सतत्या प्रवर्तनात् । ५ भक्षण । ६ शालिमिव-मात्रशरीर । ७ मपातरन—अ० ज० । ८ भाग । ९ मत्स्य । १० भक्षणात् । ११ मृत्वा । १२ भूतपूर्वमत्स्यो ।

सुप्रमत्स्यः किमेकस्तु स्वयम्भूरमशोदधो ।

महामत्स्यस्य कशस्यः स्मृतिदोषादधो गतः ॥३११॥

—वरागर्भित ५१ ३ ।

इत्युपासकप्रभयने मांसमिलावमात्रफलप्रलपधो नाम चतुर्विंशतितमः कल्प ।

भूयतामश्च मांसनिवृत्तिफलस्योपायानाम्—अवन्तिमण्डलनक्षिनामिनिवाससरस्या मेकानस्यां पुरि पुरवाहिरिकाया देधिलामहिलापिस्तासविशिर्वाष्टिकोदयस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्यैकस्यां विशि निवेशितपिशितोपवृत्तस्यापरस्यां विशि किम्पस्तधुरासभूतकलप्रस्य तां पक्षावदशोदायां सुरां पायं पाय तपुमयाग्नराशे धर्ममिर्माणात्तन्ना वरत्नां धर्तयतो विपद्भि हारोद्दीनायद्वज्रविम्बतुण्डक्षण्डनचिनिपम्बिबिधधरधिपशोपावसग सुरासीत् । अत्रैवाधमरे तस्तमीपवरर्गेश्वर धर्मधधणजम्मास्तरविप्रकारनपधामि कथामिर्धिमेयजलोपका- राय कृतकामधारप्रचारमम्भराभूर्तिमत्स्वर्गापयर्गमार्गपमलमिवाकतरचारपिपुगलमवलोपम सञ्जातकुलहस्त वैशमनुगम्य नगरे तद्दर्शनेन आयकलोर्कं यतानि समावृत्तमनुस्यूत्स्य समाधरितप्रणामः सुनन्वनन्नेरगमनमभिनन्वन भगवन्तमात्मोचित व्रतमपाद्यत ।

भगवानपि—

उपकाराय सर्वैश्च फलैश्च इय धार्मिक ।

तत्स्वप्नात्सर्वानचिन्तेय दृष्टियच्च हितोक्तिषु ॥३१२॥

“स्वयम्भूरमण समुद्रमे महामत्स्यके काममे रहने वाक्य कन्दुकमत्स्य भुरे संकल्पसे नरक में गया ॥३११॥

इस प्रकार उपासकप्रभयने मांसकी इच्छा मात्र करनेका फल बतलानेवाला चौबीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब मांस त्यागके फलक मन्त्रधर्मे एक कथा कहते हैं, उसे सुनें—

१२ मांसत्यागी चाण्डालकी कथा

अवन्तिदेशकी उज्जयिनी नामकी नगरीमें नगरके बाहर चण्ड नामका एक चाण्डाल रहता था । एक दिन वह चाण्डाल मौज के रहा था । उसके एक और मांसके व्यव्रजन रले हुए थे । दूसरी ओर क्षराक्से भरे कण्डस रले थे । चाण्डाल मांसके व्यव्रजनोंके साथ क्षराब पीता आठा था और बीच-बीचमें चमड़ेकी रस्ती बट्ठा जाता था । आकाशमें उड़ते हुए एक पक्षीशाकका मुँह खुल जानेसे एक सप क्षराबमें आ गिरा था और उससे क्षराब बिपेकी हो गयी थी । इसी समय धर्मोपदेश सत्ता अन्मान्तरकी कथाओंके द्वारा लोगोंका उपकार करनेके लिए प्रमज करते हुए दो चारज आदिके धारी मुनियोंको पासमें ही आकाशसे उतरते हुए देखकर चाण्डालका बड़ा क्रुद्ध हुआ । वह भी उनके समीप गया । वहाँ नगरके आसन्नको क्रतु ग्रहण करते हुए देखकर उसने उन्हें प्रणाम किया और सुनन्दन मुनिके अव्यवर्ती भगवान् अभिनन्दन मुनिसे अपने मांस प्रसकी याचना की ।

‘जैसे मेष सबक उपकारके लिए है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकारके लिए हैं ।

१ सिकन्दरमत्स्य विश्वकोशटी व्यवम्भूरमणाम्भुवी । महामत्स्यसमाप्त्तौ शोपात् वराप स्मृतिरोप- ॥ ४७ ॥ —महापुराण २१ वर्ष । २ चण्डविम्बाम् । ३ बाण । ४ मुण्डकारण—ब ।

५ पक्षोपदेशो—ब । ६ मेष । ७ एष जसम एष नीच धर्मकवने इति चिन्ता न सर्वेषां धर्मो नाम्ना ।

इत्यवगम्य सम्यगवधिवोधोपयोगादवगतैतद्रासन्नपरासुतायोगस्तन्मातङ्गमेवमवोचत्—
'अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जां रज्जुं सृजतस्तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम्' इति । मातङ्ग-
स्तथा प्रतिपद्योपसंय च तमवकौश पिशितं प्राश्यं 'यावदहमिदं स्थानकं नायामि तावन्मे-
ऽस्य निवृत्तिः' इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थानः प्रतिपन्नपानस्तदुग्रतरगरभराल्लघूर्ण-
हितमतिप्रसरस्तन्निवृत्तिमलभमानचित्तोऽपि प्रेत्यं तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन यत्तकुले यत्त-
मुख्यत्वं प्रतिपेदे ।

भवति चात्र श्लोक —

चण्डोऽवन्तिपु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तिः ।

अत्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यत्तमुख्यताम् ॥३१३॥

इत्युपासकाध्ययने मासनिवृत्तिफलारव्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः ।

अथ के ते उत्तरगुणाः—

“अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणा स्युर्द्वाविंशोत्तरे ॥३१४॥

और जैसे स्थान और अस्थानका विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हितकी बात कहनेमें स्थान और अस्थानका विचार नहीं करते ॥३१२॥' ऐसा सोचकर भगवान् अभिनन्दन मुनिने अवधिज्ञानसे जाना कि यह चाण्डाल जल्द ही मरने वाला है । अतः वे उससे बोले—'भाई चाण्डाल ! मास खाने और शराब पीनेके बीचमें जितनी देर तुम रस्सी बाँटो उतनी देरके लिए तुम मास और शराबका त्याग कर दो ।'

चाण्डालने इस बातको स्वीकार कर लिया । और वहाँसे चलकर अपने स्थानपर आया । मासके पास जाकर उसने मास खाया और सकल्प किया कि जबतक फिर मैं इस स्थानपर नहीं आऊँगा तबतकके लिए मेरे मासका त्याग है । इसके बाद वह शराबके पास गया और वहाँ उसने शराब पी । पीते ही तीव्र जहरके प्रभावसे उसकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी । अतः यद्यपि वह उसका त्याग नहीं कर सका फिर भी मरकर उतने ही व्रतके प्रभावसे यक्षकुलमें प्रधान यक्ष हुआ ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

“अवन्ति देशमें चण्ड नामका चाण्डाल बहुत थोड़ी देरके लिए मासका त्याग कर देनेसे मरकर यक्षोंका प्रधान हुआ ॥३१३॥”

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मास त्यागके फलको कहनेवाला पञ्चीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

श्रावकोंके उत्तरगुण

[अब श्रावकोंके उत्तरगुण बतलाते हैं—]

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण हैं ॥३१४॥

१ ज्ञात । २ मरण । ३. यस्मिन् पार्श्वे यद्भुक्त तत्समीप त्यक्त्वा द्वितीयवारं यावन्नायाति ताव-
त्कालपर्यन्तं तद्व्रतम् । ४ गत्वा । ५ स्थानम् । ६ मासम् । ७ भुक्त्वा । ८ क्षीघ्रम् । ९ मद्यनियमम् ।
१० मृत्वा । ११ 'पंचेवगुणव्याहं गुणव्याहं हवति तद्दिग्निः । सिक्खावयं चत्वारि सज्मचरणं च सायार'
॥ २ ॥ —चारित्र्याभूत । 'गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् । पञ्चत्रिचतुर्भेद-
त्रयं यथासख्यमाख्यातम् ॥५१॥' —रत्नकरण्ड श्रा० । 'अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षा-
व्रतानि चत्वारि इत्येतद्द्वादशात्मकम् ॥' —वराहचरित १५, १११ । 'व्रतान्यणूनि पञ्चैषा शिक्षा चोक्ता
चतुर्विधा । गुणास्त्रयो यथाशक्तियमास्तु सहस्रशः ॥१८३॥'—पद्मपु०, पर्व १४ । पद्मनन्दि पञ्च६० पृ० १९

तत्र—

हिंसास्तेयानुताम्रप्रणिमिप्रह्ना ।
 एतानि क्षेयतः पञ्चाणुमतानि प्रचक्षते ॥३१५॥
 संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो मतमुच्यते ।
 प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सवस्तुकर्मसंगवे ॥३१६॥
 हिंसायामनुते शौर्यामम्रगणि परिग्रहे ।
 यथा विपश्चित्रत्रैव परत्रैव च वर्तते ॥३१७॥

हिंसा, मृत, चोरी, कुक्षील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुमत कहते हैं ॥ ३१५ ॥

व्रतका लक्षण

सेवनीय वस्तुका इरादापूर्वक त्याग करना व्रत है। जबवा अच्छे कार्योंमें प्रवृत्ति और बुरे कार्योंसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥३१६॥

भाषार्थ—किसी वस्तुके सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है किन्तु उसका बुद्धिपूर्वक त्याग करके सेवन न करना व्रत कहलाता है, क्योंकि किसी वस्तुके सेवन नहीं करनेमें तां बनेका कारण हो सकते हैं। कोई अच्छी न लगनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई न मिलनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई स्वास्थ्यक अनुकूल न होनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई बदनामीके भयसे किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। किन्तु यदि वह वस्तु उसे अच्छी लगने लगे, या बाजारमें मिलने लगे, या स्वास्थ्यके अनुकूल पड़ने लगे या बदनामीका भय जाया रहे तो वह उस वस्तुको दुरन्त सेवन करने लगेगा। परन्तु जो किसी वस्तुके सेवन न करनेका नियम से संता है वह अपने नियमका सख्त किसी भी अवस्थामें उस वस्तुका सेवन नहीं करता। अतः केवल सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है बल्कि समस्त-वृत्तकर त्याग कर देनेका नाम व्रत है।

पाँचों पापोंमें दुराई

हिंसा करने, मृत बोलने चोरी करने, कुक्षील सेवन करने और परिग्रहका सबय करनेसे इसी साकमें मुसीबत आती देखी जाती है और परलोकमें भी दुर्गति होती है ॥३१७॥

भाषार्थ—भारतीय पितृनकोइमें त्रिन जुर्मोंके छिप सजा देनेका विधान है वे सब जुम प्राय इन पाँच पापोंमें ही सम्मिलित हैं। हिंसा करनेसे पौसी तक हा आती है। मृत्ती पात कटन मृत्ती गवाही देनेसे जेलकी हवा लानी पड़ती है। चोरी करनेसे भी यही दण्ड भागना पड़ता है। दुराचार करनेसे जेलखानेकी साथ-ही-साथ बेटोंकी भी सजा मिलती है। और

१ अने तत्तवायवहै जुके भोले तिनिका भुले य । बरिहारे बरिअने बरिगहारअभारिवाच ॥२३॥

—बारि प्रा । हिंसाकाचौकसी वैभुनैवाराविहाम्याअच । वापउवातिवाच्यो विरतिः तत्राय बारिअव

॥४९॥ —एतदण्ड था । ब्रह्मानिस्तन इभुकाशिरिनिविताता । प्रहृषाणु परविताय बरदारनकाकना

॥१८४॥ बकनायाच बजिया पञ्चनक्यविह बतम् । ॥१८५॥ —वपु नव १४ । २ बरिहाराव

मये निबमोन्मदमन । निवृत्तिचो बत एवाडा प्रवति गुणवर्मणि ॥८॥ सागारवर्माव ॥ १ ।

३ बरिहारावि ॥ ७ नू इनने विवरयके निरु हैने ।

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् ।
 सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥३१८॥
 विकथाक्षकपायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च ।
 अभ्यासाभिरतो जन्तु प्रमत्तं परिकीर्तितः ॥३१९॥
 देवतातिथिपित्रर्थ मन्त्रौषधभयाय वा ।
 न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३२०॥

अनुचित तरीकेसे ज्यादा सामग्री इकट्ठी कर लेनेपर भी सजाका भय बना ही रहता है । तथा परिग्रहीको चोरोंका डर भी सताता रहता है, इसके कारण वह रातको आरामसे सो भी नहीं पाता । जब इसी लोकमें इन पाँच पापोंके कारण इतनी विपत्ति उठानी पड़ती है तब परलोकका तो कहना ही क्या है ।

अहिंसा

[अथ अहिंसा धर्मका वर्णन करते हैं—]

प्रमादके योगसे प्राणियोंके प्राणोंका घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥३१८॥ जो जीव ४ विकथा, ४ कपाय, ५ इन्द्रियों, निद्रा और मोहके वशीभूत है उसे प्रमादी कहते हैं ॥ ३१९ ॥

भाषार्थ—प्रमादके पन्द्रह भेद हैं—४ विकथा, ४ कपाय, ५ इन्द्रियों, एक निद्रा और एक मोह । विकथा खोटी कथाको कहते हैं जैसे स्त्रियोंकी चर्चा करना, भोजनकी चर्चा करना, चोरोंकी चर्चा करना, ये चर्चाएँ प्रायः कामुकता और मनोविनोदके लिए की जाती हैं और उनसे लाभके वजाय हानि होती है । अतः जो मनुष्य इस प्रकारकी चर्चाओंमें रस लेता है वह प्रमादी है । क्रोध, मान, माया और लोभको कपाय कहते हैं । जो क्रोध करता है, मान करता है, मायाचार करता है या लोभी है वह तो प्रमादी है ही, क्योंकि ऐसा आदमी कभी भी अपने कर्तव्यके प्रति सावधान नहीं रह सकता । इसी तरह जो पाँचों इन्द्रियोंका दाग है उन्हींकी तृप्तिमें लगा रहा है वह भी प्रमादी है । ऐसे लोग किसीका घात करते हुए नहीं सकुचाते । यही बात निद्रा और मोहके सम्बन्धमें जाननी चाहिए । अतः प्रमादके योगसे जो प्राणोंका घात किया जाता है वह हिंसा है किन्तु जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ किसीका घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं कहलाती है । इसका खुलासा पहले कर आये है ।

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मन्त्रकी सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, अथवा भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए । इसे अहिंसाव्रत कहते हैं ॥३२०॥

१ 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥' —तत्त्वार्थसूत्र ७-१३ । २ 'विकथा तहा कसाया इदिय गिहा तहेव पणयो य । चडु चडु पण एगेगं होति प्रमादा हु पणरसा ॥ १५ ॥' —पञ्चसग्रह-जीवसमास । ३ 'मधुपर्के च यज्ञे च पितृदेवतकर्मणि । अथैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यश्वदीन्मनु ॥' —मनुस्मृति ५-४१ । 'देवतातिथिप्रोत्थं मन्त्रौषधिभयाय वा । न हिंस्या प्राणिनः सर्वे अहिंसा नाम तद्व्रतम् ।' —वराह ८० १५-११२ । 'देवतातिथिमन्त्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना । हिंसा घत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥' —अमित० श्रावकाचार ६ परि० । 'उक्तं च—देवता मन्त्रौषधिभयेन वा । —धर्मरत्ना०, पृ० ८५ ।

तत्र—

हिंसांस्तेयानृत्याग्रहपरिग्रहयिनिग्रहा ।
 पतानि क्षेपणः पञ्चाणुमतानि प्रचक्षते ॥३१५॥
 सक्तस्यपूर्वकः सेवये नियमो व्रतमुच्यते ।
 प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सद्यसत्कर्मसमये ॥३१६॥
 हिंसोपामनुते धीर्यामग्रहण्य परिग्रहे ।
 हृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च नृगतिः ॥३१७॥

हिंसा, मृत, चोरी, कुसीक और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ ३१५ ॥

व्रतका लक्षण

सेवनीय वस्तुका द्वारापूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कामोंमें प्रवृत्ति और बुरे कामोंसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥३१६॥

भाषार्थ—किसी वस्तुके सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है किन्तु उसका बुद्धिपूर्वक त्याग करके सेवन न करना व्रत कहा जाता है, क्योंकि किसी वस्तुके सेवन नहीं करनेमें तां अपने कारण हो सकते हैं। कोई अच्छी न लगानेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई न मिटनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई स्वास्थ्यके अनुकूल न होनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई बदनामीके भयसे किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। किन्तु यदि वह वस्तु उसे अच्छी लगने लगे, या बाजारमें मिलने लगे, या स्वास्थ्यके अनुकूल पड़ने लगे या बदनामीका भय जाता रहे तो वह उस वस्तुको मुरन्त सेवन करने लगा। परन्तु जो किसी वस्तुके सेवन न करनेका नियम छे स्नेहा है वह अपने नियमका तक किसी भी अवस्थामें उस वस्तुका सेवन नहीं करता। अतः केवल सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है बल्कि समझ-बूझकर त्याग कर देनेका नाम व्रत है।

पाँचों पापोंमें पुराई

हिंसा करने, मृत बोलने, चोरी करने, कुसीक सेवन करने और परिग्रहका सधय करनेसे इसी ढाकमें मुसीबत आती देली जाती है और परलोकमें भी दुर्गति होती है ॥३१७॥

भाषार्थ—भारतीय पिछनकोइमें किन जुर्मोंके लिए सजा देनेका विधान है वे सब जुम प्रायः इन पाँच पापोंमें ही सम्मिलित हैं। हिंसा करनेसे फाँसी तक हो जाती है। मृती यात करने मृती गवाही देनेसे जेलकी हवा लागी पड़ती है। चोरी करनेसे भी बड़ी ठण्ड भागना पड़ता है। दुराचार करनेसे जेलखानेकी साथ-ही-साथ बेतोंकी भी सजा मिलती है। और

१ 'युने तत्तत्कामहे बुद्धे भोये तितिवस बुद्धे य । बहिद्वारे परविम्मे परित्यहारम्परविम्भ ॥२१॥
 —चारि प्रा । हिताननचोर्वेम्मे वैभुनसेवापरिग्रहाम्याज्ज । पापप्रतापिषाम्यो विरतिः संजस्य चारिपम् ॥४९॥ —एवमकण्ड पा । प्राणातिशयत एवकादित्तिविगम्यतथा । पद्वान् परचित्तस्य परदारतमापमान् ॥१८४॥ अनन्तावारक कर्त्तव्या वचसंसंयमिर्ब्रतम् । ॥१८५॥ —वचपु पच १४ । १ संन्यपूर्वकं
 छिन्ने नियमोन्मुखमणः । निवृत्तिर्वा प्रतं स्वाडा प्रवति शुभकर्मणि ॥८॥ आचारवर्त्तनम् अ २ ।
 १ कर्त्तव्यनिष्ठि अ ७, गू इतने विवरणके लिए हैंगे ।

अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये ।

अन्तरायाः स्मृता सङ्घिर्व्रतबीजविनिक्रियाः ॥३२४॥

अहिंसोन्नतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।

निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥

चमड़ा, कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोंमें 'यह मासकी तरह है' इस प्रकारका बुरा सकल्प हो जाना, भोजनमें मक्खी वगैरहका गिर पडना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना, ये सब भोजनमें विघ्न पैदा करनेवाले हैं । अर्थात् उक्त अवस्थाओंमें भोजन छोड़ देना चाहिए ॥३२३॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाडके समान हैं । इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३२४॥

भाषार्थ—भोजन करते समय यदि ऊपर कही हुई चीजोंको देख ले या उनसे छू जाये या ऊपर बतलायी हुई बातोंमेंसे कोई और बात हो जाये तो भोजन छोड़ देना चाहिए । क्योंकि उस अवस्थामें भी यदि भोजन नहीं छोड़ा जायेगा तो बुरी वस्तुओंसे घृणा धीरे-धीरे दूर हो जायेगी और उसके दूर होनेसे मन कठोर होता जायेगा, बुरी वस्तुओंके प्रति अरुचि हटती जायेगी और फिर एक समय ऐसा भी आ सकता है जब उन बुरी वस्तुओंमें प्रवृत्ति होने लगे । इस तरह यह अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित हो सकता है । इससे बचनेके लिए अन्तरायोंका पालन करना जरूरी है । तथा ऐसी अवस्थामें भोजनके छोड़ देनेसे तपकी वृद्धि भी होती है, क्योंकि इच्छाके रोकनेको तप कहते हैं । भोजनके बीचमें अन्तरायके आ जानेपर भी भूख तो भोजन चाहती है अतः मन भोजनके लिए लालायित रहता है । किन्तु समझदार व्रती भूखकी परवाह न करके भोजन छोड़ देता है और इस तरह वह खानेकी इच्छापर विजय पाकर अपने तपको बढ़ाता है । अतः अन्तरायोंका पालना आवश्यक है । वे व्रतरूपी बीजकी बाडके समान हैं । जैसे खेतमें बीज बोकर उसकी रक्षाके लिए चारों ओर काँटे वगैरहकी बाड़ लगा देते हैं उससे कोई पशु वगैरह भीतर घुसकर खेतीको नहीं चर पाता ; वैसीही अन्तरायोंका पालन भी व्रतोंकी रक्षा करता है ।

रात्रि-भोजन त्याग

अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३२५॥

भाषार्थ—रातमें भोजन करनेसे हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि सूर्यके मित्रा अन्य जितने भी कृत्रिम प्रकाश हैं उनमें जीवोंका बाहुल्य देखा जाता है । रात्रिमें दीपक या बिजलीकी

यदि पश्येत तदन्नं तु परित्यजेत् ॥' —व्यास । 'चाण्डालपतितोदक्यावाक्यं श्रुत्वा द्विजोत्तम । भुञ्जीत ग्रासमात्रं चेद्दिनमेकमभोजनम् ॥' —कात्यायन । —आह्निक प्रकरण पृ० ४८२ पर उद्धृत ।

१. व्रतबीजवृत्तयः । 'अतिप्रसङ्गमसितु परिवर्धयितु तप । व्रतबीजवृत्तौ भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥' —सागारधर्मामृत ४ अ० । २ 'अहिंसान्नरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । नक्तं भुक्तिं चतुर्वाऽपि सदा घोरस्त्रिधा त्यजेत् ॥' —सागारधर्म०, ४-२४ । 'निशायां भक्षणं हेयमहिंसाव्रतवृद्धये । मूलव्रतविशुद्धयर्थं यमार्थं परमार्थतः ॥ ५१ ॥' —प्रबोधसार पृ० ८४ ।

गृहकौर्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् ।
 प्रवृत्तव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥३२१॥
 भास्म शयैर्न मार्गमन्मम्यश्च वस्तु यत् ।
 भद्रं तच्च सेवेत यथाकार्त्तमज्ञपि ॥३२२॥
 दर्शनस्पर्शसंस्पर्शससर्गैर्यत्कर्मोचिता ।
 हिंसनाक्रान्त्यप्रयाग्राहप्रत्युहकारका ॥३२३॥

भाषार्थ—अनुस्मृतिके तीसरे अध्यायमें मांससे ब्राह्म करनेका विधान है तथा यह भी बतलाया है कि किस मांससे ब्राह्म करनेसे कितने दिन तक पितृ लोग तृप्त रहते हैं। पाँचवें अध्यायमें बड़े के स्मि पशुवध करनेका तथा मांस खानेका विधान है। उत्तररामचरितमें लिखा है कि जब बहिरु अधि वास्मीकि अधिके आगममें पहुँचे तो उनके आतिथ्य-सत्कारके स्मि वास्मीकि अपिने गायको बछियाका वध कनबाया। ये सब कार्य हिंसा ही हैं। इसी तरहकी बातोंको देखकर मन्यकारने देवता बगैरहक स्मि पशुपास करनेका निषेध किया है। आरच्य है कि धर्मके नामपर भी हिंसाका पोषण किया गया है। जब कि हिंसासे बड़ा कोई धर्म नहीं है। इसी तरह दण्डके स्मि भी किसीका घाव नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने जीवनकी रक्षाके स्मि दूसरेके जीवनको नष्ट कर देनेका हमें क्या अधिकार है ?

पानी बगैरहको छानकर काममें लाओ

हरके सब काम देस-मास कर करना चाहिए। और पतली वस्तुओंको कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए। भासन छम्पा, मार्ग, अन्न खौर भी जा वस्तु हो, समयपर उसका उपयोग करते समय बिना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥३२१ ३२२॥

भाषार्थ—प्रत्येक वस्तुका देस-मास कर काममें लानेकी आवश्यकतासे तथा पानी बगैरहको छानकर काममें लानेसे मनुष्य हिंसासे ही नहीं बचता, किन्तु बहुत-सी मुसीबतोंसे भी बच जाता है। उदाहरणके स्मि प्रत्येक वस्तुको देस मास कर काममें लानेकी आवश्यकतासे सोंप, बिच्छू बगैरहसे बचाव हा जाता है। छम्पाको बिना झाड़े उपयोगमें लानेसे अनेक मनुष्य सोंपके सिंकार बन चुकें हैं। बिना देखे पाहे जहाँ हाथ डाल देनेसे भी ऐसी ही घटनाएँ प्रायः घटती हैं। बिना छाने या बिना देखे-आंखे पानी पी लेनेसे मुशबाबाब अनेक एक गाँवमें एक लड़कके मुँहमें बिच्छू पला गया था और उसके कारण उस लड़ककी मौत बिच्छूके डंक मारते रहनेसे बड़ी कष्टकर हुई थी। अतः प्रत्येक वस्तुको देखकर ही काममें लाना चाहिए और पानी बगैरह कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए।

भोजनके अन्तराय

तामा पनडा इच्छी, मांस, झाह और पीप बगैरहका देखना, रक्तवत्ता स्त्री, दूध

१ दृष्टिपूतं व्यतेत्यर्थं वस्त्रपूर्णं जलं पिबेत् । —अनुस्मृति अ १४१। २ 'यत्नं कर्म मार्गमन्मम्य' —छापारचर्मा पृ १२। ३ भोजनान्तरायाः । दृष्टवाऽऽर्त्तवर्त्तारिक्तपुष्पासाधुवपुष्पवर्त्तम् । सुपुष्पा रक्तवत्तागुणवर्त्तारिक्तगुणवर्त्तम् । भुत्वापिबन्ध्याम्बुवृष्यापानितवनम् । भुत्वा निपतिं वस्तु भोग्येऽवयवितेन ॥ तन्पुं लति बीषाऽऽर्त्तवर्त्तारिक्तवृष्यापानितवनम् । इव मांछमिति दृष्टवत्तरो बापनं त्यजेत् ॥ —साधारणमार्ग ४ अ स्तो ३१ ३३। 'यत्नं कर्म मार्गमन्मम्य' —अनुस्मृति अ १४१। ४

अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये ।
 अन्तरायाः स्मृता सद्भिर्व्रतवीजविनिर्क्रियाः ॥३२४॥
 अहिंसाव्रतार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
 निशायां वर्जयेद्भक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥

चमड़ा, कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोंमें 'यह मासकी तरह है' इस प्रकारका बुरा सकल्प हो जाना, भोजनमें मक्खी वगैरहका गिर पडना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना, ये सब भोजनमें विघ्न पैदा करनेवाले हैं । अर्थात् उक्त अवस्थाओंमें भोजन छोड़ देना चाहिए ॥३२३॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाड़के समान हैं । इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३२४॥

भावार्थ—भोजन करते समय यदि ऊपर कही हुई चीजोंको देख ले या उनसे छू जाये या ऊपर बतलायी हुई बातोंमेंसे कोई और बात हो जाये तो भोजन छोड़ देना चाहिए । क्योंकि उस अवस्थामें भी यदि भोजन नहीं छोड़ा जायेगा तो बुरी वस्तुओंसे घृणा धीरे-धीरे दूर हो जायेगी और उसके दूर होनेसे मन कठोर होता जायेगा, बुरी वस्तुओंके प्रति अरुचि हटती जायेगी और फिर एक समय ऐसा भी आ सकता है जब उन बुरी वस्तुओंमें प्रवृत्ति होने लगे । इस तरह यह अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित हो सकता है । इससे बचनेके लिए अन्तरायोंका पालन करना जरूरी है । तथा ऐसी अवस्थामें भोजनके छोड़ देनेसे तपकी वृद्धि भी होती है, क्योंकि इच्छाके रोकनेको तप कहते हैं । भोजनके बीचमें अन्तरायके आ जानेपर भी भूख तो भोजन चाहती है अतः मन भोजनके लिए लालायित रहता है । किन्तु समझदार व्रती भूखकी परवाह न करके भोजन छोड़ देता है और इस तरह वह खानेकी इच्छापर विजय पाकर अपने तपको बढ़ाता है । अतः अन्तरायोंका पालना आवश्यक है । वे व्रतरूपी बीजकी बाड़के समान हैं । जैसे खेतमें बीज बोकर उसकी रक्षाके लिए चारों ओर काँटे वगैरहकी बाड़ लगा देते हैं उससे कोई पशु वगैरह भीतर घुसकर खेतीको नहीं चर पाता ; वैसेही अन्तरायोंका पालन भी व्रतोंकी रक्षा करता है ।

रात्रि-भोजन त्याग

अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३२५॥

भावार्थ—रातमें भोजन करनेसे हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि सूर्यके सिवा अन्य जितने भी कृत्रिम प्रकाश हैं उनमें जीवोंका बाहुल्य देखा जाता है । रात्रिमें दीपक या बिजलीकी

यदि पश्येत तदन्नं तु परित्यजेत् ॥' —व्यासः । 'चाण्डालपतितोदक्यावाक्यं श्रुत्वा द्विजोत्तम । भुञ्जीत प्रासमात्रं चेद्दिनमेकमभोजनम् ॥' —कात्यायन । —आह्निक प्रकरण पृ० ४८२ पर उद्धृत ।

१. व्रतवीजवृत्तयः । 'अतिप्रसङ्गमसितु परिवर्धयितुं तपः । व्रतवीजवृत्तौ भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥' —सागारधर्मांश ४ अ० । २ 'अहिंसाव्रतार्थं मूलव्रतविशुद्धये । नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥' —सागारधर्मांश, ४-२४ । 'निशायामशनं हेयमहिंसाव्रतवृद्धये । मूलव्रतविशुद्धयर्थं यमार्थं परमार्थतः ॥ ५१ ॥' —प्रबोधसार पृ० ८४ ।

आभितेषु च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः ।
 गृहाभमी समीहेत शरीरेऽथसरे स्थयम् ॥३२६॥
 सधाम पानक धान्यं पुष्पं मूलं फलं दलम् ।
 जीययोगि न संघाह्यं यथा जीयैर्यत्प्रुतम् ॥३२७॥
 'भूमिर्ध' 'मिध्रमुत्सर्गि' कास्त्वैश्वराभयम् ।
 घस्तु किञ्चित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥३२८॥
 यदन्तर्धूपिप्रार्थं हेर्षं मालीनसादि तत् ।

रोसनीपर इतने जीव मँहराते देखे जाते हैं कि बिनाकी स्मृत्याका अन्यरात्रा भी समाना कठिन है । ऐसे समयमें रातमें खानेबाला कैसे उनसे बच सकता है ? उसके भाजनमें घे जीव बिना पड़े रह नहीं सकते । और इस तरह भाजनके साथ उनका भी भोजन हा जाता है । एसी स्थितिमें न ता अहिंसा मतकी ही रक्षा हा मकती है और न अष्ट भूमगुण ही रह सकते हैं । रातक खानेमें केवल इतनी ही नुराह नदी है । कमी-कमी तो बिपैर अन्तुओंके संसर्गसे दूषित भोजनके कर बनेपर जीवनका ही अन्त हो जाता है । जैसा कि एक बार लाहौरमें एक दाबतमें पायके साथ छिपकड़ोके भी चुर जानेसे बहुत-स आदमी उसे पाकर बहोश हो गये थे । यदि मकड़ी भोजनमें पली जाये तो कोढ़ पैदा कर देती है । यदि घासोंकी जू पेटमें पली जाये तो जन्वेदर रोग हो जाता है । अतः दिनमें सूर्यके प्रकाशमें ही भोजन करना चाहिए ।

गृहस्थको चाहिए कि आ अपने आभिन हों पहल उनका भाजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे ॥३२६॥ ज्वार, पानक पान्य, फल, मूल, फल और पत्तोंके जीवोंकी यानि होनेसे प्रदूषण नहीं करना चाहिए । तथा जिसमें जीवोंका वास हा पेसी वस्तु भी काममें नहीं लानी चाहिए ॥ ३२७ ॥

भार्यार्थ—अधिक दिनोंका मुरब्बा, ज्वार, मध और मांसक दुष्ट है अतः मयात्राके भीतर ही उसका सेवन करना चाहिए । पत्र भी सब ताज और साफ होने चाहिए । जनावर पुना हुआ नहीं होगा चाहिए और न इतना अंग संभ्रष्ट ही करना चाहिए कि पुन लग जाये । फल, पृष्ठ, दाक-सक्त्री बगैरह भी घाप कर ही काममें लाना चाहिए । गन्ने सड़ी हुई या कीड़ा खायी सक्त्री प्रत्येक दृष्टिसे अभक्ष्य है ।

जिनागममें कोढ़ वस्तु अकृत्री त्याज्य वस्तु है । काढ़ वस्तु किसीक साथ भिन्न जानेमें त्याज्य हा जाती है । काढ़ सबदा त्याज्य हाता है और काढ़ अमुक काम अमुक देदा और अमुक दानमें त्याज्य हाती है ॥३२८॥

अहिंसा पालनक लिण अन्य आपश्यक पाठे

त्रिमर बोधमें छिद्र रहन है पत्र कमउटंग बगैरह दाकोंका मनी माना चाहिए ।

१ वेचनम् । २ संयुक्तम् । ३ निरालासम् । अर्थं विपरीतम् । —अनरात्रा ४ ८५ उ । अहिंसेन जिनागुं नानाधर्माविवृत्तिम् । ननर्थाधर्मात् न नृक्षेत्रे स्वभावात् ॥ तथा— 'आवृत्तं जिनागुं कालमुत् नयेत् न । संयुक्तम्' न तथा वचनेद्वयमिति ॥ —अष्ट शरीर—११ १६२ ॥ १४ ॥ ४ लक्षणात्तद्वत्तं दत्तवत्तुं जीवेराज्यवत्तिह व जीवयोगि । मातोनगतिमुक्तिं न परतिन बध्ने यथा—उत्तमवृत्तवत्तं नवजयम् ॥ ४५ ॥ —अनरात्रा ४ ८५ उ । 'मालीनान् वानि' (जिनागुं) न बर्हन् । आशयः तन्मा इन्द्रं न वी वाज्यं भूयसा ॥ १५ ॥ —मातारवत्ति ५ ४ ।

अनन्तकायिकप्राय वल्लीकन्दादिकं त्यजेत् ॥३२६॥

द्विदलं द्विदलं प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम् ।

शिम्बयः सकलास्त्याज्या साधिता सकलाश्च याः ॥३३०॥

तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रहः ।

वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥३३१॥

शोकसन्तापसंक्रन्दपरिदेवनदुःखधी ।

भवन्स्वपरयोर्जन्तुरसद्वैद्याय जायते ॥३३२॥

कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते ।

जीवो जायेत चारित्र्यमोहस्यासौ समाश्रयः ॥३३३॥

और जो अनन्तकाय है, जैसे लता, सूरण वगैरह, उन्हें भी नहीं खाना चाहिए ॥ ३२९ ॥

पुराने मूग, उड़द, चना वगैरहको ढलनेके बाद ही खाना चाहिए, बिना ढले सारा मूग, सारा उड़द वगैरह नहीं खाना चाहिए । और जितनी सावित फलियों है चाहे वे कच्ची हों या आगपर पकायी गयी हो, उन्हें नहीं खाना चाहिए । उन्हें खोलकर शोधनेके बाद ही खाना चाहिए ॥३३०॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मनुष्यमे दया नहीं होती ॥ ३३१ ॥

भावार्थ—बहुत आरम्भ करनेवाले और बहुत परिग्रह रखनेवाले कभी अहिंसक हो ही नहीं सकते क्योंकि आरम्भ और परिग्रह हिंसाका मूल है । इसीलिए सागारधर्माश्रितमें लिखा है कि जो सन्तोष धारण करके अल्प आरम्भ करता है और अल्पपरिग्रह रखता है उसीका मन शुद्ध रहता है और वही अहिंसाशुभ्रतका पालन कर सकता है । इसी तरह व्यभिचारी और ठग भी निर्दय हो जाते हैं । जो दूसरोंको सताते है, खूब क्रोध वगैरह करते है उनके परिणाम भी सदा खराब रहते हैं और उससे उन्हें अशुभ कर्मका बन्ध होता है ।

जो मनुष्य स्वयं शोक करता है तथा दूसरोंके शोकका कारण बनता है, स्वयं सन्ताप करता है तथा दूसरोंके सतापका कारण बनता है, स्वयं रोता है तथा दूसरोंको रुलाता या कल-पाता है, स्वयं दुःखी होता है और दूसरोंको दुःखी करता है, वह असातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है ॥३३२॥ जिसके कषायके उदयसे अति सक्लिष्ट परिणाम होते है वह जीव चारित्र्य-मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥३३३॥

‘सन्धान पुष्पित मिश्र पुष्प मूल फल दलम् । तथान्तर्विवरप्राय हेय नालीनलादि यत् ॥४९॥’ —प्रबोधसार ।

१ गुडुच्यादि । २ सूरणादि । ३ द्विदल द्विदल हेय ।—धर्मरत्ना०, प० ८५ उ० । मापमुद्गादि । ४ द्विखण्डम् । ‘आमगोरससम्पृक्त द्विदलं प्रायशोऽनवम् । वर्षास्विदलित चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८॥’ —सागारधर्मा० ५ अ० । ‘बहुशोऽनन्तदेहास्त्वमृतवल्ल्यादिसश्रया ॥ शिम्बयोऽपि न हि प्राश्या यतस्ताश्चस-सहिता ॥५०॥’ —प्रबोधसार । ५ ‘सिधयः’ अ० ज० । मिद्वय मु० । फल्य । ६ ‘दुःखशोकतापाक्रन्दन-वधपरिदेवनान्यात्मपरोभवस्थानान्यसद्वैद्यस्य’ —तत्त्वार्थसूत्र० ६-११ । ७ ‘कषायोदयातीव्रपरिणामश्चारित्र्य-मोहस्य’ —तत्त्वार्थसूत्र ६-१४ ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि यथाक्रमम् ।
 सत्ये गुणाधिके क्रिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥३३४॥
 कायेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र वैद्विभि ।
 अयुःकलमणी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीयिषां मता ॥३३५॥
 तपोगुणाधिके पुंसि प्रअयाभयनिर्मटः ।
 आपमानो भगोरागः प्रमोदो विबुधां मत् ॥३३६॥
 दीनान्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं कठम्यात्मनाम् ।
 हर्षामयोऽगमता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं मिगुणात्मनि ॥३३७॥
 इत्थं प्रयत्नमानस्य गृहस्थस्यापि वैद्विभिः ।
 करस्थो आपते स्वर्गो नास्य कूरं च सत्यवत् ॥३३८॥
 पुण्य तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् ।
 तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयावीधितिमास्तिभि ॥३३९॥
 सा क्षिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते ।
 विशिष्येते परं भाषाध्वं मुक्यानुपक्विकौ ॥३४०॥
 'अध्वं'अपि भवेत्पापी निष्पन्नपि न पापभाक् ।
 अग्निभ्यामविरोधेन यथा धीवरकर्षकौ ॥३४१॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप

सब जीवोंसे मैत्री भाव रखना चाहिये । जो गुणमें अधिक हों उनमें प्रमोद भाव रखना चाहिये । दुःखी जीवोंके प्रति करुणा भाव रखना चाहिये । और जो निर्गुण हों, असम्भ और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिये ॥ ३३४ ॥ 'अन्य सब जीवोंको दुःख न हो' मन, वचन और कर्मसे इस प्रकारका कर्तव्य करनेको मैत्री कहते हैं ॥३३५॥ तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनम्रपूर्ण हार्दिक प्रेम समझता है उसे प्रमोद कहते हैं ॥३३६॥ दयालु पुरुषोंकी गरीबोंका उद्धार करनेको भावनाको कारुण्य कहते हैं । और उद्धत तथा असम्भ पुरुषोंके प्रति राग और द्वेषक न होनेको माध्यस्थ्य कहते हैं ॥३३७॥ जो मापी गृहस्थ होकर भी इस प्रकारका प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो उसके हाथमें है और मोक्ष भी बुर नहीं है ॥ ३३८ ॥ पुण्यको प्रकाशमय कहते हैं और पापको अन्धकारमय कहते हैं । दयारूपी सूर्यके होते हुए क्या पुरुषमें पाप उद्भूत सकता है ? ॥ ३३९ ॥ ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा नहीं होती । किन्तु हिंसा और अहिंसाक क्षिप गौण और मुख्य भावोंकी विशेषता है ॥३४०॥ सकलमें भेद होनेसे धीवर नहीं मारते हुए भी पापी है और किसाम मारते हुए भी पापी नहीं है ॥३४१॥

१ 'मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्यमुपाधिकानि कथयामासविनयेन' —तत्त्वा सू ७-११ ।

२ 'अरेया दुःखानुत्पत्तिमन्त्रयो मैत्री । वचनप्रसादादिभिरतिमध्यममागान्तरिष्ठराय' अथोर । दीनानुपहृषाव' कारुण्यम् । रागद्वेषपूर्वकप्रसादाभाको माध्यस्थ्यम् । —तर्कवर्तिष्ठि ७-११ । उक्तं— कायेन मनसा वाचा सर्वत्रैव च वैद्विभिः । —वर्पर प ९९ सू । ३ माध्यस्थ्य समुदाहृतं ॥५९॥ —वर्पर प ८९ सू ।

४ 'आरम्भेऽपि सदा हिंसा मुषीः साहस्यिणी त्यजेत् । अतोऽपि वर्चसापुष्पं पातोऽजम्बति पीवरे ॥२२॥

—साधारण्यं अ २ । अवेऽपि न भवेत् पापममूर्तिः अवेऽप्युपम् । पापवर्धयिषा न हि स्वातं ईशु

मुक्तामुपम् ॥५९॥ —अवीषकार ।

कस्यचित्सन्निविष्टस्य दारान्मातरमन्तरा ।
वपुःस्पर्शविशेषेऽपि श्रेमुषी तु विशिष्यते ॥३४२॥

तदुक्तम्—

“परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः कुशलाः ।
तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः” ॥३४३॥

—आत्मानुशासन, श्लो० २३ ।

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया ।
क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत् ॥३४४॥
क्रियान्यत्र क्रमेण स्यात्क्रियत्स्वेव च वस्तुषु ।
जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥३४५॥

भावार्थ—हिंसा और अहिंसाका विवेचन करते हुए पहले बतला आये हैं कि किसीका घात हो जानेसे ही हिंसाका पाप नहीं लगता । ससारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं फिर भी मात्र इतनेसे ही उसे हिंसा नहीं कह सकते । वास्तवमें तो हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है । जहाँ हिंसारूप परिणाम है वहाँ किसी अन्यका घात न होनेपर भी हिंसा होती है और जहाँ हिंसारूप परिणाम नहीं है वहाँ अन्यका घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं होती । उदाहरणके लिए धीवर और किसानको उपस्थित किया जा सकता है । एक मच्छीमार धीवर मछली मारनेके उद्देश्यसे पानीमें जाल डालकर बैठा है । उसके जालमें एक भी मछली नहीं आ रही है फिर भी धीवर हिंसक है क्योंकि उसके परिणाम मछली मारनेमें लगे हैं । दूसरी ओर एक किसान है वह अन्न उपजानेकी भावनासे खेतमें हल चलाता है । हल चलाते समय बहुतसे जीव उसके हलसे मरते जाते हैं किन्तु उसका भाव जीवोंके मारनेका नहीं है बल्कि खेत जोत बोककर अन्न उत्पन्न करनेका है अतः वह मारते हुए भी पापी नहीं है । इसीलिए गृहस्थको सबसे पहले सकल्पी हिंसाका त्याग करना आवश्यक बतलाया है ।

एक आदमी पत्नीके समीप बैठा है और एक आदमी माताके समीप बैठा है । दोनों ही नारीके अंगका स्पर्श करते हैं किन्तु दोनोंकी भावनाओंमें बड़ा अन्तर है ॥३४२॥

कहा भी है—

‘कुशल मनुष्य परिणामोंको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं । अतः पुण्यका सचय करना चाहिए और पापकी हानि करनी चाहिए’ ॥३४३॥

मनके निमित्तसे ही शरीर और वचनकी क्रिया भी शुभ और अशुभ होती है । मनकी शक्ति अचिन्त्य है । इसलिए मनको ही शुद्ध करनेका प्रयत्न करो ॥३४४॥ शरीर और वचनकी क्रिया तो क्रमसे होती हैं और कुछ ही वस्तुओंको अपना विषय बनाती हैं । किन्तु मनमें तो तीनों लोकोंसे भी बड़ी क्रिया क्षण-भरमें हो जाती है । अर्थात् मन एक क्षणमें तीनों लोकोंके बारेमें सोच सकता है ॥३४५॥

१ ‘भावशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु । अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा ॥’ —मुभाषि-
तावलि, पृ० ४९३ । २. काये वचसि च ।

तथा च लोकोक्ति—

“एकस्मिन्नमनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम् ।
अनायासेन संमानि सुखानि चतुर्दश” ॥३४६॥
मूपयापयमान्मीनां तुष्णापीनां च हिंसनम् ।
पायत्ययोजनं स्वस्य तावत्पुनर्विजन्तु यत् ॥३४७॥
प्रामस्यामिस्वकार्येषु यथाज्ञोक्तं प्रयत्नेषाम् ।
गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥३४८॥
वर्षेण वा प्रमाणाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने ।
प्रायश्चित्तविधिं कुर्याद्यथाशौचं यथागमम् ॥३४९॥

इसी विषयमें एक कहावत भी है—

‘उत्साही मनुष्योंके मनके एक कोनेमें बिना किसी प्रयासके चौदह सुख समा जाते हैं’ ॥ ३४६ ॥

मायार्थ—पहले बतका जाये है कि जो काम अच्छे भावोंसे किया जाता है उसे अच्छा कहते हैं और जो काम बुरे भावोंसे किया जाता है उसे बुरा कहते हैं। अतः वचनकी और कायकी क्रिया समी अच्छी कही जायेगी अब उसके फलोंके भाव अच्छे हों। अच्छे इरादोंसे बच्चोंकी पीटना भी अच्छा है और बुरे इरादोंसे उन्हें मिठाई खिलाना भी अच्छा नहीं है। अतः मनकी सलाहीसे वचनकी और कायकी क्रिया सलाह कही जाती है और मनकी अच्छाईसे अच्छी कही जाती है। इसीलिए मनकी सखिको अभिन्न बतकाया है। मन एक ही समयमें दुनिया-भर की बातें सोच जाता है किन्तु जो कुछ वह सोच जाता है उसे एक क्षणमें न कहा जा सकता है और न किया जा सकता है। अतः मनका सुधार करना चाहिए।

पृष्ठी, अङ्ग, हवा, आग और तृण बगैरहकी हिंसा उतनी ही करनी चाहिए जितनेसे अपना प्रयोजन हो ॥३४७॥

मायार्थ—जीव दो प्रकारके बतकाये हैं अस और स्थावर। अस जीवोंकी हिंसा न करनेके विषयमें ऊपर कहा गया है। स्थावर जीवोंकी भी उतनी ही हिंसा करनी चाहिए जितनेके बिना सांसारिक काम न चलता हो। व्यर्थ जमीनका खोदना पानीको व्यर्थ बहाना, व्यर्थ हवा करना व आग अक्षमा और बिना अन्दरतके पेड़-पत्तोंको तोड़ना जादि काम नहीं करना चाहिए। आखिर यह है कि मिट्टी, पानी, हवा, आग और सजीवोंकी भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

मागरिक कार्योंमें, स्वामीके कार्योंमें और अपने कार्योंमें लोकरीतिके अनुसार ही मवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इन कार्योंकी मर्याद और बुराईमें लोक ही गुरु है। अर्थात् लोकिक कार्योंको लोकरीतिके अनुसार ही करना चाहिए ॥३४८॥

प्रायश्चित्तका विधान

मनुसे जबवा प्रमादसे द्वीन्द्रिय जादि अस जीवोंका घास हो जानेपर दोषके अनुसार आगममें बतलायी गयी विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥३४९॥

प्राये इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।
 एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥३५०॥
 द्वादशाङ्गधरोऽप्येको न कृच्छ्रं दातुमर्हति ।
 तस्माद्बहुश्रुता प्राजाः प्रायश्चित्तप्रदा स्मृताः ॥३५१॥
 मनसा कर्मणा वाचा यद्द्रष्टुमुपाजितम् ।
 मनसा कर्मणा वाचा तत् तथैव विहापयेत् ॥३५२॥
 आत्मदेशपरिरपन्दो योगो योगविदां मतः ।
 मनोवाक्यायतरसेधा पुण्यपापान्नवाश्रय ॥३५३॥

प्रायश्चित्तका स्वरूप

‘प्राय’ शब्दका अर्थ (साधु) लोक है। उसके मनको चित्त कहते हैं। अतः साधु लोगोंके मनको शुद्ध करनेवाले कामको प्रायश्चित्त कहते हैं ॥३५०॥

प्रायश्चित्त देनेका अधिकार

द्वादशाङ्गका पाठी होनेपर भी एक व्यक्ति प्रायश्चित्त देनेका अधिकारी नहीं है। अतः जो बहुश्रुत अनेक विद्वान् होते हैं वे ही प्रायश्चित्त देते हैं ॥३५१॥

मनके द्वारा, वचनके द्वारा अथवा कायके द्वारा जो पाप किया है उसे मनके द्वारा, वचन के द्वारा अथवा कायके द्वारा ही छुड़वाना चाहिए ॥३५२॥

योगका स्वरूप, भेद और कार्य

योगके ज्ञाता पुरुष आत्माके प्रदेशोंके हलन-चलनको योग कहते हैं। वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका होता है और उसीके निमित्तसे पुण्यकर्म और पापकर्मका आस्रव होता है ॥३५३॥

भावार्थ—जीवकाण्ड गोमट्टसारमें योगका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण है उसे योग कहते हैं। इस योग शक्तिके द्वारा जीव शरीर, वचन और मनके योग्य पुद्गल वर्गणाओका ग्रहण करता है और उनके ग्रहण करनेसे आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है। यदि वह कम्पन काय-वर्गणाके निमित्तसे होता है तो उसे काययोग कहते हैं, यदि वचन वर्गणाके निमित्तसे होता है तो उसे वचनयोग कहते हैं और यदि मनोवर्गणाके निमित्तसे होता है तो मनोयोग कहते हैं। इन योगोंके होनेपर जीवके पुण्य और पाप कर्मोंका आस्रव होता है। ये तीनों योग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

१ ‘प्राय साधुलोक, प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्। अपराधो वा प्राय, चित्तं शुद्धि, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराधविशुद्धिर्गतिर्यथ’ । —तत्त्वार्थवातिक, पृ० ६२०। भगवती आराधना (गा० ५२९) की अपराजिता टीकामें उद्धृत है—‘चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्’ ॥ उसी गायत्री मूलाराधना टीकामें भी उद्धृत है—‘तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम्’ ॥ किन्तु अनगारधर्मामृत टीका (पृ० ४९५) में उपासकाध्ययनवाले पाठको लिये हुए ही उद्धृत है। ‘तदुक्तम्—प्रायो लोको जिनैरुक्तश्चित्त तस्य मनो मतम्। तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तं निगद्यते’ ॥६४॥—धर्मरत्ना०, पृ० ८७ पृ०। २ प्रायश्चित्तम्। ३ ‘आत्मप्रदेशपरिरपन्दो योगः। स निमित्तभेदेन त्रिधा भिद्यते। काययोगो वाग्योगो मनोयोग इति’ । —सर्वार्थनिधि ६-१।

हिंसमात्राप्रक्षीयौर्वि काये कर्माशुभ चित्तुः ।
 मसस्यासम्बपारुष्यमायं वचनगोषरम् ॥३५४॥
 २ म्देर्ष्यासुयनादि स्यान्मनोभ्यापारसम्भयम् ।
 ३ एतद्विपर्ययाज्जेय शुभमेतेषु तत्पुनः ॥३५५॥
 ४ हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशम्भाभघाससाम् ।
 दानैर्बहुविधैश्चाभ्यैव पापमुपशाम्यति ॥३५६॥
 बहनीपघसाभ्यानां व्याधोर्गा बाह्यको विधिः ।
 यथाकिञ्चित्करो लोके तथा पापोऽपि मन्यताम् ॥३५७॥
 निहत्य निबिडं पापं मनोवाग्देहवृण्वनैः ।
 करोतु सफलं कर्म दानपूजादिकं ततः ॥३५८॥
 ग्रामवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रिया ।
 सस्मृत्य शुक्रनामानि कुर्याच्चिद्रादिकं विधिम् ॥३५९॥

शुभाशुभ योग

हिंसा करना, कुसील सेवन करना, चोरी करना आदि कायसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए । शूठ बोझा, असम्ब वचन बोझा और कठोर वचन बोझा आदि वचनसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए ॥३५४॥ घमण्ड करना, ईर्ष्या करना दूसरोंकी निन्दा करना आदि मनोभ्यापार सम्बन्धी अशुभ कर्म हैं । तथा इससे विपरीत करनेसे काय, वचन और मन सम्बन्धी शुभ कर्म जानना चाहिए । अर्थात् हिंसा न करना, चोरी न करना, असम्ब वचन करना आदि कायिक शुभ कर्म हैं । सत्य और हित मित वचन बोझा आदि वचन सम्बन्धी शुभ कर्म हैं । अहन्त आदि की मक्ति करना, तपमें रुचि होना, ज्ञान और ज्ञानियोंकी विनय करना आदि मानसिक शुभ कर्म हैं ॥३५५॥

पापसे बचनेका उपाय

सोना, पशु जमीन कन्या खम्भा, जल, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओंके दान देनेसे पाप छान्त नहीं होता ॥३५६॥ जो रोग उपवास करने और औषधीका सेवन करनेसे दूर होते हैं वैसे उनके सिद्धि फल-बाध उपचार न्यून होता है वैसे ही पापक विषयमें भी समझना चाहिए । अर्थात् मन वचन और कायका वृत्तमें क्रिये बिना बचन बाध वस्तुका त्याग कर देने मात्रसे पाप किसी रोग छान्त नहीं होता ॥३५७॥ इसलिये पढ़क मन, वचन और कायको वृत्तमें करके समस्त पापक कारणोंको दूर करा । फिर दान पूजा वगैरह सब काम करा ॥३५८॥

रात्रिका कर्तव्य

रात्रिका अब साधा हा सध्याकालका कृतिकर्म करके यह प्रतिज्ञा करा कि अबनक मैं ग्राह्यिक कायमे निरत ॥ इन्हें तबनकक सिद्धि मर मयका त्याग है । और फिर पद्य ममकार

१ प्रायानिर्गन्तैर्नयं च परदारानवापि च । जीणि पापानि वचन निवृत्त परिचर्यदेत् ॥ अथारत्नाय
 वारप्य वैराग्यवद्वनं तथा । अथारि वाचा राजेण न ज्येष्ठानि विनयवत् ॥ अथान नरैर्विसेतु सर्वगणधन मोदकम् ।
 सर्वथा कलकलीनि मनना विविध चरेत् ॥ —मुद्रारिपञ्चमी पृ ४९९४ ॥ २ यथावद्विचारि पापं देवा
 विन विदुः । वैराग्यवद्वनं वाच्यं प्रायोद्वेष तथा ॥५८॥ —प्रकाशगार ।

दैवादायुर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफल^१ महत् ।
 भोगशून्यमत काल^२ नावहेदव्रत व्रती ॥३६०॥
 एका जीवदयैकत्र परत्र सकला क्रियाः ।
 परं फलं तु पूर्वत्र^३ कृपेद्विचिन्तामणेऽरि ॥३६१॥
 आयुष्मान्सुभग. श्रीमान्सुरूप कीर्तिमान्नरः ।
 अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥३६२॥

श्रूयतामत्र हिंसाफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिदेशेषु सकललोकमनोहरागमारामे
 शिरीषधामे मृगसेनाभिधानो मत्स्यबन्ध. स्कन्धावलम्बितगलजालाद्युपकरणः^४ पृथुरोमसमान-
 यनोपनीतविहरणः कल्लोलजलप्लवितकलशालेयमालवंप्रां सिप्रां सरितमनुसरन्नशेषमहर्षि-
 परिपद्वर्यमखिलमहाभागभूपतिपरिकल्पितसपर्य^५ मिथ्यात्वविरहितधर्मचर्यं^६ श्रीयशोधराचार्यं^७
 निचार्यं^८ समासन्नलुकृतासाद्यद्वयत्वाद्द्वारादेव परित्यक्तपापसंपादनोपकरणमाम^९ ससं-
 भ्रमं सपादितदीर्घप्रणामः प्रकामप्रगलदेनां समाहितमना. साधुसमाजसत्तम, समस्तमहा-
 मुनिजनोत्तम, देवादुपपन्नपुण्यगृह्यभावोऽनुगृह्यता कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेनायं जनः^{१०}
 इत्यभाषत ।

मत्रका स्मरण करके निद्रा बगैरह ले ॥३५९॥ क्योंकि देववश यदि आयु समाप्त हो जाये तो
 त्यागसे बड़ा लाभ होता है । इसलिए व्रतीको चाहिए कि जिस कालमें वह भोग न करता हो
 उस कालको बिना व्रत के न जाने दे । अर्थात् उतने समयके लिए भोगका व्रत ले ले ॥३६०॥

जीव दयाका महत्त्व

अकेली जीव दया एक ओर है और बाकीकी सब क्रियाएँ दूसरी ओर है । अर्थात् अन्य
 सब क्रियाओंसे जीव दया श्रेष्ठ है । अन्य सब क्रियाओंका फल खेतीकी तरह है और जीवदयाका
 फल चिन्तामणि रत्नकी तरह है—जो चाहो सो मिलता है । अकेले एक अहिंसा व्रतके प्रतापसे
 ही मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है ॥३६१-३६२॥

१३ अहिंसाव्रतके पालक मृगसेन धीवरकी कथा

अब अहिंसाव्रतके फलके सम्बन्धमें एक कथा सुनें—

अवन्ति देशके शिरीष नामक गाँवमें मृगसेन नामका धीवर रहता था । एक दिन वह
 कन्धेपर जाल रखकर मछली लानेके लिए सिप्रा नदीकी ओर चला । रास्तेमें उसने मुनियोंकी
 परिपद्वके बीचमें बैठे हुए तथा राजाओंसे पूजित और मिथ्यात्वसे रहित धर्मका आचरण करनेवाले
 आचार्य श्री यशोधरको देखा । अपने पापार्जनमें महायक जाल बगैरह उपकरणोंको दूरसे ही
 छोड़कर वह आचार्यके पास गया और जल्दीसे साष्टांग नमस्कार करके बड़ी धीरताके साथ
 बोला—‘हे साधु-समाजमें श्रेष्ठ और समस्त महामुनियोंमें उत्तम मुनिराज ! आज भाग्यसे ही पुण्य
 सचयका यह अवसर मिला है अतः कोई व्रत देकर मुझे अनुगृहीत करें ।’

१ सन्यासफलम् । २ नियम विना काल न गमयेत् । ३ अन्यासा क्रियाणां फल कृपिवत्, दयायास्तु
 चिन्तामणिवत् । ४ मत्स्य । ५ कृत । ६ ह्लावितजम् । ७ वृक्षश्रेणितटाम् । ८ मिथ्यात्वेन विरहिता
 धर्मचर्या चारित्र्य यस्य स तम् । ९ अवलोक्य । १० समूह । ११ मादरम् ।

भगवाद्—‘ननु कथमस्य’ पयापतद्वस्येय सर्वैष शकुलिविनाशनिःसृकाशयवशस्य यतप्रहजोपदेश प्रधीयमस्त-करणमभूत् । अस्ति हि लोके प्रवाक्, न अस्तु प्रायेण प्राणिनां प्रकृतेर्यद्विदितरायत्त्वां शुभमशुभ या विना भवति’ इत्युपयुक्तावधिः सम्यगवबुद्धसंविधैतस्मी वितापयिस्तमेधमवादीत्—‘महो शुभाशयायतन अद्यतमाहनि यस्तयावीवेवानाये मीना समापतति स् त्वया न प्रमापयितव्यः । यावन्नामैवृत्तिविषयमामिष न प्राप्नोपि तावत्तव तन्निवृत्तिः’ । अयं पुन पञ्चविंशद्वारपवित्रो मन्त्रः सर्वत्र सुस्थितेन दुःस्थितेन च त्वया भ्यातव्यः’ इति ।

मृगसेनः—‘यथाविशति बहुमानस्तथास्तु’ इत्यग्निविधिस्य^१ तां शैवे^२ सिनीमनुसृत्य अमितभालदेपोऽ^३ कालदेयमतनुकरणे^४ यैस्तारिणमासाद्य स्मृतमतस्तस्य^५ ‘अवसि विद्याय’^६ वीरवीरी^७ निवध्यास्याकीत्^८ । पुनरपरावकाशे^९ तीरिणीप्रदेश तथैवावृत्यशर्मा समा धरितकमा^{१०} तमेवापदहीयमकीणायुपमवाप्यामुञ्चत । तदैवमेतस्मिन्ननणिष्ठे पादोनवरिष्ठे पञ्चद्वत्यो हस्ते विपक्षमन्त्रे मुख्यमन्त्रे सति^{११} अस्तमस्तकमभ्यास्त^{१२} ‘प्रेमसुखजस्तादणित पदजपुरपुरन्धीकपोलकान्तिशाली गमस्तिमासी’^{१३} । तदनु त शूचीतव्रतापरित्यागमोदमान- भेतन मृगसेनमधार्मिकलोकव्यतिरिक्त^{१४} रिक्तमागच्छन्तं परिच्छिद्यं अतुच्छकोपापरिहाराय तद्भार्या घण्टाक्या घमघण्टेघ किमपि कर्णकडु कण्ठ्यन्ती कुटीरान्ताभितशरीरा निर्धिचरैर्मर-

यह सुनकर मुनिराम सोचने लगे—‘बगुलकी तरह सदैव मछलियोंके मारनेमें निश्चिन्त इस पीषरका मत प्रतग्रहण करनेके लिए कैसे हुआ ? साक्षमें किंवदन्ती है कि प्राय उत्तर कालमें होनेवाले भुमाभ्रमके बिना प्राणियोंका स्वभाव नहीं बदलता’ यह सोचकर उन्होंने अवधिज्ञानका उपयोग किया और उसे अल्पायु जानकर बाड़े—‘हे सहाय्य ! आज तुम्हारे आत्ममें जा फूली मछली आये उसे मत् मारना । तथा जब तक अपनी जीविकारूप मांस तुम्हें प्राप्त न हो तब तकके लिए तुम्हारे मांसका त्याग है । और यह पैसीस अक्षरका पवित्र मन्त्रकार मन्त्र है, सदा सुल-दु लमें इसका ध्यान करना ।’

मृगसेनने ‘जो जात्रा’ कहकर व्रत ग्रहण कर लिये और नदीपर जाकर आठ डाल दिया । बल्दी ही उसके आत्ममें एक बड़ी मछली जा गयी । उसने अपने व्रतका स्मरण करके पदचानके लिए उसका कानमें कपड़ेकी बिन्दी बाँधकर आत्ममें छोड़ दिया । फिर उसने दूसरे स्थानसे नदीमें आठ डाल्य किन्तु वही मछली आत्ममें फिर आ गयी । अतः उसे अब्ध आनन्द छोड़ दिया । इस प्रकार पाँच बार वही मछली आत्ममें आयी और पाँचों बार उसने उस आत्ममें छोड़ दिया । इतनेमें प्रचुर कसरसे कुछ झीक कपालकी तरह कान्तिवाला सूर्य अस्त हो गया । और मृगसेन स्वीकार किये हुए व्रतका पालन करनेसे प्रसन्नचित्त होता हुआ आत्म हीन पर लौटा ।

उसे सासी दाय आठा दलकर उसकी पत्नी घण्टा बड़ी कुछ कुछ और यमराजक घण्टेकी

१ वस्य । २ मस्य विनाये । ३ निर्दग्ध । ४ उत्तरवाक् । ५ तवीप । ६ अवसि । ७ प्रथम । ८ वाक् । ९ न मारणीय । १० स्वचरमागीनम् । ११ नामस्य निबन्ध । १२ अग्निप्राय इत्या । १३ तिप्रा नदीम् । १४ वीरम् । १५ बृहच्छरीरम् । १६ मस्तकम् । १७ मारयस्य । १८ वधे । १९ अग्नि मानाम । २० वरतम् । २१ स्ववति ह्यम् । २२ एवाने । २३ मन्त्रम् । २४ अस्तपर्वते । २५ आभित । २६ प्रचुरदुःखमुक्तावपतन् धोषमान । २७ धूय । २८ पुनश्चमूनम् । २९ आत्मा । ३० निरिच्छ कपाट ।

प्रदायास्थात् । मृगसेनोऽपि तथा निरुद्धवेश्मप्रवेशनस्तन्मन्त्रस्मरणशक्तचित्तः^१ पुराणतर-
तरुभिस्तमुच्छीर्षे विधाय सान्द्रं निद्रायन्नेतत्तरुभिस्तभ्यन्तरविनिःसृतेन^२ सरोत्सुपसृतेन
दष्ट कष्टमवस्थान्तरमाविष्टो^३ व्युष्टसमये घण्टया दष्टः । पुनरनेन सार्धमुर्ध्वधमध्यानुग-
मोचितनिश्चययात्मनि विहितबहुनिन्दया शोचितश्च । ततः सा 'यदेवास्य व्रतं तदेव ममापि ।
जन्मान्तरे चायमेव मे पति' इत्यावेदितनिदाना समित्समिद्धमहसि द्रविणोदसि^४ हव्यसम-
स्नेहं देहं जुहाव ।

अथ विलासिनीचिलोचनोत्पलपुनरुक्तवन्दनमालायां विशालायां^५ पुरि विश्वगुणा
महादेवीश्वरो विश्वम्भरो विश्वम्भरो नाम नृपतिः धनश्रीपतिः पिता च दुहितुः^६ सुवन्धो-
गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपापालिकायामेतस्या
कुलपालिकायामनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वायां^७ सत्याम्, असौ वसुधापतिर्विटकथा-
संसृष्टतया प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभावो नर्ममर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य सुताय नर्मधर्मणे गुण-
पालश्रेष्ठिनमखिलकलाकलापालंकृतरूपसमन्विता सुतामयाचत । श्रेष्ठी दुष्टप्रज्ञेन राज्ञा तथा
याचित 'यदि नर्मसचिवसुताय सुता चित्तरामि तदावश्यं कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोप-
क्रमश्च । अथ स्वामिश्रासनमतिक्रम्यात्रैवासे तदा सर्वस्वापहारः प्राणसंहारश्च' इति निश्चित्य
तरह गाली-गलौज वकती-भक्तती अपनी भोपडीमें चली गयी और अन्दरसे दरवाजा बन्द करके
बैठ गयी ।

मृगसेन भी अपनी पत्नीके द्वारा घरमें प्रवेश करनेसे रोक दिये जानेपर पञ्च-नमस्कार मन्त्र
का स्मरण करते हुए एक पुराने वृक्षकी जड़को तकिया बनाकर गाढ़ नींदमें सो गया । जब वह
गाढ़ नींदमें था तभी उस वृक्षकी जड़से निकलकर एक सॉपने उसे डस लिया और वह बड़े कष्टसे
मर गया । प्रभात होनेपर घण्टाने उसे उस अवस्थामें देखा । उसने अपनी निन्दा करते हुए बड़ा
पश्चात्ताप किया । और उसीके साथ अग्निमें जल जानेका निश्चय किया । तथा उसने निदान
किया कि जो इसका व्रत था वही मेरा भी है और दूसरे जन्ममें भी यही मेरा पति हो । उसके
बाद उसने आग प्रदीप्त की और उसमें होम सामग्रीके समान स्नेहसे पूरित शरीरको होम दिया ।

विशाला नगरीमें विश्वम्भर नामका राजा राज्य करता था । उसकी पटरानीका नाम विश्व-
गुणा था । वहीं गुणपाल नामका सेठ रहता था । उसकी पत्नीका नाम धनश्री था और पुत्रीका
नाम सुवन्धु था । गुणपाल सेठकी पत्नी धनश्री गर्भवती हुई और मृगसेन धीवरका जीव उसके
गर्भमें आया । राजा विश्वम्भरको विटोंकी सगतिके कारण भाण्डजन बहुत प्रिय थे । अतः उसने
नर्ममर्म नामके विदूषकके पुत्र नर्मधर्मके लिए गुणपालसे उसकी समस्त कलाओंमें प्रवीण सुन्दरी
कन्याकी याचना की । दुर्बुद्धि राजाकी इस माँगसे गुणपाल विचारमें पड़ गया । 'यदि विदूषकके
पुत्रको कन्या देता हूँ तो अवश्य ही कुलपरम्पराका लघन होता है और अपवाद भी फैलता
है । और यदि राजाज्ञाको न मानकर भी यहाँ रहता हूँ तो सर्वस्व अपहरणके साथ-साथ
प्राण भी जाते हैं ।' ऐसा सोचकर उसने रत्नजटित करधौनीसे गोभित अपनी पत्नीको तो अपने

१ पञ्चनमस्कार मन्त्र । २ जीर्णवृक्षखण्डकाष्ठम् । ३ निद्रा कुर्वन् । ४ सप्रेण । ५ प्रभातकाले ।
६ अग्नि । ७ अग्नी । ८ धृतवत् चिक्कणम् । ९ आहुतीचकार । १० तोरण । ११ उज्जयिन्याम् ।
१२. सुवन्धुपुत्रीतात् । १३ भार्यायाम् । १४ गर्भिण्याम् । १५ पाञ्चजनीन भण्डप्रिय । १६ ददामि ।
१७ राजादेशम् ।

प्रियसुहृदः श्रीवत्सस्य यणिष्यतेतिनेष्टेन समजिमेखलकैलत्रं कलत्रमयस्याप्य स्वापतेयसारं
 उद्धितरं चामसाकृत्य सुलभकैलिषनयनौग्रयनियेश कौशाम्बीवेशमयासीत् ।

अत्रान्तरे श्रीमहेश्वरिद्वयमभिरुचिरिदृशमन्त्ररितचर्मापयटनी श्रियगुप्तमुनिगुप्तसामामी मुनी
 श्रीवत्सप्रतिनिवेशनिवासिनोपासकेन यथाविधिपिहितप्रतिग्रहो कृतोपचारयिमाही च ताम-
 क्क्याभ्यां घनभियमपस्यताम् ।

तत्र मुनिगुप्तमगधाम्किल केयलखलिस्नानपरपयपुपमुत्तमगीयसगैठाक्कामोगत्यपम
 वैधव्यचिह्नद्वयरकमात्राकारजुपमासक्ताप्तापत्यपरिस्ननचिरहृदेहसादां गमगौरवक्षेत्रां च
 शिशिराज्रवाद्यघण्ट्यतिनीं स्वस्नकमलिलीमिष मलिनप्लव्यमुदयसितैपरिसरे परगृहवास-
 'यिर्यमाणमुज्जभिय धनधियं निष्पाय' 'बहो महीयसा अलु एतसामाघात कोऽप्यरया'
 कुली महापुदरोऽयतीर्णो येनायतीर्णमात्रेणापि दुष्पुत्रेण्य घराकी इयत्वावेशा दशामशिमयत्
 इत्यमापत । मुनिद्वयोः शिष्यगुप्त—'मुनिगुप्त मैव भापिष्ठा यतो यद्यपीय भ्रेष्टिमी कानि
 चिद्विनाम्येयम्भूता सती पराधिपत्ये तिष्ठति तथाप्येतच्चम्यमेन सकलवणिष्यतिना राज-
 भ्रेष्टिना निरवचिश्व धीम्भरेण विश्वम्भरेभरसुतावरण च मयितम्भम्' इत्यबोचत् ।

एतच्च स्वकीयमभिरालिन्वगतः श्रीवत्सो निश्रम्य 'न अलु प्रायेणासत्यमिदमुक्तं
 मयिष्यति महर्षे' इत्यध्यायं सूचीमुक्तसंपयदरीहितदृष्टयेतोवृष्टिरासीत् । घनभीक्ष्णं परि-

प्रिय मित्र श्रीवत्स सेठके घरमें रखा आर पुत्रीका साथ केकर बाग-मगीचोंसे शमित कौशाम्बीपुरी
 का चला गया ।

इसी बीचमें धनी और गरीबके मकानका भेद न करके चयाने किए भ्रमण करते हुए
 शिष्यगुप्त और मुनिगुप्त नामक दो मुनि श्रीवत्सक मकानके सामनेसे निकल । श्रीवत्सके पङ्क्तोंमें
 रहनेवाले गृहस्थने उन्हें विधिपूर्वक पङ्गाहा । और जब वे मांजन कर चुक ला जाँगनमें बैठे हुई
 घनभीक्ष्ण उनको दृष्टि पड़ी ।

तेसक बिना स्नान करनेसे उसका शरीर कूट हो गया था केवल दो बस्त्र और सबबाके
 चिह्न स्वरूप बहुत थोड़ा अलङ्कार पहने हुए भी, पति पुत्री और परिजनोंक वियोगसे उसका शरीर
 स्वेद लिप्त था, गर्भके भारसे पीड़ित भी शीतश्रुतके निरन्तर आगमनसे कुन्हसमयी हुई स्थल-
 कमबिनीकी तरह उसकी कान्ति मस्किन हो गयी थी, दूसरेके घरमें रहनेसे मुलकी खोमा चली गयी
 थी । घरके जाँगनमें बैठे हुई घनभीक्ष्णो इस रूपमें देखकर मुनिगुप्त मुनि बोले—इसकी कोलमें
 कोई बड़ा पापी महापुरुष आमा जान पड़ता है, जिसके गर्भमें आने मात्रस हम बचारीकी यह
 दुर्दशा हुई है ।'

यह सुनकर शिष्यगुप्त मुनि बोले—'मुनिगुप्त ! ऐसा मत कहा । यद्यपि यह सेठानी कुछ
 दिम तक इस तरह पराये घरमें रहेगी फिर भी इसका पुत्र समस्त बैरयोंका स्वामी और अपार
 सम्पत्तिगाली राजभेष्टी हागा तथा राजा विद्वम्बरकी पुत्रीका वरण करेगा ।

यह बात अपने मकानके बाहर चबूतरेपर सड़ा श्रीवत्सने सुनी । 'मुनियोंका कथन श्रुत

१ कलत्रं अथवा धार्या ५ । २ यजम् । ३ अलापय । ४ सधनलभनपूज्यमचित । ५ गुप्तबस्त्र
 मुक्ता अगत्यः यस्याः । ६ विन । ७ गृहाङ्गणे । ८ स्नान । ९ वृष्ट्या । १० मुनिघट्ट । ११ परगृह ।
 १२ निषि । १३ चरकरकत ।

प्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत ।

श्रीदत्त.—^१‘चित्रभानुरिवायमाश्रयाश’ खलु वालिशः । ^२तदसजातस्नेहायामेवास्य जनन्यामुपाशुदण्डः^३ श्रेयान् इति परामृश्य प्रसूतिदुःखेनातुच्छमूर्च्छापाश्रयां धनश्रियमाकलय्य निजपरिजनजरंतीमुखेन ‘प्रमीत’^४ एवायं तनयः संजातः’ इति प्रसिद्धिं विधायकार्यं चैकमाचरितोपचारप्रपञ्चं श्वपचं जिह्मब्राह्मीरहस्यनिकेतः कृतापायसकेतस्तं स्तन्यपमेतस्मै समर्पयामास ।

सोऽपि जनंगम स्वर्भानुप्रभेण करेण रामरंश्चिमिव त स्तनन्धयमुपरुध्य निःशैलाकावकाशं देशमाश्रित्य पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव शुभशरीरभाजमेनमवेक्ष्य सजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुखः सुखेन विनिधाय स्वकीयमटीकृत । पुनरस्यैवाधरभवंभगिनीपतिरशेषापणिकपणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी विक्रयाडम्बरितशण्डमण्डलाधीन पेटोपकण्ठगोष्ठीनमनुसृतो वत्सीय^५ विषयसंतीडक्रीडागतगोपालवालकलपनपरम्परालापाद्वत्संतरतानकसंतानपरिवृतमनेकचन्द्रकान्तोपलान्तरालनिलीनमरुणमणिनिधानमिव तं जातमुपलभ्य स्वयमदृष्टनन्दनवदनत्वात्तद्बुद्ध्या साध्वनुरुध्य ‘स्तनन्धयावधानधृतवोधे राधे, तवायं गूढगर्भसंभवस्तनूद्भवः’ इति प्रवर्धितप्रसिद्धिर्महान्तमपत्योत्पत्तिमहोत्सवमकार्षीत् ।

नहीं होता’ यह सोचकर श्रीदत्तने विषधर सर्पकी तरह अपना मन अपने दुष्ट सकल्पकी ओर लगाया ।

पूरे दिन होनेपर धनश्रीने पुत्रको जन्म दिया । श्रीदत्तने सोचा—‘यह बालक आगकी तरह अपने आश्रयको ही खानेवाला है । इसलिए माताका इसपर स्नेह उत्पन्न होनेके पहले ही इसका गुप्त वध करा डालना श्रेष्ठ है ।’ प्रसूतिके कष्टसे धनश्रीको एकदम बेहोश देखकर उसने अपने कुटुम्बकी एक बुढ़ियाके द्वारा यह प्रसिद्ध करा दिया कि बच्चा मरा हुआ ही पैदा हुआ है । और घूस वगैरह देकर एक चाण्डालको इस कार्यके लिए तैयार किया तथा उसे बुलाकर उस कुटिल भाषाके रहस्यमें विशारद श्रीदत्तने उसे मारनेका संकेत करके बालकको सौंप दिया ।

राहुके समान हाथके द्वारा सूर्यके समान उस बालकको उठाकर वह चाण्डाल एकान्त स्थानमें ले गया । वहाँ पुण्य परमाणुओंके पुजकी तरह इस सुन्दर बालकको देखकर उसे दया आ गयी और प्रसन्नमुख होकर उसने उस बालकको वहाँ सुखसे लिटा दिया तथा अपने घर चला आया ।

श्रीदत्तका छोटा बहनोई इन्द्रदत्त श्रेष्ठी व्यापारके लिए उधर गया था । वहाँ उसने शिशु के पास खेलनेके लिए आये हुए ग्वाल-वालकोंके मुखसे उस बालकका समाचार सुना और वह उस स्थानपर गया । वहाँ उसने अनेक बड़ोंसे घिरे हुए उस शिशुको देखा जो ऐसा प्रतीत होता था, मानो अनेक चन्द्रकान्त मणियोंके बीचमें स्थित लालमणिका खजाना है । उसके कोई पुत्र नहीं था । अतः उसने उसे अपना पुत्र मानकर उठा लिया और पुत्रके लिए अत्यन्त लालायित अपनी पत्नी राधासे बोला—‘राधे ! तुम्हारे गूढ़ गर्भसे इस शिशुने जन्म लिया है ।’ उसने सर्वत्र यह बात फैला दी और पुत्रोत्पत्तिकी खुशीमें बड़ा भारी उत्सव किया ।

श्रीदत्तने कानों कान यह समाचार सुना और बच्चेको मार डालनेके विचारसे यमराजकी

१ अग्निवत् । २ आश्रयमश्नातीति । ३ तस्मात् कारणात् । ४ गूढवध । ५ बूढ़ा स्त्री । ६ मृत एव जनित । ७ कुटिलवाणी । ८ वालम् । ९ राहु । १० चन्द्रम् । ११ एकान्तम् । १२ स्वगृह गत । १३ श्रीदत्तस्य । १४ लघुभगिनी । १५ वणिग्व्यवहार । १६ गोकुल । १७ वत्सेभ्यो हितप्रदेश । १८ ममीप । १९ मुख । २० लघुवत् । २१ वालम् ।

धोदत्त' धयणपरम्परया तमेन वृत्तान्तमुपपद्यतामित्य च शिशुविनाशनाशयेन कीनाश इव तन्निवेशम् 'इन्द्रदत्त' अयं महामागधेयो भागिनयो ममैव तायञ्जाम्नि वर्धताम्' इत्य मिषाय समगिनीकं 'लोकमात्मायासमानीय पुरावत्करप्रका' सञ्ज्ञेपनार्थमन्तावसायिने' प्रायश्चित्त । सोऽपि दिवाकीर्तिरुपात्तपुत्रमाण्ड' सत्त्वरमुपार्हणगङ्गारानुसारी समीरबेशविप-
लितघनाम्बरावरण 'हरिणकिरणमिय ईक्षणरमणीयं गुणपास्तनयमाछोष्य सद्यइदया
प्रबलव्यटपिसंकटे सरित्तनिकटे परित्यज्य यथायथमव्यधीर्त्' ।

तथाप्यसौ पुरोपाहितपुण्यप्रभाषाबुपमावभिरिष पंतहीकणात्सरत्कीरस्तनीमिरा नन्दोदीरितनिर्भरहम्माभ्यमिभि' 'प्रयागायागतमि' कुण्डोष्ठीमिर्धज' 'लोकधेनुमिदपक-
'असविषमागोऽपवास्तर्मागतेन तद्वक्षणवक्षेण गोपास्तजनेन 'अस्तावतंसमासिन्यशोक-
स्तनकक्षुन्दरे' सरोजसुदृवि सति विछोडिता । कथितम् सकलगोष्ठयेष्टाय वज्रवकु-
वरिष्ठाय मित्राननापहसितारविम्बाय गोविम्बाय । सोऽपि पुत्रप्रेम्णा प्रमोदगरिम्णा चानीय
अनितइदयानन्दाया' सुनन्दाया' समर्पितयान् । अ(क)रोद्यास्वेन्द्रामन्दिरस्य' 'अनकीर्ति-
रिति नाम ।

ततोऽसौ क्रमेण मकरन्दपरित्यज्यौशवदशः कर्मकेश इव युवजनमन पच्यताकम्पो-
त्कुम्भे' इवीसोचनासिद्धसाध' लेखलाभयमकरन्दममन्वानम्कामदमठिकान्तरुपायतर्न बीवन
मासादित' पुनरपि प्राग्भाष्यवक्षिज्योपाजनसञ्ज्ञागमनेन तेन धीवत्तेन इष्टः । पृथग् गोविम्ब

तरह इन्द्रदत्तके घर आया और बांठा— इन्द्रदत्त । यह माम्माशाकी भानबा मेरे ही घरमें बड़ा होना चाहिए ।' यह कहकर बहिनके साथ बच्चेको अपने घर ले आया और फलकी ही तरह मार गलनेके लिए उसे बधिकको दे दिया । वह बधिक भी उस बच्चेको छेकर जीव ही एकान्त गुफाकी ओर चला दिया । हवाक बच्चेसे बिसके ऊपरसे मेघपङ्कजा आवरण हट गया है उस चन्द्रमाक समान नयनाभिराम उस बालकको देखकर उसका हृदय भी दयालु हो गया । और नदीके किनारे झुंडों एक झुण्डमें उस बालकको रलकर वह चला गया ।

इसके पूर्वोपाहित पुण्यके प्रभासे वहाँ भी घरनेके लिए वो गायेँ आयी थी वे इसे देखते ही आनन्दसे रमाती हुई इसके पास चली आयी और उनक बनोंसे वृष झरने लगा । सन्धाके समय जब सूर्य डूबने लगा तो उन गायोंक रलबाक स्वात्मेंमे यह कीतुक दन्वा और समस्त जालों क सरदार गोविन्दसे कहा । पुत्र स्नेह वक्ष आनन्दसे गद्गद होता हुआ गोविन्द भी उस बालक-
को घर ले आया और अपनी पत्नी सुनन्दाको सौप दिया । बालकका नाम अनकीर्ति रखा गया ।

धीरे धीरे कचफनाको छोड़कर अनकीर्ति असीम आनन्दको देनेवाली तथा अरन्त मनोहर रूपकी दात्री युवायम्माका पास हुआ । श्री कृष्णकी तरह युवायन्तेके मनको लीन्दनेक किये पण्य रूप सारण्यसे बिकसित गोपिकाओंक आचनरूपी अमर उसके स्वरण्यरूपी मकरन्दका पान करनेके लिए आकुरु रहते थे । एक दिन धीक व्यापारेके निमित्तसे भीदच उपर जा निकल्य । उम्ने देखा और गोविन्दसे पूछा कि यह कड़का उसे कहाँस मिला ? सुनकर भीदच बाया—

१ पुत्रम् । २ मारयार्थम् । ३ मातयाय । ४ एवान् । ५ बापुवधिन । ६ चम्पू । ७ आम
मनबाय । ८. पाकीभि । .. विगु । १ शंभा—भीदचम् । ११ युवायनार्थम् । १२ बीदास । १४ समीर ।
१५. गन्धायाममै । १६ भाविग्य—आ । १७ रबी । १८ लक्ष्मीपण्य । १ हरिच । २ मनोइने
मन्धर्न त्रियाय (१) कचयार्थ सारण्यम् । २१ गोपी । २२ आस्थाप ।

स्तदवाप्तिप्रपञ्चम् । श्रीदत्तः—‘गोविन्द, मदीये सद्ने किमपि महत्कार्यमात्मजस्य निवेध-
मस्ति । तदयं^१ प्रश्नुरिमं लेखं ग्राहयित्वा सत्त्वर प्रहेतव्यः ।’ गोविन्द—‘श्रेष्ठिन्, एवमस्तु ।’
लेखं चैवमलिखत्—‘अहो विदितसमस्तपौतवकैल महाबल, एष खल्वस्मद्वंशविनाशवैश्वा-
नरोऽवश्यं^२ विष्यो^३ मुशल्यो वा विधातव्यः’ इति । धनकीर्तिस्तथा तातवणिकपतिभ्यामादिष्टः
सार्वष्ट्रम्भं गलालङ्कारसखं लेखं कृत्वा गत्वा च^४ जन्मान्तरोपकाराधीनमीनावतारसरसी-
मेकानसीं^५ तत्प्रवेशपदिरपर्यन्तवर्तिनि वने वर्त्मश्रमापनयनाय^६ पिकप्रियालवालपरिसरे^७
^१निःसंशमस्वाप्सीत् ।

अत्रावसरे विहितपुष्पावचयविनोदा सपरिच्छदा निखिलविद्याविदग्धा^८ पूर्वभवो-
पकारस्निग्धा संजीवनौषधिसमानानङ्गसेनानामिका गणिका तस्यैव सहकारतरोस्तलमुप-
ढौक्य विलोक्य च निस्पन्दलोचना चिराय तमनङ्गमिव^९ मुक्तकुसुमास्त्रतन्त्र^{१०} लोकान्तर-
मित्रमशेषलक्षणोपलक्षितमूर्तिं धनकीर्तिं पुनरायु श्रीसरस्वतीसमागमादेशरेखात्रयेणेव प्रकट-
वितर्कितैकैकौटत्रयेण वन्धुरमध्यप्रदेशात्कण्ठदेशादादायापायप्रतिपादनाक्षरालेखं लेखमवाच-
यत् । लिलेख च तं वाणिजकापसदं हृदयेन^{११} विकुर्वती लोचनाञ्जनकरण्डादुपात्तेन वनवस्त्रि-
पल्लवनिर्यासरसद्रुतेन^{१२} कज्जलेनार्जुनशलाकया तत्रैव परिम्लिष्टपुरातनसूत्रे पत्रे लेखान्तरम् ।
तथा हि—‘यदि श्रेष्ठिनी मामवधेयवचन श्रेष्ठिनं मन्यते, महाबलश्च यदि मामनुलङ्घनीय-

‘गोविन्द, मुझे अपने घरपर अपने लड़केसे कुछ जरूरी बात कहलाना है । अतः इस लड़केको यह
पत्र देकर शीघ्र भेज दो ।’

गोविन्दने श्रीदत्तकी बात स्वीकार कर ली । पत्रमें लिखा था—‘माप-तौलमें कुशल महाबल ।
यह लड़का हमारे वंशका विनाश करनेके लिए आगके समान है । अतः या तो इसे विष दे
देना या मूसलसे मार डालना ।’

पिता और वैश्यपतिकी आज्ञा पाकर उस मुद्राङ्कित पत्रको अपने गलेमें बाँधकर धनकीर्ति
उस उज्जैनी नगरीकी ओर चल दिया जिसमें उसके द्वारा पूर्व जन्ममें उपकृत मछलीने जन्म
लिया था । नगरीके निकट पहुँचकर वह नगरीके प्रवेश मार्गके निकटवर्ती वनमें रास्तेकी थकान
दूर करनेके लिए आमकी क्यारियोंके निकट गहरी नींदमें सो गया ।

इसी बीचमें बस्त्रालंकारसे सुसज्जित, समस्त विद्याओंमें निपुण और पूर्व जन्मके उपकारसे
उपकृत अनङ्गसेना नामक वेश्या पुष्प चयन करके उसी आमके पेड़के नीचे आयी और कामदेव
के समान सुन्दर समस्त लक्षणोंसे युक्त तथा पूर्व जन्मके मित्र धनकीर्तिको देखकर देखती ही रह
गयी । उसके कण्ठमें तीन रेखाएँ थीं जो मानो आयु, लक्ष्मी और सरस्वतीके आगमनको ही
सूचित करती थीं । अचानक अनङ्गसेनाकी निर्निमेष दृष्टि गलेमें बंधे पत्रपर पड़ी । उसने उस
अशुभ पत्रको खोलकर पढ़ा, और उस निकृष्ट वणिकका हृदयसे तिरस्कार करते हुए अपने लोचन
रूपी अञ्जनकी डिबियासे काजल लेकर उसे लताओंकी नयी कोंपलोंके रसमें भिगोया तथा चाँदी
की सलाईसे अथवा तृणसे उमी पत्रपर पहलेके लेखको मिटाकर दूसरा लेख लिखा । लेख इस

१. प्रकृष्ट जानु । २. प्रेवणीय । ३. तुला मान वा । ४. विषेण वध्य । ५. मुशलेन वध्य ।
६. मुद्रासहितम् । ७. पूर्वजन्मनि यो मत्स्य स यत्र वेश्या जाता वर्तते । ८. उज्जयिनीम् । ९. मार्ग ।
१०. आम्रवृक्षथाणप्रागण । ११. निश्चेतन यथा । १२. चतुरा । १३. वाणान् विना कन्दर्पम् । १४. जन्मान्त-
रोपकारिणम् । १५. कण्ठरेखा । १६. निन्दनी । १७. घोलितेन । १८. हेम, तृण वा । १९. पूर्वक्षराणि
परिमृज्य नूतनाक्षराणि लिखितानि । २०. आदरणीय ।

वाक्प्रसरं पितरं गणयति, तदास्मै निजामं सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षिताम्वयसंपत्तये धनकीर्तिये
 कृपार्थप्रक्रमेण 'द्विजदेवमुक्तसमक्षमधिचारापेक्ष भीमतीर्थातम्या इति । ततो यथाम्मातकि-
 'गिबमिमं केनमामुष्यं समाचरितगमनायामनङ्गसेनाया धनकीर्तिभिरपि धिद्रापसाम्प्र
 निद्रोद्रेकः 'सोत्सेकमुत्थाय प्रयौप च भीवत्तनिवैतम जगनीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शित
 केनः भीमवीसखोऽभवत् ।

भीवत्तो वार्तामिमामाकर्ष्य प्रतूर्णं प्रत्यागत्य निर्धाय च तद्विधाय राजधानीबाहिरि
 कायां चण्डिकापठने कृतसंकेतं समग्रवपुषं पुरुष कथेरोधरणपिशाची 'दैववीधीं च परि
 प्रातोवर्धसितो षष्टि धनकीर्ति सुहृद्राह्वय बहुकृतकपटमतिरेषमायमाये—'बत्स, मदीये कुक्षे
 किञ्चैवमाचारो पशुत मामिमीमुक्ते कात्यायिनीयेमुक्ते प्रवेशे प्रतिपन्नानिक्कट्टणवन्धेन स्तम्भ-
 भागोपेन महारज्जेनैरसरकांशुकैसमाभ्रयः स्वयमेव मापर्मयमोरमौकुं विष्विन्नरपेईर्त्तम्या ।'
धनकीर्ति—'तात, यथा तातावैशः' इति निर्गीर्य एहीतकुलदेवतावेयहर्त्तैर्कौरोपकरपस्तेन
 ह्याकेन महाबलेन पुरप्रवेशप्रतिस्तरन्नयलोकिता । समाकापितम्—'हृदो धनकीर्ति, प्रवर्ध-
 मानत्पकारावन्ध्यायामस्यां वेलायामवैनेष् कोचछितोऽसि ।' महाबल, मातुलमिनेशा-
 'मसितनिधेवनाय गुणोत्तये ।' 'यद्येवं नगरज्जमासंस्तुतत्वात्वं निवास प्रति निवर्तस्व ।

प्रकार था—'यदि सेठामी मेरे वचनोंको मानती है और यदि महाबल मुझे अपना पिता मानता
 है तथा मेरे वचनोंको अनुज्ञाप्य समझता है तो इस धनकीर्तिको, जिसके वंशकी श्रेष्ठताकी परीक्षा
 सात बनोंके सामने कर ली गयी है, बिना किसी विचारके अग्निकी साखी पूर्वक दहेजके साथ
 भीमतीको सौंप देना ।' पहलेकी ही तरह इस लेखको उसके गलेमें बाँधकर अनङ्गसेना बली गयी ।
 धनकीर्ति बहुत देर तक गहरी नींदमें सोता रहा । फिर उठकर भीवत्तके घर पहुँचा और माता
 सहित महाबलको पत्र देकर भीमतीका पति बन गया । भीवत्त इस समाचारको सुनकर खीन ही
 छोट आया और राजधानीके बाहर निवृत्त चण्डीदेवीके मन्दिरमें धनकीर्तिको मारनेके लिये एक
 सठस मनुष्यको तथा कुसित क्रम करनेमें पिशाचीसमान देवीको न्युक्त करके घर आया ।
 और एकान्तमें धनकीर्तिको बुझकर वह कपटी बोझ—'बत्स । मेरे कुक्षिरी ऐसी रीति है कि जिस
 कन्याका नया विवाह होता है उसका पति रात्रिके समय कुसुम्मेके रंगसे रंगे हुए कल फूलकर
 स्वयं ही चण्डीके मन्दिरमें चढ़कर बने हुए मार और कौयेकी बलि दता है ।'

'ऐसी आज्ञा' कहकर धनकीर्ति कुलदेवताको अर्पित करनेकी सामग्री लेकर घरसे
 निकला । सामनेसे आते हुए उसके साथे महाबलने उसे देखा और पूछा—'धनकीर्ति ! इस
 अन्धेरी रातमें अकेले कहाँ जाते हो ?'

'महाबल ! मामाकी आज्ञासे बलि देनेके लिये दुर्गाके मन्दिरको जाता हूँ ।'

'बढ़ि ऐसा है तो दुम्हारा आमा ठीक नहीं है । नगरके जादमी क्या कहेंगे । जत तुम

१ आमातुर्वैध बस्तु सङ्ग्रह्यकन्यावाची नृपतः वच्यते । २ अग्निहोत्रिकम् । ३ मावम् । ४ वच्ये
 बन्धा । ५. वपघात । ६. उपर्वम् । ७. यत्ना । ८. जर्मा । ९. योविन्धन्वात् स्वकुलमागत्य । १. पुरुष
 स्थापयित्वा । ११. कुतिलत् । १२. वज्रिका । १३. गृह । १४. प्राज्ञये । १५. द्रुमुम् । १६. रत्नवत्सेन
 देहितः । १७. मापभायिन वदित । १८. मयूर-वाक । १९. पाठम् । २. बाल । २१. एवाजी । २२. देव
 बस्तु । नमस्तिष्ठत-य ।

अहमेतदुपेयाचितमैशान्याः ^३स्पर्शयितुं प्रगच्छामि । यद्यत्र तातो रोपिष्यति तदा तद्रोषमहमपनेष्यामि ।' ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम् ।

श्रीदत्तः सुतमरणशोकातङ्गोपान्तः प्रकाशितारोपवृत्तान्तः 'सकलनिकाय्यकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि श्रेष्ठिनि मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे विशाखे, कथमयं वैधेयो' ममान्वयोपायहेतुः प्रयुक्तोपायविलोपनकेतुः 'प्रवाशयितव्यः ।' विशाखा—'श्रेष्ठिन्, 'भेलभावात्सर्वमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम् । अतः 'कुरुण्डतो भीतः कुक्कुटपोत इव तूष्णीमास्त्व । भविष्यति भवतोऽशेषं मनीषितम्' इत्याभाष्य अपरेद्युर्दयितजीवितव्यतोदकेषु ^{१०}मोदकेषु विष संचार्य 'सुते श्रीमते, य एते कुन्दकुमुदकान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देयाः, ^{११}'श्यावश्यामाकश्यामलरुचयश्च जनकाय' इति समर्पितसमया ^{१२}समासन्नमरणसमया सरिति सर्वनायानुससार । श्रीमतिः 'यच्चोक्ष' ^{१३}भक्ष्यन्तत् ^{१४}प्रतीक्षाय ताताय वितरीतव्यम्' ^{१५}इत्यवगत्याविज्ञातसचिवीचित्तकौटिल्या निःशल्यहृदया तानेतयोर्विपर्ययेणावीवृधत् । विशाखा पतिशून्यमरण्यसामान्यमगारभाष्य परिदेव्य च सुचिरं पुनः 'पुत्रि, किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम् । केवलं तव ^{१६}वापेन मया च ^{१७}थेर्यात्मीयान्वयविलोपाय कृत्योत्थापनमाचरितम् ।

घरको लौट जाओ । देवीको यह भेंट समर्पित करनेके लिए मै जाता हूँ । यदि पिताजी रुष्ट होंगे तो उनके रोपको मै दूर कर दूँगा ।'

इस बात-चीतके बाद धनकीर्ति घरको चला गया और महाबल यमराजके पेटमें समा गया ।

पुत्र-मरणके शोकसे विह्वल होकर श्रीदत्तने अपनी पत्नी विशाखासे सब समाचार कह दिया और बोला—सब गृहकार्योंके करनेमें चतुर सेठानी ! यह अभाग मेरे वशका अनिष्ट करनेवाला है, इसके मारनेका जो-जो उपाय किया जाता है वही व्यर्थ हो जाता है । इसे कैसे मारना चाहिए ।'

'सेठजी ! अविचारके कारण आपके सब उपाय व्यर्थ हुए । अतः बिलावसे डरे हुए मुर्गेके बच्चेकी तरह आप चुप होकर बैठो । आपकी सब इच्छाएँ पूर्ण होंगी ।'

दूसरे दिन सेठानीने अपने पतिके जीवनको नष्ट करनेवाले लड्डुओंमें जहर मिलाकर अपनी पुत्री श्रीमतीसे कहा—'पुत्री ! ये जो सफेद कमलकी तरह स्वच्छ लड्डू हैं इन्हें अपने पतिको देना और ये जो काले धान्यके समान काले रंगके लड्डू हैं इन्हें अपने पिताको देना ।' इतना कहकर सेठानी नदीमें स्नान करने चली गयी । श्रीमतीको माताके चित्तकी कुटिलताका पता नहीं था । उसने सोचा कि जो सुन्दर लड्डू हैं उन्हें पूज्य पिताको देना चाहिए । अतः उसने जहर मिले सफेद लड्डू तो पिताको दिये और काले लड्डू अपने पतिको दिये । जब विशाखा लौटी तो उसका पति मर चुका था । वह बहुत रोई फिर बोली—'पुत्री ! महामुनियोंका कथन कैसे झूठा हो सकता है ? तेरे पिताने और मुझ वृद्धाने अपने वशका नाश करनेके लिए

१ नमसितम् । २ दातुम् । ३ गृहकार्य । ४ निर्भाग्य । ५ वश । ६ मम कृतानेककपटविनाशसमर्थ । ७ प्रणाम—व० । मारणीय । ८ वृद्ध वा अविचारक । ९ मार्जारान् । १० पीठकेपु । ११ श्याव स्यात् कपिश धूमराखण । १२ मता-अभिप्राया । १३ स्नानाय । १४ चोक्ष सुन्दरगीतयो । १५ पूज्याय । १६ देयम् । १७ पित्रा । १८ वृद्धया ।

तद्वत्समं वहुप्रसापेन । कल्पद्रुमेण कल्पसत्तेय स्वमनेन वैष्वेयवृद्धरक्षाधिपानेन धयेन सार्धं-
माकल्पमिन्द्रियैर्भयंस्तुल्यमनुमय' इति समौघिताशीर्वादा तमेकं मोक्षकमास्वाद्य पत्युः
पथि प्रैतस्ये ।

एष विहितदुरीहितयशाशुपासामितलोकशोकावस्थे वर्षमीस्ये तस्मिन्व्यशुरः श्वभूजने
य सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्यातुल्लङ्घितघोरप्रतिधपञ्जकापत्यतिविनमुदीयमानसंपदेक्या तेन
विश्वम्भरेण द्वितीश्वरण निरीक्षितः । सद्रूपसपत्नी जातबहुविस्मयेन तनुजया सह उभयेन
विशामाधिपत्यपदेन योजितश्च । गुणपालः किंयन्तीपरम्परया अर्ह्यै कस्याप्यपरम्परामुप-
भृत्य कौशाम्बीदेशात्यचार्यतीपुरमागत्य जनेनाश्चर्यैर्भयंभाजा मुखा सह संजग्मे' ।

अथाम्भवा सकलत्रपुत्रमित्रतन्त्रेण धनकीर्तिना वर्षनायागतयान्तस्तेनया धानुगतितिष्ठो
गुणपात्यभेदी मतिमुतायधिमनापर्ययधिपयसघ्राजमक्षितमुनिमण्डलरीराज श्रीयशोभ्यजनाम
मात्रं भगवन्तममिष्यथ सवहुप्रधयमेधमपृच्छत्—'भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना
धनकीर्तिना सुकृतमुपास्वितम्, येन बालकास्तेऽपि तानि तानि वैषैकशरणप्रतीकाराणि ध्यस्य
नानि व्यतिक्रान्ता, येनास्मिन्भ्यतिरिक्तरेसाकपसपन्नोऽभूत्, येनादे'जात्रिर्नैविमाषस्तुममा
समार इव देवानामप्यप्रतिहतमेहैः समज्जमि येन चापरेषामपि तेषां तेषां महापुरुषकण-
'वप्रहाजा गुणानां समयायोऽभवत् । तथा हि—स्थान 'वन्म्यतायाः, समाभयो वशान्य'

ही यह गढ़ा सोदा जा । धन रोनेसे क्या होता है ? कल्पद्रुमके साथ कल्पद्रुमके समान तू अपने
इस वैभवहित पतिके साथ कल्पद्रुम तक पेश्वर्मे और इन्द्रिय सुलको भाग ।' ऐसा आशीर्वाद
देकर उसने भी एक नहरीछा कद्वहू सा किया और पत्नी अनुगामिनी बन गयी ।

इस प्रकार पूर्व उपास्वित पुण्यके प्रतापसे पाँच मयानक विपत्तिबोले बचकर धनकीर्ति अपने
ही द्वारा की गयी दुमाकनाओंके कारणसे सास और श्वसुरके बल बसनेपर प्रतिदिन सम्पत्तिशान्ती
होने लगा । एक दिन राधा विद्वग्भरने उसे देखा । उसका सौन्दर्य देखकर राजाको बहुत अचरब
हुआ । उसने उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और उसे बैर्योंका अधिपति बना
दिया । धनकीर्तिके पिता गुणपालने लोगोंके मुक्तसे अब अपने पुत्रके अमृदयका समाचार सुना
तो वह कौशाम्बी नगरीसे उज्जयिनी आकर आश्चर्यजनक सम्पत्तिशान्ती पुत्रसे मिल ।

एक बार मति श्रुत, अवधि और मन-पश्य ज्ञानके भारी श्री यशोभय मुनिराज बहो
पधारे । गुणपाल सठ, सकुटुम्ब धनकीर्ति और उससे मिलनेके लिए आसी हुई अनगसेनाके साथ
मुनिराजके दरौगके लिए गया, और उन्हें नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—'भगवन् ! धर्म-
मूर्ति धनकीर्तिने पूर्व जन्ममें कौन-सा पुण्य कमाया था, जिसके कारण बचपनमें ही यह उन कष्टोंका
पार कर गया जो वैश्वके द्वारा ही तू किसे ना सकते थे तथा इस जन्ममें इसने बड़ी भारी सम्पत्ति
और सौन्दर्य पाया सूर्यक तेजकी तरह देवोंसे भी न रोका जा सकनेवाला इसे तेज प्राप्त
हुआ । इसके सिवाय महापुरुषोंके योग्य अन्य भी गुण इसे प्राप्त हो सके । जैसे, यह बड़ा दामी

१ कालेन । २ वत् । ३ मुता इत्यर्थः । ४ मृते । ५ मित्र । ६ एको विवाहोत्सवो द्वितीयः
त्रैविध्यप्रयोगोत्सवः । ७ धनकीर्तिः । ८ धनमिनीम् । ९ पुत्रेण । १० सम्मिलितः । ११ जन्मति ।
१२ अधिकः—असत्तारक्य—जा । १३ बहुलः । १४ अग्रपदस्यन्तमिष्य अमिष्येय समुद्भवम् । वयानिष्यम् ।
१५ ठेकः । १६ पक्षधायता । १७ विष्वतायाः । १८ वसति वीजतामिति वदाम्य' । स्थानी ।

भावस्य, निकेतनमवदानकर्मणः, क्षेत्र मैत्रेयिकायाः^१, स्वप्नेऽपि न स्वजनस्याजनि मनोमलुः^२ कन्तुरिव च कामिनीलोकस्य । तदस्य भदन्त, प्रापणिकपरिपत्प्रवणस्य निःशेषशास्त्र-प्रवीणान्तःकरणस्य निसर्गादेव निखिलपरिजनालापनसक्तस्य विनेयजनमनःकुवलयानन्दि-कथावतारामृतमूर्तेः सुकीर्तेर्धनकीर्तेः पुरोपार्जितं सुकृतं कथयितुमर्हसि ।^३

भगवान्—‘श्रेष्ठिन्, श्रूयताम् ।’ तत्संवन्धसक्तं पूर्वोक्तं वृत्तान्तमचकथत्—‘या चास्य पूर्वभवनिकटा घण्टा वधूटी सा कृतनिदानादमूर्तसिप्रवेशादियं संप्रति श्रीमतिः संजाता । यश्च स मीन स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य पूर्वपर्यायपर्वेयमनङ्गसेनाभूत् । अतोऽस्य महाभागस्यै-कदिवसाऽर्हिसाफलमेतद्विजृम्भते । धनकीर्तिरेतद्वर्चत्रपचित्रश्रोत्रवर्त्मा तथा श्रीमतिरनङ्गसेना च पुराभव भवं संभाल्योःमूल्य च तमःसंतानतरुनिवेशमिव केशपाशं तस्यैव दोषैर्ज्ञस्यान्तिके यथायोग्यताविकल्पं तपःकल्पमादाय जिनमार्गोचितेनाचरितेन चिरायाराध्य रत्नत्रयं विधाय च विधिवन्निरञ्जयमनोवर्तनं प्रायोपवेशनैम् । तदनु धनकीर्तिः सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्व-भूव । श्रीमतिरनङ्गसेना च कल्पान्तरसंयोज्यं देवसायुज्यमभजत् ।

भवति चात्र श्लोक —

है, प्रियवादी है, सत्कर्म करता है, मित्रताके उपयुक्त है, स्वप्नमें भी स्वजनोंके मनको कष्ट नहीं पहुँचाता और स्त्रियोंके लिए तो मानो कामदेव ही है । इसलिए भगवन् ! समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण और स्वभावसे ही समस्त कुटुम्बीजनोंसे मीठे वचन बोलनेवाले इस वैश्यपति धनकीर्तिके पूर्वोपार्जित पुण्यकी कथा कहें । इसकी कथा सुनकर सबके मन प्रफुल्लित होंगे ।’

मुनिराजने धनकीर्तिके पूर्व जन्मकी कथा कह सुनायी और बोले—‘इसके पूर्वभवकी पत्नी घण्टा यह निदान करके कि ‘जो इसका व्रत है वही मेरा भी व्रत है और मैं दूसरे भवमें भी इसकी पत्नी होऊँ’ अग्निमें जल मरी थी । वही मरकर श्रीमती हुई है । और जो मछली थी जिसे मृगसेन धीवरने जलमें छोड़ दिया था, वह पूर्व पर्यायको छोड़कर अनङ्गसेना हुई है । अतः एक दिन हिंसा न करनेका यह फल इस महाभागको मिला है ।’

पूर्वभवके इस वृत्तान्तको सुनकर धनकीर्ति, श्रीमती और अनङ्गसेनाने केशलोच करके उन्हीं मुनिराजके पासमें जिनदीक्षा ले ली । और अपनी अपनी शक्तिके अनुसार तप ग्रहण करके जैनमार्गके अनुसार चिरकाल तक रत्नत्रयका आराधन किया । तथा अन्तमें विधिपूर्वक निर्विघ्न समाधिमरण करके धनकीर्ति तो सर्वार्थसिद्धिमें देव हुआ और श्रीमती तथा अनङ्गसेना स्वर्गलोक-में उत्पन्न हुई ।

इस कथाके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

१ अवदान शश्वत्खण्डन, सर्वपालनम् साहयम् । २ मिश्रपुण्यवहारवेदी तस्य भावो मैत्रेयिका । ३ विप्रियम् । ४ काम । ५ हे मुने । ६ वणिक् । ७ चन्द्रस्य । ८ अग्नी । ९ वचन । १० अतीन्द्रियज्ञस्य विदुष । ११ निर्विघ्न । १२ सन्यासविधिम् । १३ स्वर्गलोक ।

तद्वत्तमम् बहुप्रसापेन । कल्पद्रुमेण कल्पकृतेन त्वमनेन वैषयेयवैहरक्षाधिधानेन ध्रुवेन सार्ध-
माकल्पमिन्द्रियैर्भ्रम्यसुखमनुमय' इति समौषिताशीर्षावा तमेक मोक्षमास्वाद्य पत्यु-
पधि प्रैतस्ये ।

एष विहितदुरीहितयशालुपात्तामिततोकशोकावस्थे दर्शनीस्थे तस्मिन्मधुर श्रृङ्गने
ष सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्यादुल्लङ्घितभोरप्रतिषेधकापप्रतिविममुदीयमामसंपदेकवा तेन
विश्वम्भारेण क्षितीश्वरेण निरीक्षितः । तद्रूपसपत्नी जातबहुविस्मयेन तनुजया सह उमयेन
विशामाधिपत्यपदेन योजितः । गुणपाकः कियवन्तीपरम्परया अस्मै कस्यानपरम्परामुप-
भृत्य कौशाम्बीदेशात्पञ्चार्धतीपुरमागत्य अनेनाकर्ष्यस्वमाज्ञा भुञ्जो सह संजग्मे ।

अथान्यथा सकलत्रपुष्पमिश्रतन्त्रेण धनकीर्तिना दर्शनायागतपामञ्जसेनया चालुगतिनिष्ठो
गुणपाकमेष्टी मतिमुतायधिमन्त्रपर्येयविषयसमाजमकिञ्चुनिमज्जलोराज श्रीयशोवज्जनाम
भास्त्रं भगवन्तमभिषन्ध सचद्रुप्रधयमेवमपूष्कत्—'भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना
धनकीर्तिना लुक्कृतमुपासितम् येन बालकालेऽपि तानि तानि वैवैकरजप्रतीकारापि व्यस-
नानि व्यतिक्रान्ता, येनास्मिन्व्यतिरिक्तैरस्यरूपसपत्न्योऽभूत्, येनावैजात्रियैर्विनायकसुप्रमा-
संभार इव वैवानामप्यप्रतिहतमेहैः समज्जनि येन चापरेपामपि तेषां तेषां महापुरुषकृष्ण-
वमहाप्रा गुणानां समवायोऽभवत् । तथा हि—स्थानं 'वद्व्यप्यतायाः समाभयो यवान्य'

ही यह गढ़ा लोदा बा । जब रीनेसे क्या हाता है ? कल्पद्रुमके साथ कल्पस्तुके समान तू अपने
इस वैवर्धित पतिके साथ कल्पकाक तक ऐदव्य और इन्द्रिय सुलको मांग ।' ऐसा आशीर्वाद
देकर उसने भी एक नहरिका रुद्ध ला लीमा और पतिकी अनुगामिनी बन गयी ।

इस प्रकार पूर्व उपासित पुण्यके प्रतापसे पाँच मयानक विपत्तिबोले बचकर धनकीर्ति अपने
ही द्वारा की गयी दुमाकनाओंके कारणसे सास और श्वसुरक चक्र बसनेपर प्रतिदिन सम्पत्तिशाली
होने लगा । एक दिन राजा विवस्वरने उसे देखा । उसका सौन्दर्य देखकर राजाको बहुत अचरब
हुआ । उसने उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और उसे वैरबोका अधिपति बना
दिया । धनकीर्तिके पिता गुणपाकने भोगोंके मुक्तसे अब अपने पुत्रक अम्युदयका समाचार सुना
ता वह कौशाम्बी नगरीसे उज्जयिनी आकर आश्चर्यजनक सम्पत्तिशाली पुत्रसे मिला ।

एक बार मति, भुत, अबधि और मन पश्य ज्ञानके धारी श्री यशोवज्ज मुनिराज बड़ा
पधार । गुणपाक सेठ, सकुटुम्ब धनकीर्ति और उससे मित्रनेके किए आयी हुई अर्जुनसेनाके साथ
मुनिराजके दर्शनके किए गया और उन्हें ममकार करके विनयपूर्वक बोला—'भगवन् ! धर्म-
मूर्ति धनकीर्तिने पूर्व जन्ममें कौन-सा पुण्य कमाया था, जिसके कारण बचपनमें भी यह उम कष्टोंका
पार कर गया था देखके द्वारा ही दूर किये जा सकते थे तथा इस जन्ममें इतने बड़ी भारी सम्पत्ति
और सौन्दर्य पाया, सूर्यके तेजकी तरह दबोसे भी न रोका जा सकनेवाला इसे तेज प्राप्त
हुआ । इसके सिवाय महापुरुषोंके याम्य अन्य भी गुण इसे प्राप्त हो सके । जैसे, यह बड़ा दानी

१ नाम्नेन । २ वत् । ३ भुजा इत्यर्थः । ४ भुते । ५ विज्ज । ६ एषो विवाहात्सर्वो द्वितीय-
धेष्टिरयमशानोत्तरः । ७ धनकीर्ति । ८ उज्जयिनीम् । ९ पुत्रेव । १ सम्पत्ति । ११ जग्मनि ।
१२ अपि । —नसारक्य—आ । १३ बहुल । १४ अथपटलसम्पत्ति अधितेजःसमूहवत् । बज्जामिन् ।
१५ तैव । १६ वधवधाना । १७ विद्व्यप्यताया । १८ वर्धति दीवतामिति वदाम्य । एषापी ।

आत्मार्जितमपि द्रव्यं द्वापरायान्यथा भवेत् ।
 निजान्वयादतोऽन्यस्य^१ व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥३६८॥
 मन्दिरे^२ पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे ।
 तन्नान्यदीयमादेयं स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥३६९॥
 पौतर्वन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः ।
 विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते^३ निवर्तकाः ॥३७०॥
 रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरत्नाम्बरविभूतयः ।
 भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥३७१॥
 परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम् ।
 अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥३७२॥

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचा-
 लितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव
 सिंहसेनो नाम नृपतिः । तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता नामाग्रमहिषी ।
 सुतौ चानयोराश्रयसौन्दर्यौदार्यपरितोषितानिमिषेन्द्रौ सिंहचन्द्र-पूर्णचन्द्रौ नाम । निःशेष-
 शास्त्रविशारदमति श्रीभूतिरस्य पुरोहित सन्नृताधिकधिपणतया सत्यघोषापरनामधेयः ।

उपार्जित द्रव्यमें भी यदि सशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके
 अयोग्य है अतः व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवा दूसरोंका धन नहीं लेना चाहिए ॥३६८॥

अतः मकानमें, मार्गमें, पानीमें, जगलमें या पहाड़में रखा हुआ दूसरोंका धन अचौर्याणु-
 व्रतीको नहीं लेना चाहिए ॥३६९॥ वॉट तराजूका कमती-बढ़ती रखना, चोरीका उपाय बतलाना,
 चोरीका माल खरीदना, देशमें युद्ध छिड़ जानेपर पदार्थोंका संग्रह कर रखना, ये सब अचौर्याणु-
 व्रतके दोष हैं ॥३७०॥

जो निर्दोष अचौर्याणुव्रतको पालते हैं उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि
 विभूति स्वयं प्राप्त होती है, उसके लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ती ॥३७१॥ जो मनुष्य
 दूसरोंकी वस्तुओंको चुराकर प्रसन्न होते हैं, तृष्णासे कलुषित बुद्धिवाले उन मनुष्योंमें इसी जन्ममें
 अनेक बुराईयाँ पैदा हो जाती हैं और दूसरे जन्ममें भी उनकी दुर्गति होती है ॥३७२॥

१४. चोरीमें आसक्त श्रीभूति पुरोहितकी कथा

चोरीके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

प्रयागदेशके सिंहपुर नामक नगरमें सिंहकी तरह पराक्रमशाली सिंहसेन नामका राजा
 राज्य करता था । उसकी पटरानीका नाम रामदत्ता था । उनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य और उदा-
 रतासे देवोंके इन्द्रको भी सन्तुष्ट करनेवाले सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामके दो पुत्र थे । समस्त
 शास्त्रोंमें कुशल श्रीभूति राजाका पुरोहित था । सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेके कारण उसका

१ सदेहाय । २ स्ववशादन्यस्य धन वर्जयेत् । ३ मार्ग । ४ तुलाहीनाधिक्ये । ५ चौरार्थादानम् ।
 ६ अतीचारा । 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥' तत्त्वार्थ
 सू० ७-२७ । 'चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिथ्या । हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाता ॥५८॥'
 —रत्न० श्रा० । पुष्पार्थसि०, श्लो० १८५ । ७ सुवर्णादि । ८ उत्तम । ९ परवस्तुचौर्यहर्षेण ।
 १० सत्यवचन ।

पञ्चकृत्याः किञ्चिदस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा ।

अमृत्यञ्चापयोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः भियः ॥१६३॥

इत्युपासकश्चभ्यवने अहिंसापलायकोकनो नाम वदिष्यः कल्पः ।

अवृत्तस्य परस्यस्य ग्रहर्त्त स्तेयमुच्यते ।

सर्पमोग्यात्तद्वत्प्रभ भाषाचोयत्नावित ॥१६४॥

काटीनामस्येये विचमवृत्तमपि संमतम् ।

जीयता तु निवेशेनै यतस्तर्तिरतोऽप्यथा ॥१६५॥

सफलेष्टामिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यथा ज्ञायते ।

तत्सर्वं रायि विज्ञेयं स्तेय स्वाभ्यजनाग्रये ॥१६६॥

रिक्तं निधिनिधानोत्थं न राज्ञोऽप्यस्य युज्यते ।

परस्यस्योत्थासामिकस्येह वापादो मेदिनीपतिः ॥१६७॥

“पूर्वं जन्ममें पाँच बार एक मछलीको न मारनेसे धनकीर्ति पाँच बार आपत्तिसे बचकर स्वामीका स्वामी बना” ॥१६३॥

इस प्रकार उपासकश्चभ्यवने अहिंसाका फल बतलानेवाला कृष्णचर्चो कल्प समाप्त हुआ ।

अब चोरी न करनेका उपदेश करते हैं—

अधोर्थाश्रुत

पानी, घास वगैरह जो वस्तु सबके भोगनेके लिये हैं उनके सिवा शेष सब बिना बी हुई परवस्तुओंको छे डेना चोरी है ॥१६४॥ यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर आयें बिना उत्तराधिकार हमें प्राप्त है तो उनका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है । किन्तु यदि वह जीवित हों तो उनकी आज्ञासे ही उनका धन लिया जा सकता है । उनकी जीवित अवस्थामें ही उनसे पूछे बिना उनका धन छ छेनेसे अधोर्थाश्रुतकी छति होती है ॥१६५॥

कफना धन हो या वृसरोका हा, जिसमें चोरीके भावसे प्रवृत्ति की जाती है तो वह सब चोरी ही समझना चाहिये ॥१६६॥ जमीन कौरहमें गाढ़ा हुआ धन राजाका होता है किसी वृसरेका नहीं । क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है ॥१६७॥ अपने द्वारा

१ वनस्य । अवताराद्यं स्तेयम् । —उत्था सू ७-१५ । निक्षिप्तं वा पतितं वा मुचिस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् । न हृत्ति मय न वते तत्तद्वस्तुमपिपारजम् ॥१६७॥ —रत्नकरचर्या । अमिटीभक्त्य ग्रहर्त्त परिग्रहस्य प्रमत्तबोधोपायः । उत्पत्येयं स्तेयं ॥१६४॥ असमर्थं ये कर्तुं निपाततोपाधिकारमविनिवृत्तिम् । तैरपि समस्तमपरं नित्यमवर्त्तं परित्याज्यम् ॥१६५॥ —पुरुषार्थसिद्धि । ‘परस्वस्याग्रवत्तस्याधानं स्तेयमुच्यते’ । सर्वस्वाधीनतोयादेरप्यत्र उच्यते सत्याम् ॥१६६॥ प्रबोध । १ मरणे सति । २ आदेशेन प्राप्तम् । ४ विनाशः । ‘वस्तुनामस्येये विचमवृत्तमपि सम्मतम् । समर्थं निवेशेन व्रतहानिरतोऽप्यथा ॥१६५॥ —प्रबोध-वसार । ५. ‘सफलेष्टामिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यथा ज्ञायते । अवताराद्यवधौ वा वधानस्तत्करो भुवम् ॥१६७॥ साधार-वर्मा ४ अ । ६ यो अपीकृतः कार्यं न याति स निधिः । यद् व्ययीकृतं सत् कार्यं नाति तन्निधानम् । ७ वनस्य । ‘नतस्वामिकमिति वार्द्धं निधानादि धनं यत् । वनस्वामिकस्येह वापादो मेदिनीपतिः ॥१६८॥ —साधारवर्मा ४ अ । प्रवृत्तस्वामिकं रिक्तं राजा व्यर्थं निधापयेत् । अवर्त्तं व्यञ्ज्यादरेस्वामी वरेण भुवतिहरेत् ॥१६९॥ —यनुस्मृति ८ अ । ‘वर्त्तं निधिनिधानोत्थं भूपादस्य नो भवेत् । निरीक्ष्य यत् स्वस्य वापादो मेदिनीपतिः ॥१७०॥ —प्रबोधवसार ।

आत्माजितमपि द्रव्यं द्वापरायान्यथा भवेत् ।
 निजान्वयादतोऽन्यस्य^१ व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥३६८॥
 मन्दिरे^२ पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे ।
 तन्नान्यदीयमादेय स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥३६९॥
 पौतर्वन्यूनताधिष्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः ।
 विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते^३ निवर्तकाः ॥३७०॥
 रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरत्नाम्बरविभूतयः ।
 भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥३७१॥
 परप्रभोषतोपेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम् ।
 अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥३७२॥

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः । तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता नामाग्रमहिषी । सुतौ चानयोराश्चर्यसौन्दर्यौदार्यपरितोपितानिमिपेन्द्रौ सिंहचन्द्र-पूर्णचन्द्रौ नाम । निःशेषशास्त्रविशारदमति श्रीभूतिरस्य पुरोहित सूर्यतां अधिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेयः ।

उपाजित द्रव्यमें भी यदि सशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके अयोग्य है अतः व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवा दूसरोंका धन नहीं लेना चाहिए ॥३६८॥

अतः मकानमें, मार्गमें, पानीमें, जगलमें या पहाड़में रखा हुआ दूसरोंका धन अचौर्याणु-व्रतीको नहीं लेना चाहिए ॥३६९॥ बोट तराजूका कमती-बढ़ती रखना, चोरीका उपाय बतलाना, चोरीका माल खरीदना, देशमें युद्ध छिड़ जानेपर पदार्थोंका संग्रह कर रखना, ये सब अचौर्याणु-व्रतके दोष हैं ॥३७०॥

जो निर्दोष अचौर्याणुव्रतको पालते हैं उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि विभूति स्वयं प्राप्त होती है, उसके लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ती ॥३७१॥ जो मनुष्य दूसरोंकी वस्तुओंको चुराकर प्रसन्न होते हैं, तृष्णासे कलुषित बुद्धिवाले उन मनुष्योंमें इसी जन्ममें अनेक बुराईयाँ पैदा हो जाती है और दूसरे जन्ममें भी उनकी दुर्गति होती है ॥३७२॥

१४. चोरीमें आसक्त श्रीभूति पुरोहितकी कथा

चोरीके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

प्रयागदेशके सिंहपुर नामक नगरमें सिंहकी तरह पराक्रमशाली सिंहसेन नामका राजा राज्य करता था । उसकी पटरानीका नाम रामदत्ता था । उनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य और उदारतासे देवोंके इन्द्रको भी सन्तुष्ट करनेवाले सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामके दो पुत्र थे । समस्त शास्त्रोंमें कुशल श्रीभूति राजाका पुरोहित था । सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेके कारण उसका

१ सदेहाय । २ स्ववशादन्यस्य धन वर्जयेत् । ३ मार्ग । ४ तुलाहीनाधिक्ये । ५ चौरार्थादानम् । ६ अतीचारा । 'स्तेनप्रयोग-तदाहुतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥' तत्त्वार्थ सू० ७-२७ । 'चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्निधौ । हीनाधिकविनिमान पञ्चास्तेये व्यतीपाता ॥५८॥' —रत्न० आ० । पुरुषार्थसि०, श्लो० १८५ । ७ सुवर्णादि । ८ उत्तम । ९ परवस्तुचौर्यहर्षेण । १० सत्यवचन ।

धर्मपत्नी चास्य पतिद्वितैकचित्ता श्रीवृत्ता नामामूत् ।

स किल श्रीमूर्तिविम्बासरसमिर्षिभक्तया परोपकारनिष्कृतया य विमकानेकापन्न करचनाशासिनीमर्महामाण्ड्यादिनीमिर्गोश्राखोपशय्यामि कुस्यामि समन्वितमविसुखम-
खर्ययसेम्भनप्रसार भण्डनारम्भोद्गटर्मटीरपेटकपङ्कजदासार गोष्ठप्रमाणं वप्रभाकारप्रती-
क्षिपरिखापरिसुत्रितत्रायं प्रपासत्रसमासनाथधीयिनिवेशन पण्यपुटमेवम धिद्विरितकितधवि-
टधिवृक्कपीठर्मदाधस्थान पेठ्ठास्थान धिनिर्माप्य नामादिम्येशोपसर्पण्युक्तां यजिज्ञां प्रश्र-
न्तशुद्धक्रमाटक्रमार्गेहोदभ्यवहारमधीकरत् ।

अथान्तरे पश्चिमीकेटपट्टमविनिविष्टावास्तव्यस्य सुवृत्ताकसत्रधरित्रपवित्रितगोत्रस्य
यणिप्यतेः सुमित्रस्य^१ मित्रसनामित्रनाम्भोजमानुः सनुमंममित्रो नाम समानधनचारित्र्यैर्ब-
धिपुत्रो^२ सत्र^३ बहिषयात्रायां यियासुः

‘पावेमोयाञ्जि’^४ कुपोत्पाद यित्ताय^५ कस्ययेत् ।

धर्मोपमोगयोः पाद पादं मतव्यपोष्ये ॥३७३॥ इति पुण्यश्लोकः ।

श्लोकार्पमवधार्यं विचार्यं आतिथिरभ्युर्धनिविम्बासयोम्यमावासात् उत्रिताधारसेम्बोऽ-
‘वधारितेतिकर्तव्यस्तस्याभिसलोकस्ताप्यविम्बासप्रसुतोः श्रीमूर्तेर्हस्ते तत्पत्नीसमसमन-
नाम सत्यधीप पद्म गया वा । उसकी धर्मपत्नीका नाम श्रीवृत्ता वा । वह सदा पतिका हिस

चाहती थी ।

श्रीमूर्ति पुरोद्विष्टका सब विस्वास करते थे और वह सदा परोपकारमें लगा रहता था ।
उसने एक पाबार बनवाया था । उसमें अनेक गमियां थीं, जिनमें अनेक दूकानें बनी हुई थीं,
जो माछसे मरी रहती थीं और उनके पासमें ही गोछाखर्च बनो हुई थी ।

पानी, घास व ईंधन वगैरह बहुत सङ्ग्रहितसे मिळ जाता था । सङ्गनेके लिये उत्तर अनेक
सुभ्र बीर उसकी रखा करते थे । दो कोसका उसका विस्तार था । साईं, कोट, गम्भी-हूँचा आदि
से सुरक्षित था । मार्गमें प्याऊ और सदाव्रतस्त्रार्थ बनी हुई थी, घृत, बार और किन्नासी पुर्यों
से रहित था । उसमें नाना वेशोंके व्यापारी व्यापारके लिये आते थे । उनसे बहुत थोड़ा टैक्स,
माफ़ा और वाम लिया जाता था ।

एकबार पश्चिमीपुरक निवासी, सुवृत्ता नामकी सुशील स्त्रीके पति, वणिक्पति सुमित्रके पुत्र मद्र
मित्रन धन और बारित्रमें अपने समान अन्य वणिक् पुत्रोंके साथ समुद्र-यात्रा करनेकी इच्छा की ।

नीतिमें कहा है—“अपनी आमदनीका एक चौथाई तो जमा करके रक्षना चाहिये । एक
चौथाईसे व्यापार करना चाहिये । एक चौथाई धार्मिक कार्यों और भोगमें खर्च करना चाहिये
और एक चौथाईसे अपने आश्रितोंका पालन करना चाहिये ॥३७३॥

इस नीतिको मानकर मद्रमित्रने अपने संबित धनको किसी सुरक्षित म्यामने रक्षनेका
विचार किया और सोच-विचार कर समस्त लाकड़ों अति विरहस्त माने जानेवाले उमी श्रीमूर्तिक

१ वरकरतवा । २ भोजद्विषीकम्यनस्वान्तनीपामिः । ३ तुल । ४ नवाम । ५ काल ।

६ बरी—अ अ नु । मुण्ड । ७ सहिनमार्ग । ८ नामाचार्य । ९ पीठप्रधानम् । १ रत्न ।

११ वाम । १२ गोचरण । १३ वह । १४ वागवाच । १५ अजाग्नितानवम्यात् । १६ अम्भोज—

स्वाननम् । १७ पुंजीविजितम् । १८ स्फारनीयप्रव्यवहारमधीक्यम् । १९ निर्वारितवार्थ ।

१ कक्षमनुगतासकं २ रत्नसप्तकं निधाय विधाय च जलयात्रासमर्थमर्थमेकवर्णप्रजाप्रलापसुवर्ण-
द्वीपमनुससार ।

पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमचिन्त्यमात्माभिमतवस्तुस्कन्धमादाय प्रत्यावर्त-
मानस्यादूरसागरावसानस्याकारणप्रचण्डवलादनिलात्परिवर्तितपोतपात्रस्य यद्भविष्यत्तया
आयुषः शेषत्वात्तस्यैकस्य प्रमादफलकावलम्बनोद्यतस्य कण्ठप्रदेशग्रामजीवितस्य कथंकथ-
मपि क्षणद्वयाः क्षयिणि चरमयामक्षणेऽन्विरोधोपलब्धिरभवत् ।

ततोऽसौ सुखैर्धितशरीरत्वादपाराकृपारक्षारिवशवशिकांशयश्चिरायापचितमूर्छोदयः
कैः प्रचारचणितचक्रवाकचिन्तामणौ प्रागचलचूलिकाचक्रवालचूडामणौ कमलिनीकुलविका-
साहितहंसवासिनीशर्मणि विश्वैकर्मणि देवशलिनान्तरालरुचिरे लोचनगोचरे संजाते सति
वान्धवजनमरणादद्रुचिर्न संद्रवणाद्यातीवान्तर्मनस्तया १० छातच्छायकाय ११ पटञ्चरचेलचीरी-
निचिताद्गशैकटिः १२ कर्पटिः १३ परपस्त्योपास्तिनिरस्ताभिमानावनिर्वर्तनि सन् क्रमेण सिंहपुरं
नगरमागत्य गीर्मात्रावसेयपूर्वपर्यायस्तं महामोहरसोत्सारितप्रीतिं १४ श्रीभूतिमभिधानाधिक-
वाक्यो माणिकसप्तकमयाचत ।

हार्थमें उसकी पत्नीके सामने अत्यन्त मूल्यवान् सात रत्न सौंपकर जल-यात्रामें समर्थ एक जहाजके
द्वारा सुवर्णद्वीपको चल दिया ।

वहाँ बहुत-सा माल बेचकर तथा उसके बदलेमें वहाँकी बहुत-सी मनपसन्द वस्तुएँ खरीद
कर वह घरके लिए लौटा । जब समुद्रका किनारा थोड़ी दूर रह गया, बड़ी जोरका तूफान आ
गया और उससे उसका जहाज उल्ट गया । देववश आयु शेष होनेसे उसे जहाजका टूटा हुआ
एक लकड़ीका पटिया मिल गया और उसने उसे पकड़ लिया । उसे पकड़े-पकड़े जब उसके प्राण
कण्ठमें आ गये तब जिस किसी तरह रात्रिका अन्तिम पहर बीतते-बीतते उसे समुद्रका किनारा
मिल गया ।

एक तो वणिक्पुत्र जन्मसे ही सुखमें पला था दूसरे अपार समुद्रके खारी पानीने उसे
धनशून्य ही नहीं सजाशून्य भी बना दिया था । अतः किनारेपर लगकर वह बहुत देर तक
मूर्छित पड़ा रहा । जब सूर्योदय हुआ तो उसकी आँखें कमलोंकी तरह कुछ खुलीं । बन्धुजनोंके
मर जाने और धनके नष्ट हो जानेसे उसका मन बहुत दुखी था और मुख पीला पड़ गया था ।
जिस किसी तरह फटे हुए वस्त्रके टुकड़ेसे अपने शरीरको ढाँककर वह वहाँसे उठा ।

दूसरोंकी चाकरी करते-करते उसका सब अभिमान जाता रहा । अन्तमें आजीविकाके न
मिलनेसे घूमता-घूमता सिंहपुर पहुँचा और श्रीभूतिके पास जाकर उससे अपने सात रत्न माँगे ।
इस समय उसकी दशा विलकुल हीन थी । उसकी पूर्व दशाको उसके वचनसे ही जाना जा
सकता था । अन्य कुछ प्रमाण उसके पास नहीं था ।

१ बहुमूल्य । २ पूर्वपुरुषचितम् । ३ समूह । ४ व्याघुटितस्य । ५ देवालम्बनपरतया ।
६ श्रुति । ७ भग्नप्रवहणकाष्ठ । ८ रात्रे । ९ समुद्रतटप्राप्ति । १० वचित । ११ शून्यचित्त ।
१२ किरण । १३ चिन्ता एव मणि । १४ मण्डल । १५ स्त्री । १६ सूर्ये । १७ विकसत्कमल ।
१८ घनविनाशात् । १९ अतीवार्तमनस्तया—मु० । मानसदुःखेन । २० कृश । २१ जीर्णवस्त्र ।
२२ अङ्गमेव शकटि । २३ कटिमात्रवस्थ दरिद्र । २४ परगृहसेवा । २५ वर्तनि —आजीविका ।
२६ त्यक्तस्नेहम् ।

परमपरायण्यस्तेभ्युतिगीतिः श्रीमृतिः

‘सुमयुक्तेन वन्द्येन स्वयंमूरपि वक्ष्यते ।

का नामालोभं नाम्यत्र संवृत्तिः परमा यदि ॥३७४॥

इति परामृश्य महाप्रज्ञायास्तथास्तमायातेषु बभूवमेवमवोचत्—‘अहो दुर्बुद्धं किराट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचोऽपि क्लृप्ता, किमु मनोमहामोहावहानुरोधेन मोहननीयधेना तिलक्लिता, किं वा क्लृप्तव्यवहारेषु हारितसमस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवञ्जनपिशाचिकया कयाचिन्नविकया अनित्यवृत्तिः, आहोस्वित्कलधत् पादपस्येव भीमत किय भाणोऽप्रियोगो न खलु किमपि फलमसपाद्य विधाय्यतीति चेत्तसा केनचित्तुर्मेघसा धिप्र लम्प्युदिर्यैर्नैवमतिविक्रममभिधत्से । काहम्, क मवान्, क मजया क आधयो सम्बन्धः । तत्कूटकपटचेष्टिकाकर पद्मपौठभर, मेणकपणिक, सकलमण्डलप्रतीतप्रत्यधिकेशीलमति ‘वेत्तमेव मामकाण्ये वक्ष्यकर्मण्ययंनुयुधान’ कयं न लब्धसे’ । पुनश्चैतन्मर्मप्रापनपथमनोरप्यविशाल शृङ्गारं^१ ब्रह्मात्पोक्षित्वमन्त्रिरमनुचरैरनाम्यत्नापमतिः^२ ‘वैष, अय धनिमिष्का रणमस्माकं वुरपबाधनृपह्वयस्मुचरमुखाः सुखेनान्स्तिष्ठस्तान्मेकं इवाक्षितु न ददाति’ इत्यादिभि र्विद्वैरवाप्तप्रसरतयोचेद्विद्वैरवाह्वयस्तथैव पृथिवीनायेनापि निराकारैर्यत् ।

अथ दूसरोको ठगनेमें कुछछ श्रीमृतिने सोचा—

‘यदि अच्छी तरहसे छत्तका प्रयोग किया जाये तो ब्रह्माको भी ठगा जा सकता है ।

और यदि दूसरे मनुष्यमें बड़ा परिवर्तन हो गया हो तब तो जाकाबनाकी बात ही दूर है’ ॥३७४॥

पेसा बिचारकर वह महापुष्पाञ्जु उस शोकमग्न बणिक्पुत्रसे इस प्रकार बोला—‘अरे दुरामही नीच बणिक् ! क्या तुझे किसी पिशाचने छका है ? या मनको मोहित करनेवाकी किसी मोहन औपधने तुझ बड़होश कर दिया है ? या जुएमें अपनी बिज्जुपिको भी हार गया है ? या दूसरोके मनको ठगनेवाकी किसी दुराचारिणीने तेरी यह दुगति की है ? या ‘फन्सान बूझकी तरह किसी श्रीमान्के विरुद्ध छगाया गया अभियोग बिना फल दिये नहीं रहता’ इस बिचारसे किसी दुर्बुद्धिने तुझे ठगा है जिससे तू ऐसी बेसिर-पैरकी बात बोछता है ? कहाँ मैं, कहाँ तू कहाँ रत्न ! हमारा सुन्हारा सम्बन्ध ही क्या ! छल-कपटमें बतुर मगरबोर, निन्दनीय बणिक् ! सर्वत्र दसमि मेरी क्लिप्तसनीमवाकी क्याति है । इस तरह धसमयमें मुझसे पूछते हुए तुझे सजा नहीं जाती ?’

इसके पदवात् उस पिशाच श्रीमृतिने अपने रत्न प्राप्त करनेके लिए चिह्नाते फिरते उस बणिक्पुत्रको अश्रुदम्ती मौकरोके द्वारा राबमन्त्रिमें बुझाकर रानासे कहा—‘महाराज ! यह बणिक् व्यर्थ ही सर्वत्र हमारा अपवाद करता फिरता है । बिना नाबक बैठकी तरह सुझसे बैठने भी नहीं दत्ता’ इत्यादि बातोंके द्वारा उसने राजाका हृदय भी उसकी ओरसे उठेसित कर दिया । और रानाके द्वारा भी उस महससे निकलवा दिया ।

१ घास्त्रं वैरः स्मृतिवचः । २ विचारः । ३ परमरे । ४ पुष्पा । ५ प्राप्यपौकम् । ६ दुष्टवृत्तिः । ७ वेत्तया । ८ वदति । ९ मगरबोर । १ निगदयति । ११ विरवायस्वभावम् । १२ अनीय । १३ प्रब्धम् । १४ बाधनाम् । १५ राजपथविरम् । १६ असपनमतिः । —नायमति जा । १७ नावर दिनपुपमम् । १८ निर्वीटनं वारयाजाम् ।

भट्टमित्रः 'चित्रमेतन्ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय कुलकमायाताखिलकमलानिलयमनन्यसामान्यसाहसालयमेव मोपधिपणानिधिरपरं इवापायजलनिधिर्नगरमध्येऽपि मोपितुमभिलपति' इति जातामर्पौत्कर्षस्तं न्यासोर्पणेऽतिचिक्कणचिक्तं निश्चित्य स्वाध्यायिपरिपदि महापरिपदि च तदन्यायोपविन्यासेन साध्यसिद्धिमनवबुद्धयानधीनधी अशङ्कुकमतिर्महादेवीधामनेमे^१ निवेशमम्लिकानोकहशिखादेशमारुह्यापदगृह्य^२ 'कुररीविरहावसर. कुरर इव तमेस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये^३ सुहृच्चराहुतिः श्रीभूतिरेवंविधकरण्डकविन्यस्तम्, इयत्संस्थानसम्, एतद्वर्णम्, अदः संख्याभ्यर्णं च मदीय मणिगणमुपनिधिनिधेयं^४ न प्रतिददातीत्यत्र चास्यैव धर्मरमणी साक्षिणी । यदि च यद्वदतयैतदन्यथा^५ मनागपि भवति तदा मे चित्रवधो विधातव्य' इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यमूर्ध्वबाहु सर्वर्तुपरिवर्ता^६ पृत्कुर्वन्नेकदा नगराङ्गनाजनस्य^७ चन्द्रासृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं कौमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया तमद्भोत्सद्भसमासीनया^८ निपुणिकाभिधानोपसवित्री^९ समेतया अनाथलोकलोचनचकोरकौमुदीकल्पवृत्तया रामदत्तया करुणारसप्रचारपदव्या^{१०} महादेव्याकर्णितो^{११} नुकोशाभिनिवेशान्निर्वर्णितश्च ।

तदस्मन्मनःसधात्रि धात्रि, न खल्वेव मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो नाप्युन्मत्ताचरितो

तव भट्टमित्र विचारने लगा—'मेरे घरमें वशपरम्परासे लक्ष्मीका निवास चला आता है, तथा मैं असाधारण साहसी भी हूँ फिर भी आश्चर्य है कि यह पक्का ठग नगरके बीचमें ही मेरा माल हड़प लेना चाहता है।' यह सोचकर उसे बड़ा क्रोध हो आया । उसे निश्चय हो गया कि श्रीभूति मेरी धरोहरको कभी नहीं देगा तथा समझदारों और धर्माधिकारियोंके सामने उसके अन्यायको रखनेसे भी कुछ लाभ नहीं होगा । तब उस बुद्धिगालीने एक दूसरा उपाय किया ।

राजाकी पटरानीके महलके समीप एक इमलीका वृक्ष था । रातके समय वह उसकी चोटीपर चढ़ जाता और जैसे सारसीके बिलोहमें सारस चिल्लाता है उस तरह रात्रिके प्रथम और अन्तिम पहरमें हाथ ऊपर उठाकर बड़े जोरसे चिल्लाता—'मेरा पूर्व मित्र किन्तु अब शत्रु श्रीभूति अमुक प्रकारकी पेटीमें रखे हुए, अमुक आकार और अमुक रगके तथा अमुक सख्यावाले मेरे रत्नोंको नहीं देता । मैंने उसके पास धरोहरके रूपमें रखे थे । इसकी साक्षी उसीकी धर्मपत्नी है । यदि मेरा कथन रच मात्र भी असत्य हो तो मुझे मरवा दिया जाये ।'

ऐसा चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह माह बीत गये । एकवार अनाथ लोगोके लोचनरूपी चकोरके लिए चाँदनीके समान आचरणवाली दयावती राजमहिषी रामदत्ता कौमुदी महोत्सव देखती थी । उसके पासमें उसकी धाय निपुणिका बैठी थी । उस समय रामदत्ताने उस वणिक्की पुकार सुनी और दयापूर्ण भावसे अपनी धायसे बोली—

'धाय ! न तो यह मनुष्य पिशाचसे ही ठगा गया है और न इसका आचरण पागलोंके

१. परवञ्चननिमित्ते मामपि मोपितुमभिलपति । २ चौर्य । ३ द्वितीय । ४ क्रोध । ५ स्थापित-घनदाने । ६ लोभिष्टम् । ७ धर्माधिकार । ८ न परवशबुद्धि । ९ असकमुक—अ० ज० द० । स्थिर-मति । १० समीप । ११ पक्षिणी । १२ रात्रि । १३ पूर्व सुहृदिदानी क्षत्रुरिति । १४ स्थाप्य घनम् । १५ असवदप्रलापतया । १६ पण्मासान् यावत् । १७ चन्द्र एवाऽमृतपात्र तदेव यन्त्रधारागृहम् । १८ उप-रितनभूमिस्थितया रामदत्तया । १९ धात्री । २० मार्गरूपया । २१ करुणाभिप्रायात् ।

परप्रतारणाम्यस्तेभ्युत्तिगीतिः श्रीमूतिः

‘सुप्रयुक्तेन वस्त्रेण स्वयंभूरपि वक्ष्यते ।

का नामालोच्यमान्यत्र संवृत्तिः परमा यवि ॥३७४॥

इति परासुख्य महाप्रज्ञाप्रतापेतास्तामायातेषुषमेवमवोद्यत्—‘अहो पुर्व्वकटं किपट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन कुक्षितः, किमु मनोमहामोहाद्यहानुरोधेन मोहनौपमेना तिलङ्घितः, किं वा कितव्यव्यवहारेषु हारितसमस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवक्षन्तपि-
शाधिक्रिया कयाचिद्विचित्रकया’ अनित्युत्पन्नवृत्तिः, आहोस्वित्फलवत् पादपस्येव भीमता क्रिय-
माणोऽप्रियोगो न खलु किमपि फलमसपाद्य विद्यामप्यतीति चेत्तस्मा केनचित्तुर्मेघस्ता धिप्र-
लम्बवुद्धिर्द्यौर्नैयमतिविरुद्धमभिपश्ये । काहम्, क मवान्, क मण्यः क म्मावयोः सम्बन्धः ।
तत्कूटकपटचेष्टिताकर पट्टनपोतकर, वेषकपणिक, सफलमण्डपप्रतीतप्रत्ययिकैरीक्षमति
‘वेष्टमेवं मामकाप्ये वक्ष्यकर्मण्यनुयुक्तान्’^१ कथं न कश्चसे’ । पुनश्चैनमर्घ्यप्रार्थनपथमनोरथ-
विशाल शब्दास्तं^२ वसात्पो^३ किन्वमन्विस्मनुष्यरैस्ताप्यत्मापमति^४, वेष्ट, अप वणिमिष्ठा
रजमस्माकं पुरपथावसृद्व्यन्मुकारमुक्ताः सुखेनानस्वितस्तान्क ईवासितुं न ददाति’ इत्यादिभि
रुचितैरवाप्तप्रसरतयोत्तेजितराजहृदयस्तथैव पुष्टिबीनाथेनापि निरुकारयत् ।

अथ दूसरीका ठगनेमें कुक्षक श्रीमूतिने सोचा—

‘यदि अच्छी तरहसे छद्म प्रयोग किया जाये तो ब्रह्माको भी ठगा जा सकता है ।
और यदि दूसरे मनुष्योंमें बड़ा परिवर्तन हो गया हो तो आज्ञाचर्याकी बात ही दूर है’ ॥३७४॥

ऐसा विचारकर वह महातुप्यासु उस शोकमग्न बलिपुत्रसे इस प्रकार बोला—‘बरे
दुराग्रही नीच बणिक् ! क्या तुझे किसी पिशाचने छसा है ? या ममको मोहित करनेवाही किसी
मोहन औपचने तुझे ब्रह्मास कर दिया है ? या जुपमें अपनी चित्तवृत्तिको भी हार गया है ?
या दूसरोंके मनको ठगनेवाही किसी बुराचारिणीने तेरी यह दुगति की है ? या ‘फलवान बुद्धकी
तरह किसी भीमानुके विरुद्ध लगाया गया अभियोग बिना फल दिये नहीं रहता’ इस बिचारसे
किसी पुर्व्वदिने तुझे ठगा है जिससे तू ऐसी बेसिर-पैरकी बात बोलता है ? कहाँ मैं, कहाँ तू,
कहाँ रत्न ? हमारा तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या ? छल-कपटमें चतुर, नगरचोर, निन्दनीय बणिक !
सर्वत्र देशोंमें मेरी विस्मयनीयताकी स्मृति है । इस तरह जबमगधमें मुझसे पूछते हुए तुझे क्या
नहीं जाती ?’

इसके पदवात् उस पिशाच श्रीमूतिने अपने रत्न प्राप्त करनेके स्मिन् विद्वन्मते फिरते उस
बलिपुत्रका बरबरवसी नोकरीके द्वारा राममन्दिरमें मुखाकर राजासे कहा—‘महाराज ! वह
बणिक् भ्रम ही सचन हमारा अपवाद करता फिरता है । बिना नाथके बैरकी तरह सुलसे बैठने
भी नहीं देता ।’ इत्यादि बातोंके द्वारा उसने राजाका हृदय भी उसकी ओरसे उन्नेयित कर दिया ।
और राजाके द्वारा भी उस यहसमें निकम्मा दिया ।

१ धात्वं वेदं स्मृतिरव । २ विचारः । ३ परन्ते । ४ तुप्यां । ५ प्राणघोषम् । ६ दुराग्रही ।
७ बेरपया । ८ वरति । ९ नगरचोर । १ निगधबणिक । ११ विरवाकर्मचायम् । १२ अनिय ।
१३ प्रपटम् । १४ बाबाकम् । १५ राजमन्दिरम् । १६ असतजमनि । —नार्थमनि वा । १७ नाथ
दिनपुत्रमवम् । १८ निपटितं वारयामान ।

भद्रमित्रः 'चित्रमेतन्ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय कुलकमायाताखिलकमलानिलयम-
नन्यसामान्यसाहसालयमेव मोपैधिपणानिधिरपरं इवापायजलनिधिर्नगरमध्येऽपि मोपितुम-
भिलपति' इति जातामर्षोत्कर्षस्तं न्यासोर्षणेऽतिचिक्कणचित्तं निश्चित्य स्वाध्यायिपरिपदि
महापरिपदि च तदन्यायोपविन्यासेन साध्यसिद्धिमनवबुद्धयानर्धोनधी अशङ्कशुंकरमर्तमहा-
देवीधामनेमं निवेशमल्लिकानोकहशिखादेशमारुह्यापदगृह्यः 'कुररीचिरहावसर कुरर इव
तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये' 'सुहृच्चराहुतिः श्रीभूतिरेवंविधकरण्डकविन्यस्तम्, इय-
त्संस्थानसम्, एतद्वर्णम्, अदः संख्याभ्यर्णं च मदीयं मणिगणमुपनिधिनिधेयं' न प्रतिददा-
तीत्यत्र चास्यैव धर्मरमणी साक्षिणी । यदि च यद्वदतयैतदन्यथा मनागपि भवति तदा मे
चित्रवधो विधातव्य' इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यमूर्ध्वबाहुः सर्वतुंपरिवर्ताधं' पूत्कुर्वन्ने-
कदा नगराङ्गनाजनस्य 'चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं कौमुदीमहोत्स-
वसमयमालोकमानया तमद्भोत्सङ्गसमासीनया' निपुणिकामिधानोपसवित्री समेतया अना-
थलोकलोचनचकोरकौमुदीकल्पवृत्तया रामदत्तया करुणारसप्रचारपदव्या महादेव्याकर्णि-
तोऽनुक्रोशाभिनिवेशाच्चिर्वर्णितश्च ।

तदस्मन्मनःसंधात्रि धात्रि, न खल्वेष मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो नाप्युन्मत्ताचरितो

तव भद्रमित्र विचारने लगा—'मेरे घरमें वशपरम्परासे लक्ष्मीका निवास चला आता है,
तथा मैं असाधारण साहसी भी हूँ फिर भी आश्चर्य है कि यह पक्का ठग नगरके बीचमें ही
मेरा माल हड़प लेना चाहता है।' यह सोचकर उसे बड़ा क्रोध हो आया । उसे निश्चय
हो गया कि श्रीभूति मेरी धरोहरको कभी नहीं देगा तथा समझदारों और धर्माधिकारियोंके
सामने उसके अन्यायको रखनेसे भी कुछ लाभ नहीं होगा । तब उस बुद्धिगालीने एक दूसरा
उपाय किया ।

राजाकी पटरानीके महलके समीप एक इमलीका वृक्ष था । रातके समय वह उसकी
चोटीपर चढ़ जाता और जैसे सारसीके बिछोहमें सारस चिल्लाता है उस तरह रात्रिके प्रथम और
अन्तिम पहरमें हाथ ऊपर उठाकर बड़े जोरसे चिल्लाता—“मेरा पूर्व मित्र किन्तु अब शत्रु श्रीभूति
अमुक प्रकारकी पेटीमें रखे हुए, अमुक आकार और अमुक रंगके तथा अमुक मख्यावाले मेरे
रत्नोंको नहीं देता । मैंने उसके पास धरोहरके रूपमें रखे थे । इसकी साक्षी उसीकी धर्मपत्नी है ।
यदि मेरा कथन रच मात्र भी असत्य हो तो मुझे मरवा दिया जाये ।”

ऐसा चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह माह बीत गये । एकवार अनाथ लोगोंके लोचनरूपी
चकोरके लिए चौदनीके समान आचरणवाली दयावती राजमहिषी रामदत्ता कौमुदी महोत्सव
देखती थी । उसके पासमें उसकी धाय निपुणिका बैठी थी । उम समय रामदत्ताने उस वणिक्की
पुकार सुनी और दयापूर्ण भावसे अपनी धायसे बोली—

‘धाय ! न तो यह मनुष्य पिशाचसे ही ठगा गया है और न इसका आचरण पागलोंके

१ परवञ्चननिमित्ते मामपि मोपितुमभिलपति । २ चौर्य । ३ द्वितीय । ४ क्रोध । ५. स्थापित-
घनदाने । ६ लोमिष्टम् । ७ धर्माधिकार । ८ न परवशबुद्धि । ९ असकमुक—अ० ज० द० । स्थिर-
मति । १० समीप । ११ पक्षिणी । १२. रात्रि । १३ पूर्व सुहृदिदानी शत्रुरिति । १४ स्थाप्य घनम् ।
१५ अमवदप्रलापतया । १६ पण्मासान् यावत् । १७ चन्द्र एवाऽमृतपात्र तदेव यन्त्रधारागृहम् । १८ उप-
रितनभूमिस्थितया रामदत्तया । १९. धात्री । २० मार्गरूपया । २१ करुणामिप्रायात् ।

सत्यघोषः, त्वमेव च परमनिस्पृहमनीप', यत्तव चेतसि वचसि च न मनागप्यन्यथाभावः समस्ति' इति प्रतीतिभिः पारितोषिकप्रदानपुरःसरप्रकृतिभिस्तत्तदौपयिकोपचितिवसति-भिश्च भूभितिभिस्तमखिलब्रह्मस्तस्वस्तिभीविजृम्भमाणगुणस्तोत्रं भद्रमित्रं कथंकारं न श्लाघयामास ।

पुनरदूराशिवतार्ति श्रीभूति निखिललोकलपनीलवालमूलकौलीनेतालताश्रयशाखिन न्युज्जाननं^१ निसर्गेण हरिणीसमच्छायमपि महासाहसानुष्ठानात्सूर्मीसमानकायमनल्पवै-लक्ष्यस्फुटदास्वनितमतीवभयाविभूतोत्पथवेपथुस्तिमितमवेक्ष्य ब्रह्मक्षेपम्, 'आ'^२ सोम-पायिनामपांक्तेयै^३ वैधेयै^४, विश्वासघातपातकप्रसव श्रोत्रियकितव दुराचार प्रवर्तितनूतन-रत्नापहार, कुसिककुलपांसन, चकानुष्ठानसदन, साधुजनमनःशैकुनिबन्धनायातनुतन्त्री-जालमिव खलु तवेदं यज्ञोपवीतम् । असदाचारावधिकं^५ वेदवैवधिकं^६, सद्धर्मधामध्यामलता-विधानाय विश्वभोज'^७ समेधेन, अकृत्यचैत्यं^८ वात्यामात्य जरायमदूतिकोपैपैतिक दुर्गतिक, किमात्मनो न पश्यसि^९ चर्मितरुत्वचमिवातिप्रवृद्धविश्रो^{१०} वात्योन्माथशिशिलितां, प्रभात-प्रदीपिकामिवास्तासन्नजीवितरविमङ्गल्यं^{११} येनाद्यापि^{१२} वयोधसि वयसि वर्तमान इव चेष्टसे । तदिदानीं यदि घनाभि^{१३} धारघोरतेजसि विश्ववेदसि^{१४} निक्षिप्यसे, तदा चिरोपचितदुराचार-ग्रहस्य स तवाचिरदुःखदायिपरिग्रहोऽनुग्रहो इव । ततो द्विजापसद, कर्दाचिस्त्वयेदमति-

वास्तवमें सत्यघोष हो, तुम ही अत्यन्त निस्पृही हो, क्योंकि तुम्हारे मन और वचनमें जरा भी छलछिद्र नहीं है ।' इस प्रकारके वचनोंके द्वारा, पारितोषिक वगैरहके द्वारा तथा उस समयके योग्य अन्य उपायोंके द्वारा राजाने सबके द्वारा प्रशसित भद्रमित्रकी बहुत-बहुत सराहना की ।

बेचारा अभागा श्रीभूति नीचा मुख किये हुए खड़ा था । यद्यपि वह स्वभावसे ही देखनेमें हरिणीके समान दीन था तथापि उसने बड़ा साहस किया था और उसके कारण वह ऐसा प्रतीत होता था मानो लोहेकी कोई मूर्ति है । उसके मुखपर असीम लज्जा बोलती थी । भयके कारण वह थर-थर काँप रहा था । उसे देखकर राजा बड़े तिरस्कारके साथ बोला—'ब्राह्मण कुल कलक, मूर्ख, विश्वासघाती, जुएके द्वारा नये-नये रत्नोंको अपहरण करनेवाले, बगुला भगत । तुम्हारा यह यज्ञोपवीत साधु पुरुषोंके मन्त्ररूपी पक्षियोंको फँसानेके लिए बड़ा भारी तौतका जाल है । अरे दुराचारी, वेदोंके भारवाही ! समीचीन धर्मरूपी मन्दिरको मलिन करनेवाले, कुकर्मके घर, दुष्ट मन्त्री ! क्या तुम वृद्धताके कारण भोजवृक्षकी छालकी तरह शिथिल हुए और तेज हवा के झोंकेसे बुझनेके उन्मुख हुए प्रभातकालीन दीपककी तरह अथवा अस्त होनेके उन्मुख हुए सूर्यकी तरह अपने शरीरकी दशाको नहीं देखते हो, जिससे अब भी ऐसी चेष्टाएँ करते हो मानो तुम युवा हो । अतः अब यदि तुम्हें खूब जलती हुई अग्निमें डाल दिया जाये तो यह तुम्हारे जैसे पुराने पापीपर अनुग्रह ही होगा, क्योंकि इससे तुम थोड़ी ही देर तक दुःख उठा सकोगे । इसलिए नीच ब्राह्मण ! या तो तुम्हें अत्यन्त दुर्गन्धित गोबरसे भरे हुए तीन प्याले खाने चाहिये, या

१ ब्रह्माण्ड । २ समीपाऽमगलम् । ३ मुख । ४ जनापवाद । ५ अधोमुखम् । ६ स्वर्णप्रतिमा । ७ लोहप्रतिमा । ८ उन्मार्ग । ९ कम्पेनार्द्र-प्रस्वेदितम् । १० खेदे । ११ पक्षितरहित । १२ निर्भाग्य । १३ ब्राह्मणकुलदूषण । १४ पक्षिवन्धनार्थम् । १५ मर्यादक । १६१ भारवाहक । १७ अग्ने । १८ इन्वन । १९ गृह । २० निकृष्टमग्निम् । २१ जरा एव यमदूती । २२ जार । २३ भूर्जपत्रवत् शिथिलशरीरचर्म । २४ जरा एव वात्या । २५ योवने । २६ घृत । २७ अग्नी । २८ अथवा ।

यतस्त दिवसमावि कृत्या सकलमपि परितस्तरेष्वसमेकपाक्यम्प्राहोराकुण्ठपाठकठोर
कण्ठजातः । तद्विचारयेयं तावद्विचरकाळं शारविशारद्वयाम्बुस्य पतत्कीडाव्याधेन
‘मन्त्रेण्ठाकरणम् । अटिके, त्वयापि ‘यतदेवनायसरे यथाहमेतमनेककुचैराचार्यनिधित
विचमतिषड्कुचुद्विषेति’ यकोटवृत्तमुत्तजातं प्रच्छामि, यथाचास्य ‘कटकोर्मिकं
काविकं अयामि तत्तवेयामिहानीकृत्य मृगीमुक्कम्प्राभीसमाधारकुटनी’ भीमसा महिनी
तिन्तिपीकातदमात्रोऽस्य घणितो यिपमद्विषमरीविधिव्यासपद्मानि” रत्नानि पाद्ययितव्या
इति निपुणिकायाः कृतसंगीति” श्वस्तयेऽहनि” सर्वेषु मरीयद्वयानाम्बुसुगुमे सुगुमे
स्वयापि भगवत्या साधु विजुम्मितव्यम्, यथास्य चिश्चापुठपस्यास्ति सत्यता इत्यभ्ये”
तयैवाचरिताधरव्या श्वस्तस्तत्तद्विमानहापनामुक्कतत्वात्तत्कलवाग्मपीनुपप्रणीय” रात्रिः
समर्पयामास ।

स रत्नाद्भुताशौ” स्वकीयरत्नराशौ तानि स्वकीयं” आकाशं धेनमासक्षतस्मीकृत्य-
हताचिन्तासर्गन्यतं वैदेहकमन्त्रम् ‘महो बभिवक्तव्य, याम्यत्र रत्ननिधये तव रत्नानि सन्ति
तानि त्वं विचिन्त्य गृह्णाव” इत्यभाजीत् । भद्रमिहः ‘चिरेवाय ननु विष्टेयौ बधेऽहम् इति
मनस्यमिनिविश्य” ‘यथाविशति विष्टपति” इत्युपाविश्य विमृश्य च तस्यां मायिक्यपुष्पी”
निजाभ्येव भ्रमागियसम्भितपरिचयचिरत्नानि रत्नानि समग्रहीत् ।

ततः स नरघर” सपरिचारः प्रकामं विस्मृतमति” ध्वजिकपते स्वनेवात्रान्वर्धत”

वैसा ही है । क्योंकि उस दिनसे लेकर पूरे छह माह तक यह एक ही बात चिन्ता है । अतः
पूतकीडाके धौकीन श्रीमूर्तिके साथ पूतकीडाके बहानेसे उसका मनकी बात धीमे जाननी चाहिए ।
जुबा सेवते समय मैं उस वर्नाचारी भगुन भगतसे जो-जो बात पूछूँ तथा जो उसके कंकम,
अंगूठी, वस्त्र गौरह चीतूँ उन सबको प्रमाणरूपसे उपस्थित करके तुम्हें उस मृगीक समान मुक्त
किन्तु सिंहीके समान आचरणवासी कुटनी भीचसे इससेके बहाने चढ़े हुए इस बणिक्के
संस रत्न भोग करने चाहिए ।’

इस प्रकार निपुणिकाका सम्झाकर दूसरे दिन रानीने—हे मेरे हृदयको धामन्द देनेवाले
पाशदेवता । यदि इस इससेके बहानेसे मनुष्य सच्चा है तो तुम्हें भी उसमें सहायता करनी
चाहिए ऐसी प्रार्थना करके वैसा ही किया और बार-बार उपमें चीते हुए पद्मार्थको प्रमाण रूपसे
उपस्थित करके श्रीमूर्तिकी फलीसे रत्न भोग किया तथा ऊँहें रात्राको दे दिया । रात्राके उन
रत्नोंको धूपने अत्रुमत् रत्नोंमें मिठाकर उस बणिक्-पुत्रको बुझाया और कहा—‘‘बणिक्-पुत्र ! इन
रत्नोंमें-से जो रत्न तुम्हारे हों उन्हें चुनकर ले लो ।’ ‘विरकास्के बाद मेरा माम्मोदय हुआ है’
ऐसा मनमें सोचकर भ्रमिन्त्र बोझ—‘‘जो बाबा गहराबा ।’ बूकि रत्नोंकी देखे हुए बहुत दिन
हो गये थे इसलिये उन्हें चुननेमें जोड़ा समय लगा । किन्तु उसने विचारकर उन रत्नोंमें-से धूपने
रत्नोंकी सोच लिया ।

यह देखकर सपरिवार रात्राको बड़ा आश्चर्य हुआ । यह बात—‘‘बणिक्पति ! तुम ही

- १ अर्चिः । २ आकाशः । ३ अमन्त्रः । ४ अष्टमेकाः । ५ बभिवक्तव्यः । ६ पूतकीडा । ७ कुटनी ।
८ जात्रा । कुचुद्विष-वा । ९ कंकम-मूर्तिक-वर्णनार्थकः । १० कुटनीति जापायाम् । ११ अष्टार्चिः संख्यायाम् ।
१२ संकयः । १३ आचार्यनिधिये । १४ प्राप्यः । १५ जालीयः । १६ किरये । १७ मिश्रीहृत् ।
१८ वैकोपानम् । १९ विचारः । २० पुण्येन । २१ भविष्यार्थं इत्यादि । २२ समुहः । २३ मन्त्रम्
विचिन्त्यपरिचयेन विरलः काव्येयौ वेदु रत्नेषु तानि विरत्नानि ।

जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥३७७॥

प्रियशीलः प्रियाचारः प्रियकारी प्रियंवदः ।

स्यादानृशंसंधीर्नित्यं नित्यं परहिते रतः ॥३७८॥

केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपःसु च ।

अर्वर्णवादवाञ्छन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान् ॥३७९॥

मोक्षमार्गं स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते ।

मदापह्नवमात्सर्यैः स स्यादावरणद्वयी ॥३८०॥

मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्य कूटलेखनम् ।

मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यते विघातकाः ॥३८१॥

परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टसंश्रयाम् ।

अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्बुध ॥३८२॥

असत्यं सत्यं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् ।

सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥३८३॥

अस्येदमैदपर्यम्—असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसी-

या अपने ऊपर दुर्निवार सकट आता हो ॥ ३७७ ॥

मनुष्यको सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, सदा दयालु और सदा दूसरोंके हितमें तत्पर होना चाहिए ॥ ३७८ ॥

जो जीव केवली, शास्त्र, सध, देव, धर्म और तपमें मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३७९ ॥ जो मोक्षके मार्गको जानता हुआ भी, जो उसे जानने को इच्छुक है उसे भी नहीं बतलाता, वह अपने ज्ञानका घमण्ड करनेसे, ज्ञानको छिपानेसे तथा उसके सिवा दूसरा कोई न जानने पावे इस ईर्ष्या भावसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध करता है ॥ ३८० ॥

सकेत वगैरहसे दूसरेके मनकी बातको जानकर उसे दूसरोंपर प्रकट कर देना, दूसरेकी वदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरेने नहीं कही या नहीं की, दूसरोंका दबाव पडनेसे ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकारका झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रतके घातक हैं ॥३८१॥ समझदार मनुष्यको परायी स्त्रियोंकी कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नहीं कहनी चाहिए ॥ ३८२ ॥

वचन चार प्रकारका होता है । कोई वचन असत्य-सत्य होता है, कोई वचन सत्य-असत्य होता है । कोई वचन सत्य-सत्य होता है और कोई वचन असत्य-असत्य होता है ॥ ३८३ ॥

इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है, जैसे—'भात पकाता है, या कपड़ा बुनता है' । ये वचन यद्यपि असत्य हैं क्योंकि न भात पकाया जाता है

१ दयासहितबुद्धि । २ निन्दापर । 'केवलिश्रुतसधधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥' तत्त्वा० सू० ६, १३ सू० । ३ 'तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो ॥' ६ तत्त्वा० सू० ६, १० । ४ 'मिथ्योपदेशरहोम्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदा ।' —त० सू० ७-२६ । 'परिवादरहो-म्याख्या पैशून्य कूटलेखकरण च । न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ॥५६॥' —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि० श्लो० १८४ । अमित० श्राव०, अ०-७, श्लो० ४ । ५ एतत् सर्वं गद्यभागसहित धर्मरत्नाकरे समुपलभ्यते ।

दुर्गन्धगौर्यरोद्वर्गयितमप्याशयं शास्त्राजिरक्षयमशितम्यम्, नो वेदशरीरलवणोत्सृज्यमानां
मज्जानां त्रयस्त्रिंशद्वर्गस्तप्रवृत्तानि सहितम्यानि । भ्रुयमम्यथा तद्य सत्यंस्वापहारः ।'

प्रणाशायकाशयिभूतिः धीभूतिराद्यनये दृष्टव्यं क्रमेणातितिक्षेमाजः 'पपांससमस्त
द्रविण' किमिहकिमौरपरिपत्यरिकक्षितमौष्टिः, 'रुतकलशकपालमासाबासिकसुद्रिस्तुष्टसरा-
वक्ष्यपरिप्लेते' पुरोदवासवोत्सेयकमारोह्य सनिकार निष्कासित पापविपाकोपपन्नाप्रतिप्लेते
दुष्परिणामकनिष्टे शुभाशुषारभ्यविनाशमहसि' हिरण्यरेतसि तनुविसर्गाद्वितीन्द्रसर्गावाहे
येऽप्येवाये प्रोक्तुर्म्य धिरापापराधे ख प्राणिषु जातजीवितावधिरक्षप्रधाननिधिवेम्भू ।

अपति चाप स्तोकः—

धीभूतिः स्तेयबोयेष फस्युः प्राप्य परामयम् ।

रोहिदम्भे प्रवेष्टेन द्योतः सप्तधोगतः ॥३७४॥

इत्तुपासकभ्यवने स्तेयफलफलपनो नाम सप्तविशतितमः कल्पः ।

आयुषिभ्यवबोपोकिमसम्योक्तिं च वर्जयेत् ।

मापेत यचन नित्यममिजातः' हित मिठम् ॥३७५॥

तत्सत्यमेपि नो धाम्य यत्स्यात्पक्षिपत्ये ।

सब मोटे ताजे बल्लाही पल्लवानोंके हाथक तेतीस महार सहने चाहिये । मही तो अवश्य ही
सुन्हारा सर्वस्व हर लिखा जायेगा ।'

विनाशसे बचावका विभूति माननेवाका भीभूति पहचके दा दण्ड सो क्रमसे नहीं सह सका ।
कत उसका सब धन हर लिखा गया और समस्त बदनपर बितकबरे रंगसे चित्रकारी करके तथा
पङ्कत लम्परोकी और फूटे हुए शङ्कोरोकी माछा पहना कर गधेपर बैठाकर उसे तिरस्कारपूर्वक
नगरसे निकाल दिया । पापकर्मका उदय आनेसे उसे कोढ़ हो गया और वह ध्वस्त नीच
परिणामोसे आगमें जलकर मर गया । तथा सोंपेके बगमं उत्पन्न हुआ । वहाँ उसने अनेक
माणियोंको डँसा और वायु पूरी करके मरकमे गया ।

इसके सम्बन्धमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'चोरीके दोषके कारण भीभूति राखाके द्वारा तिरस्कृत हुआ । और आगमें जलकर मर
गया । फिर सपैमोनिमें जन्म लेकर नरकजागी हुआ' ॥३७५॥

इस प्रकार उपासकभ्यवनमें चोरीका फल बतलानेवाला सधार्तवर्षों कल्प समाप्त हुआ ।

[अब सत्य व्रतका वर्णन करते हैं—]

सत्याणुव्रत

किसी बातको बड़ाकर नहीं कहना चाहिये न दूसरेके क्षणोंका ही कहना चाहिये और
न असम्भ बचन ही बोलना चाहिये । किन्तु सदा हित मित और सम्य बचन ही बोलना
चाहिये ॥ ३७६ ॥ किन्तु ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिये, जिससे दूसरोंपर विपत्ति आती हो

१ भुतमप्यदेष्टम् । २ उपासकभ्यवनम् । ३ बहुबल । ४ कोट्युषी । ५ अष्टदशान । ६ मुहीत ।
७ इतिविनिर्दिष्टम् । ८ विज्ञेयम् । ९ अविज्ञेयम् । १० अविज्ञेयम् । ११ अविज्ञेयम् । १२ अविज्ञेयम् ।
१३ अविज्ञेयम् । १४ अविज्ञेयम् । १५ अविज्ञेयम् । १६ अविज्ञेयम् । १७ अविज्ञेयम् । १८ अविज्ञेयम् । १९ अविज्ञेयम् ।
२० अविज्ञेयम् । २१ अविज्ञेयम् । २२ अविज्ञेयम् । २३ अविज्ञेयम् । २४ अविज्ञेयम् । २५ अविज्ञेयम् । २६ अविज्ञेयम् । २७ अविज्ञेयम् । २८ अविज्ञेयम् । २९ अविज्ञेयम् । ३० अविज्ञेयम् ।
३१ अविज्ञेयम् । ३२ अविज्ञेयम् । ३३ अविज्ञेयम् । ३४ अविज्ञेयम् । ३५ अविज्ञेयम् । ३६ अविज्ञेयम् । ३७ अविज्ञेयम् । ३८ अविज्ञेयम् । ३९ अविज्ञेयम् । ४० अविज्ञेयम् ।
—रत्न धा । पुष्पावलि श्लो ११- ८ । अविज्ञेय धाव अ १ श्लो ४५-५८ । 'उपासकभ्यवनम्'
नो धाम्य यत्स्यात्पक्षिपत्ये । वर्जयेत् वेग वा स्वस्थ व्यापारम् । इत्युक्तम् ॥३७५॥ —प्रबोधसार ।

जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥३७७॥

प्रियशीलः प्रियाचार प्रियकारी प्रियंवदः ।

स्यादानृशंसंधीर्नित्यं नित्यं परहिते रतः ॥३७८॥

केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपःसु च ।

अवर्णवाद्वाञ्छन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान् ॥३७९॥

मोक्षमार्गं स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते ।

मदापह्नवमात्सर्यैः स स्यादाचरणद्वयी ॥३८०॥

मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् ।

मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यते विघातकाः ॥३८१॥

परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टप्रसंश्रयाम् ।

अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्वुध ॥३८२॥

असत्यं सत्यं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् ।

सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥३८३॥

अस्येदमैदंपर्यम्—असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसी-

या अपने ऊपर दुर्निवार सकट आता हो ॥ ३७७ ॥

मनुष्यको सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, सदा दयालु और सदा दूसरोंके हितमें तत्पर होना चाहिए ॥ ३७८ ॥

जो जीव केवली, शास्त्र, संघ, देव, धर्म और तपमें मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३७९ ॥ जो मोक्षके मार्गको जानता हुआ भी, जो उसे जानने को इच्छुक है उसे भी नहीं बतलाता, वह अपने ज्ञानका घमण्ड करनेसे, ज्ञानको छिपानेसे तथा उसके सिवा दूसरा कोई न जानने पावे इस ईर्ष्या भावसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध करता है ॥ ३८० ॥

सकेत वगैरहसे दूसरेके मनकी बातको जानकर उसे दूसरोंपर प्रकट कर देना, दूसरेकी बदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरेने नहीं कही या नहीं की, दूसरोंका दबाव पड़नेसे ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकारका झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रतके घातक है ॥३८१॥ समझदार मनुष्यको परायी स्त्रियोंकी कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नहीं कहनी चाहिए ॥ ३८२ ॥

वचन चार प्रकारका होता है । कोई वचन असत्य-सत्य होता है, कोई वचन सत्य-असत्य होता है । कोई वचन सत्य-सत्य होता है और कोई वचन असत्य-असत्य होता है ॥ ३८३ ॥

इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है, जैसे—‘भात पकाता है, या कपडा बुनता है’ । ये वचन यद्यपि असत्य हैं क्योंकि न भात पकाया जाता है

१ दयासहितबुद्धि । २ निन्दापर । ‘केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥’ तत्त्वा० सू० ६, १३ सू० । ३ ‘तत्प्रदोपनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो ॥’ ६ तत्त्वा० सू० ६, १० । ४ ‘मिथ्योपदेशरहोम्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदा ।’ —त० सू० ७-२६ । ‘परिवादरहो-म्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च । न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ॥५६॥’ —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि० श्लो० १८४ । अमित० श्राव०, अ०-७, श्लो० ४ । ५ एतत् सर्वं गद्यभागसहितं धर्मरत्नाकरे समुपलभ्यते ।

सुर्गन्धर्वाद्यैरेवार्थितमभ्याशयं शास्त्राजिरत्रयमशितव्यम्, नो चैवशरीरसवलोत्सुग्गङ्गाणां
मलानां त्रयस्त्रिंशद्वर्षैस्तमहतामि संहितव्यानि । भूषमन्यथा सद्यः सर्वस्वापहारः ।

प्रयाशाद्यकप्रथममृतिः श्रीमृतिराद्यनय दण्डद्वयं क्रमेणातितिरुमाणाः पर्याप्तसमस्त
प्रथिणः किमिकिर्मोरपरिपत्यरिकल्पितमौष्टिः, कृतकलशकपालमालार्थसिक्कचुष्टिस्तुष्टसप्त
वक्रकपरिपुष्टः पुरोदवास्तवैलेयकमारोह्य सनिकारं निष्कासितः पापघिपाकोपपद्माप्रतिप्रेक्ष्यो
तुष्टपरिषामकनिर्देश्युमाश्रयारण्यविनाशमहसिः^१ हिरण्यरेतसि तनुविसर्गाद्वितीप्रसर्गाद्वाहे
येऽन्वेष्टाये प्रोक्तुर्मयः चिरायपरार्थे^२ च प्राथिपु जातमीवितावधिरधप्रधाननिधिबभूव ।

भवति यात्र स्तोत्रः—

श्रीमृतिः स्तेयदोषेण दस्युः प्राप्य परामथम् ।

रोहिदम्बे प्रवेशेन दुरोरा^३ सप्तधोगतः^४ ॥३७५॥

इत्युपसक्तप्रथममे स्तेयफलमलपनो नाम सप्तविशतितमः कल्पः ।

अस्युक्तिमन्मदोषोक्तिमसम्बोक्तिश्च वर्जयेत् ।

भाषेत वधनं नित्यमभिजातः^५ हित मितम् ॥३७६॥

तत्सत्यमेपि नो वाच्यं यस्यात्यरथिपसत्ये ।

सब मोटे ताजे बल्लाही फल्लानोके द्वाभक तेतीस महार सन्ने चाहिये । नहीं तो अवरब ही
सुन्दारा सर्वस्व हर लिया जायेगा ।^६

विनाशसे बचावको विमृति माननेवाला श्रीमृति फल्लक वा दण्ड तो क्रमेसे नहीं सहे सका ।
अस उसका सब धन हर लिया गया और समस्त बदनपर चितकबरे रंगसे चित्रकारी करके तथा
धड़क सम्पत्तोंकी और फूटे हुए शक्कोरोंकी माला पहना कर गधेपर बैठाकर उसे तिरस्कारपूर्वक
नगरसे निकाल दिया । पापकर्मका उदय जानेसे उसे क्रोध हो गया और वह अत्यन्त नीच
परिणामोसे आगमें अलकर मर गया । तथा सौंपके वधमें उत्पन्न हुआ । वहाँ उसने अपने
प्राथिप्योंको हँसा और जात्रा पूरी करके नरकमें गया ।

इसके सम्बन्धमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'चोरीके दोषक कारण श्रीमृति रात्राके द्वारा तिरस्कृत हुआ । और आगमें अलकर मर
गया । फिर सर्वभोगोंमें अन्न छूटकर नरकगामी हुआ' ॥३७५॥

इस प्रकार उपासकप्रथममें चोरीका फल बतलानेवाला सप्तार्चिषों कल्प समाप्त हुआ ।

[अब सत्य प्रकटा वर्णन करते हैं—]

सत्यानुवत

किसी बातको बढ़ाकर नहीं कहना चाहिये, न दूसरेक बातोंका ही कहना चाहिये और
न अमन्य वधन ही बोझना चाहिये । किन्तु सत्ता हित मित और सभ्य वधन ही बोझना
चाहिये ॥ ३७६ ॥ किन्तु ऐसा सत्य भी नहीं बोझना चाहिये, जिससे दूसरोंपर विपत्ति आती हो

१ भूतमन्मदेष्टम् । २ सप्तध पावनं । ३ बहुवचः । ४ कीदृशी । ५ अष्टद्वयान् । ६ गृहीतः ।
७ इतिभिर्विषयः । ८ विनिष्पन्नः । ९ अविष्टः । १० सप्तधमाकाशं हितः । ११ नवराष्ट्रः । १२ गृहम्
राष्ट्रम् । १३ अधोभमानः । १४ बलवत् । १५ अली । १६ सर्ववर्षः । १७ सत्यः । १८ प्राथिपु अपराध
इत्यादि । १९ अमि । २० सर्पः । २१ अविज्ञातानु भूतये कुम्भे गुरुमारे ग्वाभ्यो चोरवापात् । २२ गुरुम
कीर्त्तनं वदति न वराम् वादयति त्रयमपि विपदे । यत्तद्वदन्ति सत्याः दण्डमृदावाद्बैरमणम् ॥ ५५ ॥
—रत्नं वा । पुराणीति श्लो ११-८ । अमिन् भावः अ १ श्लो ४५-५८ । 'सत्यत्वमपि
नो प्राप्य यस्यास्यनरथिपसत्ये । वर्तते येन वा रवस्तु व्यापरात्तु दुरात्ता' ॥७५॥ —प्रवीरकारः ।

तथा तथात्मनाडीपु तमोधारा निपिञ्चति ॥३८८॥
 दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः संगन्तुणि शरीरिणाम् ।
 भवन्ति चित्तवासांसि गुरुणि च लघूनि च ॥३८९॥
 सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते ।
 वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥३९०॥
 तपैर्प्यामर्पहर्पाद्यैर्मृषाभाषामनीषित ।

‘जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिं चित्तिम् ॥३९१॥

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्—जाङ्गलदेशेषु हस्तिनागनामावनीश्वरकुञ्जरजनिता-
वतारे हस्तिनागपुरे प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाग्रखण्डितभण्डनकण्डलारातिकीर्ति-
 लतानिवन्धनोऽभूद्योधनो नाम नृपतिः । अनवरतवसुविश्राणनग्रीणितातिथिरतिथिर्नामास्य
 महादेवी । सुता चानयोः सकलकलाचलोकानलसा सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या
 गर्भगतापि ‘घातेयेनैकोदरंशालिनो रम्यकदेशनिवेशोपेतपौदनपुरनिवेशिनो निर्विर्षत्तलक्ष्मी-
 लक्षिताक्ष्णमङ्गलस्य पिङ्गलस्य ‘गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुर्वारवैरिवत्तःस्थलोद्द-
 नावदानोद्योगलाङ्गलाय मधुपिङ्गलाय परिर्णिता बभूव ।

भूभुजा च महोदयेन तेन विदितमहादेवीहृदयेनापि ‘यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यै-
 भोग्यतया योग्यमिदं स्त्रैणं द्रविणं तस्यैतद्भूयात् । अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतामचिन्तितसुख-
 अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाडियोंमें अन्धकारकी धाराको प्रवाहित करता है । अर्थात्
 दूसरोंका बुरा सोचनेसे अपना ही बुरा होता है ॥ ३८८ ॥

प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र यदि दोषरूपी जलमें डाले जाते हैं तो भारी हो जाते हैं
 और यदि गुणरूपी ग्रीष्म ऋतुमें फैलाये जाते हैं तो हल्के हो जाते हैं ॥ ३८९ ॥ सत्यवादीको
 सदा सच बोलनेके कारण वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है । जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है
 उसकी वाणीका आदर होता है ॥ ३९० ॥ इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध या हर्ष वगैरह
 के वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिह्वा कटवा दी जाती है और परलोकमें भी उसकी
 दुर्गति होती है ॥ ३९१ ॥

१५ असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारदकी कथा ।

अत्र झूठ बोलनेका क्या फल होता है इसके विषयमें एक कथा सुनें—जाङ्गल देशमें
 हस्तिनागपुर नामका नगर है, वहाँ अयोधन नामका राजा था । उसके अतिथि नामकी राज-
 महिषी थी । उनके समस्त कलाओंमें निपुण सुलसा नामकी पुत्री थी । जब वह गर्भमें थी तभी
 रानीने अपने सहोदर भाई पौदनपुरनरेश पिङ्गलके गुणी पुत्र मधुपिङ्गलके साथ उसका वाग्दान
 करनेका सकल्प कर लिया था ।

राजाको यद्यपि रानीके हृदयकी बात जात थी फिर भी उसने सोचा कि ‘यह स्त्रीधन

१ ‘तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते ।’ प्रेत्य च अशुभा गतिम् ॥’
 —सर्वार्थसिद्धि ७, ९ । २. हस्तिनागनामा कश्चिद् राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तद्भग्न हस्तिनागपुरमित्यभवत् ।
 ३ नामा चास्य—मु० । ४ ज्ञातेर्भाव ज्ञातेय तेन वन्बुत्वेन इत्यर्थः । ५ अतिथिपिङ्गलावेकोदरोत्पत्नी ।
 ६ शत्रुरहित । ७. परिपूर्ण । ८ गुणा एव गीर्वाणाचल मेरुस्तत्र रत्नशिखराय । ९ उद्दलनाय अवदानं
 अद्भुतकर्म तत्र उद्योग एव लाङ्गल यस्य तस्मै । १०. मकल्पिता ।

ति । सत्यमन्यसात्यं किञ्चिद्यार्थाभासतमे दिवसे तथेदं वेद्यमित्याख्याय मासतमे संवत्सर
तमे वा दिवसे ददातीति । सत्यं सत्यं किञ्चिद्यस्तु यद्देहाकाङ्क्षाकाङ्क्षमात्रं प्रतिपद्य तत्र
तथैवाभिसवाद् । असत्यासत्यं किञ्चित्स्वस्यासत्संगिरते कल्पे वास्यामीति ।

गुरीयं बज्रयेमित्यं लोकयात्रा जये स्थिता ।
सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्यादिप्रसादिनी ॥३८४॥
न सूर्यावात्ममात्मानं न परं परियावयेत् ।
न सतोऽप्यगुणान् हिंस्यान्नासतः स्वस्य वर्णयेत् ॥३८५॥
तथा कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचिताः पुमान् ।
उच्चैर्गोत्रप्रजाप्नोति विपरीतकृतेः कृती ॥३८६॥
यत्परस्य प्रियं कुर्यात्प्रमत्तस्थिय हि तत् ।
अतः किमिति लोकोऽयं पराप्रियपरायण ॥३८७॥
यथा यथा परेष्वेतच्छेतो क्तिनुते तमा ।

और न कपड़ा बुना जाता है किन्तु पके हुए को मात कहते हैं, और पुन जानेपर कपड़ा फड़लता
है, फिर भी लोकजबद्वारमें ऐसा ही कहा जाता है इसलिये इस तरहके वचनोंको सत्य मानते
हैं । इसी तरह कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य होता है । जैसे किसीने वादा किया कि
पन्द्रह दिनोंमें मैं तुम्हें बहुत वस्तु दे दूँगा । किन्तु पन्द्रहवें दिन न देकर वह एक मासमें या एक
वर्षमें देता है । यहाँ चूँकि उसने वस्तु दे दी इस लिये उसका कहना सत्य है किन्तु समयपर नहीं
थी इस लिये सत्य होत हुए भी असत्य है । जो वस्तु जिस दशमें, जिस कालमें, जिस आकारमें
और जिस प्रमाणमें आनी है उसको उसी रूपमें कहना सत्य-सात्य है । जो वस्तु अपने पास नहीं है
उसके लिये ऐसा वचन देना कि मैं तुम्हें कुछ दूँगा असत्य असत्य वचन है ।

इनमेंसे चौथे असत्य असत्य वचनको कमी नहीं सोचना चाहिए । क्योंकि लोकजबद्वार
क्षेप तीन प्रकारके वचनोंपर ही स्थित है । जो वचन गुणजनोंका प्रसन्न करनेवाला है, वह
मिथ्या होते हुए भी मिथ्या नहीं है ॥ ३८४ ॥

न स्वयं अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए । दूसरोंमें
यदि गुण हैं तो उनका क्षेप नहीं करना चाहिए और अपनेमें यदि गुण नहीं हैं तो उनका वर्णन
नहीं करना चाहिए कि मेरेमें ये गुण हैं ॥ ३८५ ॥ ऐसा करनेसे मनुष्य नीच गोत्रका वचन करता
है, और इससे विपरीत करनेसे अज्ञात अपनी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करनेसे तथा दूसरोंमें
गुण न होनेपर भी उनका वर्णन करनेसे और अपनेमें गुण होते हुए भी उनका कचन न करनेसे
उच्चाग्रका कर्म करता है ॥ ३८६ ॥

जो दूसरोंका हित करता है वह अपना ही हित करता है फिर भी न जाने क्यों यह
संसार दूसरोंका बहिष्त करनेमें ही उत्तर रहता है ॥ ३८७ ॥ जैसे-जैसे यह बिच दूसरोंके विषयमें

१ 'यद्वस्तु यद्देहाकाङ्क्षमाकारं प्रतिपद्यतम् । तस्मिन्स्वदेव संवाचि सत्यतत्त्वं यत्रो वरेत् ॥३८४॥
—साधारणमार्गम् अ ४ । २ 'लोकयात्रागुरीयमित्यादिवाच्यमित्यम् । कृत्वाचरत्वात्तत्त्वं तु उच्यतेवाच्य
वस्तुमित् ॥३८५॥ —साधारणम् अ ४ । ३ 'पराप्रियपरायणस्य सत्यतत्त्वं यत्रो वरेत् अत्रो वरेत् अत्रो वरेत्
॥३८६॥ तद्विषयस्यो नीचैर्गोत्रप्रजाप्लव्ही चोत्तरस्य ॥३८७॥ —तत्त्वा तु १ अ । 'ता मिथ्या न प्रमत्तस्थिया
या पत्यादिप्रसादिनी । न सूर्यावात्ममात्मानं न परं परियावयेत् ॥३८८॥ —प्रमत्तस्थितार ।

तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निषिञ्चति ॥३८८॥
 दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः संगन्तृणि शरीरिणाम् ।
 भवन्ति चित्तवासांसि गुरुणि च लघूनि च ॥३८९॥
 सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते ।
 वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥३९०॥
 तर्पेण्यार्मर्पहर्पाद्यैर्मृषाभाषामनीषितः ।
 जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम् ॥३९१॥

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्—जाङ्गलदेशेषु हस्तिनागनामावनीश्वरकुञ्जरजनिता-
 वतारे हस्तिनागपुरे प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाग्रखण्डितमण्डनकण्डूलारातिकीर्ति-
 लतानिवन्धनोऽभूद्योधनो नाम नृपतिः । अनवरतवसुविश्राणनप्रीणितातिथिरतिथिर्नामस्य
 महादेवी । सुता चानयोः सकलकलावलोकानलसा सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या
 गर्भगतापि ज्ञातेयेनैकोदरशालिनो रम्यकदेशनिवेशोपेतपौदनपुरनिवेशिनो निर्विपक्षलक्ष्मी-
 लक्षिताक्ष्णमङ्गलस्य पिङ्गलस्य गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुर्वारवैरिवक्षःस्थलोद्दल-
 नावदानोद्योगलाङ्गलाय मधुपिङ्गलाय परिर्णिता बभूव ।

भूभुजा च महोदयेन तेन विदितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यै-
 भोग्यतया योग्यमिदं स्त्रेणं द्रविणं तस्यैतद्भूयात् । अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतामचिन्तितसुख-
 अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाडियोंमें अन्धकारकी धाराको प्रवाहित करता है । अर्थात्
 दूसरोंका बुरा सोचनेसे अपना ही बुरा होता है ॥ ३८८ ॥

प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र यदि दोषरूपी जलमें डाले जाते हैं तो भारी हो जाते हैं
 और यदि गुणरूपी ग्रीष्म ऋतुमें फैलाये जाते हैं तो हल्के हो जाते हैं ॥ ३८९ ॥ सत्यवादीको
 सदा सच बोलनेके कारण वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है । जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है
 उसकी वाणीका आदर होता है ॥ ३९० ॥ इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध या हर्ष वगैरह
 के वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिह्वा कटवा दी जाती है और परलोकमें भी उसकी
 दुर्गति होती है ॥ ३९१ ॥

१५ असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारदकी कथा ।

अब झूठ बोलनेका क्या फल होता है इसके विषयमें एक कथा सुनें—जाङ्गल देशमें
 हस्तिनागपुर नामका नगर है, वहाँ अयोधन नामका राजा था । उसके अतिथि नामकी राज-
 महिषी थी । उनके समस्त कलाओंमें निपुण सुलसा नामकी पुत्री थी । जब वह गर्भमें थी तभी
 रानीने अपने सहोदर भाई पौदनपुरनरेश पिङ्गलके गुणी पुत्र मधुपिङ्गलके साथ उसका वाग्दान
 करनेका सकल्प कर लिया था ।

राजाको यद्यपि रानीके हृदयकी बात ज्ञात थी फिर भी उसने सोचा कि 'यह स्त्रीधन

१ 'तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते । प्रेत्य च अशुभा गतिम् ॥'
 —सर्वार्थसिद्धि ७, ९ । २ हस्तिनागनामा कश्चिद् राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तन्नगर हस्तिनागपुरमित्यभवत् ।
 ३. नामा चास्य—मु० । ४ ज्ञातेर्भाव ज्ञातेय तेन वन्धुत्वेन इत्यर्थः । ५ अतिथिपिङ्गलावेकोदरोत्पत्नी ।
 ६ शत्रुरहित । ७ परिपूर्ण । ८ गुणा एव गोर्वाणाचल मेरुस्तत्र रत्नशिखराय । ९ उद्दलनाय अवदानं
 अद्भुतकर्म तत्र उद्योग एव लाङ्गलं यस्य तस्मै । १०. सकल्पिता ।

उत्तागमानुमेयप्रभावं वैषम्यं शरणम्' इति विगर्भेभ्य स्वयंवरार्थं भीम भीष्म-भरत-भाग-
सङ्ग-सगर-सुबन्धु-मनुपित्राणादीनामधिपतीनामुपवैतुक्तं मूलं प्रस्थापयामासूये ।

अत्रान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धयाराध्यायामयोध्यायां भरतस्य सगरो नाम । स क्लि-
ष्टास्याविधित्वात्तदौशस्तसरसायां सुलसायां कर्णपरम्परया भुतसीरूप्यातिशयो ममागुपर-
मसादभ्यलावण्योदयः प्रयोगेन तामात्मसाधिकापुंस्तीर्यधिकसूत्रे प्रतिकर्मधिकसूत्रेषु समो-
त्तिदान्ते विप्रैश्चविधायां स्त्रीपुरुषलक्षणेषु कथाख्यायिकाभ्यामप्रवाहीकास्वपरास्तु य तास्तु
तास्तु कलास्तु परमसंवीणताछतापरित्री मन्वोदरी नाम धात्री ज्योतिषादिशास्त्रनिश्चितमति
प्रसूतिं विष्णुमूर्तिं य बहूमानसंमाधितमनस पुरोधसं तत्र पुरि प्राहिषोत् ।

१ "विशिकाशयगार्हपत्ये" मन्वोदरी तां पुरुमुपगम्य परप्रतारजप्रगल्भमनीया कृत
२ कात्यायिनीयेषा तत्तत्कलावलोकात्तदुत्समयोधनधरापार्ष्णं "निजनाधार्यसिद्धिपरवती"
रक्षितयती सती "सुदान्तोपाध्यायी मूत्वा सुलसां सगरे" "सगरं प्राहयामास । तथा बभौद
वृधियेषाः स पुरोधाश्च तैस्तैरद्वैदीस्तस्य मृपस्य महादेव्याश्च वशीकृतचित्तवृत्ति"

कुण्टं पश्चिच्छीतिः स्यादेकाक्षे बधिरे शतम् ।

यामने च शतं विंशं दोषाः पित्रे त्यक्तव्यया ॥३१२॥

जिस किसी महाभागके भाग्यमें मोगनेक योग्य है उसीका यह होना चाहिये । इस बिबबमें सब
शरीरधारियोंका वैष ही शरण है और वैषका प्रभाव अचानक सुब-दु सबके आगमनसे अनुमेय है ।
ऐसा जानकर उसने स्वयंवरके लिये भीम, भीष्म, भरत, भाग, संग, सगर, सुबन्धु और मनुपित्र
वगैरह राजाओंके पास भेंट पूवक पत्र भिजवा दिये ।

इसी बीचमें एक दूसरी घटना घटी । ज्योध्याके राजा सगरने कामों-कानों नृत्य आदि
कलामें कुशल सुलसाके सौन्दर्यकी चर्चा सुनी । इस राजाका सारुण्य अपने स्वाम्यके साथ जोड़ा
बल चञ्च था । अतः उसने उसे उपायसे अपनानेके लिये ज्योतिष आदि शास्त्रोंमें प्रवीण विष्णु
मूर्ति नामक पुरोहितके साथ मन्वोदरी नामकी धायकी सुस्सताकी नगरीमें भेजा । वह धाय सब
कलाओंमें प्रवीण थी गाना-बजाना और नाचमा जानती थी । साब-शूझार करनेमें चतुर थी ।
सम्भागक सिद्धान्त सामुद्रिक विद्या स्त्री पुरुषके लक्षण, कथा कदानी और पहेलीमें पूरी पण्डिता थी ।

उस नगरमें पहुँचकर दूसरोंकी उमनेमें पद उस धायने प्रीड़ा स्त्रीका धेप बनाया और
अपने स्वामीका प्रबोजन सिद्ध करनेके लिये तरह-तरहकी कलाएँ बिलाकर राजा अमाधनकी प्रसन्न
कर किया तथा उसके अन्त पुरमें अध्यायिका बनकर सुलसासे यह प्रतिज्ञा करा थी कि यह सगरकी
ही वरण करेगी । यगुला मगत पुराहितने भी तरह-तरहके आदेशोंसे राजा और रानीका मन अपने
बशमें कर लिया । उसने स्वयं स्नाक रथ-रथकर राजा-रानीका सुनाये जिनका भाव इस प्रकार था-

टुपेटेमें ६० दोष होते हैं, जानेमें अस्ती और बहरेमें सौ दोष होते हैं । मोनेमें एक सौ
भीम दोष होते हैं । किन्तु जिसकी आँखें पोटवणकी होती हैं, उसमें सा अगणित दोष होते

१ माता । २ भेटपूर्वक । ३ कृतम् । ४ तम पुत्रम् । ५ वेताज्ज्यावेनेत्यर्थ । ६ मयना
वरणादिषु । ७ होरासरादिभिः विरचितज्ञानम् । ८ कथा विचार्यता ज्ञेया ज्ञाताधी व्याधिरा मता ।
९ शान्ताधीनिशरास्वाम प्रवाहोवा ब्रह्मेतिवा । तीर्थम् । १ परबन्धनोपाय । ११ व्याघ्रपुरा ।
१२ बज्रपुरा । १३ लवणपुर । १४ तक्षरापुर । १५ अन्तपुर । १६ प्रतिज्ञा ।

मुखस्यार्धं शरीरं स्याद्घ्राणार्धं मुखमुच्यते ।

नेत्रार्धं घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु^१ नयने परे ॥३६३॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास ।

^३ततश्चास्पेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनन्धयेषु पुष्पन्धयेष्विव मिलितेषु तेषु स्वयंवराह्वानशृङ्गारिताहङ्कारेषु महोश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत्तन्निम्नैर्धरोपगार्पणेव सागरम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सद्वायैर्विजयो नृपः ।

कार्यायान्तो हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्य^४ परिच्छदः ॥३६४॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ।

प्ररूढनिर्वेदकन्दलो मधुपिङ्गलः 'धिगिदमभोगार्थतन भोगार्थतनं यदेकदेशदोषादिमामुचितसमागमामपि मामर्तनृद्धहामहं नाल'प्सि' इति मत्वा विमुक्तसंसारपक्षः परिगृहीतदीक्षः क्रमेण तांस्तान्ग्रामारामनिवेशान्निरनुको^{१३} जङ्घाकरिक इव लोचनोत्सवतां नयन्नशून्याबुद्धयायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तीमातपातिश्रान्तदेहो^{१४} वाष्पीह इव

हैं ॥३९२॥ तथा, शरीरमें मुखके आधे भागका जो मूल्य है वह पूरे शरीरके बराबर है । नाक के आधे भागका मूल्य पूरे मुखके बराबर है । और आधे नेत्रका मूल्य पूरी नाकके बराबर है । इसलिए उन सबमें नेत्र ही वेशकीमत होते हैं ॥३९३॥

इस प्रकारके वचनोंसे उसने उन्हें मधुपिङ्गलके प्रति विरक्त बना दिया ।

इसके बाद स्वयंवर हुआ । जैसे चम्पेकी कलीकी सुगन्धि रूपी दुग्धका पान करनेके लिए भौरे एकत्र हो जाते हैं उसी तरह स्वयंवरके नियंत्रणको पाकर मदमत्त हुए सब राजा उसमें सम्मिलित हुए । सुलसाका मन तो मन्दोदरीके वशमें था । अतः जैसे नीची भूमिकी ओर बहनेवाली नदी सागरमें जाकर मिल जाती है वैसे ही उसने उन राजाओंमें-से सगर राजाको वरण कर लिया ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

शक्तिशाली थोड़ेसे भी सहायकोंके द्वारा राजा विजयी होता है । जैसे भालेकी नोक ही अपना काम करती है, उसमें लगा डंडा तो उसका सहायक मात्र है ॥३९४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सुलसाका सगरके साथ सगम नामका अठाईसवों कल्प समाप्त हुआ ।

इस घटनासे मधुपिङ्गलको बड़ा वैराग्य हुआ—'इस भोगशून्य शरीरको धिक्कार हो जिसके एक भागमें दोष होनेसे मैं समागमके योग्य भी मामाकी पुत्री नहीं प्राप्त कर सका' । ऐसा सोचकर उसने ससारको छोड़ दिया और जिन-दीक्षा ले ली । इसके बाद एकाकी पादचारीकी तरह अनेक ग्रामों और नगरोंमें अरण्य करता हुआ एक दिन अचानक वह भोजनके लिए अयोध्या नगरीमें

१ पूर्वोक्तेषु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे । २ 'चम्पकवल्लरी शुभसुगन्धता एव दुग्धपान तत्र लोभिएज्ञानवा-
लकेषु । ३ निम्नभूगामिनी । ४. नदी । ५ अग्रभाग । ६ कुन्तस्य ।—स्तस्य आ० । ७ भोगरहितम् ।
८ शरीरम् । ९ मातुलपुत्रीम् । १० न प्राप्तवान् । ११ एकोकी । १२ पादचारी । १३ आहारार्थम् ।
१४ चातकवत् ।

‘‘उष्णमातुमेयप्रसाधं वैवमेय शरणम्’’ इति विगणेष्व्य स्वयंधरायै मीम भीष्म-भरत-भाग
सङ्ग-सगर-सुबन्धु मधुपिङ्गसावीनामयनिपतीनामुपदैलुक्क मूर्त्तं प्रस्थापयाम्भूये ।

अथान्तरे मगधमध्यमसिद्धयाप्यापामयोध्यायां नरयत् सगरो नाम । स क्लिप्त
सास्याविविधासकौशससरसायां सुलसायां कर्णपरम्परया भुतसीदप्यतिशयो ममागुपर
मत्ताक्ष्मसाधप्योदयः प्रयोगेणै तामात्मसाधिकीयुस्तीर्यत्रिकसूत्रे प्रतिक्रमधिकल्पेषु संमोह-
सिद्धान्ते विमोहनयिद्यायां श्रीपुरुषलक्षणेपु कथाव्यायिकाव्याजप्रयाहीकास्वपरासु च तासु
तासु कसासु परमसंयोजितासतापरिधी मन्वोवरी नाम धात्री ज्योतिषाविशाखनिश्चितमति-
प्रसूतिं पिबन्मृतिं च बहुमानसंमायितमनस पुरोधस तत्र पुरि प्राहिमोत् ।

‘‘विशिकाशयशाईलवरी’’ मन्वोवरी तां पुरमुपगम्य परमतरजप्रगल्भमनीषा इत्
‘‘कात्यायिनीयेषा तत्तत्कलावलोकनपुत्रहसमयोधनधरापाठं’’ ‘‘निजनाधार्यसिद्धिपरवती’’
‘‘रक्षितवती सती’’ ‘‘शुशान्तोपाध्यायी भूत्वा सुखसां सगरे’’ ‘‘संगरं प्राह्वयामास । तथा बकोट
वृत्तिवेधाः स पुरोधाश्च तैस्तैरप्योस्तस्य नृपस्य महाहैम्याश्च परीकृतवित्तवृत्तिं’’

कुण्डे पधिरसीतिः स्यादेकाक्षे पधिरं शतम् ।

यामने च शत विंश दोषाः पिङ्गे त्वसंख्या ॥३१२॥

जिस किसी महाभागके साम्यमें भोगनेके योग्य है उसीका यह हाना चाहिए । इस विषयमें सब
शरीरभारिणोंका देव ही शरण है और देवका प्रयास अथानक सुस्त-दु स्तके आगमनसे अनुमेव है ।
ऐसा जानकर उसने स्वयंवरके लिए मीम, भीष्म, भरत, भाग, संग, सगर, सुबन्धु और मधुपिङ्ग
बगैरह राजाओंके पास भेंट पूरक पत्र भिजवा दिये ।

इसी बीचमें एक वृत्ती घटना घटी । ज्योध्याके राजा सगरने कानों-कानों नृत्य आदि
कर्ममें कुशल सुस्त्राके सौन्दर्यकी बर्षा सुनी । इस राजाका तारुण्य अपने काक्यके साथ बड़ा
बढ़ गया था । उस उसने उसे उपायसे अपनायनेके लिए ज्योतिष आदि शास्त्रोंमें प्रवीण भिष्म-
मृति नामक पुरोहितके साथ मन्वोवरी नामकी बायको सुस्त्राकी मगरीमें भेजा । वह बाय सब
कर्मजनोंमें प्रवीण थी, गाना-बजाना और नाचना जानती थी । साध-शृङ्गार करनेमें चतुर थी ।
सम्मोहके सिद्धान्त, सामुद्रिक विद्या, की पुरुषके लक्षण, कथा-कहानी और पहेलीमें पूरी पम्बिता थी ।

उस नगरमें पहुँचकर दूसरोंको ठगनेमें पटु उस घायने प्रौढ़ा स्त्रीका वेप बनाया और
अपने स्वामीका प्रबोधन सिद्ध करनेके लिए तरह-तरहकी कल्पाएँ दिखाकर राजा अवाधनको प्रसन्न
कर लिया तथा उसके अन्त पुरमें अध्यायिका बनकर सुस्त्रासे यह प्रतिज्ञा करा की कि यह सगरको
ही वरण करेगी । बहुत मगत पुरोहितने भी तरह-तरहके आदेशोंसे राजा और रानीका मन अपने
वक्षमें कर लिया । उसने स्वयं स्त्रोक रथ-रथकर राजा-रानीको सुनाये झिंका भाव इस प्रकार था—

टुण्टेमें ६० दोष होते हैं, कानेमें अस्सी और बहरेमें सौ दोष होते हैं । नौनेमें एक सौ
बीस दोष होते हैं । किन्तु जिसकी ज्यों पीतकर्मकी होती है उसमें सौ अगणित दोष होते

। १ बाबा । २ अष्टपूर्वक । ३ कैकय । ४ तेज युग्मा । ५ केनाम्पुपायेनेत्पर्व । ६ पञ्चबा-
धरपादिपु । ७ होयसराधिमि परचित्तज्ञानम् । ८. ‘‘कथा विमार्चना ज्ञेया व्यावर्था व्यायिका मता ।
दृष्टान्तस्योक्तिराव्याजान प्रयाहीका प्रहैलिका । तीव्र । १ परवम्भनीपाय । ११ व्यामपुहा ।
१२ बर्द्धयुवा । १३ सनरूप । १४ तत्पराम् । १५ जगत् पुर । १६ प्रतिज्ञा ।

मुखस्यार्धं शरीरं स्याद्घ्राणार्धं मुखमुच्यते ।

नेत्रार्धं घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु^१ नयने परे ॥३६३॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास ।

ततश्चाप्पेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धवोधस्तनन्धयेषु पुष्पन्धयेष्विव मिलितेषु तेषु स्वयंवराद्धानशृङ्गारिताहङ्कारेषु महोश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत्तन्निम्नधरोपगार्पणेव सागरम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सद्वायैर्विजयो नृपः ।

कार्यायान्तो हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्य^२ परिच्छदः ॥३६४॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ।

प्ररुद्धनिर्वेदकन्दलो मधुपिङ्गलः 'धिगिदमभोगार्थतनं भोगार्थतनं यदेकदेशदोषादिमासु-
चितसमागमामपि मामर्तनूद्ब्रह्महं नालं^३प्ति' इति मत्वा विमुक्तसंसारपत्तः परिगृहीतदीक्षः
क्रमेण तांस्तान्ग्रामारामनिवेशान्निर्नुको^४ 'जहाकरिक इव लोचनोत्सवतां नयन्नशैनायाबु-
द्ध्यायोध्यामागत्यानेकोपचासपरवशद्वयोत्साहस्तीवातपातिश्रान्तदेहो^५ 'वाष्पीह इव

है ॥३९२॥ तथा, शरीरमें मुखके आधे भागका जो मूल्य है वह पूरे शरीरके बराबर है । नाक
के आधे भागका मूल्य पूरे मुखके बराबर है । और आधे नेत्रका मूल्य पूरी नाकके बराबर है ।
इसलिए उन सबमें नेत्र ही वेशकीमत होते हैं ॥३९३॥

इस प्रकारके वचनोंसे उसने उन्हें मधुपिङ्गलके प्रति विरक्त बना दिया ।

इसके बाद स्वयवर हुआ । जैसे चम्पेकी कलीकी सुगन्धि रूपी दुग्धका पान करनेके
लिए भौरे एकत्र हो जाते हैं उसी तरह स्वयवरके नियंत्रणको पाकर मदमत्त हुए सब राजा उसमें
सम्मिलित हुए । सुलसाका मन तो मन्दोदरीके वशमें था । अतः जैसे नीची भूमिकी ओर बहनेवाली
नदी सागरमें जाकर मिल जाती है वैसे ही उसने उन राजाओंमें-से सगर राजाको वरण कर लिया ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

शक्तिशाली थोड़ेसे भी सहायकोंके द्वारा राजा विजयी होता है । जैसे भालेकी नोक ही
अपना काम करती है, उसमें लगा डंढा तो उसका सहायक मात्र है ॥३९४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सुलसाका सगरके साथ सगम नामका
अठाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

इस घटनासे मधुपिङ्गलको बड़ा वैराग्य हुआ—'इस भोगशून्य शरीरको धिक्कार हो जिसके
एक भागमें दोष होनेसे मैं समागमके योग्य भी मामाकी पुत्री नहीं प्राप्त कर सका' । ऐसा सोचकर
उसने ससारको छोड़ दिया और जिन-दीक्षा ले ली । इसके बाद एकाकी पादचारीकी तरह अनेक
ग्रामों और नगरोंमें अरण्य करता हुआ एक दिन अचानक वह भोजनके लिए अयोध्या नगरीमें

१ पूर्वोक्तेषु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे । २ 'धम्पकवल्लरी शुभसुगन्धता एव दुग्धपानं तत्र लोभिष्टज्ञानवा-
लकेषु । ३ निम्नभूगामिनी । ४ नदी । ५ अग्रभाग । ६ कुन्तस्य ।—स्तस्य आ० । ७ भोगरहितम् ।
८ शरीरम् । ९ मातुलपुत्रीम् । १० न प्राप्तवान् । ११ एकाकी । १२ पादचारी । १३ आहारार्थम् ।
१४ चातकवत् ।

कर्मधुष्यपोहाय सगरागारद्वारपर्वद्विरे मनाम्यस्तम्बत । तत्र च पुराप्रयुक्तपरिणयापायमीति
विश्वमृतिः प्रगल्भमतये शिवमृतये कश्चिप्यार्थे शिष्याय रहितरहस्यमुद्रकं सामुद्रकमयेप-
विदुपविषक्षणो प्याचक्षानो बभूव । परामर्शयशाशीति शिवमृतिस्तं प्याचक्षप्येशक
मनुषिहस्तप्रयलोप्य—‘उपाध्याय, घनभूताहुतिधुमिमखामशालिनि’ प्याचक्षामाश्लिनि दक्षता
मेतद्वैतिह्यस्याध्यायो यदेयंविधमृतिरप्ययमीदृगप्रस्थाकीर्तिः’ । सदाचारमिदृशीतिविश्वमृति-
अपयार्थपूर्वार्परसंगीते शिवमृते माणाः केचम्, ‘यदेव सुपथरस्य सगरस्य निदेशादस्मदुप-
देशादस्म्यसामास्यलाघप्ययिनियासां सुक्तसामलममानस्वर्पेस्वी तपस्वी सममृत ।

पतयासन्नारिर्दृतातेर्विश्वमृतेर्वधममेकायनमनाः स यतिनिर्गम्य प्रवृत्तकोषामनाः कालेन
‘विपद्यात्यघ चासुरेषु कालासुरनामा मधप्रत्ययमाहारम्यादुपजातायचिसक्षिधित्तपस्या-
प्रपञ्चमसुरान्मयोदम्ब’ । आत्मनो विमिद्धित्य यवीवानीमेव महापराधनगर सगरमकारण-
प्रकाशितदोषकाति विश्वमृति च कूर्णपेयं पिनप्ति, तद्वानयोः सुहृत्समूयिष्ठत्वात्पेत्यापि’ सु-
प्रेष्ठत्वावातिरिति न साध्यपराधः स्यात् । ततो ‘यदेहानयोर्बहुविश्वमनाकरोधो धमः, परम च
दुःखपरम्यपानुरोधो भवति, तथा विधेयम् । न चैकस्य बृहस्पतेरपि कार्यसिद्धिरस्ति’ इत्यभि-

ध्याया । कई दिनसे उपवास होनेके कारण उसके हृदयका उत्साह मन्द पड़ गया था और तेज
धामसे उसका शरीर अस्थिर लिंग था । अतः बातकही तरह ध्यान दूर करनेके लिये सगर
राजाके महलके द्वार-मण्डपपर मोड़ी देरके लिये ठहर गया ।

वहाँ समस्त विद्वानोंमें प्रवीण विश्वमृति, जिसने पहले सुक्साका सगरके साथ विवाह करने
में दुर्नीतिका प्रयोग किया था, अपने मिय शिष्य बुद्धिशाही शिवमृतिको झुले तौरपर सामुद्रिक
विद्याका व्याख्यान दे रहा था । विचारचतुर शिवमृतिने समस्त क्लृप्तोंसे युक्त मधुमिश्रको देखकर
अपने गुरुसे कहा—‘गुरुजी ! पीकी आहुतिसे प्रज्वलित अग्निमें इस सामुद्रिक विद्याको जला
देना चाहिए, क्योंकि इस प्रकारके क्लृप्तोंसे युक्त होनेपर भी इस धादमीकी यह अवस्था है ।’
सदाचारका अनु विश्वमृति बोला—‘पूजापर सम्बन्धते ज्ञानधान शिवमृति । खेद मत करो, क्योंकि
राजा सगरकी आज्ञासे और हमारे कहनेसे असाधारण सुन्दरी सुक्साको न पा सकनेके कारण
यह बेचारा तपस्वी हो गया है ।’

विश्वमृतिका जमझड़ निकट था । अतः उसकी बात उस एकाग्रमन तपस्वीने सुन ली ।
सुनते ही उसकी कोषाग्नि अड़क उठी और वह मरकर कालासुर नामका देव हुआ । वहाँ उसे
मधप्रत्यय नामका अवधिज्ञान प्राप्त हुआ । उसके द्वारा उसने अपने पूर्व मन्त्र सब वृत्तान्त ज्ञान
किया । तब वह सोचने लगा कि यदि मैं इसी समय महा अपराधी सगरको और दुष्ट विश्वमृति
को पीस डालूंगा तो पुण्य अधिक होनेसे ये दोनों मरकर भी देव हो जायेंगे और यह प्रतीक्षीय
टीक नहीं होगा । इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनका कृप भी कष्टसे हो और ये मरकर
परलोकमें भी बहुत दूर तक उठा सकें । किन्तु अकेले तो बृहस्पतिज भी काम सिद्ध नहीं हो

१ मधुमृतिकरनाम । २ प्रादुर्भवे । ३ कात्वीप्रेतयोप्याच विदुषे । ४ पोष्यरहितम् । ५ बन्नी ।
६ चन्द्रम । ७ धीम । ८ जमझड़ । ९ एकाग्रमना । १० मृत्वा । ११ विस्तारम् । १२ उद्भवम् ।
१३ मृत्वा । १४ नृपमन्त्रिणो इवो ।

प्रायेणात्मवैकौरिकर्द्धिप्रदर्शनातिथिं चैरनिर्योतनमनोरथरथसारथिमन्वेपमाणमतिरासीत् ।

अथ कामकोदण्डकारणकान्तरैरिवेज्जुवणावतारविराजितमण्डलायां डहालायामस्ति स्वस्तिमती नाम पुरी । तस्यामभिचन्द्रापरनामवसुर्विश्वावसुर्नाम नृपतिः । तस्य निखिल-
गुणमणिप्रसूतिवसुमती वसुमती नामाग्रमहिणी । सनुरनयो^१ समस्तसपत्न्यभूरुहविभावसु-
र्वसुः । पुरोहितश्च निश्चितशेषशास्त्ररहस्यनिकुरम्बः क्षीरकदम्बः । कुटुम्बिनी पुनरस्य सती-
व्रतोपास्तिमती स्वस्तिमती नाम । जँन्युरनयोरनेकनैमसितपर्वतप्राप्तः पर्वतो नाम । स किल
सदाचारणभूरिः क्षीरकदम्बैकसूरिः शिष्यशेमुप्यामिव स्वाध्यायसंपादनविशालायां सुवर्ण-
गिरिगुहाङ्गणशिलायामेकदा तस्मै मुदा गतस्मयाय यथाविधि सैमधिजिगांसवे वसवे
प्रगलितपितृपाण्डित्यगर्वपर्वताय तस्मै पर्वताय गिरिकूटपत्तनवसतेर्विश्वात्मनो विश्वम्भरापतेः
पुरोहितस्य विहितानवद्यविद्याचार्यचरणसेधस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय नारदामिधानाय च
निखिलभुर्वनव्यवहारतन्त्रमागमसूत्रमतिमधुरस्वरपदेशमुपदिशन्नम्यरादवतरद्भ्यां सूर्याचन्द्र-
मस्तमाभ्याममितगत्यनन्तगतिभ्यामृषिभ्यामीक्षाचक्रे ।

तत्र समासन्नसुगतिरनन्तगतिर्भगवान्किलैवमभाषत—‘भगवन्, एत एव खलु
विदुष्याः शिष्याः यदेवमनवद्य^२ ‘ब्रह्मोद्यविद्यमेतस्माद्ग्रन्थार्थप्रयोगभेदीषु यथार्थप्रदर्शनतया
‘विधूतोपाध्यायादुपाध्यायादेकसैर्गंधियोऽधीयते’ । प्रयुक्तावधिवोधस्थितिरमितगति-
भगवान्—‘मुनिवृषन्, सत्यमेवैतत् । किन्वेतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्यामम्भसि गौरवोपेतपदार्थ-

सकता ।’ ऐसा सोचकर वह ऐसे व्यक्तिकी खोजमें चला, जिसके द्वारा वह अपनी विक्रिया शक्ति
का चमत्कार दिखला कर अपने बैरका परिशोध ले सके ।

इक्षुवनसे सुशोभित डहाला देशमें स्वस्तिमती नामकी नगरी है । उसमें विश्वावसु नामका
राजा राज्य करता था । उसकी पटरानीका नाम वसुमती था । उनके वसु नामका पुत्र था । समस्त
शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता क्षीरकदम्ब राजाका पुरोहित था । उसकी पत्नी स्वस्तिमती थी । उन
दोनोंके पर्वत नामका पुत्र था जो बहुविध देवाराधनसे प्राप्त हुआ था ।

एक दिन क्षीरकदम्ब सुवर्ण गिरिकी गुफाके आँगनमें एक शिलापर पढ़नेके इच्छुक मद-
रहित वसुको, अपने पिताके पाण्डित्यके गर्वसे गर्वित पर्वतको और गिरिकूट नगरके स्वामी राजा
विश्वके पुरोहित विश्वदेवके पुत्र नारदको अत्यन्त मधुर स्वरसे समस्त लोकके व्यवहारोसे पूर्ण
आगम सूत्रका उपदेश देता था । उस समय आकाशसे उतरते हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान
अमितगति और अनन्तगति नामके दो मुनियोंने उन्हें देखा ।

भगवान् अनन्तगति बोले—‘भगवन् ! ये ही शिष्य विद्वान् हैं, जो ग्रन्थके अर्थको
यथार्थ रूपसे बतलानेवाले गर्वरहित उपाध्यायसे इस निर्दोष ब्रह्मज्ञानको एकाग्रतासे पढ़ रहे हैं ।’

अवधिज्ञानसे जानकर भगवान् अमितगतिने उत्तर दिया—‘मुनिश्रेष्ठ ! आपका कहना

१ विकारे भवा विक्रियद्धि । २ वैरशुद्धिकरणसहायम् । ३. शत्रुवृक्षदहनानि । ४ पुत्रः । ५ हत-
कारा एव पर्वता तै प्राप्त बहुलनैवेद्येन देवाराधनैः प्राप्त इत्यर्थः । ६ रहितगर्वाय । ७ अध्येतुमिच्छवे ।
८. त्रैलोक्यवर्णनसिद्धान्तम् । ९. स्वरसहितम् । १० शास्त्रम् । ११ रचनासु । १२ विधूत स्फोटित उपाधे-
विकारस्य आय आगमन येन स तथोक्तस्तस्मात् । १३. एकाभिप्राया ।

स्वर्गलक्ष्मीसपत्नां दीक्षामादाय निखिलागमसमीक्षां शिष्टामनुश्रित्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसङ्घ-
संतोषणं गणपोषणमात्मसात्कृत्य एकत्वादिभावनापुरस्कारमात्मसंस्कारं विधाय कायकपाय-
कर्शनां सल्लेखनामनुष्ठाय निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थमुत्तमार्थं च प्रतिपद्य सुर-
सुखकृतार्थो बभूव । पूर्वमेव तदादेशादात्मदेशोपदेशदेः सकलसिद्धान्तकोविदो नारदः सद्गुण-
भूरेः क्षीरकदम्बसूरे, प्रव्रज्याचरणं स्वर्गाविरोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं च पश्येत्' इति
कृतसूक्तस्मरणः । पर्याप्ततदाराधनोपकरणस्तद्विरहदुःखदुर्मनसमुपाध्यायानीं जननीं सहपांसु-
क्रीडितं पर्वतं च द्रष्टुमागतः ।

अपरैद्युस्तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् 'अजैरज्ज्वात्मजैर्यष्टव्यं हव्यकव्याथो
विधिर्विधातव्यः' इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याहरन्तमुपश्रुत्यबृहस्पतिप्रश्न-
पर्वत, मैव व्याख्य' । किं तु 'न जायन्त इत्यजा वर्षत्रयप्रवृत्तयो ब्रीहयस्तैर्यष्टव्यं शान्ति-
पौष्टिकार्था क्रिया कार्या' इति परांवाचार्यादिदं वाक्यमेवमश्रौष्व परस्सर्जुस्तथैवाचिन्त-
याव । तत्कथमैषमप्य एव तव मतिर्द्वारपरवसतिः समजनीति बहुविस्मय मे मन । आचार्य-
निकेत पर्वत, यद्येवमद्यंश्चिनेऽप्यर्थाभिधाने भवानपरैवानपि 'विपर्यस्यति, तदा पराधीने
मार्हन्विधीने को नाम संप्रत्ययः' ।

समान केशोंका लोंच करके उसने स्वर्गरूपी लक्ष्मीकी सखी जिन-दीक्षा ले ली । तथा समस्त
शास्त्रोंकी शिक्षाका अनुसरण करके आचार्य पदको सुशोभित किया और श्रमण सघका पालन
करके जब आयु थोड़ी शेष रह गयी, तब एकत्व आदि भावनाओंसे आत्माको सुसंस्कृत करके
काय और कषायकी सल्लेखनारूप समाधिमरण धारण किया । तथा अपने समस्त दोषोंकी
आलोचना पूर्वक शरीरको त्याग कर देवलोकमें उत्पन्न हुआ ।

गुरुकी आज्ञासे नारद पहले ही अपने देशकी ओर चला गया था । समस्त सिद्धान्तके
पण्डित नारदने जब गुणोंसे भूषित आचार्य क्षीरकदम्बके दीक्षा ग्रहण और स्वर्गारोहणके समाचार
सुने तो उसे 'गुरुके समान ही गुरु-पुत्रको मानना चाहिए' इस सूक्तिका स्मरण हो आया ।
और वह उनकी भेंटके लिए बहुत-सा सामान साथ लेकर गुरुके वियोगसे दुःखी गुरुपत्नी और एक
साथ खेले हुए मित्र पर्वतको देखनेके लिए आया ।

दूसरे दिन नारदने सुना कि पर्वत श्रद्धालु छात्रोंको 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ 'बकरोसे यज्ञ
और श्राद्ध करना चाहिए' ऐसा बतला रहा है । नारदने रोका—'पर्वत ! ऐसी व्याख्या मत करो ।
किन्तु 'अज' अर्थात् जो उग न सकें ऐसे तीन वर्षके पुराने धान्यसे शान्ति आदि क्रिया करनी
चाहिए' ऐसा अर्थ करो । क्योंकि परार साल आचार्यसे हम दोनोंने इस वाक्यका यही अर्थ
सुना था, और गत वर्ष हम दोनोंने ऐसा ही विचार भी किया था । न जाने इसी वर्ष तुम्हारी
मति सशयमें क्यों पड़ गयी है ? मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है । पर्वत ! तुम
आचार्यका काम करते हो । यदि तुम स्वतन्त्र होकर भी इस अर्थके करनेमें भूल करते हो तो
मेरे समान पराधीनका ही क्या विश्वास है ?'

१ सन्यासम् । २ नारदो गत । ३ गृहीत । ४ छागपुत्र । ५ परारि—पूर्वतरवत्सर । ६ आवा
श्रुतवन्ती । ७ गतवर्ष । ८ इदानीमस्मिन् वर्षे । ९ सन्देह । १० अद्यश्च परदिने वा प्रसोष्यते । ११ अर्थ-
कथने । १२ स्वतन्त्र । १३ विपरीत करोति । १४ मादृशी विधि तस्य इने-नाथे ।

पदप्रत्ययबोधोचितमतिम्यामिदमतिपवित्रमपि सूत्रं विपर्ययासयितव्यम् ।

एतच्च प्रपञ्चमल्लोचनलोकितमेवैतत्तन्माः धीरकपुम्बः संभृत्य 'मृगमस्मिन्महामुनि-
वाक्येऽधोस्तैरुचिमरीचिवद्वाभ्यामूर्ध्वगाम्यां भवितव्यमिति प्रतीयते । तत्राह तावदेक-
देश्यतिव्रतपूतात्मानमात्मानमधरधौसर्गनिधानं न समावयेयम् । मरकान्तं राज्यम्, बन्ध-
नाम्तो नियोगः, मरणास्तः स्त्रीषु विश्वासः विपक्वता बलेषु मैत्री, इति वज्रताविभिराम-
विरामदमस्तिनमन्यधारे राज्यमारे प्रसारवृत्तं वस्तु न मोक्षं विधातुम् । तन्मार्गपर्वतौ
परीक्षाचिह्नौ' इति निश्चित्य 'समिधमयमूर्ध्वासुदृश्यं' निर्माय म्हाय न ताम्याम् 'अथो
हाम्यामपि मयव्यामिवमुरजयुगलं यत्र न कोऽप्यालोकते तत्र चिन्तास्य प्राणितव्यम्' इत्या-
दिवेश । तावपि तदावेद्येन इव्यवाहं बाह्यमक्षितयं प्रत्येकमावाप यथाययम्यासिष्टम् । तत्र
सत्त्व्याति' सर्व' पर्वतः पस्त्यपाभ्यास्यकुम्भामु' पस्यपापाय' व' अतित्रिमुत्तपुत्रमुद्रागन्धपा-
मकापीत् । शुभाश्वविशारदो नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इत्युपाध्यायोक्तं व्याप्य 'को
नामात्र पुरे कान्तारे वा सन्नुपयो' धोऽधिकरैर्यं नास्तेकस्य व्यन्तरागस्य महामुनिजना-
न्तकरणस्य व' इति विचिन्त्य तथैव तं वृष्णिमुपाध्यायाय समर्पयामास ।

उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमवबुद्धयः ससारतदस्तव्यमिध कचनिकुरन्मुत्पादय

ठीक है, किन्तु इन चारोंमें-से दो सिप्योंकी बुद्धि पानीमें पड़े भारी पदार्थकी तरह नीच ज्ञानकी
खार जानेवाली है, ये दोनों इस अखन्त पवित्र शास्त्रकी भी बिपरीत कर देंगे ।'

धाम्तरूपी कपुसे ब्रह्माण्डको देखनेवाले धीरकपुम्बने मुनियोंकी बातचीत सुन ली । वह
सोचने लगा—'महामुनिक वाक्यसे ऐसा प्रतीत होता है कि हममें-से दो निश्चय ही अन्तिकी
सिखाकी तरह उर्ध्वगामी हैं । उनमें-से मैं तो देखचारित्रका पाकू हूँ अतः अपने नरक-
गामी होनेकी सम्भावना तो मैं नहीं कर सकता । कहावत है कि—'राज्यका फल मरक
है । शासनका फल बन्धन है । क्षीमें विश्वास करनेका फल मरण है और तुम्हें-से मैत्री करनेका
फल विपत्ति है ।' अतः छस्मीरूपी मदिराके मदसे मनको क्लुप्त करनेवाले राज्यमारमें निष्क
माण बसे हैं वह वस्तु उर्ध्वगामी हो नहीं सकता । खेच रह जाते हैं नारद और पर्वत । इनकी
परीक्षा करनी चाहिये ।' ऐसा निश्चय करके पुरोहितन इचिप्यके दो मेढ़कननाये और दोनों
का एक एक मेढ़ा देकर कहा—'तुम दोनों यहाँ कोई न देख सके, ऐसे स्थानपर इन मेढ़कोंको
मारकर खा जाओ ।'

गुरुजी आज्ञासे वे दोनों उन मेढ़कोंको छेकर बसे गये । उनमेंसे एकने तो परके पिछवाड़
एक धिरे हुए स्थानपर आकर उस मेढ़के बचनेकी भूलकर अपने पेटमें रस किया । किन्तु शुभाश्वी
नारदने गुरुक 'यहाँ कोई न देख सके' इस बधनका ध्यान करके विचारा—'नगर या संग्रहमें
ऐसा कौन-सा स्थान है जो अतीन्द्रियवर्धी व्यन्तरादिकका और महामुनिके अन्तःकरणका
विषय न हो ।' ऐसा विचारकर उसने वह मेढ़ा बैसाफा-सैसा उपाध्यायको सौंप दिया ।

पुरोहितने जान लिया कि नारद भी उर्ध्वगामी है । अतः संसाररूपी बृक्षके गुच्छोंक

१ ब्रह्माण्डः । २ अग्निः । ३ नीचराज-नरकः । ४ विस्तरल्लापः । ५ नाहं संभावयैमिति
वाक्यदेवः । ६ बचिष्यमं शागद्वयम् । ७ अरण्यम् । ८ -मूर्ध्वासुदृश्यं-वा । ९ इत्या । १ मैत्र्यम् ।
११ तयोत्पादयो । १२ हृत् । १३ वतिम् । १४ इत्या । १५ मृगावतः । १६ मदेव । १७ स्थानम् ।

नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकार सरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरुषूक्त-
तोल्वणकाणः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुप्राज्ञातो निष्काशितः श्वपचस्मशानांशुकपिहित-
मेहनो विपरीतचतुर्धाराचरितमार्गमुण्डन. प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालावलम्बित-
शरावमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्ट तुच्छोदकद्वीपिनीतटिनीतटनिकटोपविष्टस्तेन
कालासुरेण दृष्टः ।

प्रत्यवमृष्टहृच्छेनेन 'चाहं तावद्वैकारिकर्द्धिप्रचिकाशयिपुशक्ति' एषोऽपि स्वमतप्रतिति-
ष्ठापयिषुमतिप्रसक्तिरत निष्प्रतिघं खलु मे कार्योल्लाघः' इति निर्भृतं वितर्क्य पर्याप्तपरिव्राज-
कवेपेण मायामयमनीपेण भाषितश्च । तथा हि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीर्नाशकेलि-
नर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्वरापकार.' । पर्वतः—'तात, को भवान्' । 'पर्वत, भवत्पितु
खलु प्रियसुहृदह सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी । यदा हि वत्स, भवान्पोडन्सेम-
भवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम् । इदानीं चागाम् । अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति ।
तत्कथय हन्त' कारणमस्य व्यतिकरस्य' ।

पर्वतः—'मत्प्राणितैर्परित्राणसद्मन् भगवन्, समाकर्णय । समस्तागमरत्नसन्निधौतरि
सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्त-
निकामकामोद्गम संपन्नप्रेष्याङ्गनाजनसमागम' कृतपिशितकापिसायनस्वाद पापकर्म-
प्रासादः चेतैर्नैष्यार्योपदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमह दुरात्माख्यानः' स्वव्यसनविवृद्धये

कफनके टुकडेसे उसकी नगनाको ढाँक दिया गया था । वेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था ।
कष्टसे प्राण कण्ठमें आ गये थे । इस रूपमें उसे नगरमें निकाल दिया गया और वह एक घने
जंगलमें घुसकर एक नदीके किनारे बैठ गया । वहाँ उसे कालासुर नामके व्यन्तरने देखा । उसके
मनकी दशा जानकर कालासुरने सोचा—'मैं अपनी विक्रिया शक्तिको दिखलाना चाहता हूँ और
यह अपना मत चलाना चाहता है अतः मेरा काम निर्विघ्न होगा ।' ऐसा विचारकर उसने
सन्यासीका वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला—'पर्वत ! जल्दी ही यमराजकी क्रीड़ाके
शिकार बननेवाले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है ?'

पर्वत—पिता ! आप कौन हैं ?

'मैं तुम्हारे पिताका सहपाठी मित्र हूँ । मेरा नाम शाण्डिल्य है । जब तुम्हारे दाँत निकलें
थे तब मैं तीर्थयात्राके लिए चला गया था । और अब लौटा हूँ । इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते
हो । अपनी इस विपत्तिका कारण बतलाओ ।'

पर्वत—'मेरे प्राणोंके रक्षक भगवन् ! सुनिए । समस्त आगमरूपी रत्नोंके धारक और
पुण्यरूपी मणियोंके सम्राट् मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोकको चले गये तो मैं
स्वतन्त्र हो गया । एक दिन मैंने कामके वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मास-मदिराका
स्वाद लिया । 'अजैर्यष्ट्यम्' इस वाक्यका पिताजीने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए

१ महत् । २ सारमेया पृष्ठतो भवन्ति । विश्वरघुष्टा -आ० । ३ चाण्डालचितास्थानवस्त्रेण
कृतकौपीन । ४ नदी । ५ निर्विघ्न । ६ निश्चल विचार्य । ७ तपस्वि । ८ यम । ९ निष्ठुर । १० यदा
तब पड्डन्ता । ११ आगत । १२ अहो । १३ जीवितरक्षणे । १४ सगरके । १५ कृतवेश्यासमागम ।
१६ मद्य । १७ जानन्नपि पित्रा उपदिष्टम् । १८ दुरात्मा-दुष्टस्वभावमाख्यान चरित यस्य सोऽहम् ।

कालं पातोऽमृतं जगाहे । अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिषेलाया मज्जा जल्पन्ति—‘उत्तिष्ठ वसोः स्वर्गं गच्छ’ इति । मयति आत्र श्लोकः—

अस्थाने वज्रकणाणां भराणां सुतमं द्रवम् ।

परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शान्त्वती ॥३६९॥

इत्युपासकस्य मनो वसो रसातलात्तादनी नामैकोनशिशुः कल्पः ।

नारवस्तमेव निर्वैवमुररीक्ष्य मर्त्यैर्भयिभ्रमभ्रमरजुः समिलयामीहोत्पलस्तूपमिव कुन्तल-
कलापमुन्मूल्य परमनिष्कृष्टतानिकर्यं जातकपमास्थाय सकलसत्याभयप्रदानामृतवर्षा-
धिकरणं सपमोर्षकरणमाकलौष्य मुक्तिक्षमीसमागमसंस्कारिकामिबोवर्षैरिचारिकामाहस्य
शिवभीकरीकरणार्थायमिव स्वाध्यायमनुब्रूय मनोमर्कटकीबाभकौममिस्त्रियाराममुपरम्य
अन्तरात्मादेमाग्नेसमस्तमलवह्नं ध्यानवह्नमुदीप्य सजातकेवलस्तत्पदैतिपेशलो बभूव ।

पर्वतस्तु तथा सर्वसमासमज्जोवीरितोदीर्घरुपवाहरजसि मिध्यासाक्षिपद्यक्षिण-
वसति दुराचारेण्युमितसहसाक्षानुर्वरीक्षितजीवितमहसि कथामोपतेजसि ‘वसो सति
कहेस्वदीप्यतया पौराणिकीर्ययो’ च निरुत्तरोवज्जरोमाभ्रनिकायाः शङ्खसंज्ञाकानि कीर्णकाय
इव मितांगण्येदुपीक्षिताभ्यां ठोवरधर्मपुटः स्फुटधिव च सैवपतिविनाशवश्यामर्षिभिः संभूयोप-
विष्टलोहवर्षिभिरुत्पृच्छपिच्छोर्ध्वैसास्त्रालनप्रकर्षिभिः प्रतिघातोष्णसङ्घकसकपाप्रहारतर्पिभिः
वसुकां पाताळं मेघ दिया । इतीसे आज भी वनमे फह्सी आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते
हैं—‘वसु उठ । स्वर्ग जा ।’

किसाने ठीक ही कहा है— ‘भूमी बातका दुराग्रह करनेवाले मनुष्योंके विष दो बाज
सुबम है—परकोष्ठीं दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोकमें स्थायी अपयश’ ॥३६९॥

इस प्रकार उपासकस्य मनो वसुकी रसातल-मासिको बतलानेवाला

उगतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ॥

इस घटनासे नारवको बड़ा बैराम्य हुआ । उसने केसुओंच करके नम्र विगम्वर होकर
सकल बीबोको अभयदाय देनेवाले संयमके उपकरण पीछी और कमण्डलु ग्रहण कर लिये । और
स्वाध्यायपूर्वक मनरूपी कन्दरके स्तेजनेके स्थान इन्द्रिवरूपी उपवनका मन्द करके अन्तरात्मा-
रूपी स्वर्णपाषाणके समस्त मलको ज्जानेमें समर्थ ध्यामरूपी अग्निको प्रदीप्त किया । तथा केवल-
ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गया ।

राजा वसुके भर जानेपर अत्यन्त खेदा तथा पुरबासी जनाके तीव्र विस्कारके कारण
वसुको क्रोधसे रामान हो आया । उस पंती पीड़ा हुई मानो सेहीके काँटोसे उसका करीर पीसा
गया है । अपने असह्य दुष्ट संकल्पोंके कारण उसका पत्र फटने-सा लगा । उधर नगरवासी स्नेह
रसकी झुलसे क्रुद्ध होकर उसके ऊपर ईट-पत्थरोंकी बर्षा करने लगे । उन्होंने उसे गलेपर बड़ा
झरझरत मारने प्रमाया । पाछे-पीछे कुत्ते भौकते आते थे । ईट-पत्थरोंकी बर्षा होती जाती थी ।
जबमें उन्हें उससे सिर मूँड़ा जाता था । गधमें फूट ठाँकरोकी मांस पड़ी थी । पाण्डालके

१ इन्द्रवरुणम् । २ प्रजापति । ३ विष्णु । ४ सती । ५ मनुष्यस्य । ६ मुदीप्य ।
७ वसु । ८ परिच्छेद । ९ कृत्वा । १० पयैः = अक्षिपम् । ११ सुवचपापाण ।
१२ त्रिपुटीभिः शिवं पिच्छस्तं जीवितमेव महस्तेषी पश्य । १४ वाही-अ । १५-
१६ त्रिपुटीभिः शिवं पिच्छस्तं जीवितमेव महस्तेषी पश्य । १७ वसुकां । १८ वसुकां । १९ वसुकां । २० वसु ।

नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकार सरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरुषूक्त-
तोत्त्वणकाणः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुप्राप्तुंजातो निष्काशितः भ्रूपचस्मशानांशुकपिहित-
मेहनो विपरीतचतुरधाराचरितमार्गमुण्डन. प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालावलम्बित-
शराचमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्ट तुच्छोदकद्वीपिनीतटिनीतटनिकटोपविष्टस्तेन
कालासुरेण दृष्टः ।

प्रत्यचमृष्टहृच्छेदेन 'चाहं तावद्वैकारिकद्विप्रचिकाशयिपुशक्ति एषोऽपि स्वमतप्रतिति-
ष्ठापयिषुमतिप्रसक्तिरत निष्प्रतिघं खलु मे कार्याज्ञाघ.' इति निर्भृतं चित्कर्ष्य पर्याप्तपरिग्रज-
कवेपेण मायामयमनीषेण भाषितश्च । तथा हि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीर्णाशकैलि-
नर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्वरापकार' । पर्वतः—'तात, को भवान्' । 'पर्वत, भवत्पितु
खलु प्रियसुहृदह सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी । यदा हि वत्स, भवान्पोडन्सेमं-
भवत्तदाह तीर्थयात्रायामगाम् । इदानीं चागौम् । अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति ।
तत्कथय हन्त' कारणमस्य व्यतिकरस्य' ।

पर्वत.—'मत्प्राणितैर्परित्राणसङ्गन् भगवन्, समाकर्णय । समस्तागमरत्नसन्निधातरि
सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्त-
निकामकामोद्गम संपन्नपण्याङ्गनाजनसमागम कृतपिशितकापिसार्यैर्नस्वाद पापकर्म-
प्रासादः चेतैर्नैष्यार्योपदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमह दुरात्माख्यानः' स्वव्यसनविवृद्धये

कफनके टुकड़ेसे उसकी नग्नताको ढाँक दिया गया था । वेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था ।
कष्टसे प्राण कण्ठमें आ गये थे । इस रूपमें उसे नगरसे निकाल दिया गया और वह एक घने
जंगलमें घुसकर एक नदीके किनारे बैठ गया । वहाँ उसे कालासुर नामके व्यन्तरने देखा । उसके
मनकी दशा जानकर कालासुरने सोचा—'मैं अपनी विक्रिया शक्तिको दिखलाना चाहता हूँ और
यह अपना मत चलाना चाहता है अत मेरा काम निर्विघ्न होगा ।' ऐसा विचारकर उसने
सन्यासीका वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला—'पर्वत । जल्दी ही यमराजकी क्रीड़ाके
शिकार बननेवाले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है ?'

पर्वत—पिता । आप कोन है ?

'मैं तुम्हारे पिताका सहपाठी मित्र हूँ । मेरा नाम शाण्डिल्य है । जब तुम्हारे दाँत निकले
थे तब मैं तीर्थयात्राके लिए चला गया था । और अब लौटा हूँ । इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते
हो । अपनी इस विपत्तिका कारण बतलाओ ।'

पर्वत—'मेरे प्राणोंके रक्षक भगवन् ! सुनिए । समस्त आगमरूपी रत्नोंके धारक और
पुण्यरूपी मणियोंके सम्राट् मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोकको चले गये तो मैं
स्वतन्त्र हो गया । एक दिन मैंने कामके वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मास-मदिराका
स्वाद लिया । 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका पिताजीने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए

१ महत् । २ सारमेया पृष्ठतो भवन्ति । विस्वरघुष्ठा -आ० । ३ चाण्डालचितास्यानवस्त्रेण
कृतकौपीन । ४ नदी । ५ निर्विघ्न । ६ निश्चल विचार्य । ७ तपस्वि । ८ यम । ९ निष्ठुर । १० यदा
तब पङ्क्तन्ता । ११ आगत । १२ अहो । १३ जीवितरक्षणे । १४ सत्रारके । १५ कृतवेश्याममागम ।
१६ मद्य । १७ जानन्नपि पित्रा उपदिष्टम् । १८ दुरात्मा-दुष्टस्वभावमाख्यान चरित यस्य सोऽहम् ।

पर्वतः—नारद, नेवमस्तुद्धार^१ यदस्य पदस्य मभिरुक्त यवातिसूक्तोऽर्थः^२ । यदि वाप-
मम्यथा स्यात्तदा रसेवाहिनीकण्डनमेव मे दृष्टः ।

नारदः—‘पर्वत, को नु अस्य च विश्वमानयोराधयोर्निरूपयामि’ ।

पर्वतः—‘नारद, वसु’ ।

कहिं तहिं तं समपानुसर्तव्यम् । ‘इदानीमेव नागोऽर्धः इत्यभिप्राय इवापि तौ वसु-
निरुपा प्रास्थिपौताम् येतिपातां च तपोपस्थितौ तेन वसुनाः गुरुनिर्विशेषमाधरितसम्मानौ
पथापकृतकशिशुपिधानौ विहितैर्भितोऽधितकाः जलदानी समागमनकारणमापूरी स्वामिप्राय
ममापिपाताम् । वसु—‘यथाहनुस्तत्रमघन्तौ तथा प्रातरेषानुतिष्ठेयम्’ ।

अत्रागते वसुलक्ष्मीलयत्नेव वपाया सा किञ्चोपाध्याया नारदपदानुमत क्षीरकण्ठम्ना-
धायैकृतं तद्वाक्यस्याख्याने स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिमभापायवदया वसुमनुसृत-
‘वत्स वसो यः पूर्वमुपाध्यायादन्तर्धानापरान्धछन्दणाकसरो वरस्त्वयत्नायि स मे संप्रति
समर्पयितव्या’ इत्युवाच । सत्यप्रतिपात्तासुर्यसु—‘किमत्र खेदस्तत्र । यद्येवं यथा
सहाभ्यामी पर्वतो यदति, तथा त्वया साक्षिणा मचितव्यम्’ । वसुस्तथा स्वयमाध्याया-
मिहित—‘यदि साक्षी भवामि तदावश्यं निरूपे पतामि । अथ न भवामि तदा सत्याग्रह
स्वामि’ इत्युपयाग्यशार्दूलचिमुतमनोमृगशिरं विचिन्त्य

पर्वत—नारद ! मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इस पदका मेरा कदा हुआ
वर्ष ही ठीक है । यदि वह ठीक न हो तो मैं अपनी जिह्वा काटवा दूँगा ।

नारद—पर्वत ! हमारे विवादका फैसला कौन करेगा ?

पर्वत—वसु ।

नारद—तो उसके पास कम बसना चाहिए ?

पर्वत—इसी समय । इसमें विस्मय क्यों ?

इस प्रकार बातचीत करके दोनों वसुके पास पकड़ दिये । वसुने जैसे ही उन दोनोंको
छाते हुए देखा, गुरुके समान ही उनका सम्मान किया और यथायोग्य भोजन, वस्त्राभरण तथा
स्वर्ण मन्त्रान् करके उनसे खानेका कारण पूछा । दोनोंने अपना-अपना अभिप्राय कह दिया ।
वसुने उनसे सुबह आनंद किप कहा ।

इसी बीचमे पर्वतकी माता स्वस्तिमती गुरुवानीकी अपने पति क्षीरकण्ठके द्वारा वतसया
हुआ उस वाक्यका ‘वाल्मीग स्मरण हो गया । उसे लगा कि नारदका व्याख्यान ही ठीक है ।
वत पर्वतके जनिएकी व्यादाकासे वह रात्रिमें ही वसुके पास गयी और बोली—‘पुत्र वसु ! पहले
गुरुसे छिपनेका अपराध करनेके समय तुमने गुरु माँ पर दिया था वह मुझ जब दो ।’ उसका
पासक वसु बोला—‘माता ! उसमे सन्देह मत करो ।’ ‘ता जैसा गुरुद्वारा गुरुपुत्र कहता है वैसा
ही तुम्हें भी कहना चाहिए ।’ गुरुपत्नीके ऐसा कहनेपर वसु विचारमें पड़ गया—‘यदि पर्वतका
कथन ठीक ठहराता है तो मरकमे गिरता है । और यदि नहीं ठहराता है तो स्वयसे विचरित

१ न मुनाम् । २ जिह्वार । ३ न विस्मय । ४ तवीरम् । ५ प्रतिपत्ति । ६ भोजनाभ्यासनी ।

७. विद्विर्बिनीधिन मु । ८ निरीयाम । ९ प्राणिन ।

‘न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा ।

व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम्’ ॥३६५॥

इति च विमृश्य निरयनिदानदत्तं चरमपक्षमेव पक्षमाक्षेप्सीत्^१ ।

तदनु मुमुक्षुर्मानारविन्दहृदयविनिन्देन्द्रिन्दिरचरणप्रचारोदञ्चन्मकरन्दसिन्दूरितनीर-
देवतासीमन्तान्तराले प्रभातकाले, सेवासमागतसमस्तसामन्तोपास्तिपर्यस्तोत्तंसकुसुम-
संपादितोपहारमहीयसि च सति सदसि मृगयाव्यसनव्याजशरव्यीकृते कुरङ्गपोते, अपराद्धेपु-
रिपुप्रत्यावृत्त्यासादितस्पर्शमात्रावसेयाकाशस्फटिकघटितविलसनं सिंहासनमुपगत्य ‘सत्य-
शौचादिमाहात्म्यादहं विहायसि गतो जगद्व्यवहार निहालयामि’ इत्यात्मनात्मानमुत्कु-
र्वाणो विवादसमये तेन विनैतवरदेन नारदेन ‘अहो, मृषोद्योद्विदविभावसो वसु, अद्यापि
न किञ्चिन्नञ्जयति’^२ तत्सत्यं ब्रूहि’ इत्यनेकश कृतोपदेशः काश्यपीतलं यियासुर्वसुः—
‘नारद, यथैवाहं पर्वतस्तथैव सत्यम्’ इत्यसमीक्ष्य साक्ष्यं वदन् ‘देव, अद्यापि यथायथं वद
यथायथं वद’ इत्यालापबहुले समन्युमानसविलासिनोस्वैलितोक्तिलोहले^३ विपादासादि-
हृदयप्रजाप्रजल्पकाहले स्फुटद्रव्यैर्होण्डखण्डध्वनिकुतूहले समुच्छलति परिच्छदकोलाहले
सत्यधर्मकर्मप्रवर्तनकुपितपुरदेवतावशदुर्विलसनः ससिंहासनः क्षणमात्रमप्यनौसादितसुख-
होता हूँ ।’ इस प्रकार उसका मनरूपी मृग द्विविशारूपी सिंहके फेरमें पड़ गया । बहुत देर तक
विचार करनेके बाद उसने सोचा—

हड्डिका धारण करना, शाक, पानी, कन्दमूलका लेना अथवा भिक्षा भोजन करना ये सब
व्रत नहीं है । किन्तु स्वीकार की हुई वस्तुको निवाहना ही समझदार पुरुषोंका व्रत है ॥३९५॥

ऐसा विचार कर उसने नरकमें ले जानेवाले दूसरे पक्षको ही स्वीकार कर लिया ।

एक बार एक शिकारी जगलमें शिकार खेलनेके लिये गया था वहाँ उसने एक हरिणके
बच्चेपर तीर चलाया । किन्तु वह तीर किसी वस्तुसे टकराकर लौट आया । तब शिकारीको
बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इसका कारण जाननेके लिए आगे बढ़ा । मार्गमें उसे आकाशकी
तरह स्वच्छ स्फटिकमणिकी एक शिला मिली, जो छूनेसे ही जानी जा सकती थी । उस शिलाको
मँगाकर वसुने अपनी सभामे रखा और उसपर अपना सिंहासन रखवाया । तथा उसपर बैठकर
अपने ही मुखसे अपनी प्रशंसा करते हुए यह घोषणा की कि मैं ‘अपने सत्य धर्मके प्रभावसे
आकाशमें बैठकर जगत्का न्याय करता हूँ ।’

दूसरे दिन प्रभात होनेपर राजसभा लगी । वसु अपने उसी सिंहासनपर आकर बैठ गया ।
सेवाके लिए आये हुए सामन्तोंने भेंटें चढ़ायीं । और विवाद प्रारम्भ हुआ । नारदने विनय
पूर्वक कहा—‘असत्यवादी वसु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है अतः सच बोल,’ बार बार समझानेपर
भी नरकगामी वसुने यही कहा—‘जो पर्वत कहता है वही सत्य है’ । इस प्रकार झूठी गवाही देते
देखकर प्रजाको भी क्रोध आ गया और वह भी चिल्लाने लगी—‘महाराज ! ‘अब भी सच
बोलिए,’ ‘अब भी सच बोलिए ।’ सभामें ऐसा कोलाहल मचा मानो ब्रह्माण्डके फटनेकी आवाज
है । इसी समय सत्य धर्म-कर्मका लोप करनेके कारण क्रुद्ध हुए नगर-देवताने सिंहासन-सहित

१ मासिवचनम् । २ अङ्गीचकार । ३ विकसमानपद्मवय-उच्छ्रीयमाणभ्रमुरचरण । ४ जलदेवता ।

५ लक्ष्यच्युतवाण । ६ वाणपश्चाद्वलनेन । ७ न्याय पश्यामि । ८ उत्कर्षता प्रापयन् । ९, विनयानां विनयानाम् ।

१० नाश यास्यति । ११ सकोपचित । १२ अव्यक्तवचन । १३ अस्फुट । १४ मर्त्यलोक । १५, अप्राप्त ।

काष्ठं पातोत्तमूलं जगादे । अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिषेलायां यज्ञो जल्पति—‘उत्तिष्ठ वसो, स्वर्गं गच्छ’ इति । अयति धात्र श्लोकः—

अस्याने पदकलाणां भराणां सुलभं प्रथम् ।

परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शान्तिरसी ॥११६॥

इत्तुपासकप्रथमने वसो रसातलासादनो नामेकोनविंशः कल्पः ।

नारदस्तमेव निर्वैद्यमुररीकृत्य मर्त्यैर्भयिभ्रमभ्रमरकुलनिलयमीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तल-
कलापमुन्मूल्य परमभिष्किञ्चनतानिकुपं जातरूपमाख्याय सख्यस्तत्त्वामयप्रदानामृतवर्षा
धिकरत्नं सयमोर्वेकरणमाकलैव्यं मुक्तिस्तन्मीसमागमसर्वारिकामिधोवृक्षपैरिचारिकामाहृत्य
शिवधीयशीकरणाध्यायमिव स्याध्यायमनुब्रूय मनोमर्कटकीदाप्रकांमिमिन्द्रियारागमुपरम
अन्तरात्महेमादमेलेमस्त्वमसहजं ध्यानवृद्धनमुरीष्य सज्जातकेवलस्तत्पदैतिपेश्यो वसुव ।

पर्यंतस्तु तथा सर्वसमासमाजोदीरितोदीर्घपुरपथावरजसि मिथ्यासाक्षिपक्षविचक्षण-
वसति पुराचारोत्तमसुमितसहस्राद्याजुर्वरीक्षितबीक्षितमहसि कथारोपतेजसि ११ वसी सति
महोत्सवीकृतया पीरापक्षिदीर्घयो १२ निरन्तरोद्धारोमाश्चमिकत्या शब्दसंज्ञाकानिकीर्षकाय
इव निजार्गमेयदुरीहिताध्यामोवरचर्मपुत्रः स्फुटक्षिप्य च तैत्तपतिविनाशवशामर्षिमा संभूयोप-
विश्लोष्यपरिमिरतुष्यपिम्बोर्कैर्वलास्फासलप्रक्षर्पिभिः प्रतिघातोष्मस्तृष्णकृत्तृकपाप्रहास्तर्पिभिः
वसुको पाशाकर्म मेव द्रिया । इतीसं आज मी यज्ञं पद्विं आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहे
हैं—‘वसु उठ । स्वर्गं आ ।

किसीने ठीक ही कहा है— ‘शूरी बातका दुराग्रह करनेवाकं मनुष्योंके क्षिप्य दो पात्र
सुखम हैं—परकोष्ठीं दीपकाक तक दुर्गति और इस काकर्म स्थायी अल्पयत्न’ ॥११६॥

इस प्रकार उपासकप्रथमने वसुकी रसातल-यातिसे बतसानेवाला

उपनिषद्को कल्प समाप्त हुआ ॥

इस पटनासे नारदको कहा वैराग्य हुआ । उसने केसकांच करक नम विगम्बर होकर
सकल जीवोंको अभयदान देनेवाके संयमके उपकरण पीछी और कमण्डलु ग्रहण कर क्षिप्य । और
स्वाध्यायपूर्वक मनःरूपी कन्दरके स्नेहनेके स्थान इन्द्रियरूपी उपवनको बन्द करके अन्तरात्मा
रूपी स्वर्गपाषाणके समस्त मलको सजानेमें समर्थ ध्यानरूपी अग्निको प्रदीप्त किया । तथा केवल-
ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गया ।

रामा वसुके मर जानेपर आसन्न ब्रह्मा तथा पुरवासी बनाक तीस विरस्कारके कारण
पक्षको शोषसे रामांच हो आया । उसे पंसी पीड़ा हुई मानो सेहीक काँटोंसे उसका शरीर धीमा
गया है । अपने असंख्य दुष्ट संकल्पोंके कारण उसका फेर फटने-सा लगा । उपर मगरवासी छोटा
रामाकी शृंगुसे क्रुद्ध होकर उसके उपर ईट-फत्तरोकी वर्षा करने लगे । उन्होंने उसे गधेपर बड़ा
कर समस्त मगरमें धुमाया । पाछे-पीछे कुत्ते भौंकते आते थे । ईट-फत्तरोकी बषा हाती जाती थी ।
मार्गमें उछटे उम्तरेसे सिर भूँझा जाता था । गधेमें फूटे ठीकरोंकी मास पड़ी थी । बागडाकके

१ सप्तमनरकम् । २ प्रथा अ य । विप्राः । ३ स्त्री । ४ मयूरपिच्छम् । ५ गृहीत्वा ।
६ शूरी । ७ कमण्डलुम् । ८ परिच्छेद । ९ कृत्वा । १० यथेष्टम् = अधिकम् । ११ सुवर्गपाषाणम् ।
१२ मोक्ष । १३ किङ्करीभिः क्षितं विष्णुत्वं बीधितमेव मनुस्तेषो यस्य । १४ वासी-अ य ॥ १५
दीपनविग्रहता । १६ अजकर्मिण्यम् । १७ शैवीयुक्तविहसरीत् । १८ अर्धय । १९ तदुत्तिष्ठ । २० वध ।

नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकार सरासभारोहणाचतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरूपूक्त-
तोत्वणकाणः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुष्टानुजातो निष्काशितः श्वपचस्मशानांशुकपिहित-
मेहनो विपरीतचुरधाराचरितमार्गमुण्डनं प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालाबलम्बित-
शरावमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्ट तुच्छोदकद्वीपिनोतटिनोतटनिकटोपविष्टस्तेन
कालासुरेण दृष्टः ।

प्रत्यवमृष्टहृत्त्रेण 'चाहं तावद्वैकारिकर्द्धिप्रचिकाशयिपुशक्तिः एषोऽपि स्वमतप्रतिति-
ष्टापयिपुमतिप्रसक्तिरत निष्प्रतिघं खलु मे कार्याल्लाघ' इति निर्भूतं वितर्क्य पर्याप्तपरिघोज-
कवेपेण मायामयमनीपेण भाषितश्च । तथा हि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीर्नाशकेलि-
नर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्वरोपकार' । पर्वतः—'तात, को भवान्' । 'पर्वत, भवत्पितु
खलु प्रियसुहृद्दह सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी । यदा हि वत्स, भवान्पोडन्सेमं-
भवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम् । इदानीं चोगाम् । अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति ।
तत्कथय हन्त कारणमस्य व्यतिकरस्य' ।

पर्वतः—'मत्प्राणितैर्परित्राणसशन्न भगवन्, समाकर्णय । समस्तागमरत्नसन्निधौतरि
सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्त-
निकामकामोदम् । संपन्नोपण्याङ्गनाजनसमागम कृतपिशितकापिसायनैस्वाद् पापकर्म-
प्रासाद् । चैतन्नैप्यार्योपदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमह दुरात्माख्यानः' स्वव्यसनविवृद्धये

कफनके टुकड़ेसे उसकी नग्नताको ढाँक दिया गया था । बेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था ।
कष्टसे प्राण कण्ठमें आ गये थे । इस रूपमें उसे नगरसे निकाल दिया गया और वह एक घने
जंगलमें घुमकर एक नदीके किनारे बैठ गया । वहाँ उसे कालासुर नामके व्यन्तरने देखा । उसके
मनकी दशा जानकर कालासुरने साँचा—'मैं अपनी विक्रिया शक्तिको दिखलाना चाहता हूँ और
यह अपना मत चलाना चाहता है अतः मेरा काम निर्विघ्न होगा ।' ऐसा विचारकर उसने
सन्यासीका वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला—'पर्वत ! जल्दी ही यमराजकी क्रीडाके
शिकार बनेवाले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है ?'

पर्वत—पिता ! आप कौन हैं ?

'मैं तुम्हारे पिताका सहपाठी मित्र हूँ । मेरा नाम शाण्डिल्य है । जब तुम्हारे दाँत निकले
थे तब मैं तीर्थयात्राके लिए चला गया था । और अब लौटा हूँ । इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते
हो । अपनी इस विपत्तिका कारण बतलाओ ।'

पर्वत—'मेरे प्राणोंके रक्षक भगवन् ! सुनिए । समस्त आगमरूपी रत्नोंके धारक और
पुण्यरूपी मणियोंके सम्राटक मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोकको चले गये तो मैं
स्वतन्त्र हो गया । एक दिन मैंने कामके वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मास-मदिराका
स्वाद लिया । 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका पिताजीने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए

१ महत् । २ सारमेया पृष्ठतो भवन्ति । विश्वरघुष्टा—आ० । ३ चाण्डालचिताख्यानवस्त्रेण
कृतकौपीन । ४ नदी । ५ निर्विघ्न । ६ निश्चल विचार्य । ७ तपस्वि । ८ यम । ९ निष्ठुर । १० यदा
तब पड़दन्ता । ११ आगत । १२ अहो । १३ जीवितरक्षण । १४ सगरके । १५ कृतवेश्यासमागम ।
१६ मद्य । १७ जानन्नपि पित्रा उपदिष्टम् । १८ दुरात्मा—दुष्टस्वभावमाख्यान चरित यस्य सोऽहम् ।

धममुद्ध्या साधुमये भजेर्यष्टममितीव वाक्यमशेषकक्षमपनिषेक्योऽप्यधोपम्यस्यमानो
नारदोपापादितवचमस्तत्तनः सम् पतावद्विपत्तिस्थामयस्यामयापम् ।

कालासुरः—‘पर्यंत मा शोच । मुञ्च स्वमशेष विपणाकस्तुपम् । बह्व, साधु सम्मोष
पातमानम् । न बह्व निरीहस्य नरस्यास्ति काचिन्ममीपिताधाति । त्वत्वं हस्ते हृदयवाह-
जुरेनाधेगेर्न । इहो पुत्र पर्यंत, यथा स्वकीयसकैताद् ब्राह्मणोसबाधभेघसौषामणिवाक्येय
राजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनां सप्ततन्तूनां प्रतिपावकानि वाक्यानि विरचय्य भस्तरास्तरा
वेदवचनेषु निवेश्य । कस्त, ग्रथि भूमिबन्धस्ययीविपर्यासनसमर्थमन्त्रमाह्वर्ये त्वयि च
तरसास्यसवित्रीप्रवृत्तिहेतुभुतिगीतिसमम्भस्तसाग्ये किं त्वं मामेहासाध्यम्’ इत्युत्साह
स्वयं विद्यावर्म्मसूत्रमिरष्टमिरपीतिमिदपदयमावज्जपवह्वदयमयोभ्याविपयमानस्य नगर
बाहिरिकायां स देवदत्तरानमोऽभूत् । ‘अभ्यर्च्य पर्यंतः समासीत् । मायामयसूत्र्या पिङ्गल-
मन्त्रमङ्गलमपीचि-गीतमावपन्न श्रुत्विजोऽज्जपित । तत्र भुतिर्भूतिभ्युत्थित्येवैकपद्विषयि ।
पर्यंतस्तु

अहोर्ध्व परावः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भवा ।

यसो हि मूर्त्ये सर्वेषां तस्माद्यज्ञे बभौजवः ॥ ३६७ ॥

भी मुक्त दुरात्माने अपने भयसनको पुष्टिके लिये उसे बदल कर अन्धका रूपसे कहा । नारदने मेरी
इस गलतीको पकड़ लिया । बस उसीसे मेरी यह दुर्दशा हुई है ।’

कालासुरः—‘पवत । रज मत् कर और इस संघ बुद्धि विचारको दूर कर’ अपनेको
सम्मोष । जो मनुष्य निरीह है उसकी मनोवांछा पूरी नहीं होती । वह हृदयका अज्ञानेवाक्य
शाकका छद्म । और पुत्र पवत । अपने सकेतसे चिह्नित ब्राह्मणेय, गामेय अधमेय सौत्रामणि,
वाकपय, राजसूय पुण्डरीक आदि यज्ञोंके प्रतिपादक वाक्योंका रचकर धर्ममें जगह-जगह मिश्र
दा । पुत्र । मेरेमें ‘भूमिबन्ध’ इत्यादि मन्त्रको अरुनेकी सामर्थ्यके हात हुए और मंस-मविरा
आदिमें प्रवृत्ति करानेवाले वेदमन्त्रीकी रचनाने सिद्धहस्त मुन्हारे होते हुए पसा कौन काम है जो
हम नहीं कर सकते ।’

इस प्रकार पवतका उत्साहित करक उस कालासुरने अपनी विद्याक बलसे अतिशक्ति आदि
जाठ इतियोंका समस्त देशमें फैला दिया । तथा आप अमाध्या नगरीमें आकर अमाका रूप धारण
करक नगरक बाहर बैठ गया । पवत अजुनेवका ज्ञाता पुरोहित बना । मायामयी पिङ्गल, मन्त्र,
मत्तज्ञ, मरीचि गौतम वगैरह हाता बन गये । अमाजी चारों मुन्नोंस उपदेश दंत य । और
पवत आज्ञा दता था—

अप्राचीने ध्वयं यज्ञक लिये ही पशुओंकी सृष्टि की है । मग सबकी समृद्धिक लिये है
इसलिये यज्ञमें क्रिया जानबाला पशुबध बध नहीं है ॥ ३९७ ॥

१ शत्रुलोकोदर निरपूहस्य । २ ह्यम् ह्येऽनुप्रासावा वाक्यारम्भविषययोः । ३ शोकेन । ४ ब्रह्मा
नाम् । ५ मय्ये । ६ तु प्रकृष्टाया विरले च दितर्कः च । नाम प्रकाशवर्णवाक्य बोधोपगमपुराण । ७ अनिर्वाह
रत्नावर्णिपवा धातका गुणः । रत्नवर्णवर्णकं च सतीना ईदव रचना ॥ ८ पशुर्वेदमात्रा । ९ ब्रह्मा ।

ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यः वैश्यं, तमसे शूद्रम्, उत्तमसे तस्करं, आत्मने क्लीवं, कामाय पुंश्चलमप्रतिक्रुष्टाय मागधं, गीताय सुतम्, आदित्याय स्त्रियं गर्भिणीं, सौत्रामणौ य एवविधां सुरां पिबति, न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च तिस्र एव श्रुतौ संमताः—पैष्टी, गौडी, माधवी चेति । गोसवे ब्राह्मणो गोसवेनेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलपति । उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

^३ षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि ।

अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥३६८॥

^४ महोक्षो वा महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते ।

निवेद्यते तु दिव्याय स्रक्सुगन्धनिधिर्विधिः ॥३६९॥

गोसवे सुरभिं हन्याद्राजसूये तु भूभुजम् ।

अश्वमेधे हयं हन्यात्पौण्डरीके च दन्तिनम् ॥४००॥

^५ औपध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नरा ।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रिता गतिम् ॥४०१॥

ब्रह्माके लिए ब्राह्मणका वध करना चाहिए, इन्द्रके लिए क्षत्रियका वध करना चाहिए, वायुके लिए वैश्यका वध करना चाहिए, तमके लिए शूद्रका वध करना चाहिए, गाढ़तमके लिए चोरका वध करना चाहिए, आत्माके लिए नपुंसकका वध करना चाहिए, कामके लिए वदमाशका वध करना चाहिए, अप्रतिक्रुष्टके लिए मागधका वध करना चाहिए, गीतके लिए पुत्रका वध करना चाहिए, सूर्यके लिए गर्भिणी स्त्रीका वध करना चाहिए । सौत्रामणि यज्ञमें जो असुक प्रकारकी शराब पीता है वह शराब नहीं पीता । तीन प्रकारकी शराब वेदसम्मत है—पैष्टी—जो जौ वगैरहके आटेसे बनायी जाती है, गौडी—जो गुड़से बनायी जाती है, और माधवी, जो महुएसे बनती है । गोसव यज्ञमें ब्राह्मण तुरतके जन्मे हुए गौके बछड़ेसे यज्ञ करके वर्षके अन्तमें मातासे भी भोग करता है । माताके पास जाओ, बहनके पास जाओ ।

अश्वमेध यज्ञमें मध्यके दिन तीन कम छह सौ अर्थात् पाँच सौ सत्तानवे पशु मारे जाते हैं ऐसा वचन है ॥ ३९८ ॥ श्रोत्रियके लिए महान् बैल अथवा बकरा मारा जाता है । तथा माला गन्ध वगैरह विधिपूर्वक अर्पित की जाती है ॥३९९॥

गोसव यज्ञमें गायका वध करना चाहिए । राजसूय यज्ञमें राजाका वध करना चाहिए । अश्वमेधमें घोड़ेका वध करना चाहिए और पौण्डरीक यज्ञमें हाथीका वध करना चाहिए ॥४००॥ औपधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च, पक्षी और मनुष्य ये सब यज्ञमें मारे जाने से उच्चगति पाते हैं ॥४०१॥

१ 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत । क्षत्राय राजन्यम् । मरुद्भ्यो वैश्यम् । तपसे शूद्रम् । तमसे तस्करम् । नारकाय वीरहणम् । पाप्मने क्लीवम् । आक्रयाया योगूम् । कामाय पुंश्चलम् । अतिक्रुष्टाय मागधम् । गीताय सुतम् । नृत्ताय शैलूपम् ।'—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ४ । वाजसनेयी संहिता ३०, ५ में तथा शतपथ ब्राह्मण १३, ६, २ में भी पाठभेदके साथ उक्त उद्धरण मिलता है । २ 'गौडी पैष्टी च माव्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।'—मनुस्मृति ११, ९४ । ३ वाजसनेयी संहिता २४, ४० की उव्वट और महीधकी टीकामें वह श्लोक पाया जाता है । उसमें उत्तरार्ध इस प्रकार है—'अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च ।' ४ 'महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् । सत्क्रियान्वासन स्वादु भोजन सूनृतं वच ॥१०९॥'—याज्ञवल्क्यस्मृति, पृ० ३४ । उक्तो वृषभ । ५ छाग । ६ हिंस्यते । ७ 'औपध्यः पक्षिणस्तथा । प्राप्नुवन्त्युत्सृता पुनः ॥ ४० ॥'—मनुस्मृति अ० ५ ।

मानसं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् ।

अप्रमार्गं तु यो न वासस मनेद्मद्यथातथः ॥४०२॥

पुराणं मानसो धर्मः साज्ञो वेदमिच्छितितम् ।

आसासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥४०३॥

इति मनु मरीचि-मदह्नप्रभृतयश्च सवर्षेद्व्यकारमज्जिज्ञगजवाविप्रभृतीन्वेदिनो युज्यते ।
अथैवं धृतिशर्मायाविज्यजित्योपजीविनामीतोः पर्वतो व्यपोहति । कास्मासुर पुनरात्म्यमानान्
राजिभः साक्षाद्विमानाकृष्टात्मनो साधैर्यो पर्वततो वर्धयति । मनुप्रमुखाश्च मुनयः प्रभार्चयन्ति ।
ततो मायाप्रदर्शितविदग्धवेस्मप्रवेशाविलोमे सञ्जाते सक्तजनघोमं सप्रत्यासन्नगरकनगर-
नगरं, स च श्वभविजनमोचितस्थितिर्दिग्भूमृतिस्तुष्टोपाशास्तम्बकृत्वा इत्या प्सास्वा
व दुरन्तदुरितचिचचेतवी मन्त्रमिपात्कास्मासुरेण स्मान्तिपूर्वमघागसौ कीर्तिहोत्राहु
तेयिद्वितविचिचधरदसौ चिचिवाया^१ चरिम्पा^२ प्राधीयो दुःखवर्षेधुमन्परं तल्लमगाताम्^३ ।
पर्वतोऽप्यध्मापीपतिविजये^४ अठरेधेनवये च हृष्येकर्मकर्मभिः समाचरितसमस्तसत्त्व-
र्जहार कास्मासुरतरोधानविदुरपिचिसारस्तद्विधातुहोको^५ शोधिः क्लेशकृष्यकृष्यीर कास्मे
जीनजीवितप्रचारः सप्तमरसावस्य^६ समपावि^७ ।

मनु, व्यास, वसिष्ठ आदि ऋषियोक वचनोक्तो और वेदिक वचनोक्तो वा अपमान्य वतन्मसा है वह
ब्रह्मपाती है ॥४०२॥ पुराण मानवधर्म मनुस्मृति, साज्ञवेद और आसुर्येद ये चार स्वयं प्रमाण है ।
इन्हें युक्तियोंसे संपिद्ध नहीं करना चाहिए ॥४०३॥ इस तरहकी आज्ञाएँ पर्वत देता था । और
मनु, मरीचि, मत्स्य आदि ऋषि 'स्वाहा' शब्दक साथ बकरा, द्विज हाथी घोड़ा बैरह प्राणिमोसे
होम करते थे । इस प्रकार वेदसे जीविका करनेवाळ प्राणियोंमें, शस्त्रसे जीविका करनेवाळे सन्निधामें,
व्यापारसे जीविका करनेवाळ वध्योंमें और सेठी आदिसे जीविका करनेवाळ ह्यक्कामें कास्मासुरने
जा बीमारियों फैलायी थीं उन्हें पकत दूर करता था और कास्मासुर मारे गये प्राणिमोको अपनी
मायाके द्वारा विमानमें सवार कराकर स्वर्गको आते हुए दिखाता था । मनु वगैरह मुनि इस्से
दुस्मोका प्रमाक्षि करत थे । इस प्रकार जब सब लोगोंमें मायाके द्वारा दिखाये गये स्वर्ग गमनक
लोम्से हृष्यकल मच गयी तो नरकगामी सगर और विरबभूति पुरोहितने भी कास्मासुरके उपदेशसे
बहुतसे प्राणियोंका वध किया और उन्हें खाया । इससे उनका चित्त वाफने स्थि हो गया । फिर
कास्मासुरने उन दानोंके पूर्व अन्नमें क्रिये गये अपराधका स्मरण कराकर यज्ञक बहानेसे उन दानोंका
यज्ञकी अग्निमें होम दिया और वे दानों मरकर सीसरे मरकमें पळ गये । पकतने भी अजिनका
तिरस्कृत करनेवाली अपनी अठराज्जिमें देवताओं और पिशरीकी तुष्टिक बहाने समस्त प्राणियोंका
संहार कर डाला । कास्मासुर वा अपना काम करके अन्तधान हो गया । अत उसका दिना उसकी
सब विधि पढ़ीको पढ़ गयी । कास्मासुरक विरह रूपी संतापक छाकसे उसका दशा साधनीय हो
गयो । क्लेशसे उसका शरीर क्लेश हो गया । अन्तमें मरण करक वह सप्तम मरकमें उत्पन्न हुआ ।

१ मनुस्मृति १२ ११ । २ स्वाहाउद्दिग् । ३ मुत्तजीविना विज्ञाया अस्मजीविना वाचिवाया
वागिग्यहृक्जीविना वणिजा या ईत्य कास्मासुरेण मायया हता वा पर्वत कास्मासुरमापया स्तेयमभि ।
४ दिग्यमायाम् । ५ मायया । ६ प्रभावना युज्यति । ७ मरीचिपरवासात् । ८ कास्मासुर । ९ यथात्मा ।
१ मुत्तमापराधोपी । ११ अजि । १२ वासुधाप्रमाया । १३ दीपतरम् । १४ परिभाषेण मन्त्रवपन
महिनम् (?) । १५ वयो । १६ अजिगिरस्तारके । १७ उग्राम्नी । १८ वैषेध । १९ गिनैध ।
२ योशानि । २१ धीय । २२ मत्स्यमृषिणी । २३ संज्ञा ।

भवति चात्र श्लोक.—

मृषोद्यादीनंबोद्योगात्पर्वतेन समं वसुः ।

जगाम जगतीमूलं ज्वलदातङ्कपावकम् ॥४०४॥

इत्युपासकाध्ययने असत्यफलसूचनो नाम त्रिशत्तमः कल्पः ।

वध्वचित्स्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र^३ तज्जने ।

माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्मं गृहाश्रमे ॥४०५॥

‘धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो निर्यतस्मरः ।

‘यज्जात्यैव पराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत् ॥४०६॥

रक्ष्यमाणे हि बृहन्ति यत्राहिंसादयो गुणा ।

उदाहरन्ति तद्ब्रह्मं ब्रह्मविद्याविशारदा’ ॥४०७॥

इसके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

‘ब्रूत बोलनेके दोषके कारण पर्वतके साथ वसु भी सातवें नरकको गया, जहाँ सदा सताप-
रूपी अग्नि जलती रहती है ॥४०४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें असत्यके फलका सूचक तीसवों कल्प समाप्त हुआ ।

[अब ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते हैं—]

अपनी विवाहिता स्त्री और वेश्याके सिवा अन्य सब स्त्रियोंको अपनी माता बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥४०५॥

विशेषार्थ—सब श्रावकाचारोंमें विवाहिताके सिवा स्त्री मात्रके त्यागीको ब्रह्मचर्याणुव्रती बतलाया है । परनारी और वेश्या ये दोनों ही त्याज्य है । किन्तु ५० सोमदेवजीने अणुव्रतीके लिए वेश्याकी भी छूट दे दी है । न जाने यह छूट किस आधारसे दी गई है ?

धर्मभूमि आर्यखण्डमें स्वभावसे ही मनुष्य कम कामी होते हैं । अतः अपनी जातिकी विवाहित स्त्रीसे ही सम्बन्ध करना चाहिए और अन्य कुजातियोंकी तथा बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियोंसे और व्रती स्त्रियोंसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिए ॥४०६॥

जिसकी रक्षा करने पर अहिंसा आदि गुणोंमें वृद्धि होती है उसे ब्रह्मविद्यामें निष्णात विद्वान् ब्रह्म कहते हैं ॥४०७॥

१ आदीनवं दोष । २ परिणीता अवधृता च । ३ स्त्री जने । ४ ‘न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् । सा परदारनिवृत्तिं स्वदारसन्तोषनामाऽपि ॥५९॥’ —रत्नकरण्ड श्रा० । ‘उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनाया सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम् ।’ —सर्वार्थसिद्धि ७, २० । ‘ये निजकलत्रमात्र परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात् । विशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥’ —पुरुषार्थसि० । विवाहिता वा यदि वा विरुद्धा भजेदुदोषे मदेनेऽथ वेश्याम् । विवर्जयेत् स्वामपि किन्त्वकाले स्वदारसन्तोष-पर मदेव ॥२१॥ —धर्मर०, ५० ९२ उ० । स्वसृमातृदुहितृसदृशी दृष्ट्वा परकामिनी पटोयास । दूर विवर्जयन्ते भुजगीमिव घोरदृष्टिविषाम् ॥६४॥ —अमित० श्रा०, ६ प० । ‘सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योज्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ । न गच्छत्यहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥५२॥’ —सागारधर्मा०, ४ अ० । ५ आर्यखण्डे । ६ अल्पकाम । ७ यस्मात् । स्वजात्या परिणीतया सह सभोगं कार्यं । ८ परा चासी अजाति पराजाति परकीयजातिस्त्री । ९ ‘अहिंसादयो धर्मा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृहन्ति बृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म ।’ —सर्वार्थसि० ७-१६ ।

मदनोद्दीपनैर्बुधैर्मदनोद्दीपनै रतेः ।
 मदनोद्दीपनैः शास्त्रैर्मदमात्मनि नाचरेत् ॥४०॥
 'हृष्येरिव हृत्तमीति' पाथोमिरिव मीरधिः ।
 तोपमेति पुमानेव न मोगैर्मदसमयैः ॥४०॥
 विपक्षिर्धिया पुसामापाते मधुरागमा ।
 अन्ते विपक्षिफलमास्तस्सतामिह को मद्रः ॥४१॥
 बहिस्तास्ताः क्रियाः कुपधरः सकस्यव्यमयात् ।
 'भाषातावेव निर्वाति पक्षेयस्तत्राधिका परम् ॥४१॥
 'निकामं कामकामात्मा तृतीया' प्रकृतिर्मवेत् ।
 अनन्तवीर्यपर्यायस्तर्स्यागारतसेवने ॥४१॥
 सर्वा क्रियामुक्तोमा स्यात्फलाय हितकामिनाम् ।
 अपरचार्यकामार्थ्यां 'यत्तौ न स्तां तत्रैरिषु ॥४१॥
 क्षयामये समा कामाः सबोधोवेष्युतिः ।
 'उत्सृजे तत्र मर्त्यानां कुत श्रेया समागम' ॥४१॥
 'देहद्रविणसंस्कारस्मुपावर्जयत्तया ।
 ब्रितकामे वृथा सर्वास्तकामाः सर्वबोधमाह ॥४१॥

अतः क्रमोद्दीपन करनेवाले कार्योसे, कामोद्दीपन करनेवाले रसोंके सेकस्से और क्रमोद्दीपन करनेवाले शास्त्रोंके अन्वय या पठनसे अपनेमें कामका मद्र नहीं लाग जाधिप ॥४०॥

मैसे हृदनकी सामग्रीसे अग्नि और अग्निसे समुद्र कमी तृप्त नहीं होते । वैसे ही यह पुरुष सांसारिक भोगोंसे कमी तृप्त नहीं होता ॥४०॥ ये विषय विषके मुख्य हैं । अब आते हैं तो प्रिय स्मात हैं किन्तु जन्तमें विपक्षि ही काते हैं । अतः सबनका विषयोंमें आग्रह कैसे हो सकता है ॥४१॥ तरह-तरहकी बाह्य क्रियाओंको करता हुआ कामी मनुष्य रति सुखके मिष्टने पर ही सुखी होता है । किन्तु इसमें पक्षेय ही अधिक होता है सुख तो नाम मात्र है ॥४१॥ जो अत्यन्त कामासक्त होता है वह निरन्तर कामका सेवन करनेसे नर्पुसक हो जाता है और जो निरन्तर ब्रह्म चर्यका पालन करता है वह अनन्त बीजका भारी होता है ॥४१॥ जो अपना हित चाहते हैं उनकी सब अनुकूल क्रियाएँ फलदायक होती हैं । किन्तु अर्थ और कामका छोड़कर । क्योंकि जो अर्थ और कामकी अभिसन्ध करते हैं उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति हाने पर भी सदा असन्तोष ही रहता है ॥४१॥ काम स्वयं रागके समान सब वेषों का उत्पन्न करता है । उसका आधिक्य होने पर मनुष्योंका कल्याण कैसे हो सकता है ? ॥४१॥

ब्रिसने कामको जीत लिया उसका देहका संस्कार करना पन कमाना जावि सभी व्यापार स्वर्ग हैं, क्योंकि काम ही इन सब वेषोंकी जड़ है ॥४१॥

१ वैवर्धयम् । 'न आतु काम' नामानामुपभोगेन शाम्यति । हृषिया हृष्यवर्यैव भूप एवाधिबर्धते ।
 २ अग्निर्न तोपमेति । ३ जलैः । ४ 'किपाक फलमन्वोपतिर्धं तद्धि मैनुनम् । अतस्तत्रावरम्य स्याद्विपादे
 ज्योत्स्मीतिरम् ॥१॥ - ब्राह्मणं पृ १३४ । ५ रतिरसप्राप्तावेव मुक्ती भवति किन्तु तत्र मुक्तं स्तोभम् ।
 ६ अतीव कामप्राधान्यम् । ७ नर्पुसक । ८ ब्रह्मचर्यस्य । ९ 'पारवारमातावर्यरात्री न स्तां न भवेनाम्
 केन ? उत्तरिषु अवचामवाग्वहैषु । कोऽर्थ ? तेषु नृत्तिर्न भवतीति नाकार्यम् । १ शयनोपभोगः ।
 ११ आधिक्यम् । १२ देहस्य तत्कारणम् । अधिपत्योपाजनमृतिः ।

स्वाध्यायध्यानधर्माद्या क्रियास्तावन्नरे कुतः ।
 ईर्द्धं चित्तेन्धने यावदेव कामांशुशुक्लणिः ॥४१६॥
 ऐदम्पर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत् ।
 देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥४१७॥
 परस्त्रीसंगमानङ्गक्रीडान्योपर्यमक्रियाः ।
 तीव्रतारतिकैर्तव्ये हन्युरेतानि तद् व्रतम् ॥४१८॥
 मद्य द्युतमुर्पद्रव्यं तौर्यत्रिकमलंक्रियाः ।
 मदो विटा वृथाटयेति दशधानेङ्गजो गणः ॥४१९॥
 हिंसनं साहसं द्रोह पौरो भाग्यार्थदूषणे ।
 ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्ये कोपजः स्याद्वृथाऽष्टधा ॥४२०॥
 ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यता ।
 लभेताद्भुतसञ्चाराश्चतुर्थव्रतपूतधीः ॥४२१॥

जवतक चित्तरूपी ईधनमें यह कामरूपी आग धधकती है तबतक मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, धर्माचरण आदि क्रिया कैसे कर सकता है ? ॥४१६॥ अतः कामुकताको छोड़कर शारीरिक सन्तापकी शान्तिके लिए और विषयोंकी चाहको कम करनेके लिए आहारकी तरह भोगोंका सेवन करना चाहिए ॥४१७॥ परायी स्त्रीके साथ सगम करना, काम सेवनके अगोंसे भिन्न अगोंमें काम-क्रीडा करना, दूसरोंके लडकी-लडकोंका विवाह कराना, कामभोगकी तीव्र लालसाका होना और वित्तत्व, ये बातें ब्रह्मचर्यव्रतको घातनेवाली हैं ॥४१८॥ शराव, जुआ, मास मधु, नाच, गाना और वादन, लिंगपर लेप वगैरह लगाना, शरीरको सजाना, मस्ती, लुच्चापन और व्यर्थ भ्रमण, ये दस कामके अनुचर हैं ॥४१९॥

हिंसा, साहस, मित्रादिके साथ द्रोह, दूसरोंके दोष देखनेका स्वभाव, अर्थदोष अर्थात् न ग्रहण करने योग्य धनका ग्रहण करना, और देयधनको न देना, ईर्ष्या, कठोर वचन बोलना और कठोर दण्ड देना ये आठ क्रोधके अनुचर हैं ॥४२०॥

ब्रह्मचर्याणुव्रती अद्भुत ऐश्वर्य, अद्भुत उदारता, अद्भुत गूर-वीरता, अद्भुत धीरता, अद्भुत सौन्दर्य और अद्भुत शक्तिको प्राप्त करता है ॥४२१॥

१ ज्वलति । २ कामाग्नि । 'श्रुत सत्य तप शील विज्ञान वृत्तमुत्तमम् । इन्धनीकुरुते मूढ प्रविश्य वनितानले ॥२२॥ -ज्ञानार्णव पृ० १६१ । ३ आधिक्यम् । 'भजेदेहमनस्तापशमान् स्त्रियमन्नवत् । क्षीयन्ते खलु धर्मार्थिकामास्तदतिसेवया ॥२९॥ -सागारधर्मा० अ० ३ । 'स्मरदोषास्पद बुद्ध्वा स्वस्त्रीमन्नवदाश्रयेत् । देहदाहोपशान्त्यर्थं दुर्व्यानस्यापि हानये ॥ ९८ ॥ -प्रबोधसार । ४ परविवाहकरणम् । ५ विपुलतृपा । ६ वित्तत्वम् । ७ ब्रह्मचर्यम् । 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा ॥२८॥ -उत्त्वा० सू०, अ० ७ । 'अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडावित्तविपुलतृपा । इत्वरिकागमन चास्मरस्य पञ्च व्यतीचारा ॥६०॥ -रत्नकरण्ड आ० । 'स्मरतीव्राभिनिवेशानङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् । अपरिगृहीतेतरयोगमने चेत्यरिकयो पञ्च ॥१८६॥ -पुरुषार्थसि० । अमित० आ० ७, ६ । सागारधर्मा० ४, ५८ । ८ मास मधु । ९ यन्त्रलिङ्गलेपादिप्रयोग । १० एवमेव विहरणम् । ११. 'मृगयाञ्जो दिवा स्वप्न परिवाद स्त्रियो मद । तीर्यत्रिक वृथाटया च कामजो दशको गण ॥ ४७ ॥ -मनुस्मृति अ० ७ । १२. पौरे भा-आ० मु० । पौरभा-ज० । पौरोभाग्यम्-असूयकत्वम् । 'पैशुन्य साहस द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् । वाग्दण्डश्च च पारुष्य क्रोधजोऽपि गणोऽष्टक ॥ ४८ ॥ -मनुस्मृति अ० ७ ।

अनज्ञानलसलीहे परस्त्रीरतिचेतनि ।

सद्यस्का विपक्षो ह्यत्र पुत्रश्च दुरास्यवा ॥४२१॥

धूपतामश्राप्रफलस्योपाख्यानाम्—काशिशेषेषु सुरसुन्दरीसपत्न्यपरीराज्जनाजनविमोदा रयिम्बसरस्यां धाधारस्यां सपादितसमस्तारातिचतामप्रकर्षकर्षणो धर्षणो नाम नृपति । अस्यातिचिरप्रकटप्रणयसहकारमखरी सुमञ्जरी नामाग्रमहादेयी । पञ्चतन्त्राविशाखयिस्तु वयन उग्रसेनो नाम सखिच । पतिहितैकमनोमुद्रा सुमद्रा नामास्य पत्नी । दुर्विलासरसरक्ता कङ्कारपिङ्गो नामानयो स्नुहा । अनयद्ययिद्यापदेशप्रकाशिताशेषशिष्य पुप्यो नाम पुरोहित । मौरूप्यातिशयापहसितपथा पथा नामास्य धर्मपत्नी । समस्तामिजातजनवाग्रव्यवहारानुग स कङ्कारपिङ्ग स्यापतेयताम्यममममानवसाध्यापलातुपुराकपनमण्डेन पिङ्गोपण्डेन सह नतमृविभ्रमाभ्यर्च्यमानमुज्ज्वलतिष्ठिपु धीपिपु संहरमाणस्तामेकदा प्रासादतलोपसदामरोत्त-
पक्षेचणाक्षितपर्वा पथामयलोक्य

‘एवेन्द्रियद्रुमसमुज्जसनाम्बुवृष्टि-

रेषा मनोमृगधिमोक्षविहारमूमि’ ।

एषा समरप्रिरवधनधारिवृष्टिः

किं केचरी किममरी किमियं रतिर्यां ॥४२१॥

जिसका कामरूपी व्यक्ति वेष्टित विच पर-भारीसे रति करनेमें वास्तव है उसे इसी अन्तर्में स्त्रिका विपक्षियों उठानी पड़ती हैं और परकोई भी कठोर विपक्षियोंका सामना करना पड़ता है ॥४२२॥

दुराचारके फलके सम्बन्धमें एक कथा सुनें—

१६ दुराचारी कङ्कारपिङ्गकी कथा

काशी देशमें बाराणसी नामकी नगरी है । उसमें धर्षण नामका राजा राज्य करता था । सुमञ्जरी नामकी उसकी पटरानी थी, और उम्मेसेन नामका मन्त्री था । मन्त्रीकी पत्नीका नाम सुमद्रा था और पुत्रका नाम कङ्कारपिङ्ग था । वह बड़ा बिल्गसी था । राजपुरोहितका नाम पुप्य था और उसकी पत्नीका नाम पथा था ।

मन्त्रीपुत्र कङ्कारपिङ्ग कुलीन पुरुषोंके न करने योग्य काम करता था । एक दिन वह धन और सबानीक मदसे मन्त्र होकर खरबील बास चीत करते हुए कामीसनोंके साथ उन गस्त्रियोंमें घूमता था वहाँ स्त्रियोंके बिलाससे आमन्त्रित होकर बिल्गसी जन जातिप्य ग्रहण करते हैं । उमने महलके ऊपर अपने सुन्दर नयनोंसे कमलकी तिरस्कृत करनेवाली पथाको देखा । वह सोचने लगा—

इन्द्रिरूपी श्वकी वृद्धि लिए मन्त्रुष्टि मनरूपी मृगके किनोदके लिए क्रीडामुमि और कामरूपी हाथीको बाँधनेके लिए साँकलके समान यह कौन है ? कोई बिधापरी है या देवा जना है अथवा रति है ? ॥४२३॥

१ तिरस्कृतमन्त्रो । २ विलसमूहेन । ३ नामिजन । ४ गताम् । ५ खरबील बास वृद्धिर्न वा ।

६ पिपयम् ।

इति च विचिन्त्य मकरकेतुचशल्यापारनिधिः प्रवृत्तदुरभिसन्धिः पुरेपप्रयोगेणाभिमतसिद्धि-
मनवबुध्यमान पराशयशैलविदारणतडिल्लतामिव तडिल्लता नाम धार्त्री अपडल्लीणे शरणे
सुनयार्थतनपतनादिभिः पादपतनादिभिः "प्रश्रयैरसदाशयाश्रयैरर्वन्धसाध्यमुपकृष्य स्वकी-
याकृतकान्तारप्रवर्धनधरिजोर्मं करोत् ।

तदुपासरोधात्तथाविधविधिचिधात्री^{१२} धात्री—(स्वगतम्) 'परपरि' ग्रहोऽन्यतरानु-
रागग्रहश्चेति दुर्यटप्रतिभास खलु कार्योपन्यासः । अथवा सुघट एवायं कार्यघटः । यत-
स्तप्तातप्तवयसोरयसोरिव चेतसोः साङ्गत्याय खलु पण्डितेर्दौत्यं^{१३} दौत्यमन्यथा सरंसतरसो-
रम्भसोरिव द्वयोरपि द्रवस्वभावयोरेकीकरणे किं नु नाम प्रतिभाविजृम्भितम् । किं च ।

सा दृतिफाभिमतकार्यविधो बुधानां

चातुर्यवर्धवचनोचितचिसृत्तिः ।

या "चुम्बकोपलकलेचहि"^{१४} शल्यमन्त-

श्चेतो निरूढमपरस्य बहिष्करोति ॥४२४॥

तदलं बिलम्बेन । परिपक्वफलमिव न खलु व्यतिक्रान्तकालमदः^{१५} सरं सताधिष्ठान-
मनुष्ठानम् । किं त्वस्य साहसावलम्बनधर्मणः कर्मणः सिद्धावसिद्धौ वा दैवात्परंङ्किताकार-
सर्वज्ञैः प्राज्ञैः कथमपि बहुजनावकाशे कृते सति^{१६} पुरश्चारी हि शरीरी भवति दुरपवाद-

एमा विचारते हुए उसने कामसे पीडित होकर दुष्ट मकल्प किया । बलात्कारके द्वारा
अपने मनोरथकी सिद्धि न होती जानकर उसने दूसरेके अभिप्रायरूपी पक्वको मेदनेमें विजलीकी
तरह कुशल तडिल्लता नामकी धायको उसके पास भेजनेका विचार किया । और एकान्त गृहमें
नीतिवानोंको भी मार्ग भ्रष्ट करनेवाले पैरा पर गिरना आदि दुर्जनोके द्वारा आश्रय की जानेवाली
विनयके द्वारा उसे अपना मनोरथ मिद्ध करनेके लिए तैयार किया ।

उसके अति आग्रहसे उम कार्यका भार लेकर धाय सोचने लगी—“पर-नारी और किसी
दूसरेके प्रेमको जुगनेका कार्य बड़ा कठिन प्रतीत होता है । अथवा यह कार्य सरल ही है, क्योंकि
तपे हुए और बिना तपे हुए लोहोके समान दो चित्तोको मिलानेके लिए पंडित जन जो कुछ प्रयत्न
करते हैं वही तो वास्तवमें दौत्य है । अन्यथा वेगमे बहनेवाले दो जलोकी तरह दो तरल हृदयोको
मिलानेमें क्या बुद्धिमानी है ?” तथा

वही दूती द्रष्टु कार्यको करनेमे चतुर कहलाती है, जो चुम्बक पत्थरकी तरह दूसरेके
मनके भीतरके शल्यको बाहर निकाल लेती है ॥४२४॥

अतः इस कार्यमे देरी नहीं करनी चाहिए । जैसे समय बीत जानेपर पका फल भी सरस
नहीं रहता वैसे ही समय बीत जानेपर सुकर काम भी दुष्कर हो जाता है । किन्तु यह कार्य बड़े
साहसका है भाग्यवश यह सिद्ध हो या न हो किन्तु दूसरेके अभिप्रायको जाननेमें सर्वज्ञ विद्वान्
भी यदि ऐसे कार्यको बहुतसे मनुष्योंके सामने करें तो दूत निन्दाका पात्र तो बनता ही है, साथ

१ बलात्कारेण । २ -मत्कार्यघटनासिद्धि—आ० । ३ विद्युत् । ४ न सन्ति पट् अक्षीणि यत्र-
तृतीयागोचरे । ५ गृहे । ६ सुनयार्थतनस्य पतन गमनमदन्ति विनाशयन्तीत्येव शीलानि तै । ७ विनयै ।
८ सफल । अवन्ध्यसाध्यमिति क्रियाविशेषणम् । ९ अभिप्रायवन । १० भूमिप्रायांम् । ११ तस्याग्रहात् ।
१२ कर्मो । १३ कलत्रम् । १४ यत् क्रियते तदेव दूतत्वम् । १५ द्रवीभूतवेगयो । १६ चुम्बकपापाण ।
१७ पक्षे लोहादिकम् । १८ कार्यम् । १९ यथा पक्व फल अतीतकाल सरस न भवति । २० दूतः ।

परागावसरो व्यसनगोचरश्च । तद् व्यनयेयमिदमवसेयमिति तीपापत्यप्रसयाय सवि
वाय । तदुदाहरन्ति स आनिवेशेन भूतः किञ्चिद्वारम्भं कुर्यादभ्युत्थानार्थं प्रतीकारेभ्य
इति । (प्रकाशम्) 'प्राणप्रियैकापत्यं क्रमात्पुं, ईदृश इव ननु' मया दृष्टोऽपि जनो 'जातजो
वितामृतानिषेकाय अचिरत्नं यत्नं कर्तुमहति ।

अमात्याः—'समस्तमनोरथसमर्पणकथास्मार्ये आर्ये, तज्जीवितामृतनिषेकाय मञ्जीवि
तोचितविषेकाय च' तत्रमयत्येव 'प्रभवति ।

प्रात्री—'अथ किम् । तथाप्यवसाज्जन्ममोतिरिक्तप्रतिभावता तत्रभवतापि प्रतीयति
तन्मयम् । इत्यभिधाय धृतकास्त्योचिनीप्रतिकर्मा करतत्तामलकमिवाकलितसकलस्त्रैजयमी
तैस्तैः परादिताकपणमन्त्रैर्वैष नैश्चक्षुश्चेतोद्धार्यैवोस्तुमिच्च भूतिचिरायाचरितोपघात परि
प्राप्तप्रणयप्रसरावतारा च एकत्रा मुवा रहसीमं प्रस्तुतकार्यवटमाश्रमसीमं ता पुण्यकान्ता
मुदिस्य श्लोकमुवाहापीत् ।

'स्त्रीषु धन्यात्र गच्छ परमो नोपगापि वा ।

मणिमाळे च सोस्कारं शिष्ये मूर्ध्नि शम्भुना ॥४२५॥'

मञ्जिनी—(स्वगतम्) इत्यरोजनाचरणहर्म्यनिर्माणाय प्रथमसूत्रपाठ इवायं वाक्यो

ही साथ मुनीवतमें भी पढ़ जाता है । इसलिये यह काय कबल एक ही पुत्रवाले मंत्रीसे कह देना
चाहिए, कहा भी है कि स्वामीसे निवेदन किये बिना कृतका कोई भी काम नहीं करना
चाहिए । हाँ, यदि कोई आपसि आ जाये तो उसका प्रतीकार स्वामीसे बिना कहे भी किया जा
सकता है ।'

पेसा मनमें सोचकर भाय मन्त्रीसे बोली—

'मंत्री जी ! आपका यह प्राणप्रिय इकलौता स्त्रुका है । आप भी पहले उसे ही वे ।
इसलिये पुत्रके जीवनको बचानेके लिये आपको क्षीप्र प्रयत्न करना चाहिए ।'

मंत्री—आर्ये ! मेरे और मेरे पुत्रके जीवनको बचाना आपके ही दाव है ।

भाय—तो तो है ही, किन्तु फिर भी आपकी प्रतिमा हम स्त्रियोंकी बुद्धिसे बहुत अधिक
है । इसलिये आपको भी प्रयत्न करना चाहिए ।

इतना कहकर भायने दसवी उमकी लीका वेष्ट धारण किया । वह लीजनोचित सच
बातोंमें बड़ी शत्रु थी । उसने दूसरेके चितका आकृष्ट करनेवाले बचनोंसे और धाँधों तथा मनको
प्रसन्न करनेवाकी वस्तुओंसे कुछ दिनोंमें ही पचाको लुप्त कर लिया । एक दिन प्रेमका आल प्रेमने
का जबसर आया देखकर भायने बड़ा दुःख के साथ एकान्तमें पचाका स्मरण करके एक स्काक कहा
उसका माव यह था—'इस लोककी स्त्रियोंमें गङ्गा नदी ही अन्य है जिसे सब भागते हैं, फिर भी
महादेव बड़े दुःखसे मणियोंकी माकाकी तरह उसे अपने मस्तक पर धारण करते हैं ॥४२५॥

इसे सुनकर पचाने अपने मनमें विचारा—'इसको यह भूमिका ता दुराचारिणी स्त्रियोंके

१ वृत्त धेय—मु । कचयानि । २ वार्धनम् । ३ आर्यो नवयन्ति । ४ आपत्प्रतीकारः स्वामिनोऽ-
निषेधादि करणीयः अयत्तकार्यं नवनीयमित्यर्थः । ५. पूर्वं त्वमनीपुत्रोऽनु- इति भावः । ६. पुत्रजीवितामृतानि-
तत्सेवनाय । ७ रश्मिः । ८. समर्पणं । ९. अर्चयित्वा । १०. बचनं । ११. वास्तुनिर्भरमुत्तिष्ठति न ।

^१पोद्धातः । तथा चाह येयं^२ तावदेतदाकू^३तपरिपाकम् । (प्रकाशम् ।) आर्ये, किमस्य सुभा-
पितस्य पेदम्पर्यम्^४ ।

धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, जानासि एवास्य सुभापितस्य "कैम्पर्यम्,
यदि न वज्रघटितहृदयासि ।

भट्टिनी—(स्वगतम्) सत्यं वज्रघटितहृदयाहम्, यदि भवत्प्रयुक्तोपघातघण^५-
जर्जरितकाया न भविष्यामि । (प्रकाशम्) आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टमर्थं श्रोतुमिच्छामि ।

धात्री—वत्से, कथयामि । किं तु ।

‘चित्त द्वयो पुरत एव निवेदनीयं

ज्ञानाभिमानधनधन्यधिया नरेण ।

यः प्रार्थितं न 'रहयत्यभियुज्यमानो'

यो वा भवेन्ननु जनो मनसोऽनुकूलः ॥४२६॥

भट्टिनी—(स्वगतम्) अहो नभः^६प्रकृतिमपीयं पद्मैरुपलेप्तुमिच्छति । (प्रकाशम्)
आर्ये, ^१‘उभयत्रापि समर्थाहं न चैतन्मदुपन्नं’^२ भवदुपक्रमं वा ।

धात्री—(स्वगतम्) ^३‘अनुगुणेय खलु कार्यपरिणतिः, यदि निकटतटतन्त्रस्य
चहित्रपात्रस्येव’^४ दुर्वातालीसन्निपातो न भवेत् । (प्रकाशम्) श्रुत एव भट्टे, वदन्ति
पुराणविदः ।—

योग्य दुराचारका महल बनानेके लिए पहली नापा-जोखी जैसी है । फिर भी जो कुछ इसने कहा
है उसके अभिप्रायको परिपक्व करनेका प्रयत्न करना चाहिए ।’ यह सोच धायसे बोली—‘माता
आपके इस सुभाषितका क्या मतलब है ?’

धाय—परम सौभाग्यवती देवी यदि तुम्हारा हृदय वज्रका नहीं है तो इस सुभाषितका
मतलब तुम जानती ही हो ।

पद्मा—(मनमें) यदि तुम्हारे द्वारा फेंके गये इस लोह मुद्गरसे मेरा मन चूर्ण नहीं
होता तो जरूर मेरा हृदय वज्रसे बना है । (प्रकाशमें) माता ! हृदयमें वर्तमान अर्थको मैं
तुमसे सुनना चाहती हूँ ।

धाय—पुत्री ? बतलाती हूँ । किन्तु समझदार और स्वाभिमानी मनुष्यको दोके ही सामने
अपने मनकी बात कहनी चाहिए । एक तो उससे, जो प्रार्थना करने पर प्रार्थनाको अस्वीकार न
करे । दूसरे उससे, जो अपने मनके अनुकूल हो ॥४२६॥

पद्मा—(मनमें) देखो इसकी धृष्टता, आकाशकी तरह निर्लिप्त वस्तुको भी यह, कीचडसे
लीपना चाहती है । (प्रकाशमें) माता ! मैं उक्त दोनों बातोंमें समर्थ हूँ । न मेरे लिए यह कोई
नयी बात है और न इसमें तुम्हारा ही कुछ प्रयत्न है ।

धाय—(मनमें) यदि कोई तूफान न आ पहुँचे तो तटके निकट आये हुए जहाजकी
तरह यह कार्य सिद्ध है । (प्रकाशमें) पुत्री ! इसीलिए पुराणकारोंने कहा है कि प्राचीनकालमें

१ अवतारणक्रम । २ या इय धात्री आह । जेय आ० । ३ अभिप्रायोदय सूत्रपातसदृशम् । ४ रह-
स्यम् । ५ रहस्यम् । ६ -बुण-अ० ज० । ७ -न धवनधन्य- आ० ज० । ८ त्याजयति । ९ प्राथित ।
१०. आकाशवभावम् । ११ प्राथितदाने मनोजुकूलतायाञ्च । १२ न हि मदीय उपाधिर्न च, मवदीय उद्यम
किन्तु पुरैव ईदृशी गतिरस्ति । १३ अनुकूला इयम् । १४ पोतस्य । १५ वात्या ।

‘विभुर्गुरो कलत्रेण गीतमस्यामरश्वरा ।

‘सतनोश्चापि नुश्चर्मा समर्गस्त पुरा किल ॥४२७॥

महिम्नि—आर्ये, एवमेव । यतः—

‘स्त्रीणा वपुर्वन्धुमिरमिसाक्षिकं परत्र विधीतमिव न मामसम ।

स एव तस्याधिपतिर्गता कृती विश्वम्मर्गमा ननु यत्र निर्भृतिः ॥४२८॥’

भाषी—पुत्रि, तर्हि भूयताम् । त्व किलैकया कस्यचित्कुसुमं किंसास्मिर्धिरपवपुषः
पुराङ्गनाजमसोषनोत्पसोत्सवामुत्तरोषिव प्रासावपरिसरविहारिणी धीक्ष्णपयानुसारिणी
सती कौमुदीव हृदयवन्मृगाभ्यान्मन्दस्यन्वसपादिनी अभू । तत्प्रकृति ननु तस्य मन्मसुन्द
रस्य पुनः प्रत्यवसितकमन्तधीसप्रागमसमयस्य पुण्यन्वयस्येव रसाक्षमव्यर्थाभिष भवत्या
महासि बहु मन्दमकरव्यास्वादन बोद्धव्यानि मितान्तं चिन्तायकपरिक्रान्त स्वान्तम्, प्रसम
गुणस्मरणपरिषामाधिकरणमन्त करणम् अनवरत रामजीपकानुकीर्तनचक्रेत चेतः प्रवि
कसत्कुसुमविक्षासोचितसंनिहितेऽन्यन्वस्मिन्सताकान्ताक्षने महानुबेगः, पित्रवन्धुसित
स्येवास्थानानुबन्धाः सञ्जातोन्मादस्येव विधिनोपलम्भः क्रियाप्रारम्भः स्कन्धगदपुद्गीत
स्येव प्रतिधासर कार्यावतारः, स्मराराधनप्रवीठप्रणिधानस्येवेन्द्रियेषु सन्नता जडता
प्रायेषु बाधधीनपथाकथा । अपि च—

‘अनवरतसञ्जातोन्मोलनस्पन्दमन्त्रे

वतिसरसमृणालीकन्दैकन्दनाद्रे ।

चन्द्रमाने अपनी गुरुपत्नीस, इन्द्रने गीतमकी पत्नी अहिण्यास और महादेवन सत्तु रात्राकी
पत्नीसे संगम किया था ॥४२७॥

पद्मा—माता आपका कहना ठीक है; क्योंकि बन्धु-बा-पव अम्निकी साखी पूर्वक स्त्रीका
शरीर दूसरेको बेच देत हैं, मन नहीं । उसका पति तो वही माम्बशाकी होता है जिससे उसे
विश्वासके साथ ही साथ मुरत भी मिलता है ॥४२८॥

धाम—पुत्री ! तो सुन एक दिन तू अपने महकके ऊपर घूमसी थी । कूडकी पंखुड़ीकी
तरह कोमल और नगरकी झिबोंके नयन कुशुलोंको विकसित करनेके लिए चन्द्रमाके तुल्य किसी
पुत्राकी दृष्टि तर ऊपर पड़ गयी । जैसे बसन्तका समागम होनेपर पौरा आमकी मंथरीका रस पान
करनेके लिए अलसचित रहता है वैसे ही उस दिनसे कामदेवकी तरह सुन्दर वह पुत्रा तरे रसप्र
पान करनेके मनोरथ बाँधता रहता है । उसी दिनसे उसका चित तेरे लिए चिन्तित है सदा तर
गुणोंका स्मरण करता है तरी सुन्दरताका बलान करता है जिससेके बाम्य धन्य जिनके पास
आनेपर भी उनकी ओर ओल उठाकर भी मही देखता । मृताबिन्दकी तरह एक स्थानपर मही
बैठता । पागलोंकी तरह विचित्र काम करता है । अथरागक रागीकी तरह दिन-दिन क्रुद्ध होता
आता है । इन्द्रियों पेसी क्षीण हो गयी है माता कामदेवकी आराधनाके लिए उसने ध्यान छोड़ा
है । आज-कलमें ही उसके प्राण पलेक उड़ना चाहते हैं । तथा सदा अस्ते मीगे हुए पंखसे

अमृतरुचिमरीचिप्रौढितायां निशाया
प्रियसखि सुहृदस्ते किञ्चिदात्मप्रबोध^१ ॥४२६॥

भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपाय्यते ।

धात्री—(^२कर्णजाहमनुसृत्य) ण्वमेवम् ।

भट्टिनी—को दोषः ।

धात्री—कदा ।

भट्टिनी—यदा तुभ्य रोचते ।

इतश्चानन्तरायतया ^३तनयानुमताहितमतिपाटव^४ सचिवोऽपि नृपतिनिवासो-
चितप्रचारेषु ^५वासुरेषु गुणव्यावर्णनावसरायातमेतस्य महीपतेः पुरस्ताच्छ्लोकमिममुप-
न्यास्थत—

‘राज्यं प्रवर्धते तस्य किञ्जल्पो यस्य वेश्मनि ।

शत्रवश्च क्षयं यान्ति सिद्धाच्चिन्तामणेरिव ॥४३०॥’

राजा—अमात्य, क तस्य प्रादुर्भूतिः, कीदृशी च तस्याकृतिः ।

अमात्य—देव, भगवत पार्वतीपतेः ^६श्वशुरस्य मन्दाकिनीस्पन्दनिदानकन्दरनीहा-
रस्य ^७रमणसहचरखेचरीसुरतपरिमलमत्तमत्तालिमण्डलोविलिख्यमानमरकतमणिमेखलस्य
प्रालेयाचलस्य ^८वृक्षोत्पलपण्डमण्डितशिखण्डस्य रत्नशिखण्डनाम्नः शिखरस्याभ्यासे^९ नि-

मन्द-मन्द हवाके किये जानेसे और अत्यन्त सरस कमलोके डोंडोंको चन्दनके रसमें भिगोकर
उनका लेप करनेसे चाँदनी रातमें तेरे प्रेमीको कुछ होश होता है ॥४२९॥

पद्मा—माता! तो अब तक यह बात तुम क्यों छिपाये रही ?

धाय—(कानमें) । इस इस प्रकार ।

पद्मा—इसमें क्या बुराई है ?

धाय—तो कब ?

पद्मा—जब तुम चाहो ।

इधर धायका प्रयत्न चालू था उधर मन्त्री भी प्रतिदिन अपने पुत्रकी हित-कामनासे राजाके
पाम जाता था और राजाके महलमें रहने योग्य पक्षियोंके गुणोंका वर्णन किया करता था । एक
दिन अवसर पाकर उसने राजाके सामने एक श्लोक पढ़ा । जिसका मतलब यह था कि जिस
राजाके महलमें किञ्जल्प नामका पक्षी रहता है उसका राज्य बढ़ता है और सिद्ध किये गये
चिन्तामणि रत्नकी तरह उससे शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥४३०॥

राजा—मन्त्री ! यह पक्षी कहाँ पैदा होता है और उसकी शक्ल कैसी होती है ?

मन्त्री—स्वामी ! भगवान् महादेवके श्वशुर हिमालय पर्वतकी रत्नशिखण्ड नामकी चोटीके
समीपमें एक गुफा है, जिसमें सब प्रकारके पक्षी उत्पन्न होते हैं । जटायु, वैनतेय, वैशम्पायन

१ -प्रबोध आ० ज० व० । २ कर्णसमीप शनैः कथितवती । ३ पुत्र । तनयानुमता हि गता म-
व० । ४ पक्षिपु । ५ पठति स्म । ६ हिमाचलस्य । ७ हिमम्प्य । हिमं गलित्वा जलं भूत्वा गङ्गा वहति ।
८ भर्तु महगमन । ९ कर्णिकार । १० समीपे ।

शेषशकुन्तसंभवावहा गुहा समस्ति । यस्मां अतापु-वैन्तेय-वैशम्पात्यनप्रभृतयः शकुन्तयः प्रावुरासन् । तस्यामेव तैस्योत्पत्तिः । तां च गुहामह पुष्यम्बानेकशो नन्दामगवतीयावानुसारित्वात्साधु जानीय । प्रतिकृतिम्बास्यैनेकवर्णा मनुष्यसम्पर्का^१ च ।

मुपासा—(सजातकुटुम्बः) अमात्य, कथं तदर्थानोत्कृष्टा ममाकुष्टा स्यात् ।

अमात्य—देव, मयि पुष्ये वा गत सति ।

राजा—अमात्य मयानतीव प्रवयाः । तत्पुष्य प्रयातु ।

अमात्य—देव तर्हि दीपतामस्मै सरत्मासङ्कारप्रवेक^२ पारितोषिकम् ।^३ अमात्ये पापेयं च ।

राजा—बाह्वम् ।

स्वामिचिन्ताचारवबुधः पुष्यस्तपाविरो गेहमागत्य 'आदेश न विकल्पयेत्' इति मतानुसारं प्रयाणसामग्री कुर्वाणस्तथा सतीमतपविभितसक्त्या पद्मया पृष्टः—'मह किमकाण्डे प्रयाणम्बराः ।

पुष्य—मस्तुतमाचष्टे ।

महिनी—मह, सर्वमेतत्सन्धिषस्य कृतकपटचेष्टितम् ।

मह—महिनि किं नु अख्येतच्चेष्टितस्यापतनम्^४ ।

महिनी—प्रकान्तममापिष्ट ।

मह—किमत्र कायम् ।

आदि पत्नी उसी गुफामें बैठा हुए थे । उसी गुफामें किञ्चल नामका पत्नी उत्पन्न होता है । उस गुफाको मैं और पुष्य अच्छी तरह जानते हैं क्योंकि हम दोनों मगवती नन्दाकी यात्रा करने गये थे । उसका आकार मनुष्यकी तरह होता है और वह अनेक रंगका होता है ।

राजा—(बड़ कौतूहलसे) मंत्री । उसके दर्शनकी मेरी अभिलाषा कैसे सफल हो ?

मंत्री—म्बामी । मेरे या पुष्यक जानेसे आपकी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है ।

राजा—मंत्री । तुम बहुत बूढ़ हो इसलिये पुष्यको मन्न दो ।

मंत्री—म्बामी । हा पुष्यको उत्तम रत्नजड़ित कंकण पारितोषिकमें दीजिए और रास्तेके लिये बहुत-सी आवश्यक सामग्री भी ।

राजा—अच्छा ।

आज्ञा पाकर पुष्य घर आया । उसका मत था कि आज्ञामें संकल्प बिहस्य नहीं करना चाहिए । जठ आते ही जानेकी तैयारी करने लगा । पक्षिप्रता पशुमाने यह देखकर पूछा—'म्बामी ! यह असमयमें जानेकी तैयारी क्यों ?'

पुष्य—मस्तुत बातका कहता है ।

पद्मा—मह सब कपटी मन्त्रीका आठ है ।

पुष्य—ऐसा करनेका कारण क्या ?

पद्मामे सब कुछ कह मुनाया ।

पुष्य—फिर अब क्या करना चाहिए ?

भट्टिनी—कार्यमेतदेव । दिवा सप्रकाशमेतस्मात्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृतं च प्रत्यावृत्य
अथैव महावकाशे निजनिवासनिवेशे सुखेन वस्तव्यम् । उत्तरत्राहं जानामि ।

भट्टः—तथास्तु ।

ततोऽन्यदा तया परनिर्कृतिपात्र्या धात्र्या ^१सदुराचाराभिपङ्गः कडारपिङ्गः सुप्त-
जनसमये समानीतः 'समभ्यसतु तावदिहैवेयमर्थं' च महीमूलं यियासु. पातालावासदु-
खम्' इत्यनुध्याय तया पद्मया ^२महावर्तस्य गर्तस्योपरि कल्पितायामवानायां खट्वायां
क्रमेणोपवेशितवपुषौ तौ द्वावपि दुरातद्भावन्ध्ये श्वभ्रमन्ध्ये विनिपेततु । अनुवभूचतुश्च निखि-
लपरिजनोच्छिष्टसिक्थजीवनौ कुम्भीपाकोपक्रमं पट्समौशाखान्दुःखक्रमम् ।

पुनरेकदा 'स्वाम्यादेशविशेषविदुष्य. पुण्यं तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहितं
कृतपञ्जरपरिकल्पं किञ्चल्यमादाय आगच्छंस्त्रिचतुरेषु वासरेष्वस्यां पुरि प्रविशति' इति
प्रसिद्धम् । प्रवर्तिनी भट्टिनी विविधवर्णविडम्बितकायेन चटकचकोरचापचातकादिछद्च्छा-
दितप्रतीकनिकायेन पञ्जरालयेन तद्दृष्टेन सह चिरप्रवासोचितवेषजोष्यं^३ पुण्यं पुरो-
पवने विनिवेश्य भट्टोद्भूतारम्भसंभाषणसनाथसखोजनसंकल्पा धृतप्रोपितभर्तृकार्कलपाभि-
मुखमयासीत् । अपरेद्युः स निखिलगुणविशेष्य. पुण्यं पृथिवीपतिभवनमनुगम्य 'देव, अयं
स किञ्चल्यः पक्षी, इयं च तत्प्रसवित्री पतत्रिणी च' इत्याचरत ।

पद्मा—यही करना चाहिए कि दिन चढ़नेपर इस नगरसे प्रस्थान करो और रातमें चुप-
चाप लौट कर अपने इसी बड़े मकानके किसी एक हिस्सेमें सुखसे निवास करो । आगे जो करना
है वह मैं कर लूँगी ।

पुण्य—ठीक है ।

दूसरे दिन जब सब सो गये तो वह ठगनी धाय उस दुराचारी कडारपिङ्गको लेकर
आयी । उधर पद्माने यह सोचकर कि 'ये दोनों नरकगामी इसी जन्ममें नरकके दु खोंको
सहनेका अभ्यास क्यों न करें' अपने घरमें एक खूब गहरा गढ़ा खुदवाकर उसके ऊपर बिना
बुनी खाट बिछा दी और खाटपर एक कपड़ा डाल दिया । वे दोनों जैसे ही उस खाटपर बैठे
दोनों उस गढ़ेमें गिर गये । और छह मासतक सबका झूठा भात खाकर नरकके समान दुखोंको
भोगते रहे ।

एक दिन सारे नगरमें यह बात फैल गयी कि स्वामीकी आज्ञाका पालक पुण्य एक पिंजरे-
में किञ्चल्य पक्षीको और इस प्रकारके पक्षीको जन्म दे सकने वाली पक्षिणीको लेकर आ रहा है और
तीन चार दिनमें वह इस नगरमें प्रवेश करेगा । उधर पद्माने उन दोनोंके शरीरोंको अनेक रंगोंसे
रंगा और चिड़िया, चकोर, नीलकण्ठ, चातक आदि पक्षियोंके पर उनपर चिपका दिये । तथा
पिंजरेमें बन्द करके उन दोनोंके साथ अपने पति पुण्यको चिर प्रवासके योग्य वेश बनाकर पहलेसे
नगरके बाहर स्थित उपवनमें भेज दिया । और आप विरहिणी स्त्रीका वेश बनाकर पुरोहितके
अद्भुत कार्यके सम्बन्धमें बातचीत करनेके लिए आतुर सहेलियोंके साथ पतिसे मिलने गयी ।

दूसरे दिन गुणी पुण्य राजभवनमें जाकर बोला—“महाराज । यह किञ्चल्य पक्षी है और

१. माया । २. दुराचारेण सह अभिपङ्गः सम्बन्धो यस्य । ३. चात्रोक्तकडारपिङ्गी । ४. विस्तारेण
गम्भीरस्य । ५. मासान् । ६. अवयव । ७. सेवनीयम् । ८. वेपा । ९. सम्मुख गता ।

राजा—(चिर निर्वर्ण्य निर्णय्य च स्वरेण ।) पुरोहित, मीप बालु किञ्चस्याः पक्षी, किं तु कडारपिङ्गोऽयम् । एवापि विहङ्गि न भवति, किं तु तद्विस्तृत्य कुट्टिनी ।

पुष्य—वेध, पतत्परिधाने प्रगल्भमतिप्रसक्तः सन्धिवाः ।

राजा सन्धिबस्तया पृष्टः क्मातस्त प्रथिविलुरिषे क्षोणीतलमवालोक्त ।

राजा—पुष्य, समास्तामैयं, मयानैतद्व्यतिकर कथयितुमर्हति ।

पुष्य—स्वामिन्, कुलपात्रिकाय प्रगल्भते ।

मूपतिः मट्टिनीमाहूय 'बम्ब, कोऽय व्यतिकर' इत्यपूष्यत् । मट्टिनी गतमुद्यत माक्यत्—काश्यपीभरः शैल्य इव हर्षामर्षोत्कर्षस्यामवस्यामनुभवधिमिलास्य'पुरपुरग्री-जनवन्धमालपावपदां पदां तैस्ते' सतीजनप्रदादनवधमैः सम्मानसन्धिधानैरलद्वारदानैकोपघर्ष प्रयेक्ष्य च वेधविद्विजोद्यमानकर्णीरयाकडां वेधम्', पुनः 'अरे मीहिन, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकाधारणमोगा' सुभगा सीमन्तिन्या, येनैवमात्सर । कथं च दुराचार, एवमाव एषाव विचार्य' विलीनोऽस्ति । तद्विदानीमेष पक्षि भवन्तं तज्जङ्गुमिव 'तपैति तदा न ब-हुलमपहृत स्यात्' इति निर्वर निर्मत्स्यं दुर्नेयगरमुवाच कडारपिङ्गः कुट्टिनीप्रमोरयातिधि-सन्धिपुमसेनमग्निष्य च निबिलजनसमकमाचारजापूर्वक प्राणासंयत् । पुष्यद्वस्तानङ्गमी

यह उसको जन्म देने वाली पक्षिणी है ।'

राजा—(बहुत देर तक देखकर और स्वरसे पहचान कर) पुरोहित ! यह किञ्चल्य पक्षी नहीं है, यह तो कडारपिङ्ग है । यह भी पक्षिणी नहीं है किन्तु कुट्टिनी तद्विस्तृता है ।

पुष्य—स्वामी ! इनको पहचाननेमें मन्त्रीजी बहुत मवीन हैं ।

राजाने मन्त्रीसे उन्हें पहचाननेके छिप कहा तो मन्त्री पृथ्वीको टेकता रह गया, मानो पृथ्वीमें समा जाना चाहता है ।

राजा—पुष्य ! मन्त्रीको रहने दो, तुम सब समाचार कहो ।

पुष्य—स्वामी ! मेरी पत्नी ही यह काम कर सकनेमें समर्थ है ।

राजाने पद्माको बुलाकर कहा—“माता ! यह क्या मामला है ?” पद्माने सब बीत्या वृष्टान्त सुना दिया । वृष्टान्त सुनते-सुनते कभी राजा नटकी तरह प्रसन्न होता था और कभी झोक्से समतला उठता था । सब सुनकर अन्तःपुरकी स्त्रियोंने पद्माके पैर पड़े और राजाने सती स्त्रियोंके योग्य आनन्ददायक वस्त्रोंसे और आवश्यक वस्त्राभरणके प्रदानसे पद्माको सम्मानित करके पादुकीमें बैठाकर उसके घर पहुँचा दिया । फिर कुट्टिनी और कडारपिङ्गका तिरस्कार करते हुए बोला—“अरे मीच ! क्या इस नगरमें येस्यार्थ नहीं हैं जो तूने ऐसा आचरण किया । अरे दुराचारी ! ऐसा करते हुए तू भर क्यों नहीं गया ? अब यदि इसी समय मैं तुझे तिनके-की तरह नष्ट कर डालूँ तो यह तेरा बहुत अपकार नहीं कहलायेगा ।” इस प्रकार बुरी तरहसे तिरस्कार करके दुराचारी कडारपिङ्गको और कुट्टिनीके साथी उपसेन मन्त्रीको सब झोगोंके सामने फटकारते हुए देखसे निर्वासित कर दिया ।

१ प्रवेष्टं गर्भमिच्छति । २ तिष्ठन्तु तावत्तु मन्त्री । ३ कटाचार्यकम् । ४ महम् । ५ विनाशं गत्या किम्विनाशोऽस्ति । ६ शिवरिम । ७ वज्रयानम् । ८ आलोच । ९ निर्वाहितः । १० अमङ्ग एव मातङ्गो यस्य ।

तद्गः कडारपिङ्गस्तथा प्रजाप्रत्यक्षमाक्षारितः सुचिरमेतदेनःफलमनुभूय 'दशमीस्थः सन्
श्वभ्रप्रभवभाजनं^२ जनमभजत ।

भवति चात्र श्लोकः—

मन्मथोन्माथितस्वान्तःपरस्त्रीरतिजातधी^१ ।

कडारपिङ्गः संकल्पान्निपपात रसातले ॥४३१॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफल^३ सारणो नामैकत्रिंशत्तमः कल्पः ।

ममेदमिति सकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु ।

परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनि कुञ्चनम् ॥४३२॥

क्षेत्रं^४ धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम् ।

द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्या दश परिग्रहाः ॥४३३॥

समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा हास्यप्रभृतयोऽपि पट् ।

चत्वारश्च कपायाः स्युरन्तर्ग्रन्थाश्चतुर्दश ॥४३४॥

इस प्रकार व्यभिचारके लिए प्रजाके सामने तिरस्कृत होकर कामी कडारपिङ्ग बहुत समय तक इस पापका फल भोगता रहा । फिर मरकर नरकमें चला गया ।

इस विषयमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है—

‘कामसे पीड़ित और परस्त्री सन्भोगके लिए उत्सुक कडारपिङ्ग परस्त्रीगमनके संकल्पसे नरकमें गया ।’ ॥ ४३१ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें दुराचारके फलको बतलानेवाला एकतीसवों कल्प समाप्त हुआ ।

[अब परिग्रह परिमाण व्रतको कहते हैं—]

बाह्य और अभ्यन्तर वस्तुओंमें ‘यह मेरी है’ इस प्रकारके सकल्पको परिग्रह कहते हैं । उसके विषयमें चित्तवृत्तिको सकुचित करना चाहिए अर्थात् सकल्पको घटाकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए ॥ ४३२ ॥

खेत, अनाज, धन, मकान, तौबा-पीतल आदि धातु, शय्या, आसन, दास-दासी, पशु और भाजन ये दस बाह्य परिग्रह हैं ॥ ४३३ ॥

मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, शोक, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ॥ ४३४ ॥

भावार्थ—बाह्य वस्तुओंको बाह्य परिग्रह कहते हैं । और आत्माके कर्मजन्य क्रोधादि भावोंको अन्तरंग परिग्रह कहते हैं ।

१ मृत । २ स्यान् नारकलोकं श्रित इत्यर्थः । ३ साधारणो मु० । ४ ‘मूर्च्छा परिग्रह ॥ १७ । -तत्त्वा० सु० ७ अ० । ‘ममेदमिति सकल्पविचिन्मिश्रवस्तुषु । ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाणम् ॥५९॥’ -सागारवर्मा० । ५. ‘वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासी दामं चतुष्पदं भाण्डम् । परिमेयं कर्तव्यं सन्तोषकुशलेन ॥ ७३ ॥’ -अमित० श्रा० ६ । ६ ‘मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च पट् दोषा । चत्वारश्च कपायाश्चतुर्दशाऽभ्यन्तराः ग्रन्थाः ॥११६॥’ -पुरुषार्थसि० ।

अथवा—

चेतमाचेतनासङ्गाद्विधा^१ वाङ्मपरिमह^२ ।
 बन्ताः स एक एव स्याद्भ्रष्टहेत्याशुयाभय^३ ॥४३५॥
 भनाभाविशुद्धीनामभना^४ स्युमनोरथा^५ ।
 न ह्यनर्थमित्यारम्भो^६ धीस्तद्वर्गिणु^७ कामपुक् ॥४३६॥
 'सहस्रमूर्तिरप्येव देहो यत्र न शब्दवत्' ।
 द्रव्यवृत्तकारेषु तत्र काऽऽस्या महात्मनाम् ॥४३७॥
 स धीमानपि निःश्रीक^८ स तत्त्व नराधम^९ ।
 यो न धर्माय भोगाय विमयेत भनाभगम् ॥४३८॥
 प्राप्तेऽर्थे ये न माद्यन्ति नाप्राप्ते स्पृहयालव^{१०} ।
 लोकप्रयभितां श्रीणां त एव परमेष्ठराः ॥४३९॥
 चित्तस्य चित्तचिन्तायां न कल परममस^{११} ।
 अस्थाने क्लिश्ययातस्य न हि क्लेशात्पर फलम् ॥४४०॥
 भन्तर्वहिराते सङ्गे निःसङ्ग यस्य मानसम् ।
 सोऽग्राह्यपुण्यसपन्नः सर्वत्र सुखमश्नुते ॥४४१॥

अथवा, चेतन और अचेतनके भेदसे बाह्य परिग्रह दो प्रकारका है, और ससारके कारण-
 मूल कर्माशयकी अपेक्षा अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकारका है ॥४३५॥

जो बनकी बाध करता रहते हैं उनके मनोरथ सफल नहीं होते; क्योंकि बाध करने
 मात्रसे इच्छित कस्तुकी प्राप्ति नहीं होती ॥४३६॥

वहाँ साथ पैदा होनेवाला शरीर भी स्थायी नहीं है वहाँ शरीरसे भिन्न धन, की और
 पुत्रमें महात्माओंकी आत्मा कैसे हो सकती है ? ॥४३७॥

वह मनुष्य धनी होकर भी गरीब है तथा मनुष्य होकर भी मनुष्योंमें नीच है जो धनको
 न धनमें लगाता है और न मागता है ॥४३८॥

जो धनको पाकर मग्न नहीं करत और धनक न मिटनेपर उसकी इच्छा नहीं करते वे ॥
 इस लोक और परलोकमें स्वामी होते हैं ॥४३९॥

मनमें धनकी चिन्ता करनेका फल पापके सिवा और कुछ नहीं है । ठीक ही है अस्थानमें
 बसेल करनेसे क्लेशके सिवा और क्या फल हो सकता है ॥४४०॥

अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रहमें जिसका मन अनासक्त है वह महान् पुण्यशाली सर्वत्र
 सुख भोगता है ॥४४१॥

१. अथ निश्चितसंश्लिष्टी बाह्यस्य परिग्रहस्य येही द्वौ । —पुण्यावधि ११७ वकी । २. —अथयथा
 न न । संसारधमपरिग्रहम् । ३. निष्कलम् । ४. बाधमानम् । ५. वाङ्मयप्रदा । ६. चित्तपुत्र बाह्यपन
 बाह्यवृत्तस्यार्थः संश्लिष्टाः प्रभुत्वलोभययेन पुंसाः । बाह्येऽपि नव्यति निजोऽयमिति प्रचित्तव जीयारिभुवन-
 इति विवक्षितम् ॥८२॥ —सुमापितरत्नसंदोहः । देहोऽयं सह संश्लिष्टः सोऽप्येव नहि पावयत् । बाह्यास्तु
 इन्द्रियादिरित्यर्थः सर्वत्रा गुणा ॥१११॥ प्राप्तेऽर्थे न प्रमाद्यन्ति न ह्यवशेऽप्यथा सिद्धे । —ब्रह्मवैवर्तः । ७
 'पापस्य मित्रं कर्म न किञ्च पापमैव भवति । चित्तार्थचित्तचिन्तायां न कल परमेष्ठनः । नतीबोदोविमोत्रयमे
 न हि ब्रह्मपादं परं कम् ॥६१॥ —वर्चरत्ना पृ ९६ ।

बाह्यसङ्करते पुंसि कुतश्चित्तविशुद्धता ।
 सतुषे हि वहिर्धान्ये दुर्लभान्तर्विशुद्धता ॥४४२॥
 सत्पात्रविनियोगेन योऽर्थसंग्रहतत्परः ।
 लुब्धेषु स परं लुब्धः सहामुत्र धनं नयन् ॥४४३॥
 कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रहः ।
 पञ्चमाणव्रतज्यानि^१ करोति गृहमेधिनान् ॥४४४॥
 यस्य^२ द्वन्द्वद्वयेऽप्यस्मिन्निस्पृहं देहिनो मनः ।
 स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां क्षणात्पक्षे स दक्षते ॥४४५॥
 अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायामवश्यं जायते नृणाम् ।
 अघसंग्रचितं चेतः संसारावर्तवर्तगम् ॥४४६॥

श्रूयतामत्र परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु त्रिदशनिवेशानुकूलोपशल्ये^३
काम्पिल्ये निजमतिमाहात्म्यापहसितामराचार्यप्रतिभो^४ रत्नप्रभो नाम नृपतिः । आत्मीय-

जो पुरुष बाह्य परिग्रहमें आसक्त है उसका मन कैसे विशुद्ध रह सकता है ? ठीक ही है,
 जो धान्य तुष—छिलके सहित है उसके भीतरी भागका स्वच्छ पाया जाना दुर्लभ है ॥४४२॥

भावार्थ—जब धानको कूटकर उसका छिलका अलग कर दिया जाता है तभी साफ चावल
 निकलता है । छिलकेके रहते हुए उसके अन्दरका चावल भी लाल ही रहता है । वैसे ही बाह्य
 परिग्रहमें आसक्त रहते हुए मनुष्यका मन स्वच्छ नहीं होता ।

जो सत्पात्रको दान देकर धनका संग्रह करनेमें तत्पर है, वह उस धनको परलोकमें अपने
 साथ ले जाता है । अतः वह लोभियोंमें परम लोभी है ॥४४३॥

भावार्थ—जो अपने धनको सत्पात्रोंके लिए खर्च करता है वह असीम पुण्यका बन्ध करता
 है और उस पुण्यको, जो धन-प्राप्तिका मूल कारण है, वह अपने साथ परलोकमें ले जाता है ।
 उसके प्रभावसे उसे उस जन्ममें भी धनका लाभ होता है । अतः ऐसा आदमी ही सच्चा धनका
 लोभी है । किन्तु जो धनको ही समेटकर रखता है—न उसे भोगता है और न किसीको देता है
 वह तो उसे यहाँ छोड़ जाता है । अतः सत्पात्रमें धनको खरचना ही उत्तम है । और पुण्यरूपी
 धन ही सच्चा धन है ।

जितने धनका प्रमाण किया है, लोभमें आकर उससे अधिकका सचय करना गृहस्थोंके
 परिग्रह परिमाणव्रतको हानि पहुँचाता है । अर्थात् यह उस व्रतका अतिचार है ॥४४४॥

जिस प्राणीका मन अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहमें निस्पृह है वह क्षण-भरमें स्वर्ग और
 मोक्षकी लक्ष्मीका स्वामी बन जाता है ॥४४५॥

धनकी बहुत अधिक तृष्णा होनेपर मनुष्योंका मन पापके भारसे दबकर संसाररूपी भँवरके
 गड्ढेमें चला जाता है ॥४४६॥

अब परिग्रहकी तृष्णाके सम्बन्धमें एक कथा कहते हैं, उसे सुनें—

१७. लोभी पिण्याकगंधकी कथा

पञ्चाल देशमें काम्पिला नामकी नगरी है, वहाँ रत्नप्रभ राजा राज्य करता था । उसकी

१ दानयोगेन । २ हानिम् । 'कृत यो धनाधिक्यसंग्रह'—धर्मर०, पृ० ९५ उ० । 'कृत धनादधिक्य-
 संग्रह । पञ्चमाणव्रतहानि ।'—सांगारधर्मा० पृ० १६४से उद्धृत । ३ परिग्रहे । ४ समीपे । ५ बृहस्पतिबुद्धि ।

कपोलकाम्तिविजितासुतमपीधिमण्डसा मणिकुण्डला नामास्य महादेवी । कुलकमागतामो-
 पाजितामितयित्त सागरवत्तो नाम भेटी । शुद्धस्य धीरिय धनभीर्गामास्य भार्या । सुनुर
 नयोर्म्याम्यायोपाजनेकविधाः सुवत्तो नाम । स महाशोमविभायसुज्यस्तमित्तमित्त सागरवत्तः
 पुण्डपपरम्परायासाया काञ्चनकोटिरकस्या स्थयमुपाजिताधकोटो पतिर्मवधप्रि शास्त्रीयादि
 मकमोजने द्वितयमुपापनीतिधायनाभाषणकृतिश्च, शाकपाकविधाने 'संभारादिकृति' प्रसमा-
 'भ्ययहतिश्च घातपूरपूरिमावेष्टिमादिमकोपकोपे महती क्नेहापहतिरिचनविरतिश्च
 दुग्धवधिपोलरसाधुपयोगे न विक्रयाय द्युतं न च तर्कं 'कडकुरायेति च मय्यमाता
 स्वयमेव प्रतिविद्यस्तृष्टिमहत्वाय' 'व्ययस्तोकापाठके विहरमाणः 'प्रतिपित्तमिययग्रमुप-
 चृत्य 'आः सुरभिः कश्येप कासाः सजात' इति सस्मेरं व्याहरन्, गृहीतपिण्डलम्बा
 प्रत्यघसानसमये तद्गन्धमाजिग्रस्तन् सयलोकपरिहृतमनयधि कालोपितमतिसमर्था
 गतमकृष्टितेमेव च स्वास्त्रीविस्तीर्ण मयति 'तत्कैयल्लायन्तिसोमसहायमाहरति । अत
 पथास्य' 'महामोहानुषम्भस्य पिण्याकगन्ध इति जगति नाम पप्रये । 'मुखाभोदमात्रेण च
 प्रयोजनम् । तद्वत् साम्बल्यार्थमर्थव्ययेन' इति विचिन्त्य पिप्पुतद्वयच' ' 'काञ्चनकोटो-
 चरास्याद्वयः कक्षयति । 'अर्धमाणोदर' परिघाट कवाचिदपि वेदे हव्ये घा न मनागपि

फरानी मणिकुण्डल भी । नगरसेठ सागरवत्त था । उसके पास बहुत धन था । नगरसेठकी
 फलीका नाम धनभी था । उनके सुवत्त नामका पुत्र था वह सदा न्यायपूर्वक ही धन कमाता था ।

महाकोमी सागरवत्त यद्यपि बंश-परम्परासे प्राप्त एक करोड़ स्वर्णमुद्राओंका और स्वर्ण
 उपाजित आधे करोड़ स्वर्णमुद्राओंका स्वामी था, फिर भी वह सोचता था कि यदि चावलका
 भात खाया जाये तो उसके किल्लेके दूर करने होंगे और बोलने-धानेमें भी कुछ कमी अवश्य होगी,
 यदि धाक पकाया जाये तो भसाव बगैरह लब्ध होगा और उसके साममें अधिक धन लाया
 जायेगा, बेवर पूरी कौरह व्यवसायके बनानेमें भी स्वर्ण हागा और ईधन भी ज्यादा बचता, दूध,
 दही आदि रसोंका सेवन करनेसे न बेचनेके क्षिप भी रहेगा और न मूमीके क्षिप मरना बचेगा ।
 अत अब वह प्रतिदिन व्यायाम बसूल करनेके क्षिप जाता तो तेजियोंमें धूमते-धूमते उनके कोल्लूके
 पास जाकर बरा हँसकर कहता 'बाहू भइ तो लूब सुसव्वार है-और ऐसा कहकर तेजकी लसलस
 एक टुकड़ा उठा लेता । अब भोजनका समय होता तो उस लसली गन्धका सूँघता जाता और जिसे
 कोई भी नहीं सा सकता ऐसे बहुत पुराने और कम कीमती धानको बिना ही कूटे काटे काँचीके
 साब सा जाता । इसीसे सर्वत्र उस कोमीका नाम 'पिण्याकगन्ध' प्रसिद्ध हो गया था ।

'सुसका सुगन्धित करने मात्रसे ही तो प्रयोजन है, अत धानमें धन लब्ध करना व्यर्थ है'
 ऐसा सोचकर वह पीपलके वृक्षकी छाछको तमालूके पत्तेके साथ खाता था उसके खानेसे मोहनसे
 भी कुरुचि हो जाती थी ।

आधे फेट खानेसे न धरीरमें कोई विकार उत्पन्न होता है और न मनमें, ऐसा सोचकर वह

१ मरिचादीना व्यवहार । २ प्रचुरालस्य भुक्ति । ३ पाथालनिमित्तम् । ४ व्यायाम । ५ तिलमुत्र ।
 ६ तिलवीजनमाश्लेषम् । ७ बाल । ८ भोजनवैकल्याम् । ९ अतिधीर्बलम् । १ स्वल्पमूल्यम् । ११ उग्रजन
 रहितम् । १२ काञ्चिकेन सह । १३ सागरवत्तस्य । १४ पिप्पलकम् । १५ नावनीपत्र । पत्राणा पत्राणा
 भोजने न रक्तवर्षिणी विष्णुवत्तया सा । १६ अर्धहारेण ।

विक्रुते' इति मत्वा न कमप्यूर्ध्वं पूरयति । प्रतिचारकांश्चैवं शिष्ययति—'न तैलार्थं लवणार्थं वित्तं व्ययितव्यम्, किं तु कार्षापण मापं चादाय आपणमुपदौक्य तदुभयं गृहीत्वा पुनरिदं साधु न भवतीति प्रतिसमर्पयंस्तत्र मापे किञ्चिज्ज्ञानमायाति तेन शारीरो विधि-विधातव्यः ।' परिजनाभकान्स्वकीयांश्चैवमुपजपति—'न भवद्भिरङ्गाभ्यङ्गार्थं भवनमुपद्रोत-व्यम्, किं तु सस्नेहदेहैः प्रातिवेशिकशिशुसंदोहैः सहातिसंवाधं योद्धव्यम् । अतो भवतामनुपायसंनिधिः स्नानविधिः । क्षपायां च प्रतिवेशवेशमप्रदीपप्रभाप्रज्वलितेन वली-^२कान्तावलम्बितेन ^३काचमुकुरेण गृहाङ्गणे प्रदीपकार्यं ^४निकाय्यमध्ये च सणसरण्डप्रोतै-^५र्विषमरुचिदीप्तैरुखबुर्कबीजैः करोति । सकलजनसाधारणाश्च नवीनसङ्गा एव ^६युगाः सपरिच्छदः परिदधाति । मनागमलीमसरागाश्च विक्रीणीते । ततोऽस्य ^७वसनधावनार्थमपि न कपर्दकोपक्षयः । ^८पर्वणि च पुराणपल्लवकचवरापनयनकैणोत्क्रेणातपतप्तसंघाटस्नेहद्रवेण गुडगोणीक्षालनकषायेण च निवर्तयति । प्रत्यामन्त्रणेन द्रविणव्ययात्परागारं ^९भोजनावलोक-नेनाश्रितजनमनोविनाशभयाच्चात्मन्त्रितो न कस्यापि निकेतने ^{१०}प्सति ।

एवमतीवतपोत्कर्षरसहायै सकलकदर्याचार्यै तस्मिञ्जीवत्यपि मृतकल्पमनसि वसति

अपने कुटुम्बको कमी भी भर पेट भोजन नहीं करने देता था । वह अपने नौकरोंको शिक्षा देता था कि 'तेल और नमकके लिए पैसा नहीं खर्च करना चाहिए, किन्तु पैसा और बर्तन लेकर दुकान पर जाना चाहिए और दोनों चीजें लेकर फिर यह कहकर लौटा देना चाहिए कि ये अच्छी नहीं है । ऐसा करनेसे बर्तनमें कुछ तेल और नमक लगा रह जाता है, उसीसे अपना काम चलाना चाहिए ।' अपने और अपने कुटुम्बके बच्चोंसे वह कहता था कि 'तुम्हें शरीरमें तेल लगानेके लिए घरमें ऊधम नहीं मचाना चाहिए किन्तु पड़ोसियोंके तेल लगाये हुए बच्चोंके साथ खूब भिड़कर लड़ना चाहिए । इससे बिना प्रयत्नके ही तुम्हारे स्नानकी विधि बन जायेगी ।'

उसने अपने घरको छत पर एक दर्पण टाँग रखा था । रात्रिमें जब सामनेके घरमें दीपक जलता था तो उसका प्रकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर घरके आगनमें पड़ता था । और उससे दीपकका काम निकल जाता था । तथा घरके अन्दर एरण्डके बीजोंको सड़ैरेकी लकड़ीमें पिरोकर और उन्हें आगसे जलाकर दीपकका काम लेता था । जन साधारणके पहनने योग्य कोरे वस्त्र ही वह पहनता था । और जैसे ही वह मैले होते थे उन्हें बेच डालता था । इस तरह कपड़े धोनेमें उसकी एक कौड़ी भी खर्च नहीं होती थी । पुराने पल्लवोंको कूट कर उसमेंसे रेसे निकाल देता था । घाममें सघाट (?) को सुखानेसे उसमेंसे तेल निकल आता था और गुड़के बोरोंको धोकर उनमेंसे मीठा निकाल लेता था । और इन सबसे तीज त्योहारका काम चलाता था । बदलेमें दूसरोंका निमन्त्रण करनेसे धन खर्च होगा, तथा दूसरोंके घरका भोजन देखनेसे मेरे आश्रित जनोंके मन मुझसे टूट जायेंगे इस भयसे निमन्त्रण आनेपर भी वह किसीके घर नहीं बीमता था । इस प्रकार वह तृष्णालु और सब कजूसोंका सिरमौर जीते हुए भी मुर्देकी तरह जीवन व्यतीत करता था ।

१ पड़ोसी । २ गृहस्थोपरितनभागे । ३ दर्पणेन । ४. गृहमध्ये । ५ अग्नि । ६. एरण्ड । ७ कोरावस्त्र । ८ वस्त्रप्रक्षालनार्थम् । ९. दीपोत्सवादि । १०. करणो- अ० ज० मु० । ११ अन्यलोकगृहे भोजन यदि एभिर्दृष्ट तदा भद्गृहे एते न स्थास्यन्तीति भयात् । १२ भुक्ते ।

सति एकदा स सरमोकमलिनीपरिमलनकलमो रत्नप्रभो राजसिन्धुरप्रभापगम्यशुभमासात्
संपादनाय धयणाधययुक्तस्य प्रत्यक्षस्य महीपतेः कालेन स्थण्डिलतालुतायकामो भयनप्रदेशे
मृगोषधं विधापयसेतवास्यामण्डपाभोगपथप्रुपा प्रकाभोपखोपकृतपथप्रुपा संपूषविस्ता-
रपुष प्रथिमगुणपिशिष्टका सुयणैष्टका समालोभ्य यहिनिंकाम कलमुमलिनत्यादितरेष्ट-
कापिशिष्टत्यमाकलपम् 'पताः प्रलु धैत्यासयनिर्माणाय योग्या' इति चेतसैकत्र रत्नपता
माताययामास ।

अत्रान्तरे समस्तमितपद्यपुरोगमसमोषाः पिण्याकगन्धा सरमसमापततामिष्टकापइतां
'यैयधिकनिवहाना 'सायसमये मागयिपये पतितामेकमिष्टकामवाप्य 'वलमद्यालनदेशे
म्यपात् । तत्र च 'प्रतिपक्षमस्त्रिधसर्पाक्षोपकापुप्यमोपे' भर्मनिर्मितत्वमवेत्य तैस्तेः
प्रसोभनपस्तुमि काचवहानां पिहितोपचारस्ता 'संपृहम् भुवम्य' स्त्रीयापायोन्त स्फा-
'धमानमनोमस्युक्तताम्' 'पिण्याकगन्धाः पुष निजिलकलापइतादित्त सुवृत्त भवतिपत्
स्यसुः सुतशोकरकुशमनाय मयायस्यं तत्र गन्तव्यमपस्नातव्यं' च । ततस्त्वयाप्येताः परि-
'दकन्वसोकप्रसोमनेन साधु सप्रदीतव्याः इत्युपदरे' व्याइत्य सकम्भगदम्यवहापवतार-
त्रियेषां काकन्धां शोकशोकमृपिष्ठायास्तुष कनिष्ठाया दर्शनार्थमगच्छत् । असद्व्यवहारे'

एक बार राधा रत्नप्रभने हाथीकी चौड़ देखनेके लिए एक महल बनवानेका विचार किया
और उसके लिए स्वर्गीय राधा ब्रह्मरुचके महलके सण्डहरोंवाले भद्रेशको चुना । जब उन सण्डहरों
को ढाया गया तो उसके समामुखसे बहुत-सी बड़ी-बड़ी सोनेकी ईंटे निकलीं । किन्तु वे
बहुत दिनोंसे मिट्टीमें दबी रहनेके कारण एक कम काळी पड़ गयी थीं । जब उन्हें भी अन्य
पुरानी ईंटोंकी तरह साधारण ईंट मानकर और वह सोचकर कि ये चैत्रात्म्य बनवानेक समय हैं
एक जगह उनका डेर लगा दिया ।

इसी बीचमें कुम्भक शिरोमणि पिण्याकगन्ध संख्याके समय उभर गया । बल्दी-बल्दी
ईंटे ढोने वालोंसे मार्गमें एक ईंट गिर पड़ी वह उसे उठा लाया और छाकर पैर धोनेके स्थानपर
उसे बाळ दिया । प्रतिदिन पैरोंकी रगड़से उसकी कबोसी मासी रही । तब उसे माझ्म हुआ कि
यह तो सोनेकी ईंट है । फिर तो वह ईंटें ढोने वालोंको तरह-तरहका कलक देकर ईंटे इकट्ठी
करने लगा ।

एक दिन पिण्याकगन्धने अपने भानेजकी मृत्युका समाचार सुना । उसे बड़ा रंज हुआ ।
पुत्रको बुलाकर कहा—“पुत्र सुवध । तुम्हारी बुलाके पुत्र-शोकको शान्त करनेके लिए मुझे जबस्य
बाना है और मूसक स्नान भी करना है । जब तुम भी बोझ ढोने वालोंको कलक देकर सोनेकी
ईंटें संग्रह करते रहना ।” इस तरह एकत्रन्तमें पुत्रको समझाकर पिण्याकगन्ध क्षीप्र ही अपनी
छोटी बहमसे मिट्टीके लिए काकन्दीकी ओर चला गया ।

१ -प्रकाशक- अ य म् । २ मृतस्य । ३ विस्तारं पुष्पाति वाः । ४ पुषु । ५ सवृत्त ।
६ मायकायाम् । ७ बाठाबहो वैयधिक- विवशी मातुः कश्चिरो वा तं बह्वीति वैयधिक । ८ सम्प्रामा ।
९. वाचकायगः । १० प्रतिविगम् । ११ विवाके छति । १२ वृष्टका । १३ भागियेयमरण । १४ वृद्धि
वायमान । १५ शोकमय । १६ मृतकस्नान कर्तव्यम् । १७ कावटिक । १८ एकावते । १९ ब्रह्मा-
पराह्मुच ।

व्यावृत्तः सुदत्तः तातोपदेशमनिश्रेयसमवस्यन् यतो राजपरिगृहीततृणमपि गृहीतं काञ्चनीभवति संपद्यते च पूर्वोपार्जितस्याप्यर्थस्यापहाराय प्राणसंहाराय चेति जातमतिनैकामपीष्टकां समग्रहीत् ।

महालोभलोलतान्धः पिण्याकगन्धस्तस्याः पुरोऽप्यस्तायागतः सुतमप्राक्षीत्—‘वत्स, कियतीः खलु त्वमिष्टकाततीः पर्यग्रहीः ?’

स्तेययोगविनिवृत्तः सुदत्तः—‘तात, नैकामपि ।’

प्रादुर्भवद्दीर्घदुर्गतिदुरितबन्धः पिण्याकगन्धः समर्थे सदाचारकृतार्थे पुण्यभाजि तुजि परमुत्तरमपश्यन्, ‘यदीमौ क्रमौ परिक्रमणक्षमौ मम नाभविष्यतां तदा कथंङ्कारमहं मन्मनोरथवन्धां काकन्द्यामगमिष्यम् । अत एतावेवात्र धीविरामावहौ द्रोहौ’ इति विचिन्त्योद्धर्तनं वर्तयन्त्याः स्ववासिन्याः करादाक्षिमैशरीरेण शिलापुत्रकेण तौ जर्जरितावजोजनत् । एतच्च वैदेहकाव्यञ्जनपरिजनात्प्राचीनवर्हिनिभः^१ क्षितिर्मणीकरिणीभः रत्नप्रभः श्रुत्वा वासीवक्त्रेण शिल्पिमिर्विधापितेष्टकातक्ष्णः सुवर्णत्वं निर्णय विहितसर्वस्वापहारं सनिकारं नगरजनोद्धार्यमाणदुरपवादप्रबन्धं पिण्याकगन्धं निरवासयत् । ‘इन्द्रयमस्थानं हि गुणदोषयोर्महीपतयः’ इति नीतिवाक्यमनुस्मृत्य मूलधनप्रदानेनान्वेयांगतनिवासनिवेदनेन च परद्रव्यादाननिवृत्तं सुदत्त साधु समाश्वासयत् । स तथा निर्वासितः सञ्जातनरकनिषेकनिबन्धः कृतप्रका-

सुदत्त बुरे कामोंसे बचता था । उसे अपने पिताका उपदेश अहितकर प्रतीत हुआ । उसने विचारा कि राजाका तृण भी सोना हो जाता है और उसके लेनेसे पहलेका सञ्चित धन भी हर लिया जाता है और प्राण भी चले जाते हैं । अतः उसने एक भी ईंट नहीं ली ।

महालोभी पिण्याकगन्ध मृतक स्नान करके लौटा तो उसने पुत्रसे पूछा—‘बेटा ! तुमने कितनी ईंटें ली है ?’

चोरीके त्यागी सुदत्तने उत्तर दिया—“पिता जी ! एक भी नहीं ।”

घोर दुर्गतिके कारण पापका बन्ध करनेवाले पिण्याकगन्धको अपने सदाचारी पुण्यशाली पुत्रकी बात सुनकर कोई उत्तर नहीं सूझा ।

तब “यदि मेरे ये दोनों पैर चलनेके लायक न होते तो मैं अपने मनोरथकी घातक काकन्दीको कैसे जाता । इसलिए ये दोनों ही लक्ष्मी समागमके शत्रु हैं ।” ऐसा सोचकर उसने उबटन पीसती हुई अपनी पत्नीके हाथसे लोढ़ा लेकर अपने पैर तोड़ डाले । राजा रत्नप्रभने उसके आदमियोंसे यह बात सुनकर शिल्पियोंसे उन ईंटोंको तुड़वाया, तो वे सोनेकी निकलीं । उसने तुरन्त ही पिण्याकगन्धका सर्वस्व छुटवा लिया और उसे बेइज्जत करके देश निकाला दे दिया ।

“राजा लोग गुणवान्के लिए इन्द्र है और दोषीके लिए यमराज हैं ।” इस नीतिके अनुसार राजा रत्नप्रभने पराये धनको न लेनेके कारण सुदत्तको उसका मूल धन और वंशपरम्परागत निवास स्थान देकर घोरज बँधाया ।

१. ससारकारण जानन् । २ मृतकस्नान कृत्वा । ३. केन प्रकारेण । ४ पादौ । ५. गृहीत । ६ वणिक् । ७ इन्द्रसमान । ८ कारित । ९ निर्घाटितवान् । १० वशागत-आवासानुमतेन ।

महोमसम्बन्धमिरायोपाधिततुरस्तुष्कर्मस्क धा पिण्याकगन्धं प्रेत्य पातासमगात् ।

मयति घ्राज श्लोकः—

पष्ठया कितेस्तृतीयेऽस्मिन्मज्ञके पुण्यमज्ञके ।
पेते पिण्याकगन्धेन धनायायिष्येतसा ॥४४७॥
इत्युपासकप्रत्ययने परिग्रहामहफलफुल्लानो नाम द्वात्रिंशः कल्पः ।
'विन्येशानयवृष्टानां विरतिस्त्रितयाभयम् ।
गुण्यतत्रय सन्नि सागाग्यतियु स्मृतम् ॥४४८॥
द्विषु सर्वास्यधर्मोभ्यदेशु निजिषेपु य ।
पठस्यो विशि देशेऽस्मिन्नियत्येयं गतिर्मम ॥४४९॥
'विन्येशनियमादेयं ततो बाह्येषु वस्तुषु ।
हिंसाशोभोपभोगाविनिवृत्तेभिर्यग्यभ्या ॥४५०॥
रक्षन्निधं प्रयत्नेन गुण्यतत्रय गृही ।

देशसे निकास आकर पिण्याक गन्ध व्यत्यन्त सोमवस नरकायुक्त बन्ध तथा चित्-
कास्के किय व्यत्यन्त दुःखदायी कर्मोंका बन्ध करनेके कारण मरकर नरकमें गया ।

इसके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'वनका मूला पिण्याक गंध मरकर छठे नरकके छल्लक नामके तीसरे पावड़ेमें गया ॥४४७॥
इस प्रकार परिग्रहकी आसक्तिसे फल बतलानेवाला बपीसर्पो कल्प समाप्त हुआ ।

[अब गुण्यतोंका वर्णन करते हैं—]

महापुरुषोंने दिग्भिरति, देशभिरति और जनसंघण्ड विरसिके मेवसे गृहस्थ प्रतिबंधोंके तीन
गुण्यत वसताये हैं ॥ ४४८॥

दिग्भिरति और देशभिरति प्रतीका स्वरूप

"अमुक-अमुक दिक्षामें मैं अमुक-अमुक स्थान तक ही आऊंगा" इस प्रकार जन्म पर्वत-
के किय जो सब दिक्षाओंमें और ऊपर तथा नीचे जानेकी मर्यादा की जाती है उसे दिग्भिरतिजत
कहते हैं । और (दिग्भिरतिके भीतर कुछ समयके किय) का मर्यादा की जाती है कि मैं अमुक
अमुक दिक्षामें देश तक ही आऊंगा, उसे देशभिरति जत कहते हैं ॥ ४४९ ॥

इन प्रतीकोंसे लाभ

इस प्रकार दिक्षाओंका और देशका नियमकर छेनेसे उससे बाहरकी वस्तुओंमें सोम,
उपभोग और हिंसा गौरहके भाव नहीं होते हैं और उसके न होनेसे पिच संस्त होता है
॥४५०॥ जो गृहस्थ प्रयत्न करके इन तीन गुण्यतोंका पाछन करता है वह जहाँ-जहाँ जन्म

१ 'विन्येशानयवृष्टभिरति' । एतत्ता सु ७-२१ । २ 'विन्यक्ष्यं परिमयितं इत्याद्योर्ध्वं
बहिर्नि यास्वाधि । इति संकल्पो विन्यतग्रामपुत्रनुपाधिमिबुस्यै ॥ १८ ॥ —रत्नकरव्याख्या । 'जन्मांशो विभि
रिक्तवान् इत्या वत्परिमावत् । पुनराक्रम्यते गीव प्रथमं तत् पुनरावृत्तम् ॥१९॥ —वराहपुराण । पुनराधि
श्लोक १९७ । अमित या १७९ । ३ अथवेवहिरनुपाधिमिरतिविन्यतामि धारयताम् । पञ्च
महाप्रत्ययविनियमपुस्तकानि प्रपद्यन्ते ॥ ७ ॥ —रत्नकरव्याख्या । पुनराधि १९८ श्लो । —अमित
यति या श्लोक १-७७ ।

आक्षेप्यं लभेतैष यत्र यत्रोपजायते ॥४५१॥
 आशोदेशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यतिक्रमात् ।
 देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाश्रयः ॥४५२॥
 शिखैरिडकुक्कुटश्रेयनविडालव्यालवभ्रवः ।
 विपकण्टकशस्त्राग्निकपापाशकरज्जवः ॥४५३॥
 पापाख्यानाशुभाध्यानहिंसाक्रीडावृथाक्रियाः ।
 परोपतापपैशन्यशोकाक्रन्दनकारिता ॥४५४॥
 वधवन्धनसरोधहेतवोऽन्येऽपि चेदृशाः ।
 भवन्त्यनर्थदण्डाख्या संपरार्यप्रवर्धनात् ॥४५५॥
 पोषणं क्रूरसत्त्वानां हिंसोपकरणक्रियाम् ।
 देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुघोः ॥४५६॥
 अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यतिः ।
 सुहृत्तां सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते ॥४५७॥
 चञ्चनारम्भहिंसानामुपदेशात्प्रवर्तनम् ।

लेता है वहीं-वहीं उसे ऐश्वर्य और हुकूमत मिलती है ॥ ४५१ ॥

दिशा और देशके किये हुए प्रमाणका उल्लघन करनेसे अर्थात् उससे बाहर चले जानेसे दिग्व्रती और देशव्रतीको प्रायश्चित्त लेना पड़ता है ॥ ४५२ ॥

[अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रतको कहते हैं—]

अनर्थदण्डविरति व्रतका स्वरूप

मोर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सोंप, नेवला आदि हिंसक जन्तुओंका पालना, विष, काँटा, शस्त्र, आग, कोड़ा, जाल, रस्सा वगैरह हिंसाके साधनोंको दूसरोंको देना, पापका उपदेश देना, आर्त और रौद्र ध्यानका करना, हिंसामयी खेल खेलना, व्यर्थ इधर-उधर भटकना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना, चुगली करना, रज करना, रोना, अन्य भी इस प्रकारके जो दूसरोंके घातमें बाँधनेमें और दूसरोंको रोक रखनेमें कारण है उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं; क्योंकि उनसे ससारकी वृद्धि होती है—बहुत समय तक ससारमें भटकना पड़ता है ॥ ४५३-४५५ ॥

अपने आचारका पालन करनेमें दक्ष देशव्रती श्रावकको हिंसक प्राणियोंका पोषण तथा हिंसाके उपकरणोंका दान नहीं करना चाहिए ॥ ४५६ ॥ ऊपर बतलाये हुए अनर्थदण्डोंको छोड़नेसे अणुव्रती श्रावक सब प्राणियोंका मित्र और स्वामी बन जाता है ॥ ४५७ ॥ उपदेशसे ठगी, आरम्भ, और हिंसाका प्रवर्तन करना, शक्तितसे अधिक बोझ लादना और दूसरोंको अधिक कष्ट देना आदि

१ दिशा । २ 'मण्डलविडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवा । हितकार्मेन ग्राह्या सर्वे पापोकार-
परा ॥८२॥ -अमितगति० ६-८१ । ३ 'विपकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादि हिंसोपकरणप्रदान हिंसा-
प्रदानम् । -सर्वार्थसि० ७-२२ । 'दण्डपाशविडालाश्च विपशस्त्राग्निरज्जव । परेभ्यो नैव देयास्ते स्वपराघात-
हेतव । छेद भेदवधो वन्धगुहमारतिरोपणम् । न कारयति योऽन्येषु तृतीय तद्गुणव्रतम् ।' -वरागचरित
१५, ११९-१२० । ४ 'पापद्विजयपराजयसगरपरदारगमनचौर्याद्या । न कदाचनपि चिन्त्या पापफल केवल-
यस्मात् ।' -पुरुषार्थसिद्धि० ॥१४१॥ ५ निष्प्रयोजन भूखननादि । ६ ससार । ७ मैत्रीम् ।

भाराधिक्याधिक्येऽपि तृतीयगुणदानये ॥४३८॥

* इत्युपासकस्यैव गुणव्रतत्रयसूत्राणि नाम त्रयसिखारामः कस्य ।

आदौ सामायिक कर्म प्रोपधोपासमक्रिया ।

सेम्योपनियमो वार्त्तं शिक्षामतद्युक्त्यम् ॥४३९॥

आतसेयोपदेशः स्यात्समयः समयाधिनाम् ।

नियुक्तं तत्र परिकर्म तत्सामायिकमूचिरे ॥४४०॥

आतस्योपासनाध्यानेऽपि पुण्यायावृत्तिपूजनम् ।

तत्सम्यग्मुद्रा न किं कुर्याद्विपसामर्थ्यसूत्रेणम् ॥४४१॥

कर्म अनर्घवर्णव्रतको हामि पहुँचाते हैं, अर्थात् इस प्रकारके कामोंके करनेसे अनर्घवर्णव्रतमें दाब लगता है अतः ऐसे काम अनुमती आवश्यक नहीं करना चाहिए ॥ ४४८ ॥

भावार्थ—मन, बचन और कायको दृढ़ करते हैं । और बिना प्रयोजनके उनकी प्रवृत्ति करनेको अनर्घवर्णव्रत करते हैं । तथा उसको रोकनेको अनर्घवर्णव्रत करते हैं । अनुमती आवश्यक देखकी मर्यादाके अन्तर् भी मनसे, बचनसे और कायसे इस प्रकारके काम नहीं करना चाहिए जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हों । मनमें किसीका बुरा नहीं विचारना चाहिए । बचनसे बालसाक्षीका, जीवोंको कष्ट पहुँचानेवाले व्यापारका उपदेश नहीं देना चाहिए और शरीरसे ऐसी चीजें दूसरोंको नहीं देनी चाहिए जिससे दूसरोंका घात किया जा सके या दूसरोंको कष्ट पहुँचाया जा सके । तथा स्वयं भी किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए । ऐसा करनेसे मनुष्य बहुतेरे व्यर्थके पापोंसे बच जाता है और सब उसे अपना मित्र और रक्षक समझने लगते हैं ॥

इस प्रकार उपासकस्यवनमें तीन गुणव्रतोंका कथन करनेवाला वीतीसवाँ अक्ष समाप्त हुआ ।

[अब शिक्षाव्रतोंकी कहते हैं—]

सामायिक, प्रोपधोपास, भोगोपभोग परिमाण और दान य चार शिक्षाव्रत हैं ॥४५१॥

सामायिक व्रतका स्वरूप

बिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेका जो उपदेश है उसे समझ करते हैं और उसमें उसके हस्तुव्रतोंके जो-जो काम बसकाये गये हैं उन्हें सामायिक कहते हैं ॥४६०॥

भूर्तिपूजाका विधान

बिनेन्द्र भगवान्के अमावसे उनकी प्रतिमाका पूजन करनेसे भी पुण्यकर्म होता है । क्या गरुड मुद्रा विष्णुकी सज्जिकी दूर नहीं करती ? ॥ ४६१ ॥

* अब यद्यस्तिष्कचम्पूकाव्यस्य सप्तम आख्यायः समाप्यते अथा—“इति सकलसाहित्यिकोक्तपुत्रावने श्रीमल्लेभिदेवमयवतः शिष्येभ्यः सद्योऽन्यत्राद्यप्यविद्यावरचक्रमर्तिविद्याव्यमिहमीमवचरन्कर्मभेदेन श्रीसोमदेवपुरिषा विरचिते यक्षोत्तरमहाशयविरिते यद्यस्तिष्कपरमात्मि महाकाव्ये सङ्घट्टितविद्यामजितानि सप्तम आख्यायः ।

१ भोपीपधोपसम्भवा । २ आ समयमुत्तिष्ठमुक्तं परम्बावापामावैवभावेन । सर्वत्र न समयाधिका सामयिकं नाम संघटितं ॥१७॥ —रत्नकरच या । ‘समय सर्वभूतेषु संयमः कृमभाषणा । चार्त्तं रीतिपरित्यागस्तद्वि सामायिकं व्रतम् ॥१२२॥—चण्डिकाविरितं १५ सर्ग । ‘रागद्वेषत्वापात्रिभिर्ब्रह्मैवैव साम्यमवकाशम् । उत्थोपकर्मिभूतं बहुधा सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥ —गुणार्त्त । अमित्यप या १-८१ । परमविष्णुवचनं पृ १९३ । १ ‘दीर्घासज्जिबानेऽपि प्रसिद्धा कर्महेतुः । वैगतेऽस्य मुद्राऽपि विषं इति न संशयः ॥१२२॥—प्रबोध । ४ वक्र । ५. अपनीतवम् ।

अन्तःशुद्धिं वहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चने ।
 आद्या^१ दौर्भित्यनिर्मोक्षादन्या^२ स्नानाद्यथाविधि ॥४६२॥
 संभोगाय विशुद्धयर्थं स्नानं धर्माय च स्मृतम् ।
 धर्माय तद्भवेत् स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधिः ॥४६३॥
 नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ।
 यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥४६४॥
 वार्तातपादिसंसृष्टे भूरितोये जलाशये ।
 अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥४६५॥

देवपूजन करनेके लिए अन्तरङ्गशुद्धि और बहिरङ्गशुद्धि करनी चाहिए । चित्तसे बुरे विचारोंको दूर करनेसे अन्तरङ्गशुद्धि होती है और विधिपूर्वक स्नान करनेसे बहिरङ्गशुद्धि होती है ॥ ४६२ ॥

स्नानविधिका विधान

सभोगके लिए, विशुद्धिके लिए और धर्मके लिए स्नान करना बतलाया है । जिसमें परलोकके योग्य विधि की जाती है वह स्नान धर्मके लिए होता है ॥ ४६३ ॥

देवपूजा करनेके लिए गृहस्थको सदा स्नान करना चाहिए । और मुनिको दुर्जनसे छू जानेपर ही स्नान करना चाहिए । अन्य स्नान मुनिके लिए वर्जित है ॥ ४६४ ॥

जिस जलाशयमें खूब पानी हो और वायु, धूप वगैरह उसे खूब लगाती हो उसमें घुस करके स्नान करना उचित है, किन्तु अन्य जलाशयोंका पानी छानकर ही स्नानके काममें लाना चाहिए ॥ ४६५ ॥

भावार्थ—यों तो गृहस्थको पानी छानकर ही काममें लाना चाहिए । किन्तु यदि कोई

१ अन्तःशुद्धिः । 'अन्तरङ्गबहिरङ्गविशुद्धिर्देवतार्चनविधौ विदधेत । आर्तरोद्रविरहात् प्रथमा स्यात् स्नानतः किल यथाविधितो ज्ञः ॥'—धर्मरत्ना० पृ० १०३ उ० । 'मध्यशुद्धिं वहिःशुद्धिं, विदध्यात्तदुपासने । पूर्वा स्यात् स्वान्तर्नैर्मत्यात्परा स्नानाद्यथाविधि ॥ २२३ ॥—प्रबोधसार । "शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मूज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥"—दक्ष और व्याघ्रपाद । २ आर्तरोद्रध्यान । ३ वहिःशुद्धिः । ४ चाण्डाल । ५ 'धर्मवायुकलिते वहत्यगाधवारिभरिते जलाशये । सविगाह्यं तदिहाचरेदतो वस्त्रपूतमपरं समाचरेत् ॥ १४ ॥—धर्मरत्ना०, पृ० १०३ । पापाणोत्स्फुटितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वम् । सद्यः सतप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥६३॥ देवर्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहाधिनाम् । अप्रासुकं परवारि महातीर्थजम्पयद ॥६४॥—रत्नमाला । गालितैर्निर्मलैर्नीरैः समन्त्रेण पवित्रितं । प्रत्यहं जिनपूजार्थं स्नानं कुर्याद् यथाविधि ॥१॥ सरिता सरसा वारि यद्गाधं भवेत् क्वचित् । सुवातातपसंस्पृष्टं स्नानार्हं तदपि स्मृतम् ॥२॥ नभस्वतादृतं श्रावणदीपान्नादितोदितम् । तप्तं सूर्याशुभिर्वाप्या मुनयः प्रासुकं विदुः ॥३॥ —धर्मसं० श्रा० पृ० २१८ । 'नदीषु देवलातेषु तडागेषु सरसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥२०३॥—'मनुस्मृति । 'अपोऽवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम् । मन्त्रवत् प्रोक्षणं चापि द्विजातीनां विशिष्यते ॥—बौद्धायनधर्मसूत्र २-४-४ । 'स्नानं च सर्ववर्णानां कार्यं शौचपुरं सरम् । समन्त्रकद्विजानां स्यात् स्त्रीशूद्राणाममन्त्रकम् ॥ —स्मृत्यर्थसार पृ० २६ ।

पादजानुकदिप्रीयाशिरःपर्यन्तसञ्चयम् ।
 स्नानं पञ्चविधं क्षेत्रे यथावोप शरीरिणाम् ॥४६१॥
 ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्माणः ।
 यथा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमभ्यस्य तद्व्रज्यम् ॥४६२॥
 सद्यौरम्भविद्वन्मस्य ब्रह्मविद्वांस्य वेदिनः ।
 भविष्याथ बह्विभ्यां नितोपास्त्यर्घ्यकारिता ॥४६३॥
 अग्निं शुद्धिं निराकुर्वन्मन्त्रमौषधपरायण ।
 स मन्त्रैः शुद्धिमाह नूनं भुक्त्वा ह्रस्वा विहृत्य च ॥४६४॥
 सूक्ष्मवेद्यकन्या वापि भस्मना गोमयेन च ।
 शैथिल्यं तापप्रकुर्वीत पादभिर्मलता भवेत् ॥४७०॥

मन्त्री वगैरहमें स्नान करना चाहे तो उसका पानी बहुत हुआ होना चाहिए और उस पानीको घूप और हवा खूब लगाना चाहिए । ऐसा पानी स्नानके योग्य है ।

स्नान पाँच प्रकारका होता है—पैर तक, घुटनों तक, कमर तक, गदन तक और सिर तक । इनमें-से मनुष्योंको दोषके अनुसार स्नान करना चाहिए ॥४६६॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकारके आरम्भोंसे विरत है वह इनमें-से कोई-सा भी स्नान कर सकता है किन्तु अन्य गृह स्मोंको तो सिर या गदनसे ही स्नान करना चाहिए ॥४६७॥ जो सब प्रकारके आरम्भोंमें लगा रहता है और ब्रह्मचारी भी नहीं है, उसे बाध शुद्धि किये बिना देवोपासना करनेका व्यवहार नहीं है ॥४६८॥ जो ब्रह्मसे शुद्धि निराकरण करता हुआ केवल मन्त्रपाठमें ही उत्तर रहता है, उसे मोक्षन करके, किसीको मारकर और बिहार करके निरन्तर ही मन्त्रोंके द्वारा शुद्ध हो जाना चाहिये ॥४६९॥

जल मिट्टीसे, ईटसे जलवा राससे या गोबरसे सबतक सफ़ाई करनी चाहिए जबतक निर्मलता न आ जाये ॥४७०॥

१ स्नानं तु विविधं प्रोक्तं बीजमुक्त्यप्रमेकम् । तयोस्तु बाह्यं मुख्यं उत्तुम् पदविषं प्रमेत् ।
 नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मङ्गलयनम् । क्रिया स्नानं तथा पठं बोधा स्नानं प्रकीर्तितम् ।—स्मृति-
 चन्द्रिका पृ ११ । 'ब्रह्मचर्यक्रियायां यत्क्रियाङ्गं स्नानमुच्यते ।—स्मृत्यनुसारं पृ २७ । 'अधिरत्नं
 मन्त्रे स्नानं स्नानाद्युक्ती तु कर्मिणाम् । आर्द्रं वायसा वापि मार्जनं वैदिकं विदुः ॥—अपराधं पृ १३५ ।
 २. ब्रह्मचर्यमभ्यस्य । ३. बस्मातस्तु पुमाणाहो जप्याग्निहवनादियु । प्रातस्नानं तदर्थं च नित्यस्नानं
 प्रकीर्तितम् ।—अपराध पृ १३७ ये छद्मवृत् । स्नात्वा देव स्तुत्येतिह्यं ब्रह्मचर्यविशेषम् । स्नात्वाग्निना सद्यस्तस्य
 निष्करो वैवतो विधिः ॥२९४॥ ब्रह्मचर्योपपन्नस्य तर्षारम्भबहिर्भूते । सोमस्नानं विना शुद्धिर्मन्त्रशुद्धौ हि संभवी
 ॥२९५॥—प्रबोधसार । ४. 'असाधर्म्याच्छरीरस्य काष्ठचर्मवाद्यपेक्षया । मग्नस्नानादित् सप्त वैचरिष्यति
 सूक्ष्मः ॥ मार्जनं भीमं तवाभ्यर्थं वायव्यं दिव्यमेव च । बाह्यं मार्जनं चैव सप्त स्नानाद्यनुकम्पात् ॥ जापो
 द्विष्टादिमिदमर्थं मुदाकथयिष्ये पाणिनयम् । आभ्यर्थं अस्मना स्नानं वायव्यं गौरवम् स्मृतम् ॥ यत् सत्त्वमभ्यर्थं
 तद्विष्यस्नानमुच्यते । बाह्यं वायवाहस्तु मार्जनं विष्णुविष्णुनम् ॥ —स्मृतिचन्द्रिका पृ १३१ । ५. यद्वत्
 कृता (?) ।

वहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचम्य^१ गृहं विशेत् ।
 स्थानान्तरात्समायात सर्वे^२ प्रोक्षितमाचरेत् ॥४७१॥
 आप्लुतः^३ सप्लुतस्वान्तः^४ शुचिवासो विभूषितः ।
 मौनसंयमसम्पन्नः^५ कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥४७२॥
 दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः ।
 असजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥४७३॥
 होमभूर्तबली पूर्वैरुक्तौ भक्तविशुद्धये ।
 भुक्त्यादौ सलिलं सर्पिरुधे^६स्य च रसायन^७म् ॥४७४॥
 एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया ।
 दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनैदिविधानवत् ॥४७५॥
 द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिक. पारलौकिकः ।
 लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः^८ स्यादागमाश्रयः ॥४७६॥

जब बाहरसे घूम कर आये तो विना कुल्ला किये घरमें नहीं जाना चाहिए । दूसरी जगहसे आयी हुई सब वस्तुओंको पानी छिड़ककर ही काममें लाना चाहिए ॥४७१॥

स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहने, फिर शरीरको आभूषणोंसे भूषित करे और चित्तको वशमें करके मौन तथा सयमपूर्वक जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४७२॥ दातौनसे मुख शुद्ध करे और मुखपर वस्त्र लगाकर दूसरोंसे किसी तरहका सम्पर्क न रखकर जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४७३॥

पूर्व पुरुषोंने भोजनकी शुद्धिके लिए भोजन करनेसे पहले होम और भूतबलिका विधान किया है । भोजन करनेसे पहले होम पूर्वक अर्थात् प्राणियोंके उद्देश्यसे कुछ अन्न अलग निकालकर रख देना चाहिए । तथा भोजनके पहले पानी, घी और दूधके सेवनको रसायन कहा है । कुश, पुष्प, अक्षत, स्तवन, वन्दना वगैरह के विधानकी तरह उक्त विधि करनेसे न कोई धर्म होता है और न करनेसे न कोई अधर्म होता है । अर्थात्—ऊपर भोजनकी शुद्धिके लिए जो क्रिया बतलायी है उसके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म नहीं होता है ॥४७४-४७५॥

गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका होता है—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक । इनमेंसे लौकिक धर्म लोककी रीतिके अनुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगमके अनुसार होता है ॥४७६॥

१ 'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च । पोत्वापोऽप्येव्यमाणश्च आचमेत् प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥—मनुस्मृति ५ अ० । 'बहिरागतो नानाचम्य गृहं प्रविशेत् ॥ १३ ॥—नीतिवाक्यामृत पृ० २५२ । 'वहिविहृत्य । स्थानान्तरात् समानीते'—धर्मरत्ना० पृ० १०३ । २ वस्तु । ३ अभ्युक्षित्वा । ४ स्नात । ५ सहृत्चित्तः । ६ मौनसंयमसम्पन्नैर्देवोपास्तिर्विधीयताम् । दन्तधावनशुद्धास्यैधौतवस्त्रपवित्रितं ॥२२६॥—प्रबोधसार । ७ वासोवृत्तानन—सागारधर्मा० पृ० ६३ के पादटिप्पणमें पाठ है । ८. भोजनावसरे किञ्चिदग्नौ किञ्चित् प्राङ्गणेऽग्नौ सिप्यते । 'अव्यापन ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥—मनुस्मृति, ३ अ० । ९ 'घृताघरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टि च लभते ॥३४॥—नीतिवाक्यामृत, पृ० २५३ । १० दुग्धम् । ११ मथितम् । १२ शकुनार्थं वन्द्यते (?) —'स्तोत्र वन्दनादि' पाठ सम्यक् प्रतीत होता है । क्योंकि प्रबोधसार (पृ० १९४) में लिखा है—'पुष्पादि स्तवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम्' । १३ पारलौकिक ।

जातयोऽनाद्यं सर्वास्तत्क्रियापि तथापिधा ।

भुतिः शारयान्तरं चास्तु प्रमाणं कात्र न तति ॥४७३॥

स्यजात्येष विशुद्धानां धर्णानामिह रक्षयत् ।

तत्क्रियायिनियोगार्थं जैनागमयिधि परम् ॥४७८॥

यज्ञयधौगितिगुम्किहेतुधीस्तत्र दुर्लभा ।

ससारव्ययहारे तु स्यतासिद्धे पृथगमा ॥४७९॥

तथा च—

सर्वं पथ हि जैनागं प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्प्रवृत्तानि यत्र न प्रतद्वृत्तम् ॥४८०॥

इत्युपासक्यवने क्षामपिषिर्नाम चतुविंशतमं कल्पः ।

सब बातियाँ बनादि हैं और उनकी क्रिया भी बनादि है। उसमें वेद कबना व शास्त्र प्रमाण रहो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है ॥४७७॥

रत्नकी तरह जो कर्म अपने जन्मसे ही विमुक्त होते हैं उन्हें उनकी क्रियाओंमें लगाने सिर्फ जैनमागमोंका विधान ही उच्छेद है ॥४७८॥ क्योंकि शास्त्रान्तरोंमें संसार भ्रमसे छूटने कारणोंमें मनको लगानेवाले ज्ञानका पाया जाना दुर्लभ है। रहा लौकिक व्यवहार, वह तो सिद्ध है उसको प्रत्यक्षनेके सिर्फ किसी आगमकी आवश्यकता नहीं है ॥४७९॥ तथा सभी जैन धर्मानुयायियोंको वह लौकिक व्यवहार मान्य है जिससे उनके सम्यक्त्वमें हानि न आती और न उनके प्रतीमें वृष्ण लगता हो ॥४८०॥

भाषार्थ—ऊपर ग्रन्थकारने भोजनकी श्रुतिके लिए भोजनसे पहले होम और मूत्रवसि विधान किया है। हिन्दू स्मृति-ग्रन्थोंमें गृहस्थके करने लायक पाँच यज्ञोंमें-से एक मूत्रवस बल्लभ है। कौवा खादि जीवोंके लिए भोजन निकालनेको मूत्रवस कहते हैं, क्योंकि स्मृति कहा है—‘मूत्रेभ्यो बहिर्हरणं मूत्रवसः’। यह हिन्दू स्मृतियोंकी बीच ग्रन्थकारने यहाँ क्यों दी ऐसी संका प्रत्येक पाठकको हो सकती है क्योंकि जैन परम्परामें इस तरहका कोई विधान नहीं है। उसका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कोई धार्मिक विधि नहीं है इसके करनेसे कम नहीं होता और न करनेसे लज्जा नहीं होता। किन्तु यह तो एक लौकिक सिद्धाचार है। गृहस्थका धर्म लौकिक भी होता है और पारलौकिक भी होता है। लौकिक धर्म छोड़के रीति-रिवाजके अनुसार होता है। उसके लिए किसी शास्त्रीय विधानकी आवश्यकता नहीं है। जैसे बातियाँ हमेशासे पक्षी जाती हैं वैसे ही उनके रीति-रिवाज भी हमेशासे बड़े आते हैं। लायक कोई कहे कि उन बातियोंका पक्षी जाता हुआ रीति-रिवाज तो शास्त्रसम्मत है, हिन्दू-स्मृति-ग्रन्थोंमें उनका विधान है। तो ग्रन्थकार कहते हैं कि वह प्रमाण रहो, हमें उससे कोई हानि नहीं है; क्योंकि जो छोकाचार जैनोंके सम्यक्त्वमें हानि नहीं पहुँचाता और न उनके प्रतीमें वृष्ण लगता है वह हमें मान्य है। अतः यदि कोई छोकाचार अन्य शास्त्रोंसे प्रामाण्य है और जैन भी उसे मानते हैं किन्तु उसके मागनेसे न उनके सम्यक्त्वमें हानि आती है और न प्रतीमें वृष्ण लगता है तो उसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु इस छोकाचारके सिवा जो वास्तविक

द्वये देवसेवाधिकृताः संकल्पितास्तपूज्यपरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च । संकल्पोऽपि दलफलोपलादिष्विव न समया^१न्तरप्रतिमासु विधेयः । यतः—

शुद्धे वस्तुनि संकल्प. कन्याजन इवोचितः ।

नाकारान्तरसक्रान्ते यथा परपरिग्रहे ॥४८१॥

तत्र प्रथमै^२न प्रति समयसमाचारविधिमभिधास्यामः । तथा हि—

अर्हन्तनुर्मध्ये दक्षिणतो गणैर्धरस्तथा पश्चात् ।

श्रुतगीः^३ साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृग्वगमवृत्तानि ॥४८२॥

भूर्जे^४ फलके सिचये^५ शिलातले सैकते^६ क्षितौ व्योम्नि ।

हृदये चैते स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥४८३॥

रत्नत्रयपुरस्काराः पञ्चापि परमेष्ठिनः ।

भव्यरत्नाकरानन्दं कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥४८४॥

धर्म है वह तो जैन शास्त्रोंके सिवा अन्य शास्त्रोंमें नहीं पाया जाता । वह वास्तविक धर्म है, संसार-भ्रमणसे छूटनेके जो कारण है उनमें मनका लगना । इस धर्मका सच्चा व्याख्यान तो जैन शास्त्रोंमें ही है और वे ही इस विषयमें प्रमाण है । अतः भोजनके प्रारम्भमें भूतबलिका विधान कोई धार्मिक विधान नहीं है वह तो लोकाचार है । जैन घरानोंमें तवेकी पहली रोटी मन्दिरके माली को देनेकी जो प्रथा है वह शायद उसी लोकाचारका जैन रूप है ।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें 'स्नानविधि' नामका चौतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

देवपूजाकी विधि

देवपूजाके दो रूप हैं—एक तो पुष्प वगैरहमें जिन भगवान्की स्थापना करके पूजा की जाती है और दूसरे, जिन-विम्बोंमें जिन भगवान्की स्थापना करके पूजा की जाती है । किन्तु जिस प्रकार पुष्प फल या पाषाणमें स्थापना की जाती है उस तरह अन्य देव हरि-हरादिककी प्रतिमामें जिन भगवान्की स्थापना नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे शुद्ध कन्यामें ही पत्नीका संकल्प किया जाता है दूसरेसे विवाहितमें नहीं, वैसे ही शुद्ध वस्तुमें ही जिन देवकी स्थापना करना उचित है, जो अन्यरूप हो चुकी है उसमें स्थापना करना उचित नहीं है ॥४८१॥

ऊपर जो दो प्रकारके पूजक कहे हैं उनमेंसे पुष्पादिकमें जिन भगवान्की स्थापना करके पूजा करनेवालोंके लिए पूजाविधि बतलाते हैं—पूजाविधिके शाताओंको सदा अर्हन्त और सिद्ध को मध्यमें, आचार्यको दक्षिणमें, उपाध्यायको पश्चिममें, साधुको उत्तरमें और पूर्वमें सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको क्रमसे भोजपत्रपर, लकड़ीके पटियेपर, चखपर, शिलातलपर, रेत निर्मित भूमिपर, पृथ्वीपर, आकाशमें और हृदयमें स्थापित करना चाहिए ॥४८२-४८३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयसे भूषित और जगत्के लिए चन्द्रमा-के तुल्य पाँचों परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्रको आनन्दित करें ॥४८४॥

१. द्विप्रकारा । २. अन्यदेवहरिहरप्रतिमाविषये जिनसंकल्पो न क्रियते । ३. संकल्पितास्तपूज्यपरिग्रहान् प्रति धर्मोपदेश दास्याम । ४. सिद्ध । ५. आचार्य । ६. उपाध्याय । ७. वस्त्रे । ८. पुलिने ।

ॐ निखिलमुचनपतिविहितमिरतिशयसपर्यापरम्परस्य परामयेकापर्यायप्रवृत्तस
 यांवभोक्तृदोषनकेचलाहामसाम्राज्यकाष्मणपम्भमहाकस्याप्याष्टकमहापातिहार्यचतुस्त्रिंश
 यविरोपविराजितस्य पौडशार्धकृष्णसहस्राद्वितविष्यवेहमाह्वारम्यस्य द्वावृणामप्रमु
 मुनिमनप्रणिधानसंनिधीयमानपरमेष्ठ्यपरमसर्वभाविनामसहस्रस्य विरहितोत्तिरजो
 कमायस्य समपसरणसरोयतीर्णजगत्प्रथयपुण्डरीकपद्ममार्तण्डमप्यहस्य वुष्पाराजैव
 षजलनिमज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य मकिमरविनतयिएपत्रयीपाक्षमीक्षिम
 भोर्गेनमोयिग्रममाणधरण[मक्ष]मक्षत्रनिकुटम्बस्य सरस्यतीयरप्रसादक्षिप्तामणर्ष
 निकेतकक्षपानौकहस्य क्षीर्तिपोर्तिकाप्रघर्षनकामधेनोरधीर्षिपरिषयसलीकारकारणा
 र्ममात्रमन्त्रप्रमाधस्य सौमाम्यसौरभसपावनपारिजातप्रसयस्तबकस्य सौकप्योत्पत्ति
 फेरिकापटमविकटाकारस्य रत्नत्रयपुरासरस्य भगवतोऽहंस्परमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टि
 मीति स्थाहा ।

अपि च—

नरोरगासुराग्मोजविरोधेनरक्षिप्रियम् ।

भारोग्याय मिनाधीशं करोम्यर्चनगोचरम् ॥४८२॥

अहन्तपूजा

समस्त लोकपतियोने जिनकी समाहार परमेष्ठकृष्ट पूजा की है, दूसरोंकी सहाय
 विना समस्त पदार्थोंको देखनेवाले लोचनके मुख्य केवलज्ञानरूपी साम्राज्य जिनका चिह्न
 और जो पाँच महाकस्याणकों, आठ मातिदार्थों और चौतीस अतिशयोक्ते सुखान्ति हैं, जि
 दिव्य औदारिक शरीर एक हजार आठ लक्षणोंसे युक्त है बारह गणोंके प्रमुख महासुख
 परमेश्वर परम सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नामोंका चिन्तन अपने मनमें करते हैं, जो क
 वरण, वरदातावरण, मोहनीय और अन्तरायरूप धातियाकर्मोंसे रहित हैं, जो समवधारण
 सारावरने जाये हुए तीन जगत्के भग्म बीजरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके स
 हैं, जिनके द्वारा उपरिष्ठ परमागम वुष्पार संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणिमोंके लिए द
 वलम्बरूप हैं, मच्छिभारसे विनत हुए तीनों लोकोंके स्वामियोंके मुकुटाकी मणियोंके प्रभावि
 रूपी आकाशमें जिनके चरणनम्ब लिंके हुए नक्षत्र-समूहकी तरह प्रवीत हाते हैं, जो सरस्व
 वरका प्रसाद देनेके लिए चिन्तामणि हैं, लक्ष्मीरूपी सत्राके लिए कल्पवृक्षकृत सुख हैं, क्षीर्ति
 मण्डियाके पोषणके लिए क्षमपेनु हैं जिनके नाम मात्र मंत्रका प्रभाव नरकगतिकी रोगवि
 तिरस्त्र करनेवाला है । सौमाम्यरूपी सुगन्धिका देनेके लिए आ पारिजात वृक्षके पुष्पगुच्छ
 सुख हैं, तथा सौम्यरूपी उत्पत्तिरूपी मणिप्रद्वित पुतलीके निर्माणके लिए जो स्वर्णका
 सुख हैं, रत्नत्रयसे युक्ति उन भगवान् अहन्त परमश्रीकी मैं आठ द्रव्यमें पूजा करता हूँ ।

तथा मैं आरोग्य प्राप्तिके लिए मनुष्य, माग और दैवकी कमलोंके लिए एमकी शोभा
 धारण करनेवाला जिनन्द्र देवकी पूजा करता हूँ ॥४८५॥

१ मन्महाद-आ । २ अरिगोत्र । ३ जो ज्ञानार्थान्तरयप्रथम् । ४ अन्तराय । ५ वृक्ष-
 कातम् । ६ आश्वत्थवृक्षीकाच-मंत्रार । ७ विनागर एव मन्त्र । ८ स्वान । ९ मणिगता । १० अतीवर्ष
 वरितेव सत्र परितप-तपति । ८ धानताप-म् । ९ पुनर्लिका । १० स्वर्णराज्य । ११ मूर्ति ।

ॐ सहचरसमीचीनचा वीचयविचारगोचरोचितहिताहितप्रविभागस्य अतएव पर-
निरपेक्षतया स्वयंभूव. सलिलान्मुक्ताफलमिव उपलादिव च काञ्चनमस्मादेवात्मनः कारण-
विशेषोपसर्पणवशादाचिर्भूतमसिलमलविलयलब्धात्मस्वभावमसंमसहायमक्रममवधीरिता -
न्यसंनिधिव्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपैकनिबन्धनमन्तःप्र -
काशमध्यासितचन्तमनन्तदर्शनवैशद्यविशेषसाक्षात्कृतसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानसुखस्रोतस -
मपर्यन्तवीर्यमचाञ्चुपसूत्रमावभासमसदृशामिनिवेशावगाहमलघुगुरुव्यपदेशमपगतबाधापराका -
रसंक्रममतिविशुद्धस्वभावतया निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च मनाडमुक्तपूर्वावस्थान्तरम -
रूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवनशिरःशेखरायमाणपटं विश्वंभरमुपशान्तसकलससारदोषप्रसरं
परमात्मानमुपेयुषो गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनो-
ऽष्टतयोमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

प्रज्ञाकर्मचिनिर्मुक्ताद्भक्तकर्मविवर्जितान् ।

यत्नतः संस्तुवे सिद्धान् रत्नत्रयमद्वोयसः ॥४८६॥

सिद्धपूजा

जिनका हित-अहितका विवेक एक साथ रहनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-
चारित्रिके विचारके विषयके योग्य है, इसीलिए जो परनिरपेक्ष होनेके कारण स्वयंभू है, जैसे
जलसे मोती और पाषाणसे स्वर्ण प्रकट होता है वैसे ही इसी ससारी आत्मासे विशेषकारणोंके
मिलनेसे जो प्रकट हुआ है, समस्त कर्ममलके नष्ट हो जानेसे जो अपने स्वभावको प्राप्त है,
सहाय रहित, क्रमरहित, अन्यकी निकटता और दूरीको तिरस्कृत कर देनेवाले, सीमारहित, अयत्न-
साध्य, निरतिशय, आत्मस्वरूप ही जिसका एकमात्र कारण है, जो अन्त प्रकाशरूप है, अनन्त दर्शन-
की विशेष निर्मलताके कारण जिसने समस्त वस्तुओंके सारका साक्षात्कार कर लिया है, जो अनन्त
सुखका स्रोत है, अनन्तवीर्यसे युक्त है, चक्षुके अगोचर सूक्ष्म पदार्थोंको जानता है, क्षायिक सम्य-
क्त्व, अवगाहनत्व और अगुरु-लघु गुणोंसे विशिष्ट है, बाधा तथा परके आकार रूप सक्रमण करनेसे
रहित है, अत्यन्त विशुद्ध स्वभाव होनेसे तथा समस्त शारीरिक द्वारोंके हट जानेसे जो पूर्व अवस्थासे
छुटकारा पा चुका है, जो रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शसे रहित है, जिसके चरण समस्त लोकोंके
सिरपर अर्थात् ऊपर मुकुटके तुल्य शोभायमान है, और जिसके समस्त सासारिक दोष उपशान्त
हो गये हैं, ऐसे परमात्मा पदको प्राप्त कर लेनेवाले, और परमगुरु तीर्थङ्कर भी जिन्हें गुरु मानते हैं,
रत्नत्रयसे शोभित उन सिद्ध परमेष्ठीकी मैं आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ ।

पुराने कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हुए और नवीन कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रत्नत्रयसे
महान् उन सिद्धोंका मैं यत्नपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४८६॥

भावार्थ—ऊपर सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप बतलाया है । ससारी आत्मा ही स्वयं कारण
मिलनेपर पहले अर्हन्त पर्यायको प्राप्त करता है और तत्पश्चात् सिद्ध पर्यायको प्राप्त करता है ।

१ मतिश्रुतावधिश्च । २ पूर्वससारिण । ३ आगमन । ४ मसमस—अ० ज० मु० । ५ अभिनिवेश
सम्यक्त्वम् । ६ स्थानम् । ७ परमतीर्थङ्करदेवेन । ८ पुरातन ।

ॐ पूज्यतमस्य उदितोदितकुलशीलगुरुपरम्परोपास्यसमस्तैतिहारहस्यसारस्य अन्त
यनाप्यापनयिर्भोगविमनियमोपनयनार्थक्रियाकाण्डनिष्पातचित्तस्य आतुर्यस्यसंघर्षस्य
मधुरम्भरस्य त्रिदिशात्मकधर्मावबोधनविधौहिक्म्यपेक्षासंघर्षस्य सकलवर्णाश्रमसमयसमा
चारविचारोचितवचनप्रपञ्चमपीच्छिविदलितनिखिलजनतारविम्विनीमिध्यात्ममहामोहान्धकार
पटञ्जस्य ज्ञानतपस्यमावप्रकाशितमिनशासनस्य शिष्यप्रशिष्यसंप्रवाशेपमिव भुवनमुज्ज्वलमुच-
तस्य भगवतो रत्नवयपुरोचरस्याचार्यपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिधि करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

विचार्य सर्वमेतिहासाचार्यकमुपेयुषः ।

आचार्यवर्णानर्थानि संचार्य हव्याम्युजे ॥४८३॥

ॐ श्रीमद्भगवदहम्भनारविन्दविनिर्गतद्राक्शान्त्रयमुदगुर्ध्वकीर्णविस्तीर्णमुतपारत्वार-

चार आतिकर्म नष्ट हो जानेपर आत्मामें अनन्तवशान अनन्तज्ञान आदि गुण पक्क हो जाते हैं । ये परनिरपेक्ष होते हैं, इन्द्रियादिकी सहायताके बिना केवल आत्मासे ही होते हैं तथा सदा स्वामी होते हैं । शेष चार अचातिकर्मोंके नष्ट हो जानेपर शरीर भी कूट जाता है किन्तु मुख्यवत्सामें शरीरके नष्ट होनेपर भी आत्माका भाव कुछ न्यून नहीं आकार बना रहता है, जो पूर्व शरीरका आकार होता है । आत्मा स्वभावसे अमूर्तिक है वत आत्मामें रूप रस गौरव गुण नहीं होते क्योंकि रूपादि पदार्थोंके गुण हैं । इसलिए मुक्तात्मा इन गुणोंसे शून्य होता है और आत्मिक गुणोंसे सम्पन्न होता है । सिद्ध परमेष्ठी तीर्थङ्करोंक भी गुरु होते हैं, क्योंकि तीर्थङ्कर उनकी स्मरणपूर्वक अतिदीक्षा कारण करते हैं, इस साकमें अन्य कोई उनका गुरु नहीं होता ।

आचार्यपूजा

आ अत्यन्त पूजनीय हैं, वति उक्त कुछ धीस्त्राके और गुरुपरम्परासे प्राप्त समस्त शास्त्रोंके रहस्यके ज्ञाता हैं, पटना-पदामा, व्याख्यान, नियम नियम, वीक्षादान आदि क्रियाकाण्डमें जो परम मनीष हैं, मुनि-आर्मिका और आचम-आविकाके नेवसे चार प्रकारके संघर्ष इन्हीं गुरुपरम्परासे है, गृहस्थ और मुनिधर्मके ज्ञानके कारण जो इस छेकसम्बन्धी समस्त सम्बन्धोंसे निरपेक्ष होते हैं, जो समस्त कर्णों और आश्रमोंकी आगमिक क्रियापद्धतिके विचारसे पूर्ण वचनरूपी निरर्थक द्वारा समस्त अनवरूपी कमखिनीके महामिध्यात्म मोहकूपी अन्धकारपटञ्जको दूर करते हैं, अपने ज्ञान और तपके प्रभावसे जिन-शासनको प्रकाशित करते हैं, शिष्य-प्रशिष्य परम्पराके द्वारा समस्त छेकका उद्धार करनेमें उत्तर रहते हैं, रत्नत्रयसे शोभित उन भगवान् आचार्य परमेष्ठीकी मैं जाठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ ।

समस्त शास्त्रोंका विचार करके आचार्य पदको प्राप्त हुए श्रेष्ठ आचार्योंको अपने हृदय-कमलमें विराजित करके पूजा करता हूँ ॥४८४॥

उपाध्यायपूजा

ओ श्रीमान् भगवान् अर्हन्त देवके मुसकमलसे निकले हुए शारद अङ्गो चौदह पूर्वों और

१ उदितोदित-अ अ मु । आत्मापरमपूज्य । २ पठन-नाम । ३ व्याख्यान ।

४ शीतावतारोपचारविधि । ५ त्रिदिशात्मक ।

पारंगमस्य अपारसंपरा^१यारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गमार्गणनिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तै-
कान्तवादमदमपीमलिनपरवादिकरिक्ण्ठीरचोत्कण्ठकण्ठारैव। यमाणप्रमाणनयनि^२क्षेपाण्यो^३ग-
वाग्व्यतिकरस्य श्रवणग्रहणावर्गाहनावधारणप्रयोग^४वाग्मित्वकवित्वगमकशक्तिविस्मापित-
विनतनरनिलिम्पास्वरचरचक्रवर्तिसीमन्तप्रान्तपर्यस्तो^५संस्रक्त्सौरभाधिवासितपादपीठोपक-
ण्ठस्य व्रतविधानं^६वद्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठि^७नोऽष्टतयीमिष्टि
करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपारागमपारगान् ।

उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय^१ श्रुतासथे ॥४८८॥

ॐ चिदित^१वेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरणकरणं^२त्रयविशुद्धिर्त्रिषु^३थगापगाप्रवाहनिर्म-
लितमनोजकुजकुटुम्बाडम्बरस्य अमरास्वरचरनरनितम्बि^४नीकदम्बनदप्रादुर्भूतमदनमदमकर-
न्दुर्दिनविनोदारचिन्दच^५न्द्रायमाणोदितोदितव्रतव्राता^६पहसितार्वाचीनचरित्रच्युत^७चिरिञ्चवि-

अगवाह्योके रूपमें विस्तीर्ण श्रुतरूपी समुद्रके पारगामी होते हैं, जो अपार ससाररूपी महावनसे निकलनेके लिए उपसर्ग-रहित मार्गकी खोजमें लगे हुए शिष्यजनोंके लिए शरणभूत हैं, दुरन्त एकान्तवादरूपी मदकी कालिमासे मलिन परवादी रूपी हाथियोंके लिए प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगसे युक्त जिनका वचनसमूह सिंहकी गर्जनाके तुल्य होता है, श्रवण (सुनना), ग्रहण, मन्थन, अवधारण (याद रखना), प्रयोग, वाग्मित्व (पाण्डित्यपूर्ण वचन बोलनेकी कला), कवित्व और गमक शक्ति (समझाने की शक्ति) के द्वारा आश्चर्ययुक्त किये गये विनत (नमस्कार करते हुए) मनुष्यों, देवों और विद्याधरोंके स्वामियोंके केशोंसे नीचे गिरी हुई मालाओंकी सुगन्धसे जिनके चरणोंके आसनका निकट भाग सुवासित है, और जो व्रतविधानमें निर्दोष हृदय हैं, उन रत्नत्रयसे भूषित भगवान् उपाध्याय परमेष्ठीकी आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ ।

प्रमुख एकान्तवादियोंको हरानेवाले और अपार श्रुत-समुद्रके पारगामी उपाध्याय परमेष्ठीकी मैं पुण्य और श्रुतकी प्राप्तिके लिए उपासना करता हूँ ॥ ४८८ ॥

साधुपूजा

जो कुछ जानने योग्य है उसे जिन्होंने जान लिया है; बाह्य और आभ्यन्तर आचरण पूर्वक मन, वचन, कायकी विशुद्धिरूपी गङ्गानदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामदेवरूपी वृक्षके कुटुम्बके आडम्बरको जड़-मूलसे उखाड़ कर फेंक दिया है, देवाङ्गना, विद्याधरी और नारियोंके समूहरूप नदीमें उत्पन्न हुए काममदरूपी पुष्पमधुसे युक्त विनोदरूपी कमलके लिए चन्द्रमाके तुल्य अपने

१ ससाराटवी । २ शब्दायमान । ३ वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतु प्रमाणम् । ४ प्रमाणपरिगृही-
नार्थकदेशनिरूपणप्रवणो नय । ५ शब्दसकल्पयोग्यतास्वरूपैर्वस्तुव्यवस्थापनहेतुनिक्षेप । ६ सामान्यविशे-
षाभ्यामशेषपदार्थावगमपक्षः अनुयोगः । ७ अवगाहनम्-विमर्शनम् । ८ प्रयोग शास्त्रार्थरूपापनम् । ९ अघ-
पतित । १० व्रतविधावन-व० । ११ उप समीपे अय शुभावहो विधिर्यस्य स उपायः पुण्यमित्यर्थः । पुण्यायं
च । १२ ज्ञाततत्त्वस्य । १३ मनोवाक्काय । १४ गंगा । १५ स्त्रीसमूहहृदोत्पन्न । १६ कमलसकोच-
कारक । १७ शत —समूह । १८ ब्रह्मा ।



तोषमाविष्येन्नोत्तरसस्य अनेकशस्त्रिभुवनलोमविधायिभिर्भ्यान्धैर्यापभूतयिष्यन्मायूह्यैर
नम्यजनसामाभ्यवृत्तिमिममोगोघरातिघरेराभ्यर्च्यप्रमाद्यभूमिमिरनयधारितयिधानैस्तीस्तीमूलोत्त
रगुणप्रामणीमिस्तपःप्रारम्भैः सकलैर्हिकस्तुनसाम्राज्ययत्प्रदानायहितोयातायधारितविस्मि
तोपनतयनवेयतालकाक्षिकुक्षयिस्तुप्यमामरणसरसिहपरारागस्य निर्माणपथनिष्ठितारमनो एव
मपपुरःसरस्य भगवता सधसाधुपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टि करोमीति स्थाह ।

अपि च—

योषापगाप्रवाहेण विष्यातानह्यदय* ।

विष्यारोभ्याद्वय* सन्तु साध्ययोध्याय* साधका ॥४८६॥

ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादितत्यायधारणैर्ग्रथयिज्जितनिरतिशयानि-
नियेशाधिष्ठानास्तु प्रकाशितशुभाप्रकाश्यावहावनकुमवार्तिशब्दोद्गारास्तु प्रथमसंवेगादुक्त्या
स्तिष्यस्तम्भसंभूतास्तु स्थितिकरणोपगृह्यनवास्तस्यप्रभायनोपस्थितोत्सवसपर्यास्तु अनेकवि-
शविशेषनिर्मापितभूमिकास्तु सुकृतिचेतव्यासात्परम्पर्यास्तु इतकीशविहारमपि च चरित्तर्ता-

उत्ततिशोक्त प्रतसमूहसे जिन्होंने चारित्रसे छिगे हुए माधीन प्रज्ञा, विरोचन जादि आपिबोके
चापसरसको तिरस्कृत कर दिया है; अनेक बार तीनों छोकोंको क्षोभित कर देनेवाके, ध्वानकी
स्तिरतासे समस्त बिज्जोके व्यूहको तिरस्कृत कर देनेवाके, असाधारण मनके अगोचर आश्चर्य-
कारक प्रमाववाके और मुख्य तथा उत्तरगुणोंमें प्रमुख नाना प्रकारके तपोंके धम्मसे (क्षुभित
होकर) समस्त इस लोकसम्बन्धी सुखोंके साम्राज्यका हार देनेके लिए जाये हुए और तिरस्कृत
होनेपर आश्चर्यसे नत हुए वनदेवताओंके केशरूपी भ्रमरोंके द्वारा जिनके चरण-कमलका पराग
विक्षुप्त कर दिया गया है; और जो मांसके मार्गमें संलग्न हैं, रत्नत्रयसे भूषित उन सर्व साधु पर
मेष्ठीकी जाठ ध्वजोंसे पूजा करता हैं ।

ज्ञानरूपी नदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामरूपी अग्निको बुझा दिया है और जिनके चरम विधि-
पूर्वक पूजनीय हैं, वे साधु आत्माकी साधनाके लिए होंवे ॥४८६॥

सम्यग्दर्शनपूजा

जिन, जिनागम, जिनधर्म और जिन भगवान्‌के द्वारा कहे हुए तत्त्व ही ठीक हैं, अन्य ठीक
नहीं हैं इस प्रकारकी आस्थासे कहे हुए निरतिशय परिणामस्थानोंसे युक्त, शका, आकांक्षा, विधि
किरसा और मूढ दृष्टिरूपी अक्षयोंसे रहित; प्रथम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यरूपी स्तम्भोंसे
स्थापित, स्थितिकरण, उपगृह्यन, वास्तव्य और प्रमावना सम्बन्धी उत्सवोंके समारोहसे भूषित, और
देवोंके अनेक भेदोंके द्वारा जिसके कक्षोंका निर्माण हुआ है ऐसे पुण्यात्माओंके निष्कल मूलों-
की वृद्धिमें जो क्षीडा-विहार करता हुआ भी निसर्गसे ही महागुणियोंके मनरूपी समुद्रसे परिचित
है, समस्त भरस पेशाकस और विदेह क्षेत्रोंमें हमेशाके चरुवर्ती ब्रह्ममणियों (तीर्थहरो) का कुल

१ तापय । २ विज्ज । ३ अगम्य । ४ साधका । ५ पूजाविधिना जातव्या अहम्य चरका
विषाम् । ६ साम्यो बोध्य जात्या यस्य एव साध्यबोध्यं तस्मै । ७ अयोध-अय्योदयवन्द्येरी जिनदेव एव
जिन एव देव इत्यादि । ८ सर्वेषां सम्यग्मुहीनायमिन्द्राणां परिणामां समाना एव भवन्ति न भूमाविभ्रा ।
९ आकांक्षा विचिकित्सा मूढवृत्ति एतावि वाक्याणि ।

न्महामुनिमनःपयोधिपरिचित श्रेश्ठभरतेरावतविदेहचर्पधरचक्रघर्त्तिचूडामणिकुलदैवतं श्रम-
रेश्वरमतिदेवतावतंसकल्पवल्लीपल्लव श्रम्बरचरलोकहृदयैकमण्डन अपवर्गपुरप्रवेशागण्यपुण्य-
पण्यात्मसात्करणसत्यंकारं अनुल्लङ्घयद्वैरघघनघटादुर्दिनेष्वपि जन्तुषु ज्योतिर्लोकदिगतिगर्त-
पातनतमस्काण्डभेदनमामनन्ति मनीषिणः, तस्य समारपाटपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमङ्ग-
लविधायिन पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्याष्टतयीमिष्टि करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं युक्तिश्रीचक्षुरीचनम्^१ ।

भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं भुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥४६०॥

ॐ यन्निखिलभुवनतार्तीयलोचनम्, आत्महिताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादि-
तसमीचीनभावम्, अधिगमसम्यक्स्वरत्नोत्पत्तिस्थानम्, अखिलास्वपि दशासु क्षेत्रज्ञस्वभा-
वसाम्राज्यपरमलाञ्छनम्, अपि च यस्मिन्निर्दानीमपि नदीस्नातचेतोभिः सम्यगुपाहितोर्पयो-

देवता है; देवेन्द्रोंकी बुद्धिदेवताको भूषित करनेके लिए कल्पलताके पल्लवके समान है, विद्याधरोंके हृदय-
का अद्वितीय भूषण है, मोक्षपुरीमें प्रवेश पानेके लिए जिस असंख्य पुण्यरूपी मुद्राकी आवश्यकता
होती है, उसके होनेका जो प्रमाणपत्र है, जिसे शास्त्रज्ञ गण अटल महापापरूपी मेघोंकी घटासे ग्रस्त
जीवोंके भी ज्योतिर्लोक आदि गतिरूपी गड्ढोंमें गिरानेवाले पापरूपी अन्धकारके पटलका भेदन करने
वाला मानते हैं, अर्थात् पापी-से-पापी जीवको भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर प्रथम नरकके
सिवाय शेष नरकों और भवनत्रिक देव निकाय आदिमें जन्म लेना नहीं पड़ता. उस ससाररूपी
वृक्षको काटनेमें प्रथम कारण, समस्त मङ्गलोंके विधाता और पञ्चपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान्
सम्यग्दर्शनकी आठों द्रव्योंसे पूजा करता हैं ।

जो मुक्ति लक्ष्मीरूपी लताका मूल है, युक्ति लक्ष्मीरूपी बेलके लिए जलके तुल्य है
और जिससे भोग मामग्री प्राप्त होती है उस चिन्तामणिको देनेवाला है, उस सम्यग्दर्शनकी मैं
भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ ॥ ४६० ॥

सम्यग्ज्ञानपूजा

जो समस्त लोकोंका तीसरा नेत्र है, या समस्त लोकोंको देखनेके लिए तीसरे नेत्रके तुल्य
है (क्योंकि ज्ञानके द्वारा ही सब जगत्को जाना जा सकता है), आत्माके हित-अहितके विवेक
पूर्वक ठीक-ठीक जाननेके द्वारा ही जिसे समीचीनपना प्राप्त है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको
वैसा ही जानने मात्रसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता किन्तु आत्माके हिताहितको विवेकपूर्वक यथार्थ
जाननेसे ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है; जो अधिगम सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी उत्पत्तिका स्थान है
(क्योंकि परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वोंको जानकर जो सम्यक्त्व होता है उसे अधिगम सम्यग्दर्शन
कहते हैं), सब दशाओंमें आत्मस्वभावरूपी साम्राज्यका उत्कृष्ट चिह्न है अर्थात् जीवकी प्रत्येक
अवस्थामें ज्ञान ही उसका उत्तम चिह्न है उसीके द्वारा जीवको जाना जाता है; तथा आज भी
सरस्वती रूपी नदीमें स्नान करनेसे जिनके चित्त निर्मल हो गये हैं ऐसे विद्वानोंके द्वारा सम्यक् रूप
से अपने उपयोगको विशुद्ध कर लेनेपर उनके ज्ञानमें सूर्यकान्तमणिके दर्पणकी तरह स्वभावसे ही

१ पाप । २ जलम् । ३ भुक्तिरेव चिन्तामणि (?) । ४ तृतीय । ५ ज्ञाने । ६ न केवल
केवलना तीर्थ । ७. सरस्वत्या स्नातचित्तैर्विद्वद्भिः । ८ आरोपित । ९ ज्ञान ।

गसमार्गमे धूमणिमेजिर्वर्ण इय साक्षान्नयन्ति ते ते माधैर्कसंप्रत्ययाः स्वमोयद्येवधमबहि-
प्रकां पिण्डोऽपि माधास्तस्यां त्मसामनिबन्धनोमयहे^१ तुयिहितयिचित्रपरिणतिभिर्मतिभूता-
वधिमनःपर्ययकैयैः पञ्चतयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिना पञ्चपरमेष्ठिपुर-
सरस्य भगवतः सन्मन्त्राजितस्यप्राप्तयीमिष्टिं करोमीति स्याद्वा ।

अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके सूर्यं भीसीधसाधने ।

पात्रं पूजायिणेः कुर्ये शेषं सध्याः समागमे ॥४१॥

ॐ यत्सकललोकास्त्रोकावलोकाप्रतिवचकाङ्गकारयिष्यसम्पू, अनवधविधाम्ना
किमीनिदानमेदिनीधैरम्, अरोपसत्त्वोत्सवामन्त्रबन्धोक्त्यम्, अखिलमतगुप्तिसमितिलताराम-
पुष्पाकर्तृसमयम्, अनल्पफलप्रदायितपाक्यद्रुमसमयभूमिमरुमयोपशमसीमनस्यवृत्तिषेर्ष-
प्रधानैरनुष्टीयमानमुशन्ति सखीधनाः परमपद्माभिः प्रथममिध सोपानम्, तस्य पञ्चतयीत्मा
सर्वोक्ते^२ पोपशमतिशयावसानस्य सकलमङ्गलविधायिना पञ्चपरमेष्ठिपुरसरस्य भगवतः

सूक्ष्म परमाणु धौरह, क्षेत्रकी अपेक्षा दूरवर्ती सुमेरु धौरह और काष्ठीकी अपेक्षा दूरवर्ती राम, राक्ष-
आदि स्वात्माके द्वारा अनुमनीय पद्माव प्रत्यक्ष गोचर प्रतीत होते हैं; यह ज्ञान यद्यपि एक है
किन्तु अपनी उत्पत्तिके अन्तरज और बहिरज कारणोंसे होनेवाली विभिन्न परिणतिके द्वारा मति,
श्रुत, अवधि मन पर्यय और केवलज्ञानके भेदसे उसकी पाँच अवस्थाएँ हो गयी हैं, उस समस्त
मगलोंके कर्ता और पंचपरमेष्ठिके पुरस्कर्ता भगवान् सन्मन्त्रानकी आठ द्वन्द्वोंसे पूजा करता है ।

जो हित और अहितको देखनेमें नेत्रके समान है बुद्धिरूपी महात्मको साधनेमें सूक्ष्म
(जिससे मापकर मकान बनाया जाता है) समान है तथा कस्मीके समागमके स्थि क्षेत्रके समान
है, उस सन्मन्त्रानकी मैं पूजाविधिका पात्र बनाता हूँ अर्थात् उसकी मैं पूजा करता हूँ ॥४१॥

सम्पूजचारित्रपूजा

जो समस्त लोक और जलोके देखनेमें रुकावट डालनेवाले अज्ञानान्धकारको नष्ट कर
देता है, निर्दोष विद्या (ज्ञान) उषी गङ्गाके उद्गमके स्थि हिमाचलके समान है अर्थात् जैसे
हिमाचलसे गङ्गा निकलती है वैसे ही चारित्रकी आराधनासे निर्मलज्ञान प्रकट होता है; जो समस्त
प्राणिबोके आनन्दके स्थि चन्द्रोदयके समान है, अर्थात् जैसे चन्द्रमाका उदय होनेपर सबको
आनन्द होता है वैसे ही चैकि चारित्र सब जीवोंकी रक्षाका फलदायी है अतः उसके स्थि
आनन्ददायक है, समस्त मत गुप्ति और समितिरूपी कलाओंके उद्यानके स्थि वसन्त ऋतुके
समान है अर्थात् जैसे वसन्त ऋतुमें उद्यानोंमें कमी कटाएँ पुष्पित हो जाती हैं वैसे ही चारित्रके
आराध करनेपर कलादि भी सिद्ध उठते हैं; जो बहुत फल देनेवाले तपस्वी कल्पवृक्षका उत्पत्ति
स्थान है गर्वहिन प्रसममात्र मनकी सौम्यता और धीरता आदिके द्वारा पाठ्य किमे जानेवाले
ऐसे चारित्रको निर्मल बुद्धिके पत्नी महात्मा मोक्षपदकी प्राप्तिका प्रथम सोपान (सीढ़ी) मानते
हैं । सामायिक, छेद्रोपस्थापना परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साङ्गराय और यथाकृपात चारित्रिक भेदसे

॥ पूर्वकालमुद्धरे । २ स्वात्मानुबन्धीया बीबाधिरुधार्पा । ३ केचन पावा स्वयमेव दुरा
केचन क्षेत्रोक्त्या दुराः केचन काष्ठीपेक्षा । ४ दूरतया । ५. सम्पूजनस्य । ६ अन्तरंगी आराधन ।
७ केचनज्ञानहिमाचलम् । ८. वसन्त । ९. अवर्ष । १ सामायिकादिपञ्चप्रकारस्य । ११ मनोवाक्य-
प्रत्यापारधमपर्यन्तस्य ।

सम्यक्चारित्ररत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

धर्मं योगिनरेन्द्रस्य कर्मवैरिजयार्जने ।

शर्मकृत्सर्वसत्त्वानां धर्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥४६२॥

जिनसिद्धसरिदेशकसाधुश्रद्धानवोधवृत्ता^१ नाम् ।

कृत्वाष्टतयीमिष्टिं विदधामि ततः स्तवं युक्तया ॥४६३॥

तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः श्रद्धानमुक्तं जिनै-

^२रेतद्विद्विदशप्रभेदविषयं व्यक्तं चतुर्भिर्गुणैः ।

अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं मूढैरपोढ त्रिभि-

श्चित्ते देव दधामि संस्तुतिलतोऽज्ञासावसानोत्सवम् ॥४६४॥

ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरा ज्यो ज्ञानानि सञ्चिन्वतां

वित्तं वा चितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः ।

एषा येषु न विद्यते तच्च वचः श्रद्धावधानोद्धुरा

दुष्कर्माङ्गुलकुञ्जवज्रदहनघोतावदाता रुचिः ॥४६५॥

पाँच भेदरूप किन्तु समस्त मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाका अत्यन्त शान्त हो जाना ही जिसकी चरम सीमा है उस समस्त मङ्गलोंके कर्ता और पञ्चपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान् सम्यक्-चारित्रकी आठ द्रव्योंसे पूजन करता हैं ।

जो योगीरूपी राजाके कर्मरूपी वैरियोंको जीतनेमें धनुषके समान है तथा सब प्राणियोंको सुख देने वाला है, मै धर्म बुद्धिसे उस चारित्रकी शरण जाता हूँ ॥४६२॥

इस प्रकार अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अष्टद्रव्यसे पूजन करके मै इनका युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४६३॥

सम्यग्दर्शनकी भक्ति

[सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनकी भक्ति इस प्रकार करे—]

जिनेन्द्र देवने तत्त्वोंमें मनकी अत्यन्त रुचिको सम्यग्दर्शन कहा है । इस सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद बतलाये है । तथा प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणके द्वारा सम्यक्त्वकी पहचान होती है । उसके नि शंकित, नि काक्षित आदि आठ गुण है । वह तीन प्रकारकी मूढ़तासे रहित होता है । हे देव ! ससार रूपी लताका अन्त करनेवाले और तीनों लोकोंमें पूज्य उस सम्यग्दर्शनको मै अपने हृदयमें धारण करता हूँ ॥४६४॥

हे देव ! जिनकी आपके वचनोंमें एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो रुचि दुष्कर्म रूपी अकुरोंके समूहको भस्म करनेके लिए वज्राग्निके प्रकाशकी तरह निर्मल है, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करें और कितना ही दान दें, फिर भी जन्म परम्परा का छेदन नहीं कर सकते ॥४६५॥

१ धर्मयोगि-अ० ज० मु० आ० । २ बोधरत्नानाम् आ० मु० । ३ नैस्तत्त-अ० ज० ।
निसर्गाधिगम-उपशम-क्षाधिक-मिश्र, आज्ञामार्गादि । ४ उपशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ।

ससाराम्बुधिसेतुष्वभ्रमसमप्रारम्भलक्ष्मीयन
 प्रोक्तासामृतधारिणाहमलिलत्रैलोक्यचिन्तामणिम् ।
 कल्याणाम्बुजपण्डुर्नभयसरः सम्यक्त्वरेण हृत्पी
 यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुखमाः स्वर्गापवर्गाभियः ॥४६९॥
 [इति दर्शनमन्त्रः]

अप्यहपापतिरक्षजा मतिरिष वोधोऽप्यभिः साधभिः
 साम्प्रयः कचिद्वय योगिनि स च स्वस्यो मनःपर्ययः ।
 पुष्पाप पुनरप केवलमिव ज्योतिः कयागोचरं
 माहात्म्यं मिलिलौचने ॥ सुखमे किं वर्णयामा भुक्ते^१ ॥४७०॥
 यद्देये गिरस्ता घृतं गणधरैः कर्णापतंसीहृतं
 म्यस्त चेत्तसि योमिभिर्नृपधरैराब्रातसारं पुनः ।
 हस्ते दक्षिणये मुक्ते च निहितं विधाधराधीश्वरै
 स्तस्यात्ताम्रसरोरुह मम मनोहसस्य भूयाम्बुदे ॥४७१॥
 मिथ्यातमपटलमेवमकारणाय स्वगापथर्गपुरमागनिषोद्यनाय ।
 तत्तत्स्थमायममना प्रणमामि नित्यं त्रैलोक्यमङ्गलकराय त्रिनागमाय ॥४७२॥
 [इति ज्ञानमन्त्रः]

हे नाथ ! संसार रूपी समुद्रके सिध सेतुबन्धके समान, जन्मसे उत्पन्न होने वाले रत्नरत्न रूपी वनक विकासक सिध अमृतक मेघक समान सीमों छोड़ोंक सिध चिन्तामणि रत्नके समान और कल्याण रूपी कमल समूहको उपचितक सिध गलाबक तुल्य, सम्यक्स्वरूपी रत्नको आ पुण्यात्मा हृदयमें धारण करता है उसे स्वयं और मागरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति सुखम है ॥४६९॥

सम्यग्ज्ञानकी मक्ति

इन्द्रियोमें उत्पन्न होने वाले मतिज्ञानका विषय बहुत थोड़ा है । अबविज्ञान भी इन्द्र क्षेत्र काय और भावकी मयादाका स्वरूप वस्तु रूपी वदार्थोंका ही विषय करता है । मनःपर्ययका भी विषय बहुत थोड़ा है और वह भी किसी मुनिक हा जाय वा आशय ही है । कवचज्ञान मदान् है किन्तु उसकी प्राप्ति इस कालमें सुखम नहीं है । एक अनुज्ञान हो गया है आ समस्त वदार्थोंका विषय करता है और सुखम भी है, उसकी हम क्या वर्णता करें ॥ ४७० ॥

त्रिम त्रिनेन्द्र टबन सिम्हर धारण किया गणधरान् अपन कानका मूषा बनाया, मुनियों ने अपन हृदयमें रखा, गजराजान त्रिमका साह ग्रहण किया और विधाधरोंक स्नामिपान करने दास्ये, आत्मिक मामने और सुखमें स्थापित किया वह म्याद्वाद्गुन सभी कमल धरे मानमरूपी हमकी प्रमत्तताक सिध है ॥४७१॥

जागममें वह दुष्ट तरबोकी मयमें भावना करता हुआ मैं मिथ्यात्व रूपी कल्पकारक पाण्डका दूर करनवास और स्वयं और मया मगरका माग वदार्थोंके वस्तु तथा तानों म'छेक सिध दास्यकारक तीन अ मयका मया मयकार करता है ॥४७२॥

ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात्स्वस्य खेदावहं
 धत्ते साधु न तत्फलश्रियमयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः ।
 कामं देव यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमय-
 स्तस्मै त्वच्चरिताय संयमदमध्यानादिधाम्ने नमः ॥५००॥
 यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः
 श्रीपाणिग्रहकौतुकं^१ कुलवलारोग्यागमे संगमः ।
 यत्पूर्वैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं
 तच्चारित्रमहं नमामि विविध स्वर्गापवर्गाप्तये ॥५०१॥
 हस्ते स्वर्गसुखान्यतर्कितभवास्ताश्चक्रवर्तिश्रियो
 देवाः पादतले लुठन्ति फलति द्यौः कामितं सर्वतः ।
 कल्याणोत्सवसम्पदः पुनरिमास्तस्यावतारा लये
 प्रागेवाचतरन्ति यस्य चरितैर्जनैः पवित्रं मनः ॥५०२॥

[इति चारित्रभक्तिः]

धोधोऽवधिः श्रुतमशेषनिरूपितार्थमन्तर्वह्नि करणजा सहजा मतिस्ते ।

इत्थं स्वतः सकलवस्तुविवेकबुद्धेः का स्याज्जिनेन्द्र भवतः परतो व्यपेक्षा ॥५०३॥

चारित्र भक्ति

[इस प्रकार ज्ञानकी भक्ति करके फिर चारित्रकी भक्ति करे—]

जिसके बिना अभागे मनुष्यके शरीरमें पहनाये गये भूषणोंकी तरह ज्ञान खेदका ही कारण होता है, तथा सम्यक्त्व रत्नरूपी वृक्ष ज्ञानरूपी फरुकी गोभाको ठीक रीतिसे धारण नहीं करता, और जिसके न होनेसे बड़े-बड़े तपस्वी ग्रष्ट हो गये, हे देव ! सयम, इन्द्रियनिग्रह और ध्यान वगैरहके आवास उस तुम्हारे चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५००॥

जो इच्छित वस्तुओंको देनेके लिए चिन्तामणि है, सौन्दर्य और सौभाग्यका घर है, मोक्षरूपी लक्ष्मीके पाणिग्रहणके लिए ककणबन्धन है और कुल, वल और आरोग्यका सगमस्थान है अर्थात् तीनोंके होनेपर ही चारित्र धारण करना समभव होता है, और पूर्वकालीन योगियोंने मोक्षके लिए जिसे धारण किया था, स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिए उस पाँच प्रकारके चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५०१॥

जिसका मन जैनाचारसे पवित्र है, स्वर्गके सुख उसके हाथमे है, चक्रवर्तीकी विभूतियों अकस्मात् उसे प्राप्त हो जाती हैं, देवता उसके पैरोंपर लोटते हैं, जिस दिशामें वह जाता है वही दिशा उसके मनोरथको पूर्ण करती है और जहाँ वह जन्म लेता है उसके जन्म लेनेसे पहिलेसे ही वहाँ कल्याणक उत्सव मनाये जाते हैं ॥५०२॥

अर्हन्त भक्ति

[इस प्रकार चारित्र भक्तिको करके फिर अर्हन्त भक्तिको करे]

हे जिनेन्द्र आपको जन्मसे ही अन्तरंग और बहिरंग इन्द्रियोंसे होनेवाला मतिज्ञान, समस्त कथित वस्तुओंकी विषय करनेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, इस प्रकार आपको स्वतः ही सकल वस्तुओंका ज्ञान है तब परकी सहायताकी आपको आवश्यकता ही क्या है ? ॥५०३॥

ध्यानायलोकधिलक्षितमिरपताने तां देव केवलमयीं धियमावधाने ।
 आसीत्स्वयि त्रिभुवन मुहुरस्सपाय व्यापारमन्थरमिषैकपुर महाय ॥२०४॥
 दृष्टं वधामि किमु धामरसुरिदपामि हेमाम्बुजाम्यथ जिनस्य पदेऽर्पयामि ।
 इत्थ मुदामरपतिः स्वयमेव यत्र सेषापरः परमह किमु वक्षि तत्र ॥२०५॥
 त्व सर्वदोषरहितः सुनयं वधस्ते सत्यानुकम्पनपरः सखली विधिभिः ।
 लोकास्तथापि यवि मुप्यति न त्वयीश कर्मास्य तच्चतु रयायिष कीशिकस्य ॥२०६॥
 पुष्यं त्वदीयधरणाजैगपीठसङ्गाध्वुडामणीमयति देव अगस्त्यस्य ।
 वस्यस्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुशास्तु रबीस्वेराधैः ॥२०७॥
 मिष्यामहाग्न्यतमसाधूतमप्रधोषमेतत्पुर अगवभूजवर्गर्तपाति ।
 तदेव दृष्टिदयाभ्यविकासकाम्यैः स्याद्वायवैरिमिरयोधुपूतवांस्त्वमेव ॥ २०८॥
 पादाम्बुद्वयमिव तव देव यस्य स्वच्छे मगासपतिं धर्मिहितं समास्ते ।
 त भीः स्वयं भजति तं नियतं वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥२०९॥

[इत्यहंजिक]

हे देव । ध्यानरूपी मकाशके द्वारा अज्ञानरूपी अन्यकारका कैस्वय दूर होनेपर वन आपने केवलज्ञानरूपी कस्मीको धारण किया तो तीनो लोकोंने अपना अपना काम छोड़कर एक नगरकी तरह महान् उत्सव किया ॥५०४॥

‘अत्र समार्कं या चमरं दोर्कं अथवा जिनदेवके चरणोंमें स्वर्णफल अर्पित करें’ इस प्रकार अहाँ इन्द्र स्वयं ही इर्षित होकर सेवाके लिय उत्तर हैं वहाँ मैं क्या कहूँ ॥५०५॥

हे देव ! तुम सब बोधोसे रहित हो, तुम्हारे वचन सुनयरूप हैं—किसी वस्तुके विषयमें इतर दृष्टिकोणोंका निराकरण न करके विषयित दृष्टिकोणसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं । तथा तुम्हारे द्वारा वक्तव्यी गयी सब विधि माम्भियोंक प्रति दयाभाक्से पूर्ण है । फिर भी स्नेह यदि तुमसे सम्बुद्ध नहीं होते तो इसका कारण उनका कर्म है । जैसे उल्लूको सूर्यका तेज पसन्द नहीं है किन्तु इसमें सूर्यका दोष नहीं है बल्कि उल्लूके का कर्मोंका दोष है ॥५०६॥

हे देव । तुम्हारे चरणोंकी पूजाके लिय तुम्हारे आगे जो बेदी रहती है उसके संसर्ग मात्रसे फूल तीनो लोकोंके मस्तकका भूषण बन जाता है अर्थात् उस फूलको सब अपने सिरसे लगाते हैं । और दूसरोंके सिरपर भी रसा हुआ फूल अस्पृश्य माना जाता है । अब अन्य सूर्य स्वभावि देव-राजोसे तुम्हारी क्या समानता ? ॥५०७॥

हे देव । पहले मिष्यास्वरूपी गाढ़ अन्यकारसे आच्छादित होनेके कारण ज्ञानसूत्र होकर यह अगत संसाररूपी गड़ेमें पड़ा हुआ था । नेत्र कमल और हृदय-कमलको विकसित करनेवाली स्याद्वायरूपी किरणोंके द्वारा तुमने ही उसका उद्धार किया ॥५०८॥

हे देव । जिसके मनरूपी स्वच्छ सरोवरमें तुम्हारे दोनों चरणकमल विराजमान हैं उसके पास कभी-भी स्वयं आती है तथा स्वर्ग और मोक्षको देनेवाली यह सरस्वती निबन्धसे उसे वरण करती है ॥५०९॥

[इस प्रकार अहंजिकोंके करने सिद्ध भक्ति को करे]

सम्यग्ज्ञानत्रयेण^१ प्रविदितनिश्चितलक्ष्यतत्त्वप्रपञ्चाः

प्रोद्भूय ध्यानवातैः सकलमघरजःप्राप्तकैवल्यरूपाः ।

कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये

ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥५१०॥

दानज्ञानचरित्रसयमनयप्रारम्भगर्भं मनः

कृत्वान्तर्बहिरिन्द्रियाणि मरुतैः संयम्य पञ्चापि च ।

पश्चाद्वीतविकल्पजालमखिलं भ्रस्यत्तमःसतर्ति

ध्यानं तत्प्रविधाय ये च मुमुक्षुस्तेभ्योऽपि बद्धोऽञ्जलिः ॥५११॥

इत्थं येऽत्र समुद्रकन्दरसरःस्रोतस्विनीभूतभो-

द्वीपाद्रिद्रुमकाननाविषु धृतध्यानावधानर्द्धयः ।

कालेषु त्रिषु मुक्तिसगमजुषः स्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपै-

स्ते रत्नत्रयमङ्गलानि ददतां भव्येषु रत्नाकराः ॥५१२॥

[इति सिद्धभक्तिः]

भौमव्यन्तरमर्त्यभास्करसुरश्रेणीविमानाश्रिताः

स्वर्ग्योतिःकुलपर्वतान्तरधरारन्ध्रप्रवन्धस्थिताः ।

सिद्ध भक्ति

जिन्होंने अपनी छद्मस्थ अवस्थामें मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा सब ज्ञेय तत्त्वोंको विस्तारसे जाना फिर ध्यानरूपी वायुके द्वारा समस्त पापरूपी धूलिको उड़ाकर केवलज्ञान प्राप्त किया; फिर इन्द्रादिकके द्वारा किये गये बड़े उत्सवके साथ सर्वत्र विहार करके जीवोंका उपकार किया; तीनों लोकोंके ऊपर विराजमान वे सिद्ध परमेष्ठी हम सबकी सिद्धिमें सहायक हों ॥५१०॥

मनको दान, ज्ञान, चारित्र, सयम आदिसे युक्त करके और अन्तरग तथा बहिरग इन्द्रियों और प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचों वायुओंका निरोध करके फिर अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट करनेवाले निर्विकल्प ध्यानको करके जो मुक्त हुए उन्हें भी मैं हाथ जोड़ता हूँ ॥५११॥

भावार्थ—पहले जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार किया है । इसमें जो सामान्य जन सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार किया है ।

इस प्रकार समुद्र, गुफा, तालाब, नदी, पृथ्वी, आकाश, द्वीप, पहाड़, वृक्ष और वन वगैरहमें ध्यान लगाकर जो अतीत कालमें मुक्त हो चुके, वर्तमानमें मुक्त हुए हैं और भविष्यमें मुक्त होंगे, तीनों लोकोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य वे भव्यशिरोमणि हमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मङ्गलको दें ॥५१२॥

[इस प्रकार सिद्धभक्ति समाप्त हुई ।]

चैत्य भक्ति

[फिर चैत्य भक्ति करे—]

भवनवासी और व्यन्तरोके निवासस्थानोंमें, मर्त्यलोकमें, सूर्य और देवताओंके श्रेणी विमानोंमें,

१. छद्मस्थावस्थायाम् । २ वातान्—प्राणापानव्यानोदानसमानान् । ३. व्यानावधानमेव ऋद्धि ।



यन्ने तत्पुरपाशमौलिविससत्रत्नप्रदीपाशिताः

साम्राज्याय जिनेन्द्रसिखगणसुत्स्थाभ्यायिसाध्याहृतीः ॥५१३॥

[इति वैश्यमणि]

समवसरणैवासान् मुक्तिरूपमीयितासान्

सकससमयनोधान् वाक्पयिषोसमाधान् ।

मयमिर्गलैयिनाशोद्योगयोगप्रकाशान्

निरुपमगुणमावान् संस्तुवेऽहं क्रियावान् ॥५१४॥

[इति पञ्चगुरुमणि]

मयदुग्धानलशोन्तिधैर्मासुतधर्ममनितजमशान्तिः १

शिवशर्मासकप्रप्तिः शान्तिकृत् स्ताखिनः शान्तिः ॥५१५॥

[इति शान्तिमणि]

मनोमात्रोचितायापि यः पुण्याय न वेष्टे ।

इदामस्य कथं तस्य कृतार्थाः स्युर्मनोरथाः ॥५१६॥

स्वर्गलोकमें, उमातिषो देवोंके विमानोंमें, कुम्भजोंपर पाताल काक तथा गुफाओंमें जा बहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेश्वरीकी प्रतिमाएँ हैं, किन्हीं उन स्थानोंके रक्षक अपने मुकुटोंमें बड़े हुए रत्न रूपी वीरकोंसे पूजते हैं, मैं साम्राज्यके लिए उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥५१३॥

[इस प्रकार वैश्य मणि समाप्त हुई ।]

पञ्चगुरु मणि

[छिद्र पञ्च गुरुओंकी मणि करे—]

समकक्षरणमें विराजमान ज्वहन्तोंको मुक्तिरूपी लक्ष्मीसे आर्क्षित सिद्धोंको, समस्त शास्त्रोंके पारगामी आचार्योंको, श्रद्धाशास्त्रमें निपुण उपाध्यायोंको और संसार रूपी कल्पनका विनाश करनेके लिए सदा उद्योगशील, योगका प्रकाश करनेवाले और अनुपम गुणवाले साधुओंको क्रिया कर्ममें उद्यत मैं नमस्कार करता हूँ ॥५१४॥

[इस प्रकार पञ्चगुरुकी मणि करके छिद्र शान्ति मणि करे—]

शान्ति मणि

संसारके दुःखरूपी अग्निका ध्वान्त करनेवाले, और धमामृतकी वषा करके जनशर्म शान्ति करनेवाले तथा मोक्षसुखक विजोको ध्वान्त—नाश कर देनेवाले शान्तिनाथ भगवान् शान्ति करें ॥५१५॥

जो केवल मामसिद्ध संकल्पसे होने योग्य पुण्यकर्मके लिए भी प्रयत्न नहीं करता, उस हताश मनुष्यके मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकने दें ? ॥ ५१६ ॥

[छिद्र आचार्य मणि करे—]

१ उपाध्याय । २ ज्वहन्त । ३ सिद्धान्त । ४ सूरी । ५ उपाध्यायान् । ६ लक्ष्मी । ७ साधु ।

८ क्रियानुचन । ९ विद्याधर्म विप्यति । १० दीपम् ।

येषां तृष्णातिमिरभिदुरस्तत्त्वलोका^१ वलोकात्
 पारेऽवारे^२ प्रशमजलधेः सगवार्धेः परेऽस्मिन् ।
 बाह्यव्याप्तिप्रसरविधुरश्चित्तवृत्तिप्रचार-
 स्तेषामर्चाविधिषु भवताद्वारिपूरः श्रिये वः ॥५१७॥
 दूरारूढे प्रणिधितरणावन्तरात्मास्वरेऽस्मिन्-
 ज्ञास्ते येषां हृदयकमलं मोदनिस्पन्दवृत्तिः ।
 तत्त्वालोकावगमगलितध्वान्तवन्धस्थितीना-
 मिष्टिं तेषामहमुपैतये पादयोश्चन्दनेन ॥५१८॥
 येषामन्तस्तदमृतरसास्वादमन्दप्रचारे
 क्षेत्राधीशे विगतनिखिलारम्भसंभोगभावः ।
 ग्रामोऽज्ञाणामुदुपित इवाभाति योगीश्वराणां
 कुर्मस्तेषां कलमसदकैः पूजनं निर्ममाणात् ॥५१९॥
 देहारामेऽन्युपरतधियः सर्वसंकल्पशान्ते-
 र्येषाम्^३ मिस्मैर्यैर्विरहिता ब्रह्मधामामृतातेः ।
 आत्मात्मीयानुगमविगमाद्वृत्तयः शुद्धबोधा-
 स्तेषां पुष्पैश्चरणकमलान्यर्चयैयं शिवाय ॥५२०॥

आचार्य भक्ति

तत्त्वोंके यथार्थ प्रकाशसे तृष्णारूपी अन्धकारको दूर कर देनेवाला जिनकी चित्तवृत्ति-
 का प्रचार बाह्य बातोंमें नहीं होता और परिग्रहरूपी समुद्रके उस पार रहता है, तथा शान्तिरूपी
 समुद्रके इस पार या उस पार रहता है । अर्थात् जिनकी चित्तवृत्ति परिग्रहकी भावनासे मुक्त
 हो चुकी है और शान्तिरूपी समुद्रमें सदा वास करती है, उन आचार्योंकी पूजा विधिमें
 अर्पित की गयी जलकी धारा तुम्हारा (हमारा) कल्याण करे ॥५१७॥

आत्मारूपी आकाशमें ध्यानरूपी सूर्यके अपनी उन्नत अवस्थाको पहुँचनेपर जिनका
 हृदयकमल हर्षसे निश्चल हो जाता है और तत्त्वोंके दर्शन तथा ज्ञानसे जानावरणादिक कर्मबन्ध-
 की स्थिति गलने लगती है, उनके चरणोंमें चन्दन अर्पित करके मैं उनकी पूजा करता हूँ ॥५१८॥

अध्यात्मरूपी अमृत रसके पान करनेसे बाह्य बातोंमें आत्माकी गतिके मन्द पड़ जानेपर
 जिन योगीश्वरोंकी इन्द्रियोंका समूह समस्त आरम्भादिकको छोड़कर अन्यत्रगत प्रतीत होता है,
 उन मोहरहित आचार्योंकी हम अक्षतसे पूजा करते हैं ॥५१९॥

समस्त सकल्पोंके शान्त होजानेके कारण जो शरीर रूप परिग्रहमें भी ममत्व भाव नहीं रखते,
 ब्रह्मधामरूपी अमृतकी प्राप्ति हो जानेके कारण जो मूल-व्यासकी पीड़ाको सहते हुए
 भी उसका गर्व नहीं करते, आत्मामें भी अपनेपनकी भावनाके न होनेसे जिनकी वृत्तियाँ शुद्ध
 ज्ञानरूप है, मोक्षकी प्राप्तिके लिए उनके चरण-कमलोंकी हम पुष्पसे पूजा करते हैं ॥५२०॥

१ समूह । २ येषां चित्तवृत्तिप्रचार प्रशमजलधे पारे परकूले अवारे अर्वाकूले वर्तते प्रशमसमुद्रमध्ये
 एव वर्तते इत्यर्थ । पुन प्रचार सगवार्धे परिग्रहसमुद्रस्य परे पारे वर्तते । तस्मादुत्तोर्ये इत्यर्थ । ३, जल-
 धारा । ४ प्रकर्षप्राप्ते सति । ५ ध्यानसूर्ये । ६ व्यान्तम्याज्ञानस्य प्रबन्ध समूह तस्य स्थिति । ७ परिकल्प-
 यामि । ८ अक्षतः । ९, देहारम्भे-आ० । १० आराम-परिग्रह । १० ऊर्मि पीडा क्षुत्पिपासादय । ११ गर्व ।

[इत्याचार्यभक्तिः]

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः ।

इदानीं ये कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नपनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् पट् प्रोदाहरिष्यामः । तथा हि—

श्रोकेतनं वाग्धनितानिवास पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम् ।

स्वर्गापवर्गागमनैकहेतुं जिनाभिपेकाश्रयमाश्रयामि ॥५२६॥

भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिं पुण्यामृतेन च तनौ नितरां पवित्रः ।

श्रीमण्डपे विविधवस्तुविभूषितायां वेद्यां जिनस्य सवनं विधिवत्तनोमि ॥५२७॥

उद्दुमुखं स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् ।

पूजाक्षणे भवेन्नित्यं यमो वाचंयमक्रियः ॥५२८॥

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम् ।

पूजा पूजाफलं चेति पङ्क्तिं देवसेवनम् ॥५२९॥

यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो

येनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते ।

समान यह पुष्पाञ्जलि आचार्यचरणोका पूजन करनेसे श्रावकोंकी लक्ष्मीके कटाक्षरूपी अमरोंके आगमनका कारण हो ॥५२५॥

[इस प्रकार आचार्य भक्ति समाप्त हुई]

[इस प्रकार उपासकाध्ययनमें पूजा विधिको बतलानेवाला पैतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।]

अब जो प्रतिमामें स्थापना करके पूजन करते हैं उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुतदेवताका आराधन इन छह विधियोंको बतलाते हैं—

अभिषेक विधि

मैं जिनभगवान्का अभिषेक करनेके लिए जिनबिम्बका सहारा लेता हूँ । जो जिनबिम्ब लक्ष्मीका घर है, सरस्वती देवीका निवास स्थान है, गृहस्थोंके पुण्य कमानेका क्षेत्र है और स्वर्ग तथा मोक्षको लानेका प्रमुख कारण है ॥५२६॥

शुभ भावत्पी जलसे मेरा मन शुद्ध है और पवित्र जलसे मेरा शरीर शुद्ध है अर्थात् मैंने शुद्ध जलसे स्नान किया है और मेरे मनमें शुभ भाव हैं । मैं श्रीमण्डपमें अनेक वस्तुओंसे विभूषित वेदीपर विधिपूर्वक जिन भगवान्का अभिषेक करता हूँ ॥५२७॥

ऐसी प्रतिजा करके स्वयं उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हो और जिनबिम्बका मुख पूर्व दिशाकी ओर करके उनकी स्थापना करे । तथा पूजाके समय सदा अपने मन, वचन और कायको स्थिर रखे ॥५२८॥

देवपूजनके छह प्रकार हैं—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाका फल ॥५२९॥

पहले प्रस्तावनाको कहते हैं—

प्रस्तावना

जो लक्ष्मीके जन्मके लिए सागरके समान है, योगीजन मनमें जिसका ध्यान करते हैं, जिसके-

१ जिनबिम्ब । २ पवित्रजलेन ।

यस्मात्प्रातुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना

यास्मन्मैव भयाधयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्थापनाम् ॥५३०॥

धीतोपसेपयपुपो न भलानुपङ्गमैर्लोभ्यपूज्यचरत्तस्य कृतः परोऽर्घ्यः ।

मोद्यामृते घृतधियस्तथ मैव कामः ज्ञान ततः कमुपकारमिव करोतु ॥५३१॥

तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुतेऽमिषव तव ।

को माम् सुपकारार्थं फलार्थी विहितोद्यमः ॥५३२॥

[इति प्रस्तावना]

रत्नोम्बुभिः कुण्डलोन्मुमिरात्तैश्चम्री भूमौ भुञ्जन्मपतीनमृतैरुपास्य ।

कुर्म प्रजापतिर्निकेतमविष्मुक्तानि कूर्पाक्षतप्रसयवमविद्विमितानि ॥५३३॥

पापपूर्णाङ्गुन्माम्कोणेषु सुपङ्क्तप्रसुलाभान् ।

दुग्धाध्मीनिव विदधे प्रयासमुकोत्सवणाङ्गमुत् ॥५३४॥

[इति पुराकर्म]

यस्य स्थान विमुञ्चनशिरः शेरुत्तारमे निसर्गा

तस्यामर्षोचितिसृतिं भवेद्याद्भुत ज्ञानपीठं ।

द्वारा यह लोक सनाथ है जिसे देवतागण नमस्कार करते हैं, जिससे भुव (जागम) का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके प्रसादसे मनुष्य पुण्यशाली होते हैं, तथा जिसमें ये सांसारिक दुःख-सुखादि नहीं हैं, उस विनेन्द्रके अभिवेकको मैं धारम्भ करता हूँ ॥५३०॥

हे विनेन्द्र ! धारीरिक मलसे रहित होनेके कारण आपका मैलसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आपके चरण तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हैं, अतः उससे भी उत्कृष्टपूज्य कैसे हो सकता है ? आपका मन मोक्षरूपी असूतके पानमें मिमन् है अतः आप कामसे भी दूर हैं, अतः यह स्नान आपका क्या उपकार कर सकता है ? वर्षास् स्नान या अभिवेकके तीन प्रयोजन हो सकते हैं, धारीरिक मलको दूर करना, ब्रह्मार्चनके द्वारा पूज्यताका समावेश तथा ग्राहस्थिक कामादि सेक्नगत दोषोंकी विमुक्ति । किन्तु विनेन्द्र देवका परम औदारिक शरीर मलरहित होता है, वे कामादिका भी सेवन नहीं करते हैं तथा तीनों लोक उनकी पूजा करते हैं अतः ब्रह्म स्नानसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥५३१॥

फिर भी मैं अपने पुण्यसंचयके लिये आपके अभिवेकको धारम्भ करता हूँ । क्योंकि ऐसा कौन फलार्थी-फलका इच्छुक है जो सम्मत् उपकारक लिये प्रयत्न न करना चाहता हो ॥५३२॥

[इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ । आगे पुराकर्मको कहते हैं]

पुराकर्म

रत्न सहित अलसे तथा कुञ्ज और अग्निसे छुद की गयी भूमिमें दुग्धसे नागेन्द्रोंको संतृप्त करके पूर्वादि दश दिशाओंको कूर्पा अक्षत पुण्य और कुञ्जसे युक्त करता हूँ ॥५३३॥ वेदीके चारों कोनोंमें पल्लव और फूलोंसे सुशोभित, अलसे भरे हुए चार भगोंको स्थापित करता हूँ, जो मृगे और मोसीसे युक्त होनेके कारण धीरसमुद्रकी तरह हैं ॥५३४॥

स्थापना

जिस विनेन्द्रका निवासस्थान स्वभावसे ही तीनों लोकोंके मस्तकके ऊपर लोकके अग्र-

१ विद्यतागमकस्य । २ अवि तु न किमपि । ३ रत्नसहितवर्षी । ४ कुम्भनज्ज्ये नृकारे वा पञ्चवर्त्तनं लिप्यते । ५ वर्माग्निप्रवृत्त्याम् । ६ जह्नीव । ७ विवत्ता । ८ ब्रह्मस्थानपीठस्थापनप्रमुक्तानि । ९ दुग्ध-
तानि । १० ब्रह्म । ११ मीत । १२ विहासयम् ।

लोकानन्दामृतजलनिधेर्वारि चैतत्सुधात्वं

धत्ते यत्ते सवनसमये तत्र चित्रीयते क. ॥५३५॥

तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि^१ प्रतिकल्पितार्घे ।

लक्ष्मी^३श्रुतागमनयी^४ जविर्भगभं संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥५३६॥

[इति स्थापना]

सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात् ।

इन्द्रस्त्वहं तव सर्वप्रतिकर्मयोगात्पूर्णां ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥५३७॥

[इति संनिधापनम्]

योगोऽस्मिन्नाकनाथ ज्वलन पितृपते^१ नैगमेयं^२ प्रचेतो^३

वायो रैदेश शेषोर्दुर्षसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्राः ।

मन्त्रैर्भूः स्वः^४ सुधाद्यैरधिगतबलयः^५ स्वासु टिक्तपवित्राः

क्षेपीयः^६ क्षेमदत्ताः कुरुत जिनसवोत्साहिना विघ्नशान्तिम् ॥५३८॥

भागमें है (क्योंकि प्रत्येक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है अतः मुक्त होनेके पश्चात् लोकके अग्रभाग तक जाकर वहीं ठहर जाता है) अतः यदि उसका अभिषेक सुमेरुपर्वत पर हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी तरह है जिनेन्द्र । तुम्हारे अभिषेकके समय लोगोंके आनन्दरूपी क्षीरसमुद्रका यह जल यदि अमृतपनेको प्राप्त होता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥५३५॥

मणिजड़ित सोनेके घटोंसे लाये गये पवित्र जलसे जो शुद्ध किया गया है और फिर जिसे अर्घ दिया गया है तथा जिसपर 'श्री ही' लिखा हुआ है, ऐसे सिंहासनपर तीनों लोकोंके स्वामी जिनेन्द्रदेवकी मैं स्थापना करता हूँ ॥५३६॥

भावार्थ—पुराकर्मके पश्चात् स्थापना की जाती है । उसमें सिंहासनको शुद्ध जलसे धोनेके पश्चात् उसपर 'श्री ही' लिखा जाता है और उसे अर्घ देकर फिर उसपर जिनविम्बको स्थापित किया जाता है ।

[यही स्थापना है । अब सन्निधापनको कहते हैं—]

सन्निधापन

यह जिनविम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्रदेव है, यह सिंहासन सुमेरुपर्वत है, घटोंमें भरा हुआ जल साक्षात् क्षीरसमुद्रका जल है और आपके अभिषेकके लिए इन्द्रका रूप धारण करनेके कारण मैं साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक महोत्सवकी शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी ! ॥५३७॥

पूजा

इस अभिषेक महोत्सवमें हे कुशलकर्ता इन्द्र, अग्नि, यम, नऋति, वरुण, वायु, कुवेर और ईश तथा शेष चन्द्रमा आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवारके साथ आकर और 'भू स्व. आदि मन्त्रोंके द्वारा बलि ग्रहण करके अपनी-अपनी दिशाओंमें स्थित होकर शीघ्र ही जिन अभिषेकके लिए उत्साही पुरुषोंके विघ्नोंको शान्त करें ॥५३८॥

भावार्थ—इन्द्र, अग्नि, यम नैऋति, वरुण, वायु, कुवेर और ईशको क्रमसे पूर्वादि आठ दिशाओंका पालक माना गया है । इसीसे इन्हें दिग्पाल कहते हैं । तथा सूर्य, शुक्र, मंगल, राहु,

१ जलै प्रक्षालिते । २ पीठस्यापि पूर्वमर्घो दीयते । ३ श्रीं । ४ ह्रीं । ५ गुम्फित । ६ पीठमेव मेरु । ७ अभिषेक । ८ स्नपनविधी । ९ यम । १० नैऋति । ११ वरुण । १२ चन्द्र । १३, भू भुव स्व स्वर्गा—अ० ज० व० । १४ अधिगता प्राप्ता वलिर्यस्ते । १५ शीघ्रम् ।

वेहे'ऽस्मिन्विदितार्चने निनवति प्रारब्धगीतष्यमा-
 वातोद्यैः स्तुतिपाठमङ्गलरघैश्चानन्दिनि प्राङ्गणे ।
 मृत्स्नागोमयम्^१ तिष्ठिष्वहरे^२ सावर्गप्रसूनासौ-
 रम्मोमिष्य सवन्दनैर्जिनपतेर्भीराजना प्रस्तये^३ ॥३३६॥
 पुण्यद्रुमक्षिरमय मयपञ्चवधीभ्येतः^४ सः प्रमर्दमन्वसरोजगर्भम् ।
 यागापगा च मम पुस्तरतीरमार्गां स्नानामृतैर्जिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदः ॥३३७॥
 द्राक्षाजलजूरघोषे^५ कुप्राचीनाम सकोव्मयैः ।
 राजावनाम्रपुगोत्थैः आपयामि जिन रसैः ॥३३८॥
 भासुः प्रजासु परम भयतास्तस्यैव धर्मावबोधसुतरमिषिरमस्तु भूष ।
 पुष्टिं धिनेयजनता दितनोतु काम द्वैयग^६ धीमसयनेन जिनैस्त्वरस्य ॥३३९॥
 येषां कर्ममुज्ज्वलनिर्विषयिषौ बुद्धिप्रवन्धो नृणां
 येषां आतिशयसुतिभ्युपरमध्यात्मप्रपञ्चाग्रहः ।
 येषामात्मविद्युद्बोधविमवालोके सतृप्य मन
 स्ते भारोप्यपयज्ययाहधवल आयन्तु जैन ययुः ॥३४०॥

छनि, चन्द्र, सुष और गुह इन आठ ग्रहोंको ज्योतिषशास्त्रमें पूर्वादि आठ दिशाओंका स्वामी माना है तथा हिन्दु पञ्चपुराणमें इनको पूजनेका विधान भी है । पौराणिक मतके बहते हुए प्रभाव के कारण दक्षीण शताब्दीसे इन दिशाओं और ग्रहोंको अनिष्टकारक मानकर पूजाविधिमें भी स्थान दे दिया गया ।

इस आनन्दपुरित आँगनमें, जो बाजों और स्तुति पाठकोके मांगलिक शब्दोंसे गूँज रहा है तथा जिसमें गीतोंकी ध्वनि हो रही है, मैं इस पूजित त्रिनिम्बमें मिट्टी गोबर, राल, दुर्वा, कुष्ठ, धूल, बज्रत, अज तथा चन्दनसे जिनमगवान्की मीराजना (चारसी) करता हूँ ॥३३६॥

जिनमगवान्के सीनों लोकोको हर्षित करनेवाले स्नानचक्रसे मेरा यह पुण्यरूपी बुल चिरकाळ तक नये पल्लवोंकी खोमाको चारण करे मेरे चितरूपी साक्षात्में हर्षरूपी कमल विकसित हो और मेरी बाणीरूपी नदीके सटका माग दुस्तर हो—उसे कोई पार न कर सक ॥३३७॥

मैं दाल, सज्जर, मारियक, ईस प्राचीन कामरुक् (आँबला नामक फल) राजावन, आम तथा सुपारीके रसोंसे जिनमगवान्का जमियेक करता हूँ ॥३३८॥

जिनदेवके भूताभियेकसे सदैव प्रभा दीर्घजीवी हो, राजा भगवत्के ज्ञानसे सुधासित हा और भव्यभन खूब पुष्टिको प्राप्त हो ॥३३९॥

जिन मनुष्योंकी बुद्धिका विकास कर्मरूपी सपोंको निर्विष करनेमें सङ्गम है, जिन मनुष्योंको जन्म, मरा मरणको दूर करनेवाले ध्यानक विस्तारका आग्रह है तथा जिनका मन आत्माक विमुक्त ज्ञानरूपी ऐश्वर्यका देवनेके रूप सम्प्राप्त है, वे चाराण्य दृषके प्रवाहसे भव्य हुए जिनैन्द्रदेवके शरीरका ध्यान करें ॥३४०॥

१ जिनदेई मीराजना प्रारभे । २ यत्न । ३ दुर्वा । ४ प्रारभे । ५ मयसु हरयम्भाहार्यम् ।

६ चित्तमेव तडावम् । ७ हृष । ८ नासिकेर । ९ प्राचीनामरुक् फलविधेयः । १० पुन ।

जन्मस्नेहच्छिद्रपि जगतः स्नेहहेतुर्निसर्गा-
 त्पुण्योपाये मृदुगुणमपि स्तब्धं लब्धात्मवृत्तिः ।
 चेतोजाड्यं हरदपि दधि प्राप्तजाड्यस्वभावं
 जैनज्ञानानुभवनविधौ मङ्गलं चस्तनोतु ॥१४४॥
 एलालवङ्ककङ्कोलमालयागरुमिश्रितैः ।
 पिष्टैः कल्कैः कपायैश्च जिनदेहमुपास्महे ॥१४५॥
 नन्द्यावर्तस्वस्तिकफलप्रमृताक्षताम्बुकुशपूलेः ।
 अघतारयामि देवं जिनेश्वरं वर्धमानैश्च ॥१४६॥

ॐ भक्तिभरविनतोरगनरसुरासुरेश्वरशिरःकिरीटकोटिकल्पतरुपल्लवायमानचरणयुग-
 र्, अमृताशनाङ्गनाकरचिकीर्यमाणमन्दारनमेरुपारिजातसन्तानकवनप्रसन्नस्यन्दमानमकरन्द-

दही जगत्के जन्म स्नेहका छेड करनेवाला होनेपर भी स्वभावसे ही स्नेह (धी) का
 रण है, पुण्यके साधनमें कोमलता युक्त होते हुए भी स्थिर होकर ही वह आत्मलाभ करता है,
 र्थात् दही कोमल होता है और स्थिर होनेपर ही वह जमता है तथा चित्तकी जडताको हरने-
 ला होते हुए भी स्वयं जडस्वभाव या जलस्वभाव है, ऐसा दही जिन भगवान्की अभिप्रेत विधिमें
 तपका मंगलकारक हो ॥५४४॥ डलायची, लौंग, कङ्कोल, चन्दन और अगुरु मिले हुए चूर्णसे
 तैयार पकाकर तैयार किये गये काढ़ेसे जिनदेवके शरीरकी उपासना करता हूँ ॥५४५॥ नन्द्यावर्तक,
 वस्तिक, फल, फूल, अक्षत, जल और कुशसमूहसे तथा सकोरोसे जिनेश्वरदेवकी अवतारणा
 करता हूँ ॥५४६॥

भक्तिके भारसे नमस्कार करते हुए नागेन्द्र, नरेन्द्र, देवेन्द्र और असुरेन्द्रोंके सिरोंपर
 स्थित मुकुटोंके अग्रभागमें जिनके चरणयुगल कल्पवृक्षोंके नये पत्तोंके समान प्रतीत होते हैं,
 देवागनाओंके द्वारा बरसाये गये मन्दार, नमेरु, पारिजात और सन्तानक नामक देववृक्षोंके फूलोंसे

१. सदपि न किन्तु कठिन वर्तते । २. नूर्णत्व न किन्तु सघनम् । ३. चूर्ण । ४. क्वाथ ।

५. आश्रुत्य स्नपन विशोध्य तदिला पीठ्या चतुष्कुम्भयुक्-

कोणाया सकुशश्रिया जिनपति न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।

नोराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभि सिक्त्वा कृतोद्धर्तनम्

सिक्त कुम्भजलैश्च गन्धसलिलं सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥

टीका—स्नपनमभिपेक्ष्य, आश्रुत्य प्रतिज्ञाय, तदिला स्नपनमूर्तिं विशोध्य रत्नाम्बुकुशाग्निना सन्तर्पण-
 विधिभि शोधयित्वा, चतुष्कुम्भयुक्कोणायाम्—चत्वार कुम्भयुज पूर्णकलशोपेता कोणा यस्या सा तस्याम्,
 सकुशश्रियाम्—दर्भैश्चन्दननिर्मितश्रीकाराक्षरेण च सहिताया श्रियामित्युपलक्षण तेन ह्योकारोऽपि लेख्य ।
 पीठ्याम्—स्नपनपीठस्योपरि, जिनपति—जिनेन्द्र, न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक्—इष्टा यज्ञाशं
 प्रापिना दिशस्तत्स्था दिक्पाला दश इन्द्रादयो यत्र नोराजनकर्मणि तदिष्टदिक् । नोराज्य-पूजापुरस्सर
 मृत्नागोमयमूर्तिपिण्डदूर्वादर्भपुष्पाक्षतमचन्दनोदकैर्नोराजन प्राप्य अम्बुरसाज्यदुग्धदधिभि सिक्त्वा—अम्बुनि
 च रसाश्च आज्यानि च दुग्धानि च दधानि च अम्बुरसादीनि पञ्च स्नानीयद्रवद्रव्याणि तै क्रमेण । जिनपति-
 मभिपिच्य । कृतोद्धर्तनम्—एलादिचूर्णकल्ककपायैरुद्धर्त्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतारणम् । गन्धसलिलं—सुरभिद्रव्य-
 मिश्रोदकं कुम्भजलं—पूर्वस्यापितकलशाम्भोभि, च सिक्त-अभिपिक्त सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥—सागार
 घर्मामृत अ ६ । ६ शरावपुटै ।



गदोम्मन्मिलम्भत्तासिक्तप्रसापोत्ता'लितनिसिम्पार्थसिम्पारिण्डम् अम्बरचरकुमारहे
 स्फासितवेणुयज्ञ'की-र्यजयानकमृद्वक्ष्य'हृषाहृषात्रियसतात्ममक्षरीमेरीमम्मोप्रभृत्यनयचिप'न
 पिरै-रैताधनेयथाधनाधनिवेदितनिसिक्तयिष्टि(४)पाधिपोपासनायसरम्, अनेकामरविकिर
 सक्षीर्णकिश्रुलपागोक्तानोकहोदससप्रसथपरागपुमरुतसकसविष्पासहृदयरागप्रसरम्, अजि
 भुयनैस्वर्यलाभ्युमातपवत्रयशिक्षण'मन्त्रमन्त्रिणमयूकरेकात्रिक्यमानर्म'अमुकरखेचरीमास'
 सतिक्तपत्रम्, अन्तरत्तय'विश्विप्यमाजोभयपक्षामरपरम्पर'गुहालभयस्तियनेयजन-
 तमासात्पष्टिम्, अशेषप्रकाशितपवार्थातिशायिशारीर्यमापरिवेपमुपित्परिप'स्वमास्तार
 तितिमिरनिकरम् अमयधियस्तुविस्तारालमात्कारासारयिस्फारितसरस्वतीतरङ्गसङ्घ
 र्पितसमस्तसत्त्वसरोत्थाकम्, इमार'तिपरिपूषोप्यल्लामानासनायसामलप्ररलकम्पसरपल
 तधियरपत्न्याभोगम्, अम्यसामाम्यसमप्रसरणसमासीनमनुजविजिज्जु'इन्द्रपृथ्व्य
 लपादारविम्यु'गलम्

मद्गायिलक्ष्मीसतिकायमस्य प्रयर्चनाव'जितवारिपूरी ।

सित चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भेर्नमासदोहेनुपपोधरामैः ॥४७७॥

लक्ष्मीकल्पशते समुल्लसन्नलक्ष्मैः परं पद्मै

धर्मारामफलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो मय ।

हते हुए मकरन्द (पुष्प मयुरस) के स्वादसे मय हुए भौरोंके प्रलयपसे जिन्होंने गीत गानमें
 लम्न देवोंके गर्भोंको उत्पन्न कर दिया है, विद्याधर कुमारोंके द्वारा कीड़ासे बसाये गये बाँसुरी,
 प्या डोल, मृदंग, धंस, नगारा, बरताळ, सौंस, मेरी, नखरी आदि बाधोंके नाना प्रकारके
 ल्योंसे जिन्होंने समस्त छोड़ोंके स्वामीक्षी उपासनाके अवसरको सूचित कर दिया है । (भिनपर
 ने हुए) समस्त छोड़ोंके ऐश्वर्यके बिह्वरूप तीन छत्रोंके मस्तकपर लगी हुई मणिकी किरणोंकी
 खाते स्तुति करती हुई विद्याधरियोंके छलाटपर तिलककी रचना अंकित होती है अमाद् भिनेन्द्र
 (वके ऊपर लगे हुए तीन छत्रोंके मस्तकपर लगी हुए मणिकी किरणें स्तुति करती हुई विद्याधरी
 रियोंके मस्तकपर तिलककी तरह प्रतीत होती हैं, दोनों ओर लगे हुए यक्षोंके द्वारा निरन्तर
 तरे जानेवाले चामरोंकी किरणोंसे शिष्यजनोंके मनरूपी मूहको जिन्होंने स्वेत कर दिया है, समस्त
 काशशील पदावोंको अतिक्रमण करनेवाली शारीरिक प्रभाके परिधेप (पेरा) से जिन्होंने समब
 रणमें उपस्थित सदस्योंकी बुद्धिके अन्धकारसमूहको दूर कर दिया है अनन्त वस्तुओंके
 वेस्तारको प्रत्यक्ष करने रूप महाबुद्धिसे बड़ी हुई सरस्वतीरूपी मयीकी तरंगोंके संसर्गसे
 जेन्होंने समस्त माणीरूपी कमलसमूहको समुत्पन्न किया है, भिनके सिंहासनमें लगे हुए रत्नोंकी
 करणोंके कैलाशसे आकाशमें वृक्षका भिन्तार पसरविश हो गया है और अनुपम समबसरण-समामें
 ठि हुए मनुष्य, देव और भागोंके इन्द्रोंका समूह भिनके परलपुगलकी पन्ना करता है—
 से भिनेन्द्र देवका मेरी मावी लक्ष्मीरूपी कृताक वनको बढानेवाले उसके पूरसे पुनः तथा
 कामधेनुके स्तनोंके तुल्य चार कलशोंसे अभिलेख करता है ॥५७७॥

भिनमगयान्ते तीनो साक्षोंको आनन्द देनेवाले गन्धोदकके सिंघनसे दे लक्ष्मीरूपी

१ वरुणीहृग । २ गीत । ३ बीणा । ४ पटहमेह । ५ नखरी । ६ तालादि । ७ बाँसुरी ।

८ बीणादि । ९ मुरगादि । १ मयूक । ११ स्तुति । १२ कलाट । १३ समबसरणसमा ।

१४ गिह । १५ भुजत्रमेह-अ ब । १६-पुवम् अ ब । १७ कपयत ।

बोधाधीश विमुञ्च संप्रति मुहुर्दुष्कर्मघर्मकलमं
 त्रैलोक्यप्रमदाव हेजिनपतेर्गन्धोदकैः स्नापनात् ॥५४८॥
 शुद्धेर्विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकैः ।
 करोम्यवभृथस्नानमुत्तरोत्तरसंपदे ॥५४९॥
 श्रमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाङ्गवीजे कलौदले कमले ।
 संस्थाप्य पूजयेयं त्रिभुवनवरदं जिनं विधिना ॥५५०॥
 पुण्योपार्जनशरणं पुराणपुरुषं स्तवोचिताचरणम् ।
 पुरुषं तविहितसेवं पुरुदेवं पूजयामि तोयेन ॥५५१॥
 मन्दमन्दमन्दनमनं मन्दरगिरिशिखरमज्जनावसरम् ।
 कन्दमुमं ललितिकायाश्चन्दनचर्चांचितं जिनं कुर्वे ॥५५२॥
 अचमं तरुगहनदहनं निकाससुखसंभवामृतस्थानम् ।
 आगमदीपालोकं कलमभवैस्तन्दुलैर्भजामि जिनम् ॥५५३॥
 स्मररसे विमुक्तसक्तिं विज्ञानसमुद्रमुद्रिताशेषम् ।
 श्रीमानसकलहंसं कुसुमशरैरर्चयामि जिननाथम् ॥५५४॥

कल्पलता ! तुम मनुष्योंके आनन्दरूपी पल्लवोंसे उल्लासको प्राप्त होवो । हे धर्मरूपी उद्यान ! तुम फलोंसे अत्यन्त सुन्दर होकर भव्यजीवोंके सेवनीय बनो । और हे ज्ञानवान् आत्मा ! तुम अब दुष्कर्मरूपी घामके सन्तापको छोड़ो, अर्थात् बुरे कर्म करना छोड़ दो । और बुरे कर्मोंके फलसे मुक्त हो जाओ ॥५४८॥

अधिकाधिक सम्पत्तिके लिए विशुद्ध ज्ञानी जिनेन्द्र भगवान्का तालाब वगैरहसे लाये गये शुद्ध जलसे मैं अन्तिम स्नान कराता हूँ ॥५४९॥

इस सोलह पाखण्डकी कमलपर तीनों लोकोंको मनवाछित वर देनेवाले जिनेन्द्र भगवान् को विधिपूर्वक स्थापित करके पूजना चाहिए ॥५५०॥ [इस श्लोकके पूर्वार्धके पदोंका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है । टिप्पणके अनुसार उस कमलकी कर्णिका पवर्गसे निर्मित होती है और उसके मध्यमें अपना नाम स्थापित किया जाता है]

जो पुण्यके कमानेके लिए आश्रयभूत है, पुराण पुरुष है, जिनका आचरण स्तुतिके योग्य है, और इन्द्रने जिनकी सेवा की थी, उन प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथकी मैं जलसे पूजा करता हूँ ॥५५१॥ जो अत्यधिक मदशाली कामका दमन करनेवाले है, सुमेरु पर्वतके शिखरपर जिनका अभिषेक हुआ है तथा जो यगरूपी वेलकी जड़ है उन जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता हूँ ॥५५२॥ दोषरूपी वृक्षोंके जङ्गलको जलानेवाले, उत्तम सुखकी उत्पत्तिके लिए मोक्षके समान तथा आगमरूपी दीपकके प्रकाशक जिनेन्द्रदेवकी सुगन्धित तन्दुलोंसे पूजन करता हूँ ॥५५३॥ जिनकी सूक्तियाँ शृङ्गार रससे रहित है, जिन्होंने अपने ज्ञानरूपी समुद्रसे सबको आच्छादित किया है और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवरके राजहस हैं, उन जिनेन्द्रदेवकी पुष्पोंसे पूजा करता हूँ ॥५५४॥ अनन्त-

१ हे आत्मन् । २ श्रेष्ठजल । ३ यज्ञान्तस्नानम् । ४ पवर्ण । ५ पोडण । पकारेण कर्णिका क्रियते, तन्मध्ये स्वकीय नाम निक्षिप्यते, पोडणदलेषु अकारादयः स्वरा लिख्यन्ते । ६ गृह । ७ इन्द्र । ८. आदिभगवन्तम् । ९ प्रचुरदर्पसहितकामदमनम् । १० कीर्ति । ११ दोष । १२ रागादिबिमुक्ता सूक्ति अर्चन, यस्य स तम् ।

अहंस्तममितमीति निरञ्जन मिहिरेमाधिवावाभो ।
 आराधयामि हृषिपा मुक्तिस्त्रीरमितमागसममङ्गम् ॥४४४॥
 मन्थयानसामराशयकमलधनाराकतिमिरमार्तङ्गम् ।
 जिनमुपचरामि दीपैः सकलसुखारामकाममन्दमम् ॥४४५॥
 अनुपमकेवल्यपुप सकलफलसिद्धयतिरूपस्थम् ।
 योगायगम्यनिष्ठयं यज्ञामहे निखिलैर्ग जिन धूपैः ॥४४७॥
 स्वर्गापयर्गसगतिविधायिम व्यस्तहासिमृतिवोपम् ।
 व्योमशरामरपतिभिः स्मृत फलैर्जिनपतिमुपासे ॥५५८॥

अन्मन्मन्तन्मुलोज्ज महर्षिर्दीपैः सधूपैः फले-

र्यधित्वा जिज्ञासुं जिनपतिं स्नानोत्सवागन्तरम् ।

त स्तौमि प्रज्जपामि चेतसि कृषे कुर्वे भुताराधन

बैहोक्त्यममव ख तन्महमह कालवधे अहये ॥४४६॥

यवैर्मुदाकर्ष्यपमाम्भिरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिपुष्करपूरितपादपीठम् ।

इयेतस्तपत्रचमरीरुहवर्षाचरीराधयामि पुनरेभमिन्नं जिनताम् ॥४४९॥

[इति पूजा]

ज्ञानशास्त्री, निर्बिकार, दुरासारापी वावानि (जज्ञस्त्री आग) के छिप मेघके समान, निराकार तथा भिन्नका मन मुक्तिरूपी श्रीमें छिन्न है, उन अहंस्त देवकी नैवेद्यसे पूजा करता है ॥५५५॥

मच्छिसे विन्न हूप देवोंके चितरूपी कमलका घोर अन्वकार दूर करनेके छिप जो सूर्यके समान है, और समस्त सुभोंके छिप उपायानरूप तथा मनोरथको पूर्ण करनेवाले हैं उन कामरहित भिनेन्द्रदेवकी दीपोंसे पूजा करता है ॥५५६॥

अनुपम केवल्यज्ञान ही भिन्नका शरीर है, समस्त भाव कर्माका विनाश हो जानेपर आ रूप रहता है उसी रूपमें जो स्थित हैं भिन्नके स्थानको बागके द्वारा आगा जा सकता है और जो केवल्यज्ञानके द्वारा सर्वत्र व्यापक है, उन भिन्नदेवकी में धूपसे पूजा करता है ॥५५७॥

जो स्वर्ग और मोक्षका दाता है, अन्म-मरणरूपी दोषोंसे रहित है, और विद्याधरों तथा देवोंके स्वामी भिन्नको स्मरण करते हैं, उन भिनेन्द्रदेवकी फलोंसे पूजा करता है ॥५५८॥

अभिषेक समारोहके पश्चात् तीनों छोड़के गुरु भिनेन्द्रदेवकी अन्न, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य दीप, धूप और फलोंसे पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूँ, उनका नाम बपता हूँ, उन्हें चिन्मै धारण करता हूँ शास्त्रकी आराधना करता हूँ तथा तीनों छोड़के उत्पन्न हुए उनके (ज्ञानरूपी) तेजस्वी मैं तीनों कालोंमें अर्चना करता हूँ ॥५५९॥

भाषार्थ—अभिषेकक पश्चात् अष्टम्यसे भिनेन्द्रदेवका पूजन करना चाहिए। तथा पूजनके पश्चात् उनका स्तवन, उनके नामका अर्थ, ध्यान और ह तथा शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए।

पुष्पाञ्जलिके समूहसे भिन्नका पादपीठ—चरणोंके पादका स्थान—मरा हुआ है उन भिनेन्द्रदेवकी अभिषेकपूजासे सार्ध उपासना करके मैं पुन उनकी इयेतन्न, अमर, दर्पण आदि

१ मेघ । २ कदा आवकमीति तादा दित्ये विनाये एति सकल नलावित्ये वर्तते एत् कर्त्तव्यकलनविनियमवर्तिष्यं तत्र विन्द्यतीति तत्तत्तं केवल्यज्ञानव्यपारिष्यः । ३ केवल्यज्ञानप्रेमरा एवं व्यापकम् । ४ पुष्पम् । ५ पूजाभिः । ६ अभिषेकः ।

भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री
 सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे ।
 सद्दिग्धेषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे
 भूयादेतद्भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ॥५६१॥
 प्रातर्विधिस्तव णदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन ।
 सायन्तनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥५६२॥
 धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ धर्मादवाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूलः ।
 नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥५६३॥
 [इति, पूजाफलम्]

आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणैर्व्याक्षेपतो वात्मन-
 श्चापल्यान्मनसो मतेर्जडतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे ।
 यः कश्चित्तव संस्तवेषु समभूदेव प्रमादः स मे
 मिथ्या स्ताघ्ननु देवता प्रणयिनां तुष्यन्ति भक्त्या यतः ॥५६४॥
 देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च ।
 यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः ॥५६५॥
 इत्युपासकाध्ययने स्नानार्चनविधिर्नाम पटत्रिंशः कल्पः ।

मागलिक द्रव्योंसे आराधना करता हूँ ॥५६०॥

[इस प्रकार पूजा समाप्त हुई । आगे पूजाका फल बतलाते हैं—]

पूजाफल

हे भगवन् ! जबतक इस चित्तमें आपका निवास है तबतक सदा जिनभगवान्‌के चरणोंमें मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत मति सबका आतिथ्य सत्कार करनेमें संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्म तत्त्वमें लीन रहे, ज्ञानीजनोंसे मेरा स्नेह भाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें लगी रहे ॥५६१॥

हे देव ! प्रातःकालीन विधि आपके चरण-कमलोंकी पूजासे सम्पन्न हो, मध्याह्न कालका समागम मुनियोंके आतिथ्यसत्कारमें बीते; तथा सायंकालका भी समय आपके चारित्रिके कथन और कामनामें व्यतीत हो ॥५६२॥ धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें, धार्मिकोंके विषयमें और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमें सदा अनुकूल रहे—उनका अहित न करके सरक्षण करे । तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे ॥५६३॥

शरीरके आलस्यसे या इन्द्रियोंके इधर-उधर लग जानेसे अथवा आत्माकी अन्यमन-स्कृतासे अथवा मनकी चपलतासे अथवा बुद्धिकी जड़तासे अथवा वाणीमें सौष्ठव (शुद्ध स्पष्ट उच्चारण) की कमीके कारण आपके स्तवनमें मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है, वह मिथ्या हो । क्योंकि देवता तो अपने प्रेमियोंकी भक्तिसे सन्तुष्ट होते हैं ॥५६४॥ जो गृहस्थ होते हुए भी देवपूजा किये बिना तथा मुनियोंकी सेवा किये बिना भोजन करता है, वह महापापको खाता है ॥५६५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें अभिषेक, पूजन विधि नामका छत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

नमस्करमौलिमण्डलविलसद्गुणिकरणगनेऽस्मिन् ।

मरुणायतेऽङ्गमिषुगल यस्य स जीयास्त्रिनो देशः ॥४६६॥

सुरपतियुपतिध्रुवसाममरतरुमेरुजरीरुचिरम् ।

चरणमञ्जकिरणमाला यस्य स जयतास्त्रिनो जगति ॥४६७॥

पर्वः—

विजिज्जकुञ्जैर्योसिमन्वारमकरन्दस्य^१म्बकरयिसरसारधूसरपद्माम्बुज वैदग्ध्य-
परमपद् प्राप्तपादजय विजितमनसिज,
मात्रा—

पस्त्याममितगुणं जिन कमिस्त्रयापधिबोधाः स्तीति विपश्चित् ।

मनमसौ ननु काञ्चनमोक्षं तुल्यति हस्तेमधिचिरकोष्ठम् ॥४६८॥

स्तोत्रे यत्र महागुनिपदा^२ सफलेतिह्याम्बुधिपिधिपिदाः ।

मुमुक्षुमिप्तामनयधिबोधास्तत्र कथं ननु मादम्बेधा^३ ॥४६९॥

तदपि कथं किमपि जिन त्वयि यद्यपि शक्तिर्नास्ति तथा मयि ।

पदियं भक्तिर्मां मौनस्यं देवं^४ न काम कुदते स्वस्थम् ॥४७०॥

चतुष्पदी—

सुरपतिविवर्धितसंस्तव दक्षिणाक्षिणमय परमधामलम्बोदय ।

कस्तव जन्मुत्पन्नजन्मघहरचरण प्रयित्तुर्ना हतमनमय ॥४७१॥

[पूजनके पश्चात् जिन मगवान्की स्तुति करना चाहिए । अतः स्तुति करते हैं—]

स्तुति

नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके समूहमें जो हुए रत्नोंकी किरणोंके समूहकी इस
वाक्पद्धतिमें जिनके चरणगुणक सम्पत्ती की कभीकी तरह प्रतीत होते हैं वे जिनदेव जयन्त हों
॥४६६॥ जिनके चरणोंके मसोंकी कान्तिका समूह देवांगनाओंके कानोंमें धारण की गयी कल्पवृक्षकी

पुष्पित क्ताके सम्पर्कसे सुन्दर प्रतीत होता है, वे जिन मगवान् जातमें जयन्त हों ॥४६७॥

देवेन्द्रोंके मुकुटोंमें जो हुए मन्वार पुष्पके परागसे जिनके चरणकमल पाण्डुर हो गये हैं,
जो पाण्डित्यके सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, जिन्होंने बादमें जयकाम किया है, ऐसे कामदेवों के जिनेन्द्र देव !

जो अक्षय्यानी बिद्वान् तुम्हारे अपरिमित गुणोंका स्तवन करता है, वह निरवय ही
अक्षयीमें हाक्से सुमेरु पर्वतको तोड़नेका प्रयत्न करता है ॥४६८॥ समस्त शास्त्रकी समूहकी
विधिमें क्षुर, असीम ज्ञानधारी महामुनि भी जिसका स्तवन करनेमें, समर्थ नहीं हो सके, मेरे
समान अक्षय्यानी उत्तम स्तवन कैसे कर सकते हैं ॥४६९॥ हे जिन ! यद्यपि मेरेमें व्यापक स्तवन
करनेकी शक्ति नहीं है, तथापि कुछ कहता हूँ । क्योंकि मेरे मौन रहनेपर व्यापकी यह शक्ति मुझे
स्वस्थ नहीं रहने देती ॥४७०॥

इन्द्रने जिसका स्तवन किया, जिसने समस्त संसार-परिभ्रमणको नष्ट कर दिया, मोक्षके
साथ ही जिसने आत्मिक गुणोंको प्राप्त किया, जिसके चरण पापोंके नाशक हैं, और जिसने जिनस
मनुष्यके मनको नष्ट कर दिया है ऐसे हे जिनेन्द्रदेव ! कौन पापी आपके गुणसमूहका विस्तारसे
कवन कर सकता है ॥४७१॥

१ कर्मात्मा । २ प्रमाण । ३ सम्पत्ती की विवर प्रमाण । मन्वारपुष्पाणां समूह-प्रमाणकारिण
वृक्षः इत्यम्बुद्वय । ४ जीवम् । ५ देव न भ-ज ज ।

जय निखिलनिलिम्पालोपकल्प जगतीस्तुतकीर्तिकलत्रतल्प^१ ।
 जय परमधर्महर्म्यावतार लोकत्रितयोद्धरणैकसार ॥५७२॥
 जय लक्ष्मीकरकमलार्चिताङ्ग सारस्वतरसनटानटधरङ्ग ।
 जय बोधमध्यसिद्धाखिलार्थ मुक्तिश्रीरमणीरतिकृतार्थ ॥५७३॥
 नमदमरमौलिमन्दरतटान्तराजत्पदनखनक्षत्रकान्त ।
 विबुधस्त्रीनेत्राश्रुजविवोध मरकध्वजधनुरुद्धवनिरोध ॥५७४॥
 बोधत्रयविदितविधेयैतन्त्र का नामापेक्षा तव परत्र ।
 दधतः प्रबोधमसुभृजजनस्य गुरुरस्ति कोऽपि किमिहारुणस्य^२ ॥५७५॥
 निजबीजवलात्मलिनापि महति धीः शुद्धि परमामभव भजति ।
 युक्तेः कनकाश्मा भवति हेम किं कोऽपि तत्र विवदेत नाम ॥५७६॥

हे समस्त देवोंकी स्तुतिके ग्रन्थरूप, और हे समस्त पृथिवीके द्वारा स्तुत कीर्तिरूपी स्त्रीके विश्रामके लिए शय्यारूप ! आपकी जय हो । हे परम धर्मरूपी महलके अवतार और हे तीनों लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ ! आपकी जय हो ॥५७२॥

जिनका अङ्ग लक्ष्मीके कर-कमलोंसे पूजित है, जो सारस्वत रसरूपी नटके लिए रंगमचके तुल्य हैं, जिनके केवलज्ञानमें समस्त पदार्थ प्रतिभासित हैं तथा जो मुक्तिश्रीरूपी स्त्रीके साथ रमण करके कृतार्थ हो चुके हैं ऐसे हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो ॥५७३॥

नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटरूपी सुमेरुके प्रान्तभागमें जिनके पद नख चन्द्रमाकी भाँति शोभित होते हैं, जो देवागनाओंके नेत्ररूपी कमलोंको विकसित करते हैं और जो कामदेवके धनुषके उत्सवको रोकते हैं । ऐसे काम-विजेता हे जिनेन्द्र देव ! आप जयवन्त हो ॥५७४॥

हे जिन ! आपने मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा जानने योग्य वस्तुओंको जान लिया है । इस लिए आपको किसी गुरुकी आवश्यकता नहीं हुई । ठीक ही है प्राणियोंको जगाने-वाले सूर्यका भी क्या कोई गुरु है ? हे भवरहित ! महापुरुषोंकी मलिन बुद्धि भी अपने ज्ञान ध्यान आदिके बलसे अत्यन्त शुद्ध हो जाती है । उपायसे स्वर्णपाषाण स्वर्णरूप हो जाता है इसमें क्या किसीको विवाद है ? ॥५७५-५७६॥

भावार्थ—आशय यह है कि तीर्थङ्कर जन्मसे ही तीन ज्ञानके धारी होते हैं, अतः अपने ज्ञानबलसे ही वे जानने योग्य वस्तुओंको जान लेते हैं, उन्हें किसी गुरुसे शिक्षा लेनेकी आवश्यकता नहीं होती । बादको दीक्षा लेकर और तपस्या करके वे चार घातिया कर्मोंका नाश करके पूर्णजानी हो जाते हैं । अतः जैसे खनिसे सोना अशुद्ध ही निकलता है किन्तु उपाय करनेसे मलको दूर करके वही सोना शुद्ध हो जाता है, वैसे ही ससारी आत्मा अशुद्ध होते हुए भी तपस्याके द्वारा शुद्ध हो जाता है और शुद्ध होते ही उसके ज्ञानादिक गुण पूर्ण विकसित हो जाते हैं और तब वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है ।

[किन्तु मीमांसक किसी पुरुषका सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करता । उसका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धिमें कुछ विशेषता मानी जा सकती है किन्तु उसका यह मतलब नहीं है कि वह अतीत और अनागतको भी जाम सके, उसे उत्तर देते हुए कहते हैं—]

परिमाणमियातिशयेन यियति मतिरुचैर्मरि गुदतामुपैति ।
 तद्विभवेविगिन्या द्विषस्य विद्याम्यति चित्ते देयं कस्य ॥२७७॥
 कोपितो यदि वाम्बुति विर्तिमर्षिति सुरगुंरुमीगुंम्येयं पतति ।
 वैतम्य बाह्यप्राहारदितमुपयोगि कस्य येन तथं विवित ॥२७८॥
 भूपयमयेनानततस्थकेषु धियेणो नियुर्जाति धियेर्गमेयु ।
 न पुनर्धिवि तद्विपरीतधर्मभासि प्रयीति तत्तस्य कर्म ॥२७९॥

जैसे परिमाणका अतिशय आकाशमें पाया जाता है वैसे ही बुद्धिका अत्यन्त विकास मनुष्यमें होता है । इसलिये भीमांसकने जो सर्वज्ञकी आलोचना की है वह हे देव । किसीके भी चित्तमें नहीं उतरती ॥२७७॥

भावार्थ—जिसमें उत्तर-चक्राय पाया जाता है उसका उत्तर-चक्राय कहीं अपनी अन्तिम सीमाको जवश्यक पहुँचता है । जैसे परिमाण (माप)में उत्तर चक्राय देला जाता है वह उसका अन्तिम उत्तर परमाणुमें पाया जाता है और अन्तिम चक्राय आकाशमें, क्योंकि परमाणुसे छोटी और आकाशसे बड़ी कोई वस्तु नहीं है । वैसे ही ज्ञान भी घटा-बढ़ता है किसीमें कम ज्ञान पाया जाता है और किसीमें अधिक । जब किसी मनुष्यमें ज्ञानका भी अन्तिम विकास अवश्य होता चाहिए और जिसमें उसका अन्तिम विकास होता है वही सर्वज्ञ है ।

यदि सत्स्य अचेतन प्रकृतिमें ज्ञान मामता है तो यह तो चार्वाकके बचनोंका ही प्रतिपादन हुआ, क्योंकि चार्वाक पञ्चभूतसे आत्मा और ज्ञानकी उत्पत्ति मानता है । और यदि चैतन्य बाह्य वस्तुओंको नहीं जानता तो हे विश्वप्रसिद्ध देव ! आप बतलावें कि वह कैसे किसीके लिये उपयोगी हो सकता है ? ॥२७८॥

भावार्थ—सत्स्य आत्मा मानता है और उसको चैतन्य स्वरूप भी स्वीकार करता है किन्तु चैतन्यको ज्ञान-दर्शनरूप नहीं मानता । उसके मससे ज्ञान बड़ प्रकृतिका धर्म है । इसीसे मुक्तब्रह्ममें चैतन्यक रहनेपर भी वह ज्ञानका अस्तित्व नहीं मानता । इसी बातको धेकर ऊपर प्रन्वकारने सत्स्यमतकी आलोचना की है ।

चार्वाकगुरु बृहस्पति पृथ्वी, अक, अग्नि, और वायु वस्तुसे ज्ञान बतलाता है किन्तु उनसे किन्तु धर्मवाले आत्मामें ज्ञान नहीं बतलाता । यह उस चार्वाकका महत्पाप है ॥२७९॥

भावार्थ—चार्वाक आत्मा नहीं मानता । उसका मत है कि पृथिवी अक आदि भूतोंके मिश्रणसे एक छक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे ज्ञेया आत्मा कहते हैं और क्षीरके नष्ट होनेपर उसके साथ ही वह छक्ति भी नष्ट हो जाती है । किन्तु पञ्चभूत और आत्माका स्वभाव निरन्तर अकाल है । ऐसा नियम है कि जो जिससे उत्पन्न होता है उसके गुण उसमें पाये जाते हैं, मगर पञ्चभूतोंका एक भी गुण आत्मामें नहीं पाया जाता और जो गुण आत्मामें पाये जाते हैं उनकी गन्ध भी पञ्चभूतोंमें नहीं मिलती है । फिर भी ज्ञानको आत्माका गुण नहीं मानता और उसे पञ्चभूतका कार्य बतलाता है । यह उसका कथन ठीक नहीं है ।

१ जिनविषये लिखा । २ ऐश्वर्य । ३ साक्ष्य । ४ ज्ञानम् । ५ अचेतने प्रमाणे ।
 ६ चार्वाकबचनेषु चतुर्भूतस्यानेषु । ७ क्षतिकः । ८ कार्यकारणम् । ९ एवं च । १० चैतन्ये । ११ हे विश्वाय । १२ अक । १३ चार्वाकगुरु बृहस्पति । १४ कथयति । १५ विधेयं ज्ञानम् । १६ आत्मनि धर्मं न कथयति । १७ तस्मात् अचेतनात् विपरीतधर्मसाक्षिणि । १८ चार्वाकस्य पापं वर्तते ।

विज्ञानप्रमुखाः सन्ति विमुचि^१ न गुणाः किल यस्य नयोऽत्र वाचि ।
 तस्यैष पुमानपि^२ नैव तत्र दाहादहनः^३ क इहापरोऽत्र ॥५८०॥
 धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ननु निपगृहादि गिरिशः^४ करोति ।
 चित्रं तथापि यत्तद्वचांसि लोकेषु भवन्ति महायशांसि ॥५८१॥
 पुरुषत्रयमवलासक्तमूर्त्तिं तस्मात्परस्तु गतकार्यकीर्तिः ।
 एवं सति नाथ कथं हि सूत्रमाभाति हिताहितविषयमत्र ॥५८२॥
 सोऽहं^५ योऽभूव वालवयसि निश्चिन्वन्तानिमत जहासि ।
 संतानोऽप्यत्र न वासनापि यद्यन्वयभावस्तेन नापि ॥५८३॥
 चित्तं^६ न विचारकमक्षजनिमतमखिलं सविकल्पं स्वांशपतितम् ।
 उदितानि^७ वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्याः कथमात्महितान्युशन्ति ॥५८४॥

जिस सांख्यका यह सिद्धान्त है कि मुक्त आत्मामें ज्ञानादिक गुण नहीं हैं उसके मतमें आत्मा भी नहीं ठहरता; क्योंकि जैसे बिना उष्ण गुणके अग्नि नहीं रह सकती वैसे ही ज्ञानादिक गुणोंके बिना आत्मा भी नहीं रह सकता ॥५८०॥

[इस प्रकार सांख्य मतकी आलोचना करके ईश्वरकी आलोचना करते हैं—]

महेश्वर पृथ्वी, पहाड़ वगैरहको तो बनाता है किन्तु मकान, घट वगैरहको नहीं बनाता । आश्चर्य है फिर भी उसके वचन लोकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं ॥५८१॥

भावार्थ—आशय यह है कि यदि ईश्वर पृथ्वी, पहाड़ वगैरहको बना सकता है तो घट, पट वगैरहको भी बना सकता है फिर उसके लिए कुम्हार और जुलाहे वगैरहकी जरूरत नहीं होनी चाहिए । जैसे उसने मनुष्योंके लिए पृथ्वी वगैरहकी सृष्टि की वैसे ही वह इन चीजोंको क्यों नहीं बना देता । इससे मालूम होता है कि जगत्का कोई रचयिता नहीं है, आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य उसकी बातको माने जाते हैं ।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश तो तिलोत्तमा, लक्ष्मी और गौरीमें आसक्त है तथा जो परम शिव है वह कायरहित है । हे नाथ ! ऐसी स्थितिमें उनसे हित और अहितको बतलानेवाले सूत्रोंका उद्गम कैसे हो सकता है ॥५८२॥

[इस प्रकार वैदिक मतकी आलोचना करके बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं—]

जो मैं वचनमें था वही मैं हूँ ऐसा निश्चय करनेसे क्षणिक मत नहीं ठहरता । यदि कहा जाये कि सन्तान या वासनासे ऐसी प्रतीति होती है कि मैं वही हूँ तो न तो सन्तान ही बनती है और न वासना ही सिद्ध होती है । यदि ऐसा मानते हो कि पूर्व क्षणका उत्तर क्षणमें अन्वय पाया जाता है तो आत्माको ही क्यों नहीं मान लेते । तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला निर्विकल्प

१ मुक्तजीवे विज्ञानादयो गुणा न वर्तन्ते । २ जीवोऽपि नास्ति तस्मिन् मते । ३ उष्णत्व बिना यथाऽग्निर्नास्ति तथा विज्ञानादिगुणान् बिना आत्माऽपि नास्ति । ४ गिरिप्रभृति यदि वस्तु सृजति तर्हि घटादयोऽपि सृजति । ५ घट । ६ शिव । ७ पर परम एव शिव । ८ कायरहित । ९ 'सोऽहम्' इति मन्यसे चेत्तर्हि त्व क्षणिकमतं जहासि । यो जीव प्रथमसमये विष्वक् प्राप्त तस्माज्जीवादयः जीवो नोत्पद्यते एवविध सन्ताननिषेधोऽस्ति तव मते । यथा सन्तानो नास्ति तथा वासनाऽपि नास्ति । तर्हि कथमुच्यते वासनाया ज्ञानमुत्पद्यते । १० ज्ञानम् । 'तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पमपि न विचारकम्, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभि-
 लापससर्गरहितत्वात् ।'—अष्टसह० पृ० ७४ । ११ बौद्धोक्तानि । १२ वदन्ति ।



अद्वैतं तत्त्व यति कोऽपि सुधियां धियमातनुते न सोऽपि ।
 यत्पक्षेऽमुदृष्टास्तयचनसस्थाः कुतोऽत्र शिष्यशर्मसवन ॥१८५॥
 हेतावनेकधर्मप्रसूदिराख्याति जिमेभ्यस्तत्त्वसिद्धिम् ।
 अभ्यस्तुनरजिह्वमतिव्यतीतमुद्धाति सर्वमुत्तमयनिकेत ॥१८६॥

ज्ञान तो विचारक नहीं है और जो सविकल्प ज्ञान है वह निर्विकल्पके द्वारा गृहीत वस्तुमें ही प्रवृत्ति करता है । तथा वचन वस्तुको नहीं कहते । ऐसी स्थितिमें बौद्ध मतानुयायी कैसे आत्म-हितका कथन करते हैं ॥१८५-१८६॥

माधार्थ—बौद्ध क्षणिकवादी हैं । उनके मतसे प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमें नष्ट होती है । किन्तु वस्तुके प्रथम क्षणके बाद हो जानेपर दूसरा क्षण और दूसरे क्षणके नष्ट हो जानेपर तीसरा क्षण उत्पन्न होता रहता है और इस तरहसे क्षणसन्तान चळती रहती है, ऐसा वे मानते हैं । किन्तु यदि वस्तुके पूर्व क्षण और उत्तर क्षणमें एकत्व नहीं माना जाता है तो वह सन्तान बन नहीं सकती और यदि एकत्व माना जाता है तो वस्तु स्थायी सिद्ध हो जाती है । उसी एकत्वके कारण कहे जानेपर भी हमें वचनकी बातोंकी स्मृति रहती है और हममें-से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि जो मैं कहना या खरी मैं खर युवा या युव है । वह तो हुई बौद्धके क्षणिकवादी की आलोचना । बौद्ध ज्ञानको निर्विकल्पक मानता है और उसे ही वस्तुमाही कहता है । तथा निर्विकल्पकके बाद जो सविकल्पक ज्ञान होता है उसे अवस्तुमाही कहता है । निर्विकल्पकका विषय क्षणिक निर्लक्ष्य वस्तु है जो बौद्धकी दृष्टिसे वास्तविक है और सविकल्पक स्थिर स्थूलकार वस्तुको ग्रहण करता है जो उसकी दृष्टिसे अवास्तविक है । चूंकि शब्द भी स्थिर स्थूलकार वस्तुको ही कहता है, निर्लक्ष्य वस्तुको वह कह ही नहीं सकता । अतः बौद्ध शब्दको भी अवस्तुमाही मानता है, इसी लिए बौद्धमतमें शब्दको प्रमाण नहीं माना गया । ऐसी स्थितिमें अब निर्विकल्पक और सविकल्पक अविविचारक हैं और शब्द वस्तुमाही नहीं है तब बौद्ध मतमें हिताहितका विचार और उपदेश कैसे सम्भव हो सकता है ?

[अब अद्वैतवादकी आलोचना करते हैं—]

हे शिव सुखके मन्दिर ! जो अद्वैत तत्त्वका कथन करता है वह भी बुद्धिमानोंके विचारोंका प्रभावित नहीं करता; क्योंकि अद्वैतवादमें एक, हेतु और दृष्टान्त बगैरह कैसे बन सकते हैं ? अद्वैतकी सिद्धिके लिए हेतुको माग देनेसे उसके साथमें हेतुके फलपरमत्व सपक्ष-सत्य आदि अनेक धर्म मानने पड़ते हैं और उनके माननेसे विनेश्वरके द्वारा कहे गये द्वैत तत्त्वकी ही सिद्धि होती है—अद्वैतकी नहीं । अतः हे अनेकान्त धर्मके प्रेता ! तुम्हारे द्वारा कहे गये तत्त्वोंके सिवा शेष सब बुद्धिसे परे प्रतीत होता है, वह बुद्धिको नहीं छगता ॥१८५-१८६॥

१ परावर्तनसमयसम्बन्धि । 'हीनोत्तरेण सिद्धिरनेकैर्द्वैतं स्याद्वैतुल्यमप्यो' । हेतुना चैव विना सिद्धिर्द्वैतं नात्र मायतो न किम् ॥ १९ ॥—जायसीमता । २ हे अनेकान्तधर्मनिकेत ।

मनुजत्वपूर्वनयनायकस्य भवतो भवतोऽपि गुणोत्तमस्य ।
 ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते जडजं मौक्तिकमपि रंहन्ति ॥५८७॥
 नामेषु बहुत्वं यः सहेत पर्यायविभूतिष्वपि महेत^१ ।
 नूनं द्रुहिणादिषु दैवतेषु कं^२ तस्य स्फुटति तथाविधेषु ॥५८८॥
 दीक्षासु^३ तपसि वचसि त्वयि^४ नयदिहैक्यं सकलगुणैरहीन^५ ।
 तस्मादवैमि^६ जगतां त्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ॥५८९॥
 देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुखचित्तो यदि विदलितमर्दनविशिख ।
 निन्द्यः स एव धूके दिवापि चिद्व^७ शीनमुपालभते न कोऽपि ॥५९०॥
 निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन दिशसि^८ निकामं कामितानि ।
 नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो^९ चकास्ति ॥५९१॥

भावार्थ—अद्वैतवादी केवल एक ब्रह्म तत्त्व ही मानते हैं किन्तु बिना द्वैतके अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि अद्वैतकी सिद्धि बिना प्रमाणके तो हो नहीं सकती और प्रमाण माननेसे अनुमान वगैरह प्रमाण मानने पड़ेंगे । तथा बिना पक्ष हेतु और दृष्टान्तके अनुमान नहीं होता और इन सबके माननेसे अद्वैत नहीं ठहरता ।

हे देव ! आप गुणोंसे श्रेष्ठ है, फिर भी चूँकि आप अनेकान्त नयके नायक होनेसे पूर्व मनुष्य थे इसलिए जिन लोगोंकी मति द्वेषसे कलुषित है वे मोतीको इसलिए छोड़ देते हैं चूँकि वह जड़ या जलसे पैदा हुआ है ॥५८७॥ हे पूज्य ! जिन्हें अनुक्रमसे होनेवाले बहुत आप्तोंकी मान्यता सख नहीं है निश्चय ही अवतार रूप ब्रह्मादि देवताओंके सामने वे अपना सिर फोड़ते हैं । अर्थात् अनेक देवताओंको जब वे नहीं मानते और फिर भी ब्रह्मादिक देवताओं को सिर नवाते हैं अतः उनका उन्हें सिर नवाना सिर फोड़ना ही जैसा है ॥५८८॥

हे सकलगुणशाली ! आपके चारित्र्यमें, तपमें और वचनमें एकरूपता पायी जाती है अर्थात् जैसा आप कहते हैं वैसा ही आचरण भी करते हैं । इस लिए हे देवताओंसे पूजित चरण ! आप ही तीनों लोकोंके स्वामी हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५८९ ॥

कामके वाणोंको चूर्ण कर डालनेवाले हे देव ! फिर भी यदि कोई तुमसे विमुख रहता है तो वही निन्दाका पात्र है, क्योंकि दिनके समय उल्लूके अन्धे हो जानेपर कोई भी सूर्यको दोष नहीं देता ॥ ५९० ॥

हे जिन ! आपके पास कुछ भी नहीं है फिर भी आप जगत्की किन इच्छित वस्तुओंको नहीं देते ? अर्थात् सभीको इच्छित वस्तु देते हैं । किन्तु इसमें कोई अचरजकी बात नहीं है, क्योंकि आकाशके पास कुछ भी नहीं है फिर भी क्या आकाशसे वर्षा होती नहीं देखी जाती ॥ ५९१ ॥

१ अयं जिन पूर्व नर । २ 'तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वा येऽवगायन्ति कुल प्रकाश्य । तेऽद्यापि नन्वा-
 समनमित्यवश्यं पाणौ कृत हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥'—विपापहार । हरन्ति आ । त्यजन्ति । ३ अनुक्रमेणोत्पन्नेषु ।
 ४ हे पूजाप्राप्त । ५ मदनकम् । ६. बहुषु हरिहरादिषु । ७ चारित्र्येषु । ८ त्वयि विषये निश्चयेन चारित्र्यादी-
 नामैक्य वर्तते । ९ परिपूर्ण । १०. अहं जानामि । ११ हे चूर्णीकृत मदनवाण । १२ धूके अन्धे सति इन
 सूर्यं न कोऽपि निन्दति । १३ अपि तु सर्वाणि वाञ्छितवस्तूनि त्वं ददासि । १४ किं न भवति । 'तुङ्गात्
 फलं यत्तर्दकचनाच्च प्राप्य समृद्धाघ्नं घनेश्वरादे । निरम्भसोऽप्युन्मत्तमादिवाद्देनैकापि निर्याति धुनीं पयोधे
 ॥ १९ ॥—विपापहार ।

पद्यतिका—

इति तद्वैश्वदेवमाय स्मरणात्माय त्रिगुणपतिमतिकेतन ।
मम विश्व जगदीश्व भगवन्निवेश स्वल्पवस्तुतिष्ठत्य जिन ॥१६१॥

पद्या—

अमरतदधीनेजानन्ते महोत्सवधाम्ना
स्मरन्मयधाम्नामृतधाम्ना परमोऽर्धमा ।
अव्ययव्या कर्मांराती गते^१ च कृपात्मया
मिति विसृष्टम्यापारस्त्वं तथापि भवान्महान् ॥१६२॥
अनन्तगुणसंनिधौ^२ नियतबोध संप्रतिषी
भुताभ्युपसस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते ।
जिनेश्वर सतीष्ठो त्वयि मयि स्फुटं ताष्ठो
कथं सद्यनिश्चयं तद्विदमस्तु वस्तुप्रपम् ॥१६३॥
“तद्वत्सममुख”^३ स्वाहम्वाधीपयस्तवनोभिते
त्वयि गुणगण्यापात्रौ^४ स्तोत्रैश्चरित्य हि माधव ।
प्रणतिविषये व्यापारेऽस्मिन्गुण सुसमे जग-
कथमयमवागास्ता^५ स्वामिचतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥१६४॥

इसलिय हे मोक्षपति । हे कामके नाशक । हे तीनों लोकोंके स्वामियोंकी बुद्धिके धाम ।
हे धान्तिके धागार । हे जगत्के स्वामी जिनेन्द्रदेव । मुझे अपने चरणोंमें नमस्कार माव रखने
वाला हृदय मदान करें अवशत् मेरा हृदय सदा आपके चरणोंमें झीन रहे ॥ १६२ ॥

हे जिनदेव । देवागमाओंके नेत्रोंको धानन्वित करनेके लिये आप धानन्ददायक
चन्द्रमा हैं और कामके मदकूपी अभकारको नष्ट करनेके लिये अकृष्ट सूर्य हैं । कर्मरूपी शत्रुके
लिये आपके हृदयमें मोड़ी भी दया नहीं है किन्तु जो आपको नमस्कार करता है उस पर
आप कृपाशु हैं । इस प्रकार विपरीत धाचरण करनेपर भी आप महान् हैं ॥ १६३ ॥

आप अनन्त गुण युक्त हैं और मैं मोक्षसे परिमित ज्ञानका स्वामी हूँ । आपके समुद्र
विद्वानोंने आपका स्तवन किया है और मेरे पास परिमित शब्द हैं और परिमित बन्ध हैं । हे
जिनेश्वर । आपमें और सुसमे इतने स्पष्ट अन्तरके होते हुए हम दोनों समान कैसे हो सकते हैं ।
इस लिये मैं और आप दोनों दो वस्तु हैं ॥ १६४ ॥ अतः हे अनुपम । जब आप उस प्रकारके
विद्वानोंके द्वारा स्तवन करनेके योग्य हैं, तो मग्न भूर्त्सका तब स्तवनोसे, जो हमारे गुण-
समूहको छूते भी नहीं, आपका स्तवन करना व्यर्थ है । किन्तु स्तवन करना कठिन होते हुए भी
आपको नमस्कार करना तो सरल है उसमें मैं मूक कैसे रह सकता हूँ । अतः हे स्वामिन् । मैं
आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १६५ ॥

१ मोक्ष । २ धामनिष्कलक । ३ कामवदमयो मोक्षी जगन्कारा तस्य विनाशक । ४ कविता ।
५ सूर्य । ६ नमो नरे । ७ विपरीत । ८ त्वयि । ९ मयि । १ स्तोत्रैर्माधुषो वदस्व । ११ अ-
रुद्रपञ्चाभोमार्गबोधे । १२ अरुद्राजमूर्ति स्तोत्रैरुक्तम् । १३ मीनवान् कथं तिष्ठन्तु अर्थ मत्तयाज ।

जगन्नेत्रं पात्रं निखिलविषयज्ञानमहसां^१
 महान्तं त्वां सन्तं^२ सकलनयनीतिस्मृतगुणम् ।
 महोदारं सारं चिन्ततद्दयानन्दविषये
 ततो याचे नो चेद्भवसि भगवन्नर्थिविमुखः ॥५६६॥
 मनुजदिविजलदमीलोचनालोकलीला-^३
 श्रिरमिह^४ चरितार्थास्त्वत्प्रसादात्प्रजाताः ।
 हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वात्
 सहवसतिसनाथं^५ छात्रमित्रे विधेहि ॥५६७॥
 इत्युपासकाध्ययने स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।
 'सर्वाक्षरनामाक्षरमुख्याक्षराद्ये' कवर्णविन्यासात् ।
 'निगिरन्ति जपं केचिदहं तु' सिद्धक्रमैरेव ॥५६८॥
 पातालमर्त्यखेचरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य ।
 'अधिगानात्सिद्धेः'^६ समवाये देवयात्रायाम्^७ ॥५६९॥

हे भगवन् ! आप जगत्के नेत्र हैं, समस्त पदार्थोंके ज्ञानरूपी तेजके स्थान हैं, महान् हैं, समस्त शास्त्रोंमें आपके गुणोंका स्मरण किया गया है, चिन्त मनुष्योंके हृदयोंको आनन्द देनेके विषयमें आप महान् उदार हैं अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ । आशा है आप याचकसे विमुख नहीं होंगे अर्थात् मेरी प्रार्थना पूरी करेंगे ॥ ५६६ ॥

भगवन् ! आपके प्रसादसे मानवीय और दैवीय लक्ष्मीके नेत्रोंके द्वारा मेरे देखे जानेकी शोभा तो बहुत काल हुआ तभी चरितार्थ हो चुकी है । अब तो मेरा हृदय आपकी सेवाके लिए उत्सुक है इसलिए अब मेरे हृदयको अपने निवाससे सनाथ करो—मेरे हृदयमें बसो ॥५६७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें स्तवन विधि नामक सैंतीसवों कल्प समाप्त हुआ ।

[अब जप करनेकी विधि बतलाते हैं—]

जप विधि

कोई 'णमो अरहताण' आदि पूरे नमस्कार मन्त्रसे जाप करना बतलाते हैं । कोई अरहन्त सिद्ध आदि पञ्च परमेष्ठीके नामाक्षरोंसे जप करना बतलाते हैं । कोई पञ्च परमेष्ठीके वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरोंसे जप करना बतलाते हैं । कोई 'ओं' अथवा 'अ' आदि एक अक्षरसे जप करना बतलाते हैं, किन्तु मैं (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पञ्चनमस्कार मन्त्रसे ही जप करना बतलाता हूँ ॥५६८॥

पाताल लोकमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, मनुष्योंमें, विद्याधरोंमें, वैमानिक देवोंमें, जनसमाजमें और देवयात्रामें सिद्धिदायक होनेसे पञ्चनमस्कारमन्त्रका सर्वत्र अति आदर है ॥५६९॥

१ तेजसा पात्र स्थानम् । २ समस्तसिद्धान्तचिन्तितगुणम् । ३ शोभा । ४ सत्यार्थ । ५ सह निवाससहित मदीय हृदय कुरु । ६ छात्रा एव मित्राणि यस्य । ७ 'णमो अरहताण' इत्यादि पञ्चत्रिंशत् । ८ अरहन्त सिद्ध इत्यादि । ९ अ सि आ उ सा । १०. ॐ अथवा अ । ११ कथयन्ति । १२ अनादिसिद्ध-पञ्चत्रिंशदक्षर । १३ अधिकप्रतिपत्ते—आदरात् । अविगानात् इत्यपि पाठ । अविगानात्—अविप्रतिपत्ते । १४ समाजे—संघमेलापके । १५ तीर्थंकरपूजायाम् ।

पुष्पैः पपभिरम्बुजैर्बीजस्पर्शार्कैः काम्तरत्नैर्वा ।
 निष्कम्पिताक्षयक्षयः पर्यङ्गस्थो जपं कुर्यात् ॥६००॥
 अङ्गुष्ठे मोक्षार्थं तर्ज्यां (म्या) साधु बहिरिष नयतु ।
 शतरास्वङ्गुलिषु पुनर्बाहिरस्तस्यैहिकापेयी ॥६०१॥
 वधसा या मनसा या कार्यो जाप्याः समाहितस्वाप्सैः^१ ।
 शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रसंख्यं द्वितीये तु ॥६०२॥
 निपमितकरणग्रामाः स्थानासनमानसप्रधारकाः ।
 पद्यप्रयोगनिपुणः सम्यक्सिद्धो भवेद्रोपहाः ॥६०३॥

पर्यङ्ग आसनसे बैठकर, इन्द्रियोंको नियंत्रण करके पुण्यसे या अङ्गुलीके पक्षसे या कमल-
 गङ्गोसे या सोने अथवा सूर्यकान्त मणिके दानोसे अथवा रत्नोसे नमस्कारमन्त्रका जप करना
 चाहिए ॥६००॥

मोक्षके अभिलाषी अर्पणार्कको अङ्गुष्ठपर मास्यको रत्नकर अङ्गुष्ठके पासवाली तन्नी अङ्गुलीके
 द्वारा सम्यक् रीतिसे बाहरकी ओर जप करना चाहिए । और इस अक्षेपमन्त्री किसी धूम कामना
 की पूर्विके अभिलाषीको शेष अङ्गुलिओंके द्वारा बाहर या अन्दरकी ओर जप करना चाहिए ॥६०१॥

मनको स्थिर करके वचनसे या केवल मनसे जप करना चाहिए । बौद्ध-बौद्धकर जप करने-
 से सौगुना पुण्य होता है, किन्तु मन-ही-मनमें जप करनेसे हजारगुना पुण्य होता है ॥६०२॥

जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है और स्थान, आसन व मनके संचारको जानता
 है तथा द्वातोच्छ्वासके प्रयोगमें सिद्धहस्त होता है, वह सर्वज्ञ होकर सिद्ध पद प्राप्त
 करता है ॥६०३॥

माचार्य—आशय यह है कि आपके लिये इन्द्रियोंको वशमें करना आवश्यक है, उसके
 बिना आपमें मन नहीं रुका सकता और बिना मन रुकाये जप हो भी नहीं सकता । क्योंकि
 यदि मुँहसे मन्त्र बोलते रहने और हाथोंसे गुरिया सरकाते रहनेपर भी मन कहीं और भटकता है
 तो वह जप बेकार है । ऊपर जो मनसे और वचनसे जप करना बताया है उसका यह मतलब
 नहीं है कि वचनसे किये जानेवाले जपमें मनका छुट्टी रहती है । मन तो हर हाकूममें उसीमें
 रुका रहना चाहिए । किन्तु मनसे किये जानेवाले जपमें वचनका उपचारण नहीं किया जाता
 और मन-ही-मनमें जप किया जाता है । अतः प्रत्येक प्रकारके जपके लिये इन्द्रियोंपर काबू होना
 आवश्यक है । दूसरे, स्थान कैसे होना चाहिए, आसन किस प्रकार रखाया चाहिए, मन्त्रोंमें
 मनका संचार किस प्रकार करना चाहिए—ये सब बातें भी जप करनेवालेका ज्ञात होनी चाहिए ।
 तथा जप करते समय श्वासकी गति कैसी होनी चाहिए, कितने समयमें श्वास रुकना चाहिए और

१ वसन्तपट्टा १ मृगशिरा १ ३ एम्पाहिपुस्वामो अ आ. क. नु । 'विचित्रज्ञानमन्त्रो विविच्यो
 दपमिर्गुर्वा । उद्योगः स्वच्छतुभ्यः साहसो मानवः' इत्यतः ॥-मन्त्रार्ति २ ८९ । 'वाचायुधम् पुनर्वा
 वायो जप्यं स वाचिवः । पुण्यं यत्पुण्यं धीमताः सहस्रपुण्यवाहेन ॥ ३४ ॥-अवधारणा अ १ ।

इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थम् ।
 मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ॥६०४॥
 मन्त्राणामखिलानामयमेकः कार्यरुद्धवेत्सिद्धः ।
 'अस्यैकदेशकार्यं' परे तु कुर्युर्न ते सर्वे ॥६०५॥
 कुर्यात्करयोन्यासं कनिष्ठिकान्तः प्रकास्युगलेन ।
 तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधिविधातव्य ॥६०६॥
 संपूर्णमतिस्पष्टं सनादमानन्दसुन्दरं जपतः ।
 सर्वसमीहितसिद्धिर्निःसंशयमस्य जायेत ॥६०७॥

कब छोड़ना चाहिए, इस क्रियाका अच्छा अभ्यास होना चाहिए । जो इन सब बातोंका अभ्यासी होकर जप करता है वह सच्चा ध्यानी बन कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

मुनि भी मोक्षकी प्राप्तिके लिए इसी पैंतीस अक्षरोंके नमस्कारमन्त्रको सदा विधिपूर्वक जपते हैं ॥६०४॥ यह अकेला ही सब मन्त्रोंका काम करता है किन्तु अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी काम नहीं करते ॥६०५॥

[जप प्रारम्भ करनेसे पूर्व सकलीकरण विधान]

दोनों हाथोंकी अँगुलियोंपर अँगूठेसे लेकर कनिष्ठिका अँगुलीतक दो प्रकारसे मन्त्रका न्यास करना चाहिए । उसके पश्चात् हृदय, मुख और मस्तकका सकलीकरण विधि करना चाहिए ॥६०६॥

भाचार्य—‘ॐ ह्रा णमो अरहताण ह्रा अगुष्ठाभ्या नमः, यह मन्त्र पढ़कर दोनों अँगूठोंको पानीमें डुबोकर शुद्ध करे । ‘ॐ ह्रीं णमो सिद्धाण ह्रीं तर्जनीभ्या नमः’ इस मन्त्रको पढ़कर दोनों तर्जनी अँगुलियोंको शुद्ध करे । ‘ॐ ह्रू णमो आइरियाण ह्रू मध्यमाभ्या नमः’ इस मन्त्रको पढ़कर दोनों बीचकी अँगुलियोंको शुद्ध करे । ‘ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाण ह्रौं अनामिकाभ्या नमः’ इस मन्त्रको पढ़कर दोनों अनामिका अँगुलियोंको शुद्ध करे । ‘ॐ ह्रं णमो लोए सव्वसाहूण ह्रं कनिष्ठिकाभ्या नमः’ इस मन्त्रको पढ़कर दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंको शुद्ध करे । फिर ‘ॐ ह्रीं ह्रू ह्रौं ह्रं करतलकरपृष्ठाभ्या नमः’ इस मन्त्रको पढ़ दोनों हथेलियोंको दोनों तरफसे शुद्ध करे । ‘ॐ ह्रा णमो अरहताण ह्रा मम शीर्षं रक्ष रक्ष स्वाहा’ इस मन्त्रको पढ़कर मस्तकपर पुष्प डाले । ‘ॐ ह्रीं णमो सिद्धाण ह्रीं मम वदन रक्ष रक्ष स्वाहा’ इस मन्त्रको पढ़कर अपने मुखपर पुष्प डाले । ‘ॐ ह्रू णमो आइरियाणं ह्रू हृदय रक्ष रक्ष स्वाहा’ इस मन्त्रको पढ़कर छातीपर पुष्प डाले । ‘ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम नाभिं रक्ष रक्ष स्वाहा’ इस मन्त्रको पढ़कर नाभिका स्पर्श करे । ‘ॐ ह्रं णमो लोए सव्वसाहूण ह्रं मम पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा’ इस मन्त्रको पढ़कर पैरोंपर पुष्प डाले । इस तरह यह सकलीकरण क्रिया मन्त्र जपनेसे पूर्व करना चाहिए ।

[नमस्कार मन्त्रके जपका फल तथा माहात्म्य]

जो आनन्दपूर्वक प्राणवायुके साथ सम्पूर्णमन्त्रका अत्यन्त स्पष्ट जप करता है उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥६०७॥

मन्त्रोऽयमेव सेव्यः परत्र मन्त्रे फलोपलभ्यतेऽपि ।

पद्यप्यग्रे विदपी फलति तथाप्यस्य सिध्यते मूलम् ॥६०८॥

अत्रामुत्र च निधत्त कामितफलसिद्धये परो मन्त्रः ।

नामूहस्ति भविष्यति गुरुपद्मकमायकान्मन्त्रात् ॥६०९॥

अभिषिप्तकामयेनौ दुरितकुमपायकं हि मन्त्रेऽस्मिन् ।

दद्याद्वरफले सति परत्र मन्त्रे कथं सज्यतु ॥६१०॥

इत्य मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकेशगर मन्त्रो नियम्य ।

सम्पद्यप विवक्षत सुधिया प्रयत्नाद्भोक्तव्येऽस्य कृतिन किमसाध्यमस्ति ॥६११॥

इत्युपासकप्यग्रे अपविर्निर्माष्ट्रिशुभः कल्पः ।

आदिष्यासुः परज्योतिरीप्सुस्तन्नाम शाश्वतम् ।

इम ध्यानविधि यत्नावम्यस्यतु समाहितः ॥६१२॥

तत्त्वचिन्तामृताग्मोषी ब्रह्ममन्त्रया मना ।

बहिर्ध्यातौ ब्रह्म कृत्वा ग्रथमासनमाचरेत् ॥६१३॥

सूक्ष्मप्रार्थयमायामः सर्वसर्वाङ्गसचरा ।

प्रायेत्कीर्णं श्वासीत ध्यानानम्यसुखां सिद्धम् ॥६१४॥

अन्य मन्त्रोंसे फल प्राप्ति हानेपर भी इसी नमस्कारमन्त्रकी आराधना करनी चाहिए ।

क्योंकि यद्यपि वृक्षके ऊपरके भागमें फल लगते हैं फिर भी उसकी जड़ ही सीधी ज़मीन है ।

जबान् यह मन्त्र सब मन्त्रोंका मूल है इसलिये इसीकी आराधना करनी चाहिए ॥६०८॥

पंच परमेष्ठीके बावजूद इस णमोकार मन्त्रके सिवा इस लोक और परलोकमें इच्छित

फलको नियमसे देनेवाला दूसरा मन्त्र न आ, न है और न होगा ॥६०९॥ अब यह मन्त्र इच्छित

वस्तुके लिये कामयेन और पापकामी वृक्षके लिये आगके समान है तथा इष्ट और अइष्ट फलको

देता है तो अन्य मन्त्रोंमें क्यों लगा जाये । क्योंकि इसी एक मन्त्रका अप करना उचित है ॥६१०॥

इस प्रकार मनको मनमें और इन्द्रियोंके समूहको आन्मन्तरकी ओर करके तथा श्वासे-

च्छवासका नियमन करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सन्म्यग् अप करता है उस कर्मठ व्यक्तिके

लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी असाध्य नहीं है ॥६११॥

इस प्रकार उपासकप्यग्रे अपविधि नामका अड़तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब ध्यानकी विधि बताताते हैं]

ध्यानविधि

जो अर्हन्त भगवान्का ध्यान करनेका इच्छुक है और उस स्थायी मोक्ष स्थानको प्राप्त

करना चाहता है, उसे साधनान् होकर प्रयत्नपूर्वक आगे बढकरी गयी ध्यानकी विधिको अभ्यास

करना चाहिए ॥६१२॥ तत्त्वचिन्तारूपी अनुवक्त समुद्रमें मनका ऐसा डुबा दो कि वह बाह्य

बातोंमें एकदम बड़ हा जाये और फिर पचास या सत्सङ्गासन लगाओ ॥६१३॥

ध्यानरूपी कामन्दामुलका पान करते समय आसनायुको बहुत धीमेसे अन्तरकी ओर

से जाना चाहिए और बहुत धीमेसे बाहर निकालना चाहिए । तथा समस्त अंगोंका हलन्-पकन

एकदम बन्द होना चाहिए । उस समय ध्यानी पुरुष ऐसा मात्स हो मानो कोई फस्तरकी

१ आध्यात्मिकम् । २ बाह्यम् । ३ सूक्ष्मवृत्त्यासनिश्वासात् तस्य यमः प्रवेशः जायामो निर्गमः ।

४ सुप्तः निश्चलः । ५. पापावर्जितः ।

यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते ।
 तदा ज्योतिः स्फुरत्यन्तश्चित्ते चित्ते निमज्जति ॥६१५॥
 चित्तस्यैकाग्रता^१ ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः ।
 ध्येयमात्मारामं ज्योतिस्तद्विधिर्देहयातना^२ ॥६१६॥
 तैश्चरमाभरं मार्त्यं नाभसं भौममङ्गजम् ।
 सहतु समधीः सर्वमन्तरायं^३ द्वायातिगः ॥६१७॥
 नाक्षमिदमविधनाय न ह्नीवत्वममृत्यवे ।
 तस्मादक्लिश्यमानात्मा परं ब्रह्मैव चिन्तयेत् ॥६१८॥
 यत्रायमिन्द्रियग्रामो^४ व्यासङ्गस्तेनाविप्लवम् ।
 नाशुचीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ॥६१९॥

मूर्ति है ॥६१४॥ जब पाँचों इन्द्रियों बाह्य व्यापारको छोड़कर आत्मस्थ हो जाती हैं और चित्त अन्तरात्मामें लीन हो जाता है तब अन्तरात्मामें ज्योतिका उदय होता है ॥६१५॥

ध्यान आदिका स्वरूप

चित्तकी एकाग्रताको ध्यान कहते हैं । आत्मा ध्याता यानी ध्यान करनेवाला है । वही ध्यानके फलका स्वामी है । आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय है, ध्यानमें उन्हींका चिन्तन किया जाता है और शरीर तथा इन्द्रियोंपर काबू रखना ध्यानका उपाय है ॥६१६॥

ध्यान करते समय यदि कोई पशुकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे सुकुमाल मुनिपर शृगालीने किया था, या देवकृत उपसर्ग उपस्थित हो, जैसे भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीव व्यन्तर-ने किया था, या मनुष्यकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे पाण्डवोंपर उनके शत्रुओंने किया था, या आकाशसे अचानक बिजली, पानी और ओला बरसने लगे, या जमीन चुभने लगे अथवा शरीरमें ही कोई पीड़ा उत्पन्न हो जाये तो ध्यानी पुरुषको राग-द्वेष न करके सब प्रकारकी बाधाओं-को शान्तिपूर्वक सहना चाहिए ॥६१७॥ ऐसे समय असहनशीलता दिखानेसे विघ्न दूर नहीं हो सकता और न कायरता दिखलानेसे जीवन ही बच सकता है । अत किसी प्रकारका दुःख न मानकर परमात्माका ही ध्यान करना चाहिए ॥६१८॥

ध्यानके योग्य स्थान कैसा होना चाहिए

जहाँपर इन्द्रियोंको अन्य पदार्थमें आसक्तिरूपी चोरके द्वारा कोई बाधा प्राप्त न हो अर्थात् इन्द्रियाँ इधर-उधर न भटक कर अपनेमें ही आसक्त रहें, आत्माकी सिद्धिके लिए ऐसे ही स्थानपर ध्यान करना चाहिए ॥ ६१९ ॥

१ अन्तरात्मनि । २ मनसि । ३ 'गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येय वस्तु यथास्थितम् । एकाग्रचित्तन ध्यान निर्जरासवरी फलम् ॥ ३८ ॥—तत्त्वानुशासन ।—४ त्मा जगज्ज्योति—आ । ५ करणग्रामनियत्रणा । ६ सहत अ ज । ७ रोपतोपाम्या रहित । ८ असमर्थत्वम् । ९ कातरस्वम् । १० स्थाने । 'देश कालश्च सोऽन्वेय सा चावस्थानुगम्यताम् । यदा यत्र यथाव्यानमपविघ्न प्रसिद्धयति ॥ ३९ ॥—तत्त्वानुशासन । ११ व्यासङ्ग एव स्तेन चौरस्तस्य विघ्न न प्राप्नोति ।

फलमुज्ज्वलाप्यय वेहो यद्वलापुफलायते ।
 ससारसागरोत्तारे ^१रक्ष्यस्तस्मात्प्रत्यरम्भा ॥६२०॥
 नरोऽधीरे वृथा 'वर्म खेनेऽसस्ये' वृत्तिर्वृथा ।
 यथा तथा वृथा सर्वो ध्यानध्यानस्य तद्विधिः ॥६२१॥
 बहिरन्तस्तमोयातैरस्यम् ^२दीपवन्मनः ।
 यत्तत्त्वालोकनोद्भासि तत्स्पाद्यमानं सवीजकम् ॥६२२॥
 निर्बिभारायतारासु श्वेताश्लोतःप्रवृत्तिषु ।
 धारमग्ये ^३स्फुरन्नात्मा भवेद्भ्याममवीजकम् ॥६२३॥

[यामद कोई यह सोचे कि यह शरीर तो अपना नहीं है और नष्ट होनेवाला है । इस लिए इसे बन्दी मष्ट कर बाँधना चाहिए तो उसके लिए कहते हैं—]

यद्यपि इस शरीरका जन्म निरर्थक है फिर भी ससाररूपी समुद्रसे पार उतरनेके लिए यह तुम्बीकी तरह सहायक है । इसलिये प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ६२० ॥

माधार्थ—यद्यपि तुम्बीका जन्म निरर्थक होता है, वह खाने आदिके योग्य नहीं होती फिर भी मन्दी बगैरहको पार करनेमें वह सहायक होती है, इसीलिए लोग उसे मष्ट न करके पास रखते हैं । वैसे ही शरीर भी व्यर्थ है वह न होता तो आत्माको बारम्बार जन्म-मरणका दुःख क्यों उठाना पड़ता । फिर भी शरीरके बिना धर्म साधन नहीं हो सकता । ध्यानके लिए तो सुदृढ़ संकल्पनाके शरीरकी आवश्यकता होती है । अतः उसे यूँ ही मष्ट नहीं कर डालना चाहिए, किन्तु उसकी रक्षा करनी चाहिए, परन्तु यदि वह रक्षा करनेपर भी न बच सकता हो तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । सारांश यह है कि धर्म सेवनके लिए शरीरको स्वस्थ बनाये रखना जरूरी है किन्तु धर्म छोड़कर शरीरको बनाये रखना मूर्खता है ।

जैसे कायर मनुष्यको कवच पहनाना व्यर्थ है और बिना ध्यानके स्वतन्त्र बाढ़ जगाना व्यर्थ है, वैसे ही जो मनुष्य ध्यान नहीं करता उसके लिए ध्यानकी सब विधि व्यर्थ है ॥ ६२१ ॥

[ध्यान दो प्रकारका होता है—एक सवीज ध्यान और दूसरा अवीज ध्यान । दोनोंका स्वरूप बताते हैं—]

सवीज ध्यान और अवीज ध्यानका स्वरूप

जैसे बाधुरहित स्थानमें दीपककी लौ निश्चल रहती है वैसे ही जिस ध्याममें मन अन्तरंग और बहिरंग चंचलतासे रहित होकर तत्त्वोंके चिन्तनमें लीन रहता है उसे सवीज ध्यान कहते हैं और मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें ही लीन होता है उसे निर्बीज ध्यान कहते हैं ॥ ६२२ ६२३ ॥

माधार्थ—कर्मोंके लक्ष्य होनेसे ही मोक्ष होता है । और कर्मोंका ज्ञान ध्यान्से होता है अतः जो मुमुक्षु हैं उन्हें ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिए । ध्यान करनेके लिए मोक्षका त्याग आवश्यक है; क्योंकि जिसका मन ली पुत्र और भगवतिमें आसक्त है वह आत्माका ध्यान कैसे कर सकता है । इसलिये जो कामभोगसे विरक्त होकर और शरीरसे भी ममता छोड़कर

१ न भगवान्मनसि स्वात्मं नास्ति वपुःशुचः । न च केनापि नो रक्षयति शोचं विनश्यत् ॥ ५ ॥—साधारणमार्गम् अ ८ । २ कश्च । ३ बाधुरहितः । ४ विरक्तम् । ५ भयानुर्वन् । ६ एकरवित कांवीवापस्यं शुक्लध्यायम् ।

निर्मलत्ववाला हो जाता है वही पुरुष ध्याता हो सकता है। ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना शुभ ध्यान है और मोहके वशीभूत होकर वस्तुके अयथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना अशुभ ध्यान है। शुभ ध्यानसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और अशुभ ध्यानसे नरकादिकमें जन्म लेना पड़ता है। एक तीसरा ध्यान भी है जिसे शुद्ध ध्यान कहते हैं। रागादिके क्षीण हो जानेसे जब अन्तरात्मा निर्मल हो जाता है तब जो अपने स्वरूपकी उपरिधि होती है वह शुद्ध ध्यान है। इस शुद्ध ध्यानसे ही स्वाभाविक केवल-ज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। साराश यह कि जीवके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। अतः अशुभसे अशुभ, शुभसे शुभ और शुद्धसे शुद्ध ध्यान होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ होते हैं, अतः उन्हें नहीं करना चाहिए। धर्मध्यान शुभ है और शुक्ल ध्यान शुद्ध है। ये दो ही ध्यान करनेके योग्य हैं। इनमें पहले धर्म ध्यान ही किया जाता है। उसके लिए ध्यान करनेवालेको उत्तम स्थान चुनना चाहिए; क्योंकि अच्छे और बुरे स्थानका भी मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जहाँ दुष्ट लोग उपद्रव कर सकते हों, स्त्रियों विचरण करती हों वहाँ ध्यान नहीं करना चाहिए। तथा जहाँ तृण, काँटे, बोंबी, ककड़, खुरदरे पथर, कीचड़, ढाड़, रुधिर आदि हो वहाँ भी ध्यान नहीं करना चाहिए। साराश यह है कि जहाँ किसी बाह्य निमित्तसे मनमें क्षोभ उत्पन्न हो सकता है वहाँ ध्यान नहीं हो सकता। इस लिए ध्यान करनेवालेको ऐसे स्थान त्याग देने चाहिए। सिद्धिक्षेत्र, तीर्थङ्करोंके कल्याणकोसे पवित्र तीर्थस्थान, मन्दिर, वन, पर्वत, नदीका किनारा, गुफा आदि स्थान जहाँ किसी तरहका कोलाहल न हो, समस्त ऋतुओंमें सुखदायक हों, रमणीक हों, उपद्रवरहित हों, वर्षा, घाम, शीत और वायुके प्रबल झकोरोंसे रहित हों, ध्यान करनेके योग्य होते हैं। ऐसे शान्त स्थानोंमें काष्ठके तख्तेपर, शिलापर या भूमिपर अथवा बालूमें आसन लगाना चाहिए। पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं। इस समय चूँकि जीवोंके शरीर उतने दृढ़ और शक्तिशाली नहीं होते, इसलिए पर्यंकासन और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही उत्तम माने जाते हैं। स्थान और आसन ध्यानकी सिद्धिमें कारण है। इनमेंसे यदि एक भी ठीक न हो तो मन स्थिर नहीं हो पाता। ध्यानीको चाहिए कि वह चित्तको प्रसन्न करनेवाले किसी रमणीक स्थानमें जाकर पर्यंकासनसे ध्यान लगाके पालथी लगाकर दोनों हाथोंको खिले हुए कमलके समान करके अपनी गोदमें रखे। दोनों नेत्रोंको निश्चल, सौम्य और प्रसन्न बनाकर नाकके अग्र भागमें ठहरावे। मौहें विकाररहित हों और दोनों होठ न तो बहुत खुले हों और न बहुत मिले हों। शरीर सीधा और लम्बा हो मानो दीवारपर कोई चित्राम बना है। ध्यानकी सिद्धि और मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम भी आवश्यक माना जाता है। प्राणायाम वायुकी साधनाको कहते हैं। शरीरमें जो वायु होती है वह मुख नाक वगैरहके द्वारा आती जाती है। इसके कारण भी मन चंचल रहता है। जब वह वशमें हो जाती है तब मन भी वशमें हो जाता है। किन्तु जैनशास्त्रोंमें प्राणायामको चित्तशुद्धिका प्रबल साधन नहीं माना गया है; क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो उठता है। अतः मोक्षार्थीके लिए प्राणायाम उपयुक्त नहीं है। किन्तु ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासका मन्द होना आवश्यक है, जिससे उसके कारण ध्यानमें विघ्न न पड़ सके। अतः ध्यान करनेके लिए इन्द्रियों

चित्तेऽन्तस्प्रमावेऽस्मिन्महत्या रसपद्यते ।

तत्तेजसि स्थिरे सिद्धे न किं सिद्धं जगत्प्रये ॥१२४॥

को वशमें करके और राग-द्वेषको दूर करके अपने मनको ध्यानक दस स्थानोंमेंसे किसी एक स्थान पर स्थाना चाहिए । नेत्र, कान, नाकका अग्र भाग, सिर, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, साठ और दोनों भौंहोंका बीच—ये दस स्थान मनको स्थिर करनेके योग्य हैं । इनमेंसे किसी एक स्थान पर मनको स्थिर करके ध्येयका चिन्तन करनेसे ध्यान स्थिर होता है । ध्यान करनेसे पहल ध्यानी का यह विचारना चाहिए कि देखो, किसने स्वेदकी बात है कि मैं अमन्त गुणोंका भण्डार होते हुए भी संसाररूपी कममें कर्मरूपी शत्रुओंसे उगाया गया । यह सब मेरा ही वाप है । मैंने ही तो इन शत्रुओंको पाव रखा है । यदि मैं रागादिक बन्धनोंमें बँधकर विपरीत व्यापार न करता तो कर्मरूपी शत्रु प्रबल ही क्यों होते ? और, अब मेरा रागरूपी प्लव उठर चला है और मैं मोह नींदसे जाग गया हूँ । अतः अब ध्यानरूपी लछवारकी पारसे कर्म-शत्रुओंको मारे डालना है । यदि मैं अज्ञानको दूर करके अपनी आत्माका दर्शन करूँ तो कर्म-शत्रुओंको क्षणभरमें बकाबर राख कर दूँ तथा प्रबल ध्यानरूपी कुत्तारसे पापरूपी बूझोंको बड़भूँसे पेसा काटूँ कि फिर हममें फल ही न आ सके । किन्तु मैं मोहसे पेसा बन्धा बना रहा कि मैंने अपनेको मही पहचाना । मेरा आत्मा परमात्मा है परम्योक्तिरूप है, अमृतमें लस्के महान् है । मुझमें और परमात्मामें केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मामें अनन्तचतुष्टयरूप गुण व्यक्त हो चुके हैं और मेरेमें वे गुण शक्तिरूपसे विद्यमान हैं । अतः मैं उस परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए अपनी आत्माको जानना चाहता हूँ । न मैं मारकी हूँ, न तिर्यक हूँ, न मनुष्य हूँ, और न देव हूँ । ये सब कर्मजन्य अवस्थाएँ हैं । मैं तो सिद्धस्वरूप हूँ । उस अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तबीर्यका स्वामी होनेपर भी क्या मैं कर्मरूपी विषयोंको उलाड़ कर नहीं फेंक सकता ? आज मैं अपनी ललितको पहचान गया हूँ और अब बाध पदार्थोंकी चाहको दूर करके आनन्दमन्दिरमें प्रवेश करता हूँ । फिर मैं कभी भी अपने स्वरूपसे नहीं छिगूँगा । ऐसा विचारकर हृदय मिश्रयपूर्वक ध्यान करना चाहिए । जिसका ध्यान किया जाता है उसे ध्येय कहते हैं । ध्येय दो प्रकारके होते हैं—चेतन और अचेतन । चेतन तो जीव है और अचेतन छेप पाँच द्रव्य हैं । चेतन ध्येय भी दो हैं—एक तो देहसहित वरि हन्त भगवान् हैं और दूसरे देह रहित सिद्ध भगवान् हैं । कर्मध्यानमें इन्हीं जीवाजीवादिक द्रव्योंका ध्यान किया जाता है । जो मोक्षार्थी हैं वे तो और सब कुछ छोड़कर परमात्माका ही ध्यान करते हैं । वे उसमें अपना मन लगाकर उसके गुणोंको चिन्तन करते-करते अपनेको उसमें एक रूप करके लक्ष्मी हो जाते हैं । 'यह परमात्माका स्वरूप ग्रहण करनेके योग्य है और मैं इसका ग्रहण करने-वाला हूँ, ऐसा द्रैत भाव सब नहीं रहता । उस समय ध्यानी मुनि अन्त सब विकल्पोंको छोड़कर उस परमात्मस्वरूपमें पेसा धीन हो जाता है कि ध्याता और ध्यायका विकल्प भी न रहकर ध्येय रूपसे एकता हो जाती है । इस प्रकारके मिश्रण ध्यायको सवीर्य ध्यान कहते हैं । इससे ही आत्मा परमात्मा बनता है । और अब मुख्योपयोगी होकर मुनि अपनी मुद्र आत्माका ध्यान करता है तो उस ध्यायको निर्बीज ध्यान कहते हैं ।

यह चित्त अनन्त प्रमादसाक्षी है किन्तु स्वभावसे ही पारेकी तरह बँधक है । ऐसे जाक

निर्मनस्के^१ मनोहंसे पुं^२हंसे सर्वतः स्थिरे ।
 बोधहंसोऽखिलालोक्यसरोहंसः प्रजायते ॥६२५॥
 यद्यप्यस्मिन्मन क्षेत्रे क्रियां तां तां^३ समादधत् ।
 कचिद्वेद्यते^४ भावं तथाप्यत्र न विभ्रमेत्^५ ॥६२६॥
 "विपक्षे फलेशराशीनां यस्मान्नैव विधिर्मतः ।
 तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परं ब्रह्म समाश्रितः ॥६२७॥
 प्रभावैश्वर्यविज्ञानदेवतासगमादयः ।
 योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदां मुदे ॥६२८॥
 भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः ।

के द्वारा पाग सिद्ध हो जाता है उसी तरह यदि यह आत्मज्ञानमें स्थिर होकर सिद्ध हो जाये तो इसके सिद्ध होनेसे तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध यानी प्राप्त न हो ॥६२४-६२५॥

भावार्थ—पारा स्वभावसे ही चंचल होता है, किन्तु यदि आगमें आँच देकर विधिपूर्वक उसे सिद्ध कर लिया जाये तो उसके सिद्ध होनेसे अनेक रससिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वैसे ही चञ्चल मन यदि आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाये तो फिर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मनको स्थिर करना आवश्यक है।

यदि यह मनरूपी हंस अपना व्यापार छोड़ दे और आत्मारूपी हंस सर्वथा स्थिर हो जाये तो ज्ञानरूपी हंस इस समस्त ज्ञेयरूपी सरोवरका हंस बन जाये अर्थात् मन निश्चल होनेके साथ यदि आत्मा, आत्मामें सर्वथा स्थिर हो जाये तो विश्वको जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट होता है ॥६२५॥

यद्यपि इस मनरूपी क्षेत्रमें अनेक क्रियाओंको करता हुआ मुनि किसी पदार्थको जान लेता है, फिर भी उसमें घोखा नहीं खाना चाहिए। क्योंकि विषयमें नाना क्लेशोंके रहते हुए ऐसा करना उचित नहीं है। अतः परब्रह्म परमात्मस्वरूपका आश्रय लेनेवालेको इस विषयमें अचरज नहीं करना चाहिए ॥६२६-६२७॥

भावार्थ—आशय यह है कि मनोनिग्रह करनेसे यदि कोई छोटी-मोटी ऋद्धि या ज्ञान प्राप्त हो जाये तो मोक्षार्थी ध्यानीको उसीमें नहीं रम जाना चाहिए क्योंकि उसका उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। वह तो ससारके दुःखोंका समूल नाश करके परमात्मपदकी प्राप्ति के लिए योगी बना है, अतः उसे प्राप्त किये बिना उसे विश्राम नहीं लेना चाहिए और मामूली लौकिक ऋद्धि-सिद्धिके चक्करमें नहीं पड़ जाना चाहिए। क्योंकि उसके प्राप्त हो जानेपर भी अनन्त क्लेश राशिसे छुटकारा नहीं हो सकता। यही आगे स्पष्ट करते हैं—

ध्यानका प्रादुर्भाव होनेसे प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान और देवताका दर्शन आदिकी प्राप्ति होनेपर भी तत्त्वज्ञानी इनसे प्रसन्न नहीं होते ॥६२८॥

ध्यानकी दुर्लभता

जैसे भूमिसे रत्नोंकी उत्पत्ति होनेपर भी सब जगह रत्न पैदा नहीं होता, वैसे ही

१ मनोव्यापाररहिते । २ निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहंसे सर्वथा स्थिरे । बोधहंस प्रवर्तते विश्वत्रयसरोवरे ॥१८६॥—प्रबोधसार । ३ मुनि । ४ जानाति । ५ हेयमुपादेयतया उपादेय हेयतया न पश्येत् । ५ 'मोहादि धातुसंन्याना यस्मान्नैव विधिर्मतः । तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् पर ब्रह्मसमाश्रित ॥ १८७ ॥'—प्रबोधसार ।

तथात्मजमिति ध्यान सर्वथाङ्गिनि मोक्षयेत् ॥६२६॥

तस्य काल यवस्थान्तमुद्धर्त्त मुनयः परम् ।

अपरस्पन्दमान द्वि तत्परं^१ दुर्घरं मगः ॥६२७॥

तत्कालमपि तद्वधानं स्फुरद्भेकाममारमणि ।

तद्यो कमोद्यय मि-चाद्रजं शीलमिय कणात् ॥६२८॥

^२कल्पैरप्यभुधि शक्यमभुधुकेनोप्यभुधुमिधुम् ।

^३कल्पान्तभूः पुनर्यातस्तं मुहुः शोभमानयेत् ॥६२९॥

^४कले मरुति^५ धिते च^६ तथाग्यत्र यथा विशन् ।

समेत कामितं तद्वद्वारमना परमात्मनि ॥६३०॥

^७बैराग्य ज्ञानसपत्तिरसङ्ग^८ स्थिरचित्ता ।

^९कर्मिस्मयसहस्य च पञ्च योगस्य हेतवः ॥६३१॥

^{१०}भाषिभ्या^{११} धियिपै^{१२}धांसप्रमादो^{१३}हस्ये^{१४}विभ्रमा^{१५} ।

ध्यानके आत्मासे अन्य होनेपर भी सभी प्राणियोंकी आत्माओंमें ध्यान उत्पन्न नहीं होता । अर्थात् जैसे रत्न विशिष्ट मृमिमें ही उपपत्ते हैं वैसे ही किन्हीं विशिष्ट आत्माओंमें ही ध्यान करनेकी शक्ति प्रकट होती है । हरेक ध्यान नहीं कर सकता ॥६२९॥ मुनिजन उस ध्यानका काल अन्तर्मुहुरत बसकते हैं उतने काल तक मन निश्चल रहता है इससे अधिक समय तक मनका स्थिर रहना अत्यन्त कठिन है ॥६३०॥ किन्तु आत्मामें इतने समयके क्रिय भी होनेवाला निश्चय ध्यान मग्नान् कर्मसमुद्भवा उत्ती प्रकाश भेदन करता है जैसे कज्ज कण भरमें पहाड़को पूर्ण कर डालता है ॥६३१॥ ठीक ही है सैकड़ों कल्पकाओं तक पुण्यकों द्वारा समुद्रके अन्तको सींचनेपर भी समुद्र लाठी नहीं होता किन्तु प्रलयकाळीन वायु उसे शीघ्र ही सुखा डालती है ॥६३२॥

जैसे किसी मूर्तिमें या देवतामें या बिचमें या अन्य किसी बाध वस्तुमें मनको छाननेसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्मामें मनको छाननेसे परमात्मप्रदकी प्राप्ति होती है ॥६३३॥

बैराग्य, ज्ञान सम्पदा निष्परिग्रहता, बिचकी स्थिरता तथा मूल-व्यास शोक-मोह, जन्म-मृत्युको तथा मयको सहन करना ये पाँच भाँते ध्यानमें कारण हैं ॥६३४॥ मानसिक पीड़ा, शारीरिक रोग अतत्त्वको उत्पन्न मानना, उत्त्वको समझनेमें अनादर करना, उत्त्वको प्राप्त करके भी उससे

- १ अन्तर्मुहुरतकालपरम् । २ युवान्तरं । ३ प्रथमकालोत्पन्नः । ४ समुद्रम् । ५ अयमत्त्वप्राप्तिः । ६ परकायप्रवेशादी । ७ अग्नयः बाह्ये वस्तुनि यथा भाषिभ्यो^८ कथति । ८ विषये वैतुष्यम् । ९ ज्ञानं बन्धमोक्षोपायविशेषः । १० बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागः । ११ 'शोकमोहो जघनमृत्यु मृत्प्राप्ते बहूमयः' । -भी प्रायवर्तटीका । उपस्थाप्यावध्यानकर्मणि मन्वीउविचकित्तत्त्वम् । शारीरमानसामनुकरोपीयहो-
दकविश्वस्थिम् । 'निर्बोद्धवत्प्रति' स्वल्पस्त्वैवं रह-स्थितिः । विविधोपि सङ्गत्वं तु बाधना ध्यानहेतवः ॥१९१॥
-प्रबोधवार । 'संयत्ताया' कमायाया निग्रहो ज्ञतवारणम् । मनीज्जायां व्यस्येति बाधनी ध्यानव्यसने । ७५ ॥
-उत्त्वानुसाधन । १२ बोधनम् । १३ बोधनम् । १४ अतस्ते उत्त्वानि विवेचो विपर्यासः । १५ उत्त्व-
बन्धनाधारः प्रमादः । १६ अतस्त्वानि उत्त्वस्याननुष्ठानवात्सवम् । १७ उत्त्ववत्त्वयोः यथा बुद्धिविभ्रमः ।

‘अलाभ’^१ सङ्गितास्थैर्यमेते^२ तस्यान्तरायकाः ॥६३५॥

यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनेः ।

रोपतोपाविपिक्तात्मा तयोरासीत् लोपवत् ॥६३६॥

आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्वको समान मानना, अज्ञानवश तत्त्वकी प्राप्ति न होना, योगके कारणोंमें मनको न लगाना, ये सब ध्यानके अन्तराय हैं ॥६३५॥

भावार्थ—ध्यान मनकी एकाग्रताके होनेसे होता है । और मन एकाग्र तभी हो सकता है या अपनी ओर तभी लग सकता है जब ससार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो, स्व और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो, पासमें थोड़ा-सा भी परिग्रह न हो, अन्यथा परिग्रहमें फँसे रहनेसे मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता, और चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता । तथा भूख-प्यास वगैरहका कष्ट सहन करनेकी भी क्षमता होना जरूरी है, नहीं तो थोड़ा-सा भी कष्ट होनेसे मनके अस्थिर हो उठनेपर ध्यान कैसे हो सकता है ? इसी तरह यदि मनमें अहङ्कार उत्पन्न हो गया तब भी मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता । इसलिए ऊपर ध्यानके लिए पाँच बातें आवश्यक बतलाई हैं । और कुछ बातें ध्यानकी बाधक बतलायी हैं । यदि मनमें या शरीरमें कोई पीड़ा हुई तो ध्यान करना कठिन होता है इसी तरह प्रमादी और आलसी मनुष्य भी ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे मनुष्य प्रायः आरामतलब होते हैं और आरामतलब आदमी शरीरको कष्ट नहीं दे सकता । जो सन्देह और विपरीत ज्ञानसे ग्रस्त है, जिन्हें यही निश्चय नहीं है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है या ध्यान परमात्मपदका कारण है वे, योगी बनकर भी योगकी साधना नहीं कर सकते, क्योंकि उनके चित्तमें यह सन्देह बराबर काँटेकी तरह कसकता रहता है कि न जाने इससे कुछ होगा या नहीं, यह सब बेकार न हो आदि । जो किसी लौकिक वाञ्छासे ध्यान करते हैं यदि उनकी वह वाञ्छा पूरी न हुई तो उनका मन ध्यानसे विचलित हो जाता है, और जो परिग्रही और अस्थिर चित्त है उनका मन भी एकाग्र नहीं हो सकता । इसलिए ये सब बातें ध्यानमें चित्त करनेवाली हैं ।

जो शरीरको काँटोंसे छेदे और जो शरीरपर चन्दनका लेप करे उन मनुष्योंपर रोष और प्रसन्नता न करके ध्यानी पुरुषको लोप्टके समान होना चाहिए । अर्थात् जैसे लोढ़ेपर इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होता वैसे ध्यानीपर भी इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए और उसे दोनोंमें समबुद्धि रखनी चाहिए ॥६३६॥

आगेके श्लोक ६३७-६३९ में तान्त्रिक साधनाके अगोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकारने उनका निषेध किया है । तान्त्रिकोंका कहना है कि इनके करनेसे मृत्युपर भी विजय प्राप्त हो जाती है । ग्रन्थकार इसे मूढ़बुद्धि पुरुषोंकी अपनेको और दूसरोंको ठगनेवाली नीति बतलाने है । इन तान्त्रिक अगोंका विवेचन हमें ज्ञात नहीं हो सका, इस लिए हमने इन श्लोकोंका अर्थ भी लिखा नहीं है फिर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है—

१ स्वपरयोरज्ञानादाम्बन्तरत्वाप्राप्ति अलाभ । तत्त्वज्ञाने सुख-दुःखसाधनोत्कर्षामर्षाभिनिवेश सङ्गिता । २ योगहेतुषु मनसो अस्थैर्यम् । ३ योगस्य । ‘स्वान्तास्थैर्यं विपर्यासं प्रमादालम्ब्यविभ्रमा । रीडाताधिययास्थानमेते प्रत्यूहदायिनः ॥ १९२ ॥’—प्रबोधसार । ४ असङ्गताशय ।

तथात्मजमिति ध्यानं सर्वथाङ्गिनि मोक्षयेत् ॥६२१॥

तस्य कालं यदभ्यस्तमुद्गच्छे मुमय परम् ।

अपरम्यन्मानं हि तत्परं दुर्धरं मनः ॥६२०॥

तत्कालमपि तद्व्याप्तं स्फुटलोकप्रसारमनि ।

उभौ कमोद्यय भिन्धाद्यजं क्षीलमिय क्षणात् ॥६२१॥

‘कस्यैरप्यभ्युधि शस्यभ्युलुकिर्गोष्पुलुम्पितम् ।

‘कस्यान्तमूः पुनर्यातस्तं मुहुः शोषमानयेत् ॥६२२॥

‘रूपे भवति’ चित्ते च ‘तथाम्यत्र यथा विद्यन् ।

समेतं कामितं तद्व्याप्तमना परमात्मनि ॥६२३॥

‘वैराग्यं ज्ञानसंयत्तिरसङ्गं स्थिरचित्तता ।

‘‘ऊर्मिस्मयसहस्रं च पञ्च योगस्य हेतयः ॥६२४॥

‘‘आधिप्याधिपिपेयांसप्रभावांसस्य ‘यिन्नमा’” ।

ध्यानके आत्मासे अन्य होनेपर भी सभी प्राणियोंकी आत्माओंमें ध्यान उत्पन्न नहीं होता । अर्थात् जैसे रत्न विशिष्ट भूमिमें ही उपजते हैं वैसे ही किन्हीं विशिष्ट आत्माओंमें ही ध्यान करनेकी शक्ति प्रकट होती है । हरेक ध्यान नहीं कर सकता ॥६२१॥ मुनिजन उस ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त्त बतलाते हैं उतने काल तक मन निश्चल रहता है इससे अधिक समय तक मनका स्थिर रचना असम्भव कठिन है ॥६२०॥ किन्तु आत्मामें इतने समयके लिए भी होनेवाला निश्चल ध्यान महान् कर्मसमूहका उसी प्रकार भेदन करता है जैसे वज्र क्षण भरमें पहाड़को धुँस कर डालता है ॥६२१॥ ठीक ही है सैकड़ों कल्पकाळों तक बुद्धियोंके द्वारा समुद्रके जलको सींचनेपर भी समुद्र सूखी नहीं होता किन्तु मलयकाष्ठीन वायु उसे धीमे ही सूखा डालती है ॥६२२॥

जैसे किसी भूमिमें या देवतामें या चित्रमें या अन्य किसी बाह्य वस्तुमें मनको ज्ञानसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्मामें मनको ज्ञानसे परमात्मन्यकी प्राप्ति होती है ॥६२३॥

वैराग्य, ज्ञान सम्पदा, निष्परिग्रहता, चित्तकी स्थिरता तथा मूल-ध्याय लोक-मोह, जन्म-मृत्युको तथा भयको सहन करना ये पाँच बातें ध्यानमें कारण हैं ॥६२४॥ मानसिक पीड़ा, शारीरिक रोग अस्वस्थको उत्पन्न मानना, अस्वस्थको सम्भ्रान्तेमें आनादर करना, अस्वस्थको प्राप्त करके भी उसपर

१ अन्तर्मुहूर्त्तकालपरम् । २ युवाश्रयः । ३ प्रलयकाशोल्लस । ४ समुद्रम् । ५ आकाशवाही । ६ परमात्मप्रवेशादी । ७ अल्पय बाह्ये वस्तुनि यथा वाङ्मिच्छां यचति । ८ विषये वैतृक्यम् । ९ ज्ञानं बन्धमोक्षोपायविबेकः । १ बाह्याभ्यन्तरपरिवर्तनार्थम् । ११ ‘लोकयोर्ही ब्रह्मसूत्रम् कृतिरापि बहुमयः’ ।—भी मागधतटीका । उपस्थाभ्यामध्यानकर्मणि मनसोऽभिचकिपत्यम् । बापीरमानसामनुकपटीवद्भि-
कविचकिपत्यम् । ‘निर्वेदीयवसम्पत्तिः स्वात्तत्त्वैर्द्यं रद्दं स्थितिः’ । विविधोमित्युक्तं तु शास्त्रेण ध्यानहेतवः ॥१९१॥
—प्रबोधसारः । संकल्पाच्च कलायाश्च निजहो जतकारणम् । मनोऽज्ञात्वा अवश्येति सामग्री ध्यानकर्मणे ॥ ७५ ॥
—तत्त्वानुशासनः । १२ नीर्मगधम् । १३ बोधवैभवं । १४ अतस्ते तत्त्वानिनिर्वैद्यो विपरीतः । १५ तत्त्वानि-
बन्धनात्मनः प्रमादः । १६ अन्तर्यामि तत्त्वस्थानानुष्ठानयात्मनम् । १७ तत्त्वान्तरयोः समा मुक्तिविषयः ।

‘अलाभः’^१ ‘सङ्गितास्थैर्यमेते’^२ ‘तस्यान्तरायकाः’^३ ॥६३५॥

यः कण्टकेस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः ।

रोपतोपाविपिक्तात्मा तयोरासीत् लोष्ठवत् ॥६३६॥

आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्वको समान मानना, अज्ञानवश तत्त्वकी प्राप्ति न होना, योगके कारणोंमें मनको न लगाना, ये सब ध्यानके अन्तराय हैं ॥६३५॥

भावार्थ—ध्यान मनकी एकाग्रताके होनेसे होता है । और मन एकाग्र तभी हो सकता है या अपनी ओर तभी लग सकता है जब ससार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो, स्व और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो, पासमें थोड़ा-सा भी परिग्रह न हो, अन्यथा परिग्रहमें फँसे रहनेसे मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता, और चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता । तथा भूख-प्यास वगैरहका कष्ट सहन करनेकी भी क्षमता होना जरूरी है, नहीं तो थोड़ा-सा भी कष्ट होनेसे मनके अस्थिर हो उठनेपर ध्यान कैसे हो सकता है ? इसी तरह यदि मनमें अहङ्कार उत्पन्न हो गया तब भी मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता । इसलिए ऊपर ध्यानके लिए पाँच बातें आवश्यक बतलाई हैं । और कुछ बातें ध्यानकी बाधक बतलायी हैं । यदि मनमें या शरीरमें कोई पीड़ा हुई तो ध्यान करना कठिन होता है इसी तरह प्रमादी और आलसी मनुष्य भी ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे मनुष्य प्रायः आरामतलव होते हैं और आरामतलव आदमी शरीरको कष्ट नहीं दे सकता । जो सन्देह और विपरीत ज्ञानसे ग्रस्त है, जिन्हें यही निश्चय नहीं है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है या ध्यान परमात्मपदका कारण है वे, योगी बनकर भी योगकी साधना नहीं कर सकते, क्योंकि उनके चित्तमें यह सन्देह बराबर काँटेकी तरह कसकता रहता है कि न जाने इससे कुछ होगा या नहीं, यह सब बेकार न हो आदि । जो किसी लौकिक वाञ्छासे ध्यान करते हैं यदि उनकी वह वाञ्छा पूरी न हुई तो उनका मन ध्यानसे विचलित हो जाता है, और जो परिग्रही और अस्थिर चित्त हैं उनका मन भी एकाग्र नहीं हो सकता । इसलिए ये सब बातें ध्यानमें विघ्न करनेवाली हैं ।

जो शरीरको काँटेसे छेदे और जो शरीरपर चन्दनका लेप करे उन मनुष्योंपर रोष और प्रसन्नता न करके ध्यानी पुरुषको लोष्ठके समान होना चाहिए । अर्थात् जैसे लोष्ठपर इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होता वैसे ध्यानीपर भी इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए और उसे दोनोंमें समबुद्धि रखनी चाहिए ॥६३६॥

आगेके श्लोक ६३७-६३९ में तान्त्रिक साधनाके अगोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकारने उनका निषेध किया है । तान्त्रिकोंका कहना है कि इनके करनेसे मृत्युपर भी विजय प्राप्त हो जाती है । ग्रन्थकार इसे मूढ़बुद्धि पुरुषोंकी अपनेको और दूसरोंको ठगनेवाली नीति बतलाने हैं । इन तान्त्रिक अगोंका विवेचन हमें ज्ञात नहीं हो सका, इस लिए हमने इन श्लोकोंका अर्थ भी लिखा नहीं है फिर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है—

१ स्वपरयोरज्ञानादाम्यन्तरत्वाप्राप्ति अलाभ । तत्त्वज्ञाने सुख-दुःखसाधनोत्कर्षामर्षाभिविवेकसंगिता । २ योगहेतुषु मनसो अस्थैर्यम् । ३ योगस्य । ‘स्वान्तास्थैर्यं विपर्यास प्रमादालस्यविभ्रमा । रीद्रातौघिययास्थानमेते प्रत्यूहशयिनः ॥ १९२ ॥’—प्रबोधसार । ४ असंप्रवृत्ताशय ।

ज्योतिर्विन्दुः कलानाथः कुण्डलीयायुसधरा ।
 मुद्रामण्डलधोयामि निर्बीजीकरणाधिकम् ॥३३७॥
 नामी मेने जलाते य प्रक्षयणी य तासुनि ।
 मणिमणये रबी चन्द्रे खूतातप्ती हृषिकुरे ॥३३८॥
 सत्युज्जयं यद्वन्तेषु तत्तत्तं किञ्च मुक्तये ।
 मद्रो मूढधियामेव मयः स्वपरवन्धनः ॥३३९॥

परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिस्वरूप जानकर उनके ज्योतिमय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। तन्त्रमतमें शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने गये हैं। शुद्ध अमरका उपादान बिन्दु है। बिन्दुका ही दूसरा नाम महामाया है। बिन्दु शुष्म होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और सुवनके रूपमें परिणत होता है उसी प्रकार यही शब्दकी भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर-बिन्दु और वर्ष मेघसे तीन प्रकारका है। निश्चिति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा ध्यान्यतीत, ये क्रमपूर्व बिन्दु की ही प्रबल-प्रबल अवस्था हैं। ध्यान्यतीत रूप या परबिन्दु समस्त कलकोंकी कारणावस्था या व्यावस्था है। समयोगके ध्यानका नाम बिन्दुध्यान है। तान्त्रिक मतमें पञ्चकोका अभ्यास हुए बिना आत्मज्ञान नहीं होता। इका और विंका नामक दो माङ्गियोंके मध्यमें जो सुषुम्ना नाड़ी है उसकी छह ग्रन्थियोंमें पथके आकारके छह चक्र सम्म हैं। गुह्यस्थानमें, सिगमूळमें, मामिदेहमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों ऊँचे बीचमें—इन छह स्थानोंमें छह चक्र विद्यमान हैं। ये छह चक्र सुषुम्ना नामकी छह ग्रन्थियोंके रूपमें मसिद्ध हैं। इन छह ग्रन्थियोंका भेदन करके बीवालाका परमात्माके साथ समांग किया जाता है। मनुष्य शरीरमें तीन काल पचास हजार माङ्गियाँ हैं। उन सबमें सुषुम्ना नाड़ी प्रधान है। अन्य समस्त माङ्गियाँ इसी सुषुम्ना नाड़ीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्ना नाड़ीके मध्यगत चित्रानाड़ीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर अक्षरत्र है। कुण्डलिनी शक्ति इसी अक्षरत्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है। इसीसे इस अक्षरत्रको शिष्यमार्ग कहते हैं। इका नाड़ी नाम यागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीको प्रत्येक चक्रमें घेरी हुई दक्षिण नासाग्रसे और विंका नाड़ी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीका प्रत्येक चक्रमें परिवेष्टित करके बाँमें नासाग्रसे आश्रायणमें मिलती है। इका और विंका ६ बीच-बीचमें सुषुम्ना नाड़ीके छह स्थानोंमें छह शक्तियाँ और छह मूत्र निहित हैं। कुण्डलिनी कुण्डलित होकर सुषुम्ना नाड़ीके समस्त अक्षको घेर रखा है। तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको बाँधकर साढ़े तीन घेरे दिये हुए स्वयंम् उद्विग्नको ज्ञेयन करके अक्षरत्रका अक्षराक्षर कर सुषुम्नाके मार्गमें स्थित है। यह कुण्डलिनी सर्वका-सा आकार धारण करके अर्धो निद्रा के रही है उसी स्थानका मूलाधार चक्र कहते हैं। मूलाधार चक्रके ऊपर सिगमूळमें बहबल विशिष्ट स्वाधिष्ठान नामक चक्र है। स्वाधिष्ठान चक्रके ऊपर मामिमूळमें मणिपूर नामक दशदलचक्र है। जो योगी इस चक्रमें ध्यान करते हैं

१ दक्षिणनाडिका। २ बायलनाडिका। अर्धे बायलनागे अक्षरत्रमें वर्णित तत्त्वविदः। पूँछो व दक्षिण नागे रवेनवाहुराचार्य ॥३७॥ ॥-आचार्य पृ २९७। ३ यथा अक्षरत्रेणा वतती तथा निर्बीजीकरणं क्रियते। तेन वचना। मूली दक्षिणते शक्ति अक्षरत्र चक्राणि अक्षरं व स्वाधिष्ठान ।

कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्वेवंविधैर्नयैः ।
 अलं तपोजपासेष्टि^१दानाध्ययनकर्मभिः ॥६४०॥
 योऽविचारितरम्येषु क्षणं देहार्तिहारिषु ।
 इन्द्रियार्थेषु वश्यात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते ॥६४१॥
 यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरीकुरुते मनः ।
 तन्निरोधभुवो धाम्नः स^२ ईप्सीत कथं नरः ॥६४२॥
 आत्मज्ञः सचित्त दोषं^३ यातनायोगकर्मभिः^४ ।
 कालेन क्षपयन्नेति योगी रोगी च^५ कल्पताम् ॥६४३॥
 लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये ।
 सुखे दुःखे समानात्मा भवेत्तद्ध्यानधीः सदा ॥६४४॥
 परे ब्रह्मण्यनूचानो^६ धृतिमैत्रीदयान्वितः ।
 अन्यत्र^७ सूनुताद्वाक्यान्नित्यं वाचंयमी^८ भवेत् ॥६४५॥

उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है, इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं और अनायास ही कालको भी जीतनेमें समर्थ होते हैं। यह तन्त्रसाधकोंका मत है। इसी मतका निरूपण तथा निषेध ग्रन्थकारने श्लोक नम्बर ६३७-६३९ में किया है।

यदि इस प्रकारके प्रपचोसे ये काम हो सकते हैं तो जप-तप, देवपूजा, दान और शास्त्रपठन, आदि कर्म व्यर्थ ही हैं ॥६४०॥ कैसी विचित्र बात है कि जो बिना विचारे सुन्दर प्रतीत होनेवाले और क्षण भरके लिए शारीरिक पीड़ाको हरनेवाले इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसा हुआ है वह भी योगी कहा जाता है ॥६४१॥ इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा जिसके मनको सताती रहती है वह मनुष्य इन्द्रियोंके निरोधसे प्राप्त होनेवाले मोक्ष धामकी इच्छा ही कैसे कर सकता है ॥६४२॥

भाचार्थ—जो साधु सन्यासी प्राणायाम वगैरहकी साधनाके द्वारा अपने शरीरको पुष्ट बना लेते हैं और इन्द्रियोंका निग्रह न करके विषयासक्त देखे जाते हैं उन्हें भी लोग योगी मानते हैं, किन्तु वे योगी नहीं हैं। योगी वही है जो इन्द्रियासक्त नहीं है।

रोगी भी अपनेको जानता है। योगी भी अपनी आत्माको जानता है। रोगी अपने शरीर-में सचित्त हुए दोषको समयसे उपवास आदिके कष्ट तथा औषधादिके द्वारा क्षय कर देता है और नीरोग हो जाता है। योगी भी अपनी आत्मामें सचित्त हुए दोषको परीषहसहन तथा ध्यानादिक-के द्वारा समयसे क्षय कर देता है और मुक्तावस्थाको प्राप्त कर लेता है ॥६४३॥

जो ध्यान करना चाहता है उसे सदा हानि और लाभमें, वन और घरमें, मित्र और शत्रुमें, प्रिय और अप्रियमें तथा सुख और दुःखमें समभाव रखना चाहिए ॥६४४॥ तथा परम आत्मतत्त्वका पूर्णज्ञाता होनेके साथ-साथ धैर्य, मित्रता और दयासे युक्त होना चाहिए। और उसे सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए, अथवा मौनपूर्वक रहना चाहिए। एक पुस्तकमें 'सूत्रित'

१ जिनपूजा । २ इन्द्रिय । ३ कथं प्राप्नुमिच्छति । ४ तीव्रवेदना । ५ योग औषधप्रयोग, ध्यान च । ६ क्षय कुर्वन् । ७ नीरोगताम् । ८ 'लाभा-लाभे सुखे दुःखे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये । मानापमानयो-स्तुल्यो मृत्युजीवितयोरपि ॥२६॥—अमित० श्राव०, परि० १५ । ९ प्रियाप्रियवस्तूपनिपाते चित्तस्याविकृति धृति । सर्वसत्त्वानमिदोहबुद्धि मैत्री । आत्मवत् परस्यापि हितापादनवृत्तिर्दया । १० विना । ११ सत्य वदेत् अथवा मौनी स्यात् ।

संयोगे विप्रसम्मे' च निदाने परिदेयने' ।

हिंसापामनुते स्तेये भोगरक्षासु तत्परे ॥६४६॥

अन्तोरमन्त्रससारमनोरथधर्मनी' ।

आर्तरीत्रे त्यजेन्नयाने वुरन्तफलप्रयिनी ॥६४७॥

पाठ है उसके अनुसार ध्यानी पुरुषको साक्षानुष्ठान बचनोंके सिवा अन्यत्र अपने वचनको वधमें रखना चाहिए । अर्थात् उसे साक्षानुष्ठान बचन व्यवहार करना चाहिए ॥६४६॥

मावाच्य—प्रिय और अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें राग-द्वेषका नहीं होना चाहिये । सब प्राप्तिमें द्वेषमावृत्ति न रहना श्रेयसी है । और अपनी तरह दूसरोंका भी हित करनेमें उत्सव रहना दया है । ध्यानीको सदा इन भावोंसे युक्त होना चाहिए ।

आर्त और रौद्रध्यानका स्वरूप तथा उनको त्यागनेका उपदेश

संयोग, विभोग, निदान, वेदना, हिंसा, मूठ, चोरी और भोगोंकी रक्षामें तत्परतासे होने वाले आर्त और रौद्रध्यान बुरे फलोंको देनेवाले हैं और जीवको अमृत संसारमें प्रमत्त करानेवाले पापकामी रखके मार्ग हैं । इसको त्याग देना चाहिए ॥ ६४६-६४७ ॥

मावाच्य—पढ़ते ध्यानक सीम भेद बतलाकर आर्तध्यान और रौद्रध्यानको बहुत ध्यान बतला जाये हैं । यहाँ उन दोनों ध्यानोंका ही स्वरूप बतलाया है । आर्तध्यान पार प्रकारका होता है—एक, अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जानेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात दिन अनेक प्रकारके उपायोंका चिन्तन करना है उसे अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान करते हैं । जैसे किसीको कुम्पा कुट्टा पत्नी मिळ गयी या कर्कषा पत्नी मिळ गयी तो कैसे वह मरे या कैसे इससे पिण्ड छूटे इस प्रकारका निरन्तर चिन्तन करते रहना प्रथम आर्तध्यान है । यदि किसी अप्रिय वस्तुका संयोग हो जाये तो उससे बचनेके लिए रात-दिनका कसमना छोड़कर ऐसा प्रयत्नकरना चाहिए कि वह अपने अनुष्ठान हो जाये । दूसरा इष्टवस्तुका विभोग हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिए जो रात-दिन चिन्तन करते रहना है उसे इष्टविभोग नामका आर्तध्यान कहते हैं । तीसरा, आगामी भोगोंकी प्राप्तिके लिए सत्तप्त चिन्ता करना निदान नामका आर्तध्यान है । चौथे, शरीरमें कोई पीड़ा हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो रात-दिन चिन्तन करता है उसे वेदना नामका आर्तध्यान कहते हैं । आशय यह है कि किसी भी प्रकारकी मानसिक वेदनासे पीड़ित होकर जो बुरे संकल्प-चिह्नके चिन्ते आते हैं वह सब आर्तध्यान हैं । दूसरा अशुभ ध्यान रौद्रध्यान है । इसके भी पार प्रकार हैं—पहला, दूसरोंको सतानेमें, उनकी आम छेनेमें आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है । दूसरा, मूठ बोकनेमें आनन्द मानना सुभानन्दी नामका रौद्रध्यान है । तीसरा चोरी करनेमें आनन्द अनुभव करना, चौर्यानन्दी नामका रौद्रध्यान है । चौथा, विषय-भोगकी सामग्रीका

१ विभोगी । २ वेदनामात्रम् । ३ अयमे पापप्रवर्तमानम् । ४ आर्तसमग्रीकृत्य सप्रयोजने तद्विप्रयोजनं स्मृतिप्रवर्तमानम् ॥ ६४ ॥ विप्ररीतं मनोज्ञम् ॥ ६५ ॥ वेदनामात्रम् ॥ ६६ ॥ विप्रार्थम् ॥ ६७ ॥ तद्विरुद्धं वैश्वविप्रप्रवर्तमानम् ॥ ६८ ॥ हिंसानुत्तरेण विषयसत्तात्वेन रौद्रध्यानं तद्विप्रवर्तमानम् ॥ ६९ ॥—
तत्प्राप्त्यर्थम् ॥ ७० ॥ आगाम्यम् ॥ ७१ ॥ २५५ २७१ ।

वोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गगले परे ।
 सोपाने श्वभ्रलोकस्य तत्त्वेनावृत्तिपद्मणी ॥६४८॥
 लेशतोऽपि मनो यावदेते समधितिष्ठतः ।
 एष जन्मतरुस्तावदुच्चैः समधिरोहति ॥६४९॥
 ज्वलन्नञ्जनमाधत्ते प्रदीपो न रविः पुनः ।
 तथाशयविशेषेण ध्यानमारभते फलम् ॥६५०॥
 प्रमाणनयनिक्षेपैः सानुयोगैर्विशुद्धधीः ।
 मतिं तनोति तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायणः ॥६५१॥
 'अरहस्ये यथा लोके सती काञ्चनकर्मणी' ।
 'अरहस्यं' तथेच्छन्ति सुधियः परमागमम् ॥६५२॥
 'यः स्खलत्यल्पबोधानां विचारेष्वपि मादृशाम् ।

सचय करनेमें आनन्द मानना विषयानन्दी नामका रौद्रध्यान है । ये दोनों ही प्रकारके ध्यान नहीं करने चाहिए । क्योंकि—

ये दोनों अशुभ ध्यान ज्ञानकी प्राप्तिको रोकनेके लिए किवाड़के तुल्य हैं, मुक्तिके मार्गको बन्द करनेके लिए साकलके तुल्य है, नरकलोकमें उतरनेके लिए सीढ़ीके तुल्य हैं और तत्त्वदृष्टिको ढाँकनेके लिए पलकोंके समान है ॥ ६४८ ॥ जब तक मनमें ये दोनों अशुभ ध्यान लेशमात्र भी रहते हैं तब तक यह जन्मरूपी वृक्ष बराबर ऊँचा होता जाता है । अर्थात् इन दोनों ध्यानोंके रहते हुए जन्म-मरणरूपी ससारचक्रका अन्त नहीं हो सकता बल्कि वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है ॥ ६४९ ॥

जैसे दीपक भी जलता है और सूर्य भी जलता है । किन्तु दीपकके जलनेसे काजल बनता है, सूर्यसे नहीं । वैसे ही ध्यान भी ध्यान करनेवालेके अच्छे या बुरे भावोंके अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है ॥ ६५० ॥

धर्मध्यान

[अब धर्मध्यानका वर्णन करते हैं—]

जो निर्मल बुद्धि मनुष्य धर्मध्यान करता है वह प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारोंके साथ तत्त्वोंका चिन्तन करनेमें मनको लगाता है ॥ ६५१ ॥

[धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, लोक या सस्थानविचय और विपाकविचय । इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप बतलाते हैं—]

आज्ञाविचयका स्वरूप

जैसे ससारमें सोनेमें दो काम खुले रूपमें होते हैं—एक, उसे कसौटीपर कसा जाता है—दूसरे, उसे छैनीसे काटकर देखा जाता है । इन दो कामोंसे सोनेकी पहचान भलीभाँति हो जाती है । वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य परमागमको भी गूढ़तारहित ही पसन्द करते हैं । आशय यह है कि सोनेकी तरह परमागम भी ऐसा होना चाहिए जिसे सत्यकी कसौटीपर कसा जा सके । ऐसा परमागम

१ 'प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीत तत्त्वमञ्जसा । स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेत विदचित्तक्षण स्मरेत् ॥८॥' ज्ञानार्णव पृ० ३३८ । २ अगूढ़े । ३ विद्यमाने भवत । ४ सुवर्णस्य द्वे कर्मणो कषष्ठेदलक्षणे । ५ प्रकटार्थम् । ६ परकीय आगम । 'नि क्षेपनयनिक्षेपनिकषण्णवसन्निभम् । स्याद्वादपविनिर्घातिमग्नान्यमतभूधरम् ॥ १७ ॥'—ज्ञानार्णव पृ ३३९ ।

स संसारार्णवे भवसंख्यासम्पत् कथं भवेत् ॥६५३॥

(श्रुत्याका)

अहो 'मिथ्यातमः पुसां युक्तिघोषः (ते) स्फुरत्यपि ।

यद्व्यपति श्वेतांसि रत्नप्रयपरिग्रहे ॥६५४॥

आशास्महे तदेतेषां दिनं यथास्तकन्मया ।

इदमेते प्रपश्यन्ति तत्त्वं युक्तनिबन्धम् ॥६५५॥

(श्रुत्यापाय)

ही अष्ट समझा जाता है और उसमें जो कुछ कहा गया है वह ठीक माना जाता है । किन्तु जो आगम हमारे सरोखे जलज्ज्ञानियोंके विचारोंकी कसौटीपर भी खरा नहीं उतरता, वह संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए जीवोंका सहारा कैसे हो सकता है ॥ ६५२—६५३ ॥

भाषार्थ—घमयुक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं । उस ध्यानके कई एक बाधक कारण हैं । कभी-कभी तो ध्यानी आत्माके स्वरूपको ठीक-ठीक जानता हुआ भी मोहके उदयसे या अभ्यास न होनेसे आत्मस्वरूपमें अपनेको स्थिर नहीं कर पाता । कभी अज्ञानके बशीमृत होनेके कारण ध्यानीका मन भ्रमल करनेपर भी अपनेमें स्थिर नहीं हो पाता । हम बाधक कारणोंको दूर करनेके लिये यह आवश्यक है कि वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाना जाये । जिससे मोह और अज्ञानका पर्दा हटकर आत्मा परमात्म स्वरूपमें स्थिर हो सके । असत्में इदयवस्तुके सम्बन्धसे अद्वय वस्तुका ध्यान करना बतलाया गया है । किन्तु परमात्मा तो अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठी है । अक्षयज्ञानीके लिये वे अद्वय हैं । अपना स्वरूप यद्यपि उनके समान बतलाया है किन्तु वह शक्तिरूप है, व्यक्तिरूप नहीं है इसलिये छम्पत्सुके लिये वह भी अगोचर है । छम्पत्सु वा अपने क्षायोपशमिक ज्ञानका उपयोग कर सकता है । अतः क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित परमात्मसे परमात्माके स्वरूपका निश्चय करके परमात्माका ध्यान करना चाहिए । इसीसे परमात्म-पदकी प्राप्ति होती है । जिस ध्यान्में केन सिद्धान्तमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपका चिन्तन सर्वज्ञ भगवान्‌को प्रमाण मानकर—उनकी आज्ञाको ही प्रमाण करके किया जाता है, उसे आज्ञाविषय धर्मध्यान कहते हैं । भूँकि छम्पत्सुका क्षायोपशमिक ज्ञान सर्वज्ञप्रतिपादित वस्तुस्वरूपका निर्णय स्वयं जानकर हो कर नहीं सकता । अतः वह चिन्तन भगवान्‌ बीतराग है अतः वह अन्यथा नहीं कर सकते' यह मानकर ही परमात्ममें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपका ध्यान करता है । भूँकि इस ध्यान्में आज्ञाकी प्रमाणता रहती है इस लिये उसे आज्ञाविषय कहते हैं ।

अपायविषयका स्वरूप

आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाशक फेरे रहते भी मिथ्यात्वरूपी^१ अन्यकार रत्नत्रयको ग्रहण करनेमें मनुष्योंके चित्तोंको अन्धा बनाता है । हम उस दिनकी आज्ञा करते हैं जब ये मनुष्य पापोंको दूर करके तु सोसे सुझानेवाले सत्त्वको देख सकेंगे ॥ ६५४—६५५ ॥

१ आत्मस्वरूपमिथ्यावृत्त्यः सर्वज्ञप्रतीतयानां विमुक्ता भीतार्थिनः सम्यग्ज्ञानोपरिज्ञानात्सुखमेवा परमं चिन्तयन्ति सम्यग्ज्ञानोपरिज्ञानमप्यविषयः । अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानाचारिणोऽप्यः कथं नाम इमे ज्ञाविनोऽनुपेक्षितं स्मृतिस्मृत्याहारीऽपयविषयः—सर्वार्थचिन्ति १ १६ । ज्ञानार्थ १४वां प्रकरण ।

^१अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान् ।
मरुतीयवृत्तो लोकः प्रान्ते ^२तद्धामनिष्ठितः ॥६५६॥

(इति लोकः)

^३रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च ।

भावार्थ—प्रकाशके रहते हुए अन्धकार नहीं ठहरता किन्तु युक्तिरूपी प्रकाशके रहते हुए भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार ठहरा हुआ है, यह आश्चर्यकी बात है । परमागममें अनेक युक्तियों-से यह प्रमाणित किया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही दुःखोंसे छूटनेका मार्ग है; किन्तु मनुष्योंके चित्तमें जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार छाया हुआ है उसके कारण वे रत्नत्रयको स्वीकार नहीं कर पाते और इसीसे उनका दुःखोंसे छुटकारा नहीं होता । हम उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं जब इनका यह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार दूर होगा और वे रत्नत्रयको अंगी-कार करेंगे । इस प्रकार सन्मार्गसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंका उद्धार करनेके बारेमें जो चिन्तन किया जाता है उसे अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं ।

लोकविचयका स्वरूप

यह लोक अकृत्रिम है—इसे किसीने बनाया नहीं है । तथा इसका स्वरूप भी विचित्र है—कोई मनुष्य दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथ दोनों कूल्होंपर रखकर खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है वैसा ही आकार इस लोकका है । उसके बीचमें चौदह राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी त्रसनाली है । त्रसजीव उसी त्रसनालीमें रहते हैं । यह लोक चारों ओरसे तीन वात-वल्लियोंसे घिरा हुआ है । उन वातवल्लियोंका नाम घनोदधिवातवल्लय, घनवातवल्लय और तनुवातवल्लय है । वल्लय कडेको कहते हैं । जैसे कड़ा हाथ या पैरको चारों ओरसे घेर लेता है वैसे ही ये तीन वायु भी लोकको चारों ओरसे घेरे हुए हैं । इसलिए उन्हें वातवल्लय कहते हैं । तथा लोकके ऊपर उसके अग्रभागमें सिद्ध स्थान है, जहाँ मुक्त हुए जीव सदा निवास करते हैं । इस प्रकार लोकके स्वरूपका चिन्तन करनेको लोकविचय या सस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ ६५६ ॥

भावार्थ—लोकके स्वरूपका चिन्तन उसके आकारका चिन्तन किये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उसे सस्थानविचयके नामसे भी पुकारा जाता है । शास्त्रान्तरोंमें यही नाम पाया जाता है । किन्तु यहाँ लोकविचय नाम दिया है, सो दोनोंमें केवल नामका अन्तर है वास्तविक अन्तर नहीं है । लोकका स्वरूप सक्षेपमें ऊपर बतलाया ही है । जो विशेषरूपसे जानना चाहें उन्हें त्रिलोकमार या त्रिलोक प्रज्ञप्तिसे जान लेना चाहिए ।

विपाकविचयका स्वरूप

उस लोकके ऊपर नीचे और मध्यमें सर्वत्र अपने कर्मरूपी वायुसे प्रेरित होकर घूर्णित

१ 'लोकमस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिमन्वाहार मस्थानविचय ।—सर्वार्थसिद्धि । ज्ञानार्णव ३६ वां प्रकरण । २ 'ततोऽग्रे शाश्वत धाम जन्मजातकविच्युतम् । ज्ञानिना यदधिष्ठान क्षीणनि शेषकर्मणाम् ॥१८२॥'—ज्ञानार्णव । ३ 'कर्मणा ज्ञानावरणादीना द्रव्यक्षेत्रकालमवभावप्रत्ययफलानुभवन प्रति प्रणिवान विपाक-विचय' ।—सर्वार्थसिद्धि ९, ३६ । ज्ञानार्णव ३५वां प्रकरण ।

अनारतं भ्रमस्येते निजकर्मानिष्ठेरिताः ॥६२७॥

(इति विपाकः)

इति चिन्तयतो धर्म्यं यथास्मेन्द्रियवैतसः ।

तमांसि^१ प्रथमायाप्ति^२ द्वावशास्त्रोदयाविष ॥६२८॥

‘मेव’^३ विवर्जितामेवममेव^४ मेवचर्चितम्^५ ।

भ्यायन्सुखमक्रियामुद्यो^६ निष्क्रियं योगमाचरेत् ॥६२९॥

विहीनाशयसम्बन्धः शास्त्रमास्तस्यचय^७ ।

देहातीतः परंघाम कैयस्य प्रतिपद्यते ॥६३०॥

समान जीव सदा भ्रमण करते रहते हैं । इस प्रकार कर्मोंके विपाक यानी उदयका चिन्तन करने को विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ ६२७ ॥

भावार्थ—जैसे बायुके झोंकेसे पूरके कम उड़ते फिरते हैं वैसे ही अपने-अपने अच्छे वा बुरे कर्मोंके प्रभावसे जीव भी तीनों लोकमें सदा भ्रमण करते रहते हैं । अपने-अपने उपायों क्रिये हुए कर्मोंके फलका जो उदय होता है उसे विपाक कहते हैं । वह विपाक प्रतिक्षण होता रहता है और अनेक रूप होता है । उसका विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता है ।

धर्मध्यानका फल

इस प्रकार अपनी इन्द्रियोंको और चित्तको संयत करके जो धर्मध्यान करता है उसका अज्ञान ऐसा विनष्ट होता है जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार नष्ट होता है ॥ ६२८ ॥

शुक्लध्यानका स्वरूप

[धर्मध्यानके बाद शुक्लध्यान होता है । अतः शुक्लध्यानका स्वरूप बतलाते हैं—]

अमेवरहित मेव अर्थात् शुक्लत्ववितर्क और मेवरहित अमेव अर्थात् एकरत्ववितर्क शुक्लध्यानको करके जीव शुक्लध्याप्रतिपात्ति नामक ध्यानको करता है और फिर क्रिया निवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानको करता है ॥ इसके करते ही आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है । इषासोच्छ्वास रुक जाता है और अक्षरीरी आत्मा परंघाम-मण्डको प्राप्त करता है ॥ ६२९-६३० ॥

भावार्थ—जो ध्यान क्रियारहित इन्द्रियातीत और अन्तर्मुख होता है उसे शुक्लध्यान कहते हैं । कपायरूपी मण्डके क्षय होनेसे व्यवसाय उपश्रम होनेसे आत्माके परिणाम निर्मल हो जाते हैं और उन परिणामोंके होते हुए ही यह ध्यान होता है, इस क्रिया आत्माके मुखि गुणोंके सम्बन्धसे इसे शुक्लध्यान कहते हैं । उसके पार मेव है—शुक्लत्ववितर्क, एकरत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपात्ति और क्रिया निवृत्ति । इनमेंसे पहलेके दो शुक्लध्यान उपश्रमणों या क्षपणश्रेणीवास जीवोंके हाते है और दोष दो शुक्लध्यान कवकज्ञानियोंके होते हैं । पहला शुक्ल-

१ विनायम् । २ सूर्यः । ३ शुक्लत्वम् । ४ एकरत्ववितर्कम् । ५ एकरत्वम् । ६ शुक्लत्ववितर्कम् ।

अनेन एकरत्ववितर्कबीजाशय शुक्लध्यानमुच्यते । ७ अनेन शुक्लध्याप्रतिपात्तिशुक्लध्यानमुच्यते । ८ उपश्रम-श्रेणीवासिनाम् अनेन क्षपणश्रेणीवासिनाम् ।

प्रक्षीणोभयकर्माणं जन्मदोषैर्विचर्जितम् ।

लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥६६१॥

मार्गसूत्रमनुप्रेक्षाः सप्ततत्त्वं जिनेश्वरम् ।

ध्यान वितर्क वीचार और पृथक्त्वसहित होता है। इसमें पृथक्-पृथक् रूपसे श्रुतज्ञान और योग बदलता रहता है। इसलिए इसे पृथक्त्ववितर्क वीचार कहते हैं। पृथक्त्व अनेकपनेको कहते हैं। वितर्क श्रुतज्ञानको कहते हैं और वीचार ध्येय, वचन और योगके संक्रमणको कहते हैं। जिस शुक्लध्यानमें ये तीनों बातें होती हैं उसे पहला शुक्लध्यान जानना चाहिए। दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसहित वीचाररहित अतएव एकत्वविशिष्ट होता है। इस ध्यानमें ध्यानी मुनि एक द्रव्य अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तन करता है। इसमें अर्थ, वचन और योगका संक्रमण नहीं होता। इस लिए इसे एकत्व वितर्क कहते हैं। इस ध्यानसे घातिकर्म शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं और ध्यानी मुनि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। उसके बाद वायु जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहती है तब तीसरा शुक्लध्यान होता है। इसे करनेके लिए पहल केवली बादर काय-योगमें स्थिर होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं। फिर काययोगको छोड़कर वचनयोग और मनोयोगमें स्थिति करके बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं। पश्चात् सूक्ष्म काययोगमें स्थिति करके वचनयोग और मनोयोगका निग्रह करते हैं। तब सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानको करते हैं। इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव हो जानेसे आस्रवका निरोध हो जाता है। उस समय वे अयोगी भगवान् समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानको ध्याते हैं। इस ध्यानमें श्वासोच्छ्वासका संचार और समस्तयोग तथा आत्माके प्रदेशोंका हलन-चलन आदि क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। इसलिए इसे समुच्छिन्नक्रिय या क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इसके प्रकट होनेपर अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें कर्मोंकी ७२ प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। अन्त समयमें बाकी बची १३ प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं और योगी सिद्धपरमेष्ठी बन जाता है।

मोक्षका स्वरूप

[शुक्लध्यानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अत मोक्षका स्वरूप बतलाते हैं—]

जिसके द्रव्यकर्म और भावकर्म नष्ट हो गये हैं, अतएव जो जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे रहित है तथा अपने गुणोंको प्राप्त कर चुका है उस आत्माको बुद्धिमान् मनुष्य मोक्ष कहते हैं ॥६६१॥

भावार्थ—मोक्ष आत्माकी ही एक अवस्थाका नाम है। जो आत्मा कर्मोंके बन्धनसे छूट चुका है वही मोक्ष है। मोक्ष शब्दका अर्थ छूटना होता है। जब आत्मा कर्मोंमें छूट जाता है तो उसके सब दोष हट जाते हैं, क्योंकि वे दोष कर्मोंके कारण ही उत्पन्न होते हैं। जब कारण नहीं रहा तो कार्य भी नहीं रहा। तथा दोषोंके कारण ही आत्माके स्वाभाविक गुण मलिन पड़ जाते हैं और उनमें विकार पैदा हो जाता है। दोषोंके चले जानेसे आत्माके सब स्वाभाविक गुण चमक उठते हैं, जैसे सोनेमें-से मैलके निकल जानेपर सोना चमक उठता है। अतः कर्मोंसे मुक्त आत्माका नाम ही मोक्ष है।

किसका ध्यान करना चाहिए ?

शास्त्रद्रष्टा ध्यानी पुरुषको 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इस सूत्रका बारह



ध्यायेद्वागमयक्षुप्तात्मसंस्थानपरायणः ॥६६२॥
 जाने तस्य पपैतिह्य ब्रह्मे तद्वर्त्म्यधीः ।
 मुञ्चेद्भ्रं सर्वमारम्भमात्मभ्यस्तमानमात्मै ॥६६३॥
 आत्मार्यं बोधिसपत्तेरात्मभ्यास्तमानमात्मना ।
 यदा सूते तदात्मानं समते परमात्मना ॥६६४॥
 ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा ।
 आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथायुक्तिपरिग्रहः ॥६६५॥
 सुखामृतसुखासृतिस्तद्रवेत्स्वयाधत्तः ।
 परं ब्रह्माहमर्थात्ते तमापाशयशोक्तः ॥६६६॥
 यदा चकास्ति मे चेतस्तद्व्याप्तोव्यगोचरम् ।
 तदाईं जगतां अक्षुः स्वामादित्य इवातमाः ॥६६७॥
 आदौ मध्यमेषु प्रान्ते सर्वमिन्द्रियञ्च सुखम् ।
 प्रातःस्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्यमिवाग्निषु ॥६६८॥
 यो नुरम्भयदुर्धरो बद्धभासो यमोऽङ्गिनि ।
 स्वभावसुमनो तस्य स्पृहा केन निवार्यते ॥६६९॥

अनुप्रेक्षाओंका, सात तत्त्वोंका और विनेन्द्र मगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥ ६६२ ॥

ध्यानीको क्या विचार करना चाहिए

मैं आगमानुसार तत्त्वोंको जानता हूँ और एकाम मन होकर उनका अध्ययन करता हूँ ।
 तथा समस्त आरम्भको छोड़ता हूँ और अपनेमें अपनेका स्थापता हूँ ॥ ६६३ ॥ अब यह शून्यरूप
 सम्पत्तिका स्वामी आत्मा आत्मासे आत्मामे आत्माको ध्यान करता है तब आत्माका परमात्मरूपसे
 पाता है ॥ ६६४ ॥ आत्मा ध्यान करनेवाका है आत्मा ही ध्येय है, आत्मा ही ध्यान है और
 रत्नत्रयमयी आत्मा ही ध्यानका फल है । अर्थात् ध्याता ध्याम, ध्येय और उसका फल ये सब
 आत्मस्वरूप ही पड़ते हैं । सुष्टिक अनुसार उसका ग्रहण करना चाहिए ॥ ६६५ ॥

मैं सुलक्ष्मी अमृतक स्त्रि चन्द्रमा हूँ । तथा सुखरूपी सूर्यके स्त्रि उदयाचल ॥
 अर्थात् सुख आत्माकी ही वस्तु है उसीसे वह उत्पन्न होता है । मैं परमस्वरूप हूँ किन्तु
 अज्ञानान्धकाररूपी आत्ममें फैलकर इस धरीरमें टहरा हुआ हूँ ॥ ६६६ ॥ अब मेरे बितने उस
 ध्यानका उदय होगा तब मैं अन्धकाररहित सूर्यक समान संसारका दहाने हो जाऊँगा ॥ ६६७ ॥

भित्ता भी इन्द्रियत्रय सुख है वह आरम्भमें मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें कटु
 ही स्याता है । जैसे आ लोभ धीतश्चक्षुमें प्राप्त न्यान करते हैं उन्हें पानी उष्य प्रतीत होता
 है ॥ ६६८ ॥

जो यमराज रागसे अस्म और दम्भनमें अमुन्दर प्राणीको लानेके लिये तैयार रहता है
 स्वभावसे ही मुन्दर मनुष्यमें उसकी रुचिका क्रीम हटा सकता है । अर्थात् वह मुन्दर मनुष्यका
 छाप नहीं दृष्टा है किन्तु उस भी म्मा जाता है ॥ ६६९ ॥

१ ध्यातातरः । २ ब्रह्म । ३ एवावधितः । ४ जगतां ध्यायति वा । ५ मुनमूर्धरवः ।

६ ३३ इन्द्रिय ।

जन्मयौवनसंयोगसुखानि यदि देहिनाम् ।
 निर्धिपक्षाणि को नाम सुधीः संसारमुत्सृजेत् ॥६७०॥
 अनुयाचेत नायूँपि नापि मृत्युमुपाहरेत् ।
 भृतो भृत्य इवासीत्-कालावधिमविस्मरन् ॥६७१॥
 महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्वरुचितेजसा ।
 सुविशुद्धान्तरात्मासे तमःपारे प्रतिष्ठितः ॥६७२॥
 तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं च नाप्तवान् ।
 स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥६७३॥
 सम्यगेतत्सुधाम्भोधेर्विन्दुमप्यालिहन्मुहुः ।
 जन्तुर्न जातु जायेत जन्मज्वलनभाजन ॥६७४॥
 देवं देवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् ।
 चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥६७५॥
 निरञ्जनं^१ जिनाधीशं परमं रमयाश्रितम् ।
 अच्युतं च्युतदोषौघमभेवं भवभृद्गुरुम् ॥६७६॥

यदि प्राणियोके जन्म, यौवन, संयोग और सुखके विपक्षी मृत्यु, बुढ़ापा, वियोग और दुःख न होते तो कौन बुद्धिमान् ससारको छोड़ता ? ॥ ६७० ॥ अतः न तो आयुकी याचना करना चाहिए कि मैं और अधिक दिनों तक जीता रहूँ, और न मृत्युको बुलाना चाहिए कि मैं जल्दी मर जाऊँ । किन्तु अपने जीवनकी अवधिको न भूलकर वेतनपानेवाले नौकरकी तरह रहना चाहिए ॥ ६७१ ॥ आज मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ; क्योंकि तत्त्वरुचिरूपी तेजसे मेरा अन्तरात्मा सुविशुद्ध हो गया है और मैं मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको पार कर चुका हूँ ॥ ६७२ ॥ ससारमें ऐसा कोई सुख और दुःख नहीं है जो मैंने नहीं भोगा । किन्तु जैनागमरूपी अमृतका पान मैंने स्वप्नमें भी नहीं किया ॥ ६७३ ॥ इस अमृतके सागरकी एक बूँदको भी जो चख लेता है वह प्राणी फिर कभी भी जन्मरूपी अग्निका पात्र नहीं बनता अर्थात् जैनशास्त्रोंका थोड़ा-सा भी स्वाद जिसे लग जाता है वह उनका आलोडन करके उस शाश्वत सुखको प्राप्त कर लेता है और फिर उसे ससारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता ।

[अथ अर्हन्तदेवका ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हैं—]

समवसरणमें विराजमान, पाँच कल्याणकोंके नायक, चौँतीस अतिशयोक्ते युक्त, आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित, घातियाकर्मरूपी मलसे रहित, उत्कृष्ट अन्तरग और बहिरग लक्ष्मीसे वेष्टित, जिनश्रेष्ठ, आत्मस्वरूपसे कभी च्युत न होनेवाले, दोषसमूहसे रहित, ससारातीत किन्तु ससारी प्राणियोंके गुरु, स्वयं सबके द्वारा स्तुति करनेके योग्य किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य

१ 'चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यं प्रातिहार्यैश्च भूषितम् । मुनितिर्यङ्गनरस्वर्गिसभाभिः सन्निवेष्टितम् ॥१२५॥ जन्माभिपेक्षप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनम् । केवलज्ञाननिर्णीतवस्तुतत्त्वोपदेशिनम् ॥ १२६ ॥'—तत्त्वानुशासन । जानार्णव २९वाँ प्रकरण । चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतम्—निःस्वेदत्वादयो दश सहजा । गन्धूतिशतचतुष्टय सुभिक्षा-दयो घातियज्जा दश, अर्धमागधीभापादयो देवोपनीताश्चतुर्दश । २ जनाधी—अ. ज ।

ध्यायेदागमयन्नुपमाग्रसक्योनपरायणः ॥६६२॥
 'आमे तस्य यथेतिहा ग्रहणे तदमम्यधीः ।
 मुग्धेऽर्धं सार्धमारम्भमारम्यतमाममावृधे ॥६६३॥
 आत्माय पोषिसंपत्तेरात्मन्याराममात्मना ।
 यदा 'सुते तवात्मानं समते परमात्मना ॥६६४॥
 ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा ।
 आत्मा रत्नत्रयात्मको यथायुक्तिपरिग्रहः ॥६६५॥
 सुखामृतसुभासुतिस्तद्वेद्यपाचलाः ।
 परं ब्रह्माहमर्थासे तमापन्नप्रशीकृतः ॥६६६॥
 यदा चकास्ति मे चेतस्तद्व्यामोदयगोचरम् ।
 तदाहं जगतां चक्षुः स्वामादित्य द्यातमाः ॥६६७॥
 आदौ मध्वमनु ग्राम्ते सधमिन्द्रियजं सुखम् ।
 प्रातास्तापिपु हेमन्ते तोयमुष्णमिथाक्रियु ॥६६८॥
 यो वुरामयपुर्णयो वदमातो यमोऽर्जुनि ।
 स्वमायसुमरो तस्य सृष्टा केन निवार्यते ॥६६९॥

अनुपेक्षाबोका, सात तत्त्वोंका और विनेन्द्र भगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥ ६६२ ॥

ध्यानीको क्या विचार करना चाहिए

मैं आगमानुसार तत्त्वोंको जानता हूँ और एकाम्र मन होकर उनका भद्धान करता हूँ ।
 तथा समस्त धारम्भको छोड़ता हूँ और अपनेमें अपनेको समाता हूँ ॥ ६६३ ॥ जब यह शुभरूप
 सम्पत्तिका स्वामी आत्मा आत्मासे आत्मामें आत्माको ध्यान करता है तब आत्माको परमात्मरूपसे
 पाता है ॥ ६६४ ॥ आत्मा ध्यान करनेवाला है आत्मा ही ध्येय है, आत्मा ही ध्यान है और
 रत्नत्रयमयी आत्मा ही ध्यानका फल है । अर्थात् ध्याता ध्यान, ध्येय और उसका फल ये सब
 आत्मस्वरूप ही पड़ते हैं । युक्तिके अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥ ६६५ ॥

मैं सुलक्ष्मी अमृतके छिपे चन्द्रमा हूँ । तथा सुलक्ष्मी सूर्यके छिपे उदयाचल हूँ ।
 अर्थात् शुभ आत्माकी ही कृपा है, उसीसे वह उत्पन्न होता है । मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ किन्तु
 अज्ञानान्धकाररूपी आँकमें फँसकर इस शरीरमें टहरा हुआ हूँ ॥ ६६६ ॥ अब मेरे बिचने उस
 ध्यानका उदय होगा तब मैं अन्धकाररहित सूर्यके समान ससारका इला हो जाऊँगा ॥ ६६७ ॥

भित्तिना भी इन्द्रियजन्य सुख है वह प्रारम्भमें मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें कटु
 ही लगता है । जैसे जो लोग क्षीतश्रुतमें प्रातः स्नान करते हैं उन्हें पानी उष्ण प्रतीत होता
 है ॥ ६६८ ॥

जो यमराम रोगसे ग्रस्त और देखनेमें असुन्दर प्राणीका सामने किए तैयार रहता है
 स्वभावसे ही सुन्दर मनुष्यमें उसकी रुचिका कौन हट सक्ता है ? अर्थात् वह सुन्दर मनुष्यको
 छोड़ नहीं देता है किन्तु उसे भी सा आता है ॥ ६६९ ॥

[ध्यातवत्पर । २ अहम् । ३ एकाग्रचित्तः । ४ अनवति ध्यायति वा । ५ मुक्तपूर्वम ।

अतावकगुणं^१ सर्वं त्वं सर्वगुणभाजनः ।
 त्वं सृष्टिः सर्वकामानां^२ कामसृष्टिनिमीलनः^३ ॥६८५॥
 स्वसुप्तदीपनिर्वाणेऽप्राकृते^४ वा त्वयि स्फुटम् ।
 स्वसुप्तदीपनिर्वाणं प्राकृतं स्याज्जगत्त्रयम् ॥६८६॥
 त्रयीमार्गं^५ त्रयीरूपं^६ त्रयीमुक्तं^७ त्रयीपतिम् ।
 त्रयीव्याप्तं^८ त्रयीतत्त्वं^९ त्रयीचूडामणिस्थितम् ॥६८७॥
 जगतां कौमुदीचन्द्रं कामकल्पावनीरुहम् ।
 गुणचिन्तामणिक्षेत्रं कल्याणागमनाकरम् ॥६८८॥
 प्रणिधानप्रदीपेषु साक्षादिव चकासतम् ।
 ध्यायेज्जगत्त्रयार्चाहर्महन्तं सर्वतो^{१०} मुखम् ॥६८९॥
 ब्राह्मस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रं पदं करे ।
 इमास्तस्मादयत्नाप्यौ^{११} श्चक्राङ्गा क्षितिपश्रियः ॥६९०॥
 यं यमध्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सराः ।
 तत्पदाय दधत्यन्तः स स तत्रैव लीयते ॥६९१॥

मनुष्यकी तरह माना गया है क्योंकि मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं रहता, बौद्ध मतमें दीपकके निर्वाणकी तरह आत्माका निर्वाण माना गया है किन्तु अर्हन्त भगवान्में तीनों प्रकारके निर्वाण अपने प्राकृत स्वरूपमें विद्यमान है । राग-द्वेष और मोहसे रहित होनेके कारण वे प्रायः आकाशकी तरह शून्य हैं, ध्यानमें लीन होनेके कारण सुप्त हैं और दीपकी तरह केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके प्रकाशक हैं, रत्नत्रय जिनका मार्ग है, सत्ता, सुख और चैतन्यसे विशिष्ट होनेके कारण जो त्रयीरूप हैं, राग-द्वेष और मोहसे मुक्त हैं, स्वर्गलोक, मर्यादालोक और पाताललोकके स्वामी हैं, तीनों लोकोंको जान लेनेके कारण तीनों लोकोंमें व्याप्त हैं, अथवा सदा रहनेसे तीनों कालोंमें व्याप्त हैं, उत्पाद, व्यय और प्रौढ्ययुक्त हैं, तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं तथा जगत्के लिए पूर्णिमासीके चन्द्रमा हैं, इच्छित वस्तुके लिए कल्पवृक्ष हैं, गुणरूपी चिन्तामणिके स्थान, कल्याणकी प्राप्तिके लिए खनि, तीनों लोकोंसे पूजनीय और ध्यानरूपी दीपकोंके प्रकाशमें साक्षात् चमकनेवाले अर्हन्त भगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥ ६७४—६८९ ॥

उन अर्हन्तका ध्यान करनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, उनका ध्यान करनेसे इन्द्रपद तो हाथमें ही समझना चाहिए । तथा चक्रवर्तीकी विभूति भी बिना प्रयत्नके प्राप्त हो जाती है ॥ ६९० ॥ मान और ईर्ष्यासे रहित पुरुष अध्यात्म-मार्गमें अपने अन्तःकरणमें अर्हन्तपदकी

१ यत्तु वस्तु तत्सर्वं तावकगुण त्वत्स्वरूप न । २ वाञ्छितवस्तूनाम् । ३ सकोचन । ४ अलौ-
 किके । ५ खनिर्वाण वैशेषिकाणा ज्ञानाद्यभावाभ्युपगमात् । सुप्तनिर्वाण साख्याना चित्तमात्राभ्युपगमात् ।
 दीपनिर्वाण बौद्धाना निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् । ६ रत्नत्रय मार्गो यस्य । ७ रत्नत्रयरूपम् । अथवा सत्ता
 सुखचैतन्यरूपम् । ८ रागद्वेषमोहरहितम् अथवा जातिजरामरणमुक्तम् । ९ जगत्त्रयपतिम् । १० कालत्रयव्या-
 प्तम् । ११ उत्पादव्ययध्रौढ्यमेव तत्त्वं यस्य । १२ ध्यान । १३ सर्वतो मुखम्-अ ज । १४ प्राप्या ।
 “ब्राह्मस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रपदोद्वय । तस्मादपि लभ्यन्ते शर्मदा सर्वसम्पद ॥२०५॥”-प्रबोधसार ।

सर्वससुत्यमेस्तुत्य सर्वैरधरमनीश्वरम् ।
 सर्वांराध्यमनाराध्य सर्वाधयममाध्ययम् ॥६७७॥
 प्रमथं सर्वविधानां सर्वलोकपितामहम् ।
 सर्वसर्ववदितारम्भ गतसर्वमसर्वगम् ॥६७८॥
 मन्नामरुकिरीटांशुपरिवेषनमस्तसे ।
 भवत्पादद्वयद्योतिनजमन्त्रमण्डलम् ॥६७९॥
 स्तूर्यमानमनूर्ध्वमैश्वर्योर्ध्वमृद्धकामिमि ।
 अन्ध्यात्मार्गमधेधोभिर्योगिभिर्युग्मैर्हृदिभिः ॥६८०॥
 गीरुप कपिताशपमशुष्य शम्भुनिष्ठितम् ।
 अस्पृशं योगसस्पृशंमरुत सरसागमम् ॥६८१॥
 गुणैः सुरभिताराममगन्धगुणसगमम् ।
 व्यतीतेन्द्रियसबन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥६८२॥
 भुवमानम्बुसस्यान्नामम्बुस्तुष्यानलार्चिषाम् ।
 पवन दोषरेणुनामग्निमेनोवनीकृद्गाम् ॥६८३॥
 यज्ञमानं सर्वार्थानां व्योमालपाविसपद्मम् ।
 मानु मभ्यारविम्बानां अन्त मोक्षायुतत्रियाम् ॥६८४॥

नहीं, स्वयं सबके स्वामी किन्तु जिनका स्वामी कोई नहीं, सबके आराध्य किन्तु जिनका कोई आराध्य नहीं सबके आभय किन्तु जिनका कोई आभय नहीं, समस्त विद्याओंके उत्पत्तिस्थान सब लोकोंके पितामह, सब प्राणियोंके हित्, सबके ज्ञाता, स्वधरीर प्रमाण, नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके किरण आकाशकी आकाशमें जिनके दोमों परणोंके प्रकाशमान नस मन्त्रत्रयमन्त्रके समान प्रदीप्त होते हैं, अन्धवेद्य अन्धको पानेके इच्छुक अन्ध्यात्म शास्त्रके रचयिता आदिपारी आदिगण जिनकी स्तुति करते हैं, उन ऊपरहित किन्तु सबका निरूपण करनेवाले, स्वयं सम्बन्ध न होते हुए भी सच्च यानी आगमके द्वारा कहे जानेवाले, स्वर्गगुणसे रहित किन्तु ध्यानके द्वारा स्पृष्ट, रस गुणसे रहित किन्तु सरस उपदेशके वाता, गन्ध गुणसे रहित किन्तु गुणोंकी सुगन्धसे विशिष्ट, इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित किन्तु इन्द्रियोंके विषयोंके प्रकाशक, आमन्दरूपी बान्धकी उत्पत्तिके लिए पृथ्वीकी तृष्णारूपी अग्निकी छपटोंको धातु करनेके लिए पानी, दोषरूपी धूम्रकी हटानेके लिए वायु, पापरूपी दूषणोंको मन्त्रनेके लिए अग्नि, आकाशकी सरह निश्चित रहमा आदि उत्तमोत्तम सम्पत्तियोंके वाता, भस्मरूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य, मोक्षरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा, अतीतिक गुणशाली, समस्त गुणोंके भाजन सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले, कामविकार को दूर करनेवाले नैयामिक मसमें निर्बोधका स्वरूप आकाशकी सरह माना गया है क्योंकि मुक्त अवस्थामें आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद हो जाता है। साक्ष्य मतमें निर्बोधका स्वरूप सोये हुए

१ न विद्यते स्तुत्यो यस्य । २ न विद्यते ईश्वरः स्वामी यस्य । ३ आर्तं सर्वं येन । ४ न सर्वं पश्यतीति सर्वोपद्रमावमित्यर्थः । ५ भूवमान-ज ज । ६ ब्रह्मनिष्ठः । ७ आपमकृद्भिः । ८ आश्रमेन विष्टो यस्य । ९ ध्यान । १ शतार्थं वचनार्थानाम् ।

न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम् ।
 यद्योगद्योतने न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥६६६॥
 देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः ।
 समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः ॥६६७॥
 ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।

भावार्थ—छायावरका दृष्टान्त ग्रन्थकारने अन्य मतकी अपेक्षासे दिया जान पड़ता है ।

योगप्रदीपिकाके अन्तर्गत उमामहेश्वर (शिव-पार्वती) सवादमें छायापुरुष लक्षण नामका पाँचवाँ पटल है । उसमें पार्वती शिवजीसे प्रश्न करती है कि भगवन् ! पापी मनुष्योंके पापसे मुक्त होनेका क्या उपाय है और कैसे मनुष्य अपनी मृत्युके कालका ज्ञान कर सकता है ? प्रायः मनुष्योंकी आयु अल्प होती है और योगाभ्यास तो अनेक वर्ष साध्य है, उसके करनेमें मनुष्य असमर्थ होते हैं । तब शिवजी बोले—यह बात बहुत गोपनीय है । पापी और भक्तिहीनको इसे नहीं बतलाना चाहिए । जो भक्त और सेवक हों उन्हें ही बतलाना चाहिए । शुद्ध मनसे आकाशमें अपने छायापुरुषको देखना चाहिए । उसके देखनेसे पापराशि नष्ट हो जाती है, और छह मासतक उसे देखनेसे कालका ज्ञान भी हो जाता है । तब पार्वतीने पुनः प्रश्न किया कि मनुष्यकी छाया तो जमीनपर पड़ती है उसे आकाशमें कैसे देखा जा सकता है ? और उसके देखनेसे कालका ज्ञान कैसे होता है ? तब शिवजीने कहा—देवि ! जब आकाश स्वच्छ हो, उसमें बादल वगैरह न हों, तब मनुष्य अपनी छायाकी ओर मुख करके निश्चल खड़ा हो और अपने गुरुके द्वारा बतलायी गयी रीतिके अनुसार अपनी छायाको देखकर एकाग्रमनसे सामने आकाशको टकटकी लगाकर देखे । तो उसे वहाँ शुद्ध स्फटिकके तुल्य पुरुष दिखलायी देगा । यदि न दिखायी दे तो पुनः वैसा ही करे । बारम्बार ऐसा करनेसे निश्चय ही उसका दर्शन होता है । इसी कथनको दृष्टान्तके रूपमें उपस्थित करते हुए ग्रन्थकारने कहा है कि जैसे योगाभ्याससे आकाशमें छायापुरुषका साक्षात्कार हो सकता है उसी तरह अभ्याससे आत्माका भी साक्षात्कार हो सकता है ।

न ऐसे कोई गुण है, न कोई ज्ञान है, न ऐसी कोई दृष्टि है और न ऐसा कोई सुख है जो अज्ञान आदि रूप अन्धकारके समूहका नाश हो जानेपर ध्यानसे प्रकाशित आत्मामें न होता हो । अर्थात् ध्यानके द्वारा आत्मामें अज्ञानरूप अन्धकारके नष्ट हो जानेपर ज्ञानादि सभी गुण प्रकाशित हो जाते हैं ॥ ६९६ ॥

शासन-देवताकी कल्पना

[कुछ व्यन्तरादिक देवता जिनशासनके रक्षक माने जाते हैं । कुछ लोग उनकी भी पूजा करते हैं । उसके विषयमें ग्रन्थकार बतलाते हैं—]

जो श्रावक तीनों लोकोंके द्रष्टा जिनेन्द्र देवको और व्यन्तरादिक देवताओंको पूजाविधानमें समान रूपसे मानता है अर्थात् दोनोंकी समान रूपसे पूजा करता है वह नरकगामी होता है ॥ ६९७ ॥ परमागममें जिनशासनकी रक्षाके लिए उन शासन-देवताओंकी कल्पना की गयी है

१ अतिशयेन अधोगामी स्यात् । तेन कारणेन अन्यदेवता जिनसदृशा न माननीया, किन्तु जिनाद् होना ज्ञातव्या इत्यर्थः ।

मनुपायामिलीक्यान्त पुस्तकानां मनोवत्तम् ।
 तद्वसुमायेव भज्येत जीयमान चिरादपि ॥६९०॥
 ज्योतिरेक पर वेपः करीपौश्मसमिस्समा ।
 तस्मात्पुपायविकसुता भ्रमन्ति मन्त्रकामने ॥६९१॥
 परापरपर वेधमेव चिन्तयतो यतो ।
 मन्त्रस्यतोन्मियास्ते ते भावा लोकोत्तरधिया ॥६९२॥
 व्योम अक्षयामरोत्सङ्गि यथाभूर्तमपि स्वयम् ।
 योगयोगात्तथात्माऽयं भवेत्तत्पत्तरीकणः ॥६९३॥

प्राप्तिके छिप्प जो-ना भाव रसते हैं वह-वह भाव उसीमें छीन हो जाता है ॥ ६९१ ॥ पुरुषरूपी
 वृक्षोंका मनरूपी पत्ता मोक्षक छिप्प जो उपायरूप मन्त्री है ऐसे मिथ्यादर्शन आदि रूप बापुसे सदा
 बंधक बना रहता है । किन्तु अर्हन्तरूपी भूमिमें पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसीमें
 चिरकाष्ठके छिप्प छीन हो जाता है ॥ ६९२ ॥

भावाधै—पुरुष एक वृक्ष है और मन उसका पत्ता है । जैसे बापुसे पत्ता सदा बिछता
 रहता है वैसे ही नाना प्रकारके संसारिक बंधोंमें फँसे रहनेके कारण मनुष्यका मन भी सदा बंधक
 बना रहता है । किन्तु अब मनुष्य मोक्षके उपायमें आकर अपने मनको स्थिर करनेका प्रयत्न
 करता है और अर्हन्तका ध्यान करता है तो उसका मन उसीमें छीन होकर उसे अर्हन्त बना देता
 है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिर पड़ता है क्योंकि अर्हन्त अवस्थामें भाव मन नहीं रहता ।

जैसे आग एक है किन्तु कण्डा, पत्थर और लकड़ीके रूपमें वह विभिन्न आकार धारण कर
 लेती है । वैसे ही आत्मा एक है किन्तु स्त्री, नपुंसक और पुरुषके रूपमें वह तीन रूप प्रतीत होती
 है । उस आग या आत्माकी प्राक्तिके उपायोंसे जनमान मनुष्य संसाररूपी जगत्तमें भटकते फिरते
 हैं । आशय यह है कि जैसे कण्डेसे आगका प्रकट होना कठिन है वैसे ही स्त्री-शरीरमें आत्माका
 विकास होना कठिन है । जैसे पत्थरसे आग बहती प्रकट हो जाती है वैसे ही पुरुष-शरीरमें आत्मा
 का विकास अल्प हो जाता है । और जैसे लकड़ीसे आगका प्रकट होना अतिकठिन है वैसे ही
 नपुंसक-शरीरमें आत्माका विकास अतिकठिन है ॥६९३॥

इस प्रकार जो मुनि पर और अपरसे भी अष्ट श्री अर्हन्तदेवका ध्यान करता है उसके
 बड़े उच्च अजोकिष्ठ भाव होते हैं किन्हीं इन इन्द्रियोंसे नहीं ज्ञान सकते ॥ ६९४ ॥

जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है फिर भी पुरुषकी छायाक संसर्गसे धन्य आकाशमें भी
 पुरुषका दर्शन होता है वैसे ही यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी ध्यानके सम्बन्धसे उसका
 प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है ॥ ६९५ ॥

१ पुरुष वेपः ॥ आकारः पुरुषः स्त्रीपुंसपुंसकमेवम् । २ जीयमेऽपि जीयं प्रकटी न स्वात्तवा
 स्त्रीपु आत्मा आत्मन्येव प्रकटी भवति । आत्मापैऽपि जीयं प्रकटी स्वात्तवत् पुंस्त्वात्मा । सतिर्विचित्रे जीयं
 न स्वात्तवत्पुंसकम् । ३ आत्मनः अन्तरात् । ४ करिष्यन् विपत्तिं पुरुषः स्वधरीरज्यालोकात् करोति ।
 छायालोकात्प्राप्तमपान् आकाशे धूम्येऽपि नरो दृश्यते तथा ध्यानाभ्यासात् आत्मा दृश्यते इत्यर्थः । 'निरात्रं
 वचनं वैदि ददा धवनि निर्मलम् । तथा छायापुत्रो नृणा निरवर्तं भवती पिता । स्वच्छावाक्यमप्युवाच स्वपुत्र-
 वचनमेव वै । तच्छ्रुत्वा वचनं पश्येन्निरवर्तपुत्रम् ॥ तच्छ्रुत्वाऽपि स्वपुत्रः पश्यति ॥'—श्रीवज्रोनिपाद्य
 प्रमाणदेववर्तवादे आत्मापुरुषवत्त्वं नाम वचनम् इत्यर्थः ।

कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्राक्षमस्येद्वाऽपि देवताः ।
 सस्पृह यदि तच्छेतो रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥७०१॥
 ध्यायेद्वा चाङ्गमयं ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाचकम् ।
 एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥७०२॥
 ध्यायन् चिन्त्यस्य देहेऽस्मिन्नित्दं मन्दिरमुद्रया ।
 सर्वनामादिवर्णाहं वर्णाद्यन्त सवीजकम् ॥७०३॥
 तपःश्रुतविहीनोऽपि तद्ध्यानविद्धमानसः ।
 न जानु तमसां स्रष्टा तत्तत्त्ववृचिदीप्तधीः ॥७०४॥
 अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तपः परम् ।
 इमं मन्त्रं स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्यचेतसः ॥७०५॥

अनायास हो जाती है । अतः विपत्तिमें पड़कर भी रागा, द्वेषी देवताओंकी आराधना नहीं करनी चाहिए ।

निष्काम होकर धर्माचरण करना चाहिए

तप करो, मन्त्रोंका जाप करो अथवा देवोंको नमस्कार करो, किन्तु यदि चित्तमें सासारिक वस्तुओंकी चाह है कि हमें यह मिल जाये तो वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है ॥ ७०१ ॥

भावार्थ—वैसे तो इच्छा मात्र ही बुरी है क्योंकि वह मोहकी पर्याय है । किन्तु सासारिक भोगोंकी चाह तो एकदम ही बुरी है, क्योंकि वह मनुष्यको पथभ्रष्ट कर देती है । यदि चाह पूरी न हुई तो आराधक उस मार्गको व्यर्थ समझकर छोड़ देता है और यदि पूरी हो गयी तो विषय-भोगमें मग्न होकर प्राणी स्वयं पथभ्रष्ट हो जाता है । अतः धर्म जिस चीजको त्याज्य वतलाता है धर्म करके उसीकी चाहना करना नासम्भवी है । फिर चाह करनेसे कोई चीज मिल ही जाये इसकी क्या गारण्टी है ? क्योंकि चाह करनेपर भी किसी वस्तुका मिलना अपने लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमपर निर्भर है । यदि क्षयोपशम हुआ तो बिना चाहेके भी वस्तु मिल जाती है और यदि क्षयोपशम न हुआ तो लाख चाह करनेपर भी कुछ नहीं मिलता । अतः जप तप या देवपूजा निस्पृह होकर ही करना चाहिए ।

अथवा पञ्च परमेष्ठीके वाचक मन्त्रका ध्यान करना चाहिए; क्योंकि यह मन्त्र सब विद्याओंका अविनाशी स्थान है ॥ ७०२ ॥ जिसमें पञ्च नमस्कार मन्त्रके पाँचो पदोंके प्रथम अक्षर सन्निविष्ट है ऐसे 'अहं' इस मन्त्रको हम शरीरमें स्थापित करके मन्दिर मुद्राके द्वारा ध्यान करनेवाला मनुष्य तप और श्रुतसे रहित होनेपर भी कभी अज्ञानका जनक नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि उस तत्त्वमें रुचि होनेसे सदा प्रकाशित रहती है ॥ ७०३-७०४ ॥ सब शास्त्रोंका अध्ययन करके तथा उत्कृष्ट तपस्या करके मुनिजन अन्त समय मन लगाकर इसी मन्त्रका ध्यान करते हैं ॥ ७०५ ॥

१ मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकारकुड्मलं क्रियते स एव मन्दिरः । २ पञ्चवदप्रथमाक्षरेण योग्यम् । अहं-शब्दस्य अहं इति गृह्यते । अक्षरीर अरः, अर्थ अरः, अव्यापक अ, मुनि म् । पश्चात् रूपे रूपं प्रविष्टमिति वचनात् अकाररकाराच्च लुप्यन्ते । तदनन्तरं अहं इत्यत्र उच्चारणार्थम् अकारः क्षिप्यते । मोज्ज्वला-वजने अहं इति तत्त्व निष्पन्नम् । ३ अहम् । ४ साक्षरं ध्यानमिदम् । 'अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं स विन्दुम् । तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्वविन् ॥'—ज्ञानार्णव पृ. २९१ पर उद्धृत ।

उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं किञ्चिन्नैकिकमुच्यते ।
 प्रकीर्णकप्रपञ्चेन दृष्टाऽदृष्टाफलाश्रयम् ॥७०८॥
 पञ्चमूर्तिमयं धीजं नासिकाग्रे विचिन्तयन् ।
 निधाय संगमे चेतो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ॥७०९॥
 यत्र यत्र हृषीकेऽस्मिन्निदं धीताचलं मनः ।
 तत्र तत्र लभेतायं बाह्यग्राह्याश्रयं सुखम् ॥७१०॥
 स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा ध्यानं तत्त्वबीजसमाश्रयम् ।
 आद्येन लभते कामं द्वितीयेन परं पदम् ॥७११॥
 पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडीं संचालयेत्ततः ।
 मरुच्चतुष्टयं पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ॥७१२॥

चिन्तन करना चाहिए । ऐसा करनेसे यदि मन स्थिर हो तो ध्येय अर्हन्त आदिके न होते हुए भी ध्याताको ऐसा प्रतिभास होता है मानो वह साक्षात् अर्हन्तका दर्शन कर रहा है । ऐसा करते-करते ध्याता स्वयं तद्रूप होकर एक दिन वास्तवमें अर्हन्त बन जाता है ।

लौकिक ध्यानका वर्णन

अलौकिक ध्यानका वर्णन हो चुका । अब उसकी चूलिकाके रूपमें दृष्ट और अदृष्ट फलके दाता लौकिक ध्यानका कुछ वर्णन करते हैं ॥ ७०८ ॥

नाकके अग्र भागमें दृष्टिको स्थिर करके और मनको भौहोंके बीचमें स्थापित करके जो पंचपरमेष्ठीके वाचक 'ओं' मन्त्रका ध्यान करता है वह दिव्य ज्ञानको प्राप्त करता है ॥ ७०९ ॥ जिस-जिस इन्द्रियमें यह मनको स्थिर करता है, इसे उस-उस इन्द्रियमें बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे होनेवाला सुख प्राप्त होता है ॥ ७१० ॥ ध्यानके दो भेद हैं—एक स्थूलध्यान, दूसरा सूक्ष्मध्यान । स्थूलध्यान किसी तत्त्वका साहाय्य लेकर होता है और सूक्ष्मध्यान बीजपदका साहाय्य लेकर होता है । स्थूलध्यानसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है और सूक्ष्मध्यानसे उत्तम पद मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ७११ ॥

लौकिक ध्यानकी विधि

पहले नाभिमें स्थित कमलका उत्थापन करे । फिर नाडीका संचालन करे । फिर जो पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल ये चार वायुमण्डल स्थित हैं उनको आत्मामें प्रचारित करे ॥ ७१२ ॥

भावार्थ—योग अथवा ध्यानके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । ध्यानकी सिद्धि और अन्तरात्माकी स्थिरताके लिए प्राणायामको भी प्रशसनीय बतलाया है । प्राणायामके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक । नासिकाके द्वारा वायुको

१ चूलिकाव्याख्यया । २ अकारम् । ३ भ्रूमध्ये । ४ स्पर्शनादौ । ५ आरोपयेत् । ६ नाभौ स्वभावेन स्थित कमल चालयेत् । पश्चात्त्रालाकारेण नाडीं नालिका संचालयेत् । नाड्या मरुत हृदय प्रति प्रापयेत् । पश्चात् मरुच्चतुष्टयं पृथ्वी-अप-तेजो-वायुमण्डलानि नासिकामध्ये सूक्ष्मानि स्थितानि सन्ति तानि चेतसि आत्मविषये प्रचारयतु योजयतु ।

मन्त्रोऽयं स्मृतिधाराभिर्विद्य यस्यामिषर्वति ।

तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपांसवः ॥७०६॥

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।

भवत्येतस्मृतिर्जगत्पुरास्पर्यं सर्वसंपदाम् ॥७०७॥

यह मन्त्र जिसके चिन्तने स्मृतिरूपी धाराओंके द्वारा बरसता है, अर्थात् जो बारम्बार अपने चिन्तने इस मन्त्रका स्मरण करता है, उसके छोटे-मोटे सब उच्छ्वसरूपी भूक खान्त हो जाती है ॥ ७०६ ॥ अपवित्र या पवित्र, ठीक तरहसे स्थित या दुःस्थित जो माणी इस मन्त्रका स्मरण करता है उसे सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ७०७ ॥

भाषार्थ—अपने और ध्यानमें अन्तर है। मन्त्रका अप तो स्वाध्यायमें गर्भित है किन्तु ध्यान उससे भिन्न है। यद्यपि अप भी ध्यानकी ओर के जानेवाला है। मोक्षके जो कारण बताये गये हैं उनमें भी ध्यान ही प्रधान है। अतः शास्त्रकारोंने मुमुक्षुके लिये ध्यानाभ्यासपर विषय और विद्या है। मन्त्रके एकाम्र करनेका नाम ध्यान है। मन्त्रकी एकाम्रता सांसारिक इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, हिंसा, चोरी आदि कामोंमें भी देखी जाती है। ऐसी एकाम्रता दुष्प्रान्त कहलाती है। अतः ध्यानके चार भेदोंमेंसे चार्त्त और रौद्रध्यानको ससारका कारण कहा है और धर्म तथा सुखध्यानको मोक्षका कारण कहा है। इनमेंसे सुखध्यान तो आनन्द-कर्म होना समझा जाता है क्योंकि सुखध्यान आठवें आदि गुणध्यानकी मुनियोंके ही होता है और आनन्द-कर्म सातवें गुणध्यानसे आगे होना संभव नहीं है क्योंकि न तो आनन्द-कर्म वैसा संहतन होना संभव है और उतना ज्ञान ही जाना संभव है। केवल ध्यान ही आनन्द हो सकता है। और उसीका विशेष वर्णन उपासनाध्यायनमें, ज्ञानार्णवमें तथा उक्तानुशासन आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। धर्मध्यानके लिये भी अभ्यासकी आवश्यकता है।

ध्यानका स्थान बहुत शान्त और एकान्त होना चाहिए, जहाँ किसी प्रकारका विज उपस्थित होनेकी आशंका न हो। ऐसे स्थानमें जमीनपर या शिखा गौरहपर सुत्तासनसे बैठकर या कायात्सर्ग मुद्रामें खड़े होकर, अपनी दृष्टिको नाकके अग्रभागपर स्थित करके, और शरीरको सीधा सरल रूपसे निश्चल करके मन्द-मन्द आसोच्छ्वासपूर्वक अपने मनको ध्येयमें एकाम्र करना चाहिए और अन्तर्गामी किमुद्रिके लिये स्वरूप या पररूपका चिन्तन करना चाहिए। ध्यान भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। स्वरूपक ध्यानको निश्चय और पररूपक ध्यानको व्यवहार कहते हैं। व्यवहार निश्चयका साधक है अतः पहले व्यवहार ध्यानका ही अभ्यास करना आवश्यक है। पहले जो आशुविषय, अशमविषय, संस्थानविषय और विषादादिषय नामके धर्मध्यान बतलाये हैं उनका चिन्तन करना चाहिए। उनके सिवा भी माम स्थापना, ब्रह्म और भावके भेदसे ध्येय (ध्यान करनेके योग्य) के चार भेद कहे हैं। अपने हृदयमें चार पंखुडोका कमल कल्पित करके और उसकी कर्पिका तथा पारों पत्रोंपर कमसे पंचपरमेष्ठीक वाचक अ सि आ उ सा मन्त्रका ध्यान करना या इसी प्रकारक अन्य मन्त्रोंका ध्यान करना यह नामधेय है। जिनेंद्र बिम्बका ध्यान करना स्थापना ध्येय है। यथायथं ता पौषो परमेष्ठीका ध्यान करनेक योग्य है। अर्हन्त आदिका जैसा स्वरूप साक्षोंमें बतलाया है वैसा ही अपने मनमें

रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः ।
 आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥७१७॥
 दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नादुरः ।
 कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवादुरः ॥७१८॥

योगका माहात्म्य

योगियोंकी गति बड़ी विचित्र होती है । वे दूरवर्ती रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको ऐसे जान लेते हैं मानो वह समीप ही है ॥ ७१७ ॥

भाचार्थ—योगकी शक्ति अद्भुत है । इसीसे योगियोंको अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । उनका क्षयोपशम प्रबल हो जाता है और उसके कारण वे अन्य प्राणियोंकी शक्तिसे बाहरके पदार्थोंको भी जान लेते हैं । आजकल जड़ शक्तिसे प्रभावित जनसमूह आध्यात्मिक शक्तिको मुला बैठा है और वह शास्त्रोंमें वर्णित ऋद्धियोंको कपोल-कल्पना मानता है । किन्तु वह यह नहीं समझता कि जो मनुष्य जड़ शक्तिके आविष्कार और उसके नियन्त्रणमें पटु है वह स्वयं कितना शक्तिशाली है ? यदि वह अपनी उस शक्तिको केन्द्रित कर सके तो वह क्या नहीं कर सकता । योग या ध्यान आत्मिक शक्तिको केन्द्रित और विकसित करनेका साधन है । जो योगी बाह्य प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर योगकी साधना करते हैं, उनमें भी अनेक चमत्कारिक बातें पायी जाती हैं । १४वीं शतीमें इन्नवतूता नामका एक विदेशी मुसलमान यात्री भारत भ्रमणके लिए आया था । उसने अपने यात्राविवरणमें अनेक भारतीय योगियोंके आखो देखे चमत्कारिक प्रयोगोंका उल्लेख किया है और लिखा है कि मैं उनके आश्चर्यजनक कामोंको देखकर भयसे मूर्च्छित हो गया । अतः जब बाह्य साधनासे इस प्रकारके चमत्कारिक प्रयोग सम्भव है तब यह मानना पड़ता है कि आध्यात्मिक साधनासे क्या नहीं किया जा सकता । अतः योगमें अद्भुत शक्ति है और वह आत्माको परमात्मा बना सकता है ।

जैसे बीजके जलकर राख हो जानेपर उससे अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता वैसे ही कर्मरूपी बीजके जलकर राख हो जानेपर ससाररूपी अकुर नहीं उगता ॥ ७१८ ॥

भाचार्थ—बीजसे अकुर पैदा होता है और वह अकुर बढ़कर नव वृक्षका रूप लेता है तो उससे बीज पैदा होता है । इस तरह बीजसे अकुर और अकुरसे बीज पैदा होता चला आता है और उसकी सन्तान अनादि है । किन्तु यदि बीजको जलाकर राख कर दिया जाये तो फिर वह बीज उग नहीं सकता और इस तरह अनादिकालसे चली आयी बीज-अकुरकी परम्परा नष्ट हो जाती है । उसी तरह कर्मसे ससार और ससारसे कर्मकी सन्तान भी अनादिकालसे चली आती है । किन्तु कर्मरूपी बीजके नष्ट हो जानेपर ससाररूपी अकुर उत्पन्न नहीं होता और इस तरह कर्म और ससारकी अनादि सन्तानका मूलोच्छेद हो जाता है ।

१ 'सस्पर्शनं सश्रवणं च दृग्दास्त्रादनाघ्राणविलोकनानि । दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् बहन्त स्वस्ति-
 क्रियासु परमर्पयो न ।'—संस्कृतदेवशास्त्रगुरुपूजा । २ उमास्वातिरचित तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें, तत्त्वार्थ-
 वातिककी अन्तिम कारिकाओंमें, जयचबलाके अन्तमें और तत्त्वार्थसार (मोक्षतत्त्व ७ श्लो) में यह श्लोक
 पाया जाता है ।

वीपहस्तो यथा कश्चित्किञ्चिदाशोपय त त्वजेत् ।
 शान्तं ध्येयमाशोपय पश्चात् शान्तमुत्तरेत् ॥७१३॥
 सूर्यपापाश्रये क्षीणे ध्यानं भयति भायना ।
 पापोपहतमुत्तीर्णां ध्यानपार्ताऽपि युसमा ॥७१४॥
 वधिभायगतं क्षीरं न पुनः क्षीरतां प्रजेत् ।
 तस्य ध्यानविशुद्धात्मा पुनः पापेन लिप्यते ॥७१५॥
 मन्त्रं मन्त्रं लिपेद्यायुं मन्त्रं मन्त्रं विमिसिपेत् ।
 न कश्चिद्धार्यते पापुम च शीघ्रं प्रमुच्यते ॥७१६॥

खन्दरकी आर त जाकर क्षरीरमें पूरनेको पूरक कहते हैं । उस पूरक वायुका स्थिर करके नामि-
 क्रममें घड़ेकी तरह भरकर राक्षे रम्नेका नाम कुम्भक है । और फिर उस वायुको अल्पवृत्त धीरे
 धार बाहर निकालनेका रेचक कहते हैं । इसके अग्राससे मन स्थिर होता है । मनमें संकल्प
 विकल्प नहीं उठते, और कपायोंके साथ विषयाक्षि बाह भी घट जाती है । प्राणायामके अग्रासी
 योगीका चार पवनमण्डलोंको भी जानना आवश्यक है । ये चारों पवनमण्डल नासिकाके छिद्रमें
 स्थित हैं । इनका ज्ञान सरल नहीं है । प्राणायामके महान् अग्राससे ही इन चार पवनमण्डलोंका
 अनुभव हो सकता है । ये चार पवनमण्डल हैं—प्राण, वायु, मारुत और आग्नेय । इनका स्वरूप
 ज्ञानात्मक २९वें प्रकरणमें वर्णित है । वहाँसे जाना जा सकता है । इन पवनमण्डलोंकी साक्षात्
 के द्वारा लौकिक दुःसाधु जाना जा सकता है । यह उग्र कहा ही है कि लौकिक ध्यानका
 वर्णन करते हैं सो यह सब बड़ीकरण, स्तम्भन, उच्चारण आदि लौकिक क्रियाओंके लिए
 उपयोगी हैं ।

जैसे कोई आदमी दीपक हाथमें लेकर और उसका द्वारा आकरक पदार्थका देखकर उस
 दीपकका छाड़ देता है वैसे ही ज्ञानके द्वारा ज्ञेय पदार्थको आकर पीछे उस ज्ञानका छोड़ देना
 चाहिए ॥७१६॥

समस्त पापकर्मोंका आसब रुक जानेपर ही मनुष्यको ध्यान करनेकी साक्षात् हाती है ।
 जिनकी बुद्धि पापकर्ममें स्थित है उनका स्थि तो ध्यानकी वधा भी दुर्लभ है । अर्थात् पापी मनुष्य
 ध्यान करना तो दूर रहा, ध्यानका नाम भी नहीं ले पाते ॥ ७१७ ॥ तथा जैसे आ दूध दहीकर
 हो जाता है वह फिर दूधरूप नहीं हो सकता, वैसे ही जिसका आत्मा तत्त्वज्ञानसे विमुक्त हो जाता
 है वह फिर पापोंसे स्थित नहीं होता ॥ ७१८ ॥

भाषार्थ—आशय यह है कि पापकर्मोंको छोड़कर ही मनुष्य सम्यग् ध्यानका पात्र
 होता है । और ध्यानके द्वारा विमुक्त आत्माकी प्रतीति हो जानेपर फिर वह पापकर्मोंसे नहीं
 फँसता ।

ध्यान करते समय वायुको धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए और धीरे-धीरे ग्रहण करना चाहिए ।
 न वायुका दृष्टपूर्वक राक्षना ही चाहिए और न अक्षरी निकालना ही चाहिए । अर्थात् आसाच्छासकी
 गति बहुत मन्द होनी चाहिए ॥ ७१९ ॥

रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः ।
 आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥७१७॥
 दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नादुरः ।
 कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहनि भवाद्गुरुः ॥७१८॥

योगका माहात्म्य

योगियोक्ती गति बड़ी विचित्र होती है । वे दृग्बर्ती रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको ऐसे जान लेते हैं मानो वह समीप ही है ॥ ७१७ ॥

भाषार्थ—योगकी शक्ति अद्भुत है । इसीसे योगियोंको अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । उनका क्षयोपशम प्रबल हो जाता है और उसके कारण वे अन्य प्राणियोंकी शक्तिसे बाह्यके पदार्थोंको भी जान लेते हैं । आजकल जड़ शक्तिसे प्रभावित जनममूह आध्यात्मिक शक्तिको भुला बैठा है और वह शास्त्रोंमें वर्णित ऋद्धियोंको कपोल-कल्पना मानता है । किन्तु वह यह नहीं समझता कि जो मनुष्य जड़ शक्तिके आविष्कार और उगके नियन्त्रणमें पटु है वह स्वयं कितना शक्तिशाली है ? यदि वह अपनी उस शक्तिको केन्द्रित कर सके तो वह क्या नहीं कर सकता । योग या ध्यान आत्मिक शक्तिको केन्द्रित और विकसित करनेका साधन है । जो योगी बाह्य प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर योगकी साधना करते हैं, उनमें भी अनेक चमत्कारिक बातें पायी जाती हैं । १४वीं शतीमें इन्वतूता नामका एक विदेशी मुसलमान यात्री भारत भ्रमणके लिए आया था । उसने अपने यात्राविवरणमें अनेक भारतीय योगियोंके आखो देखे चमत्कारिक प्रयोगोंका उल्लेख किया है और लिखा है कि मैं उनके आश्चर्यजनक कामोंको देखकर भयसे मूर्च्छित हो गया । अतः जब बाह्य साधनासे इस प्रकारके चमत्कारिक प्रयोग सम्भव हैं तब यह मानना पड़ता है कि आध्यात्मिक साधनासे क्या नहीं किया जा सकता । अतः योगमें अद्भुत शक्ति है और वह आत्माको परमात्मा बना सकता है ।

जैसे बीजके जलकर राख हो जानेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता वैसे ही कर्मरूपी बीजके जलकर राख हो जानेपर ससाररूपी अंकुर नहीं उगता ॥ ७१८ ॥

भाषार्थ—बीजसे अंकुर पैदा होता है और वह अंकुर बढ़कर नव वृक्षका रूप लेता है तो उससे बीज पैदा होता है । इस तरह बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज पैदा होता चला आता है और उसकी सन्तान अनादि है । किन्तु यदि बीजको जलाकर राख कर दिया जाये तो फिर वह बीज उग नहीं सकता और इस तरह अनादिकालसे चली आयी बीज-अंकुरकी परम्परा नष्ट हो जाती है । उसी तरह कर्मसे ससार और ससारसे कर्मकी सन्तान भी अनादिकालसे चली आती है । किन्तु कर्मरूपी बीजके नष्ट हो जानेपर ससाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता और इस तरह कर्म और ससारकी अनादि सन्तानका मूलोच्छेद हो जाता है ।

१ 'सस्पर्शनं सश्रवणं च दूग्दास्वादनाघ्राणविलोकनानि । दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् बहन्त स्वस्ति-
 क्रियासु परमप्रेयो न ।'—संस्कृतदेवशास्त्रगुरुपूजा । २ उमास्वातिरचित तत्त्वार्थमाण्यके अन्तमें, तत्त्वार्थ-
 वातिककी अन्तिम कारिकाओंमें, जयघवलाके अन्तमें और तत्त्वार्थसार (मोक्षतत्त्व ७ श्लो) में यह श्लोक
 पाया जाता है ।

'नामौ चेतसि नास्तामे ह्यौ भाले च मूर्धनि ।
 विहारयेन्मनो हंस सत्रा कायसरोवरे ॥७१६॥
 'यायावृष्योमि अस्ते तिष्ठेथिपीवेवनलार्थिपि ।
 मनोर्मयप्रयोगेण शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥७२०॥
 जीवा शिव शिवो जीवा किं मेवोऽस्त्यत्र कथ्यते ।
 पाशवन्मो मवेन्मोय पाशमुक्तः शिव पुनः ॥७२१॥
 साकारं नश्यत् सधमनाकार न दृश्यते ।
 पञ्चदशविनिमुक्त कथं ध्यायन्ति योगिनः ॥७२२॥
 अत्यन्तं मलिनो वैद्यः पुद्गलस्यस्तनिर्मलः ।
 वेदादेन पूयन्कृत्या तस्माद्विष्यं विचिन्तयेत् ॥७२३॥
 तोषमप्ये यथा तैलं पूयन्माषेन तिष्ठति ।
 तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुद्गलास्ते पूयन्कृत्या ॥७२४॥

कर्मरूपी सरोवरके नामिदेषमें, चित्तमें, नाकके अग्रभागमें, दृष्टिमें, मस्तकमें अथवा सिरों
 देखमें मनरूपी हंसका विहार सदा कराना चाहिय। अर्थात् ये सब ध्यान स्थानोंमें ध्यान है, इनमें
 से किसी भी एक स्थानपर मनको स्थिर करके ध्यान करना चाहिय ॥ ७१९ ॥ जो मन और
 वामुको साथ लेता है वह आकाशमें विहार कर सकता है, अक्षमें स्थिर रह सकता है और वागकी
 क्षपटोंमें बैठ सकता है। अधिक क्या ? शूल भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते ॥ ७२० ॥
 जीव शिव अर्थात् परमात्मा है और परमात्मा जीव है। इन दोनोंमें क्या कुछ भी भेद है ? जो
 कर्मरूपी बन्धनसे बंधा हुआ है वह जीव है और जो उससे मुक्त हो गया वह परमात्मा है अर्थात्
 आत्मा और परमात्मामें शुद्धता और अशुद्धताका अन्तर है, अन्य कुछ भी अन्तर नहीं है। शुद्ध
 आत्माको ही परमात्मा कहते हैं ॥ ७२१ ॥

आत्मध्यानके विषयमें प्रश्न और उत्तर

जो साकार है वह जिनाशी है और जो निराकार है वह जिनायी नहीं देता। किन्तु
 आत्मा तो न साकार है और न निराकार है उसका योगीश्वर कैसे ध्यान करते हैं ? ॥७२२॥
 शरीर अत्यन्त गन्दा है किन्तु आत्मा अत्यन्त निमल है। अतः शरीरसे आत्माका जुड़ा
 करके सदा उसका ध्यान करना चाहिय ॥ ७२३ ॥

शरीर और आत्माकी भिन्नतामें उदाहरण

जैसे पानीके बीजमें रहकर भी तेल पानीसे जुड़ा रहता है, वैसे ही इस शरीरमें रहकर भी

१ 'नेत्रद्वन्द्वे धवणयुक्ते नासिकप्रदे ककाले बन्धे नासौ धिरकि हृषये तामुनि प्रमुगच्छते ।
 ध्यानस्थानात्प्रमत्तमिति' कीर्तिताम्यत्र है, तेऽत्रैकस्मिन् विषयविषयं विषयव्यवस्थायाम् ॥१३॥ — ब्रह्मात्मक
 पृ ३९ । 'यन्नामी हृषये बन्धे ककाले मस्तके स्थितम् । शुचप्रसावतो मुक्त्वा विगतभीरं दूषेयम् ॥१४॥
 — अमृत आर १५ पटि । २ पञ्चदे । ३ प्राणायामादिना ।

दध्न सर्पिर्वात्मायमुपायेन शरीरतः ।
 पृथक्क्रियेत तत्त्वैश्चिरं संसर्गवानपि ॥७२५॥
 पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले ।
 तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद्वा लपनविम्बवत ॥७२६॥

आत्मा उससे अलग ही रहता है ॥ ७२४ ॥ जैसे घी और दहीका सम्बन्ध पुसना है फिर भी जानकार लोग उपायके द्वारा दहीसे घीको अलग कर लेते हैं वैसे ही इस आत्माका शरीरके साथ यद्यपि बहुत पुराना सम्बन्ध है, फिर भी तत्त्वके ज्ञाता पुरुष उपायके द्वारा आत्माको शरीरसे अलग कर लेते हैं ॥ ७२५ ॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है किन्तु उसकी गन्ध निराकार है, या वृक्ष साकार है किन्तु उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है किन्तु उसका प्रतिविम्ब निराकार है वैसे ही शरीर और शरीरमें स्थित आत्माको जानना चाहिए ॥ ७२६ ॥

भावार्थ—प्रश्नकर्ताका कहना है कि जो साकार होता है वह विनाशी होता है जैसे घट पट वगैरह, और जो निराकार होता है वह दिखायी नहीं देता जैसे आकाश । किन्तु आत्मा न तो साकार है क्योंकि वह नित्य है और न निराकार है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष गम्य है । ऐसी अवस्थामें योगीजन उसका ध्यान कैसे करते हैं ? इस प्रश्नका समाधान अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा ग्रन्थकारने किया है । उनका कहना है कि ससार दगामें आत्मा शरीरके विना नहीं रहता । किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि शरीर और आत्मा दोनों एक है । जैसे पानीमें पड़ा हुआ तेल पानीमें रहकर भी उससे अलग है, वैसे ही शरीरमें रहकर भी आत्मा उससे अलग है । इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि आत्मा तो शरीरसे अलग प्रतीत नहीं होता । शरीरमें कष्ट होनेपर आत्माको भी कष्टका अनुभव होता है फिर दोनोंका सम्बन्ध भी अनादि है । इस प्रश्नको मनमें रखकर ग्रन्थकारका कहना है कि देखो, दही और घीका सम्बन्ध अनादि है, फिर भी जानकार लोग दहीको मथकर उसमेंसे घीको अलग कर लेते हैं । किन्तु आत्मा और शरीर तो दही और घीकी तरह एकमेक नहीं है, तब यदि तत्त्वद्रष्टा पुरुष शरीरसे आत्माको पृथक् कर लें तो इसमें कौन-सी अनोखी बात है ? इस तरह शरीरसे भिन्न आत्माको मानकर भी प्रश्नकर्ताका यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि जो 'न' साकार है और न निराकार, उसका ध्यान कैसे किया जाता है । उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने आत्माकी साकारता अथवा निराकारताका उपपादन करनेके लिए तीन दृष्टान्त दिये हैं । पुष्प और उसकी गन्ध, वृक्ष और उसकी छाया तथा मुख और उसका प्रतिविम्ब । जैसे पुष्प, वृक्ष और मुख साकार है वैसे ही शरीर भी साकार है । तथा जैसे पुष्पकी गन्ध, वृक्षकी छाया और मुखका प्रतिविम्ब निराकार है वैसे ही आत्मा भी निराकार है । यदि देखा जाये तो गन्ध, छाया और प्रतिविम्ब भी साकार हैं, किन्तु पुष्प, वृक्ष और मुखकी तुलनामें तो वे निराकार ही ठहरते हैं । वैसे ही एक दृष्टिसे तो आत्मा भी साकार है, क्योंकि आत्माको शरीराकार माना गया है । किन्तु शरीरकी तुलनामें तो वह निराकार ही ठहरता है । अतः जैसे पुष्पकी गन्ध पुष्परूप होनेसे, वृक्षकी छाया वृक्षाकार होनेसे और मुखका प्रतिविम्ब मुखकी आकृतिको धारण करनेसे साकार है और स्वतः निराकार है वैसे ही आत्मा शरीर प्रमाण होनेके कारण साकार है और शरीरकी तरह उसमें अवयव

एकस्तेर्म नयत्तौर पैव्यपञ्चजनाभितम् ।
 अनेककञ्चमेवेव शरीरं योगिनां गृहम् ॥७२७॥
 ध्यानामृताक्षयस्य काम्तिर्योगिप्रतैस्य च ।
 यत्रैव रमते चित्तं योगिनो योगवाञ्छये ॥७२८॥
 रज्जुभिः कृष्यमाणः स्याद्यथा पारिप्लवो हयः ।
 कृष्टस्तपेन्द्रियैरारमा ध्याने लीयेत न क्षणम् ॥७२९॥
 रक्षां सहरणं सृष्टिं गोमुद्रामृतवर्षणम् ।
 विषास्य चिन्तयेवात्ममात्ररूपधरा स्वयम् ॥७३०॥

नहीं हैं इसलिये निराकार हैं । अतः साकार होते हुए भी शरीरकी तरह अवयवविशिष्ट न होनेसे वह नष्ट नहीं होता और सर्वथा निराकार न होनेसे अदृश्य भी नहीं ठहरता ।

यह शरीर ही योगियोंका घर है । यह घर एक आयुष्मणी स्तम्भपर ठहरा हुआ है । इसमें नौ द्वार हैं—दोनों ओरोंके दो द्विद्व, दोनों कानोंके दो द्विद्व, नाकके दो द्विद्व, मुखका एक द्विद्व, और मूत्र-मूत्र त्यागके दो द्विद्व । पाँचों इन्द्रियरूपी मनुष्य इसमें वास करते हैं और यह अनेक कोटरियोंसे युक्त है ॥ ७२७ ॥ चूँकि यह शरीर योगका सहायक है इसलिये जो योगी ध्यानरूपी जल-जलसे सन्तुष्ट रहते हैं और क्षमाकृपी स्त्रीमें वासक होते हैं उनका मन इसीमें रमता है, इससे बाहर नहीं जाता ॥ ७२८ ॥

भाषार्थ—बिना शरीरकी वृष्टाके योगाभ्यास नहीं हो सकता । इसलिये शरीर योगका मित्र है । अतः योगी पुण्य अपने मनको उससे बाहर भ्रमने नहीं देते, उसीके नामि जाति प्रवेशमें मनको स्थिर करके ध्यानमें लीन रहते हैं; किन्तु जो शरीरक मोहमें पड़कर उसीकी पुष्टिमें वासक हो जाते हैं वे योगका साधन नहीं कर सकते ।

ऐसे रास्ते कीचनेसे बोझा चंचल हो जाता है ऐसे ही इन्द्रियोंके द्वारा आकृष्ट आत्मा क्षणभर भी ध्यानमें लीन नहीं हो सकता । अतः ध्यामी पुण्यको इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिये, स्वयं उनके वशमें नहीं होना चाहिये ॥ ७२९ ॥

रक्षा, संहार, सृष्टि, गोमुद्रा और अमृतपुष्टिको करके स्वयं वास स्वल्पवारी मनुष्यको वासके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ॥ ७३० ॥

विशेषार्थ—धर्मध्यानके संस्थानविनय नामक मैत्रके भी चार अवान्तर भेद हैं—पिण्डस्थ पदस्थ, कम्पस्थ और लपासीत । पिण्डस्थध्यानमें पाँच भारणाएँ होती हैं—पार्थिवी, जाल्मेयी, माट्टी, वायुकी और तत्स्वरूपकरी । पार्थिव भारणाका स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम ही योगी मि-शब्द, सरगरहित खीरसमुद्रका ध्यान करता है । उसके मध्यमें एक सुमहारे रंगके सहस्रवत् कमलका ध्यान करता है । फिर उस कमलके मध्यमें मेरुके समान एक कर्णिकका ध्यान करता

१ आयुषा युतम् । २ द्विद्वम् । ३ पञ्चैन्द्रियाणि एव पञ्चजना मनुष्यास्तैराभितम् । ४ नामि-
 कमलपद्मरज्जुगन्धारिमेदेन । ५ आकृष्टतस्य । 'ध्यानामृताक्षयतुल्यतां यैवीरामामुनैरुवाच । तत्रैव रमते स्वायं
 तत्रैव विचारतां विनाम्' ॥—प्रबोधसार ॥२११॥ ६ पञ्चकम् । ७ सकलीकरणे यद्यप्युर्वं धृतीररता प्रियते
 परपादमित्तरे वदन्वदन्तं सहरणं अत्राह वदन्वदन्तम् अमृतवर्षणं गृहम् । ८ गुरमिन्द्रा ।

धूमवन्निर्वमेत्पापं ^१गुरुबीजेन तादृशा ।
 गृह्णीयादमृतं तेन ^२तद्वर्णेन मुहुर्मुहुः ॥७३१॥
 'संन्यस्ताभ्यामधोहिभ्यामूर्ध्वोरुपरि युक्तिः ।

है और फिर उस कर्णिकाके ऊपर स्थित सिंहासनपर अपनेको बैठा हुआ विचारता है । यह पार्थिवी धारणा है । अब आग्नेयी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी अपने नाभिमण्डलमें सोलह पत्रोंके एक कमलका चिन्तन करता है । फिर उन सोलह पत्रोंपर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ ओ औ अ अः । इन सोलह अक्षरोंका ध्यान करता है और कमलकी कर्णिकापर 'हँ' का ध्यान करता है फिर 'हँ' की रेफसे निकलती हुई धूमकी शिखाका चिन्तन करता है । फिर उसमें-से निकलते हुए स्फुलिंगोंका चिन्तन करता है । फिर उसमें-से निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंका और उन लपटोंके द्वारा हृदयस्थित कमलको जलता हुआ चिन्तन करता है । उस कमलके जल चुकनेके पश्चात् शरीरके बाहर बड़बानलकी तरह जलती हुई अग्निका चिन्तन करता है । यह प्रज्वलित अग्नि उस नाभिस्थ कमलको और शरीरको भस्म करके जलनेके लिए कुछ शेष न रहनेसे स्वयं शान्त हो जाती है ऐसा चिन्तन करता है । अब मारुती धारणाको कहते हैं—फिर योगी आकाशको पूरकर विचरते हुए महावेगशाली और महाबलवान् वायुमण्डलका चिन्तन करता है । उसके बाद ऐसा चिन्तन करता है कि उस महावायुने शरीरादिकके सब भस्मको उड़ा दिया है । आगे वारुणी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी बिजली गर्जन आदि सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका चिन्तन करता है । फिर उनको बरसते हुए चिन्तन करता है । फिर उस जलके प्रवाहसे शरीरादिकी भस्मको बहता हुआ चिन्तन करता है । अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल सर्वज्ञ आत्माका चिन्तन करता है । फिर वह ऐसा चिन्तन करता है कि वह आत्मा सिंहासनपर विराजमान है, दिव्य अतिशयोक्तिसे सहित है और देव-दानव उसकी पूजा कर रहे हैं । फिर वह उसे आठ कर्मासे रहित पुरुषाकार चिन्तन करता है । यह तत्त्व-रूपवती धारणा है । इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानका अभ्यासी योगी शीघ्र ही मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेता है । उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने इन्ही धारणाओंका कथन किया है ।

उस प्रकारके बीजाक्षर 'हँ' से धूमकी तरह पापको नष्ट करना चाहिए । अर्थात् आग्नेयी धारणामें हँ की रेफसे निकलती हुई धूमशिखाका चिन्तन करनेसे धूमकी तरह पापका क्षय होता है । तथा उस अमृत वर्ण पकारसे वारम्बार अमृतको ग्रहण करना चाहिए ॥७३१॥ [इसका भाव अस्पष्ट नहीं हो सका है ।]

ध्यानके आसनोंका स्वरूप

जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंसे नीचे दोनों पिण्डलियोंपर रखकर बैठा जाता है उसे पद्मा-

१ निर्वमेत् आ । २ हुकारेण । हुकारेण (?) । ३ अमृतवर्णेन पकारेण । ४ सक्थ्योरथ पादौ तदा पद्मासनम् । सक्थ्योरुपरि तदा बीरासनम् । घूटा उपरि घूटा तदा सुखासनम् । 'जङ्घाया जङ्घाया श्लेघो समभागे प्रकीर्तितम् । पद्मामन सुखावायि सुसाध्य सकलैर्जनैः ॥ ४५ ॥ वृषैरुपर्यधोभागे जङ्घयोर्ध्वयोरपि । समस्तयो कृते ज्ञेय पर्यङ्कामनमामनम् ॥ ४६ ॥ ऊर्वोश्चरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति । बीरासन विर कर्तुं शक्य बीरर्न कातरं ॥ ४७ ॥ —अमिन० श्रा०, ८ प० । 'पद्मामन स्थितौ पादौ जङ्घाम्यामुत्तरावरे । ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वो बीरासनं क्रमौ ॥ ८३ ॥' —अनगारधर्मासुत ८ अ. ।

अथेय समगुह्यताम्यां पथवीरसुखासनम् ॥७३२॥

तत्र सुखासनस्यैव लक्षणम्—

गुह्यकोत्तानकराजुष्टरेदारोमाकिनासिका ।

समदृष्टिः समाः कुर्याद्भीतिस्तम्भो न घामना ॥७३३॥

तां हजिभागमभ्याङ्गिः स्थिरशीर्षं शिरो धरा ।

समनिष्पन्मृपाप्यर्घ्यप्रजानुभूहस्तलोचनम् ॥७३४॥

न जातहृतिम् कण्डूतिर्नोद्यमकिर्न कम्पितिः ।

न पर्वगणिति कार्या नोक्तिरभ्योक्षितिः स्मितिः ॥७३५॥

न कुर्याद्दृष्टकपातं नैव कैकरपीक्षणम् ।

न स्पन्द पद्ममासामां तिष्ठेद्यास्ताप्रवृत्ता ॥७३६॥

चिच्छेपाक्षेपसमोद्गुरीहराहित इति ।

लम्बतस्थे करस्योऽयमशेषो ध्यानको विधिः ॥७३७॥

इत्थुपासकाम्यजन ध्यानविधिवर्गिणो नत्वारिणः कल्पः ।

सन कहते हैं । जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनों के ऊपर के हिस्से पर रखकर बैठ जाता है अर्थात् बायीं ऊरु के ऊपर बायाँ पैर और दायीं ऊरु के ऊपर दायाँ पैर रखा जाता है उसे बीरासन कहते हैं । और जिसमें पैरों की गँठें बराबर में रहती हैं उसे सुखासन कहते हैं ॥ ७३२ ॥

भाषार्थ—उत्तर भारतमें बैठी हुई सिनकिम्बोंमें आ आसन पाया जाता है वही पद्मासन है क्योंकि उसमें दोनों पैर घुटनों से नीचे पिछड़ियों के ऊपर रहते हैं । यदि दोनों पैर दोनों घुटनों से ऊपरक भागपर रखे हों तो उसे बीरासन समझना चाहिए । बीरासनसे पद्मासन सरल है क्योंकि आँखों के ऊपर पैर होनेसे निश्चाय कम पड़ता है । और पद्मासनसे भी सरल सुखासन है क्योंकि उसमें पैर के ऊपर पैर रहता है । इसलिये निश्चाय बिल्कुल नहीं पड़ता । इसीसे इसका नाम सुखा सन रखा गया है । गुह्यस्तोत्रों को ध्यान करते समय इसी सुखासनसे बैठना चाहिए । इसीसे आगे सुखासनका स्वरूप बतलाते हैं ।

पैरों की गाँठों पर बायीं हथेली के ऊपर दायीं हथेली को सीधा रखे । अगूठों की रेखा नामिसे निकलकर ऊपरको आनेवाली रोमावली और नाक तक सीधमें हों । दृष्टि सम हो । शरीर न एकदम सना हुआ हो और न एकदम झुका हुआ हो । खड़ागासन अवस्थामें दोनों परशोंके बीचमें पार अंगुलका अन्तर होना चाहिए । सिर और गर्दन स्थिर हों । पड़ी घुटने, मुकुट हाथ और जाँखें समान ऊँचसे निश्चल हों । न स्थिति न झुकावे । न ओठ चम्पये, न कपि न हाथके पर्शोंपर गिनें न नाक, न हिल-झुके न मुसकराये न दृष्टिको दूर तक ऊँचाये और न फटाफटे ही दस्ते । नाँसके पक्षियोंको न मारे और नाकके अग्रभागमें अपनी दृष्टिको स्थिर रखे । हृदयमें चञ्चला तिरस्कार, मोह और दुर्गमनाके न होनेपर तथा सत्त्वज्ञानके होनेपर यह समस्त ध्यानकी विधि करमें स्थित अर्थात् सुखम् है ॥ ७३२—७३७ ॥

इस प्रकार उपासकाम्यजनमें ध्यान विधि नामक उगतालीसवीं कल्प समाप्त हुआ ।

यस्यां पदद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं लोकत्रयाम्बुजसरः प्रविहारहारि ।
तां वाग्विलासवसतिं सलिलेन देवीं सेवे कविद्युतैरुमण्डनकल्पवल्लीम् ॥७३८॥
(इति तोयम्)

यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि बोधोऽवकेशितैरुवन्न फलार्थिसेव्यः ।
सोऽत्यल्पवेद्यपि यैयानुगतस्त्रिलोक्याऽऽसेव्यः सुरद्रुगिव तं प्रयजेय गन्धैः ॥७३९॥
(इति गन्धम्)

या स्वल्पैवस्तुरचनापि मिर्तप्रवृत्तिः संस्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मीः ।
स्वर्वल्लरीवनलतेव सुधानुबन्धात्तामद्भुतस्थितिमहं सदकैः श्रयामि ॥७४०॥
(इत्यन्तम्)

[अब अष्टद्रव्यसे शास्त्रका पूजन कहते हैं—]

जिसके सुबन्त और तिङन्तरूप अथवा शब्द और धातुरूप दोनों पद (चरण) शब्दालकार और अर्थालकारके योग्य है, तथा तीनों लोकरूपी कमलसरोवरमें विचरण करनेसे मनोहर हैं उस कविरूपी कल्पवृक्षोंको शोभित करनेके लिए कल्पलताके तुल्य सरस्वती देवीको मैं जलसे पूजता हूँ ॥७३८॥

भावार्थ—जिनवाणी सरस्वती देवी है, उसके दो चरण हैं—एक शब्दरूप और एक धातुरूप, उन दोनोंके मेलसे ही तो वाणीकी रचना होती है जैसे—‘मुनि जाते है ।’ यहाँ ‘मुनि’ शब्दरूप पद है और ‘जाते हैं’ धातुरूप पद है । ये दोनों पद दो अलकारों (आभूषणों) से युक्त होते हैं । उनमेंसे एकका नाम शब्दालकार है और दूसरेका नाम अर्थालकार है । तथा सरस्वती कवियोंका भूषण होती है ।

जिसके बिना समस्त पदार्थोंका समर्थन करनेवाला भी ज्ञान फलहीन वृक्षकी तरह फलार्थी पुरुषोंके द्वारा सेवनीय नहीं होता, और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्षकी तरह तीनों लोकोंसे पूजित होता है, उस जिनवाणीको मैं गन्धसे पूजता हूँ ॥७३९॥

भावार्थ—जिनवाणी स्व और परका ज्ञान कराकर जीवोंको हितमें लगाती है और अहितसे बचाती है । अतः हिताहितके विवेकसे रहित बहुत ज्ञान भी मोक्षाभिलाषियोंके लिए बेकार है । और हिताहितके विवेकसे युक्त अल्पज्ञान भी पूजनीय है; क्योंकि उसीके द्वारा जीव सिद्ध-बुद्ध बनकर त्रिलोकपूजित होता है ।

जिस जिनवाणीके सस्कारवश अल्प अर्थवाली और अल्प शब्दवाली रचना भी महान् अर्थशाली और महाशब्दवाली हो जाती है, जैसे अमृतके सिञ्चनसे वनकी लता भी कल्पलता हो जाती है । उस अद्भुत स्थितिवाली जिनवाणीको मैं अक्षतसे पूजता हूँ ॥७४०॥

१ शब्दालङ्कार—अर्थालङ्कार । २ कविरेव कल्पतरुस्तस्यालङ्कारेण । ३ वन्ध्यवृक्षवत् । ४ नर । ५ वाण्या । ६ सुरद्रुम इव । ७ अन्पार्थाऽपि । ८ अल्पशब्दसहिताऽपि । ९ अम्यासवशात् । १० अमिनावहा ।

‘यद्वीक्ष्यमक्षयमपि सञ्जमभीधरायां सञ्जमप्रवृद्धिविविधानयधिप्रबन्धैः ।
‘सस्यैरपूर्वरसकृत्तिमिरेव रोहत्याभ्यर्गगोचरविधिं’ प्रसवेर्मन्त्रे ताम् ॥७४१॥

(इति पुष्पम्)

यास्यद्यत्ताधिकविधिः ‘परतन्त्रनीतिः प्रायः कर्त्तापरिगतापि मन्त्रा प्रसूते ।

स्यष्ट स्वतन्त्रमुपशान्तकर्मं च नणा चित्रा हि वस्तुगतिरर्द्धविधैर्यजे ताम् ॥७४२॥

(इति सञ्जम्)

एकं पदं बहुपदापि दद्यात्सि त्रुषा ‘वर्णात्मिकापि च करोषि न ‘वर्णमाज्ञम् ।

सेवे तथापि मघतीमघवा जगोऽर्धौ दोष न पश्यति तद्वस्तु तथैव दीप ॥७४३॥

(इति दीपम्)

यक्षुः परं करणं कन्दरूरितेऽर्धौ मोहान्धकारविधुतौ परमः प्रकाशः ।

सदामगामिपयवीक्षणरत्नदीपस्य खेयसे तविह देवि अनेन धूपैः ॥७४४॥

(इति धूपम्)

जिस जिनबाणीका छेय-सा भी बीच सञ्जनकी मुद्रिरूपी मूर्तिमें जनेक प्रकारके असीम बुद्धिगत प्रबन्धोंके द्वारा और कण्ठ रससे युक्त फलोंके साथ उगता है, तथा जिसकी विधि आश्चर्यका विषय है उस जिनबाणीका मैं कहोसे पूजता हूँ ॥७४१॥

जो सञ्जक रूप होनेसे नेत्रका विषय नहीं है अतएव अति अस्पष्ट है तथा जो कण्ठ ताडु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होनेके कारण परतन्त्र है और मूर्तिसहित है—साकार है, उस बाणीको मनुष्योंका मन स्पष्ट स्वतन्त्र और क्षरीरहित मकट करता है । आख्य यह है कि जिनबाणी अतः ज्ञानरूप है और अतः ज्ञान अस्पष्ट होता है तथा अतः ज्ञानावरणके क्षयोपसमके अधीन होनेसे परतन्त्र भी होता है । किन्तु केवलज्ञान होने पर बड़ी बाणी स्पष्ट, स्वतन्त्र और निराकार रूपमें अवतरित होती है । सत्य है वस्तुओंकी गति बड़ी विचित्र है उस बाणीको मैं जरूरी पूजता हूँ ॥७४२॥

हे जिनबाणी माता ! आप बहुत पदवाक्य होनेपर भी सन्तुष्ट होनेपर एक पद देती हैं, वर्णात्मक होनेपर भी वर्ण प्रदान नहीं करती इस तरह आप बहुत कृपण हैं, फिर भी मैं आपकी सेवा करता हूँ; क्योंकि अर्धों मनुष्य दोष नहीं देखता । यह विरोधाभास अलंकार है । इसका परिहार इस तरह है । प्रादुर्भाग रूप जिनबाणीके पक्षोंकी संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी अक्षर अक्षर हजार पाँच है । अतः वह बहुपदा है । और उसके द्वारा एक पद—अद्वितीय मोक्ष मास होता है । तथा यह जिनबाणी अक्षरारमक है मगर आत्माको प्राज्ञणादि बर्गसे मुक्त कर देती है । अतः मैं उसे दीप अर्पित करता हूँ ॥७४३॥

हे देवि सरस्वती ! गुणोंके समान इन इन्द्रियोंसे दूरवर्ती पदार्थको देखनेके लिए आप चक्षुके समान हैं अथवा आ पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर हैं उन्हें जिनबाणीके प्रसादसे जाना जा सकता है, और मादृरूपी अपकारका नाश करनेके लिए आप परम प्रकाशके तुल्य हैं । तथा मोक्ष महसूस करनेवाले मार्गको दिखानेके लिए आप रत्नमयी दीपक हैं । इसलिये आग प्रपते आपका पूजन करते हैं ॥७४४॥

१ यदमा बीजम् । २ कर्त्ता । ३ आश्चर्येण मोचरा यन्मा विधिप्रस्थां या ताम् । ४ तद्वक्ष्य त्वाग्नेत्राभाभक्त्या तत्तापि मन आरमा स्पष्टं प्रसूते अक्षरीकरोति । ५ अहस्वापनेधया । ६ मूर्तिसहिताऽपि । ७ अक्षरप्रकाशः । ८ अद्वितीयं मोक्षम् । ९ अक्षरस्वरूपा । १० विद्यादि । ११ अरणाभ्येव अन्तराणि मुक्ताः तथा अक्षरपदां दूरे यदर्थं त्वं सरस्वती चक्षुः ।

चिन्तामणिप्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्याः पुंसां मनोरथपथप्रथितप्रभावाः ।

भावा भवन्ति नियतं तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्तदिदमस्तु मुदे फलं ते ॥७४१॥

(इति फलम्)

कलघौतकमलमौक्तिकदुकूलमणिजालचामरप्रायैः ।

आराधयामि देवीं सरस्वतीं सकलमङ्गलैर्भावैः ॥७४६॥

स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणैः समुपासनीया ।

स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥७४७॥

^१मूर्ध्याभिषिक्तोऽभिषवाजिनानामर्च्योऽर्चनात्संस्तवनात् स्तवार्हः ।

^२जपो जपाद्व्यानविधेरवाध्यः ^३श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च ॥७४८॥

दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां ^४भावैरनन्याश्रयैः

^५स्निग्धस्त्वं न तथापि यत्समं विधिर्भक्ते विरक्तेऽपि च ।

मच्चेत्तः पुनरेतदीश भवति प्रेमप्रकृष्टं ततः

किं भाषे परमत्र यामि भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥७४९॥

इत्युपासकाध्ययने श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

हे देवि ! आपकी विधिपूर्वक सेवा करनेसे मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले चिन्ता-मणि रत्न, कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि पदार्थ नियमसे प्राप्त होते हैं अतः यह फल आपकी प्रसन्नताके लिए हो ॥७४५॥

मैं स्वर्णकमल, मोती, रेशमी वस्त्र, मणियोंका समूह और चमर वगैरह मागलिक पदार्थोंसे सरस्वती देवीकी आराधना करता हूँ ॥७४६॥

स्याद्वादरूपी पर्वतसे उत्पन्न होनेवाली, मुनियोंके द्वारा आदरणीय, अन्यकी शरणमें न जानेवाले देवोंके द्वारा सम्यक् रूपसे उपासनीय और जिसका प्रवाह अन्तःकरणके समस्त दोषोंको हरनेवाला है, ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथीके अवगाहनके लिए हो, अर्थात् मैं ज्ञान द्वारा उस जिनवाणीका अवगाहन करूँ—उसमें डुबकी लगाऊँ ॥७४७॥

जिनभगवान्का अभिषेक करनेसे मनुष्य मस्तकाभिषेकका पात्र होता है, पूजा करनेसे पूजनीय होता है, स्तवन करनेसे स्तवनीय (स्तवन किये जानेके योग्य) होता है, जपसे जप किये जानेके योग्य होता है, ध्यान करनेसे बाधाओंसे रहित होता है और श्रुतकी सेवा (स्वाध्या-यादि) करनेसे महान् शास्त्रज्ञ होता है ॥७४८॥

हे जिनेन्द्र ! मैंने तुम्हारा दर्शन किया और जिनका अन्य आश्रय नहीं है ऐसे भावोंसे तुम्हारी अतिशय सेवा (पूजा) की । यद्यपि प्रभु राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण निस्नेह (स्नेह-रहित) हो, तथापि भक्तोंमें और विरक्तोंमें तुम्हारा समभाव है अर्थात् जो तुम्हारी सेवा करता है उससे तुम्हें राग नहीं है और जो तुम्हारी सेवा नहीं करता, उससे द्वेष नहीं है । फिर भी मेरा यह चित्त हे स्वामिन् ! आपके प्रति प्रेमसे भरा है । अधिक क्या कहूँ अब मैं जाता हूँ । मुझे आपका पुनः दर्शन प्राप्त हो ॥७४९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें श्रुताराधनविधि नामक चालीसवों कल्प समाप्त हुआ ।

१ राजा भवति । २ जप्य स्यात् । ३ बाधरहित । ४ पदार्थ अष्टप्रकारपूजनं । ५ त्व वीतरागद्वेषत्वाच्चि स्नेह । ६ समता युक्त मध्यस्थ ।

‘पद्मीममस्यमपि सख्यनधीधरायां सख्यप्रवृद्धिविविधानवधिप्रवृद्धौ ।

‘सत्स्यैरपूर्वरसवृत्तिमिरेव रोहस्याभ्यर्च्यगोधराविधि’ प्रसवेर्मते ताम् ॥७४१॥

(इति पुष्पम्)

पास्पयताधिकविधिः ‘परतन्त्रमीतिः प्रायः कर्त्तापरिगतापि म्ना प्रसूते ।

स्पष्ट स्वतन्त्रमुपशान्तकाल च नृणां चित्ता हि वस्तुगतिरर्चयिष्यते ताम् ॥७४२॥

(इति चरुम्)

एकं पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा ‘वर्णात्मिकापि च करोति न ‘वर्णमाजम् ।

सेवे तथापि मधतीमयथा जनोऽर्थी क्षोभ न पश्यति तवस्तु तवैव दीप ॥७४३॥

(इति दीपम्)

अहुः पर करण ‘कन्वरचूरितेऽर्थे मोहान्धकारविजुली परमः प्रकाशः ।

तन्नामगामिपद्यदीकृणतनदीपस्त्व संम्यसे तदिह देवि जनेन पूषे ॥७४४॥

(इति धूपम्)

जिस जिनबाणीका छोट-सा भी बीच सखनकी बुद्धिकपी मुनिमें जनेक प्रकारके असीम बुद्धिगत प्रबन्धोंके द्वारा और अपूर्व रससे युक्त पत्रोंके साथ उगता है, तथा जिसकी विधि आरच्यका विषय है उस जिनबाणीका मैं कूलोंसे पूजता हूँ ॥७४१॥

जो शब्दरूप होनेसे नेत्रका विषय नहीं है अतएव अति अस्पष्ट है तथा जो कण्ठ ठाठ आदि स्थानोंसे उत्पन्न होनेके कारण परतन्त्र है और मूर्तिसहित है—साक्षर है, उस बाणीको मनुष्योंका मन स्पष्ट स्वतन्त्र और शरीररहित प्रकट करता है । आशय यह है कि जिनबाणी भुक्त ज्ञानरूप है और भुक्तज्ञान अस्पष्ट होता है तथा भुक्तज्ञानावरणके शयोपलम्भके अधीन होनेसे परतन्त्र भी होता है । किन्तु केवलज्ञान होने पर वही बाणी स्पष्ट, स्वतन्त्र और निराकार रूपमें व्यक्तरित होती है । सब है वस्तुओंकी गति बड़ी विचित्र है उस बाणीको मैं जरूरी पूजता हूँ ॥७४२॥

हे जिनबाणी माता । आप बहुत पदवालो होनेपर भी सन्तुष्ट होनेपर एक पद देती हैं, वर्णारम्भ होनेपर भी वर्ण प्रदान नहीं करती इस तरह आप बहुत कृपण हैं, फिर भी मैं आपकी सेवा करता हूँ, क्योंकि अर्थात् मनुष्य दोष नहीं देखता । यह विराधामास व्यङ्ग्य है । इसका परिहार इस तरह है । ब्राह्मणां रूप जिनबाणीके पदोंकी संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अष्टावन हजार पाँच है । अतः वह बहुत पदा है । और उसके द्वारा एक पद—अद्वितीय मास मास होता है । तथा वह जिनबाणी असरारम्भ है मगर आत्माकी आशानावि बगैरे मुक्त कर देती है । अतः मैं उसे दीप अर्पित करता हूँ ॥७४३॥

हे देवि सरस्वती ! गुणके समान इन इन्द्रियोंसे दूरदर्ती पदार्थको देखनेके लिए आप चक्षुके समान हैं, अर्थात् आ पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर हैं उन्हें जिनबाणीके प्रसादसे जाना जा सकता है, और माइकपी अन्धकारको मल करनेके लिए आप परम प्रकाशके तुल्य हैं । तथा मोक्ष महत्त्वका आनेवाले मार्गको दिखानेके लिए आप रत्नमयी दीपक हैं । इसलिये स्वेन पूषते आपका पूजन करते हैं ॥७४४॥

१ वरणां बीजम् । २ कर्त्ता । ३ आध्यात्मिक दोषरा मय्या विधिर्विद्या वा ताम् । ४ एतद्रूप त्वात्मबाधामय्या एतापि मनः कारमा स्पष्ट प्रसूते प्रकटीकरोति । ५ अहमवापदेवता । ६ मूर्तिसहिताऽपि । ७ चरुप्रकारः । ८ अद्वितीय बीजम् । ९ अकारस्वरूपा । १ विराधि । ११ वरणाधेय वन्दारवि गुणः तेषां वन्दारणा दूरे पश्यते त्वं सरस्वती वज्रम् ।

स्नानगन्धाद्भस्मसंस्कारभूपायोपाविपक्तधीः ।

निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्परः ॥७५३॥

देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा ।

उपोपितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥७५४॥

भोजन करना है । तब वह प्रोषधोपवास कहा जाता है । जो प्रोषधोपवास नहीं कर सकते, वे अनुपवास कर सकते हैं । अनुपवासमें एक बार केवल जल लिया जाता है । और जो उपवास भी नहीं कर सकते वे एक बार हलका सात्त्विक आहार ले सकते हैं । इसे एकाशन कहते हैं । एकाशन-का मतलब है एक बार भोजन । इसी तरह तिथि, नक्षत्र वगैरहका विचार करके आगममें बतलाये गये अन्य उपवास भी यथाशक्ति श्रावकको करने चाहिए ।

[आगे उपवासकी विधि बतलाते हैं—]

उपवाम करनेवाला गृहस्थ स्नान, इत्र-फुलेल, शरीरकी सजावट, आभूषण और स्त्रीसे मनको हटाकर तथा समस्त सावद्य क्रियाओंसे विरक्त होकर सयममें तत्पर हो और देवालयमें, पहाड़पर या घरमें अथवा किसी दुर्गम एकान्त स्थानमें जाकर धर्मध्यानपूर्वक अपना समय बितावे ॥७५३-७५४॥

भावार्थ—उपवासके दिन स्नानका भी निषेध किया गया है । इसपर प्रायः कुछ भाई यह आपत्ति करते हुए देखे जाते हैं कि बिना स्नान किये पूजा कैसे की जा सकती है । ऐसी आपत्ति करनेवाले उपवासका महत्त्व नहीं समझते । उपवासका महत्त्व पूजनसे भी अधिक है । पूजन द्रव्यका आलम्बन लेकर मन, वचन और कायकी एकाग्रताके लिए किया जाता है । उससे सामायिक ऊँचा है, क्योंकि सामायिकमें द्रव्यादिक परवस्तुका आलम्बन न लेकर अमुक समय तक मन, वचन और कायको एकाग्र किया जाता है, किन्तु उपवास सामायिकसे भी ऊँचा है, क्योंकि उसमें समस्त सावद्य कार्योंको छोड़कर उपवासके समय तक मन, वचन और कायकी एकाग्रता रखी जाती है । केवल पेटको ही भूखे रखनेका नाम उपवास नहीं है; किन्तु जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त होकर उपवासी रहती हैं वही सच्चा उपवास है । अतः उपवासके दिन गृहस्थको भावपूजा करनी चाहिए; किन्तु चूँकि अधिकतर गृहस्थ लोग इतनी ऊँची परिणतिके नहीं होते, जो इस प्रकारका आदर्श उपवास कर सकें, अतः वे स्नान करके प्रासुक द्रव्यसे पूजा कर सकते हैं ।

१ “पञ्चाना पापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृति कुर्यात् ॥१०७॥ धर्माभूतं सतृष्ण श्रवणाम्यापिवतु पाययेद्वाऽन्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतुपवसन्नतन्द्रालु ॥१०८॥” रत्नकरण्डश्रा० । “स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहित शुभावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाचिन्तनावहितान्त करण सन्नपवसेत् निरारम्भ श्रावक ।”—सर्वार्थ-सिद्धि ७-२१ । “मुक्तसमस्तारम्भ प्रोषवदिनपूर्ववासरस्यार्थे । उपवास गृह्णीयान् समत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥ श्रित्वा विविक्तवसति समस्तसावद्ययोगमपनीय । सर्वेन्द्रियार्थविरत कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥ धर्मव्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधि । शुचिसस्तरे त्रियामा गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्र ॥१५४॥ प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम् । निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजा प्रासुकद्रव्यै ॥१५५॥ उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवस द्वितीयरात्रि च । अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्थं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥ इति योऽहशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्य । तस्य तदानीं नियत पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥”—पुरुषार्थसि० । “ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाम्यङ्गादिसर्वमस्कारम् । ब्रह्मव्रतगतचित्तं स्थातव्यमुपोपितैस्त्यक्त्वा ॥८९॥”—अमित० श्राव०, परि० ६ । २ निवृत्तिसर्व—अ० ज० मू० ।

पर्वणि प्रोपधाम्याहुर्मासे चत्वारि तानि च ।
 पूजाक्रियावताधिभयाद्धर्मकर्मात्रं दृश्येत् ॥७५०॥
 रसत्यागैकभक्तैस्त्वनोपवासनक्रियाः ।
 यथाशक्तिविधेयाः स्युः पर्वसम्पत्तौ च पर्वणि ॥७५१॥
 तस्मै रस्यैवान्तर्यतिथितीर्थार्थपूर्वकः ।
 उपवासविधिबिधेयक्रियस्यः श्रुतसमाधयः ॥७५२॥

[इस प्रकार शिष्टावतके चार मेदोमें-से प्रथम मेद सामासिकका स्वरूप बतलाकर अब मन्त्र
 का दूसरे प्रापधोपवास व्रतका स्वरूप बतलाते हैं]

प्रोपधोपवास व्रतका स्वरूप

प्रोपध पर्वको कहते हैं । ये पर्व प्रत्येक मासमें चार होते हैं । इन पर्वोंमें विसय पूजा, विशेष
 क्रिया और विसय व्रतोंका आचरण करके धर्म-कर्मको बढ़ाना चाहिये ॥ ७५० ॥ पर्व तथा पर्वके
 सन्धि दिनोंमें रतोंका त्याग, एकाक्षन एकान्त स्थानमें निवास, उपवास आदि क्रियाएँ यथाशक्ति
 करनी चाहिये ॥ ७५१ ॥ कमातार या बीचमें अन्तराह देकरक तिथि सीधैरोंके कलम एक तथा
 नक्षत्र कौरहका विचार करके जागमानुसार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिको विचार लेना चाहिये ।
 अर्थात् रसत्याग, एकभक्त, उपवास आदि कोई सा सदा करते हैं, कोई अमुक तिथिको करते
 हैं, कोई सीधैरोंके कल्याणकके दिन करते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिका
 जागमानुसार विचार कर लेना चाहिये ॥ ७५२ ॥

माध्याह्न—प्रोपध पर्वको कहते हैं । प्रत्येक मासमें दो अष्टमी और दो चतुदशी इस तरह
 चार पर्व होते हैं । उनमें उपवास करनेको प्रोपधोपवास कहते हैं । नौमी और अमावस्या या
 पूर्णमासी पर्वके सन्धि दिन कहलाते हैं । उनमें भी यथाशक्ति एकाक्षन कौरह किया जाता है ।
 यथार्थमें प्रापधोपवासकी विधि पर्वके पहले दिनसे ही प्रारम्भ हो जाती है । सप्तमी या त्रयोदशीको
 मध्याह्नका मोहन करके ही उपवासकी प्रतिष्ठा ले ली जाती है और समस्त माहस्थिक कार्यसि
 निवृत्त होकर गृहस्थ एकान्त स्थानमें अलग जाता है तथा सोरह पहर तक यानी दो पहर सप्तमी या
 त्रयोदशीके चार पहर रातक, चार पहर अष्टमी या चतुदशीक, चार पहर उसकी रातके और
 दो पहर नौमी या पन्द्रसके इस तरह सोरह पहर तकका समय धर्मभ्यानपूर्वक बिताकर एकबार

१ 'अनुष्ठानविधिवर्धनमुपवासः प्रोपधः सकृदमुक्तिः । स प्रोपधोपवातो बहुव्रीहिरस्यमाचरति
 ॥११॥—रत्नकरद्वयः । प्रोपधोपवासः पर्वपर्यायवाची—प्रोपधे उपवासः प्रोपधोपवासः ।—सर्वाधिकारि,
 उपवासार्थात्क ७-२१ । मुक्तसमस्तारम्भः प्रोपधदिनपूर्वभासरस्यार्थः । उपवासं गृहीत्यागममत्तमद्वयं देहादी
 ॥१५२॥ पुर्याधसिद्धिपुण्यम् । हेतोरात्मस्वभावस्य पूरणात् पर्व नीयते । पूजा क्रियाक्रान्तिविषयधर्ममणि नृ ह
 मेत् ॥—वर्मरत्नाकर पृ ११३ । 'स प्रोपधोपवातो यच्छतुष्टया यथावयम् । साम्यतरकारदाहपरि
 अनुमुक्तपुत्रार्थं सदा ॥—सागरचर्मामृत ४-३४ । 'निदान्तसम्मतं पर्वं प्रोपधं तं विदुर्मुखाः । तत्र तपोपवा
 ताधिक्रियेयो विधिविधिः ॥ १ ॥—प्रबोधनार ३ अध्याय । 'प्रोपधः पर्ववाचीह अनुष्ठानवर्धनम् ।
 तत्प्रोपधोपवादात्म्यं घटं साम्यस्य सिद्धये ॥११॥—वर्मरत्नद्वय भाव पृ ११५ । २ अहम्याम् । उपवास
 नियमं धर्मं शीकृत्तत्रमावयाम् । अत्रविद्यातपोवृत्तधुतावीन् तत्र नृ हयेत् ॥११॥—प्रबोधनार पृ १८१ ।
 ३ स्थाने बने उपवासने वा देवस्थानादिभूमिषु । धर्मभ्यानाय तंवाचः प्रोपधोपवासिनाम् ॥४॥—प्रबोधनार
 पृ १८२ । ४ सर्वप्रारम्भतिथि—अ ब म ॥ ४ नक्षत्र । ५ नामा प्रकारः ।

स्नानगन्धाद्गुणसंस्कारभूषणोपाविपक्तधीः ।

निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्परः ॥७५३॥

देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा ।

उपोषितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥७५४॥

भोजन करता है । तब वह प्रोषधोपवास कहा जाता है । जो प्रोषधोपवास नहीं कर सकते, वे अनुपवास कर सकते हैं । अनुपवासमें एक बार केवल जल लिया जाता है । और जो उपवास भी नहीं कर सकते वे एक बार हलका सात्त्विक आहार ले सकते हैं । इसे एकाशन कहते हैं । एकाशनका मतलब है एक बार भोजन । इसी तरह तिथि, नक्षत्र वगैरहका विचार करके आगममें बतलाये गये अन्य उपवास भी यथाशक्ति श्रावकको करने चाहिए ।

[आगे उपवासकी विधि बतलाते हैं—]

उपवास करनेवाला गृहस्थ स्नान, इत्र-फुलेल, शरीरकी सजावट, आभूषण और स्त्रीसे मनको हटाकर तथा समस्त सावद्य क्रियाओंसे विरक्त होकर सयममें तत्पर हो और देवालयमें, पहाड़पर या घरमें अथवा किसी दुर्गम एकान्त स्थानमें जाकर धर्मध्यानपूर्वक अपना समय बितावे ॥७५३-७५४॥

भावार्थ—उपवासके दिन स्नानका भी निषेध किया गया है । इसपर प्रायः कुछ भाई यह आपत्ति करते हुए देखे जाते हैं कि बिना स्नान किये पूजा कैसे की जा सकती है । ऐसी आपत्ति करनेवाले उपवासका महत्त्व नहीं समझते । उपवासका महत्त्व पूजनसे भी अधिक है । पूजन द्रव्यका आलम्बन लेकर मन, वचन और कायकी एकाग्रताके लिए किया जाता है । उससे सामायिक ऊँचा है, क्योंकि सामायिकमें द्रव्यादिक परवस्तुका आलम्बन न लेकर अमुक समय तक मन, वचन और कायको एकाग्र किया जाता है, किन्तु उपवास सामायिकसे भी ऊँचा है, क्योंकि उसमें समस्त सावद्य कार्योंको छोड़कर उपवासके समय तक मन, वचन और कायकी एकाग्रता रखी जाती है । केवल पेटको ही भूखे रखनेका नाम उपवास नहीं है; किन्तु जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त होकर उपवासी रहती है वही सच्चा उपवास है । अतः उपवासके दिन गृहस्थको भावपूजा करनी चाहिए, किन्तु चूँकि अधिकतर गृहस्थ लोग इतनी ऊँची परिणतिके नहीं होते, जो इस प्रकारका आदर्श उपवास कर सकें, अतः वे स्नान करके प्रासुक द्रव्यसे पूजा कर सकते हैं ।

१ “पञ्चाना पापानामलङ्क्रियारम्भगन्वपुष्पाणाम् । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१०७॥ धर्माभूत सतृष्ण श्रवणाभ्या पिवतु पाययेद्वाऽन्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालु ॥१०८॥” रत्नकरपञ्चशो । “स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहित शुभावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाचिन्तनावहितान्त करण सन्नुपवसेत् निरारम्भ श्रावक ।”—सर्वार्थसिद्धि ७-२१ । “मुक्ताममस्तारम्भ प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्घे । उपवास गृह्णीयान् ममत्वमपहाय देहादी ॥१५२॥ श्रित्वा विविक्तवसति समस्तसावद्यभोगमपनीय । सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥ धर्मध्यानशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधि । शुचिसस्तरे त्रियामा गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्र ॥१५४॥ प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम् । निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजा प्रासुकद्रव्ये ॥१५५॥ चक्रेण ततो विधिना नीत्वा दिवस द्वितीयरात्रि च । अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्घं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥ इति यपोऽश्यामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्य । तस्य तदानीं नियत पूर्णमहिंसाव्रत भवति ॥१५७॥”—पुरुषार्थसि० । “ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाभ्यां द्वादसर्वसंस्कारम् । ब्रह्मव्रतगतचित्तं स्यात्तव्यमुपोषितं न्यक्त्वा ॥८९॥”—अमित० श्राव०, परि० ६ । २ निवृत्तिसर्व—अ० ज० मू० ।

यः 'सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः ।
 भूयादिः परिभोगः स्यात्पौनःपुन्येन सेवनात् ॥७५६॥
 परिमाणं तयोः कुर्याच्चित्तव्याप्तिनिवृत्तये ।
 प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियमं भजेत् ॥७६०॥
 यमश्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ ।
 यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिनियमः स्मृतः ॥७६१॥
 पलाण्डुकेतकीनिम्बसुमनःमूरणादिकम् ।
 त्यजेदाजन्म तद्रूपवहुप्राणिसमाश्रयम् ॥७६२॥
 दुर्पक्षस्य निपिद्धस्य जन्तुसबन्धमिश्रयो ।

भोगपरिभोगपरिमाणव्रत

[अथ भोगपरिभोगपरिमाणव्रतको कहते हैं—]

जो पदार्थ एक बार ही भोगा जाता है जैसे भोजन वगैरह, उसे भोग कहते हैं ।
 जो बार-बार भोगा जाता है जैसे भूषण वगैरह, उसे परिभोग या उपभोग कहते हैं ॥७५६॥
 चित्तके फैलावको रोकनेके लिए भोग और उपभोगका परिमाण कर लेना चाहिए । और जो
 प्राप्त है और प्राप्त होनेके साथ ही-साथ जो सेवन करनेके योग्य है उसमें भी अपनी इच्छानु-
 नियम कर लेना चाहिए ॥७६०॥ भोगपरिभोगका परिमाण दो प्रकारसे किया जाता है—
 यमरूपसे, दूमरे नियम रूपसे । जीवन पर्यन्त त्याग करनेको यम कहते हैं और कुछ समयके
 त्याग करनेको नियम कहते हैं ॥७६१॥ प्याज आदि जमीकन्द, केतकी और नीमके फूल
 सूरण वगैरह तो जीवन पर्यन्त छोड़ देने चाहिए; क्योंकि इनमें उसी प्रकारके बहुत जीवोंका
 होता है ॥७६२॥ जो भोजन कच्चा है या जल गया है, जिसका खाना निपिद्ध है, जो जन्तु-

१ "भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोजनव्य । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपाञ्च-
 विषय ॥८३॥"—रत्नकरण्ड ध्या० । "उपभोगोऽशनपानगन्धमात्यादि । परिभोग आच्छादनप्रावरणाल-
 शयनाशनगृहयानवाहनादि तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् ।"—मर्वायमि० ७-२१ । २ "य-
 यमश्च विहितो द्वेवा भोगोपभोगसहारात् । नियम परिमितकालो यावज्जीव यमो ध्रियते ॥ ८७
 —रत्नकरण्डध्या० । ३ "अमहतिपरिहरणार्थं क्षीरं विशितं प्रमादपरिहृतये । मद्यं च वर्जनीयं जिन-
 शरणमुपयति ॥ ८४ ॥ अलकलवहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि । नवनीतनिम्बकुसुमं केत-
 त्येवमवहेयम् ॥ ८५ ॥ यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।"—रत्नकरण्ड ध्या० । "मधु मासं य-
 सदा परिहर्तव्यं अमघातान्निवृत्तचेतसा । केनक्यज्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्था-
 नन्तकायव्यपदेशार्द्राणि परिहर्तव्यानि बहुषातालाफलत्वात् । यानवाहनाभरणदिग्भेताग्नेवेष्टमनोऽय-
 मित्पनिष्ठाशिवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीव वा यथाशक्ति ।"—मर्वायसिद्धि ७-२१ । "भोगपरि-
 पञ्चविधः असघान-प्रमाद-बहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् ॥२७॥"—तत्त्वार्थवातिक पृ० ५५० । पुर-
 मि०, १६२-१६६ श्लो० । "नालीमूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् । आजन्म तद्भुजा ह्यल्पं फलं च
 भूयसाम् ॥१६॥ आमगोरससप्तद्विदलं प्रायशोऽनवम् । वर्षास्त्रिद्वलितं चात्र पत्रशार्कं च नाहरेत् ॥१८॥
 सागारवर्मा० ५ अ० । ४ 'सचित्तमम्बन्धसम्मिश्राभिपवदु पषवाहारा ।"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३५ । "अ-
 हि सचित्तं सचित्तमिश्रं सचित्तमम्बन्धं । दु पषवोऽभिपवोऽपि च पञ्चाभो पण्डशोलस्य ॥१९३॥"—
 यंसि० । "महचित्तं सवद्वं मिश्रं दु पषवमभिपवाहार । भोगोपभोगविरतेरतिचारा पच परिवर्ज्या ॥१३॥
 अमित० ध्या० ७-१३ ।

मयीक्षितस्य य प्राशस्तस्सक्यास्तितकारणम् ॥७६॥

इत्थं नियतवृत्तिः स्यादनिच्छोऽप्याग्रयः श्रियाम् ।

मरो मरेषु देवेषु मुक्तिश्चीसयिषागमः ॥७६॥

इत्युपासकभ्यवने भोगपरिभोगपरिमाणविधिनाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

छू गया है या बिसमे जन्तु आ पड़े हैं, तथा जिसे हमने देखा नहीं है उसे भोगनको खाना भोगपरिभोगपरिमाणवत्तको क्षतिका कारण होता है ॥७६॥

भाषार्थ—भोगोपभोगपरिमाणवत्तमें भुज्य और उपभुज्य वस्तुओंका वाक्जीवन या कुछ समयके लिए परिमाण किया जाता है । परिग्रहपरिमाणवत्तमें तो सन्पत्तिका ही परिमाण किया जाता है, किन्तु इसमें उन वस्तुओंका परिमाण किया जाता है जिन्हें मनुष्य प्रतिदिन अपने सेवनमें लाता है । इनका परिमाण कर केनेसे मनुष्यकी वित्तवृत्ति एक सीमामें बद्ध हो जाती है और फिर वह क्यादा इधर-उधर नहीं भटकती । प्रायः ऐसा देखा जाता है कि मनी वस्तुको देखते ही मन चंचल हो उठता है । और तब हमें आवश्यकता न होनेपर भी नयी वस्तुओंका संग्रह करना पड़ता है । इससे एकके पास जनावरयक संग्रह होता है और दूसरे जिन्हें उसकी आवश्यकता है वे उसके बिना कुछ भागते रहते हैं । किन्तु परिमाण कर केनेसे एक और बड़ा जनावरयक वस्तुओंके सचयके भारसे बच जाते हैं दूसरी ओर दूसरे लोग उनसे अपना काम चलाते हैं । अतः खान-पान, विषय-भोग, सज्जा, कपड़ा आदि सभी वस्तुओंकी एक मर्यादा कर केनी चाहिए । इससे तुष्या छान्त होती है और तुष्या छान्त होनेसे मनुष्यको शान्ति मिलती है । शान्ति मिलनेसे उसके परिणाम निर्मल होते हैं । परिमाण करते समय ऐसी वस्तुएँ न लें जिनसे वा सेवन करनेके योग्य नहीं हैं, जिसका त्याग देनी चाहिए । जिनके सेवनसे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता उन्हें भी छोड़ देना चाहिए और काम-पान ऐसा होना चाहिए जिससे शरीर और इन्द्रियाँ सभी स्वस्थ रहें और कामभोग आदि निष्कारोंको कम न मिल सके । यदि ऐसी वस्तुओंका सेवन किया गया जो रोगकारक हैं या विकारकारक हैं तो भोगोपभोगपरिमाणवत्तकी मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकेगी, क्योंकि यदि हम रोगी हो गये तो हमारे व्रत, नियम सब रखे रह जायेंगे और हम अपना प्रतिदिनका भी धर्मसाधन न कर सकेंगे । अतः खान-पान, रहन-सहन सब सादा होना चाहिए ।

इस प्रकार जो भोगोपभोगका परिमाण करता है वह मनुष्य और देवपर्यायमें जन्म लेकर बिना बाड़े ही स्वामीका स्वामी बनता है और मुक्ति भी उसे मिल जाती है ॥७६॥

इस प्रकार उपासकभ्यवनमें भोगोपभोगपरिमाण नामक बबालीसवीं कल्प समाप्त हुआ ।

यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् ।
 यथापात्रं यथाकालं दानं देयं गृहाश्रमैः ॥७६५॥
 आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।
 स्वपरानुग्रहायेत्यं यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥७६६॥
 दातृपात्रविधिद्रव्यविशेषात्तद्विशिष्यते ।
 यथा घनाघनोद्गीर्णं तोयं भूमिस्माश्रयम् ॥७६७॥
 दातानुरागसपन्नः पात्रं रत्नत्रयोचितम् ।
 सत्कारः स्याद्विधिद्रव्यं तपःस्वाध्यायसाधकम् ॥७६८॥

दानका स्वरूप

[अब दानका वर्णन करते हैं—]

गृहस्थोको विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और कालके अनुसार दान देना चाहिए ॥७६५॥ जिससे अपना भी कल्याण हो और अन्य मुनियोंके रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उन्नति हो, इस तरह जो अपने और दूसरोंके उपकारके लिए दिया जाता है उसे ही दान कहते हैं ॥७६६॥

जैसे मेघसे बरसा हुआ पानी भूमिको पाकर विशिष्ट फलदायी हो जाता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्यकी विशेषतासे दानमें भी विशेषता आ जाती है ॥७६७॥

दाता आदिका स्वरूप

जो प्रेमपूर्वक दे वह दाता है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भूषित है वह पात्र है । आदरपूर्वक देनेका नाम विधि है और जो तप और स्वाध्यायमें सहायक हो वही द्रव्य है ॥ ७६८ ॥

भावार्थ—सारांश यह है कि यदि देनेवाला योग्य पात्रको प्रेमसे आदरपूर्वक ऐसी वस्तु दे जो उसके आत्मकल्याणके मार्गमें सहायक हो वह दान उत्तम दान है । और जिस किसीको जो कुछ भी निरादरपूर्वक दे डालना दान नहीं है । जिसका मन दान देते हुए दुःखी होता है या जो नाम आदिके लोभसे दान देता है वह दाता नहीं है । जो स्व-परकल्याणमें रत नहीं है वह पात्र नहीं है । और न निरादरपूर्वक देना देना है । तथा ऐसा भोजन, जो घी तथा स्वादकी दृष्टिसे बहुमूल्य होते हुए भी साधुके ज्ञान, ध्यानका साधक नहीं है, वह साधुओंके योग्य द्रव्य नहीं है ।

१ “पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात् । दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तित ॥४८॥”—सागर-वर्णामृत २ अ० । “यथाद्रव्यं यथादेशं यथापात्रं यथापयम् । यथाविधानसम्पत्त्या दानं देयं तदर्थिनाम् ॥१३॥”—प्रबोधसार पृ० १८७ । २ “अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥”—नत्त्वार्थसूत्र ७-३८ । ३ “विधिद्रव्यदातृ-पात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥”—नत्त्वार्थसूत्र ७-३९ । “पात्रदातृविधिद्रव्यविशेषैस्तद्विशिष्यते । यथाऽम्बु तोयदैवन्ति स्थाने स्थाने विशिष्यते ॥१५॥”—प्रबोधसार पृ० १८८ ।

परलोकधिया कश्चित्कश्चिद्वैदिकचेतसा ।
 श्रीधित्यमनसा कश्चित्सतां चित्तव्ययस्मिधा ॥७१६॥
 परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषां न धोः समा ।
 धर्मः कार्यं यशस्वेति तेषामेतत् त्रय कुतः ॥७१७॥
 अमयोद्धारमैपश्यभुतमेवावतुर्धिधम् ।
 दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाधयम् ॥७१८॥
 सौकर्यममयावहारादाराद्भोगवान् भवेत् ।
 आरोग्यमौपचाध्येयं भुतास्स्याच्छ्रुतकेवली ॥७१९॥

सज्जन मुख्य तीन प्रकारसे अपने धनको खर्च करते हैं। कोई परलोककी बुद्धिसे किं परलोकमें हमें सुख प्राप्त होगा, धन खर्चते हैं। कोई इस लोकके किं धन खर्चते हैं और कोई उचित समझकर धन खर्चते हैं। किन्तु जिन्हें न परलोकका ध्यान है न इहलोकका ध्यान है और न औचित्यका ही ध्यान है वे न धर्म कर सकते हैं, न अपने लौकिक कार्य कर सकते हैं और न यश ही कमा सकते हैं ॥ ७१६-७१७ ॥

माधार्थ्य—इस लोककी बुद्धिसे धन खर्चनेसे लौकिक काम विवाह-शादी, रोगमारमें सफलता, लोकसन्मान आदि कार्य होते हैं। तथा परलोककी बुद्धिसे या उचित समझकर दान देनेसे धर्म और यश हाता है। जैसे मुनियोंको दान देना आदि, बाइपीड़ियोंका या दुर्भिक्ष-पीड़ितोंका मदद देना, शिक्षा-औषधालयकी आवश्यकता समझकर दान देना आदि। जो इन तीनोंमें धन नहीं खर्चते, न उनका लौकिक काम सफल होते हैं और न पारलौकिक। तथा उन्हें यश भी नहीं मिलता।

दानके भेद

बुद्धिमान् पुरुषोंने चार प्रकारका दान बतलाया है—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धाके अनुसार देने चाहिए ॥ ७२१ ॥

चारों दानोंका फल

अभयदानसे सुखरूप क्षम मिलता है। आहार दानसे भोग मिलते हैं। औषधदानसे आरोग्य प्राप्त होता है और शास्त्रदानसे भुक्तकामी होता है ॥७२२॥

१ आहारोपयोरप्युपकरणवाक्योत्पन्नं दानम् । वैधान्यायं ब्रूते चतुरात्प्राप्तैश्च चतुरसा ॥११७॥—
 रत्नचरण्ड धा । 'त्यागो दानम्' । तत्रिदं विद्वाद्वाहारद्वयमभयदानं ज्ञानदानं चेति । —महर्षिः १-२४ ।
 आहारोपयोरप्युपकरणवाक्योत्पन्नं दानम् । तं भुक्त्वा वाक्यं विहितमुपाययत्नयते ॥२१॥ —बभ्रुवर्षि
 भाष । अथवाप्रोषधज्ञानमेवसत्त्वमुनिपम् । दानं निगच्छति तद्विष- प्राणिनामुपकारम् ॥८१॥ —अथि
 पाष १ परि । निर्मपाद्धारवीर्यमौषधमुपयोरनि । यथा मनीषिभिर्देयं भुक्त्वायत्नयत्नम् ॥१७॥ —प्रबोधसार
 पृ १९ । २ अमीनिशोऽनुत्तमवत्त्ववाहारादीर्भाषविभूतिमत्त्वम् । औषधयो रीपविराजुमत्त्वं धनारवत्त्वं
 धनवैदित्वम् ॥—चमरत्नाकर पृ १११ । लौक्यममयाव- प्रागुद्धारान् लब्धनुत्तमम् । धनान् धनमागीगो
 निम्नविश्वं तथोपपात् ॥१८॥ —प्रबोधसार पृ १९ ।

अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधीः सदा ।
 तद्धोने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः ॥७७३॥
 दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः ।
 सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥७७४॥
 तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम् ।
 तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥७७५॥
 नचोपचारसंपन्नः समेतः सप्तभिर्गुणैः ।
 अन्नैश्चतुर्विधैः शुद्धैः साधूनां कल्पयेत्स्थितिम् ॥७७६॥
 प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनः प्रसादाः ।

अभयदानकी श्रेष्ठता

सबसे प्रथम सब प्राणियोंको अभयदान देना चाहिए । क्योंकि जो अभयदान नहीं दे सकता उस मनुष्यकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं ॥७७३॥ और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए, क्योंकि सब दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है ॥७७४॥ जो अभयदान देता है, वह सब शास्त्रोंका ज्ञाता है, परम तपस्वी है और सब दानोंका कर्ता है ॥७७५॥

भावार्थ—प्राणीमात्रका भय दूर करके उनके जीवनकी रक्षा करना अभयदान है । जो इस दानको करता है वह सब दानोंको करता है; क्योंकि जीवनकी रक्षा सब चाहते हैं । सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है । यदि जीवनपर ही सकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्रदान किस कामका । जो मनुष्य अपनेसे दूसरोंकी रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् जो अहिंसा धर्मका पालन नहीं करता वह यदि परलोकके लिए धर्मकर्म करे भी तो वह सब व्यर्थ है । क्योंकि धर्मका मूल जीवरक्षा है । यदि मूल ही नहीं तो धर्म कहाँसे हो सकता है । अतः प्राणिमात्रको यथाशक्ति जीवनदान देना ही सर्वोत्तम दान है ।

[अब आहारदानको कहते हैं—]

सात गुणोंसे युक्त दाताको नवधा भक्तिपूर्वक साधुजनोंको अन्न, पान, खाद्य, लेखके भेदसे चार प्रकारका शुद्ध आहार देना चाहिए ॥७७६॥

[अब नवधा भक्ति बतलाते हैं—]

गृहस्थको मुनियोंकी नवधा भक्ति करनी चाहिए । सबसे पहले अपने द्वारपर मुनिको

१ “धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥८४॥ देवैरुक्तो वृणोष्वकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः । त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥८५॥ त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते । तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिना किं च काक्षितम् । नाभीतिदानतो दानं समस्ताधारकारणम् । महीयो निर्मलं नित्यं गगनादिव विद्यते ॥८७॥”—अमित० श्रा०, ९ परि० । “ज कोरइ परिरक्खाणिच्च मरणभयभीरुजीवाण । त जाण अभयदाणं सिहामणिं सब्बदाणाण ॥ २३८ ॥”—असुनन्दिश्रा० । २ अन्नपानखाद्यलेखभेदः । “नवपुण्यं प्रतिपत्तिं सत्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥”—रत्नकरण्ड० । ३ “प्रतिग्रह उच्चदेशस्थापन पादप्रक्षालनम् अर्चनं प्रणमनमित्येवमादिक्रियाविशेषाणां क्रमो विधिः ।”—तत्त्वार्थवातिक, पृ० ५५९ । “प्रतिग्रहणमत्युच्चं स्थानेऽस्य विनिवेशनम् । पादप्रवाहनञ्चार्चनं नति शुद्धिश्च सा त्रयी ॥८६॥ विगुह्मिद्विषाशनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम् ।”—महापुराण ।

विधोविशुद्धिश्च नयोपचाराः कार्यं मुनीनां गृहसंमितेन ॥७७॥
 अथो गृहिर्मेकिर्यिज्ञानमसुख्यता कमा शक्तिः ।
 यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥७८॥

आते देसकर उन्हें आवरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए कि स्वामी । ठहरिप, ठहरिप, ठहरिप । वे ठहर जायें तो घरमें के बाहर उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाना चाहिए । फिर उनके घरमें पूजा करनी चाहिए । फिर उन्हें प्रणाम करना चाहिए । फिर उनसे निवेदन करना चाहिए मेरा मन सुख है, बचन सुख है, काम सुख है और अन्न, सब सुख है । ये नवधा भक्ति हैं ॥७७॥

भावार्थ—आजकल कुछ लोग इस नवधा भक्तिको व्यर्थ बतलाते हैं । किन्तु यह गलत नहीं है । इससे एक तो साधुको सद्गृहस्थकी पहचान हो जाती है । वे जान जाते हैं कि गृहस्थ कैसा है । इसके यहाँ जो भोजन बना है वह उसने विधिपूर्वक बनाया है या नहीं । इस मतमें देते हुए कुछ संस्केष तो नहीं हो रहा है । आदि । दूसरे, केनेवाकेसे देनेवातका फल उन्हें समझा जाता है । अतः यदि नवधा भक्ति न करायी जाये तो गृहस्थ अपनेको जैना मानने लगे और साधुको नीचा मानने लगे । और ऐसा माननेसे धर्मकी साक्षात् मूर्ति साधुओंके प्रति अन्धका भाव का जानेसे धर्मके प्रति भी भ्रमा उठ जाये, अतः मैं जो कुछ देता हूँ वह अपनी भद्र बुद्धिसे देता हूँ और मुझसे केकर भी यही बड़े और पूज्य हैं । इत्यादि भावको बनाये रखने बिना नवधा भक्तिपूर्वक ही आहारदानकी विधि बसकानी गयी है ।

[अब दाताके सात गुण बतलाते हैं—]

जिस दातामें भद्रा, सन्तोष, भक्ति विश्वास, अन्धभीषता, क्षमा और क्षमिता ये सात गुण पाये जाते हैं वह दाता प्रशंसक योग्य होता है ॥७७८॥

भावार्थ—पात्रदाताको अच्छा समझना भद्रा है । देते हुए मसकताका होना सन्तोष है । पात्रके गुणोंमें अनुरागका होना भक्ति है । कैसा द्रव्य देना चाहिए इत्यादि बातोंका ज्ञान होना विश्वास है । दान देकर किसी सांसारिक फलकी इच्छा न करना अन्धभीषता है । क्रोधके कारण

२ वर्ष । उक्तं हि—प्रतिग्रहोपस्थाने च पादच्छादनमथनम् । प्रभावो योग्यमुद्रिष्य मिथामुद्रिष्य वे नव ।
 —चारित्र्यसार पृ १४ । “संस्तुतमुपस्थानं पादोदकमथनं प्रभावमथ । शक्यमथनमुद्रिष्यपथमुद्रिष्य मिथामुद्रिष्य ॥१६८॥”—पुरुषार्थसिद्धि । “प्रतिग्रहमुपस्थानं पादोदकमथनं च धर्मं च । धनवपपलायणं दत्तव्यमुद्रिष्य मिथामुद्रिष्य ॥२२५॥ अनुमतिश्च । प्रतिग्रहोपस्थानपादपूजाप्रभावदानकावसनं प्रभाव । विचारमुद्रिष्य नयोपचाराः कार्यं यतीनां गृहसंमितेन वर्मरत्नाकर । पृ १६२ ।

१ आहार । २ “प्रतिग्रहोपस्थानं ननुपात्पागैःप्रभावः” विलोको वचनो दत्तव्यत्वं प्रोतिग्रहोः कुशलमिदं सन्निधौ दृष्टकथनमेष्विधौ निवारणेवचनविधानत्वंमित्येवमादि बाधुभिरेपीदृश्यते । —उत्पार्थसारिका पृ ५५९ । “भद्रा धनित्वं धनित्वं विज्ञानमन्धानुभवता । दत्ता त्यागवच सन्तैः प्रोत्सा दानप्राप्तता ॥८१॥” महापुराण २ वर्ष । “प्रतिग्रहोपस्थानं दानं दानित्वं पठितानुभवम् । अविचारित्वमुद्रिष्य निरदृष्टारित्वं मिथि हि दानप्राप्ता ॥१६९॥”—पुरुषार्थसिद्धि । उक्तं हि—भद्रा धनित्वं धनित्वं धनित्वं दत्ता दत्ता । इति धनित्वं सप्त गुणाः स्तुतुर्हमेवमादि । —चारित्र्यसार पृ १४ । दत्ता भरी गुटी विज्ञानं मनुदत्ता दत्ता दत्ता । जलदे सप्तगुणाः दत्ता दत्ता वर्तते ॥२२५॥—अनुमतिश्च । धनित्वमिति १-१ ।

तत्र विज्ञानस्येदं लक्षणम्—

चिघर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रमृतं च यत् ।
 मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्त गदावहम् ॥७७६॥
 उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् ।
 न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥७८०॥
 ग्रामान्तरात्समानितं मन्त्रानीतमुपायैतम् ।
 न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाऽयथर्तुकम् ॥७८१॥
 दधिसर्पिपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम् ।
 गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥७८२॥
 बालग्लानतपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान् ।
 मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते स्युस्तपःक्षमाः ॥७८३॥
 शाठ्यं गर्वमर्वक्षानं पारिप्लवमसंयमम् ।
 वाक्पारुष्यं विशेषेण चर्जयेद्भोजनक्षणे ॥७८४॥

मिलनेपर भी क्रोध न करना क्षमा है । और पासमें थोड़ा घन होते हुए भी दानमें विशेष अभिरुचि होना शक्ति है । दाताके ये सात गुण बतलाये हैं ।

[इन गुणोंमेंसे विज्ञानगुणका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं बतलाते हैं—]

दाताके विज्ञानगुणका स्वरूप

जो भोजन विरूप हो, चलितरस हो, फेंका हुआ हो, साधुकी प्रकृतिके विरुद्ध हो, जल गया हो, तथा जो खानेसे रोग पैदा करे, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७७६॥ जो उच्छिष्ट हो—खानेसे बच गया हो, नीच लोगोंके खाने योग्य हो, दूसरोंके लिए बनाया हो, निन्दनीय हो, दुर्जनसे छू गया हो या किसी देवता अथवा यक्षके उद्देश्यसे रखा हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७८०॥ जो दूसरे गाँवसे लाया गया हो, या मन्त्रके द्वारा लाया गया हो, या भेंटमें आया हो या बाजारसे खरीदा हो या ऋतुके प्रतिकूल हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७८१॥ दही, घी, दूध वगैरह जो वासी भी खानेके योग्य है (?) किन्तु जिसका रूप, गन्ध और स्वाद बदल गया हो वह मुनिको देनेके योग्य नहीं है ॥७८२॥

अवस्थामें छोटे, रोगसे दुर्बल, तपसे दुर्बल, बूढ़े और कोढ़ आदि व्याधियोंसे पीड़ित मुनियोंकी सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करनेमें समर्थ हो सकें ॥७८३॥ भोजनके समय कपट, धमण्ड, निरादर, चंचलता, असंयम और कठोर वचनोंको विशेष रूपसे छोड़ना चाहिए अर्थात् वैसे तो इनको सदा ही छोड़ना चाहिए, किन्तु भोजनके समय तो खास तौरसे छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इन सबका मनपर अच्छा असर नहीं पड़ता और मन खराब होनेसे भोजनका भी परिपाक ठीक नहीं होता ॥७८४॥

१ अतिजीर्णम् । २ रोगकारि । ३. प्राभृतम् । ४ वासी । ५ अभीष्ट वातुम् । ६ रुजादिक्लिष्ट-
 क्षीरोद । ७ कपटत्वम् । ८ निरादर । ९ चञ्चलत्वम् ।

अमलामां कर्त्तव्याणाममत्तानां च सप्तसु ।
 ॥ मुञ्चीत तथा साधुवैभवाकार्यकारिणाम् ॥ ७८५ ॥
 ग्राहयन्ति महासत्त्वाधितेनाप्यनुकम्पिताः ।
 किं तु ते वैभवाकार्यसकलस्योक्तिस्तद्वृत्तयः ॥ ७८६ ॥
 धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्ती च कः सुधीः ।
 अन्यत्र कौर्षवैद्याभ्यां प्रतिहस्त समाविरोह ॥ ७८७ ॥
 धातमचित्तपरित्यागात्परिधर्मविषयायने ।
 निःसर्वद्वयमयाप्नोति परमोगाय तत्फलम् ॥ ७८८ ॥
 भोज्य भोग्यप्रतिषेध एतद्विपर्ययः ।
 विमयो दानप्रतिषेध स्वयं धर्मोऽहोः फलम् ॥ ७८९ ॥

जो भक्तिपूर्वक दान नहीं देते, या अत्यन्त कृपण हैं अथवा अमसी हैं या दीनता और कल्याण उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपनी दीनता प्रकट करते हैं, या कल्याण बुद्धिसे दान देते हैं, उनके घरपर साधुको आहार नहीं सेना चाहिये ॥ ७८५ ॥

वे साधु बड़े सत्त्वशाली होते हैं, जिन्हें भी बड़े दयालु होते हैं, उनकी वृत्ति दीनता और कल्याणनक संकल्पोंसे रहित होती है। अतः वे दीनों और दयापात्रोंके घरपर आहार नहीं करते ॥ ७८६ ॥

[जो लोग स्वयं दान न देकर दूसरोंसे दान दिलाते हैं उनके बारेमें मन्त्रकार कहते हैं—]

जो काम दूसरोंमें कराने लायक है, या जो भाग्यवश हो जाता है उनको छोड़कर धर्मके कार्य, स्वामीकी सेवा और सन्तानोत्पत्तिको कौन समझदार मनुष्य दूसरोंके हाथ सौंपता है ? ॥ ७८७ ॥ जो अपना धर्म देकर दूसरोंके द्वारा धर्म कराता है वह उसका फल दूसरोंके भोगके लिए ही उपार्जित करता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७८८ ॥ साधु पदार्थ, भोजन करनेकी शक्ति, रमण करनेकी शक्ति, सुन्दर स्त्रियाँ, सम्पत्ति और दान करनेकी शक्ति, ये जोनें स्वयं धर्म करनेसे ही प्राप्त होती हैं ॥ ७८९ ॥

भाषार्थ—बहुतेरे आरामठग्न धनी लोग स्वयं धर्म न करके दूसरोंसे धार्मिक कृत्य कराते हैं। भगवान्की पूजाके लिए पुजारी रख लेते हैं। पैसा देकर दूसरोंसे बिभान बगैरह कराते हैं। कोई साधु बगैरह आता है तो अपने गौर्जनोंको द्वारपर लड़ा कर देते हैं और उनसे ही आहार भी दिलाते हैं। और यह समझते हैं कि चूंकि इसमें हमारा द्रव्य लक्ष्य होता है इसलिये इसका फल हमें ही मिलेगा। ऐसा समझनेवाके अगममें है। फल द्रव्य लक्ष्य करनेसे नहीं मिलता किन्तु भावोंसे मिलता है। जो अपना द्रव्य लक्ष्यकर आप ही दानादिक देते हैं उसका फल भी वे स्वयं ही

१ मुञ्चायाम् 'आत्मानं धर्मवृत्त्यर्थं पुत्रदाराश्च पीडयन् । यो लोभात् शक्तिधनोत्पत्तौ च नश्यति इति स्मृतः ॥ इति स्मृतिः । अयममत्तामस्तद्वैभवाकार्यकारिणाम्प्राप्तिपदानाम् । यथा निवासेषु हि सामुद्रिकं परानुष्म्यादितधीर्न मुह्यते ॥ १९॥ एकं च—ग्राहयन्ति महासत्त्वाधितेनाप्यनुकम्पिताः । किमु ते वैभवाकार्यसकलस्योक्तिस्तद्वृत्तयः ॥—धर्मरत्नाकर पृ १९४ । २ किमु—न च । ३—स्त्रीधनम्—न च मु । ४ तस्य तत् किं ग्राहयन्ति ? अति तु न । ५ प्रेयसः । ६ यतिकमपि इष्टमपि नैव नैव करोति तस्य स्वहृते किमपि कर्तुं शक्नोति अतस्तस्य स्वहृत्तन्मियमो नास्ति । ७ निजधनं परहृतेन धर्मं करयति ।

शिल्पिकारुक्वाक्पण्यसभैलीपतितादिपु ।
 देहस्थिति न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविपु ॥७६०॥
 दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः ।
 मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥७६१॥
 पुष्पादिर्रशनादिर्वा न स्वय धर्म एष हि ।
 क्षित्यादिरिव धान्यस्य किं तु भावस्य कारणम् ॥७६२॥

भोगते है । किन्तु जो अपना धन खरचकर दूसरोसे दानादिक दिलाते हैं उसका फल भी दूसरे ही भोगते है । ऐसा देखा जाता है कि बहुतसे मनुष्योंके पास खूब धन होता है मगर वे न उसे खा सकते हैं और न दूसरोको दे सकते है । सुन्दर स्त्री होती है मगर शरीरमें भोग शक्ति नहीं होती है । ये सब दूसरोसे धर्म करानेका ही फल है । खानेको भी हो और हजम करनेकी शक्ति भी हो, सुन्दर स्त्री हो और रमण करनेकी शक्ति भी हो, खूब धन हो और दान देनेकी शक्ति भी हो, ये बातें तो स्वय धर्म करनेसे ही प्राप्त होती हैं । अतः धर्मके कार्य स्वयं ही करने चाहिए ।

मुनियोंके आहार लेनेके अयोग्य घर

नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, माट, दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगोंके घरमें तथा जो मुनियोंके उपकरण बेचकर उनसे आजीविका करते है उनके घरमें मुनिको आहार नहीं करना चाहिए ॥ ७९० ॥

जिन-दीक्षातथा आहारदानके योग्य वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही जिनदीक्षाके योग्य है किन्तु आहार दान देनेके योग्य चारों ही वर्ण हैं, क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनुमति है ॥ ७९१ ॥

पुष्प वगैरह और भोजन वगैरह स्वय धर्म नहीं है, किन्तु जैसे पृथ्वी वगैरह धान्यध उत्पत्तिमें कारण हैं वैसे ही ये चीजें शुभ भावोंके होनेमें कारण हैं ॥ ७९२ ॥

मावार्थ—पूजामें जो पुष्प वगैरह चढ़ाये जाते हैं और मुनिको जो आहार दिया जात है सो ये पुष्प वगैरह द्रव्य या भोजन स्वय धर्म नहीं है । किन्तु इनके निमित्तसे जो शुभ भाव होते हैं वे धर्मके कारण है क्योंकि उनसे शुभ कर्मका बन्ध होता है ।

१ "तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्यकारव । कारवो रजकाद्या स्यु ततोऽन्ये स्युरकारव ॥१८५॥ कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्याऽस्पृश्यविकल्पत । तत्रास्पृश्या प्रजावाह्या स्पृश्या स्युः कर्तकादय ॥१८६॥"—महापुराण, १६ पर्व । २ वन्दिजन । ३ कुट्टिनी । ४ जातित्राह । ५ यतीनामुपकरणजीवित गृहे आहान कर्तव्य । "गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविन । मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥३८॥ दोनस्य सूतिकायाश्च छिपकस्य विशेषत । मद्यविक्रयिणो मद्यपानससंगिनश्च न ॥३९॥ क्रियते भोजन यतिना भोक्तुमिच्छुना । एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीय स्वचेतसा ॥४०॥"—नीतिमार । १२ वर्णा । ६ शूद्र नानामपि विवा-आहार उचितो योग्य दीयते इत्यर्थ । ७ चाण्डालादयोऽपि मनोवाक्कायै कृ पुण्यमुपार्जयन्ति दोषो नास्ति । ८ —दिरामनादिर्वा आ० । "पुष्पादि स्तवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम् भावो हि धर्महेतु स्यात्तद्वत् प्रयत्नो भवेत् ॥३१॥"—प्रबोधसार नृ० १९५ । ९. परिणामनिर्मलताया ।

युक्तं हि भवत्या साधु सख्येव मनो मृणाम् ।
 परां शुचिमवाप्नोति सोऽहं विदु रसीरिव ॥७३॥
 तपोवानार्थनाहीन मगः सन्धिं वेदिनाम् ।
 तत्कल्पप्रप्तये न स्यात्कुप्यात्स्थितबीजवत् ॥७४॥
 आभेशिकाभित्तिवातिदीनात्मसु यथाक्रमम् ।
 यथौचित्य यथाकाल यथैपञ्चकमाचरेत् ॥७५॥
 'काले कसौ बडे चिते वेदे आआविकोठके ।
 एतच्चित्र यदद्यापि जिनरूपधरा मरा' ॥७६॥
 यथा पुण्य जिनेन्द्रार्णा रूप लोपादिमिर्मितम् ।
 तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः सम्प्रति सयताः ॥७७॥
 तर्जुनं मनेत्याच यत्र रत्नत्रय मरे ।
 हेरामती मनेम्यमम्यवासायतः सुदृक् ॥७८॥

मनुष्योंका मन यदि एक बार भी सच्ची भद्रासे युक्त हो तो वह उत्कृष्ट विमुद्रिका प्राप्त होता है । जैसे पारवके योगसे कहा अत्यन्त सुख हा जाता है ॥ ७३॥ और प्राप्तिमें मन होत हुए भी यदि वह मन तप, दान और पूजामें रत न हो तो जैसे लसीमें पड़ा हुआ बीज बान्ध-को उत्पन्न नहीं कर सकता । जैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विमुद्रिका प्राप्त नहीं कर सकता । अब यदि मन है तो उसे शुभ कार्योंमें उगाना चाहिए ॥ ७४॥

अपने घरपर आये हुए भक्तिविको, अपने आभितको, सत्तायीको और दीन मनुष्योंका समयके अनुसार मन्त्रायोज्य पाँच दान क्रमशः देने चाहिए ॥ ७५॥

कलिकालमें जिनरूपधारियोंके दर्शन दुर्लभ है

यह बड़ा आश्चर्य है कि इस कलिकालमें जब मनुष्योंका मन पचक रहता है और शरीर अन्नका कीड़ा बना रहता है, आत्म भी जिनरूपके धारक मनुष्य पाये जाते हैं ॥ ७६॥ जैसे पापात्त धरौहमें अंकित जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिकृति पचने साम्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, जैसे ही आत्मकलके मुनियोंको भी पूर्वकालके मुनियोंकी प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए ॥७७॥

पात्रके तीन भेद

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्धारित्रसे विमूर्धित मुनि उचम पात्र हैं । अणुव्रती

१ भक्ति । २ दानपञ्चकम् । 'अधियोग देवमर्हं मृतमर्हं च सर्वथा । नृपर्हं स्त्रियञ्च च दयापति न ह्रापयेत् ॥२१॥ —मनुस्मृति अ. ४ । आभेशिकाभित्तिपु रसिस्तैपु बीजानुक्रमेण यथावर्धं तु । हेतोर्वर्त काकश्लानुवर्णं दद्यात्तु निमित्तं स्वयमेव बुद्ध्या ॥ —अमरलगाकर पृ. १२९ । ३ काले कसौ छतपचकके च चिते लक्ष्मणारममे च काये । विभं यदद्यापि जिनेन्द्ररूपधरा मरा बुद्धिरथ प्रयान्ति ॥२२॥ अनो यथा वेदभक्त्यायकायां केवादिबलुपं प्रतिविम्बनकाम् । तर्जुनं पुर्वप्रतिविम्बवाहा सप्रसक्तुपाध्यां मरत नुबीधि' ॥२३॥ —अमरलगाकर अ. १२९ । 'वर्धं यथाहृता रूप विज्ञानेपादिनिमित्तम् । तथा पुनपिपुपरता दद्यात्' ॥२४॥ —अमरलगाकर पृ. १२९ । विम्बवर्धमुनीनेपु प्रतिमानु विज्ञानि । भगव्या पुर्वमुनी नर्त्तं तु नृप-वेदोऽतिवर्धनम् ॥२५॥'साधारण्यार्थ २ अ. ४ 'पात्रं रागादित्रिभेदे अत्यप्यो नुपचरन् भवेत् । तच्च नेवा द्रव्यमादिदेहैर्धर्मैरुपैयित् ॥२६॥ अप्यप्यौतवान् विद्यापुष्टिच नृपयो भवेत् । कर्तुर्हिर्मर्त्यं पात्रं

यत्र रक्षत्रयं नास्ति तदपात्रं चिदुर्ध्वम् ।
 उप्तं तत्र नृथा सर्वमूपरायां क्षिताचिव ॥७६६॥
 पात्रे दत्तं भवेदन्नं पुण्याय गृहमेधिनान् ।
 शुक्तावेव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥८००॥
 मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्र्याभासभागिषु ।
 दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥८०१॥
 कारुण्यादधवोचित्यात्तेषां किञ्चिद्विशेषपि ।
 दिशेदुद्धृतमेवात्र गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥८०२॥
 सत्कारादिविधावेपां दर्शनं दूषितं भवेत् ।
 यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥८०३॥
 शास्त्रेणान्तिकयागजटिलाजीवकादिभिः ।
 सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥८०४॥

श्रावक मध्यमपात्र है और अमयत सम्यग्दृष्टि जवन्मपात्र है ॥७६८॥ जिस मनुष्यमें न सम्यग्दर्शन है, न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यक्चारित्र्य है उसे विद्वज्जन अपात्र समझते हैं । जैसे ऊसर भूमिमें कुछ भी बोना व्यर्थ होता है वैसे ही अपात्रको दान देना भी व्यर्थ है ॥७६९॥ पात्रको आहार दान देनेसे गृहस्थोंको पुण्य फल प्राप्त होता है; क्योंकि मेघका पानी सीपमें ही जानेसे मोती बनता है, अन्यत्र नहीं ॥८००॥ जिनका चित्त मिथ्यात्वमें फँसा है और जो मिथ्या चारित्र्यको पालते हैं, उनको दान देना बुराईका ही कारण होता है, जैसे सोंपको दूध पिलानेसे वह जहर ही उगलता है ॥८०१॥ ऐसे लोगोंको दयाभावसे अथवा उचित समझकर यदि कुछ दिया भी जाये तो भोजनसे जो अवशिष्ट रहे वही देना चाहिए । किन्तु घरपर नहीं जिमाना चाहिए ॥८०२॥ जैसे विपैले बरतनके सम्बन्धसे विशुद्ध जल भी दूषित हो जाता है वैसे ही इन मिथ्यादृष्टि साधु-वेपियोंका आदर-सत्कार करनेसे श्रद्धा दूषित हो जाता है ॥८०३॥ अतः बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंके साथ निवास, बातचीत और उनकी

नि शीलव्रतभावन ॥१४०॥ सदृष्टि शीलसम्पन्न पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्गोविशोलक्ष्यं नैव पात्रमसौ मत ॥१४१॥ कुमारपुत्रत्वमाप्नोति जन्तुर्ददपात्रके । अशोधितमिवालाभ्यु तद्धि दान प्रदूषयेत् ॥१४२॥ आमपात्रे यथासिप्त मङ्गु क्षीरादि नश्यति । अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि स्व तच्च नाशयेत् ॥१४३॥” —महापुराण, २० पर्व । “पात्र त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् । अविरतं सम्यग्दृष्टिविरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥” —पुरुषार्यसि० । अमितगतिश्रावकाचार परि० १० ।

१ “काले ददाति योऽपात्रे वितीर्णं तस्य नश्यति । निक्षिप्तमूपरे धीज किं कदाचिदवाप्यते ॥३६॥” —अमि० श्रा०, ९ परि० । “जस्स ण तमो ण चरण ण चावि जस्सत्थि वरगुणो कोई । त जाणेह अपत्त अफल दाण कय तस्स ॥५३१॥ ऊसरखित्ते वीय सुक्खे स्वक्खे य णीरअहिसेओ । जह तह दाणमवत्ते दिण्णं खु निरत्थय होई ॥५३२॥” —भाषसग्रह । २ “मिथ्यात्ववासितमनस्सु तथा चरित्राभासप्रचारिषु कुदृष्टिनिषु प्रदानम् । प्रायो ह्यनर्थजनप्रतिघातिहेतु क्षीरप्रयाणमिव विद्वन्निशानेषु ॥६६॥” —धर्मरत्ना० प० १२६ । ३ स्वभोजनानन्तरमुद्धृत अधिक स्थित तदेव न तु पूर्वं समीचीनम् । ४ कुदृशम् । ५. “पापण्डितो विकर्म-स्थान् वैदालप्रतिकाञ्छन् । हेतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥३०॥” —मनुस्मृति अ० ४ ।

अथासतस्त्वयेतोमिदुराग्रहमस्मीमसः ।

सुखमेव मयेदुष्टोद्यथा वृष्टान्पि कथाकचि ॥८०१॥

मयलोभोपरोधाद्यैः कुलिङ्गिषु निषेवये ।

भवश्यं दर्शनं म्नायेधीविराघरणे सति ॥८०२॥

वुक्षिणीरुपमुक्तेषु वैवायव्यमृतिषु ।

सुप्तु कुलितसेवायां वैश्यमेवातिरिच्यते ॥८०३॥

सवा बगैरह नहीं करना चाहिए ॥८०१॥ सत्त्वोसे खनबान और दुराग्रहो मनुष्योंके साथ बातचीत करनेसे रुड़ाई ही होती है जिसमें उष्ण-उष्ण और जूतम बाजार तककी नोक का सफ़री है ॥ ८०५ ॥ या स्त्री पुरुष किसी अनिष्टके मयसे या पुत्र बगैरहके अन्वयसे या दूसरोंके आग्रहसे कुलिङ्गी साधुओंको सेवा करते हैं, उनका अज्ञान नीच आचरण करनेसे अवश्य मलिन होता है ॥८०६॥ सभी मनुष्य बुद्धिवादी हैं और यथायोग्य पौरुष-उद्योग भी करते हैं किन्तु सम्पत्तिका मित्रता या भाव्यके अधीन है। फिर भी यदि मनुष्य बुरे मनुष्योंकी सेवा करता है तो यह तो दीमताका अतिरेक है ॥८०७॥

भाषार्थ—जो स्वयं सन्मार्गमें लगे हुए हैं और दूसरोंको सन्मार्गमें लाते हैं या सन्मार्ग-पर सभी आस्था रखते हैं वे पात्र कहलाते हैं। उन्हें अज्ञा और भक्ष्यपूर्वक दान देना चाहिए। किन्तु जो साधुका तो वष धारण किये हैं किन्तु सच्चे साधुका एक भी पित्र मित्रमें नहीं है ऐसे गंजेड़ी, भंगेड़ी, बयजूतबारी, मित्तमगे साधु पात्र नहीं हैं किन्तु अपात्र हैं। उन्हें साधु सम्झकर दान देना मूलतः है। ऐसे लोगोंका यदि कुछ दिया जा सकता है तो पात्र-बुद्धिसे नहीं, किन्तु दया बुद्धिसे। और दया-बुद्धिसे या आकस्मिकता सम्झकर भी जो दिया जाये वह इसी रूपमें दिया जाना चाहिए कि हम एक मूले मनुष्यकी या दुःखी मनुष्यकी मदद कर रहे हैं, न कि इस रूपमें, जिससे ऐसा लगे कि हम किसी साधुकी अन्वयना कर रहे हैं क्योंकि ऐसा करनेसे अपनी सन्तानपर या दूसरोंपर गलत प्रभाव पड़नेका भय नहीं रहता और इससे उन साधु-वैपियोंको दूसरोंपर रंग अमानेका मौका नहीं मिलता। ऐसा देना गबा है कि साधुका वेष बनाकर घर-घर भील माँगेबाके मनुष्योंकी कमजारीका छाम उठाकर कमी-कमी उन्हें खूब ठगते हैं। उवाहरणके स्थि घरमें कोई बीमार हुआ या मम दिलाकर अपनी भूमत बगैरहके द्वारा घरबाजोंपर रंग अमा करते हैं। कमी सोमा, बाँदी दूना करनेका जोम दिलाकर गहरा हाथ मार देते हैं। पहले मनुष्य लाभमें आकर फँस जाता है और पीछ पड़ता है। इसीस्थि अन्व-कारने मय, सोम और दूसरोंके करनेसे भी इन प्रपंची साधुओंकी सेवा करनेका कड़ा निषेध किया है। मनुष्योंका यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि जो कुछ मनुष्यको मिलता है वह उसके पूर्व जन्ममें किये हुए या इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल है। अपने शुभाशुभ कर्मोंके सिवा कोई किसीका न कुछ दे सकता है और न उसका कोई कुछ भ्रष्ट या बुरा कर सकता है। इसस्थि उसे यह भाव अपने मनसे निकाल ही देना चाहिए, कोई दूसरा कुछ दे सकता है।

समयी^१ साधकः^२ साधुः सूरिः समयदीपकः ।
 तत्पुन' पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिणः ॥८०८॥
 गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः ।
 यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥८०९॥
 ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तश्च सुप्रज्ञः^३ कार्यकर्मसु ।
 मान्यः समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थसमर्थधीः ॥८१०॥
 दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः ।
 तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥८११॥

ऐसा दृढ़ विश्वास करके प्रयत्नशील रहेगा वह कभी किसीके चक्करमें नहीं फँसेगा । अतः
 नेताको दूर करके सदा सच्चे निस्पृही दिगम्बर गुरुओंकी ही सेवा-भक्ति करनी चाहिये ।
 योंकि वे किसीसे कुछ माँगते नहीं हैं और न देनेवालेसे प्रसन्न होते हैं और न न देनेवालेपर
 रोष करते हैं । वे भोजनके लिए नहीं जीते किन्तु जीनेके लिए भोजन करते हैं । और उनका
 जीना जीनेके लिए नहीं है किन्तु स्व और परके कल्याणके लिए है ।

[अथ दूसरी तरहसे पात्रके पाँच भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं—]

बुद्धिमान् पुरुष समयी, साधक, साधु, आचार्य और धर्मके प्रभावकके भेदसे पात्रके पाँच
 भेद मानते हैं ॥८०८॥ गृहस्थ हो या साधु, जो जैन धर्मका अनुयायी है उसे समयी या साधमी
 कहते हैं । ये साधमी पात्र यथाकाल प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टि भाइयोंको उनका आदर-सत्कार करना
 चाहिए ॥८०९॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थको भली प्रकारसे जाननेमें समर्थ है उन ज्योतिषशास्त्र,
 मन्त्रशास्त्र और निमित्तशास्त्रके ज्ञाताओंका तथा कार्यक्रम अर्थात् प्रतिष्ठा आदिके ज्ञाताका
 साधमी भाइयोंको सम्मान करना चाहिए ॥८१०॥

भावार्थ—प्रति अ आ और ज. में 'कायकर्मसु' पाठ है । और टिप्पणमें उसका अर्थ
 शारीरिक चिकित्सा करनेवाला वैद्य दिया है और प्रबोधसारमें भी वैद्य ही अर्थ लिया है । किन्तु
 धर्मरत्नाकरमें और सागारधर्माभूतमें उद्धृत श्लोकमें 'कायकर्मसु' पाठ है । हमें यही पाठ ठीक
 प्रतीत होता है क्योंकि आगेके श्लोकमें कहा है कि उसके अभावमें दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा आदि
 क्रिया कैसे हो सकती हैं । इन क्रियाओंको तो वही करा सकता है जो क्रियाकाण्डमें कुशल हो ।
 अतः यही पाठ समुचित प्रतीत होता है ।

यदि वह न हो तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिन विश्वप्रतिष्ठा वगैरह कियाँ कैसे हो
 सकती हैं; क्योंकि इनमें मुहूर्त देखनेके लिए ज्योतिषविद्या और क्रियाकर्म करानेके लिए प्रतिष्ठा-
 शास्त्रके ज्ञाताकी आवश्यकता होती है । शायद कहा जाये कि दूसरे लोगोंमें जो ज्योतिषी या
 मन्त्रशास्त्री है उनसे काम चला लिया जायेगा । किन्तु इस तरह दूसरोंसे पूछनेसे अपने धर्मकी
 उन्नति कैसे हो सकती है ॥ ८११ ॥

१ "समयिकमाधकमयद्योतकर्णैकगणधाधिपान् धिनुयात् । दानादिना यथोत्तरगुणरागात् सद्ग्रही
 नित्यम् ॥८११॥"—सागारधर्मा०, अ० २ । २ स्नावक अ० ज० । स्नावक मु० । ३. कायकर्मसु—
 अ०, आ०, ज० । वैद्य ।

मूलोत्तरगुणस्ताप्यैस्तपोमिर्मिष्टितस्थितिः ।
 साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपाश्रितपण्डितैः ॥८१२॥
 ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे साधुवर्ण्यपुरातरः ।
 सूरिवैव इयापाप्य ससाराश्रितरण्डकः ॥८१३॥
 लोकयित्त्वकवित्वाद्यैर्वाप्याग्मित्यकौशले ।
 मार्गप्रभावनोपुक्ताः सन्त पूज्या विशेषतः ॥८१४॥
 भाग्य ज्ञान तपोहीन ज्ञानहीन तपोऽर्हितम् ।
 इय यत्र स वैद्य स्यात् द्विहीनो गण्यपूरणः ॥८१५॥
 अर्हद्वेषे नमोऽस्तु स्याद्विरती यिनयक्रिया ।
 अम्पोन्यं कुलके चार्हमिच्छाकारवचः सदा ॥८१६॥

भाषार्थ—अपने धर्मकी उन्नति तो सभी हो सकती है जब अपनेमें भी सब आवश्यक बातोंके ज्ञानेवाले हों। तथा अपने मुहूर्तविचारमें भी दूसरोंसे अन्तर है और प्रतिष्ठा आदि विधि तो बिल्कुल ही अलग है। अतः जैन कथातिथ और जैन मन्त्रशास्त्रके और प्रतिष्ठाशास्त्रके वेदाओंका भी सम्मान करना चाहिए, जिससे वे बने रहें और हमारे धर्मकी क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक चालू रहें।

मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त तपस्वी महात्माको साधु कहते हैं। जो पुण्यको क्रमानेमें चतुर हैं उन्हें साधुकी भक्तिभावसे पूजा करनी चाहिए ॥ ८१२ ॥

जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमें चतुर्विध सबक सुनिये हाते हैं तथा संसाररूपी समुद्रसे पार उठानेमें समर्थ हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिए ॥ ८१३ ॥

जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्ववैयक्तिके कौशल-द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें सदा संलग्न रहते हैं उन सज्जन पुरुषोंका विश्वरूपसे समादर करना चाहिए ॥ ८१४ ॥

भाषार्थ—जैन धर्मकी प्रभावना करनेके लिए लोक चतुर व्यक्ति, सुयोग्य कवि, शास्त्रार्थ विद्वान् और कुशल वक्ता भी आवश्यक हैं। अतः उनका भी समादर होना आवश्यक है।

तपसे हीन ज्ञान भी समादरके योग्य है। और ज्ञानसे हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमें ज्ञान और तप दोनों हैं वह देवता है और जिसमें दोनों नहीं हैं वह केवल संन्यास मानेवाला है ॥ ८१५ ॥

अभिवादनकी विधि

जिन-मुद्राके धारक साधुओंको 'नमोऽस्तु' कहकर अभिवादन करना चाहिए। त्यागियोंकी वीनय करना चाहिए। और भुक्त्यन्त त्यागी परमार्थमें एक दूसरेका सदा 'इच्छामि' कहकर

१ ज्ञान तपोहीनवर्ति प्रामुख्यं ज्ञानं प्रदीप्तं गुणहीनं वृण्यम् । यत्र इयं वैद्यवैद्य पूज्यो इवेन हीनो नम्यपूरणः स्यात् ॥८१८॥—वर्मरत्ना व १२७ । भाग्या बोधनगोहीनी बोधहीनी तपोऽर्हितम् । इयं यत्र न वैद्यः स्यात् द्विहीनी प्रवैद्यवत् ॥८१६॥—बोधनार पृ २२ ।

अनुवीचीवचो भाष्यं सदा पूज्यादिसंनिधौ ।
 यथेष्टं हसनालापान् वर्जयेद्गुरुसंनिधौ ॥८१७॥
 भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
 ते सन्तः सन्तवसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥८१८॥
 सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्यय ।
 बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥८१९॥
 यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः ।
 तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥८२०॥
 दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वर्तव्यं समयाश्रिते ।
 एको मुनिर्भवेत्तन्मयो न लभ्यो वा यथागमम् ॥८२१॥
 उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् ।
 नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालय ॥८२२॥
 ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः ।
 भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥८२३॥
 उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते ।
 पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥८२४॥

अभिवादन करते हैं । पूज्य पुरुषोंके सामने सदा शास्त्रानुकूल वचन बोलना चाहिए । तथा गुरुजनों के समीपमें स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिए ॥ ८१६—८१७ ॥

केवल आहारदानके लिए साधुओंकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए । चाहे वे सज्जन हों या दुर्जन हों । गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है ॥ ८१८ ॥ गृहस्थ लोग अनेक आरम्भोंमें फँसे रहते हैं और उनका धन भी अनेक प्रकारसे खर्च होता है । इससे तपस्वियोंको आहारदान देनेमें ज्यादा सोच-विचार नहीं करना चाहिए ॥ ८१९ ॥ मुनिजन जैसे-जैसे तप, ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट हों वैसे-वैसे गृहस्थोंको उनका अधिक समादर करना चाहिए ॥ ८२० ॥ धन भाग्यसे मिलता है, अतः भाग्यशाली पुरुषोंको आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किन्तु उन्हें अपना धन जैन धर्मानुयायियोंमें अवश्य खर्च करना चाहिए ॥ ८२१ ॥ जिन भगवान्का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा है । जैसे मकान एक खम्भेपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता ॥ ८२२ ॥

मुनियोंके चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिक्षेपकी अपेक्षासे मुनि चार प्रकारके होते हैं और वे सभी दान, सम्मानके योग्य हैं ॥ ८२३ ॥ किन्तु गृहस्थोंके पुण्य उपार्जनकी दृष्टिसे जिनविम्बोंकी तरह उन चार प्रकारके मुनियोंमें उत्तरोत्तर रूपसे विशिष्ट विधि होती जाती है ॥ ८२४ ॥

१ "भुक्तिमात्रप्रदाने तु शूद्रो दानेन शुद्ध्यति"—सागारधर्मावृत अ० २-६४ दलोकका टिप्पण । "अनेकवारम्भविजृम्भितानां वित्तव्ययो हर्म्यवतामगण्य । तद्भुक्तिमात्रा हतये (?) न योग्या विचारणा लिङ्गिषु तीर्थहन्त्री ॥७०॥"—धर्मरत्ना०, प० १२७ । २ "दैवायत्ता धनलवभवा प्राप्य भूतिं गृहस्था वप्सव्यानी जिनपसमयाव्यासितप्राणिभूमौ । साधु शुद्धव्रतगुणगणं सूयमार्गानुसारी चैको लक्षे क्षपितकलिलो लभ्यते वा न वेति ॥७१॥"—धर्मरत्ना० प० १२७ । ३. —जैनगृह-अ०, ज०, मु० । ४ जिनप्रतिमावत् ।

मूलोत्तरगुणश्चाप्येस्तपोभिर्मिदितस्थितिः ।
 साधुः साधु मयेत्पूज्यः पुण्योपाश्रितपरिहृते ॥८१२॥
 ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुषण्यपुरस्सरः ।
 सूरिवैद्य इषाराभ्यः सत्पराश्रितरण्डकः ॥८१३॥
 लोकहितकवित्पारायैर्वाव्यागमित्यकीशले ।
 मार्गप्रमायनोपुक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥८१४॥
 'मान्यं ज्ञान तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् ।
 इयं पञ्च स वैव' स्यात् सिद्धीनो गणपूरणः ॥८१५॥
 अर्हद्वैप्रे नमोऽस्तु स्याद्विप्री यिनयक्रिया ।
 अम्योम्य लुप्तके चार्हमिच्छाकारवचा सदा ॥८१६॥

भाषार्थ—अपने धर्मकी उत्पत्ति तो सभी है। सफ़्ती है जब अपनेमें भी सब वाक्यवक बातें कि ज्ञानेवाले हों। तथा अपने गृह्यविचारमें भी दूसरोंसे अन्तर है और प्रविष्टा आदि विधि तो विष्णुके ही अन्तर्गत है। अतः जैन उद्योत्पि और जैन मन्त्रशास्त्रके और प्रतिष्ठाशास्त्रके वेदाओंका भी सम्मान करना चाहिये, जिससे वे बने रहें और हमारे धर्मको क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक प्राप्त रहें।

मूकगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त तपस्वी महामाको साधु कहते हैं। जो पुण्यको कमानेमें चतुर हैं उन्हें साधुकी मक्तिमावसे पूजा करनी चाहिये ॥ ८१२ ॥

जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमें चतुर्विध संघके मुक्तिवा होते हैं तथा संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिये ॥ ८१३ ॥

जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वस्तुत्वज्ञानके कौशल-द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें सदा संकल्प रहते हैं उन सज्जन पुरुषोंका विशेषरूपसे समादर करना चाहिये ॥ ८१४ ॥

भाषार्थ—जैन धर्मकी प्रभावना करनेके लिये लोक चतुर व्यक्ति, सुयोग्य कवि, शास्त्रार्थ विद्वान् और कुशल वक्ता भी आवश्यक हैं। अतः उनका भी समादर हमारा आवश्यक है।

तपसे हीन ज्ञान भी समादरके योग्य है। और ज्ञानसे हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमें ज्ञान और तप दोनों हैं वह देवता है और जिसमें दोनों नहीं हैं वह केवल संघका स्थान मरनेवाला है ॥ ८१५ ॥

अभिषादनकी विधि

स्निग्धताके चारक साधुओंको 'ममोऽस्तु' कहकर अभिषादन करना चाहिये। स्वागिर्बो-की विनय करना चाहिये। और क्षुल्लक स्वागी परस्परमें एक दूसरेका सदा 'इच्छामि' कहकर

१ ज्ञानं तपोहीनमपि प्रपूज्यं ज्ञानं प्रहीनं सुतपोऽपि पूज्यम् । पञ्च इयं वैवचरीय पूज्यो ज्ञेयः हीनो मन्त्रपूरणः स्यात् ॥९८॥—वर्मरत्ना प १९७ । मान्यो बोधस्वपहीनो बोधहीनो तपोऽर्हितम् । इयं पञ्च स वैव' स्यात् सिद्धीनो ज्ञतवेवमुत् ॥९९॥ —प्रबोधसार पृ २ ।

यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् ।
परप्रत्ययसंभृतं दानं तद्वाजसं मतम् ॥८२८॥
पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसंस्तुतम् ।
दासभृत्यकृतोद्योग दानं तामसमूचिरे ॥८२९॥

कहना भावनिक्षेप है ॥८२७॥

भाचार्य—लोकमें प्रत्येक वस्तुका चार रूपसे व्यवहार पाया जाता है । वे चार रूप हैं—
नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । जैसे मुनिको ले लीजिए । 'मुनि' पदका व्यवहार चार रूपसे
देखा जाता है । अनेक लोग अपने लड़कोंका नाम मुनि रख लेते हैं । वे लड़के गुणोंसे मुनि नहीं
हैं किन्तु नामसे मुनि हैं । मुनियोंकी मूर्तियाँ स्थापनासे मुनि हैं उनमें मुनियोंकी स्थापना की गयी
है । नाम और स्थापनामें यह अन्तर है कि यद्यपि स्थापना होती तो नामपूर्वक ही है किन्तु जिस
व्यक्तिकी स्थापना की गयी हो उसके पदके अनुसार उसका आदर वगैरह भी किया जाता है, परन्तु
नाममें यह बात नहीं है । जिस वच्चेका नाम मुनि है उसका मुनिकी तरह कोई समादर नहीं
करता किन्तु मुनिकी मूर्तिको सब कोई पूजते हैं । और जो व्यक्ति भविष्यमें मुनि होनेवाला है
और उसके लिए प्रयत्नशील है वह द्रव्यकी अपेक्षा मुनि है । उसमें मुनिपना द्रव्यरूपसे है भाव
रूपसे नहीं है । किन्तु जो बाख और अन्तरसे मुनिपदका धारी है वह भावसे मुनि है । इस
प्रकार मुनिके चाररूप लोकमें पाये जाते हैं इनमें-से नामरूपको छोड़कर शेष तीन रूप मान्य है;
क्योंकि उनमें किसी-न-किसी रूपमें मुनिपदकी बुद्धि या उमकी योग्यता पायी जाती है । वर्तमानके
जिन मुनियोंमें मुनिपदके अनुकूल आचरण नहीं पाया जाता, ग्रन्थकारने उनमें भी पूर्व मुनियोंकी
स्थापना करके उनका समादर करनेका विधान किया है ।

[अब प्रकारान्तरसे दानके तीन भेद बतलाते हैं—]

राजस दान

जो दान अपनी ख्यातिकी भावनासे कभी-कभी किसीको तब दिया जाता है जब दूसरे
दाताको वैसे दानसे मिलनेवाले फलको देख लिया जाता है, उस दानको राजस दान कहते हैं ।
अर्थात् उसे स्वयं तो दानपर विश्वास नहीं होता किन्तु किसीको दानसे मिलनेवाला फल देखकर
कि इसने यह दिया था तो उससे इसे अमुक-अमुक लाभ हुआ, दान देता है । ऐसा दान रजोगुण
प्रधान होनेसे राजस कहा जाता है ॥८२८॥

तामस दान

पात्र और अपात्रको समानरूपसे मानकर या पात्रको अपात्रके समान मानकर बिना किसी
आदर-सम्मान और स्तुतिके, नौकर-चाकरोके उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता है उस

१ स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति परन्तु कस्यचिद्दानस्य फलं दृष्ट्वा अनेन ईदृशं प्राप्तं पश्चात्
ददाति । २ "निजस्तवनलालयैरलससादरं मान्तरं यशोलवसमाकुलं कलितलोकसम्प्रत्ययम् । सगर्वमविभा-
वितातिथिगुणं च यदीयते विहायितमिशोरितं भतिमता मतै राजसम् ॥७९॥"—धर्मरत्न० पृ० १२७ ।
३ "पात्राविचारणाविरहितं दूरादपास्तादरं भार्यासूनुनियोगिभिर्विरचितं चित्तादिगुद्विच्छुतम् । मोक्षार्थोपहतं
विवेकविकलं यत्किञ्चनार्होऽपि च, एतत्तामसमायनन्ति मुनयो दानं गतप्रार्चनम् ॥ ८० ॥"—धर्मरत्ना०,
पृ० १२७ ।

अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये ।
 यत्सत्त्वकर्म तन्नाम मरेच्छाद्यश्वर्तनात् ॥८२५॥
 साकारे वा निराकारे काष्ठादौ पश्चिदेश्वरम् ।
 सोऽपमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥८२६॥
 आर्णोमिगुणयोग्योऽर्थो ब्रह्मव्यासस्य गोचरः ।
 तत्कालपर्यायाकांक्ष वस्तु भावो विधीयते ॥८२७॥

भाषार्थ—ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मकारके समयमें मुनियोंमें सिद्धिब्रह्मचार अधिक बढ़ गया था, जिसके कारण गृहस्थ लोग उन्हें आहार देते हुए भी श्लिष्टकते थे और परीक्षा करके ही आहार देते थे । इसीलिए ब्रह्मकारको यह चिन्तना पड़ा कि मोक्षन देनेमें मुनियोंकी क्या परीक्षा करते हो, गृहस्थ तो दान देनेसे सुख होता है आदि । उन्होंने चार निष्पत्तियोंकी अपेक्षासे मुनियोंके चार भेद करके नामके मुनियोंको भी दान सम्मानके योग्य बतलवाया है । ये सब उन्होंने साधर्म्य प्रेमबल ही सिद्धा प्रतीत हाता है । इसमें तो सन्देह नहीं कि ब्रह्मकारकी इष्टि उदार है और वह यह खूब समझते हैं कि धार्मिक सम्प्रदायकी स्थिति कैसे रह सकती है । इससे वे चिन्तते हैं कि किन मगवान्का भर्म एक आवमीके ऊपर निर्भर नहीं रह सकता । इसमें तो तरह-तरहके आवमी मरे हैं और उन सबका ही ध्यान रक्षना जरूरी है । उसके बिना वह चल नहीं सकता । अतः गृहस्थोंको आज्ञा तो सभीको देना चाहिए किन्तु जैसे-जैसे ब्रह्ममें गुण अधिक हों वैसे-वैसे उसका विधिष्ठ समादर करना चाहिए । जो नामसे मुनि हैं वा स्थापनासे मुनि हैं उनसे ब्रह्ममुनि उत्तम हैं और ब्रह्ममुनिसे भावमुनि उत्तम हैं । अतः नामसे मुनि और स्थापनासे मुनिकी अपेक्षा ब्रह्ममुनि और भावमुनिका विधिष्ठ समादर करना चाहिए । 'सब धान बाईस पैसेरी'की कहावत नहीं बरितारना चाहिए ।

[अब क्रमशः चारों निष्पत्तियोंका स्वल्प बतलाते हैं—]

नामनिषेध

नामसे व्यवहृत होनेवाले गुणसे हीन पदार्थोंमें छाक-व्यवहार करनेके लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रख लेते हैं उसे नामनिषेध कहते हैं ॥८२५॥

स्थापनानिषेध

उदाकार या अतुदाकार वस्तुकी गौरवमें 'यह अमुक है' इस प्रकारके अभिप्रायसे जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनानिषेध कहते हैं ॥८२६॥

द्रव्य और भावनिषेध

जो पदार्थ भविष्यमें अमुक गुणोंसे विधिष्ठ होगा उसे अभी ही से उस नामसे पुकारना द्रव्यनिषेध है । और जो वस्तु जिस समय जिस पर्यायसे विधिष्ठ है उसे उस समय उसी रूप

१ 'अतद्गुणे वस्तुनि एवमवहारार्थं पुराकाराणि पुरावर्तमानं संज्ञाधर्मं भावः । —तर्वागतिविज्ञानि तत्त्वार्थ-
 नादिक रत्नोद्धारिका १-५ । २ "काष्ठपृष्ठतद्विषयकमात्रनिषेधादिषु सोऽपमिति स्थाप्यमात्रा स्थापना ।"—
 तर्वागतिविज्ञानि तत्त्वार्थनादिक १-५ । ३ 'अनापत्तारिचानाभिधेयं प्रति पृथीताभिमुखं द्रव्यम् । अतद्गुणं वा । —
 तत्त्वार्थनादिक १-५ । ४ 'वर्तमानतत्पार्यायोरवर्जितं द्रव्यं भावः । —तर्वागतिविज्ञानि तत्त्वार्थनादिक १-५ ।
 ५ 'भोऽग्निमीपते इति पाठः प्रणिभाति ।

यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् ।
 परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं मतम् ॥८२८॥
 पात्रापात्रसमावेद्यमसत्कारमसंस्तुतम् ।
 दासभृत्यकृतोद्योग दानं तामसमूर्चिरे ॥८२९॥

कहना भावनिक्षेप है ॥८२७॥

भाचार्य—लोकमें प्रत्येक वस्तुका चार रूपसे व्यवहार पाया जाता है । वे चार रूप हैं—
 नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । जैसे मुनिको ले लीजिए । 'मुनि' पदका व्यवहार चार रूपसे
 देखा जाता है । अनेक लोग अपने लड़कोंका नाम मुनि रख लेते हैं । वे लड़के गुणोंसे मुनि नहीं
 हैं किन्तु नामसे मुनि हैं । मुनियोंकी मूर्तियाँ स्थापनासे मुनि हैं उनमें मुनियोंकी स्थापना की गयी
 है । नाम और स्थापनामें यह अन्तर है कि यद्यपि स्थापना होती तो नामपूर्वक ही है किन्तु जिस
 व्यक्तिकी स्थापना की गयी हो उसके पदके अनुसार उसका आदर वगैरह भी किया जाता है, परन्तु
 नाममें यह बात नहीं है । जिस बच्चेका नाम मुनि है उसका मुनिकी तरह कोई समादर नहीं
 करता किन्तु मुनिकी मूर्तिको सब कोई पूजते हैं । और जो व्यक्ति भविष्यमें मुनि होनेवाला है
 और उसके लिए प्रयत्नशील है वह द्रव्यकी अपेक्षा मुनि है । उसमें मुनिपना द्रव्यरूपसे है भाव
 रूपसे नहीं है । किन्तु जो बाह्य और अन्तरसे मुनिपदका धारी है वह भावसे मुनि है । इस
 प्रकार मुनिके चाररूप लोकमें पाये जाते हैं इनमें-से नामरूपको छोड़कर शेष तीन रूप मान्य है;
 क्योंकि उनमें किसी-न-किसी रूपमें मुनिपदकी बुद्धि या उसकी योग्यता पायी जाती है । वर्तमानके
 जिन मुनियोंमें मुनिपदके अनुकूल आचरण नहीं पाया जाता, ग्रन्थकारने उनमें भी पूर्व मुनियोंकी
 स्थापना करके उनका समादर करनेका विधान किया है ।

[अब प्रकारान्तरसे दानके तीन भेद बतलाते हैं—]

राजस दान

जो दान अपनी स्थातिकी भावनासे कभी-कभी किसीको तब दिया जाता है जब दूसरे
 दाताको वैसे दानसे मिलनेवाले फलको देख लिया जाता है, उस दानको राजस दान कहते हैं ।
 अर्थात् उसे स्वयं तो दानपर विश्वास नहीं होता किन्तु किसीको दानसे मिलनेवाला फल देखकर
 कि इसने यह दिया था तो उससे इसे अमुक-अमुक लाभ हुआ, दान देता है । ऐसा दान रजोगुण
 प्रधान होनेसे राजस कहा जाता है ॥८२८॥

तामस दान

पात्र और अपात्रको समानरूपसे मानकर या पात्रको अपात्रके समान मानकर बिना किसी
 आदर-सम्मान और स्तुतिके, नौकर-चाकरोंके उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता है उस

१ स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति परन्तु कस्यचिद्दानस्य फल दृष्ट्वा अनेन ईदृशं प्राप्तं पश्चात्
 ददाति । २ "निजस्तवनलालसैरलससादरं सान्तरं यशोलवसमाकुलं कलितलोकसम्प्रत्ययम् । सगर्वमविभा-
 वितानिधिगुणं च यदीयते विहायितमिनोरितं मतिमता मतं राजसम् ॥७९॥"—धर्मरत्न० प० १२७ ।
 ३ "पात्राविचारणाविरहितं दूरादपास्तादरं भार्यासूनुनियोगिभिर्विरचितं चित्तादिशुद्धिच्युतम् । मोत्सर्यो गृहं
 विवेकविकलं यत्किञ्चनार्हं पच, एतत्तामसमाभनन्ति मुनयो दानं गतप्रार्चनम् ॥ ८० ॥"—धर्मरत्ना०,
 प० १२७ ।

अतिथेयं स्वयं यत्र यत्र पात्रमिरीक्ष्यम् ।
 शुष्णाः श्रद्धादयो यत्र दानं तस्मात्स्विकं विदुः ॥८३०॥
 उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् ।
 दानानामेव सर्वेषां अधम्यं तामसं पुनः ॥८३१॥
 यद्वत् तदमुत्र स्यादित्यसत्यपरं यथा ।
 मायाः पयाः प्रयच्छन्ति किं न तोयतुजाश्रयाः ॥८३२॥
 मुनिभ्यः श्राद्धपिण्डोऽयि मरुत्या कासे प्रकल्पिताः ।
 मयेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिस्त्रिभुवामभिर्यताः ॥८३३॥
 अग्निमानस्य रक्षार्थं विनयाधागमस्य च ।
 भोजनाविधिधानेषु भीममृषुर्मुनीश्वराः ॥८३४॥
 सौख्यस्यागात्तपोवृद्धिरग्निमानस्य रक्षकम् ।
 ततश्च समवाप्नोति मनुसिद्धिं जगत्प्रभवे ॥८३५॥

दानको तामस दान कहते हैं ॥८२९॥

सात्त्विक दान

जिस दानमें स्वयं पात्रको देकर स्वयं उसका भक्ति-स्त्कार किया जाता है तथा जो भद्रा बगैरहके साथ दिया जाता है उस दानको सात्त्विक दान कहते हैं ॥८३०॥

इन तीनों दानोंमेंसे सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सब दानोंमें निकृष्ट है ॥८३१॥

आ दिया जाता है परलोकमें वही मिळता है, ऐसा कहना झूठ है । क्या पानी और घास सानेबाही गाँवें बूझ नहीं देती हैं ? अतः मुनियोंका समयपर मच्छिपूर्वक दिया गया श्राक-पात भी अपरिमित पुण्यका कारण होता है, क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है ॥८३२-८३३॥

मायार्थ—सारांश यह है दानको कीमत दिये आनवाके द्रव्यकी कीमतसे नहीं जाँची जाती किन्तु दाताकी श्रद्धा और भक्तिसे जाँची जाती है । बिना भक्तिके दिया गया सौकरा भोजन भी व्यर्थ है और मच्छिपूर्वक दिया गया श्राक-पात भी बहुफलदायी है ।

[अथ भोजनके समय मोक्षका विचार करते हैं—]

जिनेन्द्र भगवान्ने अग्निमानकी रक्षाके लिए और श्रुतकी विनयके लिए भोजन बगैरहके समय मोक्ष करना बतकाया है । भोजनकी छिप्साके स्वागमेसे तपकी वृद्धि होती है और अग्निमान-

१ 'अतिथेयं स्वयं यत्र यत्र पात्रमिरीक्ष्यम्' — साधारणमार्ग्यं य ५-४० की टीका में उपबृत्त । २ 'यदातिथेयं स्वयमेव साक्षात् ज्ञानादयो यत्र शुष्णाः प्रकाशाः' । पात्राक्षरेणापरता य यत्र उत्तराधिकारं दानमुदाहरति ॥८३०॥ — बर्मरत्ना पृ १९७ । ३ 'यत्तं गरुडैव फलद्वयस्य निर्यामिषं हन्ता यथो यतोभिः (?) । पात्रं प्रयच्छन्ति न किं पयांसि दृष्टानि तोयान्ध्रि तत्रानुग्रह ॥८३१॥ ये भक्तिउत्साहविताः फल साधनस्य संवत्सरमिति समयानुबन्धं मुनिभ्यः । तेष्वगण्यपुण्य-मुपगततपसिधासाक्षाद्विभुवामभिर्यताः प्रविशन्ति ॥८३३॥ — बर्मरत्ना पृ १९८ । ४ एकमेव य य ५ ।

श्रुतस्य^१ प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः ।

ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥८३६॥

शारीरमानसागन्तुव्याधिसवाधसंभवे ।

साधु संयमिना कार्यः प्रतीकारो गृहाश्रितैः ॥८३७॥

तत्र^२ दोषघातुमलविकृतिजनिताः शारीरा, दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसौदिसंपादिता मानसाः, शीतवाताभिघातादिकृता आगन्तवः ।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः ।

असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥८३८॥

की रक्षा होता है और उनके होनेसे मन वशमें होता है । श्रुतकी विनय करनेसे कल्याण होता है, सम्पत्ति मिलती है और उससे मनुष्यपर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥ ८३४-८३६ ॥

भावाार्थ—भोजनके समय मौन करनेसे जूठे मुँह वाणीका उच्चारण नहीं करना पड़ता । यह वाणीकी विनय है । इसके करनेसे वाणीपर असाधारण अधिकार प्राप्त होता है । जो लोग दिन-भर बक-झक करते हैं उनके वचनकी कीमत जाती रहती है । दूसरा लाभ यह है कि माँगना नहीं पड़ता । माँगनेसे स्वाभिमानका घात होता है और न माँगनेसे उसकी रक्षा होती है । तथा अपनी इच्छाको रोकना पड़ता है और इच्छाका रोकना तप है अतः मौनसे तपकी वृद्धि होती है और मन वशमें होता है, अतः मौनपूर्वक भोजन करना चाहिए ।

रोगी-मुनियोंकी परिचर्याका विधान

मुनिजनको शारीरिक, मानसिक या कोई आगन्तुक रोगादिककी बाधा होनेपर गृहस्थोको उसका प्रतीकार करना चाहिए ॥८३७॥ वात, पित्त, कफ, रुधिरादि धातु और मलके विकारसे जो रोग होते हैं उन्हें शारीरिक कहते हैं । मनके दूषित होनेसे, बुरे स्वप्नोंसे या भय आदिके कारणसे जो रोग होते हैं वे मानसिक हैं, ठण्ड वायु बगैरहके लग जानेसे जो आकस्मिक बाधा हो जाती है उसे आगन्तुक कहते हैं । इन बाधाओंको दूर करनेका प्रयत्न गृहस्थोंको करना चाहिए; क्योंकि रोगग्रस्त मुनियोंकी उपेक्षा करनेसे मुनियोंकी समाधि नहीं बनती और गृहस्थोंका धर्म-कर्म नहीं बनता ॥८३८॥

भावाार्थ—आगय यह है कि मुनियोंको किसी तरहकी बाधा होनेपर यदि गृहस्थ उसका निवारण न करें तो व्याधिग्रस्त होनेके कारण मुनिजन ठीक रीतिसे आत्मसाधना नहीं कर सकते और चूँकि गृहस्थ अपने कर्तव्यपालनमें प्रमाद करते हैं अतः वे भी अपने धर्म-कर्मसे च्युत कहे जायेंगे या हो जायेंगे, क्योंकि धर्म तो मुनिजनोंके ही आश्रयसे चलता है । अतः गृहस्थोंको रुग्ण साधुओंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

१ “प्रश्रयाधिकतया श्रुतस्य वै श्रेयसा च विभक्त्य भाजनम् । सम्भवन्ति मनुजा प्रमथनान्मृत्यतो भवन्ते सरस्वती ॥८६॥”—धर्मरत्ना०, प० १२८ । अमित० श्राव० १२ परि० १०१-११६ श्लो० । “अभिमानावने गृद्धिरोघात् वर्धयते तप । मौनतनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५॥”—मागारधर्मा० अ० ४ । २ वातपित्तश्लेष्म । ३—सावि—आ० । “शरीरा ज्वरकुण्डाद्या क्रोवाद्या मानसा स्मृता । आगन्त-वोऽभिघातोत्था सहजा क्षुत्पादय ॥८८॥”—धर्मरत्ना०, प० १२८ ।

अतिघेय^१स्य यत्र यत्र पात्रमितीक्षणम् ।
 गुण्याः भस्माद्यो यत्र दानं तस्या^२स्मिक भिक्षुः ॥८३०॥
 उत्तम सात्त्विक दानं मध्यमं राजस भवेत् ।
 दानानामेव सर्वेषां उद्यम्य तामस पुनः ॥८३१॥
 यद्दत्तं^३ तवमुन्न स्यादित्यसत्यपरं वयः ।
 गाथाः पद्याः प्रयच्छन्ति किं न तोयतुणाशनाः ॥८३२॥
 मुनिभ्यः शाकपिण्डाऽपि भक्ष्या काले प्रकल्पिताः ।
 भवेद्गण्यपुण्यार्थं भक्तिभिस्त्वामणिर्यतः ॥८३३॥
 अमिमानस्य रक्षार्थं विनयाद्यानमस्य च ।
 भोजनाविधिधामेषु मीनमृधुर्मुनीश्वराः ॥८३४॥
 सौत्पत्यागात्तपोबुद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।
 ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥८३५॥

दानको तामस दान कहते हैं ॥८२९॥

सात्त्विक दान

जिस दानमें स्वयं पात्रको देकर स्वयं उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है तथा जो भट्टा बगैरहके साम बिना जाता है उस दानको सात्त्विक दान कहते हैं ॥८३०॥

इन तीनों दानोंमें-से सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सव दानोंमें निम्न है ॥८३१॥

जो दिया जाता है पराक्रमों बही मित्रता है, ऐसा कहना झूठ है । क्या पानी और घास सानेवादी गायें दूध नहीं देती हैं ? अतः मुनिमोका समयपर मच्छिपूर्वक दिया गया शाक-घास भी अपरिमित पुण्यका कारण होता है; क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है ॥८३२-८३३॥

भाषार्थ—सारांश यह है दानकी कीमत ब्रिये जानेवाले ब्रह्मकी कीमतसे नहीं आँकी जाती, किन्तु दाताकी भट्टा और भक्तिसे आँकी जाती है । बिना भक्तिके दिया गया खीरका मांस भी स्वयं है और भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-घास भी बहुफलदायी है ।

[अब भोजनके समय मीनका विधान करते हैं—]

जिनेन्द्र भगवान्ने अमिमामको रक्षाक छिपू और झुसकी विनयके छिपू मांस बगैरहके समय मौन करना बतकाया है । भोजनकी विष्ठाक स्वाग्नेस तपको बुद्धि होती है और अमिमाम-

१ अतिघेयं हि तं यत्र — तामारकर्मभूत अ ५-४० की टीकामें बर्णन । २ यत्रातिघेयं स्वयमेव नाद्यान् दानाद्यो यत्र मुखा प्रकाशः । दानाद्यवेवापरता च यत्र तत्प्रातिवर्क दानमुदाहरति ॥३८॥ — चमरत्न ५ १९७ । ३ यत् नरैश्च कर्मयवस्यं नैवास्तिर्लङ्घ्य बभौ यनोभिः (?) । दात्रं प्रकल्पति न किं वशीति मुखादि सोपाग्यपि संतुमुच्य ॥८२॥ ये अतिपराधीनता किं दारपिण्ड संहरावति तमयामुर्ध्वं मुनिभ्यः । शिष्यपुत्र-मुच्यन्तिप्रदासादिबन्ध्यापिदिविदात्रिचत्वारि विभक्ति ॥८३॥ — चमरत्न ५ १९८ । ४ एतावै अ अ ५ ।

श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्तमस्यते ॥८४२॥
 अस्त्रे^१ धारणवद्वाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः ।
 यथार्थज्ञानसंपन्नाः शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥८४३॥
 ज्ञानभावनया क्षीने कायक्लेशिनि केवलम् ।
 कर्मवाहीकवत्किञ्चिद्वयेति^२ किञ्चिदुदेति^३ च ॥८४४॥
 सृष्टिर्वज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः ।
 "तद्वते च वहिः क्लेशः क्लेश एव पर भवेत् ॥८४५॥
 वहिस्तपः स्वतोऽभ्येति^४ ज्ञान भावयतः सतः ।
 "क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽर्धं कुतः स्युरपरा^५ क्रियाः ॥८४६॥
 यदज्ञानी^६ युगैः कर्म बहुभिः क्षपयेन्न वा ।
 तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥८४७॥
 ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्वहिः क्लेषे^७ त्रतेऽखिले^८ ।
 ज्ञातुर्ज्ञानलवेऽप्यस्य^९ न पटुत्वं युगैरपि ॥८४८॥

है । यदि शास्त्र न हो तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी दे ॥८४२॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे गुरुवीरोंका मिलना दुर्लभ है । वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ है किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥८४३॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता है तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८४४॥

सच्चे ज्ञानकी महत्ता

मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अकुश हाथीको रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको बुरी तरफ जानेसे रोकता है । उस ज्ञानके बिना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है, उससे कुछ भी लाभ नहीं होता ॥८४५॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे बाह्य तप स्वय प्राप्त हो जाता है । क्योंकि जब आत्मा ज्ञानमें लीन हो जाता है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? ॥८४६॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोंमें भी नहीं नष्ट कर पाता, ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमें ही नष्ट कर देता है ॥८४७॥ समस्त बाह्य व्रतोंमें क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी,

१ "शास्त्राणि यद्वदधतो वराका क्लेशे हि बाह्ये सुलभा मनुष्या । सुदुर्लभाः सन्ति सुडीरवच्च यथार्थविज्ञानधना जगत्याम् ॥९४॥" — धर्मरत्ना०, प० १२९ । २ विनश्यति । ३ उदयमायाति । ४ अकुशवत् । ५ ज्ञान विना । ६ आगच्छति । ७ आत्मनि । ८ ज्ञाने । ९ बाह्या । "बाह्य तपो प्रायितमेति पुनो ज्ञान स्वय भावयत सदैव । क्षेत्रज्ञरत्नाकरसन्निमग्ने बाह्या क्रिया सन्तु कुत समस्ता ॥९६॥" — धर्मरत्ना० पत्र १२९ । १० "ज अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्सकोडीहि । त णाणी तिहि गुत्ते खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥" — प्रवचनसार ३-३८ । अतोमुद्धत्तेण । भगवती आराधना गा० १०८ । "प्रसिद्ध च-यदज्ञानी क्षपेत्कर्म बह्वीभिर्भवकोटिभिः । तज्ज्ञानवार्तिभिर्गुप्त क्षपयेदन्तमुहूर्तत ॥९७॥" — धर्मरत्नाकर, प० १२९ । ११ क्लेश कुर्वत । क्लेषे त्रतेऽखिले, आ० । १२ सम्पूर्ण चारित्र्ये सति पटु परिपूर्णज्ञानी भवेत् । न तु ज्ञानलवलेशमात्रेण केवली स्यादिति भाव । १३ — लवे यस्मान्न अ०, ज०, मु० ।

सौमस्य सदा सर्वं व्याख्यातपु पठस्तु य ।
 आवाचेपुस्तकाहारस्तीकर्षाविधिधानकी ॥८३६॥
 अक्षयपूर्वप्रकीर्णक सूर्य केयसिमापितम् ।
 नश्येधिमूर्तता सर्वं भुतस्कम्पधरात्मये ॥८३७॥
 मध्योत्साहमानम्स्याध्यायोचितवस्तुमि ।
 भुतकृत्यामुनीकुर्वन्नायते भुतपारग ॥८३८॥
 भुताच्छवपरिज्ञान भुतास्समयवर्धनम् ।

भुतकी रक्षा के लिए भुतघरोंकी रक्षा आवश्यक है

जो भिन्नशास्त्रोंका व्याख्यान करते हैं या उनको पढ़ते हैं उन्हें, रहनेको निवास-स्थान, पुस्तक और भोजन आदिकी सुविधा देकर गृहस्थोंको सदा अपनी सहाय्यताका परिचय देते रहना चाहिए ॥८३६॥ क्योंकि भुतके व्याख्याता और पाठक भुतसमूहके धारक हैं—उनके नष्ट हो जाने से केवली मगवान्के द्वारा उपदिष्ट मारह अंग और चौदह पूर्व रूप समस्त भुतज्ञान अङ्गसे नष्ट हो जायेगा ॥८३७॥ जो आश्रम देकर, उस्ताह बड़ाकर, आराम देकर तथा स्वाध्यायक योग्य शास्त्र आदि वस्तुओंको देकर भुनियोंका शास्त्रमें निपुण बनानेका प्रयत्न करते हैं वे स्वयं भुतके पारगामी हो जाते हैं ॥८३८॥

माधार्थ—बास्तवमें जैनधर्म तभीतक कायम है जबतक जैनशास्त्रोंके ज्ञाता जन मौजूद हैं और लोगोंमें जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू है । क्योंकि यदि लोगोंमें-से शास्त्रज्ञान छुट हो गया तो वे अपने धर्म-कर्मको भी भूल बैठेंगे और धर्म-कर्मके भूल बैठनेसे वे केवल मानके जैनी रह जायेंगे और कुछ समय बाद यह भी भूल जायेंगे कि हम जैनी हैं । अतः इस बातका प्रयत्न अपने भरसक करना चाहिए कि जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू रहे । और उसक लिए उन लोगोंका बराबर साहाय्य देते रहना चाहिए जो अपना जीवन इस काममें लगाये हुए हैं । पहले समयमें तो भुनिसंग होते थे और गृहस्थ लोग भी अपने बच्चोंको पढ़नेक लिए संघमें भेज देते थे । किन्तु अब तो बिरुद्ध ही भुनिसंग होकर होते हैं और जो जाते हैं उनमें भी ज्ञानका विकास बहुत कम पाया जाता है । अतः जो गृहस्थ लोग इस काममें अपने जीवनको लगाकर भुतकी रक्षा करते हैं स्वयं भुताभ्यास करते हैं और दूसरोंको कराते हैं या जो विधार्थी विद्यालयों या पाठशालाओंमें पढ़ते हैं उन सबको यथायोग्य साहाय्य देते रहना चाहिए और जो संन्यास हसीनिए सुखी हुई हैं कि जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू रहे उनकी रक्षा और प्रचार हो, उन्हें भी भरपूर मदद देते रहना चाहिए ।

भुत या शास्त्रका महत्त्व

भुत या शास्त्रसे ही तत्त्वोंका ज्ञान होता है और शास्त्रसे ही भिन्न-सासनकी वृद्धि होती

१ आश्रमपुस्तकादीनां लोकार्थविधिधानम् ॥९॥—धर्मरत्ना प १२८ । लोकार्थ—अ य
 म् । २ अक्षयपूर्वप्रकीर्णकं भोगरागद्वेषधमिषतम् । अयमोह त्वत्क गुणुर्ध्व तमि न भुनयता
 वरपय ॥ ९१ ॥ तत्त्वधयोस्ताहवयोध्यावान्मध्यमोदापिमहाश्रियातिः । दुर्ध्व मुनीनामपिठचितान् रचय
 मता स्थाप्य पारवायो ॥ ९॥—धर्मरत्ना प १२८ । ३ धर्मक तत्त्वं पुरीषं प्रबुध्यते धुनेन वृद्धिः
 तमसस्त आयेने । धुनप्रवाहं परिवर्णयिक्ताः धन विना तर्धमिरं विनयति ॥९२॥—धर्मरत्ना प १२९ ।

श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्तमस्यते ॥८४२॥
 अस्त्र^१ धारणवद्वाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः ।
 यथार्थज्ञानसंपन्नाः शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥८४३॥
 ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम् ।
 कर्मवाहीकवत्किञ्चिद्व्येति^२ किञ्चिदुदेति^३ च ॥८४४॥
 सुर्णिवज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः ।
 "तद्वते च वहिः क्लेशः क्लेश एव पर भवेत् ॥८४५॥
 वहिस्तपः स्वतोऽभ्येति^४ ज्ञान भावयतः सतः ।
 "क्षेत्रज्ञे यस्मिन्नेऽर्धं कुतः स्युरपरा^५ क्रियाः ॥८४६॥
 यदज्ञानी^६ युगैः कर्म बहुभिः क्षपयेन्न वा ।
 तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥८४७॥
 ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्बहिः क्लेष्टु^७ ब्रतेऽखिले^८ ।
 ज्ञातुर्ज्ञानलवेऽप्यस्य^९ न पटुत्वं युगैरपि ॥८४८॥

है । यदि शास्त्र न हो तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्वकार ही दिखलायी दे ॥८४२॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे शूरवीरोंका मिलना दुर्लभ है । वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥८४३॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता है तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८४४॥

सच्चे ज्ञानकी महत्ता

मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अकुश हाथीको रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको वुरी तरफ जानेसे रोकता है । उस ज्ञानके बिना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है, उससे कुछ भी लाभ नहीं होता ॥८४५॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे बाह्य तप स्वय प्राप्त हो जाता है । क्योंकि जब आत्मा ज्ञानमें लीन हो जाता है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? ॥८४६॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोंमें भी नहीं नष्ट कर पाता, ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमें ही नष्ट कर देता है ॥८४७॥ समस्त बाह्य व्रतोंमें क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी,

१ "शास्त्राणि यद्वद्वतो वराका क्लेशे हि बाह्ये सुलभा मनुष्या । सुदुर्लभा मन्ति सुहृदवच्च यथार्थविज्ञानधना जगत्याम् ॥९४॥" — धर्मरत्ना०, पं० १२९ । २ विनश्यति । ३ उदयमायाति । ४ अकुशवत् । ५ ज्ञान विना । ६ आगच्छति । ७ आत्मनि । ८ ज्ञाने । ९ बाह्या । "बाह्य तपो प्रायितमेति पुनो ज्ञान स्वय भावयतः सदैव । क्षेत्रज्ञरत्नाकरसंनिमने बाह्या क्रिया सन्तु कुन समस्ता ॥९६॥" — धर्मरत्ना० पत्र १२९ । १० "ज अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयमहम्सकोडीहि । त णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्तासमेत्तेण ॥" — प्रवचनसार ३-३८ । अतोमृदुत्तेण । भगवतो आराधना गा० १०८ । "प्रसिद्ध च—यदज्ञानी क्षपेत्कर्म बह्वोभिर्भवंकोटिभिः । तज्ज्ञानवास्त्रिभिर्गुप्त क्षपयेदन्तमूर्ह ततः ॥९७॥" — धर्मरत्नाकर, पं० १२९ । ११ क्लेश कुर्वत । क्लेष्टे ब्रतेऽखिले, आ० । १२ सम्पूर्ण चारित्र्ये सति पटु परिपूर्णज्ञानी भवेत् । न तु ज्ञानलवलेयमात्रेण केवलो न्यादिति भाव । १३ — लवे यन्मात्र अ०, ज०, मु० ।

शुद्धैतिह्यैर्न भीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयः ।
स परप्रत्ययात्किञ्चिदप्यग्मवेद्यमसमः पुमान् ॥८३३॥

युग बीत जानेपर भी ज्ञानक एक अंशमें भी कुसल नहीं होता ॥८३८॥

भाषार्थ—ज्ञानका फल आत्मकल्याण है और ऐसा ज्ञान धीतराय द्वितीयपदेवी गुरुओंके द्वारा उपदिष्ट ग्राह्योसे ही प्राप्त हो सकता है । यों ता संसारमें पुस्तकोंकी कमी नहीं है, किन्तु उनसे बाह्य बातोंका तो विस्तारसे ज्ञान होता है परन्तु मैं कौन हूँ मेरा क्या स्वरूप है आदि बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं होता । और सब कुछ जानकर भी जिससे अपना ज्ञान नहीं होता वह अपने किस कामका । अतः साक्षात्कि द्वारा आत्मस्वरूपका ज्ञान पढ़के करना चाहिए । बहुत-से छात्र अपनेको तो जानते नहीं और रात-दिन बाह्य क्रियाकाण्डका कष्ट उठाते रहते हैं । ऐसे आत्मज्ञान-विमुक्त लोगोंका बाह्य क्रियाकाण्ड केवल बन्धनका कारण है । उनसे वह कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते । क्योंकि सच्चे ज्ञानके होनेपर बाह्य आचारमें तो बीचकी प्रवृत्ति स्वयं हो जाती है किन्तु बाह्य आचारमें उमो-उमो सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इसका कारण यह है कि जब बीचको यथार्थज्ञान हो जाता है तो उसकी प्रवृत्ति बाह्यमुखी न रहकर स्वयं अन्तर्मुखी हो जाती है और प्रवृत्ति अन्तर्मुख हो जाना ही ता तप है । किन्तु प्रवृत्तिके बहिर्मुख रहनेसे यथार्थज्ञान नहीं हो पाता है । और यथार्थज्ञानका ही सचा महत्त्व है जैसा कि ऊपर बतलाया है । अतः यथार्थज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिए ।

जिसकी बाणी व्याकरणके द्वारा शुद्ध नहीं हुई और बुद्धि मयोंके द्वारा शुद्ध नहीं हुई वह मनुष्य दूसरोंके विश्वासके अनुसार चल्नेसे कष्ट उठाता हुआ अन्येके समान आचरण करता है ॥८३९॥

भाषार्थ—आशय यह है कि साक्षात्की बुद्धि या कथनकी बुद्धि केवल शब्दप्रयोग गौरवकी शुद्धतापर निर्भर नहीं है किन्तु वक्ष्यकी मयश्रुतापर निर्भर है । कौन बात कहाँ किस दृष्टिसे कही गयी है या कहनी चाहिए इस बातमें आ निपुण है कही यथायथ वक्ता है और उसके द्वारा जो कुछ कहा जाता है वह शुद्ध होता है । किन्तु इस बातको मैं समझकर आ केवल शब्दबुद्धिके बाह्य साधन व्याकरणवैदिक प्रयोगमें ही साधुत्व समझते हैं और उसीमें लगे रहते हैं उनका बहन्-ब्यवहार शुद्ध नहीं कहा जा सकता । जैसे जैन-श्रद्धालुओंमें संसारभावनाका स्वरूप बतलते हुए यह कहा है कि इस स्मारमें कुछ भी निश्चय नहीं है सब अन्धके बुल्लुबुल्लु तरह क्षणिक है । जो केवल शब्दज्ञात्री है और यह नहीं समझता कि यहाँ यह कथन किस अपेक्षासे कहा गया है वह तो यही समझता कि जैन धर्म बल्लुका क्षणिक मानता है और इसलिये वह क्षणिकवादी है तथा पसा ही वह दूसरोंका समझायेगा । किन्तु मयप्रयोगका आनकार पसा गलती नहीं कर सकता, वह बराबर यह समझ आयेगा कि वैराग्य उत्पन्न करानेके लिये पयायदृष्टिसे ऐसा कथन किया गया है । द्रष्टव्यदृष्टिसे ता सही नित्य है । अतः शुद्ध शब्द प्रयोगके लिये वक्ताका अपनी बुद्धि नवज्ञान-स भी शुद्ध करना चाहिए ।

१ व्याख्ये । शब्दानुयायमयमयमनास वस्य नैतिह्योऽपि धियया न तथा नरेभ्यः । संश्रय-
वादिममया न परप्रतीने विवरणम् पुमान् वचनि नेवधिहीनगुण्य ॥ १॥—वर्मर प १२९ ।

स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासतः ।

प्रत्येकमागमस्यैतद्वैविध्यं प्रतिपद्यते ॥८५०॥

तत्र स्वरूपं च द्विविधम्—अक्षरम्, अनक्षरं च । रचना द्विविधा—गद्यम्, पद्यं च । शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरहः, अथव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषा द्विविधा—वागलंकारः, अर्थालंकारश्च । अर्थो द्विविधः—चेतनोऽचेतनश्च जातिर्व्यक्तिश्चेति वा ।

सार्धं संचित्तनित्तितवृत्ताभ्यां दानहानये ।

अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रियाः ॥८५१॥

नन्तेर्गोत्रं श्रियो दानादुपास्ते सर्वसेव्यताम् ।

भक्ते कीर्तिमवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्मज्जन् ॥८५२॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

प्रत्येक शास्त्रमें संक्षेपसे इतनी बातें होती हैं— स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलंकार और वर्णित विषय । ये प्रत्येक दो-दो प्रकारके होते हैं ॥ ८५० ॥ स्वरूप दो प्रकारका होता है—अक्षररूप और अनक्षररूप । रचना दो प्रकारकी होती है गद्यरूप और पद्यरूप । शुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक तो प्रमादसे कोई प्रयोग न किया गया हो, दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो । अलंकार दो तरहके होते हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार । वर्णित विषय दो प्रकारका होता है चेतन और अचेतन या जाति और व्यक्ति ।

मुनिदानके अतिचार

सचित्त पत्ते वगैरहमें आहारको रखना, सचित्त पत्ते वगैरहसे आहारको ढाँकना, यह दाता है और यह आहार भी इसीका है इस प्रकार कहकर दान देना, दान देते हुए भी आदरपूर्वक न देना या अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना और साधुओंके भिक्षाके समयको टालकर उससे पहले या उसके बादमें भोजन करना ये पाँच बातें मुनिदान व्रतमें दोष लगानेवाली हैं । अतः श्रावकको इन्हें नहीं करना चाहिए ॥ ८५१ ॥ जो दाता स्वयं यतियोंको दान देता है उसे मुनिको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र मिलता है, दान देनेसे लक्ष्मी मिलती है, उनकी उपासना करनेसे सब लोग उसकी सेवा करते हैं, और उनकी भक्ति करनेसे संसारमें यश होता है ॥ ८५२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें 'दानविधि' नामका तैत्तलीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

१. यत्र जीवाना व्याख्या क्रियते सोऽर्थश्चेतन । यत्र पर्वतादीना व्याख्या सोऽर्थोऽचेतन । २ जातिलिङ्गम् । व्यक्तिकवचनद्विवचनवद्बचनम् । ३ “सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमा ॥” —तत्त्वार्थसूत्र ७-३६ । “हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि । वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥१२१॥” —रत्नकरण्डध्या० । “परदातृव्यपदेश सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च । कालस्यातिक्रमण मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥” —पुरुषार्थसि० । अमित० ध्या० ७-१४ । ४ “उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भवते सुन्दररूप स्तवनात् कीर्तिस्त्वपोनिधिषु ॥११५॥” —रत्नकरण्डध्या० ।

मूलमे तं प्रताम्यर्थापर्यकर्माहपिप्रियाः ।
 दिवा नद्यधि ब्रह्म सचिस्तस्य विवर्जमम् ॥८२१॥
 परिग्रहपरित्यागो मुक्तिमात्रानुमाप्यता ।
 तस्यानी य वदस्येताम्येकादश यथाकमम् ॥८२४॥

ग्यारह प्रतिमाएँ

[अब आवश्यक ग्यारह प्रतिमाएँ बताता है—]

सम्यग्दर्शनके साथ अष्टमखण्डका निरतिचार पासन करना पड़ती प्रतिमा है । पाँच खण्डत, सोन गुणवत् और चार शिक्षावर्गोंको निरतिचार पासन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है । नियमसे सोनों सन्ध्याओंको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है । [प्रत्येककारने उसके किम् अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका जब पूजा होता है । उन्होंने सामायिकमें पूजन-पर विशेष जोर दिया है । इसीसे जन्म शब्दका प्रयोग किया जान पड़ता है ।] प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोषणोपवास प्रतिमा है । सेती आदिका न करना पाँचवीं प्रतिमा है । दिनमें ब्रह्मचर्यका पासन करना छठी विवाहमैथुनत्याग प्रतिमा है । मन, वचन, काम और कृत, करिष, अनुमोदनासे सोसेवनका त्याग सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है । सचिच वस्तुके खानेका त्याग करना आठवीं सचिचत्याग प्रतिमा है । समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवीं परिग्रह त्याग प्रतिमा है । किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमें अनुमति न देकर केवल मोक्ष मात्रमें अनुमति देना दसवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने मोक्षमें भी किसी प्रकारकी अनुमति नहीं देना ग्यारहवीं प्रतिमा है ये क्रमसे ११ प्रतिमाएँ हैं ॥८२३-८५४॥

भाषार्थ—ये आवश्यक ग्यारह व्रत हैं, जिनपर आवश्यक क्रमवार आगे-आगे बड़ता है । सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन और आठमुख गुणोंका होना आवश्यक है । उसके बाद बारह व्रत पाने चाहिए । फिर सोनों सन्ध्याओंको सामायिक करने चाहिए । उसके बाद पर्वके दिन नियमसे उपवास करना चाहिए । यहाँ वह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि सामायिक और प्रोषणोपवास व्रत व्रतप्रतिमामें भी किये जाते हैं किन्तु वहाँ वे अम्यासम्पन्न होते हैं और तीसरी तथा चौथी प्रतिमामें अवश्य करने होते हैं । चार प्रतिमाओंमें पूर्ण अम्बस्त हो जानेके बाद गृहस्थ ब्रह्मचर्यकी ओर अपना विग्रह ब्रह्म देता है और उसके किम् सबसे पहले वह सचिच फल वगैरहका भक्षण करना छोड़ देता है । इरे साग-सम्पत्ति, पके फल वगैरहको सचिच कहते हैं । उनके खानेसे इन्द्रिय मग्न अधिक होता है जो ब्रह्मचर्यका घातक है । अतः उन्हें सुलाकर या आगमें फकाकर या पानीमें

१ 'वैतन इय सामाह्य पोसह सचिचत्ता राह भती यः । ब्रह्मचर्यपरिग्रह अनुमत्तपरिग्रह देसविरहे ॥'

—चारितपात्रक २१ या पञ्चकवर्ग १ १११ । बारस अनुवेचना ११ । गो बीवकाण्ड ४७१ । अनुमत्तिया ४ । सदर्शन जनोद्योत समता प्रोषणव्रतम् । सचिचत्तेवाविरतिमह स्वीतगवर्जमम् ॥ १५१ ॥ ब्रह्मचर्यमवार म्परिग्रहपरिच्युतिम् । तन्मनुमन्तरयार्थ स्वीकृतिपरिवर्जमम् ॥ १२१ ॥ रत्नागालि गृहिया प्राहु एकाचवद पाचिपाः । —महापुराण १ पत्रः । 'वर्धनिकोऽयं व्रतिकाः सामयिको प्रोषणोपवासी च । सचिचत्तिनामनुमतिरितो गृहिनोऽनुमतिपु स्त्रीणाः यद् ॥ २ ॥ ब्रह्मचारम्परिग्रहविरता व्रतित्वयो गम्या । अनुमतिविरणोरिह विरताभुमी विमुक्ती प्रकृती च ॥ १ ॥'—साधारण्यं च १ ।

अभ्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः ।

सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥८५५॥

पटत्र गृहिणो घ्रेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ।

मिच्छुको द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥८५६॥

काटकर और उसमें नमक वगैरह मिलाकर पहले उन्हें अच्छित कर लेता है तब खाता है । ऐसा करनेसे उनका इन्द्रियमदकारक अग, जिसे विटामिन या पोषकतत्त्व कहते हैं, नष्ट हो जाता है । फिर उसके खानेसे जीवन शक्ति तो उनसे मिलती है किन्तु मादकता नहीं आने पाती और तब वह भोजन विकारी नहीं होता । इस तरह ब्रह्मचर्यके उपयुक्त आहारका अभ्यस्त होनेपर वह पहले दिनमें ब्रह्मचर्य पालन करनेका नियम लेता है और जब उसमें पक्का हो जाता है तो रात्रिमें भी ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा ले लेता है । ब्रह्मचर्य ले लेनेके बाद सन्तानोत्पत्ति रुक जाती है, इसलिए नयी सन्तानका उत्तरदायित्व नहीं रहता । जब पहली सन्तान समझदार हो जाती है और घरका कार्य-व्यवहार सम्हाल लेती है तो गृहस्थ अपना कार्य-रोजगार अपने लड़कोंपर छोड़कर स्वयं उधरसे छुट्टी ले लेता है । जब लड़के अच्छी तरह रोजगार सम्हाल लेते हैं और अपने काममें चतुर प्रमाणित हो जाते हैं तो गृहस्थ अपनी कुल सम्पत्ति उनको सौंप कर निर्द्वन्द्व हो जाता है । मगर उन्हें सलाह-मशविरा देता रहता है । जब देख लेता है कि अब लड़के बिना मेरी सलाहके भी सब काम करनेमें समर्थ हो गये हैं तो फिर उन्हें सलाह देना भी बन्द कर देता है । इस तरह अपने कौटुम्बिक उत्तरदायित्वसे मुक्त होकर अब गृहस्थ आत्मसाधनामें अपना विशेष ध्यान लगाता है और उसके लिए वह सब घरवालोंसे पूछ-ताछकर घर छोड़ देता है और साधुजनोंके सत्सगमें रहकर साधुओंकी ही तरह भिक्षावृत्तिसे भोजन करने लगता है । उसके बाद यदि वह शक्ति देखता है तो साधु बन जाता है । इस तरह इस क्रमिक त्यागसे प्रत्येक गृहस्थका इहलौकिक और पारलौकिक जीवन सुख और शान्तिसे समृद्ध होता है । ग्रन्थकारने पाँचवीं सचित्त त्याग-प्रतिमाके स्थानमें आठवीं आरम्भत्याग-प्रतिमाको गिनाया है और उसके स्थानमें पाँचवींको । ऐसा व्यतिक्रम अन्य किसी भी श्रावकाचारमें नहीं पाया जाता और न क्रमिक त्यागकी दृष्टिसे ही ठीक जँचता है । इसीसे हमने उक्त दोनो श्लोकोंका अर्थ परम्पराके अनुसार ही लिखा है ।

प्रतिमा धारणका क्रम तथा उनके धारकोंकी संज्ञाएँ

जब गृहस्थ पहले पटलेकी प्रतिमामें पक्का हो जाये तब आगे-आगेकी प्रतिमा ले । 'आगेको दौड़ पीछेको छोड़' वाली कहावत चरितार्थ न करे । तथा सभी व्रतोंमें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन भावनाका होना जरूरी है । उसके बिना त्याग त्याग नहीं है ॥ ८५५ ॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंमें-से पहलेको छह प्रतिमाके धारक गृहस्थ कहे जाते हैं । सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाके धारक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं तथा अन्तिम दो प्रतिमावाले भिक्षु कहे जाते हैं और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होता है ॥ ८५६ ॥

१ अवधि—अ० ज० मु० । दर्शनप्रतिमापूर्वक व्रतप्रतिमामारात्रयेत् इत्यर्थ । २ प्रथमप्रतिमादिए क्रमेण रत्नत्रयभावना मदशा ।

मूत्रमैत प्रताप्यर्चापर्यकर्माहपिक्रिया ।

दिवा नययिष्य प्रह्व सचिचस्य विवर्जनम् ॥८२३॥

परिग्रहपरित्यागो मुक्तिमात्रानुमान्यता ।

तस्मान्नी च वदन्त्येतान्येकादश यथाकामम् ॥८२४॥

भ्यारह प्रतिमार्थ

[अब भावककी भ्यारह प्रतिमार्थें बतलाते हैं—]

सम्यग्दर्शनके साथ आष्टमङ्गुणका निरतिचार पाकन करना पहली प्रतिमा है । पाँच वषुम्भ, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाप्रतीको निरतिचार पाकन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है । नियमसे सोनों सन्ध्याओंको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है । [ग्रन्थकारने उसके क्रिये अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ पूजा होता है । उन्होंने सामायिकमें पूजनपर विशेष जोर दिया है । इसीसे अर्चा शब्दका प्रयोग किया जान पड़ता है ।] मत्स्येक आष्टमी और चतुदशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोपबोपवास प्रतिमा है । खेती आदिका न करना पाँचवीं प्रतिमा है । दिनमें ब्रह्मचर्यका पाकन करना छठी दिवाभेषुनत्याग प्रतिमा है । मन, वचन, काम और कृत, कारित, अनुमोदनासे मोसेवनका त्याग सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है । सचिच वस्तुके खानेका त्याग करना आठवीं सचिचत्याग प्रतिमा है । समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवीं परिग्रह त्याग प्रतिमा है । किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमें अनुमति न देकर केवल मोहन मात्रमें अनुमति देना दसवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने मोहनमें भी किसी प्रकारकी अनुमति नहीं देना भ्यारहवीं प्रतिमा है ये क्रमसे ११ प्रतिमार्थें हैं ॥८५१-८५४॥

भाषार्थ—ये भावकके भ्यारह वर्तें हैं, जिनपर आवक क्रमवार आगे-आगे बढ़ता है । सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन और आठमूक गुणोंका होना आवश्यक है । उसके बाद बारह व्रत पाकने चाहिए । फिर सोनों सन्ध्याओंको सामायिक करना चाहिए । उसके बाद पर्यंके दिन नियमसे उपवास करना चाहिए । यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि सामायिक और प्रोपबोपवास व्रत व्रतप्रतिमामें भी किये जाते हैं किन्तु वहाँ ये व्यम्नासक्रममें होते हैं और तीसरी तथा चौथी प्रतिमामें अवश्य करने होते हैं । चार प्रतिमाओंमें पूर्ण अम्बस्त हो जानेके बाद गृहस्थ ब्रह्मचर्यकी ओर अपना विरोध स्पष्ट देता है और उसके क्रिये सबसे पहल वह सचिच फल बगैरहका भक्षण करना छोड़ देता है । इरे साग-सम्पत्ती, पके फल बगैरहको सचिच कहते हैं । उनके खानेसे इन्द्रिय मय अपिक हाता है जो ब्रह्मचर्यका पाठक है । जब उन्हें सुखाकर या आगमें पकाकर या चाओने

१ 'दसय नय सामाहय मोनह सचिचस्य राह भती च । अरारम्भपरित्याग अनुमन्य उद्विष्ट देवविरहे ॥

—चारितपाह्व २१ या चम्पचंद्रह १ ११६ । वारस अनुमन्यता १ । नो जीवपाण्ड ४७६ । अनुमन्यता ४ । अर्थान् प्रोचोत्तं सवता प्रोपबोपनम् । सचिचस्यविरतिवह एकीत्वंवर्जनम् ॥ १५९ ॥ ब्रह्मचर्यमवारम्भपरिग्रहपरित्यागम् । तत्रानुमन्यवर्णम् स्तोत्रिह्वारिवर्जनम् ॥ १६६ ॥ इत्यनामि गहिमां प्राहुः एवादप्य आशिषाः । —आशुपुत्राय १ च १ । 'दसविश्व' च वतिनः सप्तविश्वे प्रोपबोपवासी च । सचिचस्यवामेनुविरतो नृहसोभुवन्निष्पीडिताः पद ॥ २ ॥ अत्रद्वारम्भपरित्यागविरता वरिणस्यमो मया । अनुमन्यविरतोहिद विरताभुवो मिश्रतो प्रवृत्तो च ॥ १ ॥"—भाषारचर्मा अ ३ ।

तं निर्मममुशन्तीह केवलात्मपरिच्छदम् ॥८६४॥
 यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रवक्षते ।
 पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥८६५॥
 निर्ममो निरहकारो निर्मान्मदमत्सरः ।
 निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः ॥८६६॥
 योऽवगम्य यथास्नायं तत्त्वं तत्त्वैकभावनः ।
 वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥८६७॥
 श्रुते व्रते प्रसख्योने सयमे नियमे यमे ।
 यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः प्रकीर्तितः ॥८६८॥
 योऽर्क्षस्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः ।
 समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीर्यते ॥८६९॥

करते, केवल धार्मिक काम करते हैं। किन्तु उन्हें भी किसी लौकिक फलकी इच्छासे नहीं करते, अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। और उनके पास अपनी आत्माके सिवा और कुछ रहता नहीं है, गरीर है किन्तु उससे भी उन्हें कोई ममता नहीं रहती, इसीलिए उन्हें 'निर्मम' कहते हैं ॥ ८६४ ॥ जो पुण्य और पाप दोनोंसे रहित है उसे मुमुक्षु कहते हैं। क्योंकि बन्धन लोहेके हों या सोनेके हों, जो उनसे बँधा है वह तो बद्ध ही है। अर्थात् पुण्यकर्म सोनेके बन्धन हैं और पापकर्म लोहेके बन्धन है। दोनों ही जीवको ससारमें बाँधकर रखते हैं। अतः जो पाप-कर्मको छोड़कर पुण्यकर्ममें लगा है वह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनोंको छोड़कर शुद्धोपयोगमें सलीन है वही मुमुक्षु है ॥ ८६५ ॥

जो ममतारहित है, अहकाररहित है, मान, मस्ती और डाहसे रहित है तथा निन्दा और स्तुतिमें समान बुद्धि रखता है [वैदिक धर्ममें यह भी साधुकी एक सज्ञा है] ॥ ८६६ ॥

जो आम्नायके अनुसार तत्त्वको जानकर उसीका एकमात्र ध्यान करता है उसे मौनी जानना चाहिए। जो पशुकी तरह केवल बोलता नहीं है वह मौनी नहीं है ॥ ८६७ ॥

जिसका मन श्रुतमें, व्रतमें, ध्यानमें, सयममें तथा यम और नियममें लग्न रहता है उसे अनूचान कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें साङ्ग वेदके पूर्ण विद्वान्को अनूचान कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि जो श्रुत, व्रत नियमादिकमें रत है वही अनूचान है। और इसलिए जैन-मुनि ही 'अनूचान' कहे जा सकते हैं ॥ ८६८ ॥

जो इन्द्रियरूपी चोरोका विश्वास नहीं करता तथा स्थायी मार्गपर दृढ़ रहता है और सब प्राणी जिसका विश्वास करते हैं अर्थात् जो किसीको भी कष्ट नहीं पहुँचाता उसे अनाश्वान् कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें जो भोजन न करे उसे अनाश्वान् कहा जाता है। किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसमें उक्त बातें हों उसीको अनाश्वान् कहना चाहिए ॥ ८६९ ॥

१ यथान्याय अ०, ज० । २. ध्याने । ३ "अनूचानो विनीते स्यात् सागवेदविचक्षणो"—इति मेदिनी ।

४ इन्द्रियचोरेषु ।

तत्तद्गुणप्रधानस्याद्यतयोऽनेकधा स्मृताः ।
 निर्गुणं युक्तिस्तोषां यद्वतो मन्निबोधत ॥८२७॥
 जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना ।
 गृहस्थो ब्रह्मप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥८२८॥
 मानमायामवामर्षश्चपणास्तपणं स्मृतः ।
 यो न भ्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः ब्रमणं बुधा ॥८२९॥
 यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशान्स्वरमूर्चिरे ।
 यः सर्वसङ्गस्तत्पक्वः स नग्नः परिकीर्तितः ॥८३०॥
 रेपेणात्मलोभराशीनामृषिमाह्वयमीपिणः ।
 माभ्यत्यावात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥८३१॥
 यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्मवेत् ।
 योऽजीहो वेदगोहोऽपि सोऽनगात् सतां मताः ॥८३२॥
 भारमाशुचिकरैर्यस्य न सगाः कर्मकुञ्जिनैः ।
 स पुमाश्चुचिराक्यातो नाम्नुसप्तुतमस्तकाः ॥८३३॥
 धर्मधर्मफलोजीहो निवृत्तोऽधर्मधर्मण ।

मुनियोंके विविध नामोंका अर्थ

उन उन गुणोंकी प्रधानताके कारण मुनि अनेक प्रकारके बतलाये हैं । जब उनके उन नामोंकी युक्तिपूर्वक मिहक्ति बतलाते हैं, उसे मुझसे सुनिए ॥८२७॥ जो सब इन्द्रियोंको जीतकर अपनेसे अपनेको आन्तरा है वह गृहस्थ हो या ब्रह्मप्रस्थ उसे जितेन्द्रिय कहते हैं ॥८२८॥ मान, माया, मस्ती और मोहका नाश कर देनेसे अणु कहते हैं और अगह बगह विहार करता हुआ वह यक्षता नहीं है इसलिये उसे ब्रमण कहते हैं ॥ ८२९ ॥ उसने अपनी आत्माओंको मट कर दिया है अथवा उसकी सम्बन्धों छान्त हो गयी हैं इसलिये उसे आशान्तर कहते हैं और वह अन्तरम सवा बहिरंग सब परिग्रहोंसे रहित है इसलिये उसे नग्न कहते हैं ॥ ८३० ॥

कष्टसमूहको शकनक कारण विद्वान् भाग उसे मुनि कहते हैं ॥ ८३१ ॥ चूँकि वह पापकपी कम्बनके नाश करनेका यत्न करता है इसलिये उसे यति कहते हैं और धीरेरकपी परमें मो उसकी रुचि नहीं है इसलिये उसे अनगार कहते हैं ॥ ८३२ ॥ जो आत्माको मस्ति करनेवाले कम कपी दुर्जनोस सम्बन्ध नहीं रखता वही मनुष्य धुषि या भुद है सिरसे पानी डालनेवाला नहीं । अथात् या पानीस धीरेरका मम्मसकर बाठा है वह पवित्र नहीं है किन्तु जिसकी आत्मा निमज्ज है वही पवित्र है । अथात् यद्यपि मुनि स्नान नहीं करते किन्तु उनकी आत्मा निमज्ज है इसलिये उन्हें पवित्र या धुषि कहते हैं ॥ ८३३ ॥

जो भमावरणके कर्मों इच्छा नहीं रखता तथा अवमावरणका त्यागी है और कर्म आत्मा ही जिसका परिहार या सम्पत्ति है उसे निर्मम कहते हैं । अर्थात् मुनि अधार्मिक काम नहीं

भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः ॥८७६॥
 ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च ।
 नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥८७७॥
 पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः ।
 संसाराश्रयहेतुत्वान्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥८७८॥
 श्रद्धोह* सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने ।
 स पुमान्दीक्षितात्मा स्यान्नत्वजादिर्यमाशयः ॥८७९॥
 दुष्कर्मदुर्जनास्पृशी सर्वसत्त्वहिताशयः ।
 स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥८८०॥
 अध्यात्मानौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् ।
 यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्निसमेधकः ॥८८१॥

पानीकी तरह कर्म और आत्माको जुदा-जुदा कर देता है वही परमहंस साधु है । जो आगकी तरह सर्वभक्षी है, जो मिल जाये वही खा लेता है वह परमहंस नहीं है ॥ ८७६ ॥ जिसका मन ज्ञानसे, शरीर चारित्र्यसे और इन्द्रियों नियमोंसे सदा प्रदीप्त रहती है वही तपस्वी है, जिसने कोरा वेष बना रखा है वह तपस्वी नहीं है ॥ ८७७ ॥

पाँचों इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें लगना ही पाँच तिथियाँ हैं । चूँकि इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें प्रवृत्ति करना ससारका कारण है । अतः जो उनसे मुक्त हो गया उसे अतिथि कहते हैं ॥ ८७८ ॥

भाचार्य—भोजनके लिए आनेवाले साधु अतिथि कहे जाते हैं । अतिथि शब्दका एक अर्थ यह भी होता है कि जिसके आनेकी कोई तिथि (मिति) निश्चित नहीं है वह अतिथि है । साधु आहारके लिए किस दिन आ जायेंगे यह पहलेसे निश्चित तो होता नहीं तथा साधुओंके अष्टमी आदिका विचार भी नहीं होता । अतः वे अतिथि कहलाते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि अतिथि शब्दका यह अर्थ तो लौकिक है । वास्तवमें तो पाँचों इन्द्रियों ही द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी रूप पाँच तिथियाँ हैं और जो उनसे मुक्त हो गया, जिसने पाँचों इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया वही वास्तवमें अतिथि है ।

जो प्रतिदिन समस्त प्राणियोंमें मैत्रीरूपी यज्ञका आचरण करता है वह मनुष्य दीक्षित कहलाता है । जो बकरे वगैरहका बलिदान करता है वह दीक्षित नहीं है ॥ ८७९ ॥

जो बुरे कामोंको नहीं करता और न बुरे मनुष्योंकी सगति ही करता है तथा सब प्राणियोंका हित चाहता है वह वास्तवमें श्रोत्रिय है, जो केवल बाह्य शुद्धि पालता है वह श्रोत्रिय नहीं है ॥ ८८० ॥ जो आत्मारूपी अग्निमें दयारूपी मन्त्रोंके द्वारा कर्मरूपी काष्ठ-समूहसे हवन करता है वह होता है, जो बाह्य अग्निमें हवन करता है वह होता नहीं है ॥ ८८१ ॥ जो

१ प्रवृत्ता-अ०, ज०, मु० । २ संसारे श्रेय-अ०, ज०, मु० । ३. "स मोमवति दीक्षित" इत्यमर ।
 ४ छायादीना घातक । ५ होमकर्ता ।

तत्त्वे पुमाग्रना पुंसि मनस्यज्ञाकर्मकम् ।
 यस्य युक्त स योगी स्यान् परेष्वपुनरीहितः ॥८७०॥
 कामः क्रोधो मदो माया क्रोमश्चेत्यग्निपञ्चकम् ।
 येनेत्र साधितं स स्यात्कृती पञ्चान्निसाधकः ॥८७१॥
 ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामयिनिग्रहः ।
 सम्यग्ज्ञानं यत्संज्ञात्मा ब्रह्मचारी भवेत्सन्तः ॥८७२॥
 ज्ञानित्योपपत्ति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियाः ।
 स गृहस्थो भवेन्मूर्ध्न मनोवैधतसाधकः ॥८७३॥
 प्राप्त्यमर्घ्यं बहिष्कृत्यैव परित्यज्य सम्यगी ।
 वानप्रस्था स विद्वेद्यो न कमस्थाः कुटुम्बवान् ॥८७४॥
 संसारान्निशिजाप्येवो येन ज्ञानासिना कृतः ।
 तं शिखाप्येवैव प्राहर्षं तु मुञ्चिष्यतमस्तकम् ॥८७५॥
 कर्मात्मनोर्विषेका यः शीरजीरसमानयोः ।

जिसका आत्मा तत्त्वमें लीन है, मन आत्मामें लीन है और इन्द्रियों मनमें लीन हैं उसे योगी कहते हैं। अर्थात् जिसकी इन्द्रियों मनमें, मन आत्मामें और आत्मा तत्त्वमें लीन है वह योगी है। जो दूसरो कस्तुओंकी बाहरूपी दुष्ट संकल्पसे युक्त है वह योगी नहीं है ॥ ८७० ॥

काम, क्रोध, मद, माया और क्रोम ये पाँच अग्निर्षों हैं। जो इन पाँचों अग्निर्षोंको अपने वस्त्रमें कर लेता है उसे पञ्चान्निका साधक कहते हैं। अर्थात् वैदिक साहित्यमें पाँच अग्निर्षोंकी उपासना करनेवालेको पञ्चान्निसाधक कहते हैं। किन्तु प्रत्यक्षकारका कहना है कि सच्ची अग्नि या काम, क्रोधादिक है जो रात-दिन आत्माको बँकाती है। उन्हीका साधक पञ्चान्निका साधक है। बाह्य अग्निर्षोंकी उपासनावाला नहीं ॥ ८७१ ॥

ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं। दयाको ब्रह्म कहते हैं। कामका वस्त्रमें करनेको ब्रह्म कहते हैं। जो आत्मा अच्छी रीतिसे ज्ञानको आराधना करता है या दयाका पावन करता है वहवा कामका जीत लेता है वही ब्रह्मचारी है ॥ ८७२ ॥

जो क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त है, सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथिका प्यारा है और मनरूपी देवता की साधना करता है वही सच्चा गृहस्थ है। अर्थात् जो क्षमाशील है शमी है और मनोजमी है वही वास्तवमें गृहस्थ है ॥ ८७३ ॥

जो खन्दरसे और बाहरसे अरलील बातोंका छाड़कर संयम चारण करता है उसे वानप्रस्थ जानना चाहिये। जो कुटुम्बको लेकर बंगलमें जा बसता है वह वानप्रस्थ नहीं है ॥ ८७४ ॥

जिसने ज्ञानरूपी लछवारक द्वारा संसाररूपी अग्नि की शिखा यानी कपटोंको काट डाला उसे शिखाछत्री कहते हैं, सिर गुटानेवाला नहीं ॥ ८७५ ॥

संसार व्यवस्थामें कर्म और आत्मा दूध और पाणीकी तरह मिले हुए हैं। जो दूध और

१ 'उदरे गार्हपत्याग्निमध्यवेदे तु वसिष्ठाः । आस्य बाह्वनोऽग्निश्च कस्य' वर्षा च मूर्धनि । यः पञ्चवा
 योनिभान् न च बहिष्वाग्निः ॥ प्रच्यते । —महकपुराण । २ चरधाराया इत्यपि पाठः ।

यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धलः ॥८८६॥
 सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्गर्मसंभवः ।
 न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्वीजवर्जिता ॥८८७॥
 स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
 स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥८८८॥
 ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाश्रयः ।
 दानयोग्यः कथं स स्याद्यश्चाक्षानुमते क्रियः ॥८८९॥
 अनुमान्या समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा ।
 भिक्षा चतुर्विधा ह्येया यतिद्वयसमाश्रया ॥८९०॥
 इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ।

काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन—जायदाद, धन आदि अन्तरग और बहिरग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोंको नीच समझता है वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ८८६ ॥

वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता। अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥ ८८७ ॥

जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव—शिवका अनुयायी है। जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमें बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है और जिसे फिर ससारमें जन्म नहीं लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥ ८८८ ॥

जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोंका लोलुपी है तथा इन्द्रियोंका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नहीं देना चाहिए ॥ ८८९ ॥

भिक्षाके भेद

देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥ ८९० ॥

भाचार्थ—मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी शब्द शास्त्रोंमें अति प्रसिद्ध है। किन्तु श्रावकसम्बन्धी भिक्षाके इन भेदोंका उल्लेख अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आया। टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको दस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है। छठी प्रतिमापर्यन्त गृही सजा है। छठीके पश्चात् नवीं प्रतिमापर्यन्त ब्रह्मचारी सजा है और भिक्षुक सज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी है। दसवीं प्रतिमाका धारी घर छोड़कर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है। अतः

१ न जातु अ०, ज०। २ पञ्चेन्द्रियवश। ३ दशप्रतिमापर्यन्तम्। ४ आमन्त्रणपूर्विका पट्प्रतिमापर्यन्तम्।

माघपुण्यैर्यज्ञेदेवं व्रतपुण्यैर्बर्पुर्ब्रह्म ।
 क्षमापुण्यैर्मनो बहि यः स यथा सतां मताः ॥८८२॥
 योऽहोनामुवासात्मा या प्रभुर्मावर्त्तयिष्याम् ।
 सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्यः शिष्यशर्माप्नोतेभुवः ॥८८३॥
 धिवेकं चैक्येभुर्बोध्यैः शरीरशरीरिणोः ।
 स प्रोत्यै विभुषा वेदो नाखिलकथकारणम् ॥८८४॥
 आतिर्जैरा मृतिः पु सां जयी संसृतिकारणम् ।
 एषा जयी यतस्त्वयाः दीयते सा जयी मता ॥८८५॥
 बहिःसा सख्यमतो बानी निरीहो मिष्यरिप्रहः ।

माघरूपी पुण्योसे देवताकी पूजा करता है, व्रतरूपी पुण्योसे शरीररूपी घरकी पूजा करता है और क्षमारूपी पुण्योसे मनरूपी अग्निकी पूजा करता है उसे सग्नन पुत्र्य यष्टा जर्भात् यज्ञ करनेवाला कहते हैं । आ महारामा सोखइ कारण माक्नारूपी यज्ञ करनेवाले अस्तिजोंका स्वामी ह, माघ-सुखरूपी यज्ञके उद्धारक उस पुत्र्यका अर्घ्यु जानना चाहिए ॥८८२-८८३॥

माघार्थ—वाञ्छित, ओत्रिय, होता, यष्टा, अध्वयु ये सब वैदिक यज्ञसे सम्बन्ध रखते हैं । वेदोंमें मन्त्रांक द्वारा जो इक्क किया जाता है उस यज्ञ कहते हैं । पुराने युगमें वैदिक यज्ञोंका बड़ा चलन था और उनमें बकरे औरहका बलिदान किया जाता था तथा उनके अनेक भेद थे । जो सोमयज्ञ करता था उसे दीक्षित कहते थे । इस यज्ञमें सोमरस पिना जाता था तथा बलिदान होता था । जो वेदका ज्ञाता होता था उसे मात्रिय कहते थे । यह बाह्य शुद्धिका बड़ा ध्यान रखता था । जो होम करता था उसे होता कहते थे । जो यज्ञका प्रधान होता था सबको अपने-अपने कामकी आज्ञा देता था उसे यष्टा या यजमान कहते थे । जो यजुर्वेदका ज्ञाता होता था उस अर्घ्यु कहते थे । ये सब क्रियाकाण्डी होते थे । वैदिक क्रियाकालमें बाह्य आचरण ही सब कुछ है । अतः प्रन्वकारने आत्म-यज्ञको ही सच्चा यज्ञ बतलाकर जो उसीको करता है उसे ही दीक्षित आवि नामोंसे पुकारनेके लिये कहा है ।

जो आत्मा और शरीरक भेदका ओरवार धर्मोंमें बसतावा है वही सच्चा वेद है और विद्वान् भाग उससे ही भोग करते हैं । किन्तु जो सब पशुओंका बिनासका कारण है वह भय नहीं है ॥ ८८४ ॥

जन्म, बुढ़ाया और मृत्यु ये तीनों संसारके कारण हैं । इस त्रयी जर्भात् तीनोंका भित्त प्रयीसं गाश हा वही त्रयी है । आशय यह है कि अकस्मै सामवेद और यजुर्वेदका त्रयी कहते हैं । किन्तु प्रन्वकारका कहना है आ संसारके कारण जीवन्, मृत्यु और बुढ़ापेको मष्ट कर दे, जिससे संसारमें न जन्म सना पड़े और न मृत्युका दुःख उठना पड़े वही सग्यन्दर्शन, सम्पत्मान और सग्यकचारित्र ही सच्ची प्रया है ॥ ८८५ ॥

आ अदिमक है, समीचीन प्रयोग पास्तन करता है, जानी है, सांसारिक पादसे दूर है और

यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धलः ॥८८६॥
 सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः ।
 न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्वीजवर्जिता ॥८८७॥
 स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
 स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥८८८॥
 ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः ।
 दानयोग्यः कथं स स्याद्यश्चाज्ञानुर्मेतक्रियः ॥८८९॥
 अनुमान्या समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा ।
 भिक्षा चतुर्विधा ह्येया यतिद्वयसमाश्रया ॥८९०॥
 इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ।

काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन—जायदाद, धन आदि अन्तरग और बहिरग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोंको नीच समझता है वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ८८६ ॥

वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता। अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥ ८८७ ॥

जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव—शिवका अनुयायी है। जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमें बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है और जिसे फिर ससारमें जन्म नहीं लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥ ८८८ ॥

जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोंका लोलुपी है तथा इन्द्रियोंका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नहीं देना चाहिए ॥ ८८९ ॥

भिक्षाके भेद

देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥ ८९० ॥

भावार्थ—मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी गच्छ शास्त्रोंमें अति प्रसिद्ध है। किन्तु श्रावकसम्बन्धी भिक्षाके इन भेदोंका उल्लेख अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आया। टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको ढस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है। छठी प्रतिमापर्यन्त गृही संज्ञा है। छठीके पश्चात् नवीं प्रतिमापर्यन्त ब्रह्मचारी संज्ञा है और भिक्षुक संज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी है। दसवीं प्रतिमाका धारी घर छोड़कर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है। अतः

१ न जानु अ०, ज०। २ पञ्चेन्द्रियवश। ३ दशप्रतिमापर्यन्तम्। ४ आमन्त्रणपूर्विका पदप्रतिमापर्यन्तम्।

तत्फलमिष परियप्य स्नेहयिहीम प्रवीपमिय वेदम् ।

स्ययमेव चिनाशोऽमुग्गमयपुध्य करोगु यिधिमस्यम् ॥८६१॥

गृहम् न शरीरस्य हि यिसर्जनं किं तु गृहममिह वृत्तम् ।

तन्न र्थोऽस्तु यिनाशं न नश्यं शोच्यमिदमाहुः ॥८६२॥

प्रतिविषसं विजहद्वलमुग्गमभुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।

यपुण्ये नृणां निगिरितं घरमपरित्रोदय समयम् ॥८६३॥

मयिधो पापहृतेरिय [पापहृतिरिय] अनितापिलकायकम्पनातया ।

यह उद्दिष्ट मोक्षन करता है क्योंकि वाता उसके उद्देश्यसे भावन पैयार करता है । इसलिये उसकी मित्रा समुद्रस्या हमी चाहिए । यह अनुमति-स्वागी हाता है अतः भावनके बिषयमें किसी प्रकारकी अनुमति नहीं दे सकता । किन्तु नौवीं प्रतिमा सकल भारी भावनके बिषयमें अनुमति दे सकते हैं, अतः उनकी मित्रा अनुमान्या होनी चाहिए । ग्रन्थकारने मित्राके भेदोंका जो क्रम रखा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाक अनुमान्या मित्रा करते हैं, वसवी प्रतिमावाक समुद्रस्या और अन्तिम प्रतिमावाक शिशुदा मित्रा करते हैं, तथा साधु आमरी मित्रा करते हैं । हमारी दृष्टिसे वा छोटी प्रतिमा सकल छिय मित्रा मोक्षनका व्यवहार ही उचित मही है । वे तो गृही हाते हैं ।

इस प्रकार उपासकप्रत्ययमें, मुनिके नामोंकी ध्युत्पत्ति बतलानेवाला चौवालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब समाधिपरणकी विधि बतलाते हैं—]

कृशके पके हुप पण्ठी तरह या तेकरहित बीपककी तरह शरीरको स्वयं ही बिनाशोन्मुख जानकर अन्तिम विधि (समाधिपरण) करना चाहिए ॥ ८९१ ॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरका त्याग देना कठिन नहीं है किन्तु उसमें संयमका धारण करना कठिन है । अतः यदि शरीर टूटने लगे हो वा उसे नष्ट नहीं कर सकना चाहिए और यदि यह नष्ट होता हो तो उसका रंज नहीं करना चाहिए ॥ ८९२ ॥

[यह कहा जा सकता है कि यह हमें कैसे मालूम हो कि समाधिपरणका समय आ गया है ? इसका उत्तर प्रत्येक स्वं देते हैं—]

जब शरीरकी शक्ति प्रतिदिन कमने लगे, खाना-पीना छूट जाये और कोई उपाय कारगर न हो तो स्वयं शरीर ही मनुष्योंका यह वक्तव्य देता है कि अब समाधिपरण करनेका समय आ गया है ॥ ८९३ ॥

अब सन्निकटवर्ती अपकारकी तरह समस्त शरीरमें कंपकंपी पैदा करनेवाला बुझापा

१ 'गृहम् न शरीरस्य हि यिसर्जनं किं तु गृहममिह वृत्तम्' । योवानुवृत्तेर्वावृत्त्य उपासमाश्रयति बुध्यताम् ॥२४॥

—साधारणम् ८ अ । २ 'न वर्मसाधनमिति स्थारम् नाशं वपुर्भुविः । न च वेनाऽपि मो ररयमिति शोच्यं विनश्यत्' ॥५॥—साधारणम् ३ अ । ३ 'बीप्यमिरयाहुः'—साधारण्यमागत बीपा ८-५ से उद्धृत ।

४ निपवति—साधा टी ८१९ से उद्धृत । ५ समीपवतिनी अपहृतिरिय या सविधा-वर्मरत्ना

प १३२ ।

यमदूतीव जरा यदि समागता जीवितेषु कस्तैर्ष' ॥८६४॥
 कर्णान्तकेशपाशग्रहणविधेर्वोधितोऽपि यदि जरया ।
 स्वस्य हितैषी न भवति त किं मृत्युर्न सग्नसते ॥८६५॥
 उपवासादिभिरङ्गे कपायदोषे च बोधिभावनया ।
 कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये ॥८६६॥
 यमनियमस्वाध्यायास्तपासि देवार्च^३नाविधिर्दानम् ।
 एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥८६७॥
 द्वादशवर्षाणि नृपः शिञ्जितशस्त्रो रणेपु यदि मुह्येत् ।
 किं 'स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यते. पुराचरितम् ॥८६८॥

यमके दूतकी तरह आकर खड़ा हो गया तो फिर जीनेकी क्या लालसा ? ॥ ८६४ ॥

बुढ़ापेके द्वारा कानके समीपके वालोंको पकड़कर समझाये जानेपर भी अर्थात् बुढ़ापेके चिह्नस्वरूप कानके पासके वालोंके सफेद हो जानेपर भी जो अपने हितमें नहीं लगता है क्या उसे मौत नहीं खाती ? ॥ ८६५ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि बुढ़ापा आ जानेपर जीवनमें कोई ऐसा रस नहीं रहता जिसके लिए मनुष्य जीनेकी इच्छा करे । अतः बुढ़ापा आनेपर आत्म-कल्याणमें लगना ही हितकर है; क्योंकि उसके बाद मौतके मुँहमें जाना सुनिश्चित है ।

समाधिमरणकी विधि

जो समाधिमरण करना चाहता है, उसे उपवास वगैरहके द्वारा शरीरको और जानभावना-के द्वारा कपायोंको कृश करके किसी मुनिसंघमें चला जाना चाहिए ॥ ८६६ ॥

भावार्थ—समाधिमरणको सल्लेखना व्रत कहते हैं । सल्लेखनाका अर्थ है योग्य रीतिसे शरीर और कपायोंका कृश करना । यदि शरीर मल्लसे भरा हो और मनमें कुटुम्बवालोंका मोह समाया हो तो समाधिमरण हो नहीं सकता । अतः शरीर और आत्मा दोनोंको शुद्ध करके समाधि-मरण करना चाहिए और उनके लिए घरवालोंके फन्देसे निकलकर त्यागीजनोंमें चले जाना चाहिए ।

यदि मरते समय मन मैला रहा तो जीवन-भरका यम, नियम, स्वाध्याय, तप, देवपूजा और दान निष्फल है ॥ ८६७ ॥ जैसे एक राजाने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा । किन्तु जब युद्धका अवसर आया तो वह शस्त्र नहीं चला सका । उस राजाकी शस्त्रशिक्षा किस कामकी, वैसे ही जो व्रती जीवन-भर धर्माचरण करता रहा, किन्तु जब अन्त समय आया तो मोहमें पड़ गया । उस व्रतीका पूर्वाचरण किम कामका ॥ ८६८ ॥

१ का तृष्णा । २ "उत्तमादिभिः काय कपाय च श्रुतामृतैः । सल्लिख्य गणिमध्यं स्यात् समाधिमरणोद्यमो ॥" —मागारवर्मा० ८-१५ । ३ —वर्णादिभिः-वर्मरत्ना० प० १३३ । ४ किं तस्य शस्त्रविधिना-वर्मरत्ना० प० १३३ । "नृपस्येव यतैर्वर्मा चिरमभ्यस्तिनोऽश्ववत् । युवीव स्खलिनो मृत्यो म्भार्यभ्रगो-ज्यश कटु ॥१७॥" —मागारवर्मा० अ० ८ ।

तत्फलमिव परिपक्व स्नेहयिहीम प्रदीपमिव देहम् ।
 स्ययमेव विनाशोऽमुजमयबुध्य करोतु विधिमन्यम् ॥८६१॥
 'गहनं न शरीरस्य हि विसर्जम किं नु गहनमिह वृत्तम् ।
 तन्म स्यात्सु विनाश्यं न मय्य शोष्यमिवमाहुः ॥८६२॥
 प्रतिविद्यसे विजहद्वृत्तमुग्धसुक्तिं त्यजतप्रतीकारम् ।
 यपुरेय नृणां निगिरति धरमधरिभोव्य समयम् ॥८६३॥
 सविधौ पापकृतेरिव [यापकृतिरिव] जनितागिरिसकायकम्पनात्तु ।

यह उद्दिष्ट मोक्षन करता है क्योंकि ठाता उसके उद्देश्यसे मोक्षन संचार करता है । इसन्पि उसकी भिक्षा समुद्रया हानी चाहिए । वह अनुमति-स्वागी होता है जतः मोक्षनके विषयमें किसी प्रकारकी अनुमति नहीं दे सकता । किन्तु नीची प्रतिमा उसके धारी मोक्षनके विषयमें अनुमति दे सकते हैं, अतः उनकी भिक्षा अनुमान्या होनी चाहिए । ग्रन्थकारने भिक्षाके भेदोंका जो क्रम रखा है उससे भी बड़ी ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाला अनुमान्या भिक्षा करते हैं, दूसरी प्रतिमावाले समुद्रया और अन्तिम प्रतिमावाला त्रिभुजा भिक्षा करते हैं, तथा साधु आमरी-भिक्षा करते हैं । हमारी दृष्टिसे तो छोटी प्रतिमा लकड़ लिये भिक्षा मोक्षनका व्यवहार ही उचित नहीं है । वे तो गूरी होते हैं ।

इस प्रकार उपासकान्वयनमें, मुनिके नामोंकी व्युत्पत्ति बतलानेवाला चौबालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं—]

वृद्धके पके हुए पक्षेकी तरह या तेरुद्वित वीपककी तरह शरीरको स्वयं ही बिनाबोम्बुल आनन्दर अन्तिम विधि (समाधिमरण) करना चाहिए ॥ ८९१ ॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरको त्याग देना कठिन नहीं है किन्तु उसमें संभयका धारण करना कठिन है । अतः यदि शरीर टूटने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं कर बाधना चाहिए और यदि वह नष्ट होता हो तो उसका रंज नहीं करना चाहिए ॥ ८९२ ॥

[यह कहा जा सकता है कि वह हमें कैसे माहूम हो कि समाधिमरणका समय आ गया है ? इसका उत्तर मन्वक्य स्वयं देते हैं—]

अब शरीरकी धमिल प्रतिदिन घटने लगे, लाना-पीना शून्य जाये और कोई उपाय करगर न हो तो स्वयं शरीर ही मनुष्योंको यह बतला देता है कि अब समाधिमरण करनेका समय आ गया है ॥ ८९३ ॥

अब सन्निकटकर्त्ता अपकारकी तरह समस्त शरीरमें कँपकँपी पैदा करनेवाला बुझाया

१ 'गहनं न शरीरमिह पुंस किमन्य संयमः' । मोनानुबुत्तेर्भाविन्य तवाराजमपि बुध्यताम् ॥२४॥

—साधारणर्मा ८ अ । २ 'न चर्मसाधनमिति स्यात्सु नाशं वपुर्बुधैः । न च वेनाग्रि मो रक्षमिति शोष्यं विनश्यत् ॥५॥—साधारणर्मा ३ अ । ३ शोष्यगिरमाहुः—साधारणमभिध टोका ८-५ में उद्धृत ।

४ निपद्यति—साध्या टी ८१२ धं जयुत । ५ धामीपवर्तिनी अपकृतिरिव या सविधा—वर्मरत्ना प ११२ ।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुराग. सुखानुबन्धविधिः ।

एते सन्निदाना स्युः सल्लेखनहानये पञ्च ॥६०३॥

आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।

समाधिभावेन कृतात्मकार्यं कृती जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥६०४॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ॥४५॥

अथ प्रकीर्णकम्

विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिरुक्तं प्रकीर्णकम् ।

उक्तानुक्तामृतस्यन्दविन्दुस्वादनकोविदे. ॥६०५॥

आचार्य जो प्रायश्चित्त बतलायें उसे करके समाधिमरण करनेके लिए पूरव या उत्तरको सिर करके शान्तिके साथ चटाईपर विराजमान हो जाये । और यदि वह महाव्रत धारण करनेकी प्रार्थना करे तो आचार्य उसे समस्त परिग्रहका त्याग कराकर महाव्रत धारण करा दे । इसके बाद वह नग्न होकर महाव्रत अङ्गीकार करके महाव्रतकी भावना भाये और जो महाव्रत धारण न कर सकता हो तो वह बिना ही महाव्रत अङ्गीकार किये महाव्रतकी भावना भाये । सधमे जो श्रेष्ठ मुनि हों उन्हें उसकी सेवामें देकर आचार्य उसे सम्बोधते रहें । पहले उससे यह मालूम करें कि तुम्हारी कुछ खानेकी इच्छा है क्या ! यदि वह कुछ खाना चाहे तो उसे खिला दें, जिससे उसका मन किसी खाद्यमें उलझा न रहे । और यदि वह उसीमें आसक्त हो तो उसे समझाकर उसका मन उधरसे हटाये । इस तरह उससे भोजनका त्याग कराकर दुग्ध वगैरह देते रहे । फिर धीरे-धीरे भोजन भी छुड़ाकर गर्म जल देते रहें । उसके बाद जब आचार्य आज्ञा दें, तो वह जीवन-भरके लिए सब प्रकारका आहार छोड़ दे । यदि उसे कोई ऐसा रोग हो जिसके कारण उसे बार-बार प्यास लगती हो तो पानी रख सकता है और जब मृत्यु निकट मालूम दे तब उसे छोड़ सकता है ।

समाधिमरणके अतीचार

जीनेकी इच्छा करना, मरनेकी इच्छा करना, मित्रोंको याद करना, पहले भोगे हुए भोगों-का स्मरण करना और आगामी भोगोंकी इच्छा करना, ये पाँच बातें समाधिमरणव्रतमें दोष लगानेवाली हैं ॥९०३॥ इस प्रकार आचार्यके ऊपर विधिवत् अपना भार सौंपकर तथा रत्नत्रयकी आराधना करके जो समाधिमरण करता है वह ससारमें पूजनीय पदका स्वामी होता है ॥९०४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सल्लेखनाविधि नामक पैंतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब कुछ फुटकर बातें बतलाते हैं ।]

उक्त—जिन्हें कह चुके और अनुक्त—जिन्हें नहीं कहा, उन सब विषयरूपी अमृतसे टपकनेवाली वूँदोंका स्वाद लेनेमें चतुर पण्डितजनोने फुटकर बातोंका कथन करनेको प्रकीर्णक कहा है ॥ ९०५ ॥

१ यदि स्तोत्र कालं जीव्यते तदा भव्यमिति जीविताशसा । यदि शौत्र त्रियते तदा भव्यमिति मरणाशसा । आशसा वाञ्छा । “जीवितमरणाशसा मित्रानुरागमुखानुबन्धनिदानानि ॥” नत्वार्यमूत्र ७-३७ । “जीवितमरणाशसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामान । सल्लेखनातीचारा पञ्च जिनेन्द्रि नमादिष्टा ॥१०९॥”—रत्नकरद्वारा ० । “जीवितमरणाशसे सुहृदनुराग सुखानुबन्धश्च । सन्निदान पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥”—पुं.पार्थसि ० । अमित०श्राव० ७-१५ सागारधर्मा ० ८।४५ ।

स्नेह विहाय' बन्धुषु मोह विमयेषु क्लृप्ततामहिते ।
 यणिमि च नियेष मिश्रित तुरीहित तदनु मज्जतु विधिमुचितम् ॥८६६॥
 भैरव क्रमेण हेय स्निग्ध पात्र मठाः सरं खेय ।
 तदनु च सर्वनिर्वास कुर्याद्गुरुपञ्चकस्मृती निरत ॥८६७॥
 कक्षलीपातयद्यायुः कृतिना सकृदेव विरतिमुपयाति ।
 तत्र पुनरेव विधिर्यहेयं कर्मविधिर्नास्ति ॥८६८॥
 सूरि प्रयेधमकुशसे साधुजने यत्नकर्मणि प्रयणे ।
 यित्ते च समाधिरते किमिहासाध्य 'यतेरस्ति ॥८६९॥

कुटुम्बियोंसे स्नेह, सम्पत्तिसे मोह और किन्होंने अपना बुरा किया है उनके प्रति क्लृप्तपने का छोड़कर आचार्यसे अपने सब अपराधोंको कह दे, और उसके बाद समाधिमरणके योग्य विधिका पाठन करे ॥ ८९९ ॥

धीरे-धीरे मोहनको छोड़ दे और धूप मठा कौरह रख ले । फिर उन्हें भी छोड़कर गर्म बैठ रख ले । उसके बाद पञ्च ममस्कार मन्त्रके स्मरणमें ब्रह्म होकर सब कुछ छोड़ दे ॥ ९०० ॥ यदि किसी पुण्यशाली पुरुषकी आयु कटे हुए केरकी तरह एक साब ही समाप्त होती हो तो वहाँ समाधिमरणकी यह विधि नहीं है, क्योंकि वैभवश आचामक मरण उपस्थित होनेपर क्रमिक विधि नहीं बन सकती ॥ ९०१ ॥

यदि समाधिमरण करानेवाले आचार्य आगममें कुछ कहें और साधुसभ प्रसन्न करनेमें कुशल हो तथा समाधिमरण करनेवालेका मन ध्यानमें लगा रहे तो फिर कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ९०२ ॥

भाषार्थ—समाधिमरणके इच्छुक मनुष्यको किसी पवित्र तीर्थ-स्थानपर चले जाना चाहिए, यदि ऐसा करना शक्य न हो तो किनारम या मुनिसभ बगैरहमें चले जाना चाहिए । यदि तीर्थक्षेत्रक छिप कोई घरसे चले और रास्तेमें ही उसका मरण हो जाये तो उसका मरण समाधिमरण ही कहा जाता है क्योंकि समाधिमरणकी भावना भी फलदायक है । जानसे पहले सबसे अपने अपराधोंकी क्षमा माँगे और जिसने अपना अपराध किया हो उस क्षमा कर दे । फिर समाधिमरणके योग्य स्थानपर पहुँचकर आचार्यके सामने अपने सब दोष निवेदन कर दे और

१ स्नेह विहाय' —'विमिश्रितम् । —बर्मरत्नाकर पृष्ठ १३३ । विहाय अ अ मु । स्नेह ईरं सङ्ग परिग्रहं बाधहाय शुद्धता । स्वर्गपरिग्रहमपि च आत्मा शमयेत् प्रदीर्घकर्म ॥१२४॥ आद्योप्य सर्वमेवः कृतकारितमनुमते च निर्व्यभिक्तम् । आरोपयोग्यमहाव्रतमामरणस्थायी निश्चयेत् ॥१२५॥ —रत्नकर पृष्ठ ३ । २ आहारं परिहाय क्रमशः स्निग्धं विषर्जयेत् पात्रम् । स्निग्धं च हावयित्वा करपात्रं पूरयेत् क्रमशः ॥१२७॥ करपात्रहापनामपि कृत्वा हृत्पत्रोपवासमपि शक्यम् । पञ्चममन्त्रारमभास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥१२८॥ —रत्नकर । ३ —ब्रह्मयुधि अ अ मु । 'महापर्वतकणधाय कक्षलीपातयद् सङ्ग' । विरम्यमानुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥१३॥ —साधारणमार्ग अ ८ । ४ —बर्म-बर्मरत्ना पृष्ठ १३३ । ५ 'समाधि साधनचरो वयेधे च मने च न । कुर्वेणापि सुकृतं प्रत्युहो भावितारमन्' ॥१३॥ —साधारणमार्ग ८ अ । ६ —यं समस्तोक्ति-बर्मरत्ना पृष्ठ १३३ ।

स्तपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः ।
 षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु रोहिनाम् ॥६१२॥
 आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् ।
 तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥६१३॥
 शुचिर्विनयसंपन्नस्तनुंचापलवर्जितः ।
 अष्टदोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥६१४॥
 अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु ।
 अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥६१५॥

देवपूजाकी विधि

सुज्ञ जनोंने गृहस्थोंके लिए देवपूजाके विषयमें छह क्रियाएँ बतलायी हैं—पहले अभिषेक, फिर पूजन, फिर भगवान्‌के गुणोंका स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र बगैरहका जाप, फिर ध्यान और अन्तमें जिनवाणीका स्तवन। इसी क्रमसे जिनेन्द्र देवकी आराधना करनी चाहिए ॥ ९१२ ॥

कल्याणकी प्राप्तिके साधन

आचार्यकी उपासना, देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा, शास्त्रके अर्थका विवेचन, उसमें बनलायी गयी क्रियाओंका आचरण ये सब कल्याणकी प्राप्ति करनेवाले हैं ॥ ९१३ ॥

अपने कल्याणके इच्छुक शिष्यसमुदायको पवित्र होकर तथा शारीरिक चपलताको छोड़कर विनयपूर्वक गुरुके समीपमें आठ दोषोंसे रहित अध्ययन करना चाहिए ॥ ९१४ ॥

भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी या उपाध्याय परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। उनसे विनयपूर्वक अध्ययन, शास्त्रचर्चा, उनकी आज्ञाका पालन आदि करना चाहिए। ज्ञानाराधनके आठ दोष होते हैं—स्वाध्यायके समयका ध्यान न रखना पहला दोष है। शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिको छोड़ जाना दूसरा दोष है। शास्त्रका अर्थ ठीक न करना तीसरा दोष है। न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना चौथा दोष है। जिनसे पढ़ा है या विचारा है उनका नाम छिपान पाँचवाँ दोष है। जो पढ़ा है उसको अवधारण न करना छठा दोष है। विनयपूर्वक अध्ययन न करना सातवाँ दोष है। और गुरुका आदर न करना आठवाँ दोष है। इन आठ दोषोंको टालकर गुरुसे अध्ययन करना चाहिए।

स्वाध्यायका स्वरूप

चारों अनुयोगोंके शास्त्र तथा गुणस्थान और मार्गणास्थानका और अध्यात्म तत्त्वस्वरूप विद्याका पढ़ना स्वाध्याय है ॥ ९१५ ॥

१ श्रुताराधनम् । २ शरीर । ३ अकाल १, अविनय २, अनवग्रह ३, अवदुमान ४, निह्वान ५, अव्यजन ६, अर्थविकल ७, अर्थव्यञ्जनविकल ८, इत्यष्टौ दोषा ।

ब्रह्मजगत्यं विमयो विवेका परोक्षेण तत्त्वविनिश्चयश्च ।
 पते गुणाः पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मयान्धमकथापराः स्यात् ॥९०६॥
 अस्यकथं शठताऽधिकारो तुराग्रहः सुखविमानना च ।
 पुताममी पप्प भवन्ति दोषास्तस्याययोधमतिवचनाय ॥९०७॥
 पुतो यथा सश्रयिताण्यस्य दृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ।
 धर्मस्यैकपेऽपि विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ॥९०८॥
 'जातिपूजाकुलज्ञानरूपसप्तपदोवळे ।
 उग्रस्यहयुतोद्रेक भवमस्मयमानसाः ॥९०९॥
 यो मयास्तमयस्यानामवह्नायैव भोवते ।
 स नून धर्महा यस्मात्तम धर्मो धार्मिकीरिना ॥९१०॥
 देवसेवा 'गुरुपास्तिः स्यात्पायाः संयमस्तप' ।
 दान चेति गृहस्थानां पट कर्माणि विने विने ॥९११॥

धर्मकथा करनका अधिकारी

सज्जनता, विनय, समझदारी, हिताहितकी परीक्षा और तत्त्वोंका निरचय जिसमें ये पाँच गुण हाते हैं वही विशिष्ट आत्मा, धर्म कथा, धार्मिक चर्चा या धर्मोपदेशका अधिकारी है ॥९०६॥

तत्त्वको समझनेमें प्रतिबन्धक बातें

किसीके गुणोंमें दोष समाना, उगना, विचारहीनता, इरीपना और व्यर्थी बातका निरावर करना, मनुष्योंके ये पाँच दोष तत्त्वका समझनेमें रुकावट डालते हैं । जबार्थ जिसमें ये दोष हाते हैं वह तत्त्वको समझनेका प्रयत्न नहीं करता और अपनी ही होंके आता है ॥ ९०७ ॥

जैसे प्रत्येक बातको समझेकी इच्छासे देखनेवाला संशयाकुल मनुष्य किसी भी काममें सफल होता नहीं देखा जाता, वैसे ही जो मनुष्य धर्मके स्वरूपके विषयमें भी मूढ़बुद्धि है उसकी कोई प्रवृत्ति सफल नहीं होती ॥ ९०८ ॥

मर्दोंका निषेध

गवसे रहित गणबरादिक देव, जाति, प्रतिष्ठा कुल, ज्ञान, रूप सम्पत्ति, तप और बलका सहारा लेकर अहंकार करनेको भव या धर्म कहते हैं । जबार्थ कोकमें इन आठ बातोंको लेकर लोग धर्म कहते दखे जाते हैं ॥९०९॥ जो मनुष्य धमण्डमें आकर अपने साधमी माइयोंका अपमान करके प्रसन्न होता है वह निश्चयसे धर्मपातक है क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्म नहीं है ॥९१०॥

गृहस्थके छह कर्म

द्वेषपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम तप और दान ये गृहस्थोंके छह दैनिक कर्म हैं । प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन ये छह काम अवश्य करने चाहिए ॥ ९११ ॥

१ 'धर्मस्वरूपे' पितृव्यादिभक्त्यधीन कर्मकथासु कथा प्रवृत्तिः । —धर्मरत्ना प १३९ । २ ज्ञानं पूजा कुल जाति बलमूर्ति तपो वपुः । अष्टाधातित्य धानित्वं समयमाहर्षितस्मया ॥२५॥ समयेन दोषप्रभातयेति धर्मस्वान् गर्वितासय । सोऽथेति धर्ममालीनं न धर्मो धार्मिकीरिना ॥२६॥ —रत्नकरचन्द्रमा । १ अर्थ श्लोक पञ्चनन्दिनवर्द्धनकठिकावामपि विद्यते ।

स्तनपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः ।
 षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥६१२॥
 आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् ।
 तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥६१३॥
 शुचिर्विनयसंपन्नस्तनुंचापलवर्जितः ।
 श्रष्टृदोषचिनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥६१४॥
 अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु ।
 अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥६१५॥

देवपूजाकी विधि

सुज्ञ जनोंने गृहस्थोंके लिए देवपूजाके विषयमें छह क्रियाएँ बतलायी हैं—पहले अभिषेक, फिर पूजन, फिर भगवान्‌के गुणोंका स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र वगैरहका जाप, फिर ध्यान और अन्तमें जिनवाणीका स्तवन। इसी क्रमसे जिनेन्द्र देवकी आराधना करनी चाहिए ॥ ९१२ ॥

कल्याणकी प्राप्तिके साधन

आचार्यकी उपासना, देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा, शास्त्रके अर्थका विवेचन, उसमें बनलायी गयी क्रियाओंका आचरण ये सब कल्याणकी प्राप्ति करनेवाले हैं ॥९१३॥

अपने कल्याणके इच्छुक शिष्यसमुदायको पवित्र होकर तथा शारीरिक चपलताको छोड़कर विनयपूर्वक गुरुके समीपमें आठ दोषोंसे रहित अध्ययन करना चाहिए ॥ ६१४ ॥

मावार्थ—आचार्य परमेष्ठी या उपाध्याय परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। उनसे विनयपूर्वक अध्ययन, शास्त्रचर्चा, उनकी आज्ञाका पालन आदि करना चाहिए। ज्ञानाराधनके आठ दोष होते हैं—स्वाध्यायके समयका ध्यान न रखना पहला दोष है। शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिको छोड़ जाना दूसरा दोष है। शास्त्रका अर्थ ठीक न करना तीसरा दोष है। न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना चौथा दोष है। जिनसे पढ़ा है या विचारा है उनका नाम छिपाना पाँचवाँ दोष है। जो पढ़ा है उसको अवधारण न करना छठा दोष है। विनयपूर्वक अध्ययन न करना सातवाँ दोष है। और गुरुका आदर न करना आठवाँ दोष है। इन आठ दोषोंको टालकर गुरुसे अध्ययन करना चाहिए।

स्वाध्यायका स्वरूप

चारों अनुयोगोंके शास्त्र तथा गुणस्थान और मार्गणास्थानका और अध्यात्म तत्त्वस्वरूप विद्याका पढ़ना स्वाध्याय है ॥ ९१५ ॥

१ श्रुताराधनम् । २ शरीर । ३ अकाल १, अविनय २, अनवग्रह ३, अवदुमान ४, निह्व ५, अव्यजन ६, अर्थविकल ७, अर्थव्यञ्जनविकल ८, इत्यष्टौ दोषा ।

गृही यतः स्वसिद्धान्त साधु कुच्येत धर्मधीः ।
 प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्पुराणचरितोद्यमः ॥६१६॥
 अधोमध्योर्ध्वलोकेषु धनुर्गतिविचारणम् ।
 शास्त्रं^१ करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥६१७॥
 ममेव स्यादनुष्ठानं तस्याय वक्ष्यन्कृताः ।
 इत्यमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणाभिधः ॥६१८॥
 जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्माद्यधोधमम् ।
 बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥६१९॥
 जीवस्थानगुणस्थानमागणौस्थानगो विधिः ।

प्रथमानुयोगका स्वरूप

धर्मात्मा गृहस्थ जिससे अपने सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ सकता है वह प्रथमानुयोग है । उसमें प्रेष्ठ शकाकापुरुषोंका वृत्तान्त या प्रसिद्ध पुरुषोंका चरित्र पाधा जाता है ॥ ९१६ ॥

कल्पानुयोगका स्वरूप

अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें चारों गतियोंका विचार जिसमें क्रिया गया हो उसको करणानुयोग कहते हैं । यह करणानुयोग अन्य अनुयोगोंकी परीक्षा करनेकी कसौटी है । अर्थात् इसीपरसे अन्य सबके मामात्मकी परीक्षा की जाती है ॥ ९१७ ॥

चरणानुयोगका स्वरूप

यह मेरा अनुष्ठान—कृतकर्म है और उसका फलस्वरूप यह कम है । इस प्रकार आत्माके चरित्रका वर्णन जिसमें क्रिया गया हो उसे चरणानुयोग कहते हैं ॥ ९१८ ॥

द्रव्यानुयोगका स्वरूप

द्रव्यानुयोगसे जीव और अजीव द्रव्यका ज्ञान होता है, धर्मऔर अधर्म द्रव्यका ज्ञान होता है तथा बन्ध और मोक्षका ज्ञान होता है ॥ ९१९ ॥

जीवसमाप्त, गुणस्थान और मागणा प्रत्येक जीवह जीवह प्रकारके होते हैं । इनका स्वरूप

१ 'पुराणचरितविक्र' — धर्मरत्ना ५ १४ । प्रथमानुयोगमर्मास्मानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधिसमाधिनिर्माणं बोधति बोधः समीचीनः ॥४६॥ —रत्नकरं १ ९ लोकाधोकाधिनको सुगपरिकृतोद्यमपुर्वतीनां च । आद्यधर्मिक तथामतिरसैति करणानुयोगं च ॥४७॥ —रत्नकरं १ ३ 'इत्यमात्मा चरित्रार्थेऽनुयोगचरणान्वितः' —धर्मरत्ना ५ १४ । गृहस्थमपाराधा चारिणोत्पत्तिवृद्धिरसाङ्गम् । चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विज्ञानाति ॥४९॥ —रत्नकरं १ ४ 'जीवाजीवगुणस्थानं पुण्यापुण्यं च धर्मबोधां च । द्रव्यानुयोगजीवः अतविद्यालोकमात्मनो ॥४९॥' —रत्नकरं १ ५. 'वापरभूतमेतिद्वयं विधिः चरित्रवियं अतस्मीं लक्ष्यं यः । चरणानुयोगज्ञता एवं ते जीवसा होति ॥४९॥' —श्री पंचसंह १ ६ 'दिष्टो तावज्जिह्वो अविदितं सम्यो यः द्वैविधिर्यो यः । विदितो वयसद्वयोः अनुष्ठानं जनिपतिं मुमुक्षुं यः ॥४९॥' अचरितं जीवमीहो सदोपिचरितविशेषः अयोगो यः । जीवस्य गुणदायाधिः च कर्मस्य विज्ञाः च पापम्भा ॥५०॥ —श्री पंचसंह १ ७ यह इदं च वाए औए वेए कतास्य चाये यः । तत्रयं वस्य जेस्या जविद्या सम्यतं प्रणि जाहारी ॥५०॥ —श्री पञ्चसंह १ ।

चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येक यथागमम् ॥६२०॥

आदितः^१ पञ्च तिर्यक्तु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनोः ।

गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥६२१॥

आगमोंसे जानना चाहिए । तिर्यञ्चोंमें पहलेके पाँच गुणस्थान होते हैं । देव और नारकियोंमें पहलेके चार गुणस्थान होते हैं और मनुष्योंमें चौदहों गुणस्थान होते हैं ॥ ९२०-९२१ ॥

भाचार्य—साधारण तौरपर तो जो कुछ मनोयोगपूर्वक पढ़ा जाता है वह स्वाध्याय है किन्तु वस्तुतः जो स्व यानी आत्माके लिए पढ़ा जाता है वही स्वाध्याय है । इसीलिए अध्यात्मविद्याके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेको स्वाध्याय बतलाया है । आत्मा क्या है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह ससार कैसे होता है, मुक्ति कैसे होती है, आत्माके गुण कौन हैं आदि बातोंका जानना ही सच्चा ज्ञान है । अपनेको न जानकर यदि सबको जान भी लिया तो उससे क्या ? सब शास्त्र चार विभागोंमें बँटे हुए हैं । उन विभागोंको अनुयोग कहते हैं । जिन शास्त्रोंमें महापुरुषोंका जीवन-वृत्तान्त तथा कथानकोंके द्वारा पुण्य और पापका फल बतलाया गया हो वे सब प्रथमानुयोगमें आ जाते हैं । जिनमें लोकका स्वरूप चारों गतियोंका वर्णन वगैरह हो वे करणानुयोगमें आ जाते हैं । जिनमें आचारका वर्णन हो ये चरणानुयोगमें आ जाते हैं और जिनमें जीव अजीव आदि द्रव्योंका या सात तत्त्वोंका वर्णन हो वे सब द्रव्यानुयोगमें आ जाते हैं । इनमें-से सबसे पहले गृहस्थको प्रथमानुयोगके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए । उनसे रोचकता भी बनी रहती है और सब सिद्धान्तोंका ज्ञान भी सुगम रीतिसे हो जाता है । उसके बाद फिर अन्य अनुयोगोंके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए । और जब सिद्धान्तोंका अच्छा ज्ञान हो जाये तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थानका अनुगम करना चाहिए । सारांश यह कि प्रत्येक गृहस्थको स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए । जैन सिद्धान्तमें ससारके सब जीवोंका लेखा-जोखा रखनेके लिए जीव समास, गुणस्थान और मार्गणाओंका वर्णन विस्तारसे मिलता है । इनमें-से प्रत्येकके चौदह-चौदह भेद हैं । एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियअसजी और पञ्चेन्द्रियसजी जीव बादर ही होते हैं, ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह होते हैं । जिन जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं, जैसे—पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव । जिनके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे—लट । जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन जीवोंको त्रीन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिऊँटी । जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार इन्द्रियाँ होती हैं, उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं, जैसे मक्खी । और जिनके उक्त इन्द्रियोंके साथ कान भी होते हैं, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं जैसे मनुष्य । जिन पञ्चेन्द्रियोंके मन भी होता है, उन्हें सजी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं और जिनके मन नहीं होता है उन्हें असजी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं । इनमें सब समारी जीव गर्भित हो जाते हैं, इसलिए उन्हें जीवसमास कहते हैं । इसी तरह गुण

१ “सुरणारणसु चत्वारि होति तिरिएसु जाण पचेव । मणुयगईए वि तहा षोद्धम गुणणामधेयाणि ॥५७॥”—प्रा० पञ्चमग्रह १ ।

गृही यता स्वस्तिद्यान्त साधु युज्येत धर्मधीः ।
 प्रथमा सोऽनुयोगः स्थातुराण्यर्चिताध्यायः ॥६१९॥
 मधोमध्योर्ध्वलोकेषु धनुर्गतिविचारणम् ।
 शास्त्रं चरणमित्यारुह्यनुयोगपरीक्षणम् ॥६२०॥
 ममेयं स्थातुष्टान्न तस्यायं रक्षणकृत्मा ।
 इत्यमारमचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणौघिता ॥६२१॥
 जीवाजीवपरिष्ठान धर्माधर्मावबोधनम् ।
 बन्धमोक्षकृता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥६२२॥
 जीवस्थानगुणस्थानमागणौस्थानगो विधिः ।

प्रथमानुयोगका स्वरूप

धर्मात्मा गृहस्थ जिससे अपने सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ सकता है वह प्रथमानुयोगा है । उसमें प्रेष्ठ छकाकापुस्त्योका ब्रह्मान्त या मसिद्ध पुस्त्योका चरित्र पाया जाता है ॥ ९१६ ॥

द्वितीयानुयोगका स्वरूप

बोधोका मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें जाते गतिथोका विचार जिसमें किया गया हो उसको द्वितीयानुयोग कहते हैं । यह करणानुयोग अन्य अनुयोगोंकी परीक्षा करनेकी कसौटी है । अर्थात् इसीपरसे अन्य सबके प्रामाण्यकी परीक्षा की जाती है ॥ ९१७ ॥

तृतीयानुयोगका स्वरूप

यह मरा अनुष्ठान—कर्तव्यकर्म है और उसके पावनका यह कर्म है । इस प्रकार आत्माके चरित्रका कान जिसमें किया गया हो उसे तृतीयानुयोग कहते हैं ॥ ९१८ ॥

द्रव्यानुयोगका स्वरूप

द्रव्यानुयोगसे जीव और जजीव द्रव्यका ज्ञान होता है, धर्म और अधर्म द्रव्यका ज्ञान होता है तथा बन्ध और मोक्षका ज्ञान होता है ॥ ९१९ ॥

जीवसमास, गुणस्थान और मागण प्रत्येक चौदह-चौदह प्रकारके होते हैं । इनका स्वरूप

१ पुराणचरितविक्रम — धर्मरत्ना ५ १४ । प्रथमानुयोगधर्मस्थानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधिसमाधिभिधानं बोधवि बोध सपीपीनः ॥४९॥ —रत्नकरं १ । २ 'लोकाकोविमकौ-मुणपरिकुतोऽन्यगुणोपायः । आधर्माधिकं तथामाधिराजति करणानुयोगः ॥४४॥ —रत्नकरं । ३ इत्यमारमचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणौघिता ॥४५॥ —धर्मरत्ना ५ १४ । 'गृहमेध्यनाराधना चारिभोत्पत्तिवृद्धिराज्ञम् । चरणानुयोगसमयं तन्मन्त्रान् विजागति ॥४५॥ —रत्नकरं । ४ 'जीवाजीवयुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगधीयः अतविद्याकोकमस्तनुते ॥४६॥ —रत्नकरं । ५. 'वायव्यमुहमेविविधं विधिं चरितं विधं असन्धी सन्धी यः । पञ्चव्यापण्यता एव ते बीहृता इति ॥४७॥—प्रा पंचदश । ६ 'विन्धी काठय मिस्रो अविन्द सन्धी य ईकविरहो यः । विरहो यमलद्वयो अपुण्यं कविबद्धिं सुहृदो यः ॥४८॥ तत्रमेव जीवमेवो सयोगिनेवमिनिषो अजोगी यः । बीहृता पुण्यतामि य कर्मि विद्या च व्याख्या ॥४९॥—प्रा पंचदश । ७ 'गृह इति य काय बोध वेद कथाय कामि यः । संज्ञा संज्ञा केसरा प्रविद्या सम्यक्तं ज्ञानं आहारे ॥५०॥—प्रा पञ्चदश ।

चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येक यथागमम् ॥६२०॥

आदितः^१ पञ्च तिर्यक्ष्ण चत्वारि श्वभ्रिनाकिनोः ।

गुणस्थानानि मन्यन्ते नृपु चैव चतुर्दश ॥६२१॥

आगमोंसे जानना चाहिए । तिर्यक्ष्णोंमें पहलेके पाँच गुणस्थान होते हैं । देव और नारकियोंमें पहलेके चार गुणस्थान होते हैं और मनुष्योंमें चौदहों गुणस्थान होते हैं ॥ ९२०-९२१ ॥

भावार्थ—साधारण तौरपर तो जो कुछ मनोयोगपूर्वक पढ़ा जाता है वह स्वाध्याय है किन्तु वस्तुतः जो स्व यानी आत्माके लिए पढ़ा जाता है वही स्वाध्याय है । इसीलिए अध्यात्मविद्याके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेको स्वाध्याय बतलाया है । आत्मा क्या है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह ससार कैसे होता है, मुक्ति कैसे होती है, आत्माके गुण कौन हैं आदि बातोंका जानना ही सच्चा ज्ञान है । अपनेको न जानकर यदि सबको जान भी लिया तो उससे क्या ? सब शास्त्र चार विभागोंमें बँटे हुए हैं । उन विभागोंको अनुयोग कहते हैं । जिन शास्त्रोंमें महापुरुषोंका जीवन-वृत्तान्त तथा कथानकोंके द्वारा पुण्य और पापका फल बतलाया गया हो वे सब प्रथमानुयोगमें आ जाते हैं । जिनमें लोकका स्वरूप चारों गतियोंका वर्णन वगैरह हो वे करणानुयोगमें आ जाते हैं । जिनमें आचारका वर्णन हो ये चरणानुयोगमें आ जाते हैं और जिनमें जीव अजीव आदि द्रव्योंका या सात तत्त्वोंका वर्णन हो वे सब द्रव्यानुयोगमें आ जाते हैं । इनमें-से सबसे पहले गृहस्थको प्रथमानुयोगके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए । उनसे रोचकता भी बनी रहती है और सब सिद्धान्तोंका ज्ञान भी सुगम रीतिसे हो जाता है । उसके बाद फिर अन्य अनुयोगोंके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए । और जब सिद्धान्तोंका अच्छा ज्ञान हो जाये तो गोस्मट्टसार आदि ग्रन्थोंसे गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थानका अनुगम करना चाहिए । साराग यह कि प्रत्येक गृहस्थको स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए । जैन सिद्धान्तमें ससारके सब जीवोंका लेखा-जोखा रखनेके लिए जीव समास, गुणस्थान और मार्गणाओंका वर्णन विस्तारसे मिलता है । इनमें-से प्रत्येकके चौदह-चौदह भेद हैं । एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय असजी और पञ्चेन्द्रिय सजी जीव बादर ही होते हैं, ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह होते हैं । जिन जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं, जैसे—पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव । जिनके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे—लट । जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन जीवोंको त्रीन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिऊँटी । जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार इन्द्रियाँ होती हैं, उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं, जैसे मक्खी । और जिनके उक्त इन्द्रियोंके साथ कान भी होते हैं, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं जैसे मनुष्य । जिन पञ्चेन्द्रियोंके मन भी होता है, उन्हें सजी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं और जिनके मन नहीं होता है उन्हें असजी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं । इनमें सब ससारी जीव गमित हो जाते हैं, इसलिए उन्हें जीवसमास कहते हैं । इसी तरह गुण

१ “सुरणारणमु चत्तारि होनि निरिएमु जाण पचेव । मणुयगईए वि तहा चोहस गुणणामवेयाणि ॥५७॥”—प्रा० पञ्चसग्रह १ ।

अनिगृहीतधीर्यस्य कायपक्षेऽस्तपा' स्मृतम् ।
तथ मार्गाविरोधेन गुणाय गमितं जिमै ॥६२२॥

अथवा—

अन्तर्यहिर्मलप्रोपावात्मना शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥६२३॥
कपायेन्द्रियदृष्टानां विजयो व्रतपावनम् ।

स्थान भी चौदह हैं । सब कर्मोंमें माहनीय कर्म प्रबल है । इसीके कारण आत्माके स्वामाबिक गुण विकृत हो रहे हैं । गुणस्थानोंकी रचना जीवोंके मोहके हीन और अधिक होनेके आधारपर की गयी है । मिथ्यादृष्टि सासादन सम्मग्न्यष्टि, सम्मग्निमिथ्यादृष्टि, असंपत्तसम्मग्न्यष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिशुचिवावरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, दृष्टान्तकपाय, क्षीयकपाय, सयागकेवली और अबोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं । संसारक सब जीव अपने अपने आध्यात्मिक विकासकी कमी-बेसीके कारण इस चौदह गुणस्थानोंमें बँटे हुए हैं । इनमेंसे मारम्भ के चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यक्ष मनुष्य और देव सभीके हाते हैं । पाचवाँ गुणस्थान केवल समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्योंके ही होता है । आगके सब गुणस्थान संयमी मनुष्योंके ही हाते हैं । चौदहवें गुणस्थानसे जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त करता है । गति, इन्द्रिय, कर्म, योग वेद, कपाय, ज्ञान संयम, व्रत छेदना, मग्नत्व, सम्मत्त्व, संज्ञा और आहारये चौदह मागमाएँ हैं । इनके द्वारा भी संसारी जीवोंको जाना जाता है । जीवस्थान, गुणस्थान और मागमास्थानोंका क्रम गोमूत्रसार जीवकाण्ड तथा षड्वक्त्र टीकाके प्रथम भागसे जानना चाहिए ।

तपका स्वरूप

अपनी क्षत्तिको न छिपाकर जो कायपक्षेय किया जाता है, शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं । किन्तु वह तप जैनमार्गके अधिकृत यानी अनुकूल होनेसे ही समवायक हो सकता है । अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य मछके संतापसे आत्माका शुद्ध करनेके क्रिये जो शारीरिक और मानसिक क्रम किये जाते हैं उस तपम्बोजन तप कहते हैं ॥ ९२२-९२३ ॥

मावाय—उपवास करना, मूलसे कम खाना, रस आदि छोड़ना ये सब पैसे तप हैं जिन्हें गृहस्थ पाल सकता है । इनस मनका भी नियमन होता है और शरीरका कष्ट भी होता है । शरीरको कष्ट देनेका प्रयाजन इसना ही है कि मनुष्य कष्टसहिष्णु बना रह और कमी अपनाकर कष्ट आ पड़नपर पक्ष्यम घषरा न उठे । किन्तु मनका व्रतमें किये बिना शरीरका ही कष्ट दना अर्थ है ।

संयमका स्वरूप

आत्माका कल्याण चाहनेवालोंके द्वारा जो कपायोंका निग्रह, इन्द्रियोंका जप मन, वचन

संयमः^१ संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥६२४॥

अस्यायमर्थः—कपन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसंगसपादनेनात्मानमिति कषायाः क्रोधादयः । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादयः कषायाः कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः । विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः स्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषो असन्तोषो वा लोभः ।

सम्यक्त्व घन्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः ।

और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोंका पालन किया जाता है उसे सयमी पुरुष सयम कहते हैं ॥ ९२४ ॥

इसका खुलासा इस प्रकार है—

जो आत्माको दुर्गतियोंमें ले जाकर कष्ट दें उन्हें कषाय कहते हैं । अथवा जैसे बटवृक्ष बगैरहका कसैला रस साफ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमें कारण हो उसे कसैले रसके समान होनेसे कषाय कहते हैं । वे कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

अपनी या दूसरोंकी गलतीसे अपना या दूसरोंका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोंका उत्पन्न होना क्रोध है । विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य बगैरहके घमड़में आकर पूज्य पुरुषोंका आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है । दूसरोंको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा ख्याति, आदर-सत्कार या घनलाभ बगैरहके अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते हैं । चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायटाद बगैरहमें 'यह मेरे-हैं' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर जो महान् सतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है ।

इस प्रकार ये चार कषाय हैं । इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती हैं—अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । इनमें से जो

१ "वय समिदि-कसायाण दहाण इदियाण पचण्ह । धारणपालणणिग्गहचायजओ सजमो भणिओ ॥१२७॥"—प्रा० पञ्चसग्रह १ । २ "क्रोधादिपरिणाम कपति हिनस्त्यात्मान कुगतिप्रापणादिति कषाय ।

अथवा यथा कषायो नैयग्रोधादि श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मन कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते ।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५०८ । ३ "तदभिवृद्ध्याशयो वा महानसतोष क्षोभो वा लोभः"—धर्मरत्न पृ० १४१ । ४ "कषाया क्रोधमानमायालोभा । तेषा चतस्रोऽवस्था अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति । अनन्तसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्त तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्देशविरति मयमासयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्विरति कृत्स्ना सयमाख्या न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यान-

अभियुद्धितभीर्यस्य कायकसेशस्तपः^१ स्सुतम् ।
तच्च मार्गाधिरोधेन गुणाय गमितं जिनैः ॥६२२॥

अथवा—

अभ्युद्धिर्मलमोपावात्मनः शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मामस्य कर्म तपः प्राप्नुस्तपोधना ॥६२३॥
कपायेन्मृगवप्यहानां यिसपो मत्तपात्तनम् ।

ज्ञान भी चौदह हैं । सब कर्मोंमें मोहनीय कर्म प्रबल है । इसीके कारण आत्माके स्वामादिक गुण विह्वल हो रहे हैं । गुणज्ञानोंकी रचना जोवोंके मोहके हीन और अधिक ज्ञानके आधारपर की गयी है । मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्मग्न्यि, सम्मग्निरम्यादृष्टि असंयतसम्मग्न्यि संयतसंयत, प्रमत्त-संयत, अममत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिवादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकृपाय, क्षीणकृपाय संयोगकेबल्ले और अयोगकेबली ये चौदह गुणम्भान हैं । संसारके सब जीव अपने अपने आध्यात्मिक विकासकी कमी-बेसीके कारण इस चौदह गुणम्भानोंमें बँटे हुए हैं । इनमें-से मारम्भ के चार गुणम्भान तो नारकी, तिर्यक्ष मनुष्य और देव समीके होते हैं । पाचवाँ गुणम्भान कच्छ समक्षदार पशु-पक्षियों और मनुष्योंके ही होता है । आगेके सब गुणम्भान समी मनुष्योंके ही होते हैं । चौदहवें गुणम्भानसे जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त करता है । गति, इन्द्रिय, काम, वाम वेद, कृपाय, ज्ञान, संयम, दर्शन छेदया, ममत्त्व, सम्मत्त्व, संज्ञा और आहारये चौदह मार्गजार् हैं । इनके द्वारा भी संसारी जीवोंको ज्ञाना जाता है । जीवज्ञान, गुणम्भान और मार्गज्ज्ञानोंका कथन गोमहृसार जीवकाण्ड तथा बबका टीकाके प्रथम भागसे जानना चाहिये ।

तपस्य स्वरूप

अपनी क्षत्तिका न छिपाकर या कायकसे किया जाता है शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं । किन्तु वह तप जैनमागके अविरुद्ध यानी अनुकूल ज्ञानसे ही अभिवायक हो सकता है । जबवा अन्तरज और बाह्य मरुके संतापसे आत्माका शुद्ध करनेके लिए या शारीरिक और मानसिक कर्म क्रिये जाते हैं उसे तपस्वीजन तप कहते हैं ॥ १२२-१२३ ॥

मावाध—तपसा करना, मूलसे कम खाना, रस आवि छोड़ना ये सब ऐसे तप हैं जिन्हें गृहस्थ प्राप्त सकता है । इनसे मनका भी नियमन होता है और शरीरका कष्ट भी होता है । शरीरको कष्ट देनेका प्रयाजन इसना ही है कि मनुष्य कष्टसहिष्णु बना रह और कमी अज्ञानके कष्ट आ पड़नेपर एकदम बबरा न पड़े । किन्तु मनका बशमें क्रिये बिना शरीरको ही कष्ट देना न्यर्थ है ।

संयमका स्वरूप

आरमाका कल्याण पाहनेवालोंके द्वारा जो कृपायोंका निग्रह इन्द्रियोंका जय मन, बपन

सयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥६२५॥

अस्यायमर्थः—कपन्ति सतापयन्ति दुर्गतेतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कपायाः क्रोधादयः । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादयः कपायाः कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कपाया इव कपायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः । विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः प्रज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवच्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः स्यात्तिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषो असन्तोषो वा लोभः ।

सम्यक्त्व घनन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कपायकाः ।

और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोका पालन किया जाता है उसे सयमी पुरुष सयम कहते हैं ॥ ९२४ ॥

इसका खुलासा इस प्रकार है—

जो आत्माको दुर्गतियोमे ले जाकर कष्ट दें उन्हे कपाय कहते हैं । अथवा जैसे वटवृक्ष वगैरहका कसैला रस साफ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमें कारण हो उसे कमैले रमके समान होनेसे कपाय कहते हैं । वे कपाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

अपनी या दूसरोकी गलतीसे अपना या दूसरोका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोका उत्पन्न होना क्रोध है । विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमडमें आकर पूज्य पुरुषोंका आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है । दूसरोंको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा स्याति, आदर-सत्कार या घनलाभ वगैरहके अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना उर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते हैं । चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायदाद वगैरहमें 'यह मेरे-है' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओकी वृद्धि होनेपर जो महान् सतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है ।

इस प्रकार ये चार कपाय हैं । इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती हैं—अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । इनमें-से जो

१ "वय समिदि-कसायाण दडाण इदियाण पचण्ह । धारणपालणणिग्गहचायजओ सजमो भणिओ ॥१२७॥"—प्रा० पञ्चसंग्रह १ । २ "क्रोधादिपरिणाम कपति हिनस्त्यात्मान कुगतिप्रापणादिति कपाय ।

अथवा यथा कपायो नैयग्रोधादि श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मन कर्मश्लेषहेतुत्वात् कपाय इव कपाय इत्युच्यते ।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५०८ । ३ "तदभिवृद्ध्याशयो वा महान्सतोष लोभो वा लोभ"—धर्मर० पृ० १४१ । ४ "कपाया क्रोधमानमायालोभा । तेषा चतस्रोऽवस्था अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति । अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्त तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्देशविरति सयमासयमाख्यामल्पापि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्विरति कृत्वा सयमाख्या न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यान-

अभिगृहीतधीर्यस्य कायकलेः शस्तपः स्मृतम् ।
तथ मार्गाधिरोधेन गुणाय गदितं जिमैः ॥१२२॥

अथ—

अन्तर्यहिर्मलप्रोपादात्मनः शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्रादुस्तपोधनाः ॥१२३॥
कपायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् ।

स्थान भी चौदह हैं । सब कर्मों में माहनीय कर्म प्रबल है । इसीके कारण आत्माके स्वभाविक गुण विकृत हो रहे हैं । गुणस्थानोंकी रचना जोबोंके मोहके हीन और अधिक होनेके आधारपर की गयी है । मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतसंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अविश्रुतिवादरसाम्पराय, सूत्रसाम्पराय, उपशान्तकपाय, क्षीणकपाय, संयोगकेवली और अवयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं । संसारके सब जीव अपने अपने लाघात्मिक विकासकी कमी-बेशीके कारण इन चौदह गुणस्थानोंमें बँटे हुए हैं । इनमें-से प्रारम्भ के चार गुणस्थान ता मारकी, तिर्यक्ष मनुष्य और देव सभीके हाते हैं । पाचवाँ गुणस्थान केवल समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्योंके ही होता है । आगेके सब गुणस्थान सभी मनुष्योंके ही होते हैं । चौदहवें गुणस्थानसे जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त करता है । गति, इन्द्रिय, काम, वाम वद, कपाय, ज्ञान संयम, दशान छेत्वा, भ्रमस्त, सम्मत्त्व, संज्ञा और आहारये चौदह मार्गाएँ हैं । इनके द्वारा भी संसारी जीवोंको जाना जाता है । जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गस्थापानोंका कथन गोमहत्सार जीवकाण्ड उच्चा भवम् टीकाके प्रथम भागसे जानना चाहिये ।

तपका स्वरूप

अपनी समितिको न छियाकर जो कायकलेस किमा जाता है, शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं । किन्तु वह तप जैनमार्गके अधिकृत योगी अनुकूल होनेसे ही कामदायक हो सकता है । जबका अन्तरज और बाह्य मण्डके सत्तापसे आत्माका शुद्ध करनेके लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते हैं उस सम्प्रीजन तप कहते हैं ॥ १२२-१२३ ॥

मावार्थ—उपवास करना मूलसे कम खाना, रस खादि छोड़ना ये सब ऐसे तप हैं जिन्हें गृहस्थ पात्र सकता है । इनसे मनका भी नियमन होता है और शरीरका कष्ट भी होता है । शरीरको कष्ट देनेका प्रयोजन इसना ही है कि मनुष्य कष्टसहिष्णु बना रहे और कमी अचानक कष्ट आ पड़नेपर पक्षदम घबरा न उठे । किन्तु मनको कष्टमें किये बिना शरीरको ही कष्ट ठना व्यर्थ है ।

सयमका स्वरूप

आत्माका कल्याण पाहनेवालोंके द्वारा जो कृत्योंका निमज्ज इन्द्रियोंका अय मन, बचन

संयमः^१ सयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥६२४॥

अस्यायमर्थः—कपन्ति सतापयन्ति दुर्गतिस्संगसपादनेनात्मानमिति कपायाः क्रोधा-
दय । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादय कपायाः कालुष्यकारिणः, तथा निर्मल-
स्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कपाया इव कपायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपा-
यानुष्ठानमशुभपरिणामजनन वा क्रोधः । विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहकारो
युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्पर-
वञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः स्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु
चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषो अस्सन्तोषो वा लोभः ।

सम्यक्त्व घनन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कपायकाः ।

और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोंका पालन किया जाता है उसे सयमी पुरुष सयम कहते
हैं ॥ ९२४ ॥

इसका खुलासा इस प्रकार है—

जो आत्माको दुर्गतियोंमें ले जाकर कष्ट दें उन्हें कपाय कहते हैं । अथवा जैसे वटवृक्ष
वगैरहका कसैला रस साफ़ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन
करनेमें कारण हो उसे कसैले रसके समान होनेसे कपाय कहते हैं । वे कपाय चार हैं—क्रोध,
मान, माया और लोभ ।

अपनी या दूसरोंकी गलतीसे अपना या दूसरोंका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा
बुरे भावोंका उत्पन्न होना क्रोध है । विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमडमें आकर पूज्य पुरुषोंका
आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है । दूसरो-
को ठगनेके अभिप्रायसे अथवा स्याति, आदर-सत्कार या धनलाभ वगैरहके अभिप्रायसे मन, वचन
और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया
कहते हैं । चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायदाद वगैरहमें 'यह मेरे-हैं' इस प्रकार-
की जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर जो महान् सतोष या इनकी
हानि होनेपर जो महान् अमन्तोष होता है वह लोभ है ।

इस प्रकार ये चार कपाय हैं । इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती
हैं—अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ,
प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । इनमें-से जो

१ "वय समिदि-कसायाण दडण इदियाण पचण्ह । धारणपालणणिग्गहचायजओ सजमो मणिओ
॥१२७॥"—प्रा०पञ्चमग्रह १ । २ "क्रोधादिपरिणाम कपति हिनस्त्यात्मान कुगतिप्रापणादिति कपाय ।

अथवा यथा कपायो नैयग्रोधादि श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मन कर्मश्लेषहेतुत्वात् कपाय इव कपाय
इत्युच्यते ।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५०८ । ३ "तदभिवृद्ध्याशयो वा महानसतोष क्षोभो वा लोभः"—धर्मर०
पृ० १४१ । ४ "कपाया क्रोवमानमायालोभा । तेषा चतस्रोऽवस्था अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा
प्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति । अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्त तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोध-
मानमायालोभा । यदुदयाद्देशविरति मयमामयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति, ते देयप्रत्याख्यानामावृण्वन्तोऽ-
प्रत्याख्यानावरणा क्रोवमानमायालोभा । यदुदयाद्विरति कृत्स्ना सयमाख्या न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यान-

अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशप्रत्यक्षधातिनः ॥६२४॥
 प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः सयमस्य विनायकाः ।
 धारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः सज्यलनाः सतिम् ॥६२५॥
 पापौणमूरजोधारित्रोवाप्रक्यत्यमागमघन ।
 शोभो यथाक्रम गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नुमाकिनाम् ॥६२६॥
 शिसोस्तस्मात्स्थिताम्रेष्यवेत्तवृत्तिर्द्वितीयकः ।

कषाय सम्यग्दर्शनको धातवी हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनको नहीं होने देती उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं । जो कषाय सम्यग्दर्शनको तो नहीं धातवी किन्तु देशप्रत्यक्षको धातवी हैं उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं ॥ ९२५ ॥ जो कषाय न तो सम्यग्दर्शनको रोकती हैं और न देशधारित्रको रोकती हैं किन्तु सयमको रोकती हैं उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं । और जो कषाय केवल यथाख्यात धारित्रको नहीं होने देती उन्हें संज्यलनकषाय कहते हैं ॥ ९२६ ॥

चारों क्रोध आदि कषायोंमेंसे प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे भी चार चार भेद होते हैं । पथरकी लकड़ीके समान क्रोध, घृषिबीकी लकड़ीके समान क्रोध, घृषिबी लकड़ीके समान क्रोध और लकड़ी लकड़ीके समान क्रोध । जैसे पथरकी लकड़ीका मिटना दुष्कर है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर भी बना रहता है वह उत्कृष्ट शक्तिवाला हाता है और ऐसा क्रोध जीवको नरक गतिमें ले जाता है । जैसे घृषिबीकी लकड़ी बहुत समय बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर मिटे वह अनुकृष्ट शक्तिवाला क्रोध है ऐसा क्रोध जीवको पशुगतिमें ले जाता है । जैसे घूमने की गयी लकड़ी कुछ समयके बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध कुछ समयके बाद मिट जाये वह अजघन्य शक्तिवाला क्रोध है । ऐसा क्रोध जीवका मनुष्य गतिमें उत्पन्न करता है । जैसे पानीमें की गयी लकड़ी तुरन्त ही मिट जाती है वैसे ही जो क्रोध तुरन्त ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला क्रोध है । ऐसा क्रोध जीवको देवगतिमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होता है ॥ ९२७ ॥

मान कषायक भी शक्तिकी अपेक्षा चार भेद हैं—पथरके स्तम्भके समान हड्डीके समान, गीली लकड़ीके समान और बरके समान । जैसे पथरका स्तम्भ कभी ममता नहीं है वैसे ही जो मान जीवका कभी विनयी नहीं होने देता वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको नरक गतिमें जानेका निमित्त हाता है । जैसे हड्डी बहुत काल बीते बिना नमने याग्न नहीं होती वैसे ही जो बहुत काल बीत बिना जीवको विनयी नहीं होने देता वह अनुकृष्ट शक्तिवाला मान है । ऐसा

माधुमन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायाक्रोधाः । समेकीभावः वृत्तः । सयमेव सहायस्यानादेकीभूयः प्रकृतिः । समो वा व्यवस्थेयुः सत्त्ववीतिः संज्यलनाः क्रोधमानमायाक्रोधाः । —सर्वाभिधित्तिः ८ । 'समन्तः देवसंभनः' अनुबोधादकसाहः पदमाह । तसि तु भवे नाते सहाई नउई अप्यति ॥९१॥ —या पञ्चसंघः १ ।

१ विनायकाः—कमरला ५ १४१ । २ शिखरेयः पुष्पिमेयाः पूनीराई यः वरपराहनाम् । विर-तिरि चरः देवतं धरितः बीबा तु कोषवता ॥९११॥ —या पञ्चसंघः १ । ३ 'समन्तः देवसंभनः' अनुबोधादकसाहः पदमाह । तसि तु भवे नाते सहाई नउई अप्यति ॥९११॥ —या पञ्चसंघः १ ।

अधः पशुनरस्वर्गगतिसगतिकारणम् ॥६२८॥

वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रैश्चामरैः समा ।

माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥६२९॥

किमिनीलीवपुल्लेपहरिद्रारागसन्निभः ।

लोभः कस्य न सजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥६३०॥

मान जीवको पशुगतिमें उत्पन्न होनेका निमित्त होता है । जैसे गीली लकड़ी थोड़े कालमें ही नमने योग्य हो जाती है वैसे ही जो थोड़े समयमें ही शान्त हो जाता है वह अजघन्य शक्तिवाला मान है । ऐसा मान जीवको मनुष्यगतिमें उत्पन्न कराता है । जैसे बेत जल्दी ही नम जाता है वैसे ही जो जल्दी ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको देवगतिमें उत्पन्न कराता है ॥ ९२८ ॥

इसी प्रकार बाँसकी जड़, बकरीके सोंग, गोमूत्र और चामरोके समान माया क्रमशः चारो गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होती है । अर्थात् जैसे बाँसकी जड़में बहुत-सी शाखा-प्रशाखा होती है वैसे ही जिसमें इतने छल-छिद्र हों कि उनका कोई हिसाब ही न हो, उसे उत्कृष्ट शक्तिवाली माया कहते हैं । जैसे बकरीके सोंग टेढ़े होते हैं उस ढगका टेढ़ापन जिसके व्यवहारमें हो वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाली माया है । जैसे बैल कुछ मोड़ा देकर मूतता है उतना टेढ़ापन जिसमें हो वह अजघन्य शक्तिवाली माया है और जैसे चामर ढोरते समय थोड़ा मोड़ा खा जाते हैं किन्तु तुरन्त ही सीधे हो जाते हैं वैसे ही जिसमें बहुत कम टेढ़ापन हो जो जल्द ही निकल जाये वह जघन्य शक्तिवाली माया है । चारों प्रकारकी माया क्रमसे जीवको चारो गतिमें उत्पन्न करानेमें कारण है ॥ ९२९ ॥

किरमिचके रंग, नीलके रंग, शरीरके मल और हल्दीके रंगके समान लोभ शेष कषायोकी तरह किस जीवके ससार-भ्रमणका कारण नहीं होता । जैसे किरमिचका रंग पक्का होता है वैसे ही जो खूब गहरा और पक्का हो वह तो उत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है । जैसे नीलका रंग किरमिचसे कम पक्का होता है मगर होता वह भी गहरा ही है वैसे ही जो कम पक्का और गहरा राग होता है वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है । जैसे शरीरका मल हलका गहरा होता है वैसे ही जो हलका गहरा राग होता है वह अजघन्य शक्तिवाला लोभ है । तथा जैसे हल्दीका रंग हलका होता है और जल्दी ही उड़ जाता है वैसे ही जो बहुत हलका राग होता है वह जघन्य शक्तिवाला लोभ है । ये चारों प्रकारके लोभ जीवको क्रमशः चारो गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होते हैं ॥ ६३० ॥

१ “वसोमूल मेसस्म सिग गोमुत्तिय च खोरुप्पम् । णिरि-तिरि णर-देवत्त उविति जीवा ह्म मायवसा ॥११३॥” —पञ्चस० १ । २ —गोमूत्रा—धर्म० प० १४१ । ३ “किमिराय चक्कमल कट्ठमोय तह चय जाण हारिद् । णिर-तिरि-णरदेवत्त उविति जीवा ह्म लोहवसा ॥११४॥” —पञ्चस० १ ।

अप्रत्याख्यानरूपाः दशप्रतयिमातिनः ॥६२४॥

प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य पिनायकाः ।

चारित्र्ये तु यथाख्याते पुनः सम्यक्ज्ञानाः क्षतिम् ॥६२५॥

पापैणमूरजोयारिलेखाप्रत्यत्यमागमयन् ।

क्रोधो यथाभ्रमं गायी श्वधृतिर्यक्षन्नुमाकिनाम् ॥६२६॥

शिसौस्तन्मास्त्रिसाष्ट्रैर्मयप्रवृत्तिर्द्वितीयकः ।

कपाय सम्यग्दर्शनको भावतो है अर्थात् सम्यग्दर्शनको नहीं होने देती उन्हें अनन्तानुबन्धी कपाय कहते हैं । जो कपाय सम्यग्दर्शनको तो नहीं चाहती किन्तु देशव्रतको पावती हैं उन्हें अमत्याख्यानावरण कपाय कहते हैं ॥ ९२५ ॥ जो कपाय न तो सम्यग्दर्शनका रोकती हैं और न देशचारित्र्यका रोकती हैं किन्तु संयमको रोकती हैं उन्हें प्रत्याख्यानवरण कपाय कहते हैं । और जो कपाय केवल यथास्मात् चारित्र्यका नहीं होने देती उन्हें संज्वलनकपाय कहते हैं ॥ ९२६ ॥

चारों क्रोध आदि कपायोंमें-से प्रत्येकक क्षत्रिकी अपेक्षासे भी बार-बार भेद होते हैं । पत्थरकी छकीरक समान क्रोध, पृथ्वीकी छकीरक समान क्रोध, चूल्हकी छकीरक समान क्रोध और लकड़ीकी छकीरके समान क्रोध । जैसे पत्थरकी छकीरका मिटना दुष्कर है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर भी बना रहता है वह उत्कृष्ट क्षत्रिकीका मान है और ऐसा क्रोध जीवको नरक गतिमें ले जाता है । जैसे पृथ्वीकी छकीर बहुत समय बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर मिटे वह अनुत्कृष्ट क्षत्रिकीका क्रोध है ऐसा क्रोध जीवको पशुगतिमें ले जाता है । जैसे चूल्हकी गद्दी छकीर कुछ समयके बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध कुछ समयके बाद मिट जाये वह अवध्य क्षत्रिकीका क्रोध है । ऐसा क्रोध जीवको मनुष्य गतिमें उत्पन्न करता है । जैसे पानीमें की गद्दी छकीर तुरन्त ही मिट जाती है वैसे ही जो क्रोध तुरन्त ही क्षान्त हो जाये वह अवध्य क्षत्रिकीका क्रोध है । ऐसा क्रोध जीवको देवगतिमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होता है ॥ ९२७ ॥

मान कपायके भी क्षत्रिकी अपेक्षा बार भेद हैं—पत्थरके स्तम्भके समान हड्डीके समान, गीली लकड़ीके समान और बेलके समान । जैसे पत्थरका स्तम्भ कभी नमता नहीं है वैसे ही जो मान जीवका कभी बिनभी नहीं होने देता वह उत्कृष्ट क्षत्रिकीका मान है, ऐसा मान जीवको नरक गतिमें जानेका निमित्त होता है । जैसे हड्डी बहुत काळ बीते बिना नमने योग्य नहीं होती वैसे ही जो बहुत काळ बीते बिना जीवको बिनभी नहीं होने देता वह अनुत्कृष्ट क्षत्रिकीका मान है । ऐसा

माधुष्यत् प्रत्याख्यानवरणाः क्रोधमानमायालोभाः । एतेकीयावै वर्तते । सवसेन तद्वाचस्पतान्देकीभूय ज्वलन्ति एतेमो वा ज्वलन्तेषु सत्त्ववीरिण्युज्ज्वलन्ताः क्रोधमानमायालोभाः । —सर्वावैरिणि ८ । 'सम्पत्तैः सप्तधन-संमुत्तीर्षाश्चक्राश्च पञ्चगाह' । तैसि तु यन्ने नास्ति तद्वाहै चतुर्ह तप्यन्ति ॥११॥ —प्रा पंचसंघ १ ।

१ विनाशकाः—वर्मरत्ना प १४१ । २ सिद्धमेव पुत्रविधेया धृतीराहै न यववत्प्राप्तता । विर-तिरि नर देवतं छविनि जीवा ह माधवया ॥१११॥ —प्रा पञ्चसंघ १ । ३ 'छिन्नघो' अङ्गि समो वासवमो तद्वा य वावसेतवमो । विर-तिरि-नर-देवतं छविनि जीवा ह माधवया ॥१११॥ —यं पं १ ।

अधः पशुनरस्वर्गगतिसगतिकारणम् ॥६२८॥

वेणुमूलैरजाष्टद्वैर्गोमूत्रैश्चामरैः समा ।

माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥६२९॥

किमिनीलीचपुल्लेपहरिद्रारागसन्निभः ।

लोभः कस्य न सजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥६३०॥

मान जीवको पशुगतिमें उत्पन्न होनेका निमित्त होता है । जैसे गीली लकड़ी थोड़े कालमें ही नमने योग्य हो जाती है वैसे ही जो थोड़े समयमें ही शान्त हो जाता है वह अजघन्य शक्तिवाला मान है । ऐसा मान जीवको मनुष्यगतिमें उत्पन्न कराता है । जैसे बेत जल्दी ही नम जाता है वैसे ही जो जल्दी ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको देवगतिमें उत्पन्न कराता है ॥ ९२८ ॥

इसी प्रकार बाँसकी जड़, बकरीके सींग, गोमूत्र और चामरोके समान माया क्रमशः चारो गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होती है । अर्थात् जैसे बाँसकी जड़में बहुत-सी शाखा-प्रशाखा होती है वैसे ही जिसमें इतने छल-छिद्र हों कि उनका कोई हिसाब ही न हो, उसे उत्कृष्ट शक्तिवाली माया कहते हैं । जैसे बकरीके सींग टेढ़े होते हैं उस ढगका टेढ़ापन जिसके व्यवहारमें हो वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाली माया है । जैसे बैल कुछ मोड़ा देकर मृतता है उतना टेढ़ापन जिसमें हो वह अजघन्य शक्तिवाली माया है और जैसे चामर दोरते समय थोड़ा मोड़ा खा जाते हैं किन्तु तुरन्त ही सीधे हो जाते हैं वैसे ही जिसमें बहुत कम टेढ़ापन हो जो जल्द ही निकल जाये वह जघन्य शक्तिवाली माया है । चारों प्रकारकी माया क्रमसे जीवको चारो गतिमें उत्पन्न करानेमें कारण है ॥ ९२९ ॥

किरमिचके रंग, नीलके रंग, शरीरके मल और हल्दीके रंगके समान लोभ शेष कषायोंकी तरह किस जीवके ससार-भ्रमणका कारण नहीं होता । जैसे किरमिचका रंग पक्का होता है वैसे ही जो खूब गहरा और पक्का हो वह तो उत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है । जैसे नीलका रंग किरमिचसे कम पक्का होता है मगर होता वह भी गहरा ही है वैसे ही जो कम पक्का और गहरा राग होता है वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है । जैसे शरीरका मल हलका गहरा होता है वैसे ही जो हलका गहरा राग होता है वह अजघन्य शक्तिवाला लोभ है । तथा जैसे हल्दीका रंग हलका होता है और जल्दी ही उड़ जाता है वैसे ही जो बहुत हलका राग होता है वह जघन्य शक्तिवाला लोभ है । ये चारो प्रकारके लोभ जीवको क्रमशः चारों गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होते हैं ॥ ६३० ॥

१ “वसीमूल मेसस्म सिग गोमुत्तिय च खोरुप्पम् । णिरि-तिरि-णर-देवत्त उव्विति जीवा हु मायवसा ॥११३॥” —पञ्चस० १ । २ —गोमूत्रा—धर्मर० प० १४१ । ३ “किमिराय चक्कमल कट्टमोय तह चैय जाण हारिद् । णिर-तिरि-णरदेवत्त उव्विति जीवा हु लोहवसा ॥११४॥” —पञ्चस० १ ।



किञ्च—

यथीपधकिया रिक्ता रोगिणोऽपच्यसेविन ।
 मोघनस्य तथा रिक्ता समाधिभृतसंयमा ॥६३१॥
 मानवाभामिदृग्धेषु मयोपरकपायिषु ।
 नृमुषेषु प्ररोहन्ति न सन्मार्थोचिताभुरा ॥६३२॥
 यावन्मायानिशाक्षेणोऽप्यात्मान्मुषु कृतास्पव ।
 न प्रबाधधियं तावद्वधसे चित्ताम्नुजौकर ॥६३३॥
 लोभक्रीकसधिहानि श्वेतलोतांसि दूरतः ।
 गुणाध्यर्थास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिष ॥६३४॥
 तस्मान्मनोनिक्षेतेऽस्मिन्निद राक्षसस्तुष्टयम् ।
 यत्तेतोन्वर्तुमात्मजं केमाय शमकीलकौ ॥६३५॥
 पदस्यधेषु चिसर्पेन्ति स्वमायादिन्द्रियाणि पट् ।
 तत्स्वरूपपरिहानात्प्रत्यावर्तत सर्वत्र ॥६३६॥

जैसे अपच्य सेवन करनेवाले रागीका दवा सेवन व्यर्थ है वैसे ही कामी मनुष्यका ज्ञान, शास्त्राभ्यास तथा संयम सब व्यर्थ हैं ॥ ९३१ ॥

मानरूपी वनकी आगसे जले हुए और मटरूपी भारी मिट्टीसे सने हुए मनुष्यरूपी वृक्षोंमें अच्छी छाया देनेवाले नये अकुर नहीं उगते । अर्थात् जैसे वनकी आगसे जले हुए और सारी मिट्टीसे सने हुए वृक्षमें नये अकुर पैदा नहीं होते वैसे भी मनुष्य धमडा और अहंकारी हैं उनमें भी सर्वगुण प्रकट नहीं हो सकता ॥ ९३२ ॥

मायाकी घुराई

जैसे बाढ़ी-सी भी रातक रहत हुए जलाशयमें कमल नहीं लिपते वैसे ही आत्मानें बाढ़ी-सी भी मायाक रहत हुए चित बोधका प्राप्त नहीं होता । अर्थात् मायाचारीक हृदयमें ज्ञानका प्रवेश नहीं होता ॥ ९३३ ॥

लोभकी घुराई

जैसे गुणी पक्षि बाण्डाभके तात्पर्यका दूरसे ही छाड़ देते हैं क्योंकि उसके सातेमें हड्डियाँ पड़ी जाती हैं वैसे ही जिसके चितमें लोभका बास होता है उसे गुण दूरसे ही छाड़ देते हैं । अर्थात् कामी मनुष्यक सभी गुण गट हा जात हैं ॥ ९३४ ॥

जब आत्मदर्शी मनुष्यका अपने कदमाणक सिध संयमरूपी कीटक द्वारा अपने मटरूपी मन्दिरसे इन चारों दायोंका निष्कासनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ९३५ ॥ छद्म इन्द्रियाँ स्वभावसे ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं । जब उम विषयोंक स्वरूपको जानकर सदा उन इन्द्रियोंको

अपाते सुन्दरारम्भैर्विपाके विरसक्रियैः ।
 विपैर्वा विषयैर्ग्रस्ते कुतः कुशलमात्मनि ॥६३७॥
 दुश्चिन्तनं दुरालापं दुर्व्यापारं च नाचरेत् ।
 व्रती व्रतविशुद्धयर्थं मनोवाक्कायसंश्रयम् ॥६३८॥
 अभिज्ञानतिचाराभ्यां ग्रहीतेषु व्रतेषु यत् ।
 रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेद् व्रतपालनम् ॥६३९॥
 वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् ।
 नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥६४०॥

तत्र दृष्टानुश्राविकविषयवितृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमान-
 गमानुभूतविषयाऽसंप्रमोपस्वभावा स्मृतिस्तत्त्वविचिन्तनम् । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्याय-
 प्रणिधाना नियमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहानियमाः ।

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

उनके विषयोंमें फँसनेसे बचना चाहिए ॥९३६॥ ये विषय विपके समान हैं । जब प्राप्त होते हैं
 अच्छे मालूम होते हैं किन्तु जब वे अपना फल देते हैं तो अत्यन्त विपरीत हो जाते हैं । जो आ-
 इन विषयोंके चक्करमें फँसा हुआ है उसकी कुशल कैसे हो सकती है ? ॥९३७॥

व्रती पुरुषको अपने व्रतोको शुद्ध रखनेके लिए मनमें बुरे विचार नहीं लाना चाहिए
 वचनसे बुरी बात नहीं कहनी चाहिए और शरीरमें बुरी चेष्टा नहीं करनी चाहिए । जो
 ग्रहण किये हों उनमें न तो अतिचार लगने दे और न व्रतको खण्डित होने दे । इस प्रकार
 व्रतोंकी रक्षा की जाती है इसे ही व्रतोका पालन करना कहा जाता है ॥९३८-९३९॥

भावार्थ—जब व्रतका ध्यान रखते हुए उसका एकदेश खण्डित हो जाता है उसे अ-
 चार कहते हैं । और व्रतका कतई ध्यान न रखकर उसे तोड़ डालना भग कहलाता है । जो
 लो उसे खूब सोच-समझकर लो, जो कुछ सोचना-विचारना हो वह व्रत लेनेसे पहले ही सो-
 विचार लो । और जब व्रतको ले लो तो उसे पूरे प्रयत्नके साथ पालो, न तो उसमें कोई
 लगाने दो और न व्रतको छोड़नेकी कोशिश करो । यदि कभी अज्ञान या प्रमादसे व्रत खण्डित
 हो जाये तो यह सोचकर कि अब तो यह टूट ही गया उसे छोड़ मत बैठो बल्कि प्रयत्नपूर्वक
 उसे फिर धारण करो । ऐसी सावधानता रखनेसे ही व्रतोंका पालन हो सकता है ।

अतः सदा वैराग्यको भाना चाहिए । सदा तत्त्वोंका चिन्तन करते रहना चाहिए ।
 सदा यम और नियमोंमें प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ ६४० ॥

देखे हुए और सुने हुए विषयोंकी तृष्णाको छोड़कर मनको वशमें करनेको वैराग्य का
 है । प्रत्यक्षसे, अनुमानसे और आगमसे जाने हुए पदार्थोंका जो आन्तरिक स्मरण है उसे त-
 चिन्तन कहते हैं । बाह्य और आभ्यन्तर शौच तथा सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ध्यान
 यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको नियम कहते हैं ।

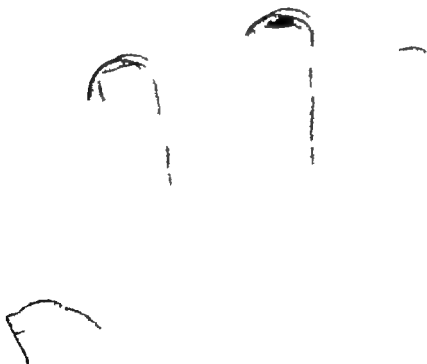
इस प्रकार उपासकाध्ययनमें विविध विधियोंको बतलानेवाला छियालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ

इत्येष गृहिणां धर्मं प्रोक्तः क्षितिपतीश्वरः ।

पतीमांस्तु भुवात् शेषो मूलोत्तरगुणाभयः ॥ १४१ ॥

समाप्तोऽर्थं प्रग्वः

इस प्रकार है रामन् । यह गृहस्थोंका धर्म कहा । यतियोंका धर्म उनके मूल गुण और उत्तरगुण-आगमसे जानना चाहिये ॥ १४१ ॥



श्री :

प० जिनदासधिरचिना

उपासकाध्ययनटीका

जितदोषं नतदेव दातार मरुलमव्यजीवेभ्य ।

मुक्तिमुग्धाना वन्दे वीरजिन मरुलसद्गुणोपेतम् ॥१॥

श्रीसोमदेवविरचिनमुपासकाध्ययनमस्ति हितकथकम् ।

गृहिणामुपासकाना जिनदामेनास्य तन्यते टीका ॥२॥

[पृष्ठ १] धर्मादिति—किलेति निश्चये । हे भगवन पृथग्, एव जन्तु एव प्राणी । किल निश्चयेन । धर्मान्मुखो भवति । जगति लोके । न च धर्मं पुन किञ्चप किञ्चक्षण । किञ्चद किप्रकार । किम्पाय कै उपायै उत्पद्येत । किफल्ब जायेत—अस्य धर्मस्य आगवनात् इहलोक्तमुख परलोकमुख वा जायेत उत्पद्येत ॥१॥ यस्मादिति—यस्मात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्ययात् । पूना नगणाम् । नि श्रेयसफलाश्रय । अतिशयेन प्रशस्य नि श्रेयस मोक्ष तदेव फल तस्य आश्रय आधार । अम्युदयाधारो विना नस्मात् स न लभ्यते । इन्द्रपदतीर्थकरपदादिज सामागिकमुख विगिष्टम् अविगिष्ट च अम्युदय उच्यते । विदिनाम्नाया ज्ञातागमा । धर्ममूरय धर्माचार्या । त धर्मं वदन्ति ॥२॥ म इति—म गृहस्थेतरगोचर गृहस्थयतिविषयो धर्म । प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मा प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च ते आत्मा स्वरूप यस्य म । म धर्मं प्रवृत्तिस्वरूप निवृत्तिस्वरूपश्च अस्ति । मुक्तिहेतौ मोक्षप्राप्तिकारणे रत्नत्रये तत्पन्ना प्रवृत्ति । भवकारणात् ममारहेनो मिथ्यात्वादे निवृत्ति त्याग । इति धर्मस्य द्विविधस्यापि स्वरूपम् ॥३॥ सम्यक्त्वेति—सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम्, सम्यक्चारित्र्य च एतत्त्रय मोक्षस्य सकलकर्मणाम् अत्यन्तक्षयस्य कारण भवति । मिथ्यात्वम् अविरति कपाया योगाश्च मिथ्यात्वादित्युष्टयम् उच्यते । एतच्चतुष्क मसागस्य चतुर्गतिपरिवर्तनरूपस्य भवस्य हेतुरूप मोमास्य विमर्श-नीय विचारणीयम् इति ॥४॥ सम्यक्त्वमिति—शुक्तियुक्तेषु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धेषु, नयसिद्धेषु च । वस्तुषु जीवादिनवपदार्थेषु भावना दृढ श्रद्धान सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनम् आह । युक्तमेतत् लक्षणम् । 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसू० १।१] इति उमास्वामिवचनात् । मोहमदेहविभ्रान्तिर्विज्ञत मोह इद किञ्चित् स्यात् इति पदार्थानवबोध । इद रजत म्यादुत शुक्लिनशकलम् इति चलन्ती प्रतोति मदेह सजय । विभ्रान्ति विभ्रम विपर्यय शुक्तिकाशकले रजतज्ञानम् । एतत् त्रयम् अज्ञानम् उच्यते सत्यपदार्थानवबोधनात् । एभि त्रिभि अज्ञानं वजित यत् ज्ञान तत् सम्यग्ज्ञानम् उच्यते ॥५॥ कर्मादानेति—कर्मादाने ज्ञानावरणादिकर्म-णाम् आदाने ग्रहणे । निमित्ताया हेतुभूताया वाच मनस्य च क्रियाया प्रवृत्ते शम निरोध, उशान्ति नाशो वा । चारु उत्तम चारित्र्यम् अचिरे वभापिरे । के चारित्रोचितचातुर्या चारित्रे चारित्रध्वारणे उचित योग्य चातुर्यं येषा ते गणधरदेवादय । एतन् चारित्र्य त्रियोगग्रहिने अयोगिकेवलनि यथाख्यातसजक लभ्यते ॥६॥

[पृष्ठ २] सम्यक्त्वेति—सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्र्ये च विपर्ययपर विपरीतभावयुक्त मन । सर्ववेदिन सर्वज्ञा भापन्ते ब्रूवते । त्रिषु सम्यक्त्वादिषु । अतत्त्वे तत्त्वम् इति भावना सम्यक्त्वे मिथ्यात्वम् । मोहसदेहवि-भ्रान्ति ज्ञाने मिथ्यात्वम् । अहिंसादे विपरीतम् आचरण चारित्र्ये मिथ्यात्वम् । इति मिथ्यात्व त्रिप्रकारम् ॥७॥ अत्रेति—परवादिना प्रवृत्तय बहुवृत्तय नानाविधा सन्ति । कथभूतानाम् । दुरागमेति—दुरागमो मिथ्याम्नायस्तस्य वासना सस्कार सैव विलासिनी मोहयन्ती नारी तथा वासित विह्वल चेतो मनो येषा तेषाम् । पुन कथभूतानाम् । प्रवर्तितेति—प्रवर्तितानि प्रचारितानि प्राकृतलोका अजजना एव अनोक्तता वृक्षास्तेषाम् उन्मूलने उत्पादने

इत्येष गृहिणां धर्मः प्रोक्तः क्षितिपतीश्वरः ।
यतीर्मांस्तु भुतास्त शेषो मूलोत्तरगुणाश्रयः ॥ ६४१ ॥

समाप्तोऽयं प्रश्नः



इस प्रकार हे राबन् ! यह गृहस्थोंका धर्म कहा । यतियोंका धर्म उनके मन्त्र गुण और उत्तरगुण-आगमसे जानना चाहिये ॥ ६४१ ॥



श्री :

पं० जिनदासविरचिता

उपासकाध्ययनटीका

जितदोष नतदेव ढातार सकलभव्यजीवेभ्यः ।

मुक्तिसुखाना वन्दे वीरजिन सकलमद्गुणोपेतम् ॥१॥

श्रीसोमदेवविरचितमुपासकाध्ययनमस्ति हितकथकम् ।

गृहिणामुपासकानां जिनदामेनास्य तन्यते टीका ॥२॥

[पृष्ठ १] धर्मादिति—किलेति निश्चये । हे भगवन पूज्य, एष जन्तु एष प्राणी । किल निश्चयेन । धर्मात्सुखी भवति । जगति लोके । स च धर्म पुन किरूप किलक्षण । किंभेद किंप्रकार । किमपाय कै उपायै उत्पद्येत । किंफलश्च जायेत—अस्य धर्मस्य आगधनात् इहलोकसुख परलोकसुख वा जायेत उत्पद्येत ॥१॥ यस्मादिति—यस्मात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्ययात् । पुमा नराणाम् । नि श्रेयसफलाश्रय । अतिशयेन प्रशस्य नि श्रेयस मोक्ष तदेव फल तस्य आश्रय आधार । अभ्युदयाधारो विना तस्मात् स न लभ्यते । इन्द्रपदतीर्थकरपदादिज सामागिकमुख विणिष्टम् अविणिष्ट च अभ्युदय उच्यते । विदिनाम्नाया ज्ञातागमा । धर्मसूरय धर्माचार्या । त धर्म वदन्ति ॥२॥ स इति—स गृहस्थेतरगोचर गृहस्थयतिविषयो धर्म । प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मा प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च ते आत्मा स्वरूप यस्य स । स धर्म प्रवृत्तिस्वरूप निवृत्तिस्वरूपश्च अस्ति । मुक्तिहेतौ मोक्षप्राप्तिकारणे रत्नत्रये तत्परता प्रवृत्ति । भवकारणात् समारहेनो मिथ्यात्वादे निवृत्ति त्याग । इति धर्मस्य द्विविधस्यापि स्वरूपम् ॥३॥ सम्यक्त्वेति—सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम्, सम्यक्चारित्र्य च एतत्त्रय मोक्षस्य सकलकर्मणाम् अत्यन्तक्षयस्य कारण भवति । मिथ्यात्वम् अविरति कपाया योगाश्च मिथ्यात्वादिवतुष्टयम् उच्यते । एतच्चतुष्क ससारस्य चतुर्गतिपरिवर्तनरूपस्य भवस्य हेतुरूप मोमास्य विमर्श-नीय विचारणीयम् इति ॥४॥ सम्यक्त्वमिति—युक्तियुक्तेषु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धेषु, नयमिद्धेषु च । वस्तुषु जीवादिनवपदार्थेषु भावना दृढ श्रद्धान् सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनम् आहु । युक्तमेतत् लक्षणम् । 'तत्त्वार्थश्रद्धान् सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसू० १:१] इति उभास्वामिबचनात् । मोहसदेहविभ्रान्तिर्वर्जित मोह इद किञ्चित् स्यात् इति पदार्थानवबोध । इद रजत स्यादुत शुक्लशकलम् इति चलन्ती प्रतीति सदेह सशय । विभ्रान्ति विभ्रम विपर्यय शुक्तिकाशकले रजतज्ञानम् । एतत् त्रयम् अज्ञानम् उच्यते सत्यपदार्थनिवबोधनात् । एभि त्रिभि अज्ञानै वर्जित यत् ज्ञान तत् सम्यग्ज्ञानम् उच्यते ॥५॥ कर्मादानेति—कर्मादाने ज्ञानावरणादिकर्म-णाम् आदाने ग्रहणे । निमित्ताया हेतुभूताया वाच मनस्य च क्रियाया प्रवृत्ते शम निरोध, उपाशान्ति नाशो वा । चारु उत्तम चारित्र्यम् ऊचिरे बभापिरे । के चारित्र्योचितचातुर्या चारित्र्ये चारित्र्यधारणे उचित योग्य चातुर्यं येषा ते गणधरदेवादय । एतत् चारित्र्य त्रियोगरहिते अयोगिकेवलनि यथाख्यातसज्जक लभ्यते ॥६॥

[पृष्ठ २] सम्यक्त्वेति—सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्र्ये च विपर्ययपर विपरीतभावयुक्त मन । सर्वत्रेदिन सर्वज्ञा भाषन्ते ब्रूवते । त्रिषु सम्यक्त्वादेषु । अतत्त्वे तत्त्वम् इति भावना सम्यक्त्वे मिथ्यात्वम् । मोहसदेहवि-भ्रान्ति ज्ञाने मिथ्यात्वम् । अहिंसादे विपरीतम् आचरण चारित्र्ये मिथ्यात्वम् । इति मिथ्यात्व त्रिप्रकारम् ॥७॥ अत्रेति—परवादिना प्रवृत्तय बहुवृत्तय नानाविधा सन्ति । कथ्यभूतानाम् । दुरागमेति—दुरागमो मिथ्याम्नायस्तस्य वामना सस्कार सैव विलामिनी मोहयन्ती नारी तथा वासिन विह्वलं चेतो मनो येषा तेषाम् । पुन कथ्यभूतानाम् । प्रवर्तितेति—प्रवर्तितानि प्रचारितानि प्राकृतलोका अज्ञजना एव अनोकहा वृक्षास्तेषाम् उन्मूलने उत्पादने

धम्मा पुनरुत्तानि एव सोताधि जसप्रणाहा मीस्तेषाम् । पुन कथंभूतानाम्—सदाचारेति—सदाचारा अहिंसानु-
वर्तिनः शान्तप्रेमसाधय न तु असहमेवादिक्ता । तेषाम् आचरणस्य वा चातुरी निपुणता तस्या विद्वत्पति-
वर्तिदूरगामिन तेषां मुक्तये तपायै मोक्षाप्तिसाधने मोक्षस्वकपे च बहुवृत्तयः अनेककथाः सन् प्रवृत्तयः ।
तथा हि—सकम्मेति—सकम् कलाभिः शरीराद्यभिरु संहिता मात्ताः सकलात् । तैश्चान्तर्बोधेपिकै ईदृशनात्
ईदृशः सशरीरः ईदृशम् अशरीरवच मम्यते । ईदृशात् ईदृशत् प्राप्ताभि याभि मन्त्रतन्त्रादि तैः उपेक्षाया
रीक्षाया मोक्षो भवतीति । शीघ्रात्मसाक्षात्त्वज्ञानुसरणात् मोक्षप्राप्ति इति तैश्चान्तर्बोधेपिका मम्यते । इदम्
मिति—साधर्म्यं चावृत्तम् । ईदृश्यं विसृज्यता । सद्बुधविसृज्यमसंहित-श्रव्याधिपराधर्मिबोधकसाधनज्ञानमात्रात्
ज्ञानात् मोक्षो भवति । त्रिकालोति—प्रात मध्याह्ने साय च शरोरे भस्मकैपणम् । इत्या शिवसिद्धिपुत्रकम् ।
महकप्रदानं विवक्षितस्य पुण्या कल्याणवत्प्रापणम् । विवक्षितं परितः प्रवक्षिणोकरणम् । आत्मविद्वन्मनादि
किराकाण्डमात्राधिष्ठानं पञ्चवामितपस्वरवादिकिरासमुद्गाधवात् कार्वात् मोक्षा इति पाञ्चपुत्रमठावलम्बिनो
नियवन्ति । पय इति—पयः पेशं मधिरा न पेया इति विचारम् अकृत्वा समवच निःशब्दा प्रवृत्तिः करणीया ।
मांसम् अन्नक्यम् अन्नं भक्ष्यम् इति विषयम् अकृत्वा समवयो अर्धघटा प्रवृत्तिः । आदिशब्देन गम्यामन्यादिर्ध
घाहम् । एतेषु इतेषु पायं भक्ष्येषु वैति अविषयम् प्रवृत्तिं कुर्वती मुक्तिर्यवतीति कुशाचारका वदन्ति ॥ तथा च
त्रिकालोक्ति—मद्विरेति—मद्विराया जायोवेन अम्यन्तसमाकपिना यन्नेन वासितमुक्तां तरतस्य मसि
मलायेन सरसहृदय मुक्तिमना वाय्वास्वस्थापितस्त्रीषण्डि वासितमुद्गाया मोतिमुद्गाया वासपस्व च
चारक । स्वयमिति—स्वयं पार्वतीपरमेश्वर इव आचरन् कुमन्या मद्विरया सर्वाधीश्वर पार्वत्या च
महारेणम् आराधयेत् उपासीत । साध्या एव वदन्ति—अहं पुण्यं इयं शरीरादिर्धं प्रकृतेः हवनमुत्तम् ।
न तन्मे स्वकम् इति विवेकज्ञानात् पुण्यं प्रकृतेः पुण्यभावे । तथा तस्य मोक्षो भवति इति । नैरात्म्यादीति
—नैरात्म्यस्य भावनायां रागद्वेषी विनयपतः ततश्च मोक्षो भवतीति शेषताना मयम् ।

[पृष्ठ ३] अङ्गाराक्षनाविधिति—अङ्गारत्प अथवा अङ्गवत्सत् स्वभावादेव काकुम्भस्य कोषाभि
मात्मिकस्य उत्कर्षात् प्रवृत्तस्य चित्तस्य न कृमिचक्षुषुषि कुलविचलतोष्मानाये चित्तनैर्मन्यं न भावते इति
बैमिनीया वदन्ति । सति धर्मिणोति—सति विद्वद्भावे नमिभि चैतन्यवधारामि नमः ज्ञानकुशाद्यः चित्तवदो
विमुक्तये । तथा परलोकिनः जीवस्य समावात् परलोकाय स्वगणरक्षायेः उत्कारवत्स्य पुष्पपात्रायेः अथवा
कल्याणी योज । इति समवात्तं कर्म समस्तानां नास्तिभ्रमात् अविष्कम् आविषयं स्वामित्यं यैस्ते बाह्यैस्त्या
बृहस्पतेः शिष्यास्वार्थाका एव वदन्ति । परमशब्देति—परमशब्दो दहने अनुसर्गं भाते सति अक्षेपयेदश्विष्या
अविषया विनाशो भायते ततश्च मोक्षो कथ्यते इति धैर्यान्तधाविनी वदन्ति । धाक्यविषेया परमोद्गारा
दुष्पमान विवचन अपरपण प्रवाहितधूमैकान्तविमिषा प्रकटीकृतधूमैकान्तवमसः साक्यविषेया शीघ्रविषेया
एवं वदन्ति—नैवेति—अन्तस्तत्सम् नास्तीत्यं नास्त्येव । बह्विस्तत्सं वटादिक्म् अन्तस्ता परमाशंसः नैवास्ति न
किञ्चेत एव । समावपि केनभावेतनी पञ्चार्थो विचारविषयो न भवतः अतः ततः सूच्यता सर्वं सूच्यं दूयम् इति
वाचा शेषान् ।

काथायां बीया एवं वदन्ति 'जालमुकमुकैष्ठात्रेवप्रवत्तवर्माचर्मसंस्काराण्यं नवसंस्कारासराण्यं
वचसकथापुक्तायाम् आत्मगुणार्वा जीवगुणार्वा अत्यन्तविवाहा मुक्ति इति । पुनस्तैरेव पञ्चम्—बहि
रिति—देहात् बहिः शरीरम् यत्कर्षं भावते तदैव नवमोक्षिना मुनिना ईशेतिवर्णनस्य प्रमेया मुक्तस्य नवनु
रहितस्य जीवस्य अक्षेपनवटाविगुप्तस्य पञ्चमिति ॥१॥

[पृष्ठ ४] तावागता बीडा एवं मुक्ते स्वकम् आचरते । 'मिरावचचिणोपपिडहन्धो मोक्षा'
पञ्चपेरहितता निराश्रयता तथा अविषयस्य चित्तस्य शराराशो मोक्ष । तदुक्तम्—विद्वमिति—अथा प्रतीता
तत्त्वज्ञाया ईदृशं चास्तिम् अज्ञावम् एव याति । स वाचनं विद्यां विविधां दूष्णो नभो वा नैव वाति तथा जीव
कक्षेपयमात् मुक्ताः शान्तिम् अज्ञानं प्रतिपद्यते ॥ १ - ११ ॥ अपिना एवं वर्णवन्ति मुक्तिम्—'मुक्तिमनो-

ऽहकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थान मुक्ति' इति । बुद्ध्यादीनाम् इन्द्रियाणां च प्रशमे जाते द्रष्टु आत्मन स्वरूपे अवस्थान स्थिति मुक्ति । तथा ब्रह्माद्वैतवादिनः यथा घटविघटने घटस्य कुम्भस्य विघटने नाशे घटाकाश घटरहित भूत्वा निजस्वरूपे तिष्ठति, केवलम् आकाशमयम् एव जायते तथा देहोच्छेदात् देहस्य शरीरस्य आत्यन्तिकविनाशात् सर्व प्राणी जीव परे ब्रह्माणि परपुरुषे लीयते इति वदन्ति । अज्ञातेति—अज्ञात परमार्थो यै तेषां यथार्थवस्तुस्वरूपानभिज्ञाना मिथ्यादृष्टीनां ये दुर्ण्या उपरि प्रदर्शिता तेभ्यो अन्येऽपि बहव मन्ति ते सर्वे न गणयितुं शक्यन्ते । यथा अज्ञातगजस्वरूपाणां जन्मना अन्धानां दुर्ण्या सर्वे गणयितुं न शक्या भवन्ति ॥१२॥ प्राय इति—यथा कुत्तघ्राणस्य नरस्य निर्मलदर्पणदर्शन कोपाय भवति, तथा परमार्थपथप्रतिपादन दुराग्रह विभ्रति नरे बहुधा कोपहेतुर्भवति ॥१३॥

[पृष्ठ ५] दृष्टान्तेति—निदर्शनानि बहूनि भवन्ति । तै बुद्धिर्जनानां वशीक्रियते घूर्ते । ते इमा मही पृथ्वी (आधारे आधेयोपचारात्) विवेकरहिता किं न कुर्वन्ति । अपि तु कुर्वन्त्येव ॥१४॥ दुराग्रहेति—यथा तोयद* तोय जल ददाति इति तोयद मेघ स श्यामाश्मशकलेषु मार्दवं मृदुत्वं नोत्पादयति तथा दुराग्रह-ग्रहग्रस्ते विपरीताग्रहपिशाचाविष्टे पुंसि नरे विद्वान् किं करोतु । तत्र पुरुषे परमार्थपदार्थप्रतिपादन तेन विदुषा क्रियमाण विफल भवति ॥१५॥ ईर्ते इति—अत्र अस्मिन्विषये । यदेव वस्तु युक्तिम् ईर्ते गच्छति तदेव सत् परमार्थरूपम् । यत् भानुदीप्तिवत् सूर्यप्रकाश इव । तस्या युक्ते क्वचित्पक्षपातो न भवति । सूर्यप्रकाशो हीनानि उत्तमानि च वस्तूनि प्रकाशयति विना पक्षपातम् । तथा युक्त्या सदसत्त्वं वस्तुन सिद्धयतीति ज्ञेयम् ॥१६॥ श्रद्धेति—केवला श्रद्धा श्रेयोऽर्थिना मुमुक्षूणां श्रेय सश्रयाय मोक्षदानाय हेतुर्न भवति । बुभुक्षितवशात् भोक्तुम् इच्छुकस्य नरस्य इच्छया उदुम्बरफले पाक उत्पद्येत किम् । इच्छा यदि सफला स्यात् जगत् अदरिद्र भवेत् अत इच्छा मोक्षदाने न क्षमा ॥१७॥ मन्त्रोऽपि न मोक्षकारणम् इति निगदति—पात्रेति—यथा पात्रे नरे नार्या वा पिशाच प्रविशति तथा यदि मन्त्रात् आत्मनो रागादिदोषनाशो दृश्येत को नाम कृती विद्वान् सयमै तपोव्रतादिभि आत्मानं क्लिश्येत पीडयेत् ॥१८॥ दीक्षापि न मुक्तिकारणम्—दीक्षेति—यस्मिन्क्षणे दीक्षा गृहीता तत्क्षणत्पूर्वं ये भवसंभवा समारोद्भूता दोषा ते दीक्षायां पश्चात् अपि दृश्यन्ते । अत सा मोक्षहेतुर्न भवति ॥१९॥ ज्ञानात् मोक्ष इत्यपि वचनम् अनुचितम्—

[पृष्ठ ६] ज्ञानादिति—ज्ञानात् वस्तूनां बोधो भवति पर तेषां प्राप्ति तस्मान्न भवति । वस्तुन यत् कार्य जायते तस्य प्राप्ति ज्ञानान्न भवति । यदि ज्ञानादेव कार्यलाभोऽपि भवेत् तर्हि दृष्टमेव पथ जल दर्शनसमकाल तर्पणकर्षयोगि तृष्णाविनाशक स्यात् । अत ज्ञानादेव मोक्षो न भवति इति ज्ञेयम् ॥२०॥ ज्ञानेन विना क्रियापि न कार्यकारिणी । ज्ञानहीने इति—ज्ञानहीने बोधशून्ये । पुंसि पुरुषे । विद्यमाना क्रिया फलं न आरभते । सा निष्फला भवति । दृष्टान्तम् आह—नष्टदृष्टिभि नष्टे दृष्टी लोचने येषां ते नष्टदृष्टय अन्धा तै तरो वृक्षस्य छायेव फलश्रो लभ्या किम् । छाया तु अन्धा प्राप्नुयु पर वृक्षे फलशोभा तै न द्रष्टुं शक्या ॥ २१ ॥ ज्ञानक्रियाश्रद्धाभ्य एव फलोत्पत्तिरिति प्रतिपादयति—ज्ञानमिति—पञ्चौ पादहीने नरि ज्ञान पदार्थाविगम व्यर्थं विफलम् । अन्धे क्रिया गमन विफला ज्ञानाभावात् । नि श्रद्धे श्रद्धाहीने । द्वय ज्ञान क्रिया च अर्थकृत् अर्थं प्रयोजनं करोति इति अर्थकृत् न भवति इत्यर्थः । तत ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रय तत्पदकारणं मुक्ति-पददानहेतु भवति । नैकैकं न द्वे द्वे प्रत्युत त्रय मिलित्वा एव अर्थकृद् भवति । उक्तं च—इत्तमिति—क्रियाशून्य ज्ञानं न फलप्रापकम् । अज्ञानिनो मूर्खस्य क्रिया च अर्थलाभहेतु न भवति । कथम् । घावन् अपि पलायमानोऽपि अन्ध नष्ट अग्निदग्ध अभवत् । पश्यन् अपि च पङ्कजं अग्निम् अवलोकमानोऽपि पादहीनं नरं तेन अग्निना दग्धं ॥२३॥ भक्ष्याभक्ष्यादिषु नि शङ्का प्रवृत्ति कुर्वाणस्य मोक्ष इति कौलवचनम् अपि दूषयति—निःशङ्केति—नि शङ्काम् अकृतोभीति प्रवृत्ति कुर्वाणस्य नरस्य । यदि मोक्षसमीक्षण मोक्षस्य अवलोकनं मुक्तिप्राप्ति स्यात् तर्हि पूर्वं टङ्कसूनाकृता टङ्क रुड्ग तस्मात् सूना हिंसा कुर्वन्ति इति टङ्कसूनाकृत जीवघातका तेषाम् । पूर्वं प्रथमं मुक्ति स्यात् । यत तत्र नि शङ्कारम्प्रवृत्ते दर्शनात् । टङ्कसूनाकृताम् इति पाठे तु टका खारपटिका ते तु नि शङ्क सधनगमिण्यादीनां वधं कुर्वन्ति अत तेषां

समया पुनस्तानि एव स्मृतांसि जलप्रवाहाः स्युस्तेषाम् । पुनः कर्मभूतानाम्-सदापारेति-सदाचाराः बहिस्तनु-
 र्बलिनः शान्तपोषणादयः न तु बलवन्धेयादिकाः । तेषाम् आचरणस्य वा चानुरो निपुणता तस्या विदुरवर्तिनः
 अतिदूरगामिनः तेषां मुक्तेः उपाये मोक्षान्वितासाम्ये मोक्षस्वरूपे च बहुभूतयः अनेकस्याः जनु प्रभृतयः ।
 तथा हि-सकलेति-मकलः कलाभिः धारीराजयैः मणिः आप्तः सकलायाः । त्रिडासईदेविकैः कैरवनात्
 ईश्वरः सधरीरः कैरवन् मनीरवन् मय्यते । ईदृशात् ईद्वरात् प्राप्ताणि यानि मन्त्रतन्त्राणि तैः उपेताया
 बीजायाः मोक्षो भवतीति । बीजासम्पन्नाश्चन्द्रानुसरणात् मोक्षप्राप्तिः इति त्रिडासईदेविका मय्यते । इदम्
 मिति-साधर्म्यं साधुदयम् । धैर्यम् विरुद्धता । सद्बुद्धिसद्बुद्धावगमनद्विष्ट-भ्यादिपञ्चाश्विनोपकृष्टास्त्राजानामाद्य
 ज्ञानात् मोक्षो भवति । त्रिकालेति-प्रातः मध्याह्ने सायं च धारीरैः भस्मकैपनम् । इय्या धिबन्निज्जपुननम् ।
 गङ्गप्रवाहं धिबन्निज्जस्य पुराः क्षम्यताम्स्थापनम् । धिबन्निज्जं परितः प्रवृत्तिर्भौकरमम् । आत्मविभक्त्यादि-
 क्षिप्राकाशनाभिधानं यन्त्राभितरवचरणादिनिपातमुद्गाधयात् कार्त्तुं मोक्षः इति वामुपतमतावर्त्तमानो
 निपद्यन्ति । एष इति-यथा येषं मदिरा न येषा इति विचारम् अङ्गस्था समयच निःस्पृहा प्रवृत्तिः करणीया ।
 मोक्षम् अक्षय्यम् अन्नं भस्मम् इति विमलम् अङ्गस्था समयचोः अस्तसया प्रवृत्तिः । आदिपदेन गम्यायम्यादिकं
 प्राहम् । एतेषु इतेषु पापं मयेत्युच्यं वेति अस्मिन् प्रवृत्तिं कुर्वती मुक्तिर्यवनीति कुजाशयका कल्पन्ति ॥ तथा च
 विक्रमनीति-मद्विदेति-मदिरायाः आयोदेन अम्यन्तसमाकविषा यन्त्रेण वासिदमुखाः तरस्य मन्त्रस्य
 मन्त्रेण तरसद्भवः मुक्तिमना कामपाशरहापितृहीनचित्तं धामिनुशावाः योगिनुशावाः आसनस्य च
 चारकः । स्वयमिति-स्वयं पार्वतीपरमेश्वर इव आचरन्, कृप्यया मदिरया सर्वाभीश्वर पार्वत्या ब्रह्म
 म्हादेवम् आराजयेत् उपासीत । सांख्या एष यद्वन्ति-अहं पुण्यं इह धरीरादिकं प्रकृते जन्तुतम् ।
 न तमे स्वकामं इति विवेकज्ञानात् पुनः प्रकृतेः पुण्यमायते । तथा तस्य मोक्षो भवति इति । निरस्तम्बासीति
 -निरस्तम्बस्य भावनायाः उन्नेयो विनश्यतः तदवच मोक्षो भवतीति शोक्तानां मतम् ।

[पृष्ठ ३] अङ्गाराक्षनादिविधि-अङ्गारवत् अथवा अक्षय्यवत् स्वभावादेव कामुष्यस्य क्रोधादि
 माक्षिभस्य उत्कर्षात् प्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुणविषद्विमुक्तिः कुटविषद्विषायादेः चित्तनैर्मन्यं न जायते इति
 धैर्यमितीया वदन्ति । सति धर्मिणीति-सति विद्यमाने धर्मिणि वैदम्यवधारमनि धर्मि ज्ञानमुद्गाधयाः किमप्ये
 विमुच्यते । तथा परलोकिनः जीवस्य अयावात् परलोकस्य स्वर्गनरकायोः उत्कारवत्स्य पुण्यपादायैः अभावे
 कस्यापि मोक्षः । इति समयात् कर्मं समस्तानां नास्तिक्यज्ञानात् अविष्कम् आविष्यत् स्वामित्वं स्युस्ते आह्वित्वायाः
 बृहस्पतेः विष्णोरावाकाः एव बहनिः । परमब्रह्मेति-परमब्रह्मद्वयी वर्तते अनुभवे जाते सति अयेयमेवविद्याया
 अविद्याया विनाशो जायते तत्तत्र मोक्षो लभ्यते इति वैद्यान्तवाचिनो वदन्ति । शास्त्रविद्येयाः नस्तर्हिप्राः
 दृश्यमान विद्वन् अपत्यन्तः प्रकाशितसूक्ष्मैकाग्रतद्विरा प्रकटीकृतसूक्ष्मैकान्ततत्त्वस्य आत्मविद्येया बीजविद्येया
 एवं वदन्ति-नैवेति-अम्यन्तस्य चित्तभावं नास्त्येव । बहिःपदार्थं पटादिकम् अम्यन्ता परमार्थं नैवास्ति ॥
 विद्वते एव । उभापि वेदान्तवेतनौ यदाबीजं विचारयिष्यौ न भवतः यतः ततः सूक्ष्मा सर्वं सूक्ष्मं सूक्ष्मम् इति
 वाचः श्रेयम् ।

काकाया यीया एवं वदन्ति ज्ञानमुल्लङ्घ्येच्छाद्वेषप्रवृत्तवर्मापमर्षस्काराणां नवसंस्कारसंसारयो
 नवसंस्कारानुपदानात् आत्मगुणानां बीजगुणानाम् आत्मन्तविनाशः सुखिः इति । पुनस्तरेव एकतम्-बहि
 रिति-वेद्वाद् बहिः बीजस्य यदुच्यं ज्ञायते तदैव कर्मयोगिना मुनिना ईशेविकर्मणस्य प्रवेष्टा मुक्तस्य नवमुक्त
 रहितस्य बीजस्य अयेतन्पटादितुल्यस्य एकतमिति ॥९॥

[पृष्ठ ४] ताकायता बीजाः एवं मुक्ते स्वल्पम् आचरते । विद्यात्मनोत्पत्तिकर्मणो मोक्षा
 पगदेवद्विषता निरासकता तथा अन्धितस्य चित्तस्य उत्पत्तौ मोक्षः । तनुपतम्-विलसिति-यथा प्रदीपा
 तैलभावात् केवलं द्यातितम् अभावं एव याति । स ज्ञान विद्य विधिषु पुण्यो नमो वा नैव याति तथा बीज
 नैवेत्यप्यतः मुक्तेः द्यातितम् अभावं प्रतिपद्यते ॥ १ -११ ॥ कपिका एवं वर्णयन्ति मुक्तिम्-मुक्तिमयो-

ऽहकारविरहाऽखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थान मुक्ति' इति । बुद्ध्यादीनाम् इन्द्रियाणां च प्रशमे जाते द्रष्टु आत्मन स्वरूपे अवस्थानं स्थिति मुक्ति । तथा ब्रह्माद्वैतवादिन यथा घटविघटने घटस्य कुम्भस्य विघटने नाशे घटाकाश घटरहित भूत्वा निजस्वरूपे तिष्ठति, केवलम् आकाशमयम् एव जायते तथा देहोच्छेदात् देहस्य शरीरस्य आत्यन्तिकविनाशात् सर्व प्राणी जीव परे ब्रह्मणि परपुरुषे लीयते इति वदन्ति । अज्ञातेति—अज्ञात परमार्थो यै तेपा यथार्थवस्तुस्वरूपानभिज्ञाना मिथ्यादृष्टीना ये दुर्ण्या उपरि प्रदर्शिता. तेभ्यो अन्येऽपि बहव मन्ति ते सर्वे न गणयितुं शक्यते । यथा अज्ञातगजस्वरूपाणा जन्मना अन्धाना दुर्ण्या सर्वे गणयितु न शक्या भवन्ति ॥१२॥ प्राय इति—यथा कृतघ्राणस्य नरस्य निर्मलदर्पणदर्शन कोपाय भवति, तथा परमार्थपथप्रतिपादन दुराग्रह विभ्रति नरे बहुश कोपहेतुर्भवति ॥१३॥

[पृष्ठ ५] दृष्टान्तेति—निदर्शनानि बहूनि भवन्ति । तं बुद्धिर्जनानां वशीक्रियते धूर्ते । ते इमा मही पृथ्वी (आधारे आधेयोपचारात्) विवेकरहिता किं न कुर्वन्ति । अपि तु कुर्वन्त्येव ॥१४॥ दुराग्रहेति—यथा तोयद तोय जल ददाति इति तोयद मेघ म ध्यामाश्मशकलेषु भार्दव मूढत्व नोत्पादयति तथा दुराग्रह-ग्रहग्रस्ते विपरीताग्रहपिशाचाविष्टे पुंसि नरे विद्वान् किं करोतु । तत्र पुरुषे परमार्थपदार्थप्रतिपादन तेन विदुषा क्रियमाण विफल भवति ॥१५॥ ईर्ते इति—अत्र अस्मिन्विषये । यदेव वस्तु युक्तिम् ईर्ते गच्छति तदेव सत् परमार्थरूपम् । यत भानुदीप्तिवत् सूर्यप्रकाश इव । तस्या युक्ते क्वचित्पक्षपातो न भवति । सूर्यप्रकाशो हीनानि उत्तमानि च वस्तूनि प्रकाशयति विना पक्षपातम् । तथा युक्त्या सदसत्त्व वस्तुन मिद्वयतीति ज्ञेयम् ॥१६॥ श्रद्धेति—त्रैवला श्रद्धा श्रेयोऽर्थिना मुमुक्षूणा श्रेय सश्रयाय मोक्षदानाय हेतुर्न भवति । दुभुक्षितवशात् भोषतुम् इच्छुकस्य नरस्य इच्छया उदुम्बरफले पाक उत्पद्येत किम् । इच्छा यदि सफला स्यात् जगत् अदरिद्र भवेत् अत इच्छा मोक्षदाने न क्षमा ॥१७॥ मन्त्रोऽपि न मोक्षकारणम् इति निगदति—पात्रेति—यथा पात्रे नरे नार्या वा पिशाच प्रविशति तथा यदि मन्त्रात् आत्मनो रागादिदोषनाशो दृश्येत को नाम कृती विद्वान् सयमे तपोभ्रतादिभि आत्मानं क्लिश्येत पीडयेत् ॥१८॥ दीक्षापि न मुक्तिकारणम्—दीक्षेति—यस्मिन्क्षणे दीक्षा गृहीता तत्क्षणात्पूर्वं ये भवसंभवा समारोदभूता दोषा ते दीक्षाया पश्चात् अपि दृश्यन्ते । अत सा मोक्षहेतुर्न भवति ॥१९॥ ज्ञानात् मोक्ष इत्यपि वचनम् अनुचितम्—

[पृष्ठ ६] ज्ञानादिति—ज्ञानात् वस्तूना बोधो भवति पर तेपा प्राप्ति तस्मान्न भवति । वस्तुन यत् कार्यं जायते तस्य प्राप्ति ज्ञानान्न भवति । यदि ज्ञानादेव कार्यलाभोऽपि भवेत् तर्हि दृष्टमेव पय जल दर्शनममकाल तर्पापकर्पयोगि तृष्णाविनाशक स्यात् । अत ज्ञानादेव मोक्षो न भवति इति ज्ञेयम् ॥२०॥ ज्ञानेन विना क्रियापि न कार्यकारिणी । ज्ञानहीने इति—ज्ञानहीने बोधशून्ये । पुंसि पुरुषे । विद्यमाना क्रिया फल न आरभते । सा निष्फला भवति । दृष्टान्तम् आह—नष्टदृष्टिभि नष्टे दृष्टी लोचने येषां ते नष्टदृष्टय अन्धा ते तरो वृक्षस्य छायेव फलश्री लभ्या किम् । छाया तु अन्धा प्राप्नुयु पर वृक्षे फलशोभा तै न द्रष्टुं शक्या ॥ २१ ॥ ज्ञानक्रियाश्रद्धास्य एव फलोत्पत्तिरिति प्रतिपादयति—ज्ञानमिति—पञ्चो पादहीने नरि ज्ञान पदार्थाविगम व्यर्थं विफलम् । अन्ये क्रिया गमन विफला ज्ञानाभावात् । नि श्रद्धे श्रद्धाहीने । द्वय ज्ञान क्रिया च अर्थकृत् अर्थ प्रयोजन करोति इति अर्थकृत् न भवति इत्यर्थः । तत ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रय तत्पदकारण मुक्ति-पददानहेतु भवति । नैकेक न द्वे द्वे प्रत्युत त्रय मिलित्वा एव अर्थकृद् भवति । उक्तं च—हृतमिति—क्रियाशून्य ज्ञान न फलप्रापकम् । अज्ञानिनो मूर्खस्य क्रिया च अर्थलाभहेतु न भवति । कथम् । धावन् अपि पलायमानोऽपि अन्ध नष्ट अग्निदग्ध असंवत् । पश्यन् अपि च पङ्कज अग्निम् अवलोकमानोऽपि पादहीन नर तेन अग्निना दग्ध ॥२३॥ मक्ष्याभक्ष्यादिषु नि शङ्का प्रवृत्ति कुर्वाणस्य मोक्ष इति कौलवचनम् अपि हूपयति—निःशङ्केति—नि शङ्काम् अकुतोभीति प्रवृत्ति कुर्वाणस्य नरस्य । यदि मोक्षसमीक्षण मोक्षस्य अवलोकन मुक्तिप्राप्ति स्यात् तर्हि पूर्वं टङ्कसूनाकृता टङ्क खड्ग तस्मात् सूना हिंसा कुर्वन्ति इति टङ्कसूनाकृत जीवघातका तेषाम् । पूर्वं प्रथम मुक्ति स्यात् । यत तत्र नि शङ्कात्मप्रवृत्तौ दर्शनात् । टङ्कसूनाकृताम् इति पाठे तु टङ्का खारपटिका ते तु नि शङ्क मधनगन्निष्यादीना वध कुर्वन्ति अत तेषा

तेषु चित्त्वा सन्ति परं यथा बीजेन बराहियं शरीरं त्यज्यते तथा ते मरुतयः बुद्ध्या विविक्षन्त्यन्ते तथा बुद्धे ह्यपि
तारतम्येन भवन्ती अचेतनेषु बराहियु तस्या हाने पराकाष्ठा भवति तथा छिद्यसाध्यता मयेत् । नैनं
अचेतनेषु बराहियु बुद्धे अवापः मय्यते ॥४॥ तदायुतिहृदौ इति—यथा तपनस्य सूरस्य बीजितिः प्रकाशः
तदानीतिहृदौ प्रकाशावरणस्य येषांते हृदौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा चेमुपी बुद्धिः तदानीतिहृदौ
तस्या आकृते ज्ञानावरणकर्मणः विनाशे सति सा बुद्धिः यत् वस्तु बराहये कथं न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु
निश्चितं वस्तुवाचं सा प्रकाशयति एव ॥४॥ ब्रह्मादित्वादिनो मुक्तितरत्वं निराकुर्वन्ति—ब्रह्मेति—महि
ब्रह्म परमपुण्यं एकम् अचेतक्यं विद्यते तद्धि तत् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरात् विवर्तयितुं
न छिद्यति । यदि विवर्तयितुं स्यात् एकं तत् छिद्यतु । यथा यदाकाशाय आकाशे बीजते तथा इव वस्तु तत्र
परब्रह्मणि बीजताम् अपृक्कल्पेन वर्तताम् । परं तथा अपृक्कल्पं न बुध्यते ॥४॥ अथ मतम् एक एवेति—
देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतास्या परमपुण्या व्यवस्थित विद्यते । परं अक्षरात् इव एकयापि जनकया
तानाक्येन दृश्यते ॥४॥

[पू० १२] त्वयुक्तम् । एकः स्वे इति—यनं चो आकाशे एकं नाम एकं वेद्यते ज्ञायते । अन्त्य
ब्रह्मादी जनकया वेद्यते तथा ब्रह्म जेदेभ्यो अन्त्यत् अचेतक्यं कुत्रापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४॥ अन्त्यं अति
विस्तरम् । ज्ञानम् इति—ज्ञानम् जननं सुखम् । ज्ञानं शास्त्रिकं केवलज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलपुण्यानाम्
आत्मनिष्ठा निर्मलता । बीजम् अन्तर्लक्षितम् । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतत् ज्ञानावधिपञ्चकम् आत्मनिकम्
अन्त्यं अतिक्रान्तम् अधिनाशि । यत्र विद्यते स योजः परिकीर्तित कथितः ॥ ४॥ एतत् ज्ञानावधिपञ्चकम्
आत्मनिकं अन्त्यमतिक्रान्तमधिनाशि यत्र विद्यते स योजः परिकीर्तित कथितः ॥४॥ ब्रह्मेति—स्वाका
वन्तिविद्या उत्सूकबीजाः परस्वबीजाः आदिशब्देन व्यपगतकेयाकाज्जादीनां ग्रहणम् । एतेषां यथा
स्वभावाद्बुध्यन्ति । निमता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावाद्बुध्यन्ति ॥ ४॥
तथाप्यत्रेति—कर्मलये जातेऽप्यत्र तदाकृते मुक्तबीजस्याबीजावस्थाने विनाशे अभिमते केत् पुण्यपापवर्णा
पुण्योपेक्षात्मना पापोपेक्षात्मना च स्वगन्धप्रदायनो न स्यात् स्वो देवलोके स्वजे नरके च जायमानो वननं मा भवतु
नरैव तेषां वसतिमवतु । तथा च ते तदालोकान्तरेण अन्यो लोको लोकान्तरं स्वचारिकं तेन ज्ञानं स्वात्
तदार्थमा न किमपि प्रयोक्तव्यम् ॥४॥

ह्युपासकाध्यक्षने समस्तसप्तविंशत्यान्तावधौवनो नाम प्रथमा कस्याः ।

२. आत्मस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कस्याः ।

[पू० १३] अहो वर्मापचनैकमते बहुमतीपते वर्मापचने एका केवल्य पतिर्बुद्धिर्बस्य उत्सूकबीजं
है वर्मापचनपञ्चकबुद्धे बहुमतीपते भूपते हि निश्चयेन सम्पत्त्यं नाम नराणां पुण्यानां शिखरभेदिवर्मापचनो
महती जनान्यसाधारणा पुण्यवेष्टा सामर्थ्यवेष्टासि । अस्या पीडयं व्यलक्षितं यद्यस्मात्कारणात् उत्सू
एकदा एकमेव जनहृदये । यन्मोक्षमुक्तमेव समागतं तस्य गुणा प्रोक्तास्तथैव प्रमुक्तया तथैव गुणसहित्येन
संजात सम्भारमकारं ज्ञेयकर्ममयकलुषविवक्षता साकल्यपापपरिहारी मलिनबुद्धिस्तात् । नरकर्तृवद्भूतमुत्पत्तिषु
न भवति संभूतिषु न जायते जनेन कारकम् । पुण्यामुत्पत्तिषु मनुष्याणां बुद्धिः स्वभावादेव तेषामपि नराणां
येषां नृपुरनारकविभागानुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणांमित्यर्थः । येषां नरकानुर्बन्धो जातस्ते सम्पद्बुद्धयः यदु
तत्तपासात्केयु प्रथमा नरकभूमि विज्ञानं अस्यां तु यदु नारकभूमिषु न जायते । उत्सूकत्वत् तत्र संभूतिषुर्बन्ध
कारणं न भवति । अहोविषेयु ज्ञानदेयु किनरकिपुण्यमहोरकगन्धर्वयक्षराक्षसपुत्रपिशाचैषु न संभूतिषु ।
होविषेयु भयनवासिषु अहुरनारकविषुत्पत्तिविनाशस्तनिशोद्विहीयविषुत्पत्तिषु न संभूतिषु । परमविषेयु
ज्योतिषेयु 'स्वार्णममसी ग्रहणक्षमप्रकीर्णतारकाश्चेति सुलोकेषु न संभूतिषु । विविधानु
स्त्रीषु नृतिर्द्वेषद्वेषीषु विवक्तकलेषु द्वीविषयविषयपुत्रिषु विषयमयवीषु अरतिमयवीषु



च, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति जन्मकारणम् । (इदं सम्यक्त्वं) सार्वधि समर्पाद्विदधाति करोति आजवजवोभाय समारमावम् । नियमेन सपादयति कचित्काल (जीवस्य ससारमुखम्) साधुत्वमपादनसार साधुगुणानां भाव साधुत्व तस्य मपादनमेव सारो यस्मिन्स सस्कार यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्यपि आत्मन स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्वं न जहाति । तथा चारित्र्ये चार्वा निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम् । सिद्धं मन्याराधनादिभिर्लभ्यश्चिन्तामणिर्यथा सम्यक्त्वं असीमम् अतिमर्पादं कामितानि मन्वाचितानि फलति ददाति । धृतानि अहिमादोनि पुनर्यथा ओषध्य ब्रौह्मादयः फलपाकावमानानि फलपाकान्तानि फलं दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवस्त्रियतवृत्तानि च पथि हित पाथेय तदिव पाथेयवत् सवलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशितव्यमन्नं तद्वत् । नियतवृत्तानि कचित्कालं सुखजनकानि । यथा सिद्धरमवेधसवन्धात् सिद्धपारदव्यघसपर्कात् । उपवृद्धमनिधानमात्रजन्मनि अग्निमानिध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावन्म्वनोय । तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थानां यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्तं तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात् । मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मननं चिन्तनम् एव मनोमननमात्रं तस्य तन्त्रे आधोने केवलं मनश्चिन्तनाधोने सम्यग्दर्शने । न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायास आश्रयणीय अवलम्ब्य । एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरीरनायासयितव्यं शरीरस्वेदं विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भावः । न देशान्तरं गन्तव्यम् । देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्वं वस्तु न हि स्थापितं यत् तत्र गत्वा तदानीयेत । न कालक्षेपकुक्षिः अपेक्षितव्यः । न कालयापनापेक्षा कर्तव्या । तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव । रूपसपदं सौन्दर्यसपत्तेः कारणं सुभगत्वं यथा । भोगायतनस्य शरीरस्य उपचारं स्थानगमनादिकं तस्य कारणं प्राणितं श्वासोच्छ्वासः । विजयप्राप्ते कारणं यथा मूलबलं मुख्यं सैन्यम् । आभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्वं विनयः शास्त्रसम्कारो वा । नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरतायां नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरणं यथा । अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्त्युदाहरणं निदर्शनमिव गरीयामं महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथमं कारणं गृणन्ति कथयन्ति । तस्य चेदं लक्षणम् । आप्तेति—आप्तं सर्वज्ञं, आगमं सर्वज्ञस्याहृतौ मुक्ताभिर्गतं दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूपं उपदेशः । पदार्था जीवाजीवास्त्ववन्वसवरनिर्जरा मोक्षपापपुण्यात्मका । एतेषां कारणद्वयात् श्रद्धानं सम्यक्त्वम् । अन्तरङ्गं कारणं दर्शनमोहस्य उपशमः, क्षयः क्षयोपशमो वा । तस्मिन् प्राप्ते सति यद्वाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तत्सैव सगुणसम्यग्दर्शनम् । यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धानं जायते तदधिगमजम् । आसन्नं भव्यता^१, कर्महानि^२, सञ्चित्वम्^३, शुद्धिः—विशुद्धपरिणाम एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतवः । सम्यगरूपदेशः, जातिस्मरणं, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतवः । एतान् हेतूनां साधु जीवैः सम्यक्त्वं जायते । तच्च मूढाद्यपोढं देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् निश्चिन्ताद्यष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च । प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम् । प्रशमा नतीति प्रशमादिभाक् । प्रशमादोना लक्षणानि ग्रन्थकारोऽपि वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वांस आप्तं सर्वज्ञं त्रिकाल-गोचरानन्तर्प्राप्यपरिनिष्ठितं जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम् । सर्वलोकेशः, सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम् । सर्वदोषविवर्जितं सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तैर्विवर्जितं विशेषेण विजितो रहितं ते दोषा कदाचनापि तं यथा न स्पृशन्ति तथा स तै रहितस्तम् । सर्वसत्त्व-

१ आसन्नमन्यता मन्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव आसन्नं कतिपयसमवप्राप्यनिर्वाणपदं । आसन्नश्चासौ मन्यश्च आसन्नमन्यस्तस्य भाव आसन्नमन्यता । २ कर्महानि मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धकर्मणा यथासंभवमुपशमं क्षयोपशमं क्षयो वा । ३ सञ्चित्वम्—संज्ञा-शिक्षाक्रियालापोपदेश-प्राहित्वम् । सज्ञा अस्य अस्तीति सञ्ज्ञी सञ्ज्ञिनो भावः सञ्चित्वम् । सा० ध०, अ० १, इलो० ६ ।

तेषु विनः सन्ति परं यथा बीजैर्न वराधिक्यं सरीरं त्यज्यते तथा ते वराज्यम् । बुद्ध्या निरिच्छमन्ते तथा बुद्धेः हानि-
 कारकस्यैव भवन्तीत्येतेषु वराविषु तस्मात् हानेः पराकाष्ठा भवति तथा सिद्धसाध्यता मयेत् । बीज-
 कथेतेषु वराविषु बुद्धेः अभावः सम्पत्तेः ॥४॥ तद्वावृत्तिहृती इति—यथा तपनस्य सूर्यस्य बीजमिति प्रकाश-
 तद्वावृत्तिहृती प्रकाशावरणस्य मोक्षार्थे हृती विनाशे सर्वं वस्तु प्रकल्पयति तथा योग्यी बुद्धिः तद्वावृत्तिहृती
 तस्मात् आनन्दे ज्ञानावरणकर्मण विघाते सति सा बुद्धिः क्व वस्तु वरावर कर्म न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु
 निश्चितं वस्तुवातं सा प्रकाशयति एव ॥४॥१॥ ब्रह्मादौतवाविनो मुक्तितरणं निराकुचमिति—अद्वैतेति—यदि
 ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अनेककर्म विघाते तद्वि तत् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं
 न सिद्धयति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एवम् तत् सिद्धम् । यथा घटाकाशम् आकाशे बीजते तथा इदं जगत् तत्र
 परब्रह्मणि बीजताम् अपुष्पकथेन वर्तताम् । परं तथा अपुष्पकम् न बुध्यते ॥४॥२॥ जगत् मत्तम् एक एवेति—
 ॥४॥ वेहे प्रतिघटीरम् एक एव हि भूतारम् परमपुरुषः व्यवस्थित विद्यते । परं जगत् इव एकवापि अनेकवा
 ज्ञानाक्येन दृश्यते ॥४॥३॥

[पृष्ठ १२] तद्वस्तुतम् । एका खं इति—जनैः खे आकाशे इत्युक्तं यन्मा एक वेद्यते जायते । जन्मत्र
 जन्मादौ अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म वेदेभ्यो जन्मत् अनेककर्म कुत्रापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४॥४॥ जगत् अति-
 विस्तरैव । आनन्द इति—आनन्दः अकलं सुखम् । आनं वायिक केयकज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलभुक्तानाम्
 आरामनिकी गतिरुक्ता । बीर्यम् अमलतपित । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतत् आनन्दाविपञ्चकम् आत्मनिकम्
 अन्तम् अतिव्यस्तम् अविनाशितम् । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तित कवित् ॥ ४४ ॥ एतत् आनन्दाविपञ्चकम्
 आत्मनिकम् अन्तमतिव्यस्तमविनाशितं यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तित कवित् ॥४५॥ अद्वैतेति—आत्म-
 अनिच्छिता सकलबीजादेः एरण्वीजादेः आदिशब्देन व्यपमत्तयेयाकाञ्चादीनां ग्रहणम् । एतेषां यथा
 स्वमात्रादुन्मयति । निवृत्ता यथा निर्विषता—तथा मुक्तस्यापि आरामः स्वभावाद्बुद्धमतिर्बुद्धः ॥ ४६ ॥
 तथाप्यत्रेति—कर्मस्ये जातेऽप्यत्र तथावासे मुक्तबीजस्यावैवावस्वान् निवासे अनिच्छते चेत् पुष्पपापारमर्गो
 पुष्पोपैतारमर्गो पापोपैतारमर्गो न स्वर्गस्वप्नारमर्गो न स्वात् स्वव हेतुलोके स्वप्ने नरके न आरमर्गो परमं वा यन्तु
 अत्रैव तेषां वसतिभवतु । तथा च ते तत्कालोक्तान्तेन जन्मो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन ब्रह्म स्यात्
 तद्वातया न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकप्यवने समस्तसमस्तसिद्धात्मावबोधनी नाम प्रथमा कथा ।

२. आत्मस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कथा ।

[पृष्ठ १२ १३] ब्रह्मो वर्मापवर्गकमते वसुमतीपते वर्मापवने एका कैवल्य मतिर्बुद्धिर्ब्रह्म तत्त्वोचोर्न
 हे वर्मापवनेपरायणबुद्धे वसुमतीपते भूपते द्वि निवचनेन धम्मकर्म नाम नराणां पुत्रबाणां संश्लिष्यन्नेन्द्रियवीर्यानां
 महती जलमयतापारवा पुष्पदेवता सामर्थ्यवैभवास्ति । तस्याः पीड्यं व्यनक्ति यद्यस्मात्कारणात् सृष्ट्वा
 एकदा एकमेव अवह्वयमेव । यमोक्तमुक्तमेव यथापमं तस्य गुणा प्रोक्तास्तथैव प्रभुमत्तया तथैव भुवन्तिहृत्तथैव
 संजातं कस्मादमलार्थं यद्येवमप्यक्तमुक्तमिदमप्यथा तत्रकपापपरिधायी मलिनबुद्धित्वात् । नरकतिर्ब्रह्मपुष्पवतिषु
 न भवति संसृतिहेतुः न जायते जनने कारणम् । पुष्पबाधुपामपि अनुष्माणां पुष्टिं जलबाधुपामपि तेषामपि नराणां
 देवा ननुत्तारकतिमगाधुर्बन्धो जातस्तैषामपि नराणामित्यथ । यथा नरकानुर्बन्धो जातस्तैः धम्मपुत्रैः नदन्तु
 तत्रपातकैषु प्रथमा नरकभूमिं विहाय जन्मासु नदन्तु नारकभूमिषु न जायन्ते । तत्सम्यक्त्वं तत्र संसृतिहेतुर्बन्ध-
 कारणं न भवति । अह्निकेषु जन्तुषु किमरक्तिपुष्पमहोरगमन्मन्मन्वरासजन्तुविद्याधेयुः न संसृतिहेतुः ।
 ह्यह्निकेषु भवनवासासिषु अनुत्तारकविद्युत्पुष्पमिवास्तनिधोविद्युत्पुष्पविद्युत्पुष्पादेयुः न संसृतिहेतुः । पृथक्विषेयुः
 ज्योतिष्येषु 'सूचिचन्द्र' जसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकादयेति सूचोनेषु न संसृतिहेतुः । निदिधानु
 स्त्रीषु ननिर्गन्धेस्त्रीषु विचलनरक्षेयुः क्षीप्रियमणिप्रियमणिर्ह्येषु विचलनययीषु अतस्त्रिष्वन्नेन्द्रियेषु

[पृष्ठ ९] न्यक्षेति—न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे निर्गतानि अक्षाणि यस्या सा अथवा निर्गता अक्षेभ्यो या सा न्यक्षा अतीन्द्रिया सा चासौ वीक्षा विशिष्टा ईक्षा वीक्षा । इन्द्रियवीक्षाया भिन्ना अतीन्द्रियज्ञप्तिरित्यर्थः । तस्या विनिर्मोक्षे तस्माद्रहिते मोक्षे यदि मते तर्हि किं मोक्षलक्षणम् । मोक्ष अस्य अस्तीति मोक्षो तस्य लक्षण किं स्यात् । न किमपि । यत ज्ञानम् आत्मलक्षण तस्य सर्वथा उच्छेदे मोक्षिण आत्मनो लक्षण नश्येत् । यथा अग्नौ उष्णत्वात् अन्यत् इतरत् लक्ष्यलक्षण विचक्षणं विद्वद्भिः न लक्ष्य लक्षयितुं न योग्यम् । औष्ण्यमेव अग्ने-लक्षण तदभावे अग्ने अभावः । तथा चैतन्यम् एव आत्मन लक्षणम् । तदभावे अभाव आत्मन स्यात् ॥३३॥ किं चेति—किं च, सदा शिवेन्द्रादयः ससारिण मुक्ता वा । मसारित्वे कथमाप्तता । ससारिणो दोषा रागादयः सन्ति । तेषां सद्भावे सर्वज्ञता न स्यात् । विना सार्वज्ञ्यं मोक्षमार्गप्रणीते अमभवात् । मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयै अपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिलिखितम् । क्लेशदायकानां कर्मणाम् अज्ञानादीनां विपाक उदयस्तस्मात् जातं आशयै रागद्वेषपरिणामै अपरामृष्ट रहित पुरुषविशेष ईश्वर, तत्र निरतिशय तारतम्यरहित सर्वज्ञबीजम् इति पतञ्जलिभाषितम् । ऐश्वर्येत्यादि—ऐश्वर्यम् अप्रतिहतम् अणिमामहिमादिरूपम् अप्रविच केनापि अप्रतिरुद्धम् । सहजो विराग स्वाभाविको विषयविरक्तिः । निसर्गजनिता तृप्तिः स्वमावाज्जान सतोप । इन्द्रियेषु वशिता जितेन्द्रियत्वमिति भावः । आत्यन्तिकं सुखम् अन्तः विनाशम् अतिक्रान्तम् अत्यन्तं विनाशरहितं तत्र भवम् आत्यन्तिकं सुखम् अविनाशि-सुखम् । वैषयिकसुखव्यतिरिक्तमात्मानन्दजं सुखम् । अनावरणा आवरणरहिता शक्तिः अप्रतिहतवीर्यम् । तथा सर्वविषय ज्ञानं सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रत्यक्ष ज्ञानम् । हे भगवन्, त्वयि एव विद्यते । इत्येतदाप्तलक्षणं रागादिभिः उपद्रुते रुद्रे आप्तत्वप्रबलत्वात् विरुध्यते ॥३४॥ अनेकेति—अनेकजन्मसतते अनेकानि च तानि जन्मानि च अनेकजन्मानि तेषां सतति परंपरा तस्या अनेकजन्मसतते । अस्य पुंसः समारे चतुर्गतिषु भ्रमत अनन्तानि जन्मानि व्यतीतानि । तथापि यावदद्य अक्षय क्षयरहित असौ जीव अस्ति यदि । मुक्त्यवस्थायां कुतो हेतुतः कस्मात्कारणात् क्षीयेत क्षयः तस्य जीवस्य स्यात् । पुंसः अनादिनिघनत्वात् तस्य मुक्त्यवस्थायां नाशाभिमननं मलक्षयात् सुवर्णनाशाभिमननवत् अयुक्तं प्रतिभाति ॥३५॥

[पृष्ठ १०] कापिला द्रष्टुं स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिरिति मन्यन्ते तदभिमतं दूषयति—वाह्ये ग्राह्ये इति—मलापायात् वातपित्तकफादीनां वैषम्याभावात् वाह्ये ग्राह्ये वाह्ये वस्तुनि यथा सत्यस्वप्नो भवति तथा मलापायात् कर्ममलविनाशात् वाह्ये ग्राह्ये इव द्रष्टुं आत्मनः स्वरूपे अवस्थानं भवति । परं द्रष्टुं स्वरूपे एव अवस्थानं अनुभवो भवति न वाह्ये इति कथनम् अमानकं प्रमाणरहितम् । चैतन्यं खलु स्वपरावभासकम् । मलापगमे तु सकलं वस्तुजातम् अन्तर्वाह्यं तद्वैषम्ये प्रतिबन्धकापायात् ॥३६॥ न चायमिति—न चायं सत्यस्वप्नः अप्रसिद्धः, स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—यस्मिन्वति—रात्र्यन्ते निशाया चरमे यामे यो नरः नृप राजानम् । कुञ्जर गजम् । हयं अश्वम् । सुवर्णं वलीवर्दं धेनुं मही च पश्यति तस्य कुटुम्बं वर्धते ॥३७॥ यत्रेति—यत्र यस्मिन् मुक्तात्मनि नेत्रादिकं नेत्रादिकानि इन्द्रियाणि न सन्ति तत्र मुक्तात्मनि मतिः ज्ञानं नास्ति इति साहचर्ये वदति मति मूर्तिरिच्यते तन्न, यतः अन्वोऽपि स्वप्नं वीक्षते पश्यति । नेत्राभ्यां विनापि अन्वो यथा स्वप्ने पश्यति तथा इन्द्रियाभावेऽपि अशरीरं मुक्तात्मा सचराचरं जगत् जानाति पश्यति च ॥३८॥ पुरुषत्वात् पाण्यादिमत्त्वात् नरः सर्वज्ञो न भवतीति सोमासकमतं निरस्यति—जिमिन्यादे इति—जिमिन्यादे पुरुषत्वेऽपि यदि 'तर्से' मतिः ज्ञानं प्रकृष्यते प्रकर्षं यायात् तर्हि तस्या मते क्वचिन्नरि मानवे सर्वक्लेशकर्मरहिते महात्मनि प्रकर्षं पराकाष्ठापि स्यात् । यथा परिमाणं परमाणुम् आरभ्य खे विश्राम्यति । आकाशे परिमाणस्य प्रकर्षं समाप्तिं याति ॥३९॥

[पृष्ठ ११] तुच्छाभेविं इति—कस्यापि वस्तुनः तुच्छाभावः सर्वथा अभावः विनाशः न । हानिः न । दोषः सर्वथा नश्यति इत्यपि न युक्तम् । दोषे वायुना प्रशान्तिमिति तस्य सर्वथा नाशो जातः इति वचनं न युक्तम् । दोषस्तदा तमसा अन्वयो तमः स्वरूपः याति दोषः । घरादिषु पृथिव्यण्ववनादिषु घियं द्रष्टुं हानौ सत्यां विश्लेषो भवति इति सिद्धे साध्यतां भवेत्तु यत्तत्कालं घरादयः जीवेन शरीररूपेण गृहीतास्तावत्कालं

प्रथमं मोक्षो मयेत् । परचात् तदनन्तरम् । असी मयितः । कौलेयु कौक्ष्मतामुयायिषु मयेत् । हिसादिना मोक्षो न कम्पते इत्येषः ॥२४॥ साध्यमर्तं वृषयति । अठयकस्तेति—निरयं निरयव्यापिरवभाषयो' नित्यं सततम् । निरययो व्यापिरवभाषयो अव्यक्तगतरयो प्रकृतिपुरुषयोः । विभवेन प्रकृतं पुरुषो मिश्र इति ज्ञानं विवेकं तेन । व्याप्तिं मुक्तिम् । साध्यमुक्त्या कपिसाध्य । कथं प्रचसतं बुधति । अग्रपुत्रानुत्पन्नस्तिरैकस्वभावं कृतस्वमित्यम्' इति नित्यस्य सध्याणम् । कृतस्वमित्ये अर्थक्रिया न भवति । क्रमयोगपद्येनापि परिणामो न जायते । अतः पुत्रस्वकपस्यागोप्यस्वकपप्राप्तियेष तयो न भवति । अतः तयोमुक्तिरूपना व्यर्था ॥ २५ ॥

[पृष्ठ ७] मैरात्म्यादिभावनातो मुक्तिरिति मत् निराकृत । सर्वमिति—सर्वं वस्तु जीवादिनम् । भावनाया शुभाशुभया तत्स्वरूपस्य पुन पुनश्चेतसि चिन्तनेन । स्फुटं व्यक्तम् । धासेत ज्ञामेत । तावन्मात्रं स्पष्टावलोकोनेनैव । यदि मुक्तत्वे मोक्षाप्राप्तौ । बिप्रकम्मिनां कल्पकानाम् विरहिणां वा मुक्तिः स्यात् ॥२६॥ उक्तं च—पिहिते इति—काराकारे बन्धनात्म्ये । पिहिते कपाटनिष्ठे सति । सूचीमुखाद्यनिर्मेदे सूचीमुखादेन व्यक्तीबहनादिन निर्मेदे निवृत्तौ भवेत् यस्य एवमिवे तमसि विद्यमान । ययि च निमीक्रितनवने मयि च चोरे कारे वा पिहितलोचने सति । तथापि कान्तानर्तं व्यक्तम् कान्त्याया रमण्या' मुक्तं व्यक्तं विद्यतमज्ञम् अवलोकयामीत्यर्थः ॥२७॥ अङ्गाराजकनकनिष्ठसुद्धिर्न भवतीति अमुक्तम्—स्वभावेति—यत्र यस्मिन् वस्तुनि । स्वभावात्तरमूर्ति अस्या' स्वभाव' स्वभावात्तरम् । पुत्रस्वभावस्याप' उत्तरस्वभावप्राप्तिसौम्यता । सा वत्र अस्ति तत्र मलमयो भवति कर्तुं क्षम' । कैम्यः स भवैत् । स्वहेतुस्य स्वकारणतः । मयिमुक्तलोकोविष रत्नमीकितकैषु यथा मयिनिर्मुक्तिर्भाषते । तद्बहु' इति पद्य व्याख्यायते—तच्च बहुः तबहुः तबहुनि तद्भिन्ना जायते स्मेति तबहुर्बहु' तद्भिन्नाजायताश्च तस्य स्तोत्रा स्तनपात्राभिरापा' तस्मात् हेतो' अयम् आत्मा सनातन' नित्य' वर्तते । यदि जलिक आरमा स्वातर्हि ज्ञानभाक्को जननक्षये एव विमलेश्वरस्तस्त्वान् निवृत्तस्तस्य रतनाभिरापो जात' एवं यदि कल्पना क्रियते तदा कृतनाशाकृताभ्यागमयोपी भवताम् । अतस्तद्भिन्नं भावकृतनाभिरापो हेतो' अभिरापास्तस्वारो न सद्यस्तन' स प्राक्तन एवेति अमुक्यताम् । अस्माद्धेतोष आरमन' सनातनत्वं विद्ययति । रतोबुधे' रदाद्यो वर्धनात्—मानवा मुत्वा रयो जात' तस्य वर्धनात् आत्मा निरयो मन्तव्य' । नवस्मते—पूर्वभवे अहं देव आत्मन् अनुना अहं मानवो जात इत्यादि पूर्ववक्तव्य स्मरणात् सनातनत्वमारम्भ । भूताभिरापात्—बीतनाभयो शुभो मृतेषु पुत्रिव्यापिषु नोत्पद्यन्ते स जीव एव विद्यते । तस्य भूतेषु अनुभवमन् अन्वय' स न वृत्त्यते । भूताननुगमनात् जीव' प्रदृष्टिः प्रकृति स्वभावं परपटात्मीनां जागतीति प्रदृष्टिः आरमा स च सनातनः अपादिनिबन्ध' ज्ञेय ॥२९॥ एवं परलोकि-नोऽभावात् परलोकाभावे वस्यासी मोक्षः इति कार्थीजमर्तं प्रतिविरचितम् ॥ यथाग्निनाम् अमेदवाशो निरस्यते—

[पृष्ठ ८] भेदाऽयमिति—मात्रवर्तिनिः प्रत्ययानुमानादिप्रमाचसिद्धी । जगन्मनुष्यसुप्राज्ञैः पुनस्तत् तिरागम् । प्राधापानादिनिर्माद्योपबन्धुष्वश्वो मय्युः मरुतम् । प्रीतिक्षयपरिणामः शुद्धम् । इत्यादि परिकर्तं पर्वणि अहरपाणि । जगन् निर्जीवयम् । दीक्ष्यं नाताभिरावम् कृत' स्यात् । यदि अर्धं मेव कविद्या गोपेत मायनि वक्ष्यत । अतो जगता दीक्ष्यमात्रं सत्य एव ॥३॥ शुभवादिनां मतनिरासनम् । शून्यमिति—अहं वादी शून्यं तत्त्वं प्रजापत प्रत्यसाविम्य साधयामि इति आस्थायां प्रतिज्ञाया तैव (वादिना) कृताया सर्वशून्यता विरुध्यते । वादिन साध्यसाधनारीनां च विद्यमानत्वात् अशून्यत्वा एव सिध्येत् । कर्षं वादी शून्यवाद्यं साधयेत् । वस्तुनि निजरवक्षणे अन्वयस्तुन' अभावो यदि तर्हि तक्षेत्तया शून्यत्व न केनापि अवलम्बेत । सर्वं भावा परस्वभावन रहितत्वाच्छून्यता इत्यमुपगम्य निर्दोष एव ॥३१॥ नवानां गुणाया नाद्याभुविर्दिनि नाबाधयतमुच्छिन्नात्—याद्यो यति—मुक्तो मात । आरमन मयोऽत्र' तस्यै आरमन' जीव' ज्ञानम् । इन्द्रिय ज्ञानम् । संतारीयुषा वा आरम्य इन्द्रियविषयमुक्तं वा । यदि नास्ति तर्हि अरमनयमपि ज्ञानम् अपि तिरा नाप्यतवा न वाचिज्ज्ञानि । ययमपि ज्ञेया बुधतो इन्द्रियज्ञानमुक्तं न सत इति मय्यामह । एतद्विमतो भवमात्रं वाचिन्' इति अवलोकयते ॥३२॥

[पृष्ठ ९] न्यक्षेति—न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे निर्गतानि अक्षाणि यस्या मा अथवा निर्गता अक्षेभ्यो या सा न्यक्षा अनीन्द्रिया मा चासौ वीक्षा विशिष्टा ईशा वोक्षा । इन्द्रियवीक्षाया भिन्ना अनीन्द्रियज्ञप्तिरित्यर्थः । तस्या विनिर्मोक्षे तस्माद्रहिते भोक्षे यदि मते तर्हि किं मोक्षिलक्षणम् । मोक्ष अस्य अस्तीति मोक्षो तस्य लक्षण किं स्यात् । न किमपि । यत ज्ञानम् आत्मलक्षण तस्य सर्वथा उच्छेदे मोक्षिण आत्मनो लक्षण नश्येत् । यथा अग्नौ उष्णत्वात् अन्यत् इतरत् लक्ष्यलक्षण विचक्षणं विद्वद्भि न लक्ष्य लक्षयितु न योग्यम् । औष्ण्यमेव अने-लक्षण तदभावे अग्ने अभाव । तथा चैतन्यम् एव आत्मन लक्षणम् । तदभावे अभाव आत्मन स्यात् ॥३३॥ किं चेति—किं च, नदा शिवेश्वरादय ममारिण मुक्ता वा । मसारित्वे कथमाप्तता । मसारिपु दोषा रागादय सन्नि । तेषा सद्भावे सर्वज्ञता न स्यात् । विना सार्वज्ञ्य मोक्षमागप्रणीते अभवत् । मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशय अपरामृष्ट' पुरुषविशेष ईश्वर तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिलिखितम् । क्लेशादायकाना कर्मणाम् अज्ञानादीना विपाक उदयस्तस्मात् जाते आशयै रागद्वेषपरिणामै अपरामृष्ट रहित पुरुषविशेष ईश्वर, तत्र निरतिशय तारतम्यरहित सर्वज्ञबीजम् इति पतञ्जलिभाषितम् । ऐश्वर्येत्यादि—ऐश्वर्यम् अप्रतिहतम् अणिमामहिमादिरूपम् अष्टविध केनापि अप्रतिहृतम् । सहजो विराग स्वामाविकी विषयविरहित । नितर्गजनिता तृप्ति स्वभावाज्ज्ञान सतोप । इन्द्रियेषु वशिता जितेन्द्रियत्वमिति भावः । आत्यन्तिक सुखम् अन्त विनाशम् अतिक्रान्तम् अत्यन्त विनाशरहित तत्र भवम् आत्यन्तिक सुखम् अविनाशि-सुखम् । वैषयिकमुष्यतिरिक्तमात्मानन्दज सुखम् । अनावरणा आवरणरहिता यत्कि अप्रतिहतवीर्यम् । तथा सर्वविषय ज्ञान मूक्षमान्तरितदूरार्थेषु प्रत्यक्ष ज्ञानम् । हे भगवन्, त्वयि एव विद्यते । इत्येतदाप्तलक्षण रागादिभि उपद्रुते रुद्रे आप्तत्वप्रकल्पतो विरुध्यते ॥३४॥ अनेकेति—अनेकजन्मसतते अनेकानि च तानि जन्मानि च अनेकजन्मानि तेषा सतति परंपरा तस्या अनेकजन्मसतते । अस्य पुंस समारे चतुर्गतिषु भ्रमत अनन्तानि जन्मानि व्यतीतानि । तथापि यावदद्य अक्षय क्षयरहित अमो जीव अस्ति यदि । मुक्त्यवस्थाया कुतो हेतुत कस्मात्कारणात् क्षीयेत क्षय तस्य जीवस्य स्यात् । पुंस अनादिनिधनत्वात् तस्य मुक्त्यवस्थाया नाशोभिमनन मलक्षयात् सुवर्णनाशोभिमननवन् अयुक्त प्रतिभाति ॥३५॥

[पृष्ठ १०] कापिला द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थान मुक्तिरिति मन्यन्ते तदभिमत दूषयति—वाह्ये ग्राह्ये इति—मलापायात् वातपित्तकफादीना वैषम्याभावात् वाह्ये ग्राह्ये वाह्ये वस्तुनि यथा सत्यस्वप्नो भवति तथा मलापायात् कर्ममलविनाशात् वाह्ये ग्राह्ये इव द्रष्टु आत्मन स्वरूपे अवस्थान भवति । पर द्रष्टु स्वरूपे एव अवस्थान अनुभवो भवति न वाह्ये इति कथनम् अमानक प्रमाणरहितम् । चैतन्य खलु स्वप्नावभासकम् । मलापगमे तु मल वस्तुजातम् अन्तर्वाह्य तद्वैषम्य प्रतिबन्धकापायात् ॥३६॥ न चायमिति—न चाय मत्यस्वप्न अप्रमिद्ध, स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—यस्मिन्—रात्र्यन्ते निशाया चरमे यामे यो नर नृप राजानम् । कुञ्जर गजम् । हय अश्वम् । सुवर्ण बलोवदं घेतु मही च पश्यति तस्य कुटुम्ब वर्धते ॥३७॥ यत्रेति—यत्र यस्मिन् मुक्तात्मनि नेत्रादिक नेत्रादिकानि इन्द्रियाणि न सन्ति तत्र मुक्तात्मनि मति ज्ञान नास्ति इति माख्ये वदति मति मूरिभिरुच्यते तन्न, यत अन्वोऽपि स्वप्न वीक्षते पश्यति । नेत्राभ्या विनापि अन्वो यथा स्वप्ने पश्यति तथो इन्द्रियाभावेऽपि अशरीर मुक्तात्मा सचराचर जगत् जानाति पश्यति च ॥३८॥ पुरुषत्वात् पाण्यादिमत्त्वात् नर सर्वज्ञो न भवतीति मीमांसकमत निरस्यति—जिमिन्यादे इति—जिमिन्यादे पुरुषत्वेऽपि यदि तैर्य मति ज्ञान प्रकृष्येत प्रकर्ष यायात् तर्हि तस्या मते वचिचरि मानवे सर्वक्लेशकर्मरहिते महात्मनि प्रकर्ष पराकाष्ठापि स्यात् । यथा परिमाण परमाणुम् आरम्य खे विश्राम्यति । आकाशे परिमाणस्य प्रकर्ष समाप्ति याति ॥३९॥

[पृष्ठ ११] तुच्छाभिविं इति—कस्यापि वस्तुन तुच्छाभाव सर्वथा अभाव विनाश न । हानि न । दीप सर्वथा नश्यति इत्यपि न युक्तम् । दीपे वायुना प्रशान्तिमते तस्य सर्वथा नाशो जातः इति वचन न युक्तम् । दीपस्तदा तमसा अन्वयो तम स्वरूप याति दीप । घरादिषु पृथिव्यप्पवनादिषु धिय बुद्धे हानौ सत्या विश्लेषो भवति इति सिद्धेष्टाध्यता भवेत्तु तस्यैवंकाल घरादय जीवेन शरीररूपेण गृहीतास्तावत्काल

तेषु भियं सन्ति परं बडा बीजन बराबिचरं शरीरं त्यज्यत तदा ते बराबयं बुद्ध्या विविसम्पन्ने तथा बुद्धे हाणि
तारतम्येन मवन्ती अथेतन्तु बराबिपु तस्या हाने परकाष्ठा भवति तथा छिद्यसाम्पत्ता मयेत् । बीजे
अथेतनेषु बराबिपु बुद्धे अमात्रं मय्यते ॥४०॥ तदापुतिहृत्ती इति—यथा तपनस्य सुषुप्त्य बीपितिः प्रकाश
तदापुतिहृत्ती प्रकाशावरणस्य मेघादेः हृत्ती बिनाद्ये सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा येमुयो बुद्धि तदापुतिहृत्ती
तस्या भावते ज्ञानावरणकर्मण बिभाते एति सा बुद्धि यत् वस्तु बराबरं कथं न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु
निश्चिन वस्तुभाते सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्मादितवाविनो मुनिततरनं निराकुर्मन्ति—अहोति—यदि
ब्रह्म परमपुरुष एकम् अमेदक्यं विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कृतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरणं विवर्तरहितं
न सिद्यति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एकं तत् सिद्यत् । यथा बटाकायम् आकाशे धीयते तथा इयं वस्तु तत्र
परब्रह्मणि धीयताम् अपुत्राकपेक्ष कर्तव्याम् । परं तथा अपवर्णं न बुध्यते ॥४२॥ अत्र मत्तम् एक एवेति—
वेदे वेदं प्रतिघटीरम् एक एव हि भूतारया परमपुरुषा व्यवहितः विद्यते । परं अत्रात्र इव एकपाणि अनेकपा
नानाकपेक्षं ब्रूयते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदपुक्तम् । एका से इति—अने से आकाशे तदु ब्रह्म एकं वेद्यते ज्ञायते । अम्यत्र
बटावी अनेकपा वेद्यते तथा ब्रह्म मेदेव्यो अम्यत् अमेदक्यं कुत्रापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अत्रम् मति
विस्तरैव । आनन्द् इति—आनन्दः अनन्तं पुक्तम् । ज्ञानं व्याप्तिकं केशकज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलभुक्तानाम्
आत्यन्तिका निमग्नता । बीजम् अनन्तघटितं । परमसुखमया अनुर्गतम् । एतत् आनन्दाविपञ्चकम् आत्यन्तिकम्
अन्तम् अतिब्रह्मन्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्ष परिकीर्तित कथित ॥ ४५ ॥ एतत् आनन्दाविपञ्चकम्
आत्यन्तिकं अन्तमतिब्रह्मन्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्ष परिकीर्तित कथित ॥४५॥ अत्रादेति—अत्रा
अन्तिविद्या तन्मूकबीजादेः एरुक्बीजादे आदिवाधेन व्यपगतकेपाकाकाशोतां ग्रहणम् । एतेवा तथा
स्वभावाद्बुध्यन्ति । मियता यथा निविद्यता—तथा मुक्तस्यापि आत्मन स्वभावाद्बुध्यन्तिर्दृष्ट ॥ ४६ ॥
तथाप्यत्रेति—कर्मभावे जातेऽप्यत्र तदावाच मुक्तबीजस्यार्थावस्थानं निवाद्य अधिष्ठे केत् पुण्यपापरमनां
पुण्योपेतारत्ना पानोपेतात्मना च स्वर्गैवभ्रागमो न स्यात् स्वर्ग ईशकोके स्वर्गे नरकै च आगमो यमन मा भवतु
अत्रैव देवा वसतिमवतु । तथा च तै तथालाकान्तरेण अन्यो लोको आकाशन्तरे स्वर्गादिकं तेन अर्थं स्यात्
तदात्मना न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

हनुपासकाभ्यक्षणे समस्तसमस्तसिद्धान्तावबोधनी नाम प्रथमः कथः ।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कथः ।

[पृष्ठ १२ १३] अतो बर्माचारनैकमते अनुमतीपते बर्माचारनै एका नवका मतिर्द्वितीयस्य तत्त्वबोधनं
हे बर्माचारनपरायनबुद्धे अनुमतीपते नृपते हि निश्चयेन सम्बल्यं नाम नराणां पुत्राणां संनिस्त्वैश्वर्यबोधानां
अहोरी अनन्तसाधारणा पुत्रदेवता सामर्थ्यवैद्यतास्ति । अस्यां पीक्षं नवनित ब्रह्मास्कारात् उक्तं
एकदा एकमेव ब्रह्मायमेव । यवीकगुणवैव ब्याजम् तस्य गुणा श्रोत्रास्तवैव अनुपपत्ता तवैव मुचरद्विपवैव
संवात कम्पारमत्तार्म अशेषकर्मपकमुपविपजतया सकलपापपरिधामै मलिनमुद्धितात् । नरत्रिर्द्विहमनुपपत्तिपु
न भवति संमृतिहेतु न जायते जनने कारणम् । पुण्यदानुपामपि अनुप्यानां पुत्रि ब्रह्मदानुपाम तैपामपि नराणां
येवा नुपुरातकतिर्यथापुर्वन्तो जातस्तैपामपि नराणामित्यर्थः । यथा नरकापुर्वन्तो जातस्तै साम्यद्वय वदतु
तन्मातापैषु प्रथमा नरकभूमि विहाय अन्त्याषु पदन्तु नारकभूमिषु न जायन्ते । तत्साम्यत्वं तत्र संमृतिहेतुर्वैव
कारणं न भवति । ब्रह्मविषेण अन्तरेण किमरविपुत्र्यमहोरगलम्बंयक्षाराक्षभमृत्पिङ्गानेषु न संमृतिहेतुः ।
ब्रह्मविषेण भगवतापिषु अचुरनामविषुसुषुपार्मिवास्तनिठोचिद्वीपविषुमायेषु न संमृतिहेतुः । पञ्चविषेण
ज्योतिष्केषु 'सुर्पाकम्भमसौ ग्रहणस्यमर्कमकतारकाश्चेति । सुर्पाकेषु न संमृतिहेतुः । त्रिषिषाषु
रवीषु नृतिर्मयेवस्त्रीषु, विकककरनेषु, धीमिषमोनिमयचतुर्दि त्रयेषु विपलजयवीचपु अर्तत्रिषम्येतित्रयेषु

च, पृथ्वीजलान्निवायुकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति जन्मकारणम् । (इदं सम्यक्त्वम्) सार्ववि समर्यादं विदधति करोति आजवजजीभार्धं समारभावम् । नियमेन सपादयति कचित्काल (जीवस्य ममारमुखम्) साधुत्वसपादनसार साधुगुणानां भाव साधुत्व तस्य सपादनमेव सारो यस्मिन्स सस्कार यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्या आत्मन स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्वं न जहाति । तथा चारित्र्ये चार्वी निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम् । मिद्ध मन्त्राराधनादिर्मिलंश्चक्षित्तामणिर्यथा सम्यक्त्व असीमम् अतिमर्यादं कामितानि स्वयाचितानि फलति ददाति । व्रतानि अहिंसादीनि पुनर्यथा ओषध्य द्रोह्यादयः फलपाकावमानानि फलपाकान्तानि फलं दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तानि च पथि हितं पाथेयं तद्वि पाथेयवत् सबलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशितव्यमन्नं तद्वत् । नियतवृत्तानि कचित्कालं सुखजनकानि यथा सिद्धरसवेद्यसवन्धात् सिद्धपारदव्यधमपर्कात् । उपबृन्धमनिधानमात्रजन्मनि अग्निमानिध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीयः । तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थानां यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्तं तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात् मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मननं चिन्तनम् एव मनोमननमात्रं तस्य तन्त्रे आघोने केवलं मनश्चद्धानाघोने सम्यग्दर्शने । न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायासः आश्रयणीयः अवलम्ब्य । एतत्सम्यक्त्वप्राप्त्यै शरीरायासयितव्यं शरीरखेदं विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भावः । न देशान्तरं गन्तव्यम् । देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्वं वस्तु न हि स्थापितं यत् तत्र गत्वा तदानीयेत । न कालक्षेपकुक्षिः अपेक्षितव्यः । न कालयापनापेक्षा कर्तव्या तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव । रूपसपदं सौन्दर्यसपत्तेः कारणं सुभगत्वं यथा भोगायतनस्य शरीरस्य उपचारं स्थानगमनादिकं तस्य कारणं प्राणितं स्वामोच्छ्वासः । विजयप्राप्ते कारणं यथा मूलबलं मुख्यं सैन्यम् । आभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्वं विनयः शास्त्रसस्कारो वा । नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरतायां नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरणं यथा । अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरणं निदर्शनमिव गरीयासं महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथमं कारणं गृणन्ति कथयन्ति । तस्य चेदं लक्षणम् । आप्तेति—आप्तं सर्वज्ञं, आगमं सर्वज्ञस्यार्हत्वे मुखान्निर्गतं दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूपं उपदेशः । पदार्था जीवाजीवास्त्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षपापपुण्यात्मकाः । एतेषां कारणद्वयात् श्रद्धानं सम्यक्त्वम् । अन्तरङ्गं कारणं दर्शनमोहस्य उपशमः, क्षयः क्षयोपशमो वा । तस्मिन् प्राप्ते सति यद्बाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम् । यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धानं जायते तदधिगमजम् । आसन्नमव्ययता^१, कर्महानि^२, सजित्वम्^३, शुद्धिः—विशुद्धपरिणामः एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतवः । सम्यग्गुरूपदेशः, जातिस्मरणं, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतवः । एतान् हेतूनासाद्य जीवे सम्यक्त्वं जायते । तच्च मूढाद्यपोढं देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् नि शङ्किताद्यष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च । प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम् । प्रशमा वतीति प्रशमादिभाक् । प्रशमादीनां लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वांस आप्तं सर्वज्ञं त्रिकाल-गोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम् । सर्वलोकेशः सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामोशस्तम् । सर्वदोषविवर्जितं सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तै-विवर्जितं विशेषेण वर्जितो रहितः ते दोषा कदाचनापि तं यथा न स्पृशन्ति तथा स तं रहितस्तम् । सर्वसत्त्व-

१ आसन्नमव्ययता मन्यो रत्नत्रयाविस्मययोग्यो जीव आसन्नं कतिपयमवप्राप्यनिर्वाणपटः । आसन्नश्चासौ मन्यश्च आसन्नमव्ययस्त्वस्य भाव आसन्नमव्ययता । २ कर्महानि मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्व-प्रतिबन्धकर्मणां यथासम्भवमुपशमः क्षयोपशमः क्षयो वा । ३ सजित्वम्—सज्जा-शिक्षाक्रियालापोपदेश-प्राहित्वम् । सज्ञा अस्य अस्तीति सज्ञी सज्जनो भावः सजित्वम् । सा० घ०, अ० १, श्लो० ६ ।

तेषु विषयं सन्ति परं यथा कीदृशं भराविषयं शरीरं त्यज्यत तथा ते पराधमं बुद्ध्या विस्मय्यन्ते तथा बुद्धे हानि-
 तारतम्येन भवन्ती अनेकेषु भराविषु तस्या हानेः परकाष्ठा भवति तथा चिद्यसाभ्यस्ता भवेत् । कीदृ-
 शानेतेषु भराविषु बुद्धेः अन्नाद्य मम्यते ॥४०॥ तद्वापुतिहृती इति—यथा तपसस्य सुमस्य वीर्यस्य प्रकाश-
 तद्वापुतिहृती प्रकाशावरणस्य मेघादौ हृती विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा रोमुषी बुद्धि तद्वापुतिहृती
 तस्याः आशये ज्ञानावरणकमन विनाशे सति सा बुद्धिः क्व वस्तु भरावरणं कर्म न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु
 निश्चितं वस्तुज्ञातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्मादित्यादिनां मुक्तिरतएव निराकुर्वन्ति—अहोति—यदि
 ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अनेककर्म विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कृतः कस्मात् कथंवात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं
 न चिद्ययति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एवं तत् चिद्यमेव । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगत् तत्र
 परब्रह्मणि लीयताम् अपुनस्तत्रैव वर्तताम् । परं तथा अपुनमपुनं न दृश्यते ॥४२॥ अत्र मत्तम् एकं पश्येति—
 वेहे वेहे प्रतिघाटीरम् एक एव हि मृताश्मा परमपुरुषा व्यहरिषत विद्यते । परं अत्रान्न इव एकवापि अनन्या
 नामास्तेषु दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] एवमुक्तम् । एका स्ते इति—यन् स्ते आकाशे इन्दुः चन्द्रः एकं वीर्ये जायत । अस्म्य
 अकारादी अनेकवा वेषते तथा ब्रह्म वेदेभ्यो अम्यत् अनेकस्य कुत्रापि न वीर्ये न जायते ॥४४॥ अहम् अति-
 विस्तरैव । आनन्द इति—आनन्दः अनन्तं सुखम् । ज्ञानं वायिक कैवल्यज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सत्त्वगुणानाम्
 आत्यन्तिकी निमग्ना । कीदृशं अनन्तवर्धित । परमसुखमहा अमूर्तवत् । एतत् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकम्
 अहम् अतिव्याप्तम् अविनाशितं । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितं कथितं ॥ ४५ ॥ एतत् आनन्दादिपञ्चकम्
 आत्यन्तिकं अन्तमतिव्याप्तमविनाशितं यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितं कथितं ॥४५॥ अत्राहोति—अत्राह
 अतिविद्या सत्त्वगुणैर्जातेः एतद्विद्याभेदेन व्यपगतकेपाकाभ्यासीनां ब्रह्मम् । एतेषां यथा
 स्वभावाद्बुद्धिमतिः । विद्यता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावाद्बुद्धिमतिर्बुद्धा ॥ ४६ ॥
 तद्याप्यत्रेति—कमलये आहोऽप्यत्र तद्यानां मुक्तबीजस्यावैवावस्थानं विनाशे अस्मिन्नेत् पृथ्वापरमनां
 पुण्यवैराग्यना पापवैराग्यना च स्वर्गलोकप्राप्तयो न स्यात् स्वर्गं देवलोके वसन्ते नरकं च आनन्दो मनन मा मनु
 ब्रह्म तेषां वसतिमवतु । तथा च ते तत्कालोक्तान्तरं अन्यो लोको लोकान्तरं स्ववर्तिकं तेन जलं स्यात्
 तद्वातया न किमपि प्रमोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाम्यजनं समस्तसमस्तसिद्धान्तावधारणौ नाम प्रथमा कथा ।

२. आत्मस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कथा ।

[पृष्ठ १२ १३] अहो वर्मापचनेकमते वसुधतीपते वर्मापचने एका कैवल्य मतिर्बुद्धिर्बुद्धिस्तत्त्वोचनं
 हे वर्मापचनपरमबुद्धे वसुधतीपते मूलं हि निवचयनं सत्यत्वं नाम नराणां पुरुषाणां अस्तिपञ्चैश्वर्यबोधानां
 महती अनन्यसाधारणा पुरुषवेद्यता सामर्थ्यवैक्यतास्ति । अस्याः पीडयं व्यपक्षितं ब्रह्मात्मकारणात् सत्यं
 एवमेव अद्वैतमेव । यद्येकगुणमेव यथायथं तस्य गुणा श्रोतास्तथैव प्रयुक्तता तथैव नुपसंहितत्वेन
 संघातं कञ्चारमत्तानं अनेककर्मपञ्चपुण्यपञ्चतया सत्त्वगुणपरिचामी भस्मिन्बुद्धिस्तात् । नरकतिर्ब्रह्ममुप्यगतिषु
 न भवति संमुतिहेतुः न जायते जलन कारणम् । पुण्यबानुयामपि मनुष्याणां पुद्गि ब्रह्मामुपमां तेषामपि नराणां
 येषां मृदुलारकतिर्ययापुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थः । तेषां नरकापुर्बन्धो जातस्ते सन्मन्त्रद्वयं वदन्तु
 तस्मादात्मैव प्रथमा नरकभूमिं विहाय अन्त्यां पदं नारकभूमिषु न जायते । तत्त्वम्यत्वं तत्र संमुतिहेतुर्बुद्धि-
 कारणं न भवति । ब्रह्मविषये अन्तरेषु किनरविषुस्यमहोरगमन्त्रब्रह्मकारकतन्त्रविधाषेव न संमुतिहेतुः ।
 ब्रह्मविषये भवनवासिषु अनुरागविद्युत्पुण्यमिवास्तस्मिन्नेव किङ्कीपविद्युत्पुण्यारेषु न संमुतिहेतुः । पञ्चविषये
 ज्योतिष्येषु 'सूक्ष्मज्जमसी प्रहसन्नप्रकीर्णकाराहवैति' नृलोकेषु न संमुतिहेतुः । विविधानु-
 रीषु नृतिर्यवेदनीषु विर्कलकरेषु द्वीपिष्योतिष्यनृतिर्यवेदनीषु विवर्कलकरेषु अस्तिपञ्चैश्वर्यबोधानु-

च, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेषु त्रनस्पनिषु च न भवन्ति जन्मकारणम् । (इदं सम्यक्त्वं) सावधि समर्यादं विदधाति करोति आजवजवोभाव समागमावम् । नियमेन मपादयति कचित्काल (जीवस्य ममारमुखम्) साधुत्वमपादनमार साधुगुणानां भाव साधुत्व तस्य मपादनमेव मारो यस्मिन्म मस्कार यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्यपि आत्मन स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्वं न जहाति । तथा चारित्र्ये चार्थो निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्पत्तम् । सिद्ध मन्त्राराधनादिभिर्लब्धश्चिन्तामणिर्यथा सम्यक्त्वं अमीमम् अतिमर्यादं कामितानि स्वयाचितानि फलानि ददाति । व्रतानि अहिमादीनि पुनर्यथा ओषध्य श्रीह्यादयः फलपाकावमानानि फलपाकानानि फलं दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तानि च पथि हित पाथेय तदिव पाथेयवत् नवलवत् मार्गे क्षुत्परिहाग्यं यदग्निव्यमन्नं तद्वत् । नियतवृत्तानि कचित्काल सुखजनकानि । यथा सिद्धरसवेधसन्ध्यात् सिद्धपारदव्यधमपर्कात् । उपवृद्धमनिधानमात्रजन्मनि अग्निमानिध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णं यथा परिश्रम आयागो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीय । तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयायात्म्यमवगमात् जीवादिनवपदार्थानां यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्तं तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात् । मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मननं चिन्तनम् एव मनोमननमात्रं तस्य तन्त्रे आधोने केवलं मन श्रद्धानाधोने सम्पादयति । न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायासः आश्रयणीय अवलम्ब्य । एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरीर नायासयितव्यं शरीरखेदं विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भावः । न देशान्तरं गन्तव्यम् । देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्वं वस्तु न हि स्थापितं यत् तत्र गत्वा तदानीयेत । न कालक्षेपकुक्षिः अपेक्षितव्यं न कालयापनापेक्षा कर्तव्या । तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव । रूपमपद सौन्दर्यमपत्ते कारणं सुभगत्वं यथा । भोगायतनस्य शरीरस्य उपचार स्थानगमनादिकं तस्य कारणं प्राणितं श्वाभोच्छ्वासः । विजयप्राप्ते कारणं यथा मूलबलं मुख्यं सैन्यम् । अभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्वं विनयः शास्त्रमकारो वा । नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरताया नयस्य मामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरणं यथा । अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य मकलम्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरणं निदर्शनमिव गरीयाम महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथमं कारणं गृणन्ति कथयन्ति । तस्य चेद लक्षणम् । आप्तेति—आप्तः सर्वज्ञः, आगम सर्वज्ञस्याहृतो मुखान्निर्गतं दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूप उपदेशः । पदार्था जीवाजीवास्रवन्वसवरनिर्जरा मोक्षपापपुण्यात्मका । एतेषां कारणद्वयात् श्रद्धानं सम्यक्त्वम् । अन्तरङ्ग कारणं दर्शनमोहस्य उपशमः, क्षय क्षयोपशमो वा । तस्मिन् प्राप्ते मतिं यद्वाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम् । यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धानं जायते तदधिगमजम् । आमन्नमन्यता^१, कर्महानि^२, सजित्वम्^३, शुद्धिः—विशुद्धपरिणाम एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतवः । नम्यरगुरुपदेशः, जातिस्मरणं, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतवः । एतान् हेतूनासाद्य जीवे सम्यक्त्वं जायते । तच्च मूढाद्यपोढ देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् नि शङ्किताद्यष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च । प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम् । प्रशमा नतीति प्रशमादिभाक् । प्रशमादीनां लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वांस आप्त सर्वज्ञ त्रिकाल-गोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठित जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम् । सर्वलोकेशः सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम् । सर्वदोषविवर्जितं सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तं विवर्जितं विशेषेण वर्जितो रहितः ते दोषा कदाचनापि तं यथा न स्पृशन्ति तथा स तं रहितस्तम् । सर्वसत्त्व-

१ आसन्नमन्यता मन्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव आसन्न कतिपयमवप्राप्यनिर्वाणपत्र । आसन्नश्चासौ मन्यश्च आमन्नमन्यस्तस्य भाव आसन्नमन्यता । २ कर्महानि मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिवन्धकर्मणा यथासंभवमुपशम क्षयोपशम क्षयो वा । ३ सजित्वम्—सजा-शिक्षाक्रियालापोपदेश-प्राहित्वम् । संज्ञा अस्य अस्तीति सज्ञी सजिनो भाव सजित्वम् । सा० ध०, अ० १, श्लो० ६ ।

तेषु विद्य सन्ति परं यथा बीजन वरादिवर्ष धारीरं त्यज्यते तथा ते वरावय मुद्रया विस्मर्यन्ते तथा बुद्धेः हानि
 तारतम्येन भवन्ती अन्ततस्तु वरादियु तस्या हानेः पराकाष्ठा भवति तथा सिद्धसाध्यता भवेत् । अने-
 भवेतनेषु वरादियु बुद्धेः अभाव गम्यते ॥४॥ सदावृत्तिहृत् इति—यथा तपनस्य सूर्यस्य वीचिदिः प्रकाश-
 तदावृत्तिहृत् प्रकाशावरणस्य मेघादौ हृत् विनाये सर्वं वस्तु प्रकटयति तथा तेषुपी बुद्धि तदावृत्तिहृत्
 तस्याः भावते ज्ञानावरणकर्मण विघाते सति सा बुद्धि यत् वस्तु वरावर कर्म न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु
 निश्चितं वस्तुज्ञातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माहृतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुञ्चति—अहोति—यदि
 ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अनेवक्यं विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कुतः कर्मणात् कर्मणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं निवर्तयति
 न विद्ययति । यदि निवर्तयति स्यात् एकं तत् सिद्धयेत् । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं अपत् तत्र
 परब्रह्मणि लीयताम् अपृच्छयेत् वर्तताम् । परं तथा अपुनर्भूतं न भूयते ॥४२॥ अत्र मत्तम् एक एवेति—
 हे हे हे प्रतिघटीरम् एक एव हि मृतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थित विद्यते । परं अत्र च इ एव एकमपि अनेकया
 मानाक्येण दुरयते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] अथपुनरुक्तम् । एका खं इति—अने खे आकाशे इत्युक्तं नाम एकं वेद्यते ज्ञायते । अग्नय
 अकारो अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म वेदेभ्यो अग्नयु अनेवक्यं कुत्रापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अहम् अति-
 विस्तरं । ज्ञानान्त् इति—ज्ञानम् अग्नयु सुखम् । ज्ञानं साधिकं कैवल्यज्ञानम् । ऐश्वर्यं सकलमुक्तानाम्
 आत्मनिष्ठाकी निर्मेकता । वीर्यम् अग्नयुसिद्धिः । परमसुखयता अपूर्णत्वम् । एतत् ज्ञानावधिपञ्चकम् आत्मनिष्ठम्
 अग्नयु अतिव्यक्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्ष परिकीर्तितं कथितं ॥ ४४ ॥ एतत् ज्ञानावधिपञ्चकम्
 आत्मनिष्ठं अतमतिव्यक्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्ष परिकीर्तितं कथितं ॥४५॥ अनाद्येति—अनाद्य
 अविनाशिता एतद्वक्तृवादेः एतद्वक्तृवादेः आदिपक्षेन व्यपगतैपाकाज्वालीनां एतद्वक्तृम् । एतेषां यथा
 स्वभावाद्बुद्धमिति । नियता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावाद्बुद्धमिति ॥ ४६ ॥
 तदाप्यत्रेति—अमलमे जातेऽप्यत्र तदावृत्ते मुक्तबीजस्यावैवावस्थान विघाते अमिलते चेत् पुष्पापावरमनो
 पुष्पोपेतावरमनो पापोपेतावरमना च स्वभाववशात् न स्यात् स्वयं देवलोके दशके नरके च जायते नम मा भवतु
 अत्रैव तेषां वसतिभवतु । तथा न त तदासोकान्तरण अग्नौ लोको लोकान्तरं स्ववर्तिकं तेन जलं स्यात्
 तद्वर्तमानं न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकपञ्चमे समस्तसमवसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमा कथाः ।

२. आत्मस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कथाः ।

[पृष्ठ १२ १३] बहो धर्मापचर्चनकमते वसुमतीपते धर्मापचर्चन एका केवला मतिर्बुद्धिर्ब्रह्म उत्सवोचन
 हे धर्मापचर्चनपचर्चनबुद्धे वसुमतीपते भूपते हि निश्चयतः सम्पत्तं नाम नराणां पुष्पाणां अक्षिपञ्चेन्द्रियजीवानां
 महती अनग्नसाधारणा पुष्पवेद्यता साक्ष्यविद्यतास्ति । अस्याः पीकं व्यनक्ति ब्रह्मात्मकारणात् सङ्घ-
 एका एकमेव अनहामदेव । यवीनगुणमेव यथावत् तस्य पुष्पाः श्रौतस्तत्त्वैव प्रयुक्ततया तत्रैव पुनसहितत्वेन
 संघात सम्भारमन्त्रां असेदकमपचर्चनविद्यतया सकलपापपरिधायी भक्तिबुद्धित्वात् । नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु
 न भवति संसृतिहेतुः न जायते जनने कारणम् । पुष्पशानुभामपि अनुभवाणां पुष्टिं ज्ञानाभ्युपेक्षां तेषामपि नराणां
 येषां नृमुरारकतिर्यङ्मायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यत्र । यथा नरकानुर्बन्धो जातस्ते शम्भुद्वया वदन्
 तन्मातामेव प्रथमा नरकमूर्ति विहाय अस्यां वदन् नारकमूर्तिषु न जायते । तत्तत्स्वरूपं तत्र संसृतिहेतुर्बन्ध
 कारणं न भवति । बहुविधेषु व्यपचरेषु किनरकिमुक्तमहोपायवर्षवधाराभयपूतपिशाचेषु न संसृतिहेतुः ।
 बहुविधेषु भवनवासिषु अनुरागादिशुश्रूषणमिमांसास्तनिष्ठविहीनविन्युमांसेषु न संसृतिहेतुः । पञ्चविधेषु
 ज्योतिष्वेषु 'सूर्याज्जगत्समी प्रह्वनह्वजप्रकीर्णकताराकादयः' सुषोक्तेषु न संसृतिहेतुः । विविधाषु
 स्त्रीषु मूर्तिर्मध्येवस्त्रीषु विकलकरलेषु द्विप्रियत्रीप्रियचतुर्प्रियेषु विवर्णयथीषु अक्षिपञ्चेन्द्रियेषु

च, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति जन्मकारणम् । (इदं सम्यक्त्वम्) सार्वत्रिकं समर्थाद्, विदधाति करोति आजवजवीभावं समारभावम् । नियमेन संपादयति कचित्कालं (जीवस्य ससारसुखम्) साधुत्वसंपादनसारं साधुगुणानां भावं साधुत्वं तस्य संपादनमेव सारो यस्मिन्सं सस्कारं यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्यपि आत्मनः स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्वं न जहाति । तथा चारित्र्ये चावीं निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम् । सिद्धं मन्त्राराधनादिभिर्लब्ध्वश्चिन्तामणिर्यथा सम्यक्त्वं असीमम् अतिमर्यादं कामितानि स्वयाचितानि फलति ददाति । व्रतानि अहिंसादीनि पुनर्यथा ओषध्यः श्रोत्रादयः फलपाकावमानानि फलपाकान्तानि फलं दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तौ च पथि हितं पाथेयं तदिव पाथेयवत् सवलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशितव्यमन्नं तद्वत् । नियतवृत्तौ च कचित्कालं सुखजनकानि । यथा सिद्धरसवेषसवन्धात् सिद्धपारदव्यघमपकात् । उपवृद्धमनिधानमात्रजन्मनि अग्निमानिध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीयः । तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थानां यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्तं तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात् । मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मननं चिन्तनम् एव मनोमननमात्रं तस्य तन्त्रे आधीने केवलं मनश्चद्वानाधीने सम्यग्दर्शने । न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायासः आश्रयणीयः अवलम्ब्य । एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरीरनायासयितव्यं शरीरखेदं विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भावः । न देशान्तरं गन्तव्यम् । देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्वं वस्तु न हि स्थापितं यत् तत्र गत्वा तदानीयेत् । न कालक्षेपकुक्षिः अपेक्षितव्यः । न कालयापनापेक्षा कर्तव्या । तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव । रूपसपदं सौन्दर्यसपत्तेः कारणं सुभगत्वं यथा । भोगायतनस्य शरीरस्य उपचारं स्थानगमनादिकं तस्य कारणं प्राणितं श्वासोच्छ्वासः । विजयप्राप्ते कारणं यथा मूलबलं मुख्यं सैन्यम् । अभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्वं विनयः शास्त्रमस्कारो वा । नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरतायां नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरणं यथा । अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरणं निदर्शनमिव गरीयामं महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथमं कारणं गृणन्ति कथयन्ति । तस्य चेदं लक्षणम् । आप्तेति—आप्तं सर्वज्ञं, आगमं सर्वज्ञस्याहर्तो मुक्ताभिर्गतं दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूपं उपदेशः । पदार्था जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरा मोक्षपापपुण्यात्मका । एतेषां कारणद्वयात् श्रद्धान् सम्यक्त्वम् । अन्तरङ्गं कारणं दर्शनमोहस्य उपशमः, क्षयः क्षयोपशमो वा । तन्मिन् प्राप्ते सति यद्बाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम् । यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धान् जायते तदधिगमजम् । आसन्नमव्ययता^१, कर्महानि^२, सञ्ज्ञित्वम्^३, शुद्धिः—विशुद्धपरिणाम एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतवः । सम्यग्गुरूपदेशः, जातिस्मरणं, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतवः । एतान् हेतूनां साद्यं जीवे सम्यक्त्वं जायते । तच्च मूढाद्यपोढं देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् निश्चिन्ताद्यष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च । प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम् । प्रशमा गतीति प्रशमादिभाक् । प्रशमादीनां लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वांस आप्तं सर्वज्ञं त्रिकाल-गोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम् । सर्वलोकेशः सर्वं च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्वा-ध्वो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम् । सर्वदोषविवर्जितं सर्वं च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तं-विवर्जितं विशेषेण वर्जितो रहितः ते दोषा कदाचनापि तं यथा न स्पृशन्ति तथा स तं रहितस्तम् । सर्वसत्त्व-

१ आसन्नमव्ययता मव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव आसन्नं कतिपयसमवप्राप्यनिर्वाणपटः । आसन्नश्चासौ मव्यश्च आसन्नमव्यस्तस्य भावः आसन्नमव्यता । २ कर्महानि मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धकर्मणा यथासंभवमुपशमः क्षयोपशमः क्षयो वा । ३ सञ्ज्ञित्वम्—सञ्ज्ञा-शिक्षाक्रियालापोपदेश-प्राहित्वम् । सञ्ज्ञा अस्य अस्तीति सञ्ज्ञी सञ्ज्ञिनो भावः सञ्ज्ञित्वम् । सा० ध०, अ० १, श्लो० ६ ।

तिलोत्तमयाम् आमक्त । श्रोपतिविष्णु श्रोरत लक्ष्म्या लम्पट । शम्भु अर्धनारीश्वर अर्धाङ्गे या नारी तस्या ईश्वर पति । स्मृत तत्कृतादागमादेव । तथापि किलेत्यरुचौ आपत्ता एषा प्रणिगद्यते ॥६२॥ वसुदेवेति— यस्य हरेर्विष्णोः पिता जनक वसुदेव । देवको मविजो माता । स्वयं च राजधर्मस्थ नृपतिवर्मस्थित । तथापि स देव आप्नश्चित्रम् आश्चर्यम् ॥६३॥

[पृष्ठ १७] त्रैलोक्यमिति—यस्य जठरे उदरे त्रैलोक्य वर्तते । यच्च सर्वत्र व्याप्य विद्यते वर्तते । तथापि तस्य क्वचित् मथुरायाम् उत्पत्तिं वने च विपत्तिर्मरणं स्तो भवत इति चिन्त्यता भवद्भिः । लोकत्रयम् अभिव्याप्य तिष्ठतस्तस्य जन्ममरणे युक्त्या नैव घटेते इत्यर्थः ॥६४॥ कपर्दी—एष कपर्दी कपर्दो जटाजूट स यस्यास्तीति कपर्दो शंकर दोषवान् । मदाशिवो निःशरीर देहरहित । दोषवत्त्वात्तत्र कपर्दिनि प्रामाण्यानुपपत्तेः । तत्र कथम् आगमागम आगमस्य आगमः उत्पत्तिः । यो रागादिदोषवान् शिव ससारी स तावत् अप्रमाणम् । तत्कृत आगमोऽपि न प्रमाणम् । यस्तु सदाशिव स आगम कर्तुमशक्न जिह्वाकण्ठाद्युपकरणाभावात् । यथा अहस्त कुलालः कुम्भकरणे ॥६५॥ परस्परेति—ईश्वर मदाशिव पञ्चभिर्मुखैः परस्परविरुद्धार्थम् अन्योन्य-विरुद्धाभिप्रायं शास्त्रम् आगमं शास्त्रं उपदिशति भक्तान् । तत्र तेषु अभिप्रायेषु कतमार्थविनिश्चयं कतमस्य अभिप्रायस्य सवादित्वं ज्ञातव्यम् ॥६६॥ सदाशिवेति—यदि युगे युगे कृतत्रेताद्वापरयुगादिषु । सदाशिवकला ईश्वरस्याशो यदि रुद्रे आयाति आगच्छति तत्र कथं स्वरूपभेदः स्यात् सुवर्णस्य या कला अशः तस्याम् अशिनः सुवर्णात् भेदो न दृश्यते । तथैव अशिनः सदाशिवात् अशरूपे रुद्रे भेदो न भवेत् सदाशिववत् । तथा च रुद्रेणापि अक्षरीरेण भूयेत । सदाशिवो विराग रुद्र सराग इति भेदो न भवेत् कारणसदृशं कार्यं भवतीति ॥६७॥

[पृष्ठ १८] भैक्षेति—भिक्षाणां समूहो भैक्षम्, नर्तनम्, नग्नत्व, दैत्यानां नगरत्रयविनाशित्वम्, ब्रह्मणो मस्तककर्तनम्, तथा हस्ते कपालधारणम् एतां क्रोडा किल ईश्वरे विद्यन्ते इति । तथापि तत्राप्युत्पा-मिमननमद्भुतं प्रतिभाति ॥६८॥

[पृष्ठ १९] सिद्धान्तेति—शैवदर्शनं विविधं विस्मयावहम् । कथं विस्मयावहम् सिद्धान्ते आगमे तत्त्वं च आप्तस्वरूपम् अन्यत् भिन्नं प्रतिपादितम् । प्रमाणे न्यायशास्त्रे च अन्यत् प्रतिपादितम् । काव्ये अन्यत् । ईहिते लौकिके च अन्यत् पृथक् प्रतिपादितम् । अतः परस्परविरुद्धाद्विचित्रं तज्ज्ञातव्यम् ॥६९॥ एकान्त इति—तत्त्वपरिग्रहे वस्तुस्वरूपपरामर्शसमये एकान्त इदं तत्त्वं भेदरूपमेवाभेदरूपमेव वेत्यादिकल्पनम् एकान्तः । स च वस्तुनिर्णये वृथा भवति । शपथश्च विश्वासश्च वृथा । यया युक्त्या अनुमानादिप्रमाणेन तत्त्वसिद्धिनिर्दोषा स्यात्तथैव तेन च वस्तुस्वरूपं सवादि ज्ञातव्यम् । तत्र एकान्तं शपथश्च वृथा तत्त्वज्ञानप्रतिधातित्वात् । सन्त विद्वांस आहृता परप्रत्ययमात्रतः अनाहृतोक्तयुक्त्या एव तत्त्वं न हीच्छन्ति न मन्यन्ते तद्युक्त्या वस्तुनिर्णयाभावात् सर्वथा एकान्तपरिग्रहात् ॥७०॥ दाहेति—दाहं अग्नी सुवर्णस्य निक्षेप, छेदं सुवर्णशलाकाया मुवर्णपट्टिकाया वा रन्ध्रं जननं तथा तदशकृतेन वा । कपोपले तद्वर्षणं वा एभिरुपायैः सुवर्णस्य शुद्धौ प्रतीताया तस्मिन् का शनयक्रिया विश्वासजननोपायस्य नावश्यकता । यद्येभिरुपायैः परीक्षिते सति हेम्नि अगुद्धावृषलब्ध्या विश्वासजननोपायो व्यर्थ एव ॥७१॥ यद्दृष्टमिति—यत्तत्त्वं दृष्टं प्रत्यक्षं भजेत् तस्मात् तस्य संवादो जायेत, यत् अनुमानं च भजेत् तेनापि तस्य निर्णयो भवेत् । यच्च लौकिकी प्रतीतिः च अवलम्ब्येत । लोकविद्वासेनापि अविरुधं भजेत् । विदं ज्ञातारं पण्डितास्तत्तत्त्वमाहुर्वृन्ति स्म । तदेव रहोर्वर्जितं प्रच्छन्नतया रहितम् । सर्वेषां विदुषां पुरतो नि शङ्कतया प्रतिपादयितुमुच्यते भवति । क्रुहकवर्जितं च कपटरहितं च ॥७२॥

[पृष्ठ २०-२१] निर्वीजतेवेति—यथा अग्नेः स्पर्शमासाद्य बीजं निर्वीजं भवति । अङ्कुरोत्पादनशक्ति-विकलं जायते तथा तन्त्रेण यदि प्राणिनो मुक्तिं भवेत् तर्हि मोक्षाभिलाषवति नरि अग्निमयशो विद्येय । येन सोऽपि नरः बीजवत् विपत्युत्पत्तिभ्यां विमुक्तो भवेत् ॥७३॥ विपसामर्थ्येति—इह मन्त्रात् विपसामर्थ्यजन्य-वृत्तकर्मणः क्षयश्चेत् तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य स मन्त्रो मान्यो यस्य स तन्मन्त्रमान्यस्तस्य नरस्य भवोद्भवा सासा-रिका रागादयो दोषा न स्युर्न भवेयुः । मन्त्राद्विपसयो भवति न कर्मक्षयः स तदुपायो नैव ॥७४॥ ग्रहगोत्रेति—

नित्यं ज्ञानं भाव-
विवर पति । मन्-
पुत्रो वृषो
सर्वे आप्ति-

[पृष्ठ-
तस्य क्वचित्
तिष्ठति
कामं दत्तं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

तत्र कथं
तत्र कथं
तत्र कथं

। त्रयेणैव सह जन्म लभन्त । एतदेव व्यनक्ति—तत्त्व-
प्राक् तृतीयजन्मन समुत्था यस्या सा एव रूपया तत्त्वभाव-
शभावानन्तर्गतया अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाख्यया तत्त्वभावनया
ववेकाय भवति । तेन हिते रत्नत्रयरूपे मोक्षमार्गे प्रवृत्ति-
।देनिवृत्तिर्भवति ॥ ७९ ॥ जिने ज्ञानत्रयसद्भावात् न तस्य
। जिन दृष्टम् अदृष्टम् अर्थ पदार्थम् अवैति ज्ञानत्रयेण मत्या,
। तनमालम्ब्य जिन रूपवन्तम् अर्थम् एव जानाति । अथ देशावधि-
द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादीभूतम् अतीन्द्रिय पदार्थनिवह जानाति ।
। ताराङ्गादिद्वादशाङ्गज्ञानं यत् श्रुतिसमाश्रये श्रुति आगमस्तथा
जिनस्य ज्ञानं भवति तत् क्वासी परम् अपेक्षता क्व कस्मिन्विषये ।
॥ न चैतदसार्वात्रिकम्—एतज्ज्ञानं सर्वत्र नोपलभ्यते इति न,
। वाराणस्या स्वत एव सजातपदपदार्थावसायप्रसरे कणचरे सजात
। वशेषाणाम् अवसायप्रसर ज्ञानसमूहो यस्य एवरूपे कणचरमहर्षी कणाद-
। वरस्य उलूकावतारेण सायुज्यम् ऐक्यं सरतीति सर तस्य सरस्य गच्छत
। स्तुतिवचनं कथं गच्छेत् युक्तियुक्तं भवेत् । किं तद्वचनम् । उच्यते ।
। गच्छ-हे विद्वन्, त्वयि दिवौकसा दिव स्वर्ग आकाशो वा ओको गृहं येपा ते
। यर्थ । दिव्यं नरपशवादिदुर्लभम् अत एव अद्भुत विस्मयजनकं ब्रह्मतुला नामेदं
। त्वयि प्राप्तुं भूतम् इह वाराणस्याम् । तत् तस्मात् कारणात् हे वत्स, तत् ज्ञान
। उपाये इति—उपाये सति उपेयस्य लब्धव्यस्य पदार्थस्य प्राप्ते का प्रति-
। यात् । यन्त्रात् यन्त्रमाहाय्यात् । पातालस्थ जलं करस्य क्रियते, हस्तेन ग्रहीतु
। ते—अश्मा पाषाण । हेमं सुवर्णं भवति । तद्वेतुप्राप्ते सुवर्णं भवनकारण-
। वयि योज्यम् । तथा—जलं मुक्ता मौक्तिकं सजायते तादृक्कारणलब्धे ।
। जलं मौक्तिकं सपद्यते इति विदितमेव । द्रुमो वृक्षो वह्निर्भवति शाखानां धर्पणात्
। ततिर्भूमिर्मणिः । रत्नं जायते । तत्तद्वेतुतया तत्तत्कारणतालब्धे । भावा पदार्था ।
। पद्युक्ता भवन्तीति भावः । इति पद्यद्वयेन मनुष्योऽपि तत्त्वभावनया सर्वज्ञ
। व्यम् ॥ ८२ ॥ सर्गेति—मर्ग उत्पत्तिः । अवस्थितिः अवस्थानं ध्रुवत्वम् ।
। व्ययध्रौव्यमित्यर्थः । तथा ग्रीष्म उष्णकालः । वर्षा पर्जन्यकालः । तुषारो हिमकालः ।
। नाद्यन्तभाव आदिभाव अन्तभावश्च नास्ति । अनादिकालम् एतेषां प्रवृत्तिरस्ति ।
। अयं अनाद्यन्तभावः श्रुतसमाश्रयात् आप्तो जायते । आप्तश्च श्रुतम् उत्पादयति ।
। नव्यजनकभावोऽनादिनिघ्नोऽस्ति । अतः आप्तः न परम् आश्रयित्वा ज्ञानं लभते
। यात् ॥ ८३ ॥ आप्तानां बहुत्वं न दोषायेति प्रतिपादयति—नियतमिति—बहुत्वम्,
। तत्रा इति जिनसख्याया बहुत्वं नियतं नियमितं न चेत् एते पञ्चदश तिथयः, नव ग्रहाः,
। तुलाचला इत्यादयः पदार्था बहवोऽपि नियतसख्या कथम् ॥ ८४ ॥

[४-२५] अनयवेति—अनयेव दिशा उपर्युक्तप्रकारेणैव साख्यशाक्यादिज्ञानं कपिलसौग-
। चित्त्यम् विचारणीयम् । तेषां तद्वशागमानाम् आप्तानां च नानात्वस्य बहुत्वस्य अवशिष्ट-
। जनेति—एक जैनमतं मुक्त्वा सर्वाम्पुगमागमा द्वैताद्वैतसमाश्रयो मार्गो समाश्रिता इत्यन्वयः ।
। दर्शनेषु कानिचिद् द्वैतं कानिचिद् अद्वैतम् अवलम्बन्ते । तथा तेषु दर्शनेषु कानिचित्त्वानि सर्वलोका-
। न्ति । अतः सर्वे सर्वाम्पुगमागमा इति उच्यते ॥ ८६ ॥ वामेति—शमो आगमः शैवागमः ।
। उपगतस्य आगमं मिद्वान्तः । द्विजस्य याज्ञिकस्य वेदान्तिनश्च आगमः द्विजागमः । एतेषां त्रयाणाम्
। वामदक्षिणमार्गयोः तिष्ठन्ति । वाममार्गं मन्त्रनन्दप्रधानः । तथा क्रियाकाण्डप्रतिपादकश्च । न तथा

प्रहाणां रम्यादिगदग्रहर्षणे यतोऽपि भूतोऽपि पूषा धूर्वः पूष्यः अर्षनीयो न चन्द्रमा अथ का मुक्तिः । सुयो
यदि जनानां पूष्यस्तर्हि अग्रः कर्षं न । अविचारिततत्त्वस्य अविमृष्टवस्तुस्वरूपस्य ज्ञानो भूतिः प्राप्तिः
प्रभृति निरङ्कुशा अविचारितरमणीया भवति ॥७५॥ द्वेताद्वैतेति—यंकरानुष्ठानागमः संकरेण अनुष्ठानं
अनुसृत आपनः यस्य सः शंकरानुष्ठानागमः आशयः भूयः । तस्य जागमो द्वेताद्वैताशयः । भौतमत्तं द्वैतम
प्रापयते यत् तस्मै संभ्रमं तथापि इन्द्रियविनिग्रहश्च समुपदिष्टः । तत् आसन्ननिरोधं प्राप्तमाश्रयश्च
आकटे इति कथनमस्ति तत्र । तथा विज्ञानाद्वैतप्रतिपादकोऽप्यस्ति तथागतः । तथा सर्वत्र प्रभृतिनिरङ्कुष-
त्वम् अर्ह्यम् । तथापि धाम्ने संभवति यतः स तत्संभवतत्त्वधीः तस्मै मति आसन्ने मधिराम्यां प्राप्तया कुम्भा
धीः भूतिः यस्य एवमुत्त कर्षं मनीषिभिः धूर्वः मायः ॥७६॥ अनुना जैनमतं प्रतिनिधीर्षवः एवं वदति—
अथैवमिति—अर्षवः कर्षं प्रत्यवतिष्ठास्यः अथगमस्य प्रतिविचारं कर्मुनिष्ठास्यः । यवतां जैनानां मते किञ्च
निवचनेन अनुचः सन् न आप्तः न संभवो भवति । तस्य च आप्तता अतीव दुर्भटः । मुक्त्या नैव सिद्धिम्
अश्नति । सत्तावन्नयत्ता आनुमिकमनुष्यो यथा सर्वज्ञो न भवति । तथा तस्य अभिहिततत्त्वावबोधो न स्वतो
भवति तथा वचनामावात् । गुर्वं विना तत्त्वज्ञानं न भवतीत्ययः । परस्मैत् कोऽती परः । तीव्रकरोऽयो वा ।
तीव्रकरश्चैत् तथाप्यर्थं पर्यनुयोगः । अर्षात् तीव्रकरस्यापि स्वतोऽभिहिततत्त्वावबोधो न स्यात् परस्मैत्
कोऽती पर इति पुनः पुनः पर्यनुयोगे जनकस्याः । सोऽपि तीव्रकरो यदि अनुष्यः सोऽपि स्वतः सर्वज्ञो न भवति ।
तस्मात् तद्भावात् आप्तसद्भावं च आशङ्क्यः तद्भावात् अभिहिततत्त्वावबोधं संभवत्तद्भावं च अशङ्क्यः तदा
विद्यः विद्यापतिः संकरो वा तस्य अनुष्यस्य तत्त्वोपवेष्टकः प्रतिधीतस्य प्रतिज्ञातस्य । तथाह कृत्यवर्तिः 'स
पूर्ववामपि बुधः कालेन जनकश्चेत्यत् । स उवाचिवः पूर्ववाम् अपि विरक्तनामान् अपि मनुष्याः बुधः कालेन
अवच्छिन्नत्वाभावात् । अनुकस्मिन्काळे सः जनवत्, ततः पूर्वं स नासीत् इति कालेन मनीषीकृतं तथा हि—
अष्टविम्रहादिति—अष्टविम्रहात् न दुष्टो विम्रहः कायो यस्य स अष्टविम्रहः तस्मात् देहहृत्तदित्यर्थः ।
आत्मात् सकलकर्मरहितात् पापपुण्यरहितात् इत्यर्थः । परमकारणम् सकलऽप्यतोऽनाधारवद्देतुनूतात् विद्यत्
परमदुर्लभं नादिकं अनिकं आत्वं समुत्पन्नम् ॥७७॥ तथाप्येनैकेनेति—तथा आप्तन एकेन भवितव्यम् । एक
एव आप्तः सर्वज्ञो भवति । नहि आप्तानाम् अष्टप्राविशब्दश्च समस्ति । संवात्प्राप्तानां यथा यथा धूर्वं भवति
तथा आप्तानां सर्वज्ञाना यथो न भवति । संभवे वा अनुविधितिरिति नियमः कोऽस्तुतः कुत कुतो न च कोऽस्तुतः ।
इति ईश्वरवादिनो वृत्ते । तत्कालं बन्ध्यास्तर्णयवर्षव्यवर्जनम् । बन्ध्यामुत्तरीयतावननमिव फलं विकृतम् ।
उदीर्गमोद्धार्यविकृत्यं च परेषाम् । उरिवतमोद्धार्ये विकृत्यं विधीनीमवनम् एव परेषाम् ईश्वरवादिनां
ज्ञातव्यम् । यः—अस्तेति—भिकरः जनाधिप एव कर्मवन्तनरहितः अत एव उवाचिवः । विद्यमानि कर्मानि
स्वधनादीनि इन्द्रियाणि यस्य सः अघरीयः उवाचिवो यस्ता नैव मुक्ताश्चयवायावात् । कर्ममोक्षवृक्षात्सदाक्षिणत्
जावनं बलघट । भिकरत्वात्सदाक्षिणात्तरः स संयुः रामयान् रामदेवात्पुण्यहस्तस्मिन् सरोवे संभो सार्वज्ञं नास्ति ।
तत्त्वतस्मादापनोत्ततिर्बुद्धतां सम्भवा रम्यापुष्पावपि सा स्यात् । सदाक्षिणात् सती च अपरं गृहीत्वम् अमृत् ।
हाम्या मिच्छन्तां तुतीयं आत्वं विरचितं चेत् तत् कस्य द्वैतोः अजायत । आचरन्तनाकारवन्तुतां सकला
विद्यं जावनं एवमस्ति चेत् सा कश्चित् ततः विद्यात्वरं विद्या तथा स विद्यः कर्षं तद्वान् भवेत् अतन्मन्त्रम् ।
तैव तस्या संकल्पोऽपि न जावतीति नैव भटतः । अतो यस्ता नैवेतिक्काया आत्वं निराकम्बन् निराश्रयम् ।
आप्तप्रतीतं न भवतीति यावः ॥७८॥

[पृष्ठ २२-२३] सञ्जम्भ इति—संजम्भो हि सदाक्षिणस्य जनन्या सह न भवति । संजम्भो भिन्नस्य

इत्यस्य भवति । ॥ अक्षितर्ष्यम् । ननु इत्येव अस्ते अविर्बन्धा अस्ते अश्रवत्वात् । 'इत्येवोरेव संयोगः'
इति भोगतिज्ञानः । समवायकसंयोगे न संभवः अस्ते पुष्कलं विज्ञानात् । अक्षिणुवकस्यापि नास्ति । बुधानां
इत्येव संदग्धः अनुसिद्धोऽभिमतः । तथा च वैदेषिकमतेतिहासम्—अमुसिद्धिनां नृनगुण्यादीनां समवायः
संभवः परं यत्तथा सह द्विधापि संभवो नास्ति इति सदाक्षिणो यस्ता न भवति । भिकरत्वात्तत्त्व तस्मिन्
यत्तुल्यं न विद्यते । रामयान् पावनीपतिस्तु सर्वज्ञो नैव भवितुमर्हति रम्यापुष्पवत् । विनाया सर्वज्ञत्वं अनुष्यतेऽ-

पि न परतः प्राप्तः यतोऽनवस्था स्यात् । ते तु ज्ञानत्रयेणैव सह जन्म लभन्तः । एतदेव व्यनक्ति—तत्त्व-
भावनयेति—यस्य जिनस्य जन्मान्तरसमुत्थया । प्राक् तृतीयजन्मनः समुत्था यस्या सा एव रूपया तत्त्वभाव-
नया, जीवादितत्त्वभावनया दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावान्तर्गतया अभोक्षणज्ञानोपयोगाख्यया तत्त्वभावनया
उद्भूतः परं ज्ञानत्रयम् अन्यजनसुदुर्लभं हिताहितविवेकाय भवति । तेन हिते रत्नत्रयरूपे मोक्षमार्गे प्रवृत्ति-
र्भवति । अहिताच्च भववर्धनकारणान्मिथ्यात्वादेर्निवृत्तिर्भवति ॥ ७९ ॥ जिने ज्ञानत्रयसद्भावात् न तस्य
परापेक्षतेति निगदति । नष्टादृष्टमिति—असौ जिनः दृष्टम् अदृष्टम् अर्थः पदार्थम् अवैति ज्ञानत्रयेण मत्या,
श्रुतेन, अवधिना च जानाति । अवधे अवधिज्ञानमालम्ब्य जिनः रूपवन्तम् अर्थम् एव जानाति । अथ देशावधि-
ज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् जिनो रूपवन्तं द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादीभूतम् अतीन्द्रियं पदार्थनिवहं जानाति ।
श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् श्रुते आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गज्ञानं यत् श्रुतिसमाश्रेयं श्रुति आगमस्तया
समाश्रेयम् अवलम्बनीयम् । एवरूपं तस्य जिनस्य ज्ञानं भवति तत् क्वासौ परम् अपेक्षतां क्व कस्मिन्विषये ।
असौ जिनः अन्यज्ञानिनम् अवलम्बते ॥ ८० ॥ न चैतद्वैतसार्वत्रिकम्—एतज्ज्ञानं सर्वत्र नोपलभ्यते इति न,
अन्यथा कथमेतद्वचो वक्ष्यमाणं सगच्छेत् । वाराणस्यां स्वतः एव सजातपट्पदार्थावसायप्रसरे कणचरे सजात-
पट्पदार्थानां द्रव्यगुणकर्ममामान्यसमवायविशेषाणाम् अवसायप्रसरं ज्ञानसमूहो यस्य एवरूपे कणचरमहर्षौ कणाद-
ऋषौ अक्षपादे उलूकसायुज्यसरस्य महेश्वरस्य उलूकावतारेण सायुज्यम् ऐक्यं सरतीति सरः तस्य सरस्य गच्छतः
उलूकावतारवत् महेश्वरस्य इदं वचनं स्तुतिवचनं कथं सगच्छेत् युक्तियुक्तं भवेत् । किं तद्वचनम् । उच्यते ।
ब्रह्मेति—महेश्वरः कणचरर्षिमेवमुवाच—हे विद्वन्, त्वयि दिवौकसा दिवं स्वर्गं आकाशो वा ओको गृहं येषां ते
दिवौकसः तेषां स्वर्गिणा देवानामित्यर्थः । दिव्यं नरपञ्चादिदुर्लभम् अतः एव अद्भुतं विस्मयजनकं ब्रह्मातुला नामेदं
जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्रायं ज्ञानं त्वयि प्रादुर्भूतम् इह वाराणस्याम् । तत् तस्मात् कारणात् हे वत्स, तत् ज्ञानं
विप्रेभ्यः द्विजेभ्यः विषत्स्व देहि । उपाये इति—उपाये सति उपेयस्य लब्धव्यस्य पदार्थस्य प्राप्ते का प्रति-
वन्धिना प्राप्तिप्रतिरोधः कथं स्यात् । यन्त्रात् यन्त्रमाहाय्यात् । पातालस्थं जलं करस्य क्रियते, हस्तेन ग्रहीतुं
शक्यते यत् ॥ ८१ ॥ अश्मेति—अश्मा पाषाणः । हेमः सुवर्णं भवति । तद्धेतुप्राप्ते सुवर्णं भवनकारण-
प्राप्ते । एवमुक्तावह्निमणिष्वपि योज्यम् । तद्यथा—जलं मुक्ता मौक्तिकं सजायते तादृक्कारणलब्धे ।
स्नात्या शुक्लपुटे पतितं मेघजलं मौक्तिकं संपद्यते इति विदितमेव । द्रुमो वृक्षो बह्निर्भवति शाखानां वर्णणात्
अनेच्छत्तिरवलोक्यते । क्षितिर्भूमिर्मणिः रत्नं जायते । तत्तद्धेतुतया तत्तत्कारणतालब्धे । भावाः पदार्थाः ।
अद्भुतमपदं विस्मयजनकसंपद्युक्ता भवन्तीति भावः । इति पद्यद्वयेन मनुष्योऽपि तत्त्वभावनया सर्वज्ञः
आप्तो भवत्येवेति ज्ञातव्यम् ॥ ८२ ॥ सर्गेति—सर्ग उत्पत्तिः । अवस्थितिः अवस्थानं ध्रुवत्वम् ।
सह्यारः प्रलयः । उत्तरादव्ययघ्नोऽव्यमित्यर्थः । तथा ग्रीष्म उष्णकालः । वर्षा पर्जन्यकालः । तुषारो हिमकालः ।
एतेषां पण्णा यथा अनाद्यन्तमात्रं आदिभावः अन्तभावश्च नास्ति । अनादिकालम् एतेषां प्रवृत्तिरस्ति ।
तथैव आप्नश्चुनसमाश्रयः अनाद्यन्तमात्रं श्रुतसमाश्रयान् आप्तो जायते । आप्नश्च श्रुतम् उत्पादयति ।
एवम् आप्नश्चुनयोर्जन्यजनकभावोऽनादिनिधनोऽस्ति । अतः आप्तः न परम् आश्रयित्वा ज्ञानं लभते
येनानवस्थादूषणं स्यात् ॥ ८३ ॥ आप्तानां बहुत्वं न दोषायेति प्रतिपादयति—नियतमिति—बहुत्वम्,
चतुर्विंशतिं जिनेश्वरा इति जिनसंख्यायां बहुत्वं नियतं नियमितं न चेत् एते पञ्चदश तिथयः, नव ग्रहाः,
चतुर्दशयः, पट् कुलाचला इत्यादयः पदार्था बहवोऽपि नियतसंख्या कथम् ॥ ८४ ॥

[पृष्ठ २४-२५] अनयवेति—अनयैव दिशा उपर्युक्तप्रकारेणैव मारुतशाक्यादिशासनं कपिलसौगत-
चार्वाकादिदर्शनेन चिन्त्यम् विचारणीयम् । तेषां तत्त्वागमानाम् आप्तानां च नानात्वस्य बहुत्वस्य अविशेष-
त्वात् ॥ ८५ ॥ जैनेति—एकं जैनमतं मुक्त्वा सर्वाभ्युपगमागमा द्वैताद्वैतसमाश्रयो मार्गो समाश्रिता इत्यन्वयः ।
सारुथशाक्यादिदर्शनेषु कानिचिद् द्वैतं कानिचिद् अद्वैतम् अवलम्बन्ते । तथा तेषु दर्शनेषु कानिचित्तत्त्वानि सर्वलोका-
भिमतानि सन्ति । अतः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमा इति उक्तम् ॥ ८६ ॥ चामेति—शमो आगमः शैवागमः ।
शाक्यस्य सुगतस्य आगमः मिद्वान्तः । द्विजस्य याज्ञिकस्य वेदान्तिनश्च आगमः द्विजागमः । एतेषां त्रयाणाम्
आगमां वामदक्षिणमार्गयोः तिष्ठन्ति । वाममार्गं मन्थनन्प्रश्नान् । तथा क्रियाकाण्डप्रतिपादकश्च । न तथा

प्रहारा रम्यादिनवप्रहर्षो यतोऽपि भूतोऽपि पूवा सूर्यः पूज्यः सर्वनीयो न चन्द्रमा अथ वा युक्तिः । सुखं यदि ज्ञानात् पूज्यस्तर्हि चन्द्रः कथं न । अविचारिततरुस्य अविमृष्टवस्तुस्वरूपस्य ज्ञानो भूतिः प्राणिनः प्रवृत्तिः निराहङ्कृता अविचारिततरुमणीया प्रवर्ति ॥७५॥ द्वैताद्वैतेति—एकपादमुक्त्वा त्रयमः संकरेण अनुवृत्तं अनुवृत्तं आपद्यः यस्य सः संकरानुक्त्वा त्रयमः आद्यः बुद्धः । तस्य आपद्यो द्वैताद्वैताद्यमः । शीघ्रमर्त ईदृशं व्यापक्यते यतः कथ्यते संयमः तदासि इन्द्रियविनिग्रहश्च समुपदिष्टः । तत आत्मविरोधः, आत्मनात्मनश्चायते इति कथनमस्ति तत्र । तथा विज्ञानाद्वैतप्रतिपादकोऽप्यस्ति तदायमः । तथा सर्वत्र प्रवृत्तिनिरास्तुतत्त्वम् अद्वैतम् । तदपि आत्मैव संभवति यतः स तरुसंकरसक्तपी तरुते मंति आत्मैव मदिरायाम् आसक्त्य ज्ञया पी बुद्धिः सत्य एवमूतः कथं मनीषिभिः बुद्धेः मान्यः ॥७६॥ अनुना शीघ्रमर्त प्रतिविधीर्षः एव नवति—अथैवमिति—अथैव कथं प्रत्यवशिष्टावयवः भवन्मत्स्य प्रतिविधानं कर्तुमिच्छामः । भवता ज्ञानात् मते किञ्च निश्चयेन अनुजः सन् न आप्तः न सकलो भवति । तस्य च आप्तता अतीव दुर्घटा । युक्त्या नैव सिद्धिम् अश्नुवति । संघातश्चनवत्ता आहुतिरुक्तमनुव्यो यथा सर्वज्ञो न भवति । तथा तस्य अनिकपिततरुत्वबोधो न स्तो भवति तथा यथानामावत् । बुद्धे विना तरुत्वज्ञानं न भवतीत्यत्र । परत्वेत् कोऽपी परः । शीघ्रकरोऽप्यो वा । शीघ्रकरत्वेत् तत्राप्यर्थं पर्यनुयोगः । अपत्तिः शीघ्रकरस्यापि स्वतोऽस्मिन्कपिततरुत्वबोधो न स्यात् परत्वेत् कोऽपी पर इति पुनः पुनः पर्यनुबोधे अनवस्था । सोऽपि शीघ्रकरो यदि अनुप्यः सोऽपि स्वतः सकलो न भवति । तस्मात् तस्मात् आप्ततद्भावं च वाच्यमिह तद्भावं अनिकपिततरुत्वबोधं सचनतद्भावं च इच्छन्ति सत्-क्षिप्तः क्षिप्तपतिः संकरो वा तस्य अनुप्यस्य तत्त्वोपवेद्यकः प्रतिभीतस्य प्रतिज्ञातस्य । तथाह परम्यति “त पूर्ववामपि पुनः कालेन अत्रवच्छेद्यत् । स संघातिवः पूर्वेषाम् अपि चिरन्तनात्मा अपि महर्षीणां पुनः कालेन अवच्छिन्नत्वाभावात् । अनुकस्मिन्काले सः अपक्वः ततः पूर्वं स नासीत् इति कालेन सर्ववीर्येण तदा हि—अद्वैतविमर्शवृत्तिरिति—अनुवृत्तिप्रवृत्तिरिति न बुद्धो विप्रहः कायो यस्य स अनुवृत्तिप्रवृत्तिरिति तस्मात् रेहरहितादित्यर्थः । शास्त्रात् सकलकर्तृद्वैतात् पापपुण्यरहितात् इत्यर्थः । परमकारणात् सकलकर्तृतोऽनाधाररहेतुमुदात्तं विद्वत् परमबुद्धं नादक्यं व्यक्तिकथं सात्त्वं समुपगम्य ॥७७॥ संघातेनैकेनेति—तथा आप्तो एवैव भवितव्यम् । एक एव आप्तः सकलो भवति । नहि आप्तानाम् कृतप्रसाधिकवृत्तः समस्ति । संघातिप्रानिनां यथा यथा बुद्धं भवति तथा आप्ताना सर्वज्ञाना नवो न भवति । संयवे वा अनुविकटिरिति नियमः कौटस्कुतः कुतः कुतो मन् कौटस्तुतः । इति ईश्वरशक्तिर्बो धुवते । तस्यैव व्याप्यस्तर्कवर्षव्यावर्तनम् । व्याप्यस्तुतीरतावर्षमनिव फलम् विफलम् । कौटर्कमोहार्थविलम्बनं च परेषाम् । उत्पितमोहसागरे विस्मयन विस्मयीभवनम् एव परेषाम् ईश्वरशक्तिनां ज्ञातव्यम् । यतः—अप्येति—विकरणं अनापि एव कर्मव्यवहारद्वैतः अत एव संघातिवः । विवशानि करणानि शतनाशीनि इन्द्रियाणि यस्य सः असरीरः संघातिवो यत्ता नैव मुक्ताद्यवयवभावात् । कथमेतावृत्तात्संघातिवत् ज्ञायमः आपद्येत । विकरणात्संघातिवत्तातः स एवमुः राजवान् राज्ञेयपुत्रहस्तस्तिन्नः सरोवे क्षयो शार्बलं नास्ति । तत्सत्समत्वावबोधोत्पत्तिर्दुर्घटा अस्या रम्यापुष्पावपि सा स्वात् । संघातिवात् धामीः च अपरं तुतीमन् अनुत् । इत्यादि मिथिलता तुतीयं शालं विरचितं केत् तत् कस्य द्वैतो अजायत । आवभरचनाकारममृतया धरुणा पित माधनं एवमिति केत् सा शक्तिः ततः विषयपरा मिथ्या तथा न शिवः कथं तद्भावं भवेत् अतस्त्वम् । तेन तस्मा संभवोऽपि न आपटीति नैव पटतः । अतो भवता वैदीपिकाया शालं निराकृत्यनं निरुपयम् । आप्तप्रवीत न भवतीति भावः ॥७८॥

[पृष्ठ २२-२३] संख्य इति—संख्यो हि संघातिवस्य धारणा सह न भवति । संख्यो विप्रत्यक्षस्य भवति । न चकिर्द्वैतम् । ननु इत्यम् युक्तो अनिर्देशात् धारणे अत्रवत्त्वात् । “इत्यवोरेव तदीयः” इति बोधयिज्ञातः । तत्त्वभावकस्योऽपि न संख्यः यस्मै पुनश्च सिद्धत्वात् । यत्किर्तुमक्यापि नास्ति । युक्त्या इत्येव संख्यः अनुवृत्तिद्वैतप्रवृत्तिः । तथा च वैद्येयिनः तैत्तिरीयम्—“अमुक्तिकानां पुन्यपुष्पादीनां सवत्ता संख्यः परं यत्तदा सह विज्ञानि संख्यो नास्ति इति संघातिवो यत्ता न भवति । विकरणात्संघातिवः तस्मिन् यत्तत्त्वं न विद्यते । यत्तत्त्वं आत्मनीपतिस्तु सर्वज्ञो नैव भवितुमर्हति रम्यापुष्पवत् । ज्ञानात् सर्वज्ञं अनुप्यते—

पि न परत प्राप्त यतोऽनवस्था स्यात् । ते तु ज्ञानत्रयेणैव मह जन्म लभन्त । एतदेव व्यनवित—तत्त्व-
भावनयेति—यस्य जिनस्य जन्मान्तरममुत्थया । प्राक् तृतीयजन्मन समुत्था यस्या सा एवंप्रपया तत्त्वभावन-
नया, जीवादितत्त्वभावनया दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावान्तर्गतया अभोक्षणज्ञानोपयोगाख्यया तत्त्वभावनया
उद्भूत परं ज्ञानत्रयम् अन्यजनमुदुर्लभं हिताहितविवेकाय भवति । तेन हिते रत्नत्रयरूपे भोक्षमार्गे प्रवृत्ति-
र्भवति । अहिताच्च भववर्धनकारणान्मिथ्यात्वादेर्निवृत्तिर्भवति ॥ ७९ ॥ जिने ज्ञानत्रयसद्भावात् न तस्य
परापेक्षतेति निगदति । दृष्टादृष्टमिति—अभौ जिनः दृष्टम् अदृष्टम् अर्थं पदार्थम् अवति ज्ञानत्रयेण मत्या,
श्रुतेन, अवधिना च जानाति । अवधे अवधिज्ञानमालम्ब्य जिन रूपवन्तम् अर्थम् एव जानाति । अथ देशावधि-
ज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् जिनो रूपवन्तं द्रव्यक्षेत्रकालभावमयीदीभूतम् अतीन्द्रिय पदार्थनिवहं जानाति ।
श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् श्रुते आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गज्ञानं यत् श्रुतिसमाश्रये श्रुति आगमस्तथा
समाश्रयेण अवलम्बनीयम् । एवरूपं तस्य जिनस्य ज्ञानं भवति तत् अवासी परम् अपेक्षता इव कस्मिन्विषये ।
असौ जिनः अन्य ज्ञानिनम् अवलम्बते ॥ ८० ॥ न चैतदसार्थत्रिकम्—एतज्ज्ञानं सर्वत्र नोपलभ्यते इति न,
अन्यथा कथमेतद्वचो वक्ष्यमाणं सगच्छेत् । वाराणस्यां स्वत एव सजातपदपदार्थावसायप्रसरे कणचरे सजात
पदपदार्थानां द्रव्यगुणकर्ममामान्यमवसायविशेषाणाम् अवसायप्रसरं ज्ञानममूहो यस्य एवरूपे कणचरमहर्षौ कणाद-
श्रुतौ अक्षपादे उलूकसायुज्यसरस्य महेश्वरस्य उलूकावतारेण सायुज्यम् ऐक्यं सगतीति सरः तस्य सरस्य गच्छत
उलूकावतारवत् महेश्वरस्य हृदं वचनं स्तुतिवचनं कथं सगच्छेत् युक्तियुक्तं भवेत् । किं तद्वचनम् । उच्यते ।
ब्रह्मेति—महेश्वरः कणचरर्षिमेवमुवाच—हे विद्वन्, त्वयि दिवौकसा दिवं स्वर्गं आकाशो वा ओको गृहं येषां ते
दिवौकसः तेषां स्तुतिर्गणा देवानामित्यर्थः । दिव्यं नरपश्वदिदुर्लभम् अत एव अद्भुतं विस्मयजनकं ब्रह्मतुला नामेदं
जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्रायं ज्ञानं त्वयि प्रादुर्भूतम् इह वागणस्याम् । तत् तस्मात् कारणात् हे वत्स, तत् ज्ञानं
विप्रेभ्यः द्विजेभ्यः विषयत्वं देहि । उपाये इति—उपाये सति उपेयस्य लब्धव्यस्य पदार्थस्य प्राप्ते का प्रति-
वन्धिना प्राप्तिप्रतिरोधः कथं स्यात् । यन्त्रात् यन्त्रमाहाय्यात् । पातालस्थं जलं करस्य क्रियते, हस्तेन ग्रहीतुं
शक्यते यत् ॥ ८१ ॥ अद्भुमेति—अश्मा पापाणः । हेमं सुवर्णं भवति । तद्देवुप्राप्ते सुवर्णभवनकारण-
प्राप्ते । एवं मुक्तावत्क्षिप्रमणिष्वपि योज्यम् । तथा—जलं मुक्ता मौक्तिकं सजायते तादृक्कारणलब्धे ।
स्वातया शुक्लपुटे पतितं मेघजलं मौक्तिकं सपद्यते इति विदितमेव । द्रुमो वृक्षो वह्निर्भवति शाखानां घर्षणात्
अनेकद्रुतैरवलोक्यते । क्षितिर्भूमिर्मणिः रत्नं जायते । तत्तद्देवतया तत्तत्कारणतालब्धे । भावा पदार्थाः ।
अद्भुतमपदं विस्मयजनकमपद्युक्ता भवन्तीति भावः । इति पञ्चद्वयेन मनुष्योऽपि तत्त्वभावनया सर्वज्ञः
आप्तो भवत्येवेति ज्ञातव्यम् ॥ ८२ ॥ सर्गेति—मर्गं उत्पत्तिः । अवस्थिति अवस्थानं ध्रुवत्वम् ।
संहारः प्रलयः । उत्तादग्ग्यघ्नोऽव्यमित्यर्थः । तथा ग्रीष्म उष्णकालः । वर्षा पर्जन्यकालः । तुषारो हिमकालः ।
एतेषां पण्णा यथा अनाद्यन्तभावः आदिभावः अन्तभावश्च नास्ति । अनादिकालम् एतेषां प्रवृत्तिरस्ति ।
तथैव आप्तश्रुतसमाश्रयः अनाद्यन्तभावः श्रुतसमाश्रयात् आप्तो जायते । आप्तश्च श्रुतम् उत्पादयति ।
एवम् आप्तश्रुतयोर्जन्यजनकभावोऽनादिनिवर्तः । अतः आप्तः न परम् आश्रयित्वा ज्ञानं लभते
येनानवस्थाद्वयं स्यात् ॥ ८३ ॥ आप्तानां बहुत्वं न दोषायेति प्रतिपादयति—नियतमिति—बहुत्वम्,
चतुर्विंशति जिनेश्वरा इति जिनसंख्यायां बहुत्वं नियतं नियमितं न चेत् एते पञ्चदश तिथयः, नवग्रहाः,
चतुर्दशयः, पदं कुलाचला इत्यादयः पदार्था बहवोऽपि नियतसंख्या कथम् ॥ ८४ ॥

[पृष्ठ २४-२५] अनयवेति—अनयेव दिशा उपर्युक्तप्रकारेणैव साख्यशाक्यादिशासनं कपिलसौगत-
चार्वाकादिदर्शनं चिन्त्यम् विचारणीयम् । तेषां तत्त्वज्ञानमात्रम् आप्तानां च नानात्वस्य बहुत्वस्य अवशिष्ट-
त्वात् ॥ ८५ ॥ जैनेति—एकं जैनमतं मुक्त्वा सर्वाभ्युपगमागमा द्वैताद्वैतसमाश्रयो मार्गौ समाश्रिता इत्यन्वयः ।
साख्यशाक्यादिदर्शनेषु कानिचिद् द्वैतं कानिचिद् अद्वैतम् अवलम्बन्ते । तथा तेषु दर्शनेषु कानिचित्त्वानि सर्वलोका-
भिमतानि सन्ति । अतः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमा इति उक्तम् ॥ ८६ ॥ वामेति—शमो आगमः शैवागमः ।
शाक्यस्य सुगतस्य आगमः मिदन्तः । द्विजस्य याज्ञिकस्य वेदान्तिनश्च आगमः द्विजागमः । एतेषां त्रयाणाम्
आगमां वामदक्षिणमार्गयोः तिष्ठन्ति । वाममार्गं मन्त्रमन्त्रप्रदानं । तथा क्रियाकाण्डप्रतिपादकश्च । न तथा

ग्रहणायोग्येऽप्ये अतोन्द्रियविषये वचनं पूर्वापराविरोधेन प्रमाणता प्रामाण्यं भवति ॥ ९८ ॥ आगमाभासस्या-
प्रमाणता वदति—पूर्वापरेति—स आगम किं प्रमाणं भवति । अपि तु न भवति । कीदृश आगमः न
प्रमाणम् उच्यते यः पूर्वापरविरोधेन दोषेण युक्तः स नागमः प्रमाणम् । यस्तु युक्त्या प्रत्यक्षादिप्रमाणेन वाध्यते
सोऽप्रमाणमागमः । एवविध आगमो मत्तोन्मत्तवचः प्रसूयः मत्त सुराधत्तूरादिप्राशनात् । कामादिविकारादुन्म-
त्तस्तस्य वचसा प्रसूयस्तुल्यः स न प्रमाणं भवति ॥ ९९ ॥ आगमस्य निरुक्तिं कथयन्ति सूरिपादा—हेयोपा-
देयेति—चतुर्वर्गसमाश्रयात् धर्मार्थिकाममोक्षा चतुःपुरुषार्थवर्गः तस्य समाश्रयणात् अवलम्बनात् । हेयोपादेय-
रूपेण जीवादिसप्तपदार्थेषु जीवः, सवरः, निर्जरा मोक्षश्चेति ग्राह्या उपादेया पदार्था मुक्तिकारणत्वात् ।
अजीवः, आस्रवो बन्धश्च हेयार्था समारकारणत्वात् । एतान् भूतभाविमवत्कालगतान् हेयोपादेयार्थान् गमयन्नापय-
न्नागमः स्मृतः प्रतिपादितो ज्ञातव्यः ॥ १०० ॥ आत्मानात्मेति—तत्त्ववेदिभिः तत्त्वं विदन्तीति तत्त्ववेदिनः
विद्वांसस्तैः आगमस्य पदार्था एव निगद्यन्ते भाष्यन्ते—आत्मानात्मस्थितिः आत्मा च अनात्मा च तयोः स्थितिः
जीवाजीवयोः स्थितिर्यत्र स लोकः लोकयन्ते जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकाला यत्र स लोकः, बन्धश्च मोक्षश्च
बन्धमोक्षौ सहेतुको कारणसहितौ बन्धस्य कारणानि मिथ्यात्वादौनि मोक्षस्य कारणानि सम्यग्दर्शनज्ञान-
चारित्राणि एते पदार्था निगद्यन्ते कथ्यन्ते ॥ १०१ ॥

[पृष्ठ २७-३५] उत्पत्तिस्थितिरिति—उत्पत्तिरुत्पादो जननं स्थितिर्ध्रान्वयम्, विनाशः सहारो
एतैः मारा बलवन्तः सर्वे पदार्था स्वभावतः एव । यथा तोयध्वे ममद्रस्य तरङ्गा कल्लोला
तद्वयाश्रिता भवन्ति तथैते पदार्था नयद्वयाश्रिता द्रव्याधिकपर्यायाधिकनयो आश्रित्य वर्तन्ते ।
तत्र वस्तुनि द्रोध्य द्रव्याधिकनयाश्रितम्, उत्पत्तिव्ययौ च पर्यायाधिकनयाश्रितौ ॥ १०२ ॥ क्षयाक्षयैक-
पक्षत्वे इति—क्षयश्च अक्षयश्च क्षयाक्षयो । एकपक्षत्वशब्दः क्षयेण अक्षयेण च क्रमशो योज्यः । तेन
क्षयैकपक्षत्वम्, अक्षयैकपक्षत्वम् इति भवति । क्षयैकपक्षत्वे अङ्गीक्रियमाणे वस्तु सर्वथा विनाशि एव स्यात्
ततश्च बन्धक्षयस्य आगमः प्राप्तिः भवेत्, मोक्षक्षयस्य आगमः प्राप्तिर्भवेत् । ततो बन्धो मोक्षश्च नैव
सिद्ध्यतः । वस्तु उत्पद्य पश्चात् अनन्तरसमय एव विपद्येत तर्हि तस्य वस्तुन न केनापि सयोगो भवेत् ।
सर्वथा विनाशशीलस्य आत्मनः कर्मबन्धो न भवेत् । सर्वथा वस्तु अक्षयि एव यदि तर्हि परिणामिरवाभावात्
मोक्षक्षयागमः भवेत् । बद्ध आत्मा बन्धनपर्यायपरिणतः एव सर्वदा भवेत् । तस्य मुक्तिः कदापि न स्यात् ।
अतः तात्त्विकैकत्वसद्भावो भवेत् यदि स्वभावान्तरहानि स्यात् । सर्वथा एकरूपता वस्तुन स्याद्यदि तत्र
स्वभावान्तरप्रादुर्भावः कदापि न भवेत् । यः आत्मा क्रुद्धः स क्रोधे गते प्रसक्तिभाक् दृश्यते । अतः वस्तुनि
तात्त्विकैकत्वसद्भावे अङ्गीक्रियमाणे स्वभावान्तरदर्शनं न स्यात् । कश्चित् जीवादिवस्तु पर्यायापेक्षया क्षयि ।
द्रव्यापेक्षया तत् अक्षयि मन्यताम् । एव वस्तुस्वरूपाभिमानने स्वभावान्तरहान्याख्यो दोषः न ससक्तो भवेत्
॥ १०३ ॥ आत्मनः स्वरूपं निगदति—ज्ञातेति—पुमान् आत्मा ज्ञाता द्रष्टा च अतः एव ज्ञानदर्शनलक्षणः
आत्मा गीयते । महान् आत्मा केवलसमुद्वातापेक्षया लोकव्यापको भवति अतः महान् । सूक्ष्मः स्पर्शादिगुण-
रहितत्वात् अमूर्तः सूक्ष्मः उच्यते । कृतिभुक्त्यो स्वयं प्रभुः “स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।” अतः
स्वयं प्रभुत्वात् स कर्ता भोक्ता च भवति । ईश्वरप्रेरितो न गच्छति स्वर्गं इव वा । भोगायनमनाप्रोऽयं शरीर-
भोगायतनम् । शुभाशुभकर्मोदयप्राप्तयोः सुखदुःखयोः शरीरम् आयतनं गृहम् अस्ति । तत् तद्भोगे साधनं
संपद्यते । आत्मा यच्छरीरं लभते तत्प्रमाणो भूत्वा आमृतिं तिष्ठति । यदा च स कर्मक्षयं करोति तदा स्वभावादेव
स ऊर्ध्वं गच्छति अतः स ऊर्ध्वगः पुमानिति कथ्यते ॥ १०४ ॥ ज्ञानदर्शनेति—ज्ञानदर्शनशून्यस्य आत्मनः
अचेतनात् भेदोऽज्यता न स्यात् । तथा च अयं जीवः इमी घटपटौ इति भेदो न भवेत् । ज्ञानमात्रस्य जीवस्य
न एकघो । स एव अहम् इति प्रत्यभिज्ञानात् आत्मा ज्ञानी न ज्ञानमात्रं तस्य स्वरूपम् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे
मन्यमाने सा एकघो नश्येत् । केवलं ज्ञानसामान्यं स्थानं । विशेषनर्माभावात् । इदं चित्रज्ञानम्, इदं पटज्ञानम्,
इदं मित्रज्ञानम् इति नानात्वं ज्ञानानां न स्यात् । विशेषपञ्चमैर्नैव भेदः ज्ञानेषु भवन्ति ॥ १०५ ॥ जीवकर्मणो
अन्योन्यमवन्व निगदति—प्रेर्यते इति—नानाविकसमानयोः एतयोः जीवकर्मणो अन्यो न प्रेरकः । यथा
नो नाविकेन प्रेर्यते स च तथा प्रेर्यते तथा जीवेन कर्म प्रेर्यते तेन च जीवः प्रेरितो भवति ॥ १०६ ॥ मन्त्र-

यदिति—यथा मन्त्रः नियतोऽपि परिमिताक्षरौऽपि स्वभावतः अचिन्त्यध्वनितको भवति तथा वचनं भाषा
 नियतं धर्तृरप्रमाणोऽपि स्वभावतः अचिन्त्यध्वनितको वेदितव्यः । अतः स्वधर्तरीत्या व्यप्य नानुमते न च
 वनते । धर्तृरप्रमाणत्वात् स व्यापको न भवति ॥१७॥ जीवहैविष्य निगमस्थाचार्याः—प्रसस्मावरेति—
 वदस्वावरमेवेति केचित् जीवा अनुगतिप्रमाणया नारकतिर्बहुरवेवती । अत्रकस्य संसारे स्थिता दुष्मते ।
 तथा अन्ये च केचित् पञ्चमी वति भोगातिम् आधिता मुक्ता भवन्ति कर्मव्या कृता इति हैविष्यं जीवानाम् ।
 संसारिको जीवा वदस्वावरमेवेति द्विविधा । परं मुक्ता जीवा कर्मणः अभावेन मेहरहिता ज्ञेया ॥१८॥
 धर्माधर्माविति—यथा अधम मजः काकः पुद्गलस्येति पञ्च पञ्चाक्षरी जीवसंज्ञेन वर्ण्यते । एते विविच-
 पर्याया एते नानावस्थायुता भवन्ति ॥१९॥ गतिस्मितीति—यद्यप्य जीवपुद्गलमोर्बेतिपरिनिमित्तकारणम् ।
 अत्रमध्यं तयोरेव स्थितिपरिनिमित्तकारणम् । नम आकार्य इत्यम् अर्थात्कारणं जीवपुद्गलमोः प्रतीकारं
 प्रतिरोधं न करोति तत्तयोरेवसाहं दधाति । काकः जीवपुद्गलमोः वर्णाक्रियापरिणामपरत्वापरत्वं
 परिनिमित्तित्वमनं भवति । एवं सर्ववस्तूनां लक्षणं प्रोक्तम् । कृपाद्यात्मा च पुद्गलः 'स्वर्घरसमवर्धनः'
 पुद्गला इति पुद्गलस्य स्वरूपम् ॥२०॥ अन्त्येति—अन्त्योऽनुप्रवेष्टेन जीवप्रवेष्टेन
 कमप्रवेष्टा प्रविशति । कमप्रवेष्टेषु च जीवप्रवेष्टा प्रविशति एवं कर्मस्थितोर्बन्धो भवति । स बन्धोऽनाति-
 घातव्य भवति कालिकास्वधवारिव ज्ञानो उत्पन्नं सुखं कालिकाउद्दिष्टमिवास्ति तत्र आसी सुखम् कालिका
 तद्वत्तत्पुद्गल इति काकमेवो जातिर परं ततः कपायः सुवर्चात्कालिकापनमः क्रियते येन तयोः सावधानता भवति
 तथासी गुह्य भारता तन्मत्तस्य प्रवेष्टेषु कर्मप्रवेष्टाणां संवेष्टेयो वात इति न ज्ञानो संस्येयत्वानादिता वते ।
 परं रत्नत्रयं प्रकृत्यत मया तथा जीवकर्मचोरतत्पत्तं विद्वन्मो भवति येन जीवः शुद्धः संपद्यते ॥२१॥ अत्रत्य
 चानुविध्यम्—प्रकृत्येति—यद्येवावेव वेदिता संसारिजीवानां प्रकृतिवत् स्थितिवत्त्वा, अनुगम्यत्वं प्रवेष्ट-
 वत् इति धेवात् अनुगमं बन्धी मियते अनुगम्यते भवतीत्यर्थः । ज्ञानावरणाधिकर्मणा ज्ञानाविप्रविहृतं
 स्वभावः प्रकृतवत् । तत्त्वभावावप्रकृति स्थितिवत् । ज्ञानावपननाधिसव्यावावप्रकृति स्थितिवत् ।
 तद्वद्विद्योपाज्जुभवः कर्मभावपरिधत्तपुद्गलसंस्कारानां परमाधुपरिच्छेदेनासंस्कारत्वं प्रवेष्टवत् ॥२२॥ मोक्ष-
 सन्नमम्—आत्मेति—जीवस्य अन्तमकदायात् जीवस्य रागादिकापरिधत्तानाम् अन्तर्मकदायां धर्मादित्येवार्थः
 या निमलता अनन्तगुह्यस्वाभाविकतत्त्वानुसारिपरिधत्ते प्रकृतमता तस्याः आत्मकार्यं मोक्षं विदुः जानन्ति ।
 जीवस्य अभावो मोक्षो न नापि अर्थवत् वेतनारहितत्वं मोक्षं न च वैतन्यम् अन्नमम् अन्नो घटादि-
 तज्जानाविप्रहितं वेतनं कदाच न तिष्ठति । मुक्तत्वात्मा ज्ञाने प्रतिष्ठमयम् अन्तमपदार्थमात्मिका ककृत्येति
 मेवम् ॥२३॥ अत्रमाद्यको कारणानि—यद्यस्येति—विध्यात्वात्संस्कारादिं बन्धस्य कारणं प्रकृतम् ।
 आप्ताममपदार्थानाम् अप्यकारं विध्यात्वात् । इतिवर्णमप्राप्तिर्धर्मकारणं सर्वमनः । आदिधर्मेन वधावधि-
 मुह्यते । एतादर्थमप्यस्य कारणं निधानं प्राक्तनम् । रत्नत्रयं तु मोक्षस्य मुक्तेः कारणं प्रोक्तं कथितम् ॥२४॥
 विध्यात्वेनाः प्रगियाद्यन्ते—आत्मेति—आत्मावपदार्थानाम् अहंस्तिष्ठान्तर्जीवादिनवराशानाम् अप्यकारं
 क्वम् एव विध्यात्वात्, विवचकणं द्वितीयम् संस्यम्यं कृत्यम् । इति कल्पितानन्ता गाढरघ्वनमोक्षोपपत्तौ
 विधा विध्यात्वं प्रोक्तम् । अथवा—यकान्तेति—एकान्तवत्तत्वात्तत्त्वम्—एकान्तविध्यात्वात् संग्रहविध्यात्वात्
 अज्ञानविध्यात्वं च तथा अज्ञानविध्यात्वं व्यस्यानो विरयस्य आधय आचारो यस्य विपदंवाच्योत्पत्तौ
 विरतीमिध्यात्वात् । विमवाद्यं विमवाचार विमवाविध्यात्वनित्यम् । विध्यात्वेनम् प्रवचनाविप्रत्वात्
 नारादात्म्य अविप्रत्वात् अनुकूलत्वात् पञ्चपा पञ्चप्रकारं स्मृतम् ॥२५॥ २६॥ अर्थवत् विधयति—
 अर्प्रति—अभिनि—अनादिनि वागनि च येन इमिध्याविनिविहो विवचो ज्ञायम् । तस्यानादिनि धर्तरी तत्र नारी
 अर्प्रति न पञ्चमपञ्चमम् । विधाविध्यात्वं विवचनमर्प्रतिरतिरतिरतिरति । प्रवचनं पुनरकर्मम् अनादर प्रवच-
 नात्सं ज्ञानं न प्रवचो नप्य भावः प्रवचिहम् । तत्र पञ्चमविनिविहोपिगहपकालमप्यारतिरतिरतिरति
 अर्प्रतिरति । निवचनम्—आदिपुनं दुष्टा मयनाऽऽराधनं कृता इति भावः । अनुगता इतिवचनं मये
 रतिर अनादितया पुनरुता । इतिवचनमपिगहपकालमप्यारतिरतिरतिरति । विवचनं पुनरुता मये
 नप्यम् । तत्र ज्ञानिन् अर्थवत् अर्थवचनमप्यारतिरतिरति । इति नप्य ॥२७॥ वधापदोऽनुवर्धं न-कृता इति—

कपन्ति हिंसन्ति आत्मानं दुर्गतिं प्रापयन्ति इति कपाया । ते क्रोधाद्या क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः पुनस्ते-
 पामपि एकैकस्य चातुर्विध्यमेकम् अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभा । अप्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमाया-
 लोभा । प्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । सज्वलनाश्च क्रोधमानमायालोभा । एते प्राणिना जीवाना
 ससारसिन्धुसपातहेतवः—भवसागरप्रवेशे हेतवो मता ॥११८॥ मनोवाक्कायेति—शुभाशुभविभेदत
 मनोवाक्कायकर्माणि शुभ मन कर्म शुभा मनोभावना, शुभ वाक्कर्म, शुभा वचनप्रवृत्ति, शुभ कायकर्म,
 शुभा शरीरचेष्टा, अशुभ मन कर्म, अशुभा मनोभावना, अशुभा वचनप्रवृत्ति, अशुभा शरीरचेष्टा एता शुभा-
 शुभमनोवाक्कायानां प्रवृत्तयः आत्मनि जीवे पुण्यपापानां क्रमशो बन्धहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते ॥११९॥ लोकस्वरूप
 प्रोच्यते—निराधार इति—निराधार शेषकच्छपाद्याधाररहित । निरालम्ब आकाशे सर्वतोऽनन्ते क्वापि न
 सलन, पवमानसमाश्रय पवमाना वनवाताम्बुवाततनुवातानाम् आधारेण तिष्ठन्, नभोमध्यस्थित आकाश-
 मध्ये स्थित । सृष्टिसंहारवर्जित उत्पत्तिव्ययरहित ॥१२०॥ अथ मतम्—नैवेति—जगत् क्वापि न लग्नम् ।
 जगत् लोकोऽयं क्वापि कस्मिन् अपि न लग्नम् न सश्लिष्टम् । कथभूतम् । भूभूध्राम्भोविनिर्भर भू भूमिः,
 भूध्रा पर्वता, अम्भोधि समुद्रः तै । निर्भर भूतम् । घातारश्च धारका, के । मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः मत्स्यो
 मत्स्यावतारधारी विष्णुः, कूर्मः कच्छपः, अहि शेषः, पोत्री वराहः न युज्यन्ते अनवस्थापत्ते ॥१२१॥
 एवमिति—एवमालोच्य इत्य विचार्य । लोकस्य जगतः । कथभूतस्य निरालम्बस्य आश्रयविहीनस्य । धारणे
 जैनं पवनं वायुविशेषं कल्प्यते समर्थते । इत्येतन्महत्साहसम् ॥१२२॥ यो ह्येति—हि यस्मात्कारणात्,
 यो वायुः अत्र अस्मिन्लोकैः प्रत्यक्षीभूते । लोष्टकाष्ठादिधारणे लोष्ट मृत्तिकाखण्डम्, काष्ठं दारु, आदिशब्देन घट-
 पटादयः तेषां धारणे न शक्तो न समर्थः । स त्रैलोक्यस्य जगत्त्रयस्य कथं धारणावसरक्षम् धारणावसरे
 धारणकार्यं क्षमं समर्थं स्यात् ॥१२३॥ तदसत्—उपर्युक्तमाक्षेपं प्रतिविदधाति—ये इति—ये मेधा पानीयै-
 र्जलैः । सचराचरं चरा जङ्गमा पदार्थाः । अचरा स्थिरा पदार्थाः धराधराधरादयः । तै सहितं सचराचरं
 विष्टं जगत् प्लावयन्ति पूरयन्ति । ते वातसामर्थ्यात् वायुशक्ते । व्योम्याकाशे । किं न समासते किं न
 तिष्ठन्ति । अपि तु तिष्ठन्त्येव ॥१२४॥ आप्तागमपदार्थेषु अर्हति जिने, आगमे तदुक्तसिद्धान्ते, जीवादिनव-
 पदार्थेषु च अपरं दोषम् अपश्यन्तोऽन्यमतीया अमज्जनेत्यादिदोषचतुष्टयं ब्रुवते—अमज्जनम् अस्नानम्, अनाचाम
 अदन्तघावनम्, नग्नत्वम्, स्थितिभोजिता उद्धोभूय भोजनं मुने एतद्दोषचतुष्टयं मिथ्यादृशो वदन्ति ॥१२५॥
 अत्र समावि एतद्दोषचतुष्टयस्य निरसनम्—यथा—ब्रह्मचर्येति—ब्रह्मचर्योपपन्नानां मैथुनम् अब्रह्म तत्पागो
 ब्रह्मचर्यम्, तदुपपन्नं स्वीकृतं यैस्ते ब्रह्मचर्योपपन्नास्तेषाम् । पुनः कथभूतानाम् । अध्यात्माचारचेतसाम् आत्मानम्
 अविच्छेद्यं ये आचारा जपव्यानतपासि तेषु चेतो मनो येषां ते अध्यात्माचारचेतसः तेषाम् । मुनीनां स्नानम्
 अप्राप्तं स्नानस्यावश्यकता न । तु परतु स्पर्शं अयोग्यजनस्पर्शं । अस्य स्नानस्य विधिर्मतं मान्यं ॥१२६॥
 संगे इति—कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः कपालेन नृकपालेन चरति अभ्यवहारादिकं भोजनपानादिकं
 करोतीति कापालिकं वर्णसंकरजातिविशेषः । आत्रेयी पुष्पवती स्त्री । चाण्डाल ब्राह्मण्या वृषलेन शूद्रेण
 जातः । शबरो म्लेच्छजातिः, “भेदा किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः” इति, आदिशब्देन शुनकगर्दभनापित-
 स्पर्शः । वमने, विष्टोपरि पादपतने, शरीरोपरि काकविष्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तो सत्या दण्डवदुपविश्यते
 श्रावकादिकश्छात्रादिको वा जलं नामयति । सर्वाङ्गप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते ।
 स्नाने सति उपवामो गृह्यते । पञ्चनमस्कारं शतमष्टोत्तरं वा कायोत्सर्गणं जप्यते एव शुद्धिर्भवति ॥१२७॥
 प्रतिक्स्थोणा कथं शुद्धिर्भवति । एकान्तरमिति—ऋतो रजस्वलावस्थायाम् । व्रतगता स्त्रिय आयिका.
 क्षुल्लिका श्राविकादयश्च । एकान्तरम् एकदिवसम् उपोषितम्, त्रिरात्रं वा त्रिदिनोपवासं वा कृत्वा । चतुर्थके दिने
 स्नात्वा स्नानं कृत्वा । अमदेहं निरारं निश्चयेन । शुद्ध्यन्ति रजोदोषदूरा भवन्तीत्यर्थः ॥१२८॥ यदेवेति—
 यदेव आगमेन शुद्धं भवतीति निगदितं तदेव ओष्यम् । केन । अद्भिर्जलेन । हि यत् अद्भुलो करणाखाया मर्प-
 दद्याया न हि नासा नासिका निकृन्यते छिद्यते ॥१२९॥ निष्पन्दादिविधौ—निष्पन्दादिविधौ मुखालाला-
 कपादिनिर्गमने सति मुखे यदि चेत् अपतत्वम् अपविशत्वम् इष्यते मन्यते तर्हि वक्ष्यापविशत्वे मुखस्य अशुचित्वे शीघ्रं

कपन्ति हिंसन्ति आत्मानं दुर्गतिं प्रापयन्ति इति कपाया । ते क्रोधाद्या क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः पुनस्ते-
 पामपि एकैकस्य चातुर्विध्यमेवम् अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभा । अप्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमाया-
 लोभा । प्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । सज्ज्वलनाश्च क्रोधमानमायालोभा । एते प्राणिना जीवानां
 ससारसिन्धुसपातहेतवः—भवसागरप्रवेशे हेतवो मता ॥११८॥ मनोवाक्कायेति—शुभाशुभविभेदतः
 मनोवाक्कायकर्मणि शुभं मनः कर्म शुभा मनोभावना, शुभं वाक्कर्म, शुभा वचनप्रवृत्तिः, शुभं कायकर्म,
 शुभा शरीरचेष्टा, अशुभं मनः कर्म, अशुभा मनोभावना, अशुभा वचनप्रवृत्तिः, अशुभा शरीरचेष्टा एतां शुभा-
 शुभमनोवाक्कायानां प्रवृत्तयः आत्मनि जीवे पुण्यपापानां क्रमशो बन्धहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते ॥११९॥ लोकस्वरूपं
 प्रोच्यते—निराधार इति—निराधारः शेषकच्छपाद्याधाररहितः । निरालम्बः आकाशो सर्वतोऽनन्ते क्वापि न
 लग्नः, पवमानममाश्रयः पवमाना घनवाताम्बुवाततनुवातानाम् आधारेण तिष्ठन्, नभोमध्यस्थितः आकाश-
 मध्ये स्थितः । सृष्टिसंहारवर्जितः उत्पत्तिव्ययरहितः ॥१२०॥ अथ मतम्—नैवेति—जगत् क्वापि न लग्नम् ।
 जगत् लोकोऽयं क्वापि कस्मिन् अपि न लग्नम् न मन्त्रिलम् । कथंभूतम् । भूमध्वाभ्योधिनिर्भरः भू भूमिः,
 भूधा पर्वता, अभ्योधि समुद्रः तैः । निर्भरः भूतम् । घातारश्च धारका, के । मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः मत्स्यो
 मत्स्यावतारधारो विष्णुः, कूर्मः कच्छपः, अहिः शेषः, पोत्री वराहः न युज्यन्ते अनवस्थापत्ते ॥१२१॥
 एवमिति—एवमालोच्य इत्यर्थः । लोकस्य जगत् । कथंभूतस्य निरालम्बस्य आश्रयविहीनस्य । धारणे
 जैनं पवनं वायुविशेषः कल्प्यते समर्थ्यते । इत्येतन्महत्साहसम् ॥१२२॥ यो हीति—हि यस्मात्कारणात्,
 यो वायुः अत्र अस्मितलोके प्रत्यक्षीभूते । लोष्टकाष्ठादिधारणे लोष्टं मृत्तिकाखण्डम्, काष्ठं दारुः, आदिशब्देन घट-
 पटादयः तेषां धारणे न शक्तो न समर्थः । स त्रैलोक्यस्य जगत्त्रयस्य कथं धारणावमरक्षमः धारणावसरे
 धारणकार्ये क्षमः समर्थः स्यात् ॥१२३॥ तदसत्—उपर्युक्तमाक्षेपं प्रतिविदधाति—ये इति—ये मेघा पानीय-
 जलैः । सचराचरं चरा जङ्गमा पदार्थाः । अचरा स्थिरा पदार्थाः धराधराधरादयः । तैः सहितं सचराचरं
 विष्टं जगत् प्लावयन्ति पूरयन्ति । ते वातसामर्थ्यात् वायुशक्तेः । व्योम्याकाशे । किं न समासते किं न
 तिष्ठन्ति । अपि तु तिष्ठन्त्येव ॥१२४॥ आप्तागमपदार्थेषु अर्हति जिने, आगमे तदुक्तसिद्धान्ते, जीवादिनव-
 पदार्थेषु च अपरं दोषम् अपश्यन्तोऽन्यमतीया अमज्जनेत्यादिदोषचतुष्टयं ब्रुवते—अमज्जनम् अस्नानम्, अनाचाम-
 अदन्तघावनम्, नग्नत्वम्, स्थितिभोजिता उद्धीभूय भोजनं मुने एतद्दोषचतुष्टयं मिथ्यादृशो वदन्ति ॥१२५॥
 अत्र समाधिः एतद्दोषचतुष्टयस्य निरसनम्—यथा—ब्रह्मचर्येति—ब्रह्मचर्योपपन्नानां मैथुनम् अब्रह्म तत्त्यागो
 ब्रह्मचर्यम्, तदुपपन्नं स्वीकृतं यस्मै ब्रह्मचर्योपपन्नास्तेषाम् । पुनः कथंभूतानाम् । अध्यात्माचारचेतसाम् आत्मानम्
 अधिकृत्य ये आचाराः जपध्यानतपांसि तेषु चेतो मनो येषां ते अध्यात्माचारचेतसः तेषाम् । मुनीनां स्नानम्
 अप्राप्तं स्नानस्यावश्यकता न । तु परंतु स्पर्शो अयोग्यजनस्पर्शः । अस्य स्नानस्य विधिर्मतः मान्यः ॥१२६॥
 सरो इति—कापालिकाश्रेयोचाण्डालशवरादिभिः कपालेन नृकपालेन चरति अभ्यवहारादिकं भोजनपानादिकं
 करोतीति कापालिकं वर्णसंकरजातिविशेषः । आश्रेयो पुष्पवती स्त्री । चाण्डालः ब्राह्मण्या वृषलेन दूषेण
 जातः । शवरो म्लेच्छजातिः, “भेदा किरातशत्रुरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः” इति, आदिशब्देन शुनकगर्दभनापित-
 स्पर्शः । वमने, विष्टोपरि पादपतने, शरीरोपरि काकविष्णोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तौ सत्या दण्डवदुपविश्यते
 श्रावकादिकश्चात्रादिको वा जलं नामयति । सर्वाङ्गप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते ।
 प्रतिकेन्द्रीणां कथं शुद्धिर्भवति । एकान्तरमिति—ऋतौ रजस्वलावस्थायाम् । व्रतगता स्त्रिय आगिका
 स्नात्वा स्नानं कृत्वा । अमदेहं निरारेकं निश्चयेन । शुद्धयन्ति रजोदोषद्वारा भवन्तीत्यर्थः ॥१२८॥ यदेवेति—
 दष्टाया न हि नासा नासिका निकृण्यते छिद्यते ॥१२९॥ निष्पन्दादिविधौ—निष्पन्दादिविधौ मुखालाला-
 कपादिनिर्गमने सति मुखे यदि चेत् अपूतत्वम् अपवित्रत्वम् इष्यते मन्यते तर्हि वक्त्रापवित्रत्वं मुख्यं अशुचित्वे शोच-

वदिति—यथा मन्त्र नियतोऽपि परिमितालरोऽपि स्वभावतः ज्वलन्त्यस्तित्तको भवति तथा वचम् वाक्यं
नियतं सरीरप्रमाणोऽपि स्वभावतः ज्वलन्त्यस्तित्तको वेदितव्यः । अतः स्वसरीरस्य ज्ञानाय नानुमते न च
वदते । सरीरप्रमाणत्वात् स व्यापको न भवति ॥१०७॥ **बीजवैविध्यं निगद्यन्वाचार्याः**—असत्स्मादरेति—
असत्स्मादरेवेति केचित् बीजाः अतुर्वित्तमाभवात् नारकतिर्यङ्मुरदेववतीं अथकाम्यं संसारे स्थिता मुच्यते ।
तथा वयम् च केचित् पञ्चमी गतिं मोक्षगतिम् आभिता मुक्ता भवन्ति कर्मस्य कृत्वा इति द्विविधं बीजाणाम् ।
संसारिणो बीजाः असत्स्मादरेवेति द्विविधाः । परं मुक्ता बीजाः कर्मणः अभावेन मोक्षार्हतां गेवाः ॥१०८॥
धर्माधर्माविति—यमः अयमः ममः काकः पुण्यकर्मणेति पञ्चन पञ्चार्था ज्ञातव्यत्वेन वर्ण्यन्ते । एते विविध-
पर्यन्ता एते ज्ञानावस्थायुता भवन्ति ॥१०९॥ **गतिस्त्रिविती**—यमइयं बीजपुद्गलयोगेतिपरिभक्तिभारम् ।
अमरंइयं तयोरेव स्थितिपरिभक्तिभारम् । यम आकाशं इयम् अग्रतीषातपरम् बीजपुद्गलयोगः प्रतीषाते
प्रतिरोधं न करोति तत्तयोरवगाहं ददाति । काकः बीजपुद्गलयोगः कर्तव्याभ्यामपरिचामपरत्वापरत्वं
परिपठितिविधानं भवति । एवं सर्ववस्तुनां लब्धयं प्रोक्तम् । कृपाकारणा य पुद्गलः 'स्वसरोदयवर्धनवत्
पुद्गलः इति पुद्गलस्य कथनम् ॥११०॥ **बन्धस्य फलम्**—अन्वोऽन्विति—अन्वोऽन्वयानुप्रवेशं बीजप्रवेशे
कर्मप्रवेशा प्रविशन्ति । कर्मप्रवेशेषु च बीजप्रवेशा प्रविशन्ति एवं कर्मात्मनोर्बन्धो भवति । स बन्धोऽज्ञा-
तान्तरं भवति काष्ठीकास्वयोरिव जलो जलपत्रं पुत्रं काष्ठीकासहितमेवास्ति तत्र जलो पुत्रवत्, काष्ठीका
तदनन्तरम् इति काष्ठीकेशो नास्ति परं ततः कृपायां पुत्रवत्काष्ठीकापत्रं स्थितं येन तयोः तावत्तानता भवति
तथापि सुखं आत्मा तत्तत्तत्त्व प्रवेशेषु कर्मप्रवेशानां संक्षेपो वात इति न अनयो संक्षेपस्यानादिता वृत्ते ।
परं रत्नत्रयं प्रकृष्यते यथा तथा बीजकर्मचोरत्वं विरक्षेपो भवति येन बीजं सुखं संपद्यते ॥१११॥ **बन्धस्य**
प्रागुच्यम्—प्रकृत्येति—सर्वेयामेव वेदित्वा संसारिणोवाणां प्रकृतित्वम् स्थितिवन्तः, अनुभाषकम्, प्रवेश-
कम् इति मेधायां अतुर्वा बन्धो विद्यते अतुःप्रकारो भवतीत्यर्थः । ज्ञानावरणाधिकर्मणा ज्ञानाविप्रतिष्ठनं
स्वभावः प्रकृतित्वम् । तत्स्वभावावप्रकृतिः स्थितिवन्तः । ज्ञानावपमानादिसमावादावप्रकृतिः स्थितिवन्तः ।
तत्तद्विद्येयोऽनुभवः कर्मभावापरिचयपुद्गलस्यस्वभावां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रवेशकम् ॥११२॥ **मोक्ष**
फलम्—आत्मेति—बीजस्य अन्तर्मलमात्रं बीजस्य रागादिकपरिचययोगात् अन्तर्मलमात्रां अनादिस्थितम्
या निरन्तरा अन्तर्गुह्यस्वाभाविकवैतन्यमुखादिरिचते प्रकृत्यतया तत्त्वाः आत्मकारणं मोक्षं विदुः ज्ञान्ति ।
बीजस्य अनाद्यो मोक्षो न नापि अन्तर्गुह्यं चैतनाद्विदुः मोक्षं न च बीजस्य अन्तर्मलम् अन्तर्मलमात्रं
तन्मात्रविप्रतिष्ठनं नैतन्म कथा न च विच्छति । मुक्तात्मना ज्ञाने प्रतिपद्यमानं अन्तर्मलमात्रमात्रिका कथ्येति
मेवम् ॥११३॥ **व्ययमोक्षको** कारणाणि—अन्तर्गुह्येति—विध्यात्वाद्यध्यायिकं बन्धस्य कारणं प्रोक्तम् ।
आप्यागमपदार्थानाम् व्ययज्ञानं विध्यात्मम् । इन्द्रियसंज्ञाप्रतिपद्यमानात् व्ययमः । आदिधर्म्येन वयावार्थिकं
मुच्यते । एतत्कर्मबन्धस्य कारणं निरानं प्रोक्तम् । रत्नत्रयं तु मोक्षस्य मुक्तेः कारणं प्रोक्तं कथितम् ॥११४॥
निर्वाणत्वमेव प्रतिपाद्यते—आत्मेति—आप्यागमपदार्थानाम् अद्वैतित्वात्तद्वैतव्यापिनपदार्थानाम् व्ययज्ञानं
कथम् एक विध्यात्मम्, निरवयवम् द्वितीयम् संज्ञकम् तृतीयम् । इति त्रितयारम्भां पाठपर्यन्तमद्वैतव्यव-
विधा विध्यात्मं प्रोक्तम् । अथवा—एकान्तेति—एकान्तसंज्ञाज्ञानम्—एकान्तविध्यात्मम्, संज्ञाविध्यात्मम्
अज्ञानविध्यात्मं च तथा व्यावसायिकव्यापय व्यावसायो विपर्यय व्यापय व्यावसायो यस्य विवक्षापदोत्पन्न
विरतीनिध्यात्मम् । विनयाद्यं विनयाचार विनयविध्यात्मविध्यात्मः । विध्यात्मवैतन्म पञ्चपदाविराजत्वात्
समावृतायाम् अविपरीताय अतुर्गुह्यत्वात् पञ्चव्या पञ्चप्रकारं समम् ॥११५-११६॥ **अर्थवत् विमर्शयति**—
अप्रतिवृत्तिमिति—द्वितीयानि त्रयानि न सेवेऽद्वैतविमर्शयितृती नियमो ज्ञानम् । तत्तत्स्वातीति प्रती तस्य कार्यो
पनिष्पन्नं न इतिवचनं—ज्ञानम् । द्वितीयोऽद्वैतमयप्रतिवृत्तिमित्यर्थः । प्रमादिवैतन्म पुत्रकर्मण् अकारणः प्रमाद-
कार्त्तस्य यस्य स प्रमादो तस्य भावः प्रमादिवन् ॥ तस्य पञ्चवचनमितिनिर्गुह्यमुपपद्यतेतावदादिविचयेयम्
अनेद्वैतम् । निरवयवम्—ज्ञानम् तत् पुद्गलं अन्तर्गुह्यत्वात् कृत्वा इति ज्ञानं । अतुर्गुह्यं इतिवचनम् तस्य
एव अन्तर्गुह्यत्वात् मुच्यते । इतिवचनानुपनिष्पन्नम् इतिवचनो वेदुः संयुक्तं विपर्ययं पुद्गलं ज्ञानं तदनुमन्त्रेण
वचनम् । अतः ज्ञानिनः अन्तर्मलं अन्तर्मलमात्रं प्रादुः वर्तते इव ॥११७॥ **वयावार्थेयम्**—कृपाया इति—

समयादिषु या क्रिया पूजादिका क्रियते सा वेश्यायैव समारभ्रमणायैव स्यात्—फलावाप्तिकारण न स्यात् । सम्पत्वादिकञ्जावाप्तिहेतुन भवेत् । केपा मुग्धबाधाना मूर्खानाम् अज्ञानिनामित्यर्थः । कथम् । ऊपरे क्षारमुद्विशिष्टे क्षेत्रे कृषिकर्मवत् बोजवपनकार्यवत् निष्फलं स्यात् ॥१८१॥ जिनादिषु भक्ति सफला भवति—वस्तुनीति—प्रकृतत्वात् जिनादिष्वेव भक्ति । भावित्वे भक्ति पूज्ये गुणानुराग सा प्रयोजन यस्य स भावितकस्तस्मिन् भावितके शुभारम्भाय पुण्यप्राप्तये भवेत् । रत्नाय रत्नप्राप्तिहेतवे अरत्नेन रत्नस्वरूपरहितेन पापाणेन रत्नाय रत्नमिदं भवति इति कृतो भावः । भूतये वैभवाय नहि भवति । 'नह्यरत्नेषु' इत्यपि पाठः रत्नस्वरूपरहितेषु पापाणेषु रत्नानि इमानि इति कृतो भावः । भूतये वैभवाय नहि भवति इति अभिप्रायो गृहीतव्यः ॥१८२॥

[पृष्ठ ३७] मिथ्यात्वं त्याज्यमिति कथयति—अदेवे इति—अदेवे आप्तत्वरहिते हरिहरादिषु देवता-बुद्धि सर्वज्ञोऽयमिति भावम् । अत्रते व्रतभावनाम्, मिथ्यात्वयुक्ते तप आदौ व्रतभावना व्रतपरिणामम् । अतस्त्वे एकान्तनित्यादिषु तत्त्वविज्ञानं तत्त्वकलनं मिथ्यात्वं तत् उत्सृजेत् त्यजेत् ॥१८३॥ तथापि इति—तथापि यदि कोऽपि नर सर्वथा मूढत्वम् अदेवादिषु देवनादिभाव न त्यजेत् तर्हि असौ मिश्रत्वेन अर्हदादिषु अदेवादिषु च भक्ति कुर्वाणोऽसौ मिश्रत्वेन अनुमान्य अनुमत्यर्हः । यत सर्वनाश सुन्दर न । कालान्तरेण स जैनो भवेत् इति मत्वा न आदरणीयः ॥१८४॥ न स्वत इति—जन्तव स्वत न प्रेर्या आप्तादिश्रद्धाने न प्रवर्ति-तथा तथा प्रवर्तने कृते ते जिनागने दुरोहा म्यु दुर्भावनायुक्ता भवेयुः । स्वत एव आप्तादिश्रद्धाने प्रवृत्ताना तद्योग्यानुग्रहो मन आप्तादिश्रद्धानादिषु अनुग्रह उपकार कर्तव्यः ॥१८५॥

इत्युपासकाध्ययने मृदुनोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

५ जमदग्निनतपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

[पृष्ठ ३७] शङ्केति—शङ्का जिनोक्तम् इदं धर्मादितत्त्वं स्यादन्यद्वा वैशेषिकाद्युक्तं धर्मादितत्त्वं स्यादिति चञ्चल श्रद्धानं शङ्का । मदीयतपोमाहात्म्यान्ममेन्द्रपदं ससारसौख्यं वा भवतु इति इच्छा काङ्क्षा । कोपादिवशात् रत्नत्रयसाधने शरीरादौ जुगुप्सा विनिन्दा । अन्यश्लाघा—सर्वथा क्षणिकादितत्त्ववादिनो मिथ्या-दृष्ट्योऽप्येतेषां श्लाघा प्रशंसा अन्यश्लाघा एते दोषा मनसा गिरा वचसा भवन्ति तदा सम्पत्त्वविनाशकारणं भवन्ति ॥१८६॥

[पृष्ठ ३८] तत्र शङ्कादोषस्य विशद स्वरूपं प्रकथयति—अहमिति—अहमेकं अमहाय, जगत्त्रये मे मम कश्चित् त्राता रक्षको नास्ति । इति एवरूपा व्याघोना रोगाणां व्रजं समूहं तेन उत्क्रान्ति आक्रमणं तस्या जायमाना भीति भयं शङ्का प्रचक्षते ब्रूयते—अथवा शङ्काया अपरं लक्षणम्—एतदिति—एतत्तत्त्वं जिनोक्तं धर्मादितत्त्वं वा इदं तत्त्वं वैशेषिकाद्युक्तं तत्त्वम्, एतद्व्रतं जिनोक्तं तपोव्रतादिकं वा इदं व्रतं मिथ्यादृष्ट्युक्तं पञ्चान्नितपोव्रतादिकं वा, एष जिनो देव, हरिहरादिको वा देव इति परा शङ्का विदुः ॥१८७-१८८॥ इत्थं शङ्कितचित्तस्थ—इत्थं सशयितमनसं जनस्य दर्शनविशुद्धता न स्यात् । दर्शनं निर्मलं निर्दोषं न भवेत् । चित्तं शङ्किने ईप्सितावाप्तिर्न स्यात् । अभिलषितप्राप्तिर्न भवेत् । यथा उभयवेतने पुरुषे अभिलषित-लाभो न भवति । स्वामिद्वयेनापि त्वया आवयो सेवा न सुष्ठु कृता इति दोषारोपणं क्रियते तस्मात् उभयलाभा-दपि स वञ्चितो भवति सेवकः । अथवा पाठान्तरम् 'उभयवेदने' नपुंसकवेदे उभयामिलापा भवति परंतु उभययो-रपि वाञ्छितयो अर्थयो प्राप्तिर्न भवति । स्त्रियं पुरुषं वा भोक्तुं न क्षमो भवति नपुंसकः । तथा शङ्कित-चित्तस्य नुरपि सम्यग्दर्शननिर्मलता न जायते ॥१८९॥ नि शङ्कितधियो जनस्य स्वरूपमाह—एष एव भवेद्देवः—अर्हत्त्वे देवो भवेत् । तदुपनमेवानेकान्तरूपं जीवादिकं तत्त्वम्, एतत्तदेव व्रतम् अहिंसादिकं मुक्त्यै मोक्षाय भवेत् इति निश्चयं कुर्वाणो नरोऽशङ्कवो नि शङ्कितबुद्धिः स्यात् ॥१९०॥ तत्त्वे इति—जीवादितत्त्वस्वरूपे शास्ते सति । रिपो अरो दष्टे सति । पात्रे वा मुन्यादिके आगते सति यस्य चित्तं दोलायते मंशययुक्तं स्यात्

पुत्रत्वं कृतं नारम्यते आगमे मुक्तापुत्रिभ्यामुता न तु पुत्रपुत्रि तस्य स्वभा अपविनत्वात् । मुक्तापुत्रिभिरिति वदति ।
 पुत्रपुत्रिस्तेनापि न भवति ॥११॥ विकारे इति—विहृतो विदुषा मतिमता द्वेषः । परम् अधिकारपुत्रमपि
 विविकापुत्रमर्तते पाण्डेपारिजातविरहितस्य जगत्कार्य अनुवर्तने अनुसरणे द्वेषो न । मतिमत्ता पाण्डेपारि-
 विषये विभी कथ्ये इयं कुरुति । परम् अधिकारकार्यकरणे तद्विषये वा द्वेषं न कुरुति । तस्मात्परवाहमत्त
 मुनीनां निरसीत्वं स्वाभाविकम् । पाण्डेपारिजित्पुत्रं वामविकारेण विहृतं वा नास्ति । अतस्तत्र का नाम द्वेषकस्य
 द्वेषेन कथमप्य अनुपपरिपति का नाम कर्तव्या । विवेकं कृत्वा मन्त्रान्ते द्वेषस्त्याज्यः ॥१३॥ वत्सवार्त्तने
 बोधा—मैत्रिर्ह्यन्यमिति—यदि ते संवर्गिणो भूयसो बलकाजिनवाससा तद्वत्कर्मिणित्ववत् बलकमुच्यते ।
 अजिनं हरिचम्पाद्राहीनां वयम् । कापीसवत्त्वं वास एतेषां संघाय प्रह्लादस्य सवि ईहन्ते स्फुटमिति तद्वि नैर्धर्मिकं
 निष्परिग्रहत्वम् अहिंसा च संवर्गिता कृतो भवेत् । न कस्यापि हेतोः । पाण्डेपारिजित्पुत्रं संवाञ्जयते
 यतः ॥१३॥ स्थितिभोजिनां वचनमिति—नेति—स्थिते बद्धीयुत्वा भुक्तिः भोजनं न स्वयमिति । पुनः अस्मिन्ते
 भुक्तिं उपविश्य भोजनं न स्वयम् नरकवाप्तिहेतुः । किन्तु अस्मिन्संवर्गमित्रे सा स्थितिभोजिनां प्रतिज्ञात्वं
 इत्यन्ते । अपविष्टः सन् प्राजनेन अन्यहस्तेन वा न भुञ्जेदिति प्रतिज्ञात्वं च ॥१३॥ पाणिपात्रमिति—
 वास्तव्यासम् एतत्पाणिपात्रं पात्री हस्तावच पात्रं वाचनं मिलति सद्यो पात्र्यो संवोजनं भवति । वास्तव्यासं स्थितं
 भोजने क्षितिं सामर्थ्यम् अस्ति तावत्पत्रं भुञ्जे भोजनं कुरु । अन्यथा यदा पात्र्यो संवोजनं न भवेत्
 पात्र्यो क्षितिरथ बद्धाद्वारहने नभयेत् तदाद्वारं ररागि त्यजामि ॥१३॥ केवलमोचकमनम्—अद्वैत्येति—
 अद्वैतम् अवाचनम् । असंज्ञं निर्गुणम् । ईशानं सत्तारुणरुणोपमम् विरचित । पटीपदे तु अरुणम् एतत्
 यतीशाना मुनीन्द्राणाम् । वेद्योत्पादनसहिष्णुः समभुम्भवाणां केदनां हस्तेन उत्पादनसहिष्णुः अपमयनिधि
 इति ॥१३५॥

इत्युपासकाव्ययन आगमपदार्थपरीक्षायां नाम तृतीया कथाः ।

४ मूढवेन्मयमो नाम चतुथाः कथाः ।

[पृष्ठ ३६] सूर्याय इति—सूर्याय अर्घ्यदानम् । विष्णुमुच्यते—सन्तु सूर्याय नारायण इति मन्त्रार्थं वदति ।
 तदुच्यते अर्घ्यं दत्त्वा तस्य पूजनात् स्यात् । प्रह्लादनाम्—प्रह्लादं सूर्याय नमोऽस्तुताय संज्ञातो अविन-
 श्यः सूर्यस्य राक्षसत्वरजसमन्तम्, पुष्पावलेन विष्णुवर्द्धिनः समविद्याया संज्ञातो इत्यर्थानम् । सम्यग्दर्शनं
 वादनम् । संघातेषां सध्यासमये विष्णुवर्द्धिदेवतायां तर्पणम् । अग्निस्तकारं अग्नी देवतात्वं संवत्स्य तत्पुत्रं
 कोकमुडता नेत्रार्चनं वैष्णवार्चनं वैष्णवार्चनम् ॥१३६॥ नक्षत्रिणि—अग्नीनरवद्युतेषु चर्चयेत्तदा मन्त्रानम् अथ स्तौति
 कृते पुष्पं तस्यै वरमोक्षं च भुञ्जी भोजी भवति इति कथ्यते स्तौनाम् । तदुत्पादनात्तनायां वन्दनं ततोत्पत्त्यस्य
 वन्दनम् स्तुताप्रत्यै विकृतायनाम् उपचयभाष्येन वन्दनम् । अस्तानाम् आत्मायां वन्दनम् । प्रपुत्रं च मन्त्रोत्तरं
 तनत्वायं भुञ्जे तस्य संघर्षोऽनन्तरम् । भुञ्जीरमोदयद्विषु पतिता नरत्वं पुष्पायैति मन्त्रा एवाकरवन् ॥१३७॥
 गायुष्टेनि—भोपुष्टान्तमस्कारः गोः भेनोः कुट्टरव जन्तस्य भोजनं नमस्तकारो वन्दनं तन्पुत्रस्य निर्वैवं
 वादनम् । रत्नवाहनं भुवःकण्ठवतीकादित्येकं रत्नानां वाहनानाम् अवाहीनां भुजे—उद्यानां घातार्थां पर्वतादीनां च
 त्वेकम् ॥१३८॥ समयमिति—विनवर्तनं मुक्ता नैयामिर्देवोपि वीर्यावर्धनार्थं समवाप्त्यर्थं पात्रमथा रत्न
 वटपात्राणिवाहय वैद—अर्घ्येवाहयं लोच—पञ्चपात्रवाहनामेका भोगिन् पुष्टी पञ्चपात्रा वा विष्णुस्य कारि-
 हर्यादिभोजनसंघबुद्धयम् । समयतयिन् मूढत्वम् वाजस्यधितिं मूढत्वम्, वैदधिनमूढत्वम् । उवाचनकथा
 मूढत्वं वदति । नमरादिवेषु वै आचारा विवेकरहिता प्रतिपादितान्तेषां तत्पारसेन विमुक्तानाम् अधिके-
 नाम् ॥१३९॥ देवमूढत्वं प्रतिपादयते—वराहमिति—भुवर्षवादिमप्ययं वाचना वरं तस्य इति वदति ।
 मोनवापरीं कृपाविधाजीवनकर्मणि लोचकार्णां तस्यै लोचकार्णांम् । उचरोचार्थं निवर्तयितव्यमार्हात्वं,
 अवीनां दुरेवानाम् उचानं त्वेनं जन्मवर्षनहानये कारणं स्यात् ॥१४॥ अस्त्यायैवेति—अग्नीं वायुं भुञ्जे

समयादिषु या क्रिया पूजादिका क्रियने मा वशेषायैव ममारभ्रमणायैव स्यात्—फलावाप्तिकारण न स्यात् । सम्यक्त्वादिक्रियावाप्तिहेतुर्न भवेत् । केपा मुग्धवाधाना मूर्खाणाम् अज्ञानिनामित्यर्थः । कथम् । ऊपरे क्षारमृद्विगिष्टे क्षेत्रे कृषिकर्मवत् वीजवपनकार्यवत् निष्फल स्यात् ॥१४१॥ जिनादिषु भक्ति सफल भवति—वस्तुनीति—प्रकृतत्वात् जिनादिष्वेव भक्ति । भाक्तिके भक्ति पूज्ये गुणानुराग सा प्रयोजन यस्य स भाक्तिकस्तस्मिन् भाक्तिके शुभारम्भाय पुण्यप्राप्तये भवेत् । रत्नाय रत्नप्राप्तिहेतवे अरत्नेन रत्नस्वरूपरहितेन पापाणेन रत्नाय रत्नमिदं भवति इति कृतो भाव भूतये वैभवाय नहि भवति । 'नह्यरत्नेषु' इत्यपि पाठ रत्नस्वरूपरहितेषु पापाणेषु रत्नानि इमानि इति कृतो भाव भूतये वैभवाय नहि भवति इति अभिप्रायो गृहीतव्यः ॥१४२॥

[पृष्ठ ३७] मिथ्यात्व त्याज्यमिति कथयति—अदेवे इति—अदेवे आप्तत्वरहिते हरिहरादिषु देवता-वुद्धि सर्वज्ञोऽप्रमिति भावम् । अग्रते व्रतभावनाम्, मिथ्यात्वयुक्ते तप आदौ व्रतभावना व्रतपरिणामम् । अतत्त्वे एकान्तानित्यादिषु तत्त्वविज्ञान तत्त्वकलन मिथ्यात्व तत् उत्सृजेत् त्यजेत् ॥१४३॥ तथापि इति—तथापि यदि कोऽपि नर सर्वथा मूढत्वम् अर्वादिषु देवनादिभाव न त्यजेत् तर्हि असौ मिश्रत्वेन अर्हदादिषु अर्हदादिषु च भक्ति कुर्वाणोऽसौ मिश्रत्वेन अनुमान्य अनुमत्यर्हः । यत सर्वनाश सुन्दर न । कालान्तरेण स जैनो भवेत् इति मत्वा न आदरणीयः ॥१४४॥ न स्वत इति—जन्तव स्वत न प्रेर्य आप्तादिश्रद्धाने न प्रवर्ति-तथा तथा प्रवर्तने कृते ते जिनागने दुरोहा म्यु दुर्भावनान्युक्ता भवेयुः । स्वन एव आप्तादिश्रद्धाने प्रवृत्ताना तद्योग्यानुग्रहो मन आप्तादिश्रद्धानादिषु अनुग्रह उपकार कर्तव्यः ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

५ जमदग्निपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

[पृष्ठ ३७] शङ्केति—शङ्का जिनोक्तम् इदं धर्मादितत्त्व स्यादन्यद्वा वैशेषिकाद्युक्तं धर्मादितत्त्व स्यादिति चञ्चल श्रद्धान् शङ्का । मदीयतपोमाहात्म्यान्ममेन्द्रपद ससारसौख्य वा भवतु इति इच्छा काङ्क्षा । कोपादिवशात् रत्नत्रयसाधने शरीरादौ जुगुप्सा विनिन्दा । अन्यश्लाघा—सर्वथा क्षणिकादितत्त्ववादिनो मिथ्या-दृष्ट्योऽप्येतेषां श्लाघा प्रशंसा अन्यश्लाघा एते दोषा मनसा गिरा वचसा भवन्ति तदा सम्यक्त्वविनाशकारणं भवन्ति ॥१४६॥

[पृष्ठ ३८] तत्र शङ्कादोषस्य विग्रह स्वरूपं प्रकथयति—अहमिति—अहमेक अमहाय, जगत्त्रये मे मम कश्चित् व्राता रक्षको नास्ति । इति एवरूपा व्याधीना रोगाणां व्रज समूह तेन उत्क्रान्ति आक्रमण तस्या जायमाना भीति भय शङ्का प्रचसते ब्रूवते—अथवा शङ्काया अपर लक्षणम्—एतदिति—एतत्तत्त्व जिनोक्तं धर्मादितत्त्व वा इदं तत्त्व वैशेषिकाद्युक्तं तत्त्वम्, एतद्व्रत जिनोक्तं तपोव्रतादिकं वा इदं व्रत मिथ्यादृष्ट्युक्तं पञ्चानितपोव्रतादिकं वा, एष जिनो देव, हरिहरादिको वा देव इति परा शङ्का विदुः ॥१४७-१४८॥ इत्थं शङ्कितचित्तस्य—इत्थं संशयितमनस जनस्य दर्शनविशुद्धता न स्यात् । दर्शनं निर्मलं निर्दोषं न भवेत् । चित्तं शङ्किने ईप्सितावाप्तिर्न स्यात् । अभिलषितप्राप्तिर्न भवेत् । यथा उभयवेदने पुरुषे अभिलषित-लाभो न भवति । स्वामिद्वयेनापि त्वया आवयो सेवा न सुष्ठु कृता इति दोषारोपणं क्रियते तस्मात् उभयलाभा-दपि स वञ्चितो भवति सेवकः । अथवा पाठान्तरम् 'उभयवेदने' नपुमकवेदे उभयाभिलाषा भवति परतु उभययो-रपि वाञ्छितयो अर्थयो प्राप्तिर्न भवति । स्त्रिय पुरुष वा भोक्तु न क्षमो भवति नपुंसकः । तथा शङ्कित-चित्तस्य नुरपि सम्यग्दर्शननिर्मलता न जायते ॥१४९॥ नि शङ्कितधियो जनस्य स्वरूपमाह—एष एव भवेद्देवः—अर्हन्नेव देवो भवेत् । तदुक्तमेवानेकान्तरूप जीवादिकं तत्त्वम्, एतत्तदेव व्रतम् अर्हिसादिकं मुक्त्यै मोक्षाय भवेत् इति निश्चयं कुर्वाणो नरोऽशङ्कको नि शङ्कितबुद्धिः स्यात् ॥१५०॥ तत्त्वे इति—जीवादितत्त्वस्वरूपे ज्ञाते सति । रिपो अरौ दष्टे सति । पात्रे वा मुन्यादिके आगते सति यस्य चित्तं दोलायते संशययुक्तं स्यात्

समयादिषु या क्रिया पूजादिका क्रियते या वेश्यायैव ममारभ्रमणायैव स्यात्—फलावाप्तिकारण न स्यात् । सम्यक्त्वादिकञ्चावाप्तिहेतुर्न भवेत् । केपा मुग्धबोधाना मूर्खानाम् अजानिनामित्यर्थः । कथम् । ऊपरे क्षारमृद्विशिष्टे क्षेत्रे कृषिकर्मवत् बोजवपनकार्यवत् निष्फल म्यात् ॥१४१॥ जिनादिषु भक्ति सफला भवति—वस्तुनीति—प्रकृतत्वात् जिनादिष्वेव भक्ति । भाविनके भक्ति पूज्ये गुणानुगम सा प्रयोजन यस्य स भावितकम्तस्मिन् भावितके शुभारम्भाय पुण्यप्राप्तये भवेत् । रत्नाय रत्नप्राप्तिहेतवे अरत्नेन रत्नस्वरूपरहितेन पापाणेन रत्नाय रत्नमिदं भवति इति कृतो भाव भूतये वैभवाय नहि भवति । 'नहरत्नेषु' इत्यपि पाठ रत्नस्वरूपरहितेषु पापाणेषु रत्नानि इमानि इति कृतो भाव भूतये वैभवाय नहि भवति इति अभिप्रायो गृहीतव्यः ॥१४२॥

[पृष्ठ ३७] मिथ्यात्व त्याज्यमिति कथयति—अदेवे इति—अदेवे आप्तत्वरहिते हरिहरादिषु देवता-वुद्धि सर्वज्ञोऽयमिति भावम् । अत्रते व्रतभावनाम्, मिथ्यात्वयुक्ते तप आदौ व्रतभावना व्रतपरिणामम् । अतत्त्वे एकान्तनित्यादिषु तत्त्वविज्ञान तत्त्वकलन मिथ्यात्व तत् उत्तमेज् त्यजेत् ॥१४३॥ तथापि इति—तथापि यदि कोऽपि नर सर्वथा मूढत्वम् अदेवादिषु देवनादिभाव न त्यजेत् तर्हि असौ मिश्रत्वेन अर्हदादिषु अदेवादिषु च भक्ति कुर्वाणोऽसौ मिश्रत्वेन अनुमान्य अनुमत्यर्हः । यत सर्वनाश सुन्दर न । कालान्तरेण स जैनो भवेत् इति मत्वा स आदरणीयः ॥१४४॥ न स्वत इति—जन्तव स्वत न प्रेर्या आप्तादिश्रद्धाने न प्रवर्ति-तस्या तथा प्रवर्तने कृते ते जिनागने दुरीहा म्यु दुर्भाविनायुक्ता भवेयुः । स्वन एव आप्तादिश्रद्धाने प्रवृत्ताना तद्योग्यानुग्रहो मन आप्तादिश्रद्धानादिषु अनुग्रह उपकार कर्तव्यः ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

५ जमदग्निपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

[पृष्ठ ३७] शङ्केति—शङ्का जिनोक्तम् इदं धर्मादितत्त्व स्यादन्यद्वा वैशेषिकाद्युक्तं धर्मादितत्त्व स्यादिति चञ्चल श्रद्धानं शङ्का । मदीयतपोमाहात्म्यान्ममेन्द्रपद संमारमौख्य वा भवतु इति इच्छा काङ्क्षा । कोपादिवशात् रत्नत्रयसाधने शरीरादौ जुगप्सा विनिन्दा । अन्यश्लाघा—सर्वथा क्षणिकादितत्त्ववादिनो मिथ्या-दृष्टयोज्ये तेषां श्लाघा प्रशसा अन्यश्लाघा एते दोषा मनसा गिरा वचसा भवन्ति तदा सम्यक्त्वविनाशकारण भवन्ति ॥१४६॥

[पृष्ठ ३८] तत्र शङ्कादोषस्य विशद स्वरूपं प्रकलयति—अहमिति—अहमेकं अवहाय, जगत्त्रये मे मम कश्चित् त्राता रक्षको नास्ति । इति एवरूपा व्याधीना रोगाणां व्रजं समूहं तेन उत्क्रान्ति आक्रमणं तस्या जायमाना भीति भयं शङ्का प्रचक्षते ब्रुवते—अथवा शङ्काया अपरं लक्षणम्—एतदिति—एतत्तत्त्वं जिनोक्तं धर्मादितत्त्वं वा इदं तत्त्वं वैशेषिकाद्युक्तं तत्त्वम्, एतद्गतं जिनोक्तं तपोव्रतादिकं वा इदं व्रतं मिथ्यादृष्ट्युक्तं पञ्चाग्निपःप्रत्यवसादिकं वा, एष जिनो देव, हरिहरादिको वा देव इति परा शङ्कां विदुः ॥१४७-१४८॥ इत्थं शङ्कितचित्तस्य—इत्थं सशयितमनसं जनस्य दर्शनविशुद्धता न स्यात् । दर्शनं निर्मलं निर्दोषं न भवेत् । चित्ते शङ्किने ईप्सितावाप्तिर्न स्यात् । अभिलषितप्राप्तिर्न भवेत् । यथा उभयवेतने पुरुषे अभिलषित-लाभो न भवति । स्वामिद्वयेनापि त्वया आवयो सेवा न सुष्ठु कृता इति दोषारोपणं क्रियते तस्मात् उभयलाभा-दपि स चञ्चिनो भवति सेवकः । अथवा पाठान्तरम् 'उभयवेदने' नपुंसकवेदे उभयाभिलाषा भवति परंतु उभययो-रपि वाञ्छितयो अर्थयो प्राप्तिर्न भवति । स्त्रियं पुष्टं वा भोक्तुं न क्षमो भवति नपुंसकः । तथा शङ्कित-चित्तस्य नरपि सम्यग्दर्शननिर्मलता न जायते ॥१४९॥ नि शङ्कितवियो जनस्य स्वरूपमाह—एष एव भवेद्देवः—अर्हन्नेव देवो भवेत् । तदुक्तमेवानेकान्तरूपं जीवादिकं तत्त्वम्, एतत्तदेव व्रतम् अहिमादिकं मुक्त्यै मोक्षाय भवेत् इति निश्चयं कुर्वाणो नरोऽशङ्क्यो नि शङ्कितवुद्धिः स्यात् ॥१५०॥ तत्त्वे इति—जीवादितत्त्वस्वरूपे शास्ते सति । रिपी अरी दष्टे सति । पात्रे वा मुन्यादिके आगते सति यस्य चित्तं दोलायते सशययुक्तं स्यात्

पूतत्वं नुतं नारम्भते आगतं मुक्तमुक्तिवराहता न तु ॥
 मुक्तमुक्तिस्तोमापि न भवति ॥१३॥ विकारे ॥
 निबिडाद्यनुवर्तते रागद्वेषादिमात्राद्विहृतम् मन्त्र-
 विषयं विधी कार्यं इयं नुबन्धि । परम् अविना-
 मुनीनां निमयोत्पत्तं स्वामाधिकम् । रामद्वेषादि-
 द्वेषेण कस्मय अमुमपरिणति का नाम च
 बोधा —नेष्टिकचन्यमिति—यदि ते मं
 अविनं हरितम्भामादीनां चयं । कर्तारं
 निन्दारिषद्वत्तम् अहिंसा च धर्मविना
 भवः ॥१३२॥ स्थितिभोजितां वर्धयति
 मुक्तिं उपमिष्य मोक्षं न भवत्य
 इत्येते । उपमिष्टं सन् नात्रमेव
 वाच्यत्वाच्च एतन्नाविधानं वा
 धीजने अस्ति सामर्थ्यम् २
 पादयोः अस्तिरूपं उद्गारा-
 अस्मिन् अवाचकम् । अ-
 यदीदानीं मुनीन्द्राचार-
 कृत ॥१३५॥

उद्गुप्तम्
 अत्र
 वाच्यं
 न

इत्यादि०

मुक्तत्वं ज्ञेयम् । सम्यादि ५

नाम् ॥१३१॥ देवमुक्तत्वं अविपाद्यते—अत्र ५।

लोकावाप्तये कृत्वादिब्रह्मादीनकर्मणि लोकावाप्ता

अदीनां मुदेवानाम् अपातनं ज्ञेयं

सचिवन्ध उद्गाटिताररयुगसचिवन्धन , स्वकीयया निजया सवित्रया मात्रा सह विहितगाढावरुण्डनम् दत्त
 दृढालिङ्गनाम् आत्मकलय निजा भार्या जातनिद्रातन्य समागतस्वापायत्ताम् अवलोचय, उपपतिशङ्कया जार
 सशयेन मुहुस्तलातखड्गो, पुन पुन कोपाद्वह्निष्कासितासि , भगवता श्रोधर्माचार्येण उपपादित दत्त व्रत नियम
 अनुसम्मार् स्मरणमार्गम् आनोतवान् । शुश्राव च आकर्णयामास च देवात् तदैव “मनागत परत सर, ईप
 अत स्थानात् परतः पुरतः सर । खर तीक्ष्ण मे शरीरसबाध देहपोडा”, इति गृहिणीगिरम् पत्नीवचनम् । दैत
 “यदीद व्रतमहमद्य नाग्रहोप नागृह्णाम् (अविचार्य पुन किमपि कार्यं मया क्रियेत) तर्हि इमा जननीम् इदं च प्रिय
 कलय प्रिया जायाम् अमदेह विगम्य हत्वा इहलोके दुरपवादरजसा जननिन्दापामूनाम् अमुत्र परलोके च दुरन्तेनस
 नारकादिदु खाना दातुणा पापाना च भागी भवेयम् ।” इति जातनिवेदं उद्भूतवैराग्यभाव , सर्वमपि ज्ञातिलो
 वाच्यवजन यथायथ यथोचित मनोरथोत्सेक तदीयेच्छापूर्णात् सर्वम् अवम्याप्य “यत्रैव देशे दु खदनिन्दापीडित चेत्
 मनस्तत्रैव देशे अवलम्ब्यमान व्रत दीक्षा वा न भवति निरपवाद निदोष गृह्णारहित वा” इति प्रकाशितोपदेशस
 प्रकटीकृतवर्मज्ञानस्य तस्य भगवतो निदेशात् आदेशमनुमृत्य धरणीभूषणभूधरोपकण्ठे धरणीभूषणनामगिरिसमी
 तपस्थतो वरधर्माचार्यादीक्षामादाय इति वितर्काम्पणीं बभूव । कथभूताद्वरधर्माचार्यात् कान्तारदेवताविहित
 सपर्यात् वनदेवताकृतपूजनात् । कीदृशी दीक्षाम् आदाय । सुरसुन्दरीकाटाक्षविपक्षाम् अमरललतापाङ्गसपत्न्यदीक्ष
 निर्घ्नयलिङ्ग धृत्वा विदितवेदितव्यसप्रदाय ज्ञातज्ञेयागम सन्मन्वरे आकाशे स्तम्बाडम्बरितोपात्तपलाशि
 मालाया स्तम्बकान्तियुतधृतपलाशिमान्नाया स्तम्बकान्तिधृतसर्पणवृक्षपङ्क्तियुक्ते पर्वततटे आतापनयोगस्थित
 ग्रीष्मकाले रविकरतप्तशिलातले ध्यानसधारणम् आतापनयोग, तेन स्थितः, अनवरतप्रवर्धमानाध्यात्मध्याना
 वन्धवोव्यनिरत , सतत वर्धमानात्मत्रिपयध्यानामोघज्ञेयनिरत स धन्वन्तरि “किमय कर्कुरोत्कीर्ण , किं व
 अस्मादेव पर्वतान्तिरुढ ” इति वितर्काम्पणीं बभूव । किमय धन्वन्तरिर्मुनि कर्कुरोत्कीर्ण पर्वतोत्कीर्ण किं व
 अस्मादेव गिरे निरुढ निश्चयेन रुढ अङ्कुरित इति वितर्काम्पणीं इत्यूहसमीपवर्ती अभवत् ।

[पृष्ठ ४२] सूरिवरोऽधुना विश्वानुलोमस्य वृत्त कथयति—कथभूत स । संजातेति—
 सजात उत्पन्न सुहृदि मित्रे समालोकनकाम दर्शनाभिलाषो यस्य स विश्वानुलोमोऽपि तदिति—तस्य
 धन्वन्तरे परिजनात् ज्ञातिवर्गात् परिज्ञातोऽवगत एतद्वन्वन्तरे प्रव्रजनस्य जिनदीक्षाया व्यतिकर उदन्तो येन
 मित्रेति—“मित्रमेव मित्रधेयं तस्य सख्यु धन्वन्तरेयां गतिर्भाविनी स्थिति सा ममापि” इति प्रतिज्ञाप्रवर कृत
 प्रतिज्ञ इत्यर्थे तत्र धरणीधरगिरी आगत्य जैनेति—जिनो देवता यस्य स जैन स चासौ जनश्च जैनजन तस्य
 समवस्थिति सदाचारम् अनवबुध्यमानो अजानन् “हंहो मनोहरवयस्य चिरान्मिलितोऽसि बहुना कालेन दृष्टोऽसि
 किमिति न मे गाढाम् अङ्कपालीं दृढमाश्लेष ददासि । किमिति न काम विपुल भापसे । किमिति आदरेण
 वातम् उदन्त न आपृच्छसे” इत्यादि बहुसप्रश्रय मन्त्रतया आभाष्य निजव्रताचरणतत्परचित्ते निरागसि निरपराधं
 निष्पापे वा धन्वन्तरिमुनोश्वरे प्ररुप्य क्रोधं कृत्वा सविधाशिवताति समीपासुखविस्तार , प्रादुर्भवदप्रीति
 प्रकटीभूतरोप , रमणीयधरणीधरसनिधनिमित्तपणशालम्य, महत्सजटनामधेयस्य जटिन परिस्त्राजुकस्य निकटं
 सतजटनामधेय परिस्त्राजकोऽभवत् ।

[पृष्ठ ४३] धन्वन्तरिणा कुनोपदेशो विफलोऽभूत्—धन्वन्तरिरपि—आतापनयोगान्ते तस्य
 मशोवनाय जिनवर्मोपदेशानाय समन्ते निकटे समुपमद्य गत्वाऽवददेवम्—“मत्प्रणयपान्यविश्रामारामविश्वानु
 लोम मत्प्रणय मदीय स्नेह स एव पान्य पथिकन्नस्य विथ्रामाय मार्गश्रमापनोदाय, आराम इव उद्यानमिव
 जिनधर्मस्थिति जिनधर्माचारम् अजानन् किमित्यकाण्डे किमर्थमनवसरे चण्डभावम् अत्यन्तकोपम् आदाय धृत्वा
 दुराचारप्रधान पञ्चाग्नितप आदिके जीर्वाहिसावहूले मिथ्याचारे तत्पर समभूरजायथा । तदेहि तत आगच्छ
 विहायेम दु पथकथामनाय कुमार्गाचारयुक्तं शमथावसथमनोरथ शम एव शमथ तस्य आवसथो गृह तस्य
 मनोरथम् इमं विहाय त्यक्त्वा महैव युगपदेव तपस्याव ” इति बहुश अनेकधा कृन्प्रयत्नप्रकाशोऽपि स धन्व
 न्तरिमुनि प्रतिबोधयितुं तं विश्वानुलोम नाशक्नोत् । कथभूत विश्वानुलोमम् । दु शिक्षावशात् दु खदमित्यो
 पदेशवशात् तम् ओतुपोतस्तभीतपतङ्गपाकमिव ओतुर्माजिरस्तस्य पोतः शिशुस्तस्य रुत शब्दस्तच्छ्रवणाद् भीतः

य नटः इहकोके परलोके च दिव्य एव भवति । संवयादिर्न न लभ्यते यः च विनश्यति । अतः संवयो न कर्मणः ॥१५१॥

[पृष्ठ ३९-४१] भूयतामत्रोपाख्यानम्—आनन्दतामत्र निःशङ्किताहूय संवये च कथं—
इहैवेति—अनेकानि आवयन्तानि कुतुहलोत्पादकानि कृतानि समीपानि यस्य तस्मिन् बभूवुः । अनप-
मिषानास्यदे जनवदनामके जनपदे वेतो इत्यर्थः । भूमितिलकनामनगराधिपते नरपातनामनृपस्य धेयौ
सुनन्तनामासि । कर्षभृत्स्य गणस्य । मुषमनामहृदेवीर्यतुमुमन्तरस्य सा महादेवी एव रतिं नामना
तस्याः कुमुमन्तरस्य मदनस्य । अस्य धेयिणः पत्नी सुनन्ता नामासि । कर्षभृता सा जनितेति—अन्तिः
उत्पादित निश्चितपरिजनाया हृदयेषु बान्धवो यथा सा । अनयो दम्पत्योः नवमन्तरिणाम् भुजः । कर्षभृत् ।
नवमन्तरादिभानुपदकर्मणामन्तरम् अनुजः अनु वरधात् जातस्तेभ्यः सर्वेभ्यः कनिष्ठ इति भावः । पुनः कर्षभृत्
तः । सकलेति—सकलानि सर्वाणि कृतानि अतस्त्वयापवाणि कृतानि इत्या उच्यन्तानि च यानि वेदि-
तानि कृतानि उत्तरमे इतिरिच्येति हृत्त्व इवेति । तथा नरपातनामनृपस्य पुरोहितः सोमसमर्पिण्डकामादेवा
सह सुखेनास्वात् । तयोदम्पत्योः विवादानुलोमी नाम विरक्तपापिपुत्रेभ्योऽनवरजः श्वेष्ठः सकलसदाचारिणः
सुत आसीत् । सुनन्दशेठिनः कनिष्ठस्यस्यो धम्मन्तरिणिविशानुकोदरस्य पुरोहितपुत्रः समानसि सहभुजि-
नेतिकरणात् समानस्वभावपुत्रोपपत्त्यात्, कुलजकथयाचितमुद्गुद्धावौ धृतनुपापानपरत्नीतेनचौरित-
जसम्बन्धोचितकार्येषु । तत्पथेषु तत्सुखेषु च कार्येषु प्रवर्तते मुख्यमार्गं पत्नी पत्नी तेन अवनीपतिना अवस्था
पुत्र्याः पतिरवनीपति नरपातनाया राजा तेन अनिवारं विकारं कृत्वा निर्वासितौ स्ववेद्याधिपतिरौ ।
कुस्वाहमकथेयुः वीरयतिमहादेवोचरेण वीरनरेस्वरनाम्ना मुमुक्षुचित्पुत्रम् अयुषितम्, यत्रव्यवहारकाले कोटु-
पाकेन संश्रितं सकलप्रवहारपीमन्तिनीभिः ककवातिर्यगोहरं चैतानुष्टकम् हस्तिनामपुरं प्राप्य तत्र तौ वान्तरि-
विवादानुलोमी अवसिनी । कथाचितौ नित्यमण्डितं नाम शैत्याकर्म्यं आभारयामासुतुः प्रापतुरित्थः । कस्मिन् समये
संख्यासमये । कर्षभृते । अस्तेति—अस्तनिर्गच्छितरदुपचयप्रयुक्तोत्पत्तिसमुद्भूते संख्यासमये नव एव सती तया
कनुपितपण्डितस्वकीटिनिर्गन्तिपुत्रिणभृत्समुद्भूतिहृत्पापानववदन्विस्ताररचनाविस्तारपुत्र्यात् नौलीपि-
नवात् स्वरं संमुखं निवृत्त्य वरावृत्त्य आनन्दकन्तो श्रीवर्माचार्येण कर्षभृत्स्यभानुपदकर्मणामन्तरं उचितं योग्यं नित्य
मण्डितं नाम शैत्याकर्म्यं जिनमन्त्रिणम् आहारायामासुतुः प्रापतुः । तत्रेति—तत्र जिनमन्त्रिरे धम्मन्तरि इत्येवमात्र
मुक्त्वा विज्ञानुलोमं सुख्यापः । किमुक्तं तेन । उच्यते— नवमन्तरे भूत् सुतानामनोरकमन्यप्रवृत्तीनि
मनमुद्यानि निरयमनमनभितुम् आस्वाहितुमिच्छति तथा वा जयम् अम्बराम्बरपुत्रपुत्र्याम् अम्बरम् आचार्य
तदेव अम्बरं वाच तेन आभूतं विहितं यत् । छरीरं मेवा तेषां शैलाचार्योवा जयौ न योतस्य नाकर्षणीयः”
इत्यभिभावोक्त्या विवाय च आनन्दस्य च कर्षभृत्सु, अतिनिर्मलम् अतिजनेन वाङ् प्रसीदावकान्त्रिकोचनानाम्
निद्राकस्याधितनेद्वैर्ध्यं विज्ञानुलोमं सुख्याप निवृत्तौ । किं तदाऽऽचार्यवचनं बभूवुः तदा नवमन्तरिणाच
तत्कथ्यते— प्राणिना हि नियमेन किमपि स्वल्पमपि क्षणम् अवस्थितास्यतया बुद्धसमावेन ज्ञातं नृहीतम्
तदर्थं उत्तरकाले अस्म्यमाने निवचनेन स्व जेवसि क्षिप्ते निमित्तं निद्रान् स्वात् ।” इति प्रसन्नवाद्यागतम् उचितं
भावार्थं धृत्वा नमस्कृत्य च एव तद्दिनं यगन् पुण्य जयमपि जने कस्यापि अतस्त्व प्रदानेन विवरनेन
अनुमुद्यानमुपकिष्यात् इत्यभौचत् अवसीत् । तन्नु अन्तर्निद्रा कृतविश्रान्ते अनन्तरं सुरे आचार्ये “अजति
विशोक्त्यात् त्वया अतस्म्यम्” अन्ते अस्वात्स्व गृहमस्तककैयस्य नरस्य विशोक्त्यात् स्वनात् त्वया अतस्म्यम्
अर्धं यजन्तौ इति दत्तप्रवृत्त्येन कुलमात् कुलमात् कल्याणिनाः प्राप्तवन्तुम् । यत्र-पुराणिहृदिक-
कटपरिपामात् कुलपूरमुत्पिष्टमजवबुक्तस्य अकटस्य च नवमन्तरि- त्वात् कृत्याम् यतस्तत्र पिष्टकर्म्ये धरव-
तयो निव धरव विवम् उच्यते यमिषा यत् आसीत् तेन त अन्तितमनस्तत्रय आसीत् । अज्ञातवृत्त्यामेव
उत्कृष्टतकिम्याककमनस्तथापि । पुनः अविमुक्तं किमपि कार्यं नाचरन्तौ इति नृहीतवृत्तिभिः । एकदा
निद्राया नगरनाम्नकिन्ते नवरस्य नामकः नृपस्तस्य निकटे प्रस्तादे नटमृत्तनिरीजवात्कटकाजोपवा-
नटना नृपस्य निरीजनेनाचकोदनेन कृतकाकर्मणः स्नातार्त्तिजपुष्टम् अनुपुष्टम् अनी विवटितकपाटपुट

सचिवन्ध उद्गाटिताररयुगसचिवन्धन , स्वकीयया निजया सचित्रा मात्रा सह त्रिहितगाढावरुण्डनम् दत्त-
दृढालिङ्गनाम् आत्मकलय निजा भार्या जातनिद्रातन्त्र समागतस्वापायत्ताम् अवलोच्य, उपपत्तिशङ्कया जार-
सशयेन मुहुस्तृष्णातखड्गो, पुन पुन कोपाद्वहिर्निष्कासितासि , भगवता श्रोधर्माचार्येण उपपादित दत्त व्रत नियमम्
अनुस्मर स्मरणमार्गम् आनीतवान् । शुश्राव च आकर्णयामास च देवात् तदैव “मनागत परत सर, ईपत्
अत स्थानात् परत पुरत सर । खर तीक्ष्ण मे शरीरसवाद्य देहपीडा”, इति गृहिणीगिरम् पत्नीवचनम् । ततश्च
“यदीद व्रतमहमद्य नाग्रहीष नागृह्णाम् (अविचार्य पुन किमपि कार्यं मया क्रियेत) तर्हि इमा जननीम् इदं च प्रिय-
कलय प्रिया जायाम् असदेह विशस्य हत्वा इहलोके दुरपवादरजसा जननिन्दापासूनाम् अमुत्र परलोके च दुरन्तैरसा,
नारकादिदु खाना दातृणा पापाना च भागी भवेयम् ।” इति जातनिर्वेद उद्भूतवैराग्यभाव , सर्वमपि ज्ञातिलोक
वान्ववजन यथायथ यथोचित मनोरथोत्सेक तदीयेच्छापूर्णात् सर्वम् अवस्याप्य “यत्रैव देशे दु खदनिन्दापीडित चेतो
मनस्तत्रैव देशे अवलम्ब्यमान व्रत दीक्षा वा न भवति निरपवाद निर्दोष गृहीरहित वा” इति प्रकाशितोपदेशस्य
प्रकटीकृतधर्मज्ञानस्य तस्य भगवतो निदेशात् आदेशमनुसृत्य धरणीभूषणभूधरोपकण्ठे धरणीभूषणनामगिरिसमीपे
तपस्यतो वरधर्माचार्याद्वीक्षामादाय इति वितर्काम्बुधौ बभूव । कथंभूताद्वरधर्माचार्यात् कान्तारदेवताविहित-
सपर्यात् वनदेवताकृतपूजनात् । कोदृशीं दीक्षाम् आदाय । सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षाम् अमरललनापाङ्गसपत्नदीक्षा
निर्ग्रन्थलिङ्गं वृत्वा विदितवेदितव्यसंप्रदाय ज्ञातज्ञेयागम सन्तम्बरे आकाशे स्तम्बाडम्बरितोपात्तपलाशि-
मालाया स्तम्बकान्तिधृतधृतपलाशिमात्राया स्तम्बकान्तिधृतसपर्णवृक्षपङ्क्तिवृक्ते पर्वततटे आतापनयोगस्थित
श्रीष्मकाले रविकरतप्तशिलातले ध्यानसधारणम् आतापनयोग , तेन स्थित , अनवरतप्रवर्धमानाध्यात्मध्याना-
वन्धवोध्यनिरत , सतत वर्धमानात्मत्रिपयध्यानामोघज्ञेयनिरत स धन्वन्तरि “किमय कर्कुरोत्कीर्ण”, किं वा
अस्मादेव पर्वतान्तिरूढ” इति वितर्काम्बुधौ बभूव । किमय धन्वन्तरिर्मुनि कर्कुरोत्कीर्ण पर्वतोत्कीर्ण किं वा
अस्मादेव गिरेः निरूढ निश्चयेन रूढ अङ्कुरित इति वितर्काम्बुधौ इत्युहसमीपवर्ती अभवत् ।

[पृष्ठ ४२] सूरिवरोऽधुना विश्वानुलोमस्य वृत्तं कथयति—कथंभूतं स । संजातेति—
सजात उत्पन्नं सुहृदि मित्रे समालोकनकाम दर्शनाभिलाषो यस्य स विश्वानुलोमोऽपि तद्विति—तस्य
धन्वन्तरे परिजनात् ज्ञातिवर्गात् परिज्ञातोऽवगत एतद्धन्वन्तरे प्रयजनस्य जिनदीक्षाया व्यतिकर उदन्तो येन,
मित्रेति—“मित्रमेव मित्रधेयं तस्य सख्यु धन्वन्तरेर्या गतिर्भाविनी स्थिति सा ममापि” इति प्रतिज्ञाप्रवर कृत-
प्रतिज्ञ इत्यर्थे तत्र धरणीधरगिरी आगत्य जैनैति—जिनो देवता यस्य स जैन स चासौ जनश्च जैनजन तस्य
समवस्थिति सदाचारम् अनवबुध्यमानो अजानन् “हहो मनोहरवयस्य चिरान्मिलितोऽसि बहुना कालेन दृष्टोऽमि ।
किमिति न मे गाढाम् अङ्कपालो दृढमाखेपं ददासि । किमिति न काम विपुल भापसे । किमिति आदरेण
वार्ताम् उदन्तं न आपृच्छसे” इत्यादि बहुसप्रश्रय नम्रतया आभाष्य निजव्रताचरणतत्परचित्ते निरागसि निरपराधे
निष्पापे वा धन्वन्तरिमुनोऽवरे प्ररुष्य क्रोधं कृत्वा सविवाशिवताति समीपासुखविस्तार , प्रादुर्भवदप्रीति
प्रकटीभूतरोप , रमणीयधरणीधरसनिधनिर्मितपर्णशालम्य, सहस्रजटनामधेयस्य जटित परिब्राजकस्य निकटे
शतजटनामधेय परिब्राजकोऽभवत् ।

[पृष्ठ ४३] धन्वन्तरिणा कुनोपदेशो विफलोऽभूत्—धन्वन्तरिरपि—आतापनयोगान्ते तस्य
मवोद्यनाय जिनधर्मोपदेशदानाय समन्ते निकटे समुत्तम्य गत्वाऽवददेवम्—“मत्प्रणयपान्यविश्रामारामविश्वानु-
लोम मत्प्रणय मदीय स्नेहं स एव पान्य पथिकन्तस्य विश्रामाय मार्गश्रमापनोदाय, आराम इव उद्यानमिव,
जिनधर्मस्थिति जिनधर्माचारम् अजानन् किमित्यकाण्डे किमर्थमनवसरे चण्डभावम् अत्यन्तकोपम् आदाय घृत्वा
दुराचारप्रधान पञ्चाग्नितप आदिके जीर्वाहसावहुले मिथ्याचारे तत्पर समभूरजायथा । तदेहि तत आगच्छ
विहायेम दु पथकयामनाय कुमारगोवारयुक्ते शमथावसथमनोरथ शम एव शमथ तस्य आवसथो गृहं तस्य
मनोरथम् इमं विहाय त्यक्त्वा महैव युगपदेव तपस्याव ” इति बहुश अनेकधा कुनप्रयत्नप्रकाशोऽपि स धन्व-
न्तरिमुनि प्रनिबोधयितुं न विश्वानुलोम नाशक्नोत् । कथंभूत विश्वानुलोमम् । दु शिष्यावशात् दु खदमित्यो-
पदेशवशात् तम् ओतुपोतस्तुतमीतपतङ्गपाकमिव ओतुमर्जिरन्तस्य पोतः शिशुस्तस्य क्त शब्दस्तच्छ्रवणाद् भोत-

श्वाद्यो पञ्चस्य पक्षिणः पाकः अन्नस्तमिव मुषामोदमूषतोत्तराङ्गवचित्तोत्सेकं मुषामीनं विरुज्जमीनं तेन
 मूषता अमापयं तेन उत्तराङ्गितानासकस्त्वमुत्तं चित्तं तेन चलेको मयो मस्य तम् । चित्तत्पात्र इति—यथा
 तित्तत्पात्रे इव चास्मिन्निभाजने यथा तन्मन्त्राग्ने तस्य विषयानुलोमस्य मनीन्द्रमे चित्तमात्रे अष्टात्तदुपदेशयो-
 ज्यस्मान् यथा चास्मिन् पयोऽवस्मान् अन्नस्य स्थितिं भवति तद्वस्तुत्कृत्स्नम् निर्गच्छति तथा तस्य चित्तभाजन
 उपदेशपमसो अन्नवस्थिते तम् उपदेशद्वयमन्नो यन्मन्त्रादि मुक्कचरजमुक्तम् अनुदीप्त्य सेविता काकन सन्ध्याभिरन
 योमे वार्धवसमये प्रवचनोचितं यन्मन्त्रादिपयानाद्याममन्नो यन्मन्त्रादिपयानाद्याममन्नो यन्मन्त्रादिपयानाद्याममन्नो
 नाधिक्यं तेन अविहृतं कायकपायी संलक्ष्य क्रियमाणं समाधिररचयिषि विषय कृत्वा विमुचेति—विमुचा
 देवास्तेषामाह्वानावनस्तेन उच्यमानाया पठ्यमाना आसी मङ्गलपरम्परा 'स्वस्त्यस्तु भोव न्य नयेति' आसी
 र्बो बोपयं तथा अन्नस्य प्रचुरे अणुतकस्ये तन्नामकं योऽसत्त्वयं । समस्तेति—समस्ता सकलपञ्च ते
 मुपस्तेषा समाज समूहस्तेन स्तुपयानं अग्न्यानास्तस्मिन् पचायथा उत्तरा प्रतिष्ठा यतिर्वस्य स्वपूर्वज्जन्मान-
 चरित्तस्य तपसो विमर्षं कुर्वती प्रतिष्ठा यन्मेति अमितप्रभो नाम देवोऽभवत् । विद्यातुलोमोऽपि
 पुरोपाजितेति—पूर्वज्जन्मानं यज्ञस्य जीवितस्यानुपोऽन्यानं चरमवस्थायां विपद्य मृत्वा उत्पद्य न
 अनित्या न मन्त्ररेपु द्वितीयविनायकेष्वेपु गजानीकमध्ये हस्तिज्जापारिषीकमध्ये विजयमानमेयम्
 देवस्य विद्युत्प्रमानिको बाह्मदेवो बभूव । अविनश्यन्विद्युत्प्रमयोरन्योऽन्यं संघाप—पुनरेकदा पुरन्धरपुर
 धरेण पुरन्धर इन्द्रः स अग्रधरः अग्रधोयस्य तेन विविज्जबुद्धेन विवि स्वयं आकृत इति विविवास्तेषा बभूव तमुह
 स्तेन देवसमूहेन सह नन्दीस्वर्गद्वीपात्तय नैषाद्ययायया विनविन्मन्त्रिणाविच्छानाम् अष्टाङ्गपर्वकियाम् अष्टविनस्य
 निनीम् वरचक्रियां जिनामिषेकपूजाविजिनां निर्बरीषेकम् प्रवर्तयित्वा पुन स्वयं प्रत्यानयन्मृगवी अविनश्यतो
 देवस्तं विद्युत्प्रमं देव गजानीकम् अनेकेन आङ्गारमानमानेन प्रवृत्त्यावचित्म अविच्छानेन जालैर्ययं । अथबुद्धः
 ज्ञात पूज्यतामः पूर्वज्जगोवन्तः सः अन्मन्त्रिणः देव इत्यवापत्—विद्युत्प्रमं किं एवमिति अन्मन्त्रोवन्तं किं
 ज्ञायते पूर्वज्जन्मना प्रवृत्तिः त्वया । अमितप्रमं बाह्म इत्यपि मृगम् अत्यन्तं स्मरति । किन्तु सकलपञ्चविनाच्छानात्
 कञ्चनेन पत्न्या सह चरितं तद्वस्तस्य अविच्छानात् अन्नकम्बनम् मदीविचिन्मं कर्मविपाकानुरोपं कर्मविपाकम्
 प्राप्ति । त्वं तु ब्रह्मचर्यवशात्कायकसेवादीदृशः । ब्रह्मचर्यमाधित्य कृतम् कायकसेवात् उपसः मह्यो दीर्घ-
 उपविति माव । ये न मदीने समये विद्यान्ताधारे प्रवृत्तिं कुर्वन्ता यमवलि-महात्प विरुज्ज-कविज्जकायम्
 महर्षयस्ते ततोविद्योबाह्मिण्यन्मन्त्रोऽपि अन्मन्त्रिका महात्तो मविष्मति । ततो न विस्तेतम्यम् न ययं
 करनीयः ।

[पृष्ठ ४४ ४५] अमितप्रभः—विद्युत्प्रमं तं प्रत्यपि अनुनाय न मुक्कचित्तं न त्वयति दुष्टवद्भम् ।
 तदेहि तद्वापिच्छ । त्वं मम न ओक्तस्य परीक्षावद् चित्तं मम परीक्षयं कुर्वहे । इति विविविवासी कृतमिव
 प्रतिज्ञा । तौ ज्ञापय देवो करहाटदेवस्य पश्चिमविरिमाद्यमाधित्य काश्चपीतकं भूमिगतम् अवधरेणुः नमस्ते मृतकम्
 अवधरेणविति मावः । सन्नेति—ब्रह्मकायम् । कर्मभूते । वनेचरेति—वने चरन्तीति वनेचरा एवपाः तेषां
 सौम्यस्य सौम्यस्य पुत्रं सुखम्यम् एव सौम्यं तेन अणुत्वं उचितं तस्मिन् । तस्मिच्छवचकायने तस्य करहाटदेवस्य
 निकटे धमीपक्षिते इन्द्रकायने । अवधिकायने अवधिकायननाममेवे मुनीना वायस्वानं अमवलिम् अवधोपय ।
 कर्मभूतम् । यद्गुलकाटेति—अन्नकम्बपक्षतसमयं यावत् कृतं ब्रह्म कठिनं तीव्रं तपोवेन तम् । पुन कर्मभूतम् ।
 अन्नेति—अन्नकम्बमादिकम्बवतिः सुर्ववचकाटीवा वचय किरणा यस्येति सुर्ववचनमसो तपोमरीचिक-
 किरणास्तेषा पानं तस्मिच्छवचकायने त्वं पचायनं भावयं मयो यस्य तम् । पुन कर्मभूतम् । कम्बकाहुम् कम्बी
 कृतकरम् । पुन कर्मभूतम्—एकेति—एकपादेन अवचनान स्थितिं तस्य आग्नें पाहुमिव पुन कर्मभूतम्,
 अन्नस्येति—अन्नस्यावच ये उच्यन्ता उत्पन्नवाराण किञ्चकाणि तैर्युक्ता अविरला यनाः ना वस्तव्य-
 मुक्तावच अत्रकाव्यवृक्षा अमीका नामजूरा ती अवराणं व्याप्तं यपु घरीरं वस्य अतिप्रपुष्टेति—अति
 प्रकर्षेण प्रवृद्धा या बृहता चरतामाव सैव सुधा प्रातावचनोकरययुर्न तेन ययचित्तं मुजितं न तत् पितो
 मस्तवम्, त्वमपुर्णम् कटायाळं कटावपुह्वर तेषा त्वया पालया मुषयम् अन्नपदम् आयेः पियं ययवलिम्

अवलोक्य वीक्ष्य (तौ देवी पक्षिद्वयवेपेण जमदग्निं कूर्चे निविष्टौ इति कथा) पत्रेति—पत्ररथयो पक्षिणोर्मिथुन युगल तस्य कथा वार्ता तस्या उचित योग्य आश्लेष सन्धः यत्र त वेप रूप विरचय्य तदिति तस्य कूर्चे श्मश्रुणि कुलायकुटीरकोटरे नोडगृह्णन्त्रे निविष्टौ प्रविष्टौ (अन्योन्यं सलाप कुरुतः) कान्ते, प्रिये, काञ्चनेति—काञ्चनाचलो मेरु, तस्य चमूमादृशी या मेखला शैलनितम्बस्तस्याम्, अशोपेति—सकलपक्षिक्रपते वैन-तेयस्य गरुडस्य, वातराजसुतया मदनकन्दलीति नामधेयं विभ्रत्या सम महान् विवाहोत्सवो वर्तते । तत्र मयाऽवश्यं गन्तव्यम्, त्वं तु सखि प्रिये समासन्नप्रमवसमया अद्य श्वो वा प्रसविष्यसि डिम्भान् अत न शक्यसे नेतुम् । कालस्य वेलाया क्षेपो व्यय यथा न स्यात्तथा अविलम्बम् अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरम् अकालक्षेपे शीघ्रमेवा-गमिष्यामि, यथा चाह तत्र चिर दोर्घकाल नावस्थास्ये न वसामि तथा मातुः पितुश्चोपरि महान्तं शपथा (मयोच्यन्ते इति भावः) किं च बहुनोक्तेन, यद्यहमन्यथाऽस्त्य वदामि “तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरित-भागी पातकभाजन स्याम्” इत्यालाप चक्रन् । तच्च जमदग्निः कर्णकटुमालाप भाषणम् आकर्ण्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोध इद्धकोपः कराम्या तत्कदर्थनार्थं तयो पीडयै कूर्चं श्मश्रु मलितवान् मदितवान् । अमरचरौ भूत-पूर्वसुरौ तौ विकिरी अपि विहगावपि उड्डोय उत्पत्य तदग्रविटपिनि जमदग्निपुरतः स्थितवृक्षे सनिविश्य उपविश्य पुनरपि तं तापसं तपस्विनम् अवलोहलालापौ कृतनिन्दाभाषणौ व्यक्तस्वरौ वा निकामम् अत्यर्थम् उपजहसतु उपहासं निन्यतु । “तापसो जमदग्नि साध्वस भय विस्मयोऽद्भुत तौ प्रति उपसृतं गतं मानसं यस्य स एव विमर्शं चकार ।” नैतौ खलु पक्षिणौ भवतः, किंतु रूपान्तरो कृतवेपपरिवर्तनौ उमामहेश्वराविव पार्वती-परमेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ तदुपगम्य तत्समीपं गत्वा प्रणम्य च पृच्छामि तावत् प्रथमं स्वस्य पापकर्महेतुम् । (वक्ष्यमाणोऽनुयोगस्तेन कृतः) अहो इति—मत्पूर्वपुण्येति मम पूर्वं पुण्यं मत्पूर्वपुण्यं तेन संपादितं लम्बितम् अवलोकनं दर्शनं यस्य, द्विजेषु पक्षिषु उत्तमा द्विजोत्तमा दिव्याश्च ते द्विजोत्तमा दिव्याद्विजोत्तमास्तेषाम् अन्वयो वक्ष्ये स एव सभवसदनम् उत्पत्तिगृहं यस्य एतादृशं यत् पतङ्गयोः पक्षिणोर्मिथुनयुगलं तत्संबोधनम् “कथयता भवन्तौ महानुभावौ कथमहं पापकर्मा इति ।” पतत्रिणौ पक्षिणौ, आकर्ण्य—अपुत्रस्येति—यस्य पुत्रो नास्ति योऽविद्यमानपुत्रं पुरुषं तस्य गतिर्नास्ति पुनर्मनुष्यो न जायते । स्वर्गस्तु तस्य नैव । ततः पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भिक्षुकश्चतुर्थश्रमी भवति ॥१५२॥ अधीत्येति—यथाशास्त्रं वेदान् पठित्वा पुत्राश्च युक्तितो ब्राह्मणेन ब्राह्मण्याम्, क्षत्रियेण क्षत्रियायाम्, वैश्येन वैश्याया जनयित्वा धर्मपत्न्या योग्यकाले समागमं कृत्वा यज्ञं इष्ट्वा देवान् पूजयित्वा ततः यथाकालं चतुर्थे वयसि नरं प्रश्नजितो भवेत् । गृहं त्यक्त्वा वने दीक्षां गृहीत्वा वसेत् ॥१५३॥ इति स्मृतिकारकीर्तितं वृत्तम् अप्रमाणोक्त्य तद्विरुद्धाचरणेन त्वं तपस्यसि । कथं तर्हि मे शुभा परलोका स्वर्गादयः । उत्तरमाह—परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन उद्वाह्यं धर्मपत्न्याम् औरसपुत्रम् उत्पादयेत् । किमत्र दुष्करम् इत्यभिधाय मातुलस्येति मातुर्भ्राता तु मातुलं तस्य विजयामहादेव्या भर्तुः इन्द्रनगरवैभवधारकस्य काशिराजस्य भूपालस्य भवनभागभृत्वा प्रासादं गत्वा, तद्दुहितरं तत्सुतां रेणुकां परिणीय विवाह्य, अविरलेति—अविरला सान्द्रा कलापा गुच्छा उलपाः प्रतानिन्य ताभिः युक्तेन पुलिनेन असराले वक्त्रे मन्दाकिनीकूले गङ्गातटे, महान्तम् आश्रमस्थानं सपाद्य परशुरामपिताभवत् । भवति चात्र श्लोकः ।

[पृष्ठ ४६] अन्त इति—अन्तस्तत्त्वविहीनस्य अज्ञातात्मतत्त्वस्वरूपस्य अज्ञानिनः व्रतपालन-परिश्रमं वृथा विफलो भवति । केन हेतुना व्रतानां पालनं क्रियते तं हेतुमज्ञात्वा व्रताचरणं निष्फलं भवति । स्वभावभीरो प्रकृत्यैव भयवत् नरस्य आयुधग्रहं शस्त्रग्रहणं वृथा विफलो भवति । स शौर्याय न स्यात् ॥१५४॥ इत्युपासकाध्ययने जमदग्निस्तपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

६ प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः ।

[पृष्ठ ४६-४८] पुनस्ताविति—पुनस्तौ त्रिदशो देवी मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तापातिनि, कुशाग्र-नगरं राजगृहनगरं तस्य उपान्ते समीपे आपातं अस्तित्वं यस्य तस्मिन् पितृवने श्मशाने कृष्णचतुर्दशीरात्रौ,

[illegible][illegible]

अवलोक्य वीक्ष्य (तो देवी पक्षिद्वयवेपेण जमदग्निं कूर्चं निविष्टो इति कथा) पत्रेति—पत्ररथयो. पक्षिणोमिथुन युगल तस्य कथा वार्ता तस्या उचित योग्य आश्लेष सवन्वः यत्र त वेप रूप विरचय्य तदिति तस्य कूर्चं श्मश्रुणि कृलायकुटीरकोटरे नोडगृह्णन्त्रो निविष्टो प्रविष्टो (अन्योन्य सलाप कुरुतः) कान्ते, प्रिये, काञ्चनेति—काञ्चनाचलो मेरु, तस्य चमूमादृशी या मेखला शैलनितम्बस्तस्याम्, अश्लेषेति—सकलपक्षिचक्रपते वैन-तेयस्य गरुडस्य, वातराजमुतया मदनकन्दलीति नामधेयं विभ्रत्या सम महान् विवाहोत्सवो वर्तते । तत्र मयाऽवश्यं गन्तव्यम्, त्वं तु सखि प्रिये समासन्नप्रसवसमया अद्य ह्येव वा प्रसविष्यसि डिम्भान् अत न शक्यसे नेतुम् । कालस्य वेलाया क्षेपो व्यय यथा न स्यात्तथा अविलम्बम् अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरम् अकालक्षेपे शीघ्रमेवा-गमिष्यामि, यथा चाह तत्र चिर दीर्घकाल नावस्थास्ये न वसामि तथा मातुः पितुश्चोपरि महान्तं शपथा (मयोच्यन्ते इति भावः) किं च बहुनोवतेन, यद्यहमन्यथाऽसत्य वदामि “तदाम्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरित-भागी पातकभाजन स्याम्” इत्यालाप चक्रन् । तच्च जमदग्निः कर्णकटुमालाप भाषणम् आकर्ण्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोध इद्धकोपः कराम्या तत्कदर्थनार्थं तयो पीडयै कूर्चं श्मश्रु मलितवान् मदितवान् । अमरचरी भूत-पूर्वपुरो तो विकिरो अपि विहगावपि उड्डोय उत्पत्य तदग्रविटपिनि जमदग्निपुरतः स्थितवृक्षे सनिविश्य उपविश्य पुनरपि तं तापसं तपस्विनम् अवलोहलालापी कृतनिन्दाभाषणी व्यक्तस्वरो वा निकामम् अत्यर्थम् उपजहसतु चपहासं निन्यतु । “तापसो जमदग्नि साध्वस भय विस्मयोऽद्भुत तो प्रति उपसृत गत मानस यस्य स एव विमर्शं चकार ।” नैतो खलु पक्षिणो भवतः, किंतु रूपान्तरो कृतवेपपरिवर्तनो उमामहेश्वराविव पार्वती-परमेश्वराविव कौचिद्देवविशेषो तदुपगम्य तत्समीपं गत्वा प्रणम्य च पृच्छामि तावत् प्रथमं स्वस्य पापकर्महेतुम् । (वक्ष्यमाणोऽनुयोगस्तेन कृतः) अहो इति—मत्पूर्वपुण्येति मम पूर्वं पुण्यं मत्पूर्वपुण्यं तेन सपादितं लम्बितम् अवलोकनं दर्शनं यस्य, द्विजेषु पक्षिषु उत्तमा द्विजोत्तमा दिव्याश्च ते द्विजोत्तमा दिव्यद्विजोत्तमास्तेषाम् अन्वयो वशः स एव सभवसदनम् उत्पत्तिगृहं यस्य एतादृशं यत् पतद्गयो पक्षिणोमिथुनयुगलं तत्सवोचनम् “कथयता भवन्तो महानुभावो कथमहं पापकर्मा इति ।” पतत्रिणो पक्षिणो, आकर्ण्य—अपुत्रस्येति—यस्य पुत्रो नास्ति योऽविद्यमानपुत्रं पुरुषं तस्य गतिर्नास्ति पुनर्मनुष्यो न जायते । स्वर्गस्तु तस्य नैव । तत् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भिन्नुकश्चतुर्थाश्रमी भवति ॥१५२॥ अधीत्येति—यथाशास्त्रं वेदान् पठित्वा पुत्राश्च युक्तितो ब्राह्मणेन देवान् पूजयित्वा ततः यथाकालं चतुर्थे वयसि नरं प्रसजितो भवेत् । गृहं त्यक्त्वा वने दीक्षां गृहीत्वा वसेत् ॥१५३॥ इति स्मृतिकारकीर्तितं वृत्तम् अप्रमाणोक्त्य तद्विरुद्धाचरणेन त्वं तपस्यसि । कथं तर्हि मे शुभा परलोका स्वर्गादयः । उत्तरमाह—परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन उद्वाह्यं धर्मपत्न्याम् औरसपुत्रम् उत्पादयेत् । किमत्र दुष्करम् इत्यभिधाय मातुलस्येति मातुर्भ्राता तु मातुलं तस्य विजयामहादेव्या भर्तुः इन्द्रनगरवैभवधारकस्य काशिराजस्य भूपालस्य भवनभाग्भूत्वा प्रासादं गत्वा, तद्दुहितरं तत्सुतां रेणुकां परिणीय विवाह्य, अविरलेति—अविरला सान्द्रा कलापा गुच्छा उलपा प्रतानिन्य ताभिः युक्तेन पुलिनेन असराले वक्रे मन्दाकिनिकूले गङ्गातटे, महान्तम् आश्रमस्थानं सपाद्य परगुरामपिताभवत् । भवति चात्र श्लोकः ।

[पृष्ठ ४६] अन्त इति—अन्तस्तत्त्वविहीनस्य अज्ञातात्मतत्त्वस्वरूपस्य अज्ञानिनः व्रतपालन-परिश्रमं वृथा विफलो भवति । केन हेतुना व्रतानां पालनं क्रियते तं हेतुमज्ञात्वा व्रताचरणं निष्फलं भवति । स्वभावभीरो प्रकृत्यैव भयवत् नरस्य आयुधग्रहं शस्त्रग्रहणं वृथा विफलो भवति । स शौर्याय न स्यात् ॥१५४॥ इत्युपासकाध्ययने जमदग्निं तपः प्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

६ प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः ।

[पृष्ठ ४६-४८] पुनस्ताविति—पुनस्तौ त्रिदशो देवौ मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तापातिनि, कुशाग्र-नगरं राजगृहनगरं तस्य उपान्ते समीपे आपातं अस्तित्वं यस्य तस्मिन् पितृवने ऋशाने कृष्णचतुर्दशीरात्री,

निष्ठाप्रतिमाद्ययवर्धं सकलायां राशौ प्रतिमावज्जगन्निष्कवत् आस्य चरौरममतात्पामाभिप्रायं तस्य वयम्
 जनीतं रात्रिप्रतिमायामभारिषम् एकाकिनम् अहितोर्मं जिनवत्ताभिषम् सपासकं व्यावर्कं विज्ञेयं तस्मै नमः
 अरे बुधवारस्य आचरणं तत्र यतिमस्य उत्सवोन्नयनम्, निराकृतौ निर्मिता आकृतिः शृङ्गारवैपो वस्त्रात्तस्य
 संशोधनम् अत्रात परमात्मनः पत्र येन उत्सवाधानम्, मनुष्यापसह मनुष्येषु अपसीदति निकृष्टं पञ्चमीति मनुष्य-
 पमदः उत्सवोन्नयनं हे मरायन धीधनिमाम् ऊष्णधोवम् ऊष्णं धुष्यतीति ऊष्णधोवो यथा स्यात्तथा धुष्यतीति-
 सदृशी प्रतिमा कायोत्सवेषामवस्थानं त्यक्त्वा पञ्चायस्य न भयस्करं हितकरं तत्रात्र समानं अवसरं क्व
 पस्याम । यस्मात्तथा हि एतस्या अस्याः परेतपुरस्य समानस्य भूयस्या प्रभूताया भूमेः विद्यावपारमेत्ये
 स्म । तस्मात्कारणात् अत्र समाने कावसपवितोक्तं कृत्वा प्रस्थानेन अवस्थानेन अहम् अस्मात् स्थान-
 इत्यत्र नम्यताम् इति याव । सा हीति-अनुष्ठा विपुलार्य ताः स्वच्छन्दैक्यं यथा मनोमिलपितृहीनताया
 कुतूहलानि कौतुकानि पाश्वेक बहुकानि अन्तःकरणे समधि प्रसक्तानि पुण्यानि यमो तयो ज्ञानयो अन्तर-
 मा कार्पी मा कुव । इत्युक्तमपि प्रकामप्रविशानोद्युक्तमवेक्य प्रकामम् अतिपदेन प्रविशानं ध्यानीकावता तस्मिन्
 वयुक्तं तत्परम् अवस्य (तो देवो तस्योत्सव प्रत्युद्भवन्वीः वक्तुम्) व्यसतं मर्मानु विभु । कीर्तयेति-कीर्तयो
 यमस्तस्य कावताः महिषास्तेषां निर्याम समुद्भवस्य कायाः खरीराणि तत्र आकारो येषां ते योरा मयम्
 कारव ते यना मेवास्तथा यमरो मयकाः मयकुर इत्यर्थः । आहम्बरं एकवर्गवैद्यः तस्य प्रथमं प्रारम्भम्
 आहम्ब्रि इति तै प्रारम्भात् । पुनः कर्मभूत । प्रपञ्चेति-तद्विदं दग्धा इवेति तद्विदग्धा प्रपञ्चाराव ते
 तद्विदग्धा धीयवविदुद्युक्तं तेषां संघट्टं अत्योत्सवर्धनं तस्मात् एकवर्गवैद्यं वक्तुमस्तत्र ते दग्धाव तेना
 संघट्टं समुद्भवस्माद् दुस्वह । निर्यामेति-निर्यामः यथायाम् अतिप्रथमं यो समोरव वारं तस्य
 अवसता महान्तरव ते सूरकारस्यवस्ते सहासरा मेवाता सप्तं चारतावस्तेन ववर्धं दुर्ध्वं । पुनः
 कर्मभूत । प्रत्युद्भवन्वीं करातेति-कराव्यं कराव्यं ते वेनाद्या अन्तरदेवविषेपास्तेषां कुलं समुद्भवस्य
 कावता वाद्यविषेपास्तेषां कीकावताः सहासरेतनुकुलास्तेः अत्यधामाभ्यं इतरस्युष्टं अवैरव प्रत्युद्भवन्वीं
 विष्णुपरम्परामिः । कर्मभूत । परिगृहीतेति-परिगृहीत अवसम्भितो गृहवाहः यस्य आसयन्तात् यद्
 मणिप्रवृत्तम्, वाग्धवाता यनाया न विष्णुतानुवन्वीं विद्याप्रवन्वीं विष्णुसमूहः सवहुमानः प्रभूतावर
 सङ्गिने तैवेवैरप्रदाने मनोविकपितवस्तुवानैव । विहितविष्णो अति कुजान्तरापो किमकाष्ठं विहितविष्णो ।
 नि रोपामपुया रानेरन्तं यावत् अहम्ब्रातेति-आसयानम् अविष्णव वतते इति अहम्ब्रात य वातो समविषव
 अहम्ब्रातसमाधिं अहम्ब्रातसकर्मकावता तस्य निरोधस्तस्मिन् निष्ठी जनीनी । कर्मभूतं जिनवत्तमेति-
 देवो वाक्यिन् न वेक्यु । समिति-एकाग्रमात्रस्य अहम्ब्रातस्य आसयतात्कृतं निवाचीनं कृतम् अन्त कर्मस्य
 मन्त्रं बहि कर्माणा वसतायोगा न इतिन्मं अविष्णो वेन तम्, पमेति-यस्य सुखं तदेव इत्यं प्रताव
 तस्य निर्माये रचनाया कमा ये कामवदमाद्यव तेषां प्रवन्तान् अहम्ब्रातस्य प्रवन्तं वस्माद् भवति तस्मिन्
 वमम्यात् । (प्रमातवमये वेवाग्ना जिनवत्ताय विद्या वतेति कर्मवति) सर्वतो न प्रधानस्यैव सुयोधपवनम् ।
 कर्मभूते । स्वरति-करास्तीवगा किरयाः रसमयो यस्य य कारकिरयाः सुवस्तस्य विरोधाः करास्तेवा निकर
 समुद्भवन्माभिराकृतः अहम्कारस्य उदयः धन तस्मिन्, समुपहृणीपमर्गवर्षीं तयुगलं अयाहन् उपमर्गवर्षीं
 कराव्याया कर्म समुद्भव याग्ना तौ पुनः कर्मभूती प्रकाशं प्रका प्रसन्नं सर्वं स्वमात्रो यमोत्तो । तेनैवदा
 मानोचिनी महामाध्यता धीवी प्रचयीतेति प्रेयमाचर्षी त जिनवत्ताय आस्माप्य वचस्य तस्मै विद्यावोपविद्वा
 यम माकाये विद्वत्ताय पञ्चविद्ययुक्ता पञ्चविद्यवज्जगत्सङ्गिती विद्या विनेतुर्गुर्वयु । इय हि यस्मात्कारणात्
 तव अस्मदनुग्रहात् अस्मदमनःप्रतावत् अहम्ब्राविहाराम मनोपननाय अवसर्गवर्षीं विविपुवर्कं विद्यापि
 साविता तव भविष्यति । परं परया तु अस्याग्निरे एतस्मादुपायात् (वस्यमायात्) कर्म्येन । (जिनवत्तायि तो
 विद्या प्रनिरव वततेनाय प्रासादिनि वद्यवति) कर्मभूती जिनवत्ता । कुपेति-तुल्य अनन्तर अनन्तरविद्याप्रता
 वीका तुल्यवीका वच्यते । तया तुल्यवीकाया विषयवलीय समुद्भवता इव मन्त्रमनुनामि मूचननुनामि विनाम
 तमानि तयाम् अवलोदने तुग्दविना तुग्दहन् समानमस्मिन् इति आरचनीयका ज्ञानयो-विद्यायो वस्य । पुन

कथभूत समाचरितेति—ममाचरित विहित अदरानुवर्तनममय देवप्रनिपादितमकेतो येन न, पुन कथभूत । ता विद्या प्रतिपद्य अङ्गोक्त्य, हृदयेति—हृदये दर्शनस्य उत्तमवाम नमानीता निमिल मकला अचनाः अकृत्रिमा चैत्यालया येन म जिनदत्त, तेषाम अवलोकनस्य प्रेक्षणस्य कीतुक यस्य तस्मै धरसेनाय, परमेति—परम उत्कृष्ट निर्दोष म चासावाप्नोष्य तस्य उपासने षट्वे निपुणाय पुण्वट्वे ता प्रादात् ददौ । (अमितप्रभ विद्युत्प्रभ वदति) विद्युत्प्रभ, अय जिनदत्त अतोव अर्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्त, अर्हतो जिनेन्द्र-भगवत अभिनयानि मान्यानि यानि वस्तूनि तेषु परिणतचित्ता दृढम् अभिनिविष्टमना स्वभावादेव च स्थिरमति निदचलबुद्धि अनेपोपमर्गसहनप्रवृत्तिश्च मकलचतुर्विधोपसर्गमहनस्वभावश्च । तत्तस्मात्कारणात् अथ जिनदत्ते महदपि अकृतम् अकृत्य कुलिशे वच्चे घुणकोटचेष्टितमिव फाण्डकृमिव्यापार इव न भवति समर्थम् । अनोजन्यमेव कचन अभिनयजिनोपासनायतनचैतन्यम् अभिनवा नूनना या जिनोपासना जिनभक्ति तस्या आयतन गृह चैतन्य यस्य एतादृशं कचन जन निकृपाव आवा परोक्षावहे । अन्य कचन परोक्षावहे इति विमृश्योच्चलिनाम्ना ताम्या पद्मरयो नाम राजा दृष्ट उपमृष्टश्चेति कथिर्वर्णयति । कथभूत नृप । मगधमण्डलमण्डनसनाथ मगधदेशभूषण प्रभु-वविशिष्टश्च मियिलापुरोनाथ पद्मरयो नाम नरपति (म च सुधर्माचार्यात् माणुप्रत मम्यदर्शन वभारेति वर्णयति) कथभूतादाचार्यात् । निज्जेति—निजमियिलानगरसमीपवर्तते वृत्तो निमर्गचिन्तो देह, शरीर यस्या तस्या कालाभिधाया गुह्यामा निवासे प्रीत चित्त यस्य तस्मात् । पुन कथभूतात् । दीप्त तपो यस्य दीप्ततप-ऋद्धिधारिण, पुन कथभूतात् ? निःशेषेति—नि शेषा सकलास्ते च ते अनिमिया देवास्तेषा परिपत् सभा तथा निषेधमाणम् आद्रियमाणम् आचरणवातुर्यं यस्य स तस्मात् सुधर्माचार्यात्, तदङ्गेति—तस्य सुधर्माचार्यस्य अङ्गाना हस्तपादमुखाद्यनयवानाम् अद्भुतप्रभाया विस्मयकारिण्या कान्ते प्रभावस्य माहात्म्यस्य दर्शनेन उपशा-न्नाभिप्राय मजातभक्तिपराशय, अणुप्रताधार मम्यदर्शनम् आदाय गृहीत्वा तस्मिन्नेव दिने सुधर्माचार्योपदेशात् निश्चितेति—निश्चित अर्ह-परमेश्वरशरीरस्य निरनिशय तारतम्यरहित प्रकाशमहिमा कान्तिमाहात्म्य येन स, कृत्रनियम घृतप्रतिज्ञा वासुपूज्यभगवन्त तन्नामक द्वादश जिन वसुपूज्यनृपतिसुन भगवन्तं पूज्य केवल-ज्ञानिनम्, कथभूतम् ? सकलेति—सकलाश्च ते भुवनपतय इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिन तै स्तूयमाना ईड्यमानाश्च ते गुणगणा क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यादिनवकेवललब्धयस्तेषाम् उदन्त प्रवृत्तिर्यस्य तम् उपासितुं यष्टु पूजयितुं, प्रतिष्ठमान प्रयाण कुर्वन्, प्रमदेति—प्रमदो मोदस्तेन युक्तो नाद प्रमदनाद आनन्दजनकनादेन सुन्दराणा दुन्दुभेनाम् आनकाना रवं शब्दै आकारिता आहता निरवशेषा नि शेषा परिजना बन्धुभृत्यादयो येन म, समासजत् इति समासजन्तो मवन्वम् आयान्ती समस्तविष्टे निखिलभुवने इति नमस्तविष्टविशिष्टदृष्टचेष्ट विशिष्टा अनन्यजनसाधारणा दुष्टा चेष्टा प्रवृत्तिर्यस्य स । स च दृष्ट. कदाचिदपि कस्मिंश्चित्समये क्षुद्रोपद्र-वात् क्षुद्रवाचाया त्रिप्रलब्ध वञ्चित, रहित । (अतो देवाम्या महोपद्रवरूपद्रोतु प्रारब्ध ।) पुरेति—पुरप्लोपो अग्निना नगरदाह, अन्त पुरविष्वस अन्त पुरे निशान्ते स्थिताना राजस्थीणा विष्वस मृत्यादिना नाश, वरुषिण्या सेनाया मयन वधवन्वनादिकम्, प्रसभस्तीग्र स चामो प्रभञ्जनश्च वायुस्तेन ऊजित प्रबलञ्चामी पर्जन्य जलवृष्टि, पक्ष्पा कठोरा वर्षाभला करका आमार जलधागमपात, आदीना वसतिनिवासो यासु ताभि, दुर्दमा दु खेन दमो वशीकरण येषा ते च ते शार्ङ्गला व्याघ्रास्तेषाम् उत्तराकृतय ताभि विकृतिभि उत्तरविक्रियाभिरित्यर्थ । उपद्रोतु पोडयितुं प्रारब्धो नृप । तथापि अविचलितं निर्भय चेतो मनो यस्य तम् अवसाय ज्ञात्वा, सनरवर सनृप कुञ्जर करिण मायामयप्रतिधे, मायामय प्रतिध क्रोधो विघ्न वा यस्मिन्, अस्ताधे अस्त नष्टम् अध गाध यस्मात् तस्मिन्, व्याप्ता निरुद्धा अखिला दिश आरामा उपवनानि, तेषा सगमो यस्मिन्, एतादृशे कर्दमे पङ्के निमज्जयद्भ्या निमज्जन कारयद्भ्या ताम्या देवाम्याम् । नभ इति—सुरा देवा असुरा मवनत्रिकवासिनो देवाश्च तै कृता ये उपसर्गा उपद्रवास्तेषा सगस्य सवन्धस्य सूदन विनाशस्तस्य अभिधानमात्र शब्दमात्र स एव मन्त्र तस्य माहात्म्यं प्रभावस्तस्य साम्राज्य यस्य तस्मै “श्रीवासु-पूज्याय नम ” इति एव तत्र कर्दमे निमज्जत ब्रुहत् भूभूतो भुव विभर्ति इति भूमृत् तस्य नृपस्य वचनम् आकर्ण्य । तदिति—तस्य नृपस्य धैर्योत्कर्षात् उन्मिषञ्चासौ तीपश्च प्रादुर्भवदानन्द मनीषा च बुद्धिस्तयो

निष्ठाप्रतिमाद्ययवर्षं सकलायां रात्री प्रतिमावज्जिनविम्बवत् आद्यम् सरीरममतात्यापामिप्राय तस्य वदन्
 बधीनं रात्रिप्रतिमायामकारिणम् एकाकिम्बु अहितीयं जिनवतामिणम् अपासकं भानकं विजोक्तं साक्षरं सन्निवृत्तं
 'अरे दुराकारस्य आचरणं' एव मतिमस्य तत्संबोधनम्, निराकृतौ निर्मिता आकृतिः। शुक्लारवो यस्मात्तस्य
 संबोधनम् अज्ञातं परमारमन्- एवं येन तत्संबोधनम् अनुभवापसह अनुभवेयु अपसीदति निरुद्धं यच्छीति मनुष्य-
 पश्यः तत्संबोधनं हे नरायण धीप्रमिताम् ऊर्ध्वबोधम् ऊर्ध्वं धुप्यतीति ऊर्ध्वबोधो यथा स्यात्तथा धुप्यतीत्य-
 तदुची प्रतिमा कायोत्सर्गभावस्थानं त्यक्त्वा पञ्चावस्थ न श्वेदस्करं हितकरं तथाच स्मरणे अवसरं तत्र
 पस्नात् । यस्मादावा हि एतस्या अस्याः परेतपुरस्य स्मरणान्न भूतस्या प्रभुताया भूमे पिशाचपरमेष्ठौ
 स्त । तस्मात्कारणात् अथ वयस्येन काष्ठसंपादनोक्तं कृत्वा प्रस्थानेन अवस्थानेन अन्नम् अस्मात् स्वान-
 दग्नव गम्यताम् इति भावः । मा इति-अनुष्ण विपुलाश्च ताः स्वच्छन्दैस्स्य यथा मनोमतिपिच्छीडास्तास्य
 कुतूहलानि कौतुकानि ताप्येव बहुकानि अन्नकरमे मन्त्रि प्रवृत्तानि पुण्यानि बभौ तयो आचरौ अन्तर्यं
 मा कारीं मा कुत । इत्युक्तमपि प्रकाशप्रविधानीकृतवदवस्थ प्रकाशम् अतिशयेन प्रविशत्तं ध्यातृकायता तस्मिन्
 सत्तुक्तं तत्परम् अवेदय (तौ देवी तस्योपसर्गं प्रस्तुद्भवन्त्यः वाङ्मु) त्यक्त- पञ्चांशु दिव् । कीनास्तेति-कीनाद्यो
 वमस्तस्य कायः । महिवास्तेषां निकायं समुद्भूतस्य कायाः सरीराणि तद्वत् आकारो येषां ते शीघ्रं वना-
 कारेण ते वना मेघास्तथा वसरो वज्र- भयदुर इत्यर्थः । आदम्बर- एकवर्तनिवेशः तस्य प्रथमं प्रारम्भम्
 आचरन्ति इति तै प्रारम्भावहै । पुनः कर्मभूतै । प्रवृत्ततेति-उचित इत्या इवेति तद्विहङ्गा प्रवृत्ताश्च ते
 तद्विहङ्गा मीपमनिदुद्भवन्ते तेषां संबद्ध अमोघ्यसत्त्वत्वं तस्मात् तच्छब्दो वद्वन्तस्य ते एवमार्य तेषां
 संबोद्ध समुद्भूतस्माद् दुस्तरं । निरसीमेति-निष्ठीय- मर्यादाम् अतिराम्यवशात् समीरय वत् तस्य
 अचरता महान्तरं ते सुरारस्यवास्ते सहासार मेवागा उतर्त वापतावस्तेन वचनैः सुखैः । पुन
 कथमन । प्रस्तुद्भवन्ते करास्तेति-करासा इतराश्च ते वेनासा अन्तरावैविधेयास्तेषां कुलं समुद्भूतस्य
 काङ्क्षा वाद्यविधेयास्तेषां कोकाङ्क्षा अज्ञातैरनुकूलास्तैः अन्धसामर्थ्ये इतरादुची- अन्धैश्च प्रस्तुद्भवन्ते
 विष्णुपरम्पराभिः । कर्मभूतै । परिगृहीतेति-परिगृहीत अवकाशितो गृह्णाद्ः गृहस्य आसनमप्य वा
 मणिप्रवृत्ततम् अन्नवशात् वनागा च विष्णुसामुद्भवन्तेः विनाशप्रवृत्ते विष्णुसमुद्भू- सवृत्तानि प्रभुतार
 सहितैः तैर्नैर्ब्रह्मज्ञाने भगवानिन्विषयस्तुज्ञानैश्च । विहितविष्णो अपि कृताम्भरात्री कियत्कालं विहितविष्णो ।
 नि तेषामनुष्णा राजेरत्त आचन् अन्ध्यास्तेति-आत्मानम् अधिष्ठत्वा वतते इति अन्ध्याय च वासी तथाविध
 अन्ध्यायममनाभि अन्ध्यायमन्त्रकीकृतता तस्य निरोधस्तस्मिन् विष्णो अवीनो । कर्मभूतं त्रिनवतथेष्टि
 देवी कालविन् न चेष्टुः । तमिति-एकप्रधानस्य अन्ध्यायेन आरयवात्स्य विनाशो न इत्तम् अन्तःकरणस्य
 मनस बहु करणाया हायभावीनां च ईहितम् अभिप्रायो येन तम्, इमेति-धर्म गुण तदेव इत्ये प्राकार
 तस्य निमिषे रचनाया क्षमा ये कालघरमावक- तेषां प्रवृत्तान् अन्ध्यायान् प्रवृत्तान् यस्माद् भवति तस्मात्
 यमम्यानाम् । (प्रमानमये वाच्या जिनवताश्च विद्या वतेति वर्धयति) संज्ञां च प्रधानतमये मूर्त्योपवचनं ।
 वचभूतै । वरनि-वरास्तीरवा- किरयाः रवमयो वरव च वरकरियाः मूर्त्येतस्य विरोधाः करास्तेषां निकर
 कर्मरूपम्यामिराङ्गः अन्नकारस्य उदया येन तस्मिन्, सपुण्ड्रगीतर्तवर्षौ सपुण्ड्र- वराङ्ग- वानवीनाम्
 वाङ्मयाया वय समुद्भूतं वाङ्मा नी पुन कर्मभूती प्रकाशं प्रवृत्तं प्रवृत्तं तस्य स्वभावो यथास्ती । तैर्मेधा
 मायाभिर् नृणां माय्यता योग्यै प्रवृत्तिभिः प्रेमायाप्यैः तं निवहतम् आरम्भाय प्रवृत्तं तस्मै विद्योपविहा
 राय भावमे विद्वद्वाय वज्रविद्यायां वज्रविद्यायस्तेषां विद्या विनेत्युदयः । इयं हि अन्ध्याकाराणां
 तव अन्धनुमुदात्त अन्धमन्त्र-प्रनाद्यान् अन्धविद्यायां नवीनवनाय अन्धविद्यायां विद्यावृत्तं विना
 नापिना नव भविष्यति । वरं तदेवा तु अन्ध्यादिभ्य एतस्मादुपायात् (वायमाणां) तम्यं । (विनश्र्तांति ता
 विद्या प्रतिव परदेकाय शास्त्रिनि वरादि) कर्मभूती विनश्र्ता । कुपेति-तुल्य वनाय अनादीवराजका
 तैना वृक्षयोगे उदयः । तयो वृक्षजीवानां शिखरालाव अपुरिमिना इव वाहनभूतानि वृक्षभूतानि विना
 तनानि तेषाम् अवचोक्तं वृक्षभूतानि वृक्षभूतं ..

कस्मिन्समये भाषित । निशीथेति—निशीथो अर्धरात्र तस्य पथवर्ति मार्गवर्ति वीक्षण यत्र तस्मिन् क्षपाक्षणे निशासमये । अञ्जनचोर कस्य सुत । विव्रियते—मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिन , कथभूतस्य । सुन्दरीमहा-
 देव्या विलासी पति तस्य, स्वकीयेति—स्वकीयो निज स चासौ प्रतापो विक्रम स एव बहुलवाहोऽग्नि तस्मिन् आहुतीकृता प्रक्षिप्ता अरातीना शत्रूणा समिति समूहो येन तस्य, अरिमन्थमहीपते ललितो नाम सुतः पुत्र, पुन कथभूत । समस्तेति—सकलछूतादिव्यसनमप्लवङ्गत्वात् दायादा सपिण्डा ते च ते क्रव्यादा राक्षमास्तै मवादित साम्राज्यपदे अपायो यस्य स । परम् उपाय परा गतिम् अवोक्षमाण । अदृश्येति—
 अदृश्यो येन अक्तेन नरो भवति तदञ्जनम् अदृश्याञ्जनमुच्यते तेन अदृश्याञ्जनेन आवर्जिता लब्धा ऊजिता वलवती उन्नति प्राप्ता प्रज्ञा मतिर्यस्य स । प्रतीतेति—प्रसिद्धाञ्जनचोरापरनामा किलैवम् अञ्जनसुन्दर्या भाषितः—कुशाग्रपुरेति—कुशाग्रपुर राजगृह तस्य परमेश्वरस्य स्वामिनो या अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी स्ताविषी नाम तस्या. सौभाग्यरत्नाकर नाम कण्ठालङ्कार श्रीवाभूषण यदि चेत् आनीय मह्य प्रयच्छसि तदा त्व मे कान्त प्रिय, अन्यथा नो चेत् प्रणयान्त प्रीतिविनाश स्यादिति । सोऽपि कियद्गहनमेतत् । न किमपि कठिनम् इत्यु-
 दाहृत्य उक्त्वा प्रियतमाया वल्लभतमाया मनोरथम् अभिलापम् अन्वर्थक सफल चिकीर्षु कर्तुमिच्छु । निजेति—
 निजा चासौ छाया प्रतिबिम्ब तस्या अदृश्यताकरण शील यस्य तत्कज्जलं बहुल यत्र तथावस्थित लोचनयोर्नेत्र-
 योर्युगल युग विधाय कृत्वा, प्रयाय च गत्वा च तन्महोश्वरगृहम् तन्पतिप्रासादम् । गृहीतेति—मुपिततद्भूषण । तत्प्रभेति—तत्कान्तिप्रसरणेन अवगतपदसचार, शब्दै शस्त्रैश्च उताल वाचालम् आनन कराश्च येषा तै तलवरस्य कोटपालस्य अनुचरै किङ्करै अभियुक्तो अभिद्रुत । निस्तरौतु तान् वञ्चयित्वा गन्तुम् अक्षम, परि-
 त्यज्य तद्रत्नाभरणम् इतस्ततो नगरवाह्ये प्रदेशे विहरन्, प्रदीपेति—प्रदीपकान्तिवशात् अथ स्थापितास्त्ररचना-
 भोते पुन पुन उत्तरणावतरणे आवहतीति तादृशा देहेन खित्र धरसेन वीक्ष्य, गत्वा च त देशम् एव निर्दिदेश अकथयत् । अहो प्रलयेति—कल्पान्तकालतमोग्याप्तायाम् अस्या वेलाया समयेऽस्मिन् महासाहसिकवृषन् महा-
 साहस कुर्वत्सु वृषन् प्रधान, दुष्कर्मकारिन्, कठिनकार्यकारिन्, को नाम भवान् । धरसेन—कल्याणमित्र महाभाग्य-
 युक्त वृत्त चारित्र्य यस्य तस्य जिनदत्तस्य विदित पुष्पबटुरिति नियोगस्य संबन्धो यत्र, पूजासमये पुष्पानयनकार्ये नियुक्तिसबन्धो यस्य सोऽहम् एतदुपदेशात् आकाशविहारव्यवहारं निपद्या प्रवृत्तिर्यस्या ता विद्या साधयितुमिच्छन्
 अत्र अयासिपम्—अहम् आगत । अञ्जनचौर—कथमिय साध्यते । धरसेन—कथयामि । पूजोपचारनिषेक्ये शिष्ये पूजोपचारस्य गन्धाक्षतादे निषेकस्य क्षेपणस्य योग्ये अस्मिन् शिष्ये नि शङ्क निर्भयम् उपविश्य इमा विद्याम् अकुण्ठकण्ठम् अविराम कण्ठेन पठन्, एकैक शरप्रवेक शिष्यकदर्भग्रथितसूत्र स्वच्छधी निर्मलमति छिन्द्यात् । अवसाने गगनगमनेन युज्यते । यद्येवम् अपसर अपसर एतत्कार्यात् विरग विरम । त्व हि तलो-
 न्मुखेति—तले भूमितले उपरि अग्राणि कृत्वा विन्यस्ततीक्ष्णशस्त्रावलोकनजातभीतबुद्धि न खलु विद्या साधयितु समर्थो भवसि । यतो यज्ञोपवीतदर्शनेन धनसपादनकृतार्थ धनार्जनकार्ये त्वं समर्थ । तस्मात् कारणात् भाषस्व मे यथार्थोपायमनोरमा विद्याम् । साधयामि एनाम् । ततस्तेनेति—आत्महिताय अरोचमाणेन पुष्प-
 बटुना सम्यग् उपायै मह दत्तविद्य सम्यग्ज्ञातज्ञातव्य, सपत्न्या सम्यग्ज्ञानेन, निकटमुक्तिगृह अञ्जनचौर (एव निश्चितवान्) स्वप्नेऽपि अन्यप्रतारणाचारपरावृत्तमना जिनदत्त, स खलु महताम् अपि महान्, आदरणीया-
 नामपि आदरणीय, स्वीकृतश्रावकव्रतपालनतत्पर, प्राणिमात्रस्यापि नान्यथा चिन्तयति, किं पुन विहितप्रोते पुत्रसाधारणतया पालितस्य धरसेनस्य अस्य अन्यथा चिन्तयेत् । इति निश्चित्य उपविश्य च सोत्कण्ठ शिष्ये । निःशङ्केति—नि शशयमति स्वकीयेति—निजसाहसोद्योगप्रमोदितपुरासुरसमूह युगपदेव तद्दर्भसूत्रसमूह छिनन्ति स्म, आससादेति—सप्राप च नमश्चरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तास्तत्र मे गतिर्भूयादिति कृताभिलाष,
 काञ्चनाचलेति—सुवर्णपर्वततटनिवासिनि सौमनसवनशालिनि जिनगृहे जिनदत्तास्य धर्मश्रवणकृत गुरुदेवा-
 मिषस्य भगवत पूज्यस्य सन्निधौ तपो गृहीत्वा अञ्जनचोरो मुक्तो बभूव । कथभूत स । विज्ञातसकलाप्तो-
 पदेशस्वरूप ऐतिह्य नाम आग्नोपदेश जिनागम । हिमवदिति—हिमवत्पर्वतशिखरे प्रादुर्भूतकेवलबोध ।
 सेति—कैलासकेसरवनगत मुक्तिरमासमागमासक्तभोगगृह बभूव । भवति चात्र श्लोक—क्षत्रपुत्रेति—

प्रसूतः ययो' ताभ्या देवाभ्याम् । पुनः कचमूलाभ्याम् ? हृष्टिरिति—कचु इति परिमुक्तिः विन विष्ट अयेना
 सकलाः विन्ना तेषां स्थितिर' प्रसंगं याभ्याम् । पुनः कचमूलाभ्याम् । आश्वरितेति—इत्यादिराभ्याम् ।
 (देवाभ्यां वयमवायै कचनम् सकला एत प्रास्थायि) अहा राजन् मृतमस्य सम्प्राप्तममयो' अक्षय निर्मल-
 सदनमस्य पदराज नैनराजवर्चसम् अत्र यद्यस्याङ्काराणां नवा' प्रनिष्ठा तत्त्वं यैव ताभ्यां मुक्तेषु अक्षयपु
 अनुमेयु मन्त्राणां अजिमेरि शोके' क्रियमाणा न प्रसङ्गिन् दाया न प्रसङ्गि प्रसङ्गप्रसङ्गा तीर्त्वात्तया मुक्ते-
 पत्रका । यन' । पक्षापीति—इयम् एकापि त्रिनम्रमिन् कृतिनः कृत् प्रसस्तं कम भव्यास्त्येति इती लभ
 इतिन निपुणस्य पण्डितस्य पुनरिति निवारयितुं समर्था पुण्यानि न पूरयितुं सन्तेतु समर्था कुशला । मुक्तिमिदं
 न वातु लभर्था इति ॥११५॥

[पृष्ठ ४८] इति निबोध कचवा भिनमनाराधनाशोने भवद्वये सर्वतोवापनीरे कुर्वन्ने हार
 सकलसमुत्तति क्तेतु योग्ये चैतदातोद्यं बाह्यं न प्रेष्यं एवा कल्पितेति कृतसंकल्पान्मां कृतसंवाचान्मां
 तान्मां अवीष्टस्वानं प्रास्थायि अन्वयतः । त्रिभुजेधरेति—विशाला वृषीया वीरनाम्ना इहा वेदां ते
 निदसा देवाः तेषाम् ईश्वर' विश्वेश्वर' तस्य वचनामुक्तात् कुम्भमाया वर्द्धमाना मुक्तानां संकषा स्तुतिर्वत्स
 स पदरभोर्ध्वे तत्तीक्ष्णकृतो वामपुण्यस्य गणवरपदाधिकारी मृत्वा कृत्वा वारवाणम् अनून पूर्वं न तत्पलवम्
 समुद्रदिग्गजानवृत्तानि तत्तन्वं तदधीनं योनामुत्पादम् अजायत । भवति वाच स्लोक —उररीकृत्येति—उररीकृत्ये
 स्वीकारिते न ते निर्वाहसाहस्ये तयोर्विषये कथितं येन वेपाम् ते उररीकृत्यनिर्वाहसाहस्येति चैतत् तेषाम् ।
 प्रारब्धस्यान्तवर्त्मनं निर्वह' धैर्यं यत् क्रियते कार्यं तत्साहस्यमिति । निर्वाहनाहृतपुनराचारिणाम् इहपरलोको
 कामबुधो हृष्टदानवकी स्याताम् । कीटिवय कामबुधं भवति । तेषां वरणा वपत्ययमेतत् अल्पं प्रतिपाति ।
 कीर्तेश्वरान् अन्वययम् इत्यपि पाठः । कीर्तं एतत् जगत्त्रयं वार्यं वाचयितुं शक्यं भवति इति भावः ।

इत्युपासकावयने भिनवत्सव पदराजवृत्तीनाम् अन्वयं न प्रतिज्ञानिर्वाहमाहसो वाम पदः कल्पः ।

७ निष्काङ्कितसर्वप्रकाशनाम सप्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ ४९] इत्येव संप्रतिमकलोपकरणसेनः संप्रतिमा एकवीकृता सकलानाम् उपकरणानां ताव
 नाना वेना समूहो येन स' वरसेनोपि अनुष्ठेति—अनुष्ठा विपुला सङ्ख्यायां वृत्तानां ताव तेन अवश्यं
 सक्ते आनन्दप्रदे वद्विकसेति कतुर्बहोरात्रिमयो सर्वत' सर्वविश्व' । यातुधान्तेति—यातुधाना रक्षाधि
 तेषां वाचनं प्रवर्धते यामु तासु वम्भानभूमिषु । प्रवर्धितेति—प्रवर्धितं संपादितं वरावधानोचितमर्थकं येन
 स्यात्तासु धर्तुषु दिक्षु दिधानु, निजिगर्हावका स्थापितरक्षासम्पन्नं अवयव एककः कृतसकलोपकरणं कृत-
 दिग्गजनाहमसुखपादिकार्यं आयवेदीविधानसमर्थं वक्ष्येवतस्ये वद्विकसेति वद्विकसेति पतिवरेति—
 पतिवरा कया तथा निजकरोम कतितानि यानि सुभाषि तन्वा' तेषां सङ्घं तेन संपादितं रक्षितम् । पुनः कचमूर्त
 विषयम् । अहमेति—आत्माधर्मे निजोपवेशनं तेन समानं सङ्घं यत् अन्तराक्ष मध्यं स्थानं तत्र कथितं
 बोध्यम् विषयं निबध्य अन्तर्गति—जगत् प्रगति यो कल्पः पठनं तेन संकल्पितानि विमर्शितानि
 मन्त्रावस्थापानि येन स' पुनः कचमूर्तो वरसेनः । प्रवर्धनार्थं विषयावस्थापे उपर्येति—उपमृत्तानि उत्तरि
 वचनानि कृत्वा विन्नास्तानि स्थापितानि निधितानि दीप्तानि अवीष्टस्वानि सकलपदराजानि येन स' । पुनः
 कचमूर्त । अहिरिति—अहिमण्डकाद्याहो निवेष्टिता स्थापिता वक्ष्येविना' इष्टिधितय' वृक्षादिहो येन
 ॥ अमुना प्रकारेण स' वरसेनः यथाकार्त्तं मन्त्रावस्थापनमुत्तमं तद्विचारयनकमुष्टि' सा वाही निधा न तद्विधा
 वाकावधिद्वारमिधा तस्या वाराधने समुद्रबुधि परिपूर्णमतिर्बभूव । तमडो कजे इति भावः । अन्तरे एत
 किम् प्रस्तावे कथात्तरं वर्तते । तद्यथा—

[पृष्ठ ५०-५१] अज्जनसुख्यज्जनचोर' किन्नरमुक्त —गिण्डारमेति गिण्डारवं विना हेतुं कति
 करोतीति कलिकाश्रितो कच' कुर्वन्ती या अज्जनसुखरी नाम केशवा तथा स अज्जनचोर एव धारितः ।

कस्मिन्समये भाषित । निशीथेति—निशीथो अर्धरात्र तस्य पथवति मार्गवति चोक्षणं यत्र तस्मिन् क्षपाक्षणे निशासमये । अञ्जनचोर कस्य सुतः । विव्रियते—मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिनः, कथभूतस्य । सुन्दरीमहा-
 देव्या विलासी पति तस्य, स्वकीयेति—स्वकीयो निजः स चासौ प्रतापो विक्रमः स एव बहुलवाहनोऽग्नि-
 तस्मिन् आहुतीकृता प्रक्षिप्ता अरातीना शत्रूणां समितिः समूहो येन तस्य, अरिमन्थमहीपते ललितो नाम
 सुतः पुत्रः, पुनः कथभूतः । समस्तेति—सकलद्युतादिव्यसनमत्तकलम्पटत्वात् दायदाः सपिण्डाः ते च ते
 क्रव्यादा राक्षसास्तैः सपादितः साम्राज्यपदे अपायो यस्य स । परम् उपायः परा गतिम् अवोक्षमाणः । अदृश्येति—
 अदृश्यो येन अक्तेन नरो भवति तदञ्जनम् अदृश्याञ्जनमुच्यते तेन अदृश्याञ्जनेन आवर्जिता लब्धा ऊर्जिता
 बलवती उन्नतिं प्राप्ता प्रज्ञा मतिर्यस्य स । प्रतीतेति—प्रसिद्धाञ्जनचोरापरनामा किलैवम् अञ्जनसुन्दर्या
 भाषितः—कुशाग्रपुरेति—कुशाग्रपुर राजगृह तस्य परमेश्वरस्य स्वामिनो या अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी स्ताविषी
 नाम तस्याः सौभाग्यरत्नाकर नाम कण्ठालङ्कारः श्रीवाभूषणं यदि चेत् आनीय मह्यं प्रयच्छसि तदा त्वं मे कान्त-
 प्रिय, अन्यथा नो चेत् प्रणयान्तं प्रीतिविनाशः स्यादिति । सोऽपि कियद्गहनमेतत् । न किमपि कठिनम् इत्यु-
 दाहृत्य उक्त्वा प्रियतमाया बल्लभतमाया मनोरथम् अभिलाषम् अन्वर्थकं सफलं चिकीर्षुं कर्तुमिच्छुः । निजेति—
 निजा चासौ छाया प्रतिविम्बः तस्याः अदृश्यताकरणं शीलः यस्य तत्कज्जलं बहुलं यत्र तथावस्थितं लोचनयोर्नेत्र-
 योर्युगलं युगं विधाय कृत्वा, प्रयायं च गत्वा च तन्महेश्वरगृहम् तन्पतिप्रासादम् । गृहीतेति—मुषिततद्भूषणं ।
 तत्प्रभेति—तत्कान्तिप्रसरणेन अवगतपदसंचारः, शब्दं शस्त्रैश्च उत्तालं वाचालम् आननं कराश्च येषां तै-
 तलवरस्य कोट्टालस्य अनुचरैः किङ्करैः अभियुक्तो अभिद्रुतः । निस्तरौतु तान् वञ्चयित्वा गन्तुम् अक्षमं, परि-
 त्यज्य तद्वत्नाभरणम् इतन्ततो नगरवाह्ये प्रदेशे बिहरन्, प्रदीपेति—प्रदीपकान्तिवशात् अथ स्थापितास्त्ररचना-
 भोते पुनः पुनः उत्तरणावतरणे आवहतीति तादृशा देहेन खिन्नं धरसेन वीक्ष्य, गत्वा च तं देशम् एव निर्दिदेश
 अकथयत् । अहो प्रलयेति—कल्पान्तकालतमोव्याप्तायाम् अस्या विलासा समयेऽस्मिन् महासाहसिकवृत्तं महा-
 साहसं कुर्वन्तु वृत्तं प्रधानं, दुष्कर्मकारिन्, कठिनकार्यकारिन्, को नाम भवान् । धरसेन—कल्याणमित्र महाभाग्य-
 युक्तं वृत्तं चारित्र्यं यस्य तस्य जिनदत्तस्य विदितं । पुष्पबटुरिति नियोगस्य सवन्धो यत्र, पूजासमये पुष्पानयनकार्ये
 नियुक्तिसवन्धो यस्य सोऽहम् एतदुपदेशात् आकाशविहारव्यवहारे निपद्या प्रवृत्तिर्यस्याः ता विद्या साधयितुमिच्छन्
 अत्र अयासिषम्—अहम् आगतः । अञ्जनचोरः—कथमियं साध्यते । धरसेन—कथयामि । पूजोपचारनिपेक्ष्ये
 शिष्ये पूजोपचारस्य गन्धाक्षतादेः निपेक्षस्य क्षेपणस्य योग्ये अस्मिन् शिष्ये निःशङ्कं निर्भयम् उपविश्य इमां
 विद्याम् अकृण्ठकण्ठम् अविरामं कण्ठेन पठन्, एकैकं शरप्रवेकं सिक्विकदर्थप्रथितमूत्रं स्वच्छधी निर्मलमति-
 छिन्द्यात् । अवसाने गगनगमनेन युज्यते । यद्येवम् अपसरं अपसरं एतत्कार्यात् विरमं विरमं । त्वं हि तलो-
 न्मुखेति—तले भूमितले उपरि अग्राणि कृत्वा विन्यस्ततीक्ष्णशस्त्रावलोकनजातभोतबुद्धिः न खलु विद्या
 साधयितुं समर्थो भवसि । यतो यज्ञोपवीतदर्शनेन वनसपादनकृतार्थं धनार्जनकार्ये त्वं समर्थः । तस्मात् कारणात्
 भाषस्व मे यथार्थोपायमनोरमा विद्याम् । साधयामि एनाम् । ततस्तेनेति—आत्महिताय अरोचमाणेन पुष्प-
 वटुना सम्यग् उपायं महं दत्तविद्यं सम्यग्ज्ञातज्ञातव्यं, सप्त्या सम्यग्ज्ञानेन, निकटमुक्तिगृहं अञ्जनचोर
 (एव निश्चितवान्) स्वप्नेऽपि अन्यत्रातरणाचारपरावृत्तमना जिनदत्तः, स खलु महताम् अपि महान्, आदरणीया-
 नामपि आदरणीयः, स्वीकृतश्रावकव्रतपालनतत्परः, प्राणिमात्रस्यापि नान्यथा चिन्तयति, किं पुनः विहितप्रोते
 पुत्रसाधारणतया पालितस्य धरसेनस्य अस्य अन्यथा चिन्तयेत् । इति निश्चित्य उपविश्य च सोत्कण्ठं शिष्ये ।
 निःशङ्केति—निःशयमिति स्वकीयेति—निजसाहसोद्योगप्रमोदितसुरासुरसमूहं युगपदेव तद्भस्मसूत्रसमूहं
 छिनत्ति स्म, आससादेति—सप्रापं च नमश्चरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तास्तत्र मे गतिर्भूयादिति कृताभिलाषः,
 काश्चनाचलेति—सुवर्णपर्वततटनिवासिनि सोमनसवनशालिनि जिनगृहे जिनदत्ताभ्यां धर्मध्वजकृतं गुरुदेवा-
 मिधस्य भगवतः पूज्यस्य सन्निधौ तपो गृहीत्वा अञ्जनचोरो मुक्तो बभूव । कथंभूतः सः । विज्ञातसकलाप्तो-
 पदेशस्वरूपं ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशं जिनागमं । हिमवदिति—हिमवत्पर्वतशिखरे प्रादुर्भूतकेवलबोधः ।
 कैलेशेति—कैलासकेसरवनगतं मुक्तिरमासमागमासक्तभोगगृहं बभूव । भवति चात्र श्लोकः—क्षत्रपुत्रेति—

मसरं यद्यो ताम्या देवाभ्याम् । पुन कथमताभ्याम् ? सस्त्विति—यम् अस्त्विति परिमुषितं विन विद्यं अस्तेषां सकलाः विद्याः तेषां व्यधिकरं प्रसंगं याभ्याम् । पुन कथमताभ्याम् । आचरितेति—कृतावराभ्याम् । (देवाभ्यां वचनार्थं वचनम् उत्तरा ततः प्रास्थापि) अत्रो राजन् नूतनस्य सम्प्रवर्तनमये अष्टमं निमित्तं सम्प्रवर्तनं पञ्चरत्नं नैतदप्यवश्यम् अत्र यद्यस्यात्पञ्चरत्नानां संज्ञा प्रतिज्ञा तत्त्वं वैद्य ताम्यां मुनेषु अतृप्येषु अनुप्रेषु प्रवर्तमानेषु अस्मिन्नेति श्लोके क्रियमाणा न प्रवर्तित इत्या न अवर्तित प्रवर्तप्रवर्तनां तीव्रोत्पत्तयं मुनेषु पञ्चरा । मतः । पञ्चापीति—इयम् एकापि विनमयिनी इतिनाः कृतं प्रवर्तितं कर्म अस्वास्तीति कृती तस्य कृतिन विपुलस्य पण्डितस्य दुर्गाति निवारयितुं समर्था बुध्यानि च पुरयितुं शक्नुते समर्था बुधका । मुक्तिधिरं च दातुं समर्था दया ॥१५५॥

[पृष्ठ ४९] इति निषेधे उपरान्तं विनमरावधानादीने मन्त्रदेवे सर्वोपायानोर्दं दुर्बलत्वं इति सकलसम्बन्धेति शब्देषु धीमं नैतदातोर्दं दातुं च प्रोषणं तेषां करिष्यतीति कृतसंज्ञाभ्यां कृतसंज्ञावधानां ताम्याम् अनीष्टस्वार्थं प्रास्थापि जगम्यत । त्रिदशेधरेति—विद्यमाना वृत्तीया धीवनाम्ना दद्या तेषां ते विद्यया देवा तेषाम् ईश्वरं विद्ययेष्वरं तस्य वचनामुक्तात् कृम्यमाणा वदमाना मुक्तानां संज्ञा स्तुतिर्बलं च पञ्चरत्नेषु ततोऽप्युक्तो कामपुण्यस्य पञ्चरत्नवाचिकारो भूत्वा कृत्वा चारामानम् अनून पूर्वं च तत्फलमयं सद्बुद्धिमानवृत्तानि तत्फलं तदधीनं नीलामुत्पन्नम् अजायत । मन्त्रेति वाच श्लोक—उदरीकृतेति—उदरीकृते स्वीकार्ये च ते निर्वाहसाहस्ये तयोर्विषये धर्मितं येन तेषाम् ते उदरीकृतनिर्वाहसाहस्योक्तिश्चेतस तेषाम् । प्रारम्भस्यान्तपमनं निर्वाहं धीर्देव यत् क्रियते काय तत्साहस्यमिति । निर्वाहसाहस्यमुपचारिकाम् इहपरलोकी कामपुण्यो इष्ट्यान्तवशी स्मरताम् । कीर्तिवच कामपुण्यं भवति । तेषां तेषां अपत्यमनेष्टुं बल्यं प्रतिपाति । कीर्तिस्वात्वं जयतमम् इत्यपि पाठः । कीर्ते एतत् जयतम्यं चार्यं वाचयितुं याम्यं भवति इति भावः ।

इत्युपासकावधाने त्रिमयासविरचितस्य पञ्चरत्नपूजोपासकस्य च प्रतिष्ठाविर्वाहसाहस्यो नाम ब्रह्म कथाः ।

३ निष्पत्तिवत्त्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ ४९] इत्यत्र उपमितमन्त्रोपकरणेन संवदिना एकत्रीकृता सकलानाम् उपकरणानां ताव नाना सेना समूहो मेन स चरतेनेति अनुष्ठेति—अनुष्ठानं विपुला मन्त्राणां वधानात्पत्तेन प्रवर्तये सकलं ज्ञानत्वमये पर्वदिवसेति चतुर्विंशतीरात्रिमये सर्वतः सर्वविरम्यं । यामुच्यतेति—यामुच्यते रक्षापि तेषां वाचनं प्रवर्तते यासु तासु वमद्यानभूमिषु । प्रवर्तितेति—प्रवर्तितं संपादितं वदारावनीधितमन्त्रं मेन स्यात्तासु सर्वान् विदुः विद्यासु, निमित्ततरङ्गावका स्वापितरङ्गावका अवयव एककाः कृतसंज्ञकीकरणं कृत- विराम्यनाङ्गापुष्टपाविकार्यं यावदेवेति विधानसमये अस्वर्णसकल्ये कटवितपात्रे वदनुपासाधारे पठित्वरेति—पठित्वरा कथा तदा निमज्जने कर्तव्यमिति याति लूपाणि तन्त्रा च तेषां सहस्रं तेन संपादितं रचितम् । पुनः कर्मभूतं विषयम् । आमेति—अस्मात्पत्तं निषीपनैव तेन समर्थं सर्वं यत् अन्तरात् मध्ये स्थानं तत्र लभितं मीथम् धिनं निमज्ज्य अन्तर्गति—अन्तः मतति यो जन्तः पठन् तेन संकल्पितानि विमघितानि मन्त्रवाक्यानि येन स पुनः कर्मभूतो वरयेन । प्रवर्तमानं विषयावस्थात् ऊर्ध्वेति—ऊर्ध्वमुक्तानि उपरि वदनानि कृत्वा विम्यस्तानि स्वापितानि निमित्तानि तीक्ष्णानि अनेपसस्तानि सकलप्रहरणानि वैद्य सः । पुनः कर्मभूतः । बहिरिति—बहिर्यज्जगद्वाह्ये निषेधिताः स्वापिता अन्तर्विका इष्टिविद्यया पूजासिद्धयो मेन स भवता प्रकाश्ये स चरयेनः यथासास्वं मन्त्रास्तयानुसृत्य तद्विद्यारावणतमुक्तिं सा वाची विद्या च तद्विद्या आकाशविद्याविद्या तस्या आरावणे समुद्रमुक्तिं परित्यज्यतिर्भूय । तपत्रो ज्ञे इति भावः । वधान्तरे एत स्मिन् प्रस्ताने कथान्तरं वर्तते । तदथा—

[पृष्ठ ५०—५२] अज्यनमुखां अज्यनवीरः किं बभूव — निष्कारणेति निष्कारणं विना हेतुं कस्मि करोतीति कश्चिनादिनी कदाहं दुर्बली या अज्यनमुखादी नाम वैद्या तया स अज्यनवीरः ॥

उत्तरङ्गा उच्छलन्त ये अपाङ्गा कटाक्षा तै अपहसित च तदमृतं तस्य सरणिर्मार्गस्तस्य विषयस्तस्मिन्, सदा पाञ्चालिका कृत्रिमपुत्रिका तथा सह केलिं क्रीडा तस्या किल रत हृदय तस्मिन् । तद्गृह्यतां तावत् सकल-
व्रतेषु ऐश्वर्येण प्रभावेण वर्यं । श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यम् । अत्र अस्मिन् व्रते, भगवान् पूज्य । अशेषेति—सकलागमप्रकाश-
नाभिप्रायभूरि धर्मकोतिसूरिः । अनन्तमतिः—तात नितान्त सर्वथा गृहीतवत्यस्मि एतद्ब्रह्मचर्यव्रतम् । न केवलमत्र विषये मे भगवानेव साक्षी, किंतु भवान् अम्बा च माता च । अन्यदा तु—उद्भिन्ने इति—स्तनकुड्मले
कुचकोशे उद्भिन्ने सति उन्मीलिते सति, विलासालसे हास्ये स्फुटरसे विलासेन अलसे सुन्दरे हास्ये स्फुटरसे
प्रीत्युत्पादके सति, वच प्रक्रमे वचनस्य प्रक्रमे प्रारम्भे किञ्चित् ईपत् कम्पित वेपित तदेव कैतव निमित्त यत्र
तदधरदल प्रायो यत्र, नेत्राश्रिते विभ्रमे कटाक्षसंचारे, कन्दर्पस्य मदनस्य अभिभवकारक यदस्त्र तस्य वृत्ति
स्वभावस्तद्वच्चतुरे कुशले । मध्यस्य यौवनस्य गौरवगुणं महत्त्वगुणं प्रादायेव गृहीत्वेव नितम्बे श्रोण्या वृद्धे सति
पीवराया जातायाम् ॥१६३॥

[पृष्ठ ५५-५७] कथभूते वसन्तसमयावसरे समायते । मुहुरिति—मुहूर्त्वारं वार उत्पथे उन्मार्गे
यत् प्रयाण गमन येन स चासौ मन्मथ स्मरस्तेन उन्माथो विभ्रमस्तेन मन्थर चञ्चल समस्तसत्त्वानां प्राणिनां
स्वन्त हृदय यत्र । सद्यः प्रसूतेति—सद्यः प्रसूता नूतनोत्पन्ना ये सहकाराङ्कुराः आश्रमव्यज्यं तेषां कवलनेन
भक्षणेन कषायकण्ठा यासां तां कोकिलकामिन्यस्तासां कुहारावा कुहकुहेति ध्वनयं तै असंरालित प्रसारितः
मनसि जायते इति मनोज मदनस्तस्य विजयो यत्र । मलयाचलेति—मलयाचलस्य मेखला तट तत्र निली-
नानि प्रविष्टानि यानि किन्नरमिथुनानि किन्नरदेवदेवोयुगलानि तेषां मोहन सभोगस्तस्मादुद्भूत आमोदः
अतिनिर्हारी गन्धस्तेन मेदुर परिपूर्णं परि आसमन्तत सरन् गच्छन् य समीरस्तस्य समुदय उन्नतियत्र । विक-
सदिति—विकसन्तं प्रस्फुटन्तं कोशां कलिकां येषां तानि कुरवकप्रसवानि अक्षानि पुष्पाणि तेषां परि-
मलस्य पाने लुब्धा या मधुकर्क्यं भ्रमर्यस्तासां निकरो वृन्दं तस्य शङ्कारो गुरुज्जरवस्तस्य सारप्रसर उत्तम प्रसरणं
यत्र, तस्मिन् वसन्तसमयप्रसंगे प्राप्ते, ('आन्दोलनक्रीडायै उपवनं गता तामनन्तमतिं कुण्डलमण्डितो नभश्चरपति-
र्दृष्टवान्' इति वर्णयति कविः) कथभूता सानन्तमतिः । प्रसरदिति—प्रसरन् प्रादुर्भवन् स्मरविकारो
यस्या सा । पुनः कथभूता । स्मरेति—स्मरेण मन्मथेन स्खलन्ती मतिर्गतिश्च यस्या सा अनन्तमतिः सह
सहवरीसमूहेन सह वयस्याजनेन मदनोत्सवदिवसे दोलेति—दोलया आन्दोलनं वारं वारं इतश्चेतश्चलनं तत्र
लालसं सोत्कं मानसं यस्या सा । पुनः कथभूता सा । स्वकीयेति—स्वकीयं निजं च तत् रूपं तस्यातिशय
उत्कर्षं स एव सपत्न्या तिरस्कृतं सकलानां भवनस्थितानां अङ्गनानां नारीणाम् अङ्गविलासो यया सा ।
कथभूतेन कुण्डलमण्डितेन दृष्टा सा । सुकेशीति—सुकेश्यभिधया प्रियतमया भार्यया अनुगतेन, पुनः कथभूतेन ।
कृतेति—कृतं विहितं कामचारप्रचारे यथेष्टसंचारे चेतो मनो येन तेन, पुनः कथभूतेन पूर्वापरैति—पूर्वापरी
पूर्वपश्चिमी च तौ अकूपारौ च समुद्रौ तत्र या पालिन्द्रीसुन्दरी पालिन्द्री वेला एव सुन्दरी स्त्री तथा सहितम्
उत्सङ्गं तटं तथा सनाथं धरतीति तस्य । विजयेति—विजयाधर्षणासौ अर्वाणीं पृथ्वीं धरतीति विजयाधर्षाविनीधर-
स्तस्य । विद्येति—विद्यां प्रज्ञप्त्यादिविद्यां धरन्तीति विद्याधरा नभश्चरास्तेषां विनोदरूपा पादपा वृक्षास्तेषाम्
उत्पादे उत्पत्तौ क्षोणि भूमिस्तस्या दक्षिणश्रेण्या दक्षिणपङ्क्तौ, किन्नरेति—किन्नरगोतनामनगरस्य पुरस्य
इन्द्रेण स्वामिना कुण्डलमण्डितनाम्ना अम्बरचरेण अम्बरे आकाशे चरतीति अम्बरचरस्तेन विद्याधरेण नभो-
विहारिणा निचापिता दृष्टा । शृङ्गारेति—नूनं सत्यम्, आत्मभुवा विधिना इयं बाला जगत्त्रयवशोकरणाय
लोकत्रयं स्ववशे विधातुं प्रयत्नात् सृष्टा निर्मितेति । कानादाय निर्मितेति व्याचष्टे—शृङ्गारेति—शृङ्गारस्य
सारम्, अमृतद्वति सुधाजलम्, इन्दुकान्ति चन्द्रप्रभाम्, इन्दोवरद्युतिं नीलकमलस्य कान्तिम्, सर्वान् अनङ्गशरान्
मदनस्य कुसुमवाणान् आदाय गृहीत्वा ॥१६४॥ इति विचिन्त्यामिलपिता च । ततस्ताम् अपजिहीर्षुधिपणेन
अपहरणकरणेच्छामतिना, भुङ्गनिवृत्य पुनः परावृत्य । निर्वर्तितेति—निर्वर्तितं कृतं निजे निलये गृहे सुकेश्या
निजपत्न्या निवेशं स्थितिर्येन, प्रत्यागत्य पुनरागम्य अपहृत्य ताम् अनन्तमतिं हृत्वा च, पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनु-
सरता प्रत्यनुगच्छता गगनमार्गात् आकाशपथात् । प्रतीति—प्रतिनिवृत्ता परावृत्य आगता कुपिता च सा सुकेशी

उत्तरङ्गा उच्छलन्त ये अपाङ्गा कटाक्षा तै अपहसित च तदमृत तस्य सरणिमार्गस्तस्य विषयस्तस्मिन्, सदा पाञ्चालिका कृत्रिमपुत्रिका तथा सह केलि क्रीडा तस्या किल रत हृदय तस्मिन् । तद्गृह्यतां तावत् सकल-व्रतेषु ऐश्वर्येण प्रभावेण वर्यं । श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यम् । अत्र अस्मिन् व्रते, भगवान् पूज्य । अशेषेति—सकलागमप्रकाश-नाभिप्रायभूरि धर्मकीर्तिसूरिः । अनन्तमतिः—तात नितान्त सर्वथा गृहीतवत्यस्मि एतद्ब्रह्मचर्यव्रतम् । न केवलमत्र विषये मे भगवानेव साक्षी, किंतु भवान् अम्बा च माता च । अन्यदा तु—उद्भिन्ने इति—स्तनकुड्मले कृचकोशे उद्भिन्ने सति उन्मीलिते सति, विलासालसे हास्ये स्फुटरसे विलासेन अलसे सुन्दरे हास्ये स्फुटरसे प्रीत्युत्पादके सति, वच प्रक्रमे वचनस्य प्रक्रमे प्रारम्भे किञ्चित् ईपत् कम्पित वेपित तदेव कैतव निमित्त यत्र तदवरदल प्रायो यत्र, नेत्राश्रिते विभ्रमे कटाक्षसंचारे, कन्दर्पस्य मदनस्य अभिभवकारक यदस्त्र तस्य वृत्ति स्वभावस्तद्वच्चतुरे कुशले । मध्यस्य यौवनस्य गौरवगुण महत्त्वगुण प्रादायेव गृहीत्वेव नितम्बे श्रोण्या वृद्धे सति पीवराया जातायाम् ॥१६३॥

[पृष्ठ ५५-५७] कथभूते वसन्तसमयावसरे समायाते । मुहुरिति—मुहूर्वार वार उत्पथे उन्मार्गे यत् प्रयाणं गमन येन स चासौ मन्मथ स्मरस्तेन उन्माथो विभ्रमस्तेन मन्थर चञ्चल समस्तसत्त्वाना प्राणिना स्वन्त हृदय यत्र । सद्यः प्रसूतेति—सद्यः प्रसूता. नूतनोत्पन्ना ये सहकाराङ्कुरा. आभ्रमञ्जर्यं तेषा कवलनेन भक्षणेन कपायकण्ठा यासा ता. कोकिलकामिन्यस्तासा कुहारावा कुहकुहेति ध्वनय तै असरालित प्रसारित. मनसि जायते इति मनोज मदनस्तस्य विजयो यत्र । मलयाचलेति—मलयाचलस्य मेखला तट तत्र निली-नानि प्रविष्टानि यानि किन्नरमिथुनानि किन्नरदेवदेवीयुगलानि तेषा मोहन समो गस्तस्मादुद्भूत आमोद. अतिनिर्हारी गन्धस्तेन मेदुर परिपूर्णं परि आसमन्तत सरन् गच्छन् य समीरस्तस्य समुदय उन्ततिर्यत्र । विक-सदिति—विकसन्त प्रस्फुटन्त कोशा कलिका येषा तानि कुरवकप्रसवानि अरुणानि पुष्पाणि तेषा परि-मलस्य पाने लुब्धा या मधुकर्ष भ्रमर्यस्तासा निकरो वृन्दं तस्य झङ्कारो गुञ्जारवस्तस्य सारप्रसर उत्तम प्रसरणं यत्र, तस्मिन् वसन्तसमयप्रसंगे प्राप्तं, ('आन्दोलनक्रीडार्थं उपवन गता तामनन्तमति कुण्डलमण्डितो नभश्चरपति-दृष्टवान्' इति वर्णयति कवि) कथभूता सानन्तमति । प्रसरदिति—प्रसरन् प्रादुर्भवन् स्मरविकारो यस्या सा । पुन कथभूता । स्मरेति—स्मरेण मन्मथेन स्वलन्ती मतिर्गतिश्च यस्या सा अनन्तमति सह सहवरोसमूहेन सह वयस्याजनेन मदनोत्सवदिवसे दोलेति—दोलया आन्दोलन वारं वार इतश्चेतश्चलन तत्र लालस सोत्कं मानस यस्या सा । पुन कथभूता सा । स्वकीयेति—स्वकीयं निज च तत् रूप तस्यातिशय उत्कर्षं स एव सपत् तया तिरस्कृत सकलाना भवनस्थितानाम् अङ्गनाना नारीणाम् अङ्गविलासो यया सा । कथभूतेन कुण्डलमण्डितेन दृष्टा सा । सुकेशीति—सुकेश्यभिषया प्रियतमया भार्यया अनुगतेन, पुन कथभूतेन । कृतेति—कृतं विहितं कामचारप्रचारे यथेष्टसंचारे चेतो मनो येन तेन, पुन कथभूतेन पूर्वापरेति—पूर्वापरी पूर्वपश्चिमी च तौ अकूपारौ च समुद्रौ तत्र या पालिन्द्रीसुन्दरी पालिन्द्री बेला एव सुन्दरी स्त्री तथा सहितम् उत्सङ्गं तट तया सनाथ धरतीति तस्य । विजयेति—विजयाध्वंसासौ अवनीं पृथ्वीं धरतीति विजयाध्वनीधर-स्तस्य । विद्येति—विद्या भ्रजपत्यादिविद्या धरन्तीति विद्याधरा नभश्चरास्तेषा विनोदरूपा पादपा वृक्षास्तेषाम् उत्पादे उत्पत्तौ क्षोणि भूमिस्तस्या दक्षिणश्रेण्या दक्षिणपङ्क्तौ, किन्नरेति—किन्नरगीतनामनगरस्य पुरस्य इन्द्रेण स्वामिना कुण्डलमण्डितनाम्ना अम्बरचरेण अम्बरे आकाशे धरतीति अम्बरचरस्तेन विद्याधरेण नभो-विहारिणा निचायिता दृष्टा । शृङ्गारेति—नूनं सत्यम्, आत्मभुवा विधिना ह्य वाला जगत्त्रयवशीकरणाय लोकत्रय स्ववशे विधातु प्रयत्नात् सुष्टा निमितेति । कानादाय निमितेति व्याचष्टे—शृङ्गारेति—शृङ्गारस्य सारम्, अमृतद्रुति सुधाजलम्, इन्दुकान्ति चन्द्रप्रभाम्, इन्दीवरद्युति नीलकमलस्य कान्तिम्, सर्वान् अनङ्गशरान् मदनस्य कुसुमवाणान् आदाय गृहीत्वा ॥१६४॥ इति विचिन्त्यामिलपिता च । ततस्ताम् अपजिहीर्षुधिपणेन अपहरणकरणेच्छामतिना, मुहूर्निवृत्य पुन परावृत्य । निर्वर्तितेति—निर्वर्तित कृत निजे निलये गृहे सुकेश्या निजपत्या निवेश स्थितिर्येन, प्रत्यागत्य पुनरागम्य अपहृत्य ताम् अनन्तमतिं हृत्वा च, पुनर्नभश्चरपुर प्रत्यनु-सरता प्रत्यनुगच्छता गगनमार्गान् आकाशपथात् । प्रतीति—प्रतिनिवृत्ता परावृत्य आगता कुपिता च सा सुकेशी

निजभासी तस्या रचनात् । अङ्कितोद्यमेन अङ्कित भोत अभिप्राय यस्य तेन । अस्मायेति—तस्या अनन्त-
मत्याः काये धरीरे संक्रियता प्रवेदिता अवलोकनीया च पर्यवर्तयिता च तयोर्द्वयेन युक्तेन अङ्कपुरस्य अन्त्ये
समीपं यच्छेति अन्त्यवभाक् तस्मिन्, भीमवमनामणि कानने वने मुक्ता त्यक्ता । तत्र च सूत्रयेति—सूत्रमा बाधेत्
तस्य प्रत्यक्षमभिलष्यं तदर्थं समागतम् भीमनाम्ना किरातराजेन अवलोकिता कर्मभूतेन । किरातेति—किराता
मिस्त्राणां राजा किरातराज तस्य सप्तमीस्तस्य हीम्ना मर्यादाभूतेन अवलोकिता नीता च पत्ति उपरामम् ।
सपान्तेति—इत्यस्य समीपे प्रकीर्णानाम् इत्यस्य विकीर्णानाम् इत्युदीकृतानां तापस्तपस्त्राणां अन्त्यवस्थानो
यत्र ताम् । एतदिति—एतस्या अनन्तमते कपटनिर्दिष्टा हीम्ना प्रज्वलिता मयमदनी यस्य च तेन । स्त्राः परतश्च
हीम्नायाः निबन्धनोपहृष्टावै प्राणिनापि पात्रितापि अनुत्पन्नकामा इत्याङ्क वलात्कारेण कृतं कटोरः कायोपक्रमो
येन । सति—तस्या परितुष्टोवाणां स्वीकृतानां व्रतानां स्वैर्यं स्थिरत्वं तस्मात् आचर्यता मिस्त्रायाः वा
कान्तादेवता अनदेवतास्तामिः कृपाध्याविहृष्टात् माह्वत्मात् पर्याप्तं सकलं पक्वम् उपराजस्तस्य कोनेन
कर्मनेन । मृत्युरिति—मृत्युमरणं हेतुर्यस्य मृत्युहेतुकं च बाधो आतङ्ककच रोपं च एव पावकमिस्त्रेण
पथ्यमानं निस्त्रिधमानं धरीरे हेतो यस्य तेन किरातराजेन वात क्षयस्य एकमिममपराधम् । इत्यभिप्राय
इत्युक्त्वा अनेकदेति—अनेकवर्षाणां उपराजम् उपराजः श्रेय तेनोपवीचयानां सहचरीकिताणां सखीमण्डपम्
सकलं यत्र तस्य अङ्कपुरस्य पर्यन्तं सोमाकपं पर्यन्तं तस्य कपट्ये समीपे पङ्क्तिरा त्यक्ता । सति—
तस्य समीपे समावाहितोऽप्युपि च बाधो बाधो अविषयमृष्टस्य अनीकेन हीम्नेन अविनां प्रतिर्विभक्ति
अविद्वेषानी तस्य पक्व पुष्पेण पुष्पकान्ता अवलोकिता दृष्टा सती तेन स्वीकृता च । तेन तेन वाच्य
पनातिना स्वस्य वक्ष्यं भावेतुम् अन्तर्गते कोचकदेवस्य वक्ष्ये वर्तमानानाम् अयोध्यायां पुरि आत्मिकमिवाव-
कापवत्कर्मकर्मणां शम्भुनां समपिता । आत्मिका नाम मन्त्रकिसलानाम् अङ्कुरकानां शम्भुनां पुष्टिना
वत्ता । तयापि मदन कामः मतो इत्यस्योः संपादने आचर्यापि पुष्टवामयक्यापि कवापि क्षोममिमुपक्या
पञ्चावधानीमितिदेवस्य सा बाधो राजधानी च तत्रावधानी हीन विनिवेष्टी यस्य तस्य सिद्धमहीधस्य उपाम्नी-
कृता प्रामुखीकृता । हीनपञ्चम्यस्यमनःश्रेष्ठेन तेन सिद्धमहीधेन अवि अन्त्यः अत्राप्तं तस्या मन्त्रिः श्रेष्ठो
येन तेन । विद्वत्सिद्धेति—विद्येयैव कवित आश्रितं गृहीतं दुरविधिना दुष्टोऽभिप्रायो येन सत्यमेति—
सा बाधो कन्ना च अन्त्या तस्या पुष्पप्रभावेन प्रेरिता पुरदेवतास्तामिः आचारितं अन्तपुरस्य पुरीपरिक्लेश
च अपकारविधिस्तस्य तेन साम्नां संदीप्य कपटस्य नियमेति—इदं हिचारेणं पानम् अहं न देहिमे इति
अभिप्रायो विद्यमानः तस्मिन् समाहितम् एकाग्रमार्गं नीतं यद्वदं तस्य चेष्टा तस्या सा अनन्तमिति तेन सिद्धमही
धेन विद्वत्ता त्यक्ता । (सा अनन्तमतिवर्षेणाकर्मं यथा तत्र व्यवस्यत् ।) नुबेधीनानयेपायाः अनन्तस्य स्वन्तं पातुव
जिनेन्द्रस्य वरवसिधसमीपवर्तमानं गृहस्य धीमित्री स्थितं विरतिनीत्याकर्मं विरतव आत्मिका यत्र निवर्तित
सन्धीत्याकर्मं जिनमन्त्रिम् अवाप्य कर्मभूतस्य जिनेन्द्रस्य । गृहीतेति—गृहीतं नाम वृत्तं च वारिर्न वेन
साम्नामनय अहंतास्य किम् । तत्र विरतिनीत्याकर्मं निवर्तनीयं मार्गं नुबेधी । यमेति—हिमादेर्व्याज्जीवस्यवो
यमं परिमिषाकर्मरूपानो नियमः उपवासश्च अनुविद्याहारपायाः स नृवं येमार्गनिर्दिष्टि नरनीधराचर्यैः ।
इत्येतेति अग्निना विनाशं प्रापिता इतिपाया मनसश्च नृपिता स्वभाषो यथा सा अवन्ती पाया ततो विरतिरस्य
अमममज्ज इति संक्षेपः । तस्मात्तुदेवमनराक्षसात् जिनेन्द्रस्य निजमन्त्रिणीति । कर्मभूतम् । विरति—
विरं विरहं दीपवाक्यवियोगस्यैव जलान् उत्पत्तिरता तयां विनोविमुधावतेन प्रियवत्प्रथिता । नीय
विपयनि—विपयाणां पञ्चमिषायां नाम्नां अविनाय स्तुष्टा तस्य मोघं अविहारतानाम् यथा यथा यथा यथा
वेगा तस्या सा । विद्वत्सिद्धेति—विद्वत्ता वृत्ता वृत्तो मुक्त येन तेन प्रियवत्प्रथिता पुनः प्रत्याप्य प्रणीति
निरवयं तन्माराय तस्मै जिनेन्द्रस्यनुगम्य अहंतास्य दातुम् उपजान्ता आरम्भा (अनन्तमन्त्रिः निरदेवम्
उवाच माविनाशोयं पायम्) ताव तं मन्त्रं पुनर्न मन्त्रं अविनि कर्मनीतिनृपि र्वा वातरं च प्रजानीह्य
तादीः इत्यं वृत्तमिति—वृत्तं निरवयि आरम्भं अनुपजानाय अन्त्यवयव विरहो यथा अहं । तया कर्मभूतम् इत्यतो
संक्षेपः विवाहविषये विरक्षणपीया दातुं क्षोभ्य इति निधीय

समीपे, विरतीति—विरतीनाम् आयिकाणा विशेषस्तस्य वश तेन परिपाल्यमान रत्नत्रयकोश सदृष्ट्यादित्रय निधिम् अभजत् सेवते स्म । भवति चात्र श्लोक—हासादिति—पितुर्जनकस्य हासात् नर्मभाषणात् चतुर्थेऽस्मिन् व्रते स्थिता अनन्तमति, निष्काङ्क्षा विषयामिलापाया दूर गता त्यक्तविषयेच्छा, तप कृत्वा द्वादश कल्पम् अच्युत स्वर्गम् आविशत् प्रवेशं कृतवती ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाष्टम कल्पः ॥८॥

९ निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ।

[पृष्ठ ५७] (निर्विचिकित्साङ्गस्य वर्णनम्) तप इति—जिनेन्द्राणाम् इदं तीव्र तप सवादमन्दिर न सम्यक् वाद सवाद प्रशसा तस्य मन्दिर गृहम् न सत्यताया गृह न समीचीनफलप्रद न । अद अपवादि च स्यात् अपवादो निन्दा तेन युक्त स्यात् । इत्येव चेतोऽभिप्रायः विचिकित्सना जुगुप्सालक्षण भवति ॥१६६॥

[पृष्ठ ५८-५९] स्वस्येति—यो नर श्रुताशयम् आगमस्याभिप्राय निबोधितु न शक्त स स्वस्यैव आत्मन एव दोष । शील सदाचार व्रतपरिरक्षणात्मकम् आश्रयितु ग्रहीतु न शक्त, तदर्थं शीलार्थम् आचरण-प्रयोजन ज्ञातुम् असमर्थो वा ॥१६७॥ स्वत इति—स्वत प्रकृत्यैव शुद्धमपि निर्मलमपि व्योमाकाश यन्नरो मलीमस कृष्ण वीक्षते पश्यति नासी अस्य नमसो दोष किंतु स दोषश्चक्षुराश्रय नेत्राश्रित एव ज्ञेय ॥१६८॥ दर्शनादिति—देहस्य रोगादिसजातमालिन्यादिदोषाणा दर्शनात् य तत्त्वाय आत्मनो रत्नत्रयस्वरूपाय जुगुप्सते निन्दति तत्र दोषानापादयति स नर लोहे कालिकाया कृष्णत्वस्य दर्शनात् नून सत्यम्, काञ्चन सुवर्णं न मुञ्चति ॥१६९॥ स्वस्येति—आत्मन अन्यस्य च परजनस्य च अर्थ काय शरीर बहिःश्रयामनोहर बाह्यस्य चर्मण कान्त्या मनो हरति । अन्त शरीरस्य मध्ये स्थिताना पदार्थाना रक्तादीना विचारे कृते औदुम्बरफलसदृश उदुम्बरतरुफलसमान स्यात् । उदुम्बरफलानि जन्तुसहितत्वात् जन्तुफलानि इति अन्वर्थेनाम लभन्ते ॥१७०॥ ऐतिह्येति—तत्तस्मात् ऐतिह्ये आप्तोपदेशे श्रुते, देहे च यायात्म्य यथार्थत्व पश्यताम् अवलोकमानाना सता चित्तवृत्ति मनोऽभिप्राय उद्देगाय जुगुप्साय कथ नाम प्रवर्तताम् भवतु । यस्य स्वरूप यादृग् वर्तते तत्र कृतापि जुगुप्सा तत्स्वरूपपरिवृत्तये न क्षमा भवति अतो देहस्य जुगुप्सा न कार्येति भावः ॥ १७१ ॥ सौघर्मेन्द्रो निर्विचिकित्साङ्गस्य कथा कथयति श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतेति—मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मार्गत्रय तेन प्रवृत्तया मतिमन्दाकिन्या ज्ञानगङ्गाया सान्द्र निबिड सौघर्मेन्द्र किल । सकलेति—सर्वसुरै सेव्यमानाया सभायाम् अवसरसमये प्रसंगमुद्दिश्योचिते काले गीर्वाणाना देवानाम् अनुग्रहाय तानुपकर्तुं सम्यक्त्वमणिगुणान् वर्णयन् इदानीं इन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यन्यनामावसरस्य । मायापुरीति—अन्याभिधा दवानस्य रौरुकपुरस्य प्रभो स्वामिन उदायनात् भूपते पुन कथभूतात् । प्रभावती महादेव्या क्रीडायतनात्, अपर कोऽपि सदृशनमेव शरीर देह तस्य गदचिकित्साया रोगपरीक्षायाम् अन्य कोऽपि क्षान्तिमतिप्रसर क्षमाज्ञान-युक्तप्रसार । मोक्षेति—मोक्ष एव लक्ष्मी मुक्तिरमा तस्या कटाक्षा नेत्रापाङ्गास्तेषामवेक्षा अव समन्तात् ईक्षा अवलोकन तस्य अक्षूणपात्रम् अखण्डभाजन तस्मिन्, मर्त्यक्षेत्रे नरलोके नास्ति, इत्येतच्च वासव-सज्ञाया नाम्न ईश स्वामी त्रिदश वासवनामा देव पुरन्दरस्य इन्द्रस्य उदित भाषण तत् असहमाना अवतीर्य स्वर्गादागत्य (क्रुद्धादिपीडितमुनिवेषम् आदाय नृपतिगृहमविशत्) कथभूत मुनिवेषम् आदाय प्राविशद्राज-गृहमिति विजिघत्सेऽपुना । सर्वाङ्गेति—सर्वाङ्गान्यधिकृत्य प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठ तच्च तत्कुष्ठ च तस्य उद्रेक आधिक्य तेन उपद्रुत पीडितो देहो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । अखिलेति—अखिलाश्च ते देहिन प्राणिनस्तेषा सदोह समूहस्तस्य उद्रेजनानि जुगुप्सोत्पादकानि यानि श्रवणेष्वक्षणाग्राणगरणानि कर्णनेत्रनासिका-निर्गलन् खनन् अनर्गल अप्रतिबद्ध. सतत प्रवर्तमान दुर्गन्ध पूति पूयप्रवाह दूषितरुधिरस्राव

निबन्धमायं तस्या बर्तनम् । पट्टिनापवेन पट्टिना भीतः अविप्रायः यस्य तेन । तत्कार्येति—तस्या अनन्त-
मत्वाः काये घटीरे भङ्गमिता प्रवृत्ता अवलोकनी न पञ्चतन्त्रविद्या न नवीर्द्धमन्तुयत्नः घट्टपुरस्य अन्त्ये
घटीर्धमन्तुयत्नः अन्त्येमात् तन्मन्त्रं भीमवन्मन्त्रमिति कथनं न नृणां त्यक्ता । तत्र च श्रूयतेति—प्रथमं भावेन
तस्य प्रवृत्तमन्त्रमन्त्रं तस्य समागतं श्रीमन्मन्त्राणां किरातराजेन अवलोकितं नृणां भूतेन । किरातेति—किरातायां
मिस्मानो राजा किरातराजः तस्य अन्तःस्थस्य सोम्या मर्वाशामूतेन अवलोकितः भीता न पश्चिं घट्टराजम् ।
घट्टान्तेति—राम्णे समीपे प्रकीर्णानाम् इत्येतत् । विकीर्णानाम् इदं गृहीकृतानां तत्पत्तदृष्टानां अन्त्येमात्तपो
मन्त्रं ताम् । एतद्विधि—एतस्या अनन्तमन्त्रे किरातेन वीर्ये प्रवृत्तमिति मन्त्रमन्त्रो यस्य तत् तेन । एतत् नृपस्य
तैत्तिरीयानां निबन्धमोपवृत्तम् । प्राविशति वाविशति अनुत्पन्नकामा इत्याह कलाकारेण इत्तं कटोरः कामोपवृत्तो
वेन । तद्विधि—उत्साः परितोत्सागां वीर्यकृतानां वृत्तायां स्वैव विवरत्वं तस्मात् आरब्धविद्या विस्मितायः सा
कान्दारदेवना बन्धेरास्तार्थाः कुत्तरातिहायन् माहुराम्यात् पर्वतः सङ्गतः पञ्चव घट्टराजमस्तस्य सोम्य
अन्त्येन । मृत्पूरिति—मृत्पूरणं हेतुयस्य मृत्पूरणं स चातो आठिदृश्यः येष स एव पावकोऽनितेन
पञ्चमानं निरुत्पन्नयानं घटीरे हेतो यस्य तेन किरातराजः मातः यमस्य एकमिममरामम् । इत्यविश्व
इत्युक्त्वा वृत्तेष्वेति—इत्येवरायां घट्टराजम् उपचारः प्रेम तीव्रवीर्यमाना सहचरीचित्तानां लोकोत्तमानां
अकृप्य मन्त्रं तस्य घट्टपुरस्य पर्वतः सोमाका पर्वतः तस्य उरकच्छे समीपे पट्टिना त्यक्ता । तद्विधि—
तस्य समीपे समावाहितोऽनुष्ठितः स चातो सातो विवरत्वं मृत्पूरणं अनीकेन वीर्येन विजितां वृत्तिर्विजयति
निरुत्पन्नामी तस्य पार्श्वे पुनश्च पुनःकाम्या अवलोकितः दृष्टा घटी तेन वीर्यकृता न । तेन तेन वाग्न
वनादिना स्वस्य वदन् आनेतुम् अन्त्येन कोउत्तरेणस्य मध्ये वतमानायाम् अवोष्मायां पुरि व्याप्तिरभिधान
कामपञ्चकम्पस्याः पञ्चक्या समपिता । स्वास्तिका नाम मन्त्रविस्मयानाम् अङ्कुरकरायाः पञ्चक्यां मुष्टिप्रा
यत्ता । कस्यामि मन्त्रः नामः मन्त्रो वपस्तपोः संपादने आवृत्तयामि नृहृदयधमक्यामि कस्यामि शोममिनुमक्या
तत्राजगानीविनिवैद्यस्य सा चातो राजगानी न तत्राजगानी ईव विनिवैद्यो यस्य तस्य विह्वनहीयस्य उपाकरी
कृता प्राप्नुवीकृता । तेनाप्यमन्त्रपञ्चक्यामन्त्रेण तेन विह्वनहीयते अपि अजग्या अजग्याः तस्या मन्त्रि प्रवेक्षो
वेन तेन । विस्मयतेति—विस्मयेन कथित आश्रितः पृष्टः कुर्यादिति कुहोऽभिप्रायो मन्त्रं तत्कथ्येति—
सा चातो कस्या न तत्कथ्या तस्या पुन्यप्रमाणेन प्रेरिताः पुरवेचतास्तामि आवापित अन्तःपुरस्य घटीपरिवन्दस्य
न अवकाटविधिमस्य तेन साधु संवीर्य उपविश्य नियमेति—इहं हिंसाधिकं पापम् अहं देविभ्ये इति
अभिप्रायो निवमः तस्मिन् उवाहितम् एकाग्रवान् भीतं नृपस्य तस्य चेहा मत्वा सा अनन्तमन्त्रं तन् विह्वनही-
येन विवृता त्यक्ता । (सा अनन्तमन्त्रविह्वनहीयक्या मन्त्रा तस्य स्ववत्) गृहेवीनायवेयाया अनन्तस्य स्वतः पत्तुरस्य
जिनेन्द्रतस्य लक्ष्मिपुत्रवर्मापत्तं पुनस्य संनिधी स्मितं विरतिवैर्याक्यं विरतयः आश्रिका मन्त्रं निवसति
तन्वीत्याक्यं विममन्त्रम् अवाप्य कर्त्तव्यस्य जिनेन्द्रतस्य । गृहीतेति—गृहीतं नाम नृत्तं न वारिर्धं तेन
उवाप्यास्य अहंरुतस्य पितुः । तत्र विरतिवैर्याक्ये निवसन्ती मातं कुर्वती । अमेति—हिंसायेवावर्जनीयतयावी
अमः परिमितकालमन्त्रापो निवमः उपवाप्य नृपविद्याहातरयागाः ते पूर्वं वैष्णवीविधिनि करनीयैरुपरतैः ।
अपिदेति अपिता विनाशं प्राप्तिना हिंसाया मन्त्रवत् नृपिः स्वमावी मन्त्रा सा मन्त्री माया घटी विरतिपत्त
मन्त्रमन्त्रं इति संख्याः । तस्मादङ्गुलमन्त्रपञ्चक्यामन्त्रं जिनेन्द्रतस्य निवसन्ती पतिम् । नर्त्तनम् । विरेति—
पितरं विरहं वीर्यकावियोग्यतेन उत्ताकः ताक्यिष्ठस्य क्वाक्यं विह्वनहीयान्वेन प्रियवत्तयेति । वीर्य
विपयेति—विषयाणां पञ्चवेष्टिमायानाम् अभिजाप्य स्पृहा तस्य योगः परिहारस्तस्यात् पञ्चाः कथाः कथा
कथा कस्याः सा । विहिदेति—विहिता कृता बह्वो मृत् तेन तेन प्रियवत्तयेति । पुनः प्रत्याप्य प्रतीति
निवस्य मृत्प्राप्तः तस्मै जिनेन्द्रतस्य मृत्प्राप्तं अहंरुतम् वापुम् उवाप्याता प्राप्ता (अनन्तमन्त्रं विरतयेत्
उवाप्य आश्रिकावीर्यां वापयन्) तत्तं तं मन्त्रं पुनश्च अनन्तं आश्रिकं नर्त्तकीतिरुतिर्या मातरे न मन्त्रीकृत्य
तन्त्रीकृत्य कृतेति—इत्तं निरवधि आश्रिकं नर्त्तकीत्यस्य निरवधो मन्त्रा सा । ततः कथमन्त्रं इहानी
संप्रति विवाहविधये परिकल्पनीया वापुं योग्या इति निधीयं तस्या

समीपे, विरतीति—विरतीनाम् आर्थिकाणां विशेषस्तस्य वश तेन परिपाल्यमान रत्नत्रयकोशं सदृष्ट्यादित्रयं निषिम् अभजत् सेवते स्म । भवति चात्र श्लोक—हासादिति—पितुर्जनकस्य हासात् नर्मभाषणात् चतुर्थे ऽस्मिन् व्रते स्थिता अनन्तमति, निष्काङ्क्षा विषयाभिलाषाया दूर गता त्यक्तविषयेच्छा, तप कृत्वा द्वादश कल्पम् अच्युत स्वर्गम् आविशत् प्रवेश कृतवती ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाष्टम कल्प ॥८॥

९ निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ।

[पृष्ठ ५७] (निर्विचिकित्साङ्गस्य वर्णनम्) तप इति—जिनेन्द्राणाम् इदं तीव्र तपः सवादमन्दिरं न सम्यक् वाद सवाद प्रशसा तस्य मन्दिरं गृहम् न सत्यताया गृहं न समीचीनफलप्रदं न । अद अपवादि च स्यात् अपवादो निन्दा तेन युक्त स्यात् । इत्येव चेतोऽभिप्रायः विचिकित्सना जुगुप्सालक्षणं भवति ॥१६६॥

[पृष्ठ ५८-५९] स्वस्येति—यो नर श्रुताशयम् आगमस्याभिप्रायं निबोधितुं न शक्त स स्वस्यैव आत्मन एव दोष । शीलं सदाचारं व्रतपरिरक्षणमात्मकम् आश्रयितुं ग्रहीतुं न शक्त, तदर्थं शीलार्थम् आचरणं प्रयोजनं ज्ञातुम् असमर्थो वा ॥१६७॥ स्वत इति—स्वतः प्रकृत्यैव शुद्धमपि निर्मलमपि व्योमाकाशं यन्नरो मलीमसं कृष्णं वीक्षते पश्यति नासी अस्म्य नभसो दोषं किंतु स दोषश्चक्षुराश्रयं नेत्राश्रित एव ज्ञेय ॥१६८॥ दर्शनादिति—देहस्य रोगादिसजातमालिङ्ग्यादिदोषाणां दर्शनात् यत्तत्त्वाय आत्मनो रत्नत्रयस्वरूपाय जुगुप्सते निन्दति तत्र दोषानापादयति स नर लोहे कालिकायां कृष्णत्वस्य दर्शनात् नूनं सत्यम्, काञ्चन सुवर्णं न मुञ्चति ॥१६९॥ स्वस्येति—आत्मनः अन्यस्य च परजनस्य च अयं कायः शरीरं वह्निश्छाया मनोहरं बाह्यस्य चर्मणः कान्त्या मनो हरति । अन्तः शरीरस्य मध्ये स्थितानां पदार्थानां रक्तादीनां विचारे कृते औदुम्बरफलसदृशः उदुम्बरतरुफलसमानः स्यात् । उदुम्बरफलानि जन्तुसहितत्वात् जन्तुफलानि इति अन्वर्थनां लभन्ते ॥१७०॥ ऐतिह्येति—तत्तस्मात् ऐतिह्ये आप्तोपदेशे श्रुते, देहे च याथात्म्यं यथार्थत्वं पश्यताम् अवलोकमाना सता चित्तवृत्तिः मनोऽभिप्रायः उद्वेगाय जुगुप्सायै कथं नाम प्रवर्तताम् भवतु । यस्य स्वरूपं यादृग् वर्तते तत्र कृतापि जुगुप्सा तत्स्वरूपपरिवृत्तये न क्षमा भवति अतो देहस्य जुगुप्सा न कार्येति भावः ॥ १७१ ॥ सौवर्मेन्द्रो निर्विचिकित्साङ्गस्य कथा कथयति श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतेति—मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मार्गत्रयं तेन प्रवृत्तया मतिमन्दाकिन्या ज्ञानगङ्गायां सान्द्रं निविडं सौवर्मेन्द्रं किल । सकलेति—सर्वसुरैः सेव्यमानायां सभायाम् अवसरसमये प्रसंगमुद्दिश्योचिते काले गीर्वाणानां देवानाम् अनुग्रहाय तानुपकृतुं सम्यक्त्वमणिगुणान् वर्णयन् इदानीं इन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यन्यनामावसरस्य । मायापुरीति—अन्याभिधा दधानस्य रौरुकपुरस्य प्रभो स्वामिन उदायनात् भूपते पुनः कथंभूतात् । प्रभावती महादेव्या क्रोडायतनात्, अपरः कोऽपि सद्दर्शनमेव शरीरं देहं तस्य गदचिकित्सायां रोगपरीक्षायाम् अन्यः कोऽपि क्षान्तिमतिप्रसरः क्षमाज्ञान-युक्तप्रसारः । मोक्षेति—मोक्ष एव लक्ष्मी मुक्तिरमा तस्या कटाक्षा नेत्रापाङ्गास्तेषामवेक्षा अवसमन्तात् ईक्षा अवलोकनं तस्य अक्षूणपात्रम् अखण्डभाजनं तस्मिन्, मर्त्यक्षेत्रे नरलोके नास्ति, इत्येतच्च वासव-सजाया नाम्न ईश स्वामी त्रिदश वासवनामा देव पुरन्दरस्य इन्द्रस्य उदितः मापणं तत् असहमाना सोढुमक्षमा प्रज्ञा मतिर्यस्य स, तत्र नगरे मायापुरे । कथंभूते । महामुनिसमूहप्रचारेण प्रवरे श्रेष्ठे, अवतीर्य स्वर्गादागत्य (कुष्ठादिपीडितमुनिवेषम् आदाय नृपतिगृहमविशत्) कथंभूतं मुनिवेषम् आदाय प्राविशद्राज-गृहमिति विश्रितेऽश्रुना । सर्वाङ्गेति—सर्वाङ्गान्यधिकृत्य प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठं तच्च तत्कुण्डं च तस्य उद्रेकं आधिक्यं तेन उपद्रुतं पीडितो देहो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । अखिलेति—अखिलाश्च ते देहिनाः प्राणिनस्तेषां सदोहं समूहस्तस्य उद्वेजनानि जुगुप्सोत्पादकानि यानि श्रवणेक्षणघ्राणगणानि कर्णेनेत्रनासिका-कण्ठास्तेष्वो विनिर्गलन् स्रवन् अनगलं अप्रतिवद्धं सततं प्रवर्तमानं दुर्गन्धं पृतिः पयःप्रवाहं तपिन्-पिन्-

स च मूर्धस्फुटितस्त्रोटाश्च मस्तकोन्मूलपिटकाश्च तत्र वा स्फुटयेद्वा हस्तनवाभिनि शर्जनं तस्मिन् भविता
आरोम्पिषात्काया यद्यिकास्ताभिर्वापिपत्यम् आभूतम् अनेपं शरीरं यस्य । पुनः कर्बभूतम् । अन्त्यन्तरेति—
अन्त्यन्तरं शरीरस्य ज्ञात इति अन्त्यन्तरम् अन्त्यन्तरादेव उत्प्लुत इव यन् शीबं तेन ज्ञातो यः कोयः दुर्बल-
मावस्ततश्च उत्तरज्ञापय वलीमुदाश्च तां त्वचश्चर्माणि तासाम् अन्तरादे प्रकीर्णानि अस्त्रिकानि यानि नवानि
नखीरं वासिका च तम् । पुनः कर्बभूतम् । अपिचिच्छन्नेति—अभिच्छिन्ना घटतं प्रवर्तमाना अन्त्यन्तो
उद्भवन्ती यन्मुखा महती चर्वाङ्गव्यापिनी या कच्छूः कच्छूरोयः तया कच्छ्वा ये धुक्का अवयवप्राप्तास्तथा एव
सारिण्यो निर्गमद्वापि तास्य सारनिनकच्छू घटतं कासासाधो दुरभिरसविद्येयो यस्मात् तम् । पुनः कर्बभूतम् ।
अनवरतेति—अनवरतं घटतं यत् ओतः स्तम् अमृनिनकपरिणतविध्यनिर्गमस्तस्मात्प्रातो मोक्षीष्टात्
प्रवाहिकापीनविषेयः तस्मात्तंमूला या बीजस्ता भयानका भावना आकृतिर्मस्य तम् । पुनः कर्बभूतम् । अनेकस्त
इति—अनेक्यो बहुवारं विविक्ता रज्जा तस्वा विक्ता अयं तत्र घट्याता पत्तनं तेन नियतः निविधतः बाधितः
शीबतः यो अमुषिपतिः पृतिगम्पिषापर्येतकः तद्वत् दुर्बलं युगुप्सावनकत्वात् इच्छुम् अक्षयं यः शरीरं यस्य तम् ।
एवावुक्षुम् अपिषेयं मुनिष्यम् आशय गृहीत्वा अवनाय आह्वार्यम् अवयवाः पृच्छा पतिः य उद्वायनमुप तस्य
भवनं पृष्ठम् अमरुत् आभयत् गठवान् । मूपतिरपि सप्येति—उत्तरकानि भूमयो आरब्धा निमिषा यस्व घ
वाही शीबः प्राप्तावस्तस्य मय्यम् अम्पाद्योः विच्छन् आकच्छन् आचर्त्त मोक्षयामासेति संभवः । कर्बभूतम् अपि
मोक्षयामासेति निश्च्येते—तम् अष्टाध्या ये व्यापयो रायाः टीबिमुत्त पोच्छिा विपत्ता बुद्धिस्तस्या अवीनम् ।
विषयामस्य आह्वारस्य अव्येवना भावना तस्यै निजनिष्यं निजगृहम् आशयमागतम् आचच्छन्तम् अवलोचन
सौत्तुयं सारदम् आलोचय वृष्ट्या स्वीकृत्य च तम् अपिषेयं देवम् उवासीय बाहुना उरवाच आगम्य । कचनूतं
तनागवत् स इति विविधैः । कुत्रिमैति—कुत्रिमश्वासी वातउच्छ्वस्य रोचः स एव पावकोऽग्निः तेन परवर्त्त
पीठितम् आस्वनिर्त्तं चित्तं यस्य तम् । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः महोत्तरे नियतस्यम् । कचमूत उद्वायनः । अन्विति—
अनुक्षिप्तम् अनुमुप्सामाचं यतं मनः चरितं च यस्य स गुणः । मुनिषेयं देवम् उवासीय मोक्षयामाच । पुनः
कर्बभूतम् । प्रकामेति—प्रकामम् अतिव्ययेन दुर्बलं च तम् अर्जनं कच्छुयनं तस्य अर्जनं पुनः पुनः कच्छुयनं
तेन अर्जितं माचं शरीरं यस्य तन्मिषेयम् । काश्मीरेति—काश्मीरस्य कुलकुलस्य पङ्कः त्वेयः तेन विच्छ्वरेव
पीठेन मुचपङ्करेव उवासीय उरवाच आगीय च अद्यनवेसोर्दरं रजवरीगृहमर्च्य स्वयमेव समाचरितोपचारः
कृतमुचन उद्वायनः । तविति—तस्य अमिषाया इच्छा तस्या अन्वेयाः प्रादुर्भावाः तत्र सारमूर्त आह्वारी उप
वाप्ता घीक्षितं प्राप्ता अद्यनामाया मुमुसाया उत्कृष्टा यथा स्यात्तथा आकच्छन् आचर्त्त मोक्षयामाच आह्वारं
अरयामासेत्ययम् ।

[पृष्ठ ६०] मायामुनिरिति—(मायामुनिर्मुक्तेरनन्तरं जन्मयत्) पुनरपि तस्य उद्वायनस्य मनः
विज्ञासम्पन्नं मानसं यस्य सः प्रसन्नं वेगात् अस्ति—अतिमन्मीरा वाही पक्षमुदा च टीबः कुहूरं विचरं तस्यात्
अभिज्ञानं बहिःपचच्छन् यः चोरी अयङ्कुरः शीबः अन्त्य तस्य अभिज्ञातस्तेन जन्मम् अतिव्ययेन भूक्तिं कम्पितम्
अपचनं शरीरं यथा स्यात्तथा अग्रतिषम् अग्रतिषङ्गम् अवमोत्तं बाधितं चकारः । मूमिपतिरपि—आः खोरोह्वारै
कङ्क वातम् । यद्यस्मात्कारणात् सम्प्राम्यस्य मनः बह्वे गृहीताह्वारोभ्योवस्य मुक्तमोक्षस्य जन्म भनतः खेद एव
पावयो वृषास्तस्य विरतिरिति वैदिकेन कर्त्तव्यं भगवन् समभूत् । इति एवं प्रकारेण । उपकुक्षेति—उपकुक्षे निमित्तं
अतिष्ठम् अतिष्ठकृत् चेष्टितं चरितं तस्य वर्यं धर्मस्वकम्पम् आत्मानं विनिष्यत् पद्मायः । मायेति—मायाभवाः
भिक्षिा सामर्थ्येन भिमिवास्ता मक्षिकास्तासां यद्यभित्तेन समूहैर्न कृता नवीके यद्ये रक्षा यत्र तस्मात् तदिति—
तस्य एतस्य मायामुनेमुक्तात् अचराका विपुला या काका तथा निक्षालम् आर्जनं अग्रम् । इन्दिरेति—इन्दिरा
अवीरतस्या अरविर्त्तं निवासकमर्त्तं तस्य उचरम् अन्त्यन्तेष्टस्तस्य वरतीत्यर्थः तस्य भिक्ष्येन तत्तदुद्येनेत्तर्त्तः ।
अग्रविक्षिनेन प्रमुक्तिपुटेन आवावाया गृहीत्वा गहीत्वा मेविष्या मूमो/अन्त्यन्तम् अनुक्षुम् । पुनयेति—
अद्वीर्त्तः बाधः उदीर्त्तः प्रकटीभूतः दुष्यः युमुप्सकागित्युक्तः
ममीति—अनि माया तथा भुक्ता वा अभिः पित्तप्रकोपेन

मिषतः अनुहः अस्मिन् ।

वा तस्य आरम्भः तेन पतित शरीर यस्य, त मायामुनिम् । सप्रयत्नेति—सप्रयत्नो च तो करो हस्तौ तथो. स्थान्. वलस्य सोमा मर्यादा यथा स्यात्तथा त मायामुनि समुत्थाप्य । जलेति—जलात् जनित क्षालनस्य प्रसङ्गो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । उत्तरीयेति—उत्तरीय देहस्योपरि उत्तरभागे धार्यमाण वस्त्रम् उत्तरीय तच्च तत् दुकूल पट्टवस्त्र तस्य अञ्चल प्रान्तभाग तेन विलुप्त निराकृत. सलिलस्य जलस्य सग स्पर्शो यस्य तम्, अङ्गसवाहनेन शरीरविमर्दनेन, अनुकम्पनस्य दयाया विधान प्रदर्शन येषु तादृग्वचनाना रचनेन दयावचनाना उच्चारणेन साधु समाश्वासयत् आश्वास सन्तोषमजनयत् । (मायामुनिरात्मरूप प्रकटीकृत्य स्नुत्वा चोद्हायन स्वर्गं जगाम) कथभूतो मायामुनिः । प्रमोदेति—प्रमोद एव हर्ष एव अमृत सुधा तेन अमन्द परिपूर्णं यद्दय तदेव आलवालवलय अम्भसो धारणार्थं यद्वेष्टन तस्य वलय तत्र उल्लसन्ती विकसन्ती या प्रीति सा एव लता तदयम् अवनिरिव भूमिरिव स सुरचर भूतपूर्वं सुर स मुनि यथेवायम् उद्हायनभूपो वर्णित तथैवाय मया निर्वर्णित इति कथयति । कुत्र वर्णित । परिपदि सभायाम्, कथभूताया त्रिदिवोत्पादि त्रिदिवे स्वर्गे उत्पादो यस्याः सा तस्याम् पुन कथभूतायाम् । सहर्शनेति—सहर्शनस्य सम्यक्त्वगुणस्य श्रवणाय उत्कण्ठित हृद् मनो यस्या तस्या परिपदि, (हृद्रेण यथायमुपवर्णितस्तथाय मया निर्वर्णित) कथभूतेन हृद्रेण । विबुधप्रधानेन विबुधेषु देवेषु प्रधानेन श्रेष्ठेन पुन कथभूतेन गुणेति—गुणाना सम्यक्त्वादीना ग्रहण तत्र सचि प्रदर्शन तस्य आपद्गोऽभिनवेश तत्र निधानेन निविस्वरूपेण । प्राज्येति—प्राज्य समृद्ध यत्, राज्यं तदेव समज्या सभा तत्र अर्जुन इव सजिता उत्तादिता जगत्प्रिया त्रिलोक्या निजनामधेयस्य स्वनाम्न. स्वकीर्ते. प्रसिद्धि प्रख्यातियेन स पुन कथंभूत । यथोक्तेति—यथोक्तम् आगमे यथा प्रतिपादितं सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनस्वरूप तथा तस्य अधिग-मात् प्राप्ते, अवधेया जीवादिपदार्थेषु समाहितु योग्या बुद्धिर्यस्य न उद्हायनो नृप यथा उपवर्णित व्यावर्णित स्तुनो वा तथैव मया (वासवनामधेयेन देवेन) निर्वर्णित परोक्षित, इति विचिन्त्य प्रकटितेति—(आविष्कृतनिजरूपाडम्बर, तम् उद्हायनम् अवनीश्वर नृप सभाव्य समान्य स्वर्गं जगामेति सधन्व कथयति कवि) कै सभाव्य अमरेति—अमराणा तरव कल्पवृक्षा तेषा प्रसूनानि पुष्पाणि तेषा वर्षा वृष्टिः, आनन्ददुन्दुभीना प्रमोदभेरीणा नादो ध्वनि तस्य उपघातेन मिश्रणेन शुचिभि निर्मलं । साधुकारेति—साधुकार साधुकृत साधुकृतमिति उच्चारण साधुकार, तस्मिन् पर साधुकारपर. स चासौ व्याहारो भाषण तस्यावसरो वेला तेन शुचिभि सुन्दरं उदारं महद्भिः उपचारै पूजने आदरं सभाव्य, पुन कै सभाव्येति उच्यते—अनिमिषेति—अनिमिषा देवास्तेषा विषयो देश. स्वर्गं तत्र समूण्वव भवनशीलास्ते । मन इति—चित्तेप्सितप्राप्तौ विष्णुभि जित्वरं समर्थं क्षमेरिति यावत्, तैस्तै पठितमात्रेण विधेयं साध्यं विद्योपदेशगर्भं. विद्योपदेशो गर्भं येषा तै मन्त्रै तथा वस्त्रसदमर्षश्च वसनाना सदमर्ष रचनाभिश्च सभाव्य सपूज्य सुरसेव्य देशमाविशेश स्वर्गं जगामेत्यभिप्राय ।

[पृष्ठ ६१] भवति चात्र श्लोक —वालेति—वालवयसो यतीन्, वृद्धयतीन् गदेन रोगेण ग्लानान् पीडितान्, मुनीन् औद्हायनो नृप स्वयं प्रेरणया विना स्वकर्तव्यमेतदिति बुद्ध्या भजन् सेवमान निर्विचिकित्सात्मा जुगुप्सा मनागपि अकुर्वाणः पुरन्दरात् इन्द्रात् स्तुतिं प्रशसां प्रापत् लेभे ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ॥९॥

१० अमूढदृष्टिगुणोपाख्यानं नाम दशमः कल्पः ।

[पृष्ठ ६१] अन्तरिति—आत्मनि दुरन्तो दुःखदायक संचारो भवभ्रमण यस्मात् वहिरिति—वाह्यस्वरूपे सुन्दर शोभायुक्तम्, एतत्कुदृष्टीना बोद्धनैयायिकादीना मत किंपाकसनिभम् कृत्स्नित पाक. परिणामो यस्य तस्य विषफलस्य सनिभ तुल्यम् मतं न श्रद्धयात् न विश्वस्यात् ॥१७३॥ श्रुतीति—श्रुत्याम्नाय वैदिक-मतम् । शाक्याम्नाय सौगतमतम् । शिवाम्नाय शिवमतम् । क्षौद्र मधु, मास प्रतीतम् । आसवो मदिरा एते आधारा अधिष्ठानानि येषा ते । वैदिका मधु ग्राह्यं वदन्ति । सौगता मासभक्षणमामनन्ति । शिवाम्नाये मद्यपान-

स च मूर्धस्फुटितस्फोटारश्च मस्तकोद्भूतपिटकारश्च तत्र या स्फुटचेष्टा हस्तमन्त्रादिभिः कथनं तस्मिन् बभूव
 आरोप्यविवाहका वा मलिकास्तामिराशिष्याम् आश्रयम् अथेयं शरीरं यस्य । पुनः कथंभूतम् । अत्र्यन्तरदि-
 अत्र्यन्तरं शरीरस्य अन्त इति अत्र्यन्तरम् अत्र्यन्तरादेव सत्भूतं स्वयम् घोषं तेन बाधे यं घोषं पुनश्च
 नाशस्तत्तत्र उत्तरज्जलश्च बद्धीमुत्तरश्च ता स्वयम्भवाभिं तासाम् अन्तराले प्रसीमाभिः अक्षिपानि मात्रि मन्त्राभि
 नासीरे नाधिका च तम् । पुनः कथंभूतम् । अविच्छिन्नेति—अविच्छिन्ना संततं प्रवर्तमाना अम्बुच्छन्ती
 कम्पयन्ती बहुपञ्चा महीती सर्वाङ्गभ्यापिनी या कम्पूः कम्पूरोवा तया कम्पना ये धुक्का अवयवप्राप्तास्ता एव
 शारिष्यो निगमहाराणि तस्य धरन्निर्वच्यन् संततं साक्षात्तायो दुरभिरस्यविधेयो मस्यात् तम् । पुनः कथंभूतम् ।
 अनवरतेति—अनवरतं संततं यत् क्रोशः सृष्टम् अमुचिबन्धपरिणतविच्छागिर्मस्तस्माज्जातो योऽहीसाः
 प्रवाहिकारोवविह्वलः तस्मात्संभूता या बीमस्ता म्यानका भावना आहृतिर्यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । अनेक्यं
 इति—अनेक्यो बहुवारं विधिका तस्या तस्या विधा अर्थं तत्र सत्पाठः पठनं तेन नियतं निश्चितं भाषितं
 संविष्टं यो बहुविधोऽपि पृथिवीभिराश्रितकृत् तद्वत् दुर्बलं अनुप्रासकनकत्वात् इत्युम् अस्मत् बपुः शरीरं यस्य तम् ।
 द्वाभ्याम् अविशयं मुमिक्षम् आदाय महीत्वा भवताय आहारायम् अथवा पुण्या पति म उदात्मन्युत् तस्य
 मयं पुनः मनश्च आश्रयत् पठन्नाम् । भूपतिरपि सप्येति—सप्ततकानि भूमयो आरब्धा निमित्तं यस्य स
 बाधो घोषं प्रादास्तस्य मध्यम् अन्धाहीन विच्छन् आकण्ठम् आयत्तं भोजयामासेति संवन् । कथंभूतम् अपि
 भोजयामासेति निष्कस्ये—तम् अद्याप्य मे व्याचयो राजा वैविकृत् पीठिता विषया बुद्धिस्तस्या बलीयम् ।
 विष्णवस्य आहारस्य अन्धेयया याचना तस्मै निषण्णित्यं निषण्णम् आकीयमानम् आयच्छन्तम् अवलोक्य
 सीत्सुखं साधरम् आकीयस्य इष्ट्वा स्वीकृत्य च तम् अविशेषं देवम् उवाचीय बाह्ना कृत्वाप्य आनयत् । कथंभूतं
 तनानयत् स इति विधियते । कृत्रिमेति—कृत्रिमरवाही आतङ्कश्च रोपं स एव पावकौर्मि तेन परवर्त्त
 पोषितम् आस्वनिर्तं चितं यस्य तम् । मुहुमुहुः पुनः पुनः महीतके निपठन्तम् । कथंभूतं उवाचनः । अन्विति—
 अनुक्षिन्तम् अनुनुप्रासात् संतं मनः चरितं च यस्य स नृपः । मुनिषेप देवम् उवाचीय भोजयामास । पुनः
 कथंभूतम् । प्रकामेति—प्रकामम् अतिध्वेनं दुःखं च तत् कर्त्तव्यं कथंयत् तस्य कर्त्तव्यं पुनः पुनः कथंभूतं
 तेन कर्त्तरि नाशं शरीरं यस्य तमुचिषेयम् । काश्मीरेति—काश्मीरस्य कुङ्कुमस्य पङ्कजं केयं तेन पिच्छरेण
 पीठेन भुजपङ्कजरेण उवाचीय सत्त्वान् आनीय च अक्षनदेस्मोहं रक्षणीयुहमर्थं स्वयमेव समाचरिषीषवाः
 कृतपूजनं उवाचनः । तदिति—तस्य अमिताया इच्छा तस्या सन्नेहः प्रादुर्भावः तत्र शारमूनि आहारी उप
 शान्ता सीक्षितं प्राप्ता अक्षनायाया मुमुक्षाया उत्कण्ठया यथा स्यात्तथा आकण्ठम् आयत्तं भोजयामास आहारं
 अप्रयामासेत्सर्वम् ।

[पृष्ठ ६०] मायाभूमिरिति—(मायाभूमिर्भुक्तेरनन्तरं अवसीत्) पुनरपि तस्य उवाचनस्य मनः
 विज्ञासमानं मानसं यस्य सः प्रथमं नेपात् अति—अतिमन्तीरा नागी नकुम्हा च श्वेन कुहूरं विवरं तस्मात्
 सन्निहानं बहिरापञ्चम् यं शरीरं मयकुटः घोषं कथं तस्य अमितायस्तेन वचम् अतिध्वेनं भुक्तिं कथितम्
 अपचनं शरीरं मया स्यात्तथा अप्रतिबन्धं अप्रतिबन्धम् अवसीत् नातिं अकारः भूमिपतिरपि—आः शोरोद्गारे
 कथं आतम् । यद्यस्मात्कारणात् मन्त्रमायस्य यमं बह्वे नृहीताहारीपयोपस्य मुक्तयौगलस्य अस्य यतः यत्र एव
 पावको बृहत्तमस्य विविधिरिव वैदिकेन कर्त्तुः वचनं उवाचम् । इति एवं प्रकारेण । उपपद्येति—उपपद्येति भित्तं
 अमिष्टम् अतिपुष्टम् चैष्टितं चरितं तस्य कथं मार्गस्वल्पम् आरमात्रं विनिम्नं वर्हयाच । मायेति—मायायमाः
 विक्षिप्ता धामर्ष्येन निमित्तास्ता मलिकास्ताया मन्त्रस्थितेन सन्मूहेन कृता कपोले वन्द्ये रेखा यत्र तस्मात् तदिति—
 तस्य एतस्य मायाभुवेर्मुखात् अतराका विपुला या आका तया निरालम् आर्धम् असम् । इतिरेति—इतिरि
 त्वापीतस्या मरिच्यं निवासकथं तस्य कथम् अन्तःप्रवेष्टस्तस्य वलीभवं तस्य निष्पद्येन तत्तदुपदेत्सर्वम् ।
 मन्त्रस्थितेन प्रसृतिपुटेन आवायायाय महीत्वा महीत्वा जेतिग्या, भूवी—कथंयत् अनुपपद्ये । पुनश्चेति—
 उद्गीर्णः बाधः उवाचः मन्त्रटीमुत्तं दुर्बलं
 अमीरिति—अमि माय तया मुक्ता वा अमि

वा तस्य आरम्भः तेन पतित शरीर यस्य, त मायामुनिम् । सप्रयत्नेति—सप्रयत्नो च तौ करो हस्तौ तथो
 स्थान् । वलस्य सीमा मर्यादा यथा स्यात्तथा त मायामुनि समुत्थाप्य । जलेति—जलात् जनित क्षालनस्य प्रसङ्गो
 यस्य तम् । पुन कथभूतम् । उत्तरीयेति—उत्तरीय देहस्योपरि उत्तरभागे धार्यमाण वस्त्रम् उत्तरीय तच्च
 तत् दुकूल पट्टवस्त्र तस्य अञ्चल प्रान्तभाग तेन विलुप्त निराकृत सलिलस्य जलस्य सग स्पर्शो यस्य तम्,
 अङ्गसवाहनेन शरीरविमर्दनेन, अनुकम्पनस्य दयाया विधान प्रदर्शनं येषु तादृग्वचनाना रचनेन दयावचनाना
 उच्चारणेन साधु समाश्वासयत् आश्वास सन्तोषमजनयत् । (मायामुनिरात्मरूप प्रकटीकृत्य स्तुत्वा चोद्दयनं
 स्वर्गं जगाम) कथभूतो मायामुनिः । प्रमोदेति—प्रमोद एव हर्ष एव अमृत मुधा तेन अमन्द परिपूर्णं
 यद्दृश्य तदेव आलवालवलय अम्भसो धारणार्थं यद्वेष्टन तस्य वलय तत्र उल्लसन्ती विकसन्ती या प्रीतिः सा
 एव लता तदर्थम् अवनिरिव भूमिरिव स सुरचर भूतपूर्व सुर स मुनि यथैवायम् उद्दयनभूपो वर्णित तथैवाय
 मया निर्वर्णित इति कथयति । कुत्र वर्णित । परिपदि सभायाम्, कथभूताया त्रिदिवोत्पादि त्रिदिवे स्वर्गे उत्पादो
 यस्याः सा तस्याम् पुन कथभूतायाम् । सहर्शनेति—सहर्शनस्य सम्यक्त्वगुणस्य श्रवणाय उत्कण्ठित हृद् मनो
 यस्या तस्या परिपदि, (इन्द्रेण यथायमुपवर्णितस्तथाय मया निर्वर्णित) कथभूतेन इन्द्रेण । विबुधप्रधानेन
 विबुधेषु देवेषु प्रधानेन श्रेष्ठेन पुन कथभूतेन गुणेति—गुणाना सम्यक्त्वादीना ग्रहण तत्र रुचिः प्रदर्शनं तस्य
 आप्रहोऽभिनवेश तत्र निधानेन निधिस्वरूपेण । प्राज्येति—प्राज्य समृद्ध यत्, राज्य तदेव समज्या सभा तत्र
 अर्जुन इव सज्जिता उत्पादिता जगत्त्रय्या त्रिलोक्या निजनामवेयस्य स्वनाम्नः स्वकीर्ते प्रसिद्धिं प्रख्यातिर्येन स
 पुन कथभूतः । यथोक्तेति—यथोक्तम् आगमे यथा प्रतिपादित सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनस्वरूप तथा तस्य अधिग-
 मात् प्राप्ते, अवधेया जीवादिपदार्थेषु समाहितु योग्या बुद्धिर्यस्य स उद्दयनो नृप यथा उपवर्णित व्यावर्णित
 स्तुतो वा तथैव मया (वासवनामवेयेन देवेन) निर्वर्णित परोक्षित, इति विचिन्त्य प्रकटितेति—
 (आविष्कृतनिजलूपाढम्बर, तम् उद्दयनम् अवनीश्वर नृपं सभाव्य समान्य स्वर्गं जगामेति सवन्ध कथयति
 कवि) कै सभाव्य अमरेति—अमराणा तरवः कल्पवृक्षा तेषा प्रसूनानि पुष्पाणि तेषा वर्षा वृष्टिः,
 आनन्ददुन्दुभीना प्रमोदभेरीणा नादो ध्वनि तस्य उपघातेन मिश्रणेन शुचिभि निर्मलं । साधुकारेति—
 साधुकारः साधुकृत साधुकृतमिति उच्चारण साधुकार, तस्मिन् पर साधुकारपरः स चासौ व्याहारो भाषण
 तस्यावसरो वेला तेन शुचिभि सुन्दरं उदारं महद्भिः उपचारं पूजनं आदरं सभाव्य, पुन कै संभाव्येति
 उच्यते—अनिमिषेति—अनिमिषा देवास्तेषा विषयो देशः स्वर्गं तत्र सभूष्णव भवनशीलास्तैः । मन इति—
 चित्तेप्सितप्राप्ती विष्णुभि जित्वरं समर्थं क्षमैरिति यावत्, तैस्तैः पठितमात्रेण विधेयै साध्यै विद्योपदेशगर्भैः
 विद्योपदेशो गर्भं येषा तै मन्त्रे तथा वस्त्रसदर्थैश्च वसनाना सदर्थं रचनाभिश्च सभाव्य सपूज्य सुरसेव्य
 देशमाविवेश स्वर्गं जगामेत्यभिप्रायः ।

[पृष्ठ ६१] भवति चात्र श्लोक —वालेति—बालवयसो यतीन्, वृद्धयतीन् गदेन रोगेन ग्लानान्
 पीडितान्, मुनीन् औद्दयनो नृप स्वयं प्रेरणया विना स्वकर्तव्यमेतदिति बुद्ध्या भजन् सेवमान निविचिकित्सात्मा
 जुगुप्सा मनागपि अकुर्वाण पुरन्दरात् इन्द्रात् स्तुतिं प्रशसा प्रापत् लेभे ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ॥९॥

१० अमूढदृष्टिगुणोपाख्यानं नाम दशमः कल्पः ।

[पृष्ठ ६१] अन्तरिति—आत्मनि दुरन्तो दुःखदायक संचारो भवभ्रमण यस्मात् वहिरिति—
 बाह्यस्वरूपे सुन्दर शोभावहम्, एतत्कुदृष्टीना बोद्धनैयायिकादीना मत किपाकसनिभम् कुत्सितः पाकः परिणामो
 यस्य तस्य विपफलस्य सनिभ तुल्यम् मर्तं न श्रद्दध्यात् न विश्वस्यात् ॥१७३॥ श्रुतीति—श्रुत्याम्नाय वैदिक-
 मतम् । शाक्याम्नाय सौगतमतम् । शिवाम्नाय शिवमतम् । क्षौद्र मधु, मास प्रतीतम् । आसवो मदिरा एते
 आधारा अधिष्ठानानि येषा ते । वैदिका मधु ग्राह्य वदन्ति । सौगता मासमक्षणमामनन्ति । शिवाम्नाये मद्यपान-

कश्चिदुत्पद्यते विनेय म विनाम तन्प्रमगे त्रिगलिना तिलिम्पललनाना देवस्त्रोणा मेखलाना काञ्चीना मणयो रत्नानि यत्र तस्या दक्षिणप्रेणीमेवकूटनट्टनाधिपत्योयान्न मेघकूटनगरस्य आधित्य स्वामित्वम् उपान्त्ये समीपे यस्य म, सोमन्तिनी नामप्रेया कान्ता यस्य स । यमाग्मुवेस्य पराडमुखा प्रतिभा बुद्धिर्यस्य स चन्द्रप्रभ खगेश चन्द्रशेखराय पुत्राय निजेश्वर्यं विनीर्यं दत्त्वा पर्यवमितेति—ययवमिनेन निश्चयेनाधिगतक्षुल्लकवृत्तिरूप सकला चामो अम्बश्चरविश्रा आकाशगामिनी त्रिया नस्या पश्चिग्रह स्वीकृति समीपे यस्य, मप्रथम मविनय अभिवन्द्य प्रगम्य अनवद्येति—अनवद्या निर्दोषा मुक्तिदातृत्वात् या त्रिया अध्यात्मज्ञान तया महन श्रेष्ठ, भगवन् अहम् उत्तरमयुराया जिनमन्दिराणि वन्दिनुकामोऽस्मि । कथनूनायाम् उत्तरमयुरायाम् । पौराङ्गनेति— नागरस्योणा शृङ्गाग्युक्ता उत्तरङ्गा तरङ्गस्तु उत्तानि प्राप्ता ये अत्राङ्गा नेत्रान्तास्तैः पुनरुक्ता स्मरशरा मदनबाणा यत्र तस्याम् उत्तरमयुरायाम् । जिनेन्द्रमन्दिराणि वन्दने स्तौति अभिवादयते इति वन्दार वन्दनशील तच्च तद्बुदय च तस्य दोहद इच्छा वनने यस्य म अह वर्ते । अनन्तप्रमगेगमनाय भगवाननुज्ञानोऽस्मि । किं च कस्य तस्या पुरि कथयितव्यम् इति । अपृच्छत् ।

[पृष्ठ ६३] मुनिमतम्—प्रियतम यथा ते मनोरयस्तथा अभिमतपय इष्टमार्गं समस्तु भवतु । मदेष्टव्यं पुनस्तत्रैवापदेव कथितव्यं पुनस्तत्र इदमेव, यदुत तत्पुरोपुन्दरस्य उत्तरमयुरायुष्या इन्द्रस्य स्वामिन इत्यर्थं, वरुणधरणीदवरस्य वरुणभूमिपते षष्ठोदश इन्द्राणोनुन्याया मुदश सुदृष्टे मस्यदर्शनधारिण्या, जिनपते चरणयो चित्तो न मनसा य उचचार सेवा तस्य पदध्या मार्गभूताया महादेव्या रेवतीतिनामवेद्याया मदीया आनी आशीर्वादी वाच्य वक्तव्य । तथा आवश्यकविशेषवशचित्तवन आवश्यकानि सामायिकादीनि तेषा विशेषे वदय चित्तम अस्ति यस्य तस्य तुयनभगवन वन्दना च वाच्या । देशयतिश्वर—किम् अपरस्तत्र भगवन् जैनो जनो नास्ति । भगवान्—देशव्रतिन्, अल विकल्पेन विचारणेन पर्याप्तम् । तत्र गतस्य भविष्यति समस्तप्याहृतेनरशरीरमपक्षासमक्षा स्थिति । ये जिनानुयायिनो ये चान्ये जना तेषा स्थिति अस्तित्व तत्रास्ति न वेति सर्वमेव तव गतस्य व्यक्तीभविष्यति । ये जना जना ये च तत्तदृशा तेषा अस्तित्व समक्ष प्रत्यक्ष भवति । खचगविद्यावीजमल्लक क्षुल्लको यथादिशति दिव्यज्ञानमगवान् भगवान् । नभश्चरविद्यावीजवपने मृत्पात्रमदृश क्षुल्लको देशयतिरब्रवीदेव भगवान् क्षुलु दिव्यज्ञानस्य अतीन्द्रियज्ञानस्य मगेन युक्त । अत यदादिशति तत्र भवान् तत्तत्तु सत्यमेव । इति निर्गोय एव भाषित्वा । गगनचर्याया आकाशगमनेन अवतीर्य उत्तरमयुराया परोक्षे परोक्षा कुर्वीत तावत्प्रथमम् एकादशाङ्गनिधानम् आचाराद्येकादशाङ्गाना निधीभूतस्य भव्यमेनमुने । तदनु भव्यसेनपरीक्षणात्तद्वत्तात् सम्यक्त्वरत्नवती मस्यदर्शनमणिभूतिना रेवती परोक्षे इति कृतकुतूहल (क्षुल्लक वट्टवपेण भव्यमेनस्य मुनेराश्रममगच्छत् ।) कथमूत कपटवट्टवपेम् आहिलष्य तदाश्रममगच्छत् । कलमेति—शालिविशेषगम्यमञ्जरीणाम् अग्रमदृशकेशमनोहरविपुलचूडम् । उक्तप्तेति—अनितस्तसुवर्ण-कान्तिमनोज्ञदेहगौरनामनुसृत्य कमलमगुरजोवत् कपिलोचनम्, अतिस्पष्टेति—अतिविशदविस्तराक्षरवर्णनाय उदोर्णमुख मुख व्यादाय ब्रुवन्तमिति भाव । एकादशवर्षजातकुमारसदृशम् अत्याश्चर्यविषयभूतम्, कपटेन विद्या-सामर्थ्येन कुमारवेष गृहीत्वा भव्यसेनस्य उदवमितम् आश्रमम् अयासीत् प्राविशत् । वेषमुनि वेषेण द्रव्यलिङ्गेन मुनि भव्यसेन तम् ईक्षणक्रमनीय नेत्रप्रियतामावहन्तं द्विजेति—विप्रतनयसमान तम् आलोच्य किलैवं स्नेहा-धिव्य स्नेहातिशयेन अलोलपत् अब्रवीत् । “हहो वटो हे कुमार निखिलेति—निखिला सकलाश्च ते द्विजा विप्रास्तेषा वशस्तस्मात् अव्यतिरिक्तम् अभिन्नं च तत् सुकृत पुण्य तेन कृत यत्कल्याण हिन तत्प्रकृतितया तत्स्वभावतया । समस्तेति—समस्ताश्च ते लोकाश्च सकलजनाश्च तेषा लोचनानि नेत्राणि तेषाम् आनन्दस्य प्रमोदस्य उत्पादने निर्मापणे पटुश्चतुर तत्तवोचन हे वटो इति । कुत खलु ममागतोऽस्मि । वटुराह—

[पृष्ठ ६४] अभिनवेति—अभिनवा नूननाश्च ते जनाश्च तेषा मनमाम् आह्लादनानि तानि वचनानि तान्येवागदा औपयानि तेषा प्रयोगे चरकभट्टारक इव तत्तवोचनम् । सकलेति—सकलकलाना विलासगृहस्था ये विद्वज्जनास्तैः पवित्रात्पाटलिपुत्रात् तन्नामवेयात् नगरात् । किमर्थं समागतोऽस्मि । अव्ययनार्थम् । काधिजिगांसेति—अव कस्मिन्विषये अधिजिगासा ज्ञातुमिच्छा तस्या अधिकरणम् आचारभूत भवत अन्त करण

मनः अस्ति सक्यताम् । बाह्यस्येति—बाह्यो यस्य बाह्यस्यः अमुकवचनप्रसंगे । तस्य कर्म
 जातकरं तस्य प्रकरत्वं तस्मिन् व्याकरणे । पण्येवमिति—मन्त्रिणो मन्त्रसमीपे । स्वाध्यायस्य
 सम्पूष यन् यस्य तत्संबोधनम् । ई स्वाध्यायस्यानसर्वस्वः । समास्य सम्पूष-विनयेन लिङ् । पर
 परभावितविकिनाशिन्यां बाह्यां प्रकृत्या आरम्भ एव अस्ति बाह्यं यस्य तत्संबोधनम् । ई परस्मै
 भवत् समिची । तदनु तदनन्तरम् । अतीतेति—अवसानं यातेषु कियत्सु घनमभिभाषेत् । बटो स्त्री
 मातृष्टः भातप्रवेशं बाधते । तद्वगृह्य इत्तं कमण्डलम् । पर्यटय जायन्ताया । बटु बवात्रास्ये
 पुनरिति—पुनः पुरबाह्याप्रवेशे नियते याते सकृद्यमते नेपमुनी । स कपटबदुरिति—स क्लेशे
 वसितबाह्याहङ्कुरवृथव्याप्त्याम् अवति मुनिम् अकार्षीत् अकरोत् । तद्वर्त्तनादिति—तद्वर्त्तनात्
 मुनिः ईदृशान् व्यक्तमिष्ट विलम्ब्य अतिष्ठत् । अगवन् इति—अगवन् किमिति अन्वयः तस्यैव
 कियते । बटो जागते किल एते बाह्याहङ्कुरा स्वावप एवैमिषा प्राक्षिन् पठयते प्रतिपादयते । इत्
 स्वासादिस्थिति—अनीयां बाह्याहङ्कुरायां प्राण- वस्तु प्राणेषु मध्ये कियतिवपुः कियत्क
 केवलमिति—अथा अभिमयाहङ्कुरा पुष्पीविकायाः अनेतान्मत्तयेवे बाह्याहङ्कुरा अनेतान् मुक्षितान्

[पृष्ठ ६५] नेपमुनिः—साध्ययमनिदधाति । शीघ्रमस्य बटुवर्त्तते । इति विहितं
 निहारं कृत्वा च निःशब्दं संघस्य मनसि कृत्वा निष्पादिनीहारा निष्पादिव विहित मोहारा बोधमिति
 तथा विरहितव्याहार विरहितस्वरक्तो व्याहारः प्रावचनविनयेन स प्रत्ययेन करेव किमपि अभिमानं
 कुर्वन् अनन बटुना एवं उक्ताः अगवन् किमिदं मीनेनाभिधीयते । विनयनामो विनयनेन नृणांकारो
 मातृवतीति चरारोपणं करोतीति विनयनामो । स अभिमानस्य रसाच्च प्रतीतार्थं सुतस्य च । अर्थात्
 मुनयो मीनम् अदनादिषु कर्मसु ३१८ ॥ अभिमानस्य अयाचनाया रसगृहो भूतस्य प्रतीकं
 विनयनाम् आचारायम् अदनादिकमसु लोके स्नाने साप्ताहिकाधिकवृत्तकर्मसु हवने मूत्रे इत्यादिभिः
 मुनयो मीनम् अयाचनं अनमिष्टं लुपति । इति मीनकर्मम् अतिकल्प्य अर्चकस्य आचरणं कृतमप्य
 हिमालयं विप्रवटो वनमिष्य संशोध्य समानीयताम् आवातकायो बोमयो यस्मिन् बीनोत्पत्तिर्वाति
 योषय शूद्रा भलिपपटलं मरमवयूहः इहकाशकस्य अतिपक्वमृत्तिकाकण्डो वा । अगवन् अक्षिकेन
 बीनोत्पत्तिमृत्तिकाया सकलजनी- शूद्रां किमिदं पविता प्रवृत्तिः यस्यां तस्यां मृत्तिकाया को दोषः ?
 बटो प्रवचनलोचननिपायिका प्रवचनलोचनेन आचरणयनेन निधीयते अचलोपलते इति प्रवचन-
 लोचननिपायिका उत्तमिका पुष्पी एव काय सरीरं शेषा ते बीना किं तत्र सति । मयवन्, आचरणो-
 ययोपलस्यो बीनमुषः न च तेषु तद्वगृह्यतयम् उपलस्यते । मृत्तिकाया ज्ञानं वर्त्तनं च न विद्यते इति नाव ।
 सेवनीया बटुस्वभावः—बटुस्वभावा कृत्वा कुत्रिका कमण्डलुमर्पयति । मुषाभुमिष्यविनया कमण्डलुं करेव
 आकलय्य कृत्वा बटो रिक्तोऽयं कमण्डलुः । मयवन्, इदमुदकं अचिरकाले अचिरं मुनं वर्त्तनं त्वरत् वर्त्त-
 तस्मिन् त्वरे तद्वदे समाने विद्यते । बटो पटापुपातीयावाये पटेन वस्त्रेण अगवन् अर्चकं तत्र तत्पत्ती
 जलं तस्यावाये क्लृप्ते महाशोचनं महाशयः अनन्तरं अगवन् सति । तदन्तरम् उह स्वच्छनवा भिन्नतया
 विशदयती माकाय इव पवति जले तदगवन्कोष्ठात् अगुनामर्चयताम् । इति अगवन् अगवन् अगवन्
 तद्वति बाह्याग्रेव बाह्याग्रतया नृनिति यनी तत्ताभिमिषैराधिकारवैद्यमिति तस्याना बोधनीयाम् अर्चि
 येष यवाचपिडा तत्र यदिकी अगवन् आचारीयमप्रावतस्य नेपम इव तस्मिन्मुषामुनी तद्वेद्यं तद्विद्यं अचयम्
 अभिनयते कृतादिभ्यो अचरेव विद्याचरेव विनियमः । अग एव मयवान् अनीतिप्रयशाचनप्राप्तयेनो-
 अनीतिप्रया नराणां पापपुण्यानि अगव इत्यादीनां प्रपादने प्रकृत्यै लोमुनीं मुनिं प्राप्ता ।

[पृष्ठ ६६] योमुनिपुत्रः अग्य विनयि वाचिकं संघं न प्राहिष्यो न श्रेयवति रम । अस्यान्
 अग्निम् मयवने प्रशपयतिमयि प्रतीत्य दद्यान्तद्विदं अगवन्तद्विदं अगवन्तद्विदं तत्र घने
 उगता निपगवन्तीमयं स्वभावादिभ्यो मानसं च तद्वि प्रपादने तस्मै प्रीतिपुत्रं च । अग्निं वाच शरीर—

जले तैलमिवेति—रमवत् पारद इव यथा पारदं घातुषु लोहादिषु वेवाय भवति लोहादिक स्वम्पर्शेन अन्त प्रविश्य वा मुवर्णो करोति तथा यत्र ऐतिह्य श्रुतज्ञानम् अव्यात्मज्ञान रसवत् अन्त प्रविश्य मुन्यादिक रत्नत्रयवन्त न करोति तत्र स अन्तर्वोध जले तैलमिव वृथा तत्र केवल बहिर्द्युतिरेव ।

इत्युपासकाध्ययने सवसेनदुर्विलसनो नाम दशम कल्प ॥१०॥

११ अमूढताप्रौढिपरिवृढो नामैकादशः कल्पः

परीक्षितस्तावत्प्रमभाविर्भविष्यद्भवमेनो भवसेन । प्रसभ हठात् आविर्भविष्यन्ती प्रकट भवित्री भवस्य ससारस्य सेना यस्य स भवसेनः परीक्षितस्तावत् । इदानीम् अधुना भगवदिति—भगवत श्रीमुनिगुप्तस्य आशीर्वाद एव पादयो वृक्षस्तस्य उत्पादाय वसुमतिमिव भूमिमिव रेवती राक्षी परीक्षे, इति आक्षिप्तं विमृष्टम् अन्त करणे मनमि येन स विद्यावर ब्रह्मण आकार गृहीत्वा सकल पुर क्षोभयामास । कस्या दिशि पुरस्य नगरस्य पुरन्दरदिशि इन्द्रदिशायाम् । कथभूत ब्रह्मण आकारम् । हसेति—हसानाम् असा भुजशिरासि तेषाम् उपरि उत्तम भूषणभूतश्चामी आवास विमान तस्य वेदिका वितदि तस्या अन्तराले मध्ये या कमलकर्णिका कमलकोष तस्या उपरि आस्तीर्णम् प्रमारित यन्मृगाजिन हरिणचर्म तदेव पर्यङ्कपर्याय मञ्चकनुल्यता यस्य तम् । पुन कथभूतम् अमरेति—अमरसरसि देवतडागे मजातानि यानि सरोजानि कमलानि तेषा सूत्राणि तै वस्ति विहित यदुपत्रोत यज्ञमूत्र तेन पून काय गरीर यस्य तम् । पुन कथभूतम् ? अमृतेति—अमृतमया करा यस्य स अमृतकरश्चन्द्र तस्य कुरङ्गकुले हरिणवशे जातो य कृष्णसारो मृगविशेष तस्य कृत्तिश्चर्म तेन कृन् विहित उत्तरामगस्य वामस्कन्धे वार्यमाणस्य वस्त्रस्य मनिवेशो रचना येन तम् पुन कथभूतम् । अनवरतेति—अनवरत सततम् यो हामस्यारम्भ तस्मात् सभूत यद्भूसित भस्म तेन विहिता ये पाण्डव शुभ्रा पुण्ड्रकास्तिलका तेन उत्कटो उद्घोष निटिलदेशो ललाटदेशो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । अम्बरेति—अम्बरे आकाशे चरन्ति विहरन्ति ये ते अम्बरचरा देवा तेषा तरङ्गिणी नदी तस्या जल तेन क्षालितानि घौतानि यानि कल्पकुजानाम् कल्पतरुणाम् वल्कलानि त्वचस्तेर्विलितानि यानि वृत्तगीयाणि ऊर्ध्वदेहाच्छादकानि वस्त्राणि तेषा प्रतान जाल तेन परिवेष्टित जटावलय जटामण्डल येन स तम् । पुन कथभूतम् । अमृतेति—अमृतम् अन्ध अन्न येषा ते अमृतान्वस देवा तेषा सिन्धुर्नदी गङ्गा तस्या रोधसि तटे सजाता ये कुतपाङ्कुरा कुशतृणाङ्कुरा, अक्षमाला जपमाला, कमण्डलु, योगमुद्रा च एभिश्चतुर्भि अङ्कितम् चिह्नितम् करचतुष्टय हस्तचतुष्कम् यस्य तम् । पुन कथभूतम् । उपासनेति—उपासनार्थं ममायाता समागता ये मनङ्ग-भृगु-भर्ग-भरत-गौतम-गर्ग-पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरौचि-विरोचना एव चञ्चरीकानीक भूङ्गममूह तेन आस्वाद्यमानो लिह्यमानो यत् वदनारविन्दस्य मुखकमलस्य कन्दरात् विनिर्गलन्त बहिरागच्छन्तो ये वेदास्त एव मकरन्दमदोहो यस्य तम् । पुन कथभूतम् ।

[पृष्ठ ६७] उभयेति—उभययो पार्श्वयो अवस्थिता मूर्ति तनु धृत्वा समागता निखिला कला इव या विलासिन्य ताना ममाजेन समूहेन मचार्यमाणो वीज्यमानश्चामराणा प्रवाह यत्र तम् । पुन कथभूतम् । उदारेति—उदारो महान् नादो रवो यस्य स चासौ नारदो मुनिस्तेन मन्यमान स्वोक्तिप्रमाण प्रतीहारव्यवहार द्वारपालनकर्म यस्य तम् । अम्भोजोद्भवाकारम् अम्भोज कमल तत् उद्भव उत्पत्तिस्थान यस्य ब्रह्मण आकार स्वरूपम् आमाद्य प्राप्य स विद्यावर नमस्तमपि नगर क्षोभयामास क्षुब्धम् अकरोत् । नापि रेवती कथभूता । जिनेश्वरेति—जिनेश्वरस्य चरणयो पादयो प्रणय प्रीति स एव मण्डप तस्य मण्डन भूषणस्वरूपा मावबोलजेव, वरुणवरणीश्वरवरुणनामधेयस्य धरण्या पृथ्व्या ईश्वरस्य पत्युर्महादेवो नृपते वरुणराजस्य पुरोहितात् तम् उदन्त ब्रह्मणो वातम् आकर्ण्य, त्रिपटिशलाकासु उत्तन्नेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते । तथा—आत्मनीति—ब्रह्मेति गो शब्द आत्मनि जीवे, मोक्षे न कलकर्मविदलेपणलक्षणे, ज्ञाने, वृत्ते, चान्त्रि, भ-तचक्रवर्तिन आद्यस्य पितरि वृषभनाथे, प्रगोना प्रवृत्ता । अत एतान्मुक्त्वा न चान्यो ब्रह्मा विद्यते । ॥१८२॥ इति च अनुस्मृत्य विमर्शं कृत्वा अविन्मयबुद्धि गवर्हरहितमति अतिष्ठत् (पुन दक्षिण-

मनः अस्ति उच्यताम् । बाह्यमस्ति—बाह्यं मल बाह्यमस्य । अमुद्वेगजनप्रयोगः तस्य शास्त्रं करोतीति शास्त्रकर्तृ तस्य प्रकरणं तस्मिन् व्याकरणे । यथोच्यमिति—मद्विषये मरुत्तमीये । स्वाध्यापध्याने एव सर्वत्र सम्पूज्य जनं यस्य तत्त्वबोधनम् हे स्वाध्यापध्यानसर्वस्व । समास्य सम्बन्ध-विनयेन तिष्ठ । परबाहीति—परबाहिर्गर्भविनाशिनीनां बाह्या प्रक्रमः आरभ्य एव अस्ति अहम् यस्य तत्त्वबोधनम् । हे भवन्, मापु तिष्ठति भवतः पतिवौ । त्वन् तु त्वत्पत्न्यम् । अतीतिरिति—अवसानं यातेषु क्रियन्तु समयविभागेषु । बटो इति—बटो मातृवः, मातृप्रदेशं बाधते । तत्प्राप्त्यर्थं कमण्डलुम् । पर्यटप आपञ्चकाः । बटुः यथाज्ञापयति भवन् । पुनरिति—पुनः पुरबाह्यप्रदेशे गिते याते सकृदर्थयते वेपमुनी । स कृपटमदुरिति—स बटुवेषो विविधा वसितवाभ्याङ्कुरवृक्षध्याप्याम् अवनि भूमिम् अकार्षीत् अकरोत् । तद्वर्तनादिति—तद्वर्तनीकृत्वा इत्यभिप्रेति—भूमिः ईषत्काष्ठं व्यसन्निह विलम्ब्य अतिष्ठत् । भगवन् इति—सपत्न्यं किमिति अनवसरे अस्थाने च विख्यातं क्रियते । बटो आगमे किं एते बाभ्याङ्कुराः स्वावरा एकेन्द्रियाः प्राचिनः पठयन्ते प्रतिपादयन्ते । भगवन् चास्तादिविविति—अमीषां बाभ्याङ्कुराणां प्राण इत्यु प्राणेषु मध्ये कियतिबन्धनं कठितमः प्राव । केवलमिति—यथा गणितयाङ्कुरा पृथ्वीविकाराः अवेतनास्तत्वेने बाभ्याङ्कुराः अवेतना भूमिविकाराः ।

[पृष्ठ ६५] वेपमुनिः—साध्यममयिरवाति । सोमनस्यं बटुवपीति । इति विविक्त्य विहृत्य च विहार कृत्वा च नि बटुः संयज मनसि अपृत्वा निष्ठादिनिहीतार निष्ठादिव विहित नीहार शीघ्रविनिर्गत । तथा विरहितव्याहार विरहितस्तव्यतो व्याहार भाषयविनिर्गतं च प्रव्यवेन करेन किमपि अग्रिमम् उक्ता कुर्वन् अनेन बटुना एवं उक्ता 'भवन्, किमिदं मीनेनाभिनीयते । जिनक्यावीच' जिनक्येन मलताचारयेन बाजीवनीति उदरपोषण करोतीति जिनक्यावीच । स अभिमानस्य रक्षायै प्रतीक्षार्थं भूतस्य च । अनसि मुनयो मौनम् अन्ताधिषु कमसु ३१८ ॥ अभिमानस्य अमाचमाया रक्षयद्देतोः भूतस्य प्रतीक्षार्थं विनयार्थम् आदरायम् अवभाविष्यन्तु भोक्ते स्नाने सामायिकाधिकपटुकर्मसु हवन मूत्रने इत्यादिकर्मसु मुनयो मौनम् अनापन्नं ज्ञानंति बुवन्ति । इति मौनकर्मम् अविकल्प्य अविकल्प्य जातवन्तः कृतमापन्नं द्विबारमत्र विप्रबटो समन्विष्य संक्षोध्य समानीयताम् आवायत्काया गीमवो अस्मिन् जीवोत्पत्तिर्नास्ति इ मौनया मुष्कं अस्तिपटलं मसममूहः इहकाशकम् अतिपक्वमृत्तिकाकाष्ठयो वा । भवन् अक्षिप्तोक्ष-क्षीषोषितप्रभृतिधामा सकलजनैः शुद्धये क्रियते उचिता प्रवृत्तिः यस्यां तस्यां मृत्तिकामा को शेषः ? बटो प्रवचनजीवनविधायिका प्रवचनकोचनन आधमनवनेन निधीयन्ते अचलोऽप्यन्ते इति प्रवचन-लोचनविधायिका उपायिका पृथ्वी एव काम अदोर येना ते जीवा किं तत्र सन्ति । भवन्, ज्ञानवर्धनो पयोवज्जनी जीवन्तुः न च तेषु तत्पुनःप्रयम् उपकल्प्यते । मृत्तिकाया ज्ञानं वर्धनं च न विद्यते इति तत्र । यद्येवं यदि तत्र जीवन्तुः नोत्पद्यन्ते तर्हि ज्ञानीयतां मृत्ता कृत्वा सकला प्रद्यस्ता मृत्तिका अनुस्तेभ्या प्राचिभिः सेवनीया बटुस्तवाचय—बटुस्तवा कृत्वा कुण्डिका कमण्डलुमर्पयति । मुद्यामुनिचतविन्ना कयच्छलं करेन आकम्प्य ज त्वा बटो रिक्तोऽयं कमण्डलुः । भवन् इहमूर्ध्वं अधिरचलने अधिरं गूढं वल्लं त्वरत्तं दस्य तस्मिन् तद्वे तद्वे समाने विद्यते । बटो पटापुनपानीयाद्याने पटेन क्लेशेन ज्ञानम् अनामिदं उच्य उत्पत्तीर्णं ज्ञानं तत्साधनं यदने महद्वाचनं महावाच यनस्तत्र जगत्त्र सति । तद्वरपम् इह स्वच्छतया निर्मलतया विहारणीय आकाश इव पयति अने तत्रतत्रकाशम् ज्ञानुनामवर्धनाम् । इति वचनात् बटुमापन्नात् अहिलान संवसिनि बाह्यप्रत्येन बाह्यप्रवृत्त्या संवसिनि यन्ती तत्त्वामिनिवैषयिकाध्ययवेपयि तत्त्वानां जीवादीनाम् अधिनि नेत्रं यथार्थमिदं तत्र वदिको कल्पः आद्यवैषयिप्रभावस्तस्य वेग इव तस्मिन्मुद्यामुनी तद्वैषयं उद्विष्य अवकम्प्य आभिप्रेतये कृतपादिष्वे कचरेण विधाचरेण विहितम् । अत एव भवन् जनीश्विनपराधप्रनाशनयेमुनीन अनीश्विन्या पशवो पापपुण्यानि जनव इत्यादीनां प्रकाशने प्रकपने सेतुपतीं बुद्धिं प्राप्य ।

[पृष्ठ ६६] वीमुनिवृत्त ज्ञान किमपि वाचिकं सर्वत्र न प्राप्तिष्येत् न प्रेययति सः । यस्तस्य अस्मिन् जगत्त्रये प्रतीपकनिवचनमिदं प्रयोपस्य वद्यामुक्तमिदं अन्तस्तत्त्वमने अन्तस्तत्त्वम अन्तस्तत्त्वम तस्य सर्वं उत्पत्ती निनर्मलमिदं स्वभावमिदं मानसं च बहिःप्रकाशने उदयं प्रीतिपुवत् च । भवति तत्र रक्तो—

अनिमिषेति—अनिमिषा देवाः तेषां वनं नन्दनं तत्र विसर्पिणं प्रसरन्तं ते च ते कर्पूरोद्भिदानां कर्पूरवृक्षाणां गर्भतः सम्भवानां परागा रजासि तैः पाण्डुरितं शुभ्रोक्तं पिण्डस्य देहस्य परिकरोऽव्ययसमूहो यस्य तम् पुनः कथंभूतं तम् । अचिरेति—अचिरा सूक्ष्मा या गोरोचना गोपित्तमणि तस्या मङ्गः मर्दनं तस्माज्जातो यः रागं कान्तिं तद्वत् पिङ्गलं पिशङ्गं तत् अम्बकम् नेत्रं तदेव भालसरसो ललाटसरोवरस्य स्वर्णसरोजोक्तं हेमकमलवृन्द यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । अवालेति—अवालानि महान्ति तानि कपालानि नृकरोटयः तेषां दलकलापा दलसमूहाः त एवं आलवालवलयानि तत्र विलसन्तं मौलयं शिरासि तेषां मूलानां व्यतिकरो मिश्रणं यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । अतिविकटेति—अतिविकटानाम् अतिविस्तीर्णानां जटानाम् अन्योन्यं सलग्नकेशानां जूटा समूहास्तेषां कोटरेषु गतसु पर्यटन्ती प्रवहन्ती चामी गगनाटनतटिनी गगनाटना देवास्तेषां तटिनी गङ्गानदीत्यर्थं, तस्या तरङ्गा वीचयः त एव करा हस्तास्तेषां केलिं क्रीडां तस्या कुतूहलं आश्चर्यविषयीभूतं बालप्रालेयाकरं बालचन्द्रो यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । आभरणेति—आभरणानि भूषणानि तेषां भङ्गी रचना तथा सद्मिता त्रयिना ये अनभेका अशिशवः महान्त इत्यर्थं भुजङ्गा सर्पा ते भोगा शरीराणि तेषु सगतानि खचितानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषां विरोकानि तेजानि तेषां निकरं समूहं तस्य अतिशयस्तेन शाराणि शवलानि च तानि शार्ङ्गलाजिनानि व्याघ्रचर्मणि तैर्विराजमानां शोभमानस्तम् । पुनः कथंभूतं तम् । उडुमरेति—उडुमरं श्रेष्ठं यत् डमस्कं वाद्यविशेषं (महादेवस्य नर्तनसमये तेन वाद्यमानो वाद्यविशेषः) अजकाव नाम धनुः, कृपाणम् असि, परशु परश्वध, त्रिशूलस्तद्वत् अस्त्रविशेषौ, एते आदौ येषां तेषां सगं सयोगं तेन सकटा व्याप्ता ये सकोटा हस्ता तेषां कोटिविस्तारः अप्रविस्तारः यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । स्तम्बेरेति—स्तम्बेरमो हस्ती तन्नामकोऽसुरः गजासुर इति तस्य वर्मणस्तनुश्चात् द्रवत् गलत् यदुधिरं रक्तं तेन दुर्दिनीकृतं वृष्टिप्लुतं नर्तावनीप्रतानं नृत्यभूमिपरिसरं यत्र तम् । अनलोद्भव-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेरम्ब-भिङ्गिरिट्यादयो ये पारिपदं परिषदि साधवः पारिषदं सभासदं प्रमथादयः तेषां परिपत् सभा तथा परिकल्प्यमानम् बलिबिधानं उपहारविधिः यस्य तम् । पुनः कथंभूतम्—अहिर्बुध्नेति—अहिर्बुध्न्यस्य शिवस्य अवसरो अवतरणं तस्य निधानं स्थानम् आकारम् अनुकूलं स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षीयामास । -

[पृष्ठ ६९] सापि स्याद्वादसरस्वती एव सुरभिर्धेनुः तस्या सभावने आदरकरणे बलवीव गोपं वरुणमहोशमहादेवी वरुणनृपालस्य कृताभिपेका राज्ञी इमा जनश्रुतिं लोकोक्तिं कुतश्चित् पश्चिमप्रतोला सृतात् पश्चिमरथ्याया निर्गतात् विपश्चित् विदुषः निश्चित्य निर्णयं 'निशम्यन्ते श्रूयन्ते खलु प्रवचने तत् प्रत्यवायवार्तामित्रा तपोविष्णस्य वार्तया अभद्रा अकल्याणयुक्ता रुद्रा एकादश ते पुनः संप्रति स्वकीयाशु कर्मणा विपाकात् उदयात् कालिन्दीसोदरोदरगतवर्तिनः कालिन्दी यमुना तस्या सोदरो यमः तस्य उज्जरं तदेव गतम् अवटः शिलं नद्विर्वातिनः सजाता । तस्मात् अयम् अपर एव कश्चित् अन्य एव तरेन्द्रविद्याविनोदविदग्धहृदयमर्दी इन्द्रजालिकविद्याचातुर्येण अविदग्धा मुग्धास्तेषां हृदयव्यामोहकः कपर्दी महादेव इति च प्रपद्य ज्ञात्वा निःसङ्गिवबोधा निरारेकज्ञाना समासिष्टं सम्यक्तया स्वगृह एवोपविष्टः । पुनः स्वापतेये दिशि स्वापतेयं घनं तस्य ईश स्वामी कुवेरः तस्य दिशि दिशायाम् उत्तरस्या दिशायामित्यर्थः । विश्वम्भरा लादूर्ध्वं समवसरणं विश्वम्भराया भूमेस्तलादूर्ध्वम् उपरि अयोमुखासनदशसहस्रार्धविकृष्टम्, अयं लोहं अग्नेः येषां ते अयोमुखा बाणा तेषाम् आननानि धनूषि तेषां दशसहस्रं तस्य अथ पञ्चसहस्रं धनूषि तावतान्ते दूरनभनि स्थितम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानीत्कृष्टम् एका अखण्डा चासौ इन्द्रनीलमणिशिला तथा निमित्तं यत् वर्तुलं वृत्तम् अधिष्ठानम् आधारं तेन उत्कृष्टम् उत्तमम्, पुनः कथंभूतम् । अखिलागतिपतीत्तरं मार्गेरिव अखिलाश्च ता गतयः देवमानवतिर्यङ्गनारकाश्चतस्रो गतयस्ता एव गतीन्ताम्य उत्तरणमार्गेरिव उत्थानमार्गेरिव सोपानसर्गं आरोहणरचनाभिः चतुर्दिशम् चतुर्षु दिक्षु यथा स्यात्तथा उपाहिनावतारं गृहीतवतारम्, पुनः कथंभूतम् । अनर्थेति—अनर्था विघ्ना तन्नाशका द्रुषणा इव परशवः इव ये मणयः रत्नानि तन्नाश्या प्रशम्या ये उत्तरवा नवप्राकारान्तेपामन आचरिता निमिता स्पष्टा अष्टविधा अष्टप्रका

विधि चन्द्रप्रम दुस्सक विष्णुर्षं वमारेति) पुन कीनाद्यविधि कीनाद्यो यम तस्य रिक्त दधिवासा तस्यान्
 बधोद्यवर्षेण विष्णुर्षेण कर्चभूतम् । पवनाशनेति—पवनाद्यनागं सर्पाणाम् ईश्वरः सोप सपराजस्तस्य
 शरीरं तदेव सयनं स्यात् तत् आश्रितम् अश्वत्थितम् अपवर्गं शरीरं (विष्णो) यस्य तम् । इतस्तत् प्रकाशम्
 बलिपयेन प्रसरती वासो तदङ्गस्य पोषाङ्गस्य उत्तरङ्गा उग्रजलहरीकृ या काशित प्रमा तस्या प्रकाश
 स्तेन परिकल्पितम् अमृताम्बुजं मुपासागरस्य सनिधानं समीपमात्रो येन तम् । पुनः कर्चभूतमनौघवम् ।
 उल्लेखेति—उल्लेखेन वचनेन उल्लेख्यता योममाना ये फषामनीनां मरीचयः किरणा तेषां निचयः समूह
 स एव सिचय वरुनं तेन आपरितो विहितो निरासम्भे अम्बर आकाशे वितागभावः उल्लेखवन्मनो यन तम् ।
 अमर्त्येति—अमर्त्या देवास्तेषाम् उद्यानं वनं मन्त्रजनमित्यर्थः तत्र वाणि प्रसूनानि पुष्पाणि मन्त्रवीजाश्च च
 अमिनवनिर्गता आपता सुकुमारा सुकुमुमा अकुमुमा च मन्त्रवरी वच्यते मन्त्रवरीणां वाचं तेन वाक्तेन वटिका
 प्रताता विस्तीर्णा या वनमाका आवाभुक्तिमयी माया सत्सर्वकुमुमोज्ज्वला । मध्ये स्तुक्तमन्त्रादया वनमाकेति
 कीर्तिता तस्या निर्देयमकरध्वेन मधुना मण्डित कोस्तुमस्य रत्नविधेयस्य प्रभावो यस्य तम् । पुनः कर्चभूतम् ।
 असितेति—असितानि हृत्कान्ठीनि सितानि धवलयुतीनि यानि रत्नानि तन्निमित्तदृष्टस्त्वोद्योतेन संप-
 रितो सोममानो च सो पशो पायवीं सो एव विभाविती यो पत्नी युवककुम्भवसाधिव वा ताम्यान् बाधेपो द्रष्टव्यं
 यस्य तम् । पुनः कर्चभूतम् । अनेकेति—अनेकानि च तानि मानव्यानि च पञ्चरात्ररत्नानि तेषाम् आश्रित्य
 विपुलता तेन आपटिता रचितवशाद्यो किरीटश्च तस्य कोटयो अद्यानि तेषु विन्यस्ता स्थापिता अस्तोरा
 विपुला स्तवना पुच्छक्या पारिषातप्रसवा पारिषातकुमुमानि तेषां परिमण्डल्य सुरभिर्मन्त्रस्य जनमनोहरस्य
 पागपरिवर्धेन षट्का मुखा चक्रवर्त्ता वा चक्रवर्त्तीका प्रमरास्तीनां चर्च समूह रच्यमानोऽपरोऽप्यो इन्दोवदभा
 नीलकमलाना घोषरा पिङ्गादिम्यस्तमाकास्तेषां वक्त्राणां चर्च यस्य तम् । पुनः कर्चभूतम् गन्भीरेति—गन्भीरा
 निम्ना या गाम्भी तुम्बकूपी सा एव नव तस्मान्निर्गतो य उद्यानो दीपनाच्छतस्य यत् तन्निर्गम्य कवचं तदेव निचयं
 गृह तत्र निचोन त्रिपदां योऽथो हिरण्यवज्र इत्या तेन संघात्यमाचानाम् उष्यमानानां नाम्नां सहस्रेण कञ्चो यनो
 इरस्तम् । पुनः कर्चभूतम् । आकाशक इन्द्र जलविमुठा क्षीरोदतया कदम्बीव ताम्यां संवाह्यमानो वेम्बमानो
 कञ्चो चरयो कम्बे इव यस्य तम् । पुनः कर्चभूतम् ।

[पृष्ठ ६८] अन इति—अनवरचर्चं सप्तदशकम् मुहयनचक्रमित्यर्थं सप्त दशकजम् साहस्र बाण
 नगरं तान् तै संकीर्णं व्यापृता वरा यस्य तम् । पुनः कर्चभूतम् । असुरेति—असुराणां दैत्यानां दुर्ब
 समूह तस्य बन्धीकृता कारुणारीनिघिप्ता या तुल्य अङ्गना तानि संघातयन्ता क्रियमाणाश्चामरैर्देवैः उपवा
 रास्तेषां व्यतिकरो मिश्रणं यस्य तम् । पुनः कर्चभूतम् । अत्रनेति—अत्रचरय पूर्वसारणेः अनुजो कबुभ्रता
 पदकं तेन विनीयमानाः सिद्धयमाणाः सेवायता आचरकरचार्यं संवागता मुरा देवाः तेषां समानो यस्य तम् ।
 तयामृतम् अचोद्यवर्षेण विमिष्य विष्णुर्षेण गृहीत्येत्यर्थः । स विद्याचरचर वीक्षावृत्तम् पूर्वं विद्याचरत्वं द्वाभ्यः
 विद्याचरचर भगवत्वं चरत् विद्यामान् । समस्तमपि नगरं दीपयामास । तानि जिनतमयस्य जितानमस्य
 रत्नतमस्य मुहयनवस्य अश्वाया निवचयस्तस्मिन् मरुत्तनीवति सरस्वती रेवती कथपरम्परया निवचतीं वातम्
 उपभूतय तानि तत्र अर्चयन्निर्गता मन्त्रारायणा मन्त्रवीजव्यास्तमायमेवाया वराया रचामिनाः । ते तु
 गच्छति न विद्याते । अर्प पुन अपर एव कश्चिद्विष्णुवाचिन् इन्द्रायाम् इन्द्रियाणां आधिक आचार्यः मायावर्ष
 दुर्वाच कोपि लोहानां विशालमन्त्राय मन्त्रवाचम् अचोर्षः । इति निर्वाच विनिर्दिष्टय अविचलितविता
 दृढविता गमामान् लमयवम् । पुनः पाद्यभूदिनि पाद्य विभर्तीति पाद्याम् नवच तरव विधि वचिचमसिधि स
 चरिचमविद्यानोऽस्मिन् । द्विद्विरेति—निर्गता शोतक न वासो भिरित्य सिधिरनिरि द्विमिधिरिनि आच
 तस्य गिररतदशाशरो वरय बाणय न वासो ताववरा वयोवरा तम् आश्रित शरीरश्च (महादेवाय देहस्य)
 आश्रित विराटो यस्य तम् । पुनः कर्चभूतं महादेवम् । तत्राग्निनि—मन्त्रभूया अनु वाचान् अचरनि सरति
 इति अग्न्याया महादेवाङ्गीकृति निवातिरहाङ्गभूता वातो नवमन्त्रा द्विवाणयपुत्री वायवी तस्या निवरीत
 वावर स वातो हान कुच तेन गृहीतमन्त्राग्निनि तत्र मुष्टयान् धारय तम् । पुनः कर्चभूतम् ।

अनिमिपेति—अनिमिपा देवाः तेषां वन नन्दन तत्र विसर्पिण प्रसरन्त ते च ते कर्पूरोद्भिदाना कर्पूरवृक्षाणां गर्भत सम्भवाना परागा रजासि तं पाण्डुरित शुभ्रीकृत पिण्डस्य देहस्य परिकरोऽवयवसमूहो यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । अचिरेति—अचिरा सूक्ष्मा या गोरोचना गोपित्तमणि तस्या भङ्ग मर्दन तस्माज्जातो य राग कान्ति तद्वत् पिङ्गल पिशङ्ग तत् अम्बकम् नेत्र तदेव भालसरसो ललाटसरोवरस्य स्वर्णसरोजाकर हेमकमलवृन्द यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । अवालेति—अवालानि महान्ति तानि कपालानि नृकरोट्य तेषां दलकलापा दलसमूहाः त एव आलवालवलयानि तत्र विलसन्त मौलय शिरामि तेषां मूलानां व्यतिकरो मिश्रण यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । अतिविकटेति—अतिविकटानाम् अतिविस्तीर्णानां जटानाम् अन्योन्य-सलग्नकेशानां जूटा समूहास्तेषां कोटरेषु गर्तासु पर्यटन्ती प्रवहन्ती चासी गगनाटनतटिनी गगनाटना देवास्तेषां तटिनी गङ्गानदीत्यर्थः, तस्या तरङ्गा वीचय त एव करा हस्तास्तेषां केलि क्रीडा तस्या कुतूहलित आश्चर्यविषयोभूत बालप्रालेयाकर बालचन्द्रो यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । आभरणेति—आभरणानि भूषणानि तेषां भङ्गी रचना तथा सदभिता ग्रथिना ये अनर्भका अशिशव महान्त इत्यर्थः भुजङ्गा सर्पा तेषां भोगा शरीराणि तेषां नग्नानि खचितानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषां विरोकानि तेजासि तेषां निकर समूह तस्य अतिशयस्तेन शाराणि शबलानि च तानि शार्दूलजिनानि व्याघ्रचर्माणि तैर्विराजमान शोभमानस्तम् । पुन कथभूत तम् । उडुमरेति—उडुमर श्रेष्ठ यत् डमरुक वाद्यविशेष (महादेवस्य नर्तनसमये तेन वाद्यमानो वाद्यविशेषः) अजकाव नाम धनुः, कृपाणम् असि, परशु परश्वध, त्रिशूलखट्वाङ्गी अस्त्रविशेषौ, एते आदौ येषां तेषां सग सयोग तेन सकटा व्याप्ता ये सकोटा हस्ता तेषां कोटिविस्तार अग्रविस्तार यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । स्तम्भेरेति—स्तम्भेरमो हस्तो तन्नामकोऽसुर गजासुर इति तस्य वमणस्तनुवात् द्रवत् गल्त् यद्वधिर रक्त तेन दुर्दिनीकृत वृष्टिप्लुत नर्तावनोप्रतान नृत्यभूमिपरिसरो यस्य तम् । अनलोद्भूत-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेरम्ब-भिङ्गिरिट्वाद्यो ये पारिषद परिषदि साधव पारिषद्या समासद प्रमथादय तेषां परिषत् सभा तथा परिकल्प्यमानम् बलिबिवान उपहारविधि यस्य तम् । पुनः कथभूतम्—अहिर्बुध्नेति—अहिर्बुध्न्यस्य शिवस्य अवसरो अवतरण तस्य निवान स्थानम् आकारम् अनुकृत्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास । -

[पृष्ठ ६९] सापि स्याद्वादसरस्वती एव सुरभिर्धेनु तस्या सभावने आदरकरणे बल्लवीव गोपीव वरुणमहोशमहादेवो वरुणनृपालस्य कृतामिपेका राज्ञी इमा जनश्रुति लोकोक्ति कुतश्चित् पश्चिमप्रतोली-सृतात् पश्चिमरथ्याया निर्गतात् विपश्चित विदुष निश्चित्य निर्णय 'निश्च्यन्ते श्रूयन्ते खलु प्रवचने तप-प्रत्यवायवार्ताभद्रा तपोविघ्नस्य वार्तया अभद्रा अकल्याणयुक्ता रुद्रा एकादश ते पुन सप्रति स्वकीयाशुभ-कर्मणा विपाकात् उदयात् कालिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिन कालिन्दी यमुना तस्या सोदरो यम तस्य उदर जठर तदेव गर्तम् अवटः विल तद्विवर्तिन सजाता । तस्मात् अयम् अपर एव कश्चित् अन्य एव नरेन्द्रविद्याविनो-दाविदग्धहृदयमर्दी इन्द्रजालिकविद्याचातुर्येण अविदग्धा मुग्धास्तेषां हृदयव्यामोहक कपर्दी महादेव इति च प्रपद्य ज्ञात्वा नि सदिग्धबोधा निरारेकज्ञाना ममासिष्ट सम्यक्तया स्वगृह एवोपविष्टा । पुन स्वापतेयेश-दिशि स्वापतेय घन तस्य ईश स्वामी कुबेर तस्य दिशि दिशायाम् उत्तरस्या दिशायामित्यर्थः । विश्वम्भरात-लाटुर्ध्वं समवसरण विश्वम्भराया भूमेस्तलाटुर्ध्वम् उपरि अयोमुखासनदशमह्साध्विकृष्टम्, अय लोह मुखे अग्रे येषां ते अयोमुखा बाणा तेषाम् आमनानि धनूषि तेषां दशसहस्र तस्य अध पञ्चसहस्र धनूषि तावतान्तरेण दूरनभसि स्थितम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम् एका अखण्डा चासी इन्द्रनीलमणिशिला तथा निमित्तम् यत् वर्तुल वृत्तम् अधिष्ठानम् आवार तेन उत्कृष्टम् उत्तमम्, पुन कथभूतम् । अखिलागतिगर्तोत्तरण-मार्गेरिव अखिलाश्च ता गतय देवमानवतिर्यङ्गनारकाश्चतस्रो गतयस्ता एव गर्तास्ताभ्य उत्तरणमार्गेरिव उत्थानमार्गेरिव सोपानसर्ग आरोहणरचनाभि चतुर्दिशम् चतुर्षु दिक्षु यथा स्यात्तथा उपाहितावतार गृहीता-वतारम्, पुन कथभूतम् । अनर्थेति—अनर्था विघ्ना तन्नाशका द्रवणा इव परशव इव ये मणय रत्नानि तैः श्लाघ्या प्रशस्या ये उन्नता नवप्राकारास्तेषामन्त आचरिता निमिता स्पष्टा अष्टविधा अष्टप्रकारा

विधि बन्धप्रमं शुभकं विष्णुकर्म वमारति) पुनः श्रीनाथविधिं कीनाद्यो मम तस्य विक्रमं वक्षिष्यामि तस्मात्,
अथोक्तञ्च यं विष्णुर्देवं कर्मभूतम् । पञ्चनाशनेति—पञ्चनाशनानां सर्वाणाम् ईश्वरः स एव संपराज्यस्य
धारी तदेव धर्मं सत्या तत् माधितम् अथर्वमित्युक्तम् अपरं धारीरं (विष्णोः) यस्य तम् । इत्युक्तं प्रकृतम्
अतिधयेन प्रसरन्ती वासो तपःशून्यं होपाशून्यं उत्तराङ्गा उदयशून्यीव या कान्ति प्रभा तस्या प्रकृत्य
स्तनं परिकल्पितम् धनुषाशून्यं सुधासागरस्य सनिधानं समीपमात्रो वेन तम् । पुनः कर्मभूतमथोक्तम् ।
उत्प्रेक्ष्येति—उत्प्रेक्ष्येन धपणेन उत्प्रेक्ष्यते शोभमाना य एवावधीना मरीचयः किरणा देवा निबन्ध सगुह
स एव सिध्यन् वसन् तेन वाचरितो विहितो निरासम्भवे ब्रम्बरे आकाशे विठानमात्र उत्प्रेक्ष्यमानो वेन तम् ।
अमर्त्येति—अमर्त्या देवास्तेषाम् सधानं वनं मन्थनमितिष्यत् तत्र यानि प्रसूतानि पुष्पाणि मन्थनीनाञ्च य
अग्निवनिर्मता मायया सुकुमारं सुकुमुमा बहुमुमा च मन्थरी वक्ष्यते मन्थरीणां बाहं तेन बाणेन अग्नि
प्रतापा विस्तोर्वा या वनमाका आवाप्तुमिच्छन्ती याका सर्वानुसुतोऽप्यम्भका । मध्ये स्तब्धकदम्बादया वनमाकेति
कीर्तिता तस्या निष्ठमकारमेन यन्तुना मन्थितं कौस्तुभस्य रत्नविशेषस्य प्रभाया यस्य तम् । पुनः कर्मभूतम् ।
असितेति—असितानि कल्पकासीनि सितानि धवलयुतीनि यानि रत्नानि तन्निमित्तव्यङ्ग्योद्योगेन तेषां
विशो शोभमानो च हो पक्षो पक्षौ हो एव विभावितो यो पक्षो ध्रुवचक्रम्यपसाविष वा ताम्याम् बाधेनो ह्यर्थं
यस्य तम् । पुनः कर्मभूतम् । अनेकेति—अनेकानि च तानि माधिर्यानि च पञ्चरागरत्नानि तेषाम् बाधिर्यं
विपुलता तेन वाचरितो रचितरचाशो किरोरच तस्य कोटयो वक्ष्यापि तेषु विपुलता स्थापिता वस्तोका
विपुला स्तब्धा मुञ्चक्या पारिजातप्रसवा पारिजातकुसुमानि तेषां परिमलस्य सुरमिमलस्य वनमथोदरस्य
पागपरिचयेन यदुसा सुखा चञ्चला वा चञ्चलीका अमरास्तेषां च ये समूहः रम्यमानोऽप्योऽप्यो इवीवरावा
मीककमसागा शेखरा शिखाविभ्यस्तमासास्तया कलाया बन्धं बन्ध तम् । पुनः कर्मभूतम् रम्यमीरेति—रम्यीरा
निम्ना या नामी तुम्बकूपी सा एव नव तस्मान्निगतो य वक्षोः शीर्षनाम्नस्तस्य वत् नक्तिनं कमलं तदेव विजयं
मूह तत्र निवीन स्थितो योऽसी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा तेन संभाष्ययाचानाम् रम्यमानाया नाम्ना सहस्रेण कमो मनो
हस्तम् । पुनः कर्मभूतम् । आकाशक इन्द्र वक्ष्यितुता क्षीरोत्तमया अम्भीरव ताभ्यां सबाह्वमानो देवमनो
कमो वरुणो कमलं इव यस्य तम् । पुनः कर्मभूतम् ।

[पृष्ठ ६८] अन इति—अनवरणं स्रष्टव्यम् सुवर्षमवकर्मित्यर्थं अत्र पाञ्चभक्त्यं साष्टयं वाप
नन्दकं चङ्गु तैः संकीर्णं व्यापृता करा यस्य तम् । पुनः कर्मभूतम् । असुरेति—असुराणां शैलानां एवं
समुहं तस्य वन्दीकृता कारागारमितिष्यता या सुख्यं अङ्गना तानिः संपाद्यमानां क्रियमानाश्चामरैरेव तेषां
रास्तेषां व्यतिकरो विमर्षं यस्य तम् । पुनः कर्मभूतम् । अरुण्यति—अरुण्यत् सूर्यसारणेः अनुवां अनुप्राप्तो
मन्त्रः तेन विनीममाणाः पिबन्मात्रां शेकावता आबरवरत्नार्थं समागतं सुरा देवाः तेषां समाजो यस्य तम् ।
तवाभूतम् अथोक्तञ्च यं विधिष्य विष्णुर्देवं गृहीत्वेत्यर्थः । स विद्यावरवरः शैलाग्रहणात् पूर्वं विद्यावरत्नं स्वानः
विद्यावरवरा मूनपूर्वं वष्टु विद्यानात् । समस्तमपि नगरं शोभयापात । तानि विमलवयस्य जिलापस्य
रत्नस्य मूढतपस्य अथसायो निबन्धयस्तस्मिन् मरुत्तनीयति सरस्वती देवती कर्मपरम्परया विवर्तते वातर्म्
अपभ्रुव सन्ति पक्ष अथवक्ष्यतिगो नवनारादया तवकीमोदक्यास्तत्पामयेयाया नवाया स्वादिनः । ते तु
सम्प्रति न विद्यन्ते । अयं पुनः अपर एव वक्षिष्यामि वाक्त्रिक इन्द्राणां वक्षिष्यावा वाक्त्रिक आचारकः मायावम
कुर्वन् कोऽपि मोक्षना विप्रकर्मनाय वक्ष्यमाणं अथोक्तम् । इति निर्धाय विनिश्चितस्य वक्षिष्यतिविता
वक्षिष्या समाधीन् समयवत् । पुनः पाञ्चभूति पाद्य विमर्शति वाद्यवत् वक्ष्य तस्य विधि वक्षिष्यतिविधि स
परिचमविद्यालोऽस्ति । इतिरेति—विधिः दीपकः स वासो विरिचय विधिपरिचि द्विचिचिचिचि भाव
तस्य निबन्धतद्वशाज्जगते यस्य कायस्य स वासो वाचरितः वक्षीवरः तम् माधिर्यं धारीरस्य (मद्भावेन देहस्य)
माधोग विस्तारो यस्य तम् । पुनः कर्मभूतं मद्भावेनम् । अन्वगिति—अन्वगन्तुं अनु परचात् अन्वगतिं तद्वति
इति अन्वगन्तुं मद्भावेनानुचोदति विवाहितत्वात्कामना वासो नयनवत्ता द्विवाच्यपुनः पार्श्वे तस्या निबन्धो
पोरः स चागो रत्न मून तेन गुह्यतन्मल विनिर्गः सत्पः पृष्ठमन्त्रो यस्य तम् । पुनः कर्मभूतम् ।

अनिमिपेति—अनिमिपा. देवाः तेषां च नन्दनं तत्र विसर्पिणं प्रमरस्त. ते च ते कर्पूरोद्भिदानां कर्पूरवृक्षाणां गर्भतः सम्भवानां परागा रजासि तं पाण्डुरितं द्युभ्रीकृतं पिण्डस्य देहस्य परिकरोऽवयवसमूहो यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । अचिरेति—अचिरात् सूक्ष्मा या गोरोचना गोपित्तमणि तस्या भङ्गः. मर्दनं तस्माज्जातो यः रागं कान्तिं तद्वत् पिङ्गलं पिङ्गलं तत् अम्बकम् नेत्रं तदेव भालसरसो ललाटसरोवरस्य स्वर्णसरोजाकरं हेमकमलवृन्दं यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । अवालेति—अवालानि महान्ति तानि कपालानि नृकरोदधौ तेषां दलकलापा दलममूहा—त एव आलत्रालवलयानि तत्र विलसन्तं मौलयं गिरामि तेषां मूलानां व्यतिकरो मिश्रणं यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । अतिविकटेति—अतिविकटानाम् अतिविस्तीर्णानां जटानाम् अन्योन्य-सलग्नकेशानां जूटा समूहास्तेषां कोटरेषु गर्तासु पर्यटन्ती प्रवहन्ती चापी गगनाटनतटिनी गगनाटना देवास्तेषां तटिनी भङ्गानदीत्यर्थः, तस्या तरङ्गा दीचयः त एव करा हस्तास्तेषां केलिं क्रीडां तस्या कुतूहलितं आदर्यविषयोभूतं बालप्रालयाकरं बालचन्द्रो यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । आभरणेति—आभरणानि भूषणानि तेषां भङ्गी रचना तथा नर्दभिता त्रिभिः ये अनर्भका अक्षिपव महान्त इत्यर्थः भुजङ्गा सर्पा तेषां भोगा शरोराणि तेषु नग्नानि सञ्चितानि च तानि माणिक्यानि च पञ्चरागस्तनानि तेषां विरोकानि तेजासि तेषां निकरं समूहं तस्य अतिशयस्तेन शाराणि शबलानि च तानि शार्ङ्गलाजिनानि व्याघ्रचर्मणि तैविराजमानं शोभमानस्तम् । पुनः कथंभूतं तम् । उडुमरेति—उडुमरं श्रेष्ठं यत् डमरुकं वाद्यविशेषः (महादेवस्य नर्तनसमये तेन वाद्यमानो वाद्यविशेषः) अजकाव नाम धनुः, कृपाणम् असि, परशु परश्वधः, त्रिशूलखट्वाङ्गी अस्त्रविशेषौ, एते आदौ येषां तेषां गग्नं सयोगं तेन सकटा व्याप्ता ये सकटा हस्ता तेषां कोटिविस्तारः अप्रविस्तारः यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । स्तम्बेरेति—स्तम्बेरमो हस्ती तन्नामकोऽमुर गजामुर इति तस्य वर्मणस्तनुनात् द्रवत् गलत् पटुधिर रवत तेन दुर्दिनीकृतं वृष्टिप्लुतं नर्तवनीप्रतानं नृत्यभूमिपरिसरो यस्य तम् । अनलोद्भव-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेरम्ब-भिङ्गिरिट्यादयो ये पारिपदं परिपदि साधवः पारिपद्या सभासदः प्रमथादयः तेषां परिपत् सभा तथा परिकल्पमानम् बलिबिधानं उपहारविधिं यस्य तम् । पुनः कथंभूतम्—अहिर्वुध्नेति—अहिर्वुध्न्यस्य शिवस्य अवमरो अवतरणं तस्य निबानं स्थानम् आकारम् अनुकृत्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । -

[पृष्ठ ६९] सापि स्याद्वादसरस्वती एव सुरभिर्धेनुः तस्या मभावने आदरकरणे बलवीव गोपीव वरुणमहीशमहादेवी वरुणनृपालस्य कृताभिषेका राज्ञी इमा जनश्रुतिं लोकोक्तिं कुतश्चित् पश्चिमप्रतोली-सूतात् पश्चिमरथ्याया निर्गतात् विपश्चित् विदुषः निदिक्ष्य निर्णयः 'निश्चयान्ते श्रूयन्ते खलु प्रवचने तपः-प्रत्यवायवार्ताभद्रा तपोविघ्नस्य वार्तया अभद्रा अकल्याणयुक्ता रुद्रा एकादश ते पुनः सप्रति स्वकीयाशुभ-कर्मणा विपाकात् उदयात् कालिन्दीसोदरोदरगतवर्तिनः कालिन्दी यमुना तस्या सोदरो यमः तस्य उदर-जठरं तदेव गर्तम् अवटः बिलं तद्विवर्तिनः मज्जाता । तस्मात् अयम् अपर एव कश्चित् अन्य एव नरेन्द्रविद्याविनो-दाविदग्धहृदयमर्दी इन्द्रजालिकविद्याचातुर्येण अविदग्धा मुग्धास्तेषां हृदयव्यामोहकः कपर्दी महादेव इति च प्रपद्य ज्ञात्वा नि सदिग्धबोधा निरारेकज्ञाना ममासिष्ठं सम्यक्तया स्वगृह एवोपविष्टा । पुनः स्वापतेयेश-दिशि स्वापतेयं घनं तस्य ईश स्वामी कुबेरः तस्य दिशि दिशायाम् उत्तरस्या दिशायामित्यर्थः । विश्वम्भरात-लाङ्घनं समवमरणं विश्वम्भराया भूमेस्तलाङ्घनम् उपरि अयोमुखासनदशसहस्राध्विकृष्टम्, अयं लोहं मुखे अग्रे येषां ते अयोमुखा बाणा तेषाम् आसनानि धनूपि तेषां दशसहस्रं तस्य अर्धं पञ्चसहस्रं धनूपि तावतान्तरेण दूरनभिनि स्थितम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानीत्कृष्टम् एका अखण्डा चासौ इन्द्रनीलमणिशिला तथा निर्मितम् यत् वर्तुलं वृत्तम् अधिष्ठानम् आधारः तेन उत्कृष्टम् उत्तमम्, पुनः कथंभूतम् । अखिलापतिगर्तत्तरण-मार्गेरिव अखिलापतिः ता गतयः देवमानवतिर्यङ्गनारकाश्चतस्रो गतयस्ता एव गर्तास्ताभ्यं उत्तरणमार्गेरिव उत्थानमार्गेरिव सोपानसर्गं आरोहणरचनाभिः चतुर्दिशम् चतुर्षु दिक्षु यथा स्यात्तथा उपाहितावतारः गृहीता-वतारम्, पुनः कथंभूतम् । अनर्थेति—अनर्था विघ्ना तन्नाशका द्रुषणा इव परशवः इव ये मणयः रत्नानि तैः श्लाघ्या प्रशस्या ये उन्नता नवप्राकारास्तेषामन्तः आचरिता निमिता स्पष्टा अष्टविधा अष्टप्राकारा

मा तदपितानि ध्रुलकमुग्धेन श्रीमुनिगुणमुनिना दत्तानि आशीर्वाचनाभ्यापादिता ग्राहितवती । भवति चात्र दलोक — एषा रेवती कादम्बताश्चर्यगो-मिहपोठाधिपतिषु बादम्बा हमा , ताक्ष्यो गरुड , गौ वलीवर्द , सिंह प्रतीत तैर्युक्ताना पीठानाम् आसनानाम् अक्षितय स्वाभिन क्रमेण ब्रह्माहरिहरजिनेन्द्रा तेषु आगते-ष्वपि एषा रेवती मृदनावती मोदयमुक्ता नामूत न भवति स्म ॥१७३॥

उत्पुपासकाध्ययने भमूडतापरिमुद्धो नामैकादश कल्प ॥११॥

१२. धर्मोपचृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः

[पृ० ७१] उपगूहेति—धार्मिकजनदोषक्षम्पनम् उपगूह , दर्शनात् चरणाद्वा चलता प्रत्यवस्था-पन तत्र स्थितोकार उपगूहश्च स्थितोकारश्च उपगूहस्थितोकारो । यथाशक्ति अज्ञानतिमिरम् अपमार्गं जिन-शासनमाहात्म्यप्रकटन यथाशक्ति प्रभावनम् । वात्मन्य च साधमिकान् प्रति निष्कपट यथायोग्यमादरकरणम् । एते गुणा सम्यक्त्वैर्भववृद्धयै भवन्ति ॥१७४॥ तत्र—क्षान्त्येति—क्षान्त्या क्षमया क्रोधाभावेन, सत्येन प्राणिहितवचसा, शौचेन लोभाभावेन, माद्वेन विनयेन मदाभावेन, आर्जवेन च अकपटभावेन, तपोमि सयमे दानेन च नमयद् न शासनवृद्धिं कुर्यात् ॥१७५॥ सवित्रीवेति—माता यथा तनूजाना पुत्राणाम् अपराध निगूहेत् आच्छादयेत् तथा धर्मम् समानधर्मवत्सु गृहिषु मुनिषु वा देवात् प्रमादाचरणात् सम्पन्नं प्राप्तं अपराध दोष गुणसपदा निगूहेत् आच्छादयेत् ॥१७६॥ अशक्त्येति—अशक्तस्य असमर्थस्य अपराधेन दोषेण धर्म मलिन दूषित भवेत् किम् । भेके मण्डूके मृते सति पयोधि समुद्र पूतिगन्धिता दुर्गन्धिता न हि याति न गच्छतीति । यस्तु जन जात दोष न गूहति, यस्तु धर्मम् न वृहयेत् न वर्धयेत् तत्र जिनागमवहि स्थिते जिनशास्त्रवहिर्भूते जने । सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन दुष्कर दुर्लभम् ॥१७७॥

[पृ० ७२] (उपगूहनाङ्गकथा) धूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र सम्यग्दर्शनस्य उपगूहनाङ्गे उपाख्यानं

पूर्वमहापुरुषस्य प्रथितस्य चरित श्रूयताम्—सुराष्ट्रदेशेषु पाटलिपुत्रे कथभूते । मृगोक्षणेति—मृगस्येव ईक्षणं नयने यामा ता मृगेशगा हरिणनेत्रा युवतय तामा पद्ममि महितानि पद्मलानि तानि च तानि मूलानि अग्राणि येषा तानि च अवलोकितानि कटाक्षा तै अवहसित तिरस्कृतम् अनङ्गास्त्राणा मदनवाणाना तन्त्रम् कार्यम् कामि-पुरुषमनोवेधनम् यत्र [यशोध्वजस्य भूभुज सुवीरो नामसूनु पुत्र वीरपुरिपदमवादीदिति सवन्ध] कथभूतस्य यशोध्वजस्य राज्ञ । सुसीमेति—सुसीमाख्या या कामिनी राज्ञी तस्या मकरध्वजस्य इव मदनस्येव सुवीर पुत्रोऽभूत् । कथभूत म. । पराक्रमेति—पराक्रमेण निजशौर्येण अक्रमेण युगपत् आक्रान्ता वशीकृता सकला प्रवीरा महाभटा येन स पुन कथभूत नृपसूनु । अनामादितेति—विद्यामि वृद्धा विद्यावृद्धा अनासा-दित अलव्य विद्यावृद्धसयोगात् समयत्वम् आगमाध्ययन तस्मात् अप्राप्तविद्यावृद्धजनममागमशास्त्रत्वात्, विदेति—विटा कामुका विद्वपका पीठमर्दा वैहासिका तै दूषित-मलिनचित्तत्वात्, प्रायेण बहुश परेति—परेषा द्रविण धनम् दारा मिश्रयश्च तस्य तासा चादान ग्रहणम् तत्र उदारा महती क्रिया यस्य तथाभूत स यशोध्वजसूनु सुवीर क्रीडायै क्रीडावने गत । कितवेति—कितवा वञ्चका किराता भ्लेच्छा पश्यतोहरा पश्यन्त जनम् अनादृत्य हरन्तीति पश्यतोहराश्चोरा ते च ते वीरा भटास्तेषा परिपदम् पश्यताम् एवम् अवादीत् [यदवादीत् तदुच्यते]—अहो जना , विक्रमेति—विक्रम शौर्यम् एव एक मुख्यो रस अस्ति येषा ते विक्रमैकरसिका शौर्यैकरसिकारिण , तेषु महाप्राहसिकेषु अतीव वलात्कारेण घनहर-णादिकार्यकारिण तेषु भवत्सु मध्ये कि कोऽपि मम प्रार्थनेति—मम प्रार्थनाया याञ्चाया अतिथि-रूपाया मनोरथस्य सारथि मम याचनाभिलाषपूरणप्रवीण इत्यर्थ कि कोऽपि अस्ति । य खलु पूर्वदेशस्य वेश वेश्याजनसमाश्रय तेन अवाप्त कीर्तन येन तस्मिन् तामलिप्तिनगरे पुण्येति—पुण्य सुकृतम्, पुरुष-कार प्रयत्नस्ताम्याम्, आत्मेति—आत्मसात्कृत स्वायत्तीकृत रत्नाकर मणिममूह रत्नखनिर्वा येन तस्य जिनेन्द्रभवतनाम्ना अवतारो यस्य वणिक्पते वैश्यस्वामिन , जिनसन्नि जिनगृहे कथभूते । सप्ततलेति—

सा तदपितानि क्षुल्लकमुवेन श्रोमुनिगुणमुनिना दत्तानि आशीर्षचनान्यापादिता ग्राहिनवती । भवति चाय
श्लोक — एषा रेवती कादम्बताश्चर्यो-सिंहपोठाधिपतिषु कादम्बा हमा , ताश्चर्यो गरुड , गौ वलीवर्द , सिंह
प्रतीत तैर्युक्ताना पोठानाम् आमनानाम् अधिपतय स्वासिन क्रमेण ब्रह्माहर्षिहरजिनेन्द्रा तेषु आगते-
ष्वपि एषा रेवती मूढनावतो मोढचयुक्ता नाभूत् न भवति स्म ॥१७३॥

दृष्ट्युपासकाध्ययने अमृदतापरिवृद्धो नामैकादश कल्प ॥११॥

१२ धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः

[पृ० ७१] उपगूहेति—धार्मिकजनदोषक्षमनम् उपगूह , दर्शनात् चरणाद्वा चलता प्रत्यवस्था-
पन तत्र स्थितोकार उपगूहश्च स्थितोकारश्च उपगूहस्थितोकारो । यथाशक्ति अज्ञानतिमिरम् अपसार्य जिन-
शासनमाहात्म्यप्रकटन यथाशक्ति प्रभावनम् । वात्मन्य च सार्धमिकान् प्रति निष्कपट यथायोग्यमादरकरणम् ।
एते गुणा सम्यक्त्ववैभववृद्धयै भवन्ति ॥१७४॥ तत्र—क्षान्त्येति—क्षान्त्या अमया क्रोधाभावेन , सत्येन
प्राणिहितवचसा , शौचेन लोभाभावेन , मार्दवेन विनयेन मदाभावेन , आर्जवेन च अकपटभावेन , तपोभि
सयमै दानैश्च समयवृ ह्ण शासनवृद्धिं कुर्यात् ॥१७५॥ मन्त्रित्रीवेति—माता यथा तनूजाना पुत्राणाम् अपराध
निगूहेत् आच्छादयेत् तथा भवर्मसु समानधर्मवत्सु गृहिषु मुनिषु वा देवात् प्रमादाचरणात् सम्पन्न प्राप्तं
अपराध दोष गुणसपदा निगूहेत् आच्छादयेत् ॥१७६॥ अशक्तस्येति—अशक्तस्य अममर्थस्य अपराधेन
दोषेण धर्मः मलिन दूषित भवेत् किम् । भेके मण्डूके मृते सति पयोधि समुद्र पूतिगन्धिता दुर्गन्धिता न
हि याति न गच्छतीति । यस्तु जन जात दोष न गूहति , यस्तु धर्मम् न वृ ह्येत् न वर्धयेत् तत्र जिनागमवहि स्थिते
जिनशास्त्रवहिर्मृते जने । सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन दुष्कर दुर्लभम् ॥१७७॥

[पृ० ७२] (उपगूहनाङ्गकथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र सम्यग्दर्शनस्य उपगूहनाङ्गे उपाख्यानं
पूर्वमहापुरुषस्य प्रथितस्य चरित श्रूयताम्—सुराष्ट्रदेशेषु पाटलिपुत्रे कथ्यभूते । मृगोक्षणेति—मृगस्येव ईक्षणे नयने
यामा ता मृगेक्षणा हरिणनेत्रा युवतय तामा पद्मभि सहितानि पद्मलानि तानि च तानि मूलानि अप्राणि येषा
तानि च अवलोकितानि कटाक्षा तै अवहसित तिरस्कृतम् अनङ्गास्याणा मदनवाणाना तन्त्रम् कार्यम् कामि-
पुरुषमनोवेधनम् यत्र [यशोध्वजस्य भूभुज सुवीरो नामसूनु पुत्र वीरपुरिपदमवादीदिति सवन्ध] कथ्यभूतस्य
यशोध्वजस्य राज्ञ । सुसीमेति—सुसीमाख्या या कामिनी राज्ञी तस्या मकरध्वजस्य इव मदनस्येव सुवीर
पुत्रोऽभूत् । कथ्यभूत सः । पराक्रमेति—पराक्रमेण निजशौर्येण अक्रमेण युगपत् आक्रान्ता वशीकृता सकला
प्रवीरा महाभटा येन स पुन कथ्यभूत नृपसूनु । अनासादितेति—विद्याभि वृद्धा विद्यावृद्धा अनामा-
दित अलव्व विद्यावृद्धसयोगात् समयत्वम् आगमाध्ययन तस्मात् अप्राप्तविद्यावृद्धजनमभागमशास्त्रत्वात्,
चित्तेति—विटा कामुका विद्रुपका पीठमर्दा वैहासिका तै दूषित-मलिनचित्तत्वात्, प्रायेण बहुश
परेति—परेषा द्रविण धनम् दारा म्रियश्च तस्य तासा चादान ग्रहणम् तत्र उदारा महती क्रिया यस्य
तथाभूत स यशोध्वजसूनु सुवीर क्रोडार्थं क्रोडावने गत । कितवेति—किनवा वञ्चका किराता म्लेच्छा
पश्यतोहरा पश्यन्त जनम् अनादृत्य हरन्तीनि पश्यतोहरावचौराः ते च ते वीरा भटास्तेषा परिपदम्
सभाम् एवम् अवादीत् [यदवादीत् तदुच्यते]—अहो जना , विक्रमेति—विक्रम शौर्यम् स एव एक मुस्यो
रस अस्ति येषा ते विक्रमैकरसिका शौर्यैककार्यकारिण , तेषु महाज्ञाहसिकेषु अतीव बलात्कारेण धनहर-
णादिकार्यकारिण तेषु भवत्यु मध्ये किं कोऽपि मम प्रार्थनेति—मम प्रार्थनाया याञ्चाया अतिथि-
वेश वेश्याजनसमाश्रय तेन अवाप्त कीर्तन येन तस्मिन् तामलिप्तिनगरे पुण्येति—पुण्य सुकृतम् , पुरुष-
कार प्रयत्नस्ताम्ब्याम्, आत्मेति—आत्मसात्कृत. स्वायत्तीकृत रत्नाकर मणिममूढ रत्नसन्निधि येन तस्य
जिनेन्द्रभवतनाम्ना अवतारो यस्य वणिक्पते वैश्यस्वामिन , जिनसन्निधि जिनगृहे कथ्यभूते । सप्ततलेति—

उत्पन्नानि भूमयो यस्य स बासी भगार गुहं तस्य अग्निमा सप्तमा या भूमिं सप्तमं यत्तत्तं तां धवतीति
 भास्वस्मिन् मागिनि (जगारे गरभा या वैद्वर्गानि जानयति स पारितोषिक कृतेऽतः) तत्र स्थितं वैद्वर्ममणि
 जानयति नक्षत्रम् । छत्रेति—छत्राणां यद्य छत्रव्य तस्य विच्छाद विच्छादं तस्य मङ्गलीकृत्य
 धनुष्काररूपम् अमुक्तम् विस्मयावहम् अमुक्तवाचो उद्योतय प्रकाशं तेन धनीढं सहितं वैद्वर्ममणिम् इत्य
 गोष्ठमणिम् जानयति तत्राग्रेषु तम् जानयतः पुनः अयिकापयिष्यस्य स्वेष्टितवस्तुनः निषेकं शानं तदैव पारि
 तोषिकम् पारितोषस्य संतोषस्य मूर्धमिषः । तत्र च सवर्षः साहस्रकारं सूक्तं नाम समस्तमहिम्नुवागम सक
 षोत्तमम जग्रेधरः पुरोगामी वीरः किलैवम् अलापीत् अजगत् । 'देव कियद्गहनमेतत् यत् मोक्षं देवप्रासादम्
 प्रमोः प्रसादमुपलभ्य विषयवसाने नमसः अवसाने अथ इतोऽतिदूरे विरचितामरावतीपुरपरमेश्वरस्य तमसोऽप्ये
 निमितामरावतीनगरस्त्वामिन् पुरश्चरस्व इन्द्रस्यापि बुधकाङ्ककारमुत्तमं विद्याभूषणम् मणिम्, पाठाकम्
 अमोघनस्य मूले निमीलमोघवतीनगरस्य स्थितमोगवतीपुरस्य उत्तरोत्तरस्यापि उत्तराणां नावदेवानाम्
 ईश्वरस्य स्वामिन्' कव्यगुणकानिष्यं फलानां स्तुतानां गुणकानिष्यं प्रवृत्तात् आधिक्यं यस्य फलानामुपरि
 अविश्रुता मातृमार्तं मातृमयं क्षोभरत्नम् अहुराणि तस्य मे मनुष्यमाश्रयपरिहारं मनुजैरेव रक्षमाश्रयणा
 मणि रत्नम् । कव्यमूर्तं क्षोभनेति—क्षोभनयोः पोषरं विषयं अवारिहार्दं जगारे गृहे विहारी यस्य गृहे वर्तमानं
 तं वैद्वर्ममणिं अहुरावर्धयत् कियद्गर्भं महासाहसम् एतसाहसं कीडगर्हं करिष्यामोति मात्रं सुवचोरस्य ।
 इति सौमं यजित्वा प्रमुष्य निवत्स्यामस्य च गीदमष्टकं वीरदेवम् । अवरमुषयं अरस्यन् मणिमोषाय रत्नाय
 हरणाय गृहीतस्तुच्छकनैवरात्रायचन्द्रायचरनकमेः फलपारम्पर्यैः पञ्चोपवासानन्तरं पारवाचरयै मासोप
 वाचप्रारम्भेः अपरेऽपि अन्त्येऽपि उपचरन्त्यैः उपरां जलम् क्षोभितां नवाः पञ्चा नवरात्रि पुराणि ग्रामा
 प्राकारपरिष्कारिहिता इन्द्रविष्णुभ्यां वसवः ग्रामा तेषु निवासस्तीक्षा ये कामनीयवा जग्रेधरकलाते मेन
 क्षीमं नीताः स सुवचोरः कमेक्ष जितेन्द्रमन्त्रमाकस्य आभारस्थानममवत् । जितेन्द्रमन्त्रं श्रेष्ठं तत्पुण्येभ्यम्
 रक्तमतिरत्नवत् ।

[पृष्ठ ७३-७४] एकान्तमनितवत्तः एकान्ता बासी भक्तिस्त्वस्यां वत्तः अविश्रुतमितिमुक्त इति

भावः स जितेन्द्रमन्त्रं तं मायेति—मायया कपटेन आत्ममाकृतं स्वायत्तोक्तं शिवतमाकारं मुक्तकनैवो
 देन एवंभूतं तम् अवरमाजीवारम् अवरमार्चोऽस्त्यो मायापरिष्णुनः आचारो यस्य तम् अजानम्, तं चोर्
 श्रेष्ठो एवमवत्—आयव्यं आयुषु वसिष्ठं वरं श्रेष्ठं तत्त्वम्भोजनं हे आयव्यं अवयवम् अनेकेति—अनेकानि
 च तानि अनन्यापि अमूल्यानि रत्नानि सै रक्षितो जितेन्द्रात्वा संशोः समुद्रो यत्र एवंविधे अस्महेवगृहे त्वया
 तावत्कालम् आसितव्यम् उचितव्यं निषाद्यः कार्यः वावत्कालम् अहं बहिनः अन्त्येपु वेषेषु यात्रां विषयं समानानि
 इत्थं यावत् यावता दुर्बलं शोभितमन्त्रस्य स अस्मत्क एवम् अवयव अग्रकटकूटकपटकम् अग्रकटं अडाठ
 कूटं बाहुकः कपटकम् येन तत्त्वम्भोजनं हे अग्रकटकूटकपटकम् श्रियतमं श्रेष्ठम् सैव मायिच्छां सैव वादी ।
 यस्मात्कारण्यत् अङ्गनामनसंकीर्णेषु स्त्रीजनव्यालेषु ब्रह्मिणीवीर्येषु ब्रह्मिणं वनम् उदीर्यं प्रकटं वृषवै तेषु
 वनसमुद्रेषु वेषेषु विहिीकसा कृतघण्टीनाम् उचितानां इति यावः प्रायञ्च अमनिकनमसामपि बह्व्यं
 स्वधर्मतीनामपि निर्मोहानामपीत्यर्थः, सुकमोदाहाराः सुकमवस्थाः यत्तु अलक्षोकावस्थाः । श्रेष्ठो-वैद्य
 यनीष्ट न सत्यमेतत्, अपरित्यातपरलोकाव्यवहारस्य स्वजनरक्षायै परलोकः उत्तराधिः उत्तराधारेण अतरा
 धारेण च क्रमजो मरतीति व्यवहारानिष्ठस्य अश्वेत्यव्यव्यापारस्य अजितनिष्ठस्य इन्द्रियव्यापारा यत्र नभसि
 तत्र तदधीनो मूला यच्छाः पुष्टस्य बहिः सैव बाह्यपरिग्रहे कनकचामिण्यादौ स्वागतं प्रमो विभुस्याम्
 नाम विहार्द्रं प्राप्नोतु नाम न पुन्यवर्षयुषा परमाजीवोक्तिनाम् अनन्यस्यामायव्यवस्युषाम् अनितर
 साधारणव्ययमं वाक्यमात्रम् अवावुषा युष्मावुषा पुण्यानां मुनिवर्षाणाम् । इति वत्सापहं देवगुणपरिग्रहाम्
 देवगृहे भवानिषदिति तम् अवयवार्थं मुनि कपटिन् मुनिवर्षं संप्राप्यं प्राययित्वा कनकचामिण्याव्येषु
 पत्नीतनयसङ्गमनादिषु अहोऽतिव्यास अविहितविसम्भः स्यात्परिजनविनयानुपपन्नानुकूलतया नगरवाहिरिवाप्यं
 पुरबाह्यप्रदेशे प्रपानम् अजापीत् प्रवर्तनं प्रयाणम् अकरोत् । माभानुसिद्धविशेषे अवसरे तस्मिन्नेव

क्षणे तदगार तद्गृहम् आकुलपरिवार स्वस्वकार्यकरणतत्परपरिजनम् अवबुध्य ज्ञात्वा अष्टविंशतिशायी रात्रौ विहितमणिचौर्यं तन्मरीचिप्रचारात् तद्रत्नकिरणप्रसरणान्, आगच्छकं तलवरं अनुद्रुतगरीर तीव्रेण जवेन अनुगतदेह, पलायितुमशक्त तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिन धर्म एव हर्म्यं गृह तस्य निर्माणे रचनाया परमेष्ठिन ब्रह्मण इव वर्तमानस्य श्रेष्ठिन प्रस्थानावामनिवेशम् आविवेश प्रयाणगृहप्रवेशम् अकरोत् । श्रेष्ठचपि दुरालापब्रह्मलात् गालिप्रदानादि-दुर्भाषणप्रचुरात् तत्तलवरादिकलकलात्, द्राग्विद्राणनिद्र शीघ्रम् अपगतस्वाप, तदैव मृषामुनिमुद्रम् अवमाय धृतमायायतिरूप निश्चित्य, स्वभावतः शुद्धाप्तागमपदार्थ-समाचारनयस्य निर्दोषपरमजिनशासनजोवादिवस्तुमार्थसम्यगाचारनयव्यवहारस्य नि शेषान्यदर्शनव्यतिरिक्ता-न्वयस्य सकलान्वयमतभिन्नसम्प्रदायस्य जिनशासनस्य, अविदितपरमार्थजनापेक्षया अज्ञातयथार्थलोका-पेक्षया दुरपवादो जिनमतनिन्दा माभूत् मा जायताम् इति विचिन्त्य समस्तमपि आरक्षकलोकम् एवमभणीत्—सकलमपि तलवरवृन्दम् इत्थमभाषत । अहो दुर्वाणीका अहो दुर्वाचाटा, किमित्येन मयमिनम् अभल्लेन अभद्रभाषणेन सभावयन्ति तिरस्कुर्वन्ति भवन्त । यत एष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी, परमनिःस्पृहा-णामपि परमनिःस्पृह, प्रकृत्यैव स्वभावतः एव महापुरुषः मायामोहरहितचित्तवृत्ति, अस्मदभिमतं अस्माकं समितिं लब्ध्वा मणिमेनम् आनयन् कथं नाम तेन भावेन मायामोहादिदिग्धचित्तेन सभावनीयं सकल्प्य । तस्मात् प्रतूणं शीघ्रम् अभ्यर्णोभूय समीपं गत्वा प्रसन्नवपुषः प्रशान्तगरीरा प्रणमद्देहा भवन्त मदाचारकैर-वार्जनज्योतिषं सम्यगाचारकुमुदविकसने चन्द्रम् एनं समयत, मृतुत प्रशसत, नमस्यत नमत, वरिवस्यत च पूजयत च । भवति चात्र श्लोक —भक्तवाक्परः भक्त इति—वाक्शब्द पर अग्रे यस्य स जिनेन्द्रः जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठो इत्यर्थः । मायासयमनोत्सूर्पे कपटसहितसयमस्य वृद्धिं कुर्वाणे सूर्ये सूर्पचोरे रत्नापहारिणि वैडूर्यमणेश्चौर्यं कुर्वाणे, दोषम् अपवादम् अयं चौर इति निन्दा निपूदयामास निरस्ता चक्रे ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः ॥१२॥

१३ वारिषेणकुमारप्रव्रज्यात्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः

परीपहेति—परीपहात् क्षुदादिद्वाविंशतिपरीपहेतु एकस्मात्कस्मादपि परीपहात् पीडाया उद्विग्न-भीतम्, व्रतात् अहिंसादिमहाव्रतपालनाच्च उद्विग्नं खिन्नम्, अजातागममगमम् आगमस्य जिनशास्त्रस्य सगमो-ऽध्ययनम् अजात आगमसगमो यस्य स अनधीतजिनागमः एवरूपं समयम्विन कथंभूत भ्रश्यदात्मानं भ्रश्यन् जिनधर्मत्यागं कुर्वन् आत्मा यस्य तं समयो वार्मिकं स्थापयेत् ॥१९०॥

[पृष्ठ ७५] तपस इति—तपसं प्रत्यवस्यन्तं भ्रश्यन्तं सयतं सयमिनं यं समयो न रक्षति । नूनं सत्यमेव स समयस्थितिलङ्घनात् जिनमतस्थिते लघनात् । सहर्शनवाह्यं सम्यग्दर्शनाद्वाह्यं मिथ्यात्वजनतुल्यं ज्ञेयं ॥१९१॥ नवैरिति—नवैः सन्दिग्धनिर्वाहैः सन्दिग्धं सशययुक्तं निर्वाहं जिनधर्मप्रतिपालनं येषां ते सन्दिग्धनिर्वाहास्तैः जनैः गणवर्धनं नवैः जनैः गणवर्धनं स्वसङ्घजनसख्यावृद्धिं कुर्यात् । एकदोषकृते एकस्मिन्दोषे जाते सति प्राप्ततत्त्व ज्ञाततत्त्वार्थो नरः कथं त्याज्यः । दोषे जातेऽपि तस्य उपगृह्णन् कार्यमिति भावः ॥१९२॥ यस्मात् समयकार्यार्थं शासनसाध्यार्थं नानापञ्चजनाश्रयं बहुजनसन्दोहाधारं अतः उपदिश्य यो यस्मिन् कार्ये धर्मप्रभावनादिकार्ये योग्यः तं जनं तत्र योजयेत् ॥१९३॥ उपेक्षायामिति—सर्वमणो जनस्य उपेक्षायां कृतायां न समयो तत्त्वात् जिनशासनात् अविकं दूरं गच्छेत् तं त्यजेत् तथा तद्विनाशं कर्तुमिच्छेत् । एवम् अनिष्टमाचरतस्तस्य ससारो दीर्घो भवेत् समयश्च जिनशासनं हीयते क्षीणो भवति ॥१९४॥

[पृष्ठ ७६] (स्थितिकरणे वारिषेणस्य कथा) श्रूयतामत्रोपाध्यानम्—अत्र स्थितिकरणगुणे कथा शृण्वन्तु । वारिषेणराजसूनो कथा—मगधाभिषेपु देशेषु राजगृहेति अपरनाम्न अन्याभिधाया अवसरं प्रसंगो यस्य एवभूते पञ्चशीलपुरे चेलिनी महादेव्या प्रणयं स्नेहं क्रीणातीति क्रीणिकं तस्य श्रेणिकस्य कथंभूतस्य । गोत्राकलत्रस्य गोत्रा पृथ्वी एव कलत्रं भार्या यस्य 'गोत्रा कुं पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः ।

उत्पत्तमानि भूमयो यस्य च चासी मगार गृहं तस्य अपिमा सप्तमा या भूमिः सप्तमं यत्तत् तां मन्त्रीषि
 माह तस्मिन् मामिनि (अगारे यत्ना यः वैदूर्यमणि आनयति च पारितोषिक समेत) तत्र स्थितं वैदूर्यमणि
 आनयति कथमनूत । छत्रेति—छत्राणां नम उन्नयनं तस्य सिद्धांतं चित्रार्थं तस्य मन्त्रीमूत्रं
 मन्त्रप्रकरणम् अमुतम् विष्णुपात्रम् अमुतपात्रो उद्योगवच प्रकाशः तेन सतीष्टं सहितं वैदूर्यमणिम् इव
 नीलमणिम् आनयति तत्रानेतुः तम् आनयतः पुनः अमिमापनियस्य स्थेयितवस्तुन मियेकं दानं तत्रैव पारि
 तोषिकम् पारितोषस्य संतोषस्य भूयमिव । तत्र च सवयः साहस्रकारः सूर्यो नाम समस्तमणिस्तुष्टानाम एक-
 चोराचाम अग्रवर पुरोगामी वीर किञ्चनम् अकापीत् अग्रवीत् । देव किमप्यगहनमेतत् यत् योऽहं देवपासाय
 प्रभोः प्रसादमुपलभ्य विपदवसाने नमस्तु अग्रसाने अग्रे इतोऽतिदूरे विरचितामरावतीपुरपरमेस्वरस्य मन्त्रोऽहं
 निमित्तमरावतीपुरपरस्वामिन् पुरस्वरस्य इन्द्रस्वापि चूडामङ्कजानुत्तमं चिन्तामुपवननं मणिम्, पाठाभ्यं
 अयोमुन्नतस्य मूढे निखोनमोषवतीमवरस्य स्थितभोगवतीपुरस्य उरनेस्वरस्वापि उरगाभां तावदेवानां
 ईश्वरस्य स्वामिनः कथमुष्कसाधिक्यं फलानां स्फुटानां मुष्कसाधिक्यं प्रकृतात् आनिष्यं यस्य फलानामुपरि
 अतिष्ठता मासमानं मासिक्यं धारयन्तम् अहुराणि तस्य मे मनुष्यमात्रपरिचयं मनुजैरन रस्वमात्रपरिचयः
 मयि ररन्तम् । कथंभूतं छेत्रेनेति—कोचमयो कोचरं विषय अवारविहारं अगारे गृहे विहारो यस्य गृहे वर्तमानं
 तं वैदूर्यमणिं अहुरतवचारयत् किमप्यत्र महासाहस्यम् एतत्साहस्यं कीलसाहं करिष्यामीति माः सुयचोरस्य ।
 इति धीमं पत्रित्वा प्रभुष्य निगत्यामरय च योऽन्यत्राहं नीलदेवम् । अवरमुपायं करयन् मणिमोषाव रत्नाव
 हुरगाय गृहीतमुष्करुनेयवात्रायवत्तावरणकर्म पञ्चसरकाकरनैः पञ्चोपासागन्तव्यं पारिचर्यम् मासे-
 वासप्रारम्भे अर्पयति अग्रयति तपःसंक्रमे तपनां उद्यमं सोमिता गगाः पर्वता नगराणि पुराणि ग्रामा
 प्राक्षरपरिचारिद्विता हृदाविष्णुमा वसतय ग्रामा तेषु निवासिनीनां मे प्राप्तनीयना अग्रेतरजनास्ते यत्
 शोभं मीताः स सुर्वचोर इमम् जिनैश्चकनमाकस्य आचाररवानमभवत् । जिनैश्चकनः श्रेष्ठो तत्पुत्रेभ्यः
 रत्नवतिरभवत् ।

[पृष्ठ ७३-७४] एकाग्रमचित्तवत् एवागता चासी भवितस्तस्यां वलः अत्रिचकनमनुकुत इति

माह स जिनैश्चकनं तं मायेति—मायया कथंन आत्मनात्कृत् स्वायतोक्तं श्रियतमाकारं सुस्तरवेवो
 मेन एवभूतं तम् अवरमाकांचारम् अवरमाचोऽस्त्या मायापरिष्कृत आचारो यस्य तम् अग्रानम्, स चोर
 श्रेष्ठो एवमभवत्—आयवयं आयैषु यतिषु कथं श्रेष्ठः तत्सम्बोधनं हे आयवयं अवरयम् अनेकेति—अनेकादि
 च यानि अनन्यमिनि अमुस्यानि ररानि ते रविनां जिनवेदानां संवाहः समूहो यत्र एवमिदं अरनैवमहे त्वया
 तावतरानम् आतिगम्यम् उचितम् निवाहः कार्यः वावत्कामम् अहं वदित्वा अग्रेषु हेतुषु मायां विनाय समावाहि
 इत्वं याचना याचनां दुर्वचं सोजिनमनस्य स सुस्तर एवम् अवहन् अग्रकटकुटकपञ्चम अग्रकटं अग्रान
 मूट, बाहकः वपटक्रम येन तत्सम्बोधनं हे अग्रकटमूटकटक्रम श्रियतमं यतिषु देवं यापिष्यः देवं वारी ।
 यस्यात्तारणात् अङ्गनामजतकीर्येषु रणीजमप्याष्टेषु इविचोरीर्येषु इविचं यन्तम् उदीर्यं प्रवटं दृक्कने तेषु
 वनमप्येते हेतुषु विहितोक्तानां कृतचनवीर्याम् उचितायां इति माह मायेव अनतिनयनवानि बहुप
 ह्यकृतमनीनामपि निमोहानाकरीतयर्षा, भुजमोहादारा भुजमजलाः यन्तु रत्नकोवावहा । श्रेष्ठो-देव
 मनीष म न्यमैवम् आतिज्ञानरत्नोक्तप्यवहारस्य स्वर्णनरवावि परलोचः सरासिन् सराचारेव अग्रा
 चारेव च इवगी मनीषि व्यग्रहाराभिज्ञाय अग्रतोऽप्यप्यवहारस्य अतिरिचकस्य इतिपञ्चमारा यत्र मयिनि
 तत्र तदपीनो भूरा मच्छनः पुरवस्य वदि संवे काह्यारिहते वनचवापिप्यारो रवानं मनो विदुरागम्
 नाम विहारं प्रप्नोषु नाम न पुनर्यवार्थद्वयां वरमाकांवरनीर्याम् अग्रमयावाप्यतयमनूनाम् अनितर
 माचारवापयं यान्यनाम् अग्राद्वयां मुष्माद्वयां मुष्मानां मुनिवर्षाणां । इति वहावां देवमूत्रारिहदाव
 देवदे अद्यावदवतिनि तम् अवस्थां मुनिवर्षाणि मुनिवर्षं नष्टायं आपयिता वचपुत्राभिचवावर्षेण
 वनीनममनूनागाम् अग्रावहावः अतिरिचकस्य अग्रपरिचकस्य पुनरुन्नतमनननवा नगरातिरिक्ता
 पुनराग्रदेवि प्रपयन्तम् अग्राणि आचानं अग्रानम् अग्रोन् । मावाभिनिगुनिकैव अरनदे तुल्यमेव

क्षणे तदगार तद्गृहम् आकुलाग्निवाः स्वस्वकार्यकरणनत्परपरिजनम् अवबुध्य शास्त्रा अधविशिष्टाया राशौ विहितमणिरीर्यं तन्मरीचिप्रचारात् तद्वत्तकिरणप्रमरणात्, आरक्षकं तलवरं अनुवृत्तशरीरं तीव्रेण जवेन अनुगतदेहं, पलायितुमशक्तं तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिन धर्मे एव हर्म्यं गृहं तस्य निर्माणे रचनायां परमेष्ठिन व्रतण इव वर्तमानस्य श्रेष्ठिन प्रमथानावामनिवेशम् आविवेश प्रयाणगृहप्रवेशम् अकरोत् । श्रेष्ठयपि दुरालापहलान् गालिप्रदानादि-दुर्भाषणप्रचुरात् तत्तत्परादिकलकलात्, द्राग्विद्राणनिद्रा शोघ्रम् अपगतम्वाप, तदैव मृषामुनिमुद्रम् अवनाय धृतमायायतिरूप निश्चित्य, स्वभावतः शुद्धाप्तागमपदार्थ-समाचारनयस्य निर्दोषपरमजिनशामनजीवादिवस्तुमार्थसम्यगाचारनयव्यवहारस्य नि शोषान्यदर्शनव्यतिरिक्ता-न्वयस्य सकलान्यमतभिन्नसम्प्रदायस्य जिनशामनस्य, अविदितपरमार्थजनापेक्षया अज्ञातमयार्थलोका-पेक्षया दुरपज्ञादो जिनमतनिन्दा साभूत् सा जायताम् इति विचिन्त्य ममस्तमपि आरक्षकलोदम् एवमभणीत्— सकलमपि तलवरवृन्दम् इत्यमभाषत । अहो दुर्वाणीका अहो दुर्वाचाटा, किमित्येन सयमिनम् अभल्लेन अभद्रभाषणेन सभावयन्ति तिरस्कुर्वन्ति भवन्त । यत एष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी, परमनि स्पृहा-णामपि परमनि स्पृह, प्रकृत्यैव स्वभावतः एव महापुरुष मायामोहरहितचित्तवृत्ति, अस्मदभिमतं तेन अस्माक ममति लब्ध्वा मणिमेनम् आनयन् कथं नाम तेन भावेन मायामोहादिदिग्धचित्तेन सभावनीयं सकल्प्य । तस्मात् प्रतूर्णं शोघ्रम् अभ्यर्णोभूय समीपं गत्वा प्रमद्वपुषः प्रशान्तशरीरा प्रणमहेहा भवन्त मदाचारकैर-वार्जनज्योतिष सम्यगाचारकुमुदविकसने चन्द्रम् एन क्षमयत, स्तुत प्रशसत, नमस्यत नमत, वरिवस्यत च पूजयत च । भवति चात्र श्लोक — भक्तवाक्परः भक्त इति—वाक्शब्द पर अग्रे यस्य स जिनेन्द्र-जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठो इत्यर्थः । मायामयमनोत्सूर्पं कपटसहितसमयस्य वृद्धि कुर्वाणे सूर्यं सूर्यचोरे रत्नापहारिणि वैडूर्यमणेश्चोयं कुर्वाणे, दोषम् अपवाशम् अय चोर इति निन्दा निपृदयामास निरस्ता चक्रे ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृहणार्हणो नाम द्वादश कल्प ॥१२॥

१३ वारिपेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः

परीपहेति—परीपहात् क्षुदादिद्वाविंशतिपरीपहेषु एकस्मात्कस्मादपि परीपहात् पीडाया उद्विग्न-भीतम्, व्रतात् अहिंसादिमहाव्रतपालनाच्च उद्विग्नं खिन्नम्, अजातागममगमम् आगमस्य जिनशास्त्रस्य सगमो-ऽध्ययनम् अजात आगमसगमो यस्य स अनधीतजिनागमः एवरूप समयस्थित कथभूत भ्रश्यदात्मान भ्रश्यन् जिनधर्मत्यागं कुर्वन् आत्मा यस्य तं समयो धार्मिक स्थापयेत् ॥१९०॥

[पृष्ठ ७५] तपस इति—तपस प्रत्ययवस्यन्तं भ्रश्यन्तं सयतं सयमिनं यः समयो न रक्षति । नूनं सत्यमेव स समयस्थितिलङ्घनात् जिनमतस्थिते लघनात् । मद्दर्शनवाह्यं सम्यग्दर्शनाद्वाह्यं मिथ्यात्वजनितुल्यं ज्ञेयं ॥१९१॥ नवरिति—नवै सन्दिग्धनिर्वाहं सन्दिग्धं सशययुक्तं निर्वाहं जिनधर्मप्रतिपालनं येषां ते सन्दिग्धनिर्वाहान्ते जने गणवर्धनं नवै जने गणवर्धनं स्वमङ्गजनसत्त्वावृद्धिं कुर्यात् । एकदोषकृते एकस्मिन्दोषे जाते सति प्राप्ततत्त्व ज्ञाततत्त्वार्थो नरः कथं त्याज्यः । दोषे जातेऽपि तस्य उपगूहनं कार्यमिति भावः ॥१९२॥ यस्मात् समयकार्यार्थं शासनसाध्यार्थं नानापञ्चजनाश्रयं बहुजनसन्दोहाधारं अतः उपदिश्य यो यस्मिन् कार्ये धर्मप्रभावनादिकार्ये योग्यः तं जनं तत्र योजयेत् ॥१९३॥ उपेक्षायामिति—सधर्मणो जनस्य उपेक्षया कृतायाः स समयो तत्त्वात् जिनशासनात् अधिकं दूरं गच्छेत् तं त्यजेत् तथा तद्विनाशं कर्तुमिच्छेत् । एवम् अनिष्टमाचरतस्स ससारो दीर्घो भवेत् समयश्च जिनशामनं ह्रियते क्षीणो भवति ॥१९४॥

[पृष्ठ ७६] (स्थितिकरणे वारिपेणस्य कथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र स्थितिकरणगुणे कथा शृण्वन्तु । वारिपेणराजसूतो कथा—मगधाभिषेपु देशेषु राजगृहेति अपगन्ताम् अन्याभिवाया अवमरः प्रसंगो यस्य एवभूते पञ्चशैलपुरे चेलिनी महादेव्या प्रणयं स्नेहं क्रीणातीति क्रीणिक तस्य श्रेणिकस्य कथभूतस्य । गोत्राकलत्रस्य गोत्रा पृथ्वी एव कलत्रं भार्या यस्य 'गोत्रा कु पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः ।

पुष्पोभायस्य पुनः सकलबीरपुराभिषेक ममस्नाननगराणि प्रतिक्षेपया शत्रुतोऽभिषेको ममिह वस्य च
 वारिवेको नाम । स निष्क कुमारकाष्ठ एव संसारमुक्तमगमविमुक्तमानस परमवैराग्योद्भूतः परं
 वैराग्यं संसारमोक्षिभिरनित्यभावं उद्योगः प्रकटीभूतो यस्य पुनः कथंभूतो वारिवेकः । पुनर्निर्बन्धतः
 पूर्वं अष्टमारविषये निबन्धरस निबन्धरसो यस्य, पुनः नन्वभूत । यावज्जन्मस्यारामेन बन्धा धमुदा
 मा विपत्ता बुद्धिस्तथा गुणवासमन्तरीयतया च पुण्या निग्रह्याचार्याणाम् उपासनाम् पुत्रान् संवीक्यता
 उत्तरतया च स्रग्गवसितोपासनाभ्ययमविधि सम्पत्तया अवधित निबन्धत उपासकाभ्ययनानां भावका
 वरनविषयमत्तानाम् अभ्ययनानां ज्ञानपाठानां विधियेन च । पुनः कथंभूत आश्चर्ययोर्मिनिभिः विस्मयावह
 मराम्भानां निदानम् ॥ वारिवेक एवमेव प्रेतभूमिषु प्रेतानां पापानां भूमिषु भूतवासविग्रहानां कृष्णपु-
 रीनिधानां रात्रिप्रतिवास्त्वितो बभूव । रात्रिप्रतिवायोरेव वयधाने अष्टमारम्यानरतोऽनन्वत् । अत्रावतरे
 अस्मिन्प्रसंगे लयाया निद्राया परिणतः आभोग पाशाङ्गकारत्वादिभ्यश्च जन्तु निद्राया मध्यमादि
 मन्त्रसुखीनामश्वा पश्याह्यनया पश्या पनेन मूत्रेण अम्या धा अहंयमा स्त्री पश्याह्यना तमा वेदपदार्थः ।
 आरामनि स्वस्तिम् विषये अतीवास्वकचित्तकृतिप्रसूतो मदीय सुतराम् आसक्त्या सम्पदा मा चित्तकृति मनो
 कृति तस्या प्रसूतो यस्य एवमेता मागवयमाया बीर अयत्तसम् भावस्य भावत सन् एवमुक्तः—राजवेष्टिनो
 मनवत्तनामनिष्ठस्म कीर्तिमनीनामाया प्रियतयाया स्तनमध्यकोदारम् अक्षह्कारसारं हारमिवासीमेव ज्ञानीम
 मरि विश्वाचयसि तदा त्व मे रतिरामः अम्या प्रभवविद्याम इति । प्रियतयाया अत्यन्तवस्त्वभावा स्तनमध्य-
 कोः कुचमध्यको उदारं शोभामापादयन्तम् अक्षह्कारेण भूतनेषु शारं श्रेष्ठं विश्वाचयसि इति त्वं मे
 रतिरामः रतौ रतिसुख रमयतीति राम अम्या प्रभवविद्याम प्रथयस्य प्रेम्हाः विद्याम अवलोकितम् इति । शीर्षे
 अवलोकितम् इति मदीयैः न बधो अमीन अनङ्गावैराग्य कामस्य लीपता यस्य कामवेनम् अवलोकितम् इति
 मावः । उद्वेगनाशेन तस्या मन्त्रमनुष्मन् भावनाशेन उदायतनाम् तस्या गह्वरं नि हृत्य निर्धनं मनवत्तस्यागारं
 मनवत्तयेष्टिनो हृदयम् अमिषुम् भागत्य च निबन्धकावकात् स्वककावापुष्यं आचरितहारदापहार आचरितो
 विहित हारस्य अपहार भाग्य येन लघ्विति—तस्य हारस्य किरणाया रमणीया निकरं समुह तेन निस्विक-
 रणरम्योदहार ये न उकारानुचरै आरतकमुचरै अनुगत अनुगत भूषासितु मम इव आचरितुम् अवश्यं
 पलासितुं अक्षमः अत्युत्तमविनं अत्युत्तमस्य शरीरममलस्यागत्य आनेगम् उत्कटतां उपेयुम् अम्युवः तस्य वारि
 वेगस्य पुनः हारम् अपहृत्य स्वकका विरोधने अन्तर्हितोऽनन्वत् ।

[पृष्ठ ७३] उच्यते—उच्यते—उच्यते—उच्यते—उच्यते—उच्यते—उच्यते—उच्यते—उच्यते—उच्यते—
 पयोऽयं मनु यत्रकुमारः पलासितुम् अक्षमः पित्रोः सेवनाभेदिकयो आचरितत्वात् उपासकत्वात् इतो विनोदर
 विन्धसुबुद्धीम् आकृति स्वीकृत्य पुरोऽप्यत स्वापितहार समाप्त सम्पत्त आस चित्तः इत्यपश्य विचारं कुम्भा
 प्रसिद्ध च विस्मयनापीयवेमनिबिधं विनोदरया पुष्पिण्या अवीषा स्वापी मविननयः तस्य वरमनः गुरुत्वं
 निमेषम् अन्तःस्वानं एतत्पितु एतस्य वारिवेकस्य पितुः सेवितस्य प्रतिपादितपुत्राणां कश्चित्पुत्रोऽयम्—
 इन्द्र इति—इन्द्रो हि अपराधिसाधनोपायः स केवळः एक एव इमं लोकम् इन्द्रकोकम् परं च वरकोकं च
 रमणीयं ररति इन्द्रकोके प्रजासु निमित्तुकी राक्षस इच्छापायोऽभीतेस्ता ररति तत्पत्र प्रजानाम् अनीते रतनात्
 स्वर्गप्राप्तिर्भावते इति भावः । राजा गृध्रैः शरीरे पुत्रे च मन्त्रादौ शोचम् अनतिष्ठस्य पुत्रं यस्य बाहुभ्यां
 शान्दयेन तस्य शासनं जिवेन चेतुः राजा स इन्द्र उच्यते । समं चतु इति अर्थः । तदा समवश्यो राजा उच्यते
 लोकदहाको मदीतीति भावः ॥१९५॥ इति मन्त्रात् न हि मदीमुक्तं पुत्रकोदाम्याम् अम्यस्य मिनामित्रम्यस्य
 ररति राजा पुनरोपी मुक्ता मित्राभ्युपगच्छता न मयति । यत्र पुष्पाः सन्ति य एव तरो विनं यत्र च शोपाः
 स अनुति विवदना राजकुपा अवति । तत् तस्यात् अस्य वारिवेकस्य ररतहारपद्मारेणोद्वेगपरिणतस्य एतद्वारस्य
 अपहारो भोग्य तेन उपहृतं नहं चरितं सदाचारप्रभृतिभ्यं पुत्रकोः पुत्रवदेन शरीरं न प्राचययायावदपश्यो
 ररतः समासितः । अस्य प्राचयत् एव समुचितं शासनं विद्यते इति स्वायम्भुवराणां आदेशो यस्मिन्
 उपासनातिपुत्रादेयात् आश्रयाः आश्रयं तं सदाचारमहात् सदाचारेन लक्ष्मीमेव आचारेन अत्यन्तव्यति

पालनेन महान्नं पूज्यं प्रहरन् तं तत्परानुचरा देवताभि कृतानि प्रानिहायीणि श्रेणिकभूपाय न्यवेदयन् । शग्निगन्तुं वाणममूढान्, प्रभूतपौरुषतां पुष्परचित्राणि तामालात्मन्, त्रिमिष्टमण्डलानि चक्रमण्डलानि कर्ण-कुण्डलानाम्, रुपाणिकर्णान् चन्द्रममूढान् मोक्षिकहारत्यम् एवम् अवगण्य विन्यास्य विन्यासि भूषणताम् अलङ्कारताम् अनुमगन्ति भजन्ते । निबुध्य ज्ञात्वा तद्भूयानेति—नन्यं वारिषेणस्य ध्यानं श्रेणं ध्यानस्य स्वश्रेणं प्रवृद्धानन्दतया स्वयमेव पुण्ड्रवताना कर्णः त्रिकोटीमाणां मरुत्प्रसवोपहारं नगन्देवोना हस्तं प्रवृष्ट्यमाण-सुरवृद्धपुष्पवर्णितं तम् । अम्बरेति—अम्बरे नभसि चरन्तीति अम्बरचरा आकाशगामिनस्ते च ते कुमारो देवविशेषा ते आस्पात्तयमानाश्च वाद्यमानाश्च ते आनताश्च दुन्दुभय तेषां निकरं समूहो यत्र तम् । अग्निमिपेति—अग्निमिषा देवा तेषां निकायं समूहं तेन कीर्त्यमानाश्च प्रशस्यमानाश्च तां स्तुतयस्तासां व्यतिकर्णं मिथश्च यत्र, तम् इत्येतन्नो महामहोत्सवावतारं च निश्चाय्य अवलोक्य, सत्त्वरम् अतिभीतिविस्मि-तान् करुणा अविशयभयेन विस्मितानि आश्चर्यं प्राप्तानि अन्तःकरणानि मनसि येषां ते तल्वरानुचरा श्रेणिकधरणीश्वरा येन निवेदयामासु ।

[पृ० ७७] नरवरा मोक्षालं सत्त्वरं तत्रागतं तन् कुमारैति—कुमारस्याचारं कुमारस्य सत्प्रवर्तनं तस्माज्जातो योजनुराग स्नेहः तस्य रमेन उत्कटतया उत्सारितमृत्निभोनिमगात् उत्सारितो निगाकृत मृत्-भीतिगग, मरणभयमम्पको येन तस्मात् मृगवेगात् गीरात् अवगतो जातः आमूलं मूलमारम्य आदित इति भावः वृत्तान्तं प्रवृत्तिं येन न श्रेणिकं तं कुमारं साधु क्षमयामास । तमाम् अयाचतेति भावः । नृपनन्दनोऽपि श्रेणिकपुत्रो वारिषेणोऽपि प्रतिज्ञातमयावमानं इत्यन्तः कालं रात्रिप्रतिमायोगं विभर्मीति प्रतिज्ञातस्य समयस्य कालस्य अवमाने धन्ते, (वारिषेणं मुग्धदेव्यान्तिके तपो जग्राह) एव विचार्य दीक्षां जग्राह । कं विचारं कृत्वा । 'प्राणिनां सुलभमम्पातां ग्लुं समारं व्यमनविनिपातां' खलु अस्मिन् समारं व्यमननिपातां सकटानाम् अपातां सुलभागमां जीवानाम् । 'तदलमयं कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन' तस्मात् अत्र भवे विलम्बेन कालयापनेन अलं कालयापनं मया न क्रियते । यत् तत्कालयापनं कालकवलनावलम्बेन कालस्य यमस्य कवलनाय भक्षणाय अवलम्बनम् अधिकरणं भवेत् । एषाऽहमिदानीम् अवाप्तयथार्थमनीषोन्मेषं तावदात्महितस्योपस्करिष्ये" । एषो अहं (वारिषेणं) इदानीमधुना अवाप्तायां लब्धायां यथार्थमनीषायां परमार्थभूतायां मनीषायां मते उन्मेष उदया जन्म येन स तथाभूतोऽहम् अभवम् । अधुना मम यथार्थात्मस्वरूपप्राप्तिं वृद्धेर्जन्म जातमिति भावः । तावत् प्रथमम् आत्महितस्य उपस्करिष्ये आत्महितं पुनः पुनर्यत्नं करिष्ये इति भावः । इति निश्चयमुपश्लिष्य इति निश्चयं कृत्वा । आभाष्य च पितरं जनकस्य श्रेणिकस्य अनुमतिं लब्ध्वा च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहम् आपिष्य आसमन्तात् पिष्ट्वा परित्यज्येत्यर्थं, आचार्यस्य सुरदेवस्य अन्तिके समीपे तपो जग्राह । भवति चात्र श्लोकः—विशुद्धमनसामिति—निर्मलचित्तानाम् परिच्छेदपरात्मना परिच्छेदे यथार्थात्मस्वरूपनिर्णये तत्पराणां सदाचारखिलं समीचीनाचारं खिला अप्रहृता रहिता इत्यर्थः । 'द्वे खिलाप्रहृते समे' इत्यमरः । ते खलुर्दुर्जनैः कृता विघ्ना किं कुर्वन्ति का हानिं जनयितुं प्रभवन्ति । मं कामपि ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याग्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः ॥१३॥

१४ स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः

[पृष्ठ ७८-७९] पुनः 'इष्टं धर्मं नियोजयेत्' इष्टं प्रियं जनं मित्रं बन्धुं वा धर्मं मसारं दुःखं सत्त्वान् उत्तमे मुखे धरति इत्येव स्वरूपवति धर्मं नियोजयेत् स्थापयेत् तथा आतुरस्य व्याधितस्य अगदकारोपयोग इव गदो रोगं करोतीति कारं अगदं नीरोगं करोतीति अगदवारं औषधं तस्य उपयोग इव प्राशनम् अनिच्छतोऽपि जनो कुशलं हितकामैश्चतुरैः क्रियमाणं आयत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे हितायावश्यं भवति तथा धर्मम् अनिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मसम्बन्धं क्रियमाणं आयत्याम् उत्तरभवे अवश्यं निश्चयसायं मोक्षाय

पृथ्वीमायस्य पुत्र सकलवैरिपुराभियेण गमस्मगनुयराणि प्रतिसेनया सङ्गितोऽभियेणो भविष्य मस्य त
 वारियेणो नाम । स हि क कुमारकाष्ठ एव संसारमुक्कममागमविमुक्तमानस परमैरागमोद्गुण परम
 वीर्य्य संनारमोनिशानविरिणिमाव लक्ष्मीर्ण प्रकटीभूतो यस्य पुन कर्णभूतो वारियेण । पूर्वनिचरसा
 पूर्ण अन्धकारविषये निर्णयरस निचरयरसो यस्य पुन कर्णभूत । धावकर्मस्याराधनेन धन्या समुद्रा
 या विषया बुद्धिस्तया मुक्तापासनसंनोनतया च मुक्ता निर्गम्याचार्यायाम् उपासनासु पुत्रासु संवीरतया
 तत्परतया च मन्त्रयवसिद्योपासनाध्ययनविधि धर्म्यकतया अवसितः निश्चित उपासकाध्ययनार्ता धावक-
 चरणविषयभूतानाम् अधममार्ता ज्ञानपाठाना विधिर्मेव सः पुन कर्णभूत धावकर्मद्योदितिधि विस्मयाव-
 मराकमार्ता निजानम् स वारियेण एव प्रेतभूमिषु प्रतानां धनानां भूमिषु भूतवासराविभाषां कृष्णधु
 वयोमिदामां रात्रिप्रतिमारिणो धनम् । रात्रिप्रतिमाद्यौन वमद्यान अन्धकारमन्त्रारोऽमवत् । धावकसरे
 मस्मिन्प्रसंगे सपाया निष्ठया परिणतः आभोग धावकमकारत्वाधियैव अनु निधाय मन्त्रमन्त्र
 मन्त्रमुत्तरीनामया पन्थाह्वयया पन्था पनेन मूख्येन कम्प्या या अह्वयना स्त्री पन्थाह्वयता तया वेरयवेत्येव ।
 आत्मनि स्वस्मिन् विषय अतीवासकचित्तभूतिप्रसरो अतीव सुतराम् आसक्तता सम्पत्ता या चित्तभूति मनो-
 भूति तस्या प्रसरो मस्य एवैवभूतो भूयवेणनामा वीर धयलतकम् आपन्न भागवत धम् एवमुक्त—राजभोष्ठिनी
 वनवसतानामनिष्ठस्य धीतिमतीकामाया प्रियतमाया स्तनमच्छकोधारम् अलङ्कारसारं हारमिहानीमेव जानीव
 यदि विभाभयसि तदा त्वं मे रतिराम अन्धका प्रभवविराम इति । प्रियतमाया अस्तनवस्त्रमाया स्तनमच्छ
 को भुचमम्भस्योः सवारं सोमामापावयन्तम् अलङ्कारैषु भूषणेषु चारं श्रेष्ठं विधानमसि वहासि त्वं मे
 रतिरामः रती रतिमुक्ते रमस्तीति राम अन्धका प्रभवविराम प्रभवस्य प्रेम्णः विराम अवसानम् इति । सोऽपि
 अवसानह्वयेनो भूयवेण न वक्षो जनीव अन्धकस्यैवः कामस्य तीव्रता यस्य कामवेगम् अवहमान इति
 भावः । तद्वचनादेव तस्या मनजमुक्तायां मावसादेव तवायतनात् तस्या वहात् नि सृष्य निर्वस्य वनवसत्सागारं
 वनवसन्नेष्ठिनो हर्म्यम् अस्मिन्माय आगम्य च निमज्जमावकात् स्वककाचातुमर्षि वाचरितहागपहार वाचरितो
 विहित हारस्य अपहार मोक्षन येन तद्विति—तस्य हारस्य किरवाया रसीना निकरं समूह तेन निश्चित
 वनरन्धरोश्चार यैः स तलारामुचैः आरगकुपुषी अनुभूत अनुयत मुयासिषु मय इव वाचरितुम् अममर्ष
 पलायितुं वक्षतः व्युत्समिर्बै व्युत्समैव छरीरममत्तत्वागत्वा आवेगम् उत्पटता उपेयुव जग्मुवः तस्य वारि
 येनस्य पुरत हारम् अवहाय त्यक्त्वा तिरोद्वे अन्धहितोऽमवत् ।

[पृष्ठ ७३] तवमुचय तववरेणका तत्प्रकाशविशेषवद्वात् तस्य हारस्य कान्तिविशेषवद्वात् 'वारि
 येनोऽयं ननु राजकुमार पलायितुम् अक्षम पित्रो वेजनाभेयिकयो आवकत्वात् अपासकत्वात् इमा जिनेस्वर
 भिन्नेसुक्ष्मी माकृति स्वीकृत्य पुरोऽङ्गत स्थापितहार समास सम्पन्न आस स्थित इत्येवमुच्य विचारं हस्ता
 प्रविश्य च विश्वरूपधीधमस्मनिवेश विस्मयराया पुत्रिभ्याः जनीवा स्वासी भविकमुप तस्य वैस्मनः नृहस्य
 निवेशम् अन्ध स्थानं गतत्वितु एतस्य वारियेवस्य पितु वेलिकस्य प्रतिपादितवृत्तात्वा कान्तिसमूहयः—
 दृष्ट इति—दण्डो हि अपराजितासुगोपाय स वेरक एक एव इम लोकम् इहलोकम परं च परलोके च
 स्वपारिक रक्षति इहलोके प्रमासु विनिपुणो राजा दण्डोपायोऽनीतेस्ता रक्षति ततश्च प्रजानाम् अनीते रक्षणात्
 स्वर्गापत्तिर्भवति इति भावः । राजा भूयेन स्त्री पुत्रे च यवाशोर्ण दोषम् अनतिक्रम्य भूतं वस्य यादुभोप
 तादृशैव तस्य घासर्ण क्रियेत चेत् राजा स दण्ड उभयोः सर्वं भूत इति मतिः । तदा समदण्डो राजा उभय
 ओकरक्षको भवतीति भावः ॥१९५॥ इति वचनात् न हि महीमुखा गुणवोपाय्याम् अन्धम भिन्नामिष्यव
 स्थिति राजा पुत्रोपो मुक्त्वा मित्रसन्ध्यावहना न भवति । यत्र गुणाः सन्ति त एव तत्रो मित्रं मत्रं च बोधा
 त सन्नुतिरिति व्यवहारा राजकुत्रा भवति । तत् तस्मात् अत्य वारियेणस्य रत्नहाराकारोपहतविरिचस्य रत्नहारस्य
 अपहारो मोपयं तेन उपहृतं लभं वरिषं सदाचारप्रभृतिर्वस्य पुत्रधनोः पुत्रवयेव जनीव न प्रायप्रयापावरावधयो
 दण्डं समस्ति । अथ प्रायवात एव समुचितं पाठं विच्छेद इति न्यायनिष्कर्षात्—आदीयो मस्मिन्
 तवाम्नात्पितुःपदेषात् आत्मायाः आगत्य तं सदाचारमहान्तं सदाचारेण सर्वं अत्यककतादि

पालनेन महान्न पूज्य प्रहस्यन् ते तल्लग्नानुचरा दयनानि कृणानि प्राणिद्वार्याणि श्रेणिकभूपाय न्यवेदयन् ।
 शरविमगन् वाणममूहान्, प्रमूनजोवरना पुष्परचिनशियामालात्वम्, भ्रमिलमण्डलानि चक्रमण्डलानि कर्ण-
 कुण्डलानाम्, कृषाणनिकरान् पद्मममूहान् मोनिककहारत्वम् एवम् अपराण्यपि अन्यान्यपि अम्ब्राणि भूषणताम्
 अलङ्कारताम् अनुमगन् भजन्ते । निगुण्य ज्ञात्वा तद्दधानेति-तस्य वारिपेणस्य ध्यान देयेण ध्यानस्य मध्येयेण
 प्रवृद्धानन्दनया स्वयमेव पुरदेवाना कः प्रियोर्यमाणाभरतरप्रसवोपहार नगरदेवीना हरते प्रवृण्यमाण-
 सुरवृक्षपुष्पावलिर्धनं तम् । अम्बरेति-अम्बरे नभमि चरन्तीति अम्बरचरा आकाशगामिनस्ते च ते कुमारा
 देवविशेषा ते आम्ब्रान्वमानाश्च वायुमानाश्च ते आनकाश्च दुन्दुभयः तेषा निकर नमूहो यन् तम् ।
 अनिमिपेति-अनिमिपा इवा तेषा निकाय समूह तेन कीर्त्यमानाश्च प्रजन्ममानाश्च ता स्तुतयस्तामा
 व्यतिकरा मिश्रण यन्, तम् इनन्तनो महाभद्रोत्तमवावतार च निचार्य अवलोक्य, सत्त्वम् अनिमीनिविस्मि-
 तान्त करणा अतिशयभयेन विस्मितानि आश्चर्यं प्राप्तानि अन्त करणानि मनानि येषा ते तल्लग्नानुचरा
 श्रेणिकधरणीदृग्गवेद निवेद्यामासु ।

[पृ० ७७] नरवर सोत्ताल मत्त्वर तन्नागन सन् कुमारेति-कुमारस्याचार कुमारस्य सत्प्रवर्तन
 तस्माज्जानो योजुगग म्नेह तस्य रमेन उत्कटनया उत्मारितमृतिभ्रीननगात् उत्मारितो निराकृत मृति-
 भ्रीनिमग, मरणभयममर्को येन तस्मात् मृगवेगात् गीरात् अवगतो ज्ञात आमूल मूलमारम्य आदित इति
 भाव वृत्तान् प्रवृत्ति येन स श्रेणिक त कुमार मायु धमयामास । धमाम् अवाचतेति भाव । नृपन्दनोऽपि
 श्रेणिकपुत्रा वारिपेणोऽपि प्रतिज्ञातनमयावसाने ह्यन्त काल रात्रिप्रतिमायोग विभर्षीति प्रतिज्ञातस्य नमयस्य
 कालस्य अवसाने अन्ते, (वारिपेण मुग्देवम्पान्तिके तपो जग्राह) एव विचार्य दीक्षा जग्राह । क विचार
 कृत्वा । 'प्राणिना मुलभसम्पाता खलु ममारे व्यसनविनिपाता' खलु अस्मिन् समारे व्यसननिपाता
 सकटानाम् आघाता मुलभागमा जीवानाम् । 'तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन' तस्मात् अत्र भवे
 विलम्बेन कालयापनेन अल काटयापन मया न क्रियन् । यत् तत्कालयापन कालकवलनालम्बेन कालस्य
 यमस्य कवलनाय भक्षणाय अवलम्बनम् अत्रिकरण भवेत् । 'एषोऽहमिदानीम् अवाप्त्यथार्थमनीपोन्मेप
 तावदात्महितस्योपस्करिष्ये' । एषो अह (वारिपेण) इदानीमधुना अवाप्ताया लब्धाया यथार्थमनीपाया
 परमार्थभूताया मनीपाया मते उन्मेप उदयो जन्म येन स तथाभूतोऽहम् अभवम् । अधुना मम यथार्थात्मस्व-
 रूपग्राहिण्या बुद्धेर्जन्म जातमिति भाव । तावत् प्रथमम् आत्महितस्य उपस्करिष्ये आत्महिते पुन पुनर्यत्न
 करिष्ये इति भाव । इति निश्चयमुपलक्ष्य इति निश्चय कृत्वा । आभाष्य च पितर जनकस्म श्रेणिकस्य
 अनुमतिं लब्ध्वा च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहम् आपिष्य आसमन्तात् पिष्ट्वा परित्यज्येत्यर्थं, आचार्यस्य सुरदेवस्य
 अन्तिके समीपे तपो जग्राह । भवति चात्र श्लोक — विशुद्धमनसामिति—निर्मलचित्तानाम् परिच्छेदपरा-
 त्मना परिच्छेदे यथार्थात्मस्वरूपनिर्णये तत्पराणां सदाचारखिलं समोचीनाचारं खिला अप्रहता रहिता
 इत्यर्थः । 'द्वे खिलाग्रहते समे' इत्यमरः । तं खलैर्दुर्जेन कृता विघ्ना किं कुर्वन्ति का हानि जनयितु प्रभवन्ति ।
 म कामपि ॥१९६॥

इष्टुपासकाध्ययने वारिपेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदश कल्प ॥१३॥

१४ स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः

[पृष्ठ ७८-७९] पुन 'इष्ट धर्मे नियोजयेत्' इष्ट प्रिय जन मित्र बन्धु वा धर्मे समारदु खत
 मत्त्वान् उत्तमे सुखे धरति इत्येव स्वरूपवति धर्मे नियोजयेत् स्थापयेत् तथा आतुरस्य व्याधितस्य अगदका-
 रोपयोग इव गदो रोग करोतीति कार अगद नीरोग करोतीति अगदकार ओपव तस्य उपयोग इव
 प्राशनम् अनिच्छतोऽपि जनो कुशलं हितकामैश्चतुरे क्रियमाण आयत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे हितायावश्य
 भवति तथा धर्मम् अनिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मसन्ध क्रियमाण आयत्याम् उत्तरभवे अवश्य नि श्रेयसाय मोक्षाय

पुष्पीमार्यस्य पुन सकृन्वैरिपुरामिवेधं समस्तजननमराणि प्रविष्टेतया सहितोऽभिषेको भविष्येति वक्ष्येति नाम । स किञ्च कुमारकाञ्च एव संसारमुक्तमामगमिषुद्धमानसः परमैराग्योद्भूतः परमैराग्यं संसारमोक्षिनागविरक्तिनामः उद्गोष प्रकटीभूतो यस्य पुन कर्मभूतो वारिदेव । पूर्वनिमग्नः पुन अघ्यारमविषये निमग्नरस निमग्नरसो यस्य पुन कर्मभूतः । आचक्षतेमस्याराधनेन तस्या समृद्धा या विषया बुद्धिस्तया गुरुत्वात्तत्त्वोपलब्धया च गुरुणा मित्राणां चार्थानाम् उपासनासु पूजाम् संवीर्यता उत्तरतया च मन्त्रगणसिद्धीपाद्यव्यापनविधिः सम्यक्तया व्यवसितः निश्चितः उपासनाव्यापनार्थां आचक्षते चरन्विवदभूतामाम् अध्ययनार्तां ज्ञानपाठार्तां विधियेति चः पुन कर्मभूतः आचक्षतेऽर्थोदभिधिः विस्मयावह पराक्रमार्तां निजानम् स वारिदेव एव प्रेतस्मिपु प्रेतार्तां कथानां भूमिपु मूलवासरविभागायां कृष्णवर्णः रंजीतिगतायां रात्रिप्रतिमास्मिन्नेव बभूव । रात्रिप्रतिमाधोनेन वपुषाम्ने अन्धकारमध्यनरतोऽप्यवपुः । कथावसरे अस्मिन्प्रसंगे कथाया निघाया परित्तः आभोग पाठान्धकारत्वादिर्वैच सन्निगताया मध्यमाने मग्नमुत्पद्येतामका पय्याङ्गनया पय्या पयेल मध्येन कम्पा या अहयता स्त्री पय्याङ्गना तया वेदमयस्य । आत्मनि स्वस्मिन् विषय अतीवाधस्ताचित्तवृत्तिप्रसरो अतीव सुतराम् आसक्त्या सम्पदा या चित्तवृत्ति मनोवृत्ति तस्या प्रसरो यस्य एवैभूतो मग्नवेतनामा बीरः सत्यतत्तम् आपन्नः आगतः सन् एवमुक्तः—रात्रभोक्त्रिणो वनवसतानामिच्छस्य कीर्तिमदीनामामा श्रिततमाया स्तनमण्डलोदारम् अलङ्कारहारं हारमिशानीमेव आनीय यदि विभाजयति तदा त्व मे रतिरामः अयथा प्रणवविराम इति । श्रिततमाया अत्यन्तवल्गुमाया स्तनमण्डलमो कुचमण्डलमो उदारं शोभाभावाद्यन्तम् अलङ्कारेषु मूलेषु चारं श्रेष्ठं विभाजयति वदति त्व मे रतिरामः रती रतिमुखं रमयतीति रामः अयथा प्रणवविराम प्रणवस्य प्रेम्हाः विराम अवसानम् इति । शोभि अवसानङ्गवेगो मृगवेगः न वसो अनीलः अलङ्कारैः कामस्य लीङ्गा यस्य कामवैभम् अवहमान इति माव । उद्गतादेव तस्या मग्नमुत्पद्यं आपनादेव तदायत्तात् तस्या महत् नित्य निर्गत्य वनवसत्सुचारं वनवसत्भोक्त्रिणो हर्म्यम् अमिमुर्य आवश्य न निजकलावयम् स्वस्वाचारुयम् आचरितवृत्ताद्यङ्कार आचरितो विहित हारस्य अपहार मोषणं मेव उच्यते—तस्य हारस्य किरणानां रश्मीना निररः समूहः तेन निश्चितः अचरमवोवचार यैः स उत्तारानुचरैः आरम्भपुत्रीः अनुयतः अनुयतः मुवायितु मय इव आचरितुम् अतमयैः पञ्चाम्नि अक्षमः व्युत्सगिर्गं व्युत्सगस्य सरीरममस्त्वामस्य आवेगम् उत्सृजता उपेयुवः अमुवा तस्य वारि वेगस्य पुरत हारम् अपह्राय स्वस्वत्तिरोववे अन्तर्हितोऽप्यवपुः ।

[पृष्ठ ७३] तदनुचरा तद्वचरतेवका तत्प्रकाशविषेयवधात् तस्य हारस्य कान्तिविषेयवधात् वारि वेगोऽयं ननु राजकुमारः पञ्चाम्निगुम् अक्षमः पित्रीः वेत्तगाधेयिकयोः आचक्षत्वात् अवाचकत्वात् इमां भिन्नेस्वर विम्बसदृशीम् आकृति स्वीकृत्य पुरोऽग्रतः स्थापितवृत्तः समस्त सम्यक् आस स्थितः इत्यवमस्य विचारं कृत्वा प्रसिन्ध न विरजमरात्रीधवेस्मिन्निवेधं निषेधयामा गृहिण्याः अनीपा स्वामी धविजनप तस्य वैरमनः गृहस्य निषेधम् अन्तःस्थानं उत्सृज्य एतस्य वारिदेवस्य पितुः श्रेणिकस्य प्रतिपादिनवत्तायाः कथिनप्रवृत्तम्—वृषट् इति—वृषट् इति अपराविधासगोपाय ॥ वेवळ एक एव इयं कोकम् इहकोकम परं न परकोकं न स्वगविक रक्षति इहकोके प्रजासु विनिमुक्तो राज्ञा इच्छापायोऽभीतेमतां रक्षति तत्पर प्रजागाम् अनीते रसनात् स्वर्गप्राप्तिर्भवति इति मावः । राज्ञा मूलेन धात्री पुत्रे च यथाशेषं शोषम् अनतिक्रम्य भूतः यन्न दादुनीय तादृशे तस्य घातनं क्रियेत चेत् राज्ञा ॥ इत्य अमयोः सर्वं भूत इति भवति । तथा सनवृषटो राज्ञा जनयः कोकरस्यो वयतीति मावः ॥ ११५॥ इति वचनात् न हि महीमुखा गुणवोपाय्याम् अयथा दिनादिमध्यव स्थिति राज्ञा गुणवोपी मृतत्वा मित्राद्युपवस्था न भवति । यत्र गुणाः सन्ति स एव करो विभं यत्र न दोषाः न धारिनि व्यवस्था राजकुजा भवति । सन् तस्मात् अस्य वारिदेवस्य रत्नहारारारोपजनवर्तितस्य रत्नहारस्य अपहारो मोषणं तेन उच्यते न च वरिष्ठं तदाचारप्रवृत्तिर्वस्य गुणवोपीः पुत्रवपेय धात्रीः न प्राचप्रयाचाररत्नवृषटो वरा मयति । अस्य प्राचपाण एव समुचितं पाठनं विद्यते इति न्यायदिपुत्राणाम् आर्षेणा अस्मिन् तदाभुताप्यनुपदेष्टात् आद्याया आयाय तं तदाचारमहातां तदाचारैव लवीनीमेव आचारैव यावदववगति

पालनं महान् पूज्य प्रहसन् ते तत्रगनुचरा देवनाभि कृतानि प्रातिहायाणि श्रेणिकभूपाय न्यवेदयन् ।
 वरविमगन् चाणममृहान्, प्रूनतेपन्ना पुष्परचिनशिसामालात्वम्, भ्रमिन्मण्डनानि चक्रमण्डनानि कर्ण-
 कुण्डलानाम्, कृणानिक्तान् पद्मनमृहान् मोनिकनारम्भम् एवम् अपराण्यपि अन्यापि अग्राणि नृपणताम्
 अलङ्कारताम् अनुमगन् भजन्ते । त्रिवुध्यं ज्ञात्वा तद्व्यानेति-तस्य वारिषेणस्य ध्यानश्रेयं ध्यानस्य स्वयं
 प्रवृद्धानन्दनाया स्वयमेव पुण्ड्रदेवना करेः विज्ञेयमाणापरतरुप्रमयोपहार नगरद्वीपा हस्ते प्रवृष्यमाण-
 मुरवृक्षपुष्पाचरित्यं नम् । अम्बरेति-अम्बरे नभसि चरन्तीति अम्बरचरा आकाशगामिनस्ते च ते कुमारो
 देवविशेषा ते आम्कान्यमानाश्च वायमानाश्च ते आनकाश्च दुन्दुभय तेषां निकरं नमूहो यत्र तम् ।
 अनिमिषेति-प्रतिमिषा देवा तेषां निकायं समूहं तेन कीर्त्यमानाश्च प्रशस्यमानाश्च ता स्तुतयस्तानाम्
 व्यक्तिकं मिश्रणं यत्र, तम् इत्यन्तो महामहोत्सवावतारं च निचाय्य अवलोक्य, मत्वरम् अतिभीतिविस्मि-
 तान् करुणा अतिशयभयेन विस्मितानि आश्चर्यं प्राप्तानि अन्तःकरणानि मनामि येषां ते तलवगनुचरा
 श्रेणिकधरणीद्वरायेद निवेदयामासु ।

[पृ० ७७] नरवर मोत्ताल मत्वर तत्रागतं गन् कुमारानि-कुमारस्याचार कुमारस्य सत्प्रवर्तनं
 तस्माज्जानो योजुराग स्नेहं तस्य रनेन उत्कटतया उत्मारितमृतिभोनिनगात् उत्मारितो निराकृत मृति-
 भोनिग, मरणभयमस्पर्शो येन तस्मात् मृगवेगात् वीरात् अवगतो जात आमूल मूलमारभ्य आदित इति
 भाव वृत्तान् प्रवृत्तिं येन म श्रेणिकं त कुमारं मातु धमयामास । धमाम् अयाचनेति भाव । नृपन्दनोऽपि
 श्रेणिकपुत्रो वारिषेणोऽपि प्रतिज्ञातमयावसानं इत्यन्तं कालं रात्रिप्रतिमायोगं विभर्मीति प्रतिज्ञातस्य नमयस्य
 वारभ्य अवसाने अन्ते, (वारिषेण मुरदेवम्प्रान्तिके तपो जग्राह) एव विचार्य दोषा जग्राह । क विचार
 कृत्वा । 'प्राणिना सुलभमपानां त्वलु मसारे व्यसनविनिपाता' त्वलु अस्मिन् मसारे व्यसननिपाता
 सकटानाम् आघाता सुलभागमा ज्ञायानाम् । 'तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन' तस्मात् अत्र भवे
 विलम्बेन बालयापनेन अल कायापनं मया न क्रियत । यत् तत्कालयापनं कालकवलनालम्बेन कालस्य
 यमस्य कवलनाय भक्षणाय अवलम्बनम् अविकरणं भवेत् । 'एषोऽहमिदानीम् अवाप्नयथार्थमनीपोन्मेष
 तावदात्महितमर्थोपस्करिष्ये' । एषो अहं (वारिषेण) इदानीमधुना अवाप्नाया लब्ध्वा यथार्थमनीपाया
 परमार्थभूतायाः मनीपाया मने उन्मेष उदया जन्म येन म तथाभूतोऽहम् अभवम् । अधुना मम यथार्थमस्व-
 रूपप्राप्तिष्या दुद्धेर्जन्म जातमिति भाव । तावत् प्रथमम् आत्महितस्य उपस्करिष्ये आत्महिते पुन पुनर्यत्नं
 करिष्ये इति भाव । इति निश्चयमुपहितस्य इति निश्चयं कृत्वा । आभाष्य च पितरं जनकस्य श्रेणिकस्य
 अनुमतिं लब्ध्वा च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहम् आपिष्य आममन्तात् पिष्ट्वा परित्यज्येत्यर्थं, आचार्यस्य सुगदस्य
 अन्तिके समीपे तपो जग्राह । भवति चात्र श्लोक — विशुद्धमनसामिति — निर्मलचित्तानाम् परिच्छेदपरा-
 त्मना परिच्छेदे यथार्थमस्वस्वरूपनिर्णये तत्पराणां सदाचारखिलं समोचीनाचारं खिला अप्रहृता रहिता
 इत्यर्थः । 'द्वे खिलाप्रहृते मने' इत्यमरः । तं त्वल्लेर्दुर्जनं कृता विघ्ना किं कुर्वन्ति का हानि जनयितुं प्रभवन्ति ।
 म कामपि ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रवृत्त्यावजनो नाम त्रयोदशः कल्पः ॥१३॥

१४ स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः

[पृष्ठ ७८-७९] पुन 'इष्ट धर्मे नियोजयेत्' इष्टं प्रियं जन मित्रं वन्तु वा धर्मे नमान्द्रुपतः
 मत्त्वान् उत्तमे सुखे धरति इत्येव स्वरूपवति धर्मे नियोजयेत् स्थापयेत् तया वानुगम्य व्याघ्रिनम्य अगदका-
 नोपयोग इव गदो रोगं करोतीति कारं अगदं नीरोगं करोतीति अगदकारं औपय नम्य उपयोग एव
 प्राशनम् अनिच्छतोऽपि जन्तो कुशलं हिनकामैश्वर्यं क्रियमाणं वायत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे विनाशोऽप्य
 भवति तथा धर्मम् अनिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मसर्वत्र क्रियमाणं वायत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे विनाशोऽप्य

भवति इति वातमति इत्युत्पन्नमुक्तिं (वारिवेगमुनि स्वसुहृत् पुष्पवन्तं मुरदेवपाशैर् बीजां प्राह्वयामात्) उपपरिग्रहेऽपि तपस स्वीकारेऽपि सहपातुम्वेदितत्वात्, पुष्पवन्तो बभूव्येन सह बाम्ये आरमन् ब्रूमिरेषां करणात् विरपरिचयकप्रथमवशाच्च शेषकाकपयन्तं परिचयः अन्योऽप्यस्वभावपरिज्ञानेन तेन वदप्रभवत्वात् संजातवृद्धनत्वात् । आरमन् प्रियसुहृत् स्वस्य प्रियं मित्रम् कस्य नन्दनं चाधिष्ठस्यायनस्य साधिष्ठस्य वपन्तं साधिष्ठस्यायनः तस्य नन्दनं पुत्रं कर्मभूतस्य साधिष्ठस्यायनस्य पुष्पवतीति—पुष्पवती ऋष्ट्याः पुष्पवत्याभ्यां प्राह्वय्या भन्तुः जमात्यस्य नन्दनं पुत्रं हस्तेन अवलम्ब्य कर्मभूतम् जमात्यनन्दनम् अभिनवेति—अपि नवो नूतनं स वासी विवाहस्य तस्मिन् कृतकरसूत्रबन्धनं पुष्पवतामिवात्मन् एतद्ययनतामुबभूवन् एतस्यायनं मूर्धं तत् अनुसृत्य यन्नेन स्वाभिपुत्रत्वात् स्वामिन् शेषिकमप्यस्य पुत्रत्वात्, प्रथिपमहामुनिः कर्मवत्वात् स्वीकृतमहाप्रतिमतिरूपत्वात् आचरितामुत्थानम् आचरितं विहितम् अमुत्थानं गौरवेण जातनाश्रुत्या बभूव प्रति कृत्वा तं स्वीकृत्य आद्येन स्वापनाधिकरणं येन तं पुष्पवन्तं हस्तेन गृहीत्वा पुनः अस्मात् अस्मात्प्रबन्धम् नो व्यावर्तयिष्यत्ययं भयवाम् बभूवा स्वपुत्रं याद्वीति बहिष्यति पूज्योऽयमिति तेन सह अनुसरन्तम् अनुवातम् पुष्पवान्तं वुरोर्बोधाभावस्य समीपम् अवाप्तवन्तम् आनतवन्तं (तं वर्यवित्वा गुरोः बीजाद्याने सुचनां करोति स्म ।)

मदन्तं वै पुष्प एव लब्धं महानुभावताकृताकम्बतः महासज्जनता एव कृता तस्या आचारमूर्तो बभूव स्वभावैर्नैव बभूवैव सहारादुक्तिः भाषानुभवने अस्मात्तात्पर्यमोध्यवार्त्तानुभव विरक्तचित्तः सर्वे च ते संयता जैनमुनयः तेषां भूतं महाप्रतापिकं तस्य याचनार्थं भयवत् पुष्पस्य भवत् पादभूतं चरन्समीपम् अस्मात् आगतं । इति सुचरित्वा भयवतोऽप्यर्थे भयवतो बीजाचार्यस्य समीपे कायकरिकयात्मिकार्थं धारमिव कामो भवति ॥ एव कर्णे गजस्तस्य कर्णिका च्चकः तस्य बह्मन् परिवारसमूहमिव मूर्धबनिकरं मर्धति मस्तके चावन्ते इति मूषकाः धिरोक्ताः तेषां निकरं समूहम् अस्मात् सर्वं कारयित्वा बीजां प्राह्वयामात् बबीपदत् । सोऽपि पुष्पवन्तं तदुपरोधासेपात् तस्य वारिपचमुनेः उपरोधासेपात् आग्रहवत्तात् बीजाभावात् हृदयस्य मतसः अविहितवेदितव्यात् अविहितम् ज्ञातं च तदेवित्तव्यं बोधयित्वात्वरूपं ज्ञेयं वस्य मतस्य अप्यग्रहप्रसिद्धत्वाच्च कामापकाचेन प्रसिद्धत्वाच्च पीडितत्वाच्च । (स वारिवेचपिया रक्षमाभोऽपि कान्ता ध्यायन् हावद्यमना भव्योत् ।) पञ्चरथाः पतनीव पञ्चस्य रम्यते एवपि विद्यत तत्पञ्चरं पस्यादित्थनपञ्चम् । तदैव पाचम् आभेयमारवन्तसु एव पतनीव पञ्चीव यथा पञ्ची पञ्चरे कृत्वा रक्षते यथा पृथाङ्गु सपः स मन् पन्तिभीकितप्रतापो रक्षते मन्त्रकस्या मन्त्रसामर्थ्येन कीर्तिता स्वमित्र प्रतापः विक्रमा वस्य । वादवन्तातामिति वादवन्तस्य वृद्धकम्बनस्य आकाशितः स्तम्भे वद व्याकुलपृष्ठा इव ऊरुव इव बाहुनिर्ग राशिनिर्ग वारिवेचविद्या रक्षमात्रं स निजकाम्ना ध्यायति स्मैवम् । अखकेति—स्मेरिन्वाचरावाः ईपद्वयमुपो विम्बफल्गुमानो रक्तोऽम्बरी यस्या सा तस्या प्रियायास्तन्मुक्तं पुरत इव समास्तं । कर्मभूतं मूषकं अलम्बकवत्पञ्चम् अलङ्कारभूतस्तमा कम्पाद्यमीकृत्वा केषां अलङ्कारो प्रोच्यन्त तेषां वक्ष्येन मण्डलेन ये मम प्रियाया वरन् रम्यं सुन्दरं प्रतिपादयि । एत कर्मभूतं भूत्वागतंकाणं भ्रुवो कटे इव भ्रूयते तयोः मतः नर्तनं तेन काणं सुन्दरम् । पुनः कर्मभूतं नवनयनविज्ञातं नवो भूतं नवनयनोन्मोदितात् मृदुगारवो जाय यव तत् । पुनः कर्मभूतं पादपञ्चस्वर्गं च चास्मि पञ्चस्वर्गं यस्य तत् पुनः कर्मभूतं मयूरवचनपथं मयुराणि वचनानि यमं यस्य तत् ॥१९७॥ कर्णायतसेति—ये भूया राजानः प्रजनिगोपु प्रेगवतीपु कात्यायु कर्मयो धोवयो अयतसो भूयसे तस्मिन् रचमन्ति मुक्तमण्डकं च कर्णायोरद्वयवत्त्वी च रचमन्ति । राजात् प्रेयं बहोवयो स्तनयोः वच वत्सीलेकनम् अचने कटो मातरयानि रघनादिकं च रचमन्ति पादेषु अलतकन्देन च वाचकरधेन च वचनानि केपनानि भूर्बन्ति त एव जगता माध्यवन्तः ॥१९८॥

[पृष्ठ ८] कीर्तयति—प्रियस्यामुक्तिर्लीला प्रियाननस्य निजयो बोधवै विदेषा चायं स विलास आत्म्या विक्रमवती क्षीप्रमाने नयने एव वटके मीनकमले यस्या सा तस्या पुनः कर्मभूता सा । एतारति—एतारः महान् य स्मर नाम तस्यास्तारकितरचकः अथरत्नकः श्रोत्रवित्तव्यं यस्या सा तस्या पुनः कर्मभूता । उगुद्गति—उलहयो समीपी वीवरी पुष्टी च ती प्नाचरो रत्नो तयान्मण्डलं वरयाः सा तस्या । मया

सह तस्या कदा सगम स्यात् ननु वितर्के ॥१९९॥ किं च—चित्रेति—कानने उत्कण्ठित वेषमुनि इत्थ दिनानि गमयति । दिनगमनव्यापारान् वर्णयति—चित्रालेखनकर्मणि निजमनसि निखाताया इव प्रियाया वस्त्रे चित्र-लेखनकार्ये, मनसिजेति—मनसिजो मदन तस्य व्यापाराः मधुरप्रवृत्तय तेषा साराणा स्मरणे, गाढेति—सन्तत मनसा दृढभावनया अग्रस्थिताया प्रियतमाया पादयो असकृत् मूर्च्छा प्रणामकरणक्रमे स्वप्न इति सहवासवियोगविषये स्नेहदुःखगमे वेषमुनि दिनानि कानने समुत्कण्ठित यापयति स्म ॥२००॥ इति निर्वन्वेन अनवरत ध्यायन् चिन्तयन् द्वादशवर्षाणि समानपीतु यापयति स्म । शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्या सह तेषु विषयेषु शूरदेवाचार्योऽपि वारिपेणपुष्पदन्तमुनियुगलेन सह तेषु तेषु विषयेषु विविधदेशेषु तीर्थकृतान् श्रृपमादिवर्धमानान्ताना चतुर्विंशतेजिनवराणा पञ्चकल्याणैर्मङ्गलानि मङ्गल पुण्य लान्तीति यच्छन्ति भक्तेभ्य इति भगलानि म पाप गालयन्तीति वा भगलानि पुण्योत्पादीनि पापविनाशोनि च स्थानानि जन्मादिनिर्वाणपर्यन्तानि स्थानानि तीर्थभूमीर्वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तमितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपुरे जिनानाम् आयतनानि गृहाणि तै उत्तसिता भूपिता उपान्ता समीपस्था शैलस्य पर्वतसवन्धिनी चूला शिखर यस्य तस्मिन् पञ्चशैलपुरे राजगृहे, समागत्य आत्मन (शूरदेवमुने) वारिपेणऋषेः च तद्विषये पर्युपासितोपवासत्वात् स्वीकृतचतुर्विधाहारत्यागात्, त पुष्पदन्तम् एकाकिनम् एव प्रत्यवसानाय आहाराय आदिदेश आज्ञा ददाविति भाव । 'भक्षित-चवित-लीढ-प्रत्यवसित-गलित-खादितरसातम्' इत्यमर । तदर्थम् आदिष्टेन तेन च चिन्तितम् । 'चिरात् कालात् खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवन्नुद्धरितोऽस्मि । दीर्घ-कालोऽतीत खलु अद्य एकस्मादपमरणात् जीवन् उत्तीर्णोऽभवम् (सप्रति हि मेऽन्यूनानि विपुलानि पुण्यानि अवैक्ष्य दृष्ट्वा दीक्षा मुमुक्षुणा दीक्षा त्यक्तुम् इच्छा यस्य तथाभूतेन तेन मङ्क्षु शीघ्र पागपरिक्षेपक्षरितेनैव, पाशस्य जालस्य परि सर्वत क्षेप आवरण तस्मात् क्षरितेन ज्युतेन पक्षिणा विहगेन इव पलायितुम् आरब्धम् । वारिपेण तथाप्रस्थानात् कृतोदकं वितर्क्य ज्ञातोत्तरफल यथा स्यात्तथा तस्य शीघ्र गमनमवलोक्य दीक्षाया अनेन जलाञ्जलिर्दत्तेति ऊह कृत्वा 'अवश्यमय जिनरूप जिहामुरिव सौत्सुक्य विक्रमते जिनरूप जिन-दीक्षा जिहामुरिव त्यक्तुमिच्छन्निव उत्कण्ठित विक्रमते अश्ववद्वेगेन याति । 'तदेव कपायमुष्यमाणधिपण समयप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीय' तस्मात् एव पुष्पदन्तमुनि कपायै क्रोधादिभि मुष्यमाणा अपह्नि-यमाणा धिपणा बुद्धि यस्य स समयस्य जिनशासनप्रतिपालने रक्षणे अधिकरणे आधारभूतं जिनशासन-रक्षणमारवाहिभि न भवत्युपेक्षणीय न त्याज्य इति अद्धा यथार्थम् अञ्जसा अनुच्याय विचिन्त्य तमनुरव्य त पुष्पदन्तम् अनुसृत्य एतत्स्थापनाय जनकनिकेत पितु श्रेणिकभूपस्य निकेत गृह जगाम । चेलिनी महादेवी पुत्र मित्रेण सत्त्र सह उपढौकमानम् आगच्छन्तम् अवैक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षार्थं सराग वीतराग चासनमयच्छत् । वारिपेणस्तेन सम चरमोपचार चरम अन्तिम उपचार शम अस्मिन् तत् चरमोपचार वीतरागोपशमयुक्त विष्टर सिंहासनम् अलकृत्य भूपयित्वा अम्ब, समाहूयता समस्ता अपि आत्मीया स्नुषा ।

[पृष्ठ ८१] (तदनु वारिपेणजाया इवश्वा आज्ञया तत्रागता) कथभूताम्ता वनदेवता इव यथा वन-देवता प्रसूनोत्तसोत्तरङ्गितकुन्तलारामा भवन्ति । पुष्पभूपितोत्तरङ्गितकुन्तलं केशै आसमन्तात् रामा रमणीया भवन्ति । तथा ता वध्वोऽपि कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमा यथा कल्पलता कल्पवल्ली रत्नालङ्कारमनोहरावयवोत्पत्तय तथा वध्वोऽपि । प्रावृष इव समुद्रद्वयोधराविद्वद्व्यभागा यथा वर्षा समुद्रतजलधरावृतनभोमध्यभागास्तथा समुद्रतस्तनावजितावलग्नभागा । सकलजगत्लावण्यलवलिपिलिखिता इव समस्तलोकसौन्दर्याशरूपलिपिना लिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगा सुभगानि रमणीयानि तानि तानि भोगा-यतनानि शरीराणि तेषाम् आभोग विन्तारो यासा ता । पुन कथभूता । कञ्चेलिकाननक्षितय इव पाद-पल्लवोन्लासितविहारविषया अशोकवनभूमयो यथा पादा मूलानि तानारभ्य पल्लवै किमलर्य उल्लासिता शोभिता विहारविषया उद्यानप्रान्ता याभिस्ता तथा इमा वध्वोऽपि पादपल्लवा चरणकिसलया तै उल्लासिता शोभिता विहारविषया लीलाप्रदेशा याभिस्ता । कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणितोन्मदमराल-मण्डलस्खलितचलनजलेशया यथा कमलिन्य कमललता रत्नजडितनूपुररवमिव शब्द बुध्वाणा उन्मदा उन्मत्ता

मवति इति ज्ञातमिति इत्युत्तरमनुबुद्धिः (चारिषेयमुनिः स्वतुह्यं पुण्यवर्त्तं मुरवेवपाशं दीप्ता प्रादुषायाम्) तपःपरिषद्देर्मेप तपसः स्वीकारेर्मेप सहस्रामुकीकृतत्वात् पुण्यवर्त्तमेव न्यस्येन सह बान्धे आत्मनः ब्रूहिप्रीडा करमात् चिरपरिषदप्रवृत्तप्रवृत्ताच्च दीपकाल्पायत्तं परिषदः अग्न्योम्यम्बमाचपरितान् तेन वृद्धप्रवृत्ताच्च संवातवृद्धस्तद्वत्त्वात् । आत्मनः प्रियमुह्यं स्वस्य प्रियं मित्रम् कस्य नन्दनं धार्मिकस्यायनस्य धार्मिकस्य न्यस्यं धार्मिकस्यायनः तस्य नन्दनं पुत्रं कर्मभूतस्य धार्मिकस्यायनस्य पुण्यवर्त्ततीति—पुण्यवर्त्तो भट्टिग्याः पुण्यवर्त्ता न्यायाः ब्राह्मण्याः भगुः अमात्यस्य मन्त्रेण पुत्रं हस्तेन जवज्जम्ब्य कर्मभूतम् अमात्यनन्दनम् स्मभिनवेति—अग्नि नवो नूतनः स चासौ विवाहवचः तस्मिन् इति करमुण्यवर्त्तनं पुण्यवर्त्ताभिधानम् एतद्व्ययनानुपममेव एतस्मात्तत्तं गृहं तत् अनुमत्य गमनेन स्वागिपुत्रत्वात् स्वागिनः भेषिकनवस्य पुत्रत्वात् प्रतिपन्नमहामुनिवृत्तत्वाच्च स्वीकृतमहाप्रतिपत्तिक्यत्वात् आचरितान्मुत्थानम् आचरितं विहितम् अम्पूरनान् नीरवेय आसनानुत्थानं पुन्यं प्रति गत्वा तं स्वीकार्यं आसने स्थापनादिकरत्नं यत् तं पुण्यवर्त्तं हस्तेन गृहीत्वा पुनः अस्मात् अस्मात्परेष्वात् या न्यावतमिष्यत्ययं यमवाम् जनुना स्वपूहं धाहीति वक्ष्यति पुन्योम्यमिति तेन सह अनुसरत्तम् अनुयात्तम् पुनः पात्तं मुरोर्दीप्ताचायस्य उद्योगम् आवाचनत्तम् आगतवर्त्तं (तं वर्त्तित्वा पुरोः दीप्ताचाने सुवना कपोति स्म ।)

अवन्त हे पुन्य एव कस्तु महानुयायताकृताज्जम्बतः मडासज्जमता एव कृता तस्या आचारभूतो मुन इव स्वभावेनैव भवतीति सहास्रदुडिप्यः मागानुमन्ये अन्नाग्राह्यपुण्यमायपरावर्त्तानुमनैः शिरस्तचितः सर्वे च ते संयदा जैनमुनयः तेषां भर्ता महाज्जाधिकं तस्य आचनार्थं भगवतः पुण्यस्य सकृत् पादमूलं नरवृत्तमीयम् आमातः आमतः । इति सूचयित्वा भगवतोऽप्यर्थे भयवर्त्तो दीप्ताचार्यस्य समीपे कामकरिकावाकिनार्तं मारमिष कावो मरुतः स एव कटी मरुतस्य कश्चिका च्चजः तस्य बर्हमात् परिवारसमूहमिव मुनज्जमिकरं मूर्धनि मरुतके चायत्तं इति सूचकाः शिरोभ्याः तेषां निकरं समूहम् अपनाम्य कोचं कारयित्वा दीप्ताः प्रादुषायत्तं जनीयद्वात् । सीसिपु पुण्यवर्त्तं तपुपरोवासेपात् तस्य चारिषेयमुनेः उपरोवासेपात् आप्रवृद्धत्वात् दीप्तामत्यं हृदयस्य मगधः अवहितवेष्टितव्यात् अवहितम अजातं च तदेष्टितव्यं जीवापितरवर्त्तं जेवं मस्य मगधः जग हृदयप्रसिद्धत्वाच्च कामपिद्याचनं प्रसिद्धत्वाच्च वीडितत्वाच्च । (स चारिषेयविद्या रश्मिभाषोमिपि कान्तां ध्यायन् प्रादुषयमा जनीयत् ।) पञ्जरपात्रं पत्तरीचं पञ्चयत्तं वध्यते पञ्चाधिकं तत्पञ्जरं पञ्चाधिकं पञ्चमत्तम् । तदेव पात्रम् आयेयचारयवस्तु तत्र पत्तरीचं पत्तरीचं यथा पत्तरी पञ्जरं वज्रा रश्मते यथा पुत्राष्टुः तपः स मन्त्रं प्रसिद्धीकृतप्रतापो रश्मते मन्त्रकृता मन्त्रसामर्थ्येन कीकृतं स्वस्मिन् प्रतापः विक्रमो मस्य । माडवज्जमाडा नितो गज्जवन्तनः दुडवन्तननः आत्मापितः स्वस्मिन् वज्रा आत्मापितः इव क्रूरवजः इव प्रादुर्गितं पतिवित्तं चारिषेयविद्या रश्मिभाषः स निजकात्ता ध्यायति स्मैवम् । अल्लकेति—स्मैरविम्बावरायाः ईपद्वयमुतो मिन्न पञ्जरमानी रक्तोऽधरो मस्याः सा तस्या विद्यामास्तमुण्यं पुरतः इव समास्ते । कर्मभूतं मुनम् अज्जवज्जवत्तम् अज्जवज्जवत्तमुत्तमाः ज्जटाउद्यमीपस्याः केशा ज्जकाः प्रोच्यन्त तेषां नन्दनं मध्यकेन मे मम प्रियाया नन्दनं रम्यं सुन्दरं प्रतिभाति । यत् कर्मभूतं भूक्तान्तर्कान्तं भूक्तो कटो इव भूक्तो तयोः नर्तो मगधं तेन कान्तं सुन्दरम् । पुनः कर्मभूतं नन्दनवन्तिकात् नवो नूतनः मगधमोर्मेनयोविकात् मृदुगारजो जायः जगः तत् । पुनः कर्मभूतं चारुः मण्डलनं च चारुणी मण्डलनं यस्य तत् पुनः कर्मभूतं मञ्जुरवचनगर्भं मञ्जुराणि नन्दनानि गर्भे यस्य तत् ॥१९॥ कणावर्त्तसेति—ये भूया राजानः प्रजायिमीषु प्रेमवतीषु कात्तासु नन्दनयोः शोभया अवर्त्ततो भूयत्तं तस्मिन् रश्मति मुञ्जमण्डकं च कपोलशोरहनवती च रश्मति । रायात् प्रेम्णं नन्दनयोः स्तनयोः नन्दनयोः नन्दनम् अचन कटी आमरजानि रश्मादिकं च रश्मति वायेषु अज्जमण्डकतेन च वायवतेन च नन्दनानि कैवतानि कुर्वन्ति त एव जग्गा मायवन्तः ॥१९॥

[पृष्ठ ८०] कीकृति—प्रियस्वानुकीकृतिर्वा विद्यायामने स्थितो वाऽह्ये विद्येपो चायते न विज्ञात आम्हा विज्ञातरी शोभमानः मयत्त एव कृताते नीलवर्म्मे मस्याः सा तस्या पुनः कर्मभूता सा । स्फारति—स्फारः महान् य स्फारः कामः तस्मात्स्फारितवर्त्तवत्तः अवर्त्तवत्तवत्तः ओप्यकृतवत्तं मस्याः सा तस्याः पुनः कर्मभूता । उषुह्वाति—उषुह्वाती यमतो पीवरी पुडो च तो पयोवरी स्तनो तयोर्मण्डकं मरमाः सा तस्याः । मया

सह तस्या कदा सगम स्यात् ननु वितर्के ॥१९१॥ किं च—चित्रेति—कानने उत्कण्ठित वेपमुनि इत्थ दिनानि गमयति । दिनगमनव्यापारान् वर्णयति—चित्रालेखनकर्मभि निजमनसि निखाताया इव प्रियाया वस्त्रे चित्र-लेखनकार्यं, मनसिजेति—मनमिजो मदन तस्य व्यापाराः मधुरप्रवृत्तय तेषा साराणा स्मरणं, गाढेति—सन्तत मनसा दृढभावनया अग्रस्थिताया प्रियतमाया पादयो असकृत् भूर्णा प्रणामकरणक्रमै स्वप्न इति सहवासवियोगविषये स्नेहदुःखागमं वेपमुनि दिनानि कानने समुत्कण्ठित यापयति स्म ॥२००॥ इति निर्वन्धेन अनवरत ध्यायन् चिन्तयन् द्वादशवर्षाणि समानैपोत् यापयति स्म । शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्या सह तेषु विषयेषु शूरदेवाचार्योऽपि वारिषेणपुष्पदन्तमुनियुगलेन सह तेषु तेषु विषयेषु विविधदेशेषु तीर्थकृतताम् ऋषिभादिवर्धमानान्ताना चतुर्विंशनेजिनवराणा पञ्चकल्याणैर्मङ्गलानि मङ्गल पुण्य लान्तीति यच्छन्ति भक्तेभ्य इति मङ्गलानि म पाप गालयन्तीति वा मङ्गलानि पुण्योत्पादीनि पापविनाशोनि च स्थानानि जन्मादिनिर्वाण-पर्यन्तानि स्थानानि तीर्थभूमीर्वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तिसितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपुरे जिनानाम् आयतनानि गृहाणि तै उत्तिसिता भूषिता उपान्ता ममोपस्था शैलस्य पर्वतसवन्धिनी चूला शिखर यस्य तस्मिन् पञ्चशैलपुरे राजगृहे, समागत्य आत्मन (शूरदेवमुने) वारिषेणऋषेऽपि तद्विषये पर्युपासितोपवासत्वात् स्वीकृतचतुर्विधाहारत्यागात्, त पुष्पदन्तम् एकाकिनम् एव प्रत्यवसानाय आहाराय आदिदेश आज्ञा ददाविति भावः । 'भक्षित-चर्वित-लीढ-प्रत्यवमित-गलित-खादितरसातम्' इत्यमरः । तदर्थम् आदिष्टेन तेन च विन्तिनम् । 'चिरात् कालात् सत्त्वेकस्मादपमृत्योर्जीवन्तुद्वरितोऽस्मि । दीर्घकालोऽस्तीति खलु अद्य एकस्मादपमरणात् जीवन् उत्तीर्णोऽभवम् (नप्रति हि मेऽन्यानि विपुलानि पुण्यानि अवक्ष्य दृष्ट्वा दीक्षा मुमुक्षुणा दीक्षा त्यक्तुम् इच्छा यस्य तथाभूतेन तेन मङ्गल शीघ्र पागपरिक्षेपक्षरितेनैव, पाशस्य जालस्य परि सर्वतः क्षेप आवरण तस्मात् क्षरितेन च्युतेन पक्षिणा विहगेन इव पलायितुम् आरब्धम् । वारिषेण तथाप्रस्थानात् कृतोदकं वितर्क्य ज्ञातोत्तरफल यथा स्यात्तथा तस्य शीघ्र गमनमवलोक्य दीक्षाया अनेन जलाञ्जलिर्दत्तेति ऊह कृत्वा 'अवक्ष्यमय जिनरूप जिहामुरिव सौत्सुक्य विक्रमते जिनरूप जिन-दीक्षा जिहामुरिव त्यक्तुमिच्छन्निव उत्कण्ठित विक्रमते अश्ववद्वेगेन याति । 'तदेव कपायमुष्यमाणविपण समप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीय ' तस्मात् एव पुष्पदन्तमुनि कपायं क्रोधादिभि मुष्यमाणा अपह्नि-यमाणा विपणा वृद्धि यम्य म समयस्य जिनशासनप्रतिपालने रक्षणे अधिकरणे आधारभूतं जिनशासन-रक्षणभारवाहिभि न भवत्युपेक्षणीय न त्याज्य इति अद्धा यथार्थम् अञ्जसा अनुध्याय विचिन्त्य तमनुष्य त पुष्पदन्तम् अनुसृत्य एतत्स्यापनाय जनकनिकेत पितु श्रेणिकभूपस्य निकेत गृहं जगाम । चेलिनी महादेवो पुत्र मित्रेण सत्र सह उपदौकमानम् आगच्छन्तम् अवक्ष्य तदभिप्रायपरोक्षार्थं सराग वीतराग चामनमयच्छत् । वारिषेणस्तेन सम चरमोपचार चरम अन्तिम उपचार शम अस्मिन् तत् चरमोपचार वीतरागोपशमयुक्त विष्टर सिंहासनम् अलकृत्य भूपयित्वा अम्ब, समाहूयता ममस्ता अपि आत्मीया स्नुषा ।

[पृष्ठ ८१] (तदनु वारिषेणजाया श्वश्रवा आज्ञया तत्रागता) कथंभूतास्ता वनदेवता इव यथा वन-देवता प्रसूनोत्तमोत्तरङ्गितकुन्तलारामा भवन्ति । पुष्पभूषितोत्तराङ्गतकुन्तलैः केशै आसमन्तात् रामा रमणीया भवन्ति । तथा ता वध्वोऽपि कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमा यथा कल्पलता कल्पवल्लय रत्नालङ्कारमनोहरावयवोन्पत्तय तथा वध्वोऽपि । प्रावृष इव समुद्रतटप्रयोधराविद्वमव्यभागा यथा वर्षा समुद्रतलजलधरावृत्तनभोमध्यभागास्तथा समुद्रतस्तनार्वाजितावलनभागा । सकलजगत्लावण्यलवलिपिलिखिता इव समस्तलोकसौन्दर्यशैलरूपलिपिना लिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगा सुभगानि रमणीयानि तानि तानि भोगा-यतनानि शरीराणि तेषाम् आभोग विस्तारो यासा ता । पुन कथंभूता । कङ्कालिकाननक्षितय इव पाद-पल्लवोल्लासितविहारविषया अबोक्वन्भूमयो यथा पादा भूलानि तानारम्य पल्लवैः किसलयैः उल्लासिता शोभिता विहारविषया उद्यानप्रान्ता याभिस्ता तथा इमा वध्वोऽपि पादपल्लवा चरणकिसलया तै उल्लासिता शोभिता विहारविषया लीलाप्रदेशा याभिस्ता । कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणितोन्मदमराल-मण्डलस्खलितचलनजलेशया यथा कमलिन्य कमललता रत्नजडितनूपुररवमिव शब्द कुर्वाणा उन्मदा उन्मत्ता

वारिषेण, पर्याप्तम् अत्रावस्थानेन, अत्रालम् उपवेशनेन । प्रकामम् अतिशयेन शकलित खण्डित कुसुमास्त्रस्य मदनस्य रहस्य गूढस्वरूप येन तत्सम्बोधनम्, हे वयस्य हे सखे, इदानीमधुना, यथार्थनिर्वेदावनि यथार्थ वस्तुभूत निर्वेदः विरक्तिभाव तस्य अवनि स्थानम् अहं मनोमुनिरस्मीति मनसा मुनि भावेन मुनिरस्मि इति च अवधाय विज्ञाय, विशुद्धहृदयो तौ द्वावपि चेलिनीमहादेवौम् अभिनन्द्य, उपमद्य च गुरुपादोपशलय गुरुचरणमपीवम् उपसद्य स्थित्वा च नि शल्याशयो मायामिव्यात्वनिदानशल्यरहिताभिप्रायौ साधु तपश्चक्रतु । भवति चात्र श्लोक — सुदतीति — कृतत्राण कृत द्राण रक्षण येन न वारिषेण मुदतीसगमासक्त । तपस्विन पुष्पदन्त सयमे स्थापयामास ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दश कल्प ॥१४॥

१५ वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः

[पृष्ठ ८२] चैत्यैरिति—चैत्यं जिनविम्बं, चैत्यालयं जिनमन्दिरं विविधात्मकं ज्ञानं व्याकरण-काव्यन्यायधर्मशास्त्राणां ज्ञानं, विविधात्मकं तपोभिः अनशनादिद्वादशविधैस्नपोभिः, पूजामहाध्वजाद्यैश्च नित्यपूजा, अष्टाङ्गिकपूजा, इन्द्रमहपूजा महामहपूजादिभिः मार्गप्रभावना कुर्यात् जिनधर्मं प्रभावयेत् ॥२०३॥

[पृष्ठ ८३] ज्ञाने, तपसि, पूजायाम् । केपा यतीना य असूयति मत्सरं करोति मुनीना ज्ञानम्, तप उपासना च दृष्ट्वा यो दुर्धौ असूयति तेषां गुणैर्मय द्रुह्यति नूनं सत्यमेव तस्यापि स्वर्गापवर्गभूलक्ष्मी सुरेन्द्रलक्ष्मी तथा अपवर्गभूलक्ष्मी मोक्षभूमिलक्ष्मी असूयति मत्सरं करोति उभे ते लक्ष्म्यौ तस्मान्नराद् दूरं तिष्ठत इति भावः ॥२०४॥ समर्थ इति—यो धार्मिको नर चित्तेन धैर्यादिना ज्ञानेन वा, चित्तेन धनधान्यवस्त्रादिदानेन इह अस्मिन्देस्य समर्थं सन्नपि अशासनभासकं शासनस्य जिनधर्मस्य भासकं प्रभावनाकारको न स्यात् स चित्तचित्ताभ्यां समर्थं सन्नपि अमुत्र परलोके न भासकं भासको न भवति । तस्य स्वर्गादिलक्ष्मीर्वशा न भवतीति भावः ॥ २०५ ॥ तद्दानेति—नस्मात् दानैश्चतुर्विधैः, ज्ञाने आध्यात्मिकैरागमजैश्च विज्ञाने, चतुःषष्टिकलानां ज्ञाने, महामहमहोत्सवैः महामहादिपूजाविशेषैः धनिकैः राजभिश्च क्रियमाणे एहिकापेक्ष-योजिते अहं देव स्यामहं वसुमतीपति स्यामिति इहलोकसवन्निधनाद्यभिलाषया मुक्तं धार्मिकं दर्शनोद्योतनं कुर्यात् दर्शनस्य प्रकाशनप्रभावना कुर्यात् ॥२०६॥

[पृष्ठ ८४-८५] श्रूयतामश्रोपाख्यानम्—अत्र प्रभावनागुणे आख्यानं प्रसिद्धा कथा श्रूयताम् आकर्ष्यताम् वज्रकुमारस्य कथा शृण्वन्तु जना इति भावः । पञ्चालदेशेषु श्रीमदिति—श्रियानन्तचतुष्टयलक्ष्म्या युक्तस्य पार्श्वनाथपरमेश्वरस्य यशः प्रकाशनपात्रे अहिच्छत्रनामनगरे चन्द्राननाख्या या अङ्गना नारी सा एव रति तस्या कुसुमचापस्य मदनस्य द्विपन्तपस्य तन्नामवेयस्य भूपते सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । कथंभूतं स उदितोदित-कुलशीलं प्रति पुरुषम् अधिकाधिकतया प्राप्तोदये उन्नतिं प्राप्ते कुलशौले वशसदाचारो यस्य स पण्डितो वेदे शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिष-च्छन्दासि वेदस्य पण्डितानि तदात्मके वेदे देवे देवविषये, निमित्ते अष्टाग-निमित्ते, दण्डनोत्या च अभिविनीतमति कुशलधी । देवीनां देवताप्रकोपजातानाम्, मानुषीणां मनुष्यैर-ग्निभिरुपादितानाम् आपदां प्रतिकर्ता निवारकः, यज्ञदत्ताभट्टिनोभर्ता तन्नामवेयाया ब्राह्मण्या भर्ता पतिः, सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकदा तु सा किल यज्ञदत्ता अन्तर्वर्ती अन्नं गर्भमव्यस्यम् अपत्यं विद्यतेऽस्या इति गर्भिणीत्यर्थः, सती माकन्दमञ्जरीकर्णपूरुषं माकन्द आश्रितः तस्य मञ्जर्या कर्णपूरुषे तन्नामकालङ्कारेषु तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला लब्ध्वेच्छावती अभूत् । व्यतिक्रान्तरसालवल्लरीफलकालनया व्यती-ताम्रमञ्जरीफलसमयत्वात्, कामितम् अमिलपित अनाप्तवती अलममाना, शिफासु व्यथमाना प्रतानिनीव शिफासु मूलेषु पीडायुक्ता वल्लवं तनुतानव देहकार्यं उपेयुषी जग्मुषी तेन पुरोहितेन ज्ञातिजनेन वन्धुगणेन च प्रवन्देन आप्रहेण पृष्टा हृदयेण मनोऽभिलाषम् अभाषिष्ट अब्रूत् । भट्टस्तन्निशम्य ध्रुत्वा “कथम् एतन्मनोरथम् अययार्थपथम् अस्मन्मनोमथ अग्र्यर्थप्रार्थनं कथं करिष्यामि” एतन्मनोरथं अस्या यज्ञदत्ताया

वारिषेण, पर्याप्तम् अत्रावस्थानेन, अत्रालम् उपवेशनेन । प्रकामम् अतिशयेन शकलित खण्डित कुसुमास्त्रस्य मदनस्य रहस्य गूढस्वरूप येन तत्सम्बोधनम्, ह वयस्य हे सखे, इदानीमधुना, यथार्थनिर्वेदावनि यथार्थ वस्तुभूत निर्वेद विरचितभाव तस्य अवनि स्थानम् अह मनोमुनिरस्मीति मनसा मुनि भावेन मुनिरस्मि इति च अवधाय विज्ञाय, विशुद्धहृदयो तौ द्वावपि चेलिनीमहादेवीम् अभिनन्द्य, उपसद्य च गुल्पादोषशल्य गुस्वरणयमोपम् उपसद्य स्थित्वा च नि शल्याशयो मायामिथ्यात्वनिदानशल्यरहिताभिप्रायो साधु तपश्चक्रन् । भवति चात्र श्लोक—सुदतीति—कृतत्राण कृत त्राण रक्षण येन न वारिषेण मुदतीसगमासक्त । तपस्विन पुष्पदन्त सयमे स्थापयामास ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दश कल्प ॥१४॥

१५ वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः

[पृष्ठ ८२] चैत्यैरिति—चैत्यै. जिनविम्बं, चैत्यालयं जिनमन्दिरं विविधात्मकं ज्ञानं व्याकरण-काव्यन्यायधर्मशास्त्राणां ज्ञानं, विविधात्मकं तपोमि अनगनादिद्वादशविधैस्तपोभिः, पूजामहाध्वजाद्यैश्च नित्यपूजा, अष्टाङ्गिकपूजा, इन्द्रमहपूजा महामहपूजादिभिः मार्गप्रभावना कुर्यात् जिनधर्मं प्रभावयेत् ॥२०३॥

[पृष्ठ ८३] ज्ञाने, तपसि, पूजायाम् । केपा यतोना य असूयति मत्सर करोति मुनीना ज्ञानम्, तप उपासना च दृष्ट्वा यो दुर्धो असूयति तेषां गुणेषु द्रुहति नूनं सत्यमेव तस्यापि स्वर्गापवर्गभूलक्ष्मी सुरेन्द्रलक्ष्मी तथा अपवर्गभूलक्ष्मी मोक्षभूमिलक्ष्मी असूयति मत्सर करोति उभे ते लक्ष्म्यौ तस्मान्नराद् दूरं तिष्ठत इति भावः ॥२०४॥ समर्थ इति—यो धार्मिको नर वित्तेन धैर्यादिना ज्ञानेन वा, वित्तेन धनवान्यवस्त्रादिदानेन इह अस्मिन्देशे समर्थ सन्नपि अशासनभासक शासनस्य जिनधर्मस्य भासक प्रभावनाकारको न स्यात् स चित्तावित्ताभ्यां समर्थ सन्नपि अमुत्र परलोके न भामक भासको न भवति । तस्य स्वर्गादिलक्ष्मीर्वशा न भवतीति भावः ॥ २०५ ॥ तद्दानेति—नस्मात् दानैश्चतुर्विधैः, ज्ञानं आध्यात्मिकैरागमजैश्च विज्ञानं, चतुःषष्टिकलानां ज्ञानं, महामहामहोत्सवं महामहादिपूजाविशेषं धनिकं राजमिश्रं क्रियमाणं एहिकापेक्ष-योज्ज्वल अहं देव स्यामहं वसुमतीपति स्यामिति इहलोकसद्वन्निधनाद्यभिलाषया मुक्त धार्मिक दर्शनोद्योतनं कुर्यात् दर्शनस्य प्रकाशनप्रभावना कुर्यात् ॥२०६॥

[पृष्ठ ८४-८५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र प्रभावनागुणे आख्यानं प्रसिद्धा कथा श्रूयताम् आकर्ष्यताम् वज्रकुमारस्य कथा शृण्वन्तु जना इति भावः । पञ्चालदेशेषु श्रीमदिति—श्रियानन्तचतुष्टयलक्ष्म्या युवतस्य पार्श्वनाथपरमेस्वरस्य यशःप्रकाशनपात्रे अहिच्छन्नामनगरे चन्द्राननाख्या या अङ्गना नारी सा एव रति तस्या कुसुमचापस्य मदनस्य द्विपन्तपस्य तन्नामवेयस्य भूपते सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । कथंभूतं स उदितोदित-कुलशीलं प्रति पुरुषम् अधिकाधिकतया प्राप्तोदये उद्यतिं प्राप्ते कुलशोले वशसदाचारी यस्य स पङ्ङ्गे वेदे शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिष-च्छन्दासि वेदस्य पङ्ङ्गानि तदात्मके वेदे दैवे दैवविषये, निमित्ते अष्टाग-निमित्ते, दण्डनोत्था च अभिविनोतमति कुशलधी । दैवीनां देवताप्रकोपजातानाम्, मानुषीणां मनुष्यैर-रिभिरुत्पादितानाम् आपदा प्रतिकर्ता निवारक, यज्ञदत्ताभट्टिनोभर्ता तन्नामवेयाया ब्राह्मण्या भर्ता पति, सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकदा तु सा किल यज्ञदत्ता अन्तर्वर्त्ती अन्नं गर्भमव्यस्यम् अपत्यं विद्यतेऽस्या इति गर्भिणीत्यर्थः, सती माकन्दमञ्जरीकर्णपूरेषु माकन्द आश्रितः तस्य मञ्जर्या कर्णपूरेषु तन्नामकालङ्कारेषु तत्परिणतफणारेषु च समासादितदोहला लब्धेच्छावती अभूत् । व्यतिक्रान्तरसालवल्लरीफलकालनया व्यती-ताश्रमञ्जरीफलसमयत्वात्, कामितम् अभिलपितं अनाप्तवती अलभमाना, शिफासु व्यथमाना प्रतानिनीव शिफासु मूलेषु पीडायुक्ता वल्लेव तनुतानव देहकाश्यं उपेयुषो जग्मुषो तेन पुरोहितेन ज्ञातिजनेन वन्धुगणेन च प्रवन्देन आश्रयेण पृष्टा हृदये मनोऽभिलाषम् अभापिष्ट अव्रूत् । भट्टस्तन्निशम्य धृत्वा “कथम् एतन्मनोरथम् अययार्थपथम् अयमन्मनोमथ अव्यर्थप्राधनं कथं करिष्यामि” एतन्मनोरथं अस्या यज्ञदत्ताया.

मन्मन् इति—मम मन मन्मन् तदेव वनम् अरण्य तस्य दाहे दहने दावपावक, दावोऽरण्य तस्य पावक अग्नि-
रिव तत्तमबोधनम्, नि स्तिग्ध दुर्विदग्ध नष्टप्रीते दुर्विदग्ध खरुचतुर, यदि चेत् इमं पुरोऽवस्थित दिग्म्बरप्रतिच्छन्दं
नग्नरूपम् अवच्छिद्य त्यक्त्वा, स्वच्छया निर्मलया इच्छया आगच्छ, नो चेत् गृहाण स्वीकुरु एनम् इमम् आत्मनो
नन्दन पुत्रम् । इति व्याहृत्य भाषित्वा अस्य ऊर्ध्वज्ञो उत्थितकायोत्सर्गस्य भगवतः पुरतः शिलातले बालकम्
उत्सृज्य मुक्त्वा विजहार निज निवासम् । जगाम स्वकीयमावासम् । भगवानपि तेन मृतेन पुत्रेण दूषद
शिलाया प्लोपोत्कर्षकलुषत्वात् प्लोपस्य दाहस्य उत्कर्ष तीव्रता तेन कलुषत्व श्यामीभूतता तस्मात्, विष्टरीकृत-
चरणवर्ग आमनोक्तपदयुग सोपसर्ग सोपद्रवः तथैव पूर्ववदेव अवतस्थौ तिष्ठति स्म ।

[पृष्ठ ८६] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रसंगे (त्रिशङ्कुर्नाम खगपति भास्करदेवाय राज्यं दत्त्वा सयमो
अजायत) कथभूत स त्रिशङ्कुर्नृप । विजयार्धोत्तरश्रेण्याममरावतीनगरीपति । कथभूतस्य विजयार्धपर्वतस्य ।
सहेति—सहचरैः सखीजनैः, अनुचरैः दास्यादिभिः सह सचरन्त्यस्ता खेचर्यं विद्याधराङ्गनास्तासा
चरणानां पादानाम् अलक्तकेन यावकेन रक्तानि लोहितानि रत्नाणि यस्य, तथाभूतस्य विजयार्ध इति तटीध
पर्वत तस्य विजयार्धनटीधस्य, उत्तरश्रेण्याम्, कथभूतायाम् । दयितेति—दयितात् पत्युः अविदूरा समीपवर्तिनी
या विद्याधरी खवराङ्गना तस्या विनोदेन नर्मभाषणेन विहारेण च परिमलिता सुगन्धीभूता कान्तारधरणी
वनभूमि यस्या तस्याम् उत्तरश्रेण्याम् अमरावतीनगरीपरमेश्वर सुमङ्गलाभिधाना या अवला ललना तस्या
वर भर्ता । कथभूत त्रिशङ्कुर्नृप । प्रकामेति—प्रकामं यथेप्सित निखाता राज्याच्याविताश्च ते अरातय
शत्रवश्च तेषां कान्ता सुन्दर्यं तासाम् आशयश्चित्तं तत्र यः शोकजनने शङ्करिव शत्य इव त्रिशङ्कुर्नाम
नृपति । समरेति—समरावसरे युद्धसमये अभिसरन्तोऽभिद्रवन्त ये सपत्ना शत्रवस्तेषां सतानो वशस्तस्य
अवसान विनाश तत्करणे सारा बलोयास ये शिलीमुखा बाणा यस्य, तथाभूत स नृप राज्यमुल्लम् अनुभूय,
जिनागमादवगनसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितिं यति साधुर्बुभूषु, भूगोचरसंचाराय भूमिविषये संचारो भ्रमणं
यस्य तस्मै हेमपुरेश्वराय हेमपुरावीशाय कथभूताय । समस्तेति—समस्ता सकलाश्च ते महीशा राजान
तैः मान्य शासनं यस्य तस्मै बलवाहननामधेयाय नृनाय सुदेवी सुताम्, ज्येष्ठाय पुत्राय च भास्करदेवाय च राज्यं
प्रदाय वितौर्य सुप्रभमूरिसमीपे सयमो यतिरजायत । ततो गतेषु कतिपयेषु चिद्विषयेषु विहितं कृतं राज्याप-
हारो यस्य । केन राज्यापहारं कृतं पुरंदरदेवेन कथभूतेन । समुत्साहितः धनादिदानेन सन्ततिं नीत
आत्मीयानां स्वसंबन्धिना वीराणां समूहो येन तेन, पुनः कथभूतेन । स्वदोरिति—निजभुजयोर्दोषेण विद्या
सामर्थ्ययुतमैयवन्देन, दुर्विनीता दुःशिक्षिता खलास्तेषु वरिष्ठेन ज्येष्ठेन लघिष्ठेन भ्राता पुरंदरदेवेन
विहितराज्यापहारं परिजनेन समं भास्करदेवं तत्र बलवाहनपुरे अमरावतीपुरे शिविरं स्वसैन्यं सस्थाप्य
मणिमालया राज्या सह न सोमदत्तं भगवन्तम् उपासितुं पूजयितुम् आगतः । तत्पादमूले स्थलकमलमिव त
बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यं महदद्भुतम्, यतः कथमिदम् अरत्नाकरमपि रत्नं रत्नाकरे समुद्रे अजातमपि
रत्नमिव, अजलाशयमपि कुशेशयं जलाशये तडागे अजातमपि कुशेशयमिव कमलमिव, अनिन्धनमपि तेज-
पुञ्जम् इन्धनरहितमपि तेजःपुञ्जम् अङ्गकान्तिरहितम्, अचण्डकरमपि उग्रत्विप न चण्डाः तीक्ष्णा करा किरणा
यस्य तथाभूतमपि उग्रत्विप तीव्रकान्तिम् । अनिलामातुलमपि कमनीयम् (?) न इलामातुलं अनिलामातुलं
इलामातुलश्चन्द्र इला चन्द्रस्य स्नुषा । चन्द्रस्तस्या मातुलं इलामातुलश्चन्द्रः स वज्रकुमारोऽचन्द्रोऽपि चन्द्रवत्
कमनीय इति भावः । अपि च कथमयं बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायमानलावण्यं बालकिसलय इव
करस्पर्शेनापि म्लायमान कान्तिहीनलावण्यं सौन्दर्यं यस्य तथाभूतः । कठोरोष्मणि तीव्रानपतप्ते पाषाणे वज्र-
रचित इव रिरममानमानसं क्रोडमानमना, मातुलसंगत इव सुखेनास्ते जनन्या अङ्कगत इव आमोदेन वर्तते
इति । एव कृतमतिविहितविमर्शं स भास्करदेवं "प्रियतमे वल्लभे कामम् अतिजयेन स्तनधयधृतमनोरथाया
स्ननं श्रयति पिबतीति मन्मथो बालः तस्मिन्वृत्तो मनोरथोऽमिलापो यया सा तस्यास्तव अयं भगवतः सोम-
दत्तमुने प्रसादात् कृपाया समानं लब्धं सर्वलक्षणोपपन्नं सकलसामुद्रिकशुभलक्षणलक्षितं वज्रकुमारो नाम

विद्यायश्चर्यं विद्याधरस्त्रिय ताभिः परिमलनेन मर्दनेन म्लानानि ग्लानि प्राप्तानि मृणालानि विसानि कमल-
नालानि जलजानि च यत्र, पुनः कथंभूतं स्थानम् । अशोकेति—अशोकतरोः पल्लवानां शय्यासु दयितेन
पत्या आसाद्य प्राप्य यद्विद्याधरीसुरतस्तस्य परिमलेन सुगन्धेन बहलं विपुलम् इदं लताकुञ्जस्थानम् इति
निध्यायन्, पुनश्च कन्दुकेति—कन्दुकविनोदं गेन्दुकक्रोडा तस्मिन् परिणतास्तत्परा या अम्बरचर्यं खग्य
तासां चरणालक्तकेन पादलिप्तयावकेन अङ्कितं चिह्नितम् अदं स्थानम् । तमालमूलानाम् आवलय मण्डल
यत्र तथाभूतमिदम् । इदं रमणीयम् मन्मनोहरमदं, अदश्च सुन्दरम् अटनीध्रतटं मेखलाघरतटस्थानं मनोहरम् ।
इति निध्यायन् पश्यन् चिन्तयन् वा । समेति—समाचरितं विहितं स्वैरविहारो येन, पुनः प्राप्तो हिमवद्भिरे
प्राग्भारं अग्रभागो येन स । वज्रकुमारं मायाजगरेण निगीर्णं विद्याधरकन्या पवनवेगा सरक्षितवान् । [कस्य
विद्याधरपतेरियं पवनवेगेति वर्ण्यते] खेचरीति—खेचरीलोचनानां चन्द्रवदाल्लादकस्य चन्द्रपुरेति नगरस्येन्द्र
स्वामी, यश्च अङ्गवती युवत्या प्रोतेर्धामं गृहं तस्य गरुडवेगनाम्न विद्याधरपतेः अतिशयरूपस्य पात्रोऽभाजन-
भूता प्रियपुत्री पवनवेगा नाम असगा सख्यादिपरिवाररहिताम् । प्रालेयेति—प्रालेयं हिमं तेन उपलक्षितं
अचलं पर्वतं हिमामिधं शैलं तस्य मेखलायां नितम्बे यत्खलतिकं नाम वनं तस्य लतालये निलीनाङ्गा
निलीनं स्थितम् अङ्गं यस्यां सा ताम् । पुनः कथंभूता ता बहुरूपिणी इति नाम्नः निषद्यां स्थापनां यस्यां सा
ताम् अनवद्यां निर्दोषां विद्यामाराधयन्तीम्, अनयैव विघ्ननिघ्नया विघ्नं कुर्वत्यां जातं अजगररूपं यस्यां तथा-
भूतया विद्यया निगीर्णवदनां निगीर्णं गिलितं वदनं मुखं यस्यास्ताम् उपलक्ष्य दृष्ट्वा परोपकारचतुरं तादृश्यं-
विद्यया गरुडविद्यया एतस्यां लपन् मुखं तेन आविलं भूतं तालुं यस्य तं मायाशयालुं मायाजगरं विनाशयामास
पीडयामास । पवनवेगा तत्प्रत्यूहाभोगापगमानन्तरमेव तस्य मायाजगरस्य प्रत्यूहो विघ्नस्तस्याभोगो विस्तारं
तस्य अपगमो विनाशस्तस्य अनन्तरमेव विघ्ननाशक्षणं एव विद्यायां सिद्धिं प्रपद्य प्राप्य 'अदश्य इह जन्मनि
अयमेव मे कृतप्राणत्राणावेशः कृतं विहितं प्राणत्राणस्य असुरक्षणस्य आवेशः प्रयत्नो येन स वज्रकुमार एव
प्राणेशः प्राणनाथः' इति चेतसि अभिनिविश्य निश्चयं कृत्वा पुनः अयैव नौहारमहीधरस्य नौहारो हिमं तस्य
महीधरं पर्वतं हिमाचलं तस्य नितान्तम् अतिशयेन तीरिणीपर्यन्ते नद्यास्तटे सूर्यप्रतिमाम् आतापनयोगं श्रित-
वत् धृतवत्. भगवत्, पूज्यस्य । तप इति—नपोमाहात्म्येन कृतसकलप्राणिग्यसननाशस्य सयतस्य सयमिनो मुने
पादपीठोपकरणे चरणासनसमीपे पठत तत्र सेतस्यति सिद्धिं यास्यति इत्युपदेशवशेन अभिनवमाराय अभिनवो नूतनः
स चासौ मारो मदनः तस्मै वज्रकुमाराय गगनेति—गगने गमनं येषां तेषां विद्याधराणां या अङ्गना स्त्रिय,
तासां विद्याधरस्त्रीणां जीवितभूताम् अभिमतेति—अभिमतं अभिलपितं स चासौ अर्थश्च तस्य सावने पर्याप्तिं
पूर्णां यस्यास्तां प्रज्ञप्तिं विद्यां वित्तीयं दत्त्वा, निजनगर्यां पर्यटन् वज्रकुमारं तथैव तत्सूरिसमक्षं फेनमालिनी-
नदीतटे विद्यां प्रसाध्य असाध्यसाधनेन प्रवृद्धविक्रमं अक्रमेति—अक्रमेण अन्याय्येन विक्रमेण शौर्येण अस्पी-
भूतदैवं पुरंदरदेवं पितृव्यं पितृभ्रातरम् अव्याजम् अनिमित्तम् उच्छिद्य सद्यस्तत्क्षणं एव तां विजयोत्सवपरम्परा-
वतीम् अमरावतीं पुरं नगरीम् आत्मपितरं स्वतातम् अखिलगगनचरं विहितपादसेव भास्करदेवं स्थापयित्वा वश्ये-
न्द्रियं स्वयंवरनिमित्तेन कृताभिलपितवल्लभसमागमाम्, मदनसमागमसंजातशृङ्गारसुन्दरां पवनवेगाम् अन्याश्च
खेचरपतिकन्यां परिणीय भाग्यवता धुर्यं नमोगामिनं सकल्पमात्रलब्धैस्तैस्तैः अलव्यपूर्वं विलासैः समयं
गमयामास ।

[पृष्ठ ८६] अन्यथा पुनः इष्टा अभिप्रेता मुहुदादयस्तेषाम् प्रज्ञया तथा दुष्टा मत्सरिणो ये ज्ञातयः
गोत्रिणो जनाः तेषां अत्रत्या अवहेलनेन आत्मनः स्वस्थं परैर्धित्वं परेण एधित्वं वर्द्धनं पोषणं च अव-
बुध्य ज्ञात्वा निजान्वयनिश्चये स्ववशनिर्णये सति शरीरेषु उपाचारेषु स्नानान्नपानादिव्यवहारेषु प्रवृत्तिरन्यथा
निवृत्तिः इति विहितप्रतिज्ञा । ताम्यां मातापितृभ्यां महेति—महान्वश्च ते मुनयः महामुनयः सत्पर्यं तेषां
माहात्म्ययुक्तं प्रभावसम्पन्नं यो मन्त्रं तेन विनाशिता भयं प्रापिता दुष्टा ईतयः रोगादिबाधा ता एव
निशाचरा राक्षसा यत्र तथाभूताया मथुराया तपस्यतः सोमदत्ताय भगवतः मनोऽहं ममीपे नीतः । तदङ्गमुद्रांप्राप्य
मुनिशरीराकृतितुल्यम् आत्मकायं स्वदेहम् अवमाय निश्चित्य नजातानन्दनिवाय उद्भूतप्रमोदवृन्दं तो

अस्माकम् इति अस्मदीयः स वाचो बंधश्च तस्य विद्याकटां विस्तृतिं विदधातीति विद्याकटाविधामि तन्न तत्पर्यं च अस्मदीयत्वस्य प्रतिष्ठिविधाने वाचं योग्योऽस्तीति अग्निययोक्त्या विधाय च यथावत्तस्य मन्त्रस्तोत्रं पर्वण्य-
सप्तमम्, पुनरत एव अस्मादेव शोमश्चतुरोः मन्त्रः साहाय्यवत्तः अविषयं कथं च एतदवयवं वाचोऽप्यिति
ब्रूयात् । २१ स नमश्चरपतिः धामपुरं निजमग्निनीपतिनवरम् अनुसहार यथाविति भावः ।

[५८ ८३] मन्त्रं वाच इकोक्तः—अन्तासारेति—अन्तः आत्मनि सारो ब्रह्म उपसर्गवद्भूतसामर्थ्यं
येषु तानि अन्तावाप्यति तावृद्धिं धारयति येषां ते अन्ताहारसरीराः तेषु महामुनेषु । अद्विष्टमित्त्वं अद्विष्टानाम्
अदीनानाम् इद्विष्टं वेदितम् असंशयं किं न स्यात् । मन्त्रापुराणां पुण्यप्राप्त्यधिकारत्वं मन्त्रं ।
अतिशयोक्तिः । तद्वन्मनि स्वयंपापादेव स्वर्गत्वाय हेमप्राप्तुं किं न स्यात् । अपि तु स्यादेव ॥ २ ॥

‘हृत्पुत्रासकान्धने वसकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चमः कथः’ ॥ १५ ॥

१६ वसकुमारस्य उपोमह्यो नाम षोडशः कथः

[५८ ८३-८८] वसकुमारो यौवनेनाश्वमेधे इति संवत् । कथंमृतः सः । पुनरिति—पुन-
राकामावत् षोडशो धोवा छात्रा अया कान्तिः यस्य कायस्थिति क इव कङ्कनिष्ठस्त्व इव अशोक-
किसलय इव धातकीति—पुनरागमिषत्तत्पुन्यगुण इव अरुणमग्निं पञ्चपदमग्निं निमित्तं कम्पु इव
गेमुक इव कम्पुना संवत्सराणां । पुन कथंमृतः । ज्ञानस्थितेति—ज्ञानस्थितम्, निरीक्षितम् इत्येतो
बीजां कुर्वन् अमुपवीचम् अमृतं ब्रह्म, कुर्वन् कृतं च तत्पार्थं कुर्वानम्, मन्त्रं मन्त्रं मन्त्रं वक्तिं कुर्वन् मुचं
यस्य सर्वत्र श्रीकृष्ण इत्युपरम्परया संवत्सराणां गीयमानं कृतेषु ज्ञानस्थितं ज्ञानमुपपन्नम्, अद्विष्टमित्त्वं
इतिस्मृतम् । ज्ञानस्यां चैकनयं विद्वज्जगत् ऊर्ध्ववृक्षयोर्मध्यमाशास्त्रां वृषपाक्षां अत्युत्तमापन्नम्, स्पष्टिमा
च अस्वाक्षितमनमाध्यात्मिकं च एतदव्ययकामां नवत्वा वसाम् अनुभूय स वसकुमारः यौवनेनाश्वमेधे ।
क इव केन । यथा मन्त्रार्थं निवर्तते विद्यायां यस्मिन्मन्त्रः स वाचो मार्गः निर्विकलः पन्थाः अमावसा वारदेन अश्व-
मेधे छायावारो यथा छायाप्रवाहस्तत्सर्वथा अकाशमेव शोभते स च अकाशस्य यथा कमलाकरेण कमलवनेन
स च कमलहृदिबद्धेन मण्डकविहगमुनेन कमलहृदिबद्धो यथा रामावमागमेन स च रामावमागमः पुनरिष-
यं स्वर्गलोकायितेन मन्त्रलोकायितेन तस्मीजगो मुचिषिषुः तस्य मन एव मुचो हृदिस्थस्य प्रसन्नमेव
ज्ञानवदेन उपपन्नमेव यौवनेन तावन्मेव स वसकुमारः अश्वमेधे वसुधै । (तद्वन् वसकुमारो नामस्य दुहितरं
इत्युपनीं परिणीतं मायाविनम् अजवरं पवनवेया पीडयन् विद्याधरामास इति संवत्सरेण वैव)
तद्वन् यौवनावस्थान्तरं कथंमृतो वसकुमारः । आहमिति—आहम् अतिबलेन प्रकटम् उद्भूतं
तन्न तत् प्रीतिं प्रकृतं बीजं तावन् अतारसारो आगमनसामर्थ्यं यस्मिन् सः पुन कथंमृतः । त्रि-
मर्त्युच्य वरायो निवेद्य विद्यातो वाचो दद्यात्प्राप्तिः अग्नयग्निः विद्यायां विद्यायां प्रकटितप्रत्ययमुत्तः
प्रकृतनामर्थविकर्मणं मुच्यं रक्षितः उत्पन्नः । प्राप्तेति—प्राप्तं अर्थं अक्षरलोकात् नवीनागिनात् आधिक्यं
श्रेष्ठत्वं मेव सः (मामस्य कथा पर्यवस्य) किं नामधेयस्य मामस्य । मुचाकथेति—पुनरप्युच्य इति नाम-
नामस्य मद्भूतस्य मामस्य कननीकम् । कथंमृता दुहितरं पर्यवस्य । अद्वेनेति—मन्त्रस्य वाचस्य यो वरा
कृतेषां तेन पर्यं एतन्मं मत्तावन् तस्य काव्यमेव अर्थं तच्च वनवैद्यतावत्तस्य वसुधैव धूमिनि तान् इत्यु-
पनीं दुहितरं मुचा परिणीतं विद्यायां मणिकुण्डलाय पुरःसराः अजगा येषु तौ नमश्चरकुमारौ तद्वत्पुत्रौ
अनुपमं विद्याधर्ममहीवरम् अद्यास्तेति संवत् । कथंमृतं विद्याधरम् । पूर्वोपरिति—पूर्वतः अतारनाम्
पूर्ववरी ती च ती अतारपारी समुद्री पूर्ववरावारपारी ततोत्तरवरा बीजयः ती वसुधैव कनता व्याप्ता वा
वन्द्यताः बुद्धा ता धरतीति वरं तं पुन कथंमृतम् । अदीति—अदीनायाः एवः प्रीतिः तदा वन्देन
अमृतम् अत्यन्तम् । विद्याधर्ममहीवरम् अद्यास्य अपवित्रं तस्य विद्याधर्मस्य नामाध्यात्मि विद्यायाम् माया
धम् (विद्याधरामासेति संवत्सरावति) विद्याधरप्रीति—विद्यायां आकाशं तत्र वरो तमं नामं ताः

विद्यायश्चर्यं विद्याधरस्त्रिय ताभिः परिमलनेन मर्दनेन म्लानानि रत्नानि प्राप्तानि मृणालानि विसानि कमल-
नालानि जलजानि च यत्र, पुनः कथंभूतं स्थानम् । अशोकेति—अशोकतण्डुः पल्लवानां शय्यासु दयितेन
पत्या आसाद्य प्राप्य यद्विद्याधरीसुरतं तस्य परिमलेन सुगन्धेन बहलं विपुलम् इदं लताकुञ्जस्थानम् इति
निध्यायन्, पुनश्च कन्दुकेति—कन्दुकविनोदः गेन्दुकक्रोडा तस्मिन् परिणतास्तत्परा या अम्बरचर्यं स्वयं
तासां चरणालवतकेन पादलिप्तयावकेन अङ्कितं चिह्नितम् अदं स्थानम् । तमालमूलानाम् आवलय मण्डलं
यत्र तथाभूतमिदम् । इदं रमणीयम् मन्मनोहरमदं, अदश्च सुन्दरम् अटनीध्रतटं मेखलाधरतटस्थानं मनोहरम् ।
इति निध्यायन् पश्यन् चिन्तयन् वा । समेति—समाचरितं, विहितं स्वैरविहारो येन, पुनः प्राप्तो हिमवद्गिरिः
प्राग्भाः अग्रभागो येन स । वज्रकुमारः मायाजगरेण निगीर्णं विद्याधरकन्यां पवनवेगा सरक्षितवान् । [कस्य
विद्याधरपत्निरियं पवनवेगेति वर्ण्यते] खेचरीति—खेचरीलोचनानां चन्द्रवदाह्लादकस्य चन्द्रपुरेति नगरस्येन्द्र-
स्वामी, यश्च अङ्गवती युवत्या प्रीतेर्धाम गृहं तस्य गरुडवेगनाम्न विद्याधरपतेः अतिशयरूपस्य पार्श्वे भाजन-
भूना प्रियपुत्री पवनवेगा नाम असगा सखादिपरिवाररहिताम् । प्रालेयेति—प्रालेयं हिमं तेन उपलक्षितं
अचलं पर्वतं हिमाभिधं शैलं तस्य मेखलायां नितम्बे यत्खलतिकं नाम वनं तस्य लतालये निलीनाङ्गा
निलीनं स्थितम् अङ्गं यस्यां सा ताम् । पुनः कथंभूता ता बहुवृषिणी इति नाम्नः निपद्या स्थापनां यस्यां सा
ताम् अनवद्या निर्दोषा विद्यामाराधयन्तीम्, अनयैव विघ्ननिघ्नया विघ्नं कुर्वन्त्या जातः अजगररूपः यस्यां तथा-
भूतया विद्यायां निगीर्णवदना निगीर्णं गलितं वदनं मुखं यस्यास्ताम् उपलक्ष्य दृष्ट्वा परोपकारचतुरं ताक्ष्यं-
विद्यायां गरुडविद्यायां एतस्यां लपन् मुखं तेन आविलंभूतं तालुं यस्य तं मायाशयालुः मायाजगरं विनाशयामास
पीडयामास । पवनवेगा तत्प्रयूहाभोगापगमानन्तरमेव तस्य मायाजगरस्य प्रयूहो विघ्नस्तस्याभोगो विस्तारः
तस्य अपगमो विनाशस्तस्य अनन्तरमेव विघ्ननाशक्षण एव विद्यायां सिद्धिं प्रपद्य प्राप्य 'अवश्यं इह जन्मनि
अयमेव मे कृतप्राणप्राणवेशः कृतं विहितं प्राणप्राणस्य असुरक्षणस्य आवेशः प्रयत्नो येन स वज्रकुमार एव
प्राणेशः प्राणनाथः' इति चेतसि अभिनिविश्य निश्चयं कृत्वा पुनः अस्यैव नोहारमहीधरस्य नोहारो हिमं तस्य
महीधरं पर्वतं, हिमाचलं तस्य नितान्तम् अतिशयेन तीरिणीपर्यन्ते नद्यास्तटे सूर्यप्रतिमाम् आतापनयोगं श्रित-
वत् धृतवत् भगवत्, पूज्यस्य । तप इति—तपोमाहात्म्येन कृतमकलप्राणिगव्यसननाशस्य सयतस्य सधमिनो मुने
पादपीठोपकण्ठे चरणामनसमोपे पठत तव सेत्स्यति सिद्धिं यास्यति इत्युपदेशवशेन अभिनवमाराय अभिनवो नूतनः
स चासौ मारो मदनः तस्मै वज्रकुमाराय गगनेति—गगने गमनं येषां तेषां विद्याधराणां या अङ्गना स्त्रियः
तासां विद्याधरस्त्रीणां जीवितभूताम् अभिमतेति—अभिमतं अभिलपितं स चासौ अर्थश्च तस्य साधने पर्याप्तिः
पूर्णा यस्यास्तां प्रशंसति विद्यां वित्तीयं दत्त्वा, निजनगर्यां पर्यटन् वज्रकुमारं तथैव तत्सूरिसमं फेनमालिनी-
नदीतटे विद्यां प्रसाध्य असाध्यसाधनेन प्रवृद्धविक्रमः अक्रमेति—अक्रमेण अन्याद्येन विक्रमेण शीर्येण अल्पी-
भूतदेवः पुरंदरदेवः पितृव्यं पितुर्भ्रातरम् अव्याजम् अनिमित्तम् उच्छिद्य सद्यस्तत्क्षण एव तां विजयोत्सवपरम्परा-
वतीम् अमरावतीं पुरं नगरीम् आत्मपितरं स्वतातम् अखिलगगनचरं विहितपादसेव भास्करदेवं स्थापयित्वा वश्ये-
न्द्रियं स्वयंवरनिमित्तेन कृताभिलपितवल्लभसमागमाम्, मदनसमागमसजातशृङ्गारसुन्दरां पवनवेगाम् अन्याश्च
खेचरपतिकन्यां परिणीय भाग्यवता धुर्यं नभोगामिनं सकल्पमात्रलब्धैस्तैस्तैः अवलम्बपूर्वविलासैः समयं
गमयामास ।

[पृष्ठ ८६] अन्यथा पुनः इष्टा अभिप्रेता सुहृदादयस्तेषाम् प्रज्ञया तथा दुष्टा मत्परिणं ये ज्ञातयः
गोत्रिणो जनाः तेषां अत्रत्या अवहेलनेन आत्मनः स्वस्य परैर्धित्वं परेण एधित्वं वर्द्धनं पोषणं च अव-
बुध्य ज्ञात्वा निजान्वयनिश्चये स्ववशनिर्णये सति शारीरेषु उपाचारेषु स्नानान्नपानादिव्यवहारेषु प्रवृत्तिरन्यथा
निवृत्तिः इति विहितप्रतिज्ञा । ताम्या मातापितृभ्यां महेति—महान्तश्च ते मुनयः महामुनयः सत्तर्पय तेषां
माहात्म्ययुक्तं प्रभावसम्पन्नं यो मन्त्रं तेन विनामिता भयं प्रापिता दुष्टा इत्ययं रोगादिबाधा ता एव
निशाचरा राक्षसा यत्र तथाभूताया मथुराया तपस्थतः सोमदत्ताय भगवतः मनीषे समीपे नीतः । तदङ्गमुद्राप्राप्य
मुनिशरीराकृतितुल्यम् आत्मकायं स्वदेहम् अवमाय निश्चित्य मजातानन्दनिकायं उद्भूतप्रमोदवृन्दं तौ

उसी अपि उपनेतारी मुनितवीर्ष प्रापको मातापितरौ सादर धस्नेहम् सन्निमुनितम्नां प्रतिबोध्य हरस्मि वर-
पीरितोभयद्वन्द्वस्तवकृपाहास्यल्लसत् निर्धन्वा बारब्धिविद्धि समपादि बारब्धिवारक समग्रतः ।
भवति बारब्ध्या—कामविदूरे कामात् मन्त्रमात् विदूरे विदोयेण दूर रहिते नरे जाते सति नरे कनक-
सकलपरिहृष्टमिवापायस्यो वा दूरे जाते सति यौकस्य लम्बीसदृश सुन्दर कान्ताञ्जोक स्त्रीया समूह पुन-
कस्य पृथक्पुण्येनवीर्य त्यक्तुं योग्या भवति । चित्तं संचितं मित्रमथा चित्ताञ्जोक सवञ्जोकस्य जाते । स्वल्प-
दम्बुवर्गः पुण्यजनस्य राजसत्त्वयो जायते ॥२०८॥

इत्युपासकावचनं ब्रह्मसुमारस्य तपोमहती नाम वाङ्मयः ॥ ११ ॥

१३. मुद्रवास्या पृथिकवाहनचरणो नाम सप्तदशः कस्य

[पृष्ठ ८६-९०] पुनश्च एतस्मान्नैव किञ्च मनुष्यान् कर्त्तव्यतायां महामहोत्सवति—महाहोत्सव
मन्त्रा मुद्रवर्द्धे हियमाणा या जिनपूजा सा महामहोत्सव उच्यते तस्मिन् कस्ताद्विद्यानां मन्त्रा जातोत्तमा
वाद्यानां तादा ध्वनयः सः मेवुरा प्रतिष्ठापित्युक्ता ये प्राद्यावास्ते एव कन्धरा बस्या तस्याम् गोचराय आह्वय
बारब्धिसुगर्भं तद्गुणमिहिनं मुनिह्वयं नगरमात्रे संपत्तनतिर्त्तयं सगती पते वयनस्य सर्वो निरुपयो मत्स एव
एकस्मिन्नेव समग्र समामगत्या आह्वय विमलमिरयन् । तत्र मन्त्रायां द्विविपरिवसर एव हो वा नया वा
परि बजिवा हीना वा कलशम अस्मिन् तन्मायुते बजस्वावसर वासिकामेका चित्त्वविहितलोचनसनाया चित्तेन
नेत्रमन्त्रेन चित्तेन चित्तेन च ते कोकने नयने ताभ्यां सनाया संहिताम् अनाया पितृभ्यां रहिताम् आपवाङ्मय
चारिणीम् आपवाताम् अङ्गुलं तत्र चारिणी भ्रमन्ती पञ्चवीचिकाया भ्रमन्ती कुचलीम् स्वप्नममभिव्यक्तिर्णो
स्वप्नस्य गमनेन विहरन्ताम् निरीदय विलोकय प्रतीक्ष्य विमर्शं कृत्वा । पञ्चवाङ्मय पृच्छती मन्त्रं सुनन्त्या-
विद्यामपोचरं सुनन्त्या इति नामविपदो यस्मै स भवताम् पूज्यो मुनि एवमवयत् । अहो दुराङ्गो कस्य
प्राप्तिनां कमविपाकं यत्स्वामेव वद्यानां प्रभवति । अहो प्राप्तिना जीवानां कस्य कमविपाकं इत्यकर्मका पापस्य
पुण्यस्य वा कलामुचयं दुराङ्गो महता कष्टेन जालोको वर्धनं ज्ञानं मत्स एव । यत् ब्रह्मामेव दद्यात्
सौभाग्यवत्सामां प्रभवति स्वच्छम् आस्वाद्यति । इति । पुनश्चापि मयवान् अभिनन्दननामचाटी—अत्रे गन्ध-
भवताम् पूज्य अभिनन्दननामा मुनि—तपःकस्यहोत्सादनमन्त्रं सुनन्त्यामुने मेवं वासी—तपः एव कस्य-
बुद्धस्त्वैव कदापि उद्गात्रने मन्त्रनवनमिक सुनन्त्यामुने मेवं वासी मा एवं हवी । यद्यपीयं वर्धमान्या सती
उज्ज्वलैस्त्रिवर्गभूतं समुद्रवर्त्तं पितरम् अन्नाद्य एव दत्तनीं वद्यात् ज्ञानीय इत्यवस्थाभारम् अनुभवन्ती तिष्ठति ।
कमे सदावता सती राजधेयिकपदम् अधिष्ठितं समुद्रवर्त्तं अलकम् अनवसर एव वद्यमी दद्या मरवावस्था नीत्वा
इवं दुरावर्त्तं दद्यान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति । आचमामतद्विद्योन्मुखीपञ्चरा वनवा मातरम् अननसमग्र एव तस्य
पत्न्युपिहृष्टं वद्यान्तां वनवाक्या वननीम् अनवसर एव मरवावस्था नीत्वा इवं दद्यान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति ।
प्रवर्धमाना च कस्यकस्य अनवसर एव मृत्युममयत् इति पूर्वोक्तं संक्षेपोऽयं ज्ञेय । तन्वाप्यतया श्रीहवीचनया
श्रीहं विभास लोभनीयं मौलवं तादृश्यं यस्याः सा तया । अस्य मन्त्राणावस्य और्विकादेवीविनोबावस्य
और्विकादेव्या कृतापिपेयया माह्व्या विनोबावस्यस्य और्विकाह्वयस्य पृथिकवाहनस्य म्हीनस्य पूज्योपते
अग्रमहिष्या प्रमाणरात्र्या अभिनन्द्यम् । इत्यवोचत् । एतच्च तत्रैव प्रस्तावे विष्णुपाताय तत्रैव मनुष्यमयी प्रस्तोत्रे
अवसरे समये विष्णुपाताय आह्वयह्वयम विद्यायै हिष्ठमानः भ्रमन् पावयविष्णुः कुटसाय पपधृत्य जलस्य
'नाम्नवा मुनिचापितम् न मर्षेय पतिचयनम् अनुत्तम् इति निर्विषयं नि संघर्षं संकल्प्य विमर्श । स्त्रीद्वार नीनाम्
अभिजा बालिकाम् । आह्वयविहारवसतिकाम् आह्विता स्वापिता विहारवसतिकया वीर्यप्रदवाये वा ताव बोधमर्ध
ता संस्थाप्यति भावः अमिच्छापितेति—अभिलपितानाम् अभिप्रेतानाम् अनुदारः जानयते देवा तौ मादृष्टः
अवीचयन् ता बालिका समवर्त्तन्तु पोषयति स्म । वरिजगपरिहृष्टागोपेय पोषेय नात्या बुद्धासीति आमुखाय
व्याख्या । (११) वर्त्तुं केषुविजयपु दीवच प्राप्ते तां राजा अपस्यन् इति वदति) वर्त्तुं लोभन । भ्रमर
कति भ्रमरको नाम गुल्फविषय तस्य गच्छ पठति तस्य अभिनन्दनवर्धने भरते मादृपाचार्ये । पुनः कर्त्तव्येति ।

भ्रूविभ्रमेति—भ्रूवोविभ्रमो विलास उत्क्षेपणादिक तस्य आरम्भे शिक्षणे उपाध्यायस्थानिनि शिक्षागुरु-
तुल्ये । लोचनेति—लोचनयोर्नेत्रयोर्विचारो भ्रमण तस्य चातुर्ये आचार्य इव तस्मिन् । चतुरोक्ति—चतुराणां
दक्षानाम् उक्तो या चातुरी पटुता तस्या । प्रचारे प्रसारे गुरुणि गुरुतुल्ये । विम्बाधरेति—विम्बवत् तुण्डिका-
फलवत् रक्तो तावधरी तयोर्विकारस्य सोन्दर्ये कादम्बर्या मदिराया योगे सवन्धे इव । निम्नोन्नतेति—
निम्नानि जघनादीनि उन्नतानि स्तनादीनि तेषां प्रदेशानां प्रकाशने व्यवतीकरणे शिल्पिनि सूत्रधारे । मनसि-
जेति—मनसिजो मदन स एव गज करी तस्य मदस्य उद्दीपने पिण्डिराहार । तेन पिण्डिते पुष्टे । शृङ्गा-
रेति—शृङ्गारस्य या गर्भगति अन्तरात्मनि गति तस्या रहस्यस्य गूढस्वरूपस्य उपदेशके, समस्तेति—
समस्त च तद्भुवन च तस्य मनश्चित्त तस्य मोहने सिद्धीपथे प्रतिदिन प्रादुर्भावस्य सामीप्य प्राप्ते सति यौवने ।
सा रूपसपन्नमहीयमी रूपसपदा सोन्दर्यविभवेन महीयसी प्रवृद्धा गुर्वी बुद्धदासी सोत्ताल सोत्कण्ठम् उत्तुङ्ग
उन्नत तमङ्ग प्रासाद तस्य शृङ्ग शिखर तस्य उत्सर्गो मध्यभागस्त सगता । भ्रमणिकया भ्रमणहेतुना
कृत विहारस्य मठस्य उपान्ते समीपे गमन येन त पूतिकवाहन राजान सा अदर्शत् अपश्यत् । राजा च
तामपश्यत् । राजा—अलकेति—इह हि बुद्धदासीरूपाया सरिति नद्या मम मति अलकाश्चूर्णकुन्तला
कुटिलव्रेशा तेषां बलयं मण्डल तदेव आवर्तो जलभ्रम तस्मिन् भ्रान्ता भ्रमणखिन्ना । विलोचनेति—विलोचने
नेत्रे एव वीचिकास्तरङ्गा तेषां प्रसारात् विधुरा पीडिता । स्तनद्वयसंकेते कुचयुगलमेव संकेत पुलित तस्मिन् ।
त्रिवलिवलने श्रान्ता त्रयाणां वलीनां नमाहारस्त्रिवली तस्या वलनेन भ्रमणेन श्रान्ता क्लान्ता पुन नाभौ
निमज्जनात् बुद्धनात् अपि श्रान्ता एव मम मति प्रायेण मन्दोद्योगा शिथिलप्रयत्ना भवति खिन्ना भवतीति
भाव वर्तते ।

[पृष्ठ ६१] इति राजा विचिन्त्य, चेतोभुव मदनस्य विजृम्भप्रारम्भ वृद्धिप्रक्रम निवार्य निरुध्य
च, किमपि विहितविवाहोपचारा कृतपरिणयविधि अथवा अद्यापि पतिवरा वरीतु योग्येति, भिक्षूनापृच्छ्य,
तत्र द्वितीयपक्षे यदि पतिवरा तर्हि अस्मत्पक्षे अस्माकम् अधीना कर्तव्या । तथा सह विवाहम् अहं करोमीति ।
समर्पितोऽभिलाषो यम्य तथाभूतम् आप्नपुरुष विद्वस्त नर प्रेक्ष्य प्रहृत्य । रणरणकजडान्त करण उत्कण्ठा-
जडचित्त शरणमगात् गृहमगच्छत् । 'शरण गृहरक्षितो' रित्यमर । आप्तपुरुषोऽपि विद्वस्तनरोऽपि । अग्रमहि-
षीपदपणवन्धेन प्रधानराशीपदप्रदानस्य व्यवहार विनिश्चित्य साध्यसिद्धिं त्रिधाय स्वामिन राजान तत्समागमिन
तथा समागमवन्तम् अकरोत् । भवति चात्रार्या—पुण्य वेति—जन्तुना प्राणिना यत्काले यस्मिन्काले पुरा यत्
पुण्यं वा पाप वा आचरित तत्समये तस्य पुण्यस्य पापस्य उदयकाले समागते सति तस्य जीवस्य सुख च दुःख च
योजयति । त जीव तत्पुण्य वा पाप वा सुखिनं दुःखिनं च करोति ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्प ॥१७॥

१८. प्रभावनविभावनो नामाष्टादशः कल्पः

[पृष्ठ ९१-९३] अथ समायाते इति—भग्यजनानन्दस्य सपादकानि कर्माणि पूजाभिषेकादीनि यत्र
तथाभूने नन्दोत्तरपर्वणि समायाते सति । तथा प्रतिप्रणयप्रेयस्या प्रतिविरुद्धा या प्रणयप्रेयसी पूतिवाहनस्य राज्ञ
प्रोत्तिगुक्ता वल्लभा बुद्धदासी तथा प्रतिचातुर्मास्यम् औविलादेव्या । स्यन्दनविनिर्गमेण रथयात्रया भगवत सकल-
भुवनोद्धरणस्थिते सकलजगदुद्धार कुर्वत जिनपतेर्महामहोत्सवम् उच्छेत्तु चिन्ताशयितुम् अभिलपन्त्या, शुद्धोदन-
तनयस्य शुद्धोदननृपपुत्रस्य सुगतस्य इष्टार्थं पूजार्थम् अष्टाहा अष्टदिनपर्यन्त सकलपरिवारानुगतम् एतदुचितम्
एतस्या रथयात्राया उचित योग्यम् उपकरणजात रथ-छत्र-चामरादिकम् अवनिपति राजा पूतिकवाहन
याचितं प्रार्थित, स तथैव प्रत्यपद्यन् अङ्ग्यकरोत् । औविलादेव्यपि सुभगभावात् पतिप्रियत्वात् सपत्नीप्रभव
सत्पत्न्या प्रभव उत्पत्तियस्य तत् दीर्घम् दुष्टस्वम् अनन्यसामान्यम् अमाधारणम् अप्रतीकारम् अनुपाय आकलय्य
ज्ञात्वा सोमदत्ताचार्यम् उपमग्न प्राप्य 'मदन्त, यदि एतस्मिन् द्वित्रिदिनमात्रिनि द्वित्रिदिवमानन्तर भविष्यति
अष्टदिनोत्सवे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुराया मदीयो रथो भ्रमिष्यति तदा मे देहस्थितिहेतुपु अन्नजलादिपु

परायेषु साविस्मयं मनः इच्छामुर्कं मनः अयस्या निरविस्मयं निरिच्छम् इति प्रतिजिज्ञासमाना प्रतिज्ञां कर्तुं
 इच्छन्ती तेन सोमस्तेन भगवता पूजयेत् मुनिना तन्मनोरथसमर्थनार्थं तन्निष्ठेच्छासंपत्तीकरणाय भवतोक्तिरन्यत्र
 दृष्टमुक्तेन वयकुमारोऽपि साधुना साधु संवीरिता आसत्ताविता । सात सम्मन्वृतां सङ्घर्षनवतीनाम् एषीदुषां हरिण
 नयनानां स्त्रीनाम् अवाप्तप्रथमकवे अवाप्ता सस्या प्रथमकया आद्यवर्धनं यया तत्तत्तुल्यम्, हे मातः, अहम्
 अहम् कावेयेन छेदेन पूर्वतां या इयं लोकिनी भूरित्यर्थः । यतः न यन्तु मणि समयत्तुभ्यां जीवनमप्यनु कित्ताम्
 पुत्रके तति, अर्हतां विनेश्वरायाम् अर्हतायाः पूजायाः प्रत्ययाय विष्णु न यन्तु नैव भवेदित्यर्थः । तत् तत्सम्
 पूर्वस्तिरया यथापूर्वम् आत्मतत्त्वात् स्वप्रासादे स्वात्मन्यम् । विष्णु न कर्तव्येति । इति हृष्टं मनोहरम् अदर्यं
 निरदर्यम् अमृदोर्धं न मृदा अदर्यं तत् न तत् तत् न चर्तं चर्तं भावयमिति भावः निगद्य तत्त्वा सुगति—
 दृष्ट्या आकाशगमनेन विद्यावरपुरम् आसाद्य प्राप्य वरणा । महामुनिठ्या आत्मव्यपिनठ्या न भ्रमुराव
 न भास्करदेवी मुक्तो यस्मिन् तेन विविधैर्न अम्बरचरचक्रैश्च विद्यावरतमूहेन क्लमः इत्याम्बुत्वान्निष्ठिः
 सप्रथमं सविनयम् कृत्वा अम्बुत्वान् सङ्गमयम् आसनात् स्वस्थानम् अञ्जलिमुत्तं कृत्वा सिरसि संस्वाप्तम्, आरि
 क्रिया यस्या स वयकुमारो मुनिः भावयन्त्य आत्मन्यम् आचारं पुनः स्पष्टम् आचष्ट अहम् । [विद्यावरतमूरी
 सह वयकुमारो मुनिः श्रीविद्याया रत्नं नगरे संचार्य महतीं प्रयाचनां कृत्वा] कर्णमूर्तविद्याकोविहारी विद्याय
 आकाशं तत्र विहारं अस्ति मेधा ते विद्यायोगविहारस्तं विद्याचरितित्यर्थः । तावैव सविद्येयं वर्धयति कवि—
 तदनन्तरम् आनका पटहाः कुम्भुज्यं कुं दुम् इति अम्बुजतच्छर्मा कुर्वाणा वाद्यविद्यया तेषां गत्वा रवा
 सत्तासानि उत्कृष्टानि च तानि दैवेष्ट्यानि विहृतायाः तैः मुपराणि वाद्यासानि मुक्तामण्डलानि मेधां ते तैः ।
 पुनः कर्णमूर्तं सामयिकेति—समयं सकेतं अस्ति मेधां ते सामयिका अयम् अलंकारो यत्रत्य अयं अलंकार
 अयं वलीवर्धस्य इत्यादि संक्षेपयुता सामयिकालंकारा उपपद्ये । तेषु सारं यत्तमे अलंकारैः सज्जिता ये
 पञ्चबाणवः विमानानि च तेषां वयमेव प्रचलन्ति कर्मयोगानि कर्मकुण्डलानि मेधां ते तैः अनेकेति—अनेके
 बहवः अणुमयस्य स्फुरत्तानि तैः निमिषा किञ्चिद्वा दृष्टव्यम् । तासां जासौ अतिमणि शक्तिरिति च तानि
 दुर्बलानि क्षौमस्तानि तैः कस्मिन्ना ये पाञ्चिक्या महाभवास्तैसां राशिः पश्चिम् तत्रा विद्याविमानि
 शोभितानि मुक्तामण्डलाणि मेधां तैः पुनः कर्णमूर्तं । करीरिति—करी यत्र मकरा गच्छन्ति
 पादुका व्यास्य धारयन् अष्टापरः कुम्भीरा अष्टचरविशेषः अष्टर मत्स्याः, सङ्कुम्भाना पयिनाम् ईश्वरः वक्ष
 इति एतेषां पुरःसरं मुक्ता आकाशं यथा तावत् ता पटाकाः दृष्टव्यता तासां संज्ञायां समूहाः तैः स्तिमिता
 स्तज्वा करा मेधां ते तैः मानस्तज्मेति—मानस्तज्जं स्तुपं तोरयम्, पयिनिदानं रत्नमण्डलं वज्रोपका
 वर्धनः सितातपत्रं स्वच्छम् चामरा विरोचनं सुयः वज्रं यत्रकुम्भं यंपकुम्भं एतैः पटावै
 संभूता धराः हस्ता यथा तैः । करेषु एताम् पटावाम् नृहृत्पदाभ्याम् इति भावः । पुनः कर्णमूर्तं । अतु
 यच्छेति—अतुच्छो महान् स वाद्यो वैवस्वत्यश्च द्वारविशेषः सप्तपष्टिक तेन आच्छाद्यः सर्वतो मृदितः स
 वाद्यो कर्णोत्तमः पुलस्तकमयीवमातरवः स्वयन्त वक्रमुक्तमुद्रप्रवीणवन्तान् रचयिष्ये । द्विप करी सुरव
 अथ नय मनुष्यास्तैर्निष्कीर्णानि व्याप्तानि च तानि श्रव्यानि तैः इति । पुनः कर्णमूर्तं । अथवत्वा सहितारव
 तैः पटुपट्याः महामैर्षः कण्ठा वाद्यविशेषः मुक्ताङ्गा अङ्गा काङ्गाः विविधाः तासां तात्पर्यं मेयं
 सम्भारव एते आर्यो मेधा तानि वाद्यानि अनुगतानि यानि बीजानि तैः संनतारव या अङ्गातास्तासां आर्योवा
 विस्तार तेन सुमनः सुन्दरः संचारो यथा ते तैः । पुनः कर्णमूर्तं । कुम्भा महता सप्तपष्ट्यश्च वायना
 हस्ता किरता पाटकराका किरता अण्यका गटा नृपाविवैषयारिना गर्तना नृपयिषयका अविना
 वैताञ्जिका वाज्योवना स्तुतिपाठकाः तेषां विमोहेन आनन्धित विविधाना मगदकारः वीर्यं तैः पुनः कर्णमूर्तं ।
 सत्सेवति—सत्सेवां श्रद्धया सहिता ये सेवरा विद्यावरतास्तैसां सहचरैः आर्याः तानि हस्तैः
 विमृष्टा महता तैः च ते स्वहृत्पदाश्च प्रवीणवन्तान् पूजना भिन्ना पटाश्च प्रमुक्ता विद्यानि वर्धनाया
 पूजनं नाम अष्टकराणि साधनानि तेषां यमोक्तं प्रसारो मेधा तैः ।

—विष्णुः

अदिर मः

रमण्य ललनास्नासा निकरो येषु तै । पुन कथभूत । अपरंश्च तैस्ते विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विहायो-
विहारैः विधृतः सधारितः पूजापर्यायाणा नित्यमहादिपूजाना परिवारो यैस्ते विहायोविहाराः नभश्चरजना तै
सह त वज्रकुमार त भगवन्तम् अम्बरात् आकाशात् अवतरन्तम् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा भिक्षुदोक्षापटोयमी भिक्षूणा
बोद्धसाधूना दोक्षादाने पूजने पटोयमी चतुरा खलु बुद्धदासी पुण्यभूयसी पुण्य भूय प्रचुर यस्याः सा प्रचुरपुण्यवतीति
भाव । यस्या सुगतसपर्यासमये बुद्धपूजावेलाया समायात समागत सकलमेतत्सुरसैन्यम् । इति धृतधिपणे धृता
धिपणा मतिर्येन तस्मिन् पीरजनान्त करणे नागरिकमनसि सति, स भगवान्गगनगमनानीकैः साकं गगने नभसि
गमन येषा तानि अनोकानि सैन्यानि नभश्चराणा सैन्यैरित्यर्थ । ओविलानिलये निलीय ओविलाया महादेव्या
प्रसादे निलीय सपित्वा मावष्टम् सगर्वम् अष्टाह्नि नन्दीश्वरपर्वणि मथुराया चक्रवरण चक्राणि चरणा यस्य
त परिभ्रमय्य अर्हत्प्रतिविम्बाङ्कित जिनप्रतिमासनायम् एक स्तूप तत्रातिष्ठत् स्थापितवान् । अत एवाद्यापि
तत्तीर्थं देशनिमित्ताख्यया पप्रये प्रसिद्धम् अभवत् । बुद्धदासी दासीवासोद्गमनमनोरथा । किङ्करीव बुद्धदासी
मननमनोरथा नष्टमनोऽभिलाषा वभूव । भवति चात्र श्लोक —पूनिकस्य महोभुजः नृपस्य ओविलाया महादेव्या
म्यन्दन रथ वज्रकुमारको मुनिभ्रमिमादास ॥ २११ ॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादश कल्पः ॥ १८ ॥

१६. बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः

[पृष्ठ ६३-६४] अर्थित्वम् इति—अर्थित्व प्रयोजनवत्त्वम् । भवितसपत्ति गुणानुरागमपत् । प्रयुक्ति
जोवादितत्त्वेपु आत्मनो योजन श्रद्धानम् इति भाव । सत्क्रिया सम्मान । सधर्मणा सुविधेयता दासत्वम् । सधर्मसु
समानधर्मिषु जनेषु सोचित्यकृति दानप्रियवचनाभ्या तेषा संतोपोत्पादनम् । वत्सलना मना वात्सल्यगुणो-
ऽभिहित ॥२१२॥ स्वाध्याये इति—स्वाध्याये अध्यात्मादिविद्याविषये । संयमे प्राणिसयमे इन्द्रियसयमे च ।
सङ्घे श्रावकश्राविकाधिकारिणामुनिषु । गुरो दीक्षाचार्ये शिक्षाचार्ये च । मन्त्रद्वयचारिणि सहाध्यायिनि । यथोचित्यं
दानमानाभ्या यथा संतोपोत्पादनं भवेत्तथा । त्रिनयम् आदर प्राहुः श्रुयन्ति स्म । के कृतात्मान कृत ज्ञात
आत्मा जीवस्वरूपं यै ते ॥२१३॥ आधीति—आधिर्मानसी व्यथा । व्याधयो ज्वरादयो रोगा तैः निरुद्धस्य
पीडितस्य निरवशेन कर्मणा पापरहितेन वैद्यावृत्त्येन औपधधनादिना सोचित्यकरण सतोपोत्पादनम्, वैद्यावृत्त्य
शुश्रूषा प्रोचनम् । किमर्थम् । विमुक्तये कर्मराहित्याय अनन्तचतुष्टयप्राप्तये ॥२१४॥ जिने इति—दुर्जयकर्मठ-
कर्मागतीन् जयतीति जिन, अर्हन् तस्मिन् बीतरागसर्वज्ञे । जिनागमे अर्हत्प्रोक्ते द्वादशाङ्गप्रवचने । सूरी
आचार्ये । तप श्रुतपरायणे तप परायणे साधो, श्रुतपरायणे उपाध्याये । सद्भावशुद्धिसपन्न अनुराग निष्कपट-
मन शुद्ध्या तेषा गुणेषु अनुराग प्रीति भवितरूपते ॥२१५॥ चातुर्वर्ण्यस्येति—चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य मुनि-
श्रुति-अनगारेति चतुर्भेदात्मकमङ्घस्य । यथायोग्य तत्तद्गुणानतिवृत्त्या । प्रमोदवान् हृष्टेन मनसा वात्सल्य
प्रीति न कुर्यात् स समयो सधर्मा कथं स्यात् ॥२१६॥ तद्ब्रतैरिति—तद्ब्रतं तत् तस्मात्कारणात् अहिंसादिभिः
व्रतैः । विधया सम्प्रज्ञानेन शास्त्रादिपाठनेन । वित्तं धनं । श्रोमदाश्रमं, श्रोमता धनिनाम् आश्रमे आचारैः ।
शारीरैश्च शारीरसेवया च हस्तपादादिमर्दनेन मलमूत्राद्यपनयनेन च त्रिविधातद्भक्तप्रदानान् आधिग्याधिवाध-
व्यादिबाधभिः क्लिष्टान् शारीरमानसागन्तुकाभि पीडाभिर्दुःखितान् सयतान् मुनीन् उपकुर्वन्तु ॥२१७॥

[पृष्ठ ९५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अस्मिन् वात्सल्यगुणे उपाख्यान कथा श्रूयताम् । [जयवर्म-
नामा नृप शुक्रादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रिभि सह सर्वजनानन्दनं वनं गत्वा अकम्पनाचार्यमभिवन्द्य धर्मकथां श्रुत्वावेति
कथासंक्षेप] अवन्तिविषयेषु अवन्तिदेशेषु । सुधेति—सुधा अमृतमेव अन्ध अन्नं येषां ते सुधान्वस देवा, तेषां
मोघा विमानानि तानि स्पन्दन्ते शाला गृहाणि यत्र तस्या विशालाया पुरि सज्जयिनीनगरे । जयवर्मनामा
काश्यपीदश्वर काश्यप्या पृथिव्या ईश्वर अधिपति । कथंभूत । प्रभावतीमहादेवीश्रितधर्मसीमा प्रभावती नाम
महाराज्ञी ता श्रिता धर्मण सुखस्य सीमा मर्यादा यस्य । [चतुर्भिर्मन्त्रिभि सह राज्यं पालयन् प्रजा अन्वशात्]

रमण्य ललनास्नामा निकरो येषु तै । पुन कथभूतं । अपरैश्च तैस्तं विधृतपूजापर्यायपरिवारेविहायो-
विहारैः विधृतः संधारितः पूजापर्यायाणा नित्यमहादिपूजाना परिवारो यैस्ते विहायोविहारा नभश्चरजना तै
मह त वज्रकुमार त भगवन्तम् अम्बरात् आकाशात् अवतरन्तम् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा भिक्षुदोक्षापटीयमी भिक्षूणा
बौद्धसाधूना दोक्षादाने पूजने पटीयमी चतुरा खलु बुद्धदासी पुण्यभूयसी पुण्य भूय प्रचुर यस्या सा प्रचुरपुण्यवतीति
भाव । यस्या सुगतमपर्यायसमये बुद्धपूजावेलायां समायात समागतं सकलमेतत्तुरसैन्यम् । इति धृतधिपणे धृता
धिपणा मतियेन तस्मिन् पीरजनान्त करणे नागरिकमनसि सति, स भगवान्गगनगमनानीकं साक गगने नभसि
गमन येषा तानि अनोक्तानि सैन्यानि नभश्चराणा सैन्यैरित्यर्थः । ओविलानिलये निलीय ओविलाया महादेव्या
प्रसादे निलीय उपित्वा सावष्टम्भ सगर्वम् अष्टाङ्गि नन्दोश्वरपर्वणि मयुराया चक्रवरण चक्राणि चरणा यस्य
त परिभ्रमय्य अहं प्रतिविम्बाङ्कित जिनप्रतिमासनायम् एक स्तूप तत्रातिष्ठित्वा स्थापितवान् । अत एवाद्यापि
तत्तीर्थं देवनिमिषाख्यया पप्रये प्रसिद्धम् अभवत् । बुद्धदासी दासीवासोद्भगमनोरथा । किङ्करीव बुद्धदासी
भग्नमनोरथा नष्टमनोऽभिलाषा वभूव । भवति चात्र श्लोक — पूतिकस्य महीभुज नृपस्य ओविलाया महादेव्या
स्यन्दन रथ वज्रकुमारको मुनिभ्रामयादास ॥ २११ ॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादश कल्पः ॥ १८ ॥

१६. वलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः

[पृष्ठ ६३-६४] अर्थित्वम् इति—अर्थित्व प्रयोजनवत्त्वम् । भक्तिसंपत्ति गुणानुरागसपत् । प्रयुक्ति
जीवादितत्त्वेषु आत्मनो योजन श्रद्धानम् इति भावः । सत्क्रिया सम्मान । सधर्मणा सुविधेयता दासत्वम् । सधर्मसु
समानधर्मेषु जनेषु सौचित्यकृति दानप्रियवचनाभ्या तेषा संतोषोत्पादनम् । वत्सलता मना वात्सल्यगुणो-
ऽभिहित ॥ २१२ ॥ स्वाध्याये इति—स्वाध्याये अध्यात्मादिविद्याविषये । सयमे प्राणिसयमे इन्द्रियसयमे च ।
सङ्घे श्रावकश्राविकायिकामुनिषु । गुरो दोक्षाचार्ये शिक्षाचार्ये च । सग्रहचारिणि सहाध्यायिनि । यथौचित्यं
दानमानाभ्या यथा संतोषोत्पादन भवेत्तया । विनयम् आदरं प्राहुः कुर्वन्ति स्म । के कृतात्मान कृत ज्ञात
आत्मा जीवस्वरूपं यै ते ॥ २१३ ॥ आधीति—आधिर्मानसी व्यथा । व्याधयो ज्वरादयो रोगा तै निरुद्धस्य
पीडितस्य निरवघेन कर्मणा पापरहितेन वैषावृत्येन औपधधनादिना सौचित्यकरणं संतोषोत्पादनम्, वैषावृत्य
शुश्रूषा प्रोक्तम् । किमर्थम् । विमुक्तये कर्मराहित्याय अनन्तचतुष्टयप्राप्तये ॥ २१४ ॥ जिने इति—दुर्जयकर्मठ-
कर्मागतीन् जयतीति जिन, अहंन् तस्मिन् धीतरागसर्वज्ञे । जिनागमे अहंन्प्रोक्ते द्वादशाङ्गप्रवचने । सूरो
आचार्ये । तप श्रुतपरायणे तप परायणे साधो, श्रुतपरायणे उपाध्याये । सद्भावशुद्धिसपन्न अनुराग निष्कपट-
मन शुद्ध्या तेषा गुणेषु अनुरागः प्रीति भक्तिरुच्यते ॥ २१५ ॥ चातुर्वर्ण्यस्येति—चातुर्वर्ण्यस्य सट्ठस्य मुनि-
श्रुति-अनगारेति चतुर्भेदात्मकमङ्घस्य । यथायोग्य तत्तद्गुणानतिवृत्त्या । प्रमोदवान् हृष्टेन मनसा वात्सल्य
प्रीति न कुर्यात् स समयो सधर्मा कथं स्यात् ॥ २१६ ॥ तद्भ्रतैरिति—तद्भ्रतै तत् तस्मात्कारणात् अहिंसादिभिः
भ्रतै । विद्यया सम्यग्ज्ञानेन शास्त्रादिपाठनेन । चित्तं धनै । श्रीमदाश्रम्यै, श्रीमता धनिनाम् आश्रम्यैः आधारै ।
शारीरैश्च शरीरसेवया च हस्तपादादिमर्दनेन मलमूत्राद्यपनयनेन च त्रिविधातङ्कसंप्राप्त्यान् आधिग्याधिवाध-
व्यादिबाधाभिः क्लिष्टान् शारीरमानसागन्तुकाभिः पीडाभिर्दुःखितान् सयतान् मुनीन् उपकुर्वन्तु ॥ २१७ ॥

[पृष्ठ ९५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अस्मिन् वात्सल्यगुणे उपाख्यान कथा श्रूयताम् । [जयवर्म-
नामा नृप शुकादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सह सर्वजनानन्दन वन गत्वा अकम्पनाचार्यमभिवन्द्य धर्मकथा शुश्रावेति
कथासंक्षेप] अवन्तिविषयेषु अवन्तिदेशेषु । सुधेति—सुधा अमृतमेव अन्व अन्न येषा ते सुधान्धम देवा, तेषा
नोधा विमानानि तानि स्पर्द्धन्ते शाला गृहाणि यत्र तस्या विशालाया पुरि उज्जयिनीनगरे । जयवर्मनामा
काश्यपोदवर काश्यप्या पृथिव्या ईश्वर अधिपति । कथभूत । प्रभावतीमहादेवीश्रितधर्मसीमा प्रभावती नाम
महाराज्ञी ता श्रिता धर्मण सुखस्य सीमा मर्यादा यस्य । [चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सह राज्य पालयन् प्रजा अन्वशात्]

पदार्थेषु सामिसाद्यं मया इच्छामुक्तं मया अथवा निरविसाद्यं निरविसम् इति प्रतिविज्ञासमाना प्रतिज्ञा कर्तुं
 इच्छन्ती तेन सोमवतेन मयवता पुण्येन मुनिना सम्यगोरपसमर्थनार्थं तन्मित्रेच्छासफलकराय मयकोमिच्छनेन
 वृष्टमुनेन वयस्कृमारेण साधुना साधु संशोभिता आत्मसिद्धा । मया सम्यग्भूतां सर्वार्थवतीनाम् एकीभूतां हरि-
 नयनामां स्त्रीनाम् उवाचप्रथमकथे उवाचता सम्भा प्रथमकथा आद्यवर्चनं यथा तत्संबोधनम् हे माता वयम्
 वयम् बावेयेन खेदेन पूयतां मा स्म शोभिनी पुरितस्य । इति न ज्ञानु मयि समयसन्निध्यां जैनजनमातुं विद्यायै
 पुनके सति, बर्हतां जिनेस्वरायाम् बर्हतायाः पूजायां प्रत्यवायं विन्म न ज्ञानु मयि मयसन्निध्यां जैनजनमातुं विद्यायै
 पूर्वसिद्धया यथापूर्वम् आरयस्वामि स्वप्रासादे स्थापयाम् । विद्या न कर्तव्येति । इति ह्यथ मनोहरम्, वनपं
 निर्दोषम् अनुपपद्ये न मया वसत्यं तत् न तत् उद्यं वचनं उत्स्यं आपवमिति भावः निमग्न उक्त्वा युगति—
 युगत्या आकाशगमनेन विद्याधरपुरम् आस्तात् प्राप्य यथा । महामुनितया आत्मवचिद्वत्तया च भ्रातृभार्ये
 च आस्करदेवो मुक्तो यस्मिन् तेन निश्चितेन अस्करचरनकथं विद्याधरसमूहेन क्रमसः कृताम्भुत्वात्मादिभिः
 सप्रथमं उभिनयम् कृता अम्भुत्वात् संसृज्यम् आत्मनात् उत्थानम् अम्भुत्विपुटं कृत्वा चिरसि संस्थापनम् आदि
 क्रिया यस्य स वयस्कृमारेण मुनिः आयमनस्य आयतनम् आचारे पृष्टः स्पष्टम् आचरन् व्रतम् । [विद्याधरसमूह
 सङ्ग वयस्कृमारेण मुनिः शोभिताया रथं नगरे संचार्य महती प्रयाचनां ककार] कर्त्तव्यतैविद्यायोगिध्यां विद्यायै
 आकाशं तत्र विहारं कस्य वेदां ते विद्यायोगिहारस्तै विद्याधरैरित्यथ । तावेव उभिनयेन वनपति कति—
 तदनन्तरम् आनका पटहा । कुम्भवनं कुं पुम् इति अम्भुत्विपुटं कुम्भायां आचरितेषां तेषां मात्रा रवा
 वतामानि उत्कटाणि च तानि शक्तिताणि विद्यायाः तैः मुखराणि वाचाकाणि मुद्यम्यन्तानि वेदां ते तैः ।
 पुन कर्त्तव्यतै सामयिकेति—समयं छेकेन अतिर वेदां तै सामयिका अयम् असकारो वज्रय अये वज्रय
 अय वसीवर्दस्य इत्यादि छेकेनमुता सामयिकार्थकारा उच्यन्ते । तेषु सारं उत्तमं वसंकारैः सञ्जिता तै
 वज्रवाचनं विमानानि च तेषां समनेन प्रचलन्ति अम्भुत्वायानि कथयुक्तानि वेदां ते तै अनेकेति—अनेके
 बहुधाः अननुमयः महारत्नानि तै निमिता किञ्चिद्याः सुखवचिद्या तासां वार्ताः वटित्वानि वचिद्यानि च दानि
 पुनूतानि सोमवत्त्वानि तै कस्यता ये पात्रिभ्यः यथाभ्यस्तैषां पात्रिः पट्टिः तथा विद्यानिमि
 योगिनिमि मुद्यम्यन्तानि वेदां तै पुन कर्त्तव्यतै । करीति—करी नञ् मकरः नञ् विहा
 धातुः व्याघ्रः चरमः अष्टावरः कुम्भीयः कलचरविद्येयः, पट्टः, पत्त्यः, यकुम्भानां पथिनाम् ईश्वरः मकर
 इति एतेषां पुनूतरा मुख्या आकाश वेदां तावत् ता पताकाः सुख्यया तासां छेदानां समूहा तै विमिता
 स्वत्वा करा वेदां ते तै मानस्तम्भेति—मानस्तम्भः स्तूपः घोरचक्रम्, पथिकितानं रत्नजडितं वाज्रोत्क
 र्त्तव्यः विनातपत्रं स्वेच्छन्नम् कामराः विरोचनः सूर्यः वज्रः महकुम्भः संककुम्भः एतै वच्यं
 संभूना यथा हस्ता वेदां तै । करेषु पताकान् पदावन्ति वृहीत्याम्भारै इति याव । पुन वचंमूतैः । अतु
 वचति—अनुजो महान् स आद्यो ईश्वरस्तम्भश्च हारविद्येयः पट्टवटिकः तेन आच्छद्यः सर्वेनो मूर्तिर स
 आद्यो वर्णास्य पुरासकमयीयमाश्रयः सम्यक्, पाठयुक्तपुत्रप्रबोधनयान् रथविद्येयः । द्विः कटी पुरा
 मरः नरा मनुष्यारैर्निर्णीतानि व्याप्तानि च तानि तैम्यानि तै इति । पुन वचंमूतैः । वयपयमा बहिषार
 तै वज्रपट्टाः मयायेव कटा आद्यविद्ययाः मुख्या साक्षात् पाहताः विविदाः ताता, ताप्यः जेवैः
 मयारव एते आद्यो वेदां तानि वाचाणि अनुगणानि शानि नीतानि तैः संघातव्यं वा अनुगणानां वा आनीना
 विस्तार तेन मुमग मुन्दरः लघारी वेदां ते तै । पुन वचंमूतैः । पुनूता यथा छपनपुच्छाव वामनाः
 एतया विद्यायां वाटवरायना किनवा अम्भुका यटा नृणादिवेद्यपारिणा सर्वका नृपयिषका र्तिना
 वैज्ञानिका वागीश्वरा इतिज्ञातव्यः तेषां विनायेन आनं विविदाणां वनराटः वीर्ये ते पुन वचंमूतैः ।
 सत्यमति—सायनाः शीघ्रा तादृशा ये लेचरा विद्याधरास्तै सङ्घर्षं आद्यो ताताः हातेषु
 विद्यायां मदीया तै क ने वटिहस्तश्च प्रतीताश्च नृणां निरा यटाव वज्रीनि विविदा य वचंमूतानां
 पुन नान् उदरगतानि नायानि तेषां रम्योव वनारी वेदां तै । पुन वचंमूतैः । विद्यामयति—विद्यायाः
 सत्यवचपीदरवचनं पट्टागाव वज्रनुवचपीदरवानि अनुमानि पुनानि तेषां उदर वीर्ये तै वचंमूतानां

[illegible]

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १० ॥

[Handwritten signature]

[The page contains dense handwritten text in Devanagari script, which is mostly illegible due to extreme blurring and low contrast.]

परायणं सामिन्नाय मनः इच्छामुर्धनं यत्न आश्रया निरमिताय निरिच्छम् इति प्रतिविज्ञासमाना प्रतिज्ञा
इच्छन्ती तेन शोभते तेन मयकता पूजयेत् मुनिना तन्मनोरथसमवधानं तन्वितेच्छासकमौकरणम् अनकोति
पुष्टमुपन वक्ष्यकुमारं सायुमा सायु संवोचिता आश्रयसिता । मात सभ्यम्पुत्रां सहर्षजवतीनाम् एषी
मयतामी स्त्रोषाम् अवाप्तप्रसन्नकणे अवाप्ता सभ्या प्रसन्नकणा आश्रयार्थं यथा तत्संबोधनम्,
अयम् आश्रयेन लेदेन पूर्वतां मा स्म दोषिणी भूरिर्यर्थ । यतः न यम्भु मयि समवसविष्या नैनम्
पुनरंते उति, अर्हतां जिनेस्वराम्याम् अहवायाः पुत्रायाः प्रसवयाः विष्णु न यम्भु नैन मनेति
पूर्वस्तिरत्वा यथापूर्वम् आरमत्त्वाने स्वप्राप्तादे स्थातव्यम् । विष्ठा न नर्तयेति । इति
निरांपम् अमृदीपं न मृपा अस्मत्सं तत् न तत् उर्ध्वं अर्धं सत्यं सत्यं नापचमिति पाठः
युमस्या आकाशममनस विद्यावरपुरम् आकाश प्राप्य मत्वा । महामुनितया वा
न मास्करदेषो मुक्तो मरिचम् तेन निश्चितेन अम्बरवरचक्षण विद्यावरसमूहेष
सप्रसन्नं सक्षिप्तम् इति अम्बरान् संप्रसन्नम् आतनात् उत्थानम् अम्बरविष्णु
किन्ना वस्य स वक्ष्यकुमारमुनि आगमनस्य आगतम् आचारं पुन स्पष्ट
सह वक्ष्यकुमारो मुनि औदिसाया रयं नवरे संवाच महर्षी प्रभावनां नृ
आकाशं तत्र विहार अस्ति मेपां ते विहारीविहारास्ते विद्यावरित
तदनन्तरम् आगच्छ पटहाः दुम्भुमयं पुं पुम् इति अय्यततपरम् ।
उत्ताकाति उत्कटाति न ताति ईर्ष्यताति विहाराया तैः मुपरा
पुन कर्ममूर्ते सामयिकेति—समय उक्तेः अस्ति मेपां ते
अयं वतीवर्दस्य इत्यादि संकेतमुता सामयिकार्ककारा
पत्रबाजव विमानादि न मेपां नमनस्य प्रवक्षन्ति कम्पमा
बहुवः अनमुनयव महारत्नाति तैः निमिता किञ्चिन्म
कुपुमानि शीमवत्ताति तैः कश्चिन्ता ये पात्रिभ्यः
योमिठाति मुत्रपञ्चराति यपां तैः पुन
पादुम म्याद्र चरम अष्टपदः कुम्भीय ज
इति एतपां पुटवरा मुषा आकाश मेपां त
स्तव्या करा मेपां तैः मानस्तम्भेति
वर्षाः मितातपर्व स्वैतच्छनम् वा
तंमठा यवा इस्ता यपां तैः ।
वर्तेति—अनुष्ठी मत्तम् त वा
वाद्यो वनीत्वा पुष्टवन्मनीद
अव नय मनुज्यातैमिणी
ते यदुपजाः म्यामेधः न
धम्मादव एने मादी देव
विराट् तैः मुपग
एवमा विराट्
मैनालिना, वा
मैरुपति—

[५७ ६६] मर्त्यपुरेदेवतैर्निके देव—यत्र न इनाकर्ममयं पुनं तस्या इत्येत विराट्
वनेरत् । इति एतवत् । तै—तेति—न वेरातरम् अन्तरम् । न
मि अयम् वक्ष्यं वक्ष्ये । इत्येन इति विराट्मयम् आर अयं वनी न विपे ।
इत्यावाताम्य इति इति । ॥ अन्तरं वक्ष्येदेव वक्ष्ये—रत्नव्यापको वीतवार्त्
एव इति उच्यते । नव इत्येता वक्ष्येदेव एव अयम्—अहतेति—वैराट् न
एवम् एवमेवम् । इति इति एवम् । इति इति एवम् । इति इति एवम् ।

न देव शक्रात्पर अन्य । शिवेन प्रणीत शैव तच्च तच्छास्त्रं च शैवशास्त्रं तस्मात्परम् अन्यत् भुक्तिमुक्तिप्रद वच नास्ति । शिवशास्त्रादेव भोगादिक लब्ध्वा अवसाने मुक्ति च लभते जीव ॥२१९॥ तथा नास्तिक्याधिक्यवाचस्पती नास्तिक्य नास्ति जीव न परलोकवार्ता, न पाप पुण्य च इत्यादि-मानसिको विमर्श नास्तिक्यम् तस्याधिक्ये वाचस्पती इव देवगुरु इव शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे जयवर्मणे स्वप्रज्ञा स्वबुद्धिं विज्ञापयामासतु प्रकटयाचक्रतु । मनागन्तुभूतमति क्षितिपति ईपत् चित्ते कोपकलु-षितबुद्धिं भूपति —अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजद्विजा दुर्जनता खलता मा एव लता वल्ली तस्या आलम्बने आधारदाने कुजा वृक्षा इव द्विजा हे ब्राह्मणा । किं ममैव पुरतो भवता भारती वाणी प्रवर्तते प्रगल्भते मत्ता भवति समर्था भवति । किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि । बुधेषु विद्वत्सु प्रवेक श्रेष्ठ महाविद्वान् तस्यापि महाविद्वद्वोऽपि लोकस्यापि पुरत भवता वाणी प्रगल्भते । सतीतिवसुमतीविदारणहलिवर्लि —सती प्रशस्ता नीति सदाचार सा एव वसुमती भूमि तस्या विदारणे हल इव लाङ्गल इव बलिर्मन्त्री अमाधत—इलापाल, इलां पृथ्वी पालयतीति इलापालस्तत्सबोधन हे इलापाल, यदि तव अस्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेष्य मनः अस्माकं मनीषा मति तस्या प्रकर्षविषये तव चित्त यदि असूयापर विद्यते । तदास्ताम् तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञ पर प्राज्ञ, अभ्यस्तोनि वाचनापृच्छनाम्नयानुप्रेक्षादिभि मलितानि यानि शास्त्राणि तेषु प्रवीणा प्राज्ञा यस्य स प्राज्ञ पर तावदास्ताम्, किं तु सर्वज्ञस्यापि वादिन पुरस्ताद्वादे परिगृहीतविद्यानवद्या एव, अभ्यस्तविद्यासु अनवद्या एव पराजयदोषरहिता एव भवेम । स्थिरप्रकृति, क्षोणीपति स्थिरा धैर्यवती प्रकृति स्वभावनि-मित्तिर्यस्य क्षोण्या भूमे पति स्वामी जयवर्मनृप 'यद्येव जूराणा कातराणा च रणे व्यक्तिर्मविष्यति ।' इत्याद्यभिधाय आनन्ददुन्दुभिरवोपाजितपरिजनपूजोपकरणो आनन्दपटहध्वनिना आनायितपरिच्छदजनपूजा-द्रव्यसाधन विजयशेखर नाम करिण गजम् आरुह्य, अन्त पुरानुगमग्राह्य अन्त पुरस्त्रीणाम् अनुगम अनुयान् तेन ग्राह्य' अङ्गीकार्य' सन् । अतिवाह्य नगरमार्गम् उल्लङ्घ्य । उगगतारामसीमससर्ग सप्राप्तोपवनमर्यादा-सबन्ध । तत करिण गजात् अवरुह्य अवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकर' राजवेष परित्यज्य स्वीकृतविनीतजन-वेषव्यतिकर, कतिपयाप्तपरिवारपुर सर कतिचनविश्वस्तपरिच्छदाग्रगत । तं व्रतविद्यानवद्य भगवन्तं यतानि अहिंसादीनि पञ्चमहायतानि, विद्याश्च मतिश्रुतावधिज्ञानानि तै अनवद्य निर्दोष परिपूर्ण इत्यर्थे तम् । भगवन्तं यथावत् अष्टाङ्गसहित नमस्कारं कृत्वा, समाचरितनीचासनपरिग्रह समाचरितो विहित नीचासनस्य परिग्रह स्वीकारो येन, गुरो पुरत शिष्येण विनयेन उपवेष्टव्यम्, उच्चस्थाने गुरो तिष्ठति शिष्येण नीचं स्थाने स्थातव्यम् इति नियमात्, सविनयाग्रह विनयाग्रहेण सहितो भूत्वा स्वर्गापवर्गस्वरूपनिरूपणपरायण सद्दर्शनसाया कथा प्रथयामास । स्वर्गमोक्षयो स्वरूपस्य निरूपणे परायण तत्पर समीचीनहिंसा-धर्मोपेता कथाम् आख्यातवान् ।

[पृष्ठ ६७-६८] सत्कर्मवशप्रभिवर्द्धिर्बलि —सन्ति च तानि कर्माणि अहिंसासत्याचौर्यादीनि तान्येव वशो वेणु त प्रभिनन्ति इति प्रभित् स चासी अलिर्भ्रमर स इव बलिरवदत्—स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गापवर्ग-स्मित्वसङ्ग्रहे देवस्य दुराग्रह । आचार्य, देवस्य नृपस्य स्वर्गमोक्षयो' अस्तित्वकल्पनाया कोऽयं दुरमिनिवेश । अयं विफलाग्रहोऽस्ति । यतो द्वादशवर्षा स्त्री, षोडशवर्षं पुरुष तयोरन्योऽन्यम् अनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेक-प्रादुर्भूति प्रीतिः । तयो उक्तव्यसोनरीरपुरुषयो. अन्यजनासाधारणस्नेहप्रकर्षोत्पत्ति. प्रीतिरुच्यते । सा एव प्रत्यक्षसमविसर्ग स्वर्गं न पुन' न अदृष्ट कोऽपीष्टः स्वर्गं समस्ति । सा प्रीतिरेव प्रत्यक्षेण सम्यक् निश्चयो यस्य स स्वर्गो ज्ञातव्य, न पुन' अदृष्ट केनापि मत' स्वर्गं विद्यते । गुणभूरि सूरि —सकले प्रमाणबले बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणम् एकमेव प्रमाण समस्ति । सह कलिना वर्तते इति सकलिस्तत् सबोधन हे सकले, अखिले प्रमाण-समूहे विद्यमानेऽपि हे बलिमन्त्रिन्, प्रत्यक्षताश्रय किमेकमेव प्रमाणं विद्यते । नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलिर्बलि —अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविदुष, एकमेव । नास्तिक एव इन्द्र तस्य मनोरथ मनोऽभिलाषः नास्ति परलोक', नास्ति पुण्य पापं चेत्यादिरूप स एव रथ तस्य मातलि तन्नामा शक्रसारथि तद्रूप बलिरवदत् 'अखिल श्रुतं सकलम् आगमज्ञानमेव ब्रह्मा पृथ्वी तस्या उद्धारे आदिपुरुषविदुष प्रथमपुरुष विद्वान् तत्सबोधनम् ।

शाक्येति—शाक्यः सुतस्तस्य वायव्यं उपदेशं तदेव वारिधिं समुद्रं तस्मिन् क्षान्तिं प्रवेष्टं मस्य तद्यमुतेन
 गतेष्वेव शुद्धेन । वार्वाक्योकावां नास्तिकानां विवस्वतिना ह्यग्रेण बहुस्पतिना मग्निना । एतस्य महादेवस्य नृप
 बिभ्रत् तेन अनुविनोः अगष्टो विदेको यस्य तेन प्रह्लादकेन मग्निना अनुगतोऽननुत्तेन । वैरिणावलिना तपि
 नैनं चित्तवर्मानरागदम्बिति विवस्वताया विचार्यमाया राग्बन्धिति । राग्बन्धनं यस्य । एकदा एकस्मिन् समये
 समस्तेति—उक्तायास्ताम्पाद्य एव वर्षाः कृष्टिः तेन विस्फारिता प्रवर्द्धिता सारस्वती धारा एव नरो तस्या-
 स्तारज्जाः वीरयः नानामुत्तमविषया तेषां परमरा तस्यां प्लावनेन स्नायेन पवित्रिता पूता ये विवेकदया
 दिव्यास्तेषां मनास्वेव नमिनामि कमलाणि तेषां विभुसम्भं समुद्रो येन तस्य । पुनः कथमुनस्य । परमेति—
 परमाणि निर्बोधाणि तानि उपरधरानि तेषां एव समुद्रः तस्य ग्रहणे अविहृतं ब्रह्माति परित्यजति सारस्वति
 बिभ्रत् न बिभ्रत् अविहृतं उच्यते तद्ग्रहणं च स एव स्तम्भः भुवनवर्ध यस्य निष्कपटं यथा स्यात्तथा हृतेन तपना
 सप्ताष्टादशकालस्य महामुनिस्तपस्यतीर्यस्य महामुनीनां सप्तशती तस्यां कथंस्व क्षेप्यस्य प्रपन्नोऽक्रमना-
 वायस्य महद्भिनुवः महर्षीः पुनते तेवते वारस्ते इति महद्भिनुवः तस्य महद्भिनुवः महर्षीः वारस्य । सर्वव्या-
 प्यत्वं नाम तपोपवनम् अविस्तरपुणः कृत्स्निवासस्य तस्य वरणाचनोपचारोऽयं पादपूजनविधये राजमार्गेषु
 महोत्सवस्य उत्साहः आनन्दः तस्य उत्सवः अमिताभो यस्य स वासो परिक्रमः परिक्रमः यस्य तथामूर्तं वीरवर्गं
 नागरिककोकम् अम्रिहृतेहृदनामावसरे अर्धं मेघं केहि इति अर्धंभिहृत् तत् गौडम् अम्रिहृतेहृद् मेघसन्धिपू-
 मित्यर्थः तस्य अद्यमाय तस्य अवसराः प्रवेशः तत्र । विविक्तोऽप्यन्यमिन्दे रितां विविक्तस्य आनन्दो यत्र
 तथामूर्ते मन्दिरे स्थितः अद्यवर्त्मन्युः समबलोऽयं कोऽयमकाशे प्रचण्डः पीठानुसाराद्येतोये निबोयः कोऽयम्
 जनवसरे प्रचण्डः महान् वीराणां नभचरिवाहिनाम् उत्साहः उत्सवः तस्मिन् उत्तोयः प्रवर्तिः तस्मिन् निबोयः
 निरवयः इति विवर्त्यम् [नृपः वनपाकेन आनन्दस्य सङ्घः अकम्पनवृत्तिः समयाद्य इति अकम्प्यः] सकलसम-
 र्गविप्रसूनसिन्धुमिहृत्तपस्त्वान्तराज्यपाठात् सकलसमन्ताः सकलस्य तेषु संयमीनि च तानि वसुधानि पुष्पाणि
 तैः स्तिमिती पूर्वा इत्यौ तादेव वस्त्वान्तराज्यं यस्य तस्मात् वनपाकात् दिवः अमर्त्यमोत्सुकनदेवताकोकने
 तवावकोकनोत्पत्तिनामि वनदेवतामयानि यत्र तथामूर्ते । यत्रवत्तपः प्रमाद्यवत्तपस्यस्तत्तत्समाहितोदेविनीलस्यै
 प्रपन्नो मुनेस्तपसा माहात्म्यादुत्सुकसकलार्थमाहितपवित्रीयन्त्ये । निरकलमीधिरुन्नीकृतवन्त्यपाने स्वस्य तस्मात्
 योमया विस्वमीकृतो नि पीकृतो नम्यतामनो नैनं तस्मिन् पुरोपवर्ते नवरीयाने । उरुगुच्छीत्तपावितसमुद्गेन वसुधानां
 तन्मन्त्राविपुषानां मित्रा तन्मन्त्रा संपादितः अजयः तन्मन्त्रः अजयः येन तथामूर्तेन महता मुनिस्तपून् अकम्पनवृत्ति
 वनामाता । कथंमूर्त । सर्वसत्त्वेति—सर्वे च ते तस्याः आरमागः तेषाम् आनन्दस्य प्रदाने वराधारिणा
 महोपदेशः सा एव मुखा अमृत तस्याः प्रभवेन अवशीरितं सिरस्कृतम् अमृतमपीधिमन्त्रम् अमृतमवा मपीधया
 किरना यस्य स अमृतमपीधिरिक्तुः तस्य मन्त्रकं विभवं देव । मिश्रितेति—सकलविषयात्मनुत्तरात्मप्रक-
 र्णबीमवचनवचनमन्त्रकम्, पुण्येति—पुण्यान्वेन धियाः वज्रा तेषां मूर्धं समुद्रः तस्य कन्धनवारिः कन्धनरन्ध्रं
 अकम्पनवृत्तिः समायातः । तदुपासनाय जायत तस्य सूरैः तपासनाय पूजनाय च अस्य वज्रविनीयस्य महाबाहो
 बहः महापचाधी महः महोत्सवाः तम् आनहति इति महामहानहः चित्तोत्साहः । इत्याकर्ष्य प्रपूज्य बीजम्
 एतस्यादन्त्यभीष्टतद्भवः एतस्य अकम्पनसूरैः पादवीर्यस्यै वरात् हूयं यस्य स नृपः तत्र वननाय दिव्यात्
 प्रवत्तामस्तामककिं त वक्षिम् अपुष्कम् । दिव्यात्स्यै प्रवत्ता प्रपूज्य स एव कदा तस्याः आभयकतिन्
 आचारमूर्तं विभीषकमूर्तं वक्षिम् अपुष्कम् पूजनाम् ।

[पृष्ठ ६६] सङ्कर्षवृत्तारणमन्त्रिकः देव—पञ्चमः अग्निधावर्गस्य मूर्तं तस्या वज्ररूपं निपाकरणं
 तत्र यत्किं वनोऽप्यमूर्तं वक्षीयर्थः । वक्षिः एवमवक्ष्यः । देव—नेति—न वीरारणम् अन्त्यतत्तम् । न
 पाञ्चाक्षरपठे विधिः अन्त्यं चर्मकार्यं न विद्यते । यज्ञाय प्राणिहितनात्मकम् अपरः अन्त्यं यमो न विद्यते ।
 तथा हिनाम् वाङ्मयात्पठोऽयं मतिर्न विद्यते ॥२१८॥ सम्यक्कर्माच्येन प्रह्लादकः—रत्नव्याप्तमयी मीसमार्ग
 एव सम्यक् तस्य सर्वं ज्ञातम् तस्य कण्ठोदकः प्रह्लादकः एवम् अवक्ष्य—अग्नेतेति—अग्नेताम् न
 परं तत्तम् । अग्नेताम् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्येवं तत्तम् । परं द्वैतादिनां नावाच्यत्वात् तत्तं न प्रवर्ति ।

न देव शक्रात्परः अन्यः । शिवेन प्रणीतः शैव तच्च तच्छास्त्रं च शैवशास्त्रं तस्मात्परम् अन्यत्
भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः नास्ति । शिवशास्त्रादेव भोगादिकं लब्ध्वा अवसाने मुक्तिं च लभते जीवः ॥२१९॥
तथा नास्तिक्याधिक्यवाचस्पती नास्तिक्यं नास्ति जीवः न परलोकवार्ता, न पापं पुण्यं च इत्यादि-
मानमिको विमर्शः नास्तिक्यम् तस्याधिक्ये वाचस्पती इव देवगुरु इव शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे जयवर्मणे
स्वप्रज्ञा स्वबुद्धिं विज्ञापयामासुः प्रकटयाचक्रुः । मनोगन्तं क्षुभितमतिं क्षितिपतिं ईषत् चित्ते कोपकल-
पितबुद्धिः भूयति — अहो दुर्जनतालालम्बनकुजद्विजा दुर्जनता खलता सा एव लता वल्ली तस्या आलम्बने
आधारदाने कुजा वृक्षा इव द्विजा हे ब्राह्मणा । किं ममैव पुरतो भवता भारती वाणी प्रवर्तते प्रगल्भते मत्ता
भवति ममर्था भवति । किं वा दुष्टप्रवेकस्य लोकस्यापि । बुधेषु विद्वत्सु प्रवेकं श्रेष्ठं महाविद्वान् तस्यापि
महाविद्वदोऽपि लोकस्यापि पुरतः भवता वाणी प्रगल्भते । सन्नोतिवसुमतीविदारणहर्षिर्बलिः — सती प्रशस्ता
नीतिः सदाचारः सा एव वसुमती भूमिः तस्या विदारणे हल इव लाङ्गल इव बलिर्मन्त्री अभिपतः — इलापालः,
इला पृथ्वी पालयतीति इलापालस्तन्मन्त्रोद्योतः हे इलापाल, यदि तव अस्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेष्यं मनः अस्माकं
मनीषा मतिः तस्या प्रकर्षविषये तव चित्तं यदि असूयापरं विद्यते । तदास्ताम् तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञं पर-
प्राज्ञः, अभ्यस्तानि वाचनापृच्छनाभ्यासानुप्रेक्षादिभिः मलितानि यानि शास्त्राणि तेषु प्रवीणा प्रज्ञा यस्य स
प्राज्ञः परतावदास्ताम्, किं तु सर्वज्ञस्यापि वादिनः पुरस्ताद्वादे परिगृहीतविधानवद्या एव, अभ्यस्तविद्यासु
अनवद्या एव पराजयदोषरहिता एव भवेत् । स्थिरप्रकृतिः क्षोणीपतिः स्थिरा धैर्यवती प्रकृतिः स्वभावनि-
मित्तिर्यस्य क्षोण्या भूमे पतिः स्वामी जयवर्मन्पुत्रः 'यद्येव दूराणां कातराणां च रणे व्यविनर्मविष्यति ।'
इत्यादिभिर्वाच्य आनन्ददुन्दुभिरवोपाजिनपरिजनपूजोपकरणो आनन्दपटहध्वनिना आनायितपरिच्छदजनपूजा-
द्रव्यमाधनं विजयशेखरं नाम करिणं गजम् आरुह्य, अन्तःपुरानुगमग्राह्यं अन्तःपुरस्त्रीणाम् अनुगमं अनुयानं
तेन ग्राह्यं अङ्गीकार्यं सन् । अतिवाह्यं नगरमार्गम् उत्लङ्घ्य । उषगतारामसौमससर्गं संप्राप्तोपवनमर्यादा-
सन्धं । ततः करिणं गजात् अवरोह्य अवतीर्य गृहीतार्यवेपपरिकरं राजवेषं परित्यज्य स्वीकृतविनीतजन-
वेपव्यतिकरं, कतिपयाप्तपरिवारपुरं मरुः कतिचनविश्वस्तपरिच्छदाग्रगतः । तं व्रतविद्यानवधं भगवन्तं
व्रतानि अहिंसादीनि पञ्चमहाव्रतानि, विद्याश्च मतिश्रुतावधिज्ञानानि तैः अनवद्यं निर्दोषं परिपूर्णं इत्यर्थं
तम् । भगवन्तं यथावत् अष्टाङ्गवहितं नमस्कारं कृत्वा, समाचरितनीचासनपरिग्रहं समाचरितो विहितं
नीचामनस्य परिग्रहं स्वीकारो येन, गुरोः पुरतः शिष्येण विनयेन उपवेष्टव्यम्, उच्चस्थाने गुरोः तिष्ठति
शिष्येण नीचैः स्थाने स्थातव्यम् इति नियमात्, सविनयाग्रहं विनयाग्रहेण सहितो भूत्वा स्वर्गापवर्गस्वरूपनिरूप-
णपरायणं सद्धर्ममनाया कथां प्रथयामास । स्वर्गमोक्षयोः स्वरूपस्य निरूपणे परायणं तत्परं समीचीनहिंसा-
धर्मोपेता कथाम् आख्यातवान् ।

[पृष्ठ ६७-६८] सत्कर्मवंशप्रभिलिखितं — सन्ति च तानि कर्माणि अहिंसासत्याचौर्यादीनि तान्येव ।

वशो वेणुः तं प्रमिनन्ति इति प्रमितं स चासौ अलिर्भ्रमरः स इव बलिरवदत् — स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गापवर्ग-
न्तित्वसङ्ग्रहे देवस्य दुराग्रहः । आचार्यः, देवस्य नृपस्य स्वर्गमोक्षयोः अस्तित्वकल्पनायाः कोऽयं दुरभिनिवेशः ।
अयं विफलाग्रहोऽस्ति । यतो द्वादशवर्षा स्त्री, षोडशवर्षं पुरुषं तयोरन्योऽन्यम् अनन्यसामान्यस्तेह्यसोत्सेक-
प्रादुर्भूतिः प्रीतिः । तयोः उक्तवयसोर्नारीपुरुषयोः अन्यजनासाधारणस्तेह्यप्रकर्षोत्पत्तिः प्रीतिरुच्यते । सा एव
प्रत्यक्षमभिषर्गं स्वर्गं न पुनः न अदृष्टं कोऽप्योष्टः स्वर्गं समस्ति । सा प्रीतिरेव प्रत्यक्षेण सम्यक् निश्चयो यस्य
स स्वर्गो ज्ञातव्यः, न पुनः अदृष्टं केनापि मतं स्वर्गं विद्यते । गुणभूरिः सूरिः — सकले प्रमाणबले बले, किं
प्रत्यक्षताधिकरणम् एकमेव प्रमाणं समस्ति । सह कलिना वर्तते इति सकलिस्तत् सर्वबोधनं हे सकले, अखिले प्रमाण-
समूहे विद्यमानेऽपि हे बलिमन्त्रिन्, प्रत्यक्षताथयः किमेकमेव प्रमाणं विद्यते । नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलिर्बलिः —
अखिलश्रुतवरोदारादिपुरुषविदुषः, एकमेव । नास्तिक एव इन्द्र तस्य मनोरथः मनोऽभिप्रायः नास्ति परलोकः,
नास्ति पुण्यं पापं चेत्यादिरूपं स एव रथः तस्य मातलिः तन्नामा शक्रसारथिः तद्रूपं बलिरवदत् 'अखिल-
श्रुतं सकलम् आगमज्ञानमेव बरा पृथ्वी तस्या उदारे आदिपुरुषविदुषः प्रथमपुरुषं विद्वान् तत्सन्बोधनम् ।

चुम्बित सल्लिष्ट पर्यन्तप्रसर आसमन्तप्रदेशो यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे । साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमती
 महादेवीम् अवहाय कृताभिषेका लक्ष्मीमती महिषी त्यक्त्वा । सरस्वतीरसावगाहमागरस्य सरस्वत्या वाचा
 देश्या रस आस्वाद्यमान प्रीतिविक्षेप तस्य अवगाहे स्थानदाने सागरस्य समुद्रस्येव श्रुतसागरस्य भगवत अभ्यर्णे
 समीपे पितृविनयविष्णुना पितुर्जनकस्य सवन्धिन विनय वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णु तेन विष्णुना निजजनके
 विनयातिशय धारयता, विष्णुना तन्नामधारकेण लघुभूत जन्म यस्य तेन तथाभूतेन सूनुना पुत्रेण सार्धं सह
 प्रवर्धितदोक्षापद्यस्य प्रवर्धित विकाम नीत दोक्षा एव पद्य कमल येन तस्य महापद्यमहीपते महापद्येति नामवतो
 भूपते पद्यनामनिलय तनयम् अशिश्रयत् आश्रयदित्यर्थः । बलिर्मन्त्री निजानुजे सह पद्यनामान राजानम् आश्रय-
 दित्यर्थः । पद्योऽपि चारयञ्चारात् चाराणा गूढपुरुषाणा सञ्चारात् भ्रमणात् विदितवशविद्याप्रभावाय ज्ञातान्वय-
 ज्ञानमाहात्म्याय तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिक स्थानमदात् । सर्वे अधिकारिण यस्मिन् वशा भवन्ति तत्
 महास्थानम् अयच्छत् । बलि — देव, गृहीतोऽयं स्वोक्तोऽयम् अनन्यसामान्यसभावनाह्लाद प्रसाद इतरजना-
 साधारणादरप्रमोद प्रसाद । किं तु कर्णेजपवृत्तीना कर्णे लगित्वा परापकारजपनरूपा वृत्तियेपा ते कर्णेजपवृत्तयः ।
 परापकारोक्तिस्वभावानां खलानामित्यर्थः । पुन कथंभूताना लञ्चचलुञ्चेति—लञ्चम्य उत्कोचस्य लुञ्चन
 ग्रहण तस्य उचिता योग्या चेतमः मनसः प्रवृत्तियेपा तेषा पुरुषाणा प्रायेण नियोगिपदम् अधिकारिपद हृदयास्पद
 तेषा हृदयानुरूप न प्रतिभाति । पर शौर्येण ऊजितम् उन्नत चित्त यस्य, उदार दानशील चित्त यस्य तस्य च इदं
 नियोगिपद नोचितम् अपि तु उचितमेव तत् तस्मात् असाध्यमाधनेन यत्कार्यं साधयितुं दुःशक तस्य साधनेन
 साधनभूतेन ननु अयं जन निदेशदानेन आज्ञाप्रदानेन अनुगृहीतव्य उपकार्य इत्यर्थः । पद्य — सत्यमिदम् । किं तु
 स्वामिसमोहितसुमन सवीणेपु स्वामिनो नृपस्य समोहितम् इष्टं कार्यं तस्मिन् सुमनसा सवीणेपु तत्परेषु भवद्विधेषु
 भवादृशेषु सचिवेषु सहायकमन्त्रिषु विद्यमानेषु किं नामासाध्यम् अस्ति । अन्यथा तु अन्यस्मिन्काले तु कुम्भपुराधि-
 कृतमूर्ति कुम्भपुरनामनगरे अधिकृतमूर्ति स्वामित्वेन अधिष्ठिता मूर्ति देहो यस्य कुम्भपुरस्य यो राजा अस्ति
 स तथाभूत सिंहकीर्तिर्नाम नृपति । अनेकयोधनेषु नानायुद्धेषु लब्धम् आप्त यशःप्रसाधनं कीर्तिभूषण येन ।
 सन्नद्ध युद्धोद्यत सारसाधन बलवत्सैन्यं यस्य । हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानाय हस्तिनागनगराक्रमणप्रदानाय
 आगच्छन् एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमनं अयं नृपस्य कुम्भपुरे छन्ना गूढतयावस्थिता ये अवसर्पा चारा-
 स्तैर्निवेदितम् आगमनं यस्य, स बलिसचिव पद्यनिदेशात् पद्यनृपादेशमनुदध्य अभ्यमिश्रीणप्रयाणपरायणेन
 विद्विषन्तं प्रति जेतुं गमनं यत्तदभ्यमिश्रीणप्रयाणमुच्यते तस्मिन् परायणेन तत्परेण कूट वञ्चनापूर्णं प्रकाम कदनम्
 अतिशयेन रोपेण कदनं युद्धं तस्मिन् कोविदा निपुणा धिपणा बुद्धि यस्य तेन बलिना सचिवेन । अध्वमध्ये
 मार्गम् अवलम्ब्य युध्यमानं, नामनिर्गमविधाने स्वकीयनामविरुदावलीसहितं प्रधानं युद्धसिद्धान्तोपातं सामन्तैश्च
 नम्रोभूय ततो निर्गमोपायवद्भिः मुख्यं युद्धस्य समरस्य सिद्धान्तानाम् उपान्तं समीपं गतं सामन्तं स्वविषया-
 नन्तरराजभिः स सलम्नोऽन्त एकदेशो यस्या सा समन्ता स्वविषयानन्तरा भूमि तस्या अधिपतयः सामन्ताः ।
 तैश्च सर्वं प्रब्रूय तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभूतीकृतं । हृदयस्य मनसः शल्यस्य पीडाया
 उन्मूलनात् नि शेषतया नाशात् प्रमदयुक्ता सानन्दा मतिर्यस्य तस्मै क्षितिपतये भूमिपतये पद्यनृपाय प्राभूतीकृतं
 उपायनोक्तं । क्षितिपति — शस्त्रशास्त्रेति—शस्त्राणि च शास्त्राणि च तेषा विद्यानाम् अधिकरणम् आश्रय-
 रूपं व्याकरणं तस्य व्याकर्ता पतञ्जलिरिव तत्संयोजनं हे बले, निखिलेऽपि बले सकलेऽपि सैन्ये चिरकाल-
 मनेकशः कृतकृष्णवदनच्छायास्यास्य कृता कृष्णा श्यामा वदनच्छाया मुखकान्तिर्येन तस्य अस्य द्विष्टस्य शत्रो
 विजयात् नितान्तम् अत्यन्तं तुष्टोऽस्मि प्रीतोऽस्मि । तथाच्यता मनोऽभिलाषधरो वरः, तस्मात्कारणात् यः वरः ते
 मनोऽभिलष्यति स याच्यता प्रियताम् । बलि — यदाहं याचे तदार्यं प्रसादीकर्तव्यं । इत्युदारम् उदीर्य नि स्पृहता
 प्रदर्शयन्निव उदीर्य उक्त्वा, पुनश्चतुरङ्गबलप्रबलं चत्वारि अङ्गानि हस्त्यश्वरथपादातरूपाणि यस्य तेन बलेन
 सैन्येन प्रबलं महाशक्तिमान् बलिं प्रतिकूटभूतालविनयाय प्रतिकूला विरुद्धा ये भूपाला राजान तेषा विनयाय
 आनुकूल्योत्पादनाय । पद्यम् अवनोपतिम् अवन्या पति पृथ्वीशम् आदेशम् आज्ञा याचित्वा गृहीत्वा सत्वरं शीघ्रम्
 अशेषेति—अशेषा सकला ताश्च ता आशा दिशः तामु वशा निजाधीना कृता निवेशा स्थानानि ग्राम-

चुम्बित सश्लिष्टः पर्यन्तप्रमर आसमन्तप्रदेशो यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे । साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमती
 महादेवीम् अवहाय कृताभिषेका लक्ष्मीमती महिषी त्यक्त्वा । सरस्वतीरसावगाहमागरस्य सरस्वत्या वाचा
 देव्या, रस आम्वाद्यमान प्रोतिविशेषः तस्य अवगाहे स्थानदाने सागरस्य समुद्रस्येव श्रुतसागरस्य भगवत अम्यर्णे
 समीपे पितृत्रिनयविष्णुना पितुर्जनकस्य सवन्धिन विनय वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णु तेन विष्णुना निजजनके
 विनयातिशय धारयता, विष्णुना तन्नामधारकेण लघुभूत जन्म यस्य तेन तथाभूतेन सूनुना पुत्रेण सार्धं सह
 प्रवर्धितदोक्षाप्यस्य प्रवर्धित विकाम नीत दीक्षा एव पद्म कमल येन तस्य महापद्ममहीपते महापद्मेति नामवतो
 भूपते पद्मनामनिर्णयं तनयम् अशिश्नयत् आश्रयदित्यर्थं बलिर्मन्त्री निजानुजे सह पद्मनामान राजानम् आश्रय-
 दित्यर्थः । पद्मोऽपि चारमञ्चारात् चाराणा गूढपुरुषाणा सञ्चारात् भ्रमणात् विदितवशविद्याप्रभावाय ज्ञातान्वय-
 ज्ञानमाहात्म्याय तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिक स्थानमदात् । सर्वे अधिकारिण यस्मिन् वशा भवन्ति तत्
 महास्यानम् अयच्छत् । बलि —देव, गृहीतोऽयं स्वीकृतोऽयम् अनन्यसामान्यसभावनाह्लाद प्रसाद इतरजना-
 साधारणादरप्रमोद प्रसाद । किं तु कर्णेजपवृत्तीना कर्णे लगित्वा परापकारजपनरूपा वृत्तियेषां ते कर्णेजपवृत्तय
 परापकारोक्तिस्वभावानां सलानाभित्यर्थः । पुन कञ्भूताना लञ्चलुञ्चेति—लञ्चस्य उत्कोचस्य लुञ्चनं
 ग्रहण तस्य उचिता योग्या चेतस मनस प्रवृत्तियेषां तेषां पुरुषाणा प्रायेण नियोगिपदम् अधिकारिपदं हृदयास्पदं
 तेषां हृदयानुरूपं न प्रतिभाति । पर शौर्येण ऊजितम् उन्नत चित्त यस्य, उदार दानशील चित्त यस्य तस्य च इदं
 नियोगिपदं नोचितम् अपि तु उचितमेव तत् तस्मात् अमाध्यमाधनेन यत्कार्यं साधयितुं दुःशकं तस्य साधनेन
 साधनभूतेन ननु अयं जन निदेशदानेन आज्ञाप्रदानेन अनुगृहीतव्य उपकार्य इत्यर्थः । पद्म —सत्यमिदम् । किं तु
 स्वामिसमीहितसुमन सवीणेपु स्वामिनो नृस्य समीहितम् इष्टं कार्यं तस्मिन् सुमनसा सवीणेपु तत्तरेपु भवद्विषेपु
 भवादृशेषु सचिवेषु सहायकमन्त्रिषु विद्यमानेषु किं नामासाध्यम् अस्ति । अन्यदा तु अन्यस्मिन्काले तु कुम्भपुराधि-
 कृतमूर्ति कुम्भपुरनामानगरे अविद्युतमूर्ति स्वामित्वेन अधिष्ठिता मूर्ति देहो यस्य कुम्भपुरस्य यो राजा अस्ति
 स तथाभूत सिद्धक्रीतिर्नाम नृपति । अनेकयोधनेषु नानायुद्धेषु लब्धम् आप्तं यशःप्रसाधनं क्रीतिभूषणं येन ।
 सन्नद्धं युद्धोद्यत सारसाधनं बलवत्सैन्यं यस्य । हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानाय हस्तिनागनगराक्रमणप्रदानाय
 आगच्छन् एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमनं अम्यं नृपस्य कुम्भपुरे छन्ना गूढतयावस्थिता ये अवसर्पा चारा-
 स्तैर्निवेदितम् आगमनं यस्य, स बलिसचिवः पद्मनिदेशात् पद्मनृपादेशमनुकृष्य अम्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन
 विद्विषन्तं प्रति जेतुं गमनं यत्ततदभ्यमित्रीणप्रयाणमुच्यते तस्मिन् परायणेन तत्परेण कूटं वञ्चनापूर्णं प्रकामं कदनम्
 अतिशयेन रोपेण कदनं युद्धं तस्मिन् कोविदा निपुणा धिपणा वृद्धिः यस्य तेन बलिना सचिवेन । अध्वमध्ये
 मार्गम् अवच्छेद्य युध्यमानः, नामनिर्गमविधानं स्वकीयनामविहृदाबलसहितं प्रधानं युद्धसिद्धान्तोपायान्तं सामन्तैश्च
 नम्रोभूय ततो निर्गमोपायवद्भिः मुख्यैः युद्धस्य समरस्य सिद्धान्तानाम् उपान्तं समीपं गतं सामन्तैः स्वविषया-
 नन्तरराजमि स सलग्नोऽन्त एकदेशो यस्या सा ममन्ता स्वविषयानन्तरा भूमि तस्या अधिपतय सामन्ता ।
 तैश्च सार्धं प्रवृष्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभूतीकृतः । हृदयस्य मनसः शल्यस्य पीडाया
 उन्मूलनात् नि शेषतया नाशात् प्रमदयुक्ता सानन्दा मतिर्यस्य तस्मै क्षितिपतये भूमिपतये पद्मनृपाय प्राभूतीकृत
 उपायनीकृतः । क्षितिपति —शस्त्रशास्त्रेति—शस्त्राणि च शास्त्राणि च तेषां विद्यानाम् अधिकरणम् आश्रय-
 रूपं व्याकरणं तस्य व्याकर्ता पतञ्जलिखितं तत्संबोधनं हे बले, निखिलेऽपि बले सकलेऽपि सैन्ये चिरकाल-
 मनेकशः कृतकृष्णवदनच्छायास्यास्य कृता कृष्णा श्यामा वदनच्छाया मुखकान्तिर्येन तस्य अस्य द्विष्टस्य शत्रो
 विजयात् नितान्तम् अत्यन्तं तुण्डोऽस्मि प्रीतोऽस्मि । तथाच्यना मनोऽभिलाषधरो वरः, तस्मात्कारणात् यं वरं ते
 मनोऽभिलष्यति स याच्यतां श्रियताम् । बलि —यदाह याचे तदार्यं प्रमादीकर्तव्यम् । इत्युदारम् उदीर्य नि स्पृहता
 प्रदर्शयन्निव उदीर्य उक्त्वा, पुनश्चतुरङ्गबलप्रबलं चत्वारि अङ्गानि हस्त्यश्वरथपादादतरूपाणि यस्य तेन बलेन
 सैन्येन प्रबलं महाशक्तिमान् बलिं प्रतिकूरुभूगालविनयाय प्रतिकूला विरुद्धा ये भूपाला राजान तेषां विनयाय
 आनुकूल्योत्पादनाय । पद्मम् अवनोपतिम् अवन्त्या पतिं पृथ्वीशम् आदेशम् आज्ञां याचित्वा गृहीत्वा सत्वरं शीघ्रम्
 अशेषेति—अशेषा सकला ताश्च ता आशा दिशः तामु वशा निजाधीना कृता निवेशा स्थानानि ग्राम-

चुम्बित मण्डिले पर्यन्तप्रसर आसमन्तप्रदेशो यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे । साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमतीं महादेवीम् अवहाय कृताभिषेका लक्ष्मीमती महिषीं त्यक्त्वा । सरस्वतीरसावगाहमागरस्य सरस्वत्या वाचा देव्या रस आम्बाद्यमान प्रीतिविशेषः तस्य अवगाहे स्थानदाने सागरस्य समुद्रस्येव श्रुतसागरस्य भगवत अम्यर्णे समीपे पितृत्रिनयविष्णुना पितुर्जनकस्य सवन्धिन विनय वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णु तेन विष्णुना निजजनके विनयातिशय धारयता, विष्णुना तन्नामधारकेण लघुभूत जन्म यस्य तेन तथाभूतेन सूनुना पुत्रेण सार्धं सह प्रवर्धितदोक्षापद्यस्य प्रवर्धित विक्राम नीत दीक्षा एव पद्म कमल येन तस्य महापद्ममहीपते महापद्मेति नामव्रतो भूपते' पद्मनामनिलय तनयम् अक्षिप्रयत् आश्रयदित्यर्थः । बलिर्मन्त्री निजानुजे सह पद्मनामान राजानम् आश्रय-दित्यर्थः । पद्मोऽपि चारमञ्चारात् चाराणा गूढपुरुषाणां सञ्चारात् भ्रमणात् विदितवशविद्याप्रभावाय ज्ञातान्वय-ज्ञानमाहात्म्याय तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिक स्थानमदात् । सर्वे अधिकारिण यस्मिन् वशा भवन्ति तत् महास्थानम् अयच्छत् । बलि —देव, गृहीतोऽयं स्वोक्तोऽयम् अनन्यमामान्यसभावनाह्लाद प्रसाद इतरजना-साधारणादरप्रमोद प्रसाद । किं तु कर्णेजपवृत्तीना कर्णे लगित्वा परापकारजपनरूपा वृत्तियेषां ते कर्णेजपवृत्तयः परापकारोक्तिस्वभावानां खलानामित्यर्थः । पुन कथभूताना लञ्चलुञ्चेति—लञ्चस्य उत्कोचस्य लुञ्चन ग्रहणं तस्य उचिता योग्या चेतम मनस प्रवृत्तियेषां तेषां पुरुषाणां प्रायेण नियोगिपदम् अधिकारिपद हृदयास्पदं तेषां हृदयानुरूपं न प्रतिभाति । परं शौर्येण ऊजितम् उन्नतं चित्तं यस्य, उदार दानशीलं चित्तं यस्य तस्य च इदं नियोगिपदं नोचितम् अपि तु उचितमेव तत् तस्मात् असाध्यमाघनेन यत्कार्यं साधयितुं दुःशकं तस्य साधनेन साधनभूतेन ननु अयं जन निदेशदानेन आज्ञाप्रदानेन अनुगृहीतव्यं उपकार्यं इत्यर्थः । पद्म —मत्पतिमिदम् । किं तु स्वामिसमोहितसुमनः सवीणेपु स्वामिनो नृपस्य समीहितम् इष्टं कार्यं तस्मिन् सुमनसा सवीणेपु तत्परेषु भवद्विवेषु भवादौशेषु सचिवेषु सहायकमन्त्रिषु विद्यमानेषु किं नामासाध्यम् अस्ति । अन्यथा तु अन्यस्मिन्काले तु कुम्भपुरावि-कृतमूर्तिं कुम्भपुरनामनगरे अधिकृतमूर्तिं स्वामित्वेन अधिष्ठिता मूर्तिं देहो यस्य कुम्भपुरस्य यो राजा अस्ति स तथाभूत सिंहकीर्तिर्नाम नृपति । अनेकयोधनेषु नानायुद्धेषु लब्धम् आप्तं यशःप्रसाधनं कीर्तिभूषणं येन । सन्नद्ध युद्धोद्यत सारसाधनं बलवत्सैन्यं यस्य । हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानाय हस्तिनागनगराक्रमणप्रदानाय आगच्छन् एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमनं अस्य नृपस्य कुम्भपुरे छान्ना गूढतयावस्थिता ये अवसर्पा चारा-स्तैर्निवेदितम् आगमनं यस्य, स बलिसचिवः पद्मनिदेशात् पद्मनृपादेशमनुरुध्य अम्यमित्रिणप्रयाणपरायणेन विद्विषन्तं प्रति जेतुं गमनं यत्तदवश्यमित्रीणप्रयाणमुच्यते तस्मिन् परायणेन तत्परेण कूटं वञ्चनापूर्णं प्रकामं कदनम् अतिशयेन रोपेण कदनं युद्धं तस्मिन् कोविदा निपुणा धिपणा बुद्धिः यस्य तेन बलिना सचिवेन । अध्वमध्ये मार्गम् अवच्छेद्य युध्यमानः, नामनिर्गमविधानं स्वकीयनामविरुदावलीसहितं प्रधानं युद्धसिद्धान्तोपायान्तं सामन्तैश्च नम्रोभूय ततो निर्गमोपायवद्भिः मुख्यैः युद्धस्य समरस्य सिद्धान्तानाम् उपान्तं समीपं गतं सामन्तं स्वविषया-नन्तरराजभिः स सलग्नोऽन्तः एकदेशो यस्याः सा ममन्ता स्वविषयानन्तरा भूमिः तस्या अधिपतयः सामन्ताः । तैश्च सार्धं प्रवृष्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमत्तये क्षितिपतये प्राभृतीकृतः । हृदयस्य मनसः शल्यस्य पीडायाः उन्मूलनात् नि शेषतया नाशात् प्रमदयुक्ता सानन्दा मतिर्यस्य तस्मै क्षितिपतये भूमिपतये पद्मनृपाय प्राभृतीकृतः उपायनीकृतः । क्षितिपति —शस्त्रशास्त्रेति—शस्त्राणि च शास्त्राणि च तेषां विद्यानाम् अधिकरणम् आश्रय-रूपं व्याकरणं तस्य व्याकर्ता पतञ्जलिखितं तत्संशोधनं हे बले, निखिलेऽपि बले सकलेऽपि नैर्घे चिरकाल-मनेकशः कृतकृष्णवदनच्छायास्यास्य कृता कृष्णा श्यामा वदनच्छाया मुखकान्तिर्येन तस्य अस्य द्विष्टस्य घटो-विजयात् नितान्तम् अत्यन्तं तुष्टोऽस्मि प्रीतोऽस्मि । तथाच्यना मनोऽभिलाषवरो वरः, तस्मात्कारणात् यं वरं ते प्रदर्शयन्निव उदीर्य उक्त्वा, पुनश्चतुरर्दगवलप्रवलं चत्वारि भङ्गानि हस्त्यश्चरधपादातम्प्रापि यस्य तेन बलेन सैन्येन प्रवलं महाशक्तिमान् बलिः प्रतिकूटभूगालविनयाय प्रतिकूला विरुद्धा ये भूपाः राजानः तेषां विनयाय आनुकूल्योत्पादनाय । पद्मम् अवनीपतिम् अवन्या पतिं पृथ्वीशम् आदेशम् आज्ञां याचित्वा गृहीत्वा सम्बरं शीघ्रम् अशेषेति—अशेषा सकला ताश्च ता आशा दिशः तामु वशा निजानां हृता निवेद्या श्वानानि दान-

यामास । विष्णुमुनि प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमव्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण यथा प्रदीप स्वच्छमणि-
वत्कुड्यमध्यादात्तप्रचारेण रश्मिममूहेनेव, कथभूतेन करेण । उच्यते, वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानु-
तरगिरिपर्यन्तसवेदनेन सागरस्य वज्रतटस्फोटन कुर्वता करेण हस्तेन, पुन कथभूतेन मानुषोत्तरो नाम गिरि-
करद्वीपस्य बहुमध्यभागे वलयाकारो वर्तते तस्य पर्यन्त यावत् सवेदनम् अनुभवो यस्य तेन । पुन कथभूतेन
रेण मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण करेण मनुष्यक्षेत्रस्य यो मानदण्डस्तस्य विडम्बनकरेण अनुकरण-
र्यता करेण ऊर्णनाभ इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्याससमाभिक्रियया च तामवगम्य । यथा ऊर्ण-
मस्तन्तुवायनामा कीटविशेष स तन्तुममूहे व्यासो विस्तार समास सुक्षेप तयो क्रियया निजवशाधारया
शक्तिं जानाति तथा स्ववशाश्रयया निजाधीनाधारया विस्तारसक्षेपक्रियया स्वकाये स्वशरीरे च तामवगम्य
त्वा । उपगम्य च हास्तिनपुर गत्वा च हस्तिनागपुरम् । 'न खल्वनिवेद्य निखिलवर्णिवर्णश्रमपालाय मध्य-
लोकपालाय आमर्षप्रवृत्ततन्त्रेण हृद्कारमात्रेणापि कम्पितजगत्त्रया प्रमथ्यानवनविच्वसदावे तप प्रभावे
नविनयनार्थमभिनविशन्ते यतोद्या' न खलु अनिवेद्य अकथयित्वा । कर्मम् । निखिलेति—निखिलाश्च
वर्णिन ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यगूढा तेषा वर्णा आचारविशेषा आश्रमाश्च ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थता
शुक्ल चैति चत्वारश्चाश्रमा तान् पालयतीति तस्मै । मध्यमलोकपालाय मध्यमो लोक नृलोक
पालयतीति तस्मै नृपतये । आमर्षप्रवृत्ततन्त्रेण आमर्षः क्रोधस्तेन प्रवृत्त तन्त्र काय यस्य तेन
हृद्कारमात्रेणापि कम्पितजगत्त्रया प्रमथ्यानं ध्यान तदेव वन तस्य ध्वसो नाशस्तस्मै दावोऽग्नि तत्प्रदृश-
ति भाव तस्मिन् तप प्रभावे सत्यपि दुर्जनविनयनार्थं दुर्जनान् सन्मार्गेऽवतारयितुं यतोद्या मुनीश्वरा
अभिनविशन्ते न प्रयतन्ते । मुनयो महाप्रभावास्तथापि भूपालमनिवेद्य स्वतपःप्रभाव न दर्शयन्ति इति
विव' । इति च परामुश्य मनसि विमर्शं कृत्वा, प्रविश्य च पुरैव प्रथममेव चिरपरिचितकञ्चुक्सूचितप्रचार-
न्त पुर दीर्घकालमारम्य विज्ञातसौविदल्लानुज्ञातप्रवेशः । प्रविश्य च अन्त पुरम्, पद्ममहोपते, राजधानीपु-
रण्यानीपु वा 'महारण्य अरण्यानी' इति महावनेषु इत्यर्थः । तपस्यत सयतलोकस्य मुनिजनस्य । न खलु नरेश्व-
न्तृपात् पराऽन्य प्रायेण बहुश गोपायिता रक्षिताऽस्ति । तत्कथं नाम तृणमात्रेऽपि अनपराधमतीना तृणमात्र-
यापि हिमाम् अकुर्वता यतीनाम् आत्मनि अशुभलोकनिपेक्षसर्गम् अशुभो लोक नरकतिर्यग्गतपु जन्म तस्य निप्रेक-
गाप्ति तस्य सर्गं प्रादुर्भावं यस्माद्भवेत् तम् उपसर्गं महसा अविचारेण कथं करोपीति भाव इति उक्तः ।
अवगन् सत्यमेवैतत् । किं तु कतिचिद्दिनानि बलिरत्र राजा नाहम् ।' इति प्रत्युक्तियुक्तस्थित प्रतिवचनयुक्ती
स्थित पद्मनृपतिम् अवगत्य अवज्ञाय । छलेन निमित्तेन खलु परेषु प्रायेण बहुश, अन्येषु तप प्रभवद्विलीला-
नृपोजाता ऋद्धीना लीला फलोत्लासनशीला फलप्रकटनस्वभावा, इति वा अवगत्य विज्ञाय । शालाजिर-
सम्पुटकोटरावकाशप्रदीपप्रकाश इव सजातवामनाकृतिः । शालाजिरस्य वर्धमानस्य शरावस्य वा 'शालाजिरो
वर्धमान शराव स्मर्यते बुध' इति हलायुधः । सम्पुटस्य च कोटरे मध्यभागे अवकाशोऽवगाहो यस्य तथाभूतस्य
प्रदीपस्य प्रकाश इव सजातवामनाकृतिः प्रकटीकृतल्लस्वनराकारः । सप्ततन्तुवसुमतीमनुसृत्य सप्तभिरग्नि-
जिह्वाभिस्तन्यते विस्तार्यते इति सप्ततन्तुर्यज्ञ तस्य वसुमतीं भूमिम् अनुसृत्य अनुगम्य । मधुरध्वनितृतीयेन
सवनेन मधुरध्वनिना सह तृतीयेन सवनेन उदात्तेन स्वरेण प्राबल्यनम् उच्चैरव्ययनं वेदस्य व्यधात् अकरोत् ।

[पृष्ठ १०२-१०३] बलिरिति—बलि मेघशब्दमुन्दर वाक्प्रसर वचनप्रवाह सिन्धुर इव गज इव
निभूतकर्ण वणीभूतश्रोत्र निर्वर्ण्य दृष्ट्वा कोऽय खलु वेदवाचि विरिञ्च इव उच्चारचतुर वेदवचने ब्रह्म इव
उच्चारणकुशल, इति कुतूहलितहृदय कुतुकितमना, सन्निलयाभिर्गत्य सत सज्जनान् त्रायते इति सन्न
यज्ञ तस्य निलयाद् गृहात् निर्गत्य । वयसि च निष्ठिताश्चर्यसौन्दर्यं द्विजवर्यम् एनमवादीत् । वयमि तारुण्ये
विज्ञाताऽस्तसौन्दर्यम् एन विप्रश्रेष्ठम् अवादीत् अन्नवीत् । 'भट्ट, किमिष्ट वस्तु, चेतसि निधाय प्राधीये' हे विद्वन्,
कस् ईप्सित पदार्थं वनादिक हृदये सकल्प्य प्रावीपे उच्चैर्वेदकचनानि श्रूये । 'बले दायदविलुप्तालयत्वात्
तदर्थं पादत्रयप्रमाणकलमवतितलम् । हे बलिमन्त्रिन्, सनागिहृतगृहत्वात् चरणत्रयमानसुन्दर भूमितल चेतसि
निधायिह वेदवचनानि प्रोचैवु'वे । द्विजोत्तम ब्राह्मणश्रेष्ठ मया ते निकाश यथेप्सित दत्तम् । यद्येव बहुमान-

कथयामास । विष्णुमुनि प्ररोप इव स्फाटिकनिर्गम्यमानः । तत्र नभोगाना
रचितकुडममध्यादाप्तप्रचारेण रश्मिमधूरेनेव, तत्रापि । खचरा
पोत्तरगिरिपर्यन्तस्य वेदनेन मागम्य वस्तुतस्तरेण कुर्यात् । मानचरणकमल ।
पुष्करद्वीपस्य बहुमध्यभागे वलयाकारो दम्बे तस्य तस्य । गण तेषु उपकारे
करेण मनुष्यधेयमूत्रपातविटम्बनकृत्वा कुर्यात् । आह्लाद नीता मनीषा
कुर्वता करेण ऊर्णनाभ इव तन्नुनिराये वाप्य । यानभूत वलि सवान्धव
नामस्तन्तुयायनामा कौटशिरोष स तन्नुमुद्रे । चात्र श्लोक — वत्सल
स्वसक्ति जानानि तथा स्ववसाश्रयसा निडाह । ग्रहित विघ्न क्षमयामाम

ज्ञात्वा । उपगम्य च हास्तिनपुरं गत्वा च । ॥ २० ॥

मलोकपालाय आमर्षप्रदत्तश्रेण दुर्जनविनयनार्धमनिनिविगन्ते यतोऽपि । तमः कल्पः

भिक्षुकत्व चेति स्वदारव्यापना तत्कयाश्च सूरिवरेण कथिताः । अधुना
त पालयतीति तस्मै नृपते । इति—तदाप्ती सम्यग्दृष्टे आप्ती प्राप्ती ।
हुडकारमात्रेणापि कम्पितमग्नयः । इति कारणयुगल तत्प्राप्तेर्भवति । यदा
इति भाव तस्मिन् तप प्रभावे त्वमाग्न भवति तदा तस्य तत्सम्यक्त्व निसर्गति
न अभिनिविदन्ते न प्रपद्यन्ते । तदा तस्य तत् अधिगमज ज्ञेयम् ॥ २२३ ॥
भावः । इति च परामुख्यं सर्वं ततो भव्य, कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद आसन्न ।
अन्तःपुर दीर्घकालमारभ्य विज्ञानाभ्यस्ता । कर्महानि मिथ्यात्वादीना सम्यक्त्वप्रति-
वरण्यानीषु वा 'महारभ्य' कुर्यात् । यो वा । सन्नित्व शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम् । सज्ञा
रान्नुपात्तं परोक्षं प्रायेण दुष्टपरिणामा एते अन्तरङ्गहेतव सम्यक्त्वस्य । बाह्योऽपि
स्यापि हिमाम् अकुर्वता आदिशब्देन जातिस्मरणजिनप्रतिमादर्शनादिकानि गृह्यन्ते ।
प्राप्ति तस्य सर्गं प्रादुर्भूत २२४ ॥ एतदुक्तं भवति—अस्यैव विवरण भवति—कस्यचिदास-
म्यकस्य सत्यमेवैतत् । तत्तुल्योद्योग्यक्षेत्रकालभावभवसपदास्येव सनाथस्य । विधूतेति—
स्थितं पश्यन्पतिम् अक्षरं निर्गतस्य । आक्षिपेति—गृहोव शिक्षाक्रियालापचतुरेन्द्रियान्त करण-
तपोजाता कृद्गोत्रं लशुनादिदुर्वासनागन्धरहित भवति तथा मिथ्यात्ववासनासभूतपापण्डि-
सम्पुटकोटरावकां यावस्थितपदार्थस्वरूपज्ञानकारणयुगलात्, स्फाटिकरत्नरचितदर्पणसदृशस्य ।
वर्धमानं शान्तेन वा । वेदानानुमवनेन वा । धर्मश्रवणेन वा । जिनप्रतिमादर्शनेन वा । महा-
प्रदीपस्य द्विप्राप्तमुनीश्वरनिहालनेन वा । नरेषु देवेषु वा सम्यग्दर्शनप्रभाववैभवदर्शनेन वा ।
रवनेषु मनोविहारेणापि खेदम् अप्राप्नुवन्, यदा जीवादिवस्तुषु याथात्म्यं ज्ञात्वा
जना आयास कष्टं नानुभवति । यथा शुष्का शालय अनायासेन लूयन्ते स्वयमेव,
स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निर्गतासम्यक्त्व जातमिति प्रोच्यते । यदा तु अन्युत्पन्नता,
ज्ञाने उद्भवन्ति, तदा अधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसवन्धसविधस्य मुक्तो मुक्तिविषये मुक्तिम्
धमुक्ति तस्मिन् जीवस्य कर्मादिकरहितशुद्धस्वरूपे युक्तियुक्ता सूक्ती । श्रुत्वा, तच्छ्रवणात्
संबन्धस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु सकलजीवादिषु वस्तुषु अहापोहकृपेण परीक्षणात्,
प्राप्य नि शेषदुराशयविनाशात्, सकलमिथ्याज्ञानविनाशात्, सम्यग्ज्ञानसूर्यकरं तत्त्वेषु रुचि
सजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वात् कार्यकारिण सकलेशकारणत्वात् मया निर्मापितोऽयं हार
सारेण, मयेदम्, सपादितम् आमूषणं रत्नरत्नाश्रयम् इत्यादिवत् तदा अधिगमात्प्रादुर्भूत सम्यग्दर्शनम्
प्रोच्यते । उक्तं च अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिति—अनकितोप १ अनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतम् । तत्र

नुकुर्वता चरणेन पादेन । क्षोमितान्तरिक्षचरपुरकक्ष क्षोमिता. क्षोभ प्रापिता अन्तरिक्षचराणा नभोगाना
रकक्षा नगरविभागा येन । किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दे किन्नरामरा व्यन्तरदेवविशेष । खचरा
भोगा विद्याधरा । चारणादयो देवविशेषा तेषा वृन्दे समूहः, वन्द्यपादारविन्दः प्रणम्यमानचरणकमलः ।
यतजनोपकारसारस्वकीयद्विवृद्धिपरितोषितमनीषे व्यन्तरानिमिषे सयतजो निर्ग्रन्थमुनिगण तेषु उपकारे
रभूता समर्था या स्वकीया ऋद्विवृद्धि वैक्रियिकशरीरद्विवृद्धि, तथा परितोषिता आह्लाद नीता मनीषा
द्विर्घेया तै । व्यन्तरानिमिषे व्यन्तरसुरै । अकारणखलतास्थालि निर्हेतुकदुष्टताया स्थानभूत बलि सवान्धव
वृद्धिहृत्स्पतिप्रह्लादसहितम् अवन्धयत् । प्रावेश्यच्च सदेह रसातलगेहम् । भवति चात्र श्लोक — वत्सल
यतजनस्नेहल महापद्मसुतो महापद्मनूपतनय विष्णु हास्तिननगरे बलिमन्त्रिविहित विघ्न शमयामास
नपूदयाञ्चकार ॥ २२२ ॥

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यरचनो नाम विंशतितमः कल्पः ॥ २० ॥

२१ रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १०४-१०५] एव सम्यग्दर्शनस्याष्टाङ्गाना स्वरूप तत्कथाश्च सूरिवरेण कथिताः । अधुना
सम्यग्दर्शनोत्पत्तिकारणानि तद्भेदाश्च निगद्यन्ते सूरिणा निसर्ग इति—तदाप्तो सम्यग्दृष्टे आप्तो प्राप्तो ।
निसर्ग इति—एक कारणम् । अधिगमो वा तत्प्राप्तौ कारणम् । इति कारणयुगलं तत्प्राप्तेर्भवति । यदा
अल्पप्रयासात् पुरुषश्चतुर्गतिज सज्जो पञ्चेन्द्रियो जीव सम्यक्त्वभाग् भवति तदा तस्य तत्सम्यक्त्व निसर्गात्
जातमिति । यदा च अनल्पप्रयासत सम्यक्त्व लभ्यते तेन तदा तस्य तत् अधिगमज ज्ञेयम् ॥ २२३ ॥
उक्त च—आसन्नभग्न्यतेति—रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीवो भव्य, कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद आसन्न ।
आसन्नश्चासौ भव्यश्चासन्नभग्न्यस्तस्य भाव आसन्नभग्न्यता । कर्महानि मिथ्यात्वादीना सम्यक्त्वप्रति-
बन्धककर्मणा यथा सम्भवमुपशम, क्षयोपशम क्षयो वा । सन्नित्वं शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम् । सज्ञा
अस्यास्तीति सज्ञो सन्नितो भाव सन्नित्वम् । शुद्धपरिणामा एते अन्तरङ्गहेतव सम्यक्त्वस्य । बाह्योऽपि
उपदेशकादिश्च सम्यगुपदेशको गुर्वादि । आदिशब्देन जातिस्मरणजिनप्रतिमादर्शनादिकानि गृह्यन्ते ।
एतान् हेतून्वाप्य जीव सम्यग्दृष्टिर्भवति ॥ २२४ ॥ एतदुक्तं भवति—अस्यैवं विवरणं भवति—कस्यचिदास-
न्नभग्न्यस्य तन्निदानेति—सम्यक्त्वप्राप्तियोग्यद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसपदासेव्यस्य सनायस्य । विधूतेति—
सम्यक्त्वप्रतिबन्धकमिथ्यात्ववतिमिराद्दूग्निर्गतस्य । आक्षिप्तेति—गृहीव शिक्षाक्रियालापचतुरेन्द्रियान्त करण-
सवन्धस्य । नव मूर्त्तिकादिभाण्डं लशुनादिदुर्वासनागन्धरहितं भवति तथा मिथ्यात्ववासनासभूतपापण्डि-
जनगन्धरहितस्य शीघ्रमेव यथावस्थितपदार्थस्वरूपज्ञानकारणयुगलात्, स्फाटिकरत्नरचितदर्पणसदृशस्य ।
पूर्वभवश्रवणात् सजातजातिस्मरणेन वा । वेदनानुभवनेन वा । धर्मश्रवणेन वा । जिनप्रतिमादर्शनेन वा । महा-
महोत्सवावलोकनेन वा । महद्भिप्राप्तमुनीश्वरनिहालनेन वा । नरेषु देवेषु वा सम्यग्दर्शनप्रभाववैभवदर्शनेन वा ।
अन्येन केनचिद्धेतुना, विचारवनेषु मनोविहारेणापि खेदम् अप्राप्नुवन्, यदा जीवादिवस्तुषु याथात्म्य ज्ञात्वा
श्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्ता आयास कष्टं नानुभवति । यथा शुष्का शालय अनायासेन लूयन्ते स्वयमेव,
शिक्ष्यन्ते चतुरमतय स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निर्गतासम्यक्त्व जातमिति प्रोच्यते । यदा तु अव्युत्पन्नता,
सशयः विपर्ययश्च ज्ञाने उद्भूयन्ति, तदा अधिमुक्तियुक्तिसूक्तिमवन्धसविघ्नस्य मुक्तौ मुक्तिविषये मुक्तिम्
अधिकृत्य वा अधिमुक्तिं तस्मिन् जीवस्य कर्माण्णिरहितशुद्धस्वरूपे युक्तियुक्ता सूक्ती श्रुत्वा, तच्छ्रवणात्
जातसम्यग्ज्ञानसवन्धस्य प्रमाणनयनक्षेपानुयोगोपयोगावाहापु सकलजीवादिषु वस्तुषु क्लृप्तोद्धारूपेण परीक्षणात्,
अतिवलेन प्राप्य नि शेषदुराशयविनाशात्, सकलमिथ्याज्ञानविनाशात्, सम्यग्ज्ञानसूर्यकरे तत्त्वेषु रुचि-
श्रद्धानं सजायते, तदा विद्यातुरायासहेतुत्वात् कार्यकारिण सकलेशकारणत्वात् मया निर्मापितोऽयं हार
सूत्रानुसारेण, मयेदम्, संपादितम् आभूषणं रत्नरचनाश्रयम् इत्यादिवत् तदा अधिगमात्प्रादुर्भूत सम्यग्दर्शनम्
इत्युच्यते । उक्तं च अनुद्विपूर्वापेक्षायामिति—अत्र किनोपस्थितम् अनुकूलं प्रतिकूलं वा देवकृतम् । तत्र

मुद्रिपूर्वपिभाषायात् तत्र पुरुषकारस्य प्रयत्नस्य अप्राप्त्यात् । तद्विपर्येत पीडनापादितं तत्र चैवस्य बुधभावं
पीडकस्य प्रधानमावात् । अविद्यमसम्पत्त्यर्थं पीडयात् भवति । निष्पन्नसम्पत्त्यर्थं वेदान्तार्थे
इत्यत्र ॥ २२५ ॥

[५० १०६-१०८] सम्पत्कर्मयोगाद्गुणस्य सूरय—द्विविधमिति—आत्महितमत्र बलवत्
मतिर्येषा ते आत्महितमस्य सम्पत्कर्मिनः । सम्पत्कर्मं द्विविधम् आहुः निरुद्धमथमिममर्थं चेति । विविधम्
बीजघमिकम्, साधोपघमिकम् साधिकं चेति । अथर्वि च तत् पुरस्ताद्व्यसते—तत्त्वप्रधानमिति सम्पत्कर्मम् ।
सर्वत्र च बीजादिषु समकृतिः रागद्वेषाभावः उपेक्षावति ॥ २२६ ॥ पुनरपि सम्पत्कर्मस्य द्विविधमन्वेन प्रतीय
निगच्छति—सरागेति—सरागः आत्मा विषयो यस्य तत् सरागसम्पत्कर्म स्मृतम् । बीटराग आत्मा विरो
यस्य तत् बीटरागसम्पत्कर्म स्मृतम् । सरागसम्पत्कर्मं प्रथमाविबुधं प्रथमावको गुणा यस्य तत् प्रथम-सर्वत्र-अनुकम्प-
आस्तिक्यबुधचतुष्टयमुत्तमम् । तत् पूर्वं प्रथमं कथ्यते । आत्मविबुद्धिमात्रत्वं द्वितीयं बीटरागसम्पत्कर्मं वर्त्तते ।
तत्तु उपसान्द्रक्यायादिपुत्रस्थानवति भवति तत्र हि चारित्र्यमौहस्य सहकारिणोऽप्याद्य प्रथमाविबुधमिति
स्यात्कर्मत्वं स्वयमेवेनेनैव तत्रोच्यते ॥ २२७ ॥ तथा हि पुरुषस्य पुरुषघातिरियम् अतीन्द्रियाणि अज्ञानमाहस्य-
मोयेन अपत्योत्पादकम् च । विविदि वैयक्तिकमननं वा । आरम्भवस्तुनिर्बुधेन वा । मत्कार्त्तम् आत्मं उत्सल-
गमनेन वा निरभेतुं यद्यप्येता आत्मस्वभावतया अतिबुद्धमयमपि सम्पत्कर्मरत्नं प्रसम्पद्वैवानुकम्पारित्यन्तरेण
वाच्यैराकल्पितुं शक्यम् । नरस्य पीड्यं यथा नैकाधिभिर्दुष्टं नाहं तथापि नारीसंभोगादिकर्म निर्वर्त्त
भवति तथा सम्पत्कर्ममिदम् आत्मस्वभावत्वात् अतीन्द्रियमपि प्रधामद्विनिरेव ज्ञातुं सुखं भवति ।

[५० ११०-१११] १ प्रथमकथनम्—अत्रागादिजिह्वति—रामद्वेषादिरोपेण स्त्रीवृत्ते विवर्त्तने
निवर्तनं तस्मात् कुर्यात् स्वापन्नम् प्राज्ञा तं प्रथमं बुधमिति । पूर्वं प्रथमं विना एककथनात्मा नास्ति
अथकथनम् । अत एवेन सचवतामि भूयन्ते ॥ २२७ ॥ २ सर्वपक्षकथनम्—सारीर्येति—सारीर्यं अपरिच्छन् ।
माननं बुद्धम् अपमानाधिकम् । जागृत्युक्तं च बुद्धं विषुदादिना जायते । एतद्बुद्ध-जगत् वेदान्तसंवेद्य
ज्ञेयम् । एतासां वेदान्तानां प्रसङ्गात् उत्पादकात् भवति संछापात् बीटिः सर्वत्र कथ्यते । अत्र च न
संछाप स्वयेन इन्द्रियात्मन च संस्पृष्टं तदुच्यते ॥ २२८ ॥ ३ अनुकम्पाकथनम्—सत्ये इति—सर्वस्ति
सत्ये प्राणिनि विद्यमान्य वयावत्वं वयावत् कृपावन्ती नरा यमस्य परमं भूतं बुद्धस्य भूतस्य अनु-
कम्पा कथयाम् वयम् इवां च प्रथमते आकम्प्यन्ति ॥ २२९ ॥ ४ आस्तिक्यमाह—छाते इति—सर्वत्र यद्यपि
जिह्वे । धृते आहवाह्ये । वते अहिवाह्ये । यस्य चित्तं मनः अस्तित्वपरिचितं भवति तन् आस्तिक्यम् । अस्ति-
कथनं युक्तिः प्रमाथनमारिक्ता तै वरतीति अस्तिभूतिवत् । अस्तिमते कथनम् । अथवा मोक्षसंयोगादेर्युक्तिः
यामिति नरे आस्तिक्यम् उच्यते ॥ २३० ॥ ५ निर्द्वेषवत् सर्वत्राद्येति—रागेति—रागद्वेषवति तस्य निवृत्ते
उच्यते अहिवाह्येऽप्यस्ति । निवृत्तमपि निर्द्वेष आत्मा यस्य साधुषु निवृत्ते नास्तिक्यमतीत्युच्यते नरे संसारो र्थः
साह्य स्यात् दीर्घकथनकथनः भवेत् । नास्तिक्यो निवृत्तवत् नरः दीवकात् संसारे परिभ्रमेत् इति नाम ॥ २३१ ॥

[५० ११२-११५] ६ सम्पत्कर्मस्य उत्पत्तिः प्रकाशयन्—अनन्तानुबन्धवत्तुहवस्य सम्पत्कर्मप्रवृत्ते
सम्पत्कर्मिण्यात्सव मिथ्यात्वस्य च समुक्तात्मायां बीजादिष्वनुनि यन्पुद्गलं भवति तत्तामिकं सम्पत्कर्मम् ।
एतासां सप्तप्रवृत्तीनां ध्याते उपपन्नात् बीजघमिकम् । एतासु सप्तसु सम्पत्कर्मस्य उदयेन अन्याद्यान् उपपन्नस्य
रागेन च जायमानं यदानीं आधोपधामिकं ज्ञेयम्, एतानिचिन्तं सम्पत्कर्मं सर्वत्र यद्यपि नारकतिर्हृत्तरदेवयजि
सर्वत्र-अन्तर्निष्ठप्रवृत्तसु बोध्यं ज्ञेयम् ॥ २३१ ॥ अथर्वि सम्पत्कर्मम्—अत्राति—अत्रावयवम् ॥ २३२ ॥
१ आज्ञासम्पत्कर्मम्—अपवना अहो सर्वत्रैव एतितान्ये बीजादिपिशाचैर्वर्त्तने यवार्त्तम् अनुभाषा आदेयप
स्वीकरणायां आपमाना तेषां सम्पत्कर्मम् आज्ञासम्पत्कर्मम् । २ कार्यसम्पत्कर्मम्—रत्नवत् बोधमार्गं ताव
विचारान् सम्पत्कर्ममस्य चित्तमिति सर्वं अत्रातिपत्यं सम्पत्कर्मसम्पत्कर्मम् । ३ अहोदयसम्पत्कर्मम्—तीर्थकर-अ
वति-नारायण प्रविष्टायावत्-अनन्तानुबन्धवत्तुहवस्य नृपाचतुर्धादिष्वप्यस्ति, तेषां अत्रातमं अपवादावयवम् अत्रिर्द्वेष-
प्रवृत्तिर्येव आदेयसम्पत्कर्मम् । ४ बुधसम्पत्कर्मम्—अत्रिर्द्वेषात् नारायणादिष्वपि विचारमात्रमत्र नृप

श्रद्धान् सूत्रमभ्यवत्वम् । बीजमभ्यवत्वम्—सकलममया सकलसकेता तेषां दला विभागा समूहा तेषां सूच-
नाया व्याज निमित्त यस्य तत् बीजसम्यवत्वम् । सक्षेपमभ्यवत्वम्—आप्तश्रुतव्रतपदार्थानां सक्षेपेण आलापो वर्णन
तच्छ्रुत्वा आक्षेप रुचिग्रहण श्रद्धानम् । विस्तारसम्यवत्वम्—द्वादशाङ्गानाम् आचारादीनाम् चतुर्दशपूर्वाणाम्
उत्पादादीनाम्, प्रकीर्णकानां सामायिकादीनाम्, अङ्गवाह्यानां विस्तीर्णश्रुतानाम् अर्थस्य समर्थनं श्रुत्वा प्रस्तार
हृदि रुचे विस्तारो जायते । अर्थमभ्यवत्वम्—प्रवचनविषये आगमविषये स्वप्रत्ययसमर्थं स्वप्रत्यय अर्थानुभव
तद्वितरणसमर्थं जीवादिरर्थं तच्छ्रद्धानम् अर्थसम्यवत्वम् । अवगाढमभ्यवत्वम्—द्वादशाङ्गागमं, चतुर्दशपूर्वागमं,
चतुर्दशप्रकीर्णकागमं एते त्रय आगमत्रयं कथ्यन्ते । एतेषां नि शेषतया साकल्येन अन्यतमदेशेन वा अवगाहनं
कृत्वा आलीढम् उत्पन्नं यच्छ्रद्धानं तदवगाढम् । परमावगाढमभ्यवत्वम्—अवधिमनं पर्ययकेवलज्ञाननिमहापुरुषाणां
प्रत्ययेन उपदेशेन जातं सम्यवत्त्वं परमावगाढम् इति सम्यग्दृष्टिर्दशविधा ज्ञेया । अधुना गृहस्थमुन्योर्भेदा प्रति-
पाद्यन्ते—गृहस्थ इति—सम्यवत्वस्य आधारभूतो गृहस्थो वा यतिरपि वा । पूर्वं गृहस्थ एकादशविधः—
मूलव्रती (दर्शनिकः), व्रतिक, अर्चा (सामयिकी), पर्वकर्मा, (प्रोषणोपवामी), अकुपिक्रिया (आरम्भ-
त्यागी), दिवाब्रह्मा (दिवाब्रह्मचारी), नवविधब्रह्मा (ब्रह्मचारी), सचित्तध्यायी, परिग्रहपरित्यागी,
भुक्तिमात्रानुमान्यता भुक्तिमापन्ने चतुर्विधाहारे अनुमान्यता समतिदानम् । अन्यत्र आरम्भादिषु अनुज्ञाया
अदानम् (अनुमतित्यागी), उद्दिष्टाहारत्यागी । यतिश्च चतुर्विधः—मुनि, ऋषि, जिनयति, अनगारश्चेति
येषां धर्मं चरमं मुनिधर्म इत्यर्थः ॥२३५॥ मायेति—माया वञ्चना, निकृति, निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा,
मिथ्यात्वम् अतत्त्वश्रद्धानम् एतानि त्रीणि शरीरमानसवाहाहेतुत्वात् कर्मोदयविकारं गत्यमित्युपचर्यन्ते ।
एतच्छ्रुत्यत्रयम् आर्जवम् अवञ्चकत्वम् अकाङ्क्षाभावं निस्पृहत्वम्, तत्त्वभावं च जीवादितत्त्वेषु परमार्थ-
रूपा श्रद्धा । एतैरेव कोलकैः शङ्कुभिः कृत्वा उपर्युक्तं गत्यत्रयम् उद्धरेत् हृदयादपमारयेत् ॥२३६॥

[पृष्ठ ११६-११७] दृष्टिहीन इति—यथा दृष्टिहीनं नेत्रान्वं पुमान् ईप्सितं स्वेष्टं स्थानं न एति
न प्राप्नोति तथा दृष्टिहीनः पुमान् सम्यक्त्वरहितो नर ईप्सितं स्वाभिलषितं कर्मक्षयादिकं न एति न
प्राप्नोति ॥२३७॥ सम्यक्त्वमिति—अङ्गहीनं निःशङ्कादिगुणरहितं सम्यग्दर्शनम् अङ्गहीनं दण्डकोशस्वामि-
मुहृदादिसप्ताङ्गरहितं राज्यमिव प्राज्यभूतये विपुलवैभवप्राप्तये न भवति ततः सम्यग्दर्शनस्याङ्गानां नि-
शङ्कित्वादीनाम् अष्टानां सगत्याम् एकीभूतायाम् अङ्गी जीवं निःसगं निरपेक्षम् अष्टाङ्गपूर्णमभ्यवत्त्वेनेति
चारित्र्यं वाञ्छन्तुं भव्यं ईहताम् ॥२३८॥ विद्येति—विद्या सम्यग्ज्ञानम्, विभूति ऐश्वर्यम्, रूपाद्या सौन्दर्यम्,
सज्जाति सत्कुलादिकं सम्यग्दर्शनहीने अङ्गिनि जीवे कुतः भवन्ति बीजव्यपाये बीजाभावे सस्यसपत्तिं धान्यानां
निष्पत्तिर्न हि भवति ॥२३९॥ यस्य नरस्य दर्शनं निर्दोषं तस्य चक्रित्री त्रिखण्डाधिपते पदत्रण्डाधिपतेश्च
राज्यत्रिभूति, सद्योत्कृष्टा तम् अवलम्बितुमभिलषति । नाकित्री* नाकिना त्रिगुणा श्रीलक्ष्मी तं द्रष्टुमुत्सु-
कीभवति । तस्य मुक्तिश्च निर्वाणलक्ष्मी सकलकर्मक्षयरूपा अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणरूपा च दूरे नैव ॥२४०॥
मूढत्रयमिति—दृष्टोपा दृश सम्यग्दृष्टे दोषा दूषणानि मला पञ्चविधं तान् कथयति—मूढत्रयं
लोकदेवपापण्डिमूढतास्तिस्रः, मदा गर्वा अष्टौ ज्ञान-पूजा-कुल-जाति बल-ऋद्धि-तपो-वपूषि अष्टौ आश्रित्य
मानवहनम् अष्टौ मदा । तथा अनायतनानि पट्-सम्यग्दर्शनस्य आश्रयभूतानि निवामतुल्यानि आयतनानि
यानि न भवन्ति तानि अनायतनानि, तानि चैवम्—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्याणि त्रीणि, त्रयश्च तद्वन्त
पुरुषा इति पठनायतनानि । अथवा अमर्षज्ञ, असर्वज्ञायतनम्, असर्वज्ञज्ञानम्, असर्वज्ञज्ञानसमवेतं
पुरुषं, असर्वज्ञानुष्ठानम्, अमर्षज्ञानानुष्ठानममवेतपुरुषश्चेति । अष्टौ शङ्कादयश्च शङ्का काट्क्षा
विचिकित्सा मूढदृष्टिः अनुपगूह्यम् अम्यितोकरणम् अवात्मन्यम् अप्रभावना चेति सम्यग्दर्शनस्य पञ्च-
विधनिर्दोषा ॥२४१॥ निश्चयोचितेति—सुदृष्टि सम्यग्दृष्टि तत्त्वकोविदः तत्त्वज्ञाना जीवाजीवादिसम्प-
पदार्थानां कोविदः ज्ञाना । निश्चयोचितचारित्र्यं निश्चय आत्मन मुदस्वरूपं तत्प्राप्तये उचितं योग्यं चारित्र्यम्
आत्मनि स्थितिरूपं तस्यस्यास्ति स निश्चयोचितचारित्र्यं भवति । सम्यग्दृष्टिर्जनं सम्यग्ज्ञानं चारित्र्यं च लभते
इत्यर्थः । स सम्यग्दृष्टिः अन्नमन्योऽपि मुक्तिरस्यो भवति । परं व्रतमन्योऽपि अदर्शनं मिथ्यादृष्टिः मुक्तिरस्य न

इन्द्रियविज्ञानायात् तत्र पुष्पकारस्य प्रयत्नस्य अप्राप्त्यायात् । तद्विपर्ययौ पौष्पापादिनं तत्र दैवस्य गुणगणौ
 पौष्पस्य प्रयत्नमायात् । अविषयमज्ञस्यैवार्थं पौष्पस्य भवति । निधनस्यैवार्थं देहाभावे
 इत्यर्थः ॥ २२५ ॥

[५० १०६-१०६] सम्पत्कर्मभेदानाहुः सूर्यः—द्विविधमिति—आप्तद्विधमत्र—आप्तौ
 मर्त्येया ते आत्महितमत्रयः सम्पत्कर्मभिः । सम्पत्कर्म द्विविधम् आहुः । निरर्थाप्रयत्नमर्थं चेति । निरर्थम्—
 औपसमिधकम्, क्षापोपसमिधकम्, क्षाधिकं चेति । अर्थार्थं च तत् पुरस्ताद्वदते—तत्त्वज्ञानविधिं साधकम् ।
 सर्वत्र च श्रीशारिपु सम्पत्तिः । रागद्वेषाभावात् उपेक्षावति ॥ २२५ ॥ पुनरपि सम्पत्कर्मस्य द्विविधमर्थेन प्रतीय
 निरर्थकं—सुरागेति—सुरागः आत्मा विषयो यस्य तत् सुरागसम्पत्कर्म स्मृतम् । नीतराग आत्मा विषयो
 यस्य तत् नीतरागसम्पत्कर्म मतम् । सुरागसम्पत्कर्म प्रथमाभिगुणं प्रथमावबोधो गुणा यस्य तत् प्रथम-सर्वेषु-अनुगुण-
 आस्तिक्यगुणचतुष्टयसम्पत् । तत् पूर्वं प्रथमं कथ्यते । आत्यविषयिष्ठमात्रत्वं द्वितीयं नीतरागसम्पत्कर्म प्रथमं ।
 तत्तु उपपन्नकथावारिपुणस्त्वनवति भवति तत्र हि चारिणमोहस्य सहकारिभोज्यायाम् प्रथमावबोधवितिः
 स्मात्तेवत्वं स्वसत्वेनैव उपेक्षेत ॥ २२७ ॥ नचा हि पुष्पस्य पुष्पफलितिरिषम् अतीन्द्रियाणि अह्नावकाश-
 योर्ध्वेन अवत्योत्पादनेन च । विषयि धैर्यवत्कर्मभेदेन वा । आरब्धवस्तुनिर्बन्धनेन वा । यत्कार्यम् आरब्धं तत्कार-
 यमर्थात् वा निरर्थकं कथ्यते तथा आत्मस्वभावतया अविषयमवलम्ब्य सम्पत्कर्मत्वं प्रथमसर्वेषामनुकम्पारिण्यते
 वाचनैराकल्पितं कथ्यम् । नरस्य पौष्पं यथा नैकादिभिर्भक्ष्यं नास्ति तथापि मारीचबोधाकारिणं निरर्थकं
 भवति तथा सम्पत्कर्मविषयम् आत्मस्वभावत्वात् अतीन्द्रियमपि प्रयागविमिदरेव आहुः सुखकं भवति ।

[५० ११०-१११] १ प्रथमसम्पत्कर्म—सुरागादिष्विति—रागद्वेषाविशेषेषु यमोन्मुते निरर्थ-
 कविर्तनं तस्य दूरतः स्वाप्नम् आत्मा तं प्रथमं बुधयि । एनं प्रथमं विना सकलवृत्त्यानां पाप्म-
 न्यवत्कर्म । अत्र एतन् सकलवृत्त्यानि भूष्यन्ते ॥ २२७ ॥ २ सर्वेषु सम्पत्कर्म—शरीरेति—शरीरेषु च स्वराक्षिम् ।
 मानसं बुद्धिम् अपमानाक्षिम् । आकम्पुर्णं च बुद्धिं विबुधादिना जायते । एतत्तु स्वयं देहाद्यन्तेनान
 भेदम् । एतासां वैशाली प्रथमात् उत्पादकात् भवति संसारत्वात् नीतिः सर्वेषु कथ्यते । सर्वे च अप-
 संसारत्वात् स्वयमेव इन्द्रजालेन च तन्मयः सङ्गो वर्तते ॥ २२९ ॥ ३ अनुकम्पारिण्यतम्—सर्वे इति—सर्वेस्य
 सरवे प्राप्तिनि विरक्तस्य द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् कृपावन्तो नरा कर्मस्य वर्तनं मूलं भूतस्य मूलमिव अनु-
 कम्पा कर्मणाम् वयम् कृपा च प्रचलते आकम्पति ॥ २३१ ॥ ४ आस्तिक्यमाह—आप्तौ इति—सर्वेषु प्रवर्त-
 निने । भूते प्रायणाहेतुः । इति अहिनादिषु । यस्य चित्तं मनः अस्तित्वारिण्यति भवति तत् आस्तिक्यम् । अति-
 यक्तं भुक्तिं प्रयागमनयारिणां ते वरीति अलिमुक्तिवत् । तस्मिन्मरे उक्तम् । अथवा नीतरागवदरे भुक्ति-
 नादिनि मरे आस्तिक्यम् उक्तम् ॥ २३१ ॥ ५ निर्विकल्पकं संसारदीर्घता—रागेति—रागद्वेषवति निरर्थकं निर्वि-
 कल्पकम् अहिनादिवत् इति । निर्विकल्पकं निर्विकल्पकं आत्मा यस्य तावदेव निर्विकल्पकं आस्तिक्यमिति भवति मरे तं तावदीदं
 घटाः स्थाप्य दीपप्रज्वलनः भवेत् । आस्तिक्ये निरर्थकं नरः दीर्घकालं संसारे वरिष्ठमेव इति भावः ॥ २३१ ॥

[५० ११२-११५] ६ सम्पत्कर्मस्य उत्पत्तिः प्रकाशयत्—अपानानुबन्धिनमुत्पत्तस्य सम्पत्कर्मस्य उत्प-
 त्तस्य विपत्तात्वरस्य विपत्तात्वरस्य च कर्मणाद्यभावात् श्रीशारिपुस्तुति यच्छुद्धात् भवति तत्प्राप्तिकं सम्पत्कर्म ।
 एतासां संपन्नानां धातौ उपपन्नम् औपसमिधकम् । एतासु संपन्नसु सम्पत्कर्मस्य उपपत्तौ उपपत्तयेन
 रागैव च जायमानं मज्जानं दायोपसमिधं भवेत् । एतद्विषयं सम्पत्कर्म सर्वत्र वतिषु आरक्षितं द्वात्रिंशद्विषयिषु
 तन्निष्पत्तिप्रयत्नानुषंगीयं भवेत् ॥ २३३ ॥ अर्थार्थं सम्पत्कर्म—आप्तौ इति—अपानानुबन्धिनमुत्पत्तस्य सम्पत्कर्मस्य उत्प-
 त्तस्य विपत्तात्वरस्य विपत्तात्वरस्य च कर्मणाद्यभावात् श्रीशारिपुस्तुति यच्छुद्धात् भवति तत्प्राप्तिकं सम्पत्कर्म ।
 १ आमाश्रम्यकर्म—अपानानुबन्धिनमुत्पत्तस्य सम्पत्कर्मस्य उत्पत्तस्य विपत्तात्वरस्य विपत्तात्वरस्य च कर्मणाद्यभावात् श्रीशारिपुस्तुति यच्छुद्धात् भवति तत्प्राप्तिकं सम्पत्कर्म ।
 २ आमाश्रम्यकर्म—अपानानुबन्धिनमुत्पत्तस्य सम्पत्कर्मस्य उत्पत्तस्य विपत्तात्वरस्य विपत्तात्वरस्य च कर्मणाद्यभावात् श्रीशारिपुस्तुति यच्छुद्धात् भवति तत्प्राप्तिकं सम्पत्कर्म ।
 ३ आमाश्रम्यकर्म—अपानानुबन्धिनमुत्पत्तस्य सम्पत्कर्मस्य उत्पत्तस्य विपत्तात्वरस्य विपत्तात्वरस्य च कर्मणाद्यभावात् श्रीशारिपुस्तुति यच्छुद्धात् भवति तत्प्राप्तिकं सम्पत्कर्म ।
 ४ आमाश्रम्यकर्म—अपानानुबन्धिनमुत्पत्तस्य सम्पत्कर्मस्य उत्पत्तस्य विपत्तात्वरस्य विपत्तात्वरस्य च कर्मणाद्यभावात् श्रीशारिपुस्तुति यच्छुद्धात् भवति तत्प्राप्तिकं सम्पत्कर्म ।

शुद्धान्तरात्मनि शुद्धे निजे अन्तरात्मनि स्वस्वरूपे सपन्न प्रवृत्तिं कुर्वन् आत्मा हिमकोऽपि न हिमक । अथत्वाचारस्य नग्नस्य निश्चिता हिमा प्रयत्नस्य ममितस्य हिमामाश्रेण बन्धो नास्ति हिमाध्यवसायरहितत्वात्, निष्प्रमादप्रवृत्तिकत्वात् ॥२५१॥ मन मरुत्वात् पाप वा पुण्य वा जायते । पुण्यायेति—स्वस्मिन् स्वजीवे, अन्यत्र अन्यस्मिन् जीवे नीत कृत दुःख पुण्याय भवेत् । तत्कथमिति चेदुच्यते—यदि स्वस्य हिनाय व्रत तप आदिक क्रियमाण दुःखरूप मदपि दयादिमद्भावनारूपत्वात् पुण्यायैव भवेत् । अन्यत्र वा शिष्यादिषु प्रतिपाद्यमान व्रततप आदिक तैर्वा कार्यमाण दुःखरूप मदपि पुण्याय भवेत् तथा स्वजीवे अन्यत्र वा शिष्यादिजीवे नीत कृत सुख पाप्माय भवेत् । यथा विषयेषु स्वस्य निरनत्वात् मुख भवेत् तथापि तत्र कृता रतिस्तीव्ररागभावात् पापबन्धाय भवेत् । यद्यपि सप्रति कृता प्रवृत्तिं सुखाय जातेति प्रतिभाति तथापि आयत्याम् अध्यवसानाना मलिनत्वात् पापायैव सा प्रवृत्तिर्भवेत् । अत चित्तस्य चेष्टिन प्रवृत्तिं अचिन्त्यम् अतर्कगोचरम् ॥२५२॥ सुखेति—सुखस्य विधानम् अकुर्वन्, दुःखस्यापि विधानम् अकुर्वन् नर पापसमाश्रयो भवेत् पापेन लिप्येन । सक्लेशाग्निगामत्वात् नर अन्य मुखिन दुःखिन वा कुर्वन् पापभाजन भवेत्, पेटोमध्ये मञ्जूपाया विनिक्षिप्त स्थापित वास वस्त्र मलिन न स्यात् किम् । वहि स्थित वस्त्र रजसा मलिन भवति पर मञ्जूपाया तन्मलिन किं न स्यात् क्रोधादिकपायावेशात् सुखम् अददानो दुःख वा पापभागेव भवति मानव ॥२५३॥

[पृष्ठ १२३-१२४] अव्यवमानाना त्रित्व प्रतिपादयति—बहिरिति—बाह्येन देहादिना हिमापरोपकारादि-शुद्धाशुद्धकार्यकरणेऽक्षमोऽपि हृदि मनमि हृद्येव मनमि सस्थिते पर पाप तीव्रतम पापम्, विशुद्धतम पुण्य परम पदम् अनन्तगुणचतुष्टयात्मक मोक्षपद च भवेत् जीवस्य । मनसि तीव्रसक्लेशपरिणाममत्तत्वे जीवस्य तीव्रनमपापबन्धो भवति । परोपकारादिविशेषे सम्यग्दर्शनादिगुणप्रापके पर पुण्य भवति । तथा नितरा रागद्वेषरहितेषु शुद्धोपयोगेषु सलीने हृदि सकलकर्मक्षयो भवति ततश्च परम पदं मोक्षो भवति । जीवस्य अणुभव्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्यम् परमगुणत्वेन पर पदं वितमेव स्यात् ॥२५४॥ प्रकुर्वाण इति—तास्ता क्रिया प्रकुर्वाण अनशनादितपासि, सामायिकादीनि पडावश्यककर्माणि कुर्वाण नर केवल क्लेशभाजन शरीर-क्लेशाना पात्र स्यात् उचितमेवेत्तत्तस्य यतो यद्विचित्रप्रचारज न, य धर्मव्याने जीवादि-तत्त्वचित्तने मन न प्रचारयति, कमुपायमवलम्ब्य जीवादितत्त्वरूपे मनस्य प्रचार कर्तव्य, तत्र का युक्तिरिति यो न जानाति तस्य मोक्षपदलाभं कुतो भवेत् ॥२५५॥ सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपम्—यद्विति—यत् यथावस्थ यस्य या वा यथार्था अवस्था सन्ति तास्ता अनतिक्रम्य अञ्जसा अविमवादिस्त्वेन वस्तुमर्बस्वम् वस्तुन मर्बस्व सर्वधन गुणपर्यायादिरूप मर्बस्वमन् वा जानाति तत्सम्यग्ज्ञानम् उच्यते तत् नृणां नराणां तृतीय लोचन नयन ज्ञेयम् ॥२५६॥ यष्टिवदिति—जनुपाध्यस्य जन्माध्यस्य नु यष्टिवत् यष्टिरिव दण्ड इव प्रवृत्ति-विनिवृत्त्यङ्ग यथा यष्टि तस्याध्यस्य प्रवृत्तौ गमने अङ्ग कारण भवति, विनिवृत्त्यङ्ग च मार्गं निम्नोन्नत ज्ञापयित्वा ततो निवृत्तौ अङ्ग कारण जायते तथा तत्सम्यग्ज्ञानं सुकृतचेतस पुण्यवन्मनसो नरस्य हिताहित-विवेचनात् हितं मुख तत्साधन रत्नत्रयम्, अहितं दुःख तत्साधन मिथ्यात्वादिक तयोर्विवेचनात् सशयादिदोषाभाप्रकारेण प्रतिपादनात् ॥२५७॥ मतिरिति—मति इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् अवग्रहादिज्ञानम् सा दृष्टेऽर्थे जागति इन्द्रियानिन्द्रियपरिच्छेदनयोग्ये वस्तुनि जागति प्रकटोभवति । आगम- दृष्टे अदृष्टे च वस्तुनि सूक्ष्मान्तरितद्वारार्थेऽदृष्टे वस्तुन्यागम जागति । यदि मन जैनदर्शने निर्मलतर द्वेषरहित स्यात्तस्य दुर्लभं तत्त्व न । स्याद्वादाद्वस्तुयाथात्म्यं ज्ञायते सम्यग्दृष्टिर्नेति माव ॥२५८॥ यदि आगमेन मत्या च अर्थे जीवादिवस्तु-संदोहे दक्षितेऽपि प्रतिपादितेऽपि जन्तो मति सतममा अज्ञानबहुला स्यात् तर्हि तस्य नरस्य ज्ञानं दूषा स्यात् । यथा रविरिषो घूकस्य आलोक दिनकरप्रकाश व्यर्थ स्यात् ॥२५९॥ ज्ञातुरिति—यत् अवाधेऽपि वस्तुनि वाधारहितेऽपि पदार्थे कथञ्चित्प्रित्यानित्यात्मके कथञ्चिदभेदाभेदात्मके वस्तुन्यापि मति वृद्धि विषयस्य सर्वथा नित्यात्मक सर्वथा अनित्यात्मक सर्वथैकान्तस्वरूप वस्तु इति विपरीतावस्था घटे नत्र ज्ञातु आत्मन प्रमातुरेव स दोष यत् स मिथ्यात्वतममावृत यथा इन्द्रो चन्द्रे मन्दचक्षुषि तिमिरोपहननयनस्य मति वृद्धि विपर्यय वत्ते नभमि सा चन्द्रद्वय पश्यति वा चन्द्र नील कृष्णादिक वा पश्यति ॥२६०॥

भवति । मिथ्याभेदेनाति भुवनये न भवति ॥२४२॥ अहि-क्रियेति—आह्वा क्रिया बाह्यमानवार्था
दिभ्यः अहि-रूप केवलं रत्नवमनमन्त्रे सद्बुद्धिप्राप्त्युक्तानां समूहे उच्यते केवलं कारण निमित्तं परोक्ष
क्रियमाणं समकारिकं वैश्वभूतान्तरिकं च भवेत् परोक्षतो मूढादेः कुलात्तादिवत् । परम् आत्मा स्वयं रत्नव-
मन्त्र इत्या रत्नवपारमका भवति । रत्नवमम् आत्मानं भुवनये अग्न्यप्रभे न वर्तते । अत एव रत्नवम-
परिचयानुपादानम् । तस्मिन्कर्म आत्मा मोक्षस्य कारणं भवति ॥२४३॥ रत्नवमस्वरूपमाह—विमुक्त्येति—
भूनापनपचारिणां निरवयवमवादिनाम् । वस्तुन अवयवोत्तरत्वेन ननु कर्मकरवारीनाम् अथैव प्रतीयते
कुर्वाणो मया भूनापनम तस्य भाविन भूनापनपचारिणः तथाम् । विमुक्तवस्तुधी इति विमुक्त आनादिभ्यो-
ऽस्मिन् वस्तु आत्मा इति धी बुद्धि सा एव दृष्टिः वस्तुम् । अस्मिन्ना समारम्भा आनादिभिः इति यदा
वर्तते । साकारवोधो बोधः । आकारः अर्थविवरणः । अर्थं पटं अर्थं पटं इत्यादिवस्तुमेव आकारः वस्तुमी
वर्णतत्त्वानामधोभिः । आकारेण सहितं साकारः वस्तु स बोधो विषया यस्य स पुन बोध उच्यते । अत्रत्ये
तयो अत्रत्यं वस्तुम् । तयो सम्बन्धनसम्बन्धानयो अत्रत्यं उपपन्नमोक्षादिभिः अत्रत्यत्वं रक्षितं वत
चारित्र्यम इति निरवयवमेव रत्नवमवस्थापनं उच्यते ॥२४४॥

[पृष्ठ ११८ १६२] अस्मात् इति—यत् यस्मात् आत्मनि मोक्षं प्राप्ते सति अस्मात् पश्चिन्नात्
ज्ञानं न भवति मोक्षात् कोने मोक्षनीयकमनः कश्चिन् किं तु आत्मकचरेव वक्ष्यते । वैश्वभूतरोपत्तं चारित्र्यं न
किं तु आत्मव्यवहारोच्चावहारवार्त्तम् । अथवा अस्मात् इति पदवात् पटपटादिवर्तिनां नास्ति । माह्व्यं चरेव
वैश्वभूतद्वि सपुनो गुणरूपता अत्रत्ये तत्त्वतो मोक्षं बुद्धिमित्तवत् तस्मात् कश्चि यथावत्त्वमन्त्रा नास्ति ।
यत् वैश्वभूतं वृत्तं चारित्र्यं न नास्ति तस्मात् निरवयवमेव विद्योमूढं बुद्धस्वरूपवार्त्तम् अस्मिन्नात्मनि तत्त्वानं
कश्चि वृत्तं न विद्यते न तत् आत्मैव तत्त्वत्वं अतः ॥२४५॥ नास्म्येति—आत्मा वयं न आनावरवार्त्तम् न
कर्म आत्मकत्वं न अत् यस्मात् तयोर्मन्त्रवत्तरं स्ववपारोत्तरव्यम् । तत् तस्मात् आत्मा आत्मैव एता आत्मा
केवलं अथैव आकाशनिब क्मरजित आत्मा निर्लेपं व्योमैव कर्मरहितस्वात् पुण्ड्रवात् आत्मा सतेव
महासतेव ॥२४६॥ क्लेशायेति—आत्मनि कोने स्वयं विद्युते सति पश्चिमलोकरणाय क्रियमाणं तत्त्वपर
चारिकं कर्म क्लेशाव कारणं स्यात् । किन्तु अम्बु जलं स्वतः स्वभावेन तत्त्वत्वं न किं तु बह्विधं यत् अस्मि-
न्नास्मिन् तत् उच्यते भवति ॥२४७॥ कर्मन आत्मनश्च कर्मत्वं स्वस्वविषय एवेति वक्ष्यते—आत्मेति—
आत्मा स्ववर्तमानं ज्ञानवर्त्तमानं विमुक्तानाम् अवस्थानिवहे वर्तते भवति तथा कर्म न स्ववर्तमानं वर्तते आनावरवार्त्तम्-
पर्यवे परं निब अन्त्योन्त्यं अन्त्यो क्मत्वं उपपन्नत्वं अपरन कर्मनः आत्मनि आत्मनश्च कर्मनि ज्ञेयम् ।
आतु उपचारं विमुक्त्य अन्त्योन्त्यं क्मत्वं नास्ति । आत्मन वयमेव कर्म निमित्तकारणम् कर्मन पर्याप्त-
परिपठो आत्मा निमित्तं परम् अत्र अस्मि आत्मकर्मणी स्वस्वपर्याप्तं उपपन्नकारणं भवति इति ज्ञेयम् ॥२४८॥
स्वत इति—इह बहुवचनं अगत् सवत्परं विद्यते एव बीजपुद्गलो वरी येन इत्यव्यक्तम् अत्रत्यं सर्वं
अगत् स्वभावेन सतिम् । क्रिया विविधा—परिस्फारिका अपरिस्फारिका च । अत्रत्यनिमित्तवत्त्वानुत्प-
न्नान् पर्याप्तो इत्यस्य वैश्वभूतप्राप्तिर्हेतुः क्रिया सा क्रिया बोधपुद्गलवर्तते तदोरेवस्मात् स्वानावरवार्त्तम्
अन्त्यावलोकात् । अपरा क्रिया अपरिस्फारिका वर्तते । इत्यस्य पर्याप्तो पर्याप्तपरिस्फारिकोत्पन्नवपारम्
अपरिस्फारिकापर्याप्तः परिकामाधिकारो यथा बोधस्य बोधविः । पुद्गलस्य वार्त्तविः । वयोवयोवाद्यानाम् अनुत्प-
न्नवर्त्तवार्त्तवार्त्तः । यथा परिधि मत्स्ये वाः जलं नतनिमित्तं भवति अस्व स्वयं वक्ष्यते जलं तत्त्वतो
वक्ष्यावनिमित्तं भवति । तथा सर्वं उपपन्नपर स्वतः स्वभावेन सतिम् भवति परम् अन्त्योन्त्यं तत्त्वमाया निमित्तं
भवति ॥२४९॥ बोधस्य द्विचकत्वं भिन्नवति प्राणिनः स्वकर्मतः बीजपुद्गलं बीजं प्राणधारणं कुर्वन् प्रियं वा
परं वा प्राप्नुवन् । परं त्वं विद्युत् निर्मलं सत द्विचकत्वं रागद्वेषवर्त्तमानं कुर्वन् अन्त्योन्त्यं द्विचकः वापनाम् नवैव ।
यथा मनो रागद्वेषवत् आयाते तथा मन्त्रिणं वापयुक्तं उपपन्नं ॥२५॥ अथैव आत्मा द्विचकत्वं न द्विचक
इत्यनुपपत्ते उत्तरं भवति—अनुसमार्गेति—अनुसमार्गे बुद्धिप्राप्तिवार्त्तम् सत वक्ष्यते प्रवृत्तिर्त्यस्य स
अनुसमार्गेवोक्तोक्तः । अनुसमार्गेवोक्तः पृथक् वेतो मनः वयो वाणी वपु अतीरे यस्य वो मा सा वक्ष्यते
परोक्षे च आत्मस्वरूपे स्थितो भवति । परवर्त्तमानं विविधेन अन्त्योन्त्यवपुषा उपपन्नवत् न भवतीत्यतः ।

शुद्धान्तरात्मनि शुद्धे निजे अन्तरात्मनि स्वस्वरूपे सपन्न प्रवृत्तिं कुर्वन् आत्मा हिंसकोऽपि न हिंसक । अयत्नाचारस्य नरस्य निदिशता हिंसा प्रयतस्य ममितस्य हिंसाभावेण बन्धो नास्ति हिंसाध्यवसायरहितत्वात्, निष्प्रमादप्रवृत्तिकत्वात् ॥२५१॥ मन मकलात् पाप वा पुण्य वा जायते । पुण्यायेति—स्वस्मिन् स्वजीवे, अन्यत्र अन्यस्मिन् जीवे नीत कृत दुःख पुण्याय भवेत् । तत्कथमिति चेदुच्यते—यदि स्वस्य द्विताय व्रत-तप आदिक क्रियमाण दुःखरूप सदपि दयादिमद्भावनारूपत्वात् पुण्यायैव भवेत् । अन्यत्र वा शिष्यादिषु प्रतिपाद्य-मान व्रततप आदिक तैर्वा कार्यमाण दुःखरूप सदपि पुण्याय भवेत् तथा स्वजीवे अन्यत्र वा शिष्यादिजीवे नीत कृत सुख पाप्माय भवेत् । यथा विषयेषु स्वस्य निरतत्वात् सुख भवेत् तथापि तत्र कृता रतिमतीवराग-भावात् पापबन्धाय भवेत् । यद्यपि सप्रति कृता प्रवृत्ति सुखाय जातेति प्रतिभाति तथापि आयत्याम् अध्यवसानाना मलिनत्वात् पापायैव सा प्रवृत्तिर्भवेत् । अत चित्तस्य चेष्टित प्रवृत्ति अचित्तस्य अतर्क-गोचरम् ॥२५२॥ सुखेति—सुखस्य विधानम् अकुर्वन्, दुःखस्यापि विधानम् अकुर्वन् नर पापममाश्रयो भवेत् पापेन लिप्येन । सक्लेशाग्निगामत्वात् नर अन्य सुखिन दुःखिन वा कुर्वन् पापभाजन भवेत्, पेटोमध्ये मञ्जूपाया विनिक्षिप्त स्थापित वास वस्त्र मलिन न स्यात् किम् । वहि स्थित वस्त्र रजसा मलिन भवति पर मञ्जूपाया तन्मलिन किं न स्यात् क्रोधादिकपायावेशात् सुखम् अददानो दुःख वा पापभागेव भवति मानव ॥२५३॥

[पृष्ठ १२३-१२४] अध्यवसानाना त्रित्व प्रतिपादयति—वहिरिति—बाह्येन देहादिना हिंसापरोप-कारादि-शुद्धाशुद्धकार्यकरणेऽक्षमोऽपि हृदि मनसि हृद्येव मनसि सस्थिते पर पाप तीव्रतम पापम्, विगुह्यतम पुण्य परम पदम् अनन्तगुणचतुष्टयात्मक मोक्षपद च भवेत् जीवस्य । मनसि तीव्रसक्लेशपरिणाममत्तत्वे जीवस्य तीव्रनमपापबन्धो भवति । परोपकारादिविमर्शे सम्यग्दर्शनादिगुणप्रापकं पर पुण्य भवति । तथा नितरा रागद्वेषपरहितेषु शुद्धोपयोगेषु सलीने हृदि सकलकर्मक्षयो भवति ततश्च परम पद मोक्षो भवति । जीवस्य अशुभध्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्यम् परमगुक्लेन पर पद वित्तमेव स्यात् ॥२५४॥ प्रकुर्वाण इति—तास्ता क्रिया प्रकुर्वाण अनशनादितपाप्सि, सामायिकादीनि पढावश्यककर्माणि कुर्वाण नर केवल क्लेशभाजन शरीर-क्लेशाना पात्र स्यात् उचितमेवैतत्तस्य यतो यश्चित्तप्रचारज्ञ न, य धर्मध्याने जीवादि-तत्त्वचिन्तने मन न प्रचारयति, कमुपायमवलम्ब्य जीवादितत्त्वरूपे मनस प्रचार कर्तव्य, तत्र का युक्ति-रिति यो न जानाति तस्य मोक्षपदलाभ कुतो भवेत् ॥२५५॥ सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपम्—यदिति—यत् यथावस्थ यस्य या या यथार्था अवस्था सन्ति तास्ता अनतिक्रम्य अञ्जसा अविमवादित्वेन वस्तुमर्बन्धम् वस्तुन मर्बन्ध सर्वधन गुणपर्यायादिरूप सर्ववर्मान् वा जानाति तत्सम्यग्ज्ञानम् उच्यते तत् तृणा नराणा तृतीय लोचन नयन ज्ञेयम् ॥२५६॥ यष्टिवदिति—जनुषान्वस्य जन्मान्वस्य नु यष्टिवत् यष्टिरिव दण्ड इव प्रवृत्ति-विनिवृत्त्यङ्ग यथा यष्टि तस्यान्वस्य प्रवृत्ती गमने अङ्ग कारण भवति, विनिवृत्त्यङ्ग च मार्गं निम्नोन्नत ज्ञापयित्वा ततो निवृत्ती अङ्ग कारण जायते तथा तत्सम्यग्ज्ञान सुकृतचेतस पुण्यवन्मनसो नरस्य हिताहित-विवेचनात् हित सुख तत्साधन रत्नत्रयम्, अहित दुःख तत्साधन मिथ्यात्वादिक तयोर्विवेचनात् सशया-दिदोषाभावाप्रकारेण प्रतिपादनात् ॥२५७॥ मतिरिति—मति इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् अवग्रहादिज्ञानम् सा दृष्टेर्धर्मे जागति इन्द्रियानिन्द्रियपरिच्छेदनयोग्ये वस्तुनि जागति प्रकटीभवति । आगम दृष्टे अदृष्टे च वस्तुनि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेऽदृष्टे वस्तुन्यागम जागति । यदि मन जैनदर्शने निर्मल्यर द्वेषरहित स्यात्तस्य दुर्लभ तत्त्व न । स्याद्वादाद्वस्तुयाथात्म्य ज्ञायते मय्यस्त्विदनेति भाव ॥२५८॥ यदि आगमेन मत्या च अर्थे जीवादिवस्तु-संदोहे दर्शितेऽपि प्रतिपादितेऽपि जन्तो मति सतममा अज्ञानबहुला स्यात् तर्हि तस्य नरस्य ज्ञान वृथा स्यात् । यथा रश्मिरिपो घूकस्य आलोक दिनकरप्रकाश व्यर्थ स्यात् ॥२५९॥ ज्ञातुरिति—यत् अवाधेऽपि वस्तुनि वाचारहिनेऽपि पदार्थे कथञ्चित्प्रित्या नित्यात्मके कथञ्चिद्भेदाभेदात्मके - वस्तुन्यपि मति बुद्धि विपर्यय सर्वथा नित्यात्मक सर्वथा अनित्यात्मक सर्वथैकान्तस्वरूप वस्तु इति विपरीतावस्था घटे तत्र ज्ञातु आत्मन प्रमातुरेव स दोष यत् स मिथ्यात्वतममावृत्त यथा इन्दो चन्द्रे मन्दचक्षुष तिमिरोपहतनयनस्य मति बुद्धि विपर्यय घटे नभसि सा चन्द्रद्वय पश्यति वा चन्द्र नील कृष्णादिक वा पश्यति ॥२६०॥

प्रामादस्य उपवृहक शोभासवर्धक भवति । यथा पुरुषकारानुष्ठान पुरुषशक्तिकर्तव्यम् उद्यमविधान दैवसपद पूर्वोपाजितपुण्यस्य उपवृहक पोषणकर भवति । यथा नीतिमार्गस्य सदाचारस्य पराक्रमावलम्बनम् उपवृहक समृद्धिकर भवति । सेव्यत्वस्य आराध्यस्य पूज्यस्य विशेषवेदित्व विशेषेण विवेकविमर्शादिसहित वेदित्व विद्वत्त्वम् उपवृहकम् उन्नतिकर वर्तते । तथा हि यस्मात् व्रत खलु सम्यक्त्वरत्नस्य उपवृहक गुणोत्कपविधायक भवति । तच्च व्रत देशयतीना द्विविध मूलोत्तरगुणावयात् मूलगुणावलम्बनात् उत्तरगुणावलम्बनाच्च । तत्र—मद्येति—महोदुम्बरपञ्चका उदुम्बराणा पञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकेन सह वर्तमाना सहोदुम्बरपञ्चका पिपलफलानि, उदुम्बरफलानि, प्लक्षफलानि, वटफलानि, फल्गुफलानि 'अञ्जीर' इत्याख्यानि इति पञ्चफलै सह मद्यमासमधुत्यागा एते अष्टौ मूलगुणाः गृहस्थानाम् उक्ता । वव । श्रुते जिनागमे । मूलगुणा उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तात्वात् मयमाधिभि प्रागनुष्ठेयत्वात् मूलगुणा ते चाष्टौ श्लोकेऽस्मिन् प्रदर्शिता ॥२७०॥ सर्वदोषेति—मद्यत् सर्वदोषोदय सर्वेषा हिंसासत्यस्तेयमैश्वर्यादिदोषाणामपराधानाम् उदय उत्पत्तिर्भवति । कथभूतान्मद्यात् महामोहकृत महामोह करोतीति महामोहकृत् तस्मान्महामोहकृतः । अहिते हितबुद्धिहिते चाहितप्रावना मोहात् जायते । म च मोहो मद्यादुद्भवति अत सर्वेषा पातकानाम् अग्रणीत्वेन स्थित मद्यम् ॥२७१॥ मद्यात्ससारपरिभ्रमणम्—हिताहितयोयदा मोहो अज्ञान देहिपु प्राणिषु जायते तदा ते देहिनो जीवा मसार एव कान्तार वन तत्र परिभ्रमणम् अटन तस्य कारण निदान किं पातक न कुर्यु । मद्यात्सर्वपापानि जायन्ते इति भाव ॥२७२॥ मद्येन यादवा नष्टा, नष्टा द्यूतेन पाण्डवा, इति अस्मिन् लोके सर्वत्र सर्वदेशेषु कथानक प्रसिद्धमस्ति ॥२७३॥ समुत्पद्येति—इह मद्ये देहिन जीवा अनेकश बहुकृत्व । समुत्पद्य जनित्वा विपद्य मृत्वा च कालेन देहिना मनोमोहाय मद्योभवन्ति । मृतोत्पन्नजीवाना कलेवराणि मद्यरसतया परिणमन्ते ॥२७४॥

[पृष्ठ १३०-१३१] मद्यैकेति—मद्यैकविन्दुमपघ्ना मद्यस्य एकस्मिन् विन्दौ सपन्ना उत्पन्ना प्राणिनो जीवा विन्दोर्निर्गत्य बहि प्रचरन्ति भ्रमन्ति चेत् समस्तमपि विष्टप जगत् पूरयेयुः व्याप्नुयु न सदेह तत्र सशयो नास्ति ॥२७५॥ मद्यस्य त्याज्यताकारणानि—मनोमोहस्येति—मद्य मद्भि सज्जन सदा त्याज्य मनोमोहस्य हेतुत्वात् । दुर्गतेर्दुर्भवान्तरे निदानत्वाच्च कारणत्वाच्च । तन्मद्यम् इहलोके, अमुत्र परलोके च दोषकृत् दोषोत्पादकमस्ति ॥२७६॥ श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्य उपाख्यानम्—तदुर्वीश्वरेति—स चासौ उर्वीश्वरश्च पृथ्वीपतिश्च तदुर्वीश्वर, तस्य अखर्व महान् स चासौ गर्वश्च स एव और्वानिलो बह्वानल तस्मिन् आहुतीभूता देशोद्देशेनाग्नी यथा मन्त्रोच्चारण कृत्वा हविर्निक्षिप्यते तथा आहुतिवत् निक्षिप्ता ये अहिता शत्रवस्तेषामन्वया वशास्त एव नक्का यादासि यत्र तस्मात्, एकचक्रात्पुगात् एकपात्राम परिव्राजको पण्डित्यय विषयान् व्रजतीति परिव्राजक कश्चित् साधु, जाह्नव्या गङ्गाया जलेषु मज्जनाय स्नानाय व्रजन् गच्छन् मातङ्गै उपवध्य किल एवमुक्त । वव एवमुक्त । विन्व्याटवीविषये विन्व्यारण्यदेशे कथभूते निजच्छायेति—निजा चासौ छाया प्रतिबिम्ब सा एव अपरद्विष अन्य. करी तस्य आशङ्का सशयस्तस्मात् अतिक्रुद्धा ये मदान्यगन्धसिन्धुरा मदेन दानजलेन अन्वा विवेकरहिता ये गन्धसिन्धुरा उन्मत्तद्विषा येषा गन्ध ममाग्राय अन्ये द्विषा समदा भवन्ति, तेषा उद्धुरा दीर्घा ये विषाणा दन्तास्तेविदार्यमाण मेदिन्या पृथिव्या हृदय मध्यप्रदेशो यत्र तस्मिन्, विन्व्याटवीविषये । महतो मातङ्गममूहस्य मध्ये निपतित चाण्डालवृन्दस्य मध्ये आपतित पुन कथभूतस्य प्ररुद्धेति—प्ररुद्ध च तत् प्रादुर्भूत च तत् प्रोढम् उत्कट यौवन तारुण्य तदेव आसवो मदिरा तस्य आस्वादो रसानुभव. पुनरुक्त च कादम्बरीपान मदिराप्राशन तस्मात् प्रसूत प्रादुर्भूत स चासौ अमराल उत्कटो यो विलास तेन ग्रहिलाभि उन्मत्ताभि महिलाभि नारीभि सह पलोपदशवक्ष्यकस्य पल माम तस्य उपदशभूत रुच्युत्पादक व्यजनभूत यदावश्यक कस्य मद्य तत् आसेवमानस्य भजमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतित सन् सोढुमवन्विधुरसगै सीधुर्मदिगा तस्या. सवन्नेन पानेन विधुरो विह्वल सग आमक्षित्येषा तथाभूते मातङ्गैश्चाण्डालै उपवध्य निरुध्य असौ एन्पात्रामा परिव्राजक किल एवमुक्त —त्वया मद्यमाममहिलामु मध्ये अन्यतमममागम कर्तव्य अन्यथा जीवन्न पश्यमि मन्दाकिनीम् । मन्दकिनीं गङ्गानदीम् । सोऽपि परिव्राजको एव भाषित मनसि एव वक्ष्यमाणप्रकारेण

[पृ० १२५ १२८] ज्ञानमेवान् कथयति—ज्ञानमेकमिति—आप्यते अनेन वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानं इति स्तोत्रात् ज्ञानम् एकम् । पुनः तद्वेद्या प्रत्यक्षपरोक्षमेवात् । पुनः एकमेवा अपि त्रिभिर्मुद्रावस्थितं केवलाणि ज्ञानमिति उक्तमश्वेतु । केवलज्ञानात् अन्यत्र केवलज्ञानं निता तत्त्वार्थेकं मतिमारभ्य ज्ञानं स्वरूपं अनेकता भवति । अनेकमेवमित्यर्थं भवति । केवलज्ञानं तु सर्वव्याप्यपर्यायविययत्वादेकमेव ॥२६१॥ चारित्र्यवत्त्वम् अभ्यर्सेति—अभ्यर्चकमिति हिंसा अनुगतं स्तयम् गैर्बुनसेवा समत्वं एतेभ्यः पञ्चपापेभ्यः सर्वस्वं निमुक्तिं रहितत्वं चारित्र्यलक्षणम् तथा धर्मधर्मविनिमित्ति धर्मकर्मणा संसारवृत्तः सर्ववृत्तं तत्तन्मुक्तं वाक्यं कर्मणा निमित्तिः आचरणम् अहिंसापाकनम् संयमाचरणम्, कुशात्यायः, ब्रह्मचर्यं समत्वस्यान एतत्तत्त्वं चारित्र्यं सामारान्यारवर्तितमर्थं गृहस्थैर्मुनिविरक्त चार्यमाचमम् ॥२६२॥ वृत्तत इति—एतत् नस्व स्वर्गकर्मयो स्वर्गमोक्षयो अन्वतरमोष्यता नास्ति स्वयंप्रयत्नराजता मुक्तिव्ययमात्रता वा तास्ति स तत् देहो तत्तत् अनुवृत्तस्वरूपं सचतो वा तत् महावृत्तस्वरूपं न कथ्यते ॥२६३॥ वेद्यत इति—आद्यचारित्र्यविचारोक्तं वेद्यता आद्य बुद्धिर् निर्दोषं तत्त्वं तत्त्वारिणं तत्त्व विचारे विमर्शं समितं योगं मनो वेद्यो वेद्या निर्वैयचारिकत्वेन स्वरहितं कर्तुमिच्छता अनाया गृहस्थानां मुनीनां च । प्रथमं चारित्र्यं वेद्यत स्वान् अनुवृत्तकर्म तत्त्वस्वरूपं भवति । द्वितीयं महावृत्तकर्म चारित्र्यं स्थानकर्म मुनीनां स्यात् । हिंसानिन्दो वेद्यतो विरतिरूपम् अनुवृत्तम् । तन्मध्यं सचतो विरतिकर्म महावृत्तं भवति । गृहस्थानां वेद्यचारित्र्यम् मुनीनां च स्वचारित्र्यमिति ॥२६४॥ सुगुह्यमिति—सम्पत्स्वरूपविद्वरे तरे सम्पत्पृष्ठिरहिते मनुष्ये व्यासं सुगुह्यकम्पूदरं मुद्रावर्तिनायकम् एव भवति । तत्तत्तत्त्वं स्वराजानुभवो न भवतीति यावत् । तु ज्ञानहीन चारित्र्यं दुस्साधनचार्यमं दुर्लभं अथ भानं यस्यां ता तस्याः आभरणचार्यमोपमम् । यस्या उपरि पतिस्तेहो नास्ति तस्या आभरणचार्यं यथा विफलं भवति तथा ज्ञानहीनस्य चारित्र्यचार्यं विफलं भवति ॥२६५॥ सम्पत्स्वादीनां प्रत्येकं कथमभिधायति—सम्पत्तया सुखं स्वर्गपतिरुक्ता । ज्ञानात् इहलोके कोनि उपाहृता कथिता । वृत्तात्पुत्रान् अवाप्नोति चारित्र्यवारमात् पुत्रो कोन- बरं समते । यथाय एम्नोलीमायं प्राप्ताह्लासमाशिक्ष्य दीयं कथ्यते बीजम् ॥२६६॥ सम्पत्स्वादीनां कलायानि—रुचिरिति—तत्त्वेपु वीकादिपु वीकाः प्रीतिः सम्पत्तयम् । तत्त्वनिष्पन्न स्वाहावेन बीकास्तारवकं ज्ञानम् । सर्वत्रिभोगिजनं सङ्गक्रापावाद्मनोबोधपरहितम् आत्मनि स्थितिम् कवाद्योनकया परम् कथमं वृत्तं प्रपु- पुष्यति ॥२६७॥ आत्मपारवर्तित्वस्यायः—वृत्तमिति—वृत्तं चारित्र्यं अणि अमिगुप्तम् भी सम्पत्तयम् ज्ञानं साम्प्रमाने हेतुः न सम्पत्तयम्, रसोपधि पारवर्तित्विकरत्वे विविचयनस्यतिरूपम् पारवर्तयम्, तस्मात् वेद्या यथायां प्राप्य आत्मा एव पारवर्तय स तावु लमीचीनक्येव विद्यं प्रत्यं कथ्यं जने ॥२६८॥ सम्पत्स्वादीनाम् आधमादीन् कथयति—सम्पत्स्वरूपमिति—चित्तं यत् सम्पत्स्वरूपं आधमा आधारा । मर्त्यं गारव ज्ञानवर्तो आधमाः अस्मात्तस्माद् ज्ञानं भवते इति । चारित्र्यं आधाराः एतेरं हेतुः स्यात् । आधारे कर्मन् यान् आदी मत्स कर्मन् हेतुमाहेः तस्य चित्तं यत्तम् आपार स्यात् ॥२६९॥

१ अनुपासकाध्वने हलप्रवृत्तकपनिहपयो नाम एकविंशतितमः कवरः ॥२७॥

६२ अद्यप्रवृत्तिबोधनमो नाम द्वाविंशः कवरः

[पृष्ठ १०८ १ ६] पुनरिति—यथा गुणनविषयं गुणा एव यपयी रत्नानि तेषां बहुवचनं हे चारित्र्यत यत् । यथा मानविषयं यथारागमनं यत् वदवचनं अस्मिन्नाधनमित्यनादिकर्मं तास्य उपार्धं गुणं सर्वकं भवति । यथा ज्ञानादयं महाद्वयस्य मुक्ताविवर्तं मुक्तायां पुष्पेन विविचरटयायां तेननेन शिवमार्गं यत्

॥ अद्य यत्तन्निषेधकम्पूराह्मणस्य तत्तत् आध्यात्मं यथा—इति तत्तन्नादिवर्तीनपुत्रावने-
धाःअप्रविदेहमयं निष्येयं लज्जातवद्यप्यप्यविद्यापरवर्तनानि ॥२७॥ अस्मिन्नाधनमित्यनादिकर्मं तास्य उपार्धं गुणं
विरचिने वर्तीनरत्नाराजचित्ते यत्तन्निषेधकपराध्याम्यवर्तमहीदवा नाम तत्तत् आध्यात्मं ॥२७॥

प्रासादस्य उपवृहक शोभासवर्धक भवति । यथा पुरुषकारानुष्ठान पौरुषशक्तिकर्तव्यम् उद्यमविधानं दैवसपद पूर्वोपाजितपुण्यस्य उपवृहक पोषणकर भवति । यथा नीतिमार्गस्य सदाचारस्य पराक्रमावलम्बनम् उपवृहक समृद्धिकर भवति । सेव्यत्वस्य आराध्यस्य पूज्यस्य विशेषवेदित्वं विशेषेण विवेकविमर्शादिमहितं वेदित्वं विदित्वम् उपवृहकम् उन्नतिकरं वर्तते । तथा हि यस्मात् व्रतं खलु सम्यक्वर्तनस्य उपवृहकं गुणोत्कृष्टविधायकं भवति । तच्च व्रतं देशयतीनां द्विविधं मूलोत्तरगुणावयात् मूलगुणावलम्बनात् उत्तरगुणावलम्बनाच्च । तत्र—मद्येति—सहोदुम्बरपञ्चका उदुम्बराणां पञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकेन सह वर्तमाना सहोदुम्बरपञ्चका पिप्पलफलानि, उदुम्बरफलानि, प्लक्षफलानि, वटफलानि, फल्गुफलानि 'अञ्जोर' इत्याख्यानि इति पञ्चफलैः सह मद्यमासमधूत्यागाः एते अष्टौ मूलगुणाः गृहस्थानाम् उक्ताः । वव । श्रुते जिनागमे । मूलगुणा उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तात्वात् मयमार्थिभिः प्रागनुष्ठेयत्वात् मूलगुणा ते चाष्टौ श्लोकेऽस्मि प्रदर्शिता ॥२७०॥ सर्वदोषेति—मद्यं च सर्वदोषोदय सर्वेषां हिंसासत्यस्तेयमथुनादिदोषाणामपराधानाम् उदय उत्पत्तिर्भवति । कथंभूतान्मद्यात् महामोहकृतं महामाहं करोतीति महामोहकृत् तस्मान्महामोहकृतः । अहिते हितबुद्धिहिते चाहितभावना मोहात् जायते । न च मोहो मद्यादुद्भवति अतः सर्वेषां पातकानाम् अग्रणीत्वेन स्थितं मद्यम् ॥२७१॥ मद्यात्ससारपरिभ्रमणम्—हिनाहितयोर्यदा मोहो अज्ञानं देहिषु प्राणिषु जायते तदा ते देहिनो जीवाः समार एव कान्तारं वनं तत्र परिभ्रमणम् अटनं तस्य कारणं निदानं किं पातकं न कुर्युः । मद्यात्सर्वपापानि जायन्ते इति भावः ॥२७२॥ मद्येन यादवा नष्टाः, नष्टा द्यूतेन पाण्डवाः, इति अस्मिन् लोके सर्वत्र सर्वदेशेषु कथानकं प्रसिद्धमस्ति ॥२७३॥ समुत्पद्येति—इह मद्ये देहिनः जीवाः अनेकशः बहुकृत्वः । समुत्पद्यं जनित्वा विपद्यं मृत्वा च कालेन देहिनां मनोमोहाय मद्योभवन्ति । मृतोत्पन्नजीवानां कलेवराणि मद्यरमत्या परिणमन्ते ॥२७४॥

[पृष्ठ १३०-१३१] मद्यैकेति—मद्यैकविन्दुमपन्ना मद्यस्य एकस्मिन् विन्दौ सपन्ना उत्पन्ना प्राणिनो जीवा विन्दोनिर्गत्य बहिः प्रचरन्ति भ्रमन्ति चेत् समस्तमपि विष्टपं जगत् पूरयेयुः व्याप्नुयुः न सदेहं तत्र सशयो नास्ति ॥२७५॥ मद्यस्य त्याज्यताकारणानि—मनोमोहस्येति—मद्यं सद्भिः सज्जनैः सदा त्याज्यं मनोमोहस्य हेतुत्वात् । दुर्गतेर्दुर्भवान्तरे निदानत्वाच्च कारणत्वाच्च । तन्मद्यम् इहलोके, अमुत्र परलोके च दोषकृत् दोषोत्पादकमस्ति ॥२७६॥ श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्य उपाख्यानम्—तदुर्वीश्वरेति—म चासी उर्वीश्वरश्च पृथ्वीपतिश्च तदुर्वीश्वरः, तस्य अखर्वं महान् स चासी गर्वश्च स एव और्वानिलो बहवानलः तस्मिन् आहुतीभूताः देवोद्देशेनाग्नौ यथा मन्त्रोच्चारणं कृत्वा हविर्निक्षिप्यते तथा आहुतिवत् निक्षिप्ता ये अहिताः शत्रवस्तेषामन्वया वशास्त एव नक्रा यादासि यत्र तस्मात्, एकचक्रात्पुगत् एकपात्राम् परिव्राजको परित्यज्य विषयान् व्रजतीति परिव्राजकं कश्चित् साधुः, जाह्नव्या गङ्गाया जलेषु मज्जनाय स्नानाय व्रजन् गच्छन् मातङ्गैः उपबध्य किल एवमुक्तः । नव एवमुक्तः । विन्ध्याटवीविषये विन्ध्यारण्यदेशे कथंभूते निजच्छायेति—निजा चासी छाया प्रतिबिम्बः सा एव अपरद्विपं अन्यं करोति तस्य आशङ्का सशयस्तस्मात् अतिक्रुद्धा ये मदान्वगन्धसिन्धुरा मदेन दानजलेन अन्वा विवेकरहिता ये गन्धसिन्धुरा उन्मत्तद्विपा येपा गन्धसमाध्नाय अन्ये द्विपा समदा भवन्ति, तेषां उद्घुरा दीर्घा ये विपाणा दन्तास्तैर्विदार्यमाणे मेदिन्या पृथिव्या हृदय मध्यप्रदेशो यत्र तस्मिन्, विन्ध्याटवीविषये । महतो मातङ्गममूढस्य मध्ये निपतितः चाण्डालवृन्दस्य मध्ये आपतितः पुनः कथंभूतस्य प्ररुद्धेति—प्ररुद्धं च तत् प्रादुर्भूतं च तत् प्रोढम् उत्कटं यौवनं तारुण्यं तदेव आसवो मदिरा तस्य आस्वादो रसानुभवः पुनरुक्तं च कादम्बरीपानं मदिराप्राशनं तस्मात् प्रसूतं प्रादुर्भूतं स चासी अमराल उत्कटो यो विलासः तेन ग्रहिलाभिः उन्मत्ताभिः महिलाभिः नारीभिः सह पलोपदशवश्यकस्य पलं मासं तस्य उपदशभूतं रुच्युत्पादकं व्यजनभूतं यदावश्यकं कस्य मद्यं तत् आसेवमानस्य भजमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितः सन् सीधुसवन्धविधुरउग्रं सीधुर्मदिरा तस्मात् संवन्धेन पानेन विधुरो विह्वलः स ग आसक्तिर्येषा तथाभूते मातङ्गैश्चाण्डालैः उपबध्य निरुध्य असी एरुपात्रामा परिव्राजकं किल एवमुक्तः—त्वया मद्यपाममहिलाम् मध्ये अन्यतमममागमं कर्तव्यं अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम् । मन्दकिनीं गङ्गानदीम् । मोऽपि परिव्राजको एवं भापिनं मनमि एव वक्ष्यमाणप्रकारेण

प्रासादस्य उपवृहक शोभासवर्धक भवति । यथा पुरुषकारानुष्ठान पौरुषशक्तिकर्तव्यम् उद्यमविवान दैवसपद पूर्वोर्गाजितपुण्यस्य उपवृहक पोषणकर भवति । यथा नीतिमार्गस्य सदाचारस्य पराक्रमावलम्बनम् उपवृहक समृद्धिकर भवति । सेव्यत्वस्य आराध्यस्य पूज्यस्य विशेषवेदित्व विशेषेण विवेकविमर्शादिसहित वेदित्व विदित्वम् उपवृहकम् उन्नतिकर वर्तते । तथा हि यस्मात् व्रत खलु सम्यक्त्वरत्नस्य उपवृहक गुणोत्कपविधायक भवति । तच्च व्रत देशयतीना द्विविधं मूलोत्तरगुणावयात् मूलगुणावलम्बनात् उत्तरगुणावलम्बनाच्च । तत्र—मद्येति—सहोदुम्बरपञ्चका उदुम्बराणा पञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकेन सह वर्तमाना सहोदुम्बरपञ्चका पिपालफलानि, उदुम्बरफलानि, प्लक्षफलानि, वटफलानि, फल्गुफलानि 'अञ्जीर' इत्याख्यानि इति पञ्चकफले सह मद्यमाममधुत्यागा एते अष्टौ मूलगुणाः गृहस्थानाम् उक्ता । वव । श्रुते जिनागमे । मूलगुणा उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तात्वात् सयमाथिभि प्रागनुष्ठेयत्वात् मूलगुणा ते चाष्टौ श्लोकेऽस्मिन् प्रदर्शिता ॥२७०॥ सर्वदोषेति—मद्यत् सर्वदोषोदय सर्वेषा हिमासत्यस्तेयमेशुनादिदोषाणामपराधानाम् उदय उत्पत्तिर्भवति । कथभूतान्मद्यात् महामोहकृत महामाह करोतीति महामोहकृत् तस्मान्महामोहकृतः । अहिते हितबुद्धिहिते चाहितभावना मोहात् जायते । स च मोहो मद्यादुद्भवति अत सर्वेषा पातकानाम् अप्रणीत्वेन स्थित मद्यम् ॥२७१॥ मद्यात्ससारपरिभ्रमणम्—हिताहितयोर्यदा मोहो अज्ञान देहिषु प्राणिषु जायते तदा ते देहिनो जीवा समार एव कान्तार वन तत्र परिभ्रमणम् अटन तस्य कारण निदान किं पातक न कुर्यु । मद्यात्सर्वपापानि जायन्ते इति भाव ॥२७२॥ मद्येन यादवा नष्टा, नष्टा धूतेन पाण्डवा, इति अस्मिन् लोके सर्वत्र सर्वदेशेषु कथानक प्रसिद्धमस्ति ॥२७३॥ समुत्पद्येति—इह मद्ये देहिन जीवा अनेकश बहुकृत् । समुत्पद्य जनित्वा विपद्य मृत्वा च कालेन देहिना मनोमोहाय मद्यीभवन्ति । मृतोत्पन्नजीवाना कलेवराणि मद्यरसतया परिणमन्ते ॥२७४॥

[पृष्ठ १३०-१३१] मद्यैकेति—मद्यैकविन्दुसपन्ना मद्यस्य एकस्मिन् विन्दौ सपन्ना उत्पन्ना प्राणिनो जीवा विन्दोर्निर्गत्य वहि प्रचरन्ति भ्रमन्ति चेत् समस्तमपि विष्टप जगत् पूरयेयुः व्याप्नुयु न सदेह तत्र सशयो नास्ति ॥२७५॥ मद्यस्य त्याज्यताकारणानि—मनोमोहस्येति—मद्य सद्भि सज्जनं सदा त्याज्य मनोमोहस्य हेतुत्वात् । दुर्गतेर्दुर्मवान्तरे निदानत्वाच्च कारणत्वाच्च । तन्मद्यम् इहलोके, अमुत्र परलोक च दोषकृत् दोषोत्पादकमस्ति ॥२७६॥ श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्य उपाख्यानम्—तदुर्वीश्वरेति—स चासौ उर्वीश्वरश्च पृथ्वीपतिश्च तदुर्वीश्वर, तस्य अखर्व महान् स चासौ गर्वश्च स एव और्वानिलो वडवानल तस्मिन् आहुतीभूता, देवोद्देशेनाग्नी यथा मन्त्रोच्चारण कृत्वा हविर्निक्षिप्यते तथा आहुतिवत् निक्षिप्ता ये अहिता शत्रवस्तेषामन्वया वशास्त एव नक्रा यादासि यत्र तस्मात्, एकचक्रात्पुगत् एकपात्राम परिव्राजको परित्यज्य विषयान् व्रजतीति परिव्राजक कश्चित् साधु, जाह्नव्या गङ्गाया जलेषु मज्जनाय स्नानाय व्रजन गच्छन् मातङ्गं उपवध्य किल एवमुक्त । वव एवमुक्त । विन्ध्याटवीविषये विन्ध्यारण्यदेशे कथभूते निजच्छायेति—निजा चासौ छाया प्रतिबिम्ब सा एव अपरद्विप अन्य करी तस्य आशङ्का सशयस्तस्मात् अतिक्रुद्धा ये मदान्वगन्धसिन्धूरा मदेन दानजलेन अन्वा विवेकरहिता ये गन्धसिन्धूरा उन्मत्तद्विपा येपा गन्ध समाघ्राय अन्ये द्विपा समदा भवन्ति, तेपा उद्घूरा दीर्घा ये विपाणा दन्तास्तैर्विदार्यमाण मेदिन्या पृथिव्या हृदय मध्यप्रदेशो यत्र तस्मिन्, विन्ध्याटवीविषये । महतो मातङ्गममूहस्य मध्ये निपतित चाण्डालवृन्दस्य मध्ये आपतित पुन कथभूतस्य प्ररुढेति—प्ररुढ च तत् प्रादुर्भूत च तत् प्रोढम् उत्कट यौवन तारुण्य तदव आसवो मदिरा तस्य आस्वादो रसानुभव पुनरुक्त च कादम्बरी-महिलाभि नारीभि सह पलोपदशवक्ष्यकश्य पल मास तस्य उपदशभूत रुच्युत्पादक व्यजनभूत यदावश्यक तस्या सवन्धेन पानेन विघ्नुरो विह्वल सग आसक्तिर्येषा तथाभूतं मातङ्गंश्चाण्डालं उपवध्य निरुध्य असौ एरुपात्रामा परिव्राजक किल एवमुक्त—त्वया मद्यमासमहिलासु मध्ये अन्यतमसमागम कर्तव्य अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम् । मन्दाकिनी गङ्गानदीम् । सोऽपि परिव्राजको एव भाषित मनसि एव वक्ष्यमाणप्रकारेण

[पृ० १२५]

इति तदापान् ज्ञानम् एव
 केवचानि ज्ञानमिति त
 मनेकपा मरति । अनङ्ग
 अधर्मेति—अपमर्मा
 निर्मुक्ति रक्षितं चारि
 वमणा निविनि आचरण
 तत्र साधारणकार्यति
 वयसा स्वतन्त्रता ३
 प्रत्यक्ष अनुपपन्नक सप्त
 चेतसा चाह मुहुरं निरो
 नन स्वर्गिन् अनुमिच्छता
 मवति । द्वितीयकं मद्वा
 सम्यक् सर्वतो विरहित
 सुखद्वि—सम्यक्स्वविषु
 तत्त्वस्य ह्येतानामुपमो
 तस्याः आचरणकारणो
 ज्ञानहीनस्य चारित्र्यपार
 स्वतन्त्रता । ज्ञानात्
 दं लभते । अथाप्य ए
 रुचिरिति—तत्त्वपु
 सर्वकियोजितं सङ्ग
 बुध्ति ॥२६॥ आरम्भ
 स्यात् साम्यसाधन हेतु
 तेषा ज्ञानाया प्राप्ते ।
 सम्यक्साधीनाम् आध्या
 सप्त ज्ञानव्यवस्थेः आध
 कर्मज ज्ञानम् जायते वा

१ अनुप

[पृष्ठ १२८]

हे मारिचत्त नृप । मय
 सर्वकं मवति । यथाऽ

१ अत्र मय

मीमंसेमिहेवधयवत् ।
 विरचिते यद्येवमहा

काष्ठासु दिशासु विहितपुरमारोपहारा विहित कृत पुरमारस्य पुरजनघनस्यापहारो हरण यैस्ते चोरा-
पुरबाहिरिकोपवने पुरस्य नगरस्य बाहिरिके उपवने उद्याने घन विभजन्त घनविभाग कुर्वन्त , तवेद
ममेदम् इति विवदमाना कलह कुर्वन्त , कन्दल युद्धम् अपहाय त्यक्त्वा समानायितमैरेया आनायितमद्या
पानगोष्ठौ पानाय गोष्ठौ ता पानगोष्ठौ मभूय मद्यपानम् अनुतिष्ठन्त कुर्वन्त , पूर्वाहितकलहकोपोन्मेप-
कलुषधिपणा पूर्वाहित मद्यपानात्पूर्वम् आहित कृतश्चासौ कलह विवाद तस्य कोपस्य उन्मेप उदय तेन
कलुषा मलिना धिपणा बुद्धि येषां ते पञ्चचोरा यष्टायष्टि, दण्डादण्डि, मुष्टामुष्टि, मुष्टिभिर्मुष्टिभिश्च
युद्ध विधाय सर्वेऽपि मध्नु पञ्चत्व जग्मु अन्यत्र विना धूर्तिलात् । धूर्तिलो जीवित , चत्वारश्चोरा मृता
इत्यर्थ । स किल धूर्तिल . यथादर्शनसम्भव यथा येन प्रकारेण दर्शनस्य मुन्यवलोकनस्य सम्भव उत्पत्ति स्यात्तथा
महामुनिविलोकनात् तस्मिन्नहनि दिने एक व्रत गृह्णाति, तत्र च दिने तद्दर्शनात् मुनिदर्शनात् आसवव्रत
मदिरात्यागव्रतम् अप्रहीत गृहीतवान् । तदनु धूर्तिल समानशीलेषु सदुश्वभावेषु कश्यवश्य मदिराधीना
विनाशलेस्यामात्ममक्षम् उपयुज्य मरणावस्था दृष्ट्वा, असुखवीजात् दुःखकारणात् आजवज्जवात् ससाराद् विरज्य
विरक्तो भूत्वा, मनोजकुञ्जजटाजालनिवेशमिव केशपाशम् उत्पाटय मनोजो मदन स एव कुजो वृक्ष तस्य
जटानां प्रारोहाणां जालनिवेशमिव समुहूरचनेव केशपाशम् उत्त्राय चिराय दीर्घकालम् अपरत्र परलोके
अहितजैत्राय कर्मरिजयाय समीहावके प्रयत्नम् अकरोत् । भवति चात्र श्लोक —धूर्तिल एकस्मिन्नेव दिवसे
मद्यत्यागात् अनापद मृत्युरूपसकटाभावम् आपत् । एनद्दोषात् मदिराप्राशनदोषात्महायेषु मित्रेषु
मृतेषु सत्सु ॥२७८॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्प ॥२३॥

२४ मासाभिलापमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १३३-१३४] सन्तो मामभक्षण त्यजन्ति—स्वभावेति—प्रकृत्यैव मामम् अशुचि अपवित्र दुर्गन्धं
च । अन्यापायदुरास्पदम् अन्येषां पशुपक्षिणाम् अपायात् घातात् दुरास्पदं दुःखस्थानम् । अथवा दुरास्पदे सूनाकार-
गृहे लभ्यम् । तथा विपाके अवसाने दुर्गतिप्रदं तिर्यङ्नरकगतिदायकम् । सन्त सज्जना कथम् अदन्ति अपि तु
नैव ते भक्षयन्ति ॥२७९॥ कर्मेति—प्राणी अकृत्यम् अपि कर्म, कर्तुम् अयोग्यम् अकृत्य-कर्म कार्यं करोतु यदि
आत्मन हन्यमानविधिर्न स्यात् । चेत् स्वस्य केनापि हन्यमानविधि मारणकार्यं न क्रियेत । यथा पशुहृतस्तथा
चेत् स पशुस्त हिंसक न हन्यात् । अथवा अन्यथा अन्येन प्रकारेण जीवमारणं विना जीवनम् उदरपोषणं
न स्यात् । अन्तफलाद्यभावे मासभक्षणं करोतु परम् अन्नफलाभाव कदापि न भवति अतः मासभक्षणं
न करोतु जन ॥२८०॥ धर्मादिति—धर्मात् ससारदुःखनिवारकात् धर्मभुजा सुखं भुञ्जानानां धर्मे किं
नू विद्वेषकारणं धर्मे द्वेषो नोचित एव । प्रार्थितेति—अभिलषितपदार्थदायित्वम् अमरपादप कल्पवृक्षं द्वेष्टु ।
को द्वेषं कुर्यात् ॥२८१॥ अल्पात्कलेशात् इति—अल्पकलेशात् स्वल्पदुःखात् । सुधी चिन्तुष्व । स्वस्य आत्मन ।
सुष्ठु सुखं न्याय्यं धर्मं चेत् वाञ्छति अभिलष्यति । आत्मन प्रतिकूलानि स्वस्य विघ्नदानि यानि कर्माणि यथा
स्वस्य दुःखप्रदानि तानि परेषां न समाचरेत् ॥२८२॥ यः जनं परानुपघातेन अन्येषां घातम् अकृत्वा सुख-
सेवापरायणं सुखभोगतत्परो भवेत् । स सुखं भुञ्जानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः स्यात् । अन्यजन्मलभ्यधर्मा-
धारो भवेत् ॥२८३॥ यः पुमान् नरं तदात्वसुखासगात् तदाभवत् तदात्व तच्च सुखं तस्मै आसगात्
तात्कालिकसुखेष्वासवते धर्मकर्मणि देवपूजादिके कार्ये न मुह्येत् सशयं न कुर्यात् स पुमान् ननु वितर्कं
अस्मिन् लोके उदके उत्तरं भवेत् दुःखवजितं भवति ॥२८४॥ स इति—यः धर्मे अर्थे कामे च अन्यसमाश्रय
त्रिषु एकस्यापि आश्रयं न करोति स प्राणी परं भूभारः, स जीवन्नपि मृतश्च स ॥२८५॥

[पृष्ठ १३५] स इति—यः धर्मात्पुण्यात्फलं स्वीचनानादिभ्यः सुखम् अन्नन्नपि अनुभवन्नपि धर्मे मन्दधी
मन्दादरो भवति स मूर्खः । स जडः । स अजः, स पशोरपि पशुर्भवति ॥२८६॥ स त्रिद्वानिति—यः स्वतः
अन्यस्मादपि वा अधर्माय पापाय पापं कर्तुं न समीहते न प्रयतते । स विद्वान्, स महाप्राज्ञः, स महाबुद्धिमान्,

काष्ठासु दिशासु विहितपुरमारोपहारा विहित कृत पुरसारस्य पुरजनघनस्थापहारो हरण यैस्ते चोराः पुरबाहिरिकोपवने पुरस्य नगरस्य बाहिरिके उपवने उद्याने घन विभजन्त घनविभाग कुर्वन्त, तवेद ममेदम् इति विवदमाना कलह कुर्वन्त, कन्दल युद्धम् अपहाय त्यक्त्वा समानायितमैरेया आनायितमद्या पानगोष्ठी पानाय गोष्ठी ता पानगोष्ठी सभूय मद्यपानम् अनुतिष्ठन्त कुर्वन्त, पूर्वाहितकलहकोपोन्मेप-कलुषध्विषणा पूर्वाहित मद्यपानात्पूर्वम् आहित कृतश्चासौ कलह विवाद तस्य कोपस्य उन्मेप उदय तेन कलुषा मलिना ध्विषणा बुद्धि येषां ते पञ्चचोरा यष्टायष्टि, दण्डादण्डि, मुष्टामुष्टि, मुष्टिभिर्मुष्टिभिश्च युद्ध विधाय सर्वेऽपि मम पञ्चत्व जग्मु अन्यत्र विना धूर्तिलात् । धूर्तिलो जीवित, चत्वारश्चोरा मृता इत्यर्थः । स किल धूर्तिल यथादर्शनमभव यथा येन प्रकारेण दर्शनस्य मुख्यवलोकनस्य सभव उत्पत्ति स्यात्तथा महामुनिविलोकनात् तस्मिन्नहनि दिने एक अत गृह्णाति, तत्र च दिने तद्दर्शनात् मुनिदर्शनात् आसवव्रत मदिरात्यागव्रतम् अग्रहीत् गृहीतवान् । तदनु धूर्तिल समानशीलेषु सदृशस्वभावेषु कश्यवश्य मदिराधीना विनाशलेक्ष्यामात्मसमक्षम् उपयुज्य भ्रणावस्था दृष्ट्वा, अमुखवोजात् दुःखकारणात् आजवजवात् मसाराद् विरज्य विरक्तो भूत्वा, मनोजकुजजटाजालनिवेशमिव केशपाशम् उत्पाट्य मनोजो मदन स एव कुजो वृक्ष तस्य जटाना प्रारोहणा जालनिवेशमिव समूहरचनेन केशपाशम् उत्खाय चिराय दीर्घकालम् अपरत्र परलोके अहितजैत्राय कर्मारिजयाय समोहावक्रे प्रयत्नम् अकरोत् । भवति चात्र इलोकः—धूर्तिल एकस्मिन्नेव दिवसे मद्यत्यागात् अनापद मृत्युरूपसकटाभावम् आपत् । एतद्दोषात् मदिराप्राशनदोषात्सहायेषु मित्रेषु मृतेषु सत्सु ॥२७८॥

इत्थुपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः ॥२३॥

२४ मासाभिलापमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १३३-१३४] सन्तो मासभक्षण त्यजन्ति—स्वभावेति—प्रकृत्यैव मामम् अशुचि अपवित्र दुर्गन्ध च । अन्धापायदुरास्पदम् अन्येषां पशुपक्षिणाम् अपायात् घातात् दुरास्पद दुःखस्थानम् । अथवा दुरास्पदे सूनाकार-गृहे लम्बम् । तथा विपाके अवसाने दुर्गतिप्रद तिथ्यङ्तरकगतिदायकम् । सन्त सज्जना कथम् अदन्ति अपि तु नैव ते भक्षयन्ति ॥२७९॥ कर्मेति—प्राणी अकृत्यम् अपि कर्म, कर्तुम् अयोग्यम् अकृत्य-कर्म कार्यं करोतु यदि आत्मन हन्यमानविधिर्न स्यात् । चेत् स्वस्य केनापि हन्यमानविधि मारणकार्यं न क्रियेत । यथा पशुर्हस्तस्था चेत् स पशुस्त हिंसक न हन्यात् । अथवा अन्यथा अन्येन प्रकारेण जीवमारण विना जीवनम् उदरपोषणं न स्यात् । अन्नफलाद्यभावे मासभक्षणं करोतु परम् अन्नफलाभाव कदापि न भवति अतः मासभक्षणं न करोतु जन ॥२८०॥ धर्मादिति—धर्मात् ससारदुःखनिवारकात् धर्मभुजा सुखं भुञ्जानानां धर्मे किं नु विद्वेषकारण धर्मे द्वेषो नोचित एव । प्रार्थितेति—अभिलषितपदार्थदायिनम् अमरपादप कल्पवृक्ष क द्वेष्टु । को द्वेष कुर्यात् ॥२८१॥ अल्पात्क्लेशात् इति—अल्पक्लेशात् स्वल्पदुःखात् । सुधी विबुध । स्वस्य आत्मन । सुष्ठु सुखं न्याय्य शर्म चेत् वाञ्छति अभिलष्यति । आत्मन प्रतिकूलानि स्वस्य विरुद्धानि यानि कर्माणि यथा स्वस्य दुःखप्रदानि तानि परेषां न समाचरेत् ॥२८२॥ यः जनः पशुपक्षिणानां अन्येषां घातम् अकृत्वा सुख-सेवापरायण सुखभोगतत्परो भवेत् । स सुखं भुञ्जानोऽपि जन्मान्तरमुखाश्रयः स्यात् । अन्यजन्मलम्बशर्म-धारो भवेत् ॥२८३॥ यः पुमान् नर तदात्वसुखासगात् तदाभव तदात्व तच्च सुखं तस्य आसगात् तात्कालिकसुखेष्वसक्ते धर्मकर्मणि देवपूजादिके कार्ये न मुह्येत् सद्यः न कुर्यात् स पुमान् ननु वितर्कं अस्मिन् लोके उदके उत्तरमवे दुःखवजित भवति ॥२८४॥ स इति—यः धर्मे अर्थे कामे च अन्यसमाश्रय त्रिषु एकस्यापि आश्रयं न करोति न प्राणी परं भूभारं, स जीवन्नपि मृतश्च स ॥२८५॥

[पृष्ठ १३५] स इति—यः धर्मात्पुण्यात्फलं स्त्रीघनादिभ्यः सुखम् अश्नन्नपि अनुभवन्नपि धर्मे मन्दधी मन्दादरो भवति स मूर्खः । स जडः । स अज्ञः, स पशोरपि पशुर्भवति ॥२८६॥ स विद्वानिति—यः स्वतः अन्वस्मादपि वा अधर्माय पापाय पापं कर्तुं न समीहते न प्रयतते । स विद्वान्, स महाप्राज्ञः, स महाबुद्धिमान्,

वर्तते एव वदन् एष वादी मयमातृसमागमो ईहताम् इच्छतु । यथा स्त्रीत्व पत्न्या विद्यते तथैव जनन्यामपि अतो भार्यासमागममिव जननीसमागमोऽपि वादिनेष्येत । यथा जले पेयत्वसामान्यं वर्तते तथा मद्येऽपि वर्तते अतो जलवन्मदिगपि पीयता वादिना पर तेन मदिरा त्यज्यते जल पीयते । स्त्री सेव्यते माता वन्द्यते अतः पेयत्व स्त्रीत्व च सर्वत्र समानं नैव भवेत् ॥३०३॥ शुद्धेति—शुद्धं दुग्धं न गोमामम् । एकस्या एव गोर्दुग्धं शुद्धं सेव्यं भवति पर तस्या मामम् अशुद्धत्वात् सेव्यं नैव भवति । एतादृशं पदार्थस्वभाववैचित्र्यं वर्तते । आहेयम् अहे संप्रस्य इदम् आहेयं मर्पसत्रन्त्रि मर्पमस्तके स्थितं रत्नं विषम् अपहरति । परं तदन्तस्थितं विषं विषदे मरणाय म्पातु ॥३०४॥

[पृष्ठ १३९] अथवा—हेयमिति—कारणे समे सत्यपि मास त्याज्यं पयः दुग्धं पेयम् । धेनववयवत्वसाम्येऽपि मामं हेयं न दुग्धम् । विपतरो पत्रम् आयुषे जीवनकारणं भवति परं तन्मूलं मृतये मरणाय स्यात् । विपतर्वयवसमत्वेऽपि पत्रं भक्ष्यं भवति न मूलमिति ॥३०५॥ अपि च—शरीरेति—शरीरावयवत्वेऽपि मामे दोषं तद्भक्षणं निन्द्यम्, न सर्वपि घृते न दोषोऽनस्तद्भक्षणोपयम् । द्विजातिषु जिह्वाया मद्यं दोषाय भवति । पादे मद्यं द्विजातिषु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्येषु न दोषाय भवति ॥३०६॥ विधिरिति—सप्रोक्षणं यज्ञादिष्वेदं विधिं शुद्धयै भवति तर्हि द्विजैः सर्वं भुज्यताम् तत्र मासादिकं हेयम्, ओदनादिकं भोज्यम् इत्याग्रहो न विधेयः । केवलं वस्तु शुद्धयै चेत् अन्नादिकम्, यत्र अन्नादिकं शुद्धं लभ्येत तत्र तदग्राह्यमिति मन्यते चेत् स्वपचालये मातङ्गगृहे भुज्यताम् । अतः केवलं विधिना अन्नादे दातुं पात्रस्य च शुद्धिर्भवतीति न मन्तव्यम् । यदि अन्नं शुद्धयै भवेत् तर्हि तेनान्नं दाता पात्रमपि शुद्धं भवेत् । ततश्च तच्छुद्धं यत्र कुत्रापि मातङ्गगृहेऽपि लभ्येत तदग्रहणे दोषो न स्यात् । अतः केवलया अन्नशुद्ध्या भाव्यमिति न । तर्हि केषां शुद्ध्या विविशुद्धिः स्यादिति प्रश्ने आह—॥३०७॥ तद्द्रव्येति—तस्मात् द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ द्रव्यशुद्धौ सत्या, दातृशुद्धौ सत्या, पात्रशुद्धौ च सत्या विविशुद्धता भवति । द्रव्यादीनाम् अशुद्धौ केवलं विविशुद्ध्या पर्याप्तं स्यात् इति न मन्तव्यम् । केवलं द्रव्यशुद्ध्यापि पर्याप्तता न सम्भवति, केवलं दातृशुद्ध्यापि सा न भवति अतः द्रव्यदातृपात्रशुद्ध्या सहिता विविशुद्धता विशुद्धं फलं जनयतीति ज्ञेयम् । अशुद्धौऽपि दाता शुद्धो भवेदिति चेदुच्यते—यत्संस्कारशतेनापि नाजातिद्विजतां व्रजेत् । संस्कारशतेनापि द्विजान्मुक्त्वा अन्यो अजातिः शूद्रो जनं द्विजतां न व्रजेत् । गर्भजन्म सत्कुले जन्म दोषायोपगमे कुले जन्म यस्य तस्यैव संस्कारजन्म भवति स एव संस्कारजन्मना द्विजतां गच्छति । संस्कारहीनो द्विजः जात्या द्विजो भवति । स नामधारको द्विजो ज्ञेयः । यस्य सत्कुले जन्म न स संस्कारशतेनापि अजातिरेव नामधारकाद् द्विजादपि स हीन एव । किरणाकुलोऽपि काचः असंस्कृतमणेरपि समानता न याति कथं संस्कृतमणे समता स विभूयात् ॥३०८॥ तच्छाक्येति—तस्मात् शाक्यानां बौद्धानां साह्यानां पर्वविंशतितत्त्ववादिनां कापिलानाम्, चार्वाकाणां बृहस्पतिशिष्याणां नास्तिकानाम्, वेदवादिनां मीमांसकानाम्, वैद्यानाम्, कर्षादिनां कापालिकानां मतविहाय श्रेयोऽधिभिः मुक्तिकामैः सदा मासं हातव्यम् आजन्म मामत्यागो विधेयः ॥३०९॥ यस्तु इति—यो जनः लौक्येन जिह्वालाभ्युदयेन मासाशी मासम् अश्नाति भक्षयति, तेन मासभक्षणेन तथा यज्ञे प्राणिवधेन धर्मो वर्धते इति च मन्यते स द्विपातकः ज्ञेयः । हिंसा धर्मं मन्यमानः मासं च भुञ्जानः देवान् मासं प्रीणयतीति मिथ्या सकल्पयन् द्विपातको भवति । यथा मात्रा सत्रं परदारक्रियाकारी नरः मातृगमनपातकः परस्त्रीसेवनपातकः च कुरते ॥३१०॥

[पृष्ठ १४०-१४२] श्रूयतामत्र मासाशनाभिध्यानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्—मासभक्षणसकल्प-मात्रस्यापि पापस्य फलं दृष्टान्तद्वारेण कथयति सूरिः सुदत्ताचार्यः तच्छ्रूयतामकर्ण्यताम्—श्रीमदिति—श्रीं अस्यास्तीति श्रीमान् स चासी पुष्पदन्तः श्रीमत्पुष्पदन्तः नवमो जिनपतिः स एव मदन्तः भगवन्जनकल्याणविधायी ऋषिः तस्य अवतारे जन्मसमये अवतीर्णः स्वर्गात्समागतो यस्त्रिदिवपतिः स्वर्गनाथः सौधर्मेन्द्रः तेन संपादितो विहितो विधापितश्च य उद्याव उत्सवः तस्य या इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्यै आसन्दी आसनभूता या काकन्दीपुरी तस्या चार्वाकवशोद्भवः सौरसेनो नाम भूपतिः कुलधर्मानुरोहबुद्ध्या निजवशधर्मानुमरणमत्या, गृहीतपिशितव्रतः अङ्गीकृतमासत्यागः । पुनर्वेदवैद्याद्वैतमोहितमति श्रुतिविपर्यसितमति वैद्यविपर्यसितप्रज्ञः अद्वैतमतपरावर्तितमतिश्च, सजातजाङ्गलजिघत्सानुमति उत्पन्नमासवृत्तानुसृतबुद्धिः । अङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणात् जनापवादाज्जगुप्समानः ।

स धोमान्, स च पवित्रः ॥२८७॥ तत्त्वस्येति—उष्मात् स्वहवात्मन हिमम् अमिलयन् व मुहु सु पुनः बहिःतम् अमुपै मुहयन् । अथवागै पशुभ्यादिभ्यः स्वर्गाम्यम् ब्रह्मिषादिना कर्म स्तु ॥२८८॥ यदिति—इह यो जनः । परम अथप्राणिनि । सुप्तं वा कुप्यम् एव वा करोति । बह्व्य वरं यतश्च त्त् नुर्ष वा दुष्ट वा स्वस्व अथिक्त् एव प्रापते । उत्तमयो यथा स्त्री यनम् अथमयाय बह्व्ये यानि तत्राप त्र्ये पूर्वोऽप्यधिकं यतं तथा परस्मिन् यन या सुप्तं वा दुष्टं वा करोति तत् परस्मिन् अगमि पूर्वजनोऽपि नधिकं तेन ज्ञायते ॥२८९॥ मद्यमोसमधुमायमिति—मद्यमं मांसमन्तम् मद्यमं च एवमर्थं नेत् यमयि पुण्याय यतम् । अपरं अथवा क । अपरं पाप किं भवेत् । किं वा दुर्वृत्तिशयकं वा अपरं किं न स्यात् ॥२९॥ स धर्मे इति—यत्र अथवा पापं विध्यात्वादिनं हिमादिनं वा नास्ति स धर्मः यत्र अनुत्तरकादिदुःखं नास्ति तत् सुखम् । यत्र अज्ञानं नास्ति तज्ज्ञानम् । यत्र पुना आपति संसार आयमनं नास्ति सा गति ॥२९१॥ स्वस्तीयमिति—यथा स्वस्तीयं जीवितं सर्वस्य प्राणिना विषय इहं भवति तत् स्तु परस्मादि जीवितं प्रियं भवति । ततो हिंसं परित्यजेत् ॥२९२॥

[पृष्ठ १३६] मांमाविषु इति—मांम् अन्नमीनि मातादिना मांसमलकाः तेषु दवा नास्ति । मद्यपायिषु मद्यं पिब्यतीति मद्यपायित सुरापानसीलास्तेषु मद्यं न वर्तते । मधुसुन्दरतेषु मधुना जीवित उदुम्बराद्यां च पञ्चकण्याः मलयं कुवसिषु मत्स्येषु अनुर्धस्वम् बहूरता दवानुवा न वर्तते ॥२९३॥ मधुतेवतं तपो न कुर्वन्ति—मक्षिकेति—मक्षिकायां अङ्गारां यवार्थं संयुधानि यानि बाकाश्वादि तेषां यथा यतं क्रियते तथ मधुन हस्तितमिव । तत्र कलसाकृति मधु रकोवीर्यमिधवात् ताम्रवर्णं यो ह्रस्ववर्णः स्थिता उदरे बाक्ते स कलकमुष्मते तद्वद्भासमानं मधु स्यात् दवाह्रस्वयाः पुण्याः कर्म क्षेत्रे यत्नयति ॥२९४॥ उद्भास्तेति—उद्भास्तेति चक्षुस्त्विति । अमकाः मक्षिकाबासका गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन् मधुपत्रे मधुनोक्ते अङ्गद्वाराद्व्यवहृत् पक्षिबासकसमुद्भवत् । मधु माधुर्यं कुट । अतस्तत् मधुपत्रं व्याधकमयवीर्यं व्याधा मयवादीनां मृगकां सहराः तेषां जीवितं मद्यं भवते । मधु लोचनोद्यता यत्नं वीर्यमिवितम् अतस्तदुत्तमाना न भवन् ॥२९५॥ पञ्चकुम्भरेषु जीवाणां दधनातेषां त्याग्यत्वमाह—अभ्यस्तेति—अथवापञ्चक्यानि पिब्य क्लान्ति । उदुम्बरक्यानि अनुकृषानि । प्लसक्यानि पक्ष्यक्यानि । मृगक्यानि वटक्यानि । बासिलेन पञ्चक्यानि अंवीर्यं इति वैद्यनाथायाम् । इत्यादि क्लेशादि प्रत्यक्षां स्तूनां प्राणिनो जीवा कुम्भते । सुस्मत्प सन्ति परं ते काममविषयाः अतः तेषां मक्षणं पापप्रवृत्त्यात्त्याग्यम् ॥२९६॥ मद्यावीति—ये मद्यमात्रमपुमपि च सन्ति तन्मेहेषु यत्र पानं च नाचरेत् । यत्र न मद्यमपि यत्र च न पेषम् । तेषाम् अथवापि भावयानि बासिलेन तेषां स्त्रीवत्प्रासिष्यं च कदाचिदपि न कुर्मात् प्रतिकः ॥२९७॥

[पृष्ठ १३७-१३९] अक्षितो संयात् लोके बाष्पता भवति—कुर्वन्ति—मोक्षणादिषु मोक्षे अक्षयानादिकार्येषु अक्षितानि उह तस्यं सत्त्वं कुर्वन् अथ अस्मिन् लोके बाष्पता निम्नां प्राप्नोति । परम परकीं च इह च सत्त्वं न अत्र तेन नरेण सत्त्वं स्वर्गकाकुलं न कल्पते ॥२९८॥ वृत्तिरिति—वृत्तिप्रायेषु यत्र पुटकादिधर्ममात्रेणैव पामोय यत्र अस्वीयं यत्र वर्धयेत् । भूतपायिषु यत्रमिविणास्पन्नेहमात्रेणैव स्नेहं तेषु वृत्ति परित्यजेत् अत्रोपिठां अक्षितमनयोग्या स्थिताः मद्यमासतेविष्य इति निर्वं परिहारः त्याग्याः ॥२९९॥ जीवेति—मय सत्त्वं मय अथ स्त्री जायो तेषां ते मयमेवाद्यथा तत्त्वमप्यत् तच्छरीरवत् यथा तच्छरीरं जत तथा मृद्वनापादिकमपि जीवजीवत्व समागमया मायम् इति इतरेषु अत्र अस्ति स्व ॥३०॥ तत्रमुक्तम् । तथा—मांसमिति—मांसं प्राणिशरीरं स्यात्तर जीवशरीरं मास धनेय वा । यथा निम्नो नृपते भवति परं नृपस्तु निम्नो भवेत् वा ॥३१॥ किं च—हिंसापञ्चमेति—हिंसनिहन्त्या बाह्यान्-भानिन्-नीचानां मांसं कुर्वताम् अहंरा पक्षिचः तेषामपि मांसं कुर्वतां पापं विधिष्यते विधिर्हं वर्तते । तथा जीवजीव्यादिप्रेष्य तथा क्ल-पक्षानि पापं विधिष्यते । क्लेशादि जीवाः सन्ति मातेऽपि जीवाः सन्ति परं क्लेषु एकेन्द्रिया एव जीवाः सन्ति माते पुं द्वीन्द्रियानारूप्य पञ्चेन्द्रियपर्वत् जीवराद्यन् क्लेश सन्ति यता कक्षादिना स्त्रीकं पापं स्यात्तरं पक्षादिना महापापकरो भवेत् ॥३२॥ स्त्रीरवेति—स्त्रीरवाभावं दारेषु वर्तते पैतृत्वाभावं भार्गव

वर्तते एव वदन् एष वादी मद्यमातृसमागमो ईहताम् इच्छतु । यथा स्त्रीत्व पत्न्या विद्यते तथैव जनन्यामपि अतो भार्यासमागममिव जननीसमागमोऽपि वादिनेष्येत । यथा जले पेयत्वसामान्यं वर्तते तथा मद्येऽपि वर्तते अतो जलवन्मदिगपि पीयता वादिना पर तेन मदिरा त्यज्यते जल पीयते । स्त्री सेव्यते माता बन्धते अतः पेयत्व स्त्रीत्व च सर्वत्र समानं नैव भवेत् ॥३०३॥ शुद्धेति—शुद्ध दुग्धं न गोमामम् । एकस्या एव गोदुग्धं शुद्धं सेव्यं भवति पर तस्या मामम् अशुद्धत्वात् सेव्यं नैव भवति । एतादृशं पदार्थस्वभाववैविध्यं वर्तते । आह्वयम् अहं सर्पस्य इदम् आह्वयं सर्पमवन्वि मर्पमस्तके स्थितं रत्नं विपम् अपहरति । पर तदन्तस्थितं विपं विपदे मरणाय म्यात् ॥३०४॥

[पृष्ठ १३९] अथवा—हेयमिति—कारणे समे सत्यपि मासं त्याज्यं पयः दुग्धं पेयम् । धेन्ववयवत्वसाम्येऽपि मासं हेयं न दुग्धम् । विपतरो पत्रम् आयुषे जीवनकारणं भवति पर तन्मूलं मृतये मरणाय स्यात् । विपतर्बवयवसमत्वेऽपि पत्रं मक्ष्यं भवति न मूलमिति ॥३०५॥ अपि च—शरीरेति—शरीरावयवत्वेऽपि मामे दोषं तद्भक्षणं निन्द्यम्, न सर्पिषि घृते न दोषोऽनस्तद्भक्षणोपयम् । द्विजातिषु जिह्वाया मद्यं दोषाय भवति । पादे मद्यं द्विजातिषु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्येषु न दोषाय भवति ॥३०६॥ विधिरिति—सप्रोक्षणं यन्नादिश्चेद् विधिः शुद्धयै भवति तर्हि द्विजैः सर्वं भुज्यताम् तत्र मामादिकं हेयम्, ओदनादिकं भोज्यम् इत्याग्रहो न विवेच्यः । केवलं वस्तु शुद्धयै चेत् अन्नादिकम्, यत्र अन्नादिकं शुद्धं लभ्येत तत्र तद्ग्राह्यमिति मन्यते चेत् श्वपचालये मातङ्गगृहे भुज्यताम् । अतः केवलं विविना अन्नादेः दातुं पात्रम्यं च शुद्धिर्भवतीति न मन्तव्यम् । यदि अन्नं शुद्धयै भवेत् तर्हि तेनान्नेन दाता पात्रमपि शुद्धं भवेत् । ततश्च तच्छुद्धं यत्र कुत्रापि मातङ्गगृहेऽपि लभ्येत तद्ग्रहणे दोषो न स्यात् । अतः केवलया अन्नशुद्ध्या भाव्यमिति न । तर्हि केषां शुद्ध्या विधिशुद्धिः स्यादिति प्रश्ने आह—॥३०७॥ तद्वद्व्येति—तस्मात् द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ द्रव्यशुद्धौ सत्या, दातृशुद्धौ सत्या, पात्रशुद्धौ च सत्या विधिशुद्धता भवति । द्रव्यादीनाम् अशुद्धौ केवलं विधिशुद्ध्या पर्याप्तं स्यात् इति न मन्तव्यम् । केवलं द्रव्यशुद्ध्यापि पर्याप्तता न भवति, केवलं दातृशुद्ध्यापि सा न भवति अतः द्रव्यदातृपात्रशुद्ध्या सहिता विधिशुद्धता विशुद्धं फलं जनयतीति ज्ञेयम् । अशुद्धौऽपि दाता शुद्धो भवेदिति चेदुच्यते—यत्संस्कारशतेनापि नाजातिद्विजतां व्रजेत् । संस्कारशतेनापि द्विजान्मुवत्वा अन्यो अजातिः शुद्धो जनं द्विजतां न व्रजेत् । गर्भजन्म सत्कुले जन्म दोक्षायोग्ये कुले जन्म यस्य तस्यैव संस्कारजन्म भवति स एव संस्कारजन्मना द्विजतां गच्छति । संस्कारहीनो द्विजः जात्या द्विजो भवति । स नामधारको द्विजो ज्ञेयः । यस्य सत्कुले जन्म न स संस्कारशतेनापि अजातिरेव नामधारकाद् द्विजादपि स हीन एव । किरणाकुलोऽपि काचः असंस्कृतमणेरपि समानतां न याति कथं संस्कृतमणे समतां स विभूयात् ॥३०८॥ तच्छाक्येति—तस्मात् शाक्यानां वौद्धानां साह्यानां पञ्चविंशतितत्त्ववादिना कापिलानाम्, चार्वाकाणां बृहस्पतिशिष्याणां नास्तिकानाम्, वेदवादिना मीमांसकानाम्, वैद्यानाम्, कपिनां कापालिकानां मतं विहाय श्रेयोऽर्थिभिः मुक्तिकामैः सदा मामं हतव्यम् आजन्म मासत्यागो विवेच्यः ॥३०९॥ यस्तु इति—यो जनः लौक्येन जिह्वालाभ्युत्थेन मामाशी मासम् अश्नाति भक्षयति, तेन मासभक्षणेन तथा यज्ञे प्राणिवधेन धर्मो वर्धते इति च मन्यते स द्विपातकः ज्ञेयः । हिंसा धर्मं मन्यमानः मासं च भुञ्जानः देवान् मासं प्रीणयतीति मिथ्या सकल्पयन् द्विपातको भवति । यथा मात्रा मत्रं परदारगक्रियाकारो नरः मातृगमनपातकः परस्त्रीसेवनपातकः च कुरुते ॥३१०॥

[पृष्ठ १४०-१४२] श्रूयतामत्र मासाशनामिध्यानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्—मामभक्षणसकल्प-मात्रस्यापि प्रापस्य फलं दृष्टान्तद्वारेण कथयति मूरिः । मुदत्ताचार्यः तच्छ्रूयतामाकर्ण्यताम्—श्रीमदिति—श्री-अस्यास्तीति श्रीमान् स चामो पुण्यदन्तः श्रीमत्पुण्यदन्तः नवमो जिनपतिः स एव भदन्तः भव्यजनकल्याणविघाथी ऋषिः तस्य अवतारे जन्ममये अवतीर्णः स्वर्गात्समागतो यस्त्रिविधपतिः स्वर्गनाथः सोधर्मेन्द्रः तेन मपादितो विहिता विधापितश्च य उद्याव उत्सवः तस्य या इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्यै आसन्दौ आसनभूता या काकन्दीपुरी तस्यां कृतमात्म्यागः । पुनर्वेदवैद्याद्वैतमोहितमति श्रुतिविपर्यासितमति वैद्यविपर्यासितमत्र अद्वैतमतपर्यावर्तितमतिश्च, मंजातजाङ्गलजिघत्सानुमति उत्पन्नमामवदुःसानुसृतबुद्धिः । अङ्गोक्तनवस्तुनिर्बहणात् जनापवादाज्जगुप्समानः ।

स्त्रीकृतप्रतिज्ञावमानयमनात् जनमिच्छतात् च भीतिमतिः मनोविभ्रान्तिहेतुना मनःसमाधानकारणेन बन्धप्रतिपत्तिरिति
 एष हेतुः पञ्च यस्य तेन बन्धनेन पापकेन रहसि एकास्ते विद्वत्स्वस्रजसांस्तरालचरतरतमानायवमपि विवक्ष्य
 मृगशाय स्वयं चरा कलायः कलचरा मस्यायः कलराचरा मुकायः तेषां तर्हं पापकेन ज्ञानान्
 नपि अनेकराजकार्यपर्याङ्गुलमानसतया नानाविचाराजकीवविधानव्यापृतचित्ततया मोक्षमहापथेषां गताय च
 प्राप्नोते । कर्मप्रियोऽपि तथा अनुविनम् अहहह पृथोस्वरमिदेषममुत्तिष्ठन् महीपतेरादेषम् आचरन्, एषा पुष्-
 कृपाजोपद्रुतः पृथक् सप तस्म पाकः क्षिपु तेन उपद्रुत पीडित तेन हह इति भाषा प्रेत्य मृत्वा स्वर्गचरुतपावि-
 धानमुदे समुद्रे स्वर्गमूरमणेति अभिधानं नाम तदेव मुद्रा विह्वं यस्य तस्मिन् समुद्रे तापरे महादेवबन्धुं यमदेवम्
 बन्धं यस्य स तिमिङ्गुलमिदं तिमिङ्गुली नाम यद्वा मत्स्यः तमपि निधति इति तिमिङ्गुलमिदं । कवे । मृगशे-
 ऽपि विरकाकेन कवासेयतामाधित्य कवा एव सेया यस्य स कवासेयताम् आधित्य मन्त्रैर्यजन् । पितृतेति—
 विद्वितस्य मांसस्य अक्षयं मस्यं तस्याद्योऽभिधायनम् इच्छन् तस्य अनुबन्धात् तस्मात् । तत्रैव तिष्ठो तत्रैव
 महातीनस्य कर्षादिके तस्माद्यनयोक्तं तस्य कर्षस्य यो मत्तः तस्याद्यन भक्षणं धीमं स्वयाधो बन्ध । धादि-
 क्षिप्तकलकसेव धास्याः धिवयं तन्मुक्तं तत्प्रमाणं कर्षं मनोहूरं कर्षेवर्ं धारीरं यस्य तस्मात् धात्वा तस्मै-
 ऽभवत् । तन्न तत्पत्तारम् एष धादिधिवयो मीन पर्याप्तोमयकरस्य पूर्णस्वस्वभावेतिव । बन्धं मुक्तं
 व्यावाह जगताप निशामत् निशामस्य स्वपत्तः बन्धुवाहवाडे नक्तं कष्टं स एव मुद्रा यद्वा तस्मै जगतादे
 विस्तारे देवानदीप्रवाह इव समुद्रकूपे संप्राप्तधरिदोष इव अनेकं जलचरानीकं नाना बन्धमस्मादिवज्जन्तु-
 समुद्रं प्रविश्य तत्रैव निष्कृत्य निगच्छन् निरीक्ष्य (तन्मुक्तमस्त्यः जगति विमुद्यति) पापकर्ता पापम् अत-
 रापाप्यं कर्म यस्य सः अत एव निर्माण्यानां दुर्बलता च अधधीचर्यां अर्धचर्यमं विज्ञायः स्वयं तपः मत्स्य-
 यद्वात्रसंघातनकेतास्यपि मस्मान्मुक्तने वधने संघातनम् उत्पत्तं तन वेताधि सेया तस्मात्ताति यावत्ति जलचरम्
 अक्षितुं मस्यितुं न छन्दोति सम्यो न जगति । मम पुनर्यदि हृदयस्तिप्रभावात्मनोऽनित्यचित्तमप्यर्थात् ईषात्
 एतावन्मात्रं मात्रम् एतज्जटोऽप्रबाधं धारीरं तस्मात् तथा तस्मैतमपि समुद्रं विद्रुतचक्रसदृशचरामुद्र विद्रुता
 गद्य सकलमत्तानां सर्वप्राणिनां संसारस्य भ्रमणस्य मुद्रा विह्वं यस्य तं विवचामि । अदि मे महामत्स्येष्टमुक्त्यो
 देहो भविष्यति तथा सकलाजलचरान् मस्यित्वा समुद्रं जलसेव करिष्यामि । इति जनिष्वाप्तममममम-
 नात् जलकायकस्य जगुक्तं जलकायम् अमघधारी कलति कारयति इति जलकायकस्य जगुक्तं मत्स्यं निवृत्त-
 नक्तजलकायस्य महादेवादीनो निवृत्तः सकलास्ते नक्ष्यः यकरा तेषां चर्कं समुद्रः तस्म चारो मक्ष्य तस्यात्
 महादेवान् स मीनः काकेन विपद्य मत्वा कृत्वा च जनिता च उत्तमत बयस्त्रिष्टात्तारोपमानु निवृत्ते त्रि-
 यपस्त्रिष्टात्तनुमुद्रस्मदीर्घकालजीवनस्य पुद्गे नरके लप्यते भवप्रत्ययामताधिर्मुक्तानाविद्यो बन्धो ज्ञान स प्रत्ययो
 हेतुः तस्य ज्ञानतः अजीनः आविर्भूत प्रकटीभूत ज्ञानविद्यो यमोस्तो जनिमिवचरो मूनपूर्वमत्स्यो नारक-
 पर्यायबरी नित एव बन्धमात्रम् आकापम् अन्धोयतंभोचमपूर्वकं भावयं चक्रुः । अहो शुद्धमत्स्यं तथा नित-
 कर्मचः बुद्धमर्चः तिमिङ्गुलं उत्पत्तिं क्रूरतया जलचरजीवनमहासात्मक कर्म कार्यं देन स तस्य बन्धुर्धर्म-
 पापकर्मजी नारकायुप उद्यमत् मम ज्ञानमिति आगमनम् उचितं नोक्ता एव । तन तु मत्स्येति मजीनजीव-
 मत्स्य कर्ममकेन उद्योजनम् उद्यमिनीहो ययय कर्मभागमनमभूत् सर्वथा नासाह्वाररहितस्य जनिमिवचरहितस्य
 च तस्मात्तममं यक्ष्यं नति (महामत्स्येनोक्तं तन्मुक्तमस्त्यो वदति) हे महामत्स्य वैशिष्ट्यापि दुरन्तु स
 संवर्धनस्वभावपुम्पन्नात् । धारीरिकाज्योवचविद्रुतस्यापारावहं विमुक्तोऽस्मि । नरं तु दुष्टं जन्तो
 मत्स्यं तस्यात् तस्मात्तनुः कलचरस्य विवचनत्वात् कारणात् जगुक्तमनात् मन्त्रावाचमनमभूत् । भवति चार-
 हलोक — शुद्धमरस्येति—स्वर्गमूरमचमुदे महामत्स्यस्य कर्षस्य एकं शुद्धमत्स्यं क्रिद स्वतिरोपात्तं जगुक्त-
 म्पानात् अथो यतः उत्पन्नमरके जनिमिवचरापरोपमायुवा जगुक्तमम् ॥१११॥

इत्युपासकाध्यक्षणे मांसमिदं पापमात्रकर्मकपतो नाम जगुक्तचित्तमः कथा ॥११॥

२५. मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः

[पृ० १४२-१४३] श्रूयतामत्र मांसनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—चण्डमातङ्गस्य कथा—अवन्ति-
मण्डलेति—अवन्तयश्च ते मण्डलाश्च अवन्तिमण्डलास्त एव नलिन कम तस्मिन्नभिनिवासे सरसी रस-
युक्ता या एकानसीनाम पुरी तस्या पुरवाहिरिकाया तस्या पुरो बाह्यप्रदेशे । देविलेति—देविला चामी महिला
पत्नी देविलाख्या पत्नी तस्या विलासा एव विशिखा वाणास्तेषा वृत्त्या सक्त्वेन कोदण्डस्य धनु सद्गन्धस्य
चण्डनाम्नो मातङ्गस्य एकस्या दिशि । निवेशितेति—निवेशित स्थापित पिशित मासम् उपदशश्च तद्राचक-
भक्ष्यद्रव्य च येन तस्य । अपरस्या दिशि । विन्यस्तेति—विन्यस्य स्थापित सुरया मदिरया मभूत पूर्ण कलशो
येन तस्य । पुन कथमूनस्य चण्डमातङ्गस्य पलोपदशोदारा सुरा मासभक्षणे रुन्मुत्पादकरूपां उदारा
विपुला सुरा पाय पाय पोत्वा पोत्वा तदुभयान्तराले तयोर्भययो अन्तराले मध्य चर्मनिर्माणतन्त्रा चर्मणा
निर्माण रचना तदेव तन्त्र हेतुर्यस्या ता वरत्रा वद्धी वर्तयत रचयत चण्डमातङ्गस्य । वियदिति—वियति
आकाशे विहारो भ्रमण तदर्थम् उड्डीन उत्पन्न कुर्वाण अण्डजडिम् पक्षिशिशु तस्य तुण्डेन मुखेन
यत्खण्डन तस्मात् । विनिष्पन्दि स्रवत यद्विपवरविप सर्पविप तस्य दोषस्यावसरो यत्र तथाभूता सुराभवत् ।
सर्पविपविन्दो पतनात्सविपा मदिरा जातेति भाव । अत्रैवावसरे अस्मिन्नेव प्रस्तावे तत्समीपवर्त्मगोचरे
चण्डमातङ्गनिवासस्य समीपमेव मार्गे धर्मेति—धर्मश्रवणम्, जन्मान्तरादिप्रकटनम् इत्याद्युपाययुक्ताभि
कथाभि विनेयजना शिष्यास्तेषामुपकाराय कृतेति—कृत. उत्पन्ना कामचार इच्छा तेन प्रचारो भ्रमण
यस्य, पुन कथमभूतम् ऋषियुगलम् । मूर्तिमदिति—मूर्तिमत् सदेह स्वर्गमोक्षमार्गयुग्ममिव अम्बरात्
आकाशात् अवतरत् अध. आगच्छत् ऋषियुग्मम् अवलोक्य सजातकुतूहल उत्पन्नविस्मय । त देशं मुनिप्रदेशम्
अनुमृत्य नगरे मुनिवरावलोकनात् धावकलोक व्रतानि समाददान गृह्णन्तम् अनुस्मृत्य ज्ञात्वा । समाचरित-
प्रणाम विहितवन्दन । सुनन्दमुनेः अग्रेसरगमनम् अभिनन्दन भगवन्तम् आत्मोचित व्रतमयाचत । भगवान् ।
उपकारायेति—पर्जन्य इव यथा मेघवृष्टि सर्वस्य उपकाराय तथा धार्मिक सर्वस्य उपकाराय हितोपदेशेषु
प्रवर्तते । यथा मेघवृष्टे स्थानास्यानचिन्ता नास्ति तथा हितोक्तिषु अपि धार्मिकस्य मा न भवति ॥३१२॥ इत्य-
वगम्य ज्ञात्वा सम्यगिति—सम्यक् सम्यग्दर्शनयुक्त यदवधिज्ञान तस्योपयोगात् अवगत ज्ञात एतस्य
चण्डमातङ्गस्य आसन्नपरासुतायोग आसन्न समीप परासुताया मरणस्य योग सवन्ध येन स भगवाञ्चा-
रणपि त मातङ्गमेवम् अवोचत् । 'अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जा रज्जू भिन्नदिशो स्थितयो
पिशितसुराकुम्भयोरन्तराले मध्ये सज्जा स्थिता रज्जू वरत्रा सूजत निमिमाणस्य तन्मध्ये तव तन्निवृत्ति-
व्रतम् तयो पलमुरयोस्त्यागस्य व्रतम्' इति मातङ्गस्तथा प्रतिपद्य स्वीकृत्य तम् अवकाश तत्स्थानम् उपसद्य
प्राप्य पिशित प्राश्य भक्षयित्वा यावदहम् इद स्थानक नायामि यावत् कालम् अहम् एतत्स्थान प्रदेश नायामि
नागच्छामि तावन्मेऽस्य पिशितस्य निवृत्तिस्त्याग । इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थान लब्धसुराकलश-
प्रदेश प्रतिपन्नपान पीतसुर । तदुग्रतरगरभरात् तस्य विपन्नरस्य उग्रतर तीव्रतर यत् गर विप तस्य
भरात्प्रभावात् लघूर्लङ्घितमतिप्रसर लघु शीघ्रम् उल्लङ्घित विनष्ट मतिप्रसर चेतनाविलास यस्य ।
विपन्नैगान्मूर्च्छितस्येत्यर्थं तन्निवृत्ति मध्यमासयो निवृत्ति त्यागम् अलभमानचित्तोऽपि अप्राप्तमानसोऽपि प्रेत्य
मृत्वा तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन स्तोककाल यावद्गृहीतव्रतप्रभावेन यक्षकुले यक्षमुख्यत्वं प्रतिपदे प्राप । भवति
चाग्र इलोक —चण्डेति—अवन्तिषु देशेषु चण्डो मातङ्ग अत्यल्पकालभावित्या अतिस्तोकसमयसजाताया
पिशितस्य निवृत्तिर् मासस्य त्यागात् यक्षमुख्यता प्राप यक्षाणा व्यन्तरदेवविशेषाणाम् अग्रणीर्मह-
द्विकोऽभवत् ॥३१३॥

२५. मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः

[पृ० १४२-१४३] श्रूयतामत्र मासनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—चण्डमातङ्गस्य कथा—अवन्ति-
मण्डलेति—अवन्तयश्च ते मण्डलाश्च अवन्तिमण्डलास्त एव नलिन कम तस्मिन्नभिनिवासे सरसी रस-
युक्ता या एकानसीनाम पुरी तस्या पुरवाहिरिकाया तस्या पुरो बाह्यप्रदेशे । देविलेति—देविला चामौ महिला
पत्नी देविलाख्या पत्नी तस्या विलासा एव विशिखा वाणास्तेषा वृत्त्या सबन्धेन कोदण्डस्य वनसृङ्गस्य
चण्डनाम्नो मातङ्गस्य एकस्था दिशि । निवेशितेति—निवेशित स्थापित पिशित मासम् उपदशश्च तद्राचक-
भक्ष्यद्रव्य च येन तस्य । अपरस्या दिशि । विन्यस्तेति—विन्यस्त स्थापित सुरया मदिरया मभूत पूर्ण कलशो
येन तस्य । पुन कथभूतस्य चण्डमातङ्गस्य पलोपदशोदारा सुरा मासभक्षणे रुच्युत्पादकरूपम् उदारा
विपुला सुरा पाय पायं पोत्वा पोत्वा तदुभयान्तराले तयोर्भययो अन्तराले मध्य चर्मनिर्माणतन्त्रा चर्मणा
निर्माण रचना तदेव तन्त्र हेतुर्यस्या ता वरत्रा वद्धी वर्तयत रचयत चण्डमातङ्गस्य । वियदिति—वियति
आकाशे विहारो भ्रमण तदर्थम् उद्दोह उत्पन्न कुर्वाण अण्डजडिम्भ पक्षिशिशु तस्य तुण्डेन मुखेन
यत्क्षण्डन तस्मात् । विनिष्यन्दि स्रवत् यहिषधरविप सर्पविप तस्य दोषस्यावसरो यत्र तथाभूता सुरामवत् ।
सर्पविपविन्दो पतनात्मविपा मदिरा जातेति भाव । अत्रैवावसरे अस्मिन्नेव प्रस्तावे तत्समीपवर्त्मगोचरे
चण्डमातङ्गनिवासस्य समीपमेव मार्गं धर्मेति—धर्मश्रवणम्, जन्मान्तरादिप्रकटनम् इत्याद्युपाययुक्तानां
कथाभि विनियोजना शिष्यास्तेषामुपकाराय कृतेति—कृत. उत्पन्ना कामचार इच्छा तेन प्रचारो भ्रमण
यस्य, पुन कथभूतम् ऋपियुगलम् । मूर्तिमदिति—मूर्तिमत् सदेह स्वर्गमोक्षमार्गयुग्ममिव अम्बरात्
आकाशात् अवतरत् अथ आगच्छत् ऋपियुग्मम् अवलोक्य सजातकुतूहल उत्पन्नविस्मय । त देश मुनिप्रदेशम्
अनुमृत्य नगरे मुनिवरावलोकनात् श्रावकलोकं व्रतानि समाददान गृह्णन्तम् अनुस्मृत्य ज्ञात्वा । समाचरित-
प्रणाम विहितवन्दन । सुनन्दमुने. अग्रेसरगमनम् अभिनन्दन भगवन्तम् आत्मोचित व्रतमयाचत । भगवान् ।
उपकारायेति—पर्जन्य इव यथा मेघवृष्टि सर्वस्य उपकाराय तथा धार्मिक सर्वस्य उपकाराय हितोपदेशेषु
प्रवर्तते । यथा मेघवृष्टे स्थानास्यानविन्ता नास्ति तथा हितोक्तिषु अपि धार्मिकस्य मा न भवति ॥३१२॥ इत्य-
वगम्य ज्ञात्वा सम्यगिति—सम्यक् सम्यग्दर्शनयुक्त यदवधिज्ञान तस्योपयोगात् अवगत ज्ञात एतस्य
चण्डमातङ्गस्य आसन्नपरासुतायोग आसन्न समीप परासुताया मरणस्य योग सबन्ध येन स भगवाञ्चा-
रणपि त मातङ्गमेवम् अवोचत् । ‘अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जा रज्जू भिन्नदिशो स्थितयो
पिशितसुराकुम्भयोरन्तराले मध्ये सज्जा स्थिता रज्जू वरत्रा सृजत निर्ममाणस्य तन्मध्ये तव तन्निवृत्ति-
व्रतम् तयो पलसुरयोस्त्यागस्य व्रतम्’ इति मातङ्गस्तथा प्रतिपद्य स्वीकृत्य तम् अवकाश तत्स्थानम् उपसद्य
प्राप्य पिशित प्राश्य भक्षयित्वा यावदहम् इद स्थानक नायामि यावत् कालम् अहम् एतत्स्थान प्रदेश नायामि
नागच्छामि तावन्मेस्य पिशितस्य निवृत्तिस्त्याग । इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थान लब्धसुगकलश-
प्रदेश प्रतिपन्नपान पीतसुर । तदुग्रतरगरभरात् तस्य विषधरस्य उग्रतर तीव्रतर यत् गर विप तस्य
भरात्प्रभावात् लघूर्लङ्घितमतिप्रसर लघु शीघ्रम् उल्लङ्घित विनष्ट मतिप्रसर चेतनाविलास यस्य ।
विपवेगान्मूर्च्छितस्येत्यर्थं तन्निवृत्ति मद्यमासयो निवृत्ति त्यागम् अलभमानचित्तोऽपि अप्राप्तमानसोऽपि प्रेत्य
मृत्वा तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन स्तोककाल यावद्गृहीतव्रतप्रभावेन यक्षकुले यक्षमुख्यत्वे प्रतिपदे प्राप । भवति
चात्र इलोक —चण्डेति—अवन्तिषु देशेषु चण्डो मातङ्ग अत्यल्पकालमाविष्या अतिस्तोकसमयसजाताया
पिशितस्य निवृत्ति मासस्य त्यागात् यक्षमुख्यता प्राप यक्षाणा व्यन्तरदेवविशेषाणाम् अग्रणीर्मह-
द्विकोऽभवत् ॥३१३॥

इत्युपासकाध्ययने मासनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्प ॥२५॥

इच्छानिरोध तस्य परिवृद्धये समन्तादुपचयाय । व्रतवीजवृत्तिक्रिया बीजस्येव व्रतानाम् आवेष्टकक्रिया रक्षो-
पाया येषु ते अन्तराया सन्ति ॥३२४॥ अहिंसाव्रतेति—अहिंसाव्रतस्य पालनार्थम् । मूलव्रतानाम् अष्टमूल-
गुणानां विशुद्धये अतिचाररहितत्वाय निशाया भुक्ति भोजन वर्जयेत् परिहरेत् । यत् सा इहामुत्र दुःखदायिनी
भवति ॥३२५॥ आश्रितेष्टिति—सर्वेषु आश्रितेषु मनुष्येषु पक्षिषु पशुषु च अनन्यस्वामिकेषु । यथाव-
द्विहितस्थिति यस्य येन अन्नादिना शरीरपोषण स्यात् तेन तस्य तथा करणीयम् । एवम् आश्रितानां भरण विधाय
शरीरे अवसरे आहारग्रहणसमये स्वयं गृहाश्रमी गृहस्थ समीहेत यत्नं कुर्यात् ॥३२६॥ संधानमिति—यत्र
रसकायिका जीवा अनन्तशो जायन्ते तत्संधानकम् । पानकं दधिगुदचातुर्जतिकादिद्रव्योद्भवम् । धान्यं शाल्यादि-
वम् । पुष्पं कुसुमम् । मूलं वृक्षवल्ल्यादे पादा, दलं पत्रम् । यद् यद् जीवयोनि जीवस्य यदुत्पत्तिस्थानं तत् न
सग्राह्यम् । यच्च जीवैरुपद्रुतं कीटकैः उपद्रुतं छिद्रितं तत् न सग्राह्यम् ॥३२७॥ अमिश्रमिति—अन्येन
अन्नादिना मिश्रणम् अकृतमपि कालाश्रयेण वर्षाकालाद्यवलम्बनेन उत्सर्गि ग्राह्यमपि किंचिद्वस्तु जीवयोनित्वात्
जीवैरुपद्रुतत्वाद्वा जिनागमे त्याज्यं भवति । किंचिद्वस्तु शीतोष्णादिदेशाश्रयेण, किंचिद्वस्तु जीर्णादि पुष्पितादि-
दशाश्रयेण प्रागुत्सर्गि सर्वपि जिनागमे त्याज्यं भवति । किंचिद्वस्तु मिश्रमपि कालदेशदया अवलम्ब्य अग्राह्यं
भवति ॥३२८॥ यदन्त इति—यस्य अन्तं मध्ये सुपिरं छिद्रं प्रायः बहुधा वर्तते तन्नालीनलादि कमलनाल
नलादि देवनालवेष्टादिकं मृदु वेष्टादिकं हेयं त्याज्यम्, तत्सुपिरं त्रसजीवानाम् आगन्तुकानां सभवात् । तथा
अनन्तकायिकप्रायम् अनन्तजीवानां शरीरं यद्भवति तदनन्तकायिकं प्रायः बहुधा अनन्तकायिकतुल्यं च
यद्बहुजीवनिचितं त्रसजीवसंकीर्णं च भवति तद्वल्लीकन्दादिकं त्यजेत् । या वल्ली कोमला विद्यते, तस्यां किम-
लयवृन्तादिकं कोमलम् अनन्तकायिकं च भवति अतस्तत् व्रतिभिर्हेयम् । कन्दादिकं च पलाण्डुमूरणादिकं च
बहुतराणां तदाश्रितजीवानाम् आश्रयस्थानत्वात् त्याज्यम् । अन्यथा तद्रक्षयना जिह्वेन्द्रियप्रीणनमात्रं फलमल्पं
भवति बहुजीवानां घानश्च भवति ॥३२९॥ द्विदलमिति—द्विदलं मुद्गमापादिधान्यं द्विदलं द्वे दले विभागो
यस्य पृथक्पत्रा येषां जाते तद्विदलं मुद्गमापादिकं सखण्डं प्राश्य भक्षणीयम् तत्र सखण्डत्वात् अङ्कुर-
शक्त्यभावात् । अनवतां गतं द्विदलम् अकृतद्विदलभावः द्विदलं जीर्णं प्रायेण प्राश्यम् यदि अदृष्टजन्तुसम्पर्कश्च विद्येत ।
जन्तुसम्पर्कश्च तद्विदलम् । सिम्बवः भल्लराजमापप्रमुखफलिका सखला त्याज्या न भक्षणीया । कदा न भक्ष-
णीया । या मकलाश्च साधिता स्युः अकृतद्विदलभावा एव यदि अग्निना पाचिता स्युस्तर्हि तासां भक्षणं पापप्रदं
स्यात्, अखण्डत्वात् तद्गतत्रसजीवानाम् अग्निसंयोगेन मूर्तिं प्राप्नत्वात् ॥३३०॥ दयाद्रुताया यत्राभावस्तद्वर्जनम्—
तत्रेति—यत्र बह्वारम्भपरिग्रहस्तथाहिंसा कृता । प्राणिपीडाहेतुव्यापार आरम्भः । ममेऽ वृद्धिदक्षणं परिग्रहः ।
बह्वारम्भपरिग्रहा यस्य तस्मिन्ने अहिंसा कृतो भवेत् । तत्र कोमलपणिनामाभावात् लोभाकुलत्वात् च
दयाभावो न भवति । ब्रज्जके परप्रतापशोके नरे क्रुशोले परलज्जालम्पटे च दयालुता नास्ति ॥३३१॥ कस्य
जीवस्य अमद्वेद्यं कर्म उच्यते । शोकेति—स्वपरयोः शोकमनापमक्रन्दपरिदेवनदुःखी भयञ्जन्तु अमद्वेद्याय
जायते । अन्यस्मिन्जने स्वस्मिन्श्च शोकाद्युत्पादिका यस्य वृद्धिर्भवति स जन्तुः प्राणी अमद्वेद्याय असत् अशुभ
दुःखादायकं वेद्यं वेदनीयाम्यं कर्म अमद्वेद्यं तस्मिन् हेतुर्जायते भवति । शोकादोना व्याख्या क्रमशः—अनुश्रान्त-
कस्यव्यविच्छेदे वैकल्यविशेषः शोकः । पण्डितादिनिमित्ताद्यत्रिजान्तं कर्णस्य तीक्ष्णानुश्रयं मनापः । पणि-
तापजाता गुपातप्रचुरविलापादिव्यक्तक्रन्दनं मक्रन्दनम् । मध्वेक्षपणिनामावच्छेदनं गुणमरणानुकीर्तनपूर्वकं स्व-
परानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुरं रोदनं परिदेवनम् ॥३३२॥ चाग्निमोहाग्रयं निगदति—कृपायति—यस्य
मात्रं कृपायोदयतोवात्मा उपजायते अमो जीवः चाग्निमोहाग्रयं समाश्रयो जायते । यस्य जीवस्य नात्र
कोषादिकृपायाणाम् उदयास्तौघ उत्कटः भवति स चाग्निमोहकर्मणः समाश्रयः अवच्छेदनं भवति । ततश्च स
जीवः व्रतादिपालने समर्थो न भवति । तस्मिन् हिंसादिपापसमर्थो भवति ॥३३३॥

२६ अहिंसाप्रज्ञावच्छोकना नाम पञ्चविंशः कल्पः

[पू० १४३ १४९] अथ के ते उत्तरगुणा—उत्तरे मुमुक्षुनामन्तरं धम्मत्वापुत्तुहत्वाच्च ते य ते गुणाश्च
 उत्तरगुणा के ते इति प्रश्ने उत्तरमाह—अणुप्रदानाति—अणुचैव अणुप्रदानि विप्रचर विविधं पुनश्च ॥
 अत्पारि सिद्धाप्रदानि एवं हास्य उत्तरे गुणा स्युः । गुणाश्च अणुप्रदानाम् उपकाराम प्रतं गुणवर्ण विमिर
 एवादीनाम् अणुप्रदानानुद्दिगार्थत्वात् । सिद्धाप्रदानम्—सिद्धासौ धम्मसाय व्रतं देवावकासिकादीनां प्रतिविद्यताम्
 सनीयत्वात् । अतएव गुणप्रदानस्य भेदः । गणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाह । अथवा सिद्धा विद्योपार्जनं
 सिद्धाप्रदानं व्रतं सिद्धाप्रदानम् । देवावकासिकादेविष्टिष्टपूठज्ञानभावनापरिणतत्वेन निर्वाह्यत्वात् ॥११॥
 तत्र—हिंसास्तेयेति—हिंसायाः प्राणिन्यस्य वैद्यतं स्तुत्येन नष्टजीवनस्य विनिग्रहो विरतिस्तथा इति
 प्रथमम् अणुप्रदानम् । स्तेयस्य वैद्यतो विनिग्रहः अणुप्रदानं वैद्यतो विनिग्रहः अणुप्रदानो वैद्यतो विनिग्रहः तथा
 परिग्रहाया वैद्यतो विनिग्रहः एतां पञ्चाणुप्रदानि प्रचक्षते क्वाप्ति ॥१२॥ प्रत्यक्षं कल्पम्—संकल्पति—
 धेनो स्वहारताम्प्रादीं संकल्पयुक्तं इदं इत्येतावत् काळं न सेविष्य इति मनसा धम्मप्रदानं कृत्वा नियम
 प्रतिज्ञा व्रतं स्यात् अथवा अहम् इहम् इहम् एतावत् काळं सेविष्याम्येति संकल्पेन नियम प्रतिज्ञा व्रतं स्यात् ।
 अथवा संकल्पसंभवा प्रवृत्तिर्वाते स्यात् । किं विच्छिद्य संकल्पपूर्विका शुभकर्मणि पापदामादिके संभवा मत्वा
 ता । अथवा असंकल्पसंभवा निवृत्तिवत् स्यात् हिंसादिकम् असंकल्पं कृत्वाप्राप्तिः विरति संकल्पपूर्विका
 एवं वक्तव्य स्वकल्पम् ॥१३॥ हिंसादिक्यो विपत्तिर्गुणतो अथ परमेति बोध्यते—हिंसायामिति—
 हिंसायाम्, अणुते असत्यमापये नीचां स्तेये अणुप्रदानि मेषुन परिग्रहे मत्वा अथैव विपत्तिर्द्वा अथवापरि
 क्लेशादिक्या । परम परलोके नरकाद्यो दुर्गतिरभ्यते ॥१४॥ हिंसाहिंसयो स्वकल्पमाह—यदिति—
 यस्मात् प्रमादवापेन कथायावेतेन अनवधानतया इन्द्रियाणां प्रचारमनवधानं वा । प्राणिषु प्राणहान्यम् इति
 मादयो वृथाप्राणां तेषां यथासंभवं व्यपरोपणं विनोदकरणं हिंसेत्यभिधीयते । तेषां प्राणानां रक्षणम् अहिंसा ता
 सता मनीनां माय्या ॥१५॥ विच्छेदिति—स्वीकृतावयववत्तत् । अस्यापि इन्द्रियाणि पञ्च । कथमावयवत्तार
 जीवमानमात्राकोमा । निद्रा प्रथमवत् । एषाम् अभ्यासे पुन पुनरावर्तने एतां वस्तु प्रसक्तं परिकीर्तितं प्रति
 पाठितं ॥१६॥ अहिंसाव्रतमाह—इत्येतेति—वैद्यतायै अतिक्रमे पितृभ्यः मत्वाय भोवधम्म भवान् य
 सर्वान् जीवान् न हिंस्यात् न वातयेत् । अहिंसा नाम तद्ब्रतं भवत् ॥१७॥ गृहकार्याजीति—सर्वाणि गृह-
 कार्याणि वैयव्यविकानि पञ्च बुद्धिपूतानि बुद्ध्या सम्महनिरीक्षितानि कारवत् । सर्वाणि ब्रह्मण्यानि अणुप्रदान-
 टीकादीनि पटपूतानि अस्त्रपाणिनां जीववत् पालाविषयम् ॥१८॥ आसन्नमिति—आसन्नं पीठम् अन्नं
 धम्म्या मार्गं पत्तापम अन्नम् जीवनादिकम् अणुप्रदानं यत् वस्तु तत् अणुप्रदानं बुद्ध्या लब्धीयते न वैद्यते नोपयुज्यमात् ।
 यथाकाळं अन्नमपि यस्मिन्काळे यथासमाधिकं धेनोते तत् बुद्ध्या सम्मन्वीक्ष्य धमेत् तथा च हिंसाभोपत्यसौ न भवेत्
 विपदादिकप्राप्तिर्वा न भवेत् ॥१९॥ दूर्जेनेति—जीवनान्तरायान् विद्वानिति—दूर्जेनेत्यादि—दार्शनत्ववत्
 धीविता स्वर्णत्ववत्तद्विज्ञाता संकल्पवत्तद्विज्ञाता संसर्गवत्तद्विज्ञाता हिंसनाश्रयप्रदायाः प्राणप्रत्युत्पन्नकारका
 आर्धवर्मास्त्रिमुद्रामासाक्षरपूयानां वर्तनप्रसूतिभेन अन्नं बुद्ध्या स्पृष्ट्वा च तात्कालिकाहारस्त्वकल्पः । इदं
 दार्शनत्ववत्तद्विज्ञाता । एतद्विज्ञानमोक्षिता वैद्यम्—रक्षकता स्त्री धुक्के चर्मास्त्रिणी धुनकमाजीववत्तद्विज्ञाति
 स्पृष्ट्वा आहारस्त्वकल्पः । संकल्पवत्तद्विज्ञाता—इदं भुज्यमानं वस्तु शानं साधुस्मात् इदं चिरम् इह-
 मस्मि अथ सर्प इत्यादिकेन मनसा भोष्यवस्तुनि विप्रत्यमाने अन्नं रवेत् । संसर्गवत्तद्विज्ञाता—हिंसा
 चतुरिन्द्रियमात्रिभिः अन्ने संगृह्यते भोग्यवत्तद्विज्ञाता वस्तुवत्तद्विज्ञाता जीवद्भिः मर्त्यैर्बहुमिस्त्रिचतुरादिभिः भुज्यते
 अन्नं रवेत् । तथा त्रिनताश्रयप्रदायाः अतिवर्धस्वरम् अन्नं यस्मिन् इति इत्यादिकपम आश्रयनि स्वं
 इहरेयाधार्तस्वस्वनां विद्वद्वरायामि स्वनम् परवत्तद्विज्ञाता जीवद्भिः मर्त्यैर्बहुमिस्त्रिचतुरादिभिः भुज्यते प्राव-
 द्यतेन निदमितं प्रत्यावर्तनी वस्तु भुज्यता अन्नं त्यक्तव्यम् । एवं प्राणप्रत्युत्पन्नकारका जीवनान्तरायकारका
 आश्रय्या ॥२०॥ धर्माप्रसंगेति—नहिंसा यथावत्तद्विज्ञाता अन्तरायान् भुज्यतेन भुज्यतेन भुज्यतेन भुज्यतेन ।
 किञ्च स्मृता धर्माप्रसंगेति धर्माप्रसंगेन विद्वानिन्द्रियैर्बहुमिस्त्रिचतुरादिभिः भुज्यतेन भुज्यतेन भुज्यतेन ।

एकस्मिन्निति—उत्साहशालिना पुमा मनस एकस्मिन् कोणे अनायासेन चतुर्दशभवनानि समान्ति । उत्साहेन शोभमानानाम् उद्यमिना नराणा मनस एकस्मिन् विभागे अनायासेन विना परिश्रम चतुर्दशभवनानि समान्ति । अर्थात् मनस तादृशी शक्तिरस्ति यया चतुर्दशभवनान्यपि ज्ञायन्ते । अथवा चतुर्दशभवनाना स्वरूप दर्पणतले यथा पुरत स्थित सकलोऽपि वस्तुनिवहो दृश्यते तथा प्रतिभाति । अत लोकोक्तिरिय सत्येति ज्ञातव्या ॥३४६॥ तूणादीनामपि हिंसन यावता निज प्रयोजन सिद्ध्येत्तावदेव कुर्यात् इति कथयति—भूपेति—भुव भूमे पयसो जलस्य पवनस्य वायो अग्नेश्च तथा तूणादीनाम् आदिशब्देन वल्लीगुल्मतर्वादीना हिंसन तावदेव कुर्यात् यावता स्वस्य कार्यं स्यात् कोऽसौ कुर्यात् अय गृहस्थ । कथम् अजन्तु यत् यत्र स्थाने त्रसा न सन्ति तस्मात्स्थानाद् गृहीतव्य जलतूणादिकमिति भाव ॥३४७॥ ग्रामेति—ग्रामस्वामिस्वकार्येषु ग्रामकार्यं सकल-जनाना यत् कार्यं तस्मिन् राज्ञा नियुक्त गृहस्थ यथालोक लोकस्यानतिक्रमेण लोकानुसारेण कुर्यात् एव स्वामिकार्यं निजप्रमुणा आदिष्टम्, स्वकार्यं च लोकानुसारेण कुर्याद्वा यो य आलोक आप्तोपदेशप्रकाशस्तेन तेन तत्तत्कार्यमाचरेत् इति ग्राह्यम्, यत अत्रास्मिञ्जगति गुणदोषविभागे लोक एव गुरुज्ञातिव्यः ॥३४८॥ दर्पणेति—दर्पेण इन्द्रियमदेन प्रमादाद्वा कपायावेगवशतया वा । द्वोन्द्रियादिविराघने द्वोन्द्रियादिप्राणिविनाशने यथादोष दोषमनतिक्रम्य यथागमम् आगम प्रायश्चित्तशास्त्रम् अनुसृत्य प्रायश्चित्तविधिं कुर्यात् ॥३४९॥ प्रायश्चित्तनिरुक्तिमाह—प्राय इति—लोक प्राय इत्युच्यते प्राय इति शब्दो लोकस्य वाचक । तस्य लोकस्य चित्त मन उच्यते । एतस्य मनस शुद्धिकर कर्म तप अनशनादिक प्रायश्चित्त प्रचक्षते आख्यान्ति । योऽपराधी जन प्रायश्चित्त करोति तस्य मनसस्तत्करणाच्छुद्धिर्जायते अन्ये च ये सधर्माणि सन्ति तेषामपि मनस सतोषोत्पादनं भवति, प्रायश्चित्त गृह्णतो जनस्य पुनरकार्यं प्रवृत्तिर्न भवति । जिनाज्ञा च प्रतिपालिता भवति ॥३५०॥ राज्ञा प्रायश्चित्तस्य दातार—द्वादशेति—आचारादिद्वादशाङ्गश्रुतधारकोऽपि एक गुरु कृच्छ्र प्रायश्चित्त दातुं नार्हति तस्माद्बहुश्रुतज्ञा त्रिद्वाम प्रायश्चित्तप्रदाने अधिकारिणो मता । एको विद्वान् देशकालादिसकलावस्थाना विमर्शं कर्तुं न प्रभवति अत विशिष्टप्रायश्चित्तदाने आचार्यो बहूना विदुषामभिप्रायस्य सम्यगालोचनं कृत्वा, प्रायश्चित्त दातुं समर्थो भवति ॥३५१॥ येन साधनेन दुष्कृतं कृतं तेनैव तस्य विनाश कार्य इत्याह—मनसेति—मनसा चित्तेन, कर्मणा हस्नपादादिना शरीरेण, वाचा च परुषया दुरभिप्राययुतया यद्दुष्कृतमधम् उपाजितं सचित्तं तत् तेनैव मनसा कर्मणा वाचा विशुद्धाभिप्रायतया तद्दुष्कृतं तत्पापं तथैव विहापयेत् विनाशयेत् ॥३५२॥ योगस्वरूपं निगदति—आत्मदेशेति—आत्मन प्रदेशानां परिस्पन्द कम्पनं योग इति स योगविदा योगमार्गणास्वरूपस्य ज्ञातृणा मतं अभिमत । स च मनोवाक्कायत जायते मनसा आत्मप्रदेशानां कम्पने जातो योग मनोयोगसज्ञा लभते । वचसात्मप्रदेशकम्पनं वचोयोग, कायेन जीवप्रदेशश्चञ्चलता भवति तदा काययोगो जायते । इति त्रियोगा पुण्यपापास्रवाश्रया पुण्यास्रवकारणत्वात् शुभयोगत्रितयम् । पापास्रवकारणत्वादशुभ-योगत्रितयमुच्यते ॥३५३॥ अशुभयोगत्रितय क्रमशो दर्शयति—हिंसनात्रह्यचौर्येति—हिंसन प्राणिबध अन्नह्य मैथुनसेवनम्, चौर्यादिकं च काये शरीरे कर्म अशुभं विदुः । अशुभं पापोत्पादकम् । असत्यम् असम्य सम्यजनायोग्यम्, पारुष्यं कर्कशम्, इत्यादि वचनविषयं कर्म अशुभवाग्योगयुक्तं ज्ञायताम् ॥३५४॥ मदेर्ष्येति—मदो गर्व, ईर्ष्या द्वेष, असूया परगुणमहनम् आदिशब्देन रागादयो विकारा एतत्सर्वं मनोव्यापाराश्रितम् अशुभमनोयोगसङ्गमुच्यते । एतद्विपर्ययात् हिंसनादेर्विपर्ययात् असत्यामभ्यादेर्विपर्ययात् मदेर्ष्यासूयनादेर्विपर्ययात् शुभं कायवाङ्मनोगतं कर्म ज्ञेयम् ॥३५५॥ तत्पुन पापम् एतेषु हिरण्यादिदानेषु दत्तेषु न शाम्यतीति कथयति—हिरण्येति—हिरण्यं सुवर्णं पशुर्धेनवादिकं भूमिं सम्योत्पत्तिक्षेत्रम् कन्या प्रसिद्धा शय्या तत्पम् अन्नम् ओदनादिकम्, वासासि वस्त्राणि, एतेषां वस्तूनां दाने अन्यैश्च पदार्थेन पापम् उपशाम्यति । पापनाशने एतानि विधि हस्तपादमर्दनादिकम् अकिञ्चित्कर्म रोगहरणोपशमम् । तथा पापेऽपि दानादिकं मन्यताम्, तेन पापापायो न भवति ॥३५६-३५७॥ निहत्येति—मनोवाग्देहदण्डनं मनोनिग्रहं कृत्वा, भाषानिग्रहं विधाय, देहनिग्रहं च कृत्वा सकल पापं निहत्य विनाश्य, तत् दानपूजादिकं कर्म व्रतिकं करोतु ॥३५८॥ प्रत्याख्यानं विधाय

[पृष्ठ १५०-१५१] अहिंसाविगुणसाधाय मैत्र्याहिमाहमाभ्यां च काय—मैत्रीति—मैत्रीयमेव
 कायमाभ्यामभ्यामि यथाक्रमं । स एव पुनार्थिके निष्कण्टे निर्गुणेऽपि च भावयत् । मैत्र्यादीनां सत्त्वादीनां च रूपयो
 रैक्यं स्वयं जल्पकारः पण्यतया कथयति ॥११४॥ कायेनेति—कायेन धारीरण मनसा भावा च परे अथ
 स्मिन् सवस्मिन् देहिनि प्राणिनि अनुष्णजननी दुःखं कस्यापि याभूत् इति मनोज्ञतिः मैत्रीविद्या मैत्री विनि
 ज्ञानमिति इति मैत्रीविद्या तेषां मैत्री मया परेषां पुनानुत्पत्त्यभिमानो मैत्री संमता ॥११५॥ तपोगुणेति—
 तपसा अग्निं पुनैः सम्पन्नतनाभिधिरथ अग्निं गरीयसि पुनित् साधनिक जने । प्रयथापमनिर्मरः प्रयय विरम्य
 विनयो वा तस्य आधाय आचारः तत्र निर्मरः । पुनः आधायान मनोराय मनोमन्त्रिता प्रमोद । यत्नप्रदाह-
 दिमिरभिष्ययमानास्तभक्तिराग प्रभाह इति विबुधा मत् विबुधाना मत् संवत् ॥११६॥ वृत्तेति—
 जयदेवोद्योगपापविच्छेदा निरुपयमाना बीजाः तेषां बीजानाम् कम्पुद्धारये दारिद्र्यरोषादिपीडापनयन या
 बुद्धि संकल्पः उत्कारकम् । भाव्यस्वयस्य कक्षगणेहम्—निगुणारयनि तत्त्वार्थप्रवक्तृहृदयाम्भामयप्रावित्तुयो
 निगुणारमा तस्मिन् अग्निनेये हृषांनयोजितना कृतिर्मात्रस्य रावदेवरहितो मन स्वभाव उपेक्षाभावः माभ्यस्य
 मुष्यत् ॥११७॥ इत्यमिति—एवं मैत्र्याहिमानमोपेतस्य प्रयत्नमानस्य ईर्ष्याविद्यमिति तत्परस्य गृहस्त्वपि
 देहिनि स्वर्ग करस्यां कायते । अस्य गृहस्त्वस्य च तत्पर मुक्तिपर्वं हूर नास्ति एतौकमवैकम्येन एव तत् ॥११८॥
 दयावति तरे वारामाकाः—पुण्यमिति—पुण्यं तेज स्वकर्मणु, पापं दुष्कृतं तमोमयम् अन्धकारमस्य प्राहुः वनि
 विद्याः । तत्पापं दयादीर्षितमात्रिनि दयाक्या बीजितिमात्रा किरणमात्रा मस्य स दयादीर्षितमात्रा तस्मिन्
 दयादीर्षितमात्रिनि कृपारहिममिति पुरयस्ये तत्पाप किं तिष्ठेत् अपि तु तत्र पापं नैव तिष्ठेत् ॥११९॥ संति—
 मस्या क्रियाया हिंसा नैवास्ति सा क्रिया कापि इहलोके नास्ति परम् अथ क्रियायां मुक्त्यानुपपिन्ननी भावो
 विसिध्यते । यथा ह्यम प्राणिनं हिमन्तीति संकल्पो यत्र क्रियाया वर्तते सा विषय हिमामयी जायते । यथा च
 क्रिया भवति परं तथा साकं हिंसासंकल्प न विद्यते तत्र भीमो भया हिंसाया भवति अत एव स भाव आनु-
 पपिन्नो भव ॥१२०॥ हिंसकाहिंसकयो स्वकर्म—अनन्यमपि इति—स्वजन जन अन्तमपि प्राणिमत्तम्
 अनुपपिन्नोऽपि अहिम्यानविरोधेन हिंसासंकल्पेनैव पापी भवति । निष्पन्नमपि पापमात्रं न प्राणिनीया कुत्रोऽपि
 पापवान् न भवति । कर्मम् । प्राणिहिंसायाः जनेककृत्यात् । यथा बीजरः उत्तर्हिंसाध्यवसायवान् भवति अतः स
 अन्तमपि पापी स्यात् । कर्मकस्य जूमार्यवसमये बीजहिंसनम् अविचार्यं तथापि बीजहिंसासंकल्पेन स भूमि
 कर्म न प्रवर्तते अतः स पापमात्रं न भवति । कर्मकस्य अहिंसानविरोधः बीजमार्यवसंकल्पारहितो भवति ।
 बीजरस्य च अहिम्यानविरोधे तत्र संकल्पः सर्वथा विद्यते अतः अन्तमपि पापी भवत्येव ॥१२१॥ अहिम्यानविरोधे
 द्वितीयेन निर्दोशेन व्यनक्ति—कृत्यविदिति—बाधमात्रमस्तथा एकपात्रं दारातिष्ठति द्वितीयपात्रं माता
 तिष्ठति तयोर्मध्ये सतिविहस्य उपविहस्य तस्य वपुःस्पर्शाविरोधेऽपि तमनोर्जननीमार्यवोरप्यस्यै समानेऽपि दोषो
 तु निधिष्यते बुद्धिविषया मन्त्रयेन पुनस्तत्र ह्य माता मार्गममिति च मिश्रविषया बुद्धिर्बुद्धिस्तत्पते ॥१२२॥
 वक्रकृतम्—परिणाममेवेति—गुणका पञ्चिता कतु पुनःपापयो परिणाममेव अहिम्यानमव नारक वृत्ति ।
 तस्मात्पुण्योपभय सुमपरिणामेभ्यः मुक्तसंभवः सुविधेयः कार्य । तथा पापापचय पापायां दुरितानाम्
 अपचय हातिनिनाशः सुविधेयः करणीय ॥१२३॥ वपुषा इति—वपुः धारीरस्य । वपुः मायमस्य वा
 गुणाकारा अनुमाकारा या क्रिया भवति सा किमस्तेव वस्तुषु स्वरूपधार्येण ज्ञेयैव भवेत् । मुदपत् नैव मरेत् ।
 गुरुमस्तुपु तथा गुणेषु वक्ष्यः प्रवृत्ति धारीरस्य च नैव भवति । अत आत्मा वपुः विरोधतो मया विमर्शित ।
 या काचन धुमाम् बहुमा वा धनुर्ति वपुर्धननी कुवता मया अवसाम्यैवेति ज्ञेयम् । विना विमर्शं ते तां कर्तुं न
 शक्ते अतः अत मनोविवरकियानु तत्र प्रयत्नः साधनानो भवेत् । यतः सा क्रिया भवति सा लोकवितपादपि
 महत्तर जायते । तथा गृहदिमन्त्रये जायते । अतः मन क्रियासु विवेकैव ज्ञानमप्यथा मद्रान् धारय
 स्यात् ॥१२४॥ क्रियाच्यत्रिति—विरहस्तेव वस्तुषु आनुपम्यारसु गुणेषु हिमादिभ्यगुणेषु या वाचिनी वच-
 त्वाचिनी वा क्रिया भवति सा ज्ञेयैव भवति नर । यतः सा क्रिया भवति न लोकवितपादपि महत्तर
 आत्माने तथा एकस्मिन् शक्ते आत्मे । अत यमजिमानु विवेकेन मायमन्त्रया मद्रान् धारय स्यात् ॥१२५॥

एकस्मिन्निति—उत्साहशालिना प्सा मनस एकस्मिन् कोणे अनायासेन चतुर्दशभवनानि समान्ति । उत्साहेन शोभमानानाम् उद्यमिना नराणा मनस एकस्मिन् विभागे अनायासेन विना परिश्रम चतुर्दशभवनानि समान्ति । अर्थात् मनस तादृशी शक्तिरस्ति यया चतुर्दशभवनान्यपि जायन्ते । अथवा चतुर्दशभवनाना स्वरूप दर्पणतले यथा पुरत स्थित सकलोऽपि वस्तुनिवहो दृश्यते तथा प्रतिभाति । अत लोकोक्तिरिय सत्येति ज्ञातव्या ॥३४६॥

तृणादीनामपि हिमन यावता निज प्रयोजन मिद्व्येत्तावदेव कुर्यात् इति कथयति—भूपेति—भुव भूमे पयसो जलस्य पवनस्य वायो अग्नेश्च तथा तृणादीनाम् आदिशब्देन वल्लीगुल्मतर्वादीना हिंसन तावदेव कुर्यात् यावता स्वस्य कार्यं स्यात् कोऽसौ कुर्यात् अय गृहस्थ । कथम् अजन्तु यत् यत्र स्थाने त्रसा न सन्ति तस्मात्स्थानाद् गृहीतव्य जलतृणादिकमिति भाव ॥३४७॥

ग्रामेति—ग्रामस्वामिस्वकार्येषु ग्रामकार्यं सकल-जनाना यत् कार्यं तस्मिन् राज्ञा नियुक्त गृहस्थ यथालोक लोकस्यानतिक्रमेण लोकानुसारेण कुर्यात् एव स्वामिकार्यं निजप्रमुणा आदिष्टम्, स्वकार्यं च लोकानुसारेण कुर्याद्वा यो य आलोक आप्तोपदेशप्रकाशस्तेन तेन तत्तत्कार्यमाचरेत् इति ग्राह्यम्, यत अथास्मिञ्जगति गुणदोषविभागे लोक एव गुरुज्ञातव्यः ॥३४८॥

दर्पणेति—दर्पेण इन्द्रियमदेन प्रमादाद्वा कपायावेशवशतया वा । द्वीन्द्रियादिविराधने द्वीन्द्रियादिप्राणिविनाशने यथादांष दोषमनतिक्रम्य यथागमम् आगम प्रायश्चित्तशास्त्रम् अनुसृत्य प्रायश्चित्तविधिं कुर्यात् ॥३४९॥

प्रायश्चित्तनिश्चितमाह—प्राय इति—लोक प्राय इत्युच्यते प्राय इति शब्दो लोकस्य वाचक । तस्य लोकस्य चित्त मन उच्यते । एतस्य मनस शुद्धिकर कर्म तप अनशनादिक प्रायश्चित्त प्रचक्षते आख्यान्ति । योऽपराधी जन प्रायश्चित्त करोति तस्य मनसस्तत्करणाच्छुद्धिर्जायते अन्ये च ये सधर्माणि सन्ति तेषामपि मनस सतोपोत्पादनं भवति, प्रायश्चित्तं गृह्णतो जनस्य पुनरकार्यं प्रवृत्तिर्न भवति । जिनाज्ञा च प्रतिपालिता भवति ॥३५०॥

प्राज्ञा प्रायश्चित्तस्य दातार—द्वादशेति—आचारादिद्वादशाङ्गश्रुतधारकोऽपि एक गुरु कृच्छ्र प्रायश्चित्तं दातुं नार्हति तस्माद्बहुश्रुतज्ञा विद्वान् प्रायश्चित्तप्रदाने अधिकारिणो मता । एको विद्वान् देशकालादिमकलावस्थाना विमर्शं कर्तुं न प्रभवति अत विशिष्टप्रायश्चित्तप्रदाने आचार्यो बहूना विदुषामभिप्रायस्य सम्यगालोचनं कृत्वा प्रायश्चित्तं दातुं समर्थो भवति ॥३५१॥

येन साधनेन दुष्कृतं कृतं तेनैव तस्य विनाश कार्य इत्याह—मनसेति—मनसा चित्तेन, कर्मणा हस्नपादादिना शरीरेण, वाचा च परुषया दुरभिप्राययुतया यद्दुष्कृतमधम् उपाजितं सचित्तं तत् तेनैव मनसा कर्मणा वाचा विशुद्धाभिप्रायतया तद्दुष्कृतं तत्पापं तथैव विहापयेत् विनाशयेत् ॥३५२॥

योगस्वरूपं निगदति—आत्मदेशेति—आत्मन प्रदेशानां परिस्पन्द कम्पन योग इति स योगविदा योगमार्गणास्वरूपस्य ज्ञातृणा मत अभिमत । स च मनोवाक्कायत जायते मनसा आत्मप्रदेशानां कम्पने जातो योग मनोयोगसज्ञा लभते । वचसात्मप्रदेशकम्पन वचोयोग, कायेन जीवप्रदेशचञ्चलता भवति तदा काययोगो जायते । इति त्रियोगा पुण्यपापास्त्रयाश्च पुण्यास्त्रकारणत्वात् शुभयोगत्रितयम् । पापास्त्रकारणत्वाद्शुभ-योगत्रितयमुच्यते ॥३५३॥

अशुभयोगत्रितयं क्रमस्यो दर्शयति—हिंसनाब्रह्मचौर्येति—हिंसन प्राणिबधं ब्रह्म मैथुनसेवनम्, चौर्यादिकं च काये शरीरे कर्म अशुभं विदुः । अशुभं पापोत्पादकम् । असत्यम् असम्य सभ्यजनायोग्यम्, पाश्व्य कर्कशम्, इत्यादि वचनविषय कर्म अशुभमाग्योगयुक्तं जायताम् ॥३५४॥

मदेर्ष्येति—मदो गर्व, ईर्ष्या द्वेष, असूया परगुणामहनम् आदिशब्देन रागादयो विकारा एतत्सर्वं मनोव्यापाराश्रितम् अशुभमनोयोगसज्ञमुच्यते । एतद्विपर्ययात् हिमनादेर्विपर्ययात् असत्यामभ्यादेर्विपर्ययात् मदेर्ष्यासूयादेर्विपर्ययात् शुभं कायवाङ्मनोगतं कर्म ज्ञेयम् ॥३५५॥

तत्पुन पापम् एतेषु हिरण्यादिदानेषु दत्तेषु न शाम्यतीति कथयति—हिरण्येति—हिरण्यं सुवर्णं पशुर्वैवादिक् भूमिं सस्योत्पत्तिक्षेत्रम् कन्या प्रसिद्धा शय्या तलत्रम् अन्नम् ओदनादिकम्, वासांसि वस्त्राणि, एतेषां वस्तूना दानं अन्यैश्च पदार्थेन पापम् उपशाम्यति । पापनाशने एतानि विधि हस्नपादमर्दानादिकम् अकिञ्चित्करम् रोगहरणोऽन्नमम् । तथा पापेऽपि दानादिकं मन्यताम्, तेन पापापायो न भवति ॥३५६-३५७॥

निहृत्येति—मनोवाग्देहदण्डनं मनोनिग्रहं कृत्वा, भाषानिग्रहं विधाय, देहनिग्रहं च कृत्वा मकल पापं निहृत्य विनाश्य, तत दानपूजादिकं कर्म व्रतिकं करोतु ॥३५८॥

प्रत्याख्यानं विधाय

[पृष्ठ १५०-१५५] अहिवादिवृत्तसामाज्य मीमादिमाकनाम्नात् कार्त्त—मैत्राति—मैत्राशोर
 कास्म्यमाध्यस्यानि यथाकर्म । सत्यं गुणाधिकः क्लृष्ट निर्गुणश्चि व भावयत् । मीमाशोनां सत्ताशोनां च इमयो
 वैपद्यं स्वयं ग्रन्थकारः पद्यवत्तया कथयति ॥१३४॥ कृत्यनेति—वाचनं शरीरेण मनसा वाचा च पर क्लृ-
 स्मिन् सवस्मिन् देहिनि प्राप्तिनि अदुःप्राप्तनी दुर्भा कम्पायि मामूत् इति मनोवृत्तिः मैत्रोविवा मैत्री विवर्ति
 जानन्ति इति मैत्रीविश तथा मैत्री मता परेषां दुःखानुदास्यमित्तायो मैत्री संभवता ॥१३५॥ तपोगुण्यति—
 तपसा ब्रह्मके पुनै सम्मन्यतानादिभिश्च अधिकं शरीरयति वृत्तिं साधर्मिके जग । प्रथमाध्यात्मिभर प्रथम विज्ञानो
 विज्ञानो वा तस्य आत्मय आचार संन निभरः पूजः वाचमान मनोरायः मनोमन्त्रि प्रमोह । वदन्प्रना-
 विमिरमित्यस्यामानात्तर्कविश्रया प्रमोह इति विदुषां मत् विमुक्तानां मत् संनत ॥१३६॥ वृत्तेति—
 वसन्ते सोदवापादिनवसेसा विज्ञापयमाना बीजाः तपां बीजानाम् अन्तुष्टाय वाटिष्ठयोमादिरीडापनयन वा
 पुटि संनतः तस्कास्म्यम् । माध्यम्यस्य स्व स्वयममेवम्—निगुणारमि तत्कार्यवचनप्रदनाम्यमगुणानिगुणा
 निर्गुणारमा तस्मिन् अविनय हर्षमप्योस्तिता वृत्तिमप्यस्य रावद्वेपरहितो मन स्वमात्र लोप्याभावाः माध्यम्य-
 मुच्यते ॥१३७॥ कृत्यमिति—एवं मीमादिमाकनोपेतस्य प्रयत्नमानस्य ईर्ष्यादिमिति तत्परस्य गृहस्वस्यापि
 देहिनि स्वयं करतो वायते । अस्य गृहस्वस्य च तस्य मुक्तिपरं दूर नास्ति स्तोत्रमईर्मन्त्रेय एव तत् ॥१३८॥
 वचावति नरे पापाभावा—पुण्यमिति—पुण्यं तेन स्वकथम् पापं दुष्टं तमोभवम् अन्वकारमवम् मादृष्ट इति
 विज्ञातः । तत्पापं दयावोचितमिति दयाक्या वीचिदिमाका किरणमात्रा मय्य स दयावीचिदिमाको तस्मिन्
 दयावीचिदिमामिनि कृपादिममति पुण्यसूयं तत्पाप किं तिष्ठेत् अपि तु तत्र पापं नैव तिष्ठेत् ॥१३९॥ सेति—
 यस्या क्रियाया क्रिया नैवास्ति सा क्रिया कापि इहलोक नास्ति परम् अत्र क्रियायां मुक्तागुपङ्गुको वाची
 विधिष्येते । यत्र इम प्राप्तिनं हिमस्मीति सकस्या यत्र क्रियाया वर्तते सा क्रियैव हिमामयी ज्ञायते । यत्र च
 क्रिया भवति परं तत्र सा कं हितासंक्रय न विद्यते तत्र वीचा वाचा हिमाया भवति अथ एव च वाचः आनु
 पङ्गुको ज्ञय ॥१४॥ हिंस्रहाहिंस्रको स्वकथम्—अनतकपि इति—कथनं वन अथनपि प्राविहारकम्
 अङ्गुर्वाजोऽपि अविद्यामविद्योपेक्ष हितासंक्रयेनैव पापी भवेत् । मिथ्यनपि पापभाक् न प्राणिपीडा कुर्वाकोऽपि
 पापभाक् न भवति । कथम् । प्राणिहिताया अतस्त्वनानात् । यत्र वीचट, सतगहिताध्यवसायकाम् भवति ज्ञयः ।
 अथनपि पापी स्नात् । कथकस्य सुमिर्नयनमने वीचहिंस्रम् अविनायं तत्रापि वीचहिंस्रसंक्रयेन स सुमि-
 कर्त्तवे न प्रवर्तत अतः स पापभाक् न भवति । कथकस्य अविद्यामविद्योपेक्षः वीचमारभसंक्रयपरहितो भवति ।
 वीचरस्य च अविद्यामविद्योपेक्ष तद्वचसंक्रयः सर्वथा विद्यते अथ अथनपि पापी भवत्येव ॥१४१॥ अविद्यामविद्योपेक्षं
 द्वितीयेन निर्देशेन अतस्मिन्—कस्म्यचिदिति—आरागातारमगुण एकापार्त्तं आरासिष्ठन्ति द्वितीयापार्त्तं नाता
 तिष्ठन्ति तमोर्मये समिविहस्य उपविहस्य तस्य वपुःस्पर्धाविशेषैश्च अमयोर्बलनीमार्गसोरङ्गस्वयं समानेऽपि अमोपी
 तु विधिष्यते बुद्धिविद्योपेक्ष भवत्येव पुण्यत्वेन इयं माता मार्गमिति च मिश्रविषया बुद्धिर्गुण्युत्पद्यते ॥१४२॥
 वपुस्तन्—परिणाममेवेति—बुद्ध्या पण्डिता बहू पुण्यपापयो परिणाममेव अविद्यामनैव वारम् भवति ।
 तस्मात्पुण्यपचम सुखपरिणामेभ्य दुःखसंभवः सुविशेषः कायः । तथा पापापचम पापानां दुःखितानाम्
 अपचम हातिनिनासा सुविशय करणीय ॥१४३॥ वपुः इति—वपुः शरीरस्य । वचसः भावयन्त वा
 सुमावाच अमुमावाच या क्रिया भवति सा क्रियत्येव वस्तुपु स्तुत्यवार्थेण क्रमेणैव भवेत् । सुवपुः नैव भवेत् ।
 सुवभवस्तुपु तथा वपुः वचसः प्रवृत्तिः शरीरस्य च नैव भवति । अत्र आत्मा पूरक विद्येयता मता विवर्ति ।
 वा काचन सुमाम् बहूमा वा प्रवृत्ति वपुर्वचसी कुवस्तता मत् व्यवस्थैवेति ज्ञेयम् । निना चितं ते ता कर्तुं न
 क्षमे अतः अत्र मनोविषयक्रियाषु नरः प्रयतः साधनानो भवेत् । मग्नो या क्रिया भवति सा ओकचित्पावति
 महत्तरा जायते । तथा एकस्मिन्क्षणे जायते । अतः यत्र क्रियासु विवेकैः माध्यम्यवत्ता महान् पापवन्त
 स्यात् ॥१४४॥ क्रियावन्त्रेति—क्रियत्येव वस्तुपु वागपुत्रादिषु गुणेषु हिताविश्वसुभेषु या काचिद्री वच-
 सवन्निनी वा क्रिया भवति सा क्रियैव भवति परं । अनतो या क्रिया भवति स ओकचित्पावति महत्तरा
 जायते तथा एकस्मिन् क्षणे जायते । अतः यत्राक्रियासु विवेकैः माध्यम्यवत्ता महान् पापवन्त स्यात् ॥१४५॥

आसाद्य । स्मृतयत आद्यो मत्स्यो न हन्तव्य इति गृहीतव्रतस्य स्मरणं मृगसेनस्याजायत । तस्य मत्स्यस्य श्रवसि कर्णे चित्वाय चोरचोरि वस्त्रखण्ड वस्त्रस्य दशा निवध्य तम् अत्यजत् । पुन अपरावकाशे अन्यस्थाने । तोरिणोप्रदेशे नद्या प्रदेशे । तथैव अदूरतरगर्भा समोपतरसुख, समावर्तितकर्मा कृतजालक्षेपण । तमेव अपदक्षीण मत्स्यम् अक्षीणायुषम् अनष्टजोवितम् अवाप्य लब्ध्वापि अमुञ्चत् । तस्मात् एतस्मिन् अनणिष्ठे अलघिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पाठीनेषु मत्स्येषु वरिष्ठे महिष्ठे, पञ्चवार जाले लग्ने पतिते विपदमग्ने सकटेन अमग्ने अस्पृष्टे मुच्यमाने त्यज्यमाने सति, गभस्तिमाली सूर्य अमृतमस्तकमध्यास्त अस्ताचलशिखरमध्यारोहत । कथभूत सूर्य । घनघुसृणेति—घन विपुल यत् घुमूण काश्मीरजम्, तस्य रसेन अरुणिता लोहितवर्णा या वरुणपुरस्य पुरन्ध्रय सुचरिता म्रिय तासा कपोला गण्डा तेषां कान्तिरिव कान्तिस्तया घालते शोभते इति । तदनु तदनन्तरम् । गृहीतव्रतस्यापरित्यागात् ह्लादमानज्ञान मृगसेनम् अवामिकलोकात् व्यतिरिक्तम् अन्यम् । रिक्ताम् अप्राप्तमौनम् आयात परिच्छिद्य ज्ञात्वा । अतुच्छो महान् कोप क्रोध अपरिहार्यस्त्यक्तुमशक्यो यस्या तथाभूता तद्भार्या मृगसेनस्य जाया घण्टास्या । यमघण्टेव किमपि कर्णकटु श्रोत्रपरुष ववणन्ती भुवाणा । कुटीरान्त श्रितशरीरा उटजस्यान्त मध्ये आश्रित शरीर देहो यस्या मृगसेन निरुद्धान्त प्रवेश कृत्वा स्वयम् उटजे स्थितेति भाव । निर्विवर निश्छिद्रम् अरर कपाट निरुध्य अस्यात् अतिष्ठत् । मृगसेनोऽपि तया प्रतिशब्दसदनप्रवेश तन्मन्त्रस्मरणसक्तचित्त पञ्चविंशदक्षरपवित्रस्य णमोकारमन्त्रस्य स्मरणे चिन्तने निरत- हृदय , पुराणतरतश्चित्त जीर्णतरद्रुमस्य शकलम् उच्छीर्षे विधाय सान्द्र निविड निद्रायन् स्वपन्, एतत्तुभित्ता- म्यन्तरविनि सृतेन उच्छीर्षीकृतस्य द्रुमखण्डस्य अन्तश्छिद्राद् बहिरागतेन सरीमृपसुतेन भुजगतनयेन दष्ट । कष्टम् अवस्थान्तर मरणदशाम् आविष्ट प्राप्त । व्युष्टमये प्रभातकाले घण्टया दष्ट । पुनरनेन सार्धं सह उपवृद्धमध्यानुमोचितेति—उपवृद्धोऽग्नि तस्य मध्ये पतितशरीरानन्तरम् अनुमोचित त्याजित स्वनिश्चयेन स्वदेहो यया । आत्मनि विहितबहुनिन्दया स्त्रस्मिन् कृतवद्गृह्णया । शोचितश्च शोकविषयं नीत । तत “सा यदेवास्य व्रत तदेव समापि । जन्मान्तरे अपि चायमेव मे पति भूयात्” इत्यावेदितनिदाना इति प्रकटीकृतभावि- पतिस्नेहा । समित्समिद्धमहसि समिद्धि काष्ठे समिद्ध प्रवृद्ध महस्तेज यस्य तस्मिन्, द्रविणोदसि अग्नी हव्यसमस्नेहम्, हव्येन देवेभ्यो दीयमान द्रव्य हव्य धृत तेन सम स्नेहो यस्मिन् त देह धृतवत्स्निग्ध सा जुहाव अजुहोत् अग्निसात् चकार । अथ विलासिनीति—विलासिनीना शृङ्गाररसप्रियाणा स्त्रीणा विलोचनान्येव नेत्राण्येव उत्पलानि कमलानि तै पुनरुक्ता वन्दनमाला तोरणमाला यस्याम् । विशालाया पुरि उज्जयिन्या नगर्याम् । विश्वगुणामहादेवोऽश्वरो विश्वगुणानाम्या महादेव्या पति विश्वभरो विश्व विभक्ति इति विश्वभरो जगत्पालक विश्वभरो नाम नृपति । घनश्रीपति घनश्रिया पति, दुहितु कन्याया सुवन्धोः पिता च सुवन्धुनाम्या कन्याया पितेत्यर्थ । गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्यप्रीति- प्रपापालिकायाम् एतस्या कुलपालिकायाम्, गुणपालस्य मनोरथा एव पान्या पथिका तेषां प्रीते प्रपा पानीय- शालिका तस्या पालिकाया रक्षिकायाम् । एतस्या कुलपालिकाया कुलीनपत्न्याम्, अनेन मृगसेनेन समापन्न- सत्त्वाया समापन्न प्राप्त सत्त्वो जीवो यस्या सा एवभूताया गमिण्या जातायाम् इत्यर्थ । असौ वसुधापति वसुधाया भूमेः पति राजा विश्वभर विटकषाससृष्टतया विटा जारा तेषां कथा ताभि ससृष्टतया संसर्गं प्राप्तत्वात् प्रतिपन्नपारुचजनीनभाव पञ्चभिर्भूतैर्जन्यतेऽमौ पञ्चजन पञ्चजनाय द्वितो भाव पारुचजनीनभाव प्रतिपन्न स्वीकृत पारुचजनीनभाव नास्तिकत्वभाव येन स नास्तिको भूत्वा पञ्चेन्द्रियविषयासक्ति गत भाण्डादिरतो वा नर्मभर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य परिहासे कुशलस्य नर्मभर्मनाम्नो मन्त्रिण सुताय नर्मभर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनम् अखिलकलाकलापालकृतरूपसमन्विता सुतामयाचत । अखिलाश्च ता कला नृत्यगायनादि- विद्या तासां कलाप समूह तेन अलकृत च तद्रूप सौन्दर्यं तेन समन्विता युक्ता सुताम् अयाचत । [श्रेष्ठी गुणपाल दुहिता सुवन्धुना सह कौशाम्बीदेशमयात्] श्रेष्ठी दुष्टप्रजेन राजा दुष्टा प्रज्ञा बुद्धिर्घस्य तेन राजा याचित प्राथित यदि नर्मसचिवसुताय सुता वितरामि तदावश्य कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च निजवश- परम्पराचारोल्लङ्घन भवेत्, दुष्टोऽपवादो निन्दा च तस्या उपक्रम प्रारम्भ स्यात् । अय स्वाभिशासनं नृपत्याज्ञाम् अतिक्रम्य उल्लङ्घ्यात्रैवासे तिष्ठामि, तदा सर्वस्वापहार सर्वस्वस्य घनदारादे अपहारो लुण्ठन

निश्चितिक विवेकम्—आप्रवृत्तेरिति—युगं भोगाविषु आप्रवृत्ते प्रवृत्तिर्वशा भवेत्तावत्कार्त्तं ये तर्ह्येव भोगे-
पभोगावे निवृत्तिरप्योपेक्ष्यति इति कुतश्चिन्म कुतश्चिन्म सन् गुणानामपि पञ्चपरमेष्ठिभ्यः स्मरन् निश्चितिकं
विधिं कुर्महे ॥१५९॥ प्रत्यास्मानस्य महाफलं निवेदयति—द्वैषादिति—द्वैषात् विषये आशुविद्यमाने उति ननुमि
समाप्तिरप्येव इति । यद्भोगोपभोगप्रत्याशयान् निश्चयात् पूर्वं विहितं तस्य महत्फलं तेन प्रत्यास्मानप्रत्याशयान्ते ।
अतः इती नर भोगधन्यं भोगरहितम् अग्रतः कार्त्तं प्रतरहितं कार्त्तं न जायहेतु न नयेत् न भापयेत् । प्रतिदिनं
प्रतिदिना प्रत्याशयान् कृतवत् सुख्यताम् इति भाषः ॥१६॥ ॥ बीजवयसा फलं चिन्तामयेरिति प्रतिपादयति—
एकेति—एकज एका बीजवया । एकस्मिन्पात्रेण एक बीजवया । परज अन्यस्मिन् पात्रेण सत्त्वात् सत्त्वाचोर्विक्रिया
क्रिया । पूरक पूर्वस्या बीजवयाया परं फलं चिन्तामयेरिति यथा चिन्तामयैः यद्विध्यते तत्फलम् इच्छन्तमभे-
ष्यते परज सत्त्वाचोर्विक्रियाया क्रियाया फलं कुर्येति अथ नृमि कुरुष्व शास्त्रमुप्यते परं तत्फलं शिबभुजिर्गति-
रवाप्यते । अतो बीजवयसाव्यक्रियाय्य भेष्टेति विज्ञाविशेषम् ॥१६१॥ अत्रिष्टाष्टमाहृत्यं आनक्ति—
आयुष्मानिति—एकस्मादेव अहिमावतप्रभावात् नर आयुष्मान् दीर्घायुः कीर्तिमान् प्रवित्तवशां दुपय
वीयावशान् यीमान् स्वमीर्षयः सुकृत् सुमन्त्राङ्गो जायते ॥१६२॥

[५४ १५५] धूम्रवामनाहिताफल्गुवामनादयम्—अवस्थितेनेषु सकललोकेति—सकलजगति इह
भागमा वृत्ता वेपु ते आरायाः उपवनानि यत्र तस्मिन् धिरीयवामे मयतेनाभिमानो मन्त्रवन्मा बीजप ।
इच्छन्तेति—निजावाचकनिवृत्तविक्रियावाचकविधानम् । धूम्रोमेति—धूम्रोमाचो मन्त्राः तेषाम् ज्ञानवशात्
उपनीतं कृतं विहारणं गमनं येन स । फल्गुलोकेति—फल्गुलोकस्तद्वर्तनीयः आकितानि आत्रितानि उत्कृष्ट
तानि कूलस्यानि तटवर्तीनि शास्त्रेणमाकृतवाचि शास्त्रिणांयमुद्योष्यतेनाभि यथा सा ताम् । मया उरितं क्रीड
बनुषत् बनुगच्छन् । स मृगसेनो बीजरः बन्धोवर्माचार्य निजाय्य अवलोकयेति संवत् । कर्षभूतं तम् । अक्षयेति—
सकलवाचपरिधि सभाया कर्ष भेष्टम् । पुनः कर्षभूतम् । अक्षिणेति—सकलमहाभागमभ्यन्त मृत्तुपुनः
पुनः कर्षभूतम् । मिष्येति—मिष्यात्वरहिता धर्मवया वनीयुष्यतं यस्य स तं बन्धोवर्माचार्य निजाय्य
विकीर्य । समाप्तमेति—समाप्तं समीपवत् यत्सुकृतं पुष्पं तेन आचार्यं धार्यं हृत्यं यत्र तस्य नावतस्मात् ।
दूरादेवेति—दूरादेव परिहृतपापोपावनसावनसमूह सर्वधनम् आचरेत् । संपादितेति—संपादित इव
सर्वधनम् येन कुर्यात्ताङ्गमस्कारः । प्रकस्मेति—प्रकानं प्रतिपद्यम् अतिधनेन प्रयत्नं विनायत् एत
पार्थ यस्य सः समाहितस्मात् सावधानचित्तः [स बीजरः आचार्यं प्रति यत्ता वतनकाचतः] । साधु इति—
साधुना मनीषां यमाजे धत्तम भेष्ट सकलमहाभूमिजनेपुत्रतः दैवम् धूम्रविषे उपपन्नं प्राप्तं बनुष्यं तेन
गृह्यमात्र इवपद्यमात्रः यस्य एवमूतोऽयं जगः कस्वविष्वक्त्रस्य प्रदानं अनुगृह्यताम् इवभाषतः ।

[५४ १५६-१५९] मगवान्—ननु विषयं अनुसीति—एकजयो मन्त्राः तेषां विनाये मारणे
निःसूकायम्—कुर्यान्मित्रायस्तेन यवस्य यवापतङ्गो बन्धः तस्येव वतपङ्कपोपदेये कर्षं प्रवीर्यम् अन्तःकरक
मनुजः । अस्ति हि लोके प्रवायः हि यस्याम् अपि विवदन्ती प्रवर्तति । न सन्तु प्रायेव बहुधा प्राक्किनां
प्रकृते रवमावस्य विकृति विहारः आयत्ता भाविनि काले पुत्रम् अमृतं वा विना यवति । यादिति याने
यस्य धूम्रं मनेत् तस्य कुर्यादपि रवमात्रः परिवर्तते स मनुर्गतिः । तथा याचिनि काले वाच धपुनं यवेत् तस्य
मुद्रो प्रवृत्तिरपि कुरा मनेत् । एवं विमर्शं कृत्वा धनमुक्तावधि धन्यपानधनीयैतद्यपुत्रविमर्शयान् तदेव
भवयत् । अहो पुत्राद्यवयवतः धूमपरिणायमभिरः । अद्यतनाह्नि अद्यतनविषये प्रवर्तयिते इति भाषः ।
यः तव आराधेव प्रवमत एव आनाये काले भीमः तमापतितः स त्वया न प्रमादयिष्यामि न हिंस्या इति ।
यावत्तव यावत्तवियातम् आराधप्रवृत्तिविषयं रवजीविकाविमर्शवर्तयम् आभिर्धं मार्गं ज्ञानोपि तावत्तः यातेन
तव तस्मिन्निमित्तमस्त्ययारवत्ताय । अथ पुनः वर्याविषयवत्तापदिवः तन्मन्त्रं कर्षत् नृविद्येन नृविद्येन न रवमा
व्यागम्य इति । मनयेन —नवाचितानि बहुनामरतवास्तु । इत्यभिहितिरव इति अमति तजवनमन्त्रीरुपः । तं
दीर्घमनीं मुत्रां नदीम् अनुगत्य हज्जमात्रभोगः । अजालोपे वासविषयवत्तम् अहस्ता दीर्घमिति भाषः अतः
नुरवम् अनुगृहि मशानि वारवानि नैपादीनि इतिप्रवाचि वरव स अतनुवरवः महान् नं दीर्घारिणं ननवम्

वासाद्य । स्मृतव्रत' आद्यो मत्स्यो न हन्तव्य इति गृहीतव्रतस्य स्मरणं मृगसेनम्याजायत । तस्य मत्स्यस्य श्रवाम्
 कर्णे चित्वाय चोरचोरि वम्बस्त्रण्ड वम्बस्य दशा निवव्य तम् अत्यजत् । पुन अपरावकाशे अन्यस्थाने ।
 तीरिणीप्रदेशे नद्या प्रदेशे । तथैव अदूरतरशर्मा समीपतरमुख , समाचरितकर्मा कृतजालक्षेपण । तमेव
 अपदक्षीण मत्स्यम् अक्षीणायुषम् अनष्टजोवितम् अवाप्य लब्ध्वापि अमुञ्चत् । तस्मात् एतस्मिन् अनणिष्ठे
 अलघिष्ठे पाटीनवरिष्ठे पाटीनेषु मत्स्येषु वरिष्ठे महिष्ठे, पञ्चवार जाले लग्ने पतिते विपदमग्ने सक्टेन
 अमग्ने अस्पृष्टे मुच्यमाने त्यज्यमाने सति, गमस्तिमाली सूर्य अस्तमस्मन्कमध्यास्त अस्ताचलशिखरमध्यारोहत ।
 कथभूत सूर्य । घनधुसृणेति—घन विपुल यत् धुमृण काश्मीरजम्, तस्य रसेन अगणिता लोहितवर्णा या
 वरुणपुरस्य पुग्गध्रय सुचरिता म्त्रिय तामा कपोला गण्डा तेषा कान्तिग्वि कान्तिस्तया शालते शोभते
 इति । तदनु तदनन्तरम् । गृहीतव्रतस्यापरित्यागात् ह्लादमानज्ञान मृगसेनम् अघामिकलोकात् व्यतिरिक्तम्
 अन्यम् । रिक्तम् अप्राप्तमोनम् आयात परिच्छिद्य ज्ञात्वा । अतुच्छो महान् क्रोध क्रोध अपरिहार्यस्त्यक्तुम-
 शक्यो यस्या तथाभूता तद्भार्या मृगसेनस्य जाया घण्टास्या । यमघण्टेव किमपि कर्णकटु श्रोत्रपरुष क्वणन्ती
 ब्रुवाणा । कुटीरान्त श्रितशरीरा उदजस्यान्त मध्ये आश्रित शरीर देहो यस्या मृगसेन निरुद्धान्त प्रवेश कृत्वा
 स्वयम् उदजे स्थितेति भाव । निर्विवर निच्छिद्रम् अररं कपाट निरुध्य अस्यात् अतिष्ठत् । मृगसेनोऽपि तया
 प्रतिरुद्धमदनप्रवेश तन्मन्दस्मरणसक्तचित्त पञ्चविंशदक्षरपवित्रस्य णमोकारमन्त्रस्य स्मरणे चिन्तने निरत-
 हृदय , पुराणतरतश्चित्त जोर्णतरद्रुमस्य शकलम् सच्छीर्षे विधाय सान्द्र निविड निद्रायन् स्वपन्, एतत्तश्चित्ता-
 भ्यन्तरविनि मृतेन उच्छीर्षोऽकृतस्य द्रुमखण्डस्य अन्तश्छिद्राद् बहिरागतेन सरोमुपसुतेन भुजगननयेन दष्ट ।
 कष्टम् अवस्थान्तर मरणदशाम् आविष्ट प्राप्त । व्युष्टसमये प्रभातकाले घण्टया दष्ट । पुनरनेन सार्धं सह
 उपबुधमध्यानुमोचितेति—उपबुधोऽग्नि तस्य मध्ये पतिशरीरानन्तरम् अनुमोचित त्याजित स्वनिश्चयेन
 स्वदेहो यया । आत्मनि विहिनबहुनिन्दया स्वस्मिन् कृतबहुगर्हण्या । शोचितश्च शोकविषय नीत । तत "सा
 यदेवास्य व्रत तदेव ममापि । जन्मान्तरे अपि चायमेव मे पति भूयात्" इत्यावेदितनिदाना इति प्रकटीकृतमावि-
 पतिस्नेहा । समित्समिद्धमहसि समिद्धि काष्ठं समिद्ध प्रवृद्ध महस्तेज यस्य तस्मिन्, द्रविणोदसि अग्नी
 हव्यसमस्नेहम्, हव्येन देवेभ्यो दीयमान द्रव्यं हव्यं धृत तेन सम स्नेहो यस्मिन् त देह धृतवत्स्निग्व सा
 जुहाव अजुहोत् अग्निंसात् चकार । अथ विलासिनीति—विलासिनीना शृङ्गाररसप्रियाणा स्त्रीणा
 विलोचनान्येव नेत्राण्येव उत्पलानि कमलानि तै पुनरुक्ता वन्दनमाला तोरणमाला यस्याम् । विशालाया पुरि
 रज्जयिण्या नगर्याम् । विश्वगुणामहादेवीश्वरो विश्वगुणानाम्या महादेव्या पति विश्वंभरो विश्व विभक्ति
 इति विश्वभरो जगदालक विश्वभरो नाम नृपतिः । घनश्रीपति घनश्रिया पति, दुहितु कन्याया सुवन्वो
 पिता च सुवन्वुनाम्या कन्याया पितेत्यर्थ । गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्धप्रीति-
 प्रपापालिकायाम् एतस्या कुलपालिकायाम्, गुणपालस्य मनोरथा एव पान्धा पयिका तेषा प्रीते प्रपा पानीय-
 शालिका तस्या पालिकाया रक्षिकायाम् । एतस्या कुलपालिकाया कुलीनपत्याम्, अनेन मृगसेनेन समापन्न-
 सत्त्वाया समापन्न प्राप्त सत्त्वो जीवो यस्या सा एवभूताया गभिण्या जातायाम् इत्यर्थ । असौ वमुष्ठापति
 वमुष्ठाया भूमिः पति राजा विश्वभर विटकथाससृष्टतया विटा जारा तेषा कथा ताभि ससृष्टतया संसर्गं
 प्राप्तत्वात् प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभाव पञ्चमिभूतैर्जन्यतेऽसौ पञ्चजन पञ्चजनाय हितो भाव पाञ्चजनीनभाव
 प्रतिपन्न स्वीकृत पाञ्चजनीनभाव नास्तिकत्वमात्र येन स नास्तिको भूत्वा पञ्चेन्द्रियत्रिपयासक्ति गत
 भाण्डादिरतो वा नर्ममर्मनान्मो नर्मसचिवस्य परिहासे कुशलस्य नर्ममर्मनान्मो मन्त्रिण सुताय नर्मधरणे
 गुणपालश्रेष्ठिनम् अखिलकलाकलापालकनरूपसमन्विता मुतामयाचत । अखिलाश्च ता कला नृत्यगायनादि-
 विद्या तासा कलाप समूह तेन अलकृत च तद्रूप सौन्दर्यं तेन समन्विता युक्ता सुताम् अयाचत । [श्रेष्ठी
 गुणपाल दुहित्रा सुवन्वुना सह कौशाम्बोदेशमयात्] श्रेष्ठी दुष्टप्रेजेन राजा दुष्टा प्रजा बुद्धिर्मय्य तेन राजा
 याचित प्रायित यदि नर्ममचिवसुताय सुता वितगमि तदावश्य कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च निजवश-
 परम्पराचारोल्लङ्घन भवेत्, दुष्टोऽपवादे निन्दा च तस्या उपक्रम प्रारम्भ स्यात् । अय स्वाभिद्यामन
 पतिक्रम्य उल्लङ्घ्यात्रैवासे तिष्ठामि, तदा सर्वस्वापहार सर्वस्वस्य धनदारादे अपहारो लुण्ठन

स्यात् । प्राणसंहारश्च प्राणानां वधनां विनाश भवेत् । इति निर्विषय प्रियसुहृद- बलममिषस्य धीरस्य
 पथिकारो वैश्यस्वामिन- निवेष्टने गृहे । समन्वितेऽसकलत्वं मणिमयस्यामृतं कलत्वं शोभितं तवावृतं
 कलत्वं भामिन् । बलस्वाय स्वपतेयस्यारं स्वपतेयस्य धनेषु सारं मणिमयकपीलितकारिणं दुहितरं च मुनिं च
 आत्मघातकृत्वा स्वायत्तं कृत्वा सुखमकेलिमयवनासमिनेष कौशान्दीदेसम् अमासीत् । सुकृपा केचि- शीश
 मत्र ताति वनानि सद्यानानि वनाध्याया ब्रह्माध्यायश्च तत्रायायश्च तेषां मिनेषो रचना मत्र तं कौशान्दीदेसम्
 अमासीत् । अनामदरे धीमद्विरद्वमन्विरमिषिषेयम् आचरितपर्यटनो अस्मिन्मयमे श्रीमतां धनिनां शिखाया च
 मन्विरेषु गृहेषु मिषिषेयं समतां भूत्वा कृतविहारी उभयेषां गृहेषु विहितगमनो सिचगुप्त-मुनिगुप्तनामानो मुनी
 श्रीरत्नप्रतिदेयनिवासिनोपासकेन यथाविधिहितप्रतिग्रही कृतोपचारविग्रही च तामङ्गनामया वनधियम् अ-
 स्मताम् । श्रीरत्नप्रतिदेयो गृहस्य समीपे निवासिता वसता जपासकं आचरेत् आचरोक्तप्रतिग्रहादिमन्त्रिणां
 कृतसत्कारो कृतो य उपचार- सेवा वैयाप्यत्वं तेन युक्तो विग्रही देही योस्ती मुनी आचरितो वनधियम् ऐसेताम् ।
 तत्र मुनिगुप्तममनात्किञ्च वनमियं निष्पद्य शीतस्य कोटिपि पापी कृत्वावस्था अचरीमोऽय इयं दुःखार्ता वनेति
 अमापत् । वनभूता वनधियम् । केवलमस्मिन्नामपस्याम् शैलविरहिततिलकिट्टेन केवलम् कृतस्नातवत्स्य पत्यो
 कक्षाङ्गाम् अद्वयमनोमसंमताङ्गामोवत्पिपम् अद्वयमनोमं शीतवत्सह्यं तैव संवता एकत्वमापन्ना अद्वयानाम्
 आनोपा सुविस्तरा स्थिद- कान्तिमस्यास्ताम् । अत्रैवत्येति—अत्रैवत्येति—अत्रैवत्येति—अत्रैवत्येति—अत्रैवत्येति—
 मय्यकसूत्र तदेव युपते ऐक्ये इति ताम् । पुन- कथंयुताम् । आलोच्येति—आलोच्येति—आलोच्येति—आलोच्येति—
 अपत्यं नम्या सुतश्च परित्तः किञ्चरगमः एषो विरहैव विषयेन देहसा- शरीरकृत्ता मस्याः ताम् ।
 एतद्वीरवदेष्टां पर्यमारसकान्ताम् च शिष्टिराजवत्सवत्सवत्तिनी (?) शिष्टिराजि शीतानि बलसाधुनि
 सततमकल्लेनज्जलानि तेषां वधवत्तिनी । एतत्कमलिनीमिव मञ्जिनपत्रं मञ्जिनकान्तिम् उदरवित्तपरितरे
 उदरवित्तस्य गृहस्य परितरे पर्यन्तमुनि परगणे बाधो निवासस्तैव विधीर्नसाया स्नायमाना मुक्तस्य धी- शोभा
 यस्यास्तां वनमियं निष्पद्य विज्ञोच्य अहो महीवतां अङ्ग एतताम् आधानः महीवतां मन्त्रताम् एततां ध्याताम्
 आधानं गृहं पश्य शोभति अस्याः दुरी उदरे महीपुत्रयोऽवतीत्यः आगतो भवेत् । येन महीवीर्यमात्रेणापि शक्ति-
 मानेणापि दुष्पुत्रेण कुमुदेनैव शोभा इववाज्ञेतां वक्षाम् अक्षिपयत् इवान् आरब्धो यस्यास्ताम् एवंस्वकान्ताम्
 अक्षस्वकान्ताम् अक्षस्वकान्ताम् इत्यभाषत् (मुनिगुप्तो मुनिः) मुनिव्या विचगुप्त—नेव आधिपत्यं मुनिषु नृपेव इव
 इवेति मुनिव्या विचगुप्तः शैव शोचः । यतो महीवीर्यं शैवश्रीनां कामिषिहिनानि एवंभूता सती पदाविष्मन्
 परस्व अस्वस्य अविष्मन्ने पदे तिष्ठति तत्तात्पेत्तन्मन्त्रेण एतस्या- पुत्रेव सत्कमन्मन्त्रेणापि सर्ववैश्वस्वात्मिका
 राजशैवश्रीनां निरवधिदेवकीवरैव नि शीमनिशीनाम् ईश्वरैव स्वाभिना विरचंमरनुतावरैव च विरचंमरनुता
 नृपनुताया वरेव परया सविश्वम् इत्यभोक्तम् । एतच्च स्वकीयमन्त्रिरातिमन्त्र- निमन्त्रैर्ब्रह्मादिपदार्थं वाता
 भीदताः निराम्य अस्या 'म' अङ्गु प्रायेण अक्षरवन्धितम् अक्षरं मयति अहर्त्वे इत्यवधार्य इति निर्विषय मुखा
 मुत्तनरवत् दुरीक्षितवत्सवैगोभूति आसीत् । मुनीवत् तीक्ष्णं मुखं नस्य च बाधो सर्वत्र च इव दुरीक्षितं
 दुर्दराय तत्र वता शैवोवति- मनोभ्याचारो येन च तत्तामून आसीत् अमापत् । वनधीर परित्राप्यप्रवत्तवित्त
 सनी मुनमगुन परित्राप्या प्रवत्तवित्तं प्रमुनिविर्गं नम्या एवंभूता सती नृपम् अक्षनवत् । श्रीरत्न —निचभानुरिष
 अक्षिरिष । अयं अङ्गु आभिः आलकाः । आधयाय- आधयम् आधयायसु अरताति इति आधयाय- वन
 विनागकरो मयत् । तन् तस्यान् वारणात् अक्षज्वालेह्यायानेव अनुत्पन्नप्रतीतो एव अक्ष माउरि तत्राम् अय
 उतांनुत्पन्नः एतास्ते निमृदयता वक्ष- शोवात् द्विगुणं भवेत् । इति वरामय इति विचार्य । प्रभूतिदु सेन
 अनुत्पन्नप्रतीतायया धीर्धर्मशोहात् काष्ठाप्रिप्राप्तीभूतेनो वनधियम् आचरन्त्य तत्राया निजविरजमवती
 मनेन निजविरजमवतां जलतीनां वरुणीनां च वरुण प्रसीत एवायं तत्र च एतां मुनी अरता इति
 प्रनिधि विचार आचार आरूच च एवं वरुणं आगच्छं वरुणम् आचरितोपचारवत्तम् आचरित- विहित-
 उदाराय आदराय वरुणाः विनारी मय तम् । शिष्टाङ्गरीरहवर्तनैव- इतासवर्गिन- शिष्टा कचर
 युक्ता ता वानो बाधो भावा तस्या रहस्यस्य निमृदयता निवेष्ट- मद्भूत- दुःख- अनायास विनायक भवेतो
 येन तत्तामून- भीदता तं एतावत् वनमागच्छन् इत्यर्थं दुःखं शनिवतीति इत्यर्थं तं दुःखं

चाण्डालाय समर्पयामास । सोऽपि जनगम चाण्डाल स्वभानुप्रभेण करेण राहुसमेन कृष्णवर्णेन हस्तेन राम-
रश्मिमिव रामा मनोज्ञा रश्मय किरणा यस्य तम् इव चन्द्रमिव त स्तनघयम् उपरुध्य गृहीत्वा । नि शला-
कावकाश निर्जनप्रदेश देश स्थानमाश्रित्य । पुष्पपरमाणुपुञ्जमिव पुण्याना परमाणूना पुञ्जमिव शुभदेहवन्तम्
एन बाल दृष्ट्वा । सजातकरुणारमप्रसरप्रसन्नमुख सजात उत्पन्नश्चासौ करुणारम दयारम तस्य प्रसर
प्रवाह तेन प्रसन्नवदन , सुखेन विनिधाय स्वकीय गृहमटोकृत अगच्छत् । पुनरस्यैव अधरभवभगिनीपति
अशेषापणिकपणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी अधरमवा लघीयसी मा चासी भगिनी तस्या पति । अशेषाश्च
ते आपणिका पण्याना क्रयविक्रयादियोग्याना वस्तूना व्यवहारकारिण , तेषा पणो व्यवहारस्तस्मिन् परमेष्ठी
चतुर इन्द्रदत्तश्रेष्ठी , विक्रयाडम्बरितशण्डमण्डलाघीन विक्रयणक्रियया डम्बरिता गोभिता ये शण्डा
वृषमा तेषा मण्डल समूह तस्य अधीनम् आयत्तम्, पेठोपकण्ठगोष्ठीन पेठस्य (?) उपकण्ठ समीप गोष्ठीन
भूतपूर्वक गोष्ठ गोष्ठीनम् अनुमत् गत , वत्सीयविषयसनीडक्रीडागतगोपालबालकलपनपरस्परालापात् वत्सेभ्यो
हित वत्सीय स चासौ विषय वत्सहितो निवासप्रदेश . तस्य सनीड समीप क्रीडार्थम् आगता ये गोपाल-
बालका बल्लवाना शिशवः , तेषा लपनानि मुक्त्वानि तेषा परस्परालापात् अन्योन्यसभाषणात् । वत्सतरतानक-
सतानपरिवृत वत्सतराः दम्या तानका सद्योजाता गोशिशवः , तेषा सतान समूह तेन परिवृतम् ।
अनेकेति—अनेके बहव ते च ते चन्द्रकान्तोपला चन्द्रकान्तमणय तेषाम् अन्तराले मध्ये निह्नीन स्थितम् ।
अरुणेति—पद्मरागरत्ननिधिमिव त जात बालम् उपलभ्य दृष्ट्वा स्वयम् अवीक्षितपुत्रमुखत्वात् तद्वद्वया
'मदोयस्तनयोऽयमिति मत्या' साधु अनुरुध्य सम्यक् विज्ञप्य 'स्तनत्रयावधानवृत्तबोधे राधे स्तनघय शिशु
तस्य अवधान 'कदा मे पुत्रो भविष्यतीति अवधान चिन्ता तस्या धृतो बोधो ज्ञान यया तत्सबोधनम्, राधा
इति । इन्द्रदत्तस्य जायाया नाम तत्सबोधन हे राधे इति । तवाय गूढगर्भसम्भव तनूद्भव , तन्वा शरीरात्
उद्भव उत्पत्तिर्यस्य इति प्रवर्द्धिता प्रसिद्धिर्येन स श्रेष्ठी महान्तम् अपत्योत्पत्तिमहोत्सवम् अकार्पात्
अकरोत् ।

[पृष्ठ १६०-१६४] [श्रीदत्त भगिन्या सह त बाल गृहमानीय पुन त मातङ्गाघीन मारणायाकरोत् ।
सोऽपि वृक्षाकुले नदीतटनिकटे त्यक्त्वा ततो निजगृहम् अगमत् ।] श्रीदत्त. श्रवणपरपरया कर्णपरपरया तमेनं
वृत्तान्त वार्ताम् उपलभ्य श्रुत्वा, शिश्निति—शिशो स्तनघयस्य विनाशस्याशयेन अभिप्रायेण, कीनाश इव
यम इव तन्निवेशम् आश्रित्य इन्द्रदत्तश्रेष्ठिन गृह गत्वा 'इन्द्रदत्त, अय महाभागधेयो महाभाग्य भागिनेयः
भगिन्या पुत्र स्वलीय ममैव तावद्वाम्नि गृहे वर्धता वृद्धि यातु' इत्यभिधाय उक्तवैवम् सभगिनीक भगिनीसहित
तोक पुत्रम् आत्मावास निजगृहम् आनीय, पुरावत् पूर्वमिव क्रूरप्रज्ञ निर्दयमति सन्नपनार्थ मारणार्थम्, अन्तावसा-
यिने चाण्डालाय प्रायच्छत् समर्पयामास । सोऽपि दिवाकीर्तिश्चाण्डाल उपात्तपुत्रमाण्ड गृहीतपुत्रपात्र , सत्वरम्
उपह्वरानुसारी निर्जनप्रदेशमनुगच्छन् । समीरेति—समीरस्य वायोर्वंशात् गलित विनष्ट घना मेघा एव अम्बराणि
वस्त्राणि तेषाम् आवरणम् आच्छादन यस्य, हरिणकिरणमिव हरिणा मनोहरा किरणा करा यस्य तमिव
चन्द्रमिव ईक्षणरमणीय नेत्राल्लादकम्, गुणपालतनयमालोक्य सद्यद्दृढय प्रबलविटपिसकटे प्रबला दृढा
सारवन्त ये विटपिन वृक्षा तै. सकटे व्याप्ते सरित्तटनिकटे नदीतीरसमीपे परित्यज्य अश्वल्लीत् आशु अगमत् ।
[गोविन्दो नाम गोपालस्त गृहीत्वा स्वभार्यायै सुनन्दायै समर्पितवान्] तत्राप्यसौ पुरोपाजितपुण्यप्रभावात्
पूर्वजन्माजितपुण्यमाहात्म्यात्, वेनुभि उपरुद्धसविधभाग, कथभूताभि वेनुभि । 'उपमातृभिरिव धात्रीभिरिव
एतद्वीक्षणात् अस्य बालकस्यावलोकनात् क्षरत्सीरस्तनाभि निर्गलद्दुग्धकुचाभि । आनन्देति—आनन्देन
उदीरिता उच्चारिता निर्भरा विपुला हमेति ध्वनयो यामि वेनुभि पुन कथभूताभि । प्रचाराय तृणभक्षणाय
आगताभि , कुण्डोष्णीभि कुण्डमिव ऊषासि यासा ताभि , व्रजलोकवेनुभि गोपाललोकगोभि उपरुद्धसविधभागो
व्याप्तसमीपदेश अपदान्तर पद स्थानम् अन्यत्पद पदान्तर स्थानान्तरमिति, न पदान्तरम् अपदान्तर तदेव स्थान-
मागतेन तद्रक्षणदक्षेण तस्य बालकस्य रक्षणे दक्षेण चतुरेण गोपालजनेन (मूर्यास्तिसमये विलोकिन) कथभूते सूर्ये ।
अस्तेति—अस्तोऽस्ताचल तस्य अवतस इव भूषणवत् भास किरणा यस्य तस्मिन्, पुन कथभूते । अशोके-
ति—अशोकपुष्पगुलुच्छमनोज्ञे सरोजसुहृदि सरोजाना दिनविकासिकमलाना सुहृदि मित्रे मति विलोकित दृष्ट ।

स्यात् । प्राणमहाराज्य प्राणानां दधानां विनाशः भवत् । इति निश्चित्य प्रियमुहुरा बन्धनमिवस्य धीरस्तस्य
 वसिष्ठो वै-यस्वामिनः निवेदने गृहे । समधिमेवककस्य मयिमयस्यमायुतं कस्य योमिवस्य तन्मायुतं
 वस्य मायाम् बन्धनाय स्वापतेयस्य स्वापतेयस्य मनेषु सारं मयिभनकमीषितकादिषु बुद्धिर्तेन व मुनी व
 आनमारकृत्वा स्वायतं कृत्वा मुक्तमकमिवनमामयनिवेद्य कौशाम्बीदेशम् अयातीत् । मुक्तम केति श्रीग
 यन तानि वनानि वनानानि वनासमा असासमायव तन्मायव तेषां निवेद्यो रचना यन तं कौशाम्बीदेशम्
 अयातीत् । अत्रागते धीमहृत्स्वमस्त्रिनिविद्येयम् आचरितपयसी अस्मिन्मये धीमतां वनिनां वरिषां व
 भन्तिरेषु गृहेषु निविद्येयं समग्रा मत्वा कृतविहारी उन्मयेषां गृहेषु विहितमनो विषयुत्-मुनिगुप्तनामा मनी मुनी
 धीरतः शिष्यमनिवादिनोपामनेन मयाविनिविहितप्रतिग्रहो ह्युपचारविग्रहो व तामङ्गनामया वनधियम् अ-
 स्मनाम् । धीरतयेष्टिनो गृहस्य लयीये निवादिना वसता उपसर्केन यावनेन आनमोत्तशिश्रुहृदिनवविषा-
 हनमरातो ह्ना य उपचारः सेवा वैवाभूत्यं तेन मुक्तो विग्रहो वैहीययोस्ती मुनी आचरितमतां वनधियम् ऐसेताम् ।
 तत्र मुनिगुप्तमयाविक्रम वनधियं निष्ठाया बौद्ध कोर्षि पापी कुशावस्या अवधीर्षोऽज इयं दुःखाती शोर्षि
 अमापत् । बर्षभूनां वनधियम् । केवलमस्मिन्नावपस्याम् तैश्चिरहितसिद्धिष्टेन केवलेन कृतस्नातवत् पत्नी
 कथाङ्गाय उन्ममनीयसंयताङ्गायोगस्त्वयम् उन्ममनीयं धीतवत्सह्यं तेन संयता एकरवमापन्ता अहमनाम्
 माकोपा मुनिस्तरा त्विद् कामियस्यास्ताम् । अथैषत्येति—अथैषत्येति—कीवरातिहास्यमं एकरवमा-
 मद्दयनमूनं तदेव जुपने सेवते इति ताम् । पुन कर्षभूनाम् । आयेति—आयो विरवतो वनः कात् धी-
 अरयं वया मुतरव परिजनः क्रूरगणः एषां विरहेन विमोहेन वैहताः धीरैरुत्सवा वस्याः तान् ।
 यमनौरवयेधं यममारवन्ताम् व विविधरवन्तामवकावतिनी (?) धितिरासि धीतानि अत्रामुनि
 सज्जगन्मन्त्रवन्तासि तेषां वधवतिनी । स्ववकवतिनीमिव पञ्चिष्यर्षि मस्मिन्नास्तिम् उन्ममनीयमनो
 वरविवस्य मुह्यत् परिचरे पयन्तमुनि परमहे कामो निवासस्तेन विद्योर्षमाया म्मवमाना मुक्तस्व धीः तेषां
 यस्यास्तां वनधिय निष्ठाया विमोहय अहा मतोवमां लभ एनताम् आवातः यहीवमां मद्दताम् एनां पात्राम्
 आवातः गृहं एम् बोर्षि अस्याः दुर्गा उदरे मद्दामुपयोऽवतीर्षः आनतो वनेम् । येन वनवीर्षमायेकावि प्रवि-
 मायेकावि दुष्पुनेमेव दुर्नुनेमेव शीला इत्यथावतां दधानां अधिवियम् इषाम् आरैयो यस्यास्ताम् एरवकायम्
 अवकायम् अयासम्भन इरवमापत् (मुनिमुप्यो मुनि) मुनिवया विषयुत्—अथैषाविहा मुनिषु वृषव इत्य
 इवेति मुनिवया विषयुत्—मैवं बोधः । यतो यमनीयं यष्टिनी कामिविद्वानि एवभूता ततो वधवियमे
 वरय अयमव अधिवियमे गृहे उच्छिष्टे तन्वावेतन्मन्त्रेन एतस्यां पुनेष सक्रमवविजानिता सर्वैरवस्यादिना
 रात्रयष्टिना निरवपयेकवीरवरेण नि धीमनिधीनाम् ईरवरेण स्वायिवा विरवमरमुनावरेण व विरवकायम्
 मुनामुनामा वरेण पाया भविमम्य इत्यवोवन् । एतव स्वकीयमन्त्रिस्तस्मिन्वत् विरवद्विष्टीरवरीष्टं कातः
 धीरताः विन्त्य यथा न तस्य प्रायस जनयमियम् सर्वं वरति मर्हं इत्यवकायं इति विविधिवत् वृषां
 वृषमवन् दुरीक्षितस्तमेवीरवति आनोम् । मूचीवन् धीरव मुनं वय न वामी सर्वेण न इव दुष्टीर्षि
 दुष्टीर्षे तत्र वता ववीरवति मनाम्पातारो येन स तन्मायु आनीम् अत्रापत् । वनवीरव वरिषावकायवीरवता
 गता मुनवमूनं परिप्राया व्रणविवर्षं प्रमुनिर्षि यथा एवभूता लयी पुनम् अत्रयम् । धीरता—विजगामुनि
 अभिविष । अयं वयन वान्तिः । आरवयायः आरवम् आचारवतम् अरवति इति आरवयायः अय
 विनागका वरम् । गृहं यस्यां वारवन् अरवतान्मेहायानेव अमुनाप्रवीणी एव अरव वानि मन्ताम् आर
 वानागकाः एताने निगृहका वरवः येषाम् द्विहृद् वनेम् । इति वरावत इति विचारः । प्रमुनिषु मेन
 यमुक्तमवतीर्षायां ईरवमेवीरवाम् वाक्पञ्चविजगतीमुपयो वनधियम् आचरन् आया विजगतीरवमवती
 वनेर विजगतीरवमवतां वरवीनां वरवीनां व वरन प्रवीण एवार्थं तयन अय एवार्थं मुनी वानः इति
 इति विचार आचार आह व एव वरार्थं मानम् कर्षभूनाम् आचरितोपचारवतम् आचरीण विहितः
 वरवायम् आरवत वरवा विजगती वरन गम् । इति वरवीरववर्षावनेनः वरवावर्षावनेन विद्या वर
 एतानां ता वामी वरवी अया एवार्थं वरवायम् विजगता निवेद्य मुनयः इति वरवायम् विजगता वरवी
 वैव एवार्थं धीरता न इत्यर्थं वरवायम् वरवायम् वरवायम्

चाण्डालाय समर्पयामास । सोऽपि जनगम चाण्डाल स्वभानुप्रभेण करेण राहुसमेन कृष्णवर्णेन हस्तेन राम-
रश्मिमिव रामा मनोज्ञा रश्मय किरणा यस्य तम् इव चन्द्रमिव त स्तनघयम् उपरुध्य गृहीत्वा । नि शला-
कावकाश निर्जनप्रदेश देश स्थानमाश्रित्य । पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव पुण्याना परमाणूना पुञ्जमिव शुभदेहवन्तम्
एन बाल दृष्ट्वा । सजातकरुणारमप्रसरप्रसन्नमुख सजात उत्पन्नश्चासी करुणारस दयारस तस्य प्रसर
प्रवाह तेन प्रसन्नवदन , सुखेन विनिधाय स्वकीय गृहमटीकृत अगच्छत् । पुनरस्यैव अधरभगभिनीपति
अशेषापणिकपणपरमेष्ठो इन्द्रदत्तश्रेष्ठो अधरभवा लघीयसी मा चासी भगिनी तस्या पति । अशेषाश्च
ते आपणिका पण्याना क्रयविक्रयादियोग्याना वस्तूना व्यवहारकारिणः, तेषा पणो व्यवहारस्तस्मिन् परमेष्ठो
चतुर इन्द्रदत्तश्रेष्ठो, विक्रयादम्बरितशण्डमण्डलाधीन विक्रयणक्रियया दम्बरिता शोभिता ये शण्डा
वृषभा तेषा मण्डलं समूह तस्य अधीनम् आयत्तम्, पेठोपकण्ठगोष्ठीन पेठस्य (?) उपकण्ठ समीप गोष्ठीन
भूतपूर्वक गोष्ठ गोष्ठीनम् अनुमृत. गत , वत्सीयविषयसनीडक्रीडागतगोपालबालकलपनपरस्परालापात् वत्सेभ्यो
हित वत्सीय स चासी विषय वत्सहितो निवासप्रदेश तस्य सनीड समीप क्रीडार्थम् आगता ये गोपाल-
बालका बल्लवाना शिशवः, तेषा लपनानि मुखानि तेषा परस्परालापात् अन्योन्यसभाषणात् । वत्सतरतानक-
सतानपरिवृत वत्सतरा दम्या तानका सद्योजाता गोशिशवः, तेषा सतान समूह तेन परिवृतम् ।
अनेकेति—अनेके बहव ते च ते चन्द्रकान्तोपला चन्द्रकान्तमणय तेषाम् अन्तराले मध्ये निलीन स्थितम् ।
अरुणेति—पद्मरागरत्ननिधिमिव तं जात बालम् उपलभ्य दृष्ट्वा स्वयम् अविक्षितपुत्रमुखत्वात् तद्वद्व्या
'मदीयस्तनयोऽयमिति मत्या' साधु अनुरुध्य सम्यक् विज्ञप्य 'स्तनवयावधानधृतबोधे राधे स्तनघय शिशुः
तस्य अवधान 'कदा मे पुत्रो भविष्यतीति अवधान चिन्ता तस्या धृतो बोधो ज्ञान यया तत्सबोधनम्, राधा
इति । इन्द्रदत्तस्य जायाया नाम तत्सबोधन हे राधे इति । तवाय गूढगर्भसमव तनूद्भव , तन्वा शरीरात्
उद्भव उत्पत्तिर्यस्य इति प्रवर्द्धिता प्रसिद्धिर्येन स श्रेष्ठो महान्तम् अपत्योत्पत्तिमहोत्सवम् अकार्षीत्
अकरोत् ।

[पृष्ठ १६०-१६४] [श्रीदत्त भगिन्या सह त बाल गृहमानीय पुन त मातङ्गाधीन मारणायाकरोत् ।
सोऽपि वृक्षाकुले नदीतटनिकटे त्यक्त्वा ततो निजगृहम् अगमत् ।] श्रीदत्त श्रवणपरपरया कर्णपरपरया तमेनं
वृत्तान्त वार्ताम् उपलभ्य श्रुत्वा, शिश्निति—शिशो स्तनघयस्य विनाशस्याशयेन अभिप्रायेण, कीनाश इव
यम इव तन्निवेशम् आश्रित्य इन्द्रदत्तश्रेष्ठिन गृह गत्वा 'इन्द्रदत्त, अय महाभागधेयो महाभाग्य भागिनेयः
भगिन्या पुत्र. स्वस्त्रीय ममैव तावदाग्नि गृहे वर्धता वृद्धि यातु' इत्यभिवाय उक्तैवम् सभगिनीक भगिनीसहित
तोक पुत्रम् आत्मावास निजगृहम् आनीय, पुरावत् पूर्वमिव क्रूरप्रज्ञ निर्दयमति सज्जनार्थ मारणार्थम्, अन्तावसा-
यिने चाण्डालाय प्रायच्छत् समर्पयामास । सोऽपि दिवाकीर्तिश्चाण्डाल उपात्तपुत्रमाण्ड गृहीतपुत्रपात्र , सत्वरम्
उपह्वरानुसारो निर्जनप्रदेशमनुगच्छन् । समीरेति—समीरस्य वायोर्वशात् गलित विनष्ट घना मेघा एव अम्बराणि
वस्त्राणि तेषाम् आवरणम् आच्छादन यस्य, हरिणकिरणमिव हरिणा मनोहरा किरणा करा यस्य तमिव
चन्द्रमिव ईक्षणरमणीय नेत्राह्लादकम्, गुणपालतनयमालोक्य सद्यद्दय प्रबलवितपिसकटे प्रबला दृढा
सारवन्त ये वितपिन वृक्षा तै. सकटे व्याप्ते सरित्तटनिकटे नदीतीरसमीपे परित्यज्य अश्वल्लीत् आशु अगमत् ।
[गोविन्दो नाम गोपालस्त गृहीत्वा स्वभार्यायै सुनन्दायै समर्पितवान्] तत्राप्यसी पुरोपाजितपुण्यप्रभावात्
पूर्वजन्माजितपुण्यमाहात्म्यात्, धेनुभि उपरुद्धसविधभाग , कथभूताभि धेनुभि । उपमातुमिरिव घाश्रीमिरिव
एतद्वीक्षणात् अस्य बालकस्यावलोकनात् अरत्कीरस्तनाभि निर्गलद्दुग्धकुचाभि । आनन्देति—आनन्देन
उदीरिता उच्चारिता निर्भरा विपुला हर्षेति ध्वनयो याभि धेनुभि पुन कथभूताभि । प्रचाराय तृणभक्षणाय
आगताभिः, कुण्डोष्ठीभि कुण्डमिव ऊघासि यासा ताभि , व्रजलोकधेनुभि गोपाललोकगोभि उपरुद्धसविधभागो
व्याप्तसमीपदेश अपदान्तर पद स्थानम् अन्यत्पद पदान्तर स्थानान्तरमिति, न पदान्तरम् अपदान्तर तदेव स्थान-
मागतेन तद्रक्षणदक्षेण तस्य बालकस्य रक्षणे दक्षेण चतुरेण गोपालजनेन (मूर्यास्तसमये विलोकित) कथभूते सूर्ये ।
ति—अशोकपुष्पगुल्ममनोज्ञे सरोजसुहृदि सरोजाना दिनविकासिकमलाना सुहृदि मित्रे मति विलोकित दृष्ट ।

कवित्वं चरमम् । गोविन्दनामधेयस्य गोपाङ्गस्य कर्षमुत्तमस्य सकलमापण्येष्टस्य सबदस्त्वबनेभ्यो ब्देभ्यश्च
 वयसा भविकाय बलवदुसवरिष्ठाय शर्वज्ञप्रपञ्चस्य, निजकुलेन तिरस्कृतकमलाय गोविन्दाय । सोऽपि
 तनयप्रोत्सा मान्यमद्वयस्य च धामीय उत्पादितममोमोदयाय सुमन्वायाः समपितवान् । उठम् अस्म हस्तिरा
 मन्धिरस्य सद्यमीगेहस्य वनकोटिरिति माम गोविन्देन । ततोऽग्रे क्रमेण परित्यक्त्येवमप्यस्य कथमेव इव
 परित्यक्तः मुनडा धीपववता कात्यावस्था मन सः क्रमेण इव हरिरिव । युवजनेति—युवजनास्तववातेषा
 मनः पश्यन् मनाग्रहये यत्पर्य कथायम् अथप्रायं तावत्प्यं तेन उत्फुल्लानि विनाशं प्राप्ताणि मामि स्मरन्तीनां
 गोपाङ्गनामां लोचनानि एव अङ्गिकुलानि भङ्गसमूहा तौ अवलोक्यं स्वात्तं तावद्वयेव प्रकरन्ता यस्य ।
 पुनः कर्षमुठम् । अमन्देति—अमन्यः महान् स चासी मानन्यं तस्य कामं इच्छा तां वहातीति ।
 अविश्वस्तकपायनम् अतिमनोहरसौन्दर्यगेहम् बीजनम् आसारितं प्राप्य । पुनरपि प्राग्बन्धु उत्तमं
 यत् आर्यं कृतं तस्य वचिण्या व्यवाहारं तस्य उपायनं सायः तत्तत्तं उरगम् आगमनं यस्य तेन बीदतेन
 दुःखः । पुष्टय गोविन्दः तस्य अवाप्तिप्रपञ्चस्य प्राप्तिविस्तरः [बीदतः मत्पत्र बर्धनत्वं त्वं विवेकं मुपजेन
 वा बहि इति निजपुत्राय पत्रं लिखितवान्] बीदतः—गोविन्द मदीये सदन किमपि महत्कर्मम् अमन्यस्य
 तनयस्य निवेदं कथनोपमसि । तत्रयं प्रभुः प्रकर्षवेगवती चानुनी यस्य स प्रभुरयं वनकीटिः इयं केन
 दाहयित्वा सत्वरं प्रहेनस्य प्रेयसीय । गोविन्दः—येष्टिन्, इवमस्तु । कैलं वीरमङ्गलत् बहुो विरि
 तमस्तपीतवक्रं दातसकस्तुकामाणपरिमाणकं यद्वावक एव तन्म अस्वर्ग्यविनाशवैस्वानरः अस्माकं वंशस्य
 कुलस्य विनाशाय वैश्वानरः अतिरिवास्ति । अवस्य विन्वी विवैष वध्यः मुपस्यो मुपजेन वध्यो वा विवतस्य
 इति वनकीटिस्तथा दातवचिणवतिष्याम् आविष्टः सावदृश्यम् अत्रहृदयं आचारः तेन संहितं सावदृश्यं मुडा
 संहितं मकारंकारसत्तं कैलं कृत्वा दवरकेन मेखपत्रं निबध्य तद्बन्धे स बध्वातिरवर्षः । पञ्चदशमूपयन सहेवं कैल
 पत्रमपि तेन गले बद्धम् । यदा च जगन्नाटोपकाराधोवमीनावतारसरस्याम् एकानस्याम् अम्बरजगम जगन्नाटं
 पूजयन्नेरवर्षः । तस्मिन्काले य जगन्नाटः तस्यावीनवीनस्य अवधाय धरति' प्रवेष्टो वा यस्यां तथामुठावा
 एकानस्याम् उग्रद्विष्याम् । पूजयन्मनि यो मत्स्यो मुवसेनेन अहिषावगतरसायै आकाशगके मुक्ताः स मृत्वा
 जगन्मिया वेत्तामापय । तत्प्रवेष्टाविरपर्वमनवतिनि अने तस्यां प्रवेष्टः तत्प्रवेष्टः तत्र यत्विरे महासत् तस्य वरि
 पर्यन्तं (?) इतिनि बने उद्यमे वार्यमवापनयनाय अमनः मार्त्यं अमहरणाव विक्रियासतामनरिखरे पित्रां
 कोविजानां प्रियः आग्रतस्तस्य आलकास्य समस्तोऽग्रस्यो आरणायै यद्गुह्यमे वेष्टनं श्रित्ये तदातवात्मभूते
 तस्य परिसरे सवीपप्रदेये निःसंज्ञम् अवबोधरहितं पाठम् अस्वाप्सीत् अनिद्रात् । [ततोऽग्रे अनङ्गतेना
 मन्त्रिकागता सा दाहनिर्तं तं विज्ञाय तस्य पक्षास्मेष्टम् आद्यायावययत् । तस्मैयस्य परिवर्तनं कृत्वा तत्र कैले
 धनकीर्तये मदीया क्रम्या महागमनमनवेदय शानध्येति निवेद्य] अवावसरे अविमम् प्रदावे विहिनपुणावचविनोद्य
 हुनकुमुपोरवचैलिः । तरिष्कडा तारिवाद्य । निखिलविद्याविद्या सकलमानमनदिकलायगुरा । पूर्ववचो
 पकारस्तिग्वा पूर्वजगदुनीगृह्या स्नेहना । संशोभनीयविद्यमाना संशोभनी नामोपविष्यता उपवसि मृगवृष्टो
 नदी ओवनि तथा सद्यो अनङ्गतेना नाम अगिरा तस्यैव ब्रह्मकारतरो आग्रमुत्तम तन्म कण्डोवय तात्वा
 विनीचय च निराग्रकोचना निवचलनेवा विराय दीधमवर्षं तम् अनङ्गम् इव वचनविष मुनहुनुनासवत्तनं
 मुनं यवर्षं पुनयावकायः पुनयावानां तन्म वनुराधिरिष्ठाद्यो जेन लोहान्तरविषम् अग्यो मोहः रवाली
 विना मन्त्रमौहः तस्य विषम् अवेपलज्योनिं सामुद्रिकीकनसकलमुनवचानेपुनवेर्हं वनवीतिम् पुनरायु न्दी-नारवडी
 मवायम प्रतिपादयता देवादिनदेवैव प्रदायं विरहितम् अग्निं वकीर्तनां मानावतमृचयानां विनयन वपुः । मुनराः
 बध्यप्रदेयः यस्य तस्यात् कष्टदेष्टात् आयाव अवावप्रतिपादनासारोत्तं कैलम् अवाचयत् । अवावो न्यमु तस्य
 प्रतिपादनं मुवनाम् अवावायां वदवावतवकवायाम् आलेखो लेखनं यत्र तवाभने लेखम् अवाचयत् वडीन इव ।
 [अनङ्गतेनया मन्त्रज ग्गुवैर्न येष्टिन्वी धीयनां वनर्तं तये शानध्येति निबिद्ये] त वाविजगत्तनर् अर्न
 वीरं हरदेव विदुवनी जगुपयाना काचमाकनकरग्गुनातन लोचनयम् अजजम् वजजम् लोचनयजम् तस्य
 वजजम् वजजम् उतालेन मदीयन वनवनीयमनविनामनदुनेन वजजमनान्विजमनानां मरंनान् विनन
 धीरवरेन इववावावरेव कजवरेव अनुनयनाकवा अनुनाकनुवयन सतःकडा कैलासा तत्रैव वरिम्ब

पुरातनसूत्रे परिम्लिष्टानि परिमृष्टानि विनाशितानि पुरातनसूत्राणि पूर्वतनानि वाक्यानि यत्र तथाभूते पत्रे लेखान्तरम् अन्य लेख लिलेख । तथाहि—“यदि श्रेष्ठिनी माम् अवधेयवचनम् अवधेयानि ग्राह्याणि प्रमाण-भूतानि वचनानि यस्य तथाभूत यदि मा मन्यते, महाबलश्च यदि माम् अनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसर पितर गणयति, वाचा प्रसर. वाक्प्रसर अनुल्लङ्घनीयो वाक्प्रसरो यस्य आदेयभाषणस्त यदि मा पितर जनक महाबलो मन्यते, तदा अस्मै निकाम नितरा सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसप्तत्ये धनकीर्तये सप्तपुरुषावसान यावत् अवलोकित-वशशुद्धये अस्मै धनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण जामातृदेय वस्तु कूपमुच्यते । हिरण्यकन्यादामो कूपद कथ्यते । हिरण्यकन्यादानक्रमेण द्विजदेवसमक्षम् अविचारापेक्षं विचारस्य अपेक्षाम् अकृत्वा श्रीमतिर्दातव्या इति । ततो यथाम्नातविधिस्त्वम् इमं लेखम् आमुच्य यथा आम्नाता प्रोक्ता विशिखा द्वकार-उकारादिमात्राचिह्नानि यत्र तथाभूतम् इमं लेखम् आमुच्य गले निबध्य समाचरितगमनाया विहितस्वस्थानगतौ अनङ्गसेनाया सत्या धनकीर्तिविचरेण विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेक विद्राण विनष्ट सान्द्र निबिड अवबोधरहित निद्रोद्रेक स्वापस्य अतिशयो यस्य, सोत्सेक सगर्वम् उत्थाय प्रयाय च गत्वा च श्रोदत्तनिकेतन श्रोदत्तगृहम्, जननीसम-न्विताय महाबलाय प्रदक्षितलेख श्रीमतिसख श्रीमति सखा यस्य स श्रीमतिजानि अजायत [श्रोदत्तो धनकीर्ति मारणार्थं कात्यायनोमन्दिर प्राहिणोत्, पर तच्छिद्याल त गृह प्रेष्य स्वयं देवीमन्दिरम् अव्रजत् तत्र च स श्याल मारकैर्मरित ।] श्रोदत्तो वार्ताम् इमाम् आकर्ण्य प्रतूर्णं क्षीघ्र प्रत्यावर्त्य प्रतिनिवृत्य निधाय स्थापयित्वा च तद्वधाय तन्मारणाय राजधानीवाहिरिकाया चण्डिकायतने चण्डिकानामदेव्या मन्दिरे कृतसकेत-सनद्धवपुष मारणसकेते सनद्ध वपु यस्य त नर कच्चराचरणपिशाचीं मलिनाचारो जीववध तत्र पिशाची पिशाचवदाचरणशीला देवद्रीचो देवमञ्जति देवद्रघ् पुरष, देवपूजिका स्त्री देवद्रीचो ता च तद्वधाय स्थाप-यित्वा, परिप्राप्तोदवसित परिप्राप्त उदवसित निजगृह रहसि धनकीर्ति मुहुराहूय बहुकूटकपटमति कूटो राशि बहुराशियुक्तकपटेषु मतिर्यस्य स श्रोदत्त एवम् आवभापे अव्रवीत् । वत्स, मदीये कुले किलैवम् आचार, पटुतरयामिनीमुखे कृष्णचतुर्दशीरात्रिप्रारम्भे कात्यायनीदेव्या प्रमुखे प्राङ्गणे चण्डिकादेवीमन्दिरे इति भाव, प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणवन्धेन प्रतिपन्नोऽङ्गक्रीत. अभिनवो नूतन कङ्कणबन्ध विवाहमङ्गलसूत्र-बन्धो येन । स्तनघयागोघेन स्तनघया बाला तस्या गोवेन पतिना । महारजनरसरक्ताशुकसमाश्रय स्वयमेव मापमयमोरमौकुलिर्बलिरूपहर्तव्य । महारजनानि कुसुम्भपुष्पाणि तेषा रसेन रक्त रागयुक्त यदशुक वस्त्रं तस्य समाश्रय अवलम्बन यस्य लोहितवस्त्रेणाच्छादित इत्यर्थ । स्वयमेव वरेणैव मापपिष्टविनिर्मितमोरमौकुलि मोर मयूर काक बलि उपहाररूपेण उपहर्तव्य समर्पणीय । धनकीर्ति —तात तात, यथा तातादेश भवत पूज्यस्य आदेशस्तथा तम् अनुरुधे । इति निगीर्य उक्त्वा, गृहीतकुलदेवतादेयहन्तकारोपकरण गृहीतानि स्वीकृतानि कुलदेवतायै निजान्वयरक्षिकायै देवतायै देया हन्तकारास्तण्डुला उपकरणानि च येन स धनकीर्तिः, तेन श्यालेन पत्नीभ्रात्रा महाबलेन पुरप्रदेशाभि सरन्नवलोकितश्च समालापितश्च भाषितश्च । हहो धनकीर्ति, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायाम् अस्या वेलायाम् अवगण क्वोच्चलितोऽसि । प्रवर्धमान वृद्धि गच्छश्चासौ अन्धकार तेन अवन्ध्याया युवतायाम्, अस्या वेलायाम् अस्मिन्नवसरे, अवगण एकक एव गणेन परिवारेण रहित अवगण क्व उच्चलितोऽसि । क्व गन्तुमुद्यतोऽसि । महाबल, मातुलनिदेशाक्षमसितनिवेदनाय दुर्गालये । श्वशुराजाया उपयाचितस्य निवेदनं कर्तुं देयवस्तुनिवेदनाय चण्डिकामन्दिरं यामि । यद्येव नगर-जनसस्तुतत्वात्त्व निवास प्रति निवर्तस्व । यदि गन्तुमिच्छसि, मागच्छ, यत स चण्डिकामन्दिरमार्गं नगर-जनान् प्रति असस्तुत अस्मिन् समये तेन मार्गेण गन्तु नोचितम् । त्व निवास स्वगृह प्रति निवर्तस्व याहि । अहम् एतदुपयाचितम् ऐशान्या स्पर्शयितुं प्रगच्छामि इष्टसिद्धयै देयद्रव्यम् ऐशान्या कात्यायन्या अर्पयितुं प्रगच्छामि यद्यत्र तातो रोषिष्यति तद्रोधमहमपनेष्यामि । ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदर-कन्धरम् कृतान्तस्य यमस्य उदरकन्धर कुक्षिगह्वरम् । महाबलस्तत्रत्ये मारणार्थं नियुक्ते पुरुषैर्मरितश्च । [श्रोदत्तभार्या विशाखा धनकीर्तिमारणोपाय रचयति पर मोऽपि विफल एव भवति । विषमोदक भक्षयित्वा उभाभवि श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्यौ भ्रियेते ।] श्रोदत्त सुतमरणशोकात्कूपान्त प्रकाशिताशेषवृत्तान्त. पुत्रमृत्युजात-दुःस्वप्नरसमोपागतान्तक, निवेदितसकलोदन्त, “सकलनिकाय्यकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि, मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे

कथितश्च कस्मै । गोविन्दनामधेयाम पोषालाम कर्त्तुमाय सकलपुत्रपुत्र्येभ्यश्च सप्तहस्त्यवनेभ्यो ज्येष्ठाय
 वयसा अधिकाय वसुधैवकुलविरिण्याय वसुधैवकुलविरिण्याय, निजमुत्तेन तिरस्कृतकमलाय गोविन्दाय । तस्मिन्
 तनयप्रौरया आनन्दमहस्या च आनीय सत्पावितममोमोशमा सुनन्दायाः समपितवाम् । उतम् अस्म हस्ति-
 मन्धिरस्य क्षरपीयेहस्य धनकीतिरिति नाम गोविन्देन । ततोऽसौ क्रमेण परित्यक्तसैववद्वं कमलेषु इव
 परित्यक्ता । पुनरा दैववद्वया वास्यावस्था वन सः कमलेषु इव हरिरिव । भुवनेनेति—भुवनेनस्तवनातेषां
 मनः पश्येन मनोवृत्ते यत्पथ्यं कृपायाम् अवधार्य तावथ्यं तेन सत्कुलानि विकारं प्राप्तानि यानि वसुधैव
 पोषाङ्गनामा गोपनामि एव कलिकुलानि भुङ्गसमुद्रा तं अवकेशं स्वार्थं आद्यकमेव मकरन्दः यत् ।
 पुनः कथंभूतम् । अस्मन्देति—अमन्त्रः मन्त्रान् स आसीत् आनन्दः तस्य कामः इच्छा तां वदतीति ।
 कतिपयत्वरूपायतनम् अतिमनीहुरसौन्वर्गमेहम् गीतम् आसावित प्राप्त । पुनरपि प्राक्भूतम् उतम्
 यत् आर्यं भूतं तस्य वधियया अवधार्य तस्य उपार्जनं कामः तवर्षं सज्जम् आगमनं मय तेन गीतमेव
 वृद्धः । वृद्धश्च गोविन्दः तस्य अवाप्तिप्रपञ्चं प्रातिविस्तरः [योवतः मत्पथ वर्ययन्तं त्वं विप्रेन मुच्यते
 वा बहि इति निजपुत्राय पथं लिखितवान्] योवत—गोविन्द मदीये सवने किमपि महत्कार्यम् अस्मदस्य
 तनवस्य निवेद्यं कथनीयमस्ति । तवर्षं प्रभुः प्रकल्पेववदती आनुनी यस्य स प्रभुर्यं धनकीति इति केन
 प्राह्वित्वा सत्वरं प्रहेतव्यं प्रेषणीय । गोविन्द—येष्टिन् एवमस्तु । केनैवैवमस्ति । यो वरिष्ठ-
 समस्तपौत्रवक्त्रं ज्ञातसकलभुक्तमानपरिमाणकं अद्वाक्य एव सन् अस्मदस्यविनाशवैस्वानरः अस्माकं वंस्व
 कुलस्य विनाशाय वैश्वानरः अन्तरिक्षास्ति । अवश्यं विध्यो विप्रेन वध्यः मुच्यते मुच्यते वध्यो वा विद्यतव्यः
 इति वनकीर्तिस्तथा तावदधिकमपिप्राप्त्याम् आदिष्टः सावदृश्यम् अवदृश्यं आचारः तेन सहितं सावदृश्यं मुद्रा
 सहितं मन्त्राकारसत्त्वं केन कृता इत्यनेन केनपत्रं निवेद्य त्वयमेव स वदवानित्यर्थः । यत्प्रभुत्वमेव सत्वरं केन-
 पत्रमपि तेन पत्रे वदम् । अथा च अस्मान्तरपकाराधीनमीनापराधरक्षस्याम् एकानस्याम् अस्मदस्य अस्मान्तर-
 पुत्रवन्मेत्यर्थः । तस्मिन्कृते य उपकार तस्याधीनमीनस्य अवगताः सत्यति प्रवैद्यो वा मत्वा तदामृतायाम्
 एकानस्याम् उपश्रमिन्वाम् । पूर्वजन्मनि यो मत्स्यो मुच्यतेन आदिष्टावतरणाय आत्मजस्य मुक्ताः स मृता
 उपश्रमिन्वा वैश्वानरावत । तत्प्रवैद्यपरिपश्यन्तवतिनि वने तस्यां प्रवैद्यं तत्प्रवैद्यः तत्र वसतिर मद्वातरः तस्य परिर-
 पर्यन्त (?) वतिनि वने उद्यते वर्ययमापनमना वर्ययः मर्यस्य अमहद्वयाय विक्रिपातनालपरिसरे पिकलां
 कोनिकानां द्वियः आनन्दस्तस्य आलोकस्य समस्ततोऽग्रमसौ वारणावै मयूयम् के वेष्टनं क्रियते तदास्मान्मुच्यते
 तस्य परिसरे समीपप्रवेष्टे निःसङ्गम् अवबोधद्वितं नाहम् अस्याप्योत् अनिष्टम् । [तवोचानि अनङ्गवेष्टे
 मन्त्रिकमता सा गाडनिर्द्धं तं विज्ञाय तस्य मन्त्रास्तेषाम् आदायवाचयत् । तस्मैवस्य परिवर्तनं कृत्वा तत्र केसे
 धनकीर्तये मदीया कथा मद्वायमनननेव वातव्येति विवेकः] अथावसरे अस्मिन् प्रस्तावे विद्विगपुत्रावचपविनोदा
 कुलकुमुदीपवचकेति । उपरिष्ठाया उपरिवारा । निश्चिन्निविद्याविद्वया सकलव्याप्तमर्त्तादिप्रकाशपुत्र । पुत्रवो
 पकारस्तिग्वा पुत्रवाम्कुलीनकृत्वा स्नेहना । संवोवनीपविषयाणां संवीवनी नातोपविर्त्तवा उपवोवे मुच्यद्वो
 मदी बीवनि तया सन्धुषी अनङ्गवेष्टेना नाम मन्त्रिण तस्मैव सज्जकारवरो आनन्दस्य तस्मै उपवोव मत्वा
 विलोचय च निःशब्दलोचना निवचसनेना विराज्य दीर्घसमयं तम् अनङ्गम् इव मदनमिव मुक्तकुमुदावतयत्
 मुक्तं त्वयं कुमुदास्त्राणां पुत्राणाणां तत्र अनुरादिपरिष्ठायो वेग कोशान्तरमिवम् अयो सोऽः स्वर्गलोकं
 विद्या मध्यलोकः तस्य मन्त्रम् अवचस्यतेति सामुद्रिकोक्तस्य समुत्पन्नमर्थमुक्तवैव वनकीर्तिम् पुनराबु-भ्यो-तरस्वदी
 वनायाम् प्रतिगतरयता रैलाधित्यमेव प्रकाशं विनिकृतम् ऊहितं कर्त्तव्या नाशकारमुक्तवानां विनयेन वसुधैव मुद्राः
 मध्यप्रवेद्य मय तस्मात् वृष्टवेद्यात् आदाय अनायप्रतिपादनाद्यधारेण लेभाम् अवाचयत् । अनायो मृत्युः तत्र
 प्रतिवाचनं वृत्तानाम् अस्त्राणां परवाक्यवद्वचनायाम् आलेखो लेखनं यत्र तन्नाभूत लेखम् अवाचयन् पठति स्म ।
 [अनङ्गवेष्टेना संमन्य मृत्युलेखं येष्टिपुत्री अधीनी अनवीर्तये वातव्येति लिलिये] त वाचिवरातरं यत्
 वैव हृदयन विदुर्बन्दी जुगुप्समाना अधीनमाञ्जनकरवन्दापुत्रातेन लोचनार्थम् अञ्जयं वरजलं लोचनमाञ्जनं तत्र
 करणम् र्गुणात् उतातेन गद्गीतेन वनवन्दीवन्मविनोदरतद्वेन आनन्दनावितनयनां वरनम् निर्वन-
 योदरेन इवभावनामयेन कञ्चनेन अनुनयकाया अनुनयपुत्रस्य अनाकवा लेखनं कथं परित्यज्य

पुरातनसूत्रे परिम्लिष्टानि परिमृष्टानि विनाशितानि पुरातनसूत्राणि पूर्वतनानि वाक्यानि यत्र तथाभूते पत्रे लेखान्तरम् अन्य लेख लिलेख । तथाहि — “यदि श्रेष्ठिनी माम् अवधेयवचनम् अवधेयानि ग्राह्याणि प्रमाण-भूतानि वचनानि यस्य तथाभूत यदि मा मन्यते, महाबलश्च यदि माम् अनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसर पितर गणयति, वाचा प्रसरः वाक्प्रसर [अनुल्लङ्घनीयो वाक्प्रसरो यस्य आदेयभाषणस्त यदि मा पितर जनक महाबलो मन्यते, तदा अस्मै निक्राम नितरा सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसप्तये घनकीर्तये सप्तपुरुषावसान यावत् अवलोकित-वशशुद्धये अस्मै घनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण जामातुदेय वस्तु कूपमुच्यते । हिरण्यकन्यादायी कूपद कथ्यते । हिरण्यकन्यादानक्रमेण द्विजदेवसमक्षम् अविचारापेक्षं विचारस्य अपेक्षाम् अकृत्वा श्रीमतिर्दातव्या इति । ततो यथाम्नातविशिखम् इमं लेखम् आमुच्य यथा आम्नाता प्रोक्ता विशिखा इकार-उकारादिमात्राचिह्नानि यत्र तथाभूतम् इमं लेखम् आमुच्य गले निबध्य समाचरितगमनाया विहितस्वस्थानगतौ अनङ्गसेनाया सत्या घनकीर्तिश्चिरेण विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेक. विद्राण विनष्ट सान्द्र. निविड अवबोधरहित निद्रोद्रेक स्वापस्य अतिशयो यस्य, सोत्सेक सगर्वम् उत्थाय प्रयाय च गत्वा च श्रीदत्तनिकेतन श्रीदत्तगृहम्, जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदशितलेख श्रीमतिसख श्रीमति सखा यस्य स श्रीमतिजानि अजायत [श्रीदत्तो घनकीर्ति मारणार्थं कात्यायनीमन्दिरं प्राहिणोत्, पर तच्छृङ्गाल त गृह प्रेष्य स्वयं देवीमन्दिरम् अग्रजत् तत्र च स श्याल मारकैर्मरित ।] श्रीदत्तो वार्ताम् इमाम् आकर्ण्य प्रतूर्णं शीघ्र प्रत्यावर्त्य प्रतिनिवृत्य निधाय स्थापयित्वा च तद्वधाय तन्मारणाय राजधानीवाहिरिकाया चण्डिकायतने चण्डिकानामदेव्या मन्दिरे कृतसकेत-सनद्धवपुष मारणसकेते सनद्ध वपु यस्य त नर कच्चराचरणपिशाचीं मलिनाचारो जीववध तत्र पिशाची पिशाचवदाचरणशीला देवद्रीची देवमञ्चति देवद्रघड् पुरुष, देवपूजिका स्त्री देवद्रीची ता च तद्वधाय स्थापयित्वा, परिप्राप्तोदवसित परिप्राप्त उदवसित निजगृह रहसि घनकीर्ति मुहुराहूय बहुकूटकपटमति कूटो राशि बहुराशियुक्तकपटेषु मतिर्यस्य स श्रीदत्त एवम् आवभापे अग्रवोत् । वत्स, मदीये कुले किलैवम् आचार, पटुतरयामिनीमुखे कृष्णचतुर्दशीरात्रिप्रारम्भे कात्यायनीदेव्या प्रमुखे प्राङ्गणे चण्डिकादेवीमन्दिरे इति भाव, प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणवन्धेन प्रतिपन्नोऽङ्गकीर्त अभिनवो नूतन कङ्कणबन्ध विवाहमङ्गलसूत्र-बन्धो येन । स्तनघयागोधेन स्तनघया बाला तस्या. गोधेन पतिना । महारजनरसरक्ताशुकसमाश्रय स्वयमेव मापमयमोरमौकुलिर्बलिरुपहर्तव्य । महारजनानि कुसुम्भपुष्पाणि तेषा रसेन रक्त रागयुक्त यदशुक वस्त्र तस्य समाश्रय अवलम्बन यस्य लोहितवस्त्रेणाच्छादित इत्यर्थ । स्वयमेव वरेणैव मापपिष्टविनिर्मितमोरमौकुलि मोर मयूर काक बलि उपहाररूपेण उपहर्तव्य स्मरणीय । घनकीर्ति — तात तात, यथा तातादेश भवत पूज्यस्य आदेशस्तथा तम् अनुरुधे । इति निगीर्य उक्त्वा, गृहीतकूलदेवतादेयहन्तकारोपकरण गृहीतानि स्वीकृतानि कुलदेवतायै निजान्वयरक्षिकायै देवतायै देया हन्तकारास्तण्डुला उपकरणानि च येन स घनकीर्तिः, तेन श्यालेन पत्नीभ्रात्रा महाबलेन पुरप्रदेशान्नि सरन्नवलोकितश्च समालापितश्च भापितश्च । हहो घनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायाम् अस्या वेलायाम् अवगण क्वोच्चलितोऽसि । प्रवर्धमान वृद्धि गच्छश्चासौ अन्धकार तेन अवन्ध्याया युवतायाम्, अस्या वेलायाम् अस्मिन्नवसरे, अवगण एकक एव गणेन परिवारेण रहित अवगण क्व उच्चलितोऽसि । क्व गन्तुमुद्यतोऽसि । महाबल, मातुलनिदेशान्नमसितनिवेदनाय दुर्गालये । स्वशुराजाया उपयाचितस्य निवेदन कर्तुं देयवस्तुनिवेदनाय चण्डिकामन्दिरं यामि । यद्येवं नगर-जनासस्तुतत्वात्त्व निवास प्रति निवर्तस्व । यदि गन्तुमिच्छसि, मागच्छ, यत म चण्डिकामन्दिरमार्गं नगर-जनान् प्रति अमस्तुत अस्मिन् समये तेन मार्गेण गन्तु नोचितम् । त्व निवास स्वगृह प्रति निवर्तस्व याहि । अहम् एतदुपमाचितम् ऐशान्या स्पर्शयितुं प्रगच्छामि इष्टसिद्धये देयद्रव्यम् ऐशान्या कात्यायन्या अपर्यितुं प्रगच्छामि यद्यत्र तातो रोपिष्यति तद्रोपमहमपनेष्यामि । ततो घनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदर-कन्दरम् कृतातस्य यमस्य उदरकन्दर कुक्षिगह्वरम् । महाबलस्तत्रत्ये मारणार्थं नियुक्ते पुरुषैर्मरितश्च । [श्रीदत्तभार्या विशाखा घनकीर्तिमारणोपाय रचयति पर सोऽपि विफल एव भवति । विपमोदक भक्षयित्वा उभावपि श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्यौ भ्रियेते ।] श्रीदत्त सुतमरणशोकात्स्फोपान्त प्रकाशिताशेषवृत्तान्त पुत्रमृत्युजात-दुःखज्वरसमीपागतान्तक, निवेदितसकलोदन्त, “सकलनिकायकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि, मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे

कविदत्तश्च वस्मै । भोविन्दनामधेयाम् गोपाताय, नयंमुताय सकलमोपज्येष्ठाय सप्तदशवर्षजनेभ्यो ज्येष्ठाय
 वसता भविकाय वस्त्रवकुलधिरिष्ठाय सप्तवर्षभप्यम्, निजमुखेन विरस्कृतकमलाय भोविन्दाय । सोऽपि
 तनवप्रीत्या ज्ञानन्दमहत्या च आनीय उत्पादितमनोमोक्षमा- सुमन्वायाः समपितवान् । कृतम् भस्म हरि-
 मन्दिरस्य कदमीगेहस्य धनकीतिरिति नाम गोविन्देन । ततोऽसौ कमेय परित्यक्तसहस्रवत्- कमेय इव
 परित्यक्तः । मुक्ता दीप्तवदता वास्यावस्था येन सा कमलेश इव हरिरिव । मुक्ताजनेति—मुक्तास्तावतासौ
 धन वस्त्रेण मनोमहये यत्पथ्यं ज्ञायाम् अथवायं तावथ्यं तेन परिक्रम्यति विकासं प्राप्ताति यानि वस्तुनां
 गोपाङ्गानां बोधनानि एव अतिक्रम्यति मुक्तसमुदा तौ अवलोक्य स्वायं कावच्यमेव मकरन्दा वस् ।
 पुनः कथंमूढम् । अमन्देति—अमन्दाः महान् स चासौ आनन्दः तस्य काम इच्छा तां ददातीति ।
 अतिशयानुपपन्नम् अतिमनोहरसौन्दर्यमिहम् यौवनम् आसादितं प्राप्य । पुनरपि प्राग्गम् कृतम्
 यत् आर्यं पृष्टं तस्य वक्षित्या व्यवाहारः तस्य उपार्जनं कामः तस्यं सज्जम् आचमनं यस्य तेन क्षीयते
 कृत् । पृष्ठव गोविन्दः तस्य अवाप्तिप्रपन्नं प्राप्तिविस्तरः [श्रीवत्तः मत्पत्रं दधयन्तं त्वं विप्रेन वृक्षेन
 वा अहि इति निजपुत्राय पत्रं लिखितवान्] श्रीवत्त—योविन्द यदीये सत्ने किमपि महत्कामम् आत्मनस्य
 तनयस्य निवेद्यं कप्तोयमस्ति । तदर्थं प्रभुः प्रकर्षवैषयती आनुनी यस्य स प्रभुरयं वनकीर्ति इव केन
 प्राद्वित्वा सत्वरं प्रहृष्टम् प्रेषणीय । गोविन्दः—येष्टिन् एवमस्तु । मेकं वैवदम्भित्वा जहौ विहित
 समस्तप्रीत्यकं आतसकलमुक्तमानपरिमाणकं महावत् एव कृतुं अन्तर्हृदयविनाससंस्कारं अस्माकं वृष्टव
 कुलस्य विनाशाय वैरवानरः अग्निरिवास्ति । अक्षयं विष्णो विप्रेन वस्यं मुच्यतां मुच्यते वस्यो वा विवदम्भः
 इति धनकीर्तिस्तथा तातवमिवतिष्ठाम् आदिह साष्टव्यम् अष्टव्यम् आचारः तेन सहितं साष्टव्यं मुद्रा
 सहितं वचनकारसत्वं केन कृत्वा दवरकेन केनपत्रं निषेध्य तदपके स वद्व्याविरचय । एकवद्व्यमप्येन सहैवं केन
 पत्रमपि तेन वक्षे वद्व्यम् । यथा च अग्न्यान्तरोपकाशीवमोनाकारसरस्थाम् एकानस्याम् अग्न्यग्न्यं अग्न्यान्तरो
 पुनश्चमेवयथ । तस्मिन्को य उरकारः तस्याधीनमीनस्य अवनतः उत्पति प्रवेष्टी वा मस्यां तवामुतावान्
 एकानस्याम् अष्टवमिन्नाम् । पूर्ववद्व्यमपि यो मत्स्यो मुगसेनेन अहिष्ठावनरथायै वाक्कावचै मृक्ता । मृत्वा
 अष्टवमिन्ना वैरवाद्ययत् । तत्प्रवचधधिरपर्यन्तवर्तिनि वनेतस्या प्रवचः तत्प्रवेष्टः । तव यत्पदिरं महासरः तस्य वरि
 पयत् (?) वनिनि वने उद्यते वनमयापनयनाय वरमन मायस्य वमहृत्वाय विद्विषावाकावपरिवरे पिक्ता
 कोविजानां प्रियः आनन्दस्तस्य आकाशस्य समस्तोऽग्न्यसो वारणाये यजुसमुखे वेदने क्रियते तवात्मनामुपने
 तस्य परिवरे सवीप्रवेष्टे निःसक्तम् अक्षयोपरहितं पात्रम् अस्वाप्तीत् अनिद्रस्तु । [तद्योयाने अनङ्गमेव
 नक्षिकागता सा पात्रनिद्रं तं विज्ञाय तस्य वलास्तेषाम् आवायावाचयत् । तस्मैवस्य परिवरतं कृत्वा तव कैते
 धनकीर्तये मदीया क्रिया मवानमननयेव आतयेति लिखेत्] अनावसरे अस्मिन् प्रवचये विहितपुत्रावचयविनीत
 कृतकुनोदवचयैति । सपरिष्कृता सतिरवात् । निक्षिब्धविद्याविश्रवा सकलमानवतवादिक्काचमुत् । पूर्ववद्व्यो-
 पकारस्मिन्ना पूर्ववद्व्योतीनृत्वा स्नेह्वा । संजोदनीयचित्तमावा संजीवनी नाथोपचिर्वस्या उपयोने मृत्वरूपो
 मरी जोवति तथा सद्यो अनङ्गमेव नाथ गविरा तदीयं सङ्गारतरी आनन्दस्य तस्य कपटोस्य तथा
 विधीय च निःपदमोचना निरवन्नेता विद्याय वीर्यतमये तम् अनङ्गम् इव परममिव मुक्तकुनारवत्तम्
 मुक्तां तदर्थं कुमुदास्त्रात्वा पुत्रवापानां तत्वं अनुगृह्यविपरिप्लवो यन लोकाग्नरमिव अग्नौ लोहः स्वर्गलोहं
 विना मध्यमीव तस्य मिरम् आचमनान्नेनि सामुद्रिकोपसकलसाधनयनीर्षवदेहं वनरोतिम् पुनरापु न्यो-नरवती
 तवागमं प्रतिगदयता देवाहितयेनेव प्रवाद्य विवदितम् अङ्गिर्न वनीत्यां नागाकारमुपवधानां विवरेन वपुः । पुनरः
 मध्यवेष्टः यस्य तन्मात् कष्टदेष्टात् आनन्द आनन्दप्रतिपादनासात्तैर्नैवम् अवाचयत् । आनन्दो मृत्यु तस्य
 प्रतिपादनं वृणाम् धराताम् । परवाकवद्व्यमपावाम् आनन्दो मेकम् अथ तद्यमुग मेकम् अवाचयत् वदति इव ।
 [अनङ्गमेवता सप्तम्यं मृत्युमेवं येष्टिगती धीयनी वनकीर्तये वातयेनि लिखेत्] त वापिप्रकाशतं वनं
 ईदं दृष्टव निवृत्ती अनुभवमावा लोचनाञ्जनकरन्दागुतातेन लोचनाथम् अञ्जनं वज्रं लोचनाञ्जनं ताव
 करन्दा नृपुणम् उगातेन गीतेन वनवक्षीयन्तवनिर्वाणकद्वेन उपवतनातिनन्दनां मर्तान् निर्ग-
 तोरवेन इववावनामेव वज्रमेव अनुभवनाकवा अनुगृह्युग व कष्टदेष्टा मेकम् अथ वदति मृत्यु-

पुरातनसूत्रे परिम्लिष्टानि परिमृष्टानि विनाशितानि पुरातनसूत्राणि पूर्वतनानि वाक्यानि यत्र तथाभूते पत्रे लेखान्तरम् अन्य लेख लिलेख । तथाहि—“यदि श्रेष्ठिनी माम् अवधेयवचनम् अवधेयानि ग्राह्याणि प्रमाण-भूतानि वचनानि यस्य तथाभूत यदि मा मन्यते, महाबलश्च यदि माम् अनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसर पितर गणयति, वाचा प्रसर वाक्प्रसर [अनुल्लङ्घनीयो वाक्प्रसरो यस्य आदेयभाषणस्त यदि मा पितर जनक महाबलो मन्यते, तदा अस्मै निकाम नितरा सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसप्तये धनकीर्तये सप्तपुरुषावसान यावत् अवलोकित-वशशुद्धये अस्मै धनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण जामातृदेय वस्तु कूपमुच्यते । हिरण्यकन्यादायो कूपद कथ्यते । हिरण्यकन्यादानक्रमेण द्विजदेवसमक्षम् अविवचारापेक्ष विचारस्य अपेक्षाम् अकृत्वा श्रीमतिर्दातव्या इति । ततो यथाम्नातविशिखम् इमं लेखम् आमुच्य यथा आम्नाता प्रोक्ता विशिखा इकार-उकारादिमात्राचिह्नानि यत्र तथाभूतम् इमं लेखम् आमुच्य गले निबध्य समाचरितगमनाया विहितस्वस्थानगतौ अनङ्गसेनाया सत्या धनकीर्तिश्चिरेण विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेक विद्राण विनष्ट सान्द्र निविड अवबोधरहित निद्रोद्रेक स्वापस्य अतिशयो यस्य, सोत्सेक सगर्वम् उत्थाय प्रयाय च गत्वा च श्रीदत्तनिकेतन श्रीदत्तगृहम्, जननीसम-न्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेख श्रीमतिसख श्रीमति सखा यस्य स श्रीमतिजानि अजायत [श्रीदत्तो धनकीर्ति मारणार्थं कात्यायनीमन्दिर प्राहिणोत्, पर तच्छृणु त गृह प्रेष्य स्वयं देवीमन्दिरम् अव्रजत् तत्र च स श्याल मारकैर्मरित ।] श्रीदत्तो वार्ताम् इमाम् आकर्ण्य प्रतूणं बौध्न प्रस्थावर्त्य प्रतिनिवृत्य निधाय स्थापयित्वा च तद्वधाय तन्मारणाय राजधानीवाहिरिकाया चण्डिकायतने चण्डिकानामदेव्या मन्दिरे कृतसकेत-सनद्धवपुष मारणसकेते सनद्ध वपु यस्य त नर कच्चराचरणपिशाची मलिनाचारो जीववध तत्र पिशाची पिशाचवदाचरणशीला देवद्रीचो देवमञ्चति देवद्रघङ् पुरुष, देवपूजिका स्त्री देवद्रीचो ता च तद्वधाय स्थाप-यित्वा, परिप्राप्तोदवसित परिप्राप्त उदवसित निजगृह रहसि धनकीर्ति मुहुराहूय बहुकूटकपटमति कूटो राशि बहुराशियुक्तकपटेषु मतिर्यस्य स श्रीदत्त एवम् आवभाषे अवब्रीत् । वत्स, भदीये कुले किलैवम् आचार, पटुतरयामिनीमुखे कृष्णचतुर्दशीरात्रिप्रारम्भे कात्यायनीदेव्या प्रमुखे प्राङ्गणे चण्डिकादेवीमन्दिरे इति भाव, प्रतिपक्षाभिनवकङ्कणवन्धेन प्रतिपक्षोऽङ्गक्रीत अभिनवो नूतन कङ्कणवन्ध विवाहमञ्जलसूत्र-बन्धो येन । स्तनधयागोधेन स्तनधया बाला तस्या. गोधेन पतिना । महारजनरमरक्ताशुकसमाश्रय स्वयमेव मापमयमोरमौकुलिर्बलिरुपहर्तव्य । महारजनानि कुसुम्भपुष्पाणि तेषा रसेन रक्त रागयुक्त यदशुक वस्त्र तस्य समाश्रय अवलम्बन यस्य लोहितवस्त्रेणाच्छादित इत्यर्थे । स्वयमेव वरेणैव मापपिष्टविनिर्मितमोरमौकुलि मोर मयूर काक बलि उपहाररूपेण उपहर्तव्य स्मर्पणीय । धनकीर्ति—तात तात, यथा तातादेश भवत पूज्यस्य आदेशस्तथा तम् अनुरुधे । इति निगौर्य उक्त्वा, गृहीतकुलदेवतादेयहन्तकारोपकरण गृहीतानि स्वीकृतानि कुलदेवतायै निजान्वयरक्षिकायै देवतायै देया हन्तकारास्तण्डुला उपकरणानि च येन स धनकीर्तिः, तेन श्यालेन पत्नीभ्रात्रा महाबलेन पुरप्रदेशान्नि सरस्वलोकिरश्च समालापितश्च मापितश्च । हहो धनकीर्ति, प्रवर्धमानाङ्घकारावन्ध्यायाम् अस्या वेलायाम् अवगण ववोच्चलितोऽसि । प्रवर्धमान वृद्धि गच्छश्चासौ अन्धकार तेन अवन्ध्याया युवतायाम्, अस्या वेलायाम् अस्मिन्नवसरे, अवगण एकक एव गणेन परिवारेण रहित अवगण. वव उच्चलितोऽसि । वव गन्तुमुद्यतोऽसि । महाबल, मातुलनिदेशाश्रमसितनिवेदनाय दुर्गालये । श्वशुराजाया उपयाचितस्य निवेदन कर्तुं देयवस्तुनिवेदनाय चण्डिकामन्दिरं यामि । यद्येव नगर-जनासस्तुतत्वात्त्व निवास प्रति निवर्तस्व । यदि गन्तुमिच्छसि, मागच्छ, यत स चण्डिकामन्दिरमार्गं नगर-जनान् प्रति असस्तुत अस्मिन् समये तेन मार्गेण गन्तु नोचितम् । त्व निवास स्वगृह प्रति निवर्तस्व याहि । अहम् एतदुपयाचितम् ऐशान्या स्पर्शयितुं प्रगच्छामि इष्टसिद्धयै देयद्रव्यम् ऐशान्या कात्यायन्या अर्पयितुं प्रगच्छामि यद्यत्र तातो रोषिष्यति तद्रोषमहमपनेष्यामि । ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदर-कन्दरम् कृतातस्य यमभ्य उदरकन्दरं कुक्षिगह्वरम् । महाबलस्तत्रैव मारणार्थं नियुक्तै पुरुषैर्मरितश्च । [श्रीदत्तभार्या विशाखा धनकीर्तिमारणोपाय रचयति पर सोऽपि विफल एव भवति । विषमोदक भक्षयित्वा उभावपि श्रेष्ठिश्रेष्ठिच्यौ त्रियेते ।] श्रीदत्त सुतमरणशोकातश्चोपान्त प्रकाशिताशेषवृत्तान्त पुत्रमृत्युजात-दुःखज्वरसमीपागतान्तक, निवेदितसकलोदन्त, “सकलनिकायकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि, मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे

विद्यालो समस्तमूहकाराविरमयतुरे भवोयचित्तान्तराणे बह्विधेयासद्वृत्ते विद्यालो कथमर्थं वक्ष्ये- यमान्वा-
पायश्रेतु- प्रबुधगोत्रावबिद्योपलभे- प्रथामयितव्यः । कथमर्थं वक्ष्ये- गृहकर्मा मूलं मम मंसविद्यापदे-
प्रमुक्तापायविनाते केतुगुह्य- हृतव्य- । विद्यालो-येष्टिन्, मेधमावात् सर्वमनुपपन्नं त्वया वेष्टिन् ।
येष्टिन्, मेधमावात् पूर्वत्वात् नृत्वात् चञ्चलत्वात् । सप्तम् अनुपपन्नं अनुमितकं कार्यं त्वया हृतम् ।
यत् कृत्वात्वात् वास्तुतत्वात् मार्गात्वात् मीतः कुक्कुटपोत इव ताम्रपूडसिद्धिरिव तूष्णीं मौनं वास्त-
सपदिष्ट । भविष्यति भवतोऽप्येवं मनीयितम् । यन्निष्ठं तं पूर्वं भविष्यति इत्याभास्य उत्तरत्वा अपरे-
अन्त्यस्मिन्निवसे वयितकीवितव्यनोबकेषु मोक्षेषु विप संशयं वयितस्य वस्त्रमस्य जीवितव्यं ज्ञेयं तस्य
तोत्रेषु पु-बुद्धावियु मावेषु कञ्चुकेषु विप संशयं मेधयित्वा सुते धीमते न एते कुक्कुटमुहकास्ततो मोक्षकाले
स्वकीयाम कात्याय देवा कुम्भपुष्पवत् स्वेतकमलवत् च शितसुतयो कञ्चुका- निबन्धनं कान्ताम स्वान्नि-
देया देवावस्यामावस्यामलवस्यावच अनकाय ब्रूयतामलवत्पुष्पाव्यविषयेवदन्मुहकास्ततो मोक्षका पित्रे
देवा । इति समवित्तमया अवधमिनसंकेता समासभरणसमया समोपागतमृतिवेद्या सतिष्ठि नद्यां सवदाय
स्नानं कर्तुम् अनुससार अन्त्यवत् । धीमतिः यन्तोत्त(?) अस्य उत्पत्तीत्याय ताताय वित्तितव्यम् ।
चोर्धं मर्त्तं सुन्दर, धुमिर्दोषकः स प्रतीत्याय पुण्याय ताताय पित्रे देव- इत्यवस्य विद्याय अविद्यासज्जिवि-
वित्तकीटित्वा अनुसमाप्तमन्त्राकपटमावा नि-अन्त्यवत्पुष्पाव्यविषयेवदन्मुहकास्ततो मोक्षका पित्रे देवा-
अवीवृत्तं पदमेववत् । ये मुहकास्तो मोक्षकाले निजपद्ये चन्द्रकान्तास्ते पित्रे तया वयिविद्यन्त । विद्यालो-
पठित्वा मर्त्तं प्राप्त्वात्वात् पठित्वित्तम्, अन्त्यवत्पुष्पाव्य अनसुखम् अमार्गं गृहम् आप्य आगत्य पठित्वं च
छोर्धं विद्याय च वीधसमयम् । पुन पुन किमव्यथा यवति मद्गमुनिमावितम् । केवलं तव वापेन यथा च
वेद्यालोपायव्यविकीपाय कृत्योत्पापममाचरितम् । तव वापेन पित्रा दीर्घा स्वधिरया अरत्या मया च आरतोवाच्यो
निजवत्तं तत्त्व विज्ञोपाय विनाशाय कृत्वा नाम क्रूरदेवताया उत्थापनम् आचरितम् । सा आनक्या कृतेति माव- ।
तत्त्वमय बहुप्रकापेन । कस्यपुमं कस्यकृतेन त्वमनेन ईशदेवदेहवत्ताविधानेन वक्षेन सार्धम् आकृतम् इन्द्रियैरन-
सुखमनुभव इति नमाविद्याधीर्वाता तमेकं मोक्षकमात्वात् परकु पधि प्रत्यक्षे । कस्यपुमं कस्यकृतेन त्वमनेन
विधिना देवस्य देहस्य घटीरस्य रत्नमविधानेन वक्षेन परया सह आकृत्य कस्यान्तकाकं यावत् इन्द्रियवृत्तम्
ऐश्वर्यमूलं च अनुभव इति समविद्याधी तमेकं कञ्चुकं यत्तामिता परम् पधि माये प्रत्यक्षे वनाम मृतेति माव- ।
[वित्तमरेण राजा स्वकस्या वनकीटये वत्ता मुक्तालोपि वनकीटः पित्रा कौशाम्बीदेवात्ताप्यधीपुत्रम्
(उग्रवर्तिनं) आगत्य पुत्रेण सार्धं समविष्टः ।] एव विहितेति-एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कृतवापविद्याय-
धीनतया प्राप्तालोमवृत्तपोष्ये तस्मिन् माजीवितरि तन्मातरि च वक्ष्यीत्येव मृते सति स पुत्रात्तमुह-
प्रमावात् । अन्त्यपिठेति-अन्त्यवत्पुष्पाव्यविषयेवदन्मुहकास्ततो मोक्षका पित्रे देवा-
वित्तमरेण राजा स्वकस्या वनकीटये वत्ता मुक्तालोपि वनकीटः पित्रा कौशाम्बीदेवात्ताप्यधीपुत्रम्
पुरमावाय अनेन आरच्यपुत्रजितवमन्त्रिनेन अनुयातेन सपीयसा पुत्रेण सह संजग्मे समपच्छतः ।

[पृष्ठ १६४-१६५] अयान्यदा सकलसति-कथं पत्नी पुत्र- धर्मं च तत्त्वं ईशं च तेन
सद्भिनेन धनकीर्तिना धर्मनामावयवा अनन्त्येनया च अनुवर्तमाना- गुणनालघ्यो मनिधुनावधिमन-पर्ययकोचर
समाश्रम, सकलमवतन्नद्वयसार्धं शोयलोप्यनामपार्थ अवकण्टम् अनिरुद्धं स बहुविधवैभवं वरपयापम्
अपचक्षु-यमवन्, कि नाम अगन्तारै धममूनिना अमस्य पुत्रावावादिमुहकस्य मुनिना घटीरेण धनकीर्तिना
मुहं पुत्रमुवाजिन् । येन वासकाकेनैव तानि तानि ईशेवगारजप्रतीवातानि ईशम् एव एवं मुक्तं घटं रत्नं
तेन प्रतीकारः संरटिशापोरायो यथा तानि अन्त्यनादि संरटानि स्यान्निबन्धनं अन्त्यवत्पुष्पाव्य-
अस्मिन् अनि अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य
अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य
अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य अन्त्यवत्पुष्पाव्य

ग्रहाणा महानरपाश्वर्वाश्रिताना गुणाना समवाय सचय अभवत् । तथाहि—स्थान वदान्यताया दातृत्वस्य, समाधय, निकेतनम् अवदानकर्मण प्रशस्तकर्मण, गृहम्, क्षेत्र मैत्रेयिकाया मैत्रीभावस्य निवासः, स्वप्नेऽपि न स्वजनस्य अजनि अजायत मनोमन्तु मनमाध्यपराध । कन्तुरिव च मदन इव च कामिनीलोकस्य नारोजनस्य । तदस्य भद्रं महामुने, प्रापणिकपरिपत्प्रवणस्य प्रापणिका क्रयविक्रयकारिणो वैद्या तेषा परिपत् सद्य तस्मिन् प्रवणस्य चतुरस्य । नि शेषेति—सकलागमवनुरचित्तस्य निमगदेव । निखिलेति—सकल-परिच्छदाभापणतत्परस्य । विनेयेति—विनेतु शिथितु योग्या विनेया भव्या श्राद्धजना तेषा मन कुमुद-मोदिकयावतारे अमृतमूर्ते चन्द्रस्य सुकीर्ते. शोभनयशम् पुरोपाजित पूर्वजन्मलब्ध सुकृत पुण्य कथयितुमर्हसि । भगवान्—श्रेष्ठिन् धूयताम् । तत्सबन्धमवत धनकीतिश्रेष्ठिन । प्राग्जन्मसबन्धसहित पूर्वोक्त वृत्तान्तम् अचकथत् कथयति स्म । या चास्य पूर्वभवनिकटा पूर्वजन्मना समीपस्था घण्टाभिवेया वधूटी पत्नी आसीत्, सा पूर्व-जन्मकृनाभिलाषा दमूनसि अग्नौ प्रवेशादिय सप्रति अधुना श्रोमति । मजाता, यश्च मीन स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य उत्लङ्घ्य पूर्व प्राप्तन पर्यापयर्ष अवस्थायान्ध्रियम् इय अनङ्गसेना अजनि अजायत । अतोऽस्य महाभागस्य एकदिवसाहिंसाफल एतद्विजृम्भते परिवर्धते । धनकीति एतद्वचनपवित्रश्रोत्रवर्मा एतस्य वचनेन वाक्येन पूतकर्णमार्ग, तथा श्रोमनि अनङ्गसेना च पुराभवभव प्राग्जन्मभव भव जन्म सभाल्य श्रुत्वा, उन्मूल्य च तम सतानतस्निवेशमिव तमसाम् अज्ञानाना सतान समूह स एव तस्य वृक्ष तस्य निवेशमिव रचनामिव केशपाश तस्यैव दोषज्ञस्य अन्तिके दोषान् रागद्वेषमोहादीन् जानातीति दोषज्ञ तस्य मुने यशोध्वजस्य अन्तिके समीपे, यथायोग्यताविकल्पं योग्यताया विकल्प भेदम् अनुसृत्य, जिनमार्गोचितेन जिनकथितचारित्र्योपाययोग्या-चरणेन चिराय दीर्घकालम् आराध्य रत्नत्रयम्, विधाय च त्रिविधत् आगमम् । अनुसृत्य निरजन्ममनोवर्तन प्रायोपवेशनम् । अजन्मम् उपमर्गं विघ्न निर्गतम् अजन्मात् मनोवर्तन यस्मिन् तथाभूत निदिघ्न भाव प्रायोपवेशनमिति मामादिकमवधि कृत्वा चतुराहारत्याग विधाय । तदनु धनकीति सर्वार्थमिद्विसाधनकीति-वंभूव । सर्वार्थमिद्विनामकस्य पञ्चमानुत्तरस्य साधने कीर्तयस्य तथा वभूव । समाधिमरणेन धनकीतिमुनि सर्वार्थमिद्वि जगामेति भाव । श्रोमतिरनङ्गसेना च कल्पान्तरसयोज्य षोडशस्वर्गेषु केनचिदन्यतमेन कल्पान्तरेण स्वर्गान्तरेण सयोज्य देवसायुज्यं देवदमयोगम् अभजत् । भवति चात्र श्लोक 'सर्वार्थ' । पञ्चकृत्वः इति—किलेत्यागमे । आगमे इति कथितमिति भाव । पुरा एकस्य मत्स्यस्य पञ्चकृत्व पञ्चवारम् अहिंसात् पञ्चवारम् अभयदानात् धनकीर्ति पञ्चापद पञ्च सकटानि अतीत्य उत्लङ्घ्य, श्रिय पति राजलक्ष्म्या पति स्वामी अभवत् ॥३६३॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलवल्लोकनो नाम षड्विंशः कल्पः ॥२६॥

२७ स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशः कल्पः ।

[पृष्ठ १६६] अदत्तस्येति—अदत्तस्य वित्तस्वामिना यत्र समपित तस्य परस्वस्य परकीयधनस्य ग्रहण स्तेय चौर्यम् उच्यते । पर सर्वभोग्यात् सकलै जने स्थिरे आगन्तुमिदं भोक्तु योग्यात् तोयतृणादित भावात् जलतृणादित पदार्थात् अन्यत्र तत् स्तेयम् उच्यते । जलतृणादीना सर्वभोग्यत्वात् न तद्ग्रहण चौर्यम् । तत्र स्वस्वामिकत्वाभावात् ॥३६४॥ ज्ञातीनामिति—ज्ञातीना दायादानाम् अत्यये मरणे तै. अदत्तमपि धन ग्राह्यम् इति समतम् । तु अन्यथा जीवता ज्ञातीना निवेशेन दुरभिप्रायेण राजवर्चसा धन गृह्यते चेत् व्रतक्षति अचौर्यव्रतनाश स्यात् । जीवता ज्ञातीना निवेशेन इदं त्वं गृह्णाणेति दत्त चेत् चौर्यं न भवति ॥३६५॥ संक्लेशेति—संक्लेशाभिनिवेशेन रागाद्यावेशेन आर्तरीद्राभिप्रायेण वा यत्र स्वपराश्रिते रायि धने प्रवृत्ति स्यात्

१ 'व' प्रती सर्वार्थ इति नास्ति 'क' प्रती च नास्ति सर्वार्थः ।

विद्यालये समस्तपुष्कामाभिरक्षयपुरे मदीयविद्यालयस्थाने चन्द्रलेखासदृशे विद्यालये कथमयं वनेयः ममात्मना
 पायहेतु प्रमुक्तोपायविशेषोपपन्नः प्रभावयितव्यः । कथमयं वनेयः गृहकर्म मूल मम वसतिस्थाने
 प्रमुक्तोपायविद्यालये केतुमुख्यं हस्तव्य । विद्यालया—येष्टिन्, येष्टमाभात् सर्वमनुपपन्नं त्वया येष्टिन् ।
 येष्टिन्, येष्टमाभात् मूर्कत्वात् बुद्धत्वात् चन्द्रमस्तथा । सर्वम् अनुपपन्नं अनुपपन्नं कार्यं त्वया कृतम् ।
 अतः कुलवत् शास्त्रतत्त्वात् मार्गात्वात् भीतः कुलकुटपोत इव ताम्रबुद्धिधुरिण तूष्णीं मोक्षम आस्त्य
 उपविष्टः । अविच्छति प्रवृत्तौ मदीयवित्तम् । यद्विष्टं ते पूर्वं सविच्छति इत्यामाध्य उपस्था अपरबु
 द्धमस्मिन्निवसे दयितव्यवित्तमोदकेषु मोक्षनेषु विष्टं संचार्य दयितव्यमस्मिन्निवसे वीरितम् वीरितं तस्य
 मोक्षनेषु पुनश्चापि मोक्षनेषु कर्तव्येषु विष्टं संचार्य मेलयित्वा सुते धीमते य एते बुद्धकुमुदकास्तयो मोक्षकास्ते
 स्वकीयाय काम्नाय देवा कुलपुत्रवत् स्वेतकनकवत् च चित्तसूतयो कर्तव्या विद्याय काम्नाय स्वामिने
 देवा । इति समस्तिसमया अवसमिच्छतेऽतां सदासममरमसमया सवीयावतमृतिवेद्या छरिति मद्या उपनय
 स्नानं कर्तुम् अनुसरार अन्वयच्छत् । धीमतिः यच्छेज्ज(?) अयं तत्प्रतिद्विषाय ताताय विष्टिच्छत् ।
 मोक्षं मयं सुन्दरं सुविमोक्षः स प्रतीक्ष्याम्य पूज्याय ताताय पित्रे देव इत्यवगत्य विद्याय अविद्यावत्तविधि-
 विष्टकीर्तिस्त्वा अनुदमात्तमः कवटमात्रा नि सत्यहृदया सरजमानसा ताम्नीयकात् एतयो अन्वयस्यो विष्टवैद्य
 अवीर्यवत् पर्यवेद्यत् । ये पुनरवर्णा मोक्षकास्ते निवृत्तये चन्द्रकान्तास्ते पित्रे तया पर्यवेद्यन्त । विद्यालया—
 पश्चिद्यम् मरणं प्राप्त्वात् पतिरक्षितम्, अरण्यामायम् अनसृष्टम् अमार्गं गृहम् आत्म जानत्य परिदेय्य च
 शोकं विद्यालये दीक्षितमयम् । पुन पुन किमन्वया अस्ति महामुनिमाधितम् । वेष्टं तव वनेन मया च
 वेष्टातोपायविशेषोपाय कुलतोपायमाचरितम् । तव वनेन पिता वेष्टा त्वविरथा अरण्या मया च आरमीयान्वयो
 निवृत्तः तस्य विद्योपाय विद्यालया कुरवा नाम कुरवेष्टातामा उत्पत्तयम् आचरितम् । सा आत्मक्या कृतैति नाव ।
 तद्वत्तम बहुप्रधानेन । कल्पयुगेन कल्पयुगेन त्वमनेन ईश्वरेष्टेष्टरक्षाविद्यानेन वनेन चार्थम् आकल्पम् इतिष्टम्-
 सुष्ठमनुमय इति संभाविताधीर्वासा तमकं मोक्षकमास्था परबुः पवि प्रगच्छे । कल्पयुगा कल्पयुगोव त्वमनेन
 विविदा देवस्य वैष्टस्य धरीरस्य रक्षाविद्यानेन वनेन परया सह आकल्पं कल्याणकारं वाक् इतिष्टवुष्टम्
 ऐश्वर्यं कुलं च अनुमय इति संभाविताधी तमेकं कर्तव्यं असदित्वा परबुः पवि मार्गं प्रतप्ते अमान मतेति भावः ।
 [विष्टमनेन राजा स्वकन्या मनकीर्तये दत्ता मुलपाकोऽपि मनकीर्तः पिता कीर्त्ताम्नीरेष्टात्पद्मावतोपुरम्
 (कल्पयुगी) आगत्य पुत्रे चार्थं समतिष्ठत् ।] एवं विष्टितेति—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कृतपत्तानिष्टा-
 मोक्षतया प्राप्ताधीमसुष्टोक्तवते अस्मिन् भाग्यवित्तरे तन्मातरि च वसमीत्ये मृते सति स पुरातनमुष्ट
 प्रमादात् । अस्मिन्विष्टेति—अतिप्रमत्तमनाकप्रायविनासकपञ्चसंश्रुतः प्रतिविष्टं अस्मिन्माधमीः एष्ट्या तेन
 विष्टमनेन राजा स्वकन्या मनकीर्तये दत्ता मुलपाकोऽपि मनकीर्तः पिता कीर्त्ताम्नीरेष्टात्पद्मावतोपुरम्
 पत्न्यपदेन ईश्वरानाम् आधिपत्यपदेन श्रेष्ठपुत्रेन तथा विद्यां यमुजानाम् आधिपत्यपदेन स्वाधित्यपदेन योजितस्य
 मुष्टयाश्च किंवदन्तीपरपरया अनसृष्टया परपरया अस्त कल्याणपरपराम् आकल्पं कोयाम्नीरेष्टात्पद्मावतो-
 पुरमावत्य अनेन आकल्पं मुक्तविद्यमवहितेन अनुजातेन अवीर्यया पुत्रेण सह संजयं जनयच्छत् ।

[पृष्ठ ११४-११५] अथान्यथा सकलेति—कल्पं पत्नी पुत्रं मित्रं च तन्मै ईश्वं च तेन

सहितेन मनकीर्तना वरुणायागतया मनजूतेनया च अनुसरयत्तारः गुणपाकयेष्टी अतिमुष्टाविमल पर्यवकोचर
 तन्नामम्, सकल्पमस्तमन्वराज्यं धीमतेष्टवज्जनामपार्थ मनवन्तम् अविच्यत् स बहुविद्येन वरुणानम्
 अनुपपन्नम्—अनवन् किं नाम अन्मातरे अममृतिना अमस्य पूजाहानाविमुक्तस्य मृतिना धरीरेण मनकीर्तना
 मुष्टं पुनमुपाकितम् । येन आकल्पकैश्चि तां तां ईश्वरसरजमतीचापि ईशम् एव एकं मुखं चारं रम्यं
 तेन प्रतीकारः संकल्पिताद्योतायो मेवा तां अस्तनामि संकल्पानि अस्तित्वात् अन्मिष्टवत् । येन बुद्धतेन
 अस्मिन् अगति अतिरिक्तम् अविष्टं रक्षायां पुत्रिभ्याम् अनुपपन्नमार्गं कर्तुं आकल्पं तेन तन्नाम अम् । येन
 अरजः विपुलः अविष्टः आकाशसंस्थो विद्यामनु विद्युदग्निः तस्य अन्नासंभारः वातितनूः इव ईशानाम्
 अति अतिप्रमत्तः अनिराष्टकान्तिः सज्जतिः । येन आचरिष्यामि अन्मिष्टम् अति तेनां तया महामुष्टवत्

ग्रहाणा महानरपाश्वर्वाभिताना गुणाना समवाय सचय अभवत् । तथाहि—स्थान वदान्यताया दातृत्वस्य, समाश्रय, निकेतनम् अवदानकर्मण प्रशस्तकर्मण, गृहम्, क्षेत्र मैत्रेयिकाया मैत्रीभावस्य निवासः, स्वप्नेऽपि न स्वजनस्य अजनि अजायत मनोमन्तु मनसाप्यपराध । कन्तुरिव च मदन इव च कामिनीलोकस्य नारोजनस्य । तदस्य भद्रन्त महामुने, प्रापणिकपरिपत्प्रवणस्य प्रापणिका क्रयविक्रयकारिणो वैश्या तेषा परिपत् सध तस्मिन् प्रवणस्य चतुरस्य । नि शेषेति—सकलागमचतुरचित्तस्य निसर्गादेव । निखिलेति—सकल-परिच्छदाभापणतत्परस्य । विनेयेति—विनेतु शिष्टितु योग्या विनेया भव्या श्राद्धजना तेषा मन कुमुद-मोदिकथावतारे अमृतमूर्ते चन्द्रस्य सुकीर्ते शोभनयशस पुरोपाजित पूर्वजन्मलब्ध सुकृत पुण्य कथयितुमर्हसि । भगवान्—श्रेष्ठिन् धूयताम् । तत्सवन्धसक्त धनकीर्तिश्रेष्ठिन् । प्राग्जन्मसवन्धसहित पूर्वोक्त वृत्तान्तम् अचकथत् कथयति स्म । या चास्य पूर्वभवनिकटा पूर्वजन्मना समीपस्था घण्टाभिवेया वधूटी पत्नी आसीत्, सा पूर्व-जन्मकृताभिलाषा दमूनसि अग्नौ प्रवेशादिय सप्रति अधुना श्रीमति सजाता, यश्च मीन स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य उल्लङ्घ्य पूर्व प्राक्तन पर्यायपर्व अवस्थाग्रन्थिम् इय अनङ्गसेना अजनि अजायत । अतोऽस्य महाभागस्य एकदिवसाहिंसाफल एतद्विज्जन्मते परिवर्धते । धनकीर्ति एतद्वचनप्रवित्रश्रोत्रवर्त्म एतस्य वचनेन वाक्येन पूतकर्णमार्ग, तथा श्रीमति अनङ्गसेना च पुराभवभव प्राग्जन्मभव भव जन्म सभाल्य श्रुत्वा, उन्मूल्य च तम सतानतरनिवेशमिव तममाम् अज्ञानाना सतान समूह स एव तत्र वृक्ष तस्य निवेशमिव रचनामिव केशपाश तस्यैव दोषज्ञस्य अन्तिके दोषान् रागद्वेषमोहादीन् जानातीति दोषज्ञ तस्य मुने-यशोध्वजस्य अन्तिके समीपे, यथायोग्यताविकल्पं योग्यताया विकल्प भेदम् अनुसृत्य, जिनमार्गोचितेन जिनकथितचारित्र्योपाययोग्या-चरणेन विराय दीर्घकालम् आराध्य रत्नत्रयम्, विधाय च विधिवत् आगमम् । अनुसृत्य निरजन्ममनोवर्तन प्रायोपवेशनम् । अजन्यम् उपसर्गं विघ्न निर्गतम् अजन्यात् मनोवर्तन यस्मिन् तथाभूत निर्विघ्न भाव प्रायोपवेशनमिति, मासादिकमवधि कृत्वा चतुराहारत्याग विधाय । तदनु धनकीर्ति सर्वार्थमिद्विसाधनकीर्ति-र्वभूव । सर्वार्थसिद्धिनामकस्य पञ्चमानुत्तरस्य साधने कीर्तिर्यस्य तथा वभूव । समाविमरणेन धनकीर्तिमुनि सर्वार्थसिद्धिं जगामेति भाव । श्रीमतिरनङ्गसेना च कल्शान्तरसयोज्य पोडशस्त्रगणैः केनचिदन्यतमेन कल्पान्तरेण स्वर्गान्तरेण सयोज्य देवसायुज्यं देवरादसयोगम् अभजत् । भवति चात्र श्लोक 'सर्वार्थ । पञ्चकृत्वः इति—किलेत्यागमे । आगमे इति कथितमिति भाव । पुरा एकस्य मत्स्यस्य पञ्चकृत्व पञ्चवारम् अहिंसनात् पञ्चवारम् अभयदानात् धनकीर्तिं पञ्चापद पञ्च सकटानि अतीत्य उल्लङ्घ्य, श्रिय पति, राजलक्ष्म्या पति स्वामी अभवत् ॥३६३॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम पद्मविंश कल्पः ॥२६॥

२७ स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशः कल्पः ।

[पृष्ठ १६६] अदत्तस्येति—अदत्तस्य वित्तस्वामिना यत्र समर्पित तस्य परस्वस्य परकीयघनस्य ग्रहण स्तेय चौर्यम् उच्यते । पर सर्वभोग्यात् सकलै जनै स्थिरै, आगन्तुभिश्च भोक्तु योग्यात् तोयतृणादित भावात् जलतृणादित पदार्थात् अन्यत्र तत् स्तेयम् उच्यते । जलतृणादीना सर्वभोग्यत्वात् न तद्ग्रहण चौर्यम् । तत्र स्वस्वामिकत्वाभावात् ॥३६४॥ ज्ञातीनामिति—ज्ञातीना दायामदानाम् अत्यये मरणे तै अदत्तमपि घन ग्राह्यम् इति समतम् । तु अन्यथा जीवता ज्ञातीना निवेशेन दुरभिप्रायेण राजवर्चसा घन गृह्यते चेत् व्रतक्षति-अचौर्यव्रतनाश स्यात् । जीवता ज्ञातीना निवेशेन इदं त्व गृहाणेति दत्त चेत् चौर्यं न भवति ॥३६५॥ सकलेशेति—सकलेशाभिनिवेशेन रागाद्यावेशेन आर्तरीद्राभिप्रायेण वा यत्र स्वपराश्रिते रायि घने प्रवृत्ति स्यात्

१ 'व' प्रती सर्वार्थ इति नास्ति 'क' प्रती च नास्ति सर्वार्थ ।

विद्यासौ समस्तगृहकार्यचरित्रचतुरे मयीमवित्तान्मद्वाने अश्वमेधासव्ये विद्यासौ कथमयं बनेद ममात्मन-
पायतेतु प्रमुक्तोपायविलोपनकेतु प्रभावयितव्यः । कथमयं वैधेयः गृहकर्मा मूल मम बंधविनाशहेतु
प्रमुक्तोपायविनाशे केतुतुल्यं हृत्तुल्यम् । विद्याका—येष्टिन्, मेकमावात् सवमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम् ।
येष्टिन्, मेकमावात् मूर्खत्वात् बुद्धत्वात् चण्डकत्वाद्वा । सर्वम् अनुपपन्नं अनुसिक्तं कार्यं त्वया कृतम् ।
अतः कुस्मृतं वास्तुतत्त्वान् मार्जारहा भीतः कुक्कुटपोत इव ताम्रचूडसिम्भुरिव तूष्णीं मोहन आस्य
उपविश । अविध्यति भवतोऽप्येवं मनीषितम् । यद्विष्टं ते पूर्वं अविध्यति इत्यामाम्य उक्त्वा अपरेषु
अभ्यस्तिम्भिते इयितवीक्षितव्यतोषकेषु मोक्षेषु विप संशय इयितव्यं वस्त्रव्यस्य बीषितव्यं बीषन इत्य
तोषकेषु कुक्ष्यायिषु मोक्षेषु कर्तव्येषु विषं संशय मेक्षयित्वा सुते श्रीमते य एते कुक्ष्यकुम्भकास्तयो मोक्षकस्ते
स्वकीयान् कार्ताय देवा कुक्ष्यपुष्पवत् वनेतकमधवत् न सितसुतयो कर्तव्यका निजाम कान्ताय स्वात्मि
देवा इवावस्थायाकन्यामखरवपवण वनकाम ब्रूयत्तत्त्ववर्णतृणवाभ्यविष्टेवध्वजसूत्रकास्तयो मोक्षका पित्रे
देवा । इति समपित्तसमया अवयमित्तसंकेता समस्तप्रमदभक्तमया समीपागतमुष्टिदेवा सरिति मद्या सनान
त्नानं कर्तुम् अनुससार अन्वयच्छत् । यीमतिः यन्त्रोक्त(?) कथं तत्परीक्ष्याय ताताय विवरितव्यम् ।
चोर्ध नमं सुन्दरं क्षुभिमोक्षः स प्रदीक्ष्याय पूज्याय ताताय पित्रे देव इत्यवन्त्य विज्ञाय अविहातविधि-
चित्तकौटिह्या अनुद्धमात्सुम्नाकपटमावा निःकल्पहृदया सरत्तमानता ताम्नीरकान् एतयो जनकपत्न्या विपर्वदेव
अवीज्जत् पर्यवेववत् । ये ब्रूयवर्णा मोक्षकास्ते निजपतये चण्डकास्तास्ते पित्रे तथा पमवेव्यन्त । विद्याका—
पठिसूर्यं मरुतं प्राप्तरत्वात् पठिच्छितम् अरण्यासामान्य वनसदुषम् अगारं गृहम् आप्य जापस्य परिद्वेष्य च
क्षोर्ध विनाय च दीवसमयम् । पुनः पुनः किमप्यथा भवति मद्भानुनिवापितम् । केवळं तव वापेन मया च
वैरीरमोवाभ्यविक्षोपाय इत्योत्पापनमाचरितम् । तव अनेन पिता वैर्यं स्वधिरया अरत्वा मया च आरभीमान्यो
निजवर्धं तस्य विक्षोपाय विनाशाय कृत्वा नाम क्रूरवेवताया उत्थापनम् आचरितम् । सा जानकका कुटेति माव ।
तवकमन बहुप्रकापेन । कस्यपुमेव कस्यकतेन त्वमनेन वैधेयवैद्वरक्षाविधानेन धनेन सार्धम् आकम्प्य इन्द्रिवर्यं
सुखमनुभव इति संभावितानीकविशं तमेकं मोक्षकमास्याव एतुः पवि प्रगच्छे । कस्यपुत्रा कस्यवस्त्रीव त्वमनेन
विधिना देवस्य वैद्वस्य सरीरस्य रक्षणविधानेन बनेन परया सह आकम्प्य कस्यान्तकासं यावत् इन्द्रियकुम्भ
ऐस्वर्गसुखं च अनुभव इति समवितासी- तमकं उद्धृक्कं भक्षयित्वा पत्युः पवि मार्गे प्रतस्थे ब्रह्म मृतेति माव ।
[विस्मयेन राजा स्वकन्या वनकीर्तये क्ता मुष्पाकोऽपि वनकीर्तयेः पिता कौत्सात्म्येवात्प्राप्यतोपुष्पं
(उग्रवर्तिनी) जापस्य पुनश्च सार्धं समपिष्टव ।] एव विहितेति—एवं पूर्वात्प्रकारेण कृतपापविनाश-
बीनतया प्राप्तासोमसुतसीकृच्छे तस्मिन् मार्गपितरि तन्मातरि च दक्षवीर्ये मृते सति स पुरातनमुकुलं
प्रभावत् । अस्मिन्पितेति—अतिवृत्तमयानकप्राजविनाशकपञ्चसंकेतः अतिविशदं अविध्यमाधवीः एकदा तेन
विस्मयेन राजानमोक्षितः तवङ्गुलैर्नयं कल्पवृक्षपुष्पावर्णैश्च तनुत्रया स्वमुतया सह उभयेन विद्याम् आधि
परमपदेन वैस्वानाम् आधिपत्यपदेन येष्टिपदेन तथा विद्यां अनुज्ञानम् आधिपत्यपदेन स्वामित्वपरव्या बीषितव्य
पुष्पात्वा किञ्चरतीपरपरया वनपत्न्या परपरया अस्व कस्याप्यपरपरया आकम्प्य कौत्सात्म्येवात्प्राप्यतो-
पुरमापरम अनेन आरचर्ममुक्तविभवसहितेन अनुज्ञातेन कभीमया पुनश्च सह संजाते समपच्छय ।

[पृष्ठ १६४-१६६] अथान्यथा सकलेति—कलत्रं पत्नी पुत्र मित्रं च तस्य सौम्यं च तेन
सहितेन वनकीर्तिना सर्वनामागतया अनङ्गुलेनया च अनुसस्यत्तर- गुणपात्रयेष्टी यतिमुत्तारविमल पर्ययोचर
सन्नामम्, सकलसंवत्सरवृत्तराजं श्रीपक्षीपञ्चनामपार्श्वं धनवत्तम् अभिषण्य स बहुदिनयेन ब्रह्ममात्रम्
अपुच्छत्—अगवन्, किं नाम अगमात्तरे कर्ममूर्तिना कर्मस्य पूजाहातादितुष्टुसह मूर्तिना सरीरेन वनकीर्तिना
मुकुलं पुष्पमुपाश्रितम् । येन आकम्प्येष्टिपि ताति ताति वैद्वीकपारमप्रदीपाराणि वैवम् एव एव मुक्चं सरत्वं राजकं
तेन प्रतीकारः संकेतविनाशोऽप्यो येषां ताति व्यसनाणि संशयाणि व्यतिवृत्तान् चण्डकृतान् । तेन सुतेन
अस्मिन् जघनि व्यतिरिक्तम् अभिषं रसाया पुष्पिण्याम् अनुसस्यन्मार्गं यत्पुं तत्राप्यं तेन गीघ्रं अमू । तेन
अरभ्य विपुलं अभिष्य आकाशसंश्रव्णी विभाषतु विमुचति- तस्य प्रमात्तंयारः वामित्तमृद् इव वेष्टानाम्
अपि अत्रिहृत्तमृद् अत्रिहृत्तवाप्तिः समजति । तेन आरयेवामपि जन्मैवाम् अति तेना संशं

प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारम् अचीकरत् । वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्क घट्टादिदेयद्रव्यम्, भाटक गृहाद्विस्वामिने निवासार्थं व्यवहारार्थं वा देयद्रव्य भाटकम्, भागहारव्यवहारम् उत्तमणवमर्णयो यो घनदानादिव्यवहारो भवति तत्रोत्तमर्णेन यत् अव्यवहारेण अधमर्णत घनग्रहण क्रियते स भागव्यवहार उच्यते । एवविध व्यवहार स पुरोहितोऽकरोत् । किं कृत्वा स व्यवहारमकरोत् । पेण्डास्थान क्रयाणपत्तनं पीठस्थान (?) विनिर्माय । कथभूत तत् । विभक्तेति—विभक्ता पृथक्पृथक् स्थिता ये अनेके अपवरका अन्तर्गृहाणि तेषां या रचना तथा शालिनीभि शोभमानाभि महाभाण्डवाहिनीभि महावणिङ्मूल-घनधारिणीभि, गोशालोपशल्याभि गवा शाला गोशाला तस्या उपशल्याभि समीपस्थिताभि कुल्याभि पटशालाभि समन्वितम् । पुन कथभूतम् । अतिसुलभेति—अतिसुलभाना जलाना यवसाना तृणानाम् इत्यनाना काष्ठाना च प्रचारो यत्र तत् । पुन कथभूत तत् । भाण्डनारम्भेति—भाण्डन कलह तस्यारम्भे चङ्कटा गूरा ये भरीरा योधास्तेषां पेटकपक्ष समूहपक्ष तेन रक्षासार कृतरक्षणत्वात् सारभूतम् पुन कथभूतम् । गोस्तेति—गो धेनो स्त ध्वनि यावद्दूर श्रूयते तावत्प्रमाण यद्वप्र सस्यक्षेत्रम्, प्राकार साल प्रतोलि रथ्या, परिखा खातिका इत्यादिभि सूत्रित कृत त्राण रक्षण यस्य तत् । पुन कथभूतम् । प्रपेति—पानीयशाला । सत्रम् अन्नदानशाला । सभा व्यवहारनिर्णयपरिषत् । एभि सनाथा युक्ता या वीथय गृहपङ्क्तय तासां निवेशन रचना यत्र तत् पण्यपुटभेदन विक्रेयद्रव्यपरिपूर्णं पुटभेदन नगरम् । पुन कथभूतम् । विदूरितेति—विदूरित निवारित किंवा द्यूतक्रीडारता । विटा पिङ्गा । विदूषका चाटुवटुका । पीठमर्दा नर्मभाषणकारिण । एतेषाम् अवस्थान यत्र तत् तथाभूत पेण्डास्थान विनिर्माय विरच्य नानादिदेशगमनकारिणा वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमची-करत् पुरोहित श्रीभूतिरिति सवन्वोऽत्र ज्ञेय । [अस्मिन्प्रस्तावे भद्रमित्रो नाम वणिक् श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नी-समक्ष सप्तरत्नानि दत्त्वा सुवर्णद्वीपम् अगच्छत्] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रसंगे भद्रमित्र सुवर्णद्वीपम् अनुमसारेति सवन्ध । स कस्य सूनुरिति विवृणोति कवि—पद्मिनीखेटेति—पद्मिनीखेटपट्टने विनिविष्ट सनिवेश-विशिष्टो य आवास मन्दिरम् आलय तस्मिन् तन्त्रस्य तदधीनस्य तत्र निवसत इत्यर्थ । सुमित्रस्य वणिकपते सूनु भद्रमित्र । कथभूतस्य सुमित्रस्य । सुदत्तेति—सुदत्ता कलत्र सुदत्ता भार्या तस्या चरित्रेण सदाचारेण पवित्रित गोत्र यस्य, तस्य वणिकपते (सुमित्रस्य) सूनु । कथभूत । निजेति—निजा ये सनाभय अन्वयजा जना त एव अम्मोजानि कमलानि तेषां विकासने भानुरिव सूनु । कथभूत । समानेति—समान घन चारित्र्य येषां तै वणिकपुत्रै वैश्यसुतै सत्र सह बहित्रयात्रायां नौकागमने यियासु यातुमिच्छु यियासु जिगमिषु । इति विचार्य सुवर्णद्वीपमनुससार । किं विचार्य । पादेति—यत् उद्यमात् घन लभ्यते तस्य चत्वारो विभागा कर्तव्याः । तत्र आयात् जाताद्वनलाभात्, पाद चतुर्थांश निधिं कुर्यात् मूलघनत्वेन योजयेत् अवशिष्ट पाद भर्तव्यपोषणे कुटुम्बभरणार्थं तद्विनियोग कुर्यात् ॥३७३॥ इति श्लोकार्थम् अवधार्य, किं स्यात् कुत्र स्यात् इति विमृश्य, उदिताचारसेव्य उदित विज्ञे कथित आचार व्यवहार सेव्यो यस्य । अवधारितेति कर्तव्य निश्चितकार्यपद्धति, सन् स भद्रमित्र । अखिलेति—अखिला सकला, ते च श्रीभूते हस्ते तत्पत्नीसमक्षम् अनर्थकक्षम् अनर्घा उत्तमा कक्षा पार्श्वभागा यस्य तत्, अनुगताप्तकम्, आप्तेभ्यो अनुगत हितकारिभ्य पूर्वजेभ्य अनुयात रत्नसप्तक निधाय स्थापयित्वा । विधाय च जलयात्रा-समर्थ जलयात्रासपादकम् अर्थं घनम् । एकवर्णप्रजाप्रलापम् एकवर्णा एव प्रजा वर्तते इति प्रलाप किंवदन्ती यत्र तथाभूत सुवर्णद्वीपम् अनुससार ।

[पृष्ठ १६९-१७०] पुनरिति—पुन

अगण्यपण्यविनिमयेन अमरुष्यक्रयविक्रयवस्तुना प्रतिदानेन, तत्रत्य सुवर्णद्वीपसवन्धि अचिन्त्यम् असकल्प्यम् आत्माभिमतवस्तुस्कन्ध स्वेष्टपदार्थसमूहम् आदाय गृहीत्वा, प्रत्यावर्त्तमानस्य स्वदेश प्रतिनिवर्त्तमानस्य व्याघुटिनस्य अदूरसागरावसानस्य अदूर समीप सागरस्य समुद्रस्य

प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारम् अचीकरत् । वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्क घट्टादिदेयद्रव्यम्, भाटक गृहादिस्वामिने निवासाय व्यवहारार्थं वा देयद्रव्य भाटकम्, भागहारव्यवहारम् उत्तमर्णाधमर्णयो यो घनदानादिव्यवहारो भवति तत्रोत्तमर्णेन यत् अश्वव्यवहारेण अधमर्णत घनग्रहण क्रियते स भागव्यवहार उच्यते । एवविध व्यवहार स पुरोहितोऽकरोत् । किं कृत्वा न व्यवहारमकरोत् । पेण्ठास्थान कयाणपत्तन पीठस्थान (?) विनिर्माय । कथभूत तत् । विभक्तेति—विभक्ता पृथक्पृथक् स्थिता ये अनेके अपवरका अन्तर्गृहाणि तेषां या रचना तथा शालिनीभि शोभमानाभि महाभाण्डवाहिनीभि महावणिङ्मूल-घनधारिणीभि, गोशालोपशल्याभि गवा शाला गोशाला तस्या उपशल्याभि समीपस्थिताभि कुल्याभि पटशालाभि समन्वितम् । पुन कथभूतम् । अतिसुलभेति—अतिमुलभाना जलाना यवसाना तूणानाम् इन्धनाना काष्ठाना च प्रचारी यत्र तत् । पुन कथभूत तत् । भाण्डनारम्भेति—भाण्डन कलह तस्यारम्भे उद्भूटा शूरा ये भरीरा योधास्तेषां पेटकपक्ष समूहपक्ष तेन रक्षासार कृतरक्षणत्वात् सारभूतम् पुन कथभूतम् । गोरुतेति—गो धेनो रत घ्वनि यावद्दूर श्रूयते तावत्प्रमाण यद्व्र सस्यक्षेत्रम्, प्राकार साल प्रतोलि रथ्या, परिखा खातिका इत्यादिभि सूत्रित कृत घ्राण रक्षण यस्य तत् । पुन कथभूतम् । प्रपेति—पानीयशाला । सत्रम् अन्नदानशाला । सभा व्यवहारनिर्णयपरिपत् । एभि सनाथा युक्ता या बोधय गृहपङ्क्तय तासां निवेशन रचना यत्र तत् पण्यपुटभेदन विक्रेयद्रव्यपरिपूर्ण पुटभेदन नगरम् । पुन कथभूतम् । चिटूरितेति—विदूरित निवारित किंवा द्यूतक्रीडारता । विटा पिङ्गा । विदूषका चाटुवटुका । पीठमर्दा नर्मभाषणकारिण । एतेषाम् अवस्थान यत्र तत् तथाभूत पेण्ठास्थान विनिर्माय विरच्य नानादिदेशगमनकारिणा वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमची-करत् पुरोहित श्रीभूतिरिति सवन्धोऽत्र ज्ञेय । [अस्मिन्प्रस्तावे भद्रमित्रो नाम वणिक् श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नी-समक्ष सप्तरत्नानि दत्वा सुवर्णद्वीपम् अगच्छत्] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रमगे भद्रमित्र सुवर्णद्वीपम् अनुससारेति सवन्ध । स कस्य सूनुगिति विवृणोति कवि—पद्मिनीखेटेति—पद्मिनीखेटपट्टने विनिविष्ट सनिवेश-विशिष्टो य आवास मन्दिरम् आलय तस्मिन् तन्त्रस्य तदधीनस्य तत्र निवसत इत्यर्थ । सुमित्रस्य वणिक्पते सूनु भद्रमित्र । कथभूतस्य सुमित्रस्य । सुदत्तेति—सुदत्ता कलत्र सुदत्ता भार्या तस्या चरित्रेण सदाचारेण पवित्रित गोत्र यस्य, तस्य वणिक्पते (सुमित्रस्य) सूनु । कथभूत । निजेति—निजा ये सनाभय अन्वयजा जना त एव अम्भोजानि कमलानि तेषां विकासने भानुरिव सूनु । कथभूत । समानेति—समान घन चारित्र्येपेता तै वणिक्पुत्रै वैश्यसुतै सत्र सह बहिन्यात्राया नोकागमने यियासु यातुमिच्छु यियासु जिगमिषु । इति विचार्य सुवर्णद्वीपमनुससार । किं विचार्य । पादेति—यत् उद्यमात् घन लभ्यते तस्य चत्वारो विभागा कर्तव्याः । तत्र आयात् जाताद्वनलाभात्, पाद चतुर्थांश निधि कुर्यात् मूलधनत्वेन रक्षेत् पाद वित्ताय कल्पयेत् चतुर्थांश वित्ताय उद्यमे भाण्डमिति योजयेत् । चतुर्थांश घर्मे च उपभोगे च योजयेत् अवशिष्ट पाद भर्तव्यपोषणे कुटुम्बभरणार्थे तद्विनियोग कुर्यात् ॥३७३॥ इति श्लोकार्थम् अवधार्य, अतिचिरम् उपनिधिन्यासयोग्यम् आवास विचार्य च दीर्घकाल रत्नादिनिधिस्थापनयोग्यम् आवास स्थान किं स्यात् कुत्र स्यात् इति विमृश्य, उदिताचारसेव्य उदित विज्ञं कथित आचार व्यवहार सेव्यो यस्य । अवधारितेति कर्तव्य निश्चितकार्यपद्धति, सन् स भद्रमित्र । अखिलेति—अखिला सकला, ते च ते जनाश्च तेषां श्लाघ्यः प्रशस्य यो विश्वाम विस्रम्भ तस्य प्रसूति उत्पत्ति यस्मात् । तथाभूतस्य श्रीभूते हस्ते तत्पत्नीसमक्षम् अनर्घकक्षम् अनर्घा उत्तमा कक्षा पार्श्वभागा यस्य तत्, अनुगताप्तकम्, आप्तेभ्यो अनुगत हितकारिभ्य पूर्वजैभ्य अनुयात रत्नसप्तकं निधाय स्थापयित्वा । विधाय च जलयात्रा-समर्थ जलयात्रासपादकम् अर्थं धनम् । एकवर्णप्रजाप्रलापम् एकवर्णा एव प्रजा वर्तते इति प्रलाप किंवदन्ती यत्र तथाभूत सुवर्णद्वीपम् अनुससार ।

[पृष्ठ १६९-१७०] पुनरिति—पुन

अगण्यपण्यविनिर्माणेन अमर्यक्रयविक्रयवस्तूना प्रतिदानेन, तत्रत्य सुवर्णद्वीपसवन्धि अचिन्त्यम् असकल्प्यम् आत्माभिमतवस्तुस्कन्ध स्वेष्टपदार्थसमूहम् आदाय गृहीत्वा, प्रत्यावर्त्तमानस्य स्वदेश प्रतिनिवर्त्तमानस्य व्याघुटितस्य अदूरसागरावसानस्य अदूर समीप सागरस्य समुद्रस्य

सत्प्रवृत्ति यस्य एतादृशं माम् अतिवेलम् एव वेत्या मर्यादाम् अतिक्रम्यैव अत्राण्डे अनवमरे चण्डकर्मन् पर्य-
नुयुञ्जान् प्रशान्त्तं कुर्वन्, यथा न लज्जते । पुनश्चैनम् अर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालम् अर्थानां मत्प्रमणीना
प्रार्थनयाचना तस्य पथि मार्गे यो मनोरथस्तेन विशालं यद्वदालं ग्रहिन्यवत् यद्वदालं ब्रुवन्तं भद्रमित्रं पालिन्द-
मन्दिरं राज्ञः हृत्म् अनुचरं निर्जन्तिकरं । आनाय्य नोत्वा अनार्यमिति अनार्या पापयुक्ता गतिर्यस्य न श्रीभूतिः,
तं भद्रमित्रं पृथिवीनाथेनापि राजापि निगराजयत् निरघाटयत् । उत्तेजिनराजहृदयं उत्तेजितं क्रोधक्षोभं
नीतं राजो हृदयं येन न श्रीभूतिर्नै उदितं वचनं । तान्येव घण्टयनि—‘देव, अयं वणिक् निष्कारणम्
अस्माकं दुष्प्रवादमृदङ्गवत् दुष्प्रवादो निन्दा अवयवश्च तयोर्घोषणं कुर्वाणो मृदङ्ग इव मुखरमुखः वाचालवदनः
नायरहितवपुः भवत् सुप्तेन धामितुं आगोहणं कर्तुं न ददाति । अनस्ति तस्मान्नक इव सुप्तेन धामितुं न ददाति ।’
इत्यादिभिः उदितैर्भाषणे अवाप्नोत्प्रसरतया लब्धावकाशत्वात् उत्तेजिनराजहृदयं । तदेव स्ववत् राजापि
निरघाटयत् ।

[पृष्ठ १७१-१७२] भद्रमित्र—चित्रमेतन्, ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय कुलक्रमायाताखिल-
कमलानिलयम् अनन्यतामान्यनाहवालम् एष मोपधिपणानिधि अपर इव अपायजलनिधि नगरमध्येऽपि
मोपिनुमभिलषति । आश्चर्यमेतत्, ननु यत् यस्मात् मामपि परविप्रलम्भाय अन्यप्रतारणाय । कुलेति—
वशपरम्परायानमरुलल-मोगृहम् जन-मसदृशनाहनगृहम् । एष मोपधिपणानिधि एष सत्त्वघोषः मोप-
स्तेयं तत्र या धिपणा बुद्धिः तस्या निधिनिधानम् अपर इव अपायजलनिधि अन्य इव अपायो विनाशः
तस्य जलनिधिः समुद्रः । न एष श्रीभूतिः नगरमध्येऽपि मोपितुं स्नेनितुं चोरितुम् अभिलषति इच्छति ।
इति जातामर्षोत्कर्षं जात उत्पन्न अमर्षस्य क्रोधस्य उत्कर्षं तीव्रता यस्य स भद्रमित्रः तं न्यासार्पणे
न्यासस्य निक्षिप्तस्य घनादे अर्पणे तस्त्वामिने दाने अतिचिक्कणचित्तम् अतिकठिनमनसं निदिच्य ।
स्वाध्यायविपश्चिदि स्वाध्यायिनाम् अध्ययनशीलानां मठवासिनाम् परिपदि सभाया महापरिपदि च
महान्तं राजपुरुषा मान्यनागरिका वा घमाधिकारिण तेषां परिपदि सभाया च तस्य अन्यायस्य विद्वसित-
द्रोहस्य विन्यासेन स्वापनेन साध्यसिद्धिं मणिसप्तकप्राप्तिम् अनवबुध्य अनघोनघो न परवशबुद्धिं अशङ्क-
सुकमतिं निमग्नबुद्धिं महादेवोद्यमनेमनिवेशं महादेव्या रामदत्ताया घाम प्राप्ताद तस्य नेमे समीपे
निवेशं स्थितिर्यस्य तम् अम्लिकानोक्तदृष्टिगोदेशम् अम्लिकानोक्तं तन्निष्पत्तीरस्तस्य शिवादेशम् अग्र-
प्रदेशम् आरुह्य आपद्गृह्य । आपद्गृहं मकटगृहं विवशं मकटपीडितं, कुङ्करीविरहावसरं क्रीडवीवियोग-
समयं प्राप्तं कुरुर इव तमस्विनीप्रथमपदिचमयामसमये तमस्विन्या तस्या आद्यन्त्यप्रहरवेलायां “मुहूर्त्तचराहूति
श्रीभूतिं भूतपूर्वं सुहृत् सुहृच्चरं भूतपूर्वमित्रम् इति आहूति आरुया यस्येति श्रीभूति एवविधकरण्ड-
विन्यस्तम् एवविप्रसमुद्गकस्यापितम् इत्यस्तस्यानलदनम्, इयदाकारसहितम्, एतद्वर्णम् अद सख्याम्यर्णं च
मदीयं मणिगणम् उपनित्रिनिधेयं न्यासरूपेण रक्षणाय दत्तम्, न प्रतिददातीति । अत्र च अर्घ्यं घर्मरमणी
घर्मपत्नी साक्षिणी च यदि यद्वदतयैतदन्यथा मनागपि भवति चेत् एतद्वचनं असवद्वप्रलापतया सर्वेषां श्रुतूनां
परिवर्तस्य निर्गमनस्य अर्थं यावत् पणमानं यावदिति भावः । मिथ्या भवति ईषदपि तदा मे चित्रवधो
विघातव्यः” इति दीर्घघोषघूणितमूर्धमध्यम् ऊर्ध्ववाहु दीर्घस्तारो घोषः स्वरं तेन घूणितं कम्पितं स
चामी मूर्ध्ना तस्य मध्यो यथा स्यात्तथा । ऊर्ध्वं कृतौ बाहु हस्तौ येन स उज्जुज, सर्वतुं परिवर्तार्धिं
पूत्कुर्वन् आक्रोशं कुर्वन् एवदा रामदत्ताया निर्वर्णितं अवलोकितं इति सवन्वो द्रष्टव्यः । कथंभूतया रामदत्ताया
कौमुदीमहोत्सवसमयं चन्द्रज्योत्स्नाया शुक्लाष्टमीमारम्य पौर्णिमातिथिं यावत् रात्रौ नारीनरं विहारनृत्य-
गायनादिक्रीडां क्रियते तस्या कौमुदीमहोत्सवेति नाम, तत्समयम् अवलोकमानया । तत्समयं विदूषीति
नगराङ्गनाजनास्य चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारामृगावगाहगौरितजगत्त्रयं चन्द्रस्य अमृतं सुधा तत्पात्रमिव यानि यन्त्र-
धारामृगाणि तेषु अवगाहेन प्रवेशेन गौरितजगत्त्रयं घवलितत्रिभुवनम् । पुनः कथंभूतया रामदत्ताया ।
तमङ्गेति—प्राप्तादोपरितनभूम्यग्रे समासीनया उपविष्टया, निपुणिकेति—निपुणिकानाम्या उपमविश्या
घात्रा समेतया सहितया, अनाथेति—अनाथा अनाश्रया ते च ते लोकास्तेषां लोकानानि नयनान्येव
चकौरपक्षिण तेषां कौमुदीकल्पं ज्योत्स्नासदृशं वृत्तम् आचरणं यस्या मा तया । करुणेति—करुणा दया

सत्प्रवृत्ति यस्य एतादृश माम् अतिवेलम् एव वेला मर्यादाम् अतिक्रम्यैव अकाण्डे अनवसरे चण्डकर्मन् प
 न्युञ्जान प्रशान्तं कुर्वन्, कथं न लज्जसे । पुनश्चैनम् अर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालम् अर्थानां सप्तमणी
 प्रार्थनं याचना तस्य पथि मार्गे यो मनोरथस्तेन विशाल शब्दाल ग्रहिलवत् गच्छान् युवन्त भद्रमित्र पालि
 मन्दिर राजगृहम् अनुवरै निजक्रिकरै आनाय्य नीत्वा अनार्यमिति अनार्या पापयुक्ता मतिर्यस्य स श्रीभूति
 त भद्रमित्र पृथिवीनाथेनापि राज्ञापि निराकारयत् निरघाटयत् । उत्तेजितराजहृदय उत्तेजित क्रोधक्ष
 नीत राज्ञो हृदय येन स श्रीभूति कै उदितै वचनै । तान्येव वर्णयति—‘देव, अयं वणिक् निष्कार
 अस्माकं दुरपवादमृदङ्गवत् दुरपवादो निन्दा अयश्च तयोर्घोषणं कुर्वाणो मृदङ्ग इव मुखरमुख वाचालव
 नाथरहितवृषभवत् सुखेन आसितु आरोहणं कर्तुं न ददाति । अनस्तितस्नातक इव सुखेन अमितुं न ददाति
 इत्यादिभि उदितैर्भाषणै अवान्तप्रसरतया लब्धावकाशत्वात् उत्तेजितराजहृदय । तथैव स्ववत् राज्ञ
 निरघाटयत् ।

[पृष्ठ १७१-१७२]

भद्रमित्र—चित्रमेतत्, ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय कुलक्रमायातां
 कमलानिलयम् अनन्यसामान्यसाहसालयम् एष मोषधिपणानिधि अपर इव अपायजलनिधि नगरमध्ये
 मोषितुमभिलषति । आश्चर्यमेतत्, ननु यत् यस्मात् मामपि परविप्रलम्भाय अन्यप्रतारणाय । कुलेति
 वशपरम्परायातसकललक्ष्मीगृहम् अनन्यसदृशसाहसगृहम् । एष मोषधिपणानिधि एष सत्यघोषः स
 स्तेय तत्र या धिपणा वृद्धि तस्या निधिनिधानम् अपर इव अपायजलनिधि अन्य इव अपायो विन
 तस्य जलनिधि समुद्र । स एष श्रीभूति नगरमध्येऽपि मोषितुं स्तेनितुं चोरितुम् अभिलषति इच्छति
 इति जातामर्षोत्कर्षं जात उत्पन्न अमर्षस्य क्रोधस्य उत्कर्षं तीव्रता यस्य स भद्रमित्रः त न्यासा
 न्यासस्य निक्षिप्तस्य घनादेः अर्पणे तत्स्वामिने दाने अतिचिक्कणचित्तम् अतिकठिनमनस निश्चित
 स्वाध्यायिपरिपदि स्वाध्यायिनाम् अव्ययनशीलानां मठवासिनाम् परिपदि सभाया महापरिपदि
 महान्तं राजपुरुषा मान्यनागरिका वा धर्माधिकारिणः तेषां परिपदि सभाया च तस्य अन्यायस्य विस्व
 द्रोहस्य विन्यासेन स्थापनेन साध्यनिर्दिष्टं मणिमण्टकप्राप्तम् अनवबुध्य अनवीनवी न परवशवृद्धि अशा
 सुकमति नि मशयवृद्धि महादेवो धामनेमनिवेश महादेव्या रामदत्ताया धाम प्रासाद तस्य नेमे स
 निवेश स्थितिर्यस्य तम् अम्लिकानोकहशिखादेशम् अम्लिकानोकह तिन्त्रिणीतस्मत्स्य शिखादेशम् अ
 प्रदेशम् आहूय आपद्गृह्यः आपद्भिः सकटगृह्य विवश सकटपीडित, कुरुरीविरहावमर क्रौञ्चीविय
 समय प्राप्त कुरुर इव तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये तमस्विन्या तस्या आग्रत्यप्रहरवेलाया “सुहृच्चरा
 श्रीभूति भूतपूर्वं सुहृत् सुहृच्चर भूतपूर्वमित्रम् इति आहूति आख्या यस्येति श्रीभूति’ एवविषकर
 विन्यस्तम् एवविषसमुद्रगकस्यापितम् इत्यस्तस्यानवदनम्, इयदाकारसहितम्, एतद्वर्णम् अदःसह्याभ्यर्ण
 मदीय मणिगणम् उपनिविनिवेशे न्यामरूपेण रक्षणाय दत्तम्, न प्रतिददातीति । अत्र च अस्यैव धर्मर
 धर्मपत्नी साक्षिणी च यदि यद्वदतयैतदन्यथा मनागपि भवति चेत् एतद्वचन असद्वत्प्रलापतया सर्वेषां ऋ
 परिवर्तस्य निर्गमनस्य अर्थं यावत् पणमासान् यावदिति भावः । मिथ्या भवति ईषदपि तदा मे चित्र
 विषातव्य ” इति दीर्घधोषधूनिमूर्धमध्यम् ऊर्ध्ववाहू दीर्घस्तारो घोष स्वर तेन धूणित कम्पित
 चागो मूर्धा तस्य मध्यो यथा स्यात्तथा । ऊर्ध्वं कुनी वाहू हस्तौ येन स उद्भुज, सर्वतुंपरिव
 पूत्कुर्वन् आक्रोशं कुर्वन् एवञ्च रामदत्तया निर्वाणितः अवलोकित इति सवन्वो द्रष्टव्य । कथंभूतया रामदत्त
 कौमुदीमहोत्सवमय चन्द्रज्योत्स्नायां शुक्लशट्पदीमारम्य पौर्णिमातिथिं यावत् रात्रौ नारीनरै विहान्
 गायनादिक्रीडा क्रियते तस्या कौमुदीमहोत्सवेति नाम, तत्समयम् अवलोकमानया । तत्समयं विदूष
 नगराङ्गनाजनस्य चन्द्राभूतपात्रयन्त्रागृहावगाहगौरितजगत्त्रय चन्द्रस्य अमृत सुधा तत्पात्रमिव यानि य
 धारागृहाणि तेषु अवगाहेन प्रवेशेन गौरितजगत्त्रयं धवलितत्रिभुवनम् । पुन कथंभूतया रामदत्त
 तमङ्गनि—प्रासादोपरितनभूम्यग्रे समानीनया उपविष्टया, निपुणिकेति—निपुणिकानाम्या उपमवि
 धात्रा समेतया सहितया, असाधेति—अनाथा अनाथया ते च ते लोकास्तेषां लोचनानि नयना
 चक्रोऽपक्षिण तेषां कौमुदीकल्प ज्योत्स्नासदृशं वृत्तम् आचरणं यस्या सा तथा । ऋणेति—कश्चा

तस्या रस तस्य प्रचारे प्रवृत्ती पवण्या मार्गमूढया महावेण्या आकनितानुभोसाभिनिवेशात् सुतकोवात्
 कस्यामिप्रायात् निर्णीतस्य ज्ञपकसित । तदनु तदनन्तरम् अस्मत्प्रम संज्ञानि भावि न कस्येव मनुज
 पिशाचपरिष्कृत अस्माकं मन अस्मत्प्रमनः । तत् स सम्पत् बभाति चारयति संतोषयतीति संज्ञात्री तत्संशोधनम्
 हे भावि हे उपमातः एष नर खलु न पिशाचेन परिष्कृत आविष्टः नाप्युन्मत्ताचरितः मरिचारादिपानेन विविष्ट-
 कतिमनस्त्वात् निरर्कवाचरण न । यतस्तं विवक्षम् आद्यं कृत्वा सकलमपि परिवर्तयितुं यत्किञ्चिदं
 नर चिच्छिन्नोन्मत्ताकृष्ट श्रीमूढिमा मयीपरलसत्पत्कं मूरीतम् इति वचो वक्तुमारम्भं कृतवान् तम् आद्यं
 विवक्षम् यद्यपि कृत्वा सकलमपि वर्णस्य द्रव्यं यस्यासात् पावत् एकवाक्यस्याहारपाठाकुष्ठकठोरकठनाक
 एकमेव वाच्यं सापदं तस्य व्याहार लक्ष्यारब्धं तस्य पाठेन बहुकृष्टः अस्त्वसितः कठोरः कष्टस्य द्रोहात्
 नाकः मञ्जिका सस्य स । तद्विचारयेयं तत्तस्मात् विचारयेय विमर्शं कुर्यात्, अचिरकालं दोषकालं नावत् ।
 ज्ञारेति—आराः सुतकोवापाठाः तेषु विचार्यं अतुरं हृदयं मन एव आम्बुजं कमलं यस्य एतत्कोवाभावेन
 मन्त्रे सचिबस्य पुरोहितस्य अन्तःकरणं चित्तं विचारयेयं परोक्षेवम् । अन्तिके मन्त्रः त्वयापि सुनवेनानवरो
 सुतकोवाद्यमेव । यद्यहम् एतम् अनेककुचराचारनिषिद्धचित्तं नागाविद्याकुत्सिताचारमूढमनसम् अतिवह-
 कुकृतचोष्टितम्, अतिशयनत्याविषमायाचारम् । बकोटवृत्तं बकोटो वक्ता तथैव वृत्तम् आचार्यं यस्य एतम्
 घटन्यव्याप्तं वास्तवमूहं पुष्कलम् । यद्यप्य अस्य कटकोमिकांशुकाविकं ज्ञयामि कटको इत्यभूत्पक्षं अन्तिक
 अंशुकीयकम्, अंशुकाविकं वस्याविकं ज्ञयामि सुतकोवाभेन तत्तथैव अधिज्ञानीइत्ययं चित्तोक्तस्य अपोनुबन्धमात्रो-
 समाचारकुट्टिनी श्रीवत्ता अट्टिनी मूल्या इति मूल्या इव मुक्तं व्याख्या इव समाचार एव कुट्टिनी दुष्टा पीठता
 अट्टिनी अस्ति । तित्तिकीतव्याजो अस्मिन्नाकुत्सिताधितस्य बनिज वीरस्य विषमस्वमयीचित्तस्यासंपन्नानि
 रत्नानि बाधयितव्या विषमा कलास्तोक्ष्या रुचि काष्ठिर्यस्य स अग्निः तस्य मरीचकः सप्तज्वाला
 तत्संख्यासंपन्नानि सप्तसंख्यामुत्तानि रत्नानि बाधयितव्या । इति निपुणिकायाः कृतसंगीतिः कृतसंगीतः ।
 स्वस्त्येऽस्मिन् अद्यादिनाहनन्तरदिने आगामिदिने सर्वैव मरीचकवृत्तयामन्वयुक्तानि कुलुभे मरीचं मरीचं तत्र तद्बुद्धं
 मन तस्य आत्मन्वयुक्त्ये मोहान्कतुस्मन्वयुक्त्ये इ वाचकः त्वयापि मयवत्या पुण्या साधु सम्पत् विभूतिस्तस्य
 मत्कार्ये साहाय्यं हातव्यमिति यद्यस्य विज्वापुत्रस्य विज्वातव्याधितस्य नरस्य सत्तत् । अस्ति नेपु ।
 इत्यप्यस्य इति वरकरं कृत्वा तत्कर्मणि कृतकर्मणि निराप्य तथैवाचरिताचरणा तथैव यथा मनसि संवत्
 कृतं तन्मनुस्य कृतकार्यं यद्यथा तत्तत्किञ्चान्नापनानुबन्धतत्प्रातरनक्षत्राभ्यन्तरेनुवर्त्तनीय राज्ञः समर्पयामास ।
 तत्तत्किञ्चान्नापनानुबन्धतत्प्रातरनक्षत्राभ्यन्तरेनुवर्त्तनीय राज्ञः समर्पयामास । [राज्ञा स्वयचिरादौ तासि समिधय मन्त्रिण आकारित
 एतेषु भावि तव रत्नानि तासि मूढाग्रेयुक्ताः स्वीयानव मनीन् शोभ्यन्तम् तुष्टो राजा स यस्मान्न]
 राज्ञा निहृष्टेन अमुतापी अमुता जातवर्त्ततादवा अंधाः किरया पक्ष तस्यिन् स्वकीवरलपटी ।
 नैजमनिबन्धे तासि सप्तरत्नानि संगीयं भवतिस्था । आचार्य त्वम् आद्यसप्तदीपिताग्निसमन्तं वीरहृदयमन्त्रम्
 अचिरादेव समीपावस्थीयस्वीद्विजासतन्मन्त्रं वीर्यपुत्रम् अहो वयिस्तस्य वाप्यत्र रत्ननिधये मणितमूहं
 तव रत्नानि सन्ति तासि त्वं विचिन्त्य बह्वाय इत्यमात्रात् अवोचत् । यद्यपि—चिरप्रायं दोषादिव
 ननु कित्तं द्रष्टव्या सुनैवेन वक्ष्यम् इति अस्त्वस्मिन्निधये । विमृश्य 'यथादिपति विमलपति भूति ।
 इत्युपादिभ्य इति अत्रत्या विमृश्य च तस्या माणिक्यपुञ्जो रत्नराशौ निजग्रीव मन्त्रान्तस्त्रितपरिचयानि
 ईषत्कालमवस्य विजातस्वकपाणि रत्नानि समग्रहीत् ।

[पृष्ठ १७२-१७४] ततः स नरवत् उपरिचारः प्रथमम् अतिशयेन विस्मयमयः । अतिशयेन

वनेराज मन्त्रेण । अहम् अनुमूय सप्तकोषं त्वमव च चरामिन्सुहृदधीयः परजा निरुद्धा नितरां नितीना
 मनोधा मनिवस्म यस्य तव चेतसि वक्षति च न नभामपि ईदृशं अयथाभाषो यतनाम्यन्वादि' तयाति ।"
 इति श्रीनैमिः प्रत्ययैः चारितोविजप्रधानपुराणप्रवृत्तिभिः परिशेषकवचनप्रदानमुदररथा ततरो
 पविरोपविदिततिदिनच तत्तस्मात्तथावत् अविनश्यायि आदरवतोधि' उचिन्मि । समगितस्त्राणक-
 स्तिनी(२) विजयमदासगुणवचनोपम् एतत्तद्व्याप्यद्वयं यथाकाममुपयुक्त्यायं धर्मिने वचनद्वारं व

श्लाघयामास न पश्या सक्ते अर्थान् अनेकधा राजा त तुष्टुवे । [श्रीभूति. दण्डप्रयेण दण्डित मृत्वा ययु
 बजायत] पुन जटूराधिराजानिम् बहुग समीपा अधिवृत्ताति अमुगविस्तारो यस्य त श्रीभूति पुरोहित
 निखिलेति—मरलजनपदनान्येव आलवात्मूल तत्र कोलीनतालता निन्दा एव लता अयशोवल्ली तस्या
 बदलम्बवृक्ष मृज्जाननम् अध कृतवदनम्, निसर्गेण प्रवृत्त्या हरिणोसमच्छायमपि नुवर्णप्रतिमागमकान्तिमपि
 महामाहानुष्ठानात् तूभोगमानवाय मूस्या लोहप्रतिमया समान काय शरीर यस्य तम् । अनल्पेति—
 अनल्प विपुल चैत्यस्य गेद. तेन स्फुटन् द्विधानाव गतम् आश्वनित मनो यस्य तम् । अतीव भयेति—जति-
 शयभयात् आभिर्भूत प्रकटीभूत उत्पचवेष्यु कुमार्गावरणात् य शरीरकम्प. तेन तिमित प्रस्विन्नम्, वृद्धाक्षेप
 वत्त्व आक्षेपा अपराधा यस्य त श्रीभूतिम् । [मिहसेन. प्रभु परुषाक्षरै वाक्यं तोत्र तर्जयति] आ-
 मोमपायिनाम् अपाङ्क्तेय वैषेय यजे सोमलतारसपानं कुर्वता द्विजाना पक्षतेर्वहिर्भूत, वैषेय मूर्ख, युवतायुवत-
 शून्यत्वात् । विदवागघातपातकप्रनयश्रोत्रिय, यो जनो विश्रव्य. तस्य घातो नाश तदेव पातक तस्य प्रमवस्थान,
 श्रीभूतिना वृद्धा विदवानघात कृत अत स विद्वामिनवञ्चको जात । श्रोत्रियकितव श्रोत्रियधूर्त । दुराचार-
 प्रवर्तितनूत्तरत्नापहार दुराचारेण प्रवर्तित निष्पादित नूतनाना नवाना रत्नानाम् अपहार चौर्य येन
 तत्सर्वोन्नतम् । कुक्षिकपाग्न गृहिको नाम नृप स तु विश्वामित्रस्य पितामह तस्य कुल वश तत्पासयति
 नाशयतीति पासन तत्सर्वोन्नतम् । यकानुष्ठानमदन यया वक एकेन पादेन उज्ज्रीभूय नेत्रे नासाग्रे विधाय
 मत्स्य गिलति तथा नाधृत्प्र प्रदर्श्य तत्सदृश प्रवर्तमानस्य कार्यमपि यकानुष्ठानमुच्यते तस्य सदनम् आवास-
 भूत तत्सर्वोन्नतम् । माधुजनमन शकुनिवन्धनाय अतनुत्तज्जालमिव तवेद यज्ञोपवीतम् । हे श्रीभूते तवेद
 यज्ञोपवीत साधुजनाना मन एव शकुनि शुकादिपक्षी तस्य बन्धनाय अतनुना विपुलाना तन्त्रीणा तत्तूना
 जालमिव पाश एव वर्तते । अनदाचारावधिक असदाचारी दुराचार तस्य अवधिमर्यादाभूत तस्य
 मबोधनम् हे वेदवैवधिक वेदभारवाहक सद्धर्मधामध्यामलताविधानाय विद्वभुज समेधन, सद्धर्मोर्द्धसा-
 सत्यादिरूप स एव धाम गृह तस्य ध्यामलताविधानाय श्यामलतोत्पादनाय विद्वभुज विद्व सफल वस्तु
 भुङ्क्ते इति विद्वभुक् अग्नि तस्य नमेधन वृद्धिविधायिन्, अकृत्यचत्यवात्यामात्य(?) अकृत्य विद्वसितवञ्च-
 नादिकम् अकार्यमेव चैत्य गृहमेतत्सर्वोन्नतम् । अकार्यधारभूत इति भाव । वात्यामात्य निकृष्टमन्त्रिन्, जरायमद्वैति-
 फोषपतिक जरा एव यमस्य दूतिका तस्या उपपत्ती आदरे परायण तत्सर्वोन्नतम्, दुर्गतिक दु खदा गतिर्यस्य
 तत्सर्वोन्नतम्, किमात्मन अङ्गच्छवि न पश्यतीति सबन्ध न पश्यसि, चर्मितस्त्वचमिव चर्मितरूर्भवृक्ष
 तस्य त्वचमिव वल्कलमिव अतिप्रवृद्धविश्र अतिशयेन प्रवृद्ध विश्रा जरा यस्य, वात्योन्मायशिशिलिता प्रभात-
 प्रदीपिकामिव प्राताना गमूहो वात्या तस्या उन्माथ तोत्रत्वं तेन शिथिलावस्था नीता प्रभातप्रदीपिकामिव
 उप कालीनप्रदीपिका यया तत्सदृशीमिव, अस्तासन्नजोवितरविम् अङ्गच्छविम् अस्तपर्वतसमीप गच्छन्त
 रविमिव अस्त मृत्यु आमन्न समीपो यस्य स चासी जोवितरवि तम् अङ्गच्छविम् अङ्गकान्ति न पश्यसि,
 येन अद्यापि वयोधनि योवने वयसि वर्तमान इव चेष्टसे । तदिदानीं तन्मादधुना यदि चेत् घनाभिघातघोर-
 तेजसि विद्ववेदसि निक्षिप्यसे घनानाम् अयोधनानाम् अभिघात. प्रहार तेन घोर तेज प्रज्वलन यस्य तस्मिन्
 विद्ववेदसि अग्नौ प्रक्षिप्यसे तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य दीर्घकालसंचितदुर्निवारमोहस्य स तव अचिर-
 दु खदायिपरिग्रहानुग्रह अनुग्रह इव क्षीघ्रकण्टदायकघनादिपरिग्रहस्य अनुग्रह अनुग्रह इव, पिशाचवत् पोडाकर
 इव । तनो द्विजापमद द्विजेषु विप्रेषु अपसोदति अपकृष्टत्वं प्राप्नोति य तत्सर्वोन्नत हे द्विजापसद, हे द्विजनीच,
 कदाचित्त्वया इदम् अतिदुर्गन्धगोर्वोर्दुग्धवितमध्याशय शालाजिरत्रयम् अशितव्यम् । इदम् अतिदुर्गन्धगोमयेन
 उद्गवित भूत मध्याशयो मध्यप्रदेशो यस्य तच्छालाजिरत्रय तत्सरावश्रितयम् अशितव्य भक्षितव्यम् । नो
 चेत् गोमयभक्षण न क्रियेत चेत् अमरालबलोत्फुल्लगल्लाना मल्लाना त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहृतानि सहितव्यानि ।
 असराल विपुल च तद्वत् च तेन उत्फुल्ला पोवरा गल्ला कपोला येषा तथाभूताना मल्लाना बाहुयोधना
 त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहृतानि श्रुत्तरत्रयस्त्रिंशा हस्तमुष्टघाताता सोढव्या ध्रुवम् । अन्यथा तव सर्वस्वापहार
 सर्वस्वस्य घनादेरपहरण क्रियेत । प्राणाशा प्रणाशावकाशत्रिभूति श्रीभूति जीवितामिलापाया प्रणाशस्य मृत्यो
 अवकाशदाने विभूतिरिति मन्यमान श्रीभूति आद्यनय दण्डद्वय क्रमेण अतिक्षमाण असहमान । पर्याप्ति-

इलाघगामास न प्रदाता चक्रे अर्घान् अनेकधा राजा त तुष्टुवे । [श्रीभूति दण्डप्रयेण दण्डित मृत्वा दायु
 अजायत] पुन धरूरासिधतातिम् अदूरा गमीषा अशिवताति अमुखविधनारो यस्य त श्रीभूति पुरोहित
 निखिलेति—मन्त्रजनपदनान्येव आलवान्मूत्र तत्र कोलीनतालता निन्दा एव लता अयशोवल्ली तस्या
 अवलम्बवृक्ष न्युज्जाननम् अध द्रुतवदनम्, निमर्गेण प्रवृत्त्या हरिणोममच्छायमपि नुवर्णप्रतिमागमकान्तिमपि
 महानाहसानुष्ठानात् नृमीसमानवाय नूम्ना लोहप्रतिमया समान कायः शरीर यस्य तम् । अनल्पेति—
 अनल्प विपुल चैव न्येदः तेन स्फुटत् द्विधानाव गतम् आस्वनित मनो यस्य तम् । अतीव भयेति—अति-
 गयभयात् आधिगूत प्रकटीभूत उत्पथवेपथु कुमार्गाचरणात् य शरीरकम्प तेन तिमित प्रस्विन्नम्, बह्वक्षेप
 बहव आक्षेपा अपराधा यस्य त श्रीभूतम् । [गिहमेन प्रभु परुषाधरैः वाक्यं तोय तर्जयति] आ-
 नोमपायिनाम् अपाङ्गतेषु वैधेय यज्ञे सोमलतारमपानं कुर्वता द्विजाना पक्तेर्वहिर्भूत, वैधेय मूर्ध्ने, युक्तायुषत-
 द्गन्धन्वात् । विश्वाराधातपातकप्रमथश्रोत्रिय, यो जनो विश्वत्रय तस्य घातो नास्ति तदेव पातक तस्य प्रमथस्थान,
 श्रीभूतिना वृक्षेना विद्वानघातं गृह्यते अतः स विश्वसितवञ्चको जातः । श्रोत्रियकितव श्रोत्रियधूर्तः । दुराचार-
 प्रवर्तितनूतनरत्नापहार दुराचारेण प्रवर्तित निष्पादित नूतनाना नवाना रत्नानाम् अपहार चोद्यं येन
 तत्तद्वोधनम् । कुशिकापासन कुशियो नाम नृपः स तु विश्वामित्रस्य पितामह तस्य कुल वश तस्यास्यति
 नाशयतीति पासनं तत्तद्वोधनम् । वकानुष्ठानमदन यथा वक्, एकेन पादेन उद्गूढभूय नेत्रे नामाग्रे विधाय
 मत्स्य गिरिति तथा नाधुत्य प्रदश्यं तत्तद्वोधनं प्रवर्तमानस्य कार्यमपि वकानुष्ठानमुच्यते तस्य सदनम् आवाग-
 भूत तत्तद्वोधनम् । नाधुजनमन शकुनिग्रन्थनाय अतनुतश्रीजालमिव तवेद यज्ञोपवीतम् । हे श्रीभूते तवेद
 यज्ञोपवीत साधुजनाना मन एव शकुनि मुकादिपथो तस्य वन्धनाय अतनूना विपुलाना तन्त्रीणा तन्तूना
 जालमिव पाण इव दत्तंते । अनदाचारावधिक अनदाचारे दुराचार तस्य अवधिमर्यादाभूत तस्य
 सवोधनम् हे वेदवैवधिक वेदभारवाहक सद्धर्मधामध्यामलताविधानाय विश्वभुज समेधन, सद्धर्मोर्द्धिसा-
 सत्वादिन्प न एव धाम गृह तस्य ध्यामलताविधानाय ध्यामलतोत्पादनाय विश्वभुज विद्वत् सकल वस्तु
 भुङ्क्ते इति विद्वन्नुक् अग्नि तस्य समेधन वृद्धिविधायिन्, अकृत्यचैत्ययात्यामात्य(?) अकृत्य विश्वसितवञ्च-
 नादिकम् अकार्यमेव चैत्य गृह्णतस्त्वोधनम् । अकार्यघातभूत इति भावः । वात्यामात्य निकृष्टमन्त्रिन्, जरायमदूति-
 कोपपतिक जरा एव यस्य दूतिका तस्या उपपत्ती आदरे परायण तत्तद्वोधनम्, दुर्गतिका दुःखदा गतिर्यस्य
 तत्तद्वोधनम्, किमात्मन अङ्गच्छन्ति न पश्यसोति सबन्ध न पश्यसि, चमितस्त्वचमिव चमितरुर्जद्वक्ष
 तस्य त्वचमिव वत्कलमिव अतिप्रवृद्धविश्र अतिशयेन प्रवृद्धा विश्रा जरा यस्य, वात्योन्माथक्षिपिलिता प्रभात-
 प्रदोपिकामिव वाताना समूहो वात्या तस्या उन्माथ तोयत्व तेन क्षिपिलावस्था नीता प्रभातप्रदोपिकामिव
 उप कालीनप्रदोपिका यथा तत्तद्वोधनमिव, अन्तासन्नजीवितरविम् अङ्गच्छविम् अस्तपर्वतसमीप गच्छन्त
 रविमिव अस्त मृत्यु आसन्न समीपो यस्य स चासो जीवितरवि तम् अङ्गच्छविम् अङ्गकान्ति न पश्यसि,
 येन अद्यापि वयोवसि योवने वयसि वर्तमान इव चेष्टे । तदिदानीं तस्मादधुना यदि चेत् घनाभिघातघोर-
 तेजसि विश्ववेदसि निक्षिप्यसे घनानाम् अयोधनानाम् अभिघात प्रहार तेन घोर तेजः प्रज्वलन यस्य तस्मिन्
 विश्ववेदसि अग्नौ प्रक्षिप्यसे तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य दीर्घकालसचित्तदुर्निवारमोहस्य स तव अचिर-
 दुःखदायिपरिग्रहानुग्रह अनुग्रह इव शीघ्रकण्टदायकघनादिपरिग्रहस्य अनुग्रह अनुग्रह इव, पिशाचवत् पीडाकर
 इव । ततो द्विजापसद द्विजेषु विप्रेषु अपसोदति अपकृष्टत्व प्राप्नोति य तत्तद्वोधन हे द्विजापसद, हे द्विजनीच,
 कदाचित्त्वया इदम् अतिदुर्गन्धगोर्वगेद्गवितमध्याशय शालाजिरत्रयम् अक्षितव्यम् । इदम् अतिदुर्गन्धगोमयेन
 उद्गवित भूत मध्याशयो मध्यप्रदेशो यस्य तच्छालाजिरत्रय तत्सरावन्वितयम् अक्षितव्य भक्षितव्यम् । नो
 चेत् गोमयभक्षणं न क्रियेत चेत् अमरालवलोत्फुल्लगल्लाना मल्लाना त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहृतानि सहितव्यानि ।
 असराल विपुल च तद्वत् च तेन उत्फुल्ला पीवरा गल्ला कपोला येषां तथाभूताना मल्लाना वाद्वयोधिता
 त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहृतानि अष्टत्रयस्त्रिंशदहस्तप्रहृतानि सोढव्या ध्रुवम् । अन्यथा तव सर्वस्वापहार
 सर्वस्वस्य घनादेरपहरणं क्रियेत । प्राणाशा प्रणाद्यावकाशविभूति श्रीभूति जीविताभिलाषाया प्रणाशस्य मृत्यो
 अवकाशदाने विभूतिरिति मन्यमान श्रीभूति आद्यनय दण्डद्वय क्रमेण अतिक्षमाण असहमान । पर्याप्त-

मादिवचन केवलपञ्चवर्णवाद । मासभक्षणाद्यभिधान श्रुतावर्णवादः । शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविभविना सधा-
वर्णवादः । सुरामोपसेवाद्याघोषण देवावर्णवादः । अनशनादितपश्चरण केवलम् आत्मवर्णशहेतु न तत्
खुलाम् कश्चित् इति तपमोऽवर्णवादः ॥३७९॥ मोक्षमार्गेति—य मोक्षमार्गं रत्नत्रयरूप स्वयं जानन्
विदन् अर्थिने प्रार्थनाया कृतायाम् 'उपदिश मम मोक्षमार्गमिति' अहं तं ज्ञातुमिच्छामीति प्रार्थना कुर्वते
मदापह्णवमात्मन्यै तस्य तं न भाषते न ब्रूते स आवरणद्वयो ज्ञानदर्शनावरणद्वयान्नववान् जायते । न मत्समानो
ज्ञानी कश्चित् इति स्वस्योत्कर्षतावहनं मदः । कुतश्चित्कारणान्नास्ति, न वेद्मि इत्यादि ज्ञानस्य दर्शनस्य च
व्यपलपनं निह्वनम् । कुतश्चित्कारणान्नावितमपि मोक्षमार्गज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तत्मात्सर्यम् । इति
मदापह्णवमात्सर्याणां लक्षणानि ॥३८०॥ सत्याणुव्रतस्य दोषा—मन्त्रभेद इति—मन्त्रभेदः, परीवादः, पैशुन्यम्,
कूटलेखनम्, मुधा साक्षिपदोक्तिश्च एते सत्यस्य विघातकाः सन्ति । मन्त्रभेद—अर्थप्रकरणाद्भ्रुविकारभ्रूनिक्षेपणा-
दिभिः पराकूनमुपलभ्य तदाविष्करणम् असूयादिभिः । परीवाद मिथ्योपदेशः अभ्युदयनि श्रेयसार्थेषु
क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम् । पैशुन्यं परस्परभेदशोलत्वम्, अप्रकाशेन अनुचितं कथयित्वा अन्योन्य-
स्नेहद्रूपकत्वम् । कूटलेखनम्—अर्थेन अनुव्रतम् अननुष्ठितं च यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं
लेखनं कूटलेखनम् । मुधा साक्षिपदोक्तिः अहं तं साक्षी आमम् । इति व्यवहारनिर्णये मुधा असत्यं भाषणम्
एते सत्याणुव्रतस्य विघातकाः नाशकाः सन्ति ॥३८१॥ परस्त्रीति—परस्त्रीमथया कथां वृथो न कथयेत्
अमुकस्य स्त्रीसौन्दर्यादिगुणैरुपेता चतुरा च वर्तते इत्यादिकथनम् । राजविद्विष्टसश्रया कथाम् अस्माकं राज्ञः
प्रतिपक्षी हीनबलोऽधिकबलो वेति राजविरुद्धं कथनम् । लोकविद्विष्टसश्रया कथां लोकेषु विद्विष्टानां शत्रूणां
सवन्धिनी कथां लोकविरुद्धां न कथयेत् । अनायकसमारम्भा कथानायकं विना यस्य कस्यापि कथनं यद्वा
तद्वासवद्वयकपोलकल्पितं प्रलपनं न कुर्याद् वृथं । अभिजातः, हितं मितं वदेदित्यर्थः ॥३८२॥ असत्य-
मिति—असत्यैदपर्यम् । असत्यमपि किञ्चित्मत्यमेव यथाग्रासि रन्ध्रयति, वयति वामासि इति । अन्वो-
योग्यतण्डुलादिषु अन्यं शब्दप्रयोगादसत्यत्वम् । लोके तथा व्यवहारात् सत्यं असत्यमेतत् । सत्यमपि
असत्यं किञ्चित् यथा अर्धमामतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मामतमे सवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति
अत्र दानाव्यभिचारात्सत्यत्वम् । प्रतिपन्नकालव्यभिचाराच्चासत्यत्वम् । मत्यमत्यं किञ्चिद्वस्तु यद्देश-
कालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैव अविशवादः । यद्वस्तु यद्देशं यस्मिन् देशे तिष्ठति तथा तद्देशस्थस्य वर्णनम् ।
तद्वस्तुपरिमाणम्, तद्वर्णं तदाकारश्च सर्वं यथार्थं वर्णयेत् तत् वचं सत्यसत्यम् । तथैव तदविसर्वादस्वरूप-
कथनम् । असत्यासत्यं किञ्चित्स्वस्यामत्सगिरते कल्पे दास्यामीति । यद्वस्तु स्वस्य सवन्धि न भवति तत्
तुभ्यं कल्पे प्रातः वितरिष्यामि इत्यादि प्रतिज्ञया कथनम् असत्यासत्यं नालपेत् ॥३८३॥ तुरीयमिति—
लोकयात्रात्रये स्थितं लोकव्यवहाराविमवादित्वात् सत्यसत्यादिवाक्यत्रये स्थितं पुरुषं व्रतं तुरीयं चतुर्थम्
असत्यासत्यं भाषणं नित्यं वर्जयेत् न ब्रूयादित्यर्थः । या गुर्वदिप्रसादिनी या यद्वचं गुर्वदि मातापित्रुपाध्यायादेः
प्रमत्तता जनयति सा गौः तद्वचं मिथ्यापि असत्यापि न मिथ्येति मन्यताम् । यतस्तत्र स्वस्य गुर्वदिश्चाहिता-
मावात् ॥३८४॥ न स्तुयादिति—आत्मना स्वेन आत्मानं स्व न स्तुयात् न प्रशसेत् । न परम् अन्यं जन-
परिवादयेत् न निन्देत् सतः विद्यमानान् अन्यगुणान् अन्येषां गुणान् न हिंस्यात् न नाशयेत् गुणेषु दोषारोपणं
हिंसा तान् कुर्यात् । असतः अविद्यमानान् स्वस्य गुणान् न वर्णयेत् ॥३८५॥ तथेति—स्वस्याविद्यमानान्
गुणास्तुघ्नं अन्यगुणान् विनाशयश्च पुमान्नरः नीचैर्गोत्रोचितं नीचगोत्रे जननयोग्यो भवेत् । गहिर्तेषु कुलेषु
जन्म लभेत्तैत्यर्थः । परं विपरीतकृते अन्येषां गुणानां वर्णनात् स्वस्य सतोऽपि उत्कृष्टान् गुणान् वर्णयन्
कृती विद्वान् उत्तैर्गोत्रं लोकपूजितं कुलम् अवाप्नोति लभते ॥३८६॥ यत्परस्येति—परस्य अन्यस्य यत्
प्रियं प्रीत्युत्पादकं कार्यमुपकारादिकं कुर्यात् तत् आत्मनः स्वस्य हि यस्मात् प्रियं भवेत् अतः अयं लोकः जनः,
पराप्रियपरायणः किमिति । परस्य अप्रियकरणे अनुपकृतिकरणे किमिति प्रवृत्तो भवति । तेन तथा करणे
प्रवृत्तेन न भवितव्यम् ॥३८७॥ यथा यथेति—यथायथा एतच्चेत् मनः परेषु अन्यजीवेषु तमं वितनुते
पापं विस्तारयति । तथा तथा आत्मनाडोपु आत्मनः निजस्य नाडोपु तच्चेत् तमोधारा पापदकधारा
निपिञ्चति । अशुभपरिणामं आत्मनालीसु आत्मनः प्रदेशनलिकासु तमोधारा पापधारा प्रविशन्ति ॥३८८॥

मादिवचन केवलपञ्चवर्णवाद । मासभक्षणाद्यभिधान श्रुतावर्णवादः । शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविभविना सधा-
वर्णवाद । सुरामासोपसेवाद्याधोपण देवावर्णवाद । अनशनादितपश्चरण केवलम् आत्मवर्णशहेतु न तत्
सुखलाम् कश्चित् इति तपसोऽवर्णवाद ॥३७९॥ **मोक्षमार्गेति**—य मोक्षमार्गं रत्नत्रयस्त्वं स्वयं जानन्
विदन् अर्थिने प्रार्थनाया कृतायाम् 'उपदिश मम मोक्षमार्गमिति' अहं तं ज्ञातुमिच्छामिति प्रार्थना कुर्वते
मदापह्णवमात्सर्यं तस्य तं न भापते न ब्रूते स आवरणद्वयो ज्ञानदर्शनावरणद्वयास्रववान् जायते । न मत्समानो
ज्ञानी कश्चित् इति स्वस्योत्कर्षतावहनं मदः । कुतश्चित्कारणान्नास्ति, न वेद्य इत्यादि ज्ञानस्य दर्शनस्य च
व्यपलपनं निह्वय । कुतश्चित्कारणाद्भावितमपि मोक्षमार्गज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् । इति
मदापह्णवमात्सर्याणां लक्षणानि ॥३८०॥ सत्याणुव्रतस्य दोषा—**मन्त्रभेद इति**—मन्त्रभेदः, परीवादः, पेशुन्यम्,
कूटलेखनम्, मुधा साक्षिपदोक्तिश्च एते सत्यस्य विधातकाः सन्ति । मन्त्रभेद—अर्थप्रकरणाद्भ्रविकारभ्रूनिक्षेपणा-
दिभिः पराकृतमुपलभ्य तदाविष्करणम् असूयादिभिः । परीवाद मिथ्योपदेश अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु
क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम् । पेशुन्यं परस्परभेदशीलत्वम्, अप्रकाशेन अनुचितं कथयित्वा अन्योन्य-
स्नेहद्वेषकत्वम् । कूटलेखनम्—अन्येन अनुक्तम् अनुष्ठितं च यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं
लेखनं कूटलेखनम् । मुधा साक्षिपदोक्तिः अहं तत्र साक्षी आसम् । इति व्यवहारनिर्णये मुधा असत्यं भाषणम्
एते सत्याणुव्रतस्य विधातकाः नाशकाः सन्ति ॥३८१॥ **परस्त्रीति**—परस्त्रीमश्रया कथा वृधो न कथयेत्
अमुकस्य स्त्रीसौन्दर्यादिगुणैरुपेता चतुरा च वर्तते इत्यादिकथनम् । राजविद्विष्टमश्रया कथाम् अस्माकं राज्ञः
प्रतिपक्षी हीनबलोऽधिकबलो वेति राजविरुद्धं कथनम् । लोकविद्विष्टमश्रया कथा लोकेषु विद्विष्टानां शत्रूणां
सवन्धिनी कथा लोकविरुद्धा न कथयेत् । अनायकसमारम्भा कथानायकं विना यस्य कस्यापि कथनं यद्वा
तद्वासवद्वयं कपोलकल्पितं प्रलपनं न कुर्याद् वृधः । अभिजातः, हितं मितं वदेदित्यर्थः ॥३८२॥ **असत्य-
मिति**—अस्यैदं पर्यम् । असत्यमपि किंचित्सत्यमेव यथान्धासि रन्धयति, वयति वासासि इति । अन्धो-
योग्यतण्डुलादिषु अन्धं शब्दप्रयोगादसत्यत्वम् । लोके तथा व्यवहारात् सत्यं असत्यमेतत् । सत्यमपि
असत्यं किंचित् यथा अर्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मामतमे सवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति
अत्र दानाव्यभिचारात्सत्यत्वम् । प्रतिपन्नकालव्यभिचाराच्चासत्यत्वम् । सत्यसत्यं किंचिद्यद्वस्तु यद्देश-
कालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैव अविसबादः । यद्वस्तु यद्देशं यस्मिन् देशे तिष्ठति तथा तद्देशस्थस्य वर्णनम् ।
तद्वस्तुपरिमाणम्, तद्वर्णं तदाकारश्च सर्वं यथार्थं वर्णयते तत् वचं सत्यसत्यम् । तथैव तदविमवादिस्वरूप-
कथनम् । असत्यासत्यं किंचित्स्वस्यासत्सगिरते कल्पे दास्यामीति । यद्वस्तु स्वस्य सवन्धि न भवति तत्
तुम्यं कल्पे प्रातः वितरिष्यामि इत्यादि प्रतिज्ञया कथनम् असत्यासत्यं नालपेत् ॥३८३॥ **तुरीयमिति**—
लोकयात्रात्रये स्थितं लोकव्यवहाराविसबादित्वात् सत्यसत्यादिवाक्त्रये स्थितं पुरुषं व्रतो तुरीयं चतुर्थम्
असत्यासत्यं भाषणं नित्यं वर्जयेत् न ब्रूयादित्यर्थः । या गुर्वादिसप्तादिनी या यद्वचं गुर्वादि मातापितृनामध्यायादे
प्रसन्नतां जनयति सा गौः । तद्वचं मिथ्यापि असत्यापि न मिथ्येति मन्यताम् । यतस्तत्र स्वस्य गुर्वदिश्चाहिता-
भावात् ॥३८४॥ **न स्तुयादिति**—आत्मना स्वेन आत्मानं स्व न स्तुयात् न प्रशसेत् । न परम् अन्यं जनं
परिवादयेत् न निन्देत् सतं विद्यमानान् अन्यगुणान् अन्येषां गुणान् न हिंस्यात् न नाशयेत् गुणेषु दोषारोपणं
हिंसा तां न कुर्यात् । असतं अविद्यमानान् स्वस्य गुणान् न वर्णयेत् ॥३८५॥ **तथेति**—स्वस्याविद्यमानान्
गुणास्तुवन् अन्यगुणान् विनाशयश्च पुमान्नरः नीचगोत्रोचितः नीचगोत्रे जननयोग्यो भवेत् । गृहितेषु कुलेषु
जन्म लभेतेत्यर्थः । परं विपरीतकृते अन्येषां गुणानां वर्णनात् स्वस्य सतोऽपि उत्कृष्टान् गुणान् वर्णयन्
कृती विद्वान् उच्चैर्गोत्रं लोकपूजितं कुलम् अवाप्नोति लभते ॥३८६॥ **यत्परस्येति**—परस्य अन्यस्य यत्
प्रियं प्रीत्युत्पादकं कार्यमुपकारादिकं कुर्यात् तत् आत्मनः स्वस्य हि यस्मात् प्रियं भवेत् अतः अयं लोकः जनः
पराप्रियपरायणः किमिति । परस्य अप्रियकरणे अनुपकृतिकरणे किमिति प्रवृत्तो भवति । तेन तथा करणे
प्रवृत्तेन न भवितव्यम् ॥३८७॥ **यथा यथेति**—यथायथा एतच्चेत मनः परेषु अन्यजीवेषु तमं वितनुते
पापं विस्तारयति । तथा तथा आत्मनाहोषु आत्मनः निजस्य नाहोषु तच्चेत तमोद्वारा पापदकधारा
निपिञ्चति । अशुभपरिणामं आत्मनाहोषु आत्मनः प्रदेशनलिकासु तमोद्वारा पापधाराः प्रविशन्ति ॥३८८॥

दोषसोयैरिति—सरीरिणा प्राणिनां चित्तवासाति मनीषत्वाच्च दोषतोये रागादिदोषरसैः संवर्धुमि तं
 यत्तवति गुणमि मारयुक्तानि भवन्ति । परं सरीरिणा जीवानां चित्तवासाति मनोवत्त्वानि गुणद्वीपैः बहिः-
 सरमाचोर्बाधितुणा एव प्रोप्यतव तं संवर्धुमि संयं गच्छन्ति दोषजलापमयात् कर्मणि मारयिष्यामि भवन्ति ।
 यत् एव दोषोत्पत्त्यरवा गुणान् प्रतिका मृत्सीरम् ॥१८९॥ सत्यवागिति—सत्यवाक् सत्यं वचनं वृत्तये
 प्रदी सत्यस्य धामर्मात्प्रभावात् वच-विद्धि समस्तुने प्राप्नोति । तथा च निपटानुपहं वृत्तुं प्रमुर्भवति ।
 अस्य वच सिद्धि प्राप्यस्य प्रतिक्रिय बाधी यत् यत् उपजायते प्रवर्तते तत् तत् जनानां माया भवेत् ॥१९॥
 सर्वेति—इ मृषामापायमनोपित इत्याह सर्वेत्यादि । मृषामापायमनोपित मृषामापायाम् अक्षयभाषामो मनीषा
 बुद्धिरत्वास्तीति मृषामापायमनोपित । अक्षयवचनेन प्रेरितमतिर्नरं सर्वेण धर्मादेः अस्मिन्मया ईर्ष्या
 पटोरपार्थहृन्मुत्तया अमर्षेण क्रोधेन हर्षेण । कं दुर्लभाप्नोति । जिह्वाच्छेदं दुःखम् अवाप्नोति वरं च
 परकाके च पठितसि सुपठितविनाशं प्राप्नोति समते शिर्ष्यन्नि नरकगतिं वा कर्तते ॥१९॥

[पृष्ठ १७३-१७४] मृषातमत्र अक्षयकर्मस्योपास्यानम्—आहुकवेदेषु हस्तिनामनामनोस्वर
 कृष्णरश्मिजातावतारे हस्तिनागपुरे आहुकेति नाम्ना प्रचितेषु देवेषु हस्तिनामनामा भवामा भूमेः ईश्वरेषु
 मृषेषु कृष्णर इव वक्त्र इव तस्य कस्या कस्या वातावतारं वात अवातारो यस्य तस्मिन् हस्तिनागपुरे
 [हस्तिनामनामा मृषेय चित्तचित्वात् नगरस्यासि नाम हस्तिनागपुरमिति वातम् ।] अयोधयो नाम मृषास्ति
 बभूव । कर्मभूतः स । अक्षयवेति—अक्षयौ विजयसाक्षिणी तौ च तौ बोरवदौ बाहुव्यो तयोर्मण्डली
 तस्मा मण्डनं भूयस् स च मण्डलात् आह्वः तैव मण्डनं कर्तुं कर्तुं पवनम् अस्ति मेघां तै कर्तुं
 मण्डनकम्पुकास्ते च तै अवातय आह्वः तेषां पठिता च या मण्डनकम्पुकारातितीति कृता तस्मा विजयव
 हेतु अयोधयो नाम मृषास्तिरभूत् । तस्य च अतिविनाश महादेवो कृताभियेका । या अनवरतेति—अनवरतं
 सततं बहुविधान्नं पनवानं तैव प्रीयिता संतोषं नीता अतिचयो यया सा । अनयोः अयोधनातिज्यो मुता
 पुच्छा नाम उक्ताराच ता कक्षा मृषावयः तासाम् अक्षयोक्तम् अर्जनं तस्मिन् अनकषा जलस्वरक्षिता
 पुच्छा नाम । सा किञ्च तथा महादेव्या गर्भवतापि तथा महादेव्या अतिविना किञ्च धर्मप्रापि सा ज्ञातेन
 ज्ञातिरत्नै एकोदरसाक्षिण एकस्मिन्नेव उदरे वातवात् साक्षिण क्षोभमानस्य रम्यकृतेन निवेशेति—
 रम्यकवेदे निवेशेन रचनया उपेतं उद्धितं मनीषनपुरं तत्र निवेशिनः तत्रवीक्षस्य । निर्विषयेति—निर्विषा विस्मा
 सवयो यस्या सा कक्षो रमा तथा कलितस्य । अक्षयमङ्गलस्य अविनश्यमङ्गलस्य अविनश्यस्य अक्षयस्य पुच्छे
 अनुपिङ्गलाय पुच्छा परिणीता बभूव । कर्मभूताय पुच्छे पुच्छा एव मीषावाचको वेत्तस्य रत्नदाने नमि
 प्रत्याव पर्वतमापसमायेति भावः पुनः कर्मभूताय । पुच्छौर इति—दुर्बारा दुर्बयाः तै ईरिणः तेषां वक्त्र
 स्पृशति करोमूयम तेषाम् उद्गर्जनं विचारणं तत्रैव अवधानं प्रवर्तते कर्म तस्य लक्षोपः प्रवृत्तिः तस्मिन् अक्षयस्य
 हृदयपुच्छाय अनुपिङ्गलाय उज्जामवेधाम पुनरैव परिणीता बालयाभ्येति संवत्सवती बभूव । पुच्छा च महादेवेन
 राज्ञा अयोधनेन महान् उदया समुज्जति आधिपत्यं वा यस्य त्वामृतेन तेन पुनः कर्मभूतेन । विवर्तितेति—
 विवर्तितं वातं महादेव्याः अतिथे हृदयं अक्षयो येन तेनापि विषयस्य विचारं कृत्वा कर्मभूतं विचारं हृदयेति
 विवर्तितेति—यस्य हृदयस्य हृदयागस्य महादेव्याः पक्षस्य धात्री जोषनया तनोपमोप्यतया इव
 तत्रैव हवीर्यं इविवं वनं तस्यैव भूयस् भवतात् । अत्र सर्वेषामपि अपुष्पतां वृत्तं सरीरम् अस्ति मेघां तै
 अपुष्पता जीवा तेषा ईश्वरेन सारवम् अक्षयजनम् अस्ति । कर्मभूतं तत् । अविस्मिद्वेति—अविस्मिताणि
 मनसा अक्षयकर्मणि यानि सुखानि दुःखानि च तेषाम् आपयः प्राणि तैव अनुमेयः प्रमायः धामर्ष्य
 यस्य तत् ईश्वरेन सारवम् । इति विषयस्य स्वार्थवार्थं स्वार्थं स्वेच्छया पठितरवा सुखधया विषयमिति
 हितो मीम-मीम मरुत-भाग-संग उदर-सुखम्-अनुपिङ्गलादीनामनपिपीतां मृषातीनाम् उपपन्नकृत एव
 बागानुभूतं मूर्धं प्रस्थापयोभूतै उपधानं कक्षाप्रधानं तस्य अनुकूलम् उचितं मूर्धं वृत्ते धरेति प्राप्तिर्नोति
 स्य । अजान्तरे मगधेति—मगधदेशान्विजयस्य प्रसिद्धिर्नस्मा तस्मात् अक्षयोप्यया नरवरं भूवति जयरो
 नाम । उ किञ्च किञ्चित् बातीनाम् । छास्येति—आस्यं जगत् आदिशब्देन जानबादनादिकं तस्य
 विद्याः शोभा तस्य श्रीशब्दं आस्यं तस्य रश्मिः प्रोतिर्वत्नां जम्बा गुणताया कर्मपरम्परया वर्त्तया

श्रुतेति—श्रुत आकर्णित. सौरूप्यातिशय लावण्यप्रकर्ष येन, स पुन कथभूत । मनागिति—
 मनाक् ईषत् उपरमन् अल्पीभाव व्रजन् तारुण्योदय यौवनप्रकर्ष लावण्योदय सौरूप्योन्नतिश्च यस्य स,
 प्रयोगेण प्रयोगम् उपाय कृत्वा, ता सुलसाम्, आत्मसाच्चिकीर्णु निजज्ञा कर्तुमिच्छुक [सगर मन्दोदरी
 नाम धात्री विश्वभूति नाम पुरोहितम् अयोधननृपालय प्रति प्राहिणोत्] कथभूतां मन्दोदरी प्राहिणोत् ।
 तीर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्य त्रय तीर्यत्रिकं तूर्यं मुरजादि तत्र भव तीर्यम् । तीर्योपलक्षित त्रिकम् इति विग्रह ।
 तस्य सूत्रं तस्मिन् भरतमुनिशास्त्रे इति, प्रतिकर्मविकल्पेषु प्रत्यङ्गं कर्म प्रतिकर्म शरीरस्य प्रत्यवयव-
 प्रसाधनार्थं वेशादिकरण प्रतिकर्मोच्यते तस्य विकल्पा स्नानस्रक्चन्दनपट्टादय तेपु, सभोगसिद्धान्ते काम-
 शास्त्रे, विप्रश्नविद्याया विविधा प्रश्ना हानिलाभनष्टमुष्टादिविषया तेषां विद्या ज्ञान तस्याम्, स्त्रीपुरुषलक्षणेपु
 समुद्रविप्रोक्तेषु, कथाख्यायिकाख्यानप्रवह्लिकासु कथा-प्रबन्धस्य अभिधेयस्य कल्पना स्वय रचना, आख्यायिका-
 उपलब्धार्था स्वयम् अनुभूतार्थप्रतिपादनम् । आख्यान सदृष्टान्त कथाकथनम् । प्रवह्लिकासु अभिप्रायसूचनकथासु
 यथा सदेह स्यात् तादृशगुप्ताभिधानासु, तासु तासु कलासु च परमसवीणतालताधारित्रीम् उत्तमचातुर्यवल्लीभूमिं
 मन्दोदरी नाम धात्रीम् उपमातरम् । ज्योतिषेति—ज्योतिषशकुनादिशास्त्रेषु निशिता तीक्ष्णा मतिर्वृद्धि तस्या
 प्रसूति उत्पत्तिर्यस्मिन् त विश्वभूति च बहुमानेन अत्यादरेण संभावितम् आह्लादित मनो यस्य त पुरोधस पुरोहित
 तत्र पुरि नगरे हस्तिनापुरे प्राहिणोत् । [मन्दोदरी विश्वभूतिश्च सुलसा सगरे प्रीतियुक्ता मधुपिङ्गले च
 विप्र्रीतिम् अकारयताम्] कथभूता मन्दोदरी । विशिकेति—विशिका वशीकरण तस्या आशय अभिप्राय
 स एव शार्दूलो व्याघ्र नस्य दरीव मन्दोदरी ता पुरमुपगम्य । परेति—परेषा जनाना प्रतारणे वञ्चने प्रगल्भा
 प्रौढा मनीषा मतिर्यस्या, कृतेति—अर्धनृद्धा कषायवसना विधवा 'कात्यायिनी' त्युच्यते कृत विहित कात्या-
 यिनीवेषो यया सा मन्दोदरी । ताश्च ताश्च कला तत्तत्कला तासाम् अवलोकन वीक्षण तस्माज्जात कुतूहल यस्य
 स तम् अयोधनधरापालम् । निजनाथेति—निजो नाथ स्वामी सगरो नृप तस्य अर्थसिद्धि प्रयोजनसफलता
 तस्या परवती अधीना रञ्जितवती सती अयोधन नृपम् अनुरक्त विश्वसितं कुर्वाणा शुद्धान्तोपाध्याया भूत्वा
 शुद्धान्तम् अन्त पुर तत्र उपाध्याया अध्यापिका भूत्वा सुलसा सगर ग्राहयामास । तथा बकोटवृत्तिवेधा वक्-
 प्रकृतिपु जनेषु वेधा ब्रह्मा महाकपटपटुरित्यर्थ । स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैः ज्योतिषशास्त्रफलं तस्य नृपस्य
 सुयोधनस्य महादेव्याश्च अतिथे वशीकृतचित्तवृत्ति वशीकृता निजाधीना विहिता मनोवृत्तिर्येन स. । स्वयं विहित-
 रचनं आत्मना कृतं श्लोकं मधुपिङ्गले विप्र्रीति विरक्तताकारयति स्म । तेन विहितरचने पद्मे कुण्डे इति—
 मन्दे आलस्यवति नरे वायुना उन्नतहृदये उन्नतपृष्ठे च पुरुषे षष्टिदोषा सन्ति । एकाक्षे अशीति । वशिरे शतम् ।
 वामने च ह्रस्वे नरि शतं विश विशत्यधिक शतं दोषा सन्ति तु पिङ्गे पिङ्गले नरे दोषा असंख्यया तत्र
 दोषाणां गणनाकरण न शक्यम् ॥३९२॥ मुखस्येति—मुखस्य अर्धं शरीर स्यात् मुखस्य शोभा पूर्णा शरीरस्य
 तु ततोऽल्पा अर्धा । मुख घ्राणार्धम् उच्यते यदि घ्राण न स्यात् तर्हि विगतनासिक मुख न शोभते । घ्राण
 नेत्रार्धं घ्राणे नासाया विद्यमानेऽपि नेत्रयोरभावे घ्राणं न शोभते । अतः शरीरमुखघ्राणेषु नयने परे उत्तमे ज्ञेये
 ॥३९३॥ इत्यादिवर्णनं विश्वभूति सुलसाया मनसि अप्रेम उदपादयत् [तत सुलसा स्वयवरमण्डपे सगरराजान
 वृणुते स्म] तत चाम्पेयमञ्जरीसौरभ क्षम्पकपुष्पमञ्जरीसौगन्ध्यमेव दुग्धं तस्य पाने लुब्धा लोमिष्ठा स्तन-
 धया इव पुष्पधया भ्रमरा तद्वत् । यथा पय पाने लुब्धा स्तनधया भवन्ति तथा तेषु स्वयवराह्यानशृङ्गारि-
 ताहकारेषु स्वयवराह्यान समागते शृङ्गारोऽस्ति यस्य शृङ्गारित अधकारो र्यस्ते शृङ्गारिताहकारा-
 सगर्वा इत्यर्थ । सगर्वेषु राजसु मिलितेषु मन्दोदरीवशमानसा मन्दोदर्यधीनमना सा सुलसा श्रुतिमनोहर श्रुत्या
 शब्देन मनो हरति इति शब्दचेतोहर सगरम् अवृणोत् वृणोति स्म । कथम्, यथा निम्नधरोपगा आपगा सागर
 निम्नधरा नीचभूमि ताम् उपगच्छतीति निम्नधरोपगा निम्नभूमिवाहिनी आपगा वाहिनी नदी सागर गच्छति

१ कथादीनाम् इदमपि लक्षणम्—कथा चित्रार्थगा ज्ञेया ख्यातार्थख्यायिका मता । दृष्टान्तस्योक्ति-
 राख्यान प्रवह्लोका प्रहेलिका ॥

दोषतोयैरिति—धरीरिणां प्राणिनां चित्तवासांश्च मनोवस्त्वानि दोषतोयं रागादिपञ्चकैः संननुषि संन
नतवन्ति गुणानि आरमुकानि मयस्ति । परं धरीरिणां जीवानां चित्तवासांश्च मनोवस्त्वानि मुच्यन्तीत्येव
सत्याचीमविगुणा एव प्रीत्यतः सै चंगतुवि संम गच्छन्ति दोषज्जापनयात् समुपि आरुह्यिणि मयसि ।
अत एव दोषोत्सवकत्वा गुणान् प्रतिष्ठा मुह्योरम् ॥१८९॥ सत्यवागिति—सत्यवागं सत्यं वचनं गुणो
द्वयी सत्यस्य सामर्थ्यात्प्रमाणात् वचविद्धि समस्तुने प्राप्नोति । तथा स निग्रहानुग्रहं कर्तुं प्रमुच्यति
अस्म वचविद्धि प्राप्नोत्य प्रतिफलस्य वाचो मय यत्र उपमायते प्रवर्तते तत्र तत्र अनागतां माया मय ॥१९॥
सर्पेति—ई मृषाभाषामभोपित इत्याह तर्पेत्यादि । मृषाभाषामभोपित मयाभाषायाम् असत्यभाषामां लोप
मुदिरस्यास्तीति मृषाभाषामभोपित । अस्मभ्यवचनेन प्रेक्षितमतिवर्तते तर्पेण यनादे अस्मिन्मया ईयता
परोत्सर्पाविरूप्यता अमर्षेण कोचेन हर्षेण । कं कुप्यं प्राप्नोति । विज्ञानाच्छेदं दुःखम् अवाप्नोति वरत्र
परलोके च मयिमांश्चिन्ताविनाशं प्राप्नोति अमते विवर्ष्यति नरकमयि वा उच्यते ॥१९॥

[पृष्ठ १७७-१७८] मृत्युतामस असत्यकमस्योपाकृतानम्—आज्ञाच्छेदेषु हस्तिनामनामनामना
कुञ्जरवनिवातावतारे हस्तिनामपुरे आज्ञाकेति नाम्ना प्रचिन्तेषु, देशेषु हस्तिनामनामा अवावा भूमेः ईश्वरेषु
नृपेषु कुञ्जर इव यत्र इव तस्य अस्या अमना वातावतारे वात अवतारी यस्य तस्मिन् हस्तिनामपुरे
[हस्तिनामनामना नृपेय विद्विजित्वात् नगरत्वायि नाम हस्तिनामपुरमिति वातम् ।] अवोयनो नाम भूपतिस्तत्र
बभूव । कर्मभूतः ॥ । प्रचण्डेति—प्रचण्डो विक्रमघातिनी तौ च तौ शीर्षणो बाहुपण्डो तदोर्मिज्जो
तस्या मण्डनं भूवर्षं स च मण्डलाग्रं अहः । तेन मण्डनं कलहं कच्छुं अर्जनम् अस्ति वेदां तै कच्छुया
मण्डनकच्छुजास्ते च ते अरातय एव च वेदां पण्डिता च वा मण्डनकच्छुसारतिनीतिवता तस्या निगमनं
हेतु अवोयनो नाम भूपतिरभूत् । तस्य च अतिविनाशं महादेवी कृतानिवेष्टा । या अनवरतेति—अनवरतं
सततं बहुविधाजनं जनवानं तेन प्रीणिता संतोषं गीता अतिचयो यदा सा । अनयोः अवोयनातिप्यो वृता
सुखसा नाम सकलाश्च ता कक्षाः नृत्तावयः तासाम् अचकोचनम् अर्जनं तस्मिन् अनकसा आत्मनरहिता
सुखसा नाम । सा किञ्च तया महादेव्या गर्भयतापि तया महादेव्या अतिविना किञ्च पर्यन्ततापि सा ज्ञातेन
जातिन्येन एकोदशधाकिञ्च एकस्मिन्नेव उदरे वातावात् सास्ति । योममानस्य रम्यकदेसमिबेदेति—
रम्यकदेसे निबेदेन रचनया उपेतं अर्चितं अतीवतपुरं तत्र निबेदिनः तत्रोत्तम । निर्विपक्षेति—निर्विपक्षो विरवा
यत्रो मस्या सा अदमी रमा तया अतिउत्तम । अमृतमज्ञास्य अविनहमज्ञास्य अविनहमुप्यस्य पिञ्जकस्य सुखे
मनुपिञ्जकाय सुखसा परिणीता बभूव । कर्मभूताय सुखे मृषा एव नीर्वाणाचको मेस्तस्य एतत्तानै मयि
प्रस्ताव परितभाषमामेति मायं पुनः कर्मभूताय । सुखीर इति—सुखीरा सुखेयाः तै वैरिणः तेषां वर
स्पृष्टानि अत्रोभूयसः तेषाम् अर्चनं विचारनं तत्रेव अवधानं अथस्तं कर्म तस्य लक्ष्योः प्रवृत्तिं तस्मै साङ्गमय
हृदयदृशान् मनुपिञ्जकाञ्च तन्नामवेद्याय सुखे परिणीता वानयोम्येति संवस्यती बभूव । मृदुका च अहोर्बेन
रात्रौ अवोयनम महान् अद्ययः समुत्तमि आधिपत्यं वा अस्य तन्नामतेन तेन पुनः कर्मभूतेन । विद्धिदेति—
विदितं ज्ञातं महादेव्याः अतिने हृदयं संकलनो येन तेनापि विनयस्य विचार इत्या कर्मभूतं विचारं इत्येति
विदितेति—अस्य कल्पविग्रहमायापस्य महादेव्याकिञ्च पुण्यस्य भाव्यो योष्यतया संमोचयोप्यतया इव
स्त्रीयं स्त्रीकृतं इतिर्जनं तस्यैव मृषायां यत्रतत् । अत्र सर्वेयामपि कृष्णतां वपुः धरीरम् अतिवेदां तै
वपुष्मन्तः जीवा तेषां ईशमेव सात्त्विकं अचक्ष्मन्तम् अस्ति । कर्मभूत तत् । अविनिर्दिष्टेति—अविनिर्दिष्टानि
मनसा अचक्ष्मन्तानि यानि सुखानि दुःखानि च तेषाम् जायते तेन अनुदीयः प्रयागं सामर्थ्यं
यस्य तत् ईशमेव सारकम् । इति विगमस्य स्वयंवरार्थं स्वयं रवेच्छता पतिरतया सुखयया विनयामिति
हेतो योम-भीष्म भरत-भाय-राय सगर-सुहृन्-जमुपिञ्जकादीनामवनिपतीनां मुच्यन्तीनाम् अवातामकं यत्र
वानामुकं मुचं प्रस्थापयामभूते उपमानं वचनाप्रदानं तस्य अनुकूलम् अर्चितं मुचं वृष्टे यदेवं प्रवृत्तिरिति
हम् । अनामरे मरावेति—माययदेवावविद्वत्प्रतिविधितया तस्याम् अवोयनां नरनरं भुवति समरो
गाम । स किञ्च किञ्चेति वातामना । सास्तेति—सात्वं मय्यम् आधिपत्येन वानवारतादि तस्य
विनाशः योमा तस्य नीचत्वं जायते तस्य रघु श्रोतिर्यस्या तन्वा मुचयता कर्मपरम्परा वर्तता

श्रुतेति—श्रुत आकर्णित सौख्यातिष्ठाय लावण्यप्रकर्ष येन, स पुन कथभूत । मनागिति—
मनाक् ईषत् उपरमन् अल्पीभाव व्रजन् तारुण्योदय यौवनप्रकर्ष लावण्योदयः सौख्योन्नतिश्च यस्य स,
प्रयोगेण प्रयोगम् उपाय कृत्वा, ता सुलसाम्, आत्मसाच्चिकोर्षु निजवशा कर्तुमिच्छुक [सगर मन्दोदरी
नाम धात्री विश्वभूति नाम पुरोहितम् अयोधननृपालय प्रति प्राहिणोत्] कथभूता मन्दोदरी प्राहिणोत् ।
तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्य त्रय तौर्यत्रिकं तूर्यं मुरजादि तत्र भव तौर्यम् । तौर्योपलक्षित त्रिकम् इति विग्रह ।
तस्य सूत्रं तस्मिन् भरतमुनिशास्त्रे इति, प्रतिकर्मविकल्पेषु प्रत्यङ्ग कर्म प्रतिकर्म शरीरस्य प्रत्यवयव-
प्रसाधनार्थं वेशादिकरण प्रतिकर्मोच्यते तस्य विकल्पा स्नानस्रक्चन्दनपङ्कादय तेषु, सभोगसिद्धान्ते काम-
शास्त्रे, विप्रश्नविद्याया विविधा प्रश्ना हानिलाभनष्टमुष्टादिविषया तेषा विद्या ज्ञान तस्याम्, स्त्रीपुरुषलक्षणेपु
समुद्रपिप्रोक्तेषु, कथाख्यायिकाख्यानप्रवह्लिकासु कथा-प्रवन्धस्य अभिधेयस्य कल्पना स्वय रचना, आख्यायिका-
चलन्वार्था स्वयम् अनुभूतार्थप्रतिपादनम् । आरूपान सदृष्टान्त कथाकथनम् । प्रवह्लिकासु अभिप्रायसूचनकथासु
यथा सदेह स्यात् तादृशगुप्ताभिधानासु, तासु तासु कलासु च परमसवीणतालताधरित्रीम् उत्तमचातुर्यवल्लोभूमि
मन्दोदरीं नाम धात्रीम् उपमातरम् । ज्योतिपेति—ज्योतिषशकुनादिशास्त्रेषु निशिता तीक्ष्णा मतिर्वृद्धि तस्या
प्रसूति उत्पत्तिर्यस्मिन् त विद्वद्भूतिं च बहुमानेन अत्यादरेण संभावितम् आह्लादित मनो यस्य त पुरोधस पुरोहित
तत्र पुरि नगरे हस्तिनापुरे प्राहिणोत् । [मन्दोदरी विश्वभूतिश्च सुलसा सगरे प्रीतियुक्ता मधुपिङ्गले च
विप्रीतिम् अकारयताम्] कथभूता मन्दोदरी । विशिकेति—विशिका वशीकरण तस्या आशयः अभिप्राय
स एव शार्ङ्गलो व्याघ्र नस्य दरीव मन्दोदरी ता पुरमुपगम्य । परेति—परेषा जनाना प्रतारणे वञ्चने प्रगल्भा
प्रौढा मनीषा मतिर्यस्या, कृतेति—अर्धदृष्टा कपायवसना विधवा 'कात्यायिनी' त्युच्यते कृत विहित कात्या-
यिनीवेधो यया सा मन्दोदरी । ताश्च ताश्च कला तत्तत्कला तासाम् अवलोकन वीक्षण तस्माज्जात कुतूहल यस्य
स तम् अयोधनधरापालम् । निजनाथेति—निजो नाथ स्वामी सगरो नृप तस्य अर्थसिद्धि प्रयोजनसफलता
तस्या परवती अधीना रञ्जितवती सती अयोधन नृपम् अनुरक्तं विश्वसित कुर्वाणा शुद्धान्तोपाध्याया भूत्वा
शुद्धान्तम् अन्त पुर तत्र उपाध्याया अध्यापिका भूत्वा सुलसा सगरं ग्राहयामास । तथा वकोटवृत्तिवेधा वक-
प्रकृतिषु जनेषु वेधा ब्रह्मा महाकपटपटुरित्यर्थः । स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैः ज्योतिषशास्त्रफलं तस्य नृपस्य
सुयोधनस्य महादेव्याश्च अतिथे वशीकृतचित्तवृत्ति वशीकृता निजाधीना विहिता मनोवृत्तिर्येन सः । स्वय विहित-
रचनं आत्मना कृतं श्लोकं मधुपिङ्गले विप्रीति विरक्तताकारयति स्म । तेन विहितरचने पथे कुण्टे इति—
मन्दे आलस्यवति नरे वायुना उन्नतहृदये उन्नतपृष्ठे च पुरुषे पष्टिदोषा सन्ति । एकाक्षे अशीति । वधिर शतम् ।
वामने च ह्रस्वे नरि शत विंश विशत्यधिकं शतं दोषा सन्ति तु पिङ्गे पिङ्गले नरे दोषा असंख्यया तत्र
दोषाणा गणनाकरण न शक्यम् ॥३९२॥ मुखस्येति—मुखस्य अर्धं शरीर स्यात् मुखस्य शोभा पूर्णा शरीरस्य
तु ततोऽल्पा अर्धा । मुखं घ्राणार्धम् उच्यते यदि घ्राण न स्यात् तर्हि विगतनासिक मुख न शोभते । घ्राण
नेत्रार्धं घ्राणे नासाया विद्यमानेऽपि नेत्रयोरभावे घ्राण न शोभते । अतः शरीरमुखघ्राणेषु नयने परे उत्तमे ज्ञेये
॥३९३॥ इत्यादिवर्णनं विश्वभूति सुलसाया मनसि अप्रेम उदपादयत् [तत सुलसा स्वयवरमण्डपे सगरराजान
वृणुते स्म] तत चाम्पेयमञ्जरीसौरभ चम्पकपुष्पमञ्जरीसौगन्धमेव दुग्धं तस्य पाने लुब्धा लोभिष्ठा स्तन-
धया इव पुष्पधया भ्रमरा तद्वत् । यथा पय पाने लुब्धा स्तनधया भवन्ति तथा तेषु स्वयवराह्वानशृङ्गारि-
ताहंकारेषु स्वयवराह्वाने समागते शृङ्गारोऽस्ति यस्य शृङ्गारित अहंकारो यस्ते शृङ्गारिताहंकाराः
सगर्वा इत्यर्थः । सगर्वेषु राजसु मिलितेषु मन्दोदरीवशमानसा मन्दोदर्यधीनमना सा सुलसा श्रुतिमनोहरं श्रुत्या
शब्देन मनो हरति इति शब्दचेतोहर सगरम् अवृणोत् वृणोति स्म । कथम्, यथा निम्नधरोपगा आपगा सागर
निम्नधरा नोचभूमि ताम् उपगच्छतीति निम्नधरोपगा निम्नभूमिवाहिनी आपगा वाहिनी नदी सागर गच्छति

१ कथादीनाम् इदमपि लक्षणम्—कथा चित्रार्था ज्ञेया ख्याताध्यायिका मता । दृष्टान्तस्योक्ति-

राख्यान प्रवह्लिका प्रहेलिका ॥

तथा सा सयरे बभूवे स्म । नवति चाम इकोक—आह्वैरिति—समर्थे अह्वैरपि सह्यम् साह्यम् मित्रादि
कर्मकारिणि पुनरैव नृप विजयी भवति । कुप्यस्य शम्भविद्येयस्य अस्ता अर्धं कार्यं चरविनाशाय भवति ।
परम् अस्य कुप्यस्य इच्छस्तस्य परिच्छय सह्यो भवति । तथा सनरस्य नृपस्य बाबीपुरोहितो शम्भेव लक्ष्मण
समर्थो वाताविति मातोऽयं विज्ञेयः ॥१९४॥

इत्युपासकाव्यवहारे सुकसायाः सगरसंगमा नामाष्टाविंशः कथा ॥२८॥

२९. ससो रसातलस्तादृजो नामैकोनविंशः कथाः

[पृष्ठ १७३-१८१] [वातवैराग्यं मनुपिङ्गकं नृहीतवीर्यं विद्वन् सनरकारमापात्, तत्र
चित्रमूर्तिचित्रमूर्तिचित्रं सप्तमकसाधोपेतं समस्तोक्तं दृष्ट्वायैव तस्मात्पुत्रिकासाधनितुवाच । मुता
तद्विर् विरचमूर्ति सकलं पूर्वोक्तिहातं तस्मात्कथयत् । सर्वमेतद्व्यतिर्करं मुता मनुपिङ्गको मुनिः इडो खे ।
कावेनोत्पन्नं काकासुरनामासुरो वात ।] प्रकटनिर्वैरकम्बल उत्पन्नमवर्षात्माकुरं मनुपिङ्गकं
'विनिर्दं भोगायतनं धरीरम् । असोगायतनं सुकसाधोवर्षद्वितत्वात् अमोकास्यम् । यत् यस्मात् एकरूपोक्तं
पक्षेष्टं धरीरैकमायं नेत्रे तत्र बोधात् इमाम् चित्रिचमोगमाम् अपि चित्रि स्वाम्यं सभामनं संवेतो
परवास्ताम् अपि मामतनुदृष्टं मामस्य पुरीम् अहं नाकम्भि न कम्बवान् । इति मत्वा विमुक्तैति तत्पत्
मभमेहः । स्वीकृतवीर्यं शम्भेव तांस्तान् धामारामनिवेशादीन् धामवनाधिरवनाधिरवनाम् निरनुकं अकम् ।
अङ्गारिक इव प्रसस्ताम्ना वैगवतीम्ना अङ्गारिका इति पञ्चलीति अङ्गारिक इव आङ्गिकपुत्रस्य
लोचनीत्सवता नयन् नयनागम्यतां नयन् तनरसवनात् नयनबोर्मां मित्रम्, अलनाया बुद्ध्या बोक्-
कामेनेति माष अमोव्यामागत्य अनेकेति—अनेकैकपक्षीः अनाहारी, अतुविवाहारेण्यो पराधोनिर्-
धाम्यं तीक्ष्णरस्यता तीव्रपुष्पया अतिवृत्तान्तरीरः । बाणोह इव अर्धं पातुमिच्छन्वत्तक इव कम्बपुष्प-
पोद्गम र्कातिवाकाय सनरगावहारयन्त्रिरे सगरनृपस्य हारनृपे मनाम् ईदृशकर्म अम्बवत् तस्वी । तत्र च
पुरेति—[पृष्ठ मवा सा सुकसा अतिविद्वेया वर्म आसीत् तथा श्येवं मनुपिङ्गसाव वैमिति मन्त्रकम्पयकतात्वा ।
परं तस्यां सुकसायां परिचयस्य प्रदानस्यापस्य विरचमूर्तिना अतिवृत्तः ।] पुरा स्वयंवरकावे प्रमुक्ता योकिता
परिचयापामस्य प्रदानविनाशस्य नीतिर्भेगं च विस्ममूर्तिः प्रवक्तव्यतवे प्रवक्ता श्रीमन्मतिबुद्धिर्भव तस्वी विर-
मूतवे र्चिष्म्याय प्रिक्ताय चिष्म्याय रक्षितेति—रक्षिता रक्षस्वस्व पोषणीयस्य मुता प्रसीतिर्भव उत्तामुद्रकं समुद्र-
चिष्मा प्रोक्तं देहविङ्गनृपम् अवीरविदुपविचक्षण लकम्बुनृपविदुषः व्याचक्षाणो विद्वन्नामः बभूव । परेति—
पराधर्म-पूर्वतपच्छोचनज्ञानं तस्य वक्ता अलोपीति । संघर्षरहितं च चित्रमूर्ति तं नृपकक्षमपेक्षमं नृसावि
लकम्बानि च तानि कक्षयानि शुभदेहविङ्गानि पचयन्वीरिणि । येचकं सुन्दरं तं मनुपिङ्गकम् अमकोत्प-
त्पाव्वाय अनेति—अनं विपुलं तन्मन्त्रं तस्य आहुतिनिर्गम्यैवस्थास्तीति अतिवृत्तं तस्य तद्वयं च तेषां तेषां
साकटे इति मामघातिति अजाकापालिनि अजाकायां पिङ्गालां माता अस्य तस्मिन् अजी दृष्ट्वाय एतस्य
ऐतिहास्यं पारम्पर्योद्देशस्य स्थाप्याय अच्यवर्तनं पठनम्, यत् अस्मात् एवमिति—एवविचरारीरोपि
अर्धं मुनि ईदृशस्याप्या एतादृशस्याप्या कीर्तिर्भवेत् अस्य । अता एतन्महाकाव्यं विद्वन्मन् इति चित्रमूर्तेर्चापि
मुता विरचमूर्तिर्भवनाय कथाय 'कर्ममूर्ती विरचमूर्ति । सदेति—नदाचारस्य निवृद्धीतिविनाशो यस्मात् त
विरचमूर्ति (वरति) अययौमेति—न परि सर्वतः आत्मा नृवर्षपरन्वतिर्भवेत् तेषां तस्यैवोक्तम् द्वै चित्रमूर्ते आ-
वा क्षेत्रम्, यदेव नृपवरस्य सनरस्य निवेशादेसात् निवेशात् कृतात् आवेसात् आत्माः, अरमुपदेशात् च
अनन्यमिति—अयम् उपलब्धवान् साधार्थं साधयम् अन्वसायागमसावर्धं न अपकम्पयानं तानायां कावचम्
अनन्यसामान्यसाधयम्, तस्य निवासी यस्यां सा तां मुल्लाम् अल्लमालं तस्वी वीर्यं तपस्वी अमृ-
नृनिर्वायत । एतच्च आचमं लयीना अरिहाना अरकक्षतपानां तति नृद्विर्भव तस्य विरचमूर्ते
वचनम् एवायनमना एकदिग्गुण्ये अर्धं तर्धं मनी अस्व त एवायनमना एवावसावनायां वा ।

मधुपिङ्गलो यतिः । निगम्य ध्रुत्वा प्रवृद्धक्रोधानल समिद्धरोषाग्नि कालेन कतिपयैर्दिवसं । विपद्य मृत्वा उत्पद्य जनित्रा चासुरेषु कालानुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यात् भव जन्म प्रत्ययः । कारण तस्य माहात्म्यात् प्रभावात् उपजातावधि उत्पन्नावधिज्ञानस्य सनिधि समीपता यस्य, स कालासुर तपस्याप्रपञ्च तपोविस्तारम्, अन्वयोदञ्च च असुरकुले उदञ्चम् उत्पत्ति च आत्मनो निजस्य विनिश्चित्य, यत् छदानीमेव अधुनैव महा-पराधनगर महापराधाना नगरमाश्रय सगर नृपम् अकारण हेतु विना प्रकाशिता प्रकटिता दोषजाति येन त विद्वभूति च चर्णपेपे मिनप्ति गोधूमचूर्णवद्वलन करोमि । तद्वानयो सगरविद्वभूत्यो सुकृतमूयिष्ठत्वात् पुण्यवैपुल्यात् प्रत्यापि परलोकेऽपि मुरश्रेष्ठत्वावाप्ति देवज्येष्ठत्वलाभ न साध्वपराध स्यात् । ततो यथा इह अनयोर्बहुविहम्बनावरोधो घघ बह्व्य विपुला विहम्बनाः । श्लेशा तासाम् अवरोध सवन्ध यथा भवेत्, परय च परलोके नरकादौ दृग्परम्परानुरोध दुःखसमूहमवन्धो यथा भवति तथा विधेयं कार्यम् । न च एकस्य बृहस्पतेः सुरगुरोरपि अतिचतुरस्मापि कार्यसिद्धिरस्ति । इति अभिप्रायेण आत्मेति—निजविक्रिया-सामर्थ्यप्रकटीकरणे साहाय्य प्रयच्छन्तम् अतिथिमिव, चरनिर्यातन क्षत्रप्रतिकार तस्य मनोरथ सकल्प स एव रथ तस्य सारथि रथचालकमिव कचन नरम् अन्वेषणमिति अनुसन्धानवृद्धि आसीत् ।

[पृष्ठ १८१-१८३] [यस्य साहाय्यमासाद्य कालासुर सगर विद्वभूति च मृतिं निन्ये तस्य पर्वतस्य पूर्वचरित वर्णयते] अथ मधुपिङ्गलस्य कालासुरावस्थाप्राप्तिवर्णनानन्तर पर्वतस्य कालासुरमाहायकस्य कथा कथ्यते—कामेति—कामस्य कोदण्डो घनुः तस्य कारणानि च तानि कान्ताराणि घनानि तैरिव इक्षुवणानाम् अवतारं उत्पत्तिभिः विराजितमण्डलायाम् अलकृतो मण्डलो आसमन्ताद्भूतभूतदेशो यस्या तस्या डहालाया तन्नामके देवे स्वस्तिमनो नाम पुरो अस्ति । तस्याम् अभिचन्द्रापरनाम वसुविश्रवावसुर्नाम नृपति अस्ति । तस्य सकलगुणरत्नप्रसूति वसुमतीनाम अग्रमहिषो प्रधानराशो । अनयो सूनुः पुत्रः समस्तेति—सकलशत्रु-तरुदहने विभावसु अग्निरिव वसुर्नाम । पुरोहितश्च निश्चितेति—ज्ञातसकलागमरहस्यसमूह क्षीरकदम्बो नाम । कुटुम्बिनी—अस्य कुटुम्बविशिष्टा भार्या सती पतिव्रता व्रतानाम् अहिंसादीनाम् उपास्ती भक्तिपालने तत्परा स्वस्तिमनो नाम । जन्मु पुत्र पुनरनयो क्षीरकदम्बस्वस्तिमत्यो [अनेकनमसितानि पूजनानि तेषा पर्वत समूह तेन प्राप्तो लब्ध पर्वतो नाम । स किल सदाचरणभूरि सदाचरणेषु अहिंसादिषु इज्यादिषु कर्मसु भूरि ब्रह्मेव क्षीरकदम्बसूरि एकदा मुवर्णगिरिर्नाम तन्नामा पर्वत तस्य गुहाया अङ्गणशिलायाम्, यस्या शिष्यमताविव स्वाध्यायनपादनवत् शिष्यालाया विभूताया तस्मै मुदा आनन्देन गतस्मयाय विनष्टगर्वाय यथा-विधि विधिमनतिक्रम्य समाधिगामवे सम्यक् आधिम् एकाग्रता गच्छन्ति असवः प्राणा यस्य तस्मै वमवे, प्रगलितेति—प्रगलित विनष्ट पितु पाण्डित्यस्य गर्व एव पर्वतो यस्मात् तस्मै पर्वताय, गिरिकूटपत्तन वसतिनिवासस्थान यस्य तस्य विश्वनाम्न विश्वभरापते विश्वभरा पृथ्वी तस्या पत्यु स्वामिनः पुरोहितस्य कथभूतस्य । विहितेति—अनवद्या निर्दोषा सा चामौ विद्या च अनवद्यविद्या तयोपेत आचार्य अनवद्यविद्या-चार्य विहिता कृता अनवद्यविद्याचार्यस्य चरणसेवा येन तथाभूतस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय पुत्राय नारदाभिधानाय च निखिलभुवनेति—सकलजगद्व्यवहारस्य तन्त्र कारणम्, आगमसूत्रम्, अतिमधुरस्वरनिमित्तेन उपदिशन् (क्षीरकदम्बसूरि) अश्वरादाकाशात् अवतरद्भ्यां भूमितलम् आगच्छद्भ्याम्, सूर्याचन्द्राम्बामिव अमितगत्यनन्तगतिभ्या ऋषिभ्याम् ईशाचक्रे अवलोकयामासे । [अमितगतिभगवतोक्त चतुर्षु एषु द्वाम्यामूर्ध्व-गतिलभ्येति' श्रुत्वा पर्वतनारदी परोक्षितो क्षीरकदम्बेन । पर्वतस्याधोगमन नारदस्य चोर्ध्वगमन निश्चित्य क्षीरकदम्बो मुनिर्जज्ञे । आपुरन्ते सल्लेखना विधाय देवो बभूव] तत्र समासप्रमुपति समासप्रा निकटीभूता सुगतिर्यस्य स भगवाननन्तगति किलैवम् अभापत—भगवन्, अत एव खलु विदुष्या शिष्या वेत्तुम् अध्येतु योग्या विदुष्या शिष्या, यदेवम् अनवद्य निर्दोष ब्रह्मोद्यविद्य ब्रह्मणा अहता जिनदेवेन उद्या प्रतिपादिता विद्या जीवादिस्पष्टतत्त्वज्ञान यत्र तदेतच्छास्त्र ग्रन्थ । शब्दपदवाक्यानि अर्थ तदभिप्राय । तयो प्रयोग सनिदर्शन प्रतिपादनम् । तस्य भङ्ग्य प्रकारा । तेषु यथार्थप्रतिपादनेन विधूनीपाध्यायात् उपाध्यायात् विधूत तपा-ध्यायो बृहस्पति येन तस्मादुपाध्यायात् गुरो, एकसर्गधिय एकनिश्चयमतय, अधीयते पठन्ति । प्रयुक्तेति—प्रयुक्ता उपयोगदशाम् आनीता अवधिज्ञानस्थितिर्येन स अमितगतिर्भगवान्—“मुनिवृपन् यतिश्रेष्ठ, सत्यमेवैतत् ।

मधुपिङ्गलो यति निशम्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोधानलं समिद्धरोषाग्नि कालेन कतिपयैदिवसं विपद्य मृत्वा उत्पद्य जनित्वा चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यात् भव जन्म प्रत्यय कारण तस्य माहात्म्यात् प्रभावात् उपजातावधि उत्पन्नावधिज्ञानस्य सनिधि समीपता यस्य, स कालासुर तपस्याप्रपञ्च तपोविस्तारम्, अन्वयोदञ्च च असुरकुले उदञ्चम् उत्पत्ति च आत्मनो निजस्य विनिश्चित्य, यत् इदानीमेव अधुनैव महा-पराधनगर महापराधाना नगरमाश्रय सगर नृपम् अकारण हेतु विना प्रक्राशिता प्रकटिता दोषजाति येन त विश्वभूति च चूर्णपेयं पिनप्ति गोधूमचूर्णवदलन करोमि । तदानयो सगरविश्वभूत्यो सुकृतमूयिष्ठत्वात् पुण्यवैपुल्यात् प्रत्यापि परलोकेऽपि सुरश्रेष्ठत्वावाप्ति. देवज्येष्ठत्वलाभ न साध्वपराध स्यात् । ततो यथा इह अनयोर्वहुविहम्बनावरोधो वध बह्वध विपुला. विहम्बना फलेशा तासाम् अवरोध सवन् यथा भवेत्, परम च परलोके नरकादौ दुःखपरम्परानुरोध. दुःखसमूहसवन्वो यथा भवति तथा विषयं कार्यम् । न च एकस्य बृहस्पते सुरगुरोरपि अतिचतुरस्यापि कार्यसिद्धिरस्ति । इति अभिप्रायेण आत्मेति—निजविक्रिया-सामर्थ्यप्रकटीकरणे साहाय्य प्रयच्छन्तम् अतिथिमिव, वैरनिर्यातन क्षत्रप्रतिकार तस्य मनोरथ सकल्प स एव रथ तस्य मारयि रथचालकमिव कचन नरम् अन्वेयणमति अनुसन्धानबुद्धि आसीत् ।

[पृष्ठ १८१-१८३] [यस्य माहात्म्यमासाद्य कालासुर सगर विश्वभूति च मूर्ति निन्ये तस्य पर्वतस्य पूर्वचरित वर्णते] अथ मधुपिङ्गलस्य कालासुरावस्थाप्राप्तिवर्णनानन्तर पर्वतस्य कालासुरसाहायकस्य कथा कथ्यते—कामेति—कामस्य क्रोडण्डो घनुः तस्य कारणानि च तानि कान्ताराणि वनानि तैरिव इधुवणानाम् अवतारं उत्पत्तिभि विराजितमण्डलायाम् अलकृतो मण्डलो आसमन्ताद्भूतभूतदेशो यस्या तस्या बहालाया तन्नामके देशे स्वस्तिमती नाम पुरो अस्ति । तस्याम् अभिचन्द्रापरनाम वसुविश्ववसुर्नाम नृपति अस्ति । तस्य सकलगुणरत्नप्रसूति वसुमतीनाम अग्रमहिषो प्रधानराज्ञो । अनयो सूनु पुत्र समस्तेति—मकलशश्रु-तरुदहने विभावसु अग्निरिव वसुर्नाम । पुरोहितश्च निश्चितेति—ज्ञातसकलागमरहस्यसमूह क्षीरकदम्बो नाम । क्रुटुम्बिनी—अस्य क्रुटुम्बविशिष्टा भार्या सती पतिव्रता व्रतानाम् अहिंसादीनाम् उपास्ती भक्तिपालने तत्परा स्वस्तिमती नाम । जन्मु पुत्र पुनरनयो क्षीरकदम्बस्वस्तिमत्यो [अनेकनमसितानि पूजनानि तेषा पर्वत. समूह तेन प्राप्नो लब्ध पर्वतो नाम । स किल सदाचरणभूरि सदाचरणेषु अहिंसादिषु इज्यादिपट्कर्मसु भूरि. ब्रह्मैव क्षीरकदम्बसूरि एकदा सुवर्णगिरिर्नाम तन्नामा पर्वत तस्य गुहाया अङ्गणशिलायाम्, यस्या शिष्यमताविव स्वाध्यायसपादनवत् विशालाया विभूताया तस्मै मुदा आनन्देन गतस्मयाय विनष्टगर्वय यथा-विधि विधिमनतिक्रम्य समाधिगासवे सम्यक् आधिम् एकाग्रता गच्छन्ति असव प्राणा यस्य तस्मै वसवे, प्रगलितेति—प्रगलित विनष्ट पितु पाण्डित्यस्य गर्व एव पर्वतो यस्मात् तस्मै पर्वताय, गिरिकूटपत्तन वसतिनिवासम्यान यस्य तस्य विश्वनाम्न विश्वभरापते विश्वभरा पृथ्वी तस्या पत्यु स्वामिन पुरोहितस्य कथमूतस्य । विहितेति—अनवद्या निर्दोषा सा चासी विद्या च अनवद्यविद्या तयोपेत आचार्य अनवद्यविद्या-चार्य विहिता कृता अनवद्यविद्याचार्यस्य चरणसेवा येन तथाभूतस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय पुत्राय नारदामि-धानाय च निखिलभुवनेति—सकलजगद्व्यवहारस्य तस्य कारणम्, आगमसूत्रम्, अतिमधुरस्वरनिमित्तेन उपदिशन् (क्षीरकदम्बसूरि) अम्बरादाकाशात् अवतरद्भूयां भूमितलम् आगच्छद्भूयाम्, सूर्याचन्द्राभ्यामिव अमितगत्यनन्तगतिभ्या ऋषिभ्याम् ईक्षाचक्रे अवलोकयामासे । [अमितगतिभगवतोक्त चतुर्षु एषु द्वाम्यामूर्ध्व-गतिलभ्येति] श्रुत्वा पर्वतनारदो परीक्षितो क्षीरकदम्बेन । पर्वतस्याधोगमन नारदस्य चोर्ध्वगमन निश्चित्य क्षीरकदम्बो मुनिर्जज्ञे । आयुरन्ते सल्लेखना विधाय देवो बभूव] तत्र समासप्तगुणति समासन्ना निकटीभूता सुगतिर्यस्य स भगवाननन्तगति किलैवम् अभापत—भगवन्, अत एव खलु विदुष्या शिष्या वेत्तुम् अध्येतु योग्या विदुष्या शिष्या, यदेवम् अनवद्य निर्दोष ब्रह्मोद्यविद्य ब्रह्मणा अहता जिनदेवेन उद्या प्रतिपादिता विद्या जीवादिस्पष्टतत्त्वज्ञान यत्र तदेतच्छास्त्र ग्रन्थ । शब्दपदवाक्यानि अर्थः तदभिप्राय । तयो प्रयोग सनिदर्शन प्रतिपादनम् । तस्य मह्य प्रकारा । तेषु यथार्थप्रतिपादनेन विधूतोपाध्यायात् उपाध्यायात् विधूत तपा-ध्यायो बृहस्पतिः येन तस्मादुपाध्यायात् गुरो, एकसर्गधिय एकनिश्चयमतय, अधीयते पठन्ति । प्रयुक्तेति—प्रयुक्ता उपाध्यायानाम् आनीता अवधिज्ञानस्थितियैः स अमितगतिभगवान्—“मुनिवृषन् वतिश्रेष्ठ, सत्यमेवतत् ।

किन्तु एतेषु चतुर्षु मध्ये ह्यस्याम् अतिगौरवीयेतपचार्यम् इत्यभारमुक्तवस्तुम्, अत्र-प्रबोधोचितमिदम्
 अपोयति प्रारभ्योपेक्षुमानमुक्तव्यम् इदम् अतिपवित्रमपि सूत्रम् आगमं विषयवित्तम् विर-
 तामिमेवं वर्तय्यम् । एतच्च प्रवचनम् आगमं तदेव लोचनं नेत्रं तेन आलोकिताः शीघ्रं ज्ञातं ब्रह्मसम्यो
 चगतत्वं च तत्तत्प्रमाणोऽवयवपर्याया येन स लीरकदम्बः संमुख्य आकष्य 'मूममस्मिन् महामुनिवार्त्त-
 ३३' इति उक्तविरचितं तस्य मरीचयो ज्वाला तां यथा ऊर्ध्वं पञ्चगतिं तथा चतुर्षु नरेषु ह्यस्याम् ऊर्ध्वार्धम्
 मुरलीकं बन्धूपां अतिव्यमिति प्रतीयते ज्ञायते । तत्राहं तावत् एकैवैवमपिपूतात्मानम् एवैवमपि
 यथासकः स चासौ पूतात्मा पवित्रात्मा तम् अक्षरवामसंनिधानम् अधरं च तन्नाम च त्वानं तत्र उतिवार्त्तं
 सामोप्यं न संवेद्यम् अमोवतिस्थानं नरकं तत्र बहून् आत्मानं न ब्रह्मीयाम् । बर्त्तुं बहून् धार-
 वरवारकत्वावधोपतिं न यास्यामीति भावः । [बहून् वसुं च नीलं विधातुं संवेद्यम्] यत् नरकारं
 पात्रम् । नरकः नरकप्राप्तिः अन्तः अवसानं कर्म यस्य एषावस्य पात्रम् । ब्रह्मनाम्तो निरोधः निरोधः
 पापकार्यं प्रेरणा स ब्रह्मनाम्तो ब्रह्मन् पापवन्तः अन्तोऽवसानं कर्म यस्य एवमिदो यदति पापकार्यं प्रेरणा
 पापं ब्रह्मते इत्यत्र । मरणात्तः स्त्रीषु विस्थातः मारीषु विस्थातेन बहवो निचनं वाता विरहता
 लक्ष्मिं मीरी दुष्टेषु सवन्तम् आचरितं विपत्कर्म जनयति । इति वचनात् इति कुञ्जोक्तैः, इन्द्रिदेति—इन्द्रि-
 कस्मीं तस्या मदी गतः । मरिचाम्ब मुपपाताम्बार्त्तं विरक्तविकृतत्वं एताम्नां ह्यस्यां मक्तिवचनं
 मक्तिं पारं तस्मिन् प्रचारः प्रवृत्तिः यस्याम्बुवति तन्मातुं पात्रधरे प्रसरत्तुं प्रक्षयं सरत्तुं अक्ष-
 प्राभा यस्य तन्मातुं वसुं च नीलं विधातुम् ऊर्ध्वं मुरलीकं विधातुं विषयिषुं न संवेद्यम् न जानामि ।
 तन्मातुं पर्वतो पर्वताधिकृतो पर्वतायाम् अतिवृत्तीं नियुक्तीं तौ यथा पर्वतयो इति निश्चितम् समिधमयं वि-
 तिर्षुं तम् ऊर्ध्वानुवर्त्तं छापमुवर्त्तं निमयि विरच्य प्रवचं च तस्याम् 'बहो ह्यस्यायपि यवदूपात् इव सरत्तुवर्त्तं
 छापमुवर्त्तं यत्र न कोऽप्यवकोकते न पश्यति तत्र विनास्य इत्या प्राप्तिर्धर्मं अतिव्यमम् इत्यादिदेव । तावति
 तदादेवेन तदाज्ञया इत्यबाहुनबाहुनद्वितयं इत्यं लभितविरच्यं बहूरीति इत्यवदूपात् अलि-...तस्य बाहुनौ ज्यो-
 त्मोद्वितयं पुनर्त्तं प्रत्यक्षम् आश्रय गृहीत्वा यथायथम् आत्मसत्त्वयतिरुमेव यथाविद्याम् अवच्छिद्यम् । तत्र
 सत्त्वस्वातिर्त्तं पर्वतं सन्नि- सज्जनीः तस्यं दीपं सत्त्वस्यं तस्मिन् अतिवर्त्तं अतिवचनः सज्जनविषयार-
 इति भावः । पर्वतः पश्यपावकायकुम्भात् उपसद्य पश्यस्य गृहस्य पावकात्वां परवाने वर्तमानो कुम्भो तद्विषयि
 उपसद्य आश्रित्य ब्रह्मः उपसद्य पर्वतं तम् उरार्त्तं कर्त्तं अतिवं संवाच अतिपर्वत्तं विषय तस्य तर्त्तं बाहुन उप-
 नतवागम् उदपनिमानम् अकार्षीत् अकरोत् । पुमासयविधारयो नारदस्य पुष्पविचारत्तुत् नारदः 'यत्र न
 कोऽप्यवकोकते इति यथाप्यवकोकं पुनश्चनं व्याप्य अगता विमयान्, को नाशाय पुरे, नाम्नारे वा सन्वच-
 नुमि' वृत्तीं सद्भिदः सद्भि- स चासौ वनः क्षान् सन्वचनः वृत्तविधिः प्रदेय' (?) अत्र पुरे नगरे नाम्नारे वने वा
 को नाम सन्वचनं न आरमेत्तस्य आरमनयनस्य आरमनयनमूर्तो यस्य तः तस्य अवचिनन-वर्त्तवैवत-
 मानिन इत्यन्तराजोति—अन्तराजसमूहस्य महामुनिवार्त्तनाम् अन्तःकरणस्य कं वरार्त्तं अतिवर्त्तं
 विषयान् न ज्ञेयम् । इति विविच्य तदेव तं वृत्तिं छाप्य यथाप्यवाम अवर्त्तवागत वदी । यथाप्यव-
 नारदमपि ऊर्ध्वं मुरलीकपतिकोम्यम् अवबुध्य । सारत्तस्तम्भविधं कथनिकरत्तं केतनमुत्तम् उतात-
 कोच विषय । स्वर्गवर्त्तवित्तयां मुरमातको धीक्षान् आश्रय गृहीत्वा । निश्चिन्तापमतीयां अक्ष-
 विनिश्चिन्तातां सन्दक ईक्षणं यस्याः अति तं विद्यां नटनम् अनुविरच्य 'आनुवर्त्तवचनवर्त्तवर्त्तवर्त्तं यतोवचनम्
 आरममाहृत्य । मुनि अति-यति-अननारमेव' 'आनुवर्त्तवचनमुत्तम्' तस्य यतः प्रवचनं पारं यतोवचनं निजा
 धीर्त्त इत्या आचार्यार्त्तं उत्तरार्त्तम् । एकत्वाविद्यावचनानुरक्तारम् आरमवर्त्तवर्त्तं विषय ततोवचनं यथायथा-
 पुनश्चावशात्तमावनापुन्निमाननाम् अन्तर्त्तं विषय कामवचायवर्त्तं वरत्तवर्त्तम् अनुवर्त्तय यथा पटीर्
 यथायथा शोभायः तेषां यथाकर्म कर्त्तव्यं अन्तीकर्त्तं विषय मिद्वपति—सर्वतन्वन्वचादिशोभा-
 आलोचनो इत्या अत्रविषयगतम् देहवागावचनम् अन्तर्त्तं यथायथा वचनार्त्तं अनुविचारत्तवर्त्तं अतिवर्त्तं अन्तीकर्त्तं
 मुरमुनइत्यां भूषण देवमुनं अक्षया इत्यन्तर्त्तवर्त्तं अने [एकता पर्वतनारदवर्त्तवर्त्तवर्त्तं अतिवर्त्तं अक्ष-
 वागव पट्टव वाता-अति तत्र अनुवर्त्तवर्त्तं आताः] पूर्वमेव तदादेयम् लीरकदम्बपुरोः । अनुवचन

देशोपदेशः आत्मन स्वस्य देशं गत्वा कृतोपदेशः सकलसिद्धान्तकोविद नारदः सद्गुणभूरे सद्गुणप्राप्तेः भूरि
 ग्रहादेवतुल्यं तस्य क्षीरकदम्बमूरे, प्रप्रज्याचरणं स्वर्गारोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं च पश्येत्' इति कृतसू-
 कनस्मरणपर्याप्ततदाराधनोपकरणं इति सूचते स्मरणात् गृहीतगुर्वाराधनसाहित्यं तद्विरहदुःखदुर्मनसं निजपति-
 विषोऽगदुःखमाकुलचित्तम् उपाध्यायभार्याम् जननीं निजमातृतुल्यां सहपासुक्रोडितं सहधूलिक्रीडितं निजमित्रं
 पर्वतं च द्रष्टुम् आगतः । अपरेद्युः अन्यस्मिन्दिने तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् अजे अजात्मजे छागे
 यष्टव्यम्, हव्यकव्याप्यो विधिविधातव्यः । देवेभ्यो दीयमानम् अन्नं हव्यम् । पितृभ्यो दीयमानमन्नं कव्यम्
 अग्निमुत्प्रेन देवेभ्योऽन्नं दीयते, पित्रमुत्प्रेन पितृभ्योऽन्नमिति । इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याह-
 रन्तमुपश्रुत्य केवलं श्रद्धामात्रेण अवभासो येषां ते श्रद्धामात्रावभासिनः तेभ्यः गुरुकथितं श्रद्धया श्रोतव्यम् इति
 मत्या तदभिप्रायं शृण्वद्भ्यः विद्याविभ्यः व्याहरन्तं प्रतिपादयन्तम् उपश्रुत्य श्रुत्वा बृहस्पतिप्रजं सुरगुरुतुल्यमति
 (नारदः) 'पर्वत, मैव व्याहृष' एव विवरणं मां कुरु । किं तु 'न जायन्ते इत्यजाः वर्षत्रयवृत्तयो ब्रौह्मस्तैर्यष्ट-
 व्यम् ब्रौह्मयो धान्यमात्रं त्रैवापिकैर्धान्यैर्यष्टव्यं शान्तिकपोष्टिकार्था क्रिया कार्या इति परार्थेव आचार्यादिदं
 वाक्यम् एवम् अथोष्व परारि एव गततृतीयवर्षे एव आचार्यमुखादिदं वचनम् अशृण्व ।' परस्सजुस्तथैवाचिन्त-
 याव गतवत्सरे सहमिलित्वा आचार्यवचनाभिप्रायानुसारेण चिन्तनं चावा अकुर्वह । तत्कथमैषम एव तव मति
 द्वापरवसतिः समजनि इति बहुविस्मय मे मनः । तत्कथं केन कारणेन ऐषम एव अस्मिन्नेव वत्सरे तव मति
 द्वापरवसतिः सशयस्थानम् अजायत इति मम चित्तम् अतीवाश्चर्ययुक्तम् । आचार्यकनिष्ठे पर्वत, यद्येवमद्यद्वीने-
 ऽप्यथा(र्षा) भिधाने भवान् अपरवानपि विर्यस्यति तदा पराधीने मादृग्विधीने मादृशा विधिस्तस्य इने
 ईश्वरे को नाम सप्रत्ययः । आचार्यकगृह आचार्यसदृशेति भावः चेदेवम् अद्य श्वो वा भवम् अद्यश्वीन तस्मिन्
 अद्यश्वीने सद्य एव प्रतिपादिते अर्थाभिधाने शब्दानां वाच्यायैपतिपादने भवान् अपरवान् अपि स्वाधीनोऽपि
 विपर्यस्यति, यथागमः न कथयसीत्यर्थः, तदा पराधीने मादृशे को नाम जनस्य सप्रत्ययः सवादः सम्पक् प्रतीति
 स्यात् ।

[पृष्ठ १८४] पर्वत —नारद, नेदमस्तुकारम् इदं वचनं न स्वीकारार्हम् इति मे कथनम् । यदस्य शब्दस्य
 मन्त्ररक्तं मया निरुक्त्या कृतं एव अर्थं अतिसूचत अतिप्रशस्ततया उच्यते इति अर्थात् मया योऽर्थः निरुक्त्या प्रोक्तः
 स भवता ग्राह्य इति न ममाग्रहः । पर यदि चायमन्यथा स्यात्तदा चेत् अयं मन्त्रिरुक्तोऽर्थः अन्यथा स्यात् विपरीतता
 गच्छेत् तदा रसवाहिनीखण्डनमेव दण्डः रसान् अम्लमधुरतुवरादिकान् बहूनि जानातीति रसवाहिनी जिह्वा तस्या
 खण्डनं कर्तनमेव दण्डः दमनम् । नारद —पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोनिकपभूमिः । को विद्वान् विवदमानयो
 विव्राद कुर्वाणयो खलु अयं अजशब्दार्थविवादे निकपभूमिः यथार्थनिर्णयदानाधारः, यथा निकपपट्टे सुवर्णस्य
 परीक्षा भवति तथा सभाध्यक्षे निरपेक्षे सति सत्तत्त्वनिर्णयो भवति । पर्वत —नारद, वसु सभाध्यक्षः । ततो
 निर्णयो भवेत् । कर्हि तर्हि तं समयानुसर्तव्यम् । कदा तर्हि तं समयं तस्य समीपम् अनुयातव्यम् । इदानीम्
 एव नाश्रोद्धारं अधुनैव न विलम्बः । इत्यभिधाय तौ द्वावपि वसु निकपा वसोः समीपं प्रास्थिपाताम् अया-
 ताम् । ऐक्षिपाता च अपश्यता च । तथोपस्थितौ तेन गुरुनिवेशोपमाचरितसमानौ तथागतौ तेन वसुना गुरु-
 समानं कृतसत्कारौ, यथावत् कृतकशिपुविधानौ दत्ताक्षवस्त्रविधानौ, विहिताचित्तोचितकाञ्चनदानौ विहित-
 दत्तम् आचितः भारः विशतिशतानि उचितं योग्यतामनुसृत्य काञ्चनस्य सुवर्णस्य दानं ययोस्ती समागमन-
 कारणम् आपृष्टौ अनुयुक्तौ, स्वाभिप्रायं निजागमनस्य हेतुं वादनिर्णयम् अभाषिपाताम् अकथयताम् । वसु —
 यथाहेतुस्तत्रभवन्तो पूज्यौ यथा ब्रूतं तथा प्रातः एव प्रभातकाले एव अनुतिष्ठेयं कुर्यामहम् । [पर्वतमाता
 स्वस्तिमती वसु प्रति गत्वा पर्वतानुकूलं न्यायदानं कुर्वित्युवाच तथास्त्विति प्रतिपन्नं तेन] अत्रान्तरे वसु-
 लक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपायाः किल उपाध्याया अस्मिन् प्रसंगे वसुनूपस्य राजलक्ष्मीविनाशरात्रिरिव रात्रौ किल उपा-
 ध्याया, नारदपक्षानुमतं क्षीरकदम्बाचार्यकृतं तद्वाक्यव्याख्यानं स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापाद्यबुद्ध्या
 वसुमनुमृत्य नारदपक्षभिप्रायानुकूलं क्षीरकदम्बमूरिविहितम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यविवरणं चिन्तयन्ती

१ आचार्यस्य कर्तव्यं विद्यार्थिपाठनं तदाचार्यकमुच्यते । तस्य निवेतं गृहम् ।

देशोपदेश. आत्मन स्वस्य देश गत्वा कृतोपदेश सकलसिद्धान्तकोविद नारदः सद्गुणभूरे सद्गुणप्राप्ते भूरिः
 ब्रह्मदेवतुल्य तस्य क्षीरकदम्बसूरे प्रव्रज्याचरण स्वर्गारोहण चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्र च पश्येत्' इति कृतसू-
 षनस्मरणपर्याप्ततदाराधनोपकरण इति सूचते स्मरणात् गृहीतगुर्वाराधनसाहित्य तद्विरहदुःखदुर्मनस निजपति-
 वियोगदुःखव्याकुलचित्तम् उपाध्यायभार्याम् जननी निजमातृतुल्या सहपासुक्तीडित सहवूलिक्रीडित निजमित्र
 पर्वत च द्रष्टुम् आगत । अपरेद्युः अन्यस्मिन्दिने त पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् अजं अजात्मजं छागं
 यष्टव्यम्, हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्य । देवेभ्यो दीयमानम् अन्नं हव्यम् । पितृभ्यो दीयमानमन्नं कव्यम्
 अग्निमुखेन देवेभ्योऽन्नं दीयते, विप्रमुखेन पितृभ्योऽन्नमिति । इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याह-
 रन्तमुपश्रुत्य केवलं श्रद्धामात्रेण अवभासो येषां ते श्रद्धामात्रावभासिनः तेभ्यः गुरुकथितं श्रद्धया श्रोतव्यम् इति
 मत्या तदभिप्रायं शृण्वद्भ्यः विद्यार्थिभ्यः व्याहरन्तं प्रतिपादयन्तम् उपश्रुत्य श्रुत्वा बृहस्पतिप्रज्ञं सुरगुरुतुल्यमति
 (नारदः) 'पर्वत, मैव व्याख्यं एव विवरणं मा कुरु । किं तु 'न जायन्ते इत्यजा' वर्षत्रयवृत्तयो ब्रीहयस्तैर्यष्ट-
 व्यम् ब्रीहयो धान्यमात्रं त्रैवापिकैर्धान्यैर्यष्टव्यं ग्रान्तिकर्पोष्टिकार्था क्रिया कार्या इति परार्थेव आचार्यादिदं
 वाक्यम् एवम् अश्रोण्व परारि एव गततृतीयवर्षे एव आचार्यमुखादिदं वचनम् अशृण्व ।' परस्त्वज्जुस्तैर्यवाचिन्त-
 याव गतवत्सरे सहमिलित्वा आचार्यवचनाभिप्रायानुमारेण चिन्तनं चावा अकुर्वंहि । तत्कथमेवम एव तव मति
 द्वापरवमति' समजनि इति बहुविस्मय मे मनः । तत्कथं केन कारणेन ऐम एव अस्मिन्नेव वत्सरे तव मति
 द्वापरवसति सशयस्थानम् अजायत इति मम चित्तम् अतीवास्यैर्युक्तम्' आचार्यकनिक्ते पर्वत, यद्येवमद्यश्वीने-
 ऽप्यथा(र्थ) मिधाने भवान् अपरवानपि विर्यस्यति तदा पराधीने मादृग्विधीने मादृशा विधिस्तस्य इने
 ईश्वरे को नाम सप्रत्ययः । 'आचार्यकगृह आचार्यसदृशोति भावः चेदेवम् अद्य श्वो वा भवम् अद्यश्वीन तस्मिन्
 अद्यश्वीने सद्य एव प्रतिपादिते अर्थाभिधाने शब्दानां वाच्यार्थप्रतिपादने भवान् अपरवान् अपि स्वाधीनोऽपि
 विपर्यस्यति, यथागमः न कथयसीत्यर्थः, तदा पराधीने मादृशे को नाम जनस्य सप्रत्ययः सवादः सम्यक् प्रतीति'
 स्यात् ।

[पृष्ठ १८४] पर्वत —नारद, नेदमस्तुकारम् इदं वचनं न स्वीकारार्हम् इति मे कथनम् । यदस्य शब्दस्य
 मन्त्रिरुक्तं मया निरुक्त्या कृतं एव अर्थं अतिसूक्तं अतिप्रशस्ततया उक्तं इति अर्थात् मया योऽर्थः निरुक्त्या प्रोक्तः
 स भवता ग्राह्य इति न ममाग्रहः । पर यदि चायमन्यथा स्यात्तदा चेत् अयं मन्त्रिरुक्तोऽर्थः अन्यथा स्यात् विपरीततां
 गच्छेत् तदा रसवाहिनीखण्डनमेव दण्डः रसान् अम्लमधुरतुवरादिकान् बहूनि जानातीति रसवाहिनीं जिह्वा तस्या
 खण्डनं कर्तनमेव दण्डः दमनम् । नारदः —पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोनिकपभूमिः । को विद्वान् विवदमानयो
 विव्राद कुर्वाणयोः खलु अत्र अजशब्दार्थविवादे निकपभूमिः यथार्थनिर्णयदानाधारः, यथा निकपपट्टे सुवर्णस्य
 परीक्षा भवति तथा सभाष्यक्षे निरपेक्षे सति सत्तत्त्वनिर्णयो भवति । पर्वत —नारद, वसुः सभाष्यक्षः । ततो
 निर्णयो भवेत् । कर्हि तर्हि तं समयानुसर्तव्यम् । कदा तर्हि तं समाया तस्य समीपम् अनुयातव्यम् । इदानीम्
 एव नात्रोद्धारः अधुनैव न विलम्बः । इत्यभिधाय तौ द्वावपि वसुः निकपा वसो समीपं प्रास्थिपाताम् अया-
 ताम् । ऐक्षिपाता च अपश्यता च । तथोपस्थितौ तेन गुरुनिविशेपमाचरितसमानौ तथागतौ तेन वसुना गुरु-
 समानं कृतसत्कारी, यथावत् कृतकशिपुविधानौ दत्ताश्वस्त्रविधानौ, विहिताचितोचितकाञ्चनदानौ विहितं
 दत्तम् आचितः भारः विशतिशतानि उचितं योग्यतामनुसृत्य काञ्चनस्य सुवर्णस्य दानं ययोस्तौ समागमन-
 कारणम् आपृष्टौ अनुयुक्तौ, स्वाभिप्रायं निजागमनस्य हेतुं वादनिर्णयम् अभाषिपाताम् अकथयताम् । वसुः —
 यथाहनुस्तत्रभवन्तो पूज्यौ यथा मृतौ तथा प्रातः एव प्रभातकाले एव अनुतिष्ठेयं कुर्यामहम् । [पर्वतमाता
 स्वस्तिमती वसुः प्रति गत्वा पर्वतानुकूलं न्यायदानं कुर्वित्युवाच तथास्त्विति प्रतिपद्यते तेन] अत्रान्तरे वसु-
 लक्ष्मीक्षयक्षेपेव क्षपायाः किल उपाध्याया अस्मिन् प्रसंगे वसुनृपस्य राजलक्ष्मीविनाशरात्रिरिव रात्रौ किल उपा-
 ध्याया, नारदपक्षानुमतः क्षीरकदम्बाचार्यकृतं तद्वाक्यव्याख्यानं स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापाद्यबुद्ध्या
 वसुमनूमृत्य नारदपक्षाभिप्रायानुकूलं क्षीरकदम्बसूरिविहितम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यविवरणं चिन्तयन्ती

१ आचार्यस्य कर्तव्यं विद्यार्थिपाठनं तदाचार्यकमुच्यते । तस्य निक्ते गृहम् ।

अस्थाने इति—अस्थाने अकृत्ये षट्कक्षाणां कृतप्रयत्नानां नराणां द्वयं सुलभम् । किं तत् । परत्र परलोके दीर्घा दुर्गतिं दुःखदा तिर्यङ्मरुतगतिं, अत्र च शाश्वती सदातनो दुष्कीर्ति ॥३९६॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंश कल्पः ॥२९॥

३०. असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ १८६-१८९] [वसो पातालतलगमनाप्रिवेदं प्राप्नो नारदो मुनिदीक्षा गृहीत्वा शुक्लध्यानेन केवलमुत्पाद्य मिद्धोऽभवत्] नारदस्तमेव निर्वेदम् असत्यपापफलं वीक्ष्य समाराद्धैराग्यम् उररीकृत्य स्वीकृत्य । कृत्तलकलाप कचवृन्दम् उन्मूल्य उत्ताटय, कथंभूत कचकलापम् । नतंभू इति—नते वक्त्रे भ्रुवो यासा ता नतभ्रुवः ललना तामा विभ्रमा शृंगारभावजक्रियाविशेषा त एव भ्रमरा पट्पादा तेषां कुल समूहः तस्य निलया गृहाणि इव तानि नीलोत्पलानि नीलकमलानि तेषां मूलमिव राशिमिव । जातरूप निर्ग्रन्थना नग्नताम् आस्थायां प्रतिज्ञाय, कथंभूत तत् । परमनिष्किंचनतारूपं परमा लोकोत्तरा निष्किंचनता नास्ति किंचन धनधान्यादि परिग्रहोऽस्येति निष्किंचन तस्य भावो निष्किंचनता सैव निरूप्य निश्चयेन स्वरूपं लक्षणं यस्य तत् । समयोपकरणं मयूरविच्छिन्ना प्राणिदयाकरम् आकलय्य गृहीत्वा । कथंभूत तत् । सकलेति—समस्तजीवानाम् अभयदानसुधावृष्टे अधिकरणम् आश्रयभूत भाजनम् । उदकपरिचारिका कमण्डलूम् आदृत्य स्वीकृत्य कथंभूता ताम् । मुक्ति इति—मुक्तिलक्ष्म्या समागमः सवन्धः तस्य संचारिकासिद्धिर्दूतोमिव । स्वाध्यायं स्वस्मै आत्मने मवरनिर्जराहेतुत्वात् हित उपकारकः अध्यायः अध्ययनम् स्वाध्यायस्तम् । कथंभूतम् । शिवेति—शिवश्री मुक्तिलक्ष्मी तस्याः वशोकरणस्य आयत्तोकरणस्य अध्यायमिव अनुबध्य स्वीकृत्य । इन्द्रियारामम् उपरम्य इन्द्रिया इन्द्रियाणां विषया स्पर्शसादयः त एव आराम उपवनं तम् उपरम्य विनाश्य । कथंभूत तम् । मनोमर्कटेति—मन एव मर्कटं वानरः तस्य क्रीडास्तासां प्रकामा अभिलाषा यत्र तम् । ध्यानदहनम् उद्दीप्य शुक्लध्यानानि प्रदीपयित्वा । कथंभूतम् । अन्तरेति—अन्तरात्मा अहं ज्ञानदर्शनलक्षणं, शरीरादयः कर्मसंयोगजास्ते न मम स्वरूपम् इति मत्वा तेषु रागद्वेषाभ्याम् अवशः आत्मा अन्तरात्मा स एव हेमाश्मं सुवर्णपाषाणं, तस्य समस्तमलानां दहनं दाहकं यथा सुवर्णं किट्टकालिकादिकं मलम् अग्निर्दहति तथा शुक्लध्यानानि ज्ञानावरणादिकर्मणि तेषां विकाराश्च रागाज्ञानादिमलान् निरस्यति । श्रीनारदो मुनिः शुक्लध्यानेन सजातकेवलं तत्पदाप्तिपेक्षालो बभूव तत्पदं परमात्मपदं सिद्धपदं तस्य आप्तिर्लभस्तेन पेशलो मनोरमो बभूव । [वसुनूपे मृते सति प्रजाजनेन निर्घाटितं पर्वतं वनगहने प्रविष्टं कालासुरेण दृष्टं पर्वतस्तु तथा सर्वेति—सकलसमासङ्गि समाजेन च उदीरित उच्चारितः उद्दीर्घं महान् यः दुरपवादः धिक्कारः स एव रजः पाशु यस्य स, तस्मिन् वसौ कथा शेषतेजसि कथं शेष तेजः यस्य तथाभूते सति, पुनः कथंभूते वसौ मिथ्येति—मिथ्या असत्यं स चासौ माक्षिपक्षः प्रत्यक्षद्रष्टृपक्षः तस्मिन् विचक्षणं चतुरं वक्षः यस्य तस्मिन् । पुनः कथंभूते दुराचारेति—दुराचरणम् असत्यभाषणं तस्य ईक्षणम् अवलोकनं तेन क्षुभितः क्रुपितः स चासौ सहस्राक्ष इन्द्र तस्य अनुचरा किकिरा यक्षादयः तैर् ईक्षितं जीवितस्य महं तेजो यस्य स तथाभूते वसौ कथाशेषतेजसि जाते सति । अहं-म्वहोणतया ह्योण लज्जितं अहंस्व महान् स चासौ ह्योण तस्य भावस्तथा अतोऽहं लज्जिततयेति भावः, पौरा-पक्षिकीर्षया च पौरेषु नागरिकेषु अपकारकरणेच्छया च, निरन्तरेति—निरन्तरा निविष्टा उदरवन्तः कर्ष्वाप्रा रोमाञ्चः केशा तेषां निकायः समूहो यस्य स पर्वतः शललेति—शललस्य द्वाविधः याः शलाका छत्रादीनाम् अयं शलाकावत् तामि निक्षीर्णं व्याप्तं कायं देहो यस्य स इव, निजागणेषु दुर्ग-हिताध्मातोदरचर्मपुटं निजानि स्वकीयानि अगणेषु गणयितुं मय्यातुम् अशक्यानि यानि दुर्गहितानि दुष्टप्रकल्पा दुरभिप्राया तैर् आध्मातो स्फीतो विवृद्धो उदरचर्मणो, पुटो पाश्वर्षी यस्य, मृदुदन्त्रिणं स्फीटं तैर् नृपतिविनाशवशमपि नृपते वसौ विनाशः तस्य वशात् आमर्षं क्रोधो येषां नैव, पुनः कथंभूते ।

मभूय संहृत्य । अपदिष्टेति—उपवेष्टप्राप्तकोष्ठानां मृत्कण्डानां वर्धनं कूर्चमिह । अतुच्छेति—अतुच्छानि
 महानि यानि विच्छोक्तानि स्वयम् । अत्रापि च पञ्चसकञ्चानि च तेषाम् आसन्नकानां ताडनानां प्रकर्षं कुर्वन्ने-
 प्रतिघातेन सञ्चनन्ति सत्तन्ति च तानि शकञ्चानि कयाश्च तेषां प्रहारेषु तर्पं अपिभावो यथा
 पुन कर्चमूतः नवरनिवासहृदिमः नवरे पुरे निवासेन हृदि येषां ते नवरनिवासहृदिष्व ठा । अत्र अपविशतकारं
 न पविता अपकाटाः यथा मधुयः तथा अयमिहापकारं च राक्षसरोहवासदारं राक्षसो वर्धनः तस्मोपरि रोहं
 चटनं तेन अवतारः प्रवेष्टो यस्य । पुन कर्चमूतः पर्वतः महान् (यथा नाम तस्मात्पुनः, तस्मात्कृतिर्वा) कच्छप्रे-
 र्वकप्रदेष्टे प्राप्ताः प्राजा यस्य पुष्पुत्तुतोत्पन्नकवाणः पुन महत् पृष्ठं पृष्ठकरम् आच्छेद्य तस्य उत्पन्नः सत्य
 क्वाच अतिर्यस्य । सकृदपुरवीधिषु सकलमायगृहपञ्चमिषु विवरबुद्धानुयाय विवरताः सारमेया तेषां बुद्धं अयं
 तत् अनुपठः निष्कासितः नवरदाहरेषु सचिकारं प्रेषितः । पुन कर्चमूतः पर्वतः । इत्यपचेति—स्वयको मत्तज्ञ
 तस्य समानोपमकर्तं यद्वचं तेन विहितं देहं पुनिकर्तुं यस्य सः पुनः कर्चमूतः विपरीतेति—सुदृष्टिस्तन्मयवपुः
 तस्य वाप तदस्य विपरीतं यथा स्वात् तथा मुरवारया आचरितं कृतं मार्कटस्या मुञ्चनं यस्य सः, प्रकाशितेति—
 प्रकटयया अर्धं विद्यायां दीप्त्यानां विस्फुल्लानां आर्कं यस्य सः । पुन कर्चमूतः गच्छेति—कच्छाकाभि-
 शाकाविरतिः मरुताकाविकम्पितस्यपञ्चमिषु । प्रवीचि महति वनगङ्गाहृदि अस्वसायैकान्ते प्रवेष्टं हृत्वनम् ।
 पुन कर्चमूतः । स काकापुरेण वृष्टः । मुच्छेति—गुच्छम् अस्य उर्ध्वं यस्यां तथाभूता वासी द्वीपिनी द्वीपोस्त-
 स्यात् इति द्वीपिनी द्वीपमुक्ता सा वासी तटिनी नदी तस्याः तटमिन्दे उपविष्ट स्थित स पर्वतः तैव काञ्च-
 सुरेण वृष्टः [काकामुरेण यज्ञाये तथैव कचिर्वर्धति] प्रत्यक्षसृष्टेति—प्रत्यक्षमुक्ता सम्प्रकृतां तादा
 हृत्स्वैद्य येन तथाभूतेन काकासुरेण निभूतं निर्जनम् इति वस्त्रमायप्रकारेण विवर्णं भाषितः पर्वतः । कि
 विरक्तं तेन । 'अहं तावत् कैकारिकटं प्रविशामिपुच्छितः' अहं तावत् प्रथमं विच्छिन्नाभ्यामुद्दि प्रकटि-
 म्पितर्यस्य तथाभूतः अहं निजिज्ञासमर्थेन पयसो बजे वृष्टा विमानमावह्य स्वर्गं गच्छीति वचंमिदं समकः । एव
 पयसोऽपि स्वस्य मत्स्य प्रतिष्ठापनां कर्तुमिच्छामासीत् नति तस्यां प्रकर्षेण प्रसक्तिर्यस्य तथाभूतोऽस्ति । अत्र
 निष्पत्तिः निविष्टः असु ये कार्योत्साहः कार्यं उत्साहः हृत् । इति निभूतं विवर्णं पर्याप्तेति—वि-
 समस्तात् आत्माः कल्प परिष्ठाककामुवेपं येन आवासी सकृदप्य मवीया बुद्धिर्बलं तथाभूतेन तेन
 भाषितश्च तथा हि—पर्वतः केन असु समानं समीचीनं क्षीणात् यथा तस्य केनः । अत्रावा नयं
 पटीहृत् । यत् तथाभूतेन तेन बुक्कमया असुमकार्येण विनिर्मापितः कारितः निर्बरः निभूतः कच्छ-
 निर्बरः अतिदीव इति मायः स वासी अपकारः अपहृतिः । येन स्वमि अपकारः इतस्तस्य सु-
 र्गमिहो मृत्पुटि स्थे । पर्वतः—तात को मयान् । पर्वतः—अवतिषु असु मिकमुद्द अहं विवर्णमहं
 सहाभ्यामी सहवानी आशित्य इति नाम्ना अविनीवेशम् । यथा हि वत्त मयान् सममत् अवाप्तः तदा
 तीव्रवायव्यामयाम् । इदानीं नामान् आनन्दम् । अतो न मयागमां सम्प्रवचचारयति न निश्चिनाति । तत्क-
 कारणमस्य स्थितिरस्य अस्या वधाया किं नु विधानं तद् वद । पर्वतः—मदिति—मम प्राथितं क्षीयितं तस्य
 परिधाने रज्जवे सप्तम् पुष्पुत्तु मयकम्, समस्कर्णम् मृदु । मम पितरि नाककोकम् इति सति अहं गारुड
 विवरमानः एतावधीम् अवस्थापनम् । कर्चमूतः पितरि । समस्तेति—समस्ता वनता आपना प-
 र्धनाति स एव एतानि तानि समिववाति समीपे वारयतीति समिवाया तस्मिन् । पुन कर्चमूतः तस्मिन् ।
 मुच्छेति—मुच्छाति पुष्पाणि ताम्यैव मजया तान् कच्छक आहृति आनयति इति ववाहृति तस्मिन् ।
 पुन कर्चमूतः तस्मिन् । निजेति—निजकम् मुद्धम् आपनयं तत् अतु अनुपुष्य वातारि वयनं कुर्वन्ने
 यथा मुद्धातन्मात्रं स्यात् तथा प्रवृत्ति कुर्वन्ने समीति सम्भव इति वयनं प्रवृत्तिर्यस्य तथाभूतः
 पितरि नाककोकं स्वयकोके इति नती सति । एतावन्मात् स्वकल्पनावात् एतदा अहं 'अर्धवपुः'म्
 इति नाककोकं परिवर्तितवान् । कर्चमूतोऽहम् । प्रवृत्तिरिति—प्रवीण प्रवर्तितः विक्रामम् अतिव्येन
 कार्थीयम् आपत्य नवनय कच्छः यस्य तथाभूतः । पुन कर्चमूतः । सत्येति—सत्यः संसत्
 वध्याङ्गनावनस्य वैरमाद्योवस्य वधायाम् लंजीवी यस्य तथाभूतः । पुन कर्चमूतः । मुच्छेति—इतः
 विविनस्य मत्स्य नापिधायनस्य मत्स्य नुरागस्य आसवादी यज्ञं यानं च येन तथाभूतः ।

यभूतोऽहम् । पापेति—पापकर्मणा प्राणिवधादीना कार्याणां प्रमाद कृपा यस्मिन् तथाभूतोऽहम्, जानन्नपि आर्योऽदिष्टम् आर्ये आचार्यपरंपरागतविवृधे उपदिष्ट प्रतिपादिन विशिष्टम् अहिमाधर्म-वात्, व्याख्यात विवरणमह दुरात्मा इति आख्यान नाम यस्य तथाभूत, स्वव्यमनविवृदये वेश्यासेवनादि शोषणाय, धर्मवृद्ध्या साधुमध्ये 'अजैर्यष्टव्यम्' इतीदं वाक्य वचनम् अशोपकल्मषनिषेध अशोपाणि नि कल्मषाणि पापानि निषेव्यानि सेव्यानि यस्य तथाभूतोऽहम् अन्यथोपन्यस्यमानो विपरीतार्थोपस्थापक-प्रतिपादयन् नारदेन आपादितवचनस्थलन आपादित प्रदर्शित वचनस्थलनम् अन्यथाप्रवृण यस्य त सन् एतावद्विपत्तिस्थाम् इत्यत्सकटदशाम् अवाप प्राप्नोऽहम् । [पर्वतस्य कार्ये साहाय्य तन्वान पुर ब्रह्मवेष स्वीचकार] कालासुर—पर्वत, मा शोच, शोक मा कुरु । मुञ्च त्वम् अशोपं मकलया वृद्धे कलुष मालिन्यम् । अङ्ग, हे पर्वत, साधु सवोषय आत्मानम् । स्वम् एव सुष्ठु उपदिश । माभूरित्यर्थ । किं तत् आत्मसवोषणम् । 'न खलु निरीहस्य निश्चेष्टस्य निश्चयस्य नरस्यास्ति धनोपितावाप्ति अभिलषितप्राप्ति । तदलं हन्त हृदयदाहानुगेनावेगेन । तस्मात् हन्त खेदे, मन-कुर्वन्ता आवेगेन खेदेन अलं मन मतापकर खेद मा कुरु इत्यर्थ । हहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीय-ब्रह्म स्वामिप्रायव्यञ्जकलक्षणानि यथा स्युस्तथा ब्राह्मादि ब्राह्मणोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूय-शोकप्रभृतीनाम् सप्ततन्तूना यज्ञानां प्रतिपादकानि वाक्यानि रचयित्वा मध्ये मध्ये वेदवचनेषु निवेशय य । वत्स, भू पातालम्, भुवर् मध्यलोक, स्वर् स्वर्गलोक एषा त्रया विपर्यामन वैपरीत्यापादन तत्र मन्त्राणां माहात्म्य प्रभावो यस्य तथाभूते मयि सति, त्वयि च, तरसेति—नरस मामम्, आमवो मदिरा, श्री माता एतेषु वस्तुषु प्रवृत्ति एतत्सेवन तत्र हेतु श्रुतिर्वेद तस्या गीति गान तस्या सम्यक् अस्यस्तं य तन्मयता येन तथाभूते त्वयि, किं नु नाम इहासाध्यम् । इत्युत्साह्य स्वकीयामिप्रायद्योतकवाक्यानां निवेशनकार्ये प्रवर्त्य । स्वयं विद्यानाम् अवष्टम्भेन बलेन सृष्टाभि उत्पादिताभि अष्टाभिरपि ईतिभि वै उपद्रूयमाणजनपदहृदयं पीडयमानदेशमध्यम् अयोध्याविषयम् आगत्य तत्र नगरवाहिरिकाया पुरवाह्या-स देव कालासुर चतुराननश्चतुर्मुखो ब्रह्मा अजायत । अध्वर्यु पर्वत आसीत् । अध्वर यज्ञ यीति दयतीति अध्वर्यु होमकारी ऋत्विक् अभवत् । मायामयसृष्टय मायया निर्वृत्ता मायामयी तद्रूपा सृष्टि-तिर्येपा ते मायामयसृष्टय पिङ्गलमनु-मतङ्ग-मरीचि-गोतमादयश्च ऋत्विज ऋतो यजन्तीति ऋत्विज हिता अजनिपत अजायन्त । तत्र श्रुतिधृति श्रुती वेदान् धरतीति श्रुतिधृति ब्रह्मा चतुर्भि वदनै मुखे दिशति । पर्वतस्तु—यज्ञार्थमिति—स्वयमुवा स्वयं भवतीति स्वयंभूर्ब्रह्मा तेन स्वयमेव पशव अजादय-र्थं होमार्थं सृष्टा उत्पादिता । यज्ञ सर्वेषां जनानां भूत्यै वैभवाय भवति तस्मात् यज्ञे कृत पशुवध अवध-इसा भवति ॥३९७॥ 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभेत । ब्रह्मणे ब्रह्मदेवाय ब्राह्मणं विप्रम् आलभेत हिंस्यात् । शय क्षत्रियम् इन्द्रदेवाय क्षत्रियं राजन्यम् आलभेत हिंस्यात् । आलभेत इत्यस्य उत्तरत्र सर्वत्र सबन्ध । इन्द्रो वैश्य वायुम्नो वैश्यम् आलभेत । तमसे शूद्र राहवे शूद्रम् आलभेत । उत्तमसे तस्करम् आलभेत तमोदेवाय चौरम् । आत्मने बलीव नपुसकम् । कामाय पुश्चल व्यभिचारिणम् । अतिक्रुष्टाय मागध राजाग्र-तिकारिणम् । गीताय सूत सारथिम् । आदित्याय सूर्याय स्त्रिय गमिणीम् । सौत्रामणौ सौत्रामणियज्ञे य-त्रविधा सुरा पिबति न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च तिस्र एव श्रुती समता वेदे समता सान्या । छे, गोडी, मागधी चेति । पैछे विविधधान्यविकारजा मदिरा । गोडी गुडादिविकारजा सुरा । मागधी सुरा । गोसवे गोमेधे यज्ञे ब्राह्मणो गोसवेन गोमेधेन इष्ट्वा पूजयित्वा सबत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति, पेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

[पृष्ठ १८६-१६१] षट्शतानि इति—अश्वमेधस्य यज्ञस्य मध्यमे अहनि दिवसे पशूना षट्शतानि नयुज्यन्ते आलभ्यन्ते । वचनात् त्रिभि पशुभि ऋतानि रहितानि । अर्थात् सप्तनवत्यधिकानि पञ्चशतानि

१ अग्नीध्राद्या घनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च । आदिशब्दात् पीतृप्रशास्तृब्राह्मण्यच्छन्दस्य छायाका-वावस्तुब्रह्ममेवावर्णनप्रतिस्थातृप्रतिहन्तृनेतृनेष्टृषुब्रह्मण्या इत्य सदस्या सप्तदशत्विज ।

संन्युत संहृत्य । उपनिषदेति—उपदेशप्राप्तकोट्यां मूलशब्दानां अपरं कुर्वन् अतुच्छेति—अनुपपत्ति
 महानि यानि पिच्छोक्तानि त्वयः । एतानि च कलसकलानि च तेषाम् आस्त्रासक्तानां ताडनानां प्रकर्षं कुर्वन्,
 प्रतिपातेन सञ्जकसि दस्तानि च तानि सञ्जकानि कथारच तेषां प्रहारेषु तप मयिजनो वेष्टं
 पुन कर्षंमूर्तः नवरतिवासहृदिभिः नवरे पुरे निवासेन हर्षं येषां ते नवरतिवासहृदिभिः तैः नवैः नववितापफा
 न पचिता अपकाराः यथा भवेयुः तथा अपवितापफारं स रासमरोहमावतार रासयो वर्धनः तस्मैपरि ऐर्षं
 चटनं तेन नवतारः प्रवेष्टो भव्य । पुन कर्षंमूर्तः पर्वतः महान् (यथा माम् तथापुनः तवाकृतिर्वा) कष्टप्रवेष्टे
 नवप्रवेष्टे प्राप्ताः प्राजा यस्य पुनमूर्तःकोत्पन्नकथाणः पुन महत् पूर्यते पूरकरमम् आलोच्य तस्य ज्ञेयः ज्ञेयः
 नवाच्यं ज्ञेयमस्य । सकलपुरबीषिषु सकलनगरपुष्टपक्षितेषु विषगरमुष्टामुपाय विस्वराः छारमेवा तेषां बुद्धिं भव्यं
 तत् अनुपतः निष्कासितः नवरत्नाद्यैरेवं सचिकारं प्रेषित । पुनः कर्षंमूर्तः पर्वतः । इक्षपयेति—स्वपचो मानह
 तस्य क्षयानोपपुस्तं यत्तुं तेन विहितं मेहनं पुत्रिचर्चं यस्य सः पुनः कर्षंमूर्तः विपरीतेति—मृत् कैसाकलसकल
 तस्य बाणैर्दण्डं विपरीतं यथा स्यात् तथा सुरवारया आचरितं इत्तं मानहृत्या मुष्टनं यस्य सः, प्रकाशितेति—
 प्रकटतया बद्धं सिचायां भीष्मकानां विष्मकानां जालं यस्य सः । पुन कर्षंमूर्तः गच्छेति—कलसकल
 छात्राविरततिः गलनाभावरन्वितसञ्जकपक्षि । प्रचोपति महति नयनहन्तृषि अरप्यसार्धकान्ते प्रवेष्टं कुर्वन् ।
 पुन कर्षंमूर्तः । सकलमुरेच पृष्टः । मुच्छेति—मुच्छम् अल्पम् त्वक्तं यस्यां तथामुना बाधो द्वीपिनो द्वीपिस्त-
 स्याम् इति द्वीपिनी द्वीपमुक्ता सा बाधो तटिनी नदी तस्याः तटमिक्षे उपविष्ट सिन्धुः स पर्वतः तेन काम-
 मुरेच बृष्ट [कामामुरेचं नवमासे तरेव कविरंजयति] प्रत्यक्षमुच्छेति—प्रत्यक्षमुच्छा सञ्जकतया ज्ञाता
 हृदयेषां येन तथामुतेन कामामुरेच निम्नं निर्जनम् इति वयमाचप्रकारेण विवर्यं भावितः पचन । किं
 विवर्तितं तेन । अहं तावत् वैकारिकं प्रविष्णुपयिषुसक्तिः अहं तावत् प्रचयं निष्क्रियारगमादृष्टिं प्रचयि
 सक्तिरस्य तथामुतः अहं निर्वहिलामर्थेन पचयो बन्धे हुता विमानभाबद्ध स्वर्गं जालीति हर्षंमूर्तं समर्थः । एव
 पचतोर्ध्वं स्वस्य मत्स्य प्रतिष्ठापनां कर्तुमिच्छन् मतिः तस्यां प्रकर्षेण प्रवृत्तिरस्य तथामुतेति । जग
 निष्प्रतिष्ठा निर्विष्णुः अन्तु मे कार्यमिच्छा कार्यं तस्मात् इयम् । इति निम्नं विवर्यं पर्याप्तेति—नरि
 सममत्तात् ज्ञातः तस्य परिवानकस्यापुणेन येन मायामयी सकपटा यतोया बुद्धिरस्य तथामुतेन तेन
 भावितरच तथ हि—पर्वतः कैः अन्तु समामलं समीचीनं कीनासं यम तस्य कैस्याः अज्ञाया वर्म
 परीक्षातः यस्य तथामुतेन तेन बुद्धिमया अनुप्रकारेण विविधापितः कारितः निर्वरं निष्कृतः हस्तः
 निर्वरं जतिवीर्य इति यावत् च बाधो अपकारः अपकृतिः । येन त्वयि अपकारः इतस्तत्र मूर्तं
 र्ध्वं विह्वितो मूर्तुरिति मन्त्रे । पर्वतः—ताव को भवान् । पर्वतः—मयस्वितुः तन् विवमृष्टं अहं प्रियनिमर्ह
 सहाय्यादी सह्यादी पाण्डित्य इति नाम्ना अनिधीयैः । यथा हि वस्तु भवान् समभवत् ज्ञाकत तदा
 तीर्थयात्रामागतम् । इदानीं नाम्ना अपाच्छम् । अतो न भवान्नां सम्यगवधारयति न निरिचयोति । तत्त्वप
 कारवस्तव व्यतिकरस्व अस्या वयावा किं नु निदानं तद् नव । पर्वतः—मदिति—नम प्रापितं कीचित् तस्य
 परिधाने रत्ने तपन् यद्भुज भगवन्, सभाकर्णम् शृणु । मम पितरि शक्रतोक्त्वं इति तति अहं मारेव
 विश्वमान एवादृष्टीम् अस्त्वामनम् । कर्षंमूर्ते पितरि । समस्तेति—अमरता सञ्जका आपथा बद्
 र्धमानं स एव रत्नानि तानि सचिकराति समीचे चारयतीति सचिकरा तद्विन् । पुन कर्षंमूर्ते तद्विन् ।
 मुच्छेति—मुच्छानि कुम्पाणि ताम्येव मयः तान् ज्ञेयम् आहूति आनयति इति तवाह्वानं तद्विन् ।
 पुन कर्षंमूर्ते तद्विन् । निजेति—निजकम् पुष्टम् आनयन् तन् अन्तु अनुमत्त वापरि यमनं कुर्वति
 यथा मुद्रात्मनाम् स्यात् तथा प्रवृत्तिं कुर्वति इतिने तस्य हर्षं वर्म प्रवृत्तिरस्य तथामुते
 निर्गरे नावतोर्ध्वं स्वपतोर्ध्वं इति येन ताति । इवान्नाम्न त्वच्छात्राणां एवया अहं अर्धवत्तस्य
 इति वाच्यार्थे परिर्णिताम् । कर्षंमूर्ती इहम् । प्रवृत्तेति—अदीप्त प्रवृत्तिः निदानम् अनिवादेन
 कामोदयः वाच्यम् नवनवम् छन्दः यस्य तथामुनः । पुन कर्षंमूर्तः । र्ध्वमेति—ध्वजः तस्य
 कथाज्ञानावतस्य वैवातोर्ध्वस्य ज्ञानाय लोको वाच्यं तथामनः । पुन कर्षंमूर्तः । इतेति—नमः
 विविधाय मीतस्य वाविशायवतस्य अद्वयं मुद्रावतस्य आपवादी ज्ञानं वाच्यं च येन तथामुनः ।

पुनः कथमूनोऽहम् । पापेति—पापकर्मणा प्राणिवधादीना कार्याणा प्रसाद कृपा यस्मिन् तथाभूतोऽहम्, चेतन् जानन्नपि आर्योपदिष्टम् आर्ये आचार्यपरपरागतविबुधै उपदिष्ट प्रतिपादित विशिष्टम् अहिंसाधर्म-पोषकत्वात्, व्याख्यान विवरणमह दुरात्मा इति आख्यान नाम यस्य तथाभूत, स्वव्यसनविबुद्धये वेश्यासेवनादि व्यमनपोषणाय, धर्मबुद्ध्या साधुमध्ये 'अजैर्यष्टव्यम्' इतीद वाक्य वचनम् अशेषकल्मषनिपेव्य अशेषाणि सकलानि कल्मषाणि पापानि निपेव्यानि सेव्यानि यस्य तथाभूतोऽहम् अन्यथोपन्यस्यमानो विपरीतार्थोपस्थापक-रूपेण प्रतिपादयन् नारदेन आपादितवचनस्खलन आपादित प्रदर्शित वचनस्खलनम् अन्यथाप्ररूपण यस्य तथाभूत सन् एतावद्विपत्तिस्थाम् इयत्सकटदशाम् अवाप प्राप्नोऽहम् । [पर्वतस्य कार्ये साहाय्य तन्वान कालासुर ब्रह्मवेष स्वीचकार] कालासुर—पर्वत, मा शोच, शोक मा कुरु । मुञ्च त्वम् अशेषं सकल विषणाया बुद्धे कलुष मालिन्यम् । अङ्ग, हे पर्वत, साधु सबोधय आत्मानम् । स्वम् एव सुष्ठु उपदिश । विश्वो माभूरित्यर्थ । किं तत् आत्मसबोधनम् । 'न खलु निरीहस्य निश्चेष्टस्य निरुद्यमस्य नरस्थास्ति काचिन्मनोपितावाप्ति अभिलषितप्राप्ति । तदल हन्त हृदयदाहानुगेनावेगेन । तस्मात् हन्त खेदे, मन-सताप कुर्वता आवेगेन खेदेन अल मन सतापकर खेद मा कुरु इत्यर्थ । हहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीय-मकेताङ्क स्वाभिप्रायव्यञ्जकलक्षणानि यथा स्युस्तथा ब्राह्मादि ब्राह्मणोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूय-पुण्डरीकप्रभृतीनाम् सप्ततन्तूना यज्ञाना प्रतिपादकानि वाक्यानि रचयित्वा मध्ये मध्ये वेदवचनेषु निवेशय प्रवेशय । वत्स, भू पातालम्, भुवर् मध्यलोक, स्वर् स्वर्गलोक एषा त्रय्या त्रिपर्यासिन वैपरीत्यापादन तत्र समर्थ मन्त्राणा माहात्म्य प्रभावी यस्य तथाभूते मयि सति, त्वयि च, तरसेति—तरस मासम्, आसन्नो मदिरा, सवित्री माता एतेषु वस्तुषु प्रवृत्तिः एतत्सेवन तत्र हेतु श्रुतिर्वेद तस्या गीति गान तस्या सम्यक् अभ्यस्त सात्म्य तन्मयता येन तथाभूते त्वयि, किं नु नाम इहासाध्यम् । इत्युत्साह्य स्वकीयामिप्रायद्योतकवाक्याना वेदे निवेशनकार्ये प्रवर्त्य । स्वयं विद्यानाम् अत्रष्टम्भेन बलेन सृष्टाभि उत्पादिताभि अष्टाभिरपि ईतिभिः उपद्रव उपद्रव्यमाणजनपदहृदय पीडयमानदेशमध्यम् अयोध्याविषयम् आगत्य तत्र नगरबाहिरिकाया पुरवाह्य-प्रदेशे स देव कालासुर चतुराननश्चतुर्मुखो ब्रह्मा अजायत । अध्वर्यु पर्वत आसीत् । अध्वर यज्ञ यीति सपादयतीति अध्वर्यु होमकारी ऋत्विक् अभवत् । मायामयसृष्टय मायया निर्वृता मायामयी तद्रूपा सृष्टि उत्पत्तिर्येषा ते मायामयसृष्टय पिङ्गलमनु-मतङ्ग-मरीचि-गीतमादयश्च ऋत्विज ऋतो यजन्तीति ऋत्विज पुरोहिता अजनिपत अजायन्त । तत्र श्रुतिघृति श्रुती वेदान् धरतीति श्रुतिघृति ब्रह्मा चतुर्भि वदनं मुखं उपदिशति । पर्वतस्तु—यज्ञार्थमिति—स्वयभुवा स्वय भवतीति स्वयंमूर्ध्ना तेन स्वयमेव पशव अजादय यज्ञार्थं होमार्थं सृष्टा. उत्पादिता । यज्ञः सर्वेषा जनाना भूत्यै वैभवाय भवति तस्मात् यज्ञे कृत पशुवध अवघ अहिंसा भवति ॥३९७॥ 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभेत । ब्रह्मणे ब्रह्मदेवाय ब्राह्मण विप्रम् आलभेत हिंस्यात् । इन्द्राय क्षत्रियम् इन्द्रदेवाय क्षत्रिय राजन्यम् आलभेत हिंस्यात् । आलभेत इत्यस्य उत्तरत्र सर्वत्र सवन्ध । मरुद्भ्यो वैश्य वायुभ्यो वैश्यम् आलभेत । तमसे शूद्र राहवे शूद्रम् आलभेत । उत्तमसे तस्करम् आलभेत उत्तमोदेवाय चौरम् । आत्मने बलीव नपुंसकम् । कामाय पुश्चलं व्यभिचारिणम् । अतिक्रुष्टाय मागध राजाग्र-स्तुतिकारिणम् । गीताय सूत सारथिम् । आदित्याय सूर्याय स्त्रिय गर्भिणीम् । सौत्रामणौ सौत्रामणियज्ञे य एवविधा सुरा पिबति न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च तिस्र एव श्रुतो समता वेदे संमता मान्याः । पैष्टी, गोडो, मागधी चेति । पैष्टी विविधधान्यविकारजा मदिरा । गोडो गुडादिविकारजा सुरा । मागधी च सुरा । गोसवे गोमेधे यज्ञे ब्राह्मणो गोसवेन गोमेधेन इष्ट्वा पूजयित्वा सवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति, उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

[पृष्ठ १८६-१६१] षट्शतानि इति—अश्वमेधस्य यज्ञस्य मध्यमे अहनि दिवसे पशूना षट्शतानि नियुज्यन्ते आलभ्यन्ते । वचनात् त्रिभि पशुभि ऊनानि रहितानि । अर्थात् सप्तनवत्यधिकानि पञ्चशतानि

१ अग्नीध्राद्या धनैर्वर्ध्या ऋत्विजो याजकाश्च । आदिशब्दात् पोतप्रशास्तृब्राह्मण्यछन्दस्य छायाक-प्रावस्तुब्रह्मर्षेनावरणप्रतिस्थातृप्रतिहन्तृनेतृनेष्टुब्रह्मण्या इत्य सदस्या सप्तदशत्विज ।

पधुनाम् अस्वमेवस्य यज्ञस्य मध्ममेष्टुमि नियुज्यन्ते ॥ १९८ ॥ महीक्षो वेति—धोत्रियाय वेदाभ्येतुङ्गाह्वयाम
महीक्षः महावसीधरः म्हात्तो महास्वधः विद्यस्यते ह्रियते विद्याय ॥ १९९ ॥ गोसवे इति—गोसवे गोमेध
वने गुरमि या इत्यात् ह्रियात् । रात्रयुये यजे तु धूमूर्धं राजानं इत्यात् । अश्वमेधे ह्यम् अस्व इत्यात् ।
पौष्करीके च इतिर्न गजं इत्यात् ॥ ४ ॥ औपम्य—औपम्यं वनस्पतवः पशवः क्षापावः वृक्षाः तरवः
पक्षाद्योद्भूतपितृकृत्यः शिर्वजः कूर्मवयः पक्षिणः हंससारसादयः नराः मनुष्याः एते मन्त्रार्थं नियमं
मरणं प्राप्ताः पञ्चिह्वाम् सप्तमीं गतिं वैवाचिति प्राप्नुवन्ति याति ॥ ४ ॥ मानवमिति—मनोरि
मानवं मनुवचनम् व्यासवाचिष्ठं व्यासस्तेवं व्यासम्, वसिष्ठस्तेवं वसिष्ठम्, व्यासवचनं वसिष्ठवचनं च
वेदवद्वत् वेदोक्तमेव भवति । यो नरः अग्रगण्यं ब्रह्मदेत् स ब्रह्मवातको यजेत् ब्रह्मवातस्य पातकं तस्य
मर्त्येतिष्यति ॥ ४ २ ॥ पुराणमिति—पुराणं रामायणभारतादिभ्यः । मानवो धर्मं मनुष्यीष्टं स्मृतिधाम्नाम्
साङ्गो वेदः क्षिप्तः कष्टः अकारणः अन्धोऽव्योतिषः निस्तुल्यः पङ्क्तौ संहितः वेदः चिकित्सितम् आयुर्वेदम् ।
एतानि वत्तारि स्वात्मनि ब्रह्मासिद्धानि । एतेषां वचनमेव भग्यते । हेतुमिह ह्युक्त्यानि । हेतुवादेन न
निष्कारणीयानि ॥ ४ ३ ॥ इति मनु-मरीचि-मत्तङ्गप्रमथयण सचपटकारं वपटकारपूर्वकम् ब्रह्म क्षापाः
द्विधाः पक्षिणः मन्त्रा इतिहासः वाचिनः कथाः प्रमुक्तौ जायते येषां ते तान् वैद्विभो गन्धर्वः ऋषयो वृक्षति
वृक्षकुम्भे मन्त्रोच्चारणपूर्वकं पातयन्ति । तदैवं धृतिर्वैदः शरवम् अस्वार्थिकं प्रहुरयम्, वसिष्ठदा उचमः अ
त्रिक्रियाधिकम्, जिह्वा हलाक्षुपकरणम् एतं वपटोक्तिर्वा ब्राह्मण-वसिष्ठ-विद्-ब्रह्मणाम् ईताः (ईतो) पीडा
पक्वो व्योहति निष्करोति । काकासुर पुनः जातम्वगानां ह्रियमानां प्रापिनः अजद्विजववादीन् साक्षादि
मानानि बाधयान् स्वयं वैदकोक्तैः क्षाम्यन्ती मायया पर्यटतः विहरमाणान् रक्षयति । मनुप्रमुक्तारं मुनयः प्रमाद-
यन्ति मन्त्रप्रमादं रक्षयन्ति । मायया प्रकटितस्वर्गात्मप्रवेद्याधिकोने वपटो सप्तप्रमादमनोने च स वपटः
प्रत्यावर्त्तं समीपं नरकनगरं गत्वा स्वयं नरकं तस्य विप्रमस्य वसिता योष्या स्विदियस्व स विस्वभूतिरच
तदुपवेद्यात् पर्वतकाकासुराद्युपवेद्यात् तस्मान् प्रापिनोऽजादीन् हत्वा प्लात्वा मद्यन्तिषा च दुर्दुर्जयः
मन्तोऽन्तानं यस्य तनुर्गुह्यं पातकं तेन युक्तं चितं मनः वेदाः ज्ञानं ययोस्ती सपरस्विबभूवी मज्जिमात्
मज्जम्भाजेन काकासुरेण स्मारितं क्षापितं पूर्वमन्त्राः पूर्वमन्त्रापराय ययोस्ती वीतिहोमोऽग्निः तस्मिन्नाहुति-
क्येन विहितं कृतं विचित्रं मानाविषं ववरहः प्राणवातमुहं ययोस्ती विचित्राया वरिष्या भूमेः प्राचीनः दीर्घः
बुधवचनः पीडासंतापः तेन मन्त्रं मन्त्रं तलं नरकतकम् इति नावः क्षापासुं वपट्याम् । पर्वतोऽपि
सप्तमनरके कथं कैने । कर्त्तव्यः सः अजादीपतिविषये कथे एषी जगत्सी जलोर्मसो तस्या पतिः मणिः
तस्य विजये अठवर्त्तयवे सप्तमीं च हृत्कर्म्यकर्मिणि नियुदेवकर्मिणि कृतसकलप्राप्तिभक्तः । पुनः कर्म-
भूतः । काकासुरेति—काकासुरस्य शिरोभागम् अन्तर्धर्मं तेन विद्युपविषारः बुधवीडासारो यस्य ।
सत्रिरहेति—तस्य काकासुरस्य विरहः विषोपः स एव जातकुक्षीणि रोगानियंस्व लोकेहृत्कर्म्यकर्मिणि बुधेन
कृषदेहः वाकेन जीर्णं दीर्घं वीतिभम् आयुः प्रपातः क्षातोऽन्त्रासारिकं पद्मादिकं च यस्य सः पक्वः
सप्तमनरावतरः सप्तमरा सप्तमं नरकम् अवतरः तस्य स्थानम् । क्षपादि अधकः । वसति यात्र शक्तीकः—
सुबोधोद्गीतबोधोगात्—भूषणम् अठवचनं तदैव असीनो योपः तस्य सप्तोपात् पर्वतेन समं वनु-
वपट्यातदुपाकं वरकम् वीप्यन् जातकु एव पावको जगियं तन्नाभूतं वरतीमुक्तं वनत्या भूतं नरकभूमिं
जनाम वपट्या ॥ ४ ४ ॥

इत्युदासकाव्ययमे वनस्पतकसूच्यो नाम द्विचतमः कथाः ॥ ३ ॥

३१ अत्रह्यपससाधारणो नामैकत्रिंशत्तमः कथाः

[पृष्ठ १९१-१९२] वधू इति—वधू पत्नी विचरती नेत्या अवधूता उमे मुत्ता सर्वत्र जगत्स्मिन्
उज्जने एवीकने जग्यादिषु ठेपु माता स्वधा मयिनी तनुर्गैति कथ्येति या मतिः सर्वस्याः ब्रह्मपते गृहवचने

ब्रह्म ब्रह्मचर्यं वेदितव्यम् ॥४०५॥ धर्मेति—धर्माचरणस्य भूमि पुण्यभूमि आर्यदेश चैत्यालयादिक वा तत्र मनुष्य नियतस्मर. विजितमदनो भवेत् । धर्मभूमौ धर्मस्य स्थाने मातृस्वमतनूजादिषु मनुष्य. जितमदनो भवेत् । यत् यस्मात् जात्यैव स्वजात्या एव परिणीतया सह सभोग कार्यं, परा वधूवेश्ये मुक्त्वा परा ताम्याम् अन्या जातिवन्धुलिङ्गिस्त्रिय जातिस्त्रिय या स्त्रीया जाति तत्स्त्रिय, वन्धुस्त्रिय सुहृदा स्त्रिय, स्यालादिसवन्धिना स्त्रिय, लिङ्गिस्त्रिय व्रतिन्य स्त्रिय आयिकादयश्च । ता त्यजेत् ॥४०६॥ रक्ष्यमाणे इति—यत्र यस्मिन् व्रते रक्ष्यमाणे अहिंसादयो गुणा अहिंसा-सत्य-अचौर्य-परिग्रहप्रमाणत्वादयो गुणा बृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति । ग्रहाविद्या-विशारदा अध्यात्मज्ञाननिपुणा तद्ग्रहा उदाहरन्ति नियतस्मर नाम व्रत वदन्ति ॥४०७॥ मदनेति—मदनोद्दीपनै मदनस्य उद्दीपनानि कामवृद्धिविधायीनि यानि वृत्तानि वर्तनानि कुत्सिताचाराः तै आत्मनि मद न आचरेत् दर्पं नोत्पादयेत् । मदनोद्दीपनै रसैर्व्यादिरसै स्वस्मिन् दर्पं न जनयेत् । मदनोद्दीपनै शृङ्गार-प्रचुरै काव्यादिभि दर्पं न उत्पादयेत् ॥४०८॥ हव्यैरिति—यथा हृतप्रीति ह्यन्ते इति हृतानि घृतादीनि तेषु प्रीति यस्य स हृतप्रीति अग्नि, स हव्यैरिव हव्यैर्यथा देवदत्तद्रव्यैर्घृतादिभि तोप तृप्ति न एति । नीरधि समुद्र पाथोभिरिव जलैर्यथा तोप नैति तथा भवसम्भवेः नृजन्मनि सम्भव उत्पत्तिर्येषा तैर्भोगै स्त्रीसकृच्चन्दनादिभि एष पुमान् पुरुष तृप्ति सतोप न एति ॥४०९॥ विपवदिति—यथा विपम् आपाते तत्काले मधुरागमं भवति मधुरस्वाद भवति । अन्ते अवसाने विपत्ति. मृत्यु फल ददाति तथा विपयाः कामिन्यादय तत्काले मधुरा. प्रिया भवन्ति अवसाने विपत्तिफलदा आपत्फलदायिनो भवन्ति । तत् इह विषयेषु सता सज्जनाना को ग्रह. क अभिनिवेश. ॥४१०॥ बहिरिति—बाह्यतः तास्ताः आलिङ्गनचुम्बनादिका क्रिया कुर्वन् सकल्पजल्प-वान् नर. अहम् एव ता नारीमाश्लिष्यामि एव तस्या मुख चुम्बिष्यामि इति सकल्प कुर्वन्तयैव अन्तर्जल्प कुर्वाण नर भावाप्तावेव भाव समानरतिरिति । तस्याप्तावेव प्राप्ती सत्यामेव स निर्वाति सतोप याति । पर तत्र विषयसेवने परस्त्रीसेवायाम् अधिक व्लेश समुत्पद्यते । अथवा भावाप्ता एव समरसरसरङ्गोद्गमे सत्येव निर्वाति सुख लभते । अन्यथा भीत्यादिविकारे सति मन प्रसक्त्यभावे सुखं न लभते । प्रत्युत परस्त्र्यादिसेवने व्लेश एव अधिको भवेत् । अत परस्त्रिय वर्जयेत् ॥४११॥ निकाममिति—निकाम नितराम् । कामकामा-त्मा कामे मैथुनसुखे काम इच्छा यस्य स आत्मा जीव । तस्य मैथुनस्य अनारतसेवने सति । तस्य अतन्तवीर्य-पर्याय तृतीया प्रकृति भवेत् नपुसकभावो भवेत् ॥४१२॥ सर्वेति—हितकामिना हिताभिलाषिणाम् । फलाय धर्मफलप्राप्तये । सर्वा क्रिया अनुलोमा अनुकूला भवेत् । धर्मसेवने अनुकूला दानतप पूजादिका क्रिया स्वर्गा-पवर्गफलप्राप्ती हेतु भवेत् । परम् अर्थकामी वर्जयित्वा विष्वसितवञ्चनस्वामिद्रोहपरस्त्रीसेवनादिकाननुकूल-क्रियाणा करणेनार्थकामपुरुषार्थफल न लभ्यते । न्यायोपात्तप्रनादिकात् स्वस्त्रीसतोपादिकादेव अर्थकामफल लभ्यते ॥४१३॥ क्षमेति—काम. मैथुनसेवन क्षयामयसम क्षयनामक आमयसम रोगतुल्य अय काम । सर्वे च ते दोषा सर्वदोषा तेषाम् उदये उत्पत्ती द्युति कान्ति । कामाकुले नरे रागादिदोषाणाम् उत्पत्तिर्भवतीति भाव । तत्र मर्त्यानाम् मनुष्याणाम् उत्सृजे कामे उत्सृह्यले सति कुत श्रेय समागम, कुत मोक्षप्राप्ति भवेत् ॥४१४॥ देहेति—देहस्य सस्कार दन्तनखकेशादिशृङ्गार शरीरसस्कार । द्रविणसमुपार्जन क्रयविक्र-यादिभि घनवृद्धि तथा द्रविणवृत्तय द्रविणेन घनेन वृत्ति उपजीवनम् । जितकामे जित कामो येन तस्मिन्नरे जितेन्द्रिये उपयुक्ता सर्वा क्रिया वृथा । तत्काम सर्वदोषान् भजति ॥४१५॥

[पृष्ठ १९३-१९४] स्वाध्यायेति—यावत् यावत्काल चित्तेन्धने चित्तमेव मन एव इन्धन दाह तस्मिन् कामाशुशुक्षणि इच्छे दीप्तो भवति । तावत् तावत्काल स्वाध्याय धर्मग्रन्थाना पठनम्, पृच्छनादिकं च, ध्यान मन एकाग्र विधाय अर्हदादिषु तद्गुणेषु च विहित चिन्तनम् । धर्म अहिंसादिसदाचार आदिशब्देन तप सयमादिकम् । एता क्रिया कुत ॥ ४१६ ॥ ऐदंपर्यमिति—अत एतस्मात्कारणात्, मुक्त्वा अत्यधिकं कामसेवन मुक्त्वा, भोगान् आहारवद्भजेत् अत्यासक्त्या अन्ने सेविते धर्मार्थकाया नश्यन्ति । तथा स्त्र्यादि-भोगा अत्यासक्त्या सेविता धर्मम् अर्थम् काय च नाशयन्ति अत भोगान् अन्नवद्भजेत् । देहदाहस्य शान्तये, अभिध्यान सतत भोगानाम् अनुचिन्तन तस्ये विहानये नाशाय ॥ ४१७ ॥ स्वस्त्रीसतोपव्रततदोषान् वर्णयति—परस्त्रीति—परस्त्री परस्य स्त्री परस्त्री तथा सगम सभोग, स्वस्त्रीसतोप व्रत नाशयति । अनङ्गक्रीडा-

यज्ञं किञ्च योगिरथ तयोऽप्यत्र मुखाधिपदेष्टे लीला । अमोऽयमक्रिया—कम्पादानम् उपयमक्रिया ।
अम्यस्य स्वापरयम्यतिरिक्तस्य कम्पाककक्रियया रत्नहस्तव्यादिना वा उपयमक्रिया । तीक्ष्णा परित्यक्ता
ग्यम्पापारस्य पुनः पुनः स्वस्त्रीसेवकम् । रतिरुतम्यं रतिक्रियामां रीतम्यं कपटं विदत्तम्, एतानि तद्वत्
ब्रह्मचरवर्त इत्युः दुष्येयुः ॥ ४१८ ॥ मयामिति—अथ मयिरा दूर्तं पञ्चः उपरम्यं मांसमपु मांज्जक
पत्तरादि वस्तु । तीर्थमिह नाट्यम् पार्श्वमिह च अर्थक्रियाः मित्रैषादिप्रयोगः आभूषणानि च
मयो वयः मयिचारिणः पुण्या विद्याः भूषादया प्रयोजनं विना विचरमम् इति वस्तुना अनङ्गना
कामयः गम ॥ ४१९ ॥ कोपमो वच—हिंस्रमम्, छाह्रमम् अविचार्येण बलेन कार्यकरणम्, मोहः
स्वामिविचारिणम् । पुरोमागी कृत् तस्य मायः पीरोमायं दुर्जनत्वम् । अयद्रूपमे अर्थज्ञानं रूपम्
अन्तरात्मविज्ञानम् । ईर्ष्या स्वर्था पराभूषणसाहचर्यम् । बाल्यम् लीलावेष्टेन निम्नमायनं बाल्यम्
पास्त्यं पश्यमायनं मर्मरहस्यम् अनेकरीपयुद्धोऽधीति । इति कोपमः अहम्मा वच प्रोक्तः । ब्रह्मचरवर्ता एते
मोयाः स्वापवा ॥ ४२ ॥ ऐश्वर्येयसाधि—ऐश्वर्यं वीर्यम् । लीलायं वात्सल्यम् । शौच्यीयम् अग्रतिष्ठ-
मानता अमेन अपरिमम् । वीर्यं निर्मलता शौच्यं कथयत्यम् । वीर्यता सामर्थ्यम् अङ्गुलचारात् न आकाश
यामित्वादिचारमन्त्रिमेवम् एतान् गुणान् चतुर्धनपुत्रवी चतुर्धनं ब्रह्मचर्यं तेन पूता श्रीः पवित्रा मर्त्यस्य सा
नरः कमेत प्राप्नुवतु ॥ ४२१ ॥ अहङ्कारिणो मोया—अनङ्गैति—अनङ्गो मयः स एव अनङ्गः अग्निः
तेन संकीर्ते संस्पृष्टे परस्वीरतिवैरुति परिरम्मा ब्रह्म संभोगपुत्रो वेतो यतो वरम् उद्यमूते नरे अत्र इत्युक्तं
उद्यत्का विस्तः उद्यत्के एव विपदः पीडा किञ्चिन्मोहादिका । परम् च दुरास्यताः परकोके च दुरास्यतागानि
यानु ताः विपदः आगच्छ ॥ ४२२ ॥

[पृष्ठ ११४] भूवतामनाब्रह्मकण्ठस्वीपाकमानम्—कास्मिन्मनु सूरसुम्परीसिपत्नेति—सुरनुत्पयो
देशाङ्गना तासां सरलं कथगुणे तानि स्पष्टां दुर्धनं वा पीडाङ्गनाङ्गना नवरमाटीमन् तस्य विमोहा एव
अरविम्वानि कमलानि तेषां सरलीय तन्मात्रायां वाप्यस्वा अयमो नाय मृपति । कर्मभूतः स ।
सपादितेति—संपादितं ब्रह्म समस्तारातीनां लक्षणविषयां संतानम् अथस्य प्रकर्षेय कर्षकं सप्तलहेलकोपानां
च इतरं येन तन्मात्रम् । अस्मन्मुपगच्छेता नाम अयमहारेवी पट्टमहारात्री आसीत् । कर्मभूता सा । अति
चिरंति—अतिदीर्घकालात् प्रकटा बुद्धि यतः प्रथमं स्नेहः स एव लङ्कारः आनन्दस्तेस्य मन्त्ररीय पुष्प-
पवित्रिव । कर्मभूतान् उपलभो नाम लचिबः कर्मभूतः सः । कर्मभूतत्वादीनि पानि घास्त्राणि तेषामप्य
वनात् विस्तृतं वचनं यम्य तन्मात्रम् । अस्मन्लचिबस्य सुवन्ना नाम पत्नी कर्मभूता सा । अतिद्विष्ट-
मनोमुखा स्वमनु कस्यामे एव एका मनोमुखा मनोव्यापारो धरताः सा । बुद्धिस्ततरते रङ्गः प्रीतिर्मस्य
तन्मात्रम् वङ्गारिङ्गो नाम अनङ्गो पुनः पुनः । कर्मभूतपस्य पुष्पो नाम पुटोद्वित । कर्मभूतः स ।
अनङ्गैति—अनङ्गा वाप्यद्विता या विद्या आपमज्जानं तेन प्रकाशिताः अम्यापिताः अनेनपिप्या
वीन न तन्मात्रम् । अस्मन्पद्या नाम कर्मपत्नी । कर्मभूता सा । सौकुप्येति—सुकपस्य मायः लीलायं
लील्यं तस्य अनिधयः प्रकय तन अपहृतिता उपहासं गीता विरहस्य पद्या अनङ्गीर्वा सा ।
[वङ्गारिङ्गेन पद्या एवम् अयमोविता] । स वङ्गारिङ्गः कर्मभूत । समस्तेति—अमगावच ते अग्नि
आनङ्गाः लङ्गारङ्गना लेम्पो वै बाह्या वङ्गारङ्गा अनङ्गाः ताननुपगच्छति इति लङ्गारिङ्गः वङ्गारङ्ग
मिन् लङ्गः पिङ्गः लङ्गारिङ्गः । स्वापतेयति—स्वापतेयं वनम् लङ्गारङ्गं वीचनम् नरा इति प्रथमं एव
मार्गं मानवसं आनवापयं वनं तन्मात्राणां लङ्गान् दुरात्मनः अनेन पुनरेव अनेन आनङ्गाणां लङ्गान् पुनरेव
निङ्गपट्टन विदमपुत्रेन मङ्गः मलङ्ग इति—अने भूमी मायां ता मनभूता तासां विम्वनाः गृह्णारवाचन
विम्वारितीनां ते अम्यकर्मनाः भूङ्गह्वा प्याः एव अनिधयः यानु तापु वीचिपु यानेषु संवरमायः विदम्
तावन्ना पद्याम् अनङ्गाः वङ्गः वीचिपीयाः । प्रासादति—प्रासादयत् हर्म्यवीरितरमभूमिम् उपलब्धं इति
वङ्गारता तां हर्म्यवीरितरमभूमिं निष्कलीम् । अरात्मति—अरात्मानि वङ्गाणि वराणि नैवलीमानि मयो ते च ते
ईदम् मयम् लङ्गान् आनिप्या विरहस्य पद्या वया तापुवीं तां पद्याम् अयमोवयः । एवति—एवा इव
प्रापारीभूता मारी इतिवाचि एव इमाः लङ्गाः तेषां वङ्गान् अने विरामने अननुद्विष्टः अनङ्गः । एवा मयः लङ्ग

मृग हरिण. तस्य विनोदस्य विहारभूमि संचारस्थानम् । एषा स्मर काम एव द्विरद. गज तस्य वन्धनं
वारिवृत्ति वन्धनरज्जु । एषा किं खेचरी विद्याधरी, किम् अमरी सुरी, वा किम् इय रति मदनभार्या ॥४२३॥

[पृष्ठ १६५-१६७] इति च विचिन्त्य मकरेति—मकर मत्स्य. केतो ध्वजे यस्य स मदन तस्य
वशे व्यापारनिधि प्रवृत्तिनिधान यस्य, प्रवृत्तेति—प्रवृत्त. प्रादुर्भूत दुरभिसधि. द्रुष्टो मनोविचारो यस्य
पुरुषेति—पुरुषप्रयोगेण दूतसंप्रेषणादिना अभिमतस्य इष्टस्य सिद्धिं प्राप्तिम् अनवबुद्धमान अजानन्, तडिल्लतामिव
नाम धात्रीम्, कथभूताम् । पराशयेति—पराभिप्राय एव शैल पर्वत तस्य विदारणे विदलने तडिल्लतामिव
विचुल्लतामिव । अपडक्षीणे शरणे न पट् अक्षीणि नेत्राणि यत्र तथाभूते शरणे गृहे तृतीयाद्यगोचरे गृहे विजने
गृहे इत्यर्थः । सुनयेति—सुनयाना विज्ञप्त्यादिव्यवहाराणाम् आयतनादिभि स्थानादिभि पादपतनादिभि
चरणवन्दनादिकै प्रश्रयै. विनयै । कथभूतै. असदाशयाश्रयै दुरभिप्रायावलम्बनै अवन्ध्यसाध्य सफलसाध्यम्
सपरुष्य ज्ञात्वा । स्त्रकीयेति—निजाभिप्रायगहनवर्धनभूमिम् अकरोत् विदधे । तदुपरोधात् तस्य उपरोधात्
आग्रहात् तथाविधविधिविधात्री वशीकरणकार्यविधायिनी तत्कार्यविधायिनी—धात्री (स्वगतम्) परपरि
ग्रह परस्य अन्यस्य परिग्रह कलत्रम् । अन्यतरानुरागग्रहश्च अन्यतरस्य, अनुराग स्नेहस्तस्य ग्रहण
चेति दुर्घट दुःसधान प्रतिभास अनुभवो यस्य तादृक् खलु अयं कार्योपन्यास । अथवा सुघट एव सुसधान
एव अयं कार्यघट । इयं कार्यरचना सुसधानैव । यत यस्मात् तप्तातप्तपञ्चवयसोरयसोरिव अग्निताप्तानग्नि-
तप्तयो प्लवयसो चक्रलोहनेम्योरिव विरुद्धयोश्चेतसो मनसो सागत्याय अनुकूलीकरणाय खलु पण्डितै
दौत्य दूतत्व करणीयम् । अन्यथा सरसतरसो रससहितयो वेगवतो द्रवस्वभावयो जलयोरिव सरसतरसो
प्रेमवतो वेगवतोश्च अन्योन्य प्रति उत्सुकयो द्रवस्वभावयो काठिन्यरहितयो चित्तयो एकीकरणे किं न
नाम प्रतिभाविजृम्भितम् । का नाम नवनवोन्मेषशालिन्या बुद्धे स्फुटि । प्रतिकूलस्वभावयोर्मनसोरेकीकरणे
यदौत्य क्रियते तदेव दौत्य प्रशस्यमित्यर्थः । किं च । सा दूतिकेति—या बुधाना विदुषाम् अभिमतकार्यविचो
इष्टकर्मकरणे चातुर्यव्यवचनोचितचित्तवृत्ति चातुर्येण बुद्धिकौशल्येन वयं श्रेष्ठ यद्वचन तस्य उचिता योग्या
चित्तवृत्ति मनोवृत्ति यस्या. सा दूतिका स्वामिसदेशप्रापिका ज्ञेया । या दूतिका किं करोति । चुम्बकोपल-
कलेव चुम्बति लोहमाकर्षति स चासौ उपलब्ध चुम्बकोपल अयस्कान्त तस्य कला अश यथा अन्त शल्यं
लोहमय वहि करोति । तथा अपरस्य अन्यस्य नरस्य चेतोनिष्ठ मनसि स्थित शल्य वैरादिक वहि करोति
ततो निष्कासयति । एतादृशो एव दूतिका प्रशस्येति भावः ॥४२४॥ तदल विलम्बेन अस्मिन् कार्ये कालक्षेपो
न कर्तव्य इति भावः । यथा परिपक्वफल व्यतिक्रान्तकाल सरसत्वाधिष्ठान न भवति । तत् उचितकालाति-
क्रमेण गन्धवर्णरसश्रष्ट भवति । तथात्र कार्ये विलम्बे जाते सति अस्य कार्यस्य सरसत्वं च नश्येत् । किं
त्वस्य साहसालम्बनधर्मण कर्मण साहसाश्रयसाध्यस्य कार्यस्य देवात् सिद्धौ सत्याम्, परेङ्गिताकारसर्वज्ञै
प्राज्ञै अन्यमन स्थिताभिप्रायचेष्टाना विद्भि विबुधै, कथमपि महता कष्टेन, बहुजनावकाशे कृते सति बहुजनाना
मनसि अवकाशे परिचये कृते सति स्नेहे आदरे वा समुत्पादिते सति शरीरी साहसकर्मण कर्ता नर पुरश्चारी
भवति अग्रणी जायते । साहसकार्यस्य असिद्धौ सत्या शरीरी तत्कार्यस्य विधाता दुरपन्नादपरागावसर जन-
निन्दावूलिपातस्थान व्ययनगोचरश्च भवति विपद्विषयश्च जायते । तत् ध्वनयेय कथयामि या इयं पद्मा इदं
कार्यं च अवसेय ज्ञातुं योग्यम् । इयं पद्मा किंस्वभावा कीदृश्यस्या मनोवृत्तिरिति ज्ञातव्यम् । इदं च कार्यम्
अद्वितीयापत्यप्रसवाय अद्वितीयं न द्वितीयम् अद्वितीयम् एकं तच्च तदपत्य पुत्र तस्यैव प्रसव उत्पत्तिर्यस्य
तथाभूताय सचिवाय अवसेय ज्ञातव्यम् । तदुदाहरन्ति—“न च अनिवेद्य भर्तुं किंचिदारम्भं कुर्यात् अन्यत्रा-
पत्प्रतीकारेभ्यः” स्वामिन अनिवेद्य अकथयित्वा न च किंचित् आरम्भम् कार्यं कुर्यात् स्वामिन पृष्ट्वा
कार्यं कुर्यात् इति भावः । परम् आपत्प्रतीकारेभ्य अन्यत्र विपत्तिनिराकरणसमये स्वामी न प्रष्टव्य
अपृष्ट्वा एव स्वामिन तदुपद्रवकारिणीम् आपदं परिहरेत् इति । (प्रकाशम्) प्राणप्रियैकापत्य अमात्य,
प्राणवत् प्रिय वल्लभम् एकम् अपत्य यस्य तथाभूत हे अमात्य सचिव, ईदृश इव मामान्यजन इव भवादृशोऽपि
जन जातस्य पुत्रस्य जीविते अमृतस्य निपेकाय सेचनाय अचिरत्न यत्न तात्कालिक प्रयत्न विधानं योग्यो
भवान् भवति । अमात्य —समस्तमनोरथसमर्थनकथास्मार्थे आर्थे, समस्तानां सकलानां मनोरथानाम्

अङ्गं मिङ्गं योनिवत् तपोरम्यम् मुखादिप्रवेष्टे लीला । अम्योरम्यक्रिया—अम्योरम्यम् अपम्यक्रिया । अम्यत्स स्थापत्यव्यतिरिक्तस्य कम्पाकृष्टक्रिया स्मरुतस्मादिना वा अपम्यक्रिया । लीला परित्यक्त-
म्यम्यपारस्य पुनः पुनः स्वस्तीशेवतम् । रतिरतिव्यं रतिक्रियायां रतिव्यं कपटं विदत्तम्, एतानि तद्वत्
ब्रह्मचर्यवत् ह्यम् । ह्यम् ॥ ४१८ ॥ मद्यमिति—मद्यं मद्यिना कृतं पयः उपर्यम्यं मांसमभु-भाङ्गिक-
परादि वस्तु । रीर्यमिदं नाट्यम् पानं बादिनं च अक्षक्रिया । मिमिक्षादिप्रयोगः आभूयमानि च
मयो दयः अमिचारिका पुण्या विद्या बुनाटया प्रयोजनं विना विचारम् इति वचनां मनइन्ना
कामम् यत् ॥ ४१९ ॥ कोपको पयः—द्विषतम्, साहसम् अविचारेण वलेन कर्मकरम् प्रोह-
स्वामिमिचारिणे । पुरोभावी अक्षं तस्य मायं पीरोभावं दुर्जनत्वम् । अक्षरूपेण अक्षकात्रं द्रुपदम्
अन्तरायविधानम् । ईष्यो स्वर्गं पराम्युपयासहम् । बाह्यं लीलावेष्टेन निष्ठायाप्यं बाह्यं
पाद्व्यं पक्षमाप्यं ममसाहकरम् अनेकरोपपुष्टोऽसीति । इति कीपय कटया पयः प्रीणा । ब्रह्मकावता एते
शोपां त्याग्या ॥ ४२ ॥ येरुवर्तेत्यादि—येरुवर्तं वीर्यम् । शोषार्थं वातुत्पुनः । शोषीर्यम् अग्रविहृत
मालता अन्वेन अपरिचयः । वीर्यं निर्मयता लीलाव्यं कर्मत्वम् । वीर्यता सामर्थ्यम् अद्भुतसंवापम् च आकाश
वामित्वादिचारणक्रियेशान् एतान् पुनान् चतुर्धत्तपुष्टी चतुर्धत्तं ब्रह्मचर्यं तेन पूठा वी पविता मतिर्यस्य सः
नरः कमेतं प्राप्नुवात् ॥ ४२१ ॥ अक्षरुचारिणी शोपा—अनङ्गेति—अनङ्गो मदनः स एव अनङ्गः अमि-
तेन संकीर्ते संस्पृष्टे परस्त्रीरतिचैतसि परमिषया सह संकीर्तनुसे चेती मनी यस्य तस्मादुते नरे अत्र ब्रह्मके
सद्यस्का विपदा तस्काके ह्य विपदा पीडा मिङ्गं अक्षरिका । परम् च द्रुपत्सवाः परकोके च दुःखस्यानाति
मातु ता विपदा कायन्ते ॥ ४२२ ॥

[पृष्ठ १६४] भुवतामभाहृकम्बोपास्यानम्—कामिरेतेषु सुरसुन्दरीसपत्नेति—नुरनुन्वो
ईवाङ्गनां तासां उपलब्ध कम्बुने तासि स्वर्गां दुर्जनं वा पीरङ्गनामनः नपरनाटीपयः तस्य विनोश एव
अरविस्त्राणि कमलाणि तेषां सरसीष तस्मात्तासां वारावत्स्यां अपयो नाम गुपति । कर्मभूतः स ।
सपादितेति—सपादितं कृतं तमस्तापलीनां सकलविपदां संतानस्य वंसस्य प्रकर्षेण कर्मस्य उपलब्धकोवाया
च हुरां वेन तथामुनः । अस्य मुमञ्जरी नाम अग्रमहावेरी पट्टमहापत्नी आसीत् । कर्मभूता सा । अति
चिरेति—अतिदीर्घकालात् प्रकटः गृष्टि मरुः प्रलयः स्नेहः स एव सङ्कारः आस्रतस्तस्य मञ्जरीष गुण
विविधः । कर्मभूतस्य सद्यो नाम सविधः कर्मभूतः स । पञ्चतन्त्रादीनि मासि सास्त्राणि तेषामस्य
मनसु विस्तृतं वचनं नाम तथामुनः । अस्य सविधस्य सुवरा नाम पत्नी कर्मभूता सा । पतिवैरि-
क-मनोभूता स्वभक्तु कस्यापि एव एका मनोभूता मनोव्यापारी वस्ताः सा । बुद्धिवासरते रङ्गः शीतिर्यस्य
तथामुनः वशारपिङ्गी नाम अनयो भुवा पुनः । कर्मभूतस्य पुण्यो नाम पुरोहितः । कर्मभूतः स ।
अनङ्गयेति—अनङ्गा पापरहिता वा विद्या आगमज्ञानं तैलं प्रकाशिता अम्यापिता अरोपयित्वा
वेन स तथामुनः । अस्य पद्या नाम कर्मपत्नी । कर्मभूता सा । सौरुप्येति—सुरूपस्य नावः सौरुप्यं
शीर्षं तस्य अतिष्ठयः प्रकर्षं तेन अग्रहितता कर्मासं नीता तिरस्कृता यथा मनीर्यदा सा ।
[वशारपिङ्गेन यथा एवम् अवकाशिता] । स वशारपिङ्गः कर्मभूतः । मञ्जरीति—तमगारवः तै अमि
आवतना सर्वपञ्चना तैम्यो ये बाह्या व्यवहारा अमराचारः तानमुमञ्जरी इति वशारपिङ्गः वशारस्य
मतिः तद्वत् पिङ्गः सकलपिङ्गः । स्थापयेत्येति—स्वातेवे वनम् तावद्व्यम् बीजनम्, मरु इतिप्रदर्शं एव-
मन्मं मानवत् ज्ञानमाकर्षं यत् तथामुनाचारताम् दुरात्मनमन्वेन दुर्भावये मन्वेन चतुरेन वरलीसचापमिपुनेन
चिङ्गपदेन विटनभूतः लडः सद्यः इति—यने भुवो कालां ता मद्युवाः तासां विप्रमः शूङ्गारमावज
क्रियाविधेयाः । ४ अम्यम्यमाणा भुङ्गाकारा एव अमिषयः आनु तातु बीधिषु मावेषु संवरमाणं विद्वान्
तावेरता यथापु अन्नकोष्यं बुद्ध्या वीदुर्गीताम् । आसादेति—आसारतः इत्यवरोपरितनभूतिम् वनोदति इति
आसरा ता इत्यवरोपरभूमी निष्पटीम् । अशालेति—अशालि वक्राणि वक्राणि नैपत्तीनामि यदी ४ च ते
ईषये नयेन तापान् आतिष्ठा निरस्तुता यथा यथा तापुर्गी तां यथाम् अवकाशय । उपनि—यथा इव
आपातीयुता माती इत्यादि एव इत्यां तरवः तैनां अनुत्पन्नने विधानम् अमृदुहिः अनङ्गः । एषा मनः

मृग हरिण. तस्य विनोदस्य विहारभूमि मचारस्यानम् । एषा स्मर काम एव द्विरद. गज तस्य बन्धने कारिवृत्ति बन्धनरज्जु । एषा किं खेचरी विद्याधरी, किम् अमरी सुरी, वा किम् इय रति मदनभार्या ॥४२३॥

[पृष्ठ १६५-१६७] इति च विचिन्त्य मकरेति—मकर मत्स्य केतो ध्वजे यस्य स मदन तस्य वशे व्यापारनिधि प्रवृत्तिनिधान यस्य, प्रवृत्तेति—प्रवृत्त. प्रादुर्भूत दुरभिसधिः दुष्टो मनोविचारो यस्य, पुरुषेति—पुरुषप्रयोगेण दूतसप्रेषणादिना अभिमतस्य इष्टस्य सिद्धि प्राप्तिम् अनवबुद्धयमान अजानन्, तडिल्लता नाम घात्रीम्, कथभूनाम् । पराशयेति—पराभिप्राय एव शैल पर्वत तस्य विदारणे विदलने तडिल्लतामिव विद्युल्लतामिव । अपडक्षोणे शरणे न पट् अक्षोणि नेत्राणि यत्र तथाभूते शरणे गृहे तृतीयाद्यगोचरे गृहे विजने गृहे इत्यर्थ । सुनयेति—सुनयाना विज्ञप्त्यादिव्यवहाराणाम् आयतनादिभि स्थानादिभि पादपतनादिभि चरणवन्दनादिकै प्रथमै. विनयै । कथभूतै असदाशयाश्रयै दुरभिप्रायावलम्बनै. अवन्ध्यसाध्य सफलसाध्यम् उपरुध्य ज्ञात्वा । स्वकीयेति—निजाभिप्रायगहनवर्धनभूमिम् अकरोत् विदधे । तदुपरोधात् तस्य उपरोधात् आप्रहात् तथाविधविधिविधाघ्नो वशोकरणकार्यविधायिनी तत्कार्यविधायिनी—घात्री (स्वगतम्) परपरिग्रह परस्य अन्यस्य परिग्रह कलत्रम् । अन्यतरानुरागग्रहश्च अन्यतरस्य, अनुराग. स्नेहस्तस्य ग्रहण चेति दुर्घट दुःसधान प्रतिभास अनुभवो यस्य तादृक् खलु अय कार्योपन्यास । अथवा सुघट एव सुसधान एव अय कार्यघट । इय कार्यरचना सुसधानैव । यत यस्मात् तप्तातप्तपञ्चवयसोरयसोरिव अग्निवत्पानग्नि-तप्तयो प्लवयसो चक्रलोहनेम्योरिव विरुद्धयोश्चेतसो मनसो सागत्याय अनुकूलीकरणाय खलु पण्डितै दौत्य दूतत्व करणीयम् । अन्यथा सरमतरसो रसमहितयो. वेगवतो द्रवस्वभावयो जलयोरिव सरसतरसो प्रेमवतो वेगवतोश्च अन्योन्य प्रति उत्सुकयो द्रवस्वभावयो काठिन्यरहितयो चित्तयो एकीकरणे किं नु नाम प्रतिभावजृम्भितम् । का नाम नवनवोन्मेषशालिन्या बुद्धे स्फूर्ति । प्रतिकूलस्वभावयोर्मनसोरेकीकरणे यदौत्य क्रियते तदेव दौत्य प्रणश्यमित्यर्थ । किं च । सा दूतिकेति—या बुधाना विदुषाम् अभिमतकार्यविधौ इष्टकर्मकरणे चातुर्यवयवचनोचितचित्तदूति चातुर्येण बुद्धिकौशलेन वयं श्रेष्ठ यद्वचन तस्य उचिता योग्या चित्तवृत्ति मनोवृत्ति यस्या. सा दूतिका स्वामिसदेशप्रापिका ज्ञेया । या दूतिका किं करोति । चुम्बकोपल-कलेव चुम्बति लोहमाकर्षति स चासौ उपलश्च चुम्बकोपल अयस्कान्त तस्य कला अशः यथा अन्तःशल्यं लोहमय वह्नि करोति । तथा अपरस्य अन्यस्य नरस्य चेतोनिरुद्ध मनसि स्थित शल्य वैरादिक वह्नि करोति ततो निष्कासयति । एतादृशो एव दूतिका प्रशस्येति भाव ॥४२४॥ तदल विलम्बेन अस्मिन् कार्ये कालक्षेपो न कर्तव्य इति भाव । यथा परिपक्वफलं व्यतिक्रान्तकाल सरसत्वाधिष्ठान न भवति । तत् उचितकालाति-क्रमेण गन्धवर्णरसभ्रष्ट भवति । तथात्र कार्ये विलम्बे जाते सति अस्य कार्यस्य सरसत्व च नश्येत् । किं त्वस्य साहसावलम्बनधर्मेण कर्मणः साहसाश्रयसाध्यस्य कार्यस्य देवात् सिद्धौ सत्याम्, परेङ्गिताकारसर्वज्ञै प्राज्ञै अन्यमन स्थिताभिप्रायचेष्टाना विद्भि विवुधै, कथमपि महता कष्टेन, बहुजनावकाशे कृते सति बहुजनाना मनसि अवकाशे परिचये कृते सति स्नेहे आदरे वा समुत्पादिते सति शरीरी साहसकर्मण फर्ता नर पुरश्चारी भवति अप्रणी जायते । साहसकार्यस्य असिद्धौ सत्या शरीरी तत्कार्यस्य विधाता दुरपवादपरागावसर जन-निन्दावूलिपातस्थान व्यसनगोचरश्च भवति विपद्विषयश्च जायते । तत् ध्वनयेय कथयामि या इय पद्मा इदं कार्यं च अवसेय ज्ञातु योग्यम् । इय पद्मा किंस्वभावा कीदृश्यस्या मनोवृत्तिरिति ज्ञातव्यम् । इदं च कार्यम् अद्वितीयापत्यप्रसवाय अद्वितीयं न द्वितीयम् अद्वितीयम् एक तच्च तदपत्य पुत्र तस्यैव प्रसव उत्पत्तिस्य तथाभूताय सचिवाय अवसेय ज्ञातव्यम् । तदुदाहरन्ति—“न च अनिवेद्य भर्तुं किंचिदारम्भं कुर्यात् अन्यथा-पत्प्रतीकारेभ्यः” स्वामिन अनिवेद्य अकथयित्वा न च किंचित् आरम्भम् कार्यं कुर्यात् स्वामिन पृष्ट्वा कार्यं कुर्यात् इति भाव । परम् आपत्प्रतीकारेभ्य अन्यत्र विपत्तिनिराकरणसमये स्वामी न प्रष्टव्य अपृष्ट्वा एव स्वामिन तदुपद्रवकारिणीम् आपद परिहरेत् इति । (प्रकाशम्) प्राणप्रियैकापत्य अमात्य, प्राणवत् प्रिय वल्लभम् एकम् अपत्य यस्य तथाभूत हे अमात्य सचिव, ईदृश इव सामान्यजन इव भवादृशोऽपि जन जातस्य पुत्रस्य जीविते अमृतस्य निषेकाम सेचनाय अचिरत्न यत्न तात्कालिक प्रयत्न विधातु योग्यो भवान् भवति । अमात्य — समस्तमनोरथसमर्थनकथास्मार्थे आर्थे, समस्ताना सकलाना मनोरथानाम्

अभिधायायां समर्थनकथा फलदायकया तस्यां स्मार्थे स्मरणयोग्ये आर्ये पूज्ये तन्मोक्षितामृतनिपकाय तस्य
 मन्त्रपरवस्य बोधितायम् अमृतनिपेकाय सुधासेवनाय मन्त्रीवितीवितविनेकाय च मन्त्रीयं बोधितं मन्त्रायां तस्य
 उचिता बोधो यो विवेकः तस्मै तत्र मन्त्री पूज्या स्वयेव प्रभवति समर्था भवति । आनी—अथ किम् ।
 अभ्युपपत्तं मन्त्रम् । तथापि अथछेति—अथकायनायां नारीयनायां मनसो अतिरिक्ता अविद्या या प्रतिभा
 सा अस्ति यस्य स प्रतिभावान् तेन प्रतिभावता । हे अयास्य नारीयनप्रतिभाया अपि घटत प्रतिभा अविद्या
 अस्ति अतो मन्त्रापि अस्मिन् कमपि प्रयत्न करण्यम् इत्यभिधाया भूतकात्यायनीप्रतिकर्मा भूतकात्यायनीदेवा
 या अथद्वया कात्यायनसना अथवा च सा भूती कात्यायनीत्युच्यते । अथछेति—हस्तछरुभुतछटिक्रमभिरि
 विद्यासकलस्त्रीस्वभावा तैस्तैः अयमनोहरवमनीः अथनी नयनमनोमोहजनकमन्त्रार्थश्च । अतिरीर्षकात्
 विद्यावरा परिप्राप्येति—परिप्राप्यः कथम् । प्रभवत्य प्रीत्या प्रार्थनस्य प्रसन्नकृताः अथारोहणः अथा
 सा तथाभूता सा भूती एवम् भूता मानस्येव रहति विद्यते तां पुण्यपुरोहितमार्गम् अहस्य इयं वक्ष्यमाणम्
 प्रस्तुतेति—प्रवर्तमानाकारवचनायाः अनुकूलमन्त्रोपेतं श्लोकं पठन् उवाहापीत् अकलन्ती—स्त्रीयु इति—
 अथ अयति स्त्रीयु नारीयु गङ्गायै जाह्नव्येव अस्या पुच्छवती या परमोणोवगापि परेया समीपे योगद्वाना
 उपगच्छत्यपि अमुना सिन्धौ मुच्यि मस्तके मथिमाकेन रत्नसंगिच ओष्ठात् धानम् प्रियते स्वाप्यते ॥८२॥
 भट्टिनी—(स्वयतम्) इत्यरीति—परपुण्यानेति गच्छति इत्येवं धीमा इत्यरी कुच्छा पुच्छवती स आसी बलवत्
 इत्यरीजनं तस्मात्परमम् असत्प्रभुतिः तत्रैव इत्यं भगिनी वाचं तस्य निर्मायाय प्रभवमुत्पात इव प्रभवत एव
 भूमिमाप्तायै सुधाकुनमिष आर्य वाक्यप्रस्ताव उपकथयते । तथा वाह वा इयं तावत् वाक्यपरिपाकम् स्वानिप्रत्यस्य
 परिपाकं निरूप्यते धारम् । (प्रकाश) आर्ये किमस्य सुभाषितस्य देववर्ष तात्पर्यम् । आनी—परमसोभागमनामिनि
 भट्टिनि उत्तमसौभाग्यवति भट्टिनि अष्टौ श्वामित्थम् अस्या अस्तीति भट्टिनी उत्सवोन्नतं हे भट्टिनि हे वाह्य
 भार्ये आगाति एवास्य सुभाषितस्य कैम्यम् तात्पर्यम् । यदि न वक्ष्यतिहृदयासि वेदस्तेन निमित्तविता न
 भवति । भट्टिनी—(स्वयतम्) सत्य वक्ष्यतिहृदयाहम् । यदि चेत् मन्त्रयुक्तोत्पन्नबुलवर्तीयकाया न
 भविष्यामि । अथत्वा प्रयुक्तः य उपजातः अपकारः स एव बुधा कीदृकः तेन बर्धितः काया उत्कीर्णः ईदो
 यस्याः तथाभूताहं न भविष्यामि । आर्ये हृदयेऽमिनिविष्टम् अर्थं मनसि निरवधेन प्रविष्टम् अर्थं अमिप्रायं
 भोतुमिच्छामि । आनी—वत्से कथमपि किं तु चित्तं द्वयोरिति—आनम् अमिमात्रं चित्तोल्लिखति तदुभयम् एव
 वर्ततेन अस्या नी बुद्धिः यस्व तेन मनेव । इमोः पुष्टा अथत एव चित्तं निजाभिप्रायं निबधनीयं कथनीयम् ।
 नी सी डी नरी यमोः पुरतः चित्तं निवेद्यते इत्याह—यः प्रार्थितम् इति—य नरः अमिबुध्यमानः संध्य
 मानः प्रार्थितं निवस्य आकाशविहं न रह्यति स स्कोटयति यो वा मनो निवस्य मन्त्रः अनुकूलं भवति सोमं
 रहस्यं न भिनति । अतः समी डी एव नरी रहस्यकथनयोग्यी निरूप्ये ॥८२॥ भट्टिनी—(स्वयतम्) अहो
 नमःप्रकृतिम् अपि इयं नमः आकाशस्य स्वभावम् अपि नैमक्यमपि पश्यीः कर्मणेः अथकेषु अक्षितुम् इच्छति
 आकाशवर्तिनैस्स्वभावा मा पतिवताम् इयं आनी असतोन्नतवोवर्धनीः अक्षितुमिच्छति । इति स्वयतं पथा
 अभ्युपपत्तः । (प्रकाशम्) आर्ये समयनापि समर्थाहम्, अहं रहस्यवेष्टिका न भवामि । त्वत्पल्लोऽनुकूलं च भवामि ।
 चित्तं द्वयोरिति न मनुष्यम् न ममाद्यजानम् । न मन्त्रयुक्तं वा न मन्त्राया प्रचनं कार्यम् प्रारब्धमिति । न
 हि मन्त्रीय कथाभिध न मन्त्रीय उच्यते किं तु पुरैव ईदृशी गतिरस्ति । आनी—(स्वयतम्) अनुभूयेयं अन्तु कार्यपरिचयि
 इयं अन्तु निरवधेन कार्यपरिचयि कर्मणः परिणयनम् अनुभूया मन्त्रिप्रायसमुत्कृता भवति । यदि चेत् विवट
 तटतन्मस्य समीपदीप्राप्तस्य बहिरापाकस्येव भौकायरीत्येव बुद्धिवालीसंप्रियता न मनेत् । दुष्टो बाणः दुर्गतिं
 तस्य आनी पठितः दुर्गतालो तस्याः संप्रियतः येनैव आगमनं न मनेत् । मय कार्यं तु अनुना सम्यक् अनुकूल-
 प्रादमेव आने इति आनी भवति यदि कोऽपि आन्तरायोऽयं स्वह् । (प्रकाशम्) अत एव मन्त्रे वरयति
 पुराचरिदाः ।

[पू० १९८] विधुरिति—पुरो बुद्धयते कस्येव आर्यया सह विधुरचक्रः समस्तं मनुजं वधार ।
 नोनमस्य अतोः मायवाहस्यया सह अमरेवधरः इह । अन्तर्नोऽयस्य च आर्यया वक्ष्या सह बुधवर्षी पंढरः
 पुरा किञ्च समस्तं सैन्यं वधार ॥८३॥ भट्टिनी—आर्ये एवमेव सत्यमेव । अतः । अयोनामिति—स्त्रीया

वपु शरीर वन्धुभि स्वजनै अग्निसाक्षिकम् अग्नि साक्षीकृत्य परत्र अन्यस्मिन् पुरुषे विक्रीतम् अपितम् । परम् इदं मानसं न विक्रीतम्, न दत्तमिति भावः । ननु यत्र विश्वभगर्भा निर्वृतिं प्रणयपूर्वा निर्वृतिं संतोष आह्लादं भवति स एव कृती पुण्यवान् धन्यः तस्य मानसस्य अधिपति स्वामी मतः ॥४२८॥ धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम्, त्वं किल एकदा कस्यचित्कुसुमकिमारुनिविशेषवपुषः, कुसुमस्य किंसारवः केशरा तौ निविशेषवपुषः समानशरीरस्य कुसुमकेशरकोमलदेहस्येति भावः । पुराङ्गनेति—नगरस्त्रीजननयनकमलमोदे अमृतरोचिषः सुधाकरतुल्यस्य कस्यचिन्नरस्य । प्रासादेति—प्रासादस्य हर्म्यस्य परिसरे पर्यन्तभुवि विहारिणी त्वम् एकदा । वीक्षणेति—नयनमार्गानुयायिनी सती कोमुदीव ज्योत्स्नेव । हृदयेति—हृदयम् एव चन्द्रक्रान्तमणिः तस्य आनन्द एव निःस्पन्दः जलनिर्गमः तस्य सपादिनी अभूः त्वम् अभवः । तत्प्रभृति तद्दिनमारम्य, ननु तस्य मदनसुन्दरस्य यूनः तरुणस्य । प्रत्यवसितेति—प्रत्यवसितं विनष्टं वसन्तश्रीसमागमममयो यस्य तथाभूतस्य पुष्पवयस्येव भ्रमरस्येव रसालमञ्जर्यामिव आम्नपुष्पपङ्क्तौ इव भवत्या महान्ति खलु मन्दमकरन्दास्वादने स्वैरमकरन्द-भक्षणं दोहदानि अभिलाषाः सन्ति । नितान्तं नितरा चिन्ताचक्रपरिक्रान्तं चिन्ता मानसी व्यथा तस्या चक्रेण परिक्रान्तं व्याकुलं स्वान्तं तस्य मानसम् । प्रसभमिति—प्रसभं नितरा तव गुणस्मरणपरिणत्याः आधारः तस्य मनोऽस्ति । अनवरतमिति—सततं रामणीयकं तव देहसौन्दर्यम्, तस्य अनुकीर्तनं पुनः पुनः स्मरणं तस्य सकेतो यत्र तथाभूतं तस्य मनः । प्रविकसदिति—प्रविकसत् विकासं प्राप्नुवत् कुसुमतुल्यविलासयोग्य-वल्लीरसदृशवल्लभाजने सनिहितेऽपि समीपस्थितेऽपि तस्मिन् तस्य महानुद्वेगः, अतीव खिन्नता विद्यते । पिशाचेति—पिशाचेन देवविशेषेण छलितस्येव पीडितस्य नरस्येव अस्थाने स्वायोग्ये वस्तुनि अनुबन्धः स्नेहः । संजातेति—सजातः उत्पन्न उन्मादः चित्तविभ्रमः यस्य तथाभूतस्य नरस्येव विचित्रं नानाविध उपलम्भ-विभ्रमं तेन क्रियाप्रारम्भो यस्य । पुनः कथंभूतः । स्कन्धेति—स्कन्धे निजस्कन्धे निजभुजशिरसि गदेन गृहीत-स्य नरस्येव प्रतिदिनं लब्धकृशावस्थः । स्मरेति—स्मरस्य कामस्य आराधनायाः प्रणीतं विहितं प्रणिधानम् ऐकान्यं येन तथाभूतस्य नरस्येव इन्द्रियेषु सनता अवसादः काश्यम् अभवत् । प्राणेषु च अद्यश्वीनकथा असुषु जीविते वा अद्यश्वीनकथा अद्य श्वो वा भवति अद्यश्वीनं मरणं तस्य कथा । अपि च—अनवरतेति—अनवरतं सततं जलेन आर्द्राणि किलन्नानि यानि आन्दोलनानि व्यजनानि तेषां स्पन्दा चञ्चलताः तैः मन्दैः अति-सरसा अतिस्निग्धा या मृणाल्य कमलिन्य तासां कन्दलैः अङ्कुरैः नालैः कथंभूतैः चन्दनाद्रैः चन्दनेन आर्द्रैः विलनैः एतैः सर्वैः करणभूतैः हे प्रियसखि, अमृतेति—अमृतं रुचिः चन्द्रः तस्य मरीचयः कराः तैः प्रीडिताः प्रगल्भता यस्या तथाभूताया निशायाम् ते सुहृदः मित्रस्य वल्लभस्येत्यर्थः किञ्चित् आत्मप्रबोधः अल्पस्वानुभूति-विद्यते । स्मरव्यथया तव वल्लभोऽतीव पीडितः इति भावः ॥४२९॥

[पृष्ठ १६६-२००] भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपायते, केनाहं दृष्ट्वा, कः स्मरपीडितः तस्य नामादिकं कथं न कथयसीत्यर्थः । मां निहन्तुष्व सर्वं स्फुटं कथयेति भावः । धात्री—(कर्णजाहमनुसृत्य) एवमेवम् । सचिवपुत्रः कटारपिङ्गः स्मरपीडितः इति भावः । भट्टिनी—को दोषः । धात्री—कदा । कदा तेन आगन्तव्यम् इति प्रश्नो धात्र्या कृतः । भट्टिनी—यदा तुभ्यं रोचते । तदा तेनागन्तव्यम् इत्येव अनन्तरायतया निर्वाचितया तया पक्षया पुण्यभार्यया अनुमता सा धात्री । तनयानुमताहितमतिपाटवं तनयस्य अनुमतं प्रियं यत्कार्यं तत्र आहितं स्थापितं मतिपाटवं बुद्धिचातुर्यं येन स सचिवोऽपि उग्रसेनोऽपि । नृपतीति—नृपते वर्षणाह्वस्य निवासे गृहे उचितप्रचारेषु उचितं योग्यं प्रचारं प्रवर्तनं येषां तेषु वासरेषु दिनेषु यातेषु कस्मिंश्चिद्दिने गुणव्यावर्णनप्रसंगे आगतम् एतस्य महीपते नृपस्य पुरतः श्लोकम् इमम् उपन्यास्यत् अपठ-दित्यर्थः । राज्यमिति—यस्य वेश्मनि गृहे किञ्जल्प पक्षिविशेषः विद्यते तस्य राज्यं विवर्धते । सिद्धात् मन्त्राराधनाल्लब्धाच्चिन्तामणेर्यथा किञ्जल्पपक्षिप्राप्ते शत्रवश्च क्षयं यान्ति ॥ ४३० ॥ राजा—अमात्यः, क्व तस्य प्रादुर्भूतिः, कीदृशी च तस्याकृतिः । अमात्यः—देवः, भगवतः पार्वतीपते पूज्यस्य गौरीवल्लभस्य स्वशूरस्य पार्वतीपितुः, कथंभूतस्य स्वशूरस्य । मन्दाकिनीति—मन्दाकिन्या गङ्गायाः स्पन्दः प्रवाहः तस्य निदानं कारणं कन्दरनीहारो गुहाहिमः यस्य । पुनः कथंभूतस्य । रमणेति—रमणः पतिः सहचरो सहयायी यासां ताः खेचर्यः खगाङ्गनाः तासां सुरतस्य सभोगस्य परिमलः विमर्दोत्थजनमनोहरगन्धः, तेन मत्ता लम्पटा

ने मत्ताक्य मत्तमुक्तां तेषां मच्छकी उपमृ तेन विविधव्यमाणा रण्यमाणा मरकतमणिमेवला मरकतानां मणीनां हरिणमयीनां मेखना रचना यस्य । पुनः कर्मभूतस्य । कुशोत्पलेति—शुभोररणा कपिकाराः तेषां पञ्च उपमृ तेन मन्वितं मूर्धितं चिह्नम्बुम् अर्थं यस्य रत्नचिह्नरचनाम् चिह्नरस्य अस्मात्ते धर्मीये निःसेवाः एकका ये शङ्कुताः पक्षिण तेषां संभवम् उत्पत्तिम् आबहुति नारयतीति तथाभूता गुहा समस्ति । मस्यां अष्टानु वैमतेय-वैद्यमानप्रमत्तयः शङ्कुतयः पक्षिणः प्रादुरासम् अजायन्त । तस्यामेव तस्य किञ्चनपक्षिणः उत्पत्तिर्भवति । तां च पुद्गलम् अहं पुष्पवत् अनेकस्य अमङ्गलं नष्टाजननवतोवाचानुसारित्वात् श्रीपीमनवत्याः यात्रामनु-सूत्रेत्स्वर्गं साधु आनीत । प्रकृतिवचास्व अनेकवर्षां यनुष्यसवर्षां मरसमाणा च । मृषात्—(संजात-कुलूहल) अस्यास्य कर्म तर्ह्यनेककथा यमाकुपता स्मात् । तस्य किञ्चनपक्षिणो वर्णनस्य उत्कृष्टा मम अकुपता सा उत्कृष्टा कर्म मम सफला स्वारिति भावः । अस्यात्—इव मयि पुष्पे च गतं सति । राजा—अस्यास्य मन्त्रं बलीव प्रवरा वृद्ध । तत्पुष्पं प्रयत्नु । अस्यात्—इव तद्धि वीर्यात् अस्मै सरस्वतीकार प्रवेकम्, पारितोषिकम् । रत्नालंकारपत्रं ते प्रवेकारव वसता रत्नालंकारप्रवेका तैः सहितं सरत्नालंकार प्रवेकम् पारितोषकं पारितोषजनकं इहम् अस्मै पुष्पाय वीर्यात् । अवचेरं पावेरं च विपुलं पावेरं पवि श्यमितम्बुहम् अम्बुजमिति भावः । राजा—आहम् । अत्र मय संघटित इति भावः । स्वामिचिन्ताचार वसुध्वा पम्भः स्वामिनी वर्षवसुपस्य चिन्ता यथा अमिन्नाबोऽस्ति तथा आचारव प्रवर्तनेन वसुध्वा मैत्रानस्य जनक पुष्पं तथा राजादिष्टः मेहम् आगत्य 'आवेरं न विष्कम्भेत्' मूर्धनि आदेयः ईदृश एव कर्म कृतं अस्यास्य कर्म न कृतं इति विष्कम्भः न कर्तव्यः इति मत्तानुसारी प्रयागसाधनी कुशीनं तथा वतीव्रतपविमि-सपमा पपमा वतीव्रतेन पविमिर्तं सद्य गृहं यथा तथाभूतवा पपवा वृद्ध —मदु किमकास्ते किम् जनवसरे प्रयागाहम्बुः रेखातरवमनारम्भ । पुष्पः—अस्तुतमाचते प्रतिपद्यं कवयति । मट्टिनी—मदु सर्वमिच्छ विवस्य कूटकपटभेदितम् । कूटम् अमृतमयं कपटभेदितम् अनृतमयमावाप्यवहारः । मट्टु—मट्टिनि किं न कर्तुं एतन्भेदितस्वायतनम् । एतत्कूटकपटव्यवहारस्य किमास्पदम् । मट्टिनी—अकान्तम् अजादिष्ट । पूर्ववृत्तं सकृत् अजायत । मट्टु—किमत्र कार्यम् ।

[पृष्ठ २०१] मट्टिनी—कामेतिवचः । विद्या उपकाशं सर्वजनसमस्तम् एतत्पुण्यस्वाव निवि निमृत्तं च प्रत्याप्त्य गृहं पुनरप्यम्बु अर्चय महात्मकाष्टे निजवासनिधेये विपुलवेद्ये निजवृक्षापवरके सुखेन वस्त-भ्यम् । उत्तरभाई जानामि । उत्तरभारं कार्यम् अहं पारयिष्ये । मट्टु—तथास्तु । एवोऽम्बवा तया पर निहृतिपात्रा बाभ्या अन्धप्रचारवपानमृतवा बाभ्या सपमावा स दुष्टपापादिनिकृन् अतथापापसत्ता कथार विज्ञः सुपुत्रजनकायाम् आनीत । 'सम्बन्धस्तु तावत् इहैव इयं भारी अर्थं च कथारविज्ञः महीमूलं गताक-लं नरकं विद्यातु शिवविपु पाताकासदुःखं समस्यस्तु आरब्धतु ।' इत्यनुष्पाप इति चिन्तयित्वा तया वधया महावर्तस्य विपुलविस्तारस्य कतस्य कूपस्य मन्मोरजूमिरनस्य कपरि कम्पितायां स्थापितयाम् अजाती-यायां रज्ज्वादिनिवेष्टादृष्टिगामां कटुभावां मन्त्रके क्रमेण कपर्वेष्टितवपुषी स्थापितवेष्टी ती इत्यपि दुष्टतत्त्वमेव महात्मवानुते वधप्रमथ्ये धर्ते विनियेतुः अपतताम् । अनुभवमृतवत् अन्धमृतः च निश्चितपरिवारवत् भुक्ताविष्टमन्त्रादिभोजनी दुष्क्रीपाकम् उपकायः यस्य तथाभूतं वदसमाधाकम् सभायां वदपाकां पद-विभावाः तावत्स्यं दुःखकम् । सभायां वर्पस्य आकाशविधायां भावाः पदं च तां सभायां वदसमाधाकां पदसमाधाकां पदसमाधानि विभास् । पम्पासावधि दुःखकम् अनुभुमस्तु । पुनरेवता 'स्वाम्यादैयमिष्टेविपुष्पं पुष्प-मृदावादिदेये चतुरः पुष्पमदु' तथाविधपक्षिप्रसवस्यपक्षिपीसहितं किञ्चनवादीपविह्वजनसमर्थया विह्वया संवृत्तं वृत्तो विहितं पञ्चदरे वरिवरतो वन्धः यस्य तं किञ्चलम् आचाम नृदीयां आपण्डु, विचतुरपु वातरेय विवसेपु अस्यां पुरि प्रविधति ।" इति प्रतिप्रवर्तनीति इति भातां नीचवन्दी । विविधवर्षदिशिव्रतकायेन नीजनीतादिदर्येविनिर्देशमिहती विनिर्दिता कानी यस्य तद्भवेन पुनः कर्मभूतेन उद्भवेन । अटकेति—अटका-कजविदः बहोः बोर्बदीवः यो व्योस्त्वया पीरते । भावः किनीविनिर्दिता पक्षी आनकः सारङ्गावः पक्षी एते भारी येषां ते अटकास्य तेषां छयाः पताः तैः छाविता आभूता प्रतीकस्य पीरितस्य निनाया

रुचिरेण सुन्दरेण प्रयाणयोग्यवेपेण जोष्य सेवनीय त पुण्य पुर अग्रे वने विनिवेश्य स्थापयित्वा । भट्टेति—
भट्टात् पुष्पभट्टात् हेतोः । उद्भूत जान आरम्भ यस्य तथाभूतेन सभापणेन सनाथो युक्त य सखीजन तेन
सकल्पा भूयिता । धृतेति—धृत प्रोपितभर्तृकाया आकल्पो वेपो यया सा, (प्रकृष्ट दूर गत प्रोपित
प्रवास गतो भर्ता यस्या सा प्रोपितभर्तृका) अभिमुखम् अयामीत् अगच्छत् । अपरेद्यु अन्यस्मिन्दिने स
निखिलगुणा एव द्रविण धन तेन विशेष्य इतरजनेभ्य असमान पुण्य पृथिवीपतिभवन धर्पणनृपप्रासादम्
अनुगम्य 'देव, अय स किञ्जल्प पक्षी, इय च तत्प्रसवित्री माता पतत्रिणी च पक्षिणी च, इत्याचरत्
इत्यवदत् ।

[पृष्ठ २०२-२०३] राजा—(चिर निर्वर्ण्य निर्णय च स्वरेण) पुरोहित, नैप खलु किञ्जल्प
पक्षी, किं तु कडारपिङ्गोऽयम् । एवापि विहङ्गी पक्षिणी न भवति किं तु तडिल्लतेय कुट्टिनी पुरुषेण सह परस्त्री-
योगम्य कर्त्री । पुण्य—देव, एतत्परिज्ञाने प्रगल्भमतिप्रसव, सचिव । देव एतस्य किञ्जल्पपक्षिविषयक-
परिज्ञाने प्रगल्भ प्रौढ मतिप्रसव बुद्ध्युत्पाद यस्य तथाभूत सचिव । राज्ञा सचिवस्तथा पृष्ठ इमातल
पातालं प्रविषिक्षुरिव प्रवेष्टुमिच्छन्निव क्षोणीतल भूतलम् अवालोक्त ऐक्षत । राजा—पुण्य, समास्ताम् ।
अय भवान् ऐतिह्यनिकर प्राग्वृत्तजात कथयितुम् अर्हति । प्राग्वृत्त सकल कथयेति राजा पुण्यम् अपृच्छत् ।
पुण्य—स्वामिन्, कुलपालिकात्र प्रगल्भते । कुलं पालयति इति कुलपालिका कुलवती मे धर्मपत्नी ऐतिह्य-
निकर कथयितु प्रगल्भते समर्था भवति । भूति भट्टिनीम् आहूय 'अम्ब, कोऽय व्यतिकर कि प्रकरणमिदम्'
इत्यपृच्छत् । भट्टिनी तदुदन्त तत्प्रकरणस्य पूर्ववृत्तान्तम् आख्यत् अवर्णयत् । काश्यपीश्वर कश्यपस्येय
काश्यपी पृथ्वी तस्या ईश्वर अधिपति धर्पण शैलूष इव नटवत् हर्षामर्षोत्कर्षस्थामवस्थामनुभवन् आनन्द-
कोपोत्कटाम् अवस्था दशाम् अनुभवन् सकलनिशान्तस्थितस्त्रीजनप्रणम्यमाणचरणकमला ता पद्मा तैस्तै
माध्वोगणानन्दे स्तुतिवचनै समानसन्धानै समादरमूचकं भूपगदानैश्च उपचर्य पूजयित्वा, वेदविद्विजोह्य-
मानकर्णोरथारूढा स्त्रीणा वाहनार्थं वस्त्रादिना आच्छादितस्य रथविशेषस्य कर्णोरथ इति नाम । वेदविद्वि
वेदायं जानद्भि द्विजै विप्रै स्कन्धे धृत्वा नोयमानकर्णोरथम् आरूढा पद्मा वेश्म गृह प्रवेक्ष्य, पुन 'अरे निहीन
नितरा हीन नीच, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगा अखिलजनसामान्यैर्भुज्यमाना सुभगा
सुन्दरा सीमन्तिन्य नार्य किमिति न सन्ति येनैवम् आचर दुराचरण कृतवान् । कथं च दुराचार, एव-
माचरन् न अत्र विलाय विलीनोऽसि । दुर्गवहार, एवम् आचरण कुर्वस्व लवणवत् जले कथं न विलीनोऽसि ।
तत् इदानीमेव यदि भवन्तं तूणाङ्कुरमिव तूणेह्य हन्मि, तदा तव हृकृतम् अभिमान अपकृत स्यात् नष्ट
भवेत् ।' इति निर्भरम् अतिशयेन निर्भर्त्स्य तर्जयित्वा दुर्नयनगरभुजग दुराचारपुरजार कडारपिङ्ग
कुट्टिनीमनोरथातिथि कुट्टिन्या परस्त्रिय पुरुषेण योजयन्त्या विद्युल्लताया मनोऽभिलाषस्य अतिथिम् अस्यागत
सतृण तूणेन सहितम् उग्रसेनमन्त्रिण च निखिलजनसमक्षम् आक्षारणापूर्वक परस्त्रीनिमित्त दूषण दत्त्वा प्रावास-
यत् देशान्तर प्राहिणोत् । दुष्प्रवृत्तानङ्गमातङ्ग दुष्प्रवृत्तेन दुराचारेण अनङ्गत्वात् कामाकुलत्वात् मातङ्ग
चाण्डालसदृश, कडारपिङ्ग तथा प्रजाप्रत्यक्ष पौरममक्षम् आक्षारित परस्त्रीनिमित्त दत्तदूषण सुचिर
दीर्घकालम् एतदेन फलम् अनुभूय एतस्य परस्त्रीपापस्य फलं भुक्त्वा दशमीस्थ मरणावस्था दशमीतुप्युच्यते
तस्या तिष्ठतीति दशमीस्थ । मरण प्राप्त सन् श्वभ्रप्रभवभाजन श्वभ्रे नरके प्रभव उत्पत्ति तस्य
माजन पात्र जनम् अभजेत् । नरके समुत्पन्न इति भावः । भवति चात्र श्लोक—मन्मथेति—मन्मथ
काम तेन उन्माथित पीडित स्वान्त मन यस्य, परस्त्रिया सह रति सभोग तस्मिन् जाता धी मतिर्यस्य
स कडारपिङ्ग सकलत्वात् परस्त्रीसभोगमनोऽभिलाषात् रसातले नरके निष्पपात पतित अजायतेति
भावः ॥ ४३१ ॥

इत्युपासकाध्ययनेऽप्रक्षफलसाधारणो नाम एकत्रिंशत्तम कल्प ॥ ३१ ॥

३२. परिग्रहामहफलफुल्लनो नाम द्वात्रिंशत्तमः कल्पः

[पू० २०३ २०४] ममेकमिति—आह्वान्यन्तरवस्तुषु गोमयिषमभिमुक्तादिषु बाह्यवस्तुषु रात्रिषु च अन्त्यन्तरवस्तुषु यम इवम् इति संज्ञस्य संज्ञानाश्रयमसंस्कारादिष्वपरिग्रहः सः तत्र येनच मनसि निरुद्धमनं छादोचनं भवति तेषु मनोऽभिकार्यं कर्मविशिष्टमर्थः ॥४३२॥ आह्वयपरिग्रहान् श्रुत्वा चट्ट-शेष एतस्योत्पत्तिरिति चार्थः आह्वयं आह्वयिणीत्यादिभ्यः कर्मणि कृत्वा वास्तु गच्छेत् नृप्यं लीय-कल्पित-कोटयः चरन्नादि । धर्म्यं धर्म्या आसने पीठमन्त्रादिभ्यः कृत्वा शमीशायम् वधरः मोमहिषारवः आर्षं भावनाति । इति आह्वय इष्ट परिग्रहाः ॥४३३॥ अन्त्यन्तरपरिग्रहाः—अभिध्यास्या इति—अभिध्यात्वेन अनन्तरवस्तुनात्रेण सहित्वा भवो वेदाः स्त्रीवैशः पुष्पेभ्यः सह रमणादिभावाः नावीमुत्पद्यते । पुष्पवैशः नार्थः सह रमणादिभावाः नृपये । नृपुंसकवैश उभयोः रमणामिभावाः । आह्वयारवः यत् हास्यं रतिः कर्तव्यं सौतः भयम् पुपुष्या । चत्वारव कपायाः क्रोध मान-माया-क्रोधाः । इति अन्तःपरिग्रहाः चतुर्थेऽंशः । अन्तर्ग्रह्या अपि चत्वारः । अन्तः आत्मनि यै संस्कारः प्रप्यते वचने ते ग्रह्याः राग-द्वेष-लोभ-मोहादयः परिचामविधिषां ते चारमण्येव संभवन्ति ॥४३४॥ आह्वयपरिग्रहपरिग्रहवर्णनम्—चेतनेति—आह्वये स्वस्माद् धिमेषु चनेषु गो मक्षिप-युक्त-कलत्रादिषु बाधिताः एका आह्वयनेनपरिग्रह मभिमुक्तायपुद्गादिषु अचेतनेषु बाधितं द्वितीयं अचेतनं आह्वयं परिग्रह इति आह्वयचेतनाचेतनगदाभासकते आह्वयपरिग्रहैविध्यम् । परं मन्त्रहेत्वाध्यायध्वं संस्कारकारणा यै मिथ्यात्वाविरत्यायव आसदा चैतन्यकरा परिचामां ते आसदा आचारः सत्यं च अन्तःपरिग्रहः एक एव । क्वाचिमेवाद् द्विविधतन्म अन्तःपरिग्रहस्य निगवत्त्वाचायां विध्यावशोपार्थम् ॥४३५॥ घनायेति—वशाया घनाभिभावा तया भाविद्धं हृदीना व्याकुलमदीनां तराणा मनोरथाः अजना घनरहिता भवन्ति । हि यस्मात्कारणात् अजर्मास्मारम्भा यो तद्विषयं वामभुक्तं न भवति । अर्थः प्रयोजनं यस्या विवर्तिता सा हिता अर्थक्रिया न अर्थक्रिया अर्थक्रिया अजर्मास्मारम्भा अजर्मास्मारम्भा आत्मनो यस्यां सा यो मतिः तद्विषयं यर्थाविषयं घनाविषयं कामभुक्तं न भवति कामान् इष्टाभिस्त-विताम् न नृपये । इच्छया मनोरथैर्घनाणि न अज्यन्ते । अन्तःप्राप्तिकारणम् अन्तरायकर्मणां धर्मोपसमीक्ष्यामि इति मत्वा अर्थाभ्यामं न कर्तव्यम् ॥४३६॥ सहेति—सह भुगन्तुं समकक्षीनां संभूति आत्मना सह अन्तः अन्तः एव वेदोऽपि यत्र आचरतः मितः न तत्र इत्यन्तराकारैरेव इत्यं वनम् आरकं भुतं वाप्य पत्नी एतेषु महात्मनां नि स्नुहाणां का आत्मा कः प्रयत्नः ॥४३७॥ स इति—यः कर्माणि वानपूजनादिकावनि घनायम अन्तःप्राप्तिं न विनश्येत् नोप्युद्गते तथा गोपाकः घनायमं नोप्युद्गते तस्य स विच्छेद एवाभावस्तदनवत् ॥४३८॥ प्राप्ते इति—ये अने प्राप्य कर्म न मायन्ति न भविष्यो भवन्ति । ये प्राप्तिस्पृहाकर्म न भवन्ति । अन्तःप्राप्ये न स्पृहन्ति च त एव महात्मानः लोकादभाविता इष्टपरमोच्चपुण्यमधितायाः समीक्षा परमेश्वरा भवन्ति । अपर्युक्ता एव महात्मानः इष्टोक्तं चक्षुःश्रित्तिर्धर्म्यं अमर्त्यं वरकोके स्वर्गादी इष्टाविभूतिं च प्राप्नुवन्ति । ॥४३९॥ चित्तस्मेति । हे चित्तं हे मनः चित्तस्य अमर्त्यं चित्तायाम् अविच्छेदायाम् एतन् पापान् परम् अमर्त्यं कर्म क्षामो न । हि यत् चित्तमिहैतत् अस्मान्ते अविषये विमलममामास्य प्रयत्नमास्य नरस्य चित्तस्य वा वेषेणा दुःखालम्बम् अमर्त्यं कर्म न भवति ॥४४०॥ निर्वर्णस्य भुक्तं घनतीति मिथिलनोति—अन्तर्ग्रहं अन्तर्ग्रहं । परिग्रहे रागादौ । भविष्यति परिग्रहे मभिमुक्तादिके । यद्यपि मानसं हि तन्मं अनाद्यकं भवति । ॥ अन्त्यन्तःप्राप्त्यसंघट्टं अर्थाभ्यामुद्गच्छं नरः सर्वं भुक्तम् अमर्त्यं कर्मते ॥४४१॥

[पू० २०५] आह्वयेति—आह्वये मभिमुक्तादिषु पुनःफलदायिके च । त्वे परिग्रहे । रते जायते । पुंति पुंत्वे । चित्तविमुक्ता मनोवैमर्त्यं भुतं कर्म स्यात् । बहिः सत्तुये धाम्ये आह्वये सत्तुये अन्तः मभिमुक्ता अन्तर्निर्मलता दुर्कता भवति ॥४४२॥ संस्थाप्रेति—यः पुण्यं सत्तुये रत्नचयवति भुक्तो धावके च विनि योयो अन्तर्निर्मलता अर्थाभ्यामुद्गच्छं नरः सर्वं भुक्तम् अमर्त्यं कर्मते ॥४४३॥ परिग्रहमपानाभुक्तताति प्रसर्पति—हृयेति—हृयं प्रमानं परिमाणं यद्यपि तस्यात् घनात् । कोमेन अविचर्यग्रहं अविचरनसंघट्टं यद्यपि भवति स नृपमिहना चम्प

माणुत्रयानि पञ्चमाणुत्रयानि करोति ॥४४८॥ अग्निम् द्वन्द्वद्वयेऽपि उभयपरिग्रहेऽपि यस्य देहिनि शरीरिण । मन निस्पृह वर्तते । स पुरुष स्वर्गापवर्गलक्ष्मोणा पक्षे क्षणान् दक्षते चतुरो भवति । नि स्पृहचित्तस्य नरस्य स्वर्गापवर्गलक्ष्मोणा प्राप्तिर्भवति ॥४४९॥ अत्यर्थम्—अतिशयेन अर्थकाक्षाया धनाभिलाषाया नृणाम् अधोऽसचित पापसमूहसंभूतम् । चेन मनागवर्तवर्तन भवस्य आवर्तं गतं तत्र वर्तं वर्तनं गच्छतीति ममारावर्तवर्तनम् । भवगर्तं भ्रमणवत् भवति जायते ॥४४६॥

[पृष्ठ २०४-२०७] धूपनामत्र परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—गाञ्वालदेशेषु त्रिदशेति—त्रिदशाना दशाना निवेश निवाग स्वर्गं तत्र अनुकूले मुग्जनके उपशत्ये ममोपे । काम्पित्ये तन्नामके नगरे रत्नप्रभो नाम नृपति । कथभूत स । निजेति—स्वधोप्रभावधिकृतादेवगुरुप्रज्ञ । अस्य मणिकुण्डला नाम महादेवी कथभूता सा । आत्मीयेति—आत्मन इमी आत्मीयो तो च तो कपोली गण्डी तयो कान्तिर्द्युति तया विजित पराभूतम् अमृतमरोचं सुधाकरस्य चन्द्रस्य मण्डलं ययेति । अस्य नृपस्य सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी । कथभूत स । कुलेति—कुलं व्रज तस्य क्रम परम्परा तस्मात् आगत प्राप्तम् आत्मोपाजिन च स्वेन सपादित च अमित विपुल वित्तं यस्य न । सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी । गृहस्य श्रीरिव रमा यया धनश्रीर्नामास्य भार्या । सूनु पुत्र अनयो धनश्रीसागरदत्तयो सुदत्तो नाम । कथभूत स । न्यायादनपेतो न्याय्य स चासौ अर्थ न्याय्यार्थ स्वामिमिश्रविश्वनिर्द्रोहवञ्चनादिकविग्रहित अर्थ न्याय्यार्थ तस्योपाजने एक चित्त तत्पर मनो यस्य स सुदत्तो नाम सूनु पुत्र । स सागरदत्त कथभूत । महालोभेति—महालोभ एव विभावनुरग्नि तेन ज्वलत् दहत् चित्तस्य मनस भित्तम् अगो यस्य स सागरदत्त । पुरुषेति—अनेकपूर्व-पुरुषक्रमेणागताया मुवर्णकोटे, स्वयं नपादितार्थकोटे स्वामी भवन्नपि शालीयादिभक्तभोजने कलमा-द्यन्नभुक्तो द्वयो तुपयो त्वचो अपनोतिर्हानिर्भवति । द्वावनाश्राणाकृतिश्च द्वौ तुपो अनाश्राणाकृती च अग्निजलमयोगेनापि अपक्वावम्यावेव तिष्ठन् । शाकानां पाकविधाने अग्निना पक्ववरकरणे मभारादिकृतिश्च तल्लवणक्रियाया तन्मूलानां शाकानाडिकाना कठिनावयवानां च अपनयनं क्रियते, प्रमथ यथेष्टम् अम्यवहृतिश्च भक्षणं च भवति । घातपूराः घातिकाख्या भक्ष्यविशेषा, पूरिमा पोलिका, वेष्टिमावेष्टनाकारा ('जिलेवी' इति भाषायाम्) एतेषां भक्ष्याणाम् उपक्षेपे ग्रहणे भक्षणे वा महती महान् स्नेहापहति घृततैलादिविनाश स्यात् इत्यनाना काण्डानां विरति हानिर्भवति । दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे भक्षणे कृते विक्रयं कर्तुं न शक्यते 'यत्तु सन्नेहमजलं मयितं घोलमुच्यते' न च तत्र कडङ्गारायेति भक्ष्यविशेषाय तत्क्रम्यापि उपयोगो न भवेत् । इति मन्यमान विमर्शं कुर्वन् स्वयमेव प्रतिदिवसबृद्धिग्रहाणाय प्रतिदिनम् अवर्मणात् कुसीदग्रहाणाय ध्वजलोकापादेकं ध्वजलोकास्तैलिका तेषां पाटके गृहपङ्क्तौ विहरमाणं गच्छन् प्रतिपत्प्रिययन्त्रमुपमृत्य तिलतुदयन्त्राणां समीपं स्थित्वा वा सुरभि सुगन्धिं खलु एष खलं पिण्याकं सजात इति सस्मेरं स्मितं कृत्वा व्याहरन् ब्रुवाण, गृहीतपिण्डखण्डं स्वीकृतपिण्याकशकलं, प्रत्यवमानसमये भोजनवेलायां तद्गन्धम् आजिघ्नं सन् सर्वजनत्यक्तम्, अतीतकालमर्यादं जीर्णमित्यर्थं अतिक्रान्तसमर्थम् अतीव सुलभं दन्तिरेणापि प्राप्यम्, अकण्डितमेव च स्थालीविलीयं स्थालीनिहितं तदीदनादिकं शीघ्रं पक्वं भवति तत् केवलम् अवन्तिमोमेन सह काञ्जिकया सह अयं सागरदत्त आहृतिं भक्षयति । अत एव अस्य महामोहसवदस्य पिण्याकगन्धं इति नाम जगति पप्रये, प्रसिद्धं बभूव । 'मुखामोदमात्रेण च प्रयोजनम् । तदलं ताग्वूलार्थम् अर्थव्ययेन, धनत्यागेन' । इति विचिन्त्य विष्णुतत्त्वचं वृक्षविशेषस्य या त्वक् तस्यां कालवल्लीदलोत्तरास्वादरुचं पिप्पलच्छल्ली वावचीपत्राणां च पञ्चाङ्गोजनेन रुक् रुचिर्यामा विष्णुतत्त्वचं तां कवलयति भक्षयति । अर्वाङ्गाणोदरं परिवार ऊनभोजनं गृह्यवर्गं कदाचिदपि देहे हृदये वा न मनागपि विकुरुते आलस्ययुक्तो न भवति । इति मत्वा न कमप्यूर्वपूरं पूरयति । कुक्षिपूरणमात्रम् अन्नं कस्यापि न ददाति । प्रतिचारकाश्च स्वभृत्याश्च एव शिक्षयति उपदिशति—'न तैलार्थं लवणार्थं वित्तं व्ययितव्यम्' किं तु कार्पाषणं मापं चादाय कार्पाषणं कपिकाख्यं पणाख्यं वा नाणकम् आदाय तथा मापं चादाय गृहीत्वा यत्र तैलादिकं मीयते तद्भाण्डं चादाय आपणं विपणिं उपढीक्य गत्वा तद्भुज्यं गृहीत्वा पुनरिदं मायुं न भवति इति समर्थयन्नापणिकायं तत्र मापे भाण्डे किञ्चित्लग्नम् आयाति

२४. स्नानविधिरिति चतुर्विंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणत्रयार्णवनानां शिक्षायां विधायनं प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—
 आदाविति—आदौ नामायिकं कर्म, द्वितीया प्रांगघोपागनक्रिया, त्रैव्यायनियमस्तृतीया शिक्षाव्रतम्, दानं
 चतुर्थं शिक्षाव्रतम् । शिष्याय अन्यत्रान्नं व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिननाम्नानोपगन्वात् । गुणव्रतं हि प्रायो
 यावज्ज विक्रमात् । अपरा शिष्या विनोपादानम्, शिष्याप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम् । नामायिकदेविप्रतिष्ठुतज्ञान-
 परिणतत्वेनैव निर्वाहः ॥४५९॥ नामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशं नमयं स्यात् तत्र
 नमयानिना आप्तसेवोपदेशाभिधायिना श्रावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्तन्नामायिकम् ऊचिरे । यं सर्वज्ञं सर्व-
 बोधेशं सर्वदापरिचयिनं सर्वमस्त्विति तच्च नम् आप्तमाह—अपि आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम् । तस्याप्तस्यैव
 पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्त्वपार्चानुतिजया तन्नामायिकमूचिरे उच्यते ॥४६०॥ आप्तभावेऽपि
 तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति । आप्तेति—आप्तस्य अर्हतात्मेष्ठिनं अनग्निदानेऽपि अविश्रमानेऽपि,
 तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति । नृपानामाह—तादर्थ्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्यां गरुडस्य मानिव्ये अविद्य-
 मानेऽपि विषमामध्यस्य भृच्छामृतादेः मूदनं विनाशनं हि न कुर्यात् अपि तु कुर्यादिव । अर्हदाकृतिं शान्ताम्
 आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शनी नृपश्च भगिनस्तप्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने
 शुद्धिद्वयस्वावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभमकम्पांस्त्वस्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय,
 विधिस्तु शीव-स्नान-दत्तधावनादिक्रिया इति शुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात् । आद्या अन्तःशुद्धिं
 दोषित्यनिर्मोक्षान् पापमकम्पस्यागात् । अगा बहिःशुद्धिः स्नानाद् भवति । स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥
 स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—संभोगायेति—अन्नादिभक्षणं संभोगं तदर्थं स्नानं कर्तव्यम् ।
 विगृह्यथं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविगृह्यथं च स्नानं मनम् । यत्र यस्मिन् स्नाने । अमुत्र परलोके स्वर्गादौ
 उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकं क्रियते तस्मान्न धर्माय स्मृतम् । गृहस्थयत्यो स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥
 नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजा न कुर्यात्
 बहिःशुद्धेरभावात् । सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम् । यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जना कापालिकात्रेयोचाण्डा-
 लशबरादयः तेषाम्पर्शात् यते स्नानं भवति । एषा स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र
 कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादौति—भूरितोये त्रिपुलजले वातातपादिसम्पृष्टे प्रवहता वायुना
 सर्वतः स्पृष्टे । आतपेन नूयकिरणं मथतः स्पृष्टे । अपनीतगैत्ये जलाशये तडागादौ । अवगाह्य अन्तःप्रविश्य
 स्नानम् आचरेत् । उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलं
 वाससा तेन स्नानमाचरेत् । अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति । पर-
 वातातपादिसम्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥
 स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपवणी, कटि श्रोणि, ग्रीवा
 कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषा पञ्चानां पर्यन्तस्य सश्रयं अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं
 तद्यथादोषम् । दोषमनुसृत्य । शरीरिणा नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—
 ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण श्रोमभोगवजनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः । पुनः कथं भूतस्य ।
 निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य । यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं शिष्येकेन
 केनापि स्नानेन आचरितेन न ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत् । अन्यस्य श्रम्यारम्भसेवासकिलस्य गृहिण-
 अन्यतद्द्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरस्नानं च ताम्बा स शुद्धं देवपूजा कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण मन्त्रोऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरवक्त्रातिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन - श्रीसोमदेव-
 सूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजविरचिते यशस्तिलकापगनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिनिर्मिते सप्तम-
 आध्याये ।”

६३ गुणप्रत्ययसूत्राणां नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१०] दिगिति—सङ्गि सङ्गमै गङ्गाधरैवादिभिः सागारमतिपु अकारम सङ्गित

॥रा ते च ते यथयथ साधारयथम् गृहे स्थित्वा अहिंसाविषु एकदेशेन यतनत्वात् ध्यायन् साधारयथम् प्राच्यन्ते॥ तसु हिंसा विरति रैशाना विरति अनर्थदण्डानां च विरति इति श्रित्याभ्यां दिग्देशानर्थदण्डानां श्रितस्त्व ध्यायन् आनारमृतं गुणवत्तयम् स्मृतम् किम्प्यो विरतिः किम्प्यम् येक्षेय्या विरतिः ऐश्वर्यम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डम् ॥४४८॥ शिखरैश्वर्ये भ्यावते—सर्वान् हिंसु पूर्वादिषु वक्षु हिंसु एतस्यां वस्तु- विहितं मम ह्यस्येव ह्यस्योन्नतीसाविपरिमाणा गतिगमनम् इति मर्मात् इत्या ततो बाह्ये ममम नैवेति शिखरम् । तथा च त्रिभिरेषु सर्वेषु अद्यत्वाध्वरेषु हिंसाप्रतेषु रेषु गुहादिषु पर्वतपिण्डेषु च मम ह्यस्यमाधा वतिरिति ऐश्वर्यम् ॥४४९॥ विगृह्यति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन हिंसा रैशानां च नियमात् अन्ते ततो बाह्येषु वस्तुषु मानोपमायादिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्ते कोमनिवृत्ते योयादिनिवृत्तव च श्रितमन्त्रा मतोनिवृत्त- मवति ॥४५॥

[illegible]

इत्युक्तं यथाऽप्यवधे गृह्ययनत्रयमृचो नाम त्रयविंशत्ययनं चरतः ॥३३॥

१. अथ ब्रह्मविष्णुशङ्कराभ्याम् सत्याय आराधनं उपायम् इति— इति भक्तमार्गविश्वामोहबुद्धिमय

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तरं शिक्षाप्रदानं प्रवर्तते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—
 आद्याविति—आद्यो सामायिकं तर्पणं, द्वितीया प्रोपप्रोपासनक्रिया, मेघ्यार्थनियमस्तृतीया शिक्षाप्रतम्, दानं
 चतुर्थं शिक्षाप्रतम् । शिक्षार्थं जम्पायाय प्रदानं शिक्षाप्रतानि, पतिदिवसाभ्युपनिषत्प्राप्तात् । गुणव्रतं हि प्रायो
 पावज्जैविकमाहुः । अथवा शिक्षा विशेषोपादानम्, निष्ठाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम् । सामायिकादेर्विधिप्रभुतज्ञान-
 परिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशं समयं स्यात् तत्र
 समयायिना आप्तमेवोपदेशाभिधापिणा भावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे । य सर्वज्ञ सर्व-
 लोकेश सर्वदोषविवर्जित सर्वमस्त्वहितं च तम् आप्तमाहुः इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम् । तस्याप्तस्य सेवा
 पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनग्नपनाचार्यश्रुतिजपा तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि
 तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति । आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्त्वमेष्टितं अमन्निधानेऽपि अविग्रमानेऽपि,
 तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति । दृष्टान्तमाह—तादर्थ्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्या गरुडस्य सान्निध्ये अविद्य-
 मानेऽपि विषयमार्थस्य भूच्छाम्भवादे नूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव । अर्हदाकृतिं शान्ताम्
 आत्मध्यानमुद्राप्रदक्षिणो दृष्ट्वा मन्त्रित्वात् तत्रैव पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने
 शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्नःशुद्धिमिति—अन्नं शुद्धिं विधाय अशुभमकल्पान्मुक्त्वैत्यर्थः, वहि शुद्धिं विधाय,
 विनिवृत्तं शौच-स्नान-दन्तधावनादिक्रिया वहि शुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात् । आद्या अन्तं शुद्धिं
 दौर्धित्यनिर्मादं पापसंकल्पन्यागात् । अन्ता वहि शुद्धिं स्नानाद् भवति । स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥
 स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—सभोगायेति—अन्नादिभक्षणं सभोगं तदर्थं स्नानं कर्तव्यम् ।
 विशुद्धयर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्धयर्थं च स्नानं मतम् । यत्र यस्मिन् स्नाने । अमुत्र परलोके स्वर्गादौ
 उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकं क्रियते तत्स्नानं धर्माय न्यूनम् । गृहस्थयस्यो स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥
 नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजा न कुर्यात्
 वहि शुद्धेरभावात् । सा च अन्तं शुद्धेरपि निमित्तम् । यत्तेस्तु दुर्जनस्पर्शास्नानम्, दुर्जना कापालिकाश्रेयोचाण्डा-
 लगवरादयः तेषां स्पर्शात् यत् स्नानं भवति । एषा स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र
 कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिर्मस्पृष्टे प्रवहता वायुना
 सर्वं स्पृष्टे । आतपेन सूर्यकिरणं मर्शत स्पृष्टे । अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ । अवगाह्य अन्तःप्रविश्य
 स्नानम् आचरेत् । उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन
 वाससा तेन स्नानमाचरेत् । अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने वहि शुद्धिर्न भवति । परं
 वातातपादिसस्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं वहि शुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥
 स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणी, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटि श्रोणि, ग्रीवः
 कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषा पञ्चानां पर्यन्तस्य सशयं अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं
 तद्यथादोषम् । दोषमनुसृत्य । शरीरिणा नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—
 ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण श्रोमभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः । पुनः कथंभूतस्य
 निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य । यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन
 केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत् । अन्यस्य श्यारम्भसेवासकिलस्य गृहिणः
 अन्यं तद्वद्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरस्नानं च ताभ्यां स शुद्धं देवपूजा कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

श्रीमन्नेमिदेवमगवन् शिक्षयेत् सशोऽनवद्यग्नपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिक्षण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेव
 सूरिणा विरचिते यशोवर्ममहाराजचरिते यशस्तिलकापग्नान्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचित्तामणिर्नाम सप्त
 आक्षवाम् ।”

२३ गुणप्रत्ययसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः करूपः

[पृष्ठ १०] दिगिति—सङ्गः सङ्गमौ गणवरदेवादिभिः सागारयतिषु मगारेषु सङ्गिता

तारा तं च ते मयमवच सागारयतम् गृहे स्थित्वा अहिम्रादिषु एकदेशेन यतनत्वात् यावत् सागारयतवा
प्रोक्ष्यन्ते। तेषु दिक्षा विरतिः वैशाली विरतिः अनर्थवशात्ता न विरति इति भित्त्याद्यर्थविशेषानर्थवशात्ता भित्त्या
मायमम् आचारमूर्तं गुणप्रत्ययं स्मृतम् हिम्यो विरतिः दिग्घटम् देवोष्वा विरतिः देसघटम्, अनर्थवशेष्मौ
विरतिः अनर्थवशेष्मौ ॥४४८॥ विघटवशेष्मते व्याचष्टे—सर्वास्तु दिक्षु पूर्वादिषु दक्षिण दिक्षु एतस्यां कस्यां
चिदिदि मम इत्येव इत्येवोष्वादिपरिभाषा पठितममम् इति यथावा दूरता ततो बाह्ये वनम् नैवति
विघटम् । तथा च निक्षिप्तेषु सर्वेषु अत्र-प्रोक्ष्येदेतेषु भिन्नोपदेतेषु देसेषु पुष्पादिषु वर्षतपिद्वारेषु च मम इत्यपमाया
पठितरिति देसघटम् ॥४४९॥ दिग्दृशति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिक्षां देशानां च निवभात् अत्र च ततो बाह्येषु
वस्तुषु नागोपमोपादिषु वस्तुषु द्विषादिषु चोन्मिषत्त धानादिनिवत्तद्वत् चित्तमन्त्रना मनोनिवत्
भवति ॥४५॥

[पृष्ठ २११ २१२] रक्षामिति—इदं गुणप्रत्ययं प्रत्ययेन द्विष्टाद्यनुष्ठतपाठनपूर्वकं रक्षन् गृही
गृहस्य यत्र यत्र मूत्रेन स्वयोवी वा उपपाक्यते उत्पद्यते तत्र तत्र आलेख्यते कथेत प्राञ्जुवात् ॥४५१॥ आश्रयि—
पृथीतस्य वैदगुहममर्तं स्वीकृतस्य आद्याप्रमाणस्य आद्यानां पूर्वादीनां रक्षता विद्या प्रमाणस्य इत्युक्तायाः व्यति-
क्रमात् रक्षकश्चनत् देसघटी अनुष्ठती गृहस्य प्रायश्चित्तसमाभयः प्रायश्चित्तस्य विषयः प्रच्येत नवेत् ।
यथा कोमाविना यहीतविश्वतस्य गृहीतवैदगुणप्रत्ययस्य पुष्टिः तत्प्रमाणाया उत्सर्जनं स्यात् तथा प्रमाणापिद्वारे
उत्सर्जनमस्याम प्रायश्चित्तं तैम समाचक्षम् । तथा कृते एति बापपिद्वारां मरेत् प्रतीत्यर्थेन नामत ॥४५२॥
द्विष्टाङ्गोति—विश्वगो ममूतः कुलकुलस्ताम्रपूः वनेनः सघातन विद्यालो माज्जर व्यालः सप वम्
नकुल विप गरत्तम् कष्टकानि सक्षम् जलिः नवा प्रतोह पावरो वासं रक्षन् ॥४५३॥ पापाश्रया-
नेति—पापाश्रयानं पापोपदेसः द्विष्टाङ्ग्याविश्वयाः अशुभम्यामन् आतरोत्रविश्वम् हिष्टा द्विष्टायां
विपाश्रयाविद्विष्टाकारभागां वानम्, द्विष्टा वान्नीशारिकम् । वृथाक्रिया पूर्वाश्रयमन् वातव्याघातः अजिद्विष्टा-
पनम् अजिद्विष्टाविकम् । वनस्पतीनां कक्षाविकम् एते सर्वे अनर्थवशास्त्याज्या । परोपपायः परंवाम् उत्ताप
पीडनम् वैद्यु र्थं परोक्षं मित्राकरवम्, शोक अनुपाह्वयसंज्ञविश्वेदे वैश्वस्यविश्वेपाः शोक आक्रान्ता परिताप
जानाभूरातप्रचुरविश्वयाविश्विर्विश्वतज्जन्मनाक्रान्तम् । अर्थ एतेषां करवम् ०ते धनचरव्यहेतवो भवन्ति ॥४५४॥
प्रवेति—यत्र दण्डकछायेवादिधिः अमिवात प्राविताम् । अम्यतम्—रक्षयाविनिर्धनं यैनामिमठरति
विरोधः । सरोधः—रोधनम् एते अम्येयि च ईदव्या अनर्थवशात्ता अम्यन्ति सत्परायः संसाराः उत्स्य प्रथम
कृत्यम् ॥४५५॥ पोपपमिति—कूरसत्त्वानां बीजमनीमाना माज्जरीदीन्याम् पोपनम् । द्विष्टोपकरत्रिषाम्
द्विष्टायां उपकरनामा विपयस्यालोना क्रिया करवम् । देसघटी गुणप्रत्ययकः आनक नचमूत स्वकीयेति
स्वकीयावच त आचारा अहिष्टाद्युपेता यावत्आचाराः तै चार्त्तं गुह्यता तया मुक्ता धर्मोद्विर्त्यम् ॥४५६॥ अनर्थ
वशव्यावस्य फलम्—अनर्थवशविमोधात् स्वस्य स्वकीयजनानां वा सरीरवाहमप्रयोजनाद्विना अत्र अत्र
अनर्थं तद्विपयकाः अनुप्रमनोवाचकायाः परपीडाकरव्याह्वया इव वश्या तेषां विमोदित्युत् त्पनात् । देष्टवो वति
आनक सचमूतपु मुह्यता मिश्रव्य तेषां मृताणां पु नागुत्पत्तमिषापम् । स्वामित्थ च प्रपद्ये समते ॥४५७॥
अनर्थवशव्यादनाद्याय का क्रिया आह—अक्रान्तेति—अक्रान्ता परप्रयत्नम्, आरम्भो बीजपीडाह्वेगुह्यात् ।
द्विष्टा च एतेषाम् उपदेसं इत्या एतेषु वज्जनादिषु अम्येपा प्रवर्तनम् । माराजिव्यं प्रमाणादिरिक्तमाराधोपनम् ।
अधिष्ठनकेसः तिरस्का येन केसः स्वात्तत्कार्यकरं एज्जाविना वन्यम् अशाद्यमानम् आदिषु एता क्रिया
तुनीबनुगहानये भवन्ति ॥४५८॥

इत्युवासकाध्ययने गुणप्रत्ययसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः करूपः ॥३९॥

१ अत्र यद्यस्ति लक्षणम्पुष्पाभ्यस्य सप्तम आचारास समाप्यते यथा— इति सप्तकटादिबलोकपुष्पाभ्ये

३४. स्नानविधिर्नाम चतुर्विंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणत्रयवर्णनानन्तर शिक्षाव्रतानि प्रथमं प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—

आद्याचिनि—आदौ सामायिकं कर्म, द्वितीया प्रोपद्योपामनक्रिया, त्रैव्यायनियमस्तृतीय शिक्षाव्रतम्, दानं चतुर्थं शिक्षाव्रतम् । शिक्षाव्रतं त्रैव्यायनं त्रयानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसमाभ्यसनीयत्वात् । गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाह । अथवा शिक्षा त्रयोपादानम्, शिक्षाप्रधानं त्रयं शिक्षाव्रतम् । सामायिकादेर्विधिप्रभुतज्ञान-परिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥८५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसंबोधेन समयं स्यात् तत्र समयार्थिना आप्तसंबोधेनाभिधापिणा भावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे । यं सर्वज्ञं सर्व-लोकेशं सर्वदापयिवज्जिनं सर्वगत्यद्विगतञ्च तम् आप्तमाह इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम् । तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चान्भुतिजपा तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयन्ति । आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्त्वमेष्टितं अमन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति । दृष्टान्तमाह—तादर्थ्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्यां गरुडस्य मानिव्ये अविद्यमानेऽपि विपसामध्येस्य भूर्छामूत्रादेर्भूदनं विनाजनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव । अर्हदाकृतिं शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनो दृष्ट्वा भक्तिरुत्पद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्वावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अगुभ्रमकल्पाग्नयत्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय, विधिवत् शीघ्रं स्नान-दन्तधावनादिक्रिया बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात् । आद्या अन्तःशुद्धिं दक्षिणनिर्मोदात् पापसकल्पात्यागात् । अग्या बहिःशुद्धिं स्नानाद् भवति । स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यन्ति ॥४६२॥ स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—संभोगायेति—अन्नादिभक्षणं संभोगं तदर्थं स्नानं कर्तव्यम् । विगुह्यर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविगुह्यर्थं च स्नानं मनम् । यत्र यस्मिन् स्नाने । अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधिः दानत्रयपूजाभिषेकादिकं क्रियते तत्स्नानं धर्माय स्मृतम् । गृहस्थयत्यो स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥ नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजा न कुर्यात् बहिःशुद्धेरभावात् । सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम् । यत्तेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जनां कापालिकात्रेयोचाण्डालश्वरादयः तेषां स्पर्शात् यत् स्नानं भवति । एषा स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगृहीतं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसम्पृष्टे प्रवहता वायुना सर्वतः स्पृष्टे । आतपेन सूर्यकिरणे सर्वतः स्पृष्टे । अपनीतगत्ये जलाशये तडागादौ । अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत् । उपर्युन्नतविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दूढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत् । अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कुनेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति । परं वातातपादिसम्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणी, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटि श्रोणि, श्रोत्रा कण्ठ, शिरो मस्तकम्, एषा पञ्चानां पर्यन्तस्य सश्रयं अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तद्यथादोषम् । दोषमनुमृत्य । शरीरिणा नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसंभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः । पुनः कथं भूतस्य । निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरक्तस्य । यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन केनापि स्नानेन आचरितेन न ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत् । अन्यस्य स्थारम्भमेवासकिलस्य गृहिणः अन्त्ये तद्द्वयं स्नानं मतं श्रोत्रास्नानं शिरस्नानं च ताम्यां स शुद्धं देवपूजा कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

श्रीमन्नेमिदेवमगवन् शिक्ष्येण सत्रोऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवचरणकमलेन श्रीसोमदेव-सूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तमः आश्वासः ।”

२३ गुणव्रतत्रयसूत्राणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कस्याः

[पृष्ठ २१०] विगिति—सङ्गि सपत्नी यमपदवादिभिः साधारमतिषु अनारम सहि

पारा ते च ते यतयश्च साधारयतय गृहे स्विता अहिषादिषु एकदेशेन यतनत्वात् पावक साधारयतया प्रोच्यन्ते । तेषु विद्याविरतिः वेद्यानां विरतिः अनवश्यानां च विरतिः इति चित्तवाधयविशेषानुसंधानात् चित्तवय आधयम् साधारयतं गुणव्रतयं स्मृतम् विगम्यो विरतिः विगम्यतम् वेद्येभ्यो विरतिः वसप्रतम्, अनवश्याभ्यो विरतिः अनवश्याव्रतम् ॥४४८॥ विगम्यतवेद्यप्रते व्याप्य—सर्वान् विष्णु पूर्वादिषु वद्यन् विष्णु एतत्सो वस्यो विहिषि मम इत्येष इयथाजनकोपाविपरिमाणा गतिगमनम् इति मर्यादा कृत्वा ततो बाह्ये वननं नैवेति चिन्तनम् । तथा च निक्षिपेयु सर्वेषु अत्र-प्राग्भवेसु विगम्यप्रतेषु वेद्येषु गुणादिषु पर्वतधिहारेषु च मम इत्यन्वया पतिरिति वसव्रतम् ॥४४९॥ विगम्यति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन विद्यां वेद्यानां च नियमात् अवश्यं ततो बाह्ये वस्तुषु मांसांशोपादिषु वस्तुषु हिंसानिषुते कोमनिषुते योगादिनिषेधेन चित्तवयमा ममोनिषेधः भवति ॥४५०॥

[पृष्ठ २११-२१२] रक्षमिति—इयं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नत आहिषाद्यनुव्रतपावनपूर्वकं रक्षन् गृहे गृहस्य यत्र यत्र भूमे स्वर्गादी वा वपकास्ते उत्पद्यते तत्र तत्र आर्जवस्यं कमेत प्राप्नुमात् ॥४५१॥ आसेति—गृहीतस्य वेद्यवृत्तमनं स्वीकृतस्य आद्याप्रमाणस्य आद्यानां पूर्वाद्यानां वद्यानां विद्या प्रमाणस्य व्रतपायाः अति क्रमात् उत्कृष्टव्रतात् वेद्यव्रती अनुव्रती गृहस्य प्रायश्चित्तसमाधयः प्रायश्चित्तस्य विषयः प्रमाणेन नक्ष् । यथा लोमादिना गृहीतविद्यतस्य गृहीतवेद्यगुणव्रतस्य गृहिणः तन्मर्यादाया वस्यधनं स्यात् तथा प्रमादपरिहारे तद्वर्तननस्त्वाय प्रायश्चित्तं तेन समाधयम् । तथा कृत् सति शोपपरिहारे मनेत् व्रतीत्यपराधं भावेति ॥४५२॥ निरुपगच्छेति—विद्यया मयूः कुक्कुटस्ताम्रचूडः श्वेतः पञ्चाङ्गनः विद्यायो मार्जारः, व्याधः सर्पः वसु मकुलः विषं गरलम् कष्टकानि घातम् अग्निः कपा प्रतोहः पाशयो बालं रज्जु ॥४५३॥ पापावसां नेति—पापावसानं पापोपवेशः हिंसाकृत्त्याविरंभवः अधुमध्यानम् आतरीद्रविकल्पम् हिंसा हिंसाघातं विदास्वाविहिंसाकारणां हानम् शीघ्रा वक्रशीघ्राविकम् । वृत्ताविद्या पृथ्वीजननम् वातव्यावातं अग्निविद्या पतम्, अन्तेधनाविकम् । वनस्पतीनां धेयाविकम् एते सच अनपराधस्तस्याभ्याः । परोपपापः परोपात् उपपापं पीडनम् पैयं परोक्तं निन्दाकरम्, धोकः अनुपाहकसंभवविषये वैकल्पविरोधः धोकः आह्वयः पतितापः आतापुरातप्रचुराविकापाविमिष्यक्तज्जनमाह्वयम् । अयं एतेषां करणम् एते अनपराधहेतवो भवन्ति ॥४५४॥ वसति—यत्र वस्यकृत्त्यावेवादिभिः अविघातं प्राप्तिनाम् । वस्यतम्—रक्षणादिमिर्जनं वेनामिममपति- विरोधः । शरीरः—शेषनम् एते अयं प्रियं च ईदृशां अनवश्याक्या भवन्ति सावयः संसारं तस्य प्रवर्ध नत्वात् ॥४५५॥ पोषणमिति—कूटवत्यानां बीजजनबीजानां मार्जारबीजानां पोषणम् । हिंसाकरणाविद्या हिंसाया उपकरणानां निषेधस्त्यागो विद्या करणम् । वेद्यव्रती गुणव्रतपावनः पावकः कर्मसूत स्वकीयेति स्वकीयावश्च आचारः अहिंसाकुपेता आनकाचारा ते आर्षी भुवरा तथा मुक्ता धौर्गदिस्य ॥४५६॥ अनव श्यत्यावस्य कर्म—अनवश्यामिगोहात् स्वस्य स्वकीयजनानां वा शरीरवाहननपरोपजनानां हिंसा अन्तः अन्तः तद्विषयः अधुममनोवाक्यायाः परपीडाकरणाद्व्याध इव वस्य तेषां निर्मोहात् त्यागात् । वेद्यो वसि पावकः नवमृगपु गृह्णी निषय तेषां मृताणां पुण्यानुत्तरनिष्ठापम् । स्वामित्वा च प्रपद्यते व्रतते ॥४५७॥ अनवश्यावसागतायाय का क्रिया आह—अज्ञानेति—अवचना परप्रकारम्, आरभ्यो बीजपीडाहेतुव्यापारः । हिंसा च एतेषां अपराधं कृत्वा एतेषु वस्यतादिषु जन्तेषां प्रयत्नम् । आराधितं प्रमादातिरिक्तभाराशेषम् । अविद्वत्तेषां निरवका येन कतेषां स्यात्तत्कार्णकरं रज्ज्यादिना वस्यतम् असाधवतम् आविद्यम् एतां क्रियां नृपयोगुणदानये भवन्ति ॥४५८॥

इत्युपासकाध्यक्षने गुणव्रतत्रयसूत्राणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कस्याः ॥२३॥

१ मय ययतिस्तत्र चपुकाभ्यां तत्तत्र भावनाय समायते मया— इति सप्तम्यारिपकावचाने

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तर शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—
 आढाविति—प्राची नामायिक कर्म, द्वितीया प्रोपधोपासनक्रिया, मेव्यार्थनिगमस्तृतीय शिक्षाव्रतम्, दान
 चतुर्थं शिक्षाव्रतम् । शिष्यारं अस्यास्य व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसाम्बमनोयत्वात् । गुणव्रतं हि प्रायो
 पावर्जज्विकमाह । जयवा शिक्षा त्रयोपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम् । सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञान-
 परिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ नामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तमेवोपदेश समय स्यात् तत्र
 समयायिना आप्तमेवोपदेशाभिलाषिणा याचकाणा नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिनम् ऊचिरे । य सर्वज्ञ सर्व-
 लोकेन सर्वदोषविराजितं परमस्वहिनश्च नम् आप्तमाह इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम् । तस्याप्तस्य मेवा
 पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्मरणाचरन्नुतिजया तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्त ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि
 तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति । आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्त्वमेष्ठितं भगवन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि,
 तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति । दृष्टानमाह—तादर्थ्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्या गरुडस्य नानिध्ये अविद्य-
 मानेऽपि विषमामध्येस्य मूर्च्छामूद्राद नृदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव । अर्हदाकृतिं शान्ताम्
 आत्मव्यानमुद्राप्रदगिनो दृष्ट्वा भवितुस्तत्प्रते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने
 गुह्यद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभमकल्पान्मुक्त्वैत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय,
 विधिवत् शौच-स्नान-दत्तघादनादिक्रिया बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदव्यात् कुर्यात् । आद्या अन्तःशुद्धिं
 दोषचित्यनिर्माणात् पापमरुत्पत्यानात् । अस्या बहिःशुद्धिं स्नानाद् भवति । स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥
 स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—सभोगायेति—अन्नादिभक्षणं सभोगं तदर्थं स्नानं कर्तव्यम् ।
 विशुद्धयर्थं शरीरनिर्मलत्वात् परिणामविशुद्धयर्थं च स्नानं मनम् । यत्र यस्मिन् स्नाने । अमुत्र परलोके स्वर्गादौ
 उचितो विधिः दानव्रतपूजामिषेकादिकं क्रियते तस्मान्न घर्माय स्मृतम् । गृहस्थयत्यो स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥
 नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजा न कुर्यात्
 बहिःशुद्धेरभावात् । ना च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम् । यतस्तु दुर्जनस्पर्शास्नानम्, दुर्जना कापालिकात्रेयीचाण्डा-
 लश्वरादयः तेषाम्पर्शात् यत् स्नानं भवति । एषा स्पर्शभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र
 कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादौति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसम्पृष्टे प्रवहता वायुना
 सर्वतः स्पृष्टे । आतपेन सूर्यकिरणे सर्वतः स्पृष्टे । अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ । अवगाह्य अन्तःप्रविश्य
 स्नानम् आचरेत् । उपयुक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन
 वाससा तेन स्नानमाचरेत् । अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति । पर
 वातातपादिसम्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥
 स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटि श्रोणि, गोदा
 कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषा पञ्चानां पर्यन्तस्य सश्रयं अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं
 तद्यथादोषम् । दोषमनुसृत्य । शरीरिणा नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—
 ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीमभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः । पुनः कथंभूतस्य ।
 निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविस्तृतस्य । यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं शिखरेकेन
 केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत् । अन्यस्य स्थारम्भमेवासंविष्टस्य गृहिणः
 अन्यं तद्द्वयं स्नानं मतं श्रोत्रस्नानं शिरस्नानं च ताम्या स शुद्धं देवपूजा कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

श्रीमन्मेमिदेवमगवन् शिष्येण मन्त्रोऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिशुण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन - श्रीसोमदेव-
 सूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये मन्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तमं
 आश्वाम ।"

३३ गुणप्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमा कल्पः

[पृष्ठ २१०] विगिति—सर्गात् सञ्जने गणवरवेवादिभि सागारयतिषु अकारेण ध्विगा

॥१॥ त च ते मयवच सागारयतम् गृहे स्थित्वा अहिंसाविषु एकदैतेन यतनत्वात् आचक्रा सागारयतम्
प्रोचयन्ते। तपु विद्या विरति वैद्यानां विरति अनर्थव्यवधाना च विरति इति पितृयाचयं विन्नेऽनर्थव्यवधानां प्रितुस्य
आभयम् सागारयतं गुणप्रतत्रयं स्मृतम् विगित्यो विरतिः विगित्यम् वसेय्या विरतिः वैद्यवतम्, अनर्थव्यवधानो
विरतिः अनवरणव्यवधानम् ॥१४८॥ विगितवैद्यवते व्याचष्टे—सर्वांस्तु विषु पूर्वाविषु दण्डु विषु, एतस्यां वस्यं-
विहिंसि मम इत्यस्यैव इत्यथावक्तव्येऽपि परिभाषा मयिममम् इति मयिवा कृत्वा ततो बाह्ये ममनं नीति
विगितम् । तथा च निमित्तेषु सर्वेषु अथ प्राप्तेरित्येतेषु निम्नोक्ततेषु देहेषु गुणाविषु पर्वतध्विरेषु च मम इत्यत्रमात्रा
मतिरिति देवपतम् ॥१४९॥ विगित्येति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन विद्या वैद्यानां च नियमात् अथ ततो बाह्ये
वस्तुषु भोग्याभोग्याविषु वस्तुषु हिंसानिवृत्तं लोभनिवृत्तं भोवादिनिवृत्तं चित्तमग्न्या मनोनिवृत्तं
मतिरिति ॥१५०॥

[पृष्ठ २११-२१२] रक्षामिति—इदं गुणप्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसाद्युक्तपञ्चपाकनपूर्वकं रद्यां वृष्टे
गृह्णन् धनं च नृपै स्वर्गो वा उपवाये चत्तयत तत्र तत्र आश्रित्यैव जनेत प्राप्नुयात् ॥१५१॥ आश्रयेति—
पुत्रीनस्य देवपुत्रमनां स्त्रीकृतस्य आयाप्रमाणाच्च आयातां पूर्वावीनां वद्यानां विद्या प्रमाणाच्च इत्याद्याः अहिं-
साम् उत्सृष्टमनां वैद्यवती अनुजती गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाधयः प्रायश्चित्तसमाधयः विद्यया प्रजायेत वसेत् ।
यदा लोभादिना यदोद्विग्नस्य भूयो वैद्यपुत्रवतस्य गृहस्थः तन्मयाद्याया वसन्तं रद्यात् तदा प्रमाणापरिहारात्
तद्वदनेर्मस्याय प्रायश्चित्तं तेन समाचयम् । तथा कृते सति दोषपरिहारे भवेत् सतीर्कपरिहारात् जनेत ॥१५२॥
सिद्धिपञ्चाति—गिरिणी मयूरः कुम्भट्टस्तपस्वः इत्यनः पाञ्चजन्यं विद्यालो माकूरः व्यासः सर्वं वस्तु
तदुक्तं विष मरुतम् कर्णकाणि ध्वजम्, अग्निः कथा प्रलोभः पाञ्चको कालं रज्जु ॥१५३॥ पापाद्वय-
निति—पापाद्वयानं पापाद्वयस्य विद्याद्वयवित्तं अथ अनुमध्यातम् आचरौद्रविकल्पम् हिंसा विद्यात्मानं
विद्यात्माविहिंसाकारमानां क्षान्तम्, शीघ्रं जलशोकादिकम् । कृत्वादिनां पृथ्वीधनम् वातव्यापातं अग्निविष्मा-
पनम् जलमेवादिहम् । वनस्पतानां पेडादिकम्, एते स च जलवद्व्यास्त्यापना । परोपदायः परेभ्यः उपनायः
पीडनम् पैम्यं पराणां निम्बाकरम् लोकं अनुपाहृष्टं कर्णविधौरे वैकुण्ठविधौरे लोकं आकृष्टः परितोष
जानादुपगतप्रवरित्वादिभिर्मयं कर्णवदनमाकृष्टम् । अथ एतेषां वस्तुषु एते अथर्वद्वयहेतवो वस्तुषु ॥१५४॥
धयेति—अथ दण्डवत्सावेवादिभिः अग्निपात्रं प्राणिनाम् । अथयन्तम्—रज्ज्वादिनिर्वाचनं वेनाभिमतवसि-
विद्या । तदायः—रोषयन् एते अथर्वेति च ईश्याः अनवरणव्याख्या मयति सागरायः संसारः तस्य प्रवर्त-
वर्याम् ॥१५५॥ पापजमिति—शूरसत्त्वानां जीवन्मयीयानां मार्जनीयानाम् रोषयन् । शिरोपरमशिवान्
शिवाया उपहरमाना विपयसनादीनां शिवा वरयन् । रेतवतीं युध्दप्रपाकः आचक्रा वसन्तम्, रक्षयिषेति
स्वरोपायस्य ते आचारा अहिंसायुगेना आचकाराः ते चार्वा गुप्तरा तया युगा धीर्गुर्दिस्य ॥१५६॥ अथर्व-
वद्व्यापनस्य धनम्—अनर्थव्यवधानोपायान् स्वयं स्वकीयजनानां वा शरीरवाग्मनादयोजनानिवा ज्ञानं अथ
आयः मयिपयः अनुमयमोशवायाः पृथीह वरवाह्या इव वरवा तया निर्मोद्यात् रद्याम् । देवतां क्षि-
पाद्वं गवभूतान् नृपानां विषयं तेषां भूतानां कुम्भानुरवज्जिज्ञायम् । रक्षयिष्य च प्रयत्ने समर्थ ॥१५७॥
अनवरणव्यवधानाद्यो वा शिवा आह—अथयनिति—अथयना वरप्रकारम् आरम्भा जीवन्मयीयानाम्
दिना च तनेनाम् उपदेष्टुं ह्वा एतेन वरव्यापितुं अर्थानां प्रयत्नम् । माराविषयं प्रमाणाभिरिकामारादोषम् ।
अपिद्वयेन विरथां वेन वनेषाः स्थापत्यार्थकत्वं रज्ज्वादिना वस्तुषु अथयदानम् मारिष्यम् एषा शिवा
नृपैयुगानाम् मयि ॥१५८॥

इ नृनामहाप्यथय गुणप्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमा कल्पः ॥३३॥

१ अथ यतिरिष्यवस्तुवाग्यम तपस्य आचारा तदाप्यने अथा— इति तद्व्यापित्वोपदेष्टव्यमे

२४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणत्रयवर्णनानन्तरं शिक्षाव्रतानि धर्म्मन्ने प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—
 आवाचिनि—प्राची सामायिक कर्म, द्वितीया प्रोपधोपासनक्रिया, त्रैव्यार्थनियमस्तृतीय शिक्षाव्रतम्, दान
 चतुर्थं शिक्षाव्रतम् । शिक्षारे अस्याप्यत्रानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसाम्भसनोयत्वात् । गुणव्रतं हि प्रायो
 यावज्जिविकमाह । अथवा शिक्षा प्रोपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम् । सामायिकादेरितिष्ठभुतज्ञान-
 परिणतत्वेनैव निर्वाह्यन्तात् ॥४५९॥ तामायिकमाह—आप्तमेवेति—आप्तसेवोपदेशं नमय म्यात् तत्र
 नमसाधिना आप्तसेवोपदेशाभिन्नापिना आचाराणां नियुक्त्वं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे । यं सर्वज्ञ सर्व-
 लोकेश सर्वदोषविचरितं तर्धमस्त्यजितश्च नम् आप्तमाह इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम् । तस्याप्तस्य सेवा
 पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनाचिन्तुतिजपा तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्त ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि
 तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयन्ति । आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्त्वमेष्ठितं अग्निसिद्धानेऽपि अविद्यमानेऽपि,
 तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति । दृष्टान्तमाह—तादर्थ्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्या गरुडस्य सानिध्ये अविद्य-
 मानेऽपि विषमामृत्यस्य मृच्छामृत्यादेः नूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव । अर्हदाकृतिं शान्ताम्
 आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शनीं दृष्ट्वा भविनरूपयते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने
 शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभमकल्पान्मुत्स्येत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय,
 धिनिवृत्तं शीघ्र-स्नान-व्रतधावनदिक्रिया बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात् । आद्या अन्तःशुद्धिं
 दौर्धित्यनिर्मोक्षात् पापनरूपत्यागात् । अन्या बहिःशुद्धिं स्नानाद् भवति । स्नानभेदान् अग्रे वदयन्ति ॥४६२॥
 स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—संभोगायेति—अन्नादिभक्षणं संभोगं तदर्थं स्नानं कर्तव्यम् ।
 विशुद्धधर्मं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्धधर्मं च स्नानं मनम् । यत्र यस्मिन् स्नाने । अमुत्र परलोके स्वर्गादौ
 उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकं क्रियते तस्नानं धर्माय स्मृतम् । गृहस्थयत्यो स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥
 नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजाम्बोकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृहो देवपूजा न कुर्यात्
 बहिःशुद्धेरभावात् । सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम् । यतस्तु दुर्जनस्पृशस्नानम्, दुर्जना कापालिकाप्रेयोचाण्डा-
 लशबरादयः तेषाम्भ्यात् यतः स्नानं भवति । एषा स्पृशाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र
 कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपाद्रीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसम्पृष्टे प्रवहता वायुना
 सर्वतः स्पृष्टे । आतपेन सूर्यकिरणे सर्वतः स्पृष्टे । अपनोतशैत्ये जलाशये तडागादौ । अवगाह्य अन्तःप्रविश्य
 स्नानम् आचरेत् । उपयुक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जले गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन
 वासना तेन स्नानमाचरेत् । अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति । परं
 वातातपादिसम्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥
 स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणौ, कटिं श्रोणि, श्रोत्रा
 कण्ठं, धिरो मस्तकम्, एषा पञ्चानां पर्यन्तस्य सशय अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं
 तद्यथादोषम् । दोषमनुमुत्स्य । शरीरिणा नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाविकारिणो विशिनष्टि—
 ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीममोगवर्जनेन उपपन्नस्य युवतस्य ब्रह्मचारिणः । पुनः कथंभूतस्य ।
 निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्णादिकर्मविस्तृतस्य । यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन
 केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत् । अन्यस्य स्थारम्भमेवासकिलेष्टस्य गृहिणः
 अन्त्यं तद्द्वयं स्नानं मतं श्रोत्रास्नानं शिरस्नानं च ताभ्यां स शुद्धं देवपूजा कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

श्रीमन्नेमिदेवमगवन्. शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेव-
 मूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये मच्चरित्रचिन्तामणिनामि सप्तम
 आश्वास ।”

३४ स्नानविधिर्नाम चतुर्विंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्जनानन्तरं शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—
 आद्याविति—आदौ नागादिकं कर्म, त्रितीया प्रोषप्रोषामनक्रिया, मेघ्यार्थनियममन्तृनीय शिक्षाव्रतम्, दानं
 चतुर्थं शिक्षाव्रतम् । शिक्षार्थं वन्त्याय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसाम्भसनोयन्वात् । गुणव्रतं हि प्रायो
 यावज्जं विकमाह । अथवा पिता पित्रोपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम् । नागादिकादेर्विनिष्ठभुतज्ञान-
 परिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ नागादिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशं समयं स्यात् तत्र
 नमसाभिना आप्तसेवोपदेशाभिधापिना भावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्तामायिकम् ऊचिरे । यं नर्वज्जं सर्व-
 लोकेन सर्वदोषविजितं सर्वमस्त्वहितं च तम् आप्तमाह इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम् । तस्याप्तस्य सेव्या
 पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चामनुतिजपा तत्तामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्तभावेऽपि
 तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति । आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्वरूपेष्ठितं अनविधानेऽपि अविद्यमानेऽपि,
 तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति । दृष्टान्तमाह—तार्क्ष्यमुद्रा गरुटमुद्रा यस्यां गरुडस्य मानस्ये अविद्य-
 मानेऽपि विषमामर्थस्य भूच्छामृतादेः मूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्वदिव । अर्हदाकृतिं शान्ताम्
 आत्मप्यानमुद्राप्रदग्निनी दृष्ट्वा भित्तिरत्ताद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवनाचने
 शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अगुभमकल्पान्मुक्त्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय,
 विधिवत् शौचं स्नान-दत्तधानादिक्रिया बहिःशुद्धिं च विधाय देवताचने विदध्यात् कुर्यात् । आद्या अन्तःशुद्धिं
 दौर्धित्यनिर्मादात् पापमकल्पत्यागात् । अग्रा बहिःशुद्धिं स्नानाद् भवति । स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥
 स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—सभोगायेति—अन्नादिभक्षणं सभोगं तदर्थं स्नानं वर्तव्यम् ।
 विशुद्धपर्यं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्धयर्थं च स्नानं मनम् । यत्र यस्मिन् स्नाने । अमुत्र परलोके स्वर्गादी
 उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकं क्रियते तत्स्नानं वर्मायं स्मृतम् । गृहस्थयत्यो स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥
 नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजा न कुर्यात्
 बहिःशुद्धेरभावात् । सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम् । यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जना कापालिकायेद्योचाण्डा-
 लशवरादयः तेषाम्भावात् यते स्नानं भवति । एषा स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विग्रहितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र
 कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिमस्पृष्टे प्रवहना वायुना
 सर्वतः स्पृष्टे । आतपेन सूर्यकिरणे सर्वतः स्पृष्टे । अपनीतशेत्ये जलाशये तडागादौ । अवगाह्य अन्तःप्रविश्य
 स्नानम् आचरेत् । उपर्युक्ताविनिष्ठजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन
 वाससा तेन स्नानमाचरेत् । अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति । पर
 वातातपादिसंपृष्ट जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥
 स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनौ ऊरुपर्वणौ, कटि श्रोणिः, श्रोत्रा
 कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषा पञ्चानां पर्यन्तस्य सश्रयं अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं
 तद्यथादोषम् । दोषमनुमृत्य । शरीरिणा नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—
 ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण श्रोत्रमभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः । पुनः कथं भूतस्य ।
 निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य । यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन
 केनापि स्नानेन आचरितेन न ब्रह्मचारी देशार्चनाधिकारी भवेत् । अन्यस्य स्थारम्भसेवामविलम्ब्य गृहिणः
 अन्त्यं तद्वद्वयं स्नानं मतं श्रोत्रास्नानं शिरस्नानं च ताभ्यां न शुद्धं देवपूजा कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

श्रीमन्नेमिदेवमगवतः । शिष्येण मन्त्रोऽनवद्यगद्यविद्यावरचक्रातिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रोत्रोमदेव-
 मूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तमः
 आश्वासः ।”

संनिपत्य बह्विधोत्पादकता—सर्वेति—एवं च त आरम्भा सेवाकृपिकानिष्पाद्य तदा विमुक्तं
 विमुक्तं प्रवृत्तिरस्य पुनः कथंभूतस्य । बह्विधस्यास्य बह्विति त्यजति इति विदुः बहुष्वेभ्यः त्यक्तस्य स्थित्वा
 इत्येवमुक्तस्य नि पाठः । एतादृशो देहिना त्रिभूतभाषकस्य बह्विधुत्तम् अभिनाय बह्वृत्ता भाषोपास्यधिकारिता
 न । वैवायुभाषिकारा नास्ति ॥४६८॥ अद्विरिति—अद्विः अद्विः दुष्टि निपद्यन् स्नातम् अनुक्तम् इत्यर्थः
 मन्त्रभाषणस्य मन्त्रोच्चारणेनैव तदर्थः न बह्वृत्तारी भुक्त्वा भोजनं कुर्यात् तदोपपत्तिद्वाराय मन्त्रम् उच्चार्य
 मुष्टिभाषणमिति कृत्वा मन्त्रमुक्तं कृत्वा मन्त्रं मुष्टिपाठः । विद्वत्स्य च विद्वारं कृत्वा स्वाध्यायाद्यर्थे पुष्पादिमन्त्रोप
 गतवृत्तस्य मन्त्रे पाठ्यमन्त्रादिषु श्रीवचने सति पञ्चमपुष्पमन्त्रीर्यानिधयमुष्टि कुपत मुष्टिर्मन्त्रेति न तस्य बलमुद्ये
 यवस्मरता ॥४६९॥ बह्विध्यादिकराणि वस्तूनि—मुष्टस्त्वयेति—प्रथस्ता मुष्टिस्थाने स्थिता पुनपुनरुत्तमो-
 पेता मृत्तिका मृत्स्वोत्पत्तेः तया । इत्युक्ता इत्यमरकण्ठेन । धम्मता भोमपेन बोदिता । तावन्धीर्षं दुष्टि कुम्भं
 पावपिर्मकता इत्यादि स्वात् । एवं विद्वद्विद्वत्कारिणा मुनिनासि विवेका । या स्नानमुष्टि सा कदा विवेकेति
 वस्तुमेव ॥४७०॥ विद्वत्स्य भावतस्य वस्तुना च मुष्टिः—बह्विरिति—बाह्यरूपे विद्वत्स्य वत्ता पुनः संशय
 भागतः वनाचम्य आचमनम् बह्वृत्ता एव न त्रिविधेत् । आचम्य वस्त्राद्यन् विचारं कृत्वा मृद्वपेयः कथम् ।
 तदा स्वाध्यायान्तरम् अभ्यस्य इमान् स्वाध्यायान्तरम् अभ्यस्यामग्राहैः भागत् सर्वं वस्तु वस्तुकाधिकं प्रोक्षितं यजेत
 प्रविश्य आचरेत् धेनेन ॥४७१॥ कर्त्तव्यं सत्येवार्थमिति कुम्भं—आप्सुत इति—आ समन्तात् प्लुतं
 वक्ष्यमपाह्य स्नात । संकल्पः सम्यक् प्लुत संस्नातः । स्वाध्यायविधानो विनियुतिः मगता मुष्टिवासा च
 मृद्वपेयमप्यजेत च विनियुतः शोभितः । भोजनेन संयमेन इन्द्रियगणित्वमप्युपकन च संयमः परिपूषः मृद्वी देशार्थ-
 नादिभिः कुम्भं ॥४७२॥ द्युतधावनेति—वस्तुना वाचनं वस्तुवाचनं वस्तुप्रसाधनं तेन मुष्टम् आस्यं मुक्तं मन्त्र
 च । मुष्टवातोविधानेन वदनवाससा कथमुक्त । अथवाताप्यसंशयं न संशयः अभ्यस्यमानां वरनातजनानां तदर्थं
 स्वर्गः वस्य स । मृद्वी देशम् वक्ष्यते मृद्वयेत् ॥४७३॥ होमेति—मोक्षनायक होमः मूनवक्षिच एतौ द्वौ
 विधी पूर्वं प्राचोत्तमूर्ध्वि च वस्तुविद्युत्तमे अन्नविद्युत्तमे वक्ष्यी । मुक्तेः मोक्षस्व जातो प्रारम्भे तक्षिणम्
 आचमनम्, सर्पिः पूनम्, ऊषस्यम् ऊषसि मन्त्रम् ऊषस्यं वात्सलीशूत्रं पुष्पमिति । एतेषां देवानं रक्षावत् ।
 इत्यदिभ्यामभिविधानाद्यम् । होमेन वैवाको तर्पणं मयति । अन्नदानेन भूतानां प्राणिनां तर्पणं स्वात् ॥४७४॥
 एतद्विधिरिति—एव विधिः होममूलकवर्धनविधिः न वक्ष्यते न पुण्याय । न च तद्विधौ तस्य अक्षिना
 बह्वरम् अपर्यायं अपुण्याय कथम् । वस्तुपुण्यादिषु वस्तुपुण्याद्यतोषवन्त्यादिविधानं यथा कृतं न वक्ष्यते ।
 अह्नं वा अचम्य न मयति । वक्ष्यी लोकाप्यवहारे पुत्रायां च पुत्राः वक्ष्यन्ते । आनवादी अग्निभ्यास्त्वेन भूमि
 द्युतौ च तूपयोपकरवचनात् । पुत्राद्युक्तानां विधिवाचिज्जनानां अग्निपरिणामादुत्तरात् धर्महेतुत्वमपि
 विवेकम् । बह्वृत्तारिभ्यः कदाचीनां तदभावेऽपि भाषपूजनं यजेततो भाषवर्षाणि ॥४७५॥ द्वौ इति—द्वौ वरपूज
 मृद्वरमाता द्वौ वक्ष्यी लोकादि कंके यवः लोकादि इत्यलोकादिशब्दौ वक्ष्यं । वरपूजम् लोके यवः पारलोकादिः ।
 भाष लोकादि वक्ष्यः लोकाययः अग्निः । होमो मूनवक्षि वस्तुपुण्यादिवर्धनं च लोकादि वक्ष्यं । पर पार
 लोकादिः आनवाद्ययः आनवाचारः विनायमयोक्ता ॥४७६॥

[पृष्ठ-२१६] आनयः इति—मर्षा आनयः अनायः आनायवर्धनविधायः । विदेहोवादेतया एता
 आनयः अनायः । तत्र भुक्तिप्रीत्यानां आनयान् अष्टोत्तरं । तद्विद्युत्तमोवादेतया चतुर्वर्धनं मुष्टिवाकोवादी
 आनीनां मन्त्रवत्तान् नास्ति तदनायम् । अत्र तद्विद्युत्तमोवादि तत्वाविधा अनायः । भुक्तिः वेदः शास्त्रान्तरं वा
 अन्त्या धारणं मृदादिर्धनं प्रपायः यजन्तु अथ नः अयमाह वा तद्विद्युत्तम् ॥ लोकायवर्धनी धर्मः वाः पुत्री स्वनी
 योक्ता नः न आनयवर्धनानुष्ठानानुपपादेन प्रमाणात् ॥ ४७७ ॥ औपवर्धनविधिः आनयविधा
 प्रमायेन—इत्युक्त्यादेति—विद्युत्तमोवादी इत्युक्त्यादेव इत्ययं आनयः अन्त्या एव विद्युत्तमोवादी विधानां
 वक्ष्यीनां आनय-तद्विधौ विधी तद्विद्युत्तमोवादी वक्ष्यन्ते-दीप्त्याव-कर्त्तव्यवर्धनानां विधीनां आनीनां
 औपवर्धनविधिः विनायमयोक्ता आचारः वर्धनार्थं कथ्यते । यदा इत्युक्त्यादेव इत्ययमर्थः निर्धनयः कश्चिन्मुष्टो
 रत्नाय इत्ये तद्विद्युत्तमोवादी आनयवर्धनविधिः रत्नदायवर्धनं वर्धनार्थं कथ्यते अत्र तद्वत् ॥ ४७८ ॥

श्रुतिस्मृत्योरप्रामाण्यं कथमिति चेदाह—यदिति—यत् यस्मात् । तत्र श्रुतिस्मृत्योः, भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधो दुर्लभा । भवे समारे भ्रान्ति भ्रमण तस्या निर्मुक्ति पृथग्भवन तस्या. हेतुधो उपायज्ञान कारणज्ञान दुर्लभ नितराम् अप्राप्यम् । समारमुक्त्युपायज्ञान श्रुतिस्मृत्योर्नास्त्येवातस्ते न प्रमाणे । ससारव्यवहारे तयोः प्रामाण्य-मस्तु इति चेन्न, यत ससारव्यवहारे स्वत सिद्धे सति तत्र आगम वृथा । बाह्यशुद्ध्यादयो ये आचारा ते यावन्त सम्यक्त्वव्रतानुपघातहेतवस्तावन्त प्रमाण तेष्वेव श्रुतिस्मृत्योः प्रामाण्यं जैनैर्मन्यते ॥ ४७९ ॥ तथा च—सर्व एवेति—यत्र यस्मिन् लौकिके विधौ होमभूतवत्यतिथिसत्कारादौ सम्यक्त्वहानि सम्यग्दर्शनस्य विनाशो न स्यात् यत्र च व्रतदूषणम् अहिंसादिव्रतेषु दूषणम् उपघात न स्यात् । स सर्व एव लौकिको विधि जैनानां प्रमाणम् । श्रुतिस्मृत्योः प्राणिवधो यज्ञेऽवघत्वेन प्रतिपादितः । तदाचरणम् अहिंसाव्रतोपघाताय भवेत् अतः स लौकिको विधिर्न प्रमाण सम्यक्त्वव्रतविधातकत्वात् । ये च प्राणिवधयज्ञसमा अन्येऽपि लौकिका विषय-सम्यक्त्वव्रतविधातकृत सन्ति ते सर्वेऽपि वर्ज्या एव ॥ ४८० ॥

इत्युपासकाध्ययने न्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥ ३४ ॥

३५ समयसारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१७-२१८] द्वये देवसेवाधिकृता सकल्पिताप्तपूजापरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च । देवेति वीज्यते स्तूयते इन्द्रादिभिरिति देव परमात्मा तस्य सेवा पूजाभिपेक्षस्तुतिवन्दना तामु अधिकृता अधिकारिण । द्वये श्रावका सन्ति । संकल्पिताप्तेति—दलफलोत्पलादिषु अयं जिन इति सकल्पित आप्त तस्य पूजा-परिग्रह येषां ते प्रथमे श्रावका । कृतप्रतिमापरिग्रहा अपरे श्रावका । इति श्रावकभेदौ द्वौ । स सकल्पोऽपि दल पत्र फल पूगीफलादिकम्, उत्पल कमलम्, आदिशब्देन कमलबीजादिकम्, तेषु यथा आप्तसकल्प क्रियते तथा समयान्तर वैदिकसमयादिकं तत्प्रतिमासु हरिहरादिषु न विधेयः । यतः—शुद्धे इति—यथा कन्याजने शुद्ध-त्वात् इमां कन्याम् अहं तुभ्यं ददामि धर्मे चार्थे च कामे च नातिचर इति सकल्पेन कन्याप्रदानं क्रियते । तत्र च कन्याया त्वमस्य भार्या भवेति सकल्प देवान्निसाक्षिकः क्रियते । स च कन्याजने एव कर्तुम् उचितं पूर्वं तादृक्-सकल्पस्याकृतत्वात् । परपरिग्रहे परकीयभार्याया सकल्पं कर्तुं नोचितो यथा, तथा आकारान्तरसक्रान्ते हरिहरादि-प्रतिमां रूपे अयं जिन इति सकल्पकरणं नोचितमिति भावः ॥ ४८१ ॥ तत्र प्रथमं प्रति समयसमाचारं सकल्पिता-प्तमाचारविधिम् अभिधास्याम कथयिष्याम । तथाहि—अर्हन्नतनुरिति—अर्हन् जिनेश्वर, अतनु सिद्ध, मध्ये भूर्जफलकसिचयादीनां मध्यभागे स्थाप्यौ । तयोर्दक्षिणतः सव्यभागे गणधर आचार्य, पश्चात् वामभागे श्रुतगी उपाध्यायपरमेष्ठौ श्रुत द्वादशाङ्गात्मक श्रुतज्ञान गिरि वाण्या यस्य सः । तदनु तदनन्तरं साधु परमेष्ठौ । पुरोऽपि च द्गवगमवृत्तानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्थाप्यानि । एतेऽर्हदादयः भूर्जे भूर्जपत्रे, फलके दारुपट्टके, सिचये वस्त्रे, शिलातले समतलपाषाणे, संकृते सिकताभिर्निमिते स्थण्डिले, क्षितौ भूमितले, व्योम्नि आकाशे, हृदये चेति समयसमाचारवेदिभिः नित्यं स्थाप्या । संकल्पसमाचारस्य ज्ञातृभिः सदा स्थाप्या ॥ ४८२-४८३ ॥ एव स्थापनाकरणानन्तरं पञ्चपरमेष्ठिना रत्नत्रयस्य चाष्टप्रकारेण पूजनवर्णनं क्रमशः क्रियते । प्रथमं तावत् अर्हत्परमेष्ठिपूजनं विव्रियते तद्यथा—रत्नत्रयेति—रत्नत्रयेण पुरस्कार अग्रतः करणं पूजनं येषां ते रत्नत्रयपुर-स्कारा रत्नत्रयेण पूजनीया पञ्चापि परमेष्ठिनः परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनः । अर्हत्सिद्धा-चार्योपाध्यायसाधवः । कथंभूता भुवनेन्दव त्रिजगच्चन्द्रा, भव्यरत्नाकरानन्द भव्या रत्नाकरा इव समुद्रा इव तेषाम् आनन्दम् आह्लादं कुर्वन्तु जनयन्तु ॥ ४८४ ॥ ॐ निखिलेति—निखिलेति, परानपेक्षेति अनेकानि विशेष-णानि अर्हत्परमेष्ठिनो विशेष्यस्य, अतः तानि क्रमशो विव्रियन्ते । रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनः अष्टतयीमिष्टम् अष्टविधा पूजा जल-गन्धाक्षत-पुष्पा-नैवेद्य-दीप-चूप-फलैः अष्टप्रकारैर्द्रव्यैः पूजा करोमि इति स्वाहा । कथंभूतस्य पूजा करोमि निखिलेति—निखिलाश्च ते भुवनपतयः सकलजगत्स्वामिनः अधोलोकस्य घरणेन्द्र प्रभुः मध्यलोकस्य नरलोकस्य चक्रवर्ती । ऊर्ध्वलोकस्य सौधमैन्द्रादयोऽधिपतयः । ते विहिता कृता

निरतिशया नितराम् अतिशयो माहात्म्यं यामु ताः सपत्नी पूजा तासां परंपरा पञ्चकस्यापूजा यस्य स
 तस्येति भावः । परानपेक्षेति—पराभि इतिशयोक्तिः आलोकाः ज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमश्च पराभि तेषाम् अनपेक्ष-
 यत्वासी पर्यायश्च पूर्वपरमात्मवासत्वा तस्या प्रकृतं जातं सकलमस्तुसमुद्भूतीत्याय शोचनमिव नम्रमिव यत् केवल
 ज्ञानं तदेव साक्षात् तस्य साक्षात्कृत्यानि अभिज्ञानरूपाणि यानि पञ्चमहाकृत्यानि यम-जयम-वीर्य-केवल-निर्वा-
 णाद्यानि । अष्टपद्मातिशयोक्तिः च अष्टोक्तशुभ्यवृद्धि-दिग्बन्धनि-नामर रत्नासु-आमन्त्र-शुभु-अष्टपद्माभि
 जयमजातरक्षादिशया । देवकृताश्चतुर्वर्गादिशया । केवलज्ञानसंज्ञाता दशातिसप्तत्यत्र एतद्वस्तुनिष्ठसहितस्यै
 विराजितस्य एतेऽतिशयास्तीर्यहो विमुक्त्य अर्थश्च अकृत्याविधिषि नोपक्रम्यते । पुनः कर्ममृतस्य ब्रह्मेति ।
 पोडसाधेति—पोडसस्य अर्थम् अष्टौ कलशानां सहस्रं कलशसहस्रं पोडसाधेन सहितं सप्तसहस्रं तेन
 अद्भुतम् कर्मसिद्धिं विषयेदेहस्य माहात्म्यं प्रमादो यस्य तस्य । ब्रह्मेति हि विधाभिस्तथाविमिरप्रतिहतवरीरा-
 धातुर्गम्यादिविरहितदेहा नत एव तेषां दिव्यदेहस्यम् । ब्रह्मज्ञेति—विश्वकृताविभिर्निर्गन्तुम्यादयो ज्ञातव्याः
 तेषां प्रमुखा श्रेष्ठा मयचरैश्च ब्रह्ममुनयः तेषां मनःप्रणिधानं चित्तकायं तेन सनिधीकृत्यम् आरोज्यमात्रं
 परमेस्वर इति परमवर्चस इति माम्नां सहस्रं यस्य । पुनः कर्ममृतस्य—विरहितेति—अरिर्भोग्यं कर्म ।
 रजसी ज्ञानवचनावरणे । रजः अन्तरायं कर्म । एवम्यी जाता ये मीहाज्ञानादयः कुहकमात्रा निष्कामावा वै
 विरहिता नष्टा अरिरजोह्य कुहकमात्रा यस्य तस्य । पुनः कर्ममृतस्य समससरजेति—समससरसं
 केवलज्ञानविनिर्गम्यमस्तु सद्बोधोपपत्ती इत्यनिमिषा रत्नसया समससरणम् तदैव चर तत्र वनतीत्यम् उद्भूतम्
 ज्ञानं ज्ञानतमयेव पुण्डरीकस्य कर्मकर्मस्य तस्य (विज्ञानस्य) मार्तण्डमण्डलस्यैव मुख्यस्यैव । पुनः कर्ममृतस्य
 दुष्पारेति—दुष्प्राप्यं वारं परतीरं यस्य स आनन्दमयीभावः अन्तरायाः स एव अक्षनिधिः तत्र निमग्नो
 कुहलो ये अन्धः तेषां जातं समुद्रं तस्य इत्याचलम् इव परमायमं यस्य तस्य । पुनः कर्ममृतस्य मर्ति-
 भरेति—मर्तेर्पुणानुपयस्य मर्तो जार तेन चिन्ता नष्टा विहरण्यौ पाकवतीति विह्वलवीणाया वै इन्द्रवर्ये
 मृगज्ज्वलिते तेषां मीढमः किरीटाणि तेषां मययः रत्नाणि तेषां प्रभा कान्ति तस्या आनन्दो विस्तारः स एव
 नमः तत्र विमुग्ममात्रा अरचयो पादयोः नष्टा एव नष्टायाभि तेषां निरुक्तं समुद्रो यस्य । पुनः कर्ममृतस्य
 सरस्वतीति—सरस्वत्या पारवायाः सकाशात् सरस्व बाष्पितकर्मस्य प्रसादः शान्तपुण्ड्रः उत्करये विमानये
 विस्तारलस्यैव । पुनः कर्ममृतस्य । स्रग्मतीति—अरिरेव श्रीरेव कटा तस्या निर्यतो पुद्गल आद्यमन्त्रस्य
 कर्तव्यस्यैव पुनः कर्ममृतस्य । कीर्तीति—कीर्तिरेव गोविन्दा अस्या वीर्या गोविन्दा वस्तिवा तस्या प्रवर्धने
 कामधेनोरिव । अक्षीपीति—अक्षीविनरकविषये तस्य परिचयः संपत्तिः तस्य धनौकारकरणम् अरारारकरं
 विनायकरं तस्मिन् अनिधानमानस्यस्य 'अमी अरिहृताय' इति अर्थस्य प्रमादो यस्येति । सौभाग्येति—
 सौभाग्यस्य दानमायवत्तयाः हीरकस्य मुग्धस्य हीरकने ज्ञाने पारिजातपुष्पमुद्भवस्य । पुनः कर्ममृतस्य ।
 स्त्रीकप्येति—श्रीकप्यस्य क्षान्तिर्धनं धीमयं तस्य उत्पत्तिः वेपु ते च ते वनवत् तेषां वा मरिचा तस्या बने
 रचनाया विषदावारस्य विष्णुग्राह्यितुस्य रत्नस्यैव अक्षतत्वं प्राप्तस्य वनवदोऽनेन विमल परमेष्ठिन
 अष्टमीम् अष्टविषाम् इति पूजां करोमीति स्वाहा ॥२५॥ अणि च—मरोरेति—मराः मनुष्याः उरगा
 नागागुरा नुराः समराः एते एव अन्धोऽज्ञानि कर्मज्ञानि तेषां विज्ञाने विरोधनर नृपस्य दधेः इव धी यस्य
 तम् विनापीत्यम् अचनयोर्धनं पूजनविषयं करोमि । विमलम् आरोप्या अतिशयनरपटोपाभावाय ॥२५॥

[पू० २१७] अपुन मिश्ररमैष्टिनः पूजनं द्विवदे—ॐ सहस्रेति—मायना स्रग्धर
 तीति सहस्रम् आरम्भा तदैव विद्यमानम् । सौधीनं निर्धनं कार्यं परमाद्युक्तम् । आर्त्तं नृपं गुणरत्नं यत्
 आरम्भा तदैव जातम् दातव्यं यत् मुञ्चते च एतादृशं सम्प्राप्त्यर्थम् सम्प्राप्त्यर्थं दध्यवधारितं च आर्त्तं नृपं सर
 विचारः ज्ञाना विमलं तस्य मीढरी विषयः यत् प्रविर्तं द्विग्राह्यं तस्य प्रविधानो यस्य । अत्र एव वरनिरये
 तदा स्वर्गमुच स्वर्गं करोहेत्यानेनया अष्टनि रत्नस्यैव परिचयो अक्षीनि स्वर्गम् उरगात् सनिनाम्
 नृपग्राह्यनिर्धनं सौधीनं यथा । ज्ञानमिति च वाचापाद्यवा ज्ञानम् । अरमादेवायनं पूर्वं नानाविधः
 वारपटिपोरर्त्तानां सर्वमप्यप्याद्यप्युक्तमप्येति यमन-अक्षमगुडावधानाविद्याम् आर्त्तं नृपं उक्तम्

परमात्मानम् उपेयुप प्राप्तवत सिद्धपरमेष्ठिन इष्टि करोमीति सबन्धः । कथभूत परमात्मानम् । अखिलेति—सकलमलानाम् आत्मगुणानां ज्ञानदर्शनादिकानाम् आच्छादकतया विरूपपरिणतिकारकत्वाद्वा ज्ञानावरणाद्यष्टकर्माणि मलत्वेन व्यवहियन्ते । तेषां विलयात् निरवशेषक्षयात् लब्धात्मस्वभाव प्राप्तनिजशुद्धज्ञानादिगुणम् । असहाय क्षयोपशमाद्यनपेक्षम् । अक्रमम् इन्द्रियाद्यनुत्पन्नत्वात् क्रमरहितम् । युगपत्सकलवस्तुगोचरम्, अवधीरितेति—अवधीरित तिरस्कृतम् अन्यमनिधिव्यवधानेन, तिरस्कृत पञ्चेन्द्रियविषयसानिध्यस्य व्यवधानेन । पञ्चेन्द्रियविषयेभ्योऽनुत्पन्नम् । साक्षादात्मन एव जायमानत्वात् व्यवधानरहितम् । अनवधिम् अवधिरन्तः ततोऽपसृतत्वात् अनवधिम्, नि सोमानम् अयत्नसाध्यम्, केवल यत्नेन न साध्यम् । अत्रसितातिशयसोमानम् समाप्ततरतमादिमर्यादम् । आत्मस्वरूपैकनिबन्धनम् आत्मस्वरूपमेव एक केवल निबन्धनं कारणं यस्य । अन्यवस्तुन सकाशादनुपजायमानमित्यर्थः । अन्तः प्रकाश सूर्यप्रकाशवद्वहिरनुपलभ्यमानम् अन्तरेव विद्यमानमपि सकलजगदवलोकमानम्, चैतन्यमधिष्ठितम्, अनन्तदर्शनगुणस्य वैशद्येन निर्मलत्वेन साक्षादवलोकितसकलपदार्थस्वरूपमवस्वम् दृष्टसकलद्रव्यपर्यायलक्षणम् । अनवसानसुखस्रोतसम्—अवसानमन्त न अवसानम् अन्तो यस्य तत् सुख तस्य स्रोतः प्रवाहधारा तेन युक्तम् । अपर्यन्तवोर्यम् अनन्तशक्तिकम्, अचाक्षुष-सूक्ष्मावभासम् चक्षुर्भ्यामनुपलभ्यमानम् अतः सूक्ष्मतया अवभासयुक्तम्, असदृशाभिनिवेशावगाहम्, असदृशम्, अनुपमम् अभि सर्वतः निवेश प्रवेश यत्र तथाभूतोऽवगाहगुणो यस्य । चरमदेहत किञ्चिदून आत्मप्रदेशानाम् अवगाह प्रवेशो यस्य तथाभूतम् । अगुरुलघुव्यपदेशम्, न गुरुर्भारयुक्त न लघुश्च तादृगुणविशिष्टम् । अपगतेति—अपगता नष्टा बाधा पीडा यथा स्यात्तथा, परेषां सिद्धानाम् अनन्तानाम् आकाराणां सक्रम प्रवेशो यत्र तथाभूतम् । अतिविशुद्धस्वभावतया अत्यन्तनिर्मलप्रकृतितया, निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च विनष्टमकलदैहिकद्वारतया च ईप्समुक्तपूर्वदशान्तरम् । रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शरहितम् । अशेषभुवम् सकलस्वप्रदेशान् व्याप्नुवन्तम् । आशिर श्रेष्ठारायमाणपदविश्वभरम् आमस्तक मुकुटायमानपद स्थान यत्र तथाभूत विश्वजगत् । विभर्तीति तथाभूतम् । उपशान्तेति—उपशान्त नष्ट सकलससारदोषाणां रागादीनां प्रसरः प्रचार यत्र त परमात्मानम् । सकलकर्मविलयादत्यन्तशुद्धात्मानम् उपेयुप प्राप्तवत । गुरुणापि तीर्थकरपरमदेवेनापि नमसिद्धेभ्य इति वचनात् प्रतिपन्नगुरुभावस्य स्वीकृतगुणत्वस्य रत्नत्रयपुर सरस्य भगवत सिद्धपरमेष्ठिन अष्टतथोम् इष्टि करोमि इति स्वाहा । अपि च प्रत्नेति—प्रत्नानि पुरातनानि यानि कर्माणि पूर्वानिकजन्मवद्धानि तै विनिर्मुक्तान् रहितान्, नूत्नेति नूतनानि नवानि अस्मिन्भवे वद्धानि यानि कर्माणि तै विवर्जितान् रहितान्, रत्नत्रयेण महोयस श्रेष्ठान् पूर्णरत्नत्रयलाभात् अर्हतोऽपि श्रेष्ठवस्था विभ्राणान् सिद्धान् मुक्तान् यत्नतः प्रमादं मुक्त्वा भक्तिभारेण सस्तुवे ऐहिकफलानभिलाषया स्व-स्वरूपप्राप्तिहेतोः स्तवीमि ॥४८६॥

[पृष्ठ २२०] अधुनाचार्यपरमेष्ठिन पूजा करोमि—ॐ पूज्यतमस्य उपाध्यायसाधुपरमेष्ठिनोऽपेक्षया, उदितोदितेति—उदितोदिता प्रकर्षेण अभ्युदय प्राप्ता या कुलशीलगुरुपरपरा प्रकर्षेण अभ्युदिते कुलशीले यस्या तथाभूता या गुरुपरपरा गुरुपर्वक्रम तस्या उपात्त गृहीत ज्ञात समस्तस्य सकलस्य ऐतिह्यरहस्यस्य आगमगूढतत्त्वस्य सारो येन तस्य । पुनः कथभूतस्य । अध्ययनेति—अध्ययन स्वयं शास्त्राभ्यामकरणम् । अव्यापन शास्त्रपाठनम् विनियोग अनेन छात्रेणेदं कर्तव्यमनेनेदमित्याज्ञाकरणम् । विनयेन नियमानां पालनं व्रतानां तपसा वा पालनम् । उपनयनादिक्रियाकाण्डे च तेषु निष्णातचित्तस्यात्यन्तप्रगल्भमते । पुनः कथभूतस्य । चातुर्वर्ण्येति—चतुः प्रकारमुनिसमूहं चातुर्वर्ण्यसंघं ऋषिमुनियत्यनगारलक्षणं । ऋष्यायिकां श्रावकश्राविकासमूहो वा तस्य प्रवर्धना तस्य माहात्म्यवर्धनं तस्य धुरम् अग्रं धरति बहुतीति तस्य । पुनः कथभूतस्य । द्विविधात्मेति—द्विविध द्विप्रकारः स चासी आत्मधर्मश्च व्यवहारात्मधर्मः, निश्चयात्मधर्मश्च अथवा द्विविधा आत्मानं मुनयः श्रावकाश्च तयोर्धर्मावबोधने, विधूतेति—विधूतस्त्यक्त ऐहिकफलापेक्षासर्वत्रो येन तस्य । पुनः कथभूतस्य । सकलवर्णेति—सकलाश्च तै वर्णाश्च ब्राह्मणादयः शूद्रान्ताश्च-तुर्वर्णा आश्रमाश्च आ शास्त्रोक्तकालात् आभ्यन्ति यथास्व तपस्यन्ति इत्याश्रमा ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ भिक्षुकश्चेति । समया चत्वारः जैनजैमिनिशाक्यशाकरागमाः, एषा समाचारा आचारा विचारा सम्य-

यतय तेषा रसोजुरागो येन स. तस्य । पुन कथभूतस्य । वनदेवताभि विलुप्यमानचरणपरागस्य, कथभूतै
तप प्रारम्भे । अनेकश इति—अनेकश बहुवार श्लोक्यधोभकारिभिः, ध्यानधैर्येति—ध्यानेन आत्म-
स्वस्वचिन्तनेन, धैर्येण मनसोऽशोभेण च अवधूता विनाशिता विष्वक् सर्वत प्रत्यूहव्यूहा विघ्नसमूहा ये.
पुन कथभूतैः । अनन्येति—अन्यजनासभविभिः, मनोविषयातिक्रामिभिः, आश्चर्यप्रभावास्पदैः, अनव-
धारितम् अनुद्दिष्ट विधान भोजन येषु तै, तै तं मूलोत्तरगुणेषु ग्रामणोभिः । पुरोगमं तप प्रारम्भे । पुन
कथभूतस्य । सकलेति—सकल च तत् ऐहिकमुखसाम्राज्य च तस्य वरप्रदाने अवहिता दत्तावधाना
आपाता आगता तथापि अवधोरिता अवज्ञाता तत्कारणात् विस्मिता उपनता नम्रोभूता. या वनदेवता
तासाम् अलका. केशा एव अलयो भूङ्गा. तेषा कुलेन समूहेन विलुप्यमान. ह्रियमाण चरणकमलयो. परागो
यस्य तस्य । पुन कथभूतस्य । निर्वाणपद्मनिष्ठितात्मन मुक्तिमार्गे निष्ठित निश्चयेन स्थित आत्मा यस्य
तथाभूतस्य रत्नत्रयपुर सस्य भगवत् सर्वसाधुपरमेष्ठिन अष्टतयोर्मिष्टि करोमि इति स्वाहा । अपि च—
बोधेति—बोध एव आपगा नदी तस्या प्रवाहेण, विद्यातो विध्वस्त अनङ्गवह्नि यैस्ते । विध्येति—
विधिना आगमकथितप्रकारेण पूजनेन आराध्या पूज्या अङ्घ्रयश्चरणा येषा ते साधव साध्यबोधाय साध-
यितु योग्य साध्य मुक्तिपद रत्नत्रय साध्यो बोध्य. आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्य वैवल्लभान तस्मै वा तस्य
बोधाय ज्ञानाय भवन्तु ॥ ४८९ ॥ अधुना सम्यग्दर्शनरत्नस्य पूजा । ॐ जिनेति—जिन दुर्जयकर्मठकर्मि-
रातीन् जयतीति जिन, अर्हन्, जिनागम जिनेन अर्हता प्रोक्त आगम द्वादशाङ्गानि आचारादीनि, जिनधर्मः
तेन जिनेन प्रणेतो धर्मः क्षमादिलक्षणो दशविधः, जिनोक्तजीवादितत्त्वावधारण च एभि विजृम्भित प्रवृद्ध
निरतिशय निश्चयेन अतिशयो वैशिष्ट्य यस्मिन् तथाभूतोऽभिनविश परमार्थानाम् आप्तागमतपोभूता दुष्ट-
प्रदान तदेव अविष्टानम् आधार. यामु तथाभूतासु चेत् प्रासादपरपरासु । पुन कथभूतासु । प्रका-
शितेति—प्रादुर्भूता या शङ्का जिन अनेकान्तात्मक सर्व प्रतिपादित तद्यथार्थम् उत अन्यन्नित्यम् अनित्य
वा सर्वम् इति परमार्थम् एवरूपा धीः शङ्का । सम्यग्दर्शनमाहात्म्यात् तपोमाहात्म्याच्च मम देवपदं
नृपतिपद वा लभताम् इति स्पृहा आकाशा प्राकाम्यमुच्यते । अवह्लादनम्—विचिकित्सा स्नानादिरहितस्य
मुने शरीरं वीक्ष्य जुगुप्साकरणम् । कुमतीति कुधर्मे तदाचरणवति पुरुषे प्रशसादिकरण मूढत्वम् । एते खलु
विकारा शल्यरूपा तेषाम् उद्धार अपनयन यामु तासु चेत् प्रासादपरपरासु । पुन कथभूतासु । प्रश-
मेति—प्रशमादिचतुष्टयस्य लक्षणानि प्रागुक्तानि एते प्रशमादय एव सुकृतिचेत् प्रासादपरपराया स्तम्भा
तैरिय प्रासादपरपरा सधृता भवति । पुन कथभूतासु । स्थितिकरणेति—धर्माद् भ्रश्यतो धर्मे स्थापनं
स्थितिकरणम् । उपगूहनम्—धार्मिकजनदोषक्षम्पनम् । वात्मन्यम्—निर्मायेन मनसा धार्मिकजनस्य यथा-
योग्यम् आदरकरणम् । प्रभावना—दानतपोजिनपूजाविद्याविनयैर्जिनधर्ममाहात्म्यसर्वधनम् । स्थितिकरणोप-
गूहनवात्सल्यप्रभावनाभि आचरिता उत्सवसपर्या महपूजा यामु तासु । पुन कथभूतासु—अनेकेति—
अनेके ये त्रिदशविशेषा देवविशेषा इन्द्रसामानिकादय तेषा निर्मापिता भूमिका यामु ता । तथाभूतासु
सुकृतिचेत् प्रासादपरपरासु सुकृतीना पुण्यवता मन सौधपक्तिपु, कृतक्रीडाविहारमपि कृत क्रीडायै विहारे
येन तथाभूतमपि यत् सम्यग्दर्शन निसर्गात् स्वभावत महामुनीना मन एव पयोधि समुद्र तेन सह परिचित
परिचयविशिष्ट भवति । अशोपेति—अशोपा सकला ये भरतैरावतविदेहा श्रीणि क्षेत्राणि वर्षधराश्च हिम
वदादय तेषा चक्रवर्ती स्वामी मेरुपर्वत तस्य चूडामणिस्वरूप तत्कालजन्मा तीर्थकर तस्य कुलदैवतमेतत्
सम्यग्दर्शनम् । अमरेति—अमरेश्वरा इन्द्रा तेषा या मतिज्ञानि सा एव देवता तस्या अवतस कर्णभूषण
रूपम् एतत्सद्दर्शन कल्पवल्लीपल्लवम् इव । अम्बरेति—अम्बरचरा विद्याधरा ते च ते लोका जना तेषा
सम्यग्दर्शनमेतत् हृदयस्य एकम् अद्वितीय मण्डनम् । अपवर्गेति—अपवर्गपुर मुक्तिनगर तत्र प्रवेश कृत्व
यत् अगण्यपण्यस्य आत्मसात्करण स्वीकरण तदर्थं दीयमान तस्य सत्यकारमिवैतत्सम्यग्दर्शनम् । अवश-
मयैतत्केन्यम् इति सत्याकरणमदृशम् । अनुलङ्घ्येति—ललङ्घयितुम् अशक्यम् अवश्यभोग्यमिति भाव
एतादृग् यत् दुरधं दुष्टम् अथ पाप तदेव घनघटा मेघसमूह तस्य दुर्दिनानीव ये प्राणिनस्तपु, ज्योतिरिति—

ज्योतिर्लोकानां ज्योतिषमन्तरमनननास्वादीनां या जन्मः अवस्था ता एव यदा स्वप्नाणि रम्यानि तेन पाते
 पतने यत् तमस्काण्डं विष्णुत्वमिदं तस्य मेवमेतत्सम्यग्दर्शनम् । आनन्दो मनीषिणः मनीषा बुद्धिरस्ति मेधा
 ते मनीषिणः बोधस्त इति भावः । तस्य संसारपादपोच्छेदे संसारमूलाभेदे आद्यकारणस्य सकलमण्डविषयिणः
 पञ्चपरमेष्ठिनाम् अद्वैतस्य भगवत् पूज्यस्य सम्यक्संनतस्वस्य अहत्तमीमिदं करोमीति स्वाहा । अपि च—
 मुक्त्येति—समीचीनं तस्य सम्यग्दर्शनमेतत् मुक्तमिव वर्तते । मुक्तिर्वास्तवीर्यम् प्रमाणन्यायिकम्
 मुक्तिमयो तस्या वस्तवीर्या कृतानां नमिमेवम् । मुक्त्येति—भोगानां कलामिष्यादीनां दाने समर्थो यश्चिन्तामवि-
 तं प्रवर्षति सम्यग्दर्शनमिवम् । एतत् सम्यक्त्वम् अहं यजितीश्वरिणि पूजयामि ॥४९०॥ अथ सम्यक्त्वपूजा—
 ॐ यस्मिन्निष्ठेति—यत् सम्यक्त्वानं सकलव्यपारः सतीत्यं मेवम् । यत् स्वाह्तिराहित्यमिदं ज्ञातो यो मायास्वा-
 बोधः यथार्थपरिचयः तेन संश्रुतस्य स्वकल्पम् । अविद्यमेति—पुण्यदेहाख्यातं सम्यक्त्वस्वमविद्यममुक्ते
 तस्योत्पत्तिस्त्वानमेवम् । अविद्यास्त्वपि यथाहु निरोदावस्थाभारम्भं मुक्त्यवस्थावर्त्मं सर्वोत्पत्तिं दद्यात् क्षेत्र-
 भात्मा तस्य स्वभावाः सुखाद्यनन्तगुणाः त एव सामान्यं तस्मैतत् सम्यक्त्वार्थं परमम् अविज्ञानकल्पम् ।
 अपि च यस्मिन्सम्यक्त्वाने इहानीयमपि अस्तिपञ्चकिकालेऽपि नदीव्याप्तवैतोषिः कुलधर्मगोमिः सम्यगिति—
 समीचीनतया उपाहितं प्रविशानमुतः स चासीत् उपयोपः कर्णवृद्ध्यापारः तेन संभावनं निर्मलीकरणं यस्मिन्
 उपायुते धुनविमयिदं च इव सुमयि सुमं स चासीत् मयि सुयुक्तारत्नं तस्य दर्पणे आदर्शं छायाः कृति प्रसक्तो
 प्रतिपद्यते ते ते भावैकदेश्यस्या भावोऽधिप्रायः एव एका मुक्त्यः संश्रुत्यः परिज्ञानकारणं मेधाया स्वभावसौम्यमय
 विप्रकर्षिणोऽपि भावाः स्वभावविप्रकर्षिणः परमाणादयः । दोषविप्रकर्षिणः देशान्तरिता इति ते च मेवैवम् ।
 सम्यक्विप्रकर्षिणः कालान्तरिताः रामरावभादयः भावाः पञ्चाशः । तस्य सम्यक्त्वानस्य कर्ममूतस्य पञ्च
 तमीदमेवस्याम् अद्वैताह्मणस्य तस्य तादृशीम् अवस्थां किमुच्येति—आत्मकायेति—तस्य सम्यक्त्वानस्य
 आत्मकान-निबन्धनस्य स्वोत्पत्तिविषयस्य सम्यग्देवुषिद्विषयिणपरिचयिणिः शास्त्रात्मन्तरकारणान्ता कृत-
 नानापरिणतिभिः कृतनानाद्वैतः यतिमुदावचिन्तन-पर्यवसेव्यं पञ्चतयी पञ्चविधान् अवस्थां दद्या
 मवस्थान् अद्वैताह्मणस्याप्रविशतः सकलमवकाशा विद्यायुः पञ्चपरमेष्ठि-पुण्ड्ररत्नं भगवत् सम्यक्त्वान
 रत्नस्याह्नवीमिदं करोमि स्वाहा ॥४९१॥ अपि च—नेत्रमिति—हितहितयोः सुखदुःखयोः उत्कार
 यदोष आलोके दृष्टे सम्यक्त्वानं नेत्रं लोचनम् अस्ति । तथा तत् बीजविद्याने बी बुद्धिं सा एव बीजं
 प्राशस्तं तस्य तावते रचनाया सूत्रम् यथा सुषेक शिल्पी प्राशस्त्यादिकं सप्रमाणं निनिमोति तया सम्यक्त्वानेन
 बुद्धिबीजनिर्माणं सप्रमाणं यदस्ति । सकल्याः समापने क्षेत्रम् एतत्सम्यक्त्वानं पूजाविधेः पार्थ कुर्वे ॥४९१॥
 अमुना सम्यक्चारित्रं पूज्यते । ॐ यस्तुक्तेति—यथाचारितरत्नं सर्वलोकलोकाग्रहणप्रतिबन्धनस्य जन्मकारणस्य
 मोक्षस्य विप्रसक्तमस्ति । अनन्तयेति—अनन्तया निर्वाणा चातो विद्या एव सम्यक्त्वानि यज्ज्ञानवी तस्या वरमिव
 हिमाचलमिव । अक्षयपञ्चकोत्सवेति—सकलप्राप्त्युत्सवप्रमोदचक्रवीर्यम्, अक्षिणेति—सकलभूतपुण्ड्र-
 र्ममिदमिव एव कृताः यत्कर्मः ताता य आरामः तथानं तस्य विकल्पने पुण्याकृतस्य वस्तुकात् । अनन्तयेति—
 अनन्तरकल्पनि स्वर्यादिशेषाणि तेषां प्रथमे कल्पवृक्षोत्पत्तिभूमिम् । अस्मयेति—न त्वमो नरो यस्मिन् स
 चातो उपजन्म चारित्र्यमोक्षस्य अनुभवः अलोचनमवयवः सीमन्तं भगवत् कापट्यरहितं कृतिः यदं च एते गुणाः
 प्रकाशा मेधा रीः अनुशीलमानम् साधनैर्नायम् चारित्रं कटौमन्तः सती चासीत् बीजुद्धिः सा अस्ति मेधा री
 सतीमन्तः समीचीनबुद्धिः यज्ज्ञानस्य परमपदप्राप्ते परमं सर्वोत्कृष्टं परं स्वार्थं मुक्तिमभिरं तस्य प्राप्ये
 कामस्य प्रथमं सोपानमिव उपानम् उपरिमयं तेन सह विद्यमानम् आरौह्यम् इव । तस्य पञ्चतयात्मनः
 सामाधिक्येनोपेयस्यापन-यिध्यारविपुद्धि-सुखसाम्यप्राद-यथाक्यातेति पञ्चप्रकारस्य सकलमवकाशविषयिणः
 पञ्चपरमेष्ठिपुरातरस्य भगवत् सम्यक्चारित्र्यरत्नस्य अहत्तमीमिदं करोमीति स्वाहा ।

[पृष्ठ २२५] अपि च—धर्मेति—धर्मः वस्तुमन्मथविषयसकलव्यवस्थस्य योयो तदाचारं मुनीषा-
 द्या एव नरेन्द्र राजा तस्य । कर्मेति—धर्मव्येव धीरिणः राजाः तेषां जगत्कर्तृ जगत्प्राप्तो उत्तराह्मणीकरण
 द्यावन्तम् । अथवाक्यानां सर्वबीजानां धर्मद्वयं धीव्यकारणम् कुतं चारित्रं धर्मवी धर्मं धीर्बुद्धिरस्य धोऽहं कुत

चारित्र्यम् आश्रये अवलम्बे ॥४९२॥ जिनेति—जिनोऽर्हन्, सिद्ध मुक्त, सूरि आचार्य, देशक उपाध्याय, साधु साधुपरमेष्ठो, श्रद्धान् सम्यक्त्वम्, बोधो ज्ञानम्, वृत्त चारित्र्य तेषाम् अष्टतयोम् अष्टप्रकाराम् इष्टि पूजा कृत्वा तत्. युक्त्या स्तव विदधामि स्तुति करोमि ॥४९३॥ (प्रथमं तावत् सम्यग्दर्शनं स्तूयते ।) तत्त्वेष्विति—उत्त्वेषु जीवादिसप्तपदार्थेषु प्रणयं ह्येवं जिने. परस्य मनस तत्त्वतत्परस्य मनस चित्तस्य श्रद्धान् सम्यग्दर्शनम् उक्तम् । 'एतत् निसर्गाधिगमाम्या द्विभेदम्, उपशम-क्षयोपशम-क्षयभेदादित्यभेदम्, आज्ञामार्ग-उपदेश-मूत्र-वोज-मक्षेप-विस्तार-अर्थ-अवगाढ-परमावगाढेति भेदात् दशविधम् । चतुर्भि गुणं प्रशम-सवेगा-नुकम्पा-आस्तिक्यै वद्वन् प्रकटीभूतम्, नि शब्दादिभिरष्टाङ्गम् । भुवनयाचित श्रैलोक्यपूजितम् इदं त्रिभि मूढं देव-लोक-पाखण्डिभि . अपोढ रहितम् । हे देव जिनेन्द्र, ससृति ससार सा एव लता बल्ली तस्या उत्थास विकास, तस्य अवसानम् अन्तं स एव उत्सव आनन्द. यस्य तत् सम्यग्दर्शनम् अहं चित्ते दधामि धारयामि ॥४९४॥ ते कुर्वन्त्विति—हे देव जिनेन्द्र, एषा ह्येवं सम्यग्दर्शनं येषु जीवेषु न विद्यते ते जीवा प्रायः बहुश जन्मच्छिद ससारच्छेदका न भवन्ति । कथंभूता ह्येवं । तवेति—तव भवत वच श्रद्धा यथार्थजीवादिवस्तुप्रतिपादके वचने श्रद्धारूपा, पुन कथंभूता अवधानोद्घुरा अवधान प्रणिधान तेन उद्घुरा उत्कटा जिनप्रोक्तमेव तत्त्वं सत्यं नान्येषाम् इति दृढाभिनिवेशयुक्ता । पुन कथंभूता । दुष्कर्मैति—दुष्कर्मणा ज्ञानावृत्यादीनाम् अशुभकर्मणा ये अशुद्धा प्ररोहा तेषा कुञ्ज समूह तस्य वज्रदहन वज्राग्निरिव तस्य द्यौः कान्ति तेन अवदाता शुद्धा निर्मला । येषु इयं श्रद्धा न विद्यते ते दुर्धरधिय दुःखेन ध्रियते इति दुर्धरा धीर्येषां ते दुर्धरधिय अतीव चञ्चलबुद्धयः ते नरा तपामि कुर्वन्तु । ज्ञानानि सचिन्वताम् ज्ञानोपचय कुर्वन्तु । वा अथवा वित्तं धनं वितरन्तु ददन्तु । तदपि तथापि प्रायः जन्मच्छिद न भवन्तीति विज्ञेयम् ॥४९५॥

[पृष्ठ २२६] संसारेति—हे नाथ स्वामिन्, यः कृत्वा पुण्यवान्, हृदि मनसि सम्यक्त्वरत्नं सम्यग्दर्शनमणिं धत्ते धारयति, तस्य नरस्य स्वर्गापवर्गश्रियं स्वर्गमुवितरमा सुलभा सुप्रापा भवन्ति । कथंभूतं सम्यक्त्वरत्नम् । संसारेति—मसार एव अम्बुधि समुद्र तस्य उल्लङ्घने सेतुवन्ध सेतुरचनातुल्यम् । पुन कथंभूतम् । असमेति—मम युगपत् न ममम् असम क्रमेण प्रारम्भः उत्पत्तिर्यस्य तच्च तल्लक्ष्मीवन रमाक्रीडा-राम, तस्य प्रोल्लामने विकासने अमृतवारिवाहम् पीयूषमेघसदृशम् । पुन कथंभूतम् । अखिलश्रैलोक्यचिन्ता-मणिम् । मकलश्रैलोक्ये चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदानरत्नसमम् । पुन कथंभूतम् । कल्याणेति—कल्याणानि गर्भावतारादिनिर्वाणान्ता पञ्चमहोत्सवा तान्येवाम्बुजखण्डानि कमलवृन्दानि तेषां समवसर उत्पत्ति-सरोवरम् ॥४९६॥ [इति दर्शनभक्ति] [ज्ञानभक्ति] अत्यल्पेति—इयम् अक्षजा मति इन्द्रिया-निन्द्रियजा बुद्धि अत्यल्पायति अत्यल्पा अतिस्नोक आयति भविष्यत्कालो यस्या सा मतिज्ञानं जातमपि कालान्तरस्थापि न भवति । विस्मृतिशीलं हि तत् । अवधि बोध अवध्याख्यं ज्ञानं रूपिद्रव्यविषयम् । सावधि द्रव्यक्षेत्रकालमावमर्यादायुतम् । साश्चर्यं विस्मयोत्पादकं मनःपर्ययं तन्नामकं ज्ञानं परमनसि स्थितं अर्थं प्रत्यक्ष-तया जानाति अत एव साश्चर्यं तत् परं स्वल्पं स क्वचिदेव योगिनि कस्मिंश्चिदेव सप्तविधान्यतमद्विधारके मुनिवर्ये विद्यते । अद्यास्मिन् पञ्चमकाले पुन दुष्प्रापं लब्धुं नितराम् अशक्यम् । इदं केवलं ज्योतिः केवलज्ञानं प्रकाशस्वरूपं कथागोचरं प्राचीनमहापुरुषकथाविषयमेव । तु परम् । निखिलार्थे सुलभे श्रुते सकलजीवादि-पदार्थविषये सुप्रापे श्रुतज्ञाने माहात्म्यं प्रभावः किं वर्णयाम । श्रुतज्ञानस्य माहात्म्यं नास्माभिर्वर्णयितुं शक्यते इति भावः ॥४९७॥ यदेवैरिति—यत्स्याद्वादसरोरुहं तच्छ्रुतज्ञानकमलं मम मनोहसस्य मन एव हसं सितच्छ-दस्तस्य भुदे भूयात् । आनन्दं जनयत्विति भावः । कथंभूतं तत् यदेवै शिरसा धृतम् । गणवरं कर्णवितसीकृतं चतुर्जानवारिभिस्तीर्थकरमुख्यशिष्यै कर्णभूषणीकृतम् । योगिनि चेतसि मनसि स्थापितम् । पुन नृपवरं माण्डलिकमहामाण्डलिकादिभिर्नृपेश्वरैः आघ्रातं सारो यस्य, स्याद्वादसरोरुहस्य नासिकया गन्धो घ्रातः । विद्याधराधीश्वरं नमश्चरभूये हस्ते, दृष्टिपथे मुखे च निहितम् स्थापितम् ॥४९८॥ मिथ्यातम इति—

जिनागममं विनप्रोक्तानि स्थापयन्त्यान् नित्यं प्रथममिं श्रुता नमस्करोमि । कर्मभूतोऽहम् । तत्तत्त्वेति—तस्य जिनागमस्य तत्त्वं स्वर्गं तस्य भावने चित्तमेव मनः यस्य । कर्मभूताय अहं प्रथममि—मित्रयेति—मित्रात्तत्र अतस्त्वन्मत्तानम् एव तमं तिमिरं तस्य पटलं समूहं तस्य भेदनकारणाय विमाद्यहेतवे । पुनः कर्मभूताय स्वर्गति—स्वर्गमोक्षणपरपञ्चसंघेकाय । पुनः कर्मभूताय नैतिकवज्रसंस्काराय अनन्तरादित्येकदाय ॥१८९॥ [इति जिनमन्त्रः]

[पृष्ठ २२७] [चारिणमन्त्रः] ज्ञानमिति—यत्पन्तरेव चारिणमन्त्रं जिना ज्ञानं दुर्गमस्य दुष्कृतस्य वैद्व्यस्य इव शरीरासंस्कारमिव स्वस्य क्षेत्राहं स्थात् । अहं सम्यक्स्वरूपाय चारिणं जिना तत्कृतमिव स्वकृतज्ञानं छात्रं कृतमवया न भवे चारयति । वैव प्रभो जिना तास्ता तपोभूमयः तपसां भूमयः स्थापति कामवाह्यमिति यत्पन्तरेव कामं भित्तिं विरुद्धा स्वर्गमोक्षफलरहिता भवन्ति । अतः तस्मै संयमबन्धनादिबान्धने प्राप्नोति संयमो ह्यैव इति चारिणमन्त्रं व्याप्य एकाग्रचित्तानिरोधं आह्वी येषां तेषां गुणितमित्रादीनां बान्धने गुहाय तत्पञ्चरिषाव तत्र यत्पन्तरेव चारिणाय चारिणमुक्ताय नमः अस्तु ॥५॥ पञ्चिन्तामभिरिति—अहं विविधं पञ्चविधं तत्पञ्चरिषं सामायिककलेषोपस्थानन-परिहारविमुक्ति-सुखसाम्यं राय-व्यापयताचारिणमेवम् । नमामि । कर्मभूतं तत्—यदिति—यत्पञ्चरिषम् ईप्सितेषु इष्टेषु अनित्यवित्ताने चित्तमभिः सौख्यस्य सौख्यस्य सौधायस्य सुखस्य च भवति न हम् । अस्ति—मित्रा रमाया पाणि-प्रह्वकानुक्तं विवाहोत्सवः कुलेति—कुलं बन्धनं सामर्थ्यं आरोह्य रोक्विहीनता एवम् आह्वये संयमं निवृत्तस्थानम् । यदिति—यत् पञ्चात्मकं पञ्चमेव चारिणं पूर्वं प्राचीनं समाधिनिमित्तं प्राप्तात्तं सम्यग्दर्शनादीनां फलप्राप्तयं समाधि ध्याने वा कर्मं सुखं च यथाचि । स एव मित्रा येषां तैः साधुनि-मोक्षाय वरिष्ठं देवि ॥५॥ इत्ये इति—यस्य भूते धैर्यं विनप्रोक्तं सामायिकादिचरितं महा-पवित्रं तस्य हस्ते स्वर्गमुक्ताणि आगच्छन्ति । अतस्त्वन्मत्तानम् अतस्त्वो अकस्मात् पञ्च इत्यभिर्भातां तां अकस्मात्प्राप्या अविवारयोधरावचक्यन्ति संयमं तं याति । वैवा पञ्चकले कुन्ति यो स्वर्गं सर्वतः ब्रह्मन्दी विष्णुः क्रमिन्तम् इत्थं फलति मज्जति । पुनः इमा कस्मात्तत्सर्वपञ्चं तमसिकस्वायेषु इन्द्रादिभिः कृते उत्पन्ने रत्नादिबुद्धिः विष्णुमोयोपमोयवस्तुप्राप्ति तस्य अचतापकले स्वर्गविवरत्वं वसिष्ठाकले यक्षिण्यति तत्र प्रायेव जगत् पूर्वेव अवतरति आगच्छन्ति ॥५॥ २॥ [इति चारिणमन्त्रः] [अथाहं कुक्तिः] बोधो इति—हे मित्रेभ्यः ते तत्र अवविर्बोचः अवपञ्चक्यम् इति ममोत्पन्नेषु तृतीयं ज्ञानम् । असेवमिदमपि त्वं असेवा सकला निकपिता परीक्षता ज्ञाता अर्वा बोधाय पञ्चार्वा देव तत् त्वामुत्तमं सुल्लाभम् । ते तत्र मतिः मतिज्ञानं लब्ध्वा त्वया सहैव जाता कर्मभूता । अतस्त्वैहिः करतला-भक्त-करं भक्तं तस्मात् जाता अन्तःकरणया बहिःकरण्यानि बाह्येन्द्रियाणि स्पर्शनरक्षणप्राप्तयस्तुभ्योनाणि पञ्च तैर्मो जाता मतिः । इत्यम् एवं स्वतः स्वस्मादेव सकलपदार्थविपर्ययमते-जगत् परतः परस्माद्गुणवि का ध्येष्टा अनिष्टाया स्थात् । न कापि इति । अहं ज्ञानमिवमवस्थां लीर्यकस्य ज्ञानतपसादेव पुनरेकां आसीति आह ॥५॥ ३॥

[पृष्ठ २२८] ध्यानावलोकेति—देव हे मित्रो सुखध्यानाप्रकाशेन विनक्तं विम्वस्वत् तिमिर-प्रशान्तम् अज्ञानपटलं यस्य तस्मिन् । ताम् अनुभव्या कैवल्यमीम् अनन्तज्ञानादिबुद्धयस्यां दिवं अहमीम् आह्वाने विप्रति त्वमि । मुहुः पुनः पुनः । महाव जलनाय पुननाय व्यापारमन्त्रं विमुक्तम् । एक-पुरमिव आसीत् अवयत् । यन्त्राः कैवल्यज्ञाने चाते तति तद्वारयाने तस्मिन्पञ्चक-वर्तपञ्चार्वा तत्तद्वारवक्यमिति आह ॥५॥ ४॥ छ त्रमिति—अहं छत्रं प्रभो अस्तके इवाभि चारमाभि । किम् चानरम् पक्षिपामि आक्ये । अथ जिनस्य पदे हेमाम्बुजाणि मुषर्कमज्जानि अर्पयामि । इत्यम् एवं प्रकारेण । अमरपतिः लीर्येभ्यः स्वदेव यस्मिन् जिने तेषां च नाप्यनापता । तत्र अहं चरं किम् बन्धि यमवती नहिका बन्धिवानपि बाधाम् अपोचर इति आह ॥५॥ ५॥ स्वमिति—हे ईश नाथ त्वं सर्वलोचयिहां गुणिनाकाशप्राप्तयोपेतः । ते वच मुष्मन् अरोहता वस्तुवमग्निसाधनपरम् । ते तच्छ्रोत्रिणि कण्ठेष्टादि । तद्वानुष्मन्तरं प्राविशामासिभ्यः प्रवर्तते । तत्रापि लोका स्वरोयतवर्तीनि वृक्षानि च जीवन्ति । [न तुप्यति] ननु अत्र लोचय नर्त्त एव

कारणम् न तु भवान् । यथा रवी उदिते कौशिकस्य घूकस्य म दोष न तु रवे । घूको रवि न प्रेक्षते तथा जन न तुप्यति नासौ दोषो जिनदेवस्य । लोकस्य मिथ्यात्वोदय एव तत्रापरार्थयति ॥५०६॥ पुष्पमिति—देव अर्हन्, त्वदीयेति तव इमो त्वदीयो तौ च तौ चरणी पादौ तयो अर्चनस्य पजनस्य यत्पीठं सिंहासन तस्य सगात् सपर्कान् जगत्त्रयस्य त्रैलोक्यस्य । चूडामणिव भवति । तत्पुष्प वन्द्य भवति अत जन तत् मस्तके विभति । अत अन्यशिरमि अपरेषा हरिहगदीना मस्तके स्थितमपि अस्पृश्य भवति । अत ते तव । को नाम साम्यम् अनुशान्तु प्रतिपादयतु । कं । रवीश्वराद्यै मूर्यरुद्राद्यै समना प्रतिपादयतु । न कदापि सूर्यहरिहरादिभि त्रैलोक्य-वन्द्यस्य भगवतो जिनेश्वरस्य नाम्यमस्तीति ज्ञेयम् ॥५०७॥ मिथ्येति—पुगा एतज्जगत् मिथ्या मिथ्यात्वम् अतत्त्वार्थ-श्रद्धानोपदेश तदेव महान्वतममं महागाढतिमिर तेन आवृतम् अत एव अप्रबोध ज्ञानरहितम् । भवगर्तपाति सप्तर-रन्ध्रे पातो यस्य तथाभूत् । पर तत्तस्मात्कारणान् हे देव, त्वमेव, भवानेव, दृष्टिहृदयाञ्जविकामकान्तं दृष्टो नेत्रे, हृदय मन ताव्येव अङ्गानि कमलानि तेषा विकासे कान्तं मनोहरं । स्याद्वादेति—स्याद्वादरश्मिभि स्वरूप-चतुष्टय परस्परचतुष्टयचापेदय जातं मत्तभङ्गरज्जुमि, उद्धृतवान् भवगर्तपातात् उपरि निष्कासितवान् ॥५०८॥ पादाम्बुजद्वयमिति—देव विभो यस्य नरस्य स्वच्छे मनसि निर्मले हृदये । तव इद पादाम्बुजद्वय चरण-कमलपङ्कज ममास्ते विश्वे । श्री लक्ष्मी स्वयं त भजति सेवते । स्वर्गमोक्षोत्तादिका मातेव इय सरस्वती त नियत निश्चयेन वृगोने स्वीकरोति ॥ ५०९ ॥ [इत्यर्हद्भक्ति]

[पृष्ठ २२९] [सिद्धभक्ति] सम्यग्ज्ञानत्रयेणेति—कथभूता मिद्धा मतिश्रुतावधोनात्रयेण प्रवि-दिन ज्ञात सकलज्ञेयजीवादितत्त्वविस्तारो ये ते । पुन कथभूता । अथ अनन्तरम् । ध्यानवाते सकल कर्मरज ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्करज प्रोद्बूय निरस्य । प्राप्नोक्त्वैवत्यरूपा लब्धशुद्धात्मरूपा संप्राप्तकेवलज्ञानरूपा वा । पुन कथभूता मिद्धा । अथ मत्त्रोपकार प्राण्युपकृति कृत्वा ये त्रिभुवनपतिभि घरणेन्द्रचक्रवर्तित्व पतिभि दत्तपात्रोत्तमत्रा उद्धोषितनिर्वाणकल्पाणा । ते लोकत्रयस्य शिखरे अग्रे सिद्धपुरोनिवासिनः । सिद्धा व युष्माकं सिद्धये मुक्तये सन्तु भवन्तु ॥५१०॥ दानज्ञानेति—आहारोपधावासशास्त्रभेदाच्चतुर्विधानि दानानि । ज्ञानम् आध्यात्मिकम् । चारित्र्य मामायाकादिकम् । प्राणीन्द्रियसयमो द्वौ । तथा द्रव्याधिकपर्यायाधिकौ नयो एषा प्रारम्भ गर्भे यस्य तथाभूत मन कृत्वा । एषु विषयेषु मन सस्याप्य । तथा च अन्तरिन्द्रिय मन बहिरिन्द्रियाणि च स्वर्शादीनि पञ्च । तथा पञ्चमस्त प्राणापानममानोदानव्याना तान् सयस्य वशीकृत्य पश्चात् तत् ध्यान प्रविधाय । कथभूत ध्यानम् । वीतेति—त्रोत नष्ट विकल्पाना रागद्वेषादीना जाल यस्मात् । पुन कथभूतम् । अस्मत्तम मन्तति, भ्रम्यन्ती तमसाम् अज्ञानाना सततिर्यस्मात्तत् । अखिल ध्यान शुक्लाह्वयं चतुर्विध प्रविधाय विचिन्त्य । ये च मुमुक्षु ये मुनय द्रव्यभावकर्मस्था मुक्ता बभूवु । तेभ्योऽपि अञ्जलि प्रसृतिर्वद्ध तान् सिद्धपरमेष्ठिनोऽपि वय वन्दामहे ॥५११॥ इत्यमिति—इत्यम् एवम् । अत्र अस्मिन्लोके । ये मुनय, कथभूता । धृतेति—धृता ध्याने अवधानाद्धि प्रणिधानवैपुल्य यैस्ते । कुत्र । समुद्रेति—समुद्र । कन्दर पर्वतदरो । सर सरोवरम् । स्रोतस्विनी नदी । भू भूमि । नभ आकाशम् । द्वीप जलवेष्टितभूमि । अद्रि पर्वत । द्रुम वृक्षमूलम् । कानन वन तानि आदौ येषा तेषु । धृतध्यानस्थिरा त्रिषु कालेषु भूतमविष्यद्भवत्सु कालेषु मुक्तिसगमे मुक्तिसगमुखसेविन भव्येषु रत्नाकरा मुनय रत्नत्रयमङ्गलानि ददता समर्पयन्तु ॥५१२॥ [इति सिद्धभक्ति] [चैत्यभक्ति] भौमेति—भौमा भवनवासिनो देवाः । व्यन्तरा विविधदेशान्तराणि येषा निवासान्ते व्यन्तरदेवा । मर्त्यामनुष्या सार्धद्वीपद्वितीयवर्तिन, मास्करसुरा चन्द्रसूर्यादय पञ्चविधा ज्योतिष्काः । सुरा स्वर्गवासिनो देवाश्च । एषा श्रेणीविमानाश्रिता पक्तिवद्धविमानेषु आवासेषु श्रिता स्थिता पुन कथभूता आकृती । स्वर्ग्योतिरिति—स्व स्वर्गं ज्योति ज्योतिर्मण्डलस्थानम् कुलपर्वतान्तरधरा हिमवदादय कुल-पर्वता अन्तरधरा व्यन्तराणा निवासभूमि । रन्ध्रप्रवन्ध भवनवासाः पक्तिवद्धा । एषु स्थिति यासा ता । पुन कथभूता । जिनेन्द्रेति—जिनेन्द्रा अर्हन्त । मिद्धा मुक्ता । गणमृत आचार्या । स्वाध्यायिन उपाध्याया । माधव साधुपरमेष्ठिनश्च एषाम् आकृती प्रतिमा अह वन्दे । पुन कथभूता । तत्पुरेति—तेषा भौमादिदेवाना

विनायकमाय विनायकोक्त्यायै स्याद्वाच्यार्थी निरर्थं प्रथममि शब्दा नमस्करोमि । कर्मभूतोऽहम् । तत्तत्त्वैति—तत्त्वं
विनायकस्य तत्त्वं स्वकर्म तत्त्वं भावनै विरक्तमे भव यस्य । कर्मभूताय अहं प्रथममि—मिच्छेति—मिच्छात्म-
जतत्त्वमयत्तम् एक तमः तिमिरं तत्त्वं पटलं समूहः तस्य भोवनकारणाय विनायकहेतवे । पुनः कर्मभूताय
स्वर्गेति—स्वर्गमोक्षनरपक्षप्रशङ्काय । पुनः कर्मभूताय वैश्वदेवयज्ञाकराय अग्रतममहितकराय ॥४९॥
[इति भागवति]

[पृष्ठ २२७] [चारिणमण्डित] ज्ञानमिति—यद्यन्तरेण चारिणमण्डितं विना ज्ञानं दुर्ममस्य दुष्कर्म-
नरस्य हेहमयम्भनम् इव धरीपासेकरणमिव स्वस्य कोशवहं स्यात् । अयं सम्यक्त्वरत्नासुरा चारिणं विना
तत्फलमयं स्वफलसोमां चाबु उद्यमयथा न वत्ते चारयति । ईव प्रयो ज्ञिम ठास्ठा ठपोभूमव तपसां
भूम्यः स्थानानि कायकाहमगाधि यद्यन्तरेण कार्यं नितरां विफला स्वर्गलोकाफलपटिता भवन्ति । अतः तस्मै
संयमवमस्यानादिषाम्ने प्राप्नोतिप्रयस्ययी ॥ इमं इन्द्रियमिष्टं ध्यातुम् एकाग्रचित्तानिरोधं आदौ मेवां तेषां
गुण्यिष्टमिष्टादीनां ज्ञाने पृष्टाय त्वत्परिचाय तव ययवत् चरिताय चारिणमुच्यते नमः अस्तु ॥५०॥
यच्चिन्तामणिरिति—यच्च विविधं पञ्चविधं तत्चारिणं धामाधिकल्लेखोपस्थापन-परिहारविमुक्ति-सूक्ष्मज्ञान-
राय-अबाधशतचारिणमेवम् । नमामिः कर्मभूतं तत्-यदिति—पञ्चचारिणम् ईच्छतेषु हृदयेषु अनिश्चितयाने
विन्तामणि लोभमस्य लोभव्यस्य लोभाध्यस्य सुमहेश्वरस्य च वसतिषु हम् । श्रीति—यिवा रमावा पाणि-
ग्रहकौमुदं विवाहोत्सवः कुलेति—कुलं वंशं वंशं धामधर्म्यं आरोग्यं रोगविहीनता एवम् आपने संवत्
मिहानस्थानम् । यदिति—यत् पञ्चधारणं पञ्चमेवं चारिणं पूर्वं प्राचीनं समाधिनिधिनिधिं प्राप्तानां
सम्यक्दर्शनादीनां परमप्रधानं समाधि ध्यानं वा कर्म्यं धुक्कं च समाधि । य एव निधिं मेवां तैः छात्रुवि
मोदास्य चरितं हेविनम् ॥५१॥ इत्येते इति—यस्य मुने ज्ञेयं ज्ञिप्रवेष्टं धामाधिकविचारितं मनः
परिवर्तं तस्मै हृदये स्वर्गलुकाणि आयच्छन्ति । अतः कृतमया अतः कृतो अकस्मात् नमः अत्यतिर्वातां तां
अकस्मात्प्राप्ता अविचारयोगपञ्चकमतिग संयत् तं आति । ईवा पत्यवके कुटन्ति हो स्वर्गं सर्वतां
वहन्त्यो विन्ताः कामिताम् इष्टं फलति यच्छति । पुनः इमा कस्याचेतस्यवसंयत् पञ्चमिकस्याचेतु इन्द्रादिभिः
कृते तस्मै रत्नादिषुष्टिः विष्ययोवोपयोगवस्तुप्राप्तिः तस्मै अतःप्राप्तये स्वयन्निवतत्वं अस्मिन्नाद्यं अविच्छति
तव प्रायेव कर्मनः पूर्वमेव अकतरन्ति जानच्छन्ति ॥५२॥ [इति चारिणमण्डित] [अर्थाई-पुष्टि]
योभो इति—हे जितेन्द्र ते तव अवधिर्बोना अकस्माद्वयम् इन्द्रियमनोऽपेतां गुडीयं ज्ञानम् । असेपनिश्चिन्तायं
असेवां सकलम निश्चिन्तां परोक्षतया ज्ञाता ज्ञाता बोधादयं पञ्चाशी वैत तत् तत्ताभूतम् अतः ज्ञानम् ।
तै तव मतिः मतिज्ञानं सहसा त्वया चरितं ज्ञाता कर्मभूता । अतः ईहिकरचन-अन्तःकरणं मनः तस्मात्
ज्ञाता अन्तःकरणजं बहिःकरणमिति बाह्येन्द्रियाणि स्वर्गनरत्नप्राप्तयश्च-भोधाणि पञ्च तेष्वो ज्ञाता मति ।
इत्यम् एवं स्वतः स्वस्मादेव सकलपञ्चाशीविधमतिमते अतः पद्यः वरस्माद् भुवने का व्यपेक्षा अतिज्ञाता स्यात् ।
न कापि इति । सकलज्ञानमिदमवस्थात् सीर्षकरस्य ज्ञानसंयादने भुवपेक्षा नास्तीति भावः ॥५३॥

[पृष्ठ २२८] ध्यानावकोटिति—इह ॥ विभो भुवःस्थानप्रकाशेन विद्यमानं विस्तरात् स्थितिं प्रज्ञानम् अज्ञानपटलं यस्य छिन्नाम् । तान् अनुपमां कैवल्यमीशम् जगत्प्रज्ञानादिषु पुञ्जवत्तां दिवं जगदीशम् आरुचानि विभ्रति स्वधिः । मुहुः पुनः पुनः । महायं सत्त्वमायं पुञ्जमायं व्यापारकम्परं विमुक्ताम् । एक-पुनरिव माहीशु जयम् । जगन्नाथं कैवल्यज्ञाने जातिं छतिं तत्वास्थाने नरनुरागधरं धर्मप्रवक्तां सत्तमायच्छन्तीति ज्ञात ॥५॥ ४॥ छ त्रमिति—महं कर्त्तुं प्रयो मस्तुते वक्ष्यामि वारुण्यामि । किमु वायम् कतिक्षाणि बाधये । अत्र विनायकं पदे हैमादुपशानि सुवर्णकमजानि कर्षयाति । इत्यम् एवप्रकारेण । अमरपतिः । लीलमैत्रं स्वयमेव यमिकम् त्रिने शेषपरः आच्छादयत्यतः । तत्र अहं परं किमु कर्त्तुं मयवतो महिषा नभिसामयि वायाम् अनीश्वर इति मात्र ॥५॥ ५॥ स्वमिति—है ईश नाथ त्वं सर्ववीरपरहितः । नृतिपाशाद्यह्वारपरीकृतः । ते वषः भुजयम् अनीश्वरा वस्तुवर्णमनिरावणपरम् । ते वरुणो विधिः उपदेष्टारिणः । सत्त्वानुपमनवरः प्रायिप्रमामाधिरम प्रवर्तते । तत्रानि कोका स्वरीयवर्णमविचि बुद्ध्यानि न नीलपतिः । [न पुच्छति] तनु मात्र लीलरम वर्म एव

उपरतधिय सर्वसकल्पशान्ते सर्वेषा सकल्पाना शान्ते त्रिनाशात् । अहमेपा स्वामी मम च इमे स्वम् इति सकल्पव्यपगमात् । ब्रह्मग्रामामृताप्ते येषा ऊर्मिस्मयविरहिता ब्रह्मण आत्मन धाम स्थान यत् अमृत स्वात्मानु-भूति तस्य आप्तेर्लाभात् ऊर्मिस्मयविरहिता शोकमोही जरामृत्यू धुतिपपासे इति पडूमय । स्मयाश्च ज्ञानपूजा-कुलजातिवलद्वितपोवपुषा मानित्व स्मया अष्टविधाः । पटूर्मिभि अष्टविधम्मयैश्च विरहिता रहितत्वम् लब्धम् । येषा च आत्मात्मोयानुगमविगमात् शुद्धबोधा वृत्तय सकल्पविकल्पानाम् अनुगमस्य उत्पत्तेर्विगमात् येषा वृत्तय मनोविमर्श शुद्धबोधा शुद्धात्मस्वरूपज्ञानयुक्ता सन्ति । तेषा चरणकमलानि पुष्पे शिवाय मोक्षाय अर्चयेय पूजयेयम् ॥५२०॥

[पृष्ठ २३२] येषामङ्गे इति—येषा सूरौणाम् अङ्गे मलयजरसं चन्दनगन्धं सगम । लेपन कर्दमे मृदा लेपन वा समान हर्षय विपादाय वा क्रमशो न भवति । स्त्रीविष्णोर्कं स्त्रीणा शृङ्गार-भावजा क्रिया विष्णोर्क अभिमतवस्तुप्राप्तौ अपि गर्वादिनादर । सापराधस्य मयमन ताडन च विष्णोर्क । एताभि स्त्रीणा शृङ्गारक्रियाभि अनुपङ्ग सवन्ध समान प्रतिभाति । पितृवनेति—पितृणा वनमिव श्मशानंतत्र चिताभस्मभि चोपते श्मशानान्निरस्याम् इति चिता तस्या भस्मभि भसितं वा अनुपङ्ग लिप्ति समान न प्रीत्यप्रोत्यं भवति । मित्रे गन्नावपि च विषये अनुपङ्ग सवन्ध निस्तरङ्ग तरङ्ग मनोवृत्ति हर्षविपादात्मिका निर्गती तरङ्गी हर्षविपादो यस्मादसौ निस्तरङ्ग मित्रे दृष्टे न हर्ष स्यात् अरो दृष्टे न खिन्नता । तेषा सूरौणा पूजाव्यतिकरविधी पूजोत्सवविधी एष हविर्नैवेद्य व युष्माक भूत्यै वैभवदानाय अस्तु भवतु ॥५२१॥ योगा-भोगाचरणचतुरे इति—येषा सूरौणा स्वान्ते मनसि । कथभूते । योगेति—योगानाम् आतापनाभावकाश-वर्षयोगानाम् आभोगो विस्तार तस्य आचरण प्रवर्तन तत्र चतुरे कुशले । पुन. कथभूते । दीर्णेति—दीर्णं विनष्ट कन्धर्पस्य मन्मथस्य दर्प मदो येन तस्मिन् । पुन कथभूते ध्वान्तेति—ध्वान्तम् अज्ञान तस्य उद्धरण निरसन तत्र सविद्ये तत्परे । पुन कथभूते ज्योतिरिति—ज्योतिष स्वानुभूतिज्ञानस्य उन्मेप उदभूति त भजतीति ज्योतिरूपमेवमाक् तस्मिन् स्वान्ते स्वानुभूतिज्ञानसपन्ने सतीति भाव । क्षेत्रनाथ. क्षेत्र देह तस्य नाथ स्वामी आचार्याणाम् आत्मा । अन्त निजस्वरूपे उच्चै अत्यन्तम्, अमृतभूत इव सुधापूर्ण इव समोदेत ह्लादेत । तेषु क्रमपरिचयात् चरणपूजनात् प्रदीप व त्रिये लक्ष्म्ये संपदे स्यात् भवेत् ॥५२२॥ येषा ध्येयेति—येषा सूरौणा बोधाम्मोधि सम्पज्ञानसागर कथभूताना सूरौणाम् । ध्येयाशयेति—ध्येयो ज्ञानदर्शनलक्षणो निजात्मा तस्मिन् ध्येये आशय विमर्श कुर्वन्मन स एव कुवलय कुमुद तस्य आनन्दे प्रमोदे चन्द्रोदयतुल्याना । येषा सूरौणा ज्ञानाविव प्रमदसलिलं आनन्दनरीं आत्मावकाशे निजस्वरूपे नैव माति ॥ वहि नानाविधलविव वहिष्ठपूरो भवति । एता अखिलेति—सकलजगद्विभवरमा समवसरणादिरूपा प्राप्यापि येषा चेत मन नि स्पृहम् अस्ति, तेषाम् अपचितौ पूजाया धूप वो युष्माक श्रेयसे मुक्तये अस्तु ॥५२३॥ चित्ते चित्ते इति—चित्ते मनसि चित्ते आत्मनि विशति सति प्रवेश कुर्वति सति । करणेषु स्पर्शनादिषु इन्द्रियेषु स्वान् विषयान्त्यक्त्वा अन्तरात्मन्येव स्थितेषु । श्रोतस्यूते श्रोतोभि स्पर्शनादिविषये स्यूते अनुपक्ते पुसि । वहि बाह्ये अखिलत सर्वश व्याप्तिशून्ये बाह्यपदार्थविमर्शशून्ये सति । येषा ज्योति ज्ञान किमपि अनिर्वचनीयरूपेण परमानन्द-सन्दर्भगर्भ परमश्चासी आनन्दश्च परमानन्द विषयजादानन्दात् आत्मानन्द स्वानुभूतिरूप अपूर्वमुखजनकत्वात् परमानन्द सच्यते तस्य सन्दर्भ ज्ञानेन सह एकलोलोभाव स गर्भे यस्य तथाभूत ज्ञानज्योतिः जन्मच्छेदि जन्महन्तु जन्मन भवस्य हन्तु प्रभवति समर्थ जायते । तेषु आचार्येषु फलं सपर्या पूजा कुर्म ॥५२४॥

वाग्देवतावर इति—हे सूरिवर, तत् तत चरणार्चनेन तव पादपूजनेन अय पुष्पाञ्जलि इय कुमुमाना प्रसृति । उपासकानाम् आचार्यभक्ताना वाग्देवताया सरस्वत्या वर इव वाञ्छिताभिलाप इव । पुन कथभूत आगामिन्या तत्फलप्राप्तौ पुण्यपुञ्ज इव सुकृनममूह इव । पुन कथभूत । लक्ष्मीति—लक्ष्म्या कटाक्षा एव मधुपा भृङ्गा तेषा आगमने एकहेतु मुख्य कारणम् । भवतु अस्तु ॥५२५॥ (इत्याचार्यभक्ति)

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कलः ॥३५॥

पुपमि नगराणि तेषां पात्रा रक्षका अनुरेन्द्राय तेषां मीलनं किरीटाणि तेषु विद्यन्ति यानि रत्नानि तानि एव प्रदीपास्तैः क्षितिगां पृथिव्यां आकृतीं साम्राज्याय मुक्तिं साम्राज्याय वन्दे ॥५११॥ [इति वीरमन्त्रिः] ।

[पृष्ठ २३०] [पञ्चगुणमणि] समवसरणेति—अहं तान् पञ्चपरमेष्ठिन स्तुभे इति त्रिना-
संख्यः । अहं समवसरणसात्तान् अहम् स्तुभ । समवसरणे वासी येषां तान् । मुनिगणकीर्तिनासां मुनि-
रमया विलास क्षीरा कुर्वाणाम् सिद्धान् स्तुभ । सकलसमग्रणात्तान् सकलाश्च ते समयाः मानसा तेषां तेषां
स्वरराजमवेदिनः आचार्यान् स्तुभे । वाक्यविद्यां व्याकरणविद्याश्चापि ते सनाथा सहिताः तेषां आचार इति
भावः । तानुपाध्यायान् । भवनिगच्छति—संसारमुद्धरानां विद्यास्रोतर्त्तं तस्य उद्योगाय तमो मो मोम-
मातावनारिः तेन प्रकाशते इति प्रकाशास्तां तानुपरमेष्ठिन । अहं क्षिप्यान् सामाजिकदिक्षिमा कुर्वा
णोऽहं संस्तुभे । वर्षमुत्पाज्यपरमेष्ठिनः स्तुभे । निरुपमेति—निवृत्तमा निवृत्ता क्षमा येन्यस्ते निवृत्तमा ते च
ते मुपायश्च निवृत्तमुपा तेषां मायो अस्तिर्त्तं येषां तान् स्तुभे । अहं पदक्षारिणमुपा । सिद्धानां
सम्पत्स्वरयोऽहो । मूरीया यद्विद्यमुपा । उपपायाणां पञ्चविद्यतिर्त्तुभा । साधूनाम् अष्टविद्यतिमुपास्तेषां
मुपाणाम् । [इति पञ्चगुणमणि] ॥५१४॥ [धाम्निमन्त्रि] अवेति—त्रिना क्षान्तिं धाम्निकरं तत्त-
मवन्तु । कर्षणः सः । अवेति—संसारामुक्तान्ध्याम् संसारदुःखामुपपाम् । धर्मांशुतेति—धर्म एव
अमुच्यन्ति तस्य कर्षं वृष्टिं तस्मात् अमिता उत्पादिता धाम्निर्त्तं सः । पुनः कर्षमूत । क्षिप्रंति—मुक्ति-
मुपायमनाय धाम्निक्त्वं त्रिना धाम्निकरः त्वान् । [इति धाम्निमन्त्रि] ॥५१५॥ [आचार्यमन्त्रि]
मनामात्रेति—मनोमात्रस्य क्षिप्रं मनोमात्रोचितं तस्मै मनोमात्रोचितस्य मनसि वस्तुं योस्याय पुण्याय । न न
चेष्टते न प्रवर्तते । हृणाद्यस्य दीप्तस्य तस्य मनोरथाः मनोर्मन्त्राणां कर्षं हृणादीं कृत्वादीं सत्तया
तुर्नवेपु ॥५१६॥

[पृष्ठ २३१] येषां तृप्तेति—येषां आचार्याणां चित्तवृत्तिप्रचारः धनोवृत्तिप्रसरः उत्तमोक्त-
लोकात् श्रीवादिपञ्चात्मयो यो लोको जगत् तस्य अक्षलोकात् श्रीवापात् तृप्तादिमिदं तदुःखं तृप्ता विपद्य-
निक्षाया एव विमिरं तमः तस्य विदुः भेदः अस्ति । प्रथमवक्ष्ये लोकादिपञ्चात्मा प्रथमः अनुदुःखः एव
अतश्च तदुःखः तस्य चारे अवारे च लोके उन्नयोस्तीरयो चित्तवृत्तिप्रचारः तेषां । संवदार्थः परिग्रहमुद्रस्य
पर्यन्तम् च तटे येनति । याद्येति—आद्येपु कर्मकामादिभ्यस्तु वृत्तमादिपु च अनात्मोवैपु ध्यातिप्रसर
विपुः प्रवृत्तिप्रसररहितः करोते तेषाम् । आचार्याणाम् वर्षाविधिपु वृत्ताकम्पु वारिपुः वक्ष्यप्रारः अति-
व वृत्ताकं क्षिपे लक्ष्मीशान्तिहेतवे मन्त्रात् मन्त्रम् ॥५१७॥ दूराह्वे इति—अस्मिन् अन्तरात्मन्येव अन्-
तरात्मा चित्तोपात्तमभिधाति चित्तं च विरक्तः । श्रीवात्त रायात्तः । आत्मा च धृष्टं चेतना वत् इत्यम् । तेषु
विपदा विनष्टा भ्रान्तिर्त्तः । चित्तं चित्तत्वेन मुच्यते श्रीवात्त दीप्तत्वेन आत्मानमात्मत्वेनेत्येव स अन्तरात्मा
न एव अन्तरम् आचार्याम् तानिन्, प्रगतिमरणी एकाग्रतायुक्ता एव एव तेषां सूर्यः तस्मिन् । दूराह्वे अन्-
धाम् चित्तं आह्वे तानि । येषां हृदयवर्त्तनं श्रीवेन हृदयानुसृष्टिमीवेन निष्पन्नवर्त्तनं विरक्तवृत्ति विरक्तं मन्त्रि ।
तत्त्वमिति—तत्त्वं मुद्रावर्त्तनं तस्य अन्तर्गतं अनुवर्त्तनं तस्य अन्तर्गतं अति- तस्मात् मन्त्रि महा प्यात्त
वर्त्तवर्त्तनं विपदाशान्तरावर्त्तनं येषाम् । तेषां मूरीयां पारयोः चरत्वेन अहम् इति वृत्तात् चरत्वे निर्गर्तवे ।
आमन्त्रणानुवर्त्तनं येषाम् आमन्त्रणानुवर्त्तनं तेषां वारी आचार्याणाम् चरत्वेन वर्षायादीवर्त्तनं ॥५१८॥
येषां अन्तरात्मा इति—येषाम् आचार्याणां श्रीवाचीते आत्मनि अन्तरात्मा—अन्तः चित्ते तदुत्तरमात्रावर्त्तनं पार-
मर्त्तं हृदयानुसृष्टिमीवर्त्तनं अन्तरात्मावर्त्तनं तेषां । अन्तः प्रचार आत्मानुवर्त्तनं विरक्तं अन्तर्गतं अन्तर्गतं
वर्त्तवर्त्तनं वरत्तं मन्त्रि । अन्तः मन्त्रावर्त्तनं आत्मानुसृष्टिमीवर्त्तनं अन्तरात्मावर्त्तनं येषां न प्रवर्त्तनं भावः ।
येषां श्रीवात्तानाम् आत्मन्यादिश्रीवात्तानाम् अन्तर्मात्तं हृदयं अन्तर्गतमन्त्रेण मूरीयाम् । विगतंति—
विनष्टं विनष्टं वरत्तः आत्मन्य अन्तः मन्त्रं न चानी मन्त्रि इति विनष्टमन्त्रः । श्रीवात्तानां श्रीवात्तानां
श्रीवात्तानाम् मन्त्रि इव श्रीवात्तानां चित्तं इव भाति । तेषां निर्वात्तानां वरत्तमन्त्रं आत्मन्यां तन्मन्त्रं वृत्तं
वृत्ता ॥५१९॥ दूराह्वे इति—देह एव आत्मा उत्तरमन्त्रं तस्मात् उत्तरमन्त्रं विरक्तमन्त्रं । वरत्तम्

उपरतधिय सर्वसकल्पशान्ते सर्वेषा सकल्पाना शान्ते विनाशात् । अहमेपा स्वामी मम च इमे स्वम् इति सकल्पव्यपगमात् । ब्रह्मधामामृताप्ते येषा ऊर्मिस्मयविरहिता ब्रह्मण आत्मन धाम स्थान यत् अमृत स्वात्मानु-भूति तस्य आप्तेलभात् ऊर्मिस्मयविरहिता शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे इति पङ्कमय । स्मयाश्च ज्ञानपूजा-कुलजातिवलद्वितपोवपुषा भानित्व स्मया अष्टविधाः । पङ्क्तिभिः अष्टविधस्मयैश्च विरहिता रहितत्वम् लब्धम् । येषा च आत्मात्मीयानुगमविगमात् शुद्धबोधा वृत्तय सकल्पविकल्पानाम् अनुगमस्य उत्पत्तेर्विगमात् येषा वृत्तय मनोविमर्श शुद्धबोधा, शुद्धात्मस्वरूपज्ञानयुक्ता सन्ति । तेषा चरणकमलानि पुष्पं शिवाय मोक्षाय अर्चयेय पूजयेयम् ॥५२०॥

[पृष्ठ २३२] येषामङ्गे इति—येषा सूरौणाम् अङ्गे मलयजरसै चन्दनगन्धं सगम । लेपन

कर्दमं मृदा लेपन वा समान हर्षाय विपादाय वा क्रमशो न भवति । स्त्रीविक्वोकं स्त्रीणा शृङ्गार-भावजा क्रिया विक्वोक अभिमतवस्तुप्राप्तौ अपि गर्वादिनादर । सापराधस्य सयमन ताडन च विक्वोक । एताभि स्थौणा शृङ्गारक्रियाभि अनुपङ्ग सवन्ध समान प्रतिभाति । पितृवनेति—पितृणा वनमिव श्मशानतत्र चिताभस्मभि चीयते श्मशानान्तिरस्याम् इति चिता तस्या भस्मभि भसितै वा अनुपङ्ग लिप्ति समान न प्रीत्यप्रोत्यै भवति । मित्रे शत्रावपि च विषये अनुपङ्ग सवन्ध निस्तरङ्ग तरङ्ग मनोवृत्ति हर्षविपादात्मिका निर्गती तरङ्गी हर्षविपादो यस्मादसौ निस्तरङ्ग मित्रे दृष्टे न हर्षं स्यात् अरो दृष्टे न खिन्नता । तेषा सूरौणा पूजाव्यतिकरविधौ पूजोत्सवविधौ एष हविर्नवेद्य व युष्माक भूत्यै वैभवदानाय अस्तु भवतु ॥५२१॥ योगा-भोगाचरणचतुरे इति—येषा सूरौणा स्वान्ते मनसि । कथभूते । योगेति—योगानाम् आतापनाभ्रावकाश-वर्षायोगानाम् आभोगो विस्तार तस्य आचरण प्रवर्तन तत्र चतुरे कुशले । पुन. कथभूते । दीर्णेति—दीर्णं विनष्ट कन्दर्पस्य मन्मथस्य दर्प मदो येन तस्मिन् । पुन कथभूते ध्वान्तेति—ध्वान्तम् अज्ञान तस्य उद्धरण निरसन तत्र सविद्ये तत्परि । पुन कथभूते ज्योतिरिति—ज्योतिष स्वानुभूतिज्ञानस्य उन्मेष उद्भूति त भजतीति ज्योतिरुन्मेषभाक् तस्मिन् स्वान्ते स्वानुभूतिज्ञानसपन्ने सतीति भाव । क्षेत्रनाथ. क्षेत्र देह तस्य नाथ स्वामी आचार्याणाम् आत्मा । अन्त निजस्वरूपे उच्चै अत्यन्तम्, अमृतभूत इव सुधापूर्ण इव समोदेत ह्लादेत । तेषु क्रमपरिचयात् चरणपूजनात् प्रदीप व श्रिये लक्ष्म्यै सपदे स्यात् भवेत् ॥५२२॥ येषां ध्येयेति—येषा सूरौणा बोधाम्मोधि सम्यग्ज्ञानसागर कथभूताना सूरौणाम् । ध्येयाशयेति—व्येयो ज्ञानदर्शनलक्षणो निजात्मा तस्मिन् ध्येये आशय विमर्शं कुर्वन्मन स एव कुवलय कुमुद तस्य आनन्दे प्रमोदे चन्द्रोदयतुल्याना । येषा सूरौणा ज्ञानाब्धि प्रमदसलिल आनन्दनीर आत्मावकाशे निजस्वरूपे नैव माति ॥ बहि नानाविधलब्धि बहिस्तूरो भवति । एता अखिलेति—सकलजगद्विभवरमा समवसरणादिरूपा प्राप्यापि येषा चेत मन नि स्पृहम् अस्ति, तेषाम् अपचितौ पूजाया धूप वो युष्माक श्रेयसे मुक्तये अस्तु ॥५२३॥ चित्ते चित्ते इति—चित्ते मनसि चित्ते आत्मनि विशति सति प्रवेश कुर्वति सति । करणेषु स्पर्शनादिषु इन्द्रियेषु स्वान् विषयान्स्थित्वा अन्तरात्मन्येव स्थितेषु । स्रोतस्यूते स्रोतोभि स्पर्शनादिविषयै स्यूते अनुपकते पुसि । बहि बाह्ये अखिलत सर्वश व्याप्तिशून्ये बाह्यपदार्थविमर्शशून्ये सति । येषा ज्योति ज्ञान किमपि अनिर्वचनीयरूपेण परमानन्द-सन्दर्भगर्भ परमश्चासौ आनन्दश्च परमानन्द विषयजादानन्दात् आत्मानन्द स्वानुभूतिरूप अपूर्वसुखजनकत्वात् परमानन्द उच्यते तस्य सन्दर्भ ज्ञानेन सह एकलोलोभाव स गर्भे यस्य तथाभूत ज्ञानज्योतिः जन्मच्छेदि जन्महन्तु जन्मन भवस्य हन्तु प्रभवति समर्थ जायते । तेषु आचार्येषु फलै सपर्या पूजा कुर्म ॥५२४॥

वाग्देवतावर इति—हे सूरिवर, तत् तत चरणार्चनेन तव पादपूजनेन अय पुष्पाञ्जलि इय कुसुमाना प्रसृति । उपासकानाम् आचार्यभक्ताना वाग्देवताया सरस्वत्या वर इव वाञ्छितामिलाप इव । पुन कथभूत आगामिन्या तत्फलप्राप्तौ पुण्यपुञ्ज इव सुकृतममूह इव । पुन कथभूत । लक्ष्मीति—लक्ष्म्या कटाक्षा एव मधुषा मृङ्गा तेषा आगमने एकहेतु मुख्य कारणम् । भवतु अस्तु ॥५२५॥ (इत्याचार्यभक्ति)

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कथः ॥३५॥

भू. स्वाहा । इति जिनाभिपेकप्रस्तावनापुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ।] पुराकर्ममन्त्रा — ॐ ह्रीं नमः सर्वज्ञाय सर्वलोकनाथाय धर्मतोषकराय श्रीशान्तिनाथाय परमपवित्रेभ्यः शुद्धेभ्यः, नमो भूमिशुद्धिं करोमि स्वाहा । इत्यनेन भूमिशोचनम् । ॐ ह्रीं अग्निं प्रज्वालयामि निर्मलाय स्वाहा, ॐ ह्रीं वह्निकुमाराय स्वाहा, ॐ ह्रीं शानोद्योताय नमः स्वाहा । इति अग्निज्वालनम् । ॐ ह्रीं श्रीं धीं भू नमोभ्यः स्वाहा । इति नाग-तर्पणम् । ॐ ह्रीं क्रो दर्पमयनाय नमः स्वाहा । इति ब्रह्मादिदशदिग्गलि । ॐ ह्रीं स्वस्तये कलशस्थापनं करोमि स्वाहा । ॐ ह्रा ह्रीं हूं ह्रें ह्रो नेत्राय सवोपद् कलशार्चनं करोमि स्वाहा । [इति पुराकर्म ।]

३ अथ स्थापना । यस्य स्थानमिति—यस्य प्रभो स्थानं निवास । त्रिभुवनेति—त्रिभुवनस्य जगत्त्रयस्य पिर सर्वार्थसिद्धिविमानं तस्योपरि नेत्रमिव मुकुटमिव सिद्धशिला वसुधा तस्या अग्रे उपरि निमगत् स्वभावात् यस्य प्रभो स्थानं निवासं विद्यते । तस्य प्रभोजिनराजस्य अमर्त्यक्षितिभृति अमर्त्यानां देवानां क्षितिभृति क्षिप्तिं पृथ्वी विभर्तीति क्षितिभृत् पर्वतः तस्मिन् देवपर्वते मेरोः स्नानपीठी स्नानासनं भवेत् इत्यस्मिन् विषये अद्भुतं न । हे जिन, ते सवनसमये अभिपेककाले लोकानन्दामृतजलनिधेः लोकानां भव्यानाम् आनन्द-क्षीरसमुद्ररूपस्य तव । एतद्वारि क्षीरसमुद्रजलम् । सुधात्वम् अमृतावस्थां घटते तत्र कः चिन्तयते आश्चर्य-युक्तो भवति । न कोऽपि ॥५३५॥ तीर्थोऽङ्कैरिति—मणिसुवर्णघटोपनीतं रत्नहेमकलशं आनीतं । तीर्थोऽङ्कं तीर्थजलं । पवित्रवपुषि पूतशरीरे । जलं प्रक्षालितं इति भावः । पुनः कथं भूते प्रविकल्पितायै प्रविकल्पितं दत्तं अर्घ्यं यस्मै तस्मिन् पीठेऽपि अर्घ्यं देयं इति भावः । पुनः कथं भूते पीठे लक्ष्मीति—लक्ष्म्या धृतस्य च आगमनं येन भवेत् तथाभूतश्रीकारह्रीकारबीजाक्षरयुते विदर्भगर्भे अग्रसहिता दर्भा विदर्भास्ते गर्भे यस्य तथाभूते पीठे । भुवनाधिपतिं त्रिलोकेशं जिनेन्द्रं सस्थापयामि ॥५३६॥ [इति स्थापना]

स्थापनाया मन्त्रा — ॐ ह्रीं अहं क्षम उठ श्रीपीठं स्थापयामि स्वाहा । ॐ ह्रा ह्रीं हूं ह्रें ह्रो नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पवित्रजलेन श्रीपीठप्रक्षालनं करोमि स्वाहा । ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याय स्वाहा । इति श्रीपीठमन्त्रचयेत् । ॐ ह्रीं श्रीलेखनं करोमि स्वाहा । ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अहं श्रीवर्णे प्रतिमास्थापनं करोमि स्वाहा । ४ सनिधापनम् सोऽयमिति—येयम् अर्चा जिनप्रतिमा सोऽयं जिनः समवसरणस्थः । ननु एतत् पीठं सुरगिरि मेरुः । एतानि सलिलानि कुम्भभृतानि साक्षात् दुग्धजलघेः क्षीरसमुद्रस्य नीराणि । हे जिन, तव सवप्रतिकर्मयोगात् तवाभिपेकार्थसवन्धात् अहम् इन्द्रं सोषमेन्द्र । ततः इयं महोत्सवश्रीः कथं न पूर्णा अभिपेकमहोत्सवस्य लक्ष्मी शोभा कथं न पूर्णा भवेत् ॥५३७॥ [इति सनिधापनम्]

[सनिधापनमन्त्र — श्रीमण्डपादिषु शक्रमण्डपादिभावस्थापनार्थं जात्यकुटकुमालुलितदर्भदूर्वापुष्पाक्षतं क्षिपेत्] अथातः ५ पूजाविधानम् । यागेऽस्मिन् अस्मिन् जिनयज्ञे, यूयं सर्वे आगत्य विघ्नशान्तिं कुरुध्वम् । इत्यनेन पद्येन लोकपालाह्वानम् । नाकनाथ नाकः स्वर्गं तस्य नाथः पतिः स्वर्गेन्द्र इति भावः । नाकनाथ इति सवो-धनैकवचनम् । अग्रेऽपि तदेकवचनान्येव । यथा ज्वलनं अग्नेः । पितृपते यमः । नैगमेयं हे नैऋत । प्रचेत वरुण । वायो । रैव धनपते, कुबेर । ईश शंकरः । शेषः हे नागनायक, उडुप उडूनि नक्षत्राणि पातोति उडुपः चन्द्रः तत्तमवोधनं हे उडुप चन्द्र । तथा ग्रहाग्रा सोम-मङ्गल-बुध-गुरु शुक्र-शनेश्चर-रवि-राहु-केतवः ग्रहा अग्रे येषां ते सर्वे उपर्युक्ता लोकपाला । यूयमेत्य आगम्य । भू स्व स्वर्गायै मन्त्रैः सह अधिगतबलयः प्राप्तोपहारा सन्तः । स्वासु पूर्वादिषु दिक्षु उपविष्टा भवतः । क्षेमदक्षा रक्षणचतुरा भवन्तः क्षेपीय शीघ्रं जिनसवोत्साहिना जिनयज्ञे उत्साहशालिनाम् उपासकानां विघ्नशान्तिम् अन्तरायोपशमं कुरुत ॥५३८॥

विघ्नपालमन्त्र — ॐ ह्रीं क्रो प्रशस्तवर्णसर्वलक्षणसंपूर्णस्वायुषवाहनचिह्नसपरिवारा इन्द्राऽग्नि-यम-नैऋत-वरुण वायु-कुबेरेशान-धरणेन्द्र-सोमनामान दशलोकपाला आगच्छत आगच्छत सवोपद् । स्वस्थाने तिष्ठत तिष्ठत ठ ठ । ममात्रं सनिहिता भवत भवत वषट् । इदमर्घ्यं पाद्यं गृह्णीध्व ॐ भूर्भुवः स्व स्वाहा स्वधा । इति इन्द्रादिदशलोकपालपरिवारदेवतार्चनम् ।] [इति लोकपालाह्वानम्]

[पृष्ठ २३६] नीराजनावतरणम् देवेऽस्मिन्निति—अस्मिन्देवे जिनेश्वरे विहितार्चने कृतपूजने स्तुतिपाठमङ्गलशब्दैः प्रारब्धगानस्वने आतोद्यं वाद्यं सह निनदति वर्णि कुर्वति । प्राङ्गणे जिनमन्दिरस्याजिरे

नमोर्हते स्वाहा । नोराजना नन्द्यावर्तेति—नन्द्यावर्त इति आकारविशेष सुवर्णादिपात्रे चन्दनगन्धेन
 उत्ताकाररूपरेखाविशेष स्वस्तिक तु प्रसिद्धाकृतिकम् । फलानि आम्रादीनि । प्रसूनानि पुष्पाणि । अक्षता-
 ॥५४६॥ [नोराजनमन्त्र—ॐ ह्रीं क्रो समस्तनोराजनाद्रव्यं नोराजन करोमि दुरितमस्माकम् अपहरतु
 अपहरतु भगवान् स्वाहा ।] ॐ भक्तिभरेति—अस्य गद्यस्य 'मद्भावि लक्ष्मी'ति श्लोकेन संबन्ध । जिन
 चतुर्भि कुम्भे स्तपयामोति चतु कोणकलशाभिपेकः अनेन गद्येन श्लोकेन च प्रतिपादित । अगुना गद्य
 विव्रियते—ॐ भक्तिभरेति—भक्तिभरेण विनता नम्रा ये उरगाणा नागानाम् नराणा सुराणाम्
 असुराणाम् ईश्वरा अधिपतय शेषभूपतिदेवेन्द्रा सुरेन्द्रा तेषा शिरासि तेषा किरीटानि तेषा कोटय तेषु
 कल्पवृक्षकिसलयायमान पादयोर्युगल यस्य । पुन कथभूत जिनम् अमृताशनेति—अमृताशना देवा तेषा
 अङ्गना, देव्य । तासा करे विकीर्यमाणानि क्षिप्यमाणानि यानि मन्दारादिकल्पवृक्षाणा प्रसूनानि । तेभ्य
 स्पन्दमानस्य गलत मकरन्दस्य पुष्परसस्य स्वादात्पानात् उन्मदा मत्ता मिलन्त ये मत्तालय समदभ्रमरा
 तेषा कुलस्य प्रलाप झकार तेन उत्तालिता उत्साहिता ये निलम्पा देवा तेषा लप्ति जिनगुणगणालाप
 तत्र व्यापारो गलो यत्र तथाभूत जिनम् । पुनरपि कथ भूतम् । अम्बरचरेति—अम्बरे नभसि चरन्ति इति
 अम्बरचरा विद्याधरास्तेषा कुमारा सूनव, तै हेलया लीलया आस्फालितानि ताडितानि वेणुवल्कल्यादिभेरी-
 भम्भाप्रभूतोनि यानि अनवधिघनसुषिरततावनद्धानि वाद्यानि तेषा नादेन निवेदित निरूपित निखिल-
 विष्टपाधिपाना सकलजगन्नायकानाम् उपासनावसर पूजनसमयो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । अनेकामरेति—
 अनेके च ते अमरविकिरा देवपक्षिण तेषा श्रोतयश्चञ्चव ताभि कीर्णा इतन्ततो विक्षिप्तानि किशलयानि
 यस्य स अशोकशचासौ अनोकह वृक्ष तस्य उल्लसन्त विकसन्तश्च ये प्रसवा पुष्पाणि तेषा परागो रज तेन
 पुनरुक्त, सकलदिवपालहृदयरागस्य प्रसरो यस्मिन्निपये तम् । पुन कथभूतम् । अखिलेति—अखिल च
 तद्भुवनैश्वर्यं सकलजगद्विभव तस्य लाञ्छन चिह्न यत् आतपत्रय छत्रत्रय तस्य शिखण्डे अग्रे मण्डनमणय
 भूषणरत्नानि तेषा मयूखा किरणा तेषा रेखाभि लिख्यमान स्पृश्यमान यन्मुख तेन मुखरा भापमाणा
 या खेचर्य नमोगनार्थ तासा भालतलस्य ललाटपट्टतलस्य तिलकपत्रकं यत्र तथाभूत जिनम् । पुन कथ-
 भूतम् । अनवरतेति—अनवरत सततं यक्षै विक्षिप्यमाणा वीज्यमाना उभयपक्षयो पार्श्वद्वययो चामर-
 परम्परा चामराणा पङ्क्ति तस्या अंशुजालानि करसमूहा तै घवलितानि विनयेजनाना तत्त्वार्यश्रद्धान-
 श्रवणग्रहणवता मव्यजनाना मन प्रासादचरित्राणि यत्र तथाभूतम् । पुन कथभूत जिनम् । अशेषेति—
 सकलप्रकटितवस्त्वतिशायिदेहकान्तिमण्डलपरिहृतसभागृहस्थितसम्यमतितम समूहम् । पुन कथ भूतम् जिनम् ।
 अनवधीति—अवधिर्मर्यादा सा येषा नास्ति तेषा वस्तूना नि सीमपदार्थानाम् आत्मसात्कार
 कुर्वाणा निजाधीनता जनयन्ती सारा उत्तमा विस्फारिता वृद्धि प्राप्ता या सरस्वती तन्नामधारिणी सरिदिव
 शारदादेवी तस्या तरङ्गा वीचय तेषा सङ्ग सवन्ध तेन सतपिता सतोप नीता समस्तसत्त्वा सकल-
 प्राणिन एव सरोजानि कमलानि तेषाम् आकर समूहो यत्र तम् । पुन कथभूत जिनम् । इभारातीति—
 इमा हस्तिन तेषाम् अरातयो रिपव सिंहा तेषु परिवृद्धा श्रेष्ठा ये सिंहयूयस्वामिन तै उपवाह्यमान
 धार्यमाण यत् आसन पीठ तस्य अवसाने लग्नानि खचितानि यानि रत्नानि मणय तेषा करा रश्मय तेषा
 प्रसरेण पल्लवितं किसलयितं यद्वयदेव आकाशमेव पादपस्तर तस्य आभागो विस्तारो यत्र । पुन कथभूत
 जिनम् । अतन्येति—अतन्यसामान्यम् अन्येन प्रासादादिना सामान्य सदृशम् अन्यसामान्य न अन्यसामान्यम्
 अतन्यसामान्यम् अनुपम च तत्समवसरण च सैव सभा रत्नमयी देवनिमिता सभा तस्याम् आसीना उपविष्टा
 ये मनुजा नरा दिविजा अमरा भुजङ्गा नागामुरा तेषाम् इन्द्रा स्वामिन तेषा वृन्द तेन वन्द्यमान पादार-
 विन्दयो चरणकमलयोर्युग्म यस्य त जिनम् । मद्भावीति—मम भाविलक्ष्मी भविष्यति काले प्राप्स्यमाना
 या लक्ष्मी सपद् सैव लतिका तस्या यद्वनम् आरामस्तस्य । प्रवर्धनेति—प्रवर्धनाय वृद्धयै आवर्जिता नम्रीभूता
 वारिपूरा जलप्रवाहा येषा तै चतुर्भि कुम्भे जिनं भगवन्त धीतराग स्तपयामि अभिषेचयामि । कथभूत कुम्भे.

नम-नरोयेनुपयोग्यरागैः नमसि सीवन्ति इति नम-सुखं देवाः तेषां नेनुः नमनेनुरित्यत्र तस्याः पयो-
 बराने पयसा बरा पयोबरा स्तना तेषामिव आद्या घोषा मीपां ते पयोबरानां तैः ॥५४॥ इति वसुः
 नोपकृतधामिनेकः । मन्त्र—ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं अ सि आ उ ङ सा नमोऽर्जुने नमवते मङ्गलमोकोटम-
 धरनाम श्रीमदुक्तधामिनेकं करोमि नमोऽर्जुने स्वाहा । नमोदकधामिनेकं छत्रस्त्रीकृत्यकृते इति—श्रीशिवप्रमदा
 बह्वैः कोकनये प्रति प्रमदं आह्लादय आह्लादयि आनयति इति श्रीशिवप्रमदायह्वं तैः शोकदयाह्लादकैः गणोदरैः ।
 जितरातेः स्तापनात् क्षमियेवमस्तु कस्यमोकरुते त्वं नानाभैः शोकाह्लादकैः परम् उत्तमं दया स्तापनाया पक्षैः
 किमर्थैः समुत्पन्नं मूर्ध्नि मय । तथा हे कर्मायाम् श्रीविनीत उतमप्रसादिकः नम एव माराम् क्षमियम्
 उपवनं तस्य संशोचनैकवचनं हे कर्मायाम् ॥ प्रकाशमुपगतत्वं मय्येतेभ्यो मय प्रकाशं निनरा मुमयः मुम्बरा
 त्वं मय्येतेभ्यो मय्यप्रनैराधाय मय । हे श्रीवासीष हे ज्ञानपते आत्मन् त्वं सर्वं प्रति धनुना मुहुः पुनः पुनः मूर्ध्नि
 मोहादीनि ततो जात वमस्तमः संतापकान्ति संविमुक्तं परित्यज । यतः शोकव्यामनादयमो जितपते दम्भोदर
 निमेषो जात ॥५४८॥ [नमोदकधामिनेकमन्त्रः—ॐ नमोऽर्जुने नमवते प्रसीदाद्येवमेव कस्यमया विम्वरेभ्योऽर्जुने
 नमः श्रीशान्तिनामाया धामिनेकराय धमविष्णुप्रकाशनाय तवरोपापमुत्पुनिनाशनाय सर्वपरकृत्युदोषविनाशनाय
 सर्वस्यामदामरविनाशनाय ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं अ सि आ उ ङ सा नम नम सर्वधामिने कुरु मम सर्वमुक्ति
 कुरु स्वाहा स्वाहा ।] आत्मविविधोकरम् । मुञ्जेरिति—विदुःशोचस्य निमज्जकेवकज्जालिनः जितेस्तव मुञ्जे
 निमज्जः उतरोदकैः उदगाद्यानौतैः नमोदकधामिनेकालम्बरैः केशकर्मैः उतरोत्तरसंज्ञैः उतम-उतमस्तर-उतम
 तमस्तरवाप्ये अवमुपस्त्रागम् क्षमियेकावनामस्त्रागं करोमि ॥५४९॥ [तन्मन्त्रः—ॐ नमोऽर्जुने नमवते
 मम सर्वधामिनेकवत् स्वाहा । स्वमस्तके नमोदकप्रत्येकम् ।] अपुना जितपूजने जितस्याह्लातविधानं कियते
 तस्य—अमुतेति—अस्य पक्षस्यानिप्रमो मय सर्वतया न जायते परम् क्षमियम् वसे अहंस्तरमेष्टिनं कर्मके
 संस्थाप्य विधिनाहं तं पूजये इत्युपायकः कथयति । अहं विमुक्तनवरत्नं श्रीशिवस्त्वित्तमस्येभ्योऽभीष्टकर्म
 जितं विधिना आपयोग्यपूजाप्रकारेण पूजयेयं मयेय । कर्म पूजयेयं कर्मके संस्थाप्य । कर्मयुते कर्मके कर्मावै
 कता एव इत्थं यस्य तस्मिन् । पुनः कर्मयुते निनादुवीजे निजस्य कर्मस्य अङ्गुलम् उदरे वीजं यस्य तस्मिन् ।
 पुनः कर्मयुते अमरवृक्षकर्मके अमरतेन प्रकारेण इत्या कथितं कर्मकोपी यस्य तस्मिन् । अमुतेन प्रकारेण
 कथितं कियते तन्मध्ये स्वकीयं नाम निक्षिप्यते कर्मावै पोषणवैष्यु अकारादयः स्वराः तिष्ठन्ते ॥५५॥
 [मन्त्र—ॐ ह्रीं ध्यातुमिरमीप्सितफलमेव्यं स्वाहा । इति पुष्पाब्जकः ।] अक्षपूजनम् पुष्पयोजनं
 झरजमिति—अहं पुष्पैर्बं शोभेन पूजयामि इति संज्ञाः । कर्मयुतं पुद्गलम् । पुष्पोपायनं धारणं पुष्पप्राप्तेः
 धारणं गृहम् । पुष्पगुणं पुष्पविचारणं पुष्पः आरामा यस्य तम् । स्वयमेति—स्वयस्य पुष्पयुते उचितम्
 आचरणं महापरादिकं यस्य तम् । पुनः कर्मयुतम् । पुद्गलविहितवैष्यु—पुद्गलेन हस्तेन विहिता इत्या उवा
 यस्य तं पुद्गलं पुष्पहातुः इत्याश्रीनामादयः देवाः पुद्गलवस्तु जितराजं पूजयामि शोभेन कर्तेन ॥५५॥
 [मन्त्र—ॐ ह्रीं अहं नमः परमेष्ठिन्यं स्वाहा । जलम् । जलपूजनम् । मन्त्रेति—मन्त्रः प्रचुरः मयो
 दर्शः धनः कामः एतो वमवति इति वमवस्तम् । पुनः कर्मयुतं जितम् । मन्त्रेति—मन्त्रः मुनेः उ
 वाही मिरात तस्य धितरैः शृङ्गे मन्त्रनाकतरे स्नातवये पुनः कर्मयुतं जितम् । उमेति—उमा तद्वी
 अमुदवति येमसरता सा वीतिरव एव कथितं वल्लो तस्याः वन्द्य उत्तरवापारम् जितं वन्दनवचनितं पुष्पैः
 ॥५५१॥ [मन्त्र—ॐ ह्रीं अहं नमः परात्मन्यं स्वाहा कर्मम् ।] उतपुनः । अपमेति—अध्यापि
 निष्ठायापि शीया वा ताव्येव तरवः कतास्तेषां बहूनि कर्म तस्य दहनम् अभिन्तं जितम् । पुनः कर्मयुतम् ।
 निष्ठामेति—विश्रामम् आपयं मूर्धं तरवः संज्ञैः उत्तराती अमुपस्त्रागम् योष्टस्त्रावयिष पुनः कर्मयुतम् ।
 आपमदीयानीयम् आनय एव शीया तरवः आशोचयिष प्रदारायिष जितं कर्मवचनैः ध्यातुमैः तन्मन्त्रैः कर्माभि
 ॥५५२॥ [मन्त्र—ॐ ह्रीं अहं नमोऽर्जातिविषयेभ्यः स्वाहा । जलपानम् । पुनः पूजना । हस्तेरिति—
 मुमुक्षुदरे जिनवासि मयवाभि । कर्मयुतं जितम् । हस्तेरतेन शृङ्गाररतेन विमुक्ता पीता मुनिः वचनम्
 जारेण मय नः तम् । विशानेति—विशानं कैवलायम् एव नमुनः तेन मुनिं ध्यातम् अरोपं वरम्

वृन्दम् येन त जिनम् । श्रीति—श्रीरेव मानस तन्नामक सरोवरम् तत्र कलहस मधुरशब्द कुर्वाण, हस इव जिन कुमुमसरं पुष्पहारं अर्चयामि ॥५५४॥ [मन्त्र.—ॐ ह्रीं अर्हन् सर्वनृमुरासुरपूजितेभ्य स्वाहा पुष्पाणि ।]

[पृष्ठ २४०] नैवेद्यपूजा अर्हन्तमिति—हविषा नैवेद्येन अर्हन्तम् आराधयामि । कथभूतम् अर्हन्तम् । अमितनोतिम् अमिता अनन्ता नीतय नया यस्य तम् अनन्तनयस्वरूपप्रतिपादकम् । निरञ्जनम् अञ्जनम् ज्ञानावरणादि कर्म तस्मात् निष्क्रान्तो निरञ्जन तम् । पुन कथभूतम् । आधिदावाग्ने 'आविर्ना मानसी व्यथा' इत्यमरः । आधय एव दावाग्निर्वनाग्निस्तस्य मिहिर प्रशमनकरणे मेघम् । पुन कथभूतम् । मुक्तिश्चोरमितमान-समनङ्गम् मुक्तिस्त्रिया रमित स्वस्मिन् अनुरक्त कृत मानस यस्य तम् ॥५५५॥ मन्त्र —ॐ ह्रीं अर्हन् नमोऽनन्तज्ञानेभ्य स्वाहा नैवेद्यम् । दीपपूजा भक्त्येति—जिन दीपं उपचरामि । कथभूतम् । भक्त्या गुणानुरागपरिणामेन । आनता ईषत् नम्रीभूता ये अमरा देवास्तेषाम् आशया मनासि तान्येव कमलवनानि तेषा यत् अराल तिमिरम् उत्कटम् अज्ञानम् अविकासित्व वा तद्विनाशे मार्तण्ड रविसदृशम् । पुन कथभूतम् । सकलसुखानाम् अनन्तसौख्यानाम् आराम उपवनभूत स चासौ कामद ईप्सिताना दायक । अकाम न काम इच्छा यस्य तम् ॥५५६॥ मन्त्र —[ॐ ह्रीं नमोऽनन्तदर्शनेभ्य स्वाहा दीपम् ।] धूपपूजा अनुपमेति—धूपैर्जिन यजामहे । कथभूतम् । अनुपमेति—अनुपमम् अप्रतिम केवलज्ञान वपुश्च शरीर यस्य तम् । सकलेति—सकलाश्च ता कला मतिज्ञानादयो अशा तेषा विलय नाश । क्षायोपशमिकज्ञानभेदा केवलज्ञाने समुत्पन्ने मति नावतिष्ठन्ते । सकोणसकलज्ञानावरणे भगवति अर्हति कथ क्षायोपशमिकाना ज्ञानाना सभव । न हि परिप्राप्तसर्वशुद्धौ पदे प्रदेशाशुद्धिरस्ति । अत सकलकलाविलयरूप केवलज्ञान तस्मिन्वर्तते यदात्मरूप य आत्मस्वभावस्तत्र तिष्ठतीति सकलकलाविलयवतिरूपस्थम् । पुन कथभूतम् । योगावगम्यनिलयम् । योगेन आत्मध्यानेन अवगम्यो निलय निवास मोक्षो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । निखिलग सकलवस्तुपु ज्ञानेन गच्छति इति निखिलग तम् । विश्वतत्त्वाना ज्ञातारम् इति भाव ॥५५७॥ मन्त्र —[ॐ ह्रीं अर्हम् नमोऽनन्तवीर्येभ्य स्वाहा, धूपम् ।] फलपूजा स्वर्गापवर्गेति—फलैर्जिनपतिमुपासे । कथभूतम् जिनम् । स्वर्गेति—स्वर्ग सुरलोक अपवर्गो मोक्ष तयोः सगतिं प्राप्तिं विधायिन कुर्वन्तम् । पुन कथभूतम् । व्यस्तेति—व्यस्ता विनाशिता जातिर्जन्म मृतिर्मरणम्, दोषाश्च क्षुत्पिपासादयो येन तम् । पुन कथभूतम् । ज्योमेति—ज्योमचरा विद्याधरा अमरा चतुर्णिकायदेवा तेषा पतय विद्याधरचक्रवर्तिनो देवेन्द्राश्च तै स्मृतं चिन्तित जिन फलं उपासे पूजये ॥५५८॥ [मन्त्र —ॐ ह्रीं अर्हन् नमोऽनन्तसौख्येभ्य फलानि ।] अर्घम् अम्भश्चन्दनेति—अम्भ जलम् । चन्दन तन्दुलोद्गमहविर्दीपं उद्गमा पुष्पाणि हविर्नैवेद्यम् एभिर्द्रव्यै । तथा सधूपं फलं धूपेन सहितै फलं अष्टद्रव्यै । अर्चित्वा पूजयित्वा । क जिनपतिम् । कदा स्नानोत्सवानन्तरम् कथभूत जिनम् त्रिजगद्गुरुम् त्रैलोक्यनाथम् । जिन पूजयित्वा स्तोमि स्तुवे । प्रजपामि त प्रभुम्, चेतसि दधे । तदनन्तर श्रुताराधन श्रुतस्य जिनवाण्या आराधन पूजनम् कुर्वे । त्रैलोक्यप्रभव तन्मह तत्पूजनम्, कालत्रये श्रद्धे ॥५५९॥ [मन्त्र —ॐ ह्रीं अर्हन्नम परममङ्गलेभ्य स्वाहा अर्घ्यम् ।] अष्टमङ्गलैः पूजनम् यज्ञैरिति—अष्टविधपूजनं मुदा आनन्देन देव निरुपास्य पूजयित्वा । पुन. पुष्पाञ्जलिसमूहेन पूरितपादासन जिनानाम् इन स्वामिनम् श्वेतातपत्रचमरोरुहदर्पणाद्यै छत्रत्रयचामरादर्शाद्यै आराधयामि ॥५६०॥ पुष्पाञ्जलि । [मन्त्र — ॐ ह्रीं अर्हन्नमो ध्यातृभिरभोप्सितफलदेभ्य स्वाहा । पुष्पाञ्जलिः । इति पूजा ।]

[पृष्ठ २४१] ६ पूजाफलम् । भक्तिरिति—जिनचरणयो जितपदयो नित्य भक्ति सदा भक्तिरुपासना । सर्वसत्त्वेषु चतसृषु नरकादिगतिषु सीदन्तीति दु खमनुभवन्तीति सत्त्वा प्राणिन । सर्वे च ते सत्त्वाश्च सर्वसत्त्वा सकलजीवा । तेषु मैत्री तेषु दु खानुत्पत्तौ अमिलाप । सर्वत्र भूयादित्यनेन सवन्ध । सर्वातिथ्ये सर्वेषाम् आतिथ्ये गृहागते सकलाभ्यागतजने मम विभवघो मम धनविनियोगो भवेदिनि घोरभि-प्रायो भूयात् । अव्यात्मतत्त्वे अध्यात्मशास्त्रनिगदितात्मस्वरूपे । मम बुद्धिर्भूयात् वर्तताम् । सद्विद्येषु सत्ते प्रसात्ना लोके धर्मोपदेशिनो विद्या येषा ते सद्विद्यास्तेषु प्रणयपरता प्रीतितत्परता । परार्थे परोपकारे चित्तवृत्ति मनोऽभिप्राय । हे भगवन्, यावत्काल त्वदीयं तव सवन्धि, धाम तेज भवति तावत्काल मम एतत् पथकथित

पुनश्च मयत्तु ॥५९१॥ भावविधिरिति—हे देव मम प्रातर्विधि-प्रभातकाशीनं कामम् । तव पाशान्मुक्तं
पूजनेन चरमकर्मणो पूजया यायात् स्थीतो मयत्तु । अयं मध्याह्नसंविधि- इयं मध्याह्नवेला भूमिमानेन
मुने यत्र मानेन पूजया आहारदानेन । मम सायन्तोष्ये समयं कालः देव त्ववाचरमकीर्तनकामिनी
तव आचरन् व्रततपोध्यानादिकं चारित्रं तस्य कीर्तनं प्रार्थया तस्य कामिनेन इच्छया । किन्मस्रमं मम
व्रततपोध्यानादिकं कथा स्मरितं आर्चनेन यायात् गच्छेत् ॥५९२॥ धर्मेष्टिमिति—धर्मेषु उत्तमसमाधि
दण्डमचिरनेषु । यमनिरतास्मि धर्मे रत्नत्रये निरतः आत्मा येषां ते यमनिरतास्मान् भावका भाविका
मृतमः आधिकारयेति ज्ञातारः संवास्तोषु । यमहेतुं यमचिरपथाधने जिनसत्त्वाद्यभावात् । नृपः अनुकूलं वस्तु ।
कर्ममूलाः सः ? यमादवाप्तमहिमा यमाचरत्वात्कर्मप्रभावात् । तथा जिनन्त्रेति—जिनपतिपञ्चपूजनपुण्यात्
जया मुक्तवत्य प्रचारश्च कर्तुर्भवितव्यः नित्यं परमां धियम् उत्तमां धियं कथमी आप्नुवन्तु सन्ताम् ।
इति पूजाकर्म ॥५९३॥ आकस्यात्—अपुपः आकस्यात् मांसात् । कमधि अनुस्साहत्यात् । हृषीकेश्वरी
हृषीकामो मेधावीन्द्रियाणां हारणे ज्ञानोपयोगपरत्वात् । आरमणः स्वस्य व्याघ्रेपती वा ज्ञानकार्यसाधकतया
वा । मनसा चापस्यात् । मतेर्बुद्धेरुच्यतया वस्तुत्वक्यानाकल्पतया । आकसीयते मांसेन । वचनस्य सीयते
स्पष्टास्वरवक्तृत्वं तस्मिन् मांसेन स्पष्टवचनरत्नेन । हे देव तव संस्तवेषु पूजाधिकार्येषु एव प्रभावात् जगत्प्रापता
समभूत् । स मे निष्ठा निष्ठा स्तुतं मयत्तु । ननु निश्चये यतः देवताः प्रचयिता प्रार्थनां कुर्वता मकरा
तुल्यमिति प्रसन्ना मयति ॥५९४॥ देवपूजामिति—यो मुहुर्यः देवपूजाम् अर्हवाचिपञ्चपुञ्जम् अविर्गम
मकृत्वा मुनीन् उत्तमपात्रभूताम् यतीन् अनुपचर्य उवीर्याम् आहारदानसेवा अविनाय य मुञ्चोत मोक्षं
कुर्वीत स परं तम अस्युत्कटं बुद्धं भुञ्जोत ॥५९५॥

इत्युपासकावधाने स्तवप्राथम्यविधिवान् पदमिता कथाः ॥३६३॥

३७. स्तवनविधिनाम सप्तत्रिंशत्तमः कथा ।

[पृष्ठ २४७] जमदिति—उ जिनो देव शीघ्रम् सर्वोत्कर्षं प्रतिपीड । यस्य अद्भिदुर्गमं परं
द्वन्द्वं अवापाय ओद्विपायते । कुर्वेति नेष्टुप्यते-जमदिति—जमत्वा जमस्तुर्वयः वैश्वद्य तेषां भौतिकप्रसङ्गे
मुकुटसमूहे विजयानि यजितानि यानि रत्नानि मलय तेषां अवनः कथा तेषां निष्ठा समूहं तेन मुकुटप्रसिद्धम्
गमने गमति ॥५९६॥ सुरपतिमुक्तिमवसामिति—सुरपात्रं पणम सुरपत्य सोमनाशश्च इन्द्राः तादां
मुक्तयः सन्त्यादयो देव्यः तादां भवतां कर्माणाम् । अवरेति—अवरतवः वस्तुषु तस्य स्मेरा विनाशमत्ता
या मन्त्रयं मन्त्रु मनेन्द्राणां राप्तीति मन्त्रयं अविजयनिर्गता आरणां सुहृदां सुहृन्मुमा मन्त्रयं तादां
संरपयं दधिर् जमोर्जं यस्य चरययो वायवो नक्षत्राणि किरणजालम् । उ जिनो जमति मृतके अवतात्
सर्वोत्कर्षम् अवाप्नोतु ॥५९७॥ जमदिति सुरपतीति पद्यार्थं बर्मेष्टम्यावितोपायम् । दिविनेति—
दिदि जामते इति दिविना देवाः तेषां भुञ्जतः गमः ऐरावतः तस्य नीली वल्लभे यानि मन्दरादि अम्बार
तद्गुणानि तेभ्यो निर्गतं मकरन्दस्य रसः प्रसन्नं तेन भुज्या ये करविहारां सुखासमूहाः तस्य आचारेण
पादान्गतेन भुनक्तु वज्राम्बुजे वरजम्बे वरय स तस्यैवोपनीकचन पदाम्बुजः वैराग्यपरमार्थ वैराग्यस्य
विदायो विद्वान् तस्य भावो वैराग्य वैकुण्ठं तस्य परमपद उतमाधार वैवल्लभाधारः । प्राप्नो वाहे जयो तेन
तत्तन्दीपनं प्राप्नवाहयः । विजिनमविजय विजिन वराजितः समविज जमति वायव इति मन्त्रयं गमयः
येन तत्तन्दीपनम् । मातामह्यः । अनुगही—यस्यवासिनि—हे जिव अमितगुणं त्वां जिता मातुं यजता
गुणा यस्य स विजयुषः स विजयुषोऽविजयुषः अनन्तगुणः स्वम् । त्वाम् अनन्तगुणं वदितानावचिषोः उमवति
ज्ञानः । विरचितम् नृपः कितोर्धं पश्यति कैवलिं विमललीनि विरचितम् । यदि स्त्रीनि त्वां मृतं तर्जं जयो
विदितम् हत्येन अविदितं योऽयं वाञ्छनानीन् मुक्त्वपचनं मेरं गुणयति विराटविमोर्जनीति ज्ञानु

मिच्छति । हे भगवन्, तत्र गुणानां स्तत्र कर्तुं वाञ्छन् जन तत्पारं न कदापि प्राप्नोतीति ज्ञेयम् ॥५६८॥
 स्तोत्रे इति—यत्र स्तोत्रे अनवधिवोधा न अवधिवोधे ज्ञाने येषां ते अनवधिवोधा अमितज्ञानिनः । चिन्ता
 स्तोत्रं भगवतो विधास्याम इति तद्वत्पुं मुमुक्षु त्यक्तवन्तः । पुनः कथं भूनाः । सकलैतिह्येति—ऐतिह्यं नाम
 आप्नोपदेशं श्रुतज्ञानं वा, स एव बन्धुविधिं गम्य तस्य विधिं स्वाध्यायं तस्मिन् दशाश्चतुराः । महामुनि-
 पक्ष्या महामुनयो गणपदेवाद्यः । तत् पदम् अवलम्बमाना तत्सदृशाः । चिन्ता तत्पुंस्तत्र तस्मिन् प्रभु-
 स्तोत्रे मादुर्गन्धे मत्सदृशं विद्वान् कथं चिन्ता न त्यजेत् ॥५६९॥ तदपीति—तदपि च तथापि च यद्यपि
 बहु गणधरादिसदृशमतिर्नास्ति । मयि तथा स्तवनशक्तिर्नास्ति । तथापि हे जिन, त्वयि विषये अहं किमपि
 वक्ष्ये वक्ष्मि । यत् यत् एव भजिनं मां कामम् अतिशयेन स्मर्य तूष्णीं न कुरुते । त्वयि विषये मदभक्तिर्हे देव,
 किमपि स्तवनं कुरु इति मां प्रेरयत्येवेति भावः । अतोऽहं त्वां स्तोतुमुद्यतोऽस्मीति ॥५७०॥ सुरपति-
 विरचितेति—हे जिन, कः तव गुणं प्रवितनुतां स्तुतिपथं नयतु न कोऽपि । सुरपतिर्देवेन्द्र तेन विरचितो
 विहितः गन्तव्यं स्तुतिं यस्य तत्तवोद्यतं हे सुरपतिविरचितमस्तव दलितेति—दलितो विनाशितः अखिलो
 भवः ससारो येन तत्तवोद्यतम्, परमेति—परमम् अत्युत्तमं धाम वीर्यम् अनन्तशक्तिः, तेन लब्धं उदयः
 प्रातिहार्यादिवैभवं येन । अघेति—अघं पापं तस्य हरणे नाशने चरणं चारित्र्यं यस्य तत्तवोद्यतम् । हे
 हतनतभयं हतं नतानां भवतानां भयं येन तत्तवोद्यतम् हे हतनतभयं ॥५७१॥

[पृष्ठ २४३-२४४] जयेति—जयेति सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कथं भूतं त्वम् । निखिलेति निखिलाः सकलाः
 निलिम्बाः देवाः तेषाम् आलापं गुणस्तुतिं तत्र कल्पं योग्यं । जगतीति जगत्या विश्वेन विश्वेन, स्तुता चासौ
 कीर्तिश्च सैव कल्पं भार्या मां तत्त्वे शय्यायां यस्य । जयं सर्वोत्कर्षेण तथा भूतं त्वं वर्तस्व । परमेति—परमश्चासौ-
 धर्मश्च तदेव हृदयं प्राप्ताद तत्र अवतारः जन्म यस्य । लोकेति—लोकानां त्रितयं लोकत्रितयं जगत्त्रयं तस्यो-
 दरणे कुगतेरुद्धरणे सारो रत्नत्रयवलयस्य सः । अत्र कल्पं, तल्पं, अवतारं, सारेति शब्दानां सवोधनैकवचनानि
 ज्ञेयानि ॥५७२॥ जयेति—ऋदमीति लक्ष्म्या प्रातिहार्यलक्ष्म्या समवसरणरमायाश्च करो हस्तौ तावेव
 कमले ताम्भ्याम् अचितं पूजितम् अङ्गं शरीरं यस्य तत्तवोद्यतम् । सारस्वतेति—सारस्वत्या अयं सारस्वतः स
 चासौ रसः तेन नटने नर्तने आद्यरङ्गं प्रथमा नर्तनभूमिं तत्तवोद्यतम् । केवलबोधे जाते सति द्वादशाङ्गश्रुतदेव्या
 जिनवदनं आद्यरङ्गभूमिर्जातमिति भावः । हे जिन जयं सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कथं भूतं जिनसवोधनम् । बोधेति-
 बोधस्य केवलज्ञानस्य मध्ये सिद्धा ज्ञाता अखिलार्था सकलजीवादिवस्तुनिवहा यस्य तत्तवोद्यतम् ।
 मुक्तिश्चेति—मोक्षलक्ष्मीरमण्या रत्या सभोगेन कृतार्थं कृतकृत्यं तत्तवोद्यतम् हे जिन त्वं जय ॥५७३॥
 नमदिति—नमस्तस्य ते अमराश्च नमदमरा नम्रीभूता सुरा तेषां मौल्यं किरीटानि तान्येव मन्दरस्य
 मेरोः । तदन्ता तत्र राजन्तः शोभमाना पदयोः ये नखा त एव नक्षत्रकान्तं चन्द्रो यस्य तत्तवोद्यतं हे राजत्पद-
 नखनक्षत्रकान्तः । विबुधेति—विबुधानां देवानां स्त्रियं तासां नेत्राण्येव अम्बुजानि कमलानि तानि विबोधयतीति
 विकासयतीति विबोधं तत्तवोद्यतम् । मकरेति—मकरं ध्वजे यस्य मकरध्वजं कामं तस्य धनुः कोदण्डं तस्य
 उद्वगम्य उत्सवस्य निरोधं प्रतिवन्द्यं तत्तवोद्यतम् । हे जिन त्वं जयं सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कामविनाशक
 जिन त्वं सदा जयेति ॥५७४॥ बोधत्रयेति—बोधानां मतिश्रुतावधीना त्रयं बोधत्रयं तेन विदितं ज्ञातं
 विधेयतन्त्रं कार्यपद्धतिर्येन तत्तवोद्यतम् । तव परत्र अन्यस्मिन् पुरुषे का नाम अपेक्षा । अन्यस्मात्पुरुषात् कार्य-
 स्वरूपज्ञानस्य नापेक्षा भवत्यस्तीति भावः । अत्र निदर्शनम्—असुभूजजनस्य प्राणिसमूहस्य प्रबोधं व्यपगतनिद्रा-
 वस्थां दधतः तन्वतः, अरुणस्य सूर्यसूतस्य कोऽपि गुरुः अस्ति किम् । नैव विद्यते स्वयं प्रकाशशील एव स
 ॥५७५॥ निजवीजेति—महति महापुरुषे निजवीजवलात् निजं बीजं कारणं तस्य वलात् प्रभावात् सामर्थ्यात्
 मलिनापि धीं दोषवत्यपि मतिं हे अभव हे ससाररहितः । परमा शुद्धिं भजति आश्रयते । अत्र निदर्शनम्—
 युक्ते अग्न्यादिकारणसामग्र्या कनकाश्मा सुवर्णपापाणं हेमं सुवर्णं सपद्यते । किं कोऽपि तत्र सुवर्णं विवदेत
 नाम, नेदं सुवर्णम् इति विप्रतिपत्तिं कुर्यात् किं कोऽपि । यस्मिन्नासन्नभ्यात्मनि मलिनापि धीं रत्नत्रयकार-
 णानि संप्राप्य निर्मला भवति विधिज्ञत्वं प्राप्नोति ॥५७६॥ परिमाणमिवेति—यथा परिमाणं परमाणो

गुणवर्धनमवतु ॥५९१॥ प्रातर्विधिरिति—हे देव मम प्रातर्विधिः प्रभातकालीनं कार्यम् । तत्र पादाम्बुज
पूजनेन चरकक्रमस्यो पूजया मायात् व्ययीतो मवतु । अयं मध्याह्नसंनिधिः इयं मध्याह्नवेला मुनिमाननेन
मुने मते ममानेन पूजया आहारदानेन । मम सायन्तमोऽपि समयः काका देव त्वयाचरकक्रीडनकामितेन
तत्र आचरन् व्रततपोध्यानाधिक्यं चारित्रं तस्य कृतं प्रवृत्ता तस्य कामितं हृत्तया । जितेन्द्रियं मम
व्रततपोध्यानादिकं कदा स्मरिषि मायसंनय मायात् गच्छेत् ॥५९२॥ धर्मपिबति—धर्मेण व्रतमक्षमादि
व्रतधर्माचरणेण । धर्मानिरतात्मसु धर्मं रत्नत्रये निरता आत्मा मेवां ते धर्मनिरतात्माना मायका भाविका
ममयः भाषिकारपति चत्वारः संवास्तेषु । धर्महेतु धर्माचरणसाधने जितधीत्यात्मधी । नृपः प्रमुक्तः अस्तु ।
कर्मनृपः स ? धर्माववाप्तमहिमा धर्माचरणसाधनप्रसाध । तथा जितेन्द्रियेति—जितपतिपदपूजपुष्पात्
मन्याः मुक्तवत्यः प्रकाशः चतुर्वर्णवत्यः नित्यं परमां दिवम् उत्तमां धियं ध्वनी आप्नुवन्तु कर्मन्ताम् ।
इति पूजाकर्मम् ॥५९३॥ आत्मस्वात्—अपुनः आत्मस्वात् मायात् । कर्मणि अनुराहात् । हृषीकेश्वरौ
हृषीकामो नेशादीन्द्रियाणां हृषी अयोपयोमपरत्वात् । आत्मनः स्वस्य व्याखेपतो वा अन्तर्कार्यव्याप्यकृतवा
वा । मनसः चापस्वात् । म्तेर्बुद्धेर्बुद्धया वस्तुस्वक्यानाकननत्वा । वाक्योच्छ्वे माय्येन वचनस्य छीष्ट्यं
स्पष्टासारवक्तृत्वं तस्मिन् माय्येन कृतवचनपदत्वेन । हे देव तव संस्तवेण पूजाविकार्येण एव प्रसाधः जननवान्ता
समनूत् । स मे निम्ना किकम् स्वात् मवतु । ननु निम्नये यतः देवताः प्रवयिता प्रार्थनां कुर्वता मन्त्रा
तुष्यन्ति प्रसन्ना मवन्ति ॥५९४॥ देवपूजामिति—यो नृहस्वः देवपूजाम् अर्हादिप्रकम्पुस्त्वजम् अभिममि
अङ्गत्वा मुनीन् उत्तमपात्रभूताम् मतीन् अनुपचय तदीयाम् आहारदानसेवा अविधाव च मुञ्जीत योऽर्क
कुर्वति स परं तम अत्युत्कटं बुद्धं मुञ्जीत ॥५९५॥

हनुवासाकर्मधमने स्वपनाचैर्वाविधानं पद्विधः कल्पः ॥३६॥

३७ स्ववनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २४२] नमदिति—स जिनो देव जीमात् वशीकर्षेण वतिवीष्ट । अस्य अर्धप्रनुषं पद

हन्तुं अक्षयवतः कोटिहायते । कुनेति नेकुप्यते-नमदिति—नमत् नमस्कुर्वन्तः विसृज्य तेषां मौक्षिमन्त्रे
मुकुन्तमुद्दे विहङ्गानि खचितानि यानि रत्नानि मन्त्राः तेषां अक्षयः कटाः तेषां निकरः समूहः तेन मुक्तेऽस्मिन्
गमने नमति ॥५९६॥ सुरपतिवृत्तिप्रवृत्तमिति—धुपवा पतवः सुरपतवः धीवर्मेन्द्रावह इन्द्राः तासां
पुवतनः अध्याह्नो देव्यः तासां मन्त्रा कर्मानाम् । अमरेति—अमरतकः कल्पवृक्षः तस्य स्तेराः विकारमात्राः
माः मन्त्रय मन्त्रु मनोज्ञता राज्ञीति मन्त्र्यं अभिनवनिर्वृता आगताः मुकुमायाः मुकुमुमाः मन्त्र्यं तासां
संस्पर्धेन वधिरं मनोज्ञं यस्य वरकयोः पादयोः नञाणां किरणवाक्यम् । स जिनो वदति भूतले वयसात्
सर्वोत्कर्षम् अध्याह्नो ॥५९७॥ नमदिति सुरपतीति पञ्चमं वर्षचन्द्रावधिषोपाकम् । द्विजनेति—
द्विज आगन्ते इति द्विज्याः देवाः तेषां कुम्हारः पत्राः देवावहः तस्य वीथी यस्तके यानि मन्त्राणि मन्त्राः
तन्नुमानि तेष्यो निर्गतस्य अकरन्त्यस्य स्वस्य प्रसवर्णं तेन मुक्ता ये करविधराः मुक्तामुद्गा तस्य आचारेण
चापतपातेन वृद्धे पद्याम्बुजे पदकमले यस्य सः तत्संशोधनकवचनं पद्याम्बुजः वैद्यम्यपरपदव वैद्यम्यस्य
विद्ययो विद्यान् तस्य मायो वैद्यम्यं वैदुष्यं तस्य वरमपह उत्तमाचार कैवल्यज्ञानाचारः । प्राप्तीं वादे वयो येन
तत्संशोधनं प्राप्तकारकम् । विहितपनधियं विहितं पराजितं मनसिधं मनसि ध्यायते इति मनसिधं मन्त्रः
देव तत्संशोधनम् । भाषाच्छब्दः । अनुपदी—यस्त्वामिति—हे जिन अधितगुणं त्वां दितां मातुं पयवा
मुवा अस्य स मित्रमुचः न मित्रगुणोऽस्मिन्मुचः अनन्तगुणः त्वम् । त्वाम् अनन्तमुचं वदितत्पदविधोः तमवोद
दानः । विप्रविषत् मुचः किंतेन पश्यति कैतवि विगतवतीति विप्रविषत् । यदि स्तीति त्वां नूनं तर्कं अती
विप्रविषत् हस्तेन अधिराजं धीशं राजन्मनीशं मुचवर्षतं मेरे तुल्यमिति क्रियत्परिभाषोऽस्तीति आतु

उच्यते ब्रुवन्ति ॥५८४॥ अद्वैतम् इति—कोऽपि ब्रह्माद्वैतवादी अद्वैत तत्त्व वदति । सोऽपि सुधियां सुष्ठु धीः बुद्धि येषां ते सुधियः । तेषां सुधिया विदुषाम् । धियः बुद्धिम् । न आतनुते न विस्तारयति । अद्वैतिनो मतं सुधीनो न रोचते इति भावः । यतः यस्मात् । हे शिवशर्मसदनं मुक्तिमुखानां गृहीभूतं जिनेश्वर । अत्र अद्वैत-मते पक्षस्य, हेतोः, दृष्टान्तस्य, वचनस्य सत्त्वा स्थिति कुतो भवेत् ? द्वैते एव पक्षहेतुदृष्टान्तानां मभवेत् । नास्ति तत्सम्बन्धोऽद्वैते ॥५८५॥ हेताविति—हेतोः सति कारणहेतोः कार्यहेतोः विद्यमाने अनेकधर्मसिद्धि भवति । कार्याणि दृष्ट्वा कारणान्यनुमीयन्ते । समर्थकारणे सति कार्यम् अवश्यं भवति । जिनेश्वर एवम् अनेकधर्मप्रवृद्धिं जीवादिसत्तत्त्वानां सिद्धिम् आख्याति कथयति । विशिष्टधर्मलक्षणसद्भावात् पृथक्-पृथक् तत्त्वसिद्धि भवति । यथा ज्ञानधर्म जीवतत्त्व निश्चिनोति । स्पर्शादयो धर्मा पुद्गलतत्त्वम् । अन्यत् पुनः कथञ्चित् नित्यम् कथञ्चित् अनित्यम्, कथञ्चित् भिन्नम् कथञ्चित् अभिन्नम् । अखिलमतव्यतीतं नित्याद्येकान्तमत-भिन्नम् । हे उरुनयनिकेत उरवो महान्तः ते च ते नयाश्च नैगमादयः । तेषां निकेतं गृहभूतं हे जिन तव मतम् ब्रह्माति प्रकर्षेण शोभते ॥५८६॥

[पृष्ठ २४७-२४९] मनुजत्वमिति—मनुजत्व पूर्वम् आदौ यस्य एतादृशः । नयनायकस्य सकलनैगमादिनयानाम् अधोशस्य सकलनयचक्रस्य ज्ञातुः । गुणोत्तमस्य गुणानां केवलज्ञानदर्शनशक्तिमुखानाम् अन्ततानां प्राप्तैरुत्तमस्य श्रेष्ठत्व प्राप्तस्य । भवतीति भवन् तस्य भवतः सतः, भवतः पूज्यस्य । ये द्वेषकलुष-विषणा वैरमलिनमतयः भवन्ति ते भवन्त रहन्ति त्यजन्ति । ते जडज भौक्तिकमपि रहन्ति । जलज भौक्तिक मत्वा रहन्ति त्यजन्ति । यथा कश्चित् मूर्खं जलान्मौक्तिकं जातं वीक्ष्य जलवत्तत्त्वजतिं तथा भवान् आदौ मनुष्य आसीत् तदनन्तरं धातिकर्मक्षयं कृत्वा नयनायको जातः परं द्वेषिणं मनुष्योऽयमिति मत्वा अवमत्य भवतः अवमाननं कुर्वन्ति । अहो मूढत्वं तेषाम् ॥५८७॥ नाप्तेषु इति—यः एकम् ईश्वरं एव आप्तं मन्यते स आप्तेषु बहुत्वं न सहेतः । पर्यायविभूतिष्वपि न महेतः । पर्याया ईश्वरस्य वराहाद्यवतारास्तेषां विभूतिषु वैभवेषु स न महेतः पूजयेत् ? अपि तु न पूजयेत् । यतः स एकम् ईश्वरं विना अन्यान् तदवतारानपि आप्तरूपान् अमन्यमानः कथं पूजयेत् । नूनं द्रुहिणादिषु तथाविधेषु देवतेषु तस्य कः स्फुटति । तथाविधेषु ईश्वरावतारेषु देवतेषु देवमन्येषु तस्य एकमेवास्तं मन्यमानस्य न कः मस्तकं कथं स्फुटति कथं नमति नैव नमेत् ॥५८८॥ दीक्षास्त्विति—हे इति हे प्रभो, सकलगुणैः व्रततपसमित्यादिगुणैः रत्नत्रयरूपे अहीनं न हीनं न अपूर्णं तत्संबोधनं हे अहीनं, दीक्षासु महाव्रतदीक्षासु, अणुव्रतदीक्षासु च । तपसि अनशनादिके द्वादशविधे, वचसि च पूर्वापरविरोधानवकाशे यत् यस्मात् इह ऐक्यम् एकरूपतां अविरोधतां वर्तते । तस्मात् बुधोचितपादसेव बुधै-रचित्वा कर्तुं योग्या पादयोः सेवा यस्य स तत्संबोधनम्, बुधोचितपादसेव । त्वमेव जगतां नाथोऽसि इति ब्रवीमि । अन्येषां हरिहरादीनां दीक्षातपोवचसु ऐक्यं नैवातस्ते श्रैलोक्यस्वामित्वानर्हा एव ॥५८९॥ देवेति—हे देव दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे इति देव परमाराध्य तत्संबोधनं हे देव । तथापि कोऽपि नर त्वयि विमुखचित्तं पराङ्मुखमना भ्रमति तर्हि स एव निन्द्यो भवति । विदलितेति—विदलिता विनाशिताः मदनस्य विशिखा वाणा येन स तत्संबोधनम्, हे जिन, धूके दिवापि विदूशि नेत्ररहिते यथा निन्द्य तथा त्वयि विमुखचित्तो नर निन्द्य एव । परं यः विदूशो न (?) अन्धानां स्वामी तः न कोऽपि उपलभते दूषणं ददाति । दिवा दिने धूके विदूशि अन्धेऽपि इति सूर्यं स उपलभते परं अन्यः कोऽपि सूर्यं न निन्दति ॥५९०॥ निष्किञ्चन इति—निष्किञ्चनोऽपि न किञ्चन धनधान्यादिपरिग्रहो यस्य । निर्गतं किञ्चनात् असौ निष्किञ्चनः निष्परिग्रहोऽपि त्वं जिन जगते त्रिलोकाय कामितानि अभिलषितानि निकामं यथेष्टं न दिशसि न ददासि । भक्तानाम् अभिलषितानि त्वं निष्परिग्रहोऽपि पूरयस्येव । अत्र चित्रं विस्मयो नैव । अथवा इह खात् आकाशात् सूयस्वरूपादि वृष्टिः किमु नो समस्ति नो चकास्ति न शोभते अपितु शोभते एव । पद्धतिकाच्छन्दः ॥५९१॥ इति—एव तदमृतनाथ तत्तस्मात् अमृतनाथ अमृतस्य मोक्षस्य नाथ स्वामिन् । स्मरशरमाथ, स्मरस्य कामस्य शरान् उन्मादमोहनसन्तापनादीन् वाणान् मथ्नाति पीडयतीति स्मरशरमाथ । तत्संबोधनं हे स्मरशरमाथ । त्रिभुवनपतिमतिकेतनं त्रिभुवनस्य पतय स्वामिनः धरणेन्द्रादयः तेषां मते मान्यतायां निकेतनं गृहं तत्संबो-

वर्धमानम् अतिष्ठयेन विनयि जाकाणे मुक्तां महत्तमताम् उपैति प्राप्नोति । तथा मतिं अतिष्ठयेन वर्धमाना गरि कस्मिन्विद्यारमणि उष्णैर्गुक्ताम् उपैति प्राप्नोति । एत् तस्मात्कारणात् द्विजस्य सर्वज्ञं निवेद्यतो मीमांस कस्य विद्वद्भिरनिन्द्या सर्वज्ञमिन्द्या हे देव कस्य चित्ते विद्याम्याति तिष्ठति । स्थानं न ज्ञमते इति धाम । बोधोपरचर्चोनि सेवमाहात् कविप्रवाराणा सर्वज्ञो भवत्येव ॥५७७॥ कपिलो यदि इति—महि कपिक साङ्ख्यवर्धनस्य प्रवेता अचित् अचेतने प्रमाने चित्ति ज्ञानम् इच्छति तर्हि सा सुरमुखोर्गुप्तेभ्ये पठति सुराणां देवानां गुरु सपाम्याय बहुल्यतिः तस्य यो वर्धनं चार्त्तिकवर्धनं तस्य गुप्तेषु रचनासु एव कपिक पठति इति मयामहं वयम् । य च ब्रह्मस्यति श्रीवचनरीरमेवात्मा नातो भिन्न कविप्रवाराणा नाम स च आत्मा मर्मादिमरपर्यन्तमेव वर्धयितुं मरणाचोत्तरं नास्ति भवान्तरम् । इति मयते । कपिलोऽपि—श्रुतौ अचे- तनायां धवजस्य मयमानं ब्रह्मस्यतिभुवराति । हे विहित हे सर्वज्ञ अहम्, वैजयं केवलं स्वस्वमाभयपरिच्छेदं बाह्यमाह्वरितं वटपटाविद्याह्वारम् अद्याह्वरं तर्हि यत् कस्य उपयोगि स्यात् ? नर अतः हे अहम् मवावेव यकार्यदर्शी । आत्मा एव बोधोपरचर्चहाने सर्वज्ञो जायते इति वदति तदैव सत्यम् ॥५७८॥ भूपवनेति—नृ- पूज्यो पवनो वायुः वर्धनं अहम्, जलकोऽग्निः इति तस्मान्येव तत्त्वकानि तेषु तत्त्वकेषु । विपश्नः ब्रह्मस्यति विमर्शं निन्दुमाति त्रतिपादयति । एतत्तत्त्वचतुष्टयम् इति वदति । परन्तु तद्विपरीतकर्मकामि एव विपरोतस्वभा- वात्स्ये विधि आत्मनि विमर्शं न ज्ञोति । ज्ञानं भूतचतुष्टयाग्निर्यं नेति मयते तसु तेभ्य तत्त्वघटे इति मयते । तस्मान्न तस्य भूतचतुष्टयस्य कम कार्यं मयते परं तत् आत्मनो वर्धनं न भूपवनाधीना इति ज्ञेयम् ॥५७९॥

[पृष्ठ २४८-२४९] विज्ञानप्रमुखाः इति—विज्ञानं प्रमुखं तेषु ते विज्ञानप्रमुखा सुधारय- गुणा । विमुचि विद्येयेन मुञ्चति इति विमुच्य तस्मिन् विमुचि मुक्तारमणि न सति । इति इत्य वाचि व्याख्याने कृतं नमः वर्तते । मुक्ती बुद्धिबुद्धिबुद्धिबुद्धिनां नवानां गुणानाम् अत्यन्तोच्छेदाम्नेसः इति वैदित्यिको वदति । तस्य मते मुक्ती गुणा न तिष्ठन्ति इति तत्र मुक्त्यवस्थाया पुमानपि आत्मापि नैवेति मय्याम् । एहम् श्रीम्यात् ब्रह्मोऽग्निः अपरम अन्धम कं तिष्ठति ॥५८॥ धरणीधरेति—धरणीधरं पर्वत धरणि- पूज्यो प्रभुनमः तस्मात्तद्वत् तान् निरिष्य धरंकर ईश्वरं मुञ्चति । ननु निपनुद्वापि वटपुद्वापिकं निरिष्य- कटोति इति वचनम्यम् । यदि वटकमेव कर्म निरिष्य कटोति तर्हि तस्मात्तान् किं प्रयोजनम् । विपश्न आत्मनं वर्तते । यत् यत् तद्वर्त्तति कोषेषु महामयाति म्हाकोटिमणि सति ॥५८१॥ पुरुषत्रयमिति—इष्टिर ब्रह्मायः पुत्रत्रयम् । अवकाशवत्तमूर्ति अवकाशम् अवशीपार्वतीयाविम्वारिपु नारीपु बाधकता मूर्ति शरीरं वत्स- तत् । अत एतस्य आत्मनस्य कृतं न संभवति । श्रीलोचयस्त्रावि न तत्र कर्तृत्वं संभवेत् । अपरा शरीररक्षित- अनाविमुक्ता ईश्वरं सृष्टिर्ज्ञा वैधक्या वा स्यात् इति च नैव संभवति । वत् स वत्कामकोटि वत्तवत् नम्यघटोर इति वत्स कीटि वदति पश्ये । एवं सति हे नात्र जिन अत्र अवति अस्मिन् । द्विजसुर्धं बाह्यजानां वैश्विकं कर्म हिताहिनिपयम् आभाति द्योतते । वैदस्य ईश्वरकृतत्वं न संभवति । तत्त्वच स द्विष्टाहिते न कुप्यत् ॥५८२॥ सोऽहमिति—हे बौद्ध वः अहं बाह्यवदति वास्यावस्थायाम् अपूर्णं प्राग् वाच्यं स एव अहम् इति निरिष्यन्तु निरवधं कुर्वन् बाधिकमर्तं बह्वतिः । सर्वं धार्मिकं सरवात् इत्यनुमानेन निर्वं स्वकर्म- तव आत्मनः स्वकर्म धार्मिकं नैव तिष्ठयेत् । सर्वथा धार्मिके आत्मनि सन्तानोऽपि अत्र न स्यात् । अपरामुष्ट- मेवा- कार्यकारणतया- संतानः इत्यपि सन्तानकटां नैव तिष्ठयति । एकरथायै विरवत्तायायै च पूर्वसन्- वारयम् अतर्द्ध- कार्यम् इति न ज्ञेयम् । तत् कार्यकारणमाभावात् सन्तानतिष्ठि न । अस्त्यै वाचनापि न । यदि वत्स- पूर्वात्तरवत्स- तेनापि प्रयोजयतिर्धर्मः । अन्वये सति सर्वथा धार्मिकत्वं हीयते । धार्मिकमय- प्रतिपादकेन गुणतेन तेन अन्वयमाय- यापि न प्राप्य ॥५८३॥ चित्तमिति—चित्तं ज्ञानम् । वर्धयतु तत् । अद्यम् इष्टिपोत्तमम् । तत् चित्तार्कं न पूर्वात्तानोचनसन् न । अक्षिप्तं सचिदर्थं ज्ञानम् । सोऽहमिति- साना पटारक- स्थिरतनुपराधानां सामान्यरूपा- तत्र पठितम् तत्साहचर्यं अस्ति । तेन सचिद्वि- निजपर- परमाद्य न मुह्यते । तत्त्वविहर्ता ज्ञानं वरुणाधीनम् अद्यात् नास्ति । उचिनानि एवम विविक्तवर्त्तानं सचिदं वरुणं च न ह्युच्यते । अत्र व्याख्या बौद्धा तानि वचनापि आत्मद्विष्टानि श्रीवद्विष्टानि वदन्

सिद्धक्रमेरेव, यथा मन्त्राणां क्रम प्राचाम् आचार्याणां मते सिद्ध तथैव तमाश्रित्यैव जप कार्यः इति निगिरामि । यथागमे जपत्रिपदे क्रम श्रूयते तथा स जपो जप्य ॥५९८॥ पातालेति—पातालेषु भावनेषु । मर्त्येषु मनुजेषु । नेचरेषु विद्याधरेषु गुरोषु देवेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य ससिद्धेः सिद्धिर्भवतीति हेतोः अधिगानात् प्रामाण्यात् अधिकप्रतिपत्तेः आदरात् समवाये जनममुदाये, देववात्रायाम् देवप्रतिष्ठादौ । सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्यैव प्रामाण्यं श्रूयते ॥५९९॥ जपकरणविधि—पुष्पेरिति—पर्यङ्कस्य पष्पासनेन म्रियत निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् अघाणाम् इन्द्रियाणां वलय येन सर्वाणि इन्द्रियाणि मयस्य जप कुर्यादिति भावः । कैः जपो विधेय इत्याह—पुष्पे कुसुमे, पर्वणि अङ्गुलिग्रन्थिभिः, अम्बुजवोजे कमलवोजे, स्वर्णमणिभिः, अर्ककान्तरत्नैर्वा सूर्यकान्तमणिभिर्वा जप कार्यः । अथवा निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् जपमाला यस्य स जपो जप कुर्यात् । कमलवोजमालया, स्वर्णमणिमालया, सूर्यकान्तमणिमालया वा जपो विधीयेत जपिना ॥६००॥ अङ्गुष्ठे इति—मोक्षार्थं इदम् अक्षवलय जपमालास्यम्, अङ्गुष्ठे तथा तर्जन्याम् अङ्गुष्ठममीपाङ्गुल्या बहि बाह्ये नयतु मचारयतु । पुन ऐहिकापेक्षी घनघान्याद्यपेक्षा कुर्वाण इतराम् अङ्गुलीषु मध्यमानामिका-चङ्गुलीषु अन्न बहिश्च ता नयतु मचारयतु । (जाप्ये कृते सति बहिर्वस्तु उच्चाटनीय जाप्य प्रापयतु इति-टिप्पण्यम्) ॥६०१॥ वचसेति—वचसा वाण्या, मनसा वा चित्तेन वा ममाहितस्वान्तं ध्येये निश्चलीकृत-मनोभिः, जाप्य कार्य जपो विधातव्यः, आद्ये जाप्ये वाण्या कृते जाप्ये शतगुण पुण्यम्, द्वितीये मनसा कृते जाप्ये वचनमनुक्त्वा विधेये जाप्ये सहस्रगुणित पुण्य जायते । वच कृते जाप्ये मनस स्थिरत्वात् शतगुण पुण्यं मनोविहितजाप्ये ततोऽपि मनस स्थिरतरत्वात् सहस्रगुण पुण्य लभ्यते ॥६०२॥ नियमितेति—नियमित-स्वस्वविषयादाकृष्य आत्मनि नियन्त्रित करणग्राम इन्द्रियगणो येन । स्थानेति जिनालयादिक स्थानम् । पष्पासनादिकम् आसनम् । मानसस्य चित्तस्य प्रचार नाभिनेत्रललाटादिषु संचारण मन प्रचार इत्यादिजप साधनानि जानन् । पुन कथंभूत । पवनेति—कुम्भकरेचकादिवायुधारणरेचनाद्युपायज्ञं पुमान् सम्यक्सिद्ध भवेत् अशेषज्ञश्च स्यात् ॥६०३॥ इममेवेति—पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्य पञ्चाधिकत्रिंशदक्षरोपेतम् इममेव मन्त्र 'णमो-अरिहताण' इत्यादिरूप प्रसिद्धम् । मुनय परमपदावाप्तये मुक्तिपदलाभाय । विधिवत् नियमितकरणग्राम इति श्लोकोक्तविधिमनुसृत्य जपन्ति ॥६०४॥ मन्त्राणामिति—अखिलानां मन्त्राणाम् अय एक पञ्चनमस्कार-मन्त्र सिद्ध सन् कार्यकृद्भवेत् इष्ट कार्यं कुर्यात् । परे तु सर्वे मन्त्रा अस्य णमो अरिहताण एतावन्मात्रस्य एकदेशकार्यं न कुर्युः । सर्वेषु मन्त्रेषु अयमेव मन्त्र श्रेष्ठ ॥६०५॥ कुर्यादिति—अङ्गुष्ठमारम्य कनिष्ठिका-पर्यन्तं करयो वामदक्षिणकरयो प्रकारयुगलेन (?) विधिपूर्वकाङ्गुलिरेषा करन्यास कुर्यात् । न्यास कृत्वा पञ्चनमस्कारमन्त्रम् उभयकरयोरङ्गुलीषु लिखित्वा । तदनु हृदाननमस्तककवाचस्त्रविधि मनोमुखशिरसु कवचविधिम् अस्त्रविधिं च कुर्यात् । कवचस्य विधि क देह वञ्चति विपक्षास्त्राणि वञ्चयित्वा रक्षति इति कवच तस्य विधि मन्त्रोच्चारेण सकलीकरणविधान विधातव्यः । एतत्सर्वं जपास्पृष्टं विधातव्यमित्यर्थः ॥६०६॥ संपूर्णेति—संपूर्णमिति स्पष्ट । सनाद विन्दुसहितं ॐकार पञ्चपरमेष्ठिवाचकम्, आनन्दसुन्दरम् आनन्देन आत्मानुभवसुखेन सुन्दर रमणीयम् । जपत अस्य मुनेरुपासकस्य वा सर्वेषां समीहितानाम् अभिल-पितानाम् अभ्युदयनि श्रेयसा सिद्धिं प्राप्तिं नि सशय सजायेत भवेत् ॥६०७॥ मन्त्र इति—परत्र मन्त्रे अन्यस्मिन्मन्त्रे ऋषिमण्डलादिमन्त्रे । फलोपलम्भे अभिलषितप्राप्तौ सत्यामपि । अयमेव पञ्चपरमेष्ठिमन्त्र सेव्य आराध्य । यद्यपि अग्रे शाखादिषु । वितपी वृक्षः । फलति प्रादुर्भूतफलो भवति । तथापि तस्य वृक्षस्य मूल जलेन सिच्यते । तदसिञ्चने न फलोपलब्धिस्तथा अस्मिन्मन्त्रे सेव्यमाने इतरेभ्य एतन्मूलकेभ्यो मन्त्रेभ्य फललाभो भवेत् ॥६०८॥ अत्रामुत्रेति—गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रात् । आरोपमन्त्र अत्र अस्मिन् लोके । परत्र च स्वर्गादौ च । नियत निश्चयेन कामितफलसिद्धये अभीष्टफललाभाय । नाभूत् नामवत् । नास्ति न भवति । न भविष्यति च ॥६०९॥ अभिलषितेति—अस्मिन् मन्त्रे इष्टपदार्थदाने सुराणोसदृशे सति कामधेनुसदृशे सति तथा अस्मिन्मन्त्रे दुरित पाप तदेव द्रुमं तस्य पावकेऽग्निसदृशे सति । दृष्टादृष्टफले दृष्ट लब्धम् ऐहलौकिकं धनादिकम् अदृष्ट पारलौकिक स्वर्गादिफल यस्य तथाभूते सति परत्रमन्त्रे

बनम्, पद्मबान् धनु बरवेष्टाविधिं कृतानाम् पूजायाः स्थागमित्यर्थः । हे जिन कर्मापाठविश्रयिन् प्रथमं वि-
 वेष्ट पापादिदोषनिबहून् प्रथमं तस्मै निवृत्तं गृहीतुम् । अथदीक्षं व्यवस्थाप्य । मम स्वल्पबलमुत्तिष्ठत्यर्थं विधिः । तत्र
 पद्मो मुक्तिः स्तुतिः तस्यां हृदयं मनः विष्टं वेष्टि । मम मनः स्वल्पव्यक्तितपरं कुर्मित्यर्थः । वरदा ॥५९२॥
 अमरतठणीति—हे जिन त्वम् अमरतठणीति—अमरतठण्यं देवमुत्तमं तासां नेत्राभ्याम् आनन्दे प्रमोदनाय
 महोत्सवचमनाम् महोत्सवविनयस्य पूजिमायां अग्रयां अस्ति । हे जिन त्वं स्मरति—स्मरस्म मय एव परं
 एव ध्यान्ते तिमिरं मममयध्यान्ते तस्य ध्यते विनाशे परमः कृतम अर्थमा सूर्यः प्रतोऽस्ति । त्वं कर्मापाठो
 आनादरकादिकर्मपात्रुनने अवयवद्वयं कुर्यात्मा अस्ति । नते मरत्या नम्रं जने कृतारम्भान् इमास्वभवा
 इति त्वं विवक्ष्यमानारः शरीरं विवे मरते च विवमप्रवृत्तिः तथापि भवान् महान् पूज्यः । भवाम्भिन-
 रागद्वेषाभ्यां सताम् अस्तौ च अनुब्रूहिनिब्रूयोनि विधाता स तु परमोदासीनः परम्बु स्रस्तल जिते एतेष्व
 द्वेषेष्व च प्रवृत्तयेऽनस्तत्रागद्वेषोविनो मतेर्धर्मास्तिष्ठावयवत् कारयं मर्यते ॥५९३॥ अनन्तेति—जिनेस्वर-
 त्वमि अनन्तगुणधर्माणि अनन्तानां गुणानां सम्पत् अस्मै निधी निधाने सति । मयि च निवृत्तबोधवर्धयिणी
 नियत परिमितं च चासी बोधो ज्ञानं च एव संवर्धयिषि वस्य तथाभूते मयि अत्यन्तं सतीत्यर्थः । पुनः कर्मभूते
 भवति । भुवासीति भगानिष्ठं आराधनाङ्गनामसमुद्भूतं तस्य भुवा आहारं गणवरदेवाद्यम् तैः संस्तुयते स्तुतिं
 विप्रमता नीते । मयि च कर्मभूते परिमितोक्तैति—परिमितं आराधनं यत् उक्तवृत्तम् अत्यन्ततात्वं श्रोतं
 वृत्तम् उक्तं तस्मिन् स्थिते मयि । हे जिनेस्वर स्फुटं प्रकटं त्वमि ईदृशे महाज्ञानसमुद्रे । मयि च तादृशं
 पञ्चकल्पये सति । तदिदं वस्तुभूयं भवान् अहं च धनुषानिबन्धं समागमिति निर्णयमात्रं कर्म भवतु ॥५९४॥
 सत्त्वमिति—हे भक्तुः अनुपमं त्वावृत्तिं त्वया धनुषाः त्वाधुषा त्वया बाधौ त्वाधुषाभौ तस्यां पत्न्या
 त्वाधुषाबोधयः तेन एतन्नं तस्य कश्चित् तस्मिन्, त्वमि जिने । अहस्य मयस्य मादृशं । गुणानां
 मयः समुद्भूतं तस्य अत्रात्रं अधिपयन्तुः स्तोत्रैः अहं पर्याप्तम् । अत्रवरदेवाद्यम् एव भुवानां स्तोत्राणि
 विपातुं दद्यात् भवन्ति मरुते तत्र भुवानां मन्त्राभिज्ञाः । ताहं मयः । प्रवृत्तिविषये अस्मिन् ध्यापारे
 कर्मणि सुख्ये सति कथमयम् मयाच स्तुतिं कर्तुम् असमर्थो जयः स्वल्पव्यस्तुतो भवत्येव । हे स्वामिन्
 मास्तौ च स्तुतिमार्गः ताहं तेन गन्तुं दाम् अत्र ते नमोऽस्तु अस्तु ॥५९५॥ अगमोत्रमिति—हे जिन
 एतां जयतां नम्रभूतम् । निमित्तेति—सकलविषयज्ञानस्योत्तिपां पार्श्वं भावयन् । पुनः कर्मभूतम् ।
 सकलति—सकलमयं ते भगवन् सकलमयाः नैवमादिनवा तेना नीतिः पञ्चतिः तया स्मृता पुनः
 मयत्तं महान्तं पूज्यं त्वाम् । पुनः कर्मभूतम् । जितैति—जिततां भवता त्वया हृदयान्तरविषयं महोदरं
 महान्तं वरायं दानधीलं हारम् उत्तमं त्वाम् अहं वाच । हे मयन्तु अधिनिबुद्धः वाचकविमुदात्तत्वं न भवति
 ॥५९६॥ मनुजैति—इह अस्मिन् लोके । मनुजैति—मनुजा वरा । विविजा विवि स्वर्गे जायन्ते इति
 देवा । एतां सप्तमो दमा तस्या लोचनयोः विधयो आनीक प्रवाद्यं तस्य भीता धावा देवां तन्मनुजं
 आचिनः । स्वप्रसादान् तत्र हृषा प्राप्य । विरं बहुमा काकेन । विरताकां वृणुहत्या जायते । स्वामीति—
 स्वादिन प्रभोः सेवायाम् आराधनायाम् उत्तुपत्त्यात् हृषतिर्भक्त्यात् । इदानीम् अनुजः । एतन्मित्र अनाथो
 विप्यानां विने मुनिं मयि त्वं हृदयम् । सह भवतिमनायां सह भवत्या निवायेन त्वमर्थं मम विवेदि
 भूतवेत्यर्थः (परिहरित्वाञ्छं बुद्ध हृदयम्) ॥५९७॥

हस्तुपायकाप्यवने एतन्मयिपिनाम तत्पत्रितासमं कथयः ॥६०॥

३८ उपविधिनामाष्टत्रिंशत्तमा अध्यायः ।

[पृष्ठ २४७-२४८] गर्बेति—केचिन् आचार्याः गर्भादौ तत्र निविरन्ति प्रसिद्धमिति । केचिन्
 मूलाः नाभापादौ च केचिन् मूलागतरादिषु तत्रवर्ज्यास्तां एववर्जयन्तस्तत्र च निविरन्ति । वरदा ॥ ५९८ ॥

सिद्धक्रमैरेव, यथा मन्त्राणां क्रम प्राचाम् आचार्याणां मते सिद्ध तथैव तमाश्रित्यैव जप कार्यः इति निगिरामि । यथागमे जपविषये क्रम श्रूयते तथा स जपो जप्य ॥५९८॥ पातालेति—पातालेषु भावनेषु । मत्तुं मनुजेषु । खेचरेषु विद्याधरेषु मुरेषु देवेषु मिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य तसिद्धे मिद्धिर्भदतीति हेतोः । अधिगानात् प्रामाण्यात् अधिकप्रतिपत्ते आदरात् समवाये जनसमुदाये, देवयात्रायाम् देवप्रतिष्ठादौ । सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्यैव प्रामाण्यं श्रूयते ॥५९९॥ जपकरणविधि—पुष्पैरिति—पर्यङ्कस्य पद्मासनेन स्थित निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् अक्षानाम् इन्द्रियाणां वलय येन सर्वाणि इन्द्रियाणि सम्यग् जप कुर्यादिति भावः । कं जपो विधेय इत्याह—पुष्पे कुमुदं, पर्वभि अङ्गुलिग्रन्थिभि, अम्बुजवोजं कमलवोजं, स्वर्णमणिभि, अर्ककान्तरत्नैर्वा सूर्यकान्तमणिभिर्वा जप कार्यः । अथवा निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् जपमाला यस्य स जपो जप कुर्यात् । कमलवोजमालया, स्वर्णमणिमालया, सूर्यकान्तमणिमालया वा जपो विधीयेत जपिना ॥६००॥ अङ्गुष्ठे इति—मोक्षार्थं इदम् अक्षवलय जपमालास्यम्, अङ्गुष्ठे तथा तर्जण्याम् अङ्गुष्ठसमीपाङ्गुल्या बहि बाह्ये नयतु मचारयतु । पुन ऐहिकापेक्षी घनधान्याद्यपेक्षा कुर्वाण इतरामु अङ्गुलीषु मध्यमानामिका-अङ्गुलीषु अन्त बहिश्च ता नयतु मचारयतु । (जाप्ये कृते सति बहिर्वस्तु उच्चाटनीय जाप्य प्रापयतु इति-टिप्पण्यम्) ॥६०१॥ वचसेति—वचसा वाण्या, मनसा वा चित्तेन वा समाहितस्त्वान्तं ध्येये निश्चलीकृत-मनोभि, जाप्य कार्यं जपो विधातव्यः, आद्ये जाप्ये वाण्या कृते जाप्ये शतगुण पुण्यम्, द्वितीये मनसा कृते जाप्ये वचनमनुक्त्वा विधेये जाप्ये महत्तगुणित पुण्य जायते । वच कृते जाप्ये मनस स्थिरत्वात् शतगुण पुण्य मनोविहितजाप्ये ततोऽपि मनस स्थिरतरत्वात् सहस्रगुण पुण्य लभ्यते ॥६०२॥ नियमितेति—नियमित-स्वस्वविषयादकृष्य आत्मनि नियन्त्रित करणग्राम इन्द्रियगणो येन । स्थानेति जिनालयादिक स्थानम् । पद्मासनादिकम् आसनम् । मानसस्य चित्तस्य प्रचार नाभिनेत्रललाटादिषु सचारण मन प्रचार इत्यादिजप साधनानि जानन् । पुन कथंभूत । पवनेति—कुम्भकरेचकादिवायुधारणरेचनाद्युपायज्ञ पुमान् सम्यक्सिद्ध भवेत् अशेषज्ञश्च स्यात् ॥६०३॥ इममेवेति—पञ्चविंशतप्रकारवर्णस्थं पञ्चाधिकविंशदक्षरोपेतम् इममेव मन्त्र 'णमो-अरिहताण' इत्यादिरूप प्रसिद्धम् । मुनय परमपदावाप्तये मुक्तिपदलाभाय । विधिवत् नियमितकरणग्राम इति श्लोकोक्तविधिमनुमृत्य जपन्ति ॥६०४॥ मन्त्राणामिति—अखिलानां मन्त्राणाम् अथ एक पञ्चनमस्कार-मन्त्रं सिद्धं सन् कार्यकृद्भवेत् इष्टं कार्यं कुर्यात् । परे तु सर्वे मन्त्रा अस्य णमो अरिहताण एतावन्मात्रस्य एकदेशकार्यं न कुर्युः । सर्वेषु मन्त्रेषु अयमेव मन्त्रः श्रेष्ठः ॥६०५॥ कुर्यादिति—अङ्गुष्ठमारभ्य कनिष्ठिका-पर्यन्त करयो वामदक्षिणकरयो प्रकारयुगलेन (?) विधिपूर्वकाङ्गुलिरेपा करन्यास कुर्यात् । न्यास कृत्वा पञ्चनमस्कारमन्त्रम् उभयकरयोरङ्गुलीषु लिखित्वा । तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधि मनोमुखशिर सु कवचविधिम् अस्त्रविधिं च कुर्यात् । कवचस्य विधि क देह वञ्चति विपक्षास्त्राणि वञ्चयित्वा रक्षति इति कवच तस्य विधि मन्त्रोच्चारेण सकलोकरणविधान विधातव्यः । एतत्सर्वं जपात्पूर्वं विधातव्यमित्यर्थः ॥६०६॥ संपूर्णेति—संपूर्णमति स्पष्ट । सनाद विन्दुसहितं ॐकार पञ्चपरमेष्ठिवाचकम्, आनन्दसुन्दरम् आनन्देन आत्मानुभवसुखेन सुन्दर रमणीयम् । जपत अस्य मुनेरुपासकस्य वा सर्वेषां समीहितानाम् अभिल-पितानाम् अभ्युदयनि श्रेयसा सिद्धिं प्राप्तिं नि सशय सजायेत भवेत् ॥६०७॥ मन्त्र इति—परत्र मन्त्रे अन्धस्मिन्मन्त्रे ऋषिमण्डलादिमन्त्रे । फलोपलब्धे अभिलषितप्राप्तौ सत्यामपि । अयमेव पञ्चपरमेष्ठिमन्त्र सेव्य आराध्यः । यद्यपि अग्रे शाखादिषु । विटपी वृक्षः । फलति प्रादुर्भूतफलो भवति । तथापि तस्य वृक्षस्य मूल जलेन सिच्यते । तदसिञ्चने न फलोपलब्धिस्तथा अस्मिन्मन्त्रे सेव्यमाने इतरेभ्य एतन्मूलकेभ्यो मन्त्रेभ्य फललाभो भवेत् ॥६०८॥ अत्रामुत्रेति—गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रात् । आरोपमन्त्र अत्र अस्मिन् लोके । परत्र च स्वर्गादौ च । नियत निश्चयेन कामितफलसिद्धये अमीष्टफललाभाय । नाभूत् नामवत् । नास्ति न भवति । न भविष्यति च ॥६०९॥ अभिलषितेति—अस्मिन् मन्त्रे इष्टपदार्थदाने सुरगोसदृशे सति कामवेनुसदृशे सति तथा अस्मिन्मन्त्रे दुरित पाप तदेव द्रुम तरु तस्य पावकेऽग्निसदृशे सति । दृष्टादृष्टफले दृष्ट लब्धम् ऐहलौकिकं घनादिकम् अदृष्ट पारलौकिक स्वर्गादिफल यस्य तथाभूते मति परत्रमन्त्रे

यस्य तपामृतं अग्निं अयं देहः । यत् यस्मात्कारणात् अन्त्यावृत्तयाने तुम्योपासकमदृशो भवति । कस्मिन् विषये संसारघानरोत्तारे भवन्मुद्रतर्जणे । तस्मात् तत् प्रयत्नात् गद्यः । अन्त्यावृत्त कटुत्वाद्भक्षणानर्हम् अनन्तस्य फलज्जन्म तप्यापि तेन नरः नदीममूद्रादिकं तरति तथा अयं नरदेहः पद्म्यादिदेहवत् नोपयुज्यते अनोपयुज्यमानापि अनेनैव सनाग्मागरस्तरीतुं शक्यते न पद्मदेहेन देवदेहेन वा । अतः नृदेहोऽयं प्रयत्नेन रसनीयः ॥६२०॥ नरे उक्तिः—यथा अयोरे धैर्यरहिते पुष्पे यमं तनुन कवचो वृथा विफलम् । अस्यै धैर्ये सम्यं ध्यायं तदग्रं न तत्क्षेत्रम् अस्यै ध्यान्यरतिनम् । तत्र वृत्ति आसमन्तात् कण्टकादिभिः परिवर्णं व्यर्था । तथा ध्यानदुःखस्य तद्विधिः । वृथा अनेकाग्र्ययत् नरस्य आसनादिवम्, विविचनस्थानं च वृथा स्यात् ॥६२१॥ बहिरन्तरिति—यथा वार्तं अन्त्यो निश्चलो दीपः आलोकनेन बहिः प्रकाशेन उत्तमागो शोभमानो भवति । तथा अन्तर्मनोवार्तं अन्तः आत्मनि स्थितानि यानि तमामि अज्ञानानि तान्येव वार्ता वायवस्तैः अस्पन्द निश्चल मनश्चित्तं यत् यस्मात् तत्त्वावलोकनोत्थासि जीवादिगन्तत्त्वदर्शनेन उत्थानाणि शोभमाना भवति । तदा तत् ध्यानं सवीजं कारणं बीजं तेन महिनं भवति । सालम्बनं तद्व्यानं भवति इति ज्ञेयम् ॥६२२॥ निर्विचारेति—चेतः स्रोतः प्रवृत्तिषु चेतसः मनसः मोतासि प्रवाहाः तेषां प्रवृत्तयः व्यापाराः तामुः । कथमूतामु निर्विचारावतारामुः । विचारः एकस्माद्व्येपात् अन्यस्मिन् ध्येये मनसः प्रवृत्तिः विचारः तस्य अवतारः आगमनं तद् यद् न ता निर्विचारावताराः । स्वस्मिन् विषये एव मनः प्रवृत्तिषु स्थिरामु जातानु आत्मनि एव स्फुरन् आत्मा ज्ञानदर्शनवति स्वरूपे एव विजृम्भमाणः जीवः । अवीजकं ध्यानं भवेत् । एकत्ववितर्कविचाराण्य ध्यानं भवेत् । इति भावः ॥६२३॥ चित्ते इति—अनन्तप्रभावं न अन्तः विनाशः यस्य स अनन्तः स प्रभावः सामर्थ्यं यस्य तत् अनन्तप्रभावः तस्मिन् चित्ते मनसि । पुनः कथं भूते प्रकृत्या स्वभावेन रमवत् पारदवत् चले चञ्चले सति । तत् मनः तेजसि आत्मनि ज्ञाने च स्थिरे जाते मतिः । जगत्त्रये किं न सिद्धं भवेत् आत्मनि ज्ञाने च मनसि स्थिरे भूते सर्वा अम्युदयनि श्रेयससंपदो लभ्यन्ते यथा पारदे तेजसि अग्नौ निश्चलो भूयः सिद्धे मतिः मुवर्णादिनिष्ठिर्भवति ॥६२४॥ निर्मनस्के—मनोहसे निर्मनस्के निर्विचारे सति । पुहसे आत्महसे सर्वतः स्थिरे मतिः । सकल्पविकल्पमुपेतं सति । बोधहसः ज्ञानहसः अखिलालोक्यसरोहसः अखिलानि सर्वाणि तानि आलोकयानि विलोकितुं ज्ञातुं योग्यानि जीवादिवस्तूनि तान्येव सरः सरोवरः तत्रत्यः हसः जायते भवति । चित्ते गगद्वेषविहीने सति आत्मा आत्मन्येव स्थिरो भवति ततश्च स ज्ञानावृत्त्यादि धातिकर्मक्षयात् अखिलज्ञो भवति ॥६२५॥ यद्यप्यस्मिन् इति—यद्यपि अस्मिन्मनः क्षेत्रे अस्मिन् चित्तस्थाने । ता ता क्रिया जीवादिध्येयेषु मनसः एकाग्रीकरणरूपा ता ता प्रवृत्तिः समादधत् सम्यक् कुर्वाणः । किञ्चिद्भ्रावं किञ्चिज्जीवादितत्त्वानां स्वरूपं वेदयते विशेषतया जानाति, स्वात्मानुभवमुखं चानुभवति । तथापि अत्र न विभ्रमेत् न मुह्येत् । मया आत्मानुभवो लब्धः इति विमर्शेन न हृष्येत् । हेयम् उपादेयं च वस्तु यथावत्पश्येत् इत्यर्थः, अन्यथा गंगादिभिः अभिभूतः स्यात् ॥६२६॥ विपक्षे इति—बलेशराशीनां दुःखसमूहानां विपक्षे शत्रुभूते अस्मिन् स्वात्मानुभवे अयं विभ्रमः मोहो हर्षो वा यस्मान्न एष विधिर्भवेत् । तस्मात् परं ब्रह्म परमात्म-स्वरूपम् आश्रितं ध्याता अस्मिन् विषये न विस्मयेत नाश्चर्यं गच्छेत् न दर्पं गच्छेत् । दर्पं गते सति आत्मानु-भवात् व्युत्तिर्भवेत् ॥६२७॥ प्रभावेति—प्रभावः अनुभावः । ऐश्वर्यं विभवः । विज्ञानं, देवतासंगमादयः देवतायाः संगमः प्रसन्नताभावः, आदौ येषां ते सर्वे व्यापारा एतानि सर्वाणि कार्याणि । योगोन्मेपात् ध्यानस्यो-दयात् ध्यानस्य प्रभावात् भवन्तोऽपि अमी तत्त्वविदा जीवादित्स्वरूपज्ञानिना मुदे आनन्दाय न भवन्ति ॥६२८॥

[पृष्ठ २५८-२६१] भूमाविति—यथा रत्नानां जन्म उत्पत्तिः भूमौ भवति इति सत्यं एतावता यत्र कुत्रापि भूमौ रत्नजन्म न भवतीति ज्ञातव्यम् । तथा आत्मजः आत्मनो जायते इति आत्मजः ध्यानं नाचेतनेभ्यः पुद्गलादिभ्यस्तज्जन्म इति मत्स्यः तथापि आत्मजः ध्यानं सिद्धमपि सर्वत्राङ्गिनि सर्वजीवराशौ तद्भवदिति न ग्राह्यम् ॥६२९॥ तस्येति—तस्य ध्यानस्य परमम् उत्कृष्टं कालं समयं मुनयः अन्तर्मुहूर्तं वदन्ति तावत्कालं मनः अपरिस्पन्दमानः निश्चलम् तत्परं ध्येये स्थिरं भवति । तत् परं मनः दुर्धरं भवति ॥६३०॥ तत्कालमपि इति—स अन्तर्मुहूर्तविधिकः कालो यस्य तद्व्याप्तम् आत्मनि एकाग्रम् आत्मविषये स्फुग्त् जूम्भमाणं उच्चैः महान्तं

कर्मोष्णं नागावरपादिकर्माहृष्टम् मिच्छात् । आत्मनः सङ्काशात् पुष्पकं कुर्यात् । यथा वयम् अयमि रीतं
 यथात् मिच्छात् एतेनये ॥६३१॥ कल्पैरिति—कल्पैरपि वस्त्रप्रमावैरपि युगात्तरैरपि धुमुर्कैः मायमग्रज
 जलमापि अम्बुभिः उपधुमयितुं लोभुं न शक्यं अयं कल्पकल्पकालान् यावत् धुमुर्कः समुद्ररिक्तरीरपाय
 प्रयतमानोऽपि जन तत्कायकरणे समर्थो न भवेत् । परं कल्पमन्तम् वात युगात्तरं वायुः तं समुद्रं पुनः
 धोयम् आनयेत् । तथा यदा आत्मध्यानमात्मनि स्फुरति तदा अमन्ताः कर्मकल्पाः अन्तमुहूर्तेनैव तेन विघ्न
 स्यन्ते ॥६३२॥ रूपे मन्वीति—कये क्रयतत्तत्वावी मरति परकामप्रवेधाद्यो विस्ते विद्यान् प्रवेगं कुबन् कामितं
 वाञ्छितं लभेत् यथा तथा अयम आत्मा आत्मना स्वेनैव आत्मनि स्वस्वकये निरतः एतो भवन् कामितम्
 अविनयितं दिवम् अनन्तमुप लभेत् प्राप्नुवान् ॥६३३॥ ध्यामहेतुः—धैर्याम्यमिति—धैर्याम्यं संहाप्य भीतिं
 संवेष्टः तस्मिन् जाते सति बन्धनीनां कोबादीनां च त्यागकथा परिणतिकल्पयते वीर्यं धैर्याम्यं मय्यते । ज्ञानसम्यग्निः
 अज्ञानसमाप्राप्तिः । असंख्यं अभासविनश्यः परिणामः असंख्यः । स्थिरचित्तता मनसः एवस्मिन्निपये निरचलता ।
 ऊर्ध्वस्मयसहृदं च । श्रुतिराते अद्यमृत्युं लोकमोही पदुर्मयः । एतां पदुर्विद्यां वीडा । स्मयो गर्भः सोऽहंविष
 आनन्दमातुःकजातिरुत्तमिद्विषयोबुधपाम् अहानां गर्भः । एतेषां सङ्गम् एते योयस्य ध्यामस्य प्राप्यते पञ्च हेतवः
 कारणानि सति ॥६३४॥ ध्यामन्तध्यायः—आधीति—आधिर्मानवी व्याधा । व्याधिः धरीरे रोपयोडा ।
 विपर्यायः बन्धुनो विरतीतमानम् । प्रमादः अहाकचानता । आत्मस्य कार्यं मन्तव्यम् । विप्रमः ह्यं वस्तु ह्यं वेति
 वस्तुविनश्यः । अन्तः विचिन्तयेत्कलासमाप्तिः । संविद्या बन्धुनिपुं सुधृता । अस्वेयं विचिन्तयान्काम्यम् । एते
 नव तस्य ध्यामस्य अन्तरायकाः विध्या ज्ञया ॥६३५॥ या कण्टकेरिति—यः कण्टकैः अङ्गं हेतुं तुवति पीडयति ।
 मरुतः नटः सिन्धुरिति अङ्गं चर्मैः । तयोः कार्ययो रोये रोयेऽपि अविपकारमा अनासक्तप्रवृत्तिः । ध्याता लोचनवत्
 मृत्तिरुदङ्गम् अद्यमनेपो मर्त्यम् ॥६३६॥ अयोसिर्विन्दुरिति—अकारस्याकारेण विन्दुकारादीनामाकारेण च
 निर्बीजीकरणं नम करोति । तन्वृत्तानि मरुतस्य जयो भवति इति मिच्छादुष्टं कचयति उत्तरतयम् । विन्दुः
 अयं चर्मवत्ता नाद अनुस्वारः उपरि एता पदुनाद (?) नाशः कथ्यते । बुद्धबुद्धसी तन्वृत्तारेण वाजीकरणम् ।
 विवेकरी(?) मूना-विरोधकम् कोणादिविबुधप्रकारस्तेन बहुकचनम् । प्रेयाधि(?) निर्बीजीकरणविनश्यं अयोसिर्विन्दुः
 बलादीनामाकारेण गुणनि वाचनं कामिप्रभुनेपु स्थानपु कार्यम् । ब्रह्मप्रणिभः—निधित्तान्त्राकाम्यं ब्रह्मप्रणिभ-
 कथ्यते । तथापि निर्बीजीकरणं भवति । नैत्रनामिप्रभुप्रमाणेन दुष्कनि वाचनं कर्म मृत्युश्चयं भवति साधनाम्यावैव
 यदा मरुतस्ता वति तदा निर्बीजीकरणं कियते तेन कर्मता मरुती मन्त्रिते सति परकारवदापि मरुतं न
 स्वाह्वययै । अग्निः—आमिकायां अग्निरुत्तं वर्णते । रबी-वदियनादध्याम् चण्डे वामनादध्याम् । लूनातन्वी
 निङ्गुविनश्ये हृदये छिद्रं विनापि तथा वाक्ते विरतदुष्टादग्निः इत्यात् । वज्रानिधितारिफ्तानाम् अवित्रावः टिप्पण्यो
 वर्णने ना टिप्पणी एवाकानिगिता । एतेषां मयायां एतेराशाम् अयं सम्यक्ताया नावतुःमापि ॥६३७-
 ६३८॥ कर्माप्यादि—अवि चेत् एवविधेयं प्राप्तावाकाशविभः एतावै वयापि लाप्यानि जनुं एवयानि नरे
 मुग्धाहिं एते नयनादिवम् । जग बावता मयता वा मन्त्ररिर्वर्तनम् । आधीति पञ्चरमेष्टिपूजनम् । हानं
 एवरातमुपहारं एवय वनादेशनम् । अन्धबनं एवाध्यायः एतापि ध्यानि आध्यायकारिहासि वाञ्छितं तैः वदोर्ण
 वदेत् । एभिः उपायैः अमयकारिकर्मापि म्यप्यानि स्युः ॥६४॥ योऽविष्यागितेति—यः पुण्यम् अविद्या
 रितरस्यम् अविष्यतनुमुपयेत् । एतं एवोक्तान् वैद्यातिहृदि देहपु-अविनायं दुःखायुः । इतिपापेषु इतिव
 अयोजनमावरेण । प्राणावाकाशानि काराया आदत्ता मो-नि किल कोवी कथ्यते । विनयेवरो । योनीति नैव
 कथ्य ॥६४१॥ यययति—यय नून इतिवार्थपूण्यानि नम अत्रतीतुरते विनं पीडयति । न मर तद्वि
 रोधकः तस्या इतिवविषयाविनयाया विरोधान् अयनि आधने आप्यते तथापु एव काम्य एवादाय कुपे
 वचम् ईदति अविनयति । आध्यायः विद्वत्पूजया जन पीडयते साधनायं मुचविदितानो वदेव ॥६४२॥
 आत्मज्ञां दुति—आत्मज्ञापञ्चम ज्ञाना वादनाधोदधर्मे च अन्धजनरायणैः आदित्या न परिचरन्तं न वाजना
 एव विद्वन्जनने उपायता । एभिः कथमि कावेन मयिन् दीपक अनेदकव विनं रागदेवकोतिरिहं तादत्
 एवमन्तदेव विद्वन्तः कोवी वन्ता वीरुदधनी विद्वन्-उत्तं ता ३ । यथा रोपी वन्त-वदेवमर्मा

लङ्घनस्वेदनवमनादिभिरोपघसेवनेन च कालेन सचित कफादिक निरस्य कल्पता नीरोगता एति याति तथेति भाव ॥६४३॥ लाभेऽलाभे इति—य मुनि लाभे अलाभे । वने वासे ग्रामनगरादौ च । मित्रे अभिने शत्रौ च । प्रिये अप्रिये मनोज्ञे अमनोज्ञे च । सुखे दुःखे च समानात्मा भवति उपेक्षायुत रागद्वेपरहितो जायते । तस्य सदा व्यानघी आत्मानुभवलाभाय ध्यानघी एकाग्रबुद्धिर्भवति ॥६४४॥ कौटुम्बाचरण व्यान-लाभहेतुर्भवतीत्याह—परे ब्रह्मणीति—परे उत्तमे ब्रह्मणि आत्मनि परमात्मनि परमात्मस्वरूपप्रतिपादकागमे अनूचान विचक्षण । धृति सतोप । मैत्री परेपा दुःखानुत्पत्त्यभिलाष, दया अनुग्रहार्द्राकृतचेतस परपीडा-मात्मस्थामिव कुर्वतो यो मन परिणाम सा दया । धृत्या मैत्र्या दयया च अन्वित धृतिमैत्रीदयान्वित, स मुनि सूनृताद्वाक्यादन्यत्र सत्यप्रियवाक्याद्विना अन्यत् असत्यम् गर्हितम्, सावद्यम्, सदपह्नवादिक भाषण न ब्रूयात् । अर्थात् नित्य वाचयमी मौनवान् भवेत् ॥६४५॥

[पृष्ठ २६२-२६८] संयोगे इति—इष्टलाभे, विप्रलम्भे इष्टविद्योगे । निदाने भाविविषयभोग-काङ्क्षायाम्, परिदेवने स्वपरानुग्रहाभिलाषविषये अनुकम्पाप्रचुरे रोदने, हिंसाया प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणे । अनृते प्रमत्तयोगादसदभिधाने । स्तेये प्रमत्तयोगाददत्तादाने । मोगरक्षासु इन्द्रिविषया भोगा तेषा रक्षासु तत्परे । जन्तो प्राणिन अनन्तससारभ्रमनोरथवर्त्मनी अनन्तभवेपु भ्रमणे पापरूपरथमार्गभूते द्वे ध्याने भूमिर्ययोस्ते एनोरथवर्त्मनी पापरयसचारमार्गस्वरूपे दुरन्तफलदायिनी दुष्टोऽन्तो येषा तानि फलानि दत्त. इति दुरन्तफल-दायिनी नरकतिर्यग्गतिदुःखफलदायके आर्तरीद्रे ध्याने त्यजेत् मुञ्चेत् ॥ ६४६-६४७ ॥ बोध्यागमेति—बोध्यो ज्ञातु योग्यो मुमुक्षुभिर्भय आगम स बोध्यागम । तस्य कपाटे तस्य स्वरूपप्रच्छादकत्वात् कपाटसदृशे । तथा ते दुर्धर्माने परे मुक्तिमार्गागले परे दृढे मुक्तिपथरोधके । श्वभ्रलोकस्य नरकलोकस्य सोपाने निश्चेणीसदृशे । तत्त्वैकावृत्तिपक्षमणी जीवादिद्रव्याणा यथागमे याथात्म्य प्रोक्त तस्य तथा भवनं तत्त्व तस्य ईक्षा पुन पुनर्विमर्शः तस्या आवृत्तिराच्छादन तस्मिन् पक्षमणी नेत्रच्छदसदृशे ॥ ६४८ ॥ लेशतोऽपीति—यावत् यावत्कालम् एते आर्तरीद्रेध्याने लेशतोऽपि स्तोकमपि मनः चित्त समधिनिष्ठत आश्रयत तावत् एष जन्मतरे जननवृक्ष सच्च समविरोहति अतितुङ्गो वर्धते ॥ ६४९ ॥ उवलन्निति—उवलन् प्रकाशयुतो भवन् प्रदीप अञ्जन कज्ज-लम् आघत्ते धारयति उत्पादयति । पर रविज्वलन् अञ्जन न आघत्ते । तथा आशयविशेषेण ध्यान फलम् आरभते शुभाशुभशुद्धपरिणामविशेषतया ध्यान शुभाशुभशुद्धफल जनयति । अशुभपरिणामविशेषेण आर्तरीद्रेध्याय नरक-तिर्यग्गतिकल ददाति । शुभपरिणामविशेषेण धर्मध्यान देवगती सुख ददाति । शुबलध्यान शुद्धोपयोगपरिणामे मुक्तिमुख ददाति ॥ ६५० ॥ प्रमाणनयनिक्षेपैरिति—प्रमाण प्रकर्षेण सशयादिदोषपरहित वस्तुतत्त्व येन भीयते तत्प्रमाणम् । नय प्रगृह्य प्रमाणत परिणतिविशेषादर्थविधारण नय । निक्षेप — नामादिभि वस्तु-निरूपण निक्षेप । अनुयोग सदादिप्रज्ञे जीवादिस्वरूपनिश्चयोऽनुयोग । अनुयोगसहितै प्रमाणनयनिक्षेपै विशुद्धयो विशुद्धबुद्धिर्मुनि धर्मध्यानपरायण सन् तत्त्वेषु जीवादिषु मति तनोति विस्तारयति ॥६५१॥ अरहस्ये इति—यथा सती, काञ्चनकर्मणी पतिव्रता स्त्री, सुवर्णालकारश्च अरहस्ये गोपनीये न भवत. निर्दोष-त्वात् । तथा सुधिय परमागमम् अरहस्य निर्दोषम् इच्छन्ति ॥६५२॥ यः स्खलतीति—य अल्पबोधाना मादृशा विचारेष्वपि स्खलति य आगम अल्पज्ञानाना मादृशा कार्यकारणविमर्शसमये स्खलति वस्तुतत्त्व-निर्णय दातु क्षमो न भवति । असत्यत्वात् । स आगम ससारसमुद्रे मज्जज्जन्तवालम्ब बृहन्प्राण्युत्तारक. कथ स्यात् । सर्वज्ञप्रणीतमागम प्रमाणीकृत्य “इत्थमेवेद नान्यथावादिनो जिना” इति गहनपदार्थश्रद्धानमर्थविधारणम् आज्ञाविचयाख्य धर्मज्ञान ज्ञातव्यम् ॥६५३॥ अपायविचय धर्मध्यानमाचष्टे—अहो मिथ्यातम इति—युक्तिद्योते स्फुरति अपि अनेकान्तरूप पदार्थनिबह प्रमाणनयप्रकाशे प्रदर्शयत्यपि । मिथ्यातम अतत्त्वश्रद्धान् विपरीतादिमिथ्यात्वसमूह पुसा भव्यजनाना चेतासि मनासि अव्ययति हिता-हितविवेकशून्य कगेति । कुत्र ? रत्नत्रयपरिग्रहे सम्पद्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमोक्षमार्गस्वोकारे । अहो आश्चर्यम् ॥ ६५४ ॥ आशास्महे इति—तत् तस्मात् कारणात्, एतेषा भव्यजनानाम् आशास्महे एतेऽपि रत्नत्रयपरिग्रहवन्तो भवन्त्विति इच्छाम । अस्तकल्मषा निराकृतमिथ्यात्वपापा एते अद्य कथ दुःख-

निर्बर्धं चतुर्दशसु लतासु तत्त्वं यथायमनेवाप्तवस्तुस्वरूपं प्रपश्यति । यथा ते तत्स्वरूपं प्रपश्यति तथा
तेषाम् आधात्महे ॥ इति अथायमध्यात्मम् ॥१६५॥ लोकाविषयधर्मध्यानमाह—अकृत्रिम इति—अयं
लोकः अकृत्रिमः नहि केचित् केवेन रचितः । विविधारमा नामाविषयस्वरूपः । मध्ये च यद्यपिमान् यद्यपि
सहितं यद्यपिबन्धुदोषितः । मरुत्तमीयुतं यद्यपिगतं अमुखातेन तनुवातेन च धर्मतो वदितः । प्राप्ते
अस्व लोकास्य प्राप्ते अये तस्यामितिष्ठतः तेषां मुक्त्यानां नाम आस्वर्गं निवासः तेषां निष्ठितं सम्यक्तिं नतः ।
मुक्त्यानां निवासो लोकस्यागते विद्यत इति भावः । तत् ऊच्यते यद्यपि लोकाकाश एवेति पुनः पुनः लोकस्य
विचारणं लोकविषयधर्मध्यानमित्यर्थः ॥१६६॥ विपाकविषयधर्मध्यानमाह—रेणुमदिति—तत्र तस्मिन्
स्थोके । त्रिष्वक् मध्यस्थोके । ऊच्यते उपरि स्वर्गादौ । अथ पाताले च । एते कल्पे च नष्टस्वावस्थापिनः । रेणुवत्
धूम्रिका वायुप्रेरिता एतां त्रिवक् इत्युक्तं ऊच्यते अथ नक्षत्राणि भ्रमन्ति । तथा निजामेव कर्माणि यानि
सुमासुमानि तामेव अनित्यं वायुस्तेन ईरिता मोहिताः । अवारतम् ऊर्ध्वविस्तिष्ठतु स्वानपु भ्रमन्ति त्रिवर्षादि
हेतुना भूत्वा । एवं पुनः स्मरणम् एकाग्रचेतसा लोकविषयध्यानम् ॥१६७॥ इतीति—इति एवं प्रकारेण ।
अयं चतुर्विधं धर्मध्यानं चिन्तयत एवाग्रेण मनसा । पुनः कर्मभूतस्य । यतेति—यतानि वास्तानि यद्यपि
इन्द्रियाणि चेती मन्त्रश्च यत् तस्य भूते । तस्मात्ति यावन्ति । इयं विनाशम् आयाति वच्छन्ति । कस्मादिह ।
ह्यवेति—ह्यवेति नृणां भूयः शेषव्यापिणीन् कथं पश्यन्ति । स ह्यवेति कथ्यते । यथा सुप्तलोकात्
ध्यानं पश्यन्ति तथा इन्द्रियाणि मनश्च यद्यपि त्वं धर्मध्यानं चिन्तयतो भूते तस्मात्ति अज्ञानानि विनाशं
पाप्ति ॥१६८॥ भेदमिति—विजिततामेवम् अमेव परित्यज्य भेदं ध्यायन् । भेदविनाशं अमेव च
ध्यायन् ध्याता सूक्ष्मक्रियाशक्तो कथं वाङ्मनसा ध्यायन् सूक्ष्मकरोति । तद्वत् पूरयित्वा क्रियाशक्तो भूत्वा
निष्कम्पो भवति । योजनवर्षादिव ध्याता ततो निष्कम्पं ध्यानं प्रतिपद्यते स्वीकरोति ॥१६९-१७०॥

वीरुवारमा मोक्ष इत्युच्यते—प्रक्षीणोभवेति—मनीषिणः स्यादाविनो विज्ञात मोक्षम् आह । कथं
भूतं मोक्षम् । प्रसीदति—प्रक्षीणं प्रकटे अग्रेष्टव्यं वाचनिकराश्यां कर्मणा इत्यभावात्मे मस्य स तम् ।
पुनः कर्मभूतम् । अमरदोषविश्रुतम् अमरं चतुर्दशममन्त्रम्, वीरुवारं अवारमाणि इत्युपास्यारम्भश्च तैकि-
वदितम् । पुनः कर्मभूतं मोक्षम् । अयेति—यथा प्राप्ता मुखा अमरतामवाप्सोऽमरता मुखा मस्य त्वानुत्तम
आरामं मोक्षम् आह । कुचितः । नष्टाकर्मणिम् प्राप्तामनुत्तमम् इत्यभावात्कर्मरहितम् नष्टचतुर्दशममन्त्रम्
वीरुवदितम् आरामम् विज्ञातं मोक्षं कथयति इति भावः ॥१७१॥ ध्यातुर्ध्यायन्—मार्गस्तुतिमिति—
मार्गं मोक्षमार्गं तस्य भूतं 'सम्पत्सर्वज्ञानवार्ता' इति मोक्षमार्गं तत् ध्याता ध्यायेत् चिन्तयेत् । कर्मभूतो ध्याता
ज्ञानं एव चतुर्दश मस्य स आगमचतुष्पात् स्यादाहायमलोचन । पुनः कर्मभूतः । प्रसंख्येति—प्रसंख्यानम्
एकाग्रचित्तानिवासा ध्यानं तत्र परमं प्रणिधानम् । किं किं ध्यायेत् । अनुज्ञेतां यतीरवीनां स्वभावम्
चिन्तयन् । मन्त्रारम्भं ओशाओशादवबन्धनं चतुर्दशमोपास्येति तस्य ध्यायानि तेषां एवाह्वारम् । अनेरवर्त
प्रक्षीणकर्मणि कर्मणि त्रिवर्षादेवम् च । ध्यायेत् चिन्तयेत् ॥१७२॥ जान इति—यथा ऐतिह्यं तत्त्वम् ।
इति इह नमः ऐतिह्यम् आत्मादेव विनाशकः । तत्त्वं वीरुवदितं यथा यान वेति तथा तदनमयीं तस्मिन्
अनमया यी तस्य स आगमं एव अति इत्युच्यते । अहं वदते अगमिन्मन्त्रं विष्णुवत् न कदाचनानि नक्षत्राणि
प्रवर्तन् । अहं सर्वम् आरम्भं मुञ्चते प्राप्तिरीडाहेतुध्यायार आरम्भं तं दयमायि । तथा आरामं आनन्दं
मार्गं निवारणं आरामं एवम् आरामे एवायानि विवरीयुते । न वाग्रे चतुर्दश ॥१७३॥ आरामायमिति—
अयम् आरामो वीरुवदिते रत्नवर्षादेव एकाग्रम् । यथा आरामा रत्नैव करणेन पुनराग्रेण । आरामं निवे-
दयन्ति निरवलो भवति तथा आरामं आनन्दमलक्षणं शुद्धं वाङ्मनसावधारितं भूते भवति । तथा परमज्ञाना
परम आरामा परमात्मा लललमोक्षमायान् देवताज्ञानमायान् निगमं वाङ्मन्त्रं प्राप्य आरामा परमात्मा तत्त्व
स्वरूपेण न आरामं लभते । यथा वति दीपं प्राप्य दीपां जायते तथा यथाज्ञानं योजनार्थं एवाहीभूत
विराजनाज्ञानेन आरामं योजनं लभते ॥१७४॥ रत्नवर्षादेव आरामं एकाग्रध्यायध्यायनमन्त्रा-
वर्षादेव रत्नवर्षा—ध्याननि—आरामं ध्याता भवति । यथा मुनिवर्षादेव प्रमाणवर्षादेव मुनि-

तस्या परिग्रह युक्तिपरिग्रह यवार्थत्वेन नम्यक्तया प्रमाणनयानाम् आश्रय कृत्वा निजस्वरूपम् आत्मा चिन्तयति तदा स ध्यातोऽच्यते । रत्नत्रय ध्येय भवति । आत्मैव आत्मान चिन्तयति निजेनैव स्वरूपेण निज रूप चिन्तयति । अतो ध्यानमप्यात्मैव । रत्नत्रय तस्य चिन्तनात्प्राप्यतेऽतस्तदेव आत्मनोऽनन्यं फलम् । अत्र रत्नत्रयम् आत्मन सकाशात् अभिन्नम् । अत रत्नत्रयवान् आत्मा रत्नत्रयमेवोक्त ॥६६५॥ सुखामृतेति—आत्मन निजस्वरूपे एव रति सुखामृतम् उच्यते । तस्योत्पत्ते आत्मा कारणम् । अत सुखोत्पत्तिर्यथा सूषामृतेऽचन्द्राज्जायते तथा सुखामृतोत्पत्ते कारण आत्मैव न स्थोन्नक्चन्दनादिवस्तूनि । अयमात्मैव निजानन्दरवे उदयाचल । परम् अहं ब्रह्मापि अत्र अस्मिन् ससारे तम पाशवशीकृतः तमोऽज्ञान तत् पाश इव पाश । यथा पाशेन कण्ठो निरुध्यते तथाऽज्ञानपाशेनायमात्मा निरुद्धत्वादचेतन इव स्वस्वरूपज्ञानमूढो भवति ॥६६६॥ यदेति—यदा काललघ्निरमासाद्य पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तकत्वपर्याय प्राप्य सर्वविशुद्ध्या सम्प्रवृत्त चारित्र्य च लभते ममात्मा तदा तद्व्यापानोदयगोचर मे चेतश्चकास्ति । तस्य निजस्वरूपस्य ध्यान चिन्तन तस्य उदय उत्पत्ति स गोचरे विषयो यस्य तथाभूत चेत् चकास्ति प्रकाशते । तदा आदित्य सूर्य अन्धकार निरस्य अतमा ध्वान्तरहित जगता चक्षुर्भवति । लोक निजतेजसा प्रकाशयति । तथा अहमपि अतमा तम मिथ्याज्ञान तेन रहितो भूत्वा आदित्यवन् प्रकाशमयो ज्ञानमयो भूत्वा जगता त्रिलोकानां चक्षु स्याम् यथार्थवस्तुस्वरूपदर्शको भवेयम् ॥६६७॥ इन्द्रियजमुखस्वरूप दर्शयति निदर्शनेन—आदाविति—सर्वम् इन्द्रियसुख पञ्चेन्द्रियविषयसुखम् । आदौ प्रारम्भे । मधुवन्मकरन्दवत् प्रतिभाति । पर प्रान्ते अवसाने तदेव अमधु कटुकम् अग्रिय जायते । यथा हेमन्ते शीतर्तो प्रान स्नायिषु प्रभातकाले स्नान कुर्वन्तु अङ्गिषु नरेषु तोयम् उष्णमिवाभाति । पर सूर्योदयानन्तर तदेव नीर तथा नानुभूयते ॥६६८॥ सर्वेऽपि यमेन कवलीक्रियन्ते जीवा । यो दुरामयेति—य दुरामयदुर्दर्शो य यम दुष्टेन रोगेण पीड्यमानत्वात् दुर्दर्श दुष्ट कुरूप दर्श दर्शन यस्य, रोगेण कुरूपाकार जुगुप्स्याकार यो नर तस्मिन् । य वदग्रास त नर य ग्रासीकरोति । तस्य यमस्य । स्वभावसुमगे प्रकृतिसुन्दरे नरे । म्पूहा अभिलाषा । केन निवार्यते । न केनापि ॥६६९॥

[पृष्ठ २६९-२७०] जन्मेति—जन्म जननम् योवन तारुण्यम्, सयोगसुखानि इष्टजनसहवाससुखानि । यदि देहिना प्राणिनाम् । निविपक्षाणि निर्गतो विपक्ष शत्रुर्येभ्यस्तानि यदि भवेयु । तदा को नाम सुधीर्मति-माक्षर ससारमुत्पृजेत् मव त्यजेत् । गृहीत्वा दीक्षा को नाम जन तप क्लेश सहेत । जन्मन शत्रुर्मरणम् । योवनस्य शत्रुर्जरा । सयोगसुखस्य शत्रु इष्टवियोगदुःखम् ॥६७०॥ अनुयाचेतेति—आयूपि न अनुयाचेत आयुर्वद्वे न स्पृहयेत् । नापि मृत्युम् उपाहरेत् मृत्युर्मे भूयादिति नाभिलषेत् । कालावधि कालस्य मर्यादाम् अविस्मरन् चिन्तयन् भूत मृत्यु इव द्रव्यक्रीतो दास इव आसीत् । यथा भूत्य स्वामिन यावत्काल तेन न मुच्यते तावत्काल त सेवते तथा आयु समाप्त्यारिवन्न भवेत्तावत्काल स्वस्थेन चेतसा आसीत् ॥६७१॥ महाभाग इति—अहम् अथ महाभाग महाभाग्यवान् । अस्मि भवामि । यत् यस्मात्कारणात् तत्त्वरुचितेजसा जीवादिमत्ततत्त्वानां रुचि जिनदेवेन यत्सप्ततत्त्वानां स्वरूप प्रत्यपादि तत्र न दोषकणिकापीति विमर्शात्स-जातदुर्षेण नखच्छोटिकादान तदेव तेज तेन । अहं सुविशुद्धान्तरात्मा अतीव निर्मलान्तरात्मा जात । मम प्राक्तन बहिरात्मस्वरूप यदन्वकागसदृशमासीत्तन्नष्टम् । अधुनाहं तम पारे प्रतिष्ठित आसे । सम्प्रत्यहं मिथ्या-श्रद्धान्तम उल्लङ्घ्य स्वस्वरूपे श्रद्धानरूपे स्थिरो जात स्वैर वर्ते ॥६७२॥ जैनागमसुधाया दुर्लभत्वमाह—तन्नास्तीति—लोके जगति । अहं यत् सुख दुःख च नाप्तवान् न लब्धवान् तन्नास्ति । चतुर्गतिभवानि सर्वाणि सुखानि दुःखानि च मया अनन्तवार भुक्तानि । पर मया स्वप्नेऽपि जैनागमसुधारस न प्राप्त । जागरितावस्थायां जिनप्रोक्तस्य आगमपीयूषस्य आस्वाद दूर एव आसीत् ॥६७३॥ जैनागमसुधाविन्दुमप्यालिहोतो जनस्य ससारज्वलनशान्तिर्भवतीति वदति—सम्यगिति—एतत्सुधाम्भोधे एष चासी सुधाम्भोवि एतत्सुधाम्भोधि तस्य एतस्य जिनागमपीयूषसागरस्य । विन्दुमपि मुहु पुन पुन आलिहन् आस्वादयन् जन्तु । जातु कदाचिदपि । जन्म एव ज्वलनोऽग्नि तस्य भाजन पात्र न जायेत । तस्य जीवस्य ससाराङ्गार-स्पर्श कदाचनानपि न भवेत् ॥६७४॥ अधुना अर्हत् स्वरूप पञ्चदशभि श्लोकैर्न्यायवर्णयति सूरि । तत्स्वरूप-

ज्ञानेन तद्व्यापनं कर्तुं मुसकं यत्नेत् यत - देव देवसमासीनमिति - व्यापेरिति पञ्चरत्नमपवर्त्तयितुं क्रियया संशयः । कथंभूतम् अर्हन्तं व्यापेत् । देवमिति - ईश्वर्ये स्तूयते इन्द्रादिभिरिति देवः तम् । पुन कथंभूतं देवसमासीनम् - देवनिमित्ताया सम्यक्सत्त्वसत्त्वसि समसीनं रत्नजटिततुङ्गसिद्धासने पद्मोपरि उपविष्टम् । पुन कथंभूतम् पञ्चरत्नवाचनायकम् - पञ्चानां यमजन्मतप-केवलनिर्वाणसम्माननां कस्यावाणां मङ्गलानां देवैरवतीर्थं विहितानाम् उत्सवाणां नायकम् अवीचयम् । पुन कथंभूतम् चतुस्त्रिंशद्विंशोपेतम् - अर्हत् वरीरे कर्मसमये वृष्टादिघटा संजायन्त । देवसमज्ञाने जाते वृष्टादिघटा भवन्ति । देवकुटाक्ष चतुर्बसतिघटा संभवन्ति अतोऽर्हम् भवति चतुस्त्रिंशद्विंशोपेतम् तम् । पुन कथंभूतम् प्रातिहार्योपबोधितम् - अघोक्नुताद्यष्टप्राति-
हार्याभि रूपाद्योमितमन्त्रकृतम् ॥६७५॥ निरञ्जनम् - अञ्जनं कञ्जतं तद्यथा वस्त्रादिभि रञ्जितं करोति तथा पातिकापञ्जनमारमनो ज्ञानादिगुणायाम्किमीकरोति अतः तन्निर्गतं अस्मत्सोऽर्हन्निरञ्जनं तम् । पुन कथंभूतम् परमम् उत्तमम् सर्वलोकेषु श्रेष्ठम् । रमयाभितम् - जनन्तजानादिचतुष्टयकथया सम्भारकमिति । पुन कथंभूतम् अमृतम् न भवते स्य स्वस्वकृपाद् अमृतं परमात्मनिष्ठं तम् । अमृतोपवीचं अमृतो गच्छत बोधायाम् बोधः समुद्रो यस्मात् यस्य वा तं क्षुत्तिपाद्याद्यष्टावधोपरहितम् । अमृतम् न मत्तं अममरव्यादि लक्षणं यस्य तम् । मन्मदुदयम् अर्धं संसारं विभक्ति इति मन्मदु तेषां पुनः तम् - संसारिका मम्यानां मोक्ष-
मार्गोपबोधकत्वात् मन्मदुदयस्तम् । पुन कथंभूतम् । सर्वसंस्तुत्यम् सर्वं गौरवान्वदेवै पदुमिष्य त्तोदु बोधं सर्वसंस्तुत्यम् । पुन कथंभूतम् । अस्तुत्यम् न स्तुत्यो यस्य कोऽपि अर्हत् सर्वधेयत्वम् पुनर्व्येष्टत्वम् च । पुन कथंभूतं सर्वेश्वरम् अनेश्वरम् सर्वेषां त्रिमुक्तावतीनाम् इन्द्रवर्येणकृत्स्नविनाम् ईश्वरः स्वामी तम् । अनेश्वरम् न ईश्वरो यस्माद् अयं स अनेश्वरः अर्हत् कोऽपि प्रभुन वर्त्तते स सर्वपापेभ्यः प्रभुः । सर्वपापम् सर्वं इन्द्रादिभिः पुनःप्राप्त्यर्थमापायं पूज्यम् । अनाराध्यम् नाम्ना आराध्यो यस्य सः तम् स्वजनेन निजारातानम् आराध्यार्हम् स्वयंभूवर्ति इति भावः । पुन कथंभूतम् सर्वप्रियम् सर्वेषां जगत्याम् आकाशमृतमवतन्मृतम् । अनाययम् निराकम्भम् । सर्वेभ्यो पुण्यात् अनाययम् ॥६७६-६७७॥ प्रमदमिति - सर्वविद्यानां प्रमदम् सकलज्ञावद्याज्ञानां नाशकत्वात् अत्यन्तस्वानम् । सर्वलोका-
स्तिमहम् । सर्वेषां त्रिमुक्तावतीनां लोकानां बीजानां पितामहः । गणवर्येणैव सर्वलोकानां पिता-
तेषामपि विनेश्वरः पिता अतः अस्मदाधीना, अकृताणां स पितामहः तम् । पुन कथंभूतम् । सर्वेष्टि - सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां च हितकरं रत्नजम् उत्तमम् आरम्भ उपवेश्यो यस्य स तम् । पुन कथंभूतम् । अतसर्वं यतनं ज्ञानेन व्याप्यमानं सर्वानि वस्तूनि यः स जतसर्वं सर्वज्ञ इति भावः । पुन कथंभूतम् । अतसर्वम् सत्त्वो व्यापकः सर्वानि वस्तूनि गच्छतीति सर्वज्ञः न सत्त्वः असत्त्वो अव्यापकः वेदुमात्रपरिमाणा । स्वदेष्टे एव सर्वेषां जनानां मुक्तदुःखानुपबोधः ज्ञात्या स्वदेष्टुपरिमाणा । नैयामिकबोधेयिकाणां मते आरमनो व्यापकत्वं प्रतिपादितं परं तद्यथा न । व्यापकत्वे आरमनस्तच्छरीरेषां व्यापकेन भाव्यम् । “स्वाङ्गे एव स्वदेष्टित्वा स्वात्मा ज्ञानमुक्तादिनाम् । अतः सर्वेष्टे सर्वे स्वदेष्टुप्रथितित्वा” इत्यनेन प्रमात्रेण तस्य स्वदेष्टुपरिमाणात् विद्वद् भवेत् ॥६७८॥ नम्राभरेति - नम्राभः तै जमराभः देवास्तेषां किरीटाणि मुकुटाः तेषां निर्गता ये अङ्गणः किरास्तेषां परिवेषा मण्डलानि तैर्मुक्ते नभस्तके आकाशतले । अर्धरिति - भवतः पूज्यस्य पादयोर्ध्वं मुपलं तस्य द्योतिनः कान्तिमन्त्रो ये नभाः त एव नक्षत्रमण्डलम् । कथंभूतं तत् स्तूयमानं स्तुतिविधौक्रियमात्रम् । कैः अनुभूतं अगज्ञाननिपुणैः । पुन कथंभूतं बहुगोरीं बहु भुक्तिं सर्वं वचनविषयं येषां ते बहुगोरास्तैः भुक्तिपदं वर्धयन्ति । बहुधाविनि बहु भुक्तारमर्कं तस्मिन्कालो भाव्यः येषां ते बहुधाविनः ते । पुन किन्तु । अम्यारमैति - आरमणि अविहृतव्यापी आरमः अम्यारमायम बीजस्वकृपाप्रतिपादकं आरमं तस्मिन् वशीभिः बहुभिः तच्छास्त्रेनपूज्यन्ति अर्हति भुक्तिविशेषादिस्मिन्निः शोभिषुक्ती व्यापिष्येदमुनिभिः स्तूयमानम् अर्हन्तं व्यापेरिति तन्मन्त्रो ज्ञेयः ॥६७९-६८॥ नीरूपमिति - कथंभूतमहन्तं व्यापेरित्वाह - नीरूपं निर्दोषं कृपा इति नीरूपं तम् शुभवासविरर्णरहितम् तथापि कथितोपमं कथितं ज्ञातम् अवबोधितं यत्तद्वस्तुत्वमर्थं येन स कथितोपपन्नम् । अतस्तं सगरहितं अज्ञानं नृपकपयार्धं स अर्हति न विद्यते । तथापि अगमविहितं

प्राप्तेन जागमेन निष्ठित निर्णीत त द्वान्दनिष्ठितम् । पुन कथभूतम् । अस्पर्श योगसम्पर्गम् । स्पर्शो अष्टविधैः
 शीतोष्णादिभि रहितम् । योग धर्म्यशुक्लव्याने तयो म सम्पर्क स्पर्शो यस्य स तम् । अरम रसरहित पुन
 सरसागमम् । नरस मकलपट्टद्रव्याणा रस स्वभाव तेन सहित तद्रव्यस्वरूपज्ञापक आगमो यस्य स तम् ।
 अवशा सरसो भव्यजनमनोमोदक आगमो यस्य स तम् ॥६८१॥ गुणैरिति—अनन्तज्ञानादिभि. गुणे
 सुरभिन् सुगन्धित आत्मा यस्य स त गुण सुरमितात्मानम् । दोषदुर्गन्धकणिकयापि रहितम् अर्हन्त ध्यायेदिति
 भाव । अगन्धगुणगमम् गन्धगुणस्य नगमेन रहितम् । गन्धो गुण पुद्गले वर्तते मोर्हति नास्तीति भाव ।
 व्यतीतेति—व्यतीत विदोषेण अतीत अपगत इन्द्रियाणा सवन्धो यस्मात् । भगवान् केवलज्ञानी यदा
 जातस्तत प्रभृति तस्य मतिज्ञानावरणक्षयोपशमजातै स्पर्शनादीन्द्रियं सवन्धो नष्ट । भावेन्द्रियसवन्धापगमो
 जातो भगवत । नामकर्मोद्योत्पन्नैर्द्रव्येन्द्रियमवन्धस्तस्य अधातिकर्मणा सत्त्वाद्विद्यते । पुन कथभूत त ध्यायेत्
 इन्द्रियार्थविभामकम् इन्द्रियाणा पञ्चेन्द्रियाणाम् अर्था विषयभूता ज्ञेयपदार्था तान् अवभामयति जानातीति
 अवभासक तम् ॥६८२॥ अर्हन्त अष्टभूतमत्त्व व्याख्याति—भुवमिति—आनन्दा अनन्तसुखानि एव सस्यानि
 धान्यानि तेषा भुव भूमिरूपम् । पुन कथभूतम् । तृष्णा आशा एव अनलाविष अग्निज्वाला तद्विध्यापने अम्म
 पानीयरूपमर्हन्तम् दोषरेणूना धुत्पिपासादयो दोषा एव रेणव धूलय तेषाम् उड्डायने पवनरूपम् । एनोऽवनी-
 रूढाम् अग्निम्—एनासि पापानि ताव्येव अवनीरूढा वृक्षान्तेषा दहने अग्निरूपम् । यजमान सदर्थाना सन्त
 अनेकान्ता कथचित्त्रित्यानित्यादयो ये जोवादपदार्था तेषा यजमान भव्येभ्यो दातारम् । व्योम अलेपाद्वि
 सम्पदाम् हि यत सम्पदा समवसरणादिविभूतीना प्राप्तावपि अलेपात् अनुरक्त्यभावात् व्योमरूपम् आकाशरूपम्
 अर्हन्त ध्यायेत् । भानुमिति—गव्यारविन्दाना भव्यकमलानाम् विकासपटुत्वात् आनन्ददायकत्वात् भानु रविरूपम् ।
 चन्द्रमिति—मोक्षामृतश्रियाम् मोक्ष एवामृत सुखा तस्य श्रिय कान्तय तासा चन्द्ररूपम् इत्यर्हन्तोऽष्टभूतिरूप
 प्रतिपादितम् ॥६८३-६८४॥

[पृष्ठ २७१-२७२] अतावकगुणमिति—सर्वं सकल वस्तुजातं अतावकगुणम् तव इमे ताव-
 कास्त्वदीयास्ते च गुणास्तावकगुणा ते यस्मिन् न सन्ति तथाभूत सर्वं विद्यते वस्तुजातम् । सर्वज्ञत्वादिगुणा
 भवत्येव सन्ति अतो भवद्वयतिरिक्ता सर्वे हरिहरादयोऽतावकगुणा इति भाव । त्वं तु सर्वगुणभाजन
 सकलधातिकर्मविलयात्त्व भवान् सकलानन्तबोधादिगुणाना पात्रभूत । त्व सृष्टि उत्पत्तिरूप केषा सर्वकामानाम्
 सर्वाणाम् इच्छाना त्व पूरक । त्व भव्यमनोरथपूरणसमर्थ । तथापि कामसृष्टिनिमीलन कामस्य स्मरस्य
 अशुभमनोवाक्कायव्यापाररूपस्य निमीलन विध्वंसक ॥६८५॥ खसुप्तदीपनिर्वाणे इति—अप्राकृते
 अलौकिके खसुप्तदीपनिर्वाणे-खनिर्वाण नैयायिकानाम् । बुद्धिसुखादीना नवानाम् आत्मगुणानाम् अत्यन्त-
 मुच्छेदात् जीवो मुक्तो भवति इति मतम् । सुप्तनिर्वाण साख्यानाम् । यतस्ते मुक्तो जीवस्य प्राकृतिकज्ञाननाश
 मन्यन्ते । दीपनिर्वाण बौद्धानाम् यतस्ते आत्मा दीप इव तैलक्षयात् सर्वथा विनाश यातीति मन्यन्ते । हे जिन,
 त्वयि अप्राकृते अलौकिके त्वयि । जिने आकाशवत् रागद्वेषमोहाभावात् शून्यत्वम् । योगनिद्राया सुप्तत्वम् ।
 दीपवत्केवलज्ञानेन द्योतकत्वं विद्यते । अत नैयायिकसाख्यबौद्धरूप जगत्त्रय प्राकृत रत्नत्रयस्वरूपहीन वर्तते
 स्फुटम् ॥६८६॥ त्रयीमार्गमिति—त्रयी सम्मगदर्शनज्ञानचारित्राणा, त्रयमेव त्रयीत्युच्यते । तस्यास्त्रय्या
 भवान् प्रापकत्वात् त्रयीमार्गं त त्रयीमार्गम् । त्रयीरूप सम्मगदर्शनादित्रयी एव भवत स्वरूप सतोऽन्यत्वात्
 अनेकगुणतावत् । त्रयीमुक्तम्, मिथ्यादर्शनम्, मिथ्याज्ञानम्, मिथ्याचारित्रम् एतेषा त्रयो मुक्त रहितम्
 त्रयोपति लोकत्रयीस्वामिनम् रत्नत्रयपति वा । त्रयोव्याप्तम्—त्रय्या लोकत्रितये व्याप्तम् । केन व्याप्तम्
 ज्ञानेन । त्रयीतत्त्वम् रत्नत्रय त्रयीत्युच्यते । तदेव तत्त्व स्वरूप यस्य तथाभूत त्रयीतत्त्वम् । त्रयीति—त्रयं
 लोकत्रयम् तत्र चूडामणिवत् स्थितम् जिन ध्यायेत् ॥६८७॥ जगतामिति—जगता त्रिलोकाना कोमुदीचन्द्र
 ज्योत्स्नोत्पादक चन्द्रमिव । कामेति त्रिलोकाना या अभिलाषा तत्पूरणाय कल्पावनीरूढम् कल्पयति कामा
 सम्पादयति इति कल्प स चासौ अवनीरूढश्च वृक्ष तम् । गुणेति—गुणा ज्ञानादय त एव चिन्तामणय
 चिन्तितफलदायका मणय तेषा क्षेत्रम् उत्पत्तिस्थानम् । अर्हन्त ध्यायेत् । पुन कथभूतम् । कल्याणैति—

कस्यानामाम् भावमनं तस्य आकरम् उत्पत्तिस्मानम् ॥६८८॥ प्रणिधानेति—प्रणिधानमि चित्तस्य एकाग्रता
करयामि तात्परेण प्रवीणां तेषु साक्षादिव प्रत्यक्षविषयं कदाचुतं प्रकाशयामासुम् । अतएवार्थाहं लोकोत्पन्न
योग्यम् । सवतोमुखम्—विषयवत्पदार्थेषु मुखं वक्त्रं यस्यसि विद्वतोमुखः केवलज्ञानवत् स्वामिन् सर्वत्रैव
जीवा निवर्तिनस्तन्मुखं प्रवक्तुं पश्यन्तीति भावस्तस्य तावदग्निसत्त्वात् । अथवा विद्वतोमुखं पदम् बहुमुख्यते
तत्त्वभावेनात् अमिदजगत्पाठप्रसादकत्वात् । विषयमुदात्तगुणानिधारयत्वात् प्रसन्नभावेनापि प्रयमानसि
विद्वतोमुखं सध्यते । अथवा विषयं संसारं तस्यसि नाशयति निराकरोति मुनं यस्यसि विद्वतोमुखः । तद्वत्
मुदात्तमेव जीवः पुनः संसारे न समवेत् । अथवा विषयतः सर्वज्ञेषु मुखं यस्येति विद्वतोमुखः तम् । पुनः
कर्तृभूतम् अहंभूतम् इन्द्रादिकृतामन्यसंभाविनीम् अहंभावंति योष्यो मवतीति अहं । अथवा अकारतन्त्रेण
अतिरिक्त्यते स एव मोक्षणीयः । रकारेण रजो रहस्यं च कथ्यते किं तु रजः ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च
तमेतत् रजः सध्यते । रहस्यत्वेन अन्तरायकर्मोच्यते एतच्चतुष्टयं च वातिवर्मचतुष्टयं कथ्यते । उक्त्या
अहंभामहंतीति अहं तम् अहंत्वं ध्यायेत् चित्तयेगमतेति ॥६८९॥ आहुरिति—तस्मात् सवतो विज्ञेयत्वात्
परं ब्रह्म परमात्मन्यं करे अकलाप्यं विना प्रवक्तुं कथ्यमित्याहुर्मन्त्रवरदेवाय । तस्मादेव अहं एतत् त्वम्
इन्द्रवद्विषयं सकलदेवादिपत्यं करे अयत्नकथ्यमाहुः । तथा तस्मात् एव प्रवक्तुं इमा इहलोकसंनिधानं
चक्राहुः सुवर्णमन्त्रचक्राहुः सकलचक्रिणितिपाकिताः । क्षितिपथियं भूमिपथिभ्यश्च अयत्नकथ्यां समि
॥६९०॥ यं अमिति—अस्मदमत्तत्वाः स्मयश्च मत्तरश्च स्मयमत्तरी पर्वान्यनुमतेषीतीति वेदां न ते अस्मदमत्तत्वा
अहं अहंभुमस्तिव्याश्च भव्या अम्यात्पयार्थेषु यं यं भावम् अविप्रार्थं उत्पद्य अन्तः मनसि दधति विप्रति
अहंत्वव्याप्यते ॥ स भावस्तन्त्रेण जीयते तस्मिन्नेव परे लीलो जायते । स स भावः प्रकटं प्राप्य अहंत्वव्यापि-
कारणं भवति । एतदेव सोमाहरणं विद्युपोति ॥६९१॥ अनुपायेति—पुस्तक्या पुमांसं भव्यां त एव
तथा बुधास्तेषां मनोदत्तं जगत्चित्तमं ब्रह्म पथं तु अनुपायानिहोद्भूतान् अनुपायां मोक्षप्राप्तेरमर्णा-
मिष्यादर्थनादवत् एव अग्निकाष्ठैरुद्भूतान् । परं यथा ते अग्निकां धाम्मन्ति तथा विपद्यसि बीजांकाकारसि
धूमावेव जीवमानं मज्जेत । यथा तरोर्बलं वा तेनोपरि गीयते परं तस्योपचये तत्पुनरव जागत्य भूमिमाव-
रति तथा भव्यमनोत्पत्तं पुनः अहंत्वव्याप्यं भूमिमावमति । व्योतिरेकमिति—इदं परमात्मव्योतिः । एकम्
अक्षितीमम् । इदं पुनर्वक्तव्यमग्निकांकाकारेषु गोपकथ्यते । परम् अस्व परमात्मनः वेपः । करोति—करोति
सुष्ठुभोदयम् । अस्मा पाशान् समिह् सुष्ठुत्पकाप्यादिं तै समं तुल्यं अयं परमात्मा स्वस्मिन्नेवोपकथ्यः ।
परं तत्प्रत्ये परमात्मनः प्राप्ये तथा अग्निप्राप्येव कृपायाश्चापावत् विद्मुदां पक्का इव जीवाः पच-
कामते संसारान्त्रे । अमति विचरति । भोमयेज्जिः जीवः प्रकटो न स्यात् तथा ह्यौपु परमात्मा पारम्पर्येण
प्रकटो भवति । पाशान् अग्निः जीवः प्रकटो भवति तथा पुंसि आत्मा तस्मिन्नेव पथे प्रकटो नयेत् परमात्मर्था
प्राप्तुम् अहो भवेत् । तपुलके च हवीवत् ॥६९२-६९३॥ परापदेति—परां श्रेष्ठां गणवत्पदम् । अपरां
गृह्णतां तैम् परं श्रेष्ठम् । एवम् अपर्युक्तप्रकारेण चित्तयतो मनसि स्मरतो ज्ये । तै ते भावाः लोकोत्तरमिव
अदृष्टव्यस्तस्मिन् युक्ताः । अतीश्रिया अतिशक्तोत्तिमविषयाः भवन्ति । परात्मनः स्मरणात् ध्यानात्मक-
बुद्ध्याः अवधिज्ञानादितिषयविधेया कथ्यन्ते । पराः अनवारकविषयाः तैम् पराः सत्कृष्टाः पचवत् तैम्
परो किन् इति । क्लेशवत्पत् न लोप्ये श्रेष्ठः ॥६९४॥ श्रेष्ठेति—यथा व्योमाकाशं स्वयम् अनुस्यसि
ज्जयानरेति—ज्जया प्रतिविम्बं तेन पुष्को नरः तस्य उत्पन्नं संवर्धं भवति । तथा अयम् आत्मा योगयोगात्
ध्यानयोगात् प्रत्यक्षं बीजवत् अनुभवो यस्य तथा भवति । इति कविचित्मिती यन्मुप्य एवरीरज्जावा
लोकरं करोति । ध्यावाकोरज्जावावयवात् विवति ध्यावां विवापि ॥ तं नीक्षती एवं ध्यानाभ्यासात् आत्मा
ध्यावा इत्यते ॥६९५॥

[पृष्ठ २७३-२८०] न ते गुणेति—यत् परमात्कारणात् योगस्य ध्यानस्य योगेनैव प्रकाशेन ।
अस्तवमदच मे निरस्ता ज्ञानसमुच्चये येन ह्युः प्रकटत्वं न प्राप्नुवते गुणाः नैव । अत् न भावते तज्ज्वां नैव
या नोभूयति सा बुद्धिर्नास्ति । यत्रोत्पद्यते तत्पुण्यमपि न । अत्येवमर्थमेतत्—आरयति निरस्तकर्मणि सर्वे

गुणा । सकल ज्ञानम् । सकल दर्शनम् । सकल मुख च उत्पद्यन्ते ॥६९६॥ देवम् इति—जगत्त्रयोनेत्र
 सकललोकलोचनम्, देवं जिनेशम्, तथा व्यन्तराश्च देवता शामनदेवतादय पूजाविधानेषु पूजाभिपेक्षादौ
 सम समानमानाह पश्यन् बोधमाण अथ दूर व्रजेत् अघोलोके दूर नरक गच्छेत् उत्पद्येत । व्यन्तरदेवताभि
 तुल्यत्वम् अर्हतोऽस्तीति सकल्पेन महानचिनयो भवति जिनेन्द्रस्य तत पापलेपादधोगतिप्राप्ति म्यादेव ॥६९७॥
 ता इति—ता शामनवक्ष्यक्षिण्य गोमुखचक्रेश्वर्यादय, क्षेत्रपाला दिक्पालादयो देवता । परमागमे शासना-
 धिराश्रयं जिनमतक्षणाया कलिता मूरिभि मन्यन्ते स्म । अतो यज्ञाशदानेन पूजाशेषद्रव्यवितरणेन सुदृष्टिभि
 सम्यग्दर्शनधारिभिर्भगवै माननीया पूजनीया । तथा सकल्पेन पूजिता भव्याना मय्यवत्वहानये ता न
 भवन्ति । ता जिनमदृशा न माननीया किन्तु जिनादौना ज्ञातव्या ॥६९८॥ तच्छासनेति—तस्य
 जिनेश्वरस्य शासने मते एका दृष्टा अद्वितीया भवितर्येषा तादृशा सुदृशा सम्यग्दर्शनवता सुमृतात्मनाम् अणुव्रतिना
 ता सपुरन्दरा सोधमैन्द्रमहिता स्वयमेव सन्तुष्टा भूत्वा प्रसीदन्ति प्रसन्ना भवन्ति ॥६९९॥ तद्धर्मेति—
 तद्धर्मं जिनप्रोक्ते धर्मे वद्वकक्षाणा दृढनरबुद्धीनाम् । रत्नययवारणात् महीयसा श्रेष्ठनामापन्नानाम् । मनोरथै
 मनोऽभिलषितं । उभे द्यावाभूमी द्यौ आकाश भूमि भूतलम् नभोभूतले । कामदुष्टे स्याताम् । इष्टदानसमर्थे
 कामवेनू भवेताम् ॥७००॥ वरोपलिप्सया चेतसो रिक्ततत्त्वमाह—कुर्यादिति—जन तपोऽनशनादिक कुर्यात्
 विदधोत । मन्त्रान् जपेत्, देवता द्या नमस्येत् नमस्कुर्वात् । यदि तच्छेत् तस्य मन सस्पृह वरोपलिप्सयाकुल
 स्यात् स सम्यग्दृष्टि व्रतिको वा अमूत्र, परस्मिन् स्वर्गादौ इह च अस्मिन्लोके रिक्त फलगूण्यो भवेत् ॥७०१॥
 ॐकारजप करणीय इति निवेदयति—ध्यायेत् इति—गुरुपञ्चकवाचकम् अर्हत्सिद्धादिपरमेष्ठिना पञ्चाना
 वाचक प्रतिपादकम् । वाङ्मय पञ्चनमस्कारमन्त्र ध्यायेत् चिन्तयेत् एकाग्रिभूतमानस । एतद्धि वाङ्मय सर्व-
 विद्याना सकलविद्यानाम् । अत्रिष्टानम् आधारभूतम् । अविनश्वरम् अविनाशि ज्योति । अपूर्वम् चन्द्रसूर्यादिपु
 नोपलब्ध कदापि सकलपदार्थप्रकाशकम् ॥७०२॥ ध्यायन्निति—इद पञ्चपरमेष्ठिवाचकम् ॐ इत्यक्षरम् ।
 अस्मिन्देहे मन्दरमुद्रया मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकार कुड्मल क्रियते स एव मन्दरो गिरि । इति
 विन्यस्य स्थापयित्वा । ध्यायेत् चिन्तयेत् । सर्वनामादिवर्णाहम् सर्वाणि यानि नामानि पञ्चपरमेष्ठिनाम् ।
 तेषु आदिवर्णस्य अर्ह योग्यम् । वर्णाद्यन्त सवोजकम् वीजाक्षरोपेतम् । पञ्चपदप्रयमाक्षरेण योग्यम् अर्हन्
 शब्दस्य 'अर्ह' इति गृह्यते । अक्षरीर 'अर' इति । सूरि 'अर्य' इति । अध्यापक 'अ' इति । मुनि 'म' इति ।
 पश्चात् 'रूपे रूप प्रविष्टम्' इति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तरम् 'अर्ह' इत्यत्र उच्चारणार्थ
 अकार क्षिप्यते । 'मोऽनुस्वार व्यञ्जने' अर्हम् इति तत्त्व निष्पन्नम् ॥७०३॥ तपःश्रुतेति—तपसा श्रुतेन
 ज्ञानेन विहीनोऽपि । तद्ध्यानेति—तद्ध्यानेन आविद्ध व्याप्त मानस यस्य स पुरुष । तत्तत्त्वेति—तत्तत्त्वे 'ॐ
 अर्हम्' इत्यादिमन्त्रस्वरूपे तत्त्वे रुचि श्रद्धान तत्र दीप्रा धी बुद्धि यस्य स जन । जातु कदाचनपि । तमसाम्
 अज्ञानानाम् । स्रष्टा उत्पादक न भवति । स अज्ञो न भवति । उपर्युक्तमन्त्रचिन्तनेन स ज्ञानी स्यात् ॥७०४॥
 अस्यैव मन्त्रस्य समाधिमरणे चिन्तन कार्यम्—अधीत्येति—सर्वशाम्नाणि आत्महितस्य कर्तृणि अधीत्य
 पठित्वा । परम् उत्तम तप विधाय कृत्वा च । अन्ते मृतिसमये, अनन्यचेतस अन्यस्मिन् अन्नादौ, शरीरे च मन
 अकृत्वा । पञ्चपरमेष्ठिचरणेषु मन स्थिरीकृत्य इमम् मन्त्र स्मरन्ति ॥७०५॥ मन्त्रोऽयमिति—अय मन्त्र
 स्मृतिषाराभि पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणजलधाराभि । यस्य मुनेराराधकस्य गृहिणो वा चित्तम् अभिवर्पति
 अभिपिञ्चति । तस्य सर्वे क्षुद्रेति—क्षुद्राश्च ते उपद्रवा उपसर्गा त एव पासव रजासि प्रशाम्यन्ति
 नश्यन्ति । क्षुद्रदेवतिर्यग्भि कृता पीडा अनेन मन्त्रेण नश्यन्तीत्यर्थ ॥७०६॥ अपवित्र इति—जन्तु
 अपवित्र अपूताङ्ग अशुचि । पवित्रो वा स्नानादिभि शुचिर्वा । सुस्थित नीरोग । दु स्थितोऽपि वा
 सरोगोऽपि वा । या कापि भवत्ववस्था एतत्स्मृते अस्य मन्त्रस्य स्मरणात् । सर्वसम्पदा सकलवैभवानाम् आस्पद
 स्थान भवति ॥७०७॥ उक्तम् इति—लोकोत्तर व्यानमुक्तम् । लौकिक किञ्चित्स्तोकम् उच्यते । प्रकीर्णक-
 प्रपञ्चेन इतस्तत प्रतिपादिताना विषयाणाम् एकत्र प्रतिपादन प्रकीर्णकम् । तस्य प्रपञ्चो विस्तरस्तेन ।
 पुन कथंभूत तत् दृष्टादृष्टफलाश्रयम्—दृष्टफलम् आरोग्यम् धनादिलभश्च । अदृष्ट फल स्वर्गादिकम् तयो

अस्यापायानाम् अपमर्गं तस्य आकरम् उत्पत्तिस्त्वानम् ॥१८८॥ प्रथिधानेति—प्रथिधानानि चित्तस्य एकाग्रता
करानि ताप्येव प्रदीपां तेषु साक्षादिव प्रत्यक्षमिव ज्ञातुं प्रकाशमानम् । अतएवार्थार्हं लोकवत्पूजन-
योग्यम् । सर्वतोमुखम्—विषयतत्त्वतुर्विधं मुखं यत्र यस्मिन् विषयतोमुखः विषयज्ञानवत् स्वामिन् सर्वत्रपि
बीजा निजनिजसम्पूर्णं समग्रत्वं पश्यन्तीति भावस्तस्य तादृशनिर्मलत्वात् । अथवा विषयतोमुखं पुनः कम्पुज्यते
तत्त्वमावत्त्वात्, अतस्तत्त्वमापातकप्रतापकत्वात् । विषयमुक्तध्यानिचारवत्त्वात्, प्रसन्नमावत्त्वान्न ज्ञापयन्ति
विषयतोमुख उच्यते । अथवा विषयं सत्तारं तत्त्वति नाद्यपि निराकरोति मुखं यस्मेति विषयतोमुख । अथवन्-
मुद्राद्यधिन बीजः पुनः संभवे न संभवेत् । अथवा विषयतः सर्वाङ्गेषु मुखं यस्मिन् विषयतोमुखः तम् । पुनः
कर्ममूतम् अर्हन्तम् इत्यादिब्रह्मात्मन्यसंभाविनीम् अर्हन्माहर्ति बोधो यवतीति धर्तुः । अथवा अकारतमेव
अतिरिच्यते स एव मौहुरीयः । रकारेण रजो रहस्यं च कथ्यते किं तु रजः ज्ञानावरणं वर्णनावरणं च
इयमेतत् रजः कथ्यते । रहस्यसंज्ञेन अन्तरायकर्मोच्यते एतच्छब्दोऽयं च चातिरिच्यतुऽयं कथ्यते । तदन्ता
अर्हन्माहर्तिति अर्हन् तम् अर्हन्तं ध्यायेत् चित्तयोग्यतेति ॥१८९॥ आहुरिति—तस्मात् भगवतो विनेस्वरत्
परं ब्रह्म परमात्मपरं करे अथत्वात् विना प्रयत्नं अन्धमिराद्ब्रह्मचर्यवैचार्यम् । तस्मादेव अर्हन् ऐवं परम्
इत्यर्थेनैव सकलवैचारिकपरं करे अथत्वन्यथाह । तथा तस्मात् एव भगवत् इमा इहोक्तवैचारिक्य-
वश्याः सुवर्तनवच्चिन्ता सकलवैचारिकवैचारिक्यः । इतिपथियं भूमिपथिकस्य अवलोकन्या एति
॥१९॥ य यमिति—असममत्तराः सम्यक् यस्तरय सम्यक्सरौ पर्याप्त्यनुभवेपीतीयेषां न ते असमवत्तरा
भगवौ अन्धधुनस्तिव्याद्यं मन्त्राः अस्यात्ममार्गेषु यं यं भावम् अविश्रामं तत्प्रायः अन्तः मनसि बभूवुः निद्रति
अर्हत्प्रप्राप्तये स स पावस्तत्रैव कीमते तस्मिन्नेव पदे कीनी जायते । ॥ स भावः प्रकटं प्राप्य अर्हत्प्रप्राप्ति-
कारणं भवति । एतदेव लोकाद्वारं विवृणोति ॥१९१॥ अनुपायेति—पुंस्त्वक्कां पुमांसं भव्या व एव
तरणो वृत्तास्तेषां मनोवत् सगविचलत्वेव बलं परं तत् अनुपायानिकोद्भूतम् अनुपायाः मोक्षप्राप्तेरमात्रौ
मिथ्यावर्तनाद्यस्त एव अनिवासीत्युद्भूतम् । परं यथा ते अनिका धाम्नि तदा विराडपि बीजात्काकापि
भूमादेव कीयमानं भव्येत् । यथा एतेर्बलं वा तेनोपरि नीयते परं तत्त्वोपघये तत्पुनरत्र आगत्य भूमिमात्रं
पति तथा नम्यमनोवत् पुनः अर्हत्स्वरूपा भूमिमात्रमिति । ज्योतिरेकमिति—इवं परमात्मनोऽपि । एकम्
अक्षितीयम् । इवं पुनरुक्तवर्मावनीकाकाकाकेषु नीयकथ्यते । परम् अस्य परमात्मनः त्वः । करीरेति—करीरं
दुष्कर्मोपमम् । अस्या पापाद्यः समिप् दुष्कृत्युपकृत्यति तौ समं तुल्यं अर्धं परमात्मा स्वस्मिन्नेवोपकथ्यम् ।
परं तत्प्राप्ते परमात्मनः प्राप्ते तथा अनिप्राप्तोक्तं उपमाद्विभाषात् विहृम्भाः पक्विका इव बीजाः नव
कान्ते संसाधार्ये । अमन्ति निवर्तन्ति । बीमयेऽग्निः बीजं प्रकटो न त्वात् तथा स्त्रीपुं परमात्मा पारम्येव
प्रकटो भवति । पापाने अग्निः बीजं प्रकटो भवति तथा पुंनि आत्मा तस्मिन्नेव पदे प्रकटो भवेत् परमात्मनो
प्राप्तुम् अर्हो भवेत् । ननु कथं न स्त्रीयत् ॥१९२-१९३॥ परापरेति—परां श्रेष्ठां पञ्चरात्रम् । अपरं
गृहस्था तेषु परं श्रेष्ठम् । एवम् उपर्युक्तप्रकारेण चित्तवतो मनसि स्वरतो यते । तौ ते प्राणा लोकोत्तरमिव
अगदुत्पद्यन्मिह मुक्ताः । अतीन्द्रियाः अतिशान्तेन्द्रियविषयाः भवन्ति । परात्मनः स्वरूपा साध्यावबन्-
दुर्लभा अवधिज्ञानाद्यतिशयविशेषा कथ्यन्ते । पराः अगारकेनचित् तेभ्य परा उत्कृष्टाः पञ्चरात्रं तेभ्य
परो विनः इति । विनेस्वरत् न कीदृशि श्रेष्ठः ॥१९४॥ ज्योमेति—यथा ज्योमाकाशं त्वयम् अनूर्तमपि
प्राधान्येति—आद्या प्रतिविम्बं तेन मुक्तो नरः तस्य उत्सर्गं सर्वज्ञं भवति । तथा अयम् आत्मा बोधवोपाय
ध्यानयोगात् अत्यन्तं बीजमम् अनुभवो यस्य तथा भवति । निजः कश्चिदपिमिती मनुष्यः स्वशरीरच्छाया-
लोचनं करोति । अत्राकोकनाम्याद्यवसात् विपतिः कायां विनापि स ता बीजति एवं ध्यानाम्याद्यत् आत्मा
ध्याना दृश्यते ॥१९५॥

[पृष्ठ २७३-२८०] न ते गुणेति—यत् यस्मात्प्राप्तम् बीजस्य ध्यानस्य दोषवेगं प्रकाशेन ।

अस्तवमव मे निरस्त्य ज्ञानसमुच्चये येन त्वुं प्रकटत्वं न प्राप्नुवते भुजात मिव । यत् न भावते तज्ज्ञानं त्वं
मा मोक्षति सा ब्रह्मनिधिः । यतोत्पद्यते तदनुभवपि न । अस्वीदप्यमेतत्—आत्मनि निरस्तक्रममि सर्वं

देहस्य स्वरूपं न तदात्मन । स तु नितान्तं निर्मलः । एनम् आत्मानं देहाच्छरीरात्पृथक् कृत्वा विभिन्नं कृत्वा तस्मान्नित्यम् अविनाशिनं तं विचिन्तयेत् ध्यायेत् ॥७२२-७२३॥ तोयमध्ये इति—यथा तोयमध्ये जलमध्ये । तैलं पृथक् तिष्ठति । नीरक्षीरवत् अन्योन्यप्रदेशप्रवेशस्तयोर्न भवति । तथा अस्मिन् शरीरमध्ये पुमाञ्जीवः पृथक्तया आस्ते विद्यते ॥७२४॥

[पृष्ठ २८१-२८४] दध्नः सर्पिरिवेति—यथा उपायेन मन्थनदण्डेन मथित्वा दध्नः सर्पिर्धृतं पृथक् क्रियते तथा तत्त्वज्ञैः जीवस्वरूपाभिज्ञैः चिरम् अनादिकालेन ससर्गवानपि नीरक्षीरमिव देहेन, आत्मा शरीरतः देहात् पृथक् क्रियते । केन ध्यानोपायेन ॥७२५॥ पुष्पामोदाविति—यथा पुष्पात् आमोदं गन्धं भिन्नः । यथा तरोश्च्छाया भिन्ना । तद्वत् देहदेहस्थो ज्ञातव्यो । देहजीवो प्रतिपत्तव्यो । देहं पुष्पसदृशं साकारं जीवस्तद्गन्ध-तुल्यं निराकारं । देहं तद्वत् जीवस्तच्छायेव । यद्वा तौ लपनविम्बवत् देहं लपनवत् मुखवत् । आत्मा आदर्श-गतमुखविम्बवत् । यद्वत्नकलनिष्कले सकलं अहं निष्कलः सिद्धं तत्र सकलनिष्कले ॥७२६॥ एकस्तम्भ-मिति—इदं शरीरं योगिना गृहम् गेहमिव । यथा गृहं स्तम्भैः सहितं वर्तते तथा इदं योगिशरीरम् । एकस्तम्भम् एकः स्तम्भः । यत्र तथाभूतम् । एकस्तम्भं जीवे चेतना लक्षणं तदेव लक्षणं स्तम्भभूतम् । गृहे द्वाराणि विद्यन्तेऽत्र नवद्वाराणि सन्ति, शरीरे नवछिद्राणि सन्ति । द्वे नेत्रे नासिकारन्ध्रद्वयम् । कर्णरन्ध्रद्वयम् । मुखरन्ध्रम् । शिरसरन्ध्रम् । गुदरन्ध्रमिति नवरन्ध्रं शरीरम् । एतानि रन्ध्राण्येव शरीरस्य द्वाराणि । पञ्च-पञ्चजनाश्रितम्—यथा गृहं पञ्चजना मनुष्यास्तैराश्रितम् । तथा योगिना शरीरगृहमपि पञ्च इन्द्रियाण्येव पञ्चजना मनुष्या तैराश्रितम् । यथा गृहम् अनेककक्ष बहुप्रकोष्ठकं विद्यते । तथा योगिना शरीरमिदम् अनेककक्ष नाभिकमलादिनानावयवोपेतम् ॥७२७॥ ध्यानामृतान्नेति—योगिना चित्तं योगबान्धवे योगो ध्यानं स एव तस्य बान्धवः आप्तजनस्तत्र तथाभूते शरीरे रमते सतुष्यति । कथंभूतस्य योगिनः । ध्यानेति-ध्यानमेव अमृतान्नं पीयूषान्नं तेन तृप्तस्य सौहित्यं प्राप्तस्य । पुनः कथंभूतस्य । क्षान्तीति—क्षान्तिं क्षमां सैव योषित् जाया तस्या रतम्यं स्नेहं कृतवत् ॥७२८॥ रज्जुभिरिति—यथा रज्जुभिः प्रग्रहं । कृष्यमाणं चोद्यमानं । हयोऽथ पारिप्लवश्चञ्चलः । स्याद्भवति । तथा इन्द्रियं स्पर्शनादिभिः । कृष्टं प्रेरितं । आत्मा क्षणम् एकक्षणकालमपि ध्याने न लीयते लीनो निश्चलो न भवति । यो दुष्टाश्च स्यात्स प्रेरितस्तिष्ठति खचितश्चलति तथेन्द्रियं खचितं आत्मा चलति न तिष्ठति । अतः आत्मानं शनं शनं वशं करोतु ॥७२९॥ रक्षामिति—सकलीकरणविधिना स्वाङ्गरक्षणं विधाय । तथा सहरणम् औदारिकशरीरमस्मिन् हरणं कृत्वा । वैकल्पिकशरीरं चोत्पाद्य । गोमुद्रामृतवर्षणम् सुरभिमुद्रयामृतवर्षणं च कृत्वा । स्वयम् आप्तरूपधरं आप्तोऽहं तस्य रूपधरं परमौदारिकदेहस्थोऽहमिति भावयित्वा आप्तम् अहन्तं चिन्तयेत् सकलीकरणे पूर्वं यथा शरीररक्षा क्रियते । पश्चात् अग्निस्तत्त्वे दहनलक्षणं सहरणम् । चन्द्राद्वरुणमण्डलात् अमृतवर्षणं सृष्टिं कृत्वा । स्वयम् आप्त-रूपधरं आप्तम् अहन्तं चिन्तयेत् इति भावः । (टिप्पणे) ॥७३०॥ धूमवत् इति—धूमवत् पापं निर्वमेत् अवपरिक्षपयेत् । केन गुरुबीजेन । (झू) कारेण । तेन कारणेन तद्वर्णेन अमृतवर्णेन पकारेण । मुहुः मुहुः वार-वारम् ॥७३१॥ पद्मवीरसुखासनवर्णनम्—सन्यस्ताभ्यामिति—सन्यस्ताभ्यां सख्यिताभ्याम् अवोद्भिन्न-भ्याम् अश्वचरणाभ्याम्, पद्मासनं भवति । ऊर्वोरपरि सव्योरपरि युक्तितः अङ्घ्रिभ्यां स्यापिताभ्यां वीरासनं भवति । तथा समगुल्फाभ्यां समघुटिकाभ्यां सुखासनं भवति । टिप्पण्यामिदम् सव्योनोरथं पादौ तदा पद्मासनम्, सव्योनोरपरि तदा वीरासनं घूण्टी उपरि घूण्टी तदा पद्मासनम् ॥७३२॥ तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—गुल्फो-त्तानेति—गुल्फयोः घुटिकयोः उपरि उत्तानी ऊर्ध्वतली यो करो हस्तौ तयोः अङ्गुष्ठे रेखा रोम्णाम् आलिः पङ्क्तिं नासिका नासा च समदृष्टिं समा कुर्युः विदध्युः । नातिस्तब्धो न अतिशयेन स्तब्धः स्थिरः । न वामन नातिनम्र ॥७३३॥ तालेति—तालस्य वितस्ते त्रिभागस्थश्च तृतीयभागश्चतुरङ्गुलः तावत् मध्ये अन्तरम् अङ्गुलीश्चरणयोरेव स तालत्रिभागमध्याङ्घ्रिः । पुनः कथंभूतं योगी । स्थिरेति—स्थिरे निश्चले क्षीपशिरोवरे मूर्धग्रीवे यस्य स । पुनः कथंभूतं समनिष्पन्देति—पाण्यग्रौ गुल्फयोः अवप्रदेशाग्री । जानुनी ऊर्ध्वपर्वणी भ्रुवो हस्तौ करो लोचने नयने ममानि निस्पन्दानि च निश्चलानि च पाण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचनानि यस्य स । एतादृशो

आधयं आचारं ध्यायन् उच्यते ॥७८॥ पञ्चमूर्तिसममिति—पञ्चमूतय बह्विस्त्रिंशदाचारोपाध्यायसाधक-
पथेति त्रिंशत् पञ्चमूर्तिसमम् । श्रीं ॐ इत्यादि बीजाक्षरम् नासिकाग्रे निधाय विचिन्तयन् वपुः । केतः
मनः हृदये भूमध्ये निधाय स्थापयित्वा दिव्यं ज्ञानम् अवाप्नुयात् कथेत ॥७९॥ यत्र यत्रेति—मस्मिन्
मस्मिन् हृदये इत्येव दर्शनायो । अक्षरं मया निबोधत । तत्र-तत्र अर्थं बाह्यबाह्याधयं बाह्येति निर्दिष्टादौ
यः आधय आचारस्तद्वत्त्वं शुद्धं कथेत प्राप्नुयात् । इति यथाह्य ये पञ्चार्थाः श्रेष्ठः सुप्तं कथेत्तारावकाः
॥७९॥ स्पृष्टं सूक्ष्ममिति—स्पृष्टं सूक्ष्मं चेति ध्यानस्य मेरी द्वौ । एकं स्पृष्टं उत्तमार्थं द्वितीयं सूक्ष्मं
बीजसमाधयं बीजाधारम् । आद्येन स्पृष्टेन कामम् अग्निकथितं स्वर्गाधिपयम् । द्वितीयेन परं परं मुक्ति
कथेत ॥७९॥ पद्ममिति—पद्मं आधोः । पद्म कमलम् उत्थापयेत् नाथो स्वभावेन स्थितं कमलं बाधेत् ।
पद्मात् नाकाकारेण नाथो नासिकां संघातयेत् । नाक्या इत्या मस्तः हृदयं प्रापयेत् । पद्मात् मल्लमनुत्तमं
पृष्ठी-अप-तेजो-बायुमण्डलानि नासिकामध्ये मुक्ताणि स्थितानि सन्ति । तानि चेतसि आत्मनिपये । प्रचारयन्
बोधयन् ॥ इति टिप्पणे ॥७९॥ दीपहस्त इति—यथा दीपहस्तं करमुत्तरीयं कश्चिद्भक्तः किञ्चित्तु
बाधोक्त्यं तं पञ्चार्थम् आधोऽन्तःस्थान्तरं त्यजति । तथा ज्ञानेन ज्ञेयमाधोक्त्यं पञ्चासत्त्वान्मस्तमेत् । ज्ञानं प्रथमं
यं पञ्चार्थो ज्ञातस्तं समुत्सृज्य अर्थं ज्ञेयम् आधयेत् ततस्तमपि पञ्चार्थम् परित्यजेत् ॥७९॥ सर्वपापाक्षये
इति—सर्वेति सकलपापानाम् आक्षये आगमने दीपे सति ध्याने भावना भवति । ध्यानं कर्तव्यमिति विमर्शो
मनसि स्फुरति । परं येषां बुद्धिः पापेन क्लृप्ता वर्तते तेषां मनसि ध्यानवातापि दुर्जना भवति । यथा बारिच
मोहनीयकर्मणा साधोपसमः संपद्यते तथा आत्मध्याने मनो बीजं भवति परं यथाबाधाम् अक्लृप्ता इवा
ह्वि भावति तेषां ध्याने मनामपि मनो न कीयते ॥७९॥ दधिमाद्यगतमिति—सोऽं दधम् उत्तरपार्श्वं
वधिमाद्यं प्राप्य पुनः दधिमाद्यत्वां न याति । तथा उत्तरज्ञानविद्युत्तस्या उत्तरं बीजाधिकं उत्सृज्य ज्ञानेन विद्युद्वो
निर्नक्त आत्मा यस्य स आरावका ध्याता पुनः पार्श्वं क्षिप्यते तस्य ध्याता पार्श्वे बुद्धिर्न प्रवर्तते इति यावः
॥७९॥ मन्दं मन्दमिति—ध्याता वायुं मन्दं मन्दं सगैः ध्वनैः क्षिपेत् शुष्मेत् । तथा ध्वनं मन्दं विनि
क्षिपेत् आकरोत् । अक्षिद्वायुर्न धार्यते न क्षम्यते । न च क्षीरं प्रमुच्यते । ध्वनं ध्वनं बायुमोक्तम् । बायोविचरं
तिरीचार्हस्य मनसश्च स्वास्थं विनश्येत् । क्षीरं तस्मिन्मनसि केतव्याचक्षयं प्रजायेत ॥७९॥ उपमिति—
योजितं ध्याता पतिं स्वर्ग्यं प्रजायो वा विचिन्ता विस्मयोत्पादिका वर्तते । यथा तौ विद्युत्तः स्थितं कर्णं
स्पर्शं रसं पण्यं सव्यं चैव आसन्नमिव समीपस्थमिव गृह्णन्ति ज्ञानन्तीत्यर्थः । निर्नक्ते मनसि विद्यते सर्वत्र
इव साक्षात् स्वस्वर्ग्यं निबध्नीति ज्ञेयम् । दृष्टे बीजे इति—यथा बीजे अक्षुरोत्पत्तिकारणे । अत्यन्तं दग्धे
सति तत्र अक्षुर न प्रादुर्भवति नोत्पद्यते । तथा कर्मबीजे मोहकर्मणि ज्ञानात्स्वाधिकमदमन्त्रके प्ररोहक-
कारणे दग्धे सति यथाक्षुरः कम्पाक्षुरः न रोहति न जायते ॥७९॥ ७९८॥ नामाविति—नाथो पुष्पीपुत्रे ।
चेतसि हृदये । नासार्धे नासिकाग्रे । वृष्टी मेदे । प्रागे क्लृप्ते । मूर्ध्नि क्षिरसि । य कायसरोवरे । अग्रे
मनोहृदं विहारयेत् विचारयेत् । मन एव हृदः मनोहृदं तम् । एवं ध्याता स्थिते सति यत्र कुत्रापि मनस
एकपदा स्यात् ॥७९॥ साध्याविति—नरः शोभिन् नाकाग्रे । नायात् गच्छेत् । गच्छे दिष्टे । जनसाधियं
अग्निज्वालायां निधीयेत् उपविष्टेत् । अनोमस्तप्रयोगेन मनसः स्थितीकरणेन मस्तप्रदीपेन च प्राभाभावेन
च । शस्त्रैरपि न बाध्यते । शस्त्रप्रहारेण अवयवा न क्षिण्यते । एवं जनमनोविरमापकं सामर्थ्यं ध्यातारि
प्रायामाध्यायान्त् पश्यति ॥७९॥ जीव इति—जीवः सघारी । धिक् मुक्ता । धिक् मुक्तः जीव
संघारो मयः करण भेदः अस्ति त्रिभु नास्ति । य एव जीव संघारी स एव धिक् जीवत्वेन उभयोपि
कथेत्तद् । परम् एकः जीवः पाद्यवत् कर्मात्कपीडितं वर्तते । अपरं पुनः धिक् पाद्यमुक्तोऽस्ति ॥७९॥
आत्मनो ध्यानं कर्तव्यम् । साकारमिति—सर्वं वस्तुभावं साकारम् आकारेण सहितं नवरं विनाश-
शीलम् । अनाकारं यस्तु तत्र अष्टौ ध्वनयम् । अतः पञ्चदशविनिर्मुक्तं साकारतामुक्तं निराकारं च यस्य स्वर्ग्यं
न विद्यते स जीवः योगियि कथं ध्यायते उच्यते इति प्रश्ने सुविराह—अत्यन्तमिति—इहोऽत्यन्तं मज्जि-
सत्त्वानुमुत्तत्वात् । परम् आत्मा तथा न । कीदृशस्तद् इति च पुमानात्मा अत्यन्तनिर्नक्तः अष्टाध्यायेत्यर्थः

दहस्य स्वरूप न तदात्मन । स तु नितान्त निर्मल । एनम् आत्मान देहाच्छरीरात्पृथक् कृत्वा विभिन्न कृत्वा तस्मान्नित्यम् अविनाशिन त विचिन्तयेत् ध्यायेत् ॥७२२-७२३॥ तोयमध्ये इति—यथा तोयमध्ये जलमध्ये । तैल पृथक् तिष्ठति । नीरक्षीरवत् अन्योन्यप्रदेशप्रवेशस्तयोर्न भवति । तथा अस्मिन् शरीरमध्ये पुमाञ्जीव पृथक्तया आस्ते विद्यते ॥७२४॥

[पृष्ठ २८१-२८४] दध्नः सर्पिरिवेति—यथा उपायेन मन्यनदण्डेन मथित्वा दध्नः सर्पिर्धृत पृथक् क्रियते तथा तत्त्वज्ञ जीवस्वरूपाभिज्ञै चिरम् अनादिकालेन ससर्गवानपि नीरक्षीरमिव देहेन, आत्मा शरीरतः देहात् पृथक् क्रियते । केन ध्यानोपायेन ॥७२५॥ पुष्पाभोदाविति—यथा पुष्पात् आमोद गन्ध भिन्न । यथा तरोश्च्छाया भिन्ना । तद्वत् देहदेहस्थो ज्ञातव्यो । देहजीवौ प्रतिपत्तव्यौ । देह पुष्पसदृश साकार जीवस्तद्गन्ध-तुल्य निराकार । देह तद्वत् जीवस्तच्छायेव । यदा तौ लपनबिम्बवत् देह लपनवत् मुखवत् । आत्मा आदर्श-गतमुखविम्बवत् । यद्वत्नकलनिष्कले सकल अर्हन् निष्कलः सिद्ध तत्र सकलनिष्कले ॥ ७२६ ॥ एकस्तम्भ-मिति—इदं शरीर योगिना गृहम् गेहमिव । यथा गृह स्तम्भैः सहित वर्तते तथा इदं योगिशरीरम् । एकस्तम्भम् एकः स्तम्भ यत्र तथाभूतम् । एकस्तम्भ जीवे चेतना लक्षण तदेव लक्षण स्तम्भभूतम् । गृहे द्वाराणि विद्यन्तेऽत्र नवद्वाराणि सन्ति, शरीरे नवछिद्राणि सन्ति । द्वे नेत्रे नासिकारन्ध्रद्वयम् । कर्णरन्ध्रद्वयम् । मुखरन्ध्रम् । शिश्नरन्ध्रम् । गुदरन्ध्रमिति नवरन्ध्र शरीरम् । एतानि रन्ध्राण्येव शरीरस्य द्वाराणि । पञ्च-पञ्चजनाश्रितम्—यथा गृह पञ्चजना मनुष्यास्तराश्रितम् । तथा योगिना शरीरगृहमपि पञ्च इन्द्रियाण्येव पञ्चजना मनुष्या तैराश्रितम् । यथा गृहम् अनेककक्ष बहुप्रकोष्ठक विद्यते । तथा योगिना शरीरमिदम् अनेककक्ष नाभिकमलादिनानावयवोपेतम् ॥७२७॥ ध्यानामृताग्नेति—योगिना चित्त योगदान्ववे योगो ध्यान स एव तस्य दान्वव आप्नजनस्तत्र तथाभूते शरीरे रमते सतुष्यति । कथभूतस्य योगिनः । ध्यानेति-ध्यानमेव अमृतान्न पीयूषान्न तेन तृप्तस्य सौहित्य प्राप्तस्य । पुन कथभूतस्य । क्षान्तीति—क्षान्ति क्षमा सैव योषित् जाया तस्या रतस्य स्नेह कृतवत् ॥७२८॥ रज्जुभिरिति—यथा रज्जुभिः प्रग्रहे । कृष्यमाण चोद्य-मान । हयोऽश्व पारिप्लवश्चञ्चल । स्याद्भवति । तथा इन्द्रियैः स्पर्शनादिभिः । कृष्ट प्रेरित । आत्मा क्षणम् एकक्षणकालमपि ध्याने न लीयते लीनो निश्चलो न भवति । यो दुष्टाश्व स्यात्स प्रेरितस्तिष्ठति खचित्चलति तथेन्द्रियैः खचित् आत्मा चलति न तिष्ठति । अत आत्मान शनैः शनैः वश करोतु ॥७२९॥ रक्षाभिति—सकलीकरणविधिना स्वाङ्गरक्षण विधाय । तथा सहरणम् औदारिकशरीरभस्मन हरण कृत्वा । वैकिक्यिकशरीरं चोत्पाद्य । गोमूद्रामृतवर्षणम् सुरभिमुद्रयामृतवर्षणं च कृत्वा । स्वयम् आप्तरूपधर आप्तोऽर्हन् तस्य रूपधर परमौदारिकदेहस्थोऽहमिति भावयित्वा आप्तम् अर्हन्तं चिन्तयेत् सकलीकरणे पूर्वं यथा शरीररक्षा क्रियते । पश्चात् अग्नितत्त्वे दहनलक्षण सहरणम् । चन्द्राद्वरुणमण्डलात् अमृतवर्षणं सृष्टि कृत्वा । स्वयम् आप्त-रूपधर आप्तम् अर्हन्तं चिन्तयेत् इति भावः । (टिप्पणे) ॥७३०॥ धूमवत् इति—धूमवत् पाप निर्वमेत् अथ परिक्षपयेत् । केन गुरुबीजेन । (झ) कारेण । तेन कारणेन तद्वर्णेन अमृतवर्णेन पकारेण । मुहुः मुहुः वार-वारम् ॥७३१॥ पञ्चवीरसुखासनवर्णनम्—सन्त्यस्ताभ्यामिति—सन्त्यस्ताभ्यां सस्यिताभ्याम् अधोऽङ्घ्रि-भ्याम् अश्वचरणाभ्याम्, पद्मासनं भवति । ऊर्वोरुपरि सव्यथोरुपरि युक्तित अङ्घ्रिभ्यां स्थापिताभ्यां वीरासनं भवति । तथा समगुल्फाभ्यां समघुटिकाभ्यां सुखासनं भवति । टिप्पण्यामिदम् सव्यथोरुध पादौ तदा पद्मासनम्, सव्यथोरुपरि तदा वीरासनं घूण्टी उपरि घूण्टी तदा पद्मासनम् ॥७३२॥ तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—गुल्फो-त्तानेति—गुल्फयोः घुटिकयोः उपरि उत्तानी ऊर्ध्वतलो यौ करो हस्तौ तयोः अङ्गुष्ठे रेखा रोम्णाम् आलि पक्ति नासिका नासा च समदृष्टिः समा कुर्यु विदधुः । नातिस्तब्धो न अतिशयेन स्तब्ध स्थिर । न वामन नातिनम्र ॥७३३॥ तालेति—तालस्य वितस्ते त्रिभागस्थश्च तृतीयभागश्चतुरङ्गुल तावत् मध्ये अन्तरम् अङ्गुष्ठोऽश्वचरणयोर्यस्य स तालत्रिभागमध्याङ्घ्रिः । पुन कथभूत योगी । स्थिरेति—स्थिरे निश्चले शीर्षशिरोवरे मूर्धश्रोत्रे यस्य स । पुन कथभूत ममनिष्पन्देति—पाण्यर्थं गुल्फयोः अथ प्रदेशाग्री । जानुनी ऊरुवर्णयोः श्रुवौ हस्तौ करो लोचने नयने समानि निस्पन्दानि च निश्चलानि च पाण्यर्थं जानुभ्रूहस्तलोचनानि यस्य स । एतादृशो

योसो ध्यामयोस्य ॥७३॥ ध्यामर्त्तं विविमाह—नस्तेति—न नवकृति न नवानां कृतम दन्ते कार्यम् । न कश्चुतिः हस्तेन अङ्गकर्मनैव विधेयम् । न ओष्ठप्रक्षितः ओष्ठयोरेणावृत्ता न विधेया । ओष्ठो पिचाम ध्याम विधेयम् । न कम्पति—छातरकम्पनं न कामम् । न वषगजिति—वषघां कराङ्गुलीनां ध्वनीनां मक्षिति नमना न कार्या । मोक्षि—न भाषणं वनस्पत्यम् । आन्वोसिति स्मिति—जरीरस्य आन्वोलन स्थितं ह्रास्यं च न विधेयम् ॥७३५॥ न कुर्म्यं दिति—दूरं दृष्ट्वातः दूरं दृष्ट्वा मयकोर्न न कुर्म्यत् । नैव केकरवीर्यं त्रियमयकोर्न नैवाभ्यां नैव विधेयम् । न स्पन्दमिति—यहममागानां स्पन्दं पञ्चमुटानां स्पन्दं चरुनं नैव कुर्म्यत् । नासाग्रवर्धनं नासाया अग्रे रक्षति कोचने यस्य स ॥७३६॥ विक्षेपाक्षेपेति—विसेपो मनस्यवच्छेदकता । आधायः अपवाहः । संमोहो जलता मोह्यं वा । दुरोहा दुरमित्रावः । एभि रक्षिं ह्रि मनसि कम्पतत्ये च स्मरवीर्यादित्कम्पजाने सति । वयं अतोयः सकृद ध्यानजो विवि ध्यानपरिहर करस्वीनिनाम्यतां भवेत् ॥७३७॥

शुभुपासकाण्यधने द्यामविधिनाम पुष्पेन्यकारिणः कथाः ॥३५॥

४० भुवाराधनविधिनाम चत्वारिंशत्तमाः कल्पः ।

[पू० २२५-८७] यस्या पद्मद्वयमिति—यस्याः शिवमुक्तोद्भवायाः सरस्वत्या पद्मद्वयं वरच मुनयं स्याद्यर्थं स्याद्यर्थं च । अक्षहृतिपुष्पयोष्यम् नूपुरमुक्तोचितं शङ्खाकङ्कारावांसकुपारी मत्स्यहृदिमुष्मं तस्य योस्य तेन भूषितमिति । पुनः नवमूर्त्तं तत् । लोकरवति—लोकरवमेव अम्बुजसरः कमलसरोवरं तत्र प्रविष्टारि प्रकर्षेण विहरणपीलम् । हारि मनोहरं च । तां देवीं धारया सकलैव जनेन श्रेष्ठं पूजयामि । कथंमृतां देवीम् । कवीति—नवमा एव सुतरां कल्पवृक्षां तेषां मधनाय सोपायं कल्पवृक्षीं कल्पवृक्षाम् । पुनः कथंमृताम् । दामिति—वाचां विमोक्षं वाग्विलासः तस्य वसति महामृताम् । इति तोयेन सरस्वतीं पूजयत् ॥ ७३८ ॥ यामन्तरेणेति—या जिनधारयाम् अन्तरेण विना सकलार्थवर्णनोऽपि सकलार्थं ते अर्था जीवाद्यनं वमाकामनीया वा तेषां समनवीऽपि प्रतिपादनीयं । बोधं ज्ञापनं ज्ञातम् । अर्धकं पितृस्वत् अर्धकं भूषयत् अर्धकं पारयत् । पञ्चाक्षित्येव अर्धार्थादिपुण्यायनमुत्पदं प्राप्नुकामं न हेम्यं आधमयीवो न भवति । परं यया सरस्वतीदेव्या अनुपयं मुक्तं स बोधोऽप्यवयवि स्तोकादयवोचकोऽपि सुखदुरिव कल्प-तद्वरिव विलोकया लोकरवयने हेम्यं भवनीवो भवति तां वायेवतां नन्दै प्रयजेय अहं पूजयेदम् । इति मन्त्रम् ॥७३९॥ यति—या वायेवीं स्वर्गा वस्तुरवना जीवारितत्त्वकथनं यस्यां सा तथाभूतापि अत्यार्थं वि अन्तर्गतसहितानि स्थितप्रभृति मिता अस्या प्रभृति यस्या मा परं संस्कारतः तद्विजरीतकथनीं तस्या वायेव्यां संस्कारैः अस्याकथे कतिपयायाने कृते सति पुष्पोक्ताद्विपरीता लक्ष्मीं तोमा यस्यां सा अर्धं या अन्तर्गतरचना भवति अमितप्रभृतिरव भवति । या मुक्तानुभवात् मुपाया अमुन्त्य अमुन्त्यात् संशयान् स्वर्गलरीवनलनेव स्वर्गस्थितानां वस्तुलीया भवति तद्वरया लक्ष्मीं प्रतिपाति । सा सता यथा मुपां भूते तथा वा वादरी मुक्तिमुपां मूर्त्तं अस्याम् अहं सरस्वीं तद्वृष्टीं ध्यायामि भवामि । हृत्पततम् ॥७४॥ यत्पुष्पीजमस्य भवि—यायां वीजं यत्पुष्पीजं यथा कल्पितधारयम् अक्षमवि धीने वास्वाद्यदरुध्यायाम् अर्धं शिष्टे परं तत् सज्जनपीयसायां सापुत्रनमनिभूयां लवणप्रभृति अर्धं प्राप्यं प्रभृति यत् तत् किं कारणं तस्य प्रभृते । विविधेति—विविधां तर्क-साहित्य-व्याकरणारय ये अनवयवः अमयिना प्रवयवाः प्रवर्तयमानविधेयां तै लवणप्रभृति प्रत्ययप्रभृति यत् अद्वयप्रभृतिनि अपूर्णं यदुत्पत्तुर्णं अननुपुनपुर्णं वा वा रतः सास्तरतः तस्य वृत्तवो विरोधा तैर्यद्वृष्टीं रीद्विनि वयने । ताम् आरचयन्तोषारविधिम् आरचयत्य तोषरी विपदी विवि-कार्यं यस्यां तां वाचां देवीं प्रणमं पुनर्भजे मेवे पूजये । इति पुनः ॥७४५॥ येनि—या वायेवी । अस्-पृष्टं पिद्विदि । अक्षरणां अक्षरणां तथा अक्षरी विवि वाये यस्यां सा । यन्महात्मं अन्तः तदेव वायं यस्यां तथाभूता । अर्धमां तद्वरणांशान् नैवाधामयस्या । तथानि यन् आत्मा हृत्पदं प्रभृते । प्रदीपरोति ।

सुवर्णं शुद्ध जायेते ॥७५७॥ हस्ते इति—सुकृतिजन्मन सुष्ठु कृति सत्कार्यं पुण्य तेन युत जन्म यस्य स सुकृति-
जन्मा तस्य पुण्यवतो । यस्य नरस्य चित्त चारित्र्यं पवित्र पूनम् । तस्य हस्ते दुःखमेव द्रुमो वृक्ष तस्य दावानल
वनान्निरिव चिन्तामणि विद्यते इति ज्ञातव्यम् ॥७५८॥

इत्युपासकाध्ययने प्रोषधोपवामविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तम कल्पः ॥४१॥

४२. भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २६१-२६२] भोगपरिभोगयोर्लक्षणमाह—यः सकृदिति—य भोजनादिक भोजनपुण्य-
गन्वादिक् भाव पदार्थः । सकृत् सेव्यते भुज्यते स भोगः । पौन पुन्येन वारम्बार सेवनात् भूपादि अलङ्कारस्त्री-
वन्त्रादिक परिभोग स्याद्भवेत् ॥७५९॥ परिमाणं तयो भोगपरिभोगयो इयन्त काल दिवसपक्षमासादिकाल यावत्
अथवा इयत्सख्योपेतयो परिमाणं कुर्याच्छ्रावक, किमर्थम् । चित्तेति—चित्तस्य मनस्य व्याप्तिरधिकाधिकसग्रहाशा
तस्या निवृत्तये व्यपोहाय । प्राप्ते भोगोपभोगवस्तुनिवहे लब्धे योग्ये च सेवितुमर्हं च सर्वस्मिन् इच्छया इच्छा-
परिमाणं कृत्वा नियमं भजेत् आश्रयेत् । अद्याहं एतावन्तो एव भोगपरिभोगौ भुञ्जे । इति नियमम् अवलम्बेत
॥७६०॥ यमनियमयोर्लक्षणमाह—त्याज्ये वस्तुनि इच्छाकृशोकरणाय यमश्च नियमश्च स्मृते निगदिते भवतः ।
यमो यावज्जीवम् आमरण ज्ञेय ज्ञातव्यः । सावधि एकद्वित्र्यादिमख्यापरिच्छिन्नदिवसमासादिसमय नियम
स्मृतः ॥७६१॥ आजन्मत्याज्याज्याह—पलाण्ड्विति—पलाण्डु सुकन्दक, केतकी केतकनामधेया वनस्पति
निम्बसुमनासि प्रसिद्धानि निम्बकुसुमानि । सूरण तन्नामा कन्दविशेष अशोघ्न इत्यपर तस्य नाम । आदिशब्देन
अर्जुनारणिशिमुपुण्यमूकचित्त्वफलादिक त्याज्यम् । तथा बहुधातविषयं गुडुचीमूलकलशुनार्द्रशृङ्गवेरादिक
त्याज्यम् । एतानि वस्तूनि तद्रूपधारिवहुप्राणिसमाश्रयाणि विद्यन्ते । अतः आजन्म एषा त्याग कार्यं ॥७६२॥
भोगोपभोगपरिमाणव्रतनाशकानां त्याग करणीय इत्युपदिशति—दुष्पक्वस्येति—दुष्पक्वस्य सान्तस्तण्डुल-
भावेन अतिक्लेदनेन वा दुष्पक्वस्य मन्दपक्वस्य वा अन्नस्य प्राश भक्षणं तत्सत्तिकारणं भोगपरिभोगपरिमाण-
व्रतनाशकारणम् । निषिद्धस्य पूर्वश्लोकोक्तपलाण्ड्वादीनाम् आहारस्य प्राश भक्षणं व्रतविनाशकम् । जन्तुसबन्ध-
मिश्रयो जन्तुना सबन्धस्य सचित्तस्य सचेतनबीजादिसहितस्य । सबद्धस्य पक्वफलादेर्भक्षणम् । तेन सचित्तेन
सम्मिश्र पृथक्कर्तुमशक्यम् आर्द्रकदाडिमन्त्रोजमिश्र तिलमिश्र च यद्यवधानादिक तस्य प्राशो भक्षणम् एतद्व्रत-
नाशकम् । अवीक्षितस्य अनालोकितफलादेर्भक्षणम् एतद्व्रतविनाशकरम् ॥७६३॥ एतद्व्रतस्य निरतीचारस्य पालना-
त्सातिशयफलमाह—इत्थमिति—इत्थम् उक्तप्रकारेण नियतवृत्ति भोगपरिभोगप्रमाणं कुर्वाणः । अनिच्छोऽपि
अभिलापम् अकुर्वन्नपि । नर नरेषु देवेषु च श्रिय चक्रवर्त्यादिविभवस्य आश्रय आवासो भवेत् । स च
मुक्तिश्चियं समीपे आगमनं यस्य तथाभूतो भवेत् ॥७६४॥

इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तम कल्पः ॥४२॥

४३ दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २९३-२९७] अधुना दानविधिविस्तरेण वर्ण्यते—यथाविधीति—प्रतिग्रहादिनवविधि-
मनतिक्रम्य, यथादेश जाङ्गलानूपदिदेशमनुसृत्य । यथाद्रव्य शुद्धान्नजलादिकमनुसृत्य । यथागमम् आगमोक्त-
दानस्वरूपमनतिक्रम्य । यथापात्र पात्राभ्यनतिक्रम्य । यथाकाल शीतोष्णादिककालमनतिक्रम्य । गृहाश्रमे
गृहस्थश्रावकं दानं देयम् ॥ ७६५ ॥ दानलक्षणमाह—आत्मन इति—आत्मन श्रेयसे दातुं स्वस्य हिताय ।
अन्येषा रत्नत्रयममृदये अन्येषा सत्पात्राणां रत्नत्रयस्य वृद्धिर्भवत्विति हेतोः । इत्थं स्वपरानुग्रहाय स्वान्योप-

कायस्य यस्यात् तद्दानमिष्यते ॥७६॥ द्वातृपात्रेति—तत् दानम्, दातृविशेषात् पात्रविशेषात्, विशि
विशेषात्, इष्यविशेषात् विशिष्यते । यथा यथाशक्तोद्गीर्णं तीर्थं मेधैर्बुधैश्चकम् । भूमिधामाधर्मं भूम्याधारं
प्राप्य विशिष्यते तथा दानमपि दातृपात्रविषयाविशिष्टेयम् विशिष्टकर्म भवत् ॥७६॥ दातादीनां लक्षणमाह—
दातेति—अनुपपद्यते दाता पात्रयुक्तानुरक्तो दाता भवति । पार्श्वं रत्नवयमुद्यविशेषोदयस्य सत्कारो
नवधा विशिष्यते । इष्यम् अत्रादि । तस्य स्वाध्यायतपासाधर्मं भवेत् ॥७६॥ वित्तव्ययस्य प्रकारान् ब्रूत—
करिषद्दाता परलोकादियथा अनेन वित्तव्ययम् अत्रादित्यानेन मे परलोकाः स्वर्गादिरित्येत इति मयते । करिष
द्दाता ऐहिककीर्तिलोकादरादिप्राप्तये भूयादिति वाञ्छया वित्तव्ययं करोति । करिष्वच भोषित्यमनसा
वित्तव्ययं करोति । दानप्रियवचनान्माम् आग्रहस्य सन्तोषोत्साहनम् भोषित्यं तेन युक्तैव मनसा भोषिप्रियेव
वित्तव्ययं करोति । इति सतां सङ्गणनां दातृणां वित्तव्यय-वनवितरणं निषा निप्रकारं भवति ॥७६॥
परलोकेहिकीचित्येवस्वीति—येषां यो बुद्धिः परलोके ऐहिके भोषित्ये च समा नास्ति । कदाचित्
प्रवृत्ते कदाचित्ति वैपश्यं येषां विद्यां वर्तते तेषां यमः ऐहिकं मुक्ताधिकं वसवन्ति एतत्तय कुत स्यात् ।
एतत्तयं तैर्दातृभिर्न मज्जते तेषां वित्तव्ययो विच्छन्न एव भवत् ॥७७॥ दानवस्तुविषयमाह—अभयेति—
मनीषिभिः विद्वद्भिः । अतुविषं अतु-प्रकारं दानं प्रोक्तम् । अभयेति—अभयदानम् आहारदानम् भोष-
दानम् धृतदानम्—दानदानमिति । एतत् अतुविषं दानं भक्तिरक्तिरसमाधर्मं भक्त्याधारम्, सत्त्वाधारं च ।
यदि धर्मं समीपे न स्यात् तद्धि एतद्दानं दातुकामोऽपि न दातुं शक्नोति । अस्तिरस्ति तथापि भक्त्यभावे न
दातुमिच्छति । यस्य समीपे एतद्द्वयं वर्तते स अतुविषमेतद्दानं पात्रेभ्यो ददातु ॥७७॥ अतुविषदानानां
फलवातुविष्यं भवति—सौख्यमममयादिति—अमयात् भीतस्य गरस्य अमयवानात् दाता सौख्यं सौख्यं
प्राप्नोति । आहारदानात् भोषणम् भवति दाता । भोषणदानात् आरोप्यं दातुमवति । धृतात् सास्त्रदानम्
दाता दूतकेवली स्यात् ॥७७॥ अभयदानं प्रथमं देवमिति लभयति—अभयम् इति—सुखी भुममति
भावकः । सर्वसत्त्वानां प्राणिनां जाती प्रथमं सदा लभ्यं ददात् । ततोऽपि अमये अरते सर्वं परलोकोचितं
विधिं देवपूजादिकं पदकर्मपरमं मुखा भवेत् । भोषितरसाचम् अमयान् भवति तन्मेत् न रस्वतै परलोकोचिता
क्रियाः को विद्वद्भात् ॥७७॥ अभयदानं सर्वेषाम् उत्तममिति नियति—दानमिति—अमयादहारदिकं दानं
मयेत्या वा भवतु न वेति । गरवनेष्वपि अमयप्रभं अभयदानं यदि ददाति तेन ॥७७॥ तेनेति—यः अमय
दानवान्—य मरः अभयं दत्त्वा प्राणिनी निप्रवत्तु करोति तेन सर्वं ब्रूतम् अर्धोत् सकलं द्वादशाङ्गुलान्
पठितम् । तेन परं तप तप्तम् उत्तमं तप उचितम् । तेन इत्थं दानं कृतम् आहारोपचारास्तत्त्वानि दत्तानीति
मन्ते ॥७७॥ दातुर्लक्षणमाह—नवेति—नम च ते उपचाराश्च नवविषय-पात्रस्व नवादरप्रकारां तै
र्लपसं मुक्ताः । सप्तविंशतिः समेताः संहिताः दाता अतुविषं अर्धं पानं खाद्यं वैद्यमिति आहारवातुविष्यं
तत्र भोक्षणादिकममम् । अर्धविकं पैयम् । अनुपपूरिकाभोक्षणादिकं खाद्यम् । दातृमार्गिकानि शीरेभ्यदिकं
वैद्यमिति । तै सुदे-अस्वयमजानुपितै स्वयं स्नागादिमुद्येन दाता विहितं अर्धं आहारः दातृनां स्विति
कल्पयेत् भोषणमिति कल्पयेत् कुपति ॥७७॥ नवोपचाराणाह—प्रतिप्रदेति—नृहृत्तमितेन नृहृत्तितेन
आवनेयं मुनीनां नवोपचाराः नवाधोय-मुक्तमुपचाराः कामा विधेयाः । तान् प्रतिप्रदेत्वाह—प्रतिप्रदे
स्वगृह्णारे नति बुद्ध्या प्रसाद्यं कुक्करोत्यम्यं नमोऽस्तु तिष्ठत इति निर्भमित्वा स्वीकरन्म् । उष्णाकनम्—
स्वगृह्णान् स्वीकृत्यति नीत्वा निरकथानुपहृतस्थाने उष्णासुवै निवेद्यम् । पात्रपूजा पात्रयोः साधनम्, पूजा
च पन्थासतादिभिः । प्रथमः पूजितसंगतस्य पञ्चाङ्गप्रणामकरणम् । पात्रकायमनप्रसादां दान्यां क्षीरस्य
अनसत्तव प्रसभता । तत्र पञ्चवर्कधाराविषयवर्जनं वाञ्छमुद्रिः सर्वत्र संभूताचारतया प्रवर्तनं काममुद्रिः ।
जातरीद्वर्जनं मनामुद्रिः । विद्याविमुद्रिः अनुपपन्नकरहितस्य आहारस्य यथं यासोवित्तव्य इत्यनुपदेर्भयम्
॥७७॥ दातुर्लक्षणमाह—अद्वेति—यत्नेत्यादि सप्तमुखा नम यस्मिन् दातुरि सन्ति तं दातारं सूरय
प्रशंसति । के ते सप्तमुखाः । बाह—यथा पुष्टिः नमि विज्ञानम्, अनुभूता लभ्या सति । भद्रा—यान
मुगानुरागः । विज्ञानम्—अभ्युद्येनकाकादिभेदित्वम् । अनुभूता—संसारिकफलानपेक्षा । अमा—दुर्गिहार

कालुष्यकारणोत्तावधि कोपाभाव । शक्ति — स्वल्पवित्तस्य स्वाढयाश्चर्यकारिदानप्रवृत्त्यङ्गम् ॥७७८॥
 तत्र विज्ञानस्येद लक्षणम्—विवर्णमिति—मुनिभ्य तदन्न न देयम् । कीदृश तद् यच्च भुवत भक्षित गदावह
 रोगोत्पादकम् । पुन कथभूतम् अन्न न देयम् । विवर्ण कान्तिरहितम् । विरसं स्वादरहितम् । विद्ध कीटाद्यु-
 पद्रुतम् । असात्म्यम्—यस्य प्रकृते पानाहारादय विरुद्धा अपि सुखित्वाय कल्प्यन्ते तत्मात्म्यम् । प्रकृति-
 विरुद्धाहारपानादय भक्षिता सन्त सुखित्वाय नावकल्प्यन्ते तदमात्म्यमित्युक्तम् । प्रमृत्तम् अतिजीर्णं
 एतादृक् सदोपमन्न मुनिभ्यो न देयम् ॥७७९॥ उच्छिष्टमिति—भुक्त्वावशिष्टम् । नीचलोकार्हम्—नीचा-
 श्चाण्डालादयस्तद्योग्यम् । अन्योद्दिष्टम् देवतायाचकपाखण्डाद्युद्दिष्टम् । विगृहीत निन्द्यम् । दुर्जनस्पृष्टम्
 दुर्जने चाण्डालादिभि स्पृष्टं स्पर्शितम् । देवतायक्षाद्यर्थं कल्पित निर्मितम् ॥७८०॥ ग्रामान्तरादिति—
 अन्यस्माद् ग्रामात् आनीतम् । मन्त्रानीतम्—पठितमिदमन्त्रेण आनीतम् । उपायनम् उपहारीकृतम् अन्नम् ।
 आपणक्रीतम् कान्दविकादिकृतम् अन्न यत्तस्मात् क्रीत्वानीतम् । विरुद्ध पात्रप्रकृतिविरुद्धम् । अयथर्तुकम् यस्मिन्
 ऋतौ यदनुकूलम् अन्न तद्यथर्तुकम् । तथा यन्न तत् अयथर्तुकम् । ऋत्वननुकूलम् ॥७८१॥ ऋधिसर्पिपयोरिति—
 यद्वा सपिपा च रन्ध्रत तदन्न भक्ष्यप्राय पर्युपित मतम् । यत् गन्धवर्णरसभ्रष्ट अन्यत् सर्वं विनिन्दितम् अन्न
 न देयम् ॥७८२॥ मुनीना वैयावृत्य विदध्यादिति वर्णयति—बालग्लानेति—बालो मुनि वयसा लघु ।
 ग्लान रोगपीडित । तप क्षीण तपसा अनशनादिना शीण कुश । वृद्ध जग्या ग्रस्त । व्याधिसमन्वित
 रोगेण बहुकाल कदयित । एतान् मुनीन् नित्यमुपचरेत् आहारोपवादिना सेवेत । यथा ते तप क्षमा स्यु
 तप अनशनादिक कर्तुं समर्था स्यु ॥७८३॥ भोजनक्षणे परिहार्यान् दोषान् व्याचष्टे—शाठ्यमिति—
 शाठ्य कपट वक्रनाम् । गर्वं कुलमदादिकम्, अवज्ञानम् अवमाननम्, निरादरताम्, पारिप्लव चञ्चलताम् ।
 असयमम् अजितेन्द्रियताम् । वाक्पाशयम्—वाच भाषणस्य पाशय कठोरताम् तव मस्तक कृणोमि इत्यादि-
 रूपं वचनम् । एतान् दोषान् भोजनक्षणे मुन्याहारवेलाया वर्जयेत् दाता ॥७८४॥

[पृष्ठ २९८-३००] कुत्र मुनिर्न भुञ्जीतेति निगदति—अभक्तानामिति—अभक्ताना ये जैन-
 मुनिमन्त्रा न सन्ति, ये च क्रदर्या कृपणा तथा ये अन्नान् व्रनरहिता सन्ति तेषा सद्यमु गेहेषु न भुञ्जीत
 न भोजन कुर्वीत । क साधु मुनि । तथा दैन्यकारण्यकारिणा येजना निज दैन्य दर्शयन्ति अथवाऽय मुनिर्दीनो-
 ऽस्य भोजन दीयताम् इति ये वदन्ति तेषा सद्यनि न भुञ्जीत । ये च मुनिविषये कारण्य दर्शयन्ति तेषा गृहेऽपि
 मुनि नाहार गृह्णीयात् ॥७८५॥ किमर्थं दैन्यकारिणा गृहे न भुञ्जीरन् मुनय इति वर्णयति—नाहरन्तीति—
 महासत्त्वा वैर्यशालिन मुनय । चित्तेनापि केनापि अनुकम्पिता 'इमे मुनय दयापात्र येषामुपरि दया विधाय
 आहारो देय इति' इति मनसाऽपि सकल्पितास्तस्य गृहे ते नाहरन्ति न भुञ्जते । किं तु तेऽदैन्यकारण्यसकल्पो-
 चितवृत्तय अहम् अदीन जिनवत् इति सकल्पेन प्रवर्तन्ते । अह प्राणिषु करुणाक्रान्तचेता कथमिमे सर्वज्ञप्रति-
 पादितमोक्षमार्गं प्रवर्तेरन् इति सकल्पाहंस्वभावा सन्ति ॥७८६॥ कुत्र प्रतिहस्त दिशेदिति व्याचष्टे—
 धर्मेऽपि—धर्मेषु स्वाध्यायादिपट्कर्मसु । स्वामिसेवाया प्रभो सेवायाम् । सुतोत्पत्तौ च पुत्रजननकार्ये च ।
 क सुधीर्वृद्धिमान् प्रतिहस्तम् अन्यपुरुषं समादिशेत् युञ्ज्यात् । एतानि कार्याणि सुधो स्वयमेव कुर्यात् अन्यत्र
 कार्यदेवाभ्या कार्य प्रेषणम्, देव यत्किमपि इष्टम् अनिष्टं वा देव करोति तत्र स्वहस्तात् किमपि न कर्तुं शक्नोति
 अवस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति ॥७८७॥ आत्मेति—आत्मन स्वस्य वित्तपरित्यागेन घनव्ययेन परैः अन्यैर्वर्म-
 विधापने धर्मसंपादने । अन्यैर्नरै दानपूजाभिषेकादिधर्मकार्यकरणे नि सशय स स्वस्य वित्तत्याग विफलो भवति
 तस्य फल वित्तत्यागवता न लभ्यते । परभोगाय तत्फलम् अवाप्नोति स ॥७८८॥ स्वय धर्मविवायिन फल
 निर्दिशति—भोज्यम् इति—य स्वय धर्मं करोति तस्य धर्मकृते धर्मकार्यात् भोज्यम् इन्द्रियविषयः लभ्यते ।
 तस्य भोजनशक्ति इन्द्रियविषयभोगसामर्थ्यं लभ्यते । वरस्त्रिय वराया रूपादिगुणैः सत्तमाया स्त्रियो युवत्या
 रतिशक्ति सभोगसामर्थ्यम् । विभन्न ऐश्वर्यम् दानशक्तिश्च दानसामर्थ्यं च लभ्यते ॥७८९॥ केपु मुनिमिरा-
 हारग्रहण वर्ज्यते—शिल्पिकारुकेत्यादि—शिल्पिन मालाकारकुम्भकारचित्रकारादयः । कारुकाच
 निर्णेजादयः । शम्फली परनारी पुमा योजयित्री कुट्टनीत्यर्थः । पतितादय मय्यमाससेवनात् जातिच्युत पतित ।

आरिष्यन्तेन अयेऽपि तस्मद्दया ये जना अस्पृश्यादयस्व । तेषु मुनि वैहस्मिन्ति न कुर्वन्ति आहारं नैव ब्रह्मीयात्
 तथा तिङ्गिभिर्ज्ञापयोजिषु बाधिका भुजयो वा ये चिन्तेन उपजीविष्यं कुर्वन्ति यतीनाम् उपहरण-पादरथ
 विभ्रज्योपपट्टादिरथयोजिनां गृहे आहारो न कृतव्यः । एतेषु सर्वेषु मुनिना वैहस्मिन्तिर्न क्रियेत । कृतायां
 प्रायश्चित्तमिति करेणुमिति ॥७९०॥ श्रीसाधोम्यसाहारेषितले वर्णमिति—श्रीसाधोम्यसा इति—नयो वर्णा
 साहाय-अत्रिय-श्रीसाधोम्यसा अहोपचारणे अर्हा बोद्धव्या । अत्रारथ वर्णा छच्छ्रेम
 संहिता साहाय-अत्रिय-श्रीसाधोम्यसा विधोभिता साहारेषिता । विधासमेग साहारे नृहते सर्वेऽपि अस्तव मनो
 बाककामयमोय मनसा बाधा कायेन च वर्णाय वर्णाचरणान्न असा विधि करणी यमाचरणं कर्तुं योग्या ।
 यस्य यद् वर्णाचरणम् साहायसाधिकादि विहितं तेन तत्काम्यम् । यस्य तत् न प्राप्तं तत्र तत् न काम्यम् । स्वार्थ
 योग्यतानुपारेण कृता येन पुण्याय कर्तव्ये । अथवा आपमाज्ञाविधौ पापहेतुः स्थासिति ॥७९१॥ को धर्मः किं
 च तस्य कारणम् । पुण्यविरिति—पुण्य-कर्म-नैवेद्यादिकानां वैकल्याणकाम्यो-पर्थं पापेभ्योऽस्तनम् आहारवर्णनं
 वा न स्वयं ज्ञेय एव हि यथा शिरसापि भूमिजवशात्तद्वि न स्वयं बान्धविक तु बान्धवस्य कारणम् । तथा
 पुण्यादि अस्तनादि ज्ञेयस्य कारणं यो मनसि भावः भुजः पश्यत्य स धर्मसंज्ञा भवेत् । अथवा तस्य कारणं
 ज्ञेयम् । पुण्यादिविषयस्तु साहायस्य परिणामनिर्मलताया कारणं स्यात् । अतः साहायस्य प्रति कारणत्वात् तत्सापि
 परम्परया प्रसक्तमनने न ह्यति ॥७९२॥ युक्तमिति—मुनां नराणां साधु मायाविरहितं मन सृष्टेव एवैव
 यत्तया युक्तं सन् परा शुद्धिम् अतीव निमज्ज्याम् अवाप्नोति भवते । यथा रसे पारद्विद्वन् अन्त प्रविष्टपारदं
 कोहं परा पति निमज्ज्यां चूरा सुवर्णतां प्राप्नोति ॥७९३॥ वैहिता प्राणिनां सपि अदुष्टिभ्यस्ति मन्
 लोघानार्चनाहोमम जनघनारितपोमि चतुर्विधाहारापयोपचारास्वधर्मं विनपूजया च हीनं रहितं ह्यु तप
 आधिक्यस्य संभावस्य पुण्यस्य प्राप्तये न स्यात् । कुपूच्छित्तवतीवज्जत् यथा कुपूचे बान्धापारे स्थितं शीव
 तत्कलपान्नमं बान्धकमप्योपाहवाय हेतुर्न सति अतः अदुष्टिभ्योऽपि मानवो यमरतो यवेभ्येत् यमकलं
 कमेत नाम्ना ॥७९४॥ आभेदिकेति—आभेदिक अतिविचि आपनुषः । आभितः अन्त्यस्वात्मिकः ।
 आतिविचर्यधमः । योगः कुर्वन्तो वरिष्ठस्य तेषु यथाकर्म क्रमम् अनतिक्रम्य यथोचितं दानप्रियवचनाम्ना
 सन्तोषानतिक्रमेण । यथाकालं कालमतिक्रम्य । यजपञ्चकमाचरेत् । अपि यज वैक्यं मृतवत् यजं नित्यं
 वेति पञ्चकस्यान् क्रमसः कुर्मात् ॥७९५॥ पञ्चमराकेऽपि जैनमुनयः विहृत्यतीति नियमिति—काळे इति—
 अस्मिन्काळे काळे पु पमाक्ये पञ्चमकाळे । काळे चिते मनसि पञ्चकळे इति । वैह्यतीरे च अष्टाधिकीदके
 अमम् अतोपि मज्जतीति ज्ञायां च जाठी कोटक तस्मिन् सति । एतच्चित्रम् आस्वयं विद्यते मत् अष्टापि
 विनक्यपारिषः गदा विद्यते । अयं पञ्चमकाळः शुभो नास्ति यत् सर्वे जना स्वैराचार्यराजनां पापरता
 वृत्तये । चित्तमपि यजं वर्णाचरणाद्येनुमिज्जति । वैह्योऽपि अष्टाधिकपारतः तद्यपि ज्ञेय भारते केचन जना
 जिनेन्द्रमुद्रा वृत्ता स्वरहित्याय यतन्ते ॥७९६॥ यथेति—यथा केनादिनिमित्तं काष्ठपावाचमभ्यादिविधिविधं
 जिनेन्द्राया कर्प विनप्रतिविम्बं पृथक् । तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूर्वं ये मुनयः पूर्वमुनयस्तयो ज्ञाया यत्र तत्तुष्टा
 इत्येव । अष्टाविधितुल्यपुण्यकारिणः संपदाः सप्रति अस्मिन्काळे पुण्याः भाष्याः । परं यदि स्वाचार्यस्य अष्टा
 पुहस्वयं अष्टयं कुर्वन्ति माम्नाम् मुनीनपि न मानयन्ति अहमपि न तेऽम्नो हीनः इति ये मर्यन्ते । न ते
 नमस्कारयोग्याः ये च ताजमस्वन्ति ते तरापयं अनुपम्यमाना प्रातिभ्याः । अर्धं च कुम्भकुशार्चयः पद्मामृते-
 तीर्थं पि भरिष बोहो पात्रं अघुनीकमाचार्य—प्रेषामपि नास्ति बोधिः पापम् अनुमन्यमानां इति ।
 पूर्वमुनिच्छाया इत्येव ज्ञया यजं ज्ञात्वाद्योनः तत्र अस्वयं मुनिचारित्र्येज्जना पूर्वं मुनयः उपस्थितं
 परीपहोपसर्गान् सप्रमाणा आचमन् नाभुजा ते तथा हीनसंज्ञनकारितयात् । परंतु हीनसंज्ञनमेऽपि मुक्तमुनाया
 पालनं मर्यमेव यतः मूलमुचकोपाकारिण मुनयः पूर्वमुनिच्छाया ज्ञातव्या ॥७९७॥ वाचप्रकाराण्य—
 ठुत्तमम् इति—यत्र नरे रत्नमयं यथैव विद्येत तत् उत्तमं पात्रं यथैव । वैद्यवनी अघुनी वर्धनप्रति-
 मायेकारागप्रतिमां या कर्मणि प्रतिमाम् शिवमानः आचमन् यथैव पात्रं यथैव । अथवा ज्ञेयं पात्रं स्यात् ।
 कः कः अस्मिन् मुद्रकः अस्मिन् पञ्चमसयमविहीनः केवलं समन्वयार्थं पातयन् ॥७९८॥

[पृष्ठ ३०१-३०४] यत्रेति—यत्र रत्नत्रयं नाम्नि सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्र्यं च रत्नत्रयम्
तत् यस्मिन् नरे न विद्यते स अपात्रम् इति वृथा विद्वान् विदुः जानन्ति । तत्र उपनम दत्तम् आहारादिकं
चतुर्विधं दानम् ऊपरगया क्षारगृत्तितावत्या क्षिताविन भूम्याम् उप्तं बीजमिव सर्वं वृथा विफलं स्यात् ॥७९९॥
पात्रे दत्तमिति—गृहमेधिना गृहिणा गृहे मेधा बुद्धिर्येषां ते गृहासवता श्रावकाः । तेषाम् अत्र पात्रे दत्तं
पुण्याय भवेत् । यया मेधानां पुत्रतावेव पतितं जलं मुक्ताफलं मोक्षितकं भवेत् जायेत ॥८००॥ मिथ्या-
त्वेति—मिथ्यात्वेन अनत्त्वश्रद्धानेन कुदेवागमलिङ्गिना श्रद्धानेन वा ग्रस्तानि चित्तानि मनांसि येषां तेषु
नरेषु । कथभूतेषु चारित्र्याभासभागिषु चारित्र्यस्य आभासं भजन्ते इति चारित्र्याभासभागिनः तेषु यच्चारित्र्य-
मिव नम्यग्दर्शनयुक्तं चारित्र्यमिव भासते परं तत्तथा नास्ति तत् चारित्र्याभासम् तद्युक्तेषु दानम् आहारा-
दिकदानम् अहिषु सर्पेषु पयःपानमिव दुग्धपानमिव दोषायैव भवेत् । तत् ससार एव वर्धते ॥८०१॥
कारुण्यादिति—कारुण्यात् करुणाया दयाया भावः कारुण्यम् । तस्मात् मनसि अनुकम्पाया उद्भवात् ।
अथवा औचित्यात् प्रियवाक्यतहितं दानम् औचित्यं तस्मात् । तेषां चारित्र्याभासभागिना मिथ्यादृशा किञ्चिद्
स्वल्पं भद्रादिकं दिग्गन्तवि वितर्गतं उद्धृतम् अन्नम् एव दिशेत्, तदीयपात्रे अन्नं निक्षिपेत् अन्यत्र गत्वा भुज्यता-
मिति कथयेत् । गृहे भुङ्क्ते न यागयेत् मदीये गृहे भुङ्क्तेति कथयित्वा गृहे एव तं न भोजयेत् ॥८०२॥
उद्धृतान्नदाने हेतुमाह—सत्कारादाविति—येषां सत्कारादिषु क्रियमाणेषु, आदरेण स्वीकरणम् ।
उच्चासनदानम् । पादप्रक्षालनम् । गन्धादिना पूजनम्, इत्यादि सत्कारक्रियाकरणे दर्शनं सच्छ्रद्धानां दूषितं
मलिनं भवेत् । तदेव निदर्शनेन दृढयति—यया विषभाजनसगमात् विषपात्रसहवामात् त्रिशुद्धं निर्दोषमपि
अम्बुजलं दूषितं पानकारिणो नरस्य प्राणहरणं कुर्यात् ॥८०३॥ एषा सहवाससदिकमपि परिहरेदिति कथयति—
शाक्येति—शाक्या वीर्या, नास्तिकाश्चावका आत्मा नास्ति, परलोको नास्तीति वादिनः । यागज्ञा
भोमानका अश्वमेवादियज्ञविधायिनः । जटिला जटाधारिणः पाणिनाजका, आजोवका आदौ येषां ते
तैः मिथ्यामतप्रवृत्तिभिः लोके महावासम् एकस्मिन् स्थाने निवसन्तम् । सहालापं तैः सह भाषणम्, तत्सेवा
च विवर्जयेत् त्यजेत् ॥८०४॥ अज्ञातेति—अज्ञातं तत्त्वानां जीवादीनां चेतः हृदयस्वरूपं यस्ते अज्ञात-
तत्त्वचेतसः । अथवा अज्ञातम् अनवबुद्धं तत्त्वजीवादीनां स्वरूपं येन तत् अज्ञाततत्त्वं तत् चेतः मनः येषां ते
अज्ञाततत्त्वचेतसः तैः शाक्यादिभिः, पुनः कथभूतं दुराग्रहमलोमसं दुरभिनवेशान्मलिनमनोभिः शाक्यादिभिः
गोष्ठ्या भाषणव्यवहारे कृते तत्त्वविमर्शं कृते दण्डादण्डि, दण्टैर्दण्डैरिदं अन्योन्यं युद्धं प्रवर्तते इति, अन्योन्यं
कचान् गृहीत्वेन युद्धं प्रवर्तते इति कचाकचिः । दुराग्रहवशात्चेतस्त्वात् तैः कलहोद्यता भवेयुर्गतिः ॥८०५॥
दर्शनम्लानिकारणान्याह—भयलोभेत्यादि—भयं भोति, राजादिजनिता, लोभं वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिः ।
उपरोधं मिथ्यानुरागं आदिशब्देन आशया भाविनोऽर्थस्य प्राप्याकाङ्क्षया । कुलिङ्गिषु शाक्यनास्तिक-
यागज्ञजटिलादिषु कुगुरुषु निषेवणं प्रणामविनयादिभिः नीचं आचरणे हीने आचारे जाते सति दर्शनम्
अवश्यं म्लानयेत् मलिनं भवेत् उज्ज्वलं न स्यात् ॥८०६॥ बुद्धिपौरुषेत्यादि—बुद्धिः कर्मणि कौशलम् ।
पौरुषं प्रयत्न उद्यमश्च । नृपु नरेषु कर्मकुशलेषु प्रयत्नवत्सु सत्स्वपि, दैवायत्तविभूतिषु सम्पदं दैवाधीनां
संभवन्ति । तत्प्राप्त्यर्थं कुतिसत्सेवाया यदि नरा उद्यताश्चेत् तत्र दैन्यं दीनता एव दारिद्र्यमेव अतिरिच्यते
अधिकं कारणं प्रधानं कारणं ज्ञातव्यम् । नरः कश्चित् सम्यग्दृष्टिं कुतिसत्जनस्य दारिद्र्याभिभूतत्वात्मेवा
करोति चेत् तेनैव विमर्शं कर्तव्यं अहं सम्यग्दृष्टिं यद्यपि कर्मकुशलं पौरुषयुक्तश्च तथापि विभूतयो
दैवायत्ताः । अतः मयास्य सेवा क्रियते तथापि मम सदाचारः नाहं त्यजामि, नाहं कुलिङ्गिनो निषेवे । मिथ्या-
दृष्टिर्नश्च नाहं प्रशामामि । एवं विवेकेन प्रवृत्तिं कुर्वीणं सम्यक्त्वं न मलिनयेत् ॥८०७॥ समयीत्यादि—
मनोपिणं विद्वांसं तत्पात्रं पुनः पञ्चवा पञ्चप्रकारम् । आमनन्ति आगममनुमृत्य वदन्ति । किं समयी
श्रावकः साधुश्च जिनसमयश्रितः, सूरि आचार्यं समयदीपकं वादित्वादिना मार्गप्रभावकः ॥८०८॥ समयिक-
माह—गृहस्थो वेत्यादि—जैनः समयं जिनप्रतिपादितं समयं मतम् आश्रितः गृहस्थो वा गृहनिरतः गृह-
विरतो वा । यथाकालं कालम् आहारकालम् अनतिक्रम्य अनुप्राप्तं गृहमागतश्चेत् पूजनीयं सुदृष्टिभिः

जने वत्पत्य दातव्यम् । यथागमम् आगममनुसृत्य एक मुनि लभ्य प्राप्येत न वा लभ्य न प्राप्येत ॥८२१॥
अयं जिनधर्मं कीदृक्पुरुषं सेव्यते उति प्रश्ने उत्तरमाह—उच्चावचेति—अयं जिनेश्वरः समयं धर्मं
उच्चावचजनप्रायं उदक् च अवाक् च उच्चावचं अनेकप्रकारं स च जनं तेन प्रायं भूतं अस्ति । यथा
आलयं गृहम् एकस्तम्भे न तिष्ठेत् तथा एकस्मिन् पुरुषे अयं जिनेश्वरः समयं न तिष्ठेत् ॥८२२॥ जिनेश्वरः
समये कतिविधा मुनयो भवन्तीति व्याचष्टे—ते नामेति—नामन्यासेन, स्थापनान्यासेन, द्रव्यन्यासेन, भाव-
न्यासेन च मुनयः चतुर्विधा भवन्ति । ते सर्वेऽपि दानादरक्रियासु योग्या भवन्ति ॥८२३॥ उत्तरोत्तरेति—
उत्तरोत्तरभावेन नामादिन्यस्तेषु मुनिषु उत्तरोत्तरन्यासेन न्यस्ते मुनो विधिं दानमानादिक्रियायां आदरो
विशिष्यते । नाममुने स्थापनामुनि श्रेयान् । तत् द्रव्यमुनि श्रेयस्तरः । ततोऽपि भावमुनि श्रेयोऽधिकः ।
यथा पुण्यार्जने पुण्यमचये गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिषु जिनविम्बेषु नामादिन्यासेन उत्तरोत्तरभावेन आदर-
विधिं विशिष्यते । यथा नामजिनतः स्थापनाजिनं पूज्यं । स्थापनाजिनात् द्रव्यजिनं भाविजिनं अधिकं
पूज्यस्ततोऽपि भावजिनो विशेषेण पूज्यः ॥८२४॥ नामनिक्षेपमाह—अतद्गुणेष्विति—न विद्यन्ते शब्द-
प्रवृत्तिनिमित्तानि जगत्प्रमिद्धानि जातिगुणक्रियाद्रव्यलक्षणगुणविशेषणानि येषु तेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये
नरेच्छावशवर्तनात् पुरुषाभिप्रायमवलम्ब्य यत्संज्ञाकर्म नामविधानम्, तन्नाम ज्ञातव्यम् ॥८२५॥ स्थापना-
निक्षेपमाह—साकारे इति—यत्प्रतिनिधिभूतं वस्तु सादृश्यमावहति तत्साकारम् । ततोऽप्यथाप्रतिनिधि-
भूतत्वेन कल्प्यते तन्निराकारम् । एतादृशे काण्ठादौ काष्ठपुस्तचित्रकर्मक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमित्यभिप्रायेण
न्यस्यमाना स्थापना निगद्यते अभिधीयते ॥८२६॥ द्रव्यनिक्षेपं ब्रवीति—आगामीति—आगामिनि भाविकाले
गुणलभमपेक्ष्य योऽर्थो यद्वस्तु प्रकल्प्यते स द्रव्यन्यासस्य द्रव्यनिक्षेपस्य गोचरः विषयः । भावनिक्षेप-
वदति—तत्कालेति—तत्कालपर्ययाक्रान्तं वर्तमानदशास्थितं वस्तु भावो भाष्यते ॥८२७॥ राजसं दानमाह—
यदात्मेति—यत् दानम् आत्मवर्णनप्रायम् स्वस्तुतिबहुलम् । क्षणिकाहार्यविभ्रमम् क्षणपर्यन्तं सजात-
विलयम् । कदाचित् ददाति, प्रतिदिनं न ददाति । अतः क्षणिकविभ्रमम् । आपातमनोहरम् । परप्रत्यय-
मभूतम् अन्योपदेशसंभूतम् । अन्येन जनेन दापितं वा । स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति । परकस्यचिद्दानस्य
फलं दृष्ट्वा अनेन ईदृशं प्राप्तं फलमिति ज्ञात्वा पश्चात् ददाति । आहार्यम्—यदा कश्चित्प्रवर्तयेत् तदा दानं
ददाति । तद् दानं राजसं मतं कथितम् ॥८२८॥ तामसदानमाह—पात्रापात्रेत्यादि—पात्रं च अपात्रं च
उभयमपि समं समानरूपम् अवैधेयं वीक्ष्यते यत्र तत् । अमत्कारं पात्रस्य सत्कारो यत्र न क्रियते तथाभूतम् ।
असस्तुतम्—लज्जादिना दत्तम् । दासभृत्यकृतोद्योगं क्रीतजनेन, वैतनिकभृत्येन वा कृतं उद्योगं
पात्रनादिकार्यं वा यत्र तद्दानं तामसम् ऊचिरे वभाषिरे ॥८२९॥ सात्त्विकं दानमाह—आतिथेयमिति—
यत्र स्वयम् आतिथेयम् अतिथेयं पात्रस्य स्वागतीकरणम् । यत्र पात्रनिरीक्षणम् आगतस्य अतिथेयं पात्रापात्रत्वं
विमृश्य तद्योग्यतामनुसृत्य प्रवर्तनम् । यत्र दाने श्रद्धादयो गुणा सन्ति तद्दानं सात्त्विकं विदुः जानन्ति ॥८३०॥
दानानाम् उत्तमादिकत्वंमाह—उत्तममिति—सात्त्विकं दानम् उत्तमम् । मध्यमं राजसं भवेत् । सर्वेपा-
दानानां निर्धारणे पण्ठी । सर्वेषु दानभेदेषु सर्वेषु पुनः जघन्यं तामसं ज्ञेयम् । सर्वेषामेव दानानाम् इति सात्त्विक-
राजसयोरपि योजनीयम् ॥८३१॥ दानफलम् इहापि लभ्यत इत्याह—यद्दत्तम् इति—यत् दानम् अभयादिकं
दत्तं तत् अमुत्र अमुष्मिन्लोके परलोके स्यात् फलवद् भवेत् इति वचनं भाषणम् असत्यपरं स्यात् । यत्
तोयतृणाशना जलतृणभक्षिण्य गावो घेनवः । किं पयः न प्रयच्छन्ति न ददति अपि तु ददत्येव । गावः
यस्मिन् दिने जलयवसं भक्षयन्ति तद्दिनं एव दुग्धं ददति । तथा दानफलं दात्रा अस्मिन्नेव लोके फलं मन-
प्रसादरूपं लभ्यते । अथवा यत् अस्माभिः रुक्षं स्निग्धं वा अन्नं कदम्बं वा दत्तं तदेवाव्ययजन्मनि अस्माभिः
प्राप्यते इति मिथ्यावचनं । यत् गो तोयं तृणं चाश्नाति परं मयूरं पयो ददाति । अत्र यदीयते तदेव लभ्यते
इति वचनं मिथ्या ॥८३२॥ मुनिभ्य इति—मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि शाकस्य पत्रशाकस्य पिण्डं पुञ्ज-
श्राणं पत्रशाकोऽपि । काले आहारवेलायाम् भक्त्या प्रकल्पितं दत्तं अगण्यपुण्यार्थं भवेत् । यत् भक्ति-
चिन्तामणिं चिन्तामणिरिव ॥८३३॥ मौनविधिं किमर्थमित्याह—अभिमानस्येति—अभिमानस्य अयाचक-

मृतस्य रक्षणायम् । आत्मस्य चित्तमायम् । जिनस्वरत्नं भाज्यम् । विविधानामेषु भोगम् ऊचुः उक्तवन्तः ॥८१४॥
 लोभ्यस्मागादिति—लोभं जिह्वाकम्प्यतां तस्य स्वागात् इच्छायां निरोधात् । तपोनृद्धिं भवति । जमि
 मानस्य च रक्षणम् अथावककृतस्य पाप्मनं स्यात् । तदव्ययं तस्माद्भूततरसाणां लोभ्यस्मागाच्च जननमविवरे
 नम सिद्धिं स्याद् भवन् । यथा सचक्ष्णा स्यात् ॥८१५॥

[पृष्ठ ३०६-३१३] भुतस्थिति—भोगं भुतस्य प्रथमो विनयां भवेत् । तदव्ययं भोगं समूहः
 समाधाय स्यात् । भुक्तिरसम्पन्नं आधाय भवेत् । ततः भोगात् अनुबलोकस्य सरस्वती प्रसीदति विजयदनुग्रहं
 समर्थं दिव्यवनिप्रसादो भवति ॥८१६॥ संयमिनां व्याख्याविपरीकारं करणीयम् इति कथयति—प्राची-
 रिति—प्राचीरा व्याख्यं दोषवानुमलविकृतिजनितम् । भागसा व्याख्यं दोर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्यसाधि
 सम्प्राप्तिता । आप्तुम्यायव सातवतामिमातामिच्छता । एते व्याख्यिभिः सम्भाव्यमने बीजात्मनैः । केवा
 संयमिनां उपस्थितान् । गुहामिहै गृह्णित्वापावकैः । साधु सम्पत्तया । प्राचीरमानसागन्तुकानां रोषायां
 प्रतीकारः विनिवृत्तुपायः । कायः करणीयः ॥८१७॥ व्याख्यिणीहितमुपप्रेष्यामीं सर्वं भुतं नश्यदिति निश्चययति—
 मुनीनामिति—प्रापकैः वैशवास्वगुत्तवाम् उपपत्तां कुञ्जद्विं पावकैः । व्याख्यिमुक्तानां रोमपीडितानां
 ज्ञानवता मुनीनाम् उपेक्षायां जीवाद्योग्यकरणे । अथमाधि रत्नवचविपक्षना तेषां मुनीनां भवेत् । स्वस्य
 जीवधारिषाह्यस्य अविहृतं अथमव्ययता च प्रवटीमयत् । अतः बीजात्मनस्य व्याख्यानं विपक्षानेषु
 विवृतम् । तदात्मनस्य पठनं कुञ्जस्य अथमुत्पादयिषु । तदा सीमनस्य धुर्गं ह्यधिकम् । आचार्यं करणीयम् ।
 कं उपपत्तिं इत्याह आचार्येति—आचार्यं वसतिता । पुस्तकं शास्त्रम् । आहारं मुष्पमोमि प्रकृत्यमुक्तम्
 अथवातम् । धीर्कर्मविनिर्वाणकैः अत्यमुत्साधनां धीरस्यकारणैः । अतस्त्वत्वेति—मुत्स्वत्त्ववत्त्वस्य
 भुतस्त्वत्त्वस्य अज्ञपुत्रज्ञानस्य वरमे समर्थां मुनीनाम् अरय्य विनाये । निर्मुक्तं सवम् अज्ञपुत्रं
 प्रकीर्त्तयाम्—अज्ञेषु एकावद्यत्तु पूर्वम् अतुर्गसम् च यदुक्तं भुतज्ञानं तदस्येत् । तथा मुक्तम्—मुक्तं उक्तं
 निर्दोषं प्रतिपादितं वैश्विमायिनं जिनस्वरत्नोक्तं सर्वं नश्यत् । अतः गुहामिहै संयमिना व्याधेः प्रतीकत्वं
 कार्यः । प्रथमोत्साहसेति—प्रथमो विनयः । उत्साहः उद्यमः । उद्यतप्रयत्ने साह्याभ्यासम् । ज्ञानस्य
 वर्धनम् । स्वाध्यायाचिनवस्तुभिः भुतज्ञानं मुनीन् जनयन् पावकं भुतपारां सकलभुतपारकं जायते ।
 ८१८-८४१ ॥ भुताञ्च तासां च किं स्वाध्यायि निश्चययति—भुताञ्च भुतपारां च तत्त्वज्ञानं बोधयितुम्
 बोधं जायते । भुताञ्च भुतपाराणां समवबर्धनं स्वमनप्रमादनां भवति । धेयोर्ध्वनां मुक्त्यधिकारिणां भुत-
 पारे एतदवर्धनं जीवादिदत्तज्ञानं स्वमनप्रमादनां च विनश्यति सर्वं तदस्येत् अथवातस्यं भवति ॥८४२॥
 अस्त्रपारण्यवदिति—यथा अस्त्रपारण्यं मुक्तं तथा तदा भाग्ये स्वये मुक्त्या । परं तथा धीर्गरीरा
 पराक्रमिणो वीरा वर्मना तथा यथायमज्ञानवन्तो नरा यथावर्माज्ञानसंप्रदाः पुर्वमा ॥८४३॥ ज्ञानमाध्याय
 यति—ज्ञानमाध्याययति ज्ञानाध्यासाय सततं प्रयत्नम् अनुवर्तिता कामवर्धयेति प्राचीरकनेसाञ्च सहमान नरो वैवर्त्त
 बाहीरवत् भारं वहन्तर इव निबिडमारो हीमते अन्धः वर्धते । तथा कामवर्धयेत् भुवने तत्र भुवनं वर्धयितुं
 पुत्रानं निबिडं नक्तन ॥८४४॥ साहस्यमाय ज्ञानमेव कारणम्—सृष्टिर्वादिति—सृष्टिर्वा अङ्गुली वक्त्र
 रमिष्ठनं वरिष्ठा वक्ष्याय वमनाय हनुमन्वति तथा भाववशीलनं मोहकरीणो वमनाय ज्ञानम् अङ्गुलवत् नक्तन ।
 तदुक्तं ज्ञानादने । अहिः कामवर्धयेत् तदा नक्षेत् एवपीव वरम् अतिधयनं भवेत् ॥८४५॥ ज्ञानमाध्याय मेत्येति—
 अहिर्निनि—ज्ञानं माध्यायत आत्मनि जायमाध्यायज्ज्ञानं विनश्यतः नरस्य ध्वनिवो अहिः अजगतादिपरा
 स्वयम् अमयति तं प्राप्ताग्निं । यन् यत अथ ज्ञानमाध्यायया धेयते आत्मनि मिधये एकाग्रचित्ततादिभ्यो जाते
 सति । पुनः आरतं क्रिया रायवमना हनु वीर्यरतिज्ञानकपायां परिचर्यो जातानां धीरे वर्धयितुं न
 यदिति । तथा च आप्ते ॥८४६॥ यदुत्तानीति—अज्ञानी आत्मज्ञानपूर्वकं वैवर्त्त बाह्यं वाप्यनेत्तं भुवना
 बीजः अहम्भि मुनि कथं धारयन् विनाययत वा । परं योवर्त्तव्य एवावचित्तं ज्ञानो । भुवर्त्त निश्चयन ।
 तमन नृत्तानिह । वम धारयन् दह्ने । विष्वाज्ञानो वर्धयते न करोति सम्पत्तानो दयात्मनीराधि मरमार्थं
 भवति ॥८४७॥ ज्ञानानि—अग्निवै अद्विजते अमयगरी । नक्षेत् नक्षेत् सहमानात् यते । ज्ञानी मुनि यत

कर्मक्षपणवतुरो गीयते । ज्ञानलव्हे ज्ञातु यते युगेरपि बहुभि यस्मात् न पटुत्व कर्मक्षपणकुशलत्व न भवति । सपूर्णं चारित्रे मति पटु परिपूर्णज्ञानी भवेत् । न तु ज्ञानलवमात्रेण केवली स्यादिति भावः ॥८४८॥ शब्दैरिति श्रौ-
रिति—यस्य शब्दैरिति शब्दागमै व्याकरणे यस्य गी वाणी शुद्धा न । यस्य च धो वृद्धिर्नये नैगमादिनये
शुद्धा कुशला न । स परप्रत्ययात् अन्यस्मात् कुत्सितगुर्वादि प्रत्ययात् ज्ञानात् विलम्ब्यन् क्लेश प्राप्नुवन् पुमान्
अन्वसम अन्वतुल्य भवेत् ॥८४९॥ शब्दाद्यागमाना द्वैविध्यम् आह—स्वरूपमिति—स्वरूपम् । रचना ।
शुद्धि । भूपा । अर्थः । समासत सक्षेपात् । आगमस्य शास्त्रस्य । प्रत्येकम् एतद्वैविध्यं भेदद्वयं प्रतिपद्यते
स्वीकरोति । तद्यथा—शब्दागम, न्यायागम, धर्मागम इति बहव आगमा मन्ति । तेषां प्रत्येकं स्वरूपादे
द्वैविध्यं भवति । तद्यथा—स्वरूप द्विविधम् अक्षरम् अनक्षरं च । अस्फुटार्थसूचनार्थम् यथा तडत्तडित् ।
पटपटायति । रचना द्विविधा गद्य पद्य च । प्रत्येकमागम गद्यरूपेण पद्यरूपेण वा स्त्राभिप्रायं निवेदयति ।
शुद्धिद्विविधा—प्रमादप्रयोगविरह प्रमादात् अनवधानात् य अशुद्ध प्रयोग अशुद्धा वाक्यरचना तस्या विरह
अभावः । अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । अर्थ शब्देन प्रतिपाद्याशयः । व्यञ्जनम् शब्द तयो विकलताया
परिहार त्यागः । भूपा द्विविधा वागलकार शब्दालकार अर्थालकारश्च उपमावृत्तिकादयः । अर्थो द्विविधं चेतन
अचेतनञ्च । चेतनोऽर्थः, देवमानवादि । अचेतन पृथिव्यादि जाति व्यवितश्चेति वा ॥८५०॥ दानविधौ अतिचारा-
नाह—सार्धमिति—सचित्तनिक्षिप्तम्—सचित्ते पद्मपत्रादौ अन्नस्य निक्षिप्तम् अन्ननिक्षेपः । नचित्तवृत्तं सचित्तेन
कमलपत्रादिना वृत्तमन्तस्योपरि आवरणम् । अन्योपदेशः परस्य दातुरेतद्गुणखण्डादिकमस्तीति पात्रस्य निवेदनम् ।
मात्सर्यम् अन्यदातृगुणमहिष्णुत्व मात्सर्यम् । कालातिक्रमणक्रिया मातृनाम् उचितस्य भिक्षाममयस्य लङ्घनम् ।
एते पञ्चातिचारा दानहानये दानव्रतस्य विनाशाय भवन्ति ॥८५१॥ यतिभक्त्यादिकरणाद्वा किं किं
लभ्यते इत्याह—नतेरित्यादि—यतेर्नते मुनिनमस्कारात् गोत्रम् उच्च कुल दाता अवाप्नोति । दानात्
आहारादिदानात् श्रियः संपद अवाप्नोति । उपास्ते यतिपूजनात् सर्वसंयता सकलजनमान्यता लभते ।
भक्ते यतिगुणानुरागात् कीर्तिमवाप्नोति, यशो लभते । क दाता कथंभूतं स्वयं यतीन् भजन् स्वयं मुनीन्
आश्रयन् उपासमानः ॥८५२॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४३॥

४४ यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ ३१४-३१७] गृहिणामेकादशपदान्याह—मूलव्रतमिति—मूलव्रतं मध्यमासमधुभि सह
पञ्चोदुम्बरत्यागो मूलव्रतम् । पञ्चाणुव्रतानि, गुणव्रतत्रयम् शिवाव्रतचतुष्टयम् एतेषां द्वादशानां पालनम्
व्रतपद द्वितीयम् । अर्चा आप्तसेवा समयो वा तस्या करण तृतीयं पदम् सामायिकाख्यम् । पूर्वकर्म प्रोपघोप-
वाम चतुर्थं पदम् । अकृपिक्रिया क्षेत्रे सस्यादिवापनम्, हलेन भूमिकर्षणम् एतत्कार्यम् अस्मिन्पञ्चमे पदे निषिद्धम्
अतः अकृपिक्रियाख्यं पदमेतत्पञ्चमम् । दिवा दिने स्वस्त्रीसमोगत्यागः षष्ठं पदम् । नवविधं ब्रह्म मनसा वचना
कायेन समोगत्यागः स्वयम्, अन्येन त्याजनम्, त्यजतो अनुमोदनम् । एतत्सप्तमं पदम् । श्रावकस्य नचित्तस्य
आमस्य मूलफलशकशाखादेस्त्यागः अष्टमः श्रावकपदम् । परिग्रहपरित्यागः बाह्यदशविधपरिग्रहाणां क्षेत्रवास्तवा-
दीनां त्यागो वर्जितं नवमं श्रावकपदम् । भुक्तिमाशानुमायता—भुक्तिगृहाहारः अन्नपानखाद्यलेह्यानां चतुर्णाम्
आहाराणाम् अनुमान्यता अनुमतिदानम्, दात्रा पुत्रादिना श्रावकेण क आहारोऽयं ग्राह्य इति पृष्टे अमुक आहारो
ममेष्ट इति कथनम् । भुक्तिमाशानुमायता दशमं पदम् । तदानीं च तस्या अनुमतेर्हानिस्त्यागः एकादशपदम् ।

- १ भुक्त्यनुमतिं भुक्त्वा अन्यत्र आरम्भे, परिग्रहे, ऐहिकेषु विवाहादिकर्मसु अनुमतेरपि त्यागः ज्ञातव्यः ।
- २ दात्रा पुत्रादिना श्रावकेण क आहारोऽयं भवेद्भुवन इष्ट इति पृष्टेऽपि तद्विषये अनुमतेरपि अदा-
नम् एकादश पदम् ।

८५३-८५४ । अथभीत्यादि—अनविद्यतम् आरोहेत् पूर्वपूर्वजनस्मिन् । पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् ब्रते मन्त्रादी
स्मिन् । अनविद्यतं कालमयीं हृत्वा उत्तरघटं गृह्णीयत् । यद्यप्युक्तं नवीनं गृह्यते तस्य तस्य मयीं हृत्वा
तत्तामेत्येत्पूर्वम् । सह । सप्तत्रयि एकादशपदे पदेषु ज्ञानव्यवहारना समा प्रोक्ता । यदि एषा पद्याना मन्त्रान्
ज्ञानं न न स्यात् तर्हि उत्तरोत्तरव्यवहारं शोधितं भवेत् । सर्वेषु एकादशपदेषु क्रमेण रत्नव्यवहारना चतुर्षाः
तत्त्वेन ॥ ८५५ ॥ पञ्चमैति—अन विद्यतपदवारिण धारका गृह्णीत ज्ञेया छन्दसाष्टमनवमपदवारिणो
बहुवारिणामागो ज्ञेया । ब्रह्मैकादशपदवारिको षी मितुको इति निर्दिष्टो । तत् सर्वत ब्रह्मवारिण म्हाप्रतिनो
यतिनामयेया ज्ञातव्या ॥ ८५६ ॥ तत्तद्वित्ति—महाप्रतापिषु यस्य गुणस्य प्राधान्यं यपु विद्यते तत्तद्विज
माधित्य मयो मूलयोऽनेका बहुविधा स्मृता प्रोक्ता । तेषा यतीना निवृत्ति निवृत्त्येन तद्वि कर्त
निवृत्तिस्तो ब्रह्मो ब्रह्मयत्त मत् मत्सकाशम् निबोधत श्रुणुष्वम् ॥ ८५७ ॥ जित्स्विति—य सर्वान् इन्द्रियाणि
स्वर्तनरसनादीनि कित्वा स्वविषयेष्व परावृत्त्य स्वात्मतानि करोति तथा आत्मना स्वयम् आत्मानं स्वं वेति
जानाति स गृह्यतो यवतु ज्ञानव्रतं वा भवतु । ज्ञानव्रतं — अपरिमृष्टीतजिनकपा ब्रह्मव्यवहारी निरतिष्ठ-
यत्पत्युत्तरो भवति । स जित्स्वित्यनामयेया भवति । इति जित्स्वित्यपवर्गिस्त ॥ ८५८ ॥ अपवर्गमव
योगिनिममाह—मानेति—मानो यत् माया कष्टम् यत् जन्ममृता यावत् क्लेश एषा अपवात् सर्व
करणात् यति यवत् स्मृत् जन्म ॥ यो नेति—य यति भ्रान्ते न भ्रान्त भ्रान्ते ईर्ष्यामिष्या भ्रमणात्
त भ्रान्तं न क्लान्तः तं बुधा विज्ञानं यमर्षं किपु जानति ॥ ८५९ ॥ आद्याम्बरतन्मयोनिहस्तमाह—य
इत्यादि—य 'हृताक' हृता' प्रधाना आद्या व्यविधाया यस्य स हृताय तम् आद्याम्बरम् आद्याविष
एव अम्बरं वस्त्रं यस्य स आद्याम्बरं तम् आद्याम्बरम् ऊचिरे ब्रह्माधिरे । य सर्वसंयपरिवक्तुं सकलमाह
मन्त्रपरिग्रहमुक्तं स जन्म परिकीर्तितः कथितः ॥ ८६० ॥ अपिमुण्योनिवृत्तिमाह—रंजनाद्वित्ति—य
रापीना रंजारे छन्नाप्यवतुषुतिष्ठु ज्ञानमृतागो रेषाहुतापाटनात् विनाशनात् संवरणात् मनीषिण विज्ञासः
श्रुतिम् आहूः बुध्तिम् । आत्मविज्ञाना कर्मक्षयं कृत्वा सचकविमलमेवज्ञानं कल्पते तत्त्वैकज्ञानम् आत्मविज्ञा
तथा च तत्त्वपरमसाधर्म्यात् वा कोष्ठवीजबुद्धपादवो कल्पन्ते ता अपि आत्मविज्ञा' प्रोक्षन्ते । आत्मविज्ञाना
मात्मत्वात् तन्मात्रे पूर्वा प्राप्तरवम् महिम्ना मुनि कीर्यते वर्धते ॥ ८६१ ॥ यत्वनगरमोतिवित्तिमाह—
य इति—य मुनिः पापपासनाद्याय पापान्येव पाप्मा जाह्नानि तेषा माद्याय यतः प्रयत्नं करोति स त्रितर्भवति ।
य मुनिर्हृदयेऽपि वैह एव वैहं छटीरमेव गृहं तत्र वा जनीह इत्युत्तरित्वा स ज्ञानयार छटां तज्ज्ञानागो
पूज्यः ॥ ८६२ ॥ बुधिसन्धस्य निवृत्तिमाह—आत्मेति—आत्मादुद्धिदरैः आत्मना अर्थादि बुध्तिम् इति आत्म-
बुद्धिकरा ये कर्मबुध्तिना कर्मण्येव बुध्तिनाः जाह्नाना अत्यपयाः तैः यस्य न संशं न स्वयं स पुमान् पूज्यः बुधि'
पवित्र आत्मना प्रोक्तः न जन्मुत्पत्त्युत्पत्तकः जन्मुना जन्मेन संयुक्तं स समस्त क्लृप्तं ब्रह्मं नस्तत्कं यस्य स
पुमान् न बुधिसंयवत् ॥ ८६३ ॥ निर्ममछन्दस्य निवृत्तिमाह—निर्ममकर्मसि—य निर्ममकर्मके यमो रत्नव
आत्मकः तस्य कर्माणि जाह्नानाणि बुधिसमितिबर्मागुपेक्षापटीपहृत्त्यवारिभट्टपाणि । तैम्यो कर्म्ये फले स्वर्गादि
मुक्तकथने । जनीह निःस्पृहः । ज्ञानमकर्मकः निवृत्त पापकर्मयो हिसाधैनिवत्तः दूरीभूतः । तम् इह क्षमिन्मोके
वैवकारमपरिच्छदं वैवत् एक आत्मा एवपरिच्छदः परिहारो यस्य तं निर्ममं निर्ममस्येति बुध्तिर्यस्य स निर्ममः
तम् पक्षति बुध्ति ॥ ८६४ ॥ मुमुक्षुमाह—य इति—य यति कर्मक्षितवादीत इत्यकर्मणि ज्ञानावरणा
दाति ज्ञेयो । भावकर्मणि च ज्ञानरागद्वेषभोहायवो भावाः । कर्मक्षोदितयं यमक्षितयं तस्मात् जतीतः रहितः
तं मुमुक्षुं प्रवर्तते बुध्ते । परं कीदृश्यं हेमो वा' पापीयो बन्धः स बन्ध एव । एते सोहाविपाद्या' न वस्तुतो
ब्रह्मनामि तैनात्मा बन्धयते नत ॥ ८६५ ॥ समधीत्यं प्रतिपादयति—निर्ममं दृष्ट्यादि—निर्मयो यमत्रायो
यस्य स निर्ममः निमृच्छः । निरहकारः ब्रह्मस्य स्वामी इति मन्त्रसंज्ञकोऽहंकारः स निर्गतो यस्मात् स
निरहकारः निर्ममः । निर्मममममरहरः निर्ममः नष्ट मागो यतो मन्त्रवत्तय यस्मात् स निर्मममममरहरः ।
सोवाविमामेतिप्रवक्तारमुक्तासङ्गलभावाः । निष्ठाया तप्यस्य ज्ञाप्यस्य वा शोचस्योद्गारनं प्रति इच्छा कित्वा
तस्याम् । तत्तत्वे वैव मुक्तप्रवृत्तया वैव यक्षितव्यः यक्षिनामि ज्ञानाणि यस्य न । निर्ममममममममो य' स

समघो समा रागद्वेषपरिहीणा बुद्धिर्यस्य स मुनि गृहस्थो वा समवीरुच्यते ॥८६६॥ वाचयमत्वलक्षणमाह—
 योऽवगम्येति—तत्त्वैकभावन तत्त्वेपु एका मुख्या भावना चिन्तन यस्य स तत्त्वैकभावन । य मुनि
 अनाद्यन्ततत्त्व न आदि उत्पत्तिर्जन्म अन्तो विनाश यस्य तत्तत्त्व जीवाजीवादिवस्तुस्वरूपम् अवगम्य
 ज्ञात्वा, वाचयम वाचो वाक्यात् यच्छति विरमतीति वाचयम मौनव्रती विज्ञेय, न पशुवन्नर मौनी विज्ञेय
 ॥८६७॥ अनूचानत्व व्रूते—श्रुते इत्यादि—श्रुते आगमे । व्रूते अहिंसादिमहाव्रते । प्रसख्यान ध्यान तस्मिन् ।
 समयमे प्राणिसरक्षणार्थमे इन्द्रियजरूपे । नियमे परिमितकालावधि रूपे भोगोपभोगत्यागे । यमे आजन्मभोगोप-
 भोगत्यागे यस्य उच्चैश्चेत् उन्नत चेत् मनो भवति स अनूचान श्रुतज्ञानविचक्षण विनीतो वा प्रकीर्तित
 ॥८६८॥ अनाश्वन्मुने स्वरूपमाह—य इत्यादि—य यति अक्षस्तेनेषु इन्द्रियचोरेषु अविश्वस्त
 विश्वास न च गच्छति । शाश्वते पथि नित्ये रत्नत्रयमार्गे च स्थित वर्तते स्म । समस्तमत्त्वविश्वास्य सकल-
 प्राणिविश्वासाह स मुनिरिह अनाश्वान् गीर्यते उच्यते ॥८६९॥

[पृष्ठ ३१८-३२१] योगिनमाह—तत्त्वे इत्यादि—तत्त्वे जीवादपदार्थे पुमान् यस्य आत्मा
 युक्तो वर्तते । मन पुंसि यस्य मन बाह्यान् धनादिपदार्थान् विमुच्य पुंसि ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मन्येव
 युक्त वर्तते । मनसि एव युक्त यस्य अक्षकदम्बक इन्द्रियगणो वर्तते । तदपि स्पर्शादिविषयेषु न प्रवर्तते ।
 स मुनि योगी भवति । परेच्छादुरोहित योगी न भवति । परेषु स्त्रीपुत्रधनादिषु या इच्छा मन सकल्प
 तस्या दुर्गोहित दुष्प्रवृत्त य स योगी न स्यात् ॥८७०॥ यते पञ्चाग्निसाधकत्व व्रवीति—कामः क्रोध
 इत्यादि—यस्य काम सकलपरमणोय प्रीतिसभोगशोभी रुचिरोऽभिलाष काम । क्रोध अमर्ष असहनता ।
 मदो गर्व । माया कपटम् । लोभ वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिगृद्धि । इत्यग्निपञ्चकम् येन साधित वशीकृत
 स कृती कृतकृत्य मुनि पञ्चाग्निसाधक स्यात् ॥८७१॥ मुनेर्ब्रह्मचारित्वमाह—ज्ञानं ब्रह्मेति—आत्म-
 स्वरूपपरिज्ञायक ज्ञान ब्रह्मेत्युच्यते आत्मज्ञानेन परपदार्थे आसक्तिरहितावहा । स्वात्मन्येव रतिरहितकारिणीति
 प्रतिपाद्यते । तस्माज्ज्ञान ब्रह्मेति निर्वचन योग्यम् । दया ब्रह्म दया प्राण्यनुकम्पन सर्वे जीवा सुखमभिलषन्ति
 न कोऽपि दुःखम् । अत आत्मना सदृशा सर्वे प्राणिन इति ज्ञात्वा दया विधेया । दयेय ब्रह्मज्ञानकारणत्वाद्
 ब्रह्मेति परिगीयते । कामविनिग्रह कामाकुलितो मनुष्य रामाभिलाषी भवति । निजात्मनि शुद्धे तस्य रतिर्न
 भवति अतः आत्मस्वरूपरतिच्युत सोऽजितेन्द्रियो भवति तस्य ब्रह्मप्राप्ति कुत । कामविनिग्रहे कृते निजात्मनि
 ब्रह्मणि रतिर्जायते अत कामविनिग्रहस्य ब्रह्मेत्यभिधानम् । अत्र ज्ञानब्रह्मणि, दयाब्रह्मणि कामविनिग्रहाख्ये
 ब्रह्मणि च सम्यगवसन्नर ब्रह्मचारी आत्मा भवेत् ॥८७२॥ मुनेर्गृहस्थत्व कथयति—क्षान्तियोषिती-
 त्यादि—य मुनि क्षान्तियोषिति क्षमास्त्रिया सक्त रतिं करोति । य सम्यग्ज्ञानम् एव अतिथि स प्रियो
 यस्य यथा गृहस्थ ज्ञानाविसिद्धयर्थम् आहाराय यत्नेन श्रावकगृहम् । अतन्त गच्छन्तम् अतिथि पूजयति तथा
 सम्यग्ज्ञानरूपम् अतिथिम् आराधयति स मुनि नून गृहस्थो भवेत् । गृहस्थ दैवत साधयति आराधयति
 तथाय मुनिर्मन एव दैवत तत्माधयति । मनो वशीकृत्य तत् आत्मनि एकाग्र करोति तत आत्मानुभूत्याख्य
 सुख लभते ॥८७३॥ मुनेर्वानप्रस्थत्व व्यनक्ति—ग्राम्यमिति—ग्राम्यम् अर्थं ग्राम इन्द्रियगण तस्य विषय
 स्पर्शरसादि ग्राम्योऽयं उच्यते । त स्पर्शादिविषय स्त्रीस्रक्चन्दनादिक परित्यज्य मुक्त्वा । अन्त य अर्थ
 रागद्वेषादि तमपि परित्यज्य य समयी यति प्रवर्तते स वानप्रस्थ विज्ञेय । न वनस्थ कुटुम्बवान् वने
 तिष्ठन् पोष्यवर्गसहित वानप्रस्थो नोच्यते । वानप्रस्थोऽय गृहस्थभेदेऽपि शब्दो वर्तते । वानप्रस्थो गृही
 तृतोयाश्रमी उच्यते तस्यापि स्वरूप जैनागमे एव प्रतिपादितम्—“वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्यखण्ड-
 धारिण निरतिशयतपस्युद्यता भवन्ति ।” वैदिकधर्मे वानप्रस्थो दाराभि मह वने तिष्ठति इत्युक्त तथा
 वानप्रस्थस्य गृहिण स्वरूप जैनागमे नास्ति । ग्राम्यमर्थमिति श्लोके मुनेर्वानप्रस्थेति नामापि कथं भवेदिति
 विषयोऽकृतम् । पर मुनिर्वानप्रस्थाभिधो गृही नेत्यत्र ज्ञेयम् ॥८७४॥ मुने शिवाछेदित्व कथयति—ससार-
 त्यादि—ससार एवाग्नि । चतुर्गतिभ्रमण ससार स एवाग्नि तस्य शिखा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपा-
 याख्या । तासा छेदो विनाश कर्तन वा येन ज्ञानासिना । आत्मज्ञानमेव अग्नि खड्ग तेन कृत त मुनि

८५१-८५४ । अवधीत्यादि—अवधिगतम् आरोहेत् पूर्वपूर्वगतस्मिन् । पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् पठे मूलग्रन्थो
 रितः । अवधिगतं काष्ठमर्षो हस्ता उत्तरपठं गृह्णीयात् । मध्यपूर्वमं मर्षीं गृह्णते तस्य तस्य मर्षां हस्ता
 तस्याभ्येत्यूर्ध्वं सः । सर्वत्रापि एकादशसु पदेषु ज्ञानव्यवभाषणा समा श्रेयसा । अत्र एषा पदाना मन्त्रानं
 ज्ञानं च न स्यात् तर्हि उत्तरात्तरपथवार्यं नीचिर्त्तं भवेत् । सर्वेषु एकादशपदेषु क्रमेण रत्नव्यवभाषणा संप्रसा
 दत्तव्यः ॥ ८५५ ॥ पञ्चमेति—अथ मायिपटपवारिष आचका गृहीष ज्ञेया सप्तमाष्टमनवमपदवारिषो
 ब्रह्मचारिणामानो ज्ञेया । वसतीकादशपदवारिषो द्वौ मिथुको इति निर्दिष्टौ । ततः सर्वतः प्रथमारिषः महाप्रतिनो
 यतिनामधेया ज्ञातव्याः ॥ ८५६ ॥ सप्तमिति—महाप्रतिनो यतिः यस्य गुणस्य आचार्यं यत् विद्यते तत्तद्वृत्त
 मायित्य यतयो मुनयोऽनेकधा बहुविधा स्मृताः श्रेयसा । तेषां मतीनां निरर्थकं निश्चयेन क्वचित् कथनं
 निश्चितंस्तौ बहवो वनयतः सत् पतञ्जलात् निबोधतः शुभ्रम् ॥ ८५७ ॥ जितवेति—यः सर्वत्र हिन्द्यादि
 स्वर्यनरसमासीनं जित्वा स्वविषयेभ्यः पराकृत्य स्वावसानं करोति तथा आरम्भा स्वयम् आरम्भानं एवं वेति
 आनाति स गृहस्थो भवतु वागवस्थो वा भवतु । वागवस्थः — अपरिमृहीतजित्वावस्थो बहवस्तत्पराय निरर्थक-
 यनपस्तुद्यतो भवति । स जितेन्द्रियतामधेयो भवति । इति जितेन्द्रियपदनिर्दिष्टः ॥ ८५८ ॥ यनपममम
 योनिस्त्वित्ताह—मानेति—मानो नर्ष माया कपटम् भवः सन्मरुता आभय क्रोध एषां व्यपमात् घट
 कर्मात् एति घटवत् स्मृतं वचनं ॥ यो नेति—यः यति भ्रान्ते न वास्तव भ्रान्तेः ईशानमित्वा भ्रमयत्
 त माया न कलात्तः तं बुद्ध्या विद्वांसः धर्मं विदुः जानन्ति ॥ ८५९ ॥ आध्याम्बरनमनोनिस्तपमाह—य
 इत्यादि—य इवासा इवा प्रशान्ता आद्या भयिकाया वस्य स इवास तम् आध्याम्बरम् आसादिष
 एव अम्बरं वस्त्रं यस्य स आध्याम्बरः तम् आध्याम्बरम् उचिरे ब्रह्मादिरे । यः सर्वसंभवरितयत्त सकलमाह्ला
 म्बरत्परिग्रहमुक्त स नमः परिकीर्तितः भवति ॥ ८६० ॥ अविमुक्षोर्निश्चितमाह—रेपयान्ति—स्वेष्ट
 राक्षीना संवारे सम्प्राप्तवतुगतिषु लक्ष्मणाणां ऐषावुत्पाटनात् विनायनात् संवरयत् समीपिना विद्वांसः
 ऋषिम् आहूः भुजन्ति । आत्मविद्यानां कर्मस्य इत्या सकलविमलमेवकज्ञानं कर्म्यते तत्केवलज्ञानम् आत्मविद्या
 तथा च उपस्वरयतामस्म्यसि या कोष्ठबीजबुद्ध्याप्तयो कर्म्यते ता अपि आरम्भविद्या श्रेयस्यते । आरम्भविद्यानां
 मायत्वात् तस्याप्ये पूजा प्राप्त्वात् माहूः मुनिः कीर्यते वर्ण्यते ॥ ८६१ ॥ परमपारम्योनिस्त्वित्ताह—
 य इति—यः मुनिः पापपाषाणाद्यभय पापान्मेव पाषाः आसन्ति तेषां नाशाय यतवे प्रयत्नं करोति स यतिर्भवति ।
 यः मुनिर्ब्रह्मेतिह्यपि हेह एव गेहं अपरीमेव गृहं तत्र यः जनीह इच्छारहित स जननार घटां सम्ब्रानता
 पूज्यः ॥ ८६२ ॥ मुचिचक्षस्य निश्चितमाह—आस्मेति—आरम्भासुष्टिकरः आरम्भः सद्युष्टिं कुर्मन्ति इति आत्म-
 सुष्टिकरः यः कर्मकुर्वता कर्मोभ्येव कुर्वताः आह्वाना अत्यवसाः तैः यस्य न संता न स्पर्श स पुमान् पुष्पः सुचि
 परिष आस्वातः प्रोक्तः न अम्बुसम्पुत्तमस्तकः अम्बुना जलेन संपुत्तं सं समस्तत् प्लुतं बीजं मस्तकं यत्नं स
 पुमान् न सुचिरकथात् ॥ ८६३ ॥ निर्ममममस्य निश्चितमाह—यमकर्म्येति—यः यमकर्म्येव कर्मो रत्न-
 मास्तकः तस्य कर्मणि आचरणानि गुणितवर्तिष्ठमनोनुज्ञापरीहृषवचारिव्यमायि । तस्मै कर्म्ये कर्म्ये स्वर्गनि
 सुखकामे । जनीह निःस्पृहः । अवर्गकर्मणः निवृत्त पापकर्म्यो हिंसाहेतिवृत्त बुरीमुत् । तम् इह अस्मिन्लोके
 केवलात्मपरिच्छिन्नं केवला एक आरम्भा एवपरिच्छिन्नः परिहारो यस्य तं निर्ममं निर्ममामेति बुद्धिर्यस्य स निमयः
 तम् वसन्ति भुजन्ति ॥ ८६४ ॥ मुमुक्षुमाह—यः इति—यः यतिः कर्महितपाटीत इत्यकर्मणि ज्ञानावरणा
 दानि बरी । मायकर्मणि च अज्ञानराजहेपयोहायवो नाभा । कर्मचोदितयं कर्मवितयं तस्मात् बरीतः रहित
 तं मुमुक्षुं प्रवर्तते भुजते । परं कोहस्य हिम्नो वा पासीर्यो बन्धः स बन्ध एव । एते कोहद्विपाया न वस्तुतो
 बन्धनानि तैरतित्वा बन्धयते यतः ॥ ८६५ ॥ सममीलं प्रतिपादयति—निर्मम इत्यादि—निर्वतो मममात्रो
 यस्य स निर्मम मिमुक्षुः । निर्हृकारः अहमस्य स्वामी इति भग-संक्रान्तोर्हृकारः स निर्मतो यस्मात् स
 निर्हृकारः निर्ममः । निर्मावब्रह्मसत्तः निर्ममः गहः मानो यतो मस्तारव्य यस्मात् स निर्मावब्रह्मसत्तः ।
 टीकामिमलोत्रियमनररनुपाद्यतथाच । निम्नार्था तस्यस्य अतस्यस्य वा बोधस्योद्भावनं प्रति इच्छन् निम्ना
 तस्याम् । संस्तये चैव गुणवर्धयायां चैव संविद्यतः संविद्यति ज्ञानानि यस्य स । निर्दोषवृत्तपञ्चो न स

चारित्ररूपायाम्ब्रथ्या क्षीयते सा त्रयो बुद्धिमता मता प्रशस्या । रत्नत्रयम् एव त्रयीनामवेय तदेव
जन्मजरामृतित्रयो विनाशयेत् न ऋक्सामयजुषा त्रयो ससारक्षयकारणम् ॥८८५॥ मुनेर्ब्राह्मणत्व-
माह—अहिंस इति—अहिंस न हिनस्तीति अहिंस प्राणिघातद्वरो दयालु । सद्ब्रतं सन्ति व्रतानि
यस्य स सन्ति सम्यग्दर्शनवन्ति, अथ च सन्ति निरतिचाराणि व्रतानि यस्य स । ज्ञानी सम्यग्ज्ञानी
चतुर्णां प्रथमाद्यनुयोगानां ज्ञाता । निरोहं निस्पृहः । निष्परिग्रहः निर्ममत्वरतः । स सत्यं ब्राह्मणं स्यात्
भवेत् न तु जातिमदान्धलं अहं जात्या श्रेष्ठ इति गर्वेण मदोद्धुरं ब्राह्मणो न भवेत् ॥८८६॥
का जातिरिति प्रश्ने उत्तरमाह—सेति—यस्या सद्धर्मसंभवः यस्या जाते सकाशात् परलोकाय पर
उत्तमं लोकं स्वर्गादि तस्मै परलोकाय उत्तमस्वर्गादिलाभाय सद्धर्मसंभवः समीचीनरत्नत्रयधर्मस्य संभव
उत्पत्तिः स्यात् मा जाति उत्तमेत्यर्थः । शुद्धा भू यदि बीजवर्जिता स्यात् तर्हि सा न हि सस्याय जायेत
धान्योत्पत्त्यै न भवेत् । केचन जना उत्तमजातौ जन्म लब्ध्वापि धर्मविहीना एव कालं यापयन्ति, केचन च
हीनजातौ समुत्पन्ना अपि तज्जात्युचितं धर्मं पालयित्वा स्वहितं साध्नुवन्ति अतः धर्मपरिपालनं भवेत् सा
जाति उत्तमा ज्ञेया । हीनजातौ जनितापि तज्जातियोग्यं धर्मं पालयन् यो नरो म्रियते सोऽन्यमवे उच्चा
जातिं सद्धर्मवतीं लभते ॥८८७॥ के शैवबौद्धादय इति प्रश्ने उत्तरं दीयते—स शैव इति—य शिव-
ज्ञात्मा शिवं मुक्त्युपायं सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि जानाति तथाभूत आत्मा शैवः । यः अन्तरात्मभुत् स बौद्ध
अन्तरात्मानं बुध्यतीति अन्तरात्मभुत् । किमन्तरात्मनः स्वरूपम् । उच्यते चित्तदोषात्मविभ्रान्तिरन्तरात्मा
चित्तं च विकल्पं दोषाश्च रागादयः आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यम्, तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य स चित्त
चित्तत्वेन बुध्यते । दोषाश्च दोषत्वेन । आत्मानम् आत्मत्वेनेत्यर्थः । एतादृशं निजस्वरूपं यं बुध्यते जानाति
स बौद्धः भवति । कस्तर्हि साख्यः यः प्रसख्यावान् स साख्यः, प्रकर्षेण सशयविपर्ययानध्यवसायरहित
यथा स्यात्तथा द्रव्यगुणपर्यायान् सख्याति वर्णयति इति प्रसख्यावान् साख्यो भवेत् । न द्विजः यो न जन्मवान्
यः पुनः जन्मवान् न भवति स द्विजः । यः कुलीनाया मातुरुत्पद्य कृतोपनयो गुरुणा तत्त्वज्ञानं लभितं प्राप्तं
द्वितीयजन्मा—लवणसंस्कारजन्मा दीक्षित्वा कर्मक्षयं करोति तृतीयं जन्म न लभते स द्विज इत्युच्यते ॥८८८॥
दानायोग्यत्वमाह—ज्ञानहीनेति—ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन हीनं ज्ञानहीनं । दुराचारं दुष्टं आगमविरुद्धा आचारा
कार्याणि यस्य स, स्वच्छन्दं प्रवृत्तं । निर्दयं दयारहितं । लोलापाशं पाञ्चवेन्द्रियविषयेषु लम्पटः ।
तथा अक्षेति—अक्षाणि इन्द्रियाणि तानि अनुमता अनुसृता क्रिया गमनभोजनादिक्रिया यस्य एतादृशो यः
मुनिः स्यात् स दानयोग्यः कथं स्यात् । स मुनिर्दानार्हः इति विज्ञेयः ॥८८९॥ भिक्षाचातुर्विध्यमाह—
अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा तथा भ्रामरी इति भिक्षा चतुर्विधा चतुः प्रकारा ज्ञेया । कयोरियं चतुर्विधा
भिक्षेत्याह—यतिद्वयसमाश्रया देशयतिविषयिणी महाव्रतिविषयिणी च अनुमान्या भिक्षा दशप्रतिमापर्यन्ता ।
समुद्देश्या आमन्त्रणपूर्विका पट्प्रतिमापर्यन्ता । एकादशप्रतिमाधारकस्य भिक्षा 'त्रिशुद्धे'ति नाम लभते ।
मुनिभिक्षाया नाम भ्रामरीति ज्ञेयम् । दातृजनवाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति तस्य भिक्षा भ्राम-
रीति नामाश्रुते ॥८९०॥

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनञ्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ॥४२॥

४५ सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ।

[पृष्ठ ३२२-३२५]—ग्रन्थविधि—सल्लेखनाविधिमाह—तरुदलेति—कदा सल्लेखनाविधयेति
प्रश्ने व्याचष्टे—त्रिपक्षं तरुदलमिव जीर्णविस्था प्राप्तं शिथिलवृन्तं वृक्षपर्णमिव । स्नेहविहीनं स्नेहेन तैलेन
विहीनं रहितं दीपमिव । स्वयमेव विनाशोन्मुखं पतनावस्थां प्रति अनुमरन्तं देहं शरीरम् अवबुध्य ज्ञात्वा । अन्त्य
विधिं सल्लेखनाख्यं करोतु ॥८९१॥ गहनेति—शरीरस्य देहस्य विसर्जनं त्यागं गहनं कठिनं नहि । किंतु

धिष्ठातेति न प्राहुः न तु मुञ्चितमस्तकम् मुञ्चितं मस्तकं न तु मुञ्चितमस्तकं तं न बुद्धिः । केवलं
 केवलकोषं करोति परम् अनाकारेण प्रवर्तते स मुञ्चितमस्तकोऽपि न मुनिः । मिथ्यात्वाविरतिप्रसार
 कपायाम् यस्मिन्नस्ति स एवाव्यक्तो मुनिः प्रसाज्येदीत्युच्यते ॥८७५॥ मुनिं ह्युपमाह—कर्मस्वादि—
 दीरनीरसमानयो यथा दीरनीरयोः संयोगे ह्यं दीरम् ह्यं कुम्भम् इति विचक्षुः नाम्नो जनाः समवा हनं
 विना । स तु नीरमिमिष्ठ दीरं नीरं भुक्त्वं विवर्ति । यथा स ह्यं नीरमिमिष्ठ दीरे निजा वस्तु प्रवेष्टयति
 तथा नीरं दीरवा नीरमेवावधेययति । तथैव मुनिरपि दीरनीरसमानयोः कर्मरिमनो विवेष्टा भवति ।
 आरमनं सकाशात् कर्मणि पुण्यं करोति अत एव स परमहंसो भवति । स परमहंस अग्निवत्सबभसक
 नास्ति । जैनवाचुः धावकगुह्ये अग्निवत्सबभस्य वाहारं करोति वाहारोपासयत्वा । अग्निस्तु सर्वं बुद्धिमयं
 वा भवत्यति । न तस्य विवेकोऽस्ति ॥८७६॥ मुनेस्तपस्वित्वं व्यनक्ति—ज्ञानैरिति—तस्य ज्ञानैर्मन
 नित्यं प्रवीणं किट्टकान्तिकारिदीपरहितं सुवर्चमिव तेजस्वि-निमग्नमभवत् । तस्य वपुः नृते नवीरसहिर्
 मुत्सिमिति महावतकपैवधारि—नित्यं प्रवीणम् अभवत् । भिम्योः नामाधिक्ये श्रेष्ठपदार्थायां इतिवाचि
 तस्य नित्यं दीप्तानि स तपस्वीत्युच्यते न वेपथान् केवलं नाम पिण्डकाकमव्यमुच्यते [तपस्वी गोच्यते ।
 ॥८७७॥ मुनेरतिथित्वं व्यनक्ति—पञ्चेन्द्रियेस्वादि—या पञ्चेन्द्रियाणां स्पर्शाद्विषयेषु प्रवृत्तवा ता एव
 पञ्च विषय नन्वा यथा रिततव्यं ता संसारे यथं अपोवाहितुत्वात् अकस्मात्कारणात् ताभिर्मुक्तो
 भवतिविषये ॥८७८॥ मुनेर्भीमजित्वं प्रतिपादयति—अत्राह इति—सर्वसत्त्वेषु सकलबीजेषु अत्रोह अत्रेव
 ता एव तस्य यज्ञ इत्येते हविरग्न इति यथा स तस्य विने विने वर्तते स पुमान् यतिः दीक्षितारमा ज्ञेयः ।
 न तु अत्रादियमाद्यं दीक्षितो ज्ञेयः अत्राव्यारिषु यमाद्यं यमवत् आद्ययोः धारणाभिप्रायो तस्य स पुस्त
 दीक्षितो न ज्ञेयः । दीक्षा संवाता अत्येति दीक्षितः । स एव न सोमपालवति अग्नेरे यजमानः एवोक्ति
 उच्यते ॥८७९॥ योजितत्वं मुने नयति—बुद्धमपि बुद्ध्या हि सावत्यचोर्विषयपकार्यानि साम्येन बुद्ध्या
 आध्यात्म्यवरणाहकार्यं तात् न स्पृष्टीति बुद्ध्यार्बुद्ध्यात्परी । पुन कथंभूत । सर्वेति—सर्वेषां सत्त्वानां
 प्राप्तिनां हितं बुद्धये आद्योऽभिप्रायो यस्तव स पुमान् योजितः वेदाभ्येतुवाह्वनः । न तु यः बाह्ययोश्चान्
 बाह्यं स्नानेन द्यौष मन्त्रान् न ता आचियः ॥८८०॥ मुनेर्होतृत्वं विदधति—अध्यात्मेति—अध्यात्मानी
 आरमनि अविहृत्य नष्टे इति अध्यात्मं ता एवाभिः तत्र द्यावपृथ्वीभ्योऽप्येवप्रतिपादनपर्यन्तः सम्मन्त्र
 समिन्त्रं सम्मस्तवा द्यावभायो मूला कर्मणि ज्ञानाद्यावरणाणि एव समिन्त्रं होमे समर्पणीयानि पञ्चासादि
 कालानुत्पानि तेषां यथं समुहं यः बुद्धेति अध्यात्मानी प्रतिपति स होता स्यात् होमवर्ता भवेत् । परं यः
 बाह्यानि समेवक बाह्यानी पञ्चासादिकाभ्यानि निमित्तं तस्य प्रवर्तक भवति स अत्र होता न स्यात् ।
 य इति स्वानुमूर्तनी वामान्मानुष्याम कर्मसमिन्त्रं प्रतिपति प्राप्तिमुहं होमे न प्रतिपति । प्राप्तिमुहं
 होमे निपत सत्यं किं तु निर्धन एव । अत्र स्वानुमूर्तिके होमे कर्मणा ज्ञानाद्यावरणानां प्रसेपनात् वात्ता
 होता भवति इति ज्ञेयम् ॥८८१॥ मुनेर्यद्वत्त्वं व्यनक्ति—भाष्यपुष्पैरिति—नमिदंमुने केवलं यजेत् भिन्नं
 पुत्रयेत् वा शुद्धिप्राप्त्यस्वकथं निवारणार्थं पुत्रयेत् । अतपुष्पैर्पुनर्हम्—अतपुष्पैर्पुनर्हम् पुनर्हम् तैः यपुरेव पुन
 यजेत् पुत्रयेत् । अमापुष्पैः यमोर्बुद्धिं क्षित्तानर्त्तं पुत्रयेत् । स यथा अतपुष्पैः यतां सपत्नानां माया
 पुण्यो भवेत् ॥८८२॥ मुनिम् अन्वर्तुमाचष्टे—पोहज्ञानाभिति—योजकसंख्यानां यावन्तत्विक्ताम् इदंनिधिरुद्धि
 विनमस्यप्रसादिवीर्यप्रमाणानां तोषकरत्नप्राप्तिकारणानां पुरोहितानां यः सहायतायां दातुंशुभं मन्त्रात्मा
 मुनिः प्रमुः स्वामी स विवेति—विषयसं योदायुतं तथैव अन्वर्तुं यज्ञ तस्य तद्भुक्तः योऽहः अन्वर्तुं यज्ञ-
 सम्पारको बोध्यः आगत्य ॥८८३॥ वेदस्य स्वक्यमाह—विवेकमिति—या एतरीएतरीनोः एतरी
 वेह एतरी एतरी भिन्नसत्तायाः । तयोः समयो विवेकं पार्थक्यं भिन्नसत्त्वत्वम् एवमेति विवेके
 कथयेत् । स ईव विदुवा प्रीत्यै वचने स्यात् । ईवः कालिकयकारणं सकलप्राक्विधापहेतुः स प्रीति
 हेतुर्न भवति ॥८८४॥ वा नाम वनीति प्रकृते उत्तरमाह—वातिरिति—वातिर्वायः अत्र बुद्धयम् मुनिः
 नरकम् एतन्मयी पुसा संसृतिवारणं यजेतु भवति । एषा वनी यतरम्याः यस्याः वम्याः सम्मन्त्रसंज्ञान-

त्यजामोति तगरेण नमाधिमरण करोति ॥९०१॥ सूराविति—सूरो निर्यापकाचार्ये । प्रवचनकुण्डले आराधना शास्त्रनिपुणे व्याख्यानकुण्डले च । साधुजने परिचारकमुनिगणे यत्नकर्मणि वैयावृत्यकरणदक्षे निरलक्षे च सति । चित्ते च सल्लेखनाराधनस्य मनसि सप्ताधिरते रत्नश्रेय धर्मध्याने चतुराराधनरते च स्थिते सति । यते किमिहासाध्यम् इह लोके अमाध्य दुष्कर किमस्ति ॥९०२॥ सल्लेखनातिचारान् वक्ति—जीवितेति—जीविताशसा, जीविताभिलाषा प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे जीवितमेव श्रेय यत एव विधा मदुद्देशेनेय विभूतिर्वर्तते इत्याकाट्येति यावत् । मरणाशसा रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसल्लेशस्य मरण प्रति चित्तप्रणिधानम् । अथवा यदा न कश्चित् प्रतिपन्नानशन प्रति सपर्यया आद्रियते । न च कश्चिच्छ्रद्धा-पते, तदा तस्य यदि शीघ्र म्रियेय तदा भद्रक भवेत् इत्येव विविधपरिणामोत्पत्तिर्वा । सुहृदनुराग वाल्ये सहपासु-क्रीडनादि, व्यसने सहायत्वम्, उत्सवे सभ्रम इत्येवमादेशच मित्रसुकृतस्यानुस्मरणम्, वाल्याद्यवस्थासहक्रीडितमि-थानुस्मरण वा । सुवानुबन्धविधि एव मया भूतम्, एव मया शयितम्, एव मया क्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेष प्रति स्मृतिसमन्वाहार । एते सनिदाना अस्मात्तपसो दुश्चरात् जन्मान्तरे इन्द्रश्चक्रवर्ती धरणेन्द्रो वा स्यामहमित्येवमाद्यना-गताभ्युदयाकाक्षा । एते पञ्च सल्लेखनाहानये स्युः सल्लेखनाया हीनत्वाय भवेयुः ॥९०३॥ सल्लेखनाराधनाया फलमाह—आराध्येति—इत्थ रत्नश्रेयम् आराध्य भावयित्वा । गणिने निर्यापकाचार्याय । समर्पितात्मा समर्पित दत्त आत्मा येन स तदधीनो भूत्वा तदाज्ञामनुमृत्य प्रवर्तमान । अर्थो सल्लेखनाकाम यथावत् समाधि-भावेन विधिमनुमृत्य धर्मध्यानपरिणत्या कृतात्मकार्यं कृतम् आत्मकाय सल्लेखनाध्य येन स कृती पुण्यवान् धन्य जगन्मान्यपदप्रभु स्यात् । जगता मान्य पूज्य यत्पद स्थान तोर्यकरत्वं तस्य प्रभु स्यात् भवेत् ॥९०४॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ॥४५॥

४६ प्रकीर्णकविधिर्नाम पट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ ३२५-३२८] विप्रकीर्णेति—विशेषेण प्रकीर्णानाम् इतस्तत विस्तृतानां वाक्यानाम् अथवा अवशिष्टानाम् अनुक्तानाम् अर्थवाक्यानां प्रयोजनभूतवाक्यानाम् उक्तिं प्रतिपादनं प्रकीर्णकम् उक्तेम् । कै प्रकीर्णक उक्तम् इति प्रश्ने आह—उक्तेति—उक्ता कथिता अनुक्ता अकथिता उपदिष्टानुपदिष्टा इति । ये अमृतस्यन्दबिन्दव अमृतवत् आनन्दजनकत्वात् उक्तानुक्तार्थवाक्यानि अमृतमेव तस्य गलता बिन्दूनां आम्नादे कोविदैः प्रकीर्णकस्य लक्षणम् उक्तम् ॥९०५॥ कीदृशगुणो नर धर्मकथापरो भवतीत्याह—अदुर्जनत्वमिति—दुर्दुष्टो जन दुर्जन तस्य भाव दुर्जनत्व कृतघ्नत्वम् न दुर्जनत्वम् अदुर्जनत्व कृतोपकार-स्मरणाख्यो गुण अदुर्जनत्वम् । विनय गुणिजनेषु आदर । विवेक हिताहितविमर्शशक्ति । परीक्षण पूर्वा-परालोचनम् । तत्त्वविनिश्चयश्च जीवादितत्त्वानां यथागम स्वरूपनिर्णय । एते पञ्चगुणा यस्य भवन्ति स आत्मवान् विकारावश पुरुष धर्मकथापर धर्मोपदेशने तत्परो भवेत् ॥९०६॥ के दोषास्तत्त्वावबोधे प्रतिबन्धका आह—असूयकत्वमिति—गुणेषु मत्सरोऽसूयकत्वम् । शठता पुर प्रिय भाषण पश्चात् विप्रियोत्पादनम् । अविचार अविवेक, दुराग्रह दुष्टाभिप्राय, सूक्तविमानना सूक्तस्य सता भाषितस्य विमानना अवहेलना अवज्ञा, अमी पञ्चदोषा तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय भवन्ति । यथार्थवस्तुस्वरूपज्ञानवावाहेतवे भवन्ति ॥९०७॥ सशयितमूढयो प्रवृत्ते असाफल्य दर्शयति । पुस इति—यथा सशयिताशयस्य चलितप्रतिपत्तिमत पुसो नरस्य काचित् प्रवृत्ति किमपि कार्यं सफलं न भवेत् । तथा धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धे विमूढा बुद्धिर्यस्य स विमूढबुद्धि तस्य धर्मस्वरूपानभिज्ञस्य जडमतेरित्यर्थं तथाभूतस्य पुरुषस्य काचित् प्रवृत्ति सफला न भवेत् विपरीतकार्यकरणात् ॥९०८॥ अष्टमदानाह—जातिपूजेति—जाति मातृकुलम् । पूजा लोकादर । कुल पितृवश । ज्ञान शास्त्रावबोध । रूप सौन्दर्यम् । सपत् ऐश्वर्यम् । तप व्रताद्याचरणम्, बल शरीरपराक्रम । एतस्मिन्वस्तुनि अह्युतोद्रेकम् अभिमानस्य उत्कटता मद गर्व वदन्ति । के अस्मयमानसा गर्वरहितचेतसः ।

त्वजामोति तगरेण समाधिमरण करोति ॥९०१॥ सूराविनि—सूरो निर्यापकाचार्ये । प्रवचनकुशले बाराधना ग्रास्यनिपुणे व्याख्यानकुशले च । गाधजने परिचारकमुनिगणे यत्नकर्मणि वैयावृत्यकरणदक्षे निरलक्षे च सति । चित्ते च सत्त्वैकनारायणस्य मनसि समाधिरते रत्नदये धर्मध्याने चतुराराधनरते च स्थिते सति । यते किमिहासाध्यम् इह लोके अमाध्य दुष्पर किमस्ति ॥९०२॥ मल्लेखनातिचारान् वक्षित—जीवितेति—जीविताशमा, जीविताभिन्नापा प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे जीवितमेव श्रेय यत् एव विषा मद्गृहेनेय विभूतिवर्तते इत्याकाङ्क्षेति यावत् । मरणाशमा रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनमवलेशस्य मरण प्रति चित्तप्रणिधानम् । अथवा यदा न कश्चित् प्रतिपत्तानशन प्रति सपर्यया आद्रियते । न च कश्चिच्छ्लाघते, तदा तस्य यदि शीघ्र श्रियेय तदा नष्टक भवेत् इत्येव विविधपरिणामोत्पत्तिर्वा । मुहुदनुराग वात्ये सहपासु-क्रीडनादि, व्यसने सहायत्वम्, उत्तमे सन्नम् इत्येवमादेव मित्रसुकृतस्यानुस्मरणम्, वाल्याद्यवस्थासहक्रीडितमि-शानुस्मरण वा । सुत्रानुवचविधि एव मया भुयतम्, एव मया दायितम्, एव मया क्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेष प्रति स्मृतिसमन्वाहार । एते सनिदाना अस्मात्तपसो दुश्चरात् जन्मान्तरे दुश्चक्रवर्ती घरणेन्द्रो वा स्यामहमित्येवमाद्यना-गताभ्युदयाकाशा । एते पञ्च सल्लेखनाहानये स्युः सल्लेखनायाः होनत्वाय भवेयुः ॥९०३॥ सल्लेखनाराधनाया फलमाह—आराध्येति—इत्य रत्नदयम् आराध्य मानयित्वा । गणिने निर्यापकाचार्याय । समपितात्मा समपित दत्त आत्मा येन स तदधीनो भूत्वा तदाज्ञामनुमृत्य प्रवर्तमानः । अर्थो मल्लेखनाकाम यथावत् समाधि-भावेन विधिमनुमृत्य धर्मध्यानपरिणत्या कृतात्मकार्यं कृतम् आत्मकार्यं सल्लेखनाख्य येन स कृती पुण्यवान् धन्य जगन्मान्यपदप्रभु स्यात् । जगता मान्य पूज्य यत्पद स्थान तीर्थकरत्वं तस्य प्रभु स्यात् भवेत् ॥९०४॥

इत्युपासकाध्ययने मल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कर्त्तव्य ॥४५॥

४६ प्रकीर्णकविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ ३२५-३२८] विप्रकीर्णति—विशेषेण प्रकीर्णानाम् इतस्ततः विस्तृतानां वाक्यानाम् अथवा अवशिष्टानाम् अनुक्तानाम् अर्थवाक्यानां प्रयोजनभूतवाक्यानाम् उक्तिं प्रतिपादनं प्रकीर्णकम् उक्तम् । के प्रकीर्णक उक्तम् इति प्रश्ने आह—उक्तेति—उक्ता कथिता अनुक्ता अकथिता उपदिष्टानुपदिष्टा इति । ये अमृतस्यन्दविन्दव अमृतवत् आनन्दजनकत्वात् उक्तानुक्तार्थवाक्यानि अमृतमेव तस्य गलता विन्दूना आत्वादे कोविदं प्रकीर्णकस्य लक्षणम् उक्तम् ॥९०५॥ कीदृशगुणो नर धर्मकथापरो भवतीत्याह—अदुर्जनत्वमिति—दुर्दुष्टो जन दुर्जेन तस्य भाव दुर्जनत्व कृतघ्नत्वम् न दुर्जनत्वम् अदुर्जनत्व कृतोपकार-स्मरणारूपो गुण अदुर्जनत्वम् । विनय गुणिजनेषु आदर । विवेक हिताहितविमर्शशक्तिः । परीक्षण पूर्वा-परालोचनम् । तत्त्वविनिश्चयश्च जीवादितत्त्वानां यथागम स्वरूपनिर्णयः । एते पञ्चगुणा यस्य भवन्ति स आत्मवान् विकारावशं पुरुष धर्मकथापर धर्मोपदेशने तत्परो भवेत् ॥९०६॥ के दोषास्तत्त्वावबोधे प्रतिबन्धका आह—असूयकत्वमिति—गुणेषु मत्सरोऽसूयकत्वम् । शठता पुर प्रिय भाषण पश्चात् विप्रियोत्पादनम् । अविचार अविवेक, दुराग्रह दुष्टाभिप्राय, सूक्तविमानना सूक्तस्य सत्ता भाषितस्य विमानना अवहेलना अवज्ञा, अमी पञ्चदोषा तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय भवन्ति । यथार्थवस्तुस्वरूपज्ञानवाधाहेतवे भवन्ति ॥९०७॥ मशयितमूढयो प्रवृत्ते असाफल्यं दर्शयति । पुस इति—यथा सशयिताशयस्य चलितप्रतिपत्तिमतं पुमो नरस्य काचित् प्रवृत्तिः किमपि कार्यं सफलं न भवेत् । तथा धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धे विमूढा बुद्धिर्यस्य स विमूढबुद्धिः तस्य धर्मस्वरूपानभिज्ञस्य जडमतेरित्यर्थः तथाभूतस्य पुरुषस्य काचित् प्रवृत्तिः सफला न भवेत् विपरीतकार्यकरणात् ॥९०८॥ अष्टमदानाह—जातिपूजेति—जाति मातृकुलम् । पूजा लोकादरः । कुल पितृवशः । ज्ञान शास्त्रावबोधः । रूप सौन्दर्यम् । सपत् ऐश्वर्यम् । तपः व्रताद्याचरणम्, बल शरीरपराक्रमः । एतस्मिन्वस्तुनि अह्युतोद्रेकम् अभिमानस्य उत्कटता मद गर्व वदन्ति । के अस्मयमानसा गर्वरहितचेतसः ।

॥९०९॥ समर्पे नरो वमवातक—य इति—य नर महात् वर्षात् आर्याद्यमिमानवो भूत्वेति भावः
 सममस्याना जिनवर्मे स्थितायां उत्तराणां नृणां अथह्यारणे यवसया मोदत सुप्यति । स पुरुष नूनं तत्त्वं वमहा
 जिनममवातकं भवति । यस्मात् यमं धामिनि विना न भवति । धामिनायाम् अवमानतात् समो नष्टो
 भवति ॥९१॥ ॥ आश्वाका पदकर्मणि—देवसेवेति—देवस्य जितेन्द्रस्य ऐषा स्तपनं पुत्रं स्तोत्रं ज्यो
 ध्यात् भुतस्तव इति पद्मिषा भवति । भुक्वास्ति गुरो निर्दग्धावापस्य जगस्ति पूत्रा । स्वाध्याय
 भुतस्य बर्मसास्त्रस्य पठनम् ज्ञानमाध्यायस्वस्याय स्वाध्यायः स वाचताहिमेवात्यम्बधा । संयम इतबारनम्
 तपः अथध्यायिकं शास्त्रं विविधपात्रेषु साह्यारोपयसाध्यायवितरणम् । इति गृहस्थायां आश्रमायां पदकर्मणि
 विने दिने प्रतिविषयम् आचरणीयानि कार्यानि ॥९११॥ आश्वाका पदक्या माह—स्तपनम्—जितेन्द्रस्य
 आह्वानस्वापनसंनिधीकरणपूर्वकं पञ्चामृतैर्यथायमम् अयिपंचनम् । पुत्रं जन्तुसदृश्यं जिनवरस्य यजनम् ।
 स्तोत्रं भगवतो भुक्ता महापद्याम्ना पठनम् । जप मनसा वाचा वा जिननामावर्तनम् । ध्यात् जिनमुप कर्त्तुं
 विद्म्युप मनसा एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम् । भुतस्तवः जिनमुक्तोऽमृतायाः भुतदेवताया मुक्त्वयं भुतस्तव ।
 इति पोद्वा क्रियाः देवसेवायु गैह्यानि गृह्याम् उचिता उक्ता ॥९१२॥ कं येनप्राप्तिकरो गम इत्याह—
 आचार्योपासनमिति—धर्मोपासनं प्रदीकृत्वा भुक्त्वा जगत्पनम् आचरं पूजयम् । अथा आत्मायममृतोऽमृतं
 परमावर्त्ता इति । सास्त्रार्थस्य विवचनम् जिनानयप्रोक्तानां औपाधित्वात्वां शास्त्रकोषिण्या हरत्वा मायमा
 लविरोधेन स्वकप्रतिपादनम् । तत्क्रियाया देवसेवादीनां पण्या क्रियायाम् अनुष्ठानम् आचरनम् । अथप्राप्तिकर
 मुक्तिप्राप्तिकरः गम आत्म्य ॥९१३॥ मुहूर्तनिधौ कर्मभूत आचरणीयं इत्याह—गुहिरिति—स्तानुगुह ।
 जिनमस्मन् प्रथमत्तरं । अनुपापवर्जितं धरीरवस्त्वच्येन रहितं गुह्यनिधौ हस्तपात्रेण प्रसारयेत्
 करेण कर्तावतनम्, गानमञ्जनम् इत्यादिकं आचरन् परिकरेत् । अष्टशोषविनिमुक्तम् अष्टनिधौः रश्मिं यथा
 स्वात्तया असीतम् अथयनं वर्त्तयम् । अथयनस्य देवविषा वोपा उच्यते ज्ञानाचारस्वरूपवचनसमये उच्ये अष्टौ
 मेवाः प्रतिपादिता आयमे । तेषां सम्बन्ध पाठनं भवति न यथा तथा तावन्तो वोपा आयमे । तेषां नामानि—१ अष्टाक-
 पठनम् २ अविनयः ३ अथह्यविशेषे विना पठनम्, ४ अथह्यमानः ५ निज्जवनम् ६ अथमनामुद्रिः ७ अर्चामुद्रिः
 ७ समयाशुदिरव ॥९१४॥ स्वाध्यायस्वरूपमाह—अनुयोगेति—अनुयोगास्वरूपारो वच्यमाणा । मुहूर्त-
 नानि चतुर्धरा । मायवाचचतुर्धरा । स्थलानि औपसमासाश्चतुर्धरा । कयसु एतेषु विषयेषु पाठ स्वाध्यायः
 उच्यते । तथा अथारमत्तवविद्यायाः अथारमविद्या निवचननेन औपस्व यत् शुद्धास्वाचर्चनम् तस्या उत्तमं
 विद्याया औपाधित्वात्तत्वात्वा न यज्जानं सा उत्तमविद्या अमर्षोविद्ययो पाठ इतिस्मम् अथमर्षं स स्वाध्याय
 उच्यते ॥९१५॥ प्रपन्नानुयोगस्वरूपमाह—गृहीति—धर्मवी धर्मं समाविष्टाक्रमये षीग यस्य स । गृही यत्
 यस्मात् स्वसिद्धार्थं जिनवर्मसिद्धार्थं सानु सम्मत् बुध्येत आनीयात् स अनुयोगः प्रवमानिक्यः प्रवमानुयोगः ।
 (प्रमोत्तरम् अनुयोगं वदति) कर्मभूत प्रवमानुयोगः पुरावचरितानामपु पुरातं पुरातनम् अष्टादिभेदे विविधिकाका-
 पुस्तकवाधात्मकम् । लोकवैद्यपुरातन्तीर्षानि सङ्गं तपोधनस्य प्रतिपादकत्वात् अष्टादिभेदम् । चरितम् एक-
 पुस्तकाभिठा कथा । पुरावचरितानाम् आशय आचारभूत ॥९१६॥ करणानुयोगमाह—अभोमध्योर्ध्वलोके
 भित्ति—अभोमोके उत्तरप्रभायः सप्त पृथिव्याः सन्ति । मध्यलोकः अर्धस्वातन्त्र्यपदमुद्राशय । उर्ध्वलोकः
 स्वर्गलोकः सिद्धलोकोपेन । एषु त्रिषु लोकेषु चतुर्गतिविचारं चतसृषा वतीनां वारकतिव्यवहारविधानाणां
 विचारं सविस्तरप्रतिपादनम् करणं शास्त्रम् इत्याह—करणानुयोगमाहुरित्यर्थः । अनुयोगः परीक्षणं प्रमोत्तर
 परीक्षणम् ॥९१७॥ चरणानुयोगस्वरूपमाह—समेवमिति—यम इवम् अनुष्ठानम् अनुष्ठानायकं मद्वावतामर्षं
 वा आचरनम् । तस्य जयं रसमञ्जसं अतिचारविम्वोऽवर्णं भावनामिव संवर्तनम् इत्यम् एवविषयं आत्मा
 स्वरूप यस्य स चरितार्थ अनुयोगः चरितम् अर्थः प्रदीकनं यस्य स चरणानुयोगः । चरणानुयोगः चरितार्थातो
 प्रबोद्धव्यः ॥९१८॥ इत्यानुयोगमाह—ओषादीयेति—इत्यानुयोगत इत्यानुयोगात्वात् किं फलं उच्यते
 भावकेति माह—ओषाओषपरिज्ञान औपस्य अथोपस्य न अथौषागोपाकाकमुद्रपञ्चानां च परिज्ञानं औषी
 भवति । अथौषाविशेषं पुष्पापुष्पयो ज्ञानम् । अथोषाज्ञाता आरमकमनोरम्योमर्षदेवकथयो इत्यम् । अथ-

हेत्वभाविर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति वचनमोक्षयो ज्ञातृत्वं फलं जायते ॥९१९॥

[पृष्ठ ३२६-३३२] जीवस्थानादिकाना बोध्यत्वमाह—जीवस्थानेति—जीवस्थानमिति जीव-
समासानामिय सज्ञा ज्ञेया । तानि च चतुर्दश यथा एकेन्द्रियसूक्ष्मपर्याप्त । एकेन्द्रियसूक्ष्म अपर्याप्त । एकेन्द्रिय-
वादरपर्याप्त । एकेन्द्रियवादरापर्याप्त । इति चत्वार एकेन्द्रियजीवेषु समासा अत्र चतुर्षु एते जीवा सम्य-
गासते । द्वीन्द्रियेषु द्वौ जीवसमासो—द्वीन्द्रियवादरपर्याप्त । द्वीन्द्रियवादरापर्याप्त । त्रीन्द्रियवादरपर्याप्त
त्रीन्द्रियवादरापर्याप्त । इति त्रीन्द्रियजीवाना द्वौ । चतुरिन्द्रियवादरपर्याप्त । चतुरिन्द्रियवादरापर्याप्त । इति
चतुरिन्द्रियात्मना द्वौ । पञ्चेन्द्रियाणा चत्वारो जीवसमासा एवम्—पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्त । पञ्चेन्द्रियसद्व्य-
पर्याप्त । पञ्चेन्द्रियासंज्ञिपर्याप्त । पञ्चेन्द्रियामयपर्याप्त, एव जीवसमासाश्चतुर्दश । गुणस्थानानि च
चतुर्दश—तानि यथा—मिथ्यात्वम्, मासादनम्, मिश्रम्, अविरतसम्यग्दष्टि, सयतामयतम्, प्रमत्तविरतम्,
अप्रमत्तविरतम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणम्, सूक्ष्ममास्परायम्, उपशान्तमोहम्, क्षीणमोहम्, सयोगकेवलि,
अयोगकेवल्याख्यमिति । मार्गणाश्चतुर्दश, ता यथा—गति, इन्द्रियाणि, काय, योगा, वेदा, कपाया, ज्ञानानि,
सयमा, दर्शनानि, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्वम्, सज्जिन, आहार इति । जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि
गच्छन्तीति जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानग विधि प्रत्येक चतुर्दश प्रकार ज्ञातव्य । यथागमम् आगमानति-
क्रमेण ॥९२०॥ चतमपु गतिषु गुणस्थानान्याह—आदित इति—आदिगुणस्थान मिथ्यात्वमारभ्येति । तिर्यक्षु
पशुषु पञ्च । मिथ्यात्व, सासादन, मिश्रम्, अविरतसम्यग्दृष्ट्याख्य, सयतासयत चेति । इवभ्रनाकिनो नारक-
देवयो आद्यानि चत्वारि ज्ञेयानि । नृषु चैव चतुर्दश मनुष्येषु चतुर्दश मिथ्यात्वमारभ्य अयोगकेवलपर्यन्तानि भव-
न्तीति मन्यन्ते ॥९२१॥ तपो वर्णयति—पद्याभ्याम्—अनिगूहितम् अनिहृतं वीर्यम् आत्म-
सामर्थ्यं येन स तस्य अनिगूहितवीर्यस्य पुरुषस्य यत् श्रावकादेश्च कायक्लेश तप स्मृत प्रोक्तम् । तच्च मार्गो
रत्नत्रय तस्य अविरोधेन विरोधमकृत्वा रत्नत्रयमनुसृत्येति भाव । गुणाय आत्मिकगुणोत्कर्षाय, जिनेर्गदितम् ।
अथवा—अन्तरिति—तत्तप अन्तर्बहिर्मलप्लोपात् अन्तर्मलो रागादय बहिर्मल. रसरक्तादय । उभयो-
र्मलयो प्लोपात् दाहात् आत्मन शुद्धिकारण जीवस्य । नेर्मल्यहेतुर्यत् शरीर मानस कर्म अनशनादिकरण
शरीरं कर्म । प्रायश्चित्तादिकरण मानस कर्म । तथाभूत द्विविध कर्म तपोधना तप प्राहु तपासि एव धन येपा
ते तपस्विन महातपस्विन इत्यर्थ ॥९२२-९२३॥ सयममाह—कपायेति—कपायाणा क्रोधमानमाया-
लोमाना विजय स्ववशीकरणम् । इन्द्रियाणा विजयो विनिग्रह, इन्द्रियविषयेभ्यो इन्द्रियाणा मनसश्च व्यावर्तन
कृत्वा चैतन्यात्मनि प्रवर्तन विजय । दण्डाना च विजय दण्डा इव दण्डा अशुभमनोवाक्काया परपीडाकर-
त्वात्, तेषा विजय अशुभमनोवाक्कायप्रवृत्तिभ्य आत्मनो निवारणम् । व्रतपालनम् पञ्चानाम् हिंसामत्यचौर्य-
मैथुनपरिग्रहेभ्यो विरति, तत्तद्भ्रतभावनाना च व्रतस्थैर्यार्थ पालनम् एतत्सर्वमाचरण सयम सयमाख्य पट्कर्मसु
पञ्चम कर्म । अय सयम सयतै मुनिभिः श्रेय श्रयितुमिच्छता प्रोक्त मोक्षमाश्रयितुम् इच्छता प्रोक्त कथित
॥९२४॥ अधुना कपायस्य निरुक्तिपूर्वक वर्णन क्रियते—कपन्तीति—कपन्ति सन्तापयन्ति दुर्गतिमगसपादने-
नात्मानमिति कपाया क्रोधादय । कपायेभ्य दुर्गतय प्राप्यन्ते । तत्र च आमरण जीवाना सतापो भवति ।
अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुन नैयग्रोधादय कपाया कालुष्यकारिण तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वा-
त्कपाया इव कपाया । न्यग्रोधस्य वटस्य कपायो रस नैयग्रोध स आदौ येपा ते रसा नैयग्रोधादय उच्यन्ते ।
वटप्लक्षोदुम्बरादीना कपाया वस्त्रे लग्ना तस्य निर्मलता विलोपयन्ति । तथा निर्मलस्यात्मन कपाया रागादी-
ञ्जनयन्तो मालिन्यमुत्पादयन्ति । क्रोवलक्षणम्—स्वपरापराधाम्याम् आत्मेतरयो अपायोपायानुष्ठानम् अशुभ-
परिणामजनन वा क्रोध । स्वस्य अपराधेन अपरस्य वा अपराधेन स्वस्य इतरस्य वा अपायस्य विनाशस्य उपाया-
नुष्ठानम् उपायविधानम् अशुभपरिणामोत्पादन वा क्रोध । विद्याविज्ञानैश्वर्यादिपूजाव्यतिक्रमहेतुरहकारो युक्ति-
दर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मान । विद्या मन्त्रादिज्ञानम् । विज्ञान शिल्पादिज्ञानम् । ऐश्वर्यं विपुला धन-
धान्यादिका सप्त । आदिशब्देन कुलजातितप शरीरसौन्दर्यबलाना ग्रहणम् । विद्याविज्ञानादिभिः पूज्याना
ज्ञानवयस्तपोभिर्वृद्धाना श्रेष्ठाना पूजाया व्यतिक्रमे हेतु कारण या चित्तसमुन्नतिः अहङ्कार । अथवा युक्ते.

परिज्ञानेऽपि कुराद्यस्यापरित्याग अपरिहरणं वा मानः । मनोवाककायक्रियाणाम् जयायातप्यात् परवञ्चनानि
प्रायेण प्रवृत्तिः माया । मनस वाचः कायस्य चित्तस्य भावस्य दारीरस्य च या क्रियाः कामादि तासाम्
जयायातप्यात् यथावञ्चनत्वाभावात् असरस्वरुपात् परेषां लोकानां वञ्चनमाधिप्रायेण प्रसारणेऽप्यस्य प्रवृत्तिः
प्रवर्तनं माया कष्टमित्यर्थः । अथवा ज्ञातिः प्रवर्ततां पूषा लोकान्तरं कामः वनमाध्यादिप्राप्ति एतेषाम्
अभिषेधेन अविप्रायेण वा परप्रसारणप्रवृत्ति सा भावेति । चेतनाचेतनपु वस्तुपु स्वीयासीदासास्वरुच-यो
महिषादिपु चेतनपरिग्रहेषु अचेतनेषु गृहवस्त्वनीकितकादिषु चित्तस्य महान् ममेव भावः समत्त्वपरिचामः कोमः ।
अथवा तद्विमिश्रणपाशयो महान्सन्तोषः क्षोभो वा कोमः । तेषां चेतनाचेतनवस्तुनाम् अभिव्यञ्ज्याधमः अवि धम
स्तात् बुद्धिः प्रवर्तनं तस्या ज्ञातया अभिप्रायः कोमः अथवा महान् असन्तोषः अतीव मनसि वीर्या गच्छि कोमः
क्षोभो वा मनसि परिग्रहबुद्धिचिन्तनं कोमः । नपायाणां नृपवातित्वमाह—सम्भवत्येवेति—ये अनन्तानुबन्धिनः
अनन्तसंसारकारकत्वात्तस्मिन्मायवर्धनमनसं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः कोचमानमायाकोमा ते नपायका
कृत्स्निता कपाया कपायवा । सम्भवत्येव ज्ञात्वाधमपद्यवर्त्तनां अज्ञानं ज्ञानं । अग्रत्याख्यान्त्यावच कपायका
यदुपवादेऽविराटि संयमाधममाख्याम् अन्त्यामपि कर्तुं न शक्नोति अर्थात् ये कपाया वैद्यप्रत्याख्यान्तं वैद्यप्रदानि
ज्मन्ति ते अग्रत्याख्यानरूपाः कोचमानमायाकोमा विज्ञेयाः । प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाशकाः ।
प्रत्याख्यानं कृत्स्नां संयमाख्या विरति बहुपदेन बीजो न कर्तुं शक्नोति ते कपायाः प्रत्याख्यानस्वभावाः त संयमस्य
विनाशकाः स्युः मध्येषु । यथाकृताते चारित्रे संयमकलाः सिद्धिं कुमु ॥ एकीभावे वर्तते संयमेन सहावत्त्वानात् एकी
भूय ज्वलन्ति संयमो वा अकल्पेपु सरस्वति संयमकलाः कोचमानमायाकोमा यथाकृताते चारित्रे छति विघातं कुर्तुं
विराट्पु ॥९२५-९२६॥ अनन्तानुबन्ध्यादयः कोचवचनगुर्वीर्षवान् प्रापयन्तीत्याह—पापाजैति—पापावहेका
मूलेका रजोकेका चारित्रेका च तद्वत् ये कोचास्ते पापावहेकाप्रख्याः, मूलेकाप्रख्याः, रजोकेकाप्रख्या चारित्रेका
प्रख्याः धिक्ता-दुष्मीमूली-अकरोत्तापुष्यत्वात् कोचवचनविवाः । एते चत्वारो मेधाः अनन्तानुबन्ध्यादिषु अनुप
प्रत्यक्षं संभवन्ति । सर्वस्फुटहीनहीनतरहीनतमोदवक्याभिरनन्तानुबन्ध्यादिद्विधितिभिः । एतस्कोचवचनस्य दयाज्जलं
वचनप्रतिवर्द्धनानुमानाम् वर्ये भवति । पापावहेकानुबन्ध्याः अनन्तानुबन्ध्यादिकोचः स्वप्नवर्त्य नारकवर्त्य भवति ।
मूलेकाप्रख्या अनन्तानुबन्ध्यादिकोचः तिर्यग्गतिप्राप्त्यै भवति । रजोकेकाप्रख्या अनन्तानुबन्ध्यादिकोचः तरवति-
प्राप्त्यै भवति । अकरोत्तापुष्य अनन्तानुबन्ध्यादिकोचः नाकिनां वेदानां वर्ये भवति ॥९२७॥

[पृष्ठ ३३३-३३६] अनुबिचो मानवचतुर्विधवतिप्रापकोऽस्तीति । अथवति—सिद्धास्तस्मेति—

चिदास्तस्मद्वृत्तिः अनुबिचो मानः अचोवतिर्धनविचारणं भवति नरकनलिसमाधमहेतुर्नति । अतिवृत्तिः
हीनोदवक्यः मानः पञ्चगवितर्धतिहेतुर्नति । छात्रेभ्यश्च अन्तमप्यकाष्टसम अनन्तानुबन्ध्यादिमानः नरपति
संपत्तिकारणं भवति । वेदवृत्तिमणि अनन्तानुबन्ध्यादिः स्वर्गवतिर्धनविचारणं भवति ॥९२८॥ मायाचातु-
र्विध्यमपि चतुर्विधप्रापकं भवति इति भाषते । येनमूलेरिति—बंधमूली सभा अनन्तानुबन्ध्यादयो माया
नरकनार्यै भवति । अवाहृद्वै सरप्रकविपावी सभा माया पञ्चपदेयै भवति । गोमूत्रसभा माया
नरपत्तिकारणं भवति । आमरी सभा माया वैश्ववतिप्रापिका भवति ॥९२९॥ क्षीमचतुर्धमं चतुर्विधं
सम्भक्तं जायते इति भवति—किमिनीकीति—किमिरागकुषः कोम स्वप्नप्रतिधंसारनिबानं भवति ।
मीनोरागसङ्घः । मि तिर्यग्गतिर्धनकारणं जायते । चतुर्विधो वैदमयः तनुस्यो कोमः नरवतिर्धनकारणको
भवति । हृदिता गतवृद्धो क्षीमः वैश्वसंसारकारणं भवति ॥९३॥ किं च कोचान्वस्य समाध्यासमार्गं
निगदति—यथा अपव्यसेकिन् रोमानुकलाम्बतैकादिमिवाचः रोगिणः नरस्य जीवविक्षया अववहेवर्त्त रिक्ता
विक्षया भवति तथा कोचमस्य कोपप्रवृत्तेरस्य समाधिचतुर्धमः व्यानघातमाध्यासघटपाकानि विपश्य
मयेषु ॥९३१॥ भावेति—मानः भवः एव कामाभिः वगानलः सेन दम्बेषु । मदीपरक्यायिषु इन्द्रियाणाम्
धमावा नृतिर्मवाः स ऊपरं धारणं सेन कपायिषा तुषररतेषोपाः तेषु गृहमेपु नरवृत्तेषु सम्भव्योविताहृता
सती प्रवृत्ता या कामा कान्तिः तस्या ज्वलिता योग्या ये अहृताः अतिमनोऽप्रेषा ते न प्रदीप्ति । नरवृत्ते
यथा धारणमो उत्पन्नं बीजं नरवति । नवाचित् चतोऽहृते जातेऽपि तस्य कान्तिमर्त्तना भवति तथा ने नर

मदेन मानेन चाधमाता वर्तन्ते तेषां सृष्ट्या धर्मस्य प्रभावना न जायते ॥९३२॥ मायया हानिं दर्शयति—
 यावदिति—यावत् यावत्कालम् आत्माभ्युपु जीवजलेषु मायानिशालेशोऽपि माया कपटं मैव निशा रात्रि
 तस्या लेशोऽपि अल्पाशोऽपि कृताम्पदं विहितव्यतिर्वर्तते । तावत् तावत्कालं चित्ताभ्युजाय मनः कमल-
 समूहं प्रबोधयितुं विनाशालयमो न धत्ते न धारयति ॥९३३॥ लोभाद् गुणहानिं निगदति—लोभेति—धन्या
 पुण्यवन्तो गुणा लोभकोकमगिहानि लोभ एव वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिगृह्णन् एव कीकमम् अस्थितदेव चित्तम्
 अभिज्ञानं येषां तानि चेन्न भ्रान्तिमि मनोजलप्रवाहा तानि दूरतः त्यजन्ति परिहरन्ति । कामिव चाण्डालसरसी-
 मिव चाण्डालानां मातङ्गानां सरसीमिव तडागमिव ॥९३४॥ क्रोधादिशल्यानां जनविधिमाह—तस्मात्
 इति—तस्मात् तन । अस्मिन्मनोनिर्गते अस्मिन्चित्तगते हे । इदं शल्यचतुष्टयम् । आत्मज्ञं स्वस्वरूपज्ञं मुनिगृह-
 स्यश्च । क्षेमाय कल्याणाय । शमकीलकं क्रोधादिचतुष्टयाभावकीलकं । शङ्कुभिः उद्धर्तुं यततः निष्कामयितुं
 यत्नं कुर्यात् । क्षमाकीलकेन क्रोधशान्त्यम् । मादेवशङ्कुना मानशान्त्यम् । आर्जवशङ्कुना मायाशान्त्यम् । शौचकीलकेन
 लोभशान्त्यं निष्कामयेत् ॥ ९३५॥ युर्वैविषयेभ्यो मनसा सहेन्द्रियाणि व्यावर्त्तनीत्युच्यते—पटुस्त्विति—
 पटु इन्द्रियाणि स्वर्ण-रमन-प्राण-नयन-श्राव-मनासि तानि स्वभावादेव पटुमु अष्टेषु, विषयेषु स्वर्शेषु अष्टेषु ।
 भवुराभ्यादिषु पञ्चसु रतेषु । द्वयोरङ्गघयो । पञ्चविधेषु रक्तपीतादिवर्णेषु । सप्तसु स्वेषु । मनस्तु एतेषु
 सर्वविषयेषु आसक्तिं जनयत्यतः सर्वेऽपि स्पृहादयो विषया मनसो भवन्ति इति । तत्स्वरूपेति—तेषां विषयाणां
 स्वरूपाणां परिज्ञानात् बोधात् सर्वदा प्रत्यावर्तते मुनिगृहस्थश्च व्यावर्तते ॥९३६॥ विषयेभ्यो नात्मनः कुशल-
 मिति निवेदयति—आपाते इति—तत्काले भविसमये सुन्दरारम्भे सुन्दरो मनोहर आरम्भ आदिर्येषां ते
 तथाभूतः । विषाके फलकाले विस्मयः त्रिमासमनोज्ञा दुःखदा क्रिया येषां ते तथाभूतः अन्ते दुर्गतिदानशीलः
 विषेर्वा गरलैरिव विषये ग्रस्ते व्याकुले आत्मनि कृतं कुशलं भद्रं स्यात् ॥९३७॥ व्रतविशुद्धये व्रतकः किं
 त्यजेत्, आह—दुश्चिन्तनमिति—व्रतो व्रतानि अहिंसादीनि सन्ति अस्येति व्रतो । व्रतविशुद्धये व्रतानां
 विशुद्धयर्थम् उत्कर्षप्राप्त्यर्थम् । मनोवाक्कायसंश्रयं मनः चित्तं, वाक् भाषणं, कायः शरीरम् एषा संश्रयः अवलम्बन-
 यस्य तथाभूतः । दुश्चिन्तनं हिमाद्यध्वजस्य तत् मनः संश्रयं नाचरेत् त्यजेदित्यर्थः । दुरालापः वाक्संश्रयम् असत्य-
 निन्दाकलहादिदोषयुक्तं दुर्भाषणं नाचरेत् । दुर्व्यापारः च कायसंश्रयः देहाधारः परस्त्रीभोगादिकं नाचरेत् ॥९३८॥
 किं नाम व्रतपालनमित्याह—अभङ्गेति—अभङ्गं व्रतस्य अविकलं प्रतिपालनम् । अतिचारः व्रतस्य देशभङ्गात्
 कियतोऽस्य रक्षणाच्च अतिचारो भवति । न अतिचारोऽतिचारः व्रतस्य बाह्याभ्यन्तराभ्याम् अङ्गाभ्यां रक्षणम्
 अतिचारः । यथा अहिमात्रनिरक्षणं कोपं न करोति, प्राणिवधवन्धनं न करोति, दयाहीनश्च न भवति । गृहीतेषु
 व्रतेषु मङ्गलं अकृत्वा, अतिचारपरिहारं च कृत्वा शश्वत् आजन्म तेषु व्रतेषु रक्षणं पालनं क्रियते तत् व्रतपालनं
 भवेत् ॥९३९॥ यमनियमेषु यत्नकर्तव्यतामुपदिशति—वैराग्येति—यमेषु इति यमेषु अहिंसासत्यास्तेयब्रह्म-
 चर्यापरिग्रहा यमाः । यच्छति नियच्छति इन्द्रियग्राममनेनेति यमः । नियमेषु बाह्याभ्यन्तरशौचतपः स्वाध्याय-
 प्रणिधानानि नियमाः । एतेषु नित्यं यत्नं कर्तव्यम् । एतेषां पालनं सदा कर्तव्यमिति भावः । नित्यं वैराग्यभावना
 कर्तव्या । ये विषया दृष्टा ये च श्रुता ये चानुभूतास्तेभ्यो निवृत्ततृष्णस्य व्रतिनः मनसो वशीकरणं तस्यैव
 सज्ञा नाम वैराग्यमिति । तस्य नित्यं भावना अभ्यासः करणीयः । नित्यं तत्त्वविचिन्तनं कर्तव्यम् । किं नाम
 तत्त्वविचिन्तनम् । प्रत्यक्षेण इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षेण, अनुमानेन, आगमेन च जिनकथितेन ये अनुभूता ज्ञाता
 जीवादिपदार्थसार्थाः ते विषया यस्याः एतादृशी या असंप्रमोपस्वभावाद् दृढधारणासंस्कारजाता स्मृति-
 स्मरणं तत्त्वानुचिन्तनं तस्मिन्नित्यं यत्नः कर्तव्यः । एतं कारणव्रतपालनं निर्दोषं भवति ॥९४०॥

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम पटुत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४६॥

[पृष्ठ ३३६] इत्येष इति—हे क्षितिपतीश्वर, क्षित्या पृथ्व्या पतय स्वामिनः क्षितिपतय भूपा तेषाम्
 ईश्वर राजराज तत्संबोधनं हे क्षितिपतीश्वर, इति पूर्वोक्तप्रकारेण गृहिणा धर्मं प्रोक्तं (सुदत्तसूरिणा) हे क्षिति-
 पतीश्वर, मूलोत्तरगुणाश्च मूलगुणा अष्टाविंशति आचेलक्यादयः । उत्तरगुणाश्च चतुरशीतिलक्षणास्ते आश्रय-

आचारो यस्य स मनीषां धर्मं भुतात् आचाराङ्गाज्जयं ज्ञातव्यं ॥९४१॥ इत्यमिति—एवं ऽर्थास्तरीत्या ।
 तस्मिन्मुग्धाचारप्रचारं ही च ही मयकी वासकी च तस्मिन्की । तयोर्मुग्धं युगलं तस्य आचरन्त्यस्य देशमवाचारस्य
 युक्तप्रसूतिप्रकारस्य प्रचारो यत् । एतावृत्तं मुग्धं भुताचार्यात् द्वितीयमवकाशतारं द्वितीयोर्ध्वमयो कथाया
 अवतारो मयं तं भवता सा देशना चन्द्रमारोग्यामा । स भूपतिः मारिचत् । स च पोरकोऽऽ मारिचत्तृपतिप्रधानम् ।
 भवमानुते भवा देशमयो मनुष्यमवरत्न भावः तत्तत्पुतिवोय्यभावा परिणामाः तया नृति प्रभृति तस्या
 चरितं योयं धर्मं चपात्रं दृष्ट्वां चकार ॥९४२॥ मुनिकुमारयुगलमिति—अथपक्षिणामा ज्ञानकः अथपक्षि
 नाम्नी क्षुस्मिकेति मुनिकुमारयुगलं प्रोक्तम् । तत्तत्तमेव व्यतिक्रान्तवासकां प्रापितकुमारकां सत् चारिणम्
 आचर्य प्रतिपास्य कथंमृतं सत् । सुधेति—मुधासना देशा तेषां देशम स्वर्गं स अधिरुहते मेन सत् चारिणं
 सुधासनदेशाविरोद्धम् । पुनः कथंमृतम् यतिविरहीत्यादि वतिर्मुनि विरतिरार्था तवावैपी ममता एकसाटक
 चारिणं च । मापितं भावाचमितिपाकनम् । एतयोस्तस्या बहुको य विचक्ष्वा मेधा स एव प्रासादः शीव
 तदुपरि कक्षारोपनमिव चारिणम् अतिचिरं बीजकासम् आचर्य प्रतिपास्य । ऐशानस्वर्गम् अवापति निदेशवति
 प्रवृत्तारः । तद्यथा—अभयचरिचरिति—स मुनिकुमारोऽभयचरि शानुजः अनुजा लघुमणिनी अथयमति तया
 दृष्टिः । तत्र देशीवतरहृषि देश्या वनं देशीवर्णं तन्नामवम् अरुणं तस्य रङ्गं विजानप्रवेद्यस्तम् । प्रायम् कृत्वा
 कृत्वा । ऐशानकल्पं द्वितीयस्वर्गम् अवाप्सु प्राप्य । मारुतोऽपि भूपः दावा पृथैति—पृथं पामिन्तं यतिपति
 नृत्तं मुनीन्द्रचरमं येन स तन्नामृतं सन् तथैव अभयचरिचरि स्वर्गसंक्षीबितार्थं मुरकोकरमानुजम् अभयत्
 प्राप्नः ॥९४३॥ रत्नद्वयनेति—रत्नयोद्धं धर्म्यार्थसम्यक्साधनमुदभामिति भावः तत्र सनर्ककृतेति समर्ककृता
 विमुपिधा चित्तनृतिः समीक्षाचारो यस्याः । सा चन्द्रमारीति देशतापि पक्षिणो मर्हं भुताचार्यस्य पूषाम्
 आचर्य्य प्रविशाय । द्वीपान्तेति—अथ द्वीपा द्वीपान्तराणि चातकीपुष्करार्चनयोचरयम् । सुनमत्तं दिवो
 नाकस्य स्वर्गस्य तथा पर्वताः पञ्चमेरवश्च तेषां काठ समुद्रः तस्य यात्रि चिन्त्यवधानि विनातनां तान् बन्धय
 इति बन्धार्थं बन्धनीका तस्या भावः बन्धनशीलता तया अनुभूतं गान्धः पुस्तं या कामः अमिकाप तत्र परायणा
 तत्परा भनूत् अमवत् ॥९४४॥ ध्यानेति—छिद्रमिदं तन्नामके पर्वतं देशाचालीरे पवित्रमनागे छिद्रवरकूट
 पर्वते स मुनिः मुनिमिदिति सद्यं वर्तते इति समुनि सुवत्ताङ्ग्यं सुवत्ताभिधानं सूतिः धर्म्यं देशाचमिनाप-
 दृष्टि निर्वोर्ध्वं ध्यानां विद्याय काष्ठवनामि सन्तमे कल्पे स्वर्गं सर्वेति—सर्वेषाम् अमरयाम् धामनीः अमनी सुतो
 देशः अवापत् । ये च अथ्ये वक्षोमतिप्रभृतय यद्योमतिमुपास्यः तेषां प्रकल्पुत्कृताः धामाचरितचरिताः ।
 सुकृतिभिः पुण्यविश्रुतैः सुदैव्यं संकीर्त्यमानविद्या यथ्यमानविमवा विचक्षेस्वरः सुरपुत्र संजाताः सममवन्
 ॥९४५॥ कृतप्रणमिनीति—सोमदेशपुरिरत्यमङ्गलमाह—अथस्थिति—जिनोक्तिमुपासः जिनवचनामृतरत्नं
 यं अमवान्त्वस्याम्नी अमत् आनमत्स्य स्यात् अमवत् यत् अस्ति तन्नामृतं अयति सर्वोत्पद्यं दत्तं । तस्य
 तत्पत्तार सता सत्यजाना कामाराय अमिकावोधानं फलसंयमी स्वर्गविषयकारी चरतात् इत्यर्थं तमुक्तिं
 प्राप्नुतात् । तत्पत्तं तत्पत्तारं कवितादेशी सरस्वती कवितासक्तिर्वा धरत् सततं वपतात् । मशवयत् वस्त्रा
 कवितादेश्याः साङ्गम्यमवकाशस्य मय इयं कृतिमिति कृतिकरचसमर्गं यति मुक्तिः हृदी कविः तस्य मतिर्मुक्तिः वा
 अवतनमनुपवा सुक्तिं सुते निष्कोकाकङ्कारां सुक्तिं पुनायितं सूतं अयति ॥९४६॥ अमिधानेति—अमिधा
 नानां ध्याना विधाने अथयमिधिमूले । यद्योकरमहाराजवरिते कथंमृते यद्यस्तिककनामनि यद्यस्तिककस्ये ।
 सता मति सत्पुष्पाभा मति मुक्तिः स्तात् सततं प्रवतनाम् । एतद्योकरमहाराजवरितं सन्तः निचकषातिभि
 सम्पन्नम् कुर्वन्तिवति भावः ॥९४७॥ एतच्चरितस्य पठनं कुर्वन् यथा प्रसरत् कवितारुहस्यमुद्रां च कल्पामिति
 विराधास्ते—एतामिति—अनुपूर्वस्य आचार्यधरम्परां अनुमत्य एताम् अष्टदृष्टोम् अष्टदृष्टीति अपरानाम-
 येना इति विमुद्यन् कृती यस्याः कविकवितारुहस्यमुद्रा कविता एव स्त्री तस्याः रहस्यं भोका तस्य मुद्राम् अनुजा
 तया च कवितायां मुद्रतत्पत्तं मुद्रा प्रत्ययम् अवाप्नुयात् । चासमुद्रत्तं च यथा कमेत ॥९४८॥ धर्मतमाग्नी
 निजनुवारम्परां कथयति कविः—अमीमानिति—सर्वैव सततं धीमान् आचमनायुर्धोषोप एव धीः सा दस्तास्ति
 स धोमान् संवर्तितः देवतवत्य भूपणम् यद्यनुर्वकः देशः अस्ति । यद्योदेवानिभः सुतिः देवतवत्य भूवर्णं
 अस्तीति भावः । तस्य यद्योदेवगुरे गद्गुननिधिः सत्तवत् ते गुणाः तेषां निधिः निधानमृतः धीमेनिदेशाङ्गः

श्रीनेमिदेवामिध शिष्य बभूव । तस्य नेमिदेवस्य शिष्य सोमदेव अभूत् । कथभूतस्य नेमिदेवस्य आश्चर्य-
तप स्थिते आश्चर्यकारिणी तप स्थितिस्तपोमर्यादा यस्य । पुन कथभूतस्य महावादिना त्रिनवतेज्जंतु महान्तो
वादिन अन्यदर्शनमहापण्डिता । तेषा त्रिनवते जेनु सोमदेव इति य शिष्य इह गङ्गधारायाम् अभूत् । तस्य
एष यशस्तिलकचम्पूनाम काव्यक्रम अस्ति ॥९४९॥ अस्य यशस्तिलकस्य काव्यस्य पुस्तकलेखन रच्छुकेन लेखकेन
कृतमिति स्वयं लेखक एव निवेदयति—विद्याविनोदेति—विद्याया विनोद लीला स एव वन तेन वासित
सुगन्धीकृत हृत् हृदयमेव शुको यस्य तेन रच्छुकेन तन्नामवता रच्छुकेन यशोधरस्य यशोधरचरितस्य पुस्तकम्
कथभूतम् विलसत्लिपि विलसन्तो शोभमाना सुन्दरा लिपि अक्षरविन्यामो यस्मिन् तत् । कथभूतस्य यशोधरस्य
श्रीसोमदेवरचितस्य, पुन कथभूतस्य । सल्लोकमान्येति—सन्तश्च ते लोकाश्च सज्जना तेषा मान्य ।
आदृता या गुणरत्नाना मही तस्या धर्म्य पर्वतस्य ॥९५०॥ अपि च । रच्छुकलेखकस्य प्रशसापरोक्ष्य श्लोक
यस्येति—यस्य रच्छुकस्य अक्षरावलि अक्षरपद्धति अधीरविलोचनाभि चञ्चलनयनाभि रामाभि मदन-
शासनलेखनेषु आकाङ्क्ष्यते अभिलष्यते । विवेकिषु जनेषु तस्मै रच्छकाय क नाम सज्जन लेखकशिखामणिना-
मधेय लेखकचूडारत्नेति पद न यच्छति अपि तु यच्छत्येव । अयं रच्छको लेखक कविसमकालमेवामभवदिति
विज्ञायते श्लोकेनानेन ॥९५१॥ शकनृपेति—शकनृप सातवाहनस्तस्य य काल उत्तरतिसमय, तस्य अती-
तानि यानि सवत्सराणा वर्षाणा शतानि, कति । अष्टौ तेषुगतेषु पुन कथभूतेषु एकाशीत्यधिकेषु गतेषु यातेषु
(अङ्कत ८८१) इदं काव्य निर्मापितमिति । कस्मिन् सवत्सरे मासे तिथाविति कथयति, सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गत-
चैत्रमासमदनत्रयोदश्याम् । गङ्गधाराया नगर्याम् इदं काव्य विनिर्मापितम् । कथभूताया श्रीमद्वागराजप्रवर्धमान-
वसुधाराया श्रीमतो राज्यलक्ष्मीवतो वागराजस्य नृपस्य प्रवर्धमाना वसुधारा धनधारा यस्याम् । अयं वागराज
कस्य पुत्र इति कथ्यते । कृष्णराजस्य सामन्तचूडामणे अरिक्केसरिण प्रथमपुत्र आसीत् । कृष्णराजेन पाण्ड्य-
सिंहल-बोलचैर्मप्रभृतयो महीपतय जिता, मेल्याट्या च तस्य राज्यप्रभाव प्रवर्धमान आसीत् । अयं अरि-
केसरी चालुक्यवधजन्माभूत् । सप्राप्तपञ्चमहाशब्दाना महासामन्तानाम् अधिपतिरभवत् ।

इति सकलतात्त्विकलोकचूडामणे श्रीमन्नेमिदेवभगवत शिष्येण सद्योऽनवद्यगपद्यविद्याधरचक्रवर्ति-

शिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते

यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्माभूतवर्षमहोत्सवो

नाम अष्टम आश्वास ॥८॥

वर्णः पदमिति—वर्ण ककाराद्यक्षरम्, पद शब्द, वाक्यविधि सुप्तिङन्तचयो वाक्य तस्य विधिः
विधान रचना, समास समसन समास पदयो पदाना वा एकपदीकरण समास । लिङ्ग स्त्रीपुनपुसक्त लिङ्गम् ।
क्रिया क्रियापदम् । कारक कर्मकरणादि । अन्यतन्त्रम् अन्यथास्त्राणा विषया प्रसंगेन समागता । छन्द
वृत्तानि । रसः शृङ्गारादय, अलक्रिया उपमानरूपकादय । अर्थ काव्यकेधाविषय । नायकचरित्रम् ।
लोकस्थिति लोकानाम् आचार इति अत्र चतुर्दश विषया स्युः ॥९५२॥ अवदे इति—अस्य श्लोकस्य
विमर्शं कृते सति कविना य काव्यरचनाकाल शकनृपकालातीतादिवाक्ये दर्शित तेन सह विरोध प्रतिभाति
अत अयं श्लोक कवेर्नास्ति इति मे मति । तथा चापरोक्ष्य विमर्शं काव्ये पूर्णता नीते पुन वर्ण
पद वाक्यमिति श्लोकलेखनम् अवदे इति श्लोकलेखनं च सयुक्तिकं न प्रतिभानि । अत अन्येन केनापि
एतच्छ्लोकयुग्मं रचित स्यादिति मनसि विकल्प उत्पद्यते । तथा च सटिप्पणपुस्तकेषु अवदे इतिश्लोकोऽपि
न वर्तते । अतोऽस्य श्लोकस्याभिप्रायो न व्यक्तीकृत इति ज्ञेयम् । श्रुतमागराचार्यैरुक्तटीकास्य अस्य
यशस्तिलकाख्यकाव्याशस्य यथामति टीका विहिता । अत्र टीकाया व्याकरणाद्यनभिज्ञतया मत्तो बहवो
दोषा जाता इति मन्ये तान् सशोध्य पाठकास्त काव्याश पठन्तु इति निवेद्यते ॥

जिनदासेन पार्श्वनाथतनूजेन फडकुलेषुपाङ्केन ।

1

1

1

1

उपासकाध्ययनस्थलोकानुक्रमः

अ	प्लो० म०	अनर्थदण्डनिर्माणा	४५७	अलकवलयरम्य
अकृत्रिमो विचित्रात्मा	६५६	अनवगतजलाद्रा	४२९	अलकवल्यावर्तभ्रान्ता
असाज्ज्ञान	२४५	अनवेक्षा प्रतिलेखन-	७५६	अल्पात्कलेशात् मुखं सुष्ठु
अज्ञपूर्वप्रकोणोक्ति	८४०	अनिगूहितवीर्यस्य	९२२	अवमतर्गहनदहन
अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी	६०१	अनुगमकेवलवपुष	५५७	अव्यक्तनरयोर्नित्य
अध्वप्रपि भवेत्पापी	३४१	अनुपायानिलोद्भ्रान्त	६९२	अव्रतित्व प्रमादित्व
अजस्तिलोत्तमाचित्त	६२	अनुमान्या समुद्देश्या	८९०	अशक्तस्यापराधेन
अज्ञाततत्त्वचेतामि-	८०५	अनुयाचेत नायूपि	६७१	अशन क्रमेण हेय
अज्ञातपरमार्थाना-	१२	अनुयोगगुणस्थान-	९१५	अश्मा हेमजल मुक्ता
अणुप्रतानि पञ्चैव	३१४	अनुवीचीवचो भाष्य	८१७	अश्वत्योदुम्बरप्लक्ष-
अतद्गुणेषु भावेषु	८२५	अनेकजन्मसतते	३५	असत्य सत्यग
अतावकगुण सर्वे	६८५	अन्तर्दुरन्तसचार	१७३	असूयकत्वं शठता
अतिधैर्य स्वय यश	८३०	अन्तर्वहिर्गते संगे	४४१	अस्त्रधारणवद् बाह्ये
अतिप्रसंगहानाय	३२४	अन्तर्वहिर्मललोपा	९२३	अहमेको न मे
अत्यलेश्यागमात्पुष्टि	५८	अन्त शुद्धि वहि शुद्धि	४६२	अहिंस सद्ब्रतो ज्ञानी
अत्यन्त मलिनो देह	७२३	अन्योन्यानुप्रवेशेन	१११	अहिंसाव्रतस्कार्य
अत्यर्थमर्थकाद्याया	४४६	अपवित्र पवित्रो वा	७०७	अहो मिथ्यातम पुंसा
अत्यल्पायतिरक्षजा	४९७	अपाते सुन्दरारम्भे-	९३७	आ
अत्युचितमन्यदोषोक्ति	३७६	अपास्तैकान्तवादीन्द्रान्	४८८	आगामिगुणयोग्यो
अत्रामुत्र च नियतं	६०९	अमज्जनमनाचामो	१२५	आचार्योपासन
अदत्तस्य परम्बन्ध	३६४	अमरतरुगोनेत्रानन्दे	५९३	आत्मज्ञ सचित्त दोष
अदुर्जनत्वं विनयो	९०६	अमिश्र मिश्रमुत्सर्गि	३२८	आत्मदेशपरिस्पन्द
अदेवे देवताबुद्धि-	१४३	अमृतकृतकर्णिके	५५०	आत्मनि मोक्षे ज्ञाने
अदेव्यासगवैराग्य-	१३५	अम्भश्चन्दनतन्दुलो	५५९	आत्मन श्रेयसेऽप्येपा
अद्भि शुद्धि निराकुर्वन्	४६९	अभक्ताना कदर्याणा	७८५	आत्मलाभ विदुर्मोक्ष
अद्रोह सर्वसत्त्वेषु	८७९	अभज्ञानतिचारागम्या	९३९	आत्मवित्तपरित्यागा-
अद्वैतान् पर तत्त्वं	२१९	अभयाहारभैषज्य-	७७१	आत्मा कर्ता स्वपर्यायि
अद्वैत तत्त्वं वदति	५८५	अभय सर्वसत्त्वाना-	७७३	आत्मानात्मस्थितिलोको
अधर्मकर्मनिर्मुक्ति-	२६२	अभिमानस्य रथार्थ	८३४	आत्माजितमपि द्रव्य
अधोत्य सर्वशाम्नाणि	७०५	अभिलपितकामधेनो	६१०	आत्माशुद्धिकरैर्यस्य
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु	९१७	अरहस्ये यथा लोके	६५२	आदित पञ्च तिर्यक्षु
अध्याध्वन्नतमारोहेत्	८५५	अयित्व भवितसपत्ति	२१२	आदिध्यासु पर ज्योति-
अध्यात्मानो दयामन्त्रे	८८१	अर्हत्त्रये नमोऽस्तु	८१६	आदौ मध्वमध्व प्रान्ते
अनज्ञानलसलोके	४२२	अर्हन्तममितनीति	५५५	आदौ सामायिक कर्म
अनन्तगुणमनिधौ	५९४	अर्हन्तनुमध्ये	४८२	
अनयैव दिशाचिन्त्य	८५			

भाविम्याविनिवृत्त्य	२१४	उज्जिह्वा नीचकोकाह	७८	कर्मवागनिमित्तावा
भाविम्याविनिवृत्तस-	११५	उत्तमं शास्त्रिकं वानं	८३१	कर्मकृतवर्गमपि प्राप्नोति
भाविम्यो ज्ञानमैश्वर्ये	४९	उत्तरोत्तरमावेग	८२४	कर्मव्यपि यदीमानि
भावासेधोपदेश	४९	उत्पत्तिस्त्वितिर्घट्टार	१२	कर्मरामनोविबेकता
भावास्यासक्तिमानेऽपि	४९१	उत्पद्यमानं स्वयं	५२८	कर्मव्योक्तकर्मलोकिता
भावायमपवादार्जना	४८	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१५९	कर्मरूपव्यवृत्तिः
भावायमपवादार्जना	११५	उत्पत्तिरुचि माविषयं	२९५	कर्मवागं शोधमाणाया
भावायमपवादार्जना	१७८	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१११	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	२३१	उत्पत्तिरुचि माविषयं	११२	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१५९	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१८४	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	४७२	उत्पत्तिरुचि माविषयं	८९६	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	११२	उत्पत्तिरुचि माविषयं	८१	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	५४२	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१९४	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	९९४	उत्पत्तिरुचि माविषयं	५	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	७९५	उत्पत्तिरुचि माविषयं	४४	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१२५	उत्पत्तिरुचि माविषयं	७४१	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१२२	उत्पत्तिरुचि माविषयं	७२७	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१९	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१९१	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	५५४	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१२८	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	४५२	उत्पत्तिरुचि माविषयं	७	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१५५	उत्पत्तिरुचि माविषयं	११९	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१५८	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१५५	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	५९२	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१४८	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	७९४	उत्पत्तिरुचि माविषयं	४७५	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	११८	उत्पत्तिरुचि माविषयं	५४	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	९११	उत्पत्तिरुचि माविषयं	५४५	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	५९२	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१२२	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१४९	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१५	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	९४१	उत्पत्तिरुचि माविषयं	४९१	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१४	उत्पत्तिरुचि माविषयं	४१७	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१९	उत्पत्तिरुचि माविषयं	४२१	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१९	उत्पत्तिरुचि माविषयं	११	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	७८	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१५	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	१११	उत्पत्तिरुचि माविषयं	५७८	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	८९७	उत्पत्तिरुचि माविषयं	८९५	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	५५	उत्पत्तिरुचि माविषयं	१८	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा
भावासेधोपदेश	५५	उत्पत्तिरुचि माविषयं	२३३	कर्मव्यवृत्तिरुचिमाणा

गृहस्थो वा यतिर्विपि	८०९	जिने जिनागमे सूरौ	२१५	तत्त्वे पुमान्मन पुसि	८७०
गृही यत स्वसिद्धान्त	९१६	जोवन्तु वा म्रियन्ता वा	२५०	तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे	१५१
गेहिना समवृत्तस्य	९३	जीवयोगविशेषेण	३००	तत्त्वेपु प्रणय परोऽस्य	४९४
गोपृष्ठान्तनमस्कार-	१३८	जीवस्थानगुणस्थान-	९२०	तत्राहिसा कुतो यत्र	३३१
ग्रहयोगगतोऽप्येष	७५	जीव शिव शिवो जीव.	७२१	तत्सत्यमपि नो वाच्य	३७७
ग्रामस्वामिस्वकार्येषु	३४८	जीवाजीवपरिज्ञान	९१९	तत्सस्तव प्रशसा वा	१७९
ग्रामान्तरात्समानोत	७८१	जीवितमरणाशसे	९०३	तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो	२८८
ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यं	८७४	जैनमेक मत मुक्त्वा	८६	तथा कुर्वन् प्रजायेत	३८६
च		जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि	३९	तथापि यदि मूढत्वे	१४४
चक्रित्री सश्रयोत्कण्ठा	२४०	ज्योतिरेक पर वेष	६९३	तथापि स्वस्य पुण्याय	५३२
चक्षु पर करणकन्दर-	७४४	ज्योतिर्विन्दु	६३७	तथाऽप्यत्र तदावासे	४७
चातुर्वर्ण्यस्य सधस्य	२१६	ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञ	८१०	तदपि वदेय	५७०
चित्त द्वयो पुरत एव	४२६	ज्वलन्नञ्जन-	६५०	तदन्तमनु-	५९५
चित्त न विचारक-	५८४	ज्वालोर्वूकवीजादे	४६	तदहर्जस्तनेहातो	२९
चित्तस्य चित्तचिन्ताया	४४०	ज्ञाता द्रष्टा महान्सूक्ष्म	१०४	तदावृत्तिहतौ तस्य	४१
चित्तस्यैकाग्रता ध्यान	६१६	ज्ञातोमामत्यये	३६५	तदुत्तम भवेत्पात्र	७९८
चित्ते चित्ते विशति	५२४	ज्ञातुरेव स दोषोऽय	२६०	तदेतिह्ये च देहे च	१७१
चित्ते चिन्तामणिर्यस्य	१६०	ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे	८१३	तद्ज्ञानज्ञानविज्ञान-	२०६
चित्तेऽनन्तप्रभावे	६२४	ज्ञानदर्शनशून्यस्य	१०५	तद्धामवद्वक्त्राणा	७००
चित्रालेखनकर्मभि-	२००	ज्ञानभावनया हीने	८४४	तद्द्रव्यदातृपात्राणा	३०८
चिन्तामणित्रिदिवधेनु-	७४५	ज्ञानमेक पुनर्द्वेषा	२६१	तद्भूतैर्विद्यया वित्तं	२१७
चेतनाचेतना	४३५	ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्	५०	तन्नास्ति यदह लोके	६७३
चेत्यैश्चेत्यालयै-	२०३	ज्ञानहीने क्रिया पुसि	२१	तन्नैरन्तर्यसान्तर्य-	७५२
छ		ज्ञानहीनो दुराचारो	८८९	तपस प्रत्यवस्यन्तं	१९१
छत्र दधामि किमु	५०५	ज्ञान दुर्भगदेह-	५००	तपस्तीव्र जिनेन्द्राणा	१६६
ज		ज्ञानं पञ्चो क्रिया चान्वे	२२	तपो गुणाधिके पुसि	३३६
जगता कौमुदीचन्द्र	६८८	ज्ञान ब्रह्म दया ब्रह्म	८७२	तपोदानार्चनाहीन	७९४
जगन्नेत्र पात्र-	५९६	ज्ञानादवगमोऽर्थाना	२०	तप श्रुतविहीनोऽपि	७०४
जयनिखिलनिलम्पा	५७२	ज्ञानी पटुस्तदैव-	८४८	तस्मिन्मिव परिपक्व	८९१
जयलक्ष्मीकरकमला-	५७३	ज्ञाने तपसि पूजाया	२०४	तर्पणैर्मर्पहर्षाद्यै-	३९१
जन्तोरनन्तससार-	६४७	ज्ञानर्मनोवपुर्वृत्तै-	८७७	तस्मान्मनोनिकेते	९३५
जन्मयौवनसयोग-	६७०	त		तस्य कालं	६३०
जन्मन्नेहृच्छिदपि	५४४	तत्कालमपि तद्विधान	६३१	ता शासनाधिरक्षार्थं	६९८
जातयोऽनादय सर्वा	४७७	तत्कृद्दृष्ट्यन्तरोद्भूता	१६२	तीर्थोदकैर्मणिसुवर्ण-	५३६
जातिर्जरा मृति पुसा	८८५	तच्छाक्यसारथ्यचार्वक-	३०९	तालत्रिभागमध्या	७३४
जातिपूजाकुलज्ञान-	९०९	तच्छासनैकममतीना	६९९	तुच्छाभावो न कस्यापि	४०
जाने तत्त्व	६६३	तत्तद्गुणप्रधानत्वा-	८५७	तुण्डकण्डूहृ शाश्वतं	२६५
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि	८५८	तत्त्रचिन्तामृताम्भोधी	६१३	तुरीय वजयेन्नित्य	३८४
जिनसिद्धसूरिदेशक	४९३	तत्त्वभावनयोद्भूत	७९	ते कुर्वन्तु तपामि	४९५

आविष्कारविनिर्दिष्टस्य	२१४	अजिष्ठं नीचलोकाह	७८	कर्माशाननिमित्ताया
आविष्कारविनिर्दिष्टस्य	२१५	अतर्कं सात्त्विकं वानं	८३१	कर्माशानमपि प्राप्नो
आत्मनो ज्ञानमैश्वर्यं	४९	अतरोत्तरमाचन	८२४	कर्माश्वयि यशीमानि
आप्ततेजोपदेश	४६	अत्यतिस्निहतिष्ठंश्वार	१०२	कर्मात्मनीविषयता
आप्तस्याधिशिष्यामेव	४६१	उद्गमुक्तं स्वयं	५२८	कर्मयौतकमकर्मोक्तिरु-
आप्तागमपदार्थाया	४८	उद्विष्टैव भाविनयं	१५९	कर्मपरिप्लव्भुभिः
आप्तागमपदार्थाया	११५	उद्गमात्पार्श्वकर्म	२९५	कपायाः क्रोधमानाद्या
आप्तागमविशुद्धत्व	१७८	उद्गमो स्तनकुम्भकै	१९३	कपायमिदयश्चक्षुर्मा
आप्त्ये युते ह्येतं तत्त्वं	२११	उपकाराय सर्वस्य	११२	कपायोदयदीवात्मा
आप्त्युत्तेनिकृतिर्मे	१५९	उपयुक्तविशीकरो	१८४	कस्यचित्संनिविष्टस्य
आप्त्युत्तं संस्तुतस्वात्	४७२	उपवासादिभिरङ्गै	८९६	काम क्रोधो मदो माया
आप्त्युत्तमसुखम्	१६२	उपाये हस्तुपेयस्य	८१	कथनं मगता वाचा
आप्त्युत्तं प्रकाशं परमं	५४२	उपमाया तु भावेन	१९४	काश्चादवबोधिरया
आप्त्युत्तरत्नम्	९०४	ए		काके कम्भी यके चिते
आप्त्युत्तिकाधित्वाति	७९५	एकं लोकोपाप्यय	४४	कृतप्रमायास्मोमेन
आप्त्युत्तं पुत्र सर्वेषु	१२६	एकं परं बहुपदायि	७४३	किमिनीवीधु
आप्त्युत्तं समनं	१२२	एकस्तस्मै गच्छारं	७२७	कुप्ये पठिरसीति
आप्त्युत्तस्मात्परं	१९	एका नीचवर्गकय	१६१	कुर्वात्करयोग्यंति
आप्त्युत्तस्यपुत्रो	५९४	एकान्तरे विराजं वा	१२८	कुर्वात्तयो जपेन्मना-
आप्त्युत्तप्रमापस्य	४९२	एकान्तं उपपन्नैव	७	कुर्वात्तवृत्तिमि सार्धं
आप्त्युत्तस्मै तरेतेवा	९५५	एकान्तसंशयाज्ञानं	११६	कैवल्यमृतसंज्ञेषु
इ		एकायि समर्थेयं	१५५	को देवः किमिदं ज्ञानं
इति क्लियतो जगत्	१५८	एतत्तत्त्वमिव तत्त्व	१४८	क्लिप्ताम्बुजं क्लमेन
इति उदयननाथ	५२	एतद्विधिर्न जगत्	८७५	क्लेशाय कारणं कर्म
इत्थं निवृत्तवृत्तिः	७६४	एतद्विधिर्न जगत्	५४	क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
इत्थं प्रपन्नमात्मन्य	११८	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	५०५	क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
इत्थं मनो मनसि	१११	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	१२२	क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
इत्थं मेऽनं समुद्रकम्पर	५१२	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	१५	क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
इत्थं सङ्गिन्वितास्य	१४९	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	४२३	क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
इत्येव पृथिव्या जगत्	१४१	एतास्मन्नु कच्छोक्त-		क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
इममेव गन्धमयी	१४	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	४१७	क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
ई		एतास्मन्नु कच्छोक्त-	४२१	क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
ईति युक्तिं महेवान	१९	एतास्मन्नु कच्छोक्त-		क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
उ		एतास्मन्नु कच्छोक्त-		क्लेशादीन् क्लिप्तामीयु
उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं	७८	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	९१	पठिस्वित्यप्रतीक्षा-
उचिते ह्यनन्ते मत्तं	१६१	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	१५	पठिस्वित्यप्रतीक्षा-
उक्तवाचकनप्रायः	८२९	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	५७८	पुनः पुनरुत्तरमात्र
उक्तवाचकप्रसूतीया	५६	एतास्मन्नु कच्छोक्त-	८९५	पुनः पुनरुत्तरमात्र
		एतास्मन्नु कच्छोक्त-	१९८	पुनः पुनरुत्तरमात्र
		एतास्मन्नु कच्छोक्त-	२३३	पुनः पुनरुत्तरमात्र

निर्वोजतेव त प्रेण	७३
निर्मनस्के मनोहमे	६२१
निर्ममो निरहकारो	८६६
निर्विचारावनारामु	६२३
नि शङ्कात्मवत्ते	२४
निश्चयोचितचारित्र्य	२४२
निष्किञ्चनोऽपि	५९१
निष्पन्दादिविधो	१३०
निष्कर्षोऽधिगमो वापि	२२३
निहन्त्य निखिलं पाप	३५८
नोदप रूपितानेप-	६८१
नेत्र हिताहितालाके	४९१
नैव लग्नं जगत्	१२१
नैष्किकव्यमहिता च	१३२
न्यस्यवीक्षाविनिर्भोक्षे	३३

प

पञ्चमूर्तिमय बीज	७०९
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्यारया	८७८
पद्ममुत्पापयेत्पूर्वं	७१२
परप्रमोपतोपेण	३७२
परलोकधिया	७६९
परलोकैहिकौचित्येण्वस्ति	७७०
परस्त्रीराजविद्विष्ट	३८२
परम्बोसगमा-	४१८
परस्परविषयार्थ-	६६
परापरपर देव-	६९४
परिग्रहपरित्यागो	८५४
परिमाणमित्रातिशयेन	५७७
परिमाण तयो कुर्या-	७६०
परोपहस्रतोद्विग्न-	१९०
परे ब्रह्मण्यनुचानो	६४५
पर्वाणि प्रोपधान्याहु-	७५०
पलाण्डुकेतकोनिम्ब-	७६२
पाणिपात्र मिलयेत-	१३४
पातालमर्त्यखेचर-	५९९
पात्रापात्रममावेक्ष्य	८२९
पात्रावेशादिवन्मन्त्रा-	१८
पात्रे दत्त भवेदन्न	८००

पाय पूर्णान्मुम्भान्	५३४
पादजानुकटिप्रोवा	४६६
पादाम्पुजद्वयमिद	५०९
पापाम्यानाशुभाभ्यान्-	४५८
पापाणभूरजोवारि	९२७
पित्रो मुञ्चो यथाऽऽत्मे	०६
पुण्यद्रुमद्विचरमय	५८०
पुण्यायापि भवेद् दुःख	२५२
पुण्योपाज्जनशरण	५५१
पुण्य तेजोमय पाहु	३३९
पुण्यप्रयवलामवन-	५८२
पुण्य त्वदीयचरणार्चन-	५०७
पुण्यं पर्वभिरम्बुज-	६००
पुष्पादिरजनादिर्वा	७९२
पुष्पामोदौ तस्च्छाये	७०६
पुस कृतोपवासस्य	७५५
पुमो यथा मशयिनाशयस्य	९०८
पूर्वापरविरोधेन	९९
पोषण क्रूरमत्त्वाना	४५६
पौतवन्यूनताधिषये	३७०
प्रकृतिस्थित्यनुभाग-	११२
प्रकुर्वाण क्रियास्तास्ना	२५५
प्रक्षोणोभयकर्मण	६६१
प्रणिधानप्रदीपेषु	६८९
प्रतिग्रहोच्चासन-	७७७
प्रतिदिवस विजहद्वल-	८९३
प्रतनकर्मविनिर्मुक्ता-	४८६
प्रत्याख्यानस्वभावा	९२६
प्रमाणनयनिक्षेप	६५१
प्रभव सर्वविद्याना	६७८
प्रभावैश्वर्यविज्ञान-	६२८
प्रश्रयोत्साहनानन्द-	८४१
प्रस्तावना पुराकर्म-	५२९
प्रातर्विधिस्तव	५६२
प्राप्तोऽर्थे ये न	४३९
प्राय इत्युच्यते लोक-	३५०
प्राय सप्रति कोषाय	१३
प्रियशील प्रियाचार	३७८
प्रेर्यते कर्म जीवेन	१०६

फ

फल्गुजन्माप्यय देहो	६२०
---------------------	-----

व

वधस्त्रयनमरोव-	४५५
वन्धस्य कारण प्रोक्त	११४
वहिं कायमिर्मर्थेऽपि	२५४
वहिं क्रिया वधिःपुनर्म	२४३
वहिंस्त्रय स्वनीऽम्भेति	८४६
वहिरन्वस्तमोवातै-	६२२
वहिंस्ताम्ना क्रिया	४११
वहिंविहृत्य संप्राप्तो	४७१
वालङ्गान्तप क्षीण-	७८३
वाह्ये ग्राह्ये मलागयात्	३६
वाह्यमगरते पुमि	४ २
बुद्धिरीरुपयुक्तेषु	८०७
बोधत्रयविदित-	५७५
बोधापगाप्रवाहेण	४८९
बोचो वा यदि वानन्दो	३२
बोधोऽवधि श्रुत-	५०३
बोध्यगमकपाटे	६४८
ब्रह्मैक यदि सिद्ध स्या-	४२
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य	४६७
ब्रह्मचर्योपपन्नाना-	१२६

भ

भक्तितन्त्रय जिनचरणयो	५६१
भक्त्यानन्तामराशय-	५५६
भयलोभोपरोधाद्यै	८०६
भमिभस्मजटात्रोट-	१७५
भवदु खानलशान्ति-	५१५
भावपूर्णैर्यजेदेव	८८२
भावामृतेन मनसि	५२०
भुक्तिमात्रप्रदाने हि	८१८
भुवमानन्दसस्याना-	६८३
भूपय पवनान्गोना	३४७
भूपवनवनानल-	५७९
भूमी जन्मेति	६२९
भूर्जे फल्के सिचये	४८३
भेदोऽय यद्यविद्या	३०

तेनाभीतं धृतं धर्षं	७७१	पुष्टादुष्टमवैरयम्	८	अधेपु स्वामिसेवायां	७८७
ते नामस्वापनाद्वयं	८२३	दृष्टिरीति पुमावैति	२३७	धूमवन्निबभरार्य	७९१
तैरवचममरं धार्यं	९१७	पुष्टय बभूवोऽप्यरा	८	ध्याताहमा ध्येयमाग्नीम्	९९५
तोममये यथा तैर्न	७२४	तैर्न जगत्प्रदीनेर्न	९७७	ध्यानामनाप्रतुल्याम	७२८
त्रयीमार्तं त्रयीरूपं	९८७	तैर्न देवनाभासीर्न	९७१	ध्यामावतोऽ	५४
मष्टस्वावरमैत्रेय	१८	देवनातिनिनिर्न	३२	ध्याम् विमरम्	७१
ममोयं अठरे यत्त्य	९४	देव रक्षि कोऽपि	५९	ध्यायेद्वा वाङ्मयं	७२
त्वं सप्तद्वीपरहित	५०९	देवपूजामनिर्मात्रं	५९५		
		देवमावी परीतोऽ	४		
द्व		वर्धना युष्पातिः	९११	न पुर्वाहुरवुक्तातं	७१९
द्वये बीजे यकारयन्तं	७१८	देवाकारे विरो वापि	७५४	न चास्तुतिर्न कश्चुनि-	७९५
द्विभि भावयतं धीरं	७१५	देवात् प्रथमं तत्स्मात्	२९३	न ते युवा न तज्जानं	११
द्विर्धर्तयमोमदय	७८२	देवात् सप्तो वापि	२९८	नगर्गोर्न विमो दाना	८५२
द्व्यं धर्तिरिवाहमा	७२५	देहद्विचर्तस्मर	४१५	नगीनद्वत्तमुत्रेपु	१३७
द्व्यं बाधनवाङ्मास्यो	४७३	देहारायेऽप्युपरतधिय	५२	नगार्धतस्वस्तिव	५४९
द्व्यं वा प्रमावाहा	३४९	देहोऽस्मन् विद्विषार्थे	५१९	नद्वनरमोस्मिन्वद्व-	५९९
द्व्यं नस्वयत्तवत्त्य	३२३	देवावायुविद्यये	३९	नमश्चरमोस्मिन्पर	५७४
द्व्यं नाह्वेनोपत्य	१९९	देवास्त्वय्य वनं	८२१	नम मरुतिटीटांगु	९७९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७९८	द्वोर्न युद्धति नो वायु	१८८	नदीर्नदी देवा वम	९२१
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७९७	द्वोपतोऽप्युपवीध्म-	३८०	नरीरवमुत्तामोव	४८९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	५९१	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	५४१	न वेशावपर तत्तव	२१८
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७७४	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	९	नदीर्नदी देवा वम	१९२
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७१	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	८९८	नदीर्नदी देवा वम	७७९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	४४९	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	३५१	न दीर्नदी देवा वम	३९५
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	४५१	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	३२	न दीर्नदी देवा वम	१४५
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	४४८	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	३३	न दीर्नदी देवा वम	१३३
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	१९	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	२२९	न दीर्नदी देवा वम	९१८
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	८११	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७९	न दीर्नदी देवा वम	२४९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७१	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	४७९	न दीर्नदी देवा वम	५८८
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	५८९	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	४३९	न दीर्नदी देवा वम	७१९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	३३७	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	५८१	न दीर्नदी देवा वम	१३८
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७१९	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	८९४	न दीर्नदी देवा वम	७८९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	१५	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	४१५	न दीर्नदी देवा वम	४१२
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	९१८	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	२८१	न दीर्नदी देवा वम	५७९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	८८	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	१	न दीर्नदी देवा वम	४१४
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७९३	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	१९	न दीर्नदी देवा वम	८४
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	५१८	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	४९२	न दीर्नदी देवा वम	९७९
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	२९९	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	५९१	न दीर्नदी देवा वम	१२
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	७४९	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः		न दीर्नदी देवा वम	
द्व्यं नागुपयसम्पत्तः	१४	द्व्यं नागुपयसम्पत्तः		न दीर्नदी देवा वम	

निर्वीजतेव तन्त्रेण	७३
निर्मनस्के मनोहसे	६२५
निर्ममो निरहकारो	८६६
निर्विचारावतारासु	६२३
नि शङ्कात्मप्रवृत्ते	२४
निश्चयोचितचारित्र्य	२४२
निष्किञ्चनोऽपि	५९१
निष्ठान्दादिविधो	१३०
निसर्गोऽधिगमो वापि	२२३
निहत्य निखिल पाप	३५८
नीरूप रूपिताशेष-	६८१
नेत्र हिताहितालाके	४९१
नैव लग्न जगत्	१२१
नैष्किकचन्यमहिंसा च	१३२
न्यस्रबोक्षाविनिर्मोक्षे	३३

प

पञ्चमूर्तिमये बीज	७०९
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्या	८७८
पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं	७१२
परप्रमोपतोषेण	३७२
परलोकधिया	७६९
परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति	७७०
परस्त्रीराजविद्विष्ट	३८२
परस्त्रीसंगमा-	४१८
परस्परविषयार्थ-	६६
परापरपर देव-	६९४
परिश्रमपरित्यागो	८५४
परिमाणमिवातिशयेन	५७७
परिमाण तयो कुर्या-	७६०
परोपहृत्प्रतोद्विग्न-	१९०
परे ब्रह्मण्यनुचानो	६४५
पर्वाणि प्रोपघान्याहु-	७५०
पलाण्डुकेतकीनिम्ब-	७६२
पाणिपात्र मिलत्येत-	१३४
पातालमर्त्यखेचर-	५९९
पाशापात्रसमावेक्ष्य	८२९
पाशवेशादिवन्मन्त्रा-	१८
पाथे दत्त भवेदन्न	८००

पाथ पूर्णकुम्भान्	५३४
पादजानुकटिश्रोवा	४६६
पादाम्बुजद्वयमिद	५०९
पापाख्यानाशुभाध्यान-	४५४
पापाणभूरजोवारि	९२७
पिश्रो शुद्धो यथाऽऽत्ये	९६
पुण्यद्रुमदिवरमय	५४०
पुण्यायापि भवेद् दुःख	२५२
पुण्योपाजनशरण	५५१
पुण्य तेजोमय प्राहु	३३९
पुरुषत्रयबलासक्त-	५८२
पुष्प त्वदीयचरणार्चन-	५०७
पुष्पैः पर्वभिरम्बुज-	६००
पुष्पादिरशनादिर्वा	७९२
पुष्पामोदो तरुच्छाये	७२६
पुम कृतोपवासस्य	७५५
पुसो यथा सशयिताशयस्य	९०८
पूर्वापराविरोधेन	९९
पोषण क्रूरमत्त्वाना	४५६
पौतवन्तूनताधिवये	३७०
प्रकृतिस्थित्यनुभाग-	११२
प्रकुर्वाण क्रियास्तास्ता	२५५
प्रक्षीणोमयकर्मण	६६१
प्रणिश्रानप्रदोषेषु	६८९
प्रतिग्रहोच्चासन-	७७७
प्रतिदिवस विजहद्बल-	८९३
प्रत्नकर्मविनिर्मुक्ता-	४८६
प्रत्याख्यानस्वभावा	९२६
प्रमाणनयनक्षेपे	६५१
प्रभव सर्वविद्याना	६७८
प्रभावैश्वर्यविज्ञान-	६२८
प्रश्रयोत्साहानन्द-	८४१
प्रस्तावना पुराकर्म-	५२९
प्रातर्विधिस्तव	५६२
प्राप्तेऽर्थे ये न	४३९
प्राय इत्युच्यते लोक-	३५०
प्राय मप्रति कोपाय	१३
प्रियशील प्रियाचार	३७८
प्रेर्यते कर्म जीवेन	१०६

फ

फलगुणमागम्य देहो	६२०
------------------	-----

व

वधवन्धनमरोव-	४५५
वन्धस्य कारण प्रोक्त	११४
वहि कार्याममर्थेऽपि	२५४
वहि क्रिया वहिष्कर्म	२४३
वहिस्तप स्वतोऽन्प्रेति	८४६
वहिरन्तस्तमोवर्तै-	६२२
वहिस्तास्ता क्रिया	४११
वहिविहृत्य सप्राप्तो	४७१
बाललानतप क्षीण-	७८३
बाह्ये ग्राह्ये मलारायात्	३६
बाह्यसगरते पुमि	४ २
बुद्धिरीरुपयुक्तेषु	८०७
बोधत्रयविदित-	५७५
बोधापगाप्रवाहेण	४८९
बोधो वा यदि वानन्दो	३२
बोधोऽवधि श्रुत-	५०३
बोधागमकपाटे	६४८
ब्रह्मैक यदि सिद्ध स्या-	४२
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य	४६७
ब्रह्मचर्योपपन्नाना-	१२६

भ

भक्तितन्त्र जिनचरणयो	५६१
भक्त्यानतामराशय-	५५६
भयलोभोपरोधाद्यै	८०६
भमिभस्मजटावोट-	१७५
भवदु खानलशान्ति-	५१५
भावपूष्पैर्यजेद्देव	८८२
भावामृतेन मनसि	५२०
भुक्तिमात्रप्रदाने हि	८१८
भुवमानन्दमस्याना-	६८३
भूपय पचनाग्नीना	३४७
भूपवनवनानल-	५७९
भूमौ जन्मेति	६२९
भूर्जे फलके सिचये	४८३
भेदोऽय यद्यविद्या	३०

मेधं विवर्जितामेध	१५९	मिथ्यातम-फलमेव	४९९	यशस्ववर्धनप्रायं	८२८
मैद्यनर्तनमन्त्र	१८	मिथ्यात्वप्रस्तुतिषु	८५	यदेभिर्वाणि यन्त्राणि	११५
मोक्षं मोक्षनक्षत्रिण	७८	दिग्वायुह्वाप्यतमसा	५८	यदेवापममुर्धं	१२९
मोमभ्यन्तरमाय	५१९	मुक्तस्यायं शरीरं	१९३	यद्वत् तत्रमुच	८३२
म		मुक्तिमयभीकृतानुस	४९०	यद्वदुदमनुमानं च	७२
मदिकागर्भसंभूत	२९४	मुनीनां स्वाधियुक्तानां	८३८	यद् यं शिरसा कूर्तं	१९८
मदिकर्तव्यं द्रुतेभ्यं	२१८	मुनिभ्यः साकपिण्डोऽपि	८३३	यद्बीजमस्वमपि	७४१
मदगोहीपनीषु ही	४८	मूढवयं मन्त्रावाही	२४१	यद्भुजभ्रांति	४७९
महेस्पर्शमुपनावि	३५५	मूर्धामिपिषोऽभिपवा	७४८	यद्यप्यस्तिन्	१२९
मज्जाविषकमी	५४७	मूकघटं वनाग्यर्था	८५३	यद्येवं वसिष्ठोऽपि	२५९
मद्यं दूतमुपक्रम्य	४१९	मूलोत्तरगुह-	८१२	यद् रागादिषु दोषेषु	२२८
मद्यमाममभूत्पाय	२७	मूर्त्युर्ध्वं यवभेषु	१३९	यथा पुण्यं विमेश्रानां	७९७
मद्यमांसमभुमार्थं	२९	मत्स्यवेष्टका	४७	यथा यथा विशिष्टाण्ये	८२
मद्यविस्वादिगोहेषु	२९७	मैत्रीप्रमोदकावन्द	११४	यथाविधि यथादेव	७१५
मद्येन यावच्च मद्यं	२७३	मोलमार्गं स्वयं	१८	यथोपचक्रित्वा	९३३
मद्यकविमुसंपद्या	२७५	य		यमनियमस्त्राभ्यामा	८९७
मनसा कर्मया शान्ता	३५२	य कष्टवैर्मुदरवर्धयं	१३९	यमवच नियमवैरिति	७११
मनुजविबिबलकमी	५९७	य कमद्रितवाञ्छितस्य	८६५	यद्विद्वज्जनुयान्त्वस्य	२५७
मनुजत्वपूर्वमनायवस्व	५८७	या पापपापनासाह	८९२	यस्तत्त्ववेत्तनाद्	५१
यनोमात्रोचितावापि	५१९	या धीमत्त्वमवोमिधि-	५३	यस्तु कीत्स्नं मोक्षाधी-	३१
यनोमोहस्य हेतुत्वा	२७६	य सङ्गस्तेष्वपि याव-	७५९	यस्त्वान्तिबुध	५९८
यनोवाक्प्रमथक्रमवि	११९	य स्तुल्यस्त्वयवोवागां	६५१	यस्मात्प्रभुवपः पुंसां	२
सम्भवेन परीक्षा	३८१	यं यमाध्यात्ममार्गेषु	१९१	यस्य इन्द्रजडे	४४९
सम्भवादिषोऽप्येवो	१७	यन्निष्ठाभविटीप्सितेषु	५१	यस्य स्वानं निमुचन	५१५
सन्नाभामखिकाना	१५	यजमानं सवर्चानां	१८४	यस्यात्मनि मृते तत्त्वे	५७
सन्धोऽप्येव वैभ्य	१८	यजमानाति यथावस्त	२५१	यस्यां पश्यमनमहति-	७१८
सन्धोऽयं स्मृतिचाराभि	७१	यज्ञैर्मुखावयुवमग्नि-	५१	यस्येभिर्वायुं नृणां	१४२
सन्धमदमदमदमं	५५२	यत् सप्तमकायाद्यौ	१३	यामात्येन सङ्गार्थ-	७३९
सन्धं सन्धं लिपेडासुं	७१६	यत्परवच करोतीह	२८९	यायाद् व्योमि	७२
सन्धिरे पश्चिरे लीरे	११९	यत्परस्व प्रिय	१८७	यायमायादिपाठेभ्यो	९३३
सनेवमिन्तिक्करो	४३२	यत्कालमाद्ययोगेन	११८	या स्पष्टाधिकविधि	७४२
सनेवै स्पादमुपार्ण	९१८	यत्कर्त्तव्यमिदमामो	११९	या स्वस्ववस्तुत्पन्नापि	७४
सन्नाभोऽयमद्यास्मि	१७२	यत् यज हृषीके	७१	युक्त्वं हि यद्यथा साधु	७९१
सावदावागिनन्धेषु	९३२	यथा यथा परेज्योन्मने	३८८	ये स्वावयति वागीदे	१२४
सालमायामशामयं	८९९	यत् रत्नवयं नास्ति	७९९	येऽधिकार्थं पुनरर्थ	९५
साम्यं ज्ञानं तपोहीनं	८१५	यजमानो युरी वर्ध	८४७	येषां कर्ममुक्तमिद्विद	५४३
सायागिराममिन्ध्यात्	७३९	यत्तु मुपिप्रार्थ	३२९	येषां कृष्णातिमिर	५१७
सार्धंभुजमनुप्रेषा	१९२	यथा यथास्ति	१९७	येषां व्योवाद्य	५२३
सामादिषु यथा नास्ति	२७३				

वेपामन्ते मन्त्राग्रसे	५२१	च	मन्त्राग्रा	८४९	
वेपामन्तमन्त्र-	५१९	वपमा वा मनमा वा	६०१	मन्त्राग्रव-प्रेषि	३०६
योगस्तेनेप्रविष्टस्ते	८६९	इत्त रनाम्भारिमाना-	८५८	मावयनाग्नित-	८०४
योगयोगाचरन्वतुर्	५२०	मन्त्रमन्त्राग्र-	४५५	माठर्ग मर्ममन्त्रान	७८८
योगेस्मिन्नाग्रनाथ	५३८	मन्त्रमन्त्रिणो मन्त्रा	८०५	शागेरमानमागन्तु	२२९
योगमन्त्र ययान्नाथ	८६७	मन्त्रो ययमो मन्त्रि	३८६	"	८३७
योगविचारितरम्येपु	६८१	मन्त्रा लोकवाग्नि-	१८०	मिगण्डिकुमुमुट-	४५३
यो हि वायुने दयनोऽय	१२३	मन्त्रदेव पिता मन्त्र	६३	मिगण्डिकाग्न-	७२०
यो दुराशयदुर्दशो	६६९	मन्त्रमन्त्र मन्त्रि	१८२	मिगण्डिकाग्न-	९२८
यो मन्त्रात्मयमन्त्राना-	९१०	मन्त्रमन्त्राग्र-	५०५	मन्त्रिप्रतिपद्यमन्त्र-	९१४
यो ह्वाश प्रदानाना-	८६०	मन्त्रिप्रदानादि नृणा स्याद्	९७	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	२५१
र		मन्त्रात्मपादिनमृष्टे	८६५	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	४८१
रत्नप्रद प्रयत्नेन	८५१	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	८७	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	५८९
रत्ना महरण नृष्टि	७३०	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	३१९	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	३१
रत्नमार्गे हि वृहन्नि	४०७	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	१३१	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	३३२
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	७०९	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	७३७	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	१७६
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	८८४	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	४८७	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	१६४
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	३७१	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	५८०	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	७७८
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	५३३	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	२३९	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	१७
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	७५१	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	३०७	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	५२६
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	२३२	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	४२७	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	८३६
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	६१	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	६२७	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	८४२
रत्नमार्गे वृष्टमात्र	५५	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	९०५	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	१७४
राज्य प्रवर्धते तस्य	४३०	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	६६०	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	८६८
राज्य निधिनिधानोत्थ	३६७	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	७७९	मन्त्रिप्रदानमन्त्रोद्योग	९२
राज्य निधिनिधानोत्थ	२६७	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	८८४	प	
राज्य निधिनिधानोत्थ	६३३	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	२४४	पटस्वर्थेपु विसपन्ति	९३६
राज्य निधिनिधानोत्थ	७१७	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	७५७	पडत्र गृहिणो ज्ञेया	८५६
राज्य निधिनिधानोत्थ	६५७	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	४१०	पोडशानामुदारात्मा	८८३
राज्य निधिनिधानोत्थ	८६१	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	७४	स	
ल		मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	५३	ससारान्निशिखाच्छेदो	८७५
लक्ष्मीकल्पलते	५८८	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	५३१	सकल्पपूर्वक सेव्ये	३१६
लक्ष्मीकल्पलते	३५७	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	२६८	सकलेशामिनिवेशेन	३६६
लक्ष्मीकल्पलते	६४४	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	९२९	सगे कापालिकात्रेयो	१२७
लक्ष्मीकल्पलते	१९९	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	९४०	सन्धान पानक धान्य	३२७
लक्ष्मीकल्पलते	६४९	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	६३४	सयस्ताभ्यामधो-	७३२
लक्ष्मीकल्पलते	८१४	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	६९५	समोगाय विशुद्धधर्म	४६३
लक्ष्मीकल्पलते	९३४	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो	१४६	सयोगे विप्रलम्भे	६४६
लक्ष्मीकल्पलते	८३५	मन्त्रात्मनिमार्गमन्त्रो			

भरं विवर्जिताभेद	६५९	मिथ्यातम-पदसमेवन	४९९	मशरमचर्चनप्राप्तं	८२८
भैरानधननन्तर्ग	६८	मिथ्यात्वापस्तचित्तेषु	८५	मदेन्द्रियाणि यन्त्राणि	६१५
भोम्भं भोजनघणितम्	७८९	मिथ्यामहान्तमस्य	५८	मदेर्वापमपुष्टं	१२९
भीमव्यस्तमरमर्त्यं	५१३	मुक्त्यर्थं धरीरं	३९३	महत्तं तत्त्वम्	८१२
म		मुक्तिसम्पत्तिस्तामुक्तं	४९०	मद्बुद्धमनुमानं च	७२
महाकागर्मसंभूत	२९४	मुनीनां व्याधिमुक्तानां	८१८	महो- विरहा मृतं	४९८
महर्षिपति दृष्टेऽर्थे	२५८	मुनिभ्यः धाकपिण्डोऽपि	८११	मद्बीजमस्पृशति	७४१
महर्षीपतिर्मुक्तौ	४८	मुहवर्गं मयावचाष्टौ	२४१	मद्भुवनान्ति	४७९
महर्ष्याद्युपनादि	३५५	मूर्ध्निमपिक्तोऽभिपवा	७४८	मद्यप्यस्मिन्	६२६
मत्तुप्रतिष्ठापी	५४७	मूलवर्तं सनायवर्षा	८५३	मद्यं दक्षितेऽपि	२५०
मद्य दूतमुपहृत्य	४१९	मूलोत्तरगुण	८१२	मद् रत्नादिषु दोषेषु	२२८
मद्यमांसमद्युत्पाप	२७०	मूर्त्युर्ध्वं यदन्तेषु	६१९	यथा वृक्षं जिनेन्द्राणां	७९७
मद्यमांसमद्युत्पापं	२९	मत्स्योदकया	४७०	यथा यथा विधिष्यन्ते	८२
मद्योदिस्वादिगोहेषु	२९७	मैत्रीमनोदकादध्य-	३३४	यथाविधि यथावेद्यं	७१५
मद्येन मादवा मद्य	२७३	मोक्षपार्थ स्वर्ग	३८०	यथावकाश्या	९११
मद्यैकचित्तुर्लपमा	२७५	य		यमनियमस्वाध्याय-	८९७
मनसा नर्मसा वाचा	३५२	य कष्टैर्नृदत्तहृत्	६३६	यमस्य नियमस्तेति	७६१
मनुजविधि चक्रमी	५९७	य- कर्मक्षिप्रगतोऽस्तं	८१५	यतिव्रतमुपासकस्य	२५७
मनुजस्वर्गवर्णनमादृत्य	५८७	या पापपापमाद्याय	८६२	यस्तत्त्वदेवमाद्	५१
मनोमात्रोचितवापि	५१६	या- यीजामपयोगिभि-	५१	यस्तु सौत्वं मोक्षापी	११
मनोमोहस्य हेतुत्वा	२७६	या- सङ्गरेष्वपि याव	७५९	यस्त्वामिदमुक्-	५६८
मनोवाक्यायकर्मणि	११९	या- सङ्गरेष्वपि बोधार्ता	६५१	यस्मादभ्युदय- पुंसां	२
मन्त्रमेव परीषाद	३८१	यं यमाध्यासमायेषु	६९१	यस्य इन्द्रजिमे	४४५
मन्त्रमन्त्रियनोऽप्येपो	१७	यन्मिथ्यामिथीयितेपु	५१	यस्य स्वार्थं विमुक्त	५३५
मन्त्राभामिक्षिपाना	१५	यजमानं सवर्षादी	६८४	यस्यासमि भुते तस्यै	५७
मन्त्रोऽप्येवैवैव	६८	यजमानाति यथावत्	२५६	यस्यां वस्तुममर्कति	७१८
मन्त्रोऽयं स्मृतिपाराधि	७०६	यज्ञमुदावभूजमाधि	५९	यस्येन्द्रियाण्युत्पा	६४२
मन्त्रमेवैवैवैवैव	५५२	यज्ञ- यमयमयोर्धो	१९३	यामन्तरेण उपकार-	७१९
मन्त्रं मन्त्रं विप्रेषां	७१६	यत्परम करीवीह	२८०	याचायु- योनि	७२
मन्त्रिरे वदिते नीरे	३६९	यत्परम प्रिय	१८७	याचयामादिप्राप्त्यो	९१३
मन्त्रनिर्मात्रको	४३२	यत्स्वात्मप्रसाद्ययेन	११८	या रज्ज्वादिनिधि	७४२
मन्त्रेण रज्ज्वादि	९१८	यत् मेवादिर्द- नास्ति	१८	या स्वस्वरसुरचनादि	७४
महात्मनोऽप्यमादि	६७२	यथावर्षादि-प्रवर्णमा	११९	युक्तं हि यद्यपि तापु	७९३
मात्रदावाभिदप्यपु	९३२	यत् यत् हृषीके	७१	यै- यथावत्ति यानीये	१९४
मात्रमात्रमात्रावर्ण	८५	यथा यथा वैष्णवेष्वेनी	१८८	यै- यथावत्ति यानीये	१९४
मात्रं यत् सतीदीन	८१५	यत् रत्नवर्गं नास्ति	७	यै- यथावत्ति यानीये	१९४
मात्रादिनामिथ्यात्वा	२३६	यजमानो मुनि- यम	८४७	यै- यथावत्ति यानीये	१९४
मात्राद्युपपत्तेषा	६६२	यज्ज- यज्ज- यज्ज-	३२	यै- यथावत्ति यानीये	१९४
मात्रादिषु रथा नास्ति	२०३	यज्ज- यज्ज- यज्ज-	६९७	यै- यथावत्ति यानीये	१९४

२. उद्धृतपद्यानामकाराद्यनुक्रमणी

अष्टविग्रहाच्छान्ता-	७७	सन्देशकमविपाकाशय-	मन्मथोन्मायितस्त्रान्त	४३१
वर्षात्य विविधद्वेदान्		(गोगदर्शन १-२४, २५) ९	महापद्मगुप्तो विष्णु-	२२२
(मनुस्मृति ६-३६) १५३		क्षत्रपुत्रोऽश्वत्थिनिधिव १५७	महोक्षो वा महाजो वा	३९९
अन्तस्तत्त्वविहीनभ्य	१५४	क्षुद्रमत्स्य किलैकस्तु (चराग-	मानव व्यामवाशिष्ट	४०२
अन्त सा-शरीरेषु	२०७	चरित ५, १०३) ३११	मायासयमनोत्सूर्पे	१८९
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति	१५२	गोमर्च सुरभि-	मुपोद्यादीनबोधोगा	४०४
अबुद्धिपूर्वपिदाया		चण्डोऽवन्तिषु मातृन् ३१३	मास जीवशरीर	३०१
(आत्ममीमासा) २७५		जले तैलमिवैतिह्य १८१	यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते	
अभिमानस्य रसाय	१८०	तृणकल्प श्लोकल्प-	(स्वप्नाध्याय)	३७
अल्पैरपि समर्थे	३९४	ते तु यस्त्ववमन्येत	यज्ञार्थ पशव मृष्टा	३९७
अस्थाने वदकक्षाणा	३९६	(मनुस्मृति २-११) ८९	वक्ता नैव सदाशिबो	७८
आज्ञामार्गसमुद्भव (आत्मा-		दण्डो हि केवलो १९५	विशुद्धमनसा पुसा	१९६
नुशामन श्लो० ११) २३४		दिश न काचिद् (सौन्दरनन्द	श्रीभूति स्तेयदोषेण	३७५
आसन्नभगव्यताकर्म	२२४	१६, श्लो० २८-२९) १०	श्रुति वेदमिह प्राहु	
चररोक्तनिर्वाह-	१५६	,, ११	(मनुस्मृति २-१०) ८८	
ऊर्विलाया महादेव्या-	२११	नैवान्तस्तत्त्व-	पटशतानि नियुज्यन्ते	३९८
एक एव हि भूतात्मा		पञ्चकृत्व किलैकस्य ३६३	पण्ड्या क्षिते	४४७
(ब्रह्मविन्दु १-१) ४३		परिणाममेव कारणमाहु	सन्नसद्वच समावेव	२२०
एकस्मिन् मनस कोणे	३८६	(आत्मानुशासन श्लो० २३) ३४३	स पूर्वेषामपि गुरु	
एकस्मिन् वामरे	२७८	पादमायान्निवि कुर्यात् ३७३	(योगदर्शन)	२१
ऐश्वर्यमप्रतिहत (अवधूत-		पुण्य वा पाप वा २१०	मुदत्तोसगमासक्त	२०२
वचन) ३४		पुराण मानवो धर्म	स्वमेव हन्तुमीहेत	२२१
औपध्य पशवो वृक्षा		(मनुस्मृति १२-११०) ४०३	हत ज्ञान क्रियाशून्य	२३
(मनुस्मृति ५-८०) ४०१		पिहिते कारागारे २७	हामात्पितु	१६५
कादम्बताक्षर्यगोसिह-	१८३	वहि शरीराद्यद् ९	- हेतुशुद्धे श्रुतेर्वाक्यात्	२७७
		वालवृद्धगद- १७२		

३. विशिष्ट शब्दसूची

अ	अतिथि	३१९	अध्यात्मतत्त्व	२४१
अग	अतिप्रसग	१४७	अध्यात्मागम	२७०
अक्षर	अतिशय	२१८	अध्यात्मागिन	३१९
अग्निसत्कार	अतीन्द्रिय	६६	अध्यात्माचार	३४
अग्निहोत्र	अदेव	३६	अध्यात्मतत्त्वविद्या	३२७
अचेतन	अद्वैत २०, २४, ९६, २४६		अध्यात्ममार्ग	२७१
अजीव	अद्वैतमत	१४०	अध्यात्मसमाधि	४६
अज्ञान (मिथ्यात्व)	अधर्म	३	अध्वर्यु	१८८, ३२०
अणुयुत	अधिगम	१०४	अनगक्रोडा	१९३
अतत्त्व	अधिगमसम्पत्त्व	२२३	अनक	२३८

संसारानुवि	४९६	सर्वस्तुस्व	६७७	स्तोत्र यत्र महाभुविषया	५९९
संसारानुविषया	८ ३	सर्वा हिम्यानुषोमा-	४१२	स्वर्क मूढर्षि विषा ध्यात्	७११
संसारानुविषयान	४४४	सर्वांतरनामांतर	५९८	स्नपनं पूजनं स्तोत्रं	९१२
संसारानुविषयसाम्य	३	सर्वात्म्यप्रभुताता	८१९	स्नानमन्त्रादयमन्तर	७२३
संसार सर्वत्र चित्तस्य	२३	सर्वात्म्यविज्जम्भस्य	६९८	स्नानाभुविषयसमा	२०१
संसारविषयका इति	६७	सावित्रीय तनुनामा	१८९	स्नर्हि विह्वल बन्धुपु	८९९
संसारो यत्र नाशम	२९१	संविद्राष्ट महाप्राज्ञ	२८७	स्मररसविमुक्तमूर्ति	५५४
संसारो मुनेषु नुप्यन्ति	९१	संविद्या पागुत्तरिच	८९४	स्था वैद्यः स्थामर्हि अग्र	१५८
संसारानुविषय	२८४	संविद्या या चित्तकारमा	८८८	स्थात्रात्रमूढरमया	७४७
संसारानुविषयसाम्य	३	संविद्या या चित्तकारमा	४३८	स्वर्कोयं कीर्तिं यद्वा	२९२
संसारानुविषयसाम्य	२८५	संविद्या या चित्तकारमा	२८३	स्वर्गो-स्वाम्यतां याति	५
संसारानुविषयसाम्य	११९	संविद्या या चित्तकारमा	४३७	स्वर्गादेव विमुक्तानां	४७६
संसारो सावकाः साधु-	८ ८	संविद्या या चित्तकारमा	८२६	स्वतः पुत्रमपि ध्यात्	१९८
संसारविषयविषयसाम्य	२ ५	संविद्या या चित्तकारमा	७२२	स्वतः सर्वं स्वमात्रेण	२४९
संसारविषयविषयसाम्य	५१४	संविद्या या चित्तकारमा	३४	स्वभावात्तरसंभूति-	२८
संसारविषयविषयसाम्य	९	संविद्या या चित्तकारमा	८८७	स्वभावात्तरसंभूति-	२७९
संविद्यात्वात्समो वेदा	४३४	संविद्या या चित्तकारमा	४२४	स्वर्गं रक्षतामुद्रि	८९
संविद्याविषयसाम्य	२७४	संविद्या या चित्तकारमा	८५१	स्वर्गविषयसंयति	५५८
संविद्या या चित्तकारमा	२८९	संविद्या या चित्तकारमा	९९	स्वस्वाभ्यास्य न बाधोऽयं	१७
संविद्याविषयसाम्य	६ ७	संविद्या या चित्तकारमा	२५१	स्वस्वस्य स होषोऽयं	१९७
संविद्याविषयसाम्य	४	संविद्या या चित्तकारमा	६९६	स्वस्वाभ्यास्यनर्थादा	४१९
संविद्याविषयसाम्य	७	संविद्या या चित्तकारमा	३७४	स्वस्वाभ्यास्य सयमे अरूप	२११
संविद्याविषयसाम्य	९२५	संविद्या या चित्तकारमा	५६७	स्व	
संविद्याविषयसाम्य	२१८	संविद्या या चित्तकारमा	५७१	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	४ ९
संविद्याविषयसाम्य	५	संविद्या या चित्तकारमा	३१८	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	७५८
संविद्याविषयसाम्य	२९९	संविद्या या चित्तकारमा	०२	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	५ ९
संविद्याविषयसाम्य	२९९	संविद्या या चित्तकारमा	११९	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	४२
संविद्याविषयसाम्य	६७८	संविद्या या चित्तकारमा	८४९	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	३५४
संविद्याविषयसाम्य	५१	संविद्या या चित्तकारमा	५१७	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	३१७
संविद्याविषयसाम्य	७७७	संविद्या या चित्तकारमा	५७३	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	३१५
संविद्याविषयसाम्य	८३	संविद्या या चित्तकारमा	८३	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	२७३
संविद्याविषयसाम्य	८८	संविद्या या चित्तकारमा	७७३	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	३५९
संविद्याविषयसाम्य	२९	संविद्या या चित्तकारमा	८७८	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	५८९
संविद्याविषयसाम्य	८	संविद्या या चित्तकारमा	३ ३	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	३ ५
संविद्याविषयसाम्य	७७३	संविद्या या चित्तकारमा	८२५	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	१
संविद्याविषयसाम्य	७१८	संविद्या या चित्तकारमा	९८	स्वस्वस्वस्वस्वस्वस्व	४७८

२. उद्धृतपद्यानामकाराद्यनुक्रमणी

अदृष्टविग्रहाच्छान्ता-	७७	वन्देशवर्मविपाकाद्यर्थ-	म-मथोन्माथितस्वान्त	४३१
अधीत्य विधिवद्देवान्		(योगदर्शन १-२४, २५)	महापद्ममुतो विष्णु-	२२२
(मनुस्मृति ६-३६)	१५३	क्षत्रपुत्रोऽक्षत्रिक्षिप्त्वा	महोक्षो वा महाजो वा	३९९
अन्तस्तत्त्वविहीनस्य	१५४	क्षुद्रमत्स्य किलैकस्तु (वराग-	मानव व्यासवाशिष्ठ	४०२
अन्त सारशरीरेषु	२०७	चरित ५, १०३)	मायासयमनोत्सूर्पे	१८९
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति	१५२	गोमवे सुरभि-	मृषोद्यादीनवोद्योगा	४०४
अवृद्धिपूर्वपिज्ञाया		चण्डोऽवन्तिषु मातङ्ग	माम जीवशरीर	३०१
(आप्तमीमामा)	२२५	जले तैलमिवैतिह्य	यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते	
अभिमानस्य रक्षार्थं	१८०	तृणकल्प श्लोकल्प-	(स्वप्नाध्याय)	३७
अल्पैरपि समर्थे	३९४	ते तु यस्त्ववमन्येत	यज्ञार्थं पशव सृष्टा	३९७
अस्थाने वद्धकक्षाणा	३९६	(मनुस्मृति २-११)	वक्ता नैव सदाशिवो	७८
आज्ञामार्गसमुद्भव (आत्मा-		दण्डो हि केवलो	विशुद्धमनसा पुसा	१९६
नुशामन श्लो० ११)	२३४	दिश न काचिद् (मौन्दरनन्द	श्रीभूति स्तेयदोषेण	३७५
आमन्त्रभग्यताकर्म	२२४	१६, श्लो० २८-२९)	श्रुति वेदमिह प्राहु	
उररीकृतनिर्वाह-	१५६	"	(मनुस्मृति २-१०)	८८
ऊर्बिलाया महादेव्या-	२११	नैवान्तस्तत्त्व-	पट्टशतानि नियुज्यन्ते	३९८
एक एव हि भूनात्मा		पञ्चकृत्व किलैकस्य	पठ्या किते	४४७
(ब्रह्मविन्दु १-१)	४३	परिणाममेव कारणमाहु	सन्नसश्च समावेव	२२०
एकस्मिन् मनस कोणे	३४६	(आत्मानुशामन श्लो० २३)	स पूर्वेषामपि गुरु	
एकस्मिन् वामरे	२७८	पादमायाभिर्वि कुर्यात्	(योगदर्शन)	२१
ऐश्वर्यमप्रतिहत (अवधूत-		पुण्य वा पाप वा	सुदत्तीसगमासक्त	२०२
वचन)	३४	पुराण मानवो धर्म	स्वमेव हन्तुमीहेत	२२१
ओषध्य पशवो वृक्षा		(मनुस्मृति १२-११०)	हत ज्ञान क्रियाशून्य	२३
(मनुस्मृति ५-४०)	४०१	पिहिते कारागारे	हामात्पिनु	१६५
कादम्बताक्षर्यगोसिंह-	१८३	वहि शरीराद्यद्	- हेतुशुद्धे श्रुतेर्वाक्यात्	२७७
		बालवृद्धगद-		

३. विशिष्ट शब्दसूची

अ	अतिथि	३१९	अध्यात्मतत्त्व	२४१
अग	अतिप्रसंग	१४७	अध्यात्मागम	२७०
अक्षर	अतिशय	२१८	अध्यात्माग्नि	३१९
अग्निसत्कार	अतीन्द्रिय	६६	अध्यात्माचार	३४
अग्निहोत्र	अदेव	३६	अध्यात्मतत्त्वविद्या	३२७
अचेतन	अद्वैत	२०, २४, ९६, २४६	अध्यात्ममार्ग	२७१
अजीव	अद्वैतमत	१४०	अध्यात्मसमाधि	४६
अज्ञान (मिथ्यात्व)	अधर्म	३	अध्वर्यु	१८८, ३२०
अणुघ्नत	अविगम	१०४	अनगक्रीडा	१९३
अतत्त्व	अधिगमसम्पत्त्व	२२३	अनक	२३८

अनघर	११३	अथ (-सम्पत्त्य)	१११ ११४	आयमाधय (-धर्म)	२१५
अनघार	१२७ ११५	(के दो मेव)	११३	आचाम	९१
अनघाधीय	१९२	अर्थात्कार	११३	आचामपरमेष्ठी	२२
अनघादमीन	२१९	अर्थव्यवस्था	९८	आचामोपासन	३२७
अनघानुबन्धि	१३१	अध्यासीरवर	१६	आमोवक	१ १
अनघदण्ड	२११	अहतरमेष्ठी	२१८	आज्ञा (-सम्पत्त्य)-	१११ ११४
अनघाचन	६१	अहत्यातिमा	७७	आवापनमीय	४३ ८५
अनघरवा	२१	अहृत्य	२४ २७१	आरममुध	३
अनाचाम	१३	अहयुन	९	आरमसाध	३
अनायगम	११७	असकविप	१	आरमविदम्भना	२
अनारबाम्	११७	असुखता	२९६	आरमविद्या	३१६
अनुकथा	१ ८ ११० २२२	अवगाह(-सम्पत्त्य)-	११३ ११४	आरमा	२६८ २८२ २९३ ३१६
अनुमेला	२६७	अवधिप (-बोध)	९८ ९२ १	आरमिक्त (मुक्त)	९
अनुमाय (-बोध)	३०	१४३ १५६ १८१ २२८			१२
अनुमान	१९ २१ ३३५	२२६ २२७		आमन्थ	८ १२
अनुमाया (-मिथा)	३२१	अवनत	२३८	अमृत	२ १३ १५ १६ २
अनुवीध २२१ २६३ ३२७ ३२८		अवर्धबाह	१७५	२१ २३ २४ २५ ३	
अनुष्टान	२	अविद्या	१ ८	३३ ३१ ७४ १११ २१२	
अनुधान	२६१ २७०	अग्रन	१६	२४७, २६१ २८२	
(वा रवकव)	३१७	अग्रमेध	१८८ १८९	अल्पना	१ १६ २०
अनुव (रोटप्याम)	२६२	अष्टायमहानिमित्त	६२	आगत्यरूप	१६
अन्यतरव	३ ११	अष्टाश्रीक्रियावाङ्मय	५३	आरमा	२९
अन्यरात्र	१४७	अष्टाश्रीरूप	४३	आम्नाय	१ ११
अन्यविहीय	२	अन्ययव	३ ३१	आम्रव	७१ ११५
अन्यरमापा	३६	अन्यय वलव	१७५	आतप्याम	२६२
अन्योवागुववध	२	अन्ययासाय	१७५ १७६	आर्तन	६३
अन्यारवध	११३	अन्येय	३३५	आर्तनामाध	१९
अन्यामष्ट	९	अर्तकार	८	आपय	९
आरिहृद्	३३५	अर्हिगा	३५ १०५, ११५ ३३५	आप्यावर	३१६
आराय	३	अर्हिगाय	१५५	आतप्यमय	१ ८
अरावागम (वयाय)	३३२			आतप्यमयगा	१ ८
अरीरुह (-व्याय)	२५८	आ		आर्तक	१११
अन्य (-व्याय)	२ ४	आवागम	५३	आर्तकय १ ८ ११	२३३
अवाय	२	आवागम	१७८	आवाय (वान)	२ ८
अवि वरय	१६६	आवागमिवा	१७८		५
आनुव	१	आवम	११ १६ १७ ७४	इन्द्रा	३
अन्यव	३३	२६ ३ ३३ ८१ ७८		इन्द्रावाय	१०४
अन्यवरीय	१८७	३ / ३३३ ३३५		इन्द्रा	३
अनुव	७३	अन्यवरीय	१६८	इन्द्र	१८ ३१

श्लोकाशुक्रम

५२७

कर्मशास्त्र	११०	जी	मेरली	१५५
कर्मशास्त्रिका	६१	गोपनीय	नेमोताटा	३५
कर्मिण	३३०, ३३८	१०१	नेम्य	२६६
कु		फा	नोमुमनामय	१५१
कुत्तर	१, १३, १४	रक्षा	क्रियाकाण्ड	२, ३०४
कु		संगत	गोप (-ता मय)	३३१
कुम्हार	२०५	संग (ने मर)	पञ्च	९
कुम्हार	१८३	सङ्गीत	पञ्चभय	४
कुत्तरगुण	१०८	संगी	धर्म	१८९
कुत्तरगुणिका	२५	संगी	छापण	३१६
कुम्हारपत्र	१८५	संगी	भयोपम	११२
कुम्हार (-गम्भयरा गुण)	१६, २०२	संग (अनुगोप)	समाप	३२०
कुम्हार (-गम्भयरा)	१६३, १६४	संगी	सावि	७१
कुम्हार	१२०	संग १, २, ९, २० २०, १००, ३१६	धुल्ल	६३, ७३, ३०४
कुम्हारपरमेष्ठी	२०१	संगी	क्षेत्र	२२३, ३११
कुम्हार	२३०, २३३, ३०९	संगी	ग	
कुम्हारपत्र	७६	संग ३१, ८०, १८५, ३२३, ३३०	संगटागम	१३२
कुमा	२	,, (-मी निगित)	संगी	६
कुम्हारनादिक्रियाकाण्ड	२००	संगी	ग	
कुम्हार	३०३	काकन्दी (पुरी)	गजस्तान	२९०
कुम्हारविधि	२८८	काणाद	गजुकप्रदान	२
कु		कापालिक	गणधर	४९, २१७, २२६
कुम्हार	२८	कापिल	गणकुटी	६९
कुम्हार	२५८	कामधेनु	गणोदक	२३९
कुम्हार		कायकपायकर्जना	गद्य	३१३
कुम्हार	१८८	कायकलेश	गुणधन	१४३, २१०
कुम्हार	३१६	कारुण्य	गुणस्थान	३२७, ३२८, ३२९
कुम्हार		कालातिक्रमण	गुप्ति	२२४
कुम्हार		काव्य	गुरुपचक	३२४
कुम्हार	१८३	काहल	गुरुधीज	२८३
कुम्हार	२८८	किपाकफ	गुरुपास्ति	३२६
कुम्हार	२८८	कुडली	गृहस्थ १, २५, ११५, १२९ २१५,	
कुम्हार	६३	कुल (-मद)	३०३, ३०५, ३१६	
कुम्हार (-पुरी)	१४२	कुलाचार्यक	,, (लक्षण)	३१८
कुम्हार (मिथ्यात्व)	३१	कुहक	गृहस्थ (-के पट्कर्म)	३२६
कुम्हारवाद	२२१	कुटलम्बन	गृहाश्रम	१९१
कुम्हार		केवलज्ञान	गृही	३१५
कुम्हार	२२३	१५, ५२, १२५, २१८, २२४,	गृहदेहाचन	३६

भोपुष्टमगमदहार	३६	जप	२३३ २४० २६१ २८७	ज्ञान (गह)	३२९
गोमुखा	२८२		३२७	ज्ञानवाङ्म	३०४
गोसब	१८८ १८९	जामुडीप	३	ज्ञानवर्त्मगोपबोयसद्यम	९५
पीठम	१८८	जकबन्ध	११	ज्योति	२६ २७५
ग्रहमत्स्य	३६	जोगलदेव	१७७	ज्यातिमन्त्रमिन्त्रम	३०३
	घ	जाति	३१३ ३२१	ज्योतिष्क (देव)	१२
घन	२३८	(गह)	३२६	ज्योतिषादि भास्य	१८८
घटाकाश	४ ११	जात्यग्न	४		म्ह
	घ	जितपिष्ट	३१६	हास्करि	२३८
घनवर्ती	२२३ २२७	जित	०४ ९२ २२८ २३		त
चतुर्पति	२० ३२८ ३३३		२३३ २३५ २३८ २३९	तव	२३८
चतुर्बन्धुषु	२२		२४ २४७ २४७ २४८	तत्त्व १६ १९ २४ २५ ३८ ६१	
चतुर्वर्ग	२६		२८७ ३३	१६ १११ २६४ ३१७ ३१८	
चरन (अनुयोग)	३२८	जिनधर्म	२२२	तत्त्वज्ञान	३७८
चातुर्वर्ग्य	९४ २२ ३ ४	जिनपति	२३० २४	तत्त्वमायता	२२ ११५ २२६
चातुर्वर्ग्यममलसंघ	१८३	जिनपुत्रा	९१		३१७
चान्द्रायण	७३	जिनमन्त्रि	४८	तत्त्वविचिन्त्य	३३५
चारणादि	८९	जिनमाय	१९५	तत्त्वविनिश्चय	३२६
चारणपिष्टमल	१४२	जिनकर्म	८ ३ ०	तत्त्ववेदी	२६
चारिण	१ २ १६ १२७ १२८	जिनसमय	४० ६८ ७	तत्त्वामिनिश्चय	३६
	२२७ २२९ २९ ३३२	जिनसाधन	२२	तत्त्वामिनिश्चय	२ ३२६
चारिणमोह	१४९	जिनागम	३७ ७१ ८६ ९४	तत्त्वोपदेशक	२१
चार्याक	९५ १३९		२९२ २९६	तत्त्व	२२
चित्तवर्ति	३ ५२	जिनाभियेक	२३३	तप	६१ ७१ ८२ ८३ १७५
चित्तमन्त्रि	१३ ५२ ५८ १५५	जिनामयन	८		२४७ २६१ २९३ ३०४
	२१८ २२७ २८७ २९० ३ ८	जिमेष्ठा	५७ २२७ २३ २४१		३२३ ३२६ ३३ ३३५
चेतन	३१३		३	तप संरम्भ	७३
चेकासीप	१३२	जिनेस्वर	२४६ २४८ २६७	तपस्वी	३१९
चेतन्य	३ २४४	जीव	७ २९ ३ ६५	तपोधन	३३
चैरय	८२	जीवस्वान	३२८	तात्काल	४
चैत्यालय	८२	जीव ३३ ६३ २१९ २२७ ३ ३		तामसज्ञान	३ ७ ३ ८
चोच	२६	(गह)	२४	तात्त्विकवैदिक	२
	च	जीवात्मविधि	२१६	तात्त्व	२३८
छायाग	२७२	जीवात्मसुधारण	२३९	तिथोत्पत्ता	१६
	च	जीवामाद्य	७	तिथि	२३८
छायाग	२७२	जीमिति	१	तीर्थ	९३
	च	जीमिनी	३	तीर्थकर्म	४९ ८
छायाग	२७२	ज्ञान १ २ ३ ५ ९ १२ २३ २४		तीर्थनर	७
छायाग	२७२	३१ ८२ ८३ १२४ १३५		तीर्थमाता	१८७
छायाग	२७२	१२८ २२७ २२९ ३ ४			
छायाग	२७२	३१ ३१८			

तुच्छाभाव	११	देवसेवा	३२६, ३२७	न	
तुष्टि	२९६	देवकी	१६	नग्न	३१६
तोरण	९२	देवपूजा	२४१	नग्नत्व	३३
तौर्यश्रिक	१७८, १९३	देवगृह	७३	नन्दीश्वरपर्व	९१
त्रयो	३२०	देवच्छन्द	९२	नन्द्यावर्त	२३७
त्रयोतत्त्व	२७१	देवनिर्मित	९३	नय	१०५, २२१, २६३, ३१२
त्रयोपति	२७१	देवयात्रा	२४९	नयद्वय	२७
त्रयोमार्ग	२७१	देवार्चना	३२३	नमेष्ट	२३७
त्रयोमुखत	२७१	देशयतिग्रन	५१	नयानुष्ठान	१३
त्रयोरूप	२७१	देशव्रती	२११	नरेन्द्रविद्या	६९
त्रयोव्यापन	२७१	दैव	८४	नाडी	२७७
त्रस	२९	दोष	१५, १६, २०, ३३, ३४, ३७, ५८, ७१, ७४, ७७, ३२६	नाद	२६०
त्रिकमत	२	द्रव्य	२, २२, २९३, ३००	नादरूप	२१
त्रिशुद्धा (भिक्षा)	३२१	द्रव्य (निक्षेप)	३०५, ३०६	नाम (-निक्षेप)	३०५, ३०६
तीर्थकर	२१	द्रव्यद्रव्यानुयोग	३२८	नारद	१८१, १८२, १८३
		द्रष्टा	२८	नास्तिक	३, २४, ९७, १११, ३०१
द		द्वादशाङ्ग	२२०	निक्षेप	१०५, २२१, २६३
दक्षिण (मार्ग)	२४	द्विज	२४, ९६, २४४, ३२१	निदान (-शल्य)	११५
दण्ड	३३०	द्विजागम	२४	निदान (आर्तव्यापन)	२६२
दण्डनोति	८४	द्वेष	३, १५, २४७	निदान (अतोचार)	३२५
दम	२२७	द्वैत	२०, २४	निमित्तमात्र	१२०
दया (-ब्रह्म)	३१८	ध		नियम	२९१, ३१७, ३१९, ३२३, ३३५
दयामन्त्र	३१९	धर्म	१, २, ३, ७१, ७८, ९६, ११०, १३५, १७५, १९३, (-के दो भेद) २१५, २९९, ३२६	निरतिशय	९
दर्शनमोह	१७५	धर्मकथा	३२६	निरक्षित	३१६
दशवल	२	धर्मव्यापन	४७, २६३, २८९	निर्ग्रन्थ	८९
दाता	२९३, ३१३	धर्मभूमि	१९१	निर्वीजता	२०
दान	७१, २१२, २२९, २६१, २९३, ३०५, ३१३, ३२३	धर्मशास्त्र	२४	निर्वीजीकरण	२६०
दान (-के भेद)	२९४, ३०१, ३२६	धर्मसूरि	१	निर्मम	३१७
दिव्याल	२३८	धर्मस्वरूप	३२६	निर्विचिकित्सात्मा	६१
दोक्षा	२, ५, २४७, ३०३	धर्मार्थिकाम	१३४	निर्वृति	४
दोक्षायोग्य (-वर्ण)	२९९	धार्मिक	३२६	निवृत्ति	१
दोक्षितात्मा	३१९	ध्यान	१९३, २२७, २२८, २२९, २३३, २५२, २५८, २६३, २७७, २७८, ३२७	नि श्रेयम	१, ७८
दोषनिर्वाण	२७१	ध्यान (-का लक्षण)	२५३	निष्कल	२
दुःख	३	ध्यान (के भेद)	२५४	निसर्ग	१०४
दुराग्रह	५			निस्तरङ्ग	११
दुर्नय	४			नीतिमार्ग	१२८
दृष्ट	१९, २२			नीराजना	२३६
दृष्टान्त	५, २४६			नीतिकव्य	३५
देव	२५, ३८, ६१, ९६, १७५, २६९, २७२, ३०४, ३२०				
	६७				

पृ	पाठ्य	३६	प्रत्याख्यान	१५५	
पदा	२४६	पाणिनाम	३५	प्रत्याख्यान (कपाय)	३३२
पद्यपाठ	५	पाण्डव	१२९	प्रथमानुपाय	३२८
पञ्चमस्यास	२६९	पाप	२९३ ३	प्रवेश (-अर्थ)	३०
पञ्चमस्यादिपाठ	१९४	पाठपूजा	२९५	प्रभावना	७१
पञ्चमस्यादि	२२३ २२४	पाणपोषी	१३२	प्रभावना	२२२
पञ्चमीगति	२९	पाप	१२२ २७८ २८३	प्रभाव ८ १९ २६ १ ५ २२१	
पञ्चमिनामक	३१८	वारिवात	२३७		२६३
पञ्च	२३८	पाशुपत	२	प्रवीर	१५
पठ्यप्रति	९	पितृपूजा	६१	प्रयत्न	३
पठार्थ	२ १३ २६ ३ ३३	पितृजल	१८८	प्रातिहार्य	२६९
	३६ ७४	पुण्य	१२२ २३ २३४ ३ १	प्रवचन	३२४
पदा	२७७	पुद्गल	२९	प्रवाङ्मौक	१७८
पद्यासम	२८४	पुण्डरीक	१८८	प्रवृत्ति	१ २ १२४
पद्य	३१३	पुराणम	२३३	प्रथम	१ ८ ११ २२२
परमब्रह्म	३ ४ २५७ २६८	पुराण	१९	प्रथक्याण	२६८ ३१७
परमवैराग्य	७६	पुष्पकार	१२८	प्रस्तावना	२३३
परमब्रह्मता	१२	पुष्पविरीच	९	प्रातिहार्य	६९
परमहन्	३१९	पुरोहित	८४ १०४	प्राथ	३२३
परमात्म	२१८ २६३ २७३	पुण्यस्थ	१४	प्राथमिक	१५३ २११
परमात्मा	२१९	पूजन	३२७	प्रोत्पा	६१
परमार्थ	४	पूजा	८२ ८३ २३३	प्रोद्युत	२१५
परमार्थसू	५	पूजा (मह)	३३६	प्रोद्य	२८८
परमावगाड (-सम्यक्)-		पूजाकर्म	२३३		
	११३ ११४	पूर्व	३१	बद्धिशासन	४४
परमेष्ठी	२१७	पूर्वापरविरीच	२६	बन्ध	२८ २९, ३ ६१
परलोक	३ १३ ४५ २ ४	वैगुण्य	१७५	बन्ध (-अर्थ)	३२६
परवारी	२	वीर्यपुत्र	१७७	बद्धिस्तर	३
परिच्छ	२ ३	प्रवीर्य	२२ ३१	बार्हस्पत्य	३
परिदेव (आर्जुनात्म)	२६२	प्रवीर्यक	३२५	वीर्य (-सम्यक्)-	११३ ११४
परिजोष	२ १	प्रवृत्ति	७	मुद्रापाठी	९१ ९२ ९३
परिज्ञातक	१३	प्रवृत्ति (-अर्थ)	३	मुद्रि	४
परीवार	१७५	प्रवृत्तिपुत्र	५	मोक्ष	८
परीच	३५ ७४	प्रवृत्तिविद्या	८८	वीर्यावना	३२३
पर्याय	१२	प्रवृत्ति	२ ५	वीर्य	३२१
पद	३८८	प्रवृत्ति	३३५	पद्यावारी	३१५ ३१८
पद	१८१ आदि	प्रवृत्ति	१५८ २९५	वक्र ११ १२ १८९ १९१ ३१८	
पदार्थ	२८८	प्रवृत्ति	३ ३	वक्रापाठ	१९
पदार्थोद्	३ १३२	प्रवृत्ति	३३५	वक्रार्थ	३४ ४३ ५४

प्रज्ञाचारी	३१५, ३१८	मणि (-बोध)	५८, ७५, ७२६	मुनि	९, १०, २०
प्रज्ञान	२३		७०७	मुनि	२, ४, ५, ८, १६, ४८, ५२, १११, २२०, ७१२, २९२
प्रज्ञाशला	१८	मन्त्र (-भ्राष्ट)	११७, २०६	मुनिमार्ग	७६३
प्रज्ञाश	२३०	मन्त्र	४	मुनिरास	२१५
प्रज्ञा	१८८	मन्त्र	१८८, १९०	मुनि	६१, २६०
प्रज्ञा	१८९, ३२१	मन्त्र २, २०, २९, ३४, ४९, १५६, १५७, १८८, २१८, २३५, २४९, २५१, २५२, २७५,		मुनिमादिपदोक्ति	१७५
प्रज्ञाहेतुवादी	४			मुनि	३३, ३४, ३१६
भ				मुनि	३१७
भक्ति	९४, २८१, २९६, ३०८, ३१३	मन्त्रभेद	१७५	मूढप्रय	११७
भट्टारक	६८	मन्त्रार	२३७	मूलगुण	१२८, १२९
भम्मा	२३८	मन्त्रामुद्रा	२७५	मूलोत्तरगुण	३०४
भरत (-नर्प)	२२३	मन्त्रोपि	१८८, १९०	मोक्षला	६१
भमि	६१	महाकल्याण	२१९	मन्त्री	१५०, २४१
भयनवासी (देव)	१२	महापञ्च	८२	मोक्ष १, २, ३, ६, ९, २०, २८, ३०,	
भस्म	६१	महाप्रातिहार्य	२१८		५९, ६१
भस्मोद्भूत	२	महामत्स्य	१४२	मोक्ष (-का स्वरूप)	२६७
भागधेयीविधान	४९	महामह	८३	मोक्षक्षण	४
भाव (-निक्षेप)	३०५, ३०६	महामुनि	१८२, २१८	मोक्षमार्ग	१७५
भावना	१, २, ६	महेश्वर	२, २३	मोक्षामृत	२३४
भावपुष्प	३२०	मात्सर्य	३१३	मोक्षिलक्षण	९
भिक्षा (-के भेद)	३२१	माध्यस्थ्य	१५०	मोह	१, १५
भिक्षुक	३१५	मान (-का स्वरूप)	३३१	मीन	३०८
भुगुमध्य	३६	मानवधर्म	१९०		
भूत	७	मानस्तम्भ	६९, ९२	य	
भूतबलि	२१५	मानुषोत्तरगिरि	१०१	यक्ष	२३८
भूतात्मा	११	माया (-शक्त्य)	११५	यक्षकुल	१४३
भूपा	३१३	माया (-स्वरूप)	३३१	यज्ञ	२४०, ४५, ९६, १८८, १८९, ३१९
भूतार्थनय	११७	मार्ग (-सम्यक्त्व)	११३, ११४	यज्ञपञ्चक	३००
भूर्भुव स्व	१८८	मार्गणास्थान	३२७, ३२८	यज्ञाशदान	२७४
भेरी	२३८	मार्गप्रभाव	८२, ३०४	यज्ञोपवीत	५१, १७३
भैषज्य (-दान)	२९४	मार्गसूत्र	२६७	यति ११५, ३०३, ३१६, ३२४	
भोगायतन	१३, २८, ५२, १७९	मार्दव	७१	यति (-के अनेक प्रकार)	३१६
भोगरक्षा (-रोद्रघ्यान)	२६२	मासोपवास	१७३	यथाख्यात	३३२
भ्रामरी (भिक्षा)	३२१	मिथ्यात्व १, २, ३०, ३१, ३६, ९५, १५५, २२०, ३०१		यथागम	३२९
म		मिथ्यात्व (शक्त्य)	११५	यथाम्नाय	३१७
मज्जन	६१	मृदग	२३८	यम २९१, ३१७, ३२३, ३३५	
मण्डल	२६०	मृत्युञ्जय	२६०	यष्टा	३२०
मतङ्ग	१८८, १९०			यागज्ञ	३०१

यात्रा	२०३	धनुरेण	१६	वेधु	२२८
यायन	१९०	बागलकार	३१३	वेध २४ ४५ ८४ ९६ ११९	११९
युक्ति	३१६	बागिल	३०४	१४ १९	
योग	१५३ २८२	बाचयम	३१७	— (निर्दिष्ट)	३२
योग (के हेतु)	२५८	बाधयेय	१८८	वेधमिच्छक	२४
मापपट्ट	९१	बाधस्य	७१ ९४, २२९	वेधमिच्छा	९५
मोक्षी (-स्वरूप)	३१८	बाध	३०४	वेदान्तवादी	३
मोक्षियुक्त	२७	बाधम्	२२१	वेदान्त	२२२
मोक्षिण	२३१	बाधप्रत्य	३१६ ३१८	वेधर्म	२
		बाध (मार्ग)	२४	वेधमविज्ञ	१५८
		बाधिष्ठ	१९	वेध	११९ १४
रक्षा	२८९	बाधना	२	वेधवृत्त्य	९३
रक्षणा (-के दो वेध)	३१३	बिकषा	१४५	वेधाय	३५ २५८
रत्नम ३ ११७ २१७ २१८		बिषय	९	वेधाय (स्वरूप)	३३५
२१९ २२ २२१ २३४		बिषयिष्ठता	५७	वेधायमानता	३३४
२७४ २९३ ३ ३ १		बिषयिष्ठता	८२	वेध	१८९
		बिज्ञान	२९६	व्यक्ति	३१३
रत्नमरुता	२६८	बिज्ञेयवत्	२२३	व्यप्राप्त (-विष्मत्त्व)	३१
रक्षयाम	२८८	बिज्ञात	६९ १७ २२६	व्यवहृत	३१३
रूप	१५ १११	बिषयिष्ठता	२९६	व्यवहार	१२ ४३ १०३
रक्षित धान	३ ७ ३ ८	बिधि	२९६	व्याकरणमपठ्यवति	९९
रक्षित	१८८	बिधोचित (-वर्ग)	३९९	व्यास	१९
रात्रिमितिमा	७३	बिधय	९३	व्य १३ ३८ १११ ११२ १४२	१४२
रक्ष	१७	बिधय (विष्मत्त्व)	३१	१५५ १५६ १८५ २१६ २२४	२२४
रूप (-मह)	३२६	बिधित्वा	३६	३१७ ३३ ३३५	३३५
रीत्यमान	२६२	बिधित्वा	१३	व्य (का लक्षण)	१४४
		बिधित्व (विष्मत्त्व)	३	व्यप्राप्त	३३५
लोक	३२	बिधाक	९	व्यप्राप्त	३२
लोकवित्त	३ ४	बिधकम्भ (-व्याप्तमान)	२९९		
लोकान्तर	१२	बिधकत्वविद्या	१७८		
लोकान्तर (-व्य)	२१५	बिधकान्ति	१	व्यकर	२ ९६
लोकान्तर (ध्यान)	२७०	बिधक	८	व्यकर	३६ ३८
लौकिक (-व्यास)		बिधक	६ ३२६	व्यकर	२३८
लान (वा स्वरूप)	३३१	बिधेयवेधित्व	१२८	व्यधु	२४
		बिस्तार (-व्यवहृत)	१११ ११४	व्यधित्व	३१७
		व्यधित्व	३१	व्यधित्व	२ २२ २९६
व्यधित्व	९३	व्यधित्व (व्यवहृत)	१ ८	व्यधित्व	९
व्यधित्व	९३	व्यधित्व	३८४	व्यधित्व	१
व्यधित्व	१ १ २२	व्यधित्व	१२	व्यधित्व (के तीन भाग)	११५
व्यधित्व (-पुष्टि)	११२	व्यधित्व	६१	व्यधित्व (वार)	३३४
व्यधित्व	२३७				

शाक्य २०, २४, ९५, १३९, २३५,	श्रुतस्कन्ध ३१०	सबीजक (-ध्यान) २५४
३०१	श्रुतस्तव ३२७	समय २, २१२
शान्त्य (-आम्नाय) ६१	श्रोत्रिय १८९ ३१९	समयदीपक ३०३
शाक्यविशेष ३	प २३	समयसमाचारविधि २१०
शालिसिन्धुकलेवर १४१	पट्पदार्थ २३	समयान्तरप्रतिमा २१७
शासन २४	स ३०३	समयी ३०३
शास्त्र १७, २१, २४	सकल्प २१७	समवसरण ६९, २१८, २३०,
शास्त्रार्थ ३२७	सकान्ति ३६	२३८
शिक्षाव्रत १४३, २१२	सक्षेप (-सम्यक्त्व) ११३, ११४	समवाय २, २२
शिखाच्छेदि ३१८	सज्वलन (कपाय) ३३२	समाधि २२७, ३२४, ३२५, ३३४
शिव २१	सघ ९३, ९४, १७५	समिति २२४
शिव (आम्नाय) ६१	सन्तानक २३७	समुद्देश्या (भिक्षा) ३२१
शुचि ३१६	मध्या ३६	सम्यक् चारित्र २२५
शुपिर २३८	सयम ५, ७१, ८२, ९३, ३१७,	सम्यक्त्व १, २, १२, १३, ३७, ४८,
शुद्धोदन तनय ९१	३२६, ३३१, ३३२, ३३४	५२, ५८, ७०, ७१, १०४,
शुद्धि (-के दो भेद) ३१३	२२७, २२८	१०८, ११५, ११६, १२८,
शूद्र १८९	सयमी ३५, ८६,	२२६, २२७, ३३१
शून्य तत्त्व ८	सयोग (आर्तध्यान) २६२	सम्यग्ज्ञान २२४, २२९, ३१८
शून्यता ३	सवेग १०८, ११०	सम्यग्दर्शन ३६, ४८, ५३, २२३
शैव ३२१	सशय (मिथ्यात्व) ३०, ३१	सरस्वती २१८, २२८, २३८,
शैवदर्शन १९	संसार १, ७८, १११, ३३३	२८७, ३०८
शैवशास्त्र ९६	ससार सुख ६२, ७६, ८१	सराग ८१
शौच ६१	ससारी ९	सराग (मम्यग्दर्शन) १०८
शौच (-वर्म) ७१	ससारशरीरभोगवैराग्यस्थिति ८६	सर्वज्ञ १५, ९६
श्रद्धा २, ५, ६, २९६	सस्कार ३	सर्वज्ञबीज ९
श्रद्धान १३, १०४, ११२, २२५,	सहरण २८२	सर्वज्ञान्यत्ववादी ८
३२७	सकल २	सल्लेखना १८३, ३२३, ३२५
श्रमण ३१६	सकलीकरण ४९	सहस्रकूटचैत्यालय ५३
श्रमणसघ ६२	सचित्तनिक्षिप्त ३१३	सांख्य २, २४, १३९, ३२१
श्राद्ध ९६	सत्य ७१, १७४, १७५	सांख्यमुख्य ६
श्रावक धर्म ७६	सत्यस्वप्न १०	सागार १२७
श्रावक लोक १४२	सत्यसत्य १७५, १७६	सात्त्विकदान ३०८
श्रुत २३, १११, १२९, १७५,	सत्यासत्य १७५, १७६	साधक ३०३
२२०, २४०, २८७, २९४,	सदाचार २	साधर्म्य २
३०९, ३१०, ३१७, ३३४	सदाशिव ९, १७, २१, २२	साधु ३०३, ३०४, ३२४
श्रुत (दान) २९४	सनातन ७	साधुपरमेष्ठी २२२
श्रुत (-बोध) ५८, २२४, २२७	सन्देह १	सामान्य २
श्रुतकेवली २९४	सन्निधापन २३३	सामायिक २१२
श्रुति २०, २४, १८९, २१६, २२६	सन्मार्ग ४	सामुद्रक १८०
श्रुति (-आम्नाय) ६१	सप्ततत्त्व २६७	

शाक्य २०, २४, ९५, १३९, २३५,	श्रुतस्कन्ध	३१०	समीजक (-ध्यान)	२५४
३०१	श्रुतस्तव	३२७	समय	२, २१२
शाक्य (-आम्नाय)	श्रोत्रिय	१८९ ३१९	समयदीपक	३०३
शाक्यविशेष	प		समयसमाचारविधि	२१०
शालिसिक्कलेवर	पट्टपदार्थ	२३	समयान्तरप्रतिमा	२१७
शासन	स		समयी	३०३
शास्त्र	सकल्प	२१७	समवसरण	६९, २१८, २३०,
शास्त्रार्थ	सकान्ति	३६		२३८
शिक्षाश्रत	संक्षेप (-सम्यक्त्व)	११३, ११४	समवाय	२, २२
शिखाच्छेदि	सज्जलन (कपाय)	३३२	समाधि २२७, ३२४, ३२५, ३३४	
शिव	सघ	९३, ९४, १७५	समिति	२२४
शिव (-आम्नाय)	सन्तानक	२३७	समुद्देश्या (भिक्षा)	३२१
शुचि	सध्या	३६	सम्यक् चारित्र्य	२२५
शुपिर	सयम	५, ७१, ८२, ९३, ३१७,	सम्यक्त्व	१, २, १२, १३, ३७, ४८,
शुद्धोदन तनय		३२६, ३३१, ३३२, ३३४		५२, ५८, ७०, ७१, १०४,
शुद्धि (-के दो भेद)		२२७, २२८		१०८, ११५, ११६, १२८,
शूद्र	सयमी	३५, ८६,		२२६, २२७, ३३१
शून्य तत्त्व	सयोग (आर्तध्यान)	२६२	सम्यग्ज्ञान	२२४, २२९, ३१८
शून्यता	सवेग	१०८, ११०	सम्यग्दर्शन	३६, ४८, ५३, २२३
शैव	सशय (मिथ्यात्व)	३०, ३१	सरस्वती	२१८, २२८, २३८,
शैवदर्शन	ससार	१, ७८, १११, ३३३		२८७, ३०८
शैवशास्त्र	ससार सुख	६२, ७६, ८१	सराग	८१
शौच	ससारी	९	सराग (सम्यग्दर्शन)	१०८
शौच (-वर्म)	समारक्षरीरभोगवैराग्यस्थिति	८६	सर्वज्ञ	१५, ९६
धृढा	सस्कार	३	सर्वज्ञबीज	९
धृढान	सहरण	२८२	सर्वगुण्यत्ववादो	८
श्रमण	सकल	२	सल्लेखना	१८३, ३२३, ३२५
श्रमणसघ	सकलीकरण	४९	सहस्रकूटचैत्यालय	५३
आद्ध	सचित्तनिक्षिप्त	३१३	साख्य	२, २४, १३९, ३२१
आवक धर्म	सत्य	७१, १७४, १७५	साख्यमुख्य	६
आवक लोक	सत्यस्वप्न	१०	सागार	१२७
श्रुत	सत्यसत्य	१७५, १७६	सात्त्विकदान	३०८
श्रुत (दान)	सत्यासत्य	१७५, १७६	साधक	३०३
श्रुत (-बोध)	सदाचार	२	साधर्म्य	२
श्रुतकेवली	सदाशिव	९, १७, २१, २२	साधु	३०३, ३०४, ३२४
श्रुति २०, २४, १८९, २१६, २२६	सनातन	७	साधुपरमेष्ठी	२२२
श्रुति (-आम्नाय)	सन्देह	१	सामान्य	२
	सन्निधापन	२३३	सामायिक	२१२
	सन्मार्ग	४	सामुद्रक	१८०
	सप्ततत्त्व	२६७		

सिद्धारमण्यो	२१	स्वाध्याय	२१३ १००, ३०६	स्वयं	१३
सिद्धशास्त्रा	८ ११	स्वाध्याय	२९	स्वस्तिक	९२ २३०
सिद्धांत	१	स्विति (-ब्रह्म)	३	स्वाध्याय १३ १९३ २९३ ११	
सुग	३ ८ ९	स्वित्तिकरण	२२०	१२३ ३२६ ३१५	
सुगामय	२८४	स्वित्तिप्रयोगिता	३३	स्वाध्याय (-का ल्याय)	३२७
सुगमतरवा	९२	स्वित्तिप्रकार	७१		
सुगम	५२ २८०	स्वित्ति	३२३		
सुगि २ १४ १०१ ३ ४ ३०४		स्वित्ति	२४	स्वयं	१८३ १९०
सुगमनिमा	८८	स्वाध्याय-सुध्याय	२८०	स्वयं	१११
सुगमि	३६	स्वाध्याय-स्वित्ति	२९८	स्वित्ति	१४९
सुगिट	१८२	स्वाध्याय-स्वित्ति	६९	स्वित्ति (-स्वित्ति)	२६२
सुगम-स्वित्ति	२१२	स्वाध्याय-स्वित्ति	२०६	स्वित्ति-स्वित्ति	१२
स्वित्ति	५८	स्वित्ति	१८८	स्वित्ति-स्वित्ति	२२, १२४ २२३
स्वित्ति-स्वित्ति	१३ १८८ १८९	स्वित्ति-स्वित्ति	१४१ १४२	स्वित्ति	२४ २४९
स्वित्ति	१६ १९ १२ १३	स्वित्ति	१७८ १७९	स्वित्ति	२६
स्वित्ति	३००	स्वित्ति	४१, ११३	स्वित्ति	३१९
स्वित्ति (स्वित्ति)	२६२	स्वित्ति	१७	स्वित्ति	२१५

४ व्यसिनामसूची

ਅਰਜਨਾਬਾਬ	੧੭੮੧	ਕਰਿਤਕਲ	੮੩	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੭
ਅਮਿਨਾ	੩	ਕਾਧਾਕੁਥਿ	੪੮	ਤਿਲੋਤਪਲ	੭੨ ੭੩
ਅਮਰਾ	੧੨	ਕਾਨਾਮੁਰ	੧੮ ੧੮੮ ੧੯	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧ ੧੧ ੧੨	ਕਾਧੀਮਾ	੪੧	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੧ ੧੨ ੧੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੪	ਕੀਰਿਸੀ	੭੬	ਤਿਲੋਤਪਲ	੮੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧੧ ੧੧੨ ੧੧੩	ਕੁਠਲਕੀਰ	੧੧	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੧੪ ੧੧੫ ੧੧੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੮੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੮੧ ੧੮੨ ੧੮੩	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੧੭ ੧੧੮ ੧੧੯
ਅਮਰਕੀਰ	੮ ੧੮੨		੧੮੪	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੨੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੮੩	ਕੀਰਕੀਰ	੮੮	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੨੧ ੧੨੨
ਅਮਰਕੀਰ	੮੩ ੪੮ ੪੭	ਕੀਰਕੀਰ	੧੧	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੨੩ ੧੨੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੭੭	ਕੁਠਲਕੀਰ	੧੧੭ ੧੧੮ ੧੧੯	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੨੫ ੧੨੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੧੭ ੧੧੮	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੨੭ ੧੨੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੭	ਕੀਰਕੀਰ	੧੧੮ ੧੧੯	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੨੯ ੧੩੦ ੧੩੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧ ੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੧੯ ੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੩੨ ੧੩੩ ੧੩੪
ਅਮਰਕੀਰ	੩	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੩੫ ੧੩੬ ੧੩੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੩੮ ੧੩੯ ੧੪੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੪੧ ੧੪੨ ੧੪੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੪੪ ੧੪੫ ੧੪੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੪੭ ੧੪੮ ੧੪੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੫੦ ੧੫੧ ੧੫੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੫੩ ੧੫੪ ੧੫੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੫੬ ੧੫੭ ੧੫੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੫੯ ੧੬੦ ੧੬੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੬੨ ੧੬੩ ੧੬੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੬੫ ੧੬੬ ੧੬੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੬੮ ੧੬੯ ੧੭੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੭੧ ੧੭੨ ੧੭੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੭੪ ੧੭੫ ੧੭੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੭੭ ੧੭੮ ੧੭੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੮੦ ੧੮੧ ੧੮੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੮੩ ੧੮੪ ੧੮੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੮੬ ੧੮੭ ੧੮੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੮੯ ੧੯੦ ੧੯੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੯੨ ੧੯੩ ੧੯੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੯੫ ੧੯੬ ੧੯੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੧੯੮ ੧੯੯ ੨੦੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੦੧ ੨੦੨ ੨੦੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੦੪ ੨੦੫ ੨੦੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੦੭ ੨੦੮ ੨੦੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੧੦ ੨੧੧ ੨੧੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੧੩ ੨੧੪ ੨੧੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੧੬ ੨੧੭ ੨੧੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੧੯ ੨੨੦ ੨੨੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੨੨ ੨੨੩ ੨੨੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੨੫ ੨੨੬ ੨੨੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੨੮ ੨੨੯ ੨੩੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੩੧ ੨੩੨ ੨੩੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੩੪ ੨੩੫ ੨੩੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੩੭ ੨੩੮ ੨੩੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੪੦ ੨੪੧ ੨੪੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੪੩ ੨੪੪ ੨੪੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੪੬ ੨੪੭ ੨੪੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੪੯ ੨੫੦ ੨੫੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੫੨ ੨੫੩ ੨੫੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੫੫ ੨੫੬ ੨੫੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੫੮ ੨੫੯ ੨੬੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੬੧ ੨੬੨ ੨੬੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੬੪ ੨੬੫ ੨੬੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੬੭ ੨੬੮ ੨੬੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੭੦ ੨੭੧ ੨੭੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੭੩ ੨੭੪ ੨੭੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੭੬ ੨੭੭ ੨੭੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੭੯ ੨੮੦ ੨੮੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੮੨ ੨੮੩ ੨੮੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੮੫ ੨੮੬ ੨੮੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੮੮ ੨੮੯ ੨੯੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੯੧ ੨੯੨ ੨੯੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੯੪ ੨੯੫ ੨੯੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੨੯੭ ੨੯੮ ੨੯੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੦੦ ੩੦੧ ੩੦੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੦੩ ੩੦੪ ੩੦੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੦੬ ੩੦੭ ੩੦੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੦੯ ੩੧੦ ੩੧੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੧੨ ੩੧੩ ੩੧੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੧੫ ੩੧੬ ੩੧੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੧੮ ੩੧੯ ੩੨੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੨੧ ੩੨੨ ੩੨੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੨੪ ੩੨੫ ੩੨੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੨੭ ੩੨੮ ੩੨੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੩੦ ੩੩੧ ੩੩੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੩੩ ੩੩੪ ੩੩੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੩੬ ੩੩੭ ੩੩੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੩੯ ੩੪੦ ੩੪੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੪੨ ੩੪੩ ੩੪੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੪੫ ੩੪੬ ੩੪੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੪੮ ੩੪੯ ੩੫੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੫੧ ੩੫੨ ੩੫੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੫੪ ੩੫੫ ੩੫੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੫੭ ੩੫੮ ੩੫੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੬੦ ੩੬੧ ੩੬੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੬੩ ੩੬੪ ੩੬੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੬੬ ੩੬੭ ੩੬੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੬੯ ੩੭੦ ੩੭੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੭੨ ੩੭੩ ੩੭੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੭੫ ੩੭੬ ੩੭੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੭੮ ੩੭੯ ੩੮੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੮੧ ੩੮੨ ੩੮੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੮੪ ੩੮੫ ੩੮੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੮੭ ੩੮੮ ੩੮੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੯੦ ੩੯੧ ੩੯੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੯੩ ੩੯੪ ੩੯੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੯੬ ੩੯੭ ੩੯੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੩੯੯ ੪੦੦ ੪੦੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੦੨ ੪੦੩ ੪੦੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੦੫ ੪੦੬ ੪੦੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੦੮ ੪੦੯ ੪੧੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੧੧ ੪੧੨ ੪੧੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੧੪ ੪੧੫ ੪੧੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੧੭ ੪੧੮ ੪੧੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੨੦ ੪੨੧ ੪੨੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੨੩ ੪੨੪ ੪੨੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੨੬ ੪੨੭ ੪੨੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੨੯ ੪੩੦ ੪੩੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੩੨ ੪੩੩ ੪੩੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੩੫ ੪੩੬ ੪੩੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੩੮ ੪੩੯ ੪੪੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੪੧ ੪੪੨ ੪੪੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੪੪ ੪੪੫ ੪੪੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੪੭ ੪੪੮ ੪੪੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੫੦ ੪੫੧ ੪੫੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੫੩ ੪੫੪ ੪੫੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੫੬ ੪੫੭ ੪੫੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੫੯ ੪੬੦ ੪੬੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੬੨ ੪੬੩ ੪੬੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੬੫ ੪੬੬ ੪੬੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੬੮ ੪੬੯ ੪੭੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੭੧ ੪੭੨ ੪੭੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੭੪ ੪੭੫ ੪੭੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੭੭ ੪੭੮ ੪੭੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੮੦ ੪੮੧ ੪੮੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੮੩ ੪੮੪ ੪੮੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੮੬ ੪੮੭ ੪੮੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੮੯ ੪੯੦ ੪੯੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੯੨ ੪੯੩ ੪੯੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੯੫ ੪੯੬ ੪੯੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੪੯੮ ੪੯੯ ੫੦੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੦੧ ੫੦੨ ੫੦੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੦੪ ੫੦੫ ੫੦੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੦੭ ੫੦੮ ੫੦੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੧੦ ੫੧੧ ੫੧੨
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੧੩ ੫੧੪ ੫੧੫
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੧੬ ੫੧੭ ੫੧੮
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੧੯ ੫੨੦ ੫੨੧
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੨੨ ੫੨੩ ੫੨੪
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੨੫ ੫੨੬ ੫੨੭
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੨੮ ੫੨੯ ੫੩੦
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੩੧ ੫੩੨ ੫੩੩
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੩੪ ੫੩੫ ੫੩੬
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀਰ	੧੨੦	ਤਿਲੋਤਪਲ	੫੩੭ ੫੩੮ ੫੩੯
ਅਮਰਕੀਰ	੧੧	ਕੀਰਕੀ			

नामधर्म	१५७	भास्करदेव	८६, ९२	विश्वमूर्ति	३९
नारदमुनि	६७	भीम	१७८	विश्वम्भर	१५७, १५८, १६४
नारद	१८१, १८२, १८३, १८४	भोग्म	१७८	विश्वभूति	१८०, १९०
	१८५, १८६, १८८	भृगु	६६	विश्वरूप	३९
नित्यमण्डित (चैत्यालय)	४०	भ्राजिष्णु	२००	विश्वानुलोम	३९, ४०, ४२, ४३
निषुणिका	१०१, १७२	मगधसुन्दरी	७६	विश्वामित्र	३९
पद्म	९८, ९९, १००, १०१	मणिकुण्डला	२०६	विश्वामलोकन	३९
पद्मरथ	४७, ४८, ४९	मणिमाला	८६	विश्वामु	३९, १८१
पद्मा	१९४, २००, २०१	मतङ्ग	४३, ६६, १८८, १९०	विश्वेश्वर	३९
परशुराम	४५	मधुपिङ्गल	१७७-१८०	विष्णु	९८, १००, १०१, १०३
पराशर	६६	मनु	१८८, १९०	वीरनरेश्वर	३९
पर्वत	१८१-१९०	मन्दोदरी	१७८, १७९	वीरमति	३९
पवनवेगा	८८	मरीचि	६६, १८८, १९०	शाण्डिल्य	१८७
पिङ्गल	४३, ६६, १७७, १८८	महापद्म	१०३	शिवगुप्त	१५८
पिण्याकगन्ध	२०६, २०८, २०९, २१०	महाबल	१६१, १६२, १६३	शिवभूति	१८०
पूतिकवाहन	९०, ९३	मुनिगुप्त	६२, ६६, ७०, १५८	शुक्र	९५, ९६
पुरन्दरदेव	८६	मुगवेग	७६, ७८	शूरदेव	७८, ८०
पुलस्ति	६६	मुगसेन	१५५, १५६, १५७	श्रीदत्त	१५८-१६३
पुलह	६६	यज्ञदत्ता	८४, ८५	श्रीभूति	१६७-१७४
पुलोम	६६	यमदण्ड	३९	श्रीमती	१६२, १६३, १६५
पुष्पकदेव	१००, १०१	यशोधराचार्य	१५५	श्रीवासुपूज्य	४८
पुष्पकश्रेष्ठी	५६	यशोवज्र	७२, १६४	श्रुतसागर	९८
पुष्पदन्त	७८, ८०, ८१, ८२, १४०	रत्नप्रभ	२०५, २०८, २०९	श्रेणिक	७६
पुष्पवती	७८	राधा	१५९	सगर	१७८, १७९, १८०
पुष्य	१९४, २००, २०१, २०२	रामदत्ता	१६७, १७१, १७२	सङ्ग	१७८
पूर्णचन्द्र	१६७	रेणुका	४५	सत्यघोष	१६७, १७३
प्रभावती	५९, ९५	रेवती	६३, ६६, ६८, ७०	समुद्रदत्त	९०
प्रह्लादक	९६	लक्ष्मीमति	९८	सागरदत्त	२०६
प्रियदत्तश्रेष्ठी	५३, ५४	ललित	५०	सिंहकीर्ति	९९
वलि	९५-१०३	वज्रकुमार	८६, ८७, ८८, ९२, ९३	सिंहचन्द्र	१६७
वृहस्पति	९५, ९६	वसु	१८१-१८५	सिंहसेन	१६७
ब्रह्मदत्त	२०८	वसुमती	१८१	सुदत्त	२०६, २०९
भद्रमित्र	१६८, १७१, १७२, १७३	वसुवर्चन	५३	सुदत्ता	१६८
भरत	६६, १७८	वारिषेण	७६, ७७, ८०, ८१, ८२	सुदेवी	५७, ८६
भर्ग	३६	विजय	४३	सुधर्मचार्य	४७
भवसेन	६६, ६९	विद्युत्प्रभ	४३, ४४, ४७	सुनन्द	३९
भाग	१७८	विरोचन	६६	सुनन्दन	८९, १४२
		विशाखा	१६३	सुनन्दा	३९, १६०
		विश्वदेव	१८१	सुन्दरी	५०

मुषमसूरि	८९	सुमित्र	१६८	सोमवत्त	८४ ८५ १६ ८९,
मुषम्पु	१७८	सुमीर	७२		११ ९३
मुषत्रा	१९४	सुकसा	१७७ १७८	सोमसर्मा	१९
मुषम्बरी	१९४		१७९	सोमसेन	१४

५, भौगोलिकनामसूची परिचयसहिता

भाग (पृष्ठ ५३) - वतमान बिहारप्रदेशके मागछपुर सुवेर बाबि बिके ।

अमरावती प ७२ ८६ -

अयोध्या (पृ ५६ १७८ १७९ १८८) - उपासकाध्ययनके बाठई कस्बमें अयोध्याको कोशल देशके मध्यमें बतलाया है (कोशलदेशमध्याममयोध्याया पुरि) । सुतसापरसूरिकी टोकामें कोशलकी बिनीठापुर तथा अयोध्याको बिनीठा बतलाया है । वर्तमानम उत्तरप्रदेशके फैजाबाद जिलेके निकट अयोध्या नामकी नगरी है ।

अमरती मण्डक (पृ १४२ १५५) - हृष देशकी राजधानी उरुमिनी नगरी थी ।

अहिच्छत्र (पृ ८४) - सोमदेशके इसे अवास्तेसमें बतलाया है तथा इसे पार्सनाथ भगवान्के वसते प्रकाशित किया है । अहिच्छत्रमें ही भगवान् पार्सनाथ पर कम्पने चोर कपसा क्रिया वा और उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी । वतमानमें उत्तरप्रदेशके बरेली जिलेमें रामनगर नामक गाँव ही पुराना अहिच्छत्र नगर था ।

इन्द्रकण्ठसे (पृ ५९) उपासकाध्ययनके नीचे कस्बके अनुसार रीसकपुर नगर जिते मायापुरी की कहते थे इन्द्रकण्ठसेमें था । रीसकपुर बीडपन्थाका रीसक बाग बरूटा है जो सीनौर देशकी राजधानी था और कण्ठकी छाड़ीमें व्यापारका प्रमुख केन्द्र था ।

उरुमिनी (पृ ९५) - वतमान मध्यप्रदेशमें ओपान और हन्सीके मध्यमें स्थित नगरी ।

उत्तर मधुरा (पृ ९९ ९३) - अहिच्छत्र मधुरा या मधुरासे शेर शिकारानेके लिए ही उत्तरप्रदेशमें स्थित मधुराको उत्तरमधुरा कहा है । उपासकाध्ययनके १७ १८वें कर्तव्यों सोमदेशके मधुराके प्रसिद्ध तीन स्तुपकी स्थापनाकी कथा भी है और किया है कि व्याज भी इन स्तुपकी रीति निर्मित कहा जाता है । सन् १८८९ ई में मधुराके बाहर बीचबीच रोडके पाथमें स्थित कंकाली टीलेसे लगभग प्राचीन तीन स्तुपके अवशेष प्राप्त हुए थे । चौदहवीं शताब्दीके विनग्रथ सूरिरचित तीर्थकरामें भी कंकाली तीन स्तुपका वर्णन है । किन्तु सोमदेशके उसकी स्थापनाकी भी कथा भी है यह तीर्थकरासे विद्वद्बुद्ध विम्व है । विनग्रथ सूरिसे सोमदेश जयमग बार शताब्दी पूर्व हुए है और इनलिए उन्होंने सम्भवतया स्तुपके स्थापनाकी प्राचीनतम कथा भी है । ईसाकी छठवीं शताब्दीमें भी यह स्तुपकी रीतिनिर्मित कहा जाता था क्योंकि कंकाली टीलेसे प्राप्त तीर्थकर अरनामकी एक व्यवधानन श्रुतिके नीचे अंकित शिखाराममें भी स्तुपके रीतिनिर्मित अंकित है । इन शिखारामपर अंकित ७९ वर्ष स्तुप ब्रह्मान बंकी राजा बानुदेवसे नामका मूलक है अथ ७ + ७८ = १५७ ई में भी यह स्तुप बनना प्राचीन माना जाता था कि इसे रीतिनिर्मित कहा जाता था । सोमदेशके अनुसार दसवीं शताब्दी मध्यकालमें भी थी । सोमदेशके कम्पिलसे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमदेशके समयमें यह स्तुप वर्तमान था । कंकाली टीलेसे प्राप्त पार्सनाथकी एक प्रतिमापर लगभग १ ३९ (९८ ई) अंकित है । अतः उक्त प्रामाण्यकी स्थापना सोमदेशके समयमें हुई थी ।

- एकचक्रपुर (पृ० १३०) —
- एकानसीपुर (पृ० १४२) — सोमदेवने इसे अवन्तिमण्डलमें बतलाया है। टीका-टिप्पणकारने इसका अर्थ उज्जयिनी नगरी किया है।
- करहाटदेश (पृ० ४४) — महाराष्ट्र प्रदेशके सतारा जिलेमें कोइना और कृष्णा नदीके संगमपर स्थित है। सोमदेवने करहाटको एक सीमाभ्यगाली देश बतलाया है और उसमें स्थित एक विशाल गोशालाका सुन्दर वर्णन किया है।
- काकन्दीपुरी (पृ० १४०, २०८, २०९) — सोमदेवने काकन्दीको एक बहुत बड़ा व्यापारी-केन्द्र बतलाया है और उसे नौवें तीर्थंकर पुष्पदन्तके जन्मकल्याणकसे पवित्र बतलाया है। वर्तमानमें गोरखपुर (उ० प्र०) से ३९ मीलपर एन० ई० रेल्वेके नोनखार स्टेशनसे तीन मील जो खुखुन्हा गाव है उसे पुष्पदन्तका जन्म-स्थान माना जाता है।
- काम्पिल्य (पृ० २०५) — इसे पचालदेशमें बतलाया है। गंगा और यमुनाके बीचके प्रदेशको पचालदेश कहते थे। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके फर्रुखाबाद जिलेमें काम्पिल्य नामक गाँव है।
- कालीदासकानन (पृ० ८४) — सोमदेवने अहिच्छत्रमें जलवाहिनी नदीके तटके निकट कालीदास नामक वनका उल्लेख किया है।
- काशीदेश (पृ० १९४) — वाराणसी नगरीके आसपासका प्रदेश
- किन्नरगीतनगर पृ० ५५
- कुशजागळ (पृ० ३९, ९८, १७७) — यह कुश देशका एक भाग था। उसीमें हस्तिनापुर नामका नगर था।
- कुशाग्रपुर (पृ० ४६, ५०) — चीनी यात्री युवानच्चांगके अनुसार कुशाग्रपुर मगधका केन्द्र तथा पुरानी राजधानी थी। वहाँ एक प्रकारकी सुगन्धित घास होती थी उसीके कारण उसका नाम कुशाग्रपुर पड़ा था। सोमदेवने भी कुशाग्रपुरको मगध देशमें बतलाया है। हेमचन्द्राचार्यके त्रिपिटिशालाका पुरुष चरितमें सुरक्षित परम्पराके अनुसार प्रसेनजित कुशाग्रपुरका राजा था। कुशाग्रपुरमें लगातार आग लगनेके कारण प्रसेनजितने यह आज्ञा दी थी कि जिसके घरमें आग पायी जायेगी वह नगरसे निकाल दिया जायेगा। एक दिन राजमहलमें आग पायी जानेसे प्रसेनजितने कुशाग्रपुरको त्याग दिया।
- कौलास (पर्वत) पृ० ५२।
- कोसलदेश (पृ० ५६) इसकी राजधानी अयोध्या थी।
- कौशाम्बीदेश (पृ० १५८, १६४) — अलाहाबादसे लगभग तीस मील यमुनाके तटपर कोसम नामक गाँव है उसे ही प्राचीन कौशाम्बी माना जाता है। कौशाम्बी वत्सदेशकी राजधानी थी। श्रुतमागर सूत्रने अपनी टीकामें लिखा है कि वत्सदेशमें कौशाम्बी नगरी गोपाचल (खालियर) से ४४ गव्यूतिपर है। यदि गव्यूतिसे दो कोस या चार मील लिया जाता है तो कौशाम्बी खालियरसे १७६ मीलके लगभग होती है। दोग्ध निकायके महासुद्धस्मन सुत्तमें कौशाम्बीको महानगरोंमें गिनाया है।
- गिरिकूटपत्तन — पृ० १८१
- गौणमण्डल (पृ० ७२) — पूर्वदेशमें बतलाया है। यह बगालमें था।
- चम्पापुरी (पृ० ५३) — अग देशकी प्राचीन राजधानी, बिहार प्रदेशमें भागलपुरके पास है।
- जनपद (पृ० ३९) — जनपद देशकी राजधानी भूमितिलकपुर थी। सम्भवतया जनपद देश कुरुदेशके निकट था, क्योंकि कथामें बतलाया है कि दो मित्र भूमितिलकपुरसे हस्तिनागपुर आते हैं।
- जम्बूद्वीप — पृ० ३९।

सुप्रमसूरि	८६	सुमित्र	१६८	सोमवत्	८४ ८५ ८६ ८७
सुबन्धु	१७८	सुमीर	७२		९१ ९३
सुमन्ना	११४	मुक्तवा	१७७ १७८	सोमण्मा	११
सुमन्जरी	११४		१७९	शोरसैन	१४

५. भौगोलिकनामसूची परिचयसहिता

नं० (पृष्ठ ५१) — वर्तमान बिहारप्रदेशके भागसपुर, मुंशीर आदि जिले ।

अमरावती ५ ७२ ८६ —

अयोध्या (पृ ५६ १७८ १७९ १८८) — उपासकाध्ययनके आठवें कल्पमें अयोध्याकी कोराह ईशके मध्यम वतकाया है (कोराहदेसमध्याममयोध्यावां पुरि) । धृतसाबरसूरिकी टीशामे कोराहकी विनीतापुर तथा अयोध्याकी विनीता वतकाया है । वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके फैजाबाद जिलेके निकट अयोध्या नामकी नगरी है ।

अदण्डी मण्डक (पृ १४२ १५५) — इस ईशकी राजधानी अजयिनी नगरी थी ।

अहिच्छत्र (पृ ८४) — सोमदेवने इसे वंशास्त्रेशमें वतकाया है तथा उसे पार्श्वनाभ धनवाकूके मध्यमे प्रकाशित किया है । अहिच्छत्रमें ही भगवान् पार्श्वनाभ पर नमस्ते और उपसर्ग किया था और उन्हें केवलनामकी प्राप्ति हुई थी । वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके बरेली जिलेमें रामनगर नामक गाँव ही पुराना अहिच्छत्र नगर था ।

इन्द्रकण्ठदेस (पृ ५१) उपासकाध्ययनके गौर्वें कल्पके अनुसार रीरकपुर नगर जिसे मामापुरी भी कहते थे इन्द्रकण्ठदेसमें था । रीरकपुर शीतलान्ताका रीरक नाम पड़ता है जो सोनीर देसकी राजधानी था और नन्दकी छाड़ीमें व्यापारका प्रमुख केंद्र था ।

वज्रविभी (पृ ९५) — वर्तमान मध्यप्रदेशमें मोपाक और हमीरके मध्यमें स्थित नगरी ।

वत्स मधुरा (पृ ९२ ९३) — वत्सिष्ठ मधुरा या मधुरासे भेद बिम्बकानेके लिए ही उत्तरप्रदेशमें स्थित मधुराको उत्तरमधुरा कहा है । उपासकाध्ययनके १७ १८वें कक्षोंमें सोमदेवने मधुराके प्रतिष्ठित तीन स्तूपकी स्थापनाकी कथा दी है और लिखा है कि आज भी इन स्तूपको देख निमित्त कहा जाता है । सन् १८८९ ई में मधुराके बाहर दोबर्चन रोडके पासमें स्थित कंकासी टीलेसे बहुत प्राचीन तीन स्तूपके अवशेष प्राप्त हुए थे । चौबट्टी सनामोके विनम्रम सुरिरचित तीर्थकथामे भी उक्त तीन स्तूपका वर्णन है । किन्तु सोमदेवने इसकी स्थापनाकी भी कथा दी है वह तीर्थकथासे बिलकुल भिन्न है । विनम्रम सुरिसे बोधदेव समयमें बार सत्तासी पूर्व हुए थे और इतकिए उन्होंने सम्भवतया स्तूपके स्थापनाकी प्राचीनतम कथा दी है । ईसाजी दूसरी सतासीमें भी उक्त स्तूपकी देवनिमित्त कहा जाय था क्योंकि कंकासी टीलेसे प्राप्त तीर्थकर जगनाथजी एक अद्भुतमय मूर्तिसे नीचे अंकित चित्तालेखमें भी स्तूप देव निमित्त अंकित है । इन चित्तालेखपर अंकित ७ संवत् कृपाय नवीं राधा वामुदेवके नामका मुद्रक है जस ७९ + ७८ = १५७ ई में भी यह स्तूप इनका प्राचीन भाग जाय था कि उसे देवनिमित्त कहा जाता था । सोमदेवके अनुसार दूसरी स्थापना बलकुमारने की थी । सोमदेवके सम्लेखसे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमदेवके समयमें यह स्तूप वर्तमान था । कंकासी टीलेसे प्राप्त पार्श्वनाभकी एक प्रतिमापर संवत् १ १६ (८ ई) अंकित है । जस-उक्त प्रतिमाकी स्थापना सोमदेवके समयमें हुई थी ।

- सौराष्ट्रपुर (पृ० ५९) इसका दूसरा नाम मायापुरी था । मोमदेवने इसे इन्द्रकच्छ देशमें बतलाया है ।
- बल्मीपुरी (पृ० १३१) — यह सौराष्ट्र देशके मीनकोकी राजधानी थी । भावनगरसे उत्तर पश्चिममें लगभग बीस मीलपर 'बल' नामसे जगके अशेष मिलते हैं ।
- वाराणसी (पृ० २३, १९४) — काशीदेशमें स्थित वाराणसी नगरी, जो आज भी प्रसिद्ध नगर है ।
- विजयपुर (पृ० ५०) — यह मध्यप्रदेशमें था ।
- विशाला (पृ० ९५, १५७) — उज्जयिनीका एक नाम ।
- शम्भुपुर (पृ० ५६) — नर्मभवतया यह अयोध्यासे अधिक दूर नहीं था । क्योंकि कथामें लिखा है कि अनन्तमतीको शम्भुपुरके निकट स्थित पर्वतके पास छोड़ा गया था और वहाँसे उसे एक वणिक् अयोध्या ले आया था । -
- सिप्रा (पृ० १५५) — सिप्रा नदी अवन्ति देशमें उज्जयिनीके निकट बहती है ।
- सिरीषग्राम (पृ० १५५) — अवन्तिदेशमें सिप्रा नदीके निकटका एक गाँव ।
- सिंहपुर (पृ० १६७, १६९) — यह प्रयागदेशमें था । चीनी यात्री युवानच्चांगने भी सिंहपुरका उल्लेख किया है ।
- सुराष्ट्रदेश (पृ० ७२) — वर्तमान सौराष्ट्रप्रदेश जिसे काठियावाड भी कहते हैं ।
- सुवर्णद्वीप (पृ० १६९) — वर्तमानमें इसे सुमात्रा कहते हैं ।
- सोपारपुर (पृ० ८५) — सोमदेवने इसे मगधदेशमें बतलाया है ।
- सौमनसवन — पृ० ५१ ।
- स्वस्तिमतीपुरी (पृ० १८१) — मोमदेवने इसे डहालामें बतलाया है । चेदिराज्यको डहाला कहते थे ।
- हस्तिनागपुर — पृ० ३९, ९८, ९९, १००, १०१, १७७ ।
- हिमवत् (पर्वत) — पृ० ५२ ।
- हेमपुर — पृ० ८६ ।

अजनाहिनी नदी (पृ ८४) - यह अहिच्छत्रके निकट बहती थी । इसीके तटपर कालीदास नामक महाजन था ।

बहाला (पृ १८१) - बहलामण्डलमें स्थितपुरी नामक नगरी थी ।

तामकिति (पृ ७२) - इसे पूर्ववेद्यमें गोधमण्डलमें बनाया है । बंगालक मिदनापुर जिलेमें आधुनिक तमकुन नामक स्थान प्राचीन तामकिति था ।

दक्षिणमधुरा (पृ १२७) - इतिवशी मधुरा नगरीको दक्षिण मधुरा कहते थे । मधुपका हूँ अपर्णध मधुरा प्रणीत होता है ।

वृषकारण्य (पृ ४४) - सोमदेवन वृषकारण्यको कण्ठाट देशके पश्चिमी भागमें बतलाया है । और कण्ठाट देश मथाराष्ट्र प्रदेशके उत्तरा जिलेमें कृष्णा और कोहना नदियोंके संवलय था ।

मन्दाकिनी पृ ४३ ।

नामिगिरि (पृ ८५) - मन्मथेशके छोपारपुर नगरके पास यह पर्वत बतलाया है ।

पञ्चशैलपुर (पृ ७१८) मन्मथेशकी राजधानी मधरीका अपरनाम था । पञ्चवर्षतोसे पुरा होनेके कारण इसे पञ्चशैलपुर कहते थे । आज भी उस पंचपहाड़ी कहते हैं ।

पञ्चाक्षरेश - यना और मनुगाके बीचका प्रदेश पंचाक्ष था । मोटे छोरपर उत्तरप्रदेशके बरेली बद्युं कल्लाबाब और इनसे सम्बन्ध जिक्र पंचाल देश कहलाते थे ।

पञ्चावलीपुर (पृ ११४) - टिप्पणके अनुसार ब्रह्ममिमीका अपर नाम ।

पश्चिमीखेट (पृ ११८) - एक नगरका नाम था ।

पादकीपुत्र (पृ १४७२) - सोमदेवनने इसे मुराष्ट्रदेशमें बतलाया है ।

पाण्ड्यमण्डल (पृ १२) - दक्षिणके ठमिन्न प्रदेशका नाम । इसकी राजधानी मधुरा थी ।

पोदनपुर (पृ १७७) - यह अवधक देशकी राजधानी थी । पुराने हूँबराबाब राजके निधामाबाद जिलेमें पोदावरीकी छायाक नदीपर स्थित आधुनिक पोदन हूँ प्राचीन पोदनपुर था । सोमदेवने पोदनपुरको रम्यक देशमें बतलाया है ।

प्रभाजेश (पृ ११७) - वर्तमान इलाहाबादके पासका प्रदेश सम्भवतया प्रभाज देश कहा जाता था । जैसे बाराबलीके पासके प्रदेशको कभी देश कहते थे ।

केनसाकिनी (पृ ८८) - एक नदी ।

नकुवाहयपुर पृ ८१ ।

भाजपुर पृ ८७ ।

मीमवन (पृ ५७) - छत्रपुरके निकट मीमवन नामक महाजन था ।

मृमिथिकपुर (पृ १९) - सोमदेवनने इसे जनपददेशमें बतलाया है ।

मगाजेश (पृ ४१ ४७ ७९ ८५ १७८) - इसकी राजधानी राजपुत्री थी थी वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें है ।

मधुरा (पृ ८९ ९१) - देखो उत्तर मधुरा ।

मकवाचक पृ ५५

मिथिकापुरी (पृ ४७१) - सोमदेवन मिथिलापुरीको मन्मथेशमें बनाया है । वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें दरभंगाके पास मिथिला नामक नगरी है ।

- रौरकपुर (पृ० ५९) इसका दूसरा नाम मायापुरी था । सोमदेवने इसे इन्द्रकच्छ देशमें बतलाया है ।
- वलमीपुरी (पृ० १३१) — यह सौराष्ट्र देशके मैनूकी राजधानी थी । भावनगरसे उत्तर पश्चिममें लगभग बीस मीलपर 'वल' नामसे उसके अवशेष मिलते हैं ।
- वाराणसी (पृ० २३, १९४) — काशीदेशमें स्थित वाराणसी नगरी, जो आज भी प्रसिद्ध नगर है ।
- विजयपुर (पृ० ५०) — यह मध्यप्रदेशमें था ।
- विशाला (पृ० ९५, १५७) — उज्जयिनीका एक नाम ।
- शखपुर (पृ० ५६) — सम्भवतया यह अयोध्यासे अधिक दूर नहीं था । क्योंकि कथामें लिखा है कि अनन्तमतीको शखपुरके निकट स्थित पर्वतके पास छोड़ा गया था और वहाँसे उसे एक वणिक् अयोध्या ले आया था ।
- सिप्रा (पृ० १५५) — सिप्रा नदी अवन्ति देशमें उज्जयिनीके निकट बहती है ।
- सिरीषग्राम (पृ० १५५) — अवन्तिदेशमें सिप्रा नदीके निकटका एक गाँव ।
- सिंहपुर (पृ० १६७, १६९) — यह प्रयागदेशमें था । चीनी यात्री युवानच्चागने भी सिंहपुरका उल्लेख किया है ।
- सुराष्ट्रदेश (पृ० ७२) — वर्तमान सौराष्ट्रप्रदेश जिसे काठियावाड भी कहते हैं ।
- सुवर्णद्वीप (पृ० १६९) — वर्तमानमें इसे सुमात्रा कहते हैं ।
- सोपारपुर (पृ० ८५) — सोमदेवने इसे मगधदेशमें बतलाया है ।
- सौमनसवन — पृ० ५१ ।
- स्वस्तिमतीपुरी (पृ० १८१) — सोमदेवने इसे डहालामें बतलाया है । चेदिराज्यको डहाला कहते थे ।
- हस्तिनागपुर — पृ० ३९, ९८, ९९, १००, १०१, १७७ ।
- हिमवत् (पर्वत) — पृ० ५२ ।
- हेमपुर — पृ० ८६ ।

बलवाहिनी नदी (पृ ८४) - यह बहिष्कनके निकट बहती थी । इसके तटपर काकोदास नामक महावन था ।

बहाला (पृ १८१) - बहलामण्डलमें स्थितपुरी नामक नगरी थी ।

चामकिति (पृ ७२) - इसे पृथ्विसर्प ग्रीष्मण्डलमें वर्णित है । बंगालके मिदनापुर जिलेमें आधुनिक समस्तक नामक स्थान प्राचीन चामकिति था ।

इक्षिमन्धुरा (पृ १२७) - बलिमन्दी मधुरा नगरीको बलिमन्धुरा कहते थे । मधुराका ही अपभ्रंश मधुरा प्रणीत होता है ।

इन्द्रकारण्य (पृ ४४) - सोमदेवने इन्द्रकारण्यको कण्ठाट देशके परिचयी नाममें वर्णित है । और कण्ठाट देश महाराष्ट्र प्रदेशके उत्तरा जिलेमें हुआ और कोहना नदियोंके संगमपर था ।

नन्दौरवाहीप पृ ४३ ।

नामिगिरि (पृ ८५) - मन्मथेश्वरके सोपारपुर नगरके पास यह पर्वत वर्णित है ।

पञ्चसैकपुर (पृ ७१८) - मन्मथेश्वरकी राजगृही नगरीका अपरनाम था । पञ्चपर्वतोत्ते विद्य होनेके कारण उस पञ्चसैकपुर कहत थे । आज भी उसे पञ्चपहाड़ी कहते हैं ।

पञ्चाक्षरेश - रमा और मयूनाके बीचका प्रदेश पञ्चाक्ष था । मोटे शीरपर उत्तरप्रदेशके बरेली बार्मु पर्वतवासी और इनसे सम्बन्ध जिले पञ्चाक्ष देश कहलाते थे ।

पद्मावतीपुर (पृ ११४) - टिप्पणके अनुसार पद्मविविनीका अपर नाम ।

पद्मिनीखेट (पृ ११८) - एक नगरका नाम था ।

पाटकीपुत्र (पृ १४७२) - सोमदेवने इसे मुराष्ट्रदेशमें वर्णित है ।

पाण्ड्यमण्डल (पृ १२) - बलिमन्दीके उत्तम प्रदेशका भाग । इसकी राजधानी मधुरा थी ।

पौवनपुर (पृ १७७) - यह अस्मक देशकी राजधानी थी । पुराणे ईशराधार राजके निवासालापर जिलेमें गोदावरीकी सहायक नदीपर स्थित आधुनिक बीजन । प्राचीन पौवनपुर था । सोमदेवने पौवनपुरको रम्यक देशमें वर्णित है ।

प्रभाक्षेत्र (पृ ११७) - वर्तमान इलाहाबादके पासका प्रदेश लम्बवत्ता प्रपात देश कहा जाता था । जैसे बाराणसीके पासके प्रदेशको काशी देश कहते थे ।

फनमाकिनी (पृ ८८) - एक नदी ।

बलवाहनपुर पृ ८१ ।

माधपुर पृ ८७ ।

भीमवन (पृ ५७) - पण्डुरके निकट भीमवन नामक महावन था ।

भूमिनिष्कपुर (पृ १०) - सोमदेवने इसे पनपर्वतमें वर्णित है ।

मगधदेश (पृ ४६ ४७ ७१ ८५, १७८) - इसकी राजधानी राजगृही थी जो वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें है ।

मधुरा (पृ ८१ ९१) - रानी बलर नपुरा ।

मन्मथन पृ ५५

मिथिलापुरी (पृ ४७१) - सोमदेवने मिथिलापुरीको पनपर्वतमें वर्णित है । वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें दरभंगाके पास मिथिला नामक नगरी है ।

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors .

Dr H L JAIN, Jabalpur : Dr A N UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc and published by the Jñānapīṭha.

***Mahābandha or the Mahādhavalā :**

This is the 6th Khanda of the great Siddhānta work *Śatkhandaḡama* of Bhūtabalī . The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākṛit Text which is based on a single Ms is edited along with the Hindī Translation. Vol I is edited by Pt S C DIWAKAR and Vols 2 to 7 by Pt PHOOLACHANDRA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha Nos 1, 4 to 9 Super Royal Vol I pp 20+80+350, Vol II pp 4+40+440, Vol III pp 10+496, Vol IV: pp 16+428, Vol V pp 4+460, Vol VI pp 22+370; Vol VII pp 8+320 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958 Price Rs 11/- for each vol

Karalakkhana .

This is a small Prākṛit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof P K MODI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha No 2 Third edition, Crown pp 48 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964 Price 75 nP.

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors •

Dr H L. JAIN, Jabalpur • Dr A N UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc and published by the Jñānapīṭha.

‘Mahābandha or the Mahādhavalā :

This is the 6th Khanda of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgaṇa* of Bhūtabali. The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prakṛit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindi Translation. Vol I is edited by Pt S C. DIWAKAR and Vols 2 to 7 by Pt PHOOLACHANDRA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prakṛit Grantha Nos 1, 4 to 9 Super Royal Vol I pp 20+80+350, Vol II pp 4+40+440, Vol III pp 10+496, Vol IV pp 16+428, Vol V pp 4+460, Vol VI, pp 22+370, Vol VII pp 8+320. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958. Price Rs. 11/- for each vol.

Karalakkhana :

This is a small Prakṛit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindi Translation by Prof P K MODI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prakṛit Grantha No 2. Third edition. G.

Madanaparīkṣa :

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Śaivite 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Edited critically by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindi Introduction Translation etc. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No. 1 Second edition. Super Royal pp. 14 + 58 + 144 Bhāratīya Jñānapīṭha Kāshī, 1964 Price Rs. 8/

Kamaṣa Prāntīya Tādepatriya Grantha-stūti

A descriptive catalogue of Palmleaf MSS. in the Jaina Bhāṣās of Moodbidri Karkal Aliyoor etc. Edited with a Hindi Introduction etc. by Pt. K. BHUJABALI SHASTRI Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No. 2 Super Royal pp. 32 + 324 Bhāratīya Jñānapīṭha Kāshī, 1948 Price Rs. 13/-

Tattvārtha vṛtti :

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutatīgara (c 16th century Vikrama Śaivite) on the Tattvārtha-sūtra of Umāsvatī which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and UDAYACHANDRA JAIN Prof. MAHENDRA KUMAR has added a learned Hindi Introduction on the exposition of the important topics of Jainism. The edition contains a Hindi Translation and important Appendices of referential value. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 4 Super Royal pp. 108 + 548 Bhāratīya Jñānapīṭha Kāshī 1949 Price Rs. 16/

Ratna-Manjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No. 5 Super Royal pp. 8 + 4 + 72. Bhāratīya Jñānapīṭha Kāshī 1919 Price Rs. 2/

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D.) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (c 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol I : pp. 68 + 546 ; Vol II : pp. 66 + 468. Bhāratīya Jñānapīṭha Kāshī 1949 and 1951 Price Rs. 15/- each.

Kevalajñāna-prasna-cūdāmani

A treatise on astrology etc Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc by Pt NEMICHANDRA JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 7 Super Royal pp 16+128 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950¹ Price Rs 4/-

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanamjaya (c 8th century A D) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarakīrti (c 15th century A.D) The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes Edited by Pt SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr P L VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt MAHENDRAKUMAR The Appendix gives Anekārthanighaṇṭu and Ekāksarī-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 6 Super Royal pp. 16+140 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950 Price Rs 3.50 nP

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism Prākṛit Text, Sanskrit Chāyā Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof A CHAKRAVARTI The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No 1 Super Royal pp 10+162+244 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950 Price Rs 8/-

Jātakatthakathā .

This is the first Devanāgarī edition of the Pālī Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA Jñānapīṭha Mūrtidevī Pālī Granthamālā No 1, Vol 1 Super Royal pp 16+384 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951 Price Rs 9/-

Kural or Thirukkural :

An ancient Tamil Poem of Thevar It preaches the principles of Truth and Non-violence The Tamil Text and the commentary of Kavirājapandita Edited by Prof A CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English Bhāratīya Jñānapīṭha Tamil Series No 1 Demy pp 8+36+440 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs 5/-

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A.D.) is an outstanding scholar poet and teacher; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindi Translation Introduction, Verse Index etc. by Pt. PANNALAL JAIN Jñānapīṭha Mūrtidevi Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha Nos. 8 9 and 14 Super Royal Vol. I; Second edition pp. 8+68+746 Varanasi 1963 Vol. II pp. 8+556; Vol. III pp. 8+16+640 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1951 to 1954 Price Rs. 10/ each.

Vasumandī Śrāvakācāra :

A Prākṛit Text of Vasumandī (c. Samvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder critically edited along with a Hindi Translation by Pt. HIRALAL JAIN The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhābandhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākṛit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Jñānapīṭha Mūrtidevi Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha No. 3 Super Royal pp. 230. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1952. Price Rs. 5/

Tattvārthavārttikam or Rājavārttikam :

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvatī. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN Jñānapīṭha Mūrtidevi Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20 Super Royal Vol. I: pp. 16+430; Vol. II: pp. 18+436 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1953 and 1957 Price Rs. 12/ for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajñā commentary of Paṇḍita Āśādharma (V S. 13th century). In this edition brought out by Pt. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādharma Jinasena, Sakalsakīrti and Hemacandra are given Āśādharma's text is accompanied by Hindi Translation. Śrutasaṅgāra's commentary of the same is also given here. There is a Hindi Introduction giving information about Āśādharma etc. There are some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevi Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 11 Super Royal pp. 288. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954 Price Rs. 4/-

Purānasāra-Saṁgraha :

This is a Purāna in Sanskrit by Dāmanandī giving in a nutshell the lives of Tīrthamkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by G C JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos 15 and 16. Crown Part I pp 20+198, Part II pp 16+206. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1954, 1955. Price Rs 2/- each.

Sarvārtha-Siddhi :

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvatī called here by the name Grdhrapiccha. It is edited here by Pt PHOOLACHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp 116+506. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1955. Price Rs 12/-.

Jainendra Mahāvṛtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayānandī on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devānandī alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A D. Edited by Pts S N TRIPATHI and M CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr V S AGRAWALA, *Devānandīkā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀNSAKA and some useful Indices at the end. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 17. Super Royal pp. 56+506. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs 15/-.

Vratatīthi Nirṇaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandī edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt NEMICHANDRA SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 19. Crown pp 80+200. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs 3/-.

Pauma-carīu :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A D). It deals with the story of Rāma. The Apabhraṁśa text up to 56th Sandhi with Hindī Translation and Introduction of Dr DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 3 Volumes. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha Nos 1, 2 & 3. Crown size, Vol I pp 28+333, Vol II pp 12+377, Vol III pp 6+253. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1957, 1958. Price Rs 3/- for each Vol.

Jivamdharma-Campū

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jivamdharma and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindi Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by Prof. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jivamdharma tale by Dr. A. N. UPADHYAY and H. L. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4+24+20+344. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1958. Price Rs. 8/-

Padma-purāṇa

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. 5. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by Pt. PANNALAL JAIN with Hindi Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindi dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44+548. Vol. II : pp. 16+460. Vol. III : pp. 16+472. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi 1958-59. Price Rs. 10/- each.

Siddhi vinīścaya

This work of Akalaṅkadeva with Svopajīvasvṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned introductions both in English and in Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16+174+370; Vol. II : pp. 8+808. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 18/- and Rs. 12/-

Bhadrabāhu-Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents etc. Edited with a Hindi Translation and occasional Vivaraṇa by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindi dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72+416. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi 1959. Price Rs. 8/-

Pañcasamgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākṛit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gōmṁaṭasāra etc. The Text is edited with a Sanskrit commentary, Prākṛit Vṛtti by Pt HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha No 10 Super Royal pp 64+804 Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1960 Price Rs 15/-

Mayana-parājaya-carit .

This Apabhramśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by Prof Dr HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pālī and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhramśa Grantha No 5 Super Royal pp 88+90 Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1962 Price Rs 8/-

Harivamśa Purāna :

This is an elaborate Purāna by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivamśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 27 Super Royal pp 12+16+812+160 Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1962 Price Rs 16/-

Karmaprakṛti .

A Prākṛit text by Nemicaṇḍra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gōmṁaṭasāra. Edited by Pt HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatīkīrti and Hindī Tīkā of Pandita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeśārtha. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha No 11 Super Royal pp 32+160 Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1964 Price Rs 6/-

Upāsakidhyayana :

It is a portion of the Yāśastilaka-campī of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 28 Super Royal pp 116+339 Bhāratiya Jñānapīṭha, Kashi, 1964 Price Rs. 12/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavalabha (15th century A. D.) Critically edited by Dr B. Ch. CHHADRA Jt. Director General of Archaeology in India and S. SANKARANARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 29 Super Royal pp. 24+192 Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi 1964 Price Rs 8/-.

Satyāsāna-parīkṣā

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānandi, critically edited for the first time by GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text by Dr NATHMAL TATIA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 30 Super Royal pp. 56+34+62. Bhāratiya Jñānapīṭha, Kashi 1964 Price Rs 5/-.

Karakandā-carita

An Apabhraṃśa text dealing with the life story of king Karakandā, famous as Pratyeka Buddha in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindi & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices etc. by Dr HIRALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṃśa Grantha No. 4 Super Royal pp. 64+278. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi 1964 Price Rs. 10/-.

For Copies Please write to—

BHARATIYA JNANPITH

3620/21 Netaji Subhas Marg, Dariyaganj
Delhi (India)

or

BHARATIYA JNANPITH,

Durgakund road Varanasi (India)

